श्री त्रिदण्डिदेवग्रन्थमालायास्तृतीयं प्रसूनम्

॥ श्रीः ॥

# वैदिक योग संग्रहः

## सोऽयम्

श्री १००८ श्रीमद्वेदमार्गप्रतिष्ठापनाचार्य्योभयवेदान्तप्रवर्तकाचार्य श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य्य सत्सम्प्रदायाचार्य्य जगद्गुरु भगवदनन्तपादीय श्रीमद्विष्वक्सेनाचार्य्य श्रीत्रिदण्डिस्वामिना सम्पादितः ।

तथा च

बलिपुर (बलिया) मण्डलान्तर्गत वाजिदपुर ग्रामवासिना पं० श्री मदन मोहन द्विवेदिना व्याकरणाचार्य्य काव्यतीर्थ साहित्यरत्नोपाधिभृता संशोधितः, तदात्मजेन श्री रामजी द्विवेदिना टीकेदारेण प्रकाशितः ।

द्वितीय संस्करणम् १०००

मूल्यम् १)५०

वि० सं० २०३७

# भूमिका

अखिल भारतीय प्रिय सज्जनों को यह विदित है कि ऐहिक या पारमार्थिक जो सुख है उसका निदान कारण योगाभ्यास ही है। परन्तु आज कल आलस्य और प्रमाद के कारण से बहुत से लोग यह कहते हैं कि कलियुग में योगाभ्यास नहीं करना चाहिये। लेकिन यह कथन अति निर्मूल है क्योंकि कलियुग ही में ताम्रपर्णी नदी के किनार पर कुरुका पुरी में श्री पराँकुश मुनि स्वामी जी इमली के पेड़ के नीचे सोलह वर्ष तक समाधिस्थ रहे हैं श्री शंकराचार्य्य भी इसी युग में योगाभ्यास किये हैं तथा रामानुजाचार्य्य भी योगी थे नहीं तो यामुनाचार्य के मरने पर उनका अभीष्ट कैसे जानते और तीनों अंगुलियों का मोचन कैसे करते तथा यादवाद्रि में जैनियों के साथ शास्त्रार्थ करते समय हजार मुख वाला होकर कैसे उत्तर देते। और भी इस कलियुग में बहुत से योगाभ्यास किये हैं और योगबल से ऐहिक सुख भोग करके प्रभु को प्राप्त किये हैं। अतः उस योग के जानने के लिये मेरा मन लालायित था इतने ही में एक श्री त्रिदण्ड ग्रहण किये हुये सच्चे परोपकारी द्वितीय श्री भाष्यकार के समान विद्वान् परिव्राजक स्वामी मुझको मिले और अत्यन्त प्रार्थना करने से भक्त का मनोरथ पूर्ण करने के लिये उपनिषदों से निकाल करके "वैदिक योग संग्रह" नाम के इस अमूल्य पुस्तक को बनाये, जिसको देखने से थोड़ी सी भी गुरु की



सहायता से योग की क्रिया हस्तामलकवत् ज्ञात हो जाती है। इस ग्रन्थ में उपनिषदों के अनुसार मन्त्रयोग, लय योग, हठयोग तथा राज योग का लक्षण और अजपा गायत्री की विधि तथा अनहद नाद श्रवण करने का नियम और फल लिखा है और संक्षेप से मठ का भी लक्षण दिखाया गया है। तथा सहज से मरण जानने का उपाय और चक्र पद्म कूर्म मयूर, कुक्कुट, वीर, स्वस्तिक, भद्र, सिंह मुक्त, गोमुख इन एकादश आसनों का वर्णन और करने का फल निरूपण किया गया है। तथा महामुद्रा खेचरी मुद्रा, मूलबन्ध; जालन्धर बन्ध, उड्डीयानबन्ध महाबन्ध; महावेध, विपरीतकरणी वज्रोली शक्ति चालन इन मुद्राओं का निरूपण किया गया है। और मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा इन षट्चक्रों का स्थान और वहा के कमलों को दिखा करके सोलह आधारों का वर्णन किया गया है। इसके बाद इडा, पिंगला, सुषुम्ना, गान्धारी हस्ति, जिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलंबुषा, कुहू, शङ्खिनी, इन दश नाडियों का तथा प्राण, अपान समान उदान, व्यान, नाग, कूर्म कृकल देवदत्त; धनंजय इन दश वायुओं का और पृथ्वी, जल, तेज वायु, आकाश; इन पांचों तत्वों का स्थान यथार्थ रूप से निरूपण किया गया है। नेति धौति बस्ति नौलि त्राटक कपालभाति, इन षट् कर्मों के करने की रीति तथा इन सबों के करने का फल दिखाया गया है और क्रम से यम नियम आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान समाधि इन राजयोग के आठों अंगों को वेदानुसार निरूपण किया गया है। वेद से विरुद्ध जो योग शास्त्र सिद्धान्त है उसका खण्डन लिखा गया है और समस्त योगों का मुख्य फल मोक्ष ही है ये सब बातें वैदिक प्रमाण देकर लिखी गई

है। जो कोई इसको पढ़ेगा उसको स्वतः मालूम हो जायेगा। यदि प्रिय सज्जन लोग इसका अनुष्ठान करेंगे तो अवश्य ही फिर भारत पूर्ववत् समस्त देशों का शिरोमणि हो जायेगा। इसी अभिप्राय से भगवद्दासानुदास स्वयंसेवक मैंने इस अपूर्व पुस्तक को संशोधित कर लागत मात्र मूल्य रखकर श्रद्धालु लोगों को पुस्तक उपलब्ध कराने का प्रयास किया।

* * * *

इस पुस्तक के प्रथम संस्करण का प्रकाशन सम्वत् १९८६ में हुआ था। पुनः योग के प्रेमी भक्तजनों के अनुराग एवं अनेकों बार की प्रेरणा से इस पुस्तक के प्रकाशक बलिया जनपद के वाजिदपुर ग्रामवासी श्री रामजी द्विवेदी ठीकेदार द्वारा प्रकाशन का सम्पूर्ण व्यय देने पर इसके द्वितीय संस्करण का प्रकाशन हुआ। एतदर्थ मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं।

निवेदक :—

**पण्डित मदन मोहन द्विवेदी**
व्याकरणाचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्य रत्न
वाजिदपुर, बलिया

श्री १००८ श्रीदण्डि स्वामी जी महाराज

है। जो को
प्रिय सज्ज
पूर्ववत् सम
भगवद्दास
लागत मा
का प्रयास

इ
हुआ था
की प्रेर
ग्रामवासी
व्यय देने
मैं उन्हें

॥ श्री फणीन्द्राय नमः ॥

# अथ वैदिक योग संग्रहः

ध्यात्वा नारायणं देवं नत्वा गुरु पदाम्बुजम्।
बालानां सुख बोधाय क्रियते योग संग्रहः॥

श्रीमन्नारायण भगवान् को ध्यान करके और श्री गुरु जी महाराज के चरणारविन्दों को साष्टांग करके जो परमात्मा को नहीं जानते हैं उन बालकों के सुख से योगतत्व के ज्ञान के लिये वैदिक योगों का संग्रह मैं करता हूं॥ १॥

...नं सख्य महदाढ्य भट्टनाथ
श्रीभक्तिसारकुलशेखरयोगिवाहान।

पर्वतावे नदीतीरे बिल्वमूले वनेऽथवा ।
मनोरमे शुचौ देशे मठं कृत्वा समाहितः ॥

(जाबाल दर्शनोप० खण्ड ५ श्रुति ४)

जाबाल दर्शनोपनिषद् में लिखा है कि पर्वत के ऊपर भाग पर तथा नदी के तीर पर श्रीफल के नीचे या वन में अथवा मनोहर शुद्ध देश में समाहित होकर मठ बनावे ॥ ४ ॥

फलमूलोदकान्वितं तपोवनं प्राप्य रम्यदेशे ब्रह्मघोषसमन्विते स्वधर्मनिरतब्रह्मवित्समावृते फलमूलपुष्पवारिभिः सुसम्पूर्णे देवायतने नदीतीरे ग्रामे नगरे वापि सुशोभनमठं नात्युच्चनीचं तमल्प द्वारं गोमयादि लिप्तं सर्वरक्षा समन्वितं कृत्वा तत्र वेदान्त श्रवणं कुर्वन्योगं समारभेत ॥

(शाण्डिल्योपनिषद् श्रु० ५)

शाण्डिल्योपनिषद् में लिखा है कि फल कन्द मूल और जल से युक्त तपोवन में जाकर वेद के शब्द से युक्त तथा अपने धर्म में निरत ब्रह्म ज्ञानियों से युक्त और फल कन्द मूल पुष्प जलों से परिपूर्ण सुन्दर देवालय में या नदी के तीर पर अथवा ग्राम या नगर में अत्यन्त उच्च या नीच न हो तथा छोटा द्वार वाला गोमय आदि से लिपा हुआ और चारों ओर प्रकोटा से युक्त सुन्दर मठ को बनवाकर उसमें वेदान्त श्रवण करता हुआ योगाभ्यास प्रारम्भ करे ॥ ५ ॥ अब वैदिक जो चार प्रकार के योग हैं उनको दिखाता हूँ ।



भक्तांघ्रिरेणु परकाल यतीन्द्र मिश्रान्
श्रीमत्परांकुश मुनिं प्रणतोऽस्मि नित्यम् ॥ २ ॥

भूतयोगी, सरोयोगी, महायोगी, भट्टनाथ स्वामी, भक्तिसार स्वामी, कुलशेखर स्वामी, योगिवाहन स्वामी, भक्तांघ्रिरेणु स्वामी, परकाल स्वामी, परांकुशमुनि स्वामी और संन्यासियों में श्रेष्ठ योगाचार्य शेषावतार जो श्री भाष्यकार स्वामी जी हैं इन योगेश्वरों को मैं नित्य साष्टांग करता हूँ ॥ २ ॥ अब योगियों के मठ के लक्षण कहता हूँ ।

सुशोभनं मठं कुर्यात् सूक्ष्मद्वारं तु निर्व्रणम् ।
सुष्टुलिप्तं गोमयेन सुधया वा प्रयत्नतः ॥

(योग तत्वोपनिष० श्रुति ३२)

मत्कुणैर्मशकैर्लूतैर्वर्जितंच प्रयत्नतः ॥
दिनेदिने च संमृष्टं संमार्जन्या विशेषतः ॥ ३३ ॥
वासितंच सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः ॥ ३४ ॥

जिसका छोटा द्वार हो और छिद्र न हो और भली प्रकार चिकन गोबर से लिपा हो ऐसा सुन्दर मठ बनावे ॥ ३२ ॥ मशक मत्कुणलूता आदि जीव न हों और नित्य प्रति झाड़ू लगता हो॥३३॥ सुगन्ध से वासित हो ऐसा गुग्गुल धूप आदि के गन्ध से सुगन्धित मठ बनावे ॥ ३४ ॥



योगोहि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगोलयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ॥

(योग तत्वोपनिषद् श्रु० १९)

योग तत्वोपनिषद् में लिखा है कि हे ब्रह्मन् मन्त्र योग, लययोग हठयोग और राजयोग इस भेद से योग चार प्रकार का है॥१९॥ अब चारों योगों के पूर्वाभ्यास में जो विघ्न हैं उनको दिखाता हूँ ।

प्रथमाभ्यास काले तु विघ्नाःस्युश्चतुरानन ।
आलस्यं कत्थनं धूर्त गोष्ठी मन्त्रादि साधनम् ॥

(योग तत्वोपनिषद् श्रु० ३०)

धातुस्त्री लौल्यकादीनि मृग तृष्णामयानि वै ।
ज्ञात्वा सुधीस्त्यजेत्सर्वान्विघ्नान्पुण्यप्रभावतः ॥३१॥

हे चतुरानन पहले अभ्यास में ये सब विघ्न होते हैं आलस्य, बहुत बोलना धूर्तों की गोष्ठी और मन्त्र आदि का साधन करना ॥ ३० ॥ द्रव्य स्त्री की जो तृष्णा है इन समस्त विघ्नों को पुण्य के प्रभाव से मृग तृष्णा के समान जान कर ज्ञानी परित्याग करे ॥ ३१ ॥

लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षंच तीक्ष्णकम् ।
शाकजातं रामठादि वह्नि स्त्री पथ सेवनम् ॥

(योग तत्वोपनिषद् श्रु० ४७)



प्रातः स्नानोपवासादिकाय क्लेशांश्च वर्जयेत् ।
अभ्यासकाले प्रथमं शस्तं क्षीराज्य भोजनम् ॥४८॥
गोधूम मुद्ग शाल्यन्नं योग वृद्धि करं विदुः ॥४९॥

रामरस, सरिसो, खट्टा, गरम रूखा, तीता, पत्ति के साग हींग और आग स्त्री तथा मार्ग में बहुत चलना ॥ ४७ ॥ प्रातःकाल अत्यन्तशीतल जल में स्नान करना और अधिक उपवास आदिक से देह को क्लेश देना ये सब योगी परित्याग कर दे। पहले के अभ्यास काल में दूध का खीर खाना श्रेष्ठ है ॥ ४८ ॥ गेहूं, मूंग, चावल आदि शुद्ध अन्न योग को वृद्धि करनेवाला जानना ॥ ४९ ॥ अब प्रथमोपस्थित मन्त्रयोग को दिखाता हूँ ।

मातृकादि युतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ।
क्रमेण लभते ज्ञानमणिमादि गुणान्वितम् ॥

(योग तत्वोपनिषद् श्रु० २१)

मातृका आदि अथवा मूल मन्त्र या द्वयमन्त्र या चरम मन्त्र को जो बारह वर्ष जपता है वह अणिमा आदि गुणों से युक्त ज्ञान को पाता है ॥ २१ ॥ जप की विधि ग्रन्थ के विस्तार के भय से मैं नहीं लिखता हूँ जिसको देखना हो वह मेरा बनाया हुआ ॥ यतीन्द्र धर्म मार्तण्ड ॥ नाम का ग्रन्थ है उसको देख लेवे ।

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः ।

हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥

(योग चूडामण्युप० श्लो० ३१)

षट् शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः ।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवोजपति सर्वदा ॥ ३२ ॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा ।
अस्याः संकल्प मात्रेण सर्वं पापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः ।
अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ३४ ॥

ध्यानबिन्दूपनिषद् के ।६१।६२।६३।६४ मन्त्र में और योग चूडामण्युपनिषद् में लिखा है कि हकार करके सांस बाहर निकलता है और सकार करके भीतर पैठता है इस प्रकार से हंस हंस इस मन्त्र को जीव सर्वदा जपता है॥३१॥नित्य प्रति दिन रात में२१६०० मन्त्र को जीव सदा जपता है ॥ ३२ ॥ यह योगियों को मोक्ष देने-वाली अजपा नाम की गायत्री है इसके संकल्प मात्र से योगी समस्त पापों से छूट जाता है ॥ ३३ ॥ इस अजपा के समान विद्या और इसके समान जप या ज्ञान न कोई पहले था न होने वाला है ॥३४॥ संकल्प की विधि यह है कि सूर्योदय से पहले शयन से उठकर हाथ पैर मुख धोकर शुद्ध वस्त्र पहन करके शुद्ध आसन पर बैठ आचमन करे और इस प्रकार से संकल्प करे कि (ओं श्री भगवदाज्ञया भगवत्कैंकर्य रूपमद्य प्रातःकालमारभ्य द्वितीय प्रातःकालपर्यन्तं नासा-



पुट निःसृतोच्छ्वास निःश्वासात्मकं षट्शताधिकैकविंशति सहस्र संख्याकमजपागायत्रीजपमहोरात्रेणाहं करोमि भगवते च निवेदयामि) इस विधि से संकल्प करने से अपूर्व २ शब्द सुनाता है सो लिखा है ।

स एव जपकोट्यानादमनुभवति एवं सर्वहंसवशान्नादो दशविधो जायते । चिणीति प्रथमः, चिञ्चिणीति द्वितीयः, घण्टानादस्तृतीयः, शंखनादश्चतुर्थः पञ्चमस्तन्त्री नादः, षष्ठस्तालनादः, सप्तमो वेणु नादः, अष्टमो मृदंगनादः, नवमो भेरीनादः, दशमो मेघनादः, नवमं परित्यज्य, दशममेवा-भ्यसेत् ॥

(हंसोपनिषद् खं० २ श्लो० २)

साधक पुरुष हंस मन्त्र के करोड़ जप करने से नाद का अनुभव करता है इस प्रकार हंस मन्त्र के बल से दश प्रकार के शब्द उत्पन्न होता है । पहले चिणी शब्द होता है । दूसरा चिञ्चिणी । तीसरा घण्टा का शब्द । चौथा शंख का शब्द । पांचवां वीणा का शब्द । छठवां ताल का शब्द । सातवां बंसी का शब्द । आठवां मृदंग का शब्द । नौवां भेरी का शब्द । दशवां मेघ का शब्द होता है । इन दशों शब्दों को हंस मंत्र के साधक पुरुष सुनता है जिनमें से आदि के नव शब्दों को छोड़ करके दशवां जो मेघ का शब्द है उसका ही सर्वदा मुमुक्षु जन अभ्यास करें । २ । इन दश प्रकार के शब्दों का फल भी लिखा है ।



प्रथमे चिञ्चिणीगात्रे द्वितीये गात्रभंजनम् ।
तृतीये खेदनं याति चतुर्थे कम्पते शिरः ॥
पंचमे स्रवते तालु षष्ठेऽमृतनिषेवणम् ।
सप्तमे गूढ़ विज्ञानं परा वाचा तथाष्टमे ॥
अदृश्यं नवमे देहं दिव्यं चक्षुस्तथा मलम् ।
दशमे परमं ब्रह्म भवेद्ब्रह्मात्मसंनिधौ ॥

(हंसोपनिषद् श्लो० ३)

पहला चिणी का शब्द श्रवणकाल में सब देह में चुनचुनाहट मालूम होता है । दूसरा चिञ्चिणी शब्द सुनने पर सब शरीर टूटने लगता है । तीसरा घण्टा के शब्द विषे चित्त में खिन्नता होती है । चौथा शंख के शब्द विषे शिर कांपता है । पांचवां वीणा का शब्द सुनने पर तालु श्रवता है छठवां ताल के शब्द विषे अमृत पीता है । सातवां बंसी के शब्द विषे छिपे हुए पदार्थों का ज्ञान होता है । आठवां मृदङ्ग के शब्द विषे परा वाचा की प्राप्ति होती है । नौवां भेरी के शब्द सुनने पर मलरहित दिव्य दृष्टि और अन्तर्ध्यान होने की शक्ति होती है । और दशवां मेघ के शब्द सुनने पर परब्रह्म को पाता है ॥२॥ अब अत्यन्त गोपनीय को दिखाता हूं (अत्यन्त आकाश मण्डल के सफा रहने पर एकान्त स्थान में जा करके दिन में सूर्य को और रात्रि में चन्द्रमा को पीछे करके और अपने दोनों भुजाओं को ऊपर उठाकर सावधानी से अपनी छाया के गलों को (ओं नमोनारायणाय) इस मन्त्र को १०८ बार जपता हुआ देखे जिसमें पलक न गिरे



फिर मन्त्र जपता हुआ सामने आकाश में देखे वहां सफेद छाया पुरुष दिखाई पड़ेगा इस प्रकार जो सर्वदा इस क्रिया को करता है वह भूत भविष्य वर्तमान इन तीनों कालों को जानता है । यदि आकाश में छाया पुरुष काला दिखाई दे तो ६ महीने के भीतर अपनी मृत्यु जानना चाहिये और पीला दीखे तो रोग, लाल दीखे तो भय, नीला दीखे तो हानि होती है यदि नाना वर्ण दीखे तो योगी सिद्धियों को प्राप्त करता है । यदि छाया पुरुष के पैर गुल्फ पेट भुजा न दीखे तो निश्चय अपना मृत्यु जानना चाहिये । यदि वाम भुजा न दीखे तो अपनी स्त्री का मरण और दक्षिण भुजा न दीखे तो बन्धुओं का मरण तथा एक महीने के अन्दर अपनी भी मृत्यु जानना चाहिये । सिर न दीखे तो महीने भर में और जंघा कंधा ये न दीखें तो आठ दिन में तथा छाया पुरुष समस्त न दीखे तो उसी क्षणमें अपना मरण जानना चाहिये । अब लय योग को संक्षेप से कहता हूं ।

लययोगश्चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः ।
गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्भुञ्जन्ध्यायेन्निष्कलमीश्वरम् ॥

(योगत० श्लो० २३)

प्राणायामादिक क्रम से बिनाहि वैष्णवी मुद्रा के अभ्यास से आत्मा में चित्त को विलय करना लययोग है वह करोड़ों कहा गया है चलते ठहरते सोते खाते हुये सर्वदा निष्कल परमात्मा का ध्यान करे ॥ ३॥ चित्तवृत्ति के लक्ष्य को शरीर के भीतर करके आंखा खुले हुये नेत्रों की दृष्टि को नासिका के अग्र भाग में एक टक स्थापन करके स्थित होना वैष्णवी मुद्रा है ।

क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत् ।
तदैक्ये साधिते ब्रह्मश्चित्तं याति विलीनताम् ॥
(योगशिखोप० अ० १ श्रु० १३४)

पवनःस्थैर्य्यमायाति लययोगोदये सति ।
लयात् संप्राप्यते सौख्यं स्वात्मानन्द परं पदम्॥१३५॥

हे चतुरानन ! जीवात्मा परमात्मा का जब ऐक्य हो जाता है तब चित्त विलय को पाता है ॥ १३४ ॥ और लययोग उदय होने पर पवन स्थिर हो जाता है तथा साधक पुरुष लययोग से श्रेष्ठ जो स्वात्मानन्द सुख है उसको पाता है ॥ १३५ ॥ अब मरण जानने का उपाय संक्षेप से कहता हूं । जिस मनुष्य का रात्रि में बाम नाक के स्वर और दिन में दक्षिण स्वर सर्वदा चले उस पुरुष की ६ महीने के भीतर मृत्यु होती है । जो मनुष्य अपना जीभ नाक और आकाश ध्रुव तारा अरुन्धती चन्द्रमा तथा शुक्र को कहने से न देखे वह अवश्य वर्ष दिन के बाद काल के मुख में जाता है ।

जिस मनुष्य को जल में सूर्य का प्रतिबिम्ब कटा हुआ दक्षिण दिशा में दीखे वह ६ महीने में मरता है । और पश्चिम में तीन महीना में उत्तर में दो महीना में पूर्व में कटा हुआ दीखे तो एक महीना में मरता है यदि प्रतिबिम्ब के मध्य में छिद्र दीखे तो दश दिन में और यदि सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब धूम सा दीखे तो उसी दिन मरता है ।

अब हठयोग को संक्षेप से दिखाता हूं क्योंकि बिना हठ योग के राजयोग सिद्ध जल्दी नहीं होता है ।



हकारेण तु सूर्यः स्याट्ठकारेणेन्दुरुच्यते ।
सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते ॥
(योगशिखो० अ० १ श्रु० १३३)

हकार से सूर्य स्वर कहा जाता है और ठकार से चन्द्र स्वर कहा जाता है इन दोनों सूर्य और चन्द्र स्वर की एकता को हठयोग कहते हैं । ॥ ३३ ॥

अब चारों योगों के उपयोगी और हठयोग के प्रधान अंग जो आसन हैं उनको निरूपण करता हूं । चौरासी लाख योनि हैं उतने ही आसन भी उन्हीं के शरीर चेष्टानुसार हैं । चौरासी लाख आसनों के भेद मनुष्यों से न जाने जायेंगे इससे योगाचार्य्यों ने चौरासी आसन योग के लिये स्थापन किये हैं इन चौरासी आसनों में भी ग्यारह ही आसन को बराहोपनिषद् के पांचवां अध्याय में कहा है इससे मैं भी उन्हीं आसनों को निरूपण करता हूं ।

एकादशासनानिस्युश्चक्रादि मुनिसत्तम ।
चक्रं पद्मासनं कूर्मं मयूरं कुक्कुटं तथा ॥
(बराहोप० अ० ५ श्रु० १५)

वीरासनं स्वस्तिकं च भद्रं सिंहासनं तथा ॥
मुक्तासनं गोमुखं च कीर्तितंयोग वित्तमैः ॥ १६ ॥

हे मुनिसत्तम चक्र आदि ग्यारह आसन योग का है उनके ये



नाम हैं १ चक्रासन २ पद्मासन ३ कूर्मासन ४ मयूरासन ५ कुक्कुटासन ॥ १५ ॥ और ६ वीरासन ७ स्वस्तिकासन ८ भद्रासन ९ सिंहासन १० मुक्तासन ११ गोमुखासन ये एकादश आसन योगवेत्ताओं ने कहा है ॥ १६ ॥

सव्योरुदक्षिणेगुल्फे दक्षिणं दक्षिणेतरे ।
निदध्यादृजुकायस्तु चक्रासनमिदं मतम ॥
(बरा० अ० ५ श्रुति १७)

अब चक्रासन को वर्णन करता हूँ कि बाम जङ्घा को दक्षिण गुल्फ (टकना) पर और दक्षिण जंघा को बाम गुल्फ पर स्थापना करके देह को कोमल रक्खे इसको चक्रासन कहते हैं ॥ १७ ॥

अंगुष्ठेन निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च ।
ऊर्वोरुपरि शाण्डिल्य कृत्वा पाद तले उभे ॥
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामपिपूजितम ॥
(शाण्डिल्योप० श्रु० ३)

अब पद्मासन को कहता हूँ कि बाम जंघा पर दाहिना पैर को उत्तान रख करके दाहिना जंघा पर बाम पैर को उत्तान रखे इसके बाद दाहिने हाथ को पीठ के पीछे से घुमा के दाहिना पैर के अंगूठे को ग्रहण करे और बायें हाथ को भी पीठ के पीछे से घुमा



के बायें पैर के अंगूठे को ग्रहण करे तो इसको पद्मासन कहते हैं यह सब में श्रेष्ठ है ॥ ३ ॥

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ।
कूर्मासनं भवेदेत दिति योगविदो विदुः ॥ ९ ॥

अब कूर्मासन को कहता हूं कि दाहिना टकना से गुदा के बाम भाग को और बायां गुल्फ से दक्षिण भाग को रोक कर जो सावधानी से बैठा जाता है उसको कूर्मासन योगी लोग कहते हैं ॥ ९ ॥

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां तु करद्वयोः ।
हस्तयोः कूर्परौ चापि स्थापयेन्नाभि पार्श्वयोः ॥
(शाण्डिल्योप० श्रु० १०)

समुन्नत शिरःपादो दण्डवद्व्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतत्तु सर्व पाप प्रणाशनम् ॥ ११ ॥

अब मयूरासन को कहता हूं कि दोनों हाथों के तरवों से पृथ्वी का अवलम्बन करके दोनों हाथों के केहुनी को नाभि के दोनों बगल में स्थापन करे ॥ १० ॥ और सिर तथा पैर को उठा करके दण्ड के समान आकाश में स्थित हो तो समस्त पाप को नाश करने वाला इसको मयूरासन योगी जन कहते हैं ॥ ११ ॥ यह समस्त पेट के रोग को दूर करता है ।

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥१॥

अब कुक्कुटासन को कहता हूं दोनों जंघों के ऊपर दोनों पैरों को रख करके पैर और जंघों के बीच में दोनों हाथों को लगा कर और उन दोनों हाथों को भूमि में स्थापन करके आकाश में स्थित रहे तो इसको कुक्कुटासन कहते हैं ॥ १ ॥

एकं पाद मथैकस्मिन्विन्यस्योरुणि संस्थितः ।
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमुदीरितम् ॥
(शाण्डिल्यो० श्रु० ४)

दाहिना पैर को बाम जंघा पर और बाम पैर को दाहिना जंघा पर रखने से वीरासन होता है ॥ ४ ॥

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ॥
(शाण्डि० श्रु० १)

पैर और जंघा के बीच में दोनों तरवों को लगा कर जो सावधानी पूर्वक बैठा जाता है उसको स्वस्तिक आसन कहते हैं॥१॥

गुल्फौ तु वृषणस्याधः सीवन्या पार्श्वयोः क्षिपेत् ।



पादपार्श्वे तु पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्व व्याधि विषापहम् ॥
(शाण्डि० श्रु० ८)

अब भद्रासन कहता हूं कि अण्डकोश के नीचे सीवनी के दोनों पार्श्व भाग में क्रम से बाम गुल्फ को बाम पार्श्व में और दक्षिण गुल्फ को दक्षिण पार्श्व भाग में स्थापन करके दोनों पार्श्व भागों को दोनों हाथों से दृढ़ बांध कर स्थित रहे तो इसको सम्पूर्ण रोगों का नाशक भद्र आसन कहते हैं ॥ ८ ॥

दक्षिणं सव्य गुल्फेन दक्षिणेन तथेतरम् ।
हस्तौ च जान्वोः संस्थाप्य स्वांगुलीश्चप्रसार्य च ॥
(शाण्डि० श्रु० ५)

व्यक्त वक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनंभवेदेतत्पूजितं योगिभिः सदा ॥ ६ ॥

अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दाहिना भाग को बाम गुल्फ से और बाम भाग को दाहिना गुल्फ से दबाकर बैठे और दोनों जंघों के ऊपर दोनों हाथों को रखकर अपनी अंगुलियों को फैलाकर इसके बाद मुख को खोल कर सावधानी से नाक के अग्र भाग को देखे इसको सिंहासन कहते हैं वह सदा योगियों से पूजित है ॥६॥५॥



संपीड्य सीविनीं सूक्ष्मां गुल्फेनैवतु सव्यतः ।
सव्यं दक्षिण गुल्फेन मुक्तासनमुदीरितम् ॥
(शा० श्रु० ६)

सूक्ष्म सीवनी के दक्षिण भाग को बाम गुल्फ से और बाम भाग को दाहिना गुल्फ से दबाकर बैठा जाय उसको मुक्त आसन कहते हैं ॥ ६ ॥

सव्ये दक्षिण गुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखं यथा ॥
(शा० श्रु० २)

गोमुख आसन को कहता हूं कि कटि के बाम भाग में दाहिना टकना और दक्षिण भाग में बाम टकना को लगाकर जो गौ के मुख के समान आकार हो जाता है उसको गोमुख आसन कहते हैं ॥२॥ पूर्वोक्त आसनों के करने से देह में कोई भी रोग नहीं होता है इससे पहले अवश्य आसन करना चाहिये। अब शक्ति चालन करने के लिये मुद्राओं का वर्णन करता हूं।

महामुद्रा नभो मुद्रा ओड्याणञ्च जलन्धरम् ।
मूलबन्धंच यो वेत्ति सयोगी मुक्ति भाजनम् ॥
(योग चू० श्रु० ४५)



महामुद्रा १ खेचरी मुद्रा २, उड्डीयान बन्ध ३, जालन्धर बन्ध ४, मूलबन्ध ५ इन पांचों को जो योगी करता है वह मुक्ति भाजन होता है ॥ ४५ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामांघ्रिणा ।
हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्यश्वसनेन कुक्षि युगलं बध्वा शनैः रेचयेत् ।
सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥
(योगचू० श्रु० ६६)

छाती पर ठुड्डी को जोर से धारण करके बाम पैर की एड़ी से लिंग और गुदा के बीच में योनि के स्थान को अत्यन्त जोर से दबावे इसके बाद दाहिना पैर लम्बा करके और दाहिना पैर के मध्य भाग को दोनों हाथों से पकड़ के दृढ़ रोके तब पेट में पूरक विधि से वायु भरे कुछ काल यथाशक्ति वायु को रोक कर धीरे-धीरे छोड़ दे तो इसको योगी जन समस्त रोग नाशक महामुद्रा कहते हैं ॥ ६६ ॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत्पुनः ।
या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥६७॥

(बाम अंग से प्रथम अभ्यास करके पीछे दाहिने अंग से करे

जब दोनों ओर के अभ्यास से प्राणायाम की मात्रा बराबर हो जाय तब महामुद्रा को विसर्जन कर दे ॥ ६७ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥६८॥

क्षयकुष्ठ गुदावर्त गुल्माजीर्ण पुरोगमाः ।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रांतु योऽभ्यसेत् ॥६९॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरीनृणाम् ।
गोपनीया प्रयत्नेन नदेयायस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

महामुद्रा के अभ्यास दृढ़ हो जाय तो पथ्यापथ्य का विचार कुछ नहीं रहता है और सब रस नीरस हो जाता है और घोर विष भी खाया हुआ अमृत के समान पच जाता है ॥ ६८ ॥ तथा कुष्ट, क्षय, भगन्दर गुल्म पेचिस आदि समस्त रोग नष्ट हो जाते हैं॥६९॥ अभ्यासी को महासिद्धि करनेवाली यह महामुद्रा कही है इसको बड़े यत्न से गुप्त रखना चाहिये जिस किसी को न देना चाहिये ॥७०॥

कपाल कुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥

(योग चू० श्रु० ५१)



जीभ को उलटा फिराय के कंठ के मूल में जो छिद्र हैं उसमें घुसावे और भ्रू मध्य में निश्चल दृष्टि करे तो इसको खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ५१ ॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलंसर्वं विशोधयेत् ।

(योगकुण्डल्यु० श्लो० २८)

योग कुण्डल्युपनिषद् में लिखा है कि आत्मवेत्ता पुरुष तालु मूल से जीभ को धीरे से कुछ बाहर निकाल करके अंगूठा और तर्जनी से सात दिन तक जीभ को प्रातःकाल दोहन और चालन करके मल शुद्ध करे ॥ २८ ॥

स्नुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्ध निर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २९ ॥

ततः सैन्धव पथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत्
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोम मात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३० ॥

एवं क्रमेण षण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलं सिराबद्धं प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

सेहुंड़ के पत्ते के समान अत्यन्त तीक्ष्ण चिकन निर्मल शस्त्र



से जीभ के नीचे की नस को रोम मात्र छेदन करे ॥ २९ ॥ और तिसके पीछे सेंधे और हरे के चूर्ण कटा हुआ स्थान पर मले ऐसे सायं प्रातः सात दिन करके फिर पूर्वोक्त विधि से रोम मात्र काटे ॥ ३० ॥ इस रीति से छः महीना तक नित्य करे तो जीभ के मूल की नाड़ी जो जीभ को कपाल कुहर में नहीं जाने देती है सो कट जाती है ॥ ३१ ॥

न रोगो मरणं तस्य ननिद्रा नक्षुधा तृषा ।
नच मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्तिखेचरीम् ॥

(योगचू० श्रु० ५३)

पीड्यते नच रोगेण लिप्यतेनचकर्मभिः ।
बाध्यतेनचकेनापि योमुद्रांवेत्ति खेचरीम् ॥ ५४ ॥

जो खेचरी मुद्रा को जानता है उसको रोग, मरण, निद्रा, क्षुधा, तृषा और मूर्च्छा ये सब नहीं होते हैं ॥५३॥ जो खेचरी को करता है वह रोग से पीड़ित नहीं होता है और न कर्म से लिप्त होता है और न किसी से बांधा जाता है ॥ ५४ ॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्त्तव्यस्तूड्डीयानकः ।
बन्धोयेन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयतेयतः ॥

(योग शि० अ० १ श्रु० १०६)



तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।
उड्डीयानं तु सहजं गुरुणाकथितं सदा ॥१०७॥

अभ्यसेदेतदतन्द्रस्तु वृद्धोऽपि तरुणोभवेत् ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि त्राणं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥१०८॥

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥१०९॥

कुम्भक के अन्त में और रेचक के आदि में उड्डीयानबन्ध करना चाहिये । जिस बन्ध से प्राण वायु सुषुम्ना नाड़ी में उड़ जाता है ॥ १०६ ॥ उसको योगी लोग उड्डीयानबन्ध कहते हैं । सहज उड्डीयानबन्ध को गुरु के उपदेश से जो सदा ॥१०७॥ बिना आलस्य के करता है वह वृद्ध भी तरुण के तुल्य आचरण करता है। नाभि के ऊपर और नीचे के पेट को सावधानी से पीठ में सटा दे तो इसको उड्डीयान कहते हैं ॥ १०८ ॥ छः महीना इस बन्ध का बारम्बार अभ्यास करे तो मृत्यु को जीतता है इसमें सन्देह नहीं है ॥ १०९ ॥

पूरकान्तेतु कर्त्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ॥१०६॥

कण्ठ संकोचरूपोऽसौ वायुमार्ग निरोधकः ।
कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेद्दृढमिच्छया ॥११०॥

बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताप्याय कारकः ॥१११॥

पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध करना चाहिये ।।१०६।। कण्ठ संकोच और हवा रोकने वाला जालन्धर बन्ध है कण्ठ के बिल संकोच करके ठोढी को अपने छाती पर दृढ़ रीति से स्थापित करे ।। ११० । तो अमृत को रोकने वाला इसको जालन्धर कहते हैं ।। १११ ।।

गुदंपाष्र्ण्यांतु संपीड्य पायुमाकुञ्चयेद्बलात् ।
बारम्वारं यथाचार्ध्वं समायाति समीरणः ।।

(योगशि० अ० १ श्लो० १०४)

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेनचैकताम् ।।
गत्वा योगस्य संसिद्धि यच्छतो नात्र संशयः ।।१०५।।

पार्ष्णि से गुदा मार्ग को भली प्रकार पीड़ित करके वायु को बल से इस प्रकार बारम्बार आकर्षण करे कि जिससे वह सुषुम्ना के ऊपर के भाग में पहुँच जाय यह मूल बन्ध कहा जाता है ।।१०४।। प्राण और अपान ये दोनों वायु तथा नाद और बिन्दु ये दोनो मूल बन्ध से एकता होकर योगी को योग की सिद्धि को देते हैं इसमें सन्देह नहीं है ।।१०५।। अब महाबन्ध १ महावेध २ विपरीतकरणी ३ बज्रोली ४ शक्तिचालन ५ इन पाँच मुद्राओं को दिखाता हूं ।

पार्ष्णिवामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ।।

(योगत० श्लो० ११२)



चिबुकं हृदिविन्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्ति धारयित्वातु रेचयेत् ।।११३।।

वामांगेनसमभ्यस्य दक्षांगेन ततोऽभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यःपादस्तमूरूपरि नामयेत् ।।११४।।

अयमेव महाबन्ध उभयत्रैनमभ्यसेत् ।। ११५ ।।

वाम पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के बीच में लगावे और दक्षिण पैर को पसार करे दोनों हाथों से बीच में दृढ़ पकड़े।।११२।। और ठोढ़ी को हृदय में जमाकर हवा से पेट को भरे इसके बाद यथाशक्ति कुम्भक करके रेचक करें।। ११३ ।। वाम अंग से अभ्यास करके फिर दक्षिण अङ्ग से अभ्यास करे और फैलाये हुये दाहिने पैर को वाम जंघा के ऊपर रख दे ।। ११४ ।। तो इसको महाबन्ध कहते हैं ।। ११५ ।।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वापूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।।

(योगत० श्लो० ११६)

पुटद्वयं समाक्रम्य वायुःस्फुरति सत्वरम् ।
अयमेव महावेधः सिद्धैरभ्यस्यतेऽनिशम् ।। ११७।।



महाबन्ध मुद्रा में स्थित योगी एकाग्र बुद्धि से पूरक करके जालन्धर मुद्रा से वायुओं के गति को रोक दे ।।११६।। तो शीघ्र ही प्राण और अपान वायु सुषुम्ना नाड़ी में चला जाता है इसका अभ्यास सदा सिद्ध लोग करते हैं इसको महावेध मुद्रा कहते हैं ।। ११७ ।। इसके करने से अणिमा आदि सिद्धियों की प्राप्ति होती है ।

करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्धनी ।।

(योगत० श्लो० १२२)

आहारो बहुलस्तस्य संपाद्यः साधकस्य च ।
अल्पाहारो यदिभवेदग्निर्देहं हरेत्क्षणात् ।।१२३।।

अधः शिरश्चोर्ध्व पादः क्षणंस्यात्प्रथमे दिने ।
क्षणाच्चकिञ्चिदधिकमभ्यसेत्तु दिनेदिने ।। १२४ ।।

वलीच पलितश्चैव षण्मासार्धान्न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्य मभ्यसेत्सतुकालजित्।।१२५।।

विपरीत करणी नाम की मुद्रा समस्त रोगों का नाश करने वाली है और सदा अभ्यास करने वालों के जठरानल को बढ़ाने



वाली है ।। १२२ ।। इस मुद्रा के अभ्यास करने वालों को अधिक भोजन करना चाहिये नहीं तो थोड़ा भोजन करने से क्षण भर में अग्नि देह को भस्म कर देता है ।।१२३।। अब क्रिया को कहता हूं कि पहला दिन नीचे शिर और ऊपर पैर करके क्षण भर ठहरे फिर प्रतिदिन एकएक क्षण बढ़ायके अभ्यास करे ।।१२४।। जो इस मुद्रा का तीन महीना अभ्यास करता है उसका लटका हुआ चाम भी पका हुआ बाल नहीं देखने में आता है और जो रोज-रोज एक-एक पहर पर्यन्त विपरीतकरणी को करता है वह मृत्यु को जीतता है ।। १२५ ।।

स्वेच्छयावर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
बज्रोली यो विजानाति सयोगी सिद्धिभाजनम् ।।१।।

जो योगोक्त नियम नहीं जानता हुआ भी अपनी इच्छा से वज्रोली को करता है वह सिद्धि को पाता है ।। १ ।।

तत्रवस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभंयस्यकस्यचित् ।
क्षीरञ्चैकंद्वितीयंतु नारीच वशवर्तिनी ।।२।।

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवानारी बज्रोली सिद्धमाप्नुयात् ।।३।।

इस मुद्रा में हर किसी को दो वस्तु दुर्लभ है ये दो अवश्य चाहिये स्त्री संगम के बाद पीने के लिये दुध और वश में रहनेवाली

स्त्री। स्त्री संगम करके मंद-मंद अपने इन्द्रिय से स्खलित वीर्य को रज के साथ खींच ले तो वज्रोली सिद्धि होती है ॥२।३।

वज्रोली से पहले जो क्रिया की जाती है उसको कहता हूं कि– चांदी या सीसा के लिंग के छेद में पैठने के योग्य खोखरी छेद वाली चौदह अंगुल की सलाई बनवा कर लिंग के छिद्र में पैठाने का अभ्यास करे। पहले दिन एक अंगुल मात्र पैठावे दूसरे दिन दो अंगुल और तीसरे दिन तीन अंगुल पैठावे इस प्रकार बारह अंगुल के प्रवेश होने पर लिंग का मार्ग शुद्ध हो जाता है फिर बारह अंगुल के उसी प्रकार की सलाई बनवावे जो दो अंगुल टेढ़ी हो और ऊर्ध्वमुखी हो उसको भी दस अंगुल लिंग के छिद्र में प्रवेश करे और जो टेढ़ा दो अंगुल मात्र है उसको बाहर रक्खे फिर सोनार के अग्निधमन के नाल की सदृश नाल को लेकर जो लिंग के बाहर टेढ़ा दो अंगुल मात्र है उसके बीच में पैठा कर फूंके तो लिंग के मार्ग की शुद्धि होती है तब इस मार्ग से जल के आकर्षण का अभ्यास करे इसके बाद वीर्य का आकर्षण करे तो वज्रोली सिद्धि होती है और जिसको खेचरी सिद्ध हो उसको वज्रोली सिद्धि होती है। जिसकी अपनी विवाही स्त्री न हो वह केवल जलही के आकर्षण करे उसी से वीर्य स्तम्भन हो जाता है। कभी भी पर स्त्री के संगम से वीर्याकर्षण न करे क्योंकि पर स्त्री को छूना भी शास्त्र में मना है।

कन्दोर्ध्वे कुण्डली शक्ति रष्टधा कुण्डलाकृतिः।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥

(योग चू० श्रु० ३६)



येनद्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम्।
मुखेनाच्छाद्यतद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥३७॥

प्रबुद्धावह्नि योगेन मनसा मरुतासह।
सूचीवद्गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ॥३८॥

उद्घाटयेत्कपाटंतु यथा कुञ्चिकया गृहम्।
कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥३९॥

कन्द स्थान के ऊपर आठ वृत्त करके वेष्टित कुण्डल के समान कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्म द्वार के मुख को अपने मुख से आच्छादित करके रहती है ॥३६॥ जिस सुषुम्ना द्वार करके अनामय पद मिलता है उस ब्रह्म द्वार को कुण्डलिनी मुख से ढ़ांक कर सोई हुई है ॥३७॥ आग के संयोग से जगी हुई वह मन और प्राण वायु के साथ सूची के समान गात्र को लेकर सुषुम्ना नाम के मध्य नाड़ी से ऊपर को जाती है ॥३८॥

जैसे तालीसे घर के किवाड़ खोला जाता है वैसे ही योगी कुण्डलिनी में मोक्ष के द्वार को खोलता है ॥३९॥

कृत्वासम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वातु पद्मासनम्।
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानञ्च तच्चेष्टितम्।
वारम्वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितम्।



मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावादतः ॥

(योगचू० श्रु० ४०)

दोनों हाथ के अञ्जली बांध के दोनों अञ्जली को हृदय में दृढ़ स्थापन करके पद्मासन करे और ठोढ़ी को हृदय में दृढ़तर लगाय के परमात्मा के शुभ विग्रह को ध्यान करे और बारम्बार अपान वायु को ऊपर खींच कर पूरक करे इसके बाद यथा शक्ति कुम्भक करके धीरे-धीरे रेचक करे इस प्रकार से कुण्डलिनी का बोध होता है और योगी को अपरिमित ज्ञान होता है कुण्डलिनी के प्रबोध करने वाली यही शक्ति चालन मुद्रा है ॥४०॥ इस मुद्रा के करने से जो पसीना हो उसको देह में मिला दे और लवण खट्टा मीठा तीता न खा केवल दूध खाय। करे तो एक वर्ष के ऊपर अवश्य सिद्ध होता है।

षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम्।
स्वदेहे योन जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् ॥

(योग चू० श्रु० ३)

मूलाधार चक्र १ स्वाधिष्ठान चक्र २ मणिपूरक चक्र ३ अनाहत चक्र ४ विशुद्ध चक्र ५ आज्ञा चक्र ६ इन छः चक्रों को और प्रथम आधार पादांगुष्ठ है इस पर एकाग्र दृष्टि करके ज्योति चैतन्य करे इससे दृष्टि स्थिर होती है १। दूसरा आधार मूलाधार इसे पैर की एड़ी से दबाना इससे जठराग्नि दीप्त होता है२। तीसरा गुदाधार इसके संकोच विकास के अभ्यास करने से अपान वायु वज्र



नाड़ी में पैठता है ३। चौथा बिन्दु आधार इसके आकर्षण के अभ्यास से वज्रोली करने की सामर्थ्य होती है ४। पांचवां उड्डीयान बन्ध आधार है इसके करने से मल मूत्र कृमि का नाश होता है ५। छठवां नाभि मण्डल आधार है जिसमें नारायण का ध्यान करने से नाद उत्पन्न होता है ६। सातवां हृदय आधार है इसमें प्राण वायु को रोकने से हृदय कमल विकसित होता है ७। आठवां कण्ठ आधार है इसमें ठोढ़ी हृदय पर दृढ़ लगावे तो वायु स्थिर होता है ८। नौवां क्षुद्रघंटिका आधार है उस तक जीभ पहुंचावे तो अमृत रस मिलता है ९। दशवां जीभ का मूल आधार है इसमें खेचरी मुद्रा करने से खेचरी सिद्धि होती है १०। ग्यारहवां जीभ का अधोभाग आधार है जिसमें जिह्वाग्र से मथन करके दिव्य कविता शक्ति होती है ११। बारहवां ऊर्ध्वदन्त मूल आधार है जिसमें जिह्वाग्र स्थापन करने से रोग दूर होता है १२। तेरहवां नाक के अग्र भाग आधार है जिसमें दृष्टि स्थिर करने से मन स्थिर होता है १३। चौदहवां नासिका मूल आधार है जिसमें दृष्टि स्थिर करने से छः महीने में ज्योति प्रत्यक्ष होती है १४। पन्द्रहवां भ्रूमध्य आधार है जिसमें अचल दृष्टि के अभ्यास करने से सूर्य्य के किरणों के समान ज्योति प्रकाश होती है १५। सोलहवां नेत्र आधार है जिनके मूल में अंगुली से मीसने पर वर्तुलाकार बिन्दु समान इन्द्र धनुष के तुल्य ज्योति दिखाई देती है उसको देखने का अभ्यास करने से ज्योति प्रत्यक्ष होती है १६। इन सोलह आधारों को और तीन लक्ष्यों को तथा पृथ्वी जल अग्नि वायु आकाश इन पांचों तत्वों को जो योगी अपने देह में नहीं जानता है उसको योग सिद्धि नहीं होती है ॥३॥

चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानञ्च षड्दलम् ।
नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम् ॥

(योग चू० मु० ४)

षोडशारं विशुद्धाख्यं भ्रूमध्ये द्विदलं तथा ।
सहस्रदल संख्यातं ब्रह्मरन्ध्रे महापथि ॥ ५ ॥

आधार चक्र जो गुदा द्वार है उसमें चार दल वाला कमल और स्वाधिष्ठान चक्र जो लिंग मूल है उसमें छः दल वाला कमल और मणिपूर चक्र जो नाभि मूल है उसमें दश दल वाला कमल और अनाहत चक्र जो हृदय में है वहां पर बारह दल वाला कमल और विशुद्ध चक्र जो कण्ठ स्थान में है वहां पर सोलह दल वाला कमल और आज्ञा चक्र जो भ्रूमध्य में है वहां पर दो दल वाला कमल वर्तमान है इसके ऊपर जो ब्रह्मरन्ध्र मार्ग है वहां पर हजार दल वाला कमल है ॥ ४ ॥ ५ ॥

आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ।
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते ॥ ६ ॥

कामाख्यंतु गुदस्थाने पङ्कजन्तु चतुर्दलम् ।
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्यासिद्ध वन्दिता ॥७॥

तस्यमध्ये महा लिंगं पश्चिमाभि मुख स्थितं ।



नाभौतु मणिवद्बिम्बं यो जानाति सयोगवित् ॥८॥

पहला जो मूलाधार चक्र और दूसरा जो स्वाधिष्ठान चक्र इन दोनों के बीच में योनि स्थान है और यही काम रूप पीठ भी है॥६॥ गुदा मार्ग में जो चार दल वाला कामाख्य कमल है उसके बीच में योनि है जिसकी वन्दना सिद्ध जन करते हैं यही कामाख्या पीठ है ॥७॥ योनि के बीच में सुषुम्णा द्वार के सम्मुख स्थित महालिंग है उसके नाभि में मणि के समान देदीप्यमान बिम्ब है यही कुण्डलिनी मोक्ष द्वार है । इसे जो सम्यक् प्रकार से जानता है वह योग वेत्ता है ॥८॥

तप्तचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरन् ।
त्रिकोणं तत्पुरं वह्नेरधोमेढ्रात्प्रतिष्ठितम् ॥ ९ ॥

समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे महायोगे याता यातोन- विद्यते ॥१०॥

लिंग स्थान से नीचे स्थित तपाया हुआ सोना के समान वर्ण और बिजुली के समान चमक दमक वाला जो त्रिकोण है वही कालाग्नि का स्थान है ॥९॥ इसी त्रिकोण विषय समाधि में अनन्त सब संसार में व्याप्त होने वाली परम ज्योति प्रकट होती है उस ज्योति को जो योगी देख लेता है उसका फिर से जन्म मरण नहीं होता है ॥१०॥



स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ।
स्वाधिष्ठानाख्यया तस्मान्मेढ्रमेवाभिधीयते ॥

(योग चू० मु० ११)

तन्तुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुम्नया ।
तन्नाभि मण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् ॥१२॥

द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपाप विवर्जिते ।
तावज्जीवो भ्रमत्येव यावत्तत्त्वं न विन्दति ॥१३॥

स्वशब्द प्राण का बोधक है इसका आश्रय लिंग मूल है प्राण का अधिष्ठान होने से इसे मेढ़ कहते हैं ॥११॥ जैसे डोरा में मणि गुथा रहता है वैसे ही सुषुम्ना नाड़ी में कन्द गुथा हुआ है उस नाभि मण्डल में मणि पूरक चक्र है ॥१२॥ पुण्य पाप से रहित बारह दल वाला अनाहत चक्र में जब तक जीव योग से तत्व को नहीं जानता है तब तक संसार में आता जाता रहता है ॥१३॥

ऊर्ध्वं मेढ्रादधोनाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत् ।
तत्रनाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणांद्विसप्ततिः ॥१४॥

तेषु नाडी सहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता ।
प्रधानाः प्राण वाहिन्यो भूयस्तासु दशस्मृताः ॥१५॥



लिंग से ऊपर और नाभि के नीचे कन्द समस्त नाड़ियों का उत्पत्ति स्थान पक्षि के अण्ड के तुल्य आकार वाला है और वहां ही पर बहत्तर हजार नाड़ी उत्पन्न हुए है ॥ १४ ॥ उन बहत्तर हजार नाड़ियों में मुख्य बहत्तर ही हैं इनमें भी प्राण वायु को चलाने वाली प्रधान दश ही नाड़ी हैं ॥ १५ ॥

इडाच पिंगला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।
गांधारी हस्तिजिह्वा च पूषाचैव यशस्विनी ॥१६॥

अलम्बुषा कुहूश्चैव शंखिनी दशमीस्मृता ।
एतन्नाडी महाचक्रं ज्ञातव्यंयोगिभिः सदा ॥१७॥

इडा १ पिङ्गला २ सुषुम्ना ३ गान्धारी ४ हस्तिजिह्वा ५ पूषा ६ यशस्विनी ७ अलंबुषा ८ कुहू ९ शंखिनी १० ये मुख्य नाड़ियों के नाम हैं यह नाड़ी महा चक्र योगियों को सदा जानना चाहिये ॥ १६ ॥ १७ ॥

इडा वामेस्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ।
सुषुम्ना मध्यदेशे तु गान्धारी वाम चक्षुषि ॥१८॥

दक्षिणे हस्ति जिह्वाच पूषा कर्णे च दक्षिणे ।
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुषा ॥१९॥

कुहूश्च लिंग देशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ।

एतां द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ति नाडयः क्रमात् ॥२०॥

वाम नाक में इडा नाड़ी और दाहिना नाक में पिङ्गला नाड़ी और इन दोनों के बीच में सुषुम्ना नाड़ी तथा वाम नेत्र में गान्धारी नाड़ी रहती है ॥१८॥ और दाहिना नेत्र में हस्तिजिह्वा नाड़ी तथा दाहिना कान में पूषा नाड़ी वाम कान में यशस्विनी नाड़ी और मुख में अलम्बुषा नाड़ी रहती है ॥१९॥ और लिंग देश में कुहू नाड़ी तथा गुदा में शंखिनी नाड़ी रहती है इस प्रकार ये दश नाड़ी प्राण वायु के एक एक द्वार को आश्रय करके रहते हैं ॥२०॥ जब वाम नाक से स्वांस आता हो तो शुभ कर्म करे तथा दाहिना नाक से स्वर आता हो तो क्रूर कर्म करे और सुषुम्ना का प्रवाह हो तो योग के कर्म करे तो सिद्ध होता है।

प्राणापान समानाख्या व्यानोदानौच वायवः ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥

(योग सू० श्लो० २२)

हृदि प्राणः स्थितो नित्य मपानो गुदमण्डले ।
समानो नाभिदेशे तु उदानः कण्ठमध्यगः ॥
व्यानः सर्व शरीरेषु प्रधानाः पञ्चवायवः ॥२४॥

उद्गारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा ।
कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥२५॥



न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनञ्जयः ।
एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥२६॥

प्राण १ अपान २ समान ३ उदान ४ व्यान ५ नाग ६ कूर्म ७ कृकल ८ देवदत्त ९ धनञ्जय १० ये दश वायु शरीर में हैं ॥२२॥ हृदय में प्राण वायु और गुदा मार्ग में अपान वायु नाभि देश में समान वायु और कण्ठ के मध्य में उदान वायु रहता है ॥२३॥ और व्यान वायु सब शरीर में रहता है इस प्रकार से ये पाच वायु प्रधान हैं ॥२४॥ उगिलना नाग वायु का कर्म है आंख खोलना यह कूर्म वायु का कर्म छींकना कृकर वायु का कर्म है और जम्हाना देवदत्त वायु का कर्म है ॥२५॥ और धनञ्जय वायु समस्त शरीर में व्याप्त रहता है मरे शरीर को भी चार घटि पर्यन्त यह नहीं छोड़ता है जीव रूपी ये सब नाड़ियों में घूमा करते हैं ॥ २६ ॥ दश नाड़ी और दश वायु को कह करके अब पांचो तत्वों के आकार और स्थान को कहता हूं।

पादादि जानु पर्यन्तं पृथिवी स्थानमुच्यते ।
पृथिवी चतुरस्रं तु पीतवर्णं लवर्णकम् ॥

(योगत० श्लो० ८४)

पैर से जंघा पर्यन्त पृथिवी का स्थान है और लवर्ण चार कोना पीत रंग पृथ्वी का है ॥८४॥



जान्वोः पायुपर्यन्तं अपां स्थानं प्रकीर्तितम् ।
आपोऽर्ध चन्द्रं शुक्लञ्च वंबीजं परिकीर्तितम् ॥

(योगत० श्लो० ८८)

जंघा से गुदा पर्यन्त जल का स्थान है और वंबीज आधा चन्द्रमा के सदृश शुक्ल वर्ण जल का है ॥८८॥

आपायोर्हृदयान्तञ्च वह्नि स्थानं प्रकीर्तितम् ।
वह्निस्त्रिकोणं रक्तञ्च रेफाक्षर समुद्भवम् ॥

(योगत० श्लो० ९१)

गुदा से हृदय पर्यन्त अग्नि का स्थान और रंबीज त्रिकोणाकार लाल वर्ण अग्नि का है ॥९१।

आहृदयाद् भ्रुवोर्मध्यं वायुस्थानं प्रकीर्तितम् ।
वायुःषट्कोणकं कृष्णं यकाराक्षर भासुरम ॥

(योगत० श्लो० ९४)

हृदय से लेकर भ्रू पर्यन्त वायु का स्थान है और यंबीज षट्कोणाकार तथा काला वर्ण वायु का है ॥९४॥

आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।



व्योमवृत्तञ्च धूम्रञ्च हकाराक्षर भासुरम् ॥

(योगत श्लो० ९७)

भ्रूमध्य से लेकर मस्तक पर्यन्त आकाश का स्थान है और हंबीज शून्याकार चितिम वर्ण आकाश का है ॥९७॥ दर्पण में मुख को देखकर श्वास को छोड़े और आकारों को देखकर पण्डित जन तत्व निर्णय करे। मध्य में पृथ्वी तत्व और नीचे जल और ऊपर अग्नि और तिरछा वायु तत्व चलता है और दोनों नाक के स्वर चलता हो तो आकाश तत्व जानना चाहिये। पृथिवी-तत्व बारह अंगुल जल तत्व सोलह अंगुल, अग्नि तत्व चार अंगुल, वायु तत्व आठ अंगुल चलता है और आकाश तत्व सबसे मिला जुला हुआ चलता है। अब इन सबों का पीत आदि जो वर्ण है उसको जानने के लिये उपाय लिखता हूं।

सम्यग्बद्धासन मेढ्रमङ्घ्रि युगलं कर्णाक्षिनासापुट
द्वारादङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम् ।
बध्वा वक्षसि वह्वपानसहितं मूर्ध्नि स्थिरं धारयेदेवं
यान्ति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मयः ॥

(योगसू० श्लो० ११४)

वाम पैर के एड़ी को लिंग के नीचे योनि स्थान में दबा कर के दाहिना पैर के एड़ी को लिंग के ऊपर दृढ़ लगा कर आसन बांधे

इसके बाद मुख से वायु को खींच कर पूरक करे और दोनों कानों को दोनों अंगूठों से और दोनों नेत्रों को तर्जनी अंगुलियों से और दोनों नासिका के पुटों को मध्य की अंगुलियों से और मुख के छिद्र को अनामिका कनिष्ठा इन अंगुलियों से रोक दे और छाती पर ठोडी को जमाकर मस्तक में वायु को रोके तो तत्वों के पीत आदि जो वर्ण हैं सो ज्ञात हो जाता है और योगेश्वर लोग परमात्मा को भी प्राप्त कर लेते हैं ॥११४॥ अब षट् क्रियाओं को कहता हूं।

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥१॥

जिस पुरुष के मेदा और श्लेष्मा आदि अधिक होय वह पुरुष प्राणायाम से पहले छः कर्मों को करे और जिसको मेदा आदिक अधिक न हो वह पुरुष नहीं करे तो अनेक प्रकार के रोग उत्पन्न होता है ॥१।

नेतिर्धौतिस्तथावस्ति त्राटकं नौलिकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥१॥

नेति १ धौति २ बस्ति ३ त्राटक ४ नौलि ५ कपाल भाति ६ इस भेद से बुद्धिमानों ने ये छः कर्म योग में कहे हैं। ये छः कर्म गुप्त करने योग्य हैं और देह के मल को दूर करते हैं ॥२॥

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।



मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥१॥

वस्त्र सीने वाला तागा लेकर बीता भर के पचीस गुणीत करके गुंथन करे और उसमें मोम लगावे और चिकन करे इसके बाद उस रस्सी के पिछले भाग में पचीस तागा वाला एक बीता के सूत जो गुंथा न हो उसको लगादे पश्चात जल से भें करके गुंथा हुआ भाग को नाक के छिद्र में प्रवेश करे और जब वह गला में स्पर्श करे तो मुख में दहने हाथ की मध्यमा और तर्जनी अंगुली प्रवेश करके धीरे-धीरे बाहर निकाल ले जब गुंथा हुआ भाग मुख से बाहर आ जाय तो नाक में स्थित जो तागा का पिछला भाग उसको दूसरे हाथ से पकड़ कर के दो तीन बार चलावे पश्चात शनैः शनैः मुख से बाहर निकाल लेवे तो इसे नेति कर्म सिद्ध जन कहते हैं ॥१॥

कपाल शोधिनी चैव दिव्य दृष्टि प्रदायिनी ।
जत्रूर्ध्वजात रोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥२॥

यह नेति क्रिया कपाल तथा नासिका आदि के मल दूर करके दिव्य दृष्टि देती है और कण्ठ से ऊपर के समस्त रोग समूह को शीघ्र नष्ट करती है ॥२॥

चतुरंगुल विस्तारं हस्तपंचदशायतम् ।
गुरूपदिष्ट मार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौति कर्म तत् ॥१॥



चार अंगुल चौड़ा और पन्द्रह हाथ लम्बा सूक्ष्म वस्त्र लेकर गुरु के उपदेश किये मार्ग से गरम जल या दूध में सींच कर शनैःशनैः मुख द्वारा पहला दिन एक हाथ दूसरा दिन दो हाथ इस प्रकार से एक एक हाथ बढ़ा करके भोजन के समान निगले और उसके एक किनारे को दांत से दबाकर नौलि कर्म करे पश्चात शनैः शनैः बाहर निकाल डाले तो इसे सिद्धों ने धौति कर्म कहा है ॥१॥

कासश्वास प्लीह कुष्ठं कफ रोगाश्च विंशतिः ।
धौतिकर्म प्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ॥२॥

कास श्वास पील्हा कुष्ठ और बीस प्रकार के कफ रोग ये सब धौति कर्म के प्रभाव से नष्ट होते हैं इसमें सन्देह नहीं है ॥२॥

नाभिदघ्ने जले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ।
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं वस्ति कर्म तत् ॥१॥

कनिष्ठिका अंगुली के पैठने योग्य छेद वाला छः अंगुल लम्बा कोमल बांस के नल को लेकर गुदा द्वार में चार अंगुल प्रवेश करके दो अंगुल बाहर रखे पश्चात नाभि भर स्वच्छ जल में उत्कटासन में बैठ कर गुदा द्वार को आकुञ्चन करके पेट में जल को चढ़ावे पश्चात् नौलि कर्म करके बाहर छोड़ दे जो किञ्चित मात्र पेट में जल रह आवे तो मयूरासन से बाहर निकाल देवें तो इसको बस्ति कर्म कहते हैं ॥१॥ धौति और बस्ति कर्म करके शीघ्र भोजन करना चाहिये नहीं तो रोग उत्पन्न होता है।



गुल्म प्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ।
बस्ति कर्म प्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ॥२॥

बस्ति कर्म के प्रभाव से गुल्म प्लीह जलोदर और वात पित्त कफ से उत्पन्न हुये सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं।

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्म लक्ष्यं समाहितः ।
अश्रु सम्पात पर्यन्तं माचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥१॥

एकाग्र चित्त करके मनुष्य निश्चल दृष्टि से लघु पदार्थ को तब तक देखे जब तक अश्रुपात न हो तो इसको आचार्य आदि त्राटक कहते हैं ॥१॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटक पेटकम् ॥२॥

यह त्राटक कर्म नेत्र रोग नाशक और आलस्य निद्रा आदि का केवाड़ है जैसे सुवर्ण की पेटी संसार में यत्न से रखते हैं वैसे ही इस त्राटक को सदा गुप्त रखना चाहिये ॥२॥

अमन्दा वर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥१॥

धड़ को नीचे करके दोनों हाथ कंधों पर करे पश्चात् दोनों नालों

को उठा करके जल भ्रम के समान पेट को घीमता है बारम्बार बांयें दाहिने से फिरावे तो इसको सिद्ध योग नौलि कहते हैं ॥१॥

मन्दाग्निसंदीपन पाचनादि संधापिकानन्दकरी सदैव ।
अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रियामौलिरियंहिनौलिः ॥२॥

यह नौलि क्रिया मंदाग्नि को बढ़ाय के भोजन किये पदार्थों को शीघ्र परिपाक करने वाली समस्त वातादि-रोगों को सुखाने वाली सदा आनन्द देने वाली है इससे यह नौलि हठ क्रियाओं में शिरोमणि है ॥२॥

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोष विशोषणी ॥ १ ॥

लोहार की धौंकनी की नाईं शीघ्र शीघ्र जो प्राण का रेचक पूरक करना है तिसका नाम कपाल भाति क्रिया है इससे कोस प्रकार के कफ रोग दूर होते हैं ॥१॥ इस क्रिया से प्रथम शरीर की शुद्धि करके प्राणायाम करने से शीघ्र ही प्राणों का निरोध हो जाता है। इससे जिसका मेदा और श्लेष्मा अधिक हो वह इन षट् कर्मों को अवश्य करे। अब सब योगों में राजा जो राज योग है और जिसमें सम्पूर्ण योग अन्तर्भाव होता है उस योग को उपनिषदों के अनुसार मैं निरूपण करता हूं।

योऽपान प्राणयोरैक्यं स्वरजो रेतसोस्तथा ।



सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्म परमात्मनोः ॥

(योग शि० सू० ६८)

एवंतुद्वन्द्व जालस्य संयोगो योग उच्यते ॥६६॥

योग शिखोपनिषद में लिखा है कि प्राण वायु और अपान वायु की एकता तथा अपना रज और रेत तथा सूर्य नाड़ी और चन्द्र नाड़ी तथा जीवात्मा और परमात्मा इन सबों के संयोग को योग कहते हैं ॥६८॥६६॥ श्रीमद्भगवद्गीता में भी राज योग का लक्षण लिखा है कि ॥ समत्वं योग उच्यते ॥

(भगवद्गी० अ० २ श्लोक० ४८)

समता को योग कहते हैं ॥४८॥ और पातञ्जल योग सूत्र में भी लिखा है कि

योगश्चित्त वृत्ति निरोधः ॥

(योगद० अ० १ पा०१ सू० २)

पांच प्रकार की चित्तवृत्तियों को जो रोकना है तिसका नाम राज योग है ॥२॥ सो तिन पांच वृत्तियों के नाम और लक्षण भी श्री पतंजलि जी ने कहा है

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रास्मृतयः

(यो० पा० १ सू० ६)



प्रमाण १ विपर्यय २ विकल्प ३ निद्रा ४ स्मृति ५ ये पांच चित्त की वृत्तियां हैं ॥६॥ तिनमें ॥

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।

(यो० पा० १ सू० ७)

प्रत्यक्ष अनुमान आगम ये तीन प्रमाण हैं ॥७॥

तीन में इन्द्रिय और अर्थ के व्यवधान रहित संयोग से घट पट आदिक अर्थों का जो विशेष रूप करके ज्ञान होता है उसको प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। और धूमादिक लिंग से दूरस्थ अग्नि आदिक पदार्थों का जो सामान्य रूप से ज्ञान होता है उसको अनुमान प्रमाण कहते हैं। तथा यथार्थ वक्ता पुरुष का जो वाक्य है उसको आगम प्रमाण कहते हैं। इन तीनों प्रमाणों में और सब अन्तर्भूत हो जाते हैं ॥

विपर्ययोमिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठितम् ।

(यो० पा० १ सू० ८)

अपने स्वरूप से विरुद्ध जो मिथ्या ज्ञान बुद्धि में स्थित हो उसको विपर्यय कहते हैं ॥८॥

शब्द ज्ञानानुपाती वस्तु शून्यो विकल्पः ॥

(यो० पा० १ सू० ९)



शब्द जन्य ज्ञान के अनुसार जो वस्तु है शून्य हो उसको विकल्प कहते हैं ॥९॥ तथा।

अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा

(यो० पा० १ सू० १०)

[जाग्रत तथा स्वप्न वृत्तियों के] अभाव के कारण तमोगुण को विषय बनाने वाली वृत्ति निद्रा है।

अनुभूत विषयासंप्रमोषः स्मृतिः

(यो० पा० १ सू० ११)

प्रत्यक्षादिक प्रमाण कर के अनुभव किये हुये पदार्थों का जो अन्य काल में संस्कार द्वारा स्मरण होना है उसको स्मृति कहते हैं ॥११॥ इन पांच वृत्तियों के रोकने का उपाय भी कहा है।

अभ्यास वैराग्याभ्यांतन्निरोधः ॥

(यो० पा० १ सू० १२)

अभ्यास और वैराग्य से चित्त की वृत्तियां रुकती हैं ॥१२॥ और

तत्रस्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥

(यो० पा० १ सू० १३)

चित्त वृत्तियों के निरोध के उपाय जो यम नियमादिक उनमें प्रयत्न करना अभ्यास है ॥१३॥ और

दृष्टानुश्रविक विषय वितृष्णस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम् ॥

(यो० अ० १ पा० १ सू० १५)

जो स्त्री अन्न पान आदि सुख देखे जाते हैं और जो गुरुमुख से सुने जाते हैं इन दोनों विषयों को तृष्णा त्यागकर मन को वश करने को वशीकार संज्ञा वैराग्य कहते हैं ॥१५॥ और

तत्परं पुरुष ख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ॥

(यो० अ० १ पा० १ सू० १६)

पुरुष ख्याति से और वशीकार संज्ञक वैराग्य से श्रेष्ठ जो तीन गुणों के विषयों की तृष्णा से रहित होता है उसको गुण वैतृष्ण्य संज्ञक पर वैराग्य कहते हैं ॥१६॥ अब राज योग के आठ अंगों को दिखाता हूं ।

यमश्च नियमश्चैव तथा चासनमेव च ।
प्राणायामस्तथा पश्चात्प्रत्याहारस्तथापरम् ॥

(वराहो० अ० ५ मं० ११)

धारणा च तथा ध्यानं समाधिश्चाष्टमो भवेत् ॥१२॥



वराहोपनिषद् में लिखा है कि यम १ नियम २ आसन ३ प्राणायाम ४ प्रत्याहार ५ और धारणा ६ ध्यान ७ समाधि ८ ये आठ राजयोग के अंग हैं ॥ १२ ॥ यह योग दर्शन में भी लिखा है ।

यम नियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावंगानि ॥

(यो० अ० २ पा० २ सू० २९)

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि ये आठ योग के अंग हैं ॥२९॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।
क्षमाधृतिर्मिताहारः शौचंचेतियमा दश ॥

(वरा० अ० ५ मं० १३)

अहिंसा १ सत्य २ अस्तेय ३ ब्रह्मचर्य ४ दया ५ कोमलता ६ क्षमा ७ धीरता ८ मिताहार ९ शौच१०ये दश यम हैं ॥१३॥ और शाण्डिल्योपनिषद् में तथा जाबाल दर्शनोपनिषद् में दश यम कहा है इससे योग दर्शन में जो पांच ही कहा है वह वेद विरुद्ध होने से त्याज्य है इस बात को भगवान वेद व्यास जी ने भी

॥ एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥

(ब्र० सू० अ० २ पा० १ सू० ३)



इस शारीरिक सूत्र करके कहे हैं और श्री भाष्यकार भी उस सूत्र के भाष्य में यही कहे हैं कि जो वेद से विरुद्ध योग शास्त्र का सिद्धान्त है वह इस सूत्र से खण्डन हो गया यहां पर बहुत से लोग यह कहते हैं कि

॥ एतेन योगः प्रत्युक्तः ॥

(ब्र० सू० अ० २ पा० १ सू० ३)

इस शारीरिक सूत्र करके श्री वेदव्यास जी ने समस्त योग शास्त्र का खण्डन किया है इससे योगाभ्यास नहीं करना चाहिये परन्तु बुद्धिमानों को विचार करना चाहिये कि यदि श्री वेद व्यास जी का योग शास्त्र के खण्डन में तात्पर्य रहता तो अपने बनाये हुवे पुराणों में और महाभारत में कुत्रचित् योग का वर्णन और योगाभ्यास करने को क्यों लिखते और यह भी बात है कि जब उपनिषदों में योग का वर्णन है तो परम वैदिक भगवान वेद व्यास जी योग को कैसे खण्डन कर सकते हैं । इससे योग शास्त्र में जो वेद से विरुद्ध बातें हैं उन्हीं को वेद व्यास जी खण्डन किये हैं इसी से पूर्वाचार्यों ने योगांश स्वीकार किया है अतः वैदिक मत वालों को अवश्य योगाभ्यास करना चाहिये । इस विषय में ग्रन्थ के विस्तार के भय से अधिक मैं नहीं लिखता हूं । अब अहिंसादिक को निरूपण करता हूं ।

तत्र हिंसा नाम मनो वाक्काय कर्मभिः सर्व भूतेषु सर्वदा क्लेश जननम् ॥

(शाण्डिल्योप० ख० १)

सर्वदा मन वाणी शरीर के कर्म से सब जीवों को दुःख देना इसको हिंसा कहते हैं और इससे जो विरुद्ध हो उसको अहिंसा कहते हैं ॥ १ ॥

सत्यं नाम मनो वाक्काय कर्मभिर्भूत हित यथार्थाभि भाषणम् ।

(शा० ख० १)

मन वाणी शरीर के कर्म से जीवों के हितार्थ जो कहा जाता है उसको सत्य कहते हैं ॥ १ ॥

अस्तेयं नाम मनोवाक्काय कर्मभिः परद्रव्येषु निस्पृहा ॥

(शा० ख० १

मन वाणी और शरीर के कर्मों से पर द्रव्य में स्पृहा न करना इसको अस्तेय कहते हैं ॥ १ ॥

ब्रह्मचर्यं नाम सर्वावस्थासु मनो वाक्काय कर्मभिः सर्वत्र मैथुन त्यागः ॥

(शा० ख० १

सब अवस्थाओं में मन वाणी और शरीर के कर्मों से मैथुन त्याग देना इसको ब्रह्मचर्य कहते हैं ॥ १ ॥

दया नाम सर्वभूतेषु सर्वत्रानुग्रहः ।

(शा० सू० १)

सर्वत्र सब जीवों पर अनुग्रह करना इसको दया कहते हैं॥१॥

आर्जवं नाम मनो वाक्काय कर्मणांविहिता विहिते-षुजनेषु प्रवृत्तौनिवृत्तौ वा एक रूपत्वम् ॥

(शा० सू० १)

वेद विहित या अविहित कायिक वाचिक और मानसिक कर्मों में प्रवृत्त हों या निवृत्त हों उन जनों में जो एक रूपता उसको आर्जव कहते हैं ॥ १ ॥

क्षमा नाम प्रियाप्रियेषु सर्वेषु ताडनपूजनेषु सहनम् ॥

(शा० सू० १)

प्रिय वा अप्रिय करे ताड़े या पूजे इन सबों को सह लेना इसको क्षमा कहते हैं ॥ १ ॥

धृतिर्नामार्थ हानौ स्वेष्ट बन्धु वियोगे तत्प्राप्तौ सर्वत्र चेतः स्थापनम् ॥

(शा० सू० १)



अर्थ के लाभ और हानि में तथा अपने इष्ट बन्धु के वियोग और प्राप्ति में सर्वदा चित्त को दृढ़स्थापन करना इसको धृति कहते हैं ॥ १ ॥

मिताहारो नाम चतुर्थांशावशेष सुस्निग्ध मधुराहारः ॥

(शा० सू० १)

पेट के चौथा भाग बचा के सुन्दर स्निग्ध और मीठा भोजन करना इसको मिताहार कहते हैं ॥ १ ॥

शौचं नाम द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरं चेति । तत्र मृज्जलाभ्यां बाह्यं ॥ मनः शुद्धिरान्तरम् । तदध्यात्म विद्ययाऽऽलभ्यम् ॥

(शा० सू० १)

शौच बाह्य और आभ्यन्तर इस भेद से दो प्रकार के होते हैं उसमें मिट्टी और जल से बाह्य शौच होता है। और मन की शुद्धि से आभ्यन्तर शौच होता है। वह आभ्यन्तर शौच ब्रह्म विद्या से प्राप्त होता है ॥ १ ॥ अब यम साधन से जो फल होता उसको कहता हूं।

अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ॥

(यो० प्र० १ पा० २ सू० ३५)



जो योगी हिंसा को त्याग देता है उसके समीप में अन्य सब जीवों का वैर भाव छूट जाता है ॥ ३५ ॥

सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।

(यो० प्र० १ पा० २ सू० ३६)

जो योगी सर्वदा सच्चा बोलता है उसकी वाणी क्रिया और मनोरथ सब सच्चे होते हैं ॥ ३६ ॥

अस्तेय प्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ॥

(यो० प्र० १ पा० २ सू० ३७)

जब साधक पुरुष चोरी को त्याग देता है तब उसको सब स्थान में रत्न प्राप्त होता है ॥ ३७ ॥

ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ॥

(यो० प्र० १ पा० सू० ३८)

जो योगी ब्रह्मचर्य पालन करता है उसको बल प्राप्त होता है ॥३८॥ जो योगी जीवों पर सर्वदा दया रखता है उसको संसार में निर्दयी कोई भी नहीं मिलता है। जो योगी कोमल स्वभाव वाला हो जाता है उसके समीप में अन्य सब जीव भी कोमल ही रहते हैं। जो योगी क्षमा रखता है उसके पास में क्रोधी भी नर शान्त हो [illegible]



प्रकार से उद्विग्न नहीं होता है। जो सर्वदा मिताहार करता है उसको कभी भी रोग अत्यन्त पीड़ित नहीं करता है। अब शौच का फल कहता हूं।

शौचात्स्वांगजुगुप्सापरैरसंसर्गः ॥

(यो० प्र० १ पा० २ सू० ४०)

बाह्य शौच से अपने अंगों में घृणा और दूसरे से अपना शरीर मिलाने में संकोच करके सदा अलग रहता है ॥ ४० ॥

सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रिय जयात्म दर्शन-योग्यत्वानि च ॥

(यो० प्र० १ पा० २ सू० ४१)

और आभ्यन्तर शौच से अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा मन की प्रसन्नता होती है और चित्त का ऐकाग्र्य होता है तथा इन्द्रियों को जीतता है इसके बाद आत्म दर्शन के योग्य होता है ॥४१॥

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।
सिद्धान्त श्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्चजपो व्रतम् ।
एतेहि नियमाःप्रोक्ता दशधैव महामते ।

वराहोपनिषद् में लिखा है कि, तप १ सन्तोष २ आस्तिकता ३ दान ४ ईश्वर की पूजा ५ सिद्धान्त श्रवण ६ लज्जा ७ मति ८ जप ९ और व्रत १० हैं महामते ये दस प्रकार के नियम हैं ॥१४॥ इससे विरुद्ध योग दर्शन में जो पांच ही नियम लिखा है वह वैदिक मतवालों को नहीं मानना चाहिये।

अब तप आदिक को निरूपण करता हूं।

तत्र तपोनामविध्युक्तकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः शरीर शोषणम् ॥

(शा० श्रु० २)

वेद विहित कृच्छ्र चान्द्रायण आदि से देह को सुखा देना इसको तपस्या कहते हैं ॥२॥

संतोषोनामयदृच्छालाभ संतुष्टिः ॥

(शा० श्रु० २)

जो प्रारब्धानुसार अनिच्छित लाभ हो उससे सन्तुष्ट रहे उसको सन्तोष कहते हैं ॥२॥

आस्तिक्यं नाम वेदोक्तधर्माधर्मेषुविश्वासः ॥

(शा० श्रु० २)



वेदोक्त धर्म और अधर्म में विश्वास करना इसको आस्तिक्य कहते हैं ॥२॥

दानं नामन्यायार्जितस्य धनधान्यादेःश्रद्धयार्थिभ्यः प्रदानम् ॥

(शा० श्रु० २)

न्याय से उपार्जित धन धान्य आदिक को श्रद्धा से दुखियों को दिया जाता है उसको दान कहते हैं ॥२॥

ईश्वर पूजनं नाम प्रसन्नस्वभावेन यथा शक्ति विष्णुरुद्रादि पूजनम् ॥

(शा० श्रु० २)

प्रसन्न स्वभाव से यथा शक्ति विष्णु आदि देवों की मूर्तियों के पूजन को ईश्वर पूजन कहते हैं ॥२॥ यहां पर आधुनिक अल्पज्ञ लोग यह कहते हैं कि मूर्ति पूजा वेद में नहीं लिखी हुई है परन्तु जो लोग वेदाध्ययन किये होंगे उनको मालूम हो गया होगा कि वेद में मूर्ति पूजा के विषय में बहुत से प्रमाण हैं परन्तु ग्रन्थ के विस्तार के भय से मैं नहीं लिखता हूं यदि किसी प्रिय सज्जन को सन्देह हो तो मेरा बनाया हुआ वैदिक मूर्ति पूजादर्श ॥ नाम की पुस्तक को देखें।

सिद्धान्तश्रवणंनामवेदान्तार्थ विचारः ॥

(शा० श्रु० २)

वेदान्त के अर्थ का विचार करना इसको सिद्धान्त श्रवण कहते हैं ॥२॥

ह्रीर्नामवेदलौकिक मार्ग कुत्सितकर्मणि लज्जा ॥

(शा० श्रु० २)

वैदिक और लौकिक मार्ग से निन्दित जो कर्म उसमें लज्जा करना इसको ह्री कहते हैं।

मतिर्नामवेदविहित कर्ममार्गेषु श्रद्धा ॥

(शा० अ० १ श्रु० २)

वैदिक मार्गों में श्रद्धा करना इसको मति कहते हैं ॥२॥

जपोनामविधिवद्गुरूपदिष्ट वेदाविरुद्ध मंत्राभ्यासः ॥ तद्द्विविधंवाचिकंमानसं चेति । मानसंतु मनसाध्यानयुक्तम् । वाचिकंद्विविधमुच्चैरुपांशुभेदेन । उच्चैरुच्चारणं यथोक्तफलम् । उपांशु सहस्रगुणम् । मानसं कोटिगुणम् ॥

(शा० अ० १ श्रु० २)

विधियुक्त गुरु के उपदेश किया हुआ वैदिक मंत्र का अभ्यास करना इसको जप कहते हैं। सो वह जप वाचिक मानस भेद से दो प्रकार के हैं। ध्यान करते हुये जो मन से जपा जाता है उसको



मानस जप कहते हैं। उच्चैः और उपांशु भेद से दो प्रकार के वाचिक जप होता है। उच्च स्वर से जो उच्चारण किया जाता है उसको उच्चैः जप कहते हैं वह यथोक्त फल देता है। ओठ चले और दूसरे को न सुनाई दे उसको उपांशु जप कहते हैं वह हजार गुना फल देता है। और मन में जो जपा जाता है उसको मानस जप कहते हैं वह करोड़ गुना फल देता है ॥२॥

व्रत नाम वेदोक्त विधि निषेधानुष्ठाननैश्चल्यम् ॥

(शा० अ० १ श्रु० २)

सर्वथा वेदोक्त विधि और निषेध का अनुष्ठान करना इसको व्रत कहते हैं ॥२॥ अब तप आदिक का फल कहता हूं।

कायेन्द्रिय सिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४३)

तप से अशुद्धि का नाश होने से शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है ॥४३॥

सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४२)

सन्तोष से जिससे उत्तम अन्य सुख नहीं है ऐसा सुख प्राप्त होता है ॥४२॥ आस्तिकता से उसको कहीं भी नास्तिक नहीं मिलता है।

दान देने से उसको सर्वदा वाणी मिलते हैं।

समाधि सिद्धिरीश्वर प्रणिधानात् ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४५)

ईश्वर के पूजन करने से समाधि सिद्धि होती है ॥४५॥ और सिद्धान्त श्रवण करने से सन्देह दूर होता है। जिस योगी की लज्जा सिद्ध हो जाती है उसको निर्लज्ज नहीं मिलता है। जिसकी मति सिद्ध हो जाती है उसके लिये कोई भी कार्य असाध्य नहीं मालूम होता है। और जप से—

स्वाध्यायादिष्ट देवता संप्रयोगः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४४)

स्वाध्याय अर्थात् इष्ट मन्त्र के जप से इष्ट देवता के साथ और दर्शन होता है। तथा जिस योगी का व्रत सिद्ध हो जाता है— उसका शरीर समाधि के योग्य हो जाता है। अब आसन को कहता हूं।

तत्रस्थिर सुखमासनम् ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४६)

जिसमें सुख पूर्वक शरीर और आत्मा स्थिर हो वही आसन है ॥४६॥



प्रयत्न शैथिल्यानन्त समापत्तिभ्याम् ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४७)

प्रयत्न की शिथिलता और अनन्त भगवान् में एकाग्र चित्त करने से आसन जित् होता है ॥४७॥

ततोद्वन्द्वाभिघातः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४८)

आसन जित् होने से शीत उष्ण आदि द्वन्द्वों से शरीर में बाधा नहीं होती है ॥४८॥ इस प्रकार से यम नियम आसन को वर्णन करके अब प्राणायाम को कहता हूं कि शुद्ध देश में पहले वस्त्र मृग चर्म और कुशा एक के ऊपर एक बिछा कर उत्तराभिमुख बैठ कर के आचमन और अंगन्यास करे इसके बाद गुरु के उपदेश की रीति से परमात्मा को स्मरण करता हुआ प्राणायाम करे।

प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकःस्मृतः ॥

(योग कुण्ड० अ० १ सू० १६)

बाहर और भीतर जो वायु आता जाता है उसके रोकने को प्राणायाम कहते हैं ॥१६॥ पातञ्जल योग दर्शन में भी लिखा है।

तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥

(यो० अ० १ पा० २ सू० ४९)



आसन में स्थित होकर बाहर भीतर आने जाने वाले दोनों वायु के रोकने को प्राणायाम कहते हैं ॥४९॥

स एवद्विविधः प्रोक्तःसहितः केवलस्तथा ।

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमभ्यसेत् ॥

(योग कु० अ० १ सू० २०)

प्राण वायु के रोकना रूप जो कुम्भक है वह दो प्रकार का है एक सहित कुम्भक दूसरा केवल कुम्भक और जब तक केवल कुम्भक सिद्ध न हो तब तक सहित कुम्भक का अभ्यास करे ॥२०॥ केवल कुम्भक सिद्ध होने पर तीनों लोक में योगी के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रहता है। अस्तु पहले सहित कुम्भक को दिखाता हूं।

सूर्योज्जायी शीतलीभस्त्रीचैव चतुर्थिका ।

भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहित कुम्भकः ॥

(योग कु० अ० १ सू० २१)

सूर्य भेदन १ उज्जायी २ शीतली ३ और चौथी भस्त्रिका ४ इन सबों से युक्त जो कुम्भक हो उसको सहित कुम्भक कहते हैं ॥ २१ ॥ अब इन सबों के लक्षण और अनुष्ठान को मैं दिखाता हूं।

पवित्रेनिर्जने देशे शर्करादि विवर्जिते ।



धनुःप्रमाण पर्यन्ते शीताग्नि जलवर्जिते ॥

(योग कु० अ० १ सू० २२)

पवित्रेनात्युच्चनीचे ह्यासने सुखदे सुखे ।

बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ २३ ॥

धनुष भर के अन्दर शीत उष्ण और जल न हो तथा कंकण पत्थर न हो ऐसे निर्जन देश में ॥२२॥ अत्यन्त उच्च या नीच न हो ऐसा पवित्र सुख देने वाला कोमल आसन पर बैठ कर पद्मासन करके सरस्वती का चालन करे ॥२३॥

दक्षनाड्यासमाकृष्य बहिस्थं पवनं शनैः ।

यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥

(योग कु० अ० १ सू० २४)

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् ॥

दहिना नाक से बाहर के वायु को धीरे-२ खींच करके पूरक करे इसके बाद यथा शक्ति कुम्भक कर के वाम नाक से रेचक करे अर्थात् धीरे-२ वायु को छोड़ दे। इसको सूर्य भेदन कुम्भक कहते हैं इसको बारम्बार करना चाहिये ॥२४॥

चतुष्कं वातदोषंतु कृमि दोषं निहन्ति च ॥ २५ ॥

यह सूर्य भेदन कुम्भक चार प्रकार के वात दोष का और पेट में पैदा हुआ जो कृमि दोष है उसका नाश करता है ॥२५॥

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥ २६ ॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ।
पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ २७ ॥
गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जायाख्यंतु कुम्भकम् ॥ २८ ॥

मुख को बन्द करके दोनों नाकों से धीरे-धीरे वायु को खींचे ॥२६॥ जिसमें शब्द करता हुआ वह वायु कण्ठ से हृदय पर्यन्त स्पर्श करे और पूर्ववत् दाहिना नाक से खींच कर वायु को यथा शक्ति कुम्भक करके बाम नाक से रेचक करे ॥२७॥ इसका नाम उज्जायी कुम्भक है। इसको चलते बैठते सब काल में करना चाहिये ॥२८॥

शीर्षोदिता नल हरं गलश्लेष्महरं परम् ।
सर्व रोगहरं पुण्यं देहानल विवर्धनम् ।
नाडी जलोदरं धातु गत दोष विनाशनम् ॥२८॥

यह उज्जायी कुम्भक शिर की गर्मी को हटाता है तथा गला के कफ रोग को दूर करता है और सम्पूर्ण रोगों को दूर करके जठराग्नि बढ़ाता है तथा नाड़ी गत जलोदर रोग को और समस्त धातुओं के दोषों को दूर करता है ॥२८॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु ।



शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥ ३० ॥

पक्षी की चोंच के समान जीभ को मुख से कुछ बाहर निकाल कर के जीभ से वायु को भीतर खींचे इसके बाद पूर्ववत्कुम्भक कर के धीरे धीरे सुधी नाक के छेदों से रेचक करे तो इसको शीतली कुम्भक कहते हैं ॥३०॥

गुल्मप्लीहादिकान्दोषान् क्षयं पित्तं ज्वरं तृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥ ३१ ॥

यह शीतली कुम्भक गुल्म प्लीहा आदि रोग ज्वर पित्त क्षय क्षुधा तृषा और सर्प आदि का विष इन सबों को नष्ट करता है ॥३१॥

ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ ३२ ॥
यथालगति कण्ठात्तु कपाले सस्वनं ततः ।
वेगेन पूरयेत् किंचिद्धृत्पद्मावधिमारुतम् ॥ ३३ ॥
पुनर्विरेचयेत्तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः ।
यथैव लोहकाराणां भस्त्रावेगेन चाल्यते ॥ ३४ ॥
तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः ।
यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत् ॥ ३५ ॥



यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु ।
धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ ३६ ॥
कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ॥ ३७ ॥

भली प्रकार पद्मासन को बांध कर गर्दन और पेट को बराबर करके बुद्धिमान मुख को रोक कर धीरे-धीरे नाक से वायु को छोड़े ॥३२॥ जिसमें शब्द सहित वायु कण्ठ से मस्तक को स्पर्श करे। फिर वेग से हृदय के कमल पर्यन्त वायु को पूर्ण करे ॥३३॥ फिर उसी प्रकार जैसे लोहार की भाथी वेग से चलती है वैसे बारम्बार रेचक और पूरक करे ॥३४॥ इस प्रकार अपने शरीर में स्थित पवन को जब तक देह में श्रम हो तब तक बुद्धिमानी से चलावे पश्चात् सूर्य नाड़ी से पूरक करे ॥३५॥ जिसमें वायु से शीघ्र ही पेट भर जाय। पेट भर जाने पर तर्जनी और मध्यमा अंगुली को बराके अंगूठा अनामिका और कनिष्ठिका इन अंगुलियों से नाकों के छिद्रों को बन्द कर के कुम्भक करे पश्चात् बाम नासिका से रेचक करे इसका नाम भस्त्रिका कुम्भक है ॥३७॥

कुण्डली बोधकं पुण्यं पापघ्नं शुभदं सुखम् ।
ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थ कफाद्यर्गलनाशनम् ॥३८॥
गुणत्रय समुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥३९॥

कुण्डलीनी का ज्ञान और पवित्र सुख तथा पाप का नाश



ब्रह्म नाड़ी के मुख में स्थित कफ आदि का जो अर्गला के काने से नाश होता है ॥३८॥ और तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रन्थियों का नाश होता है इससे भस्त्रा नाम के कुम्भक को अवश्य करना चाहिये ॥३९॥ अब सीत्कारी १ भ्रामरी २ मूर्च्छा ३ और प्लावनी ४ इन चारों कुम्भकों को दिखाता हूं।

सीत्कांकुर्यात्तथावक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ १ ॥

सीत्कार पूर्वक मुख से वायु को खींच करके पूरक करे फिर यथा शक्ति कुम्भक करके नाक से रेचक करे इसको सीत्कारी कुम्भक कहते हैं। इसके अभ्यास करने से योगी द्वितीय कामदेव हो जाता है ॥ १ ॥

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्द मन्दम् ।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्द-लीला ॥ १ ॥

जैसे भँवरा का शब्द होता है वैसे ही वेग से शब्द करता हुआ पूरक करे पश्चात् यथा शक्ति कुम्भक कर करे जैसे भ्रमरीका शब्द होता है वैसे ही शब्द करता हुआ धीरे-धीरे रेचक करे तो इसको भ्रामरी कुम्भक कहते हैं। इसके अभ्यास करने से योगीन्द्रों के चित्त में कोई अद्भुत आनन्द की लीला होती है ॥ १ ॥

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ १ ॥

पूरक प्राणायाम के अन्त में गाढ़ रीति से जालन्धर बन्ध को बांधकर यथा शक्ति कुम्भक कर के धीरे-धीरे रेचक करे तो इस को मूर्च्छा कुम्भक कहते हैं । यह मूर्च्छा मन की मूर्च्छा को करती है और उत्तम सुख को देती है ॥ १ ॥

अन्तः प्रवर्तितोदार मारुता पूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥ १ ॥

बाहर के वायु को जब तक भली प्रकार से पेट भर न जाय तब तक भीतर खींचे, इसको प्लावनी कुम्भक कहते हैं इसके अभ्यास करने से योगी जन अगाध जल में कमल पत्र के समान ऊपर ऊपर तैरता है ॥१॥ अब रेचक पूरक कुम्भक को दिखाता हूं ।

बाह्यादापूरणं वायोरुदरे पूरकोहि सः ।
सम्पूर्ण कुम्भवद्वायोर्धारणं कुम्भको भवेत् ।
बहिर्विरेचनं वायो रुदराद्रेचकःस्मृतः ॥

(जाबा० सं० ६ श्लो० १३)

बाहर के वायु को खींच कर पेट को और समस्त शरीर को



पूर्ण भर देना इसको पूरक कहते हैं । घट के समान समस्त वायु को जहां के तहां रोक देना इसको कुम्भक कहते हैं और शरीर के भीतर के वायु को निकाल देना इसको रेचक कहते हैं ॥१३॥

जानुप्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अंगुलिस्फोटनं कुर्यात्सामात्रा परिगीयते ॥

(योग त० श्लो० ४०)

न तो शीघ्रता से और न तो विलम्ब से जंघा के चारों तरफ प्रदक्षिणा कर के हाथ से एक चुटकी बजावे तो इसे मात्रा कहते हैं ॥ ४१ ॥

इडयावायुमारोप्य शनैः षोडश मात्रया ।
कुम्भयेत्पूरितं पश्चाच्चतुः षष्ठ्यातु मात्रया ॥४१॥
रेचयेत्पिंगला नाड्या द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः ॥४२॥

वाम नासिका से सोलह मात्रा काल पर्यन्त पूरक प्राणायाम करे इसके बाद चौसठि मात्रा काल पर्यन्त कुम्भक प्राणायाम करे ॥४१॥ और दाहिना नांक से बत्तीस मात्रा काल पर्यन्त रेचक प्राणायाम करे ॥४२॥

प्रातर्मध्यं दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ।



शनै रशीति पर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥४३॥

सूर्योदय के पहले प्रातः काल में १ और मध्याह्न काल में २ तथा सायं काल में ३ और अर्द्ध रात्रि में ४ इन चारों समय में अस्सी अस्सी कुम्भक करे ॥४३॥ यथेष्ट वायु के धारण करने से केवल कुम्भक सिद्ध होता है और इसके सिद्ध होने पर योगी को कुछ दुर्लभ नहीं रहता है ।

प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ॥

(योगत० श्लो० १५)

ततोऽपि धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः ।
कम्पोभवति देहस्य आसनस्थस्य देहिनः ॥५२॥
ततोऽधिकतराभ्यासाद्दार्दुरीस्वेन जायते ।
यथा च दर्दुरोभाव उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छति ॥५३॥
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ।
ततोधिकतराभ्यासाद्भूमित्यागश्च जायते ॥५४॥

पहले १ कुम्भक प्राणायाम करने से शरीर में पसीना आता है उसको देह ही में मिला देना चाहिये ॥५१॥ इससे अधिक अभ्यास करने से साधक का शरीर कांपता है ॥५२॥ इससे भी अधिक अभ्यास करने से मेंढक के समान पृथ्वी पर कूद २ कर चलता



है ॥५३॥ इससे भी अधिक अभ्यास करने से आकाश में चलता है ॥५४॥

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारमानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ।

(योगचू० श्लो० १०९)

धारणाभिर्मनो धैर्यं याति चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥११०॥

आसन से शरीर के सब रोग नष्ट होता है और प्राणायाम करने से समस्त पाप और प्रत्याहार से मानसिक सब विकार नष्ट होते हैं ॥१०९॥ धारणा से मन में धैर्य ध्यान से अद्भुत चैतन्य ज्ञान और समाधि से शुभाशुभ कर्म से रहित मोक्ष प्राप्त होता है ॥११०॥

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।

(यो० द० १ पा० २ सू० ५२)

प्राणायाम के अभ्यास से प्रकाश का आवरण जो माया है सो नष्ट हो जाती है ॥५२॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।

प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणाशुभा ।

(यो० चू० मु० १११)

धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योग विशारदैः ॥
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥११२॥

बारह प्राणायाम के एक प्रत्याहार कहा जाता है और बारह प्रत्याहार के एक धारणा होती है ॥१११॥ और बारह धारणा का एक ध्यान योगेश्वरों ने कहा है तथा १२ ध्यान की एक समाधि होती है ॥११२॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।
प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्भवः ॥

(यो० चू० मु० ११६)

हिक्काकासस्तथा श्वासः शिरः कर्णाक्षिवेदना ।
भवन्ति विविधारोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥११७॥
यथा सिंहोगजोव्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥११८॥
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं प्रपूरयेत् ।
युक्तं युक्तं प्रबध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥११९॥



योगचूड़ामण्युपनिषद् में लिखा है कि निरन्तर प्राणायाम के करने से सब रोग नष्ट हो जाते हैं और विधि हीन विच्छिन्न प्राणायाम से सब रोग उत्पन्न होते हैं ॥११६॥ बेढब विरुद्ध प्राणायाम से वायु विरुद्ध होकर हिचकी कास श्वास और सिर कर्ण नेत्र आदि अंगों में व्यथा होती है ॥११७॥ जैसे सिंह गज व्याघ्र ये सब धीरे-धीरे वश में होते हैं वैसे ही धीरे-धीरे प्राण वायु को रोके अन्यथा साधक को नष्ट कर देता है ॥११८॥ धीरे-धीरे पूरक कुम्भक और रेचक करे तो सिद्धि को पाता है ॥११९॥ अब मैं प्रत्याहार निरूपण करता हूं ।

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथा क्रमम् ।
यत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥

(योगचू० मु० १२०)

स्वभाव से ही यथा क्रम जो नेत्र आदिक इन्द्रियां रूप आदिक विषयों में विचरती हैं उन सबों को जो विषयों से निवारण किया जाता है उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥१२०॥
प्रत्याहार का लक्षण श्री पतंजलिजी ने भी कहा है ।

स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणाम् प्रत्याहारः ।

(यो० अ० १ पा० २ सू० ५४)



अपने अपने विषयों के सम्बन्ध से बचाव से श्रोत्रादिक इन्द्रियों की जो चित्त के स्वरूप के अनुसार स्थित होता है उसका नाम प्रत्याहार है ॥५४॥

स पञ्चविधः । विषयेषु विचरतामिन्द्रियाणां बलादाहरणं प्रत्याहारः । यद्यत्पश्यति तत्सर्वमात्मेति प्रत्याहारः । नित्यविहितकर्मफलत्यागः प्रत्याहारः । सर्वविषयपराङ्मुखत्वं प्रत्याहारः । अष्टादश मर्मस्थानेषु क्रमादाहरणम् प्रत्याहारः । पादांगुष्ठगुल्फ जंघा जानूरुपायु मेढ़ नाभि हृदय कण्ठकूप तालु नासाक्षि भ्रूमध्य ललाट मूर्धा स्थानानि । तेषु क्रमादारोहावरोहक्रमेण प्रत्याहरेत् ।

(शा० अ० १ श्रु० ८)

वह प्रत्याहार पांच प्रकार के हैं । विषयों में विचरती हुई इन्द्रियों को विवेकरूप बल से रोक देना इसको प्रत्याहार कहते हैं ॥१॥ जो २ देखता है वह सब आत्म स्वरूप है ऐसा जो ज्ञान उसको प्रत्याहार कहते हैं ॥२॥ वेदविहित नित्यकर्मों के फल त्याग को प्रत्याहार कहते हैं ॥३॥ सब विषयों से पराङ्मुख रहना इसको प्रत्याहार कहते हैं ॥४॥ और अठारह मर्मस्थानों में वायु को धारण करना इसको प्रत्याहार कहते हैं ॥५॥



पैर १ अंगूठा २ गुल्फ ३ जंघा ४ जानु ५ ऊरु ६ गुदामार्ग ७ लिंग ८ नाभि ९ हृदय १० कण्ठ ११ कण्ठकूप १२ तालु १३ नासिका १४ नेत्र १५ भ्रूमध्य १६ ललाट १७ सिर १८ इन अठारह स्थानों में क्रम से धारणा करे तो प्रत्याहार सिद्ध होता है ॥८॥ प्रत्याहार का फल भी लिखा है ।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।

(यो० अ० १ पा० २ सू० ५५)

प्रत्याहार के अभ्यास से इन्द्रियां अत्यन्त वश में हो जाती हैं ॥५५॥ अब धारणा को संक्षेप में दिखाता हूं ।

अथातः संप्रवक्ष्यामि धारणाः पञ्च सुव्रत ।
देहमध्यगते व्योम्नि बाह्याकाशं तु धारयेत् ॥

॥ शा० अ० ८ श्रु० १ ॥

प्राणे बाह्यानिलं तद्वत् ज्वलने चाग्निमौदरे ।
तोयं तोयांशके भूमिं भूमिभागे महामुने ॥२॥

धारणैषा परा प्रोक्ता सर्वपापविशोधिनी ॥३॥

हे सुव्रत ! प्राणायाम कहने के बाद अब पांच धारणा को कहता हूं । देह के बीच में जो बहराकाश है उसमें बाह्य आकाश को धारण करे ॥१॥ और हे महामुने प्राणवायु में बाह्य वायु को तथा पेट में रहने वाला जठराग्नि में बाह्य अग्नि को तथा ।१। जल के अंश में जल को और पृथ्वी के भाग में पृथ्वी को धारण करे ॥२॥ इसको धारणा कहते हैं यह समस्त पापों को दूर करने वाली है ॥३॥

आजान्वन्तं पृथिवी ह्यंशो ह्यपांपाय्वन्तमुच्यते ।
हृदयान्तस्तथाग्न्यंशो भ्रूमध्यान्तोऽनलांशकः ॥४॥
आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धान्तः परिकीर्तितः ॥५॥

सब शरीर में पैर से जंघा पर्यन्त पृथिवी का भाग है और जंघा से गुदा पर्यन्त जल का भाग है तथा गुदा से हृदय पर्यन्त अग्नि का भाग है हृदय से भ्रूमध्य पर्यन्त वायु का भाग है ॥४॥ और भ्रूमध्य से शिर पर्यन्त आकाश का भाग है ॥५॥ इन सब भागों में परमेश्वर को धारण करे और श्री पतञ्जलिजी भी इसका लक्षण किये हैं ।

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ॥

(यो० पा० ३ सू० १)



चित्त को किसी देश में बांधना इसको धारणा कहते हैं ॥१॥

एतां च धारणा पंच कुर्यांद्योगी विचक्षणः ।
ततो दृढ शरीरश्च्याम्मृत्युस्तस्य न विद्यते ॥

(योगत० सू० १०२)

जो ज्ञानी योगी इस प्रकार से पांच धारणा को करता है उसका शरीर दृढ़ मजबूत होता है और मरण उसका नहीं होता है ॥१०२॥ अब ध्यान को संक्षेप से दिखाता हूं ।

तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम् ॥

(यो० प्र० १ पा० ३ सू० २)

उस धारणा में बुद्धि और चित्त को एकाग्र हो जाना इसको ध्यान कहते हैं ॥२॥ अथवा वैदिक योग की रीति से चित्त में आत्म तत्व का स्मरण करना इसको ध्यान कहते हैं ।

समभ्यसेत्तथा ध्यानं घटिका षष्ठिमेव च ।
वायुं निरुध्य चाकाशे देवतामिष्टदामिति ॥

(योगत० सू० १०४)

शिर में वायु को कुम्भक करके जालन्धर बन्ध बांधे इसके



बाद इष्ट मनोरथ को देनेवाले लक्ष्मीनारायण को साठ घटी ध्यान करे ॥१०४॥

श्रीवत्सकौस्तुभोरस्कं मुक्तामणि विभूषितम् ॥
शुद्धस्फटिक संकाशं चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥
एवं ध्यायेन्महाविष्णुं सर्वदा विनयान्वितः ॥

(ध्यान विन्दूपनिषद् श्रु० २१)

श्रीवत्स तथा कौस्तुभ और मुक्ता मणि से वक्षस्थल सुशोभित तथा शुद्ध स्फटिक के सदृश और करोड़ चन्द्रमा की प्रभा के तुल्य जो श्री महाविष्णु भगवान् हैं उनको विनययुक्त सर्वदा ध्यान करे ॥२१॥ ध्यान करने का फल भी ध्यान विन्दु उपनिषद् में लिखा है ।

आत्मानमरणिंकृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् ।
ध्याननिर्मथनाभ्यासादेवं पश्येन्निगूढवत् ॥

(ध्या० श्रु० २२)

आत्मा को अरणि करके और प्रणव को उत्तरारणि करके ध्यान रूप मथन के अभ्यास से परमात्मा देव को देखे ॥२२॥

यदि शैल समं पापं विस्तीर्णं बहु योजनम् ।



भिद्यते ध्यानयोगेन नान्यो भेदः कदाचन ॥

(ध्या० श्रु० १)

यदि पर्वत के समान ऊंचा और बहुत योजन पर्यन्त विस्तृत भी पाप हो तो ध्यान करने से नष्ट हो जाता है और कोई भी उपाय नहीं है ॥१॥

दिन द्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥

(योगत० सू० १०६)

बारह दिन ध्यानके अभ्यास से समाधि प्राप्त होती है॥१०६॥ अब सब अंगों का फल रूप जो समाधि है उसको वर्णन करता हूं ।

समाधिः समतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
यदि स्वदेहमुत्स्रष्टुमिच्छाचेदुत्सृजेत्स्वयम् ॥१०७॥

जीवात्मा और परमात्मा की समतावस्था को समाधि कहते हैं यदि समाधि लेनेवाला पुरुष अपना देह छोड़ना चाहे तो स्वयं छोड़ सकता है ॥१०७॥

अथनोचेत्समुत्स्रष्टुं स्वशरीरं प्रियं यदि ॥१०८॥
सर्वलोकेषु विहरन्नणिमादिगुणान्वितः ।

कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गे महीयते ॥१०६॥
मनुष्योवापि यक्षो वास्वेच्छयापीक्षणाद्भवेत् ।
सिंहोव्याघ्रो गजोवाश्वः स्वेच्छया बहुतामियात्॥११०॥
यथेष्टमेव वर्तेत यद्वा योगी महेश्वरः ।
अभ्यासभेदतो भेदः फलन्तु सममेव हि ॥१११॥

(योगत०)

यदि प्रिय अपना शरीर छोड़ने की इच्छा न हो तो ॥१०८॥ अणिमादि गुणों से युक्त समस्त लोकों में विहार करता हुआ कभी अपनी इच्छा से देवता होकर स्वर्गलोक में पूजा जाता है ॥१०६॥ और योगी के देखने से मनुष्य और यक्ष उत्पन्न होते हैं और हाथी घोड़ा सिंह व्याघ्र आदि अपनी इच्छा से बहुत सा हो जाता है ॥ ११० ॥ अथवा योगी जो चाहता है वह हो जाता है । अभ्यास के भेद से योग भिन्न-२ मालूम होता है फल तो सब योगों का मोक्ष है ॥१११॥ यहां पर बहुत से लोग यह कहते हैं कि निष्काम कर्म करने से और ज्ञान से तथा अनन्याभक्ति आदि से मोक्ष होता है योग से नहीं होता है । परन्तु बुद्धिमानों को पक्षपात रहित "योगतत्त्वोपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, हंसोपनिषद् योगचूडामण्युपनिषद्, शाण्डिल्योपनिषद्, योगशिखोपनिषद्, योगकुण्डल्युपनिषद् और जाबाल दर्शनोपनिषद्" को देखना चाहिये जिसमें स्पष्ट योग से मोक्ष कहा है । और भी अन्य उपनिषदों में कहीं पर स्पष्ट रूप



और कहीं पर गुप्त रूप से योग से मोक्ष कहा है । इससे मुमुक्षु जनों को अवश्य योगाभ्यास करना चाहिये । जो लोग निष्काम कर्म आदिक से मोक्ष मानते हैं वह सत्य है, परन्तु प्रिय सज्जनों को विचार करना चाहिये कि खड्ग आदि शस्त्रों से शत्रु का पराजय होता है यह सब लोग कहते हैं तो क्या बिना युद्ध और बल के खड्ग आदिक से शत्रु का पराजय हो सकता है । कभी भी नहीं, वैसे ही बिना योग के केवल निष्काम कर्म आदिक से कभी भी मोक्ष नहीं हो सकता है इसीसे पूर्वाचार्यों ने योगाभ्यास किया है अतः समस्त मुमुक्षु प्रिय सज्जनों को अवश्य योगाभ्यास करना चाहिये । शमिति ॥

श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रम् ।
श्रीकृष्णसूरिपदपङ्कजभृङ्गराजम् ॥
श्रीरंगवेङ्कटगुरूत्तमलब्धबोधम् ।
भक्त्या भजामि गुरुवर्यमनन्तमूर्तिम् ॥ १ ॥
श्रीवत्सवंशकलशोदधिपूर्णचन्द्रम् ।
मार्गस्य साधुशरणस्य कृपैकपात्रम् ॥
ज्ञानादिषड्गुणनिधिं करुणानिधानं ॥
श्रीरामकृष्णगुरुवर्यमहं प्रपद्ये ॥ २ ॥

સમરીતિર્મદાતેજા: પરબ્રહ્મ સનાતન:।
જયતાજ્જાનકીનાથો વેદવેદ્યો મહામતિ: ॥
ankurnagpal108@gmail.com.

*Oriental Research Institute Series 115*

# Mandalabrahmanopanishad

WITH

**RAJAYOGABHASHYA OF SRI SHANKARACHARYA**

AND

**YOGATARAVALI OF SRI SHANKARACHARYA**

WITH

**BHAVAPRAKASHA**

*Critically Edited by*

Vidvan N. S. VENKATANATHACHARYA

*Senior Research Assistant*

*Oriental Research Institute, Mysore.*

**ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE**

UNIVERSITY OF MYSORE

MYSORE

1970

प्राच्यविद्यासंशोधनालयग्रन्थमाला—११५

श्रीभगवत्पादशङ्कराचार्यविरचितराजयोगभाष्यसहिता

# मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

भावप्रकाशसहिता

## योगतारावली च

---

संपादकः

विद्वान्. एन्. एस्. वेङ्कटनाथाचार्यः

सीनियर् रिसर्च् असिस्टेण्ट्

प्राच्यविद्यासंशोधनालयः

मैसूरु

प्राच्यविद्यासंशोधनालयः

मैसूरु विश्वविद्यानिलयः

मैसूरु

१९७०

प्रथमं मुद्रणम् १८९६
द्वितीयं मुद्रणम् १८९९
तृतीयं सुपरिष्कृतं मुद्रणम् १९७०



मैसूरु प्राच्यविद्यासंशोधनालयनिर्देशकैः प्रकाशिता
श्री· जि· एच्· रामराव् इत्येतैः स्वीयमुद्रणालये मुद्रिता

# PREFACE

The *Maṇḍalabrāhmaṇopaniṣad* professedly belongs to one of the Śākhās of the Śukla-Yajur-veda and treats of what is called Rája-Yoga, that method of attaining a direct knowledge of Brahman whose process consists in the psychological development of mind by concentration and meditation upon certain aspects of the Supreme Entity in man at their respective centres of manifestation. Along with the text is given a sort of commentary treating of the same subject in the same order, sometimes repeating the original verbatim and at other times adding some explanatory matter, and said to have been written by Śrī Śaṅkarācārya. In one of the MSS. the colophon at the end of the first section of the so-called Bhāṣya runs as follows :—

इति श्रीसदानन्दावधूतशिष्यविरचिते विजृम्भितयोगशास्त्रे प्रथमप्रकरणं समाप्तम्.

Similar colophons giving the name of the same author are found with necessary changes at the end of several other sections of the Rāja-Yoga-Bhāṣya. In other MSS. Śri Śaṅkarācārya is mentioned in the colophons as the author of the commentary. But the Rāja-Yoga-Bhāṣya so differs in its style and language from his genuine bhāṣyas on the Upaniṣadas, the Śārīraka-Sūtras and the *Bhagavadgītā* and the philosophy embodied in the Rāja-Yoga-Bāṣya so differs in some important details from that taught in the bhāṣyas referred to, that it is hard to belive that he is really the author of the Rāja-Yoga-Bhāṣya. It is more likely that the other person mentioned as a disciple of Sadānandāvadhūta has written the commentary.

Though this Upaniṣad cannot be allowed to occupy the same rank in the Vedic literature as some other Upaniṣads which are often referred to by Sri Śaṅkarācarya and other eminent writers on Vedāntic philosophy in their genuine works, the teaching therein embodied is not the less authoritative on that account. As tradition has it, a full knowledge of such practices as are taught in the Upaniṣad is as a rule

imparted by a *Guru* to his disciple orally and by means of secret initiations and is hardly ever committed to writing. It is only in extreme cases that such occult teachings are allowed to see the light of the day. They are, moreover, not easy of verification by ordinary methods of investigation. Under these circumstances one would naturally hesitate to subject writings embodying mystic teachings of this class to ordinary canons of criticism. It is often in a most incomplete form that such teachings are published and committed to writing; and as they pass from hand to hand among the uninitiated, they are often distorted beyond recognition. Thus the MSS. of the Upaniṣad and the Bhāṣya abound in errors of various kinds. The present edition, prepared from a careful collation of several MSS., is tolerably correct.

26/8/99. A. M.

## PREFACE TO THIRD REVISED EDITION

The *Maṇḍalabrāhmaṇopaniṣad* relates to one of the *Śākhās* of the *Śukla Yajurveda* and deals with *Rājayoga*. *Ādhāra, Svādhiṣṭhāna, Maṇipūra, Anāhata, Viśuddhi, Ājñā* and *Sahasrāra* are the seven *cakras* (stages) through which one, well initiated and trained in yoga, is supposed to concentrate one's attention on the Brahman for worship. Variety of yoga is depicted in the *Sūtra* and *Bhāṣya* stages. As stated in the *Bhagavadgītā*- "स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।" (4-2) interest in yogic occultism is fast dwindling. But the Oriental Research Institute is there to protect the ancient lore from being lost of. Hence the third revised edition of this work.

The Upaniṣad has a commentary called *Rājayogabhāṣya*, attributed to Ādi-Śaṅkarācārya. As stated by the esteemed Editor Sri A. Mahadeva Sastri in the Preface to the II Edition, the authorship of this work should have to be attributed to one Sadānandāvadhūta and not to the famous Śrī Śaṅkarācārya whatever the tradition is. The colophon in one of the manuscripts supports the guess. The practice attributing everything philosophical to Śrī Śaṅkara and everything literary to Kālidāsa has come down from time immemorial. The style of this work betrays the myth.

The commentary, *Rājayogabhāṣya* is an elaborate one but does not explain the text word by word. It deals with all the principles of Yogaśāstra and clearly exposits the fundamentals of Rājayoga. As a concise compendium of the cult, this book will help the votaries that will always continue to practice yoga in our pious motherland.

Vidwan Shri N. S. Venkatanathacharya, Senior Research Assistant, Oriental Research Institute, Mysore, has taken great pains in bringing out this revised edition.

The text of the two earlier editions of this work was of confusing nature in some places due to incorrect readings. This defect has been completely remedied in the present edition by carefully selecting suitable readings from a few

more manuscripts of the work acquired for the Library of this Institute. The technicalities of the subject have been kept in view while selecting the readings.

Another important feature of the present edition is that it contains the *Yogatārāvḷi* of Śrī Śaṅkarācārya, which lucidly describes *Amanaskayoga* which closely agrees with the *Rājayoga*, within simple paraphrase.

Carefully considering the gist of this *Śāstra*, more reliable readings have been selected from among several versions and suitable critical notes wherever necessary have also been given. The critical acumen shown in the Introduction in kannada and Sanskrit by the author as also several useful appendixes to the workhave enhanced the value of this important edition.

Thus, the present revised edition of *Maṇḍalabrāhmaṇopaniṣad* has many important feature and therefore, we believe that it will be of more use to the scholars.

Oriental Research Institute
Mysore.
4th July 1970

G. MARULASIDDAIAH
Director

# ಮುನ್ನುಡಿ

[ಯೋಗವಿದ್ಯಾಪ್ರಸ್ಥಾನದ ಸುಸಂಕ್ಷಿಪ್ತ ಪರಿಚಯ]

## ಉಪನಿಷತ್ಸಾಹಿತ್ಯದ ಉಗಮ

ಪ್ರಾಚೀನಕಾಲದಿಂದ ಸೂರ್ಯನ ಉದಯಾಸ್ತಗಳಂತೆ ಜಾಗೃತ ಮಾನವನ ಮೇಲೆ ದಿನದಿನವೂ ನವೋನವವಾದ ಸೊಬಗನ್ನು ಬೀರುತ್ತಾ, ದಿವ್ಯಸಂದೇಶಗಳನ್ನೂ ಹಿಂಬದಿಯ ದೈವದ ಕರೆಯನ್ನೂ ಇವನ ಕಿವಿ ಮುಟ್ಟಿಸಿ, ಇವನನ್ನು ದಿವ್ಯಧಾಮದೆಡೆಗೆ ತಲುಪಿಸಲು ಹೊರಬಂದ ಭಾರತೀಯಸಾಹಿತ್ಯಗಳಲ್ಲಿ ಪವಿತ್ರವಾದ ಉತ್ತಮಸಾಹಿತ್ಯವೇ ಉಪನಿಷತ್ತೆಂದು ಕರೆಯಲ್ಪಡುತ್ತಿದೆ. ಇದು ಪ್ರಪಂಚಹಿತೈಷಿಗಳಾದ ಜ್ಞಾನಿಗಳ ಹೃದಯಾಂತರಾಳದಿಂದ ಉಗಮಿಸಿ ಬಂದದ್ದು, ಮತ್ತು ಅವರ ಅನುಭವದ ಪರೀವಾಹ ರೂಪವೂ ಆಗಿರುವುದು.

## ಉಪನಿಷತ್ತಿನ ಮತ್ತು ಅದರ ವಿಸ್ತಾರರೂಪವಾದ ಎಲ್ಲ ಶಾಸ್ತ್ರಗಳ ಸಾರ

ಎಲ್ಲ ಉಪನಿಷತ್ತುಗಳ ನಿರ್ದಿಷ್ಟವಾದ ಧ್ಯೇಯವೂ ಜೀವದೈವಗಳ ಯೋಗವೊಂದೇ. ಮಾನವನ ನಿಜವಾದ ಹಂಬಲವೂ ಇದೇ ಆಗಿದ್ದರೂ ಬೆನ್ನುಹತ್ತಿದ ಭೇತಾಳದಂತೆ ಅನಿವಾರ್ಯವಾದ ನಾನಾವಿಷಯಪಾಶಗಳು ಇವನ ಪಾಲಿಗೆ ಗಂಟುಬಿದ್ದಿದ್ದರಿಂದ, ಉಪಾಯವಾಗಿ ಇವುಗಳ ವಿಯೋಗವನ್ನು ಸಾಧಿಸಿಕೊಳ್ಳದೇ ಆತ್ಮಯೋಗದ ಸುಖವನ್ನು ಇವನು ಕಾಣಲಾರದಂತಾಯಿತು. ಈ ಯೋಗವಿಯೋಗಗಳ ಹೋರಾಟ ಮತ್ತು ಯೋಗಸಿದ್ಧಿಗಳೇ ಎಲ್ಲ ಉಪನಿಷತ್ತು ಶಾಸ್ತ್ರ ವಿದ್ಯೆಗಳ ವಿಸ್ತಾರ. ಎಲ್ಲ ಕರ್ಮಜ್ಞಾನಗಳ ಸಾರ.

"ಸರ್ವಂ ಹಿ ಶಾಸ್ತ್ರಂ ಇದಂ ಇಂದ್ರಿಯಜಯಃ ।" (ಕಾಟಿಲ್ಯ)

"ಏಷ ಧರ್ಮ: ಪರ: ಪುಂಸಾಂ ಯದ್ಯೋಗೇನಾತ್ಮದರ್ಶನಮ್ !" (ಸ್ಮೃತಿ)

## ವಾದಗ್ರಂಥಗಳು

ಹೀಗೆ ಆತ್ಮಸಿದ್ಧಿಗಾಗಿ ಸಾಗುತ್ತಿರುವ ವಿದ್ಯಾಪರಂಪರೆಯ ಮಧ್ಯದಲ್ಲಿ ಕೇವಲ ಬುದ್ಧಿಗೆ ಸಂಬಂಧಪಟ್ಟಂತೆ ಕೆಲವು ದುಷ್ಟಶಕ್ತಿಗಳು ತಲೆಯೆತ್ತಿ ಬುದ್ಧಿಪಟಲದಿಂದ ಸತ್ಯಾಂಶವನ್ನು ಮರೆಮಾಡಲು ತೊಡಗಿದಾಗ, ಹಿತೈಷಿಗಳಾದ ಹಿರಿಯರನೇಕರು ತಮ್ಮ ತಮ್ಮ ಮತಿಯ ಬೆಳವಣಿಗೆಗೆ ತಕ್ಕಂತೆ ಯೋಧರಾಗಿ ನಿಂತು ತಾರ್ಕಿಕ ವಾದವಿವಾದಗಳ ಮೂಲಕ ನಿಜಾಂಶವನ್ನು ಉಳಿಸಲು ಪ್ರಯತ್ನಪಟ್ಟರು. ಇದೆಲ್ಲವೂ ಕಾಲವಿಶೇಷದಲ್ಲಿ ಮತಸಿದ್ಧಾಂತಗಳೆಂಬ ಹೆಸರಿನಲ್ಲಿ ಅನಂತಗ್ರಂಥರೂಪವಾಗಿ ಬೆಳೆದು ಮತ್ತಷ್ಟು ಗೊಂದಲಕ್ಕೇ ಕಾರಣವಾಗಿದ್ದೂ ಉಂಟು. ಅಂತಹ ಗ್ರಂಥಪರಂಪರೆಯೂ ಸಹ ಇಂದಿನ ವೈಜ್ಞಾನಿಕಯುಗಕ್ಕೆ ಹೊರೆಯಾಗಿ ತನ್ನ ಗತಿಯನ್ನು ಮುಗಿಸಿಕೊಂಡಿದೆ.

## ಇಂದಿನ ಸಾಹಿತ್ಯ ಹೇಗಿರಬೇಕು ?

ಇನ್ನು ಇಂದಿನ ಜಾಗೃತ ಜನವು ಮತ್ತೆ ಎದುರುನೋಡಬೇಕಾದುದು ಹಿಂದಿನಂತೆಯೇ ವೈಜ್ಞಾನಿಕವಾದ ಉತ್ತಮಸಾಹಿತ್ಯವನ್ನು. ಆ ಸಾಹಿತ್ಯವು ಜೀವನವನ್ನು ಹಸನಾಗಿ ಮಾಡುವ ಸಾಧನೆಯಬೆಂಬಲವಾಗಿರುವ ಬುದ್ಧಿಗೆ ಉತ್ತಮ ಸ್ಫೂರ್ತಿದಾಯಕವಾಗಿರಬೇಕು. ಪರಿಶೋಧನೆಯಲ್ಲಿ ತೂರಿಹೋಗಬಾರದು, ಸತ್ಯಾಂಶವನ್ನು ಪ್ರತಿಬಿಂಬಿಸಬೇಕು, ಮಾನವನ ಮನಸ್ಸನ್ನು ನೆಲೆನಿಲ್ಲಿಸಬೇಕು.

## ಆನ್ವೀಕ್ಷಿಕಿಯೇ ಇಂದಿನ ಉತ್ತಮ ಸಾಹಿತ್ಯ

ಇಂತಹ ಸಾಹಿತ್ಯಗಳಲ್ಲಿ ಇಂದು ಜನಪ್ರಿಯತೆಯನ್ನೂ ವೈಜ್ಞಾನಿಕತೆಯನ್ನೂ ಪ್ರಾಚೀನತೆಯನ್ನೂ ಉಳಿಸಿಕೊಂಡು ಉತ್ತಮಸ್ಥಾನ ಗಳಿಸಿರುವುದು ಆನ್ವೀಕ್ಷಿಕಿ. ಸ್ಥೂಲ ಸೂಕ್ಷ್ಮ ಮತ್ತು ಪರ ದೃಷ್ಟಿಗಳಿಂದ ಗಮನಿಸಿದವರು ಇದನ್ನು 'ಲೋಕಾಯತ ಸಾಂಖ್ಯ ಯೋಗ' ಎಂದು ಮೂರಾಗಿ ವಿಂಗಡಿಸಿದ್ದಾರೆ. ಇಲ್ಲಿ ಕೌಟಿಲ್ಯನ ಮಾತು ಹೀಗಿದೆ:

"ಸಾಂಖ್ಯಂ ಯೋಗೋ ಲೋಕಾಯತಂ ಚೇತ್ಯಾನ್ವೀಕ್ಷಿಕೀ "

"ಪ್ರದೀಪಃ ಸರ್ವವಿದ್ಯಾನಾಂ ಉಪಾಯಃ ಸರ್ವಕರ್ಮಣಾಮ್ ।

ಆಶ್ರಯಃ ಸರ್ವಧರ್ಮಾಣಾಂ ಶಶ್ವದಾನ್ವೀಕ್ಷಿಕೀ ಮತಾ ||" ಎಂದು.

ಈ ಮೂರೂ ಕ್ರಮವಾಗಿ ಭೌತಿಕ ದೈವಿಕ ಆಧ್ಯಾತ್ಮಿಕ ತತ್ತ್ವವಿಜ್ಞಾನಗಳನ್ನು ಮನ ಮೆಚ್ಚುವ ರೀತಿಯಲ್ಲಿ ಹೃದ್ಯವಾಗಿ ಪ್ರತಿಪಾದಿಸುವುವು. ಈ ಆನ್ವೀಕ್ಷಿಕಿಯು ಉತ್ತಮ ಗುರುವಿನ ಮಾರ್ಗದರ್ಶನವನ್ನು ಪಡೆದು ಬಾಳಲು ಹೊರಡುವವನಿಗೆ ಹೊಂಗಿರಣದ ಕೈದೀವಿಗೆಯಾಗಿದೆ.

## ಯೋಗವಿದ್ಯೆಯ ಅವಶ್ಯಕತೆ

ಇವರಲ್ಲೂ ಕೊನೆಯದಾದ ಯೋಗವಿದ್ಯೆಯು ವಿಶೇಷವಾಗಿ ಜೀವನವನ್ನು ಕೊನೆಯವರೆಗೂ ಹಿಂಬಾಲಿಸುತ್ತದೆ. ಸುಖಿಯಾಗಿಯೂ ಆತ್ಮವಂತನಾಗಿಯೂ ಬಾಳಲು ಪೂರ್ಣವಾಗಿ ಸಹಕರಿಸುತ್ತದೆ. "ಮನ ಏವ ಮನುಷ್ಯಾಣಾಂ ಕಾರಣಂ ಬಂಧ-ಮೋಕ್ಷಯೋಃ" ಎಂಬಂತೆ ತ್ರಿಕರಣಗಳಲ್ಲಿಯೂ ಮನಸ್ಸೇ ಎಲ್ಲವಿಧದ ಶ್ರೇಯಃ ಪ್ರೇಯಸ್ಸುಗಳ ಮುಖ್ಯಕಾರಣವಾಗಿರುವುದರಿಂದ ಮನೋಮಲವನ್ನು ನೀಗಲಾಡಿಸಿ ಶುಚಿಮಾಡುವ ಶಕ್ತಿಯು ಯೋಗವಿದ್ಯೆಗಲ್ಲದೇ ಇನ್ನಾವುದಕ್ಕೂ ಇಲ್ಲ.

ಮನಸ್ಸು ಬುದ್ಧಿ ಅಹಂಕಾರ ಚಿತ್ತ ಎಂಬ ನಾಲ್ಕು ಅವಸ್ಥೆಯನ್ನೂ ಮನಸ್ಸೇ ಹೊಂದುತ್ತದೆ. ಇವುಗಳಲ್ಲಿ ಆಲೋಚನಾತ್ಮಕವಾದ ಕೆಲಸ ಮನಸ್ಸಿನದು. ಇದು ಹೃದಯಸ್ಥಾನದಲ್ಲಿದೆ. ಆಲೋಚಿತವಾದ ಅಂಶವನ್ನು ನಿರ್ಧರಿಸುವುದು ಬುದ್ಧಿ. ಇದು ಹೃದಯಸ್ಥಾನದ ಸ್ವಲ್ಪ ಮೇಲ್ಭಾಗದಲ್ಲಿ ಮೂಡುವುದಾಗಿದೆ. ನಾನು ಎಂಬ ಜ್ಞಾನ

ವನ್ನು ಉಂಟುಮಾಡುವುದು ಅಹಂಕಾರ. ಇದು ಭ್ರೂಮಧ್ಯದ ಕೆಳಭಾಗದಲ್ಲಿ ಮೂಡು ವುದು. ಭ್ರೂಯುಗದ ಮೇಲ್ಭಾಗದಲ್ಲಿರುವ ಚಿತ್ತವೆಂಬುದೇ ಭಗವತ್ಸಾಕ್ಷಾತ್ಕಾರಕ್ಕೆ ಯೋಗ್ಯವಾದ ವಸ್ತು. ಜಪಾಕುಸುಮದ ರಕ್ತಿಮೆಯು ಸ್ಫಟಿಕದಲ್ಲಿ ಸಂಕ್ರಮಿಸುವಂತೆ ಆತ್ಮವಸ್ತು ಈ ಚಿತ್ತದಲ್ಲಿ ಪ್ರತಿಫಲಿಸುವಂತಾದಾಗ ತಾನೆ "ತ್ವಾಂ ಚಿನ್ತಯನ್ ತ್ವನ್ಮಯ-ತಾಂ ಪ್ರಪನ್ನಃ" ಎನ್ನುವಂತೆ ಜೀವನವು ಆತ್ಮಮಯವಾಗಿ ಆಗುವುದು. ಪ್ರಾಣಾದಿ ಗಳಿಗೆ ಹೇಗೆ ಉಪಾಧಿಭೇದದಿಂದಲೂ ಕ್ರಿಯಾಭೇದದಿಂದಲೂ ಭಿನ್ನಭಿನ್ನವಾದ ವೃತ್ತಿಗಳೂ ಹೆಸರುಗಳೂ ಇರುವುವೋ, ಹಾಗೆಯೇ ಮನಸ್ಸಿಗೂ ವೃತ್ತಿಭೇದದಿಂದ ಈ ಕ್ರಿಯೆಗಳೂ ಹೆಸರುಗಳೂ ಬಂದಿವೆ. ಅಹಂಕಾರಾದಿರೂಪದಲ್ಲಿ ಪರಿಣಾಮವನ್ನು ಹೊಂದದಂತೆ ಈ ಚಿತ್ತವನ್ನು ತಡೆದರೆ, ಆಗ ಮಾತ್ರ ಯೋಗಾರಂಭ. ಇದನ್ನೇ "ಯೋಗಃ ಚಿತವೃತ್ತಿನಿರೋಧಃ" ಎಂದು ಪತಂಜಲಿಯು ಅಪ್ಪಣೆಕೊಡಿಸಿರುವರು.

"ಮನೋಽನ್ತಃಕರಣಂ, ಸರ್ವಾಃ ವೃತ್ತಿಭೇದೇನ ತದ್ಭಿದಾಃ |
ಮನೋಬುದ್ಧಿರಹಙ್ಕಾರಃ ಚಿತ್ತಂ, ತತ್ತು ಪ್ರಸಾಧ್ಯತೇ || (ಸ್ಮೃತಿ)

ರಾಜಯೋಗಭಾಷ್ಯದಲ್ಲಿ ಐದು ಅನ್ತಃಕರಣಗಳೆಂದು ಹೇಳಿ ಐದನೆಯ ಅನ್ತಃಕರ ಣವೇ ಜ್ಞಾತೃವಾದ ಪುರುಷನೆಂದು ಹೇಳಿದೆ. ಒಟ್ಟಿನಲ್ಲಿ ಹೇಗಾದರೂ ಮನಸ್ಸಿನ ಲಯ ಪರ್ಯನ್ತವಾದ ಸಂಸ್ಕಾರವೇ ಎಲ್ಲಕ್ಕೂ ಮೂಲವೆಂಬುದರಲ್ಲಿ ಸಂದೇಹವಿಲ್ಲ. ಇದಕ್ಕೆ ಯೋಗವಿದ್ಯೆಯೇ ಬೇಕು. ಇದು ಈಗಾಗಲೇ ಎಷ್ಟೋ ಜನರ ಮನವರಿಕೆಯಾಗಿರುವ ವಿಷಯವಾಗಿದೆ.

## ಪ್ರಕೃತ ಗ್ರಂಥಗಳು

ಈ ಅಂಶವನ್ನು ಯಥಾವತ್ತಾಗಿ ಚಿತ್ರಿಸುವ ಯೋಗೋಪನಿಷತ್ತುಗಳಲ್ಲೊಂದಾದ ಮಂಡಲಬ್ರಾಹ್ಮಣೋಪನಿಷತ್ತನ್ನೂ, ಅಂತೆಯೇ ಅದರ ಭಾವವನ್ನು ವಿವರಿಸುವ ರಾಜಯೋಗಭಾಷ್ಯವನ್ನೂ, ಇವುಗಳ ಅನುಭವಸಾರವಾದ ಸವ್ಯಾಖ್ಯ ಯೋಗತಾರಾವಳಿ ಯನ್ನೂ ಇಲ್ಲಿ ಪ್ರಕಟಿಸಲಾಗಿದೆ.

## ಯೋಗಪರಂಪರೆ

"ಸ ಕಾಲೇನೇಹ ಮಹತಾ ಯೋಗೋ ನಷ್ಟಃ ಪರಂತಪ !"

ಎಂಬ ಗೀತೆಯ ವಾಣಿಯಂತೆ, ಸಾಂಪ್ರದಾಯಿಕ ಯೊಗಾಭ್ಯಾಸಪರಂಪರೆಯು ನಿರ್ದಿಷ್ಟ ವಾದ ರೀತಿಯಲ್ಲಿ ಕಣ್ಮರೆಯಾಗಿರುವಂತೆ ಕಂಡುಬಂದರೂ, ಅದರ ವಿಚಾರಧಾರೆಯು ಮಾತ್ರ ಅನುಸ್ಯೂತವಾಗಿ ಬರುತ್ತಿದೆ. ಯೋಗವಿದ್ಯೆಯು ತರ್ಕದಂತೆ ಬುದ್ಧಿಗೆ ಮಾತ್ರ ವಿಷಯವಾದ ಶಾಸ್ತ್ರವಲ್ಲ. ಇದೊಂದು ಅನುಭವಶಾಸ್ತ್ರ. ಆದ್ದರಿಂದಲೇ ಇದು ಇತರ ಗ್ರಂಥಗಳಂತೆ ಮಿತಿಮೀರಿ ಬೆಳೆಯಲಿಲ್ಲ.

## ಮುಖ್ಯಯೋಗಗಳು ಮತ್ತು ಅವುಗಳ ಧ್ಯೇಯ

ಪ್ರಕೃತಗ್ರಂಥದ ಮತ್ತು ಗುರುಕೃಪೆಯಿಂದಲೇ ಲಭ್ಯವಾದ ಈ ಯೋಗ ವಿದ್ಯೆಯ ಸಾರವನ್ನು ಅತಿಸಂಕ್ಷಿಪ್ತವಾಗಿ ಈ ರೀತಿ ಚಿತ್ರಿಸಬಹುದು :—

ಔಪನಿಷದ ಪೌರಾಣಿಕ ಮತ್ತು ಪಾತಂಜಲಯೋಗಗಳ ಮಾರ್ಗಪ್ರತಿಪಾದನೆಯ ಬಗೆಯು ಕಾಲ ದೇಶ ಅಧಿಕಾರಿಗಳಿಗೆ ತಕ್ಕಂತೆ ಬೇರೆಬೇರೆಯಾಗಿದ್ದರೂ ಪರಮಧ್ಯೇಯವು ಮಾತ್ರ ಒಂದೇ ಆಗಿದೆ. ಅಂತೆಯೇ ಈ ಎಲ್ಲರಿಗೂ ಸಂಮತವಾದ ಮನ್ತ್ರ-ಲಯ-ಹಠ-ಮತ್ತು ರಾಜಯೋಗಗಳೆಂಬ ನಾಲ್ಕು ಪ್ರಧಾನಯೋಗಗಳಿಗೂ ಧ್ಯೇಯವಾದ ಪ್ರಾಣಾಪಾನಯೋಜನೆಯೆಂಬ ಅದ್ಭುತತತ್ತ್ವವೂ ಸಮವೇ ಆಗಿದೆ.

"ಪ್ರಾಣಾಪಾನಸಮಾಯೋಗಃ ಜ್ಞೇಯಂ ಯೋಗಚತುಷ್ಟಯಮ್ ।" (ಯೋ. ಶಿ. 137)

## ನಾಲ್ಕುಯೋಗಗಳ ಸ್ವರೂಪ

ಹಕಾರಸಕಾರಾತ್ಮಕವಾದ ಶ್ವಾಸೋಚ್ಛ್ವಾಸರೂಪದಲ್ಲಿ ಜೀವನು ಅನಿವಾರ್ಯವಾಗಿ ಜಪಿಸುತ್ತಿರುವ ಹಂಸಮಂತ್ರವನ್ನು ವಿಪರೀತವಾಗಿ ಸೋಹಂರೂಪದಲ್ಲಿ ಜಪವಾಗುವಂತೆ ಸಾಧಿಸಿ ಪ್ರಾಣಾಪಾನಗಳ ಯೋಗವನ್ನು ಹೊಂದಿಸುವುದು ಮಂತ್ರಯೋಗ. ಆತ್ಮನಲ್ಲಿ ಚಿತ್ತಲಯ ಮಾಡಿಸುವುದೇ ಲಯಯೋಗ. ಸೂರ್ಯಚಂದ್ರರನ್ನು ಒಂದುಗೂಡಿಸುವುದು ಹಠಯೋಗ.

"ಹಂಸಹಂಸೇತಿ ಮಂತ್ರೋಽಯಂ ಸರ್ವಜೀವೈಶ್ಚ ಜಪ್ಯತೇ ।
ಗುರುವಾಕ್ಯಾತ್ ಸುಷುಮ್ನಾಯಾಂ ವಿಪರೀತೋ ಭವೇದ್ಯದಾ ।
ಸೋಹಂ ಸೋಹಮಿತಿ ಯಃ ಸ್ಯಾತ್ ಮನ್ತ್ರಯೋಗಃ ಸ ಉಚ್ಯತೇ ।"
"ಪವನಃ ಸ್ಥೈರ್ಯಮಾಯಾತಿ ಲಯಯೋಗೋದಯೇ ಸತಿ ।"
"ಸೂರ್ಯಾಚಂದ್ರಮಸೋರೈಕ್ಯಂ ಹಠ ಇತ್ಯಭಿಧೀಯತೇ ।" (ಯೋ. ಶಿ. 135)

## ಸಾಂಗ ಹಠ-ರಾಜಯೋಗಗಳ ಹೊಂದಾಣಿಕೆ

ಈ ಹಠಯೋಗಕ್ಕೆ ಯಮಾದ್ಯಷ್ಟಾಂಗಗಳಲ್ಲದೇ ಇನ್ನೂ- ಮಹಾಮುದ್ರೆ, ಮಹಾಬಂಧ, ಮಹಾವೇಧ, ಖೇಚರಿ, ಜಾಲಂಧರ, ಉಡ್ಯಾಣ, ಮೂಲಬಂಧ, ಪ್ರಣವಾನುಸಂಧಾನ, ಸಿದ್ಧಾಂತಶ್ರವಣ, ವಜ್ರೋಳಿ, ಅಮರೋಳಿ, ಸಹಜೋಳಿ, ಎಂಬ ಹನ್ನೆರಡು ಅಂಗಗಳೂ ಆರು ಕ್ರಿಯೆಗಳೂ ಸಹ ಬೇಕಾಗುತ್ತವೆ. ನಾಲ್ಕನೆಯದಾದ ರಾಜಯೋಗವನ್ನು ಈ ಹಠಯೋಗದ ಮೂಲಕವೂ ಸಂಪಾದಿಸಬಹುದು. ಸ್ವತಂತ್ರವಾಗಿಯೂ ಸಾಧಿಸಬಹುದು. ಅಣಿಮಾದ್ಯಷ್ಟಸಿದ್ಧಿಗಳನ್ನೂ ಇದರ ಮೂಲಕ ಪಡೆಯಬಹುದು.

## ಸಿದ್ಧಿಗಳ ಪರಿಚಯ

ವೈಜ್ಞಾನಿಕವಾದ ಮನೋಜಯ ವಾಯುಜಯಾದಿಗಳಿಂದ ಪಡೆಯಬಹುದಾದ ಸಿದ್ಧಿಗಳನ್ನು ಕೆಲವೆಡೆ

"ಅಣಿಮಾ ಮಹಿಮಾ ಚೈವ ಗರಿಮಾ ಲಘಿಮಾ ತಥಾ ।
ಪ್ರಾಪ್ತಿಃ ಪ್ರಾಕಾಮ್ಯಂ ಈಶತ್ವಂ ವಶಿತ್ವಂ ಚಾಷ್ಟಸಿದ್ಧಯಃ ॥"

ಎಂದು ಎಂಟು ವಿಧವಾಗಿಯೂ, ಇನ್ನು ಕೆಲವೆಡೆ—

"ಅಣಿಮಾ ಲಘಿಮಾ ಪ್ರಾಪ್ತಿಃ ಪ್ರಾಕಾಮ್ಯಂ ಮಹಿಮಾ ತಥಾ ।
ವಶಿತ್ವಂ ಗರಿಮೇಶಿತ್ವೇ ತಥಾ ಕಾಮಾವಸಾಯಿತಾ ।
ದೂರಶ್ರವಣಮೇವಾಲಂ ಪರಕಾಯಪ್ರವೇಶನಮ್ ।
ಮನೋಯಾಯಿತ್ವಮೇವೇತಿ ಸರ್ವಜ್ಞತ್ವಂ ಅಭೀಪ್ಸಿತಮ್ ।
ವಹ್ನಿಸ್ತಂಭೋ ಜಲಸ್ತಂಭಃ ಚಿರಜೀವಿತ್ವಮೇವ ಚ ।
ವಾಯುಸ್ತಂಭಃ ಕ್ಷುತ್ಪಿಪಾಸಾನಿದ್ರಾಸ್ತಂಭನಮೇವ ಚ ।
ಕಾಯವ್ಯೂಹಶ್ಚ ವಾಕ್‌ಸಿದ್ಧಿಃ ಮೃತಾನಯನಂ ಈಪ್ಸಿತಮ್ ।
ಸೃಷ್ಟಿಸಂಹಾರಕರ್ತೃತ್ವಂ ಪ್ರಾಣಾಕರ್ಷಣಮೇವ ಚ ।
ಪ್ರಾಣಾನಾಂ ಚ ಪ್ರಧಾನಂ ಚ ಲೋಭಾದೀನಾಂ ಚ ಸ್ತಂಭನಮ್ ।
ಇಂದ್ರಿಯಾಣಾಂ ಸ್ತಂಭನಂ [illegible] ಬುದ್ಧಿಸ್ತಂಭನಮೇವ [illegible] ।
ಕಲ್ಪವೃಕ್ಷತ್ವಸತ್ವಾನುಸನ್ಧಾನೇ ಹ್ಯಮರತ್ವಕಮ್ ॥"

ಎಂದು ಮೂವತ್ತಮೂರು ವಿಧವಾಗಿಯೂ ತಿಳಿಸಿದೆ. ಪಾತಂಜಲಯೋಗಸೂತ್ರದಲ್ಲಿ ಮೊದಲು ಇಪ್ಪತ್ತೊಂಭತ್ತುಸಿದ್ಧಿಗಳನ್ನೂ, ನಂತರ "ಜನ್ಮೌಷಧಿಮನ್ತ್ರತಪಃಸಮಾಧಿಜಾಃ ಸಿದ್ಧಯಃ" ಎಂದು ಹೇಳಿ, ಅನಂತ ವಿಧವಾದ ಸಿದ್ಧಿಗಳನ್ನೂ ತಿಳಿಸಲಾಗಿದೆ. ಇದೆಲ್ಲವೂ ಚಾಚೂ ತಪ್ಪದೇ ನಿಜವಾಗಿ ಯೋಗಧಾರಣೆಯಿಂದ ಪಡೆಯಬಹುವಾದ ಅಂಶಗಳೇ ಆಗಿವೆ.

## ಸಿದ್ಧಿಗಳ ತ್ಯಾಜ್ಯತೆ

ಆದರೆ ಆತ್ಮಯಾಥಾತ್ಮ್ಯಜ್ಞಾನವನ್ನು ಹೊಂದಿ, ಪರತತ್ತ್ವಸಾಕ್ಷಾತ್ಕಾರವನ್ನು ಪಡೆದು, ಜೀವನ್ಮುಕ್ತಿಯನ್ನೂ ಈಶ್ವರಭಾವವನ್ನೂ ಪಡೆಯಬೇಕೆಂಬ ಆಸೆಯುಳ್ಳವನು ಈ ಯಾವ ಸಿದ್ಧಿಗೂ ಮನಸೋಲಬಾರದು.

"ಯಾ ಇಮಾಃ ಸಿದ್ಧಯಃ ಪ್ರೋಕ್ತಾಃ ಹಠಾದಾಗನ್ತುಕಾ ಅಪಿ ।
ಮತ್ಸಾಯುಜ್ಯದಶಾಪ್ರಾಪ್ತೌ ಬಾಧಿಕಾಃ ನ ತು ಸಾಧಿಕಾಃ ॥" (ಸ್ಮೃತಿ)

## ರಾಜಯೋಗಪದಾರ್ಥ

ವಿರಾಡ್ರೂಪನಾದ ಆತ್ಮನಿಗೆ ನೇರವಾಗಿ ಸಂಬಂಧಪಟ್ಟ ಶ್ರೇಷ್ಠಯೋಗವಾದ್ದರಿಂದ ಈ ನಾಲ್ಕನೆಯ ಯೋಗಕ್ಕೆ ರಾಜಯೋಗವೆಂಬ ಹೆಸರು ಬಂದಿದೆ.

"ರಾಜಯೋಗೋ ನಾಮ ರಾಜ್ಞಃ ಉಪಯುಕ್ತೋ ಯೋಗಃ | ಯೋಗಾನಾಂ ರಾಜಾ ಇತಿ ರಾಜಯೋಗಃ | ಅಯಂ ನಿರಾಯಾಸೇನ ಮೋಕ್ಷರೂಪಪರಮಪುರುಷಾರ್ಥಪ್ರದಃ ||"

(ಪು. 4)

ಈ ಪದದ ಅಂತರಾರ್ಥವನ್ನು "ರಜಸೊ ರೇತಸೋ ಯೋಗಾತ್ ರಾಜಯೋಗ ಇತೀರಿತಃ" ಎಂದು ತಿಳಿಸಿದೆ. ಅಂದರೆ-ಮಾನವನ ಶರೀರದ ತಾತ್ತ್ವಿಕಸ್ಥಾನವಿಶೇಷದಲ್ಲಿರುವ ರಜೋರೇತಸ್ಸುಗಳನ್ನು ಮುದ್ರಾವಿಶೇಷದ ಮೂಲಕ ಒಂದುಗೂಡಿಸುವುದೆಂದರ್ಥ. ಇದೇ ಶಿವಶಕ್ತಿಯೋಗ ಅಥವಾ ಪ್ರಕೃತಿಪುರುಷಯೋಗವೆನಿಸುವುದು.

## ಇದಕ್ಕೆ ಸಾಧಕವಾದ ಮುಖ್ಯಾಂಶಗಳು

ಇದು ಕೈಗೂಡಬೇಕಾದರೆ,

"ನವಚಕ್ರಂ ಷಡಾಧಾರಂ ತ್ರಿಲಕ್ಷ್ಯಂ ವ್ಯೋಮಪಂಚಕಮ್ ||"

ಎಂದು ಹೇಳಿರುವ ಅಂಶಗಳು ಶಾರೀರರಹಸ್ಯಜ್ಞಾನದೊಂದಿಗೆ ಮನದಟ್ಟಾಗಿರಬೇಕು.

## ಇತರ ಯೋಗಗಳು ಮತ್ತು ಮಹಾಯೋಗ

ಇನ್ನು ಈ ನಾಲ್ಕು ಯೋಗಗಳಿಗಿಂತಲೂ ಬೇರೆಯಾಗಿ-ತಾರಕಯೋಗ, ಕಾಲವಂಚನೋಪಾಯಯೋಗ, ಕಾಯದಾರ್ಢ್ಯಾದಿಸಿದ್ಧಿಯೋಗ, ಸಂಪುಟಯೋಗ, ವೇಧಕಯೋಗ, ಹಂಸಯೋಗ, ಸಮಾಧಿಯೋಗ, ಸುಷುಮ್ನಾಯೋಗ, ಕುಣ್ಡಲಿನೀಯೋಗ, ಮುಂತಾದ ಅನೇಕಯೋಗಗಳು ಶ್ರುತಿಪ್ರತಿಪಾದ್ಯವಾಗಿವೆ. ಆದರೆ ಅವೆಲ್ಲವೂ ಈ ನಾಲ್ಕರಲ್ಲೇ ಅಡಕವಾಗಿವೆ. ಈ ನಾಲ್ಕನ್ನೂ ಒಟ್ಟುಗೂಡಿಸಿ ಸಾಧಿಸುವ ಯೋಗಕ್ಕೆ ಮಹಾಯೋಗವೆಂದು ಹೆಸರು.

"ಏಕ ಏವ ಚತುರ್ಧಾಯಂ ಮಹಾಯೋಗೋಽಭಿಧೀಯತೇ ||" (ಯೋ. 129)

## ಯೋಗದ ಭೂಮಿಕಾವಸ್ಥೆಗಳು

ಈ ಯೋಗದ ಭೂಮಿಕಾವಸ್ಥೆಗಳು ನಾಲ್ಕು—ಆರಂಭ, ಘಟ, ಪರಿಚಯ, ನಿಷ್ಪತ್ತಿ ಎಂದು. ಚಿತ್ತವು ಬಾಹ್ಯವಿಷಯಗಳನ್ನು ತ್ಯಜಿಸಿ ಅನ್ತರ್ಮುಖವಾದ ಕಾರ್ಯಗಳಲ್ಲಿ ತೊಡಗುವುದು ಆರಂಭಾವಸ್ಥೆ. ಕೇವಲ ಕುಂಭಕದಲ್ಲಿದ್ದು ವಾಯುವಿನಿಂದ ಸುಷುಮ್ನಾದ್ವಾರವನ್ನು ಭೇದಿಸುವಂತೆ ಮಾಡುವ ಸ್ಥಿತಿ ಘಟಾವಸ್ಥೆ. ವಾಯುವನ್ನು ದೃಙ್ಮನಃಪ್ರಾಣಾಗ್ನಿಗಳೊಡನೆ ಸುಷುಮ್ನಾನ್ತರದಲ್ಲಿ ಸ್ಥಿರೀಕರಿಸಿ ಇಡುವ ಸ್ಥಿತಿ ಪರಿಚಯಾ

ವಸ್ಥೆ. ಪರಮಾತ್ಮನ ದರ್ಶನಸ್ಥಿತಿಯೇ ನಿಷ್ಪತ್ತ್ಯವಸ್ಥೆ. ಇವೆಲ್ಲವೂ ತನ್ನಲ್ಲಿ ಮೂಡುತ್ತಿದ್ದರೆ ಆಗಮಾತ್ರ ಯೋಗಸಾಧನೆಯು ಸರಿಯಾದ ಹಾದಿಯಲ್ಲಿ ಸಾಗುತ್ತಿದೆಯೆಂದು ತಿಳಿಯಬಹುದು.

## ಯೋಗವನ್ನು ಸಾಧಿಸಲು ಬೇಕಾದ ಮನೋಭೇದ

ತ್ರಿಗುಣಾತ್ಮಕವಾದ ಚಿತ್ತಭೂಮಿಯು ಕ್ಷಿಪ್ತ ಮೂಢ ವಿಕ್ಷಿಪ್ತ ಏಕಾಗ್ರ ನಿರುದ್ಧ ಎಂದು ಐದು ವಿಧವಾಗಿದೆ. ವಿಷಯದಲ್ಲೇ ಸದಾ ಅಂಟಿಕೊಂಡಿರುವುದು ಕ್ಷಿಪ್ತ. ಆಲಸ್ಯಮಯವಾದ ಸ್ಥಿತಿಯುಳ್ಳದ್ದು ಮೂಢ. ಚಾಂಚಲ್ಯಮಯವಾದದ್ದು ವಿಕ್ಷಿಪ್ತ. ಈ ಮೂರೂ ಯೋಗಕ್ಕೆ ಉಪಯೋಗವಿಲ್ಲ. ಎಲ್ಲಾದರೂ ಒಂದು ಜಾಗದಲ್ಲಿ ನೆಲೆನಿಲ್ಲಿಸಿಕೊಳ್ಳಲು ಯೋಗ್ಯವಾಗಿರುವ ಪಕ್ಷೇ ಅದು ಏಕಾಗ್ರ. ವಿಷಯಜಾಲದಿಂದಲೇ ಮನಸ್ಸನ್ನು ತೆಗೆದು ತನ್ನಲ್ಲೇ ತನ್ನನೆಲೆಯಲ್ಲೇ ಇರಿಸಿಕೊಳ್ಳಲು ಸಮರ್ಥವಾಗಿರುವ ಪಕ್ಷೇ ಅದು ನಿರುದ್ಧ. ಈ ಎರಡೂ ಯೋಗಾಧಿಕಾರವನ್ನು ಸೂಚಿಸುತ್ತದೆ. ಇದರಿಂದ ಯೋಗ್ಯನು ವಂಚಿತನಾಗಬಾರದು.

## ಯೋಗಾಧಿಕಾರಿ

ಮಾನವನು ತನಗಿರುವ ಭವಬಂಧನವನ್ನು ತಪ್ಪಿಸಿಕೊಂಡು ಆತ್ಮಸಾಮ್ರಾಜ್ಯವನ್ನು ಹೊಂದಬೇಕಾದರೆ ಅವನ ಮೊಟ್ಟಮೊದಲಿನ ಕರ್ತವ್ಯವು ಯೋಗಾಭ್ಯಾಸವಾಗಿದೆ. ಶಾಸ್ತ್ರದಲ್ಲಿ ದೃಢವಿಶ್ವಾಸವನ್ನಿಟ್ಟು ದೃಢಾಭ್ಯಾಸದಿಂದಲೂ ಅನನ್ಯಭಕ್ತಿಯಿಂದಲೂ ಇದನ್ನು ಸಾಧಿಸಬೇಕಾಗಿದೆ. ಶಾಸ್ತ್ರವನ್ನು ತನ್ನ ಮಟ್ಟಕ್ಕೆಳೆಯದೇ ಶಾಸ್ತ್ರದಲ್ಲಿರುವ ಜ್ಞಾನದಮಟ್ಟಕ್ಕೆ ತಾನೇರಿ ಆದರ ತಿರುಳನ್ನು ಸವಿಯಬೇಕೆನ್ನುವ ಅನ್ತಃಪ್ರವೃತ್ತಿಯುಳ್ಳ, ಮತ್ತು ಶಾನ್ತನೂ ನಿಧಾನಿಯೂ ಧೀರನೂ ಆಗಿರುನ ಆಲಸ್ಯವಿಲ್ಲದ ಎಲ್ಲ ಮಾನವನೂ ಇದಕ್ಕೆ ಅಧಿಕಾರಿಯಾಗಿರುವನು.

## ಯೋಗಲಾಭಕ್ಕೆ ಬೇಕಾದ ಸಹಾಯಸಂಪತ್ತು

ಈ ಯೋಗವು ಲಭಿಸಬೇಕಾದರೆ ಚಿತ್ತವು ಮುಂದುವರಿಯಬಾರದು, ಹಿಂದುವರಿಯಬೇಕು. ಶಾರೀರಶಾಸ್ತ್ರರಹಸ್ಯವನ್ನರಿತ ಪ್ರಾಣಜಯವನ್ನು ಮಾಡಿದ ಗುರುವಿನ ಉಪದೇಶದಿಂದಲೂ, ಸಂಸ್ಕಾರ ಬಲದಿಂದಲೂ ಶಾಸ್ತ್ರಗಳ ಸಹಾಯದಿಂದಲೂ ನಿರನ್ತರ ಸಾಧನಾಬಲದಿಂದಲೂ ಈ ಯೋಗದ ರಹಸ್ಯವನ್ನು ಮನದಟ್ಟುಮಾಡಿಕೊಳ್ಳಬೇಕು.

## ಕರ್ಮಜ್ಞಾನಗಳ ಸಮನ್ವಯ

ಕರ್ಮಜ್ಞಾನಗಳ ಸ್ವರೂಪ ಮತ್ತು ಪರಸ್ಪರಸಂಬಂಧಗಳನ್ನು ಚೆನ್ನಾಗಿ ಅರಿತು ಜ್ಞಾನವನ್ನೂ ಯೋಗವನ್ನೂ ಜೊತೆಯಲ್ಲೇ ಅಭ್ಯಾಸಮಾಡಬೇಕು.

"ಹತಂ ಜ್ಞಾನಂ ಕ್ರಿಯಾಹೀನಂ ಹತಂ ಅಜ್ಞಾನಿನಾಂ ಕ್ರಿಯಾ |
ಅಪಶ್ಯನ್ನನ್ಧಕೋ ದಗ್ಧಃ ಪಶ್ಯನ್ನಪಿ ಚ ಪಂಗುಕಃ ||"

ಕುರುಡ ಕುಂಟ ಇಬ್ಬರೂ ಕಾಡುಗಿಚ್ಚಿನಿಂದ ತಪ್ಪಿಸಿಕೊಳ್ಳಲಾರರು ಎಂಬುದನ್ನೂ,

"ಏಕಂ ಸಾಙ್ಖ್ಯಂ ಚ ಯೋಗಂ ಚ ಯಃ ಪಶ್ಯತಿ ಸ ಪಶ್ಯತಿ |"

ಎಂಬುದನ್ನೂ ಇಲ್ಲಿ ಮರೆಯಬಾರದು.

ಇನ್ನು ಬುದ್ಧಿಯಲ್ಲಿ ಬ್ರಹ್ಮಾಂಡ ಪಿಂಡಾಂಡಗಳ ಸಮನ್ವಯವೂ ಆಗಬೇಕು. ಇದನ್ನೇ

"ಆಗಮೇನಾನುಮಾನೇನ ಧ್ಯಾನಾಭ್ಯಾಸರಸೇನ ಚ |
ತ್ರಿಧಾ ಪ್ರಕಲ್ಪಯನ್ ಪ್ರಜ್ಞಾಂ ಲಭತೇ ಯೋಗಮುತ್ತಮಮ್ ||"

ಎಂದು ತಿಳಿಸಿದೆ.

## ಸಾಂಖ್ಯ-ಯೋಗ-ವೇದಾನ್ತಗಳ ಸಮನ್ವಯ

ಶಾಸ್ತ್ರಗಳನ್ನು ಅದರದರ ಮರ್ಯಾದೆಯಲ್ಲೇ ಗಮನಿಸುವ ಪಕ್ಷೇ-ಸಾಂಖ್ಯಯೋಗ ವೇದಾನ್ತಗಳ ಬಗ್ಗೆ ಪರಸ್ಪರ ಭಿನ್ನತೆಗೆ ಅವಕಾಶವೇ ಇಲ್ಲವೆಂಬುದನ್ನು ತಿಳಿಯಬೇಕು. ಆತ್ಮನು ತಾನೇತಾನಾಗಿ ಭಗವಂತನ ಯೋಗದಲ್ಲಿದ್ದಾಗ ಯಾವ ತತ್ತ್ವಗಳ ಲೆಕ್ಕಕ್ಕೂ ಪ್ರಸಂಗವೇ ಇಲ್ಲ. ಸೃಷ್ಟಿಗೆ ಇಳಿದಾಗ ಮಾತ್ರ ಶೂನ್ಯದಿಂದ ಒಂದಕ್ಕೆ ಇಳಿದ ಹಾಗೆ. ಹೀಗಿಳಿದವನು ಅಲ್ಲಿಂದ ೨೪ ರವರೆಗೂ ತನ್ನ ಸಂಸಾರವನ್ನು ಬೆಳೆಸಿಕೊಳ್ಳುವನು. ಇದನ್ನು ಗುರ್ತಿಸಿ ಸಾಂಖ್ಯರು ಲೆಕ್ಕಮಾಡಿದರು. ಸೃಷ್ಟಿಯ ಕೊನೆಯಿಂದ ಮತ್ತೆಮೇಲಕ್ಕೆ ಏರಬೇಕಾದರೆ, ಅಂದರೆ ತನ್ನಧಾಮಕ್ಕೆ ತಾನು ಮತ್ತೆ ತಲಪಬೇಕಾದರೆ ಯಥಾಪ್ರಕಾರ ಸಾಂಖ್ಯಸೋಪಾನವೇ ಬೇಕು. ಹೀಗೆ ಏರಿದಂತೆಲ್ಲಾ ಒಂದೊಂದಾಗಿ ಕಳೆಯುತ್ತಾ ಬಂದರು. ಕೊನೆಗೆ ನಿಂತ ೧ ನೆಯವನೇ ಪುರುಷನೆಂದರು. "ಅಷ್ಟಾಚಕ್ರಾ ನವದ್ವಾರಾ ದೇವಾನಾಂ ಪೂರಯೋಧ್ಯಾ" ಎಂಬ ಪುರವಲ್ಲಿ ವಾಸಮಾಡಲು ನಿಂತವನೇ ಪುರುಷ. ಇವನನ್ನೇ ಮಹಾಭಾರತದಲ್ಲಿ 'ಅಣವಿಕ'ನೆಂದು ಕರೆದು ಅವನಿಗೆ ಕರ್ಮಾನುಸಾರವಾದ ಚಲನವಲನಗಳೆಲ್ಲವೂ ಉಂಟೆಂದು ತಿಳಿಸಿದೆ. ಈ ರೀತಿ ಸಾಂಖ್ಯವನ್ನು ಆಶ್ರಯಿಸಿ ೧ ರವರೆಗೆ ಬಂದಾಗ, ಯೋಗವು ಆ ಒಂದರಲ್ಲೂ ಒಂದನ್ನು ಕಳೆದು 'ಸೊನ್ನೆ' ಎಂದಿತು. ಇದೇ ಪರಮಯೋಗ.

"ಐಕ್ಯಂ ಜೀವಾತ್ಮನೋರಾಹುರ್ಯೋಗಂ ಯೋಗವಿಶಾರದಾಃ"

ಇದನ್ನೇ ದೃಷ್ಟಿಭೇದದಿಂದ-

"ಶಿವಾತ್ಮನೋರಭೇದೇನ ಪ್ರತಿಪತ್ತಿಂ ಪರೇ ವಿದುಃ |
ಶಿವಶಕ್ತ್ಯಾತ್ಮಕಂ ಜ್ಞಾನಂ ಜಗುರಾಗಮವೇದಿನಃ |
ಪುರಾಣಪುರುಷಸ್ಯಾನ್ಯೇ ಜ್ಞಾನಮಾಹುರ್ವಿಶಾರದಾಃ ||"

ಎಂದೂ ತಿಳಿಸಿರುತ್ತಾರೆ.

ಹೀಗೆ ಭಗವಂತನಲ್ಲಿ ಲೀನನಾದ ಜೀವನು ಪ್ರತ್ಯೇಕವಾಗಿ ಕಾಣಿಸಿಕೊಳ್ಳಲು ಅವಕಾಶ ವಿಲ್ಲ. ಈ 'ಸೊನ್ನೆ'ಯಾಗಿ ತೋರುವವನೇ ಈಶ್ವರ. ಇದನ್ನೇ "ಕ್ಲೇಶಕರ್ಮವಿಪಾಕಾ ಶಯೈಃ ಅಪರಾಮೃಷ್ಟಃ ಈಶ್ವರಃ" ಎಂದು ಹೇಳಿತು. ಇದಕ್ಕೆ ಭಾಷ್ಯವನ್ನು ಬರೆದ ವ್ಯಾಸರೇ ಬ್ರಹ್ಮಸೂತ್ರವನ್ನು ಬರೆದು ಅದರಲ್ಲಿ"ಏತೇನ ಯೋಗಃ ಪ್ರತ್ಯುಕ್ತಃ" ಎಂದು ಹೇಳಿಬಿಟ್ಟರು. ಕಾರಣ-ಯೋಗವೆಲ್ಲ ತಪ್ಪೆಂದು ಅಲ್ಲ. ಬ್ರಹ್ಮವು ಉಪಾದಾನವೇ ನಿಮಿತ್ತವೇ ಇತ್ಯಾದಿ ಯಾದ ಬ್ರಹ್ಮನ ವಿಶೇಷಧರ್ಮಗಳನ್ನು ನಿರ್ಣಯಿಸಲು ಬ್ರಹ್ಮವಿದ್ಯೆಯೊಂದು ಸಿದ್ಧ ವಾಗಿರುವುದರಿಂದ, ಆ ಅಂಶದಲ್ಲಿ ಇವರು ತಲೆಹಾಕುವುದು ಬೇಡವೆಂದಿಷ್ಟುಮಾತ್ರ ಅಭಿ ಪ್ರಾಯದಿಂದ ಆ ರೀತಿ ಹೇಳಿದರು. ಭಗವಂತನು ಯೋಗೇಶ್ವರನೆಂಬ ವಿಷಯವನ್ನು ಮನಸದಟ್ಟುಮಾಡಿಕೊಳ್ಳಬೇಕು. ಹೀಗೆ ಎಲ್ಲವನ್ನೂ ಸಮನ್ವಯದೃಷ್ಟಿಯಿಂದ ನೋಡು ವವನೇ ಪಂಡಿತನೆಂದು ಗೀತೆಯು ಸಾರುತ್ತದೆ. ಔಪಾಧಿಕವಾಗಿ ಏನೇನು ಬಂದರೂ ಅವುಗಳ ಉಪಾಧಿಗಳೆಲ್ಲವನ್ನೂ ಮೂಲೆಗೊತ್ತರಿಸಿ ಅದರ ಶುದ್ಧರೂಪವನ್ನು ನೋಡುವ ವನೇ ಪಂಡಿತನೆಂದು ಹೇಳುವ ರೀತಿಯಲ್ಲಿ ಪಾಂಡಿತ್ಯವನ್ನು ಸಂಪಾದಿಸಿಕೊಳ್ಳಬೇಕು.

"ಅಚಿನ್ತ್ಯಾಃ ಖಲು ಯೇ ಭಾವಾಃ ನತಾಂಸ್ತರ್ಕೇಣ ಯೋಜಯೇತ್"

## ಯೋಗವನ್ನು ಹಾಳುಮಾಡುವ ಅಂಶಗಳು

ಅಸಂಯಮ, ಅನಿಯತಾಹಾರ, ಆಲಸ್ಯ, ಧೂರ್ತಗೋಷ್ಠಿ, ಹಗಲುನಿದ್ರೆ, ರಾತ್ರಿಜಾಗರಣೆ, ಭಯ, ಇತ್ಯಾದಿಯಾದ ಪ್ರಕೃತಿಸಹಜವಾಗಿ ಒದುಗುವ ಹಲವಾರು ಯೋಗವಿಘ್ನಗಳಿವೆ. ಇವುಗಳಿಂದ ಪಾರಾಗಬೇಕು. ತಾಪತ್ರಯ, ನವವಿಧವ್ಯವಹಾರ, ಷಟ್ಕೌಶಿಕ, ಷಡೂರ್ಮಿ, ಪಞ್ಚಕೋಶ, ಷಡ್ಭಾವವಿಕಾರ, ಅರಿಷಡ್ವರ್ಗ, ಷಡ್ಭ್ರಮೆ ಇವೆಲ್ಲವೂ ಇವನ ಯೋಗಸಾಧನೆಗೇ ಅಡ್ಡಿಯಾಗದಂತೆ ನೋಡಿಕೊಂಡು, ಯೋಗ ವಿಘ್ನಗಳ ಮೇಲೆ ಇವುಗಳನ್ನು ಪ್ರಯೋಗಿಸಿ ತನ್ನನ್ನು ಕಾಪಾಡಿಕೊಳ್ಳಲು ಸಮರ್ಥ ನಾಗಿರಬೇಕು.

## ಯೋಗಾಂಗಗಳ ಪರಿಚಯ

ಇನ್ನು ಷಡಂಗ, ಅಷ್ಟಾಂಗ, ಪಂಚದಶಾಂಗಗಳಲ್ಲಿ ಯಥೋಚಿತ ಅಂಗಸಂಪತ್ತಿ ಇರಬೇಕು. ಆಸನ, ಪ್ರಾಣಾಯಾಮ, ಪ್ರತ್ಯಾಹಾರ, ಧಾರಣಾ, ಧ್ಯಾನ, ಸಮಾಧಿಗಳೆಂಬ ಆರಂಗಳೆಂದು ಕೆಲವರೂ; ಇದಕ್ಕೆ ಯಮ ಮತ್ತು ನಿಯಮಗಳನ್ನು ಸೇರಿಸಿಕೊಂಡು ಅಷ್ಟಾಂಗಗಳೆಂದು ಹಲವರೂ; ತ್ಯಾಗ, ಮೌನ, ದೇಶ, ಕಾಲ, ಮೂಲಬಂಧ, ದೇಹ ಸಾಮ್ಯ, ದೃಕ್‌ಸ್ಥಿತಿ ಎಂಬ ಮತ್ತೆ ಏಳನ್ನು ಸೇರಿಸಿಕೊಂಡು ಹದಿನೈದು ಅಂಗಗಳೆಂದು ಕೆಲವರೂ ಹೇಳುವರು. ಯಥೋಚಿತವಾದ ಯೋಗಾಂಗಾನುಷ್ಠಾನವು ಯೋಗಸಿದ್ಧಿಯ

ಸೌಧವನ್ನೇರಲು ಮೆಟ್ಟಿಲಾಗಿ, ಮನೋನೈರ್ಮಲ್ಯವನ್ನೂ ತತ್ತ್ವಗಳ ವಿಜ್ಞಾನ ಸ್ಫೂರ್ತಿಯನ್ನೂ ಉಂಟುಮಾಡುತ್ತದೆ.

## ಯಮನಿಯಮಗಳು

ಇವುಗಳಲ್ಲಿ ಮೊದಲೆರಡು ಅಂಗಗಳಾದ ಯಮನಿಯಮಗಳ ಸ್ವರೂಪವು ಮಂಡಲಬ್ರಾಹ್ಮಣದಲ್ಲೂ ಶಾಂಡಿಲ್ಯೋಪನಿಷತ್ತಿನಲ್ಲೂ ಹೃದಯಂಗಮವಾಗಿ ನಿರೂಪಿಸಲ್ಪಟ್ಟಿವೆ.

ಮಂಡಲಬ್ರಾಹ್ಮಣವು— ಇವುಗಳನ್ನು ವಿವರಿಸುವಾಗ–ಶೀತೋಷ್ಣಾಹಾರನಿದ್ರೆಗಳ ಜಯ, ಯಾವಾಗಲೂ ನೆಮ್ಮದಿಯಾಗಿರುವುದು, ಚಿತ್ತಸ್ಥೈರ್ಯ ಮತ್ತು ಇಂದ್ರಿಯ ನಿಗ್ರಹಗಳೆಂಬ ನಾಲ್ಕುವಿಧ ಯಮಗಳೆಂದೂ; ಗುರುಭಕ್ತಿ, ಸತ್ಯಮಾರ್ಗದಲ್ಲಿ ಪ್ರೀತಿ, ತನ್ನ ಪಾಲಿಗೆ ಸಹಜವಾಗಿ ಬಂದ ಬದುಕನ್ನು ಉಪಯೋಗಿಸಿಕೊಳ್ಳುವುದು, ಅಷ್ಟರಿಂದಲೇ ಸಂತುಷ್ಟಿ, ಆದಷ್ಟು ನಿಃಸಂಗವಾಗಿ ಏಕಾನ್ತಪ್ರಿಯನಾಗಿರುವುದು, ಮನಸ್ಸನ್ನು ವಿಷಯದಲ್ಲಿ ನೆಡದಿರುವುದು, ಫಲನಿರೀಕ್ಷಣೆಯಿಲ್ಲದಿರುವುದು, ಮತ್ತು ವಿರಾಗತೆ ಎಂಬ ಒಂಭತ್ತು ವಿಧ ನಿಯಮಗಳೆಂದೂ ತಿಳಿಸುವುದು. ಆದರೆ ಶಾಂಡಿಲ್ಯವು ಅಹಿಂಸೆ–ಸತ್ಯ–ಅಸ್ತೇಯ–ಬ್ರಹ್ಮಚರ್ಯ–ದಯೆ–ಆರ್ಜವ – ಕ್ಷಮೆ – ಧೃತಿ–ಮಿತಾಹಾರ, ಮತ್ತು ಶೌಚಗಳೆಂಬ ಹತ್ತುವಿಧ ಯಮಗಳೆಂದೂ; ತಪಸ್ಸು, ಸಂತೋಷ–ಆಸ್ತಿಕ್ಯ–ದಾನ–ಈಶ್ವರಪೂಜನ–ಸಿದ್ಧಾಂತಶ್ರವಣ–ಹ್ರೀ–ಮತಿ–ಜಪ–ಮತ್ತು ವ್ರತಗಳೆಂಬ ಹತ್ತುವಿಧ ನಿಯಮಗಳೆಂದೂ ತಿಳಿಸುವುದು.

ಇವುಗಳಲ್ಲಿ–ಮನೋವಾಕ್ಕಾಯಗಳಿಂದ ಯಾವಾಗಲೂ ಯಾವ ಪ್ರಾಣಿಗೂ ಹಿಂಸೆಯನ್ನು ಕೊಡದಿರುವುದು ಅಹಿಂಸೆ. ಭೂತಹಿತವೂ ಯಥಾರ್ಥವೂ ಆದ ರೀತಿಯಲ್ಲಿ ನುಡಿಯುವುದು ಸತ್ಯ. ಕಂಡವರ ಬದುಕಿನಲ್ಲಿ ಸ್ಪೃಹೆಯನ್ನು ತೊರೆಯುವುದು ಅಸ್ತೇಯ. ಎಲ್ಲ ಅವಸ್ಥೆಯಲ್ಲೂ ಕಾಮಕ್ಕೆ ಬಲಿಯಾಗದಿರುವುದು ಬ್ರಹ್ಮಚರ್ಯ. ಎಲ್ಲಭೂತಗಳಿಗೂ ಅನುಗ್ರಹವನ್ನು ನೀಡುವುದು ದಯೆ. ಯೋಗ್ಯಜನರಲ್ಲಿ ಪ್ರವೃತ್ತಿಯನ್ನೂ ಅಯೋಗ್ಯರಲ್ಲಿ ನಿವೃತ್ತಿಯನ್ನೂ ಹೊಂದಿರುವ ಏಕಾಂತವಾದ ಚಿತ್ತವೃತ್ತಿ ಆರ್ಜವ. ಪ್ರಿಯಾಪ್ರಿಯಗಳನ್ನೂ ತಿರಸ್ಕಾರ ಪುರಸ್ಕಾರಗಳನ್ನೂ ಸಹಿಸಿಕೊಳ್ಳುವುದು ಕ್ಷಮೆ. ಧನ–ಬಂಧುಗಳ ಯೋಗವಿಯೋಗಗಳಲ್ಲಿ ಚಿತ್ತಸ್ಥೈರ್ಯ ಧೃತಿ. ಆಹಾರದ ಮುಕ್ಕಾಲುಪಾಲು ಮಾತ್ರ ಉಪಯೋಗಿಸುವುದು ಮಿತಾಹಾರ. ಯೋಗವಿದ್ಯೆಯಿಂದಲೂ ಜಲಮೃತ್ತಿಕೆಗಳಿಂದಲೂ ಒಳಹೊರಗಣ ಶುದ್ಧಿಯೇ ಶೌಚ. ವ್ರತಗಳಿಂದ ಶರೀರಶೋಷಣೆ ತಪಸ್ಸು. ದೊರೆತ ವಸ್ತುವಿನಿಂದ ತೃಪ್ತನಾಗುವುದು ಸಂತೋಷ. ಸನಾತನಧರ್ಮಗಳಲ್ಲಿ ನಂಬಿಕೆ ಆಸ್ತಿಕ್ಯ. ನ್ಯಾಯಾರ್ಜಿತ ಧನವನ್ನು ಶ್ರದ್ಧೆಯಿಂದ ಸದ್ವಿನಿಯೋಗಮಾಡುವುದು ದಾನ. ಯಥಾಶಕ್ತಿ ಪ್ರಸನ್ನ

ಮನಸ್ಸಿನಿಂದ ಹರಿಹರರ ಪೂಜೆ ಮಾಡುವುದು ಈಶ್ವರಪೂಜನ. ಸಚ್ಛಾಸ್ತ್ರಗಳವಿಚಾರ ಸಿದ್ಧಾನ್ತಶ್ರವಣ. ಕುತ್ಸಿತವಾದ ಕಾರ್ಯಗಳಲ್ಲಿ ನಾಚುವುದು ಹ್ರೀ. ಶಾಸ್ತ್ರೋಕ್ತ ಕರ್ಮಾಸಕ್ತಿ ಮತಿ. ಜ್ಞಾನದೀಪಕವಾದ ಮಂತ್ರಗಳನ್ನು ವಾಚಿಕ ಮತ್ತು ಮಾನಸಿಕ ವಾಗಿ ಅಭ್ಯಾಸಮಾಡುವುದು ಜಪ. ಜ್ಞಾನಿಗಳ ಶಾಸನಕ್ಕೆ ಒಳಪಟ್ಟಿರುವುದು ವ್ರತ. ಇವೆರಡೂ ಯೋಗಸಾಧನಗಳಷ್ಟೇ ಅಲ್ಲದೇ ಜನಸಾಮಾನ್ಯದಲ್ಲಿ ಸುಖಜೀವನವನ್ನೂ ಪರಸ್ಪರ ಸೌಹಾರ್ದವನ್ನೂ ಬೆಳೆಸಿಕೊಡುವುದರಿಂದ ಸಾಮಾನ್ಯಧರ್ಮಗಳ ಗುಂಪಿಗೂ ಸೇರುತ್ತವೆ.

## ಆಸನ

ಅಷ್ಟಾಂಗಗಳಲ್ಲಿ ಮೂರನೆಯ ಮೆಟ್ಟಲೂ ಹಠಯೋಗದ ಷಡಂಗಗಳಲ್ಲಿ ಒಂದನೆಯ ಮೆಟ್ಟಲೂ ಆಗಿರುವುದು ಆಸನ. ಆಸನವೆಂದರೆ ಶಾರೀರಶಾಸ್ತ್ರನಿಷ್ಣಾತರ ದಿಗ್ದರ್ಶನ ದಿಂದ ತನ್ನಲ್ಲಿ ಆಗಬೇಕಾದ ಪರಿಣಾಮವನ್ನನುಸರಿಸಿ ಈ ಶರೀರದ ಒಳಗೂ ಹೊರಗೂ ದೃಙ್ಮನಃಪ್ರಾಣಾಗ್ನಿಗಳನ್ನು ಒಂದು ಸ್ಥಿತಿಯಲ್ಲಿರಿಸುವುದು. ಇದು ಸುಖಕರವಾಗಿಯೂ ಸ್ಥಿರವಾಗಿಯೂ ಇರಬೇಕು. ಇದರ ಬಗೆಗಳು ಅನನ್ತವಾಗಿವೆ.

"ಆಸನಾನಿ ಚ ತಾವನ್ತಿ ಯಾವತ್ಯೋ ಜೀವಜಾತಯಃ |"

ಇವುಗಳಲ್ಲಿ ಎಲ್ಲರಿಗೂ ಹೊಂದಿಕೊಳ್ಳುವ ತಕ್ಕ ಆಸನವನ್ನು ಸುಖಾಸನವೆನ್ನುತ್ತಾರೆ.

"ಯೇನ ಕೇನ ಪ್ರಕಾರೇಣ ಸುಖಂ ಧಾರ್ಯಂ ಚ ಯದ್ಭವೇತ್ |
ಸುಖಾಸನಂ ತದೇವ ಸ್ಯಾತ್ ಅಶಕ್ತಃ ತತ್ ಸಮಾಚರೇತ್ ||"

ಹೀಗೆ ಶಾರೀರ ರಹಸ್ಯಗಳನ್ನೂ ರೋಗಪಾಪಗಳನ್ನೂ ಕಾಲದೇಶವರ್ತಮಾನಗಳನ್ನೂ ದೇಹ ದೇಶಗಳನ್ನೂ ನಿರ್ದಿಷ್ಟವಾಗಿ ಅರಿತು, ತಕ್ಕ ಸುಖಾಸನವನ್ನು ಕೈಗೊಂಡರೆ ಮಾತ್ರ, ಆರೋಗ್ಯ ಸ್ಥೈರ್ಯ ಮತ್ತು ಅಂಗಲಾಘವಗಳು ಉಂಟಾಗಿ ಒಳಹೊರಗಿನ ಪಾಪ ತಾಪಗಳು ಪರಿಹಾರವಾಗುತ್ತವೆ.

## ಪ್ರಾಣಾಯಾಮ

ಪ್ರಾಣಾಯಾಮವೆಂದರೆ ಕೇವಲ ನಾಸಿಕಾಪೀಡನದಿಂದ ಉಸಿರನ್ನು ತಡೆಹಿಡಿಯು ವುದಷ್ಟೇಅಲ್ಲ. ಹೀಗೆ ಮಾಡುವುದರಿಂದ ಬುದ್ಧಿಭ್ರಮಣೆಯೂ ಅನೇಕರೋಗೋತ್ಪ ತ್ತಿಯೂ ಸಂಭವಿಸಬಹುದೆಂದು ಶಾಸ್ತ್ರವು ಸಾರುತ್ತದೆ.

"ನಾಡೀನಾಮಾಶ್ರಯಃ ಪಿಣ್ಡಃ ನಾಡ್ಯಃ ಪ್ರಾಣಸ್ಯ ಚಾಶ್ರಯಃ |
ಜೀವಸ್ಯ ನಿಲಯಃ ಪ್ರಾ[illegible] ಜೀವೋ ಹಂಸಸ್ಯ ಚಾಶ್ರಯಃ ||
ಹಂಸಃ ಶಕ್ತೇರಧಿಷ್ಠಾನಂ ಚರಾಚರಮಿದಂ ಜಗತ್ |
ನಿರ್ವಿಕಲ್ಪಃ ಪ್ರಸನ್ನಾತ್ಮಾ ಪ್ರಾಣಾಯಾಮಂ ಸಮಭ್ಯಸೇತ್ ||"

ಇದರ ತಿರುಳನ್ನರಿತು, ನಾಡೀ ಮೊದಲಾದವುಗಳ ನೆಲೆ ಪರಸ್ಪರಸಂಬನ್ಧ ಮತ್ತು ವಿಕಾರಗಳನ್ನನುಸರಿಸಿ,

"ಸ್ಪರ್ಶಾನ್ ಕೃತ್ವಾ ಬಹಿರ್ಬಾಹ್ಯಾನ್ ಚಕ್ಷುಶ್ಚೈವಾನ್ತರೇ ಭ್ರುವೋಃ ।
ಪ್ರಾಣಾಪಾನೌ ಸಮೌಕೃತ್ವಾ ನಾಸಾಭ್ಯನ್ತರಚಾರಿಣೌ ॥
ಯತೇಂದ್ರಿಯಮನೋಬುದ್ಧಿಃ ಮುನಿಃ ಮೋಕ್ಷಪರಾಯಣಃ ॥"(ಗೀತೆ)

ಎಂದು ತಿಳಿಸಿರುವ ವಿಧಾನದಲ್ಲಿ ಪ್ರಾಣಾಯಾಮವನ್ನು ಅಭ್ಯಸಿಸಬೇಕು. ಇದರಿಂದ ಆಸನದ ಮುಂದಿನ ಹೆಜ್ಜೆಗೆ ತಕ್ಕಂತೆ ದೃಙ್ಮನಃಪ್ರಾಣಾಗ್ನಿಗಳು ಹಿಂತಿರುಗಲು ತೊಡಗಬೇಕಾಗಿದೆ.

## ಪ್ರತ್ಯಾಹಾರ

ಇದರ ಮುಂದಿನ ಹೆಜ್ಜೆಯೇ ಪ್ರತ್ಯಾಹಾರ. ಬಹಿರ್ಮುಖವಾದ ಚಿತ್ತವನ್ನು ಒಳಮುಖವಾಗಿ ಸೆಳೆದುಕೊಂಡು ಅದರೊಡಗೂಡಿದ ತನ್ನ ಐಚ್ಛಿಕಾನೈಚ್ಛಿಕ ವ್ಯಾಪಾರಗಳನ್ನೂ ವಿಷಯೇಂದ್ರಿಯಗಳನ್ನೂ ಹತೋಟಿಯಲ್ಲಿಟ್ಟುಕೊಳ್ಳುವುದೇ ಪ್ರತ್ಯಾಹಾರ. ಇದೇ ಆತ್ಮಜ್ಯೋತಿಯನ್ನರಸಲು ಹೊರಡುವ ಸ್ಥಿತಿ. ಐದು ಬಗೆಯಾದ ಮಾರ್ಗಗಳಿಂದ ಹೊಂದಬಹುದಾದ ಇದು ಅನೇಕ ವಿಧಗಳಾಗಿವೆ. ಎಲ್ಲಕ್ಕೂ ಒಂದೇ ಗುರಿ.

ಮುಂದಿನ ಮೂರು ಅಂಗಗಳಿಗೂ ಸಂಯಮವೆಂದು ಹೆಸರು. ಇವು ಯೋಗ ಸಾಮ್ರಾಜ್ಯ ಸಿಂಹಾಸನದಲ್ಲೇ ಚಿತ್ರಿಸಿದ ಮೂರು ಸೋಪಾನಗಳಾಗಿವೆ.

## ಧಾರಣೆ

ಬಾಹ್ಯವಿಷಯಗಳಲ್ಲಿ ಸವಿಯನ್ನು ಕಂಡ ಮನಸ್ಸಿಗೆ ವಿಷಯವೇ ಇಲ್ಲದಿದ್ದರೆ ಅದು ನಿಲ್ಲಲಾರದೆಂಬ ರಹಸ್ಯವನ್ನರಿತು, ಅದಕ್ಕೆ ಅನ್ತಃಪ್ರಪಂಚದಲ್ಲಿ ಯೋಗಸಾಧನೆಗೆ ತಕ್ಕ ವಿಷಯಗಳನ್ನು ಧರಿಸುವ ಯೋಗ್ಯತೆಯನ್ನು ಕೊಡುವುದೇ ಧಾರಣೆ. ಇದನ್ನೂ ಸಹ ಐದುಬಗೆಯಾಗಿ ವಿಂಗಡಿಸಬಹುದು. ಇದರಿಂದ ಆಂತರಾಳಿಕವಾಗಿ ದೂರಶ್ರವಣ ದೂರ ದೃಷ್ಟಿ ವಾಕ್ಸಿದ್ಧಿ ಮುಂತಾದ ಅನೇಕ ಸಿದ್ಧಿಗಳೂ ಲಭಿಸುವುವು. ಇಲ್ಲಿಗೇ ನಿಲ್ಲದೇ ಮುಂದುವರಿದರೆ, ಅದೇ ಚಿತ್ತಕ್ಕೆ ರೂಪಾರೂಪಗಳನ್ನೂ ಏಕಾಗ್ರತೆಯನ್ನೂ ತಂದು ಕೊಡುವ ಮುಂದಿನ ಸೋಪಾನವಾಗಿರುವುದೇ ಧ್ಯಾನ.

## ಧ್ಯಾನ

ಈ ಧ್ಯಾನವು ಸಗುಣ ನಿರ್ಗುಣವೆಂದು ಎರಡುವಿಧ. ಸಗುಣವು ಸವಿಶೇಷ ಸಗರ್ಭ ಮೂರ್ತಿಧ್ಯಾನವೆಂಬ ವ್ಯವಹಾರಗಳಿಗೆ ವಿಷಯವಾಗುವುದು, ಇದು ಅನೇಕ ಸಿದ್ಧಿಗಳ ಮೂಲಕ ಜೀವವನ್ನು ಭಗವಂತನೆಡೆಗೆ ಒಯ್ಯಲು ಒಳ್ಳೆಯ ಸಾಧನೆಯಾಗಿರುವುದು.

ನಿರ್ಗುಣವು ನೇರವಾಗಿ ಸಮಾಧಿಸಿದ್ಧಿಗೆ ಕಾರಣವಾಗಿರುವುದು. ಈ ಧ್ಯಾನಕ್ಕೆ ಸುಷುಮ್ನೆಯಲ್ಲಿ ಪ್ರಾಣಗತಿಯನ್ನು ಮೂಡಿಸುವ ಹೃದಯವಿಜ್ಞಾನವಿರಬೇಕು.

## ಸಮಾಧಿ

ಸಾಧಾರಣ ಜನರಿಗೆ ಅಲಭ್ಯವೂ, ಯೋಗಿಗಳಿಗೆ ಪರಮಧ್ಯೇಯವೂ ಆದ, ಕೊನೆಯ ಗದ್ದುಗೆಯೇ ಸಮಾಧಿ. ಪರಮಾತ್ಮನಲ್ಲಿ ಜೀವನ ಅನನ್ಯಭಾವನೆಯೇ ಸಮಾಧಿ. ಇದು ಸಂಪ್ರಜ್ಞಾತ ಅಸಂಪ್ರಜ್ಞಾತವೆಂದು ಇಬ್ಬಗೆಯಾಗಿದೆ. ಸಂಪ್ರಜ್ಞಾತಕ್ಕೆ ಸಬೀಜ ಸಾಲಂಬನ ಸವಿಕಲ್ಪ ಎಂದೂ, ಅಸಂಪ್ರಜ್ಞಾತಕ್ಕೆ ನಿರ್ಬೀಜ ನಿರಾಲಂಬ ನಿರ್ವಿಕಲ್ಪ ಎಂದೂ ನಾಮಾಂತರಗಳಿವೆ. ಸಂಪ್ರಜ್ಞಾತವು ಸವಿತರ್ಕ ಸವಿಚಾರ ಸಾನಂದ ಸಾಸ್ಮಿತ ಎಂದು ನಾಲ್ಕುಬಗೆಯಾಗಿ, ಕ್ರಮಶಃ ಮಧುಮತೀ ಮೊದಲಾದ ನಾಲ್ಕುವಿಧ ಸಿದ್ಧಿಯನ್ನುಂಟುಮಾಡುತ್ತವೆ. ಇದಲ್ಲದೇ ಇನ್ನೂ ಎಷ್ಟೋ ಬಗೆಯ ಸಮಾಧಿಗಳು ಶಾಸ್ತ್ರೋಕ್ತವಾಗಿವೆ. ಈ ಸಮಾಧಿಗಳನ್ನು ಹಿಂದೆ ವಿವರಿಸಿದ ಸಾಧನೆಗಳಿಂದಷ್ಟೇ ಅಲ್ಲದೇ, ಇನ್ನೂ ನಾನಾಉಪಾಯದಿಂದಲೂ ಹೊಂದಬಹುದು. ಉದಾಹರಣೆಗೆ—ಮೂಲಕುಂಡಲಿನಿಯನ್ನು ಪ್ರಾಣಜಯಾಭ್ಯಾಸದ ಮೂಲಕ ಸಹಸ್ರಾರಕ್ಕೆ ಹೊಂದಿಸುವುದರಿಂದಲೂ, ಗುರೂಕ್ತ ಧ್ಯಾನಗಳಿಂದಲೂ, ಸಹಜಕುಂಭಕದಿಂದಲೂ, ಆಯಾ ವಸ್ತುತತ್ತ್ವಜ್ಞಾನದಿಂದಲೂ, ವೈಜ್ಞಾನಿಕವಿಚಾರಲಹರಿಯಿಂದಲೂ ನಾದಾನುಸಂಧಾನದಿಂದಲೂ, ಹಂಸಮಂತ್ರಜಪದಿಂದಲೂ, ನಿರ್ಗುಣಧ್ಯಾನದಿಂದಲೂ, ಉಚಿತವಾದ ಜನ್ಮೌಷಧಿಮಂತ್ರತಪಸ್ಸುಗಳಿಂದಲೂ ಭಗವದನನ್ಯಭಕ್ತಿಯಿಂದಲೂ ಸಹ ಇದನ್ನು ಹೊಂದಬಹುದು. ಈ ಸಮಾಧಿಯನ್ನು ಆತ್ಮದರ್ಶನವಾಗುವವರೆಗೆ ಬಿಡದೇ ಸಾಧನೆ ಮಾಡುತ್ತಿರಬೇಕು. ಹೀಗೆ ಸುಸಂಕ್ಷಿಪ್ತವಾಗಿ ಅಷ್ಟಾಂಗಗಳನ್ನು ನಿರೂಪಿಸಲಾಗಿದೆ.

## ತ್ಯಾಗಾದಿ ಏಳು ಉಪಾಂಗಗಳು

ಇನ್ನೂ ಏಳು ಉಪಾಂಗಗಳನ್ನು ಸೇರಿಸಿ ಪಂಚದಶಾಂಗಗಳೆನ್ನುತ್ತಾರೆ. ಅವುಗಳಲ್ಲಿ ಪರಮಾತ್ಮನ ಧರ್ಮವನ್ನೇ ಬೆಳೆಸಲು ಬೇಕಾದ ರೀತಿಯಲ್ಲಿ ಎಲ್ಲವನ್ನೂ ತ್ಯಜಿಸುವುದೇ ತ್ಯಾಗ. ಮಾತಿಗೆ ನಿಲುಕದ ವಿಷಯದಲ್ಲಿ ಸಹಜವಾದ ವಾಕ್ಸಂಯಮವೇ ಮೌನ. ಅಪರಿಚ್ಛಿನ್ನವಾದ ದೇಶ ಕಾಲಗಳಲ್ಲಿ ತನ್ನ ನೆಲೆಯನ್ನು ಕಲ್ಪಿಸಿಕೊಳ್ಳುವುದು ದೇಶ ಕಾಲಗಳು. ಧಾರಣಾನುಗುಣವಾದ ಬಂಧವಿಶೇಷವೇ ಮೂಲಬಂಧ. ಧ್ಯಾನಸಂಗಳನಾದ ಗುರುವಿನ ದೇಹದೃಕ್ಕುಗಳೊಡನೆ ಸರ್ವಸಾಮ್ಯವನ್ನು ಹೊಂದಿರುವ ಸ್ಥಿತಿಯೇ ದೇಹಸಾಮ್ಯದೃಕ್‌ಸ್ಥಿತಿಗಳು. ಇವೆಲ್ಲವೂ ಸೂಕ್ಷ್ಮವಾಗಿ ಅಷ್ಟಾಂಗಗಳಲ್ಲೇ ಅಡಕವಾಗುತ್ತವೆ.

## ಬಂಧ ಮುದ್ರಾದಿಗಳ ಪರಿಚಯ

ಇನ್ನು ಇದಲ್ಲದೇ ಮನ್ತ್ರಸಾಧನೆಗೆ ಮೂಲಬಂಧವೂ, ಭೂತಧಾರಣೆಗೆ ಉಡ್ಯಾಣ ಬಂಧವೂ, ಸಮಾಧಿಗೆ ಜಾಲಂಧರಬಂಧವೂ, ಸಹಕರಿಸುವುದರಿಂದ ಈ ಮೂರು ಬಂಧನ ಗಳನ್ನೂ; ಖೇಚರೀ ಷಣ್ಮುಖೀ ಶಾಂಭವೀ ಎಂಬ ಮೂರು ಮುದ್ರೆಗಳನ್ನೂ, ಪೂರ್ಣಿಮಾ ಅಮಾ ಪ್ರತಿಪತ್ ಎಂಬ ಮೂರು ದೃಷ್ಟಿಗಳನ್ನೂ, ಅನ್ತಃ ಬಹಿಃ ಮಧ್ಯವೆಂಬ ಮೂರು ಲಕ್ಷ್ಯಗಳನ್ನೂ, ಪೂರ್ವೋತ್ತರತಾರಕಗಳನ್ನೂ ಸ್ವಾಧೀನವಾಗಿ ತನ್ನಲ್ಲಿ ಮೂಡಿಸಿಕೊಳ್ಳಲು ಚತುರನಾಗಿರಬೇಕು. ಇಷ್ಟು ಅಂಶಗಳನ್ನೂ ಗಮನಿಸಿ ಸ್ಥಿರಚಿತ್ತನಾಗಿ ನೆಲೆಯ ಕಡೆ ಸಾಗಿದರೆ ಮಾತ್ರ ನಿಜವಾದ ಯೋಗಸಿದ್ಧಿ.

"ಯಸ್ಯ ದೇವೇ ಪರಾಭಕ್ತಿಃ ಯಥಾ ದೇವೇ ತಥಾ ಗುರೌ ।
ತಸ್ಯೈತೇ ಕಥಿತಾ ಹ್ಯರ್ಥಾಃ ಪ್ರಕಾಶನ್ತೇ ಮಹಾತ್ಮನಃ ॥"

## ಮಂಡಲಬ್ರಾಹ್ಮಣೋಪನಿಷತ್ಪದಾರ್ಥ

ಹೀಗೆ ಪರಮಸಂಕ್ಷಿಪ್ತವಾಗಿ ಯೋಗವೃತ್ತವನ್ನು ಗಮನಿಸಿ, ಇನ್ನು ಪ್ರಕೃತ ಗ್ರಂಥದ ಕಡೆಗೆ ದೃಷ್ಟಿಯನ್ನು ಹರಿಸೋಣ. ಮೇಲ್ಕಂಡ ಅತಿರಹಸ್ಯವಾದ ವಿಷಯಗಳನ್ನೂ ಇದಕ್ಕೆ ಅಂಗವಾದ ಇನ್ನೂ ಅನೇಕ ವಿಷಯಗಳನ್ನೂ ಯಥೋಚಿತವಾಗಿ ನಿರೂಪಿಸುವುದು ಈ ಮಣ್ಡಲಬ್ರಾಹ್ಮಣೋಪನಿಷತ್ತು. ಬ್ರಹ್ಮವೆಂದರೆ ವೇದ ಅಥವಾ ಜ್ಞಾನ. ಅದರ ವಿವರಣರೂಪವಾದ ಭಾಗಕ್ಕೆ ಬ್ರಾಹ್ಮಣವೆಂದು ಹೆಸರು. ಯಾಜ್ಞವಲ್ಕ್ಯನೆಂಬ ಒಬ್ಬ ಉತ್ತಮಾಧಿಕಾರಿಯು, ಆದಿತ್ಯಮಣ್ಡಲಮಧ್ಯಸ್ಥನಾಗಿ ಜ್ಯೋತಿರ್ಮಯನೂ ಜ್ಞಾನ ಭಾಸ್ಕರನೂ ಆದ ಗುರುಮೂರ್ತಿಯೊಂದರ ಬಳಿ ಸಾಗಿ, ಆತ್ಮತತ್ತ್ವವನ್ನೇ ನೇರವಾಗಿ ಬಯಸಿದಾಗ, ಅವನಿಗೆ ಆ ಗುರುವು ಉಪದೇಶರೂಪವಾಗಿ ಧಾರೆಯೆರೆದ ಜ್ಞಾನವ್ಯಾಖ್ಯಾನವೇ ಇದಾಗಿರುವುದರಿಂದ ಇದಕ್ಕೆ ಮಂಡಲಬ್ರಾಹ್ಮಣೋಪನಿಷತ್ತೆಂಬ ಹೆಸರು ಬಂದಿದೆ, ಹಾಗೂ ಇದು ಅನ್ವರ್ಥವಾಗಿದೆ.

## ಗ್ರಂಥದ ಮುಖ್ಯ ವಿಷಯಗಳು

ಇದರಲ್ಲಿ ಐದು ಬ್ರಾಹ್ಮಣಗಳಿವೆ. ಇವುಗಳಲ್ಲಿ ಕ್ರಮವಾಗಿ ರಾಜಯೋಗದ ಸೂಕ್ಷ್ಮಾಷ್ಟಾಂಗಗಳೂ, ಲಕ್ಷ್ಯತ್ರಯವೂ ಸಾಂಖ್ಯ ಮತ್ತು ಪೂರ್ವೋತ್ತರತಾರಕಗಳೂ, ವ್ಯೋಮಪಂಚಕವೂ, ವರ್ಣಿತವಾಗಿವೆ. ಸಂಕ್ಷಿಪ್ತವಾಗಿ ರಾಜಯೋಗವು–ಮೂರುವಿಧ ಸಾಂಖ್ಯ ತಾರಕ ಅಮನಸ್ಕವೆಂದು. ನಾಲ್ಕುವಿಧಯೋಗಿಗಳಲ್ಲಿ ಪ್ರಥಮಕಲ್ಪಕನೆಂಬ ಯೋಗಿಗೆ ಮನ್ತ್ರಯೋಗವೆಂದೂ, ಲಯ ಹಠ ಸಾಂಖ್ಯಗಳು ಮಧುಭೂಮಿಕಯೋಗಿಗೆಂದೂ, ಪ್ರಜ್ಞಾಜ್ಯೋತಿರ್ಯೋಗಿಗೆ ತಾರಕಯೋಗವೆಂದೂ, ಅತಿಕ್ರಾನ್ತಭಾವನೀಯ

ನೆಂಬ ಯೋಗಿಗೆ ಅಮನಸ್ಕಯೋಗವೆಂದೂ ಶಾಸ್ತ್ರಗಳು ಸಾರುತ್ತವೆ. (ಶಿವಯೋಗ ಪ್ರದೀಪಿಕೆ) ಇವುಗಳಲ್ಲಿ ರಾಜಯೋಗದ ಮೇಲ್ಕಂಡ ಮೂರು ಭೇದಗಳೂ ಇಲ್ಲಿ ವಿಸ್ತೃತ ವಾಗಿ ವರ್ಣಿಸಲ್ಪಟ್ಟು ಕೊನೆಗೆ ಉತ್ತರತಾರಕವಾದ ಅಮನಸ್ಕಯೋಗದ ವೈಭವವು ಹೃದಯಂಗಮವಾಗಿ ನಿರೂಪಿಸಲ್ಪಟ್ಟಿದೆ.

ಈ ಉಪನಿಷತ್ತಿನ ಅರ್ಥವನ್ನೇ ಸರಳವಾಗಿಯೂ ಸ್ಫುಟವಾಗಿಯೂ ಪ್ರಮಾಣಾನ್ತರಗಳ ಸಹಾಯದಿಂದಲೂ ಉಪಪಾದನೆಮಾಡುವುದು ರಾಜಯೋಗಭಾಷ್ಯ. ಇದನ್ನೇ ಹಿತಮಿತವಾಗಿ ಪದ್ಯರೂಪವಾಗಿ ಹೊರಹೊಮ್ಮಿಸಿರುವುದು ಯೋಗತಾರಾವಳಿ. ಇವೆರಡೂ ಶ್ರೀ ಭಗವತ್ಪಾದಶಙ್ಕರಾಚಾರ್ಯರಿಂದಲೇ ರಚಿತವಾದದ್ದೆಂದು ಪ್ರತೀತಿ ಇದೆ. ಸಿಕ್ಕಿದ ಒಂದು ಪ್ರತಿಯ ಭಾಗವನ್ನು ಬಿಟ್ಟು ಮಿಕ್ಕೆಲ್ಲ ಪ್ರತಿಗಳಲ್ಲಿಯೂ ಹೀಗೆಯೇ ಇದೆ. ಅನೇಕಕಾರಣಗಳಿಂದ ಇದು ಉಚಿತವೆಂದೇ ಕೆಲವರು ಭಾವಿಸುತ್ತಾರೆ.

## ನಿಗಮನ

ಪ್ರಕೃತ ಇಲ್ಲಿ ಸಿಕ್ಕಿರುವ ಏಳೆಂಟು ಮೂಲಪ್ರತಿಗಳ ಸಹಾಯದಿಂದಲೂ, ಅನೇಕ ಯೋಗಗ್ರಂಥಗಳ ನೆರವಿನಿಂದಲೂ, ಈ ಯೋಗಭಾಷ್ಯ ತಾರಾವಳಿ ಗ್ರಂಥಗಳನ್ನು ಯಥಾಶಕ್ತಿ ಪರಿಶೋಧಿಸಿ, ಆವಶ್ಯಕವಾದ ಟಿಪ್ಪಣಿ ಮತ್ತು ಅನುಬಂಧಗಳೊಡನೆ ಪರಿಷ್ಕರಿಸಿ ಬೆಳಕಿಗೆ ತರಲಾಗಿದೆ.

## ಕೃತಜ್ಞತಾನಿವೇದನೆ

ಈ ಗ್ರಂಥದ ಸಂಪಾದನದಲ್ಲಿ ಎಲ್ಲವಿಧದಲ್ಲಿಯೂ ಸಲಹೆಗಳನ್ನಿತ್ತು ಸಹಕರಿಸಿ ಪ್ರೋತ್ಸಾಹಿಸಿದವರು–ನಮ್ಮ ಈ ಪ್ರಾಚ್ಯವಿದ್ಯಾ ಸಂಶೋಧನಾಲಯದ ಡೈರೆಕ್ಟರವರೂ, ಮೈಸೂರು ವಿಶ್ವವಿದ್ಯಾನಿಲಯದ ಯು.ಜಿ.ಸಿ. ಸಂಸ್ಕೃತವಿಭಾಗದ ಮುಖ್ಯಸ್ಥರೂ ಹಾಗೂ ಪ್ರಾಧ್ಯಾಪಕರೂ ಆದ ಡಾ. ಜಿ. ಮರುಳಸಿದ್ಧಯ್ಯ, ಎಮ್. ಎ. ಪಿಹೆಚ್. ಡಿ. ಅವರು. ಇವರಲ್ಲಿ ನನ್ನ ಹಾರ್ದವಾದ ಕೃತಜ್ಞತೆಯನ್ನು ಸೂಚಿಸುವುದು ಇಲ್ಲಿ ನನ್ನ ಪ್ರಪ್ರಥಮ ಕರ್ತವ್ಯವಾಗಿದೆಯೆಂದು ಭಾವಿಸುತ್ತೇನೆ.

ಈ ಪುಟ್ಟ ಕೈದೀವಿಗೆಯು ಯೋಗಮಾರ್ಗದಲ್ಲಿ ಆಸಕ್ತಿಯುಳ್ಳ ಸಹೃದಯರೆಲ್ಲರಿಗೂ ಉತ್ತಮ ಸ್ಫೂರ್ತಿದಾಯಕವಾಗಲೆಂದು ಹಾರ್ದವಾಗಿ ಆಶಿಸಿ ವಿರಮಿಸುತ್ತೇನೆ.

ಇತಿ ಸಂಪಾದಕ

ಎನ್. ಎಸ್. ವಿ.

ಓಂ

“ಯದಾ ಪಂಚಾವತಿಷ್ಠನ್ತೇ ಜ್ಞಾನಾನಿ ಮನಸಾ ಸಹ ।
ಬುದ್ಧಿಶ್ಚ ನ ವಿಚೇಷ್ಟತಿ ತಾಮಾಹುಃ ಪರಮಾಂ ಗತಿಮ್ ॥
ತಾಂ ಯೋಗಮಿತಿ ಮನ್ಯನ್ತೇ ಸ್ಥಿರಾಂ ಇನ್ದ್ರಿಯಧಾರಣಾಮ್ ॥”

(ಕಠೋಪನಿಷತ್)

“ಯೋಽನ್ತಸ್ಸುಖಃ ಅನ್ತರಾರಾಮಃ
ತಥಾ ಅನ್ತರ್ಜ್ಯೋತಿರೇವ ಯಃ ।
ಸಃ ಯೋಗೀ ಬ್ರಹ್ಮನಿರ್ವಾಣಂ
ಅಚಿರೇಣಾಧಿಗಚ್ಛತಿ ॥”
“ತಸ್ಮಾತ್ ಯೋಗಾಯ ಯುಜ್ಯಸ್ವ
ಯೋಗಃ ಕರ್ಮಸು ಕೌಶಲಮ್ ॥

(ಭಗವದ್ಗೀತೆ)

“ಅಯಂ ತು ಪರಮೋ ಧರ್ಮಃ
ಯತ್ ಯೋಗೇನ ಆತ್ಮದರ್ಶನಮ್ ॥

(ಯಾಜ್ಞವಲ್ಕ್ಯ)

“ಶ್ರುತಾದ್ಧಿ ಪ್ರಜ್ಞಾ ಉಪಜಾಯತೇ ।
ಪ್ರಜ್ಞಯಾ ಯೋಗಃ ।
ಯೋಗಾತ್ ಆತ್ಮವತ್ತಾ ।
ಇತಿ ವಿದ್ಯಾಸಾಮರ್ಥ್ಯಮ್ ॥”

(ಕೌಟಿಲ್ಯ)

# सुपरिष्कृत तृतीयमुद्रण प्रस्तावना

श्रीभगवत्पादशङ्कराचार्यविरचित 'राजयोगभाष्य' समलङ्कृतायाः मण्डलब्राह्मणोपनिषदोऽस्याः राजयोगमार्गसौन्दर्यानुसन्धानकुतूहलाकृष्टस्वान्तबहुजनादरणीयतां दुष्प्रापतां चाकलय्य पुनर्मुद्रणं प्रति सज्जीकरणाय, प्राच्यविद्यासंशोधनालयाध्यक्षैः, संस्कृतभाषा-साहित्य-विद्या-कला-शास्त्राणां विश्वव्यापकत्वेन प्रसारणाय अहर्निशमुद्युञ्जानैः, मैसूरुविश्वविद्यानिलयीय यु. जि. सि. संस्कृतविभागप्रधानैः प्राध्यापकैश्च श्रीमद्भिः डा॥जि॥ मरुळसिद्धय्य, एम्. ए. पि हेच्. डि. महोदयैः आज्ञप्तः, यदा तथोपकल्पने प्रवृत्तोऽभूवं, तदा द्विवारमुद्रणेऽप्यसंमार्जिताः बह्वीरशुद्धीः विषयाननुगुणाः अध्यगच्छम्। ततश्चैतत्संशोधनाय एतत्संस्थाभाण्डागारे यावत्यः राजयोगभाष्यनामाङ्किताः मातृकाः समुपलब्धाः तावत्योऽपि सन्निधापिताः।

आसां मातृकानां ग्रन्थाङ्काः संज्ञाश्च एवं वर्तन्ते, यथा—1. C. 257. क., 2. C. 820. ख., 3. P. 4111. ग., 4. P. 2518. घ. 5. P. 4106. ङ 6. P. 2347. छ. इति। आभिर्मातृकाभिस्सह अत्रैव पूर्वं मुद्रितं [illegible] तत्र अभिज्ञविलिखितपाठभेदं पुस्तकद्वयमपि (7. 8.) पाठसंशोधनाङ्गतया स्वीकृतम्।

मण्डलब्राह्मणोपनिषन्मूलपाठे ■ (9) मुंबई निर्णयसागरमुद्रणालये मुद्रितः पाठः (क) संज्ञया, (10) श्रीमदप्पयशिवाचार्यैः अङ्गीकृतः (ख) संज्ञया, (11) अडैयार् लैब्ररि मुद्रितःपाठः (ग) संज्ञया च निर्दिष्टः।

एवं आसां मातृकानां साहाय्येन संशोधने समारब्धे, उपलब्धेषु पाठेषु उचितार्थसूचकान् पाठान् उपरि निर्दिश्य, कथंचिदर्थभेदसूचकान् पाठभेदान् टिप्पण्यां समयोजयाम। अथापि काश्चन अशुद्धयः तथैवावशिष्टाः स्युः इति वक्तुं जिह्वैव जिह्वेति। किं कुर्मोऽत्र? प्रायशः अनुभवैकप्रमाणानां एतादृशानां सर्वेषामपि ग्रन्थानां ईदृश्येव गतिरिति तत्त्वज्ञैर्विदितमेवेति समादध्महे॥

## मण्डलब्राह्मणोपनिषत् भाष्याणि च

मण्डलब्राह्मणोपनिषदियं अष्टोत्तरशतोपनिषदामन्यतमा शुक्लयजुर्वेदीया। आत्मतत्त्वजिज्ञासुना महामुनियाज्ञवल्क्येन कृतानां प्रश्नानां स एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मयः पुरुषः एव गुरुरूपस्सन् तात्त्विकार्थप्रवचनेन यदुत्तरमदात्, तदेवात्र ग्रन्थरूपेण ब्राह्मणरूपेण संदब्धमिति अस्याः उपनिषदः मण्डलब्राह्मणोपनिषदिति संज्ञा उचितैव भाति।

ब्रह्म=वेदः, ज्ञानमिति यावत् । तस्येदं उपव्याख्यानं ब्राह्मणम् । एवमेव अन्यास्वपि उपनिषत्सु "कौषीतकिब्राह्मणोपनिषदि"त्यादयः संज्ञाः संदृश्यन्ते ।

अस्याश्चोपनिषदः श्रीमद्भिः उपनिषद्ब्रह्मयोगिभिः कृतमेकं भाष्यं, श्रीमद्भिः अप्पयशिवाचार्यैः कृतमपरं च भाष्यं समुपलभ्यते । तयोरपि भाष्ययोः संग्राह्याः उपनिषद्भावप्रकाशकाः अंशाः संगृह्य क्रमेण 'उ' 'भा' इति संज्ञानिर्देशेन टिप्पण्यां संयोजिताः ।

अस्यां चोपनिषदि पञ्च ब्राह्मणानि विद्यन्ते । तत्र प्रथमे अष्टाङ्गयोगव्याख्या, अन्तर्लक्ष्य-बहिर्लक्ष्य-मध्यलक्ष्याणां विवरणं च । द्वितीये प्रथमब्राह्मणविस्तरः । तृतीये अमनस्कस्वरूपम् । चतुर्थे व्योमपञ्चकविस्तरः । पञ्चमे अमनस्कवैभवमिति एते विषयाः उपपादिताः ।

अस्याः एवोपनिषदः आर्थं क्रममनुसृत्यैव मूलप्रतीकाद्यग्रहणेन मूलभावान् विशदतया प्रतिपादयति राजयोगभाष्यम् । तच्च तत्त्वशः भाष्यपदं लब्धुमर्हतीति, उपनिषद्भाष्ययोः परस्परसाहाय्येन पाठकानां निर्दिष्टमर्थं परिज्ञातुं आनुकूल्यं संपत्स्यते इति च विभाव्य, उपनिषदा साकं सविषयविभागं अत्रैव संयोजितम् । उपनिषदि चतुर्थब्राह्मणभागस्य तु एतदीयं विवरणं न दृश्यते । तत्र हेतुः, प्रायशः तत्प्रतिपाद्यार्थस्य व्योमपञ्चकस्य प्रथमे मध्यलक्ष्यनिरूपणावसर एव निरूपितप्रायत्वादिति ग्रन्थकारेणैव पौनरुक्त्यपरिजीहिर्षया त्यक्तं स्यात् इति भावयामः ।।

## हठयोगराजयोगौ

ग्रन्थोपक्रमे च- "एवं हठयोगलक्षणं विस्तरेण निशम्य" इति वाक्यदर्शनात्, अनेनैव ग्रन्थकारेण एतत्पूर्वभागतया हठयोगभाष्यमपि विरचितं स्यादिति भाति । तच्च अधिकारिभेदेन सुसङ्गतमेव । यतः—

"हठं विना राजयोगः राजयोगं विना हठः ।
न सिद्ध्यति, ततो युग्मं आनिष्पत्तेः समभ्यसेत् ।।
कुम्भकप्राणरोधान्ते चित्तं कुर्यान्निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ।।" इति,
"केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।" इति च

तत्र तत्र राजयोगमारुरुक्षोः अङ्गतया सोपानरूपतया च हठयोगस्य परिगणनायाः दर्शनात्, अनयोरङ्गाङ्गिभावे औचित्यस्यापि सत्त्वात् । परं तु इदं न सार्वत्रिकम् ।

"किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः ।
परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः ॥" इति

स्वतन्त्रतयाऽप्यस्य साधनीयत्वोक्तेः । स चैतत्कर्तृकः हठयोगभाष्यरूपो ग्रन्थः नैतावदुपलब्धः ॥

## प्रकृतः राजयोगपदार्थः

ग्रन्थेऽस्मिन् प्रतिपादितो 'राजयोगः' वैयासकिदर्शनप्रतिपाद्यात् शुद्धाद्वैत-समाधेः भिन्नः उताभिन्नः ? इति बहवः संशेरते, विवदन्ते च । हठप्रदीपिका-घेरण्ड-संहिता,-शिवसंहिता-शिवयोगप्रदीपिका-ज्ञानसंकलिनीतन्त्रप्रभृतिषु बहुषु प्रमाण-ग्रन्थेष्वेव परस्परसङ्कीर्णाः भ्रामकाः बहवो व्याहाराः संदृश्यन्ते च । परं तु—

" राजयोगः समाधिः स्यात् एकात्मन्येव साधनम् । "

इति निर्दिष्टार्थपर्यालोचने,

"राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयः तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥"

इत्यादिराजयोगपर्यायपदार्थानां पर्यालोचने च जीवस्य परमफलरूपपरमपदप्राप्त्य-वस्थैव अन्ततः राजयोगपदपरमार्थः इति गम्यते । साधनदशाप्राप्यावस्थाविशेषेऽपि तत्पदप्रयोगः सहज एव । यथा समाधिरपि अष्टस्वङ्गेषु अन्यतम इति, क्वचित् "तपोध्यानसमाधिभिः — — — भक्तिः प्रजायते" इति भक्त्यङ्ग इति, क्वचिच्च परमं फलमिति । एवमेव सर्वत्रापि । पातञ्जलः परमो योगोऽप्ययमेव । तस्य च निर्दिष्टरूपेणा-निर्देशस्तु अर्थसिद्धत्वाभिप्रायेण अवाङ्मानसगोचरत्वस्फोरणाय च स्यात् । अत्र च—

"अशेषदृश्योज्झितदृङ्मयानां अवस्थितानामिह राजयोगे ।
न जागरो नैव सुषुप्तिभावः न जीवितं नो मरणं विचित्रम् ॥"

इत्यादयोऽप्यनुसन्धेयाः । 'एवंविधराजयोगप्रतिपादिके द्वे उपनिषदौ स्तः, ते तु-अद्वयतारकोपनिषत् मण्डलब्राह्मणोपनिषच्च' इति उपनिषद्ब्रह्मयोगिभिरुक्तम् ।

## अत्रत्यः वेदान्तदर्शनाद्विलक्षणोंऽशः

अस्मिंश्च भाष्ये— पञ्चसु भूतेषु एकैकस्मात् भूतात् प्रत्येकं अन्तःकरणप्राण ज्ञानेन्द्रियतद्विषयकर्मेन्द्रियाणां एकैकयुतस्य पञ्चकस्य उत्पत्तिमभिधाय, ज्ञात्रा

पुरुषेण सह अन्तःकरणपञ्चकमित्यभिहितम्। वेदान्तदर्शनार्थप्रतिपादकेषु पञ्चदश्यादिषु मिलितैः पञ्चभूतैः अन्तकरणोत्पत्तिः, अन्तःकरणचतुष्टयं च अभिहितं दृश्यते। यथा—

"मनोऽन्तःकरणं सर्वैः वृत्तिभेदेन तद् द्विधा।
मनो विमर्शरूपं स्यात् बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका॥" इति,
"मनो बुद्धिरहङ्कारः चित्तं करणमान्तरम्।
संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया अमी॥" इति च॥

## प्रकृतग्रन्थार्थसंग्रहः

अथैतद्ग्रन्थप्रवेशसौलभ्याय ग्रन्थप्रतिपाद्यार्थः संक्षेपेण प्रदर्श्यते—अत्र प्रथमतः आत्मयाथात्म्यज्ञानाविनाभावेन साधनीयानां अष्टानामङ्गानां निरूपणं कृतम्। प्रसङ्गतश्च शास्त्रान्तराभ्यासापेक्षया राजयोगाभ्यासस्य विशेषज्ञानाधायकत्वं प्रदर्शितम्।

## अत्र निरूपितौ सांख्ययोगौ

ततः आकाशादितत्त्वोत्पत्तिक्रमप्रदर्शनेन जडाजडपदार्थान् विविच्य, प्रकृत्यष्टकं षोडशविकारान् दशेन्द्रियाणि, उक्तप्रकृतितद्विकारेभ्योऽन्यमात्मानं च निरूप्य, "लयविधानक्रमेण आत्मनि विकाराणां मेलने अनुसंहिते ततो मनोलये च आत्मनः स्वस्वरूपावस्थानमेव मोक्षः" इति सांख्यमतं प्रदर्श्य, अनुपदमेव—"प्रकृतिपुरुषेश्वराणां त्रयाणां विवेचनपूर्वकं लयविधानक्रमेण सर्वेश्वरे परमात्मतत्त्वे आत्मनो लय एव मोक्षः" इति पातञ्जलो योगश्च प्रदर्शितः॥ अतिसूक्ष्मो जीवः सूक्ष्मतममार्गावलम्बनेन भूमेरुपरि स्थितान् सप्तवायुस्कन्धान् अतिक्रम्य शुद्धाकाशं प्राप्य तमोरजस्सत्त्वान्यतीत्य परमं पदं प्रविशतीति लयगतिक्रमः। सप्त वायुस्कन्धाश्च आवहप्रवहोद्वहसंवहसुवहपरिवहपरावहसंज्ञकाः इति पुराणादिषु प्रसिद्धम्।

## तारयोगाद्भेदः

अनयोर्मतयोः चिदद्वैतज्ञानं न प्रतिपादितमिति, अयमेव वक्ष्यमाणतारकयोगाद्विशेषः। तारकयोगिनस्तु मतद्वयोक्तं प्रकृतिपुरुषभेदज्ञानं नित्यानित्यवस्तुविवेकाभिलप्यं ज्ञानाङ्गश्रवणपूर्ववृत्तमाचक्षते। सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मावलोकनहेतुभूतं खेचर्यादिमहामुद्रासम्पाद्यं भ्रूदहराद्यालम्बनचित्तैकाग्र्यमेव तारकयोग इत्युच्यते। तत्सिद्धिं प्रति लक्ष्यत्रयावलोकनं हेतुः।

## लक्ष्यत्रयस्वरूपम्

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्लक्ष्यं मध्यलक्ष्यमिति लक्ष्यत्रयम्। तेषां स्वरूपादिकं एवं वर्तते।

तत्र देहमध्ये मूलाधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तस्थितसुषुम्नामध्यगतकुण्डलिन्युद्बोधनेन फालोर्ध्वभागे निरन्तराविर्भवत्तेजसः तर्जन्यग्रोन्मीलितकर्णरन्ध्रद्वयेन श्रूयमाणे घूङ्कारादौ चित्तस्थापने सति प्रकाशमानस्य चक्षुर्मध्यनीलज्योतिषः हृत्पङ्कजमध्ये विराजत्तेजश्शिखाग्राश्चावलोकनं तारकावलोकनोपायभूतं अन्तर्लक्ष्यमित्युच्यते।

नासिकाग्रभागे यथोचितं चतुष्षडष्टदशद्वादशाङ्गुलपरिमितप्रदेशे क्रमेण दृश्यमानस्य नानावर्णविशिष्टस्य व्योमतत्त्वस्य, भ्रूदहरवीक्षितृपुरुषदृष्ट्यग्रभागस्थितानां मयूखानां, शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलमानतेजसश्चावलोकनं तारकयोगसाधकं बहिर्लक्ष्यमित्युच्यते।

नानाविधवर्णसमलङ्कृतप्रातःकालीनसूर्यमण्डलवत् वह्निज्वालावलीवत् प्रकाशादिविहीनान्तरिक्षवच्च तारकयोगकाले परिदृश्यमानव्योमपञ्चकदर्शनमेव मध्यलक्ष्यमित्युच्यते। तत्र अभ्यासवशेन दीप्त्यादिविकारहीनतया दृश्यमानमाकाशं [illegible] गुणरहिताकाशम्। विस्फुरत्तारकादियुक्तगाढतमोवद्दृश्यमानं द्वितीयं पराकाशम्। कालानलवह्निभासमानं तृतीयं महाकाशम्। सर्वोत्कृष्टदीप्तियुक्ततया भासमानं चतुर्थं तत्वाकाशम्। कोटिसूर्यप्रकाशयुक्ततया भासमानमेव पञ्चमं सूर्याकाशमिति। एतन्निरूपणावसरे मूलभाष्ययोः किञ्चिदन्तरं दृश्यते। यथा- अत्रोक्तं प्रथमं आकाशं परित्यज्य, तत्स्थाने अन्ते निरतिशयानन्दपरब्रह्मलक्षणं परमाकाशं परिगणय्य, आहत्य पञ्चाकाशाः, मूले चतुर्थब्राह्मणे निरूपिताः॥

## राजयोगनिरूपणप्रकारः

राजयोगनिरूपणं [illegible] इत्थम्—

राजयोगो द्विविधः तारकममनस्कं चेति। तारकमपि द्विविधं मूर्तितारकं अमूर्तितारकमिति। नेत्राधःपर्यन्तभागस्थगाणपत्यादिलक्ष्यालम्बनं मूर्तितारकम्। भ्रूयुगोर्ध्वे दहरालम्बनं अन्तर्दर्शनादिकमेव अमूर्तितारकम्। प्राणेन्द्रियाणां मनसश्च ब्रह्मात्मनि लय एव अमनस्कमिति। तदैव समुन्मन्यवस्था जीवन्मुक्तिश्चेति॥

## ग्रन्थान्तरोक्तः एतत्प्रकारः

शिवयोगप्रदीपिकायां तु एवमुक्तम्—

योगिनः चतुर्विधाः प्रथमकल्पकः मधुभूमिकः, प्रज्ञाज्योतिः, अतिक्रान्तभावनीयश्चेति। योगा अपि चत्वारः- मन्त्रलयहठराजयोगभेदात्।

"तेष्वेक एव मुख्यः स्यात् राजयोगोत्तमोत्तमः।
सोऽपि त्रिधा भवेत् सांख्यः तारकश्चामनोऽपि च॥"

तत्र मन्त्रयोगः प्रथमयोगिनः। लयहठसांख्यास्तु मधुभूमिकस्य। तारकस्तु प्रज्ञाज्योतिषः। अतिक्रान्तभावनीयस्यैवामनस्कः। अयमेव उत्तमो राजयोगी।

"सांख्यात् श्रेष्ठः तारकोऽयं अमनस्कोऽपि तारकात्।
राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोगो ह्ययं स्मृतः॥" इति,

अर्थतः पर्यालोचने इदमप्यत्र सङ्गतं भवेदिति मन्महे॥

## खेचरीषण्मुखीकरणयोः स्वरूपम्

प्रकृते एतानर्थान् निरूप्य— लक्ष्यस्यात्मनः स्वरूपं, शाम्भवीमुद्रा षण्मुखीकरणं, जाग्रदादिपञ्चावस्थाश्च निरूपिताः। अत्र केचित् शाम्भवीमेव खेचरीं मन्वते।

"भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं निधाय सुदृढां सुधीः।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जिते।
लम्बिकोर्ध्वस्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।
संयोजयेत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः॥" इति,
"अङ्गुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने।
नासारन्ध्रे तु मध्याभ्यां अनामाभ्यां मुखे दृढम्।
निरुद्ध्य मारुतं योगी यदैव कुरुते भृशम्।
तदालक्षणमात्मानं ज्योतीरूपं प्रपश्यति॥"

इति च खेचरीषण्मुखीकरणयोः प्रकारः शिवसंहितोक्तः अत्रानुसन्धेयः।

## ग्रन्थोपसंहारभागार्थः

ततश्च विस्तरेण अमनस्कयोगनिरूपणावसरे "नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकं" च योगिभिः अवश्यवेद्यमित्युक्तम्। आधार–नाभि–हृदय–कण्ठ–

तालु-भ्रू-ब्रह्मरन्ध्र-आकाशचक्राणि नवचक्राणीति, मूलाधार-स्वाधिष्ठान-मणिपूर-अनाहत-विशुद्धि-आज्ञारूपाः षडाधाराः इति च योगोपनिषत्सु प्रसिद्धम् ॥

अन्ते च अमनस्कवैभवं सुविस्तृतं निरूपितमिति ग्रन्थार्थसंक्षेपः ॥

## ग्रन्थकर्ता श्रीशङ्कराचार्यः

एवं उक्तान् अर्थान् सुविशदतया सरळतया च निरूपणं कुर्वत् इदं राजयोगभाष्यं आदिशङ्कराचार्या एव रचयामासुरित्येव बाहुल्येन प्रथा वर्तते। एकमातृकावर्जं अन्यासु सर्वास्वपि मातृकासु निर्दिष्टतया तत्प्रवरपुरस्सरं श्रीभगवत्पादशङ्कराचार्यविरचिततयैव उपसंहारवाक्ये उल्लिखितं दृश्यते। एकस्यां तु मातृकायां प्रथमप्रकरणसमाप्त्यवसरे "इति श्री सदानन्दावधूतशिष्यविरचिते विजृम्भितयोगशास्त्रे प्रथमं प्रकरणं समाप्तम्।"इत्युपसंहारवाक्यं दृश्यते। राजयोगभाष्यगतां पदवाक्यशैलीं परिशीलयन्तः केचित् श्रीशङ्कराचार्यविरचितत्वे संशेरते एव। तं च संशयं पक्षतावत् साधनीयांश-साधकमित्येवोत्पश्यन्ति केचन्। यतः महता कालेन आलस्यादिनिमित्तानुष्ठानेन नष्टप्रायस्य राजयोगस्य पुनःप्रवर्तनकर्तारः श्रीशङ्कराचार्या एवेत्यंशे न कस्यापि द्वापरः। भाष्यगमनिकापरिशीलनेऽपि श्रीशङ्कराचार्यादन्येन येन केनापि एवं सुधीरं उद्घोषणं नैव कृतं स्यादित्येव भावयन्ति। योगतारावल्या सह तोलनेऽपि अयमेवार्थः स्फुटीभवेत्।

केचित्तु योगतारावलीमपि श्रीशङ्कराचार्यादन्येनैव कृतां मन्वते। यथा— शृङ्गेरीमठीयपुस्तकभाण्डागारे योगतारावल्याः श्रीनन्दिकेश्वरकृतत्वेनोल्लेखः, मद्रपुरी-नगरस्थप्राच्यहस्तलिखितमातृकासंग्रहे-गोविन्दभगवत्पादरचितत्वेनैवोल्लेखश्च दृश्यते। न तावता तत्कृतत्वसिद्धिः। इतोऽपि बहुभिः कारणैः 'योगतारावली' 'राजयोग-भाष्यं' चेत्येतद्द्वयमपि सत्यं श्रीशङ्कराचार्यैरेव रचितमित्यपि वक्तुं शक्यते। शैली तु क्वचित् किञ्चिद्विभिन्नतया दृश्यमाना आचार्याणामवस्थाविशेषमेव सूचयेत्। न तु कर्त्रन्यतामित्येव तेषामभिप्रायः। अधिकं त्वन्यत्र।

भाष्यान्ते-सार्वदिकमानन्दस्वरूपं वर्णाश्रमाद्यतीतावधूतस्वरूपं चोपपाद्य तादृशसदानन्दावधूतसद्गुरुकटाक्षेण राजयोगसिद्धो भवतीत्युक्तमंशमादाय, तद्भावं परित्यज्य भ्रान्तः कश्चित् सदानन्दावधूतशिष्यविरचितत्वेनोल्लिलेखेत्यपि वक्तुं शक्यत इत्यन्ये ॥

## भाष्यस्यास्य विजृम्भितराजयोगभाष्यता

अस्य राजयोगभाष्यस्य विजृम्भितराजयोगभाष्यमित्येव बहुषु पुस्तकेषु अभिधानं दृश्यते। तत्र हेतुः- उपनिषदि भाष्ये च- राजयोगपरमफलवर्णनावसरे, योगिजन-

हृदयान्तःप्रकाशमानस्य परमात्मभानोः विशेषणतया उपयुक्तं यत् विजृम्भितत्वं, तद्रूतामसाधारणतां हृदि विभाव्य तत्प्रतिपादकस्यास्य ग्रन्थस्यापि तदभिधानमङ्कितं स्यादित्यप्युचितं भावयन्तीत्याद्यन्यत्र विस्तरः ।

## योगतारावली-भूमिकादिसंयोजनावश्यकता

अथास्मिन् ग्रन्थे विवृतस्यैव राजयोगस्य अमनस्कयोगस्य अनुभवपरीवाहपरम्परावर्णनात्मिकां योगतारावलीमपि अनेन साकं संयोजने औचित्यं विभाव्य समयोजयाम । भावुकानां मुदे तत्तात्पर्यं च सरळतया अनूद्य रचितां भावप्रकाशाभिधानां व्याख्यां तानया सह समयोजयाम ।

योगप्रक्रियायाः अतिगहनत्वेन सुसंस्कृतान्तरङ्गाणां सुहृदयानां अत्युपयुक्तत्वेन च, शास्त्रीयान् निर्दिष्टान् मूलभूतान् कांश्चन विषयान् सङ्कलय्य देशानुगुणं कर्णाटकभाषया रचितः योगभूमिकारूपः अतिसंक्षिप्तः कश्चन उपोद्घातश्च, जिज्ञासूनां कृते संयोजितः ।

आदौ विस्तृता विषयसूची, अन्ते च अनुबन्धरूपेण विविधाः अनुक्रमण्यश्च संयोजिताः ।

## उपसंहारः

एवं सुपरिष्कृतोऽयं ग्रन्थः यथोचितं सहृदयानां मुदे परिकल्पेतेति सुदृढमाशास्महे ॥

किञ्च—

जयतु जगतां मूलं सत्यं सनातनमञ्जसा
जयतु सरसा वाणी दिव्या तदीयमनोऽनुगा ।
जयतु विदुषां वर्गः तस्याः सदातन आश्रयः
जयतु च निधिस्तेषां पूर्णा चिरन्तनभारती ॥

मैसूरु
साधारणसंवत्सरविजयदशमी
10-10-1970

इति सहृदयवशंवदः
एन्. एस्. वेङ्कटनाथाचार्यः

# सभाष्यमण्डलब्राह्मणोपनिषद्विषयसूचनी

# *योगतारावली विषयसूचनी



---

*अत्रेदमवधेयम्—

अस्याः योगतारावल्याः B 378 संख्याङ्कितायां मातृकायां केचन श्लोकाः व्युत्क्रमेण दृश्यन्ते। यथा—

1, 2, 4, 3, 5, 6, 7, 8, 12, 10, 11, 9, 13, 14, 15, 16, 18, 19, 20, 17, 21, 22, 23, 24, 25, 26, 27, 28, इति क्रमः आदृतः। अथ अन्तिमः 29 तमः श्लोकश्च न दृश्यते।

एवं मूलपाठे च – अधोनिर्दिष्टसंख्यावत्सु श्लोकेषु पाठभेदाः दृश्यन्ते। यथा—

(2) 'वसन्ति भूमौ' (3) 'सरेचपूर्वैः'

(4) 'वितीर्यते विष्णुपदे' (5) 'जालन्धरोड्डीयण'

---

(7) सन्तापसचन्द्रमसः स्रवन्तीम्' (8) 'विहितप्रवाहं'
(9) 'रनुभूयमाने' (10) 'केवलसंज्ञयैव,' 'कुम्भोत्तमो'
(11) 'स्तिमितान्तरङ्ग,' 'शशाङ्कनाड्याः' (12) 'प्रत्याहृत' 'वितीर्यते धिष्णु'
(13) 'निरोधतः,' 'कुम्भकाख्ये,' 'वृत्तिशून्य'
(15) 'सुषुप्तिभावौ' (16) 'केवलकुम्भकश्रीः'
(17) 'वायुर्यया,' 'सा मम' (18) 'श्वासप्रहारे'
(19) 'स्याधिगमाय,' 'मेकं खलु' (21) 'निभृते शरीरे नेत्राञ्चलैः'
(22) 'सहजामनस्कादहं', 'मनोगतिं' (23) 'सहजामवस्थाम्'
(24) 'परिभावयन्ती' (25) 'विजृम्भते' 'योगिनि'
(26) 'तुरीयतरवे', 'सार्वकालम्' (27) 'निर्मलतुष्टयोऽपि'

(28) 'लता परिवेष्टयन्ती' ॥ इति ॥

# मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

॥ ॐ ॥

शुक्लयजुर्वेदीया

# मण्डलब्राह्मणोपनिषत्

राजयोगभाष्यसहिता

---

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥
ॐ शान्तिश्शान्तिश्शान्तिः ।

---

## प्रथमे ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः

---

[ज्ञानसहिताष्टाङ्गयोगस्य तत्त्वाधिगमोपायता]

(१) याज्ञवल्क्यो ह वै महामुनिः आदित्यलोकं जगाम ।

(२) तं आदित्यं नत्वा, भो भगवन् ! आदित्य ! आत्मतत्त्वमनुब्रूहीति[1] ।

(३) स होवाच [2]नारायणः, [3]ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोगः [4] उच्यते ।

---

[1] तं पप्रच्छेति शेषः·

[2] अस्मिन् पाठे याज्ञवल्क्य एव भगवद्रूपः सन् गुरुर्भूत्वा उवाचेत्यर्थः; नारायणज्ञानयुक्तः. क·

[3] योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेत्प्रिये । योगोपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ॥ इति योगशिखोपनिषत् (१–१३, ५१) ज्ञानसहितयमा· ख·

[4] योगाङ्गानुष्ठानात् अशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिः आविवेकख्यातेः, यमनियमासनप्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि · (यो· स· २.२९)

## अथ राजयोगभाष्यम्

एवं हठयोगलक्षणं विस्तरेण निशम्य [1]प्राकृतः सद्गुरुं एवं अवादीत्—'[2]राजयोगं वद कृपया' इति । स तु तं विनयसद्वचनं गुरुभक्ताग्रगण्यं शिष्यं 'शृणु सावधानेन' [3]इत्युक्त्वा आदरेण इदमाह–[4]राजयोगो नाम राज्ञः उपयुक्तो [5]योगः । योगानां राजा इति वा राजयोगः [6]उच्यते । [7]पूर्वोक्तयोगाः देहप्रयासकराः । अयं तु निरायासेन मोक्षरूपपुरुषार्थप्रदः । हठवदेवास्यापि [8]अष्टावङ्गानि सन्ति । किन्तु [9]तदङ्गं [10]विस्तृतं हठे भवति । [11]सूक्ष्माङ्गं तावत् संक्षेपात् अस्य [12]वक्ष्यते ॥

---

[1] प्रकृतिस्थ एव ब्रह्मनिष्ठासम्पादनार्थं गुरुमुपगच्छतीति, तमोनिवारक एव गुरुरिति चाभिप्रेत्य याज्ञवल्क्यं प्राकृतशब्देन, आदित्यं सद्गुरुशब्देन च व्यपदिशति भाष्यकारः ।

[2] उत्तरानुगुण्येन राजयोग एव अव्यभिचारितः आत्मतत्त्वाधिगमोपायः इत्यभिप्रायेण मूलस्थं आत्मतत्त्वपदमेव राजयोगशब्देनाभिलपति ।

[3] इत्यादरेण· ग·

[4] 'स्वपदानि [illegible] वर्ण्यन्ते' इत्यनुसारेण राजयोगपदविवरणं कृतम् ।

[5] योगस्तथोच्यते· ग·

[6] उच्यते इति नास्ति· .

[7] मन्त्र लय हठयोगाः इत्यर्थः.

[8] अष्टाङ्गानि· ग·

[9] तदङ्गत्वं· घ.

[10] विस्तृतं–स्थूलं, बहुलायाससम्पाद्यमिति यावत् । हठयोगस्य स्थूलविषयकत्वात् । जीवस्य [illegible] अतिसूक्ष्मत्वात् तद्विषयकं योगाङ्गं सर्वमपि सूक्ष्ममित्युच्यते । [illegible] एव [illegible] सूक्ष्माङ्गमिति उत्तरत्र निर्देशः ।

[11] सूक्ष्माङ्गत्वं· ग· सूक्ष्माङ्गं संक्षेपात्. घ·

[12] वक्ष्ये· ग·

[चतुर्विधयमस्वरूपम्]

**(४)[1] शीतोष्णाहारनिद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वं, विषयेन्द्रियनिग्रहश्च एते यमाः[2] ।**

शीतोष्णाहारनिद्राविजयः, सर्वदा शान्तिः, निश्चलत्वं, विषयेन्द्रियनिग्रहश्चेत्येते यमाः कथिताः ॥

[सप्तविधनियमाः]

**(५) [3]गुरुभक्तिः, [4]तत्त्वमार्गानुरक्तिः [5]सुखानुगतवस्त्वनुभवश्च, [6]तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, [7]निस्सङ्गता, [8]एकान्तवासेन**

---

[1] देहादौ आत्मात्मीयाभिमानत्यागः, स्वप्राप्तं वस्तु नेति ज्ञानं, स्वाभिलषिते लक्ष्ये पुनः पुनः मनसो लगनं, इन्द्रियेषु इन्द्रियार्थेषु [illegible] वस्तुतत्त्वचिन्तनं [illegible] क्रमेण चतुर्विधयमसम्पादकम् (उ)

[2] [illegible] यमाः. क. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः यमाः इति योगसूत्रम् (२-३०)

[3] नित्यं [illegible] स्वाज्ञानमोचकगुरुभजनम् (उ)

[4] सत्यमार्गानुरक्तिः. क. सत्यं तत्त्वं [illegible] ब्रह्म, तत्प्रापकमार्गः तद्बोधः, [illegible] आसक्तिरित्यर्थः (उ)

[5] सुखागत. क. निरतिशयसुखरूपतया श्रुत्याचार्यप्रसादादागतब्रह्मवस्त्वनुभवः (उ)

[6] तदनुभवेनैव, न तु बाह्यविषयानुभवतः (उ)

[7] तुष्टावपीति शेषः (उ)

[8] एकान्तवासः मनोनिवृत्तिः क. एकान्तपदं एकान्तत्रयपरं, तत्र-विजने प्रयत्नपूर्वकं, सजने प्रयत्नपूर्वकं, विजने सजने वा अप्रयत्नेनेति [illegible] मनोनियमनम्—स्वातिरेकेण मनो नास्तीति दृढाभिसन्धिः मनोनिवृत्तिः (उ) अत्र मनोनिर्वृतिः इति पाठः स्यादिति केचित्.

**मनोनिवृत्तिः, [1]फलाभिलाषे वैराग्यभावश्च नियमाः[2]॥**

नियमस्तु-गुरुभक्तिः, तत्त्वमार्गानुरक्तिः, सुखानुगतवस्त्वनुभवः तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिः, निस्सङ्गता, एकान्तवासेन मनोनिवृत्तिः, फलाभिलाषे वैराग्यभावश्च एवं नियमाः ॥

[आसननियमः]

**(६) [3]सुखासनवृत्तिः, [4]चिरवासश्च एवं आसन[5]नियमो भवति ॥**

आसनं तु—इष्टासने सुखासीनवृत्तिः, चिरवासश्च एवं आसननियमः ॥

[प्राणायामलक्षणम् ]

**(७) [6]पूरककुम्भकरेचकैः षोडश चतुष्षष्टिद्वात्रिंशत्संख्यया यथाक्रमं [7]प्राणायामः ॥**

प्राणायामस्तु—रेचकपूरककुम्भकान् अप्रयत्नेन स्ववशगतवायुना

---

[1] फलानभिलाषः. क. यथास्थितपाठे फलेच्छाविषये इत्यर्थः. उपनिषद्ब्रह्मयोगिनां मते नवविधनियमाः इति भाव्यम् ।

[2] शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः इति योगसूत्रम्-(२-३२)

[3] यत्र सुखेन अखण्डाकारात्मिका वृत्तिः उदेति सा सुखासनवृत्तिः। निरायासेन यत्र चिरं वसति सः चिरासनवासः (उ) स्थिरसुखमासनं. (यो. सू. २-४६.)

[4] चीरवासाश्च. क. [5] नियमा भवन्ति. क.

[6] षोडशमात्राकालपरिमितं पूरकं, तच्चतुर्गुणितं कुम्भकं, तदर्धं रेचकम् (उ)

[7] प्राणायामाः. क. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः यो. सू. (२-४७)

[1]स्वाधीनान् कृत्वा प्राणवायुस्थैर्यं सम्पादयेत् । जगन्मिथ्येति स्मरेत् । अयं प्राणायामः इति सांख्ययोगविद्भिः निरुक्तः ॥

[प्रत्याहारलक्षणम्]

**(८) विषयेभ्यः इन्द्रियार्थेभ्यः मनोनिरोधनं प्रत्याहारः ।**

प्रत्याहारस्तु—स्वान्तर्मुखचित्तेन चैतन्यं परमात्मनि लीनं विभाव्य नानाविधग्रसनशीलता [2]तथोच्यते ॥

[धारणालक्षणम्]

**(९) [3]विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतस्स्थापनं [4]धारणा भवति ।**

बाह्याभ्यन्तरगततत्त्वविलोकनं तद्गतचित्तवृत्तिः धारणेत्युच्यते ॥

[ध्यानलक्षणम्]

**(१०) [5]सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् ।**

सोऽहम्भावेन शुद्धाद्वैतस्वभावः सर्वप्रकाशकः परमात्मा इति ज्ञात्वा [6]सर्वभूतदयारतिः सदृशात्मानुभावनात् सर्वसमदृष्टिः, नित्यतृप्तिश्च ध्यानमिति मुनिमतम् ॥

---

[1] स्वाधीनीकृत्वा. च.

[2] तत्तथोच्यते. ■. स्वस्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः (यो. सू. २-४८)

[3] सर्वेभ्यः बन्धकविषयेभ्यः व्यावर्तनेनेत्यर्थः.

[4] धारणं. ■. देशबन्धः चित्तस्य धारणा (यो. सू. (३-१)

[5] अनेकघटशरावादिषु भिद्यमानेष्वपि यथा तदवच्छिन्नव्योम्नः एकत्वं तथा. (उ) अप्पय्यशिवाचार्यैस्तु 'ध्यानधारणासमाधयः' इति क्रमः आदृत इति भाति । तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (यो. सू. ३-२)

[6] उक्तभावनापरिणामानां संग्रहः सर्वेत्यादिना कृतः.

[समाधिलक्षणम्]

**(११) [1]ध्यानविस्मृतिः समाधिः ॥**

समाधिस्तु परमयोगिभिः तत्त्वदर्शनेन निश्चलस्थैर्यचित्तत्वं, निर्विकल्पकचित्तवृत्तिः, सततं मनोनैर्मल्यं, शमसहितत्वं इति च समाधिः इत्युच्यते ॥

[सूक्ष्मयोगाष्टाङ्गज्ञानफलम्]

**(१२) एवं सूक्ष्माङ्गानि ।**

**(१३) य एवं वेद सः मुक्तिभाक् भवति ॥**

इति प्रथमे ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः

---

एवं सूक्ष्माष्टाङ्गयोगनिरतः सद्गुरूपदेशेन राजयोगवेत्ता मुक्तिभाग भवति ॥

[योगशास्त्रस्यैव मुख्यवृत्त्या ब्रह्मोपदेशपरत्वम्]

ननु अन्यशास्त्राणि सांख्ययोगादीनि बहूनि विद्यन्ते, तानि च तत्त्वप्रधानान्येन, तद्द्वारा ब्रह्मप्राप्तिरस्तु, किमेतदुपदेशेन ? इति न वाच्यम् । शास्त्रप्रागल्भ्यपराणि तानि मुख्यवृत्त्या ब्रह्म न ह्युपदिशन्ति । इदं तु अज्ञान-दृष्ट्या परिदृश्यमानं ब्रह्माण्डं उररीकृत्य— 'शृणु शिष्य ! एवमेव [2]पिण्डाण्डमपि' इति हस्तविन्यासपुरस्सरं उदाहृत्य दर्शयति । विशेषज्ञानं तेन आशु जायते । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन योगाभ्यास एव ब्रह्मप्राप्तये कर्तव्यः [3]इति ॥

---

[1] अयं निर्विकल्पकः, समाऽधिः. त्रिपुटीग्रासत्वात्. (उ) तदेव अर्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (यो· सू· ३-३)

[2] पिण्डाण्डमिति· च· "एवं पिण्डाण्डमुत्पन्नं तद्वत् ब्रह्माण्डमुद्बभौ" इति कामिकायामुक्तम्·

[3] 'इति' इति नास्ति· च·

[सम्भवानुसारेण तत्त्वाधिगमक्रमः]

तत्र [1]तत्त्वज्ञानं एवं भवति—

(१) आत्मनः आकाशः सम्भूतः । तस्मात् ज्ञातृ-समान-श्रोत्र-शब्द-वाचः उत्पन्नाः ।

(२) आकाशात् वायुः । तस्मात् मनो-व्यान-त्वक्-स्पर्श-पाणयश्च ।

(३) वायोरग्निः । तस्मात् बुद्ध्युदान-चक्षू-रूप-पादाश्च ।

(४) अग्नेरापः । ताभ्यः चित्तप्राणजिह्वारसपायवश्च ।

(५) अद्भ्यः पृथिवी । तस्याः अहङ्कारः अपान-घ्राण-गन्धोपस्थाश्च ॥

सर्वत्र आकाशादिपञ्चतत्त्वानि भवन्ति ॥

[इन्द्रियादिषु अध्यात्मादिविभागः]

(1) श्रोत्रं अध्यात्मं, श्रोतव्यमधिभूतं, दिशोऽधिदैवतम् ।
(2) त्वगध्यात्मं स्पर्शमधिभूतं, वायुरधिदैवतम् ।
(3) चक्षुरध्यात्मं, द्रष्टव्यमधिभूतं, सूर्योऽधिदैवतम् ।
(4) जिह्वाऽध्यात्मं, रसोऽधिभूतं, वरुणोऽधिदैवतम् ।
(5) घ्राणमध्यात्मं, घ्रातव्यमधिभूतं, अश्विनावधिदैवतम् ।
(6) वागध्यात्मं, वक्तव्यमधिभूतं, अग्निरधिदैवतम् ।
(7) पाणिरध्यात्मं, गन्तव्यमधिभूतं इन्द्रोऽधिदैवतम् ।
(8) पादोऽध्यात्मं, दातव्यमधिभूतं, विष्णुरधिदैवतम् ।
(9) पायुराध्यात्मं, विसर्जनमधिभूतं, मृत्युरधिदैवतम् ।
(10) गुह्यमध्यात्मं, आनन्दमधिभूतं, विरिञ्चिरधिदैवतम् ॥

---

[1] तत्त्वमेवं. च.

[अन्तःकरणेषु अध्यात्मादिविभागः]

(1) ज्ञातृमनोबुद्धिचित्ताहङ्काराः पञ्चान्तःकरणानि ।

(2) ज्ञाता पुरुषः, संशयात्मकं मनः, निश्चयात्मिका बुद्धिः, सुविचारात्मकं चित्तम्, अहमभिमानात्मकः अहङ्कारः ।

(3) मनः अध्यात्मं, मन्तव्यमधिभूतं, चन्द्रोऽधिदैवतम् ।

(4) बुद्धिरध्यात्मं, बोद्धव्यमधिभूतं, [1]बृहस्पतिरधिदैवतम्।

(5) चित्तमध्यात्मं ,[2]चेतव्यमधिभूतं, क्षेत्रज्ञः अधिदैवतम् ।

(6) अहङ्कारोऽध्यात्मं, अहङ्कृतिरधिभूतं, रुद्रोऽधिदैवतम् ॥

[उक्तसर्वातीतब्रह्मात्मकत्वज्ञानस्यावश्यकता]

एवं सर्वपरिज्ञानादेव ' तदतीतं ब्रह्म ' इति ज्ञानं उत्पद्यते । कथं ? " नाहं आकाशादिगुणोपेतः, तत्सम्भूतेन्द्रियं [3]वा । नाहमन्तःकरणं, नाहं प्राणादिवायवः, नाहं वर्णाश्रमाचारवान्, नाहं धर्मनिरतः अधर्मनि[4]रतो वा, नाहं प्रपञ्चोऽयं[5]च । किंतु—अहं निरुपमसत्यज्ञानानन्दलक्षणलक्षितः परमात्मैव " इति चिन्तयन् परं [6]ब्रह्म स्यात् ॥

[तत्र प्रमाणानि]

" सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म " (तै. उ. २-१) इति श्रुतेः, किंच—

" अणोरणीयानहमेव तद्वत्
महानहं विश्वमिदं विचित्रम् ।

---

[1] पितामहोऽधिदैवतम्. च.

[2] चेत्तव्य. च.

[3] च. च.

[4] रतश्च. च.

[5] ' च ' इति नास्ति. च.

[6] ब्रह्मैव भूयात्. घ. ब्रह्म तत् भूयात्. चं.

पुरातनोऽहं पुरुषोऽहमीशः
　　हिरण्मयोऽहं शिवरूपमस्मि ॥
अपाणिपादोऽहमचिन्त्यशक्तिः
　　पश्याम्यचक्षुः स शृणोम्यकर्णः ।
अहं विजानामि विविक्तरूपः
　　न चास्ति वेत्ता मम चित्सदाऽहम् ॥
वेदैरनेकैः अहमेव वेद्यः
　　वेदान्तकृत् वेदविदेव चाहम् ।
न पुण्यपापे मम नास्ति नाशः
　　न जन्म देहेन्द्रियबुद्धिरस्ति ॥
न भूमिरापो न च वह्निरस्ति
　　न चानिलो मेऽस्ति न चाम्बरं च ।
एवं विदित्वा परमात्मरूपं
　　गुहाशयं निष्कलमद्वितीयम् ।
समस्तसाक्षिं सदसद्विहीनं
　　प्रयाति शुद्धं परमात्मरूपम् ॥"

(कैवल्योपनिषत्)

इति श्रुतेश्च, पुरा 'ब्रह्मभिन्नोऽहं इति प्रकृतिवासना[1]भिदुरमिथ्याज्ञानवानहमेव इदानीं 'ब्रह्मास्मि' इति ज्ञानवान् ज्ञानी मुक्तः स्यात् ॥

[आत्मनो विकारभेदज्ञानस्यावश्यकता विकाराश्च]

वक्ष्यमाण[2]विकारादीनपि नाहमिति त्यक्त्वा सत्यज्ञानी भव ।

---

[1] विदितमिथ्या. च. विदुर्मिथ्या. छ.

[2] विकारादीन्नाह. च.

श्रोत्रादिपञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, वागादिपञ्चकर्मेन्द्रियाणि, शब्दादिपञ्चविषयाः, मनश्चेति षोडश विकाराः इत्युच्यन्ते ॥

[मायाकल्पितप्रपञ्चादात्मनि वैलक्षण्यज्ञानस्यावश्यकता, मायाकल्पिताश्च]

(1) पञ्चप्राणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रिय[1]मनोबुध्यात्मकं लिङ्गशरीरमित्युच्यते ।

(2) पञ्चमहाभूतज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियमनोबुध्यात्मकं लिङ्गमिति केचित् वदन्ति ।

(3) [2]कर्तृज्ञातृभोक्त्रादयो नव पदार्थाः ।

(4) पञ्चमहाभूतानि प्रकृतिः अहङ्कारः महच्च इत्यष्टौ प्रकृतयः ।

(5) ब्रह्मविष्णुरुद्राः इति मूर्तित्रयम् ।

(6) इच्छाज्ञानक्रियाः इति शक्तित्रयम् ।

(7) विश्वतैजसप्राज्ञाः इति जीवत्रयम् ।

(8) प्रातर्मध्याह्नास्तभेदात् कालत्रयम् ।

(9) गार्हपत्याहवनीयदक्षिणाग्निभेदात् अग्नित्रयम् ।

(10) स्वर्गमर्त्यपातालभेदात् लोकत्रयम् ।

(11) जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिभेदात् अवस्थात्रयम् ।

(12) स्थूलसूक्ष्मकारणभेदात् देहत्रयम् ।

(13) [3]कामिकं मायिकं आणविकमिति मलत्रयम्

(14) आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकमिति तापत्रयम् ।

(15) धनदारपुत्राश्चेषणात्रयम् ।

(16) सत्त्वरजस्तमोभेदात् गुणत्रयम् ॥

---

[1] 'मनो' इति नास्ति. च.

[2] कर्त्रादिज्ञात्रादि नव. च.

[3] कर्मसंस्कारेन्द्रियाणां कार्मिकं. च. कर्मसंसारेन्द्रियाणां कार्मिकं. छ.

एतानि सर्वाण्यपि मायाकल्पितानीति ज्ञात्वा, तद्विलक्षणोऽहमिति [1]निश्चयबुद्धिं कुरु । ततः इमं उपदेशं शृणु ॥

[स्थूलानां सूक्ष्मेष्वन्तर्धानेन अन्ततः परमात्मनि मेलनविधिः]

आकाशादिभूतगुणान् सम्यक् ज्ञात्वा स्थूलस्य सूक्ष्मे अन्तर्धानविधिः उच्यते—

"भूमौ घ्राणं जले जिह्वां अग्नौ दृष्टिं तथैव च ।
वायौ त्वचं व्योम्नि श्रोत्रं क्रमाद्योगी [illegible] मेलयेत् ॥"

इति ॥

एवं सावधानेन [2]भूतेन्द्रियैक्यं कृत्वा, भूमिं जले लीनमनुभाव्य, जलं वह्नौ हुतमाज्यमिव संचिन्त्य, वह्निं वायौ प्रलीनं कृत्वा, वायुं गगने विलीन-मनुभाव्य, तच्चित्ते लयं कृत्वा, चित्तमहङ्कृतौ प्राप्तविरतिं ज्ञात्वा, अह-ङ्कृतिं बुद्धिमध्ये गूढां कृत्वा, बुद्धिं मिथोदर्शनमध्यविलीनामनुभाव्य, तद्दर्शनं परमात्मनि मेलयेत् ॥

[तत्र प्रमाणानि]

तदुक्तम्—

"भूमिं जले जलं वह्नौ हुत्वाऽऽज्यमिव चिन्तयन् ।
वह्निं वायौ तथा वायुं आकाशे गगनं क्रमात् ॥
चित्ते चित्तमहङ्कारे ज्ञात्वा [3]प्राप्तरतिं क्रमात् ।
अहङ्कृतिं बुद्धिमध्ये गूढां कृत्वा मतिं तथा ॥
मिथोदर्शनमध्ये तद्दर्शनं परमात्मनि ।
पूर्वोक्तरीत्या सद्योगी परमात्मनि मेलयेत् ॥" इति ॥

---

[1] निश्चल. च.

[2] भूतैन्द्रियैक्यं कुर्यात् । तत्कथं ? "भूमिं जले. च.

[3] प्राप्तरतिं;. च. प्राप्तरतिं तथा. [illegible].

[उक्तमेलनस्यैव पञ्चीकरणरूपता]

एवं चेत् पञ्चीकरण[1]रूपं स्यात् इत्याहुः परमयोगिनः ॥

[आत्मनि ज्ञातृत्वकैवल्ययोः निरूपणम्]

[2] अस्य इन्द्रियात्मा केवलात्मा चेति द्वैविध्यं अङ्गीकर्तव्यम् । बुध्या परमात्मस्वरूपं सच्चिदानन्दलक्षणं ज्ञातं भवति । तद्दर्शनेन बुद्धिसङ्कोचात् आत्मैक्यमिति [3] सर्वं समञ्जसमुक्तम् ॥

इति योगशास्त्रे प्रथमोऽध्यायः

---

## प्रथमे ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः

---

[देहदोषाः तन्निरसनोपायाश्च]

**(१३) देहस्य पञ्च दोषाः भवन्ति कामक्रोधनिश्वासभय-निद्राः ।[4]**

**(१४) तन्निरासस्तु निस्सङ्कल्पक्षमालघ्वाहाराप्रमादता [5]सत्त्वसेवनम् ॥**

एवं प्रतिपादितं सांख्यमोक्षलक्षणम् । इदानीं सांख्यैकदेशिमतं वक्ष्ये – देहस्य पञ्चदोषाः सन्ति, कामक्रोधनिश्वासभयनिद्राभेदात् । तत्परिहारमार्गं –

---

1 रूपः. च.

2 सेन्द्रियात्मा. च.

3 'सर्वं' इति नास्ति. क.

4 कामक्रोधभयनिश्वासनिद्राः. ग.

5 तत्त्वसेवनं. क. च. परमार्थतत्त्वसेवनतः स्वाज्ञाननिद्रानिवृत्तिः इत्यर्थः (उ).

स्तु—सङ्कल्पवर्जनं कामस्य, क्षमा क्रोधस्य, [1] लघुभोजनं निश्वासस्य, [2] अप्रमादता भयस्य, सत्त्वसेवनं निद्रायाः, इति क्रमेण भवति ॥ [3]

---

[1] लघ्वाहारोपलक्षितप्राणायामतः श्वासस्थिरत्वम् (उ)

[2] सर्वत्र द्वैतधीत्यागतो भयनिवृत्तिः (उ)

[3] अत्र उक्तार्थसंवादाय द्रष्टव्यो भागः महाभारते यथा—

व्यास उवाच—

पृच्छतस्तव सत्पुत्र! यथावदिह तत्त्वतः।
सांख्यन्यायेन संयुक्तं यदेतत् कीर्तितं मया॥
योगकृत्यं तु ते कृत्स्नं वर्तयिष्यामि तच्छृणु।
एकत्वं बुद्धिमनसोः इन्द्रियाणां च सर्वशः॥
आत्मनोऽव्ययिनस्तात! ज्ञानमेतदनुत्तमम्॥
तदेतदुपशान्तेन दान्तेनाध्यात्मशीलिना।
आत्मारामेण बुद्धेन बोद्धव्यं शुचिकर्मणा॥
योगदोषान् समुच्छिद्यात् पञ्च यान् कवयो विदुः।
कामं क्रोधं च लोभं च भयं स्वप्नं च पञ्चमम्॥
क्रोधं शमेन जयति कामं संकल्पवर्जनात्।
सत्त्वसंसेवनाद्धीरः निद्रामुच्छेत्तुमर्हति॥
धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत् पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुःश्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा॥
अप्रमादात् भयं जह्यात् लोभं प्राज्ञोपसेवनात्।
एवमेतान् योगदोषान् जयेत् नित्यमतन्द्रितः॥
अग्नींश्च ब्राह्मणांश्चार्चेत् देवताः प्रणमेत च।
वर्जयेदुषतीं वाचं हिंसायुक्तां मनोनुदाम्॥
ब्रह्मतेजोमयं शुक्रं यस्य सर्वमिदं ततम्।
एतस्य सूत्रभूतस्य द्वयं स्थावरजङ्गमम्॥
ध्यानमध्ययनं दानं सत्यं ह्रीरार्जवं क्षमा।
शौचमाहारसंशुद्धिः इन्द्रियाणां च निग्रहः॥
एतैः विवर्धते तेजः पाप्मानं चापकर्षति।
सिध्यन्ति चास्य सर्वार्थाः विज्ञानं च प्रवर्धते॥

इत्यादिः। (महाभारते शान्तिपर्वणि २६६ तमेऽध्याये)

[भवतरणोपायः]

**(१५) [1] निद्राभयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं संसारवार्धिं [2] तर्तुं सूक्ष्ममार्गमवलम्ब्य सत्त्वादिगुणानतिक्रम्य तारकमवलोकयेत्, [3] भ्रूमध्ये सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं तारकं ब्रह्म ।**

**(१६) तदुपायं लक्ष्यत्रयावलोकनम् ॥**

दुःखोदकं व्याधिमृत्युग्राहं भयसरीसृपं हिंसादितरङ्गं तृष्णावर्तं दारपङ्कं नानाकल्पितसुखरत्नं [4]आत्मैक्यतीरं सत्यातीतं संसारवार्धिं तर्तुं अयमुपायः ।

जीवः स्वयं अतिसूक्ष्मः सूक्ष्ममार्गं अवलम्ब्य [5] सप्तपवनान् उत्तीर्य [6] प्रत्यग्रस्थितो [illegible] । [7] परनभोगतिं प्राप्य तद्व्योम तमसि स्थापयेत् । तमो रजसि लीनं कृत्वा रजः सत्त्वे प्रवेशयेत् । सत्त्वं नारायणे प्रवेशयेत् । श्रीमन्नारायणं परं पदं प्रापयेत् । तदा नित्यानन्दसुखं अश्नुते ।

'ज्ञानादेव मोक्षः स्यात्' इति बुद्ध्वा संख्यायते–ज्ञायते आत्मा यैः ते सांख्याः= सम्यग्ज्ञाननिरताः । एवं मोक्षलक्षणमाहुः ।

एवं उक्तसांख्यात् उत्तमं तारकमिति तारकयोगिनो मन्यन्ते । तल्लक्षणं अतिविचित्रं शृणु सावधानेन प्राकृत ! गोप्यतरमेतदपि इदं त्वद्भक्ति-

---

[1] निद्रासरीसृपं. क.

[2] तरितुमित्यर्थः.

[3] किं तत् तारकमित्यत्राह भ्रूमध्ये इति.

[4] आत्मैक्यतरं. घ.

[5] सप्तपदानि वनान्युत्तीर्य. घ.

[6] प्रत्यग्रस्थितः घ.

[7] वरनभो. क.

तुष्टः अहं वक्ष्ये । स्वल्पबुद्धयः पुरुषाः [1]मन्त्रलयहठयोगारण्ये चिरं चरन्ति । तान् [2]संत्यज्य गुरुमुखात् तारकाभ्यासी [3] चेत् तदा सिद्धो भवति । तस्मात् तारक[4]योगः एवं अभ्यसितव्यः ।।

सम्यक् निमीलिता[5]क्षो वा, किञ्चिदुन्मीलिताक्षो वा अन्तर्नेत्रेण भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजः[6]कूटरूपं परं ब्रह्मावलोकयेत् । तारकाग्रवृत्त्या लक्ष्यं गगने[7] गुरोरेव लब्धं चेत् तदा तारकयोगसिद्धिः । [8] तदभ्यासिनः तारकयोग[9]सिद्धाः भवन्ति ।

---

1 योगो हि बहुधा ब्रह्मन् ! भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥
मातृकादियुतं मन्त्रं द्वादशाब्दं तु यो जपेत् ।
क्रमेण लभते ज्ञानं अणिमादिगुणान्वितम् ॥
अल्पबुद्धिरिमं योगं सेवते साधकाधमः ।
लययोगः चित्तलयः कोटिशः परिकीर्तितः ॥ (योगतत्त्वोपनिषत्)
यमाद्यासनाजायासहठाभ्यासात् पुनःपुनः ।
संजातविघ्नबाहुल्यः अणिमादिवशादिह ॥
अलब्ध्वैव फलं सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले । (वराहोपनिषत्)
ततो भवेद्राजयोगो नान्तरा भवति ध्रुवम् ।
तदा विवेकवैराग्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
तत्त्वमार्गे यथा दीपो दृश्यते पुरुषोत्तमः ॥ (योगतत्त्वोपनिषत्)

2 संत्यज्यैवं. घ.

3 चाशुसिद्धो ग. तारकयोगदाशु सिद्धो घ.

4 योगस्त्वेवं. घ. योग एव. च.

5 क्षश्रान्त ग.

6 कुन्दरूपं ग.

7 गोह्लाटवृत्त्या ग.

8 तदभ्यासी ग.

9 सिद्धः इति प्राणायामादिदौर्लभ्यप्रयासाभावेन ग.

प्राणायामाद्यनुष्ठानप्रयासाभावेन तारक[1]योग एव उत्तमः इत्याहुः परमयोगिनः। किञ्च लक्ष्यत्रयं तारक[2]योगिना विदितं भवति। तस्मात् त्वमपि [3]गुरुकार्यासक्तः तारकाभ्यासं कुरु।

तारकयोगस्य अभ्यासः परपुरुषार्थमिति। तारयति अभ्यासपरं पुरुषमिति [4]तारः। तार एव तारकः। स्वार्थे कप्रत्ययविधानात्। स चासौ योगश्च तारकयोगः इत्यर्थः। 'युजिर् योगे' इत्यस्मात् धातोः जीवेश्वरयोः [5]भेदकं अज्ञानं परिहृत्य ऐक्यं करोतीति [6]तथोच्यते।

ब्रह्मणो जीवत्वं [7]अविद्योपाधिकम्,[8] मुखद्वैविध्ये दर्पणमिव, आकाशभेदे घटादिकमिव, सूर्यभेदे जलपात्रमिव च। सद्गुरूपदेशात् ज्ञानाग्निना [9]अज्ञानोपाधिविरहे जाते [10]ब्रह्मैकमेवाद्वितीयं परं अवशिष्टं भवति॥

"यदा तमस्तन्न दिवा न रात्रिः
न सन्न चासत् शिव एव केवलः।
तदक्षरं तत् सवितुर्वरेण्यं
प्रज्ञा च तस्मात् प्रसृता पुराणी॥" इति श्रुतेः,
(श्वेताश्व. ४-१८)

---

1 योगमुत्तममित्याहुः ग.
2 योगिनां विदितम् ग.
3 स्वमतिगुरुकथनासक्तः. घ. गुरुकथासक्तः च.
4 तारम्। तारमेव तारकम्. क. तारकः तार एव तारकः. ग.
5 भेदरूपं ज्ञानं. ग.
6 यत् तत् तथोच्यते. घ.
7 औपाधिकं. ग.
8 मुखद्वैविध्यं दर्पण इव. घ.
9 उपाधिभेदरहितं. ग.
10 ब्रह्मैक्यमेवाद्वितीयमिवावशिष्टमिति भवति. ग.

"अशरीरं शरीरेषु अनवस्थेष्ववस्थितम् ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥"
(कठोप. २-२२)

इति श्रुतेश्च ॥

अतः परमात्मा तारकयोगवेद्यः इति फलितोऽर्थः ॥

[ उपायतयोक्तलक्ष्यत्रये अन्तर्लक्ष्यम् ]

**(१७)** [1]**मूलादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं** [2]**सुषुम्ना सूर्याभा ।** [3]**तन्मध्ये तटित्कोटिसमा मृणालतन्तुसूक्ष्मा कुण्डलिनी ।** [4]**तत्र तमोनिवृत्तिः ।**

**(१८)** [5]**तद्दर्शनात् सर्वपापनिवृत्तिः ।**

**(१९)** [6]**तर्जन्यग्रोन्मीलित**[7]**कर्णरन्ध्रद्वये** [8]**फूत्कारशब्दः जायते ।**

**(२०) तत्र स्थिते मनसि** [9] **चक्षुर्मध्यनीलज्योतिः पश्यति ।** [10]**एवं हृदयेऽपि ॥**

---

[1] मूलाधारादाब्रह्म॰ क॰

[2] सुषुम्नेति । वीणादण्डमाश्रित्येति शेषः (उ)

[3] 'तन्मध्ये तटित्कोटिसमा' इति नास्ति॰ घ.

[4] [illegible] स्थिरीभूते मनसि स्वाज्ञानतमोनिवृत्तिः (उ)

[5] कुण्डलिनीमध्ये यदाकाशं विद्यते तद्दर्शनात् (उ)

[6] कर्णद्वयान्तः तर्जनीद्वयप्रवेशः मुकुन्दमुद्रा॰ (उ)

[7] कर्णद्वये॰ क॰

[8] धूत्कारशब्दः घ॰ भाङ्कार॰ च॰

[9] चक्षुर्मध्ये॰ क॰

[10] न केवलं नादे किन्तु हृदयेऽपि (उ)॰

किमिदं लक्ष्यत्रयमिति ? अत्रोच्यते-देहमध्ये ब्रह्मनाडी [1]सुषुम्ना सूर्यरूपिणी पूर्णचन्द्राभा वर्तते । सा तु मूलादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तगामिनी भवति । तन्मध्ये तटित्कोटिसमानकान्त्या मृणालसूत्रवत् सूक्ष्माङ्गी कुण्डलिनीति[2] प्रसिद्धास्ति । तां दृष्ट्वा मनसैव नरः सर्वपापबन्धनविनाशनद्वारा मुक्तो भवति ।

[3]फालोर्ध्वगललाटशशिमण्डले निरन्तरं तेजः स्तारक[4]योगविस्फुरणेन पश्यति चेत् सिद्धः भवति । तर्जन्यग्रोन्मीलिते [5]कर्णरन्ध्रद्वये [6]फूत्कारशब्दः जायते । तत्र स्थिते मनसि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिस्स्थलं विलोक्य अन्तर्दृष्ट्या समानरहितं सुखं प्राप्नोति । एवं हृत्पङ्कज[7]मध्ये विराजत्तेजश्शिखादर्शनेनापि । एवं अन्तर्लक्ष्यलक्षणं परमयोगिकल्पितं वेदितव्यं, [8]सर्वं मुमुक्षुभिरुपास्यं च ॥

---

[1] सुषुम्नारूपिणी. च

[2] शक्तिरूपा इति यावत् । 'कुण्डलनी' ग.

[3] फालोर्ध्वगोर्ललाटविशेषे. ग. फालोर्ध्वगोल्लाटविशेषे घ. फालोर्ध्वगोळललाट. च. फालोर्ध्वगोल्हाटमण्डले. छ.

[4] योगेन वि. ग.

[5] सकर्ण. ग.

[6] घुङ्कार. ग.

[7] मध्यविराजितशिखा. ग.

[8] सर्वमुमुक्षुभिः. च.

[ बहिर्लक्ष्यम् ]

**(२१) बहिर्लक्ष्यं तु [1]नासाग्रे [2]चतुष्षडष्टद्वादशाङ्गुलीभिः क्रमात् [3]नीलद्युतिश्यामत्व [4]सदृग्रक्तभङ्गी [5]स्फुरच्छुक्लपीतवर्णद्वयोपेतं [6]व्योमतत्वं पश्यति । स [illegible] योगी ।**

**(२२) [7]चलदृष्ट्या व्योमभागवीक्षितुः पुरुषस्य दृष्ट्यग्रे ज्योतिर्मयूखाः वर्तन्ते । [8]तद्दृष्टिः स्थिरा भवति ।**

**(२३) शीर्षोपरि [9]द्वादशाङ्गुलमानज्योतिः पश्यति, तदा अमृतत्वमेति ॥**

अथ बहिर्लक्ष्यं तु—नासिकाग्रे चतुर्भिः षड्भिः अष्टाभिः द्वादशभिः अङ्गुलैर्वा अन्ते क्रमात् [10]नीलद्युतिश्यामत्वसदृग्रक्तभङ्गीस्फुरच्छुक्लपीतवर्ण व्योमतत्त्वं यः पश्यति स तु योगी भवति ।

---

[1] योगी स्वदृष्टी समे कृत्वा स्वनासाग्रे स्वकृताभ्यासानुरोधेन क्रमात् चतुरादि-द्वादशाङ्गुलिपर्यन्तं व्योमभावं पश्यति । तत्र नीलपीतवर्णौ प्रधानौ, श्यामादिवर्णस्तूपसर्जनीभूतः (उ)

[2] चतुष्षडष्टद्चद्वादशाः क.

[3] नीलद्युतिः क.

[4] सद्रत्नभङ्गी. च.

[5] स्फुरत्पीत. क. स्फुरत्पीतवर्णद्वयोपेतं. च.

[6] व्योमत्वं. क.

[7] चलदृष्ट्या. क. स्थिरदृष्ट्या. च.

[8] यद्दृष्टिः तत्र समारोपिता तद्दृष्टिः (उ)

[9] द्वादशाङ्गुलीमान क. द्वादशाङ्गुलिमान. च.

[10] नीलद्युतिं श्यामत्वं सद्रत्नभङ्गस्फुरत्पीतवर्णपीतं. ग.

[1]चलदृष्ट्या व्योमभागमीक्षितुः पुरुषस्य सामीप्ये दृष्ट्यग्रे वा ज्योतिर्मयूखाः वर्तन्ते । तद्दर्शनेन योगी भवति । तप्तकाञ्चन[2]सङ्काशान् ज्योतिर्मयूखान् अपाङ्गान्ते भूमौ वा पश्यति । [3]तेन दृष्टिः स्थिरा भवति ।

शीर्षोपरि द्वादशाङ्गुलसमुन्नतभागे [4]प्रादेशमात्रे वा ज्योतिःपुञ्जं [5]यदि लक्ष्यते तदीक्षितुरमृतत्वं भवति । यत्र कुत्र [6]स्थितेनापि शिरसि व्योम ज्योतिस्स्वरूपेण दृष्टं चेत् स तु योगी भवति । एवं बाह्यलक्ष्यलक्षणम् ॥

[मध्यलक्ष्यम्]

**(२४) मध्यलक्ष्यं तु [7]स्वान्तश्चित्रादिवर्ण[8]सूर्यचन्द्रवह्निज्वालावलीवत् तद्विहीनान्तरिक्षवत् पश्यति तदाकाराकारी भवति ।**

**(२५) अभ्यासात् निर्विकारं गुणरहिताकाशं भवति ।**

**(२६) विस्फुरत्तारकाकार[9]गाढतमोपमं[10]पराकाशं भवति ।**

**(२७) कालानल[11]समद्योतमानं महाकाशं भवति ।**

**(२८) सर्वोत्कृष्ट[12]परमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति ।**

---

[1] अन्तर्दृष्ट्या· ग.

[2] संङ्काशाः ज्योतिर्मयूखाः. ग.

[3] तद्दृष्टिः ग.

[4] प्रादेशमात्रा वा. ग.

[5] च लक्ष्यते. ग.

[6] स्थितस्यापि. क. स्थितस्य वा. च.

[7] प्रातः क. नातिदूरदेशपुरोभागान्तरिक्षे प्रातरित्यादि । एवं दर्शनस्य फलमाह तदाकारेत्यादि । तन्मयत्वं व्योमपञ्चकदर्शनं तद्भावापत्तिश्च तत्फलमित्यर्थः । (उ)

[8] सूर्यचक्रवह्नि. क. [9] कारं. क.

[10] परमाकाशं. क. [11] समं. च.

[12] परमाद्वितीयप्रद्योतसमानं. क.

(२९) कोटिसूर्य[1]प्रकाशं सूर्याकाशं भवति।

(३०) एवं अभ्यासात् तन्मयो भवति। य एवं वेद॥

इति प्रथमे ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः

---

इदानीं मध्यलक्ष्यलक्षणमुच्यते।[2] स्वान्तः चित्रदिवर्णाखण्डसूर्य[3]चन्द्रादिवत् वह्नि[4]ज्वालावलीवत् तद्विहीनान्तरिक्षवत् पश्यति। तदा आत्मा [5]तदाकाराकारी अवतिष्ठते। तत् मध्यलक्ष्यलक्षणमिति।

पुनः पुनः [6]निर्विकारं चेत् तदिदं गुणरहिताकाशं भवति। [7]विस्फुरत्तारकाकारसन्दीप्यमानगाढ[8]तमोपमं [9]पराकाशं भवति। कालानलसमद्योतमानं महाकाशं भवति। सर्वोत्कृष्टपरमद्युतिप्रद्योतमानं तत्त्वाकाशं भवति। कोटिसूर्यप्रकाशवैभवसङ्काशं सूर्याकाशं भवति। एवं बाह्याभ्यन्तर[10]स्थितं व्योम

---

[1] प्रकाशसङ्काशं सूर्याकाशं. क..

[2] प्रागुक्तचित्रादिः घ. प्रातश्चित्रादि. च.

[3] चक्रादिवत्. क. चक्रवत् ग.

[4] ज्वालावलि ग.

[5] तदाकाराकारीव तिष्ठति ग.

[6] निर्विकारेण चेत्तदिदं. क. निर्विकारं चेत्तदादिकं ग.

[7] प्रविस्फुर ग.

[8] तमोपहं. ग.

[9] भवतीति नास्ति. ग.

[10] स्थव्योम. ग.

पञ्चकं [1]तारकलक्ष्यं वेद चेत् स तु योगी [2]मुक्तिफलः तादृग्व्योमसमानो भवति । [3]तस्मात् तारकमेव लक्ष्यास्पदं अमनस्कफलप्रदं च ॥

इति योगशास्त्रे द्वितीयोऽध्यायः

---

## प्रथमब्राह्मणे तृतीयः खण्डः

---

[योगद्वैविध्यम्]

(३१) [4]तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तर[5]विभागतः ।
पूर्वं तु तारकं विद्यात् अमनस्कं तदुत्तरम् ॥ इति ॥

[अमनस्कपदार्थविवरणम्]

किमिदं अमनस्कं नाम ? तारकमेव उत्तरार्धेन अमनस्कं भवति । [6]पूर्वार्धेन तु तारकमित्येव । अतः [7]उत्तरार्धेन अमनस्कराजयोगः इत्युच्यते ।

---

[1] तारकलक्ष्यं चेत्. क. तारकं लक्षयेत् ग.

[2] [illegible] घ. विमुक्तिफलः च. विमुक्तफलः, छ. मुक्तफलः ज.

[3] तस्मात् तारक एव लक्ष्यास्पदममनस्कं राजयोग इत्युच्यते ग.

[4] उक्तव्योमपञ्चकाभ्यासतः किं स्यादित्यत्र पर्यवसाने तारकामनस्कसिद्धिः स्यादित्याह-तदिति । यत् व्योमपञ्चकाभ्यासः उक्तः पर्यवसाने तद्योगमित्यर्थः । (उ).

[5] विधानतः. ख.

[6] 'तु' इति नास्ति. क. पूर्वार्धे तु. ग.

[7] उत्तरार्धं अमनस्कं इत्युच्यते. च. उत्तरार्थः अमनस्कः ग.

तदुक्तं योगशास्त्रे—

"तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः ।

पूर्वं तु तारकं विद्यात् अमनस्कं [1]तदुत्तरम्" ॥ इति,

[2]"अमनस्कं राजयोगमित्याहुर्ब्रह्मवादिनः ॥" इति च ।

[श्रुत्यर्थानुवादः]

अस्यायमर्थः—

राजयोगो द्विविधः—तारकामनस्कभेदात् । तारकं तावत् पूर्वभागः, उत्तरभागस्तु [3]अमनस्कमिति ॥

[तारकपदार्थः]

[4]तारकशब्दस्वारस्यात् भ्रूयुगान्तःप्रदेशे [5]लयं गच्छतोः क्रमेण वामदक्षिणनेत्ररूपचन्द्रसूर्ययोः गतेः [6]तारकाश्रयत्वात् , [7]इदानीमपि 'अश्विनीनक्षत्रप्रथमपादे अर्कः' इत्यादि [8]ताराधीनग्रहगतेः [9]ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धिदर्शनात् [10]अत्रापि अक्ष्यन्तस्तारकयोः चन्द्रसूर्यप्रति[11]फलनात् एते अपि न एवेत्यूह-

---

[1] तथोत्तरम् ग.

[2] अमनस्को राजयोग इत्या. ग.

[3] अमनस्कः इति ग.

[4] तारकशब्दस्वारस्यं भ्रूयुः प्रवेशं लयगतं वामदक्षिणनेत्ररूपं. ग.

[5] लयं गच्छतः क. लयगतिक्रमेण वामदक्षिणनेत्ररूपचन्द्रसूर्यगतेः च.

[6] तारकाश्रितत्वात् ग.

[7] इदानीं. क. अश्विनीनक्षत्रं, अश्विनीप्रथमपादे इत्यादि. घ.

[8] तारानत्रग्रह. क.

[9] ज्योतिश्शास्त्रप्रसिद्धेः क.

[10] अत्राप्यक्ष्णोस्तारकयोः. च.

[11] फलितानि दैवतानीत्यूहनीयानि. क. फलितानि तदेवेत्यूहनीयानि । तस्मात्तारकाभ्यां. ख फलनता स्यादेवेत्यूहनीया, तस्मात् तारकाख्यं सूर्यं. ग.

नीयानीति, तारकाभ्यां सूर्यचन्द्रमण्डलदर्शनं कर्तव्यं इति प्राप्ते – ब्रह्माण्डे गगनमध्ये रवीन्दुमण्डलद्वयमिव पिण्डाण्डे शिरोमध्यस्थाकाशे रवीन्दुमण्डल-द्वितयमस्तीति निश्चयेन [1]तारकाभ्यां तद्दर्शनं अत्रापि [2]कर्तव्यमिति उभयैक्य-दृष्ट्या प्राप्तम् ।[3]

[4]तत्र मनोऽपि कारणमिति वक्तव्यम् । तद्योगाभावे इन्द्रियप्रवृत्तेः अनवकाशात् । [5]अतो मनस्तारकैक्यवृत्त्या द्रष्टव्यमिति च सिद्धम् । [6]लक्ष्यं अन्तरमिति कृत्वा अन्तर्दृष्टिप्राधान्यात् तारकयैव तद्वेद्यता भवति । अत एव तत् तारकमित्युच्यते ।[7]

[तत्र तारकस्य विभागः, तस्य समनस्कता च]

## (३२) तारकं द्विविधं—मूर्तितारकं अमूर्तितारकमिति ।

---

[1] तारकाभ्यान्तर्दर्शनं ग.

[2] कर्तव्यमुभयैक्यदृष्ट्या. च.

[3] अयोगी यथा ब्रह्माण्डस्थचन्द्रसूर्यौ मनस्सहकृततारकाभ्यां पश्यति, तथा योगी स्वमस्तकाकाशविभातरवीन्दुद्वयं मनस्सहकृततारांभ्यां अवलोकयेदिति भावः (उ) दृष्टितः ग.

[4] रूपदर्शनस्य चक्षुरधीनत्वात् किं मनसा इत्यत आह-तत्रेति । मनसि अन्यत्र व्यापृते रूपादिग्रहणशक्तिः केवलं चक्षुरादेः नास्तीत्यत्र 'अन्यत्र मना: अभूवं नादर्शम्' अन्यत्र मना: अभूवं नाश्रौषम्' इत्यादिरेव प्रमाणमिति भावः ।

[5] ततो. ग.

[6] लक्ष्यमनान्तरमिति कृत्वा अन्तर्दृष्टेः प्राधान्यात्. ग.

[7] अत्र 'गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् सन्तारयति तस्मात् तारकम्' इति च अनुसन्धेयम् (अद्वय)

(३३) [1]यत् इन्द्रियान्तं तत् मूर्तितारकम् ।

(३४) यद् भ्रूयुगातीतं तत् अमूर्तितारकं इति ।

(३५) उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत् ।

(३६) [2]मनोयुक्तान्तर्दृष्टिः तारकप्रकाशाय भवति ।

[ पूर्वतारकम् ]

(३७) भ्रूयुगमध्यबिले तेजस आविर्भावः । [3]एतत् पूर्वं तारकमिति ॥

तच्च द्विविधं—मूर्तितारकं अमूर्तितारकमिति ।

[4]एतदुक्तं भवति यत् इन्द्रियान्तं तत् मूर्तिमत् । यत् भ्रूयुगातीतं तत् अमूर्तिमत् इति ।

[ मनोयोगवैशिष्ट्यम् ]

ननु एवं वक्तव्यं–[5]नेत्रादधस्तात् गणपत्यादीनां; तदवेद्यत्वात्, तदूर्ध्वं तु दहरमार्गेण नाळप्रदेशमवलम्ब्य [6]सम्यगुपरिगमनेन तदुपरिस्थविशेषदर्शनमिति । तत्रोच्यते–[7]सर्वत्र अन्तःपदार्थविवेचने मन एव कारणं, मनोयुक्ता-

---

[1] मूलाधारमारभ्य आज्ञाचक्रपर्यन्तं मूर्तितारकम् । आज्ञाचक्रमारभ्य सहस्रारान्तं अमूर्तितारकमित्यर्थः । (उ)

[2] लक्ष्यदर्शनस्य चक्षुरधीनत्वात् किं मनसेत्याशङ्क्य मनोऽनुगृहीतदृष्टिः अन्तर्दृष्टिर्भूत्वा तारकग्राही भवति, न केवलदृष्टिः इत्याह–मन इति । (उ) मनोयुक्तान्तरदृष्टिः क.

[3] एतत्पूर्वतारकम्· क. [4] तद्युक्तं ग.

[5] नेत्रादधस्थं गण· क. [6] सम्यगुपरिस्थ ग·

[7] बाह्यपदार्थविवेचनवत् अन्तःपदार्थविवेचनमपि मनश्चक्षुरधीनमित्याह सर्वत्रेत्यादि । (उ) सर्वत्रान्तःप्रवेशपदार्थ· ग.

भ्यामेव तारकाभ्यां तदूर्ध्वस्थ[1]तत्त्वदर्शनात्, [2]मनोयुक्तेनैवान्तरीक्षणेनैव सच्चिदानन्दस्वरूपं [3]परब्रह्मेत्यवगम्यते ।

[मनोयुक्तान्तदर्शनस्य ब्रह्मलक्षणानुगुणता]

ब्रह्मणः किं लक्षणं ? इति [4]विशये—

[5]"यत् शुक्लं तद् ब्रह्म"

इत्युपनिषदा शुक्लतेजोमयं [6]ब्रह्मेत्यनुप्राप्तम् । [7]शुक्लादिवर्णानां मायिकत्वेन तदतीतं ब्रह्मेति वक्तव्यमिति चेत्—तन्न । [8]शुक्लवर्णं ब्रह्म इति अन्यत्र विशेषेण अङ्गीकारात् ।

[9] "न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥"

---

[1] तत्त्वदर्शनात्. क. अस्मिन् पाठे भ्रूमध्योर्ध्वविलासितोत्तरतारकलक्ष्यदर्शनादित्यर्थः ।

[2] मनोयुक्तेनानन्तरी. क.

[3] परब्रह्म=उत्तरतारकलक्ष्यम् । ब्रह्मेत्युपगम्यते. ग.

[4] विषये ग. [5] अथर्वशिरसि.

[6] ब्रह्मेत्यनुमानम् ग.

[7] भ्रूमध्यादिस्थलशुक्लतेजसः मनःकल्पितत्वेऽपि ब्रह्मणः सर्वव्यापकत्वेन तत्रापि विद्यमानत्वात् तदेव ब्रह्मेति अभिमतिदृढिम्ना लीने तत्र मनसि कल्पकसापेक्षकल्पनावैरल्ये निर्विकल्पकं ब्रह्मैव अविशिष्यते इति भावः (उ)

[8] शुक्लवर्णतेजो ब्रह्म. च.

[9] कठोपनिषत्. 5-15 मुण्डके. 2-2-10, श्वेताश्वतरे 6. 14.

इति श्रुतेः । केवलशुक्लरूपं अपाम्, रोहितरूपं अग्नेः कृष्णरूपं अन्नस्य, इति नियमः ।

[1]"यदग्नेः रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं
यच्छुक्लं तदपां, यत्कृष्णं तदन्नस्य"

इति श्रुतेः । अतः शुक्लतेजोमयं ब्रह्मेति सिद्धान्तः । [2]तद्ब्रह्म मनस्सहकारिणा चक्षुषा अन्तर्दृष्ट्या [3]वेद्यमिति फलितार्थः । इत्यमूर्तितारकलक्षणम् ॥

[मूर्तितारकस्वरूपम्]

मूर्तितारकं तु मनोयुक्तेन चक्षुषैव [4]वेद्यं भवति । रूपग्रहणप्रयोजनस्य मनश्चक्षुरधीनत्वात् बाह्यवदान्तरेऽपि [5]आत्ममनश्चक्षुस्संयोगेनैव रूपग्रहणकार्यस्योदयात् प्रकृते मनोयुक्तान्तर्दृष्टिः तारकप्रकाशाय भवति ।

तारकप्रकाशो नाम भ्रूयुगमध्यबिले[6] दृष्टिः, तद्द्वारा [7]ऊर्ध्वस्थले तेजः आविर्भूतं भवति, तत्तथोच्यते[8] । तेन सह मनोयुक्तं [9]तारकं सुसंयोज्य प्रयत्नेन

---

[1] छान्दोग्योपनिषत् 6-4-1 यदग्नेर्लोहितं ग·

[2] [illegible] ग·

[3] वेदितव्यमिति ग·

[4] दहरादिकमाधारान्तं वेद्यं· ग.

[5] आत्मनो मन· क·

[6] तत्रस्थाज्ञाचक्रे इति यावत् (उ) बले दृष्टेः ग.

[7] ऊर्ध्वस्थतेजः क·

[8] तारकयोगः इत्युच्यते इत्यर्थः । तत्तदोच्यते· ग·

[9] तारकासु ग·

भ्रूयुग्मं [1]सावधानमूर्ध्वं किञ्चिदुत्क्षिपेत्[2] । [3]ततः क्षणेन समुन्मनीहेतुकं भवतीति तत्पूर्वतारकार्थः ॥

[ उत्तरतारकम् ]

**(३८) उत्तरं तु अमनस्कम् ।**

**(३९) तालुमूलोर्ध्वभागे महाज्योतिर्विद्यते, तद्दर्शनात् अणिमादिसिद्धिः ॥**

उत्तरं तु [4]अमूर्तं अमनस्कमिति । स एव राजयोग इति[5] । तल्लक्षणं अतिविचित्रमुच्यते । योगज्योतिःकुण्डे चित्ताध्वर्युणा बुद्धिहोत्रा अहङ्कारोद्गात्रा सह मनोयजमानः[6] प्राणेन्द्रियाणि हवींषि हुनेत् [7] । [8]अनेन योगेन निर्मलात्मभूतः यजमानः सर्वदेवरूपो भवति, सर्वैरुपास्यो भवति ॥

अयमर्थः—

[9]"छागस्य वपाया मेदसोऽनुब्रूहि"

इति [10]पशोर्मनसः हवनरूपलयार्थे प्राप्ते चित्तं बुद्ध्यहङ्कारोपसंहारमाश्रयति । [11]तादृक् चित्तं प्राणादि हविर्होमानन्तरं यजमाने लीनं भवति । स तु यज-

---

[1] सावधानं विलोकयन् इत्यर्थः । [2] उत्क्षेपयेत्. च.

[3] तत्क्षणेन क. तदुपक्षणेन ग.

[4] अमूर्तिमदस. ग.

[5] इति लक्षणमतिचित्र. ग.

[6] प्राणेन्द्रियहवींषि योगेन अनेन निर्मलात्मीभूत्वा हुनेत्. च.

[7] हुनेत् इति छान्दसः प्रयोगः । हुवेत्. ग.

[8] अनेन निर्मलाकारो भूत्वा यजमानः सर्वदेवैरुपास्यो भवति. ग.

[9] आपस्तम्बश्रौतसूत्रे 7-21-1

[10] पशोर्मेदसस्सवनरूपलये. क. प्राणेन्द्रियहविर्हवन. ग.

[11] तादृग्विधप्राणादि. ग.

मानः सिद्धयागफलः संस्कारातिशयेन [1]समुन्मन्यवस्थां प्राप्य [2]स्वर्गफलनिर्विषये परमात्मनि [3]लीनो [4]भवति । अयमेवातिशयो राजयोगस्य[5] । [6]मनोलयस्य अन्यथा असम्भवात् ।

तालुमूलोर्ध्वभागे च [7]महत् ज्योतिर्मण्डलं वर्तते । तत् योगिभिः ध्येयं [8]अणिमादिसिद्धिदं च [9]भवेत् इति ॥

---

[1] "विधिवत् प्राणसंयामैः नाडीचक्रे विशोधिते ।
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ।
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था समुन्मनी ॥ इति
तारं ज्योतिषि संयोज्य किंचिदुन्नमय भ्रुवौ ।
पूर्वाभ्यासस्य मार्गोऽयं उन्मनीकारकः क्षणात् ॥
इति च शाण्डिल्योपनिषत् (1-10)

[2] स्वर्गफले निर्विषयः क.

[3] लीनं क.

[4] भवतीत्यतिशयो. च.

[5] अत एव अमनस्कोपनिषदि – 'राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः' इत्याद्युक्तम् ।

[6] मनोलयस्यास्य संभवात्. ग

[7] महा. ग.

[8] अत्र–'सिद्धौ चित्तं न कुर्वीत चञ्चलत्वेन चेतसः' (यो. शि. 5-32) 'सिद्ध्यन्ति सिद्धयो यास्तु कल्पितास्ताः प्रकीर्तिताः' (यो. शि. 1-152) इत्यादिकं अनुसन्धेयम् ।

[9] भवतीति. च.

[अस्यैव शाम्भवीमुद्रारूपता]

(४०) लक्ष्येऽ[1]न्तस्स्थे बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रा भवति[2]।

(४१) सर्वतन्त्रेषु [3]गोप्या महाविद्या भवति।

(४२) [4]तद्ज्ञानेन सर्वसंसारनिवृत्तिः।

(४३) तत्पूजनं मोक्षफलदम्।

लक्ष्येऽन्तस्स्थे बाह्यायां दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां च इयं शाम्भवी मुद्रिका भवति। सर्वतन्त्रेषु गोप्या महाविद्या च भवति। संसारनिवृत्तिफलं सैव जनयति। तन्मुद्रापरिज्ञानिनिवासात् [5]भूमिः पवित्रा भवति। तं दृष्ट्वा सर्वे लोकाः पवित्राः भवन्ति इति परमार्थः। तथाविधपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते तस्यापि मुक्तिरस्तीति तात्पर्यम्। तस्य च [6]अन्तर्लक्ष्यगतदृढचित्तत्वात् इति[7]॥

---

[1] न्तर्बाह्यायां· ग· न्तस्स्थबाह्यायां च.

[2] मुद्रा सर्वतन्त्रेषु· क.

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शाम्भवी(वैष्णवी)मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥
इति (शां· उ· 17-14)

[3] गोप्यमहाविद्याः. क.

[4] तद्ज्ञाने सर्व· ग.

[5] 'स्वपादन्यासमात्रेण पावयन् वसुधातलम्' इत्युक्तेः।
'खेचराः भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्दृष्टिगोचराः।
[illegible] एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः' इत्युक्तेश्च॥

[6] स्वान्तर्लक्ष्य· क.

[7] 'इति' इति नास्ति· क.

[अन्तर्लक्ष्यसामान्यस्य आत्मस्वरूपता]

(४४) अन्तर्लक्ष्यं [1]जलज्योतिस्स्वरूपं भवति, महर्षिवेद्यं, अन्तर्बाह्येन्द्रियैः अदृश्यम् ।[2]

(४५) [3]सहस्रारे [4]जलज्योतिः अन्तर्लक्ष्यम् ।

(४६) बुद्धिगुहायां[5] सर्वाङ्गसुन्दरं पुरुषरूपं अन्तर्लक्ष्यमित्यपरे[6] ।

(४७) शीर्षान्तर्गतमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रं उमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तमन्तर्लक्ष्यमिति केचित् ।[7]

(४८) अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तर्लक्ष्यमित्येके ॥[8]

(४९) उक्तविकल्पं सर्वं आत्मैव ॥[9]

---

[1] ज्वलज्ज्योति. क

[2] उपनिषद्ब्रह्मयोगिभिस्तु एतदन्तं प्रथमब्राह्मणस्य तृतीयं खण्डं परिसमापितम् । एतन्मते प्रथमं ब्राह्मणं खण्डचतुष्टयात्मकं इति ध्येयम् ॥

[3] अन्तर्लक्ष्यविषये वादिविप्रतिपत्तिं परमार्थदृष्ट्या सर्ववादिविकल्पगोचरलक्ष्यस्यैकत्वं तद्दर्शनतो ब्रह्मनिष्ठत्वं चाह- सहस्रार इति । (उ)

[4] ज्वलज्ज्योति· क·  [5] योगिन इति शेषः ।  [6] अपरे--वैष्णवाः ।

[7] केचित्-शैवाः । 'उमासहाय'मित्यादि कैवल्योपनिषत् ।

[8] एके-दहरविद्योपासकाः ।

[9] परमार्थदृष्ट्या इति शेषः । अत्रेमानि अद्वयतारकोपनिषद्वाक्यानि अनुसन्धेयानि—"अन्तर्लक्ष्यं ज्वलज्ज्योतिस्स्वरूपं भवति । परमगुरूपदेशेन सहस्रारज्वलज्ज्योतिर्वा, बुद्धिगुहानिहितचिज्ज्योतिर्वा, षोडशान्तस्स्थतुरीयचैतन्यं वा अन्तर्लक्ष्यं भवति । तद्दर्शनं सदाचार्यमूलम् । आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः । योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः । गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः । एवंलक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते ।" इत्यादीनि ॥ (13-14)

अन्तर्लक्ष्यं तु जलज्योतिस्स्वरूपं भवति । "आपो ज्योतीरसोऽमृतं ब्रह्म भूर्भुवस्सुवरोम्" इति गायत्रीशीर्षात् । तदेवान्तर्लक्ष्यं परब्रह्म गोप्यात् गोप्यतरं महर्षिवेद्यं च । "अयमात्मा पूर्णः" इत्यनेन बाह्येन्द्रियैः न दृश्यते । "अन्तस्स्थः" इत्यनेन मनसाऽपि सत्वरं नेष्यते । किं तु परमगुरूपदेशेन सहस्रारे ज्वलज्ज्योतिः परममन्तर्लक्ष्यं भवतीति वदन्ति ॥

केचित् बुद्धिगुहायां चक्षुःश्रोत्रादिपरिपूर्णाङ्गः सृष्टिस्थितिलयशून्यः परमात्मा [1]सर्वमनुजान्तर्लक्ष्यमिति गोप्यमेव तद्वदन्ति ।

पुनः केचित् शीर्षान्तर्गतगगनार्कमण्डलमध्यगं पञ्चवक्त्रं उमासहायं नीलकण्ठं प्रशान्तं अन्तर्लक्ष्यमिति वदन्ति ।

[2] केचित् अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषः द्विदलान्तर्लक्ष्यमिति वदन्ति ।

[3] 'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो ज्योतिरिवाधूमकः ।'

[4] "तमेवं मन्य आत्मानं विद्वान् ब्रह्मामृतोऽमृतम् ॥"

[5] इत्यादिश्रुतेः ।

[6] "अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽङ्गुष्ठं च समाश्रितः ।
ईशस्सर्वस्य जगतः प्रभुः प्रीणाति विश्वभुक् ॥"

इति श्रुतेश्च ॥

[ आत्मनिष्ठस्य जीवन्मुक्तिद्वारा ब्रह्मभावापत्तिः ]

**(५०) तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति ।**

---

[1] सर्वेति स्वरूपयोग्यतामात्रकथनम् ।

[2] 'केचित्' इति नास्ति. च.

[3] कठोपनिषत्. 4. 13.

[4] बृहदारण्यकोपनिषत् 6. 4. 17.

[5] इति श्रुतेः. क.

[6] तैत्तिरीयोपनिषत्. 4. 71.

(५१) [1]जीवः पञ्चविंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य [2]षड्विंशः परमात्माऽहमिति निश्चयात् जीवन्मुक्तो भवति ।

(५२) [3]एवं अन्तर्लक्ष्यदर्शनेन जीवन्मुक्तिदशायां स्वयं अन्तर्लक्ष्यो भूत्वा, परमाकाशाखण्डमण्डलो भवति ॥[4]

इति प्रथमे ब्राह्मणे तृतीयः खण्डः

प्रथमं च ब्राह्मणम्

---

दशेन्द्रियपुरे [5]परिवर्तमानं जीवात्मानं ब्रह्मणा सह ऐक्यभावनया साध्याद्वैत[6]वृत्त्या शुद्धाद्वैतवृत्त्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवति । पञ्चविंशको जीवः स्वकल्पितां चतुर्विंशतितत्त्वात्मिकां प्रकृतिं परित्यज्य = तत्सङ्गं [7]विहाय षड्विंशकः परमात्माऽहमिति कृतनिश्चयः, [8]स तु जीवन्मुक्तो भवति ॥

---

[1] स्वतत्त्वे स्थितो जीवः स्वन्यूनतत्त्वं परित्यज्य स्वाधिकतत्त्ववेदनात् मुक्तो भवतीत्याह- जीव इति । ज्ञानकर्माक्षप्राणभूतपञ्चकानि विंशतिः, अन्तःकरणचतुष्टयं चेति चतुर्विंशतितत्त्वानि । तदुपाधिको जीवः पञ्चविंशकः । 'पञ्चविंश आत्मा भवति' इति श्रुतेः । तत्सर्वोपाधिरहितः षड्विंशकः इत्यर्थः । (उ)

[2] षड्विंशकपरमात्मा. च.

[3] जीवन्मुक्तः कां गतिं भजतीत्याशङ्क्य जीवन्मुक्ताभिमतित्यागानन्तरं ब्रह्मैव भवतीत्याह-एवमिति । (उ)

[4] परमात्मैव भवतीत्यर्थः । (उ)

[5] परिवर्तमानं जीवमात्मना सह. क. परिवर्तमानौ जीवात्मानौ ब्रह्मणा सह. ग.

[6] वृत्त्या [illegible] ग. [7]. विहायेत्यर्थः । षड्विंशकः. ग. [8] सन् . क.

एवं [1]अनेकधाप्रोक्तान्तर्लक्ष्यदर्शनेन स्वयं अन्तर्लक्ष्यं व्योम भवति। तदेव [2]नादबिन्दुकलानां मूलं स्यात्, यतो नादाद्युत्पत्तिरपि [3]ब्रह्मण एव भवतीति निगमात् ॥[4]

इति योगशास्त्रे तृतीयोऽध्यायः

---

[1] अनेकविधान्त॰ ग.   [2] अत्र नादबिन्दुकलाध्यात्मस्वरूपं चेत्यादि महानारायणोपनिषत् अनुसन्धेया।   [3] ब्रह्मद्वारा भवतीति विनिगमनात्॰ ग.

[4] ननु इह प्रथमब्राह्मणोपसंहारे अन्तर्लक्ष्यदर्शनः जीवन्मुक्तिदशायामित्युक्तम् अन्तर्लक्ष्यं तु बहुधा विकल्पितमपि परिच्छिन्नज्योतिर्मयमेवावगम्यते, अङ्गुष्ठमात्र-पुरुषात्मकत्वात्। न च बाह्यलक्ष्यमपरिच्छिन्नं भवेदिति वाच्यम्। बहिर्लक्ष्यं तु नासाग्र इत्यादिना वाक्येन परिच्छिन्नताया एवावगम्यमानत्वात्। तस्माद्यमाद्यष्टाङ्ग-योग उपक्रान्तेऽपि मूलधारादारभ्य ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तोदन्तकथनैः सामान्यराजयोगस्यै-वाभिहितत्वाद्विशेषज्ञानयोगविषयकाखण्डयोगानभिधानाच्चेदं ब्राह्मणं न विशेषरहस्या-र्थकं भवतीत्याशङ्कायामिदमुच्यते – कालानलसमद्योतमानमहाकाशं भवतीत्युक्त्या परंज्योतिर्मयस्य महाकाशस्याभिहितत्वादखण्डाकारब्रह्मज्ञानयोगपर्यवसन्नमेवेदं ब्राह्मण मवगन्तुं शक्यम्। न चोक्तमहाकाशो भूताकाशो भवितुमर्हति, परंज्योतिष्ट्वाभिधानात्। किंच तल्लक्ष्यं शुद्धात्मदृष्ट्या वा यः पश्यति स एव ब्रह्मनिष्ठो भवतीत्युक्तम्। अत्रा-खण्डब्रह्मभावनाया अभावे सति परिच्छिन्नलक्ष्ये न कस्यचिदप्यात्मदृष्टिर्भवेत्। लक्ष्य-ज्योतिष इदंत्वेनैव दृश्यत्वादखण्डज्योतिष एवात्मत्वेन दृश्यत्वाच्च। अपि च जीवः पञ्च विंशकः स्वकल्पितचतुर्विंशतितत्त्वं परित्यज्य षाड्विंशकः परमात्माऽहमिति निश्चयाज्जी-वन्मुक्तो भवतीत्युक्तम्। अत्र जीवशब्दः पञ्चविंशक एव, त्वंपदलक्ष्यार्थः कूटस्थः प्रत्यगात्मैव भ्रूमध्यादिषु दृश्यमानलक्ष्यरूपः। इतोऽप्यन्यस्य षाड्विंशकस्य परमात्म-नोऽभिहितत्वात्। एवमुपसंहृतजीवन्मुक्त्यर्थकत्वेनैवाष्टाङ्गयोगस्योपक्रान्तत्वाच्च मन्दाधिकार्युपयोगेनैव तारकलक्ष्यस्वरूपप्रवचनं मध्ये कृतमित्यवगन्तव्यम्॥ (भा)

## अथ द्वितीये ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः

---

[ अन्तर्लक्ष्यस्वरूपप्रश्नः ]

(५३) अथ ह याज्ञवल्क्यः आदित्यमण्डलपुरुषं पप्रच्छ— भगवन् ! अन्तर्लक्ष्यादिकं बहुधोक्तम्, मया तत् न ज्ञातम्, तद् ब्रूहि मह्यमिति ॥ [1]

एवं उपदिष्टः प्राकृतः परमयोगिनं इदमाह-[2]इति बहुप्रकारे [3]भवद्भिरुक्तेऽपि आत्मस्थानं मुख्यतया [4]न मया विदितमिव सामान्यार्थास्पदमभवत् । तदादरेण वक्तव्यमिति ॥

[ अन्तर्लक्ष्यस्वरूपं, तद्ज्ञानस्य मुक्तिहेतुत्वं च ]

(५४) तदु होवाच – [5]पञ्चमहाभूतकारणं [6]तटित्कूटाभं तद्वत् [7]चतुःपीठम् । [8]तन्मध्ये [9]तत्त्वप्रकाशो भवति । [10]सोऽतिगूढः अव्यक्तश्च ॥

---

[1] 'इति' इति नास्ति. क  [2] 'इति' इति नास्ति. ख.

[3] भवद्भिरुक्ते आत्मा. च.  [4] न विदितमेव. ग.

[5] पञ्चभूतकारणं ख. अन्तर्लक्ष्यात्मनः 'आत्मनः आकाशः सम्भूतः' इत्यादि श्रुत्या पञ्चभूतहेतुत्वात् एवमुक्तिः ।  [6] तडित्कूटाभं. च.

[7] तमोरजस्सत्त्वगुणसाम्यरूपेण. जाग्रदाद्यवस्थाचतुष्टयभेदेन, स्वाविद्यापाद-स्थूलादिचतुरंशभेदेन, वा चत्वारि पीठस्थानानि यस्य तत्। अथास्य पुरुषस्य चत्वारि स्थानानि भवन्ति नाभिः हृदयं कण्ठं मूर्धा च । तत्र चतुष्पादं ब्रह्म विभाति, जागरिते ब्रह्मा, स्वप्ने विष्णुः, सुषुप्तौ रुद्रः, तुरीयमक्षरम् । (ब्रह्मोप-1) तदेतच्चतुष्पात् ब्रह्म । वाक् प्राणः चक्षुः श्रोत्रमित्यध्यात्मं, अग्निर्वायुरादित्यो दिशः इत्यधिदैवतम्. (छां-3-18)

[8] अविद्यासुविद्यानन्दतुरीयपादेषु स्वाधिष्ठिताविद्यापादप्रकाशकः स्वयमेवेत्याह तदिति । तस्य अविद्यापादस्य मध्ये ।  [9] तत्प्रकाशो. ग.

[10] सोऽनिगूढः च. अत्र "एष सर्वेषु भूतेषु गूढोत्मा न प्रकाशते । दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः" इत्याद्यनुसन्धेयम् ।

(५५) तत् [1]ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । [2]तद्बाह्याभ्यन्तर-लक्ष्यम् ।

(५६) तन्मध्ये जगल्लीनम् । तन्नादबिन्दुकलातीतं अखण्ड-मण्डलम् । [3]तत् सगुणनिर्गुणस्वरूपम् । [4]तद्वेत्ता विमुक्तः ॥

उच्यते – पञ्चभूतादिवर्णयुक्तं तत् [5]त्रिकूटस्थलं प्रसिद्धम् । तद्वत् [6]चतु:पीठम् । तन्मध्ये तत्त्वप्रकाशोऽस्ति । सोऽतिगूढः अतिरम्यस्त्वव्य-क्तश्च । तदेवात्मस्थानमिति [7]गुरुणा ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेयम् । तद् बाह्याभ्यन्तरमध्यान्तर्लक्ष्यं स्थितम् । तन्मध्ये सर्वजगत् लीनमिति ज्ञेयम् । किञ्च तदेव रम्यं नादबिन्दुकलान्वितं [8]सगुणनिर्गुणं परमनयनोत्सव-[9]कारणं नित्यात्मस्थलं [10]आपोज्योतिः इति प्रसिद्धं [11]श्रीमन्नारायणस्थलम् । तद्वेत्ता मुक्तिभा[12]गिति ॥

---

[1] एतद्विरुद्धकर्मप्लवस्य सत्याऽऽवारकत्वमुक्तं मुण्डके–प्लवा ह्येते अदृढा: यज्ञरूपा; अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म । एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ।' इति ।

[2] तद्बाह्यान्तर्लक्ष्यम्. क.

[3] तद्गतविशेषाविशेषवत्त्वं केवलं दृष्टिनिष्ठं. न तु स्वनिष्ठमित्याह-तदिति । 'तत्' इति नास्ति. ग.

[4] "सगुणध्यानमेतत् स्यात् अणिमादिगुणप्रदम् । निर्गुणध्यानयुक्तस्य समाधिश्च ततो भवेत् । अभ्यासभेदतो भेदः फलं तु सममेव हि ॥" (योगतत्त्वो. 105)

[5] त्रिकूटं=भ्रूमध्यम् । श्रीविद्यातारकोपनिषदि ब्रह्मविद्योपनिषदि च एतद्विवृतम्।

[6] चतुष्पीठं. ग.

[7] गुरूणां सकाशादित्यर्थः । गुरुणा इत्यादि ज्ञेयमित्यन्तं क्वचिन्नास्ति. ग.

[8] सगुणं निर्गुणं च. [9] कारि. ख. कारिणं ग.

[10] तैत्तिरीयोपनिषत्. 4. 35. [11] नारायणस्थलम्. ग.

[12] गीति. ग.

[ तदधिगमहेतुशाम्भवीस्वरूपम् ]

(५७) [1]आदावग्निमण्डलम् । तदुपरिसूर्यमण्डलम् । तन्मध्ये [2]सुधाचन्द्रमण्डलम् । तन्मध्ये अखण्डब्रह्मतेजोमण्डलम् ॥

(५८) तत् विद्युल्लेखावत् । शुक्लभास्वरम् तदेव शाम्भवी-लक्षणम् ॥

आदावग्निबिम्बम् । तन्मध्ये [3]मितिहीनदीप्तिविराजितं सूर्यबिम्बम् । तन्मध्ये अक्षयसुधाधारास्पदं [4]चन्द्रबिम्बम् । तन्मध्ये अङ्कुररूपेण परब्रह्म वर्तत इति केचिद्वदन्ति । इदं [5]सर्वं जगद्बीजं [6]सच्चिदानन्दरूपं [7]परब्रह्म-तत्त्वं शोभते । तच्च नीलज्योतिः किञ्चिच्छुक्लवर्णम् । तदन्तराळे विद्युल्लेखेव [8]भास्वरं प्रकाशमानं मुख्यतेजःकूटस्वरूपस्वच्छच्छविः । तच्छिखाया मध्ये परमात्मा अणुरूपेण व्यवस्थितः । [9]स एव ब्रह्म । [10]स एव हरिः । स एवेश्वरः । स एव इन्द्रादयश्च ॥

तथाऽऽह श्रुतिः—

---

[1] सिद्धासनमारुह्य षण्मुखीमुद्राभ्यासयोगिनः वह्निमण्डलादि क्रमेण दृश्यते । पर्यवसाने तदेव उन्मन्यस्थाजनकशाम्भवीमुद्रा भवतीत्यर्थः । (उ)

[2] सुधा चक्रमण्डलम्. ग.

[3] मितहीनं दीप्ति॰ ग॰ हीरदीप्ति॰ च. सूर्यमण्डलममितदीप्तिविराजितम्. ग.

[4] चन्द्रबिम्बं वर्तते. ख. [5] इत आरभ्य 'नीलज्योतिः' इत्येतपर्यन्तं ग. पुस्तके नास्ति.

[6] निश्चलानन्द. ग.

[7] परब्रह्मान्तरशरीरीव शोभते. क. परब्रह्म तच्छरीरीव शोभते. ग.

[8] भास्वरा प्रकाशमानमुख्यतेजःकूटरूपा च विशिखा । तच्छिखामध्ये. ग.

[9] स एव ब्रह्मा हरिरीश्वर इन्द्रादिकश्च । तदाहुः. ग.

[1]"नीलतोयदमध्यस्था विद्युल्लेखेव भास्वरा ।
नीवारशूकवत् तन्वी पीता [2]भास्वत्यणूपमा ॥
तस्याः शिखाया मध्ये [3]परमात्मा व्यवस्थितः ।
[4]स ब्रह्म स शिवस्सेहरिस्सेन्द्रः [5]सोऽक्षरः परमः स्वराट् ॥ इति ॥
एतादृग्विधं [6]ब्रह्माहमस्मीति शाम्भवीमुद्रिकया ज्ञातुं शक्यते ॥

[ तद्दर्शनोपायभूतदृष्टित्रयम् ]

**(५९) तद्दर्शने [7]तिस्रो दृष्टयः— अमा, प्रतिपत्, पूर्णिमा चेति । निमीलितदर्शनं अमादृष्टिः । अर्धोन्मीलितं प्रतिपत् । सर्वोन्मीलनं पूर्णिमा भवति ॥**

तन्मुद्रालक्षणं [8] उक्तमपि विस्तार्योच्यते-प्रतिप[9]दमापूर्णिमासंज्ञाः तिस्रो दृष्टयो ज्ञेयाः । किञ्चिदुन्मेष[10]शीला प्रतिपद्दृष्टिः । सर्वास्त[11]लोचना दृक् अमा । सर्वविदारित[12]चक्षुर्द्वन्द्वेक्षणा पौर्णमासी भवति॥

---

[1] तैत्तिरीयोपनिषत्. 4. 13.

[2] भा स्यात्तनूपमा. क. अस्मिन् पाठे पीताभा पीतवर्णा, तनूनि वस्तूनि अनया उपमीयन्ते च । 'वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च । भागो जीवस्स विज्ञेयः' इति श्रुतेः इत्यर्थः ।

[3] स च आत्मनोऽपि प्रकृतिभूतः जीवानुरोधेन सङ्कुचितः तिष्ठति । (भा)

[4] स ब्रह्मा स शिवस्सेन्द्रः क.

[5] अक्षरः क्षरणरहितः प्रकृष्टः स्वे महिम्नि सदा राजमानश्च ।

[6] ब्रह्म निहितं शाम्भवीं मुद्रिकां विना ज्ञातुं न शक्यते. ग.

[7] त्रयो दृष्टयः च.

[8] उक्तमतिविस्तरेणोच्यते. ग.

[9] दिमापौर्णि. ग.

[10] लीलाप्रतिपद्यदृष्टिः ग.

[11] लोचनेन्द्रुगमा. ग.

[12] दृक्चक्षुर्द्वन्द्वान्तरीक्षणम् ग.

[तत्र पूर्णिमायाः प्राधान्यं, तत्फलं च ]

(६०) [1]तासु पूर्णिमाभ्यासः कर्तव्यः । [2]तल्लक्ष्यं नासाग्रम् । तदा तालुमूले गाढतमो दृश्यते । तदभ्यासात् अखण्डमण्डलाकार-ज्योतिः दृश्यते । तदेव सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति[3] ॥

(६१) [4]एवं सहजानन्दे यदा मनो लीयते तदा शाम्भवी भवति । [5]तामेव खेचरीमाहुः ॥

दृङ्नियमे स्थिते चैवं पौर्णमासीदृष्ट्या अभ्यासः कर्तव्यः । [6]अथाभ्यस्त[7]दृष्टिलक्ष्यं नासाग्रं भवति । नासाग्रन्यस्तपूर्णिमादृष्टेः सम्यग्राज-योगफलजनकत्वात् । [8]अतः पूर्णिमादृङ्नासाग्रयोगाभ्यासः सततं कर्तव्यः । तस्मिन् सिद्धे तस्य असाध्यं किमपि नास्तीति फलितार्थः ॥

---

[1] "कदाचित् पूर्णिमादृष्ट्या कदाचित् प्रतिपद्दृशा । अमादृष्ट्या कदाचिच्च निर्विघ्नेनाव लोकयेत् । (ब्रह्मप्रणवे) कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात् काममोहितः । द्वावेव संत्यजेन्नित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् । पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात् [illegible] च पन्था हि नान्यथा ॥" (योगकु. 3. 3)

[2] दृष्टित्रयलक्ष्यमित्यर्थः ।　　　　[3] तदेव-सहजानन्दरूपं चेत्यर्थः ।

[4] [illegible] मनोलय एव शाम्भवीत्याह-एवमिति । पर्यवसाने शाम्भवीखेचर्योः एकलक्ष्यसमाप्तत्वात् । (उ)

[5] "कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिः मुद्रा भवति खेचरी । चित्तं चरति [illegible] यस्मात् जिह्वा भवति खे गता । तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धनमस्कृता ॥ पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न च कर्मणा । बध्यते न च कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी । बिन्दुः क्षरति नो तस्य कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥" (ध्यानबिन्दूपनिषत्. 80-84)

[6] तदाभ्यस्त ग.　　　　[7] दृष्टिः च.　　　　[8] ततः क.

पूर्णिमादृष्टियोगेन प्रोक्ततारकमार्गेणावलम्बिते चित्ते [1]तालुमूलद्वादशाङ्गुलाग्रभागे [2]अन्तःपुरोभागे च [3]गाढं तमः दृश्यते। तत्तमो[4]मध्यं निरन्तरं पश्येत्। तदानीं अखण्डमण्डलाकारं ज्योतिर्दृश्यते। [5]तदानीं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भवति।

एवं [6]सहजलिङ्गे परमात्मनि मनो नित्यं विलीनं कृत्वा [7]अचलितचञ्चारान्वितवान् यस्तु सोऽपि सद्गुरुः स्यात्। इयं 'शाम्भवी' मुद्रिका भवति।

[8] "अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥"

तामेव खेचरीं मुद्रां केचित् वदन्ति॥

[ शाम्भवीमुद्रासिद्धिः तच्चिह्नानि च ]

(६२) तदभ्यासात् मनस्स्थैर्यम्। [9]ततो वायुस्थैर्यम्॥

---

[1] "प्राणे गलितसंवित्तौ तालूर्ध्वद्वादशान्तगे। अभ्यासादूर्ध्वरन्ध्रेण प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥" (शाण्डिल्यो. 1-31) तत्तालुमूले-ग.

[2] अन्तः पुरोर्ध्वभागे. क. [3] गाढतमः क.

[4] मध्यमं ग. [5] तदेव ग.

[6] सजललिङ्गे ख. [7] चलित ग.

[8] शाण्डिल्योपनिषत्. 1-14. मूलादारानाहताज्ञासहस्रारेषु यथाक्रमं विराट्सूत्रबीजतुरीयैकतानं मनश्चेत् तदा अन्तर्लक्ष्यमित्युच्यते अत्रैव। वैष्णवीमुद्रेत्यपि पाठः। एतदनतरं-"अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनः योगी सदा वर्तते दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि। मुद्रेयं खलु खेचरी भवति सा लक्ष्यैताना शिवा शून्याशून्यविवर्जितं स्फुरति सा तत्त्वं पदं वैष्णवी॥" इत्युक्तम्॥ अयं अन्तर्लक्ष्यमिति श्लोकः ग. पुस्तके नास्ति. [9] ततो बुद्धिस्थैर्यम् ग.

(६३) [1]तच्चिन्हानि-आदौ [2]तारकवत् दृश्यते, ततो [3]वज्र-दर्पणम्, [4]ततः परिपूर्णचन्द्रमण्डलम्, [5]ततो नवरत्नप्रभामण्डलम्, ततो मध्याह्नार्कमण्डलम्, ततो वह्निशिखामण्डलं [6]च एवं क्रमात् दृश्यते [7]

सद्गुरोः तां [8]अभ्यसेत् । यामद्वयं आत्मेक्षणेऽभ्यस्ते मनोवायू साम्यभावेन प्रवर्तितौ भवतः । [9]तस्मात् मनस्स्थैर्ये सिद्धे तद्वशात् वायुः स्थिरो भवति । वायुचाञ्चल्ये वा मनश्चाञ्चल्ये वा प्राप्ते तद्वशात् इतरत् सर्वं चञ्चलमेव भवति । अतो [10]राजयोगाभ्यासेन मनोवायुस्थैर्यं भवतीति निश्चयः । शताब्दकृताभ्यासे हठेऽपि मनोवायुलयो न भवति । एवं च खेचरी-मुद्राभ्यासेन ब्रह्मणि मनोवायुलयः कर्तव्यः इति [11]फलितार्थः ।

---

[1] तत्सिद्धिचिह्नानीत्यर्थः ।

[2] नक्षत्रवत् । यतः तद्दर्शनेनैव गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् तारयति ।

[3] परिष्कृतवज्रवत् दर्पणवच्चेत्यर्थः । "नीहारधूमार्कानलानिलानां खद्योतविद्युत् स्फटिकशशीनाम् । एतानि रूपाणि पुरस्सराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे ।" इत्युक्तत्वात् ।। (उ)

[4] [illegible] उपरि पूर्ण· ख· ततः पूर्ण· ग· [5] ततो रत्नप्रभा· ग·

[6] 'च एवं' इति नास्ति क·

[7] उपनिषद्ब्रह्मयोगिव्याख्यानुसारेण अत्रैव प्रथमखण्डसमाप्तिः ।

[8] अभ्यस्य ग·

[9] "पूरकाद्यनिलायामात् दृढाभ्यासादखेदजात् । एकान्तध्यानयोगाच्च मनःस्पन्दो निरुध्यते ।। ओङ्कारोच्चारणप्रान्तशब्दतत्त्वानुभावनात् । सुषुप्तेः संविदो जाते प्राणस्पन्दो निरुध्यते ।।"

[10] "योनिमध्ये महाक्षेत्रे जपाबन्धूकसंनिभम् । रजो वसति जन्तूनां देवीतत्त्वं समावृतम् । रजसो रेतसो योगात् राजयोग इति स्मृतः ।। " (योगशि· 177) "क्षेत्रज्ञः परमात्मा [illegible] तयोरैक्यं यदा भवेत् । तदैक्ये साधिते ब्रह्मन् चित्तं याति विलीनताम् ।" पवनः स्थैर्यमायाति ।। (योगशि· 135) [11] नियमार्थः ग·

तद्ध्यानाभ्यासादौ ब्रह्मस्वरूपाण्येव बहुचिह्नानि जायन्ते [1]तारकवत् वज्रदर्पणवत् परिपूर्णचन्द्रमण्डलवत् [2]रत्नदीपवत् वह्निशिखावच्च । [3]इदं अन्तर्लक्ष्यलक्षणम् । तेन परमयोगिना ध्यानानुभवः कर्तव्यः ॥

(६४) तदा [4]पश्चिमाभि[5]मुखः प्रकाशः । स्फटिकधूम्र-[6]बिन्दुनादकलानक्षत्र[7]खद्योतसुवर्ण नवरत्नादिप्रभाः दृश्यन्ते । [8]तदेव [9]प्रणवस्वरूपम् ॥

इति द्वितीये ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः

---

पूर्वाभिमुखो योगी सम्पूर्णमण्डलाकारं आत्मचिह्नं यदि पश्यति, तत्पश्चिमाभिमुखः प्रकाशः स्वीकर्तव्यः । तारकमार्गात् [10]किञ्चित्प्रत्यक्स्थानस्य ब्रह्मावगतिहेतुत्वात् । [11]किञ्च-तेजस्तटिद्धूम्रबिन्दुनादकलानक्षत्रखद्योतदीपनेत्रसुवर्ण [12]कञ्जकिञ्जल्कदण्डनवरत्नान्यात्मनः प्रत्ययानि भवन्ति । तत्प्रत्ययविदितं ब्रह्मैव परममृतमोङ्कारस्वरूपं आपोज्योतिस्स्थलं [13]शिवं विष्णोः परं पदं चेति [14]वदन्ति ।

---

[1] तारकवज्र ग.

[2] इदं. ग. पुस्तके नास्ति ग.

[3] एवमन्तर्लक्ष्येण परमयोगिना ग.

[4] प्रत्यक्प्रकाशानुभवः इति यावत् ।

[5] मुखप्रकाशः ख.

[6] अत्र बिन्दुः मनस्तत्त्वम् । नादः बुद्धितत्त्वम् । कला महत्तत्त्वम् । (उ)

[7] खद्योतदीपनेत्रसुवर्ण. ख.

[8] यदेतदेवं दृष्टं तत्सर्वमित्यर्थः ।

[9] प्रणवरूपम्. ख.

[10] किञ्च प्रत्यक् ग.

[11] "अनन्तमपरिच्छेद्यं अनूपममनामयम् । आत्ममन्त्रसदाभ्यासात् परतत्त्वं प्रकाशते । दीपज्वालेन्दुखद्योतविद्युन्नक्षत्रभास्वराः । दृश्यन्ते सूक्ष्मरूपेण तदा युक्तस्य योगिनः ॥" (योगशि. 2-13)

[12] कञ्ज इति नास्ति ग.

[13] शिवविष्णुपरं पदं ग.

[14] वदन्तीत्येवमुक्त योगशक्ष. क.

[1]तदुक्तं योगशास्त्रे—
"ओङ्कारममृतं ब्रह्मेत्यापोज्योतिस्स्थलं शिवम्।
विष्णोः परं पदं चेति प्राहुः ब्रह्मविदो जनाः" इति ॥

इति योगशास्त्रे चतुर्थोऽध्यायः

---

## अथ द्वितीये ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः

---

[षण्मुखीकरणेन नैष्कर्म्यहेतुप्रणवाधिगमः]

(६५) [2]प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा [3]धृतकुम्भकः नासाग्रदर्शन-दृढभावनया [4]द्विकराङ्गुलीभिः षण्मुखीकरणेन [5]प्रणवध्वनिं निशम्य [6]मनस्तत्र लीनं भवति।[7]

---

[1] तदुक्तमित्यादि जनाः इत्यन्तं ग. पुस्तके नास्ति.

[2] हठयोगरीत्या प्राणेत्यादि (उ) इत्युक्तमिदं चिन्त्यम्। "प्राणापानसमायोगः ज्ञेयं योगचतुष्टयम्" इत्याद्युक्तत्वात्।

[3] धृतकुम्भके ग.

[4] द्विकराङ्गुलिभिः—"अङ्गुष्ठाभ्यामुभे नेत्रे तर्जनीभ्यां द्विलोचने। नासारन्ध्रे च मध्याभ्यां अनामाभ्यां मुखे दृढम्। निरुद्ध्य मारुतं योगी यदैवं कुरुते भृशम्। तदा लक्षणमात्मानं ज्योतीरूपं प्रपश्यति ॥" इति शिवसंहितायां पञ्चमे पटले।

[5] प्राणवादिध्वनिं ग. [6] तत्र नादावसाने ब्रह्मणि (उ)

[7] "बिन्दुपीठं विनिर्भिद्य नादलिङ्गमुपस्थितम्। प्राणेनोच्चार्यते ब्रह्मन्! षण्मुखीकरणेन च ॥" (योगशि 2-13)

(६६) तस्य न कर्मलेपः

(६७) [1]रवेः [2]उदयास्तममयोः किल कर्म कर्तव्यम् ।

(६८) [3]एवंविदश्चिदादित्यस्य उदयास्तमयाभावात् सर्व-कर्माभावः ॥

प्राणापानयोरैक्यं कृत्वा [4]धृतकुम्भकः स्थिरभावनया श्रोत्रनेत्रनासा-[5]गोलानि द्विकरषडङ्गुलीभिर्निरुध्य षण्मुखीकरणेन प्रणवध्वनिं निशम्य [6]तत्र केचिल्लयं कुर्वन्ति । केचित् दीपचन्द्रसूर्येभ्यः प्रत्यङ्मुखासीनाः सदा [7]तत्तच्चिह्नं उक्तमण्डलप्रकारेणालोकयन्ति । गुरूपदिष्टखेचरी[8]मुद्रया पूर्णचन्द्र-दृष्ट्या बाह्याभ्यन्तरतेजःप्रकाशो भवतीति निश्चयः । [9]तद्दृष्ट्यग्रभागे तेजःप्रति[10]फलनमावश्यकमित्युक्तं च । [11]एवमनुक्षणं आत्मदृष्ट्यासक्तस्य सर्वाणि कर्माणि नश्यन्तीति [12]परमार्थः ।

---

[1] रवेः योगिनामस्मादित्यस्य । "कर्मणा बध्यते जन्तुः विद्ययाऽमृतश्नुते । तस्मात् कर्म न कुर्वन्ति यतयः पारदर्शिनः" इति श्रुतिः अत्रानुसन्धेया । (उ)

[2] "पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमर्कदर्शनात् । पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् । न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम् । स शूद्रवद्ब-हिष्कार्यः सर्वस्मात् द्विजकर्मणः ।।" (मनु 2–103)

[3] एवंविदि चिदादित्यस्य. ग. एवंविधश्चिदादित्यस्य. क.

[4] धृतकुम्भस्थिरभावनः क. [5] गोलान्वितद्विकर. ग.

[6] तत्र खेचरीतुल्यं कुर्वन्ति. क. तत्र केचिच्चित्तलयं कुर्वन्ति ग.

[7] तत्तच्चिह्नयुक्त. ग. [8] मुद्रापूर्ण. ग.

[9] [illegible] ग. [10] फलनत्वमा. ग.

[11] एवमनुलक्षणं. ग. एवमन्तर्लक्ष्यस्यावश्यकत्वात् एवमात्म. क.

[12] फलितार्थः. क.

[1]अथ आत्मलिङ्गार्चनम्-अहिंसा,सर्वेन्द्रियनिग्रहः, अधिकदयालुत्वं। क्षमा, सदाऽखण्डज्ञानपूर्णत्वम्, सत्यं, तपोनिष्ठा, [2]सर्वज्ञता च - इत्येतैः अष्टपुष्पैः आत्मलिङ्गार्चनपरो राजयोगी भवति ॥

निमीलनोन्मीलनद्वितयं विना [3]दृढराकाकारदृष्टिः संशयविवर्जितः परमपुरुषो राजयोगी भवति। [4]तं जात्याद्यौपाधिकं कर्म न हि बाधते। कर्म यावज्जीवं कार्यमपि राजयोगिनं न स्पृशति।

तथाहि-तावत् कर्मणः सूर्याश्रयत्वं प्रतिफलति। तदुदयास्तमयकालयोः [5]सन्ध्यादिक्रियाणां अत्यावश्यकत्वात्।

"[6]उद्यन्तमस्तं यन्तमभिध्यायन् कुर्वन्
ब्राह्मणो विद्वान् सकलं भद्रमश्नुते॥"

इति श्रुतेः। अतः [7]अस्तोदयसमययोः कर्म कर्तव्यमिति प्राप्ते, [8]तदभावेन

---

[1] इदं वाक्यं ग. पुस्तके नास्ति। "आत्मालिङ्गार्चनं कुर्यादनालस्यं दिनेदिने। [illegible] स्यात् सकला सिद्धिः नात्र कार्या विचारणा" इति शिवसंहितायां पञ्चमे पटले उक्तम्। श्रीशङ्करभगवत्पादैरपि 'आराधयामि मणिसंनिभमात्मलिङ्गं' इत्यादिभिः निर्गुणमानसपूजेति नाम्ना, 'अखण्डे सच्चिदानन्दे' इत्यादिभिः परापूजेति नाम्ना, एवमन्यैरपि नानानामभिः इदमात्मलिङ्गार्चनम् प्रकटीकृतम्।

[2] सर्वज्ञता इत्यैतैः क. [3] राकादृष्टि· ग.

[4] 'तं' इति नास्ति· क· [5] सन्ध्याक्रियाणां· क·

[6] तैत्तिरीयारण्यके 2.2. स्वाध्यायब्राह्मणे च स्वाध्यायात् प्राग्भाविनीं सन्ध्योपासनां विदधाना श्रुतिरेवमाह-उद्यन्तमिति। अभिध्यायन्-आभिमुख्येन चिन्तयन्। कुर्वन् विहितं कर्मानुतिष्ठन्। विद्वान् जानन् विजानंश्च। भद्रं-प्रेयः श्रेयश्च।

[7] उदयास्तमयसमययोः क·

[8] तदभावः क· तदभावे· ग·

राजयोगिनो न घटते। कुतः? तस्य सदा भानुः खमध्यंगत एव [1]भवति। [2]तत्त्वदृष्टिसिद्धेः। तस्मादुदयास्तमयाभावात् कर्माभावः इति सिद्धान्तः॥

**(६९) [3]शब्दकाललयेन [4]दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेन [5]उन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति उन्मन्या [6]अमनस्कं भवति॥**

[7]चतुष्पीठे मनो निधाय, तदुपरि त्रिकूटस्थं [8]अर्केन्दुमण्डलैक्यं अन्तर्दृष्ट्या वेदितव्यम्। तदेव तदिति [9]तदा भवतीति सामरस्यभावनया ब्रह्मैक्यानुभवी राजयोगी भवति। तच्च दृश्यं तल्लयमिति [10]दृग्दृश्याभावस्तदा भवति। एवं जीवन्मुक्तिकरं राजयोगमङ्गीकृत्य, [11]प्राकृत! कृतार्थो भवसि। [12]शब्दकाललयेन दिवारात्र्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेन मनसा प्राप्तोन्मन्यस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति। समुन्मनीभावेन मनसा [13]तदेव तव अमनस्कं भवति।

---

[1] दहराकाशमध्यं गत इत्यर्थः। अयमेव ज्ञानिभिः परमव्योमभास्करः इत्युक्तः। अयमेवार्थः श्रीशङ्कराचार्यैरपि "प्रकाशमाने परमात्मभानौ" इत्यादिना, "कथं सन्ध्या विधीयते" इत्यादिना च स्वानुभवगोचरतया प्रपञ्चितः॥

[2] तद्वत् दृष्टिसिद्धः· ग·

[3] शब्दः – अभिधानप्रपञ्चः, अभिधेयकलनात्मकः कालः। तयोः ज्ञानतो मिथ्यात्वदृष्ट्यसत्ताबाध एव लयः। (उ)

[4] दिवारात्र्युपलक्षितावस्थात्रयमतीतवान्।

[5] उन्मनी नाम तत्त्वज्ञानम्।

[6] 'अमनस्कं स्वरूपं तत् न [illegible] कलनामलम्' इति श्रुत्या ब्रह्मैव अमनस्कशब्दार्थः (उ)

[7] चतुष्पिष्टे· क·

[8] आग्नेयार्केन्दु ग·

[9] तथा· ग·

[10] दृग्दृश्याभेदस्तदा· क·

[11] प्राकृत; कृतार्थो भवति· क· प्राकृतार्थो भवति· घ·

[12] गम्येन दिवा· च·

[13] तदैवामनस्कं· क·

## [अमनस्कपूजाविधिः]

(७०) तस्य [1]निश्चिन्तता ध्यानम् । सर्वकर्मनिराकरणं आवाहनम् । निश्चयज्ञानं आसनम् । उन्मनीभावः पाद्यम् । सदाऽमनस्कं अर्घ्यम् । [2]सदादीप्तिः आचमनम् । [3]अपारामृतवृत्तिः [4]स्नानम् । [5]सर्वात्म भावनागन्धः । दृक्स्वरूपावस्थानं अक्षताः । चिदाप्तिः पुष्पम् । चिदग्नि स्वरूपंधूपः । चिदादित्यस्वरूपं दीपः । [6]परिपूर्णचन्द्रामृतस्यैकीकरणं नैवेद्यम् । निश्चलत्वं प्रदक्षिणम् । सोऽहम्भावो नमस्कारः । मौनं स्तुतिः । सर्वसन्तोषो विसर्जनमिति य एवं वेद ॥

इति द्वितीये ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः

---

तस्य [7]निश्चिन्तता ध्यानम् । सर्वकर्मनिराकरणं आवाहनम् । निश्चयज्ञानं [8]आसनम् । समुन्मनीभावं पाद्यम् । सदाऽमनस्कं अर्घ्यम् । सदादीप्तिः आचमनम् । परामृतप्लुतिः [9]स्नानम् । परान्वितस्मरणं वस्त्रम् । सर्वपरिपूर्णज्ञानं उपवीतम् । सर्वात्मकत्वदृश्यलयः गन्धः । दृगवशिष्टावस्थानं

---

[1] 'सोऽहम्भावेन पूजयेत्' इति श्रुतिरत्रानुसन्धेया । निश्चिन्ता ध्यानम्. [illegible]

[2] सदादीप्तिरपारामृत. ख. सदादीप्तिरपारवारामृत. ग.

[3] दीप्तिमद्ब्रह्मगोचराखण्डाकारवृत्तिः इत्यर्थः ।

[4] स्थानम्. ग. [5] सर्वत्रभावना. ख.

[6] भ्रूमध्यसहस्रारान्तराळविलसत्परिपूर्णचन्द्रमण्डलनिस्सृतामृतस्य एकीकरणं अमृतसागररूपं नैवेद्यमित्यर्थः । (उ)

[7] निश्चिन्ता. क. निश्चिता. ग. [8] आचमनीयम्. क.

[9] स्थानम् । सर्वात्मकत्वं वस्त्रम् । दृश्यलयो गन्धः । दृग्विशिष्टान्तोऽक्षताः ग.

अक्षताः । चिदाप्तिः पुष्पम् । [1]चिदग्निमण्डलरूपत्वं धूपः । सूर्यात्मकत्वं दीपः । परिपूर्णचन्द्रामृतरसस्यैकीकरणं नैवेद्यम् । निश्चलत्वं प्रदक्षिणम् । सोऽहम्भावः नमस्कारः । परमेश्वरस्तुतिः मौनम् । सर्वसन्तोषः विसर्जनम् । एवं सर्वपूर्णराजयोगिनः [2]सर्वात्मकत्वं पूजा स्यात् ॥

इति योगशास्त्रे पञ्चमोऽध्यायः

---

अथ द्वितीये ब्राह्मणे तृतीयः खण्डः

---

[ब्रह्मभावब्रह्मविद्भावयोः साधनानि]

**(७१) एवं [3]त्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवत् निवातस्थितदीपवत् अचलसम्पूर्णभावाभावविहीनकैवल्यज्योतिर्भवति ।**

**(७२) [4]जाग्रन्निद्रान्तपरिज्ञानेन [5]ब्रह्मविद्भवति ॥**

ध्यानादित्रिपुट्यां निरस्तायां निस्तरङ्गसमुद्रवत् निवातस्थदीपवत् अचलत्वेन सम्पूर्णभाव एव तन्मयत्वमित्याचक्षते । भावाभावविहीनवृत्त्या अमृतभावमापन्नः संन्यस्तसर्वावस्थः कैवल्यसिद्धिफलभाग् भवति ॥

जाग्रन्निद्रान्तपरिज्ञानेन ब्रह्मविद्भवतीत्येतदुक्तम् कठे—

" स्वप्नान्तं जागरितान्तं च उभौ येनानुपश्यति ।
महान्तं विभुमात्मानं मत्वा धीरो न शोचति ॥" इति ।

---

[1] अग्निमण्डलानुरूपत्वं· क·    [2] सर्वात्माकपूजा· ख·

[3] सम्यग् ज्ञानेन ध्यातृध्यानध्येयरूपत्रिपुटीनिरासात्· (उ)

[4] जाग्रन्निद्रान्तः परि· क·

[5] कृत्स्नब्रह्मवेदनतः ब्रह्मत्वं; अकृत्स्नब्रह्मज्ञानतः ब्रह्मवित्त्वमिति भेदः । (उ)

मन आदिचतुर्दशकरणैः आदित्याद्यनुगृहीतैः शब्दादीन् स्थूलान् विषयान् यदोपलभते, तदा जाग्रदवस्था स्यात्। सर्वेन्द्रियोपरमकाले [1]मनोमात्रेणैव स्वप्नावस्था स्यात्। तत्र साक्षिमात्रात्मनो गमकत्वेन तद्वित् ब्रह्मविदिति [2]सुष्ठूक्तम्। [3]जाग्रदन्ते इन्द्रियविरामे सुषुप्त्यवस्थैव[4] स्यात्। ततः स्वप्नावस्थेति व्यवस्था।

तथाहि–सोपाधिकस्य नित्यं ब्रह्मैक्यानन्दाभिलाष[5]स्थितिप्राप्त्यै जाग्रदवस्थायां बहिर्मुखोऽपि समालम्बितनिद्रः तूर्णं ब्रह्मलयगतः [6]बहुलीकृतदेहप्रारब्धवशात् तमोऽभिभूतो भवति। अतः सुषुप्तौ तमोरूपपर[7]ब्रह्मणि जीवैक्यं भवति। तेन किञ्चित्कालं सुखेन स्थित्वा स्वान्तर्लीनमनसा स्वप्नं पश्यतीति [8]सिद्धान्तः। स्वप्नान्ते सोपाधिकस्य मनोगोचरत्वं सम्पद्यते। तस्मादुक्तं–'तत्त्वज्ञानान्मुक्ति'रिति॥

[ सुषुप्तिसमाध्योः भेदः ]

(७३) सुषुप्तिसमाध्योः मनोलयाविशेषेऽपि महदस्त्युभयोर्भेदः; तमसि लीनत्वात्, मुक्तिहेतुत्वाभावाच्च।

(७४) समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः सम्पद्यते। [9]प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात्, ततो भेदाभावात्, कदाचित् बहिर्गतेऽपि मिथ्यात्व[10]भावन॥

---

[1] मनोमात्रेण स्वप्नावस्थे. ग.

[2] सुप्त्यष्टकम्. ग.

[3] जाग्रदन्तेन्द्रिय. ग.

[4] वस्थेव ग.

[5] स्थितिप्राप्त्यैव. क.

[6] गतिबहुली. क. गतिबहुवशीकृत. ग.

[7] ब्रह्मजीवैक्यं. ग.

[8] सिद्धार्थः ग.

[9] तस्यैवोपपादनं प्रपञ्चस्येत्यादिना।

[10] भानात्. ख.

(७५) [1]सकृद्विभातसदानन्दानुभवैकगोचरः ब्रह्मवित् [2]तदेव भवति ॥

एवं अवस्थात्रयनियमे विचार्यमाणे सुषुप्तिसमाध्योः न ह्यस्ति भेदः। उभयोः [3]मनोलयतौल्यात्। मनोलय एव मुक्तिरिति [4]यद्युच्येत, तथा न वक्तव्यम्। तत्र तु [5]मनसः सत्त्वात् मुक्तिहेतुत्वाभाव एव।

[6]तर्हि कोऽत्र मुक्तिहेतुः वक्तव्यः? —तत्र विशेषोऽयं परिग्राह्यः। [7]परिच्छिन्नस्य [8]मनसः लयः सुषुप्तौ भवति। समाधौ तु [9]मृदितमनसः अपरिच्छिन्नत्वं [10]ईश्वरस्येव भवति। तदाकाराकारितान्तःकरणस्य [11]पूर्णत्वात्। [12]उभयैक्ये प्रपञ्चलयः सम्पद्यते। महाभूतादिप्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात्। ततः परं [13]भेदगन्धाभावात् मुक्तिरिति दिक् ॥

बाह्याभ्यन्तरयोः अभिमानशून्यवृत्त्या सदानन्दानुभवेन वा यश्चरति सोऽपि मुक्त एव। [14]अज्ञत्वहीनज्ञप्तिं ज्ञप्तिहीनमज्ञत्वं च यो वेद, स तु नित्या-

---

[1] मनस्तत्कार्याभावे तदनुस्यूतचैतन्यस्य यत एकत्वं ततः बहिर्गतेऽपि मनसि तद्विकल्पितप्रपञ्चस्य मिथ्यात्वभानात्। सर्वप्रकारेण ब्रह्मवित् ब्रह्मैव भवतीत्याह—सकृदिति (उ)

[2] तदैव भवति. क. [3] मनोलयत्वं स्यात्. क. मनोलौल्यात्. ग.

[4] यदुच्यते. ग.

[5] तमसः सत्त्वात्. क.

[6] अतः कोऽत्र. ग. [7] इदं वाक्यं 'ग' पुस्तके नास्ति.

[8] मनोलयः. क. [9] मृदिततमसः, क. यदि तमसः ग.

[10] ईश्वरस्य. क. ईश्वरस्य वा. च. [11] पुण्यत्वात् ग.

[12] उभयोरैक्यं प्रपञ्चलयं च. [13] 'भेद' इति नास्ति ग.

[14] अज्ञत्वहीनज्ञप्तिहीनज्ञभावं च. क.

नित्यार्थविवेकवान् भवति । तद्विवेकसम्पन्नोऽपि अज्ञ इव वर्तते चेत्, स मुक्तिभागेव ॥

[मुक्तिसाधकाः त्यागाः]

(७६) **यस्य सङ्कल्पनाशः स्यात् तस्य मुक्तिः करे स्थिता ॥**

(७७) **तस्मात् [1]भावाभावौ परित्यज्य [2]परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति ।**

(७८) **[3]पुनः पुनः सर्वावस्थासु ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये दृश्यादृश्ये चोहापोहादि [4]परित्यज्य जीवन्मुक्तो [5]भवेत् । य एवं वेद ॥**

इति द्वितीये ब्राह्मणे तृतीयः खण्डः

---

[6]यस्य सङ्कल्पनाशः स्यात् तस्य भावयोगसिद्धिः, उन्मन्यवस्थापरिपक्वमनस्सिद्धिश्च भवति । यदि [7]सङ्कल्पमात्रे स्थितिलेशः, स एव बन्धहेतुः स्यात् । तस्मात् भावाभावौ परित्यज्य सर्वपरिपूर्ण[8]ज्ञानेन मुक्तो भवति । मुहुर्मुहुः सर्वावस्थासु अकृतप्रयत्नो भूत्वा, [9]ज्ञानज्ञेये [10]ध्यानध्येये लक्ष्यालक्ष्ये

---

[1] सङ्कल्पोऽस्ति नास्तीति तद्भावाभावावित्यर्थः. भावाभावं. ग.

[2] निष्प्रतियोगिकपरमात्मा स्वमात्रमिति ज्ञानाविर्भावेनेति शेषः (उ)

[3] इत्थंभूतज्ञानफलमाह– पुनरिति । स्वावशेषधिया ब्रह्मणि ज्ञातेऽपि स्वातिरिक्तधिया यदि ज्ञानज्ञेयादिवृत्तिरुदेति तदा पुनःपुनरिति । तत्त्यागाधिकरणं ब्रह्मास्मीति [illegible] एवं वेद स विद्वान् जीवन्मुक्तो भवतीत्यर्थः ॥ (उ)

[4] स्वातिरिक्तधियेति शेषः ।

[5] भवति. ख.

[6] यः स्वसङ्कल्पविकल्प. ग.

[7] सङ्कल्पमात्रोऽपि तल्लेशः क.

[8] ध्यानेन. ग.

[9] ज्ञानज्ञेयौ. क.

[10] ध्यानध्येयौ. क.

दृश्यादृश्ये ऊहापोहादीनि च सर्वाणि परित्यज्य [1]निश्चलचित्तो भूत्वा यस्तु वर्तते स तु जीवन्मुक्तो भवति ॥

इति योगशास्त्रे षष्ठोऽध्यायः

---

## अथ द्वितीये ब्राह्मणे चतुर्थः खण्डः

[ अवस्थापञ्चकम् ]

**(७९) पञ्चावस्थाः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तितुरीयतुरीयातीताः ।[2]**

इतःपरं पारिभषिकावस्थाः पञ्च ज्ञेयाः, जाग्रत्–स्वप्न–सुषुप्ति-तुरीय-तुरीयातीतभेदात् ।

[ प्रवृत्तिमार्गासक्तस्याकाङ्क्षा ]

**(८०) जाग्रति प्रवृत्तो जीवः प्रवृत्तिमार्गासक्तः पापफलं नरकादि मास्तु [3]शुभकर्मफलं अस्तु, इति स्वर्गफलं काङ्क्षते ।**

तल्लक्षणं तु—पापकर्माणि त्यक्त्वा शुभकर्माणि समाचरेत् । एवं वर्तमानस्तु प्रवृत्त इत्युच्यते । स एव जाग्र[4]दवस्थाऽऽप्त इति नाम भजति ।

---

[1] निश्चित्तो भूत्वा· क· निश्चिन्तो· ग·

[2] अत्र– 'नाभिकन्दात् समारभ्य यावद्धृदयगोचरम् । जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात् कण्ठस्थं स्वप्नवर्तनम् । सुषुप्तं तालुमध्यस्थं तुर्यं भ्रूमध्यसंस्थितम् । तुर्यातीतं परं [illegible] ब्रह्मरन्ध्रे तु लक्षयेत् । जाग्रद्वृत्तिं समारभ्य यावद्ब्रह्मबिलान्तरम् । तत्राऽऽत्मायं तुरीयः स्यात् तुर्यान्ते विष्णुरुच्यते ॥' इति त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत्, "केसरे जाग्रदवस्था, कर्णिकायां स्वरूपम्, लिङ्गे सुषुप्तिः, पद्मत्यागे तुरीयम्, यदा हंसे नादो विलीनो भवति तत् तुरीयातीतम्" इ यादि हंसोपानिषच्च अत्रानुसन्धेया ॥

[3] शुभकर्मफल· च·     [4] दवस्था इति· ग·

जाग्रदवस्थायामासः संयुक्त इत्यर्थः । प्रवृत्तिमार्गासक्तः प्रवृत्तः पाप-कर्मफल नरकाद्यनुभवो मास्तु, शुभकर्मफलस्वर्गाद्यनुभवोऽस्त्विति ।

[ निवृत्तिमार्गासक्तस्याकांक्षा ]

(८१) [1]स एव स्वीकृतवैराग्यात्, कर्मफलजन्मालं, संसारबन्धन-मलं इति, [2]विमुक्त्यभिमुखनिवृत्तिमार्गप्रवृत्तो भवति[3] ॥

स एव स्वीकृतवैराग्यः कर्मालं जन्मालं संसारबन्धनमलं इति [4]नित्य-मनुचिन्तनपरः [5]सम्यङ्मुक्त्यभिमुखस्सन् निवृत्ताख्यो भवति ॥

[ तदाकाङ्क्षानुगुणाः क्रियाः, तत्फलं च ]

(८२) स एव संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य, [6]कामादि त्यक्त्वा, विहितकर्म [7]आचरन्, साधनचतुष्टयसम्पन्नः, हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रान्तर्लक्ष्यरूपमासाद्य, सुषुप्त्यवस्थायां उक्तब्रह्मानन्द-स्मृतिं लब्ध्वा, एक एवाहमद्वितीयः कश्चित्कालं अज्ञानवृत्त्या विस्मृत [8]जाग्रद्वासनासु फलेन तैजसोऽस्मीति तदुभयनिवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मी त्यहमेक एव, [9]स्थानभेदादवस्थाभेदस्य, परं तु न हि मदन्यदिति [10]जातविवेकः,शुध्दाद्वैतब्रह्माऽहमिति भिदागन्धं निरस्य,स्वान्तर्विजृम्भित-

---

[1] एवंस्थितेष्वनेकेषु धन्यः कश्चिदित्यर्थः । एवं स एव. ख.

[2] विमुक्त्यभिमुखः च.

[3] इतः प्रभृति तस्य केवलं कर्मफलायैव जन्म, न तु कर्मकरणायेति भावः ।

[4] नित्यमनुचिन्तापरः क. [5] सम्यग्विमुक्त्यभिमुखः. ग.

[6] परागभावप्रवृत्तिमित्यर्थः । [7] चरन्. क.

[8] जाग्रद्वासनानुफलेन. ख. [9] जाग्रदादिस्थानभेदादित्यर्थः । (उ)

[10] जातिविवेकः ख. ब्रह्मातिरेकेण जायते इति जातिः जन्मादि, तत् न कदापि मेऽस्तीति विवेकः इत्यर्थः ।

भानुमण्डलध्यानतदाकाराकारित [1]परब्रह्माकार[2]मुक्तिमार्गमारूढः परिपक्वो भवति।

[मनःप्रभावः]

(८३) सङ्कल्पादिकं मनो। बन्धहेतुः तद्विमुक्तं मनः मोक्षाय भवति।

[निर्विकल्पकवृत्तेः फलम्]

(८४) तद्वान् चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतः विगतप्रपञ्चगन्धः सर्वं जगदात्मत्वेन पश्यन् त्यक्ताहङ्कारः 'ब्रह्माऽहमस्मी' ति चिन्तयन् 'इदं सर्वं यदयमात्मा' इति भावयन् कृतकृत्यो भवति॥

इति द्वितीये ब्राह्मणे चतुर्थःखण्डः

---

स एव संसारवार्धिप्लवार्थीव जननमरणप्रवाहतरणाय साधनाभिलाषी भक्त्या सदा गुरुसेवानिरतः कामादीन् परित्यज्य विहित[3]कर्माचरन् समाश्रितः मौननिष्ठः शमदमयुतः शुचिर्भूत्वा महाधैर्यवान् योगाभ्यासपरः [4]प्राप्तप्रायणोऽपि स्वर्गसौख्यानुभवी पुनर्भूमिमासाद्य [5]पूर्वाभ्यासबलात्स्वप्नावस्था-[6]हृतयोगफलः [7]स्वप्नबहुलशरत्कालप्राप्त[8]स्वप्नवत् लोकान् अनित्यान् सम्भाव्य हृदयकमलमध्ये भगवत्सत्तामात्रं उत्क्रान्तर्लक्ष्यरूपं अवाप्य सुषुप्त्य[9]वस्थायां

---

[1] परं ब्रह्माकारित. ख. परब्रह्मकारित. ग.

[2] मुक्तिमार्गारूढः. ग.

[3] कर्माचारसमाश्रितः ग.

[4] प्राप्तप्रयाणोऽपि. क.

[5] पूर्वाभ्यासात्. क.

[6] धृत. क.

[7] स्वप्नबाहुल्य. क.

[8] स्वर्लोकान्. ग.

[9] वस्थायां उक्त. क. [illegible] मुक्त. ख.

भुक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा 'एक एवाहं [1]न द्वितीयः, कश्चित् कालं अज्ञानवृत्या विश्वोऽस्मि, जाग्रद्वासना[2]बलेन तैजसोऽस्मि, तदुभय निवृत्त्या प्राज्ञ इदानीमस्मि, अहमेक एव स्थानभेदात् अवस्था[3]भेदवान् स्याम्, परं तु नहि मत्तोऽन्यत्' इति जातविवेकः शुध्दाद्वैतब्रह्माहमिति [4]भिदागन्धं निरस्य स्वान्तर्विजृम्भित भानुमण्डलध्यानात् तदाकाराकारितः पर[5]ब्रह्माभूवमिति मुक्तिमार्गं एवमारूढोऽपि चक्षुर्द्वारा स्वीकृतबाह्यप्रपञ्चलक्षणः [6]स्वहृत्प्रवृत्तिरतो भूत्वा [7]चित्ररूप इव विगतप्रापञ्चिकगन्धः सर्वं जगदात्मत्वेन पश्यन् क्षमासत्य-शौचान्वितो वर्तते ॥

इति योगशास्त्रे सप्तमोऽध्यायः

---

अथ द्वितीये ब्राह्मणे पञ्चमः खण्डः

---

[ निर्विकल्पसमाधिमहिमा ]

(८५) सर्वपरिपूर्णतुरीयातीत[8]ब्रह्मभूतो योगी भवति। तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति। सर्वलोकस्तुति[9]पात्र[10]सर्वदेशसञ्चारशीलः [11]परमात्म-

---

[1] अद्वितीयः ग.
[2] ऽनुफलेन. ग
[3] भेददृष्टिः स्यात् ग.
[4] भिदाग्रन्थिं. ग.
[5] ब्रह्माभूदिति. ग.
[6] स्वहृत्प्रवृत्तो भूत्वा. क.
[7] चित्तरूपमिव. क.
[8] ब्रह्मभूतयोगी. ग.
[9] पात्रं ख. पात्रः ग.
[10] सर्वलोक. ख.
[11] चिदाकाशे मनोविलयं कृत्वेत्यर्थः। तादृशमनोलयाधिकारणे शुद्धाद्वैते ब्रह्मणि निर्विकल्पसमाधिमापन्नः तदनवरतानुसन्धानात् ब्रह्मविद्वरो भवतीत्यर्थः। तदा जडताप्रयुक्तजाग्रदाद्यवस्थाऽभावात्। (उ)

गगने बिन्दुं निक्षिप्य शुध्दाद्वैताजाड्यसहजामनस्कयोगनिद्राऽखण्डानन्द-पदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवति ।

(८६) तदानन्दसमुद्रमग्नाः योगिनः भवन्ति । तदेपक्षया इन्द्रादयः स्वरूपानन्दाः ।

(८७) एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी भवतीत्युपनिषत् ॥ [1]

इति द्वितीये ब्राह्मणे पञ्चमः खण्डः

द्वितीयं च ब्राह्मणम्

---

[1] अथेदानीं निष्प्रपञ्चाखण्डपरंज्योतिर्भावनानपेक्षं भ्रूमध्याद्याधारज्योतिर्निष्ठा-मात्रेण अखण्डं स्वयमेव प्राप्येत इत्यादि वदतां खण्डयोगिनां उत्साहभङ्गकारि द्वितीयं ब्राह्मणमारभ्यते ।

नन्विहापि "बाह्याभ्यन्तरलक्ष्य एव जगल्लीन"मिति, "तन्नादबिन्दुकलातीत"मिति, "अखण्डमण्डल" मिति चैवमादिवाक्यैः अखण्डब्रह्मणः पृथक् भावनीयत्वं नावगम्यते । अमादिदृष्टित्रयं च खण्डयोगविषयकमेव प्रसिद्धम् । अखण्डयोगस्य ब्रह्मात्मैक्यानु-भूतिस्वरूपत्वेन आरूढविषयतया अभ्यासविषयत्वाभावेन दृष्टित्रयाद्यनुपपत्तेः इति चेत्-नायं दोषः । अखण्डयोगेषु च त्रिविधेषु दृश्यानुविद्ध-शब्दानुविद्ध-निर्विकल्पाख्येषु समाधिषु दृष्टित्रयस्य क्रमेणोक्तत्वात् । ते ह्येते समाधयः ब्रह्मात्मैक्यार्थकाः इत्यसकृदवोचाम ।

न च खण्डयोगिनःअखण्डयोगाभ्यासं विना स्वयमेवाखण्डानुभवो भवितु-मर्हति । भावनानुरूपत्वात् इत्यप्यसकृदवोचाम । "ज्ञानप्लवाधिरूढेन ज्ञेय"मित्युक्त्या च अखण्डज्ञानपूर्वकाखण्डयोग एव विवक्षितः अवगम्यते । बाह्यमाभ्यन्तरं च लक्ष्यं यस्मिन् तत् अखण्डं ब्रह्मेति व्युत्पत्त्या च न खण्डलक्ष्ययोगस्यावकाशोऽस्ति । तस्याखण्डब्रह्मणो मध्ये जगल्लयादिकं च न्याय्यम् । नादबिन्दुकलातीतत्वं च अखण्ड-ब्रह्मण एवोपपन्नम् । खण्डस्य तत्तदंशत्वेन अमुख्यत्वात् । सोमसूर्याग्निमण्डलानि तु पूर्ववासनया शब्दानुविद्धसमाधिकालेषु क्वचित्क्वचिद्भवन्त्येव ।

अपि च "दिवाराज्यतीतो भूत्वा सर्वपरिपूर्णज्ञानेन उन्मन्यवस्थावशेन ब्रह्मैक्यं भवति"। "उन्मन्या अमनस्कं भवति" इत्यादिवाक्यैः अखण्डब्रह्मात्मैक्यानुभवार्थ-कस्य तादृशध्यानयोगस्य अवगम्यमानत्वात् नावान्तराभ्यासगोचरस्य षण्मुखीकरणादि-जनितखण्डयोगस्य कथंचिदपि प्रधान्यं स्यात्। 'किंचैवं त्रिपुट्यां निरस्तायां' इत्यादिवाक्यानि बहुविस्तरेण व्याख्यातुं कुतूहलिनो भवामः, परमरहस्यानां विविक्षिता-नामर्थानां अभिहितत्वात्। तथापि अवलोकयतां सौकर्यं विचिन्त्य संगृह्यते।

ननु अखण्डं ब्रह्मापि शनैः शनैरेव भाननीयत्वात् तद्ध्यानाभ्यासिनः शब्दानुविद्ध समाधिमतोऽपि खण्डखण्डमेव प्रतीयेतेति चेन्न। सुसंस्कृतान्तःकरणस्यास्य महायोगिनः सकृदुल्लेखमात्रेण अखण्डब्रह्मप्रत्ययदर्शनात्। तथा चाह–'सकृद्विभातसदानन्दानुभवै-कगोचरः ब्रह्मवित् तदेव भवति' इति। श्रवणमननसुसंस्कारवर्जितान्तःकरणेन हि अखण्डं ब्रह्मापि मन्दं मन्दं स्वल्पस्वल्पावकाशात्मना भाव्येत। सुसंकृतान्तःकरणस्तु ब्रह्माभ्यासधुरीणः साधकोत्तमः अनेकब्रह्माण्डाधिष्ठानं अखण्डचिदाकाशं सकृत् स्मरणेन एकधा समुत्थाप्य तत्र निरङ्कुशां कुर्यादेव।

अपि च–'तस्मात् भावाभावौ परित्यज्य परमात्मध्यानेन मुक्तो भवति' इत्युक्तम्। न च वाक्यार्थश्रवणमननरहितस्य लक्ष्यार्थदर्शनमात्रवतः भावाभावात्मक-प्रपञ्चाविषयोः त्यागः कथंचिदपि सेत्स्यति। नापि तत्त्यागासिद्धौ परमात्मध्यानं भवितुमर्हति। हिरण्यनिधेः भूम्येव परमात्मनः ताभ्यां प्रच्छन्नत्वात्।

ननु ऊहापोहादि परित्यज्य जीवन्मुक्तो भवतीत्ययुक्तम्। जीवन्मुक्तस्य मौढ्यप्रसङ्गात् इति चेत्-नैष दोषः। ऊहापोहादेरपि स्थूलादिभेदेन चातुर्विध्यात्। तत्र लौकिकवैदिकौपनिषद्स्वानुभवीयेषु तुरीयमात्रोहापोहवतः ब्रह्मविद्वरीयस्त्वात्। न च स्थूलं लौकिकं नष्टं स्यात्। विशेषाभावेऽपि यथापूर्वमवस्थानोपपत्तेः। कथं तर्हि 'सुषुप्त्यवस्थायां उक्तब्रह्मानन्दस्मृतिं लब्ध्वा' इत्युच्यते? तस्यां हि सर्ववृत्तिविलोपेन मृततुल्योऽस्ति। अत्रोच्यते- ब्रह्मविद्वि जाग्रदवस्थायां केवलब्रह्मनिष्ठावान् भवति। तद्वरः स्वप्ने च किंचित् कालं तथा स्यात्। तद्वरीयांस्तु सुषुप्तावपि ब्रह्मानन्दस्मृतिं अखण्डाकारवृत्तिं लभते इत्यर्थः। तदुभयनिवृत्त्या 'प्राज्ञः इदानीमस्मि' इत्येषा हि प्रज्ञा सामान्यसुषुप्तस्य क्वचिदप्यमिलाप्यते। अतः इयं सुषुप्त्यवस्था ब्रह्मविद्वरी-यस्येव मन्तव्या।

चक्षुरादिबाह्यप्रपञ्चोपरतः विगतसूक्ष्मप्रपञ्चगन्धः सर्वं जगत् आत्मत्वेन यः पश्यति सः दृश्यानुविद्धसमाध्यारूढः। त्यक्ताहङ्कारः ब्रह्मास्मीति यः चिन्तयति सः

स एव त्यक्ताहङ्कारः 'प्राज्ञातीतं अशेष[1]भूतोत्पत्तिकारणं ब्रह्माहं, इदं [2]मज्जं मल्लयमेव' इति विवेकेन [3]वर्तते । स एव समुद्र[4]निमग्नपरिपूरितघटवत् ध्वस्तघटनिष्ठाकाशवत् जीवपरैक्यं [5]कृत्वा सर्वपरिपूर्णः तुरीयातीतब्रह्मीभूतः योगी विराजते । तं ब्रह्मेति गोविन्दः इति परमशिवः इति च स्तुवन्ति ।

सर्वलोकस्तुतिपात्रं [6]सर्वदेशसञ्चारशीलः कृतार्थफलेन दत्तात्रेयादिवत् विराजते । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन योगाभ्यासं कुरु ।

---

शब्दानुविद्धसमाध्यारूढः । इदं सर्वं यदयमात्मा इति भावयन् यः कृतकृत्यो भवति सः निर्विकल्पकसमाध्यारूढः । सहजसमाध्यनुभवेन सर्वपरिपूर्णतुर्यातीतब्रह्मभूतो योगी ज्ञानयोगिश्रेष्ठो भवति । तं ब्रह्मेति स्तुवन्ति । कथं 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इति श्रुत्यन्तरे सति स्तुतिमात्रयोग्यत्वं ? इति चेन्नायं दोषः । निष्प्रतियोगिकब्रह्मतायाः प्रारब्धदेहपातानन्तरं उपलप्स्यमानायाः अपि इदानीमेवोपलब्धत्ववचनस्य औपचारिकत्वात् । कथं तर्हि जीवन्मुक्तिर्भवति ? सङ्ग्रहेण वक्तव्यमित्यपेक्षायामाह-सर्वदेशसञ्चारशीलः परमात्मगगने बिन्दुं निक्षिप्य शुद्धाद्वैताजाड्यसहजामनस्कयोगनिद्राखण्डपदानुवृत्त्या जीवन्मुक्तो भवतीति । अत्र सर्वदेशसञ्चारशब्देन यतयो ग्रामैकरात्रं वासं मन्यन्ते, तदसत् । सर्वप्रपञ्चावकाशप्रदपरमात्मप्रदेशे एव सञ्चारः सर्वगतचिदाकाशानुसन्धानमित्यर्थः । स एव शीलं यस्य सः परमात्मगगने ज्योतिर्मयमहाकाशे बिन्दुं कूटस्थं प्रत्यगात्मानं निक्षिप्य, परमात्माभेदं निदिध्यासनेन प्रापय्य, शुद्धाद्वैतत्वादिलक्षणतत्तादृशपरमपदानुवृत्त्या सर्वावस्थासु च सर्वदा सहजानुभवेन जीवन्मुक्तो भवति । ब्रह्मविदामपीन्द्रादीनां सुखसंज्ञकविषयदुःखाधिक्यात् ब्रह्मानन्दसमुद्रमग्नयोग्यपेक्षया स्वल्पानन्दत्वं युक्तमेवोक्तम् ॥ (भा)

[1] भूतवृत्ति· ग·
[2] अजं अलयमेव· ग·
[3] यो वर्तते स एव क·
[4] निमज्जत्पुरवत् ग·
[5] कृतसर्व ख·
[6] सर्वसञ्चार ग·

[1]तुरीयातीतं आनन्दं स्वीकृत्य सर्वावस्थाः परित्यज्य संन्यस्तसर्वकार्यः सम्यग्दृढयोगनिष्ठः परमात्मनि गगने बिन्दुं निक्षिप्य शुध्दाद्वैतसामरस्यं कुर्यात् इति योगशास्त्रोपदिष्टं अमनस्कविधानं [2]कुरु ।

एवं उन्मनी मनोन्मनी सहजामनस्कं अजाड्यनिद्रा योगनिद्रा [3]अनन्ताखण्डानन्दः इति च पर्यायपदानुवृत्या राजयोगस्य विदितानि नामानि भवन्ति ।।

एवं कृतामनस्कसौख्यं अपरिमितं [4]अत्यद्भुतं अक्षरं भवति । तदानन्द-समुद्रमग्ना महायोगिनः सन्ति । तदानन्दापेक्षया सर्वानन्दाः [5]स्वल्पा इव भवन्ति । [6]'स एको ब्रह्मणः आनन्दः' इति श्रुतेः । एवं प्राप्तानन्दः परमयोगी [7]भवति ।।

इति योगशास्त्रे अष्टमोऽध्यायः ।

---

## अथ तृतीये ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः

[ अमनस्कस्वरूपप्रश्नः ]

(८८) याज्ञवल्क्यो महामुनिः मण्डलपुरुषं पप्रच्छ— "स्वामिन् ! अमनस्कलक्षणं उक्तमपि विस्मृतम् । पुनः तल्लक्षणं ब्रूहि" इति । तथेति मण्डलपुरुषोऽब्रवीत् ।

---

[1] तुरीयातीतस्वीकृतमहानन्दः स्वीकृतसर्वं. ग.

[2] 'कुरु' इति नास्ति. ग.

[3] तज्ज्ञानन्दोऽखण्डानन्दः ग.

[4] अत्यन्तं क.

[5] द्वययुताः भवन्ति ग.

[6] तैत्तिरीयोपनिषत् 2, 8.

[7] भव. क.

[ शाम्भवीसंयुतामनस्कस्वरूपमहिमा ]

(८९) [1]इदममनस्कं [2]अतिरहस्यम्। यद्ज्ञानेन कृतार्थो भवति। तत् नित्यं शाम्भवीमुद्रान्वितम्। परमात्मदृष्ट्या तत्प्रत्यय-लक्ष्याणि दृष्ट्वा तदनु सर्वेशं अप्रमेयं अजं शिवं परकाशं निरालम्बं अद्वयं ब्रह्मविष्णुरुद्रादीनां[3] एकलक्ष्यं सर्वकारणं [4]परब्रह्म आत्मन्येव पश्यमानः [5]गुहाविहरणमेवं निश्चयेन ज्ञात्वा भावाभावादिद्वन्द्वातीतः संविदितमनोन्म[6]न्यनुभवः[7] तदनन्तरं अखिलेन्द्रियक्षयवशात् अमनस्कसुखब्रह्मानन्दसमुद्रे मनःप्रवाहयोगरूपं निवातस्थितदीपवत् अचलं परं ब्रह्म प्राप्नोति।

(९०) ततः शुष्कवृक्षवत् [8]मूर्छानिद्रामयनिश्वासोछ्वासा-भावात् नष्टद्वन्द्वः सदा अचञ्चलगात्रः परमशान्तिं स्वीकृत्य, मनः प्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति।

(९१) [9]पयस्स्रावानन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशं भवति, तदेव अमनस्कम्॥

---

[1] इदममनस्कलक्षणं. ग.

[2] मनो यत्र विलियते अमनीभावमेति तत् अमनस्कम् (उ)

[3] तृतीयार्थे षष्ठी। तैः सर्वारैक्यधिया लक्षितत्वात्। (उ)

[4] परं ब्रह्म, ख.

[5] बुद्धिगुहेत्यर्थः। तत्र प्रत्यग्रूपेण विहरणात्। (उ)

[6] न्यवस्थः ग.

[7] मनः यत्र उन्मनीभावं निस्सङ्कल्पतां एति तादृशं ब्रह्मास्मीत्यनुभवः मनोन्मन्यनुभवः (उ)

[8] प्राणान्तःकरणसरूपविलयः मूर्छानिद्रावस्थेत्यर्थः। तद्विकारनिःश्वासोच्छ्वास-कामसङ्कल्पादिव्यापृत्यभावात् इत्यर्थः। (उ)

[9] समाधिस्थयोगिनः इन्द्रियग्रामे सत्यपि मनोनाशे दृष्टान्तमाह - पय इत्यादि। (उ)

एवमुपदिष्टः प्राकृतः पुनरिदमवादीत् । स्वामिन् ! [1]अमनस्कलक्षण-मिदानीं श्रुतमपि [2]विस्मृतमिव भाति । तद्दार्ढ्याय पुनर्वक्तव्य[3]मिति । तथा प्रार्थितः परमयोगी [4]शिष्यं प्रत्यब्रवीत् ।

[5]अथैतदत्यन्तरहस्यं शृणु । सद्यः कृतार्थो भवसि । नित्यं शाम्भवी-मुद्रान्वितः पूर्वोक्तप्रकारेण परमात्मदृष्ट्या प्रत्ययानि लक्ष्याणि दृष्ट्वा दृश्यहीनः पूर्वपुण्य[6]तपोदृष्टप्रत्ययानि शून्यान्यनुभाव्य [7]सर्वत्र एकं अप्रमेयं [8]अजं शिवं परमाकाशं सर्वकारणं परं ब्रह्म [9]आत्मत्वेनैव [10]पश्यन् , मनोगुहाविहरण-[11]शीलं एवं निश्चयेन ज्ञात्वा, भावाभावौ स्वप्नास्वप्नौ निद्रानिद्रे इत्यादि द्वन्द्वातीतः सन् विदितमनोन्मन्य[12]नुभवानन्तरं अखिलेन्द्रिय[13]जयवशात् अमनस्कसुखं ब्रह्मानन्दसमुद्रे [14]मनःप्रवाहयोगरूपं लब्ध्वा, ततः परं निवात-स्थितदीपवदचलं ब्रह्म प्राप्स्यसि । ततः परं त्वं शुष्ककाष्ठवत् मूर्छानिद्रामयनिः श्वासो[15]च्छ्वासाभावात् नष्टद्वन्द्वः सदा अचञ्चलगात्रः शान्तिं स्वीकृत्य [16]स्थितो भवसि ।

तदा तव मनः प्रचारशून्यं परमात्मनि लीनं भवति । [17]पयःस्रावा नन्तरं धेनुस्तनक्षीरमिव सर्वेन्द्रियवर्गे परिनष्टे मनोनाशमङ्गीकुरुष्व । तदेवामनस्कमिति ॥

---

1 अमनस्कं श्रुतमपि. क.　　2 विस्मृतमिति प्रार्थितः ग.
3 मितिप्रार्थितः क.　　4 शिष्यवरं. ग.
5 अद्वैतमत्यन्त. क. अप्येतदत्यन्त. ग.
6 तमोदृष्ट. ग.　　7 तदनु सर्वेश्वरमप्र. क.
8 अयं. ग.　　9 आत्मन्येव पश्यन्. ग.
10 पश्यमानो गुहा. क.　　11 शीलतैव निश्चय इति ज्ञात्वा. क.
12 नुभवस्थः तदनन्तरं　　13 क्षय. ग.
14 मग्नः. ग.　　15 च्छ्वासभावाभावादिनष्टः क.　　16 स्थिरो. ग.
17 स्रावनानन्तरं. क.

[ अमनस्काभ्यासस्य कृतकृत्यताहेतुत्वम् ]

(९२) [1]तदनु नित्यशुध्दः परमात्माऽहमेवेति तत्त्वमसीत्युपदेशेन त्वमेवाहं अहमेव त्वं इति [2]तारकयोगमार्गेण अखण्डानन्दपूर्णः कृतार्थो भवति ॥

इति तृतीये ब्राह्मणे प्रथमः खण्डः

---

तदनु 'यदा नित्यानन्दः सच्चिदानन्दरूपः परमात्माऽहमेव त्वं स्वीकृतगुरुमार्गोऽसि, तदा [3]अहमेव त्वं, त्वमेवाहं' इति निजकरं शिष्यशिरसि निक्षिप्य, सम्यग् ज्ञात्वा 'तत्त्वमसीति' त्रिवारमुपदिश्य; ' पश्य, तारकयोगमार्गेण ब्रह्म,' इति समुपदिष्टः प्राकृतः, परमयोगिनं इदमाह—

[4] " अहं ब्रह्मास्मि" " इति, [5]अयमात्मा ब्रह्म" इति, [6]नेह नानाऽस्ति किञ्चन " इति च ॥

इति योगशास्त्रे नवमोऽध्यायः

---

[1] यदि कदाचित् तन्मनः विरूपलयमप्राप्य सरूपलयमेवैत्य बहिर्निस्सरति तदनु इत्यर्थः (उ)

[2] यदि करणग्रामविरूपविलयमेव भजति तदेत्यर्थः (उ)

[3] " उन्नदेन्नदाविथुं एन्नदुन्नदाविथुं इन्नवण्णमे निन्राय् एन्रैक्कवल्लेने " इति इममेवार्थं पराङ्कुशा अपि अन्वगृह्णन्. (तिरु. 4.3.8.)

[4] बृह. 3. 4. 10. [5] बृह. 4. 5. 19.

[6] बृह. 6. 4. 19.

## अथ तृतीये ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः

---

[उन्मन्यवस्थामहिमा]

(९३) परिपूर्णपरमाकाशमग्नमनाः प्राप्तोन्मन्यवस्थः संन्यस्त-सर्वेन्द्रियवर्गः अनेकजन्मार्जितपुण्यपुञ्जपक्वकैवल्यफलः अखण्डानन्द-निरस्तसर्वक्लेशकश्मलः ब्रह्माहमस्मीति कृतकृत्यो भवति ॥

(९४) त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वात् परमात्मनः ।
इत्युच्चरन् समालिङ्ग्य [1]शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत् ॥

इति तृतीये ब्राह्मणे द्वितीयः खण्डः

---

एवमुच्चरन्, अखण्डानन्दपरिपूर्णब्रह्म पश्यन्, गुरुमभिवाद्य 'कृतार्थोऽस्मि भवत्कटाक्षात्' इति वदन् [2]ततः पूर्णाकाशपरायत्तमानसः [3]त्यक्तप्रापञ्चिकः प्राकृतः प्राप्तोन्मनीफलः संन्यस्तसर्वेन्द्रियवर्गः परब्रह्मणि गुरूपदिष्टमनोलयमभिनीय,[4] मर्यादाशून्यानन्दसुखमनु[5]भूय, चिरात् अनेक-[6]जन्मतपःफलात् मोक्षभागभवत् ।

एवमखण्डानन्दानुभवनिरस्तसर्वक्लेशं आश्रितमिदमाह योगिराट्—
'त्वमेवाहं न भेदोऽस्ति पूर्णत्वान् परमात्मनः ।' इति ।
इत्युच्चरन् समालिङ्ग्य शिष्यं ज्ञप्तिमनीनयत् ॥

---

[1] याज्ञवल्क्यं स्वीयां ब्रह्मैवास्मीति प्रज्ञां अनीनयदित्यर्थः (उ)

[2] पुनः पुनः पूर्णा॰ क.

[3] त्यक्तप्राकृतिकः॰ ग॰ त्यक्तप्राकृतप्राप्तोन्मनीफलः घ॰

[4] अभितः आत्मनि सम्पाद्येत्यर्थः [5] भाव्य॰ ग॰ [6] जन्मान्तरतपः [illegible]

बाह्याभ्यन्तरतौल्येन शुक्लतेजोमयं शिवम् ।
योगदृष्ट्या सदा पश्यन् ननाम गुण[1]सत्तमः ॥ [2]

[ इति योगशास्त्रे दशमोऽध्यायः ]

---

## अथ चतुर्थं ब्राह्मणम्

[ व्योमपञ्चकविवरणम् ]

(९५) अथ ह याज्ञवल्क्यो मण्डलपुरुषं पप्रच्छ—व्योमपञ्चकलक्षणं विस्तरेणानुब्रूहीति ।

(९६) सहोवाच—आकाशं, पराकाशं, महाकाशं, सूर्याकाशं, परमाकाशं, इति पञ्च भवन्ति ।

(९७) [3]बाह्याभ्यन्तरमन्धकारमयं आकाशम् ।

(९८) [4]बाह्याभ्यन्तरे कालानलसदृशं पराकाशम् ।

(९९) [5]सबाह्याभ्यन्तरे अपरिमितद्युतिनिभं तत्त्वं महाकाशम् ।

---

[1] सत्तमम्. क.

[2] इह तृतीये ब्राह्मणे यदुक्तं, सर्वेन्द्रियवर्गे परं नष्टे मनोनाशः भवति, तदेवामनस्कमिति, एष मनोनाशः औपचारिकः मन्तव्यः । न तु गौणोऽपि । कुतः ? तदन्वित्यारभ्य तत्त्वमस्याद्युपदेशस्य तदुत्तरकालीनतारकयोगमार्गेण अखण्डानन्दपूर्णतायाः जीवन्मुक्तोपलभ्यमानत्वेन गौणमनोनाशस्य सरूपमनोनाशसंज्ञकस्योपपन्नत्वात् । यस्तु तदन्तरमुक्तः परिपूर्णपरमाकाशमग्नमनाः इत्यादिलक्षणः निरस्तसर्वक्लेशकश्मलः उच्यते, तस्यैव विरूपमनोनाशसंभवात् मुख्यमनोनाशसिद्धिः । एवं उपदिशन् मण्डलपुरुषः शिष्यं याज्ञवल्क्यं आलिङ्ग्य ज्ञप्तिमखण्डबोधमनीनयत् ॥ (भा)

[3] सबाह्या. ख. [4] सबाह्या. ख. [5] बाह्या. च.

(१००) सबाह्याभ्यन्तरे सूर्यनिभं सूर्याकाशम् ।

(१०१) अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्द-लक्षणं परमाकाशम् ।[1]

(१०२) एवं [2]तत्तल्लक्ष्यदर्शनात् [3]तत्तद्रूपो भवति ॥

एवं विदितब्रह्मानन्दमपि शिष्यं उपाधिं कृत्वा लोकानुग्रहाय योगिराट् इदमब्रवीत् ।

शृणु सावधनेन शिष्यवर ! तस्मात् तव 'कर्म किञ्चिदपि [4]दुःखकरं भवति नैष्कर्म्यं सुखावहम्' इत्यर्थात् सिध्दं भवति । दृढतर[5]योगाभ्यासेन तत्कर्म [6]नौतारितपथिकवत् अष्टाङ्गं निर्वृत्तं स्यात् । अतो योगा[7]भिलाषी धैर्येण सर्वातिगं ब्रह्म ध्यायेत् । [8]अभ्यासेन सगुणं वा यदि निष्कलं वा भवति । तेन कर्मत्यागः आवश्यकः, [9]आभ्यन्तरबाह्यैकीकरणप्रवृत्तेः तेन प्रयोजनाभावात् । कर्माणि अनन्तानन्त[10]जन्मप्रदानि, इदानीं तत्तज्जन्मसञ्चितादिभेदा[11]दतिदृढानि

---

[1] जडभूतिः, जडभूतिग्रासमोहभूतिः, जडमोहभूतिग्रासलीलाविभूतिः जडादि क्रमेण भूतित्रयग्रासनित्यभूतिः, सर्वभूतिव्यापकं तद्गतहेयांशापह्नवसिध्दं चेति क्रमेण पञ्चाकाशानां स्वरूपाणि. (ङ)

'षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् । स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् ॥' योगचूडामण्युपनिषत् ।

[2] अन्तर्लक्ष्य ग. अतर्लक्ष्यमर्दनात् घ.

[3] तद्रूपो. ख. [4] दुष्करं. क.

[5] योगाभ्यासेन तत्कर्म नौस्तारिततीरस्थपथिक. क. योगाभ्यासे तत्कर्म नौवारिकपथिक. च.

[6] दौवारिकतिरस्कृतपथिकवत् नष्टांशं निवृत्तं ग.

[7] भिलाषः. ग. [8] अभ्यासे सगुणं ग.

[9] किङ्करणप्रवृत्तेः. घ. [10] जन्मफलानि. क.

[11] दतिदृढादिगुणयोगादनुचितानि परित्यक्तुमिति कल्पनायां तन्निरासः एवं भवति. ग.

परित्यक्तुमतिदृढास्पदगुणयोगादनुचितानि ममेत्यतिकल्पना । यतः[1]तन्निरायासतया एवैवंविधानात्। रात्रौ नष्टकलादिने अत्यन्तगाढान्धकारेण जगति व्याप्तेऽपि आदित्यो[2]दयात् तत्सर्वं सकारणमपि अनवशिष्टं भवति [illegible] ॥

[ राजयोगसिद्धिहेतवः ]

(१०३) [3]नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ।
सम्यगेतन्न जानाति [illegible] योगी नामतो भवेत् ॥[4]

इति चतुर्थं ब्राह्मणम्

---

[5]यत एवं तस्मात् योगाभ्यासेनैव मार्ताण्डोदये पिण्डाण्डे विदिते [6]च सति, सृष्ट्यादिवर्तमानपर्यन्तं जन्मान्तरसर्वकर्मध्वंसः स्यादेव । तस्मात् निष्क्रियः परमयोगी सर्वविधप्रकृतिबन्धमुक्तः सुखी भवति ॥

इति योगशास्त्रे एकादशोऽध्यायः ।

---

[1] तन्निरायासत एव. क. तन्निरासार्थमेवं. च.

[2] दयात्सर्वं. क. दयात् परं. च.

[3] राजयोगसर्वस्वं क्रोडीकृत्य उपसंहरति-नवेति । मूलाधारादिषट्चक्रं तालवाकाशभूचक्रत्रयं चेति नवचक्रं, अन्तर्बाह्यमध्यभेदेन त्रिविधं लक्ष्यं, अनुपदोक्त व्योमपञ्चकं च यो न जानाति सः केवलग्रन्थार्थज्ञानमात्रात् नाममात्रतो योगी । न वस्तुतः ॥ (उ)

[4] अथेह तुरीये ब्राह्मणे यदुक्तं "नवचक्रं षडाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् । सम्यगेतन्न जानाति स योगी नामतो भवेत् ॥" इति, [illegible] त्रयोविंशतितत्त्वानि ज्ञेयान्युच्यन्ते । वयं [illegible] पञ्चमाकाशमात्रं ज्ञेयं, तन्मात्रेण कृतार्थः स्यादिति ब्रूमः । तर्हि नामत एव योगी स्यादिति चेन्न । एतद्ज्ञानस्य परमसिद्धान्तानुभूतिस्वरूपत्वात् यद्यपि नवचक्रादिज्ञानं पूर्वसाधनत्वात् सम्पादनीयमेव । तथापि उक्तपरमाकाशप्राप्तिपर्यन्ताभ्यासं विना पूर्वसाधननिष्ठामात्रेण कृतकृत्यत्वाभिमानिनां योगिनामेव प्राचुर्येण लोके दृश्यमानत्वात् तत्प्रतिषेधार्थं एवमुक्तमित्यवगन्तव्यम् ॥ (आ)

[5] एवं योगाभ्यासे. क. [6] 'च सति' इति नास्ति क.

## अथ पञ्चमं ब्राह्मणम्

[ मनोलयाभ्यासविधिः ]

(१०४) [1]सविषयं मनो बन्धाय। निर्विषयं मुक्तये भवति

(१०५) अतः सर्वं [2]जगत् चित्तगोचरं, [3]तदेव चित्तं [4]निराश्रयं [5]मनोन्मन्यवस्थापक्वं लययोग्यं भवति।

(१०६) तल्लयं परिपूर्णे मयि समभ्यसेत्।

(१०७) मनोलयकारणमप्यहमेव।

[ परमपदस्वरूपम् ]

(१०८) [8]अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥

(१०९) यन्मनः त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत्।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम्॥

सविषयमेव चित्तं बन्धाय, निर्विषयं मुक्त्यै भवति। अतः सर्वं जगच्चित्तगोचरं, तदेव चित्तं निराश्रयं मनोन्मन्यस्थापरिपक्वं मनोलय[9]योगं सम्पाद्य, तन्म[10]नोलयं भगवति परिपूर्णे समभ्यसेत्।

---

[1] विषयसङ्गासङ्गावेव बन्धमोक्षहेतू इति यावत्।

[2] 'जगत्' इति नास्ति. ख.

[3] योगाभ्यासतः शुद्धतामापन्नम्।

[4] विषयसम्बन्धशून्यम्।　　[5] उन्मन्यवस्था. ख.

[6] लयाधिकरणनिर्देशः तल्लयमित्यादिना।　　[7] कारणमहमेव. ख.

[8] अनाहतभवनादान्तर्गतप्रत्यग्ज्योतिर्विकल्पितं स्वातिरिक्तसृष्टिस्थितिनाशनिवर्तकं मनो यत्र विलीयते तत् लयाधिकरणं परमार्थदृष्ट्या निरधिकरणवैष्णवपदरूपेणावशिष्यते इत्यर्थः (उ)

[9] योग्यम्. क.　　[10] नोलयः भवति. ग.

मनोलयकारणं [1]विष्णुनोक्तं उत्तरगीतायाम्–
"अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिः ज्योतिरन्तर्गतं मनः ॥
यन्मनः त्रिजगत्सृष्टिस्थितिव्यसनकर्मकृत् ।
तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥" इति ॥

[ अमनस्कयोगिवृत्तिः ]

**(११०) [2]तल्लयात् शुद्धाद्वैतसिद्धिः भेदाभावात् ।**

**(१११) एतदेव [3]परमं तत्त्वम्**

**(११२) [4]स तज्ज्ञः बालोन्मत्तपिशाचवत् जडवृत्त्या लोकमाचरेत् ।** [5]

तन्मनोलयानन्तरं शुद्धाद्वैतसिध्दिर्भवति, तदानीं भेदगन्धाभावात् । एतत्परमतत्त्वं गोप्यं कर्तुं परमयोगिनः बालोन्मत्तपिशाचवत् स्वरूपं जडवृत्त्या समाच्छाद्य वर्तन्ते । पूर्वयुगकालजाः ऋभुनिदाघजडभरतदत्तात्रेयरैवतकप्रभृतयः [6]अव्यक्तलिङ्गाः [7]अव्यक्ताचाराः उन्मत्तवदाचरन्तीति श्रुतेः । निश्रेयसफललाभभाक् योगी [8]गुप्त्यै रागादिभ्यो [9]निवृत्तः निवृत्तप्रकृतिरपि बद्धनादिप्रकृतिबद्ध इव संलक्ष्यते । तस्मात् सर्वयोगिश्रेष्ठः अमनस्कयोगी इति सिध्दान्तः ॥

---

[1] विष्णुरित्युक्तं . ग.

[2] यन्मनः द्वैतहेतुः तल्लयात् । तदा प्रत्यक्परयोः भेदाभावात् इति भावः ।

[3] परमतत्त्वम्. क.

[4] 'स' इति नास्ति. ग.

[5] ख्यात्यादिप्रयोजनस्यानपेक्षितत्वात् ।

[6] व्यक्त. ग.

[7] व्यक्ता. ग.

[8] वैराग्यादिभ्यो निवृत्तप्रवृत्तिरपि. क.

[9] निवृत्तिप्र. च.

[ अमनस्काभ्यासफलम् ]

**(११३) एवममनस्काभ्यासेनैव [1]नित्यतृप्तिः [2]अल्पमूत्रपुरीषमितभोजनदृढाङ्गाजाड्यनिद्राः दृग्वायुचलनाभावः [3]ब्रह्मदर्शनजातसुखस्वरूपसिद्धिश्च भवति ।**

तद्दशयोगिभिः तैलाभ्यङ्गघृतपानादि, [4]स्वेदनिरासार्थं मर्दनं च न कर्तव्यम्, अमनास्काभ्यासेनैव सौकुमार्यादिदेहफलसिद्धेः लाभात् । अमनस्काभ्यासो हि दिव्यौषधं भवति । तेन सर्वसिद्धिः, यतो [5]राजयोगसिद्धिः नित्यतृप्तिश्च अल्पमूत्रपुरीषनिस्सरणं मितभोजनं दृढाङ्गत्वं इत्यादि शुभफलानि च सम्भवन्ति । दृग्वायुचलनाभावश्च । तेन च निरन्तरं ब्रह्मदर्शनजातं परमसुखं अद्भुतं प्राप्य न कुतश्चन बिभेति ॥

[6]एवं सिध्दाद्यासनादिभ्यः स्वमूलादिबन्धेभ्यः प्राणवायुनिरोधात् विषयेन्द्रियनिग्रहध्यानदृग्दृश्यविवेकाच्च, एभ्यो नियमेभ्यः अतिक्रमितशुद्धाद्वैत मार्गावलम्बी परमयोगी सदानन्दः सर्वसिद्धिभाक् अमनस्कविधानेन प्रतिदिनं क्षणमात्रं वा [7]कालक्षेपाय अनुभवं प्राप्नोति ॥

[ एवंविधसमाधिसिद्धमहिमा ]

**(११४) एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणोऽसौ संन्यासी [8]परमहंसोऽवधूतो [9]भवति ।**

---

[1] निर्विकल्पकसमाध्यारूढस्य अतृप्तिहेतुवृत्त्यनुदयात् ।

[2] समाधितो व्युत्थानेऽपि केवलकुम्भकतो मूत्रादेः शोषणात्, उदरे निरवकाशतया, योगमहिम्ना पदे पदे समाधेः निश्चलज्योतिर्दर्शनाच्च तादृशी अवाङ्मनसगोचरसुखस्वरूपब्रह्ममात्रावस्थानरूपिणी सिद्धिर्भवतीत्यर्थः ।

[3] ब्रह्मदर्शनाज्ञात. ख. ब्रह्मदर्शनज्ञात- ग.

[4] चन्दनादिनिरासार्थं. ग.

[5] जरारोगादिनिवृत्तिः. ग.

[6] तस्य. च. तस्मात् ग.

[7] कालक्षेपानुभवं. ग.

[8] परमहंस अवधूतः. ख.

[9] असावेव अवधूतपदमुख्यविषयः । (उ)

(११५) तद्दर्शनेन सकलं जगत् पवित्रं भवति ।

(११६) तत्सेवापरः अज्ञोऽपि मुक्तो भवति ।

(११७) तत्कुलं एकोत्तरशतं तारयति ।

(११८) तन्मातृपितृजायाऽपत्यवर्गं च मुक्तं भवति ।

इत्युपनिषत् ॥[1]

इति पञ्चमं ब्राह्मणम्

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति मण्डलब्राह्मणोपनिषत् समाप्ता

---

[1] इह पञ्चमे ब्राह्मणे मनोन्मन्यवस्थापरिक्वं लययोग्यं भवतीत्युक्तम् । इयं हि प्रणवस्य द्वादशतमी मात्रा ब्रह्मविद्वरीयसो भवितुमर्हति । बालोन्मत्तपिशाचादि चर्याविधानात् । स एव विवक्षित इति युक्तमवगन्तुम् । तथापि संन्यासी परमहंसोऽवधूतो भवतीत्युक्त्या तदन्येषां त्रयाणामाश्रमिणां सा निष्ठा न स्यात् इत्याशङ्का केषाञ्चिदुपजायते । तन्निवारणार्थं इदं ब्रूमः—

निष्कामानां गृहस्थानामपि संन्यासित्वस्मरणात् प्रणवमात्राभ्यासाधिकारसिद्धिः इति असकृद्वादिष्म । यद्यपि शास्त्रेषु तुरीयाश्रम एव ब्रह्मविद्यायाः मुख्यं साधनमुच्यते । तथापि नाद्य तस्मादन्यत् पातित्यकारणं किञ्चिदुपलभ्यते । प्रायेण लोके परिदृश्यमानेषु तुरीयाश्रमिषु न कस्यचिदपि शास्त्रोक्तानुष्ठानमस्ति । ते हि ऊर्ध्वनिष्ठाः अधोदृष्टयो भवन्ति । अन्ये तु गृहस्थाः अधोनिष्ठाः ऊर्ध्वदृष्टयः, इत्यतः संन्यासिन एव ब्रह्मविद्यायामनधिकारिणः इति स्थिरं वक्तुं शक्यम् ।

यदि चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणो यः कश्चित् भवेत्, सः तुरीयाश्रमी अन्यो वा संन्यासी इति सर्वैरपि पूज्यः स्यात् । इह तु संन्यासवेषमात्रवतां अपरिचितानि वाचामगोचराणि दृश्यन्ते कर्माणि । तस्मात् 'कलौ [illegible] विवर्जयेत्' इति स्मृति वचनं सुदृढं निश्चित्य तुरीयाश्रमविमुखा एव ब्रह्मप्रणवार्थविचारादिभिः कृतार्थाः भवेयुः इत्यवगन्तव्यम् ॥ (भा)

[1]एवं चिरसमाधिजनितब्रह्मामृतपानपरायणः भवति ।

[2] " तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्ये " ।

इति श्रुतेः । तादृक् परमयोगी । स एव परमहंसः । स एव अवधूतः । [3]तद्दृष्ट्या सकलमिदं जगत् पवित्रं भवति । तत्सेवापरः अज्ञोऽपि मुक्त एव भवति । तत्कुलं एकविंशतिसंख्याकं पूर्वं अपरं च मुक्तं भवति । तन्माता मुक्ता [4]कृतार्था फलेन भावेन च पिता च स्वपूर्वापरबहुपितृगणैस्सह मुक्तो भवति ।[5] इत्येवं योगिश्रेष्ठमहत्त्वं सम्यक् प्रपञ्चितम् ॥

[ केषांचित् राजयोगिनां वैभवम् ]

नारदादयः सर्वे राजयोगा[6]भ्यासिनः राज्यविहीनाः जरामरणहीनाः नित्यानन्दवैभवाः सन्ति । [7]तदेव इदानीमप्यूहनीयम् ॥

[ नित्यसंसारिणां लक्षणम् ]

[8]अन्ये तु तापत्रयनवविधव्यवहार[9]षट्कोशषडूर्मिपञ्चकोशषड्भ्रम-सहिताः भवन्ति ॥

---

[1] स एव चिर. ग.

[2] छान्दोग्ये 6. 14. 2.

[3] तं दृष्ट्वा. क.

[4] कृतार्थभावेन. ग.

[5] अत्र "कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा सार्थवती च तेन । अपार-संवित्सुखसागरेऽस्मिन् लीनं परे ब्रह्मणि यस्य चेतः ॥" इत्याद्यप्यनुसन्धेयम् ।

[6] भ्यासिनः नित्या. क.

[7] तदिदानीमपि मन्ये. ग.

[8] अन्यत्र. क. त्रितापसप्तव्यवहारषट्कौशिकषडरिपञ्चकोशषड्भावविकार षडूर्मिषड्भ्रमरहिताः. ग. एतदनुसारेण अनुपदं विवृतं तद्विवरणवाक्यमपि व्यत्यस्तमेव दृश्यते ।

[9] "वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते । नानासन्देहहरणात् [illegible] इति स्मृतः ॥" वीरमित्रो. 2, 6.

(१) तत्र तापत्रयं तु[1]—आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकाभिधम् ।

(२) कर्तृकर्मकार्य-ज्ञातृज्ञानज्ञेय-भोक्तृभोगभोग्याः नवविधव्यवहाराः[2] ज्ञातव्याः ।

(३) त्वङ्मांसशोणितास्थिस्नायुमज्जाः षट्कौशिकाः ।[3]

(४) [4]क्षुत्पिपासाशोकमोहजरामरणानि षडूर्मयः ।

(५) अन्नमयप्राणमयमनोमयविज्ञानमयानन्दमयाः पञ्चकोशाः ।

(६) [5]प्रियत्वजननवर्धनपरिणामापक्षयविनाशनानि षड्भावविकाराः ।

(७) [6]कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्याणि अरिषट्कम् ।

---

[1] अत्र आत्मानं देहमधिकृत्य, तथाऽन्तःकरणं चाधिकृत्य जायमानः अशनायादिः कामादिश्च आध्यात्मिकः, भूतानि चोरपशुपक्ष्यादीन्यधिकृत्य जायमानः, आधिभौतिकः, देवान् यक्षादीन् दिवः प्रभवान् वर्षवातादीन् वा अधिकृत्य जायमानः तापः आधिदैविकः, इति अनेके व्याकुर्वन्ति । प्रकृते तानपि उत्तरत्र गृहीत्वा प्रत्येकीकरणेन, अत्र विशिष्ट एवार्थः स्यादिति भाति । कर्तृज्ञातृभोक्तृनधिकृत्य प्रवृत्तः आध्यात्मिकः, कर्मज्ञानभोगानधिकृत्य प्रवृत्तः आधिदैविकः, कार्यज्ञेयभोग्यानधिकृत्य प्रवृत्तः आधिभौतिकः इति तु युक्तमिव भाति ॥

[2] अत्र निर्दिष्टानां कर्तृज्ञातृभोक्तॄणां अर्थतः ऐक्यदृष्ट्या 'सप्त व्यवहाराः' इति पाठसङ्गमनं स्यात् ।

[3] अस्थिशुक्लमज्जाः पितृतः, त्वङ्मांसरुधिराणि मातृतः इति विभागः ।

[4] अशनायापिपासा॰ ग॰

[5] प्रायशः सर्वत्र-जायते, अस्ति, वर्धते, परिणमते, अपक्षीयते, नश्यतीति षड्भावविकाराः इत्येवोक्तम् ।

[6] पुरुषार्थेषु तृतीयः धर्मार्थसमन्वयोपयोगी काम एवान्यः । किञ्च अत्रोक्ताः कामादयः मित्रभूता अपि भवन्तीति ज्ञेयम् । उपयोगवैचित्र्यात् ।

(८) [1]कुलगोत्रजातिनामवर्णाश्रमरूपाः षड्भ्रमाः भवन्ति । [2]एतत्सम्पन्नाः पुनः पुनः यमवशं गताः नित्यसंसारिणः इति ख्याताः भवन्ति ।

**[ निगमनम् ]**

तस्मात् संसारात् निर्विण्णः [3]परमयोगी ब्रह्ममार्गमवलम्ब्य, मूलाधारस्थ-[4]कुण्डलिन्या वायुं इडापिङ्गला[5]सञ्चारविकलं व्युत्क्रमेण सुषुम्नाबिलं [6]प्रापय्य, [7]एतदुद्घाटितवैपुल्ये तन्मार्गे ब्रह्मविष्णुरुद्रग्रन्थिभेदपुरस्सरं [8]आज्ञादहरं भित्वा, तारकानुसन्धानेन [9]तारके सार्धबिम्बमध्यमार्गे अनर्गळपरिविजृम्भमाणं [10]अग्निसूर्यतेजःकूट[11]पवनास्फोटनथळथळायमानतेजो भूत्वा, तत्समीपविश्वव्योम[12]व्याप्तपरिपूर्णचन्द्रमण्डलनिष्ठसान्द्रामृतनिष्यन्दबिन्दुसन्दोहपान[14]परितृप्तः सदानन्दरूपं [13]निःश्रेयसं प्राप्य निस्संशयः तत्त्वाकाशो भूत्वा, सदानन्दावधूतकृपालेशात् [15]मुक्तोऽस्मीति भावयेत् ॥

इति योगशास्त्रे द्वादशोऽध्यायः

[16]इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीशङ्कराचार्यविरचितं
राजयोगभाष्यं समाप्तम् ।

---

[1] एते संसारभ्रमणहेतुत्वात् भ्रमा इत्युच्यन्ते । संसारात् विमोचनाय साधनभूता अप्येत एव । ध्येयस्थानावाप्त्यनन्तरमपि लोकासाङ्कर्याय ग्राह्या एव । साधनेषु साध्यताभ्रमवारणयात्र त्याज्यत्वोक्तिः ॥

[2] एतत्सङ्क्रमेन. ग. [3] परमयोगं. क.

[4] कुण्डलीसमुत्थितवायुं. ग. [5] केवलवत् क्रमेण. घ.

[6] प्रापय्य. घ. [7] तदुद्धारवैपुल्ये ग. तदुत्पूतवैपुल्ये. घ.

[8] आज्ञाषट्कं ग. [9] तारकेशार्धबिम्ब. ग. [10] अग्नितेजः [illegible]

[11] पादपास्फोटनदळंदशासमानतो भूत्वा. क. पाटवास्फोटनदलदशायमानतेजो. ग.

[12] व्याप्ति. घ. [13] परिप्लुतः घ. [14] श्रेयः. ग.

[15] मुक्तो भवामीति भावितव्यम् म. ग. ।

[16] इति सदानन्दावधूतविरचितं विजृम्भितयोगभाष्यं समाप्तम्. क.

# अनुबन्धाः

ॐ

श्रीशङ्करभगवत्पादविरचिता

# योगतारावली

भावप्रकाशसहिता

---

**वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे**
**सन्दर्शितस्वात्मसुखावबोधे ।**
**जनस्य ये जाङ्गलिकायमाने**
**संसारहालाहलमोहशान्त्यै ॥ १ ॥**

जनिधर्मणां अमीषां मानवानां कर्मानुगुणसंयोगवियोगवतीषु प्रकृति-विकृतिषुसशोकमोहस्वसंसरणरूपकालकूटाभिसम्बन्धजनितानिर्वर्णनीयमूर्छापनोद-नाय भुवस्तलमवतीर्णे विषवैद्यरूपे, तथा-जितात्मनां शोकमोहातिगानां योगि-नाममन्दमानन्दमनुभावयच्चिन्तामणिरूपे, सर्वविधयोगरहस्यार्थप्रकाशनपटुतरे, ध्यानमङ्गले, श्रीपरमगुरुपादारविन्दयुगले इमान् प्राणान् प्रणामयामः ॥ १ ॥

**सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-**
**लयावधानानि वसन्ति लोके ।**
**नादानुसन्धानसमाधिमेकं**
**मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ॥ २ ॥**

सोऽयं परमानन्दः, परमगुरुपादारविन्दानुग्रहादन्तरुद्घुष्यमाणस्य प्रणव-नादस्यान्ते अतिसूक्ष्मे वाङ्मनसातीते मनसो लयं विना नैव सम्भवति। यद्यपि लयाधिदेवतया भगवता सदाशिवेनैवोपदिष्टानि चित्तलयावस्थासमाधायकानि उपासनानि लोके सपादलक्षप्रकाराणि वर्तन्ते । अथापि तेषु सर्वेष्वपि लयेषु श्रुतिमिलितानाहतनादानुसारेण तदन्ते सन्धीयमानचित्तसमाधिरूपं लयमेव वयं

मान्यतमं मन्यामहे । यतो नादान्ते ज्योतिः । 'सं ज्योतिषा ज्योतिरङ्क्ताम्' इति ॥ २ ॥

**सरेचपूरैः अनिलस्य कुम्भैः**
**सर्वासु नाडीषु विशोधितासु ।**
**अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारैः**
**अन्तः प्रवर्तेत सदा निनादः ॥ ३ ॥**

सचायमाहतेभ्यो लोकप्रसिध्दभेर्यादिनादेभ्यो भिन्नः, समुद्रमेघादिध्वनिगम्भीरः, वीणावेणुमृदङ्गशङ्खदुन्दुभ्यादिबहुप्रकारः, अनाहताख्यो महाप्रणवनादः, योगिनोऽस्य साधनादशायां, इडापिङ्गलाभ्यां पर्यायतः वायोरुदराद्बहिर्विरेचनेन, बाह्यादन्तःपूरणेन च सहितैः कुम्भकैः-पूर्णकुम्भवद्वायोरन्तर्निरोधैः सर्वास्वपि नाडीषु विशोधितासु, अनुपदमेव निरन्तरमन्तरभिव्यक्तो भवेत् ॥ ३ ॥

**नादानुसन्धान ! नमोऽस्तु तुभ्यं**
**त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने ।**
**भवत्प्रसादात् पवनेन साकं**
**विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥ ४ ॥**

अयि भगवन् ! निरन्तरान्तरुद्घुष्यमाणमहाप्रणवनादानुसन्धान ! त्वदर्थे मदीयान् प्राणान् प्रह्वीकरोमि । यतस्सर्वधातुप्रसन्नतामूलभूतात् भवतोऽनुग्रहात् पवित्रीकृतेनानेन कुम्भीकृतवायुना साकं मदीयमिदं मनः दहराकाशे सहस्रारान्तर्गतचिदाकाशे वा विलीनं कृत्वा, परब्रह्मतत्त्वानुभवमात्मनि साधयेयमिति सुष्ठु जाने ॥ ४ ॥

**जालन्धरोड्याणनमूलबन्धान्**
**जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूलान् ।**
**बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने**
**बन्धः कुतो दारुणकालपाशात् ॥ ५ ॥**

एवं ह्यनुसन्धीयमानः हृदयमध्यगतः नादश्चात्र बन्धत्रयसिद्ध्या सुषुम्नाश्रयवीणादण्डे अभिव्यक्तो भवेत्। तत्र-नाडीजालं धरमाणे कण्ठमूलप्रदेशे जायमानः सर्वविधशोकमोहनाशनः जालन्धरबन्धः। अधोगामिनभोबिलं बद्ध्वा प्राणात्मकमहाखगस्य अविश्रान्तोर्ध्वोड्डयनहेतुः उदरे उड्याणबन्धः। शक्त्या- धारकमलस्थाने मूले मुद्राविशेषेण प्राणापानसाम्यहेतुः मूलबन्धः। एषु कण्ठे उदरे पायुमूले च प्रकाशत्सु जालन्धरोड्याणमूलबन्धेषु अनवरतमभ्यस्यमानेषु सर्वलोकहृदयविदारणात् मृत्युपाशादपि जनो मुच्यते। नैव बध्यते ॥ ५ ॥

ओड्याणजालन्धरमूलबन्धैः
उन्निद्रितायां उरगाङ्गनायाम्।
प्रत्यङ्मुखत्वात् प्रविशन् सुषुम्नां
गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः ॥ ६ ॥

एवं उदरकण्ठपायुमूलेषु वायुनिरोधकेन बन्धत्रयेण बहोः कालात् अन्तर्निद्रितायां उरगाङ्गनायां-कुण्डलिन्यां सञ्जातप्रबोधायां, जन्मान्तर- सहस्रसञ्चितकर्मफलप्रदचित्तवासनावाही प्राणवायुः गत्यन्तराभावात् प्रत्यगा- त्माभिमुखद्वारां ब्रह्मनाडीं सुषुम्नां प्रविशन् दक्षिणोत्तरमार्गयोः चन्द्रसूर्यनाड्योः इडापिङ्गलयोः प्रवेशनिस्सरणाख्ये गमनागमनक्रिये सत्यं त्यजत्येव ॥ ६ ॥

उत्थापिताधारहुताशनोल्कैः
आकुञ्चनैः शश्वदपानवायोः।
सन्तापितात् चन्द्रमसः पतन्तीं
पीयूषधारां पिबतीह धन्यः ॥ ७ ॥

ततश्च एवं केवलकुम्भकेनायतप्राणः यः कोऽपि धन्यात्मा, सततोर्ध्व- प्रसृतैर्मूलाधारस्थवैश्वानरज्वलनैः अधोगतिशीलापानवायोरनवरतोन्मुखीकरणैश्च प्राप्तातिशयितसन्तापात् सहस्रारान्तर्गताक्षीणचिच्चन्द्रमसमण्डलात् सपदि निस्सृ तामममृतधारां पिबन् परमानन्दभरितशुद्धसत्त्वमयचित्तो भवति ॥ ७ ॥

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां
विवर्जितां रेचकपूरकाभ्याम् ।
विशोषयन्तीं विषयप्रवाहं
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम् ॥ ८ ॥

एवं बन्धत्रयाभ्यासेन सञ्जातकुण्डलिनीप्रबोधः, तेन च उद्घाटितब्रह्म-नाडीद्वारः सन्, वैकृतप्राकृतरूपरेचकपूरकक्रियासम्बन्धविवर्जितो योगी, यामिमां शब्दादिविषयपरम्परासङ्गधर्मविनाशिनीं विवेकख्यातिजननीं केवलकुम्भकात्मिकां विद्यां भजते, तामेवाहमपि निषेवे ॥ ८ ॥

अनाहते चेतसि सावधानैः
अभ्यासशूरैरनुभूयमाना ।
संस्तम्भितश्वासमरुत्प्रचारा
सा जृम्भते केवलकुम्भकश्रीः ॥ ९ ॥

विषयानभिभूतनिश्चलचित्ततया ऐकाग्र्येण निरन्तराभ्यासपटुभिः अभय-प्रतिष्ठे विन्दमानैः अनुभूयमाना, सम्यङ्निरुद्धप्राणवायुसञ्चारा शुद्धकुम्भकात्मिका विजृम्भिता दैवीसम्पत् धन्येषु योगिषु नितरां प्रकाशते ॥ ९ ॥

सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भाः
सम्भाव्यते केवलकुम्भ एव ।
कुम्भोत्तमे यत्र तु रेचपूरौ
प्राणस्य न प्राकृतवैकृताख्यौ ॥ १० ॥

हठयोगेषु सहस्राधिकप्रकाराः कुम्भकाः प्रसिद्धाः सन्तु नाम । ते केवलं रूढा एव, न त्वन्वर्थाः । किन्तु यस्मिन् उत्तमे कुम्भके प्राकृतवैकृता-भिधाने चित्तचलनहेतुभूते रेचकपूरके प्राणवायोः नैव सम्भवतः, स एव शुद्धः कुम्भकः इति राजयोगिभिः सम्भाव्यते ॥ १० ॥

त्रिकूटनाम्नि स्तिमितेऽन्तरङ्गे
खे स्तम्भिते केवलकुम्भकेन ।
प्राणानिलो भानुशशाङ्कनाड्यौ
विहाय सद्यो विलयं प्रयाति ॥ ११ ॥

अनेन च केवलकुम्भकेन नीरजस्कतया निश्चलीकृतस्य मनसः सोमसूर्याग्निमण्डलाधिष्ठाने त्रिकूटाभिधाने चिदाकाशे संस्तम्भने कृते सति, प्राणानिलोऽयं इडापिङ्गलाख्ये सूर्यचन्द्रनाड्यौ परित्यज्य झटिति विष्णुपदे एव विलीनो भवति ॥ ११ ॥

प्रत्याहृतः केवलकुम्भकेन
प्रबुद्धकुण्डलल्युपभुक्तशेषः ।
प्राणः प्रतीचीनपथेन मन्दं
विलीयते विष्णुपदान्तराले ॥ १२ ॥

एवमनेन केवलकुम्भकेन इतरमार्गेभ्यो व्यावर्तितः, जाग्रत्या कुण्डलिन्या यथेष्टमुपभुक्तशिष्टः अयं प्राणवायुः, आत्मावलोकनानुकूलेन प्रत्यङ्मुखेन अतिसूक्ष्मेण सुषुम्नामार्गेण शनैश्शनैः प्रसरन्, अन्ते स्वकारणस्य चिदाकाशस्य मध्यप्रदेशे एव विलीय एकीभवति ॥ १२ ॥

निरङ्कुशानां श्वसनोद्गमानां
निरोधनैः केवलकुम्भकाख्यैः ।
उदेति सर्वेन्द्रियवृत्तिशून्यः
मरुल्लयः कोऽपि महामतीनाम् ॥ १३ ॥

मत्तगजवत् येन केनापि प्रकारेण प्रतिबद्धुमशक्याकारतया सततं प्रवर्तमानानां प्राणानिलगमनागमनक्रियाणां अनेन केवलकुम्भकाख्येन महायोगमार्गेण निरोधने कृते सति, तदा अमीषां महामतीनां राजयोगिनां कर्मज्ञानात्मकसर्वेन्द्रियवृत्तिसामान्यशून्यीकरणहेतुः अनिर्वर्णनीयः कोऽपि मनोलयहेतुभूतः प्राणवायोर्लयः सत्यमुदेत्येव ॥ १३ ॥

न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धः
न देशकालौ न च वायुरोधः ।
न धारणा ध्यानपरिश्रमो वा
समेधमाने सति राजयोगे ।। १४ ।।

एवमुक्तप्रकारेण राजयोगे सम्यगभिवर्धमाने सति, न प्रतिपत्पूर्णिमादि दृष्टयः, नापि चक्षुर्मध्यगतनीलज्योतिरादिदर्शनम्, न च चित्तवृत्तिनिरोध-प्रयासः, न वा देशनियतिः, कालनियतिर्वा । वायोरपि स्वत एव लयात् नैव वायुनिरोधप्रयासश्च । नापि धारणध्यानादिसंरम्भः, चित्तस्यैव पूर्णलयात् । वृत्तिसामान्यस्यैवासम्भवात् तदुपरितनानां उक्तधर्माणां सुतरामसम्भवात् ।।१४।।

अशेषदृश्योज्झितदृङ्मयानां
अवस्थितानामिह राजयोगे ।
न जागरो नैव सुषुप्तिभावः
न जीवितं नो मरणं विचित्रम् ।। १५ ।।

उक्तेऽस्मिन् राजयोगे अखण्डब्रह्मभावापरया निश्चलतया अवस्थितानां, जगत एव प्रत्यावर्तितदृशां, अवाप्तज्ञानावस्थानां, महायोगिनां या अवस्था प्रकाशते, सा बाह्येन्द्रियव्यापारपरिपूरिता न जाग्रदवस्था, अन्तरिन्द्रियव्यापार परिपूर्णा न सुषुप्तिः, नापि जाग्रत्संस्कारजप्रत्ययविशेषरूपा स्वप्नावस्था, न प्राणनधर्मो जीवनम्, प्राणवियोगधर्मः मरणं च न । एवं देहदेहिनोरुभयोः सत्त्वेऽपि तद्धर्मस्य कस्याप्यदर्शनात् इयं विचित्रा अद्भुतैवावस्था परमानन्द-भरिता । एवं च प्राणेन्द्रियमनोयोगावस्थायाः तद्वियोगावस्थायाश्च विलक्ष-णैवावस्थेयं योगिनां विराजते इति भावः ।। १५ ।।

अहंममत्वाद्यपहाय सर्वं
श्रीराजयोगे स्थिरमानसानाम् ।
न द्रष्टृता नास्ति च दृश्यभावः
सा जृम्भते केवलसंविदेव ॥ १६ ॥

अनात्मन्यात्मभावरूपामहन्तां, अनात्मीयेष्वात्मीयभावरूपां ममतां, एवं विधमन्यदन्यच्च विकल्पजातं सर्वमपि दूरतः परिहृत्य, परब्रह्मप्रकाशके श्रीमति राजयोगे नैष्ठिकमानसानां धन्यानां द्रष्टृत्वं, दर्शनं, दृश्यं चेत्येष्वेकमपि वा नोपलभ्यते, किन्तु पूर्वोक्तः केवलब्रह्मभाव एव साम्राज्यपदवी-मधिरोहति ॥ १६ ॥

नेत्रे ययोन्मेषनिमेषशून्ये
वायुर्यथा वर्जितरेचपूरः ।
मनश्च सङ्कल्पविकल्पशून्यं
मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम् ॥ १७ ॥

यस्यां अवस्थायां नेत्रे निमेषोन्मेषरहिते, प्राणवायुश्च रेचकपूरकविवर्जितः, मनोऽपि सङ्कल्पविकल्पाभ्यां रहितं सत् एवं सर्वमपि निश्चेष्टं भवति, सा मनोन्मनी परिपूर्णपरब्रह्मानन्दानुभवावस्था अस्मासु अचिरादेव सिद्ध्यतु ॥ १७ ॥

चित्तेन्द्रियाणां चिरनिग्रहेण
श्वासप्रचारे शमिते यमीन्द्राः ।
निवातदीपा इव निश्चलाङ्गाः
मनोन्मनीमग्नधियो भवन्ति ॥ १८ ॥

योगीन्द्राः खलु चिरकालकृतचित्तेन्द्रियनिग्रहाभ्यासेन प्राणवायोः इडा-पिङ्गलासञ्चारे उपरमं प्रापिते सति, निवातप्रदेशप्रज्वलन्तः निश्चलशिखाः दीपा इव निश्चलाङ्गाः मनोन्मन्यवस्थालीनधियः स्वयमेव राराज्यन्ते ॥ १८ ॥

उन्मन्यवस्थामधिगम्य विद्वन् !
उपायमेकं तव निर्दिशामः ।
पश्यन् उदासीनतया प्रपञ्चं
सङ्कल्पमुन्मूलय सावधानः ॥ १९ ॥

अयि विद्वन् ! प्रतिज्ञासहस्रेणाप्यनिवार्याः प्राकृतीर्वैकृतीश्च सङ्कल्पविकल्पात्मिकाः क्रियाः सावधानतया समुन्मूलयितुं एकं उपायविशेषं निर्दिशामः । सम्यक् अवहितचित्तो भव । प्रप्रथमं एतावता कालेनोपपादितां मनोन्मन्यवस्थां सम्यगधिगच्छ । तदनु च सर्वं प्रपञ्चं केवलं उदासीनतया साक्षितया पश्यन् सावधानः साधनामनुवर्तय । तदा सङ्कल्पादयः सर्वे स्वयमेव निरवशेषं उन्मूलिता भवेयुः ॥ १९ ॥

प्रसह्य सङ्कल्पपरम्पराणां
सम्भेदने सन्ततसावधानम् ।
आलम्बनाशादपचीयमानं
शनैः शनैः शान्तिमुपैति चेतः ॥ २० ॥

एवं सन्ततसावधानतया अनन्तसङ्कल्पपरम्पराविघटने साधिते सति, संसारोपचयहेतुभूताः चित्तालम्बनवृत्तयः मनस्सङ्कल्पाः सर्वे नश्येयुः । तदा चेतः शनैश्शनैः अपक्षीयमाणः परमां शान्तिमुपैत्येव ॥ २० ॥

निःश्वासलोपैः निभृतैः शरीरैः
नेत्राम्बुजैः अर्धनिमीलितैश्च ।
आविर्भवन्तीममनस्कमुद्रां
आलोकयामो मुनिपुङ्गवानाम् ॥ २१ ॥

श्वासोच्छ्वासपरिवर्जनेन शरीरनैश्चल्यजननीं, अर्धमुकुलितावस्थापन्ननेत्रारविन्दसमलङ्कृतां, योगीन्द्रेष्वाविर्भवन्तीं अमनस्काख्यां महामुद्रां धन्याः वयमेवमालोकयामः ॥ २१ ॥

अमी यमीन्द्राः सहजामनस्काः
अहंममत्वे शिथिलायमाने ।
मनोऽतिगं मारुतवृत्तिशून्यं
गच्छन्ति भावं गगनावशेषम् ॥ २२ ॥

योगीश्वराश्चामी एवं सहजमाविर्भवन्त्या अनया अमनस्काख्यमहामुद्रया विभूषिताः अतिशयेन राराज्यन्ते । किं च ते तदा सङ्कल्पविकल्पादि-मूलभूतयोः अहंममतयोः विच्छिन्नयोः सत्योः वाङ्मनसातीतं प्राणादिवृत्तिशून्यं चिदाकाशावशेषं परिपूर्णपरब्रह्मानन्दानुभवमेवात्मनि लभन्ते ॥ २२ ॥

निवर्तयन्तीं निखिलेन्द्रियाणि
प्रवर्तयन्तीं परमात्मयोगम् ।
संविन्मयीं तां सहजामनस्कां
कदा गमिष्यामि गतान्यभावः ॥ २३ ॥

बाह्याभ्यन्तराणि निखिलान्यपीन्द्रियाणि स्वविषयेभ्यो व्यावर्तयन्तीं सहजमकृत्रिमं च ब्रह्मापरोक्षज्ञानं प्रवर्तयन्तीं, ब्रह्मताद्रूप्यज्ञानमयीं शुद्धज्ञानमयीं वा अनिर्वर्णनीयां तां सहजां उन्मन्यवस्थां गलितान्यभावः कदा गमिष्यामीति मदीयं मनः सदा उत्कण्ठितं वर्तते ॥ २३ ॥

प्रत्यग्विमर्शातिशयेन पुंसां
प्राचीनगन्धेषु पलायितेषु ।
प्रादुर्भवेत् काचिदजाड्यनिद्रा
प्रपञ्चचिन्तां परिवर्जयन्ती ॥ २४ ॥

यैः अनवरतासङ्कीर्णात्मतत्त्वविचारेण कृतात्मभिः, अनादिजन्मसञ्चिताः अनन्ताः दुर्वासनाः दूरोत्सारिताः, तेषां जगति प्राकृतवैकृतधर्मविस्तरणात्मक-प्रवृत्तिमार्गमूलभूतां प्रपञ्चचिन्तां तिरस्कुर्वती ब्रह्मानन्दानुभवात्मिका काचित् अनिर्वर्णनीया अजाड्यनिद्रा सद्य एव आविर्भवेत् ॥ २४ ॥

विच्छिन्नसङ्कल्पविकल्पमूले
निःशेषनिर्मूलितकर्मजाले ।
निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा
सा जृम्भते योगिनि योगनिद्रा ।। २५ ।।

सविषया मनोवृत्तिः सङ्कल्पः, निर्विषया काल्पनिकी मनोवृत्तिः विकल्पः । अनयोः मूलभूते अज्ञाने ज्ञानासिना छिन्ने, अनन्तजन्मसञ्चित-चित्तवासनाधायककर्मसमूहेऽपि योगाग्निना निःशेषदग्धे, निरन्तरसाधनेन नितान्तसुदृढा, वाङ्मनसागोचरा उक्ता योगनिद्रा योगीन्द्रेषु विजृम्भिता सती प्रकाशते ।। २५ ।।

विश्रान्तिमासाद्य तुरीयतल्पे
विश्वाद्यवस्थात्रितयोपरिस्थे ।
संविन्मयीं कामपि सर्वकालं
निद्रां सखे निर्विश निर्विकल्पाम् ।। २६ ।।

भगवतोऽनुग्रहेण वीर्येण बलेन च लब्धया आत्मसाम्यावहया महा-वेधकादिविद्यया ससाधनया आत्मसमतामेव विन्दन् राजमान हे सखिरूप शिष्य ! विश्वतैजसप्राज्ञानुबन्धिजाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरूपावस्थात्रयमतीत्य वर्तमाने साक्ष्य-वस्थारूपतुरीयतत्त्वात्मके तल्पे विश्रान्तिमासाद्य, ततः तामप्यतीत्य, भ्रमप्रमादा-दिगन्धरहितां परिपूर्णपरब्रह्मानन्दमयीं कामपि निद्रां सर्वकालं भज । अयमेव ते ब्रह्माशीर्वादः ।। २६ ।।

प्रकाशमाने परमात्मभानौ
नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते ।
अहो ! बुधाः निर्मलदृष्टयोऽपि
किञ्चिन्न पश्यन्ति जगत् समग्रम् ।। २७ ।।

स्वयंप्रकाशे परिपूर्णपरब्रह्मस्वरूपे परमात्मभानौ समन्तात् भासमाने, अविद्याख्ये समस्ते तिमिरेऽपि विनश्यति सति, एवं निर्मलदृष्टयः सम्पन्ना अपि बुधाः शुद्धबुद्धमुक्तस्वरूपाः समग्रमिदं जगत् किञ्चिदपि न पश्यन्तीति अत्याश्चर्यं खल्विदं एतद्राजयोगवृत्तम्! ॥ २७ ॥

सिद्धिं तथाविधमनोविलयां समाधौ
श्रीशैलशृङ्गकुहरेषु कदोपलप्स्ये ।
गात्रं यदा मम लताः परिवेष्टयन्ति
कर्णे यदा विरचयन्ति खगाश्च नीडान् ॥

एवं समाधौ सर्वविधमनोवृत्तिविस्मरणात्मकविलयजननीं तुरीयातीतावस्थारूपां निरन्तरपरिपूर्णसाधनसम्पन्नां सिद्धिं, श्रीशैलपर्वतशिखरान्तर्गतगुहासु कदा वा प्राप्स्ये ? कदा वा, निरस्तनिखिलप्रपञ्चभावतया ब्रह्मानुभवावस्थतया च काष्ठसमतां प्राप्तं मदीयं शरीरं समन्ततो वर्धनशीलाः लताः परिवेष्टयन्ति ? कदा वा मदीययोः कर्णकुहरयोः खगाः निश्शङ्कं नीडान् विरचयन्ति ? इत्यनवरतं मदीयमिदं हृदयमुत्कण्ठते ॥ २८ ॥

विचरतु मतिरेषा निर्विकल्पे समाधौ
कुचकलशयुगे वा कृष्णसारेक्षणानाम् ।
चरतु जडमते वा सज्जनानां मते वा
मतिकृतगुणदोषाः मां विभुं न स्पृशन्ति ॥

इति श्री भगवत्पादशङ्कराचार्यविरचिता
योगतारावली समाप्ता

---

एवं परमगुरुपादारविन्दानुग्रहेण समाहिता मदीया सद्विद्याशुद्धबुद्धिः योगे भोगे दुर्मते सन्मते वा यत्र कुत्रापि यथेष्टं सञ्चरतु, अहं तु तादृशमतिकृतगुणदोषसम्बन्धलेशविवर्जितः पुण्यापुण्यविवर्जिगतिसम्पन्नः समभवम्।एतादृशं ब्रह्मात्मकं मां इतः परं जगति किमपि वस्तु न बध्नाति। नैव स्पृशत्यपि। एवं धन्यो धन्यो पुनः पुनर्धन्यः सम्पन्नः इति भावः ॥२९॥

एवं गुरुकृपालब्धयोगार्थविमलात्मना।
कृता वेङ्कटनाथेन योगभावप्रकाशिका॥

यः प्रादात् तां हंसविद्यां महतीं पावनीं पराम्।
प्राणान् प्रणामयामोऽस्मै गुरवे ब्रह्मरूपिणे॥

ॐ नमः परमतारकाय आत्मदिव्याभरणभूषिताय
योगेश्वराय परमगुरवे॥

॥ ॐ ॥

इति योगतारावलीभावप्रकाशः समाप्तः॥

---

# (२) योगतारावलीपद्यानुक्रमणिका

---



---

## (३) उद्धृतप्रमाणानुक्रमणी

# (४) पदविशेषानुक्रमणी

## ५ ग्रन्थप्रयुक्तदृष्टान्तभागानुक्रमणी

---

# अशुद्धसंशोधनी

| पठनीयः शुद्धः पाठः | पु–पं |
|---|---|
| (भूमिकाभागे) | |
| ಉಳಿಸಿಕೊಂಡು | 12–10 |
| ಚಿತ್ತವೃತ್ತಿ | 13–11 |
| ಸೃಷ್ಟಿಸಂಹಾರ | 15–15 |
| ಪ್ರದೀಪಿಕೆ | 25-3 |
| सुपरिष्कृत | 27–1 |
| मातृकाणां | 27–11,18 |
| आत्मतत्त्व | 27–25 |
| परिजिहीर्षया | 28–18 |
| भक्त्यङ्गमिति | 29–20 |
| अमनस्कयोग | 32–28 |
| (ग्रन्थभागे) | |
| पाठे आदित्य एव | 3–16 |
| यो॰ सू॰ | 3–21 |
| अव्यभिचरितः | 4–13 |
| विवरणम् | 5–1 |
| ब्रह्मचर्यां | 5–13 |
| सभाष्या | 6–1 |
| मुक्तिभाग् | 8–10 |
| उक्तसर्वा | 10–10 |
| भूयात् | 10–15 |

| पठनीयः शुद्धः पाठः | पु–पं |
|---|---|
| न पुण्यपापे | 11–10 |
| वैलक्षण्य | 12–4 |
| कार्मिक | 12–19 |
| भूमौ घ्राणं | 13–7 |
| स्थितो भूत्वा | 16–12 |
| दर्पणमिव | 18–9 |
| षडष्टद्वा | 21–3 |
| वामदक्षिण | 25–11 |
| आन्तरमिति | 26–8 |
| तद्ब्रूहि | 37–5 |
| लोचना दृक् | 40–12 |
| ब्रह्मावगति | 44–11 |
| आत्मदृष्ट्यासक्तस्य | 46–11 |
| भावना | 51–18 |
| इत्यादिहसोपनिषच्च | 54–21 |
| मनो बन्धहेतुः | 56–5 |
| स्वल्पानन्दाः | 58–5 |
| परमात्मनि | 62–13 |
| उन्मन्यवस्था | 65–1 |
| पवित्रीकृतेना | 80–19 |
| विवर्जितगति | 90–4 |
| निरङ्कुशानां | 91–23 |

117

प्राच्यविद्यासंशोधनालय-प्रकाशनम्—११७

# महीशूरपुरीय प्राच्यविद्या लघुग्रन्थमाला-२

# THE MYSORE ORIENTAL SUPPLEMENT SERIES-2

THE MYSORE ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE PUBLICATION No. 117

1969

प्राच्यविद्यासंशोधनाल



महीशूरपुरीय प्राच्यविद्या लघुग्रन्थमाला-२

**THE MYSORE ORIENTAL SUPPLEMENT SERIES-2**

THE MYSORE ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE PUBLICATION No, 117
1969

# THE MYSORE ORIENTAL SUPPLEMENT SERIES

EDITED
WITH THE KIND CO-OPERATION OF VARIOUS SCHOLARS

BY

DR. G. MARULASIDDAIAH, M.A., Ph.D.
*Professor and Head of the Department of P-G Studies and Research in Sanskrit, University of Mysore and Director, Oriental Research Institute Mysore*

ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE, MYSORE

श्रीमदप्पयदीक्षिताचार्यविरचितं

स्वोपज्ञव्याख्यासहितं

# पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणम्

# PAÑCADAŚĀṄGAYOGAPRAKARAṆAM

OF

## APPAYADĪKṢITĀCĀRYA

*(with his own Commentary)*

CRITICALLY EDITED WITH INTRODUCTION AND NOTES

*By*

VIDVAN N. S. VENKATANATHACHARYA

*Senior Research Assistant, Oriental Research Institute, Mysore*

THE ORIENTAL RESEARCH INSTITUTE

UNIVERSITY OF MYSORE

MYSORE

1969

## FOREWORD

THE AUTHOR OF THIS work is Appayyadīkṣita related to the great Appayyadīkṣita of the 17th century. Hailing from Tirunelveli in Kerala, he contributed to Sanskrit Yoga cult in the 19th century. He is a disciple of Sundareśatātācārya, as it is clear from the colophon :

"इति श्री सुन्दरेश्वरताताचार्यशिष्येण श्रीमदप्पय-
दीक्षितेन्द्रान्वयजेन अप्पयदीक्षिताचार्येण विरचिते ...."

In Tamil and Malayalam we have many independent works of his. Appayācārya or Appayaśivācārya or Appayadīkṣita are the various names we find in his *Parāśaradīpikā*, *Ādhyātmadarpaṇa*, *Varāhamañjūṣā*, etc.

The special contribution of our author to Indian Philosophy is his special introduction to Anubhavādvaita, based on the Sāṅkhya and Yoga principles. To quote a few instances, he is upholding the *vivartavāda* (transmigration) in preference to the *pariṇāmavāda* (transformation) in accounting for realization of parabrahma *vs* prapañca. He is a stranger to the philosophical controversies and speculations made much of by Śaivites and Vaiṣṇavites. However not related to the philosophy, he upholds *trimūrtisāmyavāda*. The terms like *parokṣādvaita* and *aparokṣādvaita* are old wine in new bottles. A cursory reference to these lines in his works will go to prove this.

"मूलाज्ञानविनाशं विना प्रपञ्चप्रतीतिराहित्यलक्षणोपमर्दासंभवात्।" (पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणे); "परिणामात्" (अनुभूतिमीमांसा सूत्रभाष्यम्); (हरिहरब्रह्मसामरस्यम्); "एवं स्वरूपानुसन्धानेन भ्रमरकीटन्यायेन मुक्तो भवति" (अनुभूतिमीमांसा ४.१.१४); जीवब्रह्मणोः परापरयोः अभेद एव (अनुभूतिमीमांसा ३.४.८); निर्गुणाद्वैतापरोक्षानुभववादिभिः अस्मदीयैः (अनुभूतिमीमांसा ३.३.२५).

His inclination is primarily towards Yoga than Philosophy. Even in *Tejobindūpaniṣat*, the same is emphasised. The famous *aparokṣānubhūti* (immediate realization of the Brahman) according to Ādiśaṅkara is agreeing with our author depending upon the fifteen yogic aspects.

Shri N. S. Venkatanathacharya, Senior Research Assistant in the Oriental Research Institute, Mysore, has taken commendable pains in editing this booklet for our supplement portion, which will be a part of the Oriental Research Institute publications. As a tiny treatise for a good introduction to *Aṣṭāṅgayoga*, I commend this to our esteemed readers as an important and illustrative book on the Indian Yoga.

G. MARULASIDDAIAH
*Professor & Head of the Department of Post-graduate Studies & Research in Sanskrit & Director*

*Oriental Research Institute*
*University of Mysore*

# प्र स्ता व ना

ॐ

"क्रियावानेषः ब्रह्मविदां वरिष्ठः।"

"इह चेदवेदीत् अथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचित्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति ॥"

"इहैव तैर्जितः सर्गः येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्मात् ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥"

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिः यः आनुभविकोऽर्थः मानवेषु कर्मज्ञानभक्तियोगनिष्ठाः निष्ठापयन् उद्घोषितः, तमेव परमार्थं स्वानुभवेन संप्रज्ञातवन्तः परिपूर्णपरब्रह्मानुभवास्वादपरिपूरित-स्वान्ताः सरळोदारहृदयाः श्रीशङ्करभगवत्पादाः सद्दृष्टान्तमेवं समदिशन्। यथा —

"न गच्छति विना पानं व्याधिरौषधशब्दतः।
विनाऽपरोक्षानुभवं ब्रह्मशब्दैर्न मुच्यते ॥" इति,

"एकं वेदान्तविज्ञानं स्वानुभूत्या प्रकाशते ॥" इति च ॥

अमुमेव राजमार्गं आचार्याणामाशयमनुसृत्य योगमार्गावलम्बनेन स्वानुभवगोचरतां नीत्वा उररीकृतवन्तः तदास्वादनवनवोन्मेषशालिनः, जन्मना तिरुनल्वेलीदेशमलङ्कृतवन्तः सुप्रसिद्धाप्पयदीक्षितेन्द्रान्वयजाः अप्पयशिवाचार्यापरनाधेयाः श्रीमदप्पयदीक्षिताचार्या अपीमे, केवलसिद्धान्तमार्गावलम्बनेनापद्यमानाः, प्रतिव्यक्ति मतिभेदेन भिन्नभिन्नतया भासमानयुक्त्यनुसारेण उपपाद्यमानविकृततर वाक्यार्थवैखरीपरम्पराः अनुभवपर्यन्तागोचराः सर्वा अपि मनसि संविभाव्य, अध्यात्मशास्त्रमूलभूतयोगमार्गानुगं भगवत्पादहृदयङ्गमं तदीयमेव स्वकीयं पन्थानमिमं 'अपरोक्षाद्वैत–अनुभवाद्वैता'दिसंज्ञाभिः उट्टङ्कयन्तः बहून् ग्रन्थान् विरचयामासुः॥ अतएवेमे शाङ्कराणां सैद्धान्तिकं अध्यासवादं, जगन्मिथ्यात्व-वादं, ज्ञेयात्मवादं, परोक्षाद्वैतवादं, एवमन्यदन्यच्च खण्डयन्तः, परिणामं, जगत्सत्यत्वं, ब्रह्मणो ध्येयत्वं, अनुभवाद्वैतादिकं च स्वकीयानुभूतिमीमांसायां साडम्बरं स्थापयन्ति।

यद्यपि परिचितशब्दशक्तिस्वाभाव्यात् यथावद्भावचित्रणाशक्तेः साधनवैकल्यात् मानुषमतिसहजप्रमादात् अवस्थाविशेषानुभूतार्थस्मृतिवैकल्यात् उपपादनवैखरीसञ्जात-संभ्रमाविनाभूतस्खालित्याद्वा तत्रतत्र कतिचनार्थाः त्यक्ताः अयथावदुपपादिता अपि स्युः। अथापि नेमं प्रायशोऽपरिहार्यं दोषमेव परिगणय्य गुणजालं महान्तं दूरीकर्तुं प्रभवामः, किन्तु "एको हि दोषो गुणसंनिपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।" इत्येव भावयामः। यतः एते प्रतिपदं स्वत एव शब्दजालमहारण्यस्य बुद्धिभ्रमणकारणतां मन्वानाः,

"अधीत्य चतुरो वेदान् सर्वशास्त्राण्यनेकशः ।
ब्रह्मतत्त्वं न जानाति दर्वी पाकरसं यथा ॥"

"अनेकशतसंख्याभिः तर्कव्याकरणादिभिः ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया ते विमोहिताः॥"

"ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मुक्तिं लभते क्वचित् ॥"

"मथित्वा चतुरो वेदान् सर्वशात्राण्यथैव च ।
सारन्तु योगिभिः पीतं तक्रं पिबति पण्डितः ॥"

इतीमान् सर्वसारोपनिषद्योगबीजज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रेषु सिद्धान्तितान् सत्यार्थान् सदा मनसि संनिधायैव वक्तव्यविषयान् तत्त्वनिष्ठया निष्ठुरमेवोपपादयन्ति इति अदसीयग्रन्थपर्यवेक्षकाणां अपरोक्षमेव ॥

एतदीयग्रन्थेषु च —

अष्टोत्तरशतोपनिषद्भाष्यं, ब्रह्मसूत्रभाष्यं, भगवद्गीताभाष्यं, श्रीमद्भागवतैकादशस्कन्धव्याख्या, पराशरदीपिका च इत्यादयः प्राचीनग्रन्थव्याख्यारूपाः ।

अनुभूतिमीमांसाभाष्यादयः स्वतन्त्रसूत्रभाष्यरूपाः ।

षोडशमञ्जरी, पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणं, समाधिरत्नमञ्जूषा चेत्यादयः सस्वोपज्ञव्याख्याः प्रकरणग्रन्थाः ।

कैवल्यसाधनं, गुरुशिष्यसंवादः, तत्त्वसङ्ग्रहः, निष्ठानुभूतिः, पञ्चदीपिका, मन्त्रानुष्ठानक्रमः, योगसारस्वतम्, स्वानुभूतिः, हरिहरब्रह्मसामरस्यं चेत्यादयः प्रकरणादिरूपाः ।

षट्त्रिंशद्भागविभक्ता वेदान्तव्यवहारमाला, बहुप्रकरणविभक्तं वेदान्तयुद्धप्रकरणं चेत्यादयः वादविवादनिर्णयात्मकाः ।

उपदेशतत्त्वं, द्राविडसूत्रं, जीवचिन्तामणिः पञ्चीकरणप्रक्रिया, भगवद्गीतानुवादः मुक्तिकामधेनुः, मुक्तिरत्नं, योगदर्पणं, वेदान्तप्रकरणं, शिवप्रकाशपद्धतिश्चेत्यादयः केरळद्राविडभाषामयाः ग्रन्थाः ।

एवं बहुप्रकाराः ग्रन्थाः अदसीयाः समुपलभ्यन्ते । सम्यक् परिशील्यमाने तु इतोऽप्यन्ये अनेके ग्रन्थाः एतदीयाः समुपलभ्येरन् इति भावयामः ॥

एतदीयग्रन्थानां अवलोकने परिशीलने आस्वादने वा कुतूहलिनां सहृदयानां करकमलयोः प्रथमतः 'अद्वयतारकोपनिषद्भाष्यं' उपहृतवन्तो वयं, इदानीं द्वितीयतया 'पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणं' उपहरामः ।

यद्यपि योगप्रक्रियाः प्रायशः यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिरूपैः प्रसिद्धैरष्टभिरेवाङ्गैः सर्वत्रोपपादिताः । क्वचित्तु हठयोगः यमनियमावाद्यौ परित्यज्य आसनादिभिः षड्भिरेवाङ्गैः पूर्णतया समर्थ्यते । पञ्चदशाङ्गानि तु न तथा प्रसिद्धानि । तानि च— यमनियमौ, तदुपाङ्गतया त्यागमौनदेशकालाः, आसनं, तदुपाङ्गतया मूलबन्धदेहसाम्यदृक्स्थितयः, प्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधयश्चेति । अत्र अधिकतयोक्तादङ्ग-

सप्तकादतिरिक्तानामष्टाङ्गानां योगशास्त्रोक्ताङ्गसमानसंज्ञकानामपि लक्षणं परं भिद्यत एव। अथापि नैषां परस्परं खण्ड्यखण्डकभावः, दूष्यदूषकभावो वा। अधिकारिभेदेन सर्वस्यापि समुपपन्नत्वात्।

एवं पञ्चदशाङ्गोपपादनं प्रथमतः तेजोबिन्दूपनिषदि दृश्यते तामेव सरणिमनुसृत्य श्रीशङ्करभगवत्पादाः स्वीयापरोक्षानुभूतौ तान्येव व्याख्यन्। ततश्च क्रमशः अस्मिन् पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणे तान्येव विवृतानि पश्यामः।

अत्रेदमवधेयम् — श्रीशङ्करभगवत्पादविरचितापरोक्षानुभूतेः विद्यारण्यकृतेति प्रसिद्धा काचन व्याख्या दृश्यते। तत्र शततमश्लोकव्याख्यानावसरे 'तु' शब्दस्वारस्यं वर्णयितुं प्रवृत्ताः व्याख्यातारः 'अनेन अष्टाङ्गयोगप्रतिपादकं पातञ्जलं अवैदिकत्वादनादेयमिति ध्वनितम्।" इत्याहुः। तत्तु योगशास्त्रस्थानतत्त्वापरिशीलनमूला वाचोयुक्तिरेव न वस्तुतत्त्वस्पर्शि। अष्टाङ्गयोगस्यैव प्रधानतः श्रुतिशतोपपाद्यमानत्वात्। अन्येषां सप्तानामपि तत्रैवान्तर्भावस्याप्युदूहत्वाच्च। तुष्यतुन्यायेनावैदिकत्वं निमील्याङ्गीकृत्यापि ब्रूमः— रूपकादिबहुविधालङ्कारपरिकर्मितेभ्यः वैदिकशास्त्रेभ्यः, सरळतराणि निर्दिष्टार्थबोधकानि अध्यात्मसुसंनिहितानि योगतन्त्रादिशास्त्राण्येव क्वचिद्विषये उत्कृष्टतराणीत्यपि अस्माभिर्न विस्मर्तव्यम्। यथोक्तं सनत्कुमारसंहितायां ब्रह्मरात्रे शास्त्रविभागप्रसङ्गे —

"लौकिकं वैदिकं चापि तथाऽऽध्यात्मिकमेव च।
त्रिविधं तत समुद्दिष्टं प्रधानं चोत्तरोत्तरम्॥
लौकिकं त्वर्थशास्त्रं स्यात् वैदिकं वेदसंयुतम्।
अन्यदध्यात्मविज्ञानं योगतन्त्रादि कथ्यते॥"

इत्यादि। अस्मिन्नेव पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणे षष्ठश्लोकव्याख्यानावसरे "न ह्यनेन प्रकरणेन योगशास्त्रं दूष्यत इति स्वप्नेऽपि शङ्क्यम्" इत्येवोक्त्वा योगशास्त्रेणास्याविरोधः सूचितः।

यद्यपि क्वचित् क्वचित् लक्षणभेदः उपपादनभेदश्च दृश्यते। यथा — अष्टाङ्गेषु सप्तमं ध्यानमेव प्रकृतपञ्चदशाङ्गेषु द्वितीयस्य नियमस्य लक्षणं भजते, ध्यानस्वरूपं त्वन्यदेवेत्यादि। नैतावता अष्टाङ्गयोगस्य त्याज्यत्वमेवाभिप्रेतमिति वक्तुं शक्यते। तत्तद्गुर्वनुगृहीतसाधनोद्युक्तानां तथाविधसोपानपर्वणोऽपि दर्शनसम्भवात्। यथाश्रुतभासमानविरोधस्य सुपरिहरत्वात् इति॥

स्वप्रकाशानन्दयतयस्तु हरिस्तुतिव्याख्यावसरे— अष्टाङ्गयोगमेव द्विविधं उपपादयन्तः अपरिपक्वचित्तानां पातञ्जलोऽष्टाङ्गयोग इति, परिपक्वचित्तानां तु श्रौतोऽष्टाङ्गयोगः इति च विभजन्ते। श्रौतानां निर्गुणयोगाष्टाङ्गानां लक्षणान्येतैः प्रमाणैः विवृण्वन्ति च। यथा—

"देहाक्षादौ विरक्तः यम इह नियमः स्वात्मतत्त्वेऽनुरक्तिः
बाह्यौदासीन्यमेवासनमसुनियतस्त्वक्षरार्थो मृषार्थात्।
प्रत्याहारः स्वबुद्धेः विषयविमुखता धारणा स्वात्मनिष्ठा
ध्यानं ब्रह्माहमस्मीत्यहगनहममोहात्मसंवित् समाधिः॥" इति,

"देहेन्द्रियादिवैराग्यं यम इत्युच्यते बुधैः।
अनुरक्तिः परे तत्त्वे नियमः परिकीर्तितः॥

सर्ववस्तुषूदासीना वृत्तिरासनमात्मनः ।
जगत्सर्वमिदं मिथ्या प्रतीतिः प्राणसंयमः ।
चित्तस्यान्तर्मुखीभावः प्रत्याहारस्स उच्यते ।
चित्तस्य निश्चलीभावः धारणाऽसौ निगद्यते ॥
सोऽहं चिन्मात्रमेवेति चिन्तनं ध्यानमुच्यते ।
ध्यानस्य विस्मृतिः सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥'' इति च ॥

एवममुं विषयं सङ्ग्रहतः परिसमाप्य प्रकृतं ग्रन्थमवलोकयामः —

प्रकृते च प्रकरणे पञ्चदशभिः श्लोकैः पञ्चदशाङ्गान्युपपादितानि । तत्तदङ्गसाधकानां च तत्रतत्र तदनुगुणा आख्याः च सूचिताः । तत्र— साधितयमाख्यप्रथमाङ्गः अग्रयोगी इति, नियमवान् आत्मयोगीति, ततः क्रमेण त्यागमौन-देश-कालयोगिनः इति, ततः सिद्धासनयोगी, मूलबन्धयोगी, देह साम्यंगतोयोगी, पूर्णदृष्टियोगी, प्राणायामयोगी, प्रत्याहारयोगी, नित्यानन्दात्मयोगी, ध्यानयोगी इति, ततश्च पञ्चदशः समाधिसिद्धयोगी इति च पञ्चदशानां योगिनां संज्ञाः कृताः ।

अन्तरान्तरा प्रसङ्गतः— योगस्यैव सर्वप्राधान्यं, पञ्चदशाङ्गयोगसम्बन्धिनां अङ्गानां अष्टाङ्गयोगसम्बन्ध्यङ्गापेक्षया उत्कृष्टतरत्वं, श्रवणमात्रस्य प्रपञ्चप्रतीतिराहित्यलक्षणोपमर्दाहेतुत्वं, त्यागस्य निदिध्यासनाभ्यासकालीनस्य तदवसानकालीनस्य च भिन्नरूपत्वं, शास्त्रीयमौनस्य दुस्सम्पादत्वं, योगसाधनानुकूलतया अन्यत्रोक्तस्य देशविशेषादेः प्राधान्याभावः, कालस्यापि ब्रह्मरूपत्वं, योगशास्त्रेणास्याविरोधः, आसनजालपरिचयार्थपरिश्रमस्य वैयर्थ्यं, सुषुप्तिसमाध्योः वैलक्षण्यं चेत्यादयः बहवो विषयाः सम्यक् प्रतिपादिताः ।

एवं उपपाद्यानर्थान् समासत उपपाद्य परिमितप्रमाणोऽयं ग्रन्थः परिसमापितः ॥

अस्मिंश्च ग्रन्थे तत्रतत्रापेक्षितांशविशदीकरणाय काचन लघुटिप्पणी सङ्कलय्य संयोजिता । तत्र च प्रमाणतया उद्धृतानां श्रुतिवाक्यानां एतदीयोपनिषद्भाष्यादेवोद्धृत्य संयोजितः व्याख्याभागः । उपनिषद्ब्रह्मयोगीन्द्राणां विवरणं च तत्रतत्र संयोजितम् ॥

ग्रन्थस्यास्य च मातृकाद्वयं समुपलभ्यते । उभयमपि अस्मदीयकोशागारस्थमेव । एकं **B 236** संख्यया अङ्कितम्, अपरं **B 1019** संख्यया अङ्कितम् । प्रायशः उभयमपि शुद्धमेव ।

ग्रन्थोऽयं परिमितशरीरोऽपि स्वोपज्ञव्याख्यया, लघुटिप्पण्या चैवं समलङ्कृतस्सन् साधकानां अध्यात्मतत्त्वजिज्ञासूनां च हृदये कामपि क्रियोन्मुखीं प्रतिभां समादध्यादित्याशास्महे ।

प्राच्यविद्यासंशोधनालयः
मैसूरु

इति
सहृदयवशंवदः
एन्. एस्. वेङ्कटनाथाचार्यः

## विषयसूचनी

ॐ

श्रीमदप्पय्यदीक्षिताचार्यविरचितं

# पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणम

## स्वोपज्ञव्याख्यासहितम्

[मङ्गलं, प्रतिज्ञा च]

सद्गुरुं प्रणिपत्याहं सद्यो मुक्त्यैकसाधनम् ।
वक्ष्ये पञ्चदशाङ्गं तं योगं सव्याख्यमादरात् ॥

[मोक्षसाधनानि, तत्र योगस्य स्थानं च]

अत्र खलु श्रुतिस्मृतिपुराणादिप्रपञ्चितेषु कर्मभक्तिज्ञानयोगाख्येषु मोक्षसाधनेषु चतुर्षु सद्योमुक्तिं प्रति योगस्यैव अव्यवहितसाधनत्वं शिष्टैः पूर्वकैः सर्वैरभ्युपगतं दृश्यते[1] । स च योगः यमाद्यष्टाङ्गकः प्रसिद्धः दशोपनिषदादिषु पूर्वकैश्च बहुभिः विद्वद्भिः बहुषु प्रकरणेषु बहुधा प्रपञ्चितः ।

[प्रकृतप्रतिपाद्यमानानि तदङ्गानि, तन्मूलं च]

एवं सति इह अस्मत्प्रणीयमानेऽस्मिन् प्रकरणे पञ्चदशाङ्गकं योगं वक्ष्यामः । कानि पुनरेतानि पञ्चदशाङ्गानि ? इत्यपेक्षायां तेजोबिन्दूपनिषत्प्रमाणानुरोधेन सप्रपञ्चमुपन्यस्यते ॥[2]

[तत्र करणग्रामे ब्रह्मभावरूपयमोपपादनम्]

श्रीमन्त[3] पूर्वपुण्यैः [4]गुरुवरमुपलभ्येश्वरस्य प्रसादात्
सर्वं ब्रह्मेति बोधात्[5] प्रबलविषयसंसक्तमेतं चिरेण ।

---

1. अत्र ‘तपस्विभ्यो धिको योगी ज्ञानिभ्यो पि मतोऽधिकः । कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥’ ‘स वै पुंसां परो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।’ ‘यं विनिद्राः जितश्वासाः संतुष्टाः संयतेन्द्रियाः । ज्योतिः पश्यन्ति युञ्जानाः तस्मै योगात्मने नमः ।’ ‘योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।’ योगेन रहितं ज्ञानं न मोक्षाय भवेद्विधे । जन्मान्तरैश्च बहुभिः योगो ज्ञानेन लभ्यते । तस्माद्योगात्परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः ।’ इत्यादीन्यनुसंधेयानि ।

2. यद्यपि प्रसिद्धैः अष्टभिः अङ्गैस्साकं, एतदङ्गतयैव अन्यानि च सभाङ्गानि तेजोबिन्दूपनिषदि प्रतिपादितानि, तथैव व्याख्यातानि च । अथापि अस्मिन् प्रकरणे प्रसिद्धाष्टाङ्गापेक्षया अत्रोक्तानां पञ्चदशानाप्यङ्गानां वैलक्षण्यं श्रैष्ठ्यं च प्रतिपादितमिति ज्ञेयम् । ग्रन्थकारैरेव व्याख्यातः तेजोबिन्दूपनिषद्व्याख्यानभागश्च अत्रैव तत्तत्स्थानेषु संयोजितः ॥

3. आत्मश्रिया दैवीसम्पदा च पूर्णम् ।

4. अद्वयतारकोपनिषदि गुरुलक्षणमुक्तं—“आचार्यो वेदसम्पन्नः विष्णुभक्तो विमत्सरः । योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः । गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः । एवंलक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते । गुशब्दस्त्वन्धकारः स्यात् रुशब्दस्तन्निरोधकः । अन्धकारनिरोधित्वात् गुरुरित्यभिधीयते । यस्मात्तदुपदेष्टासौ तस्माद्गुरुतरो गुरुः ।” इत्यादिना ।

5. सर्वस्यापि जगतो ब्रह्ममूलत्वात्, बीजात्प्ररूढे वृक्षे सर्वथा आच्छादितस्यापि बीजधर्मस्य विज्ञानदृष्ट्या अन्तःप्रविश्य दर्शनवत्, मायया आच्छादितस्यापि ब्रह्मधर्मस्य ज्ञानदृष्ट्या दर्शनेन, इन्द्रियाणां मायाप्रवणत्वं निवार्य ब्रह्मप्रवणताकरणं यमरूपेणाङ्गेन साधनीयमिति भावः ॥

नानादुःखैकहेतुं मुहुरपि करणग्राममायम्य नित्यम्
योऽहिंसाद्यैरुपेतः[1] जयति सहजतः सोऽग्रयोगी यमी स्यात् ॥ १ ॥

श्रीमन्तमिति ॥ पूर्वपुण्यैः प्रापणीयात् ईश्वरस्य प्रसादात् श्रीमन्तं गुरुवरं उपलभ्य तदुपदिष्टवाक्यार्थश्रवणजनितात् 'सर्वं ब्रह्मे'ति बोधात् करणग्रामं श्रोत्रादीन्द्रियसमूहं आयम्य जयति। सः यमी[2] प्रथमयोगी स्यात्। एवं द्वितीयतृतीयादिचतुर्दशयोगिनः द्वितीयश्लोकादिभिः क्रमेण वक्ष्यामः।

[पञ्चदशानां वक्ष्यमाणयोगाङ्गानां गणना]

कानि पुनः पञ्चदशाङ्गानि ? इत्यत्राह तेजोबिन्दूपनिषदि—

"यमो हि नियमस्त्यागः मौनं देशश्च कालतः।
आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥"[3]

इति॥ एवं पञ्चदशाङ्गान्युक्त्वा पुनः तत्तल्लक्षणानि तत्रैवाह[4]—

[श्रुत्युक्तं यमस्वरूपम्]

"सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानात् इन्द्रियग्रामसंयमः।
यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः॥"[5]

इति। एवमितरेषामप्यङ्गानां लक्षणानि[6] उपरितनश्लोकेषु प्रदर्शयिष्यामः।

[अष्टाङ्गेभ्यः पञ्चदशानां अङ्गानां वैलक्षण्यम्]

यथेदं यमाख्यं प्राथमिकमङ्गं अष्टाङ्गयोगशास्त्रप्रसिद्धं यमात् शतगुणं उत्कृष्टं भवति[7] एवमितरेषां चोत्कृष्टत्वात् अष्टाङ्गयोगिभिरपि इदं पञ्चदशाङ्गयोगशास्त्रं अवश्याभ्यसनीयमित्यवगन्तव्यम्॥

1. आद्यशब्देन सत्यास्तेयब्रह्मचर्य दयार्जवक्षमाधृतिमिताहारशौचानि ग्राह्याणि।

2. प्रथमं योगसोपानं अधिरूढवानित्यर्थः।

3. अथ तेजोबिन्दूपनिषदि श्रुतौ ज्ञानयोगं प्रपञ्चयितुं प्रसिद्धार्थवैलक्षण्येन यमाद्यष्टाङ्गानि अवान्तराणि च सप्ताङ्गान्याह-यम इत्यादिना। यमनियमासनानि त्रीण्यङ्गानि प्रसिद्धानि, तदवान्तराणि तु सप्त-त्यागः, मौनं, देशः, कालः, मूलबन्धः देहसाम्यं, दृक्स्थितिः इति। उपाङ्गान्येतानि। उपरितनानि च पञ्च प्रसिद्धानि। (भा) अथ निष्प्रतियोगिकब्रह्मावगतिसाधनतया पञ्चदशाङ्गयोगः उच्यते यम इत्यादिना (उ).

4. तेजोबिन्दूपनिषद्येव।

5. जीवेश्वरादिकं सर्वमिदं जगत् ब्रह्मानन्यदेवेत्येवं वेदान्तश्रवणमननजनितज्ञानात् इन्द्रियसमूहस्य संयमः तत्तद्विषयेभ्यो निग्रहः यम इति संप्रोक्तः, अयं मुमुक्षुभिः मुहुर्मुहुः पदेपदे अभ्यसनीयः। (भा) करणग्रामे ब्रह्मभाव एव यमः (उ)।

6. तेजोबिन्दूपनिषदुक्तानि इत्यर्थः।

7. योगशास्त्रप्रसिद्धस्य यमादेः केवलविषयसंस्पृष्टेष्वेव वाङ्मनःकायेषु व्यवस्थाविशेषजनकत्वात तथा ब्रह्मासंस्पर्शाच्च एतदपेक्षया निकृष्टत्वं बोध्यम्।

[अष्टस्वप्यङ्गेषु संज्ञैक्येऽपि संज्ञिनां भिन्नत्वं उत्कृष्टत्वं च]

ननु अष्टाङ्गेभ्योऽप्यधिकानां सप्ताङ्गानां आन्तरालिकत्वात्[1] अस्य पञ्चदशाङ्गयोगशास्त्रस्य उत्कृष्टत्वानुपपत्तिः इति चेत्-न, पूर्वापरेषामष्टाङ्गानामपि प्रकृतानां संज्ञैकत्वेऽपि[2] विलक्षणत्वावगमात्। प्रदर्शितं प्रदर्शयिष्यमाणं च वैलक्षण्यं हि पञ्चदशाङ्गयोगशास्त्रस्य अष्टाङ्गयोगशास्त्रस्य च भिन्नत्वमवगमयति। तस्मात् अष्टाङ्गयोगात् प्रकृतः पञ्चदशाङ्गयोगः उत्कृष्टतरः इति स्थितम् ॥

[ब्रह्मात्मनोरैक्यानुसन्धानरूपनियमविवरणम्]

तर्हि किं लक्षणो नियमः इत्यत्रोच्यते—

पश्चात् निस्संशयस्सन् मननविहतया तद्विजातीयवृत्त्या
साजात्यप्रत्ययं यः परमसुखनिधिं नित्यमावर्तयेत् सः।
ध्यानाख्ये सप्तमाङ्गे वसतिमुपगतः तन्निदिध्यासनाख्ये
तस्मिन् शब्दानुविद्धे जयति च नियमी स्वात्मयोगी द्वितीयः ॥ २ ॥

पश्चादिति ॥ पश्चात् पूर्वोक्तप्रकारकयमसिद्ध्यनन्तरं 'तत्त्वमसी'ति महावाक्यार्थश्रवणेन ब्रह्मज्ञानस्य विजातीयप्रत्ययोपमर्दासमर्थस्य जनितपूर्वत्वात् श्रवणानन्तरकालीनमननेन विहतया निरस्तया तद्विजातीयवृत्त्या ब्रह्मविजातीयप्रपञ्चविषयकद्वैतवृत्त्या निःसंशयः ब्रह्मात्मैक्यप्रतिपादकश्रुत्याचार्यविषयकसंशयरहितः सन्[3] साजात्यप्रत्ययं ब्रह्मात्मनोः सजातीयत्वात् तदैक्यानुसन्धानात्मकप्रत्ययप्रवाहं यो नित्यमावर्तयेत् अविच्छिन्नतैलधारान्यायेन अभ्यसेत्[4] सः निदिध्यासनाख्ये शब्दानुविद्धे[5] समाध्याख्ये च, सप्तमाङ्गे[6] अष्टाङ्गयोगशास्त्रोक्तध्यानसंज्ञके वसतिमुपगतस्सन्[7] जयति। सः नियमी[8] प्रकृतनियमवान् द्वितीयः स्वात्मयोगी स्यात्। तथाचास्य लक्षणमाह तेजोबिन्दूपनिषदि—

---

1. केवलं उपाङ्गतया प्रसिद्धाष्टाङ्गपोषकत्वात् स्वतन्त्रत्वाभावादित्यर्थः।
2. संज्ञिनां अर्थस्वरूपाणां योगशास्त्रोक्तार्थस्वरूपापेक्षया भिन्नत्वेन उपपाद्यमानत्वादित्यर्थः।
3. 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति श्रुतेरभिप्रायः अत्र अनुसन्धेयः।
4. तत्सम्पिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानं अभ्यासः।
5. अत्र मातृकायां 'शुद्धानुविद्धे' इति पाठः दृश्यते।
6. धारणा ध्यानं समाधिरिति क्रमविवक्षायामिति भावः।
7. वसतिं-नियतां वृत्तिमित्यर्थः।
8. 'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः' इति योगसूत्रम्। विष्णुपुराणे च— 'ब्रह्मचर्यमहिंसां च सत्यास्तेयापरिग्रहान्। सेवेत योगी निष्कामः योग्यतां स्वमनो नयन्। स्वाध्यायशौचसन्तोषतपांसि नियतात्मवान्। कुर्वीत ब्रह्मणि तथा परस्मिन् प्रवणं मनः। एते यमाः सनियमाः पञ्च पञ्च प्रकीर्तिताः। विशिष्टफलदाः काम्याः निष्कामाणां विमुक्तिदाः ॥' (6, 7, 36-38) इत्युक्तम्।

### [श्रौतं नियमलक्षणम्]

"सजातीयप्रवाहश्च विजातीयतिरस्कृतिः
नियमो हि परानन्दो नियमात् क्रियते बुधैः" इति।[1]

### [अस्यैव नियमस्य प्रकृते संप्रज्ञातसमाधिरूपता]

"ब्रह्माकारमनोवृत्तिप्रवाहोऽहङ्कृतिं विना।
संप्रज्ञातसमाधिः स्यात् ध्यानाभ्यासप्रकर्षतः॥"[2]

इति श्रुत्यन्तरो[3]क्तस्य संप्रज्ञातसमाधेरप्यत्र समन्वितत्वमित्यवगन्तव्यम्।

### [मननवियुक्तात् नियमात् अस्य वैलक्षण्यम्]

तर्हि अष्टाङ्गयोगशास्त्रोक्तनियमस्याप्युक्तलक्षणत्वमास्तामिति चेन्न—

तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानं ईश्वरपूजनम्।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम्॥"[4]

इति तल्लक्षणस्य अभिहितत्वात्। तत्र वेदान्तसिद्धान्तयोः भेदाभावेऽपि तच्छ्रवणमात्रस्य अभिहितत्वेन निदिध्यासनाख्यब्रह्मप्रत्ययप्रवाहानभिधानात् एकवाक्यत्वमनुपपन्नम्।[5]

### [श्रवणज्ञानस्य असमर्थत्वानुपपत्तिशङ्का]

ननु वाक्यार्थश्रवणजनितस्य ब्रह्मज्ञानस्य विजातीयप्रत्ययोपमर्दनासमर्थत्वं यदुक्तं; तत् नोपपद्यते। कुतः?

"ज्ञात्वा देवं सर्वपाशापहानिः।"[6]

इत्याद्यनन्तश्रुतिभ्यः सर्वोपमर्दनसमर्थत्वावगमात्[7]। ब्रह्मज्ञानोदये हि[8] अज्ञानं निवर्तेत।

---

1. प्रत्यगात्मनो यः सजातीयः परमात्मा तद्विषयकाखण्डवृत्तिप्रवाहः, निदिध्यासनमित्यर्थः। विजातीयः जीवेश्वरादिप्रपञ्चः, तस्य तिरस्कृतिः अपवादः, एवं उभयक्रियोपेतः नियमः बुधैः मननजनितविज्ञानवद्भिः नियमात् प्रतिदिनं विधित एव क्रियते अयं नियमः, परानन्दनिमित्तत्वात्; अतः न दुःखाय भवेत् (भा)। अखण्डचिन्मात्रादिवृत्तिः सजातीया। घटपटादिवृत्तिः विजातीया (उ)।

2. 'वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् संप्रज्ञातः' इति तु योगसूत्रम् (1-17) अत्र 'योगी युञ्जीत सततं,' 'युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये,' 'युक्त आसीत मत्परः' इत्यादि च ध्येयम्।

3. मुक्तिकोपनिषत्, 2-53.

4. दर्शनोपनिषत् (2-1)

5. ततश्च योगशास्त्रोक्तनियमस्वरूपात् अस्य भिन्नत्वमेव सिद्धमिति भावः।

6. 'क्षीणैः क्लेशैः जन्ममृत्युप्रहाणिः। तस्याभिध्यानात् तृतीयं देहभेदे विश्वैश्वर्यं केवल आत्मकामः' इति तच्छेषः। (श्वे. 1-11)।

7. श्रौतज्ञानपदस्य परिनिष्ठितमर्थं अविभाव्य निमील्योक्तिरियम्।

8. अज्ञाने मूलप्रतिबन्धविभागापरिशीलनेन समान्योक्तिरियम।

अज्ञानस्यैव सर्वमूलत्वात्[1] तन्निवृत्तौ निवर्त्यान्तरं यत्किञ्चित् स्यादित्यनुपपन्नम्। श्रवण-मननविधानं[2] तु श्रवणमात्रेण अनुत्पन्नब्रह्मज्ञानं मन्दाधिकारिणं प्रतीत्यूह्यम्। अन्यथा ज्ञान-शास्त्रसामान्यवैयर्थ्यप्रसङ्गादिति।

[श्रवणज्ञानात् केवलात् मूलाज्ञानानिवृत्त्युपपादनम्]

अत्रोच्यते— न हि श्रवणजनितब्रह्मज्ञानेन कस्यचिदपि मूलाज्ञानं निवर्तेत। प्रतिबन्धाज्ञानस्य[3] केवलं निवृत्तिसंभवात्। मननविधानं तु निवृत्ताज्ञानस्यापि संशयसंभवेन[4] तन्निवृत्त्यर्थं इत्यवधूतोपनिषदादिषु प्रसिद्धम्[5]। न च कस्यचिदपि श्रवणमात्रेण ब्रह्मज्ञाना-नुत्पत्तिर्भवितुमर्हति[6]। नापि निष्प्रतिबन्धज्ञानं[7] कस्यचिदप्युद्भवेत्। न चैतेन ज्ञानशास्त्रस्य वैयर्थ्यं प्रसज्येत। प्रकृतयोगाङ्गत्वेन सार्थक्यात्[8]। 'सर्वपाशापहानिः' इति श्रुतिस्तु मननिदिध्यासनाद्युत्तरसाधनापेक्षब्रह्मज्ञानविषयिणी[9] इत्यदोषः। श्रवणमात्रेण ब्रह्मास्तित्व-लक्षणस्य परोक्षज्ञानस्योत्पत्तिसंभवेन[10] प्रपञ्चमिथ्यात्वज्ञानोदयेऽपि प्रपञ्चप्रतीतिराहित्य-लक्षणो[11]पमर्दासंभवात् तेन ब्रह्मास्तित्वज्ञानस्य संशयसाहित्योपपत्त्या तन्निवृत्त्यर्थक-मननोपपत्तिः इति सिद्धम्॥

[बहुभावात्मकजगद्धर्मात् दूरीभवनरूपत्यागस्वरूपोपपादनम्]

तर्हि तृतीयाङ्गं कीदृशमित्यत्रोच्यते—

ब्रह्मैवास्मीति नित्यं नियमनियमतः सच्चिदात्मावलोकः
संजातो यस्य नानाविधनिजहृदयग्रन्थिभेदैकहेतुः।
यः तत्याज प्रपञ्चं निखिलमपि महान् कोटिविध्यण्डरूपं
त्यागी योगी तृतीयः गुणरहितपरब्रह्मनिष्ठः स पूज्यः॥ ३॥

---

1. सर्वमपि मायिकं व्यवहारं प्रति मूलत्वात् इत्यर्थः।
2. तर्हि उक्तश्रवणज्ञानेनैव सर्वसम्पत्तौ 'श्रोतव्यो मन्तव्यः' इत्यादिना मननादिविधानं व्यर्थं स्यादित्यत आह—श्रवणेत्यादि।
3. जिज्ञासादिप्रतिबन्धकीभूतस्याज्ञानस्येत्यर्थः।
4. निश्चितानुभवमन्तरा कथमपि संशयबीजानिवृत्तेः।
5. 'तदेव कृतकृत्यत्वं प्रतियोगिपुरस्सरम्। अनुसन्दधदेवायं एवं तृप्यति नित्यशः॥ तृप्यन्नेव स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम्।' इत्यादिना इति भावः।
6. अतद्रूपप्रतिष्ठस्य वस्तुशून्यस्य शब्दज्ञानानुपातिनः ज्ञानविशेषस्योत्पत्तौ प्रतिबन्धकाभावात्।
7. तत्त्वावलम्बनं प्रतिबन्धकशतैरपि अवस्थाविशेषसहजैः अनिवर्त्यम्।
8. तथा च तस्य सोपानपर्वविशेषत्वमेव, न तु परमावधित्वम्।
9. 'द्रष्टव्यः' इत्युक्तदर्शनविषयिणीत्यर्थः।
10. हृदयासंस्पर्शिनः काल्पनिकज्ञानस्योदयेऽपीत्यर्थः।
11. ब्रह्मास्तित्वब्रह्ममूलत्वनिश्चयासहकृतप्रपञ्चप्रतीतिराहित्यलक्षणेति यावत्।

ब्रह्मेति ॥ यस्य नानाविधनिजहृदयग्रन्थिभेदैकहेतुः[1] सच्चिदात्मावलोकः ब्रह्मैवास्मीति नित्यं नियमेन क्रियमाणात् पूर्वोक्तलक्षणात् नियमात् जायते, यो महान् अनेककोटि-ब्रह्माण्डरूपं निखिलमपि प्रपञ्चं तत्याज प्रतीतिरहितमेवाकार्षीत्, स त्यागी त्यागाख्यक-तृतीयाङ्गवान् योगी निर्गुणपरब्रह्मनिष्ठत्वात् महद्भिः पूज्यः। तथाच श्रुतिः—

[श्रुत्युक्तं त्यागलक्षणम्]

"त्यागः प्रपञ्चरूपस्य सच्चिदात्मावलोकनात्।
त्यागो हि महतां पूज्यः सद्यो मोक्षप्रदायकः॥" इति॥[2]

[प्रकृताङ्गसाधनीयार्थानां पूर्वोक्तार्थवैलक्षण्यम्]

ननु पूर्वश्लोकप्रपञ्चिते द्वितीयाङ्ग एव विजातीयतिरस्काररूपस्य प्रपञ्चत्यागस्य अभिहितत्वात् इह पुनरुक्तिदोषप्रसङ्गः इति चेत्—न। पूर्वत्र सजातीयप्रत्ययानुवृत्तिनिर्देशेन निदिध्यासनाभ्यासस्य अभिहिततया, इह सच्चिदात्मावलोकनशब्देन तदभ्यासावसान-कालीनानुभवनिष्ठायाः अभिहिततया च[3] प्रपञ्चत्यागस्य पुनरुक्तत्वेऽपि अर्थभेदः अवगन्तव्यः।

[त्यागद्वैविध्योपपादनम्]

कथमिति? उच्यते। प्रपञ्चो हि स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधः प्रसिद्धः। तत्र स्थूलप्रपञ्च-त्यागस्य प्राक् निदिध्यासनाभ्यासात् कृतत्वेऽपि पश्चात् सच्चिदात्मावलोकनसमकाले[4] सूक्ष्मप्रपञ्चत्यागस्य क्रियमाणत्वात्[5]। सूक्ष्मप्रपञ्चस्य विजातीयत्वेऽपि तदभिमानिनो ब्रह्मतादात्म्यानुसन्धानात्मकसजातीयप्रत्ययावृत्तिविरोधाभावाच्च। कोटिविष्ण्यण्डानां रूपमिव रूपं यस्य स इति व्युत्पत्त्या सूक्ष्मप्रपञ्चस्यापि विष्ण्यण्डरूपत्वाविशेषेणाविरोधाच्चानवद्यमिति॥

[जीवन्मुक्तस्यापि प्रारब्धदुःखस्यापरिहायता]

नन्वस्य त्यागयोगिनः सच्चिदात्मावलोकनवत्त्वेन भिन्नहृदयग्रन्थिमत्तया जीवन्मुक्त-त्वेऽपि प्रारब्धदुःखाभ्युपगमात्तन्निवर्तकोपरितनानन्दनिष्ठायाः[6] सम्पादनीयत्वात् तत्साधनं किमित्यपेक्षायां चतुर्थश्लोकेनाभिधीयते—

---

1. अत्र 'भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे' इत्यादिकं अनुसन्धेयम्।

2. निदिध्यासनात्मकनियमद्वारा सच्चिदानन्दात्मनः सम्यगवलोकनात् प्रपञ्चरूपस्य त्यागः। विजातीयात्यन्ततिरस्कार एवेत्यर्थः। सोऽयं त्यागः सद्योमोक्षस्य जीवन्मुक्तेः प्रदायकः महतां महद्भिः पूज्यः अवश्यादरणीय इति (भा)। सच्चिदानन्ददृष्टिः अनृतादिप्रपञ्चं ग्रसतीत्यर्थः (उ)।

3. अनेन निर्दिष्टात्मावलोकनं अनुभवात्मकं पूर्वत्र न संभवतीति सूचितम्।

4. अवस्थाविशेषे इति यावत्। भिन्नावस्थासु च भावानुवृत्तिः तत्तदनुभूतार्थस्मरणात्मिकेत्यव-गन्तव्यम्।

5. अत्र 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' इत्यादीन्यनुसन्धेयानि।

6. 'आत्मानमेव वीक्षस्व आत्मानं बोधय स्वकम्। स्वमात्मानं स्वयं भुङ्क्ष्व स्वस्थो भव' इत्युक्तप्रकारेण आनन्दरूपे स्वात्मनि नितरां स्थितिरेव निष्ठेत्युच्यते।

[तदर्थं लौकिकवाङ्मनसागोचरब्रह्मनिष्ठारूपमौनाङ्गीकारविधिः]

जीवन्मुक्तस्य तस्याप्युपरितननिजानन्दानिष्ठोपलब्ध्यै ।
मौनं संप्रापणीयं व्यवहृतिरहितं योगिगम्यं जडस्थम्
अन्यद्वा ब्रह्मवादान्यविषयकमुभेऽप्यात्मविद्योपकारि-
ण्यैकार्थ्यात्तद्दुरापं सहजमुपगतो मौनयोगी तुरीयः ॥ ४ ॥

जीवन्मुक्तस्येति ॥ पूर्वोक्तस्य तस्य जीवन्मुक्तस्यापि प्रारब्धदुःखनिवर्तकोपरितनानन्दनिष्ठायाः उपलब्ध्यै मौनं संप्रापणीयम् । किं लक्षणं तत् ? इत्यत उच्यते—व्यवहृतिरहितमिति । लौकिकवैदिकाशेषव्यवहारवर्जितं योगिगम्यं हठयोगिराजयोगिभ्यामन्यैः प्रकृतज्ञानयोगिभिः प्राप्यम् । किं च जडस्थं नैसर्गिकजाड्यवति जने अवस्थितम् ।

[केवलमूकभावात् जडत्वसमानाधिकरणमूकभावस्यैव उत्तमत्वम्]

ननु—"अन्धवत् जडवच्चैव मूकवच्च महीं चरेत्" इति जडमूकयोः द्वयोरपि ब्रह्मविदुपमानत्वमवगम्यते, तथापि मूकस्यैव मुख्यत्वात् तदनुक्तिदोषप्रसङ्गः इति चेत्— नायं दोषः । मूकस्य हि वाङ्मौने सत्यपि मानसिकसंरम्भो भवति[1] । जडस्य तु तत्संरम्भस्य च अभावात् तदीयं मौनमेव मुख्यं प्रकृतोपमानमिति युक्तमुक्तम् ॥

[द्विविधस्यापि मौनस्य आत्मविद्योपकारिता]

यद्वा ब्रह्मवादेभ्यः अन्ये विषयाः यस्य तत् लौकिकव्यवहारमात्रवर्जितं, अन्यत् संप्रापणीयम् । कुतः ? द्वयोरपि मौनयोः आत्मविद्योपकारित्वसाम्येन एकप्रयोजनकत्वात् । तत् तस्मात् दुरापं दुःखेनाप्तुं योग्यं मौनं सहजमित्यनन्तरविशेषणम् तदुपगतो मौनयोगी तुरीयः चतुर्थाङ्गवानित्यवगन्तव्यम् । तथाहि श्रुतिः —

[श्रौतं मौनलक्षणम्]

"यस्माद्वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह ।
यन्मौनं योगिभिर्गम्यं तद्भवेत् सर्वदा जडैः ॥[2]
वाचो यस्मान्निवर्तन्ते तद्वक्तुं केन शक्यते ।
प्रपञ्चो यदि वक्तव्यः सोऽपि शब्दविवर्जितः ॥[3]

---

1. अत्र 'न मौनान्मुनिरुच्यते' इत्यादिकमनुसन्धेयम् ।

2. वाचः वेदान्तवचांस्यापि मनसा सुतरां शुद्धान्तःकरणेन सहाप्राप्य अनधिगम्य निवर्तन्ते अत्यन्तारूपत्वेन अवाच्यत्वात् अचिन्त्यत्वाच्च । यत् निष्प्रतियोगिकारूपब्रह्मविषयकं मौनं योगिभिः सम्यग् ज्ञानयोगविद्भिः लयकाले गम्यं तत् मूकसदृशैः जडैः गम्यं भवेत् इति लौकिकदृष्टान्तः (भा) ।

3. ननु उक्तं मौनं अज्ञैः वक्तुमशक्यमपि तदज्ञैः वक्तुं शक्यं इत्यत आह— वाच इति । वाचः यस्मात् मौनात् निवर्तन्ते । नश्यन्तीत्यर्थः तत् केन वक्तुं शक्यते ? तदज्ञैरपि प्रक्षीणवचस्त्वात्

इति वा तद्भवेन्मौनं सर्वं सहजसंस्थितम्।[1]
गिरा मौनं तु बालानां अयुक्तं ब्रह्मवादिनाम्[2]॥

इति।

नन्विह द्वितीयपक्षेऽपि अवाङ्मनसगोचरारूपब्रह्मपरत्वमेव मौनस्यावगम्यते, न तु वाचिकपरत्वं मानसिकपरत्वं वेति चेत्— नैष दोषः। लौकिकवाङ्मनसागोचरचिद्रूप ब्रह्मनिष्ठात्मकमौनस्यैवविवक्षितत्वेन वाचिकमानसिकपरत्वाविरोधात्। "गिरा मौनं तु बालानां" इत्यनेन हि वाङ्मौनमात्रस्य निषेधः अभिप्रेयते। तस्मात् नारूपब्रह्मपरं[3] इति युक्तम्॥

[उक्तयोगाभ्यासानुवृत्त्यङ्गदेशविधिः]

ननु प्रतिपादितलक्षणमौनवतः जीवन्मुक्तत्वेनारूढत्वेऽपि उपरितनाभ्यासाभ्युपगमात् तदनुकूलो विजनदेशः अवश्याश्रयणीयः इत्याशङ्कायां इदमुच्यते—

अभ्यासारम्भकाले तदवधिसमये मध्यकाले च यस्मिन्
ब्रह्मण्यद्वैतबोधे न भवति हि जनः कोऽपि यद्व्याप्समेतत्।
तद्ब्रह्मैव प्रदेशः स्ववसतिविषयः संबभूवेह यस्या-
रण्यं भूभृद्गुहा वा न नियमितमयं पञ्चमो देशयोगी॥५॥

अभ्यासारम्भेति॥ उपरितनाभ्यासो हि जीवन्मुक्तस्य निर्विकल्पसमाधिः, तस्यारम्भकाले तत्समाप्तिसमये मध्यकाले च अनुभूयमाने अद्वैतबोधे यस्मिन् ब्रह्मणि कोपि जनो न भवति,

"यत्र नान्यत् पश्यति नान्यत् शृणोति नान्यद्विजाति स भूमा।"[4]
"नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा श्रोता मन्ता विज्ञाता।"[5]

---

वक्तुमशक्यमिति। यद्यपि प्रपञ्चः वक्तव्यः वक्तुं शक्यः। नामरूपवत्वात् सो पि वेदशब्दविवर्जितस्सन्नेव वाच्यः। ननु सुषुप्तः उत्थितेनेव मौनात् उक्तलक्षणात् उत्थितेन मौनलक्षणं वक्तुं शक्यमिति चेत्—न। सुषुप्तवचसामविनाशित्वेन उत्थितस्य 'सुखमहमस्वाप्सम' इति प्रत्ययशब्दौ उपपद्येते, न तु उक्तमौनात् उत्थितस्य। पूर्ववचसां सरूपनष्टत्वादिति। (भा) प्रथमपक्षे जडैः वागादिकरणैः स्वस्वव्यापृत्युपरमणं मौनमित्युक्तम्। द्वितीयपक्षे तु स्वातिरिक्तयोः निष्प्रतियोगिकभावाभावरूपतया निर्वक्तुमशक्यत्वात्। प्रथमपर्यायगदितमौनं तु बालानां, न ब्रह्मविदामस्ति। (उ)

1. अथ मौनस्य पक्षान्तरमाह— इतीति। सप्रतियोगिकब्रह्मसहजबोधाख्यं मौनमिति वा भवेत्। मनोवागादिविलय एव मौनमिति नियमाभावः इत्यभिप्रायः। वाचा केवलं मौनं तु बालानां अब्रह्मविदामेव युक्तम्। तत्तु ब्रह्मवादिनां अयुक्तम्। मनोमौनस्यैव ब्रह्मवादिभिः सम्पादनीयत्वादिति। (भा)

2. अत्र— 'यतो निर्विषयस्यास्य मनसो मुक्तिरिष्यते। अतो निर्विषयं नित्यं मनः कार्यं मुमुक्षुणा। निरस्तविषयासङ्गं संनिरुद्धं मनो यदि। यदि यात्यात्मनो भावं तदा तत्परमं पदम्। तावदेव निरोद्धव्यं यावद्धृदि गतं क्षयम्। एतद् ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः॥' इति अमृतबिन्दूपनिषदप्यनुसन्धेया॥

3. निषेधवाक्यमिति शेषः।

4. यस्मिन् ब्रह्मणि अनुभूयमाने तद्व्यतिरिक्तं किमपि सुखत्वेन न पश्यति न शृणोति न च विजानाति स एव भूमा, अन्यच्च अल्पमित्यर्थः (छां 7-23)।

5. बृहदारण्यके (5-7-2)

इति चैवंजातीयकश्रुतिभ्यो ब्रह्मेतरस्य सर्वस्य[1] निषिद्धत्वात् । एतत् परिदृश्यमानं सर्वं जगच्च यत् व्याप्तं तत् सत्यज्ञानानन्तलक्षणं ब्रह्मैव प्रदेशः। विजातीयतिरस्कारमात्रेण ब्रह्मव्यतिरिक्तभूप्रदेशानुपलम्भात् विविक्तदेशश्रुतिः[2] गौणी मन्तव्येत्यभिप्रायः॥ सः ब्रह्मप्रदेश एव यस्य स्ववसतिविषयः स्वस्य कूटस्थस्य तादात्म्येन वसतेर्विषयः संबभूव। यस्य जीवन्मुक्तिपदारूढत्वेन सहजाभ्यासयोग्यतया स्वैकान्ताभ्यासार्थकं विजनस्थलभूतमरण्यं भूभृद् गुहा वा न नियमितं स्ववसतिविषयत्वेन न विहितम्, अयं देशयोगी पञ्चमः ॥

[श्रौतं देशलक्षणम्]

"आदावन्ते च मध्ये च जनो यस्मिन् न विद्यते ।
येनेदं सततं व्याप्तं स देशो विजनः स्मृतः ॥" इति ।[3]

[योगाभ्यासौपयिकदेशविशेषनिषेधस्य श्रुतिविरोधाशङ्का]

ननु अन्नपूर्णोपनिषदि माण्डव्याख्यो महर्षिः कौण्डिन्याख्यात् महर्षेः जीवन्मुक्तिपदं प्राप्यापि प्रारब्धदुखासहिष्णुः सुमेरोः वसुधापीठे बद्धपद्मासनः सन् समाध्यभ्यासेन शिशुज्ञानसदृशीं विदेहमुक्तिं प्राप्तवानित्यवगम्यते[4]। तत्रैवं सति कथं अरण्यादिविजनस्थलप्रतिषेधः उपपद्यते? —

[तादृशदेशविशेषनैयत्यस्य श्रुत्यनभिप्रेतता]

अत्रोच्यते— न हि अरण्यादिस्थलान्येव विजनानि स्युः इति नियमोऽस्ति। ग्रामपत्तनादिस्थलेष्वपि विजनानां गृहादीनां विद्यमानत्वात्। न च माण्डव्यवत् सुमेरुवसुधापीठमेवान्यैरपि विदेहमुमुक्षुभिराश्रयणीयमिति नियमोऽस्ति। वृक्षमूलकुलालशालाऽग्निहोत्रशालाऽऽदीनामपि स्थलान्तराणां श्रुत्यैव विहितत्वात्।

[योगिनः स्वैरविहाराशङ्कापरिहारौ]

ननु ब्रह्मण एव प्रदेशस्य स्ववसतिविषयत्वाभ्युपगमेन विविक्तदेशश्रुतेः गौणीत्वकल्पनेन च जीवन्मुक्तस्य स्वैरविहार एव प्रसज्येत[5]। इति चेत्— न। समाध्यभ्यासकालेषु

1. तत्समानधर्मणः इत्यर्थः।

2. अत्र—'योगी युञ्जीत सततं आत्मानं रहसि स्थितः। एकाकी यतचित्तात्मा निरशीरपरिग्रहः। शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः। नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम्। तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रिय क्रियः। उपविश्यासने युञ्ज्यात् योगमात्मविशुद्धये' इत्यादिकं, 'विविक्तदेशमास्थाय सर्वसम्बन्धवर्जितः। योगाङ्गद्रव्यसम्पूर्णे तत्र दारुमये शुभे।' (त्रि. ब्रा. 89) इत्यादिकं च अनुसन्धेयम्।

3. यस्मिन् सच्चिदानन्दब्रह्मप्रदेशे आद्यन्तमध्येषु च जनो न विद्यते, येन च ब्रह्मप्रदेशेन इदं सर्वं जगत् व्याप्तं सः निर्गुणब्रह्मप्रदेश एव विजनः देशः स्मृतः (भा) तादृशदेशो ब्रह्मैवेत्यर्थः (उ)।

4. अत्र—"सुमेरोर्वसुधापीठे माण्डव्यो नाम वै मुनिः। कौण्डिन्यात् तत्त्वमास्थाय जीवन्मुक्तो भवत्यसौ। जीवन्मुक्तिदशां प्राप्य कदाचित् ब्रह्मवित्तमः। सर्वेन्द्रियाणि संहर्तुं मनश्चक्रे महामुनिः। बद्धपद्मासनस्तिष्ठन् अर्धोन्मीलितलोचनः। बाह्यानाभ्यन्तरांश्चैव स्पर्शान् परिहरन् शनैः॥" इत्यादिकं अनुसन्धेयम्।

5. बाह्यतो यस्य कस्यापि नियमस्य तिरस्कारे सति स्वैरविहार एव पर्यवसानादिति भावः।

यत्रकुत्रापि भूप्रदेशे विविक्तेऽवस्थितस्यापि जीवन्मुक्तदेहस्य व्यवहारकालेषु अपरिप्लुतब्रह्मप्रज्ञावत्तया निरन्तरात्मबोधवत्त्वेन सहजबोधवशात् भूप्रदेशोपवेशनैदंपर्यवर्जनमात्राभिप्रायत्वात्। तस्मात् न जीवन्मुक्तस्य स्वैरविहारोऽदोषायेति मन्तव्यम्[1] ॥

[योगाभ्यासपरिवर्धनानुगुणकालनिर्देशः]

तर्हि अस्मात् पञ्चमयोगिभोऽन्यः षष्ठः किंलक्षणः ? इत्यपेक्षायां इदमुच्यते—

ब्रह्मादीनां अहन्तानिलयभववतां कल्पनाऽभून्निमेषात्
भूतानां यत्सकाशात् कुटिलगतिमतां तारतम्यं गतानाम्।
यच्च ज्योतिस्स्वरूपं श्रुतिशतगदितं निष्कळानन्दमेकं
कालाख्यं ब्रह्म तत्र प्रकृतिमुपगतः कालयोगी तु षष्ठः ॥ ६ ॥

ब्रह्मेति ॥ अहन्तायाः आस्पदं भवः संसारः एषां अस्तीति तद्वतां कुटिलगतिमतां वक्रचरित्राणां उत्तमाधमभावेन तारतम्यं गतानां चतुर्मुखब्रह्मादीनां प्राणिनां कल्पना सृष्टिः निमेषात् झटिति यत्सकाशात् यस्य समीपात् अभूत् यच्च ज्योतिस्स्वरूपत्वाद्युक्तलक्षणं कालसंज्ञं ब्रह्म प्रसिद्धं तत्र ब्रह्मणि प्रकृतिं स्वभावमुपगतः निर्गुणब्रह्मतादात्म्यं प्राप्तः कालयोगी षष्ठः ॥

[श्रौतं काललक्षणम्]

अत्र श्रुतिः—

"कल्पना सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां निमेषतः।
कालशब्देन निर्दिष्टं ह्यखण्डानन्दमद्वयम् ॥" इति ॥[2]

[ब्रह्मणः कालरूपत्वानुपपत्तिशङ्का]

ननु—

"कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनिः पुरुष इति चिन्त्यम्।
संयोग एषां न त्वात्मभावात् आत्माऽप्यनीशः सुखदुःखहेतोः ॥"

---

1. अत्र स्वैरविहारो न दोषायेत्यपि भाव्यम्। लौकिकदृष्ट्या स्वैरत्वे पि तादृशव्यक्तिदृष्ट्या स्वैरत्वाभावात्। ब्रह्मभावाच्च्यवनप्रसङ्गादर्शनात्। अत्र— 'जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः। केनापि देवेन हृदि स्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि' "स्वैरं स्वैरविहरणं तत्संसरणम्। साम्बरा दिगम्बरा वा, न तेषां धर्माधर्मौ न मेध्यामेध्यौ" (अव. 5) इत्यादिकमप्यनुसन्धेयम्।

2. चतुर्मुखब्रह्मादीनां सर्वप्राणिनां कल्पना यस्मात् भवति तत् अखण्डानन्दं ब्रह्मैव कालशब्देन निर्दिष्टम् (भा) यदज्ञाननिमेषविकल्पितं निखिलं तदधिकरणं ब्रह्म कालशब्दवाच्यम् (उ)।

3. सर्वस्यापि कारणं किमिति प्रश्नः—कालज्ञाः कालं, लोकायतिकाः स्वभावं, मीमांसकाः नियतिलक्षणं कर्मैव, केचित् अहेतुकत्वलक्षणं यादृच्छिकत्वं, अपरे पञ्चभूतानि, केचन प्रकृतिं, केचन पुरुषं च सर्वकारणमाहुः। तत् सर्वं चिन्त्यमेव, अचेतनानां चेतनस्य च प्रत्येकं कारणत्वासंभवात्। ननु प्रत्येकस्य कारणत्वासम्भवेऽपि एषां संयोग एव कारणं भवतु, संयोजकस्य आत्मनः सद्भावात्, इति चेन्न। अनिच्छयाऽपि सुखदुःखभोक्तुः आत्मनः अत्र स्वातन्त्र्येणेशितृत्वानुपपत्तेः इति मुनयः समालोचयामासुरित्यर्थः। (श्वेताश्व 1-2)

इति श्वेताश्वतरोपनिषदि कालादीनां कारणत्वं प्रतिषिध्य —

"ते ध्यानयोगानुगताः अपश्यन्
देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् ॥"[1]

इति देवात्मशक्तेः कारणत्वं प्रतिपादितम्। एतेन ब्रह्मणः कालातीतत्वमेव अवगम्यते, न तु कालाख्यत्वम्।

[ब्रह्मात्मकस्य कालस्य योगाङ्गत्वानुपपत्तिशङ्का]

न च उक्तलक्षणस्य कालस्य योगाङ्गत्वमुपपद्यते। योगाभ्यासास्य सन्ध्ययोरुभयोरपि नियमेन कर्तव्यत्वविधानात्। उक्तपूर्वाणां यमादीनां अङ्गानामिव प्रकृताङ्गस्य च ब्रह्मपरत्वादनेन योगशास्त्रप्रसिद्धाङ्गप्रतिषेधवशात् मुमुक्षूणां अभ्यासप्रवृत्तिवैमुख्यं तेन स्वेच्छाचारश्च निरङ्कुशौ प्रसज्येयाताम्।

[उक्तसर्वब्रह्मवादस्य केवलयोगशास्त्रदूषणार्थत्वाशङ्का]

न च "सर्वं ब्रह्म" इति वादैः अवगतिभिर्वा कश्चित् कृतार्थो भवितुमर्हति[2]। तस्मात् योगशास्त्रदूषणार्थमेवेदं प्रकरणं प्रवृत्तं[3] इति प्राप्ते, इदमुच्यते—

[उक्तांशस्य सर्वत्र ब्रह्मानुभवनिष्ठासम्पादनावश्यकतापरत्वम्]

न ह्यनेन प्रकरणेन योगशास्त्रं दूष्यते इति स्वप्नेऽपि शङ्क्यम्[4]। यथाशास्त्रं सन्ध्याद्वयाभ्यासद्वारा निर्गुणपरब्रह्मानुभूतिनिष्ठत्वेन ब्रह्मवादावगतिमात्रनिष्ठत्वाशङ्काऽनुपपत्तेः[5]। न च प्रकृतकालयोगिनः यमादिपूर्वोक्ताङ्गिनां वा स्वेच्छाचारगन्धोऽपि भवितुमर्हति।

[आरूढारुरुक्षुभेदेन विषयनिर्णयावश्यकता]

यद्यपि प्रकृताङ्गानां ब्रह्मपरत्वापादनेन योगशास्त्रप्रसिद्धाङ्गप्रतिषेधो भवति। तथापि जीवन्मुक्तपरत्वात् जीवन्मुमुक्षूणां न तत्राभ्यासप्रवृत्तिवैमुख्यं भवितुमर्हति[6]। यथा चावधूतोपनिषदि—

"शृण्वन्त्वज्ञाततत्त्वास्ते जानन् कस्मात् शृणोम्यहम् ॥"[7]

इत्यादिवचनैः श्रवणादीनां ब्रह्मविद्यासाधनानां आरूढपरत्वेन प्रतिषिद्धत्वेऽपि आरुरुक्षुपरत्वेन अप्रतिषेधो भवति, तथा अत्रापि इत्यवगन्तव्यम् ॥

---

1. एवं ध्यानयोगयुक्ताः मुनयः अन्ततः— यः उक्तकालात्मयुक्तानि निखिलानि कारणानि अधितिष्ठति एकः, तादृशं महाशक्तिसंवलितं ज्योतीरूपं परमात्मानं दृष्टवन्तः इत्यर्थः।
2. हृदयानारूढविषयप्रतिपादनेन प्रयोजनाभावादिति भावः।
3. योगशास्त्रे तु अभ्याससौलभ्यपरिपूर्णान्येवाङ्गानि प्रतिपादितानीति भावः।
4. योगशास्त्राण्याधारीकृत्यैवास्य प्रकरणस्य प्रवृत्तत्वादिति यावत्।
5. यथावस्थितानुभवजनकक्रियाणामेवात्र निर्देशात्।
6. तथा च योगशास्त्रस्य जीवन्मुमुक्षुविषयत्वमिति ध्येयम्।
7. साङ्कृतिर्हि दत्तात्रेयं परिसमेत्य अवधूतलक्षणं प्रपच्छ। तदा भगवान् दत्तात्रेयः—'अक्षरत्वात वरेण्यत्वात् धूतसंसारबन्धनात्, तत्त्वमस्यादिलक्ष्यात्वाच्च अवधूत इतीर्यते। यो विलङ्घ्याश्रमान् वर्णान् आत्मन्येव स्थितः सदा। अतिवर्णाश्रमी योगी अवधूतः स कथ्यते।' इति अवधूतलक्षणं प्रतिपाद्य, तदीयां कृतकृत्यतां तदीयं भावसौंदर्यं च वर्णयन् एवमाह— शृण्वन्त्वित्यादि। अवधूतस्य धन्यस्य कर्तव्यं किमपि नास्तीति यावत।

[ब्रह्मणः कालरूपतोपपत्तिः]

कालातीतस्यापि ब्रह्मणः कालाख्या तु, आकाशातीतस्यपि ब्रह्मणः आकाशाख्येव[1] अनवद्या ॥

[सहजसिद्धासनस्वरूपम्, योगशास्त्रोक्तासनस्य अप्रयोजकता च]

तर्हि सप्तमयोगी कः? इत्यतः उच्यते—

पद्मादीन्यासनानि श्रुतिषु निगदितान्यप्यनावश्यकानि
ब्रह्मात्मैकत्वनिष्ठावत इह तु यतो ब्रह्मणोऽजस्रचिन्ता ।
सिध्यत्यायासलेशं क्वचिदपि च विना जारचिन्तेव नार्याः
संप्रोक्तं ह्यासनं तच्चरणविरहितं सप्तमस्तत्र योगी ॥ ७ ॥

पद्मेति ॥

"स्वस्तिकं गोमुखं पद्मं वीरसिंहासने तथा ।"[2]

इत्यादिश्रुतिषु निगदितानि प्रोक्तान्यपि पद्मादीन्यासनानि ब्रह्मात्मैकत्वनिष्ठावतः ज्ञानयोगारूढस्य अनावश्यकानि । कुतः? यतः इह देहे विद्यमानस्यापि तस्य क्वचिदपि आयासलेशमपि विना अजस्रब्रह्मचिन्ता सिध्यति । सहजानुभूतिमत्त्वेन सार्वकालिकब्रह्मस्मरणवत्तया आसननैरपेक्ष्यादिति भावः । कथं अजस्रचिन्ता? इत्यत्र सदृष्टान्तमुच्यते— नार्याः चोरभर्तृध्यानमिवेति । तदिदं अजस्रब्रह्मचिन्तात्मकं आसनं—

"जानूर्वोरन्तरे कृत्वा सम्यक् पादतले उभे ॥"[3]

इत्यादिश्रुत्युक्तचरणविरहितं अनुष्ठानविहीनं संप्रोक्तं हि। तत्रासने योगी युक्तः सप्तमः ॥

[ब्रह्मचिन्तनस्यैव सुखासनत्वं सिद्धासनत्वं च]

ब्रह्मणः सुखरूपत्वात् तच्चिन्तात्मकं आसनमेव सुखासनमिति तस्मिन् ब्रह्मणि सिद्धिं गतत्वात् सिद्धासनमिति चावगन्तव्यम्[4]।

---

1. अत्र 'अनिर्वचनीयज्योतिः सर्वव्यापकं निरतिशयानन्दलक्षणं परमाकाशं' इत्यादिकं अनुसन्धेयम् (मं. ब्रा. 4-3)

2. 'भद्रं मुक्तासनं चैव मयूरासनमेव च । सुखासनं समाख्यं च नवमं मुनिपुङ्गव' इति तच्छेषः (दर्शनो. 3-1)

3. समग्रीवशिरःकायः स्वस्तिकं नित्यमभ्यसेत्' इति तदुत्तरार्धम् (दर्शनो. 3-3) एवमेवात्र नवानामपि आसनानां लक्षणं प्रतिपादितम् ।

4. योगशास्त्रे तु—'स्थिरसुखमासनम् । तद्यथा पद्मासनं वीरासनं भद्रासनमित्यादि । प्रयत्नोपरमात् सिध्यत्यासनम्, येन नाङ्गमेजयो भवति, अनन्ते वा समापन्नंचित्तं आसनं निर्वर्तयतीति । शीतोष्णादिभिः द्वन्द्वैः आसनजयात् नाभिभूयते । सत्यासनजये प्राणायामसिद्धिः' इत्याद्युक्तम् ।

[श्रौतं एतदासनलक्षणम्]

तथा च श्रुतिः —

"सुखेनैव भवेद्यस्मिन् अजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
आसनं तद्विजानीयात् अन्यत् सुखविनाशनम्॥"[1]

इति।

"सिद्धये सर्वभूतादिविश्वाधिष्ठानमद्वयम्।
यस्मिन् सिद्धिं गताः सिद्धाः तत् सिद्धासनमुच्यते॥"[2]

इति च॥

[ब्रह्माकारपरिणामिचित्तसम्पादनरूपमूलबन्धोपपादनम्]

तर्हि अष्टमयोगी कः? इत्यत्रोच्यते—

"मूले यस्मिन् परस्मिन् त्रिगुणविरहिते बध्यते ब्रह्मणि द्राक्
ब्रह्माकारं विशुद्धं प्रबलपरिचयात् चित्तमेकान्तदृष्ट्या।
सेव्योऽयं मूलबन्धः सततमपि परब्रह्मविद्भिर्महद्भिः
श्रद्धामन्यत्र हित्वा हठविषय इमं योऽभ्यसेदष्टमः स्यात्॥८॥

मूलइति॥ सकलजगत्कारणीभूते निर्गुणे यस्मिन् परब्रह्मणि ब्रह्माकारं अत एव विशुद्धं चित्तं प्रबलपरिचयात् दृढतराखण्डैकरसाभ्यासात् बध्यते ब्रह्माकारपरिणामवशात् विषयव्यापारहीनं भवतीति भावः। अयं मूलबन्धः परब्रह्मविद्भिः जीवन्मुक्तैः महद्भिः सततं अनवरतमपि एकान्तदृष्ट्या निर्विकल्पादिसमाध्यात्मकरहस्यावलोकनेन सेव्यः अभ्यसनीयः।

[श्रौतं मूलबन्धलक्षणम्]

तथा च श्रुतिः —

"यन्मूलं सर्वलोकानां यन्मूलं चित्तबन्धनम्।
मूलबन्धः सदा सेव्यः योग्योऽसौ ब्रह्मवादिनाम॥"[3]

इति॥

---

1. एवं यमनियमौ अङ्गभूतौ उपाङ्गभूतान् त्यागादींश्च उक्त्वा अथासनलक्षणमाह—सुखेनेति। यस्मिन् आसने स्थितस्य अजस्रं सर्वदा ब्रह्मचिन्तनं परब्रह्माभिध्यानं सुखेन अनायासेनैव भवेत् तदेवासनमिति विजानीयात्। अन्यत्तु स्वस्तिकाद्यासनं सुखविनाशनमेव स्यात्। (भा)

2. ननु सिद्धासनस्य सुखनिमित्तत्वात् अवश्यसम्पादनीयमित्यतः सिद्धासनं च वैलक्षण्येनाह— सिद्धये इति। सर्वभूतादेः विश्वस्य प्रपञ्चस्य अधिष्ठानं, अद्वयमिति षष्ठ्यर्थे द्वितीया, तस्य ब्रह्मणः सिद्धये प्राप्त्यै तस्मिन् ब्रह्मणि सिद्धाः सम्यग्दर्शिनः सिद्धिं प्राप्तिं गताः इति यत् तत् सिद्धासनमित्युच्यते। अतः इह अणिमादिसिद्धितदासनाद्यनवकाशः इति भावः। (भा) ध्यानानुकूलं सुखासनं, सिद्धसिद्धिदं ब्रह्म सिद्धासनं च न ह्युक्तलक्षणम्। (उ)

3. हठयोगिभिः यः मूलबन्धः क्रियते तद्विलक्षणं मूलबन्धमाह— यदिति। यत् सर्वलोकानां मूलं कारणं, चित्तबन्धनम् यन्मूलं, यत्कारणकम्, यद्वा चित्तबन्धनस्य यन्मूलमिति तद् ब्रह्मैव मूलबन्धः। योग्यः असावेव ब्रह्मवादिभिः सदा सेव्यः। नतु अपानादिबन्धः। अत्र राजयोगिनामिति पाठान्तरम्। (भा) सर्वकारणं ब्रह्मैव मूलबन्धः नत्वाकुञ्चनादिः। अयं च राजयोगिनां, न तु हठयोगिनाम्। (उ)

[हठयोगोक्तमूलबन्धस्य त्याज्यता]

योऽन्यत्र हठयोगविषये मूलबन्धे—

"गुदं पाष्ण्या तु संपीड्य वायुमाकुञ्चयेत् बलात् ।
वारंवारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥"[1]

इति योगशिखोपनिषत्प्रोक्ते लक्षणे श्रद्धां हित्वा इमं ज्ञानयोगविषयं मूलबन्धं उक्तलक्षणमभ्यसेत, अयं अष्टमः मूलबन्धाख्यकाष्टमाङ्गवान् स्यात ॥

[ब्रह्मसाम्यात्मकदेहसाम्योपपादनम्]

तर्हि नवमाङ्गवान् योगी किंलक्षणः? इत्यपेक्षायां इदमुच्यते —

"साम्यं ब्रह्मण्यखण्डे रसवति परमे भूम्नि नैसर्गिकं हि
प्राप्नोत्यत्रैवविद्वान् नियतपरिचयात नीयमानोऽङ्गसाम्यम् ।
ग्रीवादीनां समत्वं न कृतमितरथा शुष्कवृक्षार्जवं वा
योऽजस्राभ्यासयोगी नवम इह महान् देहसाम्यं गतोऽयं ॥ ९ ॥

साम्यमिति ॥ नियतपरिचयात् अङ्गसाम्यं नीयमानः विद्वान् अखण्डे रसवति परमे भूम्नि ब्रह्मणि नैसर्गिकं साम्यं अत्रैव प्राप्नोति हि । इतरथा शुष्कवृक्षार्जवमिव ग्रीवादीनां समत्वं न कृतं स्यात् । यः इह अजस्रं ब्रह्माभ्यासयोगी नवमः देहसाम्यं गतोऽयं महान् इत्यन्वयः ।

[तस्य श्रौतं लक्षणम्]

अत्र श्रुतिः —

"अङ्गानां समतां विद्यात् समे ब्रह्मणि नीयते (लीयते)।
नो चेत् नैव समानत्वं ऋजुत्वं शुष्कवृक्षवत् ॥"[2]

स्पष्टोऽर्थः ॥

[ब्रह्मदृष्ट्यात्मकदृक्स्थितिस्वरूपविवरणम्]

तर्हि दशमाङ्गवान् कः? इत्यत्रोच्यते—

पूर्वोक्तब्रह्मदृष्टिं सहजरसमयीं दुर्लभामेव कृत्वा
पश्येत् सर्वं जगच्च क्षरमसदखिलप्राणिमद्ब्रह्मरूपम् ।
सोदारा दृष्टिरेका त्रिपुटिविरहिता स्वानुभूत्यैकगम्या
नासाग्रालोकनी न प्रभवति दशमः पूर्णदृष्टिर्हि योगी ॥ १० ॥

---

1. योगशिखोपनिषत् (1-104) पायुमाकुञ्चयेदिति पाठान्तरम् । एतदनुगुणमेव 'अपानमूर्ध्वमाकृष्य' इति योगचूडामण्यादिः ।

2. ऋजुकायशिरोभावः इत्यादियोगशास्त्रोक्तार्थविलक्षणमाह— अङ्गानामिति । अङ्गानां अन्तरङ्गादीनां समतां समे ब्रह्मणि विद्यात् । तत्र नो विद्याच्चेत् तदा नैवाङ्गानां समानत्वं नीयते । ब्रह्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य च असमत्वात् । तत्र दृष्टान्तमाह— यथा शुष्कस्य वक्रस्य वृक्षस्य ऋजुत्वं न कथञ्चन नीयते तद्वदिति । (भा) स्थूलादिदेहानां समे ब्रह्मणि विलयभावः समता न हि स्तम्भवत् ऋजुतेत्यर्थः (उ) अत्र लीयते इति पाठान्तरम् ।

पूर्वोक्तेति ॥ सहजरसमयीं अखण्डैकरससहजानुभवस्वरूपिणीं मनुष्यसहस्रेषु केनचिल्लभ्यत्वेन दुर्लभां च पूर्वोक्तनिर्गुणब्रह्मदृष्टिं कृत्वा क्षरं विनाशि असत् अनृतं अखिल-प्राणिमत् सर्वजीववत् सर्वं जगत् कर्मभूतं ब्रह्मरूपमित्यनन्तरविशेषणं पश्येत् । सा दृष्टिः उदारा गम्भीरा एका सर्वदृष्ट्युत्तमत्वेन मुख्या अद्वितीया वा त्रिपुटिविरहिता दृष्टिदर्शन-दृश्यादि भेदविहीना स्वानुभूत्येकगम्या परमात्मानुभवैकप्राप्या प्रभवति । न तु नासाग्रालोकनी, नासाग्रदर्शनस्य भ्रूमध्यगतखण्डज्योतिराविष्कारमात्रहेतुत्वेन अखण्ड-ज्योतिरनुभवहेतुत्वानुपपत्तेः । सोऽयं पूर्णदृष्टिः सर्वगतपरमात्मदर्शनवान् योगी दशमः इति ।

[श्रौतं दृक्स्थितिलक्षणम्]

अत्र श्रुतिः —

"दृष्टिं ज्ञानमयीं कृत्वा पश्येत् ब्रह्ममयं जगत् ।
सा दृष्टिः परमोदारा न नासाग्रावलोकिनी ॥
दृष्टिदर्शनदृश्यानां विरामो यत्र वा भवेत् ।
दृष्टिः तत्रैव कर्तव्या न नासाग्रावलोकिनी ॥ " इति ॥[1]

अनेन राजयोगोऽपि पूर्वपक्षे अभिप्रेतः इति मन्तव्यम् ॥

[प्राणवृत्तिनैश्चल्यरूपप्राणायामस्वरूपम्]

तर्हि एकादशतमो योगी कः ? इत्यपेक्षायां उच्यते —

आभासानां निषेधं मुहुरपि जगतां रेचकं प्राहुरेके
ब्रह्मैवास्मीति चिन्तां सहजमनुसृतां पूरकं कुम्भकं तु ।
वृत्तीनां निश्चलत्वं स्वयमनुभवतः प्राणचित्ताश्रयाणां
प्राणायामोऽयमेकादशतम इह न घ्राणपीडात्मयोगे ॥ ११ ॥

आभासानामिति ॥ प्रातिभासिकजगतां निषेधः रेचकः । ब्रह्मात्मैक्यसहजचिन्तनं पूरकः । वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः[2] । एते त्रयोऽपि परमात्मानुभवात् स्वयमेव भवन्तीति

---

1. ननु योगिभिः नासाग्रे दृष्टिः क्रियते । सैव इहापि ज्ञानयोगे स्यात् इत्यत आह—दृष्टिमिति । ब्रह्माकारमनोवृत्तिज्ञानमयीं दृष्टिं कृत्वा सर्वं जगत् ब्रह्ममयं एकरसब्रह्मस्वरूपं पश्येत् सा दृष्टिः परमोदारा अतिगम्भीरा स्यात् । न तु नासाग्रावलोकिनी । अनया हि दृष्ट्या चैतन्यांशस्फूर्तिः केवलं भवेत् । न तु अखण्डचैतन्यस्फूर्तिः इत्यतः इह ज्ञानयोगे नासाग्रावलोकिनी अनुपयुक्तैवेति ॥ पक्षान्तरमाह द्रष्टृति । द्रष्टा प्रत्यगात्मा, दर्शनं बुद्धिवृत्तिविशेषः, दृश्यं परब्रह्म । त्रयाणामेषां विरामः यत्र भवेत् तत्र निष्प्रति-योगिकब्रह्मणि सप्रतियोगिकब्रह्मद्वारेणैव दृष्टिः कर्तव्या, न तु नासाग्रावलोकानी । पूर्णफलजनकत्वात् । (भा) स्वाज्ञदृष्टिः स्वातिरिक्तं जगत् पश्यति, सर्वाधिकरणदृष्टिः स्वज्ञः परमार्थदृष्टिः ब्रह्ममात्रवित् । तेन दृश्यादित्रिपुट्यपह्नवसिद्धे ब्रह्मणि स्वमात्रदृष्टिः कार्येत्यर्थः (उ)

2. दर्शनोपनिषदादिषु तु—'बाह्यादापूरणं वायोः उदरे पूरको हि सः । सम्पूर्णकुम्भवद्वायोः धारणं कुम्भको भवेत् । बहिर्विरोचनं वायोः उदराद्रेचकः स्मृतः' इत्याद्युक्तम् । (6-13)

महान्त आहुः । अयं रेचकादित्रयलक्षणः प्राणायामः[1] एकादशतमः । इहात्मयोगे घ्राणपीडा न । घ्राणपीडानपेक्षमेव प्राणवृत्तीनां चित्तवृत्तीनां च समकालनैश्चल्यं सिध्यतीत्यभिप्रायः ।

[श्रौतं प्राणायामलक्षणम्]

अत्र श्रुतिः —

"चित्तादिसर्वभावेषु ब्रह्मत्वेनैव भावनात् ।
निरोधः सर्ववृत्तीनां प्राणायामः स उच्यते ।[2]
निषेधनं प्रपञ्चस्य रेचकाख्यः समीरितः ।
ब्रह्मैवास्मीति या वृत्तिः पूरको वायुरुच्यते ।[3]
तयोः तद्वृत्तिनैश्चल्यं कुम्भकः प्राणसंयमः ।
अयं चापि प्रबुद्धानां, अज्ञानां घ्राणपीडनम् ।"

इति ॥

[विषयेष्वप्यात्मभावेन चित्तरञ्जनरूपप्रत्याहारविवरणम्]

तर्हि द्वादशतमो योगी कः ? इत्यतः उच्यते —

दृष्ट्वा यो दग्धवस्त्रादिकमिव विषयेष्वात्मतां जायमानां
चित्तस्यात्मैक्यविष्फूर्त्यनुसरणवशात् रञ्जनं साधु कुर्वन् ।
किंचित् किंचिच्च मध्ये विषयरत इव व्यापृतो निर्विकारः
प्रत्याहारैकनिष्ठो जयति सुधिवरो द्वादशाङ्ग्येव योगी ॥ १२ ॥

दृष्ट्वेति ॥ यः विषयेषु देहेन्द्रियादिषु दग्धवस्त्रादिकमिव प्रातिभासिकतया जायमानां, आत्मगतां दृष्ट्वा आत्मैक्यविष्फूर्त्यनुसरणवशात् ब्रह्मात्मैकत्वस्फूरणानुसरण-पारवश्येन चित्तस्य रञ्जनं मनोलालनं साधु सम्यक् कुर्वन् सन् मध्ये कदाचित्

---

1. अमृतनादोपनिषदि उक्तार्थेन साकं — 'सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिः पठेदायतप्राणः प्राणायामः स उच्यते' इत्यप्युक्तम् । श्वासप्रश्वासयोः गतिविच्छेदः प्राणायामः इति योगसूत्रम् । (2-49)

2. अथ प्राणायामलक्षणमाह चित्तादीति । चित्तादिषु सर्वविकारेषु ब्रह्मत्वेन सप्रतियोगिक-ब्रह्मत्वेनैव भावनात् नामरूपपरित्यागद्वारा सच्चिदानन्दस्वरूपावधारणात् इत्यर्थः । बाह्याभ्यन्तर-सर्वेन्द्रियवृत्तीनां निरोध एव प्राणायामः इत्युच्यते । (भा) विद्वत्प्राणायामस्वरूपमाचष्टे-चित्तादिति । सर्वं ब्रह्मेति भावनमेव प्राणायाम इत्यर्थः । (उ)

3. रेचकपूरककुम्भकाख्यत्रिविधप्राणायामस्य लक्षणं, घ्राणपीडनस्य अज्ञविषयत्वं च द्वाभ्यामाह— निषेधनमिति । जीवेश्वरादेः विजातीयप्रपञ्चस्य निषेधनं तिरस्कारः रेचकाख्यः । 'सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्मैवास्मो'ति सजातीयप्रत्ययरूपिणी या चित्तवृत्तिः सा पूरको वायुरुच्यते । या चित्तवृत्तिः उक्ता तस्याः चित्तवृत्तेः निश्चलत्वं प्रवाहरूपेण अप्रच्युतिः इत्यर्थः । यदा भवेत् तदा कुम्भकाख्यः प्राणसंयमः स्यात् । ईदृशः प्राणायामश्च प्रबुद्धानां ब्रह्मज्ञानिनामेव स्यात् । अज्ञानां तु तदितरेषां घ्राणपीडनम् । नासापीडन-कारिणां हठयोगिनां, अज्ञत्वप्रसिद्धेः । (भा) 'स्वातिरिक्तं जगत् ने'त्यनुसन्धानं रेचकवृत्तिः । तदेवास्मीति पूरकवृत्तिः । तद् वृत्तिस्थैर्यं कुम्भकवृत्तिः । स्वज्ञानामेवम् । स्वाज्ञानां तु घ्राणपीडनमेव फलमित्यर्थः (उ)

स्वस्फूरणतिरोभावे सति किंचित् किंचित् विषयसंसक्त इव तदनुकूलव्यापारं कुर्वन् निर्विकारः तन्निमित्तविक्रियारहितः प्रत्याहारे मुख्यनिष्ठावान् बुद्धिमतां वरः एष योगी द्वादशाङ्गी जयति ॥

[श्रौत प्रत्याहारलक्षणम्]

तथाच श्रुतिः —

"विषयेष्वात्मतां दृष्ट्वा मनसः चित्र (त्त)रञ्जनम् ।
प्रत्याहारः स विज्ञेयोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ॥" इति ॥[1]

[सर्वत्र मनसः स्वानुभवे धारणरूपधारणविवरणम्]

तर्हि त्रयोदशतमाङ्गी कः ? इत्यत्रोच्यते —

ब्रह्मात्मैक्यानुभूतिं सुदृढमधिगतं वासनामात्रहेतोः
चित्तं यत्र प्रयाति प्रभवति विमलब्रह्मदृष्टिस्तु तत्र ।
तद्वच्चैवाप्रयत्नात् प्रभवति मनसो धारणं स्वानुभूतौ
नित्यानन्दात्मयोगी त्रयपरदशमं प्राप्तवान् धारणाङ्गम् ॥ १३ ॥

ब्रह्मेति ॥ ब्रह्मात्मनोरेकत्वानुभवं सुदृढं यथा भवति तथा अधिगतं चित्तं वासनामात्रकारणात् यत्र प्रयाति तत्र विषयेऽपि विमलब्रह्मदर्शनं प्रभवति । तद्वत् अप्रयत्नात् स्वानुभवे मनसो धारणं च प्रभवति । एवंभूतं धारणाख्यं त्रयोदशतममङ्गं प्राप्तवान् पुरुषः नित्यानन्दात्मयोगी सहजयोगीति भावः ।

[धारणस्य श्रौत लक्षणम्]

अत्र श्रुतिः —

"यत्र यत्र मनो याति ब्रह्मणः तत्र दर्शनात् ।
मनसो धारणं चैव धारणा सा परा मता ॥"[2]

इति ।

---

1. शब्दादिविषयेषु मनसः आत्मतां तादात्म्यं विवेकेन दृष्ट्वा यत् चित्तरञ्जनं विषयसुखप्रदानेन आत्यन्तिकविषयसुखाप्रदानेन च स्यात् स एव प्रत्याहार इति विज्ञेयः । एषः सद्योमुमुक्षुभिः मुहुर्मुहुरभ्यसनीयः । विषयव्यापारविमुखीकरणार्थत्वात् प्रत्याहारस्येति ॥ (भा) विषयसामान्ये ब्रह्मदृष्टिः प्रत्याहारः (उ) स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्यस्वरूपानुकार इव इन्द्रियाणां प्रत्याहार इति योगसूत्रम् (2-54).

2. यत्र यत्र विषयेषु स्वाभाव्येन मनो याति, श्रोत्रेन्द्रियद्वारेण शब्दं, त्वगिन्द्रियद्वारेण स्पर्शमित्येवं सर्वत्र गच्छति, तत्र तत्र विषयेषु सच्चिदानन्दलक्षणस्य ब्रह्मणः दर्शनात् मनसः धारणं विषयेभ्यो व्यावृत्त्य ब्रह्मणि यदवधारणं, सैव धारणेति मतम् । स्वस्वगोळकावधारणं तु यद्यपि धारणा स्यात्, तथापि सा न परा स्यात् । अस्याः उक्तलक्षणायाः एव सर्वोत्कृष्टत्वात् । (भा) मनः प्रचाराधिकरणं ब्रह्मेत्यर्थः । (उ) 'नाभिचक्रे हृदयपुण्डरीके मूर्ध्निज्योतिषि, नासिकाग्रे जिह्वाग्रे इत्येवमादिषु देशेषु बाह्ये वा विषये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्धः धारणा' इति योगभाष्यम् (3-1) अत्र— विष्णुपुराणवचनमेवं वर्तते— "प्राणायामेन पवनं प्रत्याहारेण चेन्द्रियम् । वशीकृत्य ततः कुर्यात् चित्तस्थानं शुभाश्रये । मूर्तं भगवतो रूपं सर्वोपाश्रयनिस्पृहम् । एषा वै धारणा ज्ञेया यच्चित्तं तत्र धार्यते । तच्च मूर्तं हरे रूपं यद्विचिन्त्यं नराधिप । तच्छ्रूयतामनाधारा धारणा नोपपद्यते ।" इत्यादि ॥ (6-7-45, 77, 78)

[ध्यानस्वरूपविवरणम्]

तर्हि चतुर्दशाङ्गयोगी कः ? इत्यत्रोच्यते —

देहाद्यालम्बनं यत् प्रविततमभवत् सन्ततं प्रागहन्त्वं
तद् ब्रह्म ह्यद्वितीयं नयति नियमिताभ्यासयोगेन धीरः ।
ब्रह्माकारात्मवृत्तावपि भवति जडालम्बनं किञ्चिदस्मिन्
नित्यानन्दे रसे नो चतुरधिकदशध्यानयोगी महात्मा ॥ १४ ॥

देहेति ॥ तत् अहन्त्व कर्मभूतं नियमिताभ्यासयोगेन नियमेनाभ्यस्तनिदिध्यासनयोगेन ब्रह्म नयति । अथ जीवन्मुक्तिवशात् ब्रह्माकारवृत्तौ प्राप्तायामपि किंचित् जडालम्बनं तदहन्त्वं भवति पश्चात् विदेहमुक्तिसिद्धे अस्मिन् नित्यानन्दरसे तु किञ्चिदपि तन्नो । अयं चतुर्दशाङ्गवान् ध्यानयोगी महात्मा ॥

[श्रौतं ध्यानलक्षणम्]

अत्र श्रुतिः —

"ब्रह्मैवास्मीति सद्वृत्त्या निरालम्बतया स्थितिः ।
ध्यानशब्देन विख्याता परमानन्ददायिनी ॥" इति ॥[1]

[सर्ववृत्तिविस्मरणात्मकसमाधिस्वरूपविवरणम्]

तर्हि पञ्चदशाङ्गयोगी कः ? इत्यपेक्षायामुच्यते—

वृत्तीनां विस्मृतिर्या प्रकृतिविकृतिजाशेषमोहास्पदानां
चित्तप्राणाद्यरूपाप्ययसुखजननी सर्वतत्त्वैरपेता ।
विद्याशक्तिस्वरूपा जयति सुखमयी ब्रह्मविच्छ्रेष्ठलभ्या
सेयं यत्रास्ति पञ्चाधिकदशचरमाङ्गे समाधौ समाप्तम् ॥ १५ ॥

वृत्तीनामिति ॥ प्रकृतिविकृतिजाशेषमोहास्पदानां प्रकृतिः अविद्या विकृतिः तत्कार्यभूतः प्रपञ्चः ताभ्यामुत्पन्नसमस्तमोहनिलयानां वृत्तीनां विस्मृतिः यत्र समाधौ अस्ति तत्र योगशास्त्रं समाप्तम् ।

---

1. सच्चिदानन्दलक्षणं ब्रह्मैवास्मीति सद्‌वृत्त्या अखण्डाकारवृत्त्या निर्गतः आलम्बो तस्य भावः तत्ता, तया या स्थितिः परमानन्ददायिनी सा स्थितिः ध्यानशब्देन विख्याता प्रसिद्धा भवति । न तु ध्यानं नाम प्रकृते सजातीयप्रत्ययप्रवाहरूपम् । तस्य नियमरूपत्वस्य अभिहितत्वात् । (भा) निरालम्बनब्रह्मभावनं ध्यानम् (उ) 'तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यान'मिति योगसूत्रम् (3-2) 'तद्‌रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिश्चान्यनिःस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमैरङ्गैः षड्भिर्निष्पाद्यते नृप ॥' इति विष्णुपुराणम् । (6-7-89)

[श्रौतं समाधिस्वरूपम्]

अत्र श्रुतिः —

"निर्विकारतया वृत्त्या ब्रह्माकारतया पुनः ।
वृत्तिविस्मरणं सम्यक् समाधिरभिधीयते ॥"[1] इति ॥

[समाधिलक्षणस्य सुषुप्तौ अतिव्याप्तिशङ्का]

ननु समाधावेव वृत्तिविस्मरणमिति न नियमोऽस्ति । सुषुप्तावपि सर्वेषां वृत्तिविस्मरण-दर्शनात् ।

"सुषुप्तिकाले सकले विलीने
तमोऽभिभूतः सुखरूपमेति ॥"[2]

इत्याद्यनन्तश्रुतिभिः सुषुप्तौ सर्वविकारलयसुखाविर्भावयोः प्रतिपाद्यमानत्वात्, चित्ताद्यरूपनाशसुखजनकत्वं प्रकृतचरमाङ्गभूतसमाधिव्यतिरिक्तसुषुप्तेरप्युपपद्यते इति ।

[सकलनिष्कलत्वाभ्यां भेदोपपादनेन तत्परिहारः]

अत्रोच्यते— न हि सुषुप्तौ कस्यापि चित्ताद्यरूपनाशः निष्कलसुखाविर्भावो वा भवितुमर्हतः तमोऽभिभूतत्वश्रवणेन तात्कालिकवृत्तिमात्रलोपसंभवात्[3] । सकलानन्दसंभवाच्च ।

[सुषुप्तौ निष्कलब्रह्मत्वोक्तेः गौणत्वम्]

श्रुत्यन्तराणि तु बहूनि सुषुप्तस्य परब्रह्मत्वनिष्कलानन्दत्वादिलक्षणापादकानि श्रूयमाणान्यपि तुरीयतत्त्वप्रतिष्ठापनपर माण्डूक्याद्यनेकश्रुत्यविरोधेन सर्वश्रुति समन्वय-कारणौचित्यात् गौणानि मन्तव्यानि ।

[सुषुप्तौ जीवस्य शरीरोत्थानाद्युपपादनम्]

"एष सम्प्रसादः अस्माच्छरीरात् समुत्थाय
परं ज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते ।"[4]

इति श्रुतेः,

---

1. निर्विकारैव निर्विकारता । ब्रह्माकारैव ब्रह्माकारता । तया वृत्त्या पुनरुत्पद्यमनानां सङ्कल्पादिवृत्तीनां सम्यक् विस्मरणं समाधिरित्यर्थः । अतः ध्यान समाध्योः अखण्डाकारवृत्तिरूपत्वा-विशेषेऽपि वृत्तीनां पुनरुत्पत्त्यनु त्पत्तिरूपविशेषदर्शनात् न अभेदशङ्का ॥ (भा) अखण्डाकारवृत्तिः सविकल्पः, तद्वृत्त्यस्मरणं निर्विकल्पसमाधिरित्यर्थः ॥ (उ) 'तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः' इति योगसूत्रम् (3-3) "तस्यैव कल्पनाहीनं स्वरूपग्रहणं हि यत् । मनसा ध्याननिष्पाद्यं समाधिः सोऽभिधीयते ।" इति विष्णुपुराणवचनम् । (6-7-90)

2. कैवल्योपनिषत् 1.13.

3. अत्र— 'सुषुप्तिसमाध्योः मनोलयाविशेषे ऽपि महदस्त्युभयोर्भेदः, तमसि लीनत्वात् मुक्तिहेतुत्वा-भावाच्च । समाधौ मृदिततमोविकारस्य तदाकाराकारिताखण्डाकारवृत्त्यात्मकसाक्षिचैतन्ये प्रपञ्चलयः सम्पद्यते । प्रपञ्चस्य मनःकल्पितत्वात्' इति मण्डलब्राह्मणोपनिषदप्यत्रानुसन्धेया (2-3-4)

4. 'अशरीरो वायुरभ्रं विद्युत् स्तनयित्नु शरीराण्येतानि तद्यथैतान्यमुष्मादाकाशात्समुत्थाय परंज्योतिरुपसम्पद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यन्ते एवमेव' इति एतद्वाक्यपूर्वभागः । (छां. 8-12-2)

"सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात् ।"[1]

इति सूत्राच, संप्रसादशब्दोदितस्य सुषुप्तस्य जीवस्य शरीरोत्थानपूर्वकपरंज्योतिस्सम्पत्त्यवगमात् सुषुप्तौ निष्कळब्रह्मत्वावधारणं सतां सुतरामपहासार्हं स्यात् ।

[वचनेषु सामान्यविशेषभावव्यवस्थावश्यकता]

सुषुप्तब्रह्मवादी तु—

"इमाः सर्वाः प्रजाः अहरहः ब्रह्म गच्छन्त्यः "[2]

इत्यादिछान्दोग्यश्रुत्यविरोधेन सर्वेषां वेदान्तानां सुषुप्ते समन्वयमकार्षीत। तेन विशेषवचनानां सामान्यवचनैः बाधः निरङ्कुशः समजनि। सामान्यवचनानां तु सुषुप्तब्रह्मपराणां विशेषवचनैः तुर्यब्रह्मपरैः बाधः उपपद्यत इति सर्वेषामभिमतम् ।

[सुषुप्त्यपेक्षया समाधेर्भेदोपपादनम्]

तर्हि सुषुप्तौ स्थूलसूक्ष्मविकाराभावेऽपि बीजविकारसद्भावात् निर्विशेषत्वाभाव इव प्रकृत निर्विकल्पसमाधावपि —

"वृत्तयस्तु तदानीमप्यज्ञाता आत्मगोचराः ।
स्मरणादनुमीयन्ते व्युत्थितस्य समुत्थिताः ॥"[3]

इति श्रुत्या वृत्तिसद्भावावगमात् वृत्तिविस्मरणवचनं अनुपपन्नमिति चेत् — अत्रोच्यते — न हि निर्विकल्पसमाधिः प्रकृतः, ब्रह्मविच्छ्रेष्ठलभ्यत्वेन षष्ठस्य निर्वासनाख्यस्य

---

1. अयं जीव एवं सम्पद्य, देवलोकाद्युपभोगस्थानेष्विव आगन्तुकेन केनचिद्विशेषेणाभिनिष्पद्यते उतात्ममात्रेणेति संशये, अयं केवलेनैवात्मना आविर्भवति न धर्मान्तरेणेत्युक्तम्। स्वेनेति श्रुतौ स्वशब्दोक्तेरिति तत्र हेतुः। (ब्र.सू. 4-4.1)

2. इदं च पूर्णं वाक्यम्— अथ ये चास्येह जीवाः ये च प्रेताः यच्चान्यदिच्छन्न लभते सर्वं तदत्र गत्वा विन्दते अत्र ह्यस्यैते सत्याः कामाः अनृतापिधानाः तद्यथा हिरण्यनिधिं निहितं अक्षेत्रज्ञाः उपर्युपरि सञ्चरन्तो न विन्दते एवमेवेमाः सर्वाः प्रजाः अहरहर्गच्छन्त्यः एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति, अनृतेन हि प्रत्यूढाः" इति (छां. 8-3-2).

3. अध्यात्मोपनिषत 36.

समाधेरेव प्रकृतत्वात् । तृतीयो हि निर्विकल्पाख्यः समाधिः ब्रह्मविल्लभ्यः प्रसिद्धः । तत्रापि प्रारब्धबीजसद्भावेऽपि सञ्चितागामिबीजाभावात् सुषुप्तिवैलक्षण्यं अवगन्तव्यम् ॥[1]

इति श्रीमदप्पयदीक्षितेन्द्रान्वयजेन अप्पयदीक्षिताचार्येण
विरचितेषु पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणं[2]
समाप्तम् ॥

---

1. एतद्ग्रन्थमूलभूततेजोबिन्दूपनिषदि इमं पञ्चदशाङ्गयोगमुपपाद्य, एवं उपसंहारः कृतः, यथा—

"इदं चाकृत्रिमानन्दं तावत् साधु समभ्यसेत् ।
लक्ष्ये यावत् क्षणात् पुंसः प्रत्यक्त्वं संभवेत् स्वयम् ॥
ततः साधननिर्मुक्तः सिद्धो भवति योगिराट् ।
समाधौ क्रियमाणे तु विघ्नान्यायान्ति वै बलात् ॥
अनुसन्धानराहित्यं आलस्यं भोगलालसम् ।
लयस्तमश्च विक्षेपः तेजः स्वेदश्च शून्यता ॥
एवं हि विघ्नबाहुल्यं त्याज्यं ब्रह्मविशारदैः ।
कुशलाः ब्रह्मवार्तायां वृत्तिहीनाः सुरागिणः ॥
ते ह्यज्ञानतया नूनं पुनरायान्तियान्ति च ।
ये तु वृत्तिं विजानन्ति ज्ञात्वा वै वर्धयन्ति ते ॥
निमिषार्धं न तिष्ठन्ति वृत्तिं ब्रह्ममयीं विना ॥
विद्वानेवं सुखे तिष्ठेत् धिया चिद्रसपूर्णया ॥"

इत्यादि ॥

2. भगवत्पादशङ्कराचार्यैरपि स्वविरचितायां अपरोक्षानुभूतौ सविस्तरं पञ्चदशाङ्गयोग एवोपपादितः । अधिकं तु अस्मदीयप्रस्तावनायां द्रष्टव्यमिति शम् ॥

# मूलश्लोकानुक्रमणी

# उद्धृतप्रमाणानुक्रमणिका



* सूचना : एवं किञ्चिदन्तर्निवेशितानि प्रस्तावनाटिप्पण्योरुध्दतानि प्रमाणानि।

# उद्धृताः ग्रन्थाः

| ग्रन्थनाम | सङ्केतः | ग्रन्थनाम | सङ्केतः |
|---|---|---|---|
| अद्वयतारकोपनिषत् | अद्व | बृहदारण्यकोपनिषत् | बृ |
| अध्यात्मोपनिषत् | अध्या | ब्रह्मसूत्रम् | ब्र.सू. |
| अन्नपूर्णोपनिषत् | अन्न | भगवद्गीता | गीता |
| अपरोक्षानुभूतिः | अप | मण्डलब्राह्मणोपनिषत् | मण्ड |
| अमृतनादोपनिषत् | अमृ-ना | महानारायणोपनिषत् | महा |
| अमृतबिन्दूपनिषत् | अमृ-बि | महोपनिषत् | महो |
| अवधूतोपनिषत् | अव | मुक्तिकोपनिषत् | मुक्ति |
| कुमारसम्भवः | कुमा | मुण्डकोपनिषत् | मुण्ड |
| केनोपनिषत् | केनो | योगचूडामण्युपनिषत् | यो-चू |
| कैवल्योपनिषत् | कैव | योगभाष्यं (वाचस्पत्यम्) | यो-भा |
| छान्दोग्योपनिषत् | छां | योगशिखोपनिषत् | यो-शि |
| ज्ञानसङ्कलिनीतन्त्रम् | ज्ञान | योगसूत्रं (पातञ्जलम्) | योग |
| तेजोबिन्दूपनिषत् | तेजो | विवेकचूडामणिः | विवे |
| त्रिपुरातापिन्युपनिषत् | त्रिपु | विष्णुपुराणम् | विष्णु |
| त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषत् | त्रिशि | श्वेताश्वतरोपनिषत् | श्वेता |
| दर्शनोपनिषत् | दर्श | सदाचारस्तोत्रम् | सदा |
| ध्यानबिन्दूपनिषत् | ध्यान | सनत्कुमारसंहिता | सन |
| नारदपरिव्राजकोपनिषत् | नार | सर्वसारोपनिषत् | सर्व |
| पञ्चदशाङ्गयोगप्रकरणम् | पञ्च | | |

wo 7035—MUPM—1,000 copies—21-7-70

ॐ श्री परमात्मने नमः

अथ

# योग तत्त्व

(ऐहलौकिक व पारलौकिक दो भाग)

अर्थात्

उत्तराखण्ड में तपस्या किये हुये योगीराज के स्वानुभव
तथा अनेकों महर्षियों के महत्वपूर्ण अनुभव
योगशास्त्र के अनेक प्रमाणों सहित

**भवतापेन तप्तानां योगो हि परमौषधम् ।**

व्याकरणाचार्य पं० दामोदर शास्त्री भारद्वाज ने
शुद्ध सरल भाषा में छपा कर प्रकाशित किया ।

प्रथम संस्करण
१५००
वि० सं० २०१५

---





(सूचना)
(विना मोहर की पुस्तकें चोरी की समझी जायेंगी)

५)—
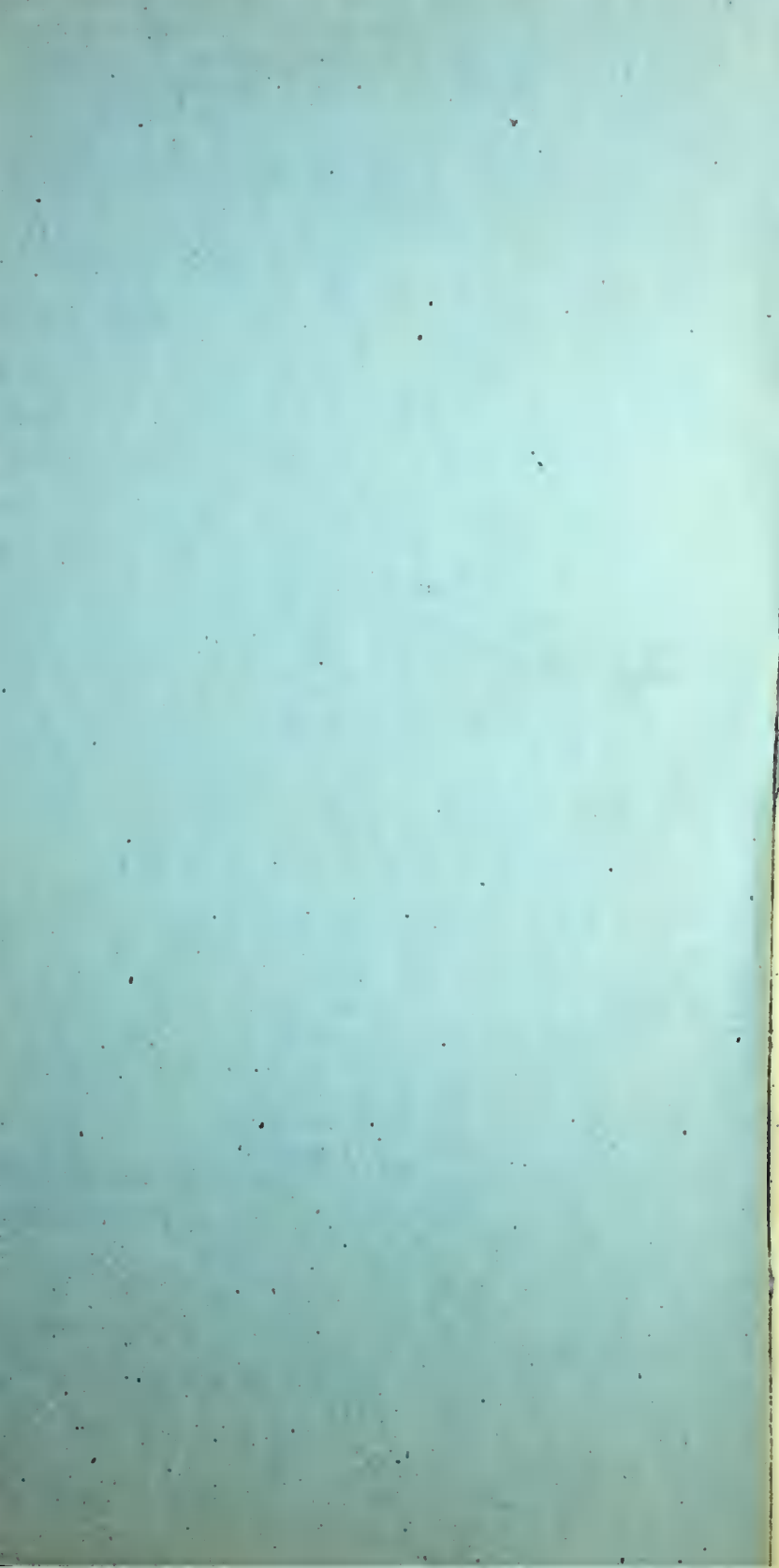
# ॥ प्रस्तावना ॥

माननीय सज्जनों ! आज यह हर्ष की बात है जो मैं आपके सम्मुख योग तत्त्व नाम की पुस्तक ऐहलौकिक तथा पारलौकिक दो भागों में निर्माण कर रख रहा हूँ। यह सब उत्तराखण्ड में तपस्या किये हुये, योगीराज की कृपा है। जो योग प्रत्येक मानव के इहलोक तथा परलोक में सुख का प्रधान कारण है और मोक्ष के लिये परम हेतु है, जिसका अनेकों शास्त्रों में अनेक प्रकार से विवरण किया गया है, योगेश्वर भगवान् श्री कृष्णचन्द्र ने इसको भली भाँति गीता में वर्णन किया है तथा श्रीमद्भागवत में अपने प्रिय भक्त उद्धवजी के प्रति वर्णन किया है, तथा योगी शुकदेवजी ने राजा परीक्षित् के प्रति वर्णन किया है। एवं इसी योग को शिवजी ने पार्वतीजी के प्रति वर्णन किया है, ऐसे तो ब्रह्मा विष्णु महेश ही योग मय हैं, योग के द्वारा ही पितामह ब्रह्मा ब्रह्मपद को प्राप्त हुये हैं। ऐसे महान् योग जो भोग और मोक्ष का हेतु है, इसको इस पवित्र भारत भूमि में महर्षि याज्ञवल्क्य, महर्षि पतञ्जलि तथा गोरक्षनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ आदि अनेकों योगियों ने विस्तार से फैलाया है और भारत के गौरव को बढ़ाया है। वसिष्ठ महामुनि ने अपने प्रिय शिष्य भगवान् श्री रामचन्द्रजी के प्रति इसी योग को वर्णन किया है। हमारी इसी प्रधान योग विद्या के कारण अध्यात्म योग विद्या में यह हमारा भारत सर्व राष्ट्रों में शिरोमणि अग्रगण्य माना जाता है। इसी परम योग विद्या को प्राप्त करने के लिये अमेरिका आदि अन्य देशों के मनुष्य भारत में आकर यहाँ सन्त महात्माओं के शिष्य बनकर भी प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं। यही हमारा अष्टांग योग पहले भारत में घर २ फैला हुआ था, परन्तु वर्तमान समय में जनता के आहार विहार और संयम नियम नहीं रहने से बहुत कुछ इसका लोप हो गया, और भारत में कहीं २ ही ढूंढने पर इसके जानकार आचार्य मिलते हैं ऐसे समय में उत्तराखण्ड में तपस्या किये हुये योगिराज की इच्छा हुई कि भारत का परम सौभाग्य जो पुरातन योग है उसका प्रचार हो ऐसा

विचार कर उन्होंने मेरे ऊपर कृपा की और अपने तपश्चर्या के स्वानुभव मुझे प्रदान किये, उस शक्ति को लेकर मैंने योग तत्त्व नाम की पुस्तक ऐहलौकिक व पारलौकिक दो भागों में निर्माण की है। जिसमें महात्माजी के अनुभव, अनेक महर्षियों के अनुभव तथा अनेक योग शास्त्रों के प्रमाण देकर यह पुस्तक एक विचित्र ढंग से निर्माण की गई है—इस पुस्तक की प्रशंसा करना मेरे मुख से शोभा नहीं देता **"हाथ कङ्गन को आरसी क्या"** आप स्वयं ही इस पुस्तक को अवलोकन कर इसके महत्व को समझ सकेंगे।

आशा है कि इस पुस्तक में दी गई योग क्रियाओं के द्वारा आप संयम नियम पूर्वक सफलता प्राप्त कर पुनः अपने भारत में योग की जाग्रति करके अध्यात्म योग विद्य में पहले के समान ही भारत को सब राष्ट्रों में शिरोमणि ही बनाये रखेंगे, और मेरे परिश्रम को सफल कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

प्रार्थना है कि यदि प्रेस कर्मचारी आदि को अनवधानता से कुछ अशुद्धियाँ रह गई हों तो उसे सम्भाल कर पढ़ने की कृपा करेंगें। **शुभम्**

निवेदक—

**दामोदर शास्त्री भारद्वाज**

# विषय-सूची

| विषय पृष्ठ | संख्या |
|---|---|

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

# अथ योग तत्त्व प्रारम्भः

ॐ अचिन्त्याव्यक्तरूपाय निर्गुणाय गुणात्मने ।
समस्तजगदाधार ॐकार गुरवे नमः ।
ॐ श्री ओंकार गुरवे नमः

## ॥ ऐहलौकिको नाम प्रथमो भागः ॥

ऐहलौकिक योग का तात्पर्य यह है कि मनुष्य के जीवन को आरोग्य रखते हुए दीर्घ जीवन का लाभ प्रदान करना तथा रोगग्रस्त मनुष्यों को नीरोग बनाना और इस लोक में सुखी रखना है। इसी से इसका नाम ऐहलौकिक योग है। वास्ते प्रत्येक मानव का कर्तव्य (धर्म) है कि योग के आसन-प्राणायाम आदि क्रियाओं के द्वारा जीवन को नीरोग और दीर्घायु बना लेवें।

तथा समस्त योग की क्रियाओं को गुरु के द्वारा ही सीख कर गुरु के सन्मुख ही सिद्ध करना चाहिये। पुस्तकों में पढ़ कर केवल पुस्तकों द्वारा ही योग प्रारम्भ नहीं करना चाहिये। पुस्तकों तथा चित्रों द्वारा अभ्यास करने पर हम स्वास्थ्य के लिये हानिकर समझते हैं। वास्ते इस योग विद्या को किसी अनुभवी योग्य गुरु द्वारा ही प्राप्त करके सिद्ध करना चाहिये।

ऐहलौकिक योग क्रियाओं में ग्रन्थ के बढ़ जाने एवं विषय के विस्तृत हो जाने के भय से हम ऐहलौकिक योग-क्रियाओं को इस पुस्तक में सूक्ष्म रूप से लिख रहे हैं।

प्रत्येक एहलौकिक योग क्रियाओं को पूर्ण जानकारी तथा सीखने के लिये योगाश्रमों से बात कर सकते हैं।

स्वास्थ्यलाभ व दीर्घजीवन के लिये योग की क्रियाओं को आरम्भ करने से प्रथम पथ्य भोजन का नियम रखना आवश्यक है। वास्ते हम यहाँ आरोग्य एवं दीर्घजीवन तथा योग क्रियाओं में सहायता पहुंचाने वाले पथ्य भोजन को स्वानुभव तथा शास्त्रों के वचनानुसार लिखते हैं।

## ॥ पथ्य भोजन ॥

योगशास्त्रे–

गोधूम शालि यव षाष्टिक शोभनान्नम्
क्षीराज्य ग्रन्थि नवनीत सिता मधूनि।
शुण्ठी पटोलक फलादिक पञ्चशाकम्
मुद्गादि दिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम्॥ १॥

भावार्थ–गेहूं की रोटी व थूली, यव तथा साठ दिन में ही खेतों में पकने वाला चावल, व राजगिरा, सामा (भगर) साबूदाना मोरिया तथा दूध घृत सूरण मक्खन शर्करा शहद सूंठ परवल का शाक फलादिक में मोसमी केला चीकू अनार सेवफल आंवले का मुरब्बा तथा पंचशाकम् इस प्रमाण से दूधी (लौकी) तरोई, गिलखी पालक बथुआ तांदल भाजी चंदलोई भाजी डोंडी भाजी सेवन करना चाहिये। तथा मूंग की दाल, आदि शब्द से खिचड़ी तथा बहता हुआ निर्मल जल इन वस्तुओं को हम आसन प्राणायाम आदि ऐहलौकिक अभ्यास के लिये हितकर समझते हैं।

## ॥ अत्याहार ॥

आह्निके–

**अत्याहाराद् भवेद्रोगी ह्यल्पायुश्च दरिद्रता।**

भावार्थ–अधिक भोजन करने से मनुष्य रोगी अल्पायु और दरिद्री हो जाता है। वास्ते सदैव प्रामाणिक भोजन करना चाहिये और भोजन केवल दिन में ही करना चाहिये। रात्रि के समय केवल दूध लेकर रहना चाहिये।

## ॥ परिमित भोजन ॥

पेट के आधे भाग को अन्न से भरे और पाव भाग को जल से भरे तथा शेष पाव भाग को वायु संचार के लिये खाली रखे। इस को शास्त्र में प्रामाणिक भोजन कहा है।

मेरे स्वानुभव से प्रत्येक साधारण मनुष्यों के लिये तो यह ठीक हो सकता है कि पाव (२० तोले) गेंहूं के आटे की रोटी और एक छटांक (५ तोले) भात तथा उसके साथ में लगता दाल शाक यह मनुष्यों के लिये सामान्य भोजन हो सकता है। इतना भोजन प्रतिदिन दिन में ग्यारह बजे के लगभग करना ठीक समझता हूं।

## ॥ दुग्ध पान ॥

**दिवसे हानिदं दुग्धं रात्रौ बल प्रदायकम्।**

भावार्थ–दिन में सुबह पीया हुआ दूध लाभप्रद नहीं होता और रात्रि का पीया हुआ दूध बलदायक पौष्टिक होता है।

## ॥ कारणमाह ॥

## ॥ हिमालयस्थ योगिवचनम् ॥

**दिवसे रश्मियुक्तत्वाद् रात्रौ दुग्धं बलप्रदम् ।**
**रात्रौ च रश्मि रहितं प्रातर् रोग प्रदायकम् ॥**

भावार्थ–हमको हिमालय में एक योगीराज मिले, उन्होंने हमें उपदेश किया कि जिस दूध में सूर्य की रश्मियों की शक्ति नहीं है वह दूध रोग प्रद होता है। आशय यह है कि दिन में गायें जंगल में चरने को जाती हैं और सूर्य की रश्मियों को खींचकर लाती हैं और शाम को दूध देती हैं तो उस दूध में सूर्य रश्मियों का अंश होने से नीरोग और पौष्टिक होता है। और रात्रि में गायें घरों में ही रहती और सूर्य रश्मियां भी नहीं मिलती इससे रश्मिहीन दूध प्रातः देती हैं, वह मनुष्यों के जीवन को रोगी बनाता है। उस दूध के सेवन से कुछ लाभ नहीं। इसी प्रकार महिषी (भैंस) में सूर्य की रश्मियों को खींचने की शक्ति नहीं है गरमी सहन नहीं कर सकती, वास्ते महिषी का दूध सर्वथा लाभ नहीं कर सकता। सूर्य रश्मियों को खींचने में गाय ही समर्थ है, महिषी नहीं।

## ॥ त्याज्य दुग्ध ॥

संस्कार भास्करे –

**रुग्णा वृद्धा प्रसूता च वन्ध्या संधिन्यमेध्यभुक् ।**
**मृत त्सा च नैतासां ग्राह्यं मूत्र शकृत्पयः ॥**

भावार्थ–रोगी गाय, वृद्धगाय प्रसूता गाय वंध्यागाय

भोग में आसक्त गाय दुर्गन्ध युक्त मलादिक अपवित्र वस्तुओं को खाने वाली गाय, जिसका बछड़ा मर गया हो ऐसी गाय इतनी गायों का गोमूत्र-गोमय तथा दूध काम में लेना ठीक नहीं, ऐसा शास्त्र वचन है।

## ॥ धारोष्णपय ॥

दूध निकालने के पश्चात् जितने समय तक दूध की गरमी शान्त न हो वहां तक ही दूध का सेवन लाभप्रद होता है। बाद में किसी प्रकार का गुण नहीं करता।

## ॥ ठंडे दूध का सेवन स्वानुभव ॥

यदि धारोष्ण की गरमी शान्त होकर दूध ठंडा पड़ गया हो तो उसको दो प्रकार से ही सेवन करना ठीक समझते हैं। या तो उसे साबूदाना के साथ लेवे। या रस अर्थात् पारा-गंधक के साथ लेवे तब तो लाभप्रद हो जाता है, अन्यथा दूध लाभप्रद नहीं हो सकता ऐसा मेरा स्वानुभव है।

## ॥ गरम दूध ॥

केवल दूध को कच्चा ही पीना हम श्रेष्ठ समझते हैं कारण—दूध को अग्नि पर गरम करने से गरम करते समय जो उस में से भाप निकलता है उस भाप के साथ उसकी शक्ति कम पड़ जाती है। यदि उस पर मलाई (तरी) पड़ जावे तब तो वह दूध बहुत ही कमजोर बन जाता है, कारण—भाप और तरी के साथ उसका विटामिन बहुत कुछ नष्ट हो जाता है। वास्ते हम कच्चा ही दूध पीना लाभप्रद समझते हैं।

## ॥ दुग्धे उत्तमोत्तमपक्षः ॥

### पर्वतीय योगीराज

**श्यामाः श्वेताश्च पीताश्च ह्युत्तमाधममध्यमाः !**

भावार्थ—काली गाय का दूध बहुत ही उत्तम माना गया है पीली गाय का दूध उससे नीचे दर्जे (मध्यम) का, तथा सफेद गाय का दूध उससे भी नीचे दर्जे का (निम्न) माना गया है।

## ॥ एकामृतम् ॥

स्वानुभवे—एक गाय का दूध अमृत के समान लाभ पहुंचाता है। यह दूध धारोष्ण गरमी से ठंडा भी पड़जावे तो भी सेवन करना ठीक समझते हैं। अर्थात् एक ही गाय का दूध हो और उसमें दूसरी गाय का दूध नहीं मिलाया हो ऐसे दूध (प्रहरे सेवनम्) याने तीन घण्टे तक भी ले सकते हैं। और यदि शीत काल हो तो छह घण्टे तक भी सेवन हो सकता है। यह दूध धातुओं पर कोप नहीं करता। अन्य सर्वदूध धारोष्ण के ठंडे होने के बाद धातुओं पर कोप करते हैं।

जिन लोगों की प्रातः समय दूध चाय आदि लेने की आदत पड़ी है उन को हम दूध चाय की जगह प्रातः सेवन के लिये दूसरे उपाय बताते हैं।

## ॥ प्रातः सेवने लाभः ॥

### हिमालयस्थयोगिराज वचनम्

**घृतंवामलकंप्रातरुषः काले पिबेज्जलम् !**
**सर्वव्याधि विनिर्मुक्तो ह्यायुरारोग्यमाप्नुयात् ॥**

भावार्थ–पिछली रात्रि के ठीक चार बजे नित्य आधा सेर (१ पौन्ड) जल पीवे, बाद में ठीक सात बजे सुबह आमले का मुरब्बा एक छटांक (५ तोले) के लगभग लेवे, पश्चात् ग्यारह बजे तक कुछ भी नहीं खाना और ग्यारह बजे के लगभग भोजन करना। इस प्रकार नित्य नियम रखने से शरीर नीरोग और चङ्गा रह सकता है।

यदि आमले का मुरब्बा प्राप्त न हो सकता हो तो उसकी जगह घृत का भी सेवन कर सकते हैं।

## ॥ प्रातः घृत सेवन विधिः ॥

ठीक चार बजे सुबह एक रतल पानी पीवे पश्चात् सात बजे एक तोला घृत में आठ या दश काली मिर्च डाल कर अग्नि पर रखे, जब काली मिर्च घृत के ऊपर तैरने लग जावे तो फौरन घृत को अग्नि से अलग करले, इस बात का पूरा ध्यान रहे कि घृत जलने न पावे। बाद में घृत कुनकुना हो जावे तब काली मिर्च खा जावे, और ऊपर से घृत पी जावे। उस के बाद चार घण्टे तक कुछ भी नहीं लेवे। बाद में ठीक ग्यारह बजे भोजन करे। इस नियम से घृत का सेवन करने से वह १ तोला घृत पाव घृत के समान शरीर में काम करता है और शरीर को मजबूत करता, तथा रक्त का शोधन कर रक्त वर्धक होता है। यह आमले तथा घृत का प्रयोग हमें हिमालय में महायोगीराज महाराज ने कहा था। और इस में हमारा स्वानुभव भी है। वास्ते जिन महाशयों को सुबह दूध चाय आदि का महावरा है। उनको दूध चाय की जगह इसको सेवन करके अनुभव करना चाहिये। परन्तु हम प्रातः दूध चाय का

सेवन किसी प्रकार ठीक नहीं समझते ।

दूध सेवन के आवश्यक खास खास प्रयोग हमने यहां लिखे हैं। परन्तु दूध के विषय में हम और भी बहुत जानकारी रखते हैं, जो प्रत्यक्ष में समझा कर उसका हानि लाभ भी प्रत्यक्ष देह में सिद्ध करा सकते हैं।

## ॥ भोजन के गुण ॥

**सत्त्वरजस्तमेति महासत्त्वादि भोजने भेदाः ।**

भावार्थ—एक ही वस्तु का भोजन महासात्त्विक दो वस्तु का भोजन सात्त्विक और तीन वस्तुओं का भोजन रजोगुणी तथा चार वस्तुओं का भोजन तामसी समझना चाहिये। यदि चार वस्तुओं को इकट्ठी करके खाया जावे तो उनकी रजोगुण में गणना हो सकती है।

इस प्रकार हमने ऐहलौकिक योग क्रिया के भाग में पथ्य भोजन जो मनुष्यों को आरोग्य तथा दीर्घ जीवन देता है उसे सूक्ष्मरूप से लिखा है। शुभम्। पथ्यभोजन मार्गः।

अब हम योगक्रिया सीखने के अभिलाषी लोगों के लिये प्रथम शरीर शुद्धि के लिये सूक्ष्म रूप में षट्कर्मों का वर्णन करते हैं। जिन छह प्रकार की योग क्रियाओं द्वारा शरीर पवित्र होता है।

## ॥ षट्कर्म ॥

**नौलिर्बस्तिश्च नेतिश्च धौतिश्च कुंजरिस्तथा ।**
**तथा च त्राटकश्चैव षट्कर्माणि दिने दिने ॥**

भावार्थ—नौलि बस्ति नेति धौति कुँजरी और त्राटक यह छह प्रकार के कर्मों को देह की शुद्धि के लिये तथा आरोग्य रखने के लिये नित्य करना चाहिये।

अब हम प्रथम छह कर्मों के अन्तर्गत नौलि कर्मों को कहते हैं।

## नौलि तथा उसके गुण

इसके सीखने में प्रथम पेट को भीतर घुसाकर फैलाना जो योग में उड्डियान क्रिया कही जाती है। उस उड्डियान को करते-करते अपने आप नौलि देख पड़ती है जो पेट के भीतर अन्न की थैली है जिसमें खाया हुआ अन्न जाता है उस नौलि के दिखाई पड़ने पर नित्य अभ्यास करने से वह नौलि घूमने भी लग जाती है। बायें दाहिने दोनों तरफ घूमा करती है। इसको गुरू के द्वारा सीखने से जल्दी सिद्ध हो जाती है।

नौलि मन्दाग्नि को हटाती है। जठराग्नि को प्रदीप्त करती है, पाचन शक्ति बढ़ाती है। वायु के रोगों को हरण करती है तथा बस्ति कर्म धौति कर्मादि को सिद्ध कराती है। इस प्रकार नौलि के और भी अनेक गुण हैं।

## बस्ति कर्म

गुदा में बांस की नली प्रवेश करे दो अंगुल नली भीतर प्रवेश करा दें और दो अंगुल बाहर रखे, उसे जल में डाल कर बांस की नली से नौलि खड़ी कर जल को खींचे। और उस जल को नौलि से घुमाकर छोड़ देने को बस्ति कर्म कहते हैं। बस्ति कर्म तथा धौति कर्म के बाद जल्दी कुछ खा लेना चाहिये। विशेष समय तक नहीं खाने से शरीर का दूषित जल खून में प्रवेश करके अनेकों रोगों को पैदा कर सकता है। हमारे स्वानुभव से तो धौति के लिये तो हम इसका विशेष

समर्थन नहीं करते, परन्तु बस्तिकर्म के पश्चात् तो शीघ्र ही कुछ खाना जरूरी है। अन्यथा दूषित जल रक्त में पहुँचने से रक्त दूषित होकर अनेकों रोगों को उत्पन्न कर सकता है। कुष्ठ भी हो सकती है। हमने दिल्ली में एक योगी जिनकी बस्ति बिगड़ जाने से शरीर में कुष्ठ उत्पन्न हो गया था देखे हैं। इस बस्ति कर्म के लिये हम प्रत्येक साधारण मनुष्यों को करने की सम्मति नहीं देते। यह तो साधु सन्यासियों आदि के काम हैं।

बहुत से लोग एनेमा से भी गुदा की शुद्धि करते हैं। परन्तु हम उसे भी ठीक नहीं मानते। एनेमा द्वारा खींचा हुआ और छोड़ा हुआ जो जल है, उस जल का तो दूषित अंश अवश्य ही भीतर रह जाता है जो अनेक प्रकार के रोगों की उत्पत्ति का कारण है। इससे तो बांस की नलिका से नौलि द्वारा खींचे जल से बस्तिकर्म को ठीक समझते हैं।

इन दोनों प्रकारों से गुदा की शुद्धि से तो हम प्रत्येक सर्व-साधारण मनुष्यों के लाभार्थ पातंजल योगप्रदीप में लिखे गणेश कर्म (गणेशक्रिया) द्वारा ही मल की शुद्धि करना ठीक समझते हैं। जिससे किसी प्रकार का खतरा नहीं।

## ॥ गणेशक्रिया ॥

शौचालय में उत्कटासन से बैठकर नौलि को बायें दाहिनी तरफ तीन चार मिनट घुमावे, बाद में मध्यमा अंगुलि को चन्दन या खोपरे के तेल में भिगो कर धीरे-धीरे गुदा में प्रवेश करे प्रथम अभ्यास में केवल मध्यमा को ही

प्रवेश करे। बाद अभ्यास दृढ हो जाने से मध्यमा और तर्जनी दोनों अंगुलियों को प्रवेश करे गुदा में अंगुलि प्रवेश करके अंगुलि को गुदा में घुमाते रहें। थोड़े ही समय में मल छूटने लगेगा, अंगुलि अलग कर उसे निकाल देवे। फिर अंगुलि घुमावे ऐसे बार २ घुमाते रहना और मल फेंकते रहना। जब मल निकलना बंद हो जावे तो मल शुद्धि समझ लेना चाहिये। इस प्रकार क्रिया करने से जीर्ण मल विकार जो कई दिनों से भीतर पड़ा हो वह भी निकल जावेगा और मस्सा आदि रोग तथा मस्तक नेत्र कर्ण उदर कण्ठ आदि के अनेकों रोगों की शुद्धि होगी। तथा धातुओं की प्रसन्नता होगी। ऐसे इसके अनेक लाभ हैं। इस गणेश क्रिया के पश्चात् जल्दी खाने का भी भय नहीं है। चाहे जब भोजन मिले। इति बस्तिकर्म।

## ॥ नेतिकर्म तथा गुण ॥

नासिका के छिद्र के प्रमाण से जिसमें सहज जा सके सूत्रों की नेति बनावे। आधे भाग को बल लगावे और आधे भाग को खुला रखे। बल वाले भाग पर मोम चढ़ा कर उसे नाक के छिद्र में प्रवेश करके मुख की तरफ निकाले। जब मोम वाला भाग पूरा मुख में आ जावे, तब दोनों हाथों से दोनों सिरों को पकड़ पचास साठ बार मंथन करे। इसे नेति कर्म कहते हैं। गुरु से सीखने से जल्दी सिद्ध होकर सरल अभ्यास हो जाता है।

यह नेति क्रिया नाक कान नेत्र मस्तक और इनकी सन्धियों को शुद्ध करती है। और भी अनेक गुण हैं

## ॥ अथ धौतिकर्म ॥

पन्द्रह हाथ मुलायम कपड़ा लेकर उसे मुख के द्वारा पेट में पहुंचा कर नौलिकर्म से उसे घुमा कर वापस मुख से निकाल देने को धौति क्रिया कहते हैं। गुरु के द्वारा सीखने से जल्दी सिद्ध होती है और सरलता से हो जाती है। प्रथम अभ्यास में धौति को दूध में भिगो कर काम में लावें। बाद जल में भिगो कर करें। अभ्यास दृढ़ हो जाने पर सूखी धौति भी पेट में जा सकती है।

## ॥ धौति के गुण ॥

धौति कर्म के अनेकों गुण हैं और अनेकों सिद्धियां हैं।

**कास श्वास प्लीह कुष्ठं कफरोगाश्च विंशतिः।**
**धौतिकर्म प्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः॥**

भावार्थ—कास श्वास प्लीहा तथा कुष्ठ एवं बीस प्रकार के कफ रोग धौति कर्म के प्रभाव से नष्ट हो जाते हैं।

यदि दूध में भिगो कर धौति पेट में पहुंचाई हो तब तो जल्दी भोजन का भी कुछ आग्रह नहीं है। चाहे जब कभी भोजन हो। दुग्ध धौति हानि नहीं पहुंचा सकेगी।

हमारा तो अनुमान यह है कि जिसका श्लेष्मा (कफ) मय शरीर हो उसी को पानी की गीली धौति, बाद में कुछ नहीं खाने से हानि पहुंचाती है। पित्तमय पतले शरीर वाले को जल्दी नहीं खाने से भी हानि नहीं कर सकती।

धौति तो एक रत्नवस्तु है। योगी लोग इससे अनेकों प्रकार के लाभ उठाते हैं। धौति क्षुधा को शान्त करती

है। शरीर में चेतना लाकर बल प्रदान करती है और सुस्ती को भगाती है। यह हमारा स्वानुभव है।

## ॥ ब्रह्मरन्ध्रे चन्द्रामृतम् ॥

## (वैद्यके लालारसेति नाम)

सहस्राधार से जो अमृत टपकता है उसे चन्द्रामृत कहते हैं, उसकी प्रसिद्धि लाला रस से भी है। इस लाला रस के विषय में जो डाक्टर वैद्य आदि का निर्णय है, उससे हमारा स्वानुभव कुछ भिन्न ही है। इसलिये हम वैद्य डाक्टरों के निर्णय पर ध्यान नहीं देते हुये यहाँ हमारे स्वानुभवों को लिखते हैं। जिसको प्रत्येक मनुष्य प्रयोग करके स्वयं अनुभव कर सकता है।

लाला रस भोजन के साथ पेट में पहुंचा हुआ भोजन को पेट में स्थिर करता है। जो भोजन, बिना लाला रस के पेट में पहुंचा हो वह भोजन शीघ्र पचता है। यदि केवल लालारस पेट में पहुंच रहा हो तो वह पेट की जठराग्नि को प्रदीप्त करता है, अजीर्ण अन्न को पचाता है। भूख उत्पन्न करता है। भोजन को पचाता है। इस विषय में यदि किसी को इस योगी के वचन पर विश्वास न हो तो अनुभव करके देखें।

एक पाव दूध को थोड़ा २ मुख में रखें और उसको मुख में बहुत समय तक घोटा करें और पेट में पहुंचाते रहें। एक पाव दूध एक या पौन घण्टे में इस प्रकार पूरा पेट में पहुंचा देवें और अनुभव करें कि कैसा पाचन करता है। तथा एक पाव दूध को जिसमें मुख जिह्वा का स्पर्श न

हो इस प्रकार ऊपर से कण्ठ के द्वारा फोरन ही पेट में पहुंचा देवें। और दोनों प्रकार के दूध को अलग २ प्रयोग में लेकर समझें कि फोरन पहुंचाया दूध कितने समय में पचता है और मुख में घोट कर पहुंचाया दूध कितने समय में पचता है। इस पर से प्रत्येक भोजन व खाई हुई वस्तु का अनुमान हो जावेगा।

इस योगी ने अपने स्वानुभव से यह सिद्ध कर रखा है कि किसी भी वस्तु के साथ गया हुआ लाला रस भूख भगा कर पेट भरता है, और पेट में गया हुआ केवल लाला रस भूख लगाता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है।

चाहे तुम पान को भी मुख में खूब घोट कर बहुत देर से पेट में पहुंचावोगे तो तुम्हारी दो तीन घण्टे तक भूख भग सकती है। चाहे यदि तुम्हें भूख लगी है और कुछ समय के लिये भूख भगाना है तो धौति का कपड़ा पन्द्रह हाथ मुख में घोट कर पेट में पहुँचा कर निकाल लो फोरन भूख भग जावेगी।

आशय यह है कि चाहे किसी भी वस्तु के साथ पेट में पहुंचा हुआ चन्द्रामृत पेट भरता व भूख भगाता है। तथा केवल पहुंचा हुआ चन्द्रामृत जठराग्नि प्रदीप्त कर अन्न पचाता है, भूख लगाता है।

## ॥ दीर्घायु ॥

### आयुरारोग्यमाप्नोति स्थिरे चन्द्रामृते कृते।

भावार्थ—किसी भी प्रकार चन्द्रामृत को पेट में नहीं जानें देनें से आयु बढती है शरीर नीरोग रहता है और जहां

तक चन्द्रामृत का पेट में जाना बन्द है उतने समय तक भूख प्यास नहीं लग सकती है। तथा चन्द्रामृत के पेट में पहुंचते ही फोरन भूख प्यास आ घेरती है।

इसको रोकने के अनेकों साधन हैं। चन्द्रामृत खेचरी मुद्रा से भी रुकता है। तथा शीर्षासन (विपरीत करणी) से भी रुकता है। सर्वाङ्गासन तथा जालंधर बन्ध से भी रुकता है। परन्तु अधिक समय तक शीर्षासन सर्वाङ्गासन जालंधर त्राटक आदि नहीं रोक सकते।

इसको बहुत समय तक रोकने के लिये तो प्राणायाम प्रत्याहारादि क्रम से सिद्ध समाधि ही काम कर सकती है।

सुना जाता है कि बहुत से समाधिस्थ योगी पहाड़ों में हजारों वर्षों से समाधि में मग्न हैं। उनके लाला रस पेट में नहीं जाने से भूख प्यास का क्लेश नहीं होता, और शरीर का वजन भी नहीं घटता। जब समाधि खुले और चन्द्रामृत पेट में जावे तब फोरन ही उन्हें भूख प्यास सतावेगी।

इस प्रकार योगी लोग समाधि में लाखों वर्ष बैठे रहते हैं, और चन्द्रामृत के रुकने से भूख प्यास नहीं सताती। सुना है काश्मीर की तरफ भगवान् रामचन्द्र के समय के महात्मा निकले थे।

इस प्रकार चन्द्रामृत (लालारस) के अनेक प्रयोग हैं। जो हमने अपने स्वानुभवों द्वारा ठीक तरह समझ रखे हैं, और समझा करके दूसरों को भी अनुभव करा सकते हैं।

## ॥ अथ कुंजरी क्रिया ॥

दोसौ तोला पानी पीकर उसे नौलि के द्वारा घुमा कर

पोछा वापस मुख के ही द्वारा बाहर फेंक देने को कुंजरी क्रिया कहते हैं।

कुंजरी क्रिया के करने से कफ की शुद्धि, धातुओं की प्रसन्नता, जठराग्नि की प्रदीप्ति, निद्रा तन्द्रा आलस्य का नाश हो जाता है तथा और भी अनेक प्रकार के गुण हैं।

## ॥ दुग्ध कुंजरी ॥

( स्वानुभवे ) जिस प्रकार जल पीकर वापस मुख से फेंक दिया जाता है, उसी प्रकार दूध भी पीकर फेंकने को दुग्ध कुंजरी कहते हैं। इसके करने से अनेक लाभ हैं। यह क्षुधा को शान्त करती है। वीर्य की रक्षा करती है तथा धातुओं की प्रसन्नता करती है और भी अनेक गुण हैं।

दुग्ध कुंजरी करने वाले का दूध व्यर्थ नहीं जाता बल्कि शरीर में बहुत लाभ पहुँचाता है।

यदि हमारे कहने के अनुसार कोई दुग्ध कुंजरी करे तो उसे अन्न खाने की भी आवश्यकता नहीं। तथा शरीर में बल पूरा बना रहेगा। मैदा चर्बी आदि नहीं बढ़ सकेंगे। धातुओं की प्रसन्नता रहेगी। संसार के सब काम भी ठीक प्रकार होते रहेंगे। गृहस्थाश्रम के किसी भी कार्य में कुछ भी बाधा नहीं होगी। अर्थात् शरीर सर्व प्रकार बलवान व कार्यक्षम बना रहेगा।

जिसको केवल दुग्ध कुंजरी पर ही रहना है और ठीक प्रकार अपना जीवन भी चलाना है तो इस प्रकार कुंजरी करे——

एक सेर दूध सुबह नौ बजे पी लेवे और उसे बीस या पच्चीस मिनट पेट में रोक रखे। पश्चात् पूरे दूध को मुख से बाहर फेंक देवे। बाद मध्याह्न में दो बजे एक सेर दूध पीकर पन्द्रह मिनट पेट में रख कर वापस मुख से निकाल देवें। बाद में शाम को सात बजे एक सेर दूध पीवे और बीस मिनट के लगभग पेट में स्थिर करके वापस मुख से निकाल देवे। इस प्रकार दिन रात में केवल तीन बार में कुल तीन सेर दूध की कुँजरी करे तो शरीर स्वस्थ रहे और मेदा चर्बी आदि स्थूल विकार नहीं बढ सकते और शरीर में बल (सामर्थ्य) ठीक रहते हुये सांसारिक सर्व कार्य क्षमता के साथ कर सकते हैं। अन्न खाने की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसको हम समक्ष में पूरी जानकारी करा कर ठीक प्रकार समझा सकते हैं।

यदि किसी का शरीर स्थूल (मोटा) हो और जठराग्नि अधिक शक्तिवाली हो तो दिन रात में चार बार भी कुँजरी कर सकता है। अर्थात् अधिक बार करने में भी कोई हानि नहीं है।

## ॥ अथ त्राटक योग ॥

कोई भी एक वस्तु पर नेत्र की दृष्टि जमा कर देखने को त्राटक योग कहते हैं। पद्मासन से बैठ कर साधारण दृष्टि से देखने से बहुत देर तक देखने की शक्ति आती है। जहां तक आंख से पानी नहीं आवे तब तक देखते रहना पानी आने पर फोरन देखना बंद कर देना चाहिये।

इस प्रकार ठीक प्रातःकाल प्रतिदिन करने से आँखों में ज्योति तथा शरीर में स्फूर्ति आती है। निद्रा, तन्द्रा, आलस्य

का नाश होकर मन की चंचलता नष्ट हो जाती है तथा नासिका कान मस्तक नेत्र आदि स्थानों के मल की शुद्धि होती है। इसका नाम बाह्य त्राटक है। आभ्यन्तर त्राटक मोक्ष समाधि आदि में काम करता है। शुभम्।

इसके अतिरिक्त मल शुद्धि आदि कार्यों के लिये अनेक योग क्रिया हैं। विषय बढ जाने के भय से उन्हें लिखना नहीं चाहते। यहाँ पर कुछ मुख्य २ क्रिया तथा आसन प्राणायाम भी केवल नाम और उनके गुण मात्र से ही लिखेंगे। उनकी पूरी जानकारी किसी भी योगाश्रम से करके ठीक प्रकार समझ सकते हो।

## ॥ खेचरी क्रिया ॥

यह सहस्रार से टपकते अमृत को रोकती है। और दीर्घ जीवन प्रदान करती है।

## ॥ बज्रोली क्रिया ॥

यह क्रिया मनुष्य को ऊर्ध्वरेता बना कर ब्रह्मचर्य को स्थिर करके जीवन को लाभ देती तथा मस्तिष्क में स्मरण शक्ति को बढाती है।

## ॥ शंखप्रक्षालन क्रिया ॥

मुख के द्वारा पानी पीकर गुदा से निकाल देने को शंखप्रक्षालन क्रिया कहते हैं।

## ॥ गुण ॥

शंख प्रक्षालन क्रिया पेट और गुदा की शुद्धि करती है। धातुओं को मजबूत बनाती है। निद्रा, तन्द्रा, आलस्य

को भगाती है। शरीर में चेतनता लाकर स्फूर्ति प्रदान करती है। स्मरण शक्ति को बढ़ाती है। इस प्रकार अनेक गुण हैं। शुभम्।

## ॥ सूचना ॥

ऐहलौकिक योग क्रिया को हम थोड़े में ही लिखेंगे। केवल नाम व गुण ही निर्देश करेंगे। विशेष जानकारी किसी भी योगाश्रम से की जा सकती है। कारण हमारा मुख्य मार्ग पारलौकिक क्रिया का है इसलिये हम पारलौकिक क्रिया को विस्तार से लिखेंगे। जो जीव ब्रह्म की एकता करता है और जन्म मरण से मुक्त करता है। जिसके लिये हम संसार के सुखों को त्याग कर योगी बने हैं। उस परम तत्त्व पारलौकिक योग को प्रधानतया लिखना है। वास्ते हम यहाँ आसन प्राणायाम आदि सूक्ष्म से ही लिखेंगे। इनकी जानकारी योगाश्रमों से कर लेनी चाहिये।

## ॥ आसनम् ॥

साधारणतः अनेकों आसन हैं। परन्तु संसारी गृहस्थी व्यवसायी मनुष्यों को समय बहुत कम रहता है। वास्ते प्रत्येक मनुष्य अपने गृहस्थाश्रम व्यवसाय के कार्य भी कर सके और कुछ समय निकाल कर स्वास्थ्य रक्षा के लिये आसन प्राणायाम आदि भी कर सके एतदर्थ यहाँ हम मुख्य मुख्य आवश्यक आसनों को लिखेंगे। बैठने के लिये भी अनेकों आसन है। परन्तु उनमें से चुन कर जो गृहस्थियों के लिये हितप्रद हैं वह ही लिखते हैं।

स्वस्तिकासन से प्रत्येक मनुष्य में बहुत देर तक बैठने की शक्ति रहती है। परन्तु यह केवल बैठक के लिये ही

ठीक है। इसमें और कोई विशेष गुण लाभ नहीं पाया जाता। अतः वात पित्त कफ तीनों को समान रखने वाला और अनेकों गुणों से युक्त पद्मासन ही करना चाहिये।

## ॥ पद्मासनम् ॥

वामोरूपरि दक्षांघ्रिं विन्यसेत्तस्य चोपरि।
दक्षोरौ वामपादं च संस्थाप्यांजलि संपुटम् ॥
स्वांके निधाय नासाग्रं पश्येन्निश्चल मानसः।
पद्मासनं भवेदेतत् सर्वव्याधि विनाशनम् ॥

भावार्थ—वाम ऊरू के ऊपर दक्षिण पाद रख कर उसके ऊपर दक्षिण ऊरू पर वाम पाद को स्थापन करे और दोनों हाथों को संपुट करके अपने अंक में धर कर नासिका के अग्रभाग पर निश्चल मन से दृष्टि जमावे। यह सर्व प्रकार की व्याधियों का नाश करने वाला पद्मासन होता है।

पद्मासन के अनेक गुण हैं, अनेक लाभ हैं। और योग सिद्धि का प्रधान कारण है। यह हमारा स्वानुभव है। अभ्यास करने से बहुत समय तक लग सकता है।

एक घण्टे में यह सिद्ध माना जाता है। और तीन घण्टे का अभ्यास हो जाने पर आसन की पूर्ण सिद्धि मानी जाती है।

## ॥ पश्चिमतानमासनम् ॥

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ।
दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥

जानूपरि न्यस्त ललाटदेशो
वसेदिद पाश्चिमतान माहुः ॥

भावार्थ—दोनों पादों को दण्ड के समान पृथ्वी पर लम्बे कर के दोनों हाथों की आकुञ्चित तर्जनी से पैरों के अंगूठों को पकड़ कर मस्तक को घुटनों के बीच स्थिर करने को पश्चिमतान आसन कहा है।

॥ गुण ॥

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं
पवनं पश्चिमवाहिनं करोति।
उदरं जठरानलस्य कुर्या-
दुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् ॥

भावार्थ—सब आसनों में अग्र्य (मुख्य) यह पश्चिमतान आसन प्राणवायु को पश्चिम वाहिनी याने सुषुम्ना की तरफ ढकेलता है। पेट जठराग्नि को प्रदीप्त करता है और भूख लगाता है, पेट की मोटी दुम को दबाता है अर्थात् पेट को कृश करके सुन्दर बनाता है। पुरुषों को नीरोग करता है। नाड़ियों में दूषित वायु को हरण करता है और भी अनेकों लाभ प्रदान करता है। इसको सिद्धि सात मिनट में और पूर्ण सिद्धि इक्कीस मिनिट में होती है। शुभम्।

## ॥ शीर्षासन (विपरीत करणी) ॥

शीर्षासन चन्द्रकलामृत को रोकता है। ब्रह्मचर्य को स्थिर करता है। उर्ध्वरेता बनाता है। जठराग्नि को प्रदीप्त

कर भूख लगाता है। श्वास-कास आदि रोगों को दूर करता है। मस्तक के बाल सफेद नहीं होने देता। आयु बढाता है। ऐसे अनेक गुण हैं। स्मरणशक्ति को तीव्र बनाता है। इसकी सिद्धि का समय एक घण्टा तथा पूर्ण सिद्धि तीन घण्टे की मानी जाती है। जिनके नेत्र कमजोर हों तथा मस्तिष्क कमजोर हो उनको शीर्षासन नहीं करना चाहिये।

## ॥ सर्वाङ्गासन ॥

यह आसन वायु को हरण करता है। अमृत को रोकता है। शरीर को नीरोग बनाता है। मस्तक के बाल काले रखता है। पाचन करता है तथा भूख लगाता है। ऐसे अनेक गुण हैं।

सर्वाङ्गासन विशेष कर स्त्रियों को अवश्य करना चाहिये। यह स्त्रियों के गर्भाशय का शोधन करता है तथा गर्भाशय के समस्त दोषों को हरण करके सन्तानोत्पत्ति का लाभ प्रदान करता है और मासिक धर्म की शुद्धि करता है। ऐसे अनेक गुग हैं। इसकी सिद्धि एक घण्टा और पूर्ण सिद्धि का समय तीन घण्टा है।

## ॥ मत्स्यासनम् ॥

मत्स्यासन वायु को हरण करता है, शान्ति प्रदान करता है श्रम हरण करता है। अन्न पचाता है। मल साफ लाता है। उदर को कृश करता है। और भी अनेक रोगों का नाश करता है। इसकी सिद्धि एक घण्टा तथा पूर्ण सिद्धि का समय तीन घण्टा है।

## ॥ इति आसन प्रकरणम् ॥

## ॥ अथ प्राणायाम प्रकरणम् ॥

प्राणायाम अनेक हैं, और सब आरोग्य तथा लाभप्रद हैं। परन्तु उनमें भी कुछ २ प्राणायाम अपनी विशेषता रखते हैं। उनको हम यहां लिखते हैं।

**मलभित्सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।**
**भ्रामरी प्लाविनी चैव ह्येते गुण विशेषदाः॥**

भावार्थ---मलशोधक प्राणायाम सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतली, भ्रामरी, प्लाविनी प्राणायाम ये विशेष लाभ प्रदान करने वाले हैं। मलशोधक प्राणायाम शरीर के मल को पवित्र करता है। सूर्यभेदन विशेष कर वात को हरण करता है। वास्ते ग्रीष्म और वर्षाकाल में इसका प्रयोग अधिक होता है। उज्जायी में कफ हरण करने की विशेषता है, वास्ते इसको हेमन्तऋतु में विशेष प्रयोग करते हैं। शीतली विशेषतः पित्त हरण करता है, वास्ते इसका प्रयोग ग्रीष्मऋतु में अधिक होता है। भ्रामरी में मन को चिन्ताओं से रहित कर सन्तोष देने की विशेषता है। प्रसन्नता उत्पन्न करता है। अतएव इसे एकान्त स्थान में बैठ कर करना उचित है। प्लाविनी प्राणायाम जल में नहीं डुबाता अतः इसका अभ्यास जलाशय द्वारा करना उचित है।

वैसे तो यह सब प्राणायाम सब ऋतुओं में भी हो सकते हैं परन्तु ऊपर लिखी ऋतुओं में इनका विशेष महत्त्व है।

यह सब प्राणायाम गुरुमुख से ही सीख कर गुरु के संमुख ही सिद्ध करना चाहिये। नहीं तो खतरा होना सम्भव है।

## ॥ अथ मल शुद्धि प्राणायामः ॥

## ॥ स्वनिर्माणम् ॥

सूर्येण वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।
मात्तणं कुम्भकं कृत्वा चन्द्रेण रचयेत्पुनः ॥
चन्द्रेण वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।
मात्तणं कुम्भकं कृत्वा सूर्येण रेचयेत्पुनः ॥
एवं लोम विलोमेन कुर्यादेकादशद्वयम् ।
त्रिसंध्यं साधयेन्नित्यं द्विमासि मलशुद्धिदम् ॥

भावार्थ—सूर्य अर्थात् पिंगला नाड़ी से धीरे २ वायु खींच कर पेट में पहुंचावे। और जब पूर्ण वायु खिच जावे तब क्षणमात्र भी कुम्भक न करते हुये शीघ्र उसे धीरे २ चन्द्रनाड़ी इड़ा से रेचन याने बाहर निकाल देवे। जब पूर्ण वायु बाहर निकल जावे तो फौरन ही चन्द्र इड़ा नाड़ी से धीरे २ वायु को खींच कर पेट में भरे और जब पूरी वायु खिच जावे तो उसे क्षणमात्र भी नहीं रोकते हुये सूर्य नाड़ी पिंगला से धीरे २ बाहर निकाल देवे। यह एक प्राणायाम हुआ, इस प्रकार लोम विलोम करने मे बाईस प्राणायाम प्रातः, बाईस प्राणायाम मध्याह्न में और बाईस प्राणायाम रात्रि में इस प्रकार त्रिकाल में कुल ६६ छासठ प्राणायाम नित्य नियम से दो मास तक प्रतिदिन करने से ऐहलौकिक योगक्रिया के योग्य मल को शुद्धि हो जाती है। तथा आसन प्राणायाम करने में बहुत सहायता मिल जाती है। शरीर फुर्तीला हो जाता है। तन्द्रा आलस्य भी भग जाते हैं। ऐसे अनेक लाभ होते हैं।

## ॥ अथ सूर्यभेदन प्राणायामः ॥

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ।
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥
आकेशा दानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ।
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥

भावार्थ–योगी सुखदायी आसन पर पद्मासन से बैठकर दक्षिण (पिंगला) नाड़ी से वायु को धीरे २ खींचकर पूरक प्राणायाम करके नखाग्र से लेकर केश पर्यन्त सारे शरीर में वायु रुक जावे तबतक कुम्भक करे पश्चात् सव्य (इडा) नाड़ी से वायु को धीरे २ बाहर छोड़ दे । यह सूर्यभेदन प्राणायाम कहलाता है ।

सूर्यभेदन मस्तक को शुद्ध करता है । अस्सी प्रकार के वात दोषों को हरता है । पेट के जन्तु (कृमि) को नष्ट करता है । इसके और भी अनेक गुण हैं ।

## ॥ अथोज्जायिनमाह ॥

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥
पूर्ववत्कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
श्लेष्म दोषहरं कण्ठे देहानल विवर्धनम् ॥

भावार्थ–मुख को दबा करके इडा और पिंगला नाड़ी से धीरे धीरे इस प्रकार वायु को भीतर खींचे कि जिससे वायु कण्ठ से हृदय पर्यन्त शब्द (गर्जन) करती हुई लगे ।

पश्चात् सूर्यभेदन के समान कुम्भक करके इडा से वायु को बाहर धीरे २ निकाल देवे। यह उज्जायी प्राणायाम कफ के दोषों को हरता है। जठराग्नि को बढ़ाता है और दीपन करके भूख लगाता है। शरीर की सर्दी को भगाता है।

## ॥ अथ सीत्कारी प्राणायामः ॥

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम्।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥

भावार्थ–दोनों ओष्ठों के मध्यम में जिह्वा को लगाकर सीत्कार करते हुये मुख से वायु को भीतर खींचे पश्चात् दोनों नासापुटों से वायु को बाहर निकाल देवे।

यह सीत्कारी प्राणायाम शरीर को रूप लावण्य से युक्त कामदेव के समान बनाता है। शोभायमान करता है। तथा क्षुधा तृषा निद्रा तन्द्रा और आलस्य को दूर करता है। कफ तथा तामस को भी हरता है। और भी अनेक गुण हैं।

## ॥ अथ शीतली प्राणायामः ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत्पुनः ॥

भावार्थ–दोनों ओष्ठों को बाहर निकाल जिह्वा को परनाली के समान बनाकर सीत्कार शब्द के साथ जिह्वा से वायु को धीरे २ खींचकर वायु को घूंट के साथ उतार कर अधिक न रोकते हुये नासा के दोनों पुटों से धीरे२ वायु को बाहर निकाल देवे। यह शीतली प्राणायाम गुल्म प्लीहा आदि रोग

तथा ज्वर पित्त क्षुधा तृषाएवं सर्प आदि का विष इन सबको नष्ट करता है। इसको करने वाले का शरीर स्वाभाविक शीतल रहता है।

## ॥ अथ भस्त्रिका प्राणायामः ॥

कुण्डली बोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम्।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥

भावार्थ—भस्त्रिका प्राणायाम वात पित्त कफ (त्रिदोष) को हरता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। नाड़ियों को शुद्ध करता है। और वायु को सुषुम्ना में ढकेलता है और भी अनेक गुण हैं।

## ॥ अथ भ्रामरी प्राणायामः ॥

वेगाद् घोषं पूरकं भृङ्गनादं
भृङ्गीनादं रेचकं मन्द मन्दम् ।
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते
जाता काचिदानन्द लीला ॥

भावार्थ—मुख बन्द करके वेग से दोनों नासा पुटों से भ्रमर के तुल्य शब्द करते हुये वायु को खींचकर पेट में भरे। पश्चात् भ्रमरी के समान शब्द करते हुये धीरे २ मन्द २ वायु को बाहर दोनों नासापुटों से निकाल देवे, इसको भ्रामरी प्राणायाम कहते हैं।

वायु निकालने में तीन मिनट का अभ्यास होने पर प्राणायाम की सिद्धि होती है, और नौ मिनिट का अभ्यास होने पर पूर्ण सिद्धि हो जाती है।

स्वर्गाश्रम में एक बंगाली स्वामीजी ने हमसे कहा था कि हमारे गुरु महाराज भ्रामरी का श्वास सूर्यास्त से निकालते तो सूर्योदय तक समाप्त होता, इतना उनका प्राण पर संयम था। यह उनका कहना भी ठीक प्रतीत होता है, कारण भ्रामरी प्राणायाम बहिरंग समाधि का प्रधान मार्ग है। इसमें कुम्भक वर्ज्य है। जो श्वास मन्द २ शब्द के साथ निकलता है, उसी को बुद्धिमान लोग कुम्भक मानते हैं।

## ॥ भ्रामरी के गुण ॥

भ्रामरी प्राणायाम बहिरंग समाधि का प्रधान मार्ग है। तथा चंचल हरिणरूपी चित्त को शब्द के आनन्द में डुबाकर चंचलता रहित कर नाद के लक्ष्य में स्थापन करता है। चिन्ताओं को दूर करता है। रोगों को भगाता है। वात पित्त कफ का शोधन करता है। आयु को बढ़ाता है। ऐसे इसमें अनेक गुण हैं।

## ॥ मूर्छा प्राणायामः ॥

पूरकान्ते गाढतरं बध्दूवा जालंधरं शनैः।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥

मूर्च्छा प्राणायाम मन को गाफिल करता है। प्राण की गति को सूक्ष्म करता है। शरीर के रोगों को हरता है।

## ॥ अथ प्लाविनी प्राणायामः ॥

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥

भावार्थ—अधिक मात्रा में पेट में वायु भरने वाला यह प्लावनी प्राणायाम पानी में नहीं डुबाता, पानी पर ही तैरता रहता है।

## ॥ अथ अपानवायुप्राणायामः ॥

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणङ्कण्ठादधोनयेत् ।
योगी जरा विमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत् ॥

भावार्थ—अपान वायु को ऊपर खींचकर प्राण वायु को कण्ठ में स्थापन कर जो टिकता है। वह सर्वव्याधि से मुक्त होता है। उसकी आयु बढ़ती है। मृत्यु को जीतता है। और भी अनेक गुण हैं। इसकी सिद्धि आठ मिनट की और पूर्ण सिद्धि २४ मिनट की कही है।

## ॥ अथ सर्पमुद्राप्राणायामः ॥

जिह्वा को पीछी उलटा कर मुख से जो वायु खींचा जाता है। वह सर्प मुद्रा प्राणायाम कहा जाता है। यह सर्व व्याधियों को हरण करने वाला है तथा भूख प्यास को हरता है। और शरीर में सर्प के समान बल शक्ति पैदा कर सकता है ऐसे इसके अनेक लाभ हैं।

प्राणायाम अनेक हैं। हमने यहाँ थोड़े से ही लिखे हैं। प्राणायाम का प्रधान तात्पर्य यह है कि किसी भी प्रकार प्राण की गति को सूक्ष्म बना देना। वास्ते पातञ्जल योग दर्शन में स्पष्ट कहा है —

तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गति विच्छेदः प्राणायामः

भावार्थ—महर्षि पतञ्जलि कहते हैं कि किसी भी प्रकार

से श्वास प्रश्वास की गति को सूक्ष्म बना देना, यही प्राणायाम का मुख्य ध्येय है। इति प्राणायाम प्रकरणम्।

अब हम ऐहलौकिक योगक्रिया को इतनी ही लिख कर समाप्त करेंगे कारण हम योगी हैं। हमें पारलौकिक योग से अधिक प्रीति है। जो जीव ब्रह्म की एकता करके मुक्त करता है। उसी तत्त्व के लिए हम गृहस्थाश्रम के समस्त सांसारिक वैभव सुखों को ठुकरा कर त्याग कर योगी बने हैं। वास्ते मोक्ष हमारा परम लक्ष्य है। अतः पारलौकिक योग को हमें विस्तार से ठीक समझा कर लिखना है जो मोक्ष का परम धन है। वास्ते ऐहलौकिक योग को समाप्त करते हैं। ऐहलौकिक योग की अनेकों क्रियायें हैं। इनकी जानकारी आप लोगों को किसी भी योगाश्रम से अच्छी प्रकार से हो सकती है। योगाश्रम से ही ठीक समझ सकते हो, सीख सकते हो और ऐहलौकिक योग का पूर्ण आनन्द प्राप्त कर सकते हो ।। शुभम् ।।

**सर्वे कुशलिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः ।**
**सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत् ॥**

।। इति योगतत्त्वे ऐहलौकिको नाम प्रथमो भागः ।।

॥ ॐ श्री परमात्मने नमः ॥

## ॥ ॐ कार गुरवे नमः ॥

## ॥ अथ योगतत्त्वे पारलौकिको नाम द्वितीयो भागः ॥

अचिन्त्यरूपो भगवान्निरञ्जनो
विश्वम्भरो ज्ञानमयश्चिदात्मा ।
विशोधितो येन हृदि क्षणं नो
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम् ॥

(योगी शुकः)

प्रत्येक मनुष्य का धर्म है कि वह अपने को जन्म मरण से मुक्त करे और सत्य परम धन परमात्मा के तत्त्व में शांति प्राप्त करे ।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में कहा है—

परं पदं वैष्णवमामनन्ति तद्
यन्नेति नेती त्यतदुत्सिसृक्षवः ।
विसृज्य दौरात्म्यमनन्यसौहृदा
हृदोप गुह्यार्हं पदं पदे पदे ॥१॥

भावार्थ—नेति नेति कहने वाले भी उसको विष्णु का परम पद कहते हैं। जो आत्मा के अतिरिक्त किसी से मित्रता नहीं करते और क्षण २ में उस परमात्मा से हृदय में मिलते हैं और मुक्त हैं ।

यही भूत शुद्धि प्रकरण में कहा है—

गंगायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम् ।
बलात्कारेण गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥

भावार्थ–गंगा यमुना अर्थात् इडा पिंगला नाड़ी जहाँ मूलाधार में जाकर समाप्त हुई है और वहाँ से सुषुम्ना नाड़ी प्रारम्भ हुई है इनके बीच आद्य शक्ति परा प्रकृति सर्पिणी के आकार वाली जो सुषुम्ना के ब्रह्मद्वार को रोक कर सोई हुई है । उस तपस्विनी को जो महापुरुष अपने योग बल से जाग्रत करके प्राण को ब्रह्मनाड़ी के अन्तर्गत करते हैं । वही अव्यक्त अविनाशी विष्णु का परम पद है । जो अनेकों पूर्व जन्मों के पुण्य के प्रताप से प्राप्त होता है ।

## ॥ मुक्ति निर्णयः ॥

## ॥ विवेकचूडामणौ ॥

वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् ।
कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवताः ॥
आत्मैक्यबोधेन विनापि मुक्ति ।
न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥१॥

भावार्थ–अनेक शास्त्रों को पढ़ते रहो सुनते रहो । अनेकों देवताओं का यजन पूजन उपासना करते रहो । अनेकों दान धर्म तीर्थ यज्ञादिक क्रिया करते रहो । और मुख से यथेष्ट देवताओं का भजन करते रहो नेत्रों से दर्शन करते रहो । परन्तु अद्वैत आत्म दर्शन के विना मुक्ति मिलना दुर्लभ है, चाहे ब्रह्मा के सैंकड़ों जन्म भी क्यों न बीत जांय मुक्ति मिलना कठिन है बार २ जन्म लेते रहो और मरते रहो ।

## ॥ मुक्ति विचार ॥

जन्तूनां नरजन्म दुर्लभमतः पुंस्त्वं ततो विप्रता।
तस्माद्वैदिकधर्म मार्गपरता विद्वत्त्वमस्मात्परम् ॥
आत्मानात्म विवेचनं स्वनुभवो ब्रह्मात्मना संस्थिति।
मुक्ति र्नो शत कोटि जन्म सुकृतैःपुण्यै र्विना लभ्यते॥

भावार्थ—जीवों को प्रथम तो मनुष्य जन्म ही दुर्लभ है। उससे भी पुरुषत्व और उससे भी ब्राह्मण कुल में जन्म मिलना कठिन है। उसमें भी वैदिक धर्म का अनुगामी तथा विद्वत्ता का होना कठिन है यह सब कुछ होने पर भी आत्मा और अनात्मा का विवेक सम्यक् अनुभव तथा ब्रह्मात्म भाव स्थिति और मुक्ति ये तो करोड़ों जन्मों के किये शुभकर्मों के परिपाक के विना प्राप्त हो ही नहीं सकते ॥ शुभम् ॥

## ॥ जीव स्वयं ही आत्मघाती है ॥

लब्धवा कथञ्चिन्नरजन्म दुर्लभं।
तत्रापि पुंस्त्वं श्रुतिपारदर्शनम्।
यः स्वात्ममुक्तौ न यतेत मूढधीः।
स ह्यात्महा स्वं विनिहन्त्यसद्ग्रहात् ॥

भावार्थ—किसी प्रकार इस दुर्लभ मनुष्य जन्म को प्राप्त कर और उसमें भी जिसमें श्रुति के सिद्धान्त का ज्ञान होना है ऐसा पुरुषत्व प्राप्त कर जो मूढ़ बुद्धि अपने आत्मा की मुक्ति के लिये प्रयत्न नहीं करता, वह निश्चय ही आत्मघाती है। वह असत् में आस्था रखने के कारण अपने को नष्ट करता है।

इतः कोन्वस्ति मूढात्मा यस्तु स्वार्थे प्रमाद्यति ।
दुर्लभं मानुष देहं प्राप्य तत्रापि पौरुषम् ॥

भावार्थ–दुर्लभ मनुष्य देह और उसमें भी पुरुषत्व पाकर जो अपने स्वार्थ साधन में भी प्रमाद कर बैठता है। उससे अधिक मूढ दूसरा कौन होगा।

## ॥ ज्ञानोपलब्धि का उपाय ॥

अतो विमुक्त्यै प्रयतेत विद्वान्
सन्यस्तबाह्यार्थसुखस्पृहः सन् ।
सन्तं महान्तं समुपेत्य देशिकम्
तेनोपदिष्टार्थसमाहितात्मा ॥

भावार्थ-बुद्धिमान मनुष्य बाहर के सम्पूर्ण भोगों की इच्छा का त्याग करके सन्तशिरोमणि गुरुदेव की शरण में जा कर उनके उपदेश के अनुसार मुक्ति के लिये प्रयत्न करे।

उद्धरेदात्मनात्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।
योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शन निष्ठया ॥

भावार्थ—निरन्तर आत्मा के दर्शन में स्थित रहता हुआ योगारूढ हो कर संसार सागर में डूबे हुये अपने आत्मा का आप ही उद्धार करे।

## ॥ योगसाधन ही प्रधान है ॥

(योग रसायने)

क्रियाजालान्यनेकानि, प्रभवन्ति न मुक्तये ।
योगमेवाभ्यसेन्नित्यं बुधो मोक्षाय केवलम् ॥

भावार्थ—अनेक प्रकार के जप-तप तीर्थ दान भजन पूजन यज्ञादि जो स्थूल क्रियाओं के समूह हैं, वह सब मुक्ति के लिये साक्षात् समर्थ नहीं हो सकते। अर्थात् इन सब से शीघ्र मुक्ति की प्राप्ति नहीं होती है। बुद्धिमान मनुष्य को संसार बन्धन से मुक्ति के लिये केवल योग का ही अभ्यास करना चाहिये।

तत्त्वज्ञानेन कैवल्यं ज्ञानं योगमयं तथा।
विना योगेन यज्ज्ञानं नैव तन्मोक्षकारणम्॥

भावार्थ—तत्वज्ञान से कैवल्य मोक्ष प्राप्त होता है। और वह ज्ञान, योगरूप ही है। और जो योग के विना शुष्क ज्ञान है वह मुक्ति का कारण नहीं हो सकता है।

शुष्कशास्त्रविवादेषु नैवायुः क्षपयेद् बुधः।
नहि दीपकवार्तायामन्धकारो विनश्यति॥

भावार्थ—शास्त्रों के शुष्क विवादों में बुद्धिमान पुरुष को सर्व आयु व्यतीत नहीं करनी चाहिये। जैसे दीपक की वार्ता करने से अन्धकार का नाश नहीं हो सकता। वैसे ही केवल शास्त्रों की वार्ता करने से मुक्ति नहीं मिल सकती है।

## ॥ साधन ही मुक्ति का प्रधान कारण है ॥

समाहिता ये प्रविलाप्य बाह्यं।
श्रोत्रादि चेतः स्वमहं चिदात्मनि॥
त एव मुक्ता भवपाशबंधै।
र्नान्ये तु पारोक्ष्य कथाभिधायिनः॥

भावार्थ—श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मन अहंकार इनको बाहर से खींच कर आत्मा में लीन करके जो समाधि में लीन होते हैं। वे ही संसार बन्धन से मुक्त होते हैं और जो केवल परोक्ष ब्रह्मज्ञान की बातें बनाते रहते हैं और लम्बे २ हाथों को उठा कर केवल जीव ब्रह्म का प्रतिपादन करते रहते हैं। वह कभी मुक्त नहीं हो सकते हैं।

यही बात योगी वसिष्ठ ने श्री रामचन्द्रजी को उपदेश में कही है।

सकल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रम्।
सकल्पमात्रकलनैव मनो विलासः॥
संकल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प।
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम्॥

भावार्थ—एक समय भगवान श्री रामचन्द्रजी अपने गुरु वसिष्ठजी के पास जाकर प्रणाम कर बोले—गुरु महाराज! बाल्यावस्था से अभीतक चित्त को शान्ति नहीं मिली, वनवास सीताहरण रावण युद्ध पश्चात् भी अयोध्यावासी मनुष्य के वचन से सीता का त्याग। इस प्रकार का जीवन रहा। अतएव हे गुरुदेव! मन को शान्ति प्राप्ति हो ऐसा उपाय कहिये।

रामजी के वचनों को सुनकर योगी वसिष्ठजी ने कहा—हे राम तुमको शान्ति चाहिये तो सुनो—यह सारा जगत् संकल्पमात्र की रचना है। और जो कुछ भी भोग वस्तु गृह बाग धन सम्पत्ति नाना प्रकार के पदार्थ स्त्री सुखादि जो कुछ भी हैं। सब मन के ही संकल्प से होते हैं। अतएव हे राम!

तुम को शान्ति चाहिये तो मन के समस्त संकल्पों को त्याग करके निर्विकल्पता को प्राप्त होजावो तो हे राम ! तुमको निश्चय ही शान्ति प्राप्त हो सकती है अन्यथा इस संकल्प की रचना वाले जगत् में शान्ति कहाँ है ।

## ॥ मन और प्राण ही मुक्ति के कारण हैं ॥

### (हठयोगप्रदीपे)

ज्ञानं कुतो मनसि संभवतीह तावत् ।
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ॥
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद् यो ।
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः ॥

भावार्थ–तुम अपने को ज्ञानी कैसे समझते हो जहाँ तक तुम्हारा मन अनेक संकल्प कर रहा है । और तुम्हारा प्राण भी जीवित है । याने सुषुम्ना में नहीं पहुँचा है । यदि ज्ञानी कहलाना चाहते हो तो प्राण और मन दोनों को लय करके ब्रह्मानन्द को प्राप्त करो । प्राण और मन दोनों को लय करके मनुष्य मोक्ष को प्राप्त करता है । इसके अतिरिक्त मुक्ति के कोई मार्ग ( उपाय ) नहीं ।

## ॥ सत्य तो यह है ॥

यावन्नैव प्रविशति चरन् मारुतो मध्यमार्गे ।
यावद् बिन्दु र्न भवति दृढः प्राणवातःप्रबन्धात् ॥
यावत् ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वम् ।
तावज् ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ॥

भावार्थ–जहाँ तक प्राणवायु मध्य मार्ग याने सुषुम्ना में नहीं जाने लगा, और जहाँ तक प्राणायाम के प्राणवायु प्रबन्ध (सिद्धि) से बिन्दु की स्थिरता नहीं हुई, जहाँ तक ध्यानावस्था में मन के संकल्प नहीं गये, तहाँ तक तुम्हारा ज्ञानी कहलाना केवल मिथ्या दम्भ मात्र है।

## ॥ अथ योगी प्रशंसा ॥

योगाभ्यासे प्रवृत्तस्य योगिनः श्रद्धयान्विताः।
परिचर्यां प्रकुर्वन्ति शिष्या वा धनिनश्चये ॥
ते तस्य पुण्ययोगेन क्षीणपापकदम्बकाः।
अनायासेन गच्छन्ति ब्रह्मणः सदनं परम् ॥

भावार्थ–योगाभ्यास में प्रवृत योगी पुरुष की जो शिष्य अथवा धनिक भक्त लोग अन्न पान स्थान वस्त्रादिकों से श्रद्धा पूर्वक सेवा करते रहते हैं। वे भी उस योगी के पुण्य के भागी होने से सर्व पापों से रहित होकर अनायास ही ब्रह्म लोक को प्राप्त कर लेते हैं।

## ॥ ब्रह्मवैवर्तपुराणे ॥

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत।
जायते योगवान् यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुंप्रकृत्यो र्विवेकवान्।
भवकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥

भावार्थ–योगी के माता पिता कृतार्थ हैं उसका कुल भी धन्य है और वह देश भी जहाँ योगवान् जन्म लेता

है योगी को दिया हुआ दान अक्षय होता है। पुरुष और प्रकृति के विवेकी योगी जन के दर्शन सम्भाषण और स्पर्श करने से मनुष्यों के कोटि २ जन्मों के पाप नष्ट होजाते हैं और आत्मा पवित्र हो जाता है।

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥

भावार्थ—सहस्र गृहस्थो शत वानप्रस्थो और सहस्रों ब्रह्मचारियों से एक योगाभ्यासी अधिक (श्रेष्ठ) होता है।

## ॥ राजयोगे वामदेवं प्रति शिववाक्यम् ॥

राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः ।
तज्ज्ञानी वसते यत्र स देशः पुण्यभाजनम् ॥
दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्त कुल संयुताः ।
अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ।
अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः ।
त्वया मयाप्यसौ वन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु किं पुनः ॥

भावार्थ—राजयोग के यथार्थ माहात्म्य को कौन जान सकता है। राजयोग का ज्ञानी जहाँ निवास करता है वह देश पवित्र व पुण्यमय है। योगी के दर्शन पूजन से इक्कीस कुल सहित मूर्ख लोग भी मुक्ति को प्राप्त कर लेते हैं। योग में तत्पर तो क्यों न मुक्त होंगे। जो अन्तर्योग और बहिर्योग को विशेष कर जानता है वह योगी तुम्हारे और मेरे भी वन्दना करने योग्य है। तो अन्य मनुष्यों की क्या गणना है।

## ॥ कूर्म पुराणे (महायोग महिमा) ॥

एक कालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा ।
ये युञ्जंते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ॥

भावार्थ—कूर्म पुराण में लिखा है कि एक समय में द्विकाल त्रिकाल में अथवा नित्य जो महायोग का अभ्यास करते हैं। उनको साक्षात् शंकरजी जानना चाहिये।

## ॥ मार्कण्डेय पुराणे ॥

योगिनश्च सदा श्राद्धे, भोजनीयाः प्रयत्नतः ॥
योगाधारा हि पितरस्तस्मात्तान् पूजयेत् सदा ॥१॥
ब्राह्मणानां सहस्रेभ्यो योगी त्वग्राशनो यदि ॥
यजमानं च भोक्तॄंश्च नौरिवाम्भसि तारयेत् ॥२॥
पितृगाथास्तथैवात्र गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥
या गीता पितृभिः पूर्वमैलस्यासन् महीपतेः ॥३॥
कदा नः संततावग्र्यः कस्यचिद् भविता सुतः ॥
यो योगिभुक्तशेषान्नो भुवि पिण्डं प्रदास्यति ॥४॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष प्रयत्न करके श्राद्ध में योगिजनों को भोजन करावे। कारण पितर केवल योग में ही स्थित हैं, अतः योगियों को सदा ही भोजन कराना उचित है। सहस्रों ब्राह्मणों के स्थान में यदि एक योगी को भोजन कराया जाय तो वह जल में नौका के समान सबका उद्धार करता है। ब्रह्मवादी लोग इस विषय में एक गाथा कहते हैं, पितरों ने इस फल के उद्देश से यह गाथा कही, कि कब हमारे वंश में

ऐसा सर्वश्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न होगा जो योगियों के भोजन से बचे हुए अन्न से हमको पृथ्वी पर पिण्ड दान करे।

इन शास्त्र प्रमाणों व प्रत्यक्ष प्रमाणों से योग सर्वोत्तम है ।।शुभम्।।

## ।। अथ प्राणायाम प्रकरणम् ।।

**आलोच्य योगशास्त्राणि स्वस्यानुभवतस्तथा।**
**सारभूतं प्रवक्ष्यामि विधानं योगसाधने ।।१।।**

भावार्थ—पातंजल योगदर्शन, शिव संहिता, याज्ञवल्क्य-संहिता, गोरक्षपद्धति, हठयोगप्रदीपिका, पातंजल योगप्रदीप, घेरण्डसंहिता आदि अनेक योग ग्रन्थों को मथन करके तथा अपने अनुभव के अनुसार योग साधन करने की सारभूत विधि को संक्षेप से निरूपण करते हैं। शुभम्।

**प्राणायामं तथा प्राणं वक्ष्यामि मोक्षकाम्यया।**
**प्राणायामे भूमिका पंच प्राणस्य भूमिका त्रयम् ॥**

भावार्थ—प्राणायाम व प्राण की भूमिका मोक्ष के लिये कहते हैं प्राणायाम की पांच भूमिका हैं और प्राण की तीन भूमिका है। अर्थात् प्राणायाम ही पांच नामों से भिन्न हो जाता है।

प्रथम अभ्यास में प्राणायाम कहा जाता है। उसीका अभ्यास दृढ़ होने से प्रत्याहार बन जाता है। ऐसे जैसे २ अभ्यास बढता जाता है, वैसे ही क्रम से धारणा, ध्यान, समाधि के रूप में कहा जाता है। इस प्रकार प्राणायाम पांच नामों से होता है।

इसी प्रकार जब कुण्डलिनी चैतन्य होकर प्राण सुषुम्ना

में प्रवेश करता है तब प्राण की मूर्च्छावस्था को भूमिका की समाधि मानी जाती है । प्राणायाम तथा प्रत्याहार मूर्च्छा-समाधि धारणा ध्यान और समाधि ये मृत समाधि है।

बहिरंगद्वयम्, अन्तरंगत्रयम् ।

भावार्थ–प्राणायाम प्रत्याहार यह दो बहिरंग समाधि और धारणा ध्यान समाधि यह तीन अन्तरंग समाधि है ।

मृता मूर्च्छा तथा बद्धा प्राणस्य भूमिकात्रयम् ।

भावार्थ–मूर्च्छा मृता बद्धा यह प्राण की अवस्था की तीन भूमिका है ।

प्राणायाम के विषय में योग चिन्तामणि में कहा है–

प्राणायामोऽभ्यास क्रमेण वर्धमानः प्रत्याहार-ध्यान-धारणा-समाधिशब्दैरुच्यते ।

भावार्थ–यह प्राणायाम ही अभ्यास के क्रम से बढ़ता हुआ प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधि शब्दों से कहा जाता है ।

## ॥ तदुक्तं स्कंदपुराणे ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहार उदाहृतः ।
प्रत्याहार द्विषट्केन धारणा परिकीर्तिता ॥
भवेदीश्वर सङ्गत्यध्यानं द्वादशधारणम् ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥

भावार्थ–द्वादश प्राणायामों के समय का प्रत्याहार और द्वादश प्रत्याहार के समय की धारणा और जीव ब्रह्म की एकता के निमित्त द्वादश धारणा के समय का ध्यान होता

है। और द्वादश ध्यान के समय की एक समाधि कही जाती है। और यह हमारा स्वानुभव भी है।

स्वानुभव तथा तात्पर्य—लगभग पौन मिनट प्राण ब्रह्मरन्ध्र में टिककर वापस आजावे वह उत्तम प्राणायाम की सिद्धि है, तथा दश मिनट प्राण मस्तक में ठहर कर आजावे तो प्रत्याहार की सिद्धि है। तथा दो घंटे प्राण मस्तक में ठहर कर वापस होश आजावे तो धारणा की सिद्धि कही है। और चौबीस घंटे में प्राण को चेतनता आवे तो ध्यान की सिद्धि कही है। तथा १२ बारह दिन प्राण मस्तक में ठहर कर आवे तो समाधि की सिद्धि कही है। इसके आगे महा समाधि होती है। ध्यान पर्यन्त की समाधि, शब्दों से खुल सकती है। आगे महा समाधि का खुलना असम्भव है। वह तो बर्फ मक्खन उड़द की रोटी आदि साधनों के प्रयोग से खुल सकती है।

प्राणायाम और प्रत्याहार यह दो बहिरंग मूर्च्छा समाधि है। तथा धारणा ध्यान समाधि यह तीन अन्तरंग समाधि है। प्राण को तीसरी भूमिका बद्ध क्रिया को फिर आगे कहेंगे।

## ॥ प्राणायाम की सिद्धि ॥

जब कुण्डलिनी चैतन्य होकर प्राण ब्रह्मरंध्र में चढ़ते हैं और वापस सुषुम्ना से आते हैं उसकी उद्घात संज्ञा है।

यही बात हठयोग प्रदीप में कही है—

नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात ईरितः।
मध्यमस्तु द्विरुद्धातश्चतुर्विंशति मात्रकः॥

मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट् त्रिंशन्मात्र उच्यते ।
प्रस्वेद कम्पनोत्थान जनकश्च यथाक्रमात् ॥
आनन्दो जायते चात्र निद्राधूमस्तथैव च ।
रोमांचोध्वनि संवित्तिरंगमोटनपूर्वकम् ॥
श्रमेणस्वेदजल्पाद्यं संविन्मूर्च्छां जयेद् यदा ।
तदोत्तम इति प्रोक्तः प्राणायामः सुशोभनः ॥

श्लोकार्थ तथा स्वानुभव--जब प्राण सुषुम्ना में रहता है तब आनन्द निद्रा और चित का आन्दोलन रोमांच तथा ध्वनि का ज्ञान अंगमोटन और कम्पन होते हैं।

जब प्राण अपान से पीडित हो ऊपर को जाकर वापस लौटता है और उसमें मूर्च्छादि लक्षण होते हैं वह उद्घात है।

जो प्राणायाम एक बार उत्थान करता है याने एक उद्घात करता है वह स्वेद युक्त कनिष्ठ प्राणायाम है। जिसमें दो बार उद्घात (उत्थान) हो वह कम्पन युक्त मध्यम प्राणायाम है। तथा स्वेद कम्प से रहित तीन बार उद्घात (उत्थान) का उत्तम प्राणायाम है। और इसी प्राणायाम में प्राण लगभग पौन मिनट मस्तक में ठहर कर आता है और इसीमें आनन्द का तथा महाध्वनि का ज्ञान होता है।

कुण्डलिनी चैतन्य होकर जब प्राण सुषुम्ना में रहते हैं तब उस उत्तम प्राणायाम में योगी को जो आनन्द आता है उस आनन्द को वर्णन नहीं किया जा सकता। इस विषय में बंगाल के स्वामी निगमानन्दजी महाराज का कहना है कि जो स्त्री सुख का आनन्द है उससे करोड़ गुणा आनन्द

प्राण के सुषुम्ना में रहने के समय आता है। यह उनका अनुमान है।

परन्तु मेरे विचार से तो यह आनन्द तुच्छ है। जब प्राण सुषुम्ना में रहता है, उस प्राणायाम के आनन्द का तो पार नहीं है। ऐसा महान् आनन्द का रस प्राप्त होता है। शुभम्।

## ॥ प्राणस्य फलम् ॥

**मूर्छितो हरते व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम्।**
**बद्धः खेचरतां धत्ते प्राणवायुश्च पार्वति ॥**

भावार्थ—मूर्छित प्राण याने कुण्डलिनी चैतन्य होकर प्राण का सुषुम्ना में प्रवेश करना। यह मुर्छित प्राण बहिरंग समाधि है। इसके सिद्ध होने से योगी सम्पूर्ण व्याधियों से मुक्त हो जाते हैं, तथा अनेक जन्म जन्मान्तर के संचित पाप नष्ट हो जाते हैं और शुद्धात्मा हो जाता है। प्राणायाम तथा प्रत्याहार की जो स्थिति है वह मूर्छित बहिरंग समाधि समस्त व्याधियों और पापों का नाश करती है।

इसके आगे प्राण की मृत संज्ञा है, धारणा ध्यान और समाधि यह मृत प्राण है। जब प्राण की मृत संज्ञा हो जाती है, और जितने समय तक प्राण मृत रहता है वहाँ तक अमर है उसे मृत्यु नहीं खा सकती। तात्पर्य यह है कि मृत प्राण वाला मर नहीं सकता है। प्रत्युत आयु बढ़ जाती है।

बद्ध प्राण का एक घड़ी का अभ्यास ही मोक्ष प्रदान कर देता है। बद्ध प्राण के विषय को आगे कहेंगे। शुभम्।

अब प्राणायाम के विषय में शास्त्र तथा स्वानुभव को कहते हैं---

## ॥ प्राणायाम ॥

प्राणायाम सिद्ध करने के लिये नाड़ियों का शोधन होना जरूरी है। यह शास्त्रप्रमाण तथा स्वानुभव से भी सिद्ध है।

**मलाकलासु नाड़ीषु मारुतो नैव मध्यगः।**
**कथं स्यादुन्मनी भावो मोक्षसिद्धि कथं भवेत् ॥**

भावार्थ--जहाँ तक शरीर की नाड़ियाँ मल से दूषित हैं वहां तक मारुत याने प्राण मध्यगा याने सुषुम्ना में नहीं जाता, और जहां तक प्राण सुषुम्ना में नहीं जाता वहां तक उन्मनी अवस्था भी नहीं हो सकती और जहां तक उन्मनी अवस्था नहीं आती वहां तक मोक्ष की सिद्धि भी कैसे हो सकती है।

## ॥ उन्मनी अवस्था क्या है ॥

**मारुते मध्यसंचारे मनः स्थैर्यं प्रजायते।**
**यो मनः सुस्थिराभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥**

भावार्थ--जब प्राण वायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब मन की स्थिरता हो जाती है, और जो मन की स्थिरता है। उसी को उन्मनी अवस्था कहते हैं।

इससे तो यह सिद्ध हुआ कि मन स्थिरता के लिये जो-कुछ भी उपाय हैं सब व्यर्थ हैं। जहां तक प्राण सुषुम्ना में नहीं जावे और मनोन्मनी अवस्था न आजावे तब तक मन

को स्थिरता के लिये मनुष्यों के अन्य प्रयत्न करना वृथा है। इसमें हमारा स्वानुभव भी है। मन की स्थिरता कहो चाहे उसे उन्मनी अवस्था कहो एक ही बात है। वास्ते प्रत्येक मनुष्य को प्राणायाम सिद्ध करने का प्रयत्न अवश्य करना चाहिये। तथा प्राणायाम की सिद्धि नाड़ी शोधन के बिना नहीं हो सकती, वास्ते नाड़ी शोधन करना नितान्त आवश्यक है

## ॥ नाड़ी शोधन विधि ॥

युक्ताहार विहारेण नाड़ीशुद्धि भविष्यति।
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति॥

भावार्थ–यथा योग्य जैसा चाहिये वैसे यथार्थ आहार विहार से नाड़ियों की शुद्धि हो जाती है। पश्चात् प्राणायाम करने से अनायास ही विना परिश्रम के प्राणायाम सिद्ध हो जाता है।

अब प्राणायाम में नाड़ी शोधन के लिये स्वानुभव का शुद्ध आहार लिखते हैं। नाड़ी शोधन से लेकर समाधि पर्यन्त के शुद्ध पथ्य भोजन का विवरण दे रहे हैं, जो योगियों को हितकारी है।

## ॥ पथ्य भोजन ॥

आरम्भे दुग्धमाहारं मध्ये दुग्धघृते स्मृते।
सुषुम्नोष्णत्वशान्ते तु दुग्धप्रभृति भोजनम्॥
चतुर्थ्यां भूमिकायां तु रसाम्बु केवलं भवेत्॥

भावार्थ—आदौ शब्द से नाड़ी शोधन के आरम्भ से प्राणायाम की सिद्धि पर्यन्त केवल गाय के दूध का ही सेवन करे और कुछ भीनहीं लेवे। मध्य शब्द से याने प्राण के सुषुम्ना में प्रवेश होते ही नित्य दूध और घृत को लेकर अभ्यास करे और कुछ नहीं लेवे अन्त शब्द से जब सिद्ध प्राणायामों की चौबीस हजार संख्या हो जावे और सुषुम्ना की गरमी शान्त हो जावे, तब से दुग्ध प्रभृति शब्द से दूध, घृत, पालख, परवल, द्राक्षा, मोसमी, राजगरा, साबूदाना, केला, दूधी, इसबगोल को आहार में प्रयोग करते हुए भी अभ्यास किया जा सकता है।

इसबगोल पवित्र और योगियों की वैज्ञानिक महौषधि है—

प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च सर्वलाभ प्रदायनी।
नानारोगहरा दिव्या बल बुद्धि प्रवर्द्धिनी॥

भावार्थ—इसबगोल औषधि गृहस्थी तथा योगी सब को लाभ देने वाली है। तथा अनेकों रोगों का नाश करती है। और दिव्य है तथा बल और बुद्धि को बढ़ाने वाली है।

## ॥ फलम् ॥

मन्दाग्नि संदीपन पाचनादि—
संधापिकानंदकरी सदैव।
अशेषदोषामयशोषणी च
महौषधिरीसबनिर्मला च॥

भावार्थ—इसबगोल औषधि मंदाग्नि को हटाती है।

जठराग्नि को प्रदीप्त करती है। तथा पाचन शक्ति को बढ़ाती है। आदि शब्द से मल को शुद्ध करती है। शौच क्रिया साफ लाती है। यह इन कामों में विधात्री है। चित्त को आनन्द देने वाली तथा वात के समस्त वायुरोगों का नाश करने वाली और अंगूठे से मस्तक पर्यन्त वायु का शोधन करने वाली है। इसके अनेक गुण हैं। यह महौषधि ईसब निर्मला विकार रहित है। इसके अतिरिक्त कब्ज, पेचिश, मरोड़, वात, पित्त, कफ के अनेक रोगों पर अनुपान भेद से बहुत ही लाभप्रद है। शुभम्।

इसके आगे जब चौथा भूमिका याने बीस घंटे से ऊपर प्राण के मस्तक में ठहरने का समय आवे तब केवल दूध में जल मिला कर लेवे और रस शब्द से दूध, द्राक्षारस, मोस-मीरस लेवे। शास्त्रों में रस संज्ञा घृत को भी है, परन्तु हमारे अनुभव से घृत हानिप्रद होता है। यदि घृत लेना भी हो तो आधा तोला से अधिक नहीं ले सकते। शुभम्

**आसने च महायोगे निराहारो भवेत सदा।**
**आदावनशनं चैव पश्चाद् योगं समाचरेत्॥**

भावार्थ—महायोग याने पाँच दिन के बाद अधिक दिन समाधि में बैठना हो तो पाँच दिन पहले से आहार मात्र को त्याग देवे और बाद समाधि के आसन पर बैठे। शुभम्।

## ॥ अथ नाड़ी शोधनम् ॥

अब हम अपने अनुभव के अनुसार नाड़ी शोधन में केवल दुग्ध के आहार की मात्रा कहते हैं।

सुबह नौ बजे तीन छटाँक याने १५ तोला दूध पीवे। बाद दुपहरी में १२ बजे तीन छटांक (पन्द्रह तोला) दूध पीवे बाद तीन बजे पन्द्रह तोला दूध फिर पीवे। बाद ६ बजे १५ तोला दूध पीवे। बाद रात्रि में कुछ भी नहीं लेवें, इस प्रकार आहार करते हुये, साथ में नियमों का भी पालन करना आवश्यक हैं :—

वर्जयेदशनं रूक्षं स्नानं शीताम्बुना तथा।
पद्भ्यां पर्यटनं चादि स्त्रियं चापि विशेषतः॥

भावार्थ—योगी को नाड़ी शोधन के समय से लेकर जीवन पर्यन्त रूक्ष अर्थात् चिकनाहट से रहित भोजन तथा ठंडे जल से स्नान, तथा पैरों से मार्ग चलना, स्त्री संग तथा चांदि शब्द से परिश्रम तथा बोलना अग्नि के पास बैठना, रात्रि भोजन तथा सूर्यकी रश्मि में खड़ा रहना, व्यायाम करना तथा सिद्ध प्राणायाम के अतिरिक्त अन्य आसनों तथा प्राणायामादि योग क्रियाओं का करना तथा मल-मूत्रादि के वेगों को रोकना विशेष जन समुदाय में बैठना तथा मन में अनेक प्रकार के कार्यों के करने की चंचलता उत्पन्न करना तथा प्रवृत्ति कर्मों को करने की वाञ्च्छा रखना आदि सब बातों को त्याग देना चाहिये। इनकी आजीवन इच्छा न करे। नहीं तो योग भ्रष्ट होना सम्भव हैं।

## ॥ पथ्यापथ्य ॥

एतद्धि योगिनां पथ्यं नापथ्यं तु कदाचन।
पथ्याभावे भवेद्योगी नानारोग समन्वितः॥

भावार्थ–जो हमने ऊपर लिखे हैं, इन आहार विहार का ही पालन करना चाहिये। योगी को अपथ्य सेवन कभी भी नहीं करना चाहिये। क्योंकि पथ्य के पालन न करने से योगी के शरीर में नाना प्रकार के ज्वरादि रोगों की उत्पत्ति हो कर वह योगो योगभ्रष्ट हो जाता है। इस प्रकार हमारे बतायं, अनुसार नाड़ी शोधन २६ दिन में स्थूल देह वाले का भी हो जाता है। और जिसका पतला शरीर हो, उसका तो बहुत शीघ्र ही हो जाता है।

## ॥ नाडीशोधने चिन्ह ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिन्हानि बाह्यतः।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥

भावार्थ–जब नाड़ी की शुद्धि हो जाती तब शरीर में कृशता (दुर्बलता) तथा मुख पर कान्ति (तेज) आजाती है। यह चिह्न बाहर होते हैं।

## ॥ कृशता ही प्रधान है ॥

सर्वेषु योगमार्गेषु शरीरं कृशतां व्रजेत्।
भयं तत्र न कुर्वीत युक्त्या रक्षेत् कलेवरम् ॥

भावार्थ–हठयोग हो अथवा राजयोग हो, योग के सब मार्गों में अच्छी तरह अभ्यास करने से शरीर अवश्य कृश (दुर्बल) हो जाता है। अतः इस विषय में साधक पुरुष को भय नहीं करना चाहिये। किन्तु युक्ति से शरीर की रक्षा करनी चाहिये। इति नाड़ी शुद्धि प्रकरणम् ॥

## ॥ अथ प्राणायामः ॥

यदि शरीरपतला हो तो नाड़ी शोधन के आरम्भ से पांचवें दिन ही प्राणायाम का अभ्यास प्रारम्भ कर देना चाहिये।

**प्रायशो योगयुक्तीनां सन्निवेशोऽत्र विद्यते ।**
**तथापि गुरुवक्त्रेण विज्ञेयास्ता विचक्षणैः ॥**

भावार्थ–यद्यपि प्रायः करके योग की सर्व युक्तियाँ हमने इसमें लिखी हैं। तथापि बुद्धिमान साधक पुरुषों को योग क्रिया योगाभ्यासी गुरु के मुख से ही सीखनी चाहिये।

वास्ते जिस दिन से प्राणायाम प्रारम्भ करे उसी दिन से गुरु के पास ही रहे कारण न जाने किस समय कुण्डलिनी जागृत हो कर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश कर जाय। इसका भरोसा नहीं रहता, कारण कुण्डलिनी के जागृत होने के समय खतरा रहता है। यदि अनुभवी गुरु पास में न हो तो या तो साधक को पागलपन आजावे, या मर जावे ऐसा शक रहता। वास्ते गुरु धैर्यपूर्वक संभाल लेते हैं।

प्रारम्भ काल में ही खतरा रहता है। बाद अभ्यास के दृढ़ हो जाने से यह मदोन्मत्त हाथी रुपो प्राण वश में होकर सरल सुखदायक बन जाता है। फिर गुरु को आवश्यकता नहीं रहती है। फिर तो अभ्यास की ही आवश्यकता रहती है। वास्ते प्राणायाम के आरम्भ काल से ही गुरु की शरण में सदा चौबीसों घंटा रहना चाहिये और अभ्यास करना चाहिये।

## ॥ अभ्यासविधि ॥

पांच हाथ लम्बा और पाँच हाथ चौड़ा मुलायम रूई का गदला बिछा कर उसके बीच में बैठ कर अभ्यास करे। साधक से दश हाथ दूरी तक जल, पत्थर शिला, अग्नि तथा खतरनाक चीजें नहीं रहना चाहिये। ऐसी जगह बन्द कमरे में बैठ कर अभ्यास करे।

## ॥ विधि ॥

प्राणायामं सूक्ष्मसूक्ष्मं सूक्ष्मातिसूक्ष्ममेव च।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥

भावार्थ—सूक्ष्म से भी अतिसूक्ष्म प्राणायामों को शनैः २ (धीरे २) अस्सी बार तक करे। अस्सी प्राणायाम सूर्योदय के बाद करे तथा अस्सी प्राणायाम ग्यारह बजे करे। बाद अस्सी प्राणायाम दुपहरी में दो बजे करे। बाद अस्सी प्राणायाम पांच बजे करे। इस प्रकार कुल चौबीस घंटों के बीच ३२० प्राणायाम नित्य करे।

प्राणायामस्य गणना सहस्ररुद्रमेव च।
तदा योग्यं विजानीयात् कुंभकं शक्तिबोधने ॥

भावार्थ—प्राणायाम की ग्यारह हज़ार संख्या होती है तब तक तो कुंडलिनी चैतन्य होकर प्राणायाम सिद्ध हो जाता है यह तो मोटे स्थूल शरीर वाले की गणना है। परन्तु जो संस्कारी तीव्र मुमुक्षु और ज्ञानी तथा पतले शरीर वाले हैं उन को तो बहुत शीघ्र ही प्राणायाम सिद्ध हो जाता

है। प्राणायाम की सिद्धि होते ही कुंडलिनी का नासिका द्वारा सर्पों जैसा शब्द होता है। और प्राण सुषुम्ना में प्रवेश कर जाता है।

## ॥ सिद्ध प्राणायाम ॥

### (स्वानुभव)

रेचकं कुंभकं त्यक्त्वा, पूरकश्चैव केवलम्।
प्राणायामस्य संसिद्धिः, कथिता मुनिपुंगवैः॥

भावार्थ–रेचक याने वायु का छोड़ना, कुंभक याने वायु को रोकना जिसमें न हो। और पूरक याने वायु को नासिका से खींचते ही वायु फोरन सुषुम्ना में जाकर लय हो जावे वह श्रेष्ठ सिद्ध प्राणायाम मुनियों ने कहा है।

इस प्रकार प्राणायाम के सिद्ध होते ही चालू प्राणायामों को त्याग देवे, और सिद्ध प्राणायामों का ही अभ्यास करे।

कार्या अशीतिपर्यन्तं पूरकं सुसमाहितैः।
आहारं नियमं चैवं परिवर्तनमाचरेत्॥

भावार्थ–कुंडलिनी के चैतन्य होते ही पहले के प्राणायामों को करना बन्द करके, केवल पूरक प्राणायामों का ही अस्सी संख्या तक अभ्यास करे। और उसी दिन से आहार तथा नियमों का भी परिवर्तन कर देवे।

## ॥ आहार नियम विधि ॥

### (शास्त्र तथा स्वानुभवे)

सुषुम्ना में प्राण के संचार करते ही उसी दिन से केवल

दूध, मक्खन, घृत ही लेवे, अन्य कुछ भी नहीं लेवे। सुषुम्ना बहुत गरम नाडी है। वह जागृत होते ही खाने की इच्छा करती है। यदि उसकी क्षुधा के अनुकूल दूध, घृत की ठंडक नहीं पहुंचती तो वह योगी के रक्त, मांस को खाजाती है। वास्ते वह जितना माँगे उतना ही नित्य देना चाहिये। सुषुम्ना के अनुकूल दूध, मक्खन, घृत आदि आहार मिलने से वह कुछ दिनों में शान्त हो जाती है, तब आहार स्वयमेव घट जाता है। और केवल कुंभक की सिद्धि हो जाती है।

अभ्यासकाले प्रथमे, कृत्वा क्षीराज्यभोजनम्।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते, न तादृङ् नियमग्रहः॥

भावार्थ–प्रथम अभ्यास के समय याने पूरक प्राणायामों के समय दूध और घृत का भोजन करे। बाद अभ्यास के दृढ होने याने केवल कुंभक के सिद्ध होने पर नियम का आग्रह नहीं।

## ॥ अथ प्राणायामादि दिन चर्या ॥

जब से कुंडलिनी चैतन्य होकर प्राण सुषुम्ना में संचार करने लगे उसी दिन से योगी की दिनचर्या (नित्य नियम) को कहते हैं।

प्रातः काल सूर्योदय के समय उठकर शौच क्रिया से निवृत्त हो बन्द कमरे में पाँच हाथ लम्बे पांच हाथ चौड़े रूई के गदले के बीच बैठकर लगभग नौ बजे प्राणायाम का अभ्यास शुरु करे। अस्सी संख्या समाप्त करके पश्चिमतान

करे। बाद में शवासन से विश्राम करे। बाद में कुछ समय मत्स्यासन करके स्नान करे।

**अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः।**
**अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा॥**

भावार्थ--प्राणायामों के महापुण्य को परमात्मा के अर्पण प्रेम से करके बाद में गरम जल से स्नान करे।

स्नानान्तर कुछ परमात्मचिन्तन, स्वाध्याय करके पुनः शास्त्रोक्त याने दूध, घृत को इच्छानुसार ग्रहण करके विश्रामकरे। बाद सूर्यास्त के पहले शौचादि क्रियाओं से शुद्ध हो कर रात्रि में साढे आठ बजे पुनः अस्सी संख्या प्राणायाम का अभ्यास शुरू करे। जब प्राणायाम समाप्त हो और क्षुधा या मुख में गरमी मालूम दे तो लगभग एक छटांक याने पाँच तोला मक्खन ग्रहण करे तथा दूध नहीं लेवे। यह सिद्ध प्राणायामों के अभ्यास के नित्यनियम कहे हैं। अन्य नियम पहले के समान जानना।

जब सिद्ध प्राणायामों की अस्सी संख्या का अभ्यास योगी करता है तब योगी के शरीर में बाह्य चिह्न भूमिकाओं की उन्नति से होते हैं। उनको मैं स्वानुभवों तथा शास्त्रों से लिखता हूं--

## ॥ प्राणायामे बाह्य चिह्नानि ॥

**प्राणस्यारोहणे तत्र चतस्रो गतयः क्रमात्।**
**भवन्ति योगिनो देहे नित्यमभ्यासयोगतः॥**

भावार्थ--उक्त रीति से नित्य अभ्यास करने से प्राण के

ऊपर मस्तक में चढ़ने के समय योगी के शरीर में चार प्रकार की प्राण की क्रम से गति अर्थात् चाल होती है।

पिपीलिकासमा पूर्वं ततो दर्दुरसन्निभा।
गतिः सर्पोपमा पश्चाद्धंसस्य तदनन्तरम्॥

भावार्थ–प्रथम अभ्यास काल में चींटी की चाल जैसी प्राण की गति होती है। फिर कुछ दिनों में मेंढक जैसी गति होती है। अर्थात् जैसे मेंढक कूद-कूद कर चलता है, ऐसे हाथ उठते हैं। और प्राण एक चक्र से दूसरे में और दूसरे से तीसरे चक्र में चढ़ता है। तिसके बाद सर्प की चाल के समान प्राण की गति होती है। जैसे सर्प लम्बा टेढ़ा होकर चलता है वैसे ही शरीर की आकृति हिलती है और प्राण सुषुम्ना में चढ़ता है। उस समय योगी का सर्वांग फड़कता है। पैर के अंगूठे से लेकर मस्तक पर्यन्त की नाड़ियाँ हिलती हैं। उसके बाद चौथी भूमिका में हंस के समान प्राण की गति होती है। अर्थात् जैसे हंस पक्षी पैर उठा-उठा कर चलता है, वैसे ही योगी का आसन उत्थान होकर तपकता है। उस समय योगी के पैर से लेकर सर्वांग का प्राण ऊपर चढ़ता है। यह प्राणायाम की चौथी भूमिका उत्थान की है यह शुद्ध प्राणायाम माना जाता है। और इसीसे पथ्य भोजन पूर्वक आगे अभ्यास बढ़ता है।

## ॥ सिद्ध प्राणायाम के लक्षण ॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता,
नादस्फुटत्वं नयनेसु निर्मले।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं,
मले सुगन्धि हठयोगलक्षणम्॥

भावार्थ—शुद्ध प्राणायाम ठीक-ठीक होने से शरीर में कृशता (दुर्बलता) तथा मुख पर कान्ति प्रसन्नता और अनाहत नाद की ध्वनि दक्षिण कर्ण में शुरू होना तथा नेत्रों में निर्मलता और शरीर में रोगों का अभाव तथा धातु की स्थिरता तथा जठराग्नि की वृद्धि और मल में चन्दनादि जैसी सुगन्ध आदि चिन्ह हठयोग प्राणायाम से होते हैं। और प्राणायाम के समय योगी को महान् आनन्द होता है।

आनन्दानुभवस्तत्र जायते योगिनो महान्।
स एव तं विजानाति मया वक्तुं न शक्यते॥
नैव तं विषयासक्ता विदु र्नो शास्त्र चिन्तकाः।
योगजं परमानन्दं योगिनोऽनुभवन्ति यम्॥

भावार्थ—जब प्राण सुषुम्ना में जाता है, उस समय योगी को जो परम आनन्द का अनुभव होता है। उस आनन्द को वह योगी स्वयं ही जान सकता है। मैं उस आनन्द का कथन नहीं कर सकता हूँ। उस आनन्द को विषयासक्त पुरुष भी नहीं जान सकते, और केवल शुष्क शास्त्रों की बातें बनाने वाले और शास्त्र सुनने सुनाने वाले भी नहीं जान सकते। जो आनन्द योगी को सिद्ध (मूर्छित) प्राणायाम करते समय प्राप्त होता है वह अनुभवमात्र गम्य है।

## ॥ प्राणायामे विचारः ॥

प्राणस्य त्वखिलं कर्म मनोयुक्तं समभ्यसेत्।
मनसो विकले भावे प्राणो न स्थिरतां व्रजेत्॥

भावार्थ—प्राण के चढ़ाने की सब क्रिया मन की एकाग्रता

के साथ करनी चाहिये। क्योंकि मन के चंचल होने से प्राण की स्थिरता नहीं हो सकती, और केवल कुम्भक की सिद्धि भी नहीं हो सकती।

वर्द्धमाने ततोऽभ्यासे प्राणस्त्यक्त्वा गमागमौ।
ब्रह्मरन्ध्रे लयं याति मनश्चानु विलीयते॥

भावार्थ-उक्त रीति से नित्य सिद्ध प्राणायामों का अस्सी संख्या सायं प्रातः अभ्यास करने से और शुद्ध आहार विहार से वायु नासिका द्वार से आना जाना छोड़ मस्तक में स्थिर होने लगता है और केवल कुंभक सिद्ध होजाता है। और फिर बाहर से वायु खींचने की आवश्यकता नहीं रहती।

## ॥ केवल कुम्भकार्थः ॥

(हठयोग प्रदीपे)

यावत् केवल सिद्धिः स्यात् पूरकं तावदभ्यसेत्।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम्॥
प्राणायामोऽयमित्युक्तः सर्वैः केवलकुंभकः॥

भावार्थ-जहाँ तक केवल कुंभक सिद्ध न हो वहाँ तक पूरक प्राणायाम का अभ्यास करे। और केवल कुंभक के सिद्ध होने पर पूरक प्राणायाम के अभ्यास को छोड़ देवे। और केवल कुम्भक का ही अभ्यास करे। जिसमें प्राण को बाहर से खींचना भी नहीं पड़े और वापस छोड़ना भी नहीं पड़े, और आपसे आप प्राण सुखपूर्वक सुषुम्ना में सङ्कल्प मात्र से प्रवेश करने लग जावे, उसे केवल कुम्भक कहते हैं। और यहां से ही इडा पिंगला ह० कहिये सूर्य ठ० कहिये चन्द्रमा ऐसा सूर्य चन्द्रमा इडा पिंगला नाड़ी का हठयोग समाप्त होकर राजयोग में प्रवेश होता है।

## ॥ प्राण की स्थिरता ॥

कुंभकाभ्यसतो नित्यं ध्यान योगाच्च मूर्धनि ।
स्थितिं सम्बर्धयेद्योगी, समाधिः स्याद् यथाचिरम् ॥

भावार्थ--केवल कुंभक के विशेष अभ्यास से और ब्रह्म रन्ध्र में ध्यान के बल से योगी पुरुष मस्तक में प्राण की स्थिरता को बढ़ावे जिससे समाधि की स्थिति चिरकाल की प्राप्त होवे । और केवल कुंभक के द्वारा प्रत्याहार में सिद्धि मिले ।

## ॥ केवल कुम्भक ॥

(पातञ्जलयोगदर्शने)

सूत्र---बाह्याभ्यन्तर विषयाक्षेपी चतुर्थः ।

भावार्थ--केवल चुपचाप मन को एकाग्र करके बैठ जाना ही पातञ्जल योग का चौथा प्राणायाम जो राजयोग से सम्बन्ध रखता है । और हठयोग में केवल कुंभक नाम से प्रसिद्ध है ।

## ॥ स्वानुभवे ॥

उक्त रीति से केवल कुंभक का अभ्यास करते-करते जब प्राण वायु पांच मिनिट के लगभग मस्तक में स्थिर होने लगे तब आगे योगी को प्रत्याहार का अधिकार प्राप्त होता है ।

## ॥ अभ्यासे समयोक्तम् ॥

नातिशीते न चात्युष्णे नाति वर्षति तोयदे ।
अभ्यासं वर्धयेद् योगी नो चेद् रोगभयं ध्रुवम् ॥

भावार्थ—अतिशीतकाल में अति उष्णकाल में तथा अत्यन्त वर्षाकाल में नाड़ी शोधन आदि सिद्ध प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ न करे और चालू अभ्यास को भी आगे विशेष न बढ़ावे। कारण अति शीतादि काल में अभ्यास बढ़ाने से शरीर में रोग होने का भय रहता है।

इस प्रकार कहे अनुसार समय को त्याग हमारे कथनानुसार नित्य केवल कुंभक का अभ्यास करने से आगे प्रत्याहार में अधिकार प्राप्त होता है। प्राणायाम से लेकर समाधि पर्यन्त के साधनों में प्रत्याहार ही महान् कठिन साधन है। यह जबर जस्त पहाड़ है। प्रत्याहार को सिद्ध किया मानो बड़े भारी पहाड़ को उल्लंघन कर लिया। प्रत्याहार के सामने बड़े-बड़े सिद्ध महात्मा ऋषि मुनि आदि सभी का पतन होता आया ऐसा सुनते हैं। और आगे तो पतन होना सम्भव ही है। यह ईश्वर रचित योग माया (प्रकृति) का जबर जस्त बन्धन है।

ज्ञानिनामपि चेतांसि देवी भगवती हि सा।
बलादाकृष्य मोहाय महामाया प्रयच्छति॥

भावार्थ—बड़े-बड़े ज्ञानियों के चित्त को भी यह योगमाया प्रकृति बलात्कार पूर्वक खींच कर के मोह में डाल देती है। जब कभी इसका दाव लगे तभी संसार में गिरा देती है, तो साधारण मनुष्यों की क्या गणना है।

॥ इति प्राणायाम प्रकरणम् ॥

## ॥ अथ प्रत्याहारः ॥

(बहिरंग मूर्च्छितसमाधि)

अब प्रत्याहार को कहते हैं, कि केवल कुंभक का वायु दश मिनट मस्तक में स्थिर हो जावे उसे प्रत्याहार की सिद्धि का अभ्यास कहा जाता है, ऐसा हठयोग शास्त्र का वचन है। शुभम्। अब प्रत्याहार शब्द के अर्थ को और उसकी महिमा को कहते हैं।

## ॥ प्रत्याहार क्या है ॥

प्रत्याहारमथो वक्ष्ये यथोक्तं मुनिपुंगवैः।
साधनाद्यस्य योगीन्द्रो निर्विघ्नं सिद्धिमृच्छति ॥

भावार्थ—योग का अंग जो प्रत्याहार उसको पूर्व के मुनि लोगों के कथनानुसार वर्णन करते हैं। जिस प्रत्याहार के साधन करने से योगी पुरुष निर्विघ्न योग सिद्धि को प्राप्त होता है।

इन्द्रियाणि चरंतीह विषयेषु स्वभावतः।
यत्नादाहरणं तेषां प्रत्याहारो निगद्यते ॥

भावार्थ—श्रोत्रादिक इन्द्रियां शब्दादिक विषयों में जो स्वभाव से ही विचरती हैं। उनको यत्न से जो विषयों की तरफ से खींचकर निवृत्त करना है उसे प्रत्याहार कहते हैं।

पातंजल योग दर्शन में भी कहा है—

सूत्र—स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः।

भावार्थ—मन व इन्द्रियों को विषयों की तरफ से हटाकर अंतर्मुख करना ही प्रत्याहार है। शुभम्

## ॥ प्रत्याहार के विना योग निष्फल है ॥

इन्द्रियाण्यवशीकृत्य यस्तुयोगं समभ्यसेत् ।
भिन्नभाण्डाम्बुवत्तस्य योगः क्षरति संततम् ॥

भावार्थ---इन्द्रियों को न जीत करके जो पुरुष योग का अभ्यास करता है, उसका योग साधन फूटे हुये घड़े के जल के समान निरंतर क्षरता रहता है, अर्थात् कुछ हाथ नहीं आता ।

## ॥ प्रत्याहार का महत्त्व ॥

जितंतेन जगत्सर्वं येनेन्द्रियगणोजितः ।
इन्द्रियाणां वशे यस्मादेतद्विश्वमशेषतः ॥

भावार्थ---जिस पुरुष ने अपनी इन्द्रियां जीती है । उस पुरुष ने मानो सारा जगत् जीत लिया है । क्योंकि सम्पूर्ण जगत् इन्द्रियों के ही वशीभूत हो रहा है ।

योगी भर्तृहरिजी नें भी कहा है–

कान्ता कटाक्ष विशिखा नदहंतियस्य
चित्तंन निर्दहति कोपकृशानुतापः ॥
कर्षंति भूरिविषयाश्च न लोभ पाशै
लोंकत्रयं जयति कृत्स्नमिदं सधीरः ॥

भावार्थ---स्त्रियों के कटाक्ष रूपी बाण जिसके हृदय को नहीं वेधते । और क्रोध रूपी अग्नि जिसके चित्त को नहीं जला सकती । तथा जिनको विषय लोभ रूपी रस्सी

से नहीं बांध सकते याने इन्द्रियों का विषयों की तरफ आकर्षण नहीं होता। वह ऐसा धीर पुरुष त्रिलोकी को जीतता है।

## ॥ विषयासक्त पुरुष ॥

विषयेषु समासक्तो न योगं कर्तुमर्हति।
तस्माद्विषयसंत्यागो योगिनां परमो हितः॥

भावार्थ--विषयों में फंसा हुवा पुरुष योगाभ्यास को ठीक नहीं कर सकता है। वास्ते योगी लोगों को विषयों का परित्याग करना परम हितकारक है।

## ॥ महाविषय ॥

विषयेष्वपि सर्वेषु स्त्रीसंज्ञो विषमो मतः।
योगिनां परमो वैरी सिद्धिहा चित्तदूषकः॥

भावार्थ--सब विषयों में स्त्री नाम जो विषय है, सो ऋषि लोगों ने बड़ा दुर्जय माना है। क्योंकि वह मोक्ष योगियों का परम वैरी है, और योग सिद्धियों का नाश करने वाला है। और योगियों के चित्त को बिगाड़ने वाला है। कारण मोक्ष योग में केवल ब्रह्मचर्य ही प्रधान माना है।

यस्याः समस्तमेवेदं ससुरासुरमानवम्।
पदाक्रांतं जगज्जेतुं कस्तां शक्नोति योषितम्॥

भावार्थ--देवता-दानव-मनुष्यादि सर्वजगत जिसके वशीभूत हो रहा है, ऐसी स्त्री को सर्वथा कौन पुरुष जीत सकता है।

तस्माद्विशेषतः स्त्रीणां संगं योगी विवर्जयेत् ।
सिद्ध योगोपि संगेन पतेदत्र न संशयः ॥

भावार्थ—वास्ते योगाभ्यासी पुरुष को स्त्रियों का संग विशेष करके त्यागना चाहिय, क्योंकि योग सिद्धि को प्राप्त हुवा भी पुरुष कुसंग से भ्रष्ट हो जाता है । तो प्रथम साधक योगी की क्या गणना है ।

## ॥ प्रत्याहार में आने वाले विघ्न ॥

योगाभ्यासे प्रवृत्तस्य योगिनो विघ्नकारकाः ।
स्वयमेवोपातिष्ठंति विषया देवनोदिताः ॥

भावार्थ—प्रत्याहार में विघ्न करने के लिये योगाभ्यासी योगी के पास देवताओं करके भेजे जाने वाले विषय पदार्थ अपने आप स्वतः ही आकर प्राप्त होते हैं ।

मानः पूजा च विख्याति द्रंव्य लाभश्च जायते ।
योषितां संगमश्चैव वांछितानां च संग्रहः ॥

भावार्थ—लोकों में मान, पूजा, यश, और धन की प्राप्ति स्त्रियों का समागम और वांछित पदार्थों का संग्रह, अपने आप ही होने लगता है ।

तत्रासक्तं भवेच्चित्तं प्रसभं योगिनो भृशम् ।
ततोऽभ्यासं परित्यज्य योगाद् भ्रष्टो भवेद्ध्रुवम् ॥

भावार्थ—उस मान पूजादिकों में योगी का चित्त बलात्कार से आसक्त हो जाता है, और फिर वह योगी धीरे धीरे अभ्यास को छोड़ करके योग से भ्रष्ट हो जाता है ॥ वास्ते

योगी को सर्व संग त्याग, एकान्त में रहते हुये केवल योग का ही अभ्यास करना चाहिये और अन्य इच्छा नहीं रखना चाहिये ॥

## ॥ मनुष्य शरीर दुर्लभ है ॥

शब्दादि विषयाल्लोके सुलभाः सर्वयोनिषु ।
दुर्लभं मानुषं देहं मत्वाऽऽसक्तिं न कारयेत् ॥

भावार्थ—शब्द स्पर्शादि जो इन्द्रियों के विषय हैं, वो तो पशु-पक्षी आदिक सर्व योनियों में सुलभ हैं और मिल सकते हैं। परन्तु यह मनुष्य का शरीर जीव को मिलना बड़ा दुर्लभ है। ऐसा जानकर समझ करके इन्द्रियों के विषयों में आसक्ति नहीं करनी चाहिये।

## ॥ तृष्णा ॥

घृतासेकाद्यथावन्हेर्ज्वाला भूयोभिवर्धते ।
विषयासेवनाज्जंतोस्तथा तृष्णाभिवर्धते ॥

भावार्थ—जैसे घृत की आहुति डालने से अग्नि की ज्वाला तेजी से बढ़ती जाती है। वैसे ही विषयों के सेवन करने से, जीव की तृष्णा रोजाना ज्यादा बढ़ती जाती है।

## ॥ ज्ञान ॥

तस्मादिन्द्रियवर्गस्य प्रत्याहारं प्रयत्नतः ।
कृत्वा धीरमना योगी भवेदभ्यासतत्परः ॥

भावार्थ—वास्ते धैर्ययुक्त मन वाले योगी को प्रयत्न से सर्व इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके निरंतर ही योगा-

भ्यास में तत्पर रहते हुये प्रत्यहार पर विजय करना योग्य है।

## ॥ कारण ॥

जितेन्द्रियस्य चेतस्तु स्वतः शांतं प्रजायते।
तेन सिद्धिर्हि योगस्य शीघ्रं भवति निश्चितम् ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष का चित्त भी आप से आप शांत हो जाता है और चित्त के शान्त होने से शीघ्र ही योग की सिद्धि होती है।

वास्ते प्रत्येक योगी ने यत्न पूर्वक इन्द्रियों को विषयों से निवृत्त करके प्रत्याहार की सिद्धि अवश्य करनी चाहिये।

## ॥ प्रत्याहार सिध्यर्थे उपाय : ॥

अब हम प्रत्याहार की सिद्धि और विघ्नों की शान्ति के लिये उपाय लिखते हैं।

प्रत्याहारस्य सिध्यर्थे तथाच विघ्न शांतये।
चिंतनं हंसमंत्रस्य कृत्वा केवल कुंभके ॥
अभ्यासानंतरं कुर्याद्गच्छंस्तिष्ठन्स्वपन्नपि।
विघ्नास्तेन विनश्यंति तमांस्यर्कोदये यथा ॥

भावार्थ—प्रत्याहार की सिद्धि के लिये तथा प्रत्याहार में होने वाले विघ्नों की शांत के लिये हंस मंत्र का चिन्तन केवल कुम्भक के साथ करना चाहिये। तथा केवल कुम्भक के अभ्यास के बाद भी हर समय चलते-फिरते बैठते सोते भी चिन्तन सदा करते ही रहना चाहिये।

उससे आने वाले सर्व विघ्नों की शान्ति होती है जैसे सूर्य के उदय होने से समस्त अंधकार का नाश हो जाता है। और प्रत्याहार की सिद्धि होती है।

## । चिंतनविधि ।

हंकारेण बहिर्याति सकारेण पुनर्विशेत् ।
प्राणः सर्व शरीरेषु श्वासोच्छ्वासक्रमेण वै ॥

भावार्थ—सर्व पशु-पक्षी मनुष्यादि के शरीर में जो श्वास और प्रश्वास की गति से प्राण चलता है, वह हं शब्द से तो बाहर को आता है और सः शब्द से भीतर को प्रवेश करता है।

## ॥ हंसशब्दस्य व्याख्या ॥

हंसो हंसोऽहमित्येवं पुनरावर्त्तनक्रमात् ।
सोहं सोहं भवेन्नूनमिति योगविदो विदुः ॥

भावार्थ—हंस शब्द को बार बार उच्चारण करने से वह शब्द उलट कर सोहं सोहं बन जाता है। जैसे मरा मरा कहने से राम राम का उच्चारण बन जाता है। ऐसे योग विद्या के जानकार योगी लोग जानते हैं।

## ॥ अजपा गायत्री ॥

अजपा नाम गायत्री निरंतर जपात्मिका ।
गिरिजायै पुरा प्रोक्ता शिवेनेयं सुसिद्धिदा ॥

भावार्थ—इस सोहं शब्द को अजपा नाम गायत्री कहते हैं। इसका विना जप किये निरंतर अपने आप ही श्वास के

द्वारा जप होता रहता है और यह गायत्री प्रथम शिवजी ने पार्वती को सर्व सिद्धियों को देने वाली उपदेश करी है ।

## ॥ गायत्रीमहिमा ॥

अस्याश्चिंतनतो नित्यं सर्वदुष्कृतराशयः ।
योगिनां नाशमायांति तृणभारा यथाग्निना ॥

भावार्थ–इस अजपा गायत्री के नित्य प्रति चिंतन करने से योगी पुरुषों के सर्व जन्म जन्मांतरों के पाप समूह नष्ट हो जाते हैं । जैसे अग्नि के लगने से तृण (घास) के बड़े बड़े भार जल कर नष्ट हो जाते हैं ।

## ॥ अजपा गायत्री की सिद्धि ॥

क्रमेणाभ्यास योगेन जायतेऽन्तर्मनोलयः ।
प्राणश्च क्षीणतां याति योग निद्रा प्रजायते ॥

भावार्थ– इस गायत्री का अभ्यास करने से मन अंतर लीन हो जाता है, और मन के लीन होने से प्राण की गति भी क्षीण हो जाती है, और प्रत्याहार की सिद्धि होकर ध्यान में होने वाली योगनिद्रा की सिद्धि होती है, अर्थात् ध्यान में बहुत सहायता मिलती है ।

नित्यमंतर्मुखत्वेन परमानन्दमात्मनः ।
अनुभूय चिरंयोगी कैवल्यपदमश्नुते ॥

भावार्थ—और इस गायत्री का अभ्यास करने से

प्रत्याहार-धारणा, ध्यान-समाधि आदि की समस्त सिद्धि प्राप्त होकर योगी आत्मा के परम आनन्द का चिरकाल पर्यंत अनुभव करके बाद में देहांत काल में कैवल्य मोक्ष को प्राप्त होता है ।शुभम् ।

## ॥ महापुरुषोपदेशः स्वानुभवे ॥

केवल कुंभक के समय श्वास को खींचने छोड़ने की जरूरत नहीं होती केवल जो हृदय में धड़का रहता है, उस धड़के के साथ हो सोहं गायत्री का चिंतन करते रहने से केवल कुंभक की सिद्धि होती है ।

तथा अभ्यास के बाद में तो हर समय जो श्वास आता जाता है इस के साथ ही चिंतन करना चाहिये, केवल कुंभक के अभ्यास के समय ही कलेजे के धड़के के साथ चिंतन करना चाहिये ॥

## । अजपा गायत्री का भजन ।

सोहं शब्द विचारो योगी सोहं शब्द विचारो रे ।
माला करसे फिरत नहीं है, जीभ न वर्ण उचारोरे ।
अजपा जाप होत घटमांहि ताकि ओर निहारोरे ।
सोहं शब्द विचारो योगी० ।
सो अक्षर से श्वास खींचकर हं से बहिर निकालोरे ।
सोहं उलट होत है हंसः, योगी जन निर्धारोरे
सोहं शब्द विचारो योगी० ।
सब इक्कीस हजार मिलाकर छै सो होत शुमारोरे ।
उन श्वासों को बचा बचा कर जीवन करो सुखारोरे
सोहं शब्द विचारो योगी० ।

जो चिंतन करत निरंतर छोड़ जगत व्यवहारोरे ।
आत्म ज्ञान परम पद पावे मिटे जनम संसारोरे ।
सोहं शब्द विचारो योगी सोहं शब्द विचारोरे । शांतिः ।

## ॥ दोहा ॥

कबहुं न होवे सुख यहां, इन्द्रिय प्रीति बढ़ाय ।
ज्यों ज्यों इनको वेग हो त्यों त्यों दुःख दिखाय ॥

## ॥ उपदेश ॥

जो हम ऊपर लिख आये हैं, उस के अनुसार आहार व्यवहार चिंतवन करते हुये केवल कुंभक का अभ्यास करने से प्रत्याहार की सिद्धि हो सकती है ।

जब प्राण वायु लगभग डेड़ घंटा मस्तक में टिकने लग जावे तब आगे प्रत्याहार से धारणा का अधिकार प्राप्त होता है ।

## ॥ धारणा में शीघ्र प्रवृत्ति का उपाय ॥

(महापुरुष वाक्यम्)

केवलं कुंभकङ्कृत्वा सोहंचिन्तनपूर्वकम् ।
मनसा चिंतयेच्चापि पृष्ठे प्राणस्य रोहणम् ॥

भावार्थ—केवल कुंभक के समय कलेजे के धड़के के साथ सोहं के स्मरण पूर्वक मन से यह भी कल्पना करना चाहिये कि यह प्राण वायु, मेरू दंड से होकर मस्तक में जाकर स्थिर हो रहा है । इस प्रकार निश्चय करते रहने से जल्दी ही प्रत्याहार की सिद्धि होकर धारणा में प्रवेश हो सकता है ऐसा हमारे महापुरुष का वचन है । शुभम् ।

## ॥ अथ धारणा ॥

(राजयोगे अंतरंग मृत समाधि)

मस्तक में गया प्राण वायु दो २ घंटे याने (५ घंटी) बराबर टिकने लग जावे उसे धारणा कहते हैं, यहां से आगे धारणा का अभ्यास होता है, और यहां से प्राण की मृत संज्ञा हो जाती है।

## मृतो जीवयति स्वयम्

भावार्थ—मृत प्राण याने मस्तक में टिके हूये प्राण अमर होते हैं, अर्थात् उसे मृत्यु नहीं खा सकती, जहां तक प्राण मस्तक में रहे वहां तक मृत्यु का जोर नहीं चलता। मस्तक में से उतरने के बाद मृत्यु का जोर चलता है। सोई श्रीमद् भागवत के द्वितीय स्कंध में लिखा है, आत्म ज्ञानी समाधिस्थ योगी को मृत्यु वगेरा दुःख नहीं दे सकते।

न यत्र कालोऽनिमिषां परः प्रभुः,
कुतो नु देवा जगतां य ईशिरे।
न यत्र सत्वंन रजस्तमश्च,
न वै विकारो न महान् प्रधानम् ॥

भावार्थ—जहां आत्मज्ञानी समाधिस्थ योगी समाधि में स्थिर है, वहां देवताओं के परम प्रभु काल की भी सामर्थ्य नहीं तथा जगत के ईश्वर देवताओं की भी भी सामर्थ्य नहीं। और सत्व गुण-रजोगुण तमोगुण भी वहां व्याप्त होते नहीं तथा अहंकार, महत्तत्व और प्रकृति आदि को भी सामर्थ्य नहीं तो संसार जगत् का तो कहना ही क्या है वह क्या सामर्थ्य रख सकता है ?

अब धारणा के अभ्यास में योगी को आसन की स्थिरता की जरूरत है। यहां से आसन ही आगे बढ़ने को प्रधान होता है और इस विषय में महर्षि पतंजलि ने भी आसन को महत्त्व देकर समाधि का कारण बताया है।

## ॥ अथ धारणा मध्ये आसन विषयः ॥

पातंजल योगे सूत्राणि
स्थिरसुखमासनम्।
प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥
ततोद्वंद्वानभिघातः ॥

भावार्थ—आसन वही सिद्ध माना जाता है जिससे सुखपूर्वक बहुत समय तक बैठा जासके और कष्ट न हो ऐसे आसन से बैठ कर देह तथा मन के समस्त प्रयत्नों को त्याग कर केवल काष्ठ के समान बैठ कर लक्ष्य को स्थिर करने मात्र से ही समाधि में प्रवेश हो जाता है और जब समाधि में प्रवेश हो जाता है, तो वह योगी जहां तक समाधि में स्थिर रहता है, उतने समय तक सर्दी, गरमी, क्षुधा, पिपासा, आदि द्वंद्व दुःख, उसे नहीं सता सकते।

पातंजल योग सूत्रम्—

प्रकाश क्रिया स्थिति शीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्।

भावार्थ—स्थिर आसन से काष्ठ के समान विना हलचल से बैठने की सत्वगुण और प्रकाश संज्ञा है और इसी से शांति प्राप्त हो कर जीव ब्रह्म की एकता होती है। तथा जिसमें

शरीर हिले अर्थात् कर्म करे उसकी रजोगुण क्रिया संज्ञा है, जो सत्कर्म से स्वर्गादि सुखों को देकर पीछा जीव को संसार में लाती है। तथा काम-क्रोध लोभ निद्रा तथा मन और इन्द्रियों की व्यर्थ चेष्टा चंचलता और आलस्यादि की तमोगुण स्थिति संज्ञा है। ऐसे प्राणी अधोगति को जाते हैं।

इस योगसूत्र के सिद्धांत से तो प्रत्येक योगी को प्रकाश सत्व शान्ति में ही सदा सर्वदा रहना उचित है जो जीव ब्रह्म की एकता करता है ।

वास्ते अब यहां प्रकाश की सिद्धि के लिये आसन को लिखते हैं।

## ॥ आसनम् ॥

मोक्षे सिद्धं मृते पद्मम् अन्य कार्ये च स्वस्तिकम्।
श्रमे शवासनं कुर्यात् पश्चिमंह्युदरे कृशम् ॥

भावार्थ–प्राण के त्यागने के समय सिद्धासन से बद्ध-प्राण मोक्ष देता है। तथा धारणा, ध्यान समाधि जो मृत-प्राण की क्रिया है। इसमें पद्मासन बहुत लाभप्रद होता है। तथा योगाभ्यास के श्रम को हरण करने में शवासन प्रसिद्ध है। तथा पेट के वायु को हरण कर उदर को कृश करने में पश्चिमतान आसन शुभ होता है।

इस प्रमाण से ( मृतेपद्मम् ) मृत समाधि जो धारणा है इसमें पद्मासन को स्थिर करना उचित है और पद्मासन से धारणा का अभ्यास करना उचित है, पद्मासन का विधान हम ऐहलौकिक क्रिया में लिख आये हैं, देखो।

## ॥ आसन की स्थिरता ॥

स्थिरं स्यादासनं यस्य स योगं कर्तुमर्हति ।
शरीराचलताभावे नहि चित्तं स्थिरं भवेत् ॥

भावार्थ—जिस पुरुष का आसन स्थिर होवे वही योग का अभ्यास साधन कर सकता है। क्योंकि शरीर की अचलता के बिना मन कभी स्थिर नहीं हो सकता है। वास्ते अल्पाहार द्वारा आसन को स्थिर करना चाहिये।

## ॥ आसन का फल ॥

आसने स्थिरतां याते मनः स्थैर्यं भवेध्द्रुवम् ।
प्राणस्यापि गतिर्नूनं शिथिला संप्रजायते ॥

भावार्थ—आसन की स्थिरता से निश्चय करके मन भी स्थिर हो जाता है और प्राण वायु की गति भी निश्चय करके सूक्ष्म हो जाती है।

इन्द्रियाणां च चापल्यं शांतिमायाति निश्चितम्।
ततो योगस्य सिद्धिःस्यात् तस्मादासनमभ्यसेत् ॥

भावार्थ—तथा आसन को स्थिरता होने से इन्द्रियों की जो स्वाभाविक चंचलता है, वह भी शान्त हो जाती है। इस तरह मन, प्राण इन्द्रियों की स्थिरता होने से शीघ्र ही योग की सिद्धि होती है, वास्ते ध्यान समाधि में पहुंचने के लिये आसन को ही मजबूत करना ठीक है ।

## ॥ उपदेश ॥

भ्रमणं तीर्थयात्रासु नैव कार्यं हि योगिना ।
स्थित्वा स्थाने सदैकस्मिन् योगाभ्यासं समाचरेत् ॥

भावार्थ—योगी पुरुष को तीर्थों की यात्रा आदि में भ्रमण नहीं करना चाहिये, किन्तु सदा सर्वदा आजीवन पर्यन्त एक स्थान में ही निवास करते हुए योग में तत्पर रहना चाहिये ।

## ॥ धारणा सिद्धि ॥

योगिनां क्षीणपापानां नित्यमेकांत वासिनाम् ।
युक्ताहारविहाराणां सिद्धा भवति धारणा ॥

भावार्थ—जिन योगी पुरुषों के सर्व पाप क्षीण हो जाते हैं और हर समय एकान्त स्थान में निवास करते हैं, तथा जिनका आहार व्यवहार योगाभ्यास के अनुकूल युक्ति पूर्वक होता है, उन योगियों को ही उक्त धारणा की सिद्धि होती है ।

## ॥ संकेत ॥

इस प्रकार हमारे बताये अनुसार पद्मासन को मजबूत करके अभ्यास करते २ जब पद्मासन बीस घण्टे स्थिर होने लगे तब आगे ध्यान का अधिकार प्राप्त होता है । अर्थात् उस योगी को ध्यान की सिद्धि हो सकती है ।

## ॥ अथ ध्यानम् ॥

(राजयोगे मृत अंतरंग समाधि)

जब चौबीस घण्टे पद्मासन से ध्यान होता है तब ध्यान की सिद्धि मानी जाती है इसके आगे योगी को ध्यान का साधन अभ्यास की भूमिकाओं की उन्नति के साथ करना चाहिये ।

## ॥ परिचय ॥

अथ ध्यानं प्रवक्ष्यामि मुक्तिसाधनमुत्तमम् ।
यत्कृत्वा न पुनर्जंतुर्जातु मातुः स्तनं पिबेत् ॥

भावार्थ– अब योग का प्रधान अंग जो ध्यान है, उसका निरूपण करते हैं। जो ध्यान ही जीव की मुक्ति का परम श्रेष्ठ साधन है। जिस ध्यान के करने से यह जीव फिर कभी माता के स्तन को पान नहीं करता अर्थात् जन्म-मरण से छूट जाता है।

## ॥ ध्यान प्रधान श्लोक ॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम् ।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किंचिदपि चिंतयेत् ॥ह.प्र.

भावार्थ–ध्यानस्थित योगी को बाहर की सर्व चिन्ता का त्याग करके तथा भीतर मन में भी विषयों के संकल्प याने आशा मोदक मन्दिर, वाटिका आदि उनका भी चिंतन न करे। इस प्रकार बाहर भीतर की सम्पूर्ण चिंताओं का

परित्याग करके किंचित् भी प्रयत्न न करते हुए केवल ध्यान के ही प्रयत्न में स्थिर हो जावे।

## ॥ ध्याने आहार शुद्धिः ॥

चतुर्थ्यां भूमिकायांहि रसाम्बु केवलं भवेत्।

भावार्थ—इस पूरी भूमिका के पूरे श्लोक को आगे लिख आये हैं। वास्ते यहाँ इतना ही लिखा है, अर्थात् जो ध्यान की चौथी भूमिका है, इसमें योगी को केवल दूध में पानी मिला कर या मोसमी का रस या द्राक्षा का जल इनका ही सेवन करना चाहिये। यदि शरीर में वायु का विकार मालुम दे तो दूध लेते समय ईसबगोल, औषधि दूध में डाल कर लेवे बस ध्यानोचित आहार यही है, क्षुधा मालूम दे तो थोड़ा साबूदाना ले सकते हैं।

## ॥ अथ ध्यान सिद्धि समय ॥

ब्रह्मचारी सत्यवादी भवेद् ध्यान परायणः।
अब्दादूर्ध्वं च सिद्धिः स्यात् केवलं दुग्धसेवनात् ॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए और सत्य भाषण करते हुए तथा केवल दूध का ही आहार करते हुए जो योगी ध्यान परायण होंगे उनको एक वर्ष के बाद शीघ्र समाधि की सिद्धि प्राप्त हो सकती है।

## ॥ अथ ध्यान विषय ॥

सगुणं निर्गुणं चैव द्विधा ध्यानं प्रकीर्तितम्।
सगुणं व्यक्तियुक्तं स्यादव्यक्तं निर्गुणं भवेत ॥

भावार्थ–ध्यान दो प्रकार का होता है, व्यक्तियुक्त ध्यान कोसगुण कहते हैं और अव्यक्त तेजोमय ध्यान को निर्गुण महापुरुषों ने कथन किया है ।

## ॥ शास्त्रार्थ ॥

व्यक्तियुक्त ध्यान मृत्यु लोक तथा स्वर्गादिक के अनेक सुख भोगों को देता है और निर्गुण तेजोमय ध्यान जीवब्रह्म की एकता करके मोक्ष देता है और जिसका ध्यान किया जाय, यह जीव उसी में तल्लीन हुवा करता है और उसी के भाव ग्रहण करता है ।

व्यक्तियुक्त ध्यानार्चन त्रेतारंभ से तथा अव्यक्त उपासना सतयुगादि कही है । भागवत में लिखा है–

## ॥ उपासना ॥

भागवत ७ स्कंधे श्लोकः–

दृष्ट्वा तेषां मिथो नृणामवज्ञानात्मतां नृप ।
त्रेतादिषु हरेरर्चा क्रियायै कविभिःकृता ॥

भावार्थ–जब मनुष्य पात्र और आत्मज्ञानी थे तब मनुष्यों के शरीर में ही परमात्मा की पूजा उपासना किया करते थे । जब मनुष्यों के मन में विकार आ गया और परस्पर द्वैत भाव समझने लगे तब त्रेतायुग के प्रारंभ में, बुद्धिमान् महापुरुषों ने परमात्मा की पूजा उपासना ( प्रतिमा ) मूर्तियों में करनी आरंभ कर दी । जो कि भाव से पूजन उपासना करने वालों को मृत्युलोक तथा स्वर्गादिकों के

अनेकों सुख भोगों को देने वाली है । वह प्रतिमायें वेदमन्त्रों द्वारा चैतन्य होकर संसारी मनुष्यों की कामनायें पूर्ण करती हैं ।

## ॥ ईशावास्योपनिषद् वचनम् ॥

सम्भूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयं सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥

भावार्थ—जिन लोगों ने प्रतिमादि देवताओं की उपासना तथा निर्गुण तेजोमय ब्रह्म की उपासना इन दोनों के फल को साथ २ जान लिया है वह, साकार देवताओं की उपासना से चौरासी लक्ष में जन्म तथा नरक से छूट कर अविनाशी तेजोमय निर्गुण ब्रह्म की उपासना से अमृत को पान करते हैं, अर्थात् ब्रह्म में मिल जाते हैं ।

## ॥ विचार सम्मति ॥

इन निर्गुण सगुण दोनों पर शास्त्र के अनुसार विचार करने से तो जो जीव ब्रह्म की एकता करता है, उसी अविनाशी तेजो मय ब्रह्म की ही उपासना करना मोक्ष के लिये ठीक समझता हूँ और निर्गुण ध्यान को यहां विस्तार से कहता हूं ।

## ॥ ध्यान की भूमिका ॥

### (योग निद्रा)

जब योगी धारणा सिद्ध करके ध्यान में पहुंचता है, तब उसको योग निद्रा की भूमिका आती है ।

दिनैः कतिपयैरेवं भ्यासं कुर्वतः सदा ।
योगिनो योगनिद्रा वै समुदेति सुखप्रदा ॥

भावार्थ–इस प्रकार कितनेक दिन अभ्यास करने से जब योगी ध्यान में पहुंचता है तब ध्यान की भूमिका में योगी को आनन्द की देने वाली योग निद्रा शुरू होती है। अर्थात् निद्रा की तरह जाग्रतावस्था में चित्त का लय होने लगता है।

योगनिद्रा चिराभ्यासान्निर्विकल्पः प्रजायते।
विस्मृत्य सकलं बाह्यं समाधिस्थो भवेन्नरः ॥

भावार्थ–और उस योग निद्रा के दीर्घकाल अभ्यास करने से योगी निर्विकल्पावस्था को प्राप्त होकर बाह्य प्रपंचों को भूल कर राजयोग समाधि में स्थिर हो जाता है, जिस योग निद्रा से भगवान नारायण शयन करते हैं।

जब योगी को योगनिद्रा का आरंभ हो जाता है, तब योगी को तामसी निद्रा जो संसार के समस्त प्राणी लेते हैं, उसे लेने की जरूरत नहीं रहती, योगी केवल पद्मासन से ध्यान पूर्वक जो योग निद्रा प्राप्त करता है, वही उसकी निद्रा है। अर्थात् २४ घण्टे पद्मासन से ध्यान करने वाला योगी निद्रा जीतता है, फिर उसे निद्रा नहीं घेरती। परन्तु यदि योगी दो चार दिन ध्यान में नहीं बैठे तो पुनः तामसी निद्रा आ घेरती है। वास्ते योगी ने नित्य ध्यान साधन को करना कभी भी त्यागना नहीं, नित्य बैठना चाहिये एक दिन भी त्यागना श्रेष्ठ नहीं। इति योग निद्रा प्रकरणम्।

## ॥ अथ ध्याने नाद प्रकरणम् ॥

जब योगी का पद्मासन २४ घंटे स्थिर हो कर ध्यान में तत्पर रहता है। उस समय जीव का अनाहत चक्र से अनाहत नाद का शब्द जो कर्ण में होता है। उस अनाहत नाद की अन्तिम भूमिका जो भ्रमर और वीणा की है, वह इस समय भूमिका आजाती है और बाद में सर्व तत्त्व वायु में और वायु नाद में और नाद वायु को लेकर ब्रह्म में लय हो जाता है और निर्विकल्पता आजाती है और समाधि में प्रवेश हो जाता है। फिर द्रष्टा का दृष्य नहीं रहता अर्थात् एक ही अद्वैत ब्रह्म रह जाता है, और सर्व नष्ट हो जाता है।

## ॥ अनाहतनादका पूर्ण परिचय ॥

अथ नादानुसंधानं प्रवक्ष्यामि यथाक्रमम् ।
यस्यानुष्ठानतो योगी परं ब्रह्माधि गच्छति ॥

भावार्थ—अब यथाक्रम से नादानुसंधान का निरुपण करते हैं। जिस नादानुसंधान के श्रवण करने से योगी परब्रह्म भाव को प्राप्त होता है।

## ॥ योग सवा करोड़ है ॥

श्री आदिनाथेन सपादकोटि
लयप्रकाराः कथिता जयंति ।
नादानुसंधानकमेकमेव
मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ ह. प्र.

भावार्थ–श्री आदिनाथ शिवजी ने मन को लय करने के उत्तम प्रकार से सवा करोड़ मार्ग वर्णन किये हैं। जिन सभी मार्गों में हम तो सर्व शिरोमणि नादानुसंधान को ही मुख्य लय समझते हैं। जो गोरक्षनाथजी को भी अभिमत है।

## ॥ श्रेष्ठ सार निरूपण ॥

नासनं पद्मसदृशं न कुंभः केवलोपमः।
नाज्ञाचक्र समं ध्यानं न नादसदृशो लयः॥

भावार्थ–पद्मासन के समान आसन नहीं और केवल कुँभक के समान कोई दूसरा कुम्भक नहीं। तथा आज्ञाचक्र के समान ध्यान मोक्ष के लिये नहीं तथा अनाहत नाद के समान दूसरा कोई मनोलय समाधि नहीं यह योग में चार बातें प्रधान हैं।

## ॥ अथ नाद विषय ॥

॥ सम्पूर्ण भूमिका स्वानुभवे तथा शास्त्रे ॥

आदौ जलधिजीमूत भेरी झर्झर संभवाः।
मध्ये मर्दल शंखोत्था घण्टा काहलजास्तथा॥
अंतेतु किंकिणी वंश वीणा भ्रमरनिस्वनाः।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते च यथाक्रमम्॥

भावार्थ–अब दो श्लोकों में नाद की भूमिकाओं का वर्णन करते हैं। प्रथम प्रथम प्राणवायु जब सुषुम्ना में प्रवेश करता है। तब मेघ, समुद्र, नगारे आदि का शब्द दक्षिण कर्ण में सुनाई देता है। तथा जब प्राण वायु सुषुम्ना

के मध्य में रहता है तब घंटा शंख बंसरी आदि के शब्द सुनाई देते हैं। तथा जब प्राण वायु सुषुम्ना के ऊपरी भाग में लय होने लगता है। तब आखिरी प्राण के लय के समय में भ्रमर और वीणा का शब्द सुनते सुनते योगी के प्राण वायु नाद में लय होकर समाधि हो जाती है। इस प्रकार क्रम से नाना प्रकार के नाद योगी लोग यथा क्रम से सुनने का महा आनन्द प्राप्त करते हैं। जो नाद सम्पूर्ण लोकों में ब्रह्म रूप से व्याप्त हो रहा है और क्षण मात्र में शब्दों को दूर दूर ले जाकर फेंकता है।

## ॥ अनाहत नाद का भजन ॥

अनहत की धुन बाली योगी अनहत की धुन बाली रे ।
आसन पद्म लगाकर दक्षिण कर्ण सुणो सुखकारी रे ।
झीणि धुन में सुरत लगावो नाद होय झणकारी रे ॥
अनहत की धुन बाली योगी;
प्राण प्रदेश समय से होवे उत्तम न्यारी न्यारी रे ।
मेघ, समुद्र, नगारे झर्झर, घंटा, शंख, बंसरी रे ॥
अनहत की धुन बाली योगी;
लय में अन्त भ्रमर ने वीणा नाद होय सुखकारी रे ।
अमृत बूँद झरे मुखमांहि योगी मनलय कारी रे ॥
अनहत की धुन बाली योगी;
तन की सुधि सब भूल जात है, घट में ब्रह्म प्रकाशी रे ।
आत्मज्ञान परम पद पावे नाद सुणत अविनाशी रे ॥
अनहत की धुन बाली योगी, अनहत की धुन बाली रे ॥

## ॥ इति ध्याने नाद प्रकरणम् ॥

## ॥ स्वेद (पसीना) ॥

योग साधन में तत्पर योगी को पसीना आना ठीक नहीं पसीना धातुओं पर कोप करता है। आसन करते समय का पसीना आसन के फल को कनिष्ठ बना देता है। प्राणायाम के समय का पसीना प्राणायाम को कनिष्ठ बना देता है। तथा राजयोग में स्थित योगी को तो पसीना आना ही ठीक नहीं वास्ते राजयोगी को तो चौबीसों घंटे ध्यान रखना चाहिये। चाहे वह साधन में बैठे या न बैठे दोनों समय में पसीनें का पूरा खयाल रखना चाहिये। राजयोगी को पसीना धातुओं पर विजय नहीं होने देता। तथा अभ्यास को आगे नहीं बढ़ने देता वास्ते राजयोगी पसीनें का पूरा ध्यान रखे। तथा हठ योग में आसन प्राणायामों में यदि पसीना आ भी जावे तो उसे शास्त्र वचनानुसार मल लेवे।

जलेन श्रम जातेन गात्रमर्दनमाचरेत्।
दृढ़ता लघुताचैव तेन गात्रस्य जायते ॥

भावार्थ--यदि आसन प्राणायाम के अभ्यास के समय पसीना आजावे तो उसे तेल के समान मल लेवे। नहीं मलने से शरीर का धातु बिगड़ जाता है और मल लेने से शरीर की दृढ़ता और लघुता होती है, अर्थात् जड़ता नहीं रहती। शुभम्।

## ॥ ध्यानम् ॥

अब हम निर्गुण तेजोमय ध्यान के लक्ष को स्वानुभव

तथा शास्त्रों के मिलान के साथ लिखते हैं जो जीव ब्रह्म की एकता करता है।

पद्मासने स्थितो योगी स्थिरकायः समाहितः।
निमील्य नयने पश्येद् भ्रुवोर्मध्ये सदाधिया॥

भावार्थ—पद्मासन से बैठ कर शरीर को स्थिर रख करके और चित्त को एकाग्र करके दोनों नेत्रों को बन्द करके, अन्दर से मन की वृत्तिरूप दृष्टि से दोनों भ्रुवों के मध्य भाग में निरंतर देखना चाहिये।

दृश्यते प्रथमाभ्यासे नभः कृष्णं तु केवलम्।
ततस्तारानिभं तेजो दृश्यते तु कदा कदा॥

भावार्थ—प्रथम अभ्यास काल में केवल काले रंग का आकाश देखने में आता है, और पीछे कुछ दिनों के बाद तारा के समान कभी २ तेज नजर में आता है।

नानावर्णयुतं पश्चादस्थिरं दृष्टिगं भवेत।
ततोऽर्धचंद्रसंकाशं शून्यचक्र समं ततः॥

भावार्थ—तिसके पीछे नाना प्रकार के रंगों से युक्त चंचल तेज देखने में आता है, अर्थात् जिस समय जो तत्त्व शरीर में चलता है, उसी तत्त्व का रंग तेज में दिखता है और उसके बाद अर्धचन्द्राकार ज्योति नजर में आती है और उसके बाद चारों तरफ तेज और बीच से खाली इस प्रकार चक्र के समान देखने में आता है।

पूर्णचक्रसमं पश्चात् सूर्यमंडल संनिभम्।
दृश्यते परमं ज्योतिर्ब्रह्मभूतं निरामयम्॥

भावार्थ—और उसके बाद कुछ दिन अभ्यास बढ़ने से पूर्ण चन्द्र के समान तेजोमय ज्योति के दर्शन होते हैं और उसके बाद साक्षात् सूर्य मंडल के समान ब्रह्मरूप परमानन्द-मय ज्योति के दर्शन होते हैं।

परमानन्द संदोहमज्ञान ध्वांत नाशनम्।
योगिनो मनसस्तुष्टिकरं क्लेशहरं परम्॥

भावार्थ—वह ब्रह्ममय ज्योति परमानन्द को देनेवाली तथा अज्ञानरूप अन्धकार का नाश करनेवाली और योगी के सर्व क्लेशों का नाश करने वाली और योगी के मन को परम संतोष देने वाली है।

क्षणं दृष्टिगतंभूत्वा पुनस्तत्प्रविलीयते।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते स्थिरं भवति कालतः॥

भावार्थ—और वह तेज क्षणमात्र दृष्टिगोचर होकर फिर शीघ्र ही लीन हो जाता है और बाद अभ्यास के दृढ़ होने से वह ब्रह्म तेज दृष्टि के आगे स्थिर हो जाता है।

दिनानुदिनमित्येवं निर्विघ्नाभ्यासतो दृढम्।
क्रमाद्विस्तारमायाति तज्ज्योतिः परमं महत्॥

भावार्थ—ध्यान का दिन प्रति दिन उक्त प्रकार से अभ्यास बढ़ने से वह ब्रह्म की परम ज्योति क्रम से विस्तार को प्राप्त हो जाती है। और दर्शन देती है जो मोक्ष का स्वरूप है।

## ॥ स्वानुभव भूमिका ॥

यहां तक ध्यान की भूमिका में हम पहुंचे हैं और इसके आगे की भूमिकाओं में प्रवेश के लिये ध्यान के साधन में तत्पर हैं और भूमिकाओं की उन्नति के लिये इच्छुक हैं।

वास्ते इसके आगे को जो भूमिकायें हैं उनको अब हम शास्त्र के प्रमाण से ही लिख रहे हैं कारण हमें आगे स्वानुभव नहीं।

आदौ गृहगतं सर्वं वस्तु ध्याने निरीक्ष्यते ।
ततो बाह्यं ततो दूरं ततोदूरं तरं पुनः ॥

भावार्थ—जब दीर्घकाल के ध्यान से तेज का बिस्तार होने लगता है तो पहिले अपने घर के अन्दर पड़ी हुई वस्तु सब देखने में आती है और फिर बाहर की वस्तु नजर आती है और उसके पीछे दूर की वस्तु देखने में आती है और विशेष अभ्यास बढ़ने से बहुत योजन दूर के पदार्थ देखने में आते हैं।

नानावनानि रम्याणि निर्मलानि सरांसि च ।
समीपस्थानि दृश्यंते गिरीणां शिखराणि च ॥

भावार्थ—तथा नाना प्रकार के दूर के रमणीय वन और निर्मल सरोवर तथा हिमालयादि पर्वतों के शिखर अपने समीप के समान देखने में आते हैं।

सिद्धा महर्षयश्चैव दृश्यन्तेऽम्बरचारिणः ।
तारका मंडलं सर्वं देवतायतनानि च ॥

भावार्थ—तथा आकाश में विचरने वाले सिद्धलोक और महर्षिलोग तथा सर्व ताराओं का मण्डल और देवताओं के स्थान समीप देखने में आते हैं।

**एवं क्रमेण कालेन योगिनोऽभ्यास योगतः।**
**दिव्यादृष्टिर्भवत्येव त्रैलोक्यालोकने क्षमा॥**

भावार्थ—इस प्रकार शनैः शनैः क्रम से दीर्घकाल के अभ्यासयोग से योगी को तीनों लोकों के देखने वाली दिव्य दृष्टि हो जाती है।

**स्वयं ज्योतिर्मयोभृत्वा योगी तद्गत मानसः।**
**ब्रह्मण्येव लयं याति परे ज्योतिः स्वरूपिणि॥**

(इस प्रकार यह ध्यान सिद्धि की भूमिकायें हैं, जिस योगी को सिद्धियों का सुख नहीं चाहिये केवल मोक्ष की वाञ्छा वाले हैं) वह योगी तेजोमय ज्योति के ध्यान की तत्परायणता से आप भी ज्योतिः स्वरूप हो परमज्योतिः स्वरूप ब्रह्म में लय हो समाधि में स्थिर हो जाते हैं।

संकेत—इस प्रकार ध्यान का साधन करते करते जब तीन दिन तक पद्मासन से लयता रहे तब योगी का आगे समाधि में अधिकार प्राप्त होता है। फिर समाधि का अभ्यास करना चाहिये। शुभम्।

## ॥ इति ध्यान प्रकरणम् ॥

## ॥ अथ समाधिप्रकरणम् ॥

### (अथ राजयोगे अंतरंग मृत समाधिः)

समाधिमधुना वक्ष्ये भवपाशनिकृंतनम् ।
समाधानं हि चित्तस्य समाधिं मुनयो विदुः ॥

भावार्थ—अब मोक्ष के हेतु समाधि का वर्णन करते हैं चित्तका जो समाधान अर्थात् स्थिर शांत अवस्था जो है, उसको मुनि लोग समाधि कहते हैं । शुभम् ।

अभ्यास करते २ जब पांच दिन तक प्राण का लय होने लग जावे उसे समाधि कहते हैं तथा बारह दिन तक एक आसन से स्थिर प्राण लय लेवे उसको पूर्ण समाधि कहते हैं । इसके बाद महायोग समाधि बहुत समय चिरकाल की मानी जाती है ।

प्रथम समाधि के अभ्यास में दुग्धाम्बु के सिवाय कुछ भी आहार नहीं लेना चाहिये, अन्य सर्व आहारों को त्यागना चाहिये ।

सर्वाहारं परित्यज्य केवलं दुग्धभुग्भवेत् ।
शरीरलघुताभावे प्राणाकृष्टिर्न जायते ॥

भावार्थ—समाधि में प्राण के चढ़ाने के अभ्यास काल में सर्व प्रकार के आहारों का परित्याग करके योगी पुरुष को केवल दूध जल का ही पान करना चाहिये । क्योंकि अन्य दूसरे आहार लेने से शरीर के हलके नहीं होने से सर्व शरीर से प्राणों का आकर्षण ठीक प्रकार से नहीं हो सकता है । वास्ते दूध जल ही श्रेष्ठ है ।

## ॥ समाधि ॥

सर्वांगेभ्यः समाकृष्टो यदा प्राणानिलो व्रजेत्।
ब्रह्मरंध्रमशेषेण समाधिर्जायते तदा ॥

भावार्थ—जब दीर्घकाल ध्यान के अभ्यास से शरीर के सब अंगों से खींचा कर सम्पूर्ण प्राण वायु मस्तक में चढ़ जावे तो उस समय में समाधि हो जाती है।

देहशून्यो भवेत्सर्वो जगद्विस्मरणं भवेत्।
स्वप्रकाशे परानंदे मनोवृत्तिर्विलीयते ॥

भावार्थ—जब सर्व शरीर प्राणों से रहित शून्य हो जाता है और बाह्य प्रपंचों का विस्मरण हो जाता है और योगी की मनोवृत्ति स्वयं प्रकाश स्वरूप परमानन्द रूप हो जाती हैं।

अंतर्दृष्टिप्रकाशेतु त्रैलोक्यं सचराचरम्।
दृश्यते स्वसमीपस्थं करामलकवत्स्वयम् ॥

भावार्थ—और जब उस अन्तर्दृष्टि का प्रकाश दीर्घकाल के अभ्यास से फैल जाता है, तो योगी को तीनों लोकों के चराचरात्मक सर्व पदार्थ करामलक की तरह अपने समीप स्थित स्वयमेव देखने में आते हैं।

बाह्यं विस्मृत्य निद्रायां स्वप्नं पश्येन्नरो यथा।
समाधिसमये तद्वद्योगी विश्वं प्रपश्यति ॥

भावार्थ—जिस प्रकार निद्रा काल में बाह्य प्रपंचों को

भूल कर मनुष्य स्वप्न को देखता है तैसे ही समाधि काल में योगी बाह्य प्रपंचों को भूल कर अन्तर्दृष्टि से जगत् को देखता है ।

## ॥ समाधिदर्शन ॥

स्वप्नदृष्टपदार्थौघो मृषा भवति निश्चितम् ।
समाधौ त्वमृषा सर्वं वस्तु कार्यकरं तथा ॥

भावार्थ–परन्तु स्वप्न और समाधि में इतना भेद है, कि स्वप्न में देखे हुये पदार्थ समूह प्रायः करके मिथ्या हो जाते हैं और समाधि काल में देखी हुई वस्तुयें सब सत्य और काम करने वाली होती हैं ।

## ॥ समाधि में पतनदोष ॥

तस्मादास्तिक भावेन कुर्याद्योगस्य साधनम् ।
अवश्यं सिद्धिमाप्नोति निर्वेदान्न जहाति चेत् ॥

भावार्थ–वास्ते योगी पुरुष ने श्रद्धा आस्तिक भाव से निरालस्य होकर योग का अभ्यास करना चाहिये तो अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी तथा जो कदाचित् अभ्यास के परिश्रम से घबराकर उपराम होकर बीच में नहीं छोडेगा और आलस्य को त्याग साधन करेगा तो सिद्धि प्राप्त होगी नहीं तो पतन होगा । शुभम् ।

## ॥ संकेत ॥

इस प्रकार अभ्यास करते-करते जब चार दिन पद्मासन से प्राणवायु लय लेवे तब समाधि की सिद्धि के लिये आहार

को त्यागे कारण पांच दिन में समाधि की सिद्धि होती है तथा बारह दिन में पूर्ण समाधि की सिद्धि। इसके बाद महायोग होता है। वास्ते उपवासों को लिखते हैं।

## ॥ अनशने भेदाः ॥

प्राणस्यारोहणे वापि परकायप्रवेशने।
शरीरमोक्षणे चादौ भोजनं परिवर्जयेत्॥

भावार्थ—समाधि में प्राण के मस्तक में चढ़ाने के समय और परकाया प्रवेश के समय तथा देह त्याग करने के समय थोड़े दिन पहिले से निराहार रहना चाहिये।

अब हम निराहार के समय को कहते हैं कि जब पांच दिन की समाधि में बैठना हो तो एक दिन निराहार रहकर बैठे तथा बारह दिन की समाधि के लिये तीन दिन पहिले से निराहार तथा इसके बाद २१ दिन तक की समाधि के लिये पांच दिन निराहार तथा इसके उपरांत दीर्घकाल की समाधि के लिये नवदिन निराहार से शुभ रहता है। वास्ते योगी ने समाधि के साधन के अनुकूल निराहार रहना चाहिये।

योगाभ्यासे प्रवृत्तस्तु शीघ्र सिद्धिं न कामयेत्।
कालेन दुरिते क्षीणे स्वतः सिद्धिः प्रजायते॥

भावार्थ—योगी को शीघ्र ही समाधि की सिद्धि की वाञ्छा नहीं करनी चाहिये, किन्तु धीरे २ अभ्यास करते रहने से और सर्व संचित पापों का नाश हो जाने से अपने आप ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है।

विघ्ना बहुविधा योगे भवंतीति विनिश्चितम्।
तथापि साधयेद्योगी योगं धृतिपरायणः ॥

भावार्थ—योगाभ्यास में प्रवृत्त योगी को बहुत प्रकार के शरीर रोगादिक विघ्न आकर अभ्यास से चलायमान करते हैं, यह बात निश्चित है, तो भी धैर्य परायण हो कर योगी को अवश्य योग का साधन करना चाहिये।

अभ्यास करते २ जब बारह दिन की समाधि की सिद्धि का समय आवे तब योगी जीवन्मुक्त हो जाता है ।

## ॥ जीवन्मुक्तिः ॥

जीवन्मुक्तिरियं प्रोक्ता जीवतां बंधहारिणी ।
शास्त्रावलोकनेनैव जीवन्मुक्तो न जायते ॥

भावार्थ—जीते जीव ही जो समाधि से स्थूल शरीर के बंधन से छूट जाता है, उसको पूर्व के ऋषि लोगों ने जीवन्मुक्ति कथन करी है। क्योंकि वेदांतादि शास्त्रों के पढ़ने से और सुनने मात्र से यह पुरुष जीवन्मुक्त नहीं हो सकता है, साधन से ही होगा। शुभम्।

## ॥ जीवन्मुक्तरूपम् ॥

(दत्तात्रेयेण)

निर्गुणं ध्यान संपन्नः समाधिं च ततोऽभ्यसेत् ।
दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ॥
वायुं निरुध्यमेधावी जीवन्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ॥

भावार्थ—दत्तात्रेयजी ने जीवन्मुक्त का स्वरूप यह कहा है कि निर्गुण के ध्यान में संपन्न मनुष्य समाधि का अभ्यास करे तो तीव्र आकांक्षा वाला बारह दिन में ही समाधि की सिद्धि को प्राप्त होता है और वह बुद्धिमान योगी वायु को रोक कर निश्चय से जीवन्मुक्त होता है। शुभम्। इति जीवन्मुक्तिः ॥

## ॥ अथ त्रिविधतापम् ॥

आध्यात्मिकादिभिर्दुःखै रविमुक्तस्य कर्हिचित्।
मर्त्यस्य कृच्छ्रोपनतैरर्थैः कामैः क्रियेत किम् ॥

भावार्थ—आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक, त्रिविध ताप का मृत्युरूपी कालचक्र तो शिर पर घूम ही रहा है और कोई प्रकार से पुरुष ने परिश्रम करके धन और सुख प्राप्त भी कर लिया तो उससे क्या।

सच्ची सुख शांति तो वह है कि त्रिविध ताप के भयंकर काल-चक्र से यह मनुष्य अपने को मुक्त कर ले।

अब हम त्रिविध तापादि से विजय प्राप्त करने के उपायों को कहते हैं।

॥ श्रीमद् भागवते ७ स्कंधे ॥

## ॥ त्रिविध ताप से विजय ॥

योगान्तरायान्मौनेन हिंसां कायाद्यनीहया।
कृपया भूतजं दुःखं दैवं जह्यात् समाधिना ॥
आत्मजं योगवीर्येण निद्रां सत्त्व निषेवया ॥

भावार्थ—मौनवृत्ति धारण कर योग के विघ्नरूप मिथ्या वार्त्तालाप को जीते। सम्पूर्ण जीवों से स्नेह (प्रेम) करके भूतज दुःखों को जीते और दैव कृत क्लेशों सर्दी गर्मी क्षुधा पिपासा रोग ताप क्लेश आदि को समाधि से जीते और अद्वैत अहं ब्रह्मास्मि पद को सिद्ध कर उस योगबल से जीवात्मा के जन्म मरणादि कष्ट को जीते। तथा सात्विक भोजनादिक से निद्रा को जीते। शुभम्।

## ॥ इति तापशमन प्रकरणम् ॥

## ॥ अथ जीवन्मुक्त पुरुष के कर्तव्य ॥

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यापरिग्रहौ।
शौचं तोषस्तपश्चैव जपश्चेश्वरचिंतनम् ॥

भावार्थ—जो पुरुष संपूर्ण जीव मात्र की दया करते और मन-वाणी शरीर से किसी को भी दुःख नहीं पहुंचाते। तथा कभी भी कैसे भी संकट के समय में भी झूँठ नहीं बोलते। तथा किसी के साथ कपट नहीं करते और किसी से छिपाव नहीं रखते और किसी की वस्तु चुराने की तनिक भी इच्छा नहीं रखते। तथा ब्रह्मचर्य द्वारा वीर्य की रक्षा करते हैं और इस संसार में सादा जीवन बिताते हुये और संसार की समस्त वस्तुओं को नाशवान और मिथ्या जान कर उसमें मोह को नहीं रखते हुए देह नाम शरीर और गेहादि नाम घर आदि समस्त वस्तुओं में मोह को नहीं रखते हैं।

तथा भीतर और बाहर से मन वाणी व शरीर आदि को शुद्ध रखते हैं।

## ॥ शुद्धिः ॥

### ॥ श्रीमद् भागवते १० स्कंधे ॥

**कालेन स्नान शौचाभ्यां संस्कारै स्तपसेज्यया ।**
**शुध्यन्ति दानैः संतुष्ट्या द्रव्याण्यात्मात्मविद्यया ॥**

भावार्थ—समय से पृथ्वी को शुद्धि होती है । स्नान करने से बाह्य शरीर की शुद्धि होती है । धोने से वस्त्र की शुद्धि होती है । तथा संस्कारों से गर्भादि की शुद्धि होती है और चांद्रायणादि तप से इन्द्रियों तथा काया के अंदर की शुद्धि होती है और यज्ञ, हवन करने से ब्राह्मणादि वर्णों के शरीर पवित्र होते हैं । तथा दान करने से कमाये ( प्राप्तकिये ) धन की शुद्धि होती है और संतोष से मन की शुद्धि होती है । द्रव्य त्याग से प्रायश्चितों की शुद्धि होती है । तथा आत्म-विद्या वेदांत तथा अष्टांग योग साधनादिक से आत्मा की शुद्धि होती है । ( इति शुद्धि विचार )

और जो संतोष को धारण करते हैं । तथा अति अल्प आहार द्वारा शरीर को तपोमय रखते हैं, और मोक्ष शास्त्रों का नित्य मनन करते हैं । तथा सदा सर्वदा शरीर के भीतर ब्रह्म के ध्यानानन्द में मग्न रहते हैं । ऐसे सत्पुरुष जीवन्मुक्त होते तथा त्रिविधताप पर विजय करके शीघ्र ही समाधि को सिद्ध कर मनुष्य जन्म सफल बना लेते हैं । शुभम् । इतिसत्पुरुषाधिकार कर्तव्य कर्म समाधि ।

## ॥ अथ सद्योमुक्तिः ॥

### अथ बद्ध प्राण मोक्ष प्रकरणम्

स्थिरं सुखं चासन भाश्रितो यति
र्यदा जिहासुरिममंग लोकम् ।
कालेच देशे च मनो न सज्जयेत्
प्राणान्नियच्छेन्मनसा जितासुः ।

भावार्थ—जो पुरुष इस लोक के त्यागने की इच्छा करे। वह स्थिर सुखद आसन पर बैठे और शुभ काल में और पुण्य देश में मन को आसक्त न करे और प्राण वायु को जीते और मन से योग को ही मोक्ष दायक समझे।

मनः स्वबुद्ध्याऽमलया नियम्य
क्षेत्रज्ञ एतां निनयेत्तमात्मनि ।
आत्मानमात्मन्य वरुध्य धीरो
लब्धोपशांति विरमेत कृत्यात् ॥

भावार्थ—अपनी निर्मल बुद्धि से बुद्ध्यादिकों के द्रष्टा जीव में मन को लगावे। तथा जीवात्मा को शुद्ध चैतन्य ब्रह्म में एक करके आनन्द को प्राप्त हो कर सब कृत्य से विराम करे उसके लिये फिर कोई कार्य कर्तव्य नहीं है।

परंपदं वैष्णव मामनंति तद्.
यन्नेति नेती त्यददुत्सिसृक्षवः ।

विसृज्यदौरात्म्यमनन्य सौहृदा
हृदोपगुह्यार्हं पदं पदे पदे ॥

भावार्थ—नेति नेति नहीं नहीं कहने वाले भी उसको विष्णु का परम पद कहते हैं। जो आत्मा को त्याग कर अन्य में मित्रता नहीं करते और उस पूजनीय ईश्वर को क्षण-क्षण में हृदय से मिलते हैं।

इत्थं मुनिस्तू परभेद्ध्थवस्थितो
विज्ञान दृग्वीर्यं सुरंधिताशयः ।
स्वपार्ष्णिनाऽऽपीड्य गुदं ततोऽनिलं
स्थानेषु षट्सून्नमयेज्जित क्लमः ॥

भावार्थ—ब्रह्म का चिंतवन करके इस प्रकार मोक्षार्थी मुनि स्थित हो कर ब्रह्मज्ञान की दृष्टि के बल से विषय-वासनाओं का त्याग कर, अपनी एडी से गुदा को बन्द कर परिश्रम को जीत मूलाधार से नाभि आदि छः स्थानों में पवन को चढ़ावे।

नाभ्यां स्थितं हृद्य धिरोप्य तस्मा
दुदानगत्योरसि तं नयेन्मुनिः ।
ततोऽनुसन्धाय धिया मनस्वी
स्वतालु मूलं शनकै र्नयेत ॥

भावार्थ—जो पवन नाभि के मणिपूर चक्र में स्थित है, उसको हृदय में अनाहत चक्र में ले जावे और उदानगति से

कण्ठ के विशुद्ध चक्र में ले जावे तथा बाद में वह बुद्धिमान मुनि अभ्यास के बल से तालु के मूल में वायु को शनैः शनैः ले जावे।

तस्माद् भ्रुवो रंतर मुन्नयेत
निरुद्ध सप्तायतनोऽनपेक्षः ।
स्थित्वा मुहूर्तार्धं मकुंठ दृष्टि
र्निर्भिद्य मूर्धन्विसृजेत् परं गतः ॥

भावार्थ–बाद में कान-नेत्र, नासिका और मुख को बन्द करके प्राण वायु को दोनों भ्रकुटियों के मध्य में आज्ञाचक्र में लेजा कर बद्ध करे याने स्थिर करे और सर्व संकल्पों व यत्नों से रहित हो बुद्धि को शुद्ध पवित्र बनाले। इस प्रकार आधा मुहूर्त अर्थात् एक घड़ी प्राण बद्ध ( रोक ) करने से मस्तक को भेद कर वह योगी ब्रह्म में मिल जाता है।

तेनाऽत्मनाऽत्मान मुपैति शांत
मानंद मानंदमयोऽवसाने ।
एतां गतिं भागवतीं गतो यः
स वै पुनर्नेह विसज्जतेङ्ग ॥

भावार्थ–और वह आत्मा उस आनन्दमय परमात्मा में लय हो कर शाँत होता है। यह महापुरुषों को भागवती गति कही है। इस प्रकार की गति प्राप्त कर फिर वह योगी संसार में आसक्त नहीं होता। अर्थात् फिर जन्म नहीं लेता।

॥ इति बद्ध प्राण सद्यो मुक्ति ॥

## ॥ विषयः ॥

हठ मासनं च राजं च योगं मोक्षं यथाक्रमम् ।
विधिरत्र समासेन क्रमादभ्यासमाचरेत ॥

भावार्थ—ऐहलौकिक योग क्रिया में प्रवृत्ति के प्राणियों के हेतु भोजन तथा आरोग्यता के लिये योग क्रियायें आसन प्राणायाम आदि तथा पारलौकिक योग में प्राण को चढ़ाना ह० ठ० रूप मूर्छा समाधि। तथा प्राण को स्थिर करना मनोलय राजयोग तथा बद्ध प्राण से मोक्ष विधि हमने संक्षेप से वर्णन करी है। योगी जनोंने इसका क्रम से अभ्यास करना चाहियें, शुभम् ।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रिय क्रियाः ।
योगेनाऽव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥

भावार्थ—मन-प्राण और इन्द्रियों की क्रियाओं को धैर्य पूर्वक धारण करके जो योग किया जाता है, वह अव्यभि-चारिणी (शुद्ध निर्मल-निष्कलंक) धारणा सात्त्विक योग की कही है। शुभम् ।

## ॥ उपदेश ॥

एकान्तवास से इन्द्रियों का दमन होता है। और इन्द्रियों के दमन से मन का निग्रह होता है। तथा मनके निग्रह होने से आप से आप वासनाओं का क्षय होता है।

और वासना का क्षय ही खास परम मोक्ष का हेतु है। शुभम्।

## ॥ सद्गुरु ॥

दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥ह.प्र.

भावार्थ—खान-पान स्त्री सुखादि जो इन्द्रियों के विषय हैं। इनका त्याग बड़ा दुर्लभ है। तथा आत्म साक्षात्कार का होना भी बड़ा दुर्लभ है। तथा सुषुम्ना में प्राण का प्रवेश हो कर मन का स्थिर होना भी गुरु कृपा के विना दुर्लभ है। और यदि सद्गुरु की दया हो गई तो सहज और सुलभ है।

योगतत्त्वमिदं पूर्णं, प्रबोधिन्यां च कार्तिके।
द्विसहस्रतमेऽब्दे वैक्रमे पञ्चदशोत्तरे ॥ १ ॥
यन्न्यूनमधिकं चात्र संग्रहीतं प्रमादतः।
तत्समीकृत्य विद्वद्भिर्ग्राह्यं तत्त्वविवेचकैः ॥ २ ॥

## ॥ योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥

( तत्त्व )

# वैज्ञानिक प्राण

अर्थात्

प्राण की क्रियाओं के द्वारा अनेकों प्रकार की चमत्कारिक सांसारिक सिद्धियों को प्राप्त करने के सरल उपाय

जनलाभार्थं मूल्य केवल १)

पुस्तक मिलने का पता—

पं० दामोदर शास्त्री भारद्वाज
श्रीरमा वैकुण्ठ
मु० पो० पुष्कर
( जि० अजमेर, राजस्थान )

बाबू रामलाल गोयल के प्रबन्ध से
आदर्श प्रिंटिंग प्रेस, केसरगंज अजमेर में मुद्रित ।

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
जे. के. बंसल R.A.S.
(निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर)

ग्रन्थांक 192

जयतराम विरचित

# जोगप्रदीपका

सम्पादक
डा. एम.एल. घरोटे

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1999

प्रथमावृत्ति—500

मूल्य : रु. 70.00

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
जे. के. बंसल R.A.S.
[ निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ]

ग्रन्थाङ्क 192

जयतराम कृत

# जोगप्रदीपका

सम्पादक
डॉ. एम. एल. घरोटे

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1999

प्रथमावृत्ति 500

राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

प्रधान सम्पादक
जे. के. बंसल R.A.S.
[ निदेशक, राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ]

ग्रन्थाङ्क 192

जयतराम कृत

# जोगप्रदीपका

सम्पादक
डॉ. एम. एल. घरोटे

प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर
Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur

1999

प्रथमावृत्ति 500

# राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला

राजस्थान राज्य द्वारा प्रकाशित
सर्वमान्यतः अखिल भारतीय तथा विशेषतः राजस्थानप्रदेशीय पुरातनकालीन
संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी आदि भाषानिबद्ध
विविधवाङ्मयप्रकाशिनी विशिष्टग्रन्थावली

प्रधान सम्पादक
जे. के. बंसल R.A.S

ग्रन्थाङ्क 192

जयतराम कृत
## जोगप्रदीपका

सम्पादक
डॉ. एम. एल. घरोटे



प्रकाशक
राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर

1999

# प्रधान सम्पादकीय

वैदिक वर्ण धर्मपरम्परा के खण्डित होते-होते जिन परिस्थितियों ने शून्यवाद पर आधारित बौद्ध चिन्तन और मानव मात्र के कल्याण पर आधारित जैन चिन्तन को जन्म दिया, समाज की उसी अवस्था में वाममार्ग की ओर प्रवृत्त होते उस जन सामान्य को एकत्रित होने की प्रेरणा दी जिन्हें या तो वर्ण धर्म में प्रवेश निषेध था या तत्कालीन अन्य उपासना मार्गों में उनकी रुचि जागृत नहीं हो सकी थी. गोरखनाथ ने ऐसे सभी व्यक्ति जो पाशुपत, शाक्त, नकुलीश या तन्त्र मार्गी थे, को नाथ पंथ में सामूहिक उपासना के लिए प्रवृत्त किया ।

भारत में मुस्लिम आक्रमणों के बढ़ते प्रभाव के साथ नाथपंथ को जैसलमेर के भाटियों, आबू के परमारों, आमेर और मेवाड़ के शासकों ने राज्याश्रय ही प्रदान नहीं किया बल्कि उसे अपने राजधर्म के रूप में स्वीकार लिया । नाथ, महंत, राजगुरु के पद पर थे और समय के प्रभाव में नाथों के बारह पंथ हुए जिनके अनुयायियों को विभिन्न रियासतों द्वारा जमीन जागीरें प्रदान की गई, दूसरे शब्दों में नाथपंथ के लिए राजधर्म के अलावा जनता का धर्म होने की संभावनाएं बढ़ती गई और परवर्ती नाथों ने योग साधना के अलावा जनता में निर्गुण भक्ति के बीज भी डाले जो उपासना के साथ भक्ति मार्ग की ओर प्रवृत हुये ।

स्वात्माराम की हठयोग प्रदीपिका को जन भाषा के माध्यम से प्रचारित करने के जो प्रयास नाथानुयायियों ने किये उनमें जयतराम की यह जोग प्रदीपका एक अनन्य महत्त्व का प्रयास है । आज विदेशों में भी योग के अनुयायी बढ़ रहे हैं तो हमारे अपने ही देश में, जो लोग संस्कृत नहीं जानते हैं, ऐसे साधकों के लिए जयतराम का यह प्रयास उपयोगी सिद्ध होगा—ऐसा मेरा विश्वास है ।

निदेशक
**जे. के. बसल**
आर. ए. एस.

# अनुक्रम

# JOGAPRADIPAKA BY JAYATARAMA

## INTRODUCTION

Jogapradipaka by Jayatarama is a very important treatise on Hathayoga written in Hindi. It is obviously influenced by the famous Hathapradipika by Svatmarama.

The text of Jogapradipaka by Jayatarama is being edited and published for the first time. The text is based on the two manuscripts available at present, the details of which are given below :

i) Ms. No. 117/A. 1883-84, size 7" x 4", pp. 1-50, 60-65, 67-111, deposited in the Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune. This is designated as (Bha.)

ii) Ms. No. 3035/1894, size 7.$^1/_4$" x 5.$^1/_4$" , pp. 88, copied in Samvat 1823, Miti Kartika Sudi. 2 Budhavasara, deposited in the Nagari Pracarini Sabha, Varanasi. This is designated as (Na).

In both these manuscripts some portions of the text are missing. However, the two together are complementary to each other and make complete text. (Na.) Manuscript contains 165 verses more than that of the (Bha) manuscript. There are many errors of the scribe in both these manuscripts. The numbering of the verses is consecutive in the manuscript (Na) as well as in the manuscript (Bha). But there are errors of the scribe found in numbering of the verses.

In (Bha) manuscript many pages are missing as compared with the (Na) manuscript. The (Na) manuscript seems to be more reliable than the (Bha) manuscript and therefore used as the vulgate for this critical edition. The variant readings are provided in the foot notes.

The text is variously mentioned as Jogapradipaka Jogapradipyaka, Jogapradipa, Jogapradipika.

*ABOUT THE AUTHOR :*

The name of the author is variously written as Jayatarama, Jaiyatarama, Jayyatarama, Jaitrama, Jayatirama in the text. From the information provided by the author about himself in the text, he was residing in Vrindavana and this text in the local language was completed by him in the very place in Samvat 1794 on the Vijayadasami day, that is, in the year 1718 A.D. He was the disciple of Payaharibaba who lived around Samvat 1795. In the 'Short Description' of Hindi Manuscripts-Part

I (in Hindi)' on page 331 some information about Jayatarama is found. According to it Payahari's name was Krishnadasa who occupied the seat of Galta (Jaipur). In the above mentioned text published by the Nagari Pracarini Sabha, Kashi, (Varanasi) the following works are attributed to Jayatarama :

1) Jogapradipika (Padya) sam. 07-60 Ka.
2) Bhagavatagita (Bhasa) (Padya) 12-85, 17-88
3) Rama Sagunavali (Padya) Sam. 07-60 Ka.
4) Sadacaraprakasa (Padya) 09-140.

There is also a text in Hindi called Yogasanamala of Samvat 1846 in the name of Jayatarama and it describes 110 Asanas with line drawings. This manuscript is deposited in the Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur vide Ms. No. 5450. Many of the asanas described in Yogasanamala are found in the Jogapradipaka. It seems possible that the author of this text is the same Jayatarama of the Jogapradipaka.

It is very clear that Jayatarama has derived inspiration for his text in Hindi from Svatmarama's Hathapradipika. Many of the Asanas of Jogapradipaka are found in the Hathapradipika manuscript deposited in the Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur vide Ms. No. 6756. He also mentions the name of Hathapradipika in the last chapter as one of the sources for his text along with others.

*CONTENTS OF THE TEXT :*

The text is divided into eight chapters which give elaborate description of the varieties of Yogic practices that include Asanas, Kumbhakas, Mudras, Karmas, apart from the discussion on such topics as Yamas, Niyamas, Pratyahara, Dhyana, Samadhi, Parakayapravesa, Mitahara, Yavaguvidhi, Omkara, Nadis, Vayus, Satcakras, Construction of Mathika, Susumna and Kalajnana. Many of the practices described in the text are not commonly known to the modern yoga practitioners.

*Chapterwise description of the contents is given below :*

## CHAPTER – 1

After the salutary verses addressed to his deity Srirama and Guru, Jayatarama gives in the beginning of the text a list of topics he is dealing with. He, however, suggests the possibility of change in the sequence in presentation. This

chapter is named as "Yama varnana" and describes ten yamas, namely, Ahimsa, Satya, Asteya, Brahmacarya, Daya, Arjava, Ksama, Dhairya, Mitahara and Sauca. These are the ten Yamas as per Yajnavalkya muni. In this list there is no mention of Aparigraha as we find in the yogasutras of Patanjali.

## CHAPTER – II

This chapter is devoted to the description of Niyamas. Niyamas which have been explained are Tapa, Santosa, Astika, Dana, Isvarapujana, Siddhantasravana, Hri, Mati, Japa and Tapa (Vrata).

## CHAPTER – III

Varieties of Asanas are described in this chapter. Jayatarama has described following 84 Asanas :–

Svastikasana, Padmasana, Neti asana, Udara asana, Saptarsi asana, Purva asana, Pascimatana asana, Vajrasanghara asana, Surya asana, Gorakhajali asana, Anasuya asana, Macchandra asana, Bhairu asana, Maha-mudra asana, Yonimudra asana, Mayura asana, Kapali asana, Siva asana, Phodyasana, Markata (Makada) asana, Para asana, Bhadragorakha asana, Runda asana, Yogapada asana, Cakri asana, Atmarama asana, Mrityabhanjika asana, Vriscika asana, Viparitakarana asana, Deva asana, Gohi asana, Kocaka asana, Tapakara asana, Bhidoka asana, Brahma jurankusa asana, Andha asana, Bhisarika asana, Aghora asana, Viyoga asana, Yoni asana, Bodhasoka asana, Bhaga asana, Rudra asana, Padmasana (second variety), Sivalinga asana, Machandra asana (second variety), Valmika asana, Vyasa asana, Dattadigambara asana, Siddhasamadhi asana, Carpatacoka asana, Gvalipava asana, Kaneripava asana, Halipava asana, Midakipava asana, Jalandharipava asana, Gopicandra asana, Citra asana, Anjani asana, Savitri asana, Garuda asana, Sukadeva asana, Narada asana, Narasimha asana, Varaha asana, Kapila asana, Yati asana, Vriksha asana, Parvati asana, Kurakata asana, Kakabhusandi asana, Siddhaharatali asana, Sumati asana, Kalyana asana, Urdhvapavana asana, Masaka asana, Brahma asana, Anila asana, Kurma asana, Nagara asana, Parasurama asana, Siddha asana.

Out of the list of above asanas there is a similarity in description of 70 asanas from another text "Yogasanamala" also by Jayatarama. Twenty six asanas of the text are found described in the Hathapradipika manuscript No. 6756 from Rajasthan Oriental Research Institute (R.O.R.I.) Jodhpur. Names of many asanas from this text are peculiar and are not found described in the modern books on asanas.

One of the special features of the asanas described in this text is that every asana is practised either with Nasagra drsti or bhrumadhya drsti. Many of the asanas are named after the renowned Yogies of the past.

*Description of the asanas from this text follows :–*

*SVASTIKASANA :*

Sit with the toes of both the feet placed in the knee joints. The soles should touch the inner thighs. Place the right foot up and keep the seat on the ground. This is called Svastikasana. One who sits and meditates in this asana removes all the physical disorders.

*PADMASANA :*

Place the left foot on the right thigh and the right on the left. Bring the chin in the depression of the throat and look at the tip of the nose. It helps to hold the prana and remove diseases. Thus its utility is great.

*NETI ASANA :*

Place the left knee on the right ankle and the left ankle under the right knee. Then hold with the hands the two arms near the elbows and extend the arms forward. Direct the gaze at the nose and control the speech. With the two hands churn the arms like a churner. It churns the Prana and is known as Neti. Practise it slowly in the morning, afternoon and evening. It purifies the body and removes all the bodily disorders.

*UDARA ASANA :*

Bring the two soles together, toes touching each other. Insert the two hands under the legs and interlocking the fingers hold the toes in the hands. Bend the head down and try to touch the feet with the chin. Keep gaze at the tip of the nose. This is called Udara asana which removes the disorders of the abdomen or in fact all the diseases.

*SAPTARSI ASANA :*

Raise the two feet and place them in the two arm-pits turning the soles upward. Form the fingerlock and place it over the head. Practise nasal gaze. This is called Sapatarsi asana. When practised three times a day, it purifies the lotus of the heart, cleanses the whole body and removes all diseases.

*PURVA ASANA :*

Take the two legs upon the shoulders and cross them. Form the fists of the two hands keeping them right over the left and place them in the front. Direct the gaze in between the eye-brows. This is the technique of Purva asana.

*PASCIMATANA ASANA :*

Sit facing the north. Extend the legs and bring the feet together. Then practise Pranayama and fill the Susumna with Prana by doing Puraka with twelve matras, Kumbhaka with twelve matras and Recaka with twelve matras. Place the gaze in between the eyebrows. Hold the right foot with right hand and begin with the left. Practise this for twelve days and control the prana to the capacity. Continue the practice for one or two praharas (1 prahara = 3 hours) over a period of seventy two days and it will remove all kinds of difficulties. In order to get mastery over this asana soak the rice cultivated in sixty days in water. The quantity should not be more than twenty seven tanks (a measure of 1 gram). Take sixteen tanks of moong gram and soak it in water separately. Grind them separately and prepare a paste in water. Mix five tanks of salt and ginger. Drink this slowly and immediately start practising this asana. After one round take rest. Again start the practice. Thus practise it continuously for eighty four days. It will remove all major diseases and contribute to the ability of clairvoyance and clairaudience. This asana is also called Arambha asana.

*VAJRASANGHARA ASANA :*

First sit on the toes keeping the two heels under the anus. Keep the knees raised up and spread. Take the two hands over the back and hold the opposite arms at the elbows. This is Vajrasanghara asana.

*SURYA ASANA :*

Sit on the toes keeping the heels under the anus. Spread the knees widely and sit erect. Raise both the hands over the head and arrange the fingers like a lotus. Look through the holes of the fingers. This is Surya asana which increases gastric fire and removes all diseases.

*GORAKHAJALI ASANA :*

First stand up. Then take the two arms under the thighs interlocking the fingers and sit. The fingerlock comes on the navel. This is Gorakhajali asana.

*ANASUYA ASANA :*

Bend the legs and place the left knee over the right knee and spread the legs. Hold the two big toes with the two respective hands. Fix the gaze on the tip of the nose. Regular practice of this asana makes the body lustrous like gold and does not suffer from any disease. Yogasanamala describes another arrangement of hands in addition to the one given above. Another arrangement requires forming a finger-lock at the back and touching the nose on the ground and fixing the gaze at the tip of the nose.

*MACCHANDRA ASANA :*

While sitting take both the legs on the shoulders and cross them. Form the fists of the hands and place the right on the left. This is Macchandra (Matsyendra) asana.

*MACCHANDRA ASANA (Second Variety) :*

First place the right foot on the left thigh in such a way that its heel presses the abdomen. Then place the outer side of the left ankle on the right knee. Hold the toes of the two legs by the two hands. Touch the forehead to the ground. This is Macchandra asana which removes pain from the knees.

*BHAIRU ASANA :*

Place the left foot under the anus in such a way that the inner ankle touches the ground; outer ankle comes under the buttocks and the heel presses the anus. Then bring the right foot on the chest in such a way that the right heel presses the navel and the toes come on the chest. The right knee touches the ground along with the thigh at a distance of about 45 Cm. in front. Then interlock the fingers and raise the hands over the head. Direct the gaze at the tip of the nose. When practised this asana for three hours, it arouses the Kundalini and opens the lotus of heart. It destroys various disorders and brings in nadisuddhi.

*SIDDHI ASANA (Siddhasana) :*

Place the left heel at the middle of the pereneum. Then place the right heel on the generative organ. Keep the two hands on the two knees and sit erect gazing at the ground. This is known as siddhasana in which the three Bandhas are automatically formed. All the seventy two thousand nadis are purified and Unmani condition is obtained.

*MAHAMUDRA ASANA :*

Place the left heel at the pereneum. Extend the right leg and hold it with two hands by interlocking the fingers. Direct the gaze at the nose. This is called Mahamudra which removes several disorders.

*YONIMUDRA ASANA :*

Turn the left foot upside down and place the pereneum on the inner edge of the sole. Bend the right leg and place the right foot on the left thigh. Rest the two hands on the knees and direct the gaze at the nose. This is called Yonimudra.

*MAYURA ASANA :*

Place the two hands on the ground keeping the thumbs together and fingers spread out. Then place the navel on the two elbows and raise the legs together off the ground. Raise the head, look at the nose and balance the whoie body like a stick. This asana increases the gastric fire and removes the disorders of the abdomen. It even digests poison.

*KAPALI ASANA :*

Place the two hands and the head on the ground and take the legs up. Direct the gaze at the nose and remain steady. By the practice of this asana for three hours, the grey hair turn black.

*SIVA ASANA :*

Place the right foot over the left and arrange their heels under the anus. Spread the knees horizontally and place the two hands on them. Direct the gaze in between the eyebrows and remain steady. This is called Siva asana.

*PHODYASANA :*

Sit with legs extended. Raise the legs. Bring the hands under the knees and hold them with a fingerlock. The thumbs are touching the calves. Lie on the back. Contract the abdomen upwards and try to touch the head to the knees. This is Phodyasana. It removes impurities of the body and destroys all skin disorders.

*MAKADA ASANA (Markatasana) :*

Squat on the ground with feet together. The soles are touching the ground and knees are raised vertically. The heels are pressing the anus. Hold the two knees with the fingers of the two hands. Direct the gaze in between the eyebrows. This is Makada or Markata asana.

*PARA ASANA :*

Sit on the buttocks and raise the legs. Insert the hands under the thighs near the knees and bring them out. Turning the hands over the thighs take the grip of the fingers near the navel. Fix the gaze at the nose. This is Para asana.

*BHADRAGORAKHA ASANA :*

Bring the two soles together and place them under the anus. Place the hands on two knees and press them on the ground. Direct the gaze in between the eyebrows. This is called Bhadragorakha asana.

*RUNDA ASANA :*

Sit on the toes bringing feet together. Place the anus on the heels and keep the knees about 15 cm. apart. With the help of the thumb and the index finger hold the ears. With the little and ring fingers close the opening of the ears. Adopt Jalandhara Bandha and fix the gaze in between the eyebrows. This is called Runda Asana by the learned.

*JOGAPADA ASANA :*

Stand on the knees. Take hold of the left heel and place it on the right side of the abdomen. Similarly bend the right leg and join the dorsal side of the feet together. Bring the left hand over the back from below and taking the right hand over the left shoulder grasp the fingers of the two hands. Then bend the head forward to touch the ground close to the knees. This is Jogapada asana.

*CAKRI ASANA :*

Take hold of the left foot and with the help of hands place its sole in the left armpit. Stretch the right leg backward. Then raise the hands upward and extending them forward place on the ground with palms touching the ground and fingers pointing forward. Assume the nasal gaze. This is Cakri asana.

*ATMARAMA ASANA :*

First lie on the back. Raise the legs towards head. Bring the hands in between the legs. Turning the hands over the legs hold the feet in the elbows. Interlock the fingers over the shoulders and raise the head. Fix the gaze at the tip of the nose. This is Atmarama asana. It improves the gastric fire, sets the flow of *Prana*, brings purification of nadis and removes diseases.

*MRTYABHANJAKASANA :*

First lie on the back. Raise the legs up. Bring the hands from outside and take hold of the legs in such a manner that the hands pass over the ankles and grip is taken behind the neck. Keep the head on the ground and gaze at the nose. This is Mrtyabhanjakasana.

*VRISHCIKASANA :*

Lie supine. Draw the feet closer and arrange the right foot over the left and lock them. Raise the legs and the head and bring the right knee closer to the head. Raise the hands over the head straight and bend the fingers imitating the front portion of the scorpion. Fix the chin in the throat and form Jalandhara Bandha. Direct the gaze into the eyebrows.

*VIPARITAKARANA ASANA :*

First lie supine. Bring feet together and raise them upward. Raise the upper body except hands spread on the ground. Raise both legs and the trunk vertically, the soles turning upward. The hands are spread out, palms placed on the ground. Direct the gaze at the tip of the nose. Wisemen call this Viparitkarana which destorys all diseases and verily increases gastric fire.

*DEVA ASANA :*

First lie supine. Arrange the hands forming finger-lock and take hold of the feet at ankles. Bring the feet over the head, back remaining touching the ground. Direct the gaze in between the eyebrows. This is called Deva asana.

*GOHI ASANA :*

Bring the two elbows and forearms together and place them on the ground. On the forearms kept together place the head. Then fold the legs on the thighs and touch the heels to the buttocks. Touch the chin to the knees and fix the gaze at the nose. This is called Gohi asana.

*KOCAKA ASANA :*

(While lying on the back) Extend the hands sideward. Raise the legs up and folding the knees on the chest keep the legs standing vertically. Turn the head on one side and direct the gaze in between the eye-brows. This is Kocaka asana.

*YONI ASANA :*

Bring the two feet together placing the heels in front of the generative organ at a distance of 1/2 cubit. Place the two hands on the toes and hold them with all ten fingers. Bend forward and place the elbows in close contact with the shins. Place the forehead on the feet and direct the gaze at the nose. This is called Yoni Asana.

*BODHASOKA ASANA :*

Squat with soles on the ground and thighs pressing on the chest. Rest the chin on the knees. Hold the opposite arms in such a way that the forearms cross before the knees. This is Bodhasoka asana.

*BHAGASANA :*

Bend the legs in the knees and arrange the ankles by the side of the buttocks. The soles are turned upward and the toes are kept closer with the help of hands. Place the hands on the knees and sit erect. Fix the gaze in between the eye-brows. This is Bhaga asana.

*RUDRA ASANA :*

Place the right foot on the left in such a manner that the outer edge of the right foot comes on the inner edge of the left foot and heels come one over the other. Sit with the heels at the anus and spread the knees. Place the hands on the knees and fix the gaze in between the eye-brows. This is Rudra asana.

*SIVALINGA ASANA :*

(While sitting) Raise both the legs over the head with the help of hands. Hold the toes with hands forming the fists. Direct the gaze at the tip of the nose. This is Sivalinga asana which destroys all the diseases.

*VALMIKA ASANA :*

Place the right heel on the left side in such a way that the toes come close to the left knee. Then arrange the left foot on the right side of the generative organ. Place both the hands on the knees and direct the gaze in between the eye-brows. This is Valmika asana.

*VYASA ASANA :*

Take hold of the left ankle and set it at the base of the right buttock. Place the right foot close to the left knee. Place the hands on the knees with palms

*BHIDOKA ASANA :*

First sit with legs extended keeping the heels apart at a cubit distance. The toes are pointing upwards. Bend forward reaching the armpits upto the knees. Insert both the hands under the legs and turning them take hold of the feet from outside. Touch the ground with forehead and direct the gaze in between the eye-brows. This is Bhidoka asana.

*BRAHMAJURANKUSA ASANA :*

Sit on the toes keeping feet together and heels under the anus. Project the knees forward and upward. Place the two hands turned upward on the knees. Direct the gaze between the knees and sit erect. This is Brahmajurankusha asana.

*ANDHA ASANA :*

Take a squatting position by bringing the feet together, heels at the anus and sitting on the toes. Bring the thighs and knees together and project them forward. Bend forward and bring the eyes in between the knees. Place the elbows by the side of the knees and hold the head with hands. This is Andha asana.

*BHISRAKASANA :*

Place the anus on the two heels and spread the knees keeping them raised from the ground. Then making the hollow of the palms place it on the mouth. Keep the thumb under the teeth and close the lips. Fix the gaze steady on the tip of the nose. This is Bhisrikasana.

*AGHORA ASANA :*

Practise the Bhisrakasana as described earlier, placing all the fingers on the mouth. Turn the tongue backwards. Place the right palm on the mouth and inhale through the Surya (right) nadi. Practise Kumbhaka by closing the nostrils and exhale through the left nostril. Then by inhaling through the left nostril repeat the process in the reverse manner. This is Aghora asana.

*VIJOGA ASANA :*

Stand on the knees. Bring the right toes near the left knee at the back. Similarly bring the left toes at the back of the right knee. Take hold of the shins with the hands in such a way that the thumbs come outside and the other firngers inside and remain steady. Fix the gaze in between the eyebrows. This is Vijogasana.

upturned and fingers spread out. This is called Vyasa asana by the learned.

*DATTA DIGAMBARA ASANA :*

First raise the right leg and bringing it over the left thigh place it on the ground touching the outer edge of the foot. Bring the other foot on the right and place its heel close to the buttocks. Place the hands on the feet and hold them firmly. Sit erect and direct the gaze in between the eyebrows. This is Datta Digambara asana.

*SIDDHA SAMADHI ASANA :*

Bring the two soles closer keeping a distance of eight fingers between the heels. Insert the hands through the legs and place them on two sides on the ground and palms facing up. Bend forward to touch the nose on the ground and place the toes at the throat. Fix the gaze at the tip of the nose. This is Siddha Samadhi asana.

*CARAPATACAUKA ASANA :*

Bring the two soles together in such a way that the knees come to the ground. Place the two hands on the knees and press them on the ground. Fix the gaze in between the eyebrows. This is known as Charpatacauka asana.

*GWALIPAVA ASANA :*

This is similar to the Charpatacauka asana. In this the heels are kept eight fingers apart. Set the chin in the depression of the throat. This helps in Jalandhara Bandha. This is Gwalipava asana.

*KANERIPAVA ASANA :*

Assume the position as described in Gwalipava asana. Place the elbows between the ankles and the heels. Keep both the forearms vertical and hands together. Place the forehead on the hands and fingers on the head. Fix the nasal gaze. This helps in Uddiyana Bandha. It is called Kaneripava asana.

*HALIPAVA ASANA :*

Bring both soles together. Hold the left hand with the right at the back and place it on the ground. Bend forward and touch the forehead on the ground close to the heels. Fix the gaze at the nose. This is Halipava asana.

*MIDAKIPAVA ASANA :*

With legs extended bring the two heels together, keeping the toes apart. Then touch the forehead on the ground near the heels. Spread the arms sidewards over the knees and place the palms on the ground. Fix the gaze at the nose. This is Midakipava asana.

*JALANDHRIPAVA ASANA :*

First bring the two heels together and then spread them. Then insert the two hands through the legs and extend them keeping the elbows on the ground and palms upturned. Bring the chin, mouth and nose touching the ground near the heels. Fix the gaze at the nose. This is Jalandhripava asana.

*GOPICHANDA ASANA :*

Bring the two soles together. Making a finger lock with the two hands hold the two sides of the feet. Raising the two feet arrange the two heels on the chest and the toes in the depression of the throat. Rest the chin on the finger-lock and gaze at the nose. This helps formation of Jalandhara Bandha and controls the Ida-Pingala nadis. This is Gopichanda asana.

*BHARATHARI ASANA :*

Take the position as described in Gopichanda asana. Raise the feet further and bring them on the top of the head. Fix the gaze at the nose. This asana helps in formation of Mulabandha.

*VASISTHA ASANA :*

Join the two soles together. Insert the hands through the legs. Hold the legs in the elbows and further bring them over the upper arm. Make the finger-lock and raise the legs still higher. Place the finger-lock on the head and remain steady. This is Vasistha asana.

*CITRA ASANA :*

First bring the two soles together. Then with the help of left elbow raise both the feet over the head and hold them there. With the right hand hold the neck on the left and bring the elbow upto the navel and abdomen. Direct the gaze at the nose. This is Citra asana.

*ANJANI ASANA :*

Place under the buttocks two hands, palms facing up and fingers closed together. Try to bring the elbows together. Extend the legs forward and together keeping the heels on the ground and the toes pointing upward. Fix the gaze at the nose. This is Anjani Asana.

*SAVITRI ASANA :*

First bend the right leg and set the right foot under the anus. Place the left heel at the perineum and set the toes between the right thigh and the calf. Place the hands on the two knees and sit erect. If one is able to retain the asana for one Muhurta, one is able to control the semen and succeeds in Dharana. This is Savitri asana.

*GARUDASANA :*

Bend the left leg and place its ankle under the anus. Then place the right foot close by the side of the left knee and calf, keeping the knee raised. Place the hands on the knees and direct the gaze at the nose. This is Garudasana.

*SUKADEVA ASANA :*

Place the right leg between the left thigh and the heel in such a way that the knees come closer. Place the heels one over the other and set them under the buttocks. Project the toes outside resembling the shape of lotus. Face the palms upwards. Fix the gaze at the tip of the nose. This is Sukadeva asana.

*NARADA ASANA :*

Turn the left leg backward and place the back of the foot touching the ground. Its knee remains projected forward. Arrange the sole of the right foot on that of the left in such a manner that the right heel comes on the left and the knee remains standing. Place the perineal region on it. Make a finger-lock of the two hands and place it on the neck. Touch both the elbows to the right thigh. Fix the gaze in between the eye-brows.

*NARASIMHASANA :*

Sit erect on the toes bringing heels together under the anus. Place the two hands near the toes. Spread of the fingers and keep the two thumbs together. Open the mouth widely and bring out the tongue. Fix the gaze at the tip of the nose. This purifies the tongue and develops poetic talents.

*VARAHA ASANA :*

Squat on the ground with feet together and heels setting at the anus. Keep the things vertical and four fingers apart. Bring the fingers and palms together and thus joining the hands take them on the back. Fix the gaze at the nose. This is Varahasana.

*KAPILA ASANA :*

Sit on the toes with feet together and heels under the perineum. Place the knees on the ground, rest the hands on the knees and sit erect with nasal gaze. This is Kapila asana.

*JATI ASANA :*

Join the two heels and place them under the anus. Sit on the toes. Then place the elbows at the back and touch the back of the head on the ground. Place the knees on the ground and hold the feet with the hands. This is Jati (Yati) asana.. Fix the gaze at the nose.

*VRISAPATI ASANA :*

Project the right knee forward. Then place the left leg folded on the right in such a manner that the foot comes under the buttocks, the toes remaining outside. Fix the gaze at the tip of the nose. This is called Vrisapati asana by the learned.

*PARVATI ASANA :*

Place the left leg on the right thigh. Sit on the right toes with the heel raised. Bring the left internal ankle and the right external ankle together. Keep both the knees raised and balance on the right toes. Place the hands on the knees and fix the gaze at the nose. This is Parvati asana.

*KURAKATA ASANA :*

Sit with knees raised. Take the hands from outside and put them under the knees in such a way that opposite elbows are grasped with the hands. Thus sit in a squatting position and fix the gaze at the tip of the nose. This is Kurakata asana.

*KAKABHRISANDI ASANA :*

First take a squatting position. Bring the two hands between the legs. Turn the hands backward over the shins and make a finger-lock at the back. Fix

the gaze at the nose. This is called Kakabhrisandi asana.

*SIDDHA HARATALI ASANA :*

First assume Padmasana. Insert the hands through the knees and place them on the ground. Fix the gaze at the nose. This is called Siddha Hartali asana

*SUMATI ASANA :*

Sit with the buttocks on the ground. Place the right foot on the left. Bring the left leg closer at a distance of 1 cubit. Arrange the two heels one over the other and the toes standing on the ground. Press the two knees holding the opposite elbows and remain steady with nasal gaze. This is called Sumati asana.

*KALYANA ASANA :*

Bring the two hands between the legs under the knee. Turn the hands, raise the knees and form a fingerlock. Hold this position with feet off the ground. Direct the gaze at the tip of the nose. This is Kalyana asana.

*URDHVA PAVAN ASANA :*

First lie supine. Raise the knees and bring them together. Interlock the fingers and taking hold of the toes place them upon the forehead. Fix the gaze at the tip of the nose. This is Urdhva Pavan asana which straightens the nadis.

*MASAKASANA :*

First lie on the back. Place the left leg on the left shoulder and bring the right leg on it. Place the hands prone on the ground and close to the body. Fix the gaze at the tip of the nose. This is Masaka asana.

*BRAHMA ASANA :*

First sit on the buttocks. Take both the legs over the shoulders and cross them. Place the hands on the ground and balance the body on hands. Fix the gaze at the nose. This is Brahma asana.

*ANILA ASANA :*

Place the two hands on the ground and keep the two elbows joined together at the navel. Arrange the feet on hands which are placed prone. Fix the gaze at the nose. This is Anila asana.

*KURMA ASANA :*

First assume Padmasana. Insert the two hands through the knee joints. Draw the two hands out upto elbows. Turn the hands on the back and make a

fingerlock. Then bend forward and touch the forehead to the ground. Fix the gaze at the tip of the nose. This is Kurma asana.

*NAGRA ASANA :*

First assume Padmasana. Taking the hands at the back take hold of the toes. Lie on the elbows and buttocks. The thighs and knees remain on the ground. Keep the head straight and fix the gaze at the tip of the nose. This is the technique of Nagra asana.

*PARAS (SU) RAMA ASANA :*

First assume Padmasana. Then lie supine keeping the knees and thighs touching the ground. Stretch both the hands towards head placing them on the ground. Then with the right hand hold the left. Fix the gaze at the tip of the nose and remain steady. This is Paras (Su) Rama asana.

*SIDDHASANA :*

Place the left heel at the perineum and arrange the right on the generative organ. Place the hands on the knees and sit erect with the gaze fixed in between the eye-brows. This is called Siddhasana. It purifies 72,000 nadis. The three bandhas are automaticial formed and leads to Unmani.

Apart from these asanas a few more asanas are described for the practice of pranayama. They are Gomukhasana, Virasana, Bhadrasana, Ardha-Siddhasana, (Muktasana), Goraksha, asana. The techniques for these asanas are given as follows :

*ARDHA SIDDHASANA :*

Place the left heel under the anus and right foot on the left thigh. This is Ardha Siddhasana. Another reading calls this Muktasana.

*GOMUKHASANA :*

Place the left foot on the right side of the buttocks and the right foot on the left bringing the two knees one over the other. This is Gomukhasana.

*VIRASANA :*

Arrange the right foot on the left knee and the left foot under the right knee. Adopt all the three bandhas.

*BHADRASANA :*

Place both the heels under the anus and adopt all the bandhas. This is Bhadrasana.

*GORAKSA ASANA :*

It has been only mentioned but the technique of the asana is not described.

*KAKASANA :*

This has not been described in the text.

## CHAPTER – IV

In this chapter the topics discussed are preparation of hut for the practice, Mantras dispelling obstacles, Mitahara, Technique of changing Svara, Pranayamas of Vedic type and Tantric type, Sargakrama and Samhara Krama, and Sadangabheda.

## CHAPTER – V

This chapter describes Satkarmas, eight Kumbhakas and their effects, twentyfour Mudras, discussion on Omkara and Pratyahara.

**A)** Satkarmas include Dhauti, Gajakriya, two types of Neti, Pocikakarma, Nauli karma, Nalani Karma which consist of Trataka and Nalani, and Bhatikarma.

The description of Dhauti given here is that of Vastra Dhauti. Gajakriya is a type of Danda dhauti. The two types of Neti described refer to Sutra Neti of twisted and untwisted type. Pocika karma is Jala Basti. The description of Nauli is not clear. However, an additional point in the technique refered to is turning the tongue backward and fix it at the soft palate. Nalani Karma consists of two parts. The first part is that of Trataka in between the eye-brows until the tears roll down and the second part involves closing of the nostril that is flowing freely with a cotton swab and change the flow of the nostril. The description of Bhatikarma is not clear. Probably it refers to Kapalabhati which helps in Kumbhaka.

**B)** The eight types of Kumbhakas described are : Urajai, Bhoralika, Sitali, Bhuyangama, Trataka kumbhaka, Kanthivetali, Suryabheda and Kevala Kumbhaka, These are said to be useful to facilitate the practice of Mudras. The description of the Kumbhakas follows :

*i) Urajai Kumbhaka*— First sit in Padmasana and adopt Mula, Uddiyana and Jalandhara bandhas. Put the tongue between the teeth and about 2 Cm. out. Press the tongue slowly and cautiously. Inhale through the Ida nadi and exhale through the other after retaining the air. Repeatedly inhale and exhale for three and half ghatis meaning approximately one and a half hour. This is called Urajai Kumbhaka.

This kumbhaka seems to be different from the commonly known Ujjayi kumbhaka described in Hatha Pradipika.

*ii) Bhoralika Kumbhaka*— First sit in Padmasana. Take both the hands behind the back and hold the left big toe with the left hand and the right big toe with the right hand. Take the air in with the navel according to the capacity and exhale with the navel producing the sound of the black bee. Do not close the nose. Repeat this serveral times. This is Bhoralika Kumbhaka which removes the sloth and refreshes mind.

The above description is not elaborate to explain the technique adequately. However, it refers to Bhramari Pranayama.

*iii) Sitali Kumbhaka*— Sit in Gomukhasana, the technique of which consists of placing the left foot on the right side and the right foot on the left bringing the two knees one over the other. Take the air in through the teeth and hold it with turning the tongue up towards the palate. Then exhale through the nose. With the cooling air taken in the whole body becomes cool. Therefore it should be practised in summer and not in winter season.

*iv) Bhuyangama Kumbhaka*— Sit in Virasana by arranging the right foot on the left knee and the left foot under the right knee. Adopt all the bandhas. Raise the tongue slightly and bring it a little outside. Then inhale, hold the breath to the capacity and exhale through the tongue. Direct the gaze to the nose continuously. This is Bhuyangama Kumbhaka.

*v) Trataka Kumbhaka*— Place both the heels under the anus and adopt all the bandhas. This is Bhadrasana. Turn the tongue upwards. Inhale through the nose, retain and exhale (through the nose.) This is Trataka Kumbhaka which brings in purification of nadis.

*vi) Kanthivetali Kumbhaka*— Place the left heel under the anus and right foot on the left thig, thus assuming Ardhasiddhasana. Then inhale, hold the breath in the throat and exhale through nose. This kumbhaka called Kanthivetali should be practised in summer. The sweat generated during practice should be rubbed

on the body. It removes all the disorders of the skin. When practised for two months various tastes are experienced in the body. After six months of practice all the nadis get purified and bestow various attainments in Yoga are betowed.

*vii) Suryabheda Kumbhaka*— When the Suryanadi is flowing, that is, when the right nostril is freely working, adopt Goraksa asana. Inhale through Pingala nadi or right nostril, hold the breath to the capacity and exhale though the Ida nadi or left nostril. Repeat it several times. This removes cold and increases heat. Therefore it should be practised during winter. One should concentrate in between the eyebrows during the practice. This is Suryabheda Kumbhaka.

*viii) Kevala Kumbhaka*— Hold the breath inside irrespective of Recaka or Puraka. This is called Kevala Kumbhaka. This is the essence of all Kumbhakas.

C) Mudras— Twenty four mudras have been described here. Their techniques are given below : —

**1) Samchobhani Mudra**— Sit in Svastikasana. Inhale the air by contraction of anal muscles. This activates kundalini and propels on the path of the tenth opening. It increases the heat.

**2) Dravani Mudra**— Sit steadily in the Svastika asana. With pranayama take the air in. Turn the tongue backwards in the cavity and lead the vayu through Satcakras. From there reach it to the tenth opeining from where the nectar oozes. Absorb it in the body. This removes the impurities of the mind.

**3) Akarsani Mudra**— Sit in Svastika asana and meditate on the Pinda Brahma. Practice Pranayama and bring the Prana in the tenth opeining where exists Sahasradala (thousand petalled) lotus, the seat of Siyarama. With the grace of God one attains the results of both Bhukti and Mukti.

**4) Vasya Mudra**— Sit in Siddhasana and bring Kundalini under control. With the recitation of Mayabija (Hrim) and meditation activate Kundalini. Recite the mantra Mayabija (Hrim) in ajapa way thus subdue kundalini just as the snake-charmer enslaves the snake with a fife. Like the fife with the help of anahata sound subdue the Kundalini.

**5) Unmada Mudra**— First sit in Padmasana and adopt all the bandhas. By combining mind and Prana, bring Kundalini in the head. Leaving the lower seven Cakras when kundalini reaches the tenth opening yogi becomes transcedent in his body. When mind and Prana are united transcendence verily dawns.

**6) Maha Ankusa Mudra**— Sit in Svastikasana. Take the air in and hold it. Pranayama is like a goad to stop the activities of mind. With this the mind

becomes extremely quiet thus removing the bondage of the cycle of birth and death.

**7) Trikhanda Mudra**— Sit in Svastikasana. Recite Soham Mayabija. Practise Trikhanda Kumbhaka in succession. Raise the Apana Vayu through Ida upwards and hold the breath by reciting Mayabija. This is prathama khanda. Then inhale prana by Pingala nadi and hold the prana in Hrdaya. While doing Kumbhaka recite the mantra Om. Then exhale. This is dvitiya khanda. Afterwards hold the kumbhaka in the Kanth (throat) and recite the bija 'sa'. Thus the kumbhakas in three places is known Trikhanda mudra. When the kumbhaka is held in the Nabhi it increases heat. When Kumbhaka is held in the Hrdaya (heart) it increases the lustre and the blooming of Hrdaya cakra produces great fragrance. When Kumbhaka is held in the throat (Kantha) the moon oozes nectar. Thus with the practice of Trikhanda mudra mind gets purified.

**8) Viraja Mudra**— This is similar to Vajroli Mudra. The preliminary preparation consists or the practice of Pocika Karma, Pranayama and cleansing of urethral passage.

**9) Viparitakarana Mudra**— Lie supine on the ground. Raise the legs upward keeping the head and shoulder on the ground. Extend the hands, set the chin in the depression of the throat, direct the gaze to the heart and the navel and recite the Ajapa mantra. Inhale by contracting the anus, hold the breath to the capacity directing the attention to the toes. Increase the practice gradually upto one and half hour.

**10) Mulabandha Mudra**— Place the left heel at the pereneum and right foot on the left. Sit erect and raise the apana vayu while reciting Mayabija (Hrim). Thus control the apana Vayu.

**11) Kamaraja Mudra**— Place the heel at the pereneum and sit for a long time reciting Mayabija. Above the anus and below the generative organ is the place of Kundalini. From there take the Kundalini to the tenth opening.

**12) Uddyanabandha Mudra**— First sit in Siddhasana. Then practise Uddyana by taking the navel backward and upward. Recite the Uddayana mantra with meditation and control the apana vayu. It removes all the diseases of the body and even an old becomes young.

**13) Jalandhara Bandha Mudra**— Sit firmly in Padmasana and set the chin in the depression of the throat. Bend the neck forward and recite Laksmi bija (Srim). Fix the gaze in between the eyebrows. With Pranayama subdue the Prana

and Apana. With the Jalandhara bandha mind and Prana are controlled.

**14) Mahamudra**— Place the left heel at the pereneum and extend the right leg. Hold the right big toe with the two hands. Bend a little forward, inhale through the nose, hold the breath to the capacity with Jalandharabandha and slowly exhale. Similarly repeat it on the other side changing the position of the legs. Such twelve Pranayamas should be practised. With this practice nadis are purified and the sloth and sleep are controlled.

**15) Mahabandha Mudra**— Assume Siddhasana firmly and fix the chin in the depression of the throat. Raise the tongue upwards and recite Khecari bija (Hskhfren). Hold the tongue between the teeth making a beak of the crow. This is also called Purnagira Mudra. With its help Pranayamas become comfortable and the prana reaches the tenth opening. With the practice of Mahabandha one attains Samadhi.

**16) Mahavedha Mudra**— The place of Mahavedha is in the tenth opening. In this, raise the tongue upwards and fix it in the candrasthana. Hold the breath with Pranayama and recite Mayabija (Hrim). Then repeat Ajapabija so that the thousand petalled lotus blooms. Thus one easily attains samadhi.

Mahamudra, Mahabandha and Mahavedha form a triad. The place of mahamudra is yonisthana, that of Mahabandha is Kanthasthana and that of Mahavedha is Dasamadvara. These three are to be practised together.

**17) Khecari Mudra**— Turn the tongue backward into the cavity of head and fix the gaze in between the eyebrows while sitting in the asana. There are six aspects of Khecari mudra : Chhedana, Calana, Mathana, Pravesana, Dohana and Mantra.

a,b ) *Chedana :* With a sharp, clean and lubricated weapon, resembling in shape the leaf and calana of milk khedge, one should cut the foenum to a hair's breadth. Then one should rub wholesome powdered rock-salt, myrabolan and dry ginger over the tongue. After seven days one should again cut to a hair's breadth. In order that the cut part should not join again, keep a wick of thread under the tongue. Continue this for six months. In this practice only rice and milk should be taken in the diet. When taking food the wick under the tongue should be removed. By practice of this process for six months the tongue should be elongated four angulas.

c) *Dohana :* Early in the morning put the tongue out of the mouth and perform milking action with the two hands. Pull the tongue to the capacity so that

it elongates. Then with the right thumb wash the uvula and make it clean. Similarly clean the soft palate with the thumb and wash it. Then clean the back openings of the nose with the thumb. Above the root of the eyes is the place of Brahmarandhra. Clean it with the index finger.

c) *Pravesana :* Sit erect in Svastika asana. Hold the breath, apply Uddiyana bandha and turn the tongue upwards. Try to clean all parts inside which were cleaned by the thumb inserted in the throat. Ultimately place the tongue in the Brahmavirara. This gives the results of Khecari in six months. In the first month the nadis become purified. In the second month one hears Anahata sound. In the third month the body becomes lustrous. In the fourth month one hears distant sound. In the fifth month the mind becomes as simple as that of a child and in the sixth month one becomes one with Siva and there nothing remains to be attained . Thus one attains siddhi in six months.

d) *Mathana :* Rub the palate and uvula with the thumb three times a day. There are four places for rubbing (Mathana) : frenum under the tongue, root of the tongue, palate and Uvula.

e) *Mantra :* The Rishi of Khecari mantra is Kapila, devata sriman narayana and the viniyoga is Khecari mudra sadhana siddhi. The Khecari mantra is Hram, Hrim, Hrum, Hraim, Hraum, Hrah. The Nyasas are as follows :

gam – Hrdayaya namah

sam – Sirase svaha

nam – Sikhaya vausat

mam – Kavacaya

hum – Netratrayaya Vausat

lam – Astraya phat.

**18) Varanaka Mudra** – This is also known by some as Amaroli. Getting up early in the morning in Brahmamuhurta drink three handfuls (Anjali) of urine with the mantra Hum Hum Phat Svaha. This removes all the diseases of the body. Then bring the four medicines in the morning consisting of Nirgundi, Bhangra, Mundi and Giloyi (Asvagandha). All these four should be powdered in equal quantities and mixed together. This should be smeared reciting the mantra. It helps in attaining Vajroli mudra.

**19) Sahajoli** – Sahajoli is a part of the Amaroli and Vajroli. These three go together.

**20) Sanmukhi Mudra** — When there arise any difficulties in the practice of Pranayama assume Svastikasana and practise Sanmukhi mudra. Perform mula, Uddiyana and Jalandhara Bandhas. Then with the help of the fingers of both hands close the openings of the eyes, ears, nose and mouth. With this the Kundalini rises up from the Muladvara. Practise Kevala pranayama and take the Vayu into the tenth opening.

**21) Cacari Mudra** — Sit in Siddhasana and direct the gaze at the nose. Observe the lustrous image of the half-moon. Similarly meditate on Kundalini in the form of a flame. Then meditate on the atman in the heart. Yogi should practise this every day. This is Cacari mudra.

**22) Bhucari Mudra** — Sit in Siddhasana and meditate in between the eye-brows. Observe the whole body from top to bottom as illumined. Then look into the heart and meditate above the eyebrows and remain steady there to the capacity. This generates a great bliss. This is Bhucari Mudra.

**23) Agocari Mudra** — Meditate on the Satcakras and then shift the point of meditation to thousand petalled lotus (Sahasradalakamala). This is called Agocari mudra which makes the meditation imperceptible.

**24) Unmani Mudra** — Sit in Svastikasana and practise pranayama skillfully. Adopt all the bandhas and steady the mind and vayu. Withdraw the senses like the actiion of a tortoise. With the practice different anahata sounds are heard. Ajapa Gayatri automatically starts. With the bliss tears come out of the eyes. There is nothing to be attained further. This is Unmani mudra which is the essence of all mudras.

*OMKARA :*

It consists of akara, ukara and makara. Omkara is unborn yet through Rajoguna it produces the universe. Ukara represents Sattvaguna and Visnu which protects the universe. Makara represents Mahadeva and Tamoguna which destroys the universe. Thus Omkara is the cause of Universe. All the three worlds, the three Vedas and the three steps of Hari are all included in it. The Ardhamatra exists in it. The first matra is short (laghu), the second is long (dirgha) and the third is prolonged (pluta). Omkara represents Nirguna Brahma and it should be meditated upon.

*PRATYAHARA :*

Withdrawing of the cittavrttis is called Pratyahara. Every sense organ has

its object like words for the hearing. Sense organs are always interacting with their objects of perception. Just as a tortoise withdraws its limbs, similarly when the five sense organs (five indriyas) are withdrawn from their objects it is called Pratyahara. With the practice of Pratyahara, Dharana becomes easier.

## CHAPTER – VI

It deals with five Tattvas and their Dharanas. The five Tattvas are Prthvi, Jala, Teja, Vayu and Akasa. With the disturbances of the Tattvas different diseases are manifested in the body. When Prthvi tattva is in excess the whole body becomes lethargic. With the excess of Jala tattva one suffers from cough and cold. When Teja tattva increases the body generates more heat. With the excess of vayu tattva one suffers from delirium. When Prthvi and Jala tattvas are combined it generates leprosy. With the excess of Agni with vayu tattvas one suffers from cold and fever. Like this the body suffers from various disorders becuase of the excess in the tattvas. In order to avoid this, yogis perform dharana on the different tattvas (elements), Dharanas are prescribed for the steadiness of mind.

**1) Prthvitattva dharana :** A yogi should hold the Prana along with mind on the quadrangular Prthvi element situated at the heart and presided over by Brahma. This dharana will conquer the Prthvi element.

**2) Jalatattva dharana :** The jalatattva (water element) which looks like the cresent moon and white as kunda flower is situated in the throat. It is filled with nectar and is characterised by Va and associated with Visnu. The Prana accompanied by the mind for five ghatikas (2 hours) should be held in that region. This dharana enables to digest the worst poisons.

**3) Tejatattva dharana :** The Tejatattva exists in the region of the palate and has a shape of a bright triangle shining like a coral characterised by Repha bija and associated with Rudra. One should hold the Prana accompanied by the mind for five ghatikas in that region. This dharana always gives control over the Teja or Fire elements.

**4) Vayutattva dharana :** Vayutattva or the element of Air is situated between the two eye-brows. It is bright like a blazing fire, hexagonal in shape with bija Ya and the deity Isvara. One should hold the Prana accompanied by the mind for five ghatikas in that region. This dharana enables the yogi to fly in the sky.

**5) Akasatattva dharana :** The akasatattva is situated at the

Brahmarandhra and is like a pure water. It is associated with Sadasiva and has the bija 'Ha'. One should hold the Prana accompained by the mind for five ghatikas in that region.

This dharana is considered in opening the door of liberation.

## CHAPTER – VII

In this chapter are discussed the topics of Kalajnana, Kalavancana and description of Dhyana.

*Kalajnana*— It refers to the indication of death based on the observation of the Svara, that is free flow of the air through a particular nostril. For this the practitioner should observe his Svara daily.

When the Pingala or Surya nadi (right nostril) is continuously active for two days, then it should be assumed that the death is approaching near.

When the Surya nadi is continuously flowing for five days and nights without any intervention of Ida nadi, the life span is three years after which the death will occur. When the Surya nadi is active continuously for ten days, the person dies after five years. If the Pingala nadi continuously flows for twenty days, the person approaches death in six months. If the Pingala flows for twentyseven days the life span remains for one month, if it flows for twentyeight days then death occurs in half a month; if it continues for twentynine days then the person lives in this world for ten days more. If the Pingala flows for thirty days, the life of a person is for two days more; if it continues flowing for thirtytwo days, the person dies in twentyfour hours; and when it flows for thirty three days, person dies the same day like the lamp that extinguishes when the oil is exhausted.

In this way one should know the time of death approaching.

Kalavancana (deception of Kala)— In order to overcome the danger of the death and prolong the life, yogi should continuously maintain the Bhrikuti dristi (frontal gaze) and recite Omkara mantra. Inhale air through Pingala and after holding it to the capacity exhale through the other nostril. Thus one can increase the life. One should try to continue Candra Svara during day time and Surya Svara during night time. This is bringing Candra into Surya and Surya into Candra. By equalising Candra and Surya Svaras one should taste the nectar. Sitting in Siddhasana raise the apana Vayu. Then with pranayama hold the Prana vayu in the chest. Then combining the apana and Prana at the navel and causing them to

flow into susumna enter in Samadhi. With this technique avoid the death.

The aim of the Yogi is to transcend time. Hathayogic texts describe the secret of deceiving time. Brahmananda in his commentary Jyotsna on Hathapradipika IV-17 puts the process as follows :

Prana moves through Pingala for about an hour and then through Ida for an equal period. So, these two hours form a day and night from yogic point of view. Our ordinary day consists of twelve such days and nights. Now, when Prana leaves Ida and Pingala and remains only in Susumna, then, there is no time. So Susumna is said to swallow time. The Yogi knowing before hand, the time of his death, takes his Prana to Brahmarandhra and defies 'Time' i.e. Death.

*Dhyana :*

The seventh part of Yoga is known as Dhyana. Sit erect in an asana stably and keeping the gaze at the nose. Inhale through the Ida nadi and exhale through the Pingala nadi after holding the breath. Then, inhale through Pingala and exhale through Ida. Remove all the thoughts from the mind and hold fast the image of Hari. Practise Sagarbha Pranayama with mantra and never Agarbha Pranayama without mantra. During the practice of Puraka, Kumbhaka and Recaka recite Omkara. Think of Anahata nada and activate Prana. Practise it three times a day so that Prana becomes stabilized within a month.

Then concentrate on the sun in the lotus of the heart having eight petals. Consider Anala in the Ravi and Candra. There meditate on Prabhu Rama along with Sita. Imagine the form of Rama with dark colour that of the clouds containing rains, his lustrous and smiling face, his knee, long arms and his different ornaments. Meditate on such a form from feet to face along with Janaki. This passifies the mind. Again meditate on his all pervading nature. This will ultimately lead to Sahaja Samadhi.

## CHAPTER VIII

In this last chapter the topics that are discussed include Parakaya pravesana, Yavaguvidhi, ten nadis and ten vayus, Ida-Pingala sodhanavidhi, Muladvara and Sisna sodhanavidhi, Udara sodhanavidhi, Kapalasodhanavidhi, Khecari varnana, Susumna varnana, Khecari mudra sadhana, Khecari siddhi, Satcakra varnana Samadhi varnana, and the list of sources for the text.

*Parakaya pravesana* (Entering into the other body) –

When Yoga is perfected by a Yogi, he attains various siddhis. He is able to move at will with Bhuyangama kriya. He controls the Prana and all the nadis are purified. Knowing that the life is just Prana, he proceeds wherever Prana exists. Such a Yogi may attempt Parakaya pravesa. Where he may see the dead body he may enter the body according to his liking. He should bring the Prana along with the mind into the throat. Then reciting the mantra and resorting to the technique given by the Guru, he should form a crow-bill of his mouth and eject his Prana into the mouth of the dead. With this he dies and the dead one gets up having the memories of his earlier body. If one wishes, he can leave this body and adopt the same earlier body. Parakayapravesa is like leaving the old body and adopt a new body.

*Yavaguvidhi* – During the practice when vayu goes astray and creates imbalance, the liquid of Yavagu restores the balance.

Take 32 grams of rice and 16 grams of split moong gram and mix them in a container. Cook it on fire in a semi-liquid state. When cooked remove it from the fire and put in it one gram each of ginger, black pepper, long pepper, rock salt and corriander, all in a finely powdered form. Mix it, strain it and drink the liquid. Direct the mind along the disturbed vayus. Yavagu liquid removes imbalances caused in the functioning of Vayus and purifies the channels. It influences the ten nadis and ten vayus.

## Description of ten Nadis and ten Vayus

**The nadis and their locations are given below :**

| Nadi : | Location : |
|---|---|
| 1. Ida | Left nostril |
| 2. Pingala | Right nostril |
| 3.Susumna | Middle path |
| 4. Gandhari | Left eye |
| 5. Hastijihva | Right eye |
| 6. Pusa | Right ear |
| 7. Yasasvini | Left ear |
| 8. Alambusa | Face |
| 9. Kuhu | Generative organ |
| 10. Sankhini | Anus. |

## The vayus and their locations are as follows :—

| VAYU : | Location / Function : |
|---|---|
| 1. Prana | Heart |
| 2. Apana | Anus |
| 3. Udana | Throat |
| 4. Samana | Navel |
| 5. Vyana | Whole body |
| 6. Kurma | Eyes (Winking) |
| 7. Naga | Stomach (Eructation) |
| 8. Krikara | Sneezing |
| 9. Devadatta | Yawning |
| 10. Dhananjaya | Body |

The Jiva moves up and down the ten nadis in the body, like a ball struck to the ground rebounds again. Being in thrall of Prana and Apana bounds again. Being in thrall of Prana and Apana the Jiva moves up and down by the left and the right path and is not seen together. Just as a falcon tied with a string can be drawn back again even if it flies away, similarly Jiva tied by Gunas is drawn by Prana and Apana. Apana draws Prana and Prana draws Apana. These are situated high and low. He who knows them is a knower of Yoga. This description is similar to the one in Goraksa Sataka verses 26 to 29. (See Goraksa Sataka, Ed. Swami Kuvalayananda and S.A. Shukla, Lonavla; Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti).

*Mula and Sisna sodhana :* (Purification of anus and urethra)

Sit in Kakasana in navel deep water. By manipulating the anus draw the water into the intestines. Draw the water out and again draw in. Do this several times.

Then draw the water into the anal region and draw out through the urethral passage. Again draw in the water through urethra and draw out from the anal passage. **

Similarly take in the air from the anus and after holding it in take it out through the urethral canal. In the same manner draw the air in through the urethral cannal and draw it out through the anus. Thus, practise alternately drawing in and out the air through the anus and urethral canal. This practice removes all the abdominal disorders, activates the Kundalini and opens the door to Moksa (liberation)

**Udara Sodhana (Purification of the stomach)**

Drink the water and bring it out from the stomach. By this purification all the problems of stomach are overcome. Similarly drink the air and fill the stomach. Keep the air in the stomach for some time and then draw it out from the mouth.

Then practise twelve kumbhakas so that not only the disorders of the stomach are removed but also the susumna passage becomes clear.

** (The description of this process is not clear. However, the process is based on wrong anatomicophysiological understanding as there is no connection between the anal passage and the urethral passage. Such descriptions are found in other texts also based on the over-enthusiastic approach to purification.)

*Kapalasodhana :*

It is two-fold. One is with water and the other is with air.

**With water**— pass the water into the left nostril and allow it to come out through the right nostril. Then reverse the process by passing water through right nostril and bringing it out through the left nostril. This is popularly known as Jala Neti. Then take the water through both the nostrils and bring it out through the passage of eyes.

**With air**— Inhale through both the nostrils and exhale through Ida and Pingala. Inhale through the nose and exhale through the mouth. Take the air in through nose and bring it out through the eyes. (Again these processes are unintelligible due to absence of connections between the eyes, ears and nose for the flow of air.) In the same way take the air in through the eyes and take it out through the ears. These are the various ways of Kapalasodhana by air.

*Khecari :*

Earlier, while describing Khecari under mudras, its processes of Chedana, Calana, Manthana and Dohana have been mentioned. Out of these the Chedana process is very painful and if not properly done may result in dumbness. Therefore, the Yogi should better resort to the processes of Calana, Dohana and Manthana. The Manthana should be done with the help of five medicines applied under the tongue. If one practises otherwise then all efforts will be in vain.

The place of the openings of the passages of nose, eyes and ears in the throat is known as trighanti. The tongue should be placed there by turning it in and taste the nectar oozing continuously from the thousand petalled lotus. When the tongue reaches the point of Trighanti it is called Jalandhara Bandha.

**Satcakra Varnana** – The description of the six cakras is given in the following table: –

### TABLE OF CAKRAS

| Name | No. of Petals | Deities | Letters on the Petals |
|---|---|---|---|
| 1. Adhara Cakra | Four | Ganesa | va, sa, sa, sa. |
| 2. Svadhisthana Cakra | Six | Brahma | ba, bha, ma, ya, ra, la |
| 3. Manipuraka Cakra | Ten | Visnu | da, dha, na, ta, tha, da, dha, na, pa, pha. |
| 4. Anahata Cakra | Twelve | Sadasiva | ka, kha, ga, gha, na, ca, cha, ja, jha, na, ta, tha |
| 5. Visuddha Cakra | Sixteen | | a, a, i, i, u, u, r, r, l, l, e, ai, o, au, am, ah. |
| 6. Ajna Cakra | Two | Paramatma | ha, ksa. |
| 7. Sahasradala Kamala | Thousand | Soham | All letters of samskrta alphabets from 'a' to ksa. |

The topic of Cakras is controversial as regards their names, their order, the number of petals of each cakra, the letters on the petals, their locations, and their association with five elements. Different texts and different authors differ in their details about the cakras. Sat cakra Nirupana relegates the question of deities to the realm of belief, individual choice and personal interpretation. The real centres of the cakras are inside the spine and not outside. The outside locations such as Guda, Medhra, etc. are vaguely stated and are merely the external structures stimulated when the internal Cakras are awakened.

*Samadhi :*

In this test the Samadhi that is described is Bhava Samadhi where the Yogi sees Srirama everwhere in Jagrat, Svapna and Susupti states. In the tree of Yoga Yama-Niyama are the seeds, Asana-Kumbhaka are the leaves, Pratyahara is the flower and Dharana, Dhyana, Samadhi are the fruit.

This is in nutshell the description of the contents of Jogapradipaka.

*LITERATURE QUOTED :*

Jayatarama at the end of the text says that he has taken the essence from the various texts in his composition. He quotes the following sources :

Patanjala Yoga Prakasa, (Yoga) Cudamani, Yoganidhi, Yoga Prakasa, Yogasamhita, Yogasandhi, Muratasamhita, Hathapradipika, Goraksasataka, Tattvapradipika, Yogavali.

In consideration of the contents of the present text, its importance for the students of Yoga will be clearly recognised and we are sure that they will welcome its publication.

We are grateful to the Director, Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur for undertaking the publication of this text. Our special thanks go to Shri Onkarlal Menaria who encouraged us to prepare the manuscript of this text and accepted it to publish it through the Institute.

– **M.L. Gharote**

## श्री रामो जयति

॥ अथ ग्रंथ जोगप्रदीपका लिख्यते ॥

जै जै जै श्री राम नमो जानकी जगमाता ।

नमो असुरकुलदहन नमो जोगनि गतिदाता ॥

दोहा— जैतराम सियरामपद निसदिन हिदय सुधारि ।
जोगदीपका कहत हौं देहु विघन सब दारि ॥१ ॥
महामूक कविता लहै गिर लंघै विन पाय ।
जयतराम सो हाय कहा जो सियराम सहाय ॥२ ॥

सोरठा— बकता धारै मोन भ्रमत नर थिरता लहै ।
यामें संसे कोन जो रघुवर करना करै ॥३ ॥
श्रीगुरुपद वंदन करों यों ही मेरे ध्यान ।
जयतराम सियरामपद है मम जीवन प्रान ॥४ ॥
वंदन करों बहुरि कर जोरी दोह कृपाल महेश्वर गौरी ।
जोगी जनको अति सुखदाई करौ अनुग्रह होह सहाई ॥५ ॥
वंदौ गिरा सबहू होह सहाई ।
वंदौ गिरा वहूरि गणनायक ।करो कृपा सब होह सहायक ।
यामें विघ्न परै नहीं कोई जो अनकूल गनाधिप होई ॥६ ॥
नमो नमो गुरु ग्यान विज्ञान प्रकासी । नमो ब्रह्म वपु सोय नमो त्रित ताप विनासी ।
श्री पयहारी मदि परसिकै संसय रह्यो न कोय ।
जयतराम अब कहत हौं जोग अंग जे सोय ॥७ ॥
इति मंगलाचरण ।

## अथ ग्रंथ की सूचनका ।

चौपाई— कहौं जोग के सुगम उपाय ।जोगी जनकौ अतिसुखदाय ॥
गुरुमुख साधि समाधि ही पावै । मनमुख मूरिख अति डहकावै ॥८ ॥
बैठण जुक्ति मढीकी आखौ ।मित्याहार पथ्य पुनि भाखौं ॥
यमनैमादिक आसन जोई । वरनू अंग आठ पुनि सोई ॥९ ॥
ऊंकार कौ भेद बताऊ । कुंभक अष्ट प्रकटि कहि गांऊ ॥
मुद्रा चतुर्वीस कहू जो हैं । परकाया परवेस जो सो है ॥१० ॥
मूल जु प्राणायाम सो भाखौ । सुखमन मारग गोप्य सु आखौ ॥
मुद्रा खेचरी नीके जानो । ताके भेद दोइ तुम मानो ॥११ ॥

छेदन सहित रहित सो गाऊं। सप्नहरहत षटचक्र लखाऊं ॥
कालज्ञान पुनि वरनि सुनाऊं। वंचनकाल उपाय बताऊं ॥
आ रहु भेद बहुत या मांही। साधन किया गोप्य रहै नाही ॥१२॥
नारी दस पवन वसि आवै। पान अपान एकता पावै ॥
चंद्रसूर एकैं धरि रहै। जोगी जोग समाधि ही लहै ॥१३॥
जो कोई याकौ भलै बिचारै। गुरुमुख होय क्रिया पुनि धारै ॥
सो नर जोग समाधहि पावै। जा मनमरन सकल छिटकावै ॥१४॥
सब ग्रंथन कौ सार बतायौ। यो रैही मैले ठहरायौ ॥
तातै जोगी साधै जोई। अजर अमर अमैल है सोई ।१५॥

दोहा— सकल ग्रंथ दधिसम किये बुद्धि मथांनी सोय।
जैयतराम गुरु क्रिपा से काढ्यौ तत विलोय ॥१६॥
प्रथमहि यम सो गहै नेम नीकी विधि धारै।
आसण द्रिढ करि साधि प्राणजय मनवृत्य टारै ॥१७॥
प्रत्याहार अरु धारणा ध्यानसहित समाधि।
अष्ट अंग ये जोग के हरन सकल भव व्याधि ॥१८॥

सोरठा— प्रथम करै जमनेम पुनि आसन द्रढ कीजिये।
यातै पावै खेम नीव सहित मंदीर तबै ॥१९॥
सूचनका इह ग्रंथ की क्रम सों नाही कीन।
आगै पीछै होय कहूं समझि लेहु प्रवीन ॥२०॥
दस प्रकार के यम कहौ भिन्न भिन्न समझाय।
जयतराम यह नीव करि जोगमहल ठहराय ॥२१॥

## अथ दसप्रकार यमवरनन।

प्रथम अहिंसा होय सत्य फुनि बचन बखानै।
ब्रह्मचर्य द्रढ गहै दया ह्रिदा मैं आनै ॥२२॥
आर्जव क्षमा धृति धारिकै मिताहार विधि सौ धरै।
सौच साधि दोय भांतिकौ ऐ दस यम जोगी करै ॥२३॥

## अथ अहिंसा लछन।

दोहा— थावर जंगम जीव जे या भूलोक मझार।
मन कर्म वचन न पीडवै यहै अहिंसा सार ॥२४॥

**अथ सत्यकौ लक्षन ।**

भूतमात्र कौ हित लीये वचन उचारै जोई ।
ईश्वर संमंधी गिरा सत्य कहावै सोई ॥२५ ॥
इति सत्य

**अथ अस्तेय लक्षन ।**

दोहा— तन करि मन करि वचन करि द्रव्य पराया त्याग ।
वांछा कबहू ना करे अस्तेय है विभाग ॥२६ ॥
इति अस्तेय

**अथ ब्रह्मचर्य लछन ।**

चौपाई— ब्रह्मचर्य अैसी विधि धारै तन करि युवती संग निवारे ।
मन करि विषै वासना तजै सुपनै नारि न कबहूं भजै ॥२७ ॥
इति ब्रह्मचर्य ।

**अथ दया को लछन ।**

दोहा— सकल भूत परि अनुग्रह सदा काल मै हौय ।
मनसा वाचा करमना दया कहावै सोय ॥२८ ॥
इति दया

**अथ आर्जव को लछन ।**

भावै कोई स्तुति करौ निंदा करौ जु कोय ।
तामै रहिनौ एकरस आर्जव कहियै सोय ॥२९ ॥
इति आर्जव

**अथ क्षिमा को लछिन ।**

चौपाई— जो कोई मूरख अज्ञान आप कटु वचन जु भाखै ।
ता परि करै न क्षोभ चित हरि पद मैं राखै ॥३० ॥
जैसे अग्नि जु डारि है महासिंधु मै जोय ।
उलटि बुझावै तास कू क्षिमा कहावै सोय ॥३१ ॥
इति क्षिमा

**अथ धीर्य कौ लछिन ।**

सोरठा— देह ग्रेह धन आदि बिछुरे मन डोले नही ।
रहै जु धीरज साधि जैसै गिरि तिहु काल में ॥३२ ॥

इति धीरज

## अथ मित्याहार को लछन ।

सातिग अंन भोजन करै मधुरस चिकनसार ।
चौथ अंस फुनि छाडि कै सो कहिये मितहार ॥३३ ॥

इति मित्याहार

## अथ सौच कौ लछन ।

चौपाई— सौच जु कहिये दोइ प्रकारा तन अरु मन का तजै विकारा ।
जल मृतिका सौं तन सुध करिये राग-द्वेष मन का परिहरिये ॥३४ ॥

इति सौच

दोहा— दस प्रकार के यम कहे जाग्यवलक मुनिराय ।
जयतराम अब नेमकौ बहुरौ कहुं सुनाय ॥३५ ॥

### इति श्री जोगप्रदीपकायां जयतरामेण विरचितायां जम वरनन नाम प्रथमो खंड ॥१ ॥

**अथ नेम दस प्रकार कहित है।**

सोरठा— कहौ नेम दस भांति दुतिय अंग यह जोग को
यातै पावै सांति गुरुमुख साधन कीजिये ॥३६ ॥

चौपाई— तप संतोष आस्तिक रहै दान सहत हरिपूजा गहै।
श्रवण ह्रि मति जप पुनि साधै विधि ए दस नेम अराधै ॥३७ ॥

**अथ तप को लछन ।**

दोहा— पांचौ इंद्रियनकी विरति विषें भोग तें सोय।
उलटि अपुठी आणिये उत्तम तप यह होय ॥३८ ॥
इति तप

**अथ संतोष लछन ।**

दोहा— जथा लाभ संतुष्ट रहे छाडि कल्पना दोष।
ईश्वर इछा मन धरै यहै बडा संतोष ॥३९ ॥
इति संतोष

**अथ आस्तिक को लछन ।**

चौपाई— वेद पुरान गुरु बचन उचारै तिनकौ निश्चौ उरमें धारै।
करि बिस्वास कल्पना तजै आस्तिक बुध सदा इह भजै ॥४० ॥
इति आस्तिक

**अथ दानको लछन ।**

चौपाई— दान जु कहिये दोय प्रकारा ताको पुन अब सुनो विचारा।
विद्या करि जग्यासी पौषै अनजल करि खुदित संतोषै ॥४१ ॥
इति दान

**अथ ईश्वरपूजन ।**

दोहा— श्रवण आदि नवधा भक्ति उर में धरे सोय।
इष्ट आपनौ पूजकै मन मल डारै धोय ॥४२ ॥
इति ईश्वरपूजन

**अथ सिद्धान्त श्रवण को लछन ।**

सकल सास्त्रमत सोधिकै काढ लेह तत सार।
सो ले ह्रिदा में धरै छाडै बहु विस्तार ॥४३ ॥
इति सिद्धान्त श्रवण

### अथ ह्रि को लछन ।

चौपाई— लोक वेद की लज्जा करै अविहित करम न हिरदै धरै ।
गुरु संतन की लज्जा मानै दुष्ट कर्म उर कवे न ठांनै ॥४४ ॥

इति ही

### अथ मति को लछन ।

दोहा— जै जै उतिम कर्म को वेद कियौ निरधार ।
तामें अति सरधा रहै सो मति कहिये सार ॥४५ ॥

इति मति

### अथ जप को लछन ।

उच्च वचन कबहू न उचारै गुरु को मंत्र ह्रिदामैं धारे ।
जथा सकति जप में थिर रहै या विध परम सिद्धिको लहै ॥४६ ॥

### अथ तप[१] को लछन ।

इति जप

दोहा— च्यार पदारथ सिध करन गुरु दीयो उपदेस ।
ताही को दृढ करि गहै छाडे सकल कलेस ॥४७ ॥

दोहा— [२]दस प्रकार के यम कहे दस प्रकार के नेम ।
जयतराम अब वरन हौ आसन करन जु छेम ॥४८ ॥

**इति श्री जोगप्रदीपकायां जैयतरामेण विरंचतायां नेम कथन नाम दुतिय खंड ॥२ ॥**

१. *वृत (भां)*
२. *इति वृत (भां)*

## अथ आसन विधि ।

दोहा— प्रथमही आसन साधिये बैंठिके धारै धीर ।
जयतराम तब सहजही निर्मल होय सरीर ॥४९ ॥

चौपाई— आसन नाम कहौ समझाई । सधै होय अधिक सुखदाई ।
जयतिराम जो विधि सौ साधै । सो नर जोग पंथ कौ लाधै ॥५० ॥[१]

## अथ स्वस्तक आसन ।

चौपाई— प्रथम बैसि दोउ पगि का फणा ।गोडा संधि मांहि राखणा ॥
जंघ पगथली मेलन करै ।दछिन चरन उर्ध ले धरै ॥५१ ॥
आसन भूमि टिक्यो पुनि राखे । स्वस्तक नाम याहि बुध[२] भाखे ॥
यामै बैठि ध्यान जो धरै । सो नर आधि व्याधि सब टारै ॥५२ ॥
॥इति स्वस्तक आसन ॥

## अथ पदमासन ।

चौपाई— वामजंघपर दछिन चरण । दछिन जंघ वामपद धरण ॥
दोउ हस्त जंघपर करे । सम सरीर नासा चक्षु धरै ॥
पदमासन यह नाम कहावै । व्याधि रोग सब नास ही पावै[३] ॥५३ ॥

## अथ नेती आसन ।

दोहा— गोडा बावा पादकी आख माहिली सोय। दछ चरन को वारलौ तापरि गुलफ समोय ॥५४ ॥

वाम पादको माहिलौ बहुरौ गुलफ जु जान । तापरि गोडा दछिकी आंख चाह बाहर[४] लीवांन ॥५५ ॥

चौपाई— बहुरि भुजा दोउ करकी जोऊ कंहूण्या लगती पकरै सोऊ ॥
भुजौ पसारि अधर करि राखै ।नासाद्रिष्ट वचन नही भाखै ॥५६ ॥
दोऊ हाथसो आडै वाई । मथै भुजा मथाण की नाई ॥
सकल पवन मथ्यो यूं जावै ।सो पुनि नेती नाम कहावै ॥५७ ॥
ऐसी भांति जुगति यह धरै ।त्रिय संध्या साधन सो करै ॥
सनै सनै आतुर नहीं होवै ॥सबही रोग देहकै खोवै ॥५८ ॥

---

*१. Missing in (ना.)*
*२. विध (ना.)*
*३. जावै (ना.)*
॥इति पदमासन ॥
*४. बारिली ठांनि (भा)*

अथवा रोग देहको नाही ।तीन वार साधै दिनमाही ॥
नाडी सबै सुध होइ रहै ।यातै देह अमलता लहै ॥५९ ॥
इति नेती आसन

## अथ उदर आसन ।

चौपाई— दोऊ पगथली संपुट ठांनै । उभै हस्त करि उरध ही तानै ॥
अंगुष्ट दोऊ सम ठहरावै । चबुक[५] नीचै ताहि लगावै ॥६० ॥
बहुरि दोउ करि अैसे धरै । आनि पगनतर बाहरि करै ॥
दोऊ पग की अंगुरी जोई । तिन परि करै कागसी सोई ॥६१ ॥
नासा द्रिष्टि[६] जुगत[७] सो राखै । आसन उदर नाम यहू भाखै ।
उदर रोग सबही मिट जावै । अथवा सबही रोग नसावै ॥६२ ॥
॥इति उदर आसन ॥

## अथ सप्तरिषि आसन ।

दोहा— दोउ पगकी पगथली तिनकी लाक जु सोय ।
दोऊ काखनि मैं धरै नासाद्रिष्ट समोय ॥६३ ॥[८]

चौपाई— बहूरौ हस्त कागसी करै ।सो ले आनि सिखा पर धरै ॥
दिन प्रति तीन बेर सधि आवै ।सप्तरिषि सो नाम कहावै ॥६४ ॥
याके गुन कछु कहै न परई ।ह्रिदाकमल को सूधो करई ॥
और रोग सकल मिट जावै ।बहोर सरीर अमलता पावै ॥६५ ॥
॥इति सप्तरिषि आसन ॥

## अथ पूर्व आसन ।

प्रथम दोउ पग कांधे धरै बहूर तहां पुनि आंटी करै ॥
दोउ कर की मूठी करई तरै वाम दछि ऊपर धरई ॥६६ ॥
सो पुनि मूठी भूमि लगावै मेढ्र निकट आनि ठहरावै ॥

---

*५. उरधता लवै (भां)*

*६. द्रिष्ट (ना.)*

*७. जुगति (भां)*

*८. दोउ पग की अंगली जामैं लगी है ।*

*पगथली तिनकी थोथलाक जु सोय । दोउ काखनि मै धरौ नासाद्रिष्टि समोइ ॥(भां)*

त्रिकुटी द्रिष्टि सदा ही धरै ॥ पूर्व आसन इहि विधि करै ॥६७ ॥
पूर्व रोग सो सकल निवारै ।बहुज्यौं जुगति और इक धारै ॥
पूर्व आसन इहि विधि करे ।[९] काठा गेहुं पाव मंगावै ।
राति भेय प्रभाति चबावे ॥६८ ॥
काचौ दूध अजाकौ आनै । पीवै ताहि ढील नहीं ठांनै ॥
सनै सनै अैसी विधि साधै ।चारि पहर लगि आसन बांधै ॥
यातै मृत्य करै वसि सोई गुरुमुख साधन परपक होई ॥६९ ॥
॥इति पूर्व आसनं ॥

## अथ पछिमताण आसन ।

चौपाई— उत्तर सनमुख बैठक धारै । दोउ चरण मिलि[१०] बाजू पसारै ॥
बहोरौ प्राणायाम जू करै । सुखमन मारग वाई भरै ॥७० ॥
द्वादस मात्रा पूरक करै । द्वादसही पुनि कुंभक धरै ॥
रेचै द्वादस पिंगला नारी । राखै त्रिकुटी द्रिष्टि विचारी ॥७१ ॥
वामहस्त सों आरंभ करै । दछन कर दछन पग धरै ॥
द्वादस दिन अैसेविध करई । बहुर साधि आगै अनुसरई ॥७२ ॥
जथा सक्ति वाय वसि आनै । प्रहर एक दोय आरंभ ठानै ॥
दिवस बहत्तर ऐसे करै । सनै सनै विघ्न सब टरै ॥७३ ॥
बहुरि ओगरौ अैसो गहै । जाकरि यो आसन सिध लहै ॥
साठी चावल को पुनि भेवै । टंक सताइस अधिक न लेवै ॥७४ ॥
सोलह टंक मूग पुनि आनै । भेवै ताहि भिन्नही ठानै ॥
भिन्न-भिन्न कर बाटे दोऊ करै पलेवौ जलमें सोऊ ॥७५ ॥
करै अलूणौ अद्रक ल्यावै ।टंक पंच ता मधिहि मिलावै ॥
सनै सनै सो पीवै अैसे ।तुरतही यो आसन कर बैसे ॥७६ ॥
वार येक पथ पहले साधै करि विसराम बहुरि आराधे ॥
अैसी भांति दिनरात जु जानै । आठ पहर को आरंभ ठानै ॥७७ ॥

---

९. Missing in (भां)
*१०. लांबा जू (भां)*

दिन चौरासी आरंभ करई । राजरोग आदिक सब हरई ॥
सहस्त्र कोस की सुनैरु देखें । लहै सिध अचिरज पुनि पेखे ॥७८ ॥
इति पछिमताण आसन । याहीको आरंभ आसन कहिये[११]

## अथ वज्र[१२] संघार आसन ।

प्रथम फणा पाणि होय बैसे । दोउ एडी गूदा निवेसै[१३] ॥
गोडा ऊभा राखै थीर ।आडे वाय पसारै धीर ॥७९ ॥
पृष्ट[१४] दिसी दोऊ कर आनै ।तिनकी जुगत अैसीविध ठानै ॥
गहै परसपरि भुजा जु दोउ । कोहण्या लगती पकरै सोउ ॥८० ॥

दोहा— जाडो कबहु ना लगे अवर फुटनी जाय ।
वज्रसंघार आसन यह जो दिन रात सधाय ॥८१ ॥
॥इति वज्रसंघार[१५] आसन[१६] ॥

## अथ सूर्य आसन ।

चौपाई - ऐडी दोऊ गुदातरि आनै । फणा पाणि बैठक पुनि ठानै ॥
गोडा जंघ अधर करि रहै ।आडे वाय इसी विध गहै ॥८२ ॥
दोऊ भुजा नभ दिसा पसारै । कमल स्वरूप अंगुरी धारै ॥
पौहचा मधि छिद्र पुनि ठांनै । छिद्र विखै पुनि द्रिष्टि जु आनै ॥८३ ॥

दोहा— अग्निवृधि अतिसै करै रोगनास सब होय ।
उदर उलटि संकोचिये सूर्य आसन होय ॥८४ ॥
॥इति सूर्य आसन ॥

## अथ गोरखाजाली आसन ।

चौपाई— प्रथम ही ऊभौ होय बहुरि नीचौ पुनि होवै । दोउ कर दोउ जंघ मधि नीकी विध पौचै ॥
बहुरि दोउ भुज सनै जंघ बाहर ले आनै । [१७]नासाद्रिष्टि लगाइ कांकसी नाभि जु ठानै ॥८५ ॥

दोहा—
बरस एक लग[१८] साधियै बैठिक ऊकडु होय । सनै सनै चढतो करे गोरखजाली सोय ॥८६ ॥

---

११. *करई (ना.)*
१२. *वज्रसींघार (ना.)*
१३. *नवेसै (ना.)*
१४. *पिष्टि (भां)*
१५. *वज्रसिघार (ना.)*
१६. Missing in *(भां.)*
१७. Line missing in *(ना.)*
१८. *द्वै (भां.)*

ब्रह्मद्वार कुंडलि तजैं अरु पुनि सूधी होय ।
चिमतकार तनकै मही साधिक देखै सोय ॥८७ ॥
॥इति गोरखजाली आसन ॥

## अथ अनसुया आसन ।

चौपाई— दछिन गोडौ नीचै ठानै बावों ताके ऊपर आनै ।
गोडा संधि मिलावै भारी आडापद पुनि देस पसारी ॥८८ ॥
दोउ पदके अंगुष्ट जोई दोउ पग कर ते पकरे सोई ।
नासाद्रष्टि अचल करि रहिये अनसुया आसन यह कहिये ॥
दोहा— यह आसन नितही करै देही कंचन होय ।
जयतराम साधन किये रोग रहै नही कोय ॥९० ॥
॥इति अनसुया आसन ॥

## अथ मछंद्र आसन ।

वाम जंघपर दछि पद ठांनै वामहस्त पिष्टि दिस आने ।
बहुरो दछन पद है जोई ताकी नली जु पकरै सोई ॥९१ ॥
वाम चरन पुनि अैसै करै दछिन गोडा ऊपर धरै ।
बहुरौ दछिन हस्त है जोई वाम जंघ परि आने सोई ॥९२ ॥
बाहरि लेकरि अैसै रहै वाम फणा की कोर जु गहै ।
त्रिकुटी द्रिष्ट अचल पर राखै रोग मछंद्र सु अैसै भाखै ॥९३ ॥
दोहा— अग्नि प्रबल याते बढे सुधी कुंडलि होय ।
पवन अभ्यास यामैं करै रोग रहै न कोय ॥९४ ॥
॥इति मछंद्र आसन ॥

## अथ भैरू आसन ।

चौपाई— मूलद्वार टिक बैसिक[१९] धरई वामपद गुद औंधौ करई ।
एडि अग्र गुदातरि धरै उर्ध्व चिटी[२०] अंगुष्टतरि करै ॥९५ ॥
गुलफ वारिलौ कूलै आनै पुनह माहिलौ भूपरि ठानै ।
बहुरि चरन दाहिनौ जोई हिदै आनि लगावै सोई ॥९६ ॥

---

*१९. बैसक (भां)*
*२०. चढी (भां)*

फणा पृष्ट[२१] को ह्रिदै लेवै एडी नाभिमधि पुनि देवै ।
गोडा जंघ भूमि परि लावै अंतर हाथ एक ठहरावै ॥९७ ॥

दोहा — दोऊ करकी कांकसी राखै सिखा जु सोय ।
नासाद्रिष्टि लगाइये भैरु आसन होय ॥ ९८ ॥

चौपाई— पहर एक आसन सधि आवै । कुडलनी व्याकुल होय धावै ॥
वधत कले जो वदै न सोई ।कंवल ह्रिदा कौ सुधो होई ॥९९ ॥
तिली फीहौ गोलौ जाई ।आंव हर सहिड की जु नसाई ॥
नाडी सबै सुध होई रहै । गता[२२] दोष जु भैरू दहै ॥१०० ॥
॥इति भैरू[२३] आसन ॥

## अथ सिधि आसन ।

वाम पाद की एडी जानो सीवनिमधि तास कौं ठानौ ।
दछि पाद की एडी जोई मेढुमधि लगावै सोई ॥१०१ ॥
गोडा दोऊ हस्त जु धरै भूमै द्रिष्टि देह सम करै ।
सिधासन यह नाम कहावै याका गुण की कहत न आवै ॥१०२ ॥

दोहा— सहस्त्रबहतरि नाडी जे मल तजि नर्मल होय ।
तीन बंध सहजै फुरै लहै उनमनी सोय ॥१०३ ॥
॥इति सिधि आसन ॥

## अथ महामुद्रा आसन ।

चौपाई— डावा पगकी एडी जोई सीवनि आनि लगावै सोई ।
दछिन लांबौ जु पसांरै तामै आनि कागसी धारै ॥
दोऊ खवा उर्धसो धरै तिनसो फेर अभ्यास जु करे ।
नासाद्रिष्टि आन ठहरावै महामुद्रा नाम सो पावैं ॥१०५ ॥

दोहा— पथि अपथि न चाहिये विष अमृत होय जाय ।
अनरस रसताको लहै मरन कलेस मिटाय ॥१०६ ॥

---

*२१. पृष्टि (भां)*
*२२. एता (भां)*
*२३. भैरव (भां)*

खई रोग अथवा कुष्ट गुदावर्त मिट जाय ।
गुलम अजीरण रोग जे मुद्रा देत नसाय ॥१०७ ॥
॥इति महामुद्रा ।

## अथ जोनिमुद्रा आसन ।

दोहा— वाम पाद की पगथली लाकरि [२४] माहिली कोरि ।
जोनि तहां धरि बैसियै उलटो पाव जु मोरि ॥१०८ ॥
दछि चरन पुनि मोरिकै वाम जंघ ले जाय ।
हस्त दोऊ गोडां धरै नासाद्रिष्टि लगाय ॥१०९ ॥
यहै जोनिमुद्रा कह्यौं नितिप्रति साधै कोय ।
करै अभ्यास जो जुगतसो नाडि उर्ध्वमुख होय ॥११० ॥
॥इति जोनिमुद्रा ॥

## अथ मयूर आसन ।

चौपाई— दोऊ हस्त भूमपर धरै अंगुष्ट दोउ संपुट करै ।
अंगुरी सकल भिंन करि तानै कहुण्याऊपरि नाभि जु ठानै ॥
बहुरि दोऊ पग मेलि पसारै भूमि न धरै अधरही धारै ।
मस्तक भूमि न कबहु धरै भुजापाणि देहि सब करै ॥११२ ॥
दंडसमान सरीर जु राखै नासाद्रिष्टि वचन नही भाखै ॥११३ ॥
दोहा— या आसन तै विष जरै अग्नि अधिकता होय ।
गुलम पेट फीहयौ गरै मिटै अजिरन सोय ॥११४ ॥
॥इति मयूर आसन ॥

## अथ कपाली आसन ।

चौपाई— सीस सिखा दोऊ भूपरि ठांनै ऊभै चरन अवर दिसि तानै ।
दोऊ हथेली भूपरि धरै नासाद्रिष्टि अचल पुनि करै ॥११५ ॥
दोहा— एक पहर यह आसन सधै स्वेत बाल हौहि स्याम ।
कालज्ञान सब जानिये यह कपाली नाम ॥११६ ॥
सनै सनै यहु साधियै तीन मास लग सोय ।
जयतराम ता पुरसकै जुगली रहै न कोय ॥११७ ॥
॥इति कपाली आसन ॥

---

*२४. जाहि (भां)*

## अथ सिव आसन ।

चौपाई— वाम चरनगरि दछि पद धरै ऐडी मूलद्वारितर करै ।
बहुरि पगथली की पुनि दोऊ कोर माहिली मे ले सोऊ ॥११८ ॥
गोडा आडा दोऊ करै दोऊ हस्त तासपरि धरै ।
त्रिकुटी द्रिष्टि अचल करि राखै सिव आसन ऐसी विधि भाखै ॥

दोहा— इडा नाडि करि पूरिये मात्रा द्वादस वाय ।
जथासक्ति कुंभक करै पिंगुल रेच कराय ॥१२० ॥
अष्ट वेर ऐसै करै कुंभक निश्चल होय ।
गांठि अपान कबहु परै सो पुनि रहे न कोय ॥१२१ ॥

॥इति सिव आसन ॥

## अथ फोद्यासन ।

चौपाई— दोऊ हाथ पग बाहर आनै गोडातरै कागसी ठानै ।
अंगुष्ट पिंडली लगता धरै चरण उभै अकासदिसी करै ।
पिष्टिरु कूला धरती लावै उदरसंकोच ऊर्ध ठहरावै ।
गोडा सीसभि थंभन करै इह विधि फोद्यासन धरै ॥१२३ ॥

दोहा— देह विसाली नार है रक्तपित्ती पुनि जाय ।
फुंनसी गुंमरि आदि जौ नाना रोग नसाय ॥१२४ ॥

॥इति फोद्या आसन ॥

## अथ माकड आसन ।

चौपाई— दोऊ पगथली संपुट आने तिनकी पिष्टि भूमिपरि ठांनै ।
मूलद्वार एडयांपरि ल्यावे मूड हाथ उचा ठहरावै ॥१२५ ॥
दोउ करकी अंगुरी जोऊ वतखां आनि लगावै सोऊ ।
खाजि खुजावन की ज्यूं करै त्रिकुटी द्रिष्टि अचल करि धरै ॥१२६ ॥

दोहा— धरनसु कबहु ना चिगै अग्निवृद्धि अति होय ।
वेग थमै अरु उदरसुध माकड के गुन सोय ॥१२७ ॥

॥इति माकड आसन ॥

## अथ पर आसन[२५] ।

चौपाई— प्रथम माहिली जंघ जु दोउ तिन तरि करि काढै
भुज सोऊ गोडाता रि करि बाहरि तानै उलटि मोरि जंघनपरि आनै ।
बहुरि हस्त दोउ नाभि मिलावै तहां कांकसी करि ठहरावै ।
मूलद्वारि टिकि बैठक ठांनै पग आगा नौ अधर जु आनै ॥१२९ ॥

दोहा— या आसन के कीयेते जागै कुंडलि नारी ।
जयतराम कहि द्रिष्टि कौ राखौ नासा धारि ॥१३० ॥
॥इति पर आसन ॥

## अथ भद्रगोरख आसन ।

दोऊ पगथली संपुट करै कोर वारिली भूपरि धरै ।
कोर वारिली राखे अैसै तापरि मूलद्वारि टिकि बैसै ॥१३१ ॥
गोडा पीडी भूवपरि दाखै हाथ दोऊ गोडा परि राखै ।
द्रिष्टि त्रिकुटी मध्य जु ठानै ताकौ गोरखभद्र बखानै ॥१३२ ॥

दोहा— या आसन के कीयेते सकल रोग छय होय ।
फुन जोगी को जयत कहै खेद न उपजै कोय ॥१३३ ॥
॥इति भद्रगोरख ॥

## अथ रूंड आसन ।

फणापाणि उकड होय बैसै दोऊ पगथली करै जु ऐसे ।
कोर माहिली ऊभै मिलावै मूलद्वार इडयांपरि ल्यावै ॥१३४ ॥
दोउ गोडां अंतर दाखै अंगुल आठ प्रवाण सु राखे ।
बहुरि अंगुठा करका दोऊ पुनह तरजनी अंगुरी सोऊ ॥१३५ ॥
तिनकरि करण लोल दोउ गहै बहुरि जुगत ऐसी करि रहै ।
दौउ करकी अंगुरी दोऊ कनिष्ट अवर अनामिका जोऊ ॥१३६ ॥
तिनकरि करण रंध टकि लेवे पुनि जालंधर बंधु सु देवे ।
द्रिष्टि ऊभै भोहन परि राखै आसन रूंड ताहि बुधि भाखै ॥१३७ ॥

दोहा— यह साधै एकांत में सबद रहित कर वास ।
छठे मास ता पुरुष के होय जोति प्रकास ॥१३८ ॥

२५. *From this onwards pages missing in (भां)*

बहुरि सुणै अनहद सबद झालरि ।
सुन उणहारि होय धारणा में विघन सो देवैं सब टारि ॥१३९ ॥
॥इति रूंड आसन ॥

## अथ जोगपद आसन ।

गोडा ठाणो ऊभौ होई डावा पगकी एडी जोई ।
ताकी कोर वारली जानै कूखि जीमणी में ले ठानै ॥१४० ॥
बहुरि जीमणौ पग है जोई बाहरि करि मोडो वह सोई ।
ऊभै फणांकी पिष्टि मिलावै वामहस्त पिष्टि दिसि ल्यावै ॥१४१ ॥
दछिण पायडै मिलत सु राखै पुनि दछिण कर याविधि दाखै ।
वाम कंध उपरि करि ल्यावै ऊभै हस्त कांकसी करावै ॥१४२ ॥
फुनि मस्तक धरती पर आने गोडानिकट तासको ठानै ॥१४३ ॥

दोहा— याकौ सो होवै अमलतन उदर रोग सब जाय ।
बुध्याकौ उदोत होय देहि पुष्टता थाय ॥१४४ ॥
॥इति जोगपद आसन ॥

## अथ चक्री आसन ।

दोहा— डावा पगकी पगथली तथा सु बारिली कोर ।
आनै वाई कूखिपरि हाथा सो जोर ॥१४५ ॥

चौपाई— डावा गोडा ठानो होय दछ पाव याविधि करै सोय ।
पाछा नै लांबौ सु पसारै भूतै उर्ध्व विहथ पसारै कधारै ॥१४६ ॥
दोऊ हाथ पसारै जेता आगा ने पसारे सो तेता ।
पुनह हथेलि भूपरि दाखै सब अंगुर छीदी कर राखै ॥१४७ ॥

दोहा— नासाद्रिष्टि लगाईये कुंडलि व्याकुल होय ।
होय जलंधर रोग जो या करि नासै होय ॥१४८ ॥
॥इति चक्री आसन ॥

## अथ आतमाराम आसन ।

प्रथम सेंन भूउपर ठांने पग उचाइ आगो ने ।
आने दोउ हाथ पगाबिच ल्यावै कोहण्णसंधि पाद ठहरावै ।
लांक पगथल्याकी वांफणां तिरछी भुजामधि राखणां ॥१४९ ॥
दाबै भुजा कल्यांपासेती पुनि कर कैरे कांकसी चेती ।

सोई कांकसी कांधै राखै मस्तक अधर उरध करि दाखै ॥१५० ॥
वार तीन यह आरंभन ठाने नासा अग्रे द्रिष्टि ले आने ।
बैसि येकांति ध्यान पुन धरै चढते चढतो आरंभ करै ॥१५१ ॥
याकरि अग्नि विर्धिता होई पवन सललिता पावै सोई ।
नाडी सुध देह सुध रहै और रोग की उतपति दहे ॥१५२ ॥

दोहा— अंनजल जो जो लीजिये ताकर रोग न होय ।
तातै आतमाराम यह नाम कहावै सोय ॥१५३ ॥

॥इति आतमाराम आसन ॥

## अथ मृत्यभंजीक आसन ।

चौपाई— प्रथम सेन सूधो होय ठानै पग उचाय आगा नै आने ।
बहुर पगथली को यो राखै कोर वारली या विधि दाखै ॥१५४ ॥
वटी आंगुल्या लगती आने करि गाढी जाडांतरि ठानै ।
दोउ हाथ पग बाहरि ल्यावै पुनि ताकौ अैसे ठहरावै ॥१५५ ॥
दछिन करकौ पहूचौ जोई वाचा कर सौ पकरै सोई
मस्तक भूसों लगतो राखै नासाद्रिष्टि वचन नही भाखै ॥१५६ ॥

दोहा— जोइ कथोथी लगै अथवा अन्य जु व्याधि ।
या आसन के कीयेते ततखिन होय समाधि ॥१५७ ॥

॥इति मृत्यभंजीक आसन ॥

## अथ वृश्चक आसन ।

प्रथम सयन सूधो सीसकेशकी संधि सु दाखै । कछु सीस उरध कर राखै ।
बहुर पगथली अैसैं ताणै गगन दिशा समुख करि ठाने ॥१५८ ॥
वामपादपरि दछिपाद वामतरि धरै । दोउ पादकी आंटी करै ॥१५९ ॥
पुनह पाद की आंटी जीमणौ फणो जु जोई । वाम पगथली परि धरे सोई ॥
बहुर पाद उचौकौ ताने गोडौ दछि सीसढि आनै ।
सीसकेशकी सांधि सु दाखे कछु सीस उरध कर राखै ॥
बहुरि पगथली अैसे ताणें गगनदिशा सममुख करिंठाने ।
दोउ हाथ माथादिसि धारै भूसों लगिवां उर्ध पसारै ।
छीदी राखि आंगुरी मोरे वींछीका मुख ज्यो करि छोरे ॥
चिबुक कंठकूप में राखै भोहनमधि दिष्टि को दाखै ।

उदरमांहि आम होय जेती या आसनसौ नासै तेती ॥१६२ ॥
माटी को पलाठी करी जो कदाचि कोइ खाय ।
तिनकौ उपज्यो रोग सब या आसन तै जाय ॥१६३ ॥
॥ इति वृश्चक आसन ॥

## अथ विपरीतिकरन आसन ।

प्रथम सयन सूधो होय ठांने पग मिलाई अंमर दिसि तानै ।
बहुरि उर्ध्वको देह उचावै भूपरि मौरा पाणि रहावै ॥१६४ ॥
दोउ पग पुनि अवर सरीर सूधा उरध सम्य राखै थीर ।
दोउ पगथली समता दाखै गगनदिसा सनमुख करि राखै ॥ १६५ ॥
नीचा ने जुग हाथ पसारे भूसो लगत हथेली धारे ।
नासा उग्र द्रिष्टको राखै सो विपरीति करन बुध भाखै ॥
सकल व्याधि नासक यह जानौ जठराग्निवृधिक्रत मानो ॥ १६६ ॥
॥ इति विपरीतिकरन ॥

## अथ देव आसन ।

प्रथमे सूधो सोवे सोई करे कांकसी कर गहे दोई ।
एडयां अवर पगथल्या दाखै करि अतिक विन तासपरि राखै ॥१६७ ॥
पाछे पाव सीस परि आनै पाद पिष्टि धरती परि ठानैं ।
अैसे मौरा पाणि रहावै त्रिकुटी दिष्टि अचल ठहरावै ॥ १६८ ॥
चौपाई जो कोई प्रेत संतावै आई अथवा कबहू देत दिखाई ।
तौ आसन करि सिवकौ भजै श्री गोरख हणवतकौ जजै ॥ १६९ ॥
दोहा — सात वार यनकौ जपै सात देय पुनि ताल ।
उतर सनमुख बैठिये प्रेत होय बेहाल ॥१७० ॥
॥ इति देव आसन ॥

## अथ गोही आसन ।

दोउ हाथकी कुहणी जोई पुनिह कलाई जाणे दोई ।
पिष्टि आंगुल्या की पुन जान्यो एक सब ले भूउपर ठानौ ॥ १७१ ॥
उभै कलाई जुड़वा राखे तिनपरि आनि सीसपर को दाखै ।
या विधि आसन करे कपारी नासादिष्टि रहे थीर धारी ॥ १७२ ॥

पींडी जंघ मिलावे दोई एडी कूलां राखै भोई ।
गोडा च्यबुक अग्र लगावे आसन गोही नाम कहावे ॥ १७३ ॥

दोहा — सिर नेत्र इखै करै तथा बाम्हणी होय ।
पहर येक आसन सध्या लहे समाधि दी सोय ॥ १७४ ॥

॥ इति गोही आसन ॥

## अथ कोचक आसन ।

दोउ हाथ छीदासा करे तिनसो उभै ईस पकरै ।
पग उचाय आगा ने आने बहुरि जुगति अैसीक विधि ठानें ॥
दोउ हाथ विचि पगरु सरीर फाटक पिछे लटकावे धीर ।
मुखकी दिसा दूसरी राखे दिष्ट आनि त्रिकुटीमध्य राखै ॥ १७३ ॥

दोहा — यह आसन चढतो सथै दिन पंदरातक सोय । यासों नासे न्हाखो जे कदाचित न होय ॥ १७७ ॥

बहुरि धात जाती थमे दिवस तीन के माहि । पुन डैरु नासे तुरत येते रोग नसाय ॥ १७८ ॥

॥इति कोचकासन ॥

## अथ तपकार आसन ।

प्रथम हिंडोल नखरो करावै ताके मध्य रासि लटकावे ।
दोउ बांह विचि रासि सु आनें दछिन कंध तासपरि ठानें ॥ १७९ ॥
दोउ पद नभदिसि पसारै रसीमध्य सब तन को धारै ।
एक पिष्ट एक उदरही दिसा अैसे विधि राखै दोउ रसा ॥ १८० ॥
दोउ पदसो रसी जु गहे कांधा पाणि रसी परि रहे ।
पुनि दोउ कर पाछे आने तिनकी जुगति असी विधि ठाने ॥
दछिन करके पहोचो जोई वामहस्तसों पकरै सोंई ।
तनसों हस्त लगावे नाही दिष्ट स्थापे त्रिकुटी मांही ॥ १८२ ॥

दोहा — सो जो होय सरीर में आसन साधे येह ।
जयतराम ता पुरख की नृमल होवे देह ॥ १८३ ॥

॥ इति तपकार आसन ॥

## अथ भिडोक आसन ।

प्रथम बैसि दोउ पाव पसारे कछुक उर्धको कुरडो डारे ।
एडयांमधि आंतिरो राखे मुद्र हाथ परमाण सु दाखै ॥१८४ ॥

फणा उर्धको उचो राखे खवा उभै गोडा में आनें ।
तिनके मधि जुगत सो ठाने ॥१८५ ॥
काख दोउ अैसी विधि दाखे गोडनको कांखा ढिगि राखे ।
हाथ दोउ पदनमधि ताने तिनको उलट अर बाहरि आने ॥१८६ ॥
तिन कर गहै पगथली दोउ कोर वारली जाने सोउ ।
भूपरि आनि ललाट लगावै द्रिष्टि त्रिकुटीमाहि ठहरावै ॥१८७ ॥

दोहा — इहि आसनसों तेजरो तीजी पाली जाई ।
उदर विथा नासे सकल काया निर्मल थाय ॥ १८८ ॥
॥ इति भिडोक ॥

## अथ ब्रह्मजुराकुस आसन ।

दोऊ फणापाणि होय बैसे एडी दो गुदा निवैसे ।
कोर पगथल्यांकी माहिली आपसमाहि राखै मिली ॥ १८९ ॥
दोउ गोडा आगे आनै सुधो करि उंचा ले ठाने ।
हाथ दोउ ले उपर धरे उभै हथेली सुधी करें ॥ १९० ॥
गोडामधि द्रिष्ट को राखै करे ऐसी भांति ध्यान कों धरै ।
समग्रीवा सम राखे काख सुरको गहि आकर्षे वाय ॥ १९१ ॥

दोहा — इहि आसन जबलग रहै जबलग श्रम अति होय ।
जुर होवे तनमाहि जो याकर नासे सोय ॥ १९२ ॥
॥ इति ब्रह्मजुराकुस ॥

## अथ अंध आसन ।

प्रथम पगथली सम ठहरावै कोरमाहली उभै मिलावै ।
फणापाण उकड कर बैसे दोउ एडी गुदा निवैसे ॥ १९३ ॥
जंघ ओर गोडा सम कर धरै पुन आगाको उभै पसारै ।
गोडामहिला नेत्र दोउ सम करि काठा दाबे सोउ ॥ १९४ ॥

दोहा — पोंहुचाकी संधिमाहिली ताको अैसे ठानि ।
गोडा की बाहरि दिसा तापरि धरै जु आनि ॥ १९५ ॥
नेत्र मे जै पटब व्है पुनि रातींधो होय ।
गावा घृति अरु मिरचसो अंजन कीजै सोय ॥ १९६ ॥

मुखमारग रेचन करे मूलद्वारे दे बंध ।
तो रातिंधो ना रहे नैंननि देखे अंध ॥ १९७ ॥
॥ इति अंध आसन ॥

**अथ भिश्रका आसन ।**

दोउ पगांकी एडी जोई गोडाफणां वाणों फुनि होई ।
गोडा जंघ अधर करि राखै आडेवाह इसी विधि दाखे ॥ १९८ ॥
दोउ एडी उर्धही धरे मूलद्वार ताउपर करै ।
पुनि अंजुली हाथा दाखै तांमै फुनि पोलोटकी दाखे ॥ १९९ ॥
पहुचा अर अंगुरीका अग्र तामै राखै ।
छिद्रसमग्र अंगुरी सकल बदन में करे अंगुष्ट तैला दाता धरे ॥
वोष्ट संपुट नीका राखे नासाअग्र द्रिष्टि थिर दाखै ।
बहुत अहार कीयो जो होइ अथवा दोष अजीर्ण कोइ ॥
तो यहु आसन करे जु आछै धरी दोय भोजन के पाछे ।
सूर्य नाडी पूरे वाई मुखसे ती पुनि रेच कराई ॥ २०२ ॥
भिश्रक ज्यौ अति जोर करावै जैसे श्रम देह में पावै ।
तो आहार कीयो होय जे तौ जर वर भस्म होय सब तेतो ॥२०३ ॥

दोहा — यासो खासी की विथा लागि न सकै कोय ।
नासै ज्वर वे लांजुरौ रोगरहत तन होय ॥ २०४ ॥
॥ इति भिश्रका आसन ॥

**अथ अघोर आसन ।**

पूर्व कहो भिश्रिका जोई वाही विधि जो कीजै सोई ।
सब अंगुरी मुखबाहरि आने मुखको फुनि संपुट करि ठाने ॥ २०५ ॥
जिभा उलटि तालवे धरै हाथांसो आरंभ पुनि करै ।
आरंभ की क्रिया है जोई विधिपूर्व अब वर्णों सोई ॥ २०६ ॥
दछि हथेली मुख परि करे दछिन नासा अंगुष्ट धरै ।
सूर्यसु वाई उरि आनें सहित मात्रा कुंभक ठानै ॥ २०७ ॥
चंद्रनाडि करि वाय उतारे सम सरार नीकी विधि धारे ।
जो दुजै स्वर आरंभ ठानें तो सब स्वर विधि उलटि ठाने ॥ २०८ ॥

दोहा — यहु आसन नितिप्रति करै देही निर्मल होय ।
कुंडलनी भेदे पवन कांति लहै तन सोख ॥ २०९ ॥
॥ इति अघोर आसन ॥

## अथ विजोग आसन ।

चौपाई - गोडां वांणो ऊभौ होई गोडा आडा राखै दोई ।
दछि पादकै पाणि रहावै फणौ वाम गोडा ढिगि ल्यावे ॥ २१० ॥
कोर वारिली संधि भू टेके ऐडी वामपद संधि वसे खै ।
तामाही करि बाहरि आनें वामपादकों फणों भू ठाने ॥ २११ ॥
दोउ हाथसै अैसे करे दोउ नली पगकी पकरैं ।
अंगुली सब मांहा ने आनें अंगुष्ट ले बाहर को ठाने ॥ २१२ ॥
सम सरीर नीकां ठहरावे ध्यान त्रिकुटीमध्य लगावै ।
होय अंजुक्ति धारणामाहि या आसनसों सबै नसाही ॥ २१३ ॥

दोहा — या आसन में किजिये विधिसो प्राणनिरोध ।
वाय गांठि छूटै तुरत घटमें उपजै बोध ॥ २१४ ॥
इति वियोग ।

## अथ जोनि आसन ।

दोउ पगथली संपुट करै एडी मेढ्र के ढिंग धरे ।
अर्ध हाथ को अंतर राखै लिलाट पगथल्या उपर दाखें ॥ २१५ ॥
दसे आंगुरी उग्र मिलावै फणा अग्र पर ले पहरावैं ।
कहुणी लों भूपरि कर दाखै नली अर कहूणी मिलि ठां राखे ॥
सम करि राखै सकल सरीर नासादिष्ट लगावे धीर ।
मुख मारग सो वाई गहै असक्त होय तहां लौ रहे ॥ २१७ ॥
इडा नाडि कर पवन उतारे वार सात या जुगति विचारै ।
चढतौ चढतौ कुंभक साधै वार सात या जुगति अराधै ॥ २१८ ॥

दोहा — बंध होय मलमूत्र को वायविग्रहै कोय ।
या आसन कै करतही द्रवीभूत सो होय ॥ २१९ ॥
॥ इति जोनि आसन ॥

## अथ बोधसोक आसन ।

दोउ पगथली भूपरि धरै कोर मांहिली अैसे करै ।
कोर मिलाई उकड़ बैसे जंघा छाती अग्र निवेसे ॥ २२० ॥
च्यबूक गोडा उपरि करै नासादिष्टि अचल ले धरै ।
भुजा परसपर पकडे दोई खवांलागनी कठिन जु सोई ॥
बहुरि उभै भुज कीजु कलाई कला गोडा अग्र धरै लगाई ।
यो आसन चढतौ जु करावै मृगी आवती कदे न आवै ॥ २२२ ॥
॥ इति बोधसोक ॥

## अथ भग आसन ।

उलटा मोडि पाव दोउ बैसे बहुरो जुगति करै एक अैसे ।
पावन माहिला गुलफु जु होउ कुला पाखति लावे सोउ ॥ २२३ ॥
पिष्टि पगथल्यां की पुनि जोई हाथासो मोडै वह सोई ।
ताको जंघनिके ढगि ल्यावै तासो तिनकी पिष्टि लगावै ॥ २२४ ॥
अंगुरी अग्रदा पाखत्यां पादकी जोई रदा पाखत्यां आने सोई ।
हाथ दोउ गोडापरि राखै दिष्टि त्रिकुटीमध्य दाखै ॥ २२५ ॥
दोहा — पौन सरल यासों वहै संधिवाय मिटी जाय ।
ग्रंथि जु प्रानअपान की यासौं तुरत नसाय ॥ २२६ ॥
॥ इति भग आसन ॥

## अथ रुद्र आसन ।

वाम चरनपरि दछिन राखै पुन एक जुगति असीविधि दाखैं ।
वाम पगथली महिली कोर दछिन कीजु बाहरिली वोर ॥
अैसे दोउ देत मिलाई गोडा राखै आडेवाई ।
एडी मूलद्वारतरि देवै गोडा उपरि हस्त जो लेवे ॥ २२८ ॥
इडा नाडि करि वाई गहे द्वादस मात्रा जो लो कहै ।
यथासक्ति कुंभक थिर धारे पुनह प्यंगुला वाय उतारे ॥
या विधि अष्ट प्राणायाम जु करै त्रिकुटीमध्य दिष्टि ले धरै ।
ग्रंथि अपानपरी जो कबै या आसन करि नासै सबै ॥ २३० ॥
॥ इति रुद्र आसन ॥

## अथ दूसरी विधि पदमआसन ।

दछण जंघपरि डावो राखै चरण वाम जंघ दाखै ।
च्यबुक कंठकूप ले ठाने दिष्टि नासिका अग्र जु आने ॥ २३१ ॥

दोहा — पवन बंधा याते रहै ओर रोग छै होय ।
याकी महिमा अधिक है जानै विरला कोय ॥ २३२ ॥

॥इति पदम आसन ॥

## अथ सिवलिंग आसन ।

दोउ पाव सीसपरि आंनै फुनि एक जुगति और ताहां ठानें ।
दोउ पगके अंगुष्ट जोऊ तिनपरि मूठी कर की दोउ ॥ २३३ ॥
तला उपरी धरै जु आन भूपरि रहै मूल के पानि ।
नासा अग्र दिष्टि ठहरावै सकल रोग नासको पावै ॥ २३४ ॥

॥ इति सिवलिंग ॥

## अथ दूसरो मछंद्र आसन ।

प्रथम जीमणो चरण जु जोई वाम जंघपरि राखै सोई ।
ताकी एडी कडिसो लावै बहुरि जुगति यह ओर करावै ॥ २३५ ॥

दोहा — वाम चरण को वारिलो गुलफही जानो वीर ।
दछिण गोडां माहिली आघ्र मध्य धर थीर ॥ २३६ ॥

चौपाई — दोउ पाव की अंगुष्ट जोउ उभै हस्तसो पकरो सोउ ।
पुनि ललाट धरतीसों लावे छाती घटसों आनि मिलावै ॥ २३७ ॥

दोहा — या आसनसों पीडा जो गोडामाही होय ।
जयतराम तज पीड सो गोडो निर्मल जोई ॥ २३८ ॥

॥ इति मछद्र दूसरो आसन ॥

## अथ वाल्मीक आसन ।

दोहा — डावा पगकी पगथली पुनि एडी है जोय ।
फणां दिसी मेढ्र दक्षिण आणि लगावे सोय ॥२३९ ॥

चौपाई — दछि पाद की एडी जोई बाई नली लगावै सोई ।
अंगुष्ट गोडां लगता राखे पुनह पगथली धरती दाखै ॥ २४० ॥

दोहा — हाथ उभै गोडां धरे दिष्टि त्रिकुटी माही ।
सो जो होवै पगनिमै सो छिन रहे जु नाही ॥ २४१ ॥

॥ इति वाल्मीक आसन ॥

### अथ व्यास आसन ।

प्रथम वाम गुलफ है जोई तरफ माहिली पकरे सोई ।
दछिन चरण वारली काख ताके निकटि तास को राख ॥ २४२ ॥
पिष्टि दछि एडी की जोई गोडा वाम अग्र धरै सोई ।
दछि पगथली को यो दाखै कोर वारली भूधर राखै ॥ २४३ ॥
अरु पुनि पिष्टि हथेली करी गोडा उपरि राखै नेरी ।
अंगुरी सकल भिन करि राखै आसण व्यास याहि बुध भाखै ॥ २४४ ॥

दोहा — पवन सहित खटमास यौ आसन साधे कोय ।
साम्र की बाहुलिता ताकै सहजिही होय ॥ २४५ ॥
॥ इति व्यास आसन ॥

### अथ दत्तदिगंबर आसन ।

चौपाई — प्रथम जीवणो पाव उचावे डांई जंघ उपरि करि ल्यावे ।
डाई पाखती ताको आने गोडां उपर तल करि ठाने ।
पगथलिया बाहरिकी कौर धरती टेके राखै जोर ॥ २४६ ॥
तिरछा पग अढा जु पसारे कूलां एडया अंतर धारै ।
मूंड हाथ उनमान सु राखे दोउ कर पावन परि दाखै ॥ २४७ ॥
लांक पगथलीकी जो दोऊ उभै हस्त सो पकरै सोऊ ।
त्रिकुटी दिष्टि धरै पुन धीर समसरीर राखै करि थीर ॥ २४८ ॥

दोहा — पवन धारणा सहित यो आसन साधै कोय ।
सीत वात का रोग ते सो नर मुक्ता होय ॥ २४९ ॥
॥ इति दत्तदिगंबर आसन ॥

### अथ सिधसमाधि आसन ।

दोउ पगथली संपुट करै सो ले मेढ आगमे धरै ।
अंगुल आठ आंतरो राखै एडी को अैसे विधि दाखै ॥ २५० ॥
आणे हाथ पगांके माही कौहणी सहित तलाया ताई ।
आम्हासाम्हा कर पुनि दोई भूपर राखै सुधा सोई ॥ २५१ ॥
फणा दोउ आगा ने करे नासा को भूउपरि धरै ।
पाद अंगुष्टा कंठ लगावै नासाअग्र दिष्ट ठहरावै ॥ २५२ ॥

पवन धारणा सहतयौ साध्या लगावै समाधि ।
देही नृमल होय मुनि कदे न उपजै व्याधि ॥ २५३ ॥
॥इति सिध समाध ॥

## अथ चरपटचोक आसन ।

दोउ पगथली संपुट धारे आगा ने कर जोरय सारे ।
गोडा भूसौ लगता राखे हाथ दोउ गोडापरि दाखै ॥ २५४ ॥
आंखिमाहिली उपरि ठांनै गोडा दावि भूमिपरि तानै ।
दिष्टि त्रिकुटी राखै गोई चरपटचौक कहावै सोई ॥ २५५ ॥
दोहा — अर्णचक्र संजु मुक्त नर चितवन करै जु कोय ।
नैननिको नासै तिमिर जोति नृमली होय ॥ २५६ ॥
॥ इति चरपटचोक आसन ॥

## अथ ग्वालीपाव आसन ।

पूर्व चरपटचोक कह्यो सोइ वाही विधि यो कीजी सोई ।
यामे एडी भिन जु राखै अंगुल आठ अंतरो राखै ॥ २५७ ॥
च्युबुक कंठकूप में ठानौ नासाअग्र दिष्ट को ठानौ ।
या करि जालंघर बंध होई साधिक साधे विधिसो कोई ॥ २५८ ॥
॥ इति ग्वालीपाव आसन ॥

## अथ कनेरीपाव आसन ।

ग्वालीपाव आसन कह्यो है जैसे याहुमैं जाने विधि तैसे ।
दोउ गुलफ माहिला जानो अरु एड्याविचि कहूनी ठांनो ॥ २५९ ॥
हस्त उभै उभा कर राखै दोउ हथीली जुड़िवां दाखै ।
बहोरि हथीली भाल लगावे अंगुली मेलि सिसपरि ल्यावै ॥ २६० ॥
दोहा — नासाद्रिष्टि लगाय के आसन साधे येह ।
लगे बंधि उडियाण पुनि नृमल होवे देह ॥ २६१ ॥
॥ इति कनेरीपाव आसन ॥

## अथ हालीपाव आसन ।

पूर्वविधि याह मै जानौ उभै पगथली संपुट ठानौ ।
पिष्ट पछै दोउ कर ल्यावो दछिण करसों वाम गहावों ॥ २६२ ॥

पिष्टि हथेल्यां की है जोई अंसुस्वासहित भूमि धरै सोई ।
पुनि ललाटि भूपरि ठाने एड्या लगता माही आने ॥ २६३ ॥

दोहा — कपालभाथी खुलत है या आसनसो वीर ।
नासादिष्टि लगाइकै साधी कहा धीर ॥ २६४ ॥

॥ इति हालीपाव ॥

**अथ मीडकीपाव आसन ।**

दोउ एडी मेलि पसारै फणा दोउ न्यारा कर धारे ।
पुनह ललाट भूमि परि ठानै एडया नखैनिकट ले आने ॥ २६५ ॥
हाथ दोउ गोडापरि धारै तिरछा आडे वाइ पसारै ।
अंगुरी अवर हथैली दोई भूसौ लगती राखै सोई ॥ २६६ ॥

दोहा — यासो पांचौ वाई सब मिलै एकठी आय ।
सहित धारणा साधिये नासादिष्ट लगाय ॥ २६७ ॥

॥ इति मीडकीपाव आसन ॥

**अथ जलंध्रीपाव आसन ।**

दोहा — दोउ एडी मैलकै दीजै हाति पसारि ।
पुनि च्यिबुक मुखनासिका ता ढिग भूपरि धारि ॥ २६८ ॥
पुनि दोउ कर पावनमांही आम्हांसंम्हा आडौ वांही ।
मिलिवां कोहण्यासौ भूपरै अंगुज्यासहित आसी विधि करै ॥ २६९ ॥

दोहा — हथेली सूधी करे नासादिष्टि लगाय ।
जयतराम के सध्या रोग जलंधर जाय ॥ २७० ॥

॥ इति जलंध्रीपाव आसन ॥

**अथ गोपीचंद आसन ।**

दोउ पगथली संपुट दाखै अंगुरी सकल भिंन करि राखै ।
दोउ हस्त काकसी करियै कौर पगथल्याकी परि धरियै ॥ २७१ ॥
अंगुष्ट कंठकूप धरि राखै एडी उभै ह्रिदा मे दाखै ।
पूर्वकरी कागसी जोई चटी अंगुल्या राखै सोई ॥ २७२ ॥
तापरि च्युबुक को धरै आनि दिष्टि रहै नासा मैं ठानि ।
यासो जालंघर बंघ होई इडा पिंगला जितै सोई ॥ २७३ ॥

॥ इति गोपीचंद आसन ॥

**अथ भरथरी आसन ।**

आसन गोपीचंद कह्यो जैसे याहुको कीजे पुनि तैसे ।
कोर पगथल्याकी माहिली सिखा आनिं मेले दोउ मिली ॥ २७४ ॥

दोहा — या आसन के कीयेते मूलबंध लगि जाय ।
जयतराम साथिके रहै नासादिष्टि लगाय ॥ २७५ ॥

॥ इति भरथरी आसन ॥

**अथ वसिष्ट आसन ।**

दोउ पगथली संपुट ठाने हाथ दोउ पावनमधि आनै ।
नीचै करि बाहरि ले आवै कहुण्यामाहिली संधि लगावैं ॥ २७६ ॥
बहु-यौ भुजा धरे यों दोउ करे कांकसी तिनकी सोउ ।
पग उचाई उचाको ल्यावै पुनह काकसी सिखा लगावै ।
आसन कीजै सोय जयतराम याकै किया पवनमा हित होय ॥ २७७ ॥

॥ इति वसिष्ट आसन ॥

**अथ चित्र आसन ।**

प्रथम पगथली संपुट करै पुनह जुगति ऐसी विस्तरे ।
डाई कहूणीमहिली संधि तापरि दोउ एडी बंघ ॥ २७८ ॥
फणा जुगम डरथ करि राखै बहुरि जुगति ऐसी विधि दाखै ।
बहुरि पगथली महली कोर सीस लगावे करिकै जोर ॥ २७९ ॥
एडी पुनह ललाट जु दाखै अंगुरी हथेरी फणा जु राखै ।
दछिन भुजकी हथेली जोई गलै लगावै संपुट सोई ॥ २८० ॥
अंगुरी सकल करै इह भाय दछि पाखती धरै सु आई ।
कहुणी नाभि सुधि ले आवै ताको उद्रही आनि लगावै ॥ २८१ ॥

दोहा — पथरी होवै पेटमै या आसन सो जाय ।
गुरुमुख साधन कीजिये नासा द्रि्ष्ट लगाय ॥ २८२ ॥

॥ इति चित्र आसन ॥

**अथ अंजनी आसन ।**

दोउ करकी उभै हतेली कोर वारिली मै ले भेली ।
सो आगा नै भूपरि दाखै माहा नै अंगुली मिलि राखै ॥ २८३ ॥

अंगुष्ट छीदा राखै दोई पुनह हथेली पिष्टि जु जोई ।
तापरि मूलद्वारि टिक बैसे बहुज्यौं जुगति करै एक बैसे ॥ २८४ ॥
कुहुण्यामहिली आखि मिलावै हाथ उद्रसौ लग्या रहावै ।
बहुरो लांबा पाव पसारे फणा उर्ध्व एडी भू धारै ॥ २८५ ॥
अंगुष्ट अवर गुलफ माहिला राखै जुडया करै नही खुला ।
साधै नासादिष्टि लगाई ताको हरस रोग सब जाई ॥ २८६ ॥
॥इति अंजनी आसन ॥

## अथ सावत्री आसन ।

प्रथमै दछिन पदकौ मोर ताकी पगथली माहिली कोर ।
तापरि मूलद्वारि टिकि बैसै डाई एडी जोनि निवैसै ॥२८७ ॥
फणो मोडि दछिण दिसि ल्यावै ताकी महिली वोर लगावैं ।
हस्त दोउ गोडापरि धरै खवासहित वपको सम करै ॥२८८ ॥
चढतौ चढतौं साधै थीर राखै एक महूरत धीर ।
यासौ वीरज थंभन होइ सहित धारणा साधे जोइ ॥२८९ ॥
॥इति सावत्री आसन ॥

## अथ गरुड आसन ।

डावो पाव मोडि भू ठानै तापरि मूलंद्वा को आने ।
गुलफ माहिला उपरि बैसै बहुरि जुगति करै एक अैसै ॥२९० ॥
दछि पगथली भूपरि दाखै गोडौ ऊंचौ ऊभौ राखै ।
पुनह पगथली महिली कोर डावा गोडा पींडी वोर ॥२९१ ॥
तिनकी महिली तरफ लगावै हाथ दोउ गोडापरि ल्यावै ।
नासाद्रिष्टि अचल कर राखै आसन गरुड ताहि बुध भाखै ॥२९२ ॥

दोहा— जो कदाचि कहूभांति धातही जाती होय ।
आसन कीजै गरुड जब थंभक पावै सोय ॥२९३ ॥
॥इति गरुड आसन ॥

## अथ सुकदेव आसन ।

डाई जंघ अरु एडीमाहि दछन पींडी धरै सु ताहि ।
आंख वाम गोडामाहीली राखै दछि गोडा अग्र मिली ॥२९४ ॥

दोई एडीको अग्र जो जोरि कूलातरि दे बैसै मोरि ।
पहुंचा की संध अैसै करै जंघ कड्याकी संधिपरि धरै ॥२९५ ॥
सोउ मांहिली तरफ जु राखै अंगुली जंघा वारै दाखै ।
अंगुरी छिदी करि लटकावै पंकजकै आकार बनावै ॥२९६ ॥
उभै हथेली सूधी करे नासा अग्र द्रष्ट कौ धरैं ।
पवन धारणा सहित जु साधै सो नर काव्यसक्ति को लाधै ॥२९७
॥इति सुकदेव आसन ॥

## अथ नारद आसन ।

पिष्टि जु वाम पगथली केरी भूपरि ताहि लगावै फेरी ।
गोडा सुधौ फणो है जोई दछि पाखती राखै सोई ॥२९८ ॥
बहु-यौ वाम पगथली जानौ दछि पगथली तापरि ठानो ।
उभै जोडि समता करि दाखै दछिन गोडा उभौ राखै ॥२९९ ॥
डाई एडीसो जामणी कछु एक ऊची राखै ।
अणी तापरि जोनिस्थानही दाखै सम्यक दिष्टि त्रिकुटी राखै ॥३०० ॥
दोउ हस्त काकसी करै मेलि गुदी पछि ने धरै ॥
आगा ने कहुणी द्वै ल्यावै दछि जंघ वारै सु मिलावै ॥३०१ ॥

दोहा— या आसन के कीयेते बहरापण मिट जाय ।
नृमल होवै कर्णपुट जो साधे इह भाय ॥३०२ ॥
॥इति नारद आसन ॥

## अथं नरसिंघ आसनँ ।

दोउ फणा पाणि होय बैसे एडी मेलि गुदा नि[illegible]
सम सरीर नीका ठहरावै नासाअग्रद्रष्टि [illegible] ॥३०३ ॥
दोउ हथेली भूपरि धरे पाद अंगुष्ट तो लगती करे ।
अंगुरी सकल भिन्न कर राखै अंगुष्ट उभै समता दाखै ॥३०४ ॥

दोहा— मुख पसारि पुनि जीभ को बाहरी काढे सोई ।
जिभ्या पावै अमलता काव्यसक्ति अति होय ॥३०५ ॥
॥इति नरसिंघ आसन ॥

### अथ वराह आसन ।

दोउ पगथली ऐसे राखै कोरमाहिली मिलिवा दाखै ।
फणापाणि उकड होय बैसै मूलद्वार एडी जु निवैसे ॥३०६ ॥
जंघ उभै छीदीं यों करै अंगुल च्यारि अंतरा धरै ।
दोउ हाथ कांधापरि आणै बहुरि जुगति ऐसै एक ठाने ॥३०७ ॥
अंगुरी अवर हथेली जोई काठी मौरा राखै सोई ।
हाथ जोडि अर लगि ठां राखै नासाद्रिष्टि वचन नही भाखै ॥३०८ ॥

दोहा— खड अछिर मंत्रसहित आसन करै पुमान ।
ताको होवे जैतराम तीन कालको ग्यान ॥३०९ ॥

॥इति वराह आसन ॥

### अथ कपिल आसन ।

उभै पगथली सम ठहरावै तिनकी माहिली कोर मिलावै ।
फणापाणि उकड होय बैसे एडी दोउ जोनि निवैसे ॥३१० ॥
गोडा दोउ भूमि लगावै सम[illegible]रीर नीका ठहरावै ।
हस्त दोउ गोडापरि राखै [illegible]द्रिष्ट्रि अचल करि दाखै ॥३११ ॥

दोहा— या आसन के कीयेते आछी हो[illegible] [illegible]ान :
वीरज थंभे देहमैं कबहू न पावै जान ॥३१२ ॥.

॥इति कपिल आसन ॥

### अथ जती आसन ।

दोउ एडी संपुट करै सो ले मूलद्वारितरि धरै ।
फणांपाणि उकड होय बैसै बहुरि पिष्टि दिसि करै जु अैसै ॥
कहुणी धरती धरै जु आणि सोवै मोरां कहुण्यां पाणि ।
पुनि मस्तगकी पुछली कौर आणि लगावै भूकी वोर ॥३१४ ॥
गोडा आगा नै करि राखै छीदासा भूउपरि दाखै ।
पिष्टि पगथली की पुनि जोई मुरच्छा लागती पकडै सोइ ॥

दोहा— यो आसन नित्य कीजिये नासाद्रिष्टि लगाय ।
मन वसि होवै जैत कहि काया नृमल थाय ॥३१६ ॥

॥इति जती आसन ॥

## अथ वृसपति आसन ।

दछिन गोडा आगै करिकै वामपाद दछिन दिसि धरिकै ।
ताहि मोडि अैसी विधि करै कूला नीचै ताकौ धरै ॥३१७॥
अधरही रहै फणाकै पाणि हस्त धरै गोडापरि आणि ।
नासाअग्र द्रिष्टि थिर राखै विसपति नाम ताहि बुध भाखै ॥३१८॥

दोहा— पवन धारणा सहित जो आसन साधै येह ।
जलमाही डूबे नही तिरै तूल ज्यौ देह ॥३१९॥
॥इति वृसपति आसन॥

## अर पारवती आसन ।

गोडा दोउ आडा राखै डाऊं पाद दछि जंघ दाखै ।
फणो जीमणौ भूपरि धरै एडी सम्यक उची करै ॥३२०॥
वाम पगथली महिली कोर मेले दछिन पींडी वोर ।
डाऊं गुलफमाहिलौ जोई अर दछिण वारिलौ सोई ॥३२१॥
ऐसे दोउ गुलफ मिलावे बहुरि जुगति अैसै ठहरावै ।
दोउ गोडा यौ करि चहै अधर दछि फणी परि रहै ॥३२२॥
हस्त दोउ गोडापरि राखै नासाद्रिष्टि अचल करि दाखै ।
पवन धारणासहित जु करै मायाबीज मंत्र उचरे ॥३२३॥

दोहा— यौ आसन गुरुमुख करै मायाबीज जपि कोय ।
परवत भेदे सहजमै ताको खेद न होय ॥३२४॥
॥इति पारवती आसन॥

## अथ कुरकट आसन ।

दोउ हाथ पग बाहर ल्यावै गोडा नीचे ले ठहरावै ।
आम्हां साम्हां अैसै करै आपस में कोहणी पकरै ॥३२५॥
उभै हाथ की उभै कलाई गोडाकी काखां दे आई ।
अैसै दावि उकड बैसै नासाअग्र द्रिष्टि रहै जैसै ॥३२६॥

दोहा— जो कदाचि कहू भांतिकी होय पासल्यां वाय ।
या आसनसौ जैत कहि दिवस तीन मै जाय ॥३२७॥
॥इति कुरकट आसन॥

## अथ काकभुसंडी आसन ।

प्रथमे बैसक उकड ठानै दोउ हाथ पगाव्यीच आनैं ।
तिनको मोडि नल्यापरि ल्यावै पिष्टपछै काकसी करावै ॥३२८ ॥

दोहा— या आसन के कीयेते दीरघु जुर सब जाय ।
जैतराम यों कीजियै नासाद्रिष्टि लगाय ॥३२९ ॥

॥इति काकभुसंडी आसन ॥

## अथ सिध हरताली आसन ।

प्रथम पदमआसन कों करे हस्त दोउ गोडा संधि धरैं ।
उभे हथेले भू धरि राखै पोहचा गोडा संधिमैं दाखै ॥३३० ॥
पिष्टि हथेली की है जहां आसन लगवा राखै तहां ।
नासाद्रिष्टि अचल ठहरावै सिद्ध हरताली नाम कहावै ॥३३१ ॥

दोहा— या आसनसो देहमें सदा रहे आनंद ।
नित्यप्रत्य साधन करे कटे रोग के फंद ॥३३२ ॥

॥इति सिध हरताली आसन ॥

## अथ सुमति आसन ।

मूलद्वारि धरती परि ठाने डावा पगपरि दछ पद आने ।
डांई पाखती को ले आवै हाथ एक अंतर ठहरावै ॥३३३ ॥
दोऊ एडी टेके अैसै आडो वांई राखो तैसै ।
फणा जुगम उभा कर राखै गोडा दोउ उभा दाखै ॥३३४ ॥
गोडातरै हाथ करि रहै आम्ही साम्ही कोहणी गहै ।
नासाद्रिष्टि अचल पर राखै आसन सुमति नाम सो भाखै ॥

दोहा— पवन धारणा सहित जो आसन साधै एहि ।
विमल बुधि होय तासकी रोगरहित पुनि देह ॥३३६ ॥

॥इति सुमति आसन ॥

## अथ कल्याण आसन ।

दोउ हाथ पगां विचि आने तिनको गोडा नीचै ठानै ।
बहुरि पाखत्या बाहरि ल्यावै पुनह युगति अैसै ठहरावै ॥
बहुरि मोडि पाठा ने आने करि परिल्याइ काकसी ठाने ।
दोउ पाद अधर करि राखै नासा अग्र द्रिष्ट को दाखै ॥३३८ ॥

दोहा— पवन धारणा सहित जो आसन साधै थीर ।
दिवस सात साधन किया नृमल होय सरीर ॥३३९ ॥
॥इति कल्याण आसन ॥

## अथ उर्धपवन आसन ।

प्रथमे सूधो सैन करावै गोडा उभा राखि मिलावै ।
गुलफ माहिला अंगुष्ट दोई करे एकसा मेलर सोई ॥३४० ॥
उभै हस्त कांकसी करै सो ले मस्तक नीचै धरै ।
नासा अग्र द्रिष्टि ठहरावै याते नाडि सरलता पावै ॥३४१ ॥
॥इति उर्धपवन आसन.॥

## अथ मसक आसन ।

प्रथमे सूधो सैन ही करे वामपाद कांधापरि धरे ।
तापरि दछन पग को आने दोउ हस्त अैसी विधि ठाने ॥३४२ ॥
तनसो लगिवा नीचा धारै भूपरि सूधा हसत पसारे ।
नासा अग्र द्रिष्टि ठहरावै याते रोगनास सब पावै ॥३४३ ॥
॥इति मसक आसन ॥

## अथ ब्रह्म आसन ।

बैठे प्रथम मूलकै पाणि दोउ पग कांधै धरै आणि ।
बहुरि पायड़ापरि ले जावै कूखिनखैलके ठहरावै ॥३४४ ॥
अधर रहै हाथांकै पाणि नासाद्रिष्टि करै थिर आणि ।
यौ आसनहित सो जो करै सबदज्ञान ता नर को फुरै ॥३४५ ॥
॥इति ब्रह्म आसन ॥

## अथ अनील आसन ।

दोउ हाथ भूमपर ठानो कहूणी जाडि नाभिलग आनै ।
फणा दोऊ अैसै विधि करै पिष्टि हथेल्याकी परि धरै ॥३४६ ॥
अैसै रहै कराकै पाणि द्रिष्टि धरै नासामध्य आणि ।
यासो तपत मिटे तन केरी जैतराम प्रकट कहै टेरी ॥३४७ ॥
॥इति अनील आसन ॥

## अथ कूर्म आसन ।

चौपाई— प्रथम पदम आसन को करै गोडासंधिमाहि करि धरै ।
तरफ दूसरी कर दोऊ आने कोहण्या उपर संधि ले ठाने ॥३४८ ॥
गुदी पछे दोऊ कर ल्यावै तहां आनि कांकसी करावै ।
पुन ललाट भूउपर धरै नासा अग्र द्रिष्टि थिर करै ॥३४९ ॥

दोहा— रोग नास सब होत है पातालि तली सोय ।
जयतराम कुरम स्फुरगुम निहचै जाणै जोय ॥३५० ॥
॥इति कूर्म आसन ॥

## अथ नग्र आसन ।

प्रथम पदम आसन को ठाने दोउ हाथ पाछा ने आने ।
पाद अंगुठा पकडे आणि सोवै कहूण्या कूल्या पाणि ॥३५१ ॥
गोडा जंघ अग्र को दाखे मसतग सो सम सूधो राखे ।
नासा अग्र द्रिष्टि को धरे आसन न्ग्र ईसी विधि करै ॥३५२ ॥

दोहा— नासा रोगु जुना रहै विसाली पीनस जोय ।
जुखाम आदिक सब हरै नग्रासन गुण सोय ॥३५३ ॥
॥इति नग्र आसन ॥

## अथ परसराम आसन ।

प्रथम करै पदमासन आछै सूधो सोवे भूपरि पाछे ।
गोडा अरु जंघाये दोई भूसो लगता राखै सोई ॥३५४ ॥
दोउ हाथ मसतग दिस धारै लांबा भूसो लगत पसारे ।
बहुरि वाम हस्त है जासौ दछि हथेली पिष्टि जु तासौ ॥३५५ ॥
नीकी विधिसो पकरै सोई नासा अग्र द्रिष्टि रहै गोई ।
सकल सरीर करन आराम आसन परसरामसे नाम ॥३५६ ॥
॥इति परसराम आसन ॥

## अथ सिध आसन ।

चौपाई— वाम पाद की एडी जानौ सीवनमधि तासको ठानो ।
दछिन पाद की एडी जोई मेढ्रमधि लगावे सोई ॥३५७ ॥
गोडा दोउ हस्त जो धरे भूमे द्रिष्टि देहि सम करे ।
सिधासन येह राम कहावे याका गुणकी कहत न आवे ॥

**दोहा—** सहस्र बहतर नाडि जै मल तज नृमल होय ।
तीन बंध सहजै फुरै लहै उनमनी सोय ॥३५९ ॥

॥इति सिधासन ॥

**चौपाई—** चोरासी लछ आसन सारे तिनमै चौरासी सत्त निकारे ।
सत सत एक ही जाणिये चतुरासी कहे वखाणि ॥३६० ॥

**दोहा—** चतुरासी आसण कहे सारभूत है सोय ।
जयतराम इनकै सधे सकल योग सिध होय ॥३६१ ॥
या विधि आसन वरनीया[२६] गुनिमिश्रत पुनि सोय ।
जयतराम साधन कीये मन वांछत फल होय ॥३६२ ॥
या विधि आसन द्रिढ करै गुरकी आग्या पाय ।
जयतराम ता पुरुख के प्राणायाम सधाय ॥३६३ ॥

**इति श्री जोगप्रदीपकायां जयतरामेण विरचितायां आसनवर्णन नाम त्रितीय खंड ॥३ ॥**

२६ - *गुणमिश्रत (भा)*

## अथ मढी की विधि ।

**चौपाई—** कहों जोग की जुक्ति जु सोई जाने ताहि विघ्न नही होई ।
जो नर जोगक्रियाकों ठाने रहिणो कहा ठोर सो जाने ॥३६४ ॥
निर्भय देस उपद्रव नाही आणि अथवा नगरजु मांही ।
देखि एकांत गुहा सुंभ करै जुक्तसहत नीका विस्तरे ॥३६५ ॥
[२७]सुक्षमता को द्वारि बनावै लीप[२८] ल्हे अति विमल करावै ।
और सबद न सुनिये जहां अैसै जानि गुहा करै[२९] आनि तहां ॥३६६ ॥
तामै आसन कौ ले आवै कोमल कंबल[३०] तहां बिछावै ।
पंच स्नान करि निर्मल होवै बैठे अचल चंचलता[३१] खोवै ॥३६७ ॥
॥इति मढी की विधि ॥

## अथ विघ्न निवारण मंत्र ।

**चौपाई—** बहुरि विघ्नके[३२] मंत्र उचारै ताकरि सकल विघ्नकौ ट़ारै ।
अपसर्पति भूत जो जोई अथवा भूमधि वसत[३३] जु सोई ॥३६८ ॥
अथवा विघ्नकरन जो आवै गुरुकी क्रिया नास सो पावै ।
बहुरि पृथी के मंत्र उचारे ताकरि आसन निश्चल धारै ॥३६९ ॥
पृथी सकल लोक तू धारै तोकौ देवी विष्णु धारै ।
मोको भद्रे धारि जु सोई आसन होय पवित्र जिम[३४] जोई ॥३७० ॥
॥ इति मंत्र ॥

**दोहा—** अैसै विघन[३५] निवारि कै साधै जोग सुजान ।
जयतराम तब पाय है अष्ट अंग को ग्यान ॥३७१ ॥
॥इति विघन[३६] निवार्ण ॥

---

*२७. स्वछिमता (भां)*
*२८. लीपि ल्हेसि (भां)*
*२९. करै तहां (भां)*
*३०. कम्मल सु (भां)*
*३१. चपलता (भां)*
*३२. जहासौ (भा)*
*३३. वस्त (ना)*
*३४. जिमि (भां)*
*३५. मठी बनाइ कै (भां)*
*३६. इति मढी (भां)*

## अथ मित्याहार वरनन ।

चौपाई— प्रभुकी आग्या जो कछु आवै ताकरि मन संतोष धरावै ।
संकल्प विकल्प मन तै टारै प्रथमही साधिक यह मति[३७] धारै ॥३७२ ॥
अधिक अहार आय जो परै ताकौ असन युक्ति सौ करै ।
दोय भाग अंनसौ भरि लेवै त्रितीय भाग तोय भरि देवै ॥३७३ ॥
चतुर्थ को अवसेष रहावै तामे प्राण[३८] वाय ले आवै ॥
जो कबहु पूरण भक्षि करै ताकै वाय न घट में फिरै ॥३७४ ॥
अधिक उश्न भोजन नहि लेवै बहुत कालकौ सो तजि देवै ।
भक्ष्य[३९] अभक्ष्य कौ वारंवारा जोगी नित्य[४०] प्रत्य करै विचारा ॥३७५ ॥
अति खाटो अति मीठो खारो अैसी भक्ष्यन सकल निवारो ।
अरु जे वुस्त मादादिक जोई तिनको भखे जोग नही होई ॥३७६ ॥
भंग अफीम भक्ष जो करै सो तो जाय नरक में परै ।
सहस्र वर्षलग निकसै नाही नाना दुख सहे तामाहि ॥३७७ ॥
बहुरि मद्यमास जो खावै सो तो नरकु[४१] तुरतही जावै ।
अनंतकाल पुनि तासंग रहै ताको दोष वरनि को कहै ॥३७८ ॥
पुनह तमाखु पीवे कोई रौरव नरक परे पुनि सोई ।
जुग जुग माहि सास ना सहै काढे कौन नीस-यों चहै ॥३७९ ॥

दोहा— इहि विध[४२] मित्याहारकौ जोगी करै अहार ।
जयतराम जब सहजमें लहै जोगमत सार ॥३८० ॥
॥इति मित्याहार ॥[४३]

## अथ स्वर फेरवाकी विधि ।

चौपाई— स्वर फेरनकी जुगति बताऊं साधिक को अति सुगम लखाऊं ।
जा जा कारजों में जो चहै जयतराम ततछिन लहै ॥३८१
वाम हस्तकी कुहनी जोई वामकूख ले राखे सोई ॥
अंगुरी छिदीकर भू लावै दाबै कछु सूर स्वर आवै ॥३८२ ॥

---

*३७. मत (भां)* *३८. प्राणि (नां.)*
*३९ भक्षि अभक्षि (ना.)* *४०. निति प्रति (भां)*
*४१. नरकि (भां)* *४२. विधि (भां)*
*४३. मिताहार (भां)*

बहूरौ जबै चंदसुर लेवे दछिन कूख दछि कर देवै ।
अंगुरी भिंनि भूमिपरि धरै चांपे कूख तूरत सुर फिरै ॥३८३ ॥
जोनि स्थान नाडि त्रिय सोई इडा पिंगुला सुखमन जोई ।
चांपै इडा सूर सुर आवै पिंगला पीडया चंद्र वहावै ॥३८४ ॥
जोगी दिवस चंद्र सुर[४४] चाहै सूरज रैनि सदा औगाहे ।
अैसी जुगति निरंतर धारै निश्चल रहै कालभय टारै ॥३८५ ॥

दोहा— विसरग और सनानमै भोजन करता जो सोय ।
जोकी राखै सूर सुर सावधान द्रिढ होय ॥३८६ ॥
दिवस चंद अरु रैन रवि सुर राखै सुजान ।
ताके सुर फेर न लिये इक मगरुई ठान ॥३८७ ॥[४५]
प्रातविसर्जन न्हानमें भोजन सुर ले भान ।
जो सुर चंद हि चले तो रोक सुरुई आन ॥३८८ ॥[४६]

चौपाई— सयन समै सुर चंद्र चलावै वाम करोट सयन ठहरावै ।
जीवत सुरकौ नीचै धरै मुवो वोढ उरध ले करै ॥३८९ ॥
वजरी करता अमरी रोके अमरी करता वाई[४७] सोकै ।
मूलबंध पुनि दृढि करि धरे वजरी अमरी तब वस करे ॥३९० ॥
आलस निद्रा अरु उदगार छीक जंभाई लेहू विचार ।
प्रान अपान आदि वसि आवै जो या साधन सो मन लावै ॥३९१ ॥

दोहा— जल नहीं पीवै जुगम स्वर इह साधन दृढ होय ।
जयतराम तब बरस मैं काया पलटे सोय ॥३९२ ॥
॥इति स्वर फेरन विधि ॥

## अथ प्राणायाम वरनन ।

दोहा— प्राणायाम त्रिविधि कहै मंत्रसहित पुनि सोय ।
जयतराम साधन किया मन वसि सहजै होय ॥३९३ ॥

---

*४४. स्वर वाहै (भा)*

*४५. Missing in (ना)*

*४६. Missing (ना)*

*४७. पवन न छाडै (भा)*

चौपाई— प्राणायाम है तीन प्रकारा सो पुनि तिनकौ सुनौ विचार ।
उतम मध्य कनिष्ट जु कहीयै ताको भेद गुरुते लहीये ॥३९४ ॥
पूरै राखै रेचन करै प्राणायाम नाम सो धरे ।
मंत्रसहित सो नाम सगर्भा मंत्ररहित सो सकल अगर्भा ॥३९५ ॥
मात्रा द्वादस कनिष्ट ही जानो औग चौबीस मधि पुनि मानौ ।
खट अरु तीस मात्रा जोई उतम नाम कहावै सोई ॥३९६ ॥

## अथ वेदोक्त प्राणायाम कहिये है ।

प्रथम ही गुरुको मंत्र उचारै गुरुको रूप ह्रिदामधि[४८] धारै ।
बहुरो प्राणायाम जु साधै बैठ मढीमैं जुगत अराधै ॥३९७ ॥
सीतकाल में ऐसै करई सूर्यभेद कुंभक मन धरई ।
रेचक पूरक थोरो गहै कुंभक राखि सीत को दहै ॥३९८ ॥
उष्णकाल में बहुविधि करै कुंभक राखि तपति को हरै ।
प्राणायाम की दोय विधि लहिये वेदोक्त तांत्रोक्त जु कहिये ॥३९९ ॥
छत्री विप्र वेदको साधै वैश्यशुद्र तांत्रक्त आराधे ।
वैश्य शूद्र वेदको करे विघ्न होय साधन नहीं फुरै ॥४०० ॥
वैश्य शूद्र अधिकारी नाही वेदमंत्र ताते नहि ताहि ।
पवन मंत्रकै वसि होइ आवै ताते बुधि सुजुगति ठहरावै ॥४०१ ॥
प्रथम वेदकी उक्त बताऊ प्राणायाम को भेद लखाऊ ।
सिरसा प्रजापति को ध्यावै हाथ जोरि पुनि सीस नवावै ॥४०२ ॥
इडा नाडि जब प्राण चढावै अर्धचन्द्र को ध्यान धरावै ।
अतिनिर्मल अमृतमय जानौ त्रिकुटीमधि ध्यान सो[४९] ठानौ ॥४०३ ॥
सूर्य मारगकर खै वाई नाभिमाहि रवि ध्यान कराई ।
कोटिक किरण सहित तहां राजत अति सोभामय नाभि विराजत ॥४०४ ॥
अैसै ध्यान हिदामधि[५१] आनै इडा पिंगुला साधन ठानै ।
ताकै विघ्न निकट नहीं आवै प्राण अपान सिथरता पावै ॥४०५ ॥

---

*४८ हृदमें (ना)* ५० Line Missing in *(नां)*
*५१. मध्य (नां)*

चारो वर्ण जुगत यह जाने[५२] बेदबचनकौ सति करि मानै ।
सो जन सीघ्र लहै सुसमाधि करे अन्यथा[५३] होवै व्याधि ॥४०६ ॥
अरु जो वरणभेद ते न्यारा विष्णुभक्तिका सदा विचारा
सो सतगुरुकी आग्या पावै सोई मंत्र पढि प्राण चलावै ॥४०७ ॥
अथ प्रथम कनिष्ट प्राणायाम द्वादस मात्रा का कहियै है ।

चौपाई— पूरक मात्रा च्यार उचारे कुंभक समै पंच द्रिढ धारै ॥
रेचक करै तीन करि जोई कनिष्ट नाम कहावै सोई ॥४०८ ॥
॥इति कनिष्ट प्राणायाम ॥

अथ मध्यम प्राणायाम चौईस मात्रा कहियै है ।
पूरक सप्तसु मात्रा लेवै द्वादस कुंभक द्रिढ करि देवै ।
रेचन पंच मात्रा सोई प्राणायाम मध्य यह सोई ॥४०९ ॥
॥इति मध्यम प्राणायाम ॥

**अथ उत्तम प्राणायाम** छत्तीस मात्रा का कहियै हैं ।
पूरक अष्ट सु मात्रा भाखै अवर उन्नीस कुंभक भरि राखै ।
नवकरि रेचक करे पुनि सोई उत्तम नाम कहावै जोई ॥४१० ॥
॥ इति उत्तम प्राणायाम वेदोक्त ॥

**अथ प्राणायाम फल ।**
कनिष्ट स्वेद अधिक उपजावै मधिम करिकै कंप जु पावै ।
उत्तम करे उथान जु सोई गुरुमुख साधन जो विधि होई ॥४११ ॥
कनिष्ट तै सुरलोकही पावै सत्यलोक मधिम पहुंचावै ।
उत्तम मोक्ष देत पुनि सोंई गुरुमुख साधि समाधि[५४] हित सोई ॥

दोहा— अैसै प्राणायाम तें सुलभसु सब ही जोग ।
जयतराम गुरुक्रिपाते मिटै मरन भवरोग ॥४१३ ॥
॥इति प्राणायाम फल ॥

---

*५२. ठानै (भां)* *५३. अनिका (भां)*
*५४. समाहित (भां)*

## अथ तंत्रोक्त प्राणायाम कहिये है ।

चौपाई— तांत्र उक्त को कहूं उचारी चार[५५] वर्ण याके अधिकारी ।
वैसहि सूद्र सुकृति करे खित्री विप्र विसेष अनुसरे ॥४१४ ॥
क्रमक्रम साधन साधक करई सनै सनै आगे अनुसरई ।
पूरक चारि सुमात्रा भाखै कुंभक समै आठ थिर राखै ॥४१५ ॥
रेचक मात्रा च्यार उतारे प्राणायाम प्रथम यह धारै ।
ऐसी भांति समाहित करै ता पाछै आगै मन धरै ॥४१६ ॥
बहुरो आठ जू पूरक लेवै सोलह कुंभक द्रिढ करि देवै ।
मात्रा आठ उतारे वाई तां पाछे आगै चढ जाई ॥४१७ ॥
क्रमसो साधन बहुरि बढावै मात्रा पचास लग ले ठहरावै ।
पूर्ण प्राणायाम सु कहिये लोमविलोम प्रत्यलोम सु गहिये ॥४१८ ॥
सरगसिथिति संहार बताऊ तिनको ब्योरो वरन सुनाउ
ब्रह्माविष्णुरुद्र इहि देवा जाना उपास करै पुनि सेवा ॥४१९ ॥
जो कोई साधक मुक्ति मन धरै प्राणायाम क्रिया[५६] सो करै ।
तीन लोक के आगे धावै मुक्तिमाहि सो जाई समावै ।४२० ॥
॥इति तांत्रोक्त प्राणायाम ॥

## अथ सरगक्रम कहिये है ।

अकार आदि अ:कारकौ कहै तो लग पूरक कौ उरि गहै ।
(अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ए ऐ ओ औ अं अ:)
ककारादि मकार लग जोई दृढ करि कुंभक[५८] राखै सोई ॥४२१ ॥
(कखगघङ चछजझञ टठडढण तथदधन पफबभम)
यकार आदि क्षकार लग जोई रेचन करै समझ मन सोई
(य र ल व श ष स ह ल क्ष)
अथ सथित कर्म कहत है ।
दकारादि मकार परजंत पूरक करै समझि मन संत ।
(दधनपफबभम)

---

*५५. च्यारीवर्ण (भां)* *५६. त्रीये (भां)*
*५७. कुंभक (ना.)* *५८. पूरक (ना.)*

यकारादि अकार लग भाषै तबलग कुंभक हिृदे[५९] राखे ॥
(यरलवशषसहलक्षअआइईउऊऋ ॠ लृ ॡ एऐओऔअंअः)
ककारादि थकार उचारै ऐसे रेचक वाय उतारै ॥४२२ ॥
(कखगघड़, चछजझञ टठडढण तथ)
इति सरगक्रम ।

## अब संघारक्रम कहिये है ।

क्षकार आदि यकारलग कहै तबलग वाय पूरि करि गहै ।
(क्षलहसषशवलरय)
मकारादि ककारलग भाखै तो लग कुंभक द्रिढ करि राखै ॥४२३ ॥
(मभबफप नधदथत णढडठट ञझजछच ङ घगखक)
अः कारादि अकारांत उचारे ऐसे रेचन[६०] पवन उतारे ।
(अः अंऔओएएलृलृऋॠऋऊउईइआअ)
लोमविलोम प्रत्यलोम जु ठानै ते नर जोगं पंथ कौ जानै ॥४२४ ॥
जो जो प्राणायाम जु करै तामै लोम विलोम ही धरै ।
रेचक पूरक कुंभक सोई प्राणायाम तीन विधि होई ॥४२५ ॥
चंद्र वहै तब साधन करई चंद्र पूर वाई उर धरई
स्वस्तिक आसन कौं द्रिढ करै वाम हस्त गोडापरि धरै ॥४२६ ॥
दछिन करते नासा गहै ताकरि पवन उतारै वहै[६१] ।
इडा नाडिते[६२] पवन चढावै नाडि[६३] पिंगुला रेच करावै ॥४२७ ॥
बहुरि सूरस्वर पूरक लेवै [६४]कुंभकरेचक द्रिढ कर देवै ।
अैसै वारंवार जु साधै सरल सरीर जुगति आराधै ॥४२८ ॥
पूरक मूल अंकोचन करै कुंभक मैं संकोचन धरै ।
रेचक मूल विकोचन ठानै तीनो अंग इसी विधि जानै ॥४२९ ॥
च्यारो बंध लगावै धीर सरपाकार करि रहै सरीर ।
इडी पायमूलसो गहै नाभि पीठ माहि करि रहै ॥४३० ॥

*५९. द्रिढकरि (भां)* — *६०. रेचिर (भां)*
*६१. यहै (नां.)* — *६२. नाडते (भां)*
*६३. नारि (भां)* — *६४. चंद्र नाडि वाय तजि देवै (भां)*

अैसै क्रम क्रम साधन ठानै पूरक कुंभक रेचक जानै ।
मात्रा पचासलग ठहरावै पूरण प्राणायाम कहावै ॥४३१ ॥

दोहा— या विधि प्राणायाम को ब्यौरो कह्यो सुनाय ॥
जयतराम याके सध्या लय मैं रहे समाय ॥४३२ ॥

॥इति सिंघारक्रम ॥

## अथ षडंगभेद कहियै है ।

चौपाई— द्वादस प्राणायाम करावै ताको पूरण एक कहावै ।
सो पूरण द्वादस जब होई प्रत्याहार [६५] कहावै सोई ॥४३३ ॥
प्रत्याहार द्वादस करि रहिये ताकी एक धारणा कहिये ।
द्वादस अैसी धारणा गहै ताको ध्यान एक बुध कहै ॥४३४ ॥
ऐसे द्वादस ध्यान जु होई एक समाधि कहावै सोई ।
बहुरि समाधि द्वादस सधि आवे सो जन लय एक को पावै ॥ ४३५ ॥
बहुत कालतक क्रमक्रम साधै षडंग प्राणायाम सो लाधै ।
ऐसै साधन साधै जोई प्राणायाम परायण होई ॥४३६ ॥

दोहा— प्राणायाम एक नित्य करई इंद्रि पंच विषैपरि हरई ।
प्रत्याहार एक सधि आवै ताकरि मन सुख दुख छिटकावै ॥४३७ ॥
एक धारणा ऐसी धरै ताकरि बुधि विमलता करै ।
अैसो एक ध्यान जब धरई अहंकार को सो वसि करई ॥४३८ ॥
ऐसी एक समाधि जब पावै अपनी जीव उपाधि मिटावै ।
जैसै मृतक तन विसरावै अैसै जोगी सदा रहावै ॥४३९ ॥
ऐसेही लय तक सधि आवै नादबिंद एकता पावै ।
पूर्ण जोग लहै जब सोई प्राणायाम परायण होई ॥४४० ॥

दोहा— एक अंग यह जोग को प्राणायाम है सोय[६६] ।
जयतराम याकै सध्या सकल जोग वस[६७] होय[६८] ।४४१ ॥

---

*६५ एक होई (भां)* *६६. सोई (भां)*
*६७. सिधि (भां)* *६८. होई (भां)*

## अथ षट्कर्म कथन ।

**दोहा—** कुंभक अष्ट जु कहेंगे महाकठिन है सोय ।
जयतराम षट्कर्म तैं तेउ सुगम जु होय ॥४४२ ॥
तिनकैं हित षट्कर्मको विधिसौं वरनौ भेद ।
जयतराम कुंभक सधै मिटै देह की खेद ॥४४३ ॥

## अथ धोती कहीये है ।

लंबी चतुरासी गहै चौरी अंगुर च्यारि ।
धोती औसे कीजिये कोमल कपरौ फारि ॥४४४ ॥

**चौपाई—** बहुरि ताहि मुखमाही आनै निगलै हरै उदरमधि ठांनै ।
एक कौर करसो पुनि गहै पलक[६९] एक तहा कुंभक रहै ॥४४५ ॥
बहुरि काढि बाहरि ले आवै [७०]कफादिक सब रोग नसावै ।
[७१]जलसो धोय बहुरि ले सोई अरु पुनि अंतर निर्मल होई ॥४४६ ॥

**दोहा—** इहविधि धोती साधि करि उदर सुध करि लेय ।
जयतराम [७२]ताकौ पछै गजकरणी चित देय ॥४४७ ॥
॥इति धोती ॥

## अथ गजक्रिया ।

काष्ट जु[७३] अथवा [७४]धातुकौ सवा हाथ गज आनि ।
मुख मारग [७५]उगले गिलै क्रिया गज[७६] यह जानि ॥४४८ ॥
॥इति गजक्रिया ॥

## अथ नेती दोय विध कहिये है ।

**चौपाई—** [७७]तागौ सूतरहीको लेवै नासाछिद्रमांहि सो देवै ।
मुखमां है सिवलिंग है जोई ता उपरि करि काढे सोई ॥४४९ ॥

---

*६९. पल (नां)*
*७०. जलसो धोई बहुर तिहिं ध्यावे (भा.)*
*७१. हिदै रोग रहै नहीं कोई (भां)*
*७२. याकै (भां)*
*७३. सु (भां)*
*७४. धातको (भां)*
*७५. उगिले (भां)*
*७६. गजहि (भां)*
*७७. वाती सूत्रकी करी लेवै (भां)*

बहुरि दूसरी नासा देवै वाही मारग काढि जु लेवै ।
जयतराम नेती यह गहै इडा पिंगुला सुधता लहै[७८] ॥४५० ॥

**अथ दूसरी विधि ।**

दोहा— द्वादश अंगुल सूतमय धागो करे कठोर ।
अग्रहि कोमल राखि करि गिले नासिक वोर ॥४५१ ॥

चौपाई— ताहि चढाय कपालमहि ल्यावै सीसकेस लग ले ठहरावै ।
बहुर काढि दूजै स्वर धारे ले कपाल में बहुरि[७९] निकारे ॥४५२ ॥

॥इति नेती ॥

## अथ त्रितीय पोचिक कर्म कहिये है ।

नाभिसमान नीर मैं पैठै काकासन तामै करि बैठै ।
मूलप्रकासि ऊर्ध जल पीवै बहुरि संकोचि नाभि थिर कीवै ॥४५३ ॥
पुनि ता जलको बाहरि आनै बारंबार क्रिया यह ठानै ।
जयतराम पोचिक यो करै जाको मूल अमलता धरै ॥४५४ ॥

॥इति पोचिक कर्म ॥

## अथ चतुर्थ न्योली कर्म ।

प्रथमे प्राणायाम जु करै सक्तिप्रमाण कुंभक थिर धरै ।
उदर संकोचि पृष्ट दिसी तानै अरु जालंधर बंध जु ठानै ॥४५५ ॥
जोनिस्थान नाडि द्वै जोई इडापिंगुला कहिये सोई ।
सो पुनि उरध उदर मै आई नासा ठौर सु पहुती जाई ॥४५६ ॥
सो पुनि नाडि विलोकन करै प्रकट उदर मैं द्रिष्टि जु परै ।
जिभ्या तालू उर्ध चढावै सब ही नाडि सुधिता पावै ॥४५७ ॥

दोहा— अैसै न्योली[८०] साधिये गुरमुख अर्थ विचारि ।
जयतराम नाडी सबै रहै अमलता धारि ॥४५८ ॥

॥इति न्योली ॥

---

*७८. रहै (नां)* *७९. पुनह (भां)*
*८०. निवली (ना.)*

**अथ पंचमें नलनी कर्म । विधि दोइ प्रथम त्राटक पुनः नलनी**

**अथ त्राटक ।**

चौपाई— प्रथम आसन सिद्ध सु करै द्रिष्ट आनि जुण भौहन धरै ।
राखे थीर जाम पुनि जहां सीतल बूंद नैन चलि तहां ॥४५९ ॥

दोहा— अैसै त्राटक कीजिए द्रिष्ट राख भुव थीर ।
जयतराम मन रोककै साधन साधै थीर ॥४६० ॥

॥इति त्राटक ॥

**अथ नलनी ।**

चौपाई— सूवो अंगुल तीन धरावै सुवरण अथवा रूपो लावै ।
अथवा ताम्र लोहमय करे पोलाबीच नलसम धरै ।
अथवा रुई फोहो लेवे सो ले द्वारि नासिका देवे ॥४६१ ॥
जो सुर चलै तासमै धारै अैसी जुक्ति षटमास विचारै ।
[८१]स्वास न कबहु बाहरि लावै घटमें चमतकार सो पावै ॥४६२ ॥
सहजै बालबुधि सो होवै जाग्रतमाहि सुखोपति जोवै ।
जयतराम नलनी गुन भाख्यै प्रकट कहे गोप न राख्यै ॥४६३ ॥

॥इति नलनी ॥

**अथ षष्ट में भाथीकर्म कहिये है ।**

स्वस्तक आसन बैठक ठानै खैचै पवन उर्धको आनै ।
मूलद्वार कर वाय न छाढै ताकै जठर अग्नि इति बाढै ॥४६४ ॥
जोग चिह्न पुनि प्रगटै आई मिटे उसास रोग सब जाई ।
वृद्ध करे तो [८२]तरुनता पावै रोगी रोगनास व्है जावै ॥४६५ ॥
जुवा करे तो जोगहि लहै जयत यह निहचे कहै ।[८३]
जुवा विंद [८४] करि पूरन रहै तातै सहज अमलता लहै ॥
जयतराम सो अैसै करै कुंभक अष्टमाहि मन धरै ॥४६६ ॥

॥इति भाथीकर्म ॥

॥ इति षटकर्म ॥

---

*८१. स्वासानेक न बाहर लावै* *८२. तरुना होइ आई वै (ना.)*
*८३. Line missing in* *८४. विंद विंद (ना.)*

## अथ अष्ट कुंभक वरनन ।

चौपाई— प्रथमही उरजाई को जानै भोरलिका[८५] दुतीयै पुनि ठानै ।
त्रितिये सीतली कुंभक कहिये भुयंगम चतुर्थ सो पुनि लहिये ॥
त्राटक कुंभक पंचम जोई कंठीवेताली षट सोई ।
सप्तम सूर्यभेद बखाने[८६] केवल कुंभक अष्टम माने[८७] ॥४६८ ॥

दोहा— बहुरि आठ कुंभक कह्यौ भिंन भिंन समझाय ।
जयतराम ए साधिये मुद्रा सुगम सधाय ॥४६९ ॥

**प्रथमे उरजाई कुंभक कहिये है ।**

चौपाई— प्रथमे पदमासन द्रिढ धरै[८९] मूल उडयाण बंध दोय करै ।
जालंधर[९०] पुनि बंध जु ठाने चिबुक ध्यान मनमही[९१] आने ॥४७० ॥
जिभ्या अणी दांततरि[९२] धरै अंगुर एक जु बाहर[९३] करै ।
दाबै सनै जोर नहीं ठानै बहुरो जुगत और पुनि जानै ॥४७१ ॥
कंठमधि सिवलिंग जु जानो ताके उपर ठोडी ठानो ।
इडा वाट क्रम गहै सुवाय राखे थीर देइ छिटकाय ॥४७२ ॥
गहे परसपर बहुरो तजै गुरु को मंत्र [९४]हिदा में भजै ।
साढातीन घरी गहै वाई सो कहियै कुंभक उरजाई ।४७३ ॥
ताकी सहश्र मात्रा होवै जिव्हा सकल स्वाद को जोवै ।
सेतपीत नील रंग जो है कृष्ण रक्त रसना अति सोहै ॥४७४ ॥
षटरस स्वाद सु सहज प्रकासे छंदकवित विन सुने [९५]अभ्यासै ।
चमतकार प्रगट कछु पावै उरजाई जो ये सधि आवै ॥४७५ ॥

---

*८५ भोरिलिका (ना.)*
*८६. बखानों (ना.)*
*८७. मानौ (ना.)*
*८८. Line missing in (vee.)*
*८९. करै (ना.)*
*९०. जालंधरि (ना.)*
*९१. मनमाहि सु आनें (भां)*
*९२. दांततर (ना.)*
*९३. बाहरि (भां)*
*९४. तहा पुनि जजै (भां)*
*९५. अभासै (भां)*

दोहा— अैसै उरजाई कह्यौ प्रथमही कुंभक सोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते विरला पावै कोय ॥४७६ ॥
॥इति उरजाई कुंभक ॥

## अथ भोरलिका कुंभक कहिये है ।

चौपाई— प्रथमे पदमासन द्रढ ठाने कर दोउ मोडि पिष्ट दिस आने ।
वामपाद कौ अंगुष्ट जोई वामहस्तसो पकरै सोई ॥४७७ ॥
दछन पद कौ अंगुष्ट जु है दछन करते सो पुनि गहै
नाभिवाट वाई गहि पीवे जथासक्ति नाभि थिर कीवै ॥४७८ ॥
नाभि ही कर पुनि रेचन करै भवर गुंजार नाद तहां फुरे ।
नासापुट को मुंदै नाहि बहुतबेरसा रहै साधन माहि ॥४७९ ॥
मिटै देह की छींक जंभाई हिक्का स्वपनो जाय पलाई ।
अरु मन सदा प्रफुल्लित रहै आलस तजै चेतना गहै ॥४८० ॥

दोहा— इहविधि भोरलिका कह्यौ कुंभक दुजो सोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते याको साधन होय ॥४८१ ॥
॥इति भोरलिका कुंभक ॥

## अथ सीतली कुंभक कहियै है ।

चौपाई— गोमुख आसन प्रथमही ठाने वामपाद दछन दिस आनै ।
दछन पाद वामदिस दाखै पायमूल धरती पर राखै ॥४८२ ॥
दोउ गोडा आनि मिलावै सो पुनि गोमुख नाम कहावै ।
यामै बैठ सीतली करै सकल बंध युक्त सो धरै ॥४८३ ॥
दंताधार पवन भरि पीवै [१६]रसना खेचि उर्ध ही कीवै ।
ऐसी भांति वाय थिर धारै बहुरो नासाद्वारि उतारै ॥४८४ ॥
बहुत वेर आरंभ नहि करै थोरे साधन मे मन धरे ।
सीतल पवन अधिक जो गहै ताकरि देह सीत अति लहै ।
ताते सीतकाल नही करै उष्णकाल में साधन करै ॥४८५ ॥

दोहा— याकि महिमा बहुत है जाने विरला कोय ।
जयतराम साधन करै भेद लहै [१७]नर सोय ॥४८६ ॥
॥इति सीतली कुंभक ॥

---

१६. This half verse missing in १७. *तहि (भां)*.

## अथ भुयंगम कुंभक कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही वीरासन द्रिढ धरै वाम जंघ को लांबी करै ।
बहुरि दछपद अैसै ठानौ वामे गोडा उपर आनौ ॥४८७ ॥
सकल बंध नीकै द्रिढ देवै जिभ्या कछु उर्ध करि लेवै ।
कछुक रसना बाहर आनै पुनि ताहि सों कुंभक ठानै ॥४८८ ॥
जथासक्ति कुंभक द्रिढ धारै जिभ्याही करि वाय उतारै ।
नासाद्रिष्ट निरंतर देखै सकल सरीर अमीमय पेखै ॥४८९ ॥

दोहा— यह भुयंगम कुंभक कह्यौ साधे विरला कोय ।
जयतराम गुरुक्रिपातें देही कंचन होय ॥४९० ॥

॥इति भुयंगम कुंभक ॥

## अथ त्राटक कुंभक कहिये है ।

प्रथम ही भद्रासन द्रिढ करै एडी उभै गुदातर धरै ।
सकल बंध विधि से ती ठानै जिभ्या उलटि ऊर्ध कौ आनै ॥४९१ ॥
नासावाट पवन भरि पीवै सो पुनि जिभ्या सो थिर कीवै ।
सबही नाडी अमलता पावै रोग [९८] देह मै कबहु न आवै ॥४९२ ॥

दोहा— यह त्राटक कुंभक कह्यौ पावै गुरुते भेद ।
जयतराम साधै तबै मिटै जु तनकी खेद ॥४९३ ॥

॥इति त्राटक कुंभक ॥

## अथ कंठीवेताली कुंभक कहिये है ।

दोउकौ सरूपा एकही है सू कहियतु है ।

चौपाई— प्रथमहि अर्धसिध [९९] सो ठाने एडी वाम गुदातर आनै ।
दछनपाद वामजंघ धरै कंठमूलतें कुंभक करै ॥४९४ ॥
त्रीघंटी मधि राखै थीर नासाफुट क्रम तजे समीर ।
मास दोय अभ्यास करावै नाना स्वाद देह मै पावै ॥४९५ ॥
छठै मास जोग सिध लहै नाडी सबै अमलता गहै ।
साधन करत जु उपजै स्वेद मरदै अंग लहै नहि खेद ॥४९६ ॥

---

*९८. This half verse missing in (ना.)*

*९९. मुक्तासन द्रिढ ठाने (भां)*

छादनछीप [१००] फलका अरु वाय सकल तुचा के रोग नसाय ।
कुंभक षष्ट कहियै जोई उष्णकाल मै साधै सोई ॥४९७ ॥

दोहा— कंठीवेताली कहयौ कुंभक एक ही वार ।
जयतराम इन [१०१] कह्यौ सुन्यौ गुरुमुख एक विचार ॥४९८ ॥

॥इति कंठीवेताली कुंभक ॥

## अथ सीतकालको सूर्य भेद कुंभक कहियै है ।

चौपाई-- जब ही सूर्यनाडी वहै तबही गोरख आसन गहै
पूरक नाडी [१०२] पिंगला करै यथासक्ति कुंभक द्रिढ धरै ॥४९९ ॥
इडा नाडिन [१०३] रेचन करि देवै पुनह वाय [१०४] सूर्यस्वर लेवै ।
वारवार प्राण यों गहै मिटे सीत उष्णता लहै ॥५०० ॥
त्रिकुटीमधि ध्यान पुनि धरै सो नर पवन तुरत वसि करै ।
गुरुकौ मंत्र जपै यामाही ताकौ साधन दुर्लभ नाही ॥५०१ ॥

दोहा— सीतकालकौ यौ कह्यौ सप्तम सूर्यभेद ।
जयतराम याके कीयै मिटै सीतकी खेद ॥५०२ ॥

॥इति सूर्यभेद ॥

## अथ केवल कुंभक ।

चौपाई— रेचक पूरक करि विन [१०५] धारै ताकौ कुंभक नाम उचारै ॥
केवल कुंभकही भरि राखै केवल नाम तासकौ भाखै ॥५०३ ॥
प्रथम स्वास घटही में रोकै रेचक पूरक नाहि विलोकै ।
याते निकट समाधिही पावै जो कब ही केवल सधि आवै ॥५०४ ॥

दोहा— [१०६] यह कुंभक केवल कह्यौ सब कुंभक में सार ।
जयतराम याके सधै लहै जोग कौ पार ॥५०५ ॥

॥इति केवल कुंभक ॥

---

*१००. फूल (भां)* *१०१. इनकौ (भां)*
*१०२. नारिप्यंगुला (भां)* *१०३. नाडा (भां)*
*१०४. सुवाय (नां.)* *१०५. मधि (भां.)*
*१०६. केवल कुंभ कह्यो यह सब कुंभक मै सार (भां.)*

## अथ [१०७]कुंभक को फल ।

चौपाई— एकहु प्राणायाम सधि आवै केऊ अस्वमेध फल पावै ।
ताते प्राणायाम [१०८]जु करै सो जोगी जु[१०९] आप उधरै ॥५०६ ॥
पूरक सुरापान अघ हरे रेचक ते हत्या पुनि टरे ।
गोहत्या कुंभक से नासै त्राटक सब ही पाप विनासै ॥५०७ ॥
पूरक ब्रह्मलोक ले जावै कुंभक विष्णुलोक पहुंचावै ।
रेचक रूप रुद्र कौ लहै त्राटक मुक्ति सुसारिष्टि गहै ॥५०८ ॥
ओंकार कौ[११०] मंत्र उचारै तीन देवता मांहि विचारै ।
यातें अनहद उपजै आई नाना धुनि तब देत दिखाई ॥५०९ ॥
संख मेघ घंटा धुन पावै भेरी[१११] दुंदभी वैण[११२] सुणावै ।[११३]
औरै नाद अनंत प्रकासै जयतराम जो प्राण अभ्यासै ॥५१० ॥ ॥इति कुंभक फल ॥
इति आठ कुंभक कहे भिंनि-भिंनि करि सोय ।
जयतराम केवल कीया आठ अंग सिधि होय ॥५११ ॥[११४]

## अथ चौबीस मुद्रा कथनं नाम ।

दोहा— मुद्रा है बहुभांति की जानत है सिव देव ।
जयतराम हम कहत है चतुरवीस कौ भेद ॥५१२ ॥

चौपाई— प्रथमही संछोभणी कहिये दुतीयै द्रावणी मुद्रा लहिये ।
आकर्षणी तीसरी जानौ चतुर्थ मुद्रा वस्या मानौ ।५१३ ॥
पंचम उनमद मुद्रा जोई महाअंकुसा षष्टी सोई ।
सप्तम त्रिखंडा जु उचारी वीरजरूपा अष्टम भारी ॥५१४ ॥
नवमी करण विपरीति जु जो है मूलबंध दसमी पुनि सो है ।
कामराज एकादश कहिये बंध उड्याण द्वादशी लहिये ॥५१५ ॥
बंध जालंधर त्रयोदस सोई मुद्रा महा चतुरदस जोई ।
महाबंध पंचदस भाषौ महावेध षोडस पुनि आंखौ ॥५१६ ॥

---

*१०७. केवल कुंभक (भां)* *१०८. जग (भां.)*
*१०९. वर (भां),* *११०. सों (ना.),*
*१११. भेर (ना.)* *११२. वेणि (भां),*
*११३. सुण आवै (भां.),* ११४. These Lines missing in *(नां)*

सत्रैही खेचरी मुद्रा गाऊ सब मुद्रा सिरताज बताऊ ।
अष्टादसी कहौ पुनि जोई वरणक मुद्रा कहिये सोई ॥५१७ ॥
उणीसई सहजोली जानो बीसई षणमुखी सु मानो ।
एकरवीस चाचरी जोई दोईरवीस भूचरी सोई ॥५१८ ॥
त्रयोवीस अगोचरी गाई उनमनि चतुरवीसमी भाई ।
चतुरवीस को रूप पिछानै जयतराम तब साधन ठानै ॥५१९ ॥
॥इति चौबीस मुद्रा नाम ॥

## अथ प्रथमे संछोभणी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— [११५]सुस्तक आसन बैठक करई पायमूल कर वाय जु[११६] भरई ।
कर अंकोच विकोच न कैर कुंडलीनी को पुंछ जु जरै ॥५२० ॥
तब सर्पणी कुंडली[११७] तजै दसम द्वार कौ मारग भजै ।
अग्नि प्रबल अधिकता[११८] पावै जयतराम मुद्रा यह गावै ॥५२१ ॥
॥इति संछोभणी ॥

## अथ दूजी द्रावणी मुद्रा ।

चौपाई— स्वस्तक आसन बैठे धीर प्राणायाम करि गहै समीर ।
जिभ्या उलटि कपालि [११९]चढावै षटचक्रनि मै वाय मिलावै ॥५२२ ॥
षटचक्र पुनि वेधै वाई दसमद्वार मैं पहुंचै जाई ।
दसमद्वारतें अमृत झरै सौ ले सर्व अंग मै धरै ॥५२३ ॥
षटचक्र षोडस आधार तामधि गहै ।
अमीकी धार देही सदा प्रफुलत रहै ।
मनमल छाडि अमलता गहै ॥५२४ ॥
जनम मरन कौ दोष मिटावै द्रावणी मुद्राकौ जो पावै ।
जयतराम बडभागी लहै अधिकारी बिन भेद न कहै ॥५२५ ॥
॥इति द्रावणी मुद्रा ॥

---

*११५. स्वस्तक (भां)* *११६. भज (ना.)*
*११७. कुंडल (भां)* *११८. अधिकारिता (ना.)*
*११९. From this half verse until the beginning of अथ आकरषणी मुद्रा is seen missing in (ना.)*

### अथ आकरषणी मुद्रा कहिये है ।

स्वस्तक आसन बैठक करै पिंडब्रह्म[१२०] को ध्यान जु धरै ।
बहुरौ प्राणायाम करावै दसमद्वार कों प्राण चलावै ॥५२६ ॥
सहस्त्रदल कमल है पुनि तहा सियाराम को सुमरे जहां ।
[१२१]प्रभुक्रिपा कटाछ जब देखै भुक्ति[१२२] मुक्ति दोउ फल पेखै ॥५२७ ॥

दोहा— त्रितीये मुद्रा यह कही आकर्षणी जु सोय ।
जयतराम अति गोप्य है गुरुमुख साधन होय ॥५२८ ॥
॥इति आकर्षणी ॥

### अथ वस्या मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— आसन सिधमें[१२३] बैठक ठानै कुंडलनी अपने बस आनै ।
[१२४]मेढिमधि कुंडलनी जोई सूती रहै सदा पुनि सोई ॥५२९ ॥
मायाबीज [१२५]पढ ध्यान जु धरै कुंडलनी प्रबोधन करै ।
जैसे मंत्र गारडी ठानै पुंगी वाय सर्प वसि आनै ॥५३० ॥
यों जोगी अजपा को धारै मायाबीजको मंत्र उचारै ।
पुंगीसम अनहद धुनि धरै [१२६]कुंडलनी वस ऐसे करै ॥५३१ ॥
[१२७]बहुरि जु अपनो मन में आवै जहा चाहै वहां ले जावै ।
अनहद पुंगी के वसि[१२८] होई सदा रहै अपने वसि[१२९] सोई ॥५३२ ॥
अणिमा आदि सिधि चलि आवै हाथ जोरि आगे जु रहावै ।
जनम मरन सब जाई पलाई जयतराम यह मुद्रा गाई ॥५३३ ॥
॥इति वस्या मुद्रा ॥

### अथ पंचमी उनमद मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही पदमासन करि लेवै बंध सकल विधि सौ द्रिढ देवै ।
मन को पवन जु मधिही मिलावै कुंडलनी मस्तक मैं आवै ॥५३४ ॥

---

*१२०. पिंडब्रह्मांड (भां)*
*१२१. क्रियाकटाछि तहां (भां)*
*१२२. भगति (भां)*
*१२३. सिधसु (भां.)*
*१२४. मेढुमधि (भां)*
*१२५. परि (भां)*
*१२६. कुंडलनी कौ वसिता करै (भां)*
*१२७. वहिरि(ना.)*
*१२८. वस होवै (ना.)*
*१२९. वस सोवे (ना.)*

कुंडल सप्त अधो परिहरै दसमे द्वारमाहि फणि करै ।

घूमै तहां मंत की नाई जोगी उनमद है घटमांही ॥५३५ ॥
आसन गिरिसम प्रथमही कहिये दुजौ [१३०]वृक्षरुपी पुनि लहिये ।
तीजो दीप लोयवत जोई तीनो [१३१]वसि करे पुनि सोई ॥५३६ ॥
चमतकार नानाविधि देखै [१३२]अरु पुनि बुधि अमलता पेखै ।
मन अरु पवन दोऊ मिलि रहै अनमद भाव तबै पुनि लहै ॥५३७ ॥

दोहा— यह उनमद मुद्रा कही जोगी उनमद हो.य ।
जयतराम गुरुतें लहै गुरुबिन लखै न कोय ॥५३८ ॥

॥इति उनमद मुद्रा ॥

## अथ महाअंकुसा मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— सुस्तक आसन प्रथमही ठानै पवन निरोधिरु अंतरि आनै ।
प्राणायाम कौ अंकुस धारै ताकरि मन गयंद कौ मारै ॥५३९ ॥
हिदारुपी वन है जोई मनगज तहा सदा रहै सोई ।
नाना उपद्रवकौं तहां ठाने जनममरन के वानि कवांने ॥५४० ॥
ताते जोगी अैसे करे [१३३]ज्यान जंजीर तासकै जरै ।
प्राणायाम अंकुस सम धारै सो ले मन गज कै सिर मारै ॥५४१ ॥
ताकरि मन अति निश्चल होवे जनममरन के बंधन खोवे ।
[१३४]यातें महा अंकुसा कही जयतराम मन जीते सही ॥५४२ ॥

॥इति महा अंकुसा मुद्रा ॥

## अथ सप्तमी त्रिखंडा मुद्रा ।

[१३५]प्रथम ही सुस्तक आसन धारे सोहं मायाबीज उचारै ।
त्रिखंड कुंभक क्रमसो करे वाय अपान उर्ध ले धरे ॥५४३ ॥
इडा नाडि नाभिमध वसे वाय अपान तहां पुनि लसै ।
प्रथम खंड तहां कुंभक करैं मायाबीज तहां उचारै ॥५४४ ॥

*१३०. वृषभरुपी (भा.)* *१३१. सुवसि (भां)*
*१३२* This half verse missing in *(ना.)* *१३३. ग्यान (भां)*
*१३४. यह तो (ना.)*
*१३५. This onwards pages containing verses until the description of महामुद्रा missing in (भां)*

बहुर पिंगला हिदै जानौ प्राण वाय तहां ले ठानो ।

ऐसे कुंभ हिदे धारै उंकार तहा मंत्र उचारै ॥५४५ ॥
अर्ध उर्ध पवन तहां लेवै ता पाछे रेचन कर देवै ।
नाभि उर्ध हिदै ठहरावै सो पुनि दुजो खंड कहावै ॥५४६ ॥
याकै परै कंठमधि आने तीजो कुंभक अैसै ठांने ।
मुखके मध सुखमना रहै बीज सकार तहा पुन कहै ॥५४७ ॥
तीन ठोर कुंभक ठहरावै मुद्रा त्रिखंडा नाम कहावै ।
नाभिमधि कुंभक जब धरै ताकरि अग्न उदीपन करै ॥५४८ ॥
हिदै कुंभक जब सधि आवै ताकरि रवि को तेज बढावै ।
बहुरि कमल हिदाको जोई फूलै अति सुगंध होय सोई ॥५४९ ॥
कुंभक कंठमध्य जब करै ताकरि चंद्र अमी अति झरे ।
निर्मल बुधि कर पींवै सोई अैसै त्रिखंडी मुद्रा होई ॥५५० ॥

दोहा— यह त्रिखंडा मुद्रा कही मन बुद्धि निर्मल होय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते जो साधै जोय ॥५५१ ॥

॥इति त्रिखंडी मुद्रा ॥

## अथ अष्टमी बीजरूपणी मुद्रा कहिये है ।

वीरजमुद्रा वरन सुनाउ राजजोग घर माहि लखाउं ।
यह साध बिंद वस करै जोगी यामै चित्त न धरै ॥५५२ ॥
प्रथम फोत्रिका कर्म विचारे प्राणायाम समझ पुनि करै ।
अंकोच विकोच संकोचन जोई सिसनद्वारिक साधै सोई ॥५५३ ॥
प्रथमही भेद गुरुतै पावै ता पाछै साधै न ठहरावै ।
आसन साध प्राण वस करै रेचक पूरक कुंभक करे ॥५५४ ॥
प्राणायाम परायण होवै ता पीछै इंद्रियमल खोवै ।
ता पाछै पयकौ भुव डारै अैसै सिसन अमलता धरै ॥
स्त्री भोगि ग्रही पुनि करै ताको बिंद कबहु न परै ॥५५५ ॥
ज्यों ज्यों तानै वृषनकौ गहिके उच मरोरि ।
जयतराम त्यों-त्यों चढै बीज सिसन की चोरि ॥५५६ ॥

चौपाई— भोग समै कंद्रप नही डारै जुवती कंदर्प को पुनि धारै ।
तहा अंकोच विकोचन करई जिभ्या उलटि उर्ध को धरई ॥५५७ ॥
उत आसन कर कंद्रप जोई दसमद्वारि ले जावै सोई ।

रजवीरज दोउ ले धरे शिवशक्ति को मेल करै ॥५५८ ॥
ऐसै वीरजरूपा जानौ राजजोग घरही में मानौ ।
घरही माहि जोग सो साधै सो या मुद्राको आराधै ॥५५९ ॥
जोगी याको अैसै करै अपनी बिंद उर्ध ले धरे ।
बजरोली अमरोली कहिये नादबिंदको संगम लहीये ॥५६० ॥
कामवस याही ते होई वृधहू काम करै पुनि सोई ।
ग्रंथन माहि गोप्य यहु राखी जयतराम प्रकट कर भाखी ॥५६१ ॥
॥इति वीरमुद्रा ॥

## अथ नवमी विपरीतकरण मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही उतआसन कौ करै कांधौ सीस भूमिपर धरै ।
सकल सरीर उर्ध को आने दोउ पद अवर दिस ताने ॥५६२ ॥
दोउ करते दंडवत करै अजपाको ध्यान मंत्र पढ धरै ।
ठोडी कंठकूपमधि तानै ह्रिदै नाभि द्रिष्ट को आनै ॥५६३ ॥
चरन अंगुष्ट लग द्रिष्ट जु धरै ता पाछै कुंभक द्रिढ करै ।
पायमूल कर वाई गहै यथाशक्ति साधन सिध लहै ॥५६४ ॥
क्रम क्रम साधन सो मन लावै साढेतीन घडी ठहरावै ।
पूर्ण कुंभक अैसे होई साधन सिद्ध लहे पुनि सोई ॥५६५ ॥
दसमें द्वारि चंद्र का वासा सोलह कलासहित प्रकासा ।
सो पुनि कला प्रकट कर गाऊं न्यारो न्यारो नाम सुनाऊं ॥५६६ ॥
अमृतमानदा पूखा जानो तुष्टपुष्ट पुनह घ्रित मानो ।
सुसमुना चंद्रका कांति जु कहिये त्रिष्णा श्री प्रांति पुनि लहिये ॥
रंगदा पूर्ण पूर्णमा मानो सोलह कला चंद्रकी जानौ ॥५६७ ॥
सो पुनि कला अमी नित झरे चंद्र तहातें वर्षा करै ।
सोई अमी नाभिमय आवै ताकौ सूर्य भस्म करावै ॥५६८ ॥
नाभि अस्थान भानका वासा तेऊ कलासहित प्रकासा ।
तेउ कला प्रगट करि भाखौ गुरुकी क्रिया गोप्य न ही राख्यौ ॥५६९ ॥
तापनी तापनी धुम्रा जान्यौ ज्वाला मरीचि रुचि मानौ ।
स्वसमण भोगदा विस्वा लहिये बोधनि धारणी क्षमा रवि कहिये ॥५७० ॥
अैसी भांति अमी रवि जारे तातै जोगी जगत विचारे ।

विप्रीता जो मुद्रा करै रविकों आनि सीसमैं धरै ॥५७१ ॥
सिसको नाभिं मध्य ले धरै सकल सरीर अमीसो भरै ।
अैसे मन आनंद बढावै जन्ममरन को दोष मिटावै ॥५७२ ॥

दोहा— द्वादस कला जु भानुकी सोलह ससिकी जोय ।
रविकी चार सधै जबै पावै सोला सोय ॥५७३ ॥
रवि की बारह है कला सोलह कला जो चंद ।
गुरु जिसको भाखे नही कहा करै सिख मंद ॥५७४ ॥

चौपाई— जो या मुद्रा सधि नही आवै ताकी देहिनास लतीका है घर जोवै ।
अग्नि मंत्रते प्रगटै जहां कुंडलनी व्याकुल हो तहां को जावै ॥
अमृत आई नाभिमै जरै तातै सब जन्मे अरु अमरे ॥५७५ ॥
नाभिस्थान सिखामय सोई अंगुष्टमात्रा जोति है जोई ।
आत्मघट मै सदा प्रकासै तेलरूप अमृतकौ ग्रासै ॥५७६ ॥
जब ही अमी तेल नही आवै तब से दीपक जोत नसावै ।
मंदर मध्य होय अंधायारा याको पंडित करो विचारा ॥५७७ ॥

दोहा— या मुद्रा विपरीतगा वरन कही हम जोय ।
जयतराम गुरुमुख करै लहै अमर पद सोय ॥५७८ ॥
॥इति विपरीतिकरणी मुद्रा ॥

## अथ मूलबंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— वाम पाद की इडी जोई जोनि स्थान लगावै सोई ।
दछिनपाद उर्ध धरि रहै समकर पीठ अपान जु गहै ॥५७९ ॥
मायाबीज पढ उर्ध चढावै वाय अपान उर्ध ले आवै ।
अष्ट परिजानि ध्यान पुनि धरै वाय अपान सोइ वस करै ॥
वाय अपान कबै नही सरै जोगी अमर कदै ना मरे ।
जयतराम अैसैविध ठानै मूलबंध मुद्रा सो जानो ॥५८१ ॥
॥इति मूलबंध मुद्रा ॥

## अथ एकादसी कामराजमुद्रा कहिये है ।

चौपाई— ज्योनिस्थानि पद एडी धरै बहुत वेरतक चयन करै ।
मुख करि मायाबीज उचारै कुंडलीनीकौ पुंछ जु जारै ॥५८२ ॥
गुदा उर्ध मेढ्र तरि सोई कुंडलनीका है घर जोई ।

अग्निमंत्र ते प्रकटे जहा कुंडली व्याकुल व्है तहां ॥५८३ ॥
नेवै उर्धकी गबन कराई दसमै ढारि पहोंचे जाई ।
जयतराम जोगी सिध लहै मूलवंध अैसैविध कहै ॥५८४ ॥
॥इति कामराज मुद्रा ॥

**अथ द्वादसी उड्याण बंध मुद्रा कहिये है ।**

**चौपाई—** प्रथमही सिधासन करि लेवै बहुरौ बंध उड्याण जु देवै ।
उरध पीठ नालमध जोई तासौ नाभि लगावै सोई ॥५८५ ॥
मंत्र उडयां ध्यान पुनि धरै वाय अपान सोई वस करै ।
करै वृधसो बालक होवै सकल विकास देह के खोवे ॥५८६ ॥
यह मुद्रा उड्याणकौ भेद कह्यौ समझाई ।
जयतराम साधन किये वृधहु बालक थाय ॥५८७ ॥
॥इति उड्याणबंध मुद्रा ॥

## अथ त्रयोदसी जालंधर बंध मुद्रा कहिये है ।

**चौपाई—** जोगी पदमासन द्रढ करै चिबुक कंठकूप मधि धरै ।
ग्रीवा हैयकी सद्रस धारे तामै लक्ष्मी बीज उचारै ॥५८८ ॥
द्रिष्ट त्रिवेणी राखे गोई प्राणायाम करै पुनि सोई ।
प्राण अपान वाय वसि करै तेजोमंडल द्रिष्ट जु परै ॥५८९ ॥
जैसे जाय सरोवर तीरा तामे जाल पसारे कीरा ॥
अर्ध के तंत जु करै वै जोई सबै उर्धकौ आवै सोई ॥५९० ॥
अैसै ही जोगी करि लेवै जालंधर द्रढ बंध ही देवै ।
सकल नाडिका पवन चढावै सो पुनि चलै उर्धको आवै ॥५९१ ॥

**दोहा—** जालंधर बंध देत ही मन पवना वसि होय ।
जयतराम मिट जात है संकल्प विकल्प होय ॥५९२ ॥
॥इति जालंधर बंध मुद्रा ॥

## अथ चतुर्दशमी महामुद्रा ।

**चौपाई—** वाम पादकी एडी जोई सीवन ताकरि दाबै सोई ।
दछणि पाव पसार जु रहै दोऊ करसो अंगुष्ट गहै ॥५९३ ॥

सहजै कछू एक खैचन करई वाम अंग दिस कंधर धरई ।

दोउ मुरतै वाई गहै जथाशक्ति कुंभक करि है ॥५९४ ॥
जालंधादि बंध द्रिढ धारै क्रम क्रम कुंभक वाय उतारै ।
कुंभक समै अंकोचन आनै बहुरि विकोचन बहुविध ठानै ॥५९५ ॥
पुन दछन कंधापरि रहै दोऊ स्वर करि वाई गहै ।
बहुरो मथै उदर की नारी पुनह वायकौ देत उतारी ॥५९६ ॥
बारंबार ससि सूरजु गहै द्वादश प्राणायाम करि रहै ।
याते सकल कलेस मिटावै सब ही नाडी अमलता पावै ॥५९७ ॥

दोहा— आसे श्रमहि न उपजै आलस नींद मिटाय ।
जयतराम याके संध्या मृत्यु न ग्रासे आय ॥५९८ ॥

॥इति महामुद्रा ॥

## अथ पंचदसी महाबंध मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— प्रथमही सिधासन द्रिढ करै कंठकूपमधि चिबुक सु धरै ।
कंठ जिभ्या कछु उर्ध को धारै तहां खेचरी बीज उचारै ॥५९९ ॥
अध उर्ध दसन न बिचि लेवै काकचंचुवत मुख करि देवै ।
पूर्णगिर मुद्रा पुन कहिये उभै भेद याही के लहिये ॥६०० ॥
नाटिक छंद सहजही पावै अष्टसिध नवनिध चलि आवै ।
प्राणायाम आदि वसि होई दसवै द्वार पहौतै सोई ॥६०१ ॥

दोहा— महाबंध मुद्रा कही यातै लगै समाधि ।
जयतराम गुरुक्रिपा तैं मेटे मन की व्याधि ॥६०२ ॥

॥इति महाबंध मुद्रा ॥

## अथ षोडसी महावेधमुद्रा कहिये है ।

चौपाई— महामुद्रा महाबंध जु जोई अरु पुनि महावेध है सोई ।
ए तीनौ एकही करि जान क्रिया भिन्न पुनि तिनकी मान ॥६०३ ॥
जोनि स्थान अपान है जहां महामुद्रा को घर है जहां ।
याको साधन अैसै ठानै नाडि विलोय वाय सिरि आनै ॥६०४ ॥
[१३६]महाबंध घर कंठ जु होई प्राण निरोध करै पुनि सोई ।
महावेध का घर पुनि जानो दसमें द्वारमधि सो मानो ॥६०५ ॥

---

*१३६. महावेध (ना.)*
यामें जिभ्या उर्ध चढावै [१३७]चंद्रस्थान आन ठहरावै ।

प्राणायाम निरोधन[१३८] करई अैसै वज्र कपाटही जरई ॥६०६ ॥
अैसै महावेध यह धारै यामे मायाबीज उचारे ।
अजपाबीज जपै पुनि जोई सहस्त्रकमलदल फूलै सोई ॥६०७ ॥
अैसै बुधि [१३९]अमलता पावै बहुरौ सहज समाधि लगावै ।
आगै गोप्य[१४०] रहै कछू नाही जयतराम या मुद्रामाही ॥६०८ ॥
॥इति महावेध मुद्रा ॥

## अथ सप्तदसमी खेचरी मुद्रा ।

खेचरी मुद्रा बरन सुनाउ सब मुद्रामहि सार लखाउ
जयतराम गुरुमुख सधि आवै याते जोग समाधि ही पावै ॥६०९ ॥
जिभ्या उलटि कपाल चढावै भुवकै मधि द्रिष्टि ठहरावै ।
आसन साधि जुगति यह रहिये खेचरी मुद्रा तासौ कहिये ॥६१० ॥
बहरो खट अंग याके जोई तिनकौ वरनि सुनाऊ सोई ।
छेदन चालन मथन प्रवेशन दोहन मंत्र पढै द्रिढ करि मन ॥६११ ॥
को एक रिषजन अैसै [१४१]गावत सांधन द्वादस बरस बतावत ।
अैसी भांति क्रिया जब सधै अंगुर च्यारि खेचरी वधै ॥६१२ ॥
द्वादस वर्ष क्रियामें रहिनौ अतिही कठिन खेदकौ सहनौ ।
ताते गुरुक्रिपा हम पाई याकी सुगम उपाय बताई ।
साधन मास षटही जो करै बढै खेचरी बिंद न टरै ॥६१३ ॥

## अथ प्रथमे छेदनचालन कहिये है ।

**चौपाई—** सुनही पत्र सम सस्त्र धरावै ताकैहि पत्र गजवेल मगावै ।
अति तीक्षण उजलि अति करै सो ले जिभ्याकै तरि धरै ॥६१४ ॥
जिभ्यामूल बालसम छेदे आठै आठै दिनमै भेदै ।
साधिक हाथिमित्र [१४२]पुनि भेदे अथवा [१४३]गुरुवा आपही छेदे ॥६१५ ॥

---

*१३७. चंद्रसिधानि (भां)* | *१३८. निरोधनि (भां)*
*१३९. बुध (ना.)* | *१४०. गोपि (ना.)*
*१४१. वरष द्वादसकिरियाओ गाहत (ना.)* | *१४२. कर देवे (भां)*

जिभ्यातले सुखमना नारी ताकौ छेदन करे विचारी ।
अैसी भांति छेदना कहिये याके किया वृधिता लहिये ॥६१६ ॥
इडा [१४४]पिंगुला सुखमना जानु तीनौ नाडि जिम्यातरि मानु ।
जिभ्या अणी [१४५]सुचालन करावै तीनो नाडि प्रगट होय आवै ॥६१७ ॥
हरडे सिंधव सूठ जू आनै [१४६] चूरण कर जीभतर ठानै ।
कछूक जीभ अर्थ करि लेवे वाती सूत्र की तरि देवे ॥६१८ ॥
जिभ्या माहि अमी नित आवै तातै छिद्र तुरत मिलि जावै ।
यातै वासी करै जु जोई छिद्र मधि धरि राखै सोई ॥६१९ ॥
ऐसै साधन नितप्रति साधै षटमास लग जे आराधै ।
आठ दिवस प्रति छेदन ठांनौ वार चौईस अैसी विध जानौ ॥६२० ॥
यामे अल्प अहारही लेवै दूधभात भखि सब तजि देवै ।
भोजन करत जुगति यहि ठाने वाती ले मुख बाहरि आनै ॥६२१ ॥
जिभ्या सदा उर्ध करि राखै गुरु उपदेस मंत्र मुख भाखै ।
यह क्रिया षटमास करावै जिभ्या अंगुर च्यार बढावै ॥६२२ ॥
ब्रह्मरंधमै पहुचै सोई गुरुमुख साधन साधे कोई ।
जयतराम छेदन यों जानौ ताकै पीछै दोंहन ठानौ ॥६२३ ॥
॥इति छेदन चालन ॥

## अथ दोहन ।

दोहा— ब्रह्ममहूरत उठ करि बैठ ऐ करित जाय ।
जयतराम ताही समै जिभ्या दोहन थाय ॥६२४ ॥

चौपाई— मुखतैं जिभ्या बाहरि आने दोऊ[१४७]करसौ दोहन ठांनै ।
जथासक्ति खैचे पुनि जोइ याते वृधि [१४८]लहै पुन सोई ॥६२५ ॥
बहुरि दछिनकर अंगुष्ट जानौ सो ले मुखकै माही आनौ ।
चणक प्रमाण सिवलिंगही धोवै अैसीभांति अमल सो होवै ॥६२६ ॥

---

१४३. गुरकै आपही लेवे (भां)
१४४. प्यंगुला (भां)
१४५. सुमथन (भां)
१४६. चूर्ण करै जीभ तरि ठांनै (भां)
१४७. हाथस्यौ (भां)
१४८. वृध (ना.)

ऐसै जिभ्या मारग पावै ब्रह्मकपाट तुरत खुलि जावै ।
बहुरौ अंगुष्ट उर्ध चलावै [१४९]तालूमध्यहि आनि ठहरावै ॥६२७ ॥
बहुरि काढि मुखबाहरि आनै जलसो धोय पुनि मुखमै ठानै ।
नासाछिद्र लगावै जोई ताकरि सुधि विवर व्है सोई ॥६२८ ॥
बहुरों अंगुष्ट उर्ध चलावै [१५०] नासा केस लगी आनि ठहरावै ।
नासा सींवनिको सुधि करै अंगुष्ट उचौ बहुरो धरै ॥६२९ ॥
ब्रह्म[१५१] विवरमें ले ठहरावै सुखमनका घर सुध करावै ।
नेत्रविवर अंगुष्टकौ आनै करै सुध अमलता ठानै ॥६३० ॥
नेत्रजोति यातें अधिकावै अरु पुनि नाडी सुध रहावै ॥
बहुरि तरजनी मुखमै आनै दसमै द्वारि ताकौ ले ठानै ॥६३१ ॥
नेत्रमूल के ऊपरि जोई ब्रह्मरंध्र का घर है सोई ।
चणक अंकुर प्रमाण तहां लहिये परम सिवलिंग तहां ही कहिये ॥६३२ ॥
ताको ताकरि सुधि जु करै ता पीछे पुनि उधंज धरै ।
ऊर्ध छिद्र अवर इक जानौ सो भी ताकरि सुध जु ठांनौ ॥६३३ ॥
अैसी भांति जुगति यह धरै जिभ्या सिवलिंग दोहन करै ।
जयतराम बहुरौ यह जानै तै पीछै परवेसन ठांनै ॥६३४ ॥

## अथ परवेसन विधि ।

चौपाई— सुस्तक आसन बैठक धरई स्वास रोकि सरीर सम करई ।
बंध उड्याण [१५२]कामवरु देवै बहुरौ उर्ध जीभ कों लेवै[१५३] ॥६२५ ॥
पूरव छिद्र कहै पुनि जोई सुध कीये अंगुष्ट करि सोई ।
सोसो जिभ्यासौ सुध करै क्रम-क्रम उर्ध [१५४]को ले धरै ॥६३६ ॥
ब्रह्मविवर लग ले ठहरावै ताकै जाय कपाट लगावै ।
तामै बिंद अहोनिस झरे देय कपाट ताकौ वसि [१५५]करे ॥६३७ ॥

---

*१४९. तालू मधि (भां)*
*१५०. नासाकेस आनि (भां)*
*१५१. ब्रह्मधाममै (भां)*
*१५२. कामरु देय (भां)*
*१५३. लेय (भां)*
*१५४. उर्ध उर्ध (ना.)*
*१५५. थिर करे (भां)*

अथवा नारि अलिंगन करई ताकौ बिंद न कबहु ढरई ।
कला खेचरीकी सब फुरै मासमाहि नाडी सुध करै ॥६३८ ॥
अनहद दूजै मासि प्रकासै तीजै मास काया [१५६]दिवि भासै ।
चौथे मास यहै फल होई देखै सुणै द्रकी सोई ॥६३९ ॥
फुरै सरस्वती पांच मासा बालकरूपी मन व्है तासा ।
छठे मास शिवरूपी भयौ आगै [१५७]करणा कछू नही रहयौ ॥६४० ॥

दोहा— अैसे प्रवेशन करै जिभ्या उर्ध चढाय ।
जयतराम ता पुरखको छटे मास सिध[१५८] थाय ॥६४१ ॥
॥इति प्रवेशन ॥

## अथ मथन विचार ।

दोहा— तालुमूल सिवलिंग पुनि अथवा अग्निस्थान ।
[१५९]करि अंगुष्टतें तासको मथन त्रिसंध्या ठान ॥६४२ ॥

चौपाई— अथवा कील [१६०]धातमय करै मथै ताहि [१६१]करि सुधता धरै ।
मथन जु कांहु नाही दिखावे द्रिष्ट परै तो विघन[१६२] परावै ॥६४३ ॥
अैसी भांति गुप्त करि राखै जो गुन श्रेय सो काहू न भाषै ।
[१६३]च्यार स्थान मथनके जानै जिभ्या करि जो मन जो ठानै ॥६४४ ॥
प्रथम अखिका जानौ सोई अरु दुतीये लंबिका होई ।
त्रितिये तालु नाम जु जानौ चतुर्थ नाम घटिको मानौ ॥६४५ ॥
जिभ्यामूल अंबिका जोई ताकी छेदन करे जानये सोई ।
ताकी वाति बाहरि आनै जिम्या उलटि मथन तहां ठाने ॥६४६ ॥
जिभ्या अणी अति तीछण जानौ सस्त्रहु ते अधिक करि मानौ ।
अग्नि नीर तत्व दोउ लहिये तिनकरि जिभ्या तीछणक ये ॥६४७ ॥
ताते अणीसों छेदन करई ताही समै मंत्र उचरेई ।
याकरि सहज वृधिता पावै बहुरि लंबिका मथन करावै ॥६४८ ॥

---

१५६. *दिव (ना.)*
१५७. *फणै (ना.)*
१५८. *पर ताथ (ना.)*
१५९. *कर (भा.)*
१६०. *धातमध (ना.)*
१६१. *तासकरि (भां)*
१६२. *विखनि पवारे (ना.)*
१६३. *From this line onwards six verses missing upto 650 in (भां)*

दसमै द्वारि लंबीका जानौ जीभ अणीसो मथन जु ठानौ ।
बहुरि उलटि कंठमधि लावै ताकरि स्वास उस्वास न आवै ॥६४९ ॥
सिवलिंग तालूका पुनि जानौ बहुरि तहां भी मथन जु ठानौ ।
जाप जीभ थिर कीवै वरषै अमी सु ताकौ पीवै ॥६५० ॥
घंटिका चणक अंकूर कहावै ताकौ मथै सो अनहद पावै ।
अैसै कामधेनमय जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ॥६५१ ॥
च्यार स्थान मथन के कहिये सोई च्यारो थन करि[१६४]गहिये ।
तिन्को दुहि अमी नित पीवै सो जोगी बहुत काल ही जीवै ॥६५२ ॥
जोगी मनोरथ पूरण होवै लहै प्रकास मूढता खोवै ।
जयतराम मथन यह कहियै गुरुकी क्रिपा तासकौ लहियै ॥६५३ ॥
॥इति मथन ॥

### अथ मंत्र साधन ।

चौपाई— षटअंगसहित खेचरी कहिये तिनमै मंत्र अंग बड लहिये ।
जो कोई मंत्र अंग को साधे षटअंगन कौ सो भल लाधै ॥६५४ ॥
मेलकमुद्रा लागै सही अनंत कालमै जो सिध कही ।
षटही मासमांहि सो लगै जाकै मंत्र हिदा में जगै ॥६५५ ॥

### अथ मंत्र आवाहन ।

अथ श्री खेचरी स्मर्यामीति अस्य श्री खेचरी मंत्रस्य
कपिल ऋषि श्रीमन्नारायण देवता सिध अनयासेन
खेचरी मुद्रा साधनसिध्यर्थ जपे विनयोगः
-हां -हीं -हुं -हैं -हौं -हः ॥ इति मंत्र ॥

### अथ न्यासः ।

चौपाई— गं हृदयायनमः इति कहिये सं शिरसे स्वाहा [१६५]उच्चरये ।
नं शिखाय वौषट् पुन जानौ मं कवचाय इसी विधि मानौ ॥६५६ ॥
हुं नेत्रत्रयाय वौषट् लं अस्त्राय जानिये फट् ।
॥इति न्यास ॥

---

*१६४. के कहिये (-ना.)* *१६५. लहिये (भा)*

## अथ षडंग ध्यान —ह्रूं — ह्रीं

आधार चक्र वरन है जोई खेचरी मुद्रा कहिये सोई ।
मुद्रा राजहंस सो लहिये गगनवास ताको पुनि कहिये ॥६५७ ॥
आनंद बीजरूप सो जानो अरु पुनि सिबकी सक्ति जू मानौ ॥
ब्रह्मलोक जननी है जोई करौ स्तुति जौर [१६६]करि दोई ॥६५८ ॥
॥इति षडंग ध्यान ॥

## अथ पानमुदक्षण ।

चौपाई— सिधासन करि बैठक ठानौ बहुरि जुगतिविधसौ तहां जानौ ।
मूलद्वार कुंडलनी जोई ताकौ चांपि जगावै सोई ॥६५९ ॥
बहुरि वहां ते उर्ध चलावै प्राण अपान [१६७]तामधि मिलावै ।
षटचक्रकों वेधे जोई ब्रह्मध्यान करै तहां सोई ॥६६० ॥
बहुरौ जिभ्या उर्ध चढावै षटछिद्रनकै पाट लगावै ।
सकल पवन कौ उर्धही आने लेकरि ब्रह्मरंध्र में ठाने ॥६६१ ॥
ऐसीविधी आनंद बढावै सो जोगी समाधिसुख पावै ।
सूर्यतेज चंद्र धरि आनै चंद्र अमी की वर्षा ठानै ॥६६२ ॥
सोई अमी सु [१६८]अधकौ आवै सुखमन तंतु [१६९]माहि समावै ।
षटचक्रनमधि बरसै आई तासौ देह पुष्ट रहै भाई ॥६६३ ॥
जोगीअजर अमरता लहै ईश्वरभाव सकलही गहै ।
याकी महिमा सिव अति भाखी सो पुनि [१७०]मुखसो जाय न आखी ॥६६४ ॥
॥इति पानमुदक्षण ॥

## अथ अवखदी वरननं ।

बहुरि औखदि[१७१] वरनि सुनाउ दिव्य दिव्य प्रगट कहि गाऊ ।
अवखदिविना[१७२] सिध नही लहै तातै जोगी अवखदि नित गहै ॥६६५ ॥

---

*१६६. कर (भां)*
*१६७. करै तहांमधि (ना.)*
*१६८. अर्धकौ (भां)*
*१६९. सु माह (भां)*
*१७०. मुनमुखसौ (ना.)*
*१७१. अवषध (भां)*
*१७२. अवषधविना सिधि (भां)*

भृंग समूल संग्रह आनै ताहि सुकायरु चूरण ठानै ।
क्रिष्णतिल आमल दधि लेवै मधित्रिय सकल कौ सेवै ॥६६६ ॥

दोहा— रोगव्याध सबही कटै जरामृत्यु मिटि जाय ।
जयतराम अवखद भखै तो ये ता गुण थाय ॥६६७ ॥

चौपाई— एक एक निर्गुडी पात दिनप्रति तीने बेर जो खात ।
वरसवार है अैसो होवै जरामृत्यु दोनूसों खोवै ॥६६८ ॥
निर्गुडी नलनी अरु मूंडी समकरि वनतै ल्यावै ढुंढी ।
बहुरि सर्करा घृत जु मिलावै वरसदिवस साध्या सिध पावै ॥६६९ ॥
षटमास गंधक सो धरै[१७३]तिलकरु गोलोचन सम करै ।
मधुत्रय जुक्ति चूर्ण करि खावे अजर अमर पदवी सो पावे ॥६७० ॥

## अथ [१७४]रहनविधान ।

चौपाई— प्रथम एकांत मढी एक ठाने वनग्रह माहि जहां मन माने ।
षटमास आसन द्रिढ धरै प्राणीमात्रसौ बात न करै ॥६७१ ॥
मंत्र जाप निसदिन ही उचारै चावल पय भखि लूण निवारै ।
[१७५]नागरवेल भूलि [१७६]नही खावे कछुक मींठो भोजन पावै ॥६७२ ॥
पूरब अवखद वरनी जोई साधन करै तासकौ सोई ।
दिवस सातवे रवि दिन आवै ता दिन छेदन जु करावै ॥६७३ ॥
पाखि पाखि प्रति दोहन करै मथन अहोनिसही मन धरै ।
अैसैं करत मास षट जावे वृद्ध खेचरी तबै पावै ॥६७४ ॥
अंगुर च्यार जीभ [१७७]बढावै भक्तिमुक्ति दोउ फल पावै ।
कृत्य कृत्य सोई नर होय जन्ममृत्यमल डारै धोय ॥६७५ ॥

दोहा— ग-योजु तावा उपरै बूंद एक धरि देह ।
जयतराम सो कनक होय खेचरि [१७८]का गुण येह ॥६७६ ॥

॥इति खेचरी मुद्रा ॥

---

*१७३. रुद्रलोचन (भां)* *१७४. रहिन (ना.)*
*१७५. नागरवेलि (भां)* *१७६. मूलि (ना.)*
*१७७. बढि आवै (भां)* *१७८. खेचर (भां)*

## अथ अष्टादशमी वरणक मुद्रा ।

चौपाई— या मुद्रा को कोई यों गावै अमरोलीभी नाम कहावै ।
क्रिया असुधि सहित अनुसरे तो तजि बुधजन सुधि ही करै ॥६७७ ॥
[१७९]हूं हूं फट् स्वाहा सोई मंत्रदीप यो जपिये जोई ।
ॐउै ब्रह्म महूर्त्तमाही निर्गुंडी कौ पान करत राही ॥६७८ ॥
अंजुरी तीन मंत्र पढि पीवै सकल रग सुध कीवै ।
बहूरि कमल प्रफुल्लित होवै देहविकार सकलही खोवै ॥६७९ ॥
बहूरौ क्रिया एक और जु ठाने अवखदि चार प्रभातही आनै ।
निरगुंडी अरु भंगरो जोई मुंडी चतुर्थ अवर गिलोई ॥६८० ॥
च्यारौ सम करि चूरण करै ताकौ मर्दि मंत्र उचरै ।
यह क्रिया षट मास जु करई सबही मुद्रा सहजै फुरई ॥६८१ ॥
सर्व [१८०]सिध अनयास जु पावै आगै करणौ नाहि रहावै ।
साधनमांहि प्रस्वेद जु आवै ताकौ मरदन देह करावै ॥६८२ ॥

दोहा— अमर अभैता पाइये वरणक साधै कोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते वज्रोली सिधि होय ॥६८३ ॥
॥इति वरणक मुद्रा ॥

## अब सहजोली मुद्रा ।

चौपाई— अमरोली वजरोली कहिये सहजोली भी यामै लहिये ।
जयतराम ये तीनो जानौ इनकौ भेद येकही मानौ ॥६८४ ॥
॥इति सहजोली ॥

## अथ बीसई षणमुखी मुद्रा ।

प्राणायाम साधन जब करई तामे कबहू विघन जु परई ।
सो नर मुद्रा षण्मुखी साधै सुस्तक आसन बैठ आराधै ॥६८५ ॥
मूल उड्याण बंध द्रिढ धरै अरु पुनि जालंधर बंध करै ।
दोऊ हस्तकी अंगुरी जोई तिनकरि मुदै छिद्र है सोई ॥६८६ ॥
मुखनासानेत्र बंध करै अंगुरी दोय करण मैं धरै ।
अैसे कर कुंडलिनी घेरे मूलद्वार तैं उर्ध उतेरे ॥६८७ ॥

---

*१७९. खेचर (भां)* *१८० सर्वसिधि (भां)*

प्राणायाम केवल करि वाई दसमै [१८१]द्वार पहुंचै जाई ।
जोगी परम सिध कौ पावै जयतराम षणमुखी बतावै ॥६८८ ॥
॥इति षणमुखी ॥

**अथ एकबीसमी चाचरी मुद्रा ।**

प्रथम सिधासन बैठिक [१८२]करई नासाद्रिष्टि अचल करि धरई ।
ज्योतिरूप[१८३] प्रतिबिंब विलोके अर्धचन्द्र बिंब[१८४] अवलोके ॥६८९ ॥
जोतिरूप कुंडलनी जोवै आतमरूप सुख[१८५] प्रगटे होवै ।
बहुरि उलटि चख उरमै करै आत्मध्यान तहां पुनि धरै ॥६९० ॥
[१८६]नित्यप्रत्य जोगी दर्शन पावै होय मगन पदमाहि समावै ।
चाचरी मुद्रा अैसै कहिये जयतराम सो गुरुमुख लहिये ॥६९१ ॥
॥इति चाचरी मुद्रा ॥

## अथ बाइसमी भूचरी मुद्रा कहिये है ।

चापाई— सिधासन बैठक द्रिढ करै भुवकै मधि ध्यान पुनि धरै ।
नखसिख सकल सरीर अवलोके[१८७] जोतिरूप षटमाहि विलोकै ॥६९२ ॥
बहुरि उलटि चख्य उरमे आनै भौहा उर्ध ध्यान को ठानै ।
जोतिद्रिष्टि प्रतछ तहां लहै जथासक्ति तामै थिर रहै ॥६९३ ॥
बहुविध आनंद उपजै आई सो सुख मुखकरि कहौ [१८९]न जाई ।
भूचरि मुद्रा या[१९०] विध होवै जयतराम सब संकट खोवै ॥६९४ ॥
॥इति भूचरी ॥

---

*१८१. दसम द्वारकौ (भां)*
*१८२. द्रढ (भां)*
*१८३. जोतसरूप (ना.)*
*१८४. अर्धचंद्रबिंब अवलोकै ज्योतिरूप प्रतिबिंब विलोकै (भां)*
*१८५. तहां सुख (भां)*
*१८६. नितिप्रत्य (भां)*
*१८७. अलोकै (भां)*
*१८८. घटिमाहि (ना.)*
*१८९. कहया (भां)*
*१९० यहविधि (भां)*

## अथ तेईसमी अगोचरी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— षटचक्रनमधि ध्यान जु ठाने बहुरौ ध्यान उर्धकौ आने ।
सहस्त्रकमलदल ध्यान जु धरै बहु-यौ मनहि[१९१] उर्ध संचरे ॥६९५ ॥

दोहा— मुद्रा कही अगोचरी ध्यान अगोचर होय. ।
जयतराम गुरुक्रिपातै[१९२] याकौ साधन जोय ॥६९६ ॥

॥इति अगोचरी मुद्रा ॥

## अथ चौबीसमी उनमनी मुद्रा कहिये है ।

चौपाई— स्वस्तक आसन बैठक धरै प्राणायाम[१९३]जुगतसों करै ।
जोग अंग सो सकल पुनि विचारे द्रिढ करि बंध सकल पुनि धारे ॥६९७ ॥
मन अरु पवन दोउ थिर करै संकल्पविकल्प सब परहरे ।
इंद्रीवृति सकल उरि आनै कूर्मभांति[१९४] अंग कौ ठानै ॥६९८ ॥
मन आतमकौ प्रगट देखै सकल मनोरथ पूरन पेखे ।
अनहद धुनि तहा प्रगटै आई ताकी महिमा कही न जाई ॥६९९ ॥
भितीये मेघधुनि प्रगट होवे बहुरौ अनहद धुनि को जोवै ।
प्रथम बीन धुनि उपजै आई दुतीय शंख धुनि देत दिखाई ॥७०० ॥
नाना धुनि[१९५]अखंडत होवै संकल्प विकल्प[१९६] मन सब खोवै ।
गायत्री अजपा जहा भ्यासे बहुरौ आपहि[१९७] आप प्रकासै ॥७०१ ॥
परमातम को दरसन पावै तिनसो मिल आनंद बढावै ।
जैसै बहुत कालसौ[१९८]कोई बिछु-यौ मित्र मिलै पुनि सोई ॥७०२ ॥
पूर्व दुखकी करत संभारा सो पुनि रुदन करि तह[१९९] वारा ॥
अैसै परम मित्र परमात्म बहुत काल कौ बिछुयौ आतम ॥७०३ ॥
सो पुनि मिल[२००] कर आनंद बाढै अस्त्रपात प्रेम के काढै ।
बहुत काल में अंतर रहौ ताकौ दुख कछु जात न कह्यौ ॥७०४ ॥

---

*१९१. मनु जु धरै बहु उर्ध संचरै (ना.)*
*१९२. गुरकी क्रिपा (भा)*
*१९३. जुक्तिस्यौ (भां)*
*१९४. कूरमभात (ना.)*
*१९५. धुनिहि अखंडित (भां)*
*१९६. नर मनकौ (ना.)*
*१९७. आपकौ (भां)*
*१९८. कालयें (ना.)*
*१९९. ततकारा (भां)*
*२००. मिलि करि (भां)*

सो सब दुख ततकार नसायौ जबही प्रभुकौ दरसन पायौ ।
नाना वृत्त[२०१] मन सकल मिटावै अरु पुनि बुधि[२०२] अमलता पावै ॥७०५ ॥
माया कबहु मोह न करै सीस नवाय विघ्न सब टरै ।
श्री गुरुको प्रसादही भयौ[२०३] आगै करणौ [२०४]कछु नही रह्यौ ॥७०६ ॥
॥इति मुद्रा ॥

## अथ मंत्र [२०५]विचार कहियै है ।

मायाबीज -ह्रीं[२०६] कामराज बीज क्लीं
उड्याणबीज -ह्रीं लक्ष्मीबीज श्रीं
अजपाबीज सोहं हंसो ।
॥इति मंत्र विचार ॥७०७ ॥

**चौपाई—** [२०७]एको बीज [२०८]सिष्टिमय कहिये मुद्रा एक खेचरी लहिये ।
एकौ देव निरंजन जानो अवस्था एकै उनमनी मानौ ॥७०८ ॥

**दोहा—** [२०९]यह उनमन मुद्रा कही सब मुद्राको सार ।
जयतराम गुरुक्रिपातै याको लहे विचार ॥७०९ ॥
इति श्री चौबीस यह मुद्रा पूर्ण सोय ।
जयतराम स्त्रधासहित गुरुमुख जाणै कोय ॥७१० ॥[२१०]
॥इति चौबीस मुद्रा ॥

## अथ ओंकार को अर्थ निरूपण ।

**चौपाई—** ओंकारको रूप पछानै ताकरि जनममरन भय भानै ।
सो पुनि तीन अक्षरमय राजत अकार उकार मकार विराजत ॥७११ ॥
जो ओंकारसो अजहि कहावै रजगुण करिकै सिष्टि उपावै ।
विष्णु अकार सतोगुण सोई ताकरि विश्व की रक्षा होई ॥७१२ ॥
मकारसो महादेवको जानो तमकरि नास विश्वकौ मानौ ।
अैसो ओंकार है जोई सकल विश्व को कारण सोई ॥७१३ ॥

---

*२०१. वृत्य (भां)* | *२०२. बुध (ना.)*
*२०३. लह्यौ (भां)* | *२०४. क्यों (भां)*
*२०५. विध (ना.)* | *२०६. क्रां (ना.)*
*२०७. एकही (भां)* | *२०८. सिष्टमय (ना.)*
*२०९. एक (ना.)* | *२१०. This verse missing in (ना.)*

तीनो लोक याही में वसै वेद तीन पुनि तामै लसै ।
हरिकै तीन पद ही जो कहिये याके मधि तेइ पुनि लहियै ॥७१४ ॥
अर्धमात्रा तिनमें नाही न्यारी राजत है तिनमाहि ।
परमपद धाम तासकौ कहिये गुरुकी क्रिपा भेद सो लहिये ॥७१५ ॥
प्रथम मात्रा लघु कर जानो पुनह दूसरी दीरघ मानो ।
पुलत मात्रा तीजी भारी मनवचन तें अरथ मात्रा न्यारी ॥७१६ ॥
जो कोई ओंकारको ध्यावै अरथ मात्रा सो भलि पावै ।
निरगुण ब्रह्म लक्ष जो लहै वाचक ओंकारको गहै ॥७१७ ॥

दोहा— इहि विधि ओंकारकौ भेद बतायौ सार ।
जयतराम जो उचरै सो नर उतरै पार ॥७१८ ॥

चौपाई— क्रिया जोग की तनु करि करे ओंकार वचन उचरै ।
मन द्रिढ राखि ध्यान पुनि धारै मनवचनकाय यह सदा विचारै ॥७१९ ॥
॥इति ओंकार निरूपण ॥

## अथ प्रत्याहार ।

दोहा— प्रत्याहार अब कहत हौ चितवृति उलटन सोय ।
जयतराम गुरुक्रिपातै पावै विरला कोय ॥७२० ॥

चौपाई— सोत्र आदि इंद्रिय है जोई सबद आदि विषै पुनि सोई ।
सो तौ मनकर गहै विकारा मन करि रहित नख वरि लगारा ॥७२१ ॥
जैसै जाग्रत मे थिर रहै [२११]इंद्रीयसकल विषै कौ गहै ।
बहुरौ स्वपन अवस्था आवै इंद्रिय सकल वृत्ति छिटकावै ॥७२२ ॥
तातै जोगी मन वृत्ति गहै प्रत्याहार नाम सो लहै ।
इंद्रिय सहजै ही वसि आवे जब मन केरी वृत्य मिटावै ॥७२३ ॥

दोहा— जैसै कूर्म संग्रहै अंग अपनौ सोय ।
अैसै विपयादिकन ते चित्तवृत्य. राखै गोप ॥७२४ ॥
पंच विषै मे जात है मन इंद्रिय वसि होय ।
तिनकौ गहि उरमै धरै कूर्मकला संज़ोय ॥७२५ ॥
जैसै सायंकाल मै किरण आपनी जोय ।
रवि गहि लेवै आपने प्रत्याहार करि सोय ॥७२६ ॥

२११. *This half line missing in (ना.)*

जयतराम ता पुरख के सुगम धारणा होय ॥७२७ ॥

**इति श्री जोगप्रदीपकायां जयतरामेण ॥**
**विरचितायां प्रत्याहार वरनन नाम पंचमो खंड ॥**

**अथ धारणा ।**

दोहा— बहुरि धारणा कहत हौ तातें मन थिर होय ।
जयतराम गहि हृदय में राखै वृत्य समोय ॥७२८ ॥

**अथ पंचततको वितक्रम ।**

दोहा— पंचतत्व वितक्रमतै उपजे तन में रोग
ताकौ ब्योरो सुनो अब नहि समझे सठ लोग ॥७२९ ॥

चौपाई— जब अवनी तत अधिको होई सून्य होय तन लठरिसु जोई ।
जलको तत अधिको व्है जबही खांसी जुखाम होवे तन तबही ॥७३० ॥
तेज तत्व अधिकौ व्है आवै तब ही तनमै ताप जनावै ।
वाय तत्व अधिको जब जानो व्है सनपात बकत बहु मानौ ॥७३१ ॥
भूतत्व मै जब जोरौ जलको गलित कोढ व्है चले नवलको ।
जल तत्व मै जब जोर आगिको दाह होइ तन [२१४]जलतत्व लागिकौ ॥७३२ ॥
अग्नितत्व में जोर पवन जब सीत सहित तप आवत है तब ।
औरो देह छीन नित होई जयतराम कहि समुझो सोई ॥७३३ ॥
वाय तत्व मै जल अधिकावै कोढि होय फलका बहु पावै ।
याही भांत पांच तत्व करि आपि आपमे खेच करे वर ॥७३४ ॥
तन में रोग होंहि बहुतेरे कहां लोक हौं न आवे घेरे ।
तातें जोगी इन्है विचारै जयतराम कहि योग संभारे ॥७३५ ॥

दोहा— याही की विपरीत करि वृध रोग न होय ।
तातै जोगी प्रथम ईन साधै अवचल सोय ॥७३६ ॥

चौपाई— तातैं इनकी धारना करे जोगी अजर होइ नही मरे ।
पांच तत्वसो न्यारे न्यारे जोगी याको हियमै धरै ॥७३७ ॥
॥इति वितिक्रम ॥

---

*२१३. पांचतत वितकरमतें (भां)* *२१४. तन जतन लागिकौ (भां)*

## अथ पंच तत्वभेद ।प्रथम पृथ्वी तत्वभेद ।

चौपाई— पृथ्वी तत्व जोगी यौ जानौ [२१५]अंगुरी पंच वहे यो मानौ ।
[२१६]नाभबीच सो आय ठहरावै पल पचास लगि वहे सुभावै ॥७३८ ॥
राजसगुन अरु मीठो स्वाद बैठक याहि सुभाव अनाद ।
बुधि बीच सो मोह उपजावै सूधी गति जोगी सुख पावै ॥७३९ ॥
॥इति पृथ्वीतत्व ॥

## अथ जलतत्वभेद ।

चौपाई— अंगुरी च्यारि पवन इस वहै नीचो चले हिदयसो रहै ।
पल चालीस वेग सो याको करवो स्वाद सतो गुनको ॥७४० ॥

दोहा— मनमें उपजे मदन तब निश्चय करियो जानि ।
जयतराम जल तत्व यह सीतल गुन सुपछानि ॥७४१ ॥
॥इति जलतत्व ॥

## अथ तेजतत्व स्वरभेद ।

चौपाई— अंगुरी तीन बहु उचै चलै वेग तीस पल मस्तक रले ।
चित में क्रोध करै संचार तीछण याहि सुभाव विचार ॥७४२ ॥

दोहा— स्वाद याहि है चरपरौ तामस गुनि निरधार ।
जयतराम तत्व तेज यहै गुरुमुख करौ विचार ॥७४३ ॥
॥इति तेजतत्व ॥

## अथ वायतत्वभेद ।

चौपाई— अंगुरी [२१७]दोय कानलग वहै तिरछी गति वीस पल रहै ।
खाटो स्वाद अरु चंचल जानो तीनो गुनमें बरतत मानो ॥७४४ ॥
॥इति वाय तत्व ॥

## अथ आकास तत्वभेद ।

अंगुरी एक वहे सब ठौर उभो रहै सु सिरलगि दौर ।
रहे उदास अरु फीको स्वाद जयतराम येह तत्व अनाद ॥७४५ ॥
॥इति पंचतत्वभेद ॥

---

*२१५. अगुरु (ना.)* *२१६. नाभ सो उर्ध (भा.)*
*२१७. च्यारि होय (ना.)*

**अथ पृथ्वी तत्व धारना**

हरिताल सुवरन वरन है अवनी लकार बीजसहत अति कवनी ।
सतसहस्त्र लक्ष्मीसंग जानो च्यार कोणि हृदय में मानो ॥७४६ ॥
चितलीन प्रानसंग करै घरी पंच [२१८]स्तंभन धरै ।
धारन धर जब जीते जोगी जयतराम [२१९]गुरुमुख निरोगी ॥७४७ ॥
॥इति पृथ्वी तत्व धारना ॥

## अथ जल तत्व धारना ।

चौपाई— अर्धचन्द्र अरु कुंदसो वरन रहै कंठमें सुन ले [२२०]वरन ।
तामे जलसो अमृत जानो वकार बीज विष्णुदेव मानो ॥७४८ ॥
पांच घरी प्रानचितसंग यह जलधारन जीते रंग ।
कालकूट जो सह्यो न जाय जयतराम जोगी [२२१] सुपचाय ॥७४९ ॥
॥इति जलतत्व धारना ॥

**अथ तेज तत्व की धारना**

तालूबीच थान है याकौ चंद्रवधुवत वनर हैं ताकौं ।
मूंगावत औरो इकरंग रेफ बीज त्रिकोन तिहि अंग ॥ ७५० ॥
रुद्र देवता धारन अगि चित्तप्राण घरी पंचलागि ।
जब यह अग्नि जीत हैं जोई जयतराम कहि जोगी सोई ॥ ७५१ ॥

**अग्नितत्व**

## अथ वायतत्व की धारना ।

चौपाई ज्यों समूहका जर व्है भीनो औरो [२२३] मेघ वर यो चिन्हों ।
भौंहबीच षटकोन अकार ईश्वर देय अरु बीज जकार ॥ ७५२ ॥
प्रानसहित लीन करि चित्त गगन मगन [२२४] व्है जोगी नित्त ।
वायतत्व की धारन जीत जयतराम तब जो गहि प्रीत ॥ ७५३ ॥
॥ इति वाय तत्व धारना ॥

---

*२१८ पंच स्तंभ (भां)* *२१९ गुरुमुखी ( भां )*
*२२० करन (भां)* *२२१ सब पाय (नां)*
*२२२ चंदवधू (भां)* *२२३ औरो दसौ वरन यों चीनौ (भां)*
*२२४ गमन (भां)*

**अथ आकास तत्व की धारना**

वरन याहि सुधि जलधार ब्रह्मरंध्रमे वृताकार ।
देव आदि सिव बीज हकार प्रानचित्तको तहा जु धार ॥ ७५४ ॥
घरी पांच धारन आकास मोक्ष विचार खुले [२२५] सुखरास ।
गगन तत्व को जीत सुजान जयतराम कहि लहि वर थान ॥ ७५५ ॥
पंचतत्व की धारन पांच ताहि सुभाव सुनो लहि साच ।
अवनी को सुस्तंभ सुभाउ द्रवीभूत जल कह्यौ प्रभाउ ॥ ७५६ ॥
अगनि धारना दहनी कही भ्रमणी वाय सु जानो सही ।
गगन धारना सो अवकास [२२६] मनवचनक्रमकरि निहचै तास [२२७] ॥७५७ ॥

दोहा — पृथीवि वरसु दे सदा जल नहि बोरें सोय ।
अगनि न दाहै तासकूं जो साधन दृढ होय ॥ ७५८ ॥ *
पवन जीत व्है पवनसम सिध सु दे आकास ।
जयतराम निहचै इहै साधै करि बिस्वास ॥ ७५९ ॥
पंचभूत की धारना वरन सुनाई सोई ।
जयतराम याके सधे पांच तत्व जय होई ॥ ७६० ॥

**इति श्री जोगप्रदीप कायां जयतरामेण**
**विरचितायां धारना नाम षष्टमो खंड ॥**

## अथ कालग्यान ।

**चौपाई** कालग्यान अब भाखि जोई जाने ताहि विचारे सोई ।
साधक नित्यप्रति स्वर कौ देखै जयतराम सौ समै ही पेखै ॥ ७६१ ॥
दोय दिवसलगि [२२८] वहै जु जोई नारि पिंगुला सूर्य [२२९] सोई ।
खीण आवता तै कछु जानौ यह वचन बुधु सत करि मानौ ॥ ७६२ ॥
पंच रैन दिन सूर्य चलै इडा न तामै कबहु मिले [२३०] ।
ताकी आयु वर्ष त्रय मानो ग्रसे काल यहै जिय जानो ॥ ७६३ ॥

---

*२२६ खोले (भां)*
*२२७ मान (भां)*
*२२८ दिवस तो (भां)*
*२३० रलै (नां)*
*२२६ खनि जान (भां)*
** These verses are missing in (नां)*
*२२९ सूरजु (भां)*

जौ दस दिवस सूर स्वर जोई वहे एक रंस फिरै न सोई ।
जाकी आव अल्प पुनि मानो वर्ष पांच मैं करै पयानो ॥ ७६४ ॥
जो दिन बीस अहोनिस जोई वहे पिंगला मुरे न सोई ।
ताकी आव रहै षटमासा निहचै करै अवनी मे वासा ॥ ७६५ ॥
अहोरैन दिन वहे निरंतर नारि पिंगुला परै न अंतर ।
दिन पचीस लगि अैसे जानौ ताकी आव मास दोय मानौ ॥ ७६६ ॥
सताईस दिन इकरस वहै ताकौ काल मास मैं गहे ।
अष्टवीस दिन भान वहावे अर्धमास [२३१] में मृत्यु सो पावै ॥ ७६७ ॥
उनतीस [२३२] दिवस जब सूर्य वहै सो नर भूपरि दिन दस रहै ।
पूरन तीस वहे जब जोई जीवन ता नरको दिन दोई ॥ ७६८ ॥
दिन बतीस भान स्वर जहां वहे निरंतर फिरै न तहां ।
सो नर अहोरैंन इक जीवे छांडि [२३३] बंध हरिरस की न पीवै ॥ ७६९ ॥
जो स्वर चलै दिवस तैतीस गही आव पुनि ताकि बीस ।
तजै प्राण ता दिवस जु सोई तैलरहित दीपक जिम जोई ॥ ७७० ॥

**दोहा** कालग्यान यह वरणिवो जाणै विरला कोय ।
जयतराम यह जाणिकर कालही वंचे सोय ॥ ७७१ ॥ *
अैसे जानै कालकौं पहुचौ निकटही आय ।
जयतराम गुरुक्रिपातै [२३४] वंचन करै उपाय ॥ ७७२ ॥
॥ इति कालग्यान ॥

## अथ कालवंचन विधि कहियै है ।

**चौपाई** भृकुटी द्रिष्टि निरंतर धारे औंकार जु [२३५] मंत्र उचारे ।
याते अधिक आव पुनि होवे जोगी साधि कालभय खोवे ॥ ७७३ ॥
पूरक पवन पिंगुला कर साधै सक्ति प्रमाण कुंभक द्रढ बांधै ।
रेचक भांति [२३६] उतारे वाई या विधि आव वृधता पाई ॥ ७७४ ॥

*२३१. आधै मास (भां)* *२३२ उनतीसै जब (भां)*
*२३३ धंध (भां)* * This verse in missing in *(भां)*
*२३४ गुरुक्रिपासौ (भां)* *२३५ को (भां)*
*२३६ भान (भां)*

सूर्यमांहि चंद्र स्वर लावे [२३७] चंद्र उलटि [२३८] भानहि मिलावे ।
दिवस चंद निस भानु [२३९] जु धारै या विधि जोगी काल निवारै ॥७७५ ॥
चंद्रसूर्य [२४०] दो समकर राखै उरध चढाय अमीरस चाखै ।
गगन मंडल में अनहद धारै जयतराम सो काल निवारै ॥ ७७६ ॥
प्रथमही सिधासन द्रढ करै वाय अपना उरध ले धरै ।
बहु-यो प्राणायाम करावै प्राण वाय ले उरमधि आवै ॥ ७७७ ॥
पुन [२४१] से अर्धउर्ध की वाई नाभिस्थान सकल ठहराई ।
सो पुनि सुखमनमधि मिलावै खंडै काल समाधि लगावै ॥७७८ ॥

दोहा — या विधि काल निवारीये ये गुरुमुख साधन साधि ।
जयतराम ता पुरुखके सहजै लगै समाधि ॥ ७७९ ॥
॥ इति कालवंचन विधि ॥

## अथ ध्यान वरनन ।

दोहा सप्तम अंग जु जोगको ध्यान कहत है सोयं ।
जयतराम जोगी लहै जा ताके नही होय ॥ ७८० ॥

चौपाई आसन सम करि बैठक करई कर दोउ जंघनपर धरई ।
सरल सरीर कबै नही डोले नासाद्रिष्टि राखि नही बोले ॥ ७८१ ॥
इडा पूरि कुंभक द्रढ थारे नारि पिंगुला वाय उतारे ।
पुनह [२४२] पिंगुला पुर करि लेवै इडा नाडि रेचक करि देवै ॥ ७८२ ॥
सकल अर्थ जु मन[२४३] के तजै हरि को रूप ह्रि मै भजै [२४४] ।
प्राणायाम सगर्भ कौ धारै अगर्भ कौ कबहु न उचारै ॥ ७८३ ॥
मंत्रसहित धारै सु सगर्भा मंत्रविना तजि देत अगर्भा ।
याकौ गुरुतें भेदही पावै मंत्रसहित सो ले ठहरावै ॥ ७८४ ॥

---

*२३७ ल्यावे (भां)* *२३८ उलट (भां)*
*२३९ भान ( भां)* *२४० चंद सूर दो (भां)*
*२४१ फुनि जै अरध उरध की वाई (भां)* *२४२ इडा नाडि रेचक कर देवे पिंगला पूर कुंभ द्रढ करै लेवे (नां)*
*२४३ इंद्रीके (भां)* *२४४ जजै (भां)*

पूरक रेचक कुंभक धारै तामधि ओंकार उचारै ।
नाद अनाहद सौ मन लावै बहुरि तहां सो प्राण चलावै ॥ ७८५ ॥
तीनों काल साधिये सोई प्राण मासही मै थिर होई ।
पुनह पदम हिदाकौ ध्यावै अष्ट पत्र ताके विकसावै ॥ ७८६ ॥
सो है अर्ध उर्ध मुख करै रवि को ध्यान तहां सुधि धरै ।
पुनि रविमाहि अनल सो [२४५] जानै चंद्रमाहि अनलको मानै ॥ ७८७ ॥
बहुरि अनलमधि ध्यावै सोई प्रेमसहित अति विह्वल होई ।
सियासहित राम तहां राजत सोभा अनंत तेज घन भ्राजत ॥ ७८८ ॥
नूतन मेघ सजल तन स्याम तडित समान अंबर रुचि धाम ।
रुकम क्रीट सोभत नगजरो अति उजल सीस प्रभु धर्‍यो ॥ ७८९ ॥
मंद हसन सोभाको सदन फूल रह्यो हरिको मुख पदम ।
मकराकृत कुंडल तहा राजत प्रभुके करननमधि विराजत ॥ ७९० ॥
[२४६] कंबुक ग्रीव सोभति वनमाला उर भृगुलतारु नैन विसाला ।
भाल तिलक नासा दुति भारी बाहु आजानु जन ताप निवारी ॥ ७९१ ॥
करकंकन मुद्रिका विराजत नखदुति मनहु चंद [२४७] दुति लाजत ।
सकल अंग सोभित सुभ भूषण चिंतये ताहि मिटै भवदूषण ॥ ७९२ ॥
ऐसे ध्यान प्रभुको नित धारे चरन सीसपरजंत निहारै ।
सहित जानकी सोभती जहां मनको सीस लगावे तहां ॥ ७९३ ॥
अैसेही मन थिरता पावै बहुरि सकल विराटमय ध्यावै ।
पूरन ब्रह्म सकल विस्वमाही भेदरहित दूजो कोउ [२४८] नाही ॥ ७९४ ॥

दोहा — देहबुधि जो लोरहै दास राम को जोय ।
आतमबुधि विचारिये जहां [२४९] तहां देखै सोय ॥ ७९५ ॥
अैसे ध्यान जु धारिये छाडे सकल उपाधि ।
जयतराम ता दासकै लागे सहज समाधि ॥ ७९६ ॥

**इति श्री जोगप्रदीपकायां जयतरामेण**
**विरचितायां ध्यान वरनन नाम सप्तमो खंड ॥**

---

*२४५ ससि (भां)* *२४६ कंबग्रीव (भां)*
*२४७ अर्क (भां)* *२४८ को (भां)*
*२४९. हम प्रभु नाही दोय (भां)*

## अथ परकाया परवेसन ।

चौपाई— परपक जोग जबै सधि आवै जोगी सिध अगम की पावै ।
अपनी इछा विचरे जोई करै भवंगम की क्रिया सोई ॥७९७ ॥
सकल पवन अपनै वसि आई नारी गोंप्य [२५०]रही नही कोई ।
मनकी वृति न छानी कोई जाजा समै चलत है सोई ॥७९८ ॥
सकल सरीर दिव्यता पाय आवर्ण सबही गयो [२५१]पलाय ।
वायरूप जीवकौ जानौ जहां वाय तहा करे पयानो ॥७९९ ॥
तातै जोगी यह मत पावै परकाया प्रवेस करावै ।
जो कोई मृतक तन देखै अरु पुनि अपनी इछा पेखें ॥८०० ॥
करे प्रवेश ता समै जाई गुरुकी क्रिपा युक्ति सो पाई ।
सकल षवन मनसहित चलावै अपने कंठ आनि ठहरावै ॥८०१ ॥
बहुरो मंत्र पढै ता वारा जाको गुरुते लहो विचारा ।
काकचंचवत मुख कर लेवे अपनो प्राण मृतक मुख देवै ॥८०२ ॥
मरे आप मृतक उठि धावे पूर्व देह की स मृत्य पावै ।
बहुरो जु अपना मन मै चहै यह तन छाडि वहै तन गहै ॥८०३ ॥

दोहा— परकाया प्रवेशनों गुरुमुख पावै धीर ।
जयतराम जीर्ण तजै जो तन गहै सरीर ॥८०४ ॥

॥इति परकाया प्रवेशन ॥

## अथ जवागु विधि ।

दोहा— साधन [२५३]माहि कदाचि को वाइ वितक्रम होई ।
जवागु का रस फेरीइ समता पावै सोई ॥८०५ ॥

चौपाई— चावल टंक बतीस जु लेवै सोलह टंक मुगदल देवै ।
दोऊ समकरि पात्र के माही राधै सजल कठिनता नाही ॥८०६ ॥
बहुरि पचाइ भूमि परि धारै सूंठी मिरच पीपलि पुनि डारै ।
सेंधव लून धनौ पुनि आनै टंक टंक पीसै अरु छानै ॥८०७ ॥

---

*२५०. न कोई रहाई (भां)* *२५१. पुलाई (भां)*
*२५२. लहयो (भां)* *२५३. समै (भां)*

सबै मिलाय बहुरि ता छानै पीवै ताहि उदरमधि आनै ।
मनको पवनमधि ले आवै सो मन वायरूप व्है जावै ॥८०८ ॥
नवद्वारनमधि रस भर मावै सबही द्वार अमलता पावै ।
अथवा वाय वितक्रम करे ताकरि सूलग्रंथ जो परै ॥८०९ ॥
जवागु के रसकौ भर मावै ताकरि वाय सरलता पावै ।
सीतकाल सूर्यस्वर फेरे ऊष्णकाल में चंद्र उतेरै ॥८१० ॥

**दोहा—** जवागु रस प्रभाव करि दस नारी दस वाय ।
जयतराम सुलटै सकल रहै अमलता पाय ॥८११ ॥

॥इति जवागु की विधि ॥

## अथ दस नाडी दस वाय को भेद ।

**चौपाई—** इडा पिंगला सुखमन कहीये गंधारी गजजीव्हा सु लहीये ।
पूषा जसमन ओर अलंबुंषा कूहु संखनी जानो विदुषा ॥८१२ ॥
ताके अब स्थान सुनाऊ जयतराम [२५४]गुरुमुख सु लखाऊं ।
वाम नासिका इडा सु जानों पिंगल दछन नासा मानो ॥८१३ ॥
मध्यम[२५५] देस सो सुखमना कही वाम नयन गंधारी लही[२५६] ॥
गजजीव्हा सो दछन लोचन जयतराम है दुखकी मोचन ॥८१४ ॥
पूषा करन दाहने लेख [२५७] जससणि वाम करन विपेख ।
आननमाहि अलंबुषा जानो [२५८]कुहुनाडि पुन स्थान वखानो[२५९] ॥
कुहूलिंग अरु संखणि मूल गुरुमुख जाने मेटे सूल ॥८१५ ॥

**दोहा—** इडा पिंगला सुखमना प्रानपंथ ये जान ।
जयतराम संसार मै तीनो आश्रय मान ॥८१६ ॥

**चौपाई—** सोमसूर अरु अनिल सुदेव अब सुन पवन नाम सु भेव ।
प्रान अपान उदान समान व्यानहि पंच प्रधान सु जान ॥८१७ ॥
कूरम नाग कृकरा कहीये देवदत्त सु धनंजय लहीये ।
ये दस पवन स्थान समेत कहो सुनो धरि हिये सुचेत ॥८१८ ॥

---

*२५४. सत गुरुतें पाऊ (भां)* *२५५. देस (भां)*
*२५६. कहियै (नां)* २५७. This half verse missing in *(भां)*
*२५८. पेखि (भां)* ५९. This half verse missing in *(भां)*

प्रान हृदय अपान गुद रहै कंठ उदान सदा[२६०] सुख लहे ।
नाभि समान अरु व्यान सरीर ये पंच वाय[२६१] प्रधान सुधीर ॥८१९ ॥
कूर्म चखि उनमीलन करे नाग वाय उदगारही टरे ।
कृकरा छीक लेहि यों जानो देवदत्त सु जंभाई मानो ॥८२० ॥

दोहा— वाय धनंजय देह मै रहे मृत्यु लो जान ।
जयतराम या वाय करि फूले देह निदान ॥८२१ ॥

चौपाई— दस नाडी करिके यह जीव भ्रमत देहमै रहै सदीव
ज्यों कोउ गेंद करसे पटके उपर नीचे फीर फीर भटके ॥ ८२२ ॥
अैसै नारिन जीव फिरावौ रैन दिना यों रहे भ्रमायो ।
प्रान अपान वसि रहे सदाई उपर नीचै आवै जाई ॥८२३ ॥
बायें दाहने बिचि ले [२६२]जावै इकठा कबहू नाही रहावै ।
जैसे सिकरा डोरी बांध्यौ खेंचौ आवै जहा सु साध्यो ॥८२४ ॥
गुणसो बंध्यौ जीव इमि जान [२६३]अग्यान साथ सो बंध्यउ मान ।
अपान वाय प्रानको खेचै प्रान वाय अपानहि अैचै ॥८२५ ॥
उचै नीचै अैसै लहिये जो जाने सो जोगी कहिये ।
ताकौ यह उपचार सुनाउं जयतराम गुरुकृपा बताऊं ॥८२६ ॥
[२६४]सकार सबद सो बाहर जावै हकार [२६५] सबदसो भीतर आवै ।
सोहं [२६६]सोहं मंत्र सुजान है न दिन इहि जाप सु ठान ॥८२७ ॥
हजार इकीस अरु [२६७]षटसत और जाप जपे यह रैनि सु भोर ।
अजपानाम गायत्री जानों जयतराम गुरुक्रिपासे[२६८] मानो ॥८२८ ॥

दोहा— दस नाडी दस वाय को भिन भिन करि भेद ।
जयतराम वरन्यो सकल लखै सुमेटै खेद ॥८२८ ॥
॥इति नाडीवाय[२६९] वरनन ॥

---

२६०. *व्यान (भां)* २६१. *नारि (भां)* २
२६२. *चंचल (भां)* २६३. *रेन दिना भरमें यो मान (भां)*
२६४. *हकार (भां)* २६५. *सकार (भां)*
२६६. *हंस हंस ये (भां)* २६७. *सत छह (ना.)*
२६८. *गुरुक्रिपासु* २६९. *दस नाडी दस पवन को भेद (भां)*

अथ इडा पिंगला सोधन विधि ।

पदमासन द्रिढ बांधि मूलबंध नीका देवै ।
दोउ स्वरसो खेच वाय नासापुट लेवै ॥८२९ ॥
पुनह हृदा मै आनि ताहि नीकी विधि घेरै ।
ता पीछै स्वर मूदि भली दोऊ नाडी फेरै ॥८३० ॥

चौपाई— समही दोऊ नाडिका[२७०] मर मावै ताहि फेरि दछन दिस ल्यावै ।
बहुरि दछिन दिस[२७१] फेरै जोई वाम वोर ले आवे सोई ॥८३१ ॥
पुनि दोउ सम[२७२] कर ठहरावै वार आठोतर सत भर मावै ।
उदर रोग रहे नही कोई खास स्वास क्षयादिक सोई ॥८३२ ॥

दोहा— या करि सूधी सर्पनी नारी सब सुख[२७३] रास ।
होय[२७४] जो भार सुखमन मारुत चढे अकास ॥८३३ ॥

॥इति नाडी सोधन ॥

## अथ मूल सिसन सोधन ।

पूर्व कहै कर्म षट जोई ताकरि मन यह निर्मल होई ।
मूल उदर सोधन मन लावै सोध कपाल समाधि लगावै[२७५] ॥८३४ ॥
मूल उदर सोधन अब भाखौ अरु कपालसोधन पुनि आखौ ।
जोगी जबै समाधि लगावै सोधन क्रिया सिध[२७६] सो पावै ॥८३५ ॥
प्रथमही काकासन द्रढ साधै कटि प्रमान जब बैठि आराधै ।
मूल संकोच उरध जल ल्यावै नाभिप्रजंत[२७७] आनि ठहरावै ॥८३६ ॥
बहुर जु जलकौ भूपरि डारै पुनि[२७८] चढाय कंठतक धारे ।
याविधि बारंबार चढावै जयतराम ताको छिटकावै ॥८३७ ॥
मूलद्वार करि[२७९] जल गहि लेवै सो जल सिसन वाट तजि देवै ।
बहुरि सिसन करि पीवै वारि मूलद्वार करि देहि उतारि ॥८३८ ॥

---

*२७०. नारि (भां)*
*२७१. नस (भां)* *२७२. नस सम (भां)*
*२७३. सुधि रास (भां)*
*२७४. पावे मारग सुखमना (भां)*
*२७५. This Line missing in (भां)*
*२७६. सुगभ (भां)*
*२७७. नाभप्रजंत (भां)*
*२७८. पुनह चढाइ कंठतकि धारै (भां)*
*२७९. जलसिकारि (ना.)*

**दोहा—** या विधि वारंवार करि लेह परसपर वारि ।
जयतराम तब मूल लिंग[२८०] रहै अमलता धारि ॥८३९ ॥
॥इति मूलसिसन कर जल क्रिया ॥

**अथ मूल सिसन करि पवन क्रिया कहिये है ।**

**चौपाई—** [२८१]मूलद्वारि करि गहै समीर जथासक्ति करि राखे थीर ।
नीकी भांति नाभि मै धारै सिसन वाट सो वाय उतारै ॥८४० ॥
अैसी भांति सिसन तै पीवै सो पुनि वाय नाभि थिर कीवै ।
सक्तिप्रमाण तहां ले धारै गुदाद्वारि करि ताहि उतारै ॥८४१ ॥
लोम विलोम वाय भर मावै उदर रोग सब नासहि पावै ।
कुंडलनी व्याकुल होय चलै सहजै द्वार मोक्ष को खुलै ॥८४२ ॥

**दोहा—** प्राणायाम जु मूल कौ वाय नीर करि भेद ।
जयतराम वरन्यौ सकल बहुत मिटावै खेद ॥८४३ ॥
॥इति मूल सिसन[२८२] सोधन विधि ॥

## अथ उदरसोधन विधि ।

**चौपाई—** प्रथम मुख जलपान करावै धोय[२८३] उदर जल बाहरि ल्यावै[२८४] ।
याविधि सुध उदर कौ करे रोग सकल सहजै ही हरे[२८५] ॥८४४ ॥
बहुरि वाय मुख मारग लेवै भिश्रकभांति उदर भरि देवै ।
जथासक्ति भरि राखै थीर पुनि मुख मारग तजै समीर ॥८४५ ॥

**दोहा—** द्वादस कुंभक द्रिढ करै सुखमन मारग सोय ।
जयतराम तब उदरकौ रोगनास सब होय ॥८४६ ॥
॥इति उदर सोधन ॥

---

*२८० सिसन (भां)* *२८१. मूलद्वार है (भां)*
*२८२. लिंग (भां)* *२८३. मूलसिसन कर तह छीटकावै (ना.)*
*२८४. After this liine is found the following line in (नां)*
*सीसन पुन नीर सुचढे मुखनासानयननि आ कढे*
*२८५. जरै (ना.)*

**अथ कपालसोधन विधि कहिये है । ताके भेद दोय ।**
**एक जलक्रिया दुजी पवन क्रिया ।**

**अथ प्रथम जल क्रिया ।**

दोहा— इडा नाडि जलपान करि छोडै पिंगुल नाडि ।
पुनि है पिंगला पान करि इडा[२८६] उतारे वारि ॥८४७ ॥

चौपाई— बहुरि वारि नासास्वर धारे सुखमनमार्ग ताहि निसारे[२८७] ।
[२८८]सुखमन मारग ताहि निसारे सुर तजै वारंवार क्रिया यह सजै ॥८४८ ॥

दोहा— नासापुट जलपान करि चख्यमारग तज देय ।
जयतराम जल फेरिकै द्वार सुध करि लेय ॥८४९ ॥

॥इति जलक्रिया ॥

**अथ पवनक्रिया ।**

चौपाई — पूरक पवन सुखमना धारै इडापिंगला[२८९] द्वारि निसारै ।
नासापूरि गहै पुनि वाय मुख मारग दीजे छिटकाय ॥८५० ॥
नासापूरि पवन सुर सजै उरध आनि चख्यमारग तजै ।
बहुरि गहै मारग[२९०] चख्य वाय नासावाट देहि छिटकाय ॥८५१ ॥
याहि भांति वाय चख्य लेवे सो पुनि श्रवण वाट तजि देवे ।
पूरक शक्ति श्रवण नहि धरै ताते रेचक तै सुध करै ॥८५२ ॥

दोहा— यह कपालसोधन कहौ पवनभेद करि सोय ।
पहिले जब सब ठां चढै पवन गमन[२९१] तब होय ॥८५३ ॥
यह क्रिया द्रिढ साधि करि निर्मल करै कपाल ।
जयतराम तब सहजमें कटे रोग के जाल ॥८५४ ॥

चौपाई— कुंभक इडा नाडि करि लेवे मूलबंध तब द्रिढ करि देवे ।
पुनह मूल कुंभक जब साधै चिबुकहु ते जालंधर बांधै ॥८५५ ॥

---

*२८६. इडापिंगला (ना.)* *२८७. न सारे (भां)*
*२८८. स्वखमन गहि नासा स्वर तजै (भां)* *२८९. इलाप्यंगुला (भां)*
*२९०. चखि मारग (भां)* *२९१. गवन (ना.)*

जो यहु कुंभक द्रिढ करि साधै सावधन गुरुमुख आराधै ।[२९२]
मुद्रा चतुरवीस सधि आवै कुंभक अष्ट श्रमहि विन पावै ॥८५६ ॥
॥इति कपालसोधन ॥

## अथ खेचरी वर्णन ।

चौपाई— बहुरि खेचरी मुद्रा जोई महागोप्य प्रगट कहौ सोई* ।
इडा पिंगला वाई भरै भिश्रक भांति कपालमै धरै* * ॥८५७ ॥
पुन कपालतै बाहरि ल्यावै पवनक्रिया तबही सध आवै ॥**
क्रियासहित मोहि गुरदई स मै वरनि प्रगटहि कही* ॥८५८ ॥
याही तै षटचक्र विकासै सकल कुवृत्य चित्तकी नासे ।*
जोग समाधि सहजहीं पावै जयतराम सब दोष़ मिटावै* ॥८५९ ॥
॥खेचरी मै सुखमना भेद ॥

## अथ सुखमना वरनन ।

चौपाई—. गुदा वृषण बिचि [२९३]ढौर जु जोई जोनि स्थान कहावै सोई ।
तीन नाडि तामधि रहावै ताकौ भेद गुरुमुख पावै ॥८६० ॥
वाम भाग[२९४] मै इडा जु कहिये दछन नाडि पिंगुला लहिये ।
मधि सुखमना अति सुखरूपा साधै ताहि मिटे भवकूपा ॥८६१ ॥
सो पुनि बढि वेलि जीम आई दसम द्वारलगि पहुती जाई ।
बहुरौ और अंग भये याके कहौ प्रगट गोप्य नही राखै[२९५] ।८६२ ॥
[२९६]मेढुस्थान सिसन भयो सोई सिसन तंतु प्रगट कह्यौ आई ।
नाभि स्थान वढी इक आई [२९७]नाम कुंडली शक्ति कहाई ॥८६३ ॥

---

*२९२. सावधान गुरुमुख आराधे*
*जो इ कुंभक द्रढ करि साधै (ना.)*

** These lines bear yellow pigment in (भां)*

*** These lines are missing in (भां)*

*२९३. गैल (भां)*

*२९४. दिसामै (ना.)*

*२९५. ताके (भां)*

*२९६. याकौ एक अंकुर बढायौ ताकर सिसन प्रगट है आयौ (भां)*

*२९७. नाभि (नां)*

सो पुनि सर्पाकार विराजत कुंडल[२९८] कीये तहां पुनि [२९९]राजत ।
ताकौ मुख अति तीछण भारी मोक्षद्वारि गहि रही जु नारी ॥८६४ ॥

दोहा— महासक्ति यह मोहनी बैठी वपु दोय धारि ।
माया होय जग मोहि यो घटमै मोक्षद्वारि ॥८६५ ॥
॥इति सिसन कुंडलीनी ॥

## अथ खेचरी वरनन ।

चौपाई— बहुरि नाल इक मुखमै आयौ सो तिन नाम खेचरी पायौ ।
जिह्वा नाम तासको कहिये याके सधे समाधि जु लहिये ॥८६६ ॥

दोहा— जिह्वा इंद्रिय एकही सुसमन याकौ नाल ।
उलटै ताहि कपाल मै ताहि न गंजै काल ॥८६७ ॥

चौपाई— रसना अधोमूल पुन जहा छिद्र सहित त्रय नाडी तहां ।
धार अखंडित तिनकी आवै ताकरि जिह्वा सजल रहावै ॥८६८ ॥
तालूमध्य छित्र त्रिय ओर बोलत जीभ लगै तिह ठौर ।
तिनकरि अमी निरंतर आवै मुख अरु वकना सजल रहावै ॥ ८६९ ॥
जिभ्या अगर छिद्र त्रिय जानौ पीवत अमी निरंतर मानौ ।
सोई अमी सरीरमधि आवै तासो जोगी अमर रहावै ॥८७०* ॥
जब ही यह अमी सुख जावै तबही देह नास को पावै ।
तातै जोगी जुक्ति अराधै खंडन काल खेचरी साधै ॥८७१ ॥

दोहा— औसी अद्भुत नारि है अंग अंग में सोय ।
जयतराम गुरुमुख लहै तो साधन सिध होय ॥८७२ ॥
॥इति खेचरी भेद ॥

## अथ खेचरी साधन वरनन ।

चौपाई— गुदा वृषण मधि नाडि जु जोई पूर्व वरनी कही है सोई ।
तिनमै मधि सुखमना नारी मोक्षद्वार सो देत उघारी ॥८७३ ॥
प्रथम ही मूलबंध द्रिढ देवै सिसनवाट वाई भरि लेवै ।
सो ले वाइ उदरमै राखै मुखकरि बीज खेचरी भाषै ॥८७४ ॥

---

*२९८. कुंडिलि किया (ना.)*
*२९९. साजत (ना.) This verse is missing in (भां)*

बहुरि मधि की सुखमन नारी एडी करि चापे जु विचारी ।
सिसन बंध याही तै लागे कुंडलनी सूती पुन जागे ॥८७५ ॥
जैसे [३००] भस्त्रक मिलै जु कोई वाई भरे सरल सो होई ।
याही भांति सुखमना सोय सर्व ठोरते सुधी होय ॥८७६ ॥
वाय अपान उरध कौ आवै प्राणवाय मै आण समावै ।
याही भांति प्राण तजै चलै सो पुनि आनि अपानै रलै ॥८७७ ॥
यातै सिसन जु लघुता पावै जिह्वा सहज वृधि होय आवै ।
अनंग जीत जो जोगी होवै सकल विकास देहके खोवै ॥८७८ ॥

दोहा— सब अंगन मै सार यह मुद्रा खेचरी सोय ।
मोक्षद्वार कुंडल तजै अरु समाधि सिधि होय ॥८७९ ॥
सब मुद्रा या माहि है कही जोग मै सोय ।
जयतराम याके सध्या दुरगम रहै न कोय ॥८८० ॥
॥इति खेचरी मुद्रा साधन ॥

## अथ पूर्व साधन दिखाई है ।

चौपाई —
पूर्व खेचरी अैसै गाई छेदन चालन सहित बताई ।
मंथन दोहन [३०१] विधान पुन कह्यौ अैसी भांति वृधि तब लह्यौ ॥८८१ ॥
अति कलेस छेदन मै सोई अजुक्ति किया मूकता होई ।
तातै जोगी छेदन तजै चालन दोहन [३०२] मंथन सजै ॥८८२ ॥
ताहूमांहि जुक्ति यह धरै अवखध पंच आनि [३०३] सप्त करे ।
तिनकौ सार जिह्वा तरि देवे अवखध करि मंथन करि लेवै ॥८८३ ॥
याविधि दोहन चालन साधै छेदन तजै मंथन अराधै ।
बहुरि क्रीया पूर्व जो भाखी मूलबंध आदिक जे आखी ॥८८४ ॥

---

*३००. भिश्रा बाल (भां)* *३०१. हु पुनि (भां)*
*३०२. मैथन (ना.)* *३०३. सम (भां)*

तिन करि वृध खेचरी पावै या [३०४]आरंभ मै मन ठहरावै ।
करै अन्यथा लहै न सोई वृथा [३०५]श्रम करौ मत [३०६] कोई ॥
॥इति खेचरी मुद्रा की क्रिया ॥

## अथ खेचरी सिधि कहिये है ।

कपालमधि त्रीघंटी जोई तिनकौ वरनि सुनाउ सोई ।
नासाविवर प्रथमही कहिये नेत्रविवर दुसरी लहिये ।८८६ ॥
श्रवणविवर तीसरे जानौ अैसी भांति त्रिघंटी मानौ ।
तामधि उलटि खेचरी ल्यावै त्रिघंटी करि सु उर्ध चढावै ॥८८७ ॥
अखंड धार अमृत जहां झरे सहस्त्रकमल नित वर्षा करे ।
सो पुनि जिह्वा पीवै जहां ब्रह्मानंद सु उपजे तहां ॥८८८ ॥
त्रिघंटी लग[३०७] रसना जावै सोई जालंधर बंध कहावै ।
अैसैही जे है [३०८]नवद्वार बंध भयै सब एक ही बार ॥८८९ ॥
कारजरूप वाय नव जोई नवद्वारनिमधि फिरती सोई ।
कारण प्राण माहि सो आई नाना गमन सकल छिटकाई ॥८९० ॥
याही भांति सकल जो वाई नाभिस्थान मिली सो आई ।
सुखमन मारग प्राण वस होई नाभिस्थान मिली सो आई ।
सुखमन मारग प्राण वस होई दसमै द्वारि पहुती सोय ॥८९१ ॥
जैसे वरिषा रुत जब आवै सरिता अधिक वेगसो पावै ।
मिले सिंधु मै शीघ्र सु जाई तदवत [३०९] ब्रह्म सु जोगी पाई ॥८९२ ॥
तिर्जग अरध कमल षट जोई वेध्या वाय सरल किया सोई ।
फूले सकल सुगंध अति वासी मनकी सर्व कल्पना नासी ॥८९३ ॥
जैसै वेली मै [३१०] जल देवै ताके फूल विकास जु लेवै ।
अैसै सुखमन वेली जानौ वारि समीर तहां पुनि आनौ ॥८९४ ॥

---

*आरंभन (ना.)* — *३०५. सरम (भां)*
*३०६. मति कौही (भां)* — *३०७. लंधि (भां)*
*३०८. जे (भां)* — *३०९. तब ब्रह्मानंद (भां)*
*३१०. वेली जलमै (ना.)*

दोहा— ऐसी गोप्य जू खेचरी कही प्रगट करि सोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते याको साधन होय ॥८९५ ॥

॥इति खेचरी मुद्रा ॥

**अथ षटचक्र वरनन ।**

**ध्यान अजपासहित कहिये है ।**

चौपाई— प्रथमही अजपा सो मन लावै ताकै जपै सकल सिध पावै ।
विनही जाप होत है जोई [३११]अजपाजाप कहावै सोई ॥८९६ ॥
सोहं सोहं सासोसास घटमै करै निरंतर वास ।
षट सत सहश्र इकीस जु आवै गुरुकी क्रिपा भेद सो पावै ॥८९७ ॥
सो पुनि ले घटमै उलटावै षटचक्रनमधि आनि मिलावै ।
क्रमसौ जाप करै मन लावै जाविधि आग्या गुरुतै पावै ॥८९८ ॥

॥इति अजपा ॥

## अथ षटचक्रवरनन ।

चौपाई— प्रथम चक्र आधार बखानू स्वर्न वर्न तासकौ जानू ।
सक्ति गणेश चतुर्दल सोई वंशंषंसं अक्षर होई ॥८९९ ॥
तपत स्वर्णमय ध्यान जु धारै षटसत तामधि जाप उचारै ।
सोई जाप गणपति को दैवै निर्भय होय चरण पुनि सेवै ॥९०० ॥

॥इति आधारचक्र ॥

## अथ स्वाधिष्ठान चक्र ।

स्वाधिष्ठान चक्र पुनि दूजा तेजमनो विजुरी को पूजा ।
षटदल षट तहा अक्षर राजत बंभंमंयंरंलं सहित विराजत ॥९०१ ॥
ब्रह्मासावित्री पुनि बहां षटसहस्र जप जपिये तहां ।
सो पुनि अजपा अजहि चढावै तिनके चरन सीसकौ नावै ॥९०२ ॥

॥इति स्वाधिष्ठान चक्र ॥

## अथ मणिपूरक चक्र ।

त्रितीय चक्र मणिपूरक जोई नीलवरनमय जानो सोई ।
लक्ष्मीसहित विष्णु तहां राजत पीत वरन अति सोभा साजत ॥ ९०३ ॥

*३११. अजपानाम (भा)*

[312] दसदलसहित अक्षर [313] दस जहां डं आदि फं अंति है तहा ।
(डंढंणंतंथंदंधंनंपंफं)
षटसहस्र तहा जाप उचारै प्रभु को अरपि चरन सिर धारै ॥९०४ ॥
दसदलमधि अष्टदल जोई औंधो मुख जानीये सोई ।
कदली साद्रिसु पुसय यह जानौ अष्टरंग याके सो मानौ ॥९०५ ॥*
मन बुधिकौ यामै है वासौ सौ नाना ढीच करे तमासो ।
याको जोगी जीत्यो चहई अधमुखसो उर्धमुख करई ॥९०६ ॥* *
दोहा— तामधि सियारामकौ निहचै ध्यावै सोय ।
जयतराम जनमादिके बंधन रहै न कोय ॥९०७ ॥* *
॥इति मणिपूरक चक्र ॥

## अथ अनाहत चक्र ।

चतुर्थ चक्र अनाहत सोई पीत वरन द्वादस दल होई ।
का आदि ठा अंतहि राजत [314]द्वादस अछर जहां सु राजत ॥९०८ ॥
(कंखंगंघंङंचंछंजंझंञंटंठं)
षटसहस्र जहां जाप उचारे ध्यान सदाशिव उरमै धारे ।
[315]सोई जाप समरण कीजै उमासहित महादेव दीजै ॥९०९ ॥
॥इति अनाहत चक्र ॥

## अथ विशुद्ध चक्र ।

पंचम विशुद्ध चक्र पुनि जानौ षोडस दल करि युक्ति सु मानौ ।
तामधि षोडस अक्षर सोई धूम्रवरण ताकौ पुनि होई ॥
अआइईउऊऋॠऌॡएऐओऔअंअः ॥९१० ॥

### अथ आग्या चक्र

षष्टम आग्या चक्र सु कहिये दोय पांखरी तामधि लहिये ।
विद्युत वर्ण सुभ्र अति राजत हंक्षं अक्षर सहित विराजत ॥९१२ ॥

---

३१२. अष्टदल (भा)
३१३. है (भा)
* This verse is missing in (भा)
** These verses are missing in (भा)
३१४. उमा सहित महादेव विराजत (भा)
३१५. This line is missing in (भा)

सहस्र जाप जपै जहां जोई परमात्महि समरपे सोई ।
मनकी वृत्य चरनमधि धारै कालकल्पना सकल निवारै ॥९१३ ॥
॥इति षटचक्र[३१६] ॥

## अथ सहस्रदल कमल वरनन ।

चौपाई— कमल सहस्रदल अति सुखकारी ब्रह्मरंध्रमधि सोभति भारी ।
ब्रह्म[३१७] कपूर आभा ताकी जानौ नादातमक तासकौ मानौ ॥९१४ ॥
वरण पचास सकल जहां जोई अकारादि क्षकारलग सोई ।
अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ लृ ॡ ऐ ओ औ अं अः । *
कखगघङ, चछजझञ, टठडढण, तथदधन, पफबभम*
यरलवसषशहलक्ष ।*

दोहा— एक सहस्र जाप जपि गुरुहि समर्पे सोय ।*
सोहं देवता है सही जानै विरला कोय ॥९१५ ॥*
सकार बाहरि जात है हकार प्रवेशन सोय ॥*
सोहं सोहं मंत्र यह जान्या मुक्ति है सोय ॥९१६ ॥*

चौपाई— षटसत सहस्र इकीस जु जहां अजपाजाय उचारे तहां ।
परमात्मा गुरुसम जानै एकरूप करि तिनकौ मानै ।
सो पुनि जाय समरपण करै चरणकमल मसतग ले धरै ॥९१७ ॥

दोहा— ऐसी विधि अजपा जपै चक्रमधि[३१८] चक्र सोय ।
जयतराम गुरुक्रिपाते सकलजोग सिद्ध होय ॥९१९ ॥
॥ इति सहस्र दल कमल ॥

## अथ सुखमनाकौ विचार ।

चौपाई— सहस्र बहतरी नारी जोई तिनमधि सुखमनही कोई
नरनमधि नरपति पुनि जैसै नारिनमधि सुखमना तैसै ॥९१९ ॥

*३१६. षटकमल (भां)*

*३१७. कर्पूरआभा (भां)* * *These Lines are missing in (भां)*

*३१८. चक्र चक्रमधि (ना.)*

ताकी महिमा वरन सुनाऊ जैसे आग्या गुरुते पाऊ ।
मोक्षद्वार की पैरी सोई गुरुमुख साधि लहै जन कोई ॥९२० ॥
उरधै चली मूलते आछै वेध गई षटचक्र जु पाछै ।
बहुरो कामधेन लग धाई सहस्रकमल दल पहुती[३१०] जाई ॥९२१ ॥
सोई सहस्रदल अमृत झरे सहस्रधार कर वर्षा करै ।
सोई धार धेनमुख आवै ताकी वर्षा धेन करावै ॥९२२ ॥
अपने थन करि वारंवारा वरषत अमी अखंडत धारा
सो पुनि सुखमन मारग आवै पहुचै नाभि[३२०] भस्म होय जावै ॥
यातै मूढ मरे सब कोई गुरुविन भेद लहै नही सोई ॥९२३ ॥
तातै जोगी गुरुमत गहै साधै जोग अमर होय रहे ।
जिभ्या उलटि कपालि चढावै ब्रह्मरंध्र मै ले ठहरावै ॥९२४ ॥
सहस्रद्वार जिभ्याकै सोई सूछिम तै सूक्षम अति होई ।
तिनकर अमृतपान करावै जनम मरन का दोष जरावै ॥९२५ ॥
नाद आनाहद अति धुनि वाजै सुनै ताहि मन अति सुख राजै ।
नानवृत्यि सकल मन तजै नित्यप्रति[३२१] नाद अनाहद वाजै ॥९२६ ॥
जैसै मेघ धरनिपरि होई अन्न आदिक बहु निपजै सोई ।
सबही परजा आनंद पावै काल तिनौ भय सहज नसावै ॥९२७ ॥
अैसेही जोगी के जानौ सहस्रकमल रचि [३२२] समानौ ।
धार सहस्र परत है जोई किरण रूप भई पुनि सोई ॥९२८ ॥
कामधेनु वारिद [३२३]सम मानौ वरषत अमी धारी [३२४] सो जानौ ।
जिभ्या[३२५] भूमि पर्‌यौ सो आई तिनमै बहुविध साखनि पाई ॥९२९ ॥

*३१९. पोंहुते (ना.)* *३२०. नाभ (भां)*
*३२१. नितिप्रत (भां)* *३२२. रवि सम मानौ (भां) ३२३. सो (भा)*

बारह[३२६] मास फूल फल रहै जोगी अपनी इछा गहै।
जोगसिध अणभादिक जोई[३२७] फलसमान मानि यह सोई ॥९३० ॥
फल सो योग समाधि कहावै तहा कालभय निकट न आवै।
जयतराम सो जोगी कहिये गुरुकी क्रिपा समाधि जु लहिये ॥९३१ ॥

इति सुखमना ।

## अथ समाधि वरनन ।

चौपई— सहस्त्रपत्र को कमल जु जोहै पूरव वरनि कह्यौ पुनि सो है।
भंवरगुफा है ताकै परै जोगी तहा समाधि ही धरै ॥९३२ ॥
असंख्य सूरकौ तेज प्रकासै पूरण परमानंद आभासै।
अनहद सबद अखंडित रहै आत्मपरमात्मकौं लहै ॥९३३ ॥
याते परै असंख्य दल जो है सीया सहित राम तहां सो है।
सो पुनि सतचितआनंदरूपा चिदानंद विग्यानसरूपा ॥९३४ ॥

दोहा— सूर्यरूपी राम है किरन जानकी सोय।
सब जगमैं प्रकास है सब मैं व्यापक जोय ॥९३५ ॥*
सूर्य ही जलवर्षि है सूर्य प्रतिबिंब सोय।
सूर्यही जल सोखि ले प्रतिबिंब रहै नही कोय ॥९३६ ॥*
अद्वैती ब्रह्म श्रीराम द्वैती व्यापग है सोय।
प्रकृत जल कों सोखिलै प्रतिबिंब रहै न कोय ॥९३७ ॥*
सोखन पोखन है रवी प्रकासक व्यापक सोय।
निर्गुण सगुण जु एक है द्वितीय भाव न ही कोय ॥९३८ ॥*

चौपई— सीया जगत जननी सो जानो उतपति परलै ताकरि मानौ।
[३२८]जहां कोइ सूरचंद नही तारा सहज प्रकास सदा उजियारा ॥९३९ ॥
च्यार मुक्ति प्रभु जनको देवै सो पुनि दास कवै नही लेवैं।
प्रभु सेव्य मै सेवग सोई यहै वृत्य सदा मम होई ॥९४० ॥

---

*३२४. वारि (भां)*
*३२५. जिह्वा (भां)*
*३२६. वारा (ना.)*
*३२७. फूल समान भई सोई (ना.)*
** These verses are missing in (भां)*
*३२८. जहा सुरचंद जाही तारा स्वयं प्रकास सदा उजियारा (भां)*

भक्ति सहित प्रभु चरण जु सेवै च्यारो मुक्ति कदे नही लेवै ।
देह माहि वरतै है जौलौ दासभाव सो राखै तोलौ ॥९४१ ॥
धारै ध्यान समाधि लगावै असंप्रग्यात सो नाम कहावै ।
बहुरि देहमै वरतै जोलौ संप्रग्यान कहावै तौ लौ ॥९४२ ॥

**दोहा**— जल थल मै श्रीराम है सचराचर मै जोय ।
यही व्रत धारा रहै पूर्ण ब्रह्म रहै सोय ॥९४३ ॥*

**चौपई**— जाग्रत सुपन सुषोपति जानौ मुरुठा ओर समाधि जु मानौ ।
ग्यान अग्यानि विषै पुनि सोई व्यापक सीयाराम ही होई ॥९४४ ॥*
लोभी को मन दाम ही जोही कामीको मन काम ही होई ।
प्यासा को मन नीर ही जानो जोगी मन सियाराम ही मानौ ॥९४५ ॥*

**दोहा**— उठत बैठत शरीर मै जागत सोवत नीर ।
नीर ही नार पुकारते निहचै जानौ पीड ॥९४६ ॥*
अैसी विरत जु दासकौ नित्य न (नि) हचै करि होय ।
जहां तहां सीयाराम है और न देखे कोय ॥९४७ ॥*
याही मुख्य समाधि है ओर माग नही होय ।
जयतराम य समाधिमै निहचो राखे सोय ॥९४८ ॥*
जम अरु नेम बीज करि जानौ आसन कुंभक पत्र जु मानौ ।
प्रत्याहार यहु फूल सोई धारणा ध्यान समाधि फल होई ॥९४९ ॥

**दोहा**— जोग कल्पद्रुम है यहै दूरि करै श्रम सोय ।
जयतराम याकै निकट सहजमुक्ति फल होय ॥९५० ॥

**चौपई**— जोगप्रदीपका यह है भाई प्रगट जोगकौ देत बताई ।
ज्यों मंदर मैं दीपक जोवै लहै वस्त अरु तमकौ खोवै ॥९५१ ॥
ऐसे ग्रंथदीप यह जानौं साधन सकल तेल करि मानौ ।
काया मंदिर मै भरि जोवै लहै समाधि सकल तम खोवै ॥९५२ ॥

---

* *These verses are missing in (भां)*

जो कोई याकौ भले विचारे गुरुमुख ह्वै साधन द्रिढ धारै।
लहै मोक्षपद सीघ्र सु सही जयतराम यह निश्चै कही ॥९५३ ॥

दोहा— साखि जु जेजे ग्रंथ की यामै कही जु सोय।
ते ते अब अनुक्रमस्यों वरण सुनाऊं जोय ॥९५४ ॥*

चौपई— इस ग्रंथन की भाषा जोई सार हि सारनिका स्यो सोई।
पातंजल जोग प्रकास ही जानो चूडामणी जोगनिध मानो ॥९५५ ॥*
अनभै जोग प्रकास ही मानो जोगसंघिता ऐसै जानौ।
जोग संधि दिखणा मूरत संधिता जोई हठप्रदीपिका है पुणि सोई ॥९५६ ॥*
गोरखसत जु है पुनि जानौ ततप्रदीपका निश्चै मानौ।
एकादश है पुनि जो जोई जोग सु नागवलि कहै सोई ॥९५७ ॥*

दोहा— इन ग्रंथन कौ जोग अंग सार लियो सोय।
जयतराम भाषा करी गुरुमुख जाने कोय ॥९५८ ॥*
दोहा चौपई वरण किय नवसत वाव जान।
जयतराम संख्या कही निहचै ल्योह प्रमान ॥९५९ ॥*
संवत सतरासै असी अधिक चतुर्दश जान।
अस्वन सित दसमी विजै पूरण ग्रंथ समान[३२९] ॥९६० ॥
श्रीवृंदावन पुलिनमधि वास हमारो सोय।
तहौ जैत भाषा करी सुनत सबै सुख होय ॥९६१ ॥*
रास स्थाली याकों कहिये प्रेमपीठ नाम सो लहिये।
ग्यान गूदरी प्रसीधिही मानौ ताके मध्य स्थान सु जानौ ॥९६२ ॥*
निति लीला सुनिहार इह नित्य समाऊ है सोई।
पारज सुर वांछे सदा या सम और न कोई ॥९६३ ॥*
सोई राजसिर धारि निजभाषा करीउचारी।
जयतराम मम इष्टपद जुगल ह्रिदा मै धारि ॥९६४ ॥*

**इति श्री जोगप्रदीप (प्य) कायां जयतरामेण**
**विरचितायां समाधि वरनन नाम अष्टम खंड ॥**
**संपूर्ण समाप्तं। श्रीरस्तु कल्याणमस्तु**
**[३३०]संवत १८२३ मीती कार्तिक शुदि २ बुध वासरै**

---

* *These verses are missing in (भां)* ३२९. *प्रमान (भां)*
३३०. *This line does not exist in (भां)*

जोग-प्रदीपिका

# चित्र-परिशिष्ट

SVASTIKĀSANA
स्वरितकासन

PADMĀSANA
पद्मासन

SAPTARṢĪ ĀSANA
सप्तर्षि आसन

VAJRASIṄGHĀRA ĀSANA
ब्रजसिंघाड़ आसन

SŪRYA ĀSANA
सूर्य आसन

GORAKHAJĀLI ĀSANA
गोरखजालि आसन

ANASŪYĀ ĀSANA
अनसूया आसन

MACHANDRA ĀSANA
मछन्दर आसन

MAHĀMUDRĀ ĀSANA
महामुद्रा आसन

BHAIRU ĀSANA
भैरू आसन

MAYŪRA ĀSANA
मयूर आसन

DATTADIGAMBARA ĀSANA
दत्तदिगम्बर आसन

CARPAṬACOKA ĀSANA
चर्पटचोक आसन

KANERIPĀVA ĀSANA
कनेरीपाव आसन

HĀLIPĀVA ĀSANA
हालिपाव आसन

MIḌAKĪPĀVA ĀSANA
मींडकीपाव आसन

GOPICANDRA ĀSANA
गोपी चन्द्र आसन

BHARATHARI ĀSANA
भर्तृहरि आसन

VASIṢṬHA ĀSANA
वशिष्ठ आसन
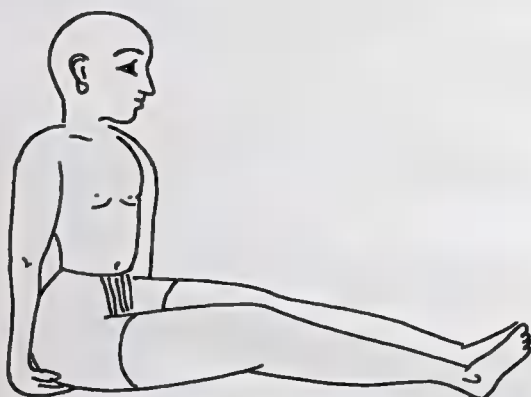
AÑJANĪ ĀSANA
अञ्जनी आसन

CITRA ĀSANA
चित्र आसन

GARUḌA ĀSANA
गरुड़ आसन

SĀVITRĪ ĀSANA
सावित्री आसन

ŚUKADEVA ĀSANA
शुकदेव आसन

NĀRADA ĀSANA
नारद आसन

VARĀHA ĀSANA
वराह आसन

KURAKAṬA ĀSANA
कुरकट आसन

KĀKABHUSAṆḌĪ ĀSANA
काकभुशुण्डी आसन

SIDDHAHARATĀLI ĀSANA
सिद्धहरतालि आसन

MASAKA ĀSANA
मशक आसन

BRAHMĀ ĀSANA
ब्रह्मा आसन

ŪRDHVAPAYANA ĀSANA
ऊर्ध्वपयन आसन

NAGNA ĀSANA
नग्न आसन

SIDDHA ĀSANA
सिद्ध आसन

PARAŚURĀMA ĀSANA
परशुराम आसन

MṚTYABAÑJIKA ĀSANA
मृत्युबञ्जिक आसन

KOCAKA ĀSANA
कोचक आसन

BHIḌOKA ĀSANA
भिडोक आसन

BRAHMAJURĀṄKUŚA ĀSANA
ब्रह्मजुराङ्कुश आसन

ANDHA ĀSANA
अन्ध आसन

BHISARIKĀ ĀSANA
भिसरिका आसन

VIYOGA ĀSANA
वियोग आसन

BODHASOKA ĀSANA
बोधसोक आसन

BHAGA ĀSANA
भाग आसन

RUDRA ĀSANA
रुद्र आसन

ŚIVALIṄGA ĀSANA
शिवलिङ्ग आसन

VYĀSA ĀSANA
व्यास आसन

KAPĀLI ĀSANA
कपालि आसन

ŚIVA ĀSANA
शिव आसन

MARKAṬA ĀSANA
मर्कट आसन

PARA ĀSANA
पर आसन

BHADRAGORAKHA ĀSANA
भद्रगोरख आसन

RUṆḌA ĀSANA
रुण्ड आसन

YOGAPADA ĀSANA
योगपद आसन
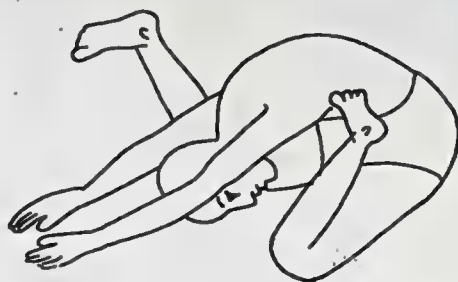
CAKRĪ ĀSANA
चक्री आसन

VṚŚCIKA ĀSANA
वृश्चिक आसन

VIPARĪTAKARAṆA ĀSANA
विपरीतकरण आसन

DEVA ĀSANA
देव आसन

GOHĪ ĀSANA
गोही आसन

# योगविद्या-विमर्श

(संस्कृतवाङ्मयाधारित योगानुशासन)

कुलपति प्रो. अशोक कुमार कालिया जी की प्रस्तावना से विभूषित

लेखिका एवं सम्पादिका

प्रो० (सुश्री) विमला कर्नाटक

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

वाराणसी

LIGHTS OF UNIVERSITY GOLDENJUBILEE YEAR

UNIVERSITY-SILVERJUBILEE-GRANTHAMĀLĀ
[ Vol. 50 ]

# YOGAVIDYĀ-VIMARŚA

FOREWORD BY
**PROF. ASHOK KUMAR KALIA**
VICE-CHANCELLOR

WRITTEN & EDITED BY
**PROF. VIMALĀ KARNĀṬAKA**
Head, Sanskrit Department, Mahila Mahavidyalaya
Banaras Hindu University, Varanasi

SAMPURNANAND SANSKRIT UNIVERSITY
SHRUTAM ME GOPAY

VARANASI
2007

*Research Publication Supervisor—*
**Director, Research Institute,**
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-201-9

❑

*Published by—*
**Dr. Harish Chandra Mani Tripathi**
***Director, Publication Institute***
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221002.

❑

*Available at—*
**Sales Department,**
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❑

**First Edition,** 500 Copies

**Price :** Rs. 300.00

❑

*Printed by—*
**GAURI SHANKAR PRESS**
Madhyameshwar, Varanasi.

विश्वविद्यालय-स्वर्णजयन्ती-वर्ष में प्रस्फुटित

विश्वविद्यालय-रजतजयन्ती-ग्रन्थमाला
[ ५० ]

# योगविद्या-विमर्श

[ संस्कृतवाङ्मयाधारित योगानुशासन ]

*कुलपति प्रो. अशोक कुमार कालिया जी की प्रस्तावना से विभूषित*

लेखिका एवं सम्पादिका

**प्रो. (सुश्री) विमला कर्नाटक**

अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग, महिला महाविद्यालय
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
श्रुतम् मे गोपाय

**वाराणसी**

२०६४ वैक्रमाब्द १९२९ शकाब्द २००७ खैस्ताब्द

*अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षक—*
**निदेशक, अनुसन्धान-संस्थान**
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी।

ISBN : 81-7270-201-9

❐

*प्रकाशक—*
**डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी**
***निदेशक, प्रकाशन-संस्थान***
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी—२२१००२

❐

*प्राप्ति-स्थान—*
**विक्रय-विभाग**
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय
वाराणसी—२२१००२

❐

**प्रथम संस्करण :** ५०० प्रतियाँ
**मूल्य :** ३००.०० रूपये

❐

*मुद्रक—*
**गौरीशंकर प्रेस**
मध्यमेश्वर, वाराणसी।

# प्रस्तावना

मैं अत्यन्त हर्षानुभूति के साथ **प्रो० विमला कर्णाटक** द्वारा प्रणीत **'योगविद्या-विमर्श'** नामक ग्रन्थ पर अपनी प्रस्तावना लिख रहा हूँ। प्रो० विमला कर्णाटक ने अपनी लगभग ३७५ पृष्ठ की पुस्तक में योगदर्शन की सभी शाखाओं के सिद्धान्तों में समन्वय स्थापित करते हुए यह प्रतिपादित किया है कि योगदर्शन हमारी अनादि विद्या है। इस विद्या ने महर्षि व्यास, वाल्मीकि, कपिल, कणाद, गौतम बनाये और भगवान् बुद्ध, भगवान् महावीर, रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, शंकराचार्य जैसे दार्शनिक-सम्प्रदाय-प्रवर्त्तक आचार्य बनाये, साथ ही कबीर, सूरदास, तुलसीदास, गुरुनानकदेव, स्वामी रामतीर्थ, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी दयानन्द, महात्मा गाँधी, महामना पण्डित मदन मोहन मालवीय, माता आनन्दमयी एवं म०म० गोपीनाथ कविराज जैसे योगी और साधक भी निर्मित किये।

आज भी इस योग-विद्या का अवलम्ब लेकर **स्वामी रामदेव जी महाराज** भारत का गौरववर्द्धन कर रहे हैं। प्रायः सभी शास्त्रों के मूल में योगविद्या अनुस्यूत रही है। भारत का सङ्गीतशास्त्र बिना योगी बने सध नहीं सकता। इसीलिए स्कन्दमहापुराण के **'काशीखण्ड'** में यह प्रतिपादित है कि कभी ऐसा युग था, जब हर माता-पिता यह कामना करता था कि हमारे कुल में मुक्ति दिलाने वाला योगी उत्पन्न हो—

**मा भूत् त्रैपुरुषी विद्या मा भूत् त्रैपुरुषं धनम् ।**
**मा भूत् त्रैपुरुषी मुक्तिः काशीं व्यासोऽशपन्निति ।।**

(का० ख० ९६/१२५)

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में योगविद्या की परम्परा नष्ट होने तथा उनके द्वारा भगवान् सूर्य को प्रदान करने और भगवान् सूर्य के द्वारा भगवान् मनु और इक्ष्वाकु राजा को प्रदान करने की बात कही गई है—

**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम् ।**
**विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ।।**

**एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।**
**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।**
**स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।**
**भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।**

(गीता-४/१-३)

इस प्रकार योग-विद्याओं से सारा ब्रह्माण्ड ओत-प्रोत है। योग-विद्या को क्षुरिकोपनिषद् में **'मधु-विद्या'** भी कहा गया है। योग-विद्या के सिद्धान्त और प्रयोग मानव को मधुमती भूमिका में प्रतिष्ठापित करते हैं।

स्कन्दमहापुराण के काशीखण्ड में कहा गया है कि **योग की, तप की, व्रत की, मन्त्र की तथा तीर्थ की** सिद्धियाँ **'काशी'** में अवश्य ही साधक को शीघ्र प्राप्त हो जाती हैं—

**योगसिद्धिरिहास्त्येव तपःसिद्धिरिहैव हि ।**
**व्रतसिद्धिर्मन्त्रसिद्धिस्तीर्थसिद्धिः सुनिश्चितम् ।।**

(का० ख० ९४/४३)

यही योग जब सिद्ध होकर परिणामोन्मुख होता हुआ आत्मा को शरीर-बन्ध से मुक्त कराता है, तो महर्षि व्यास ने विह्वल होकर काशीखण्ड में प्रतिपादित किया है कि 'मैं समस्त वाङ्मय का मन्थन करने के अनन्तर घोषणा करता हूँ कि काशी में शरीर छोड़नेवालों की मुक्ति ध्रुव है'—

**निर्मथ्य विष्वग्वाग्जालं सारभूतमिदं परम् ।**
**ब्रह्मणोदीरितं पूर्वं काश्यां मुक्तिस्तनुत्यजाम् ।।**

(का० ख० ७९/३२)

ऐसी **'योग-विद्या'** की साधिका **प्रो० विमला कर्णाटक** ने अपना जीवन योग-विद्या के पुनरुज्जीवन में लगाया है और राष्ट्रभाषा हिन्दी के माध्यम से इस विद्या को जन-जन तक पहुँचाया है। भारत की नयी पीढ़ियाँ उनकी आभारी रहेंगी।

निरन्तर योगानुसन्धान में तल्लीन परमविदुषी लेखिका का मैं हार्दिक मङ्गलाभिनन्दन करता हूँ।

यह ग्रन्थ प्रकाशन-संस्थान के निदेशक **डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी,** वहाँ के कर्मठ सहयोगी **डॉ० हरिवंश कुमार पाण्डेय, डॉ० ददन उपाध्याय, श्री कन्हई सिंह कुशवाहा** के समर्पित आत्मदान का फल है। अतः इन कर्मवीरों को शुभाशीर्वाद प्रदान करता हूँ।

इस ग्रन्थ के मुद्रक **श्री शिवप्रसाद रस्तोगी** एवं हृदयावर्जक निबन्धनकार **श्री रमेश कुमार** को स्वस्तिवाक् प्रदान करता हूँ।

अन्ततः योगाग्नि से दीप्त इस ग्रन्थ को साम्बशिव योगपति के श्रीचरणों में समर्पित करता हूँ।

**वाराणसी**
अक्षय-तृतीया,
वि०सं० २०६५

**( प्रो० अशोक कुमार कालिया )**
कुलपति
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

# प्रकाशकीय

सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय का प्रकाशन-संस्थान संस्कृत-वाङ्मय के सेवकों तथा सेविकाओं के लिए एक ऐसा मञ्च प्रदान करता रहा है, जिस पर आरूढ़ होकर अनाम लेखकों और लेखिकाओं ने यश, सौख्य, गौरव तथा प्रतिष्ठा पायी है। इस विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान द्वारा प्रकाशित ग्रन्थों को आधार बनाकर विद्वानों एवं विदुषियों ने पद्मभूषण, पद्मश्री, राष्ट्रपति पुरस्कार, बिरला फाउण्डेशन के पुरस्कार तथा उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान के नाना पुरस्कारों के साथ विश्वभारती पुरस्कार भी प्राप्त किये हैं। मेरे स्मृति-पटल पर कुछ ऐसी संस्कृत-वाङ्मय की विभूतियाँ कौंध रही हैं, जो विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान से प्रकाशित अपनी पुस्तकों को पाथेय बनाकर इस विश्वविद्यालय के कुलपति पद को प्राप्त करने के लिए धावमान रही हैं।

मुझे अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि यहाँ से प्रकाशित अपनी पुस्तकों तथा अनुसन्धानपूर्ण लेखों के प्रतिमुद्रणों को लेकर सहस्राधिक संस्कृत-सेवक जीविकार्जन कर सके हैं। **धन्य है यह विश्वविद्यालय तथा इसका प्रकाशन-संस्थान, जिसे आज की तिथि में राष्ट्रीय स्तर पर एवं अन्ताराष्ट्रिय स्तर पर विश्वविद्यालय की सारस्वत-क्रियाशीलता का प्रतिनिधि होने का गौरव प्राप्त हुआ है।**

यह तो रही गौरव-गाथा। इस गाथा से इतर एक और गाथा की ओर विद्वानों, आचार्यों, विश्लेषकों एवं मनीषियों का ध्यान आकृष्ट कराना अपना परम कर्त्तव्य मानता हूँ। **इस विश्वविद्यालय के सरस्वतीभवन-पुस्तकालय में अरबों पृष्ठ हस्तलिखित-पाण्डुलिपियाँ ऐसी हैं, जिनका स्वातन्त्र्योत्तर भारत में अवलोकन, विलोकन, वाचन, विश्लेषण, ज्ञानाविष्करण तथा अनुसन्धान नहीं हो पाया है, जो वर्तमान एवं भावी पीढ़ियों के लिए शुभ सङ्केत नहीं है।**

**परम विदुषी प्रो० विमला कर्णाटक** वर्तमान समय में वह मील का पत्थर हैं, जिन्होंने अपनी तपस्या एवं रचनाओं से बराबर वर्तमान एवं भावी पीढ़ी के लिए अङ्गुलि-निर्देश किया है। वे निरन्तर इस प्रकार के सारस्वत-यज्ञ की यजमान रही हैं और उनकी सारस्वत आहुतियों का धूम एवं सुगन्धि विद्वज्जगत् द्वारा अनुभूत की जाती रही है।

ऐसी तपोनिष्ठ, ज्ञाननिष्ठ, योगनिष्ठ, प्रयोगनिष्ठ विदुषी को मैं शिरसा नमन करता हूँ।

यह महनीय ग्रन्थ जिनके पुण्य-प्रभाव, तपःप्रभाव एवं ज्ञान-प्रभाव से मूर्त्तरूप ग्रहण कर सका है, ऐसे ऋषिकल्प माननीय कुलपति **प्रो० अशोक कुमार कालिया जी** को शिरसा प्रणाम करता हूँ।

**( डॉ० हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी )**
**निदेशक**
प्रकाशन-संस्थान
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय

**वाराणसी**
रामनवमी,
वि०सं० २०६५

# कृतज्ञता-ज्ञापन

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय, वाराणसी राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भारतवर्ष का गौरवपूर्ण प्रतिष्ठित राष्ट्रीय ज्ञानपीठ है। स्व-स्व-शास्त्र के निष्णात लब्धकीर्ति आचार्यों का यह अद्भुत सङ्गमस्थल है। आचार्यों की तेजस्विता का परिचायक इस विश्वविद्यालय का महत्त्वपूर्ण प्रकाशन-संस्थान है। यह महिमामण्डित आचार्यों की ज्ञानरश्मियों की संरक्षित प्रयोग-शाला है। यह ग्रन्थ-लेखकों की मान-मर्यादा का मानदण्ड है। मत्सदृशा लेखिका की लघुता को प्रभुता में परिवर्तित कराने में इसका गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। यहाँ के बहु-आयामी-प्रतिभा के धनी कुलपतियों की शृङ्खला में वर्तमान कुलपति **प्रो० अशोक कुमार कालिया** का प्रबुद्ध नेतृत्व अविस्मरणीय है।

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालय के प्रकाशन-संस्थान के सम्माननीय दूरद्रष्टा निदेशक **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी जी** की विशेषतया आभारी हूँ, जिन्होंने अपने संस्थान से **'योगविद्याविमर्श'** नामक ग्रन्थ को मुद्रित एवं प्रकाशित कराकर लेखिका का उत्साहवर्धन किया है। एतदर्थ विश्वविद्यालयीय समस्त औपचारिकताओं को संस्तुत कराने में उन्होंने जो दक्षता प्रदर्शित की है, वह उनके महनीय प्रशासनिक व्यक्तित्व की परिचायिका है। आपमें सत्यप्रतिज्ञता, सद्गुणधारकता, कृपालुता, सहनशीलता तथा ज्ञान-विज्ञान-गभीरता का मञ्जुल समन्वय है। **डॉ. हरिश्चन्द्र मणि त्रिपाठी जी** के व्यक्तित्व के ये विशेषणमात्र नहीं, अपितु उनमें स्वतः विशेष्यरूप में पुञ्जीभूत हैं। लेखिका को दूरभाष से ही आपमें सन्निहित इन सात्त्विक गुणों की अनुकरणीय अनुभूति हुई है। आपके प्रति हृदय से नतमस्तक हूँ। भवत्सदृश महनीय व्यक्तित्व के प्रति कृतज्ञताज्ञापन तो औपचारिकतामात्र है, लेखिका तो सर्वदा आशीर्वाद की आकाङ्क्षिणी है। आप वकारपञ्चक के मूर्तिमान् हैं—

**विद्यया वपुषा वाचा वेषेण विनयेन च।**
**वकारैः पञ्चभिर्युक्तो नरः कीर्तिमवाप्नुयात्॥**

**'वाद'** की परिधि को सीमित न कर लेखिका विश्वविद्यालय के प्रकाशनमण्डल एवं परामर्शदातृमण्डल के प्रति भी **'धन्य'** है। प्रूफरीडिङ्ग में सम्भावित त्रुटियों का दायित्ववहन करती है लेखिका।

**आश्विनशुक्लनवमी तिथि**
**विक्रम संवत् २०६४**
**अक्टूबर २०, २००७**

*इति विदुषां वशंवदा*
**विमला कर्णाटका**

# उपस्थानिका

**योग आध्यात्मिकः पुंसामतो निःश्रेयसाय मे ।**
**अत्यन्तोपरतिर्यत्र दुःखस्य सुखस्य च ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२५/१३

भगवती जगदम्बिका की अनुकम्पामयी दृष्टि से उत्प्रेरित होकर मैं विद्यार्थी जीवन से विद्याप्रकल्प के योगयज्ञ में शब्दमयी आहुति प्रदान करने के लिये दर्शनशास्त्र की योगविधा पर विशेषत: लेखनकार्य द्वारा यथाशक्ति समर्पित रही हूँ। सर्वदा लघु प्रयास यही रहा कि संस्कृतवाङ्मय में समाच्छादित अध्यात्मप्रधान योगविद्या का विमर्शात्मक आलोडन कर उससे सम्बन्धित वाङ्मय का संवर्द्धन एवं परिवर्धन किया जा सके । इस अभ्यास-क्रम में दशाधिक ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। विद्योद्यान का यह अग्रिम ग्रन्थपुष्प योगमय ज्ञानयज्ञ में आहुति के लिये तत्पर है। भगवद्गीता का वचन है—

**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते ।**
**स्वयं योगसंसिद्धः कालेनाऽऽत्मनि विन्दति ।।**

भगवद्गीता ४/३८

प्रस्ताविक लघुप्रयास की ओर यह सत्प्रवृत्ति तब उदित हुई जब यह शुभेच्छा बलवती हुई कि क्यों न पातञ्जलयोगदर्शन को ध्रुवीकृत कर वैदिक युग से लेकर दर्शनयुग तक समस्त शास्त्रों में अवच्छिन्न सम्प्रदायपुरस्सर योगविद्या के अनुदान का जीवन्त अनुशीलन किया जाय और तत्-तत् शास्त्रों में योगविद्या के प्रतिपादित सुरभिमय सिद्धान्तों का तुलनात्मक एवं समन्वयात्मक अध्ययन कर उसे एक पुष्प-ग्रन्थ में ग्रथित किया जाय।

एतदर्थ उपनिषद्वाङ्मय, श्रीमद्भागवत, योगवासिष्ठ, भगवद्गीता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिकासहित जैनदर्शन, बौद्धदर्शन, सांख्य-योगदर्शन, न्याय-वैशेषिकदर्शन, मीमांसा-वेदान्तदर्शन, शिवयोग, वामतन्त्रयोग, पातिव्रत-योग नादानुसन्धानयोग, प्रस्तरकलाप्रधानयोग, आधुनिक प्राकृतिक-यौगिक

चिकित्सा-पद्धति से सम्बन्धित ग्रन्थों का समाश्रयण कर 'योगविद्या' को एक स्थल पर उद्‌भावित करने का प्रयास किया गया है । ईश्वर, मोक्ष, जगत् आदि महनीय विषयों का भी समावेश कर उसे वैषयिक सर्वाङ्गीणता प्रदान करने की दिशा में भी लेखिका का यह अपने ढंग का अनूठा प्रयोग है । मेरे इस प्रयास को विशेष बल तब प्राप्त हुआ जब योगशास्त्र के अधिकृत अध्येताओं की इस दिशा में मुझे पूर्ण सहमति प्राप्त हुई । अतः इस ग्रन्थ के लेखनकार्य के समय जिज्ञासु सुधीजन की सहावस्थिति का अवबोध मुझे होता रहा है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ पटलत्रय में विभाजित है । प्रथम पटल में 'विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित योग का स्वरूप', द्वितीय पटल में 'योगविद्या का तुलनात्मक अध्ययन' तथा तृतीय पटल में 'योगविद्या के विविध आयाम' शीर्षक को दृष्टिपथ में रखकर द्वात्रिंशत् विषयों की गवेषणापूर्ण ज्ञानमञ्जूषा शास्त्रोद्धरणसहित सुसज्जित है । उपसंहाररूप में महर्षि पतञ्जलि के कुछ महत्त्वपूर्ण सूत्रों की आशयानुसारी पद्यमयी प्रस्तुति भी हुई है ।

**'योगविद्याविमर्श'** नाम से अङ्कित लेखिका का यह सुदीर्घकालिक अध्यवसाय सुधीजन के समक्ष प्रस्तुत है । कर्तव्य की यह इतिश्री अध्येताओं के आलोचनाधिकार को उन्मुक्त करती है । गीतोक्त वचन है—

**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।**
**सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।**

भगवद्‌गीता ५/५

**अश्विनशुक्लनवमी तिथि**
**विक्रमसंवत् २०६४**
**अक्टूबर २०, २००७**

***इति विदुषां वशंवदा***
**विमला कर्णाटका**

# विषयानुक्रमणी

## प्रथम पटल : विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित योग

## द्वितीय पटल : योगविद्या का तुलनात्मक अध्ययन

## तृतीय पटल : योगविद्या के विविध आयाम

●

# प्रथम पटल : विभिन्न शास्त्रों में प्रतिपादित योग

- उपनिषदों में योगचर्चा
- श्रीमद्भागवत में योगचर्या : एक दार्शनिक पक्ष
- योगवासिष्ठ में योग
- भगवद्गीतान्तर्गत अष्टादशाङ्गयोग : एक विमर्श
- तन्त्र में योग
- वाम-कौल-तान्त्रिक योग
- शिवयोग विमर्श
- लययोग का स्वरूप एक यौगिक दृष्टि
- नादानुसन्धान
- पातिव्रतयोग : एक परिशीलन

# योगविद्याविमर्श

## उपनिषदों में योग-चर्चा

**योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्धते ।**
**योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ।।**

'योग' भारतीय अध्यात्म एवं संस्कृति की सर्वप्राचीन तथा अमूल्य निधि है। भारतीय वाङ्मय में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसकी महत्ता न केवल वैचारिक गम्भीरता के कारण है, अपितु मानव जीवन के ऐहिक एवं पारलौकिक उपलब्धियों के प्रमुख साधन होने के कारण भी है। भौतिकता से अनासक्त होकर मनुष्य अपने जीवन को सार्थक बनाने के लिये एवं अभिनव आशाओं तथा उमंगों से परिपूर्ण करने के प्रयास में अपनी बहिर्मुखी प्रवृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाता है। अन्तर्निहित चेतना को स्वस्वरूप में स्थित करना चाहता है। इस दुर्लभ लक्ष्य की प्राप्ति का एकमात्र साधन योग है। यह भारतीय अध्यात्मविद्या एवं तत्त्वज्ञान के गूढ रहस्यों के रसास्वादन की कुञ्जी है। योगबल के द्वारा ही ईश्वर विश्व का सृजन, नियमन एवं पालन करते हैं। योग के द्वारा ही प्राचीन ऋषियों को अपूर्व अन्तर्दृष्टि एवं प्रातिभज्ञान की प्राप्ति हुई थी। ऋषियों ने मन्त्रों का साक्षत्कार एवं आर्ष ग्रन्थों का प्रणयन भी योग द्वारा ही किया था। इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व का निर्माण योगबल से हुआ है।

**आर्ष ग्रन्थ : योग की गङ्गोत्री**

समस्त उपनिषदों में प्रत्यक्ष या परोक्षरूप से योग का वर्णन अवश्य हुआ है। उपनिषदों में योगविषय पर्याप्तरूप में प्राप्त होता है। किन्तु योग की गङ्गोत्री वैदिक संहिताएँ ही हैं। क्योंकि वैदिक संहिताओं में ही योग की आदिम रूपरेखा प्रस्फुटित हो चुकी थी। उपनिषदों में यह रूपरेखा पल्लवित एवं पुष्पित होकर अत्यन्त सुव्यक्तरूप में अपनी परिपूर्णावस्था को प्राप्त होती है। पुराण, महाभारत, तन्त्र तथा धर्मशास्त्र में योग की यह धारा गङ्गा की

जलधारा में समाहित असंख्य औषधीय गुणों की भाँति, अविरल गति से प्रवृद्ध होती हुई कालान्तर में; मध्याह्नकालिक सूर्य की प्रखर रश्मियों की भाँति, पतञ्जलि के योगदर्शन के रूप में हम अध्येताओं के समक्ष आती है। योग की यह धारा यहीं अवरुद्ध नहीं हुई, अपितु व्यास, वाचस्पति, भोज, विज्ञानभिक्षु, नागेशभट्ट, सदाशिवेन्द्रसरस्वती आदि ग्रन्थकारों की रचनाओं से परिपुष्ट होती हुई सम्प्रति भी पुण्यसलिला भगवती भागीरथी की विमल धारा की भाँति श्रद्धा एवं भक्ति का भाजन बनी है। योगार्णव में अवगाहन कर प्रत्येक सम्प्रदाय के आचार्यों ने स्वकीय ग्रन्थमञ्जूषा में वैचारिक योगमणियों को संरक्षित किया है। सर्वत्र योगविद्या प्रतिभासित हो रही है।

## योग प्रायोगिक विद्या

योग सर्वोपरि प्रायोगिक विद्या है, अतः आधुनिक शब्दावली में 'विज्ञान' की संज्ञा 'योग' को प्राप्त है। इसे अध्यात्मविज्ञान कहते हैं। यह परम कल्याण का प्रशस्त मार्ग है। यह मानवजीवन के ऐहिक एवं पारलौकिक उपलब्धियों को प्राप्त कराने का मुख्य साधन है। भारतीय दर्शन में वर्णित मानवजीवन के चार पुरुषार्थ धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की सम्यक् प्राप्ति योग के माध्यम से ही सम्भव है। विभिन्न दर्शनों में इनकी प्राप्ति के लिये ज्ञान की व्याख्या की गई है। किन्तु जिस प्रकार मात्र औषधि के नामोच्चारण से रोगी रोगमुक्त नहीं हो सकता है, उसी प्रकार केवल क्रियाहीन ज्ञान से हमें कदापि लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हो सकती। सैद्धान्तिक तत्त्वज्ञान का व्यावहारिक जीवन में उपयोग करने का विधान योग में बतलाया गया है। अर्थात् योग में मानव जीवन के समस्त पक्षों पर विचार कर सात्त्विक जीवन व्यतीत करने का उपाय बतलाया गया है। जिसके अनुसार आचरण कर मनुष्य मानवोचित उत्कर्ष को प्राप्त कर चरम लक्ष्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। प्राचीन काल में लोगों ने इसी के अनुसार आचरण कर उत्कृष्टता को प्राप्त किया। सर्वाङ्गग्राह्य योगविद्या के आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास से मनुष्य के जीवन में सम्प्रति चमत्कारी परिवर्तन आया है। योगविद्या के भूमण्डलीकरण ने इस विज्ञान के प्रति आस्था जागरित की है। वे नतमस्तक हैं—योगविज्ञान के प्रति।

## उपनिषद्-वाङ्मयादर्श

भारतीय संस्कृति का मूलग्रन्थ वेद है एवं वेद की अन्तिम शब्दराशि उपनिषद् नाम से विख्यात है। इस कारण उपनिषदों की महिमा भारतीय

संस्कृति तथा दर्शन के पोषक ग्रन्थ के रूप में है। उपनिषद् वेद का ज्ञानकाण्ड है। यह चिरप्रदीप्त वह ज्ञान-दीपक है जो सृष्टि के आदि से प्रकाश देता आ रहा है और लयपर्यन्त यथावत् प्रकाशित होता रहेगा। इसके प्रकाश में वह अमरत्व है, जिसके द्वारा सनातन धर्म का मूल सिञ्चित हुआ है।

उपनिषदें समय की दृष्टि से हमसे सुदूर होते हुए भी अपने चिन्तन से सुदूर नहीं हैं। वे जाति और भौगोलिक स्थिति के भेदों से ऊपर उठने वाली मानवीय आत्मा की प्रारम्भिक अन्त:प्रेरणाओं की क्रिया को विकसित करती हैं। वे जीवन की समस्त दिशाओं में प्रकाश देने वाली अखण्ड परमज्योति हैं। परमात्मा के पुनीत मार्ग की पथप्रदर्शिका हैं और परमात्मा के विभिन्न रूपों के निर्भ्रान्त और समन्वयात्मक स्वरूप का साक्षात्कार कराने वाली हैं।

विद्वानों ने उपनिषद् शब्द की व्याख्या अनेक प्रकार से की है, जिसके विवेचन से ही इस शब्द के अर्थ को सम्यक् प्रकार से जाना जा सकता है। 'उप' और 'नि' उपसर्गपूर्वक 'सद्' धातु से 'क्विप्' प्रत्यय लगाने पर स्त्रीलिङ्ग में उपनिषद् शब्द निष्पन्न होता है। षदॢ विशरणगत्यवसादनेषु अर्थ वाली षद् (सद्) धातु के अनुसार विशरण (हिंसन), गति (प्राप्ति) तथा अवसादन (शिथिल करना) अर्थ हैं। तदनुसार उपनिषद् शब्द का अर्थ है— वह विद्या जो समस्त अनर्थों को उत्पन्न करने वाले सांसारिक क्रिया-कलापों अर्थात् अविद्या का नाश करे। इससे संसार की कारणभूता अविद्या का बन्धन समाप्त हो जाता है और ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है।

बृहदारण्यकोपनिषद् के सम्बन्धभाष्य में शङ्कराचार्य कहते हैं—

**सेयं ब्रह्मविद्या उपनिषच्छब्दवाच्या तत्पराणां स हेतोः संसारस्यात्यन्तावसादनात् । उपनिपूर्वस्य सदेस्तदर्थत्वात् ।**

बृहदारण्यकोपनिषद्, सम्बन्धभाष्य पृ. ३०

सद् धातु के तीनों अर्थों की व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्य कहते हैं—"अविद्या आदि संसार के बीज का विनाश करती है, ब्रह्म की प्राप्ति कराती है और स्वर्गलोकरूप फल की प्राप्ति के कारणरूप से लोकान्तरों में बारम्बार प्राप्त होने वाले गर्भवास, जन्म, वृद्धावस्था एवं मरण आदि उपद्रवों का अवसादन करने वाली है, अर्थात् इनको शिथिल करती है।"

उपनिषद् शब्द का दूसरा अर्थ है—उप = समीप, निषद् = बैठना। गुरु के समीप में बैठना अर्थात् गुरु के समीप श्रद्धापूर्वक बैठकर ज्ञान प्राप्त करना। याज्ञवल्क्य अपनी पत्नी मैत्रेयी को समीप बैठाकर रहस्य का ज्ञान कराते हैं एवं अज्ञान का विनाश कर परमानन्द का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

यहाँ शङ्का होती है कि 'विद्या' पढाई नहीं जाती है अपितु ग्रन्थ पढ़ाया जाता है। तो इस स्थिति में **उपनिषदं भो ब्रूहि** (केनोप. ४/७) प्रयोग क्यों हुआ है? इसका उत्तर है कि ब्रह्मविद्या जिन ग्रन्थों में उपनिषद् की गई है वे ग्रन्थ भी उपनिषद् कहलाते हैं।

वेद का अन्तिम भाग होने से उपनिषद् को वेदान्त भी कहते हैं अथवा वेद का चरम तात्पर्य उपनिषद् में वर्णित होने के कारण भी इसे वेदान्त कहते हैं—

**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः ।**

मुण्डकोपनिषद् ३/२/६

वेदान्तसार में **वेदान्तो नामोपनिषत्प्रमाणम्** कहा गया है। वेदान्त से अतिरिक्त श्रुतिशिखा (**श्रुतिशिखोत्थाखण्डधीगोचरः,** अद्वैतमञ्जरी) तथा श्रुतिशिरः (**श्रुतिशिरोवचनेषु संक्षेपः,** शारीरक १/१०३) आदि शब्दों का प्रयोग भी उपनिषद् के लिये हुआ है। उपनिषद् शब्द का प्रयोग 'रहस्य' के अर्थ में भी होता है। यथा—**गुह्या आदेशा** (छान्दोग्य उप. ३/५/२) एवं **परमं गुह्यम्** (कठ उप. १/३/१७)। रहस्य का तात्पर्य उपनिषदों में वर्णित उन विचारों से है, जो अन्यत्र कहीं प्राप्त नहीं होते हैं। रहस्य को द्योतित करने वाला सर्वाधिक गूढतत्त्व ब्रह्म है। उपनिषद् सत्य के विज्ञान को ग्रहण करती है। इसलिये यह उपनिषद् पराविद्या, अध्यात्मविद्या तथा ब्रह्मविद्या कहलाती है।

उपनिषद् वेद के शिरोभाग के नाम से जानी जाती हैं। वेद अपौरुषेय हैं। इस दृष्टि से उपनिषदों के रचनाकाल का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है। फिर भी तुष्यतुदुर्जनन्याय से यह मानना उचित ही होगा कि जो उपनिषद् जिस वेद का अन्तिम भाग है, उसका रचनाकाल वही होगा जो उससे सम्बद्ध वेद का है।

वर्तमान समय में उपलब्ध उपनिषदों की संख्या में भी मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वानों के अनुसार उपलब्ध उपनिषदों की संख्या दो सौ से भी

अधिक है। भारतीय परम्परा में उपनिषदों की संख्या एक सौ आठ बतलाई गई है। मुक्तिकोपनिषद् में एक सौ आठ उपनिषदों का नाम भी गिनाया गया है। वे सभी निर्णय सागर प्रेस मुम्बई से मूल गुटका के रूप में प्रकाशित हैं। इक्हत्तर उपनिषदों का एक संग्रह सन् १९३३ में अडियार लाइब्रेरी मद्रास से प्रकाशित हुआ है। कोलबुक के संग्रह में बावन उपनिषदें थीं। गुजराती प्रिंटिंग प्रेस बम्बई से प्रकाशित उपनिषद्वाक्यमहाकोष में दो सौ तेईस उपनिषदों का नाम आया है। निष्कर्ष रूप में प्रधान उपनिषदों की संख्या ग्यारह अथवा तेरह है। ज्ञातव्य है कि शङ्कराचार्य ने ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुण्डक, माण्डुक्य, तैत्तिरीय, ऐतरेय, छान्दोग्य, श्वेताश्वतर तथा बृहदारण्यक इन ग्यारह उपनिषदों पर भाष्य लिखा है।

**दर्शनसिद्धान्तादर्श**

भारतीय दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों पर औपनिषद विचारधारा का प्रतिबिम्ब स्पष्टतः दृष्टिगोचर होता है, क्योंकि सभी आस्तिक सम्प्रदाय अपने-अपने सिद्धान्तों का आदि स्रोत उपनिषदों को ही मानते हैं एवम् अपने पक्ष की पुष्टि के लिये उपनिषद् मन्त्रों एवं श्रुति को ही प्रमाण के रूप में उद्धृत करते हैं। यह कहा जा सकता है कि उपनिषद् भारतीय दर्शन का एक ऐसा उद्‌गम स्थल है, जहाँ से सभी दार्शनिक सम्प्रदाय अनेक सरिताओं की भाँति प्रवाहित हुए हैं। उपनिषदों में ही सभी दार्शनिक सम्प्रदायों के मूलभूत आधार निहित हैं, चाहे वे सम्प्रदाय आस्तिक हों अथवा नास्तिक। जडवाद के समर्थक चार्वाक ने भी तैत्तिरीयोपनिषद् के मन्त्र को उद्धृत किया है—

**स वा एषः पुरुषो अन्नरसमयः ।**

तैत्तिरीयोपनिषद् २/१/१

शून्यवाद के समर्थक बौद्ध दार्शनिक भी उपनिषद् के मन्त्र को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हैं, जिसका अर्थ है—पहले यह असत् ही था।

**असद्वा इदमग्र आसीत् । ततो वै सदजायत ।**

तैत्तिरीयोपनिषद् १/७

यह मन्त्र बौद्धदर्शन में प्रमाण के रूप में प्राप्त होता है। कुमारिल भट्ट ने यह सिद्ध किया है कि बौद्धदर्शन के विज्ञानवाद, क्षणभङ्गवाद, आत्मवाद तथा वैराग्यवाद सभी उपनिषद् से ही निकले हैं—

**विज्ञानमात्रक्षणभङ्गनैरात्म्यवादानामपि उपनिषत्प्रभवत्वम् ।**
**विषयेषु आत्यन्तिकं रागं विनिवर्तयितुमिति उपपन्नं सर्वेषां प्रामाण्यम् ।**

तन्त्रवार्त्तिक १

सांख्य के आचार्य सत्कार्यवाद को प्रमाणित करने के लिये छान्दोग्योपनिषद् का मन्त्र उद्धृत करते हैं—

**सदेव सोम्येदमग्र आसीत् ।**

छान्दोग्योपनिषद् ६/२/१

सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीनों गुणों को प्रमाणित करने के लिये भी उपनिषद् का मन्त्र ही उद्धृत करते हैं—

**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णाम् ।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/५

उपनिषदों में पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पञ्चमहाभूत आदि का भी वर्णन है—

**ब्रह्मणोऽव्यक्तम् । अव्यक्तान्महत् । महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि । पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि। पञ्चभूतेभ्योऽखिलं जगत् ।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १

इन सभी विषयों का स्पष्टीकरण सांख्यदर्शन में भी प्राप्त होता है। योगदर्शन के मूल आधार भी उपनिषद् में ही मिलते हैं। उपनिषदों में भी योग का विशद विवेचन प्राप्त होता है। उपनिषद् में जिस योग के लक्षण एवं अष्टाङ्गयोग का वर्णन है, वही योगदर्शन में भी वर्णित है। उपनिषदों में वेदान्त के **अहं ब्रह्मास्मि** एवं **तत्त्वमसि** महावाक्यों का सार समझाया गया है। विवर्तवाद, माया एवं अविद्या आदि का प्रतिपादन भी उपनिषदों में हुआ है। पैङ्गलोपनिषद् में सृष्टिक्रम में पञ्चीकरण की प्रक्रिया का भी वर्णन है। जीवन्मुक्त एवं विदेहमुक्त का वर्णन भी कई स्थानों पर दृष्टिगोचर होता है। निष्कर्षरूप में सभी दर्शनों का बीज उपनिषद् ही है।

प्राचीन एवं अर्वाचीन सभी उपनिषदों के विषयों में मुख्य विषय योग ही है। उपनिषदों में योग की साधन-प्रणाली एवं उसके भेद-प्रभेद की व्याख्या हुई है, किन्तु दर्शनयुग को ही योग के पूर्ण विकास का स्वर्णकाल

कहा जा सकता है। दर्शनकाल में ही साधन-प्रधान इस विद्या ने स्वतन्त्र दर्शन का रूप धारण किया। योग को दर्शनरूप में विभूषित करने का महनीय कार्य महर्षि पतञ्जलि ने ही किया है। इन्होंने योग को सूत्रात्मक शैली में निबन्धित कर उसे चार पादों में विभक्त किया है। पतञ्जलि का योग चित्तवृत्तिनिरोध की भूमि पर प्रतिष्ठित है। पतञ्जलि के न्यायरूपलक्षण, युक्तिशृंखला, प्राञ्जलता एवं उनके सिद्धान्तों की व्यावहारिकता तथा अकाट्यता सभी कुछ अतुलनीय हैं। उपनिषदों में यत्र-तत्र प्राप्त अशृंखलित योगतत्त्वों को पतञ्जलि ने एकत्रित कर उसे योगदर्शनशास्त्र का रूप प्रदान किया है।

सम्प्रति, योगविद्या के अनुसन्धित्सुओं के लिये औपनिषद योग एवं पातञ्जलयोग का तुलनात्मक अनुशीलन करने के लिये उपनिषदों में वर्णित योगचर्चा को यथासम्भव संस्पर्श किया जा रहा है।

**औपनिषद-योगविद्यादर्श**

**अद्वयतारकोपनिषद्** में तारकयोग के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दो भेद करते हुए उसे अमनस्कफलप्रद बतलाया है—

**तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविधानतः ।**
**पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ।।**

अद्वयतारकोपनिषद् १

**अमृतनादोपनिषद्** में षडङ्गयोग का वर्णन है। ये योग के प्रसिद्ध षडङ्ग से भिन्न हैं। इसमें प्रत्याहार, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, तर्क और समाधि—ये छः योग के अङ्ग वर्णित हैं—

**प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्राणायामोऽथ धारणा ।**
**तर्कश्चैव समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते ।।**

अमृतनादोपनिषद् ६

आगम से अविरुद्ध अनुमान को 'तर्क' कहा गया है—

**आगमस्याविरोधेन ऊहनं तर्क उच्यते ।।**

अमृतनादोपनिषद् १७ पूर्वार्द्ध

यद्यपि षडङ्गों में आसन का उल्लेख नहीं है किन्तु समाधि सिद्धि के

उपाय के रूप में पद्मक, स्वस्तिक, भद्रासन और योगासन को मान्यता प्राप्त है—

**पद्मकं स्वस्तिकं वापि भद्रासनमथापि वा ।**
**बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखस्थितः ।।**

अमृतनादोपनिषद् १९

**अमृतबिन्दूपनिषद्** में विषयात्मक मन बन्ध का तथा निर्विषयक मन मुक्ति का कारण कहा गया है। अर्थात् विषयासक्ति से मुक्त और हृदय में निरुद्ध मन जब अपने अभाव को प्राप्त होता है, तब उसे परमपद प्राप्त होता है—

**निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि ।**
**यदा यात्यात्मनोऽभावं तदा तत्परमं पदम् ।।**

अमृतबिन्दूपनिषद् ४

तब तक हृदय में मन का निरोध करना चाहिए जब तक उसका क्षय न हो जाय। इसी को ज्ञान कहते हैं और ध्यान कहते हैं, शेष न्यायविस्तर है—

**तावदेव निरोद्धव्यं यावद् हृदिगतं क्षयम् ।**
**एतज्ज्ञानं च ध्यानं च शेषो न्यायस्य विस्तरः ।।**

अमृतबिन्दूपनिषद् ५

इसके पश्चात् ज्ञान का स्वरूप तथा ध्यान का प्रकार कहा गया है।

**क्षुरिकोपनिषद्** में प्रसिद्ध षडङ्ग-आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि—संक्षेपतः कहे गये हैं। **आसनमवस्थितः** कहकर छोड़ दिया है। किसी आसनविशेष का नाम नहीं लिया है।

**तेजोबिन्दूपनिषद्** उपरिवर्णित उपनिषदों से विस्तृत उपनिषद् है। इसमें छः अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में परब्रह्मस्वरूप तथा परब्रह्मावगतिसाधन रूप पञ्चदशाङ्गयोग कहा गया है। यम, नियम, त्याग, मौन, देश, काल, आसन, मूलबन्ध, देहसाम्य, दृक्स्थिति, प्राणसंयमन, प्रत्याहार, धारणा, आत्मध्यान और समाधि—योग के ये पञ्चदश अङ्ग क्रमशः बतलाये गये हैं—

**यमो हि नियमस्त्यागो मौनं देशश्च कालतः ।**
**आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः ।।**
**प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा ।**
**आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि क्रमात् ।।**

तेजबिन्दूपनिषद् १/१५-१६

'यम' आदि का स्वरूप भी भिन्न प्रकार से कहा गया है। इसमें यम का लक्षण करते हुए उपनिषदकार ने लिखा है कि यह सब ब्रह्मरूप है, इस ज्ञान से इन्द्रियों का संयम करना ही 'यम' कहलाता है। इसी का पुनः-पुनः अभ्यास करना चाहिए। वचन है—

**सर्वं ब्रह्मेति वै ज्ञानादिन्द्रियग्रामसंयमः ।**
**यमोऽयमिति संप्रोक्तोऽभ्यसनीयो मुहुर्मुहुः ।।**

तेजबिन्दूपनिषद् १/१७

इसके द्वितीय अध्याय में अखण्डैकरसत्व तथा चिन्मात्रत्व-भावना द्वारा सबका एकरूप प्रतिपादन किया गया है। तृतीय अध्याय में ब्रह्मानुभव का वर्णन है। चतुर्थ अध्याय में जीवन्मुक्ति तथा विदेहमुक्ति आदि का वर्णन है। शेष दो अध्यायों में वेदान्तप्रतिपाद्य तत्पदार्थ एवं त्वं पदार्थ के अभेद का निरूपण है।

**त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्**—अवर्गीकृत शुक्लयजुर्वेदीय इस उपनिषद् का प्रारम्भ सृष्टिक्रम से हुआ है। इसके अनुसार योग के दो प्रकार हैं—कर्मयोग तथा ज्ञानयोग।

१. विहित कर्मों में इस बुद्धि का होना कि 'यह कर्तव्य कर्म है,' मन का ऐसा नित्य बन्धन कर्मयोग कहलाता है—

**कर्म कर्तव्यमित्येव विहितेष्वेव कर्मसु ।**
**बन्धनं मनसो नित्यं कर्मयोगः स उच्यते ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २५उ.-२६पू.

२. श्रेयोऽर्थ में चित्त का सदा बद्ध रहना ज्ञानयोग है, ऐसा समझना चाहिए। यह ज्ञानयोग सब सिद्धियों को देने वाला और मंगलकारक है—

**यत्तु चित्तस्य सततमर्थे श्रेयसि बन्धनम् ।**
**ज्ञानयोगः स विज्ञेयः सर्वसिद्धिकरः शिवः ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् २६ पू.-२७ उ.

इसके अनन्तर अष्टाङ्गयोग को निर्विशेष ब्रह्मज्ञानोपाय बतलाया है। इसमें योग के प्रसिद्ध अष्टाङ्ग वर्णित हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। यम के दश भेद हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, दया, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार तथा शौच—

**अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।**
**क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ३२-३३

नियम के भी दश भेद हैं—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, हरि-जप, वेदान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा व्रत—

**तपः सन्तुष्टिरास्तिक्यं दानमाराधनं हरेः ।**
**वेदान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् ३३-३४

इसमें कुछ प्रमुख आसनों का वर्णन मिलता है। आसनों के नाम हैं—स्वस्तिक, गोमुख, वीर, योग, पद्म, बद्धपद्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्मक, धनु, सिंह, भद्र, मुक्त, मयूर, सिद्ध, मत्स्य पश्चिमतान तथा सुख ।

प्राणायाम का वर्णन करने से पहले इस उपनिषद् में अग्निस्थान, नाभिस्थान, नाडीचक्र, कुण्डलिनी, नाडीकन्द, नाडीचर वायु का विशद प्रतिपादन किया गया है। केवलकुम्भक, सहितकुम्भक और नाडीशोधक प्राणायाम, प्राणायाम का फल तथा प्राणधारण से रोगनाश आदि इसके अनन्तर कहे गये हैं। वचन है—

**सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो जीवेद्योगी गतक्लमः ।**
**कुक्षिरोगविनाशः स्यान्नाभिकन्देषु धारणात् ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १०९

प्रत्याहार, अष्टादश मर्मस्थानों में से प्रत्येक स्थान में मन के द्वारा परमात्मा को धारण करने का नाम है—

**यद्यष्टादशभेदेषु मर्मस्थानेषु धारणम् ।**
**स्थानात् स्थानं समाकृष्य प्रत्याहारः स उच्यते ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १२८-१२९

अष्टादश मर्मस्थानों के नाम हैं—पादाङ्गुष्ठ, गुल्फ, जंघामध्य, ऊरुमध्य, ऊरुमूल, पायु, हृदय, शिश्न, देहमध्य, नाभि, गलकूर्पर, तालुमध्य, घ्राणमूल, नेत्रमण्डल, भ्रूमध्य, ऊर्ध्वमूल, जानुद्वय तथा करमूल।

धारणा; पाञ्चभौतिक देह के पांचों भूतों में यमादि से युक्त मन को धारित करना है। धारणा संसार-सागर से तारने वाली है—

**पञ्चभूतमये देहे भूतेष्वेतेषु पञ्चसु ।।**
**मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य च यमादिभिः ।**
**धारणा सा च संसारसागरोत्तारकारणम् ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १३२ उ.-१३३

ध्यान; स्वरूपव्याप्तरूप परम परमात्मा वासुदेव का ही चिन्तन करना है। ध्यान कैवल्यसिद्धि को देने वाला है। इसके दो भेद हैं—सगुणध्यान तथा निर्गुणध्यान। ध्यान का लक्षण है—

**चिन्तनं वासुदेवस्य परस्य परमात्मनः ।**
**स्वरूपव्याप्तरूपस्य ध्यानं कैवल्यसिद्धिदम् ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १४६-१४७

समाधि; चित्त की वह निर्वृत्त्यवस्था है जिसमें मैं ही परब्रह्म हूँ, ब्रह्म मैं हूँ ऐसी सम्यक् स्थिति बनती है। श्रुति है—

**अहमेव परं ब्रह्म ब्रह्माहमिति संस्थितिः ।**
**समाधिः स तु विज्ञेयः सर्ववृत्तिविवर्जितः ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १६०-१६१

इस अवस्था में सोया हुआ सा जो चलता है, स्वभाव से ही जो सदा सर्वत्र निश्चल है, ऐसा योगी निर्वाणपद का आश्रय करके कैवल्य प्राप्त करता है—

**सुषुप्तिवद्यश्चरति स्वभावपरिनिश्चलः ।**
**निर्वाणपदमाश्रित्य योगी कैवल्यमश्नुते ।।**

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् १६४

**दर्शनोपनिषद्** में गुरु दत्तात्रेय सांकृति नामक शिष्य को पूर्वोक्त अष्टाङ्गयोग का उपदेश करते हैं। इसमें यम और नियम के दश-दश भेद लक्षणसहित वर्णित हैं। नौ आसनों का वर्णन करने के पश्चात् 'देह' के विषय में बतलाया है। नाडी, वायु, नाडी-देवता, नाडियों में संवत्सरात्मपूर्ण सूर्यसञ्चार, अन्तस्तीर्थ आदि का बहुत उत्तम वर्णन है। प्राणायामादि सब अङ्गों का भी बहुत अच्छा प्रतिपादन है। यह योगोपनिषदों में एक उत्तम उपनिषद् है।

**ध्यानबिन्दूपनिषद्** में ब्रह्मध्यानयोग प्रणवध्यान, सविशेष ब्रह्मध्यान, त्रिमूर्तिध्यान का सर्वप्रथम वर्णन मिलता है। इसमें षडङ्गयोग की चर्चा है। इसमें सिंह, पद्म, भद्र तथा सिद्ध चार आसन ही कहे गये हैं। अन्त में नादानुसन्धान द्वारा आत्मदर्शन बतलाया गया है।

**नादबिन्दूपनिषद्** में प्रणवोपासना तथा नादानुसन्धान कहा गया है।

**पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्** में ज्ञानयोग प्रतिपादित है। परमात्मा की हंसत्वेन भावना, अन्तर्याग, ज्ञानयज्ञरूप अश्वमेध इत्यादि अनेक विषय इसमें वर्णित हैं।

**ब्रह्मविद्योपनिषद्** में प्रणव की चारों मात्राओं का वर्णन किया गया है—

**तिस्रो मात्रार्धमात्रा च त्र्यक्षरस्य शिवस्य तु ।**
**तिस्रो मात्रास्तथा ज्ञेयाः सोमसूर्याग्निरूपिणः ।**
**अर्धमात्रा तथा ज्ञेया प्रणवस्योपरि स्थिता ।**

ब्रह्मविद्योपनिषद् ३-८-९

इसके पश्चात् सुषुम्ना नाडी के विषय में बतलाया है कि यह नाडी मृणालतन्तु के समान सूक्ष्म, ज्वाला सी उज्ज्वल और सूर्यसदृश प्रकाशमान वह परा नाडी सूर्य को भेद कर परम को प्राप्त होती है और मूर्धा में बहत्तर हजार नाडियों को भेद कर सबको व्याप्त कर रहती है। इस उपनिषद् में नाद

के द्वारा मोक्षप्राप्ति, जीवस्वरूपनिरूपण, हंसविद्या, हंसयोगी के द्वारा अनुसन्धेय आत्मस्वरूप इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं।

**मण्डलब्राह्मणोपनिषद्** में कुल पांच ब्राह्मणखण्ड हैं। इसमें सर्वप्रथम अष्टाङ्गयोग कहा गया है—

**ज्ञानयुक्तयमाद्यष्टाङ्गयोग उच्यते ।**

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/१

इसमें यम के चार भेद किये हैं—

**शीतोष्णाहारनिद्राविजयः सर्वदा**
**शान्तिर्निश्चलत्वं विषयेन्द्रियनिग्रहश्चैते यमाः ।**

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/१

तदनन्तर नियम के दश भेद बतलाये हैं—

**गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखागतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः ।**

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/१

इसमें योग के तारकयोग तथा अमनस्कयोग दो भेद किये हैं—

**तद्योगं च द्विधा विद्धि पूर्वोत्तरविभागतः ।**
**पूर्वं तु तारकं विद्यादमनस्कं तदुत्तरमिति ।**

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/३

अर्थात् वह योग पूर्वोत्तर विधान से दो प्रकार का है। पूर्व का तारकयोग है और उत्तर का अमनस्कयोग है। तारकयोग भी द्विविध है—मूर्तितारकयोग तथा अमूर्तितारकयोग। दोनों का ही मनोयोग से अभ्यास करना चाहिए—

**उभयमपि मनोयुक्तमभ्यसेत् ।**

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् १/३

**महावाक्योपनिषद्** नामक लघुतम उपनिषद् में हंसविद्या के ध्यान से सच्चिदानन्द परमात्मा के आविर्भाव का प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार

ज्योतिर्मण्डलस्वरूप जो आदित्य है, वही आदित्य ब्रह्म है। जिसका **'हंसः सोऽहम्'** इस अजपा मन्त्र से निर्देश किया जाता है। प्राणापान की अनुलोम-प्रतिलोम गति से वह विद्या जानी जाती है। दीर्घकाल के अभ्यास से वह विद्या लाभकर जब त्रिवृत् आत्मा = ब्रह्म का ध्यान किया जाता है, तब सच्चिदानन्द परमात्मा आविर्भूत होते हैं—

**प्राणापानाभ्यां प्रतिलोमानुलोमाभ्यां समुपलभ्यैवं सा चिरं लब्ध्वा त्रिवृदात्मनि ब्रह्मण्यभिध्यायमाने सच्चिदानन्दः परमात्माविर्भवति ।**

महावाक्योपनिषद् १

**योगकुण्डल्युपनिषद्** तीन अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में आसन, प्राणायामादि द्वारा कुण्डलिनी योग के साधने की बात करते हुए बतलाया है कि चित्त के दो हेतु हैं—वासना और प्राण। इनमें से किसी एक के नष्ट होने से दोनों का नाश होता है। इनमें से प्रथम सदा प्राण विजित करना चाहिए, तदनन्तर मिताहार होकर आसन और अन्त में शक्तिचालन करे—

**हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः ।**
**तयोर्विनष्ट एकस्मिंस्तद्द्वावपि विनश्यतः ।।**
**तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नरः सदा ।**
**मिताहारश्चासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ।।**

योगकुण्डल्युपनिषद् १/१-२

द्वितीय अध्याय में खेचरिविद्या के प्रयोग की विधि बतलाते हुए अभ्यासी को अजर-अमर कहा है—

**अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् ।**
**यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ।।**

योगकुण्डल्युपनिषद् २/१

तृतीय अध्याय में ब्रह्म, जीव, मुक्ति आदि का स्वरूप वर्णित है।

**योगचूडामण्युपनिषद्** का प्रतिज्ञावाक्य है कि योगियों के हित की कामना से इस उपनिषद् को बतलाथा जा रहा है—

**योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया ।**
**कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ।।**

योगचूडामण्युपनिषद् १

इसमें अध्यायों में अविभक्त एक सौ इक्कीस मन्त्र हैं। उपनिषद् का प्रारम्भ योग के षडङ्ग से हुआ है—

**आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।**
**ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ।।**

योगचूडामण्युपनिषद् २

इसमें चक्र, नाडी, वायु आदि तत्त्वों के प्रतिपादन के पश्चात् प्रणवाभ्यास पर बल दिया है। प्रणवाभ्यासी को भी नाडीशोधन के लिये प्राणजय करना आवश्यक बतलाया है। जैसे सिंह, गज, व्याघ्र आदि को शनैः-शनैः वश में किया जाता है उसी प्रकार प्राणवायु को क्रमशः सेवित किया जाता है, अन्यथा अनियन्त्रित वायु साधक को नष्ट कर देता है—

**यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।**
**तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ।।**

योगचूडामण्युपनिषद् ११८

**योगतत्त्वोपनिषद्** में कुल एक सौ बयालीस मन्त्र हैं। इसमें अष्टाङ्गसंयुक्त योग का विवेचन हुआ है। मोक्षप्राप्ति के लिये ज्ञान और योग दोनों को आवश्यक बतलाया गया है। जिस प्रकार योग के विना ज्ञान मोक्ष को प्राप्त कराने वाला नहीं हो सकता है, उसी प्रकार ज्ञानहीन योग भी मोक्षकर्म में असमर्थ है—

**योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवति ध्रुवम् ।**
**योगो हि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि ।**
**तस्माज्ज्ञानं च योगं च मुमुक्षुर्दृढमभ्यसेत् ।।**

योगतत्त्वोपनिषद् उ. १४-१५

इसमें प्रकारान्तर से योग के चार भेद किये हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग तथा राजयोग। वचन है—

**योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः ।**

**मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगतः ।।**

योगतत्त्वोपनिषद् १९

ज्ञातव्य है कि योगसूत्र के प्रामाणिक टीकाकार श्रीनारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में योग के उक्त चार भेदों को योगसूत्र में अन्वेषित किया है।

**योगशिखोपनिषद्** में छः अध्याय हैं। उपरिवर्णित उपनिषदों की तुलना में यह बृहद् उपनिषद है। इस उपनिषद् के विषय योगतत्त्वोपनिषद् से साम्य रखते हैं, किन्तु विषयों की प्रतिपादन-शैली उससे पृथक् है। कुछ नवीन विषयों का विवेचन भी इसमें उपलब्ध है। योगतत्त्वोपनिषद् में मन्त्रयोग आदि चारों योग स्वतन्त्ररूपेण कहे गये हैं, किन्तु यहाँ वे क्रमिक भूमिका माने गये हैं। तदनुसार मन्त्र, लय, हठ तथा राज—ये चार योग यथाक्रम चार भूमिकान्त हैं और सम्मिलित रूप से ये चारों एक ही योग हैं, जिसे महायोग कहते हैं। वचन है—

**मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ।**

**एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।।**

योगशिखोपनिषद् १/१२९उ.-१३०

इतना ही नहीं, मन्त्रादि चार योगों का स्वरूप भी इसमें भिन्न प्रकार से मिलता है। उदाहरण के लिये राजयोग को लीजिए—

**रजसो रेतसो योगाद् राजयोग इति स्मृतिः ।**

योगशिखोपनिषद् १/१३७ उ.

अर्थात् रज और रेत के योग से राजयोग होता है। योग का सामान्य स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

**प्राणापानसमायोगो ज्ञेयं योगचतुष्टयम् ।**

योगशिखोपनिषद् १/१३८उ.

अर्थात् प्राणापान को समान करना योगचतुष्टय है। यह उपनिषद् योगदृष्ट्या अत्यन्त उपयोगी है।

**वराहोपनिषद्** पांच अध्यायों में विभक्त है। प्रथम चार अध्यायों में ज्ञान की चर्चा की गई है तथा अन्तिम पञ्चम अध्याय में योग कहा गया है। इसमें अष्टाङ्गसंयुत योग के लय, मन्त्र तथा हठ तीन भेद हैं—

**लयमन्त्रहठा योगा योगो ह्यष्टाङ्गसंयुतः ।**

वराहोपनिषद् ५/१०३.

इसमें यम और नियम के दश-दश भेद कहे गये हैं—

**अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं दयार्जवम् ।**
**क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ।।**
**तपः सन्तोषमास्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।**
**सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्मतिश्च जपो व्रतम् ।**
**एते हि नियमाः प्रोक्ता दशधैव महामते ।।**

वराहोपनिषद् ५/१२-१४

इस उपनिषद् में अन्त में योग के कुछ विशेष प्रकार दिये गये हैं, जैसे—कालवञ्चनोपायभूतयोग, कायदार्ढ्यबलादिसाधनयोग, सम्पुटयोग आदि।

**शाण्डिल्योपनिषद्** में अथर्वा ऋषि शाण्डिल्य के प्रति अष्टाङ्गयोग का उपदेश करते हैं। तीन अध्यायों में विभक्त इस उपनिषद् के द्वितीय एवं तृतीय अध्याय अत्यन्त संक्षिप्त हैं। यह उपनिषद् प्रसिद्ध अष्टाङ्गयोग का समर्थन करती है—

**स होवाचाथर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टाङ्गानि ।**

शाण्डिल्योपनिषद् १/१

इसमें यम के दश, नियम के दश, आसन आठ, प्राणायाम के तीन, प्रत्याहार के पांच, धारणा के दो तथा ध्यान के दो भेद बतलाये हैं। अन्त में दत्तात्रेय का माहात्म्य प्रतिपादित है।

**हंसोपनिषद्** में हंसविद्या संक्षेप से प्रतिपादित है। अजपाजप, नादानुसन्धान आदि तदुपायत्वेन कहे गये हैं। यह अथर्ववेदीय संक्षिप्त उपनिषद् है। अनाख्येय गुह्य हंसविद्या को जानकर साधक मृत्यु को प्राप्त नहीं होता है—

**हंसहंसेति सदाऽयं सर्वेषु देहेषु व्याप्तो वर्तते ।**
**यथा ह्यग्निः काष्ठेषु तिलेषु तैलमिव तं विदित्वा न मृत्युमत्येति ।**

हंसोपनिषद् १

**योगराजोपनिषद्** का प्रारम्भ योग के चार भेदों से होता है—

**योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये ।**
**मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ।।**
**योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।**

योगराजोपनिषद् १/२

इसमें लययोग के प्रसङ्ग में नव चक्रों का वर्णन किया गया है। हठ और राजयोग के विषय में विस्तार नहीं मिलता है। नवचक्रध्यान की फलश्रुति बतलाते हुए कहा है—

**एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः ।**
**सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्था स्युर्दिने दिने ।।**

योगराजोपनिषद् १९

अभी तक योगविद्याप्रधान इक्कीस उपनिषदों के अनुशीलन से विदित होता है कि योगपरम्परा किस प्रकार उपनिषद्वाङ्मय में संरक्षित रही। सर्वाङ्गयोग का सम्पूर्ण स्वरूप इनमें स्पष्टतः परिलक्षित होता है।

सम्प्रति, पूर्ववर्ती उन प्रमुख उपनिषदों में वर्णित योगविद्या की चर्चा विषयविस्तार के रूप में की जायेगी, जिनपर आचार्य शङ्कर का प्रामाणिक भाष्य मिलता है।

**कठोपनिषद्** में 'युज्' धातु का प्रयोग मनस् के साथ करते हुए 'योग' विद्या को व्याख्यायित किया गया है। तदनुसार जब पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ मनसहित आत्मा में स्थिर होकर बैठती हैं, बुद्धि भी कोई चेष्टा नहीं करती, तब उस अवस्था को परमगति कहते हैं। उसी स्थिर इन्द्रियधारणा को योग कहते हैं। उस अवस्था में साधक प्रमादरहित होता है। उत्पत्ति और नाश योग ही है। वचन है—

**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।**
**बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।**

**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।**
**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।।**

कठोपनिषद् २/३/१०-११

संहिता एवं ब्राह्मणग्रन्थों में योग अनेक प्रकार के क्रिया-कलापों के साथ मिला हुआ मिलता है तथा सिद्धियाँ ही उसकी लक्ष्य रहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि मोक्षप्राप्ति के लिये जब योग का प्रयोग होने लगा तब उसको अध्यात्मयोग कहने लगे। उपनिषदों में योग 'अध्यात्मयोग' कहा गया है। कठोपनिषद् में कहा गया है कि वह देव अर्थात् आत्मा जो इतना तेजस्वी है कि देख नहीं सकते, जो गूढगहन स्थान में प्रवेश किये हुए है, गुहा में बैठा हुआ और गह्वर में रहने वाला है, उसको अध्यात्मयोगाधिगम के द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोक को त्याग देता है—

**तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।**
**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।**

कठोपनिषद् १/२/१२

'योग' शब्द का प्रयोग दर्शनविशेष के लिये होता है या क्रियात्मक योग के लिये? उत्तर है कि उपनिषदों में दोनों अर्थों में योग शब्द प्रयुक्त मिलता है। कठोपनिषद् के उक्त उद्धरण इसके प्रमाणस्वरूप हैं।

**श्वेताश्वतरोपषिद्** में क्रियात्मक योग के भी रूप, प्रकार, भेद आदि मिलते हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् के द्वितीय अध्याय में षडङ्गयोग का वर्णन प्राप्त है। अत: जो लोग योग का षडङ्गत्व नाथसम्प्रदाय की देन समझते हैं, उन्हें यह उपनिषद् अपने मत पर विचार करने के लिये बाध्य करती है। श्वेताश्वतर में लिखा है—

**त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।**
**ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।**
**प्राणान् प्रपीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।**
**दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताप्रमत्तः ।।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् २/८-९

**ध्याननिर्मथनादभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत् ।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् १/१४ उ.

अभिप्राय यह है कि शरीर को त्रिरुन्नत अर्थात् वक्षस्थल, गर्दन और सिर उन्नत तथा सम करके, मनसहित इन्द्रियों को हृदय में नियत कर ब्रह्मरूप नौका से विद्वान् समस्त भयानक प्रवाहों को तर जाय। इस शरीर में प्राणों का सम्यक् रीति से निरोध करके युक्तचेष्ट हो और प्राण के क्षीण होने पर नासिका द्वारों से श्वास छोड़े और इन दुष्ट अश्वों के लगामरूप मन को विद्वान् अप्रमत्त होकर धारण करे। ध्यानरूप से अत्यन्त गूढ सा जो आत्मा है, उसे देखे।

इस उपनिषद् में योग विस्तार से कहा गया है। यजुर्वेद संहिता आदि में आये कुछ योगविषयक मन्त्रों का पूरा भाष्य इसमें दिखलाई पड़ता है। किन्तु आसन का वर्णन इस उपनिषद् में नहीं है। जैसे श्रीमद्भगवद्गीता में **'समं कायशिरोग्रीवम्'** मिलता है वैसा ही यहाँ त्रिरुन्नत दिखलाई पड़ता है। ध्यानादि के लिये सिद्धासन तथा पद्मासन को छोड़ अन्य आसन अनुपयुक्त एवं अनावश्यक हैं। गोरक्षनाथ ने गोरक्षपद्धति में इसी कारण ये ही दो आसन बतलाये हैं।

श्वेताश्वतर उपनिषद् में समाधि का स्वरूप बतलाते हुए कहा है—

**यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।**
**तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवति वीतशोकः ।।**
**यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह युक्तः प्रपश्येत् ।**
**अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः ।।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् २/१४-१५

अर्थात् जिस प्रकार कोई तेजोमय बिम्ब धूल से धूसरित हुआ हो और पीछे स्वच्छ करने पर वह चमकने लगता है, उसी प्रकार उस आत्मतत्त्व को देखकर देही एकावस्था को प्राप्त होकर कृतार्थ एवं वीतशोक होता है। परन्तु जो देही आत्मतत्त्व से ब्रह्मतत्त्व को परप्रकाशक दीप की रीति से देखता है, वह आत्मदेव को अज, ध्रुव, सर्वतत्त्वविशुद्ध जानकर सब पाशों से मुक्त हो जाता है। वैदिक ग्रन्थों में प्राणविद्या का उच्च स्थान है। उपनिषदों में भी प्राणोपासना अनेक भावनाओं के द्वारा भिन्न-भिन्न प्रकार से कही गई है।

प्रत्यक्ष सम्बन्ध योग से प्राणों का प्राणायाम के सम्बन्ध में है। उपनिषद्वाङ्मय में मोक्ष के दो उपाय बताये गये हैं—मनोमय तथा प्राणमय। मनोमय वासनाओं के क्षीण होने से होता है, किन्तु प्राणजय हो जाने से मनोजय अनायास सिद्ध हो जाता है। यही कारण है कि योग में प्राणजय पर इतना बल दिया गया है। प्राणजय प्राणायाम द्वारा होता है। अत एव योग में प्राणायाम का महत्त्व प्रतिपादित है। श्वेताश्वतर का वचन है—

**तमेकनेमिं त्रिवृतं षोडशान्तं शतार्धारं विंशतिप्रत्यराभिः ।**
**अष्टकैः षड्भिर्विश्वरूपैकपाशं त्रिमार्गभेदं द्विनिमित्तैकमोहम् ।।**
**पञ्चस्रोतोम्बुं पञ्चयोन्युग्रवक्रां पञ्चप्राणोर्मिं पञ्चबुद्ध्यादिमूलाम् ।**
**पञ्चावर्तां पञ्चदुःखौघवेगां पञ्चाशद्भेदां पञ्चपर्वामधीमः ।।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् १/४-५

**मुण्डकोपनिषद्** के तीन मुण्डकों में दो-दो अध्याय हैं। इसमें योग का महत्त्व बतलाते हुए कहा है कि वे धीर युक्तात्मा योगी सर्वत्र सर्वव्यापी ब्रह्म को पाकर उस सर्व में ही प्रवेश करते हैं। वेदान्तविज्ञान का अर्थ परमात्मा जिनके चित्त में सुनिश्चित हो चुका है, जो संन्यासयोग से यत्नवान् और शुद्धसत्त्व हो गये हैं, वे सब ब्रह्मलोक में परान्तकाल में परमामृत होकर मुक्त होते हैं—

**ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्वमेवाविशन्ति ।**
**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।**
**ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।**

मुण्डकोपनिषद् २/३/५उ.-६

आगे कहा है कि प्रजाओं के प्राणसह सम्पूर्ण चित्त में वह आत्मा व्याप्त है और विशुद्ध चित्त में ही विशेषरूप से प्रकट होता है—

**एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन्प्राणः पञ्चधा संविवेश ।**
**प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन्विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ।।**

मुण्डकोपनिषद् ३/१९

**छान्दोग्योपनिषद्** को बृहदारण्यकोपनिषद् की भाँति बृहत्तम उपनिषदों

में परिगणित किया जाता है। योगविद्या का ऐसा कोई पक्ष नहीं है, जो इस उपनिषद् में वर्णित न हुआ हो। इसके अष्टम अध्याय के चतुर्थ खण्ड में ब्रह्मचर्य धारण करने से ही ब्रह्मप्राप्ति का निर्णय करती हुई श्रुति भगवती यह कहती है—

**तद्य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दन्ति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु लोकेषु कामचारो भवति ।**

छान्दोग्योपनिषद् ८/४/३

अर्थात् जो इस ब्रह्मलोक को ब्रह्मचर्यसाधन द्वारा प्राप्त करते हैं उनकी सब जगह अव्याहतरूप से इच्छानुसार गति होती है। तात्पर्य यह है कि योग का एक अङ्ग ब्रह्मचर्य भी है। यह ब्रह्मचर्य पांच प्रकार के यमों में परिगणित है। इसके पालन से वेदान्तवेद्य फल की प्राप्ति इस छान्दोग्योपनिषद् में बतलाई है। इस प्रकार इस अष्टम अध्याय के अन्त में—

**आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि प्रतिष्ठाप्य ।**

छान्दोग्योपनिषद् ८/१५/१

यह वाक्य मिलता है। इसका अर्थ है कि 'सब इन्द्रियों को वशीकृत करके ब्रह्म-ध्यान-परायण हो जाय।' इन्द्रियों का वशीकार यौगिक उपायों के विना होना कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव है। इस प्रकार छान्दोग्य का हृदय भी योग से पूर्ण सम्बन्ध रखता है।

छान्दोग्योपनिषद् में प्राणायाम के अन्तर्गत प्राणविद्या का महत्त्व भी प्रतिपादित है। इस उपनिषद् के प्रथम, चतुर्थ, पञ्चम तथा सप्तम अध्याय में यथावसर प्राणतत्त्व की चर्चा हुई है—

**प्राण इति होवाच, सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति प्राणमभ्युजिहते सैषा देवता प्रस्तावमन्वायत्ता तां चेदविद्वान्प्रास्तोष्यो मूर्धा ते व्यपतिष्यन्तथोक्तस्य मयेति ।**

छान्दोग्योपनिषद् १/११/५

**अथाध्यात्मं प्राणो वाव संवर्गः स यदा स्वपिति प्राणमेव वागप्येति प्राणं चक्षुः प्राणं श्रोत्रं प्राणं मनः प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृक्त इति ।।**

**तौ वा एतौ द्वौ संवर्गौ वायुरेव देवेषु प्राणः प्राणेषु ।**

छान्दोग्योपनिषद् ४/३/३-४

**बृहदारण्यकोपनिषद्** में भी योग का विशद वर्णन पाया जाता है—

**तस्मादेवंविच्छान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वाऽऽत्मन्येवात्मानं पश्यति ।**

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२३

अर्थात् इस प्रकार जानने वाला इन्द्रियों और मन को संयमित करके उपरामवृत्ति धारणकर तितिक्षु होकर समाधिपरायण हो अपने अन्दर आत्मा को देखता है ऐसा स्पष्ट विधान किया गया है।

**फलाभिसन्धि**

उपनिषदों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विना यौगिक साधनों के हमारी पारमार्थिक प्रवृत्ति अपूर्ण ही रहती है। समस्त उपनिषदों में किसी न किसी रूप में योग का समर्थन करते हुए उसको उपादेय बतलाया है। 'योग' एक शब्दसामान्य है। वह पदविशेष के समीप होने पर अनेक अर्थों का बोधक है। उपनिषदों में साधनरूप से ग्राह्य जो अनेक सिद्धान्त हैं, उनको किसी न किसी रूप में योग कहा जा सकता है। जैसे ज्ञानयोग, भक्तियोग, मन्त्रयोग, लययोग, क्रियायोग, ध्यानयोग, जपयोग, समाधियोग आदि। योगप्राप्ति ही भगवत्प्राप्ति का एक मार्ग है, क्योंकि यौगिक प्रक्रिया के अनुसार ही मनोनिरोध हो सकता है और सब प्रकार के साधनों में मन का स्थैर्य पूर्णतया अपेक्षित है। अतः उपनिषदों का तात्पर्य योगानुष्ठानपूर्वक ही मुक्ति की प्राप्ति से है। ऐसा कोई मार्ग योगसाधना का नहीं है, जिस मार्ग में योगाङ्गों की आवश्यकता न पड़ती हो। इसलिये जिस प्रकार दुग्ध में घृत समाहित है और मातृश्री के उपदेशों में शिशु का हित अनुप्रविष्ट है, उसी प्रकार योग उपनिषदों में व्यवहृत किया गया है। सबका तात्पर्य मुक्तिसाधनस्वरूप से एक ही है। इससे यह निर्विवाद सिद्ध है कि योग और उपनिषदों का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभावसम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ठ है।

●

# श्रीमद्भागवत में योगचर्या : एक दार्शनिक पक्ष

श्रीमद्भागवत संस्कृत के आध्यात्मिक वाङ्मय का एक अनुपम रत्न है। यह अष्टादश पुराणों में सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। महर्षि वेदव्यास ने नदियों में गङ्गा, देवताओं में विष्णु, वैष्णवों में शिव के समान पुराणों में श्रीमद्भागवत को शिरोमणि बतलाकर इसकी प्रधानता और श्रेष्ठता को स्पष्टरूप से अभिव्यक्त किया है—

**निम्नगानां यथा गङ्गा देवानामच्युतो यथा ।**

**वैष्णवानां यथा शम्भुः पुराणानामिदं तथा ।।**

श्रीमद्भागवत १२/१३/१६

उपनिषदों में योगविद्या प्रचुर मात्रा में वर्णित है, यह सुविज्ञ है तथापि संहिताओं में विशेषतः ऋग्वेद तथा अथर्ववेद की संहिताओं में भी योग के अल्प या अधिक, गौणतः या मुख्यतः अनेक संकेत उपलब्ध होते हैं। अतः वैदिक संहिताओं में ही योग की आदिम रूपरेखा हमें मिलती है। उपनिषदों में आकर योग की यह रूपरेखा अत्यन्त सुव्यक्त रूप धारण कर शनैः-शनैः परिपूर्णावस्था को प्राप्त करती हुई लक्षित होती है। महाभारत, पुराण, तन्त्र तथा धर्मशास्त्र में योग की यह धारा अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित होती हुई कालान्तर में महर्षि पतञ्जलि के योगदर्शन के रूप में हमारे समक्ष आती है। योग की यह विद्या-धारा यहीं नहीं अवरुद्ध होती, अपितु पतञ्जलिसूत्र के भाष्यकार, टीकाकार वृत्तिकार—व्यासदेव, वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, भोजदेव, नागेशभट्ट, भावागणेश, नारायणतीर्थ, रामानन्दयति, सदाशिवेन्द्रसरस्वती, अनन्तदेव पण्डित, बलदेव मिश्र आदि माननीय ग्रन्थकारों—की रचनाओं से परिपुष्ट होती हुई अद्यावधि भी हमारी श्रद्धा और भक्ति का भाजन उसी प्रकार बनी हुई है, जिस प्रकार पुण्यसलिला भगवती भागीरथी की विमलधारा। योगविद्या के उद्गम तथा विकास के इस साङ्केतिक वर्णन से श्रीमद्भागवतवर्णित योग का स्थान पाठकों को स्पष्ट अनुभव होने लगेगा। श्रीमद्भागवत का योग पौराणिक योग का एक अंशमात्र है और

योगशास्त्र के इतिहास की दृष्टि से उसका स्थान औपनिषदयोग और पातञ्जलयोग के मध्यकाल में आता है।

श्रीमद्भागवत में भक्ति के साथ अष्टाङ्गयोग का भी प्रचुर वर्णन है। यह वर्णन दो प्रकार से किया गया है। कई स्थानों पर योगसाधन की क्रियाओं का अप्रत्यक्षरूप से संकेतमात्र किया गया है। परन्तु अन्य स्थानों पर योग का प्रत्यक्षरूप से विशद विवेचन किया गया है।

**योग के अप्रत्यक्ष संकेत**

श्रीमद्भागवत में योग के अप्रत्यक्ष संकेत प्राय: दो प्रसंङ्गों में किये गये मिलते हैं। किसी व्यक्तिविशेष की तपश्चर्या के वर्णन के अवसर पर योग का आश्रय लिये जाने का संकेत मिलता है तथा किसी महान् व्यक्ति के इस भौतिक शरीर के त्यागने का जहाँ वर्णन है, वहाँ भी योगमार्ग का आलम्बन कर प्राणत्याग की घटना का संक्षिप्त परन्तु मार्मिक उल्लेख उपलब्ध होता है। इस प्रकार महापुरुषों के तपश्चरण तथा शरीरत्याग के दोनों अवसरों पर विशेषरूप से योग की ओर संकेत किया गया मिलता है। ऐसे प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत में अनेक आये हैं।

अप्रत्यक्ष संकेतों में नितान्त महत्त्वपूर्ण संकेतों का ही; स्कन्धक्रम से, स्थानाभाव के कारण स्वल्प विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है—

**१. नारदमुनि और योग**

(क) नारद मुनि जब बालक थे तब उन्हें अध्यात्मवेत्ता मुनियों के संसर्ग में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। किशोरावस्था में ही उनकी माता का देहपात हो गया। तब नारद जी ने उत्तरदिशा में जाकर मुनियों के मुख से श्रुत भगवान् के साक्षात्कार का निश्चय किया। तब निर्जन स्थान में उन्होंने भगवान् के चरणकमलों में मन को एकाग्रकर ध्यान लगाया। जिससे भगवान् ने प्रसन्न होकर अपना दर्शन दिया। इस प्रसंग में 'मन:प्रणिधान' जैसे पारिभाषिक शब्द का उल्लेख मिलता है। वचन है—

**दिदृक्षुस्तदहं भूयः प्रणिधाय मनो हृदि ।**
**वीक्षमाणोऽपि नापश्यमवितृप्त इवातुरः ।।**

श्रीमद्भागवत १/६/२०

(ख) नारद जी के उपदेश से व्यास जी ने भगवान् की विविध लीलाओं का वर्णन करने का विचार किया। तदनुसार उन्होंने सरस्वती नदी के पश्चिम तट पर स्थित शम्याप्रास नामक आश्रम में आसन लगाकर भगवान् में अपना मन लगाकर भक्तिपूर्वक ध्यान किया। उनका निर्मल मन इतनी अच्छी पद्धति से समाहित हुआ कि उन्होंने भगवान् का साक्षात्कार कर लिया। यहाँ आसन और मन:प्रणिधान का उल्लेख स्पष्ट हुआ है। वचन है—

**तस्मिन्स्व आश्रमे व्यासो बदरीषण्डमण्डिते ।**
**आसीनोऽप उपस्पृश्य प्रणिदध्यौ मनः स्वयम् ।।**
**भक्तियोगेन मनसि सम्यक् प्रणिहितेऽमले ।**
**अपश्यत्पुरुषं पूर्वं मायां च तदपाश्रयाम् ।।**

श्रीमद्भागवत १/७/३-४

### २. भीष्मपितामह और योग

भीष्मपितामह के देहत्याग के अवसर पर व्यास जी ने ऋषि, मुनियों के अतिरिक्त पाण्डवों के साथ भगवान् श्रीकृष्ण को भी उस स्थान पर उपस्थित किया है। अन्तिम अवसर पर सब लोग भीष्म को देखने के लिये एकत्रित हुए, श्रीकृष्ण भी पधारे। भीष्मपितामह सच्चे पारखी थे, भावुक भक्त थे। उन्होंने श्रीकृष्ण की ललित स्तुति की और अन्त समय में मन-वचन-दृष्टि की वृत्तियों से अपनी आत्मा को भगवान् में केन्द्रित कर अन्त:श्वास लिया और शान्त हो गये। इस प्रसंग में भीष्म ने अपने शरीर को योगक्रिया से परित्यक्त किया, यह बात स्पष्ट ही है। अन्तिम बार श्वास को भीतर खींचकर ब्रह्मरन्ध्र से प्राणत्याग करना योग की महत्त्वपूर्ण क्रिया समझी जाती है। सूत कहते हैं—

**कृष्ण एवं भगवति मनोवाग्दृष्टिवृत्तिभिः ।**
**आत्मन्यात्मानमावेश्य सोन्तःश्वास उपारमत् ।।**

श्रीमद्भागवत १/९/४३

### ३. माता देवहूति और योग

देवहूति सांख्यशास्त्र के प्रवर्तक कपिल मुनि की माताश्री थीं। पुत्र ने उन्हें योग की शिक्षा दी। परिणाम यह हुआ कि माता देवहूति ने अपना देहत्याग समाधिस्थ होकर किया। वचन है—

**नित्यारूढसमाधित्वात्परावृत्तगुणभ्रमा ।**
**न सस्मार तदात्मानं स्वप्ने दृष्टमिवोत्थितः ।।**

श्रीमद्भागवत ३/३३/२७

### ४. दक्षपुत्री सती और योग

भागवत के चतुर्थ स्कन्ध में सती के शरीरदाह की कथा वर्णित है। अपने पिता दक्ष प्रजापति के द्वारा किये गये शिव जी के निरादर के कारण सती ने अपने शरीर को भस्म कर दिया था। गोस्वामी तुलसीदास जी 'योग अगिन तनु जारा' लिखकर योगाग्नि में सती के भस्म होने की बात बताकर मौन हैं; परन्तु व्यास जी ने एक श्लोक में सती की समग्र योगक्रिया का यथार्थ वर्णन किया है—

**कृत्वा समानावनिलौ जितासना सोदानमुत्थाप्य च नाभिचक्रतः ।**
**शनैर्हृदि स्थाप्य धियोरसि स्थितं कण्ठाद्भ्रुवोर्मध्यमनिन्दितानयत् ।।**
**एवं स्वदेहं महतां महीयसा मुहुः समारोपितमङ्कमादरात् ।**
**जिहासती दक्षरुषा मनस्विनी दधार गात्रेष्वनिलाग्निधारणाम् ।।**

श्रीमद्भागवत ४/४/२५-२६

इस पद्य का शुकदेवकृत सिद्धान्तप्रदीप तथा विजयराघवकृत भागवत-चन्द्रिका व्याख्या में अत्यन्त मार्मिक प्रतिपादन हुआ है। तदनुसार सती ने सर्वप्रथम आसनजय किया। आसन लगाकर इस प्रकार बैठ गईं कि प्राणसञ्चारजनित अङ्गसञ्चालन पूर्वतया अवरुद्ध हो गया। तब प्राण और अपान का निरोध कर उसे एकवृत्ति बना नाभिचक्र (मणिपूर) में स्थापित किया। तदनन्तर नाभिचक्र से उदानवायु को उठाकर हृदय (अनाहत) में ले आयीं। निश्चयबुद्धि के साथ वहाँ से भी वायु को कण्ठमार्ग (विशुद्धचक्र) से भ्रूमध्य (आज्ञाचक्र) में ले आयीं। उदानवायु को वहीं स्थापित कर सती ने अपने अङ्गों में वायु तथा अग्नि की धारणा की। परिणाम स्पष्ट दिखलाई पड़ा कि देहयष्टि एकाएक भस्म हो गयी। इस वर्णन में शरीर के विभिन्न चक्रों तथा तद्द्वारा वायु को ऊर्ध्वगति प्रदान करने की क्रिया का उल्लेख नितान्त स्पष्ट है।

### ५. बालक ध्रुव और योग

नारद जी ने ध्रुव को आसन में स्थित होकर प्राणायाम के द्वारा प्राण, इन्द्रिय तथा मन के मल को दूरकर समाहित मन से भगवान् का ध्यान करने का उपदेश किया था। वचन है—

**प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।**
**शनैर्व्युदस्याभिध्यानेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ।।**

श्रीमद्भागवत ४/८/४४

ध्रुव ने उसी मार्ग का अवलम्बन किया और अल्प समय में ही वह बालक भगवान् का साक्षात्कार करने में समर्थ हो गया। वचन है—

**सर्वतो मन आकृष्य हृदि भूतेन्द्रियाशयम् ।**
**ध्यायन्भगवतो रूपं नाद्राक्षीत्किञ्चनापरम् ।।**

श्रीमद्भागवत ४/८/७७

नारद मुनि ने बालक ध्रुव को अष्टाङ्गयोग का ही उपदेश किया था। इसके लिये अधोलिखित पद्य प्रमाण है—

**स्नात्वानुसवनं तस्मिन्कालिन्द्याः सलिले शिवे ।**
**कृत्वोचितानि निवसन्नात्मनः कल्पितासनः ।।**
**प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।**
**शनैर्व्युदस्याभिध्यायेन्मनसा गुरुणा गुरुम् ।।**

श्रीमद्भागवत ४/८/४३-४४

यह तथ्य उक्त उद्धरणद्वय की भागवतचन्द्रिका टीका के अनुशीलन से स्पष्ट होता है। तदनुसार **'उचितानि कृत्वा'** में यम-नियम का, **'कल्पितासनः'** में आसन का, **'मलं व्युदस्य'** में प्राणायाम-प्रत्याहार का, **'ध्यायेत्'** में ध्यान के धारणापूर्वक होने के कारण धारणा-ध्यान का विधान किया गया है। इससे सम्पूर्ण अष्टाङ्गयोग का उपदेश प्राप्त है।

### ६. ऋषि दधीचि एवं योग

दधीचि ऋषि से देवताओं ने वज्र बनाने के लिये उनकी अस्थियाँ प्रार्थित कीं। लोकोपकार की उन्नत भावना से प्रेरित होकर ऋषि ने उनकी प्रार्थना को स्वीकार किया तथा इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि का नियमन कर परमयोग का आश्रय लिया। उस समय उन्हें इस बात का आभास भी न हो सका, कि कब उनका शरीरपात हो गया। वचन है—

**वृतो देवगणैः सर्वैर्गजेन्द्रोपर्यशोभत ।**
**स्तूयमानो मुनिगणैस्त्रैलोक्यं हर्षयन्निव ।।**

श्रीमद्भागवत ६/१०/१४

## ७. वृत्रासुर एवं योग

वृत्रासुर ने भी अपनी मृत्यु के समय भगवान् के चरणकमलों में मन लगाकर समाधि के द्वारा अपने प्राणों का परित्याग किया। वचन है—

**सत्रं समाधाय मनो यथाह सङ्कर्षणस्तच्चरणारविन्दे ।**
**त्वद्वज्ररंहोलुलितग्राम्यपाशो गतिं मुनेर्याम्यपविद्धलोकः ।।**

श्रीमद्भागवत ६/११/२१

## ८. महर्षि कश्यप और योग

अदिति ने पयोव्रत नामक महत्त्वपूर्ण व्रत भगवान् की प्रसन्नता के लिये किया। भगवान् प्रसन्न हो गये और उन्होंने अदिति के उदर से जन्म धारण करना स्वीकार कर लिया। इधर उन अमोघदृष्टिसम्पन्न श्रीकश्यप जी ने समाधियोग द्वारा अपने शरीर में श्रीहरि का अंश प्रविष्ट होते देखा। तब जैसे वायु घर्षण से काष्ठ में अग्नि उत्पन्न कर देता है, वैसे ही उन्होंने समाहित चित्त से अदिति के गर्भ में अपनी चिरकालीन तपस्या द्वारा सुरक्षित वीर्य स्थापित कर दिया। वचन है—

**उपाधावत्पतिं भक्त्या परया कृतकृत्यवत् ।**
**स वै समाधियोगेन कश्यपस्तदबुध्यत ।।**
**प्रविष्टमात्मनि हरेरंशं ह्यवितथेक्षणः ।**
**सोऽदित्यां वीर्यमाधत्त तपसा चिरसंभृतम् ।।**
**समाहितमना राजन्दारुण्यग्निं यथानिलः ।।**

श्रीमद्भागवत ८/१७/२२-२३

## ९. श्रीकृष्ण एवं योग

श्रीकृष्ण के जीवनचरित के अनेक प्रसङ्ग श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध में वर्णित हैं, जिनमें योग का आश्रय लेकर उन्होंने अत्यन्त आश्चर्यजनक अलौकिक घटनाओं को घटित किया है। श्रीकृष्ण तो भगवान् के पूर्णावतार हैं—

**कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।**

अत: अलौकिक घटनाओं को निष्पादित करना उनके लिये अत्यन्त सहज रहा। परन्तु इन सब अद्‍भुत की उत्पत्ति श्रीकृष्ण ने अपने योगबल से की थी, इसका उल्लेख अनेकश: मिलता है। उनको श्रीमद्‍भागवत में अनेकश: योगी तथा योगियों में योगेश्वर बतलाया गया है। उनके योगजन्य कतिपय प्रसंगों का निर्देशमात्र किया जा रहा है।

ब्रह्मा ने ग्वालों और गौओं को जब पर्वत की कन्दरा में गोपनीय रूप से स्तेयकर रखा हुआ था तब श्रीकृष्ण ने अपने शरीर को ही उतने ही गोपों तथा गौओं के रूप में परिवर्तित कर जो चमत्कार किया था वह योग की कायव्यूहसिद्धि का उज्ज्वल दृष्टान्त है। वचन है—

**यावद्वत्सपवत्सकाल्पकवपुर्यावत्कराङ्‌घ्र्यादिकं**
**यावद्यष्टिविषाणवेणुदलशिग्यावद्विभूषाम्बरम् ।**
**यावच्छीलगुणाभिधाकृतिवयो यावद्विहारादिकं सर्वं विष्णुमयं**
**गिरोऽङ्गवदजः सर्वस्वरूपो बभौ ।।**

श्रीमद्‍भागवत १०/१३/१९

श्रीकृष्ण ने प्रबल दावाग्नि से गोपबन्धुओं की जो रक्षा की थी, उसमें उनका योगवीर्य ही प्रधान कारण था। वचन है—

**कृष्णस्य योगवीर्यं तद्योगमायानुभावितम् ।**
**दावाग्नेरात्मनः क्षेमं वीक्ष्य ते मेनिरेऽमरम् ।।**

श्रीमद्‍भागवत १०/१९/१४

रासलीला के समय वृन्दावनचन्द्र श्रीकृष्ण ने जो अलौकिक लीलाएँ दिखायीं, उनमें उनका योगमाया का आश्रय लेना भी एक कारण रहा। प्रमाण है—

**भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः ।**
**वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः ।।**

श्रीमद्‍भागवत १०/२९/१

जब यादवों के भार से भी व्यथित इस भूमण्डल को श्रीकृष्ण ने

भारविहीन कर तथा जीवनदान देकर अपने लोक में जाने का विचार किया, उस समय भी श्रीकृष्ण ध्यान लगाकर अपने परम रमणीय शरीर को आग्नेयी योगधारणा से भस्मीभूत किये विना ज्यों के त्यों यथावत् अपने शरीर के साथ अपने लोक में चले गये। श्रीमद्भागवत में लिखा है—

**भगवान्पितामहं वीक्ष्य विभूतीरात्मनो विभुः ।**
**संयोज्यात्मनि चात्मानं पद्मनेत्रे न्यमीलयत् ।।**
**लोकाभिरामां स्वतनुं धारणाध्यानमङ्गलम् ।**
**योगधारणयाग्नेय्या दग्ध्वा धामाविशत्स्वकम् ।।**

श्रीमद्भागवत ११/३१/५-६

साधारण योगी अग्नि धारणा से अपने शरीर को भस्म कर देता है। श्रीकृष्ण ने भी धारणा लगाई किन्तु अपने शरीर को भस्मीभूत किये विना श्रीकृष्ण सशरीर ही अपने धाम चले गये। इस प्रकार व्यास जी ने श्रीकृष्ण के जीवनचरित को आदि से अन्त तक योगसिद्धियों से परिपूर्ण प्रदर्शित किया है।

**योग का प्रत्यक्ष वर्णन**

अब तब जो कुछ कहा गया उससे यही प्रतीत होता है कि श्रीमद्भागवत में योगसम्बन्धी अनेक अप्रत्यक्ष संकेत विद्यमान हैं। अब श्रीमद्भागवत में अष्टाङ्गयोग का जो प्रत्यक्ष निदर्शन है, उस पर विचार किया जा रहा है। ऐसा निदर्शन एक ही स्थल पर नहीं, अपितु अनेक स्थलों में मिलता है।

श्रीमद्भागवत के तीन स्कन्धों में योग का मुख्यरूप से वर्णन मिलता है—

१. द्वितीय स्कन्ध के प्रथम तथा द्वितीय अध्यायों में।

२. तृतीयस्कन्ध के पञ्चविंशतितम तथा अष्टाविंशतितम अध्यायों में कपिल जी का अपनी माता देवहूति के प्रति योग का उपदेश।

३. एकादशस्कन्ध के त्रयोदश अध्याय में सनकादियों को हंसरूपधारी भगवान् के द्वारा योग का वर्णन, चतुर्दश अध्याय में ध्यानयोग का वर्णन, पञ्चदश अध्याय में अणिमादि अठारह सिद्धियों का वर्णन, एकोनविंश

अध्याय में यम-नियमादि का वर्णन, अष्टाविंश अध्याय में ज्ञानयोग तथा एकोनत्रिंश अध्याय में भक्तियोग के साथ अष्टाङ्गयोग का वर्णन।

श्रीमद्भागवत में अष्टाङ्गयोग की एक बड़ी विशेषता यह है कि वह स्वतन्त्र साधनरूप से उपस्थित किया गया है। साथ ही साथ अन्य साधनमार्गों को भी वह सहायता पहुँचाता है। योग भक्ति के लिये सर्वाधिक सहायकीभूत है, तथापि वह ज्ञान-कर्म-भक्ति के समान एक पृथक् स्वतन्त्र साधनपथ है। जिस पर चलकर साधकगण परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते हैं।

**योग के भेद**

श्रीमद्भागवत में योग के आठ अङ्ग बतलाये गये हैं। वे हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि। इनमें से यम और नियम का संक्षिप्त वर्णन भागवत के ग्यारहवें स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में मिलता है। पातञ्जलसूत्र में तो यम-नियम के पांच-पांच प्रकार बतलाये गये हैं। परन्तु श्रीमद्भागवत में प्रत्येक के बारह भेद माने गये हैं।

**यम के द्वादश भेद**

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, असङ्ग, ह्री, असञ्चय, आस्तिक्य, ब्रह्मचर्य, मौन, स्थैर्य, क्षमा तथा अभय। वचन है—

**अहिंसा सत्यमस्तेमसङ्गो ह्रीरसञ्चयः ।**
**आस्तिक्यं ब्रह्मचर्यं च मौनं स्थैर्यं क्षमाऽभयम् ।।**

श्रीमद्भागवत ११/१९/३३

**नियम के द्वादश भेद**

बाह्यशौच, आभ्यन्तरशौच, जप, तप, होम, श्रद्धा, आतिथ्य, भगवदर्चन, तीर्थाटन, परार्थचेष्टा, सन्तोष तथा आचार्यसेवन। वचन है—

**शौचं जपस्तपो होमः श्रद्धातिथ्यं मदर्चनम् ।**
**तीर्थाटनं परार्थेहा तुष्टिराचार्यसेवनम् ।।**

श्रीमद्भागवत ११/१९/३४

यम के इन द्वादश भेदों में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह (भागवत का षष्ठ असञ्चय) पातञ्जतयोगदर्शन में भी हैं, शेष सात

नवीन हैं। नियमों में उसी भाँति शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान (भागवत का अष्टम भगवदर्चन) पातञ्जलयोगदर्शन में भी हैं, शेष सात भेद अतिरिक्त हैं।

**आसन**

यह योग का तृतीय अङ्ग है। शुद्ध, पवित्र तथा एकान्त स्थान में आसन लगाना चाहिए। आसन 'चैलाजिनकुशोत्तर' होना चाहिए। इसका 'कल्पितासन' शब्द के द्वारा भागवत में स्थान-स्थान पर संकेत है। योग में अनेक आसन बतलाये गये हैं। स्वस्तिकासन में बैठे तथा उस समय अपने शरीर को वक्र न होने दें। श्रीमद्भागवत का वचन है—

**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य विजितासन आसनम् ।**
**तस्मिन् स्वस्ति समासीन ऋजुकायः समभ्यसेत् ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२८/८

इस लोक में श्रीधरस्वामी ने 'स्वस्तिक' पाठ को शुद्ध माना है, जबकि अन्य टीकाकारों ने 'स्वस्ति समासीनः' पाठ ही माना है तथा पद्मासन अथवा सिद्धासन में सुखपूर्वक बैठे, ऐसा अर्थ किया है। अतः श्रीमद्भागवत में किसी एक आसन के प्रति आदर दिखाया गया नहीं प्रतीत होता है। स्थान-स्थान पर टीकाकारों के संकेत से पद्म अथवा सिद्ध आसनों की ओर भी आग्रह दिखलाई पड़ता है। आसनस्थ होने से पूर्व धीर पुरुष को परामर्श दिया गया है, कि गृह से निकला हुआ वह धीर पुरुष पुण्य तीर्थ के जल में स्नान करे और शुद्ध एकान्त स्थान में विधिपूर्वक विस्तीर्ण आसन पर आसीन होवे—

**गृहात् प्रव्रजितो धीरः पुण्यतीर्थजलाप्लुतः ।**
**शुचौ विविक्त आसीनो विधिवत् कल्पितासने ।।**

श्रीमद्भागवत २/१/१६

ज्ञातव्य है कि श्लोक में 'कल्पितासन' शब्द से सुखपूर्वक बैठने के सभी प्रकार को शास्त्रीय मान्यता दी गई है।

**प्राणायाम**

प्राणों का आयाम योग का चतुर्थ अङ्ग है। पूरक, कुम्भक तथा रेचक के द्वारा प्राण के मार्ग को शुद्ध करने का उपदेश किया गया है—

**प्राणस्य शोधयेन्मार्गं पूरकुम्भकरेचकैः ।**

श्रीमद्भागवत ३/२८/९

प्राणायाम पुराणों में दो प्रकार का बतलाया गया है—अगर्भ तथा सगर्भ। अगर्भप्राणायाम वह है, जिसमें जप तथा ध्यान के विना ही मात्रा के अनुसार प्राणायाम किया जाय। सगर्भप्राणायाम में जप तथा ध्यान अवश्य करना चाहिए। अतः दोनों में सगर्भ प्राणायाम श्रेष्ठ है। अतः पुराणों में उसी के करने का उपदेश किया है। शिवपुराण की वायवीय संहिता के उत्तरखण्ड अध्याय सैंतीस में इन दोनों के भेद तथा उपयोग का वर्णन मिलता है—

**अगर्भश्च सगर्भश्च प्राणायामो द्विधा स्मृतः ।**

**जपं ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वयात् ।।**

शिवपुराण

अर्थात् प्राणायाम अगर्भ और सगर्भ दो प्रकार का कहा गया है। जप और ध्यान के विना जो प्राणायाम होता है वह अगर्भ है और जप-ध्यान के सहित जो है वह सगर्भ है।

विष्णुपुराण में कहा गया है—

**अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।**

**तस्मात्सगर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ।।**

विष्णुपुराण ६/७/४०

अर्थात् अगर्भ से सगर्भ प्राणायाम का गुण शताधिक है। इसलिये योगी सगर्भ प्राणायाम करते हैं। विष्णुपुराण में अगर्भ को अबीज तथा सगर्भ को सबीज प्राणायाम कहा गया है।

श्रीमद्भागवत में भी इसी सगर्भ प्राणायाम का विधान बतलाया गया है। अभ्यासी प्राणायाम करता जाय साथ ही साथ अ-उ-म् से ग्रथित ब्रह्माक्षर ॐकार की मन में आवृत्ति भी करता जाय। ॐकार को विना विस्मृत किये अपने श्वास को विजित करे—

**हृद्यविच्छिन्नमोङ्कारं घण्टानादं बिसोर्णवत् ।**

**प्राणेनोदीर्य तथात्र पुनः संवेशयेत्स्वरम् ।।**

श्रीमद्भागवत ११/१४/३४

श्रीमद्भागवत में बतलाया गया है कि इन तीन अक्षर वाले शुद्ध परम ब्रह्माक्षर मन्त्र का मन से जप करे। इस ब्रह्मबीज को विना विस्मृत किए श्वास को जीतकर मन को एकाग्र करे—

**अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद्ब्रह्माक्षरं परम् ।**
**मनो यच्छेज्जितश्वासो ब्रह्मबीजमविस्मरन् ।।**

श्रीमद्भागवत २/१/१७

जो योगी इस प्रकार सगर्भ प्राणायाम के अभ्यास से श्वासजय प्राप्त कर लेता है, उसके मन से आवरक मल रज तथा तम का नाश उसी प्रकार हो जाता है, जिस प्रकार अग्नि में तप्त लोह से मलिनता नष्ट हो जाती है। श्रीमद्भागवत का वचन है—

**मनोऽचिरात्स्याद्विरजं जितश्वासस्य योगिनः ।**
**वाय्वग्निभ्यां यथा लोहं ध्मातं त्यजति मलम् ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२८/१०

ऊपर पूरक, कुम्भक तथा रेचक के क्रम से प्राणायाम करने का विधान बतलाया गया है। परन्तु श्रीमद्भागवत के एकादश स्कन्ध में विपरीत क्रम से भी प्राणायाम करने की विधि बतलाई गई है—

**विपर्ययेणापि शनैरभ्यसेन्निर्जितेन्द्रियः ।**

श्रीमद्भागवत ११/१४/३३उ.

यहाँ **विपर्ययेणापि** का अर्थ श्रीधरस्वामी ने दो प्रकार से किया है। एक अर्थ तो यह हुआ—साधारण नियम का व्यतिक्रम अर्थात् रेचक, पूरक, कुम्भक। इसका आशय यह है कि प्रथम रेचक करे तदनन्तर कुम्भक तथा अन्त में पूरक। कुम्भक दो प्रकार का होता है—अन्तःकुम्भक तथा बहिःकुम्भक। श्रीमद्भागवत में इन दोनों का इस प्रकार वर्णन है तथा दोनों में किसी एक के द्वारा चित्त को स्थिर करने का उपदेश किया गया है। दूसरा अर्थ यह बतलाया गया है कि वाम नाडी से पूरक करे तथा दाहिनी नाडी से रेचक करे। दोनों ही अर्थ योगाभ्यासियों को सम्मत हैं। प्राणायाम को तीनों काल में प्रातः, मध्याह्न तथा सायं करना चाहिए और प्रत्येक बार दस प्राणायाम करना चाहिए। इस नियम से प्राणायाम किया जाय, तो एक माह के पूर्व ही साधक पवन को वश में कर लेता है—

**दशकृत्वस्त्रिषवणं मासादर्वाग् जितानिलः ।**

श्रीमद्भागवत ११/१४/३५उ.

**प्रत्याहार**

इस प्रकार आसन, सङ्ग तथा श्वास को विजित कर साधक अपनी इन्द्रियों को उनके तत्तद्विषयों से प्रत्यावर्तित करे। इसमें सहायकीभूत होता है निश्चय बुद्धि वाला मन। मन के द्वारा निश्चयात्मिका बुद्धि की सहायता से मनुष्य अपनी इन्द्रियों को विषयों से खींचकर उन्हें एक स्थान में रखने का प्रयत्न करे।

**नियच्छेद्विषयेभ्योऽक्षान् मनसा बुद्धिसारथिः ।**

श्रीमद्भागवत २/१/१८ पू.

**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो मनसाकृष्य तन्मनः ।**
**बुद्ध्या सारथिना धीरः प्रणयेन्मयि सर्वतः ।।**

श्रीमद्भागवत ११/१४/४२

**धारणा**

मन को एक वस्तु में स्थिर करने का नाम 'धारणा' है। श्रीमद्भागवत में दो प्रकार की धारणा बतलाई गई है। वे ही धारणाएँ अन्य पुराणों में भी नामभेद से भगवान् के दो रूप हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। इन्हीं को विष्णुपुराण में मूर्त अर्थात् विश्व तथा अमूर्त अर्थात् सत् रूप बतलाया गया है। भगवान् के इन्हीं दो रूपों में धारणा तथा ध्यान करना चाहिए। अतः श्रीमद्भागवतविहित धारणा के दो भेद हैं—वैराजधारणा तथा अन्तर्यामिधारणा।

सर्वप्रथम भगवान् के स्थूलरूप में ही धारणा तथा ध्यान लगाना चाहिए। अर्थात् पहले भगवान् के विराट् रूप की धारणा करे। श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध के प्रथम अध्याय में भगवान् के विराट् रूप का इतना सुन्दर तथा साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है कि पद्यों को पढ़ते-पढ़ते भगवान् का रूप नेत्रों के समक्ष अवस्थित हो जाता है। स्थूल होने के कारण मूर्तरूप में मन सहज एकाग्र हो जाता है। इसे ही वैराज धारणा कहते हैं। जब यह धारणा साधक को सिद्ध हो जाय तब उसे अमूर्तरूप की धारणा करनी चाहिए। इसे ही अन्तर्यामिधारणा कहते हैं। श्रीमद्भागवत के अनेक स्थानों—द्वितीय

स्कन्ध, तृतीय स्कन्ध तथा एकादश स्कन्ध के अनेक अध्यायों में अन्तर्यामिधारणा का अतीव सुन्दर वर्णन मिलता है। यथा—

**हृत्पुण्डरीकमन्तःस्थमूर्ध्वनालमधोमुखम् ।**
**ध्यात्वोर्ध्वमुखमुन्निद्रमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।।**
**कर्णिकायां न्यसेत् सूर्यसोमाग्नीनुत्तरोत्तरम् ।**
**वह्निमध्ये स्मरेद्रूपं ममैतद्ध्यानमङ्गलम् ।।**

श्रीमद्भागवत ११/१४/३६-३७

अभिप्राय यह है कि अपने शरीर के भीतर ऊर्ध्वनाल के अधोमुख हृत्पुण्डरीक को ऊर्ध्वमुख, विकसित, अष्टदल वाला कर्णिकायुक्त ध्यान करे। कर्णिका में क्रमशः सूर्य, चन्द्र तथा अग्नि के मण्डल को रखे। इस अग्नि के भीतर आनन्दकन्द श्रीवृन्दावनचन्द्र वनमालधारी की मनमोहिनी मूर्ति का ध्यान करे। भगवान् के इस मनोहारी रूप का जैसा वर्णन श्रीमद्भागवत में मिलता है, वैसा अन्यत्र मिलना दुर्लभ है। व्यास जी ने अपनी समग्र कविताशक्ति का मानों यही समायोजन किया है। इस रूप की धारणा; जिसे अन्तर्यामिधारणा कहते हैं, तब तक करे जब तक मन निश्चल तथा स्थिर न हो जाय।

**ध्यान**

किसी वस्तुविशेष में अनुस्यूत रूप से धारित मन ध्यान करे। जहाँ प्रत्यय की एकतानता होती है, उसे ध्यान कहते हैं—

**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।**

योगसूत्र ३/२

श्रीमद्भागवत में ध्यान का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। सारांश यही है कि जब तक हृत्कर्णिका में भगवान् के समग्र शरीर की धारणा सम्यक् स्थिर न हो जाय, तब तक भगवान् के प्रत्येक अंग का ध्यान करना चाहिए। अङ्गों का क्रम **पादादियावत् हसितं गदाभृतः** (चरणों से लेकर हंसते हुए मुख तक) है। इसका वर्णन तीसरे स्कन्ध के अट्ठाईसवें अध्याय में द्रष्टव्य है। भगवान् के चरण का ध्यान प्रारम्भ कर ऊपर बढ़ता जाय और अन्त में मुख के स्मित हास के ऊपर ध्यान लगावे।

**सञ्चिन्तयेद् भगवतश्चरणारविन्दं वज्राङ्कुशध्वजसरोरुहलाञ्छनाढ्यम् ।**
**उत्तुङ्गरक्तविलसन्नखचक्रवालज्योत्सनाभिराहतमहद्हृदयान्धकारम् ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२८/२१

अर्थात् उत्तम प्रकार से भगवान् के उन चरण-कमल का ध्यान करे जो चरणकमल वज्र, अंकुश, ध्वजा और कमल के चिह्नों से युक्त हैं तथा जिन्होंने अपने ऊँचे उठे हुए लाल-लाल नखों की ज्योत्सना से सत्पुरुषों के हृदय के अन्धकार को अपसारित किया है।

श्रीमद्भागवत के आगे का वचन है—

**ध्यानायनं प्रहसितं बहुलाधरोष्ठभासारुणायिततनुद्विजकुन्दपङ्क्ति ।**
**ध्यायेत् स्वदेहकुहरेऽवसितस्य विष्णोर्भक्त्यार्द्रयार्पितमना न पृथग् दिदृक्षेत् ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२८/३३

अर्थात् हृदय में रहने वाले भगवान् के उस ध्यानायनस्वरूप हृदय का—जिस हास्य से नीचे के अधर की लालिमा अन्तस्थ कुन्दकली सदृशा दन्तपंक्ति को अरुण आभा प्रदान कर रही है—अर्पित मन होकर सरस भक्ति से ध्यान करे, पृथक् न देखे।

**समाधि**

ध्यान के पश्चात् ही समाधि का स्थान है। उस समय भक्ति से द्रवीभूत हृदय, आनन्द से रोमाञ्चित होकर उत्कण्ठा से अश्रुओं की धारा में स्नान करने वाले भगवान् का भक्त अपने चित्त को भी उसी भाँति पृथक् कर देता है, जिस प्रकार मत्स्य के मारे जाने पर मछुआरा बडिश (कांटे) को पृथक् कर देता है। उस समय निर्विषय मन अर्चि की तरह गुणप्रवाह से रहित होकर भगवान् में लय प्राप्त कर लेता है अर्थात् ब्रह्माकार में परिणत हो जाता है—

**एवं हरौ भगवति प्रतिलब्धभावो भक्त्या द्रवद्हृदय उत्पुलकः प्रमोदात् ।**
**औत्कण्ठ्यबाष्पकलया मुहुरर्द्यमानस्तच्चापि चित्तबडिशं शनकैर्वियुङ्क्ते ।।**
**मुक्ताश्रयं यर्हि निर्विषयं विरक्तं निर्वाणमुच्छति मनः सहसा यथार्चिः ।**
**आत्मानमत्र पुरुषोऽव्यधानमेकमन्वीक्षते प्रतिनिवृत्तगुणप्रवाहः ।।**

**सोऽप्येतया चरमया मनसो निवृत्त्या तस्मिन्महिम्न्यवसितः सुखदुःखबाह्ये ।**
**हेतुत्वमप्यसति कर्तरि दुःखयोर्यत्स्वात्मन्विधत्त उपलब्धपरात्मकाष्ठः ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२८/३४-३६

इस प्रकार श्रीहरि में जिसका पूर्ण प्रेमभाव हो गया है, जिसका हृदय भक्ति से द्रवीभूत हो गया है, प्रेमानन्द से जो पुलकित हो उठा है, जो भूयोभूयः उत्कण्ठा से उत्पन्न हुई अश्रुधारा से स्नात रहता है, वह उस चित्तरूप बडिश (मछली पकड़ने के कांटे) को शनैः-शनै त्याग देता है। संसार का आश्रय जिसने छोड़ दिया, जो निर्विषय और पूर्ण विरक्त हो गया, वह मनरूपी वर्तिका के जल जाने पर दीपशिखा के महज्ज्योति में मिलने के समान निर्वाण पद को प्राप्त होता है। त्रिगुण का प्रवाह जिससे हट गया ऐसा वह पुरुष अपने अतिरिक्त अन्य व्यवधान न देखता हुआ अखण्ड आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है। वह पुरुष मन की इस चरम निवृत्ति से सुख-दुःख के बहिः उस महिमा में लीन रहता है। ऐसी आत्मस्थिति की पराकाष्ठा को प्राप्त हुआ पुरुष यद्यपि अपने आप को कर्त्ता नहीं मानता तथापि सुख-दुःख का जो मूलकारण है वह अपने अन्दर देखता है।

उक्त वर्णित योग की यह महती विशेषता विदित होती है कि यह अष्टाङ्गयोग भक्ति के साथ नितान्त सम्बद्ध है। वास्तविक योगी शुष्क साधक नहीं है, प्रत्युत भगवान् की उत्तम भक्ति से आप्लावित हृदय वाला परम भागवत है। विना भक्ति के योगविहित समाधि की निष्पत्ति कथमपि नहीं हो सकती। व्यास जी ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में कहा कि योग का उद्देश्य कायाकल्प नहीं है, शरीर को केवल दृढ बनाना नहीं है। परन्तु उसका प्रधान उद्देश्य भगवान् में चित्त लगाना है, भगवत्परायण होना है—

**केचिद् देहमिमं धीराः सुकल्पं वयसि स्थिरम् ।**
**विधाय विविधोपायैरथ युञ्जन्ति सिद्धये ।।**
**न हि तत्कुशलादृत्यं तदायासो ह्यपार्थकः ।**
**अन्तवत्त्वाच्छरीरस्य फलस्येव वनस्पतेः ।।**
**योगं निषेवतो नित्यं कायश्चेत्कल्पतामियात् ।**
**तच्छ्रद्दध्यान्न मतिमान्योगमुत्सृज्य मत्परः ।।**

श्रीमद्भागवत ११/२८/४१-४३

अर्थात् कोई-कोई धीर इस देह का कल्प करने अथवा चिरायु होने के लिये योग के विविध उपाय किया करते हैं। परन्तु कुशल (विवेकी) पुरुष इसका आदर नहीं करते हैं। उनके अनुसार यह सारा प्रयास व्यर्थ ही जाने वाला होता है, क्योंकि वृक्ष के फल की तरह शरीर नाशवान् है। योगसाधन करने से काया यदि कल्पान्तपर्यन्त भी जीती रहे तो भी मत्परायण बुद्धिमान् पुरुष को भगवद्योग छोड़कर उसमें कभी श्रद्धा नहीं करनी चाहिए।

श्रीमद्भागवत का योग के विषय में यही परिनिष्ठित सिद्धान्त प्रतीत होता है कि योगियों के लिये जगदाधार भगवान् में भक्ति के द्वारा चित्त लगाने के अतिरिक्त ब्रह्मप्राप्ति का अन्य कोई उपाय नहीं है—

**न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि ।**
**सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२५/१९

अभिप्राय यह है कि अखिल आत्मस्वरूप भगवान् में लगी हुई भक्ति के समान शिवः पन्था अर्थात् कल्याणकारी मार्ग योगियों के लिये ब्रह्मप्राप्ति में और कोई नहीं है।

●

# योगवासिष्ठ में योग

योगवासिष्ठ महारामायण भारतवर्ष के आध्यात्मिक ग्रन्थों में बहुत उच्चकोटि का ग्रन्थ है। इसमें वसिष्ठ ऋषि द्वारा श्रीरामचन्द्र को किये गये आध्यात्मिक उपदेश का अत्यधिक सरस भाषा में वर्णन है। इसके दार्शनिक सिद्धान्त बहुत सूक्ष्म और गहन हैं।

**'योग' शब्द का अर्थ**

योगवासिष्ठ में योग शब्द का अर्थ है—संसार-सागर से पार होने की युक्ति—

**संसारोत्तरणे युक्तिर्योग शब्देन कथ्यते ।**

योगवासिष्ठ ६/१/११/३ पूर्वार्द्ध

**योग का आदर्श**

योग द्वारा मनुष्य अपने यथार्थ सच्चिदानन्दस्वरूप का अनुभव कर लेता है। योग का ध्येय वह तुरीय नामक परम आत्मा में स्थिति है, जिसमें जाग्रत्, स्वप्न तथा सुषुप्ति किसी भी अवस्था का अनुभव न हो और न ही इनके आगामी अनुभव का बीज भी रहे और जिसमें परम आनन्द का निरन्तर अनुभव होता रहे। यही योग का प्राप्य अनुभव है। इस स्थिति का अनुभव विना उस अमृत के समुद्र में जिसमें समस्त तरंगे शान्त हो गईं हैं, मन के अस्त हुए असम्भव है। वचन है—

**तां विद्धि द्विप्रकारां त्वं चित्तोपशमधर्मिणीम् ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१३/३ उत्तरार्द्ध

**जीवस्य च तुरीयाख्या स्थितिर्या परमात्मनि ।**
**अवस्थाबीजनिद्रादिनिर्मुक्ता चित्सुखात्मिका ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/५० पूर्वार्द्ध

**योगस्य सेयं वा निष्ठा सुखं संवेदनं महत् ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/५१ पूर्वार्द्ध

**मनस्यस्तंगते पुंसां तदन्यन्नोपलभ्यते ।**
**प्राशान्तामृतकल्लोले केवलामृतवारिधौ ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/५२

**योग की तीन रीतियाँ**

योगवासिष्ठ में योग की तीन रीतियाँ उपवर्णित हैं। वे हैं—१. एक तत्त्व की दृढभावना, २. मन की शान्ति तथा ३. प्राणों के स्पन्दन का निरोध। इन तीनों में से किसी एक पर चलने से तीनों की ही सिद्धि हो जाती है—

**एकतत्त्वघनाभ्यासः प्राणानां विलयस्तथा ।**
**मनोविनिग्रहश्चेति योगशब्दार्थसंग्रहः ।।**

योगवासिष्ठ ३/१/६९/२७

**एकार्थाभ्यसनप्राणरोधचेतःपरिक्षयाः ।**
**एकस्मिन्नेव संसिद्धे संसिध्यन्ति परस्परम् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४०

इन तीनों में से मन को शान्त (मनोनिग्रह) करना सबसे उत्तम है। इसके सिद्ध हो जाने पर शीघ्र ही कल्याण हो जाता है। वचन है—

**त्रिष्वेतेषु प्रयोगेषु मनःप्रशमनं वरम् ।**
**साध्यं विद्धि तदेवाशु यथा भवति तच्छिवम् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/६९/२९

किसी को ज्ञान का अभ्यास, किसी को प्राणनिरोध और किसी को मन का शान्त करना सरल होता है। तथापि योगवासिष्ठकार कहते हैं कि प्राणों के निरोध की अपेक्षा मन को शान्त करना अथवा एक तत्त्व का दृढ अभ्यास करना अधिक सरल है। इसीलिये इस ग्रन्थ में इन दो रीतियों का ही अधिक विवरण प्राप्त है। वचन है—

**असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचिज्ज्ञाननिश्चयः ।**
**मम त्वभिमतः साधो सुसाध्यो ज्ञाननिश्चयः ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१३/८

चित्त को शान्त करने के दो उपाय हैं—एक योग और दूसरा ज्ञान। योग का अर्थ है—चित्त की वृत्तियों का निरोध करना और ज्ञान का अर्थ है—यथावस्थित वस्तु को जानना। चित्त और चित्त की वृत्ति (स्पन्दन) दोनों में से किसी एक का क्षय होने से दूसरे का भी क्षय हो जाता है। एक गुणी है दूसरा उसका गुण है। एक के नष्ट होने पर दोनों ही नष्ट हो जाते हैं, इसमें कोई सन्देह नहीं है। वचन है—

**द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानं च राघव ।**
**योगस्तद्वृत्तिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ।।**

योगवासिष्ठ ५/७८/८

**चित्तचित्तपरिस्पन्दपक्षयोरेकसंक्षये ।**
**स्वयं गुणो गुणी स्थित्वा नश्यतो द्वौ न संशयः ।।**

योगवासिष्ठ ५/७८/७

योगवासिष्ठानुसार योग के तीन प्रकारों का प्रतिपादन इस प्रकार हुआ है—

**एक तत्त्वावलम्बित दृढ अभ्यास**

एक तत्त्व का दृढतापूर्वक अभ्यास करने से मन शान्त होकर विलीन हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन स्वयं ही अवरुद्ध हो जाता है। वचन है—

**एकतत्त्वघनाभ्यासाच्छान्तं शाम्यत्यलं मनः ।**
**तल्लीनत्वात्स्वभावस्य तेन प्राणोऽपि शाम्यति ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४८

योगवासिष्ठ में एक तत्त्व को आलम्बन बनाकर दृढाभ्यास करने की तीन रीतियाँ वर्णित हैं। वे हैं—ब्रह्मभावना, पदार्थों के अभाव की भावना तथा केवलीभावना। योगवासिष्ठकार ने विस्तारपूर्वक इन प्रभेदों का प्रतिपादन किया है—

**(क) ब्रह्मभावना**—प्रथमतः विचार द्वारा यह निश्चय हो जाना चाहिए कि जगत् में केवल एक ही अनन्त आत्मतत्त्व है और समस्त पदार्थ उसी तत्त्व के नाना नाम-रूप हैं। एतावता अनन्त आत्मतत्त्व का निश्चय करके मन को तन्मय बनाने का यत्न करना चाहिए। वचन है—

**विचार्य यदनन्तात्मतत्त्वं तन्मयतां नय ।**
**मनस्ततस्तल्लयेन तदेव भवति स्थिरम् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४९

इस प्रकार का ब्रह्माभ्यास करने से मन ब्रह्माकार होकर विलीन हो जाता है और प्राणों की गति भी स्वयं ही अवरुद्ध हो जाती है। वचन है—

**प्रत्याहारवतां चेतः स्वयं भोग्यक्षयादिव ।**
**विलीयते सह प्राणैः परमेवावशिष्यते ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/६९/५२

मन (आत्मा) जैसी-जैसी भावना करता है वह शीघ्र ही वैसा ही हो जाता है और वैसी ही शक्ति से पूर्ण हो जाता है। वचन है—

**यथैव भावयत्यात्मा सततं भविष्यति स्वयम् ।**
**तथैवापूर्यते शक्त्या शीघ्रमेव महानपि ।।**

योगवासिष्ठ ४/११/५९

लौकिक दृष्टान्त द्वारा विषय को स्पष्टता प्रदान करते हुए योगवासिष्ठकार बतलाते हैं—जैसे बरसाती नाले वृष्टि होने से बड़ी-बड़ी नदियों में परिवर्तित हो जाते हैं, वैसे ही भावना द्वारा मन आत्मरूप होकर अनन्त और सब कुछ हो जाता है। अर्थात् अपने आप को ब्रह्म समझते-समझते वह एक दिन ब्रह्म ही बन जाता है। वचन है—

**भाविता शक्तिरात्मानमात्मतां नयति क्षणात् ।**
**अनन्तमखिलं प्रावृड् मिहिका महती यथा ।।**

योगवासिष्ठ ४/११/६०

### (ख) असत्पदार्थविषयिणी भावना

असत्पदार्थविषयिणी भावना अर्थात् अभावभावना का अर्थ है— पदार्थों को अत्यन्त असत् समझकर उनके पारमार्थिक अभाव की दृढभावना करना। तदनुसार जो लोग युक्ति और शास्त्र के अध्ययन द्वारा ज्ञाता और ज्ञेय दोनों को अत्यन्त असत् समझने का प्रयत्न करते हैं, वे ब्रह्माभ्यासी कहलाते हैं। वचन है—

**अत्यन्ताभावसम्पत्तौ ज्ञातृज्ञेयस्य वस्तुनः ।**
**युक्त्या शास्त्रैर्यतन्ते ये ते ब्रह्माभ्यासिनः स्थिताः ।।**

योगवासिष्ठ ३/२२/२७

असत्य दृष्टि के क्षीण हो जाने पर और सत्य दृष्टि के दृढ हो जाने पर आत्मा निर्विकल्प और शुद्ध चिति का आकार धारण कर लेता है। वचन है—

**सत्यदृष्टौ प्रपन्नायामसत्ये क्षयमागते ।**
**निर्विकल्पचिदच्छात्मा स आत्मा समवाप्यते ।।**

योगवासिष्ठ ४/२१/४३

अभिप्राय यह है कि ब्रह्म (आत्मा) के अतिरिक्त इस जगत् में और कोई दूसरा पदार्थ है ही नहीं और सब दृश्य पदार्थ वस्तुतः ब्रह्म ही हैं, तब उनको नाना नाम-रूप वाला और भिन्न सत्ता वाला समझना केवल भ्रम है। दृश्य जगत् के अत्यन्त अभाव की भावना के विना दूसरी और कोई शुभ गति नहीं है। वचन है—

**भ्रमस्य जागतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् ।**
**अत्यन्ताभावसम्बोधे यदि रूढिरलं भवेत् ।।**
**तज्ज्ञातं ब्रह्मणो रूपं भवेन्नान्येन कर्मणा ।**
**दृश्यात्यन्ताभावतस्तु ऋते नान्या शुभा गतिः ।**

योगवासिष्ठ ३/७/२७-२८

इस तथ्य को दृढतापूर्वक समझ लेना चाहिए कि जागतिक पदार्थ है ही नहीं, केवल ब्रह्म ही ब्रह्म सर्वत्र है। इस निश्चय के अभ्यास का नाम ब्रह्मभावना है। ऐसा करने से मन शान्त हो जाता है और अहंभाव और जगत् का अनुभव—दोनों का लोप होकर आत्मभाव में स्थिति हो जाती है। वचन है—

**अत्यन्ताभावसम्पत्तिं विनाहन्ताजगत्स्थितेः ।**
**अनुत्पादमयी ह्येषा नोदेत्येव विमुक्तता ।।**

योगवासिष्ठ ३/२१/१२

### (ग) केवलीभाव

केवलीभाव उस निश्चय के अभ्यास का नाम है, जिसमें केवल एक आत्मतत्त्व की स्थिति मानी जाय और समस्त दृश्य पदार्थों के असत्य होने की दृढभावना होने के कारण अपने द्रष्टा होने को भी असत् समझा जाय और अपने उस आत्मस्वरूप में स्थिति हो जाय जिसमें द्वैत का कोई भाव नहीं है। वचन है—

**यद्द्रष्टुरस्याद्रष्टृत्वं दृश्याभावे भवेद् बलात् ।**
**तद्विद्धि केवलीभावं तत एवासतः सतः ।।**

योगवासिष्ठ ३/४/५३

अभिप्राय यह है कि वायु के अवरुद्ध हो जाने पर उसकी क्रियाएँ शान्त हो जाती हैं वैसे ही केवलीभाव के प्राप्त हो जाने पर राग-द्वेष आदि जन्य समस्त वासनाएँ नष्ट (शान्त) हो जाती हैं। वचन है—

**तत्तामुपगते भावे रागद्वेषादिवासनाः ।**
**शाम्यन्त्यस्पन्दिते वाते स्पन्दनक्षुब्धता यथा ।।**

योगवासिष्ठ ३/४/५४

इस अवस्था में मैं, तुम और जगत् आदि दृश्य के भ्रम के शान्त हो जाने पर और द्रष्टा के अनुभव में न आने पर केवलता का अनुभव उदय होता है—

**अहं त्वं जगदित्यादौ प्रशान्ते दृश्यसंभ्रमे ।**
**स्यात् तादृशी केवलता स्थिते द्रष्टर्यवीक्षणे ।।**

योगवासिष्ठ ३/४/५८

### मनोलय

योगवासिष्ठ में मनोलय पर दृढतापूर्वक प्रकाश डाला गया है। क्योंकि इसमें मन को संसाररूपी चक्र का नाभिस्थान कहा गया है। तदनुसार मन ही संसार की उत्पत्ति का कारण और उसे सञ्चालित करने वाला है। मन के शान्त हो जाने पर जीवन में परम शान्ति आ जाती है और संसार का अनुभव शान्त हो जाता है। वचन है—

**चित्तं नाभिः किलास्येह मायाचक्रस्य सर्वतः ।**

**स्थीयते चेत्तदाक्रम्य तन्न किञ्चित्प्रबाधते ।।**

योगवासिष्ठ ५/४९/४०

संकल्पात्मक मन को बुद्धि द्वारा वशीभूत करने पर संसार की गति वैसे ही अवरुद्ध हो जाती है जैसे कि नाभि को पकड़ लेने पर चक्र की गति। वचन है—

**तस्मिन्द्रुतमवष्टब्धे धिया पुरुषयत्नतः ।**

**गृहीतनाभिवहनान्मायाचक्रं निरुद्ध्यते ।।**

योगवासिष्ठ ५/५०/७

चित्त और जगत् में अन्योन्याभावसम्बन्ध है। अर्थात् चित्त की सत्ता से जगत् की सत्ता है और जगत् की सत्ता से चित्त की सत्ता है। एक का नाश होने पर दोनों का अभाव हो जाता है और ऐसा प्रज्ञा, बल और युक्ति द्वारा सत्य का विचार करने पर सम्भव होता है। वचन है—

**चित्तसत्तैव जगत्सत्ता जगत्सत्तैव चित्तकम् ।**

**एकाभावाद् द्वयोर्नाशः स च सत्यविचारणात् ।।**

योगवासिष्ठ ४/१७/१९

चित्त में संसार की स्थिति उसी प्रकार है जिस प्रकार घट में घटाकाश। चित्त के नष्ट होने पर संसार उसी प्रकार नहीं रहता है, जिस प्रकार घट के नष्ट होने पर घटाकाश। वचन है—

**चित्तान्तरेव संसारः कुम्भान्तः कुम्भखं यथा ।**

**चित्तनाशे न संसारः कुम्भनाशे न कुम्भखम् ।।**

योगवासिष्ठ ५/५०/१४

जिस प्रकार वायु का प्रवाह अवरुद्ध हो जाने पर गन्ध की अनुभवता अवरुद्ध हो जाती है, उसी प्रकार मन की स्पन्दनक्रिया अवरुद्ध होने पर तदाश्रित प्राणों की गति भी शान्त हो जाती है। वचन है—

**शान्ते वातपरिस्पन्दे यथा गन्धः प्रशाम्यति ।**

**तथा शान्ते मनःस्पन्दे शाम्यन्ति प्राणवायवः ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४४

चित्त के लीन हो जाने पर द्वैत और अद्वैत दोनों की भावनाओं का लय होकर परम शान्त आत्मतत्त्व का ही अनुभव रह जाता है। वचन है—

**चित्ते त्यक्ते लयं याति द्वैतमैक्यं च सर्वतः ।**
**शिष्यते परमं शान्तमच्छमेकमनामयम् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/९३/४४

संसाररूपी दुःख से मुक्त होने का उपाय केवल मन को निगृहीत करना है। इसी उपाय द्वारा मनुष्य को परम शान्ति का अनुभव होता है। इस युक्ति के विना शुभ गति प्राप्त नहीं होती है। वचन है—

**संसारस्यास्य दुःखस्य सर्वोपद्रवदायिनः ।**
**उपाय एक एवास्ति मनसः स्वस्य निग्रहः ।।**

योगवासिष्ठ ४/३५/२

मन ही स्थूल होकर परिमित जीव हो जाता है और मन सूक्ष्म और विस्तृत होकर ब्रह्म हो जाता है। जिन कारणों के द्वारा मन स्थूलता को प्राप्त होकर दुःख भोगता है, वे हैं—अनात्मवस्तु में आत्मभाव, स्थूल देह के प्रति आस्था, स्त्री-पुत्र-कुटुम्बादि से ममत्व, युष्मद्-अस्मद् की भावना, जरा-मरणादि से भय, संसार से सुख की आशा, किसी वस्तु की प्राप्ति और किसी वस्तु के त्याग का यत्न, शब्द-स्पर्शादि विषयों के भोगों के प्रति तृष्णा और भोगों की संलग्नता से विषयों से बद्ध होना आदि। वचन है—

**अन्यात्मन्यात्मभावेन देहमात्रास्थयानया ।**
**पुत्रदारकुटुम्बैश्च चेतो गच्छति पीनताम् ।।**
**अहंकारविकारेण ममतामलहेलया ।**
**इदं ममेति भावेन चेतो गच्छति पीनताम् ।।**
**जरामरणदुःखेन व्यर्थमुन्नतिमीयुषा ।**
**दोषाशाविषकोशेन चेतो गच्छति पीनताम् ।।**
**आगमापायवपुषा विषवैषम्यशंसिना ।**
**भोगाभोगेन भीमेन चेतो गच्छति पीनताम् ।।**

योगवासिष्ठ ५/५०/५७-५९,६३

**मनोलय के उपाय**

जिस प्रकार मदमस्त गज को अंकुश के विना वश में नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार मन को भी शास्त्रसम्मत युक्तियों के अभ्यास के विना वशंगत करना सम्भव नहीं है। वचन है—

**अङ्कुशेन विना मत्तं यथा दुष्टं मतङ्गजम् ।**
**न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दताम् ।।**

योगवासिष्ठ ५/९२/३४,३५

जो व्यक्ति शास्त्रसम्मत युक्तियों के विना मन पर विजय प्राप्त करने का प्रयास करते हैं, उन्हें हठधर्मी कहा जाता है क्योंकि भय और दुःख ऐसे व्यक्तियों का अनुगमन करते हैं। वचन है—

**साधयन्ति समुत्सृज्य युक्तिं ये तान् हठान्विदुः ।**
**भयाद्भयमुपायान्ति क्लेशात्क्लेशं व्रजन्ति ते ।।**

योगवासिष्ठ ५/९२/४०

अतः योगवासिष्ठकार ने चित्त के ऊपर विजय प्राप्त करने की चार प्रमुख युक्तियाँ बतलाई हैं। वे हैं—अध्यात्मप्रधान ग्रन्थों का अध्ययन, साधुओं का सत्सङ्ग, वासनाओं का परित्याग तथा प्राणों का निरोध। वचन है—

**अध्यात्मविद्याधिगमः साधुसङ्गम एव च ।**
**वासनासम्परित्यागः प्राणस्पन्दनिरोधनम् ।।**
**एतास्ता युक्तयः पुष्टाः सन्ति चित्तजये किल ।**

योगवासिष्ठ ५/९२/३५,३६

मनोलय के उपायों की अन्तर्संगति लगाते हुए योगवासिष्ठकार बतलाते हैं कि ज्ञान द्वारा वासनारहित हो जाने पर मन का नाश हो जाता है और प्राणों का स्पन्दन भी अवरुद्ध हो जाता है। केवल शान्ति ही रह जाती है।

**ज्ञानादवासनीभावं स्वनाशं प्राप्नुयान्मनः ।**
**प्र गस्पन्दं च नादत्ते ततः शान्तिर्हि शिष्यते ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/६९/३५

योगवासिष्ठ में मन को शान्त करने के अनेक उपाय वर्णित हैं। उनमें से कुछ प्रमुख उपाय अधोलिखित हैं—

**(क) ज्ञानयुक्ति**

योगवासिष्ठकार का मत है कि ज्ञान द्वारा मन का निरोध करना उतना ही सहज और सरल है जितना नेत्रों को मीलित (बन्द) करना अथवा पुष्प को आहत करना (रौंदना)। ऐसा करने में अत्यल्प कष्ट नहीं होता है। वचन है—

**अपि पुष्पावदलनादपि लोचनमीलनात् ।**
**सुकरोऽहंकृतेस्त्यागो न क्लेशोऽत्र मनागपि ।।**

योगवसिष्ठ ६/१/१११/३१

मन की सत्ता अज्ञानमूलक होने से ज्ञान द्वारा उसकी सत्ता उसी प्रकार सरलता से नष्ट की जा सकती है जिस प्रकार रज्जु में भासित सर्प की सत्ता अथवा मरुभूमि में मृगतृष्णा के जल की सत्ता। वचन है—

**यथा रज्ज्वां भुजङ्गत्वं मरावम्बुमतिर्यथा ।**
**मिथ्यावभासः स्फुरति तथा मिथ्याप्यहंकृतिः ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१११/३४

नियम है कि जो वस्तु अज्ञानजन्य है वह ज्ञान द्वारा तुरन्त नष्ट हो जाती है। सत्य का ज्ञान होने पर यह भली-भाँति निश्चित हो जाता है कि वस्तुतः आत्मा के अतिरिक्त और कोई पदार्थ नहीं है और मन भी असद्रूप है। वचन है—

**मननं कृत्रिमं रूपं ममैतन्न यतोऽस्म्यहम् ।**
**इति तत्त्यागतः शान्तं चेतो ब्रह्म सनातनम् ।।**

योगवासिष्ठ ४/११/२७

**(ख) संकल्पत्याग**

मन के बन्धन का कारण संकल्प है, अतः संकल्प का अभाव ही मन की मुक्ति है। वचन है—

**सङ्कल्पनं मनोबन्धस्तदभावो विमुक्तता ।**

योगवासिष्ठ ६/२/१/२७

संकल्परहित होने पर मनुष्य चित्तरहित हो जाता है और चित्तरहित होने से मुक्ति का उदय होता है। वचन है—

**अचित्तत्त्वमसङ्कल्पान्मोक्षस्तेनाभिजायते ।**

योगवासिष्ठ ५/१३/८०

इस प्रकार संकल्प के शान्त होने पर संसार का समस्त दुःख मूलसहित नष्ट हो जाता है, क्योंकि संकल्प ही जगत् के मिथ्या अनुभव का कारण है। वचन है—

**उपशान्ते हि संकल्पे उपशान्तमिदं भवेत् ।**
**संसारदुःखमखिलं मूलादपि महामते ।।**

योगवासिष्ठ ४/५४/१९

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि अपने अहंभाव का आरोहण करना ही संकल्प है और अहंभाव को शून्य करने का यत्न ही संकल्पत्याग कहलाता है। वचन है—

**अहंभावनमेवाहुः कल्पनं कल्पनाविदः ।**
**नभोऽर्थभावनं तस्य संकल्पत्याग उच्यते ।।**

योगवासिष्ठ ६/२/१/३

### (ग) विषयभोग के प्रति अनासक्ति

योगवासिष्ठकार का मत है कि विषयभोग के प्रति लिप्सा बनी रहना ही बन्धनस्वरूप है और भोगेच्छा का परित्याग ही मोक्ष कहलाता है। वचन है—

**भोगेच्छामात्रको बन्धस्तत्त्यागो मोक्ष उच्यते ।**

योगवासिष्ठ ४/३५/३

**यतो यतो विरज्यते ततस्ततो विमुच्यते ।**

योगवासिष्ठ ३/६१/३५

श्रुति कहती है कि यदि प्राणी को वास्तविक रूप से भोगों से विरक्ति हो जाय तो तुरन्त ही उसे उच्च पद की प्राप्ति हो जाती है। वचन है—

**जाता चेदरतिर्जन्तोः भोगान्प्रति मनागपि ।**
**तदसौ तावतैवोच्चैः पदं प्राप्त इति श्रुतिः ।।**

योगवासिष्ठ ३/६१/३४

संसाररूपी गर्त में पड़े हुए प्राणी तब तक संसार में भटकते रहते हैं जब तक विषयों के प्रति विरक्ति उत्पन्न नहीं हो जाती है। वचन है—

**तावद् भ्रमन्ति दुःखेषु संसारावटवासिनः ।**
**विरतिं विषयेष्वेते यावन्नायान्ति देहिनः ।।**

योगवासिष्ठ ५/२४/२२

विषय को स्पष्ट करते हुए योगवासिष्ठकार आगे निवेदन करते हैं कि जैसे दीपक और उसका प्रकाश एक दूसरे से सम्बद्ध है वैसे ही परा दृष्टि प्राप्त हो जाने पर तृष्णा का क्षय हो जाता है और तृष्णा का क्षय हो जाने पर परा दृष्टि की प्राप्ति होती है। वचन है—

**परदृष्टौ वितृष्णत्वं तृष्णाभावे च दृक्परा ।**
**एते मिथः स्थिते दृष्टौ तेजोदीपदशे यथा ।।**

योगवासिष्ठ ५/२४/५३

**(घ) इन्द्रियनिग्रह**

विजितेन्द्रिय वह कहलाता है जो विवेकयुक्त और उदार-आत्मा होता है। ऐसा इन्द्रियनिग्रहवान् व्यक्ति संसाररूपी समुद्र में वासनारूपी तरंगों से आन्दोलित नहीं होता है। वचन है—

**विवेकवानुदारात्मा विजितेन्द्रिय उच्यते ।**
**वासनावीचिवेगेन भवाब्धौ न स मुह्यते ।।**

योगवासिष्ठ ६/२/१६३/१५

जैसे मन्त्रिगण राजा की आज्ञा का पालन करते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ मन का अनुसरण करती हैं। सांसारिक विषयों से विरक्त मन इन्द्रियों को भी निगृहीत कर लेता है। चित्त को इन्द्रियों का नायक कहा जाता है। नायक की विजय सेना को विजयी बनाती है, जैसे जूता पहनने वाले के लिये सम्पूर्ण पृथ्वी चमड़े से ढक जाती है। अतः योगवासिष्ठकार ने इन्द्रियनिग्रह के महत्त्व को प्रतिपादित किया है। वचन है—

**मनो यदनुसंधत्ते तत्सर्वेन्द्रियवृत्तयः ।**
**क्षणात्संपादयन्त्येता राजाज्ञामिव मन्त्रिणः ।।**

योगवासिष्ठ ३/११४/४७

**चित्तमिन्द्रियसेनाया नायकं तज्जयाज्जयः ।**
**उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैव भूः ।।**

योगवासिष्ठ ६/२/१६३/६

**(ङ) वासनाक्षय**

वासना चित्त का स्वरूप है। वासना शब्द का अर्थ है—इच्छा। एक शब्द में वासना और चित्त पर्याय हैं। योगवासिष्ठकार ने वासनिक चित्त के क्षय का प्रतिपादन किया है। वचन है—

**वासनैव महाराज ! स्वरूपं विद्धि चेतसः ।**
**चित्तशब्दस्तु पर्यायो वासनाया उदाहृतः ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/९४/५

वह मनुष्य जिसकी समस्त वासनाएँ क्षीण हो गईं हैं, जीवन्मुक्त कहा जाता है। किन्तु बन्धनग्रस्त व्यक्ति जीवन्मुक्त अवस्था का अनुभव नहीं कर सकता है। वचन है—

**प्रक्षीणवासना येह जीवतां जीवनस्थितिः ।**
**अमुक्तैरपरिज्ञाता सा जीवन्मुक्ततोच्यते ।।**

योगवासिष्ठ ३/२२/८

वासनात्याग की युक्ति को बतलाते हुए वासिष्ठकार आगे लिखते हैं कि सर्वप्रथम तामसी वासनाओं का परित्याग करके मन में मैत्री आदि सात्त्विक भावनाओं का विकास करना चाहिए। वचन है—

**तामसीर्वासनाः पूर्वं त्यक्त्वा विषयवासिताः ।**
**मैत्र्यादिभावनानाम्नीं गृहाणामलवासनाम् ।।**

योगवासिष्ठ ४/५७/२०

विकसित मैत्र्यादि भावना का जनमानस में प्रयोग करता हुआ अन्ततः इस सात्त्विकवृत्ति का निरोध करना चाहिए और ऐसा करने से साधक

की चित्तगतवासना का क्षय हो जाता है। तब केवल चिन्मात्रावस्थाक वासना ही चित्त में अवशिष्ट रहती है। वचन है—

**तामप्यन्तः परित्यज्य ताभिर्व्यवहरन्नपि ।**

**अन्तःशान्तसमस्तेहो भव चिन्मात्रवासनः ।।**

योगवासिष्ठ ४/५७/२१

अन्ततः मन और बुद्धिसहित उस वासना का भी परित्याग करके जो अवस्था शेष रहे, उसमें ध्यानिक स्थिरता प्राप्त करे। वचन है—

**तामप्यथ परित्यज्य मनोबुद्धिसमन्विताम् ।**

**शेषे स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज ।।**

योगवासिष्ठ ४/५७/२२

इस प्रकार विशिष्ट वासना द्वारा अन्यान्य वासनाओं का परित्याग करके अन्ततः उसका भी त्याग कर देना चाहिए। एतावता उस ज्ञानवान् पुरुष के मन में, जिसने इस भावना से कि सब कुछ ब्रह्म ही है अपना अज्ञान नष्ट कर लिया है, कभी वासना का उदय नहीं होता है। वचन है—

**यस्य मौर्ख्यं क्षयं यातं सर्वं ब्रह्मेति भावनात् ।**

**नोदेति वासना तस्य प्राज्ञस्येवाम्बुधिर्मरौ ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८७/२५

जिस प्रकार दीप-प्रज्ज्वलन से अन्धकार नष्ट होकर प्रकाश का उदय होता है उसी प्रकार परमार्थ के ज्ञान से वासना का समूलोच्छेद होकर शान्ति का अनुभव होता है। वचन है—

**परमार्थावबोधेन समूलं राम ! वासना ।**

**दीपेनेवान्धकारश्रीर्गलत्यालोक एति च ।।**

योगवासिष्ठ ५/७४/२१

### (च) अहंभाव का नाश

योगवासिष्ठकार का वक्तव्य है कि अहंभाव के दृढ होने पर ही संसार का उदय होता है और अहंभाव के क्षीण होने पर उस स्वभाव में स्थिति हो जाती है जिसमें निरन्तर शान्ति ही शान्ति है। वचन है—

**अहंत्वोल्लेखतः सत्ता भ्रमभावविकारिणी ।**

**तदभावात्स्वभावैकनिष्ठता शमशालिनी ।।**

योगवासिष्ठ ६/२/२६/२९

सिद्धान्त है कि अहंभावरूपी मेघ के क्षीण होने से चिदाकाश के निर्मल हो जाने पर ही आत्मानुभवरूपी सूर्य का प्रखर प्रकाश होता है। वचन है—

**अहंकाराम्बुदे क्षीणे चिद्व्योम्नि विमले तते ।**

**नूनं सम्प्रौढतामेति स्वालोको भास्करः परः ।।**

योगवासिष्ठ ५/१३/१७

यह संसार इन्द्रजाल की तरह मिथ्या है, अतः इसके प्रति राग-द्वेष व्यर्थ है। इस प्रकार चिन्तन करते रहने पर अहंभाव क्षीण हो जाता है। वचन है—

**मिथ्येयमिन्द्रजालश्रीः किं मे स्नेहविरागयोः ।**

**इत्यन्तरानुसंधानादहंकारो न जायते ।।**

योगवासिष्ठ ४/३३/४४

मैं ही निखिल जगत् हूँ, इस विचार द्वारा जब हेय (त्याज्य) और उपादेय (प्राप्य) भाव क्षीण हो जाता है और समत्वभाव जागरित होता है, तब अहंभाव की वृद्धि नहीं होती है। वचन है—

**अहं हि जगदित्यन्तर्हेयादेयदृशोः क्षये ।**

**समतायां प्रसन्नायां नाहंभावः प्रवर्धते ।।**

योगवासिष्ठ ४/३३/४६

संसार में सुख-दुःख की अनुभूति अहंकारजनित है। मन की अहंकारात्मक वृत्ति के क्षीण होने पर लोभ, मोह आदि दोष शुद्ध हृदय को उसी प्रकार स्पर्श नहीं करते हैं, जिस प्रकार पङ्क कमल को। इसकी अनुभूति प्रसन्नता आदि जनित सौन्दर्ययुक्त मुखमण्डल से अनुमित होती है। वचन है—

**यत्किञ्चिदिदमायाति सुखदुःखमलं भवे ।**

**तदहंकारचक्रस्य प्रविकारो विजृम्भते ।।**

योगवासिष्ठ ४/३३/३५

**गलिते वा गलद्रूपे चित्तेऽहंकारनामनि ।**

योगवासिष्ठ ६/१/११६/१

**बलादपि हि संजाता न लिम्पन्त्याशयं सितम् ।**
**लोभमोहादयो दोषाः पयांसीव सरोरुहम् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/११६/२

**(छ) असङ्गभाव का चिन्तन**

व्यष्टिपरक सङ्गभाव को असङ्गभावरूपी अग्नि से दग्ध किया जाता है। जिस व्यक्ति के हृदय में सांसारिक वस्तुओं के प्रति सङ्गभाव (आसक्ति) प्रबल रहता है, वह संसाररूपी समुद्र में निमज्जित रहता है। इसके विपरीत जिसका मन सङ्गरहित रहता है, वही संसार से मुक्त होता है। वचन है—

**अन्तःसङ्गवाञ्जन्तुर्मग्नः संसारसागरे ।**
**अन्तःसंसक्तिमुक्तस्तु तीर्णः संसारसागरात् ।।**

योगवासिष्ठ ५/६७/३०

असंसक्त उसे कहते हैं जो इतने समानभाव में स्थित रहे कि न उसके लिये कर्म करना श्रेष्ठ हो और न कर्मों में संलग्न रहना और जिसने सब कर्मों के फल का परित्याग कर दिया हो। वचन है—

**नाभिनन्दति नैष्कर्म्यं च कर्मस्वनुषज्जते ।**
**सुसमो यः फलत्यागी सोऽसंसक्त इति स्मृतः ।।**

योगवासिष्ठ ५/६८/६

इस अवस्था में सब कुछ आत्मस्वरूप ही है—किस वस्तु का परित्याग करूँ और किसका ग्रहण? इस भाव का नाम असङ्ग है। जीवन्मुक्ति में यही दशा होती है। वचन है—

**सर्वमात्मेदमखिलं किं वाञ्छामि त्यजामि किम् ।**
**इत्यसङ्गस्थितिं विद्धि जीवन्मुक्ततनुस्थितिम् ।।**

योगवासिष्ठ ५/६८/४

निष्कर्षतः हर्ष और शोक से रहित होकर वासना शुद्ध हो जाती है तो उसे शरीर के जीवित रहने तक असङ्ग कहते हैं। शुभाशुभ कर्मों को करते

हुए मन का उनमें लिप्त न होना असङ्ग कहलाता है। वासना के दूर करने का नाम असङ्ग है। अतः किसी न किसी युक्ति द्वारा उसे प्राप्त करना चाहिए। वचन है—

**कुर्वतोऽकुर्वतश्चैव मनसा यदमज्जगम् ।**
**शुभाशुभेषु कार्येषु तदसङ्गं विदुर्बुधाः ।।**
**अथवा वासनोत्साद एवासङ्ग इति स्मृतः ।**
**यथा कयाचिद्युक्त्यान्तः सम्पादय तमेव हि ।।**

योगवासिष्ठ ६/२/२८/२४-२५

**(ज) कर्तृत्वभाव का परित्याग**

योगवासिष्ठकार का मत है कि जब स्पन्दनात्मक कर्म क्षीण हो जाता है तब मन भी स्वयं शान्त हो जाता है—

**स्पन्दात्मकर्मविगमे तद्वत्प्रक्षीयते मनः ।**

योगवासिष्ठ ३/९५/२५ उत्तरार्द्ध

जैसे अग्नि और उष्णता में अविनाभाव सम्बन्ध (एकरूपता) है वैसे ही मन और कर्म की सदा एकता है। दोनों में से एक का नाश होने पर दोनों का ही नाश हो जाता है। वचन है—

**वह्न्यौष्ण्ययोरिव सदा श्लिष्टयोश्चित्तकर्मणोः ।**
**द्वयोरेकतराभावे द्वयमेव विलीयते ।।**

योगवासिष्ठ ३/९५/३७

आत्मा के स्वरूप का ज्ञान न होने से (अज्ञान से) कर्मविषयक संकल्प उदित होता है और संकल्पयुक्त होना ही बन्धन का कारण है, अतः मन के कर्तृत्वभाव का परित्याग करना चाहिए। वचन है—

**आत्मज्ञानात्समुत्पन्नः सङ्कल्पः कर्मकारणम् ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२४/५

**सङ्कल्पित्वं हि बन्धस्य कारणं तत्परित्यज ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२४/६

अथ च कर्मत्याग तब होता है जब कि आत्मा में से वेदन और

संवेद्य (ज्ञान और विषय) की भावना निकल जाने पर वासना न रहे और कल्पनारहित शान्तभाव में उसकी अवस्थिति हो जाए। वचन है—

**अवेदनमसंवेद्यं यदवासनमासितम् ।**
**शान्तं सममनुल्लेखं स कर्मत्याग उच्यते ।।**

योगवासिष्ठ ६/२/३/२४

**(झ) सर्वत्याग की भावना**

सिद्धान्त है कि जब तक समस्त वस्तुओं के त्याग की भावना जागरित नहीं होती है, तब तक आत्मलाभ नहीं होता है। समस्त अवस्थाओं का परित्याग करने पर जो शेष रहता है, वही आत्मा है। वचन है—

**यावत्सर्वं न संत्यक्तं तावदात्मा न लभ्यते ।**
**सर्वावस्थापरित्यागे शेष आत्मेति कथ्यते ।।**

योगवासिष्ठ ५/५८/४४

शुद्ध परित्याग को सर्व दुःखों का अन्त करने वाली चिन्तामणि समझना चाहिए। अतः शुद्ध बुद्धि से उसी की साधना करनी चाहिए। वचन है—

**विद्धि चिन्तामणिं साधो सर्वत्यागमकृत्रिमम् ।**
**तमन्तं सर्वदुःखानां त्वं साधयसि शुद्धधीः ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/९०/५

जो सब कुछ है, जिससे सब कुछ है और जो सबका कारण है, उसी में सबका त्यागकर देने से सर्वत्याग की भावना सिद्ध होती है। वचन है—

**यत्सर्वं सर्वतो यच्च तस्मिन् सर्वैककारणे ।**
**सर्वस्मिन् संपरित्यक्ते सर्वत्यागः कृतो भवेत् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/९३/३०

तीनों काल में रहने वाले जगज्जाल को जिसने अपने भीतर इस प्रकार देख लिया है, जैसे कि मोती के मध्य सूत्र; ऐसे व्यक्ति का ही वास्तविक परित्याग माना जाता है। वचन है—

**सूत्रं मुक्ताफलेनेव जगज्जालं त्रिकालकम् ।**
**सर्वमन्तः कृतं तेन येन सर्वं समुज्झितम् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/९३/४९

महात्यागी का लक्षण करते हुए योगवासिष्ठकार बतलाते हैं कि वह साधक महात्यागी कहलाता है, जिसने बुद्धि द्वारा समस्त शंकाओं, समस्त इच्छाओं एवं समस्त निश्चयों का परित्याग कर दिया है। वचन है—

**धर्माधर्मौ सुखं दुःखं तथा मरणजन्मनी ।**
**धिया येनेति सन्त्यक्तं महात्यागी स उच्यते ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/११५/३३

### (ञ) समाधि की अवस्था

'मनोलय' की विकास श्रृंखला में समाधि का स्वरूप बतलाते हुए योगवासिष्ठकार लिखते हैं कि इस क्रम में जब निर्विकल्प समाधि में स्थिति हो जाय तो अक्षय और निर्मल सुषुप्ति के समान आत्मपद की प्राप्ति हो जाती है। वचन है—

**यदि वापि समाधाने निर्विकल्पे स्थितिं व्रजेत् ।**
**तदक्षयसुषुप्ताभं तन्मन्येतामलं पदम् ।।**

योगवासिष्ठ ३/१/३६

समाधि मौन रहने का नाम नहीं है, अपितु समस्त आशा (इच्छा) रूपी तिनकों को जलाने के लिये अग्निरूप तत्त्वज्ञान को समाधि कहते हैं। वचन है—

**तत्त्वावबोधो भगवन्सर्वाशातृणपावकः ।**
**प्रोक्तः समाधिशब्देन न तु तूष्णीमवस्थितिः ।।**

योगवासिष्ठ ५/६२/८

समाधि नाम है उस परम प्रज्ञा का जो स्थिर है, नित्य तृप्त है और यथार्थ तत्त्व का ज्ञान प्रदान करने वाली है। वचन है—

**समाहिता नित्यतृप्ता यथाभूतार्थदर्शिनी ।**
**साधो समाधिशब्देन परा प्रज्ञोच्यते बुधैः ।।**

योगवासिष्ठ ५/६२/९

विषयों के प्रति किसी प्रकार की तृष्णा न रहने का नाम समाधि है—

**परं विषयवैतृष्ण्यं समाधानमुदाहृतम् ।**

योगवासिष्ठ ६/२/४५/४६

**(ट) मन के लीन होने की प्रक्रिया**

योगवासिष्ठकार का वक्तव्य है कि देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि तथा क्षेत्रज्ञ (जीव) का जिस-जिस तत्त्व से उदय होता है उनको उस-उस तत्त्व में विलीन करना चाहिए—

**देहेन्द्रियमनोबुद्धिक्षेत्रज्ञानां च सम्भवः ।**
**यस्माद् भवति तज्ज्ञात्वा तेषु पश्चाद्विलापयेत् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/४

इस रीति से पहले अपने आप को विराट् में स्थित करो, तदनन्तर अव्याकृत में और अन्त में परम कारण में। वचन है—

**विराजि प्रथमं स्थित्वा तत्रात्मनि ततः परम् ।**
**अव्याकृते स्थितः पश्चात्स्थितः परमकारणे ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/५

लय के क्रम में शरीर के पार्थिव भाग मांसादि का पृथ्वी तत्त्व में विचार द्वारा लय करना चाहिए। इसी प्रकार रक्तादि का जल में, तैजस भाग का अग्नि में, वायव्य भाग का वायु में और नाभस भाग का आकाश में। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय का उसके कारणभूत तत्त्व में विलय किया जाता है, जैसे श्रोत्र का दिक् में, त्वक् का वायु में, चक्षु का सूर्य में, जिह्वा का जल में तथा घ्राण का पृथ्वी में। वचन है—

**मांसादिपार्थिवं भागं पृथिव्यां प्रविलापयेत् ।**
**आप्यं रक्तादिकं चाप्सु तैजसं तेजसि क्षिपेत् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/६

**वायव्यं च महावायौ नाभसं नभसि क्षिपेत् ।**
**पृथिव्यादिषु विन्यस्य चेन्द्रियाण्यात्मयोनिषु ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/७

**श्रौत्रादिलक्षणोपेतां कर्तुर्भोगप्रसिद्धये ।**
**दिक्षु न्यस्यात्मनः श्रोत्रं त्वचं विद्युति निक्षिपेत् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/८

इसी क्रम में पैरों का विष्णु में, पायु का मित्र में, उपस्थ का कश्यप में, मन का चन्द्रमा में, बुद्धि का ब्रह्मा में लय करना चाहिए। इस प्रकार समस्त देह को उसके कारणभूत तत्त्वों में लय करके अपने को विराट्स्वरूप समझना चाहिए। वचन है—

**चक्षुरादित्यबिम्बे च जिह्वामप्सु विनिक्षिपेत् ।**
**प्राणं वायौ वाचमग्नौ पाणिमिन्द्रे विनिक्षिपेत् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/९

**विष्णौ तथाऽऽत्मनः पादौ पायुं मित्रे तथैव च ।**
**उपस्थं कश्यपे न्यस्य मनश्चन्द्रे निवेशयेत् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/१०

**बुद्धिं ब्रह्मणि संयच्छेदेताः करणदेवताः ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/११

तत्पश्चात् पृथ्वीतत्त्व को जल में, जल को अग्नि में, अग्नि को महाकाश में, जो कि सबका उत्पत्तिकारण है, लय करना चाहिए। वचन है—

**दशेन्द्रियमनोबुद्धिरेतल्लिङ्गं विदुर्बुधाः ।**
**क्षितिं चाप्सु समावेश्य सलिलं चानले क्षिपेत् ।**

योगवासष्ठि ६/१/१२८/१६

**अग्निं वायौ समावेश्य वायुं च नभसि क्षिपेत् ।**
**नभश्च महदाकाशे समस्तोत्पत्तिकारणे ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/१७

इसके पश्चात् लिङ्गशरीर को सूक्ष्म अव्याकृत में, जो कि ब्रह्मा से पूर्व की अवस्था का नाम है, लीन करना चाहिए। वचन है—

**लिङ्गमव्याकृते सूक्ष्मे न्यस्याव्यक्ते च बुद्धिमान् ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२०

यह वह तत्त्व है, जिसमें नाम-रूप का त्याग करके जगत् स्थित रहता है। कोई इसको प्रकृति कहते हैं, कोई माया, कोई परमाणुसमूह, कोई तर्क से भ्रान्त चित्त वाले इसको अविद्या कहते हैं। वचन है—

**नामरूपविनिर्मुक्तं यस्मिन्सन्तिष्ठते जगत् ।**
**तमाहुः प्रकृतिं केचिन्मायामेके परे त्वणून् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२१

**अविद्यामपरे प्राहुस्तर्कविभ्रान्तचेतसः ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२२ पूर्वार्द्ध

इस तथाकथित तत्त्व में समस्त पदार्थ लय होकर अव्यक्त रूप से वर्तमान रहते हैं। वचन है।

**तत्स्वरूपा हि तिष्ठन्ति यावत्सृष्टिः प्रवर्तते ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२२ उत्तरार्द्ध

इन तीनों अवस्थाओं (स्थूल, सूक्ष्म और कारण) से परे भी एक अव्यय चतुर्थ पद है। उसकी प्राप्ति के लिये उसका ध्यान करके, कारणशरीर का उसमें लय करना चाहिए। वचन है—

**अतः स्थानत्रयं त्यक्त्वा तुरीयं पदमव्ययम् ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२४ उत्तरार्द्ध

**ध्यायेत् तत्प्राप्तये लिङ्गं प्रविलाप्य परं विशेत् ।**

योगवासिष्ठ ६/१/१२८/२५ पूवार्द्ध

**प्राणों के स्पन्दन का निरोध**

योगवासिष्ठ में 'योग' का तृतीय उपाय प्राण-निरोध को माना है। सृष्टि का यह नियम है कि जैसे पंखे की गति रुक जाने पर वायु की गति भी अवरुद्ध हो जाती है। वैसे ही प्राणों की गति के रुक जाने पर मन भी शान्त हो जाता है और मन के शान्त होने पर यह संसार भी उसके साधक के लिये अवश्यमेव विलीन हो जाता है। वचन है—

**तालवृन्तस्य संस्पन्दे शान्ते शान्तो यथानिलः ।**
**प्राणानिलपरिस्पन्दे शान्ते शान्तं तथा मनः ।**

योगवासिष्ठ ६/१/६९/४१

**तस्मिन्संरोधिते नूनमुपशान्तं भवेन्मनः ।**

योगवासिष्ठ ५/७८/१५

**मनःस्पन्दोपशान्त्यायं संसारः प्रविलीयते ।**

योगवासिष्ठ ५/७८/१६

### प्राण-निरोध के उपाय

योगवासिष्ठ में प्राण-निरोध के उपायों का विस्तृत उपपादन हुआ है। प्राण क्या है? प्राणों की प्राप्ति किस प्रकार होती है? और प्राणायाम कैसे किया जाता है, ये विषय विस्तारपूर्वक विवेचित हैं। यहाँ पर स्थानाभाव से केवल उन उपायों की गणनामात्र कराते हैं जिनसे योगवासिष्ठानुसार प्राण का स्पन्दन निरुद्ध होता है। वे उपाय ये हैं—वैराग्य, परम कारण का ध्यान, व्यसनक्षय, निरोध की विशेष युक्ति, परमार्थज्ञान, शास्त्र एवं सज्जनों का सङ्ग, वैराग्य और अभ्यास, सांसारिक प्रवृत्तियों से मन को प्रत्यावर्तित करना, इच्छित वस्तु का ध्यान, एक तत्त्व का अभ्यास, दुःखहारक पूरक-कुम्भक-रेचक प्राणायामों का गम्भीर अभ्यास, एकान्त में ध्यान, ॐकार का उच्चारण करते-करते शब्दतत्त्व की भावना, संविद् को सुषुप्ति में लाना, रेचक के अभ्यास से प्राण को आकाशपर्यन्त विस्तृत करना, पूरक के अभ्यास से प्राण को स्तम्भित करना, तालुमूल पर स्थित घण्टी को जिह्वा से यत्नपूर्वक दबाकर ऊर्ध्वरन्ध्र में प्राण को ले जाना, संवित् को शून्य आकाश में; जहाँ पर कोई कलना नहीं है ले जाकर शान्त करना, भ्रुवों के मध्य में दृष्टि लीन करके शुद्ध चेतन में स्थित होना, ऊर्ध्वरन्ध्र में प्राण ले जाकर तालु से बारह अंगुल ऊपर प्राण को शान्त करना, जिसमें ज्ञान का उदय हो जाय, ठीक उसी समय उसमें दृढभाव से ऐसे स्थित होना कि मन किसी भी भाव से विचलित न हो सके, चिरकाल तक जिस पदार्थ की वासना रही हो उसकी शून्य भावना से मन को वासनारहित करके क्षीण करना और शुद्धसंवित् में ध्यान लगाना। इसमें वचन प्रमाण है—

**वैराग्यात्कारणाभ्यासाद्युक्तितो व्यसनक्षयात् ।**
**परमार्थावबोधाच्च रोध्यन्ते प्राणवायवः ।।**

योगवासिष्ठ ५/१३/८५

**शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासयोगतः ।**

*　　*　　*　　*　　*

**प्राणे गलितसंवृत्ते प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ।।**

योगवासिष्ठ ५/७८/१८-२८

इनके अतिरिक्त प्राणनिरोध की और भी अनेक युक्तियाँ हैं, जो नाना देशों में प्रचलित हैं और अनेक गुरुओं द्वारा उपदिष्ट हुई हैं। वचन है—

**एभिः क्रमैस्तथान्यैश्च नानासङ्कल्पकल्पितैः ।**
**नानादेशिकवक्रस्थैः प्राणस्पन्दो निरुद्ध्यते ।।**

योगवासिष्ठ ५/७८/३९

इस प्रकार प्राणनिरोध के अभ्यास से प्राण का लय होने पर मन की क्रिया शान्त हो जाती है और निर्वाणपद ही शेष रह जाता है। वचन है—

**अभ्यासेन परिस्पन्दे प्राणानां क्षयमागते ।**
**मनः प्रशममायाति निर्वाणमवशिष्यते ।।**

योगवासिष्ठ ५/७८/४६

प्राणविद्या के अतिरिक्त योगवासिष्ठ में कुण्डलिनी विद्या का भी विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। कुण्डलिनी विद्या का ज्ञान होने पर कुण्डलिनी शक्ति को जागरित करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

### कुण्डलिनी शक्ति

कुण्डलिनी नाम की नाडी का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए योगवासिष्ठकार का मत है कि शरीर के मर्म स्थान में चक्र के आकार वाली, सैकड़ों नाडियों की आधारभूता, आंत्रवेष्टनिका (आँतों से आवृत) नाम की एक नाडी है। वचन है—

**परिमण्डलिकातारा मर्मस्थानं समाश्रिता ।**
**आन्त्रवेष्टनिका नाम नाडी नाडीशताश्रिता ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८०/३६

इस नाडीविशेष का आकार वीणा के मूलभाग में स्थित आवर्त (गोलोई) के समान, जल में भँवर के समान, ॐकार के अर्धाक्षर के समान तथा कुण्डल के चक्र के समान है। वचन है—

**वीणाग्रावर्तसदृशी सलिलावर्तसन्निभा ।**
**लीप्यार्धोंकारसंस्थाना कुण्डलावर्तसंस्थिता ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८०/३७

यह नाड़ी देव, असुर, मनुष्य, मृग, पक्षी, सरीसृप आदि प्राणिमात्र में चक्राकार में स्थित है मानों शीत से पीडित कोई सर्पिणी कुण्डली के आकार में सुप्त पडी हो। वचन है—

**देवासुरमनुष्येषु मृगनक्रखगादिषु ।**
**कीटादिष्वब्जजान्तेषु सर्वेषु प्राणिषूदिता ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८०/३८

**शीतार्तसुप्तभोगीन्द्रभोगवद्बद्धमण्डला ।**

योगवासिष्ठ ६/१/८०/३९

गुदास्थान से लेकर भृकुटिपर्यन्त समस्त छिद्रों को संस्पर्शित करने वाली चंचलवृत्ति वाली और निरन्तर स्पन्दित रहने वाली यह कुण्डलिनी नाडी है। वचन है—

**ऊरोभ्रूर्मध्यरन्ध्राणि स्पृशन्ति वृत्तिचञ्चला ।**
**अनारतं च सस्पन्दा पवमानेव तिष्ठति ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८०/४०

उस नाडी के मध्य, जो केले के दण्ड के अन्तर्वर्ती छिद्र के समान कोमल है, वीणा की भाँति स्पन्दनयुक्त एक परम शक्ति वर्तमान है। कुण्डल के आकार में उसका स्पन्दन होने के कारण उसका नाम कुण्डलिनी शक्ति है। यही प्राणियों की परम शक्ति है और उसी से अन्य समस्त शक्तियाँ परिस्पन्दित होती हैं। वचन है—

**तस्यास्त्वभ्यन्तरे तस्मिन्कदलीकोशकोमले ।**
**या परा शक्तिः स्फुरति वीणावेगलसद्गतिः ।।**

**सा चोक्ता कुण्डलीनाम्ना कुण्डलाकारवाहिनी ।**
**प्राणिनां परमा शक्तिः सर्वशक्तिजवप्रदा ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८०/४१-४२

हृदय में पहुँचने वाली समस्त नाडियाँ कुण्डलिनी नाडी से सम्बन्ध रखती हैं और उसमें इस प्रकार समाविष्ट हो जाती हैं जैसे समुद्र में नदियाँ। वचन है—

**तस्यां समस्ताः सम्बद्धा नाड्यो हृदयकोशगाः ।**
**उत्पद्यन्ते विलीयन्ते महार्णव इवापगाः ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८०/४७

ज्ञातव्य है कि पञ्च ज्ञानेन्द्रियों का बीज कुण्डलिनी शक्ति में स्थित है और पञ्च प्राणों के द्वारा वह बीज सञ्चालित होता है। वचन है—

**एतत्पञ्चकबीजं तु कुण्डलिन्यां तदन्तरे ।**
**प्राणमारुतरूपेण तस्यां स्फुरति सर्वदा ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८१/१

योगवासिष्ठकार आगे बतलाते हैं कि यह कुण्डलिनी शक्ति स्पन्दन, स्पर्श और ज्ञान सबकी शुद्ध कलारूप है। अतः संकल्पयुक्त होने से उसका नाम कला है और चेतन होने से उसे चिति कहते हैं। वचन है—

**सान्तः कुण्डलिनीस्पन्दस्पर्शसंवित्कलामला ।**
**कलोक्ता कलनेनाशु कथिता चेतनेन चित् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८१/२

किञ्च, जीने से जीव, मनन करने से वह मन और बोध प्राप्त होने से उसे बुद्धि कहते हैं। वही शक्ति अहंभाव को प्राप्त होकर पुर्यष्टक कहलाती है। सब शक्तियों की परम शक्ति वह कुण्डलिनी शक्ति शरीर में स्थित है। वचन है—

**जीवनाज्जीवतां याता मननाच्च मनःस्थिता ।**
**संकल्पाच्चैव संकल्पो बोधाद् बुद्धिरिति स्मृता ।।**

**अहंकारात्मतां याता सैषा पुर्यष्टकाभिधा ।**
**स्थिता कुण्डलिनी देहे जीवशक्तिरनुत्तमा ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८१/३-४

मृत्यु के परिप्रेक्ष्य में कुण्डलिनी शक्ति को रेखांकित करते हुए योगवासिष्ठकार आगे लिखते हैं कि अपानवायु का रूप धारण करके वह शक्ति सदा नीचे की ओर जाती है, नाभि के मध्य में स्थित होने से वह समान कहलाती है और वह उदान के नाम से ऊर्ध्वभाग में स्थित होती है। किन्तु इसके विपरीत उसकी सारी वृत्ति नीचे की ओर हो जाय; और बीच में न रुके और न ऊपर को ही जाय, तो वह बाहर निकल जाती है और मनुष्य मर जाता है। इसी प्रकार उसकी वृत्ति नीचे और मध्य की ओर न केवल ऊपर की ओर हो जाय और वह बलपूर्वक ऊपर को निकल जाय तो भी मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। वचन है—

**अपानतामुपागत्य सततं प्रवहत्यधः ।**
**समाना नाभिमध्यस्था उदानाख्योपरि स्थिता ।।**
**सर्वयत्नमधो याति यदि यत्नान्न धार्यते ।**
**तन्युमान्मृतिमायाति तया निर्गतया बलात् ।।**

योगवासिष्ठ ६/१/८१/५,७

इस प्रकार योगवासिष्ठ में प्राणविद्या के अतिरिक्त कुण्डलिनी विद्या का विस्तारपूर्वक वर्णन मिलता है। कुण्डलिनी विद्या का ज्ञान होने पर कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करके उसके द्वारा योगी अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्राप्त कर सकता है।

## योग की सात भूमिकाएँ

संसार के अनुभव से मुक्ति पाने और परमानन्द का अनुभव प्राप्त करने के योगनामक मार्ग की सात भूमिकाएँ योगवासिष्ठ में वर्णित हैं। यह व्यक्ति की अभ्यासद्रुतता पर अवलम्बित रहता है कि उसे अविलम्ब या विलम्ब से योगभूमियाँ सिद्ध हो रही हैं। इन्हें ज्ञान की सात भूमिकाएँ भी कहते हैं। इनका ज्ञान होने पर व्यक्ति मोहरूप पंक में आबद्ध नहीं होता है। वचन है—

**इमां सप्तपदां ज्ञानभूमिमाकर्णयानघ ।**
**नानया ज्ञातया भूयो मोहपङ्के निमज्जति ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/१

ज्ञान (योग) की सात भूमिकाएँ हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभाविनी तथा तुर्यगा। इन सातों के अन्त में मुक्ति है, जिसको प्राप्त कर लेने पर यत्किञ्चित् क्लेश नहीं रहता है। वचन है—

**आसामन्ते स्थिता मुक्तिस्तस्यां भूयो न शोच्यते ।**
**एतासां भूमिकानां त्वमिदं निर्वचनं शृणु ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/७

**शुभेच्छा**

संसार से वैराग्य हो जाने पर जब मनुष्य अपने को अज्ञानी समझकर शास्त्र और सज्जनों की संगति करके सत्य का ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा करता है, उस अवस्था का नाम शुभेच्छा है। वचन है—

**स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनैः ।**
**वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधैः ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/८

**विचारणा**

शास्त्र के अध्ययन से और सज्जनों के सङ्ग से, वैराग्य और अभ्यास से सदाचार में जब प्रवृत्ति होती है, तब वह अवस्था विचारणा कहलाती है। वचन है—

**शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम् ।**
**सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/९

**तनुमानसा**

शुभेच्छा और विचारणा के अभ्यास से इन्द्रियों के विषयों में असक्तता होने से मन के सूक्ष्म हो जाने का नाम तनुमानसा है। वचन है—

**विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता ।**
**यात्र सा तनुताभावात्प्रोच्यते तनुमानसा ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/१०

**सत्त्वापत्ति**

पूर्व तीनों भूमिकाओं के अभ्यास से और चित्त के विषयों से पूर्णतया विरक्त हो जाने पर सत्य आत्मा में स्थित हो जाने का नाम सत्त्वापत्ति है। वचन है—

**भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।**
**सत्यात्मनि स्थितिः शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/११

**असंसक्ति**

उक्त चारों भूमिकाओं के परिपक्व हो जाने पर मन में जब पूर्णतया अनासक्ति उत्पन्न हो जाती है और आत्मतत्त्व में दृढ स्थिति प्राप्त हो जाती है तब उस अवस्था का नाम असंसक्ति है। वचन है—

**दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसङ्गफलेन च ।**
**रूढसत्वचमत्कारात् प्रोक्तासंसक्तिनामिका ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/१२

**पदार्थाभाविनी**

पूर्व पांचों भूमिकाओं के अभ्यास से और आत्मा में निश्चल स्थिति हो जाने से जब आन्तर और बाह्य वस्तुओं के अभाव की दृढभावना हो जाती है, उस स्थिति का नाम पदार्थाभाविनी है। यह सिद्धि तब होती है जब कि परमात्मा की सत्ता और पदार्थों की असत्ता का दीर्घकाल तक यत्नपूर्वक अभ्यास किया जाय। वचन है—

**भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।**
**आभ्यन्तराणां बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ।।**
**परप्रयुक्तेन चिरं प्रयत्नेनार्थभावनात् ।**
**पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गतिः ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/१३-१४

**तुर्यगा**

पूर्व छः भूमिकाओं के अभ्यास से और पदार्थों का अनुभव न होने से स्वस्वरूप में निरन्तर स्थित रहने का नाम तुर्यगा है। इस अवस्था का अनुभव जीवन्मुक्त को होता है। विदेहमुक्ति इस अवस्था से परे है। वचन है—

**एषा हि जीवन्मुक्तेषु तुर्यावस्थेह विद्यते ।**
**विदेहमुक्तिविषयस्तुर्यातीतमतः परम् ।।**

योगवासिष्ठ ३/११८/१६

योगवासिष्ठ भारतीय मस्तिष्क की सर्वोत्तम कृतियों में से एक ग्रन्थ है। ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने और ब्रह्मभाव में स्थित रहकर संसार में व्यवहार करने के निमित्त इस ग्रन्थ की महनीयता है। यह ऐसा अद्भुत ग्रन्थ है कि इसमें काव्य, उपाख्यान तथा दर्शन सभी चिन्तन-शैलियों का आनन्द प्राप्त है। जो महत्त्व भगवद्भक्तों के लिये श्रीमद्भागवत का है, कर्मयोगियों के लिये भगवद्गीता है, वही महत्त्व ज्ञानयोगियों के लिये योगवासिष्ठ का है। इसमें योगविद्या एवं ब्रह्मविषयिणी अद्वैतविद्या की द्विवर्णीय आभा एकरूपा प्रतीत होती है।

●

# भगवद्गीतान्तर्गत अष्टादशाङ्गयोग : एक विमर्श

श्रीमद्भगवद्गीता ब्रह्मविद्यान्तर्गत योगशास्त्र है। इसका प्रत्येक अध्याय एक-एक योग अथवा सम्पूर्ण योग का एक-एक अङ्ग है। यह तथ्य प्रत्येक अध्याय के अन्त में निर्दिष्ट **ॐ तत्सदिति श्रीमद्भगवद्गीतासु**... इत्याकारक वाक्य से सूचित होता है। ज्ञातव्य है कि अध्याय की समाप्तिसूचक-शब्दावली, जिसमें वर्णित विषय की सूचना दी जाती है, को 'पुष्पिका' कहते हैं। इसी पुष्पिकावाक्य द्वारा भगवद्गीता के प्रत्येक अध्याय में वर्णित योग अथवा योगाङ्ग का नामकरण भी हुआ है। जैसे प्रथम अध्याय 'विषाद' नामक योग है तो अन्तिम अध्याय 'मोक्षसंन्यास' नामक योग।

गीतान्तर्गत योगशास्त्र के इन योगाङ्गों के जो ये नाम हैं, उन्हीं को आधार बनाकर योगाङ्गों के परस्पर-सम्बन्ध पर विमर्श किया जा रहा है—

**प्रथमाध्यायान्तर्गत 'विषादयोग'**

इस अध्याय में क्षत्रियकुलावतंस वीरशिरोमणि एवं परम धर्मज्ञ अर्जुन—संसार से विमुख होकर, शिखासूत्र को उतारकर, संन्यासाकांक्षी मुमुक्षु के समान युद्ध से विरत होकर (साथ ही राज्य और सांसारिक सुखमात्र से मुंह मोड़कर)—धनुषबाण त्याग देता है और अपने क्षात्रधर्म से संन्यास ले लेता है। परन्तु इस समय वह शोकसंविग्नमना है अर्थात् बद्ध है। इसलिये अर्जुन का यह शोकाकुल होकर धनुषबाण उतारकर रख देना 'बद्धसंन्यास' कहा जा सकता है। भगवद्गीता में आगे चलकर 'संन्यास' और 'समर्पण' शब्द समान अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं। जैसा कि—

**मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याऽध्यात्मचेतसा ।**
**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युद्धयस्व विगतज्वरः ।।**

भगवद्गीता ३/३०

इत्यादि श्लोकों से विदित होता है। इस विषादयोग में भी धनुषबाण का जो संन्यास किया गया है वह भी भगवान् को ही समर्पण किया गया

है और इसीलिये यह विषाद होने पर भी भगवान् के साथ योगसाधक होने से गीतान्तर्गत योगशास्त्र का प्रथम योगाङ्ग है। संसार से दुःखी होना, त्रितापदग्ध होना और भगवान् की ओर अभिमुख होना ही भगवान् के योग का प्रथम साधन है। इसी विषादयोग से ज्ञान का अधिकार प्राप्त होता है।

**द्वितीयाध्यायान्तर्गत 'सांख्ययोग'**

द्वितीय 'सांख्ययोग' है इसे ज्ञानयोग भी कहते हैं। प्रथम अध्याय में जो बद्धसंन्यास है, उसका बन्धोच्छेद करना है। ज्ञान के विना अर्थात् आत्मस्वरूप के बोध विना बद्धता और तज्जन्य दीनता, दुर्बलता, शोकाकुलता आदि को अपसृत नहीं किया जा सकता है। इसीलिये श्रीकृष्ण द्वितीय अध्याय में ज्ञानोपदेश करते हैं। वे बतलाते हैं कि हे अर्जुन! तुम आत्मा हो, हम आत्मा हैं और ये सब लोग भी आत्मा हैं। आत्मा का कभी नाश नहीं होता है। वह अजर, अमर, अज, अव्यय और अविनाशी है और यह मरना-मारना जो कुछ है वह केवल बाह्य शरीर का है और शरीर हम-तुम और ये लोग नहीं हैं। शरीर दूसरी वस्तु है, शरीर के साथ वस्त्र का जैसा सम्बन्ध है, वैसा ही आत्मा के साथ शरीर का सम्बन्ध है। शरीर से जैसे वस्त्रान्तर किया जाता है, वैसे ही आत्मा से देहान्तर किया जाता है—

**वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।**

भगवद्गीता २/२२

देह का यही स्वरूप है, यही धर्म है। इसको समझो और अपने आपको, हमको और युद्धसन्मुख प्रियजनों को अजर-अमर आत्मा जानो।

हे अर्जुन! तुम यह जो कहते हो कि धनुषबाण तो मैं रख चुका हूँ, अब मैं इसे पुनः धारण नहीं कर सकूँगा, तो यह तुम्हारा अहङ्कार है। अहङ्कार ही बद्धता है और इस बद्धता को अपने स्वधर्म से ही मुक्त किया जाता है। अपना धर्म समझकर भी तुम्हें युद्ध से विचलित नहीं होना चाहिए, क्योंकि क्षत्रिय के लिये धर्मप्राप्त युद्ध को छोड़कर दूसरा क्षेयःसाधन मार्ग नहीं है—

**स्वधर्ममपि चाऽवेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।**
**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।।**

भगवद्गीता २/३१

स्वधर्म का पालन करने से ऊर्ध्वगति होती है। अहङ्कार का अधिकार तो केवल कर्म करने का है, फलाफल का विचार करना नहीं। समभाव से स्वधर्म का पालन करो। इसी से अपने ब्रह्मनिर्वाणस्वरूप को पाकर तुम शोकसागर से तर जाओगे—

**स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।**

भगवद्गीता २/७२ उत्तरार्द्ध

हे अर्जुन! तात्त्विक दृष्टि से अजर, अमर, निर्विकार, निष्कर्म आत्मस्वरूप से तो इस भीषण संहार कर्म का क्या सम्बन्ध है? ऐसी पृच्छा; बुद्धि को होनी स्वाभाविक है, इसलिये तृतीय अध्याय प्रवर्तित है।

**तृतीयाध्यायान्तर्गत 'कर्मयोग'**

बुद्धि को यह विदित हो गया कि हम आत्मा हैं। पर इससे न तो बद्धात्मा का बन्ध ही कटा, न यह मालुम हुआ कि यह कर्म क्या है और इसका हेतु क्या है? इसलिये तृतीय अध्याय में श्रीकृष्ण 'कर्म' के विषय में बतलाते हैं। हे अर्जुन! यह ब्रह्मकर्म है, तुम्हारा कर्म इसका अंशमात्र है—इसका अनुगमन करना ही तुम्हारा धर्म है। इसे न तो तुम्हें छोड़ने का अधिकार है और न कोई अमर्यादित कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है। तुम्हारा जो नियत कर्म है, वही तुम्हें करना होगा। तुम यदि उसमें अपनी अहंता-ममता-इच्छा का समावेश करोगे तो वह तुम्हारे अध:पतन का कारण बनेगा—

**एवं प्रवर्तितं चक्रं नाऽनुवर्तयतीह यः ।**
**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ।।**

भगवद्गीता ३/१६

इसलिये इस इच्छा का नाश करना होगा। यह इच्छा कामरूप महाशत्रु है। आत्मा का कर्म के साथ यही सम्बन्ध है कि उसके मध्य में कामरूप प्रबल शत्रु उत्पन्न होकर खड़ा है। इसी कामरूप शत्रु को नष्ट कर आत्मा को प्राप्त करना होगा। यही 'कर्मयोग' है—

**एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्याऽऽत्मानमात्मना ।**
**जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम् ।।**

भगवद्गीता ३/४३

**चतुर्थाध्यायान्तर्गत 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग'**

यहाँ मनुष्यरूप में भगवान् उसके समक्ष प्रकट होते हैं अथवा उसके चित्त में अवतरित होते हैं और यह बतला देते हैं कि मैं तुम्हारे उद्धार के लिये आया हूँ। किस समय क्या करना चाहिए और क्या नहीं करना चाहिए, योग की इस अवस्था में उसे भगवान् ही बतलाते हैं—

**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता ।**
**तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ।।**

भगवद्गीता ४/१६

श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्त अर्जुन के समस्त कर्मों का पाप-पुण्यात्मक फल वहन करते हैं। फलतः अर्जुन का प्रत्येक कर्म भवगन्निर्दिष्ट, दग्धज्ञानाग्नि तथा ज्ञान में परिसमाप्त होता हुआ ज्ञान के तेजोमय रूप को प्राप्त होता है। यही 'ज्ञानकर्मसंन्यासयोग' अर्थात् ज्ञान में कर्म का समर्पण है। वचन है—

**सर्वं कर्माऽखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ।**

भगवद्गीता ४/३३

**पञ्चमाध्यायान्तर्गत 'कर्मसंन्यासयोग'**

ज्ञानकर्मसंन्यास की योगसाधना पूर्ण होने पर कर्म के प्रति **'अहं करोमि'** रूप जो भ्रान्तिपूर्ण बन्धन है, उसका उच्छेद करने के लिये ज्ञान में कर्म का न्यासरूप जो योगाभ्यास किया जाता है उससे **'नैव किञ्चित् करोमी'**ति, इत्याकारक ज्ञान उदित होता है। तब सब कर्मों को करते हुए भी साधक के चित्त की अवस्था शास्त्र में इस प्रकार वर्णित है—

**सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्याऽऽस्ते सुखं वशी ।**
**नवद्वारे पुरे देहे नैव कुर्वन्न कारयन् ।।**

भगवद्गीता ५/१३

उसको यह बोध होता है कि यह सब अपने आप हो रहा है—**स्वभावस्तु प्रवर्तते** (गीता ५/१४)। उसका मन समत्व में स्थिर रहता है और उसी के विषय में यह कहा गया है—

**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।**
**निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद् ब्रह्मणि ते स्थिताः ।।**

भगवद्गीता ५/१९

अर्थात् त्रिगुण के बन्धन को उसने यहीं इस शरीर में रहते जीत लिया है। इसमें अब कोई द्वैधीभाव या द्वन्द्व नहीं रह गया, इस प्रकार उसका ज्ञान और कर्म सम हो गया। ज्ञान में उसकी ऐसी स्थिति है कि कर्म के रहते हुए भी उसे कर्म का कोई बन्धन या लगाव नहीं रहता है। कर्म का इस रूप से जो छूट जाना है वही यथार्थ 'कर्मसंन्यास' है और इसीलिये यह 'कर्मसंन्यासयोग' है। यहाँ ज्ञान-कर्म का समत्व सिद्ध होता है।

**षष्ठाध्यायान्तर्गत 'आत्मसंयमयोग'**

मन-बुद्धि का समत्व होने पर आत्मसंयम (समाधि) की ओर प्रवृत्ति होती है। इसके लिये एकान्तसेवन वाञ्छित है। एकान्त में अभ्यास करने से अतीन्द्रिय सुख प्राप्त होता है। इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है, वहाँ दुःख के संयोग का वियोग हो जाता है। इसी स्थिति को योग कहते हैं। यह ब्रह्मसंस्पर्श की स्थिति है। इसमें स्थित सर्वत्र समदर्शी योगी सम्पूर्ण चराचर जगत् को आत्मा में देखता है—

**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चाऽऽत्मनि ।**
**ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।**

भगवद्गीता ६/२९

इन सब योगसाधनों में मुख्य बात मद्गत हो सश्रद्ध मेरा भजन करना है। भगवान् का वचन है—

**सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः ।**
**सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते ।।**

भगवद्गीता ६/३१

**प्रथम षट्क**

छह-छह अध्यायों में विभक्त गीता के तीन षट्कों में से प्रथम षट्क में प्रतिपादित छः योगाङ्गों का निहितार्थ यह है—

१. संसार से वैराग्य ।

२. आत्मस्वरूप का ज्ञान ।

३. कर्म के स्वरूप का ज्ञान तथा आत्मज्ञान का कर्म में काम-नाशार्थ अवतरण।

४. कर्ममात्र में फल के स्थान पर ज्ञान का ध्यान तथा ऐसे ध्यानी के चित्त में या बाहर मनुष्यरूप में भगवदवतरण ।

५. कर्म के अपने आप होने की स्थिति तथा ज्ञानकर्म की समत्वसिद्धि।

६. एकान्तसेवन सबको अपने अन्दर और अपने को सबके अन्दर अनुभव करना और यह सब मन की अटल श्रद्धा के साथ मेरा ध्यान करते हुए करना।

इन छः योगों से समन्वित योग को अर्जुन ने 'समत्वयोग' (सर्वसाधारणयोग) की संज्ञा प्रदान की है—

**योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन ।**

भगवद्गीता ६/३३ पूर्वार्द्ध

**सप्तमाध्यायान्तर्गत 'ज्ञानविज्ञानयोग'**

समत्वयोग प्राप्त करके भगवान् को आश्रय मानकर उन्हीं में चित्त का योग करने से परमात्मा का समग्ररूप प्रत्यक्ष होने लगता है। ज्ञान परोक्ष और विज्ञान अपरोक्ष होता है। जैसा सुना है, वैसा प्रत्यक्ष देखने में आता है। इसलिये इसे 'ज्ञानविज्ञानयोग' कहा है। सर्वप्रथम, अष्टधा प्रकृति भगवान् की ही प्रकृति है, यह अनुभूति होती है, तत्पश्चात् भगवान् की परा-प्रकृति ही जीवमात्र को धारण करने वाली भगवान् की चैतन्य प्रकृति के रूप में अनुभूत होती है और पदार्थमात्र में इन दोनों का संयोग दिखलाई पड़ता है, तदनन्तर भगवान् अनुभवगम्य (प्रकट) होते हैं। इस प्रकार संसार के पदार्थमात्र में बीजरूप में भगवान् निगूढ हैं, ऐसा अनुभव होता है—

**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।**

भगवद्गीता ७/१० पूर्वार्द्ध

परन्तु भगवत्सत्ता का यह पूर्ण अनुभव नहीं है। अपरा प्रकृति 'क्षर'

है परा प्रकृति 'जीव' है और 'भगवान्' तो अक्षरब्रह्म हैं। भगवान् की अक्षरसत्ता अग्रिम अध्याय में वर्णित है।

**अष्टमाध्यायान्तर्गत 'अक्षरब्रह्मयोग'**

इस अध्याय में **'मय्यर्पितमनोबुद्धि'** होकर ऐसे अनन्य, अचल भक्तियुक्त चित्त से कि मन के साथ प्राण भी भ्रूमध्य में आकर स्थिर हों, सृष्टि के मूल **'ॐ इत्येकाक्षर'** ब्रह्म के जप और ध्यान में लीन होने का साधनरूप योग बतलाया गया है। यह योग अत्यन्त कठिन है। पर अनन्य चित्त से नित्य **'मत्स्मरण'** करते रहने से ऊँपदवाच्य अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होती है। भगवान् का वचन है—

**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।**
**यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ।।**

भगवद्गीता ८/१३

**नवमाध्यायान्तर्गत 'राजविद्याराजगुह्ययोग'**

पूर्वोक्त साधनों से सम्पन्न होकर जब साधक इस परम गुप्त विद्यासहित परम गुह्य योग में प्रवेश पाने का अधिकारी होता है, तब वह घट-घट में भगवान् को पृथक्-पृथक् रूप में देखता है, विश्व में व्याप्त भगवान् को देखता है और विश्व से परे भी भगवान् का दर्शन करता है और ऐसा अनुभव करता है कि भगवान् भूतभृत्, भूतस्थ तथा भूतभावन हैं। गीता में इसे ऐश्वर्ययोग कहा है। इस योग की अवस्था में साधक भगवान् को देखता हुआ अनन्य मन से उनका भजन करता है, उन्हीं का सतत कीर्तन करता है, सतत प्रणाम करता है और सतत भगवान् के समीप रहता है। अब योगी की यहाँ यह अवस्था होती है कि उसके योग की रक्षा और अग्रिम साधन की व्यवस्था भगवान् ही करते हैं। भगवान् का वचन है—

**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।**
**तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।।**

भगवद्गीता ९/२२

यह ज्ञानयोग की परम गुह्य स्थिति है।

**दशमाध्यायान्तर्गत 'विभूतियोग'**

भगवान् का पूर्वकथित जो परम गुह्य त्रिविध ऐश्वर्ययोग है, उसमें प्रवेश होने पर भगवान् की जो अनिर्वचनीय महिमा है वह साधक पर प्रकट होती है और यह प्रत्यक्ष होता है कि भगवान् ऐसे हैं कि केवल भगवान् ही भगवान् को जानते हैं और कोई नहीं जानता है। विभूतियोग में प्रवेश करने पर साधक यह देखता है कि यह भगवान् का जो त्रिविध ऐश्वर्ययोग है, वह तीन स्थानों में नहीं, अपितु सर्वत्र भिन्न-भिन्न भाव और रूप से है। भगवान् इन अशेष रूपों से उसे चारों ओर से संरक्षित कर लेते हैं तब भक्त की यह अवस्था होती है कि—

**केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया ।**

भगवद्गीता १०/१७ उत्तरार्द्ध

वह प्रभु से पूछ बैठता है कि अब हम आपका किस-किस भाव से चिन्तन करें? तब भगवान् अन्य भावों को समेट कर केवल दिव्यभाव सामने रखते हैं; पर वे भी अनन्त हैं इसलिये उनमें से चुनाव करके यह बतलाते हैं कि जो कुछ विभूतिमत्, श्रीमत् और शक्तिमत् है वह मेरा तेजोंश है— तेज का सम्पूर्ण एक अंश भी नहीं, क्योंकि एक अंश से ही सम्पूर्ण जगत् बना है। वचन है—

**यद् यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।**
**तत्तदेवाऽवगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ।।**

भगवद्गीता १०/४१

इस अवस्था को जब साधक प्राप्त कर लेता है, तब वह दिव्य दृष्टि का अधिकारी होता है।

**एकादशाध्यायान्तर्गत 'विश्वरूपदर्शनयोग'**

पूर्वोक्त साधन से दिव्य दृष्टि प्राप्त होने पर (भगवत्कृपा से प्राप्त दिव्यदृष्टि होने पर) परम गुह्य ऐश्वर्ययोग का जो आश्चर्यमय दुर्निरीक्ष्य तेजोरूप है, वह दिखलाई पड़ता है। जिसका वर्णन गीता में ही भूयोभूयः पढ़कर मनन करने की चीज है। यह सर्वभाव-सर्वकर्म-सर्वरूपसमन्वित एक ही कालानलसन्निभ विराट् भगवन्मूर्ति देखकर साधक दिव्य भय से युक्त होता है और प्रणाम करके स्तुति करने लगता है—

**पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान् ।**
**ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ।।**

भगवद्गीता ११/१५

यह प्रणति और स्तुति भी दिव्य होती है। यहाँ भगवान् उसे अपने दिव्य करों से सान्त्वना देकर इसके भी परे जो भगवान् का सौम्यरूप है, उसका दर्शन कराते हैं—जैसे ग्रीष्म की घोर तपन के पश्चात् श्याममेघ से वर्षा होती है। केवल भक्ति से ही साधक को यह अवस्था प्राप्त होती है और किसी अन्य साधन से नहीं।

भगवान् ने कहा—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपनी योगमाया से असंख्य सूर्यों के समान प्रकाशमान, विश्वात्मक, अन्तरहित, सबका आदि यह सर्वोत्तम अपना स्वरूप तुम्हें दिखलाया है। इस स्वरूप को तुम्हारे अतिरिक्त और किसी ने पूर्व में नहीं देखा था—

**मया प्रसन्नेन तवाऽर्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात् ।**
**तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन च दृष्टपूर्वम् ।।**

भगवद्गीता ११/४७

**द्वादशाध्यायान्तर्गत 'भक्तियोग'**

अनन्त कोटि सूर्यों के सम्मिलित दुर्निरीक्ष्य कल्पनातीत प्रचण्ड तेज को भी पार करके श्रीभगवान् के सुधावर्षणकारी सौम्य मेघश्यामरूप को साधक प्राप्त कर लेता है, यह उसकी भक्ति का प्रताप है। अन्यथा कालानल से कौन बच सकता है? काल किसे नहीं खा सकता? इसका उत्तर है कि काल भक्ति को नहीं खा सकता है। इसलिये भक्ति को यहाँ 'अमृत' कहा गया है। भक्ति अमृत की धारा है, जिसकी परीक्षा विश्वरूपदर्शन में हुई, जो उस कालानलसन्निभ तेज के भी पार पहुँचकर भक्ति सिद्ध हुई। भगवान् भक्तियोगपरायण भक्त को परिभाषित करते हैं—

**अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।**
**सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ।।**

भगवद्गीता १२/१६

**द्वितीय षट्क**

प्रथम षट्क में ज्ञानकर्मसमत्वसिद्धिपूर्वक आत्मसंयम हुआ और द्वितीय षट्क में ज्ञानविज्ञानपूर्वक भक्तियोग को सिद्ध किया गया। इस द्वितीय षट्क में ज्ञानविज्ञानसिद्ध भक्ति से आत्मा का शरीर के साथ और परमात्मा का जगत् के साथ जो योग है, वह अद्भुत है।

**त्रयोदशाध्यायान्तर्गत 'क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग'**

हे अर्जुन! यह शरीर 'क्षेत्र' कहा जाता है और इस क्षेत्र को जो जानता है, वह क्षेत्रज्ञ है। ऐसा क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ को जानने वाले विद्वान् लोग कहते हैं—

**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते ।**
**एतद् यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ।।**

भगवद्गीता १३/१

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ के विभाग को जो ज्ञानरूप चक्षु से जानते हैं, वे विदेहमुक्ति को प्राप्त करते हैं, यही क्षेत्रक्षेत्रज्ञविभागयोग कहलाता है—

**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।**
**भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ।।**

भगवद्गीता १३/३४

**चतुर्दशाध्यायान्तर्गत 'गुणत्रयविभागयोग'**

प्रकृति के जितने कर्म हैं सब प्रकृति के तीन गुणों के द्वारा होते हैं, जिनमें सत्त्वगुण ज्ञानविज्ञान का साधक है, आत्मा अकर्ता है, गुण ही कर्त्ता हैं। यह जानता हुआ भक्त अव्यभिचारी भक्तियोग से इन गुणों से परे रहता है और अन्त में मद्भाव को प्राप्त होता है—

**नाऽन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।**
**गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ।।**

भगवद्गीता १४/१९

**पञ्चदशाध्यायान्तर्गत 'पुरुषोत्तमयोग'**

प्रकृति और पुरुष का जो संयोग है, वह भगवान् की ही दो शक्तियों का संयोग है। प्रकृति क्षरपुरुष है और पुरुष अक्षरपुरुष है। भगवान् इन दोनों

से परे हैं और दोनों का समावेश भगवान् में होता है। इसीलिये भगवान् को पुरुषोत्तम कहते हैं। शास्त्रों में यह गुह्यतम शास्त्र है। इस शास्त्र को जानता हुआ भक्त भगवान् को सब भावों से भजता है, यही पुरुषोत्तमयोग है— भगवान् बतलाते हैं कि हे अर्जुन यत: मैंने क्षर-विनाशी मायामय संसार का अतिक्रमण किया है और अक्षर-संसारबीज अव्यक्त-से मैं उत्तम हूँ, इसलिये मैं लोक और वेद में पुरुषोत्तम नाम से प्रसिद्ध हूँ—

**यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।**
**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।**

भगवद्गीता १५/१८

पुरुषोत्तमयोग को जानकर मनुष्य कृतकृत्य हो जाता है—

**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ ।**
**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान्स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ।।**

भगवद्गीता १५/२०

**षोडशाध्यायान्तर्गत 'दैवासुरसम्पद्विभागयोग'**

संसार में दो प्रकार के मनुष्य हैं—देव और असुर। अभय आदि छब्बीस लक्षण देव मनुष्यों के हैं और दम्भ आदि छ: लक्षण असुरों के हैं। असुरलक्षण दु:ख के कारण हैं और देवलक्षण आनन्द के कारण हैं। असुर जगत् का अहित और नाश करते हैं और अधमगति को प्राप्त होते हैं। दैवी सम्पत्ति संसारबन्ध से मुक्ति के लिये और आसुरी सम्पत्ति संसार में बन्धन के लिये मानी गई है—

**दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायाऽऽसुरी मता ।**

भगवद्गीता १६/५

**सप्तदशाध्यायान्तर्गत 'श्रद्धात्रयविभागयोग'**

सबकी अपनी-अपनी श्रद्धा है। जिसकी जैसी श्रद्धा होती है, वैसा ही वह होता है। भूतप्रेतों में श्रद्धा रखने वाला भूतप्रेत ही हो जाता है। भगवान् के दिव्य भावों पर जो श्रद्धा रखता है, वह देव हो जाता है। यह श्रद्धा मुख्यतया त्रिविध है। पर सात्त्विक श्रद्धा ही भगवान् का मार्ग है—

**त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा ।**
**सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ।।**
**सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत ।**
**श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।।**

भगवद्गीता १७/२-३

**तृतीय षट्क**

इस प्रकार तृतीय षट्क के इन पांच योगों में परमात्मा का जगत् के साथ त्रिविध योग और त्रिगुणात्मक त्रिविध जगत् का द्विविध दैवासुरविभाग बतलाकर आसुर का त्याग और तज्जन्य युद्ध सूचित करते हैं। यह विषय अठारवें अध्याय के पचपनवें श्लोक तक चलता है और तब—

**अष्टादशाध्यायान्तर्गत 'मोक्षसंन्यासयोग'**

इसमें ज्ञान-विज्ञान-भक्ति की पूर्णता होने पर भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन को वक्षस्थल से लगाकर आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।**
**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ।।**

भगवद्गीता १८/६५

हे अर्जुन! तुम मुझ में ही चित्त लगाओ मेरा भजन करो, मेरा यजन करो, मुझे ही नमस्कार करो। चूँकि तुम मेरे प्रिय हो इसलिये मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि ऐसा करने पर तुम मुझे ही प्राप्त हो सकोगे।

अपने हृदगत भाव को अर्जुन को बतलाते हुए आगे कहते हैं—

**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।**

भगवद्गीता १८/६६

अब अर्जुन भगवान् से युक्त, सब पापों से मुक्त अर्जुन है। अब उसके लिये कुछ करणीय नहीं है, बस भगवत्कर्म करना है, भगवत्संकल्प को पूर्ण करना है। भगवान् की इच्छा और उसकी इच्छा एक है। वह कृतकृत्य है, उसे अब मुक्त आनन्द के साथ भगवद्वचन का पालन करना है। धनुषबाण

उठा कर अब वह कहता है कि भगवन् ! आपके प्रसाद से मेरा सम्पूर्ण मोह नष्ट हो गया। वेदान्तप्रतिपाद्य नित्य कूटस्थ परमात्मा ही मैं हूँ। इस प्रकार आत्मतत्त्वस्मृति भी प्राप्त हुई। सम्पूर्ण सन्देहों से मैं मुक्त हो गया हूँ। आपके वचन का अवश्य पालन करूँगा—

**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाऽच्युत ।**
**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ।।**

भगवद्गीता १८/७३

अहंता-ममता की बद्ध अवस्था में शोकाकुल होकर धनुषबाण का जो संन्यास किया गया था, वही बद्धसंन्यास अब अपनी बद्धता से युक्त होकर धनुषबाण धारण करके मुक्तसंन्यास में परिणत हो गया। यह मुक्त संन्यास ही जीव और जगत् का परमोत्कर्ष है। यही योगीश्वर श्रीकृष्ण और योगी अर्जुन का परमानन्दमिलन है। यही श्री है। यही विजय है। यही भूति है। यही ध्रुवा नीति है—

**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।**
**तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।**

भगवद्गीता १८/७८

इस प्रकार योगीश्वर श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से अष्टादशाङ्गयोग का वृष्टियोग जनमानस के लिये अमृतस्वरूप है। भगवद्गीता अध्ययन का नहीं, अपितु अनुपालन का विषय है।

●

# तन्त्र में योग

भिन्न-भिन्न सम्प्रदाय अपने-अपने मार्ग के अनुसार 'योग' शब्द का अर्थ करते हैं। वेदान्तदर्शन का कहना है कि जीव और आत्मा के मिलन का नाम योग है। प्रत्यभिज्ञादर्शन के मतानुसार शिव और आत्मा के अभेदज्ञान का नाम योग है। भेदवादियों के मत में पुराण-पुरुष का ज्ञान ही योग है। योगाभ्यास करने के लिये दीक्षा अवश्य ग्रहण करनी चाहिए। दीक्षानिर्दिष्ट अपनी ब्रह्ममूर्ति की उपासना से सिद्धि प्राप्त करने पर योगमार्ग में प्रवेश करने का अधिकार प्राप्त होता है। वाममार्गीय कौल कहते हैं कि शैव, वैष्णव, शाक्त, सौर एवं गाणपत्यादि मन्त्रों के द्वारा चित्त विशुद्ध होने पर कौलज्ञान अर्थात् ब्रह्मज्ञान प्रकाशित होता है। कुलार्णवतन्त्र के द्वितीय उल्लास में लिखा है—

**शैववैष्णवदौर्गार्कगाणपत्यादिकैः क्रमात् ।**
**मन्त्रैर्विशुद्धचित्तस्य कौलज्ञानं प्रकाशते ।।**

कुलार्णवतन्त्र २/२९

कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है कि मनुष्य चार श्रेणियों में विभक्त हैं और प्रत्येक श्रेणी के मनुष्य अपने-अपने अधिकारभेद से परम पदार्थ को भिन्न-भिन्न रूप में देखा करते हैं। वचन है—

**अग्नी तिष्ठन्ति विप्राणां हृदि देवो मनीषिणाम् ।**
**प्रतिमास्वप्रबुद्धानां सर्वत्र विदितात्मनाम् ।।**

कुलार्णवतन्त्र ४४

अर्थात् क्रियाकाण्ड में अनुरक्त ब्राह्मण उनको अग्नि में देखा करते हैं। मनीषी अपने हृदय में उनका अनुभव करते हैं। जो अप्रबुद्ध हैं, वे प्रतिमा में उन्हें देख पाते हैं और जो आत्मज्ञानी हैं, वे सर्वत्र और सर्वदा उस परम पदार्थ को देखा करते हैं।

योग-साधना का उद्देश्य यही शेषोक्त अवस्था प्राप्त करना है। इसके

लिये सर्वप्रथम कर्तव्य है—काम, क्रोध लोभ, मोह, मद और मत्सर इन छः रिपुओं का नाश करना। यहाँ काम आदि रिपुओं का स्वरूपज्ञान होना अपेक्षित है। स्त्रीभोगादि की जो अभिलाषा है, वही 'काम' है। प्राणियों को पीडा पहुँचाने का नाम है 'क्रोध'। धनादि की अतिशय आकांक्षा का नाम है 'लोभ'। तत्त्वज्ञान का अभाव ही 'मोह' है। मैं सुखी हूँ, मैं पण्डित हूँ, मैं धनवान् हूँ—इस प्रकार के गर्व को 'मद' कहते हैं। दूसरे का सौभाग्य देखकर जो दु:ख होता है, उसका नाम 'मत्सर' है। ये शत्रुस्वरूप हैं, क्योंकि दु:ख के कारण हैं। किञ्च आत्मस्वरूप का विचार करने में ये बाधा पहुँचाते हैं। इनका दमन करने के लिये योग के अष्टाङ्ग का अभ्यास करना पड़ता है। योग के आठ अङ्ग हैं—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि।

**यम**—'यम' शब्द का अर्थ है उपरति अर्थात् काम इत्यादि की निवृत्ति। यह दश प्रकार का है—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, कृपा, आर्जव, क्षमा, धृति, मिताहार और शौच ।

**अहिंसा** का अर्थ है—किसी कर्म के द्वारा और मन के द्वारा किसी प्रकार से किसी प्राणी को क्लेश न पहुँचाना। **सत्य** शब्द का अर्थ है—जैसा सुना हो और जैसा देखा हो वैसा ही कहना। **अस्तेय** शब्द का अर्थ है—दूसरे का तुच्छ से भी तुच्छ तृण आदि भी ग्रहण न करना। **ब्रह्मचर्य** शब्द का अर्थ है—आठों प्रकार के मैथुन का परित्याग करना। इस अष्टविध मैथुन का वर्णन शास्त्र में इस प्रकार आया है—

**स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।**
**सङ्कल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिष्पत्तिरेव च ।।**

**कृपा** शब्द का अर्थ है—प्राणिमात्र की दु:खनिवृत्ति की चेष्टा। **आर्जव** शब्द का अर्थ इस प्रकार वर्णित है—

**व्यवहारेषु सर्वेषु मनोवाक्कामकर्मभिः ।**
**सर्वेषामपि कौटिल्यराहित्यमार्जवं भवेत् ।।**

अर्थात् समस्त प्राणियों के साथ मन, वाणी और शरीर के द्वारा जो व्यवहार किया जाता है, उसमें कुटिलता के अभाव का नाम **आर्जव** है। **क्षमा**

शब्द से अपकार करने वाले के प्रति मित्रवत् व्यवहार समझना चाहिए। इष्ट वस्तु की अप्राप्ति में जो दुश्चिन्ता उत्पन्न होती है, उस दुश्चिन्ता का अभाव ही **धृति** है। शरीरधारण करने मात्र के लिये जो भोजन है उसका नाम **मिताहार** है। जिसके द्वारा चित्त निर्मल होता है, उस पवित्रता का नाम **शौच** है। यहाँ यह समझना चाहिए कि धृति इन दश प्रकार के सभी साधनों में रहेगी। अहिंसा और ब्रह्मचर्य के द्वारा काम पर; कृपा और क्षमा के द्वारा क्रोध पर; अस्तेय, सत्य और आर्जव के द्वारा मद पर और अहिंसा, कृपा, आर्जव और क्षमा के द्वारा मत्सर पर विजय प्राप्त होती है।

**नियम**—योग का दूसरा अंग नियम भी दश प्रकार का है—तप, सन्तोष, आस्तिक्य, दान, देवपूजा, सिद्धान्तश्रवण, ह्री, मति, जप तथा होम।

कृच्छ्रादि व्रतों के आचरण का नाम **तप** है। इष्टतर वस्तु की भी अभिलाषा न होने का नाम **सन्तोष** है। श्रुतिप्रतिपाद्य अर्थ अर्थात् परलोक आदि के अस्तित्व में जो विश्वास है, वही **आस्तिक्य** है। यथाविहित अनिंद्य उपाय से अर्जित धन को शक्ति के अनुसार देव, पितर और मनुष्यों के उद्देश्य से वितरित करना **दान** है। अपनी ब्रह्ममूर्ति की उपासना **देवपूजा** है। उपनिषद् आदि मोक्ष शास्त्रों के सुनने का नाम **सिद्धान्तश्रवण** है। कुत्सित आचरण के कारण मन में जो कष्ट होता है उसका नाम **ह्री** है। **मति** शब्द का अर्थ है—मनन अर्थात् विविध युक्ति, प्रमाणों की सहायता से श्रुत अर्थ का अनुशीलन। **जप** शब्द का अर्थ इष्ट मन्त्र का अनुचिन्तन है। इससे चित्तशुद्धि होती है। **होम** अग्निहोत्रादि याज्ञिक क्रियाओं का नाम है।

**आसन**—आसन अनेक प्रकार के हैं। इनकी कोई निश्चित संख्या नहीं है। सामान्यतः चौरासी प्रकार के आसनों की बात कही गई है। उनमें पांच आसन शास्त्रों में प्रधान बताये गये हैं। वे पाँच आसन हैं—पद्मासन, स्वस्तिकासन, भद्रासन, वज्रासन और वीरासन।

**प्राणायाम**—आसन लगाने पर जब श्रम दूर हो जाय तब प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। जिस आसन में साधक को कोई क्लेश न हो और वह सुखपूर्वक बैठ सके, वही आसन लगाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। प्राणायाम दो प्रकार का है—निगर्भ और सगर्भ। ध्यान और मानस जप करते हुए प्राणायाम साधने का नाम सगर्भ प्राणायाम है। बीज उच्चारण

न करके जो प्राणायाम किया जाता है उसका नाम निगर्भ प्राणायाम है। इडा नाडी से अर्थात् वाम-नासिका-पुट से षोडश मात्रा वायु आकर्षण करने का नाम पूरक, चौसठ मात्रा वायु धारण करने का नाम कुम्भक एवं बत्तीस मात्रा में पिंगला से अर्थात् दाहिने नासिका पुट से वायु त्यागने का नाम रेचक है। प्राणायाम में तीन प्रकार की अवस्थाएँ होती हैं। जिस अवस्था में स्वेद निकलता है, उसे अधम अवस्था कहते हैं। मध्यम अवस्था में देहकम्पन होता है तथा उत्तम अवस्था में साधक भूमि से ऊपर उठ जाता है। इस प्राणायाम के सिद्ध होने पर साधक प्रत्याहार का अधिकारी होता है।

**प्रत्याहार**—यत्र-तत्र भ्रमणशील इन्द्रियों को इन्द्रियग्राह्य विषयों से विमुख (निवृत्त) करना प्रत्याहार है।

**धारणा**—अंगुली एड़ी से आरम्भ करके सहस्रार पद्म के नीचे स्थित द्वादश दलकमल तक षोडश स्थानों में प्राणवायु को धारण करने का नाम धारणा है। प्रत्याहार और धारणा का अभ्यास गुरु के उपदेश के अनुसार ही करना चाहिए। इनकी कोई विशिष्ट व्यवस्था है। शिष्य की योग्यता के अनुसार गुरु इनकी विधि निर्दिष्ट करते हैं।

**ध्यान**—एकाग्रचित्त होकर अपने अभीष्ट देवता या स्वकीया ब्रह्ममूर्ति के चिन्तन करने का नाम ध्यान है।

**समाधि**—जीवात्मा-परमात्मा के ऐक्यचिन्तन की निरन्तरता को समाधि कहते हैं।

जीवदेहमात्र ही शिवशक्त्यात्मक, अग्निषोमात्मक अथवा शुक्र-शोणितात्मक है और साधक की अपनी अंगुलियों से छियानवे अंगुल है। पायु और जननेन्द्रिय के मध्य के स्थान को कन्द या मूलाधार कहते हैं। इस मूलाधार से असंख्य नाडियों की उत्पत्ति होती है। उनमें तीन प्रधान नाडियाँ हैं। वे हैं—इडा, पिङ्गला तथा सुषुम्ना ।

इडा नाडी बायीं ओर है, पिंगला दाहिनी ओर है और सुषुम्ना मेरुदण्ड के मध्यभाग में स्थित है। सुषुम्ना की अन्तर्वर्ती एक अन्य नाडी का नाम चित्रा है। चित्रा के अन्तर्भाग को ब्रह्मनाडी कहते हैं। मूलाधार में जो एक अत्यन्त सुन्दर ज्योतिर्मय त्रिकोण है, वहीं पर कुण्डलिनी अर्थात् जीवशक्ति

साढे तीन चक्राकार में सुप्त सर्पिणी की तरह रहती है। मूलाधार के ऊपर लिङ्गमूल में जो चक्र है, उसका नाम स्वाधिष्ठानचक्र है। उसके ऊपर नाभि के मूलदेश में सुषुम्नानाडी से सम्बद्ध जो चक्र है, उसे मणिपूरचक्र कहते हैं। हृदयस्थान में जो एक चक्र है, उसे अनाहतचक्र कहते हैं। कण्ठदेश में जो चक्र है, उसका नाम विशुद्धचक्र है और भ्रूमध्य में जो चक्र है उसे आज्ञाचक्र कहते हैं। इसी स्थान पर गुरु की आज्ञा का सञ्चार होता है। इसी से इसका नाम आज्ञाचक्र है। साधक कुण्डलिनी शक्ति को इन समस्त चक्रों का भेद करता हुआ मूलाधार से द्वादशदलचक्र के ऊपर शिवस्थान में ले जाता है और शिवशक्ति सामरस्यरूप अतुल आनन्द का भोग करता है। षट्चक्रनिरूपण, त्रिपुरासारसमुच्चय, गन्धर्वतन्त्र प्रभृति ग्रन्थों में इसका वर्णन मिलता है। महाकालोक्त पादुकापञ्चकम् स्तोत्र में पूर्वोक्त द्वादशदलात्मक पद्म का विशेष विवरण मिलता है। योगसाधना का उद्देश्य यही है कि गुरु, मन्त्र, यन्त्र, देवता और साधक की एकता की उपलब्धि हो और क्रमशः अद्वैतभाव की प्राप्ति हो। इस अवस्था की प्राप्ति होने पर सिद्ध योगी परमानन्द नित्यचैतन्यैकगुणात्मक आत्माभेदस्थित प्रणव के अथवा ह्रींकार के चिन्तन में मग्न रहते हैं। इस समय वे मन, वाणी तथा वेदवाक्य से अतीत स्वसंवेद्य आनन्दरससागर-तादात्मक वस्तु को प्राप्त करते हैं।

अद्वैतलाभ के पूर्व की अवस्था में जो ध्यान बतलाया गया है, वह इस प्रकार है—

**सत्यं मानविवर्जितं श्रुतिगिरामाद्यं जगत्कारणम् ।**
**व्याप्तस्थावरजङ्गमं मुनिवरैर्ध्यातं निरुद्धेन्द्रियैः ।।**
**अर्काग्नीन्दुमयं शताक्षरवपुस्तारात्मकं सन्ततम् ।**
**नित्यानन्दगुणालयं गुणपरं वन्दामहे तन्महः ।।**

कहा जा सकता है कि तन्त्रशास्त्र में वर्णित योगमार्ग और श्रुतिशास्त्र में विवेचित मार्ग का गन्तव्य स्थान एक ही है। इसीलिये श्रुति और आगम का भेद वाक्यगत है, न कि वस्तुगत ।

भगवत्पाद शंकराचार्य ने स्वरचित प्रपञ्चसारतन्त्र में हल्लेख्या बीज के सम्बन्ध में कहा है—

**यां ज्ञात्वा सकलमपास्य कर्मबन्धनं**
**तद्विष्णोः परमपदं प्रयाति लोकः ।**
**तामेतां त्रिजगति जन्तुजीवभूतां**
**हृल्लेखां जपत च नित्यमर्चयीत ।।**

श्रीप्रपञ्चसारतन्त्र, ४/७६

इससे विदित होता है कि शक्तिबीजसाधन के द्वारा भी विष्णुपद प्राप्त किया जाता है। पूर्व कहा गया है कि साधक का उपास्य या इष्टदेवता गुरुनिर्दिष्ट ब्रह्ममूर्तिमात्र होता है। अपने इष्ट की मूर्ति का अवलम्बन करके ही परम पदार्थ में लीन हुआ जा सकता है। शाक्ततन्त्र में शक्ति को प्रधानता दी जाती है, इसी से ह्रींकार बीज और कुण्डलिनी शक्ति की आराधना की प्रधानता है। इन दोनों में कोई अन्तर नहीं है। शिव और शक्ति का परस्पर अविनाभावसम्बन्ध है। जिन्होंने इस अविनाभाव की उपलब्धि की है, वे ही जीवन्मुक्त हैं।

●

# वाम-कौल-तान्त्रिक योग

**नमामि त्वां महादेवीं महाभयविनाशिनीम् ।**

**महादुर्गप्रशमनीं महाकारुण्यरूपिणीम् ।।**

अर्थात् मृत्युरूप महाभय का नाश करने वाली, अति विघ्नों को शान्त करने वाली तथा महान् करुणा की मूर्ति आप महादेवी की मैं वन्दना करता हूँ।

जीवात्मा का विकास जीवन के उत्कर्ष पर निर्भर करता है। यह जीवनशक्ति और प्राणों की वृद्धि हम योगाभ्यास से ही विशेषतः लाभ कर सकते हैं। आहार-विहार में यथायोग्य संयम करने से तथा स्वास्थ्य के मूलभूत नियमों का अनुपालन करने से हमारी जीवनशक्ति की वृद्धि होती है। फलतः योगविज्ञानसदृश सर्वोच्च संयमनमार्ग का अभ्यास करने से हमारी आत्मिकशक्ति अवश्यमेव विकसित होती है, यह ध्रुव सत्य है। अथ च इन यौगिक क्रियाओं में पथप्रदर्शक गुरु की आवश्यकता अनिवार्य है और मन की यथार्थ तीव्रता से गुरु-प्राप्ति भी हो जाती है।

योग के नाम से कई मठ और नानाविध ग्रन्थ हमें प्राप्त हैं, किन्तु अनुभव हमें सतर्क करता है कि सबसे श्रेष्ठ वही मार्ग है जिसमें अभ्युदय और निःश्रेयस् दोनों की प्राप्ति सुलभ हो सके, क्योंकि केवल एकाङ्गी धर्म कभी कल्याणप्रद नहीं हो सकता। इसी सिद्धान्त को ध्यान में रखकर आनन्दकन्द भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है—

**तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।**

भगवद्गीता २/५०

अभिप्राय यह है कि 'योगी तपस्वियों से श्रेष्ठ है, ज्ञानियों (शास्त्रज्ञों) से श्रेष्ठ है तथा सकाम कर्म करने वालों से भी योगी श्रेष्ठ है। अत एव हे अर्जुन! तुम योगी बनो।' इससे यह स्पष्ट है कि योग पूर्णाङ्ग मार्ग है और उसकी श्रेष्ठता इसमें निहित है कि वह न किसी का त्याग बतलाता है, न

किसी का ग्रहण, जैसा कि अन्य साम्प्रदायिक मार्गों में है। योगमार्ग हमें भुक्ति और मुक्ति दोनों को प्राप्त कराता हुआ परम आनन्दमय जीवन अर्थात् मुक्त अवस्था में प्रतिष्ठित करा देता है। शास्त्रों को देखने, सुनने और विचार करने से यह विदित होता है कि कौलमार्ग अर्थात् तान्त्रिक साधना ही प्रधान योगमार्ग है और उसका यह तर्क है—

**यत्रास्ति भोगो न च तत्र मोक्षो, यत्रास्ति मोक्षो न च तत्र भोगः ।**
**श्रीसुन्दरीसेवनतत्पराणां भोगश्च भोक्षश्च करस्थ एव ।।**

इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ भोग है, वहाँ मोक्ष नहीं है। और जहाँ मोक्ष है, वहाँ भोग नहीं है। किन्तु जो व्यक्ति भगवती श्रीत्रिपुरसुन्दरी की सेवा में संलग्न हैं उनके लिये भोग और मोक्ष दोनों ही करतलगत हैं।

तान्त्रिक-साधना में कर्म के त्याग-ग्रहण की आवश्यकता नहीं है, केवल कर्मफल परित्याग की आवश्यकता है। इस साधना के विषय में कुछ कहने से पूर्व कौल, वाम आदि शब्दों के विषय में जो भ्रम व्याप्त है, उसका निवारण करना आवश्यक है।

**वाममार्ग का स्वरूप**

निरुक्त का वचन है—

**अस्रेमा; अनेया, अनेद्यः अनवद्यः अनभिशस्त्यः उक्थ्यः सुनीथः पाकः वामः वयुनमिति दश प्रशस्यनामानि ।**

निघण्टु ३/८

अर्थात् उपर्युक्त दश नाम प्रशस्य अर्थात् श्रेष्ठ के वाचक हैं।

निरुक्तशास्त्र के टीकाकार दुर्गाचार्य लिखते हैं—

**य एव हि प्रज्ञावन्तस्त एव हि प्रशस्या भवन्ति ।**

टीकाकार दुर्गाचार्य पृ. २४४

अभिप्राय यह है कि जो प्रज्ञावान् (बुद्धिमान्) हैं, वे ही प्रशस्य हैं। प्रशस्य शब्द का अर्थ है—प्रज्ञावान् । प्रज्ञावान् प्रशस्य योगी का नाम ही 'वाम' है। तन्त्रशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिव कहते हैं—

**वामो मार्गः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ।**

अर्थात् वाममार्ग अत्यन्त गहन है और योगियों के लिये भी अगम्य है। मेरुतन्त्र में वाममार्ग के अधिकारी को रेखाङ्कित करते हुए लिखा है—

**परद्रव्येषु योऽन्धश्च परस्त्रीषु नपुंसकः ।**
**तस्यैव ब्राह्मणस्यात्र वामे स्यादधिकारिता ।।**

मेरुतन्त्र

अभिप्राय है कि जो परद्रव्य के लिये नेत्रविहीन है, परस्त्री के लिये नपुंसक है, परनिन्दा के लिये मूक है और जो सर्वदा अपनी इन्द्रियों को वश में रखता है, ऐसा जितेन्द्रिय ब्राह्मण ही 'वाममार्ग' का अधिकारी होता है।

**कौलमार्ग का स्वरूप**

स्वच्छन्दतन्त्र में कौलमार्ग का स्वरूप रेखाङ्कित करते हुए लिखा है—

**कुलं शक्तिरिति प्रोक्तमकुलं शिव उच्यते ।**
**कुलाकुलस्य सम्बन्धः कौलमित्यभिधीयते ।।**

स्वच्छन्दतन्त्र

अर्थात् 'कुल' शब्द शक्ति का वाचक है और 'अकुल' शब्द से शिव का बोध होता है। कुल और अकुल के सम्बन्ध को 'कौल' कहते हैं।

**तन्त्रमार्ग का स्वरूप**

तन्त्रमार्ग को रेखाङ्कित करते हुए ब्रह्मयामलतन्त्र में लिखा है—

**तन्त्रकृत्तन्त्रसम्पूज्या तन्त्रेशी तन्त्रसम्मता ।**
**तन्त्रेशा तन्त्रवित्तन्त्रसाध्या तन्त्रस्वरूपिणी ।।**

ब्रह्मयामलतन्त्र

अर्थात् देवी तन्त्र को रचने वाली, तन्त्र के द्वारा अर्चनीय, तन्त्र की स्वामिनी, तन्त्र को मान्य, तन्त्र को जानने वाली, तन्त्र के द्वारा साध्य और तन्त्रस्वरूपिणी है।

तात्पर्य यह है कि तन्त्र शक्ति प्राप्त करने का मार्ग है और तन्त्र ही स्वयं शक्ति है। तन्त्रशास्त्र के दो मुख्य साधनमार्ग हैं—एक भावना और दूसरा कुल-कुण्डलिनी का सञ्चालन। शास्त्रकार रुद्रयामल लिखते हैं—

**भावेन लभते सर्वं भावेन देवदर्शनम् ।**
**भावेन परमं ज्ञानं तस्माद् भावालम्बनम् ।।**

रुद्रयामल १/११३

भावचूडामणि का वचन है—

**बहुजापात् तथा होमात् कायक्लेशादिविस्तरैः ।**
**न भावेन विना देवो यन्त्रमन्त्रफलप्रदः ।।**

भावचूडामणि

अभिप्राय यह है कि भाव से सब कुछ प्राप्त होता है, भाव से ही देवदर्शन होता है और भाव से ही श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति होती है। चाहे हम कितना ही जप करें, कितना ही होम करें और शरीर को कितना ही क्लेश पहुँचावें, भाव के विना देवता यन्त्र और मन्त्र का फल नहीं देते हैं।

इसी मूल सिद्धान्त को लेकर तमोगुणाधिक साधक के लिये पशुभाव, रजोगुणाधिक साधक के लिये वीरभाव और सत्त्वगुणाधिक साधक के लिये दिव्यभाव की साधना तन्त्रशास्त्र में बतलाई है। इन तीनों प्रकार की साधनाओं के लिये साधक जिज्ञासुओं को किसी सुविज्ञ गुरु के पास जाकर उनका मर्म समझना चाहिए।

### कुण्डलिनी का स्वरूप

सम्प्रति, कुलकुण्डलिनी का स्वरूप जानने योग्य है—

Shortly Stated. Energy (Shakti) polarises itself into two forms, namely, static or potential (kundalini) and dynamic (The working forces of the body as (Prana). Kundalini is the static shakti. It is the individual bodily representative of the great cosmic power (Shakti) which crctes and sustains the Universe.

The Serpent power by Authur Aualon.

संक्षेप में सर जॉन वुडरफ का मत है कि शक्ति स्थिर अथवा अविकसित (कुण्डलिनी) और चल (अर्थात् शरीर की प्राणरूपा सञ्चालिका शक्ति) रूप से द्विविध हो जाती है। यही शक्ति और शाक्त की मान्यता है।

आर्थर एवेलन के अनुसार भी कुण्डलिनी स्थिर शक्ति है। यह उस महान् विश्वव्यापिनी शक्ति का ही व्यष्टि शरीर स्थितरूप है। ऐसा पाश्चात्य विद्वानों का मत है।

इस विषय में भारतीय शास्त्रकारों का मत है—

**सुप्ता नागोपमा ह्येषा स्फुरन्ती प्रभया स्वया ।**
**अहिवत् सन्धिसंस्थाना वाग्देवीबीजसंज्ञका: ।।**
**ज्ञेया शक्तिरियं विष्णोर्निर्भया स्वर्णभास्वरा ।**
**सत्त्वं रजस्तमश्चेति गुणत्रयप्रसूतिका ।।**

अभिप्राय यह है कि यह देवी सुप्त सर्प की भाँति प्रतीत होती है तथा अपने ही प्रकाश से प्रदीप्त है। यह सर्प के समान सन्धिस्थान में रहती है तथा वाग्देवी के बीज नाम से प्रसिद्ध है। इसे विष्णु की शक्ति जानना चाहिए। यह निर्भय और स्वर्ण के समान दीप्ति वाली है। यह सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों का प्रसूतिस्थल है। एतावता सब शक्तियों की मूलशक्ति यह कुलकुण्डलिनी है। इसको कैसे जगाया जाय, यही प्रश्न है। हमारे ऋषियों ने कई प्रकार के उपाय साधनाधिकारिभेद से बतलाये हैं, जैसे— मन्त्रयोग, भक्तियोग, ध्यानयोग, बिन्दुयोग (नादयोग), हठयोग, राजयोग इत्यादि। इसमें—

१. सर्वप्रथम बाह्य और आन्तर शुद्धि होनी चाहिए।

२. आहार-विहार नियमित और शुद्ध होना चाहिए।

३. ऐसा व्यवहार वर्जित है, जिससे मस्तिष्क में क्षोभ उत्पन्न हो।

४. ईश्वर अर्थात् इष्ट के प्रति पूर्ण आस्था (प्रेम) होनी चाहिए।

५. आध्यात्मिक ग्रन्थों का स्वाध्याय और गुरु-आज्ञा पर पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए।

६. साधना का स्थान नीरव, एकान्त, स्वच्छ और शुद्ध वायुयुक्त होना चाहिए।

७. साधना प्रात:, सायं तथा अर्द्धरात्रि में अवश्य करनी चाहिए। अर्द्धरात्रि का समय ध्यान और जप के लिये श्रेष्ठ है।

८. जिह्वा आदि इन्द्रियों पर पूर्ण संयम रखना चाहिए।

९. मन-बुद्धि से किसी का भी अहितचिन्तन नहीं करना चाहिए, प्रत्युत प्राणिमात्र के हित की भावना करनी चाहिए।

१०. दृढतापूर्वक ब्रह्मशक्ति का स्वरूप अपने को समझते हुए अपने आत्मा को अजर, अमर, अजेय और समस्त शक्तियों का केन्द्रस्थान समझना चाहिए।

११. स्त्रीजाति को जगदम्बास्वरूप समझते हुए कभी भोगवस्तु नहीं समझना चाहिए। अपितु उन पर मातृदृष्टि रखनी चाहिए।

ये हैं नियम जिनमें साधक को साधना से पूर्व अपने आपको तत्पर रखना (ढालना) चाहिए। तत्पश्चात् निम्नलिखित साधना आरम्भ करनी चाहिए—शीर्षासन का नित्य प्रातः-सायं अभ्यास करना चाहिए। प्रथम एक मिनट से आरम्भ करके जब दस मिनट तक का अभ्यास हो जाय तब प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। पद्म या सिद्ध आसन में बैठकर रेचक, पूरक तथा कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। ऐसा प्रयत्न किया जाय कि दीर्घकाल तक कुम्भक साधित हो सके, परन्तु बलपूर्वक प्राणवायु को अवरुद्ध करने का प्रयास नहीं करना चाहिए। शनैः-शनैः अभ्यास को वर्द्धित किया जाय। इसमें ऊँकार के उच्चारण की गणना का ध्यान रखना चाहिए और प्रतिसप्ताह पांच यन्त्र बढ़ाते जाना चाहिए। बीस प्राणायाम से अधिक न बढ़ाना चाहिए और तीन घण्टे तक का कुम्भक चरम अवधि है। ध्यातव्य है कि वायुमण्डल ही प्राण नहीं है। वायु का विशुद्धतम अंश ही प्राणवायु कहलाता है। वायु के विशुद्ध-विशेष का सम्बन्ध ग्रहों की शक्ति और विशेषकर सूर्यज्योति से है। जब-तक सूर्य रहता है, जागृति रहती है। सूर्य के न रहने से जीवमात्र ही शक्तिहीन हो जाता है और उसे विश्राम की आवश्यकता पड़ती है। अतः जिस तरह बाह्य सूर्य है, उसी तरह हमारे भीतर सूर्यकेन्द्र है, जिसे Solarplax कहते है। इसका स्थान नाभि के समीप है और यौगिक भाषा में उसे मणिपूरचक्र भी कहते हैं। यही वह मणिपूर है जिसका वर्णन पुराणों में आया है कि शक्ति का स्थान मणिपूर में है। अतः प्राणायाम की प्रक्रिया द्वारा यहीं चितिशक्ति बढ़ायी जाती है और यथाशीघ्र वह समय आ जाता है, जब मणिपूरचक्र लगने लगता है। जब यह चक्र लगने लगता है, तब साधक में तेज प्रकट होने लगता है। वह शक्तिमान् हो उठता है और उसकी इच्छाशक्ति बलवती हो जाती है। तत्पश्चात् प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि (तल्लीनता) आरम्भ हो जाती है।

मस्तिष्क ही ज्ञानरज्जु के रूप में मेरुदण्ड के मध्य नीचे तक अनन्त स्नायु तन्तुओं के रूप में व्याप्त है। पायु से दो अंगुल ऊपर और उपस्थ से चार अंगुल नीचे ज्ञानरज्जु; मेरुदण्ड के बाहर चार अंगुल विस्तृत कन्द के रूप में, प्रकट होती है। सिद्धों के अनुसार उसी कन्द का बहत्तर हजार

नाडियों से सम्बन्ध है। इन नाडियों में मुख्य इडा, पिङ्गला और सुषुम्ना हैं। साधक का उद्देश्य केवल प्राणायाम से उस कन्द को पुष्ट करके शरीर को पुष्ट करना ही न होना चाहिए, क्योंकि शरीर तो स्वयं पुष्ट होगा। अपितु साधक का लक्ष्य होना चाहिए—ब्रह्मानन्द प्राप्ति अर्थात् शिवशक्ति सम्मिलन। साधक की अन्तर्मुखी शक्ति तब सिद्ध होती है, जब उसका सुषुम्ना नाडी से सम्बन्ध होता है। क्योंकि सुषुम्ना नाडी कन्द से होती हुई मस्तिष्कपर्यन्त जाती है और जीवात्मा से विशेष सम्बन्ध रखती है। अत: इसी सुषुम्ना नाडी द्वारा योगिगण केवल भावनापूर्वक प्राणायाम द्वारा सञ्चित शक्ति को आहत कर कुण्डलिनी को जागरित करके उसे ऊर्ध्वगामिनी करने में समर्थ होते हैं और अमृतपद प्राप्त करते हैं। शिवभक्त इसको शिवशक्तिसम्मिलन कहते हैं। कृष्णभक्त इस कुलकुण्डलिनीरूपी राधिका कृष्ण-ब्रह्म के साथ (वंशीवट के निकट) मस्तिष्क के समीप रासविलास देखा करते हैं और आधुनिक सन्त सुरति-शब्द-योग कहकर गद्गद् होते हैं। यही जीव शिव हो जाता है और उसकी समस्त ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। कुण्डलिनी के जागरण पर एक प्रकार का कम्प उत्पन्न होता है और उससे ॐ की ध्वनि स्वयं निस्सरित होती है और अनेक प्रकार के स्वर गुञ्जायमान होते हैं। यह ॐकार जगदम्बा का उद्गार है और काम, क्रोध, लोभ, मत्सर का नाश ही शम्भु, निशम्भु, चण्ड और मुण्ड का वध है।

भृकुटी में द्विदल कमल स्थित है, जहाँ शिव का निवासस्थान है और योगियों के मत से महाकालरूप रुद्र वहाँ शयन करते हैं। जगदम्बा कुण्डलिनी जाकर ठोकर लगाती और उनके वक्षस्थल पर भीषण नृत्य करके उनमें जीवन का सञ्चार करती है और शव को शिव बनाकर सहस्रदल पद्म में सर्वदा ही विहार करती है। यही काली का नृत्य है।

तान्त्रिक मत में एक तो यह मार्ग है और दूसरे इसी योग के शाखास्वरूप मन्त्र, ज्योति, नादादि योग हैं। पर योगमात्र की साधना तभी सिद्ध होती है, जब कुण्डलिनी जागरित हो उठे। समस्त योगों का लक्ष्य भी एक ही है। इसमें वाद-विवाद का स्थान नहीं है। इस करणीय विद्या का जो अभ्यास करेगा वही आनन्द प्राप्त कर सकेगा।

●

# शिवयोगविमर्श

योगशास्त्र के प्रवर्तक पतञ्जलि ने **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (१/२) इस सूत्र में चित्तवृत्ति के निरोध को ही योग कहा है। चित्तवृत्ति के निरोध करने में साधनीभूत जो योग हैं वे पाँच प्रकार के हैं—मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग, राजयोग तथा शिवयोग।

**मन्त्रयोगविमर्श**

वचन है—

**एकाक्षरं द्व्यक्षरं वा षडक्षरमथापि वा ।**
**अष्टाक्षरं वा मोक्षाय मन्त्रयोगी जपेत् सदा ।।**

अर्थात् एकाक्षरात्मक **ॐ** मन्त्र को अथवा द्व्यक्षरात्मक **हंसः** अथवा **सोऽहम्** मन्त्र को अथवा षडक्षरात्मक **ॐ नमः शिवाय** मन्त्र को अथवा अष्टाक्षरात्मक **ॐ ह्रां ह्रीं नमः शिवाय** मन्त्र को मन्त्रक्रम के अनुसार मोक्षप्राप्ति के लिये जप करना 'मन्त्रयोग' कहलाता है।

**लययोगविमर्श**

वचन है—

**यस्य चित्तं निजध्येये मनसा मरुता सह ।**
**लीनं भवति नादे वा लययोगी स एव हि ।।**

अर्थात् चित्त की अपनी ध्येय मूर्ति में अथवा प्राणायाम से अभिव्यक्त नाद में मन और मारुत के साथ लय होना 'लययोग' कहलाता है।

**हठयोगविमर्श**

वचन है—

**भवेदष्टाङ्गमार्गेण मुद्राकरणबन्धनैः ।**
**तत्र केवलकुम्भे वा हठयोगी वशानिलः ।।**

अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान

तथा समाधि नाम से प्रसिद्ध जो अष्टाङ्गयोग है उसके द्वारा अथवा महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डियान, मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली और शक्तिचालन आदि दश प्रकार के बन्धसमूहों से अथवा धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति इन षट् कर्मों से अथवा रेचक, पूरक प्राणायामों को छोड़कर केवलकुम्भक प्राणायाम से वायु को वश में करना 'हठयोग' कहलाता है।

**राजयोगविमर्श**

वचन है—

**त्रिषु लक्ष्येषु यो ब्रह्मसाक्षात्कारं गमिष्यति ।**
**ज्ञाने वाथ मनोवृत्तिरहितो राजयोगवित् ।।**

अर्थात् ज़ो मनुष्य बाह्य लक्ष्य, मध्य लक्ष्य, अन्तर्लक्ष्यादि से अथवा अमनस्कज्ञान (अन्तर्मुद्राज्ञान) से आत्मसाक्षात्कार कर लेता है उसी को मनोव्यापाररहित 'राजयोगी' कहते हैं और इस प्रकार के अभ्यास को ही 'राजयोग' कहते हैं।

उपरिनिर्दिष्ट चार प्रकार के योगों में राजयोग ही सर्वश्रेष्ठ है।

**राजयोग में अन्तर्भुक् शिवयोगविमर्श**—राजयोग और शिवयोग में पारमार्थिक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। तथापि परशिवब्रह्म के साक्षात्कार चाहने वाले मुमुक्षुओं की ज्ञानवृद्धि के लिये 'शिवयोग' का प्रतिपादन किया गया है। वचन है—

**न भेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्त्वतः ।**
**शिवार्थिनां तथाप्येवमुक्तो बुद्धे प्रवृद्धये ।।**

अग्रिम वचन है—

**प्रतिपाद्यस्तयोर्भेदस्तथा शिवरतात्मनाम् ।**
**तस्मान्मनीषिभिर्ग्राह्यः शिवयोगस्तु केवलम् ।।**

अभिप्राय यह है कि राजयोग और शिवयोग इन दोनों में क्या भेद है, इस विषय को शिवप्रेमियों के लिये बतलाना आवश्यक है। मुमुक्षुजनों को चाहिए कि वे इसको समझकर शिवयोग का ही अङ्गीकार करें।

गुणत्रयसाक्षात्कार ही तारकत्रय है। प्रकृति में मन को लय करना ही अमनस्कता है। इस बात को अच्छी तरह से जानकर पुरुषसाक्षात्कार के लिये प्रयत्न करना ही 'राजयोग' है, यह पातञ्जलयोगशास्त्र में कहा गया है। परन्तु शिवागमों में शिवभक्ति के आधारभूत महाकुण्डलिनीजन्य तारकत्रय के साक्षात्कार द्वारा उस शक्ति में वृत्तिज्ञान को लय करके सर्वतोमुखव्याप्त शिवतत्त्वाभिव्यक्ति को ही शिवयोग कहा गया है।

**शिवपूजा में शिवयोगत्व**

इस शिवयोग के शिवज्ञान, शिवभक्ति, शिवध्यान, शिवव्रत और शिवपूजा नाम से पाँच प्रकार हैं। शिवपूजा में ही शिवज्ञानादि का अन्तर्भाव होने के कारण प्रधानतया शिवपूजा को ही शिवयोग कहते हैं। वचन है—

**ज्ञानं शिवमयं भक्तिः शैवी ध्यानं शिवात्मकम् ।**
**शैवव्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा ।।**

जो मनुष्य शिवपूजारूप शिवयोग से विमुख रहता है, वह निश्चय ही पशु कहलाता है और संसारचक्र में जन्म-मरणादिरूप परिभ्रमण करता रहता है। वचन है—

**शिवार्चनविहीनो यः पशुरेव न संशयः ।**
**स तु संसारचक्रेऽस्मिन्नजस्रं परिवर्तते ।।**

**शिवपूजा के भेद**

शिवपूजा के दो प्रकार हैं एक अन्तःपूजा और दूसरी बहिःपूजा। इन दोनों में अन्तःपूजा ही मुख्य है। वह अन्तःपूजा बाह्यपूजा से ही उत्पन्न होती है। बाह्य इष्टलिङ्गपूजा किये विना अन्तर्लिङ्गपूजा सिद्ध नहीं हो सकती। इसलिये इष्टलिङ्गपूजा ही अन्तर्लिङ्गपूजा का मुख्य साधन है। वचन है—

**अन्तर्योगो बहिर्योगो द्विविधं तच्छिवार्चनम् ।**
**मुख्या चाभ्यन्तरी पूजा सा च बाह्यार्चनोदिता ।।**

त्रिनेत्री, त्रिगुणाधार, आणवादि मलत्रय को नाश करने वाले और अपने वामभाग में उमादेवी से शोभायमान ऐसे शिवस्वरूप परमात्मा का हृदयकमल में एकाग्रचित्त होकर ध्यान करते हुए आभ्यन्तर उपचारों का स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

शान्ति ही अभिषेक जल, विश्वव्यापकताभाव ही वस्त्र, इच्छा-ज्ञान-क्रियात्मक शक्तित्रय ही यज्ञोपवीत, स्वस्वरूपज्ञान ही गन्धानुलेपन, अत्यधिक दया ही अक्षता, परिशुद्ध भक्ति ही पुष्प, मनो-बुद्धि-अहंकार-परमान्तःकरणचतुष्टय ही धूप, इन्द्रियगुणोत्कर ही दीप, सुखदुःखरहित आत्मस्वरूप ही नैवेद्य, सत्त्वरजस्तमोगुणत्रय ही ताम्बूल तथा प्राण ही नमस्कार है। इस प्रकार आभ्यन्तरोपचारों से शिवस्वरूप परमात्मा का पूजन करना चाहिए। वचन है—

**त्रिनेत्रं त्रिगुणाधारं त्रिमलक्षयकारणम् ।**
**सर्वमङ्गलया देव्या निजवामाङ्गशोभितम् ।।**
**परं शिवं हृदि ध्यात्वा निश्चलीभूतमानसः ।**
**यजेदाभ्यन्तरद्रव्यैरवधानेन तद्यथा ।।**
**शमाम्बुपरिषेचनं सकलपूर्णभावाम्बरम् ।**
**त्रिशक्तिगुणसंयुतं विहितयज्ञसूत्रं तथा ।।**
**स्वसंविदनुलेपनं समधिकानुकम्पाक्षतान् ।**
**शिवाय विनिवेदयेत् प्रकटभक्तिपुष्पाणि च ।।**
**धूपमान्तरचतुष्टयेन तद्दीपमिन्द्रियगुणोत्करेण तु ।**
**कल्पयेच्च सुखदुःखवर्जितं जीवरूपमुपहारमान्तरे ।।**
**रजस्तमःसत्त्वगुणत्रयाख्यताम्बूलकं प्राणनमस्कृतिं च ।**
**इत्येवमाभ्यन्तरमुख्यपूजाद्रव्याणि सम्पादय शङ्कराय ।।**

**शिवयोग में अष्टाङ्गसाधन का स्थान**

शिवयोगसाधकों के लिये शिवयोग ही साध्य है और हठयोग तो साधनमात्र है। हठयोग बाह्य और आन्तर अष्टाङ्गों से युक्त है। वीरशैवों को आन्तर अष्टाङ्गात्मक हठयोग द्वारा शिवयोग का साधन करना चाहिए।

शैवदर्शन के अनुसार यम-नियम-सम्बन्धी चौबीस गुणों से आत्मशुद्धि करना, स्ववशीभूत पद्मादि आसनों से देह को स्थिर करना तथा प्राणायाम रूपी जल से दिव्य लिङ्ग का अभिषेक करना—इसी को **बाह्य चतुरङ्ग** कहते हैं। वचन है—

**यमनियमगुणैश्च स्वात्मशुद्धिं विधाय ।**
**स्ववशविविधपीठैरेव भूत्वा स्थिरात्मा ।।**

**असुनियमजलेन स्नापयेद् दिव्यलिङ्गम् ।**
**प्रकटितचतुरङ्गं बाह्यमेतद्विधानम् ।।**

इसी क्रम में शिव जी के नेत्रादि का विषयनिवृत्तिरूप प्रत्याहार ही गन्ध है, उस इन्द्रियनिवृत्ति से अन्तर्मुख हुए मन में जो शिवध्यान किया जाता है, वही ध्यानात्मक पुण्य है, उन्हीं शिव को दृढता के साथ धारण करना ही धारणा है और ज्ञाताज्ञातरूप समाधि ही नैवेद्य है। इसी को **आभ्यन्तर चतुरङ्ग** कहते हैं। शिवयोगी लोग इस प्रकार अष्टाङ्गयोग का साधन करते हुए अपने हृदयकमल में शिवात्मक परमात्मा का पूजन करते हैं। वचन है—

**शम्भोरथेन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो ।**
**ध्यानं प्रसूननिचयो दृढधारणा सा ।।**
**धूपः समाधिरथशुद्धमहोपहारम् ।**
**आभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत् ।।**
**एवमष्टाङ्गयोगेन सदाऽन्तःपद्मसद्मनि ।**
**पूजयेत्परमं देवं किं बाह्यैर्देवपूजनैः ।।**

वीरशैवमत में भक्त, महेश, प्रसादी (आकाश), प्राणलिङ्गी, शरण, ऐक्य इन नामों से प्रसिद्ध जो षट्स्थल हैं, वे ही 'शिवयोग' के मुख्याङ्ग हैं। यम-नियमादि अष्टाङ्गों का भी षट्स्थलों में ही समावेश होता है।

यम-नियमों से जो युक्त है, उसी को **भक्त** कहते हैं। आसन से जो युक्त है उसे **महेश्वर** कहते हैं। चराचर प्रपञ्च का जिस लिङ्ग में लय होता है उस लिङ्ग को **आकाश** कहते है। ऐसे आकाश में जो मनुष्य अपने प्राण का लय करता है, उसी को **प्राणलिङ्गी** कहते हैं। शिवरूप परमात्मा के ध्यान-धारणादि से जो युक्त है, उसी को **शरण** कहते हैं। समाधि में जिसका मन स्थिर हुआ है और जिसको अद्वैतभाव उत्पन्न हुआ है, उसी को **ऐक्य** कहते हैं। वचन है—

**यमेन नियमेनैव मन्ये भक्त इति स्वयम् ।**
**स्थिरासनसमायुक्तो महेश्वरपदान्वितः ।।**

**चराचरलयस्थानं लिङ्गमाकाशसंज्ञकम् ।**
**प्राणे तद्व्योम्नि संलीने प्राणलिङ्गी भवेत् पुमान् ।।**
**प्रत्याहारेण संयुक्तः प्रसीदति न संशयः ।**
**ध्यानधारणसम्पन्नः शरणस्थलवान् सुधीः ।।**
**लिङ्गैक्योऽद्वैतभावात्मा निश्चलैकसमाधिना ।**
**एवमष्टाङ्गयोगेन वीरशैवो भवेन्नरः ।।**

निष्कर्ष यह निकलता है कि अष्टाङ्गरूपी षट्स्थलों का आचरण करने वाला सज्जन ही 'वीरशैव' होता है। लिङ्गपुराण के प्रमाणों से भी इसी विषय का बोध होता है। भ्रमर के योग से कीट जैसे प्रत्यक्ष भ्रमर ही होता है, उसी प्रकार मानव भी शिवयोग से केवल शिव ही हो जाता है।

वचन है—

**कीटो भ्रमरयोगेन भ्रमरो भवति ध्रुवम् ।**
**मानवः शिवयोगेन शिवो भवति केवलम् ।।**

यही शिवयोग का रहस्य है।

●

# अस्पर्शयोग

**अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।**
**योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ।।**

गौडपादीयकारिका ३९

श्री आनन्दगिरि ने इस कारिका का अर्थ इस प्रकार किया है— वर्णाश्रमधर्म से, पापादि मल से जिसको स्पर्श नहीं होता है, जो इनसे सर्वदा असंसर्गित रहता है, वह अद्वैतानुभव अस्पर्श है। वह यह योग अर्थात् जीव की ब्रह्मभाव से योजना ही 'अस्पर्शयोग' है।

उक्त कारिका पर भाष्य लिखते हुए आचार्य शङ्कराचार्य अपना मन्तव्य इस प्रकार स्पष्ट करते हैं—

**यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम् । अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसम्बन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु । दुःखेन दृश्यत इति दुर्दशः सर्वैर्योगिभिः वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिरात्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः । योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति । अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः ।**

शाङ्करभाष्य, गौडपादीयकारिका ३९

अभिप्राय यह है कि अस्पर्शयोग सब स्पर्शों से, सब सम्बन्धों से अलिप्त रहने का नाम है और उपनिषदों में यह प्रसिद्ध है एवं अनेक स्थानों में इसका उल्लेख मिलता है। जिनको वेदान्तविहित विज्ञान का बोध नहीं होता है, उनके लिये कारिका में **'दुर्दशः'** पद का प्रयोग हुआ है। यह अस्पर्शयोग सब प्रकार के भयों से शून्य है, तो भी योगिजन इस योग से भयभीत होते रहते हैं—वह भय यह कि कहीं इस प्रकार अस्पर्शयोग द्वारा अद्वैततत्त्व में मिल जाने से आत्मतत्त्व का नाश समझने वाले योगियों का अविवेक ही है। अर्थात् अविवेकियों को ही ऐसा भय रहता है, अन्यों को नहीं।

उपनिषदों में—

**न लिप्यते कर्मणा पापकेन ।**

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/२३

इत्यादि वचन मिलते हैं। अस्पर्शयोग वाले योगिजन पुण्य-पाप से अलिप्त रहते हैं। इस प्रकार उपर्युक्त कारिका, उस पर शांकरभाष्य और श्री आनन्दगिरि द्वारा कृत टीका का अभिप्राय विशुद्ध अद्वैतपरक अस्पर्शयोग को प्रतिपादित करना है।

'अभय' के विषय में अधोलिखित कारिका है—

**मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।**
**दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ।।**

अभिप्राय यह है कि आत्मदर्शनतत्त्व तो मन के निग्रह के अधीन है, जिससे समस्त दुःखों का क्षय होता है और प्रबोधचन्द्र का उदय भी। इससे अक्षय शान्ति भी मिलती है। यही 'अभय' पद का अर्थ है।

गीता का कर्मयोग भी एक प्रकार से अस्पर्शवाद ही है। उसमें भी फल की आकांक्षा से रहित (अस्पर्श) रहकर कर्म करना पड़ता है। फल की आकांक्षा त्यागकर केवल कर्तव्य के लिये कर्तव्य करते रहने से पुरुष पाप-पुण्य से अलिप्त रहकर मोक्ष का अधिकारी बन जाता है। ध्यानयोग का जो फल है, वही फल इस प्रकार के अस्पर्शवाद का है—

**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।**
**एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ।।**

भगवद्गीता ५/५

**योग का 'ध्यानयोग' गौडपाद का 'अस्पर्शयोग' गीता का 'कर्मयोग'**

**तीनों का एक फल**

**मोक्ष**
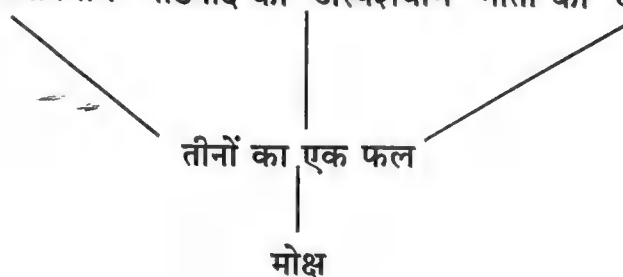
वस्तुतस्तु जितना भी दुःख है वह है स्पर्श का अर्थात् कर्मफल में लिप्त रहने का। गीता का वचन है—

**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।**
**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।**

भगवद्गीता ५/२२

संसार के लिये जितने संस्पर्शज भोग हैं, वे दुःख के ही कारण हैं। बुद्धिमान् पुरुष उनमें रमते नहीं, पृथक् रहते हैं, अस्पर्श से काम लेते हैं, तब वे पुण्यापुण्य से ऊपर उठते हैं, तब आत्मदर्शन कर पाते हैं, तब अभय में लीन हो जाते हैं। यह अस्पर्शयोग अत्यन्त दुष्कर है। साधारण योगियों का तो कहना ही क्या, बड़े-बड़े योगियों को भी अप्राप्य है। यह तो अभ्यास और वैराग्य से वशीकारसंज्ञा प्राप्त करने पर सहजगम्य है।

पुराकाल में हमारे इस भारतखण्ड में इस प्रकार के उच्चकोटि के योगियों की कमी नहीं थी। अब भी यह खण्ड शून्य नहीं है। परन्तु पुराकाल का वह गौरव नहीं रहा है। अधुना, पारमार्थिक सत्य को समझाने वाले हमारे देश में कितने मिलेंगे? और कहाँ मिलेंगे? यदि मिलेंगे तो किस प्रकार पहचाने जायेंगे? पहचाने भी गये तो वे किस प्रकार प्रसन्न होंगे और सद्रूप तत्त्व को समझायेंगे? गौडपादीय वचन है—

**न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते ।**
**एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र कश्चिन्न जायते ।।**

गौडपादीयकारिका ४८

वस्तुतः कर्त्ता-भोक्ता जीव तो कभी उत्पन्न ही नहीं होता है। स्वभाव से जो अज है, एक ही आत्मा है, वह उत्पन्न भी कैसे हो सकता है? संसार में जितने सत्य हैं उनमें परमार्थ सत्य यह है कि उस सत्यस्वरूप ब्रह्म में अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होता है।

अब रही द्वैताद्वैत की बात, उसको गौडपादीय कारिका से इस प्रकार स्पष्ट किया है—

**मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।**
**मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ।।**

गौडपादीयकारिका ३१

अभिप्राय यह है कि द्वैत की सब बात मन के अधीन है अर्थात् मन के कारण है। मन ही जब लीन-विलीन हो गया तब द्वैत कहाँ? द्वैत की बात बोलने वाला कहाँ?

●

# लययोग का स्वरूप : एक यौगिक दृष्टि

**सिद्धासने स्थितो योगी मुद्रां सन्धाय वैष्णवीम् ।**
**शृणुयाद् दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सदा ।।**

नादबिन्दूपनिषद् ३१

अर्थात् सिद्धासन में स्थित योगी नेत्रों को अर्धोन्मीलित करके दृष्टि को अन्तर्मुखी रखे और सर्वदा दक्षिण कर्ण से अन्तर्गत नाद का श्रवण करे।

**यत्र कुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ।**
**तत्र तत्र स्थिरीभूत्वा तेन सार्धं विलीयते ।।**

नादबिन्दूपनिषद् ३८

अर्थात् जहाँ कहीं नाद में सर्वप्रथम मन लगता है, वहाँ-वहाँ स्थिर होकर उसके ही साथ विलीन हो जाता है।

सृष्टि के आदि में स्वयंप्रकाश, अखण्ड, एकरस, एक ही अद्वैत ब्रह्म था। उसके अतिरिक्त दूसरा कोई न था। स्पन्दन और अस्पन्दन नामक दो शक्तियाँ शिवरूप इस ब्रह्म में निगूढ थीं। प्राणियों के कर्मविपाक के द्वारा लय के पश्चात् सृजन होता ही है। इस न्याय के अनुसार ब्रह्म में स्वभावतः संकल्प स्फुरित हुआ—

**एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय ।**

छान्दोग्योपनिषद् ६/२/३

अर्थात् बहुत होऊँ, सृष्टि करूँ। संकल्प के स्फुरणमात्र से ही, ईक्षण-मात्र से ही स्पन्दन और अस्पन्दन शक्तियों का संयोग हुआ और एक महाशक्ति उत्पन्न हुई। गुणत्रय की साम्यावस्थारूप जड़-चेतन-विभागमयी यह महाशक्ति ही प्रकृति है। दर्पण में जैसे सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है, वैसे ही चिदात्मा (Pure Consciouness) के प्रकृति में प्रतिबिम्बित होते ही, प्रकृति के दो रूप हो गये। स्पन्दनांशमय प्रकृति का जड अंश 'परा प्रकृति' कहलाया और अस्पन्दनांश चेतन अंश के रूप में 'अपरा प्रकृति' माना गया।

शास्त्रीय परिभाषा में प्रकृति के स्पन्दनांश को 'पर प्रणव' और अस्पन्दनांश को 'अपर प्रणव' कहते हैं। इसमें परप्रणव 'वाच्य' और अपरप्रवण 'वाचक' है। वाच्य प्रणव अपवादरूप है और वाचक प्रणव अध्यारोपरूप है। इस वाच्य और वाचक प्रणव के संयोग से एक महच्छक्ति उत्पन्न होती है जो विवृच्छक्ति कहलाती है।

यह विवृच्छक्ति जगत् की उत्पत्ति का कारण है। परब्रह्म की ईक्षणाशक्ति जगत् का महाकारण है। ईक्षणाशक्ति के द्वारा ही यह विवृच्छक्ति प्रेरित होती है, आयोजन करती है और सृष्टि-संकल्प करती है। सृष्टि-संकल्प की इस विधि का शास्त्रीय नाम पर्यालोचना (Cosmic ideation) है।

परप्रणव की सत्तामात्र से अर्थात् पराप्रकृति की सन्निधि से अपरप्रणव अर्थात् अपरा प्रकृति में सङ्कल्पविवृत्ति प्रारम्भ हुई और वह अकार, उकार और मकार के तीन रूपों में विभक्त हो गई।

सूर्य एक होते हुए भी अनेक स्थलों में प्रतिबिम्बित हो सकता है, उसी प्रकार परब्रह्म अद्वय होते हुए भी प्रकृतिजन्य विभक्ति के द्वारा तीन महाशक्तियों के रूप में भासमान होता है। ब्राह्मी, वैष्णवी और माहेश्वरी शक्ति के रूप में ये तीनों महाशक्तियाँ जगत् की उत्पत्ति, स्थिति और लय का कारण बनीं। ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर ये इन तीन शक्तियों के अधिष्ठातृदेव हैं। ये तीन महाशक्तियाँ **'सृष्टिसङ्कल्पशक्तय:'** नाम से प्रसिद्ध हैं।

इनमें से प्रत्येक शक्ति में परब्रह्म के ईक्षण द्वारा प्रवृत्त हुई विवृच्छक्ति की प्रेरणा से कितने ही विशिष्ट प्रकार के संक्षोभ होने लगे। इस संक्षोभ के परिणाम से अकार में से एक सूक्ष्म शब्द उत्पन्न हुआ और मकार में से एक अत्यन्त स्थूल शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। इस शब्द को यौगिकविज्ञान में 'नाद' नाम से पुकारा जाता है।

प्रणव के अ-उ-म् इन अङ्गों से उद्भूत इन महाशक्तियों से क्रमशः मनोबीज, प्राणबीज और अहंबीजरूप में सृष्टि, स्थिति और प्रलय के कारणबीज प्रकट हुए। सूक्ष्म शब्दशक्ति को सृष्टिबीज कहा जाता है। और इसे नादशास्त्र की परिभाषा में मनोबिन्दु कहते हैं। स्थूलशब्द प्राणबिन्दु है। प्राणबिन्दु ही सृष्टि का स्थितिबीज है। अत्यन्त स्थूल शब्द को शास्त्र अहंबिन्दु कहता है। अहंबिन्दु ही सृष्टि का लयबीज है।

सूक्ष्म शब्द ब्रह्म है। इस शब्द में रहने वाली सूक्ष्म नादशक्ति ब्राह्मीशक्ति है। परब्रह्म की ईक्षणाशक्ति द्वारा विवृच्छक्ति में यह ब्राह्मी शक्ति सूक्ष्म नादरूप में प्रकट होती है। यही शक्ति विश्वसृजन का कारण है।

स्थूल शब्दशक्ति में वैष्णवी शक्ति विराजमान है। उसका अधिष्ठाता विष्णु है। यही वैष्णवी शक्ति प्राणबिन्दु की उत्पत्ति का आदिकारण है। प्राण को विष्णुपदामृत कहा गया है। परब्रह्म की ईक्षणाशक्ति के प्रभाव से विवृतशक्ति में जो स्थूल नाद उत्पन्न होता है, वही वैष्णवी शक्ति का प्राण है, वही शक्ति अखिल विश्व की स्थिति का कारण है।

अत्यन्त स्थूल शब्द में रहने वाली लयशक्ति का अभिमानी देवता महेश्वर है। परब्रह्म की ईक्षणा के परम प्रभाव से विवृच्छक्ति में जो अत्यन्त स्थूल नाद प्रकट होता है, वही वैष्णवी शक्ति का प्राण है, यही शक्ति विश्व प्रलय का महाकारण है।

मनोबीज, प्राणबीज और लयबीज में प्रत्येक के आदिकारणरूप में निगूढ रहने वाली निनादशक्ति का यौगिकविज्ञान में क्रमशः अ उ म् रूप सांकेतिक परिभाषा में वर्णन किया जाता है। इसी कारण प्रणव को परब्रह्म की सृष्टि-संकल्पशक्तियों के समुच्चय के रूप में माना जाता है। परब्रह्म की इस त्रिमूर्तिरूप विभूति को ही ईश्वर कहते हैं। इसी कारण से प्रणव को ईश्वर का वाचक कहा जाता है। सूत्र है—

**तज्जपस्तदर्थभावनम् ।**

योगसूत्र १/२८

इस भावना से ध्यान की एकाग्रता आवश्यक है। यह एकाग्रता नादानुसन्धान से सहज ही सिद्ध हो सकती है। नादानुसन्धान की विधि की सांकेतिक सूचना आलेख के प्रारम्भ में की गई है। इसका विस्तार नादबिन्दूपनिषद् तथा इसी प्रकार के योगविज्ञानप्रधान अनेक उपनिषदों में प्राप्त होता है। लययोग के अङ्ग नाद और बिन्दु के रहस्यसिद्धान्त का विवेचन ही प्रस्तुत लेख का प्रधान विषय है, उसी को स्पष्ट करने का यहाँ प्रयास किया जा रहा है।

जिस प्रकार वटवृक्ष के एक अल्प बीज में वट का एक महावृक्ष प्रकट हो जाता है उसी प्रकार मनोबिन्दुरूपी सृष्टिगर्भ में से अन्न और अन्नाद

(The food and the enjoyer of the food) रूप में चित्र-विचित्र नामरूपात्मक स्वरूपों में विश्व की उत्पत्ति हुई। वचन है—

वटधानाद्यथा वृक्षो महान् संजायते तथा।
मनोबिन्द्वात्मकात् सृष्टिबीजगर्भात् स्वभावतः।।
अन्नान्नादस्वभावेन जगदेतच्चराचरम्।
अभूदव्यक्तरूपेण नानाचित्रविचित्रकम्।।
स्थूलशब्दः समाकृष्य ततस्तमतिविस्तृतम्।
स्वात्मन्यन्तर्ददे सम्यक् सृष्टिबीजेन संयुतम्।
सूक्ष्माकाराज्जगद्रूपं स्वात्मन्येव ततः स्वयम्।
सृष्ट्वा पुनस्तत्सम्बन्धे सुखदुःखान् प्रभुञ्जति।।
ततोऽतिस्थूलशब्दस्तच्छब्दद्वयं तथैव हि।
तन्निष्ठजगदाकारं चाकृष्य स्वीयचेतसा।।
स्वात्मन्येवोपसंहृत्य ज्योतिरूपे यथाक्रमम्।
प्राणबिन्दुर्ज्योतिमध्ये स्वयं संलीयते ततः।।
तत्र स्थितचिदाभासः प्राणबिन्दुस्वभावतः।
विहाय स्वावरणवृत्त्या युक्तः परमात्मनः।।
कूटस्थस्य प्रकाशानन्दसुखं स्वस्वरूपकम्।
परप्रणवमारुह्य प्रविशत्यतिवेगतः।।
तथापि वृत्त्युपाधित्वात्स्वानन्दस्फूर्तियाचकम्।
लभते पूर्वानुभूत्या स्वस्वरूपं न विन्दति।।
पुनस्तत्प्राणबिन्दुस्थशब्दसञ्चलनं यदा।
प्राणिकर्मविपाकेन भवेत्पश्चात्स्वभावतः।।
तदा शब्दः स्वांशुरूपवृत्तिं समपकर्षति।
चिदाभासयुता वृत्तिः पुनः शब्दं प्रविश्यति।।
तच्छब्दस्तच्चिदाभाससान्निध्यादेव केवलम्।
स्थूलातिस्थूलसूक्ष्मस्वभावं व्रजति पूर्ववत्।।

प्रस्थानत्रय, मधुसूदनसरस्वतीकृत

अभिप्राय यह है कि इस मनोबिन्दु अथवा सृष्टिबीजगर्भ को स्थूल शब्द या प्राणबीज अपनी शक्ति से अपने में आकर्षण कर उसी में तद्रूप होकर स्वयं ही पुनः स्वयंकल्पित सृष्टि के उपभोग द्वारा तत्सम्बन्धजन्य सुख-दु:खादि का अनुभव करने लगा।

अत्यन्त स्थूल शब्द अथवा अहंबिन्दु सूक्ष्म शब्दजनित और स्थूल शब्द में प्रत्युत्पन्न इस प्रकार दोनों ही प्रकार की सृष्टि के साथ सूक्ष्म और स्थूल शब्दबीजों को अपने तेज से अपने में आकर्षण करके प्राणबिन्दुज्योति में संलीन होकर उपभोग करने लगा।

प्राणबिन्दु को अपनी वृत्ति के साथ इस प्रकार उपभोग करता हुआ उसमें विराजमान जीवात्मा (चिदाभास The reflection of th pure consciousness thercin) परप्रणव के आश्रय से पूर्वानुभव के द्वारा ब्रह्मसंस्पर्श का अनुभव करने जाता है, परन्तु वृत्ति के आवरण के कारणस्वरूप सत्य का भान उसे नहीं होता।

पूर्वजन्म के कर्मों का परिपाक पूर्ण हो जाने पर प्राणबिन्दु में रहने वाले स्थूल शब्द में क्षोभ उत्पन्न होता है। अर्थात् वह अपने अंशरूप वृत्ति का सञ्चालन कर उसको अपने में संकर्षण कर लेता है। इस प्रकार चिदाभास के साथ वर्तमान वृत्ति पुनः शब्द में प्रवेश करती है। चिदाभास के सान्निध्यमात्र से वह शब्द स्थूल में से अतिस्थूल और उसमें से सूक्ष्म स्वभाव को पूर्ववत् प्राप्त होता है। यही उन्मनी अवस्था का मार्ग है। यही जीवात्मा के मोक्ष (स्वरूपस्थिति) का क्रम है। लययोग का यही रहस्य है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार विवृच्छक्ति निर्विकार परमात्मा में अपर प्रणव अथवा अपरा प्रकृति द्वारा विकार की कल्पना उपस्थित करती है। अपर प्रणव का कार्य क्या है? इसे अच्छी तरह समझकर उसमें से चित्तवृत्ति को प्रत्यावर्तित कर परप्रणव में लगाया जाय, यही लययोगी का प्रथम कर्तव्य है। लययोगी भली-भाँति समझता है कि परप्रणवांशरूप हिरण्मय पुरुष की अर्थात् परब्रह्म की परा प्रकृति अपर प्रणवाकार वर्णशब्द को अपने में आकर्षित कर अपना एक तेजोमण्डल निर्माण करती है। सूक्ष्म, स्थूल और अत्यन्त स्थूल बीजगर्भमय इस तेजोमण्डल के आदित्यमण्डल, हिरण्यगर्भ, त्रयीमण्डल, सूर्यमण्डल ये नाम शास्त्रों और उपासकों में प्रसिद्ध हैं।

इस मण्डल का आदिभाग अकारांश है, वह अग्निस्वरूप है। यही मनोबिन्दु है। मध्यभाग उकारांश है, वह वायुस्वरूप है और वही प्राणबिन्दु कहलाता है। अन्त्यभाग मकारांश है, वह आकाशरूप है और अहंबिन्दु नाम से पुकारा जाता है। **भूर्भुवःस्वः** ये तीन व्याहृतियाँ उसी के तीन प्रकारान्तर नाम हैं। त्रयीविद्या में प्रणवस्वरूपी इसी आदित्यमण्डल का ध्यान करने के लिये कहा गया है।

हिरण्यगर्भ की ईक्षणशक्ति से तीन सौ पचास कोटि शक्तियों से युक्त वर्णगर्भ बंधता है और उसमें रहने वाली गुप्त शक्ति के द्वारा वर्णमातृका का जन्म होता है। मातृका के प्रत्येक वर्ण में सृष्टि-स्थिति-लयकारक सर्वतोमुखी सप्त कोटि शक्तियाँ रहती हैं, उनके द्वारा वाणी और अर्थ का सन्दर्भ सुरक्षित होता है। मातृका के वर्ण परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी द्वारा वर्णमातृका के वाहन के ऊपर मनोबीज का विस्तार करते हैं और सृष्टिक्रम का प्रारम्भ होता है। वर्ण अपनी शक्ति के प्रभाव से प्रकृति और प्रत्ययरूप में विभिन्न रूप धारण करते हैं।

प्रकृति का अर्थ है विवृत चित्स्वभाव (Menifested consciousness) और प्रत्यय है प्रकृति के भाव को प्रकट करने वाली वस्तु। इस प्रकार वर्ण और वर्ण में रहने वाली शक्ति के द्वारा नामरूपात्मक सृष्टि की रचना होती है। रज्जू में जैसे सर्प की भ्रान्ति होती है उसी प्रकार यह चराचर जगत् भासमान होता है। प्रणव में रहने वाली वर्णशक्ति के द्वारा निर्गुण, निर्मल, नित्य, चिदानन्दमय परमात्मा के केवल अध्यारोप के द्वारा नामरूपात्मक जगत् की कल्पना होती है। इस अध्यारोप का होना अपर प्रणव का कार्य है। अध्यारोप ही सृष्टिक्रम है। मनोबीज के साथ वर्तमान वर्णविस्तार को खींचकर होते हुए अध्यारोप को रोकना संहारक्रम है।

अध्यारोप होना अपरप्रणव अथवा अपरा प्रकृति का कार्य है। अपरप्रणव की इस लीला को माया, अविद्या अथवा मूलप्रकृति के नाम से तत्त्ववेत्ता जानते हैं। अपरप्रणव में से चित्तवृत्ति को क्रमशः खींचने का नाम संहारक्रम है। यह सचाचर जगत् स्वकल्पित है। इस कल्पना में से वृत्ति को वापस लौटाना और यह सब परप्रणव प्रकाशरूप है, ऐसा विचार कर मातृकोपसंहारपूर्वक एकाग्रता साधन कर वृत्ति को ध्यानस्थ करना और इन

क्रियाओं के साथ दाहिने कान में सुनाई देने वाले नाद को साधन बना उसे सुनते-सुनते क्रमशः उसमें विलीन होकर—

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

योगसूत्र १/३

अपने स्वरूप में स्थित होना ही लययोग का परम रहस्य है। लययोग का मार्ग हठयोग की अपेक्षा सहज और भयरहित है। नादबिन्दु, अमृतबिन्दु (ब्रह्मबिन्दु) ध्यानबिन्दु, तेजोबिन्दु आदि वैष्णव, शैव और शाक्त मतानुयायी अनेक उपनिषदों में इस योग का महत्त्व दिखलाया गया है। सब का सार यह है कि मनोबिन्दु, प्राणबिन्दु, अहंबिन्दु प्रभृति बिन्दुमात्र का और बिन्दु के बीजकरूप सूक्ष्म, स्थूल और अतिस्थूल शब्दमात्र का स्वस्वरूपावसानपूर्वक संहार कर अर्थात् नादमय समस्त भूमिकाओं का त्यागकर स्वरूप में स्थिति कर उसी में लीन हो जाना लययोग अर्थात् नाद और बिन्दु का रहस्य है। तभी साधक अपनी महिमा में स्वयं स्थित होकर स्वयं प्रकाशित होता है। कहा गया है—

**स्वे महिम्नि स्वयं स्थित्वा स्वयमेव प्रकाशते ।**

मैत्रायण्युपनिषद् ६/२८

●

# नादानुसन्धान

योग कहते हैं चित्त की वृत्तियों के निरोध को। इस निरोध की स्पष्टता कठोपनिषद् के अधोलिखित मन्त्रों में कही है—

**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।**
**बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम् ।।**
**तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम् ।**
**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ ।।**

कठोपनिषद् २/३/१०-११

अभिप्राय यह है कि जिस काल में सविकल्प समाधि के साधन से, निर्विकल्प समाधि सिद्ध होती है, मन दृश्य का चिन्तन त्यागकर वृत्तिरहित हो जाता है, उस काल में साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है। अर्थात् **'उपाधिविलयात् विष्णोः'** के अनुसार अज्ञान की कार्यरूप वृत्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। स्वरूपतः जीव-ब्रह्म में अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है। योगाभ्यास के बल से उस उपाधि का लय कर लेने पर जीवात्मा ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। यही तथ्य दक्षिणामूर्ति जी ने वेदान्तडिण्डिम में कहा है—

**न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन न मानं स्यादिति ।**
**न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन न मानं स्यादिति ।**

वेदान्तडिण्डिम ६२,६३

अभिप्राय यह है कि जीव-ब्रह्म का स्फुरणरूपी वृत्ति से भेद है, स्वरूप से भेद नहीं। चेतन में अविद्या की जो उपाधि, जगत् की सत्यता, स्वरूप का विस्मरण तथा दृश्य में आसक्ति है, यही जीवदशा है। आचार्य शङ्कर ने स्वरचित योगतारावली ग्रन्थ में मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान को अधोलिखित श्लोकों द्वारा बताया है—

**सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके ।**
**नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम् ।।**
**नादानुसन्धान ! नमोस्तु तुभ्यं त्वां साधनं तत्त्वपदस्य ज्ञाने ।**
**भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे ।।**
**सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ।**
**नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ।।**

योगतारावली २,४,६

अभिप्राय यह है कि योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिव जी ने मन के लय होने के सवा लक्ष (सपादलक्ष) साधन बतलाये हैं। उन सबमें नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है। आप परम पद में स्थित कराते हैं। आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णु के परम पद में लय हो जायेंगे। योगसाम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो तो समस्त चिन्ताओं का त्यागकर सावधान हो एकाग्रमन से अनहतनाद को सुनो।

शुक योगेन्द्र के शिष्य श्री चरणदास ने भी अनहतनाद की महिमा गाई है—

**अनहत के सम और ना फल बरन्यो नहिं जाय ।**
**पटतर कछु न दे सकूं सब कुछ है वा भाँय ।।**
**पाँव थके आनन्द बढ़े अरु मन ही बस होय ।**
**शुकदेव कही चरनदास से आप अपन जाय खोय ।।**
**नाडिन में सुषुम्ना बड़ी सो अनहत की मात ।**
**कुम्भक में केवल बड़ा वह वाहीका तता ।।**
**मुद्रा बड़ी जो खेचरी बाकी बहिनी जान ।**
**अनहत सा बाजा नहीं और न या सम ध्यान ।।**
**सेवक से स्वामी होवे सुने जो अनहत नाद ।**
**जीव ब्रह्म होय जाय है पावे अपनी आद ।।**
**खिड़की खोली नाद की मिला ब्रह्म में जाय ।**
**दसों नाद के लाभ की महिमा कही न जाय ।।**

शिवसंहिता में भी मन को लय करने में उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है। जैसे—

**नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भसमं बलम् ।**
**न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ।।**

अभिप्राय यह है कि सिद्धासन के तुल्य कोई लाभदायक आसन नहीं है। केवल कुम्भक के तुल्य कोई बल नहीं है। खेचरी मुद्रासदृश कोई उपयोगी मुद्रा नहीं है। मन को लय करने वाले साधनों में अनहतनादसदृश कोई अन्य साधन नहीं है। मन को लय करने के अनेक साधन हैं, परन्तु उनमें नादानुसन्धान ही उत्तमोत्तम है।

**'अनहत' नाद के प्रकट करने का गुप्त साधन**

प्रत्येक मनुष्य की काया में लगभग साढ़े तीन कोटि रोम हैं। जब साधक साढ़े तीन कोटि परमात्मा के नाम का जप सद्‌गुरुमार्ग से कर लेता है तब अनहतनाद प्रकट हो जाता है। यह तो जिनकी वायु की प्रकृति हो, उनके लिये है। जिनकी पित्त प्रकृति होती है, उनकी तो नाडियाँ शीघ्र शुद्ध होने से सद्‌गुरुमार्ग से सवा कोटि जप करने से ही नाद प्रकट हो जाता है। नाद दश प्रकार का है। अभ्यास करते-करते जब दशम नाद, जो मेघगर्जन के तुल्य है, प्रकट होता है, तब नौ नादों को जोड़कर दसवाँ नाद ही सुनते रहना चाहिए। दसवें नाद की पक्वावस्था में प्राणवायु और मन दोनों ही लय हो जाते हैं। मन-पवन का लय होने पर ब्रह्मपद ही शेष रह जाता है। ब्रह्मनाडी जो सुषुम्ना है, उसके भीतर प्राणवायु का प्रवेश होने पर नाद का प्रकट होना आरम्भ होता है। शनैः-शनैः अनहत को सुरत के बल से दक्षिण कर्ण से सुनते रहना चाहिए। अभ्यास की पक्वावस्था में कुण्डलिनी शक्ति जागरित होकर ब्रह्मज्ञान कराती है।

अन्त में कुण्डलिनी शक्ति भी ब्रह्म में लय हो जाती है। जीवदशा नष्ट होकर ब्रह्मपद प्राप्त होता है। जागरित कुण्डलिनी ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि को भेद करके अनेक प्रकार के चमत्कार दिखाती है। जब तक कुण्डलिनी शक्ति जागरित नहीं होती तब तक मनुष्यों का ज्ञान भ्रमात्मक और संशययुक्त ही रहता है। चतुर साधकों को चाहिए कि योगानुभवी सद्‌गुरु की शरण लेकर कुण्डलिनी जागरित करे। ऐसा होने पर ब्रह्म का सम्यग् ज्ञान

करामलकवत् होकर मुक्ति दिलाता है। इस अवस्था में दृश्यरूपी भ्रम दृश्य के देखते रहने पर भी दु:खदायी नहीं रहता है।

**त्रिबन्ध**—अग्रिम प्रतिपादित हठयोग के साधन अत्यधिक लाभदायक हैं। इन साधनों से शरीर की नीरोगता, भजन की निर्विघ्नता, प्राणापान की समता, बिन्दुजय इत्यादि अनेक लाभ होते हैं। हठयोग के चौरासी आसनों में सिद्धासन और पद्मासन प्रमुख हैं। सिद्धासन की पक्वावस्था में अपान प्राण में मिल जाता है, योनि के पीडन से अग्नि दीप्त होती है, स्वप्नदोष की निवृत्ति होती है। इस पद्धति से बन्धजय होता है। सिद्धासन के समय मूलबन्ध और खेचरी मुद्रा करने से अपानवायु प्राणवायु में मिल जाता है। बद्ध पद्मासन से समस्त रोगों का विनाश और बहत्तर हजार नाडियों का मलशोधन होता है। प्राणायाम और बन्धत्रय का फल है—

**प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ।**
**प्राणायामवियुक्तेभ्य: सर्वरोगसमुद्भव: ।।**

योगचूडामण्युपनिषद् ११६

**प्राणायामैर्दहेद्दोषान्धारणाभिश्च किल्विषम् ।**
**प्रत्याहरेण विषयान् ध्यानेनानीश्वरान् गुणान् ।।**

योगोपनिषद् १५

**दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मला: ।**
**तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा: प्राणस्य निग्रहात् ।।**

मनुस्मृति ६/७१

**न बहि: प्राण आयाति देहस्य मरणं कुत: ।**
**केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिद्ध्यति भूतले ।।**

योगशिखोपनिषद् १/१६२

अभिप्राय यह है कि गुरुगम्य प्राणायाम करने से सब रोग नष्ट हो जाते हैं। दूसरी ओर अमर्यादित प्राणायाम से रोगवृद्धि की सम्भावना बनी रहती है। प्राणायाम का सम्यक् अभ्यास होने से और वात-पित्त-कफ समभाव में रहने से शरीर नीरोग रहता है। कुम्भक प्राणायाम की अवस्था में मन मल रहित हो जाता है। धारणा से पापों का नाश होता है। प्रत्याहार से इन्द्रियों

का जो विषयों से संसर्ग है, वह निवृत्त हो जाता है। ध्यान से परमात्मा का ज्ञान होता है। समाधि से साधक निर्लिप्त केवलीभावरूप मुक्ति को प्राप्त करता है। जैसे अग्नि में तप्त सुवर्ण मलरहित होकर शुद्ध हो जाता है, वैसे ही प्राणायामरूपी वायुनिरोध से इन्द्रियाँ प्रमादरूप अवगुण छोड़कर शुद्ध हो जाती हैं। जिस योगी का प्राण बहिर्गमन ही नहीं करता, उसकी मृत्यु कैसी? जिस योगी का केवलकुम्भक प्राणायाम सिद्ध हो गया उसको कुछ भी दुर्लभ नहीं है।

मराठी भाषा के योगग्रन्थ में एकनाथ ने लिखा है—

**प्राणवायूचें धारण तेंचि स्वच्छन्द मृत्यूचें लक्षण ।**

अभिप्राय यह है कि जिस योगी ने प्राणवायु को अपने वश में करके केवलकुम्भक को प्रतिष्ठित कर लिया है, उसकी इच्छामृत्यु होती है। जैसे भीष्म पितामह ने अपनी काया को दक्षिणायन में न त्यागकर स्वेच्छानुसार उत्तरायण में त्याग किया। यह प्राणविद्या की महिमा है। जहाँ तक प्राणवायु कुम्भक से निरुद्ध है, वहाँ तक मन भी वृत्तिरहित है और दृष्टि भी भ्रकुटी में अचल है। ऐसी अवस्था में काल का भय नहीं है।

स्वामी चरणदास ने प्राणवायु की महिमा बतलाते हुए लिखा है—

**प्राणायाम बड़ा तप भाई । प्राणायाम सम बल नहीं कोई ।।**
**प्राणवायुकूँ यह बस लावे । मनकूँ निश्चल कर ठहरावे ।।**
**आयुर्दाको यही बढ़ावे । तन में रोग रहन नहीं पावे ।।**
**मोक्षमार्ग को यह पहुँचावे । चरनदास शुकदेव सुनावे ।।**

प्राणायाम का अभ्यास करते समय पूरक में मूलबन्ध, कुम्भक में जालन्धरबन्ध और रेचक में उड्डियानबन्ध करना चाहिए। गुरु की छत्रच्छाया में ही इनका अभ्यास करना चाहिए। पुस्तकीय ज्ञान को अभ्यास का आधार बनाना हानिकर रहता है। 'बन्ध' का लाभ बतलाते हुए योगचूडामण्युपनिषद् में कहा है—

**अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।**
**युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।।**

योगचूडामण्युपनिषद् ४७

मूलबन्ध और खेचरी मुद्रा के अभ्यास से अपान प्राण में विलीन हो अग्नि की दीप्ति से मल-मूत्र अल्प हो जाता है। मूलबन्ध के सतत् अभ्यास से वृद्ध साधक भी युवा हो जाता है। जिस साधक ने मूलबन्ध पक्व कर लिया है, उसके समस्त विघ्न नष्ट हो जाते हैं और जैसे पञ्चमुख महादेव अजरामर हैं, वैसे ही केवलकुम्भक सिद्धिप्राप्त योगी भी हो जाता है। जालन्धरबन्ध का फल है—

**कण्ठं संकोचयेत् किञ्चिद्बन्धो जालन्धरो ह्ययम् ।**
**बन्धयेत्खेचरीमुद्रां दृढचित्तः समाहितः ।।**

योगशिखोपनिषद् ५/३९

**कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।**
**जालन्धरकृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम् ।।**

अभिप्राय यह है कि जालन्धरबन्ध में चिबुक (ठोढी) को नीचे झुकाकर हृदय के चार अङ्गुल ऊपर स्थित करे। इससे सोलह आधारों का बन्धन होता है।

इसी भाँति उड्डीयानबन्ध भी लाभकारी है। ध्यानबिन्दूपनिषद् में कहा है—

**उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र बन्धो विधीयते ।**
**उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत् ।।**
**उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो मृत्यु मातङ्गकेसरी ।**
**बध्नाति हि शिरोजातमधोगामिनभोजलम् ।।**

ध्यानबिन्दूपनिषद् ७६-७७

फलितार्थ यह है कि रेचक के समय नाभि पीछे खींचकर मेरुदण्ड से संयुक्त करे, इससे वायु सुषुम्ना में प्रवेश करेगा और अन्त में अभ्यास करते-करते ब्रह्मरन्ध्र में वायु का लय हो जायेगा।

इस प्रकार नादानुसन्धान उपनिषद्वाङ्मय का महनीय विषय है।

●

# पातिव्रतयोग : एक परिशीलन

अनादि संसृतिपारावार में मायानिर्मित सुख-दुःख-मोहात्मक प्रपञ्च के बन्धन से परवश हुआ जीव तब तक स्वतन्त्र और अनन्त सुखी कदापि नहीं हो सकता, जब तक कि वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डाधीश्वर, निराकार, निर्विकार परब्रह्म का साक्षात्कार न कर ले। उसके साक्षात्कार के लिये यज्ञ, तपस्या, दान, यम, नियम, स्वाध्यायादि अनेक उपायों में योग एक सर्वश्रेष्ठ उपाय है। धर्मशास्त्र के उपदेशक शिरोमणि योगिराज याज्ञवल्क्य ने आत्मसाक्षात्कार करने के लिये अनेकानेक धर्मों का निरूपण करते हुए योगमार्ग द्वारा आत्मसाक्षात्कार करने को परम धर्म बतलाकर योग की सर्वश्रेष्ठता प्रदर्शित की है—

**अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम् ।**

याज्ञवल्क्यस्मृति १/८ उत्तरार्द्ध, उपोद्धातप्रकरण

तत्-तद् अधिकारियों की तत्तद् भावना के अनुसार वेदशास्त्रों में योग के नाना प्रकार के भेद वर्णित हैं। अत एव प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने वर्ण, आश्रम तथा भावनानुकूल अधिकारों के अनुसार योग का आश्रय लेकर उस परमपद (मोक्ष) को प्राप्त करता है।

स्त्रियों के लिये इसी परम पद को प्राप्त करने का एकमात्र साधन पातिव्रतयोग है। वस्तुतस्तु 'पातिव्रत' योग का अपर पर्याय है। विचार करने पर यह विदित होता है कि योग और पातिव्रत में तथा उनकी साधनप्रणाली में किञ्चित् भी अन्तर नहीं है। क्योंकि—

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**

योगसूत्र १/२

पतञ्जलि के उक्त सूत्र के अनुसार चित्त की चञ्चल वृत्तियों को असन्मार्ग (विषयों) से प्रत्यावर्तित करके भगवान् (अभिमत ध्यान) की किसी सगुण या निर्गुण मूर्ति में उसे स्थिर करना ही 'योग' है। तब क्या

चित्तवृत्तिसहित बहिर्मुख इन्द्रियों को असन्मार्ग से पराङ्मुख करके अपने पतिदेव में ही स्थिर करना यह स्त्रियों का 'पातिव्रतयोग' नहीं है?

जिस तरह यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा चित्त को भगवत्परतन्त्र रखना ही पुरुषों के योग का साधन कहा गया है। उसी तरह पति के ही निमित्त अपनी सब कायिक, वाचिक और मानसिक चेष्टाएँ करते हुए सर्वथा पति के परतन्त्र रहना ही स्त्रियों के 'पातिव्रतयोग' का परम साधन बतलाया गया है। मनुस्मृतिकार का वचन है—

**बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् प्राणिग्राहस्य यौवने ।**
**पुत्राणां भर्तरि प्रेते...................... ।।**

मनुस्मृति ५/१४८

यही कारण है कि पातिव्रतयोग की परिपक्वता में बाधास्वरूप स्त्रीस्वातन्त्र्य का मनुस्मृतिकार ने निषेध किया है—

**न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ।**

मनुस्मृति ५/१४८ उत्तरार्द्ध

**बालया वा युवत्या वा वृद्धया वाऽपि योषिता ।**
**न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किञ्चित् कार्यं गृहेष्वपि ।।**

मनुस्मृति ५/१४७

पुरुषों के लिये साकार और निराकार भेद से दो तरह की ईश्वरीय उपासना कही गई है, किन्तु स्त्रियों के लिये स्वतन्त्र रीति से इस उपासना की आज्ञा न देकर केवल एक पातिव्रतरूप सगुणोपासना ही वेदशास्त्रों में वर्णित है। यद्यपि गार्गी, मैत्रेयी आदि विदुषी स्त्रियों ने भी ज्ञानमार्ग द्वारा निर्गुण ब्रह्म की और गोपियाँ, मीराबाई प्रभृति स्त्रियों ने भक्तिमार्ग का अवलम्बन करके सगुण ब्रह्म की उपासना करके पुरुषों की तरह स्वतन्त्र रीति से आत्मसाक्षात्कार किया। परन्तु ये सब ज्ञानाधिकार और भक्त्यधिकार असाधारण कोटि के हैं। गार्गी, मैत्रेयी, गोपीजन, मीरा प्रभृति स्त्रियाँ साधारण कोटि की नहीं रहीं, जिन्होंने किसी कारणवश ही स्त्रीशरीर-ग्रहण किया था। अत: उनके लिये ही यह असाधारण धर्म सम्भव था, स्त्रीजातिमात्र के लिये नहीं। इस दृष्टि से गार्गी, मैत्रेयी प्रभृति स्त्रियाँ स्त्रीजाति की आदर्श नहीं हो सकतीं। स्त्रियों की

आदर्श अनसूया, सीता, सावित्री, गान्धारी हैं, जिन्होंने अपने पति-परमेश्वर को ही स्वात्मसमर्पण करके, उपास्य-उपासक-भाव से जीवनपर्यन्त उन्हीं की सेवा में रह कर अप्रतिहत शक्ति को पाकर उस परमपद को प्राप्त किया।

यह सर्वथा निर्विवाद है कि अष्टाङ्गयोग के सिद्ध होने से बहुकाल से पुरुष को जो शक्ति प्राप्त होती है, उसी शक्ति को स्त्री अपने पातिव्रतयोग से अल्पकाल में सहज ही प्राप्त कर लेती है। इस पातिव्रतयोग की शक्ति का दिग्दर्शन संक्षेप में कराया जा सकता है—

**पातिव्रतयोगपरायणा गान्धारी**

जब महाभारत के युद्ध में धृतराष्ट्र के पुत्रों में केवल एक दुर्योधन के शेष रह जाने पर महाबली भीमसेन ने दुर्योधन का वध करने की भी दृढ प्रतिज्ञा कर ली तब दुर्योधन अपनी जीवन-आशा से निराश होकर अपनी माता के अन्तिम दर्शन करके रुदन करने लगा। तब पतिव्रताशिरोमणि माता गान्धारी ने उसके अमर होने का उपाय उसे सूचित कराने के लिये धर्मराज युधिष्ठिर के समीप भेजा तो धर्मराज युधिष्ठिर ने उसे यही उपदेश किया कि हे भाई! तू सर्वाङ्ग नग्न होकर अपनी माता के अभिमुख जा और यदि वह तुझे एक बार अपनी दृष्टि से देख ले तो तुझे ऐसे सहस्त्र भीमसेन भी क्षति नहीं पहुँचा सकते।

धर्मराज युधिष्ठिर के इस उपदेश के अनुसार जब दुर्योधन निर्वस्त्र होकर माता गान्धारी के पास जाने लगा तब पाण्डवप्राण श्रीकृष्ण ने अपने किये हुए कार्य को निष्फल समझकर उसको अपनी योगमाया से समझाकर, पर्णसमूह से आवृत कर (लंगोटी-लगाकर) गान्धारी के समीप भेजा। माता गान्धारी ने पूछा कि पुत्र! धर्मराज युधिष्ठिर ने तुम्हें जैसा उपदेश किया, क्या तुम ठीक उसी प्रकार यहाँ आये हो? भगवन्मायावञ्चित दुर्योधन के मुख से निकल पड़ा कि हों ठीक वैसे ही आया हूँ। तब माता ने अपने नेत्रों की पट्टी निर्बन्ध कर जब उसे देखा तो दुर्योधन को प्रवञ्चित समझकर अपनी पातिव्रतशक्ति से सम्पूर्ण अन्तर्कथा जानकर कहा कि—

**मार्गे त्वया सम्मिलितोऽधुना किं, कृष्णः किमूचे वचनं वदस्व ।**

महाभारत

अर्थात् हे पुत्र! मार्ग में क्या तुम्हें श्रीकृष्ण मिले? और उन्होंने तुमसे क्या कहा, वह कहो।

नेत्रों पर पट्टी बंधी रखने वाली माता की इस प्रकार की अद्‌भुत ज्ञानशक्ति को देखकर जब दुर्योधन ने इस शक्ति की प्राप्ति का कारण पूछा तो पतिव्रता मातृशक्ति गान्धारी ने कहा—

**योगेन शक्तिः प्रभवेन्नराणां पातिव्रतेनापि कुलाङ्गनाम् ।**

महाभारत

अर्थात् पुरुषों को योग से शक्ति प्राप्त होती है और कुलाङ्गनाओं को अपने 'पातिव्रत' से। ओह! कैसा पातिव्रतयोग कि गान्धारी ने तत्काल अतीव कुपित होकर उस परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण को भी शाप दे दिया—

**कृष्ण ! त्वया मे निहताश्च पुत्रा, नश्यन्तु ते यादवयूथसंघाः ।**

महाभारत

अर्थात् हे श्रीकृष्ण! तुमने मेरे पुत्रों का नाश किया, अतः इसी तरह तुम्हारे यादवगण भी सब नष्ट हो जाएं।

क्या स्त्री के पातिव्रत की यह शक्ति पुरुष के उस अष्टाङ्गयोगशक्ति से कुछ कम है कि अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि-स्थिति-संहार करने वाले कर्तुम्-अकर्तुम्-अन्यथाकर्तुम् समर्थ श्रीकृष्ण भी—

**अन्यास्तु शापं पतिदेवताया न चान्यथाकर्तुमधीश्वरोऽभूत् ।**

महाभारत

इस पतिव्रता गान्धारी के शाप को अन्यथा करने के लिये समर्थ न हो सके।

## भोज की दृष्टि में पातिव्रतयोग

चक्रवर्ती महाराजा भोज एक दिन प्रजाजन की स्थिति का आकलन करने के लिये नगर में रात्रिकाल परिभ्रमण कर रहे थे। तब उन्होंने एक उन्मुक्त गवाक्ष से किसी गृह के अन्दर का दृश्य इस प्रकार देखा कि एक स्त्री अपने क्लान्त पतिभगवान् की पादसेवा कर रही है और पति उसके घुटनों पर निद्रा में निमग्न हो गया। उसी कक्ष के अपर छोर में एक शिशु भी शयन कर रहा था और कक्ष के मध्यभाग में स्थित अग्निकुण्ड में ज्वालाएँ उठ रही थीं। उसी

समय निद्राभङ्ग से उत्थित शिशु रुदन करता हुआ अग्निकुण्ड की ओर आने लगा। माता यह सब देख रही थी, किन्तु उसने अपने घुटने पर शयन करते हुए पतिदेव को जगाने से अपने पातिव्रत के नियम में बाधा समझकर, पुत्र की प्राणरक्षा न कर उसकी उपेक्षा ही कर दी। परिणाम सामने ही था कि अबोध शिशु दधकती ज्वाला में गिर पड़ा।

इधर महाराजा भोज निश्चय ही कर चुके थे कि शिशु अवश्य भस्म हो जायेगा, किन्तु उस पतिव्रता के शाप से भयभीत हुआ अग्नि चन्दनपङ्क की भाँति शीतल बन गया। उस पतिव्रता स्त्री के पातिव्रतयोग की अतर्क्य सिद्धि (शक्ति) से चकित होकर कविराज भोज ने—

**हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः ।**

ऐसा श्लोक का चतुर्थ चरण बनाकर शेष तीन पदों की पूर्ति के लिये कविचक्रवर्ती कालिदास को आज्ञा दी। कालिदास ने अपनी अलौकिक बुद्धि द्वारा उसी घटना के अनुरूप समस्यापूर्ति कर दी। सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकार रहा—

**सुतं पतन्तं प्रसमीक्ष्य पावके, न बोधयामास पतिं पतिव्रता ।**
**पतिव्रताशापभयेन पीडिता, हुताशनश्चन्दनपङ्कशीतलः ।।**

ओह! क्या स्त्रियों का पातिव्रतयोग पुरुषों के उस अष्टाङ्गयोग से कम है?

**मनु की दृष्टि में पातिव्रतयोग**

आचार्य मनु पातिव्रतयोग की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहते हैं—

**नास्ति स्त्रीणां पृथग् यज्ञो न व्रतं नाप्युपोषणम् ।**
**पतिं शुश्रूषते येन तेन स्वर्गे महीयते ।।**

मनुस्मृति ५/१५५

अभिप्राय यह है कि स्त्रियों के लिये पृथक् यज्ञ-व्रत-उपवास नहीं है। केवल एक पति की सेवा करने से वे परम पद को प्राप्त होकर देवताओं द्वारा पूजित होती हैं।

अहो ! इसी एक सहज उपाय से स्त्री ने इस 'पातिव्रतयोग' को प्राप्त

कर लिया, फिर उसके लिये कौन सा कर्तव्य शेष रह जाता है? वह तो फिर अपने मनुष्यभाव को ही त्यागकर, देवभाव को प्राप्त होकर जगत्पूज्या लक्ष्मी बन जाती है। तभी शास्त्रों में उसकी स्तुति की गई है—

**यस्य भार्या शुचिर्दक्षा भर्तारमनुगामिनी ।**

**नित्यं मधुरवक्त्री च सा रमा न रमा रमा ।**

**रामायण की दृष्टि में पातिव्रतयोग**

इस पातिव्रतयोग की महिमा का वर्णन कौन कर सकता है—जिसके प्रताप से इस भारतवर्ष में ऐसे वीरपुत्र उत्पन्न हुए जिनके मन इन लौकिक विषयों से मुग्ध न होकर अपने लक्ष्य से किञ्चिन्मात्र भी विचलित नहीं हो सकते थे।

मर्यादा पुरुषोत्तम राम ने एक समय अनुज लक्ष्मण के ब्रह्मचर्य की परीक्षा के लिये उनसे प्रश्न किया—

**पुष्पं दृष्ट्वा फलं दृष्ट्वा दृष्ट्वा यौषितयौवनम् ।**

**त्रीणि रत्नानि दृष्ट्वैव कस्य नोच्चलते मनः ।।**

वाल्मीकिरामायण, सुन्दरकाण्ड ३६/४५

हे लक्ष्मण ! सुन्दर पुष्प, फल और स्त्री का यौवन—इन तीन रत्नों को देखकर किसका मन विचलित नहीं होता? क्या नीतिपरक यह वचन मिथ्या हो सकता है, जो तुम अपने को अखण्ड ब्रह्मचारी समझ रहे हो? वीर लक्ष्मण ने तत्काल इसका उत्तर देते हुए कहा—

**पिता यस्य शुचिर्भूतो माता यस्य पतिव्रता ।**

**ताभ्यां यः सूनुरुत्पन्नस्तस्य नोच्चलते मनः ।।**

वाल्मीकिरामायण

अभिप्राय यह है कि जिसके पिता पवित्र आचरण वाले और माता पतिव्रता हो, उनके रज-वीर्य से उत्पन्न पुत्र का मन चलायमान नहीं हो सकता।

यही योग और पातिव्रतयोग तो इस भारतवर्ष की अलौकिक सम्पत्ति है, जिनके प्रताप से यहाँ के स्त्री-पुरुषों ने क्षणभङ्गुर, सांसारिक आधिभौतिक

विषयों का उपयोग न करके आध्यात्मिक विषयों की ही गवेषणा में अपना तन, मन, धन समर्पण करके उस अखण्ड पद पर पहुँच कर **'दिवौकसां मूर्धनि तैः कृतं पदम्'** उस देवपद को भी तिलाञ्जलि दे दी।

**श्रीमद्भागवत की दृष्टि में पातिव्रतयोग**

धन्य है भारतभूमि, जिसमें जन्म लेने वाले स्त्री-पुरुष पातिव्रतयोग एवं योग को ही अपनी सर्वश्रेष्ठ सम्पत्ति समझकर उसके द्वारा इस मनुष्यदेह को सफल करके इस भूमि को इतना पवित्र कर देते हैं कि स्वर्गलोकनिवासी समस्त देवगण भी इस भारतभूमि के लिये मुक्तकण्ठ से स्तोमगान करते हैं—

**अहो अमीषां किमकारि शोभनं, प्रसन्न एषां स्विदुत स्वयं हरिः ।**
**यैर्जन्म लब्धं नृषु भारताजिरे मुकुन्दसेवौपयिकं स्पृहा हि नः ।।**

श्रीमद्भागवत ५/१९/२१

अभिप्राय यह है कि धन्य है वह देश! जिसके प्रताप से यहाँ की स्त्रियों के उदर से ऐसे योगिराज उत्पन्न हुए कि जिन्होंने यहाँ की स्त्रियों का नाम वीरजननी रखकर भूमण्डल में यह घोषणा की है—

**नारी नारी मत कहो, नारी नर की खान ।**
**नारी से सुत उपजे, ध्रुव प्रह्लाद समान ।।**

●

## द्वितीय पटल : योगविद्या का तुलनात्मक अध्ययन

- भारतीय दर्शनशास्त्र में पातञ्जलयोगदर्शन की प्राचीनता
- योगदर्शन एवं भगवद्गीता
- भगवद्गीता में योग का उल्लेख : एक अनुसन्धानदृष्टि
- वेदान्तदर्शन एवं योगदर्शन की समानता
- योग से ही वेदान्त की उत्पत्ति
- भारतीय प्रस्तरकला और योग
- योगपरम्परा : जीवन मूल्यादर्श : जैनदर्शन एवं योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में
- बुद्ध की योगदृष्टि एवं पतञ्जलि
- साधनाविमर्श : बौद्ध जैनदर्शन के परिपेक्ष्य में
- विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की सत्ता : पातञ्जलयोग के परिप्रेक्ष्य में
- समाधियोग का व्यावहारिक पक्ष एवं भगवान् बुद्ध

# भारतीय दर्शनशास्त्र में पातञ्जलयोगदर्शन की प्राचीनता

दर्शनशास्त्र का प्रादुर्भाव कैसे हुए? कब हुआ? और कहाँ हुआ? इत्यादि प्रश्न अनुत्तरित एवं एकान्तवचनीय ही कहे जाते हैं। फिर भी प्रतिष्ठित दार्शनिकों ने इस विषय पर गहन चिन्तन किया है। श्रुति, स्मृति, पुराण, इतिहास आदि सद्ग्रन्थों में जो-जो आध्यात्मिक विचार विद्यमान हैं, उन्हीं सदुपदेशों की मीमांसा दर्शनशास्त्रों में समीचीनतया सङ्गृहीत है। दर्शनशास्त्रों के विशेष महत्त्व का कारण यह है कि उनमें पदार्थविवेचन और अध्यात्मरहस्य साङ्गोपाङ्ग सविस्तर विवर्णित हैं। किञ्च, इन दर्शनशास्त्रों की रचना-चातुरी भी चतुर चित्त को चमत्कृत करने वाली है। जिस प्रमेय की सिद्धि में शतकाधिक ग्रन्थ व्यतीत होते हैं, उसकी सिद्धि में दर्शनशास्त्र का एक अत्यल्प सूत्र समर्थ है। अतः 'गागर में सागर' की उक्ति दर्शनशास्त्र में ही अक्षरशः चरितार्थ होती है।

**दर्शनशास्त्र की रचना-शैली**

दर्शनशास्त्र का श्रीगणेश **'अथ'** शब्द से और उसकी चरम सीमा **'इति'** शब्द से होती है। परन्तु यह सर्वतन्त्रसिद्धान्त नहीं है। कई दर्शन ऐसे भी हैं, जिनकी स्वतन्त्रता में **'अथ'** और **'इति'** शब्द बाधा नहीं डाल सकते हैं। किञ्च, अनेक दर्शन ऐसे भी हैं, जिन्होंने **'इति'** शब्द का काम आम्रेडित से अर्थात् द्विरुक्ति से ही सिद्ध कर लिया है।

गद्य-पद्य की अपेक्षा दर्शनशास्त्र की मूर्ति सूत्रावेष्टित है। इन सूत्रों पर न तो कोई कवि ही कटाक्ष कर सकता है और न छन्दःशास्त्र ही उन पर अपने दण्डकों-नियामकों का आक्षेप ही लगा सकता है। अत एव दर्शनशास्त्र का अत्यल्प सूत्र भी सर्वदा स्वतन्त्र स्वच्छन्दरूप से अपनी प्रामाणिकता को सिद्ध करता है।

दर्शनशास्त्र की गणना तथा प्राग्भवीय इतिवृत्त की सत्ता अनुमानप्रमाण

पर आधारित है। किञ्च अनुमान का 'लिङ्ग' तत्त्व भी प्रायः उद्भूतरूप ही होना चाहिए क्योंकि लिङ्गज्ञान अनुमानप्रक्रिया का मेरुदण्ड है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शनसंग्रह में जिन चार्वाकादि षोडश दर्शनों का संग्रह किया है, उन्हीं में पाणिनिदर्शन भी एक है।

जब हमारी दृष्टि पाणिनि अष्टाध्यायी के अधोलिखित सूत्रों पर पडती है तब उन सूत्रों में शाकल्य, स्फोटायन, भारद्वाज, चाक्रवर्मन, शाकटायन, आपिशलि, गालव तथा भागुरि, इन्द्र, अमर, जैनेन्द्रादि महावैयाकरणों के नाम और उनके व्याकरणसम्बन्धी तत्-तत् सिद्धान्तों का स्पष्टतया उल्लेख मिलता है। कुछ प्रमुख सूत्र इस प्रकार हैं—

**लोपः शाकल्यस्य ।** अष्टाध्यायी ८/३/१९

**अवङ्स्फोटायनस्य ।** अष्टाध्यायी ६/१/१२३

**ऋतो भारद्वाजस्य ।** अष्टाध्यायी ७/२/६३

**ई ३ चाक्रवर्मणस्य ।** अष्टाध्यायी ६/१/१३९

**लङः शाकटायनस्यैव ।** अष्टाध्यायी ३/४/१११

**वा सुप्यापिशले ।** अष्टाध्यायी ६/१/९२

**तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्गालवस्य ।** अष्टाध्यायी ७/१/७४

सांख्यदर्शन में भी महर्षि कपिल ने सूत्र लिखते हुए अनेक प्रमुख सांख्याचार्यों का स्मरण किया है—

**अविवेकनिमित्तो वा पञ्चशिखः ।** सांख्यसूत्र ६/६८

**लिङ्गशरीरनिमित्तक इति सनन्दनाचार्यः ।** सांख्यसूत्र ६/६९

यही स्थिति वेदान्तदर्शन की है। वेदान्तसूत्र में दार्शनिक महर्षि योगियों के नाम तथा उनके तत्सम्बन्धी सिद्धान्त विजृम्भमाण दिखलाई पड़ते हैं—

**बादरायणः ।** ब्रह्मसूत्र १/३/२६

**बादरिः ।** ब्रह्मसूत्र १/२/३०

**जैमिनिः ।** ब्रह्मसूत्र १/२/२८

**आश्मरथ्यः ।** ब्रह्मसूत्र १/२/२९

**औडुलोमिः ।** ब्रह्मसूत्र १/४/२१

**काशकृत्स्नः ।** ब्रह्मसूत्र १/४/२२

इससे प्रमाणित होता है कि पाणिनि से पूर्व भी शाकल्यादि विविध दर्शन एक शब्दशास्त्र की ही पुष्टि पर विद्यमान थे। कपिलदेव से पूर्व या तत्समय में ही पञ्चशिख या सनन्दनाचार्यादिकों के दर्शन केवल सांख्यशास्त्र के सम्बन्ध में ही लिखे गये होंगे। इसी प्रकार ब्रह्मतत्त्व (वेदान्ततत्त्व) की गहन सिद्धान्त-मञ्जूषा भी पूर्वोक्त बादरायणादि परम योगियों के संरक्षण में आपूरित हुई होगी। किन्तु उपलब्धता के अभाव में उनकी प्राचीनता पर प्रश्नचिह्न लगता है। अधुना षड्दर्शन ही प्रसिद्ध हैं। इनमें एक पातञ्जलदर्शन है। इसी को योगदर्शन या पातञ्जलसूत्र भी कहते हैं। कुछ चिन्तकों की धारणा है कि कलियुग के प्रारम्भ से पूर्व ही योगशास्त्र विलुप्त हो गया था। यह तथ्य भगवद्गीता में श्रीकृष्ण के वचन से सिद्ध भी होता है—

**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।**

भगवद्गीता ४/२

**पातञ्जलयोगदर्शन की प्राचीनता में इतर दर्शनों के प्रमाण**

षड्दर्शनों में कपिल का सांख्यदर्शन प्राचीन माना जाता है, इस विषय की पुष्टि में श्वेताश्वतरोपनिषद् की श्रुति ही शिरोधार्य समझी जाती है—

**ऋषिं प्रसूतं कपिलम् ।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् ५/२

यह तथ्य महाभारत के वचन से भी पुष्ट होता है—

**ज्ञानं च लोके यदिहास्ति किञ्चित् ।**
**सांख्यगतं तच्च बृहन्महात्मन् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०१/१०९

श्लोक में निहित अभिप्राय यह है कि इस संसार में विविध प्रकार के सम्पूर्ण ज्ञान सांख्य से ही प्राप्त हुए हैं। सांख्यदर्शन का रहस्य है प्रकृति-पुरुष का ज्ञान। अर्थात् पुरुष आत्मा अथवा क्षेत्रज्ञ कर्तृत्वभोक्तृत्वादिगुणव्यतिरिक्त साक्षी चैतन्य चिद्घन है और त्रिगुणात्मिका जडरूपा प्रकृति अर्थात् प्रधान अर्थात् मूलप्रकृति पुरुषसन्निधिमात्र से ही लोहचुम्बकन्याय से चैतन्यता को

प्राप्त होकर महदादिक्रम से चराचर संसार का विसर्ग करती है। पुरुष जब तक प्रकृति के गुणों में बंधा हुआ है, दुःखी है; जब योगानुष्ठान से अपने स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तब समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाता है। प्रकृति-पुरुष के स्वरूप का यथार्थज्ञान ही सांख्यशास्त्र की मूलभित्तिका है। अत एव कुछ चिन्तकों का आक्षेप है कि महर्षि कपिल निरीश्वरवादी रहे, क्योंकि उन्होंने प्रकृति-पुरुष के ज्ञानमात्र से ही कृतकृत्यता मान ली है। जब कि वास्तविक स्थिति यह है कि महर्षि कपिल निरीश्वरवादी नहीं रहे, क्योंकि—

**ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ।**

सांख्यसूत्र ३/५७

इस प्रकार के ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है—की छाया उनके दर्शन में समुल्लसित है ही। अर्थात् सन्निधिमात्र से प्रकृति और पुरुष के प्रेरक तथा सांसारिक सर्ग-विसर्ग के निमित्तकारणरूप से ईश्वर की स्थापना हुई है।

**पातञ्जलदर्शन तथा सांख्यदर्शन**

पतञ्जलि का सूत्र है—

**वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाक्लिष्टाः ।**

योगसूत्र १/५

यही सूत्र सांख्यदर्शन (२/३३) में भी अक्षरशः उपलब्ध है। पतञ्जलि ने चित्तवृत्तिनिरोधोपाय के लिये—

**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।**

योगसूत्र १/१२

सूत्र लिखा है। महर्षि कपिल ने भी इसी सूत्र को व्यत्यय कर लिखा है—

**वैराग्यादभ्यासाच्च ।**

सांख्यसूत्र ३/३६

पतञ्जलि ने—

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

योगसूत्र १/३

इस सूत्र के द्वारा आत्मा का वास्तविक स्वरूप प्रदर्शित किया है। कपिल ने भी—

**तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः ।**

सांख्यसूत्र २/३४

अर्थात् उसके निवृत्त और शान्तरज होने पर वह स्वस्थ होता है, ऐसा लिखकर पूर्वोक्त मन्तव्य को ही स्पष्ट किया है।

व्युत्थान अवस्था में भी आत्मा का स्वरूप—

**वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।**

योगसूत्र १/४

**कुसुमवच्च पाणिः ।**

सांख्यसूत्र २/३५

इन दोनों सूत्रों से स्पष्ट हो जाता है। कपिल के—

**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ।**

सांख्यसूत्र १/६१

इत्यादि सूत्रों से संसार की उत्पत्ति के साथ-साथ पुरुष के भोग और मोक्ष का कारण भी प्रकृति को माना है। इस रहस्य को पतञ्जलि ने भी—

**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।**

योगसूत्र २/१८

इस सूत्र से सिद्ध किया है। पतञ्जलि का सिद्धान्त है कि कर्तृत्व-भोक्तृत्वधर्म आत्मा के नहीं हैं, किन्तु सर्वदा शुद्धस्वरूप भी आत्मा बुद्धिवृत्ति का अनुसरण कर सुख-दुःखादि धर्मवान् देखा जाता है। कपिल का भी यही सिद्धान्त है, यह अधोलिखित सूत्रद्वय से तुलनीय है—

**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ।**

योगसूत्र २/२०

**उपरागात् कर्तृत्वं चित्सान्निध्यात् ।**

सांख्यसूत्र १/१६४

योगदर्शन की मान्यता है कि अविद्याग्रन्थि का जब तक सर्वतोभावेन तिरोभाव नहीं होता, तब तक कैसा भी योगाभ्यासी मुमुक्षु क्यों न हो, संसाररूपी नाट्यशाला में पुनः-पुनः जन्म लेकर उसे जात्यायुर्भोगात्मक अवस्थाओं का अनुपालन करना पड़ता है। यही भाव सांख्यदर्शन का भी है। तदर्थ सूत्रद्वय द्रष्टव्य हैं—

**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।**

योगसूत्र २/१३

**संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः ।**

सांख्यसूत्र ३/८३

सांख्य-योग-दर्शन के सिद्धान्तों की साम्यता का ज्वलन्त उपदेश श्रीकृष्ण ने अत्यन्त स्पष्ट शब्दों में वर्णित किया है—

**सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः ।**

भगवद्गीता ५/४

**पातञ्जलदर्शन और वैशेषिकदर्शन**

यद्यपि वैशेषिकदर्शन का प्रतिपाद्य विषय द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय तथा अभाव इन सप्त पदार्थों की विवेचना है तथापि मोक्षमार्गव्यासङ्ग में तो महर्षि कणाद को भी पातञ्जलसूत्रों का आश्रय लेकर विषयप्रतिपादन करना पड़ता है। पतञ्जलि मुनि के मोक्षलक्षण से वैशेषिक दर्शन में प्रतिपादित मोक्षलक्षण में अत्यन्त समानता है। यहाँ शब्दावली की समानता द्रष्टव्य है—

**तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।**

योगसूत्र २/२५

**तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।**

वैशेषिकसूत्र ५/२/१८

अभिप्राय यह है कि अविद्या के अभाव में संयोग का अभाव और पुनः उत्पन्न न होना ही मोक्ष है। कणाद मुनि को अष्टाङ्गयोगानुष्ठानजन्य मोक्ष अभिमत है। अत एव कणाद मुनि ने मोक्षमार्ग की प्रक्रिया में लिखा है—

**आत्मकर्मसु मोक्षो व्याख्यातः ।**

वैशेषिकसूत्र ६/२/१६

सूत्र का भाष्य करते हुए लिखा है—

**आत्मकर्मसु यमनियमादिषु सत्सु मोक्षो व्याख्यातः ।**

भाष्य, वैशेषिकसूत्र ६/२/१६

कर्ममीमांसा का प्रकरण भी दोनों का तुल्य है—

**क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।**

योगसूत्र २/१२

**दृष्टानां दृष्टप्रयोजनानां दृष्टाभावे प्रयोगोऽभ्युदयाय ।**

वैशेषिकसूत्र १०/२/८

योगसूत्रों के सदृश कणादसूत्रों की चरमसीमा भी **'इति'** शब्द से उल्लिखित है। अतः दार्शनिकों का निरर्गल मत है कि पातञ्जल सूत्रों का विकास कणाद के सूत्रों से बहुत प्राचीनतम काल का है।

**पातञ्जलदर्शन और न्यायदर्शन**

महर्षि गौतम के न्यायदर्शन में भी अष्टाङ्गयोग के विना गति नहीं है। यद्यपि वैशेषिक की भाँति गौतम का प्रतिपाद्यविषय भी प्रमाण, प्रमेय आदि षोडश पदार्थों के विवेचन पर ही आधारित है। तथापि मोक्षधाम की पद्धति तो उसे भी अष्टाङ्गयोग की ही माननी पड़ी। महर्षि गौतम का सिद्धान्त है कि बाधालक्षण दुःख के अत्यन्ताभाव का नाम अपवर्ग अर्थात् मोक्ष है। अर्थात् दुःख बाधास्वरूप है। तदर्थ सूत्र है—

**बाधनालक्षणं दुःखमिति ।**

न्यायसूत्र १/१/२१

ऐसे बाधास्वरूप दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति अर्थात् विमोक्ष का नाम अपवर्ग है। सूत्र है—

**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।**

न्यायसूत्र १/१/२२

किञ्च दुःखों की निवृत्ति का उपाय भी समान है। महर्षि गौतम का सूत्र है—

**तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगश्चाध्यात्मविध्युपायैः ।**

न्यायसूत्र ४/२/४६

इतना ही नहीं, अरण्य, गुहा, नदीतट आदि स्थानों में योगाभ्यास करने का उपदेश भी न्यायशास्त्र में उपलब्ध है। योगाभ्यासोपयोगी स्थान का निर्णायक सूत्र है—

**अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ।**

न्यायसूत्र ४/२/४२

किञ्च, समाधि-साधना के विना ब्रह्मतत्त्व की अभिव्यक्ति होती ही नहीं; इस सर्वतन्त्रसिद्धान्त की सर्वोपादेयता के वर्णन को भी समाधिविशेष के अभ्यास से गौतम ने सुस्पष्ट कर दिया है। सूत्र है—

**समाधिविशेषाभ्यासात् ।**

न्यायसूत्र ४/२/३८

अतः दार्शनिक तार्किकों का अभ्रान्त सिद्धान्त है कि गौतम का न्यायदर्शन पातञ्जलदर्शन से सर्वथा अर्वाचीन है।

**पातञ्जलदर्शन और मीमांसादर्शन**

पूर्वमीमांसा अर्थात् मीमांसादर्शन के आचार्य जैमिनि याज्ञिक कर्मकलाप को ही अष्टाङ्गयोग का साधन बतलाते हैं। इनका विश्वास है कि याज्ञिक कर्मकलाप की पद्धति से भूयो-भूयः मनमन्दिर का उत्कर्षण करने पर योगैकगम्य सच्चिदानन्द परमात्मा कदाचित् दर्शन अवश्य प्रदान करते हैं।

**पातञ्जलदर्शन और वेदान्तदर्शन**

**एतेन योगः प्रत्युक्तः ।**

ब्रह्मसूत्र २/१३

उक्त सूत्र के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि वेदान्तदर्शन में योग का प्रतिवाद किया है। किन्तु स्थिति इससे भिन्न है। जिन महानुभावों ने योगमार्ग के महत्त्व का श्रवण तक नहीं किया है वे ही वेदान्त के उक्त सूत्र से योग का खण्डन समझते हैं। वेदान्तमर्मज्ञ योगसाधना का अपलाप नहीं करते हैं, अपितु उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं।

**पातञ्जलदर्शन और औपनिषदिकदर्शन**

मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ही एक कथा आती है कि शौनक नामक ऋषि ने योगेश्वर अङ्गिरा के पास जाकर प्रार्थना की कि हे भगवन्! वह कौन सी विद्या है, जिसके ज्ञान से सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो सकता है? अङ्गिरा उपदेश करते हैं कि हे शौनक! ब्रह्मवेत्ता लोग दो विद्याओं का वर्णन करते हैं—एक परा और दूसरा अपरा। वेद और वेदाङ्ग में प्रतिपादित विद्या तो

इहलौकिक सुखसाधनरूप होने से 'अपरा' अर्थात् ऐहलौकिकी कहलाती है और जिस विद्या से अक्षर, अव्यय, अविनाशी, पूर्वब्रह्म परमेश्वर का साक्षात्कार होता है उसका नाम 'परा' विद्या है। वचन है—

**द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद्ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च । तत्रापरा ऋग्वेदो, यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया यदक्षरमधिगम्यते ।**

मुण्डकोपनिषद् १/१/४-५

इसी प्रकार की कथा नारद और सनत्कुमार जी के कथोपकथन से छान्दोग्योपनिषद् के सप्तम अध्याय के आरम्भ में समुल्लसित है।

**योगसम्प्रदाय का सिद्धान्त**

अत एव अवधूत मत्स्येन्द्र, गोरक्षादि महासिद्ध योगविद्या की अपेक्षा कर्ममयी वेदविद्या को न्यग्भूत ही समझते हैं। क्योंकि योगविद्या में त्रैगुण्य-प्रपञ्च ही तो प्रतिपादित है। योगेश्वर श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता में—

**त्रैगुण्यविषया वेदाः ।**

भगवद्गीता २/४५

कहकर त्रैगुण्यप्रपञ्चमय वेदों की ओर निम्नबुद्धि प्रदर्शित की है। दूसरी दृष्टि से वेद को मान्यतम मान लिया जाय तो प्रश्न है कि 'वेद' शब्द क्या योग का वाचक नहीं है? विद्वानों का मत है कि वेदों के विकास से पूर्व ही योगविद्या अपनी तरुणावस्था को प्राप्त हो चुकी थी। शब्दान्तर में कहा जा सकता है कि योगविद्या के गर्भ से ही वेदविद्या का जन्म हुआ। मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ही लिखा है—

**ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता ।**
**स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ।।**

मुण्डकोपनिषद् १/१/१

अर्थात् देवताओं में ब्रह्मा प्रथम हुए जो विश्व के कर्त्ता और भुवन के गोप्ता हैं। परन्तु जब विश्वरचना की आवश्यकता पडी तो हिरण्यगर्भ के पास विश्वरचना-सामग्री तो थी ही नहीं, आप मन ही मन चिन्ता करने लगे। तब योगैकगम्य योगात्मा दयालु पूर्वब्रह्म का प्रसादस्वरूप आदेश प्राप्त हुआ—

**स चिन्तयन्द्व्यक्षरमेकदारम्भस्युपाश्रृणोद् द्विर्गदितं वचो विदुः ।**
**स्पर्शेषु यत्षोडशमेकविंशं निष्किञ्चनानां नृप यद्धनं विदुः ।।**

श्रीमद्भागवत २/९/६

अर्थात् उन ब्रह्मा जी ने ऐसा विचार करते हुए एक दिन (प्रलयकाल के) जल में अक्षरद्वय वाले शब्द का दो बार उच्चारण सुना। उनमें से पहला वर्ण तो स्पर्शवर्णों में (क से लेकर प तक) पन्द्रहवाँ अर्थात् 'त' था और दूसरा इक्कीसवाँ अर्थात् 'प' था। जिसको मिला देने पर 'तप' शब्द बनता है और जिसे अकिञ्चन पुरुषों का धन कहते हैं।

अब तो विभु महाराज को—

**तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् ।**

अष्टाध्यायी १/१/९

की वाटिका में दूरतः स्पर्शकल्पद्रुम दिखलाई पड़ा। फिर क्या था अल्प कम्पन से ही स्पर्शों में से षोडश 'त' और एकविंशति संख्या 'प' अर्थात् तप के प्रादुर्भाव के साथ ही संसार का भी प्रादुर्भाव व्यक्त हो गया। इस प्रकार जिस तप ने इतने बृहद् ब्रह्माण्ड की रचना कर डाली, योगदर्शन में उसकी गणना अतिसाधारण रूप से नियमों में उपलब्ध है। अध्यात्मरसरसिक योगिराज पतञ्जलि क्या—

**ना वेदविन्मनुते तं बृहन्तम् ।**

तैतिरीयब्राह्मण ३/९/२६

अर्थात् वेद को नहीं जानने वाला उस बृहत् परमात्मा को नहीं जानता है।

**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि ।**

बृहदारण्यकोपनिषद् ३/९/२६

अर्थात् उस उपनिषद्वेद्य पुरुष के विषय में मैं प्रश्न करता हूँ— इत्यादि रहस्य का अनुमोदन नहीं करते? अनुमोदन अवश्य करते हैं, परन्तु उनका दृढ सिद्धान्त यही है कि—

**राम नाम सब कहत हैं, ठग, ठाकुर और चौर ।**
**जिनको योगीजन भजें, वहै राम कहु और ।।**

वेदान्तसूत्र के कर्त्ता योगविद्या के महत्त्व से भली-भाँति परिचित रहे, फिर भी—

**एतेन योगः प्रत्युक्तः।**

ब्रह्मसूत्र २/१३

की प्रतिज्ञा इन्हें स्वीकार्य है। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार शङ्कराचार्य ने योगमहत्त्वोपपत्तिजनक अनेक श्रुति प्रमाणों द्वारा स्पष्ट किया है कि हमें इस विषय में तो कुछ आपत्ति नहीं है, परन्तु सांख्यस्मृति के सदृश योगस्मृति भी ईश्वरसत्ता के लिये ही केवल प्रकृति-पुरुष द्वारा ही संस्कार का आविर्भाव मानती है। अतः सांख्यस्मृति के सदृश ही सङ्गदोषन्याय से योगस्मृति का भी निराकरण हो सकता है। परन्तु योगस्मृति से यदि पातञ्जलयोगदर्शन का अध्याहार कर लिया जाय तो शारीरकसूत्र की स्मृति ही स्तब्ध हो जायेगी। वेदान्तदर्शन भी तो स्मृति है, न कि श्रुति। इसी का नाम गजनिमीलिका है।

पातञ्जलदर्शन सेश्वर है। इनके अनुसार प्रकृति तो जड है ही, अतः संहत्यरूपा होने से स्वयं परार्था भी है। पुरुष चिद्घन है तथा अनेक जन्मोद्भव सुख-दुःखात्मक कर्मों के अकाट्य नियमों से ऐसे निगडित है कि पातञ्जलदर्शन में उन्हीं की पुरुषसंज्ञा मानी गयी है। इन पुरुषों से जो विशेष शक्तिमान् अर्थात् पुरुषोत्तम है, वह इस जगत् का नियन्ता है। सूत्र है—

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।**

योगसूत्र १/२४

यह तथ्य श्रीकृष्ण द्वारा भगवद्गीता में समर्थित है—

**यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।**
**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।**

भगवद्गीता १५/१८

अर्थात् क्योंकि मैं क्षर से परे हूँ और अक्षर की अपेक्षा उत्तम हूँ, इसी से लोक और वेद दोनों में मैं पुरुषोत्तम नाम से विख्यात हूँ। उपनिषद् में भी यही उपपत्ति है—

**स विश्वकृद्विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद् यः ।**
**प्रधानक्षेत्रज्ञपतिर्गुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः ।।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/१६

अर्थात् वह (परमात्मा) विश्व का कर्त्ता, विश्व का वेत्ता, स्वयंभू, ज्ञाता, काल का भी काल, गुणवान्, सर्वज्ञ, प्रकृति और पुरुष का स्वामी, गुणों का ईश और संसार के मोक्ष-स्थिति-बन्ध का हेतु है। सूर्य को दीपक दिखाना तो अपना ही अपमान करना है। जो पदार्थ सर्वशिरोधार्य है, वहाँ लिङ्ग-व्यय आदि की आपत्ति अकाण्डताण्डव ही तो है। अन्ततः हमें—

**गुणा एव पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।**

उत्तररामचरित ४/११

अर्थात् गुणवान् पुरुषों में निहित उनके गुण ही पूजा के पात्र हैं, उनका लिङ्ग (चिह्न) और अवस्था इसमें कारण नहीं है—भवभूति की इस उक्ति को स्वीकार करना ही होगा। वेदान्तदर्शन ने अपने विषय के उपस्थापन में यथासाध्य पूर्ण प्रयास किया, परन्तु उन्हें भी घट्टकुटीरप्रभात इस न्याय के ही विश्रामभवन में आश्रय मिला।

**वेदान्तस्मृतियोगाङ्गों में आसन-ध्यानादि का महत्त्व**

**आसीनः सम्भवात्** ४/१/७, **ध्यानाच्च** ४/१/८, **अचलत्वं चापेक्ष्य** ४/१/९, **स्मरन्ति च** ४/१/१० इत्यादि स्मृतिवाक्यों द्वारा यही प्रतिपादन हुआ है कि आसन पर बैठकर उपासना करे क्योंकि तभी उपासना हो सकती है। ध्यान भी तभी हो सकता है। ध्यान अचलत्व की अपेक्षा रखता है। स्मृतियों में भी यही कहा गया है—**यत्रैकाग्रता तत्राविशेषात्** ४/१/११ जहाँ एकाग्रता हो, वहीं उपासना करनी चाहिए अन्य कोई विशेष बात नहीं है। और यह उपासना **आ प्रायणात् तत्रापि हि दृष्टम्** ४/१/१२ इस वचन के अनुसार मृत्युपर्यन्त करनी चाहिए—इत्यादि मधुर शब्दों से प्रतिपादन हो रहा था कि अकस्मात् वास्कलि नामक मुमुक्षु ऋषि योगेश्वर श्रीवाध्व के योगाश्रम में ब्रह्मजिज्ञासार्थ पधारे और प्रार्थना की कि हे प्रभो! उस योगैकगम्य सच्चिदानन्द परब्रह्म का क्या स्वरूप है? श्रीवाध्व महाराज मौनधारण किये रहे। पर वास्कलि के भूयोभूयः प्रश्न करते रहने पर श्रीवाध्व महाराज कुछ विस्मयभाव से बोले—अरे वास्कले! तेरे प्रश्नों का उत्तर तो मैं साथ-साथ देता रहा, तेरी समझ में न आये तो मैं क्या करूँ? उपदेश का सार है—

**उपशान्तोऽयमात्मा ।**

ब्रह्मसूत्र ३/२/१७

अभिप्राय यह है कि क्रियात्मक अष्टाङ्गयोगसाधना के विना वेदान्तपरिभाषा के मात्र शास्त्रीयज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं हो सकती है। नृसिंहाचार्य के वेदान्तडिण्डिम के सदृश हम भी—

**प्रज्ञानं ब्रह्म ।** ऋग्वेदीय ऐतरेयोपनिषद् ५/३

**अहं ब्रह्मास्मि ।** यजुर्वेदीय बृहदारण्यकोपनिषद् १/४/१०

**तत्त्वमसि ।** सामवेदीय छान्दोग्योपनिषद् ६/८/७

**अयमात्मा ब्रह्म ।** अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् २/५/१९

इत्यादि मन्त्रों का अहर्निश पाठ किया करते हैं किन्तु इन शब्दों की ध्वनि दशवें द्वार के त्रिपुटीमहल (जो सच्चिदानन्द का आमोदकारी योगमठ है) में कभी नहीं सुनाई पड़ती। **ज्ञानं भारः क्रियां विना** अर्थात् क्रिया के विना ज्ञान भारस्वरूप है। अविद्यारूपी ग्रन्थि का नाश तो समाधि द्वारा ही हो सकता है, अन्यथा नहीं। वेदान्तदर्शन के भाष्यकार श्रीशङ्कराचार्य अपने अनुभवनीय समाधि का वर्णन क्या मधुरता से करते हैं—

**समाधिनानेन समस्तवासनाग्रन्थेर्विनाशोऽखिलकर्मनाशः ।**
**अन्तर्बहिः सर्वत एव सर्वदा स्वरूपविस्फूर्तिरयत्नतः स्यात् ।।**

विवेकचूडामणि ३६४

अर्थात् इस समाधि से समस्त वासनारूप ग्रन्थि का विनाश और अखिल कर्मों का नाश होकर अन्तःबहिः सर्वत्र एवं सर्वदा विना यत्न किये ही स्वरूप की विस्फूर्ति होने लगती है।

**निर्विकल्पकसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।**
**अन्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।**

विवेकचूडामणि ३६५

अर्थात् निर्विकल्पक समाधि से निश्चय ही ब्रह्मतत्त्व का स्फुटज्ञान हो जाता है, अन्यथा नहीं। क्योंकि अन्य अवस्थाओं में मनोवृत्ति चंचल होने से वह ज्ञान अन्य प्रतीतियों से मिश्रित रहता है।

फिर व्युत्थान अवस्था में भी उस योगिराज को चराचर जगत् में—

**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद्ब्रह्म पश्चाद्ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण, अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ।**

मुण्डकोपनिषद् २/२/११

अर्थात् अमृतस्वरूप ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण में और ब्रह्म ही उत्तर में है तथा ऊपर-नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही परिव्याप्त है। यह सारा विश्व ही ब्रह्म है और सबसे श्रेष्ठ भी है, इसी परमानन्द की प्राप्ति होती है। वेदों में इस प्रकार की समाधि के सहस्राधिक लक्षण विद्यमान हैं।

**पातञ्जलयोगदर्शन और भक्तिदर्शन**

लोकमान्य श्रीबालगङ्गाधर ने गीतारहस्य के परिशिष्ट प्रकरण के दूसरे भाग में थासन साहब तथा ज्ञानेश्वर महाराज के सिद्धान्तानुकूल 'गीता का विकास पातञ्जलयोगसूत्र से ही हुआ है' यह मानते हुए भी यह कहा कि पातञ्जलसूत्र की अपेक्षा शाण्डिल्य ऋषि का भक्तिदर्शन अतिप्राचीन है इत्यादि। परन्तु जब हम भक्तिदर्शन का दर्शन करते हैं तो यह धारणा हो जाती है कि पातञ्जलसूत्र का विकास भी श्रीशाण्डिल्य ऋषि के अवतार से भी बहुत प्राचीन है।

●

# योगदर्शन एवं भगवद्गीता

षड्दर्शन में योगदर्शन एक महनीय शास्त्र है। योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि हैं। पतञ्जलिप्रणीत सूत्रों का भाव अत्यन्त गम्भीर, उपादेय, सरस एवं लाभकारी है। कल्याणकामियों को योगदर्शन का अध्ययन अवश्य करना चाहिए। यह तो इतिहासविदों के शोध का विषय है कि योगदर्शन की रचना श्रीमद्भगवद्गीता के पश्चात् हुई है अथवा पूर्व हुई है। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों ग्रन्थों के अनेक स्थलों में विलक्षण समानता है। कहीं शब्दों में समानता है तो कहीं भाव या अर्थों का सादृश्य है। उदाहरणार्थ यहाँ कुछ स्थलों को प्रस्तुत किया जा सकता है—

**पातञ्जलयोगदर्शन**

**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।** १/१२

**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।** १/१४

**तस्य वाचकः प्रणवः ।** १/२७

**तज्जपस्तदर्थभावनम् ।** १/२८

**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।** २/१५

**श्रीमद्भगवद्गीता**

**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।** ६/३५

**अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।** ८/१४

**ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन् मामनुस्मरन् ।** ८/१३

**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।**
**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।।** ५/२२

इनके अतिरिक्त भावार्थ की सदृशता वाले स्थल भी हैं। जैसे, योगदर्शन का सूत्र है—

**विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।**

योगसूत्र २/१९

इस सूत्र के अनुसार पञ्च महाभूत, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्च कर्मेन्द्रिय और मन इन सोलह विकारों का समुदायरूप **'विशेष'**; अहंकार और पञ्चतन्मात्र इन छः का समुदायरूप **'अविशेष'**; समष्टि बुद्धिरूपी **'लिङ्ग'** और अव्याकृत प्रकृतिरूप **'अलिङ्ग'**—ये चौबीस तत्त्व प्रकृति के अवस्थाविशेष हैं। इसी तथ्य का प्रतिपादक श्लोक गीता में मिलता है—

**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।**
**इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।**

भगवद्गीता १३/५

अर्थात् पञ्च महाभूत, अहंकार, बुद्धि, मूलप्रकृति, दश इन्द्रियाँ, मन और पञ्चतन्मात्र—ये चौबीस तत्त्व हैं।

उपर्युक्त अवतरणों के अनुसार दोनों ग्रन्थों के अनेक स्थलों में समानता होने के कारण कुछ चिन्तकों का मत है कि श्रीमद्भगवद्गीता पातञ्जलयोगदर्शन की पश्चात्वर्ती रचना है और इसमें ये सब भाव योगदर्शन से गृहीत हैं। कुछ विद्वान् तो भगवद्गीता को योगदर्शन का रूपान्तर या उसी का प्रतिपादक ग्रन्थ मानते हैं। किन्तु यहाँ इतना ही कहा जा सकता है कि भगवद्गीता के सिद्धान्त योगदर्शन की अपेक्षा कहीं अधिक व्यापक एवं सर्वदेशीय हैं।

योगदर्शन का 'योग' केवल एक ही अर्थ में प्रयुक्त है, परन्तु भगवद्गीता का 'योग' शब्द अनन्त समुद्र की भाँति विशाल है, उसमें सबका समावेश है। परमात्मा की प्राप्ति तक को गीता में योग कहा गया है। इसके अतिरिक्त निष्कामकर्म, भक्ति, ज्ञान, ध्यान आदि को भी योग के नाम से कहा गया है।

योगदर्शन में ईश्वर का स्वरूप है—

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।** १/२४

**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ।** १/२५

**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।** १/२६

भगवद्गीता के अनुसार ईश्वर का स्वरूप है—

**कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद्यः ।**
**सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।।** ८/९

**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् ।**
**असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ।।** १३/१४

**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याऽव्ययस्य च ।**
**शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ।।** १४/२७

**यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः ।**
**अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ।।** १५/१८

इन श्लोकों के अनुसार जो सर्वज्ञ, अनादि, सबका नियन्ता, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म, सबका धारण-पोषण करने वाला, अचिन्त्य स्वरूप, नित्य चेतन, प्रकाशस्वरूप, अविद्या से परे, शुद्ध, सच्चिदानन्दघन, सम्पूर्ण इन्द्रियों के विषयों का ज्ञाता होता हुआ भी इन्द्रियातीत, आसक्तिहीन, गुणातीत होने पर भी सबका धारण-पोषण करने वाला, गुणों का भोक्ता, अविनाशी परब्रह्म, अमृत, नित्यधर्म और अखण्ड एकरस आनन्द का आश्रय, नाशवान् जडवर्ग क्षेत्र से सर्वथा अतीत और मायास्थित अविनाशी जीवात्मा से भी उत्तम पुरुषोत्तम है, वह ईश्वर है।

पातञ्जलयोगदर्शन के अनुसार ईश्वर त्रिगुणों के विकार से रहित है, परन्तु भगवद्गीता के अनुसार वह गुणों से अतीत ही है। योगदर्शन का ईश्वर शुभाशुभ कर्म, सुख-दुःख और वासनारहित होने से ही पुरुषोत्तम है, परन्तु भगवद्गीता का ईश्वर जड जगत् से सर्वथा अतीत और मायास्थित जीव से भी उत्तम होने के कारण पुरुषोत्तम है। योगदर्शन का ईश्वर काल के अवच्छेद से रहित होने के कारण पूर्व-पूर्व सर्ग में होने वाले सृष्टि रचयिताओं का गुरु है, परन्तु भगवद्गीता का ईश्वर अव्यय परब्रह्म, शाश्वतधर्म और ऐकान्तिक आनन्द का भी परम आश्रय है। गुणातीत होकर भी अपनी अचिन्त्य शक्ति से गुणों का भोक्ता और सबका भरण-पोषण करने वाला है। इसी प्रकार 'ईश्वर शरणागति' के सिद्धान्त में भगवद्गीता का अभिप्राय बहुत उच्च है। योगदर्शन का ईश्वरप्रणिधान चित्तवृत्तिनिरोध के लिये किये जाने वाले

अभ्यास और वैराग्य आदि प्रमुख साधनों की अपेक्षा एक गौण साधन है। इसी अर्थ में **ईश्वरप्रणिधानाद्वा** (योगसूत्र १/२३) सूत्र में **'वा'** का प्रयोग हुआ है। परन्तु भगवद्गीता में ईश्वरशरणागति का साधन समस्त साधनों का सम्राट् है। इसमें अधोलिखित श्लोक प्रमाण हैं—

**मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।**
**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ।।** ९/३२

**तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।**
**तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम् ।।** १८/६२

**सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।।** १८/६६

भगवद्गीता का ध्यानयोग भी योगदर्शन से अधिक महत्त्वपूर्ण है। योगदर्शन कहता है—

**ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ।** २/११

अर्थात् ध्यान से क्लेशों की वृत्तियों का नाश होता है। परन्तु भगवद्गीता कहती है—

**ध्यानेनाऽऽत्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना ।** १३/२४ पूर्वार्द्ध

अर्थात् कितने ही मनुष्य शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धि से ध्यान के द्वारा हृदय में परमात्मा को देखते हैं। वहाँ केवल क्लेशों की वृत्तियों का ही नाश है, पर यहाँ ध्यान से परमात्मसाक्षात्कार तक होने की बात है।

इसी तरह से अन्यान्य स्थल हैं। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि भगवद्गीता साक्षात् सच्चिदानन्दघन परमात्मा के श्रीमुख की दिव्य वाणी है और योगदर्शन एक ज्ञानी महात्मा महर्षि के विचार हैं। भगवान् के साथ ज्ञानी की अभिन्नता पर भी भगवान् भगवान् ही हैं।

इस विवेचन से यह प्रतीत होता है कि भगवद्गीता का महत्त्व सभी तरह से उच्च है तथा भगवद्गीता का प्रतिपाद्य विषय भी विशेष महत्त्वपूर्ण, भावमय, सर्वदेशीय, सुगम और परम आदर्शरूप है।

●

# भगवद्गीता में योग का उल्लेख : एक अनुसन्धान दृष्टि

**'न'** आदि अव्ययों को छोड़कर जितनी बार **'योग'** शब्द भगवद् गीता में प्रयुक्त हुआ है, सम्भवतः उतनी बार दूसरा कोई शब्द नहीं। भगवद्गीता के अठारह अध्यायों के विषयों को एक-न-एक योग ही कहा गया है। इसका अभिप्राय यही है कि समस्त भगवद्गीता योगविज्ञान का विस्तार है।

परन्तु यहाँ 'योग' से केवल चित्तवृत्तिनिरोध अथवा इन्द्रियधारणा ही विवक्षित नहीं है, अपितु 'योग' परागति अथवा ब्रह्मात्मैक्य स्थिति को व्यक्त करता है। प्रत्येक अध्याय के विषय-विवेचन का फल यह है कि साधक उससे ब्रह्मस्थित होता है। भगवद्गीता में योग का यही प्रधान अर्थ है। इसके अतिरिक्त प्रसंगवश भिन्नार्थ में भी यह शब्द व्यवहृत हुआ है। स्वयं श्रीकृष्ण ने दो स्थानों में योग की प्रासङ्गिक व्याख्या की है—

**समत्वं योग उच्यते ।**

भगवद्गीता २/४८

**योगः कर्मसु कौशलम् ।**

भगवद्गीता २/५०

अभिप्राय यह है कि योग बुद्धि की साम्यावस्था का नाम है। कर्म करने की वह रीति जिससे कर्मों के फल हमारे लिये बन्धन के कारण न हों, योग है। मूलभाव दोनों परिभाषाओं का एक ही साम्यबुद्धि है। क्योंकि साम्यबुद्धि ही वह कौशल है, जिससे कर्मों में प्रवृत्त रहकर भी मनुष्य उनसे अलिप्त रह सकता है।

भगवद्गीता के निम्नलिखित श्लोकांशों में 'योग' शब्द दिखलाई पड़ता है—

**योगक्षेमं वहाम्यहम् ।** भगवद्गीता ९/२२

**आस्थितो योगधारणम् ।** भगवद्गीता ८/१२

| | |
|---|---|
| योगबलेन चैव । | भगवद्गीता ८/१० |
| योगभ्रष्टोऽभिजायते । | भगवद्गीता ६/४१ |
| योगमायासमावृतः । | भगवद्गीता ७/२५ |
| योगयज्ञाः । | भगवद्गीता ४/२८ |
| योगयुक्तो मुनिः । | भगवद्गीता ५/६ |
| योगयुक्तो विशुद्धात्मा । | भगवद्गीता ५/७ |
| योगयुक्तो भवाऽर्जुन । | भगवद्गीता ८/२७ |
| योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः । | भगवद्गीता ६/२९ |
| योगवित्तमाः । | भगवद्गीता १२/१ |
| योगसंज्ञितम् । | भगवद्गीता ६/२३ |
| योगसंन्यस्तकर्माणम् । | भगवद्गीता ४/४१ |
| योगसंसिद्धः । | भगवद्गीता ४/३८ |
| योगसंसिद्धिम् । | भगवद्गीता ६/३७ |
| योगसेवया । | भगवद्गीता ६/२० |
| योगस्थः कुरु कर्मणि । | भगवद्गीता २/४८ |
| तदा योगमवाप्स्यसि । | भगवद्गीता २/५३ |
| इयं विवस्वते योगं प्रोक्तवान् । | भगवद्गीता ४/१ |
| योगमातिष्ठ । | भगवद्गीता ४/४२ |
| पुनर्योगं च शंससि । | भगवद्गीता ५/१ |
| एकं सांख्यं च योगं च । | भगवद्गीता ५/५ |
| योगं तं विद्धि पाण्डव । | भगवद्गीता ६/२ |
| आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम् । | भगवद्गीता ६/३ |
| युञ्ज्याद् योगम् । | भगवद्गीता ६/१२ |
| युञ्जतो योगम् । | भगवद्गीता ६/१९ |
| योगं युञ्जन् मदाश्रयः । | भगवद्गीता ७/१ |
| पश्य मे योगमैश्वरम् । | भगवद्गीता ९/५ |

एतां विभूतिं योगं च । भगवद्गीता १०/७
विस्तरेणाऽऽत्मनो योगम् । भगवद्गीता १०/१८
पश्य मे योगमैश्वरम् । भगवद्गीता ११/८
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् । भगवद्गीता १८/७५
योगो नष्टः परन्तप । भगवद्गीता ४/२
योगः प्रोक्तः पुरातनः । भगवद्गीता ४/३
नाऽत्यश्नतस्तु योगोऽस्ति । भगवद्गीता ६/१६
योगो भवति दुःखहा । भगवद्गीता ६/१७
स निश्चयेन योक्तव्यो योगः । भगवद्गीता ६/२३
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः । भगवद्गीता ६/३३
असंयतात्मना योगो दुष्प्रापः । भगवद्गीता ६/३६
योगाच्चलितमानसः । भगवद्गीता ६/३७
तस्माद् योगाय युज्यस्व । भगवद्गीता २/५०
योगारूढस्य तस्यैव । भगवद्गीता ६/३
योगारूढस्तदोच्यते । भगवद्गीता ६/४
योगे त्विमां शृणु । भगवद्गीता २/३९
सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते । भगवद्गीता १०/७
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्तः । भगवद्गीता १२/६
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चाऽपरे । भगवद्गीता १३/२४
योगेनाऽव्यभिचारिण्या । भगवद्गीता १८/३३
तद्योगैरपि गम्यते । भगवद्गीता ५/५

'योग' पद अनेक विभक्तियों में जैसे प्रयुक्त हुआ है, वैसे ही अकारादिक्रम से प्रदर्शित किया गया है।

इसी प्रकार अट्ठाईस बार प्रयुक्त 'योगी' पद को अध्यायक्रम से प्रदर्शित किया जा रहा है—

कर्मयोगेन योगिनाम् । भगवद्गीता ३/३
योगिनः पर्युपासते । भगवद्गीता ४/२५

योगिनः कर्म कुर्वन्ति । भगवद्गीता ५/११
स योगी ब्रह्मनिर्वाणम् । भगवद्गीता ५/२४
स संन्यासी च योगी । भगवद्गीता ६/१
योगी भवति कश्चन । भगवद्गीता ६/२
युक्त इत्युच्यते योगी । भगवद्गीता ६/८
योगी युञ्जीत । भगवद्गीता ६/१०
योगी नियतमानसः । भगवद्गीता ६/१५
योगिनो यतचित्तस्य । भगवद्गीता ६/१९
योगिनं सुखमुत्तमम् । भगवद्गीता ६/२७
योगी विगतकल्मषः । भगवद्गीता ६/२८
स योगी मयि वर्तते । भगवद्गीता ६/३१
स योगी परमो मतः । भगवद्गीता ६/३२
अथवा योगिनामेव । भगवद्गीता ६/४२
योगी संशुद्धकिल्बिषः । भगवद्गीता ६/४५
तपस्विभ्योऽधिको योगी । भगवद्गीता ६/४६
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी । भगवद्गीता ६/४६
तस्माद् योगी भवार्जुन । भगवद्गीता ६/४६
योगिनामपि सर्वेषाम् । भगवद्गीता ६/४७
नित्ययुक्तस्य योगिनः । भगवद्गीता ८/१४
आवृत्तिं चैव योगिनः । भगवद्गीता ८/२३
योगी प्राप्य निवर्तते । भगवद्गीता ८/२५
न योगी मुह्यति कश्चन । भगवद्गीता ८/२७
योगी परं स्थानम् । भगवद्गीता ८/२८
कथं विद्यामहं योगिंस्त्वाम् । भगवद्गीता १०/१७
सन्तुष्टः सततं योगी । भगवद्गीता १२/१४
यतन्तो योगिनश्चैनम् । भगवद्गीता १५/११

भगवद्गीता में 'योगेश्वर' पद का प्रयोग चार बार हुआ है—

**योगेश्वरः ततो मे ।** भगवद्गीता ११/४

**योगेश्वरो हरिः ।** भगवद्गीता ११/९

**योगं योगेश्वरात् ।** भगवद्गीता १८/७५

**यत्र योगेश्वरः कृष्णः ।** भगवद्गीता १८/७८

भगवद्गीता में एक बार 'अयोगतः' पद प्रयुक्त है—

**दुःखमाप्तुमयोगतः ।** भगवद्गीता ५/६

इस प्रकार योगेश्वर हरि का योगविज्ञान भूतभावन है।

●

# वेदान्तदर्शन एवं योगदर्शन में समानता

षड् आस्तिक दर्शनों का सूत्रात्मक-शैली में प्रणयन हुआ। कपिलप्रणीत सांख्यसूत्र, पतञ्जलिप्रणीत योगसूत्र, गौतमप्रणीत न्यायसूत्र, कणादप्रणीत वैशेषिकसूत्र, जैमिनिप्रणीत मीमांसासूत्र तथा बादरायणव्यासप्रणीत वेदान्तसूत्र है। इन्हें षड्विध शास्त्रीयसूत्र भी कहते हैं। शास्त्रीय बह्वर्थप्रतिपादक संक्षिप्त वाक्यविशेष को सूत्र कहते हैं। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार मध्वाचार्य ने सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

**सूत्र का लक्षण**

**अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।**
**अस्तोभयमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।**

पूर्णप्रज्ञभाष्य, ब्रह्मसूत्र १/११

व्याकरणशास्त्रियों ने सूत्र का लक्षण इस प्रकार किया है—

**संज्ञा च परिभाषा च विधिर्नियम एव च ।**
**अतिदेशोऽधिकारश्च षड्विधं सूत्रलक्षणम् ।।**

षड्विध सूत्र इस प्रकार विवेचनीय हैं—१. शक्तिनियामक संज्ञासूत्र २. विधिशास्त्रैकवाक्यताबोधक परिभाषासूत्र ३. मानान्तर अनधिगतार्थप्रापक विधिसूत्र ४. अन्यनिवृत्तिफलक सिद्धार्थप्रतिपादक नियमसूत्र ५. वक्तृ-इच्छाजन्यज्ञानबोधक अतिदेशसूत्र तथा ६. स्वदेश में प्रयोजनशून्य होने पर ही विधिशास्त्रैकवाक्यताबोधक अधिकारसूत्र।

राघवानन्दसरस्वती ने पातञ्जलरहस्य में **अथ योगानुशासनम्** को अधिकारसूत्र माना है। इसी प्रकार **अथातो ब्रह्मजिज्ञासा** अधिकारसूत्र है। ये दोनों सूत्र अपने-अपने देश (शास्त्र) में प्रयोजनशून्य होने पर भी विधिशास्त्रैकवाक्यता बोधक हैं।

**भाष्य का लक्षण**

सूत्रग्रन्थों की दुरूहता को दृष्टिपथ में रखते हुए ऋतम्भराप्रज्ञा के धनी महर्षियों ने तत्-तद् दर्शनसूत्रग्रन्थों में भाष्य की रचनाकर अध्येताओं

का अत्यन्त उपकार किया है। जिस प्रकार विना स्वच्छ दर्पण के मुखाकृति का स्वरूपज्ञान नहीं हो सकता, उसी प्रकार भाष्यविरहित सूत्र का तलस्पर्शी अर्थबोध नहीं हो सकता है। संस्कृतग्रन्थों में भाष्य का लक्षण इस प्रकार मिलता है—

**सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः ।**
**स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः ।।**
**पदच्छेदः पदार्थोक्तिर्विग्रहो वाक्ययोजना ।**
**आक्षेपस्य समाधानं व्याख्या पञ्चविधा स्मृता ।।**

अभिप्राय यह है कि उसे भाष्यवेत्ता कहते हैं जो सूत्रानुसारी पदों के द्वारा सूत्रार्थ को वर्णित करने के लिये स्वप्रतिभोत्थ दृष्टि को व्याख्यायित करता है। इसके लिये समस्त पद का पदच्छेद, पदार्थबोध, व्याकरणिक विग्रह, पदार्थों की अन्तःसङ्गति द्वारा वाक्यविश्लेषण तथा समुपस्थित आशङ्का का निवारण—ये पांच अपरिहार्य तत्त्व हैं।

**भाष्यग्रन्थ एवं सूत्रकार**

'व्यास' की प्रतिष्ठा से जैसे बादरायण व्यास का 'ब्रह्मसूत्र' प्रतिष्ठित है, वैसे ही 'योगसूत्र' वेदव्यास के योगभाष्य से संलङ्कृत है। वाचस्पतिमिश्र ने तत्त्ववैशारदी में इसका स्पष्टतः उल्लेख किया है। वे लिखते हैं—

**नत्वा पतञ्जलिमृषिं वेदव्यासेन भाषिते ।**
**संक्षिप्तस्पष्टबह्वर्था भाष्ये व्याख्या विधास्यते ।।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/१

ब्रह्मसूत्र के भाष्यकारों की सर्वाधिक संख्या है। यही कारण है कि द्वैत-अद्वैत की विभिन्न मान्यताओं से संकुलित वेदान्तदर्शन में अनेक वादों की सृष्टि हुई—१. शङ्कर का निर्विशेषाद्वैत २. भास्कर का भेदाभेद ३. रामानुज का विशिष्टाद्वैत ४. मध्व का द्वैत ५. निम्बार्क का द्वैताद्वैत ६. श्रीकण्ठ का शैवविशिष्टाद्वैत, ७. श्रीपति का वीरशैव-विशिष्टाद्वैत ८. वल्लभ का शुद्धाद्वैत ९. विज्ञानभिक्षु का अविभागाद्वैत तथा १०. बलदेव का अनित्यभेदाभेद ।

जब कि योगसूत्र पर व्यासदेव का एक ही प्रामाणिक भाष्यग्रन्थ है, जो परिणामवाद के धरातल पर द्वैत की स्थापना करता है। ब्रह्मसूत्र में चार अध्याय (समन्वयाध्याय, अविरोधाध्याय, साधनाध्याय तथा फलाध्याय) और प्रत्येक अध्याय में चार-चार पाद हैं जब कि योगसूत्र में कुल चार पाद (समाधि, साधन, विभूति तथा कैवल्य) हैं। पांच सौ पचास सूत्रों में उपनिबद्ध ब्रह्मसूत्र के बृहत् कलेवर की दृष्टि से योगसूत्र का कलेवर एक सौ पचानव्वे सूत्रों में सिमट कर रह गया है। योगसूत्र पर वृत्तिप्रधान ग्रन्थों की रचना सर्वाधिक हुई।

योगसूत्र के भाष्यटीकाकारों में वाचस्पति मिश्र एवं विज्ञानभिक्षु ऐसे प्रमुख आचार्य हैं, जिन्होंने योगदर्शन और वेदान्तदर्शन दोनों सम्प्रदायों में पृथक्-पृथक् ग्रन्थ लिखे। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य पर वाचस्पतिमिश्रविरचित भामती को जो प्रतिष्ठा प्राप्त है, वही योगदर्शन के क्षेत्र में तत्त्ववैशारदी को। विज्ञानभिक्षु ने वेदान्तदर्शन के क्षेत्र में विज्ञानामृतभाष्य की रचनाकर अविभागाद्वैत का समर्थन किया है।

योगदर्शन एवं वेदान्तदर्शन के इन दोनों टीकाकारों में एक महान् अन्तर यह है कि सर्वदर्शनकाननपञ्चानन वाचस्पति मिश्र ने योगदर्शन पर लेखनी चलाते हुए उसे वेदान्त के सिद्धान्तों से विमिश्रित नहीं किया जब कि विज्ञानभिक्षु की समन्वयात्मक लेखनी ने योगवार्त्तिक में सांख्य-योग-वेदान्त में समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया।

**ग्रन्थ-परम्परा**

कहा जाता है कि जिस वर्तमान का गौरवशाली अतीत नहीं होता है, उसका भविष्य भी नहीं होता है। भारतीयदर्शन का गौरवशाली अतीत है, वह वेदपरम्परा से अनुप्राणित है, अत: उसकी अक्षुण्णता युग-युगान्तर असन्दिग्ध है। पाश्चात्यदार्शनिक भी इसके प्रभाव से अछूते नहीं है रामकृष्णपरमहंस सदृश साधक योगसाधना की प्रतिमूर्ति रहे और अद्वैतभाव को उन्होंने मानवमात्र में उतारा।

**शङ्कराचार्य**

जिस प्रकार कालिदास का नाम काव्याकाश में देदीप्यमान नक्षत्र के रूप में अविस्मरणीय है, उसी प्रकार भारतीय दर्शनपरम्परा में शङ्कराचार्य का।

वे अलौकिक प्रतिभासम्पन्न आचार्य रहे। प्रस्थानत्रयी (उपनिषद्भाष्य, गीताभाष्य तथा ब्रह्मसूत्रभाष्य) के आद्य उपलब्ध भाष्यकार रहे। उपदेशसाहस्त्री, सौन्दर्यलहरी आदि उनकी अन्यतम कृतियाँ हैं। उनके बुद्धिबोध एवं सौन्दर्यबोध को लेखनी से शब्दाङ्कित नहीं किया जा सकता। उन्होंने हिमालय से कन्याकुमारी तक, अटक से कटक तक **तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि** आदि महावाक्यों द्वारा मानवमात्र में समानता स्थापित करने का जो अथक प्रयास किया, वह आर्यावर्त के लिये गौरव का विषय है। शङ्कराचार्य के विषय में प्रसिद्ध है—

**अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित् ।**
**षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरभ्यगात् ।।**

### पतञ्जलि

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में एक श्लोक द्वारा करणत्रयगत मलत्रयशोधक जिस शास्त्रत्रय का उल्लेख किया है, उससे पतञ्जलि का शास्त्रत्रय का निर्माता होना सिद्ध होता है। वचन है—

**कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाःसमवस्थिताः ।**
**चिकित्सालक्षणाध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।।**

वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड

ऐसा ही प्राचीन पारम्पर्यागत एक प्रसिद्ध श्लोक है, जिसमें पतञ्जलि के प्रति समादरभाव व्यक्त हुआ है—

**योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।**
**योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।**

### योगदर्शन एवं वेदान्तदर्शन में सैद्धान्तिक समानता

**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः, ज्ञानादेव हि कैवल्यम्, बन्धो विपर्ययात्**—इन वचनों से समर्थित है कि कैवल्य पद की प्राप्ति केवलज्ञान से ही होती है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक, शास्त्रजन्य ज्ञान । दूसरा, विवेक-जन्यज्ञान।

इनमें शास्त्रजन्यज्ञान निम्न श्रेणी का है क्योंकि—

**न निवर्तेत तिमिरं कदाचिद्दीपवार्तया ।**

इस उक्ति के अनुसार दीपक की बात करने से ही जैसे अन्धकार दूर नहीं होता है, वैसे ही केवल शास्त्रजन्यज्ञान कभी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता। परन्तु जो योगाङ्गों के अनुष्ठान से निष्पादित विवेकजन्यज्ञान है, वही मुक्तिमन्दिर का द्वार उद्घाटित करने में समर्थ होता है। योगाभ्यास के विना कोई भी शुष्क वेदान्ती परब्रह्म को प्राप्त नहीं कर सकता। विवेकचूडामणि में कहा भी गया है—

**निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।**
**अन्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।**

विवेकचूडामणि ३६५

अर्थात् निर्विकल्प समाधि के द्वारा निश्चित रूप से ब्रह्मतत्त्व का स्फुट ज्ञान होता है। अन्यथा मन की चंचल गति के कारण वह ब्रह्मतत्त्व विजातीय प्रतीतियों से मिश्रित हो जाता है। अथ च विना योगाभ्यास के आत्मज्ञान नहीं हो सकता है। योगविद्या, योगज्ञान, तपश्चर्या को वेदान्तग्रन्थों में भी समर्थन प्राप्त है। अतः मोक्षप्राप्ति के समस्त साधनमार्ग 'योगमार्ग' से अनतिक्रमित हैं। निष्कर्षतः रुधिर की रक्तिमता की भाँति योगविद्या की तेजस्विता सभी दर्शनशास्त्रों में अनुस्यूत है, भले ही रक्त के घटक की विविधता की भाँति भाषा-शैली एवं प्रतिपादन-शैली में भिन्नता प्रतीत होती है। सूत्र की सूत्रता से सब परस्पर सूत्रित हैं।

### शङ्कराचार्य महान् योगी

अद्वैतवेदान्त तथा योगदर्शन के सिद्धान्तों का अनुशीलन करने से ऐसा विदित होता है कि इन दोनों के सिद्धान्तों में अत्यन्त साम्य है। यह तो स्पष्ट ही है कि अद्वैतवेदान्त के प्रस्थापक आचार्य शङ्कर एक महान् योगी थे। अपने योगबल से ही आचार्य ने मण्डनमिश्र की अर्द्धांगिनी को पराजित करने के निमित्त उनके योगशास्त्र के प्रश्नों का उत्तर देने के लिये अपने शरीर को नर्मदा नदी के समीपवर्ती वन में अपने प्रिय पद्मपादादि शिष्यों को समर्पित कर दिया था और अपना जीवतत्त्व मरणासन्न राजा अमरुक के शरीर में स्थापित कर दिया था। इतना ही नहीं, यह प्रसिद्ध है कि शङ्कराचार्य ने अपने जीवन के अन्तिम काल में केदारनाथ में जाकर समाधि ली थी।

**अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में चित्तवृत्तिनिरोध का साम्य**

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**

योगसूत्र १/२

यह योगदर्शन का बीजसूत्र है। तदनुसार चित्त की वृत्तियों के निरोध को योग कहा गया है।

यह चित्तवृत्तिनिरोध अद्वैती के लिये भी अनिवार्यरूप से अपेक्षित है। चित्तवृत्ति का निरोध किये विना मोक्षोपलब्धि असम्भव है। चित्तवृत्ति का निरोध होने पर ही चित्त-प्रशान्ति होती है और मुमुक्षु की पात्रता का श्रीगणेश होता है। अत एव शङ्कराचार्य ने उपदेशसाहस्री में स्पष्ट कहा है—

**प्रशान्तचित्ताय जितेन्द्रियाय च प्रहीणदोषाय यथोक्तकारिणे ।**
**गुणान्वितायानुगताय सर्वदा प्रदेयमेतत्सततं मुमुक्षवे ।।**

उपदेशसाहस्री, पार्थिवप्रकरण ७२

उपदेशसाहस्री के इस वचन के अनुसार ऐसे मुमुक्षु के लिये ही आत्मज्ञान का उपदेश करना चाहिए जिसका चित्त प्रशान्त हो, जिसने इन्द्रियों को अपने वश में कर लिया हो, जिसका चित्त पूर्णतया शुद्ध हो, जो निषिद्ध काम्यकर्म के वर्जनपूर्वक पूर्वोक्त नित्यादि कर्मों का अनुष्ठान करता हो, जिसमें विवेक-वैराग्यादि गुण विद्यमान हों, जो गुरु का अनुगामी हो और गुरुवाक्यों में श्रद्धा रखता हो।

**अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में मनोनिग्रह की आवश्यकता**

योगदर्शन में मनोनिग्रह के लिये अभ्यास-वैराग्य पर बल दिया गया है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।**

योगसूत्र १/१२

अपने अन्तःकरण में निहित साधुता के विकास के लिये मैत्री-करुणा, मुदिता-उपेक्षा भावना की सुखी-दुःखी, पुण्यशील-अपुण्यकारी व्यक्तियों के प्रति निरत्यय आवृत्ति करनी चाहिए। चित्तप्रसादन के ये चार आधारभूत स्तम्भ हैं। पतञ्जलि का सूत्र है—

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावना-तश्चित्तप्रसादनम् ।**

योगसूत्र १/३३

सदानन्द ने भी वेदान्तसार में इसी अभिप्राय को अभिव्यक्त किया है। वचन है—

**शमस्तावच्छ्रवणादिव्यतिरिक्तविषयेभ्यो मनसो निग्रहः ।**

वेदान्तसार ४

इस वचन के अनुसार वेदान्तविद्या के अधिकारी के लिये शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान और श्रद्धा की आवश्यकता बतलाई है। शमादि का स्वरूप है—

**शम**—अन्तःकरण की संसर्गनिवृत्ति को शम कहते हैं।

**दम**—बाह्य इन्द्रियों के निग्रह को दम कहते हैं।

**उपरति**—विक्षेपकारी ध्येयातिरिक्त वृत्ति का उदय न होना उपरति है।

**तितिक्षा**—शीतोष्णादि द्वन्द्वसहन को तितिक्षा कहते हैं।

**समाधान**—चित्त की एकाग्रता को समाधान कहते हैं।

**श्रद्धा**—वेदान्तशास्त्रवचनों पर विश्वास रखना श्रद्धा है।

श्रीधर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तपरिभाषा के प्रयोजन परिच्छेद में शमादि षट्सम्पत्ति के ज्ञान को ही नहीं, अपितु उन्हें जीवन में उतारने पर बल दिया है। षट्सम्पत्ति के अन्तिम भेद 'श्रद्धा' के विषय में योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव का मत है कि श्रद्धा कल्याणी जननी की भाँति योगी की रक्षा करती है, ऐसा कहकर बौद्धिक चिन्तन के समस्त प्रस्थानों में विराम लगा दिया और उनको एक सूत्र में ग्रथित कर दिया है। वचन है—

**श्रद्धा = चेतसः सम्प्रसादः सा हि जननीव कल्याणी योगिनं पाति ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/२०

### अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन में ज्ञान-प्रक्रिया का साम्य

वेदान्तपरिभाषा के लेखक धर्मराजाध्वरीन्द्र अद्वैतवेदान्त के प्रमुख विवेचकों में हैं। वृत्ति के सम्बन्ध में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने विशेषरूप से विचार किया है। वृत्ति का विवेचन करते हुए उन्होंने कहा है—

**तत्र यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुःकोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणमपि चक्षुरादिना निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमते । स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते ।**

वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद

इस गद्यखण्ड का अर्थ यह है कि जिस प्रकार तडाग का जल तडाग के किसी एक छिद्र द्वारा निकलकर एवं कुल्या (नहर) रूप को प्राप्त होकर उन केदारों (क्यारियों) तक पहुँचकर तदनुरूप त्रिकोण, चतुष्कोण आदि आकारों को प्राप्त होता है। उसी प्रकार तैजस होने के कारण अन्तःकरण भी नेत्रादि इन्द्रिय द्वारा निकलकर घट, पटादि देश पहुँचकर घट, पटादि विषय रूप से परिणाम को प्राप्त होता है। यही परिणाम 'वृत्ति' है।

योगसूत्रकार पतञ्जलि ने त्रिविध प्रमाण माने हैं—

**प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ।**

योगसूत्र १/७

प्रत्यक्षप्रमाण का स्वरूप निर्धारित करते हुए योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने जिस शब्दावली का प्रयोग किया है और योगभाष्य के टीकाकार विज्ञानभिक्षु ने उसका जो व्याख्यान प्रस्तुत किया है, उससे वेदान्त की उक्त विषयवस्तु का परिदृश्य उपस्थित होता है। भाष्यकार व्यासदेव लिखते हैं—

**इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया... वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/७

व्यासदेव के उक्त वचन की टीका करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—

**इन्द्रियाण्येव नाडी चित्तसंचरणमार्गः तैः संयुज्य तद्गोलकद्वारा बाह्यवस्तुषूपरक्तस्य चित्तस्येन्द्रियसाहित्येनैवार्थाकारः परिणामो भवति ।**

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/७

वेदान्त के आचार्य धर्मराजाध्वरीन्द्र एवं योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेवसहित टीकाकार विज्ञानभिक्षु (दोनों सम्प्रदायों के आचार्यों) ने 'तैजस अन्तःकरण' और चित्त को इन्द्रियप्रणाली के माध्यम से विषयदेश

तक पहुँचकर तदाकार (घटादि अर्थाकार) में परिणाम होने का तथ्य स्वीकार किया है। योग की भाँति वेदान्त भी अर्थाकारपरिणाम का पक्षधर है। इस अंश में दोनों दर्शनों में समानता है।

**वेदान्त और योगदर्शन में अन्तःकरण की मान्यता**

वेदान्तपरिभाषाकार धर्मराजाध्वरीन्द्र ने प्रत्यक्षपरिच्छेद में अन्तःकरण के निरूपण को उपकारक माना है। तदनुसार अन्तःकरण एक होता हुआ भी संशय, निश्चय, गर्व और स्मरणनामक वृत्तिभेद से मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त इन चार शब्दों से व्यवहृत होता है। एतावता संशयाकारवृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को **'मन'**, निश्चयाकारवृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को **'बुद्धि'**, गर्वाकारवृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को **'अहंकार'** तथा स्मरणाकारवृत्ति में परिणत हुए अन्तःकरण को **'चित्त'** संज्ञा प्राप्त होती है। वचन है—

**सा च वृत्तिश्चतुर्विधा संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणमिति । एवंविधवृत्तिभेदेन एकमप्यन्तःकरणं मन इति बुद्धिरिति अहंकार इति चित्तमिति व्याख्यायते ।**

वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद

अपने उक्त विवेचन के समर्थन में धर्मराजाध्वरीन्द्र ने वेदान्तदर्शनपरम्परा से एक श्लोक भी उद्धृत किया है—

**मनोबुद्धिरहङ्कारश्चित्तं करणमान्तरम् ।**
**संशयो निश्चयो गर्वः स्मरणं विषया इमे ।।**

वेदान्तपरिभाषा, प्रत्यक्षपरिच्छेद

उक्त व्याख्यान को अद्वैत का पुट प्रदान करते हुए वेदान्तपरिभाषाकार ने स्पष्ट किया है कि शुद्धचैतन्य ही उपाधिभेद से तीन प्रकार का है—

**१. विषयचैतन्य**—घटादि से अवच्छिन्न अर्थात् जितने स्थल में घट स्थित है, उतने स्थल में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम 'विषयचैतन्य' है।

**२. प्रमाणचैतन्य**—अन्तःकरणवृत्त्यवच्छिन्न अर्थात् अन्तःकरण की वृत्ति जितने प्रदेश में रहती है, उतने प्रदेश में वर्तित होने वाले चैतन्य का नाम 'प्रमाणचैतन्य' है।

**३. प्रमातृचैतन्य**—इसी प्रकार जितने प्रदेश में अन्तःकरण रहता है, उतने अन्तःकरणावच्छिन्नप्रदेशवर्ती वृत्तिचैतन्य को 'प्रमातृचैतन्य' कहते हैं।

योगदर्शन के अनुसार 'अन्त:करण' के घटकों पर विचार करने से पूर्व उसके समानतन्त्र सांख्यदर्शन; जो सृष्टि-सम्बन्धी तत्त्व-विकास-परम्परा का प्रबल विचारक है, में अन्त:करण की स्थिति दर्शनीय है। सांख्यकारिकाकार ईश्वरकृष्ण का उद्घोष है—

**करणं त्रयोदशविधम् ।**

सांख्यकारिका ३२

**अन्तःकरणं त्रिविधं दशधा बाह्यम् ।**

सांख्यकारिका ३३

इस पर व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए वाचस्पति मिश्र कहते हैं—

**अन्तःकरणं त्रिविधम्-'बुद्धिरहङ्कारो मन' इति,**

**शरीराभ्यन्तरवर्तित्वादन्तःकरणम् ।**

सांख्यतत्त्ववैशादी, सांख्यकारिका ३३

सांख्याचार्यों ने बुद्धि, अहंकार और मन—इन तीन घटकतत्त्वों के समूह को स्पष्टतया 'अन्त:करण' नाम से पुकारा है।

योगदर्शन सांख्यीय तत्त्वों की समाधानभूमि, साक्षात्कारभूमि और है—साधनाभूमि। पतञ्जलि का योगदर्शन साधना की पाठशाला है। योग की प्रयोगशाला में अनुभव की प्रणाली से दृष्टिप्राप्त साधक शिक्षित होता है। 'अनुभव' साधक का अन्तिम मापदण्ड है। वृत्तिनिरोध में पर्यवसित योगदर्शन में तत्त्वों की प्रासंगिक चर्चामात्र हुई है। इस दिशा में एक सूत्र अत्यन्त उपयोगी है। वह सूत्र है—

**विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।**

योगसूत्र २/१९

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार एवं टीकाकारों ने अपना अविरुद्धमत इस प्रकार अभिव्यक्त किया है—

**१. विशेष**—पञ्चमहाभूत, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं मन ये सोलह तत्त्व 'विशेष' वर्ग में आते है। 'अविशेष' वर्गीय तत्त्वों से पृथक् होने के कारण इन्हें 'विशेष' नाम से पुकारा जाता है।

**२. अविशेष**—पञ्चतन्मात्र एवं अस्मितामात्र अहंकार ये छः तत्त्व 'अविशेष' वर्ग में संगृहीत हैं। विशेषवर्गीय सोलह तत्त्व 'कार्य' रूप हैं, उनके 'कारण' रूप ये छः तत्त्व हैं। पञ्चमहाभूत का कारण पञ्चतन्मात्र है तो एकादशगण (पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय एवं मन) का कारण है—अहंकार (अस्मिता)।

**३. लिङ्गमात्र**—महत्तत्त्व; जिसे बुद्धि भी कहते हैं, 'लिङ्गमात्र' (एकतत्त्व) है।

**४. अलिङ्ग**—अव्यक्त को अलिङ्ग कहते है। यही प्रधान और प्रकृति पदवाच्य है। यही वेदान्त की माया है।

इस प्रकार सांख्यसम्मत अन्तःकरण के तीन घटक बुद्धि, अहंकार और मन की अन्तःसङ्गति लग जाती है। विचारणीय बिन्दु यह है कि योग के बीजसूत्र—

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** (योगसूत्र १/२) में उल्लिखित 'चित्त' तत्त्व कौन है? क्या यह पृथक् तत्त्व है? अथवा अन्तःकरणत्रय का सामूहिक नाम है? योगसूत्र में इन चारों पदों के प्रयोग की स्थिति इस प्रकार है—

'चित्त' पद का प्रयोग—

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**

योगसूत्र १/२

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध-**
**भूमिकत्वानवस्थितत्त्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।**

योगसूत्र १/३०

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-**
**पुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।**

योगसूत्र १/३३

**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।**

योगसूत्र २/५४

**निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।**

योगसूत्र ४/४

**प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकञ्चित्तमेकमनेकेषाम् ।**

योगसूत्र ४/५

**वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्था ।**

योगसूत्र ४/१५

**न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।**

योगसूत्र ४/१६

**तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञानम् ।**

योगसूत्र ४/१७

**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्**

योगसूत्र ४/१८

**द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम् ।**

योगसूत्र ४/२३

**तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ।**

योगसूत्र ४/२१

'बुद्धि' पद का प्रयोग—

**चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ।**

योगसूत्र ४/२१

**चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्**

योगसूत्र १/३५

'मन' पद का प्रयोग—

**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी ।**

योगसूत्र १/३५

**धरणासु च योग्यता मनसः ।**

योगसूत्र २/५३

'अस्मिता' (अहंकार) पद का प्रयोग—

**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।**

योगसूत्र २/६

**निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ।**

योगसूत्र ४/४

महर्षि पतञ्जलि के उक्त सूत्रों में प्रयुक्त चित्त-बुद्धि-मन-अस्मिता इन चारों पदों के वाच्यभूत तत्त्वों में 'वृत्तिनिरोधत्व' बीज सन्निहित है। अतः व्यासभाष्य के टीकाकार विज्ञानभिक्षु ने योगवार्त्तिक में 'चित्त' को अन्तःकरणसामान्य कह कर योगदर्शन में अन्तःकरण के चतुर्भेद के सिद्धान्त की स्थापना की है। विज्ञानभिक्षु लिखते हैं—

**चित्तमन्तःकरणसामान्यमेकस्यैवान्तःकरणस्य वृत्तिभेदमात्रेण चतुर्धाऽत्र दर्शने विभागात् ।**

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/२

द्वितीय समाधानपक्ष यह है कि चित्त और मन की एकता मानी जा सकती है। वाचस्पतिमिश्र ने 'मन' के लिये 'चित्त' पद का प्रयोग भी किया है—

**एता वृत्तयोऽल्पेनैव कालेनोत्पन्नाश्चित्तम् ... निबध्नन्ति ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र २/३५

विज्ञानभिक्षु ने तो मन और चित्त की एकता मानते हुए अन्तःकरणत्रय के सिद्धान्त को भी स्पष्टतः संरक्षित किया है—

**अत्र च मनस इति वचनात् मनश्चित्तयोरेकतैव बोध्यम् ।**

योगवार्त्तिक, योगसूत्र २/३५

फलाभिसन्धि है कि अद्वैतदर्शन की भाँति योगदर्शन को अन्तःकरणचतुष्टयवादी मानने से कोई वचोव्याघात नहीं होता है। वेदान्तदर्शन की भाँति योगदर्शन में भी संशय मन का, निश्चय बुद्धि का तथा गर्व (अभिमान) अहंकार का विषय है। वेदान्त में स्मरण चित्त का विषय बतलाया है इसका समायोजन मन, बुद्धि और अहंकार के विषय के स्मरण के रूप में किया जा सकता है।

### अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में 'अविद्या' की अवधारणा

अविद्या-सम्बन्धी सिद्धान्त की कथा उतनी ही पुरानी एवं रहस्यमयी है जितनी जीवविज्ञान की कहानी। बीजाङ्कुरन्याय से इसकी अनादिता-अनन्तता सबको एक कण्ठ से स्वीकार्य है। भले ही, तत्-तद् दर्शनों की चिन्तनपद्धति ने इसे भिन्न-भिन्न नामों से पुकार कर उसके बाह्यस्वरूप को

प्रभावित किया हो, किन्तु अग्नि की दाहकत्वशक्ति की भाँति उसका मूलभूतस्वरूप सर्वथा एवं सर्वदा एकरूप रहा है। इतना ही नहीं, आविद्यिक अवस्था में ही अस्तित्वधारी जीव की एक उत्कृष्टतम प्रजाति महामानव ने ऋषि-महर्षि उपाधि से विभूषित होकर दर्शनशास्त्र का आविर्भाव किया, अन्यथा जीवन के इस बौद्धिक विकास-क्रम को पूर्णविराम लग जाता। अस्तु

अविद्या एवं मायावाद के सिद्धान्त के आधार पर ही आचार्य शङ्कर ने अद्वैतवाद का ढाचा खड़ा किया है। अविद्या अज्ञान का पर्याय है। अद्वैतवेदान्त में अविद्या अथवा अज्ञान की दो शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं—आवरणशक्ति तथा विक्षेपशक्ति ।

## आवरणशक्ति और योगदर्शन

आत्मा के वास्तविक स्वरूप अर्थात् आत्मा के सत्-चित्-आनन्दस्वरूप को आवृत्त कर लेने के कारण अज्ञान की इस शक्ति को आवरणशक्ति कहते हैं। आवरणशक्ति के द्वारा वस्तु अन्यथारूप से भासित होती है। आवरणरूपा अविद्या अध्यारोप की जननी है। अध्यास का लक्षण वेदान्त में **'अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धिः'** (ब्रह्मसूत्र, शांकरभाष्य, उपोद्घात) कहकर किया गया है। योगदर्शन के अन्तर्गत भोजवृत्ति में अविद्या का लक्षण **'अतस्मिंस्तत् प्रतिभासो अविद्या** (भोजवृत्ति, योगसूत्र २/५) कहकर किया गया है। इस प्रकार योगदर्शन की अविद्या भी आरोपवाद की ही समर्थक है। शुक्ति में रजत का आभास अविद्याजन्य आरोप ही है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**विपर्ययो मिथ्याज्ञानं अतद्रूपप्रतिष्ठम् ।**

योगसूत्र १/८

महर्षि पतञ्जलि ने—

**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।**

योगसूत्र २/५२

सूत्र में 'प्रकाशावरण' पद के द्वारा अविद्या की आवरणक्रिया को ही उपपादित किया है जो बुद्धिरूप प्रकाश को आवृत्त करती है। ऐसा आवरण क्लेशकारी होता है, अतः विपर्यय के अन्तर्गत आता है। यह तथ्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी में स्पष्ट किया है। उनका वक्तव्य है—

**आव्रियतेऽनेन बुद्धिसत्त्वप्रकाश इत्यावरणं क्लेशः ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र २/५२

### विक्षेपशक्ति और योगदर्शन

ब्रह्मा से लेकर स्थावरपर्यन्त समस्त जगत् की सृष्टि करने के कारण अज्ञान की यह शक्ति विक्षेपशक्ति कही जाती है। शङ्कराचार्य ने विवेकचूडामणि में विक्षेपरूपा अविद्या को रागादि एवं दुःखादि मानसिक विकारों की जननी कहा है—

**रागादयोऽस्या प्रभवन्ति नित्यं दुःखादयो ये मनसो विकाराः ।**

विवेकचूडामणि

पातञ्जलयोग में भी अविद्या को रागादि की प्रसवभूमि कहा गया है। व्यासभाष्य में लिखा है—

**अविद्याक्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनाम् ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/४

जिस प्रकार वेदान्तदर्शन के अनुसार मिथ्याज्ञानरूपा अविद्या ही समस्त क्लेशों की जननी है और पूर्ण ज्ञान द्वारा अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशादि की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार योगदर्शन के अन्तर्गत भी अविद्या को ही समस्त क्लेशों का मूल कहा गया है और उसी अविद्या की निवृत्ति होने पर क्लेशों का पूर्णतया नाश हो जाता है।

अद्वैतदर्शन में विक्षेपशक्ति को दुःखादि मानसिक विकारों की जननी कहा है। योगदर्शन में भी विक्षेपशक्ति की भयावहता कुछ इस प्रकार कही गई है—

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।**

योगसूत्र १/३०

**दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।**

योगसूत्र १/३१

योग दर्शन में इन दो सूत्रों के द्वारा अविद्या की विक्षेपकारी स्थिति का उपपादन हुआ है। इस प्रकार विचार करने पर वेदान्त और योगदर्शन के

अविद्यासम्बन्धी दृष्टिकोण में पर्याप्त साम्य प्रतीत होता है। अन्तर इतना है कि वेदान्त में अविद्या का शक्तिरूप में प्रतिपादन मिलता है, उसका योगदर्शन में अभाव है। किन्तु इतना सुविचार्य है कि योगदर्शन में 'अविद्या' विद्या की अभावरूपा अवस्था नहीं, अपितु वह विद्याविरोधी भावपदार्थ है, अतः उसकी शक्तिमत्ता का सहज आकलन किया जा सकता है।

**अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन में ईश्वर की मान्यता**

योगदर्शनसम्मत ईश्वर एक विलक्षण पुरुषविशेष है। इसके विपरीत अद्वैतवेदान्तियों का ईश्वर मायाशक्तिसम्पन्न है। मायाशक्तिसम्पन्न ईश्वर ही सृष्टि का रचयिता है। विना मायाशक्ति के ईश्वर का स्रष्टृत्व नहीं सिद्ध होता है। ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य में आचार्य शङ्कर ने लिखा है—

**न हि तया विना परमेश्वरस्य स्रष्टृत्वं सिध्यति ।**

शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र १/४/३

योगदर्शन के पुरुषविशेष ईश्वर के लिये इस प्रकार की किसी शक्ति की अपेक्षा नहीं है। वह तो क्लेशकर्मविपाकाशय से अपरामृष्ट पुरुषविशेष के रूप में वर्णित है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।**

योगसूत्र १/२४

योगदर्शन में ईश्वर को स्रष्टृत्वरूप में नहीं उपपादित किया गया है। किन्तु हाँ, योगसूत्र के टीकाकारों ने ईश्वर को प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्त से युक्त बतलाया है। प्रकृष्टसत्त्वप्रधान चित्तरूप उपाधि के साथ ईश्वर का सम्बन्ध अविद्यामूलक न होकर जीवों के कल्याणार्थ आहार्यज्ञानपूर्वक है। अतः योगदर्शन में सृष्टिकर्त्ता के रूप में नहीं, अपितु ध्यान के विषयरूप में ईश्वर की परिकल्पना हुई है। चित्तवृत्तिनिरोधार्थ ईश्वर की वैकल्पिक व्यवस्था है। सूत्रद्वय द्रष्टव्य हैं—

**ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।**

योगसूत्र १/२३

**तज्जपस्तदर्थभावनम् ।**

योगसूत्र १/२८

**ईश्वर में उद्धारेच्छा**

ईश्वर का अपनी उपाधि के साथ सम्बन्ध होने का प्रयोजन यह है कि ज्ञान और धर्म के उपदेश द्वारा तापत्रय से पीडित मानवमात्र का संसार के आवागमन से उद्धार कर सकूँ, न कि अविद्या के कारण। अविद्या को अवास्तविक समझने वाला व्यक्ति भ्रान्त नहीं होता है। तत्त्ववैशारदी में वाचस्पति मिश्र ने लिखा है—

**नेश्वरस्य पृथग्जनस्येवाविद्यानिबन्धनश्चित्तसत्त्वेन स्वस्वामिभावः, किन्तु तापत्रयपरीतान् प्रेत्यभावमहार्णवाज्जन्तूनुद्धरिष्यामि ज्ञानधर्मोपदेशेन ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/२४

इतना ही नहीं, प्रत्येक सृष्टि के संहारकाल में ईश्वर ऐसा सङ्कल्प करके प्रकृष्टचित्तसत्त्व को मूलकारण प्रकृति में तिरोहित करता है कि प्रलय की अवधि समाप्त होने पर जीवकल्याणार्थ विशुद्धचित्त को पुनः धारण करूँगा—

**अनादौ तु सर्गसंहारप्रबन्धे सर्गान्तरसमुत्पन्नसंजिहीर्षाऽवधिसमये पूर्णे मया सत्त्वप्रकर्ष उपादेय इति प्रणिधानं कृत्वा भगवान् जगत्संजहार ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/२४

उपर्युक्त विवरण से ऐसा प्रतीत होता है कि 'ईश्वरोपाधि' की कल्पना में अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन में किसी अंश में समानता है। रही बात भूतानुग्रह की तो कहा जा सकता है कि अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन में ईश्वर में लोकोद्धार की प्रवृत्ति समान ही है। अद्वैतवेदान्त में भी ईश्वर की लीलारूप प्रवृत्ति का समर्थन किया गया है। तभी अधोलिखित ब्रह्मसूत्र की सङ्गति लगाई जा सकती है—

**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।**

ब्रह्मसूत्र २/१/३३

उक्त सूत्र की व्याख्या करते हुए शङ्कराचार्य ने स्पष्टतया लिखा है—

**ईश्वरस्याप्यनपेक्ष्य किंचित्प्रयोजनान्तरं स्वभावादेव केवलं लीलारूपा प्रवृत्तिर्भविष्यति ।... परमेश्वरस्य लीला, अपरिमितशक्तित्वात् ।**

शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र २/१/३३

**अद्वैतवेदान्त और योगदर्शन की मुक्ति**

अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन दोनों दर्शनपद्धतियों में मुक्ति को स्वीकार किया गया है। अद्वैतवेदान्त में जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की जो विवेचना मिलती है, वैसी योगदर्शन में नहीं है। योगदर्शन में मुक्ति को कैवल्य कहा है। योगसूत्र के कैवल्यपाद का अन्तिम सूत्र इस दिशा में अत्यन्त सहायक है। सूत्र है—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।**

योगसूत्र ४/३४

योगदर्शन में पुरुषार्थशून्य चरिताधिकार गुणों की तत्पुरुषीय आत्यन्तिक लयावस्था कैवल्य है, यह प्रथम कैवल्य है और चितिशक्तिरूप पुरुष की अपने वास्तविक स्वरूप में अवस्थिति, यह द्वितीय कैवल्य है। दूसरे शब्द में बुद्धि के साथ पुरुष के औपाधिक सम्बन्ध की आत्यन्तिक निवृत्ति (परस्परसंबन्धनिरपेक्षता) से बुद्धिकैवल्य और पुरुषकैवल्य दोनों कैवल्य निष्पादित होते हैं।

जहाँ तक अद्वैतवेदान्तियों की जीवन्मुक्ति की वार्ता है, तो क्या इसके समकक्ष सम्प्रज्ञातसमाधिसम्पन्न साधक को नहीं रखा जा सकता है? विवेकख्यातिसम्पन्न साधक की अवशिष्ट जीवनयात्रा जीवन्मुक्ति का पर्याय है और विवेकज्ञानपूर्वक उपायप्रत्ययक साधक की सर्ववृत्तिनिरोध की अवस्था के साथ आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक देहत्यागक्रिया विदेहमुक्ति है। यह विदेहमुक्ति—

**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।**

योगसूत्र १/२०

इस सूत्र से ध्वनित हुई है। सम्पूर्ण योगसूत्र में मात्र एक स्थान पर 'विदेह' शब्द का प्रयोग मिलता है। परन्तु इस 'विदेह' शब्द से अद्वैतवेदान्त में प्रतिपादित विदेहमुक्ति को नहीं समझना चाहिये, क्योंकि यह भवमूलक है। इस स्थिति में साधक की सर्ववृत्तियों का निरोध तो हो जाता है किन्तु अनात्म वस्तु में आत्मभाव का अविद्यारूप बीज अवस्थित रहता है, जो साधक के पुनर्भव का कारण बनता है। योगशास्त्र को ऐसी मुक्ति स्पृहणीय नहीं है।

दोनों दर्शनों में समानता इस अंश में है कि अविद्यानिवृत्ति होने पर ही मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य अथवा अपवर्ग मिलता है।

**निष्कर्ष**

ब्रह्मसूत्र में एक सूत्र आता है—

**एतेन योगः प्रत्युक्तः ।**

ब्रह्मसूत्र २/१/३

योगप्रयुक्त्यधिकरण में आगत इस सूत्र का प्रथमदृष्ट्या यही अर्थ प्रतीत होता है कि सांख्यस्मृतिप्रत्याख्यान से योगस्मृति भी प्रत्याख्यात हो जाती है। किन्तु शाङ्करभाष्य के अनुशीलन से यह विदित होता है कि यहाँ वेदनिरपेक्ष सांख्यज्ञान अथवा योगमार्ग से निःश्रेयस् की समधिगता निराकृत हुई है, न कि वेदसापेक्ष (वेदानुमोदित) सांख्ययोग की। शङ्कराचार्य लिखते हैं—

**निराकरणं तु-न सांख्यज्ञानेन वेदनिरपेक्षेण योगमार्गेण वा निःश्रेय-समधिगम्यत इति।**

शांकरभाष्य, ब्रह्मसूत्र २/१/३

इस प्रकार वेदान्तदर्शन और योगदर्शन के उपर्युक्त विवेचन से यह विदित होता है कि दोनों दर्शनपद्धतियों के सिद्धान्तों में पारस्परिक साम्य भी है, भले ही प्रतिपादन-शैली भिन्न-भिन्न हो। वेदान्तदर्शन में जिन विषयों का प्रतिपादन सैद्धान्तिकरूप से ही किया गया है, योगदर्शन में उनका विवेचन व्यावहारिकरूप में मिलता है। चित्तवृत्तिनिरोध आदि के उपाय योग के व्यावहारिक विवेचन ही हैं। अतः वेदान्ती को योग की महती उपादेयता माननी चाहिए। इस प्रकार अद्वैतवेदान्त एवं योगदर्शन का सम्बन्ध स्वतः सिद्ध है।

●

# योग से ही वेदान्त की उत्पत्ति

विना ज्ञान के मुक्ति नहीं होती—**ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः ।**

ज्ञान से ही मुक्ति होती है—**ज्ञानान्मुक्तिः ।**

इसके विपरीत अज्ञान से बन्ध होता है—**बन्धो विपर्ययात् ।**

अतः यह सर्वमान्य सिद्धान्त है कि कैवल्य पद की प्राप्ति केवल ज्ञान से ही होती है। ज्ञान दो प्रकार का होता है—एक शास्त्रजन्यज्ञान, दूसरा विवेकजन्यज्ञान। इनमें शास्त्रजन्यज्ञान निम्न श्रेणी का है, क्योंकि दीपक की बात करने से ही अन्धकार कभी दूर नहीं हो सकता है—

**न निवर्तेत तिमिरं कदाचिद् दीपवार्तया ।**

इस उक्ति के अनुसार केवल शास्त्रजन्यज्ञान कभी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता है। परन्तु जो योगाङ्गों के अनुष्ठान से निष्पादित विवेकजन्य ज्ञान है, वही मुक्ति-मन्दिर के कपाट को उद्घाटित करने में समर्थ है, यह सर्वशास्त्रसमम्त सिद्धान्त पूर्वनिर्दिष्ट है। विष्णुपुराण में भी कहा है—

**आत्मोत्थं विवेकाच्च द्विधा ज्ञानं तदुच्यते ।**
**शब्दब्रह्मागममयं परं ब्रह्म विवेकजम् ।।**

विष्णुपुराण ६/५/६१

अर्थात् ज्ञान के दो प्रकारों में शब्दब्रह्म का ज्ञान शास्त्रजन्य है तथा परब्रह्म का विवेकजन्य। विवेक की प्राप्ति का उपाय पतञ्जलि ने योगदर्शन में बतलाया है—

**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।**

योगसूत्र २/२८

इस सूत्र की व्याख्या के रूप में योग के साधनरूप से जो अग्रिम सूत्र में कहे जाने वाले हैं, वे ही योगाङ्ग हैं—

**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।**

योगसूत्र २/२९

इन योगाङ्गों के अनुष्ठान से अर्थात् श्रद्धा और उत्साह के साथ गुरु के द्वारा उपदिष्ट साधना के अनुसार यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि का निष्पादन करने से ज्ञानदीप्तिपूर्वक अशुद्धि का क्षय हो जाता है। यहाँ 'अशुद्धि' शब्द से उस पञ्च पर्वा अविद्या का ग्रहण होता है, जिसके द्वारा उत्क्रमण और गमनागमन का आश्रय लेकर जीव कूपरज्जु से आबद्ध घट की तरह इस संसार-सागर में परिभ्रमण करता रहता है, ऐसी अविद्यारूपी अशुद्धि का क्षय अर्थात् तिरोभाव (लोप) होता है। अथवा अविद्याबीज दग्धवत् हो जाता है, किन्तु पूर्णतया विनष्ट नहीं होता। क्यों नहीं होता? क्योंकि कारण का लय होने पर नाश होता है। जैसा कि सांख्यसूत्र में कहा गया है—

**नाशः कारणलयः ।**

सांख्यसूत्र १/१२१

महाभारत के अधोलिखित वचन से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है—

**गुणा गुणेषु जायन्ते तत्रैव प्रविशन्ति च ।**

महाभारत शान्तिपर्व ३०५/२३

अर्थात् गुण गुणों से उत्पन्न होते हैं और उन्हीं में लीन होते हैं। विज्ञानवेत्ताओं का कहना है कि ईश्वर की सृष्टि में किसी भी पदार्थ का आत्यन्तिक विनाश नहीं होता है। अन्यथा—

**न नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावस्य तद्योगस्तद्योगादृते ।**

सांख्यसूत्र १/१७

नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त स्वभाव के पुरुष का प्रकृति से संयोग के अतिरिक्त बन्धन नहीं होता—इत्यादि वचनों का कोई महत्त्व नहीं रह जाता है। इस प्रकार पूर्वोक्त अशुद्धि का क्षय हो जाने पर ज्ञानदीप्ति होती है। जिसके द्वारा सजातीय और विजातीय वस्तुओं के विभागपूर्वक त्याज्य और ग्राह्य वस्तु जानी जाय, वही ज्ञान है।

**सर्वे वै ज्ञानिनो लोके पशुपक्षिमृगादयः**—संसार में पशु, पक्षी और मृग आदि जितने भी जीव हैं सभी ज्ञानी हैं, इस लोकोक्ति के अनुसार

आहार, निद्रा, भय और मैथुन आदि के ज्ञान में आसक्त हुए सर्वसाधारण जीवों में ज्ञान का सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। अपितु योगाङ्गों के अनुष्ठान के बल से अविद्यारूपी लता का उच्छेद कर देने पर शनैः-शनैः जो आत्मस्वरूप की प्राप्ति होती है, उसी ज्ञान को तत्त्वज्ञों ने शास्त्र में प्रतिपादित किया है। इस विशिष्टज्ञान की दीप्ति-अभिव्यक्ति-प्रकाश होता है। यदि प्रश्न किया जाय कि ज्ञान का प्रकाश कब तक अभिव्यक्त होता है? इसका उत्तर सूत्र में ही समाहित है—

**.................... आविवेकख्यातेः ।**

योगसूत्र २/२८

**विवेकख्यातिपर्यन्तं ज्ञेयं प्रकृतिचेष्टितम् ।**

पञ्चशिखाचार्यवचन

पञ्चशिखाचार्य की उक्ति से भी यही बात सिद्ध होती है। 'विवेक' शब्द का अर्थ है—जिसके द्वारा ब्रह्म आदि के ज्ञान का विवेचन-अवधान-निश्चय किया जाय। इसका निहितार्थ यह है—

यह अन्तर्यामी आत्मा निर्गुण होकर भी कूटस्थ होने के कारण एकरस है और सत्त्वादि त्रिगुणमयी प्रकृतिदर्पण का अनुसरण करता है। जिस समय वैराग्यसहित अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठानरूप जल से इस प्रकृतिरूप दर्पण को प्रक्षालित किया जाता है, उस समय अविद्या, अस्मिता आदि क्लेशरूप मल से रहित हो जाने पर इस प्रकृतिरूप दर्पण में पुरुष का वास्तविक स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है, जिससे यह पुरुष विवेकमयी ज्योति को प्राप्त कर लेता है और तू प्रकृति है—मैं पुरुष हूँ, तू जड है—मैं चेतन हूँ, तू दृश्य है—मैं द्रष्टा हूँ, तू कर्त्री है—मैं अकर्ता हूँ, तू विकृत होती है—मैं निर्विकार हूँ, तू चञ्चला है, मैं अचल हूँ, तू संघातरूप है—मैं एकरूप हूँ, तू भ्रान्त है—मैं निर्भ्रान्त हूँ, तू मुक्त होना चाहती है—मैं नित्यमुक्त हूँ, इत्यादि प्रकार से प्रकृति के दोषों को स्फुटित करता है। इसके लिये सांख्य की अधोलिखित कारिका स्मर्तव्य है—

**त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।**
**व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।।**

सांख्यकारिका ११

इसके पश्चात् पुरुष से संयोग होने पर भी प्रकृति लज्जित कुलवधू की तरह पुनः दर्शनार्थ उपस्थित नहीं होती है—

**प्रकृतेः सुकुमारतरं न किञ्चिदस्तीति मे मतिर्भवति ।**
**या दृष्टाऽस्मीति पुनर्न दर्शनमुपैति पुरुषस्य ।।**

सांख्यकारिका ६१

यही तथ्य श्रीमद्भागवत में वर्णित है कि जो उपभोग करके त्याग दी गई है, जिसके प्रतिदिन दोष देखे जा रहे हैं, ऐसी वह प्रकृति अपनी महिमा में स्थित हुए ईश्वर (पुरुष) का अमङ्गल नहीं करती है। वचन है—

**भुक्तभोगा परित्यक्ता दृष्टदोषा च नित्यशः ।**
**नेश्वरस्याशुभं धत्ते स्वे महिम्नि स्थितस्य च ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२७/२४

इधर पुरुष भी उस विमल प्रकृतिरूप दर्पण में सरोवर में प्रतिबिम्बित तटीय वृक्षों की भाँति, प्रतिबिम्बित होकर सम्पूर्ण ग्राह्य और त्याज्य वस्तुओं का सङ्कलन करता हुआ निर्लेप तुम्बी की भाँति स्वभावतः केवल होकर भी योगाभ्यास से कैवल्यनामक आनन्द का अनुभव करता है। जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—

**यथैव बिम्बं मृदयोपलिप्तं तेजोमयं भ्राजते तत्सुधान्तम् ।**
**तद्वात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् २/१४

केवल शास्त्रीय ज्ञान रखने वाले वेदान्तियों की यही चरम समाधि है, परन्तु परब्रह्म की प्राप्ति तो विवेकजन्य ज्ञान से ही होती है और विवेक होता है अष्टाङ्गयोग के अनुष्ठान से। योगाभ्यास के विना कोई भी शुष्क वेदान्ती परब्रह्म को नहीं प्राप्त कर सकता। कहा भी है—

**निर्विकल्पसमाधिना स्फुटं ब्रह्मतत्त्वमवगम्यते ध्रुवम् ।**
**अन्यथा चलतया मनोगतेः प्रत्ययान्तरविमिश्रितं भवेत् ।।**

विवेकचूडामणि ३६५

निर्विकल्पक समाधि के द्वारा ही निश्चितरूप से ब्रह्मतत्त्व का स्फुट ज्ञान होता है। अन्यथा मन की चंचल गति के कारण वह ब्रह्मतत्त्व विजातीय प्रतीतियों से मिश्रित हो जाता है।

परन्तु सदा ही इन्द्रियों का रस सेवन करने वाले; स्त्री, पुत्र आदि भौतिक सम्पदा से उदासीन न रहने वाले; व्यर्थ ही आत्मवाद पर वितण्डा करने वाले; कपटभाव से केसरिया वस्त्र धारण करने वाले मिथ्याचारियों और अपने अन्तःकरण में चण्डियों का चिन्तन करने वाले नामधारी योगी, संन्यासी, विरागी, ब्रह्मवादी, परमहंस, कर्मयोगी, महात्मा आदि को निर्विकल्पक समाधि की सिद्धि नहीं होती है। इसलिये जो लोग—

**क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ।**

मुण्डकोपनिषद् ३/१/४

'क्रियावान् ही ब्रह्मवेत्ताओं में अत्यन्त उत्तम है' इस श्रुति के रहस्य की अवहेलना करके धर्माचरण और समाधि से शून्य होकर—

**अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, तत्त्वमसि ।**

इत्यादि वाग्देवता को जीवनोपार्जन का साधन समझते हैं, वे केवल शास्त्र का ज्ञान रखने वाले वेदान्ती शोचनीय हैं। क्योंकि वेद की ऋचा भी यही कहती है—

**यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति ।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/८

यही नहीं, श्रुति योगरहस्य का भी उपदेश करती है—

**नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।**
**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ।।**

मुण्डकोपनिषद् ३/२/३

**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यास ! योगाद् यतयः शुद्धसत्त्वाः ।**
**ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे ।।**

मुण्डकोपनिषद् ३/२/६

इस श्रुति का अभिप्राय वेदान्तसिद्धान्त के द्वारा संन्यासी के प्रति योग की महिमा प्रकट करना है—जिसने संन्यास ले लिया है उस संन्यासी को ही यहाँ संन्यास कहा है। संन्यास शब्द में 'मतुप्' प्रत्यय के अर्थ में **'अर्श आदिभ्योऽच्'** (५/२/१२७) इस पाणिनि सूत्र से 'अच्' प्रत्यय हुआ है।

अतः संन्यास पद का अर्थ है—संन्यासी। श्रुति के **'संन्यास! योगात्'** इस पद में संन्यास सम्बोधन का रूप है। अर्थात् हे संन्यास = हे संन्यासिन्! अष्टाङ्गयोग के अभ्यास से जिनके अन्तःकरण शुद्ध हो गये हैं ऐसे प्रयत्नशील यति = योगिजन लिङ्गदेह का परित्याग करते समय सर्वोत्तम अमरभाव को प्राप्त होकर ब्रह्मरूप लोक में मुक्त हो जाते हैं। पूर्वोक्त प्रक्रिया की सिद्धि के लिये श्रुति वेदान्तसिद्धान्त का प्रतिपादन करती है—**'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'** वेदान्तों का जो विज्ञान है, उसे वेदान्तविज्ञान कहते हैं, उसमें ये सुष्ठुरूपेण निश्चित किये हुए सिद्धान्तभूत अर्थ हैं। तात्पर्य यह है कि वेदान्ती संन्यासियों के ये ही सिद्धान्त हैं कि पूर्वोक्त सभी योगी योग से शुद्धचित्त होकर लिङ्गशरीर का त्याग करते समय परम अमृतभाव को प्राप्त होकर मुक्त हो जाते हैं। यहाँ **'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः'** इस समस्त पद में बहुवचन का प्रयोग अत्यन्त आदर प्रदर्शन के लिये है। यह सिद्धान्त स्कन्दपुराण द्वारा भी समर्थित है—

**आत्मज्ञानेन मुक्तिः स्यात्तच्च योगादृते न हि ।**

स्कन्दपुराण का. खण्ड ४१/४२

अर्थात् मुक्ति आत्मज्ञान से होती है और आत्मज्ञान विना योगाभ्यास के नहीं होता है। इसलिये शुष्क वेदान्तपरिभाषा का अध्ययन छोड़कर योगाभ्यास में चित्त को एकाग्र करना चाहिए। फिर समय आने पर योग से ही वेदान्तज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है।

●

# भारतीय प्रस्तरकला और योग

'प्रस्तरकला' शब्द का अर्थ है विविध प्रकार से आकलित प्रकृष्ट प्रस्तरखण्ड। भारतखण्ड में चौंसठ प्रयोगात्मक कलाएँ हैं, जिनमें एक प्रस्तरकला है। दूसरी ओर वैदिकयुग से योगविद्या प्रचलित है। इस आलेख में यह विचार करना है कि ललितकला में योग का प्रादुर्भाव किस समय से हुआ तथा शनैः-शनैः इसका प्रचार कैसे बढता गया। भारतीय ललितकला का धर्म से अटूट सम्बन्ध है। जैसे-जैसे धर्म की भावना वृद्धि-ह्रास को प्राप्त होती गई, वैसे ही कला पर भी उसका प्रभाव परिलक्षित होता गया। गुप्तकाल से पूर्व भागवतधर्म का उदय हुआ। इसके प्रभाव से बौद्धधर्म में महायान की उत्पत्ति हुई। महायानधर्म ने बौद्धकला में एक नये युग का सूत्रपात किया। महायान (ईस्वी सन् की प्रथम शताब्दी) के जन्म से पूर्व मौर्य, शुङ्ग तथा आन्ध्रकलाओं में बुद्ध भगवान् के प्रतीक (बौद्धिवृक्ष, चूडा तथा धर्मचक्र आदि) की ही पूजा होती थी। सांची तथा अमरावती की वेष्टनी और तारणों पर इन्हीं के पूजा-प्रकार तथा बुद्ध की जन्मकथाओं (जातकों) का ही दिग्दर्शन देखने में आता है। महायान के प्रचार से उत्तर-पश्चिमी भारत में एक नवीन कला का जन्म हुआ, जिसे गान्धार नाम से जानते हैं। ईसा की पहली सदी से गान्धारकला में बुद्ध की मूर्तियाँ बनने लगीं, जो उन्हें महापुरुष एवं योगी समझकर तैयार की जाती थीं। गुप्तकाल में ब्राह्मणधर्म के पुनरुत्थान के कारण हिन्दू मूर्तियाँ बनने लगीं।

**कला में योग**

भारत में सबसे प्रथम बुद्ध भगवान् की मूर्ति गान्धारकला से प्राप्त होती है। अत एव प्रथम शताब्दी से पूर्व भारतीय कला में योग के प्रचार के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। बुद्ध सर्वोत्कृष्ट योगी थे। अतः उनकी मूर्तियाँ योगासनों तथा मुद्राओं से युक्त मिलती हैं। बौद्धकला से हिन्दूप्रस्तरकलापर्यन्त योग का प्रचार-प्रसार मिलता है। प्राचीन समय में मूर्तिकला धर्मप्रधान होने से देवताओं की ही प्रतिमाएँ यौगिक आसनों तथा

मुद्राओं से युक्त मिलती हैं। योगी स्वयं सिद्ध महात्मा हुआ करते थे। अत एव मूर्तिपूजा की उन्हें आवश्यकता अनुभूत न हुई। जाबालदर्शनोपनिषद् में कहा गया है कि योगी शिव को अपने अन्तःकरण में देखते हैं, प्रतिमाओं में नहीं। प्रतिमा तो अज्ञजनों के भावना करने के लिये निर्माण की गई हैं।

उपनिषद् का वचन है—

**शिवमात्मनि पश्यन्ति प्रतिमासु न योगिनः ।**

**अज्ञानां भावनार्थाय प्रतिमाः परिकल्पिताः ।।**

जाबालदर्शनोपनिषद् ४/५९

यही कारण है कि योगियों की विभिन्न भावनाओं से युक्त प्रतिमाएँ प्राचीनकाल में निर्मित नहीं होती थीं। किन्तु देवताओं की मूर्तियाँ उन भावों के साथ मिलती हैं। इस लेख में संक्षेप से योगसम्बन्धी आसन, मुद्रा तथा चक्र आदि का प्रतिपादन किया जा रहा है। जिससे बौद्ध एवं हिन्दू प्रतिमाओं में उनके रूपों का समन्वय स्थापित किया जा सके।

**आसन**

योगियों को समाधिस्थ तथा एकाग्रचित्त होने के लिये यह अपेक्षित रहता था कि वे समयानुकूल आसन लगाकर बैठें। योगशास्त्र में पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, पर्यङ्कासन आदि तेरह आसनों का वर्णन मुख्यतया मिलता है, किन्तु प्रस्तरकला में इन सब आसनों का प्रयोग नहीं किया जाता था। कला में पद्मासन का प्रयोग सर्वाधिक मिलता है। अथ च पर्यङ्कासन, वीरासन तथा ललितासन की अवस्था में भी मूर्तियाँ अल्प मिलती हैं।

**पद्मासन**

इस आसन में दाहिने चरण को बायीं जांघ पर तथा बायें चरण को दाहिनी जांघ पर रखा जाता है। इसके अतिरिक्त समाधिस्थ होने के लिये योगिजन हाथों से अन्य पैर के अंगूठे को पकड़ते थे, जो हाथ पीछे की ओर से सम्बद्ध होते थे। जैसा कि पीछे विवेचन किया गया है कि योगियों की मूर्तियाँ कम संख्या में बनती थीं, परन्तु इसी आसन में देवताओं की मूर्तियाँ मिलती हैं। देवता लोग हाथों में अन्य चीजें धारण करते थे अथवा उनका हाथ किसी मुद्रा में होता था। अतः शिल्पियों ने साधारण पद्मासन का

अधिक प्रयोग कियां है। बौद्ध तथा हिन्दूमूर्ति कला में भी पद्मासन का बहुत अधिक प्रयोग दिखलाई पड़ता है। भगवान् बुद्ध परम योगी थे। अत एव उनकी मूर्ति पद्मासन अवस्था में बनती थी, चाहे वह किसी मुद्रा में क्यों न हो।[१] भगवान् विष्णु और गणेश की भी मूर्तियाँ इसी अवस्था में उपलब्ध हो जाती हैं।[२] जैन तीर्थङ्करों की जितनी भी बैठी मूर्तियाँ हैं, वे सभी पद्मासन में हैं। मथुरा के कंकाली टीले की खुदाई से अनेक तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ मिली हैं। जो लखनऊ म्यूजियम में सुरक्षित हैं।

**पर्यङ्कासन**

इस आसन का भी प्रस्तरकला में प्रयोग दिखलाई पड़ता है। इसमें बायां पैर नीचे लटका रहता है तथा दाहिने पैर को ऊपर की ओर मोड़कर रखा जाता है। कभी-कभी दोनों पैर संकुचित दिखलाये जाते हैं। गोपीनाथ राव इस मुद्रा को सिंहासन कहते हैं। परन्तु यौगिक सिंहासन का भाव इसमें पूर्णरूप से परिदृष्ट नहीं रहता है।

**योगासन**

पद्मासन के पश्चात् योगासन का भाव प्रस्तरकला में योगशास्त्र में वर्णित योगासन के सदृश उपलब्ध होता है। इसमें दोनों पैरों को जंघाओं में रखा जाता है तथा हाथों को उत्तानभाव से आसन पर रखा जाता है। इस आसन में निर्मित प्रस्तरमूर्ति समाधिमुद्रा की प्रतीत होती है। दक्षिण भारत में विष्णु की ऐसी मूर्तियाँ समुपलब्ध हैं। इनका सम्बन्ध प्रत्यक्ष योगशास्त्र से नहीं है, परन्तु इनकी पूजा से मनुष्य योग की ओर आकृष्ट होता है।

**मुद्राएँ**

शरीर के ऊपरी अङ्गों के प्रयोग को मुद्रा कहते हैं। योगशास्त्र में अनेक प्रकार की मुद्राओं के नाम मिलते हैं, जैसे नभोमुद्रा, मूलबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी आदि। परन्तु इन मुद्राओं का प्रयोग शिल्प में नहीं किया जा सका है। नाट्यशास्त्र में भी भरत मुनि ने साठ विभिन्न प्रकार

---

१. साहनी, कैटलॉग आफ सारनाथ म्यूजियम नं बी. १७०-१८०

२. एलेमेण्ड्स ............पृ० ५८, प्लेट नं. २४

की हस्तमुद्राओं का उल्लेख किया है।[१] परन्तु न तो यौगिक मुद्राओं का और न ही नाट्यशास्त्र में वर्णित हस्तविन्यास का ही प्रयोग प्रस्तरकला में हो सका है। शिल्पियों ने प्रस्तरकला में मूर्तियों के हस्तविन्यास से भिन्न-भिन्न मुद्राओं को प्रदर्शित किया है। मूर्तिविज्ञान के ज्ञाता इसी को मुद्रा के नाम से अभिहित करते हैं। मुख्यतः पांच प्रकार की प्रस्तरमुद्राएँ मिलती हैं।

**ध्यान या योगमुद्रा**

इस मुद्रा का प्रयोग जैन, बौद्ध तथा हिन्दू मूर्तिकला में दिखलाई पडता है। प्रस्तरप्रतिमा पद्मासन की अवस्था में बैठी रहती है। उस पर एक हथेली पर दूसरी हथेली रखी रहती है, जिनमें अंगुलियाँ प्रतिकूल दिशाओं में दिखलाई पड़ती हैं।

**अभयमुद्रा**

इसमें हाथ से अभय प्रदान करती हुई प्रतिमा दिखलाई जाती है। मूर्ति के दाहिने हाथ की अंगुलियाँ ऊपरी दिशा में सीधी रहती हैं तथा हथेली बाहर की ओर (देखने वाले की ओर) बनाई जाती है।

**वरदमुद्रा**

'वरद' शब्द से ही प्रकट होता है कि प्रतिमा आशीर्वाद देती हुई दिखलाई जाती है। गोपीनाथ राव का मत है कि बायें हाथ की अंगुलियाँ नीचे की ओर लटकी रहती हैं और हथेली बाहर की ओर उन्मुक्त रहती है।[२] परन्तु सर्वत्र ऐसी स्थिति नहीं होती। हिन्दू तथा बौद्ध मूर्तियों में दाहिना हाथ वरदमुद्रा में पाया जाता है। बौद्ध मूर्तियाँ अभय तथा वरदमुद्रा में खड़ी रहती हैं। सारनाथ के संग्रहालय में ऐसी सहस्र मूर्तियाँ सुरक्षित हैं।

**व्याख्यानमुद्रा**

इस मुद्रा में प्रस्तर-प्रतिमाएँ शिक्षा देती हुई दिखलाई जाती हैं। इसमें मूर्ति पद्मासन में बैठी रहती हैं। दाहिने हाथ की तर्जनी अंगूठे को स्पर्श करती हुई निर्मित की जाती है, जिससे एक वृत्त बन जाता है। बौद्ध मूर्तियों

---

१. नाट्यशास्त्र, नवम अध्याय १७.२०० श्लोक

२. एलेमण्ट्स ............. पृ० १४, प्लेट ५, नं० ४-५

में धर्म-चक्र-परिवर्तन (सारनाथ में पाँच भिक्षुओं को बौद्ध धर्म का उपदेश करते समय का) करने के भाव को प्रकट करने के लिये ऐसी प्रतिमा बनाई जाती है। अत एव वे इस मुद्रा को धर्म-चक्र-परिवर्तन-मुद्रा का नाम देते हैं।

**ज्ञानमुद्रा**

हिन्दू प्रतिमाओं में इसका प्रयोग मिलता है। बैठी हुई मूर्तियों में अंगुलियों के अन्तिम भाग अंगुष्ठ को स्पर्श करता दिखलाया गया है। ये अंगुलियाँ हृदय के समीप अवस्थित रहती हैं तथा हथेली वक्षःस्थल की ओर दिखलाई जाती है।

**भूमिस्पर्शमुद्रा**

इसका सम्बन्ध केवल बौद्धमूर्तिकला से ही है। भगवान् बुद्ध ने बौद्धगया में बुद्धत्वप्राप्ति के पश्चात् भूमिदेवी को साक्षी के लिये बुलाया था, ऐसा शिल्पी दिखलाते हैं। बुद्धदेव पद्मासन में बैठे रहते हैं तथा दाहिना हाथ नीचे की ओर लटका रहता है। हाथ की हथेली भी भूमि की ओर बनाई जाती है।

हिन्दू शिल्पशास्त्र के ज्ञाताओं ने मुद्रा के कारण ही भगवान् विष्णु की मूर्ति को सात्त्विकी, राजसी तथा तामसी प्रकार का बतलाया है। भगवान् विष्णु के दो हाथ अभय तथा वरदमुद्रा में दिखलाये जाते हैं तथा अन्य दो हाथों में शंख, चक्र रहता है। ऐसी मूर्ति सात्त्विकी कही जाती है।[१] इन उपर्युक्त विभिन्न मुद्राओं से यही ज्ञात होता है कि प्रस्तरकला में यौगिक मुद्राओं का समावेश नहीं पाया जाता है।

**चक्र**

योगियों के अनुसार जितनी शक्तियाँ इस विश्व का संचालन करती हैं, वे सबकी सब इस नरदेह में पाई जाती हैं। मनुष्य शरीर का आधार मेरुदण्ड है। इस मेरुदण्ड के मध्य भाग से होकर ब्रह्मनाडी जाती है, जिसमें स्थित छः कमलदल की कल्पना की गई है। ये ही कमलचक्र के नाम से पुकारे जाते हैं। इन षट्चक्रों तथा सहस्रारचक्र का महत्त्वपूर्ण स्थान है। परन्तु भारतीय प्रस्तरकला में इन सबका प्रयोग नहीं मिलता है। मूलाधार,

---

१. गोपीनाथराव, तालमान, पृ. 41. A.S.I. Memoir No. 3.

स्वाधिष्ठान आदि चक्रों को तो कलाविद् दिखला नहीं सकते थे, परन्तु आज्ञाचक्र की कल्पना को कुछ अंशों से समझाया गया है। भगवान् बुद्ध महायोगी थे, अत एव शिल्पकारों ने कुछ योगमुद्राओं तथा चक्रों का भी यत्र-तत्र प्रयोग किया था। बुद्ध की प्रस्तर मूर्तियों में दोनों भृकुटियों के मध्य ऊर्णा भी बनायी जाती थी। योगी भ्रूमध्य में आज्ञाचक्र का स्थान मानते हैं, जिसके कमल श्वेत होते हैं तथा ऊपर बिन्दु स्थित रहता है। यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाय तो ऊर्णा की आज्ञाचक्र से समता करने में कुछ भी अनुचित नहीं प्रतीत होता है।

इन चक्रों के पश्चात् मेरुदण्ड के ऊपरी भाग पर सहस्रदल का सहस्रारचक्र स्थित है। कलाकारों के द्वारा बुद्ध प्रतिमा के सिर पर घुंघराले केश बनाये जाते थे। साधारणजन के लिये ये तो वस्तुतः केश के द्योतक हैं, परन्तु योगशास्त्र में उन्हें सहस्रारचक्र के दलों का द्योतक मानते हैं। मूर्तियों में इन्हीं दो आज्ञाचक्र और सहस्रारचक्र का समावेश मिलता है। सम्भव है कि इन्हीं दोनों का प्रयोग प्रस्तरकला में सुगम हो। प्रायः हिन्दू मूर्तिकला में इसका सर्वथा अभाव ही है। हिन्दू देवताओं को कहीं योगी नहीं माना गया है। परन्तु बौद्धों के यहाँ बुद्ध को सिद्धयोगी मानते हैं, यही कारण है कि यौगिक बातों का यथासम्भव समावेश बुद्ध प्रतिमाओं में ही मिलता है। योगसिद्धान्तों का प्रयोग प्रस्तरकला में बहुत कम मिलता है। अत एव इतना ही विवरण दिया जा सकता है।

●

# योगपरम्परा : जीवनमूल्यादर्श

## जैनदर्शन एवं योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में

योगमार्ग को भारतीय संस्कृति में जो अप्रतिम महत्त्व प्राप्त हुआ है, उसके मूलाधार की गवेषणा करते हुए विदित होता है कि 'योग' आर्यजाति की अप्रतिम साधन-प्रणाली है। प्रत्येक युग के महामानव ने इसी योगविद्या का आश्रय लेकर वे चिरस्मरणीय कार्य सम्पादित किये हैं, जिनकी गाथा प्राचीन ग्रन्थों में सुवर्णाङ्कित है। योगसाधन ही एक ऐसा उपाय है, जिससे मनुष्य अपनी शारीरिक एवं मानसिक शक्तियों को पूर्ण विकसित कर उन्हें लौकिक एवं पारलौकिक सद् उद्देश्यों की पूर्ति में प्रयुक्त कर सकता है। यों परमात्मा और प्रकृति ने सभी जीवात्माओं को अभूतपूर्व शक्तियाँ प्रदान की हैं, जिनके द्वारा मनुष्य सांसारिक वैभव और सम्पदा ही प्राप्त नहीं कर सकता, अपितु स्वर्ग एवं ब्रह्मलोक के दिव्य ऐश्वर्य का स्वामी भी बन सकता है। किन्तु उनका लाभ वही उठा सकता है, जो उनको विकसित करके विधि पूर्वक उनके प्रयोग का ज्ञाता होता है। पृथ्वी में कोयला, शोरा, गन्धक आदि तत्त्व यत्र-तत्र विकीर्ण हैं परन्तु उनका आनुपातिक सम्मिश्रण करके विस्फोटक बनाने की विधि जो जानता है, वही उनके द्वारा बलवान् शत्रु पर विजय प्राप्त कर सकता है। एक महत्-शक्ति संसार के प्रत्येक अणु में परिव्याप्त है, परन्तु जब तक किसी कर्मयोगी ने उसको वश में कर अणुबम के रूप में संयोजित नहीं किया, तब तक उसकी महत्ता किसी ने स्वीकार नहीं की। योगविद्या भी एक ऐसी ही शक्ति का महास्रोत है, जिसे प्राप्त करके मनुष्य असम्भवसदृश कार्यों को भी सहजता से पूर्ण कर डालता है। यही कारण है कि महान् विचारकों ने योगविद्या की महत्ता मुक्तकण्ठ से स्वीकृत की है।

साध्य की सिद्धि के लिये जिन हेतुओं का आश्रय लिया जाता है उन्हें 'साधन' कहते हैं तथा उनके अभ्यासक्रम को 'साधना'। साध्य की सम्पूर्ति के लिये साधना-पद्धति अपेक्षित होती है।

'योग' भारतीय संस्कृति और दर्शनशास्त्र की अमूल्य सम्पत्ति है।

योगविद्या ही एक ऐसी विद्या है, जो प्रायः सभी धर्मग्रन्थों एवं विद्याग्रन्थों में स्वीकृत है। चतुर्दश धर्मस्थानों एवं षोडश विद्यास्थानों में प्रतिपादित योगसाधन जैनदर्शन तथा पातञ्जलयोगदर्शन में पूर्ण विकास को प्राप्त हुए। इस प्रकार योगविद्या दर्शनशास्त्र की परिधि में आई।

**वेद एवं उपनिषद् में वर्णित योगविद्या**

वेद और उपनिषद् भारतीय संस्कृति के मूलाधार हैं। गङ्गा के उद्‌गमस्थल हिमालय की भाँति योग की गङ्गोत्री वेदराशि है। वैदिकयुग से लेकर आज तक योग की अविरल धारा प्रवाहित हो रही है। विभिन्न कालखण्डों में वृद्धि-ह्रास को प्राप्त होते हुए इसके बाह्य स्वरूप में शाब्दिक परिवर्तन अवश्य परिलक्षित होता है, किन्तु योग का आत्मतत्त्व एकरूप है, जो मोक्ष में पर्यवसित होता है। योग मानवजीवन का शृङ्गार है तो अध्यात्म का सङ्गीत। तपश्चर्या योग का पर्याय है तो आत्मबल संजीवनी। योग किसी शास्त्रविशेष की सम्पदा नहीं, अपितु समस्त शास्त्रों एवं सम्प्रदायों से निर्झरित मधुर रस है। विभक्त नहीं अविभक्त का जीवन-दर्पण है। अतः योग को शास्त्रशिरोमणि तत्त्व कहा जाता है।

ऋग्वेद में कहा गया है कि विद्वानों का भी कोई यज्ञकर्म विना योग के सिद्ध नहीं होता है—

**यस्मादृते न सिध्यति यज्ञो विपश्चितश्चन । स धीनां योगमिन्वति ।**

ऋग्वेद १/१८/७

ऋग्वेद में लिखा है कि हिरण्यगर्भ ही सर्वप्रथम उत्पन्न हुए, जो सम्पूर्ण विश्व के एकमात्र पति हैं। उन्होंने अन्तरिक्ष, स्वर्ग और पृथ्वी को धारण किया है। ऐसे प्रजापति देव का हम हव्य द्वारा पूजन करते हैं—

**हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।**
**स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ।।**

ऋग्वेद १०/१२१/१

ऋग्वेद के उपरिनिर्दिष्ट प्रथम वचन से योग की महत्ता सिद्ध होती है तथा द्वितीय वचन से योगविद्या की प्राचीन परम्परा का अवबोध होता है, क्योंकि सृष्टिक्रम में सर्वप्रथम उत्पन्न हिरण्यगर्भ प्राचीनतम पुरुष तथा

योगशास्त्र के प्रथम वक्ता हैं। इससे योगविद्या की प्राचीन परम्परा ध्वनित होती है।

उपनिषद्वाङ्मय में योगविद्या का विस्तृत वर्णन उपलब्ध है। आचार्य शङ्कर ने एकादश प्रमुख उपनिषदों पर भाष्य लिखते हुए यथावसर अध्यात्मयोग को ब्रह्मप्राप्ति का साधन बतलाया है। कठोपनिषद् का वचन है—

**तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम् ।**
**अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ।।**

कठोपनिषद् १/२/१२

अपरतः जीवनमूल्यादर्श के रूप में तप-ब्रह्मचर्य-श्रद्धा आदि आचार-विचार के समुन्नयन पर बल दिया है। प्रश्नोपनिषद् का वचन है—

**अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्ययाऽऽत्मानमन्विष्यादित्य-मभिजयन्ते ।**

प्रश्नोपनिषद् १/१०

## पुराणवाङ्मय में वर्णित योगविद्या

अष्टादश पुराणों में श्रीमद्भागवत एक ऐसा महापुराण है, जिसमें योगविद्या व्यवस्थित रूप से दिखलाई पड़ती है। अवधूतवेशधारी श्रीशुकदेव का राजा परीक्षित् के प्रति योगसाधन का उपदेश अनुपम बन बड़ा है। ब्रह्मज्ञानविषयिणी समस्त अन्तर्कथाएँ योगविद्या से अवभासित हैं। श्रीमद्भागवत में नारद मुनि ने ध्रुव को आसन लगाकर प्राणायाम के द्वारा प्राण-इन्द्रिय-मन के कालुष्य को दूर करके ध्यानस्थ हो जाने का उपदेश किया है—

**प्राणायामेन त्रिवृता प्राणेन्द्रियमनोमलम् ।**
**शनैर्व्युदास्याभिध्यायेन्मनसा गुरूणां गुरुम् ।।**

श्रीमद्भागवत ४/८/४४

शिवपुराण में प्राणायाम के सगर्भ और अगर्भ दो भेदों का उल्लेख प्राप्त होता है—

**अगर्भश्च गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।**
**तस्मात् गर्भं कुर्वन्ति योगिनः प्राणसंयमम् ।।**

शिवपुराण ३७/३३

## स्मृतिग्रन्थों में उल्लिखित योगविद्या

स्मृतिग्रन्थों का महनीय विषय आचार-मीमांसा है। विधिसम्मत सामाजिक एवं पारिवारिक मर्यादाएँ याज्ञवल्क्यस्मृति, मनुस्मृति, पराशरस्मृति, हारीतस्मृति आदि स्मृतिग्रन्थों में सुव्यवस्थित शैली से उपदिष्ट होने के कारण उन्हें जीवनमूल्यों का स्वच्छ दर्पण कहा जाता है। ये मानवीय संवेदनाओं के आकरग्रन्थ हैं। मर्यादित जीवन का व्यवहारपक्ष 'योगविद्या' से अनुप्राणित है।

## महाभारत में प्रतिपादित योगविद्या

श्रीमद्भगवद्गीता महाभारत जैसे विशालकाय ग्रन्थ का सारभूत अंश है। योगविद्या के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के रूप में श्रीमद्भगवद्गीता प्रतिष्ठित है। योग-योगी-योगयुक्त की प्रवाहित त्रिवेणी से प्रत्येक अध्याय योग के विभिन्न पक्षों को प्रस्तुत करता है। व्यष्टि की तुलना में समष्टि की पीडा जहाँ व्यक्ति को उद्वेलित करती है, वहाँ असाधारण वेदना विषादयोग को जन्म देती है। अर्जुन के विषादयोग की भूमि में योगीश्वर श्रीकृष्ण की योगविद्या मुखरित हुई और विषाद का गीत जीवनसंगीत बन जनमानस को आन्दोलित करने लगा। क्रौञ्च-क्रौञ्ची-वध से जैसे रामायण का प्रणयन हुआ वैसे ही अर्जुन के विषादगीत से 'सुगीता' की उत्पत्ति हुई। भगवद्गीता एवं रामायण हमारे राष्ट्रीय काव्य हैं। पीडा का दूसरा छोर आनन्दप्रद होता है। इन दोनों काव्यों में प्रतिपादित आचार-मीमांसा योगविद्या का चूडान्त निदर्शन है। जीवनमूल्यों का अनुपालन इन ग्रन्थों की सर्वोच्च प्राथमिकता है। सन्तपुरुष वाल्मीकि के श्रीराम कर्मयोगी रहे। योग-योगी-योगयुक्त में अन्तर्सङ्गति बनी रही। योगीश्वर श्रीकृष्ण का उद्घोष है—

**यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।**
**यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ।।**

भगवद्गीता ६/२०

## योगवासिष्ठ में प्रतिपादित योगविद्या

जो महत्त्व; योगभक्तों के लिये श्रीमद्भागवत का और कर्मयोगियों के लिये भगवद्गीता का है, वही महत्त्व ज्ञानयोगियों के लिये योगवासिष्ठ का है। योगवासिष्ठ वैदिक संस्कृति का एक प्राचीन ग्रन्थ है। इसमें कथाओं,

उपदेशों एवं प्रेरक प्रसङ्गों के माध्यम से योग को संसार-सागर से निवृत्त होने का साधन बतलाया है। इसमें आचार-विचार के सम्यक् परिपालन पर बल दिया गया है और विचार को परमज्ञान कहा गया है—

**विचारः परमं ज्ञानम् ।**

योगवासिष्ठ २/१६/१९

इसमें सदाचार और ज्ञान को दीपक एवं सूर्य से क्रमशः उपमित किया गया है। योगवासिष्ठकार का विचार है कि जब तक ज्ञानरूपी सूर्य उदित नहीं होता, तब तक अज्ञानरूप तिमिर में सदाचार का ही दीपक मार्गदर्शन करता है—

**साधु सङ्गतयो लोके सन्मार्गस्य च दीपिकाः ।**
**हार्दान्धकारहारिण्यो भासो ज्ञानविवस्वतः ।।**

योगवासिष्ठ २/१६/९

**हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता आदि में प्रतिपादित योगविद्या**

हठयोग का उद्देश्य शारीरिक एवं मानसिक उन्नति करना है। हठयोग-प्रदीपिका, घेरण्डसंहिता आदि हठयोग के ग्रन्थों में आचार-विचार को विशेष महत्त्व दिया गया है। यम-नियमों का पालन करता हुआ हठयोगी स्थूलशरीर द्वारा अपनी शक्ति को सर्वप्रथम अन्तर्मुखी बनाता है। तदनन्तर सूक्ष्मशरीर को वश में करके चित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक परमात्मसाक्षात्कार की ओर क्रमशः अग्रसर होता है। घेरण्डसंहिता में हठयोग के सात अङ्ग कहे गये हैं। वे हैं—षट्कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा, प्रत्याहार, ध्यान तथा समाधि। वचन है—

**षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद् दृढम् ।**
**मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता ।।**
**प्राणायामं लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि ।**
**समाधिना निर्लिप्तश्च मुक्तिरेव न संशयः ।।**

घेरण्डसंहिता १/१०-११

**शैवागम में प्रतिपादित योगविद्या**

शैवागम शिव के पञ्च मुख से निर्गत अनुभूतियों का दर्शन है। शैव दर्शन के अनुसार योग के चार पाद हैं—क्रिया, चर्या, ज्ञान एवं योग। इनसे

प्रवाहित दार्शनिक धाराएँ द्वैत, द्वैताद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत का भी निरूपण करती हैं। इसमें पूर्णस्वरूप को शिव और परमशिव नाम से सम्बोधित किया गया है। शिव के पाँच रूप हैं—सद्योयान, वामदेव, अघोर, ईशान्य तथा तत्त्वांश। इन पाँच मुखों से निर्गत आगम को शिव, रुद्र एवं भैरव आगम भी कहते हैं।

**प्रत्यभिज्ञादर्शन** में योग के स्थान पर **'समवेश'** शब्द का प्रयोग हुआ है और योग शब्द से उसका विलक्षण अर्थ प्रतिपादित हुआ है। परमार्थसार में कहा गया है कि शिवयोगी के लिये समाधि-उत्थान का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि वह स्वयं शिवस्वरूप में स्थित होता है। वस्तुतस्तु सुप्तशक्ति का शिव से सम्मिलन ही 'योग' पद का अर्थ है।

**वेदान्तदर्शन में प्रतिपादित योगविद्या**

भारतीय दर्शन की वैदिक एवं अवैदिक दो धाराएँ हैं। योगविद्या का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। भारतीय दर्शनों में वेदान्त का महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह दर्शन केवल सैद्धान्तिक ही नहीं, व्यावहारिक भी है। वेदान्त में आत्मोपलब्धि के लिये जिन साधनों का विचार किया गया है, वे योगसाधना के लिये आवश्यक हैं। वेदान्त के ग्रन्थ विवेकचूडामणि में कहा गया है कि आत्मदर्शन में मग्न रहकर तथा योगारूढ होकर ही इस संसार-वारिधि को पार किया जा सकता है। वचन है—

**उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानं मग्नं संसारवारिधौ ।**
**योगारूढत्वमासाद्य सम्यग्दर्शननिष्ठया ।।**

विवेकचूडामणि ९

अज्ञान की निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मजिज्ञासा के लिये जिन साधनचतुष्टय का प्रतिपादन वेदान्तदर्शन में हुआ है, वे साधनचतुष्टय पतञ्जलि की योगसाधना के अत्यन्त निकट हैं। दोनों के योगसाधना का स्वरूप समान है। वे चार साधन हैं—नित्यानित्यवस्तुविवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति (शम-दम-उपरति-तितिक्षा-श्रद्धा-समाधान) तथा मुमुक्षुत्व । वचन है—

**आदौ नित्यानित्यवस्तुविवेकः परिगण्यते ।**
**इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् ।**
**शमादिषट्सम्पत्तिर्मुमुक्षुत्वमिति स्फुटम् ।।**

विवेकचूडामणि १९

शास्त्रजन्यज्ञान कभी मोक्ष का साधन नहीं हो सकता, अपितु योगसाधन से उत्पन्न विवेकजन्यज्ञान ही मोक्ष का द्वार उद्घाटित करता है। इस न्याय से योग से ही वेदान्त की उत्पत्ति मानी गई है।

### बौद्धदर्शन में वर्णित योगविद्या

बौद्धदर्शन के चार आर्यसत्य—दुःख, दुःखहेतु, दुःखनिरोध तथा दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपत्ति—योगदर्शन के चतुर्व्यूह-हेय, हेयहेतु, हान तथा हानोपाय हैं। बौद्धदर्शन में जीवात्मा और परमात्मा शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है। उनके स्थान पर बोधिचित्त और शून्य शब्द व्यवहृत हुए हैं। बौद्धवाङ्मय में बोधिचित्त एक प्रकार से जीवात्मा अथवा व्यष्टि चेतन का पर्याय है, जिसमें शून्य, विज्ञान और महासुख ये तीन गुण माने गये हैं। योग एक विशुद्ध रहस्यशास्त्र है। राजयोग और हठयोग-सम्बन्धी साधनाओं का विवेचन हमें बौद्धग्रन्थों में समुपलब्ध है। प्रस्तरकला में भगवान् बुद्ध की विभिन्न आसनप्रधान मूर्तियाँ बौद्धयोग की मान्यता को दिग्दर्शित करती हैं। बौद्धयोगसाधना में चार स्मृतियाँ—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना महत्त्वपूर्ण हैं। इन स्मृतियों के अन्तर्गत ही इन्द्रियसंयम, चार आर्यसत्य, अष्टाङ्गिक मार्ग, सप्त बौध्यङ्ग, चार ध्यान आदि आते हैं। संयमपूर्ण आचार-विचार की अनिवार्यता प्रतिपादित करते हुए बुद्ध ने जिस शील, समाधि एवं प्रज्ञा का विधान किया है, वह योग का ही स्रोत है। बौद्धिचर्यावतार में लिखा है—

**उत्तरोत्तरतः श्रेष्ठा दानपारमितादयः ।**
**नेतरार्थे त्यजेच्छ्रेष्ठामन्यत्राऽऽचारसेतुतः ।।**

बौद्धिचर्यावतार ५/८३

### योगपरम्परा की अक्षुण्णता

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भारतीयदर्शन के इतिहास में योगपरम्परा को निश्चितरूप से तीन कालखण्डों में विभक्त किया जा सकता है—वैदिककाल, उत्तरवैदिककाल (जिसमें जैन तथा बौद्धधर्मों का आविर्भाव हो गया था) तथा दर्शनकाल। इन तीनों कालखण्डों में विकसित योगविद्या का व्यावहारिक उद्देश्य सर्वदा एकरूप रहा। क्योंकि विचारशास्त्र ही किसी भी

देश की सभ्यता एवं संस्कृति का मूल्यवान् पदार्थ होता है। गौरवशाली ग्रन्थों में प्रतिपादित योगविद्या की आचार-मीमांसा ने जनमानस को आन्दोलित किया तथा अनुकरणीय जीवनपथ को उद्भासित किया। मनुस्मृतिकार का उद्घोष है—

**एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः ।**
**स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः ।।**

मनुस्मृति २/२०

श्रीमद्भगवद्गीता ने तो यहाँ तक कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति का अपना-अपना जीवनदर्शन होता है, क्योंकि श्रद्धाओं और विचारों के अनुरूप ही मनुष्य होता है। निखिल मानवीय कार्यविधानों की आधारशिला मानवीय विचार है। भगवद्गीता कहती है—

**यो यच्छ्रद्धः स एव सः ।**

भगवद्गीता १७/३

**आदर्शग्रन्थों में संरक्षित जीवनमूल्यों की एकरूपता**

जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण (आदर्श) में प्रतिबिम्बग्राहक शक्ति निहित रहती है उसी प्रकार आर्षग्रन्थों में जीवनमूल्य की संवाहिका शक्ति संरक्षित है। जीवनमूल्य का आदर्श अर्थात् दर्पणस्वरूप होने के कारण जैनयोग एवं पातञ्जलयोग को मुख्यतः कर्तव्यशास्त्र कहते हैं। आचार एवं कर्तव्य का विश्लेषण इसमें हुआ है। यद्यपि विचारशास्त्र के विभिन्न सम्प्रदायों में परस्पर वैचारिक मतभेद आपाततः दिखलाई पड़ता है, तथापि शास्त्र का निहितार्थ समान रहता है। इन सम्प्रदायों में एकता है, भिन्नता नहीं; सामरस्य है, विरोध नहीं। भारतीयदर्शन संश्लेषणप्रधान है। इसमें नाना दृष्टियों से विवेचित जीवनमूल्यों को एक सूत्र में ग्रथित करने का श्लाघनीय उद्योग है। यदि सुख की अनुकूलवेदनीयता और दुःख की प्रतिकूलवेदनीयता मानवीय अनुभव का ध्रुवसत्य है तो जीवनमूल्य का सुविचारित निकष कैसे पृथक् हो सकता है? उन्नत आध्यात्मिक पथ पर आरूढ होने के लिये अनेक सद्गुणों का विकास आवश्यक है। इन आर्षग्रन्थों की आचार-मीमांसा नितान्त उपयोगी एवं मनोरम है। बृहदारण्यकोपनिषद् में प्रतिपादित दकारत्रय की शिक्षा को जीवनमूल्य का सर्वसमाहित आदर्शसूत्र कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। उपनिषद् का वचन है—

**एषा दैवी वागनुवदति स्तनयित्नुर्द द द इति दाम्यत दत्त दयध्वमिति । तदेतत् त्रयं शिक्षेद् दमं दानं दयामिति ।**

बृहदारण्यकोपनिषद् ५/२/३

**जैनयोग एवं पातञ्जलयोग में प्रतिपादित जीवनमूल्य**

सांख्यदर्शन की साधना पद्धति का अविरलरूप महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में मिलता है। पतञ्जलि ने योगसूत्र में ऐसे अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया है, जो वैदिक साहित्य के पारिभाषिक शब्दों से भिन्न हैं किन्तु श्रमणों के पारिभाषिक शब्दों से अभिन्न हैं। इससे यह ध्वनित होता है कि पतञ्जलि की साधना पद्धति में श्रमणों का प्रभाव पड़ा। जैनों के आद्य तीर्थङ्कर अर्थात् धर्म के प्रचारक ऋषभदेव थे तथा अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान महावीर। कुछ इतिहासकार पार्श्वनाथ को ही इस धर्म का आद्य प्रवर्तक स्वीकार करते हैं। इस दर्शन में सर्वज्ञ, राग-द्वेष के विजयी, त्रैलोक्यपूजित, यथास्थितार्थवादी तथा सामर्थ्यवान् सिद्ध पुरुषों की संज्ञा 'अर्हत्' है। वचन है—

**सर्वज्ञो जितरागादिदोषस्त्रैलोक्यपूजितः ।**
**यथास्थितार्थवादी च देवोऽर्हत् परमेश्वरः ।।**

सर्वदर्शनसंग्रह, आर्हतदर्शन ६

'योग' शब्द **'युजिर् योगे'** तथा **'युज समाधौ'** इन दो धातुओं से निष्पन्न होता है। एक का अर्थ जोड़ना तथा दूसरे का अर्थ समाधि है। जैनाचार्यों ने संयोगार्थक युज् धातु से योग शब्द को निष्पन्न माना है। वचन है—

**मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते ।**

श्रीयजोविजयकृता, द्वात्रिंशिका १०/१

**मुक्खेण जोयणाओ जोगो ।**

श्रीहरिभद्रसूरिकृता, योगविंशिका १

अर्थात् जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि तथा मोक्ष का योग होता है, उन सब साधनों को योग कहते हैं। जब कि योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने व्यासभाष्य में **'योगः समाधिः'** कहकर योग शब्द को समाध्यर्थक माना है। पातञ्जलयोगदर्शन में योग का लक्षणपरक सूत्र है—

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**

योगसूत्र १/२

इसी लक्षण को उपाध्याय यशोविजय ने इस प्रकार कहा है—

**समितिगुप्तिधारणं धर्मव्यापारत्वमेव योगत्वम् ।**

पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति

**यतः समितिगुप्तीनां प्रपञ्चो योग उत्तमः ।**

योगभेदद्वात्रिंशिका ३०

अर्थात् मन, वचन, शरीरादि को संयत करने वाला धर्मव्यापार ही योग है, क्योंकि यही आत्मा को उसके साध्य मोक्ष के साथ जोडता है। पतञ्जलि ने जैसे योग शब्द को आत्मसाधना के अर्थ में प्रयुक्त किया है, वैसे योग शब्द का प्रयोग जैनदर्शन में आत्मसाधना के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ मन-वचन-काय की प्रवृत्ति को योग कहा गया है। आगे चलकर जैन-परम्परा में सर्वप्रथम आचार्य हरिभद्र ने योग शब्द का पातञ्जलयोगसम्मत अर्थ स्वीकृत किया है। योग को परिभाषित करते हुए उन्होंने लिखा है कि मोक्षप्राप्ति के लिये जो धर्मक्रिया अथवा विशुद्ध व्यापार किया जाता है, वह धर्मव्यापार योग है—

**मुक्खेन जीयणाओ, जोगी सण्वो वि धम्मवावारो ।**

योगविंशिका १

यम-नियमादि व्यापार जीव के परिणामों की शुद्धि के लिये ही किये जाते हैं तथा इनका उद्देश्य मन-वचन-काय द्वारा अर्जित कर्मों की शुद्धि करना ही है। इस दृष्टि से समिति, गुप्ति आदि आचार-विचारों का अनुष्ठान उत्तमयोग है—

**यतः समितिगुप्तिना प्रपञ्चौ योग उत्तमः ।**

योगभेदद्वात्रिंशिका ३०

श्रीहरिभद्रसूरि ने दृष्टियोगसमुच्चय में बतलाया है कि सभी धार्मिक अनुष्ठान योग के अङ्ग हैं तथापि विशेषरूप से तो मोक्षप्राप्ति के समीपतमवर्तिपूर्वकाल का ध्यान ही अव्यवहित उत्कृष्ट योग है। केवल उन ज्ञानी योगियों को जिन्हें जीवन्मुक्त कहते हैं, मोक्षस्थिति प्राप्त करने के पूर्व

मन, वाणी और शरीर की समस्त क्रियाओं का निरोध (संक्षम) करना पड़ता है। योगदृष्टिसमुच्चय में लिखा है—

**तत्रानिवृत्तिशब्दान्तं समुच्छिन्नक्रियात्मकम् ।**
**चतुर्थं भवति ध्यानमयोगिपरमेष्ठिनः ।।**
**समुच्छिन्ना क्रिया यत्र सूक्ष्मयोगात्मिकापि च ।**
**समुच्छिन्नक्रियं प्रोक्तं तद्द्वारं मुक्तिवेश्मनः ।।**

योगदृष्टिसमुच्चय, गुणस्थानक्रमारोह १०५-१०६

## जीवन-मूल्यों की निरवच्छिन्न परम्परा

हमारा गौरवशाली अतीत जीवनमूल्यों का स्वच्छ दर्पण है। गुरुकुलों की शिक्षा-प्रणाली में सामाजिक एवं राजनैतिक सौहार्द की धुरी पारिवारिक व्यवस्था रही। 'शिवसंकल्पयुक्त' मन का प्रथम उद्घोष ऋग्वेद की ऋचा से हुआ। संस्कृतवाङ्मय द्वारा निःसृत आचार-मीमांसा का वह मेरुदण्ड है। यह सूत्रवाक्य समुद्रसदृश गम्भीर तथा हिमालयसदृश उच्च विचारों की अनुपमेय सम्पदा है। वेदेतर ग्रन्थों में यही शिवसंकल्प अपने अवान्तरभेदों के साथ व्याख्यायित हुआ। शाण्डिल्योपनिषद् में प्रतिपादित यम के दस भेद इसी आत्मिक गुण का व्याख्यान करते हैं—

**तत्राहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यदयाजपक्षमा-**
**धृतिमिताहारशौचानि चेति यमा दश ।**

शाण्डिल्योपनिषद् १

**स्मृतिशास्त्रों** में आचार, विचार, व्यवहार, प्रायश्चित्त, दण्ड आदि का विधान स्पष्टतया वर्णित है। याज्ञवल्क्यस्मृतिकार का वचन है—

**इज्याचारदमाहिंसादानं स्वाध्यायकर्म च ।**
**अयं तु परमो धर्म्मो यद्योगेनाऽऽत्मदर्शनम् ।।**

याज्ञवल्क्यस्मृति ८

**महाभारत** तो वैदिक संस्कृति का आचारकोश ही है। इसमें गृहस्थ, योगी, त्यागी आदि के आचार-विचार-आहार की शिक्षा पग-पग पर दी गई है। इसमें यति को इन्द्रियसंयमी होना बतलाया गया है। भगवद्गीता का वचन है—

**यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।**
**विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ।।**

भगवद्गीता ५/२८

**पुराणों** में भी आख्यान-शैली से जीवनमूल्यों की स्थापना हुई है। न्यायवैशेषिक दर्शन में भी यम-नियम को अध्यात्मविद्या के उपायरूप में मान्यता प्राप्त है। न्यायसूत्र है—

**तदर्थयमनियमाभ्यासात्मसंस्कारयोगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ।**

न्यायदर्शन ४/२/४६

**बौद्धपरम्परा** में श्रावकों एवं श्रमणों के आचार-विचार पर विशेष बल दिया गया है। बुद्ध की शिक्षाओं का सारांश शील-समाधि-प्रज्ञा इन तीन शब्दों के द्वारा अभिव्यक्त किया जा सकता है। धम्मपद में यह पापाकरण-पुण्यसंचय-चित्तपरिशुद्धि के नाम से वर्णित है। वचन है—

**सब्बपापस्य अकरणं कुसलस्य उपसम्पदा ।**
**सचित्तपरियोदपनं एतं बुद्धान सासनम् ।।**

धम्मपद १४/५

**जैनपरम्परा** में उपदिष्ट आचार-मीमांसा का प्रभाव योगदर्शन में स्पष्टतया परिलक्षित होता है, भले ही शब्दप्रयोग में अन्तर दिखलाई पड़ता है। किन्तु दोनों शास्त्रों का निहितार्थ एक ही है।

पार्श्वनाथ का दर्शन महावीर के पञ्च महाव्रतों में परिणत हुआ है। यही तत्त्व बुद्ध के अष्टाङ्गिक मार्ग में और पातञ्जलयोग के यम-नियमों में प्रकट हुआ है। गाँधी जी के आश्रमधर्म में भी प्रधानतया चातुर्याम धर्म दृष्टिगोचर होता है। भगवान् पार्श्वनाथ के चातुर्याम धर्म में ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जैसे शब्दों की व्यवस्था नहीं थी। उनकी व्यवस्था में बाह्य वस्तुओं की अनासक्ति का सूचक शब्द था—बहिस्तात् आदान-विरमण। भगवान् महावीर ने इस व्यवस्था में परिवर्तन किया और बहिस्तात् आदान-विरमण को ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह इन दो शब्दों में विभक्त कर दिया। महावीर ने एक महाव्रत के रूप में ब्रह्मचर्य का प्रयोग किया। इसी प्रकार अपरिग्रह का भी महाव्रत के रूप में सर्वप्रथम भगवान् महावीर ने ही प्रयोग किया था।

जाबालोपनिषद्, नारदपरिव्राजकोपनिषद्, तेजोबिन्दूपनिषद्, याज्ञवल्क्योपनिषद्, आरुणिकोपनिषद्, भगवद्गीता, योगसूत्र आदि ग्रन्थों में अपरिग्रह शब्द मिलता है।

जैनदर्शन में मोक्ष के तीन साधन हैं—सम्यक्दर्शन, सम्यक्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र। तत्त्वार्थसूत्र है—

**सम्यक्दर्शन-ज्ञान-चरित्राणि मोक्षमार्गः ।**

तत्त्वार्थसूत्र १/१

यहाँ 'दर्शन' शब्द का अर्थ है—श्रद्धा। अतः मोक्षमार्ग में जाने के लिये साधक के पास प्रथम साधन होना चाहिए सम्यक् श्रद्धा। इसमें तत्त्वार्थसूत्र द्रष्टव्य है—

**तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम् ।**

तत्त्वार्थसूत्र १/२

तीर्थङ्करों द्वारा प्रतिपादित शास्त्रीय सिद्धान्तों के प्रति आस्थावान् होना अत्यन्त आवश्यक है। श्रद्धा अध्यात्ममार्ग का महत्त्वपूर्ण पाथेय है। 'सम्यक्ज्ञान' दूसरा साधन है। शास्त्र के द्वारा उपपादित निखिल सिद्धान्तों एवं तत्त्वों का यथार्थ एवं गम्भीर अनुभव प्राप्त करना भी श्रद्धा के समान ही आवश्यक एवं उपादेय है। सम्यक्दर्शन तथा सम्यक्ज्ञान की चरितार्थता सम्यक्चरित्र में ही सम्पन्न होती है। जैनदर्शन में मोक्षोपयोगी ये तीन साधन 'रत्नत्रय' के नाम से अभिहित हैं। ज्ञातव्य है कि उत्तराध्ययनसूत्र में मोक्ष के उक्त तीन साधनों में तप को चतुर्थ साधन के रूप में मान्यता प्राप्त है। फलितार्थ है कि ज्ञान से सत्य का अवबोध होता है और दर्शन (सम्यक्त्व) से सत्य के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है। इसलिये ये दोनों सत्य की प्राप्ति के साधन हैं। चारित्र्य से आने वाले कर्मों का निरोध होता है और तप से पूर्व सञ्चित कर्म क्षीण होते हैं। इसलिये ये दोनों सत्य की उपलब्धि के साधन हैं।

**सम्यक्-दर्शन के भेद**

जैनदर्शन में सम्यक्दर्शन की साधना के अष्ट अङ्ग हैं—निःशङ्कित, निष्काङ्क्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढदृष्टि, उपबृंहण, स्थिरीकरण, वात्सल्य और प्रभावना।

**सम्यक्-ज्ञान के भेद**

जैनदर्शन में सम्यग्ज्ञान की साधना के पाँच अङ्ग हैं—वाचना (अध्यापन करना), प्रतिपृच्छा (प्रश्न पूछना), परिवर्तना (पुनरावृत्ति करना), अनुप्रेक्षा (चिन्तन करना) तथा धर्मकथा (धर्मचर्चा करना)।

**सम्यक्-चारित्र के भेद**

जैनदर्शन में सम्यक् चारित्र की साधना के पाँच अङ्ग हैं—सामायिक, छेदोपस्थापन, परिहारविशुद्धीय, सूक्ष्मसम्पराय तथा यथाख्यात ।

**तप के भेद**

जैनदर्शन में तप की साधना के बारह अङ्ग हैं—अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचरी, रसपरित्याग, कामक्लेश, संलीनता (विविक्त शयनासन), प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, ध्यान तथा व्युत्सर्ग ।

इस प्रकार अनेकान्तवादी जैनदर्शन श्रद्धा, ज्ञान, चारित्र तथा तप में सामञ्जस्य स्थापित करता है और श्रद्धा आदि में से किसी एक को मान्यता देने वाले चिन्तक उसकी दृष्टि में अपूर्ण हैं।

**श्रवणपरम्परा में व्रत**

श्रवणपरम्परा में व्रत का बहुत महत्त्व है। भगवान् महावीर ने साधु के लिये पाँच महाव्रत एवं रात्रिभोजनविरमण व्रत का विधान किया है। पाँच महाव्रत हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह। आचाराङ्ग (२/३/१५/४०२) के अनुसार प्रत्येक व्रत की पाँच-पाँच भावनाएँ हैं—

**अहिंसामहाव्रत के भेद**

अहिंसामहाव्रत के पाँच भेद हैं—ईर्या-समिति, मन-परिज्ञा, वचन-परिज्ञा, आदान-निक्षेप-समिति तथा आलोकित-पान-भोजन।

**सत्यमहाव्रत के भेद**

सत्यमहाव्रत के पाँच भेद हैं—अनुवीचि-भाषण, क्रोधप्रत्याख्यान, लोभप्रत्याख्यान, भयप्रत्याख्यान (अभय) तथा हास्यप्रत्याख्यान।

**अचौर्यमहाव्रत के भेद**

अचौर्यमहाव्रत के पाँच भेद हैं—अनुवीचि-मितावग्रह-याचन, अनुज्ञापित-पान-भोजन, अवग्रह का अवधारण, अतिमात्र और प्रणीत पान-भोजन का वर्जन तथा स्त्री आदि से संसक्त शयनासन का वर्जन है।

**ब्रह्मचर्यमहाव्रत के भेद**

ब्रह्मचर्यमहाव्रत के पाँच भेद हैं—स्त्रीकथात्याग, मनोहर क्रिया-वलोकनत्याग, पूर्वरतिविलासस्मरणत्याग, प्रणीतरसभोजनत्याग तथा शयना-सनत्याग।

**अपरिग्रहमहाव्रत के भेद**

अपरिग्रहमहाव्रत के पाँच भेद हैं—मनोज्ञ-अमनोज्ञ; शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध में समभाव।

योगदर्शन में भी ये पाँच व्रत 'यम' नाम से उपवर्णित हैं। सूत्र है—

**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहयमाः ।**

योगसूत्र २/३०

जैनदर्शन में प्रतिपादित मैत्री-करुणा-मुदिता-माध्यस्थ्य ये चार भावनाएँ योगदर्शन में चित्तपरिशुद्धि के नाम से व्याख्यात हुई हैं। पातञ्जलि का सूत्र है—

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-**
**पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।**

योगसूत्र १/३३

इस प्रकार सम्यक् चारित्र्य की सिद्धि के लिये इन सार्वभौम पाँच महाव्रतों का परिपालन नितान्त आवश्यक है। ज्ञानसहित चारित्र्य ही मोक्ष का हेतु है। दूसरे शब्दों में अज्ञानपूर्वक चारित्र्य का ग्रहण सम्यक् नहीं होता है। यह तथ्य पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ में उपवर्णित है—

**न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते ।**
**ज्ञानान्तरमुक्तं चारित्राराधनं तस्मात् ।।**

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ३८

एतावता पतञ्जलि के यम-नियम के द्वारा प्रतिपादित जीवनमूल्यादर्शन का समाहार जैनयोग के सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य-तप में किया जा सकता है।

**योगसूत्र में वर्णित आसनादि अङ्ग**

पतञ्जलि के अष्टाङ्गयोग के तृतीय अङ्ग 'आसन' को जैनदर्शन में 'स्थान' कहा गया है। आसन का अर्थ है बैठना और स्थान का अर्थ है—

गतिनिवृत्ति। स्थिरता आसन का महत्त्वपूर्ण स्वरूप है। आसन खड़े रहकर, बैठकर अथवा लेटकर किसी भी प्रकार से किया जा सकता है। इस दृष्टि से आसन की अपेक्षा 'स्थान' शब्द अधिक व्यापक है।

जैनाचार्य ध्यान के लिये प्राणायाम को आवश्यक नहीं मानते हैं। उनका अभिमत है कि तीव्र प्राणायाम से मन व्याकुल हो जाता है। मानसिक व्याकुलता से समाधि भङ्ग होती है किंवा समाधि-भङ्ग से ध्यान घनीभूत नहीं हो पाता है।

प्रत्याहार इन्द्रियों की विषयाभिमुखता के नियन्त्रणपूर्वक यति को जितेन्द्रिय बनाता है। क्योंकि इन्द्रियनिग्रहपूर्वक ही यति का तत्त्वार्थचिन्तन धारणा-ध्यान-समाधि के सोपानों पर क्रमशः घनीभूतता को प्राप्त होता है। इस प्रकार जीवनमूल्यादर्श की स्थापना करता हुआ जैनयोगी 'तीर्थङ्कर' की उपाधि से विभूषित होता है।

निष्कर्षरूप में कहा जा सकता है कि मनुष्य की मनुष्यता का मानदण्ड है उसकी नैतिकता। जब तक विचारों में नैतिकता की प्रतिध्वनि न हो और व्यवहार में नैतिकता का प्रतिबिम्ब न पडे, तब तक किसी भी मनुष्य को मनुष्य होने का प्रमाण नहीं मिल सकता है। मनुष्य इस सत्य को जानने के पश्चात् भी अनैतिक बना रहता है। वचन है—

**जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिः ।**

**जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्तिः ।।**

अतः आत्मबोध के लिये गौरवशाली अध्यात्मपरायण ग्रन्थों का अनुशीलन करते रहना चाहिए।

# बुद्ध की योगदृष्टि एवं पतञ्जलि : एक समन्वयात्मक विश्लेषण

मुण्डकोपनिषद् का वचन है—

**यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय ।**
**तथा विद्वान् नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ।।**

मुण्डकोपनिषद् ३/२/८

अर्थात् जिस प्रकार प्रवहमान् नदियाँ नाम-रूप त्यागकर समुद्र में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार ज्ञानी महात्मा नाम-रूप से विहीन होकर परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त हो जाता है।

अतः भगवान् बुद्ध प्रणम्य हैं—

**नमो तस्स भगवतो अरहतो सम्मासबुद्धस्स ।**

भारतीय चिन्तन-धारा की विराटता को समझने के लिये उसकी विराट सीमा को समझना आवश्यक है। अनादि अनन्त रहस्यमय सृष्टि को जानने की जिज्ञासा मानव का सहज स्वभाव है। किन्तु इन रहस्यों के अतल में पहुँचकर समाधान के दुर्लभ मोती अन्वेषित करना कठिनतम साधना की अपेक्षा करता है। इस देश के जिन तत्त्व-चिन्तकों ने अपने ऐहिक जीवन के सुखों को तिलाञ्जलि देकर सृष्टि सत्य के अन्वेषण में जीवन समर्पित किया, हमने उन्हें ऋषि संज्ञा से सम्बोधित किया। 'ऋत्' अर्थात् सत्य का दर्शन करने वाले इन ऋषियों ने जिस ज्ञान का दर्शन किया उसे वेद कहा गया। वेद का अर्थ ही है विशुद्ध ज्ञान। इस प्रकार वेद मनुष्यकृत नहीं हैं, ये अपौरुषेय हैं, ईश्वरीय हैं।

**विशुद्धज्ञान का स्वरूप**

ज्ञातव्य है कि विशुद्धज्ञान के नियमों का कोई निर्माता या आविष्कारक नहीं हो सकता। जिस प्रकार गुरुत्वाकर्षण का सिद्धान्त अथवा पृथ्वी द्वारा

सूर्य की परिक्रमा करने या चन्द्रमा द्वारा पृथ्वी की परिक्रमा करने का सिद्धान्त किसी वैज्ञानिक द्वारा निर्मित नहीं है, अपितु आविष्कृत है, उसी प्रकार सृष्टि-रहस्य और नियमन का विज्ञान अर्थात् वेद भी मनुष्यकृत नहीं हैं।

**भगवान् बुद्ध की दर्शनदृष्टि**

भगवान् बुद्ध ने भी यह कभी नहीं कहा कि उन्होंने किसी नये धर्म अर्थात् दर्शन की उद्भावना की है। उन्होंने हिन्दू परिवार में जन्म लिया। वे इसी धर्म-संस्कृति में पले, बढ़े और इसी के मूल तत्त्वों का प्रतिपादन किया। उन्होंने प्राचीन वैदिक आदर्शों और जीवन मूल्यों की पुनः स्थापना की। संयुक्तनिकाय में बुद्ध स्वयं कहते हैं—

'हे भिक्षुओं! मैंने उस प्राचीन मार्ग को, उस प्राचीन सत्य को देखा है, प्राचीन ऋषियों ने जिसका अनुगमन किया था। मैंने उसी सत्य मार्ग से यात्रा की है और सत्य पथ पर चलते हुए परम सत्य को पाया है।'

भगवान् बुद्ध ऐसे ही लोक कल्याणकारी धर्मदर्शन के प्रज्ञापक थे। उन्होंने सार्वजनीन वैज्ञानिक धर्म सिखाया व उसे 'धर्म' कहा न कि 'बौद्ध धर्म'। सारी बुद्धवाणी में न 'बौद्ध' शब्द मिलता है, न 'बौद्ध धर्म'। जैसे अपनी शिक्षा को उन्होंने 'धम्म' कहा वैसे ही उस शिक्षा के पालकों को धम्मिक (धार्मिक), धम्मट्ठो (धर्मस्थ), धम्मी (धर्मी), धम्मचारी (धर्मचारी और धम्मविहारी (धर्मविहारी) कहा। भगवान् बुद्ध ने अपने आप को भिषक् कहा, वैद्य कहा, चिकित्सक कहा।

इससे एक बात स्पष्ट हुई कि यह दर्शनपरक धर्म कोई व्यक्तिप्रेरक, जातिबोधक, समूहबोधक या राष्ट्रबोधक चिन्तन नहीं, अपितु मानवमात्र के लिये जिस प्रकार विविध विज्ञान जैसे भौतिकविज्ञान, रसायनविज्ञान, जीवविज्ञान आदि समानरूप से विहित हैं, उसी प्रकार यह भी मानवमात्र के लिये ही है। इसलिये इसे मानवदर्शन भी कह सकते हैं।

कहते हैं कि भगवान् बुद्ध कोई दार्शनिक नहीं थे। न उनकी कोई दार्शनिक मान्यता थी और न उन्होंने कोई दार्शनिक मान्यता स्थापित की थी। जब किसी ने उनसे पूछा कि आपकी दार्शनिक मान्यता क्या है तो उन्होंने कहा—

**दिदि्ठगतं ति खो, वच्छ, अपनीतमेतं तथागतस्स।**

अर्थात् हे वत्स! तथागत की दार्शनिक मान्यताएँ दूर हो गई हैं।

**मञ्ञितं भिक्खु रोगो ।**

अर्थात् हे भिक्षु! मान्यता रोग है।

**मञ्ञितं गण्डो ।**

अर्थात् मान्यता व्रण है।

**मञ्ञितं सल्लं ।**

अर्थात् मान्यता शल्य है।

भगवान् बुद्ध ने जनसाधारण की जिस बोली में अपना उपदेश किया, वह उस समय कोशल और मगध में बोली जाती थी और इसलिये इसका नाम 'मगही' (मागधी) भाषा था। इसे ही आजकल पालि के नाम से व्यवहृत करते हैं। भगवान् बुद्ध के वचन और उपदेशों के प्रतिपादक ग्रन्थों को 'पिटक' (पेटारी) कहते हैं। पिटक तीन हैं—१. विनय, २. सुत्त (सूत्र) तथा ३. अभिधम्म (अभिधर्म)। इनके भीतर अनेक ग्रन्थों का समावेश किया जाता है। इनमें विनयपिटक आचारप्रधान ग्रन्थ है। सुत्तपिटक का प्रधान उद्देश्य धर्म का प्रतिपादन करना है। बौद्धसाहित्य का सबसे प्रसिद्ध तथा जनप्रिय ग्रन्थ धम्मपद है। इसमें ४२३ गाथाएँ हैं, जिन्हें भगवान् बुद्ध ने अपने जीवनकाल में विभिन्न शिष्यों को उपदेश किया था। ये गाथाएँ नीति और आचार की शिक्षा से ओतप्रोत हैं।

बोधि प्राप्त करने के पश्चात् तथागत ने सारनाथ में प्रथम धर्मचक्र प्रवर्तन के समय चार आर्य सत्यों की देशना की।

### भगवान् बुद्ध के चार आर्यसत्य और पतञ्जलि का चतुर्व्यूहवाद

भगवान् बुद्ध के चार आर्यसत्य व पतञ्जलि के योगसूत्र में वर्णित चतुर्व्यूह में अत्यन्त समानता है। जिस प्रकार चिकित्साशास्त्र रोग, रोगहेतु, आरोग्य और आरोग्योपाय पर अवलम्बित है उसी प्रकार योगशास्त्र में भी संसार, संसारहेतु, मोक्ष, मोक्षोपाय का विवेचन हुआ है। व्यासभाष्य में लिखा है—

**यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्यूहं–रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भैषज्यमिति । एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्यूहं-तद् यथा संसारः संसारहेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/१५

इसी प्रकार भगवान् बुद्ध के चार आर्यसत्य हैं—

**१. दुःखम्**—यह संसार दुःख से परिपूर्ण है।

**२. दुःखसमुदयः**—इस दुःख का कारण विद्यमान है।

**३. दुःखनिरोधः**—इस दुःख से वास्तविक मुक्ति मिलती है।

**४. दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा**—दुःखों के नाश (निरोध) का मार्ग (प्रतिपद् = उपाय) है।

इसी प्रकार योगसूत्र में हेय (संसार), हेयहेतु (संसारहेतु), हान (मोक्ष) और हानोपाय (मोक्षोपाय) के प्रतिपादक चार सूत्र हैं—

१. हेय—**हेयं दुःखमनागतम् ।**

योगसूत्र २/१६

२. हेयहेतु—**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।**

योगसूत्र २/१७

३. हान—**तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।**

योगसूत्र २/२५

४. हानोपाय—**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।**

योगसूत्र २/२६

**दुःख—प्रथम आर्यसत्य**

**को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति ।**

धम्मपद गाथा १४६

**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।**

योगसूत्र २/१५

अभिप्राय यह है कि यह संसार जलते हुए घर के समान है, तब इसमें हंसी क्या हो सकती है? और आनन्द कौन सा मनाया जाय? धम्मपद में प्रतिपादित दुःख के इस स्वरूप को पतञ्जलि ने सत्त्वादिगुणमूलक माना है। विवेकी पुरुष की दृष्टि में यह समग्र संसार ही दुःख है। बुद्ध की भी यही दृष्टि है।

सृष्टि के रहस्य को जानने की जिज्ञासा का प्रेरणास्रोत आध्यात्मिक है जो मूलतः दुःख की अनुभूति में निहित है। जरा-मरण के दुःख का यह वही बोध था जिसने 'सिद्धार्थ' को यथार्थता का बोध प्राप्त करने के लिये प्रेरित किया, जिससे उसमें महाकरुणा के भाव का उदय हुआ और प्राणिमात्र के कल्याण के लिये वह उस परम सत्य के अन्वेषण में निकल पडा। जिसे छः वर्षों की कठोर तपस्या के पश्चात् पाकर वह 'बुद्ध' कहलाये। यह वही दुःखबोध है जिसने ऋषियों को **'असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय मृत्योर्मा अमृतं गमय'** की अभिलाषा से परम चैतन्य आत्मतत्त्व के साक्षात्कार के लिये उत्कण्ठित किया।

**दुःखसमुदय–द्वितीय आर्यसत्य**

द्वितीय आर्यसत्य है—दुःखसमुदय। 'समुदय' शब्द का अर्थ है—कारण। कार्यकारण का अविनाभावसम्बन्ध है। जब दुःख कार्य है तो उसका कारण भी अवश्य ही होगा। दुःख का हेतु है—तृष्णा। मज्झिमनिकाय में कहा है—

**इदं खो पन भिक्खवे दुक्खवे दुक्खसमुदयं अरियसच्चं ।**
**योयं तृण्हा पोनब्भविका ...**

मज्झिमनिकाय (महाहत्थिपदोपमसुत्त)

पौनर्भविका तृष्णा; जो कामतृष्णा, भवतृष्णा और विभवतृष्णा के भेद से तीन प्रकार की है, से व्यक्ति संसार और संसार के जीवों से ऊर्णातन्तुन्याय से आबद्ध रहता है। वचन है—

**ये रागरत्तानुपतन्ति सोतं, सयंकतं मक्कटको व जालं ।**

धम्मपद, गाथा ३४७

तृष्णा अविद्या की पुत्री है। मिथ्यात्व इसका स्वरूप है। अतः विपर्ययवंशोद्भवा अविद्या को; जो परस्पर-विरोधी-तत्त्व द्रष्टा और दृश्य में अभेदबुद्धि का आपादन करती है, दुःख (हेय) का हेतु बतलाते हुए पतञ्जलि कहते हैं—

**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।** योगसूत्र २/१७

**तस्य हेतुरविद्या ।** योगसूत्र २/२४

**दुःखनिरोध–तृतीय आर्यसत्य**

तृतीय आर्यसत्य का नाम दुःखनिरोध है। बौद्धों के अनुसार 'निरोध' शब्द का अर्थ नाश या त्याग है। दुःख को दूर करने का उपाय उसके कारण को दूर करना है। यह सत्य बतलाता है कि दुःख का अन्त होता है। दुःख की सत्ता बतलाकर ही बुद्ध की शिक्षा पूर्ण नहीं होती है, प्रत्युत उनका उपदेश है कि इस दुःख का अन्त भी है। जिस प्रकार चिकित्सक रोग और रोगहेतु को जानकर रोगी को आरोग्य स्थिति में पहुँचाता है। अर्थात् रोगी को रोग से मुक्त कराता है। एतावता दुःख की कारणभूता तृष्णा का क्षय ही दुःखनिरोध है। दुःखनिरोध की ही लोकप्रिय संज्ञा 'निर्वाण' है। इसे ही तृष्णा के त्याग, प्रतिसर्ग, मुक्ति तथा अनालय शब्द से जानते हैं। भिक्षुओं के प्रति बुद्ध का उपदेश है—

**'इदं खो पन, भिक्खवे, दुक्खनिरोधं अरियसच्चं। यो तस्सायेव तण्हाय असेसविरागनिरोधो, चागो, पटिनिस्सग्गो मुत्ति, अनालयो।'**

तृतीय आर्यसत्य में दुःखनाश की चर्चा से बौद्धों के असत्कार्यवाद की स्थापना होती है, जब कि सांख्ययोगदर्शन के अनुसार दुःख को उसकी आत्यन्तिक अतीतावस्था में पहुँचाया जाता है, अतः ये सत्कार्यवाद के समर्थक हैं। सांख्ययोग में सद्रूप कार्य का नाश नहीं माना जाता है।

योगदर्शन के तृतीय चरण में दुःख के हेतुभूत द्रष्टृ-दृश्य-संयोग की आत्यन्तिक अतीत स्थिति ही 'हान' है, जिसे द्रष्टा पुरुष का कैवल्य कहा जाता है। सूत्र है—

**तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्।**

योगसूत्र २/२५

सूत्रगत 'अभाव' पद के अर्थ को स्पष्ट करते हुए व्यासदेव ने उसे आत्यन्तिक 'बन्धोपरम' कहा है—

**बुद्धिपुरुषसंयोगाभावः = आत्यन्तिको बन्धोपरम इत्यर्थः।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/२५

अभाव-उपरम, निर्वाण-कैवल्य का समन्वयात्मक पक्ष यथावसर आगे स्पष्ट किया जायेगा।

**दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपदा–चतुर्थ आर्यसत्य**

'प्रतिपद्' शब्द का अर्थ है—मार्ग। चतुर्थ आर्यसत्य; दुःखनिरोध, जो प्राप्तत्व है, उस तक कैसे पहुँचा जाय की व्याख्या करता है। 'निर्वाण' रूप गन्तव्य तक पहुँचने के उपाय का प्रतिपादन चतुर्थ आर्यसत्य में किया गया है। इस मार्ग का नाम 'अष्टाङ्गिक मार्ग' है। धम्मपद में इसे श्रेष्ठतम मार्ग बतलाया है—

**मग्गानट्ठङ्गिको सेट्ठो ।**

धम्मपद २०/१

योगदर्शन में भी ज्ञान की चरमोत्कृष्ट अवस्था में पहुँचाने का मार्ग 'अष्टाङ्गयोग' को कहा गया है। इसके लिये सूत्रद्वय स्मरणीय हैं—

**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।**

योगसूत्र २/२६

**योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।**

योगसूत्र २/२८

समन्वयात्मक दृष्टि से बौद्ध तथा योगदर्शन के प्रथम तीन चरण सैद्धान्तिक पक्ष से सम्बन्धित हैं तथा चतुर्थ चरण व्यावहारिक पक्ष से। भगवान् बुद्ध ने इसी चौथे आर्यसत्य को व्यावहारिक रूप देने में अपने शेष सम्पूर्ण जीवन का उत्सर्ग किया था। भगवान् बुद्ध की शिक्षा व्यावहारिक होती थी। सभी क्षेत्रों में उग्रता अथवा अतिशयता का त्यागकर मध्यममार्ग का अवलम्बन करने का उनका उपदेश मानवजाति के लिये एक बहुत बड़ी देन है। बुद्ध ने सदाचार और चित्तशुद्धि पर बल दिया। उनकी शिक्षा है—

**सब्बपापस्स अकरणं, कुसलस्स उपसम्पदा ।**
**सचित्तपरियोदपनं, एतं बुद्धान सासनं ।**

**बौद्ध और योगदर्शन में प्रतिपादित अष्टाङ्गिक मार्ग**

अष्टाङ्गिक मार्ग बौद्धदर्शन की आचारमीमांसा का चरम साधन है। बौद्धदर्शन में आचार की प्रधानता है। उनके अनुसार केवल शब्दतः इस मार्ग का आश्रय कभी उचित फल देने में समर्थ नहीं हो सकता। धम्मपद में भिक्षुओं के प्रति दिये गये उपदेश का सारसर्वस्व यही है कि—

"हे भिक्षुओं! उद्योग तुम्हें करना होगा। उपदेश के श्रवणमात्र से दुःखनिरोध कथमपि नहीं हो सकता। मार्ग बतलाना मेरा काम है, किन्तु उस मार्ग पर चलना तुम्हारा काम है।" वचन है—

**तुम्हेहि किच्चमातप्पं अक्खातारो तथागता ।**

धम्मपद २०/४

महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट योगसाधना का मुख्य द्वार यम-नियम है। यम-नियम आचार-मीमांसा की वह दिव्य निधि है, जिससे प्रकटित भावशुद्धिमूलक सुगन्धि सम्पूर्ण योगपीठ (समाधिभवन) को सुवासित करती है। यम और नियम के द्वारा पतञ्जलि ने जीवन के प्रवृत्तिमूलक और निवृत्तिमूलक दिशा-तत्त्वों की ओर इंगित किया। बौद्ध एवं पातञ्जलयोग दोनों दर्शनों में जीवनदर्शन के प्रथम सूत्र आचार-मीमांसा की उद्भावना की गई है। दोनों दर्शनों में साधना का धरातल एक समान है।

बौद्धदर्शन में प्रज्ञा, शील और समाधि इन तीन साधनों के अन्तर्गत अष्टाङ्गिक मार्ग का पल्लवन हुआ है, जब कि योगदर्शन में बहिरंग साधन एवं अन्तरङ्ग साधन अष्टाङ्गयोगान्तर्वर्ती हैं, न कि उससे पृथग्भूत ।

**बौद्धसम्मत अष्टाङ्गिक मार्ग**

आठ अङ्ग ये हैं—सम्यक् दृष्टि, सम्यक् सङ्कल्प, सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त, सम्यक् आजीविका, सम्यक् व्यायाम, सम्यक् स्मृति तथा सम्यक् समाधि। प्रथम दो **'प्रज्ञासाधन'**, द्वितीय तीन **'शीलसाधन'** तथा अन्तिम तीन **'समाधिसाधन'** के भेद हैं।

बौद्धिक अष्टाङ्गिक मार्ग में एक समान तत्त्व है—**सम्यक्**। यहाँ **'सम्यक्'** पद मध्यम मार्ग का वाचक है। किसी भी वस्तु के दोनों अन्त उन्मार्ग की ओर ले जाने वाले होते हैं। किसी भी वस्तु के प्रति अत्यधिक प्रवणता (तल्लीनता) अथवा अत्यधिक उदासीनता (वैराग्य) दोनों स्पृहणीय नहीं हैं। वाद्ययन्त्र के तारों को इतना अधिक शिथिल न कर दिया जाय कि वे भङ्कृत ही न हो सकें और इतना अधिक न दृढ कर दिया जाय कि वे विखण्डित हो जाएँ। सत्य तो दोनों अन्तों के मध्य ही रहता है। इसी मध्यम मार्ग को 'मध्यमप्रतिपदा' कहते हैं। भगवान् बुद्ध का उपदेश है—

**द्वेमे भिक्खवे, अन्ता पब्बज्जितेन न सेवितब्बा ।**

अर्थात् "हे भिक्षुगण! संसार का परित्याग कर निवृत्तिमार्ग में चलने वाले प्रव्रजित व्यक्ति को चाहिए कि दोनों अन्तों का सेवन न करे।"

ज्ञातव्य है कि चतुर्थ आर्यसत्य 'दु:खनिरोधगामिनी प्रतिपद्' की देशना के क्रम में भगवान् बुद्ध द्वारा दु:खनाश हेतु आठ मार्गों के अनुसरण की बात कही है।

**सम्यक् दृष्टि**

बौद्ध तथा योग दोनों दर्शनों में **'दृष्टि'** और **'ख्याति'** शब्दों का अर्थ ज्ञान है। ज्ञानभूमि में ही आचार का बीज रोपित किया जा सकता है। एतावता दु:खादि आर्यसत्य तथा हेयादि चतुर्व्यूह का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करके ही साधक गन्तव्य की ओर अभिमुख होता है। विचार की भित्ति पर आचार अवस्थित है। इसीलिये भगवान् बुद्ध ने आचारमार्ग में सम्यक् दृष्टि को पहला अङ्ग माना है। सम्यक् दृष्टि करणीय एवं अकरणीय कर्मों की विभाजक रेखा है। महर्षि पतञ्जलि ने यम-नियम के अन्तर्गत निवृत्ति और प्रवृत्तिरूप जिन आदर्शमूल्यों को स्थापित किया है उन्हीं का समाहार हमें 'सम्यक् दृष्टि' में परिलक्षित होता है। शब्दभेद एवं प्रभेदभेद की विसदृशता से आदर्शमूलक सिद्धान्तों को व्याघात नहीं पहुँचता है। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह की प्राणप्रतिष्ठा दोनों दर्शनों में हुई है।

**सम्यक् संकल्प**

स्थाणुनिखननन्याय से अधीत ज्ञान के प्रति दृढ निश्चयवान् होना सम्यक् संकल्प है। सम्यक् ज्ञान होने पर ही सम्यक् निश्चय होता है। असद्वृत्ति के बहिष्कार का सम्यक् संकल्प तभी प्रबल एवं सफल होता है जब हमारी अशङ्कित 'सम्यक् दृष्टि' बनती है। असद्वृत्तिपरिहार सम्यक् संकल्प की कायिक क्रिया है।

एतावता सम्यक्दृष्टि तथा सम्यक्संकल्प 'प्रज्ञा' नामक साधन के भेद हैं।

**सम्यक् वचन**

इस अङ्ग में वाचिक संशुद्धि पर बल दिया है। मृषावचन, पिशुनवचन, परुषवचन तथा संप्रलाप निषिद्ध हैं। धम्मपद में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि

वैर की शान्ति कटुवचनों से नहीं होती, प्रत्युत अवैर से ही होती है। वचन है—

**न हि वेरेन वेरानि सम्मन्तीध कुदाचनं ।**
**अवेरेन च सम्मन्ति, एस धम्मो सनन्तनो ।।**

धम्मपद १/५

योगदर्शन में 'यम' के द्वितीय भेद 'सत्य' में उक्त भावना का पल्लवन हुआ है।

**सम्यक् कर्मान्त**

धम्मपद का वचन है—

**अत्ता हि अत्तनो नाथो, को हि नाथो परो सिया ।**
**अत्तनो हि सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं ।।**

अभिप्राय यह है कि "आत्मा ही अपना नाथ (स्वामी) है। स्वेतर नाथ (स्वामी) नहीं है। अपने को दमन कर लेने पर जीव दुर्लभ नाथ (निर्वाण) को प्राप्त कर लेता है।"

'विनयपिटक' में सम्यक् कर्मान्त का उल्लेख मिलता है। बौद्धभिक्षु और गृहस्थ सभी के लिये पाँच कर्मों के अनुपालन पर विशेष बल दिया है और उन्हें 'पञ्चशील' कहा है। पञ्चशील हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा सुरा-मैरेय। पतञ्जलि ने योगसूत्र में प्रथम चार भेदों के साथ अपरिग्रह का समावेश कर उन्हें 'यम' की संज्ञा प्रदान की है।

भिक्षुओं के निवृत्तिप्रधान जीवन को उन्नत करने के लिये उपर्युक्त सार्वजनीन कर्म में पाँच अन्य कर्मों का समावेश कर उन्हें दश शील कहा है। वे पाँच सम्यक् कर्मान्त हैं—अपराह्णभोजन, मालाधारण, सङ्गीत, सुवर्ण और बहुमूल्य शय्या का परित्याग। अभिप्राय यह है कि अपरिग्रहभावना से भावित होकर मोहनीय और रञ्जनीय पदार्थों के प्रति भिक्षु में आसक्ति नहीं होनी चाहिए।

**सम्यक् आजीव**

'आजीव' शब्द का अर्थ जीविका है। यह अङ्ग सम्यक् कर्मान्त की अभिव्यक्ति है। प्रतिषिद्ध कर्मों के परित्यागपूर्वक शास्त्रविधि से जीविकोपार्जन करना सम्यक् आजीव है।

अष्टाङ्गिक मार्ग के ये तीन भेद; सम्यक् वाचा, सम्यक् कर्मान्त तथा सम्यक् आजीविका; समन्वितरूप से 'शील' साधन के अन्तर्गत आते हैं। इसी प्रकार अन्तिम तीन अङ्ग 'समाधि' साधन में परिगणित हैं। वे हैं—

**सम्यक् व्यायाम**

सम्यक् व्यायाम भिक्षु के साधनाक्रम की वह प्रक्रिया है, जिसमें अपने में अन्तर्निहित साधुता के विकासक्रम में भिक्षु निरन्तर उद्योगशील रहता है। मैत्रीभाव से द्वेष, करुणाभाव से विहिंसा, मुदिताभाव से अरति (अप्रीति) तथा उपेक्षाभाव से राग का उपशम करना है। बौद्धदर्शन में ये चार चित्त की सर्वोत्कृष्ट और दिव्य अवस्थाएँ हैं। इनको ब्रह्मविहार कहते हैं। चित्त-विशुद्धि के ये उत्तम साधन हैं। योगदर्शन में ये चित्तपरिकर्म तथा चित्तप्रसादन नाम से कहे गये हैं—

**यस्येदं शास्त्रेण परिकर्म निर्दिश्यते ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/३३

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःख-**
**पुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम् ।**

योगसूत्र १/३३

**सम्यक् स्मृति**

इस अङ्ग का विस्तृत वर्णन दीर्घनिकाय में किया गया है। सम्यक् स्मृति के चार भेद हैं—कायानुपश्यना, वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना। काय और चित्त की साङ्गोपाङ्ग संवेदनाओं के प्रति सतत प्रहरी बने रहते हुए आपातरमणीय वस्तुओं से विमुख रहना सम्यक् स्मृति का उद्देश्य है। उदाहरण के रूप में शरीर को मल-मूत्रादि का समुच्चयमात्र समझने वाला भिक्षु ही 'कायानुपश्यी' कहलाता है। काय के प्रति जुगुप्सावृत्ति पण्डितजन में ही जागरित होती है। व्यासभाष्य में कहा है—

**स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि ।**
**कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ।।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/५

बौद्धों की चित्तानुपश्यना की व्याख्या योगदर्शन में पदे-पदे देखने को मिलती है। योगभाष्यकार व्यासदेव ने चित्तभूमि, चित्तनदीधारा, चित्तवृत्ति आदि अनेक स्थलों में चित्त का साङ्गोपाङ्ग स्वरूप प्रस्तुत किया है। एक शब्द में अभ्यास और वैराग्य चित्तरूपी पक्षी के दो पर्ण हैं। जिससे अनासक्त एकाग्रचित्त असम्प्रज्ञातयोग तक अपनी उड़ान भर चरम कैवल्य तक पहुँचता है।

**सम्यक् समाधि**

बौद्धों के अष्टाङ्गिक मार्ग का यह अन्तिम अङ्ग है। यहाँ समाधि शब्द ज्ञान की उस पराकाष्ठा को द्योतित करता है जिससे **'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** सिद्धान्त समर्थित होता है। ज्ञान के विना मुक्ति नहीं होती, यह सिद्धान्त बुद्ध को भी सर्वथा मान्य था। परन्तु शुद्ध ज्ञान की उत्पत्ति तब तक नहीं हो सकती है, जब तक उसे धारण करने की योग्यता शरीर में उत्पन्न नहीं होती। ज्ञान के उदय के लिये शरीर की शुद्धि नितान्त आवश्यक है। इसीलिये बुद्ध ने शील और समाधि के द्वारा क्रमशः कायशुद्धि और चित्तशुद्धि पर विशेष बल दिया है।

इस सम्यक् समाधि के प्रथम, द्वितीय, तृतीय तथा चतुर्थ ध्यान—ये चार सोपान हैं—

**प्रथम ध्यान** में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता—इन पाँच चित्तवृत्तियों का प्राधान्य रहता है।

**द्वितीय ध्यान** में वितर्क और विचार नहीं रहता है। प्रीति, सुख एवं एकाग्रता इन तीन ही मनोवृत्तियों की बहुलता होती है।

**तृतीय ध्यान** में प्रीति नहीं रहती, केवल सुख और एकाग्रता का वैशिष्ट्य रहता है।

**चतुर्थ ध्यान** में सुख न रहकर उपेक्षा और एकाग्रता का प्राधान्य रहता है।

ज्ञातव्य है कि समाधि विषय में चित्त के प्रथम प्रवेश को **'वितर्क'** कहते हैं। इस विषय में अनुमज्जन करने को **'विचार'** कहते है। उससे जो आनन्द उत्पन्न होता है,वह है—**'प्रीति'**। उसके कारण मन में जो समाधान होता है वह है—**'सुख'**। इस विषय में चित्त की जो एकवाक्यता है, उसका

नाम **'एकाग्रता'** है और उस विषय में जो अत्यन्त निष्कम्पता है, उसे **'उपेक्षा'** कहते हैं।

**सम्यक् समाधि के चार सोपानों का दृष्टान्त द्वारा स्पष्टीकरण**

सम्यक् समाधि में प्रवेश की उत्तरोत्तर गहन स्थितियों को साइकिल के दृष्टान्त से; जैसे योगदर्शन में शरसन्धान के अभ्यासक्रम से, समझा जा सकता है। जब हम सर्वप्रथम साइकिल में चढ़ना सीखते हैं तब यन्त्र-सन्तुलन (समतोल) साधना ही क़ठिन होती है। इस समतोल को 'वितर्क' कहा जा सकता है। यन्त्र में सन्तुलन प्राप्त हो जाने के पश्चात् साइकिल की गति-प्रणाली में हमारा मन अनुमज्जन करता है, यही 'विचार' है। वितर्क और विचार के द्वारा साइकिल पर प्रभुत्वसम्पादन करने पर मन में जो विलक्षण आनन्द की अनुभूति होती है, वही 'प्रीति' है। शनैः-शनैः शरीर को समाधान का अनुभव होने लगता है, वही 'सुख' है। तदनन्तर जागरित तन्मयता को 'एकाग्रता' कहते हैं।

चक्रयान-आरोहण की परिपक्वावस्था में 'वितर्क' और 'विचार' का चिन्तन समाप्त हो जाता है। केवल प्रीति, सुख और एकाग्रता इन वृत्तियों का प्राधान्य रहता है। अन्त में ये भी क्रमशः धूमिल होते जाते हैं। इस प्रकार एकाग्रता की परिपक्वता में साधक किसी सर्वव्यापी विषय के ध्यान में तल्लीन हो जाता है।

**योगदर्शन में प्रतिपादित ध्यान**

पतञ्जलि के ध्यानयोग (सम्प्रज्ञातसमाधि) में भी वितर्क, विचार, आनन्द शब्दों का प्रयोग मिलता है। किंवा योगदर्शन प्रमेयवादी शास्त्र है। अतः उसमें ध्यानयोग का अभ्यास-विस्तार विषय (तत्त्व-प्रमेय) मूलक है। किन्तु ध्यान की तकनीक समान है। योगदर्शन में ध्यान की पराकाष्ठा को अर्थमात्रनिर्भासक माना है जहाँ ध्याता और ध्येय का अवभास समाप्त हो जाता है। सूत्र है—

**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।**

योगसूत्र ३/३

**हीनयान और महायान में ध्यानयोग**

ज्ञातव्य है कि बौद्धों के हीनयान तथा महायान सम्प्रदाय में ध्यान का महत्त्व प्रतिपादित है, किन्तु दोनों के लक्ष्य के विषय में मौलिक भेद है। हीनयान के अनुसार निर्वाण प्राप्ति ही चरम लक्ष्य है। अर्हत् पद की प्राप्ति प्रधान उद्देश्य है। अर्हत् केवल अपने क्लेश की निवृत्ति का अभिलाषी रहता है। वह तो अपने को अपने में सीमित रखता है।

जब कि महायान का लक्ष्य ही दूसरा है। महायान में चरम उद्देश्य बुद्धत्व की प्राप्ति है। साधक को जीवन का अन्तिम ध्येय बुद्ध बनाना है।

**पातञ्जलयोगदर्शन** में हीनयान और महायान के चरम उद्देश्य को समन्वित रूप से प्रतिपादित किया है। महायान का बुद्धत्व पतञ्जलि के अविप्लुतविवेकख्याति की व्याख्या करता है और हीनयान के अनुसार समस्त क्लेशों की निवृत्ति पतञ्जलि के पुरुष की निरुपाधिक स्वस्थिति है। पतञ्जलि के योगसूत्र के अन्तिम सूत्र में दोनों स्थितियों का समन्वय दृष्टिगोचर होता है। सूत्र है—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।**

योगसूत्र ४/३४

गुणव्यापार की निवृत्ति; अविद्या के क्षीण होने के कारण, बुद्धत्व की स्थिति है और स्वरूपप्रतिष्ठा साधक के निर्वाण को इङ्गित करती है।

**बौद्ध और योगदर्शन में ज्ञानमूलक ध्यानयोग की स्थापना**

योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने ध्यान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था, जिसे असम्प्रज्ञात योग कहा गया है, को मुमुक्षुओं के लिये उपयोगी बतलाया है और अज्ञानमूलक सर्ववृत्तिनिरोध को हेयकोटि में रखा है—

**स खल्वयं द्विविध उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च । तत्रोपायप्रत्ययो योगिनां भवति ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/१९

किञ्च—

**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।**

योगसूत्र १/२०

इस सूत्र द्वारा प्रतिपादित श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि तथा प्रज्ञा— वे ही उपाय हैं जो विशुद्धिमार्ग आदि बौद्ध ग्रन्थों में वर्णित हैं। ये पाँच मानसिक शक्तियाँ हैं, जिनमें सामञ्जस्य अपेक्षित है। बौद्धग्रन्थों में श्रद्धादि की व्याख्या इस प्रकार हुई है—

आचार्य कहते हैं कि श्रद्धा का अतिरेक होने से और प्रज्ञा के मन्द होने पर मनुष्य सारहीन बातों पर विश्वास करने लगता है। इसी प्रकार प्रज्ञा बलशालिनी हुई और श्रद्धा मन्द हुई तो मनुष्य स्वार्थसाधक हो जाता है। इसमें क्या? और उसमें क्या? इस प्रकार के प्रश्नात्मक विचारों से परोपकारादि धार्मिक कृत्यों में उसका विश्वास नहीं रहता,वह तो केवल स्वकेन्द्रित हो जाता है। अत: दोनों मनोवृत्तियों का समन्वय आवश्यक है।

समाधि मन्द हुई और केवल उत्साह ही द्विगुणित हुआ तो मनुष्य भ्रान्तचित्त हो जाता है। एक विदेशी प्राध्यापक कहा करते थे कि हम लोगों को अत्यन्त द्रुतगामी रेलगाडी तो चाहिए, परन्तु इष्ट स्थान पर पहुँचने पर क्या करना है? ऐसा ज्ञान नहीं है। इसका अर्थ यह हुआ कि समाधि के विना केवल उत्साह से मनुष्य को सुख प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत समाधि बलवती हुई और उत्साह मन्द हुआ तो मनुष्य आलस्ययुक्त हो जाता है। अत: समाधि और उत्साह दोनों में समन्वय आवश्यक है।

इन सबके लिये स्मृति अर्थात् जागृति सर्वत्र होनी चाहिए। 'स्मृति' साधक को कुशल पर्यवेक्षक बनाती है। अत: श्रद्धा आदि के प्रति सचेष्ट दृष्टि बनाये रखने के लिये 'स्मृति' आवश्यक है।

**पलिबोध अथवा योगान्तराय**

साध्य की सम्पूर्ति के लिये साधना-पद्धति अपेक्षित है। साध्य की सिद्धि के लिये जिन हेतुओं का आलम्बन लिया जाता है, उन्हें 'साधन' और उनके अभ्यासक्रम को 'साधना' कहा जाता है। साधनाकाल में अनेक बाधाएँ आती हैं, जो दुर्बल चित्त वाले व्यक्तियों को प्रभावित कर उन्हें समाधिमार्ग से दूर कर देती हैं। योगसूत्र में इन्हें योगान्तराय कहा है। विसुद्धिमग्ग में पलिबोध कहा है। बुद्धघोष ने इन सब अन्तरायों का निर्देश एकत्र एक गाथा में किया है—

**आवासो च कुलं लाभो गणो कम्मं च पंचमं ।**
**अद्धानं आति आबाधो गन्थो इद्धीति ते दसा ति ।।**

विसुद्धिमग्ग पृ. ६१

ये दश हैं—आवास, कुल, लाभ, गण, कम्म, अद्धान, ज्ञाति, आबाध, गन्ध, तथा इद्धि।

योगसूत्र के अनुसार नौ अन्तराय हैं—व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्तिदर्शन, अलब्धभूमिकत्व तथा अनवस्थितत्व। सूत्र है—

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वान-वस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।**

योगसूत्र १/३०

बौद्धदर्शन के अन्तराय व्यावहारिक हैं जब कि योगदर्शन में प्रति-पादित अन्तराय साधनापद्धति के अधिक निकट हैं, किन्तु समाधिप्राप्ति में दोनों बाधास्वरूप हैं। लक्ष्यसिद्धि में दोनों का गतिरोध तुल्य है।

**भूमिविचार**

साधना के विकासक्रम में साधक शनैः-शनैः आत्मिक शक्तियों का विकास करता है। साधक के चैत्तिक उत्थान का बोध उसके अन्तर्वर्ती परिवर्तन से होता है। यह तो निश्चित बात है कि आध्यात्मिक उन्नति एक दिन के अध्यवसाय का फल नहीं है।

**हीनयान** के अनुसार अर्हत पद की प्राप्ति तक चार भूमियाँ हैं। उनके नाम हैं—१. स्रोतापन्न २. सकृदागामी ३. अनागामी ४. अर्हत्।

**महायान** के अनुसार बुद्धत्व या निर्वाण प्राप्ति के लिये दश भूमियाँ मानी जाती हैं। उनके नाम है—१. मुदिता २. विमला ३. प्रभाकरी ४. अर्चिष्मती ५. सुदुर्जया ६. अभिमुक्ति ७. दूरंगमा ८. अचला ९. साधमती १०. धर्ममेघ।

**पतञ्जलि** के योगदर्शन में सात प्रकार की प्रान्तभूमि प्रज्ञा का उल्लेख मिलता है। सूत्र है—

**तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।**

योगसूत्र २/२७

'प्रान्तभूमि' शब्द का विग्रह करते हुए आचार्य वाचस्पति मिश्र ने तत्त्ववैशारदी टीका में लिखा है—

**प्रकृष्टोऽन्तो यासां भूमीनाम् अवस्थानां तास्तथोक्ताः ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र २/२७

विवेकज्ञान समस्त ज्ञानों में उत्कृष्टतम है। राजस और तामस वृत्तियों से रहित विशुद्धसत्त्वगुणप्रधान एकाग्रचित्त में इन सात प्रकार की प्रज्ञाओं का उदय होता है। व्यासभाष्यकार व्यासदेव ने इन्हें १. कार्यविमुक्तिप्रज्ञा तथा २. चित्तविमुक्तिप्रज्ञा इन दो वर्गों में विभाजित किया है। इनमें प्रथम चार प्रयत्नसाध्य 'कार्यविमुक्ति' प्रज्ञाएँ हैं तथा अन्तिम तीन स्वत:सिद्ध 'चित्तविमुक्ति' प्रज्ञाएँ हैं। व्यासभाष्य में कहा है—

**इत्येषा चतुष्टयी कार्य्या विमुक्तिः प्रज्ञायाः । चित्तविमुक्तिस्तु त्रयी ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र २/२७

योगशास्त्र में ज्ञान की चरमावस्था को अविप्लुतविवेकख्याति कहते हैं। इसी का अपर पर्याय 'धर्ममेघ' है। यह सम्प्रज्ञातयोग की पराकाष्ठा है। योगवार्त्तिककार विज्ञानभिक्षु ने अधोलिखित सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है—

**प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः ।**

योगसूत्र ४/२९

**अविद्याऽन्तराणि यदा न जायन्ते तदा धर्ममेघसमाधिरित्यर्थः, क्लेशकर्मादीनां निःशेषेणोन्मूलकं धर्मं मेहति वर्षतीति धर्ममेघः ।**

योगवार्त्तिक, योगसूत्र ४/२९

बौद्धदर्शन में बोधिसत्त्व भूमियों में 'धर्ममेघ' भूमि का स्वरूप पतञ्जलि के योगदर्शन से साम्य रखता है। बौद्धदर्शन के अनुसार इस अवस्था में बोधिसत्त्व सब प्रकार की समाधियों को प्राप्त कर लेता है। जिस प्रकार से राजा अपने पुत्र को युवराज के पद पर अभिषिक्त करता है, उसी प्रकार साधक बुद्धत्व को प्राप्त कर लेता है। बोधिसत्त्व भूमियों में यही चरम पर्यवसान है। इस प्रकार 'धर्म' रूप ज्ञान का वर्षा दोनों दर्शनों में समान है।

इसी प्रकार बौद्धदर्शन में प्रसंख्यानिरोध और योगदर्शन में प्रसंख्यानसमाधि भी प्रज्ञा या ज्ञान की एक अवस्थाविशेष है।

**निर्वाण और कैवल्य की अवधारणा**

बौद्धदर्शन का परमार्थ है—'निब्बान'। यह पाली भाषा का शब्द है, जो 'नि' और 'वान' से निष्पन्न होता है। 'नि' निपात नकारात्मकता का बोध कराता है। 'वान' का अर्थ है तृष्णा। इस प्रकार तृष्णा का निवारण है—निर्वाण। निर्वाण क्लेशों का क्षय है। निर्वाण को निरोध कहा गया है। निर्वाण या निरोध को विनाश का सूचक नहीं समझना चाहिए। अग्नि का बुझना अग्नि का नाश नहीं, अपितु उसका अपने मूल प्रभव में लय होना है। उसी प्रकार जो निर्वाण को पाता है वह पृथ्वी, अन्तरिक्ष, दिग्-दिगन्त कहीं नहीं जाता है, वह कर्म-क्लेशों का क्षय होने से प्राप्त शान्तिमात्र है। भगवान् बुद्ध कहते हैं—

**परिमं तीरं खेमं अप्परिभयं ति खो भक्खवे निब्बानस्सेतं अधिवचनं ।**

संयुक्तनिकाय (आसीविसोपमसुत्त), २३८

अभिप्राय यह है कि 'यह निर्वाण संसार का पार है, दुःखों का तीर है, क्षेमस्वरूप है, भयरहित है।' यही निर्वाण का अधिवचन है। निर्वाण परम सुख है—

**निब्बानं परमं सुखम् ।**

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की भाँति बुद्धपरम्परा में भी दो प्रकार का निर्वाण है—

१. सोपादिसेस निब्बान ।

२. अनुपादिसेस निब्बान ।

**'सोपादिसेस निब्बान'** में छः इन्द्रियाँ बची रह जाती हैं किन्तु इच्छा, घृणा और भ्रम अर्थात् जगत् को अन्तिम सत्य अथवा परम चैतन्य मानने की भ्रान्ति का नाश हो जाता है।

**'अनुपादिसेस निब्बान'** (परिनिर्वाण) में न 'आसव' अर्थात् बन्धनकारी इच्छाएँ, संस्कार, अज्ञान अवशिष्ट रहते हैं, न ही छः इन्द्रियों वाला शरीर। कहा है—

**सरीरं विजहं परिनिब्बिस्सति अनासवो ।**

अर्थात् परिनिर्वाण में संकल्पशून्यता की स्थिति होती है, चरमशान्ति, नितान्तचेतना ।

**योगदर्शन** में प्रतिपादित कैवल्य बौद्धों के निर्वाण के अत्यन्त निकट है। बौद्ध के अनुसार क्लेशों का क्षय और पतञ्जलि के अनुसार गुणों की प्रतिप्रसवता एक है। प्रति पुरुष के प्रति बुद्धि तभी चरिताधिकारा होती है जब ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था में वह क्षीणक्लेश हो जाती है। बुद्धि की वन्ध्यक्लेशावस्था को ही परमार्थरूप में परमार्थशून्य गुणों की प्रतिप्रसवता कहते हैं। इसी की अभिव्यक्ति पुरुष के अपने केवल स्वरूप में प्रतिष्ठित होने से की गई है। यही बौद्धों का परमसुख है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम्,**
**स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।**

योगसूत्र ४/३४

एक शब्द में निर्वाण है जाग उठना एक दुःस्वप्न से। जगत् की आसक्ति का, तृष्णा का, ऐन्द्रिय सुखों के अन्वेषण का दुःस्वप्न हमें निस्तेज बना देता है। निर्वाण सम्यक् दृष्टि है। निर्वाण समस्त काल्पनिक एवं अयथार्थ अनुभूतियों से रिक्त है। बुद्ध के अधरों में अन्तिम क्षणों में यही शब्द थे—

**अप्प दीपो भव ।**

कैवल्य और निर्वाण तत्त्वतः एक ही हैं।

**शून्यताः निर्वाणः निस्सीमता**

शून्यता का अर्थ है—वादों-विवादों-प्रतिवादों से शून्यता—

**शून्यता सर्वदृष्टीनां प्रोक्ता निःसरणं जिनैः ।**
**येषां तु शून्यता दृष्टितानसाध्यान् बभाषिरे ।।**

कौन मानेगा कि भगवान् बुद्ध का शून्य एक रीतापन, खालीपन, रिक्तता है। यदि वैसा होता तो निर्वाण कैसे होता अस्खलित, शिव, क्षेम, शान्त, ध्रुव, सत्य आदि। तथागत का शून्य रीता है पदार्थ से, उन सब से जिसे हम होना कहते हैं, जो इन्द्रियगम्य है। शून्यता निःस्वभावता है अर्थात् प्रकृति से सर्वथा मुक्त परम पुरुष है। भगवान् बुद्ध तथागत हुए, तथता की

संबोधि उन्हें प्राप्त हुई। उन्होंने जान लिया कि इस सापेक्ष जगत् के पीछे एक निरपेक्ष सारतत्त्व विद्यमान है, जो इक्षुरस के माधुर्य की तरह अनिर्वचनीय है।

**शून्यता : आत्मा : ब्रह्म—तत्त्वतः एकरूप**

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि बौद्धदर्शन में जिसे शून्यता कहा गया है, क्या वह ब्रह्म-आत्मा-चैतन्य से भिन्न है। इस प्रश्न का समाधान अन्वेषित करने के लिये सर्वप्रथम हमें बुद्ध को अन्वेषित करना होगा और समझना होगा कि भगवान् बुद्ध सनातन भारतीय धर्म और चेतना का आत्मविस्तार है। उन्होंने उसकी ही साधना की और उसकी ही संबोधि प्राप्त की।

भगवान् बुद्ध द्रष्टा बने, उन्होंने ब्रह्म का साक्षात्कार किया उस ब्रह्म का जो गूंगे का गुड है।

**शून्यता-अनिर्वचनीय माधुर्य की अनुभूति**

शून्यता अथवा चैतन्य अनिर्वचनीय माधुर्य है। स्पष्टीकरण इस प्रकार है—गुड मीठा लग रहा है, गूंगा उसे खाकर मुस्करा रहा है, परन्तु बता नहीं पाता कि वह मीठा है। गूंगे की बात छोड़ दें, जो लोग बोल सकते हैं क्या वे बता सकते हैं कि मिठास क्या है? मिठास की परिभाषा क्या है? इसके अतिरिक्त कोई उत्तर नहीं है कि मिठास वह अनुभूति है जो मीठा खाने पर होती है और मीठा उसे कहते हैं जिसमें मिठास होता है।

मिठास की कोई परिभाषा नहीं है। खजूर में मिठास कहाँ रहता है, उसका क्या रूप है? क्या माप है? क्या रंग है? कोई बता सकता है? नहीं, तथापि यह सब जानते हैं कि मिठास खजूर में व्याप्त है, किन्तु मिठास में खजूर नहीं है। गुड़ में मिठास है परन्तु उसमें खजूर नहीं है। मिठास गुड और खजूर से शून्य है। इसी प्रकार चैतन्य आत्मा जगत् से शून्य है।

**शून्यता-परमार्थ सत्य**

शून्यता की देशना भगवान् बुद्ध ने महायान सूत्रों में, विशेषतः प्रज्ञापारमिता सूत्रों में की है। राष्ट्रपालपरिपृच्छा सूत्र में कहा गया है कि शून्यता, अनुत्पाद और शान्ततत्त्व को न जानने के कारण यह जगत् भ्रमित हो रहा है। माध्यमिकों का कहना है कि शून्यता केवल महायान सूत्रों में ही उपदिष्ट नहीं है, अपितु हीनयान सूत्रों में भी संकेतित है।

शून्यता का अर्थ कुछ न होना नहीं, अपितु मन का मौन है, उस

मन का जो समस्त सीमाओं से परे मुक्त उडान भरता है। शून्य इस प्रकार का स्वभाव है, जिसमें समग्र प्रपञ्च की निवृत्ति होती है। यह 'भाव' पदार्थ है न कि 'अभाव' पदार्थ।

भगवान् बुद्ध के **नैरात्म्यवाद** का अर्थ आत्म-अभाव अथवा ब्रह्म-अभाव नहीं है। आत्मविषयक प्रश्न होने पर भगवान् बुद्ध का मौन हो जाना 'मध्यममार्ग' की स्वीकृति है और विनयी शिष्यों पर योग्यता के आधार पर करुणा का भाव है। शून्यावस्था का प्रतिपादन करना 'योगप्रभाव' तथा महायोगी होने के कारण समाधि-अवस्था का वर्णन है। नागार्जुन प्रतिष्ठापित शून्यवाद तथा वसुबन्धु द्वारा वर्णित विज्ञानवाद स्पष्टतः योग की परावस्था उत्तमस्थिति का विशद उत्कृष्टतम भाष्य है। अतः आत्मवाद और शून्यवाद में जो नितान्त भिन्नता प्रतीत होती है, वह बाह्य है, शाब्दिक है तथा तत्-तत्-सम्प्रदायजन्य मनोभाव है।

**बौद्धदर्शन में कर्म और पुनर्जन्म**

बौद्धदर्शन में कर्म एवं पुनर्जन्म के विषय में विचार करने पर इसके कार्यकारणनियम जिसे **'प्रतीत्यसमुत्पादवाद'** के नाम से जाना जाता है, पर दृष्टि जाना स्वाभाविक है।

बौद्धदर्शन पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानता है। अब प्रश्न यह होता है कि आत्मा के अनित्य संघातमात्र होने से पुनर्जन्म किसका होता है? वैदिक दर्शन में भी पुनर्जन्म की मान्यता है किन्तु वहाँ इस प्रकार की कोई विप्रतिपत्ति नहीं है, क्योंकि आत्मा को नित्य मानने के कारण पुनर्जन्म का सिद्धान्त इस विप्रतिपत्ति की सीमा में आता ही नहीं है। बौद्धदर्शन आत्मा के अस्तित्व को ही नित्यरूप में नहीं स्वीकार करता है। तब पुनर्जन्म किसका होता है? जिसने कर्म किया वह अतीत में विलीन हो जाता है और जो जन्म धारण करता है, उसने वे कर्म ही नहीं किये जिसके फल को भोगने के लिये नूतन जन्म की आवश्यकता पड़े? यह चर्चा मिलिन्द पन्हों में अत्यधिक रोचक प्रकार से की गई है—

राजा मिलिन्द का यही प्रश्न था कि जो उत्पन्न होता है वह वही व्यक्ति है या दूसरा। नागसेन का उत्तर है कि न वही है और न दूसरा। इस सिद्धान्त को नागसेन ने **दीपशिखा** के दृष्टान्त से समझाया है। मनुष्य रात्रि

में जो दीपक प्रज्ज्वलित करता है, क्या रात्रिपर्यन्त वही दीपक जलता है? साधारणरीति से यही प्रतीति होती है कि सम्पूर्ण रात्रि वही दीपक जलता है, परन्तु वस्तुस्थिति तो बदलती है कि रात्रिकाल में उस दीपक की प्रतिक्षण की दीपशिखा भिन्न थी। दीपक की शिखा प्रतिक्षण परिवर्तमान है। आत्मा के विषय में भी यही दशा चरितार्थ होती है और इस तरह निरन्तर प्रवाह बना रहता है। प्रवाह की दो अवस्थाओं में एक क्षण का भी अन्तर नहीं होता, क्योंकि एक के लय होते ही दूसरी उठ खड़ी होती है। इसी कारण पुनर्जन्म के समय न वही जीव रहता है और न दूसरा ही हो जाता है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का विज्ञान खडा हो जाता है।

पुनर्जन्म के समय जन्म लेने वाला जीव न तो वही है और न उससे भिन्न। विज्ञान की शृङ्खला प्रतिक्षण बदलती रहती है। एक जन्म के अन्तिम विज्ञान के लय होते ही दूसरे जन्म का प्रथम विज्ञान खडा होता है। प्रतिक्षण कर्म नष्ट होते चले जाते हैं परन्तु उनकी वासना अग्रिम क्षण में अनुस्थूल रूप में प्रवाहित होती है। इसलिये अनित्यता को मानते हुए भी बौद्धदर्शन में पुनर्जन्म को तर्कयुक्त माना है। श्रीमद्भागवत में बतलाया है कि जिस प्रकार विना कारण के कार्योत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार जन्मादि भी विना कारण के सम्भव नहीं, कारण उसी शरीर का पूर्वकृत कर्म ही है—

**कर्मणा जायते जन्तुः कर्मणैव विलीयते ।**

श्रीमद्भागवत १०/२४/१३

**प्रतीत्यसमुत्पाद-द्वादशनिदान**

बौद्धों के कर्म और पुनर्जन्म का सिद्धान्त 'प्रतीत्यसमुत्पाद' अर्थात् 'कार्यकारणनियम' से जाना जाता है। प्रतीत्यसमुत्पाद के द्वादश अङ्ग हैं, जिनमें से प्रत्येक दूसरे के कारण उत्पन्न होता है। इसे 'भवचक्र' के नाम से जानते हैं। इन अङ्गों की संज्ञा 'निदान' भी है। वे द्वादश निदान हैं—

अविद्या, संस्कार, विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना, तृष्णा, उपादान, भव, जाति तथा जरा।

पुनर्जन्म के परिप्रेक्ष्य में ये द्वादशनिदान तीन जन्मों से सम्बद्ध माने गये हैं। इनमें से प्रथम दो निदानों अविद्या तथा संस्कार का सम्बन्ध अतीत जन्म से है, अग्रिम आठ निदानों विज्ञान, नामरूप, षडायतन, स्पर्श, वेदना,

तृष्णा, उपादान तथा भव का सम्बन्ध वर्तमान जीवन से है तथा अन्तिम दो निदानों जाति तथा जरा को भविष्य जीवन से सम्बद्ध मानते हैं। इसी कारण वसुबन्धु ने इसे त्रिकाण्डात्मक बतलाया है।

योगदर्शन में 'अविद्या' को पञ्चक्लेश के अन्तर्गत रखा है। सूत्र है—

**अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।**

योगसूत्र २/३

मानव का कर्म अविद्यामूलक होता है। अस्मिता आदि अविद्या की प्रजातियाँ हैं। ऐसे ही बौद्धसम्मत द्वादशनिदानों का उत्पत्तिस्थल अविद्या ही है। द्वादशनिदान का ऐसा कोई भेद नहीं है, जिसकी उद्भावना योगदर्शन में न हुई हो। योगदर्शन में भी कर्मजनित वासना, जिसे बौद्धदर्शन में संस्कार शब्द से कहा गया है; वर्तमान (दृष्ट) तथा भविष्य (अदृष्ट) जन्मों में अपना अनुभव कराती है। कर्मवासना की अनुभवनीयता के तीन आधार हैं—जाति, आयु तथा भोग। इसके लिये पतञ्जलि के सूत्रद्वय अवलोकनीय हैं—

**क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।**

**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।**

योगसूत्र २/१२-१३

कर्म और कर्मफल का सिद्धान्त दोनों दर्शनों में समान है। जातक कथाओं में अनेकशः तथागत बुद्ध के विभिन्न जन्मों की कथा कही गई है। वे चेतना के सतत प्रवाह की बात कहते हैं। योगदर्शन के व्यासभाष्य में भी आवट्य-जैगीषव्य, संवाद द्वारा भी पुनर्जन्म का सिद्धान्त परिपुष्ट होता है। इस प्रकार ऋषिपरम्परा और श्रवणपरम्परा में कर्मसिद्धान्त और पुनर्जन्म की अवधारणाएँ एक दूसरे के समानान्तर हैं। कर्म अर्थात् कार्य-कारण-शृङ्खला और आघात-प्रत्याघात के ताने-बाने से बुनी गई चदरिया। कबीरदास इसी चदरिया को मैली न करने का आग्रह करते हैं। कर्म की मीमांसा करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि पापकर्म ताजे दूध की भाँति तुरन्त विकार नहीं लाता। वह राख से ढकी आग की तरह जलाता हुआ मूर्ख व्यक्ति का पीछा करता है। वचन है—

**न हि पापं कतं कम्मं सज्जु खीरं व मुच्चति ।**
**उहन्तं बालमन्वेति भस्मच्छन्नो छन्नो व पावको ।।**

धम्मपद ५/१२

**आत्मवाद और अनात्मवाद—एक ही सत्य के दो रूप**

जब आप अपने आप से पूछते हैं कि आप इस शरीर में कहाँ हैं तो आपको दो उत्तर प्राप्त होते हैं—१. शरीर में सर्वत्र तथा २. शरीर में कहीं भी नहीं। जब आप कहते हैं कि आप शरीर में सर्वत्र हैं तब यह वैदिक दृष्टि है और जब आप कहते हैं कि आप शरीर में कहीं नहीं है तब यह बौद्ध दृष्टि है। ये दोनों दृष्टियाँ एक साथ मिलकर सत्य का प्रतिनिधित्व करती हैं। उनको एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता।

प्राय: हम लोग कहते हैं कि हमें आत्मदर्शन हो गया। परन्तु सत्य यह है कि आत्मा दृष्टि का विषय नहीं हो सकता। इसी कारण भगवान् बुद्ध ने अनात्मवाद का प्रतिपादन किया। उन्होंने आत्मा के विषय में चर्चा का निषेध किया। यही है उनका अनात्मवाद।

भगवान् बुद्ध के शिष्य बनने वाले लोग परम विद्वान् थे। वे ज्ञानी थे। उन्हें आत्मा के विषय में ग्रन्थों में प्रतिपादित ज्ञान की पूरी जानकारी थी, फिर भी वे बुद्ध की शरण में गये। इसका कारण यह था कि आत्मा के प्रश्न पर मौन रह जाने वाले बुद्ध की चुप्पी स्वयं आत्मा अर्थात् शुद्ध चेतना में ही उत्पन्न हुई थी। उन्होंने अपने शिष्यों को केवल इतना कहा—

१. **कायानुपश्यिन्**—अर्थात् काया को देखो ।

२. **वेदनानुपश्यिन्**—अर्थात् काया के भीतर होने वाली हलचल को देखो।

३. **चित्तानुपश्यिन्**—अर्थात् अपने चित्त में होने वाली हलचल को देखो।

४. **धर्मानुपश्यिन्**—अर्थात् अपनी प्रकृति को देखो, जानने की चेष्टा करो कि तुम्हारी वास्तविक प्रकृति क्या है?

संक्षेप में चेतना और आत्मा एक ही है। आत्मा संज्ञा है। बुद्ध इसे समस्त संस्कारों, प्रवृत्तियों, रुचियों और अरुचियों की संज्ञा देते हैं।

बौद्धदर्शन में व्यावहारिक रूप से आत्मा का निषेध नहीं किया गया है, प्रत्युत पारमार्थिक रूप से ही। इनके अनुसार आत्मा रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पञ्च स्कन्धों का समुदायमात्र है। परन्तु इनके अतिरिक्त आत्मा कोई स्वतन्त्र परमार्थभूत पदार्थ नहीं है। आत्मा के लिये बौद्ध लोग सन्तान शब्द का प्रयोग करते हैं। आत्मा मानसिक तथा भौतिक, आभ्यन्तर तथा बाह्य, इन्द्रिय तथा इन्द्रियविषयों का सन्तानरूप है। अठारह धातु मिलकर इस सन्तान को उत्पन्न करते हैं।

**अष्टादश धातु**

बौद्धदर्शन में पञ्च स्कन्ध (रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान) तथा द्वादश आयतन (छः इन्द्रियाँ और उनके छः विषय) के साथ-साथ अष्टादश धातुओं का भी वर्णन मिलता है। धर्मों का धातुओं के रूप में यह विभाजन एक नवीन दृष्टिकोण से किया गया है। 'धातु' वैद्यकशास्त्र से लिया गया है। वैद्यकशास्त्र के अनुसार इस शरीर में अनेक धातुओं का सन्निवेश है। इसी प्रकार बौद्धदर्शन इस जगत् में अनेक धातुओं की सत्ता मानता है। धातुओं की संख्या अठारह है, जिनमें छः इन्द्रियाँ, छः विषय तथा छः विज्ञानों का ग्रहण किया जाता है। इन्द्रिय और विषय तो वे ही हैं जिनका वर्णन आयतन रूप से किया गया है। तत्-तत् इन्द्रियों का स्व-स्व विषयों के साथ सम्पर्क होने पर छः प्रकार का विशिष्ट ज्ञान (विज्ञान) उत्पन्न होता है जो इन्द्रिय-विषयों की संख्या के अनुसार छः प्रकार का होता है।

बौद्धदर्शन के चारों प्रकार के सिद्धान्तवादियों (माध्यमिक, योगाचार, सौत्रान्तिक तथा वैभाषिक) द्वारा सामान्यतया आत्मा का जिस प्रकार का स्वरूप निरूपण किया गया है, तदनुसार आत्मा नित्य, एक एवं स्वतन्त्र है। इस प्रकार स्कन्ध से पृथक् स्वतन्त्र द्रव्यात्मक आत्मा का समर्थन हुआ है। एक शब्द में उपनिषद् के ऋषि का 'मौन' एवं बुद्ध का 'अव्याकृत' इसी सत्य को बतलाते हैं।

**जीवन-दर्शन के पक्षधर : भगवान् बुद्ध**

भगवान् बुद्ध के उपदेशों को समझने का प्रयास करते समय हमें यह बात ध्यान रखनी चाहिए कि गौतम बुद्ध का उद्देश्य दर्शन के तर्कसंगत सिद्धान्तों को प्रस्तुत करना नहीं था। उनका उद्देश्य मानव को दुःखों से

छुटकारा दिलाना था। इस उद्देश्य के लिये उन्होंने विश्वमञ्च पर नैतिक उद्देश्यों को उद्घटित किया।

समान उद्देश्य के लिये समर्पित होने के कारण पातञ्जलयोगदर्शन एवं बौद्धदर्शन की आचार-मीमांसा का प्रयोगपक्ष साधनापद्धति के अधिक निकट होने से उनकी तार्किक एकरूपता को प्रकट करता है। उनमें पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग की भिन्नता नहीं, अपितु भावभूमि की एकरूपता अवलोकनीय है।

**दर्शनपटल पर असमानता भी प्रतीतिमात्र**

योगसूत्र पर लिखे व्यासभाष्य का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करने पर प्रतीत होता है कि व्यासदेव ने बाह्य पदार्थ का स्वरूप परिभाषित करते हुए विज्ञानवादी बौद्धों को पूर्वपक्ष के रूप में खडा किया है और दोनों सम्प्रदायों में दार्शनिक असमानता को उद्घाटित करने का प्रयास किया है। कुछ महत्त्वपूर्ण अंश इस प्रकार हैं—

१. बाह्य पदार्थ को चित्त की परिकल्पना मात्र नहीं माना जा सकता है, इसका प्रतिपादक सूत्र और भाष्यांश है—

**वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।।**

योगसूत्र ४/१५

**बहुचित्तावलम्बनीभूतमेकं वस्तु साधारणम् ।**

**तत्खलु नैकचित्तपरिकल्पितं नाप्यनेकचित्तपरिकल्पितं किन्तु स्वप्रतिष्ठम् ।**

व्यासभाष्य, ४/१५

अभिप्राय यह है कि अनेक ज्ञानों का आलम्बनीभूत वस्तु एक ही है। उसे न एक ज्ञान के द्वारा न अनेक ज्ञान के द्वारा कल्पित कहा जा सकता है। क्योंकि बाह्य वस्तु अपने रूप में प्रतिष्ठित है।

२. वस्तु को ज्ञानसहभू भी नहीं कहा जा सकता है—

**न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु, तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।**

योगसूत्र ४/१६

इस परिप्रेक्ष्य में तात्त्विक दृष्टि से विचार किया जाय तो पता चलता है कि विज्ञानवादियों ने बाह्य वस्तु का खण्डन नहीं किया, अपितु उनकी

स्वतन्त्र सत्ता का निषेध किया है। यह वही दृष्टिकोण है, जिसमें पहुँचकर सभी मार्ग, सभी विवाद, सभी दृष्टियाँ लय हो जाती हैं और एक शून्य आत्मतत्त्व शेष रहता है।

जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि 'यह शरीर मेरा है' तो भोक्ता और भोग्य के सिद्धान्त का अपलाप नहीं कर सकता है।

**उपसंहार**

निहितार्थ यह है कि व्यवहारशिला पर अवस्थित बौद्ध तथा योगदर्शन में सैद्धान्तिक समानता है। भारतीय चिन्तनधारा के प्रत्येक प्रवाह में स्वरूपभेद के साथ ये सिद्धान्त मान्य हैं। बौद्ध चिन्तनधारा भारतभूमि की अन्य चिन्तनधाराओं की विरोधिनी नहीं है, अपितु व्यापक भारतीय चिन्तन धारा की एक प्रमुख शाखा है।

जैसे एक वृक्ष से उत्पन्न फलों में परस्पर तारतम्य तो हो सकता है। और होता भी है, वैसे ही एक ही भारतभूमि में उदित विचारकों की दृष्टियों में परस्पर तारतम्य आवश्यक है। परन्तु एक वृक्ष के फलों के समान परस्पर पूर्ण मिलना जिस प्रकार असम्भव है उसी प्रकार उक्त विचारकों के विचारों की परस्पर पूर्ण भिन्नता असम्भव है।

यत्र-कुत्रचित् शब्दों के वृद्धि-ह्रास, सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन की प्रवृत्ति का पर्यवसान 'पूर्णत्वप्राप्ति' भारतीय मनीषा में समान है। ऋषि का वचन स्मरणीय है—

**ॐपूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदुच्यते ।**
**पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवाव शिष्यते ।।**

●

# साधनाविमर्श : बौद्ध-जैन दर्शन के सन्दर्भ में

'साधना' का अर्थ है—मन को किसी विषय में एकनिष्ठभाव से संयुक्त करना। एक सफल चिकित्सक रोग की प्रकृति के अनुसार औषधि सेवन का परामर्श करता है। संसारवासी हम सब जन अस्वस्थ ही तो हैं। हमारी अस्वस्थता क्या है? हम 'स्व' में स्थित नहीं हैं, इसी कारण अस्वस्थ हैं, रोगी हैं, अनेकानेक कष्टों एवं यन्त्रणाओं को सहन करते हुए मृत्युपथ में चल रहे हैं। रोग, शोक, दुःख, दारिद्र्य, अकालमृत्यु, हाहाकार—यही तो संसार का स्वरूप है। एक वाक्य में स्वरूपच्युति ही हमारे दुःख का कारण है।

साधक-साधना-साध्य का परस्पर वही सम्बन्ध है जो कि ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय का है, ध्याता-ध्यान-ध्येय का है, कर्त्ता-क्रिया-कर्म का है। साधक भक्त है, साधना उसकी भक्ति है और साध्य उसका आराध्य भगवान् है।

साधना का अर्थ है—प्रयत्न करना, उद्योग करना अथवा तत्पर रहना। साधना का अर्थ सिद्धि भी है। आत्मानुसन्धान के मार्ग में, अपनी आत्मा को परमात्मा में लीनकर **'पूर्णमदः पूर्णमिदम्'** की अनुभूति के पथ में हमारी जो कुछ भी आध्यात्मिक चेष्टाएँ होती हैं, उन सबका नाम 'साधना' है। नदी की जलधारा ऊँचे चढ़ती है, नीचे ढलती है, वन, पर्वत को लांघती हुई बढ़ती जाती है। क्यों किसलिये? इसलिये कि वह अन्त में अपने आप को समुद्र की गोद में सुला दे, लीन कर दे, मिटा दे। मनुष्य की आत्मा भी भाग्य के चढ़ाव-उतार, सुख-दुःख, हर्ष-विषाद और ऐसे ही जीवन के विविध खट्टे-मीठे अनन्त अनुभवों को पार करती हुई सत्, चित् और आनन्द के एक अनन्त महासागर में अपने आप को विलीन कर देने के लिये व्याकुल है, तत्पर है। नदी का लक्ष्य है—समुद्र, मनुष्य का लक्ष्य है—भगवान् । भगवान् के मार्ग में चलने के लिये जो कुछ भी अनुष्ठान किया जाता है, जो भी व्रत लिया जाता है, वह सभी साधना है और जो कुछ भी इस मार्ग में अवरोधक है, वह है अन्तराय, वह है साधना में बाधा।

इस संसार में जितने प्रकार के साधन हैं, उनमें चार प्रकार के साधन श्रेष्ठ हैं। वे हैं—

**प्रथम**—वेदविहित साधनचतुष्टय ।

**द्वितीय**—सांख्यप्रदर्शित साधनत्रय ।

**तृतीय**—योगशास्त्रोक्त साधन-रीति ।

**चतुर्थ**—तन्त्रशास्त्रोक्त साधनप्रणाली ।

परन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि कलिकाल में केवल तन्त्रशास्त्रोक्त साधन ही प्रशस्त और सिद्धिप्रद है। यही शास्त्र की उक्ति है। महानिर्वाणतन्त्र में कहा है—

**तपःस्वाध्यायहीनानां नृणामल्पायुषामपि ।**
**क्लेशप्रयासाशक्तानां कुतो देहपरिश्रमः ।।**
**गृहस्थस्य क्रियाः सर्वा आगमोक्ताः कलौ शिवे ।**
**नान्यमार्गैः क्रियासिद्धिः कदापि गृहमेधिनाम् ।।**

महानिर्वाणतन्त्र

अर्थात् कलिकाल में मनुष्य तप से हीन, वेदपाठ से रहित और अल्पायु होंगे। दुर्बलता के कारण वे उस प्रकार के क्लेश और परिश्रम को सहन करने में समर्थ न होंगे। अत एव उनसे दैहिक परिश्रम किस प्रकार सम्भव हो सकता है? कलिकाल में गृहस्थजन केवल आगमोक्त विधानों के अनुसार ही कर्मानुष्ठान करेंगे। दूसरे प्रकार की विधियों से अर्थात् वैदिक, पौराणिक और स्मार्तसम्मत विधियों का अवलम्बन करके क्रियानुष्ठान करने में (कदापि सिद्धिलाभ करने में) समर्थ न होंगे।

तान्त्रिक साधन दो प्रकार का है—बहिर्याग और अन्तर्याग। बहिर्याग में गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, तुलसी, बिल्वपत्र और नैवेद्यादि के द्वारा पूजा की जाती है। अन्तर्याग में इन सब बाह्य वस्तुओं की आवश्यकता नहीं होती। मानसोपचार के उपकरण स्वतन्त्र होते हैं, इसमें पञ्चभूतों के द्वारा उपचार कल्पना करनी पड़ती है। यथा—

**पृथिव्यात्मकगन्धः स्यादाकाशात्मकम् ।**
**धूपो वाय्वात्मकः प्रोक्तो दीपो वह्न्यात्मकपरः ।**
**रसात्मकञ्च नैवेद्यं पूजा पञ्चोपचारिका ।।**

पृथ्वीतत्त्व को गन्ध, आकाशतत्त्व को पुष्प, वायुतत्त्व को धूप, तेजस्तत्त्व को दीप, रसात्मक जलतत्त्व को नैवेद्य के रूप में कल्पना करके इस पञ्चोपचार द्वारा पूजा करनी पड़ती है। इसी का नाम अन्तर्याग है। षट्चक्रों का भेदन ही इस अन्तर्याग का प्रधान अङ्ग है।

**बौद्धसम्प्रदाय के साधन**

गौतम बुद्ध ने संसारमात्र को दु:खमय मानकर 'दु:खनिरोध को सबका अन्तिम ध्येय निश्चित किया था और इसके लिये सभी संस्कारों का शमन, चित्तमलों का त्याग एवं तृष्णा का क्षय परमावश्यक बतलाया था। इस निरोध या विरागमयी पूर्ण शान्ति की अवस्था को ही निर्वाण का नाम दिया था—जिसकी उपलब्धि चित्त को सर्वप्रथम वस्तुस्थिति का अनुभव प्राप्त करने योग्य और पूर्णरूपेण चिन्तनशील बनाने पर अवलम्बित रहती है। वस्तुस्थिति के ज्ञान का अभिप्राय पहले उनके द्वारा निर्दिष्ट मध्यम या अष्टाङ्गिक मार्ग के रहस्य को हृदयङ्गम करना था—जो क्रमश: एक अनिर्वचनीच 'धर्म' के रूप में समझा जाने लगा और आगे चलकर किसी न किसी प्रकार शून्य, धर्मतथता या भूततथता के भी नाम दिये। वस्तुतस्तु यही धर्म अथवा शून्य बौद्ध सिद्धों का 'वोहि = बोधि, जिण रअण = जिनरत्न, महासुह = महासुख, धाम अणुत्तर = अनुत्तर या जिनउर = जिनपुर है—जिसको साधना द्वारा प्राप्त कर लेना परमार्थ या परम पुरुषार्थ समझा जाता है। 'निर्वाण' शब्द वस्तुत: निषेधात्मक नहीं और न 'शून्य' शब्द ही निषेधवाची है। दोनों का तात्पर्य एक ही स्थिति या वस्तुस्थिति के पारमार्थिक रूप से है—जो न तो सत् है, न असत् ही है, परन्तु जो सभी के लिये परम लक्ष्य है।

गौतम बुद्ध ने संज्ञा या चेतना को ही चित्त, मन या विज्ञान माना है और इसी चित्त को हम अनेक अबौद्ध दर्शनों की शब्दावली के अनुसार 'आत्मा' की भी संज्ञा दे सकते हैं। यह चित्त स्वभावत: शुद्ध या मलरहित है, परन्तु इसी के अन्तर्गत मूलबीज भी वर्तमान है, जिससे 'भव' एवं 'निर्वाण' दोनों का विस्फुरण हुआ करता है और इसीलिये जिसके बुद्ध हो जाने से बन्धन और मुक्त होने से परम मोक्ष का लाभ भी हुआ करता है।

## साधन के भेद

साधन दो प्रकार के होते हैं—लौकिक एवं अलौकिक। लौकिक साधन का अर्थ होता है—अभ्यास, उद्योग, किसी चरम उद्देश्य की सिद्धि के लिये निरन्तर प्रयत्न। अलौकिक साधन कहते हैं उन आध्यात्मिक या मानसिक साधनाओं को जो योग अथवा तन्त्र की प्रक्रिया से अलौकिक सिद्धियों अथवा मुक्ति की प्राप्ति के लिये की जाती हैं।

लौकिक साधन तो प्रायः सभी करते हैं। जीवन स्वयं एक साधना है। बालक ज्ञानप्राप्ति के लिये अध्ययनरूपी साधना करता है। लेखक ग्रन्थकार बनने के लिये लेखनी की साधना करता है। चोर भी चोरी करते समय लोगों की दृष्टि बचाने की साधना करता है। इनके अतिरिक्त ऐसे लोग भी हैं जो अहिंसा, सत्य एवं निःस्वार्थ लोकसेवा आदि सद्गुणों एवं श्रेष्ठ आचरणों का अभ्यास करते है। अभ्यास की निरन्तरता से दक्षता या पटुता प्राप्त होती है। इस पटुता को ही सिद्धि कह सकते हैं।

योग अथवा तन्त्र की साधना इससे विलक्षण होती है। इसका सम्बन्ध मनोराज्य से होता है और यह मन की अव्यक्त शक्तियों का विकास करने के लिये की जाती है।

## बौद्धसाधना

बौद्धों की तान्त्रिक साधना में सर्वप्रथम आवश्यकता होती है एक सुसंस्कृत साधक की, जिसकी परीक्षा किसी अधिकारी गुरु के द्वारा की जा चुकी हो तथा जिसे तान्त्रिक साधना के योग्य प्रमाणित किया जा चुका हो।

जिस प्रकार तान्त्रिक साधना के अनेक भेद हैं, उसी प्रकार साधकों की भी साधन की कठिनता एवं सुगमता के अनुसार अनेक श्रेणियाँ होती हैं। तान्त्रिकों की चार श्रेणियाँ हैं—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तरयोगतन्त्र। इन चार प्रकार के तन्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले उपासक भी चार श्रेणियों में विभक्त हैं।

## जैनदर्शन के साधन

जैनदर्शन के तत्त्वों का सूक्ष्म विवेचन करने पर विदित होता है कि तत्त्वज्ञान व्यापक होने के साथ ही निसर्गसिद्ध तत्त्व है। निसर्ग जैसे अनादि,

अनन्त होता है वैसे ही जैनतत्त्वज्ञान भी अनादि अनन्त है। श्रीमहावीर आदि तीर्थङ्कर पुरुष उस तत्त्व के संस्थापक रहे, न कि निर्मापक। जैनतत्त्व कहता है—

**पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु ।**

अर्थात् महावीर स्वामी से मेरा पक्षपात नहीं और कपिलादि अन्य ऋषियों से द्वेष भी नहीं।

**जैनदर्शन का साध्य**

सभी दार्शनिकों ने अन्तिम साध्य तो मोक्ष ही बतलाया है, किन्तु उस मोक्ष के स्वरूप के विषय में पर्याप्त मतभेद है।

जैनतत्त्व ने जीव की मुख्यता से दो अवस्थाएँ मानी हैं—१. संसारी अवस्था और २. मुक्त अवस्था। यह जीव अनादि काल से कर्म के सम्बन्ध से इस संसार में भ्रमण करता है। जब वह ध्यानबल से आठों कर्मों का नाश कर देता है, तब उसे उसका अन्तिम साध्य प्राप्त होता है। इस अवस्था मे जीव के ज्ञानादि अनन्त गुणों की स्वाभाविक अवस्था प्राप्त होती है, उससे पुनः संसारी अवस्था में प्रत्यावर्तित नहीं होता है। ऐसी आत्यन्तिक अवस्था को 'मोक्ष' कहते हैं और यही जैनतत्त्व का सर्वोत्कृष्ट अन्तिम साध्य है।

मुक्त जीव का लक्षण इस प्रकार कहा है—

**अट्ठविहकम्मविमला सीदीभूदा णिरंजणा णिच्चा ।**
**अट्ठगुणा किदकिच्चा लोयग्गाणि वासिणो सिद्धा ।।**

गो. जी. ६८

इस श्लोक में पठित सात विशेषणों का विश्लेषण बड़ी मार्मिकता से किया गया है—

**१. अट्ठविहकम्मविमला**

सदाशिवमत वाले कहते हैं कि जीव सदा कर्म से रहित, शुद्ध ही होता है। जीव की अशुद्धावस्था ही नहीं है जीव सदैव मुक्त ही है। इस मत का निराकरण करने के लिये पहला विशेषण है—**'अष्टविधकर्मविकलाः'**। जीव आठों कर्मों से रहित होकर ही शुद्ध मुक्त होता है।

**२. सीदीभूदा**

सांख्यमत वाले मानते हैं कि बन्ध-मोक्ष, सुख-दुःख ये सब प्रकृति के हैं, आत्मा के नहीं। इसी मत का निराकरण करने के लिये कहा है—**'शीतीभूताः'** वह सुखस्वरूप है।

**३. णिरंजणा**

मस्करी करने वाले कहते हैं कि मुक्त जीव संसार में प्रत्यावर्तित होता है, लौटता है। इसका निराकरण करने के लिये कहा है—**'निरञ्जनाः'**। अर्थात् मुक्त जीव भावकर्मों से रहित होने से उसको वापस लौटने में कुछ निमित्त ही नहीं रहता।

**४. णिच्चा**

बौद्ध कहते हैं कि सब पदार्थ क्षणिक हैं। उक्त सिद्धान्त का निराकरण करने के लिये विशेषण दिया है—**'नित्याः'**।

**५. अट्ठगुणा**

नैयायिक तथा वैशेषिक मत वाले मानते हैं कि मुक्ति में बुद्ध्यादि गुणों का भी विनाश हो जाता है। दीपनिर्वाण की तरह सबका अभाव हो जाता है। इस मत का निराकरण करने के लिये विशेषण दिया है—**'अष्टगुणाः'**। आठ कर्मों के अभाव से ज्ञानादि आठ गुणों की आविर्भूति होती है।

**६. किदकिच्चा**

ईश्वरवादी परमात्मा को जगत् का कर्ता मानते हैं, उनके मत का निराकरण करने के लिये विशेषण दिया है—**'कृतकृत्याः'**।

**७. लोयग्गाणि**

मण्डली-मत वाले जीव को सदा के लिये ऊर्ध्वगमन वाला मानते हैं। इस मत के निराकरण के लिये विशेषण दिया है—**'लोकाग्रस्थिताः'**। लोकाकाश के अग्रभाग पर सिद्धशिला विद्यमान है। वहाँ पर मुक्त जीव सदैव विराजमान रहते हैं।

श्रीकृष्ण, राम, विष्णु आदि इतिहासप्रसिद्ध सत्पुरुषों को जैनमत में पुण्यपुरुष तो अवश्य माना जाता है, किन्तु उनकी सांसारिक अवस्था को ही

आदर्श न समझकर उनकी वीतराग अवस्था को साध्य माना है। आदर्शयुक्त यथार्थ पूज्य वही हो सकता है कि जो वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी है। विना रागादि के अभाव से ज्ञान में पूर्णता तथा सत्यता नहीं आती और जो स्वयं पूर्णता को नहीं पहुँच पाया, वह यथार्थ मार्ग का उपदेशक भी कैसे हो सकता है? इसलिये जैनमत ने अपना आराध्यदेव वीतराग, सर्वज्ञ तथा हितोपदेशी परमात्मा को ही कहा है।

**जैनमत में साधक की श्रेणियाँ**

जैनदर्शन में सर्वप्रथम पूर्णत्याग का ही उपदेश किया है और उसके पश्चात् पूर्णत्याग की शक्ति न हो तो आंशिक त्यागरूप गृहस्थ धर्म का उपदेश किया है। इसमें तीन प्रकार के साधक या उपासक माने गये हैं— पाक्षिक, नैष्ठिक तथा पूर्णसाधक।

**१. पाक्षिकसाधक**

त्याग या व्रत के ग्रहण करने का जिसका सङ्कल्प है और 'वह धन्य दिन कब आयेगा, जब मैं व्रती बनूँगा' ऐसी जिसको लगन लगी है, वह भव्य जीव 'पाक्षिक साधक' कहलाता है।

**२. नैष्ठिकसाधक**

जो व्रतों का दृढतापूर्वक पालन करता है, उसे 'नैष्ठिक साधक' कहते हैं।

**३. पूर्णसाधक**

जो आत्मध्यान में निमग्न रहता है, उसे 'पूर्णसाधक' कहते हैं। गृहस्थ को अपना जीवन इस प्रकार व्यतीत करना चाहिए कि जिससे धर्म-अर्थ-काम इस त्रिवर्ग में परस्पर विरोध न आवे। जिससे धर्म में दूषण लगे, ऐसा अन्याययुक्त अर्थोपार्जन और पशुतुल्य कामसेवन नहीं करना चाहिए। सदैव पूर्ण त्याग की ओर अपना दृष्टिकोण रखने वाला ही यथार्थ गृहस्थ कहलाता है।

**तप-श्रुत-व्रत में अन्तर**

**तवमुदवदवं चेदा झाणरहधुरंधरो हवे ।**

इस वचन के अनुसार तप-श्रुत-व्रत का पालन करने वाला आत्मा

ही ध्यानरूपी रथ पर आरूढ हो सकता है। ध्यान से ही जीव का अन्तिम साध्य मोक्ष प्राप्त होता है, इसलिये मोक्ष का साधन ध्यान और ध्यान के साधन तप-श्रुत-व्रत हैं। इनका स्वरूप अधोलिखित है।

**तप**—अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्त-शय्यासन तथा कायक्लेश ये छः बाह्य तप हैं। और प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान ये छः अन्तरङ्ग तप हैं। केवल शरीर को कृश करना ही तप का मुख्य हेतु नहीं है। राग, द्वेष और मोह को कम करना ही उसका मुख्य उद्देश्य है।

**श्रुत**—शास्त्रों के स्वाध्याय को श्रुत कहते हैं। ज्ञानी का ही तप सफल होता है। अज्ञानपूर्वक सम्पादित तप वञ्चनामात्र है।

**व्रत**—व्रत नाम है संयम का। इन्द्रियों के विषय में यथेच्छ प्रवृत्ति को अव्रत कहते हैं और इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करना ही व्रत या संयम है।

**मन्त्र-जप के प्रकार**

ध्यान करते समय ध्येय का जो नामोच्चार किया जाता है, उसको मन्त्रजप कहते हैं। आत्मा का ध्येय तो एक परमात्मा ही है। उस लक्ष्यबिन्दु को सामने रखकर नामजप करने में कोई आपत्ति नहीं है। परमात्मा में अनन्त गुण होने से उन गुणों के चिन्तनरूप मन्त्रजप के भी अनेक प्रकार हो सकते हैं। जगत् में मङ्गलरूप, लोकोत्तम और शरण्यभूत पञ्चपरमेष्ठी ही होने से पञ्चणमोकार मन्त्र ही मन्त्रजप का मुख्य प्रकार है। पैंतीस अक्षर का पञ्चणमोकार महामन्त्र इस प्रकार है—

**णमो अरिहंताणि णमो सिद्धाणं, णमो आइरियाणं, णमो उवज्झायाणं, णमो लोए सव्वसाहूणं ।**

इस मन्त्रजप से जीव के सब दुःख दूर होते हैं और आत्मा परमात्मा हो जाता है। इसी मन्त्र को संक्षिप्त करने से छः अक्षरों का अरिहन्तसिद्ध; पांच अक्षरों का अ-सि-आ-उ-स; चार अक्षरों का अरिहन्त, दो अक्षरों का सिद्ध और एकाक्षरी मन्त्र ॐ इत्यादि अनेक प्रकार बन सकते हैं।

**ध्यान का स्वरूप**

ध्यान का यथार्थ ध्येय तो परमात्मा ही है, किन्तु जब तक आत्मदर्शन नहीं होता, तब तक मन्त्र को एकाग्र करने के लिये पञ्च परमेष्ठियों को आदर्शस्वरूप समझना चाहिए। पञ्च परमेष्ठी ये हैं—

**१. अर्हत परमेष्ठी**—जिसने चार घातीय कर्मों का नाश कर दिया है और इससे जिसको अनन्त ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य ये अनन्तचतुष्टय प्राप्त हुए हैं, परम औदारिक शरीर में रहने वाला वह शुद्ध परमात्मा 'अर्हत' कहलाता है।

**२. सिद्ध परमेष्ठी**—जिसने अष्ट कर्मों का और शरीरादि नव कर्मों का पूर्णतया नाश कर दिया है, जो लोकाकाश के अग्रभाग में सिद्ध शिला पर विराजमान है, जिसने अपना अन्तिम साध्य प्राप्त कर लिया है, ऐसा परमात्मा 'सिद्ध परमेष्ठी' कहलाता है।

**३. आचार्य**—ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य इन पांच आचारों में जो अपने को और इतर मुनियों को लीन करते हैं, जो मुनिकुलों के गुरु हैं और प्रायश्चित्तादि दण्ड देने का जिनको अधिकार है, उनको 'आचार्य' कहते हैं।

**४. उपाध्याय**—जो रत्नत्रय में लीन होकर सदैव धर्मोपदेश देने में तत्पर रहते हैं, ऐसे विशेष प्रतिभासम्पन्न मुनि को 'उपाध्याय' कहते हैं।

**५. साधु परमेष्ठी**—जो अपना आत्महित साधता है, उसको साधु कहते हैं। आरम्भ परिग्रह से रहित होकर, सदैव आत्मध्यान और शास्त्र स्वाध्याय में लीन होकर मोक्षमार्ग का जो ध्यान करता है वह 'साधु परमेष्ठी' है।

**परम ध्यान**

उपर्युक्त प्रकार के पञ्चपरमेष्ठी का ध्यान करते हुए जो आत्मध्यान में लीन हो जाता है, जहाँ 'मैं ध्याता हूँ' और 'मेरा यह ध्येय है' ऐसा भेद न रह कर निर्विकल्प समाधि प्राप्त होती है, जब मन-वचन-काय की समस्त चेष्टाएँ शान्त होकर आत्मा आत्मरूप में लीन हो जाता है, तब उसको शुद्ध आत्मध्यान या परम ध्यान कहते हैं।

**शुक्लध्यान**

शुक्लध्यान के चार भेद हैं—

१. **पृथक्त्ववितर्कविचार**—विशेष तर्कणा को वितर्क और अर्थ (ध्येय पदार्थ), व्यञ्जन (ध्यान के मन्त्रजप के शब्द) तथा योग (मन-वचन-काययोग) इनकी संक्रान्ति को विचार कहते हैं। जिसमें गुण, पर्याय, द्रव्य ऐसे भिन्न-भिन्न अर्थों का ध्यान होता है, उसको पृथक्त्व-वितर्क कहते हैं। यहाँ तीनों योग रहते हैं। यह ध्यान आठ, नौ, दश, ग्यारह इन चार गुणस्थानों में होता है।

२. **एकत्ववितर्क**—द्रव्य, गुण और पर्याय इनमें से किसी एक का जहाँ पर ध्यान होता है और जहाँ तीनों योगों में से किसी एक योग द्वारा आत्मप्रदेश परिस्पन्दन होता है, उसको एकत्ववितर्क कहते हैं। यहाँ विचार (अर्थ-व्यञ्जनयोग की संक्रान्ति) नहीं रहता है। यह ध्यान बारहवें गुणस्थान में होता है।

३. **सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपत्ति**—जिसमें पाद का विहार (पैरों से गमन) न होकर पद्मासन या खड्गासन से विहार होता है, उस शरीरक्रिया को सूक्ष्मक्रिया कहते हैं। उसका प्रतिपात (विनाश) नहीं होता। ऐसा केवल सूक्ष्मकाययोग ही जहाँ रहता है, जहाँ वितर्क-विचारादि सब विकल्पों का अभाव होकर शुद्ध परम ध्यान की प्राप्ति होती है, वह सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपत्ति नामक तृतीय शुक्लध्यान है। यह तेरहवें गुणस्थान में होता है।

४. **व्युपरतक्रियानिवर्ति**—योग का पूर्ण अभाव होने से जो आत्मस्थिरता तथा विशुद्धि होती है, जिसमें विहाररूप सूक्ष्म क्रिया भी समाप्त हो जाती है, उसको व्युपरतक्रियानिवर्तिनामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान कहते हैं। यह ध्यान अयोगी परमात्मा चौदहवें गुणस्थान वाले का होता है।

**कल्याणिकविमर्श**

देवादि द्वारा जो उत्सव मनाया जाता है, उसको 'कल्याणिक' कहते हैं। तीर्थङ्कर भगवान् के गर्भ में आने से लेकर मोक्षपद में जाने तक अर्थात् उनके गर्भ, जन्म, तप, केवल, मोक्ष इन पाँच प्रसङ्गों को लेकर उत्सव मनाया जाता है। इस प्रकार कल्याणिक के पाँच भेद माने गये हैं—

**१. गर्भकल्याणिक**—मान्यता है कि भगवान् के गर्भ में आने से छः माह पूर्व इन्द्र कुबेर को नीचे भेजते हैं। वह छः माह तक प्रतिदिन रत्नवृष्टि करता है तथा तीर्थङ्कर के माता-पिता की यथायोग्य सेवा करता है। माता को सोलह स्वप्न दिखाई पड़ते हैं जिसमें वह क्रमशः हाथी, बैल, सिंह, स्नान करने वाली लक्ष्मी, पुष्पमाला, पूर्णिमा का चन्द्र, सूर्य सुवर्णकलशद्वय, मत्स्यद्वय, सरोवर के कमल, समुद्र, सिंहासन, देव, विमान, नागेन्द्रभवन, रत्नराशि और अग्निशिखा को देखती है। इसका फल तीर्थङ्कर के पिता यह बतलाते हैं कि तुम्हारे गर्भ में त्रैलोक्यभूषण ऐसा भव्य पुरुष आने वाला है, जिसका यश सुनकर सबको आनन्द होगा।

**२. जन्मकल्याणिक**—तीर्थङ्कर का जन्म होते ही त्रिभुवन में समस्त जीवों को सुख की अनुभूति होती है। इन्द्रादि देव तीर्थङ्कर भगवान् को मेरु पर्वत पर ले जाकर वहाँ उनका जन्माभिषेक महोत्सव करते हैं और कुबेरादि देव बालकुमार होकर तीर्थङ्कर की सेवा में तत्पर रहते हैं। तीर्थङ्कर को जन्म से ही मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान ये तीनों ज्ञान रहते हैं।

**३. तपकल्याणिक**—तरुण अवस्था में श्रावक व्रत का ग्रहण कर यथायोग्य राज्यादि का भोग सेवनकर संसार से उदासीन होकर जिनदीक्षा ग्रहण करते हैं। आरम्भ और परिग्रह का त्यागकर मुनि के अट्ठासी मूलगुण धारण करते हैं। पञ्चमुष्टिकेशलोच करते हैं और उग्र ध्यानरूप तप करते हैं।

**४. केवलकल्याणिक**—तप करते-करते जब चार घातीय कर्मों का नाश हो जाता है, तब भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। इन्द्र समवशरण की रचना करता है, जिसमें बारह प्रकार की सभा बैठती है। उन सबको भगवान् दिव्य ध्वनि द्वारा उपदेश करते हैं। भगवान् का विहार भव्य जीवों की पुण्य वर्गणावश होता है।

**५. मोक्षकल्याणिक**—जब आठों कर्मों का नाश होकर उनका शरीर कपूर की तरह विलय को प्राप्त हो जाता है, नख और केशमात्र शेष रहते हैं, तब देव उनसे मायामय शरीर निर्माण कर उस भूमि को पवित्र समझते हैं।

महापुरुषों के सम्बन्ध से भूमि और काल पवित्र माने जाते हैं। जिस क्षेत्र पर उनके गर्भ, जन्म, मोक्ष आदि होते हैं, वह भूमि पवित्र मानी जाती

है और जिस-जिस तिथि को ये सब होते हैं, वे तिथियाँ भी पवित्र मानी जाती हैं। इन महापुरुषों का स्मरण संसार को होता रहे, इसी हेतु से ये उत्सव मनाये जाते हैं।

इस प्रकार बौद्धदर्शन के परिप्रेक्ष्य में जैनदर्शन की साधनापद्धति को विमर्शित किया गया। वस्तुतस्तु इनका विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने के लिये बौद्ध-जैन-ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन करना अपेक्षित है।

●

# विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की सत्ता

## (पातञ्जलयोग के परिप्रेक्ष्य में एक दार्शनिक विश्लेषण)

योगशास्त्र का विषय इतना आवश्यक एवं उपादेय है कि अनादि काल से ऋषि-मुनिजन इस ओर ध्यान देते और योग का अनुष्ठान करते चले आ रहे हैं। श्रुति-स्मृति-पुराण-इतिहास और सामान्य संस्कृतसाहित्य में ही नहीं, अपितु न्याय-वैशेषिक, सांख्य और वेदान्तदर्शन तक में योग का महत्त्व स्वीकार किया गया है। अधिकांश उपनिषदों में भी योग के सम्बन्ध में उत्तमोत्तम विचार प्रकट किये गये हैं। यही कारण है कि भगवद्गीता इस विषय में सबसे आगे बढ़ गयी है। उसका कोई अध्याय ऐसा नहीं है, जिसमें योग के किसी न किसी सिद्धान्त का वर्णन न किया गया हो। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्ण का गीताग्रन्थ योगशास्त्र का ग्रन्थ कहा जाता है और श्रीकृष्ण महायोगेश्वर।

योगदर्शन महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्रों का दूसरा नाम है। इस दर्शन के सिद्धान्त इतने शुद्ध और निर्मल हैं कि प्रत्येक आस्तिक दर्शन में किसी न किसी प्रकार इन पर विचार किया गया है। कारण यह है कि योगशास्त्र में महर्षि पतञ्जलि ने आत्मसाक्षात्कार और उसके उपायों का ऐसा सुन्दर प्रतिपादन किया है कि दर्शनशास्त्र के अधिकांश रहस्य करामलकवत् सर्वथा उद्घाटित हो गये हैं। यह योगशास्त्र ही है जिसके यम-नियमादि अष्टाङ्गयोग नास्तिकों को भी ऐसे ही मूल्यवान् प्रतीत होते हैं, जैसे आस्तिकों को। योगशास्त्र के सर्वप्रिय होने में यह एक विचित्र प्रकार की विशेषता है।

वेदान्तसूत्र के रचयिता महर्षि बादरायण व्यास तो योगदर्शन के इतने प्रशंसक रहे कि उन्होंने पतञ्जलि के सूत्रों पर योगभाष्य लिखा है और योग के सम्बन्ध में बहुत से मूल्यवान् विचार प्रकट किये हैं। यहाँ व्यासप्रदर्शित व्याख्यान की सहायता से योगशास्त्र के दार्शनिक सिद्धान्तों का संस्पर्श करते हुए विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की निरपेक्ष सत्ता सिद्ध की जा रही है।

यद्यपि चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय, समाधि के प्रकार तथा नाना प्रकार की योगविभूतियों का वैज्ञानिक व्याख्यान योगशास्त्र में विस्तारपूर्वक किया गया है तथापि 'मोक्ष' की उपेक्षा न करते हुए मनोविज्ञान के कई गूढ रहस्यों पर भी पर्याप्त प्रकाश डाला गया है।

**चित्त और जगत् का सम्बन्ध**

चिरकाल से दार्शनिक विद्वानों के समक्ष यह जटिल समस्या उपस्थित हो रही है कि जगत् और जगत् के पदार्थ विज्ञानसहभू (चित्त के अन्दर से निकलते) हैं अथवा चित्त से भिन्न इनकी स्वतन्त्र बाह्य सत्ता है। बौद्ध दार्शनिकों ने अत्यधिक ऊहापोह करने के अनन्तर दृष्टिसृष्टिवाद का सिद्धान्त स्थिर किया है और यह घोषणा की है कि जगत् और जगत् के पदार्थ चित्तान्तर्वर्ती हैं, इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। अनेक पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों का भी ऐसा ही मत है। न केवल यही अपितु दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्तियों ने भी इसे स्वीकार किया है और योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थों में तो बलपूर्वक सिद्ध करके यह प्रतिपादित किया है कि जगत् मन से ही निःसृत है और मन में ही लीन होता है। दृष्टिसृष्टिवादी वेदान्तियों का कथन है कि जगत् के पदार्थ ज्ञान के समय ही प्रतीत होते है न कि ज्ञान से पूर्व और पश्चात् भी। एतावता जगत् ज्ञान-समकालिक होने के कारण ज्ञान से भिन्न नहीं है। विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति का वचन है—

**सहोपलम्भनियमादभेदो नीलतद्धियोः ।**
**भेदश्च भ्रान्तिविज्ञानैर्दृश्येतेन्दाविवाद्वये ।।**

सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन पृ. ७१

अभिप्राय यह है कि नील और नीलज्ञान सहोपलम्भनियम के कारण परस्पर भिन्न नहीं हैं। यदि नीलवस्तु, नीलज्ञान से अतिरिक्त प्रतीत होती है तो यह भ्रान्तिमात्र है। जैसे एक ही चन्द्र भ्रान्ति से चन्द्रद्वय प्रतीत होता है। अर्थात् जैसे एक चन्द्रमा दूसरे चन्द्रमा से पृथक् नहीं, किन्तु वही है। इसी प्रकार नील वस्तु उसी समय प्रतीत होती है, जब नीलविषयक ज्ञान होता है। ज्ञानकाल के अतिरिक्त उसका सद्भाव प्रतीत नहीं होता है। एतावता जगत् के पदार्थ ज्ञानकाल में ही प्रकाशित होने से ज्ञान से भिन्न नहीं हैं। किसी भी वस्तु

की उपलब्धि ज्ञान के समय ही होती है, विना ज्ञान के नहीं—यही ज्ञान और वस्तु का सहोपलम्भनियम है।

**सहोपलम्भनियम की उक्त युक्ति का खण्डन**

परन्तु बौद्धों के सहोपलम्भनियम की यह युक्ति असङ्गत है, क्योंकि नियत सहोपलम्भ वाले सभी पदार्थ परस्पर अभिन्न अर्थात् एकरूप नहीं होते हैं। जैसे प्रभा और नील-पीतादि पदार्थ। प्रकाश के होने पर ही नील-पीतादि पदार्थों की प्रतीति होती है, न कि अन्धकार में भी। परन्तु इस सहोपलब्धिमात्र से यदि कहा जाय कि प्रभा और नील, पीतादि पदार्थ एक ही हैं, भिन्न-भिन्न नहीं तो यह सर्वथा अनुभवविरुद्ध होगा। क्योंकि नील, पीतादि पदार्थों के उठाने, रखने एवं विखण्डित होने से प्रभा प्रभावित नहीं होती है। यदि नील घट और दीपक का प्रकाश परस्पर अभिन्न होते तो घट के जलापूरित होते ही प्रभा निस्तेज हो जाती। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है।

**सहोपलम्भनियम की सिद्धि में द्वितीय युक्ति**

सहोपलम्भनियम के समर्थन में धर्मकीर्ति दूसरी युक्ति देते हैं। उनका वचन है—

**नान्योऽनुभाव्यो बुद्ध्यास्ति तस्या नानुभवोऽपरः ।**
**ग्राह्यग्राहकवैधुर्यात्स्वयं सैव प्रकाशते ।।**

सर्वदर्शनसंग्रह, बौद्धदर्शन पृ. ७०

अभिप्राय यह है कि बुद्धि अथवा ज्ञान से कोई अनुभाव्य पदार्थ भिन्न नहीं है, ग्राहक से भिन्न कोई ग्राह्य नहीं है—केवल बुद्धि (ज्ञान) स्वयं प्रकाश कर रही है। जिस ज्ञान से जो पदार्थ जाना जाता है अर्थात् ग्रहण किया जाता है, वह ग्राहक ज्ञान से पृथक् नहीं होता है। जैसे आत्मा ज्ञान से जाना जाता है। अत: आत्मा ज्ञान से भिन्न नहीं है, अपितु ज्ञानस्वरूप ही है। इसी प्रकार ज्ञान सब पदार्थों का ग्राहक है और सब पदार्थ ज्ञान से ही ग्रहण किये जाने से ग्राह्य हैं। अत: यह ग्राह्य-जगत् ग्राहक-ज्ञान से पृथक् नहीं है। स्वाप्निक पदार्थों का विज्ञानवेद्य मनोगाह्य होना सभी को अनुभव होता है किन्तु जागरित अवस्था में उनका अस्तित्व नहीं रहता है। इसलिये उनको मिथ्या कहते हैं। बौद्ध दार्शनिक इसी विज्ञानवेद्यत्वहेतु से जाग्रत् के बाह्य जगत् को स्वप्न के आन्तर जगत् की भाँति मिथ्या मानते हैं।

ज्ञातव्य है कि बौद्धों का यह सिद्धान्त भी वेदान्त के एकदेशी कई व्याख्याकारों ने स्वीकार कर लिया है। तदर्थ अधोलिखित सूत्र का शाङ्करभाष्य द्रष्टव्य है—

**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् ।**

ब्रह्मसूत्र २/२/२९

**यदुक्तम्–बाह्यार्थापलापिना स्वप्नादिप्रत्ययवज्जागरितगोचरा अपि स्तम्भादिप्रत्यया विनैव बाह्येनार्थेन भवेयुः प्रत्ययत्वाविशेषादिति । तत्प्रतिवक्तव्यम् । अत्रोच्यते–न स्वप्नादिप्रत्ययवज्जाग्रत्प्रत्यया भवितुमर्हन्ति । कस्मात् ? वैधर्म्यात् । वैधर्म्यं हि भवति स्वप्नजागरितयोः, किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यते हि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य मिथ्या मयोपलब्धो महाजनसमागम इति । न ह्यस्ति मम महाजनसमागमो निद्राग्लानं तु मे मनो बभूव तेनैषा भ्रान्तिरुद्बभूवेति । एवं मायादिष्वपि भवति यथायथं बाधः । नैवं जागरितोपलब्धं वस्तु स्तम्भादिकं कस्यांचिदप्यवस्थायां बाध्यते । अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम् । उपलब्धिस्तु जागरितदर्शनम् । ........ दर्शितं तु वैधर्म्यं स्वप्नजागरितयोः ।**

ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्य २/२/२९

अर्थात् बाह्य पदार्थों का अभाव मानने वालों ने जो यह कहा है कि—जागरित के स्तम्भादि पदार्थों का ज्ञान भी स्वप्न के पदार्थों के ज्ञान की भाँति विना बाह्य पदार्थों के ही है, ज्ञान होने के कारण। इसका खण्डन किया जाय। इसका उत्तर दिया जा रहा है—

जागरित के ज्ञान; स्वप्नादि के ज्ञान के समान नहीं हो सकते हैं। क्यों? वैधर्म्य होने से। अभिप्राय यह है कि स्वप्न और जागरित पदार्थों का परस्पर अत्यन्त भेद है। दोनों में बाध और अबाध का वैधर्म्य है। स्वप्न में प्रतीत होने वाली वस्तु का जागरित में बाध हो जाता है। जागरित होने पर व्यक्ति का अनुभव इस प्रकार होता है कि स्वप्न में मैंने जो महाजन का समागम देखा है वह मिथ्या ही रहा क्योंकि यदि यथार्थ में ही इष्ट, मित्रादि का समागम होता तो जागने पर भी वे विद्यमान रहते। किन्तु वस्तुस्थिति यह है कि निद्रादोष के कारण अनियन्त्रित मन भ्रान्तियुक्त हुआ। इसी प्रकार जैसे स्वप्न के पदार्थों का बाध दिखलाई पड़ता है, वैसे मायादि के पदार्थों का भी

बाध होता है। परन्तु जाग्रत् में उपलब्ध होने वाले स्तम्भादि पदार्थ तो किसी भी अवस्था में बाध का विषय नहीं बनते हैं। किञ्च, स्वप्न और जाग्रत् काल के विषयभूत पदार्थों में एक अन्य वैधर्म्य यह है कि स्वप्न का देखना तो स्मृतिमात्र है और जाग्रत् में पदार्थों का दर्शन उपलब्धि है। स्वत: अनुभववेद्य है कि स्मृति और उपलब्धि में पर्याप्त अन्तर है, वह यह है कि स्मृति में पदार्थ नहीं होता और उपलब्धि में पदार्थ उपस्थित रहता है। ऐसी अवस्था में यह नहीं कहा जा सकता कि जागरित के बाह्य पदार्थ स्वप्न के समान मिथ्या हैं। एतावता विचारशील व्यक्ति को अपने अनुभव का विरोध नहीं करना चाहिए।

आचार्य शङ्कर ने इसी भाष्य के अन्त में कहा है कि स्वप्न के सादृश्य से जागरित के पदार्थों को मिथ्या कहना ऐसा ही हास्यास्पद है जैसा कि अग्नि का जल के साधर्म्य से शीत होना।

साधर्म्यमात्र से दो पदार्थों को एक समझना और उनके परस्पर वैधर्म्य पर दृष्टि न डालना अतार्किक है। इसीलिये वैशेषिक दर्शन में तत्त्वज्ञान के लिये साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों का ज्ञान होना आवश्यक माना गया है। आचार्य शङ्कर के अनुसार जागरित एवं स्वाप्निक पदार्थों तथा ज्ञानों में पदार्थत्व और ज्ञानत्व साधर्म्य होने पर भी उनके परस्पर विरुद्ध धर्मों की उपेक्षा नहीं की गई। इसीलिये भगवत्पाद ने युक्तियुक्त कहा कि स्वप्न के पदार्थ बाधित हैं, जागरित पदार्थों का किसी भी अवस्था में बाध नहीं होता है। स्वप्न के पदार्थ स्मृतिरूप हैं, जागरित पदार्थ उपलब्धिरूप हैं। जागरित पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता है, स्वप्न के पदार्थ ज्ञान के अधीन कल्पित हैं।

**बौद्धों के मनःकल्पित संसार का खण्डन**

जिस प्रकार आचार्य शङ्कर ने धर्मकीर्ति के 'विज्ञानसहभू' सिद्धान्त का खण्डन किया है उसी प्रकार बौद्धों के मन:कल्पित संसार की मान्यता का खण्डन महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र द्वारा किया है। पतञ्जलि का सूत्र है।

**वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः ।**

योगसूत्र ४/१५

अभिप्राय यह है कि यदि जगत् मन:कल्पित है तो एक ही वस्तु में

अनेक प्रकार का ज्ञान कैसे हो सकता है? एक ही वस्तु में कामी पुरुष को प्रेम होता है, शत्रु को द्वेष होता है, विमूढ को विषाद होता है और ज्ञानी को वैराग्य होता है। एक ही कर्म को धर्मात्मा सुखकारक समझता है, पापी दुःखदायक मानता है, विमूढ उपेक्षायोग्य कहता है इत्यादि। वस्तुतस्तु ज्ञान और वस्तु का मार्ग पृथक-पृथक् है। दोनों में महान् अन्तर है। अतः ज्ञान और बाह्य पदार्थ एक नहीं हैं। यदि जगत् के पदार्थ ज्ञान अथवा मन से कल्पित होते तो एक वस्तु में अनेक प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता है।

किञ्च; इस पर पुनः प्रश्न होगा कि बाह्य पदार्थ एक मन के कल्पित हैं अथवा अनेक मनों के कल्पित हैं। एक मन अर्थात् ज्ञान से तो अनेक पदार्थों से आकीर्ण संसार उत्पन्न हो ही नहीं सकता, क्योंकि परिच्छिन्न मन महान् जगत् का कैसे रचयिता हो सकता है? और न कोई मन ही ऐसा है, जिसके अन्दर से लक्ष मनपरिमाण के पर्वतादि उत्पन्न हो सकें। यदि हम रेलगाड़ी को भागते हुए देखें तो बौद्धदृष्टि से इसका यह तात्पर्य होगा कि रेलगाड़ी हमारे मन से निकली, रेल के सैकड़ों यात्री, उनका बिस्तर आदि सामान क्षणभर में हमारे अन्दर से पटरी पर दिखलाई पडे और शृंखलाबद्ध होकर सामने आ गए। कुछ क्षण के पश्चात् रेलगाड़ी के अदृश्य होते ही वे सभी वस्तुएँ हमारे मन में समाहित (प्रविष्ट) हो गईं। यह बात किसी भी आभियान्त्रिक एवं चिन्तक के अनुभव के विरुद्ध है।

किञ्च; तृतीय दोष यह है कि एक चित्त द्वारा कल्पित की गई वस्तु को दूसरा चित्त कभी नहीं देख सकता। जैसे देवदत्त के मन ने जो स्वप्नदृश्य कल्पित किया उस स्वाप्निक दृश्य को यज्ञदत्त नहीं देख सकता है। किन्तु वस्तुस्थिति इससे भिन्न है, क्योंकि इस जगत् को संसार के सभी व्यक्ति देख सकते हैं। इस युक्ति के आधार पर भी वस्तु और ज्ञान पृथक्-पृथक हैं। मनःकल्पित जगत् की कल्पना अनुभवविरुद्ध है।

किञ्च; पूर्वपक्षी मनःकल्पित जगत् के वाद को स्थापित करने के लिये ऐसा संशोधन करे कि अनेक ज्ञानों (चित्तों) से बाह्य जगत् प्रादुर्भूत होता है तो यह कथन भी असङ्गत है। क्योंकि अनेक चित्तों से एक वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस स्थिति में एक वृक्ष को जब पचास लोगों द्वारा

देखा जायेगा तो मानना पड़ेगा कि वृक्ष का एक भाग किसी एक चित्त से कल्पित, तो दूसरा भाग किसी दूसरे चित्त से कल्पित कहना पड़ेगा किन्तु ऐसा मानना प्रमाणविरुद्ध है।

**ज्ञानसमकालिक बाह्य पदार्थ का खण्डन**

दृष्टिसृष्टिवादी का मत है कि ज्ञानसमकालिक ही बाह्य पदार्थ है। अर्थात् ज्ञान के पूर्वोत्तरक्षणों में पदार्थ का सद्भाव नहीं रहता है। इसका खण्डन करते हुए महर्षि पतञ्जलि कहते हैं—

**न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात् ।**

योगसूत्र ४/१६

अभिप्राय यह है कि वस्तु किसी एक चित्त के अधीन नहीं है, क्योंकि जिस समय वस्तु उस चित्त (ज्ञान) के अधीन न होगी, तब क्या वह नष्ट हो जायेगी?

अर्थात् जिस काल में चित्त का वस्तु के साथ सम्बन्ध नहीं है अथवा सम्बन्ध निवृत्त हो चुका है या उस वस्तु से भिन्न किसी अन्य वस्तु को वह विषय कर रहा है या एकाग्रता को प्राप्त है—उस काल में जगत् का या जगत् के पदार्थों का क्या नाश हो जायेगा? एतावता गङ्गाविषयक ज्ञान के अभाव से गङ्गा का अभाव, पर्वतविषयक ज्ञान के अभाव से पर्वत का अभाव तथा रात्रिकाल में सूर्यविषयक ज्ञान के अभाव से सूर्य का अभाव मानना सर्वथा प्रमाणशून्य है। जब घट को देखा तो घट उत्पन्न हो गया और जब घट से दृष्टि हटाई तो घट नष्ट हो गया, नगर पर दृष्टि पड़ी तो नगर उत्पन्न हो गया और दृष्टि हटी तो नगर नष्ट हो गया। इस सिद्धान्त की युक्तियुक्तता में कोई प्रमाण नहीं है। इसलिये महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन में कहा है—

**प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ।**

न्यायसूत्र ४/२/३०

न्यायसूत्रकार गौतम का विज्ञानवादी बौद्ध दार्शनिकों से प्रश्न है कि यदि आप विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते तो यह बतलाईये कि इस सिद्धान्त की सिद्धि किस प्रमाण से होती है?

यदि कहा जाय कि विज्ञान से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है, इसलिये

हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है, तो आपका सिद्धान्त प्रमाणशून्य होने से अनुपादेय है। अथवा यह कहा जाय कि प्रमाण है तो विज्ञान से अतिरिक्त पदार्थ सिद्ध होने से आपकी प्रतिज्ञाहानि हो गई। दूसरी युक्ति यह है कि प्रमाण को मानने से प्रमेय की सत्ता को स्वीकार करना अनिवार्य हो जायेगा। इसलिये प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानने योग्य घट, पट आदि बाह्य पदार्थों की विज्ञान से अतिरिक्त सत्ता है।

**विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की सत्ता**

विज्ञान से भिन्न बाह्य पदार्थ की सत्ता स्वीकार करते हुए योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने विषय को स्पष्टता प्रदान करते हुए लिखा है—

**ये चास्यानुपस्थिता भागास्ते चास्य न स्युरेवं नास्ति पृष्ठमित्युदरमपि न गृह्येत, तस्मात् स्वतन्त्रोऽर्थः सर्वपुरुषसाधारणः ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र ४/१६

अभिप्राय यह है कि जब हम किसी वस्तु को देखते हैं तो उसके सम्पूर्ण भागों को एक काल में कदापि नहीं देख सकते। घट के उपरिभाग, निम्नभाग, मध्यभाग, पृष्ठभाग आदि को युगपत् (एकदम) नहीं देखा जा सकता तो जिस समय घट का जो भाग दिखलाई पड़ता है, तो क्या उस भाग से अतिरिक्त घट के अन्य भाग नहीं हैं? यदि पृष्ठभाग को देखें तो दृष्टिसृष्टिवादी के मत में उस घट का उदर, निम्न और अन्य भाग नहीं मानने होंगे। परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिये विज्ञान से अतिरिक्त काल में घट, पटादि पदार्थों की स्वतन्त्र सत्ता है और ऐसा सर्वसाधारण अनुभव करते हैं। और जो मत सर्वजनग्राह्य हो उसका अपलाप (निरादर) नहीं किया जा सकता है।

द्वितीय युक्ति यह है कि यदि विज्ञान से बाह्य पदार्थों को भिन्न न माना जाय तो घट को देखने पर पटज्ञान और पट को देखने पर नदीज्ञान क्यों नहीं होता? घटज्ञान, पटज्ञान, नदीज्ञान, मनुष्यज्ञान, पशुज्ञान आदि अनेक ज्ञानों का कारण बतलाना होगा। विना कारण के ज्ञान नहीं होता है, इसलिये विज्ञान से अतिरिक्त घट, पटादि पदार्थ हैं। जिनके साथ सम्बन्ध होने से घटादिविषयक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। घट, पटादि की पृथक् सत्ता है। जब घट के साथ मन का योग हुआ तो घटज्ञान की उत्पत्ति हुई, न कि घट की। जब पट के साथ योग हुआ तो पटज्ञान की उत्पत्ति हुई, न कि पट की।

तृतीय युक्ति यह है कि यदि ज्ञानमात्र से भूतभौतिक पदार्थ की सृष्टि मानी जाय तो ज्ञान के कल्पित मोदकों से रस-वीर्य-विपाकादि भी होने चाहिये तब वास्तविक मोदकों की क्या आवश्यकता रहेगी? ऐसे मनोराज्य के कल्पित व्यक्ति को वास्तविक भोजनादि बाह्य पदार्थों के विना ही तृप्ति आदि होनी चाहिए, परन्तु ऐसी सन्तुष्टि होती नहीं है। इसलिये न तो बाह्य पदार्थों का अभाव ही है और न मन से बाह्य जगत् की उत्पत्ति हुई है।

यह सिद्धान्तित हुआ कि बाह्य जगत् और उसके घट, पटादि पदार्थ स्वप्रतिष्ठ स्वतन्त्र हैं। वे विज्ञानाधीन नहीं हैं।

●

# समाधियोग का व्यावहारिक पक्ष एवं भगवान् बुद्ध

भगवान् बुद्धदेव संसार के सर्वश्रेष्ठ पुरुषों में से एक रहे। उनके द्वारा स्थापित बौद्धधर्म में मनुष्य का ध्यान शीलनिर्माण करने की ओर विशेष रूप से आकर्षित किया गया है। परन्तु शीलनिर्माण करना, निर्वाण प्राप्त करना यह कोई साधारण कार्य नहीं है। इसके लिये साधना की आवश्यकता है। इसलिये बौद्धधर्म में योग की महत्ता प्रतिपादित है। भगवान् बुद्धदेव तो स्वयं महान् योगी थे ही, परन्तु उन्होंने अपने अनुयायियों को भी योगाभ्यास के लिये कई साधन बतलाये हैं, इससे उनकी योगसाधना के प्रति कितनी अभिरुचि रही, इसका परिचय मिलता है।

अनुत्तरनिकाय के सत्तकनिपात के ६३वें सुत्त में भगवान् बुद्धदेव ने भिक्षुओं को सम्बोधन करके कहा—

'भिक्षुओ! राज्यसीमा पर जिस प्रकार सुदृढ स्तम्भ रहता है, उसी प्रकार आर्यश्रावक श्रद्धा से समन्वित रहता है। उस नगर के चारों ओर जिस प्रकार खाई रहती है उसी प्रकार आर्यश्रावक श्रीमान् रहता है। उस नगर के चारों ओर किले पर से भ्रमण करने के लिये मार्ग रहता है, वैसे आर्यश्रावक लोकापवादभय से अपने को बचाता है। वहाँ जैसे अनेक आयुधों का संग्रह रहता है, वैसे आर्यश्रावक बहुश्रुत होता है। नगर में जैसे सैन्यबल सन्नद्ध रहता है, वैसे आर्यश्रावक पूर्ण उत्साही रहता है। वहाँ जैसे द्वारपाल रहता है, वैसे आर्यश्रावक स्मृतिमान् रहता है। जिस प्रकार उस नगर का प्राकार रहता है, वैसे आर्यश्रावक प्रज्ञावान् रहता है। वहाँ जिस प्रकार अन्नादि की विपुलता रहती है, वैसे आर्यश्रावक प्रथम ध्यान से युक्त होता है। वहाँ जैसे खाद्यान्न का भण्डार होता है, उसी प्रकार आर्यश्रावक द्वितीय ध्यान से युक्त होता है। वहाँ जैसे तिल, मूंग आदि अन्न का संग्रह किया जाता है, वैसे आर्यश्रावक तृतीय ध्यान से युक्त होता है। वहाँ जैसे घृत, मक्खन आदि पौष्टिक पदार्थ एवं औषधि आदि का संग्रह किया जाता है, वैसे आर्यश्रावक चतुर्थध्यान से युक्त होता है।'

ध्यान की निरन्तर प्रौढता वस्तुतः सम्यक् समाधि के चार सोपान हैं। वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और एकाग्रता इन पाँच चित्तवृत्तियों का प्रथम ध्यान में प्राधान्य रहता है। द्वितीय ध्यान में वितर्क, विचार नहीं रहता है। प्रीति, सुख और एकाग्रता इन तीन ही मनोवृत्तियों का प्राधान्य रहता है। तृतीय ध्यान में प्रीति नहीं रहती, केवल सुख और एकाग्रता का वैशिष्ट्य रहता है। चतुर्थ ध्यान में सुख न रहकर उपेक्षा और एकाग्रता का प्राधान्य रहता है।

यहाँ वितर्क, विचारादि का स्पष्टीकरण आवश्यक है। समाधि विषय में चित्त के प्रथम प्रवेश को 'वितर्क' कहते हैं। इस विषय में अनुमज्जन करने को 'विचार' कहते हैं। उससे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह है 'प्रीति'। उसके कारण मन में जो समाधान होता है, वह है 'सुख'। उस विषय में चित्त की जो एकवाक्यता है उसका नाम 'एकाग्रता' है और उस विषय में अत्यन्त परिचय से उत्पन्न होने वाली जो निश्चिन्तता या निष्कम्पता है, उसको 'उपेक्षा' कहते हैं।

योगसाधना के इस क्रमिक अनुभव को साईकिल के दृष्टान्त से आत्मसात् किया जा सकता है। जब हम सर्वप्रथम साईकिल पर चढ़ना सीखते हैं, तब समतोल (Balance) साधन ही बहुत कठिन हो जाता है। इसी अभ्यास (समतोल) को 'वितर्क' कहा जाता है। साईकिल के नियन्त्रित हो जाने पर उसकी गति पर हमारा ध्यान केन्द्रित होता है। साईकिल की गति में हमारा मन अनुमज्जन करता है, यही 'विचार' है। वितर्क और विचार के द्वारा साईकिल पर प्रभुत्वसम्पादन करने पर अपने मन को एक प्रकार का विलक्षण आनन्द प्राप्त होता है, वही 'प्रीति' है। शनैः-शनैः शरीर को समाधान का अनुभव होने लगता है, वही 'सुख' है। इस क्रम में प्राप्त तन्मयता को 'एकाग्रता' कहते हैं। साईकिल पर चढ़ने का अभ्यास जैसे-जैसे बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे समतोल रखने की किंवा साईकिल की गति का निरीक्षण करने की आवश्यकता नहीं रहती। अर्थात् साधनाक्रम में वितर्क और विचार धूमिल पड जाते हैं। केवल प्रीति, सुख और एकाग्रता इन वृत्तियों का प्राधान्य रहता है। अन्त में वे भी नहीं रहते हैं, केवल उपेक्षा और एकाग्रता इन दो वृत्तियों का ही प्राधान्य रहता है। प्राणिमात्र पर मित्रता का

ध्यान करना, कोई प्रकाश जैसा सर्वव्यापी विषय लेकर उस पर ध्यान करना, अथवा अपने ही श्वासोच्छ्वास पर ध्यान करना, इनमें क्रमशः जो अनुभव प्राप्त होते हैं वे भी इसी प्रकार के होते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि समाधियोग का कितना महत्त्व है और उसके विभाग क्या हैं? किन्तु पाठकों को स्मरण रहे कि समाधि कितने ही महत्त्व की हो, फिर भी उसमें अतिरेक नहीं होना चाहिए। राजव्यवस्था को सुव्यवस्थित पद्धति से चलाने के लिये अध्यक्ष या राजा की आवश्यकता रहती है। किन्तु यदि उसका अधिकार अपरिमित बढ़ ज़ाय तो उससे राष्ट्र का कल्याण न होकर प्रजा में अत्यधिक असन्तोष व्याप्त हो जायेगा, जिसका अनिवार्य परिणाम क्रान्ति होगा।

श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा ये पाँच मानसिक शक्तियाँ हैं। परन्तु उनमें सामञ्जस्य किस प्रकार रखा जाय, इसका विवेचन विशुद्धिमार्गादि बौद्ध ग्रन्थों में बहुत सुन्दरता से किया गया है। आचार्य कहते हैं कि श्रद्धा का अतिरेक होने से और प्रज्ञा के मन्द पड़ने पर मनुष्य सारहीन बातों पर विश्वास करने लगता है। प्रज्ञा बलशालिनी हुई और श्रद्धा मन्द हुई तो मनुष्य स्वयं साधक हो जाता है। इसमें क्या? उसमें क्या? इस प्रकार के विचारों से परोपकारादि धार्मिक कृत्यों में उसका विश्वास नहीं रहता, वह तो केवल उदरभोजी बन जाता है। अतः इन दोनों मनोवृत्तियों में सामञ्जस्य रखना आवश्यक है। इसी प्रकार समाधि मन्द हुई और केवल उत्साह ही बना रहा तो मनुष्य भ्रान्तचित्त हो जाता है। एक अमेरिकन प्रोफेसर कहा करते थे कि हमको अत्यन्त द्रुतगामी रेलयान तो चाहिए, परन्तु गन्तव्य स्थल पर पहुँचने का उद्देश्य अज्ञात रहता है। इसका अर्थ यह है कि समाधि के विना केवल उत्साह से मनुष्य को सुख प्राप्त नहीं होता है। इसके विपरीत समाधि बलवती हुई और उत्साह मन्द हुआ तो मनुष्य आलस्ययुक्त हो जाता है। स्वाप्निक सुख से कभी इष्टकार्य सम्पन्न नहीं होता है। अतः समाधि और उत्साह इन दोनों मनोवृत्तियों में समन्वय रखना अत्यन्त आवश्यक है। स्मृति अर्थात् जाग्रति सर्वत्र होनी चाहिए। समाधि, उत्साह आदि की निरन्तरता के अवबोध के लिये स्मृति की आवश्यकता रहती है।

स्मृति, धर्मप्रविचय, वीर्य, प्रीति, प्रस्रब्धि, समाधि और उपेक्षा—

ये सात वृत्तियाँ दो प्रकार की हैं—कुशल और अकुशल। परोपकारमूलक, प्रेममूलक और ज्ञानमूलक प्रवृत्ति कुशल कहलाती है तथा लोभमूलक, द्वेषमूलक और मोहमूलक प्रवृत्ति अकुशल कहलाती है। कुशल मनोवृत्तियों को बोध्यङ्ग कहते हैं। स्मृति का अर्थ पहले कहा गया है—धर्मप्रविचय अर्थात् विवेचक बुद्धि, वीर्य अर्थात् उत्साह, प्रस्रब्धि अर्थात् शान्ति। इन मनोवृत्तियों के अयोग्य और योग्यकाल के सम्बन्ध में भगवान् बुद्धदेव कहते हैं—

'भिक्षुओ! जिस समय चित्त जडतापूर्ण हो, उस समय प्रस्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीनों बोध्यङ्गों की भावना करना उपयुक्त न होगा। जैसे कि व्यक्ति अग्नि प्रज्ज्वलित करना चाहता है, परन्तु आद्रेन्धन के कारण ऐसा सम्भव न हो पायेगा। इसी प्रकार यदि उसका चित्त जड है और वह प्रस्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना करना चाहे तो उसके चित्त को प्रोत्साहन न मिलेगा। क्योंकि चित्त तो पहले से ही जड है और उसको इन तीन बोध्यंगो के लिये नियन्त्रण रखना सम्भव नहीं है, परन्तु उस अवसर पर धर्मप्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना बहुत हितकर है, क्योंकि उससे जड चित्त को जीवन प्राप्त होता है।'

एक दूसरे स्थान में भगवान् बुद्धदेव कहते हैं—

'भिक्षुओ! जिस समय चित्त भ्रान्त हुआ हो उस समय धर्म-प्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना उचित नहीं है। क्योंकि इन भावनाओं के कारण चित्त-भ्रान्तता का उपशम न होकर वह और भी भ्रान्त हो जायेगा। यदि कोई मनुष्य चाहता है कि प्रज्ज्वलित हुई अग्नि को शान्त कर दे तो उसको शान्त करने के लिये शुष्क काष्ठ का उपयोग करने से वह अग्नि शान्त न होकर अत्यधिक प्रज्ज्वलित हो जायेगी। इसी प्रकार चित्त के भ्रान्त हो जाने पर धर्मप्रविचय, वीर्य और प्रीति इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना करने से वह प्रशान्त न होकर अधिक उत्तेजित हो जायेगी। ऐसे अवसर पर प्रस्रब्धि, समाधि और उपेक्षा इन तीन संबोध्यङ्गों की भावना करना योग्य है।'

अब रहा स्मृतिबोध्यङ्ग।

हे भिक्षुओं हमको चाहिए कि इस संबोध्यङ्ग का उपयोग हम सर्वत्र

करें। अभिप्राय यह है कि समाधि कितनी भी उपयुक्त क्यों न हो, फिर भी उसको सर्वथैव प्राधान्य देना अपायकारक है। देश में अव्यवस्था न फैले, इसके लिये शासक कठोर अनुशासनप्रिय होना चाहिए। परन्तु वह शासक प्रजा के हित की ओर ध्यान न देकर अपने अधिकारों का दुरुपयोग करने में लग जाय तो उसकी उस अव्यवस्था से भी अधिक क्षति होगी। इसी प्रकार कुशल मनोवृत्तियों में केवल समाधि को प्राधान्य दिया जाय तो आलस्य आदि शत्रु अन्तःकरण में प्रवेश करके मनुष्य के नाश में कारणीभूत हो जायेंगे। इसीलिये सम्राट् अशोक आदि राजागण विलासिता से दूर रहकर प्रजा को सुख पहुँचाने में अधिक दक्ष रहा करते थे। इससे यह आवश्यक जान पड़ता है कि समाधियोग का वास्तविक कर्तव्य है कि उत्साहादि की सहायता से सर्वकुशल मनोवृत्तियों में समाधान रखने के लिये तत्पर रहे ।

●

# तृतीय पटल : योगविद्या के विविध आयाम

# भगवद्गीता के अनुसार मनोवृत्ति की मीमांसा

प्रत्येक वस्तु का प्रारम्भ अत्यधिक सूक्ष्म हुआ करता है। अंग्रेज इस देश में आये थे, उस समय किसी ने यह नहीं समझा होगा कि वे इस देश की उन्नति के इतने विरोधी निकलेंगे। शरीर में रोग भी अत्यधिक सूक्ष्म रीति से प्रवेश करता है। नदी में जब पोत चलता है, तब प्रारम्भ में उसका वेग अत्यन्त सूक्ष्म होता है, पर एक बार ज्यों ही वह नदी की मध्यधारा में पहुँचा तो फिर वह अविरल गति से समुद्र की ओर दौड़ने लगता है। नदी भी उद्गम के स्थान पर अत्यल्प होती है पर वही हमारी धारणा के विपरीत विस्तृत भूखण्डों को आप्लावित कर देती है। कहते हैं कि मालवदेश के पर्वतों की पिपीलिकासदृश 'मही' नदी खंभात के समीप पहुँचते ही इतनी विस्तृत हो जाती है कि नागरिकजन उसे सागर कहने लगते हैं और विशालकाय उन्मत्त गजसमूह भी उसके मध्य जाने का साहस नहीं करता है।

**'पाप' मनोवृत्ति**

पाप की प्रगति भी ऐसी हुआ करती है। शुद्ध आचारवान् मनुष्य के मन में जब किसी विषय का विचार आता है तब वह समझता है कि मेरा आचरण तो परिशुद्ध है ही, मन में यदा-कदा एक-दो विपरीत कल्पना आ ही गयी तो क्या हुआ? वह इस भ्रम में रहता है कि मात्र इतने से अधःपतन नहीं हो सकता। परन्तु इसी से उसका सर्वनाश निगूढ रहता है। पीपल जैसे महावृक्ष का बीज कितना लघु होता है? मनुष्य सर्वदा तटस्थभाव से भी यदि विषय का चिन्तन करता है तो भी उसका चित्त उस विषय से संपृक्त हो जाता है। वाञ्छित आपातरमणीय विषय का भूयोभूयः स्मरण होता है। उसका चिन्तन उसके लिये हर्षप्रद हो जाता है। उस विषय के अनायास निकट आने पर चित्त में प्रसन्नता का अनुभव होता है। फिर उसे प्राप्त करने की इच्छा होती है। उस विषय के प्रति पक्षपातबुद्धि जागरित होती है। जहाँ एक बार पक्षपात की जागृति हुई कि समत्वबुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। पक्ष के सामने प्रतिपक्ष हुआ ही करता है। प्रतिपक्ष में अप्रियता, द्वेष और क्रोध स्वाभाविक ही होता है।

काम और क्रोध मनुष्य को ऐसा अन्ध बना देते हैं कि वस्तु के यथार्थ गुण-अवगुण के परीक्षण की क्षमता भी नष्ट हो जाती है। आसक्ति और द्वेष से काल्पनिक गुण-अवगुण का आरोप होने लगता है। इससे प्रकृति के प्रति रहने वाला अनुसन्धान विशृङ्खलित हो जाता है। मनुष्य को सम्मोह होता है, सम्मोह होते ही जागृति जाती रहती है। प्रत्येक वस्तु को यथार्थरूप से जानना और उसके प्रति अपना धर्मनिश्चय करना, इसी का नाम स्मृति है। इस स्मृति के चले जाने पर सत् -असत् का विवेक करके धर्म-अधर्म की निश्चयात्मिका बुद्धि भी नष्ट हो जाती है। जब तक बुद्धि है तभी तक मनुष्य है। इस न्याय से बुद्धिभ्रंश से मनुष्य का सर्वनाश होने में विलम्ब नहीं होता है। कहा है—

**विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः ।**

पाप की ऐसी ही प्रगति है। पाप जब आता है, तब वह निरीह गो की तरह सरल बन कर आता है। परन्तु एक बार दृढता प्राप्त करते ही वह सिंहगर्जना करने लगता है। कहते हैं कि यमराज में दया होती है, किन्तु पापवृत्ति में नहीं। अत एव प्रारम्भ में ही पाप पर दया नहीं करनी चाहिए। पाप पर दया करने पर वह हमारा भक्षक बन जाता है। विषयों की जाति में भी इतना सादृश्य होता है कि जहाँ उनमें से किसी एक को आने दिया तो फिर आमन्त्रण के विना ही वे काकन्याय से युगपत् आक्रामक बन जाते हैं। मनुष्य जहाँ एक बार इनके अधीन हो जाता है, तो फिर गिद्धपक्षी की तरह चारों ओर से वह क्षत-विक्षत हो जाता है। यथा—

**ध्यायतो विषयान्पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते ।**
**सङ्गात्संजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ।।**
**क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात्स्मृतिविभ्रमः ।**
**स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ।।**

भगवद्गीता २/६२-६३

**'काम' मनोवृत्ति**

'काम' से क्रोध कैसे उत्पन्न होता है, मानसशास्त्र की दृष्टि से यह विचारणीय विषय है। 'काम' का अर्थ प्रेम नहीं है। प्रेम को अपने सुख-दुःख से कोई प्रयोजन नहीं रहता है। प्रेम तो दूसरे के कल्याण के लिये आत्मसमर्पण करना जानता है। भली-भाँति विचार करने पर विदित होता है

कि काम स्वार्थी होता है। अपनी तृप्ति ही उसका एकमात्र हेतु होता है। जैसे साधारण मनुष्य यह समझता है कि सूर्य, चन्द्र, ग्रह आदि सभी तत्त्व अपनी पृथ्वी की परिक्रमा लगाते हैं, वैसे ही कामी मनुष्य काम को मध्यबिन्दु बनाकर जगत् को देखता है। इसी से उसका जीवनज्योतिष अपूर्ण एवं अन्धसदृश होता है। बाह्य वस्तुओं की गति के सम्बन्ध में वह कपोलकल्पित आरोप करता है। ऐसा मनुष्य संसार की सरल गति नहीं समझ सकता, न्यायनीति नहीं समझ सकता, इसी से वह पक्षपात में उतर पड़ता है। कामी मनुष्य अपनी इच्छित वस्तु की प्राप्ति के लिये समाज की रीति का क्रम परिवर्तित करना चाहता है और कामित वस्तु के प्राप्त न होने पर उसी के प्रति क्रोध करता है। अदुग्ध गाय के प्रति उसकी दृष्टि बदल जाती है। आशा का विक्षेप होते ही, आशा टूटने पर ही काम ही क्रोध का रूप धारण कर लेता है। प्रिय वस्तु के लिये मनुष्य जब यह देखता है कि वह वस्तु मेरी होकर नहीं रह सकती, तब वह उसे नष्ट करने में विलम्ब नहीं करता है।

**'द्वेष' मनोवृत्ति**

अनुराग और द्वेष ये एक ही वस्तु के दो पक्ष हैं। लोहपिण्ड से निर्मित कटाह (कढाई) एक ओर से अवनत और दूसरी ओर से उन्नत होती है, जब कि वस्तु एक ही है। राग-द्वेष की भी यही स्थिति है। मनोभाव की विषमावस्था में राग-द्वेष की उत्पत्ति होती है। चित्त की साम्यावस्था के विपरीत यह अवस्था होती है। जो मानवमात्र का मित्र बनना चाहता है, वह किसी एक का विशिष्ट मित्र नहीं रह सकता, यही समष्टि-दृष्टि की परिभाषा है। उसके लिये सभी समान रहते हैं। व्यष्टि-दृष्टि से भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के साथ सम्बन्ध में न्यूनाधिकता अवश्य रहती है। परन्तु उसके हृदय की भावना सबके प्रति समान ही रहती है। एक हाथ से रुपया जब दूसरे हाथ में जाता है, तब स्वामी के मन में धनसम्बन्धी हानि-लाभ की भावना जागरित नहीं होती है। इसी भाँति कुटुम्बीजनों में न्यूनाधिक धन वितरित होने से जैसे द्वेषबुद्धि जागरित नहीं होती है, वैसे ही अजातशत्रु विश्वामित्र संसार में विचरण करता है। अपने विषय में भी उसका पक्षपात नहीं रहता है। राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करने के पश्चात् क्या शेष रहता है? उत्तर है कि समाधान और प्रसन्नता शेष रह जाती है। मैत्री-करुणा-मुदिता-उपेक्षा यह चतुर्विध प्रसन्नता रह जाती है। प्रसन्नता का अर्थ है—आकांक्षा का अभाव।

प्रसन्नता का दूसरा अर्थ है—स्वच्छता। राग-द्वेष रूपी कषाय के बैठ जाने पर चित्तरूपी जल स्वच्छ तथा निर्मल हो जाता है। मलिनता से जल दूषित रहता है, इसी से उसके मध्य में क्या है, यह दिखलाई नहीं पड़ता है। जल स्वच्छ होते ही पारदर्शी बन जाता है। चित्तप्रसाद का ऐसा ही प्रभाव है। जिसको चित्तप्रसाद प्राप्त हो गया, वह अपना तो क्या दूसरे की मनोदशा को भी भली-भाँति जान लेता है। ज्ञानप्राप्ति अर्थात् तत्त्वप्राप्ति में बाधा देने वाली एकमात्र वस्तु राग-द्वेषादि वासनाओं का किल्विष ही है। कितनी ही बार राग-द्वेष के कारण एकाग्रता बढ़ती है, इसमें आंशिक सत्यता अवश्य है किन्तु रागद्वेषमूलक एकाग्रता आत्मघातिनी एवं अन्यप्राया ही होती है। सत्य ज्ञान तो आत्मप्रसाद से ही प्राप्त होता है। किसी यन्त्र अथवा संस्था का स्वरूप उसकी रचना, उसका प्रयोजन तथा कार्यपद्धति को समझे विना यदि हम उसके अन्दर प्रवेश करते हैं तो दुःखदायी स्खलन अवश्यम्भावी रहता है। परन्तु दूसरी ओर उसी यन्त्र अथवा संस्था की स्थिति को भली-भाँति समझ लेने पर हम उसमें सुरक्षित एवं स्वतन्त्रभाव से परिभ्रमण कर सकते हैं। एक स्थिति का नाम अन्धकार (रात्रि) है तो दूसरी स्थिति का नाम प्रकाश (दिवस) है। अन्धकार में हमें बाधा होती है जब कि प्रकाश स्वतन्त्रता प्रदान करता है। यद्यपि दोनों स्थितियों में समीप का संगठन एक सा ही प्रतीत होता है। राग-द्वेष क्षीण होते ही समुपलब्ध प्रसन्नता हमें प्रकाशित करती है। विश्व-संस्था, उसका स्वभाव एवं उसमें अपना स्थान जब हम समझ लेते हैं तो हमारे दुःखों का अन्त हो जाता है। फिर जैसे मध्याह्न के प्रकाश में स्वेच्छा-पूर्वक विचरण करने में हमें कोई बाधा प्राप्त नहीं होती है, वैसे ही रागद्वेष-रहित बुद्धि भी स्वाधीन एवं स्वस्थ हो जाती है। भगवद्गीताकार का वचन है—

**रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।**
**आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ।।**
**प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते ।**
**प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ।।**

भगवद्गीता २/६५-६६

यही भगवद्गीता में प्रतिपादित मनोवृत्ति-मीमांसा का सारतत्त्व है।

●

# योगदर्शन में संस्कार की दार्शनिक पृष्ठभूमि

गौरवशाली संस्कृत ग्रन्थों में प्रतिपादित ब्रह्मर्षियों का शाश्वत उद्घोष, धर्मशास्त्रकारों का आदेश, कथावाचक सन्तों का उपदेश, पितृकुलधारकों का वात्सल्यपूर्ण अनुभव तथा शुभचिन्तकों का सर्वजनप्रिय चिन्तन सर्वदा एवं सर्वथा मानवचित्त में 'संस्कार' की सत्य-शिव-सुन्दरमयी त्रिवेणी प्रवाहित करने में ही प्रयत्नशील रहा है। शब्दशास्त्री वैयाकरणों ने वाक् परिशुद्धि का उपपादन किया, चिकित्साशास्त्री ने कायिक परिपुष्टता पर प्रकाश डाला तो योगाचार्यों ने मन को संस्कारित एकनिष्ठता प्रदान करने का प्रबल प्रयास किया। अतः शास्त्रों में मन-वचन-कर्म की एकरूपता को मनस्विता के मानकरूप में प्रतिष्ठापित किया गया। इसी क्रम में यम-नचिकेतोपाख्यान द्वारा प्रेयमार्ग की तुलना में श्रेयमार्ग की ओर मानव को शनैः-शनैः अनुप्राणित किया गया। एक शब्द में सम्पूर्ण जीवन उच्च संस्कारों के आधान की अनुपम पाठशाला है। अतः संस्कार की कहानी उतनी ही पुरानी है, जितना मानव जीवन। फिर जन्म की यह वार्त्ता उतनी ही रहस्यमयी है, जितनी मोक्ष की अवधारणा।

'सम्' उपसर्ग पूर्वक 'कृ' धातु से घञ् प्रत्यय करके 'संस्कार' शब्द निष्पन्न होता है। इसका सर्वमान्य अर्थ है—संस्कृत करना। यह संस्कार शब्द प्रत्येक शास्त्र में किसी अर्थविशेष का वाचक होने से पारिभाषिक कहा जाता है। यह एक गुण है, इसमें भले ही दार्शनिकों में मतैक्य हो किन्तु अर्थ की विभिन्नता से यह किंनिष्ठ है, इसका एकान्तवचनीय उत्तर नहीं दिया जा सकता है। इसकी अद्भुतता इसी में है कि यह बुद्ध्यादि जड तत्त्वों पर धर्मादि भावरूप संस्कारों का आधिपत्य स्थापित करता ही है, किन्तु चेतन पुरुषतत्त्व को भी, भले ही उपाधिवशात्, प्रभावित किये विना नहीं रहता है।

'संस्कार' शब्द की व्याख्या शास्त्रकारों ने अनेक प्रकार से की है—

१. वैशेषिक दर्शन के अनुसार रूप आदि चौबीस गुणों में संस्कार भी एक गुण है। यह संस्कार नामक गुण तीन प्रकार का है—वेग, भावना

और स्थितिस्थापक। इनमें भावना विशेषगुण है तथा अन्य दो संस्कार सामान्यगुण हैं। अनुभवजन्य भावनारूप संस्कार से स्मृतिज्ञान उत्पन्न होता है। भावनारूप संस्कार आत्मा का विशेषगुण है। तर्कसंग्रह में कहा गया है—

**अनुभवजन्या स्मृतिहेतुर्भावना आत्ममात्रवृत्तिः**

तर्कसंग्रह पृष्ठ संख्या १०

१. भावनारूप संस्कार पूर्वजन्म की वासनाओं को पुनरुज्जीवित करने वाला गुण है।

२. आचार्य मम्मट ने काव्यप्रकाश में शास्त्राभ्यासजन्य 'व्युत्पत्ति' को संस्कार कहा है।

३. वैयाकरणों ने व्याकरणोक्त पद्धति से शब्दों के साधनप्रकार को संस्कार माना है।

४. जैमिनि सूत्र पर लिखित शाबरभाष्य के अनुसार संस्कार वह है जिसके होने पर कोई पदार्थ किसी योग्य हो जाता है—

**संस्कारो स भवति यस्मिञ्जाते पदार्थो भवति योग्यः कस्यचिदर्थस्य ।**

शाबरभाष्य, जैमिनीयसूत्र ३/१/७३

५. तन्त्रवार्त्तिक के अनुसार योग्यता का आधान करने वाली क्रियाएँ संस्कार कहलाती हैं—

**'योग्यतां चादधानाः क्रिया संस्कारा इत्युच्यते' ।**

तन्त्रवार्त्तिक पृष्ठ संख्या १०७८

६. याज्ञवल्क्यस्मृति के प्रथम ब्रह्मचारिप्रकरण में बतलाया गया है कि संस्कार द्वारा बीज-गर्भ से उत्पन्न हुए दोष दूर हो जाते हैं—

**एवमेनः शमं याति बीजगर्भसमुद्‌भवम् ।**

याज्ञवल्क्यस्मृति, आचाराध्याय, १३ पूर्वार्द्ध

मिताक्षरा टीका में विज्ञानेश्वर ने 'एनः' पद को रेखाङ्कित करते हुए 'बीजगर्भसमुद्‌भवम्' की व्याख्या इस प्रकार की है—

**शुक्रशोणितसंबद्धं गात्रव्याधिसंक्रान्तिनिमित्तं वा, न तु पतितोत्पन्नत्वादि ।**

मिताक्षरा, १३ पूर्वार्द्ध

७. कर्मज्ञ एवं धर्मज्ञ गर्भाधानादि क्रियाकलाप को संस्कार कहते हैं। मनु ने कहा है—

**संस्कारार्थं शरीरस्य ।**

मनुस्मृति २/६६

यहाँ संस्कारों की संख्या के विषय में मतभेद है। सामान्यतः सोलह संस्कार माने जाते हैं।

८. तन्त्रशास्त्र में मन्त्रों की सिद्धि प्राप्त करने के लिये दशविध संस्कार बतलाये गये हैं।

९. बौद्धदर्शन में संस्कारस्कन्ध की चर्चा हुई है।

**सांख्यदर्शन के अनुसार संस्कार**

ईश्वरकृष्णविरचित बहत्तर कारिकाओं में मात्र एक कारिका ऐसी है, जिसमें संस्कार शब्द का प्रयोग मिलता है। कारिका है—

**सम्यग्ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।**
**तिष्ठति संस्कारवशाच्चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।**

सांख्यकारिका ६७

इस कारिका का मूल उद्देश्य विदेहमुक्ति से पूर्व साधक की जीवन्मुक्ति की स्थापना करना है। सांख्यदृष्टि से सत्त्वपुरुषान्यताख्याति अर्थात् जड-चेतन का विवेकज्ञानरूप उत्कृष्टतम साक्षात्कार हो जाने पर भी जीवन्मुक्त योगी संस्कारवश शरीरधारण उसी प्रकार किये रहता है जिस प्रकार कुम्भकार का चाक; निर्मित घट के अधःपात के पश्चात्, भी वेगाख्य संस्कार से परिभ्रमण करता रहता है। आशय यह है कि सम्यग्ज्ञान से धर्मादि सात भावाख्य संस्कार (संचित एवं क्रियमाण कर्मजनित वासनाएँ) तो दग्धबीजवत् हो जाते हैं किन्तु प्रारब्धकर्मजनित संस्कारों (वासनाओं) से प्राप्त वर्तमान शरीर का वासनासहित नाश तो निखिल कर्मों के भोग के पश्चात् ही होता है। भोग किये विना प्रारब्ध कर्मों का क्षय नहीं होता है। इस प्रकार विदेहमुक्तिपर्यन्त संस्कार तत्त्वज्ञानी योगी का अनुसरण करते हैं।

सांख्यदर्शन में सूक्ष्मशरीर की प्रतिपादिका कारिका है—

**पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम् ।**
**संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम् ।।**

सांख्यकारिका ४०

मेरी दृष्टि में यहाँ 'भाव' शब्द का अर्थ वासनात्मक संस्कार है। यही लिङ्गशरीर के संसरण का नियामक है। बुद्धि के धर्मादि आठ भाव बुद्धि के स्वरूपत्वेन परिभाषित हुए हैं। कारिका है—

**अध्यवसायो बुद्धिः धर्मज्ञानविरागैश्वर्यम् ।**
**सात्त्विकमेतद्रूपं तामसमस्माद्विपर्यस्तम् ।।**

सांख्यकारिका २३

जिस प्रकार वस्त्र के एक प्रभाग से संयुक्त सुगन्ध से सम्पूर्ण परिधान सुवासित हो जाता है उसी प्रकार अष्टादश अवयवात्मक सूक्ष्मशरीर के शीर्ष घटक बुद्धि के संस्कारयुक्त (भावयुक्त) होने से सम्पूर्ण लिङ्गशरीर तदात्मक संस्कार (भावाधिवास) वाला हो जाता है।

**योगदर्शन के अनुसार संस्कार**

महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्तभूमि में एकाग्रसंस्कार का संस्थापन क्षिप्तादि संस्कारों के उत्पाटन के विना सम्भव नहीं है। सुवर्णशोधक अग्नि की भाँति योगाग्नि द्वारा अपरिष्कृत संस्कारों को परिमार्जित किया जाता है। योग-साधना योगी साधक के संस्कारों में उत्तरोत्तर निर्माल्य का आपादन करती हुई असम्प्रज्ञातयोग के पराकाष्ठाकाल में निरुद्धसंस्कारावसान (संस्कारों के आत्यन्तिक अतीतावस्थान) द्वारा, परिपूर्ण होती है। योग का केन्द्रबिन्दु है—संस्कार। अतः 'संस्कार' योग का पर्याय है।

महर्षि पतञ्जलि के ऐसे नौ सूत्र हैं जिनमें संस्कार शब्द का प्रयोग हुआ है। वे नौ सूत्र हैं—

**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ।**

योगसूत्र १/१८

**तस्यापि (संस्कारस्यापि) निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ।**

योगसूत्र १/५१

**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।**

योगसूत्र २/१५

**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।**

योगसूत्र ३/४

**तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।**

योगसूत्र ३/१८

**जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात् ।**

योगसूत्र ४/९

**तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ।**

योगसूत्र ४/२७

इस प्रकार योगदर्शन में समाधिपाद से लेकर अन्तिम कैवल्यपाद तक 'संस्कार' शब्द प्रयुक्त हुआ है। योगसूत्र के प्रामाणिक भाष्यकार व्यासदेव के योगभाष्य का अध्ययन करने से योगसम्मत संस्कार की अवधारणा अधिक स्पष्ट बन पडी है। इससे संस्कार को लेकर निम्नलिखित दार्शनिक बिन्दुओं पर प्रकाश पड़ता है।

### संस्कार के भेद

भाष्यकार व्यासदेव ने संस्कार के दो भेद किये हैं—पहला वासनारूप संस्कार तथा दूसरा धर्माधर्मरूप संस्कार। इनमें वासनारूपसंस्कार स्मृति और अविद्यारूप क्लेश का हेतु है तथा धर्माधर्मरूपसंस्कार जाति (जन्म), आयु तथा भोगरूप फल का कारण है। व्यासवचन है—

**द्वये खल्वमी संस्काराः स्मृतिक्लेशहेतवो वासनारूपाः,**
**विपाकहेतवो धर्माधर्मरूपाः ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र ३/१८

### चित्त के सात धर्म

योगसूत्र के विभूतिपाद के पन्द्रहवें सूत्र पर भाष्य लिखते हुए व्यासदेव ने चित्त के दर्शनवर्जित (अपरिदृष्ट) सात धर्म परिगणित किये हैं। उनमें एक संस्कार धर्म भी है। वचन है—

**निरोधधर्मसंस्काराः परिणामोऽथ जीवनम् ।**
**चेष्टा शक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिताः ।।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र ३/१५

अर्थात् निरोध, धर्म, संस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा तथा शक्ति ये सात चित्त के धर्म हैं। ये वस्तुमात्रात्मक अपरिदृष्टधर्म हैं। चित्त का परिदृष्ट धर्म प्रत्यय है। यही दोनों में अन्तर है। चित्त का संस्कारचक्र अहर्निश चलता रहता है। वृत्ति से संस्कार और संस्कार से वृत्ति यह क्रम बना रहता है। व्यासदेव ने लिखा है—

**तथाजातीयकाः संस्काराः वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इत्येवं चित्तसंस्कारचक्रमनिशमावर्त्तते ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/५

**चित्त को नदी रूप में रेखाङ्कित**

भाष्यकार व्यासदेव ने चित्त का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये अत्यन्त सुन्दर दृष्टान्त दिया है। चित्त को नदीरूप में उपमित करते हुए वे लिखते हैं कि इसकी दो धाराएँ हैं—प्रेयस्करी और श्रेयस्करी। संसाराभिमुखी प्रेयस्करी धारा पापवहा है तथा कैवल्याभिमुखी श्रेयस्करी धारा कल्याणवहा है। वचन है—

**'चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च । परन्तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा, संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/१२

सम्पूर्ण योगसाधना में वैराग्य द्वारा उन्मुक्त विषयस्रोत को शुष्क (क्षीणप्राय) किया जाता है तथा विवेकदर्शनाभ्यास द्वारा क्षीणप्राय विवेकस्रोत को उन्मुक्त (उन्नत) किया जाता है। योग का उत्तम साधक अभ्यास-वैराग्य द्वारा, मध्यम साधक क्रियायोग द्वारा तथा सामान्य साधक अष्टाङ्गयोग द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध के स्तर का क्रमशः विकास करता है। इसी क्रम में उदित समाधिप्रज्ञाजनित संस्कारराशि से चित्त की व्युत्थानात्मक संस्कारराशि निरुद्ध हो जाती है। अन्त में चित्त की एक अवस्था ऐसी भी आती है जब

असम्प्रज्ञात की परिपक्वावस्था में समाधिप्रज्ञाजनित संस्कारराशि भी निरुद्ध (लयभूत) हो जाती है। पुरुष उपाधिगत संस्कारराहित्य की स्थिति में आ जाता है। जपाकुसुम के अपसारण से नैसर्गिक स्वच्छताप्राप्त स्फटिक की भाँति पुरुष अपने वास्तविक ज्ञानस्वरूप में आ जाता है। इसी को पुरुष की स्वरूपावस्थिति कहा है। सूत्र है—

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

योगसूत्र १/३

दूसरी ओर कैवल्यभागीय संस्कारों के साथ चित्त भी अपने मूलकारण प्रधान (प्रकृति) में विलीन हो जाता है। योगभाष्यकार लिखते हैं—

**व्युत्थाननिरोधसमाधिप्रभवैः सह कैवल्यभागीयैः संस्कारैश्चित्तं स्वस्यां प्रकृतावविस्थितायां प्रविलीयते ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/५१

संस्कारों के मायाजाल का ऐकान्तिक एवं आत्यन्तिक अवसान।

**कर्माशय : संस्कार की प्रजाति**

योग में 'कर्माशय' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। यह शब्द वासना का वाचक है। वासना संस्कार की प्रजाति है। कर्मजनितवासना दो प्रकार की है—सुखात्मिका और दुःखात्मिका। कर्मफल के रूप में वासना की अनुभूति होती है। कर्मफल की परिणति तीन प्रकार की कही गई है—जाति, आयु तथा भोगरूप। सूत्र है—

**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।**

योगसूत्र २/१३

**तत्त्वज्ञानी योगी की दृष्टि में संस्कारदुःख**

जब हमें भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त होने लगती हैं, तब हम अपने जीवन को धन्य समझने लगते हैं। हमारी विषयासक्ति बढ़ती जाती है। व्यक्ति पर प्रेयभावना की आक्रामक स्थिति बन जाती है, फलतः वह श्रेयभावना से विमुख हो जाता है। किन्तु सूत्रकार पतञ्जलि के मत में यह योगमार्ग के पथिक का लक्षण नहीं है। उसकी दृष्टि में परिणाम, ताप, संस्कारजनित-दुःख और गुणवृत्तिविरोध के कारण सर्वत्र दुःख परिव्याप्त है। गृहीत पदार्थ दुःखसंपूरित होता है। इस आशय का सूत्र है—

**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः।**

योगसूत्र २/१५

तात्पर्य यह है कि सुखानुभव और दुःखानुभव से तद्रूप सुखात्मक और दुःखात्मक संस्काररूप आशय (वासना) का प्रचय होता है। फलतः अनादि दुःखस्रोत उन्मुक्त होता है। यह दुःखस्रोत अक्षिपात्रकल्प कोमल अन्तःकरणयुक्त तत्त्वज्ञानी योगी को उसी प्रकार उद्वेलित करता है जिस प्रकार नेत्र को ऊर्णातन्तु का स्पर्शमात्र। अतः धर्म-अधर्म, सुख-दुःख तथा राग-द्वेष से प्रवृत्त षडर संस्कारचक्र (संसारचक्र) योगी को कभी भी स्पृहणीय नहीं रहा है।

**संस्कार की अनादिता**

संस्कार सम्पादित कर्मों की अनादि गुह्य छायाकृति है। संस्कार निष्क्रिय नहीं, अपितु ऊर्जायुक्त सूक्ष्म स्थिति का अकल्पित विस्फोटक तत्त्व है। यह उचित समय पर अपना प्रभाव प्रदर्शित करता है। यह अनादि किन्तु अन्तवान् है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात् ।**

योगसूत्र ४/१०

**संस्कारसाक्षात्कार का फल**

संस्कार का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है। सुख-दुःखादि भोग से संस्कारों की उत्कृष्ट अथवा अपकृष्ट प्रजाति का बोध होता है। संस्कारों का जन्मादि से अविनाभावसम्बन्ध है। विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियों में एक ऐसी भी सिद्धि है, जिससे योगी को अपने पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है। अर्थात् पूर्वजन्म में मैं कौन था? क्या था? कहाँ था? इत्यादि। यह सिद्धि संस्कारविषयक संयम से उदित होती है। सूत्र है—

**संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम् ।**

योगसूत्र ३/१८

**योगशास्त्र में चित्तशुद्धि संस्कारशुद्धि का आधार**

योगशास्त्र में चित्तशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है क्योंकि यही प्रकार अन्य शुद्धियों का आधार है। अष्टाङ्गयोग इस दिशा में अत्यन्त

महत्त्वपूर्ण है। अहिंसादि का विधिवत् अनुपालन करने से हिंसादि आसुरी संस्कारों पर अहिंसादि दैवी संस्कारों की विजय होती है। चित्त में आत्मसात् हुए हिंसादि संस्कारों की जब तक निवृत्ति नहीं होगी और अहिंसादि संस्कारों द्वारा चित्तशुद्धि नहीं होगी तब तक योग के द्वितीय अङ्ग नियम में प्रतिपादित शौचादि संस्कारों के आधान की बात भी अकिंचित्कर रह जायेगी। अत: पतञ्जलि ने 'नियम' से पूर्व 'यम' के परिपालन पर बल दिया है। शरीर का संस्कार 'आसन', प्राणादिवायु का संस्कार प्राणायाम तथा इन्द्रियों का संस्कार प्रत्याहार से सुदृढ होता है। पतञ्जलि द्वारा उक्त यम-नियम आदि पाँच बहिरङ्गसाधनों के अभ्यास द्वारा चित्त, शरीर, प्राण एवं इन्द्रियों में पूर्ण आत्मनियन्त्रण के संस्कार को स्थापित किया जाता है। इससे एकाग्रचित्त द्वारा ध्येयतत्त्व का चिन्तन उत्तरोत्तर पक्वता को प्राप्त होता है। फलत: अन्तरङ्गसाधन धारणा, ध्यान तथा समाधि द्वारा चित्त का ध्येयचिन्तनात्मक संस्कार सुदृढता को प्राप्त होता है। सुदृढ ध्येयचिन्तनात्मक संस्कार से साधक को सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात योग क्रमश: प्राप्त होता है। योगशास्त्र में शुद्ध संस्कारों के विकास की इस दीर्घकालिक यात्रा में चित्त का निरुद्धसंस्कार भी प्रकृति के गर्भ में विलीन हो जाता है। इस प्रकार योगी की **'स्वरूपप्रतिष्ठा'** की यात्रा पूर्ण होती है।

एक शब्द में कहा जा सकता है कि पतञ्जलिप्रोक्त योग-साधना में संस्कारशुद्धि प्रथम अपरिहार्यता है। सारतत्त्व यह है—

चित्तभूमि में प्रस्फुटित होते हैं अहिंसादि संस्कार जब ।
मानव में विकसित होती है योगसाधना की शक्ति तब ॥
व्यापार से निर्व्यापार की इस साधना में ।
संस्कारपल्लवन से संस्कारनिरोध की इस यात्रा में ॥
यह प्रवृत्ति से निवृत्ति की है भावना ।
बाह्य से अन्तर्मुखी होने की है कामना ॥
यह सबीज से निर्बीज की है साधना ।
शेष से नि:शेष होने की है विचारणा ॥

●

# भगवद्गीता में मायावाद अथवा परिणामवाद : एक विमर्श

सर्वप्रथम यह जानना आवश्यक है कि मायावाद किसे कहते हैं और परिणामवाद किसे? अत्यन्त सरल शब्दों में परिणामवाद उसे कहते हैं, जब एक वस्तु का परिणाम होकर दूसरी वस्तु बन जाय जैसे दुग्ध से दधि, इक्षुरस से चीनी इत्यादि। वेदान्तसार में 'परिणाम' का लक्षण किया है—

**यस्तात्त्विकोऽन्यथाभावः परिणाम उदीरितः ।**

वेदान्तसार पृष्ठसंख्या ६९

अभिप्राय यह है कि जब किसी मूल वस्तु से तात्त्विक अर्थात् यथार्थ रूप में दूसरे प्रकार की वस्तु बनती है, तब उसको (गुण) परिणाम कहते हैं। परन्तु यह गुणपरिणाम उपनिषदों और गीताशास्त्र को मान्य नहीं है। क्योंकि परिणाम तभी सत्य सिद्ध हो सकता है, जब सत्कार्यवाद सिद्ध हो। अर्थात् कारण और कार्य दोनों सत्य वस्तु हों।

किन्तु गीताशास्त्र ब्रह्म से भिन्न प्रकृति को स्वतन्त्रकारण नहीं मानता है। क्योंकि वैसा मानने से उपनिषदों के उन सिद्धान्तों की क्षति होती है, जो वस्तुतः उपनिषदों के प्रधान सिद्धान्त हैं। जैसे—

**भृगुर्वै वारुणिः । वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । ...तं होवाच–यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति ।**

तैत्तिरीयोपनिषद् ३/१

अर्थात् वरुणपुत्र भृगु अपने पिता वरुण के समीप गया। वरुण ने उससे कहा कि तुम ब्रह्म हो जाओ। जिस ब्रह्म से ये सम्पूर्ण भूत जीवित रहते हैं तथा अन्त में उसी में लीन भी हो जाते हैं। ऐसे ब्रह्म को तुम जानो। इसी का निर्णयात्मक वाक्य पुनः उपनिषद् में प्राप्त है—

**आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते ।**
**आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति ।**

तैत्तिरीयोपनिषद् ३/६

इसी अभिप्राय की अन्य श्रुतियाँ हैं—

**इदं सर्वं यदयमात्मा ।** बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/६
**आत्मैवेदं सर्वम् ।** छान्दोग्योपनिषद् ७/२५/२
**ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ।** मुण्डकोपनिषद् २/२/११
**सर्वं खल्विदं ब्रह्म ।** छान्दोग्योपनिषद् ३/१४/१
**सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम् ।** छान्दोग्योपनिषद् ६/२/१

इन श्रुतियों से यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि ब्रह्म के अतिरिक्त संसार में कोई दूसरा नित्य पदार्थ नहीं है। इतना ही नहीं, अपितु बृहदारण्यकोपनिषद् में यह स्पष्ट कह दिया गया है कि

**नेह नानास्ति किञ्चन ।**

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/१९

इस संसार में एक ब्रह्म ही सत्पदार्थ है। इसके अतिरिक्त प्रतीत होने वाले ये नाना पदार्थ माया के विजृम्भणमात्र हैं। इन नाना पदार्थों को सत्य मानने वाले की निन्दा भी इस प्रकार से की गई है—

**मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति ।**

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/४/१९

अभिप्राय यह है कि वह पुरुष भूयोभूयः मृत्यु को प्राप्त होता है, जो इस संसार में अनुस्यूत एक ब्रह्म को नाना प्रकार से देखता है।

**उपनिषद्वाङ्मय का सारभूत भगवद्गीता**

उपनिषद्प्रतिपादित सिद्धान्तों के सारभूत भगवद्गीता के विषय में एक वचन मिलता है—

**सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः ।**

अर्थात् सम्पूर्ण उपनिषदों को गायें बनाकर दुहने वाले भगवान्

गोपालनन्दन ने गीतामृतरूपी दुग्ध निकाला है, उसी पर विचार किया जा रहा है। गीता उपनिषदों से पृथक् किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिये नहीं लिखी गई है, प्रत्युत उपनिषदों के गूढ सिद्धान्तों को अत्यन्त सरल भाषा-शैली में पार्थ जैसे अधिकारी को समझाने के लिये ही भगवान् श्रीकृष्ण ने भगवद्गीता का निर्माण किया था। अत एव दृढतापूर्वक कहा जा सकता है कि उपनिषद्साहित्य एवं गीताशास्त्र में प्रकृति कोई स्वतन्त्र एवं सत्य वस्तु नहीं है। जिस प्रकार उपनिषदों में एक ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई दूसरी वस्तु सत्य नहीं मानी गई है, उसी प्रकार गीता ने भी अद्वैत ब्रह्म का ही प्रतिपादन किया है, जो निम्नलिखित प्रमाणों से स्पष्ट होता है—

**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते ।**

भगवद्गीता १०/८ पूर्वार्द्ध

**मत्तः परतरं नान्यत्किंचिदस्ति धनञ्जय ।**
**मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव ।।**

भगवद्गीता ७/७

**विष्टभ्याऽहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत् ।**

भगवद्गीता १०/४२ उत्तरार्द्ध

**बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम् ।**

भगवद्गीता ७/१० पूर्वार्द्ध

**...उद्भवश्च भविष्यताम् ।**

भगवद्गीता १०/३४ पूर्वार्द्ध

**यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन ।**
**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम् ।।**

भगवद्गीता १०/३९

**...सदसच्चाऽहमर्जुन ।**

भगवद्गीता ९/१९ उत्तरार्द्ध

**भगवद्गीता में विवर्तवाद**

अत एव प्रकृति के सत्य एवं स्वतन्त्र हुए विना गुणपरिणामवाद (एक वस्तु का दूसरे रूप में परिणत हो जाना) सिद्ध नहीं होता है। तो फिर,

यह दिखलाई देने वाले संसार के नाना पदार्थ किंरूप हैं? और किससे उत्पन्न हुए हैं? ब्रह्म तो निर्गुण और निर्विकार है, उससे सगुण और सविकार जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

इसका उत्तर भगवद्गीता यों देती है—सम्पूर्ण पदार्थ भगवान् की विश्वमोहिनी माया से असत् होते हुए भी प्राणियों को सत् प्रतीत होते हैं और यह त्रिगुणात्मिका माया अथवा प्रकृति कोई अन्य स्वतन्त्र वस्तु नहीं है। अपितु एक ही निर्गुण परब्रह्म पर मनुष्य की इन्द्रियाँ इसी अज्ञान के बल से सगुण दृश्यों का अध्यारोप किया करती हैं—

**अज्ञानेनाऽऽवृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ।**

भगवद्गीता ५/१५ उत्तरार्द्ध

इसी मत को विवर्तवाद कहते हैं। इसका प्रतिपादन वेदान्तसार में यों किया गया है—

**अतात्त्विकोऽन्यथाभावो विवर्तः स उदीरितः ।**

वेदान्तसार पृष्ठसंख्या ६९

अर्थात् मूलवस्तु में कुछ भी विकार न होकर वह मूलवस्तु कुछ की कुछ भासने लगती है, उसी को विवर्तवाद कहते हैं। जैसे ऐन्द्रज़ालिक की माया से न होते हुए भी नाना पदार्थ सत्य दिखलाई पड़ते हैं। अथवा शुक्ति में रजत का, रज्जु में सर्प का, मृगमरीचिका में जल का आभास होना आदि।

इसी को अध्यास कहते हैं—

**अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद् बुद्धिः ।**

ब्रह्मसूत्र, शाङ्करभाष्य उपोद्घात

अर्थात् अन्य वस्तु में अन्य वस्तु का भास होना, इसी का नाम अध्यास है। हम सदैव देखते हैं कि एक वस्तु में भिन्न-भिन्न दृश्यों का दिखलाई पड़ना उस वस्तु का धर्म नहीं है और न उन दृश्यों से उस मूल वस्तु में कुछ विकार ही उत्पन्न होता है। द्रष्टा के दृष्टिभेद से वस्तु में अनेक दृश्य दिखलाई देना दृष्टिदोष के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है और न ही उस दिखलाई देने वाली तिलमिलाहट से आकाश में ही कुछ अन्तर पड़ता है। इसी प्रकार निर्गुण, निर्विकार परब्रह्म में अज्ञानवश जगत् का भान होता है। इस मिथ्या भान से उस मूलतत्त्व में कुछ भी परिवर्तन नहीं होता है।

**गीता के अनुसार मायावच्छिन्न जगत्**

सत्कार्यवाद के अनुसार निर्गुण से सगुण की उत्पत्ति होना असम्भव है। इसे दूर करने के लिये ही 'विवर्तवाद' की स्थापना हुई है और इसका मूलाधार माया है। इस विवेचन से यह सिद्ध होता है कि मूलतत्त्व एक और सत्य है, परन्तु उसमें भासित होने वाले नाम और रूप अनेक और असत्य हैं। ये मनुष्य की दुर्बल इन्द्रियों के कारण सदा परिवर्तित होते रहते हैं—

**मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।**
**हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।**

भगवद्गीता ९/१०

अर्थात् प्रकृति, माया के हेतु से यह जगत् परिवर्तित होता रहता है। इस माया से आच्छादित परब्रह्म नित्य और अपरिवर्तनशील है। इसीलिये छान्दोग्योपनिषद् में एक के ज्ञान से सबका ज्ञान होना वर्णित है और वाणी से कही जाने वाली प्रत्येक वस्तु विकाररूप है। नाम-रूप से अतिरिक्त जो मूलतत्त्व है, वही सत्य है। वचन है—

**यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं**
**स्याद्वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् ।**

छान्दोग्योपनिषद् ६/१/४

यही तथ्य वेदान्तशास्त्र में **'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या'** और **'ब्रह्मामृतं जगन्मिथ्या'** आदि प्रमाणों से प्रतिपादित हुआ है।

यहाँ तक उपनिषदों के आधार पर विवर्तवाद स्थापित करके अब पाठकों को गीता के उन प्रकरणों को दिखलाया जा रहा है, जिनमें इसी वाद की पुष्टि की गई है—

**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नाऽन्तो न चाऽऽदिर्न च संप्रतिष्ठा ।**

भगवद्गीता १५/३ पूर्वार्द्ध

अर्थात् इस संसारवृक्ष का जैसा वर्णन किया गया है, वैसा स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। क्योंकि यह स्वप्न, मृगतृष्णा, इन्द्रजाल और गन्धर्व नगर के दृश्यों के सदृश मिथ्या है।

**माया का स्वरूप**

सम्प्रति, यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिसके बल से यह असत्य संसार सत्य प्रतीत होता है, वह माया क्या वस्तु है? कहाँ से उत्पन्न हुई है? और उसका धर्म क्या है? इन प्रश्नों का उत्तर भगवद्गीता में दिया गया है—

**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।**
**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।।**

भगवद्गीता ७/१४

अर्थात् यह गुणमयी दुस्तर दैवी माया मेरी ही है। जो इस माया को प्राप्त कर लेते हैं, वे ही मुझ में प्राप्त होते हैं।

भगवद्गीता में माया के विषय में आगे कहा है—

**तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ।**

भगवद्गीता १५/४ उत्तरार्द्ध

अर्थात् जिस पुरुष से संसार वृक्ष की चिरन्तन प्रवृत्ति विस्तीर्ण है।

महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में ऐसा वचन मिलता है कि हे नारद! यह माया मैंने ही उत्पन्न की है—

**माया ह्येषा मया सृष्टा ।**

महाभारत, ना.उप.

इसी भाव को भगवद्गीता में यों प्रकट किया गया है—

**ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।**
**मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।**

भगवद्गीता ७/१२

हे अर्जुन! इन सात्त्विक, राजस और तामस भावों को तू मुझ से ही उत्पन्न जान। आगे कहा है—

**प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ।**

भगवद्गीता ४/६ उत्तरार्द्ध

इसमें **'स्व'** और **'आत्ममायया'** शब्द से यह प्रतीत होता है कि

माया भगवान् की निजी वस्तु है। यहाँ **'प्रकृति'** शब्द से सांख्यशास्त्रोक्त स्वतन्त्र प्रकृति गृहीत नहीं है। अपितु यहाँ माया का ही नाम प्रकृति है।

**मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् ।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् ४/१० पूर्वार्द्ध

जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी 'प्रकृति' शब्द से यहाँ माया के ग्रहण की बात कही गई है। भगवद्गीता के—

**भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च ।**
**अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ।।**
**अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् ।**
**जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ।।**

भगवद्गीता ७/४-५

इन उक्त श्लोकों में जो अपरा और परा प्रकृति का वर्णन किया गया है, वहाँ पर दोनों ही श्लोकों में **'अहंकार इतीयं मे'** और **'प्रकृतिं विद्धि मे पराम्'** में भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रकृति अर्थात् माया को अपनी कहा है। इन प्रमाणों से स्पष्ट विदित होता है कि माया कोई दूसरी वस्तु नहीं है, अपितु भगवान् की विश्वमोहिनी कोई अनिर्वचनीय शक्ति है। जो शक्ति उन्हीं के बल से जगत् के दृश्यों को उत्पन्न करती है। भगवान् का वचन है—

**मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।।**

भगवद्गीता ९/१० पूर्वार्द्ध

अर्थात् मेरी अध्यक्षता में यह माया चर-अचर संसार को उत्पन्न करती है। उपर्युक्त अनुशीलन से स्पष्ट हो जाता है कि माया क्या वस्तु है और कहाँ से उत्पन्न हुई है। अब विचारणीय पक्ष यह है कि माया का धर्म क्या है?

### माया का धर्म

भगवद्गीता के पूर्वोल्लिखित **'दैवी ह्येषा'** (७/१४) की व्याख्या करते हुए भगवान् शङ्कराचार्य ने माया को सम्पूर्ण जीवों के चित्त को मोहित करने वाली बतलाया है। इतना ही नहीं, भगवद्गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन के प्रति माया का स्वरूप समझाते हुए कहा है—

**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।**
**मोहितं नाऽभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ।।**

भगवद्गीता ७/१३

अर्थात् सत्त्व-रज-तम इन त्रिगुणात्मक भावों से मोहित हुआ यह सम्पूर्ण जगत्, इससे परे निर्गुण मुझ परमेश्वर को नहीं जानता है। इससे माया का धर्म मोहित करना सिद्ध होता है। यही तथ्य अन्य वचनों से परिपुष्ट होता है—

**माययाऽपहृतज्ञानाः ।** भगवद्गीता ७/१५ उत्तरार्द्ध

**मूढोऽयं नाभिजानाति ।** भगवद्गीता ७/२५ उत्तरार्द्ध

**सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप ।** भगवद्गीता ७/२७ उत्तरार्द्ध

**अवजानन्ति मां मूढाः ।** भगवद्गीता ९/१२ उत्तरार्द्ध

फलाभिसन्धि यह है कि भगवद्गीता में परिणामवाद नहीं, अपितु मायावाद, (विवर्तवाद) की स्थापना हुई है।

●

# भगवद्गीता में मायावाद एवं परिणामवाद : एक तुलनात्मक परिशीलन

श्रीमद्भगवद्गीता में मायावाद एवं परिणामवाद दोनों वादों के पोषक वाक्य समुपलब्ध हैं। इससे निश्चयरूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि भगवद्गीता में वस्तुतः कौन वाद मुख्यतः समर्थित है। मेरी यह मान्यता है कि गीता का प्रतिपाद्य विषय किसी वाद की स्थापना करना नहीं है। सच्चिदानन्दघन सर्वशक्तिमान् परमात्मा को प्राप्त करना ही गीता का उद्देश्य है। जिसके उपास्यस्वरूप कई प्रकार के मार्ग बतलाये गये हैं, जिनमें परिणामवाद और मायावाद दोनों का समावेश हो जाता है। यथा—

**अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।**
**रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाऽव्यक्तसंज्ञके ।।**
**भूतग्रामः स एवाऽयं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।**
**रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ।।**

भगवद्गीता ८/१८-१९

इसलिये वे यह जानते हैं कि सम्पूर्ण दृश्यमात्र भूतगण ब्रह्मा के दिन के प्रवेशकाल में अव्यक्त से अर्थात् ब्रह्म के सूक्ष्म शरीर से उत्पन्न होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के प्रवेशकाल में उस अव्यक्त नामक ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर में ही लय होते हैं। और वह ही यह भूतसमुदाय उत्पन्न हो होकर प्रकृति के वश में हुआ, रात्रि के प्रवेशकाल में लय होता है और दिन के प्रवेशकाल में पुनः उत्पन्न होता है। हे अर्जुन! इस प्रकार ब्रह्मा के एक सौ वर्ष पूर्ण होने से अपने लोकसहित ब्रह्मा भी शान्त हो जाता है।

उपरिनिर्दिष्ट इन श्लोकों से यह स्पष्ट है कि समस्त व्यक्त जड पदार्थ अव्यक्त समष्टिभूत शरीर से उत्पन्न होते हैं और अन्त में उसी में लय हो जाते हैं। यहाँ यह नहीं कहा कि उत्पन्न और लय होते हुए से प्रतीत होते हैं,

तात्त्विकरूप में नहीं होते। परन्तु स्पष्टतः उत्पन्न होना अर्थात् उस अव्यक्त का ही व्यक्तरूप में परिणाम को प्राप्त होना और दूसरा परिणाम व्यक्त से पुनः अव्यक्त रूप होना बतलाया है। इन अव्यक्त तत्त्वों का संघात (सूक्ष्म समष्टि) भी महाप्रलय के अन्त में मूल अव्यक्त में विलीन हो जाता है और उसी में उसकी उत्पत्ति होती है। उस मूल अव्यक्त प्रकृति को ही भगवान् श्रीकृष्ण ने आगे महद्ब्रह्म कहा है—

**मम योनिर्महद् ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् ।**
**सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।**
**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।।**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।**

भगवद्गीता १४/३-४

अर्थात् महासर्ग के आदि में सम्पूर्ण मूतियों (शरीरों) की उत्पत्ति में महद्ब्रह्म को ही कारण बतलाया है। अर्थात् जडवर्ग के विस्तार में इस प्रकृति को ही हेतु माना है। गीता के तेरहवें अध्याय में भी कार्य-करण-रूप तेईस तत्त्वों को ही प्रकृति का विस्तार बतलाया है—

**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि ।**
**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान् ।।**
**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।**
**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ।।**

भगवद्गीता १३/१९-२०

अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी रूप पाँच महाभूत, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच विषय—इन दश को कार्य कहते हैं। बुद्धि, अहंकार, मन (अन्तःकरण); श्रोत्र, त्वक्, रसना, नेत्र, घ्राण (ज्ञानेन्द्रियाँ) वाक् पाणि, पाद, पायु, उपस्थ (कर्मेन्द्रियाँ)—इन तेरह के समुदाय का नाम करण है। सांख्यकारिका में कहा है—मूलप्रकृति विकृति नहीं है, महत् आदि सात प्रकृति-विकृति हैं, सोलह विकार हैं और पुरुष न प्रकृति है और न विकृति है—

**मूलप्रकृतिरविकृतिः महदादयः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।**
**षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः ।।**

सांख्यकारिका, ३

अव्याकृत माया का नाम मूलप्रकृति है। यह किसी का विकार न होने के कारण किसी की विकृति नहीं है। महत्तत्त्व (समष्टि बुद्धि), अहङ्कार, भूतों की सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ—ये सात प्रकृति-विकृति हैं। मूलप्रकृति का विकार होने से इनको विकृति कहते हैं एवं इनसे अन्य विकारों की उत्पत्ति होती है, इसी से इन्हें ही प्रकृति कहते हैं। अत एव दोनों मिलकर इनका नाम प्रकृति-विकृति है। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन और पाँच स्थूलभूत—ये सोलह विकृति हैं। प्रकृति-विकृतिरूप अहङ्कार और पञ्चतन्मात्राओं से उत्पत्ति होने के कारण इनको विकृति कहते हैं। इनसे आगे अन्य किसी की उत्पत्ति नहीं है। इससे ये किसी की प्रकृति नहीं हैं, विकृतिमात्र हैं। तत्त्वान्तर के उपादानकारण में ही प्रकृतित्व है। ऐसी तत्त्वान्तरोपादानता पृथ्वी के कार्यभूत गवादि, बीजादि में दृष्टिगत नहीं होती है। अतः पञ्चमहाभूतपर्यन्त सृष्टि कही गई है। वाचस्पति मिश्र ने सांख्यतत्त्वकौमुदी में यह अभिप्रेत अर्थ स्पष्ट किया है—

**गवादयो बीजादयो वा न पृथिव्यादिभ्यस्तत्त्वान्तरम् ।**
**तत्त्वान्तरोपादानत्वं च प्रकृतित्वमिहाभिप्रेतम्, इति न दोषः ।**
**सर्वेषां गोघटादीनां स्थूलतेन्द्रियग्राह्यता च समेति न तत्त्वान्तरम् ।**

सांख्यतत्त्वकौमुदी, सांख्यकारिका, ३

सांख्यदर्शन के अनुसार मूलप्रकृति से महत्तत्त्व, महत्तत्त्व से अहङ्कार, अहङ्कार से पञ्चतन्मात्राएँ एवं एकादश इन्द्रियाँ, तदनन्तर पञ्चतन्मात्राओं से पञ्च स्थूलभूत हैं। भागवद्‌गीता में भी ऐसा विवरण प्राप्त है—

**महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च ।**
**इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः ।।**

भगवद्‌गीता १३/५

इससे यह सिद्धान्तित होता है कि जो कुछ दिखलाई पड़ता है, वह सब प्रकृति का कार्य है। अर्थात् प्रकृति ही परिणाम को प्राप्त हुई है।

जीवात्मासहित जो चतुर्विध जीवों की उत्पत्ति होती है, वह प्रकृति और पुरुष के संयोग से होती है। इनमें जितने देह-शरीर हैं, वे सब प्रकृति का परिणाम हैं और उन सबमें जो चेतन है, वह परमेश्वर का अंश है। चेतनरूप बीज देने वाला पिता परमात्मा है। भगवान् कहते हैं—

**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।**

भगवद्गीता १४/४

अर्थात् हे अर्जुन! नाना प्रकार की सब योनियों में जितनी मूतियाँ अर्थात् शरीर उत्पन्न होते है, उन सबकी त्रिगुणमयी माया तो गर्भ को धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापित करने वाला पिता हूँ। भगवद्गीता में इस प्रकार समस्त प्राणियों की उत्पत्ति में प्रकृतिसहित पुरुष का कथन स्थान-स्थान पर मिलता है। कहीं परमेश्वर की अध्यक्षता से प्रकृति चराचर जगत् को उत्पन्न करती है, ऐसा कहा गया है—

**मयाऽध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् ।**
**हेतुनाऽनेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्तते ।।**

भगवद्गीता ९/१०

तो कहीं, मैं उत्पन्न करता हूँ ऐसे वचन मिलते हैं। यथा—

**प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः ।**
**भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ।।**

भगवद्गीता ९/८

किन्तु सिद्धान्त एक ही है। इस परिशीलन से यह सिद्ध हो जाता है कि यह निखिल चराचर जगत् प्रकृति का परिणाम है। परमेश्वर अपरिणामी है, गुणों से अतीत है। इस संसार के परिणाम में परमेश्वर प्रकृति को सत्ता-स्फूर्ति प्रदान करता है, सहायता करता है, परन्तु उसके परिणाम से परिणामी नहीं होता है। भगवद्गीता में बतलाया है कि अव्यक्त प्रकृति से परे जो एक सनातन अव्यक्त परमात्मा है, उसका कभी नाश नहीं होता अर्थात् वह परिणामरहित एकरस रहता है। यथा—

**परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।**
**यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ।।**

भगवद्गीता ८/२०

इसलिये भगवद्गीता ने उसी का समझना यथार्थ बतलाया है जो सम्पूर्ण भूतों के नाश होने पर भी परमात्मा को अविनाशी एकरस समझता है—

**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।**
**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।**

भगवद्गीता १३/२७

इससे सिद्ध होता है कि नित्य, शुद्ध, बोधस्वरूप परमात्मा में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता है। वस्तुतः परिवर्तनशील संसार का ही परिवर्तन होता है। इस प्रकार भगवद्गीता में परिणामवाद का समर्थन किया गया है।

इसके विपरीत भगवद्गीता में ऐसे श्लोक भी बहुत हैं जिनके आधार पर अद्वैतमत के अनुसार व्याख्या करने वाले विद्वान् मायावाद सिद्ध करते हैं। भगवान् ने कहा है—मेरी योगमाया का आश्चर्यजनक कार्य देख, जिससे विना ही हुआ जगत् मुझसे परिणाम को प्राप्त हुआ सा दीखता है—

**न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम् ।**
**भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः ।।**

भगवद्गीता ९/५

अर्थात् वास्तविक रूप में संसार मुझ परमात्मा में है नहीं। पर दीखता है इस न्याय से है भी। अतः यह सब मेरी माया का विलास (क्रीडा) है। जैसे रज्जु में विना ही हुए सर्प दीखता है, वैसे ही विना ही हुए अज्ञान से संसार भी भासित होता है। आगे चलकर भगवान् ने जो यह कहा है—

**यथाऽऽकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान् ।**
**तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय ।।**

भगवद्गीता ९/६

अर्थात् जैसे आकाश से उत्पन्न हुआ सर्वत्र विचरने वाला महान् वायु

सदा ही आकाश में स्थित है, वैसे ही मेरे सङ्कल्प द्वारा उत्पत्ति वाले होने से सम्पूर्ण भूत मुझ में स्थित हैं, ऐसा जानो।

इससे यह नहीं समझना चाहिए कि आकाश से उत्पन्न होकर उसी में रहने वाले वायु के समान संसार भगवान् में है। यह दृष्टान्त केवल समझने के लिये है। सातवें अध्याय में भगवान् ने कहा है कि सात्त्विक-राजस-तामस-भाव मुझ से उत्पन्न होते हैं, परन्तु वास्तव में उनमें मैं और वे मुझमें नहीं हैं—

**ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये ।**
**मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि ।।**

भगवद्गीता ७/१२

मेरे अतिरिक्त किञ्चिन्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है—

**मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय ।**

भगवद्गीता ७/७ पूर्वार्द्ध

सब कुछ वासुदेव ही है—

**वासुदेवः सर्वमिति ।**

भगवद्गीता ७/१९ उत्तरार्द्ध

इस संसार वृक्ष का जैसा स्वरूप कहा है वैसा यहाँ उपलब्ध नहीं होता—'**न रूपमस्येह तथोपलभ्यते**' आदि वचनों से मायावाद की पुष्टि होती है। (भगवद्गीता १५/३ पूर्वार्द्ध) एक परमात्मा के अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। जो कुछ प्रतीत होता है, वह केवल मायामात्र है।

इस तरह से दोनों प्रकार के वादों को न्यूनाधिक रूप से समर्थन करने वाले वचन भगवद्गीता में मिलते हैं। मेरी समझ में भगवद्गीता किसी वादविशेष का प्रतिपादन नहीं करती है। वह किसी वाद के मर्म को समझाने के लिये अवतरित नहीं हुई है। वह तो सब वादों का समन्वय करके ईश्वरप्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग बतलाती है। भगवद्गीता में दोनों ही वादों के मानने वालों के लिये पर्याप्त वचन मिलते हैं। इससे भगवद्गीता सभी के लिये उपयोगी है। अपने-अपने मत और अधिकार के अनुसार भगवद्गीता का अनुसरण कर भगवत्प्राप्ति के मार्ग पर आरूढ होना चहिए।

●

# योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्त : एक सिंहावलोकन

प्राचीनपारम्पर्यागत एक प्रसिद्ध पद्य है—

**योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।**
**योऽपाकरोत् तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।**

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के ब्रह्मकाण्ड में करणत्रयगत मलत्रयशोधक शास्त्रत्रय के विषय में उक्त आशय का एक पद्य प्रस्तुत किया है—

**कायवाग्बुद्धिविषया ये मलाः समवस्थिताः ।**
**चिकित्सालक्षणाऽध्यात्मशास्त्रैस्तेषां विशुद्धयः ।।**

वाक्यपदीय, ब्रह्मकाण्ड

शरीरशोधक आयुर्वेदशास्त्र, वाक्शोधक व्याकरणशास्त्र तथा चित्तशोधक योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् पतञ्जलि ने मानवमात्र के कल्याणार्थ अविस्मरणीय कार्य किया। शरीर-वाक्-चित्त शुद्धि के उपजीव्य ग्रन्थों का निर्माण किया।

महर्षि पतञ्जलि का योगसूत्र योगविद्या का पथप्रदर्शक है। सूत्रात्मक शैली में उपनिबद्ध पतञ्जलि का योगदर्शन समाधि-साधन-विभूति-कैवल्य नाम से चार पादों में विभक्त है, जिसमें कुल १९५ सूत्र हैं।

**सूत्र का लक्षण**

शास्त्रों में सूत्र का लक्षण मिलता है—

**स्वल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम् ।**
**अस्तोभयमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ।।**

महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र में सूत्र का यह लक्षण पूर्णतया चरितार्थ होता है। योगदर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों पर चर्चा करने से पूर्व विषय के आधार पर शास्त्रवर्गीकरण के द्वितीय पक्ष को भी देख लेना आवश्यक है। तदनुसार व्याकरणशास्त्र को शब्दशास्त्र, न्याय-वैशेषिक को प्रमाणशास्त्र, मीमांसा को वाक्यशास्त्र तथा सांख्य-योग को प्रमेयशास्त्र कहते हैं। सांख्य के

तत्त्व योग की प्रयोगशाला में परीक्षित हैं। सांख्य तत्त्वाधारित सिद्धान्तशास्त्र है, तो योग प्रयोगशास्त्र। सांख्य-योग को इसीलिये समानतन्त्र कहते हैं।

**सूत्रों का वर्गीकरण**

जिस प्रकार मनुष्य की जीवन-यात्रा धर्म और मोक्षरूप दो तटबन्धों के मध्य अर्थ और कामरूप दो भावधाराओं में प्रवाहित होती है उसी प्रकार **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** १/२ तथा **तदा द्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्** १/३ इन दो सूत्रों को आलम्बन बनाकर योग के अन्य सूत्र साधनापथ पर आरूढ साधक का मार्गदर्शन करते हैं। प्रदीपन्याय से साधक को आशा की किरण दिखाते हुए योग-दिशा की दशा का मूल्याङ्कन करते हैं।

प्रत्येक शास्त्र का एक बीज तत्त्व होता है। जैसे भगवद्गीता का बीजवाक्य है—

**अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे ।**

भगवद्गीता २/११

यही है भगवद्गीता का बीज—कि हे अर्जुन! जिनके लिये शोक करना उचित नहीं है उन्हीं के लिये तुम शोक कर रहे हो, किन्तु पण्डित व्यक्तियों की तरह बातें कर रहे हो।

जैसे बीज में वृक्ष की समस्त शक्ति निहित रहती है, किन्तु उचित संरक्षण से बीज अंकुरित, पल्लवित एवं पुष्पित होता है। वैसे शास्त्र का बीज सूत्र विषयविस्तार को प्राप्त होता है। योगशास्त्र की स्थिति अधोलिखित है—

**बीजसूत्र**—योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः १/२

**शक्तिसूत्र**—यथाऽभिमतध्यानाद्वा १/३९

**कीलक**—पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति ४/३४

**विनियोगसूत्र**—यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि २/२९

अभिप्राय यह है कि बीजसूत्र में प्रयुक्त योग, चित्त, वृत्ति और निरोध ये चार पद पतञ्जलि के योगसूत्रात्मक वृक्ष के शाखाचतुष्टय हैं। इन चार पदों के व्याख्यान से सम्पूर्ण शास्त्र आलोकित हो जाता है। साधना में साधक की

अभिमतता को इंगित करने वाले **यथाऽभिमतध्यानाद्वा** सूत्र को शक्तिसूत्र मान सकते हैं। चक्की के कीलक की भाँति साधना में कीलक = निश्चित उद्देश्य का प्रतिपादक सूत्र **पुरुषार्थशून्यानां... चितिशक्तिरिति** है और विनियोगसूत्र है—अष्टाङ्गयोग का प्रतिपादक सूत्र। वृत्तिनिरोध की यात्रा यम, नियमादि के अनुपालन से पूर्णता को प्राप्त होती है। अष्टाङ्गयोग योगवारिधि का ऐसा मन्थनदण्ड है, जिससे स्वरूपप्रतिष्ठात्मक मोक्षामृत निःसृत होता है। परिणामतः साधक की जन्म-जन्मान्तरीय योगसाधना की यात्रा पूर्ण हो जाती है।

### योग का लक्षण

तो आइये, **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** इस बीजसूत्र को आधार बनाकर विषय का पल्लवन किया जाय।

इस सूत्र में **'योगः'** यह लक्ष्यपद है तथा **'चित्तवृत्तिनिरोधः'** यह लक्षणपद है। अभिप्राय यह है कि लक्ष्यभूत 'योगः' को चित्तवृत्तिनिरोधः पद से लक्षित किया जा रहा है। योग के लक्षणपद की निर्दुष्टता प्रतिपादित करने के लिये योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव एवं व्यासभाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट ने योग के इस लक्षण के परिष्कार पर बल दिया है।

### योगलक्षण का परिष्कार

१. अव्याप्तिदोष का निवारण ।

२. अतिव्याप्तिदोष का निराकरण ।

**'चित्तवृत्तिनिरोधः'** को यदि योग का लक्षण कहा जाय तो अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि भूमियों में होने वाले चित्त के यत्किंचिद् वृत्तिनिरोध को भी योग कहना पड़ेगा जब कि यह वाञ्छित नहीं है, एतावता योग के 'चित्तवृत्तिनिरोधः' लक्षण में अतिव्याप्तिदोष प्रसक्त होता है।

उक्त अतिव्याप्तिदोष के निराकरण के लिये, जिससे योग का लक्षण अलक्ष्यभूत क्षिप्तादि में घटित न हो सके, यदि **'सर्वचित्तवृत्तिनिरोधः'** को योग का लक्षण कहा जाय तो अतिव्याप्तिदोष निराकृत होते ही वह अव्याप्तिदोष से युक्त हो जायेगा। सम्पूर्ण लक्ष्य में लक्षण का घटित न होना अव्याप्तिदोष है। 'सम्प्रज्ञात' योग का लक्ष्यभूत स्थल है। किन्तु सम्प्रज्ञात में

ध्येयाकाराकारिता वृत्ति की विद्यमानता रहने से उसमें सर्ववृत्तिनिरोध की स्थिति नहीं बन सकेगी।

योग के प्रकृत लक्षण में अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोष की सम्भावित स्थिति का निराकरण के लिये व्यासभाष्य के टीकाकार वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु एवं नागेशभट्ट को योग का परिष्कृत लक्षण करने की आवश्यकता अनुभूत हुई। योग का परिष्कृत लक्षण करने में तीनों टीकाकारों का अपना-अपना योगदान है। तीनों पक्ष स्तुत्य एवं निर्भ्रान्त हैं—

१. **क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थित्वे सति चित्तवृत्तिनिरोधत्वं योगत्वम्—** वाचस्पतिमिश्र।

२. **द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुश्चित्तवृत्तिनिरोधो योगः—** विज्ञानभिक्षु।

३. **प्रलयकालीनस्य समग्रसुषुप्तिकालस्य च निरोधस्य व्यावृत्तय आत्यन्तिकेति। एतावता द्रष्टुरात्यन्तिकस्वरूपावस्थितिहेतुचित्तवृत्तिनिरोधत्वस्यैव लक्षणत्वात्—** नागेशभट्ट

वाचस्पतिमिश्र के अनुसार क्षिप्तादि तीन भूमियों में होने वाले यत्किंचित् चित्तवृत्तिनिरोध में योग का परिष्कृत लक्षण अतिव्याप्त नहीं होता है, क्योंकि क्षिप्तादिभूमिक वृत्तिनिरोध क्लेशादि का परिपन्थी अर्थात् विरोधी नहीं है, अपितु क्लेशादि का पोषक है। जब कि एकाग्र और निरुद्धभूमिक चित्त का वृत्तिनिरोध क्लेशादि का परिपन्थी है। इस प्रकार 'क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थित्व' इस विशेषण पद के समावेश से योग का निर्दुष्ट लक्षण किया जा सकता है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार वही चित्तवृत्तिनिरोध योगलक्षण की परिधि में आता है, जिसमें 'द्रष्टृस्वरूपावस्थितिहेतुत्व' रहे। क्षिप्तादि तीन भूमियों से भिन्न एकाग्र और निरुद्धभूमिक चित्त में निष्पादित वृत्तिनिरोध में ही 'द्रष्टृस्वरूपावस्थिति' की हेतुता है। अतः इसे योग का निर्दुष्ट लक्षण कहा जा सकता है।

नागेशभट्ट के अनुसार विज्ञानभिक्षुकृत योग के परिष्कृत लक्षण में 'आत्यन्तिक' पद का समावेश कर योग के लक्षण को प्रलय एवं समग्र सुषुप्ति में अतिव्याप्त होने से बचाना चाहिये। क्योंकि प्रलय और समग्र-

सुषुप्ति अवस्था में चित्त की समस्त वृत्तियों का निरोध तो होता है किन्तु यह सार्वकालिक (आत्यन्तिक) सर्वचित्तवृत्तिनिरोध नहीं है। अत: योग के परिष्कृत लक्षण में 'आत्यन्तिक' पद का समावेश अपरिहार्य है। किंवा नागेशभट्ट ने वाचस्पति मिश्र के योग के परिष्कृत लक्षण का भी समर्थन किया है। एतावता पतञ्जलि के योगसूत्र का अध्ययन करने के लिये टीकाग्रन्थों का अध्ययन करना अत्यन्त आवश्यक है।

**योग का स्वरूप**

चित्तवृत्तिनिरोध की प्रक्रिया से सम्पादित योग दो प्रकार का है—

१. सम्प्रज्ञातयोग ।

२. असम्प्रज्ञातयोग ।

**सम्प्रज्ञातयोग**

दर्पण में दर्शक को अपनी मुखाकृति भली-भाँति दिखलाई पड़े, इसके लिये दर्पण की स्वच्छता अपरिहार्य है। इसी प्रकार योगदर्शनसम्मत पदार्थों के अपरोक्षज्ञान के लिये चित्त को क्षिप्तादि भूमियों से ऊपर उठाकर एकाग्रभूमि में प्रतिष्ठित करना आवश्यक रहता है। चित्त और चित्तभूमि का स्वरूप आगे प्रतिपादित किया जायेगा।

चित्त की एकाग्रावस्था में सम्प्रज्ञातयोग साधित होता है। चूँकि सम्प्रज्ञात विषयसाक्षात्कार की अवस्था है। अत: धनुर्विद्या के अभ्यासी की भाँति, सम्प्रज्ञातयोग में विषयसाक्षात्कार का क्रम स्थूल से सूक्ष्म ध्येय की ओर अभिमुख होता है। सम्प्रज्ञात का अभ्यासी सर्वप्रथम पाञ्चभौतिक स्थूल ध्येय का साक्षात्कार करता है, तदनन्तर सूक्ष्म ध्येय का। वाचस्पतिमिश्र ने लिखा है—

**यथा हि प्राथमिको धानुष्कः स्थूलमेव लक्ष्यं विध्यत्यथ सूक्ष्मम् ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/१७

सम्प्रज्ञातयोग के चार भेद हैं। योगसूत्र है—

**वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ।**

योगसूत्र १/१७

**१. वितर्कानुगतसम्प्रज्ञातयोग**—इसमें स्थूलपदार्थविषयक प्रज्ञा (समापत्ति) होती है।

२. **विचारानुगतसम्प्रज्ञातयोग**—इसमें सूक्ष्मपदार्थविषयक प्रज्ञा (समापत्ति) होती है।

३. **आनन्दानुगतसम्प्रज्ञातयोग**—वाचस्पति मिश्र के अनुसार सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न सत्त्वगुणप्रधान इन्द्रियाँ आनन्दानुगतयोग का विषय हैं।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार ह्लाद (स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के साक्षात्कार से जन्य उल्लास) आनन्दानुगतयोग का विषय है।

४. **अस्मितानुगतयोग**—वाचस्पतिमिश्र के अनुसार इस अवस्था में साधक को इन्द्रियों का कारणभूत अहङ्कार ग्रहीतृपुरुष के साथ एकीकृत हुआ प्रतिभासित होता है। विज्ञानभिक्षु के अनुसार अस्मितानुगतयोग शुद्ध आत्मविषयक है।

**समापत्तित्रय**—सम्प्रज्ञातयोग के चार भेद तीन समापत्तियों में वर्गीकृत हैं—

**ग्राह्यसमापत्ति** में वितर्क और विचारानुगतयोग है। **ग्रहणसमापत्ति** में आनन्दानुगतयोग है तथा **ग्रहीतृसमापत्ति** में अस्मितानुगतयोग है। समापत्तित्रय का प्रतिपादक सूत्र है—

**क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः।**

योगसूत्र १/४१

सम्प्रज्ञातयोग की किस अवस्था में किस विषय का साक्षात्कार होता है, इसमें योगी का अनुभव प्रमाण है। चित्तैकाग्रभूमिक सम्प्रज्ञात विषयवृत्ति बीज से संवलित होने से 'सबीजयोग' कहलाता है और निरुद्धभूमिक असम्प्रज्ञात विषयात्मक वृत्तिबीज से रहित होने के कारण 'निर्बीजयोग' कहलाता है।

**असम्प्रज्ञातयोग**

असम्प्रज्ञातयोग का प्रतिपादक सूत्र है—

**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वो संस्कारशेषोऽन्यः ।**

योगसूत्र १/१८

अभिप्राय यह है कि सम्प्रज्ञातयोग में एकाग्रभूमिक चित्त ध्येयाकारा वृत्ति से युक्त रहता है, किन्तु असम्प्रज्ञातयोग में ध्येयाकारावृत्ति भी निरुद्ध हो

जाती है और निर्वृत्तिक चित्त संस्कारशेष अवस्था में रहता है। निरुद्धभूमिक चित्त में व्युत्थानसंस्कार और निरोधसंस्कारों का ही आविर्भाव-तिरोभावरूप व्यापार चक्र चलता है। इन्धन के भस्मीभूत होने पर अग्नि जिस प्रकार स्वतः शान्त हो जाती है उसी प्रकार चरिताधिकार चित्त निरोधात्मक संस्कार के सहित अपने मूलकारण प्रकृति में स्वतः लीन हो जाता है। प्रकृति में प्रज्ञापूर्वक लीन हुए निरोधसंस्कारविशिष्ट चित्त का पुनरुद्भव सम्भव नहीं होता है, क्योंकि चित्त के पुनरुत्थान की कारणभूता अविद्या प्रसंख्याग्नि से पूर्णतया दग्ध हो जाती है।

साधनाक्रम की दृष्टि से ऐसा प्रतीत होता है कि सम्प्रज्ञातयोग को असम्प्रज्ञातयोग का साधन मान लिया जाय। किन्तु स्थिति ऐसी नहीं है। सबीजयोग में विजातीय निर्बीजयोग की साधनता नहीं है। निर्वस्तुक परवैराग्य ही असम्प्रज्ञातयोग का साधन है।

**असम्प्रज्ञातयोग के भेद**

असम्प्रज्ञातयोग के दो भेद हैं—

१. भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात ।

२. उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात ।

इनमें से भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात मुमुक्षुओं के लिये अनुपादेय है, क्योंकि वह अविद्यामूलक सर्ववृत्तिनिरोध की अवस्था है, जब कि प्रज्ञामूलक उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात उपादेय (ग्राह्य) है।

**भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात**

विदेह एवं प्रकृतिलीन साधकों अर्थात् अनात्मभूत पदार्थ में आत्म-भाव करने वालों के लिये भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञात कहा गया है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम् ।**

योगसूत्र १/१९

**'भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या'**—इस व्युत्पत्ति के अनुसार 'भव' शब्द का अर्थ अविद्या है। कुछ टीकाकार 'भव' शब्द का अर्थ अविद्यामूलक 'संसार' करते हैं। अभिप्राय यह है कि किसी एक ध्येय पदार्थ

का निरन्तन चिन्तन करने से निरुद्धभूमिक चित्त संस्कारशेष अवस्था को प्राप्त हो जाता है। किन्तु चित्त की यह सर्ववृत्तिनिरोधकालिक अवस्था, विवेकज्ञानमूलक न होने से, आविद्यक संस्कारशेष अवस्था है। अतः कुछ समय तक कैवल्यसम अवस्था का अनुभव करने वाले इन साधकों का अचरितार्थ चित्त उद्बुद्ध आविद्यक संस्कार से पुनः संसार में प्रवेश करता है। भवप्रत्ययक असम्प्रज्ञातवान् साधकों की तुलना मण्डूकदेह से करते हुए वाचस्पतिमिश्र लिखते हैं—

**यथा वर्षातिपाते मृद्भावमुपगतो मण्डूकदेहः पुनरम्भोदवारिधाराऽवसेकात् मण्डूकदेहभावमनुभवति ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/१९

**उपायप्रत्ययक असम्प्रज्ञात**

शास्त्रसम्मत ज्ञानप्रक्रिया से निरुद्धभूमिक चित्त को प्राप्त होने वाला सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्रज्ञात उपायप्रत्ययक कहा गया है। सूत्र है—

**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम् ।**

योगसूत्र १/२०

**चित्त का स्वरूप और उसकी अवस्थाएँ**

**चित्त शब्द से कौन तत्त्व गृहीत ?**

सांख्ययोग को समानतन्त्र कहते हैं। दोनों दर्शनों की सृष्टिप्रक्रिया में समानता है। सांख्यकारिका का वचन है—

**प्रकृतेर्महाँस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।**
**तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ।।**

सांख्यकारिका २२

योगसूत्र है—

**विशेषाऽविशेषलिङ्गमात्राऽलिङ्गानि गुणपर्वाणि ।**

योगसूत्र २/१९

इन दो उद्धरणों से 'चित्त' शब्द प्रकृति के आद्य परिणाम बुद्धि का सामान्यतया वाचक है। सांख्य के बुद्धितत्त्व एवं योग के चित्ततत्त्व की

एकतत्त्वात्मकता सिद्ध होती है। सांख्य-योग-दर्शन का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-विधान बुद्धि-पुरुष में उपचरित होता है। इससे योगसूत्रगत चित्तशब्द बुद्धि का उपलक्षक है। ज्ञातव्य है कि योगसूत्र में कहीं-कहीं 'चित्त' के अर्थ में 'मन' शब्द का प्रयोग भी मिलता है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**धारणासु च योग्यता मनसः ।**

योगसूत्र २/५३

प्रकृति का आद्य परिणाम 'बुद्धि' योगशास्त्र का 'चित्त' तत्त्व है। त्रयोदश करणों (बुद्धि-अहंकार-मन-पञ्चज्ञानेन्द्रिय-पञ्चकर्मेन्द्रिय) में प्रधानतम करण बुद्धि = चित्त को लेकर योगसाधना का मार्ग प्रशस्त है।

प्रकृति का प्रथम कार्य 'चित्त' सत्त्वगुणप्रधान है। किन्तु कोई भी गुण एकाकी नहीं है। अतः चित्त की त्रिगुणात्मकता को इङ्गित करते हुए बलदेव मिश्र ने लिखा है—

**चित्तं हि प्रख्याप्रवृत्तिस्थितिशीलत्वात् त्रिगुणम् ।**

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

**चित्त की अवस्थाएँ अथवा भूमियाँ**

चित्त के स्वरूप को मूल्याङ्कित करने के लिये व्यासदेव ने चित्त की पाँच भूमियाँ बतलाई हैं—

**क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/२

'भूमि' शब्द का अर्थ 'अवस्था' करते हुए नागेशभट्ट ने लिखा है—

**क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमपि पञ्च चित्तस्याऽवस्थाः ।**

नागेशभट्टयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्र १/२

'चित्तस्याऽवस्थाः' कहने से चित्त और उसकी अवस्था (भूमि) में भेद प्रतीत होता है। किन्तु सांख्ययोगदर्शन में धर्म-धर्मी में अभेद विवक्षित होने से भूमिरूप धर्म चित्तरूप धर्मी से भिन्न नहीं अपितु अभिन्न है। योगसूत्र है—

**शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।**

योगसूत्र ३/१४

'चित्त' धर्मी शान्त-उदित-अव्यपदेश्य धर्म से अन्वित होता है। क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र तथा निरुद्ध ये पाँच चित्तभूमियाँ हैं।

**क्षिप्तभूमि**

यह चित्त की रजोगुणप्रधान अवस्था है। चित्त एक स्थल पर स्थिर नहीं रहता है। बलदेवमिश्र का वचन है—

**तत्र सदैव रजसा तेषु तेषु विषयेषु क्षिप्यमाणमत्यन्तमस्थिरं क्षिप्तम् ।**

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

**मूढभूमि**

यह चित्त की तमोगुणप्रधान अवस्था है। चित्त की इस अवस्था में आलस्य, दीनता, भय, निद्रा, मोह आदि बना रहता है। योगप्रदीपिका में बलदेवमिश्र ने लिखा है—

**तमःसमुद्रेकान्निद्रादिवृत्तिमन्मूढम् ।**

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

**विक्षिप्तभूमि**

विक्षिप्त अवस्था में रजोगुणप्रधान चित्त कभी-कभी सत्त्वगुण के उद्रेक से किसी एक ध्येय तत्त्व में किञ्चित् काल के लिये स्थिरता को प्राप्त करता है। किन्तु अस्थिरता विक्षिप्त भूमि का स्वाभाविक धर्म है। योगप्रदीपिका में कहा है—

**विक्षिप्तं क्षिप्तादिविशिष्टं विशेषोऽस्थैर्यबहुलस्य कादाचित्कं स्थैर्यम् अस्थैर्यं च स्वाभाविकम् ।**

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

**एकाग्रभूमि**

एकाग्रता का अर्थ है—चित्त की किसी एक ध्येय तत्त्व के विषय में स्थिरता (निरन्तरता = एकतानता)। योगप्रदीपिका में कहा है—

**एकाग्रमेकतानम् ।**

योगप्रदीपिका, योगसूत्र १/२

चित्त समस्त विषयों से अपने को पराङ्मुख कर केवल ध्येय का चिन्तन करता है। नागेशभट्ट ने लिखा है—

**एकाग्रत्वं ध्येयातिरिक्तवृत्तिनिरोधः ।**

नागेशभट्टयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्र १/२

चित्त की एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है। अतः चित्त की एकाग्रभूमि को योगोपयोगी कहा गया है। प्रथम तीन चित्तभूमियाँ योगोपयोगी नहीं हैं।

### निरुद्धभूमि

एकाग्रभूमि की तरह चित्त की निरुद्धभूमि भी योगोपयोगी है। निरुद्ध चित्त की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। यह चित्त की वृत्त्यात्मक नहीं, अपितु वृत्तिशून्य अवस्था है, जिसमें चित्त संस्कारशेषावस्थाक होता है। नागेशभट्ट का वक्तव्य है—

**निरुद्धं निरुद्धसकलवृत्तिसंस्कारमात्रशेषम् ।**
**अत्र सर्ववृत्तिनिरोधेऽसंप्रज्ञातः ।**

नागेशभट्टयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्र १/२

चित्त की निरुद्धभूमि में असम्प्रज्ञातयोग सिद्ध होता है।

### चित्तवृत्तियाँ

योगसूत्र १/२ का तृतीय पद 'वृत्ति' है। 'वृत्ति' चित्त का परिणाम है। जिस प्रकार चित्त अर्थात् बुद्धि का तत्त्वान्तरपरिणाम होता है, उसी प्रकार चित्त का वृत्त्यात्मकपरिणाम भी होता है। यहाँ 'वृत्ति' शब्द से चित्त का ज्ञानात्मकपरिणाम विवक्षित है। प्रमा तथा अप्रमा भेद से ज्ञान दो प्रकार का है। इसी प्रकार क्लिष्टता तथा अक्लिष्टता से भी यह दो प्रकार है। चित्तवृत्तियाँ पाँच हैं—

**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ।**

योगसूत्र १/५

### प्रमाणवृत्ति

सांख्ययोगशास्त्र को तीन प्रमाण मान्य हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम। **'प्रमीयतेऽनेन इति प्रमाणम्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके द्वारा प्रमात्मक ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रमाण कहते हैं और तज्जन्य ज्ञान को प्रमा।

परिणामवादी सांख्ययोगदर्शन के अनुसार चित्त का विषयाकार परिणाम ज्ञानप्रक्रिया का प्रमुख आधार है। इस सिद्धान्त को स्पष्टता प्रदान करते हुए विज्ञानभिक्षु ने लिखा है—

**इन्द्रियाण्येव नाडी, चित्तसंचरणमार्गः तैः संयुज्य... चित्तस्येन्द्रियसाहित्येन एवार्थाकारः परिणामो भवति ।**

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/७

जिस प्रकार सरोवर का जल कुल्या (नाली) के माध्यम से खेत में प्रविष्ट होकर क्यारियों के आकार (त्रिकोणाकार गोलाकार) को धारण करता है, उसी प्रकार सत्त्वगुणप्रधान तेजोमय चित्त जल की भाँति, इन्द्रियरूप छिद्र के द्वारा बाहर निकलकर विषयदेशपर्यन्त पहुँचता है और उसके आकार से आकारित हो जाता है। विषय के आकार में चित्त का परिणाम होना ही चित्त की वृत्ति है। न्यायदर्शन में जिसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कहते हैं, योगदर्शन में उसे बाह्यवस्तूपराग।

वस्तु के सामान्य और विशेष दो रूप होते हैं। प्रत्यक्षवृत्ति वस्तु के विशेषरूप का प्रधानतया निश्चय करती है और अनुमानवृत्ति सामान्यरूप का। यही प्रत्यक्षवृत्ति और अनुमानवृत्ति में अन्तर है—

**विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षप्रमाणम् ।**

**सामान्यावधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम् ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/९

व्यासदेव द्वारा प्रस्तुत प्रत्यक्षवृत्ति के लक्षण का अनुशीलन करने से योगसमस्त ज्ञानप्रक्रिया, वस्तुस्वरूपावधारण एवं प्रत्यक्षवृत्ति का परिचय सहज प्राप्त हो जाता है—

**इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात् तद्विषया सामान्य-विशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम् ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/७

**विपर्ययवृत्ति**

विपर्ययवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है—

**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् ।**

योगसूत्र १/८

तद्रूप में अप्रतिष्ठ मिथ्याज्ञान को विपर्ययवृत्ति कहते हैं। जैसे शुक्ति में शुक्तित्वरूप से अप्रतिष्ठ रजतविषयकज्ञान विपर्यय कहलाता है। शुक्ति में होने वाला **'इदं रजतम्'** विपर्ययज्ञान उत्तरवर्ती यथार्थज्ञान **'नेदं रजतम्'** से बाधित (खण्डित) हो जाता है। अत: 'अतद्रूपप्रतिष्ठ' में 'नञ्' प्रसज्यप्रतिषेधार्थक है, न कि पर्युदासार्थक। 'नञ्' को पर्युदासार्थक मानने पर 'इदं रजतम्' इत्याकारक भ्रमज्ञान का उत्तरवर्ती 'नेदं रजतम्' ज्ञान से बाध न हो सकेगा।

**विकल्पवृत्ति**

विकल्पवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है—

**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ।**

योगसूत्र १/९

शब्दों के श्रवणमात्र अर्थात् शब्दज्ञान से अलीक अर्थात् वस्तुशून्यात्मक पदार्थविषयक जो चित्तवृत्ति होती है, उसे विकल्पवृत्ति कहते हैं। सूत्र में 'वस्तुशून्य' शब्द से अलीक वस्तु का ग्रहण होता है, जैसे खरगोश के सींग आदि।

विपर्यय और विकल्प दोनों वृत्तियाँ अप्रमात्मक हैं किन्तु दोनों वृत्तियों में एक महान् अन्तर यह है—

विपर्ययवृत्ति उत्तरवर्ती यथार्थवृत्ति से बाधित हो जाती है और उसमें असद्रूप वस्तु 'सत्' होती है। जगत् में शुक्ति के साथ-साथ रजत की भी सत्ता रहती है। किन्तु विकल्पवृत्ति उत्तरवर्ती यथार्थज्ञान से बाधित नहीं होती है और उसमें विकल्पवृत्ति का विषय सर्वथा अलीक होता है। जगत् में शशशृङ्ग, वन्ध्यापुत्र, आकाशकुसुम आदि असद्रूप हैं। ऐसा ज्ञान होने पर भी 'शशशृङ्ग' इत्याकारक शब्दज्ञान का अनुसरण होते ही विकल्पवृत्ति का उदय अवश्यंभावी है।

**निद्रावृत्ति**

निद्रावृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है—

**अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ।**

योगसूत्र १/१०

जाग्रत् और स्वप्नवृत्तियों के अभाव के कारणभूत तमोगुण को विषय बनाने वाली निद्रावृत्ति है। सूत्र में प्रयुक्त 'अभाव' शब्द का अर्थ है— तमोबहुल अज्ञान। निद्रावृत्ति प्रमाणादि वृत्तियों के निरोध के हेतुभूत अज्ञान को विषय बनाती है। वाचस्पति मिश्र ने निद्रावृत्ति को व्याख्यायित करते हुए लिखा है—

**जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावस्तस्य प्रत्ययः = कारणं बुद्धिसत्त्वाऽऽच्छादकं तमस्तदेवालम्बनं = विषयो यस्याः सा तथोक्ता वृत्तिर्निद्रा ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/१०

सुषुप्तिकालिक निद्रावृत्ति का अनुमान जागरितकालिक स्मृतिवृत्ति से होता है। प्रातःकाल उठने पर अनुभव कुछ इस प्रकार होता है—

**सुखमहमस्वाप्सम्, दुःखमहमस्वाप्सम्, गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम् ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/१०

ज्ञातव्य है कि नैयायिक ज्ञानसामान्याभाव अवस्था को सुषुप्ति मानते हैं। उनका कहना है कि त्वङ्मनःसंयोग ज्ञानसामा य के प्रति कारण है। सुषुप्ति में मन पुरीतत् नाम की नाडी में प्रवेश कर जाता है। अतः त्वङ्मनःसंयोग न होने से सुषुप्ति ज्ञानसामान्याभाव की अवस्था है। जब कि योगदर्शन में निद्रावृत्ति को सप्रमाण 'वृत्ति' सिद्ध किया गया है।

**स्मृतिवृत्ति**

स्मृतिवृत्ति का प्रतिपादक सूत्र है—

**अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ।**

योगसूत्र १/११

प्रमाणादि वृत्तियों के अनुभवजन्य संस्कारों से जो चित्तवृत्ति होती है, उसे स्मृतिवृत्ति कहते हैं। 'असम्प्रमोष' शब्द का अर्थ है—

**न तु तदधिकविषया ।**

तत्त्ववैशारदी, योगसूत्र १/११

इसी को दार्शनिक शब्दावली में कहेंगे—अनुभूतविषयातिरिक्तविषया-ग्रहण। प्रत्यभिज्ञा में स्मृतिवृत्ति का लक्षण अतिव्याप्त न हो सके तदर्थ व्यवस्था करते हुए विज्ञानभिक्षु लिखते हैं कि स्मृतिलक्षण में 'संस्कारमात्रजन्यत्व' इस विशेषण पद का सन्निवेश करना चाहिए—

**सूत्रोक्तमेव लक्षणं तच्च संस्कारमात्रजन्यत्वेन विशेषणीयम् ।**

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/११

विज्ञानभिक्षु की यह युक्ति उनके शिष्य भावागणेश द्वारा भी समर्थित है—

**अत्र प्रत्यभिज्ञाव्यावृत्तये संस्कारमात्रजन्यत्वं विवक्षणीयम् ।।**

भावागणेशयोगसूत्रवृत्ति, योगसूत्र १/११

**निरोध**

'योग' के लक्षणपरक सूत्र का तृतीय पद है—निरोध। यहाँ 'निरोध' शब्द का अर्थ वृत्तियों का अभाव अर्थात् नाश नहीं है, प्रत्युत वृत्तियों का अपने अधिकरण में लीन (अतीतलक्षणपरिणाम को प्राप्त) होना है। वृत्तिनिरोध भी चित्त की एक अवस्था है। विज्ञानभिक्षु ने स्पष्टतः लिखा है—

**वृत्तयस्तासां निरोधस्तासां लयाख्योऽधिकरणस्यैवावस्थाविशेषः ।**
**अभावस्यास्मन्मतेऽधिकरणावस्थाविशेषरूपत्वात् ।**

योगवार्त्तिक, योगसूत्र १/११

**चित्तवृत्तिनिरोधोपाय**

चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा गया है, यह जानने के पश्चात् जिज्ञासा होती है कि किस उपाय = साधन से चित्तवृत्ति का निरोध किया जाय?

महर्षि पतञ्जलि ने मानवस्वभाव के अनुसार योग साधकों की तीन श्रेणियाँ की हैं और उनकी क्षमता के अनुरूप चित्तवृत्तिनिरोध के उपाय भी बतलाये हैं। ऋषि-चिन्तन किसी एक वर्गविशेष का प्रतिनिधित्व नहीं करता है। वह तो मानवमात्र के लिये सार्वभौमिक एवं सार्वदेशिक सिद्धान्तों की स्थापना करता है। महर्षि पतञ्जलि की यह भावना योगसूत्र में स्थल-स्थल पर दिखलाई पड़ती है। अतः उन्होंने कई पादों में चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों की चर्चा की है। योगसूत्र के टीकाकारों ने पतञ्जलि के हृद्गत भाव को समझकर चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों में समन्वय स्थापित किया है।

योगसारसंग्रह में विज्ञानभिक्षु ने योग के अधिकारियों को वर्गीकृत किया है—

**तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो**
**भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढरूपाः ।**

योगसारसंग्रह, अंश २

**उत्तमाधिकारी : 'योगारूढ' के लिये अभ्यास-वैराग्य**

उत्तम साधक वे हैं, जिन्होंने पूर्व जन्मों में कृत योगाभ्यास से यमादि पाँच बहिरङ्ग साधनों को विजित कर लिया है। यमनियमादिनिष्ठ ऐसे उत्तम साधकों को वर्तमानजीवन में यमादि का पुनः अभ्यास नहीं करना पड़ता है। उत्तम साधकों में जडभरतादि परमहंस संन्यासी आते हैं। इनके लिये चित्तवृत्तिनिरोधोपाय को इस प्रकार व्यवस्थित किया है—

**अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।**

योगसूत्र १/१२

चित्त को नदी से उपमित करते हुए व्यासदेव ने अत्यन्त सुन्दर पद्धति से अभ्यास-वैराग्य दोनों की समानान्तर उपयोगिता वर्णित की है—

**चित्तनदी नामोभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च ।**
**या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा ।**
**या तु संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना सा पापवहा ।**
**तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते ।**
**विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते ।**
**इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**

व्यासभाष्य, योगसूत्र १/१२

अभिप्राय यह है कि विवेकज्ञानपरायण चित्त कैवल्याभिमुखी होता है और अविवेकविषयपरायण चित्त संसाराभिमुखी होता है। योग का साधक पुरुष 'वैराग्य' के द्वारा विषयासक्ति (विषयप्रवणता) को शिथिल करता है और 'अभ्यास' के द्वारा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिपुरस्सर विवेकस्रोत को उद्घाटित करता है।

**अभ्यास का स्वरूप**

राजसवृत्ति तथा तामसवृत्तिरहित चित्त की सात्त्विक एकाग्रता के निमित्त जो 'यत्न' किया जाता है, उसे अभ्यास कहते हैं। पतञ्जलि का सूत्र है—

**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ।**

योगसूत्र १/१३

यह अभ्यास दृढभूमिता को तभी प्राप्त होता है जब वह आदरपूर्वक निरन्तरता के साथ दीर्घकाल तक आसेवित होता है। सूत्र है—

**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ।**

योगसूत्र १/१४

मानवजीवन की सफलता अभ्यास के इसी त्रिकोणात्मक चरणों में ध्रुवीकृत है।

**वैराग्य का स्वरूप**

मोक्षमार्ग के बाधक विषयों के प्रति अनासक्तिभाव जागरित करना वैराग्य है। यह वैराग्य दो प्रकार का है—अपरवैराग्य तथा परवैराग्य।

१. विषयविषयकवैराग्य को अपरवैराग्य कहते हैं। इसके चार चरण हैं—यतमान, व्यतिरेक एकेन्द्रिय एवं वशीकार। प्रथम तीन सोपानों के विजित होने पर ही उत्तम साधक 'वशीकार' संज्ञक वैराग्य में प्रतिष्ठित होता है। सूत्र है—

**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम् ।**

योगसूत्र १/५

२. दृष्ट और आनुश्रविक विषयों के प्रति वशीकारसंज्ञक वैराग्य जागरित होने पर साधक के चित्त में विवेकज्ञान के पराकाष्ठकाल में ज्ञानमात्र के प्रति; वृत्तित्वेन बाधास्वरूप होने से, हेयत्वबुद्धि जागरित होती है। यह वैराग्य की चरमावस्था है। अतः इसे परवैराग्य कहते हैं। सूत्र है—

**तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम् ।**

योगसूत्र १/१६

इस प्रकार अभ्यास-वैराग्य की साधनारूपी यात्रा में साधक सम्प्रज्ञात योग और असम्प्रज्ञातयोग को प्राप्त करता हुआ अन्ततोगत्वा 'स्वप्रतिष्ठित' होकर यात्रा को पूर्णविराम लगाता है। सूत्र है—

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

योगसूत्र १/३

**मध्यमाधिकारी : 'युञ्जान' के लिये क्रियायोग**

मध्यम साधक वे वानप्रस्थीजन हैं, जो वर्तमान जन्म में योगसाधना में रत रहते हैं, उनके लिये क्रियायोग का उपाय उपदिष्ट है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।**

योगसूत्र २/१

क्रियायोग के अन्तर्गत तीन तत्त्व हैं—तपस्, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधान। **'क्रियैव योगः क्रियायोगः योगसाधनत्वात्'** इस व्युत्पत्ति के अनुसार कार्यकारण में अभेद होने से योग की साधनभूता तपादि क्रियाओं को 'क्रियायोग' कहा गया है।

ज्ञातव्य है कि चित्तवृत्तिनिरोध के सर्वाङ्गपूर्ण उपाय 'अष्टाङ्गयोग' में क्रियायोग का समावेश हुआ है। अतः इनका स्वरूप आगे द्रष्टव्य है।

**मन्दाधिकारी : 'आरुरुक्षु' के लिये अष्टाङ्गयोग**

अत्यन्त चंचल स्वभाव के गृहस्थाश्रमियों के चित्तवृत्तिनिरोध का उपाय अष्टाङ्गयोग कहा गया है। क्योंकि विषयवासनाओं से जर्जर उनका चित्त अभ्यास-वैराग्य अथवा क्रियायोग जैसे दुःसाध्य उपायों से चित्तवृत्तिनिरोध की यात्रा सहज प्रारम्भ करने में अक्षम रहता है। सूत्र है—

**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।**

योगसूत्र २/२९

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि ये आठ अङ्ग हैं। इनके सूत्र हैं—

**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ।**

योगसूत्र १/३०

**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।**

योगसूत्र १/३२

**स्थिरसुखमासनम् ।**

योगसूत्र १/४६

**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।**

योगसूत्र १/४९

**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।**

योगसूत्र १/५४

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।**

योगसूत्र २/१

**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।**

योगसूत्र २/२

**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।**

योगसूत्र २/३

अष्टाङ्गयोग के प्रथम पाँच यम, नियम, आसन, प्राणायाम तथा प्रत्याहार भेदों को 'बहिरङ्गसाधन' तथा अन्तिम तीन धारणा, ध्यान तथा समाधि भेदों को 'अन्तरङ्गसाधन' कहते है। धारणादि तीन साधनों का सामूहिक नाम 'संयम' है।

यम-नियम के अनुशीलन से चित्तगत भावपरिशुद्धि होती है और रागद्वेषादि कषाय भस्मीभूत होते हैं। इस प्रकार यम-नियम से शुद्धभावस्थैर्य, आसन से कायस्थैर्य, प्राणायाम से प्राणस्थैर्य, प्रत्याहार से इन्द्रियस्थैर्य तथा संयम (धारणा-ध्यान-समाधि) से ध्येयातिरिक्तचित्तवृत्तिनिरोधपूर्वक चित्तस्थैर्य किया जाता है। चित्तवृत्तिनिरोधोपाय में धारणादि साधनत्रय चित्त के अधिक समीप होते हैं अतः इन्हें 'अन्तरङ्गसाधन' और यमादि को 'बहिरङ्गसाधन' कहते हैं।

**बहिरङ्गसाधन की अपरिहार्यता**

चित्तवृत्तिनिरोध के उपायप्रकरण में यम-नियम की प्रतिष्ठितता अत्यन्त अपरिहार्य है, उनके अनुपालन में उपेक्षा नहीं की जा सकती है। चित्तगतभाव की परिशुद्धि के विना आसनादि की उत्तरोत्तर साधना वञ्चनामात्र है। यम और नियम योगरूप प्रासाद के सुदृढ स्तम्भ हैं। योगरूप बीज की अंकुरोत्पत्ति में ये उर्वरकस्वरूप हैं। अतः यम-नियम के महत्त्व को कम नहीं समझना चाहिए। अन्यथा महर्षि पतञ्जलि द्वारा उपदिष्ट योगविज्ञान 'योगाभास' मात्र रह जायेगा।

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः (१/२)** सूत्र के लक्ष्यपद 'योग' तथा लक्षणपद 'चित्तवृत्तिनिरोध' की व्यापक चर्चा करने के पश्चात् अब इन्हीं पदों में अन्तर्निहित योग के अन्य सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जा रहा है—

**परिणामवाद**

जगत् की मूलकारणभूता प्रकृति में दो प्रकार के परिणाम स्वीकृत हैं—

**१. प्रलयकालिक सरूपपरिणाम ।**

**२. सृष्टिकालिक विरूपपरिणाम ।**

परिणामशीला प्रकृति क्षणमात्र के लिये भी परिणामरहित नहीं होती है। 'परिणाम' प्रकृति का स्वरूप है। अत: प्रलयकाल में त्रिगुणात्मिका प्रकृति के तीनों गुण अपने-अपने रूप में परिणत होते रहते हैं। अर्थात् सत्त्वगुण सत्त्वगुण के रूप में, रजोगुण रजोगुण के रूप में तथा तमोगुण तमोगुण के रूप में परिणत होता है। इसे प्रकृति की साम्यावस्था कहते हैं, जिसमें तत्त्वों का आविर्भाव नहीं होता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति की दूसरी विषमावस्था है, जिसमें सत्त्वादि गुण न्यूनाधिक परिमाण में सङ्गठित होकर चित्त आदि तत्त्वों की आविर्भाव प्रक्रिया में संलग्न हो जाते हैं। यही प्रकृति का सृष्टिकालिक विरूपपरिणाम कहा जाता है।

विरूपपरिणामशीला प्रकृति में दो प्रकार के परिणाम दृष्टिगत हैं—

**१. तत्त्वान्तरोपादानरूप परिणाम ।**

**२. तत्त्वान्तरानुपादानरूप परिणाम ।**

लिङ्ग, अविशेष तथा विशेष नाम से वर्गीकृत तीन गुणपर्व में तेईस तत्त्व आते हैं—बुद्धि अहङ्कार, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, पञ्चकर्मेन्द्रिय, मन, पञ्चतन्मात्र तथा पञ्चमहाभूत। ये तेईस तत्त्व परस्पर विजातीय होने से तत्त्वान्तरोपादनरूप परिणाम के अन्तर्गत हैं। पञ्चमहाभूत के अग्रिम गो, घट, बीज आदि तत्त्व महाभूत के सजातीय होने से उन्हें तत्त्वान्तरानुपादानरूपपरिणाम के अन्तर्गत रखा गया है। यह सिद्धान्त सांख्यतत्त्वकौमुदी में वाचस्पति मिश्र ने स्पष्टतया प्रतिपादित किया है।

मृत्तिकारूपी धर्मी आदि भूतेन्द्रिय में तीन प्रकार के परिणाम स्वीकृत हैं—

**एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ।**

योगसूत्र ३/१३

**१. धर्मपरिणाम ।**

**२. लक्षणपरिणाम**—अनागत, वर्तमान, अतीत—ये तीन प्रभेद।

**३. अवस्थापरिणाम ।**

पतञ्जलि का धर्म-धर्मी प्रतिपादक सूत्र है—

**शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।**

योगसूत्र ३/१४

चित्तधर्मी में तीन प्रकार के परिणाम होते हैं—

**१. पदार्थाभिव्यक्तिरूप परिणाम ।**

**२. ज्ञानाभिव्यक्तिरूप परिणाम**—अर्थाकारपरिणाम तथा प्रतिबिम्बाकार परिणाम।

**३. क्रियाभिव्यक्तिरूप परिणाम ।**

वृत्तिनिरोधपरायण चित्त के तीन परिणाम वर्णित हैं—

**१. समाधि परिणाम**

**सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः।**

योगसूत्र ३/११

**२. एकाग्रतापरिणाम**

**ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ।**

योगसूत्र ३/१२

**३. निरोधपरिणाम**

**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।**

योगसूत्र ३/९

**क्लेश-चर्चा**

चित्तवृत्ति बन्धन का कारण है, किन्तु विपर्ययवृत्ति तो बन्धन को प्रगाढ बनाने में सहायकीभूत होने से विपर्ययवृत्ति के अविद्यादि पाँच भेदों को 'पञ्चक्लेश' की संज्ञा प्रदान की गई है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ।**

योगसूत्र २/३

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष तथा अभिनिवेश—इन पञ्च क्लेशों में प्रधान होने से अविद्या को 'क्लेशभूमि' कहा गया है। अविद्याभूमि में अस्मितादि क्लेश चार अवस्थाओं में रहते हैं—प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न और उदार। सूत्र है—

**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ।**

योगसूत्र २/४

बीजभावापन्नरूप से प्रसुप्त क्लेश का क्लेशत्व कभी भी प्रकट हो सकता है। अतः अविद्या आदि को दग्धबीजभावापन्न अवस्था में पहुँचाने के लिये योगसाधना की जाती है। क्योंकि दग्धबीज में अंकुरोत्पत्ति की शक्ति निहित नहीं रहती है। पतञ्जलि ने पाँच क्लेशों को इस प्रकार सूत्रित किया है—

**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।**

योगसूत्र २/५

**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ।** योगसूत्र २/६

**सुखानुशयी रागः ।** योगसूत्र २/९

**दुःखानुशयी द्वेषः ।** योगसूत्र २/८

**स्वरसवाहीविदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः ।** योगसूत्र २/९

**कर्म-मीमांसा**

अन्य वृत्तियों की तुलना में विपर्ययवृत्ति की क्लिष्टता अधिकतम विस्फोटक है। हमारे समस्त क्रियाकलाप क्लेशमूलक हैं। कर्माशय (कर्मजनित संस्कार) का जनक क्लेश है, जो जन्म-जन्मान्तरपर्यन्त मनुष्य का अनुसरण

करता है और जाति-आयु-भोग के रूप में अपनी सत्ता का अनुभव कराता रहता है। इसके लिये पतञ्जलि के दो सूत्र हैं—

**क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ।**

योगसूत्र २/१२

**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ।**

योगसूत्र २/१३

सत्त्वादि गुणों के अधीन रहकर मनुष्य चार प्रकार के कर्म करता है—

१. शुक्लकर्म।

२. कृष्णकर्म।

३. शुक्लकृष्णमिश्रित कर्म।

४. अशुक्लाकृष्ण कर्म।

इनमें से योगियों का अशुक्लाकृष्ण कर्म होता है, शेष तीन कर्म सामान्यजन के कहे गये हैं। सूत्र है—

**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम् ।**

योगसूत्र ४/७

**'गहना कर्मणो गतिः'** वचन से कर्मफल दुर्ज्ञेय है। अतः पतञ्जलि ने अन्य वृत्तियों की भाँति विपर्ययवृत्ति के समूलोच्छेद (आत्यन्तिक निरोध) का प्रतिपादन किया है। संसारवृक्ष का स्वरूप और उसका समुच्छेद योग के चतुर्व्यूहवाद की परिधि में आता है। गागर में सागर भरने की क्षमता महर्षि पतञ्जलि में रही। चतुर्व्यूहवाद के प्रतिपादक चार सूत्र हैं—

हेय—**हेयं दुःखमनागतम् ।** योगसूत्र २/१६

हेयहेतु—**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।**

योगसूत्र २/१७

हान—**तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ।**

योगसूत्र २/२५

हानोपाय—**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ।**

योगसूत्र २/२६

**चित्तवृत्तिनिरोध एवं ईश्वर**

चित्तवृत्तिनिरोध के उपायों में 'ईश्वरप्रणिधान' अन्यतम साधन है। साधक को अल्प प्रयास से मोक्षप्राप्ति के अन्तिम एवं मुख्यतम साधन असम्प्रज्ञातसमाधि तक पहुँचाने में भगवत्कृपा सर्वोत्तम उपाय है। सूत्र है—

**ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।**

योगसूत्र १/२३

पातञ्जलयोगशास्त्र ज्ञानयोग, हठयोग, कर्मयोग, प्रेमभक्तियोग, अद्वैतयोग, लययोग, ध्यानयोग, चर्यायोग, सिद्धियोग, शिवयोग, ब्रह्मयोग, क्रियायोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, लक्ष्ययोग आदि समस्त योगों का महासमुद्र है और राजयोग अर्थात् असम्प्रज्ञातयोग महायोग है। यह एकान्तवादी दर्शन नहीं, अपितु समन्वयवादी दर्शन है। यह एक व्यक्ति का नहीं, अपितु मानवमात्र का सर्वाङ्गीण विकास करने वाला शास्त्र है। ज्ञातव्य है कि—

**यथाऽभिमतध्यानाद्वा ।**

योगसूत्र १/३९

सूत्र की अवधारणा कर महर्षि पतञ्जलि ने भिन्न-भिन्न सम्प्रदायानुसार तत्त्वाभ्यास की समस्त सीमाओं को अतिक्रमित कर सामाजिक सौहार्द की स्थापना की है। यह सन्त पुरुष की पुकार है।

पुरुषों में पुरुषविशेष 'ईश्वर' का स्वरूपप्रतिपादक सूत्र है—

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।**

योगसूत्र १/२४

पुरुष और पुरुषविशेष का भेदक तत्त्व है—'क्लेशकर्मविपाकाशय'। क्लेशादि से सम्पृक्त पुरुष 'जीव' कहलाता है और क्लेशादि से असम्पृक्त पुरुषविशेष 'ईश्वर' की संज्ञा धारण करता है, जब कि चेतनता दोनों का समान स्वरूप है, जो उसे जडतत्त्व से पृथक् करता है।

**जीव-ईश्वर-भेद**

एक शब्द में एक 'अंश' है दूसरा 'अंशी'; एक अल्पज्ञ है दूसरा सर्वज्ञ; एक सातिशयज्ञानवान् है दूसरा निरतिशयज्ञानवान्; एक बद्ध है दूसरा सर्वथा मुक्त; एक सोपाधिक है दूसरा निरुपाधिक; एक उपेय है दूसरा

उपाय; एक अनेक है दूसरा अद्वितीय है; एक कालावच्छिन्न है दूसरा कालानवच्छिन्न; एक साधक है दूसरा साध्य है। अतः साध्यकोटिक ईश्वरचिन्तन सर्वोपरि है—

**तस्य वाचकः प्रणवः ।**

योगसूत्र १/२७

पतञ्जलि ने ईश्वर के वाचक प्रणव = ॐकार को जप का आधार और उसके अर्थ (ईश्वरवाच्य) के भावन पर बल दिया है—

**तज्जपस्तदर्थभावनम् ।**

योगसूत्र १/२८

**चित्तवृत्तिनिरोधोपाय का चरम उद्देश्य : कैवल्यप्राप्ति**

विना विभूति एवं कैवल्य की चर्चा के योगसाधना के परिदृश्य में सम्पादित प्रयास कहीं निष्फल प्रतीत न हो एतदर्थ पतञ्जलि ने वृत्तिनिरोध के प्रत्येक उपाय को फलसहित प्रतिपादित किया है। यहाँ तक कि विभूतिवाद तक की सृष्टि कर डाली, किन्तु तत-तद्-विभूतियों को सर्वस्व मानने वाले योगमार्ग के पथिकों को सचेत भी किया है। पतञ्जलि का उपदेश है—

**स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात् ।**

योगसूत्र ३/५१

अभिप्राय यह है कि मोहनीय, रञ्जनीय एवं कोपनीय विभूतियाँ ऊर्णातन्तु की तरह योगसाधक को आबद्धकर उसके जीवन को नष्टप्राय कर देती हैं।

योगविद्या का दिवाकर पुरुषार्थशून्य गुणों का अस्ताचल है और चितिशक्ति का स्वरूपप्रतिष्ठरूप उदयाचल है। पतञ्जलि का सूत्र है—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं**
**स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।**

योगसूत्र ४/३४

इसी उद्देश्य से चतुर्थपाद 'कैवल्य' की अवतारणा हुई। सरल शब्दों में जपाकुसुम के अपसारण से जैसे स्फटिक स्वकीय श्वेतिम रूप में प्रतिष्ठित हो जाता है, वैसे ही औपाधिक सम्बन्ध की निवृत्तिपूर्वक पुरुष अपने चैतन्यस्वरूप में प्रत्यावर्तित हो जाता है। सूत्र है—

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

योगसूत्र १/३

इस प्रकार तत्-तत् पुरुषीय 'योगयात्रा' को पूर्णविराम लगता है। किञ्च स्थालिपुलाकन्याय से चयनित योग सिद्धान्तों की पक्वता का आकलन किया गया और १९४ सूत्रों को **योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः** इस एक सूत्र में ग्रथित कर योगरूप जीवनमाला को पहचाना गया।

उपर्युक्त विवेचन को चित्रपट्ट द्वारा भी हस्तामलक किया जा सकता है—

●

# योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः

सम्प्रज्ञातयोग असम्प्रज्ञातयोग

वितर्क विचार आनन्द अस्मिता

सवितर्क निर्वितर्क

सविचार निर्विचार

सानन्द निरानन्द

सास्मिता निरस्मिता

भवप्रत्यय उपायप्रत्यय

समापत्ति

ग्राह्यसमापत्ति ग्रहणसमापत्ति ग्रहीतृसमापत्ति

चित्तभूमि

क्षिप्त मूढ विक्षिप्त एकाग्र निरुद्ध

वृत्ति

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृति

प्रत्यक्ष अनुमान आगम वस्तु क्रिया अभाव

पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्ट

अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश

भावितस्मर्तव्या अभावितस्मर्तव्या

परिणाम

सरूपपरिणाम विरूपपरिणाम

तत्त्वान्तरोपादानपरिणाम तत्त्वान्तरानुपादानपरिणाम

धर्मपरिणाम लक्षणपरिणाम अवस्थापरिणाम

अनागत परि. वर्तमान परि. अतीत परि.

पदार्थाभिव्यक्ति परि. ज्ञानाभिव्यक्ति परि. क्रियाभिव्यक्ति परि.

अर्थाकार परि. प्रतिबिम्बाकार परि.

क्लेश (विपर्यय)

अविद्या अस्मिता राग द्वेष अभिनिवेश

अवस्था

प्रसुप्त तनु विच्छिन्न उदार

बीजभावापन्न दग्धबीजभावापन्न

वृत्तिलयाख्य अधिकरणावस्थाविशेष निरोधोपाय

अभ्यास-वैराग्य (उत्तम साधक) क्रियायोग (मध्यम साधक) अष्टाङ्गयोग (मन्द साधक)

अपरवैराग्य परवैराग्य

यतमान व्यतिरेक एकेन्द्रिय वशीकार

तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान

यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि

अहिंसा सत्य अस्तेय ब्रह्मचर्य अपरिग्रह

कायिक वाचिक मानस

कथनसत्य आचरणसत्य

शौच सन्तोष तपः स्वाध्याय ईश्वरप्रणिधान

बाह्य आभ्यन्तर

परममुख्य मुख्य मुख्यजातीय मुख्यकल्प

पद्मासन वीरासन भद्रासन स्वस्तिकासन (प्राणियों के बैठने के सभी प्रकार)

रेचक (बाह्य) पूरक (आभ्यन्तर) कुम्भक (स्तम्भ) बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी

पार्थिवी जलीया आग्नेयी वायवीया आकाशीया

सगुणध्यान निर्गुणध्यान

संयम

धारणा ध्यान समाधि

विभूति

अनागतज्ञान सर्वभूतरुतज्ञान पूर्वजातिज्ञान परचित्तज्ञान अन्तर्धान भुवनज्ञान आदि

कर्म

कृष्ण शुक्ल कृष्ण-शुक्ल अशुक्ल-अकृष्ण

कर्माशय

दृष्टजन्मवेदनीय अदृष्टजन्मवेदनीय

एकविपाकारम्भी द्विविपाकारम्भी

नियतविपाकारम्भी अनियतविपाकारम्भी

जातिविपाक आयुर्विपाक भोगविपाक

योनि

देव मनुष्य तिर्यक् पशु

दीर्घायुः अल्पायुः

सुख दुःख मिश्रित

फलदान के विना समाप्ति गौणकर्माशय का प्रधान कर्माशय में लय चिरकालावस्थान

वासना निर्माण

# आस्तिक दर्शनों में ईश्वर की अवधारणा

संस्कृतवाङ्मय में षड् आस्तिक दर्शनों की उद्भावना सूत्रात्मक शैली में छः ऋषियों द्वारा हुई। प्रायः ऋषियों ने मुख्यतया तीन तत्त्व माने हैं—ईश्वर, जीव और प्रकृति। निश्चितरूप से समस्त ऋषियों ने सबका मुख्य रूप से प्रतिपादन नहीं किया है। अपने-अपने शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय की मुख्यतया पुष्टि की है, परन्तु सबको एक साथ समन्वित कर अनुशीलन करने पर अभिप्रेत तत्त्व एक ही निःसृत होता है।

**न्यायदर्शन में ईश्वर की अवधारणा**

न्यायदर्शन की ज्ञानभूमि में आत्मा को प्रमेय कोटि के अन्तर्गत करके इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान को उसके लक्षणरूप में बतलाया गया है। वस्तुतस्तु इच्छा, द्वेष आदि अन्तःकरण के धर्म हैं। अतः इच्छा, द्वेषादि के साथ आत्मा का सम्पर्क बताने के कारण न्यायदर्शन की ज्ञानभूमि प्रकृति-परिणाम से बहुत ही सम्बन्धयुक्त है, ऐसा सिद्धान्तित होता है। जिस अणु को नित्य मानकर उसी के संयोग से न्यायदर्शन में समस्त सृष्टि की उत्पत्ति बतलाई गई है, वह अणु भी वस्तुतः प्रकृति का ही विकारमात्र है। अतः प्रकृतिपरिणाम तथा प्रकृति के साथ साक्षात्रूप से जिसकी ज्ञानभूमि का सम्बन्ध है, ऐसे न्यायदर्शन में ईश्वर की अद्वितीय व्यापक सत्ता का साक्षात् सम्पर्क और वर्णन नहीं हो सकता है। इसीलिये न्यायदर्शन की मुक्ति केवल प्रमाण, प्रमेयादि षोडश पदार्थों के तत्त्वज्ञान से ही मानी गई है—

**प्रमाण-प्रमेय-संशय-प्रयोजन-दृष्टान्त-सिद्धान्त-अवयव-**

**तर्क-निर्णय-वाद-जल्प-वितण्डा-हेत्वाभास-छल-**

**जाति-निग्रह-स्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःक्षेयसाधिगमः ।**

न्यायसूत्र १/१/१

अर्थात् इन पदार्थों के तत्त्वज्ञान से दुःख की आत्यन्तिकी निवृत्ति होकर मुमुक्षु को अपवर्गलाभ हो जाता है। इस अपवर्ग के साथ ईश्वर का कोई

साक्षात् सम्बन्ध नहीं है, तथापि न्यायदर्शन आस्तिक दर्शन होने से कर्मफल के साथ उसमें ईश्वर की निमित्तकारणता का सम्बन्ध बतलाया गया है और अनुमानप्रमाण द्वारा परोक्षरूप से सृष्टि के साथ ईश्वर का सम्पर्क भी कथन किया गया है। यथा—

**ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ।**

न्यायसूत्र ४/१/१९

इसका भाष्य करते हुए वात्स्यायन ने कहा है—

**पराधीनपुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति यदधीनं स ईश्वरः ।**

**तस्माद् ईश्वरः कारणम् ।**

वात्स्यायनभाष्य, न्यायसूत्र ४/१/१९

अर्थात् जीव का पराधीन कर्मफलभोग जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। अतः ईश्वर ही जीव का कर्मफलदाता है। इस तरह से जड कर्म के चेतन प्रेरकरूप से ईश्वर की निमित्तकारणता का सम्पर्क बतलाकर न्यायदर्शन ने अपनी आस्तिकता का परिचय दिया है।

न्यायवृत्तिकार विश्वनाथ ने उसी आह्निक के २१वें सूत्र—

**क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वाद् घटवत् ।**

न्यायसूत्र ४/१/२१

में इस प्रकार सूत्रवृत्ति द्वारा संसार की उत्पत्ति के प्रति ईश्वर की निमित्तकारणता प्रतिपन्न की है। घट की उत्पत्ति के लिये जिस प्रकार कुम्भकार निमित्तकारण है उसी प्रकार जगत् की उत्पत्ति के लिये ईश्वर निमित्तकारण है। जिस प्रकार कार्य देखने से कारण का अनुभव होता है, उसी प्रकार कार्यब्रह्मरूप जगत् को देखने से उसके सृष्टिकर्त्ता निमित्तकारणरूप ईश्वर का अनुमान होता है। इस संसाररूपी वृक्ष का कारण (निमित्तकारण) ईश्वरातिरिक्त कोई नहीं हो सकता है। सिद्धान्तमुक्तावली का वचन है—

**एतेन ईश्वरे प्रमाणमपि दर्शितं भवति ।**

न्यायसिद्धान्तमुक्तावली १/१

यही प्राचीन न्यायदर्शन में ईश्वरसत्ता की सिद्धि है।

**वैशेषिकदर्शन में ईश्वर की अवधारणा**

वैशेषिकदर्शन की ज्ञानभूमि भी स्थूलतः न्यायदर्शन की तरह है। उसमें भी प्रकृतिपरिणामजात सुख-दुःखादि के साथ मन के द्वारा आत्मा का सम्बन्ध बतलाया गया है। इसमें द्रव्य, गुण, कर्मादि सप्त पदार्थों के तत्त्वज्ञान से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्तिरूप अपवर्ग का वर्णन किया गया है। इस निःक्षेयस् के साथ केवल दुःखनिवृत्ति का सम्पर्क होने से नित्यानन्दमय ब्रह्मपद के साथ इसका सम्बन्ध नहीं है। अतः वैशेषिकदर्शनोक्त मुक्ति के साथ ईश्वर का साक्षात् सम्बन्ध नहीं हो सकता। और न ही इसकी ज्ञानभूमि के साथ ही ईश्वर का साक्षात् सम्बन्ध हो सकता है। तथापि वैशेषिकदर्शन ने अपनी आस्तिकता को प्रमाणित करने के लिये न्यायदर्शन की तरह अनुमानप्रमाण की सहायता से जगदुत्पत्ति के लिये ईश्वर की निमित्तकारणता प्रतिपादित की है। यथा—

**संज्ञाकर्म त्वस्मद्विशिष्टानां लिङ्गम् ।**
**प्रत्यक्षप्रवृत्तत्वात्संज्ञाकर्मणः ।**

वैशेषिकसूत्र २/१/१८-१९

इन सूत्रों के उपस्कार में शङ्करमिश्र ने लिखा है—

**संज्ञा नाम कर्म कार्यं क्षित्यादि तदुभयमस्मद् विशिष्टानाम् ईश्वरमहर्षीणां सत्त्वेऽपि लिङ्गम् । घटपटादिसंज्ञानिवेशनमपि ईश्वरसंकेताधीनमेव। यः शब्दो यत्र ईश्वरेण संकेतितः स तत्र साधु। तथा च सिद्धं संज्ञाया ईश्वरलिङ्गत्वम् । एवं कर्मापि कार्यमपि ईश्वरे लिङ्गम् । तत्र हि क्षित्यादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्घटवत् इति।**

उपस्कारटीका, वैशेषिकसूत्र २/१/१८-१९

अर्थात् संज्ञा या नाम और कर्म अर्थात् क्षिति, अप् आदि कार्य— ये दो लौकिक मनुष्य से विशेषतायुक्त ईश्वर, महर्षि आदि के अस्तित्व को प्रमाणित करते हैं। घट-पट आदि नाम से जो तत्-तत् पदार्थों का बोध होता है, उसमें ईश्वरसंकेत ही कारण है। क्षिति, अप् आदि जब कार्य हैं तो इनका कर्त्ता भी कोई अवश्य होगा, वही कर्त्ता ईश्वर है।

अतः यह सिद्धान्त सुनिश्चित हुआ कि जगदुत्पत्ति के लिये ईश्वर की

घटकुलालवत् निमित्तकारणता है। यही वैशेषिकदर्शन का आस्तिक मत है। इस दर्शन के टीकाकार प्रशस्तपादाचार्य ने तो कई अन्य स्थानों में भी वैशेषिकदर्शन के सूत्रों के साथ ईश्वर का सम्बन्ध बताकर इस गम्भीर दर्शन की परम आस्तिकता प्रतिपादित की है। पदार्थसमूहों का तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है। इस प्रसङ्ग में प्रशस्तपादाचार्य ने—

**तच्च**—वह तत्त्वज्ञान ईश्वरप्रेरणाजनित धर्म से उत्पन्न होता है, ऐसा कहकर वैशेषिकदर्शनोक्त मुक्ति के साथ भी ईश्वर का पारम्परिक सम्बन्ध बतला दिया है। नित्य परमाणुओं के संघात से सृष्टि और विश्लेषण से प्रलय के विषय में वैशेषिकदर्शन के सिद्धान्तों का वर्णन करते समय प्रशस्तपादाचार्य ने लिखा है कि 'सकल भुवनपति महेश्वर की अलौकिक इच्छाशक्ति के द्वारा ही परमाणुओं में स्पन्दनशक्ति उत्पन्न होकर इस प्रकार सृष्टि और प्रलय हुआ करता है।'

अतः वैशेषिकदर्शन की परम आस्तिकता निर्विवाद सिद्ध है, उसमें किञ्चित् भी सन्देह नहीं है। परवर्तीकाल में नव्य वैशेषिकों ने भी अनुमानप्रमाण की सहायता से वैशेषिकदर्शन में ईश्वरसत्ता की विशेष सिद्धि की है और कहीं-कहीं ज्ञान आदि कई गुणों के साथ भी ईश्वर का सम्बन्ध निर्णय किया है।

## योगदर्शन में ईश्वर की अवधारणा

सप्त ज्ञानभूमियों में से तृतीय भूमिस्थानीय दर्शन योगदर्शन है। इसमें प्रकृति को अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेषादि दुःखों का आगार कहकर प्रकृति के द्वारा बद्ध पुरुष की उससे मुक्ति होने पर अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप कैवल्यप्राप्ति होती है, यही योग का परम पुरुषार्थ बतलाया गया है। अतः दुःखनिवृत्ति ही मुक्ति का लक्ष्य होने से परमानन्दमय ब्रह्मपद के साथ इस दर्शन की ज्ञानभूमि का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। योगदर्शन के अनुसार जब साधक की मुक्ति होती है उस समय पुरुष केवल स्वरूपस्थित होकर प्रकृति के सम्पर्क का त्याग कर देता है। उसके साथ फिर प्रकृति का बन्धन-सम्बन्ध नहीं रहता है। सूत्र है—

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

योगसूत्र १/३

परन्तु उससे प्रकृति का अस्तित्व लुप्त नहीं होता है। केवल वह मुक्त पुरुष प्रकृति के साथ कर्तृत्व-भोक्तृत्व-सम्बन्ध को छोड़कर उदासीनवत् प्रकृति का द्रष्टा बन जाता है। अतः योगदर्शन की ज्ञानभूमि के अनुसार भी मुक्ति के साथ ईश्वरसत्ता का साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। तथापि परम आस्तिक दर्शन में मुक्ति-प्राप्ति के साधनरूप से ईश्वरसत्ता का अपूर्व वर्णन किया गया है। यथा—

**ईश्वरप्रणिधानाद्वा ।**

योगसूत्र १/२३

**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।**

योगसूत्र २/४५

यहाँ सांख्य-प्रवचन का जो पुरुष है, उससे कुछ विशेषसत्ता ईश्वर की है। योगदर्शनभूमि में प्रकृतिसम्बन्ध का विशेष अस्तित्व होने के कारण वेदान्तभूमि की तरह इसमें ईश्वर की व्यापक अद्वैतसत्ता प्रकट नहीं हो सकती। इसलिये प्रकृतिबन्धनयुक्त सांख्यीय पुरुष से विशेषता बतलाने के लिये पतञ्जलि ने ईश्वर को 'पुरुषविशेष' कहा है। यही आस्तिक योगदर्शनोक्त ईश्वरसत्ता का परिस्फुट प्रमाण है। अतः योगदर्शन की आस्तिकता निर्विवाद है।

## सांख्यदर्शन में ईश्वर की अवधारणा

योगदर्शन की तरह सांख्यदर्शन में भी प्रकृति की प्रधानता होने से अनादि अविवेक द्वारा प्रकृति के साथ पुरुष का औपचारिक सम्बन्ध हो जाता है। जिससे अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—इन तीनों प्रकार के दुःखों के द्वारा पुरुष विमोहित हो जाता है। तत्त्वज्ञान का उदय होने से जब पुरुष अपने नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वरूप को समझ जाता है तभी पुरुष की मुक्ति होती है। अतः प्रकृतिसम्बन्धविच्छेद द्वारा त्रिविध दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही सांख्यज्ञानभूमि के अनुसार मुक्ति है। इसमें परमानन्दमय ब्रह्मपद में स्थिति के साथ मुक्ति का सम्बन्ध नहीं है। अतः इस दर्शन में ईश्वर की व्यापक सत्ता की उपलब्धि के साथ मुक्ति का सम्बन्ध नहीं हो सकता। जिस पुरुष की स्वरूपोपलब्धि द्वारा सांख्यभूमि में मुक्ति बतलाई गई है, वह पुरुष जीवशरीर स्थित कूटस्थ चैतन्य है। व्यापक ईश्वर की जो निर्लिप्त, निर्विकार ज्ञानमयसत्ता

प्रतिपिण्डावच्छेद से देह में विद्यमान रहती है, उसी को कूटस्थ चैतन्य या पुरुष कहते हैं। वह ईश्वर का ही देहावच्छिन्न अंश होने के कारण सदा निर्लिप्त और नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव है।

सांख्यदर्शन में प्रकृति के साथ उसी पुरुष के अनादि, औपचारिक सम्बन्ध को 'स्फटिक लौहित्यवत्' बन्धन और सृष्टि का कारण माना है और तत्त्वज्ञान द्वारा उस औपचारिक सम्बन्ध की निवृत्ति को मोक्ष माना है। अत: सांख्यदर्शन के अनुसार जो मुक्ति होती है वह जीवशरीर में कूटस्थ चैतन्य की उपलब्धि के द्वारा होती है। उस समय पुरुष जान लेता है कि प्रकृति के स्थूल, सूक्ष्म-कारण किसी विभाग के साथ उसके कर्तृत्व, भोक्तृत्व का सम्बन्ध नहीं है। यह वास्तव में प्रकृति से निर्लिप्त, उदासीन और उसका द्रष्टाभाव है। यही सांख्यदर्शनोक्त मुक्ति है।

अत: स्पष्ट है कि सांख्यीय मुक्तिभूमि में प्रकृति की व्यापक सत्ता अक्षुण्ण रहती है, ईश्वर की व्यापक सत्ता विदित नहीं होती, केवल अपने शरीर में स्थित ईश्वर का चैतन्यमय भाव उपलब्ध होता है। अत: अपने शरीर के विचार से प्रतिदेह में पुरुष की भिन्न-भिन्न बहुत्वसत्ता मानना, प्रकृति को नित्य मानना और अपनी ज्ञानभूमि में मुक्ति के लिये ईश्वर की सत्ता के मानने का प्रयोजन न समझना सांख्यदर्शनभूमि के अनुसार उचित है तथापि सांख्यदर्शन ने अलौकिक प्रत्यक्ष की सहायता से जो ईश्वर के अस्तित्व को माना है, उसके द्वारा सांख्यदर्शन की विशेष आस्तिकता का परिचय प्राप्त होता है। यथा—

**योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ।**
**लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः ।**
**ईश्वरासिद्धेः ।**
**मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।**
**उभयथाऽप्यसत्करत्वम् ।**
**मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासासिद्धस्य वा ।।**

सांख्यसूत्र १/९०-९५

इन्द्रियों की सहायता से लौकिक प्रत्यक्ष के अतिरिक्त योगिगण योगबल से जो अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्रत्यक्ष करते हैं, उसका सांख्यज्ञानभूमि

में प्रयोजन न रहने पर भी ऐसे प्रत्यक्ष करने में कोई दोष नहीं है। योगिगण इस प्रकार अलौकिक प्रत्यक्षशक्ति द्वारा अतीत, अनागत, सूक्ष्म, व्यवहित वस्तुओं का भी अनुभव कर लेते हैं। जैसा कि ईश्वर अतिसूक्ष्म तथा लौकिक प्रत्यक्ष के अगोचर और इसलिये सांख्यज्ञानभूमि के अनुसार असिद्ध होने पर भी योगिगण अतीन्द्रिय अलौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा उनको जान लेते हैं। लौकिक विचार से सांख्यभूमि में ईश्वर सिद्ध नहीं होता, क्योंकि ईश्वर न तो मुक्त ही हो सकता है और न बद्ध। मुक्त होने पर उसमें अभिमानाभाव से सृष्टिकर्तृत्व नहीं आ सकेगा और बद्ध होने पर उसमें सृष्टि की शक्ति नहीं आ सकेगी। अत: लौकिक प्रत्यक्षविचार से ईश्वर सिद्ध नहीं हो सकता।

इतना कहकर पुन: सांख्यदर्शन कहता है कि यद्यपि लौकिक विचार से ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं होती, परन्तु मुक्तात्मा पुरुषगण और उपासना के द्वारा सिद्ध पुरुषगण भूयोभूय: शास्त्र में ईश्वर की स्तुति करते हैं। इसलिये ईश्वर के अस्तित्व के विषय में सन्देह नहीं करना चाहिए। अर्थात् लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा ईश्वर असिद्ध होने पर भी मुक्तात्मा और सिद्ध पुरुषों की अलौकिक प्रत्यक्षशक्ति के द्वारा सदा ही उपलब्ध होता है।

इस प्रकार आस्तिकतापूर्ण विचार द्वारा निज ज्ञानभूमि में अप्राप्य होने पर भी सांख्यदर्शन ने ईश्वर की सिद्धि की है। यह सांख्यदर्शन की विशेष आस्तिकता का ही निदर्शन है। वत्स-पोषणार्थ अचेतन दुग्ध की प्रवृत्ति की तरह पुरुष के भोग और मोक्षार्थ अचेतन प्रकृति की प्रवृत्ति हो सकती है, ऐसा साधारणरीति से कहने पर भी समष्टि और व्यष्टि प्रकृति पर जब तक चेतन पुरुष और जीव का अधिष्ठान नहीं होता है तब तक न तो जड प्रकृति में परिणामकारिणी चेतनशक्ति ही आ सकती है और न प्रकृति परिणाम द्वारा सृष्टि विस्तार ही कर सकती है, ऐसा अपने सूत्रों द्वारा प्रतिपादित करके सांख्यदर्शन ने और भी आस्तिकता का परिचय प्रदान किया है। यथा—

**तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।**
**विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ।।**

सांख्यसूत्र १/९६-९७

जिस प्रकार अयस्कान्तमणि के समीप रहने से ही लोह में चलनशक्ति आ जाती है, उसी प्रकार 'सांख्य से अनन्त' चेतनामय पुरुष के अधिष्ठान

से समष्टि प्रकृति कार्य करती है और प्रति पिण्ड में औपचारिक बन्धन से बद्ध जीवभावापन्न पुरुष के अधिष्ठान से व्यष्टिभूत प्रकृति कार्य करती है। यह बात पहले कही गई है कि प्रकृति पर अधिष्ठित पुरुष कूटस्थ चैतन्य है जो जीव-देहावच्छेद से ईश्वर की सत्ता है और—

**अनेनैव जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरोत् ।**

छान्दोग्योपनिषद् ६/३/३

अर्थात् उसी परमात्मा ने जीवरूप में अनुप्रवेश करके नाम और रूप का विकार उत्पन्न कर दिया—इस छान्दोग्यश्रुत्युक्त सिद्धान्त के अनुसार वह चेतनसत्ता जब ईश्वर का ही भावान्तरमात्र है, तो समष्टि और व्यष्टि दोनों प्रकृतियों के साथ ईश्वर का सम्बन्ध सांख्यदर्शन द्वारा सम्यक् प्रतिपादित हुआ। केवल वेदान्तादि दर्शनों के साथ उसका इतना ही भेद रह गया कि वेदान्तदर्शन में ईश्वर की इच्छा से प्रकृति का परिणाम और सृष्टि-क्रिया मानी है और सांख्यदर्शन में कूटस्थ चैतन्य के अधिष्ठानमात्र से प्रकृति का परिणाम बताया गया है। फलतः आस्तिकता के विषय में दोनों दर्शनों में कोई विशेष विभिन्नता नहीं पाई गई। अधिष्ठानमात्र से प्राकृतिक परिणाम के विषय में स्मृतियों में भी प्रमाण मिलता है। यथा—

**निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्त्तते ।**
**सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ।।**
**अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने ।**
**निरिच्छत्वादकर्त्ताऽसौ कर्त्ता सन्निधिमात्रतः ।।**

महोपनिषद् ४/१३-१४

अर्थात् जिस प्रकार इच्छारहित अयस्कान्तमणि के पास रहने से ही लोहतत्त्व में चेष्टा होती है, उसी प्रकार ईश्वर या पुरुष के अधिष्ठानमात्र से ही संसार की क्रिया होने लगती है। इस विचार से आत्मा में कर्तृत्व भी है और अकर्तृत्व भी है, क्योंकि इच्छारहित होने से वे अकर्त्ता हैं और सान्निध्य द्वारा कर्त्ता भी हैं। यही पुरुषरूप से प्रकृति पर ईश्वर का अधिष्ठान है और यही सांख्यदर्शन की परम आस्तिकता का परिचय है। मीमांसादर्शन में ईश्वर की 'विभुतया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया गया है और अपनी ज्ञानभूमि में प्रयोजन न होने से सांख्यदर्शन में ईश्वर की 'संख्यया अनन्त सत्ता' का वर्णन किया है।

## कर्ममीमांसादर्शन के अनुसार ईश्वर की अवधारणा

इसके अनन्तर मीमांसादर्शन की भूमियों में परमात्मा के ऐश्वर्य, माधुर्य और ज्ञानभाव की क्रमशः पूर्णतया सिद्धि की जाती है। ऐश्वर्यभाव में परमात्मा = ईश्वर अदृष्ट के विधाता, पुण्य के फलदाता, पापियों के शासनकर्त्ता और धर्म के प्रतिष्ठापक सर्वशक्तिमान् भगवान् हैं। यज्ञ उनका स्वरूप है, वेद उनकी वाणी या निःश्वास है और देवतागण उनके आज्ञाकारी अर्थात् उन्हीं की दैवी विभूति के स्वरूप हैं। यही कारण है कि कर्ममीमांसादर्शन में वेद, वेदानुकूल यज्ञभेद कर्म और देवताओं की इतनी महिमा बताई गई है। यथा कर्ममीमांसा में कहा है—

**आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।**
**यजेत स्वर्गकामः ।**
**यजतेर्जातमपूर्वम् ।**
**अपाम सोमं अमृता अभूम ।**
**अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति ।**
**सर्वान् लोकान् जयति । मृत्युं तरति । पाप्मानं तरति । ब्रह्महत्यां तरति । योऽश्वमेधेन यजते ।**

अर्थात् वेद की यज्ञप्रतिपादिका श्रुतियाँ ही मुख्य हैं। यज्ञ के द्वारा अमृतत्वलाभ होता है। यज्ञीय सोमपान करके सब अमर हो जाते हैं। चातुर्मास्ययाग करने वालों को अक्षय पुण्यलाभ होता है। अश्वमेधयज्ञ द्वारा लोकजय, मृत्युजय, पापजय और ब्रह्महत्या जैसे पाप पर भी विजयलाभ होता है।

इस प्रकार कर्ममीमांसादर्शन में यज्ञ की महिमा प्रतिपादित कर प्रकारान्तर से कर्मप्रेरक देवताओं की महिमा, यज्ञरूप भगवान् विष्णु की महिमा और यज्ञक्रिया बताने वाले वेद के कर्त्ता ईश्वर की महिमा बताई गई है। यही कर्ममीमांसा द्वारा ईश्वर के ऐश्वर्यभाववर्णन का रहस्य है।

## भक्तिमीमांसादर्शन के अनुसार ईश्वर की अवधारणा

इसके अनन्तर भक्तिमीमांसाशास्त्र में ईश्वर के माधुर्यभाव का स्पष्टीकरण है। इस भाव में भगवान् दयामय, स्नेहमय, प्रेममय प्रभु हैं। इस भाव में भक्त के निकट उनके प्राण विक्रीत हैं, करुणा की धारा जाह्नवी-यमुना की

धारारूप से प्रवाहित है। जीवों का दुःख दूर करने के लिये (लोकदृष्टि से) स्वयं अनन्त दुःखभोग उनका परम व्रत है, इस भाव से भृगुपदाघात उनके हृदय का भूषण है, द्रौपदी का लज्जानिवारण परम पौरुष है और करुणा की होमाग्नि में समस्त ऐश्वर्यों का आहुतिप्रदान जीवन का महाव्रत है। इस भाव में भगवान् भक्तवत्सल प्रभु, करुणामय स्वामी, प्रीतिमय सखा, स्नेहमय पुत्र और प्रेममय कान्त हैं। इसी भाव की अलौकिक मधुरता में उन्होंने भक्तशिरोमणि प्रह्लाद से क्षमा-याचना की थी। यथा—

**क्वेदं वपुः क्व च वयः सुकुमारमेतत् क्वैताः प्रमत्तकृतदारुणयातनास्ते ।**
**अलौकिकं विषममेतदभूतपूर्वं क्षन्तव्यमङ्ग ! यदि मे समये विलम्बः।।**

अर्थात् कहाँ तुम्हारा यह सुकुमार कोमल शरीर और अल्प आयु, और कहाँ मदोन्मत्त निष्ठुर हिरण्यकशिपु का तुम्हारे ऊपर प्रबल अत्याचार ! इस अभूतपूर्व विषमता को मैंने भली-भाँति देख लिया है, हे प्रिय! यदि मेरे आने में कुछ देर हो गई तो मुझे क्षमा करो।

भक्तिमीमांसाशास्त्र में इस माधुर्यभाव का भूरि-भूरि वर्णन है। जैसा कि इस शास्त्र के प्रतिपादक महर्षि शाण्डिल्य और देवर्षि नारद के भक्तिसूत्रों के अध्ययन से विदित होता है। वेद में भी—

**रसो वै सः ।** तैत्तिरीयोपनिषद् २/७
**आनन्दरूपं परमं यद्विभाति ।** मुण्डकोपनिषद् २/२/७
**रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति ।** तैत्तिरीयोपनिषद् २/७
**आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न विभेति कुतश्चन ।** शरभोपनिषद् १८

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा इस भाव का पूर्ण प्रतिपादन किया गया है। भक्तिदर्शन के सूत्रकार महर्षि शाण्डिल्य के मत में **'सा परानुशक्तिरीश्वरे'** अर्थात् ईश्वर के प्रति परम प्रेम या अनुराग को भक्ति कहते हैं। देवर्षि नारद ने भी—

**सा कस्मै परमप्रेमरूपा । अमृतरूपा च । यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति । स्तब्धो भवति । आत्मारामो भवति ।**

इत्यादि सूत्रों के द्वारा ईश्वर के प्रति परम प्रेम को ही भक्ति का लक्षण कहा है। भगवत्प्रेम में मग्न हो जाने पर भक्त को बाह्य विषयों का भान नहीं

रहता है। वह उन्मुक्त स्तब्ध की तरह अहर्निश परमात्मा के रमण में ही संलग्न रहता है। उसका हृदयकमल सहस्रदल कमल की तरह विकसित होकर श्रीभगवान् के पवित्र चरणकमलों में विलीनता को प्राप्त हो जाता है। यही मानव-जीवन का सार लक्ष्य है और इसी सर्वोत्तम लक्ष्य की प्राप्ति कराने के लिये ही भक्तिमीमांसादर्शन का पवित्र पुरुषार्थ है।

**ब्रह्ममीमांसादर्शन में ईश्वर की अवधारणा**

इसके अनन्तर अन्तिम मीमांसा अर्थात् ब्रह्ममीमांसादर्शन में ईश्वर = परमात्मा के अन्यान्य भक्तों के साथ उनके ज्ञानभाव की सम्यक् सिद्धि की गई है।

ब्रह्ममीमांसादर्शन में ब्रह्म के उस अध्यात्मभाव की मीमांसा की गई है, जिस भाव के साथ माया का कोई सम्बन्ध नहीं है, जो भाव माया से अतीत है और जहाँ माया का लय हो जाता है। इसीलिये वेदान्तदर्शन में माया को मिथ्या एवं सान्त कहा गया है और जब माया की वस्तुसत्ता इस तरह से अपनी भूमि में अस्वीकृत हुई तो विश्व-जगत् को प्रकृति का परिणाम न कहकर ब्रह्म का विवर्त ही कहा जायेगा। इसलिये वेदान्तदर्शन में संसार को ब्रह्म का विवर्त कहा गया है। अर्थात् रज्जु में सर्पभ्रम की तरह मोहिनी माया के प्रताप से ब्रह्म में ही जगत् की भ्रान्ति हो रही है। वस्तुतः यह दृश्यमान् संसार ब्रह्म ही है, ऐसा वेदान्तदर्शन का सिद्धान्त है। वेदान्तभूमि के अनुसार स्वरूपोपलब्धिदशा में मायारहित तथा जगत् प्रत्यक्षरहित निर्गुण ब्रह्मभाव में स्थित होने के कारण ही उस दशा के अनुसार व्यावहारिक दशा में भी जगत् को ब्रह्म का विवर्त माना गया है। क्योंकि माया के मिथ्यात्व और जगत् के ब्रह्मरूपत्व की धारणा मुमुक्षु साधक के चित्त में जितनी प्रबल होगी, प्रपञ्च की निवृत्ति के द्वारा स्वरूपोपलब्धि उतनी ही निकटवर्तिनी हो जायेगी। अतः संसार को विवर्तित ब्रह्म का रूप कहना और उसी विवर्त को जानकर आनन्दमय ब्रह्मपद में विराजमान होना मुक्ति है। ऐसा कहना निजज्ञानभूमि के अनुसार वेदान्तदर्शन के लिये उपयुक्त ही है।

वेदान्तदर्शन में सगुण ब्रह्म ईश्वर की सत्ता पूर्णतया प्रत्यक्ष होती है, क्योंकि जब वेदान्तप्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म माया से अतीत है, तो मायासम्बन्धी सृष्टि-स्थिति-प्रलय आदि कार्य मायाशवलित सगुण ब्रह्म ईश्वर के अधिकार

में ही होना चाहिए। इसलिये इस दर्शन में ईश्वर को जगत् का निमित्त और उपादान दोनों कारण ही माना गया है। निमित्तकारण इसलिये कि उन्हीं के द्वारा सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य चलता है और उपादानकारण इसलिये कि उन्हीं पर सुवर्ण में कटक, कुण्डल की तरह माया ने समस्त विश्व की भ्रान्ति को दिखलाया है। उनकी निमित्तकारणता के विषय में वेदान्तदर्शन में अनेक सूत्र मिलते हैं। यथा—

**जन्माद्यस्य यतः ।** ब्रह्मसूत्र १/१/२

**जगद्वाचित्वात् ।** ब्रह्मसूत्र १/४/१६

अर्थात् संसार की सृष्टि-स्थिति-प्रलय सगुणब्रह्म ईश्वर के द्वारा ही होती है। ईश्वर ही समस्त जगत् का कर्त्ता है। उसकी उपादानकारणता के विषय में वेदान्तदर्शन में अनेक सूत्र मिलते हैं। यथा—

**प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुरोधात् ।** ब्रह्मसूत्र १/४/२३

इस सूत्र के भाष्य में शङ्कराचार्य ने लिखा है—

**एवं प्राप्ते ब्रूमः—प्रकृतिश्चोपादानकारणं च ब्रह्माभ्युपगन्तव्यं निमित्तकारणञ्च । न केवलं निमित्तकारणमेव ।**

शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र १/४/२३

सगुण ब्रह्म केवल जगत् का निमित्तकारण ही नहीं है, अधिकन्तु उपादानकारण भी है। फिर—

**योनिश्च हि गीयते ।** ब्रह्मसूत्र १/४/२७

इस सूत्र के द्वारा भी उपादानकारणता प्रतिपन्न होती है।

**तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्यः ।** ब्रह्मसूत्र २/१/१४

**तथाऽन्यप्रतिषेधात् ।** ब्रह्मसूत्र ३/२/३६

इन दोनों सूत्रों में भी जगत् और ब्रह्म की एकता करके जिस प्रकार कुण्डल, वलय आदि सुवर्णालङ्कारों में वास्तविक कोई भेद नहीं, केवल नामरूप का ही भेद है। वस्तुतः सब सुवर्ण ही हैं। उसी प्रकार जगत् विविध नामरूप वैचित्र्यपूर्ण होने पर भी वास्तव में ब्रह्म ही है। ऐसा कहकर जगत् के विषय में ब्रह्म की उपादानकारणता विशेषरूप से सिद्ध की गई है। आकाश, वायु आदि भूतोत्पत्ति सगुण ब्रह्म ईश्वर का ही कार्य है, ऐसा

मानते हुए जगदुत्पत्ति के विषय में ईश्वर की निमित्तकारणता सिद्ध की गई है। अत: वेदान्तदर्शनभूमि के अनुसार ईश्वर की उभयकारणता ही प्रतिपादित होती है।

ब्रह्म सगुण है या निर्गुण—इस विषय में ब्रह्मसूत्र में कहा है—

**न स्थानतोऽपि परस्योभयलिङ्गं सर्वत्र हि ।**

ब्रह्मसूत्र ३/२/११

अर्थात् ब्रह्म सर्वत्र उभयलिङ्ग है, उपाधिसम्बन्ध होने पर भी निर्गुणभाव का विलोप नहीं होता है। ब्रह्म सगुण और निर्गुण उभय ही है। इसमें यदि यह आपत्ति हो कि ब्रह्म सगुण होने पर साकार हो जायेगा, इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में सूत्र है—

**अरूपवदेव तत्प्रधानत्वात् ।**

ब्रह्मसूत्र ३/२/१४

अर्थात् ब्रह्म निर्विकार है, उपाधिसम्बन्ध होने पर भी साकार नहीं होता है।

**प्रकाशवच्चावैयर्थ्यात् ।**

ब्रह्मसूत्र ३/२/१५

जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश आधारभेद से सरल, वक्र आदि भाव धारण करता है उसी प्रकार निराकार ब्रह्म भी उपाधि के द्वारा नानारूप प्रतीत होते हैं। वस्तुत: उनका कोई रूप नहीं है। रूप न होने पर भी उपाधिसंयोग से यदि ससीम हो तो इस सन्देह के उत्तर में वेदान्तदर्शन बतलाता है—

**अतोऽनन्तेन तथा हि लिङ्गम् ।**

ब्रह्मसूत्र ३/२/२६

अर्थात् प्रकाशरूप ब्रह्म में सगुण-निर्गुण-भेद केवल उपाधिभेद से हैं। स्वरूपगत कोई भी भेद नहीं है। इस प्रकार निर्गुण ब्रह्म से स्वरूपत: अनन्त मायोपाधियुक्त सगुण ब्रह्म ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति होती है। इसलिये घटकुलालवत् निमित्तकारण ईश्वर कहा गया है।

अब इसमें प्रश्न यह होता है कि जब ईश्वर चेतन है और जगत् अचेतन है तो चेतन ईश्वर से अचेतन जगत् की उत्पत्ति कैसे हो सकती है?

इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में कहा है कि चेतन से अचेतन की उत्पत्ति संसार में हुआ करती है—जैसे चेतन पुरुष से अचेतन नख-लोमादि की उत्पत्ति। अतः ईश्वर से जगत् की उत्पत्ति शंकाजनक नहीं है। द्वितीय प्रश्न यह होता है कि कुम्भकार दण्ड, चक्र आदि उपकरण की सहायता से घट निर्माण करता है। ईश्वर का जब कोई उपकरण नहीं है तो वह सृष्टि कैसे कर सकेगा? इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में कहा है—

**क्षीरवद्धि...देवादिवदपि लोके ।**

ब्रह्मसूत्र २/१/२४-२५

अर्थात् जिस प्रकार दुग्ध आदि उपकरण के विना ही दधि आदि रूप में परिणत हो जाते हैं और जिस प्रकार देवता आदि उपकरण के विना ही संकल्प मात्र से सृष्टि करते हैं उसी प्रकार चेतन ईश्वर उपकरण के विना ही स्वतः जगत्-सृष्टि करता है।

तृतीय प्रश्न यह होता है कि ईश्वर जब निर्विकार है तो उससे सृष्टिकार्य कैसे सम्पन्न हो सकता है? इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में कहा है—

**विकरणत्वान्नेति चेत् तदुक्तम् ।**

ब्रह्मसूत्र २/१/३१

श्रुत्युक्त 'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता' इत्यादि प्रमाण द्वारा यह सिद्ध होता है कि निराकार से भी सृष्टिकार्य हो सकता है।

पुनः यह शंका होती है कि ईश्वर जब आप्तकाम है तो उसको सृष्टि कार्य करने का क्या प्रयोजन है? इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन ने कहा है—

**लोकवत्तु लीलाकैवल्यम् ।**

ब्रह्मसूत्र २/१/३३

अर्थात् सृष्टि करना ईश्वर का लीलाविलासमात्र है। जिस प्रकार शिशु विना प्रयोजन ही क्रीडा करता है, उसी प्रकार सृष्टि भी उनके अधिष्ठान से प्रकृति द्वारा स्वतः होती है। पुनः यह आपत्ति होती है कि संसार वैषम्य का आधार है। इसमें कोई सुखी कोई दुःखी, कोई धनी, कोई दरिद्र इस प्रकार देखने में आता है। यदि जगत् ईश्वर की रचना है तो वह पक्षपाती या निष्ठुर प्रतीत होता है। इसके उत्तर में वेदान्त ने कहा है—

**फलमत उपपत्तेः ।**

ब्रह्मसूत्र ३/२/३८

**कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्यः ।**

ब्रह्मसूत्र २/३/४२

**वैषम्यनैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात् तथा हि दर्शयति ।**

ब्रह्मसूत्र २/१/३४

अर्थात् ईश्वर कर्मफल का दाता है परन्तु कर्म के वैचित्र्यानुसार ही जीव को फल प्रदान करता है, ऐसा न होने से शास्त्रीय विधि-निषेध निरर्थक हो जायेंगे। ईश्वर जीवकृत कर्मानुसार ही भिन्न-भिन्न सृष्टि करता है। जिसका पूर्व सुकृत है उसे सुखी करता है और जिसका मन्द प्रारब्ध है उसे दुःखी करता है। अतः इससे ईश्वर की पक्षपातिता या निष्ठुरता सिद्ध नहीं होती। भाष्यकार पूज्यपाद शङ्कराचार्य ने ईश्वर के कर्मानुसार सृष्टिरहस्य के विषय में कहा है—

**ईश्वरस्तु पर्जन्यवद् द्रष्टव्यः । यथा हि पर्जन्यो व्रीहियवादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति, व्रीहियवादिवैषम्ये तु तत्तद्बीजगतान्येवासाधारणानि सामर्थ्यानि कारणानि भवन्ति । एवमीश्वरो देवमनुष्यादिसृष्टौ साधारणं कारणं भवति । देवमनुष्यादिवैषम्ये तु तत्तज्जीवगतान्येवासाधारणानि कर्माणि कारणानि भवन्ति । एवमीश्वरः सापेक्षत्वान्न वैषम्यनिर्घृण्याभ्यां दुष्यति ।**

शाङ्करभाष्य, ब्रह्मसूत्र २/१/३४

अर्थात् सृष्टि के विषय में ईश्वर को मेघ की तरह समझना चाहिए। जिस प्रकार व्रीहि, यव, धान्य आदि के विषय में मेघ साधारणकारण है। अर्थात् मेघ के जल से व्रीहि, यवादि उत्पन्न होते हैं, परन्तु उसमें प्रत्येक के मध्य जो प्रकृतिवैषम्य है उसके लिये मेघ कारण नहीं है। उसके लिये व्रीहि, यवादि के बीजगत असाधारण सामर्थ्य ही कारण हैं। उसके लिये देव मनुष्यादि सृष्टि के विषय में ईश्वर साधारणकारण है। परन्तु उसके द्वारा प्रदत्त प्रत्येक के पृथक्-पृथक् सुख-दुःख, ऐश्वर्य-दारिद्र्य आदि विशेषता के लिये जीवों के पृथक्-पृथक् कर्म ही असाधारणकारण हैं। ईश्वर उन्हीं पृथक्-पृथक् कर्मों के अनुसार प्रत्येक जीव की सृष्टि करता है। अतः सृष्टि के विषय में पर्जन्यवत् साधारणकारण होने से ईश्वर में पक्षपात या निष्ठुरता का कलङ्क नहीं लग सकता है। श्रुति कहती है—

**पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति पापः पापेन ।**

बृहदरण्यकोपनिषद ३/२/१३

अर्थात् पुण्यकर्म द्वारा जीव को पुण्यलोक या सुखप्राप्ति और पापकर्म द्वारा पापलोक या दुःखप्राप्ति होती है। अब इसमें यह आपत्ति होती है कि यदि कर्मानुसार ही जीव को ईश्वर फल प्राप्त कराता है तो उसमें ऐश्वर्य कैसे समझा जाय? कर्म के अधीन हुआ वह सर्वशक्तिमान् और स्वतन्त्र कैसे कहला सकता है? यह आपत्ति अकिञ्चित्कर है। क्योंकि दग्ध वस्तु के न होने से अग्नि दग्ध नहीं कर सकती, इसलिये अग्नि में दाहिका शक्ति नहीं है, ऐसा कहना मूर्खतापूर्ण होगा। दाहिकाशक्ति होने से ही अग्नि दाह्य वस्तुओं को दग्ध कर सकती है। जलादि में दाहिकाशक्ति नहीं है। इसलिये दाह्य वस्तुओं का संयोग होने पर भी जलादि उनको दग्ध नहीं कर सकते। इसी तरह से जड कर्म के नियामक सर्वशक्तिमान् ईश्वर में सर्वशक्तिमत्ता की अभाव-कल्पना नहीं हो सकती। प्रजाओं के कर्मानुसार राजा दण्ड, पुरस्कारादि प्रदान करते हैं। इसमें राजा में शक्ति या स्वतन्त्रता की अभाव-कल्पना नहीं हो सकती। इसी प्रकार से अनेक प्रमाणों तथा विचारों द्वारा वेदान्तदर्शन में ईश्वर की परमसत्ता जगच्चक्रपरिचालन के विषय में प्रमाणित की गई है। इस दर्शनसत्ता का स्वरूप क्या है, जिसको साधना के द्वारा साधकगण प्राप्त करते हैं? इसके उत्तर में वेदान्तदर्शन में लिखा है—

**आनन्दमयोऽभ्यासात् ।**

ब्रह्मसूत्र १/१/१२

अर्थात् ईश्वर की वह सर्वव्यापक अद्वितीय सत्ता आनन्दमय है, जिसको साधना के द्वारा साधक प्राप्त कर सकते हैं। साधना के द्वारा ईश्वर कब प्राप्त होता है, इस विषय में वेदान्तदर्शन में कहा है—

**अपि च संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् ।**

ब्रह्मसूत्र ३/२/२४

**पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ ।**

ब्रह्मसूत्र ३/२/५

**तदोकोऽग्रज्वलनं तत्प्रकाशितद्वारो... हार्दानुगृहीतः शताधिकया ।**

ब्रह्मसूत्र ४/२/१७

अर्थात् योगिजन शक्ति, ध्यान, प्रणिधानादि द्वारा ईश्वर का दर्शन करते हैं। ईश्वर की साधना के द्वारा सिद्धि प्राप्त होने पर जीव का विस्मृत ब्रह्मभाव उसे भगवत्प्रसाद से प्राप्त हो जाता है। ज्ञानी साधक का हृदयाग्र प्रज्वलित होता है, जिसके प्रकाश से साधक को निर्गमन द्वार अर्थात् मुक्ति में प्रवेश द्वार विदित होता है। वह उपासक भगवत्कृपा से पूर्ण होकर उज्ज्वलित सुषुम्नापथ से निष्क्रान्त हो उत्तरायण या सहजगति से परमधाम को प्राप्त हो जाता है। यही ईश्वराराधन के द्वारा वेदान्तवर्णित निःश्रेयस् पदवी प्राप्ति का परम उपाय है। अतः वेदान्तदर्शन की आस्तिकता सहज सिद्ध है।

**निष्कर्ष**

वैदिक दर्शनों में ईश्वरसत्ताविषयक विचार के द्वारा यही सिद्धान्त निश्चित हुआ कि अपनी-अपनी ज्ञानभूमि के अनुसार सभी दर्शनों ने ईश्वरसत्ता को प्रतिपादित किया है और वह प्रतिपादन दार्शनिक भूमियों की क्रमोन्नति के अनुसार क्रमोन्नत होता हुआ अन्तिम दर्शन वेदान्त की अन्तिम भूमि में आकर पराकाष्ठा को प्राप्त हो गया है। आत्मा के इस प्रकार श्रुति-शास्त्र-विचार-सम्मत त्रिविधभाव और नित्य-शुद्ध-मुक्त निखिलकारण परम करुणामय स्वरूप की सम्यक् उपलब्धि होने पर मुमुक्षु जीव का संसाररूप बन्धन निरस्त हो जाता है। समस्त संशयजाल छिन्न-विच्छिन्न हो जाता है और राजयोगी को दुःखलवलेशविहीन नित्यानन्दमय परम पद में चिरविलीनता प्राप्त हो जाती है।

●

# सांख्यदर्शन में ईश्वर : एक विश्लेषण

क्या सांख्यदर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है? इस प्रश्न का विश्लेषण यहाँ अभिप्रेत है। साधारणतः सबकी यह धारणा है कि सांख्य निरीश्वरवादी है। वह ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में कोई प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता है। इतना ही नहीं, वह ईश्वर के अस्तित्व को ही सर्वथा अस्वीकार करता है। इस धारणा का प्रत्यक्ष सम्बन्ध सांख्य के कुछ सूत्रों पर ही अवलम्बित है। उन सूत्रों के मर्म में प्रवेश न कर, केवल बाह्य दृष्टि से देखने पर यही प्रतीत होता है कि मानों वास्तविक रूप से सांख्यदर्शन ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करता और जब हम यह देखते हैं कि सम्पूर्ण सांख्यदर्शन में किसी भी विषय को ईश्वर से सम्बन्धित कर समझाने की चेष्टा नहीं की गई तो हमारी यह धारणा और भी दृढ हो जाती है। परन्तु हम यहाँ यह दिखलाने की चेष्टा करेंगे कि सांख्यदर्शन के सम्बन्ध में निरीश्वरता की धारणा सर्वथा भ्रान्तिपूर्ण है। सांख्यसूत्रों की भ्रमयुक्त व्याख्या के कारण ही ऐसा हुआ है। नहीं तो, सांख्यदर्शन वेदान्तदर्शन के सदृश ही सेश्वर है, इसमें लवलेश भी सन्देह नहीं है।

**'निरीश्वर' सांख्य का भ्रान्तिबीज**

जिन सूत्रों के आधार पर सांख्य में निरीश्वरभाव की अभिव्यक्ति कही जाती है वे सांख्यप्रवचनसूत्र प्रथम अध्याय के ९२ से ९९ तथा पञ्चम अध्याय के २ से १२ सूत्र हैं। प्रथम अध्याय के सूत्र इस प्रकार हैं—

**ईश्वरासिद्धेः ।** सांख्यसूत्र १/९२

**मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः ।** सांख्यसूत्र १/९३

**उभयथाप्यसत्करत्वम् ।** सांख्यसूत्र १/९४

**मुक्तात्मनः प्रशंसा, उपासा सिद्धस्य वा ।** सांख्यसूत्र १/९५

**तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।** सांख्यसूत्र १/९६

**विशेषकार्येष्वपि जीवानाम् ।** सांख्यसूत्र १/९७

**सिद्धरूपबोद्धृत्वाद्वाक्यार्थोपदेशः ।** सांख्यसूत्र १/९८

**अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ।**

सांख्यसूत्र १/९९

पञ्चम अध्याय के सूत्र इस प्रकार हैं—

**नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ।** सांख्यसूत्र ५/२

**स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत् ।** सांख्यसूत्र ५/३

**लौकिकेश्वरवदितरथा ।** सांख्यसूत्र ५/४

**पारिभाषिको वा ।** सांख्यसूत्र ५/५

**न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ।** सांख्यसूत्र ५/६

**तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः ।** सांख्यसूत्र ५/७

**प्रधानशक्तियोगाच्चेत् सङ्गापत्तिः ।** सांख्यसूत्र ५/८

**सत्तामात्राच्चेत् सर्वैश्वर्यम् ।** सांख्यसूत्र ५/९

**प्रमाणाभावान्न तत्सिद्धिः ।** सांख्यसूत्र ५/१०

**सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ।** सांख्यसूत्र ५/११

**श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ।** सांख्यसूत्र ५/१२

### भ्रान्तिबीज का निराकरण

सांख्यदर्शन के इन दोनों अध्यायों के उक्त सूत्रों की भली-भाँति व्याख्या करने से ज्ञात होता है कि इन सूत्रों का मुख्य उद्देश्य ईश्वर के अस्तित्व को अप्रमाणित करना तो है ही नहीं, प्रत्युत ईश्वर के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है, यह दिखलाना भी नहीं है। प्रथम अध्याय के सूत्रों में जिस मुक्ति की कल्पना की गई है, उसका उद्देश्य केवल यही बतलाना है कि इन्द्रियप्रत्यक्ष से ईश्वर का अस्तित्व नहीं दिखलाया जा सकता और सामान्यजन भी इन्द्रियों के द्वारा उसको नहीं जान सकते हैं।

इसी क्रम में प्रथम अध्याय के अधोलिखित—

**तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत् ।**

सांख्यसूत्र १/९६

अर्थात् मणि के समान प्रकृति के साथ सान्निध्य होने से अधिष्ठातृत्व सिद्ध होता है।

**अन्तःकरणस्य तदुज्ज्वलितत्वाल्लोहवदधिष्ठातृत्वम् ।**

सांख्यसूत्र १/९९

अर्थात् अन्तःकरण का उपचरित अधिष्ठातृत्व है, क्योंकि तप्त लोह की तरह चेतन से उज्ज्वलित रहता है।

सांख्यसूत्रों में तो स्पष्ट शब्दों में ही ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार किया है।

सांख्यदर्शन के उपरिनिर्दिष्ट पञ्चम अध्याय के सूत्रों का उद्देश्य स्पष्टतः ही भिन्न है। उनका उद्देश्य तो यह है कि प्रत्यक्ष सम्बन्ध से जगत् का वास्तविक कारण प्रकृति ही है, ईश्वर नहीं है। ईश्वर केवल परोक्षभाव से प्रकृति के साथ संयुक्त है और श्रुति भी यही कहती है कि साक्षात् सम्बन्ध से प्रकृति ही जगत् का कारण है। अतः ईश्वर के लिये प्रत्यक्ष सम्बन्ध से जगत् का कारण होने में कोई भी शास्त्रीय अथवा आगमप्रमाण नहीं है। अवश्य ही, ईश्वर को जगत् का गौण कारण कहा जा सकता है। क्योंकि प्रकृति ने ईश्वर सान्निध्य के कारण ही सृष्टि करने की शक्ति प्राप्त की है। परन्तु ईश्वर स्वरूपतः नित्यमुक्त और असङ्ग है।

अत एव यह अत्यधिक आश्चर्य की और हम लोगों के ज्ञान से परे की बात है कि अनिरुद्ध भट्ट, विज्ञानभिक्षु और महादेव के समान विज्ञ व्याख्याकारों ने पूर्वोक्त सूत्रों में एक ऐसे भिन्न सिद्धान्त का प्रतिपादन किया जो केवल आश्चर्योत्पादक ही नहीं, प्रत्युत सांख्यसम्बन्धी अन्यान्य अधिक विश्वसनीय व्याख्याग्रन्थों से भी साम्य नहीं रखता है।

### विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यसूत्रव्याख्या में विसङ्गति

अधिक क्या, यह व्याख्या विज्ञानभिक्षु के निम्नलिखित अपने ही वाक्यों से असम्बद्ध है। यहाँ सांख्यदर्शन की विज्ञानभिक्षुकृत भाष्य की भूमिका के दो वाक्यखण्ड उद्धृत किये जा रहे हैं। प्रथम अंश है—

**तत्र श्रुतिभ्यः श्रुतेषु पुरुषार्थतद्धेतुज्ञानतद्विषयात्मस्वरूपादिषु**
**श्रुत्यविरोधिनीरुपपत्तीः षडध्यायीरूपेण विवेकशास्त्रेण**
**कपिलमूर्त्तिर्भगवानुपदिदेश ।**

सांख्यप्रवचनभाष्य, भूमिका

अर्थात् 'कपिल मूर्त्तिधारी भगवान् ने इस विवेकशास्त्र द्वारा आत्मा-नात्मविवेक के सम्बन्ध में, श्रुति के अविरोधी इस छः अध्याय वाले ग्रन्थ का उपदेश किया था। दूसरा अंश है—

**तस्य श्रुतस्य मननार्थमथोपदेष्टुं सद्युक्तिजालमिह सांख्यकृदाविरासीत्।**
**नारायणः कपिलमूर्त्तिरशेषदुःखहानाय जीवनिवहस्य नमोऽस्तु तस्मै।।**

सांख्यप्रवचनभाष्य, भूमिका

अर्थात् 'जीव के अशेष दुःखों को दूर करने के अभिप्राय से एवं वेदोपदिष्ट सत्य को जिसमें सब लोग प्राप्त कर सकें, इसी उद्देश्य से सम्पूर्ण शास्त्रों का उपदेश करने के लिये नारायणदेव कपिलमूर्ति धारण कर सांख्यप्रणेता के रूप में पृथ्वी पर अवतीर्ण हुए, उनको मैं (विज्ञानभिक्षु) नमस्कार करता हूँ।'

इन उद्धृत वाक्यों से एक बात स्पष्ट है, वह यह कि स्वयं भगवान् ने भी यदि कपिल मूर्त्ति धारण कर सांख्यदर्शन का उपदेश किया था तो वे वेदविरुद्ध मत का प्रचार कैसे करते? क्योंकि वेद में ईश्वर का अस्तित्व अनेक स्थलों में स्पष्ट स्वीकृत है।

## अन्य सांख्याचार्यों के अनुसार ईश्वर

स्मर्तव्य है कि तत्त्वसमास, पञ्चशिखाचार्यसूत्र और सांख्यकारिका में ऐसा कोई भी वाक्य नहीं है, जिससे ईश्वर का अस्तित्व अस्वीकार होता हो या ईश्वर के अस्तित्व में कोई प्रमाण नहीं है, ऐसा कहा गया हो। किञ्च देखने से सहज ही पता लगता है कि केवल उपर्युक्त वाक्यों में ही नहीं अपितु सांख्यप्रवचनसूत्र में भी ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण है। वे सांख्यसूत्र हैं—

**स हि सर्ववित् सर्वकर्त्ता।**

सांख्यसूत्र ३/५६

अर्थात् क्योंकि कारण में विलीन हुआ व्यक्ति ही (सर्ववित्) अन्य सर्ग में सर्वव्यापक (सर्वकर्ता) आदि पुरुष होता है।

**ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा।**

सांख्यसूत्र ३/५७

अर्थात् इस प्रकार के सिद्धिरूप में ईश्वर की सत्ता हमारे द्वारा सिद्ध की गई है।

यद्यपि व्याख्याकारों ने इन दोनों सूत्रों की व्याख्या भी दूसरी तरह से की है, किन्तु प्रकृत में इनका यथार्थ तात्पर्य यही है कि प्रकृति जिस आत्मा के अधीन होकर और जिसके प्रभाव से प्रभावान्वित होकर पुनः आविर्भूत होती है एवं सृष्टि करती है, वह आत्मा सर्वज्ञ और सर्वकर्ता ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है।

**सांख्यसम्मत ईश्वर में कर्तृत्वभाव की सङ्गति**

यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि श्रुतिवाक्यानुगामी सांख्य में ईश्वर को निष्क्रिय कहा है, अतः ईश्वर सर्वकर्त्ता कैसे हो सकता है? इसका साधारण उत्तर यह है कि जिस प्रकार राजा को युद्ध करने वाला कहा जाता है परन्तु वस्तुतः राजा युद्ध नहीं करता है। राजा के सैनिक ही राजा की आज्ञा के अधीन हो उसके निर्देशन में युद्ध करते हैं। उसी प्रकार प्रकृति ईश्वर के प्रभाव और उसके परिचालन में ही कार्य करती है। अतः ईश्वर को अन्ततः परोक्षरूप से सब कार्यों का और कर्तृत्व का मूल निर्झर कहा जा सकता है। यह तथ्य आगे स्पष्ट किया जायेगा कि वास्तव में ईश्वर ही प्रकृत कर्ता है, प्रकृति तो उसके हाथ का यन्त्रमात्र है।

**योगदर्शन के परिप्रेक्ष्य में सांख्य की ईश्वरविषयिणी मान्यता**

सांख्यदर्शनसम्बन्धी समधिक प्रामाणिक ग्रन्थ सांख्यकारिका में ही ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में स्पष्ट प्रमाण मिलता है। ईश्वरकृष्ण ने दसवीं एवं ग्यारहवीं कारिकाओं में स्पष्ट कहा है कि जिस प्रकार जगत् में एक परमा प्रकृति है, उसी प्रकार एक परम पुरुष भी है। कारिकाएँ हैं—

**हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रियमनेकमाश्रितं लिङ्गम् ।**
**सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीतमव्यक्तम् ।।**
**त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि ।**
**व्यक्तं तथा प्रधानं तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ।।**

सांख्यकारिका १०-११

यदि हम सांख्यसूत्र का प्रमाण स्वीकार करें तो उसमें भी उपर्युक्त विषय पर अधोलिखित सूत्रों में इसी सिद्धान्त को निर्धारित किया है—

**उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः ।**

सांख्यसूत्र १/१५०

**उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वान् ।** सांख्यसूत्र १/१५१

**एवमेकत्वेन परिवर्त्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः ।**

सांख्यसूत्र १/१५२

**अन्यधर्मत्वेऽपि नारोपात् तत्सिद्धिरेकत्वात् ।** सांख्यसूत्र १/१५३

**नाद्वैतश्रुतिविरोधो जातिपरत्वात् ।** सांख्यसूत्र १/१५४

इस परिप्रेक्ष्य में पातञ्जलयोगसूत्र द्रष्टव्य है। सभी विद्वान् योगसूत्र को सांख्यदर्शन का एक अत्यावश्यक परिशिष्ट मानते हैं और उसको सांख्यदर्शन ही कहते हैं। महाभारत के शान्तिपर्व में तीन सौ पाँच से तीन सौ सात अध्यायपर्यन्त वशिष्ट मुनि ने और तीन सौ सोलह अध्याय में याज्ञवल्क्य ऋषि ने यही बात कही है। अत एव यह कहना व्यर्थ है कि सांख्यदर्शन को भली-भाँति समझने के लिये योगदर्शन का सम्पूर्ण ज्ञानविशेष आवश्यक है और योगसूत्र का व्यासभाष्य केवल योगसूत्र समझने के लिये ही अत्यन्त आवश्यक नहीं है, परन्तु समग्र सांख्यदर्शन को आत्मसात् करने के लिये भी उसकी अत्यन्त आवश्यकता है। व्यासभाष्य योगसूत्र की सर्वोत्कृष्ट व्याख्या है।

साधारणतः पातञ्जलयोगदर्शन को सेश्वरसांख्य और कापिलसांख्यदर्शन के निरीश्वरसांख्य कहा जाता है। परन्तु ऐसा विभाग युक्तिपूर्ण नहीं है। क्योंकि यह तो पूर्व निश्चित किया जा चुका है कि कापिलसांख्य निरीश्वर नहीं है। महाभारत से भी सिद्ध होता है कि सांख्य और योगदर्शन में कोई पार्थक्य नहीं है। दोनों एक ही उपदेश देते हैं। सम्भवतः इस भेदबुद्धि का कारण सांख्यप्रवचन के कुछ सूत्रों की भ्रान्त व्याख्या ही है। अथवा कापिलसांख्य में जीव की मुक्ति के लिये ईश्वर को स्वीकार न करना और सेश्वर सांख्य में ईश्वर की आवश्यकता स्वीकार करना, यही समझना पड़ेगा। पातञ्जलयोग-दर्शन में अनेकों स्थलों पर इस प्रकार आवश्यकता से अधिक बल दिया है। वे सूत्र हैं—

**तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ।** योगसूत्र १/३२

**तस्य भूमिषु विनियोगः ।** योगसूत्र ३/६

इन सूत्रों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जीव की मुक्ति के लिये पातञ्जलदर्शन में ईश्वर का अस्तित्व और उसकी आवश्यकता स्वीकार की गई है और यह भी स्पष्ट है कि इसमें परमपुरुष और जीवपुरुष ये दो प्रकार के पुरुष स्वीकार किये गये हैं। यहाँ यह जानने योग्य है कि पातञ्जलयोगदर्शन में कहीं यह नहीं कहा गया है कि मनुष्य की मुक्ति के लिये ईश्वर की एकान्त ही आवश्यकता है। केवल भक्तिविशेष के द्वारा ईश्वर की उपासना करने से उनकी मुक्ति निकटतम होती है। मुक्ति-प्राप्ति के अन्यान्य उपाय भी हैं, जिनमें ईश्वर की उपासना प्रधान है। इसमें समाधिपाद के दो सूत्र मुख्यरूप से द्रष्टव्य हैं—

**तीव्रसंवेगामासन्नः ।** योगसूत्र १/२१

**मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ।**

योगसूत्र १/२२

निष्कर्षतः इस विषय में सांख्य और पातञ्जलदर्शन में कोई विशेष पार्थक्य नहीं है।

**महाभारत के अनुसार 'सेश्वर' सांख्य**

महाभारत के शान्तिपर्व के अन्तर्गत तीन सौ एक से तीन सौ अठारह अध्यायपर्यन्त सांख्यदर्शन पर एक सुन्दर वर्णन मिलता है। तीन सौ एक अध्याय में सांख्यदर्शन की बहुत प्रशंसा की गई है और सांख्यज्ञान का भी अतिविस्तृत वर्णन है। यहाँ तक कि सांख्यज्ञान को स्वयं ब्रह्म ही बतलाया गया है। इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि सांख्य में ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकृत करना तो दूर रहा, इसमें वर्णित ज्ञान को स्वयं ईश्वर से एकीभूत किया गया है और उसे ईश्वर का मूर्त स्वरूप ही बतलाया है। यहाँ तक लिखा है कि वेद में जो ईश्वरज्ञान की बातें हैं, वे भी सांख्य से ही ली गई हैं।

महाभारत के शान्तिपर्व के तीन सौ दो अध्याय के अड़तीस से बयालीस तक श्लोकों में वशिष्ठ मुनि के कथन से ऊपर का मत अधिक समर्थित हो जाता है। वे श्लोक हैं—

**पञ्चविंशतिमो विष्णुर्निस्तत्त्वस्तत्त्वसंज्ञितः ।**
**तत्त्वसंश्रयणादेतत् तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०२/३८

अर्थात् इन चौबीस तत्त्वों से परे जो भगवान् विष्णु (सर्वव्यापी परमात्मा) हैं, उन्हें पच्चीसवाँ तत्त्व कहा गया है। तत्त्वों को आश्रय देने के कारण ही मनीषी पुरुष उन्हें तत्त्व कहते हैं।

**यन्मर्त्यमसृजद् व्यक्तं तत्तन्मूर्त्यधितिष्ठति ।**
**चतुर्विंशतिमोऽव्यक्तो ह्यमूर्तः पञ्चविंशकः ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०२/३९

अर्थात् महत्तत्त्व आदि व्यक्त पदार्थ जिन मरणशील (नश्वर) पदार्थों की सृष्टि करते हैं, वे किसी न किसी आकार या मूर्ति का आश्रय लेकर स्थित होते हैं। गणना करने पर चौबीसवाँ तत्त्व है अव्यक्त प्रकृति और पच्चीसवाँ है निराकार परमात्मा।

**स एव हृदि सर्वासु मूर्तिष्वातिष्ठतेऽऽत्मवान् ।**
**केवलश्चेतनो नित्यः सर्वमूर्तिरमूर्तिमान् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०२/४०

अर्थात् जो अद्वितीय, चेतन, नित्य, सर्वस्वरूप, निराकार एवं सबके आत्मा हैं, वे परम पुरुष परमात्मा ही समस्त शरीरों के हृदयदेश में निवास करते हैं।

**सर्गप्रलयधर्मिण्या असर्गप्रलयात्मकः ।**
**गोचरे वर्तते नित्यं निर्गुणं गुणसंज्ञितम् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०२/४१

अर्थात् यद्यपि सृष्टि और प्रलय प्रकृति के ही धर्म हैं। पुरुष तो उनसे सर्वथा सम्बन्धरहित है तथापि उस प्रकृति के संसर्गवश पुरुष भी उस सृष्टि और प्रलयरूप धर्म से सम्बद्ध सदृश प्रतीत होता है। इन्द्रियों का विषय न होने पर भी इन्द्रियगोचर सा हो जाता है तथा निर्गुण होने पर भी गुणवान् सदृश प्रतीत होता है।

**एवमेष महानात्मा सर्गप्रलयकोविदः ।**
**विकुर्वाणः प्रकृतिमानभिमन्यत्यबुद्धिमान् ।।**

महाभारत शान्तिपर्व, ३०२/४२

अर्थात् इस प्रकार सृष्टि और प्रलय के तत्त्व को जानने वाला यह महान् आत्मा अविकारी होकर भी प्रकृति से संसर्ग से युक्त हो विकारवान् सदृश हो जाता है एवं प्राकृत बुद्धि से रहित होने पर भी शरीर में आत्माभिमान कर लेता है।

इसी शान्तिपर्व के तीन सौ पाँच अध्याय के अधोलिखित श्लोकों में भी वशिष्ठ जी ने ईश्वर के अस्तित्व को अधिकतर स्पष्टभाव से स्वीकार किया है। वे श्लोक हैं—

**गुणा गुणवतः सन्ति निर्गुणस्य कुतो गुणाः ।**
**तस्मादेवं विजानन्ति ये जना गुणदर्शिनः ।।**
**यदा त्वेष गुणानेतान् प्राकृतानभिमन्यते ।**
**तदा स गुणहान्यै तं परमेवानुपश्यति ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०५/२९-३०

अर्थात् गुण तो गुणवान् में ही रहते हैं। निर्गुण आत्मा में गुण कैसे रह सकते हैं? अतः गुणों के स्वरूप को जानने वाले विद्वान् पुरुषों का यही सिद्धान्त है कि जब जीवात्मा इन गुणों को प्रकृति का कार्य मानकर उनमें अपनेपन का अभिमान त्याग देता है, उस समय वह देह आदि में आत्मबुद्धि का परित्याग करके अपने विशुद्ध परमात्मस्वरूप का साक्षात्कार करता है।

**पञ्चविंशतिनिष्ठोऽयं यदा सम्यक् प्रवर्तते ।**
**एकत्वं दर्शनं चास्य नानात्वं चाप्यदर्शनम् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०५/३७

अर्थात् जब यह पुरुष पच्चीसवें तत्त्वस्वरूप परमात्मा में स्थित हो जाता है, तब उसकी स्थिति उत्तम बताई जाती है। वह ठीक व्यवहार करता है, ऐसा माना जाता है। एकत्वबोध ही ज्ञान है और नानात्वबोध ही अज्ञान है।

**तत्त्वनिस्तत्त्वयोरेतत् पृथगेव निदर्शनम् ।**
**पञ्चविंशतिसर्गं तु तत्त्वमाहुर्मनीषिणः ।।**
**निस्तत्त्वं पञ्चविंशस्य परमाहुर्निदर्शनम् ।**
**सर्गस्य वर्गमाधारं तत्त्वं तत्त्वात् सनातनम् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०५/३८-३९

अर्थात् तत्त्व (क्षर) और निस्तत्त्व (अक्षर) का यह पृथक्-पृथक् लक्षण समझना चाहिए। कुछ मनीषी पुरुष पच्चीस तत्त्वों को ही तत्त्व कहते हैं, परन्तु दूसरे विद्वानों ने चौबीस जड तत्त्वों को तो तत्त्व कहा है और पच्चीसवें चेतन परमात्मा को निस्तत्त्व (तत्त्व से भिन्न) बतलाया है। यह चैतन्य ही परमात्मा का लक्षण है। महत्तत्त्व आदि जो विकार हैं वे क्षरतत्त्व हैं। और परम पुरुष परमात्मा उन 'क्षर' से भिन्न उनका सनातन आधार है।

इसी क्रम में जनक और याज्ञवल्क्य के कथोपकथन में भी सांख्य के सम्बन्ध में हम इस एक ही सिद्धान्त को समर्थित पाते हैं। यहाँ कुछ उद्धरण प्रस्तुत हैं—

**कतीन्द्रियाणि विप्रर्षे कति प्रकृतयः स्मृताः ।**
**किमव्यक्तं परं ब्रह्म तस्माच्च परतस्तु किम् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३१०/५

राजा जनक याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं—ब्रह्मर्षे! इन्द्रियाँ कितनी हैं? प्रकृति के कितने भेद माने गये है? अव्यक्त क्या है? और उससे परे परब्रह्म परमात्मा का क्या स्वरूप है?

याज्ञवल्क्य राजा जनक को बतलाते हैं—

**एवं हि परिसंख्याय ततो ध्यायन्ति केवलम् ।**
**विरजस्कमलं नित्यमनन्तं शुद्धमव्रणम् ।।**
**तस्थुषं पुरुषं नित्यमभेद्यमजरामरम् ।**
**शाश्वतं चाव्ययं चैव ईशानं ब्रह्म चाव्ययम् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३१६/१६-१७

अर्थात् इस प्रकार सबका लय करके योगी पुरुष केवल उस परमात्मा का ध्यान करते हैं, जो रजोगुण से रहित, निर्मल, नित्य, अनन्त, शुद्ध,

छिद्ररहित, कूटस्थ, अन्तर्यामी, अभेद्य, अजर, अमर, अविकारी सबका शासन करने वाला और सनातन ब्रह्म है।

महर्षि याज्ञवल्क्य बतलाते हैं—

**पृथक् पृथक् प्रपश्यन्ति येऽप्यबुद्धिरता नराः ।**
**वयं तु राजन् पश्याम एकमेव तु निश्चयात् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३१६/३

अर्थात् हे राजन्! जो मनुष्य अज्ञानपरायण हैं वे ही सांख्य और योग इन दोनों शास्त्रों को सर्वथा भिन्न मानते हैं। हम तो विचार के द्वारा पूर्ण निश्चय करके दोनों को एक ही समझते हैं। इससे दोनों शास्त्रों की सेश्वरता सिद्ध होती है।

**महाभारत में सेश्वरसांख्यविषयिणी आशङ्का का निराकरण**

महाभारत में कुछ ऐसे श्लोक मिलते हैं, जिनसे सेश्वर सांख्य होने के विषय में आशङ्का होती है—

**पञ्चविंशात् परं तत्त्वं पठ्यते न नराधिप ।**
**सांख्यानां तु परं तत्त्वं यथावदनुवर्णितम् ।।**
**बुद्धमप्रतिबुद्धत्वाद् बुध्यमानं च तत्त्वतः ।**
**बुध्यमानं च बुद्धं प्राहुर्योगनिदर्शनम् ।।**

महाभारत, शान्तिपर्व ३०७/४७-४८

अर्थात् नरेश्वर! सांख्यशास्त्र के आचार्य पच्चीसवें तत्त्व से परे और किसी तत्त्व का वर्णन नहीं करते हैं। यह मैंने सांख्यों के परम तत्त्व का यथावत् रूप से वर्णन किया है।

जो नित्य ज्ञानस्वरूप परब्रह्म परमात्मा है, वही बुद्ध है तथा जो परमात्मतत्त्व को न जानने के कारण जिज्ञासु जीवात्मा है, उसकी बुध्यमान संज्ञा होती है। इस प्रकार योग के सिद्धान्त के अनुसार बुद्ध (नित्य ज्ञानसम्पन्न परमात्मा) और बुध्यमान (जिज्ञासु जीव)—ये दो चेतन माने गये हैं।

परतु वस्तुस्थिति यह नहीं है, ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि पच्चीस तत्त्व के अतिरिक्त एक अन्य तत्त्व को अर्थात् ब्रह्म या ईश्वर

के अस्तित्व को सांख्य ने स्पष्ट स्वीकार किया है। इन दोनों विरोधी बातों का सामञ्जस्य अनेक प्रकार से किया जा सकता है।

प्रथम युक्ति यह है कि इन दोनों श्लोकों में पाठभेद ही हो सकता है। द्वितीय युक्ति के अनुसार इनका प्रक्षिप्त होना भी सम्भव है। तृतीय युक्ति यह है कि पूर्वकथित श्लोकों से इनका सम्पूर्ण असामञ्जस्य भी नहीं है। क्योंकि उपर्युक्त श्लोकों का यह अर्थ हो सकता है कि पच्चीस तत्त्व हैं। अर्थात् पुरुष ही परम तत्त्व है और जो इनके ऊपर है वह निस्तत्त्व है। उसी का दूसरा नाम ईश्वर या ब्रह्म है। अत एव यदि सांख्य पच्चीस तत्त्व के अतिरिक्त अन्य एक तत्त्व को न भी स्वीकार करे तो भी किसी प्रकार की विसङ्गति नहीं होती। सांख्य के पूर्व सूत्रों में यह स्पष्ट लिखा है कि सम्पूर्ण तत्त्व (यहाँ तक जीव भी) परम पुरुष का ही सर्ग है। अत: यदि सांख्य परम पुरुष को किसी भी तत्त्वरूप से न स्वीकार करे तो इसमें कोई दोष की बात नहीं है। फिर पूर्व सूत्रों में यह भी स्पष्ट कहा है कि जीव (जो पच्चीसवाँ तत्त्व है) त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है, इस उपाधि के त्याग करने पर जीव की ईश्वर के साथ एकता हो सकती है। यों कहकर यदि सांख्य ईश्वर को एक अतिरिक्त तत्त्व न माने तो इससे कोई विशेष हानि नहीं होती, असामञ्जस्य की तो कोई बात ही नहीं। पर यह स्मरण रखना चाहिए कि पूर्वोक्त सूत्रों में दृढता के साथ भूयोभूय: यह कहा गया है कि सांख्य और योग एक हैं। अर्थात् दोनों का एक ही विषय है। योगदर्शन में ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया है, इससे यह ज्ञात होता है कि यद्यपि सांख्य साक्षात् सम्बन्ध से ईश्वर के विषय में कुछ नहीं कहता (यद्यपि यह सत्य नहीं है) तो भी अन्तत: वह परोक्षभाव से ईश्वर को स्वीकार करता है। अस्वीकार करने की तो कोई शङ्का ही नहीं है। इस विवेचन से सेश्वरसांख्यविषयिणी आशङ्का का निराकरण हो जाता है।

### श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार 'सेश्वर' सांख्य

श्रीमद्भगवद्गीता में सेश्वर सांख्य का प्रतिपादन हुआ है। इसमें जीव के स्वभाव, जीव एवं ईश्वर के सम्बन्ध में सांख्य के मत का भली-भाँति वर्णन किया गया है। भगवद्गीता के अनुसार सांख्य ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करता है और जीव ईश्वर का ही बहुधा प्रकाशमात्र है। दूसरे शब्दों

में जीव त्रिगुणी या त्रिगुणान्वित ईश्वर है। गीता के द्वितीय अध्याय से कुछ श्लोक उद्धृत किये जा रहे हैं—

**अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च ।**
**नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः ।।**
**अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।**
**तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ।।**

भगवद्गीता २/२४-२५

द्वितीय अध्याय की समाप्ति में श्रीकृष्ण का अर्जुन के प्रति आत्मसम्बन्धी उपसंहृत उपदेश है कि हे अर्जुन! यह ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है। इसको प्राप्त होकर योगी कभी मोहित नहीं होता और अन्तकाल में भी इस ब्राह्मी स्थिति में स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है। वचन है—

**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।**
**स्थित्वाऽस्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।**

भगवद्गीता २/७२

भगवद्गीता के तेरहवें अध्याय के दो श्लोक प्रासङ्गिक हैं—

**उपद्रष्टाऽनुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।**
**परमात्मेति चाऽप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ।।**
**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम् ।**
**विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति ।।**

भगवद्गीता १३/२२,२७

अर्थात् इस देह में स्थित यह आत्मा वास्तव में परमात्मा ही है। वही साक्षी होने से उपद्रष्टा और यथार्थ सम्मति देने वाला होने से अनुमन्ता, सबका धारण-पोषण करने वाला होने से भर्ता, जीवरूप से भोक्ता, ब्रह्मा आदि का भी स्वामी होने से महेश्वर तथा शुद्ध सच्चिदानन्दघन होने से परमात्मा ऐसा कहा गया है।

जो पुरुष नष्ट होते हुए सब चराचर भूतों में परमेश्वर को नाशरहित और समभाव से स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता है। भगवद्गीता के

चौदहवें अध्याय में लिखा है—

**मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम् ।**
**सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत ।।**
**सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्तयः सम्भवन्ति याः ।**
**तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता ।।**

भगवद्गीता १४/३-४

अर्थात् हे अर्जुन! मेरी महत्-ब्रह्मरूप मूलप्रकृति सम्पूर्ण भूतों की योनि है अर्थात् गर्भाधान का स्थान है और मैं उस योनि में चेतनसमुदाय रूप गर्भ को स्थापन करता हूँ। उस जड-चेतन के संयोग से सब भूतों की उत्पत्ति होती है।

नाना प्रकार की सब योगियों में जितनी मूर्तियाँ अर्थात् शरीरधारी प्राणी उत्पन्न होते हैं, प्रकृति तो उन सबकी गर्भ धारण करने वाली माता है और मैं बीज को स्थापन करने वाला पिता हूँ।

**श्रीमद्भागवत के अनुसार 'सेश्वर' सांख्य**

श्रीमद्भागवत के कपिल और देवहूति संवाद में जो सांख्य का वर्णन मिलता है, उसमें भी हम ईश्वरास्तित्व के सम्बन्ध में यही बता पाते हैं—

**चेतः खल्वस्य बन्धाय मुक्तये चात्मनो मतम् ।**
**गुणेषु सक्तं बन्धाय रतं वा पुंसि मुक्तये ।।**
**अहंममाभिमानोत्थैः कामलोभादिभिर्मलैः ।**
**वीतं यदा मनः शुद्धमदुःखमसुखं समम् ।।**
**तदा पुरुष आत्मानं केवलं प्रकृतेः परम् ।**
**निरन्तरं स्वयंज्योतिरणिमानमखण्डितम् ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२५/१५-१७

**अनादिरात्मा पुरुषो निर्गुणः प्रकृतेः परः ।**
**प्रत्यग्धामा स्वयंज्योतिर्विश्वं येन समन्वितम् ।।**
**स एष प्रकृतिं सूक्ष्मां दैवीं गुणमयीं विभुः ।**
**यदृच्छयैवोपगतामभ्यपद्यत लीलया ।।**

**तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यं च तत्कृतम् ।**
**भवत्यकर्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः ।।**

श्रीमद्भागवत ३/२६/३-४,७

**उपनिषद्वाङ्मय में 'सेश्वर' सांख्य**

उपनिषद् भी 'सेश्वर' सांख्य का समर्थन करते हैं। उपनिषद् का दर्शनतत्त्व सांख्य से ही गृहीत है। यहाँ यही कहा गया है कि सांख्य निरीश्वरवाद या अज्ञेयवाद का उपदेश नहीं करता, परन्तु ईश्वर के अस्तित्व का ही प्रत्यक्षरूप से प्रतिपादन करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से सांख्यदर्शन में सेश्वरवाद की स्थापना होती है।

●

# योगविद्या का चिकित्सकीय आयाम : एक दार्शनिक चिन्तन

योगविद्या शरीर, मन, वाक् का केवल चिकित्साविज्ञान नहीं है, अपितु चिकित्सेतर समाधान भी है। यह मोक्षदायिनी नैष्ठिकी चिकित्सापद्धति है। यह वेदानुमोदित चिकित्सा विधि है। अतः योगविद्या का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष युग-युगान्त तक मानव मेधा को अनुप्राणित करता रहा है। यह कालजयी योगविद्या है। इस योगविद्या के अनुशीलन ने मानव को ऋषि-महर्षि-राजर्षि-ब्रह्मर्षि की सर्वोच्च उपाधि से समलङ्कृत ही नहीं किया है, अपितु उनकी तपःपूत लेखनी से निःसृत शास्त्रों ने शाश्वत एवं चिरन्तन सैद्धान्तिक कीर्तिमान् स्थापित किये हैं। **'ज्योतिषां ज्योतिः'** स्वरूप आदित्य की भाँति **'विद्यायां विद्या'** स्थानीय यह योगविद्या है।

**विषय-विस्तार**

महर्षि पतञ्जलि के योगसूत्र को योगविद्या का मार्गदर्शक ज्योतिस्तम्भ कहा जाय, तो अत्युक्ति न होगी। पतञ्जलि के योगसूत्र ने ही योगविद्या को दर्शनशास्त्र की परिधि में प्रतिष्ठित किया है। उसकी अध्यात्मिक महनीयता को स्वीकारोक्ति प्रदान की है।

'योग' यतः तर्क का विषय नहीं, अपितु साक्षात्कार का विषय है, अतः इसकी व्याख्या सरल नहीं है। फिर भी हमारे ऋषि-मुनियों ने जो कुछ साक्षात्कार किया और अनुभव किया, उसे सभी के लिये ग्राह्य एवं उपयोगी बनाने के लिये क्रमिक अभ्यास की विधियों सहित इसे तार्किक एवं सुदृढ पद्धति से प्रतिपादित किया कि आज के वैज्ञानिक युग में भी योगविद्या सर्वमान्य एवं लोकप्रिय सिद्ध हो रही है। इस शास्त्र की स्पृहणीयता की वृद्धि का मुख्य कारण यह है कि आत्मज्ञान की प्राप्ति के चरम साध्य का साधन; अपने आनुषङ्गिक फलों के कारण, साध्यकोटि में पहुँच गया है। आधि-व्याधि-प्रशमन में सहायकीभूता योगविद्या को रोगप्रशमन एवं स्वास्थ्य परिरक्षण की दिशा में चिह्नित किया जा रहा है।

आज योग मात्र आश्रमों तथा साधु-सन्तों तक ही सीमित नहीं रह गया है, अपितु विगत कुछ दशकों में इसने हमारे दैनिक जीवन में अपना स्थान बना लिया है और विश्व स्तर पर इसके प्रति लोगों की जागरूकता बढ़ी है और इसे स्वीकार भी किया गया है। योगविज्ञान और उसकी विधियों को सम्प्रति आधुनिक समाज की आवश्यकताओं एवं जीवनशैली के अनुरूप बनाते हुए उनको दैनिक जीवन में समावेश करने का प्रयत्न किया जा रहा है, जिससे मनुष्य तनावमुक्त, कष्टमुक्त, स्वस्थ, सन्तुष्ट एवं श्रेष्ठ जीवन व्यतीत कर पायें। आधुनिक चिकित्साविज्ञान सहित औषधिविज्ञान की विभिन्न शाखाओं के विशेषज्ञों ने रोगनिवारण, रोगों से रक्षा करने एवं स्वास्थ्य के प्रति लोगों को प्रोत्साहित करने में इन विधियों की भूमिका की सराहना की है।

योगानुशीलन से रोग की प्रतिरोधक क्षमता की दृश्यता का स्तर स्फुट है। देहयष्टि ही इसका प्रबल मापक यन्त्र है। योग से शरीर की रोगप्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है। योग के वैज्ञानिक प्रयोगों एवं सफलताओं को स्वयं अनुभव किया जा सकता है। भारतीय चिकित्सा पद्धति में योग-चिकित्सा मील का पत्थर सिद्ध हुई है। भोग, रोग और योग की प्रकृति भले ही पृथक्-पृथक् हो किन्तु तीनों का प्रत्यय (ज्ञान) एक है। यदि व्यक्ति का मन नियन्त्रित हो तो वह योगी कहलाता है, जब कि अनियन्त्रित मन वाले व्यक्ति को भोगी कहते हैं। भोगी को ही तरह-तरह के रोगों का सामना करना पड़ता है। रोगाधिक्य भोगी को रोगी बना देता है। योगी भोग और रोग से अप्रभावित रहता है।

### योगः मानवीय मूल्यों के प्रति आस्था

मानवीय मूल्यों के प्रति आस्थावान् व्यक्ति ही में 'योग' का सकारात्मक प्रभाव दृष्टिगत होता है, अन्यथा 'योग' की चर्चा भी अप्रासङ्गिक प्रतीत होती है। मानवीय मूल्यों के प्रति अनास्था अपने आप में एक समस्या है। अनैतिकता-प्रधान युग में मानवीय मूल्यों का अनुपालन कठिन हो सकता है, किन्तु असम्भव नहीं। जो व्यक्ति कोलाहल के मध्य रहकर उसके शब्दों को अर्थहीन बना देता है, उस पर कोई कोलाहल प्रभावी नहीं हो सकता। नैतिक योगियों के मध्य रहकर जो अनीति के प्रभाव को निस्तेज कर

दे, वही उस व्यक्ति के योगानुशीलन एवं चिन्तन की सार्थकता है। जो व्यक्ति जीवन्त व्यक्तित्व से जुड़ा हुआ है, वह कभी टूटता नहीं, अपितु उसके व्यक्तित्व-भङ्ग के निमित्त बनने वाली परिस्थितियाँ स्वयं शिथिल हो जाती हैं।

कल्पित सन्देह से मनुष्य जितना टूटता है, वास्तविकता उसे उतना नहीं तोड़ती। अब अपेक्षा है कि सन्देह की स्थिति को समाप्त कर यथार्थ की अनुभूति करना तथा नैतिक और आध्यात्मिक आस्थाओं की निर्मिति के लिये जागरूक रहना। नैतिक मूल्यों के आधार पर ही मनुष्य उच्चता का अनुभव कर सकता है और मानवीय प्रकाश पा सकता है। यही योग द्वारा प्रतिपादित चिकित्सकीय शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक स्वस्थता है। सूत्र है—

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

योगसूत्र १/३

## योग का परिचय

दर्शन की छः आस्तिक पद्धतिंयों में योग एक है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्रों में योग के विभिन्न पहलुओं को क्रमबद्ध रूप से और परिष्कृत पद्धति से इस प्रकार प्रतिपादित किया है कि योग और समाधि का कोई पक्ष अव्यक्त न रह जाय और साधकों के लिये सर्वत्र और सर्वविधि उपयोगी सिद्ध हो। उन्होंने मानव जीवन के सर्वाङ्गीण विकास के लिये योग के आठ अङ्गों का प्रतिपादन किया, जो अष्टाङ्गयोग नाम से लोकप्रिय हैं। ये हैं—यम-नियम-आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि। सूत्र है—

**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।**

योगसूत्र २/२९

**यम**—नियमन (हिंसादि वृत्तियों पर नियन्त्रण) ।

**नियम**—प्रवर्तन (शारीरिक एवं मानसिक संशुद्धि) ।

**आसन**—शारीरिक शक्ति-संवर्धन ।

**प्राणायाम**—प्राणवायु का पुष्टिवर्धन ।

**प्रत्याहार**—इन्द्रियों को विषयाहार से पराङ्मुख कर उनकी बहिर्मुखता पर नियन्त्रण।

**धारणा**—चिन्तन (चित्त की ध्येयविषयिणी एकाग्रता) ।

**ध्यान**—चिन्तन की प्रगाढ़ता (ध्याता-ध्यान-ध्येय की अनुभवता) ।

**समाधि**—चिन्तन की परिपूर्णता (ध्याता-ध्यानविरहित ध्येयमात्र की अनुभवता) ।

**त्रिदण्डाधारित योगामृतकुम्भ**

अष्टाङ्गयोग की प्रकृति के अनुसार योग के ये आठ अङ्ग त्रिवर्ग में विभाजित हैं—प्रथम वर्ग यम-नियम, द्वितीय वर्ग आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार तथा तृतीय वर्ग धारणा-ध्यान-समाधि। योगरूप इक्षुरस के ये तीन पर्व हैं। पर्वस्थानीय इस त्रिदण्ड पर योगामृतकुम्भ स्थापित है।

शब्दान्तर में योगरूपी ध्वजा का शुद्ध सात्त्विक श्वेतरूप यम-नियम, शारीरिक सम्प्रभुता का हरितरूप आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार तथा आत्मिक शान्ति का केसररूप धारण-ध्यान-समाधि है। ये भारतीय पताका स्थानीय हैं। पतञ्जलि की योगसंहितारूपी वैजयन्ती त्रिवर्णी है तथा मन-शरीर-आत्म-शोधन की साधनभूमि है।

**योग के अष्टाङ्गों में सापेक्षता का सिद्धान्त**

योग की प्रयोगशाला में परीक्षित योगाङ्गों का वैज्ञानिक क्रम सापेक्षता के सिद्धान्त पर अवलम्बित है। ये परस्पराश्रित पूरक साधन हैं। प्रमाणित तथ्य है कि शारीरिक सौन्दर्य को पराजित करता है—भावसौन्दर्य। शुद्धसत्त्वस्थानीय श्रवण-मनन-निदिध्यासन को भावसौन्दर्य का स्रोत कहा जाता है। हमारे मन के भाव मुखदर्पण में प्रतिफलित होते हैं। मन की हिंस्यवृत्ति यदि मुखाकृति को विकृत करती है तो कारुण्यवृत्ति सौन्दर्याधारक भी होती है। अतः महर्षि पतञ्जलि ने चित्तभूमि को भावशुद्धि द्वारा योगोपयोगी बनाने पर बल दिया है। इस दिशा में यम-नियम की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। योग के यम-नियमादि आठ अङ्गों के अभ्यासकाल में विखण्डन अथवा व्यतिक्रम पतञ्जलि को कथमपि मान्य नहीं है। अन्यथा योगविज्ञान पर प्रश्नचिह्न लग जायेगा।

जिस प्रकार धनुर्विद्या का अभ्यासी प्रथमतः स्थूल लक्ष्य का भेदन करता है, तदनन्तर सूक्ष्म लक्ष्य का प्रतिसंधान करता है। ऐसे ही प्रायोगिक

योगविद्या का अभ्यासी मानस शुचिता एवं शारीरिक सुदृढता के क्रम से उस चिन्तनजगत् में प्रवेश करता है जहाँ योगसाधना की सर्वोच्च भूमि को प्राप्त कर उपाधि-विरहित अपने नैसर्गिक स्वरूप 'केवलता' 'स्वरूपप्रतिष्ठा', 'स्वस्वरूपावस्थिति' में प्रतिष्ठित होकर 'मुक्त' कहलाता है। अध्यात्मजगत् की यह सर्वोपरि अवस्था है, जहाँ से साधक को पुनः संसार में प्रत्यावर्तित नहीं होना पड़ता है। यहीं पतञ्जलि की योगयात्रा पूर्ण होती है। सूत्र है—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।**

योगसूत्र ४/३४

## योगाङ्गों में अन्तर्सङ्गति

साधन के खण्डित होने से साध्य भी विखण्डित हो जाता है, यह अनुभववेद्य ध्रुवसत्य है। पतञ्जलि को योग के आठ अङ्गों की अन्तर्सङ्गति का विखण्डन असह्य है। यम-नियमरूप 'भक्ति' से अभिसिञ्चित आसन-प्राणायाम-प्रत्याहाररूप 'कर्मबीज' धारणा-ध्यान-समाधिरूप 'ज्ञानफल' का जनक होता है। शब्दान्तर में यज्ञजनित स्वर्गप्राप्ति में जैसे 'अपूर्व' (अदृष्ट) मध्यवर्ती साधन है, अनुभवजनित स्मृतिज्ञान में जैसे 'संस्कार' अवान्तरसाधन है, वैसे ही यम-नियमजनित समाधिलाभ में आसनादित्रय अवान्तरसाधन हैं। अन्यथा अवान्तरव्यापार की परिकल्पना का क्रमिक दार्शनिक पक्ष 'सोपानारोहणन्याय'-भङ्ग की भाँति विखण्डित हो जायेगा। तब दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का सिद्धान्त भी काल्पनिक प्रतीत होने लगेगा। योग के अभ्यासियों में यम-नियम के प्रति जागरित उपेक्षाभाव ने योगविद्या के समग्र फल को प्रभावित कर योग को 'योगाभास' की अपश्रेणी में लाकर खड़ा कर दिया है। यह अत्यन्त चिन्ता का विषय है। अतः इस पनपते भ्रान्तिबीज को दग्धभावापन्न बनाना अत्यन्त आवश्यक है।

## योग की परिभाषा

योग एक ऐसी पद्धति है जिसके द्वारा व्यक्ति अपनी अन्तर्निहित शक्तियों को सन्तुलित रूप से विकसित कर सकता है। योग पूर्ण स्वानुभूति कराने के साधनों को प्रदान करता है।

संस्कृत में 'योग' शब्द का शाब्दिक अर्थ 'जोडना' है। तदनुसार आत्मा को सर्वव्यापी परमात्मा से जोडने के साधन के रूप में योग को

परिभाषित किया जा सकता है। योग की यह परिभाषा उपनिषदों में मिलती है। उपनिषद्वाङ्मय का एक बहुत बड़ा भाग जीवात्मा-परमात्मा के वर्णन में व्यतीत होने के कारण उसका प्रभाव **'युजिर् योगे'** धातु से निष्पन्न योग के 'संयोग' अर्थ पर भी पड़ा।

दर्शनयुग में व्यक्ति को केन्द्रबिन्दु में रखकर योगविद्या को परिभाषित किया गया और **'युज समाधौ'** धातु से योग को समाध्यर्थक मानकर उसे व्यक्तिसाधना अर्थात् व्यक्ति-उत्थान की परिधि में रखा गया। पतञ्जलि की व्यष्टिपरक दृष्टि साधक को कैसे समाधिलाभ हो सके, तक केन्द्रित रही। अतः पतञ्जलि ने योग को चित्तवृत्तियों का निरोध बतलाया। सूत्र है—

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।**

योगसूत्र १/२

पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित योग अधिक व्यावहारिक है क्योंकि उसने मेधा के उस निषेधात्मक पक्ष को भी समीकृत किया है, जो जीवात्मा-परमात्मा तत्त्व को स्वीकार न कर केवल चित्त के विकास पर बल देता है। समाध्यर्थक योग में समस्त चिन्तनधाराओं का समावेश हो जाता है।

अथ च समन्वयात्मक दृष्टि यह निर्धारित करती है कि **युजिर् योगे** धातु से निष्पन्न औपनिषदिक योग तथा **युज समाधौ** धातु से निष्पन्न पतञ्जलिपरिभाषित योग में अन्तर्सङ्गति लगाने में कोई वचतोव्याघात नहीं होता है। क्योंकि अंश का अंशी में, स्फुलिङ्ग का अग्नि में, जीव का परमात्मा में समाविष्ट होना योगसाधना का जैसे चरम फल है, वैसे ही औपनिषद योग की साधना-पद्धति पातञ्जलयोग के अत्यन्त समीप है। दोनों शास्त्रों की एक वाक्यार्थता अखण्डित है।

## योग के प्रकार

सर्ववृत्तिनिरोधरूप योग साधनाक्रम की दृष्टि से दो प्रकार का है—प्रथम सम्प्रज्ञात तथा द्वितीय असम्प्रज्ञात।

साध्यभूत योग का साधन अष्टाङ्गयोग है। किन्तु साध्य-साधन में अभेदविवक्षा होने से यम आदि को भी योग कहा गया है।

इस प्रसङ्ग में यह बतलाना अप्रासङ्गिक न होगा कि योगसूत्र के टीकाकार नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में षट्कर्म, षट्चक्र, कुण्डलिनी

शक्ति आदि नवीन विषयों की उद्भावना करते हुए साधनभूत योग के क्रियायोग, चर्यायोग, कर्मयोग, हठयोग, मन्त्रयोग, ज्ञानयोग, अद्वैतयोग, लक्ष्ययोग, ब्रह्मयोग, शिवयोग, सिद्धियोग, वासनायोग, लययोग, ध्यानयोग तथा प्रेमभक्तियोग के नाम से सूत्रों को चिह्नित करते हुए राजयोग को असम्प्रज्ञात समाधि का पर्याय बतलाया है। योगदर्शन में नारायणतीर्थ के इस अवदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता है।

एक शब्द में राजयोग, जो अष्टाङ्गयोग के नाम से लोकप्रिय है, से मनुष्य अपना सर्वाङ्गीण विकास करता है। इसमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि आते हैं।

**यम और नियम : भावशुद्धिमूलक**

यम का अभ्यास मन की शुद्धि (स्वच्छता) और धैर्य का मार्ग प्रशस्त करता है और चित्त की एकाग्रता को बढ़ाता है। ये निम्नलिखित हैं—

**अहिंसा**—किसी को कष्ट न पहुँचाना।

**सत्य**—सत्य का आचरण करना।

**अस्तेय**—चोरी न करना।

**ब्रह्मचर्य**—काम पर संयम करना।

**अपरिग्रह**—आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना।

नियम पाँच हैं—

**शौच**—बाह्य तथा आन्तरिक शुद्धि।

**सन्तोष**—अवाञ्छित आकांक्षाओं से बचना, जो प्राप्त है उससे सन्तुष्ट रहना।

**तप**—अनेक विघ्न-बाधाओं के मध्य भी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सतत प्रयास करना।

**स्वाध्याय**—आत्मा-परमात्मा के यथार्थज्ञान के लिये प्रामाणिक शास्त्रों का अध्ययन करना।

**ईश्वरप्रणिधान**—दिव्य शक्ति के समक्ष पूर्ण समर्पण करना।

**आसन और प्राणायाम : बहिरङ्ग यौगिक अभ्यास**

आसन और प्राणायाम का धैर्य और विश्वास के साथ नित्य अभ्यास हृदय, फेफड़ों, यकृत, अग्नाशय, स्नायुतन्त्र, माँसमेशियों, ऊतकों और

शरीर की ग्रन्थियों में शुद्ध और सन्तुलित रक्त-सञ्चार सुनिश्चित करता है। जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। इन्द्रियों, मन और वीर्य पर नियन्त्रण प्रदान करके साधक को जीवनी शक्ति, बल और दीर्घायु प्रदान करता है।

**आसन**

**तत्र स्थिरसुखमासनम् ।**

योगसूत्र २/४६

ये विशेष प्रकार की शारीरिक मुद्राएँ हैं जो मन और शरीर को वाञ्छित खिंचाव द्वारा स्थिरता प्रदान करती हैं। आसनों के करने के दो मूलभूत सिद्धान्त हैं—

१. सुखानुभूति और
२. स्थिरता ।

इसका तात्पर्य यह है कि आसनों की प्रवृत्ति केवल शारीरिक न होकर मनोशारीरिक है। प्रत्येक आसन सहजता के साथ क्षमतानुसार करना चाहिए। आसनों को करने में किसी प्रकार का झटका व थकावट नहीं होनी चाहिए। आसनों को १. ध्यानात्मक २. संवर्धनात्मक तथा ३. विश्रामात्मक वर्गों में विभक्त किया जा सकता है।

**ध्यानात्मक आसन**

ध्यानात्मक आसन; बैठकर किये जाने वाले आसन हैं जो शरीर को स्थिर व सुखमय अवस्था में रखते हैं। हाथों और पैरों के विभिन्न संयोजनों से पृथक्-पृथक् ध्यानात्मक आसन किये जाते हैं। ध्यानात्मक आसनों में मुख्यत: सिर, गर्दन और रीढ़ को सीधा रखना चाहिए।

**संवर्धनात्मक आसन**

संवर्धनात्मक आसनों में स्थिर अवस्था में मांसपेशियों को खिंचाव दिया जाता है जो उनमें आवश्यक सुधार लाता है। ये रीढ़ की हड्डी व मांसपेशियों को लचकदार व पृष्ठभाग को सशक्त बनाते हैं। ऐसे संवर्धनात्मक आसन बैठकर, लेटकर या खड़े होकर किये जाते हैं।

**विश्रामात्मक आसन**

विश्रामात्मक आसनों की संख्या कम है। ये सब शयन की मुद्रा में किये जाते हैं जिनका उद्देश्य शरीर व मन को आराम पहुँचाना है।

**प्राणायाम**

**श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ।**

योगसूत्र २/४९

प्राणायाम का अभ्यास; श्वास-सम्बन्धी आवेगों पर नियन्त्रण प्रदान करता है, जो स्वायत्त तन्त्रिका अवेगों की धारा के लिये एक मार्ग सुनिश्चित करता है। श्वास को सुविधापूर्वक अधिक समय तक रोकना प्राणायाम की अनिवार्य तकनीक है। प्रारम्भिक अवस्था के समय श्वास को १:२ अनुपात में नियन्त्रित रूप से भरने व त्यागने (पूरक व रेचक) पर ही अधिक बल दिया जाता है। रेचक को इतना नियन्त्रित किया जाता है कि अग्रिम मन्द और नियन्त्रित श्वास लेने में कोई क्लिष्टता न हो। प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य स्वायत्त तन्त्रिका तन्त्र पर नियन्त्रण प्राप्त करना तथा इसके प्रभाव से मन का नियन्त्रण करना है। यह ध्यान के उच्चस्तरीय अभ्यास के लिये उपयोगी है।

योगसूत्रभाष्य के टीकाकार नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में प्राणायाम के अन्तर्गत षट्कर्म और मुद्राबन्ध का प्रवेश कर हठयोग का व्यापक स्वरूप प्रस्तुत किया है और उसे कर्मयोग की संज्ञा से परिभाषित किया है। इसके अभ्यास से दैहिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। यह हठयोग राजयोग (असम्प्रज्ञातयोग) का साक्षात् अङ्ग (साधन) नहीं है। इसलिये पतञ्जलि ने कर्मयोग (षट्कर्म व मुद्राबन्ध आदि) का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख नहीं किया है। नारायणतीर्थ का उद्घोष है—

**स च कर्मयोगः षट्कर्मरूपो मुद्रारूपश्चेति द्विविधो निरूपित आकरे ।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

**हठयोगाङ्गत्वेन देहसिद्धमात्रफलत्वेन साक्षाद्राजयोगाऽनङ्गत्वात् कण्ठस्वरेण सूत्रकृता नोक्तमिति ।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

**षट्कर्म**

शुद्धि-क्रियाओं को छः वर्गों में विभक्त किया जा सकता है, अतः इन्हें षट्कर्म कहते हैं। हठयोगप्रदीपिका, शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, योगोपनिषद् आदि ग्रन्थों में षट्कर्म का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। योगसूत्रभाष्य के

टीकाकार नारायणतीर्थ के ग्रन्थ योगसिद्धान्तचन्द्रिका में षट्कर्म का समर्थित श्लोक मिलता है—

**धौती बस्ती तथा नेती त्राटकं नौलिकं तथा ।**
**कपालभाती चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ।।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

ये छः क्रियाएँ हैं—धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि तथा कपालभाति। इनमें प्रत्येक क्रिया के अपने उपभाग हैं। इन क्रियाओं से उन ऊतकों का जो विभिन्न अंगों व तन्त्रों का निर्माण करते हैं, अनुकूल क्षमता का विस्तार और उनकी प्रतिक्रियात्मकता में वृद्धि होती है।

### धौति-कर्म और उसका फल

धौतिकर्म में चार अंगुल चौड़ी तथा पन्द्रह हाथ लम्बी अत्यन्त मुलायम तथा आर्द्र पट्टी के एक छोर को हाथ से पकड़कर अवशिष्ट भाग को मुख के मार्ग से उदरप्रदेशपर्यन्त धीरे-धीरे प्रवेश कराकर उदर को नौलि क्रिया से घुमाया जाता है। तदनन्तर पट्टी को उसी मार्ग से शनैः-शनैः बाहर निकाला जाता है।

धौतिकर्म से खांसी, श्वास, दमा, तिल्ली के विकार, कुष्ठ, बीस प्रकार के कफविकार, फुस्फुसविकार, पित्तादि रोग नष्ट हो जाते हैं। वचन है—

**कास-श्वास-प्लीह-कुष्ठ-कफ-रोगादयः क्रमात् ।**
**धौतीकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ।।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

### बस्ति-कर्म और उसका फल

बस्तिकर्ममें नाभिपर्यन्त आपूरित जलाशय या टब आदि में उत्कटासन लगाकर विशिष्ट आकार-प्रकार से निर्मित नली की सहायता से गुदा मार्ग से जल को भीतर प्रवेश कराया जाता है और नौलिकर्म से जल को उदर में दौड़ाकर बाहर निकाला जाता है।

बस्तिकर्म से उदरसम्बन्धी वायुगोला, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाले सम्पूर्ण रोग नष्ट हो जाते हैं। वचन है—

**गुल्मोदनं चापि वात-प्लीह-पित्त-कफोद्भवान् ।**
**बस्तिकर्मप्रभावेण बाध्यन्ते सकलाऽऽमयाः ।।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

## नेति-कर्म और उसका फल

नेति-कर्म में एक हाथ लम्बे अत्यन्त स्निग्ध (शास्त्रोक्त विधि से निर्मित) सूत्र को गुरूपदिष्ट पद्धति से नासिका छिद्र से प्रवेश कराकर मुख से निकाला जाता है।

नेति कर्म से मस्तक प्रदेश के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं और कपालशुद्धि होती है। नासिका के मल को बाहर फेंकना, दिव्य दृष्टि प्रदान करना तथा स्कन्धसन्धि के रोगसमूह को नष्ट करना नेति कर्म का प्रयोजन है। वचन है—

**कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।**
**तत्रोर्ध्वजातरोगौघाञ्जरयत्याशु नेतिवित् ।।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

## त्राटक-कर्म और उसका फल

त्राटक कर्म में समाहित चित्त होकर किसी सूक्ष्म पदार्थ में तब तक अपलक दृष्टि केन्द्रित करनी पड़ती है, जब तक नेत्र अश्रुपात न करने लगे।

त्राटक कर्म से दृष्टि तीव्र होकर दूरदर्शिनी हो जाती है। नेत्रविकार दूर हो जाते हैं। चित्त में तन्द्रा, निद्रा, आलस्य आदि तमोगुणी वृत्तियाँ आविर्भूत नहीं होती हैं। युक्त योगियों का कहना है कि त्राटकक्रिया को रतिक्रिया के समान गुप्त रखना चाहिए। वचन है—

**मोहनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।**
**एतच्च त्राटकं गोप्यं यथा वध्वा रतिः सदा ।।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

## नौलि-कर्म और उसका फल

नौलिकर्म से घुटने के बल झुककर उदरवर्ती नाड़ियों को जलभंवर (आवर्त) के समान अत्यन्त वेगपूर्वक दक्षिण तथा वाम पार्श्वों में क्रमशः घुमाया जाता है।

नौलिकर्म से मन्दाग्नि प्रदीप्त होती है। पाचनक्रिया प्रबल हो जाती है। यह उदरसम्बन्धी रोग, उदर की स्थूलता, आतों का विकार, कब्ज, उदरपीड़ा आदि की अचूक औषधि है। धौति आदि क्रियाओं में यह मूर्धन्य क्रिया है, क्योंकि अन्य क्रियाओं में नौलिकर्म का उपयोग होता है। वचन है—

**मन्दाग्निसन्दीपन-पाचकाग्निसन्धायिका-नन्दकरी तथैव ।**
**अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिनीयं हि नौली ।।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

**कपालभाति-कर्म और उसका फल**

कपालभाति क्रिया रेचक तथा पूरक प्राणायाम के समीप है। इसमें यथेष्ट आसन लगाकर अभ्यासी लोहकार की धौकनी के समान अत्यन्त शीघ्रता से रेचक तथा पूरक प्राणायाम करता है। इसमें एक नासिकारन्ध्र से वायु को भीतर खींचकर दूसरे नासिका रन्ध्र से उसे तुरन्त निकालने की तकनीक है।

कपालभाति कर्म से कफजनित दोष नष्ट हो जाते हैं। यह प्राणोत्थान तथा कुण्डलिनी जागरण में सहायक होता है। वचन है—

**भस्त्रेव लोहकाराणां रेचपूरौ ससंभ्रमौ ।**
**कपालभाती विख्याता कफदोषप्रदाहिनी ।।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

**बन्ध एवं मुद्राएँ**

ये शरीर में अर्धऐच्छिक व अनैच्छिक मांसपेशियों की संकोचन स्थितियाँ हैं। ये महत्त्वपूर्ण अंगों में विसंकुलन (अधिक रक्त को कम करना), रक्त परिसंचलन में सुधार करके शारीरिक स्वास्थ्य में सहायता व भावनात्मक सन्तुलन बनाये रखती हैं।

प्राणायामों के उपयोग के आधार पर बन्ध एवं मुद्राओं में भेद किया जाता है। जो मुद्राएँ साधारणतया प्राणायाम में प्रयुक्त होती हैं, उन्हें बन्ध कहा जाता है, क्योंकि वे किसी तन्त्र की गतिविधि को एक दिशा या स्थान में बांधने व नियन्त्रित करने का कार्य करते हैं।

नारायणतीर्थ ने योगसिद्धान्तचन्द्रिका में तीन बन्ध और छः मुद्राओं का उल्लेख किया है और उनकी संख्या नौ बतलाई है।

**महाबन्ध का स्वरूप और फल**

दोनों पैरों को विस्तीर्ण कर एक पैर (दक्षिण चरण) को दूसरे (वाम) पैर के उरुप्रदेश पर स्थिर करे। तत्पश्चात् गुदा और योनि का आकुञ्चन करके अपानवायु को ऊर्ध्वमुखी करके समानवायु के साथ मिलाए और प्राणवायु को अधोमुखी करे। ऐसा करने से महाबन्ध होता है। इससे अपान तथा प्राणवायु ऊर्ध्वमुखी हो जाते हैं और सिद्धिप्राप्त साधक की नाडियों का रससमूह ऊपर की ओर प्रवाहित होने लगता है। वचन है—

**कथितोऽयं महाबन्धः सर्वसिद्धिप्रदायकः ।**
**नाडीगलद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयति योगिनः ।।**

योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र २/२८

**मूलबन्ध का स्वरूप और फल**

गुदामार्ग को संकुचित करके एड़ी से उसे ताडित करे। तदनन्तर अपानवायु की अधोगमनशीलता को बलपूर्वक रोककर उसे ऊर्ध्वमुखी बनाये। जिससे अपानवायु का प्राणवायु के साथ संयोग हो सके। ऐसा करने से मूलबन्ध सिद्ध होता है।

इसके अभ्यास से साधक स्वस्थ एवं दीर्घायु प्राप्त करता है। इससे अपचसम्बन्धी रोगों का प्रशमन होता है।

**जालन्धरबन्ध का स्वरूप और फल**

देवताओं से भी दुष्प्राप्य जालन्धरबन्ध के लिये साधक कण्ठ से शिराजाल (नाडिसमूह) को बांधकर अर्थात् कण्ठ के छिद्र को संकुचित करके चिबुक को हृदयप्रदेशपर्यन्त ले जाकर दृढरीति से स्थिर रखे। ऐसा करने से जालन्धरबन्ध सिद्ध होता है।

जालन्धरबन्ध का विजयी यौगिक ऐश्वर्य को प्राप्त करता है। उक्त तीन बन्ध के साथ महामुद्रा, महावेधमुद्रा, खेचरीमुद्रा, शक्तिचालनमुद्रा, उड्डीयानमुद्रा तथा विपरीतकरणीमुद्रा ये छः मुद्राएँ योगसिद्धान्तचन्द्रिका में वर्णित हैं। कुण्डलिनीजागरण, वीर्यसंरक्षण, नाभिचक्रसंशोधन तथा विभिन्न रोगों के समूलोन्मूलन में ये मुद्राएँ सहायकीभूत हैं।

**प्रत्याहार**

**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।**

योगसूत्र २/५४

यह चित्त को नियन्त्रित करने की एक विधि है। यह इन्द्रियों को उनके विषयों से प्रत्यावर्तित करने का अभ्यास है। यह मन को अस्वस्थ विचारों से उलझने से रोकने की प्रक्रिया है। जिसे एक मनोवैज्ञानिक अभ्यास माना जा सकता है।

**धारणा**

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।**

योगसूत्र ३/१

चित्त को शरीर के किसी आन्तरिक अथवा बाह्य वस्तु, विचार या शब्द पर एकाग्र करना धारणा है। इससे एकाग्रता, स्मरणशक्ति और मेधाशक्ति में परिष्कार होता है।

**ध्यान**

**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।**

योगसूत्र ३/२

चित्त की एकाग्र अवस्था में चित्त का उसी दिशा में निर्विघ्न निरन्तर प्रवाह ध्यान कहलाता है। ध्यान के लगातार अभ्यास से गहन एकाग्रता की शक्ति प्राप्त होती है जिसके परिणामस्वरूप शारीरिक ऊर्जा, मानसिक क्षमता, सृजनता, स्मृति, बुद्धिमत्ता, आत्मक्षमता और अन्तर्दृष्टि में बढ़ोतरी होती है। ध्यान का आधार आन्तरिक जागरूकता का विकास करना है।

**समाधि**

**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।**

योगसूत्र ३/३

समाधि का शाब्दिक अर्थ है—'पूर्ण एकाकार'। इसे पूर्णता भी कहा जाता है। यह चेतना की वह उच्चतम अवस्था है जहाँ ध्याता, ध्यान तथा ध्येय तीनों एक रूप ही हो जाते हैं। समाधि योगाभ्यास की चरम स्थिति है। इस स्थिति में दिव्य ज्ञान की समझ आ जाती है जिससे मोक्षप्राप्ति सम्भव है। यही योगसाधना का लक्ष्य है। समाधि के विकसित होने पर आत्मज्ञान सम्भव होता है। योगी को यह ज्ञान होता है कि वह मात्र शरीर नहीं है।

दार्शनिक परिभाषा में अष्टाङ्गयोग की साधना जिस आध्यात्मिक परिदृश्य में विकसित हुई है उसका उद्देश्य सम्प्रज्ञात-असम्प्रज्ञात योगप्रतिष्ठ साधक को उसके गुणातीत रूप में प्रतिष्ठित कराना है। तदर्थ सूत्रद्वय स्मरणीय हैं—

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।**

योगसूत्र १/३

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिः ।**

योगसूत्र ४/३४

शारीरिक एवं मानसिक ऊर्जा की गङ्गोत्री योगविद्या की एक ज्ञानधारा प्राकृतिक चिकित्सा के रूप में भी प्रवाहित हो रही है, अतः उसका स्वरूपप्रतिपादन करना अप्रासङ्गिक नहीं है।

**प्राकृतिक चिकित्सा**

प्राकृतिक चिकित्सा स्वस्थ जीवन व्यतीत करने की एक कला एवं विज्ञान है। यह ठोस सिद्धान्तों पर आधारित एक औषधिरहित रोगनिवारक पद्धति है। वेदों व अन्य प्राचीन ग्रन्थों में हमें इसके अनेक सन्दर्भ मिलते हैं। 'विजातीय पदार्थ का सिद्धान्त', 'जीवनीशक्तिसम्बन्धी अवधारणा' तथा अन्य धारणाएँ जो प्राकृतिक चिकित्सा को आधार प्रदान करती हैं, प्राचीन ग्रन्थों में पहले से ही उपलब्ध हैं तथा इस बात की ओर संकेत करती हैं कि इनका प्रयोग प्राचीन भारत में व्यापक रूप से प्रचलित था।

**प्राकृतिक चिकित्सा की परिभाषा**

प्राकृतिक चिकित्सा व्यक्ति को उसके शारीरिक, मानसिक, नैतिक तथा आध्यात्मिक तलों पर प्रकृति के रचनात्मक सिद्धान्तों के अनुकूल निर्मित करने की एक पद्धति है। इसमें स्वास्थ्य संवर्धन, रोगों से बचाव, रोग निवारण और पुनर्स्थापना कराने की अपूर्व क्षमता है।

**प्राकृतिक चिकित्सा की विधियाँ**

प्राकृतिक चिकित्सा हमें सिखाती है कि हमें किस प्रकार से रहना चाहिए, क्या खाना चाहिए और हमारी दिनचर्या कैसी होनी चाहिए? इसलिये प्राकृतिक चिकित्सा को 'प्राकृतिक जीवन' भी कहा जाता है।

मनुष्य के शरीर में स्वयं रोगमुक्त करने की अपूर्व शक्ति है। यह शरीर पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश का बना है जिनका असन्तुलन ही रोगों के उत्पन्न होने का कारण है। इन्हीं तत्त्वों मिट्टी, पानी, धूप, हवा और आकाश द्वारा रोगों की चिकित्सा प्राकृतिक चिकित्सा कहलाती है। प्राकृतिक चिकित्सा में सामान्य रूप से आहारचिकित्सा, उपवासचिकित्सा, मिट्टीचिकित्सा, जलचिकित्सा, मालिशचिकित्सा, सूर्यकिरणचिकित्सा, वायुचिकित्सा आदि विधियाँ प्रचलित हैं।

ज्ञातव्य है कि गाँधी जी ने प्राकृतिक चिकित्सा को अपने रचनात्मक कार्यों में स्थान दिया। गाँधी जी के प्रभाव के कारण अनेक राष्ट्रीय नेता भी इस अल्पसंख्यक स्वास्थ्य आन्दोलन से जुड गये।

**निष्कर्ष : वैज्ञानिक अनुसन्धान**

ईशावास्योपनिषद् का वचन है—

**विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयं सह ।**
**अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ।।**

ईशावास्योपनिषद् ११

योगविद्या के आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक पक्ष को मूल्याङ्कित करने के लिये ईशावास्योपनिषद् के **'विद्या'** और **'अविद्या'** शब्दों का निहितार्थ सन्देश ध्यान देने योग्य है। 'विद्या' शब्द योगवाङ्मय के आध्यात्मिक पक्ष का पक्षधर है, तो 'अविद्या' शब्द उसके व्यावहारिक पक्ष का। हमारी जीवन-सरणी योग के व्यावहारिक पक्ष से अनुप्राणित होनी चाहिए तभी आधि-व्याधि-विरहित प्रशान्त मनरूप वायुयान आध्यात्मिक उड़ान की गतिमत्ता और उच्चता के लिये सक्षम बन पाता है। विना सुदृढ व्यावहारिक धरातल के यान में कैसी गतिमत्ता?

पतञ्जलि ने चित्तरूपी यान के अनावश्यक गुरुत्व; रागादिकषाय, के परिमार्जन के लिये अष्टाङ्गमार्गीय योगसाधना का व्यावहारिक पथ प्रशस्त किया है। मानस अभ्युदय ही निःश्रेयस् सिद्धि का सोपान है, जो साधक को 'केवलता' अर्थात् स्वस्वरूपावस्थिति की चरम गरिमामयी स्थिति में अवस्थित करता है। जहाँ अविद्या से मृत्यु को पारकर विद्या से अमृतत्व को पाया जाता है। यही पतञ्जलि की योगवाणी से निःसृत अमर सन्देश है।

योगविद्या का व्यावहारिक पक्ष आध्यात्मिक दृष्टि से 'अविद्या' रूप समझकर ही उसके आध्यात्मिक पक्ष को 'विद्या' रूप मानकर ही साधक अपनी जीवनयात्रा को 'अमरत्व' तक पहुँचा सकता है। यही शास्त्र का निहितार्थ है।

आधि-व्याधि-प्रशमन में सक्षम योगचिकित्सा पद्धति आज की महती आवश्यकता बन गई है। अतः योग की रोगनिरोधक, स्वास्थ्यसंवर्धक और रोगनिवारक संभावनाओं के मूल्याङ्कन हेतु अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर इसका योजनाबद्ध नियन्त्रित अनुसन्धान हो रहा है।

आंकड़े बतलाते हैं कि अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में हुए प्रारम्भिक अनुसन्धान योग की शारीरिक क्षमताओं पर आधारित थे। इन अध्ययनों से ऐसे सङ्केत मिले हैं कि योग का दीर्घ अवधि तक अभ्यास स्वायत्ततन्त्रिकातन्त्र पर स्वैच्छिक नियन्त्रण को विकसित करता है। अध्ययनों में यह भी देखा गया कि योगाभ्यास वातावरण के अनुसार स्वयं को बदलने और ज्ञान प्राप्त कराने वाली प्रणालियों जैसे एकाग्रता, स्मरणशक्ति, सीखने की क्षमता और सतर्कता को बढ़ाता है।

फलभिसन्धि यह है कि जिसका जीवन यम-नियम की साधुवेला, आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार के मध्याह्न तथा धारणा-ध्यान-समाधि की ब्रह्मरात्रि से ओतप्रोत हो गया, वह साधक **'न सा पुनरावर्त्तते'** मार्ग का पथिक बन जाता है और इसमें सहायता पहुँचाता है—योगविद्या का चिकित्सकीय आयाम।

योगसाधना के पथिक का लक्षण भगवद्गीता के अधोलिखित श्लोक में द्रष्टव्य है—

**या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।**
**यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ।।**

भगवद्गीता २/६९

# दर्शनशास्त्र में मोक्ष की अवधारणा

मोक्ष और मुक्ति इन दोनों शब्दों का अर्थ है—छुटकारा। किससे छुटकारा? जिससे छूटना चाहते हैं उससे। वह है दुःख। दुःख और बन्धन को पर्याय कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। मोक्ष का शब्दार्थ है—दुःख से छुटकारा।

**न्यायदर्शन** में महर्षि गौतम ने इसी युक्ति से मोक्ष तत्त्व पर विचार किया है। उनका सूत्र अत्यन्त स्पष्ट है—

**तदप्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।**

न्यायसूत्र १/१/२२

सूत्र का अभिप्राय यह है कि दुःख की अत्यन्त निवृत्ति होना ही मोक्ष है। **न्यायदर्शन** में मोक्ष के लिये 'अपवर्ग' शब्द का प्रयोग किया गया है, जो कि सर्वथा युक्तियुक्त है। जैसे मोक्ष अथवा मुक्ति पद का अर्थ छुटकारा है, वैसे ही अपवर्ग शब्द का अर्थ भी छुटकारा है। एतावता मोक्ष का पर्याय अपवर्ग शब्द दुःख की अत्यन्त निवृत्ति का सूचक है।

**वेदान्तदर्शन** के आचार्यों का मत है कि मोक्ष का न्यायसम्मत अर्थ युक्तिसङ्गत नहीं है, क्योंकि श्रुतियों में मोक्ष के विषय में कहा गया है—

**अत्र ब्रह्म समश्नुते ।**

यहाँ ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है। अतः दुःखात्यन्तनिवृत्तिपूर्वक जहाँ ब्रह्मानन्द की प्राप्ति होती है, उसे मोक्ष कहते हैं। इस पर **नैयायिकों** का कहना है कि दुःखनिवृत्ति पुरुषार्थसाध्य है, किन्तु आनन्दप्राप्ति यत्नसाध्य नहीं है, वह तो आत्मा को स्वतः प्राप्त होगी, इसलिये ब्रह्मानन्द की प्राप्ति को मोक्ष का लक्षणांश नहीं कहा जा सकता है। जैसे मलिन वस्त्र का मलदोष दूर करना कष्टसाध्य है किन्तु वस्त्रगत मल की निवृत्ति होते ही वस्त्र स्वतः धवलता को प्राप्त हो जाता है, उसके लिये अतिरिक्त प्रयास नहीं करना पड़ता है। शब्दान्तर में मलशोधक साबुन, सोडा, ऊष्णजल आदि शुद्धताप्राप्त

वस्त्र के लिये अनपेक्षित रहते हैं। ऐसे ही दु:खनिवृत्ति होते ही स्वत: आनन्दप्राप्ति हो जाती है। अपने मत की पुष्टि के लिये **नैयायिक** छान्दोग्य उपनिषद् का वचन उद्धृत करते हैं—

**तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति ।**

छान्दोग्योपनिषद् ६/१४/२

अर्थात् ज्ञानी को दु:खों से छुटकारा प्राप्त करने का विलम्ब है, फिर तो सम्पत्ति (आनन्द) है। वस्तुतस्तु इसमें विचार का लवलेश भी अवकाश नहीं है किन्तु दार्शनिकों ने इसे तर्क-वितर्क का विषय बना दिया है।

**महर्षि पतञ्जलि** ने मोक्ष के लिये 'कैवल्य' शब्द का निर्धारण किया है। 'कैवल्य' का शब्दार्थ है—केवल वही होना अर्थात् पुरुष (आत्मा) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना अर्थात् औपाधिक सम्बन्ध की निवृत्ति हो जाना। यद्यपि 'मोक्ष' शब्द के अर्थ के साथ जितना साक्षात् सम्बन्ध 'अपवर्ग' का है, उतना 'कैवल्य' शब्द का नहीं है तथापि भावार्थ जैसा 'कैवल्य' से व्यक्त होता है वैसा न तो 'मोक्ष' शब्द से और न ही 'अपवर्ग' शब्द से ही। वस्तुतस्तु मोक्ष और अपवर्ग शब्द दु:खनिवृत्ति पर ध्यान आकर्षित करते हैं तो कैवल्य दु:खनिवृत्ति के अनन्तर अवस्थाविशेष पर।

**बौद्धदार्शनिकों** ने मोक्ष के लिये 'निर्वाण' शब्द का चयन किया है। यद्यपि दु:खनिवृत्ति और निर्वाण शब्द को पर्याय कहा जा सकता है तथापि बौद्धदार्शनिक इस तथ्य का खण्डन करते हैं। **शून्यवादी माध्यमिक** का मत है कि 'निर्वाण' शब्द का अर्थ बुझ जाना है। अर्थात् जैसे दीपशिखा बुझ जाती है, ऐसे ही ज्ञानज्योति का बुझ जाना। यही शून्यवाद के शून्यसिद्धान्त का शून्यरहस्य या शून्यसार है। परन्तु 'शून्य' हो जाना तो किसी को भी अभीष्ट नहीं है, तब ऐसे मोक्ष के लिये कौन यत्न करेगा? दु:खों से निवृत्त होना प्रत्येक व्यक्ति को अभीष्ट हो सकता है, इसी प्रकार अपने स्वरूप में अवस्थिति भी बहुमूल्य सम्पत्ति कही जा सकती है। परन्तु अपने को बुझा देना उच्छेद कर डालना या नष्ट कर डालना की मान्यता अविवेकपूर्ण प्रतीत होती है।

महर्षि **गौतम** ने अधोलिखित सूत्रों में बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन भी किया है—

**न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ।**
**न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ।**
**व्याहतत्वादयुक्तम् ।**

न्यायसूत्र ४/१/३८-४०

**महर्षि कपिल** ने भी बौद्धों के शून्यवाद पर आपत्ति की है—

**अपवादमात्रमबुद्धानाम् ।**

सांख्यसूत्र १/४५

आगे चलकर **आचार्य शङ्कर** ने भी बौद्धों के शून्यवाद का खण्डन किया। शङ्कराचार्य के कथन का सार यह है कि यदि शून्य ही परमतत्त्व है तो उस शून्य को अथवा शून्यावस्था को कोई अनुभव करता है या नहीं? यदि शून्य को अनुभव करने वाला कोई है, तो वह शून्य से भिन्न पदार्थ सिद्ध हो गया। यदि कहा जाय कि शून्य को अनुभव करने वाला शून्य ही है, तो यह वदतोव्याघात है। जैसे कोई कहे कि 'मैं नहीं हूँ' इससे भी उसका शून्य होना सिद्ध नहीं होता है। यदि कहा जाय कि शून्य का कोई साक्षी नहीं है, तो इस प्रमाणविरुद्ध शून्य की सत्ता को कैसे सिद्ध किया जा सकेगा? यदि कहा जाय कि 'शून्य अभावात्मक' है, उससे भिन्न कोई दूसरा भावपदार्थ नहीं है, जो शून्य का अनुभव करा सके। इस पर शून्यवादी बौद्धों को इस प्रश्न का उत्तर देना पड़ेगा कि तब घटादि पदार्थों के भावाभाव किसी चेतन भावपदार्थ के ज्ञानाधीन क्यों हैं? वस्तु का भाव हो या अभाव, परन्तु उसके जानने वाले साक्षी का भाव ही मानना पड़ेगा। क्योंकि कोई भी पदार्थ साक्षिशून्य नहीं हो सकता है। यदि साक्षी है तो फिर शून्य नहीं हो सकता है। भगवती मैत्रेयी को ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्य ने बृहदारण्यक उपनिषद् में यही बात संन्यास लेते समय उपदेश की थी। ऋषि ने कहा था—

**अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा ।**

बृहदारण्यकोपनिषद् ४/५/१४

अर्थात् हे देवि! यह साक्षी आत्मा अविनाशी है। इसका उच्छेद कभी नहीं होता है।

**जैनाचार्य** आत्मा को शरीरपरिमाण का मानते हैं। हस्ती का आत्मा हस्तीशरीर जितना, अश्व का आत्मा अश्व के शरीर जितना तथा पिपीलिका

का आत्मा उसके अपने शरीर जितना है। आत्मा को शरीरपरिमाण का मानने पर उसे संकोचविकासशील कहना पड़ेगा। इससे सावयव होने से उसे घट के समान परिणामी कहना पड़ेगा। एतावता **जैनदर्शन** में भी आत्मोच्छेद दोषप्रसक्त होता है।

**योगसूत्रकार पतञ्जलि** इन सब बातों पर विचार करके इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि आत्मा परिणामशून्य है और चेतन है तथा आत्मा की अपने स्वरूप में स्थिति ही मोक्ष है। सूत्र है—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं**
**स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।**

योगसूत्र ४/३४

अभिप्राय यह है कि कार्य-गुणों का अपने-अपने कारण-गुणों में लीन हो जाना, यथा—व्युत्थान-निरोधात्मक संस्कारों का मन में, मन का अस्मिता में, अस्मिता का बुद्धि में, बुद्धि का अव्यक्त प्रकृति में लीन हो जाना इसलिये कैवल्य है कि आत्मा को भोगप्रदान करने के लिये प्रवृत्त हुई प्रकृति जब गुणों को कार्यरूप में परिणत करती है तब गुणों में उत्तरोत्तर कार्यकारणभावापन्न कार्यक्षमता आविर्भूत होती है और जब ये गुण अपवर्गापन्न (चरिताधिकार) होते हैं, तब सोपान आरोहणन्याय से अपने-अपने कारण में लीन हो जाते हैं—इस भाव को इसलिये कैवल्य कहा गया है कि ऐसा होने पर ही पुरुष (आत्मा) भोगरूप उपाधि से निवृत्त हो जाता है, फलतः कालान्तर में बुद्धि आदि करणों का आत्मा से सम्बन्ध नहीं रहता है। इस प्रकार बुद्धि के साथ निष्पादित पुरुष के औपाधिक बन्धन की आत्यन्तिक एवं ऐकान्तिक निवृत्ति ही पुरुष का 'कैवल्य' कहा जाता है।

प्रश्न है कि इस अवस्था में जब पुरुषार्थशून्यगुण (महदादि कार्य) अपने-अपने कारणों में विलीन हो जाते हैं, तब सवृत्तिक बुद्धि के अधिष्ठाता (भोक्ता) पुरुष का क्या होता है? क्या वह नष्ट हो जाता है अथवा कुछ और बन जाता है? इस पर पतञ्जलि का उत्तर है कि—वह नष्ट नहीं होता है, उसका परिणाम नहीं होता है, वह चेतन है, उसकी चेतनशक्ति का लोप नहीं होता है। वह सदा रहने वाली अलौकिक सत्ता है, उसकी उस समय अपने स्वरूप में स्थिति होती है। जैसे दीपक अपने आप को प्रकाशित करता है,

वैसे अपने समीपवर्ती घट, पटादि पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार मन-बुद्धि में पड़े हुए प्रतिबिम्ब को भी आत्मा प्रकाशित करता है और जब मन-बुद्धि नहीं होते हैं तब भी प्रकाशित रहता है। मन-बुद्धि के विना जो आत्मा का प्रकाशित होना है, वही आत्मा की स्वस्वरूप में अवस्थिति है। यही पुरुष (आत्मा) का कैवल्य अर्थात् केवल निर्गुण होना है। इसी को मोक्ष कहते हैं। इसी विषय में श्रुतिप्रमाण है। इसी विषय में छान्दोग्य उपनिषद् में महर्षि सनत्कुमार ने नारद को उत्तर दिया है—

**स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति? स्वे महिम्नीति ।**

छान्दोग्योपनिषद् ७/२४/१

अर्थात् तब वह किसमें प्रतिष्ठित होता है? उत्तर है—अपनी महिमा में अर्थात् अपने स्वरूप में।

**महर्षि पतञ्जलि** ने योगसूत्र में पुरुष की आनन्दप्राप्ति या ब्रह्माकारता के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। कारण यह है कि सुख-दुःख की अनुभूति अन्तःकरण के द्वारा ही होती है और अन्तःकरण के साथ सम्बन्ध होना तथा उसके धर्मों का अपने (आत्मा) को धर्मी मानना ही मिथ्याज्ञान है। अथ च सर्वशास्त्रसम्मत सिद्धान्त है कि मिथ्याज्ञान के रहते मोक्ष नहीं हो सकता। फिर मोक्ष में आनन्द की कल्पना निराधार है। विना कारण के भोग सम्भव नहीं है और विना भोग के आनन्द की सिद्धि दुस्तर है। यदि कहा जाय कि पुरुष आनन्दस्वरूप है, तो फिर भोग या मोक्ष प्राप्ति कैसी? यह वस्तुस्थिति है। यदि कहा जाय कि पुरुष की चेतनरूपता या चितिशक्ति की स्वरूपावस्थिति भी सन्देह का विषय है कि पुरुष चेतनता को किस कारण से अनुभव करता है, क्योंकि अन्तःकरण तो वहाँ है ही नहीं? किन्तु यह शङ्का निराधार है, क्योंकि करण के द्वारा पुरुष अपने से भिन्न पदार्थों का अनुभव करता है। अपने स्वरूप के लिये अपनी सत्ता के ज्ञान के लिये किसी करण की आवश्यकता नहीं है। जैसा कि बृहदारण्यक में कहा है—

**येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् ।**

**.......... विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ।**

बृहदारण्यकोपनिषद् २/४/१४;४/५/१५

अभिप्राय यह है कि 'जिस (आत्मा) से सबको जाना जाता है उस (आत्मा) को किस (करण) से जानें, जानने वाले को किससे जानें?' इसीलिये **महर्षि पतञ्जलि** ने विना किसी करण या करण की क्रिया के 'आत्मा की स्वरूपस्थिति' को कैवल्य माना है। यह करणशून्य तथा करणक्रियाशून्य 'केवल चेतनरूप से स्थिति' किसी अन्य अवस्था या लक्षण की अपेक्षा नहीं रखती, क्योंकि दुःखात्यन्तनिवृत्ति और आनन्दावाप्ति का इस कैवल्यस्थिति में ही अन्तर्भाव हो जाता है।

विषय और करण से शून्य आत्मस्थिति (कैवल्य) को मोक्ष मानने पर आपत्ति करते हुए कुछ विद्वान् कहते हैं कि शिला के समान जडभाव को प्राप्त कराने वाला कैवल्य अपेशल है। परन्तु पूर्वपक्षी का यह कथन अनुभव-हीन है। दीपकवत् प्रकाशरूप स्थिति को शिलावत् जड कैसे कहा जा सकता है? वह तो स्वयं स्वतःप्रकाश अर्थात् ज्योतिस्वरूप है। दूसरी युक्ति यह कि 'केवल प्रकाशरूप निर्गुण चेतनस्थिति' महर्षि पतञ्जलि का मनःकल्पित सिद्धान्त नहीं है, अपितु यह सिद्धान्त जहाँ युक्तियुक्त है, वहाँ श्रुतिसम्मत भी है।

आत्मा को सच्चिदानन्दस्वरूप बतलाने वाले **वेदान्तदर्शन** का यह मत **योगदार्शनिकों** को स्वीकृत नहीं है। युक्ति यह है कि चित्स्वरूप और सच्चिदानन्दस्वरूप का एक अर्थ नहीं है। 'सच्चिदानन्दस्वरूप' पद का अर्थ है—सत्स्वरूप, चित्स्वरूप और आनन्दस्वरूप होना। एक ही वस्तु तीन स्वरूपों वाली कैसे हो सकती है? ऐसा तो हो सकता है कि एक उसका स्वरूप हो और शेष उसके धर्म हों। जो सत् होता है, वह चेतन भी होता है—ऐसी व्याप्ति नहीं बन सकती है। क्योंकि घट, पटादि जड पदार्थ सत् हैं, किन्तु चेतन नहीं हैं। यदि घट, पटादि को चेतन माना जाय तो उन पर प्रहार करना अपराध कहा जायेगा। इसी युक्ति से सत्तावान् पदार्थ आनन्दस्वरूप नहीं कहे जा सकते हैं। अतः यही मानना होगा कि आत्मा चित्स्वरूप है और सत्ता तथा आनन्द उसके गुण (धर्म) हैं। क्योंकि जो चेतन होता है, वह सत् होता है—इस व्याप्ति का खण्डन नहीं हो सकता है। क्योंकि कोई चेतन हो और सत् न हो ऐसा उदाहरण नहीं मिलता है। किन्तु अद्वैतवाद के पोषक **वेदान्तियों** को आत्मा का गुण-गुणी, धर्म-धर्मी-सम्बन्ध मान्य न होगा, क्योंकि यह श्रुतिविरुद्ध है।

अपरतः श्वेताश्वतरोपनिषद् का वचन है—

**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ।**

श्वेताश्वतरोपनिषद् ६/११

इस श्रुति के अनुसार साक्षी आत्मा चैतन्यस्वरूप है, वह केवल है और उसके साथ किसी भी गुण का सम्बन्ध नहीं है। यदि आत्मा का सच्चिदानन्दस्वरूप होना ही श्रुति को अभीष्ट होता तो वह आत्मा को चेता अर्थात् चिद्रूप न कहती। श्रुति आत्मा को चैतन्यस्वरूप कहकर अन्य किसी भी आनन्दादि गुण का वर्णन नहीं करती, अपितु 'केवल' कह रही है। एतावता निर्विशेष निर्धर्मक चेतन की जो स्वरूपस्थिति है, वही मोक्ष है। आनन्दादिपरक श्रुतियाँ इसी स्वरूपावस्थिति की महिमा का व्याख्यानमात्र करती हैं और कुछ नहीं।

संक्षेपतः **पतञ्जलि** का सिद्धान्त है कि 'दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति' रूप मोक्ष को अनुभव करने वाला कोई चेतन अपेक्षित है, जो दुःखाभावरूप जड नहीं हो सकता है। इसीलिये **नैयायिक** का अपवर्ग विना 'चेतनस्वरूप में स्थिति' के स्वीकार किये विना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। किञ्च यदि आनन्दप्राप्ति को भावपदार्थ माना जाय अर्थात् दुःखाभाव का दूसरा नाममात्र न माना जाय तो इस आनन्द का भी कोई भोक्ता मानना पड़ेगा, क्योंकि विना चेतन के कोई पदार्थ भोग्य नहीं कहा जा सकता है। ऐसी अवस्था में भोग के लिये किसी करण (मन, इन्द्रियादि) की आवश्यकता माननी होगी। परन्तु **वेदान्ती** को यह बात स्वीकार्य नहीं होगी। क्योंकि इससे आत्मा से भिन्न आनन्दस्वरूप कोई भावपदार्थ मानना पड़ेगा, जो अद्वैतवेदान्त के विरुद्ध है तथा मोक्ष का आनन्द नाशवान् मानना पड़ेगा।

इससे सिद्ध होता है कि आत्मा के चैतन्यस्वरूप से भिन्न कोई आनन्द पदार्थ नहीं है—इससे भी निर्गुण चेतनस्वरूप में स्थिति ही 'मोक्ष' सिद्ध हुई। इसलिये चाहे **नैयायिक** हों या **वेदान्ती** योगप्रतिपादित कैवल्य की उपेक्षा नहीं कर सकते।

### चित्त और आत्मा परस्पर भिन्न तत्त्व

**बौद्ध दार्शनिक** के अनुसार चित्त या बुद्धि ही जानती और कर्म करती है, उससे भिन्न कोई और आत्मा नहीं है। **महर्षि पतञ्जलि** ने योगशास्त्र में **बौद्धों** के इस मत का खण्डन किया है। पतञ्जलि के अनुसार चित्त आत्मा

नहीं है और न केवल चित्त से काम ही चल सकता है। चित्त या बुद्धि से भिन्न आत्मा की पृथक् सत्ता है। सूत्र है—

**सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात् ।**

योगसूत्र ४/१८

अभिप्राय यह है कि चित्त या बुद्धि में परिणाम होते हैं, आत्मा में परिणाम नहीं होता है। चित्त ज्ञेय है, आत्मा ज्ञाता है। आत्मा स्वामी है, चित्त उसके अधीन है।

चित्त की वृत्तियों को ही चित्त का परिणाम कहते हैं। चित्तवृत्तियाँ सदा एक समान कभी नहीं रहतीं। अर्थात् घटसम्बन्ध से घटाकर, पटसम्बन्ध से पटाकर, गृहसम्बन्ध से गृहाकार परिणामवाली पृथक्-पृथक् वृत्तियाँ चित्त की होती रहती हैं। यही चित्त का परिणाम है। परिणाम भी तीन प्रकार का है— धर्मपरिणाम, लक्षणपरिणाम तथा अवस्थापरिणाम। सूत्र है—

**एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ।**

योगसूत्र ३/१३

अभिप्राय यह है कि जैसे घट, पटादि पदार्थों में धर्म-लक्षण-अवस्था परिणाम होते हैं—मृत्तिका के चूर्ण का पिण्ड बनता है, पिण्ड का घट बनता है और पुनः घट पुरातन होता जाता है। वैसे ही चित्त में भी परिणाम होता है। चित्त में क्रमशः परिणाम चलता रहता है। परिणामी पदार्थ जड होता हुआ अनित्य होता है। इसलिये चित्त जड और अनित्य है। अनित्य वस्तु घट, पटादि की भाँति किसी ज्ञाता की अपेक्षा करती है। अतः ज्ञेय चित्त का ज्ञाता आत्मा है।

**बौद्ध** क्षणिक विज्ञानवादी हैं ही, अतः यह सिद्ध करना कि चित्त परिणामी है, एक प्रकार से अनावश्यक ही है। आशय यह है कि जिस चित्त में परिणाम होता है, उसकी प्रत्येक अवस्था (सवृत्तिक मन के परिणाम) को आत्मा इसलिये जानता है कि चित्त का वह स्वामी है और स्वामी अपने भृत्य पर अवश्य शासन करता है। किञ्च यदि आत्मा को परिणामी माना जाय तो उसके परिणामों का साक्षी कोई और चेतन मानना पड़ेगा। वह भी यदि परिणामी माना जाय तो उसका साक्षी कोई और मानना पड़ेगा। अतः इस अनवस्थादोष से बचने के लिये एक ही अपरिणामी नित्य साक्षी मानना आवश्यक है।

**बौद्ध दार्शनिक** कहते हैं कि निःसन्देह चित्त परिणामी है, परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं कि उससे भिन्न किसी अपरिणामी चेतन को चित्त का स्वामी माना जाय। चित्त से भिन्न इसलिये चेतन की आवश्यकता कही जाती है कि चित्त जड है और जड के लिये किसी चेतन प्रकाशक का होना अनिवार्य है। किन्तु हम **बौद्ध** कहते हैं कि जड होते हुए भी प्रकाशक हो सकता है। जैसे अग्नि घटादि को प्रकाशित करती है और स्वयं भी प्रकाशित होती है वैसे ही चित्त भी स्वयंप्रकाशक है अर्थात् वह विषय का भी प्रकाशक है और वृत्तियों का भी। अतः चित्त से भिन्न आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं है। परन्तु **पतञ्जलि** ने दृढ़तापूर्वक यह तथ्य स्थापित किया है कि चित्त को स्वप्रकाश मानना युक्तिसङ्गत नहीं है। सूत्र है—

**न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात् ।**

योगसूत्र ४/१९

अभिप्राय यह है कि चित्त दृश्य है, इसलिये चित्त को स्वप्रकाश नहीं कह सकते हैं। जो दृश्य होता है वह घटादि के समान परप्रकाश्य होता है। चित्त भी दृश्य है, अतः वह भी पर से प्रकाशित है—स्वतः प्रकाशशील नहीं है। यद्यपि अग्नि प्रकाशशील है, तथापि उसका प्रकाश जड है। अग्नि नहीं जानता कि मैं प्रकाश कर रहा हूँ या मेरे प्रकाश से घट, पटादि प्रकाशित हो रहे हैं अथवा मेरे प्रकाश में अमुक्-अमुक् कार्य सम्पादित हो रहे हैं। यही अग्नि की दृश्यता अर्थात् जडता है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि चित्त जड परिणामी है।

वस्तुतस्तु जिस प्रकार घट, पटादि के लिये अग्नि के प्रकाश की आवश्यकता है, उसी प्रकार अग्नि के ज्ञान के लिये यद्यपि अन्य अग्नि की आवश्यकता नहीं है, तथापि दृश्य होने से किसी दृष्टा की तो अपेक्षा बनी ही रहेगी, क्योंकि अग्नि में ज्ञान नहीं है।

आत्मा की चित्त से पृथक् सत्ता सिद्ध करने के लिये अन्य दर्शनों में भी विचार किया गया है और विलक्षण युक्तियों से आत्मा की सिद्धि की गई है। एतावता मोक्ष की अवधारणा के लिये आत्मा का निर्वचन तत्-तत् दर्शनों में पृथक्-पृथक् दिखलाई पड़ता है।

●

# योग : एक विहङ्गम दृष्टि

## देहयष्टि

**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः**

यो. सू. २/४३

यह शरीर है प्रभुप्रदत्त यन्त्रालय,
इसमें विभाजित हैं अनेक मन्त्रालय।
कर्म-नियम के व्यतिक्रम का है यह दण्डालय,
पुनीत कर्मों की सुगन्धि का है यह देवालय ॥१॥

बाल-यौवन-वार्धक्य जिसके हैं तीन चरण,
संन्ध्या-वन्दन की त्रिवेला जिसके हैं तीन आरोहण ।
सत्त्वोत्कर्ष में प्रतिभासित होता है जिसका आत्मोत्कर्ष,
तमोबहुलता में केन्द्रित रहता है जिसका बुद्ध्यपकर्ष ॥२॥

यह देह है विश्वकर्मा की अमूल्य सम्पदा,
इस पुरि में निवास करती है उसकी चेतना।
जड़-चेतन का अद्भुत सङ्गम है इसकी सुन्दरता,
शिल्पकार की भावसृष्टि की झलकती है इसमें कोमलता ॥३॥

इस दुर्लभ देह के संरक्षण का दायित्व है हमारा,
इसके संवर्धन का पुनीत कर्तव्य है हमारा ।
ईश्वर-प्रदत्त देह के लक्ष्य को है हमें समझना,
ज्ञान-कर्म-भक्ति के मार्ग से इसे है संवारना ॥४॥

उत्तम आहार और नीरोगिता का है अटूट बन्धन,
विकृत आहार और रोगराशि में भासित होता है भवबन्धन ।
तृप्ति ओज कान्ति सुख का आधार है उत्तम भोजन,
शक्तिह्रास निस्तेज आलस्य दुःख का आधार है अधम भोजन ॥५॥

ऋषियों का चिन्तन हितभुक् मितभुक् ऋतभुक् में है अवस्थित,
आहार की त्रिकोणात्मक विधा में मानव जीवन है विभाजित ।
वात-पित्त-कफ के सन्तुलन में स्वस्थ जीवन है प्रतिभासित,
कायिक-वाचिक-मानस स्वस्थता में है सामाजिक उज्ज्वलता प्रतिबिम्बित ।।६।।

देहपुष्टि का मार्ग है आयुर्वेद में बतलाया,
क्या खाएँ, कब खाएँ, कैसे खाएँ को है बतलाया।
ऐसे हितभुक् मितभुक् ऋतभुक् में अवस्थित है देहयष्टि,
इसी में निगूढ है पुरुष की अपनी अवस्थिति ।।७।।

●

# भावत्रय

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्या-**
**पुण्यविषयाणां भावनातः चित्तप्रसादनम्**

योगसूत्र १/३३

इधर-उधर भटकता मन करने लगा एक बार क्रन्दन,
महाभारत के कृष्ण-पाण्डव-कौरव का करें कैसे चिन्तन।
कहानी एक पात्र तीन का करें कैसे मन्थन,
तभी अन्तर्मन में हुआ एक दिव्य दृष्टि का प्रकाशन ॥१॥

यदि कृष्ण है **'विवेक'** और पाण्डव है **'बुद्धि'**,
तो कौरव को **'वृत्ति'** मानने में क्या है आपत्ति।
वृत्ति-बुद्धि-विवेक की परिधि में सञ्चालित होता है मन,
तभी जीवन की दशा-दिशा निर्धारित करते हैं ये तीन ॥२॥

**'वृत्ति'** से राग-द्वेष की पशुता का होता है अङ्कुरण,
अंधी-अंधेरी वासनाओं का होता है कुपित जागरण।
निद्रा की स्वाप्निक मृग-मरीचिका का चलता है भ्रमित व्यापार,
हिंसा आदि कलुषित भावों से ग्रसित रहता है **'कौरव-मन'** ॥३॥

**'बुद्धि'** में सत्यानुसन्धान की रहती है तत्परता,
इसमें मैत्री-करुणा-मुदिता की उपजती है मनुष्यता।
जीवन के यथार्थ का होता है इसमें धूमिल दिग्दर्शन,
उच्च लक्ष्य सुकीर्ति को अकुलाता है **'पाण्डव-मन'** ॥४॥

**'विवेक'** जीवन-यात्रा का कहलाता है दिव्य सोपान,
मानव चेतना का होता है इसमें प्रतिभान।
पूर्ण जागरित अवस्था का होता है इसमें प्रकाशन,
सत्य-शिव-सुन्दर की ओर होता है अभिमुख **'कृष्ण-मन'** ॥५॥

●

## सफलता के सूत्रत्रय

**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः**

योगसूत्र १/४४

फलयुक्त क्रिया कहलाती है सफल,
श्रेष्ठ क्रिया से मिलता है सुफल ।
गर्हित क्रिया से उपजता है कुफल,
सत्-असत् का निर्णय करता है फल ॥१॥

सुफल क्रिया के आधार हैं तीन मित्रदल,
समवेत तीन के विना प्रत्येक होता है असफल ।
प्रदीपन्याय से मिलकर होता है उनका प्रकाशन सफल,
सफलता के आधार हैं तीन सूत्रदल ॥२॥

बल, संकल्प, विवेक तीनों का समवेत है विधेयात्मक प्रयास,
ये तीनों विघटित होकर करते हैं निषेधात्मक प्रयास ।
इन दोनों में प्रथम दृष्टि का चयन है उत्तम प्रयास,
लक्ष्यविरहित द्वितीय मार्ग करवाता है अधम प्रयास ॥३॥

टेढी कील पर जब पड़ता है **'बल'** का हथौड़ा,
बल पर जब पड़ता है **'संकल्प'** का हथौड़ा ।
संकल्प पर जब पड़ता है **'विवेक'** का हथौड़ा,
तब कील सीधी करने का प्रयास कहलाता है सफल हथौड़ा ॥४॥

**एकोऽहं बहु स्याम प्रजायेय** का करें यदि विश्लेषण,
**एकोऽहं** से झलकता है प्रभु का अप्रतिम बल ।
**बहु स्याम** में समाहित है प्रभु का दिव्य संकल्प,
**प्रजायेय** से प्रदर्शित होता है उनका प्रयोगात्मक विवेक ॥५॥

सृष्टि के हे मानव! सुफल क्रिया के ये तीन हैं सफल आधार,
इसके साथ जिसने की खिलवाड़ वह हो गया निराधार ।
वेणी के समान ग्रथित हैं सफलता के ये तीन सूत्र,
उत्पत्ति-स्थिति-संहार के नियामक हैं ये तीन सूत्र ॥६॥

●

# एकोऽहम्

**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्**

योगसूत्र १/२६

जलस्रोत प्रकाशस्रोत की भाँति है एकोऽहम् ।
चिन्तनस्रोत के चार आयामों से समन्वित है एकोऽहम् ॥
व्यक्तित्व निर्माण की इस अभ्यास-यात्रा में,
अवनि से अम्बर तक की कौतुक-यात्रा में ।
प्रेय से श्रेय की इस जीवन-यात्रा में,
प्रतिभासित होता है यह चिरन्तन तत्त्व ॥१॥

जलस्रोत...

कला का प्रस्तोता होता है **'शिक्षकतत्त्व'**,
तो जीवन-शैली का प्रस्तोता है **'आचार्यतत्त्व'** ।
चेतना के गहन मर्म का परिचायक है **'गुरुतत्त्व'**,
तो शिष्य को अपने में समाहित करता है **'सद्गुरुतत्त्व'** ॥२॥

जलस्रोत...

**'शिक्षक'** होता है अपने विषय का गहन अध्ययनकर्त्ता,
कुशलता से विषय के विविध आयामों का होता है उद्घाटनकर्त्ता।
ज्ञान-समुद्र में कला-कुशलता की उद्दाम तरंगे हैं जिसमें उफनती,
शिक्षार्थी की भी प्रसुप्त प्रतिभा के विकास की कला है उसमें झलकती ॥३॥

जलस्रोत...

शिक्षार्थी के व्यक्तित्व निर्माण का बीड़ा है उठाया जिसने,
स्वच्छ आचरण के क्रियान्वयन का सङ्कल्प लिया है जिसने ।
वाणी से मुखर है आचरण जिसका,
**'शिक्षक'** नहीं, **'आचार्य'** है स्वरूप उसका ॥४॥

जलस्रोत...

**'शिक्षक'** में आचार्यत्व नहीं पर आचार्य में भासित होता है शिक्षकत्व,
पावनज्ञान के पथ में होता है, उच्चतर स्थान का भागी **'आचार्य'** ।
सत् सङ्कल्पों के गठन का त्राता होता है **'आचार्य'** ।
विचार से व्यवहार की यात्रा का सूत्रधार है **'आचार्य'** ॥५॥

जलस्रोत...

सद्विचार में सद्व्यवहार का ताना-बाना बुनता है **'आचार्य'**,
असफल प्रयास में विजय की ध्वजा फहराता है **'आचार्य'**।
व्यक्तित्व निर्माण का सूक्ष्म सर्जन कहलाता है **'आचार्य'**,
तपश्चर्या की अग्नि से मल को शोधित करवाता है **'आचार्य'** ॥६॥

जलस्रोत...

बुझे दीपक को प्रज्वलित करता है **'शिक्षक'**,
प्रज्वलित दीपक का ज्योतिर्मय दिव्य प्रकाश है **'आचार्य'** ।
आन्तरिक चेतना के विविध आयामों को अनावृत करता है **'गुरु'**,
शिक्षक और आचार्य की सीमाओं से परे और पार है **'गुरु'** ॥७॥

जलस्रोत...

पिण्ड में समाहित ब्रह्माण्डीय चेतना का भासक होता है **'गुरु'**,
पारसमणि की भाँति दिव्य स्पर्श का बोध कराता है **'गुरु'** ।
तभी देहधारी ईश्वर का पद पाता है **'गुरु'**,
शिष्य को भवसागर के पार गोविन्द के समीप पहुँचाता है **'गुरु'** ॥८॥

जलस्रोत...

शिक्षक, आचार्य, गुरु तीनों से पृथक् भासित होता है **'सद्गुरु'** ,
शिष्य को जलधारा की भाँति जो अपने में समाहित करता है।
वह गङ्गासागर में जलधारा की तरह 'सद्गुरु' की पदवी पाता है,
**एकोऽहं तत्त्वमसि** की अभेदबुद्धि को घर-घर पहुँचाता है **'सद्गुरु'** ॥९॥

जलस्रोत...

बाहरी यात्रा से आन्तरिक यात्रा की ओर अभिमुख होता है 'सद्गुरु',
बीज से महावट, ज्योतिषां ज्योतिः के क्रम में है **'सद्गुरु'**,
कला, ज्ञान, चेतना, महाचेतना के क्रम में है **एकोऽहम्** ।
शिक्षक, आचार्य, गुरु, सद्गुरु में भासित होता है अहं **ब्रह्मास्मि** ॥१०॥

जलस्रोत...

●

# सन्देश

**स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयकरणे पुनरनिष्टप्रसङ्गात्**

योगसूत्र ३/५१

**याचक से दाता बड़ा समझ ले हे मानव !**

मानव-जीवन है प्रभु का प्रसाद, सुख-दुःख है उसका प्रासाद,
जीवन की वह हार क्या, जो न बने ग्रीवा का हार।
विपत्ति है प्रभु स्मरण का द्वार, जिससे छट जाता है अंधियारा,
सम्पत्ति है प्रभु विस्मरण का मूल, जिससे छा जाता है अंधियारा ॥१॥

याचक से...

पाण्डव की विपत्ति के आधार बने श्रीकृष्ण,
विपत्ति गई, प्रभु गये हो गया अंधियारा।
सूरज की तपती किरणों में महका है सुरभि-गीत,
मर्माहत रिक्त वंशी से बजता है जीवन-संगीत ॥२॥

याचक से...

दीपक है जीवन का गुरुमन्त्र, साधुता है जिसकी लौ,
सदाचार की बाती बन, स्नेह से लहराये पीर पराई।
स्वयं मर मिटने को तत्पर हो, तब प्रकाश फैलायेगा,
अन्यथा मिट्टी समझकर, पैरों तले रौंदा जायेगा ॥३॥

याचक से...

हंसने से पहले रुदन गीत सीख,
खिलने से पहले मुरझाना सीख।
दाता से पहले याचक-न्याय सीख,
मृत्यु में लहराता जीवन-दर्शन सीख ॥४॥

**याचक से दाता बड़ा समझ ले हे मानव !**

# लेखनी

**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः**

योगसूत्र २/१

निःशब्द शब्दमयी है लेखनी,
खड्ग नहीं, खड्ग की धार है लेखनी ।
मुखर नहीं, प्रखर है लेखनी,
मौन वंश की गूँज है लेखनी ।
तमस् की प्रकाशपुञ्ज है लेखनी,
निःशब्द शब्दमयी है लेखनी ॥१॥

अन्तस् की ध्वनिपुञ्ज है लेखनी,
भक्ति की भावपुञ्ज है लेखनी ।
शब्दब्रह्म की अभिव्यक्ति है लेखनी,
व्रणों की उपचार है लेखनी ।
निःशब्द शब्दमयी है लेखनी,
खड्ग नहीं, खड्ग की धार है लेखनी ॥२॥

सुख की शीतल समीर है लेखनी,
मित्रता की अभिज्ञान है लेखनी ।
जड़ नहीं चेतन की आभास है लेखनी
चित्रकार की तूलिका की प्रतीक है लेखनी ।
निःशब्द शब्दमयी है लेखनी,
खड्ग नहीं, खड्ग की धार है लेखनी ॥३॥

मृन्मय को चिन्मय बनाने की है लेखनी,
शव में शिव को पहचानने की है लेखनी
हृद्गत भावों की मूर्तरूप है लेखनी,
कृष्ण की वंशी की तरह समर्पित है लेखनी ।
निःशब्द शब्दमयी है लेखनी,
खड्ग नहीं, खड्ग की धार है लेखनी ॥४॥

●

# यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे

**भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्**

योगसूत्र ३८२७

**तपःपूत ऋषियों का उद्घोष है, यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे ।**

प्रकृति-गुणों की समानावस्था है विश्रान्ति, तो विषमावस्था है संक्रान्ति,
पहली स्थिति है प्रलयवाचिका, तो दूसरी है सृष्टि-कालिका।
यह देह सत्त्वादि गुणों के उपमर्द्य-उपमर्दक भाव का है परिणाम,
वात-पित्त-कफ-प्रधान देहयष्टि की उपचारिका है प्रकृति ॥१॥

तपःपूत...

पञ्च तत्त्वों से निर्मित यह देह पाञ्चभौतिक है कहलाता,
आकाश-वायु-अग्नि-जल-पृथ्वी का संस्थान है कहलाता।
शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्ध का संधारक है कहलाता,
गन्धविषयिणी पृथ्वी की प्रधानता से पार्थिव है कहलाता ॥२॥

तपःपूत...

जहाँ पृथ्वी तत्त्व है वहीं गन्ध की होती है परीक्षा,
जलतत्त्व के कारण रसशक्ति का होता है सञ्चार ।
अग्नि की ओजस्विता का धारक कहलाता है रूप,
शरीरसञ्चारी वायु से होती है स्पर्शानुभूति ॥
आकाश के विना शब्द की अनुभूति है प्रवञ्चना ॥३॥

तपःपूत...

सच्छिद्र मृन्मय घट का उपचार भी मिट्टी में है निहित,
कारण में ही कार्य की विकृति का उपचार है निहित ।
शारीरिक विखण्डन का उपचार भी पञ्चभूतों में है निहित,
पञ्च भूतों से खिलवाड़ शरीर को बनाता है विखण्डित ॥४॥

तपःपूत...

बन्द कमरों में बैठकर यन्त्र सञ्चालन से शरीरतन्त्र होता है बाधित,
प्रकृति से तादात्म्य न करने पर होता है असन्तुलित ।
गुरुकुल-प्रणाली में प्रकृति से तादात्म्य बना रहा गुरु-शिष्य का,
शरीर-इन्द्रिय-बुद्धि को प्राकृतिक संजीवनी मिलती रही ।।५।।

तपःपूत...

अन्तःकक्षीय क्रीडा ने मानव को दूर किया है पार्थिव ऊर्जा से,
वातानुकूलित कक्ष से मानव दूर हुआ है निसर्ग समीर से ।
तथाकथित पेय पदार्थों से विमुख हुआ है मानव जलीय रसायनों से,
सूर्योपासना के उपहास से दूर हुए हैं सप्तवर्णीय आभा से ।।६।।

तपःपूत...

शब्द ब्रह्म पर अनास्था रखने वाले दूर हुए हैं आकाशवाणी से,
प्रकृति के नैसर्गिक गुणों से दूर भागता व्यक्ति पहुँचा है मृत्यु के समीप।
प्रकृति से तादात्म्य स्थापित कर मनुष्य ने किया है शरीर का शृङ्गार,
प्राकृतिक आरोग्य है रोगों का रामबाण उपचार ।।७।। तपःपूत...

आत्मसंयम और आत्मशोधन का बीज हुआ है जिसमें अङ्कुरित,
आसन-प्राणायाम के द्वारा जिसका शरीर हुआ है परिवर्द्धित।
धारणा-ध्यान-समाधि से बुद्धि हुई है तैलधारावत् प्रवाहित,
ऐसे साधक में प्राकृतिक उपचारपद्धति होती है समर्थित ।।८।।

तपःपूत...

शरीर पिण्ड में आये तत्त्वों के असन्तुलन को,
प्राकृतिक चिकित्सा बनाती है तात्त्विक सन्तुलन को ।
आस्था एवं विश्वास के साथ जिसने किया है अनुसरण,
वही समाज में जागृति लाकर कराता है अनुपालन ।।८।।

**तपःपूत ऋषियों का उद्घोष है, यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे ।**

●

## 'योगविद्याविमर्श' में उद्धृत उद्धरणों की ग्रन्थ-तालिका

(अ) अद्वयतारकोपनिषद्, अमृतनादोपनिषद्, अमृतबिन्दूपनिषद् अष्टाध्यायी।

(ई) ईशावास्योपनिषद्।

(उ) उत्तररामचरित, उपदेशसाहस्री, उपस्कारटीका (वैशेषिक सूत्र)।

(ऋ) ऋग्वेद।

(क) कठोपनिषद्, कुलार्णवतन्त्र।

(ग) गौडपादीयकारिका (शाङ्करभाष्य)।

(घ) घेरण्डसंहिता।

(छ) छान्दोग्योपनिषद्।

(ज) जाबालदर्शनोपनिषद्।

(त) तत्त्ववैशारदी, तत्त्वार्थसूत्र, तन्त्रवार्त्तिक तन्त्रसंग्रह, तेजबिन्दूपनिषद्, तैत्तिरीयब्राह्मण, तैत्तिरीयोपनिषद्, त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्।

(ध) धम्मपद, ध्यानबिन्दूपनिषद्।

(न) नागोजीभट्टयोगसूत्रवृत्ति (बृहती), नादबिन्दूपनिषद्, निघण्टु, निरुक्तशास्त्र, न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, न्यायसूत्र।

(प) पञ्चशिखाचार्यवचन, पातञ्जलयोगदर्शनवृत्ति, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, प्रश्नोपनिषद् प्रस्थानत्रय (मधुसूदनसरस्वती)।

(ब) बृहदारण्यकोपनिषद्, बौद्धिचर्यावतार, ब्रह्मविद्योपनिषद्, ब्रह्मसूत्र।

(भ) भगवद्गीता, भावचूडामणि, भावागणेशयोगसूत्रवृत्ति।

(म) मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, मनुस्मृति, महानिर्वाणतन्त्र, महावाक्योपनिषद्, महाभारत, महोपनिषद्, मिताक्षरा (याज्ञवल्क्यस्मृति), मुण्डकोपनिषद्, मेरुतन्त्र, मैत्रायण्युपनिषद्।

(य) याज्ञवल्क्यस्मृति, योगकुण्डलिन्युपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, योगतत्त्वोपनिषद्, योगतारावली, योगदृष्टिसमुच्चय, योगप्रदीपिका, योगभेदद्वात्रिंशिका, योगराजोपनिषद्, योगवार्त्तिक, योगवासिष्ठ, योगशिखोपनिषद्, योगसारसंग्रह, योगसिद्धान्तचन्द्रिका, योगसूत्र, योगोपनिषद्।

(र) रुद्रयामल।

(व) वराहोपनिषद्, वाक्यपदीय, विवेकचूडामण्युपनिषद्, विष्णुपुराण, विसुद्धिमग्ग, वेदान्तडिम्डिम, वेदान्तपरिभाषा, वेदान्तसार, वैशेषिकसूत्र, व्यासभाष्य। (योगसूत्र)।

(श) शाङ्करभाष्य (ब्रह्मसूत्र), शाण्डिल्योपनिषद्, शाबरभाष्य (जैमिनीयसूत्र), शिवपुराण, श्वेताश्वतरोपनिषद्, श्रीप्रपञ्चसारतन्त्र, श्रीमद्भागवत, श्रीयशोविजयकृता द्वात्रिंशिका, श्रीहरिभद्रसूरिकृता योगविंशिका।

(स) सर्वदर्शनसंग्रह, संयुक्तनिकाय, सांख्यकारिका, सांख्यप्रवचनभाष्य, सांख्यसूत्र, स्कन्दपुराण स्वच्छन्दतन्त्र।

●

चौखम्बा संस्कृत सीरीज १०८

# योगसिद्धान्तचन्द्रिका

डॉ० विमला कर्नाटक

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

चौखम्बा संस्कृत सीरीज

१०८

****

पातञ्जलयोगसूत्रव्याख्या

परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीनारायणतीर्थविरचिता

# योगसिद्धान्तचन्द्रिका

(पाठभेदयुता-संशोधिता-परिवर्द्धिता-संपूर्णा च)

डॉ० विमला कर्नाटक

एम. ए., पी-एच. डी., विद्यालंकारः,

मीमांसाचार्यः (लब्धसुवर्णपदकम्) जर्मन डिप्लोमा

प्रोफेसर, संस्कृतविभागः काशी हिन्दू विश्वविद्यालयः

चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी

**प्रकाशक** : चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी
**मुद्रक** : चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
**संस्करण** : प्रथम, वि० सं० २०५७, सन् २०००
**मूल्य** : रु० २००.००

ISBN : 81-7080-044 - 7



पोस्ट बॉक्स नं० १००८
के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

*अपरं च प्राप्तिस्थानम्*

**कृष्णदास अकादमी**

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० १११८ के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES

108

*****

# YOGASIDDHĀNTACANDRIKĀ

of

Srinarayanatirtha

(A Craitical Edition)

Edited by

*Dr. Vimala Karnatak*

Prof. & Head, Deptt. of Sanskrit

B.H.U. Varanasi

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

VARANASI

# पुरोवाक्

आधुनिके काले भौतिकपदार्थजनिततुष्टिसमुपलब्धये व्यपगतसिद्धान्तसरणिं शरणीकर्तुं भूतलव्याप्तिमतोपभोक्तृवादेन विवशीकृतो मानवः। स च दिग्भ्रमेण भ्रान्तः सन् प्रकृत्या सह अनुचितां क्रीडां कुर्वन् आस्ते। तथैवाऽऽसुरीसम्पद्विवशं गतः सन्नातङ्कवादमेव प्राणप्रदमिति मम्मन्यते। स्वीयपूर्वजानां गुणगणविलसितेषु ग्रन्थरत्नेषु समुपवर्णितानामादर्शसिद्धान्तानां कृते देदीयते तिलाञ्जलिम्। स्वान्तर्निहितसौजन्य-विकासप्रक्रियातः सर्वतोभावेनाऽवीभवत् पराङ्मुखः। तस्मादैहिकव्याधीनामपेक्षया मनसि समुत्पन्नाभिराधिभिः (मानसीव्यथाभिः) तस्य मूर्ध्नि विद्यमाना रुधिरप्रवाहिन्यो नाडिका मन्ये समुन्मथिताः। निराशयाऽसहिष्णुतया च समभिव्याप्तं तस्य शिरः। विस्फोटकपरिस्थितेर्निर्माणादर्वागेवाऽस्माभिः सतर्कैर्भवितव्यं, स्व-स्वरूपञ्चा-वगन्तुम्प्रयतनीयम्।

भारतीयदर्शनशास्त्राण्यवलम्ब्यैव स्व-स्वरूपावगमो भवितुं शक्यः, अस्मत्पूर्व-जैर्ऋषिभिः प्रणीताः सारगर्भिताः पवित्रा ग्रन्थाः शरणीकरणीयाः, बुद्धिशुद्धेरुपाया-श्चिन्तनीयाः, ते च पतञ्जलिमहर्षिणा विरचिते योगसूत्रे वर्णिताः। ज्ञानकर्मणोः सम्पा-दनसाधनेषु प्राधान्यं बुद्धेरेव, सैव **'चित्त'** शब्देन परिभाष्यते योगदर्शने। मस्तिष्कं बुद्धिश्चित्तं चेति पर्याया अनर्थान्तरमितियावत्। आङ्ग्लानां माइण्ड-(MIND) शब्देनापि इदं बुद्धितत्त्वमेवाभिव्यज्यते। अनेन बुद्धितत्त्वेनैव समग्रशरीररचनाया भावपक्षः समनु-प्राणितोऽस्ति। अतो बुद्धिविकासेन सहैव बुद्धिपरिष्कारोऽपि अनिवार्य एव। अन्यथा असन्तुलितं जीवनं, मानव-महत्त्वस्य विनाशकं भवति। अतस्तन्मा भूदिति प्रत्यहं लुप्तप्राययोगशास्त्रीयग्रन्थरत्नानां महर्षिरचितानां संरक्षणमाधुनिके युगेऽत्यन्तमावश्यक-मस्ति।

पातञ्जलयोगसूत्रमधिकृत्य विद्वदपश्चिमस्य भगवतो व्यासस्य भाष्यं सुतरां विश्रुतमस्ति विदुषां विद्यारसिकानाम्। तत्र तत्त्ववैशारदी-योगवार्तिकव्याख्याग्रन्थाना-मिव विद्वद्वरेण्य**श्रीनारायणतीर्था**ऽभिधानानां स्वामिपादानां विरचिता **योगसिद्धान्त-चन्द्रिका**ऽपि स्वमहत्त्वं विख्यापयन्ती विद्वत्समाजे समादरं लभमाना श्रद्धेया बोभवीति। अस्यां व्याख्यायां तीर्थपादैरुद्भाविता नैके नवीना विषयाः सन्ति, येचान्यैः पूर्वतनैर्व्याख्याकारैर्विद्वद्भिरनुद्भाविताः। एतद्व्याख्यया द्वादशदर्शनेष्वपि प्रकाण्ड-वैदुष्यविभूषितानां श्रीनारायणतीर्थस्वामिचरणानां सर्वेष्वपि शास्त्रेषु अकुण्ठिता गतिरिति

निश्चप्रचं भवति। स्वनिर्मितव्याख्यायां शास्त्रान्तरगतवाक्योद्धरणपुरःसरं स्वमत-परिपोषणञ्च यत्र-तत्र समकार्षीत्। तीर्थस्वामिपादाः शास्त्रीयचिन्तने सर्वथा सर्वदा च जागरूकाः सन्ति। अन्धश्रद्धापरवशःसन् किमपि कदापि न जल्पन्ति। तीर्थपादैः स्वविरचितव्याख्यायां योगलक्षणम्, **निद्रास्वरूपम्, स्मृतेः स्वरूपम्, प्रणवार्थ-विवेचनम्, ऋतम्भराप्रज्ञाया उपयोगः**, इत्यादिविषयेषु सन्देहबहुला ग्रन्थग्रन्थयः प्रश्नोत्तराभ्यां विशलथिताः। पातञ्जले योगसूत्रे प्रयुज्यमाना **विषया०** (१/१५), **संज्ञा** (१/१५), **पुरुषख्यातेः** (१/१६), **उपायः** (२/२६) इत्यादयः शब्दाः, तेषां गांभीर्यञ्च बोधयितुं समर्था नारायणतीर्थस्वामिपादा एवेति मे विश्वासः। एतद्विरचितायां योगसिद्धान्त-चन्द्रिकाख्यायां व्याख्यायामेकत्र**भक्तियोगस्य** पराकाष्ठा चेत्, तर्हि अन्यत्र **हठयोगस्य** चरमोत्कर्षो दरीदृश्यते। अस्यां व्याख्यायाम**वतारवाद-षट्कर्म-षट्चक्र-कुण्डलिनी-शक्ति**प्रभृतिभिर्नूतनैर्विषयैः संवलितायां तदनुपमं दर्शनीय-सौन्दर्यं विद्यारसिकानां सरसां सहृदयानां हृदयं हठात्समाकर्षति। कृष्णादिचतुर्विधकर्मणां स्थापनं, शास्त्रान्तराणि विचिन्त्य विधाने तीर्थपादानां प्रखरतमप्रतिभाया एव निदर्शनम्।

श्रीनारायणतीर्थस्वामिनो गुरुचरणाः श्रीरामगोविन्दतीर्थस्वामिनः ई. सप्तदश शताब्द्यां स्वजनिमलभन्त। श्रीनारायणतीर्थस्वामिनां विरचिता अनेके ग्रन्थाः सन्ति। तथाहि सांख्यकारिकाव्याख्या **चन्द्रिका, भक्तिचन्द्रिका, भक्त्यधिकरणमाला, तत्त्वचन्द्रिका, न्यायकुसुमाञ्जलिः, सिद्धान्तबिन्दुः, विभावना, भाषापरिच्छेदः,** योगसूत्रस्य **सूत्रार्थबोधिनीवृत्तिश्चे**ति।

चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसीतः ई. स. १९१० तमे वर्षे संस्कृतग्रन्थ-माला-संख्या १५४ तथा १५९-न्तर्गते योगदर्शनखण्डे मुद्रिता, या **योगसिद्धान्त-चन्द्रिका** सा खण्डिता आसीत्। समाधिपादीय—२३ तमसूत्रतः २६ सूत्रं यावद्-व्याख्यानं, तथा चतुर्थपादीय ३ सूत्रतः ३४ सूत्रं यावदेव व्याख्यानमिति खण्डितं संस्करणमस्ति। ततोऽद्ययावत्कालाऽवधौ उक्तव्याख्याया अन्यत् संस्करणं कुतश्चिदपि नहि प्रकाशितम्।

योगसिद्धान्तचन्द्रिकाख्याया व्याख्याया महत्त्वमुपयोगितां च विज्ञाय, अनवरत-मनुसन्धानकार्ये सँल्लग्ना, विदुषां विद्याव्यासङ्गिनां पक्षपातरहितानां सरसहृदयानां सादरं सम्मानिता विदुषीवरेण्या सुश्रीविमला कर्नाटकमहोदया, **मद्रदेशं** (मद्रास) **तञ्जोर-बंगलोर-मैसूर-मुंबई-पुणें-बडौदा-जयपुर-जोधपुर-अलबर-बीकानेर-इलाहाबाद-लखनऊ-मथुरा-वृन्दावनादिप्रदेशेषु** यानि प्राच्यविद्याशोधप्रतिष्ठानानि सन्ति, तत्र स्वयं गत्वा योगसूत्रव्याख्यापाण्डुलिपीनामध्ययनं कृतवती। महता प्रयासेन

योगसिद्धान्तचन्द्रिकायास्तिस्त्रः पाण्डुमातृकाः छायारूपाः सम्पूर्णानन्दसंस्कृत-विश्वविद्यालयवाराणसीस्थसरस्वतीविद्याभवनतः, भाण्डारकरप्राच्यविद्याध्ययनशोध-प्रतिष्ठानपुण्यपत्तनतः, तथा केन्द्रीयप्राच्यविद्यापुस्तकालयमैसूरतश्च प्राप्ताः। तिसृषु पाण्डुमातृकासु लब्धास्वपि सरस्वतीविद्याभवनस्य पाण्डुमातृका सर्वाधिकं खण्डिता आसीत्। पुण्यपत्तनतः प्राप्ता पाण्डुमातृका सर्वाधिकं सुस्पष्टा, शुद्धा चास्ते, किन्तु तत्र योगसूत्रस्य चतुर्थपादीयपंचम (सू. ५म.) तः पञ्चदश (१५ सू.) सूत्रपर्यन्तं सूत्राणां व्याख्या नोपलभ्यते। संभवत एतावन्ति पत्राणि लुप्तप्रायाणि स्युः। मैसूरतः प्राप्ता पाण्डुमातृका सम्पूर्णा विद्यते। इयं पाण्डुमातृका १८६७ तमे वैक्रमाब्दे लिपिबद्धा वर्तते।

पाठकानां करकमलोपलब्धस्थानस्य प्रस्तुतसंस्करणस्य सम्पादनसमये मूलपुस्तकस्योपलब्धाभिश्चतसृभिः संवादोऽपि अवहितेन मनसा विहितोऽस्ति, एवं यत्र-यत्र यथावश्यकं टिप्पणी, पाठभेदाश्चापि प्रदर्शिताः। तत्र च योगसिद्धान्तचन्द्रिकाया मुद्रितसंस्करणं '**क**' नाम्ना, सरस्वतीविद्याभवनस्य पाण्डुमातृकासंस्करणं '**ख**' नाम्ना, पुण्यपत्तनस्थपाण्डुमातृका च '**ग**' नाम्ना एवं मैसूरस्थ पाण्डुमातृका '**घ**' नाम्ना अङ्किता वर्तते।

मन्ये नवति-(९०) वर्षेभ्यः पूर्वं प्रकाशितां खण्डितां व्याख्यां प्रपूर्य सम्पूर्ण-व्याख्यासम्पादनप्रयासं कृतवती सुश्री. कु. विमलाकर्नाटकविदुषी महोदया। प्रयासोऽयमनवरतपरिश्रमगर्भोऽद्य सफलतां गत इती वीक्ष्य मोमुदीति मदीयं मानसमिति अस्या विदुष्याः प्रशंसां कर्तुमहमहमिकया अग्रेसरं धावति।

योगशास्त्रानुसन्धातारोऽनेन संस्करणप्रकाशनेन निश्चितमेव लाभान्विता भविष्यन्तीति नास्त्यत्र संशीतिरिति—विश्वसिमि।

**"वृद्धिम्प्राप्नोतु ते कीर्तिरित्याशीः सफला मम"**

प्रतिक्षणं ते सुयशोवृद्धिर्भवतु, सर्वेष्वपि ज्ञानवर्धककार्येषु त्वं सफलताम-वाप्नुया इति शुभाशिषः समुल्लसन्तुतमाम्।

सर्वदैवशुभचिन्तकः
**गजाननशास्त्री मुसलगाँवकरः**

गुरुपूर्णिमायां तिथौ
रविवासरे वि. सं. २०५७
दिनाङ्कः १६. ७. २०००

# प्रस्तावना

उपभोक्तावाद के भूमण्डलीकरण ने मानव को भौतिक तुष्टि के लिये सिद्धान्तविहीन मार्ग को अंगीकार करने के लिये विवश कर दिया है। वह दिग्भ्रमित हो गया है। वह एक ओर जहाँ प्रकृति से खिलवाड़ करने लगा है, वहीं दूसरी ओर आसुरीवृत्ति के वशीभूत होकर उसने आतंकवाद को जीवन का पर्याय समझ लिया है। पूर्वजों के गौरवग्रन्थों में वर्णित आदर्शवाद के सिद्धान्तों को उसने तिलाञ्जलि दे दी है। अपने में अन्तर्निहित साधुता के विकास की प्रक्रिया से वह सर्वथा विमुख हो गया है। दुष्परिणाम सामने है कि शारीरिक व्याधियों की अपेक्षा मानसिक आधियों (व्यथाओं) ने उसके मस्तिष्क की रक्तवाहिनी शिराओं को झकझोर दिया है। हताशा एवं असहिष्णुता ने उसके मस्तिष्क पर अपनी दृढ शाखाएँ स्थापित कर ली हैं। विस्फोटक स्थिति बने, उससे पूर्व हमें सतर्क हो अपने स्वरूप को समझने का प्रयास करना चाहिए।

भारतीय दर्शनशास्त्र को अवलम्बन बनाकर हमें इसके समाधान का अन्वेषण करना होगा। ऋषि-मुनियों द्वारा प्रणीत सारगर्भित पावन ग्रन्थों की शरण में जाना होगा। बद्धि की परिशुद्धि के उपायों की ओर सचेष्ट होना होगा। योगदर्शन के प्रणेता महर्षि पतञ्जलि के योग सूत्र का तो मेरुदण्ड ही है—बुद्धि-परिष्कार। ज्ञान, कर्म के व्यापारों में प्रधानतम करण है—बुद्धि। योगशास्त्र में इसे चित्त शब्द से परिभाषित किया गया है। चित्त तथा बुद्धि ये दोनों पर्याय शब्द हैं। मस्तिष्क शब्द से भी यही बद्धितत्त्व गृहीत है। अंग्रेजी के माईन्ड (MIND) शब्दसे यही बुद्धि तत्त्व ध्वनित होता है। सम्पूर्ण शरीर-संरचना का भावपक्ष इसी बुद्धि से अनुप्राणित रहता है। अतः बद्धिविकास के साथ-साथ बुद्धिपरिष्कार की समानान्तर अपरिहार्यता है। अन्यथा असन्तुलित जीवन, मानव मूल्यों के विनाश का कारण बनता है। अतः लुप्तप्राय योगशास्त्र के गौरव ग्रन्थों का संरक्षण आज के युग में अत्यन्त प्रसंगिक बन गया है।

पतञ्जलिकृत योगसूत्र की टीकाओं में आचार्य व्यासदेव का योगभाष्य, जो अत्यन्त प्रसिद्ध है, उपजीव्य ग्रन्थ है। तत्त्ववैशारदी तथा योगवार्त्तिक जैसे व्याख्याग्रन्थों की तुलना में श्रीनारायणतीर्थकृत योगसिद्धान्तचन्द्रिका का महत्त्व अल्प नहीं है। योगसूत्र पर लिखी गई नारायणतीर्थ की योगसिद्धान्तचन्द्रिका उनकी मौलिक कृति है। व्यासभाष्यानुसारी इस टीका में नवीन विषयों की उद्भावना सर्वदर्शननिष्णात

श्रीनारायणतीर्थ की अप्रतिहत गति की परिचायिका है। इसमें स्वमतस्थापना हेतु प्रस्तुत युक्तियों को शास्त्रान्तरों के उद्धरणों द्वारा परिपुष्ट किया गया है। वे अपने पूर्ववर्ती योग के आचार्यों के मतों के अन्धपोषक नहीं हैं। इसमें योग का लक्षण, निद्रा का स्वरूप, स्मृति का सिद्धान्त, प्रणवार्थविवेचन, ऋतम्भरा प्रज्ञा की उपयोगिता आदि स्थलों की सन्देहात्मक गुत्थियों को प्रश्नोत्तर-शैली में सुलझाया गया है। योगसूत्र में प्रयुक्त **विषय०** (१/१५), **संज्ञा** (१/१५), **पुरुषख्यातेः** (१/१६), **उपायः** (२/२६) आदि शब्दों का गाम्भीर्य (तत्त्वार्थ) समझाने का सामर्थ्य नारायणतीर्थ में ही निहित था। योगसिद्धान्तचन्द्रिका में एक ओर भक्तियोग की पराकाष्ठा है, तो दूसरी ओर हठयोग का चरमोत्कर्ष है। **अवतारवाद, षट्कर्म, षट्चक्र, कुण्डलिनी शक्ति** आदि नवीन विषयों से यह उपबृंहित है। कृष्णादि चतुर्विध कर्म की स्थापना (४/७) में शास्त्रान्तरों का आश्रय ले जो व्याख्यान प्रस्तुत हुआ है, वह नारायणतीर्थ की मेघा का चूडान्त निदर्शन है।

सत्रहवीं शताब्दी के आचार्य श्रीनारायणतीर्थ के गुरु का नाम श्रीरामगोविन्दतीर्थ था। विद्वत्समाज में योगसिद्धान्तचन्द्रिका के अतिरिक्त श्रीनारायणतीर्थ के निम्नलिखित ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—**चन्द्रिका** (सांख्यकारिका की टीका), **भक्तिचन्द्रिका, भक्त्यधिकरणमाला, तत्त्वचन्द्रिका, न्यायकुसुमाञ्जलि, सिद्धान्तबिन्दु, विभावना, भाषापरिच्छेद** तथा **सूत्रार्थबोधिनी** (योगसूत्र की वृत्ति)।

उल्लेखनीय तथ्य यह है कि चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से सन् १९१० ई० में संस्कृत ग्रन्थमाला संख्या १५४ तथा १५९ योगदर्शनम् खण्ड के अन्तर्गत प्रकाशित योगसिद्धान्तचन्द्रिका खण्डित संस्करण है। समाधिपाद के २३वें सूत्र से लेकर २६वें सूत्र तक की व्याख्या तथा चतुर्थपाद की सूत्र-संख्या ३ से लेकर ३४वें सूत्र की व्याख्या तक यह संस्करण खण्डित है। इसके अतिरिक्त इस टीका का कोई अन्य संस्करण कहीं से भी अद्यावधि प्रकाशित नहीं हुआ है।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका टीका की उपयोगिता एवं उसकी महत्ता को दृष्टि में रखते हुए मैंने **मद्रास, तञ्जोर, बंगलोर, मैसूर, मुम्बई, पूना, बडोदरा, जयपुर, जोधपुर, अलवर, बीकानेर, इलाहाबाद, लखनऊ, मथुरा, वृन्दावन** आदि प्रदेशों में स्थित प्राच्यविद्या-शोधप्रतिष्ठानों से सम्पर्क स्थापित किया। यहाँ के शोधप्रतिष्ठानों में व्यक्तिगतरूप से उपस्थित होकर योगसूत्र पर लिखी गई पाण्डुमातृकाओं का अध्ययन किया। इस प्रयास में योगसिद्धान्तचन्द्रिका की तीन पाण्डुमातृकाओं की छायाप्रतियाँ—सरस्वतीविद्याभवन, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, भण्डारकर प्राच्य

विद्या अध्ययन एवं शोध प्रतिष्ठान, पूना तथा केन्द्रीय प्राच्य विद्या पुस्तकालय, मैसूर विश्वविद्यालय, मैसूर से प्राप्त हो सकीं।

योगसिद्धान्तचन्द्रिका की उपलब्ध तीनों पाण्डुमातृकाओं में भी सरस्वती-विद्याभवन वाराणसी की पाण्डुमातृका (क्रम संख्या २९८००, पत्र संख्या १-३२४, आकार ८.२ x ६.६) सर्वाधिक खण्डित है। पूना से हस्तगत योगसिद्धान्तचन्द्रिका की पाण्डुमातृका (क्रमसंख्या ६१३-१८८७-९१) सर्वाधिक सुस्पष्ट एवं शुद्ध है, किन्तु एक न्यूनता यह है कि इसमें योगसूत्र के चतुर्थपाद के ५वें सूत्र से लेकर १५वें सूत्र तक की व्याख्या नहीं मिलती है। सम्भवतः सम्बन्धित पाण्डुपत्र लुप्तप्राय हो गये हों। योगसिद्धान्तचन्द्रिका की मैसूरस्थ पाण्डुमातृका (क्रमसंख्या ३५०७६, ३५०७७) सम्पूर्ण है। यह पाण्डुमातृका विक्रम संवत् १८६७ में लिखी गई है।

प्रस्तुत संस्करण का सम्पादन कार्य करते समय मैंने योगसिद्धान्तचन्द्रिका की उपलब्ध चारों प्रतियों का अक्षरशः तुलनात्मक अध्ययन किया है एवं आवश्यकतानुसार टिप्पणी में पाठभेदों का उल्लेख किया है। ऐसा करते समय मैंने योगसिद्धान्तचन्द्रिका के मुद्रित संस्करण को '**क**' नाम से, सरस्वतीविद्याभवनस्थ पाण्डुमातृका को '**ख**' नाम से, पूनास्थित पाण्डुमातृका को '**ग**' नाम से तथा मैसूरस्थ पाण्डुमातृका को '**घ**' नाम से चिह्नित किया है।

उल्लिखित पाण्डुमात्रिकाओं के अक्षरशः अनुशीलन द्वारा पाठभेदों का यथास्थान संकेत करते हुए संस्कृतटीका **योगसिद्धान्तचन्द्रिका** को संशोधित करने का एक ओर प्रयास किया है तो दूसरी ओर उसमें उद्धृत उद्धरणों के आकरग्रन्थों का यथासाध्य अन्वेषण करते हुए योग के पारिभाषिक शब्दों के लक्षणपरक वाक्यांशों का संग्रह कर प्रस्तुत संस्करण को परिवर्द्धित किया है। योगसिद्धान्तचन्द्रिका संस्कृत टीका के इस अखण्डित, संशोधित एवं परिवर्द्धित संस्करण का प्रकाशन, जो भगीरथ प्रयास का सुमधुर फल है, मेरे उस चिरप्रतीक्षित संकल्प का परिचायक है, जिसका बीज तीन दशक पूर्व पी-एच.डी. उपाधिहेतु शोध के अध्ययन काल में रोपित हुआ था। कालक्रम से अनेक संकल्पों को पूर्ण होता हुआ देख एक ओर सफल श्रम को जहाँ बौद्धिक तुष्टि प्राप्त हुई है, वहीं दूसरी ओर अन्य संकल्पों को पूर्ण करने में आत्मविश्वास जागरित हुआ है।

इस संकल्प-सिद्धि में पूर्व उल्लिखित संस्कृत-शोध-प्रतिष्ठानों के निदेशकों का पूर्ण सहयोग एवं महामहोपाध्याय राष्ट्रपतिपुरस्कारप्राप्त डॉक्टर गुरुवर्य श्रद्धेय गजाननशास्त्री मुसलगांवकर जी की अहेतुकी कृपा रही है। अतः सम्बन्धित

व्यक्त करती हूँ तथा आचार्यप्रवर परम श्रद्धेय गुरुवर्य डॉ. गजाननशास्त्री जी को शतशः नमन करती हूँ। उन्होंने मेरे अनुरोध पर पुरोवाक् लिखकर मुझे उपकृत किया है। पुरोवाक् को राष्ट्रभाषा हिन्दी में लिखने का परामर्श भी उन्हीं का रहा। अन्त में विद्या की अधिष्ठात्री वीणावादिनी माँ सरस्वती देवी से प्रार्थना करती हूँ कि वे मेरी लेखनी को उत्तरोत्तर प्रौढता प्रदान करती रहें और मेरी योग-साधना की सफल प्रस्तुति, संस्कृत के शोधार्थियों के लिये, पूर्ववत् नूतन ग्रन्थों के प्रणयन द्वारा होती रहे।

श्रावण पूर्णिमा
विक्रम संवत् २०५७
दिनाङ्क १५. ८. २००० विमला कर्नाटक

No: 6/3 New No:

of 1887-91 Section.

Name: पातंजलसूत्रवृत्ति

Author. नारायणतीर्थ Age Samvat

Extent: *foll.* 43 lines. 17

50-7=43 letters. 64

foll. 41-47 wanting

# पातञ्जलदर्शनविषयसूची
## योगसिद्धान्तचन्द्रिकाऽऽख्यटीकानुसारिणी

❋

# योगसिद्धान्तचन्द्रिका

## श्रीनारायणतीर्थविरचिता योगसूत्रव्याख्या

### प्रथमः समाधिपादः

सत्यं ज्ञानमनन्तमद्वयसुखं ब्रह्मेति वेदेषु यत्।
प्रोक्तं विष्णुशिवादिभिश्च बहुभी रूपैर्मतं वादिभिः॥
यन्मानाविषयः सदा गुरुकृपासत्[1]प्रेमयोगेन [2]य-
ल्लभ्यं तं समुपास्महे हृदि सदा कृष्णं जगद्देशिकम्॥ १॥
योगं प्राह पितामहोऽथ भगवान् शेषः स्वयं संयमैः[3]
सूत्रैर्भाष्यमिषेण सर्वविदितो व्यासः समस्तं परम्॥
तद्भाष्यं विशदीचकार मतिमान् मिश्रोऽथ भिक्षुस्तथा
दुर्बोधं हि तथापि मूढमतिभिर्गूढं रहस्यं यतः॥ २॥
अत्र[4] सूत्रेषु गूढार्थद्योतिकां तनुते पराम्।
वृत्तिं नारायणो भिक्षुः सुगमां हरितुष्टये॥ ३॥
[5]स्वातन्त्र्यसत्यत्वसुखं प्रधाने सत्यञ्च चिद्भेदमभेदवाक्यैः।
व्यासो निराचष्ट न भावनाख्यं योगं स्वयं निर्मितब्रह्मसूत्रैः॥ ४॥
अपि चाऽऽत्मप्रदं योगं व्याकरोन्मतिमान्मुनिः।
भाष्यादिषु ततस्तत्राप्याचार्यप्रमुखैर्मतः॥ ५॥
मतो योगो भगवता गीतायामधिकोऽन्यतः।
कृतः शुकादिभिस्तस्मादत्र सन्तोऽतिसादराः॥ ६॥

**[6]ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**

---

१. क ख ग — प्रेम०, घ — पूत०।

२. क ख — यत्, ग घ — सत्।

३. क ख — संयमैः, ग घ — सूत्तमैः।

४. क ख — अत्र, ग घ — अतः।

५. क ख घ —स्वातन्त्र्यसत्यत्वसुखं प्रधाने सत्यञ्च, ग — प्रधानसत्यत्वस्वतन्त्रतादि सत्यञ्च।

६. ग — विरोधिविषयकत्वेन जीवज्ञानस्यैव जीवाज्ञाननाशे क्षमत्वाद् ब्रह्मशब्दोऽत्र जीवात्मपर एव यो वेदनिहितं गुहायामिति मन्त्रवाक्येन तस्यैव द्रष्टव्यत्वज्ञापनाच्च (ब्रह्मवित्प्राक्) उपलभ्यते, क ख घ — विरोधि....ज्ञापनाच्च नोपलभ्यते।

**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।**

**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति [१]नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।**

**तरति शोकमात्मवित्।**

इत्यादिश्रुतिसिद्धपरमपुरुषार्थ[२]साधनतानन्दात्मसाक्षात्कारसाधनतया श्रवण-मनननिदिध्यासनादीनि,

**आत्मा वाऽरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः।**

इत्यादिनाऽऽम्नातानि। तत्र निदिध्यासनं प्रधानम्। तत्सहकृतादेव मनसोऽलौकिकाऽबाधितात्मगोचर[३]प्रमासम्भवात्, [४]सर्वविज्ञानादिरूपफलसंवादाच्च। निदिध्यासनञ्चैक[५]तानतादिरूपो राजयोगापरपर्यायः समाधिः। तत्साधनं तु क्रियायोगः, चर्यायोगः, कर्मयोगो, हठयोगो, मन्त्रयोगो[६], ज्ञानयोगः[७], अद्वैतयोगो[८], लक्ष्ययोगो[९], ब्रह्मयोगः[१०], शिवयोगः[११], सिद्धियोगो[१२], वासनायोगो[१३], लययोगो[१४], ध्यानयोगः[१५], प्रेमभक्तियोगश्च[१६]। तदेतत् सर्वं सामान्यविशेषभावेनाष्टाङ्गयोगेन

---

१. क ख घ — नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय, तरति शोकमात्मवित् उपलभ्यते, ग — नान्यः....आत्मवित् नोपलभ्यते।
२. क ख ग — साधनता०, घ — साधनताकाः।
३. क ख ग — प्रमा०, घ — प्रमाण०।
४. क ख घ — सर्वविज्ञानादिरूपफलसंवादाच्च, ग — य यत्किंचिद् गोचरादपि तस्माद-दृष्टद्वाराश्रवणानधिकृतपुरुषधौरेयस्य विदुरादेरिव द्विजस्याप्यात्मसाक्षात्कारात् ज्ञान-संपत्सूचकाणिमादिसिद्धेश्च।
५. क — तानता०, ख ग घ — तानत्व०।
६. क ख — मन्त्रयोगः उपलभ्यते, ग घ — मन्त्रयोगः नोपलभ्यते।
७. क ख ग — ज्ञानयोगः उपलभ्यते, घ — ज्ञानयोगः नोपलभ्यते।
८. क ख ग — अद्वैतयोगः, घ — अद्वैतयोगः, अद्वितीयपरमात्मनि वेदान्तवाक्यानां तात्पर्य-निर्णयः।
९. क ख ग — लक्ष्ययोगः, घ — लक्ष्ययोगो वक्ष्यमाणदेशबन्धादिः।
१०. क ख ग — ब्रह्मयोगः, घ — ब्रह्मयोगो नाम शब्दब्रह्मात्मनो नादस्यानुसंधानम्।
११. क ख ग — शिवयोगः, घ — शिवयोगः सामान्यतो भगवदाकारतारूप इत्याख्यः स्वामिभावः। परमानन्दसाक्षात्कारात्मकश्रवणकीर्तनादिसाधनं तु भक्तिजन्यः।
१२. क ख ग — सिद्धियोगः, घ — सिद्धियोगो नाडीशुद्ध्यादिरूपः।
१३. क ख ग — वासनायोगः, घ — वासनायोगो निर्विकारस्यात्मतत्त्वजिज्ञासामुमुक्षुत्वादि।
१४. क ख ग — लययोगः, घ — लययोगः संप्रज्ञातः।
१५. क ख ग — ध्यानयोगः, घ — ध्यानयोगोऽभिमतशिवविष्ण्वादिसगुणस्वरूपचिन्तनम्।
१६. क ख — प्रेमभक्तियोगश्च, ग — भक्तियोगः, घ — प्रेमभक्तियोगः परमेश्वरचरणारविन्द-विषयैकैकात्मिका संवित्प्रेमप्रवाहोऽविच्छिन्न इत्यर्थः।

कवलीकृतमिति मनसि निधाय साष्टाङ्गं सफलं योगं समाधिसाधनविभूतिकैवल्यार्थकैश्चतुर्भिः पादैर्व्युत्पादयिष्यन् प्रेक्षावत्प्रवृत्तये विषयप्रयोजनाधिकारिसम्बन्धान् दर्शयन् प्रथमं शास्त्रस्यारम्भं प्रतिजानीते भगवान् पतञ्जलिः।

**अथ योगानुशासनम्॥ १ ॥**

**अथेति**। अथ शब्द आरम्भार्थः, श्रुतिमात्रेण मङ्गलार्थश्च, न[१] प्रश्नाद्यानन्तर्यार्थः। शाब्दी ह्याकांक्षा शब्देनैव पूर्यत इति न्यायेन शब्दानुपस्थितानन्तर्यार्थकत्वानौचित्यात्। शिष्यप्रश्नगुर्वाज्ञाश्रद्धादीनामविशेषेण विचारप्रयोजकतया कस्यानन्तर्ये तात्पर्यमित्यवधारयितुमशक्यत्वाच्च।

योगः समाधिः। अनुशासनं हिरण्यगर्भोक्तेरनुपश्चाच्छिष्यते व्युत्पाद्यते लक्षण[२]भेदफलसाधनैरनेनेत्यनुशासनं, योगस्यानुशासनं योगानुशासनम्। योगप्रतिपादकं शास्त्रमारभ्यत इत्यर्थः[३]। अत्र ससाधनः सफलो योगः प्रतिपाद्यतया शास्त्रस्याभिधेयः। प्रतिपाद्ययोगद्वारा कैवल्यं फलम्। तत्कामश्चाधिकारी। शास्त्रफलयोः प्रयोज्यप्रयोजकभावः। शास्त्राभिधेययोस्तु प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः। अभिधेयस्य योगस्य कैवल्यस्य च साध्यसाधनभावः सम्बन्ध इति दिक्॥ १ ॥

सपरिकरो योगः प्रतिपाद्यत इति प्रतिज्ञातम्। तत्र योगलक्षणं योगशब्दप्रवृत्तिनिमित्तं च निर्दिष्ट[४]पञ्चदशप्रकारयोगसाधनव्यावृत्तमाह—

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ २ ॥**

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ ३ ॥**

**योग** इति, तदेति। [५]इति द्वाभ्याम्। तत्र चित्तस्य महदहङ्कारमनोभेदेन

---

१. क ख घ — न प्रश्नाद्यानन्तर्यार्थः....अशक्यत्वाच्च, उपलभ्यते, ग — न....च, नोपलभ्यते।

२. क ख ग — भेद०, घ — भेदोपाय०।

३. ग — अथवा युजिर्योग इत्यनुशासनात्तदात्मवेदान्तोऽपि संहतात् तस्योपपद्यत इत्यागमाच्च शिवलक्षणा स्वस्वरूपाभिव्यक्तिरेव योगो न तु युज समाधावित्युक्तः समाधिस्तस्य तदत्वेनैवेष्टत्वात् [इत्यर्थः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — अथवा....इष्टत्वात् नोपलभ्यते।

४. क ख घ — पञ्चदशप्रकारयोग० उपलभ्यते, ग — पञ्चदशप्रकारयोग० नोपलभ्यते।

५. क ख घ — इति द्वाभ्याम्, ग — एताभ्यामिति सूत्रद्वाभ्याम्।

त्रिविधाऽन्तःकरणस्य वृत्तयो दीपस्य शिखा इवाऽवस्थापरिणामरूपा बाह्या, आभ्यन्तराश्च। तासां निरोध उपशमो निरिन्धनाग्निवत् स्वकारणे लयः।

तदा निरोधकाले द्रष्टुः प्रमातुरहमर्थस्यान्तःकरणाऽवच्छिन्नस्य स्वरूपे विशिष्टे[१] केवल[२]चैतन्य आत्मन्यवस्थानं विषयतयाऽवस्थितिर्विद्यमानतेत्यर्थः। विषयता च व्यापारानुबन्धिनी। व्यापारश्च वृत्तिरेव।

**योगी यामहमेतावन्तं कालं समाहितोऽभूवम्।**

इति स्मरणेन व्युत्थानेऽनुमिनोति। इत्थञ्च वृत्त्यन्तरनिरोध[३]पूर्वकात्मगोचर-धारावाहिक[४]निर्विकल्पकवृत्तिर्योग इति लक्षणं सिद्धम्।

**मय्येकचित्ततायोगो वृत्त्यन्तरनिरोधतः।**

इति कूर्मपुराणादौ शिवोक्तेः।

**यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।**

इति[५] गीतायां भगवदुक्तेश्च। यद्यपि[६] द्रष्टृगोचराया इव दृश्यगोचराया अपि तादृशवृत्तेः समाधित्वं वक्ष्यति सूत्रकारस्तथाप्यत्र **मयीत्यादि** प्रकृताभिप्रायम्। तत्रौपदेशिकवृत्तिवारणाय विशेषणम्। अभावस्य[७] निर्विषयत्वेन संस्काराऽजनकत्वाद् योगस्य च संस्कारजनकत्वात् तथैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वाद्विशेष्यम्। तत्र संप्रज्ञातासाधारण्याय निर्विकल्पकेति। सूत्रद्वयेन विशेषणविशेष्ययोर्द्वयोरुक्तिस्तु प्रत्येकस्यापि फलभेद-

---

१. क ख ग — **विशिष्टे**, घ — **विशेष्ये**।

२. क ख ग — **चैतन्ये**, घ — **सच्चिद्रूपे**।

३. ग — **आदिधर्मिमात्र०** [**पूर्वकात्म०** पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **आदिधर्मिमात्र०** नोपलभ्यते।

४. क ख घ — **निर्विकल्पकवृत्तिर्योग इति लक्षणम्**, ग — **सात्त्विकवृत्तिमत्त्वं योग इति**।

५. क ख घ — **इति गीतायां भगवदुक्तेश्च**, ग — **इत्यादिस्मृतेः**।

६. क ख घ — **यद्यपि....प्रकृताभिप्रायम्** उपलभ्यते, ग — **यद्यपि....प्रकृताभिप्रायम्** नोपलभ्यते।

७. क ख घ — **अभावस्य निर्विषयत्वेन संस्काराऽजनकत्वाद् योगस्य च संस्कारजनकत्वात् तथैवाग्रे वक्ष्यमाणत्वाद्विशेष्यम्। तत्र संप्रज्ञातासाधारण्याय निर्विकल्पकेति। सूत्रद्वयेन विशेषणविशेष्ययोर्द्वयोरुक्तिस्तु प्रत्येकस्यापि फलभेदज्ञापनाय। अत एव पादभेदेन विशेषणांशफलं विभूतितृतीयपादे, विशेष्यांशफलं च कैवल्यं चतुर्थपादे वक्ष्यति सूत्रकारः**, ग — **घटादिसाधारण्यस्य सुषुप्त्यादावतिव्याप्तेश्च निवारणाय विशेष्यं सूत्रद्वये विशेषणविशेष्ययोरुक्तिस्तु प्रत्येकस्यापि फलभेदज्ञापनाय अत एव पादभेदेन फलभेदं वक्ष्यति सूत्रकारः**।

ज्ञापनाय। अत एव पादभेदेन विशेषणांशफलं विभूतितृतीयपादे, विशेष्यांशफलं च कैवल्यं चतुर्थपादे वक्ष्यति सूत्रकारः।

अथवा शिवलक्षणा स्वस्वरूपाभिव्यक्तिर्महायोगो निरालम्बः। तत्साधनं त्वभावयोगः समाधिपदाभिधेयो निराभासः। तस्य प्रथमस्य लक्षणं **तदेति**। द्वितीयस्तु[१] **चित्तवृत्तीति**।

**योगस्तु द्विविधो ज्ञेयो ह्यभावः प्रथमो मतः।**
**अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः॥**
**शून्यं सर्वं निराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते।**
**अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति॥**
**यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम्।**
**मयैक्यं स महायोगो भाषित परमः स्वयम्॥**

इत्यादि[२]स्मृतिभिरपि तथा ज्ञापनात्। अत्र [३]संप्रज्ञातप्राणनिरोधादेः साधनकोटावेव निवेशात्, संप्रज्ञाते सात्त्विकविशिष्टवृत्तिसत्त्वेऽपि योगः प्राणनिरोध इत्यनुक्तावपि च न हानिः। राजयोगविजिज्ञापयिषयैव लक्षणसूत्रप्रवृत्तेः। ननु संप्रज्ञातेऽस्मिन् ध्येयमात्रगोचरवृत्तिस्वीकारः, सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञात इति भाष्येण विरुद्ध्यत इति चेन्न। संप्रज्ञातं प्रक्रम्य, तामपि ख्यातिं निरुणद्धीत्युत्तरग्रन्थेन विशिष्टवृत्तिमात्रनिरोधस्यैव तदर्थत्वज्ञापनात्। एतेन तत्र ध्येयवृत्तिसत्त्वे सर्ववृत्तिनिरोधाऽसिद्धिः। असत्त्वे तु समाधिशब्दार्थहानिः।

**मय्येक[४]चित्तता।**

इत्याद्युदाहृतस्मृत्या ध्येयमात्राकारवृत्तेरेव योगत्वकथनादित्याद्याशङ्कापि समाहिता। सर्वपदमपठता सूत्रकारेणापि तज्ज्ञापनात्। असंप्रज्ञातशब्दादिभिरेव, न तत्र किञ्चित् सम्यगहंत्वादिना प्रज्ञायत इत्यादिव्युत्पत्त्या तदर्थलाभाच्च। अत एव

**तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद्गतक्षयम्।**
**एतज्ज्ञानञ्च मोक्षश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थविस्तरः॥**

इत्यादिश्रुतिषु,

**यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।**

---

१. क ख — द्वितीयस्तु, ग घ — द्वितीयस्य।
२. क ख घ — स्मृतिभिः, ग — भगवद्गीताभिः स्मृतिभिः।
३. क ख घ — संप्रज्ञात०, ग — संप्रज्ञाते।
४. क ख ग — चित्तता, घ — चित्त०।

इत्यादिस्मृतिषु च मनोनिरोधस्यैवोक्तत्वेऽपि नात्र तथोक्तम्। तत्रापि विवक्षित-विवेकेन मनोनिरोधस्य विशिष्टवृत्तिनिरोधात्मकत्वलाभादिति दिक्।

अथवा समाधित्वेन संप्रज्ञातस्याप्यग्रे वक्ष्यमाणत्वाद् राजयोगवत् संप्रज्ञातोऽपि प्रतिज्ञासूत्रे योगशब्दाभिधेयः। तथा च **युज समाधावित्य**[१]नुशासनादुभयविधसमाधेः स्वरूपसाधनभेदफलप्रतिपादकशास्त्रमारभ्यत इति प्रतिज्ञासूत्रार्थः। तदुभयसाधारणं लक्षणमाह—**योगश्चित्तवृत्तिनिरोध** इति।

तत्र चित्तस्य राजसतामसवृत्तीनां निरोध उपशमः संप्रज्ञातः। सर्ववृत्तीनां निरोधोऽसंप्रज्ञातः।

**यदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः।**
**यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं दीपोपमेनेह मुक्तः प्रपश्यन्।**
**अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः॥**
**यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।**
**बुद्धिश्च न विचेष्टेत**[२] **तामाहुः परमां गतिम्॥**
**अप्रमत्तस्तदा भवति योगो हि प्रभवाप्ययौ।**
**मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।**
**बन्धाय विषयासक्तं मोक्षो निर्विषयं स्मृतम्॥**

इत्यादि[३]स्मृतेरित्यर्थः। सर्ववृत्तिशून्यरूपासंप्रज्ञातस्य तु समाध्यङ्गिनो योगस्य मधुमतीमधुप्रतीकाविशोकासंस्काराख्यासु भूमिषु सतीषु लभ्यस्य मणिमन्त्रादिन्यायेन कैवल्यहेतुत्वं स्वजन्यादृष्टद्वारात्मसाक्षात्कार[४]हेतुत्वम्।

अथवा निरोधः—चित्तवृत्तयो निरुद्ध्यन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या

**वृत्तिहीनं**[५] **मनः कृत्वा क्षेत्रज्ञं परमात्मनि।**
**एकीकृत्य विमुच्येत योगयुक्तः स उच्यते।**

इत्यादिस्मृतेश्च सर्वानर्थविरोध्यखण्डार्थाकारवृत्तिपर्यवसायी बोध्यः। विरोधिपदार्थस्यैव नाश्यनाशरूपत्वात् प्रागभावादौ तथा दर्शनात्। अत एव

---

१. ग घ — योगस्य [अनुशासनात्, पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — योगस्य नोपलभ्यते।
२. क ख ग — विचेष्टेत, घ — विचेष्टन्ति।
३. क ख ग — स्मृतेः, घ — श्रुतेः।
४. क ख ग — हेतुत्वम्, घ — हेतुः।
५. क ख ग — वृत्तिहीनं....पर्यवसायी बोध्यः, घ — विरोधिवृत्तिपर्यवसायी बोध्यः।

[1]वृत्तिविशेषरूपाभ्यां संप्रज्ञातासंप्रज्ञाताभ्यां योगस्य विभजनमप्यग्रे सङ्गच्छते। अत एव न योगस्य वैयर्थ्यमपि। तादृशवृत्तेर्भावनासहकृतमनःप्रमाणजन्यत्वेनापरोक्षतयाऽज्ञानोच्छेदक्षमत्वादित्यग्रे स्फुटीभविष्यति।

**द्वौ क्रमौ चित्तनाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघव।**
**योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम्॥**
**असाध्यः कस्यचिद् योगः कस्यचित् तत्त्वनिश्चयः।**
**प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगाद परमः शिवः॥**

इत्यादिना वासिष्ठे योगज्ञानयोः पृथक्त्वकथनं तु योगवृत्तेः शास्त्रजवृत्त्या विकल्पार्थम्। बहिर्मुखानां वाक्यतोऽखण्डार्थबोध्यस्यापि दुर्लभत्वादिति संक्षेपः।

सोऽयं योगो भूमिविशेष एवाविर्भवति, न सर्वासु भूमिषु। तथा हि चित्तस्य त्रिगुणात्मकत्वात् क्षिप्तमूढविक्षिप्तैकाग्रनिरुद्धाख्याः पञ्चभूमयोऽवस्थाविशेषा भवन्ति। तत्र न तिसृणामुपयोगः। बहिःप्रवृत्तिभूयस्त्वात्। अपि च[2] द्वयोरेवान्त्ययोः। तत्र क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरं बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु व्यवहितेषु विकल्पितेषु सन्निहितेषु च प्रेरितं भवति। तच्च सदैव दैत्यदानवादीनाम्। मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविभागमुल्लङ्घ्य क्रोधादिभिर्विरुद्धकृत्येष्वेव निरन्तरं भवति। तच्च सदैव रक्षःपिशाचादीनाम्। विक्षिप्तं सत्त्वोद्रेकाद्रजोविशिष्टं दुःखसाधनं परिहृत्य सुखसाधनेष्वे[3]व निरन्तरं[4] भवति। तच्च सदैव देवानाम्। एकाग्रं तु रजसोऽप्यभावेन शुद्धसत्त्वोद्रेकादा[5]त्ममात्रगोचरं सगुणब्रह्मगोचरं वा सविकल्पकसात्त्विकवृत्तिविशिष्टम्। तच्च सदैव भगवद्भक्तानाम्। देवासुरगन्धर्वरक्षोमनुष्यप्रभृतीनां निरुद्धम्। [6]तच्चापि निरोधविशिष्टं योगिनामेव भवति। वर्तमानाध्वनि स्थितानां वृत्तीनामत्यन्तातीताध्वनि प्रवेशलक्षणनिरोधस्यानात्माकारसर्ववृत्तिनिरोधेच्छासहकृत[7]संप्रज्ञातादिपाटवैकसाध्यस्यान्यत्रासम्भवात्। तस्मान्निरोध एवाऽसंप्रज्ञातः॥ २॥

---

१. क ख ग — वृत्तिविशेषरूपाभ्याम्, घ — ज्ञवृत्तिसत्त्वाऽसत्त्वाभ्याम्।
२. क ख ग — च, घ — तु।
३. घ — शब्दादिषु [एव—पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — शब्दादिषु नोपलभ्यते।
४. क ख ग — निरन्तरम्, घ — प्रवृत्तम्।
५. क ख घ — आत्ममात्रगोचरं सगुणब्रह्मगोचरं वा सविकल्पकसात्त्विकवृत्तिविशिष्टम्, ग — आत्ममात्रगोचरसविकल्पकवृत्तिविशिष्टम्।
६. क — तच्च, ख ग घ — तस्याः।
७. क ख घ — संप्रज्ञातादि॰, ग — संप्रज्ञातपरवैराग्यसंस्कारादि॰।

निरोधवांस्तु योगी द्विविधः—युक्तोऽयुक्तश्च। तत्र युक्तः समाहितमनाः। यः केवलसमाधिनिष्ठो मोक्षमभिवाञ्छति। अयुक्तस्त्वसमाहितमनाः प्रारब्धदोषात् प्रतिभादिसिद्ध्या[१]दिकमपि वाञ्छन्नु[२]पहतसमाधिः। तत्राऽयुक्तोऽनेकार्थद्रष्टृत्वेन सोपाधिरपि। युक्तो योगे स्थितः किंस्वरूपः? किं [३]सांख्यपातञ्जलादिसम्मतश्चित्ततत्कार्यसाक्षिमात्ररूपः? उत किं बोधरूपोऽपि सँस्तदानीं सविषयत्वनिर्वाहकवृत्त्याद्युपाधेरभावान्निर्विषय एव? अथवा [४]तार्किकवैशेषिकप्रभाकरसम्मतः सुषुप्त्यादाविव सामग्र्यभावेन विषयमगृह्णँस्तदानीमपि जड एव, काष्ठादिवन्निर्विषयस्य प्रकाशत्वायोगात्? उताऽऽत्मनः संयोगविशेषादात्ममात्रद्रष्टा चेतनः? अथवा [५]शून्यवादिविज्ञानवादिसम्मतो [६]दशाक्षये दीपादिवद् विषयनिरूप्यो विषयोपरमान्न पश्यति? उत[७] प्रवृत्तिविज्ञानोपरमेऽपि सुषुप्ताविवाऽऽलयविज्ञानसन्ततिरूपस्तिष्ठतीत्याशङ्क्य तदानीमपि विद्यमानचित्तरोधरूपस्य सर्वथा निर्विषयत्वायोगेन प्रथमद्वितीयपक्षस्य बाधात् तार्किकोक्तयोस्तृतीयतुर्य्ययोस्तु

**योऽयं विज्ञानमयः।**

इत्यादिश्रुत्या तन्मते विशेषगुणयोगेनैवात्मनः प्रत्यक्षस्याङ्गीकारादात्ममात्रदर्शनरूपनिर्विकल्पकसमाधे[८]र्बाधेन च बाधात्। बौद्धाभिमतयोः पञ्चमषष्ठपक्षयोस्तु

**अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा।**

इत्यादिश्रुत्याऽसतः क्षणिकत्वायोगेन च बाधात् स्वाभिप्रेतं प्रथमपक्षमेव सिद्धान्तयति—**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्**इति।

तदा सकलचित्तवृत्तिनिरोधकाले द्रष्टुः चित्ततद्वृत्तिनिरोधपरिणामसाक्षिणश्चितिशक्तेः पुरुषस्य स्वरूपे तत्त्वेन चित्तादेरप्यनवगाहितया निर्विषये निरुपप्लवे स्वप्रकाशानावृत्तसच्चिद्रूपे अवस्थानं कुसुमापाये स्फटिकस्यालोहिते स्वस्वरूप इव क्लेशाद्यपाये चित्ताद्यसंक्रमेण कर्तृत्वाद्यभिमाननिवृत्त्याऽभेदेनावस्थितिरित्यर्थः। स्व-

---

१. क ख ग — **आदिकमपि वाञ्छन्**, घ — **अधिकामभिवाञ्छन्।**

२. क ख घ — **उपहत०**, ग — **उपसंहृत०**।

३. क ख घ — **सांख्यपातञ्जलादिसम्मतः** उपलभ्यते, ग — **सांख्य....सम्मतः** नोपलभ्यते।

४. क ख घ — **तार्किकवैशेषिकप्रभाकरसम्मतः** उपलभ्यते, ग — **तार्किक....सम्मतः** नोपलभ्यते।

५. क ख — **शून्यवादिविज्ञानवादिसम्मतः** उपलभ्यते, ग घ — **शून्य....सम्मतः** नोपलभ्यते।

६. घ — **वात०** [दशा० प्राक्] उपलभ्यते, क ख ग — **वात०** नोपलभ्यते।

७. क ख ग — **उत**, घ — **यद्वा**।

८. क ख ग — **बाधेन**, घ — **बोधेन**।

भावात् स कार्यचित्त[1]रोधात्माऽपि सन् निरुपाधि[2]स्वरूपात्मना तिष्ठतीति यावत्। इत्थञ्च चितिशक्तेः पुरुषस्य निर्विषयस्वप्रकाशसच्चिद्रूपतैव स्वरूपम्। विषयग्राहिता त्वौपाधिकी। तस्याश्च निरोधकालेऽसत्त्वेऽपि न हानिः। पाकनिवृत्तौ पाचकस्येव, तदुपलक्षितसाक्षिस्वरूपस्याबाधात्। तस्मात् स्वतो निरुपाधिसत्स्वप्रकाशरूपस्याप्यात्मन उपाधिभिरौपाधिकस्वरूपस्य तत्र निरोधसमाधिना संस्कारसहितचित्ताशेषवृत्तिनिरोधे शान्तघोरमूढावस्थानिवृत्तौ हि

**जीवन्नेव विद्वान् हर्षमर्षाभ्यां विमुच्यते।**

इत्यादिश्रुत्युक्ता निर्विकारस्वरूपाऽवस्थितिरूपा जीवन्मुक्तिर्भवति। परममुक्तिस्तु वक्ष्यमाणप्रज्ञाकाष्ठायां प्रान्तभोगान्ते प्रतिप्रसवेनौपाधिकरूपा[3]त्यन्तिक-निवृत्तावात्यन्तिकस्वरूपावस्थानमिति बोध्यम्। व्यक्तिभविष्यति चेदमुपरिष्टादिति दिक्॥ ३॥

ननु तर्हि व्युत्थाने स्वभावात्[4] प्रच्युतिः स्यात्, आम्लेन दुग्धस्य दधिभाववच्चित्तादिभिरनौपाधिकस्यौपाधिकभावजननात्? तत्राह—

**वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ ४॥**

**वृत्तीति**। इतरत्र व्युत्थाने वृत्तिसारूप्यं चित्तेन सह द्रष्टुर्वृत्तौ सारूप्यमवैलक्षण्यमित्यर्थः। शान्तघोरमूढाश्चित्तस्य वृत्तयः क्षणभङ्गुराः। ताभिरवशिष्टास्तत्प्रतिबिम्बरूपाः पुरुषस्य भवन्ति। याभिः शान्तोऽस्मि, दुःखितोऽस्मि, मूढोऽस्मीत्यध्यवस्यति। अतो न स्वभावात् प्रच्युतिः। न हि लौहित्यप्रतिबिम्बकालेऽपि स्फटिकस्य स्वभावात् प्रच्युतिरस्ति। अतात्त्विकान्यथाभावस्य विकारित्वाप्रयोजकत्वादिति भावः॥ ४॥

इदानीं चित्तस्येच्छादिलक्षणानेकवृत्तीनां निरोद्धव्यानां सत्त्वेऽपि तासां वक्ष्यमाणपञ्चप्रकारवृत्तिनिरोधेनैव निरोधो भवतीत्यभिप्रेत्य पुम्प्रयत्ननिरोद्धव्याः पञ्चप्रकारा एवेत्याह—

**वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥ ५॥**

**वृत्तय** इति। वृत्तयश्चैत्रादिभेदाद् वृत्तिसमूहाः, पञ्चतय्यः पञ्चप्रकारा अवयवा यासां ताः। अवयविनो वृत्तिसमूहाः प्रमाणादिपञ्चप्रकारावयवका इति यावत्। तासां हानोपादानसिद्ध्ये भेदमाह—**क्लिष्टाऽक्लिष्टा** इति। तत्र क्लिष्टा विविधानेकविषय-

---

१. क ख — रोध०, ग घ — बोध०।

२. क ख ग — स्वरूप०, घ — स्वस्वरूप०।

३. क ख ग — आत्यन्तिक०, घ — आत्यन्तिकम्।

४. क ख ग — स्वभावात् प्रच्युतिः, घ — स्वभावच्युतिः।

वासनानिबन्धना रागादिहेतुतया दुःखाख्यक्लेशफलिका विषयाकारवृत्तयो राजस्यस्तामस्यश्च। ताभिस्तृष्णादिद्वारा परानुग्रहनिग्रहाभ्यां धर्माधर्मयोरुत्पत्त्या दुःखधाराया एवानुभवात्। अक्लिष्टा विवेकख्यातितत्साधनसम्बद्धाः क्लेशफलकवृत्तिविरोधिन्यः सात्त्विक्यः। अक्लिष्टत्वं च यद्यपि प्रमाणवृत्तेरात्मगोचरायाः क्लेशादिविरोधित्वेन, विपर्ययस्य शालग्रामादौ विष्ण्वादिधीरूपस्य पुण्यविशेषजनकत्वेन, विकल्पस्य भेदवादिमते **तत्त्वमस्या**दिवाक्यजन्या[१]भेदबोधस्य कथञ्चित् तत्तदुद्धारकत्वेन, निद्रायाः सुखाद्यनुभावकत्वेन, स्मृतेर्नीलमेघादिदर्शनेन श्रीकृष्णादिविषयिण्या अदृष्टोत्पादकत्वेन स्फुटं, ताभिरेव च यथासंभवं दृष्टादृष्टद्वारा क्लिष्टवृत्तीनां निरोधश्च भवतीत्यतो तासां निरोधो, न वा सर्वासां निरोधनार्थं[२] साधनान्तरप्रयासश्चोचितस्तथाप्यासां साक्षान्निर्वाणहेतुत्वस्वस्वरूपाननुगुणत्वेन निरोधः सर्वासामात्यन्तिकनिरोधार्थं प्रयासान्तरश्चोचित एवेति भावः ॥ ५ ॥

[३]ता एव पञ्चवृत्तीरु[४]पदिशति—

**प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥**

**प्रमाणे**ति। उद्देशफलमितोऽन्याः साक्षान्निरोद्धव्या वृत्तयो न सन्तीति। यद्यपि लाघवतर्कानुगृहीतान्वयव्यतिरेकाभ्यां विशेषांश[५]ज्ञानस्याऽप्रमात्वावच्छिन्नं प्रति हेतुत्वाऽवधारणाद् विपर्ययादीनां साक्ष्याश्रिताऽविद्यावृत्तित्वपक्षस्य वेदान्तिभिरङ्गीकृतस्य युक्तत्वान्न चित्तवृत्तित्वकथनं युक्तं, तथापि स्वमतेऽनिर्वचनीयाऽनाद्यज्ञानस्य मानाभावेनानङ्गीकारान्मनःपरिणामत्वमेव विपर्ययादीनाम्। अत एव स्वप्ने शुक्तिरजतादयोऽपि चित्तपरिणामा एव बाधाबाधाभ्यां सदसद्रूपा इति सदसत्ख्यातिरित्याद्यग्रेऽविद्यासूत्रे स्फुटीभविष्यति ॥ ६ ॥

तत्र प्रमाणवृत्तिं विभजते—

**प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥**

**प्रत्यक्षे**ति। तत्रोपमानस्य, गवयपदं गवयवाचकम्। असति वृत्त्यन्तरे वृद्धैस्तत्र प्रयुज्यमानत्वात्। योऽसति वृत्त्यन्तरे वृद्धै[६]र्यत्र प्रयुज्यते स [७]तद्वाचकः। यथा

---

१. क ख ग — अभेद०, घ — अभेदे।
२. क ख — निरोधनार्थं, ग घ — निरोधार्थम्।
३. क ख ग — ता एव, घ — एताः।
४. क घ — उपदिशति, ख ग — उद्दिशति।
५. क ख — ज्ञानस्य, ग घ — अज्ञानस्य।
६. क ख घ — यत्र, ग — तत्र।
७. क ख ग — तत्, घ — तस्य।

गोशब्दादिः। गवयो गवयपदवाच्यो गोसदृशत्वात्। व्यतिरेके घटवदित्याद्यनुमाने। अर्थापत्तेरपि, अयं रात्रिभोजी, दिवाऽभुञ्जानत्वे सति पीनत्वादित्यनुमाने। अनुपलब्धेस्तु, यदि स्यादुपलभ्येतेत्यादिप्रतियोगिसत्त्वप्रसञ्जितप्रतियोग्युपलब्ध्यभावरूपायाः प्रत्यक्षा[1]सहकारित्वेन प्रत्यक्षे। इति होचुरित्यैतिह्यस्य तु शब्दे। सम्भवस्य तु, खार्यां द्रोणादिपरिमाणसम्भावनारूपस्यानुमाने। चेष्टाया अपि, गेहे कति घटाः सन्तीति प्रश्ने, दशाङ्गुलीप्रदर्शनरूपाया अनुमाने, दशादि[2]पदस्मरणे तु शब्द एवान्तर्भावात् त्रीण्येव प्रमाणानीति भावः। तत्राऽविसंवादि ज्ञानम्, अनधिगततत्त्वबोधो वा प्रमा तत्करणं प्रमाणमिति[3] प्रमाणसामान्यलक्षणम्। तत्रेन्द्रियसञ्चारमार्गेण बाह्यवस्तुसम्बन्धाच्चित्तस्याऽखिलार्थवासनावत इन्द्रियविषयसामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषाऽवधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्। यथा घटोऽयमित्यादिगृहीतव्याप्तिकेन हेतुना साध्यवति पक्षे ज्ञायमानेन साध्यस्य [4]सामान्यात्मनाऽध्यवसायोऽनुमानम्। तच्चानुमानं त्रिविधमुक्तं न्याये—पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टं चेति। तत्र पूर्ववत्, पूर्वम् अन्वयस्तद्वत् केवलान्वयीत्यर्थः। यथा, इदमभिधेयं, प्रमेयत्वात्, सम्मतवदित्यादिः। शेषवत्, शेषो व्यतिरेकस्तद्वत् केवलव्यतिरेकीत्यर्थः। यथा, पृथिवी इतरेभ्यो भिद्यते, गन्धवत्त्वाद् व्यतिरेके जलादिवदित्यादि। सामान्यतोदृष्टम्, अन्वयेन व्यतिरेकेण च गृहीतव्याप्तिकम्। यथा, वह्निमान् धूमादित्यादि। प्रकृतवाक्यार्थयथार्थज्ञानवत्त्वरूपाप्तत्वविशिष्टेन पुरुषेण दृष्टश्रुतानुमितार्थानां परं प्रति यथार्थबोधार्थमुपदिष्टेनाऽऽकांक्षाऽऽसत्तियोग्यतादिमता शब्देन श्रोतुस्तदर्थाकारा वृत्तिरागमः। [5]यथा

**स्वर्गकामो यजेत।**

इत्यादिवाक्यात् स्वर्गकामनावता यागः कार्य इति। पौरुषेयो बोधः सर्वत्र फलम्। येन जानामि ज्ञातः स्फुरति घटादिः प्रकट इत्येवं व्यवहरति जनः। तत्र यत्र यस्य शब्दस्य भ्रमादिमाननाप्तो वक्ता स नागमः। यथा चैत्यवन्दनं कार्यमित्यादि। मन्वादिस्मृतयस्तु निर्णीतप्रमाणवेदमूलकत्वादागमा एव। एवमन्येऽपि दृष्टार्थका अस्मदादिशब्दा इति संक्षेपः॥ ७॥

---

१. क ग घ — **सहकारित्वेन**, ख — **असहकारित्वेन**।
२. क ख ग — **पर०**, घ — **पद०**।
३. क — **प्रमाणमिति** उपलभ्यते, ख ग घ — **प्रमाणमिति** नोपलभ्यते।
४. क ग घ — **सामान्यात्मना**, ख — **समानात्मना**।
५. क ख घ — **यथा स्वर्गकामो यजेतेत्यादिवाक्यात्....यागः कार्य इति** उपलभ्यते, ग — **यथा ....कार्य इति** नोपलभ्यते।

विपर्ययं लक्षयति—

**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८॥**

**विपर्यय** इति। लक्ष्यनिर्देशः। मिथ्याज्ञानमित्यादिलक्षणम्। तच्चायथार्थज्ञानम्। तद्विकल्पेऽप्यनुगतमित्यत आह—अतद्रूपप्रतिष्ठमिति। तच्च रूपं चेति तद्रूपं ज्ञानस्वरूपम्। तस्मिन्न विद्यते प्रतिष्ठा बाधाऽप्रतिबध्यत्वं यस्य तत्। यथा शुक्त्यादिविशेषदर्शनप्रतिबध्यं रजतादिज्ञानम्। विकल्पस्तु प्रत्यक्ष[१]प्रमावद् बाधाऽप्रतिबध्य एव। इदमनित्यमिति ज्ञातेऽपि बाधितत्वे कलहादौ शब्द[२]ज्ञानोदयात्। अतो न तत्रातिव्याप्तिः। बाधबाध्यपरोक्ष[३]प्रमायामतिव्याप्तिवारणाय मिथ्याज्ञानमिति॥ ८॥

विकल्पं लक्षयति—

**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥ ९॥**

**शब्देति**। शब्दश्च ज्ञानञ्च शब्दज्ञाने। ते अनुपातिनी जनके यस्य स शब्दज्ञानानुपाती। श्रोतुः श्रूयमाणशब्दहेतुकः प्रयोक्तुः पदार्थोपस्थितिहेतुको [४]बाधनिश्चयेऽपि कलहादौ नरशृङ्गादिप्रयोगे उत्प्रेक्षादौ च सर्वानुभवसिद्धः। वस्तुशून्यो बाधितविषयप्रत्ययः नरविषाणं, खपुष्पं, चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमित्याद्याकारा विकल्पाख्या वृत्तिरित्यर्थः। [५]वस्तुशून्यत्वान्नायं प्रमाणम्। बाधाप्रतिबध्यत्वाच्च न विपर्ययः। न च बाधबुद्धिसत्त्वे विशिष्टप्रत्ययः कथं, लौकिकसन्निकर्षाजन्यदोषविशेषाजन्यविशिष्टबुद्धेर्बाधप्रतिबध्यत्वादिति वाच्यम्। सत्यपि बाधनिश्चये,

**[६]धूमस्तोमं तमशशङ्के राधाविरहशुष्मणाम्।**

इत्याद्युत्प्रेक्षादिवाक्यतः शाब्दबोधस्यानुभवसिद्धत्वेन शाब्दातिरिक्तत्वेनापि तादृशधियो विशेषणीयत्वात्। अनाहार्यबुद्धेरेव तथाविधाया बाधप्रतिबध्यत्वाङ्गीकाराच्च। अन्यथा कलहतर्कादिनापि प्रतिपत्तिर्न स्यात्। नैयायिकानां तु योग्यताया बाधेनात्र [७]शब्दाऽऽहार्यस्यापि असंभवात् पदार्थोपस्थितिमात्रं न शाब्दबोध इति संक्षेपः॥ ९॥

---

१. क ख ग — **प्रमा०**, घ — **प्रमाण०**।

२. क ख — **ज्ञान०**, ग घ — **बुद्धेः**।

३. क ख ग — **प्रमायां**, घ — **प्रमाणम्**।

४. क ख घ — **बाधनिश्चये....सर्वानुभवसिद्धः** उपलभ्यते, ग — **बाध....सिद्धः** नोपलभ्यते।

५. क ख घ — **वस्तुशून्यत्वात्**, ग — **बाधितविषयत्वात्**।

६. क ख घ — **धूमस्तोमं तमशशङ्के राधाविरहशुष्मणामित्याद्युत्पेक्षादिवाक्यतः**, ग — **कलहोत्प्रेक्षादिवाक्यतः**।

७. क ख — **शब्द०**, ग घ — **शाब्द०**।

निद्रां लक्षयति—

**अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा ॥ १० ॥**

**अभावेति।** जाग्रत्स्वप्नवृत्तीनामभावस्य प्रत्ययः प्रत्येति जनयतीति प्रत्ययो[१] हेतुः तम आलम्बनं विषयो यस्याः सा वृत्तिर्निद्रा। अस्याः सुखमहमस्वाप्सं न किञ्चिदवेदिषमिति सुषुप्त्यनन्तरं जागरे स्मृतिदर्शनात्, स्मृतेश्चानुभवव्यतिरेकेणानुपपत्तेर्वृत्तित्वम्। वृत्तिपदं तु ज्ञानसामान्याभावो निद्रेति तार्किकमतनिरासाय। अत्र भाष्यम्—

**स च सम्प्रबोधे प्रत्यवमर्षात् प्रत्ययविशेष एव। कथम्? उच्यते। सुखमहमस्वाप्सं, प्रसन्नं मे मनः, प्रज्ञा मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सं, स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्। गाढं मूढोऽहमस्वाप्सं, गुरूणि मेऽङ्गानि क्लान्तं मे चित्तमलसं मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्यवमर्षो न स्याद् असति प्रत्ययानुभवे। तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात् प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्या।**

इति। भाष्यार्थस्तु[२]—सा च निद्रा तु सम्प्रबोधे जागरे, प्रत्यवमर्षात् स्मरणात्, प्रत्ययविशेष एव वृत्तिरूपैव, न [३]ज्ञानसामान्याभावो, न वा साक्षिरूपा। जागरे स्मरणानुपपत्तेः। अनुभवसूक्ष्मावस्थारूपसंस्कारं विना साक्षिणाऽपि स्मृतेरसम्भवात्। स्मरणाकारं पृच्छति—**कथमिति।** उत्तरमाह[४]—**उच्यत** इति। वृत्तिमात्रस्य त्रिगुणात्मकत्वसूचनाय तदुक्तम्। आदौ सत्त्वफलमाह—**सुखमिति।** ततस्तदभिनयति। प्रसन्नं निर्मलम्। प्रज्ञां स्वस्मिञ्ज्ञायमानां यथार्थवृत्तिं, विशारदीकरोति सूक्ष्मार्थग्रहणयोग्यां करोति। इदञ्च तत्र सत्त्वोद्रेकस्य फलम्। रजसः फलमाह—**दुःखमिति।** [५]ततस्तदभिनयति। स्त्यानमकर्मण्यम्। अनवस्थितमस्थिरम्। तमसः फलमाह—**गाढमिति।** ततस्तदभिनयति। गुरूणि मेऽङ्गानि, अलसमत्यन्तं, मुषितमिव परैरपहृतमिव तिष्ठतीत्यर्थः। अन्वयमुखेन सुषुप्तावनुभवमुपपाद्य व्यतिरेकमुखेनोपपादयति—**स**

---

१. क ख — **प्रत्ययः** उपलभ्यते, ग घ — **प्रत्ययः** नोपलभ्यते।

२. क ख घ — **भाष्यार्थस्तु**, ग — **अस्यार्थः**।

३. क ख — **ज्ञानसामान्य०**, ग — **ज्ञान०**, घ — **ज्ञानाज्ञानसामान्य०**।

४. क ख घ — **उत्तरमाह**, ग — **उत्तरयति**।

५. क ख — **ततस्तदभिनयति**, ग — **तदभिनयति**, घ — **ततस्तदभिनयति/तदभिनयति** नोपलभ्यते।

**खल्विति**। प्रत्ययानुभवे सूत्रोक्तप्रत्ययानुभवे असति योऽयं[१] प्रत्यवमर्षे[२] जागरे स्मृतिरूपः खलु न स्यादित्यर्थः। अनुभवं विना स्मृतेरदर्शनादिति भावः। नन्वस्तु तत्रानुभवः, परन्तु साक्ष्याश्रित एव सोऽविद्यावृत्तिरूपोऽस्तु, न चित्तपरिणामरूपः। चित्तस्य तदानीं[३] लीनत्वात्। तत्राह—**तदाश्रिता** इति। चित्ताश्रिताः स्मृतयः सुखदुःखादिविषया न स्युः। साक्षिणा दृष्टस्य चित्तेन स्मरणासम्भवादित्यर्थः। स्मृतिश्चित्तस्यैव धर्मः। तत्[४]कार्यहर्षविषादेच्छादेस्तत्रैव सम्भवादिति भावः। **सा चेति**। च इति हेतौ। यतः सा सुख[५]दुःखमोहान्विता, अत एव समाधावितरप्रत्यय-वन्निरोद्धव्येत्यर्थः। स्वाप उद्रिक्तं तमः। निद्रा तु स्वापप्रधाना सुखस्वापाहमर्थगोचरा वृत्तिः। सुखमहं स्वपिमीत्याकारा विशिष्टा, समूहालम्बनात्मिका निर्विकल्पिका वा।

**तामेव तत्र जानानः पुरुषः स्वप्न इवान्तःप्रज्ञोऽपि दृग्दृश्यभेदाभिमाना-भावात् सुषुप्तिस्थान एकीभूतः।**

इत्युच्यते श्रुतिभिः। इत्थं भेदमभिप्रेत्यै[६]व स्वापानुभववृत्तेर्निद्रात्वोक्तिः। लोके, अयं स्वपितीति निद्रातीति स्वपितिनिद्रात्योः पर्यायस्तु विषयविषयिणोरभेदाभि-मानादिति दिक्। तत्र साऽविद्यांश[७]सत्त्वपरिणामो न चित्तस्य। तस्य तत्र लीनत्वात्। अन्यथा स्वप्नजागरणयोरन्यतरा[८]पत्तिरिति वेदान्तिनः।

तन्न युक्तम्। दुःखानुभवानुपपत्तेः। दुःखस्य च चित्तमात्रधर्मत्वात्। न च स्वप्नजागरणयोरन्यतरापत्तिरिति वाच्यम्। स्वापादृष्टे न तयोः प्रतिबन्धात्। अत एव तत्र नात्मस्वरूपसुखस्यानुभवः, किन्तु चित्तपरिणामरूपस्यैव।

**त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्।**

इति श्रुत्यापि भोक्तृभोग्यभोगानां तत्र सद्भावकथनेन तावदर्थज्ञापना-दित्य[९]भिमानिनः। अथ

---

१. क — योऽयं, ख ग घ — सोऽयम्।
२. क — प्रत्यवमर्षे, ख — प्रत्यवमर्षः, ग — परामर्शः।
३. क ख घ — तदानीं, ग — तदा।
४. क ख घ — कार्य०, ग — कार्यस्य।
५. ग घ — दुःख० उपलभ्यते, क ख — दुःख० नोपलभ्यते।
६. ग घ — सूत्रे [एवपश्चात्] उपलभ्यते, क ख — सूत्रे नोपलभ्यते।
७. क ख घ — सत्त्व०, ग — सत्त्वस्यैव।
८. क ख ग — आपत्तिः, घ — वृत्तिः (उभयत्र)।
९. क ख — अभिमानिनः, ग घ — अभिमानः।

**यत्रैतत् पुरुषः स्वपिति निद्रा नाम, सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति स्वमपीतो भवति स्वं ह्यपीतो भवति तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते।**

**न तु तद्द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यत् पश्येत्।**

इत्यादिश्रुतिभिः सत्[१]सम्पत्तेर्निर्विषयत्वादिकथनेन सुषुप्तौ चित्तलयप्रतिपादनाद् ब्रह्मसुखस्यैव तत्र भानम्। निद्राप्यविद्यावृत्तिरेव। भोक्तृभोग्यानां सत्त्वांशसंस्काररूपेण संस्कारसत्त्वेऽपि [२]द्वितीयाभावन्तु अभिमानाभावमादायेति वेदान्तिनामभिप्रायादिति चेत्। अत्र वदन्ति। सत्सम्पत्तिरपि दुग्धजलयोरिव एकीभावो न त्वेकतैव। पुनरुत्थानाभावप्रसङ्गात्। सापि यद्यपि लयात्, तथापि लयोऽत्र न कारणात्मनाऽवस्थितिः, किन्तु स्वाभाविकबहिःप्रवहणशीलत्वाभावमात्रम्। तथा च तत्र मनःसत्त्वेऽपि न हानिर्न वा श्रुतिविरोधः। अतो निद्रा मनस एव वृत्तिः। सुखमपि तस्यैव सत्त्वांशपरिणामः, नात्मरूपमित्यास्तां विस्तरः।

नैयायिकास्तु, यदा मनः पुरीतति प्रविशति तदा त्वङ्मनोयोगरूपकारणाभावाज्ज्ञानसामान्याभावः। सैव सुषुप्तिः। प्रमाणञ्चात्र

**यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात् पुरीततिमभिप्रतिष्ठन्नेताभिः प्रत्यवसृज्य पुरीतति शेते।**

इति श्रुतिः। अनया पुरीतत्प्रवेशेन त्वङ्मनोयोगाभावस्यो[३]क्त्या ज्ञानाभावमात्र[४]कथनात्। तस्मान्न चित्तलयो न वा चित्तपरिणामस्तत्रेति वदन्त उदाहृतानुभवान् स्वप्नेऽन्तर्भावयन्ति। तन्न [५]सम्यक्।

**यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति।**

इत्युपक्रम्य

**आनन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयपादः।**

इत्यादिश्रुतिभिरुक्तानुभवानां सुषुप्तिकालिकत्वावगमात्। सुषुप्तौ ज्ञानसामान्याभावस्य वक्तुमशक्यत्वात्। त्वदुदाहृतश्रुतेर्मनसः संस्काररूपेणावस्थितौ कथित-

---

१. क — **सम्पत्तेः**, ख ग घ — **सम्पत्ति०**।

२. क घ — **द्वितीयाभावं**, ख — **द्वितीयया भावं**, ग — **द्वितीयाभावः**।

३. ग — **सुषुप्तौ [उक्त्या पश्चात्]** उपलभ्यते, क ख घ — **सुषुप्तौ** नोपलभ्यते।

४. क ख घ — **कथनात्**, ग — **सूचनात्**।

५. क ख घ — **सम्यक्। यत्र सुप्तो....वक्तुमशक्यत्वात्**, ग — **अस्मदुदाहृत्य श्रुत्यनुभवानां विरोधेन ज्ञानसामान्याभावस्य तत्र वक्तुमशक्यत्वात्।**

वृत्तिभिन्नवृत्तिसामान्याभावे वा[१] तात्पर्यात्। इन्द्रियाद्युत्पत्तेः प्रागेव हिरण्यगर्भस्य ज्ञानोत्पत्त्या ज्ञानसामान्ये त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वा[२]ऽयोगात्। एतेन[३] जन्यज्ञानमात्रे त्वङ्मनोयोगस्य हेतुत्वमङ्गीकृत्य तदभावबलात्, न किञ्चिदवेदिषमिति नञाद्यन्वय-स्वारस्याच्च सुषुप्तौ ज्ञानसामान्याभावमङ्गीकृत्योत्थितस्य स्वापसुखादिप्रत्ययोऽनु-मितिरेव। सुषुप्तिकालीनात्मा ज्ञानाभाववान्, ज्ञानसामग्र्यभावात्। मुक्तिकालिकात्मवत्। सुषुप्तिकालिकात्मा दुःखाभाववान् दुःखसामग्रीशून्यत्वात्। मुक्तिकालिकात्मव-दित्यनुमानसम्भवात् सौषुप्तदुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगस्यौपचारिकत्वात्। अन्यथा अक्लृप्तनित्यसुखकल्पनागौरवप्रसङ्गादिति परास्तम्। सुषुप्तिपरिचयं विना पक्षाज्ञाना-दनुमानानुदयाच्च। न च कालत्वादिना सामान्यलक्षणप्रत्यासत्त्या परिचयः। सामान्य-लक्षणाया एवालीकत्वात्। अभ्युपगमेऽपि स्वाभिमतासिद्धेः। कालत्वरूपेण परिचयेऽपि सुषुप्तित्वरूपेणापरिचयात्तद्घटितानुमानस्य कालान्तरीयज्ञानाभावसाधारण्यादर्थान्तरात्।

नन्वहोरात्रस्य प्रहराष्टकरूपत्वेन ज्ञानात् प्रहरद्वयं सुप्तोत्थितेन प्रहरषट्कस्य जागरणकालत्वेन ज्ञानात् परिशेषाद् अवशिष्टप्रहरद्वयस्य वस्तुतः सुषुप्तिकालस्य स्वज्ञानत्वात् तत्कालीनात्मन्यनुमितौ नानुपपत्तिः। एवं सर्वसुषुप्तिषु तत्तत्कालपरिचयो द्रष्टव्य इति चेन्न। अहोरात्र[४]परिणामादिविवेकरहितानामपि मुग्धबालप्रभृतीनां, तद्विवेकवतामपि विनैव तत्प्रतिसंधानं सुखमहमस्वाप्समिति प्रतीतिसत्त्वात्। उक्तप्रहरद्वयेन तत्कालज्ञानेऽपि सुषुप्तेरज्ञानात्, अस्वाप्समित्यभिलापासम्भवाच्च। न ह्युक्तप्रहरद्वयकालसम्बन्धिनी एव सुषुप्तिः। न वा तत्कालीनात्मयोग्यविशेषगुणाभावः। आद्ये तस्य पुरुषान्तरसाधारण्यात् तस्यापि तदा स्वपिमीति व्यवहारापत्तेः। द्वितीयस्त्वप्रसिद्धः। पुरुषान्तरे तदा [५]ज्ञानाद्यन्यतमसत्त्वात्। न च यस्य यत्काले वस्तुत उक्तगुणाभावस्तस्य सुषुप्तिरिति वाच्यम्। पुरुषाणामानन्त्यात् प्रतिपुरुषं च सुषुप्ति-कालानामानन्त्याद् अनियतपरिमाणत्वाच्च स्वपिधातोरव्यवहितानन्तार्थकत्वापत्तेः। मम तु अस्वाप्समित्यनुगताकारस्मृतिहेत्वनुभवसाक्षिकः प्रलीनबहिःप्रवाहकमनस्कत-

---

१. ग — **वा उपलभ्यते**, क ख घ — **वा नोपलभ्यते**।

२. क ख ग — **अयोगात्**, घ — **योगात्**।

३. क ख घ — **एतेन....विस्तरः**, ग — **अपि च ज्ञानसामान्यं प्रति तस्य हेतुत्वे आसन्? न चाक्षुषादिकाले त्वाचप्रत्यक्षं स्यात्। चाक्षुषादिसामग्र्या अतिबन्धकत्वे न तद् वारणं निर्मूलातिगौरवहेतुरित्यन्यत्र विस्तरः**।

४. क — **परिणाम**०, ख घ — **परिमाण**०।

५. क ख — **ज्ञान**०, घ — **अज्ञान**०।

मोऽवस्थाविशेषनिष्ठो जातिविशेष इत्यनुगमादेकार्थत्वोपपत्तिः। यत्तु, नाडीविशेषमनःसंयोगः सुषुप्तिरिति तन्न सम्यक्। तस्यातीन्द्रियत्वेनाबालानां जनानाम्, अस्वाप्समिति स्मृतिहेतुप्रत्यक्षाऽयोगादुदाहृतश्रुतिविरोधाच्च। अत्र यद्यप्यहमर्थस्य वर्तमानतया प्रत्यक्षत्वान्न स्मृतिः, तथापि स्वापावस्थाया अतीतत्वाद् भवति स्मृतिः। सुखस्य वेदान्तनये नित्यतया वर्तमानत्वाद् अस्मरणापत्तिः। स्वमते तु मनःपरिणामरूपस्य तस्याप्यतीतत्वात् सम्भवति तस्यापि स्मृतिः। न वाहमर्थस्य प्रत्यक्षत्वे अहमस्वाप्समिति भूतलकारोत्तमपुरुषाभिलापानुपपत्तिः। स्मर्यमाणस्वापसम्बन्धात् स्मर्यमाणत्वारोपादित्यास्तां विस्तरः॥ १०॥

स्मृतिं लक्षयति—

**अनुभूतविषयाऽसम्प्रमोषः स्मृतिः॥ ११॥**

**अनुभूते**ति। अनुभूयत इत्यनुभवोऽ[१]नुभवविषयः। तस्माद्विषयस्या[२]ज्ञानस्याधिकस्य न सम्प्रमोषः स्तेयः परिग्रहो यत्र [३]तादृशोऽनुभवविषयादनधिकविषयो गृहीतग्राही प्रत्ययः। सा गङ्गा मया दृष्टेत्याद्याकारः स्मृतिरित्यर्थः। न च प्राथमिकानुभव[४]विषयविषयकधारावाहिकद्वितीयादिज्ञानेऽतिव्याप्तिः। तत्र

**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यत्र कालो न भासते।**

इति न्यायेन[५] क्षणादिरूपाधिकार्थभानाङ्गीकाराद् अगृहीतग्राहित्वस्यैव सत्त्वात्। स्मृतौ तु क्षणादिभानस्याननुभवेनोक्तन्याये प्रत्ययपदस्यानुभवपरत्वात् स्मृतौ क्षणवैशिष्ट्यभानानङ्गीकार इति भावः। ननु लाघवात् संस्कारजन्यं ज्ञानं स्मृतिरित्येव लक्षणमुचितमिति चेन्न। तावन्मात्रस्य प्रत्यभिज्ञायामतिव्याप्तेः। संस्कारमात्र[६]जन्यत्वस्यादृष्टदेशकालादिरूपसामग्र्यपेक्षायामसम्भवात्। यदि मात्रपदेन प्रमाणस्यैव व्यवच्छेदस्तदास्तु वा। अनुभूतेत्यनेन संस्कारजन्यत्वज्ञापनात् तदपि लक्षणम्। तदापि न हानिः। लक्षणस्य लक्षणान्तराविरोधित्वादिति संक्षेपः।

अत्र साम्प्रदायिकास्तु, अनुभूतेत्यस्य अनुभूतौ चितिशक्त्या परोक्षतया[७] गृहीतौ

---

१. क ख घ — **अनुभव०**, ग — **अनुभूत०**।

२. क ख ग — **अज्ञानस्य**, घ — **अज्ञातस्य**।

३. क ख ग — **तादृशः**, घ — **तादृक्**।

४. क ख घ — **विषय०** उपलभ्यते, ग — **विषय०** नोपलभ्यते।

५. क ख घ — **न्यायेन**, ग — **न्याये**।

६. ग — **वानुभव०** [जन्यत्वस्य पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **वानुभव०** नोपलभ्यते।

७. क ख ग — **परोक्षतया**, घ — **अपरोक्षतया**।

यौ विषयौ वृत्तितद्वेद्यरूपावर्थौ तयोरसम्प्रमोषः अनपहरणं यत्र तादृशस्तदुभयविषयक-प्रत्ययः स्मृतिरित्यर्थमङ्गीकृत्य वृत्तेस्तद्विषयस्य च स्मरणमिच्छन्ति। स घट इत्यादि-स्मरणेऽनुभूततारूपतत्तातदारूढार्थयोर्द्वयोरपि भानस्यानुभवसिद्धत्वात्। तथा चैतन्मते वित्तिवेद्योभयानुभवं विना वित्तिवेद्योभयस्मरणायोगादयं घट इत्याद्यनुभवेऽपि वृत्ति-तदारूढयोर्द्वयोर्भानमावश्यकमिति सर्वमेव ज्ञानं व्यवसायात्मकम्[1]। साक्षिरूपचिति-शक्त्यैव वित्तिवेद्ययोर्ग्रहणात्। इत्थञ्चैतन्मते अनुभव[2]स्मृत्योः समानप्रकारत्वादिना हेतुहेतुमद्भावोऽ[3]प्यविरुद्धः। [4]अयं घट इत्यनुभूततारूपतत्ताप्रकारकज्ञानात् स घट इत्याद्यनुभवप्रकारिकाया, घटमहं जानामीति ज्ञानविशेष्यकाच्च घटमहं स्मरामीति ज्ञानविशेष्यकायाः स्मृतेर्दर्शनात्। यदि च घटमहं जानामीति ज्ञानादपि स घट इति तत्ताप्रकारिका स्मृतिस्तदास्तु प्रकारकत्वविशेष्यत्वादिमन्तर्भाव्य समानविषयत्वेनै-वानुभवस्मृत्योः कार्यकारणभावः। न चान्यविशेष्यकज्ञानादन्यविशेष्यकस्मरणप्रसङ्गः। इष्टापत्तेः। तदुक्तं भाष्येऽपि

**ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः, ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः।**

---

१. क ख ग — व्यवसायात्मकं, घ — व्यवसायानुव्यवसायादिकम्।

२. ग — न [स्मृत्योः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — न नोपलभ्यते।

३. क ख घ — अप्यविरुद्धः, उपलभ्यते, ग — अप्यविरुद्धः नोपलभ्यते।

४. क ख घ — अयं घट इत्यनुभूतता....तस्य विपर्ययत्वादिति दिक्, ग — अयं घटो घटमहं जानामीति ज्ञानविशेष्यकविषयप्रकारकाऽनुभवात्, स घट इति विषयविशेष्यकज्ञान-प्रकारकस्मरणालोपप्रसङ्गात्। तस्मादत्र लाघवात् प्रकारत्वविशेष्यत्वादिकमनन्तरभाष्य-समानविषयकत्वेनैव कार्यकारणभावः। भाष्यसम्मतं चैतत्। उक्तं हि भाष्ये ग्रहणाकार-पूर्वा बुद्धिः ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिरिति। अत्र पूर्वशब्दो विशेष्यपरः। एतेन अन्यविशेष्यक-ज्ञानादन्यविशेष्यकस्मरणाभावात्। तद्विशेष्यकताप्रकारकत्वेनैव अनुभवस्मृत्योः कार्य-कारणभाव इति वदतां नव्यतार्किकाणां मतं न सम्यगिति मन्तव्यम्। तत्र यथा स्मृतेर्भाष्यकाराद्यनुभवसिद्धत्वात्। न च अनुभवेऽपि विदुषः कलहायन्ते स्मृतेर्युग-पदुभयविशेष्यकत्वाद्यनुभवस्तु विशेष्योद्बोधकानां हेतुत्वकल्पनाभिः सम्पादनीय इत्यास्तां विस्तरः। परे तु वस्तुतः कुम्भत्वविषयादपि द्रव्यम् इति द्रव्यत्वादिनाऽनुभवात् कुम्भत्वादिना स्मृत्या वारणाय समानप्रकारकत्वादिनैव हेतुहेतुमद्भावं सर्वत्रानुभवस्मृतिः संस्कारादविच्छिन्नतस्तथोभयभानं न इच्छन्ति। तन्न सम्यक्। कुम्भे इदं द्रव्यम् इति ज्ञानस्यानन्तरं कुम्भो न वेति संशयदर्शनात्। कुम्भत्वविषयकत्वे मानाभावे न समान-विषयत्वस्यैवाऽभावात्। कुम्भकत्वे न स्मृतिः प्रसङ्गाभावात्। तदन्याप्रकारकत्वादिना कार्यकारणभावमङ्गीकृत्य वा निर्वाहाच्चेत्यास्तां विस्तरः। ननु स्वप्ने स्वकरे गजवैशिष्ट्य-मननुभूतमपि स्मर्यत इति चेन्न तस्य विपर्ययत्वादिति दिक्।

इति। घटमहं जानामीति ज्ञानविशेष्यकोऽनुभवः। स घट इति घटविशेष्यिका स्मृतिरिति तदर्थः। अत्र पूर्वशब्दो विशेष्यपरः। न चैवं सति स्मृतेर्युगपदुभय-विशेष्यकत्वापत्तिः। सामग्र्या समत्वादिति वाच्यम्। विशेष्योद्बोधकानां हेतुत्व-कल्पनाभिस्तन्निरासादिति यत्किञ्चिदेतत्। एतावाँस्तु विशेषः। तार्किकस्यायं घटो घटमहं जानामीत्यनयोर्व्यवसायानुव्यवसायभेदाद्भेदः। पूर्वस्य विषयेन्द्रियसन्निकर्षजन्यस्य विषयमात्रग्राहकत्वात्। द्वितीयस्य तु मनोमात्रजन्यस्य ज्ञानगोचरत्वात्। यद्यपि स्वमते तु न तथा। वृत्तिवेद्योभयविषयत्वेन द्वयोरपि [1]व्यवसायस्थानीयत्वात्। तथाप्यज्ञान-नाशकोऽयं घट इत्याद्याकारः। अज्ञाननाशोत्तरं तु घटमहं जानामीत्याद्याकारः क्रियाजन्यफलभागितारूपकर्मतायास्तदानीमेव भानसम्भवात्। वेदान्तिनस्तु वृत्त्य-वच्छिन्नचैतन्यमज्ञाननाशकं व्यवसायः। विषयमात्रग्राहकत्वात्। वित्तिवेद्योभयार्थग्राहकं वृत्त्याद्युपहितं त्वनुव्यवसाय इति तयोस्तार्किकाणामिव भेद एवेति वदन्ति। परन्तु तार्किकाणामनुव्यवसायो जन्यत्वादनन्तः। वेदान्तिनान्तु स्वयमात्मैवेत्यन्यदेतत्। युक्तश्चायं पक्षः। यद्यपि ज्ञानकर्मतायाः पश्चादेवानुभवात् तथापि ग्रहणसमर्थया चितिशक्त्या वृत्त्युत्पत्तिकाले वृत्तेरपि विषयस्येव ग्रहणसम्भवाद् वृत्तिवेद्योभय-भाननिबन्धनभेदात् तयोः पौर्वापर्यकल्पनमयुक्तमिवेति सूत्रकारप्रभृतेर्गूढाभिसन्धिः। प्रकृतमनुसरामः। तथापि घट इत्येवं स्मरणपक्षे प्रमुष्टतत्ताकज्ञानस्य संस्कारमात्रजन्यस्य स्मरणत्वलोपप्रसङ्गः। तत्तायास्तत्राभानादिति चेन्न। तादृशनियमस्यौत्सर्गिकत्वात्। अत एव निद्रासूत्रे उदाहृतसुखस्मरणस्योद्बोधकदोषात् प्रमुष्टतत्ताकत्वेऽ[2]पि नैतत्सूत्रविरोध इति वदन्ति। ननु स्वप्ने सूकरे[3] गजवैशिष्ट्यमननुभूतमपि स्मर्यते, इति चेन्न तस्य विपर्ययत्वादिति दिक्॥ ११॥

आसां वृत्तीनां निरोधोपायमाह—

## अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥ १२॥

**अभ्यासे**ति। अभ्यासवैराग्याभ्यामनुपदं वक्ष्यमाणाभ्यां समुच्चिताभ्यां तन्निरोधः। तासां क्लिष्टानामक्लिष्टानां च वृत्तीनां निरोधः कथितः। प्रयाजाद्यङ्गानाम-पूर्वरूपव्यापारभेदादिव व्यापारभेदाद्भवतीत्यर्थः। यथाऽभिवृद्धनद्या द्विविधः प्रवाहो

---

१. क ख — **व्यवसाय०**, घ — **अनुव्यवसाय०**।
२. क ख — **अपि नैतत्**, घ — **विनैव**।
३. क ख — **सूकरे**, घ — **स्वकरे**।

ग्रामनगरादिमज्जनानुकूलः[१] सेत्वादिना प्रतिबद्ध्यते। [२]क्षेत्राद्यनुकूलश्चाल्पकुल्याखननादिना सम्पाद्यते। एवञ्चित्तनद्याः संसारसागराभिमुखो विषयभूमिगोऽनर्थप्रवाहो वैराग्येण भज्यते। [३]निद्रादिदोषवारणायात्मभूमिगो मोक्षसुखसागराभिमुखोऽर्थप्रवाहोऽभ्यासेन वर्द्धते इत्यभ्यासवैराग्ययोश्चित्तवृत्तिनिरोधे समुच्चयोऽत्र द्विवचनेन।

**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।**

इति च शब्देन भगवताऽत्राभिहित इति दिक्॥ १२॥

अभ्यासं लक्षयति—

**तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥ १३॥**

**तत्रेति**। तत्र तयोर्मध्ये तस्मिन् परात्मनि सच्चिद्रूप इति वा स्थितिरेकाग्रता तदर्थं प्रयत्न उत्साहसाहसधैर्याध्यात्मविद्याध्ययनमहत्सेवनयमनियमाद्यनुष्ठानलक्षणोऽभ्यास इत्यर्थः। तत्रोत्साहः सर्वदा बहिःप्रवहणशीलं चित्तं निरोत्स्यामीत्येवमुद्यमः। साहसं साध्या-साध्यत्वाद्यपरामृश्य शीघ्रं प्रवृत्तिः। धैर्यम्, इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सेत्स्यत्येवेत्यऽखेदः। तदेतदुदाजहरुर्गौडपादाः—

**उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैव बिन्दुना।**
**मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदत॥**

इति। तत्राख्यायिकां प्राहुः साम्प्रदायिकाः[४]—कस्यचित्तीरस्थपक्षिणोऽण्डानि समुद्रस्तरङ्गैराजहार। स एनं [५]शोषयाम्येवेति द्रुतं प्रवृत्तः स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुमु[६]च्चिक्षेप। वारयमाणाँश्च बन्धून् सहायान् वव्रे। ततश्च कृतनिवारणोऽपि नारदोऽस्याखेदप्रवृत्त्या तुष्टः, त्वज्जातिद्रोहेण त्वामवजानाति समुद्र इति गरुडं प्रेषयामास। समुद्रश्च गरुडपक्षवातभीतः पक्षिणोऽण्डानि ददाविति। एवमखेदादिना मनोनिरोधे यतमानस्य योगिन ईश्वरानुग्रहादिष्टसिद्धिरिति भावः। एवमध्यात्मविद्याऽध्ययनेनापि स्वगोचरेषु[७] मिथ्यात्वेन प्रयोजनाभावं प्रयोजनवत्यात्मनि च

---

१. क ख घ — ग्रामनगरादिमज्जनानुकूलः, ग — आद्यः।
२. क ख घ — क्षेत्राद्यनुकूलश्च, ग — द्वितीयः।
३. क ख — निद्रादिदोषवारणाय, ग घ — तथा सति निद्रादिदोषस्तद्वारणाय।
४. क ख घ — साम्प्रदायिकाः, ग — सम्प्रदायविदः।
५. क ख घ — शोषयामि, ग — शोषयिष्यामि।
६. क ख घ — उच्चिक्षेप, ग — उपरि प्राचिक्षेप।
७. ग घ — दृश्येषु [स्वगोचरेषु पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — दृश्येषु नोपलभ्यते।

स्वागोचरत्वं ज्ञात्वा निरिन्धनाग्निवच्चित्तं स्वयमेवोपशाम्यति। महत्सेवा च महतां प्रणिपातपरिप्रश्नपरिचर्यादिः।

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।**

इति भगवदुक्तेः[१]। यमादीन् सूत्रकार एव वक्ष्यति॥ १३॥

नन्वनादिकालप्रवृत्तराजसतामससंस्कारैर्विरोधिभिः प्रबलैः कुण्ठितोऽभ्यासो न स्थित्यै कल्पत इत्यत आह—

**स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥ १४॥**

**सत्विति।** तु शब्दः शङ्का[२]व्यावृत्तौ। सोऽभ्यासो दीर्घकालं नैरन्तर्येण भक्ति-श्रद्धादिरूप[३]सत्कारेण सेवितो दृढभूमिर्दृढसंस्कारः सन् व्युत्थानसंस्कारैरनभिभवेन स्थितौ समर्थो भवतीत्यर्थः। अदीर्घकालत्वे दीर्घकालत्वेऽपि विच्छिद्य[४] विच्छिद्य सेवने भक्तिश्रद्धातिशयाभावेन लयविक्षेपकषायसुखादीनामपरिहारे व्युत्थानसंस्कारप्राबल्याद् दृढभूमिरभ्यासः फलाय न कल्पत इति त्रयमुपात्तम्॥ १४॥

वैराग्यं लक्षयति—

**दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥ १५॥**

दृष्टाश्चानुश्रविकाश्च दृष्टानुश्रविकास्ते च विषयाश्चेति। दृष्टाः स्त्र्यन्नपानादयः। गुरुमुखादनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदस्तत्प्रतिपाद्याः स्वर्गादितत्साधनादय आनुश्राविकाः[५]। तेषु वैतृष्णस्य

**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।**

**आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः॥**

इत्यादिभगवदुक्तदिशाऽनेकदोष[६]दुष्टत्वभावनाजनितदोषसाक्षात्कारात् तृष्णा-रहितस्य या वशीकारसंज्ञा वशीकृतं मे चित्तम् अलं विषयैस्तुच्छैरित्युपेक्षा बुद्धि-

---

१. ग — **महत्सङ्गश्च शास्त्रेभ्योऽधिकः, शास्त्रं विनाऽप्युद्धारकत्वात्। उक्तञ्च तथा भारते— येषां विद्यायोनि स्वकर्म च** [भगवदुक्तेः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **महत्....गरीयसी** इति नोपलभ्यते।

२. क ख — **व्यावृत्तौ**, ग घ — **व्यावृत्त्यर्थः**।

३. ग — **च सम्यक्** [**सत्कारेण** पश्चात्], घ — **च** उपलभ्यते, क ख — **च सम्यक्** नोपलभ्यते।

४. क घ — **विच्छिद्य विच्छिद्य**, ख ग — **विच्छिद्य**।

५. क — **आनुश्राविकाः**, ख ग — **आनुश्रविकाः**, घ — **अनुश्रविकाः**।

६. क ख घ — **दुष्टत्वभावनाजनितदोष०** उपलभ्यते, ग — **दुष्टत्वभावनाजनितदोष०** नोपलभ्यते।

वैराग्यमित्यर्थः। विषयपदोपादानं तु सद्गुरुसच्छास्त्रादीनां दृष्टानां मोक्षस्य चानुश्रविकस्य व्यावृत्तये। विषयिणं प्रमातारमवबध्नन्ति स्वसंयोगेन स्वासक्त्या संसारमभिलयन्तीति सिद्धं बन्धकत्वरूपं विषयत्वं तेषु नास्तीति भावः। वशीकार इत्यनेन विषयालाभासामर्थ्यादौ वैतृष्ण्यं न वैराग्यमिति सूचितम्। संज्ञापदेन च यतमानव्यतिरेकैकेन्द्रियवशीकारसंज्ञाभिश्चातुर्विध्यं सूचितम्। तत्र विषयान् सन्त्यक्तुमशक्नुवतोऽपि समानेच्छात्यागमात्रेणाऽऽद्यम्। ततोऽपि विषयाणां मध्ये प्रियतरवस्तुनि व्यतिरेकवृत्तिद्वितीयम्। तथा वृत्तावपि मनसि रागशैथिल्याद् बाह्येन्द्रियैरेव सेवनं तृतीयम्। तत्राप्यौदासीन्यं चतुर्थम्। तदुक्तं—

**वैराग्यमाद्यं यतमानसंज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेकसंज्ञः।**

**एकेन्द्रियाख्यं हृदिरागसौक्ष्म्यं तस्याप्यभावस्तु वशीकृताख्यम्**

इति। अथवा

**सारासारविवेकार्थमुद्योगः प्रथमो भवेत्।**

**अभ्यासेन कषायाणां परिशेषावधारणम्॥**

**द्वितीयोऽथ कषायाणामौत्सुक्येन व्यवस्थितिः।**

**मनस्येव तृतीयः स्याद् बहिर्मात्रानिवृत्तितः॥**

**उपेक्षा सर्वथा तत्र स्याद्विरागश्चतुर्थक** इति॥ १५॥

अपरं वैराग्यमुक्त्वा परवैराग्यमाह—

## तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥ १६॥

**तदिति।** तत्र वशीकार[१]संज्ञे वैराग्ये जाते सति सम्प्रज्ञातप्रभावेण पुरुषस्य या ख्यातिः प्रधानाद्विवेकेन यः साक्षात्कारः तत्परिपाकाद् गुणवैतृष्ण्यं गुणत्रयाशेषव्यवहारेषु, प्राप्तं प्रापणीयं[२], कृतं कर्तव्यं, ज्ञातं ज्ञातव्यं, हानं हातव्यमिति तृष्णाविरोधिनी चित्तवृत्तिर्भवति। तत्परं श्रेष्ठं फलीभूतं वैराग्यं, तत्परिपाकाच्चित्तोपशमपरिपाकस्ततोऽविलम्बेन कैवल्यमित्यर्थः। पुरुषख्यातेरित्यनेनात्मज्ञानहेतुकवैराग्यस्य परत्वं वदता तौष्टिकानामालस्य[३]विशेषदर्शादिजनितस्य हेतुत्वं[४] ध्वनितम्। तद्विवेकस्तु—प्रकृतित एव सर्वं जायतेऽतो मोक्षोऽपि तत्परिणामरूपसाक्षात्कारेण भविष्यतीति प्रकृतिविश्वासेन,

१. क ख घ — संज्ञे, ग — संज्ञके।

२. क ख — प्रापणीयं, ग घ — प्राप्तत्वम्।

३. क ख — विशेषदर्शादि०, ग घ — विषयदोषदर्शनादि०।

४. क ख ग — हेतुत्वं, घ — हेयत्वम्।

गृहस्थानां मुक्त्यभावाद्यथाकथञ्चित् परिव्राजविश्वासेन वा, कालादेव सर्वं जायतेऽतो मोक्षोऽपि काले[1] भविष्यतीति कालविश्वासेन वा मोक्षोपायेषु विषयेषु चार्जनरक्षणक्षयाऽतृप्तिहिंसादिदोष[2]दर्शने जातवैराग्यस्यात्मज्ञानपूर्वकत्वाभावाद्धेयत्व-मेवोचित्तम्।

**सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः।**

**ते सर्वगं सर्वतः प्राप्य धीरा मुक्तात्मान सर्वमेवाविशन्ति।**

इत्यादिश्रुत्यात्मज्ञानपूर्वकवैराग्यस्यैव मोक्षोपायत्वकथनादिति संक्षेपः। अत एव यथाकथञ्चिद् वैतृष्ण्यमात्रस्य निवृत्तये पूर्वं [3]वशीकारकथनेऽपि नात्र तथोक्तिः। आत्म[4]ज्ञानकथनेनैव सामान्यवैतृष्ण्यव्यावृत्तेः सम्भवात्॥ १६॥

इदानीमपरवैराग्यसाध्यं सम्प्रज्ञातं लक्षयति—

**वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७॥**

**वितर्केति**। प्रथमं भावनाविषयस्याशेषविशेषतः स्थूलांशचतुर्भुजाऽऽदेः साक्षात्कारो वितर्कः। विशेषेण [5]तर्कणमिति व्युत्पत्तेः। स्थूलकारणं[6]पञ्चतन्मात्रा-हङ्कारमहदव्यक्तसूक्ष्मसाक्षात्कारो विचारः। विशेषेण सूक्ष्मपर्यन्तं चरणमिति व्युत्पत्तेः। तत्रारोहात् सत्त्वप्रकर्षेण जायमानाह्लादस्य साक्षात्कार आनन्दः।

**यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।**

इत्यादिस्मृत्युक्त एतेषां कारणं बुद्धिः। सा ग्रहीत्रैकीभूताऽस्मितेत्युच्यते। तद्विषयकसाक्षात्कारोऽप्यस्मिता। एतैरनुगमाद् युक्तत्वाद्धेतोः सम्यक् प्रज्ञातत्त्वेन[7], भावनाविशेषरूपो योगः सम्प्रज्ञातनामा भवति। स च वितर्कादिभूमिभेदैः सवितर्कः, सविचारः, सानन्दः, सास्मितश्चेति चतुर्धा भवतीत्यर्थः॥ १७॥

अधुना सोपायमसम्प्रज्ञातं लक्षयति—

**विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८॥**

**विरामेति**। विरमणं विरामो वृत्तीनामभावः। तस्य प्रत्ययः प्रत्येति जनयतीति

---

१. क ख ग — काले, घ — मोक्षकाले।
२. क ख — दर्शने, ग घ — दर्शनेन।
३. क ख — वशीकार०, ग घ — वशीकारान्त०।
४. घ — हेतुकत्व० [ज्ञान० पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — हेतुकत्व० नोपलभ्यते।
५. क ख घ — तर्कणं, ग — तर्कः।
६. क ख घ — प्रपञ्च०, ग — पञ्च०।
७. क ख घ — प्रज्ञातत्त्वेन, ग — प्रज्ञावत्वेन।

प्रत्ययः कारणं परवैराग्यम्। तस्याभ्यासः पौनःपुन्यं पूर्व उपायो यस्य स तथा। संस्कारशेषः ख्यातिसंस्कार एव शिष्यते यत्र सः, अन्यः असम्प्रज्ञातो निर्बीजसमाधिः। कर्मबीजाभावात्। अत्र पूर्वपदेनोपायस्य, शेषाभ्यां तु स्वरूपस्य कथनम्। अथवा संस्कारशेषः स्वापो विदेहप्रकृतिलीनानामनुभवश्च भवतीति तत्रातिव्याप्तिवारणाय पूर्वपदम्। तावन्मात्रमौपनिषदानामात्ममात्रसत्यत्वबुद्धिजजीवन्मुक्तावतिव्याप्तमिति। संस्कारशेषपदम्। न हि तदानीं संस्कारशेषत्वमस्ति। मिथ्यात्वघटत्वादिना जगद्भानस्य तदानीमङ्गीकारात्। तथा च परवैराग्यहेतुकः संस्कारशेषोऽसम्प्रज्ञात इति सिद्धम्। सोऽयं योग एव भवतीति भावः॥ १८॥

अयमसम्प्रज्ञातो द्विविधः—उपायप्रत्ययो भवप्रत्ययश्च। तत्र मुमुक्षुभिर्हेयं भवप्रत्ययमाह—

**भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥ १९॥**

**भवेति।** भूतेन्द्रियाणाम[१]न्यतमदात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदु[२]पासनतया तद्वासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं भूतेन्द्रियेषु लीना मांसशोणितलोममेदोऽस्थिमज्जारूपषाट्कौषिकदेहशून्या विदेहाः। एवमव्यक्तमहदहंकारपञ्चतन्मात्राणामन्यतमदात्मत्वेन प्रतिपन्नास्तदुपासनया तद्वासितान्तःकरणाः पिण्डपातानन्तरं प्रकृत्यादिकारणेषु लीनाः प्रकृतिलयाः। विदेहाश्च प्रकृतिलयाश्च विदेहप्रकृतिलयास्तेषां चित्तं संस्कारमात्रं शेषमित्यसम्प्रज्ञातः। स तु भवप्रत्ययो, भवन्ति जायन्तेऽस्यामित्यनात्मन्यात्मबुद्धिः प्रत्ययो हेतुर्यस्य स तथा। अविद्यामूलोऽयं योगोऽतः हेयः। अत एवोक्तं वायुपुराणे—

**दश मन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः।**
**भौतिकाश्च शतं पूर्णं सहस्रं त्वाभिमानिकाः॥**
**बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः।**
**पूर्णं शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः॥**
**पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते।** इति॥ १९॥

अधुना [३]मुमुक्षूणामुपायप्रत्ययं द्वितीयमाह—

**श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥ २०॥**

---

१. क ख — अन्यतमत्, ग घ — अन्यतरत्।
२. क ख ग — उपासनतया, घ — उपासनया।
३. क ख घ — मुमुक्षूणामुपायप्रत्ययं, ग — मुमुक्षुणोपादेयम्।

**श्रद्धेति।** [1]पुरुषगोचरा सात्त्विकी श्रद्धा तया वीर्यं प्रयत्नो जायते तेन यमादि-परम्परया स्मृतिर्ध्यानं, तेन समाधिः। तेन प्रज्ञा पुरुषगोचरा ख्यातिः। ततः परवैराग्या-दसम्प्रज्ञात इतरेषां पूर्वविलक्षणानां मनुष्याणां मुमुक्षूणां भवतीत्यर्थः। अयमेव च राजयोग इत्युच्यते। तदुक्तं स्मृतौ—

**समाधिस्तत्र निर्बीजो राजयोगः प्रकीर्त्तितः।**

**दीपवद्राजते यस्मादात्मा सच्चिन्मयः प्रभुः॥**

इति। वस्तुतस्तु प्रथमसूत्रस्य भवो विशिष्टं देवादिजन्म तदेव प्रत्ययः कारणं यस्येत्यर्थो न तु कथितः। परवैराग्यस्यासम्प्रज्ञातहेतुतया तस्याऽ[2]विदुष्यऽसम्भवात्। इन्द्रियादिचिन्तामात्रेणासम्प्रज्ञातानुपपत्तेश्च। तस्मादीश्वरोपासनया प्रकृतिदेवतोपासनया वा प्रकृत्यावरणादिषु विशिष्टदेहप्रातिमाहात्म्येनोत्पन्नज्ञानादसम्प्रज्ञातयोगिनो भवन्ति। अधिकारसमाप्तौ मुच्यन्ते। मनुष्यास्तु न तथा, किन्तु साधनान्तरेणैवेत्याह—**श्रद्धेति।** समानमन्यत्॥ २०॥

तत्र प्रज्ञान्ता उपाया मृदुमध्याधिमात्रभेदेन त्रिविधाः। तथा च योगिनोऽपि त्रयः—मृदूपायो मध्योपायोऽधिमात्रोपायश्चेति। तत्रै[3]कैकस्त्रिविधः—मृदुसंवेगो, मध्य-संवेगस्तीव्रसंवेगश्चेति। तत्र नवमस्याऽधिमात्रोपायस्य तीव्रसंवेगस्य क्षिप्रं सिद्धिमाह—

## तीव्रसंवेगानामासन्नः॥ २१॥

**तीव्रेति।** संवेगोऽत्र वैराग्यम्, उपाया[4]नुष्ठानशैघ्र्यं वा, दृढतरसंस्कारो वा, येषामधिमात्रोपायस्तीव्रसंवेगस्तेषां योगिनाम् आसन्नः शीघ्रलभ्योऽसम्प्रज्ञातः। ततो मोक्ष इत्यर्थः॥ २१॥

नवमेऽप्यवान्तरभेदं विशेषं चाह—

## मृदुमध्याधिमात्रत्वात् ततोऽपि विशेषः॥ २२॥

**मृद्विति।** पूर्वसूत्रोक्तविशिष्टान्तर्गतस्य तीव्रस्य मृदुमध्याधिमात्रत्वाद् अल्प-मध्यातिशयितभेदेन त्रैविध्यात् ततोऽप्यासन्नादपि विशेषः। मृदुतीव्रसंवेगस्य योगिन

---

१. क ख घ — पुरुषगोचरा सात्त्विकी श्रद्धा तथा वीर्यं प्रयत्नो जायते, ग — श्रद्धा गुरु-शास्त्रदेशितार्थविश्वासरूपमास्तिक्यबुद्धिः सात्त्विकी पुरुषगोचरा तथा वीर्यं प्रयत्न उत्साहादिर्जायते।

२. क ख ग — अविदुष्यऽसम्भवात्, घ — अविदुष्यसम्भवात्।

३. ग — पुनः [एकैकः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — पुनः नोपलभ्यते।

४. क ख ग — अनुष्ठान०, घ — अनुष्ठाने।

आसन्नात् समाधेः मध्यतीव्रसंवेगस्य योगिन आसन्नतरः। ततोऽधिमात्रतीव्रसंवेगस्यासन्नतमो भवतीत्यर्थः। इत्थञ्च पूर्वसूत्रोक्तनवमयोगिनस्त्रयो भेदाः। तत्र चान्तिमस्यैवातिशीघ्रलभ्योऽसम्प्रज्ञात इति सिद्धम्॥ २२॥

इदानीं पुरुषगोचरैतत्सर्वनैरपेक्ष्येणाञ्जसैव ज्ञानद्वारा कैवल्यान्तफलं साधनम्—

**यस्य देवे यथा[1] भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
**तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥**
**यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूँ स्वाम्।**
**देहान्ते देवः परमं ब्रह्म तारकं व्याचष्टे॥**

इत्यादिश्रुतिभिः,

**तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते॥**
**पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।**
**भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः॥**
**तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः।**
**न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह॥**
**यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।**
**योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरेण च॥**
**सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा॥**

इत्यादिस्मृतिभिश्च तथा तेनोक्तं भगवद्भजनरूपं उपायमाह—

## ईश्वरप्रणिधानाद्वा॥ २३॥

**ईश्वरेति।** विशेष इत्यनुषज्यते। ईश्वरे [2]अनुपदवक्ष्यमाणलक्षणे प्रणिधानात् प्रणिधीयते तदेकमात्रनिष्ठं मनः क्रियतेऽनेनेति [3]पुनःपुनारूपं प्रेम तत्साधनमन्त्रजपाराध्यत्वज्ञानादिरूपाद्वक्ष्यमाणाद् भक्तियोगाद् अनायासेन आसन्नतमः समाधिलाभो भवतीत्यर्थः। प्राकृत[4]स्वकृतजातजादनुग्रहात् तत्सम्भवेऽप्यासन्नतम इह प्रणिधानजन्मा, सर्वज्ञं भगवन्तं भावयत आसन्नतमे समाधिफले भवेतामिति तदिच्छारूपात् तत्तदनुग्रहादेव सद्गुरुलाभादितो भवतीति यावत्।

---

१. क ख — यथा, ग घ — परा।
२. क ख ग — अनुपद०, घ — अनुपदमेव।
३. क ख — पुनःपुनारूपं, ग घ — पुनःपुनरनुसंधानरूपम्।
४. क ख — स्वकृत०, ग घ — सुकृत०।

[1]संसाररूपस्वाऽनर्थहेतुस्वाज्ञाननाशे विरोधिविषयकत्वेन क्षमस्य स्वसाक्षात्कारस्योत्पत्तयेऽवश्यापेक्षितस्वसमाधिं प्रति स्वगोचरकारणकलापस्य समानविषयतया हेतुत्वेन मुख्यत्वेऽपि सत्यसंकल्पस्येश्वरस्येच्छामात्रेण फलदस्य यथाकथञ्चिदपि प्रणिधानं ततोऽपि मुख्यं तस्य क्लृप्ततादृशकारणकलापं विनाऽपि तत्प्रसादजनिततत्साक्षात्कारादिद्वारा स्वसमाधिसाधनत्वात्,

**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।**

इत्यादिभगवद्वाक्यैर्मायातत्कृताज्ञानतत्कृतबन्धादिनिवृत्तिफल[2]श्रवणाच्चेति ज्ञापयितुं तस्य तेन सह विकल्पोऽत्रान्ते वा शब्देनाभिहित इति दिक्।

[3]अत्रोपासनाद्वेति विहाय प्रणिधानाद्वेति कथनं तु कपिलजैमिनिप्रभृतीनामिव उपासनमात्रं न युक्तं, किन्तु वस्तुतो वस्तुतत्त्वे मनसोऽत्यादरेण नियोजनरूपं भावनम्। तत एव तत्साक्षात्कारसंभवादिति ज्ञापनाय लोकेऽप्यन्तर्गतसूक्ष्मविशेषे सादरेण चक्षुषो नियोजनरूपप्रणिधानादेव चक्षुषा साक्षात्कारदर्शनात्। तथैवाग्रे निरूपणाच्च। उपासनतस्तु न तथा।

**योषिताग्निं ध्यायीत।**

इत्यादाविव तस्यारोपविषयकत्वात्। तत्राग्नौ योषायामग्निदृष्टिविधानात्। एवं स्वस्य तस्मिन्नप्यारोपादिमूर्त्यभेदचिन्तनाद्यप्युपासनमेव वस्तुतत्वनिरपेक्षत्वात्। अत एव कीटभृङ्गन्यायेन प्राप्तमपि तत्फलं सारूप्यं शाश्वतमिति वदन्ति॥ २३॥

ननु[4] स्वमते प्रधानपुरुषातिरिक्तं तत्त्वं नास्त्येव, कुत ईश्वरस्तत्प्रणिधानं च ? तत्र[5] चेश्वरस्य न प्रधानेऽन्तर्भावः। चेतनत्वादिनाऽभ्युपगतस्याचेतने प्रधानेऽन्तर्भावाऽयोगात्। नापि पुरुषेऽन्तर्भावः। सर्वेषां पुरुषाणां सच्चिन्मात्रस्वरूपत्वेनेश्वरत्वाऽनीश्वरत्वयोः स्वतोऽसम्भवात्। विनिगमनाभावे नैकतरस्य तथात्वाऽनिर्णयाच्च। न चात एव वैशेषिकादेरिव नित्यज्ञानादिमान् तदुभयातिरिक्तः स इति वाच्यम्। तत्त्वान्तराङ्गी-

---

१. क ख — **संसाररूप....इति दिक्** नोपलभ्यते, ग घ — **संसाररूप....इति दिक्** उपलभ्यते।

२. ग — **श्रवणाच्चेति**, घ — **श्रवणाच्च ततोऽपि मुख्यम्।**

३. क ख ग — **अत्रोपसनाद्वेति....शाश्वतमिति वदन्ति** नोपलभ्यते, घ — **अत्र....वदन्ति** उपलभ्यते।

४. क ख — **ननु स्वमते....ज्ञानोपदेष्टा च** नोपलभ्यते, ग घ — **ननु स्वमते....ज्ञानोपदेष्टा च** उपलभ्यते।

५. ग — **तत्र चेश्वरस्य** न, घ — **न चेश्वरस्य।**

कारेऽप्रसिद्धत्वात् मानाऽभावाच्च। न च कर्तृजन्यत्वव्याप्यकार्यत्वहेतुस्तदनुमापक इति वाच्यम्। शरीरजन्यत्वाद्युपाधिदोषगणग्रस्तत्वात्।

अपि[1] चेश्वरस्य कर्तृत्वे कथञ्चित्स्वोपकारार्थमेव कर्तृत्वं रागित्वं च स्यात्। रागवत एव स्वोपकारार्थमेव च प्रवृत्तिदर्शनात्। उपकाररागयोः स्वीकारे तु सोऽपि संसारी लोकवदेव स्यात्। इष्टापत्तौ नित्यैश्वर्यानुपपत्त्या सांख्यानामिव सर्गाद्युत्पन्नपुरुषे परिभाषामात्रं स्यात्। रागाद्यभावेऽपि दयया राजवल्लीलयैव करोतीति तु न युक्तम्। परलोकसुखमुद्दिश्य दयया, क्रीडादिसुखविशेषमुद्दिश्य च लीलायाः सर्वत्र दर्शनात्, तयोरपि साक्षात्परम्परया वा स्वोपकारनिबन्धनाच्च। अपि च स्वमते

**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।**

इत्यादिश्रुत्या सदा निर्गुण इति। तस्य प्रकृतिप्रवर्त्तनेच्छादयो गुणाः प्रकृतिप्रवृत्त्यनन्तरं, प्रकृतिप्रवृत्तिश्चेच्छादित इत्यन्योन्याश्रयप्रसङ्गः। तत्र, प्रधानस्य नित्येच्छादयः श्रुतिस्मृतिसिद्धसाम्यावस्थाऽनुपपत्तेः। अपि च प्रकृतिं प्रत्यैश्वर्यं किं प्रधानधर्मत्वेनाभिमतानामिच्छादीनां साक्षादेव सम्बन्धात्, उत अयस्कान्तमणिवत् सन्निधिसत्तामात्रेण प्रेरकत्वात्? तत्र नाद्यः-असङ्गश्रुतिविरोधात्। नापि द्वितीयः- सर्वेषामेव तत्तत्सर्गेषु भोक्तॄणामप्यविशेषेणेश्वरत्वप्रसङ्गादित्यास्तां विस्तरः। न च

**तदैक्षत बहु स्याम्**

इत्यादिश्रुतिः स्मृतिश्च चेतनकारणत्वबोधिका तत्र मानम्। तस्याः सर्गादावुत्पन्नमहत्तत्त्वोपाधिकपुरुषपरत्वेनाप्युपपत्तेः। यापि मुक्तस्येश्वरत्वबोधिका साऽप्युपाधिनिवृत्त्या पुरुषाणामीश्वरत्वपरा। अतो नास्ति प्रधानपुरुषयोरतिरिक्त ईश्वर इति सांख्याऽऽक्षेपनिरासायाह—

**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥**

**क्लेशेति।** श्रुतिसिद्धनित्येश्वरत्वादिना संसारिपुरुषेभ्यो विशिष्यत इति स पुरुषविशेषः। संसारिपुरुषविलक्षणः पुरुष एव ईश्वरः। तथा चेश्वरस्य पुरुषेऽन्तर्भावस्तदुपाधेश्च प्रधान[2] इति भावः। शोधितजीवानामेवेश्वरत्वमस्त्विति शङ्कानिरासाय अपरामृष्ट इत्यन्तं विशेषणम्। क्लेशाः वक्ष्यमाणलक्षणा अविद्यादयः। कर्म धर्माऽधर्मौ। विपाकस्तयोः फलं सुखदुःखे। आशयाः तन्मूलीभूता वासनाः। एतैः अपरामृष्टः कालत्रयेऽप्यसंसृष्ट इत्यर्थः। एतेन क्लेशाद्यपरामृष्टत्वाच्छ्रुत्यादौ गीत ईश्वरो न शुद्धजीवो न वा सदृशः। कादाचित्कक्लेशसंबन्धाद् इत्यनुमानं लब्धम्। एवमन्यदपि स्वयमूह्यम्। अत्र भाष्यम्—

---

१. ग — **अपि चेश्वरस्य....पुरुषाणामीश्वरत्वपरा** उपलभ्यते, घ — **अपि....परा** नोपलभ्यते।

२. ग — **प्रधान इति भावः**, घ — **प्रधानेऽन्तर्भावः**।

**अविद्याऽऽदयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते। स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यनेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः। कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः। ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्सम्बन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति। योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति ? तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किन्निमित्तम्? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्। एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्त्तमानयोरनादिः सम्बन्धः। एतस्मादेतद् भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्। न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात् तदेव तत्स्यात्। तस्माद् यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति। कस्माद्? द्वयोस्तुल्ययोरेकस्मिन् युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य प्रसिद्धावितरस्य प्राकाम्यविघातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्त्यर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद् यस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तमैश्वर्यं स ईश्वरः। स च पुरुषविशेष इति।**

अस्यार्थः[१]—वक्ष्यमाणा अविद्यादयः **अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः** इति सूत्रेण[२] प्रतिपाद्यमाना अविद्यादयः कुशलाऽकुशलानि इष्टाऽनिष्ट-साधनत्वाद्धिताऽहितरूपाणि कर्माणि धर्माऽधर्माः[३]। तत्फलं क्लेशकर्मणोः फलम्। विपाकः विपच्यते साध्यते कर्मभिरिति जात्यायु[४]र्भोगात्मकः। तदनुगुणाः विपाकहेतवः आशयाः, चित्तभूमावाशेरत इत्याशयाः। ते च अविद्यादयः मनसि जागरस्वप्नयोः सांसारिकतया गृहीतेऽन्तःकरणे वर्तमानाः तादात्म्यसम्बन्धेन सन्तोऽपि पुरुषेऽसांसारिके द्रष्टरि अहमर्थे व्यपदिश्यन्ते। वस्तुतो यद्यपि तत्रैव तथापि स्वामित्वरूपभोक्तृत्वस्य पुरुषमात्रनिष्ठत्वात्। तत्रापि **ते व्यपदिश्यन्त** इत्याह। **स हीति**। हि यस्मात् स पुरुषस्तस्य क्लेशादेः फलस्य सुखादेः स्वस्मिन् प्रतिबिम्बितस्य भोक्ता भवतीत्यर्थः। स्वामित्व-

---

१. ग — **अस्यार्थः वक्ष्यमाणा अविद्यादयः**, घ — **अथ भाष्यव्याख्या वक्ष्यमाणेति।**

२. ग — **सूत्रेण**, घ — **सूत्रे।**

३. ग — **धर्माधर्माः**, घ — **धर्माधर्मौ।**

४. ग — **भोगात्मकः**, घ — **भोगाः।**

सम्बन्धेनाऽऽधारत्वे दृष्टान्तमाह—**यथेति**। यथा[१] च राजा जयी पुरुषो धनी इत्यादिवदेव पुरुषः क्लेशादिमान् सुखी-दुःखी इत्यादिविद्वद्व्यवहार इति भावः। विशेषण-विशेष्यभावादितादात्म्यसम्बन्धेन पुरुषे सुखादिमत्त्वधीरेवाविद्येति सिद्धम्। इत्थञ्च भोक्तृत्वसम्बन्धेन क्लेशादिराहित्यं नान्यपुरुषेऽस्ति। किन्त्वीश्वर एवेत्याह—**यो ह्यनेनेति**। क्लेशादिमूलकभोगेनाऽसंसृष्ट इत्यर्थः। अनेनेति विशेषणाद् रामकृष्णादि-भावेन क्रीडतो महेश्वरस्य[२] स्वेच्छापरिगृहीतो विषयभोगोऽन्तर्यामिरूपस्य तु स्वोपाधि-सुखसाक्षितारूपो भोगोऽस्ति।

**ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके।**

इति श्रुतेरिति ज्ञापितम्। शङ्कते—**कैवल्यमिति**। यदि क्लेशादिशून्य एवेश्वरः श्रुतिस्मृतिभ्य एष्टव्यः, तर्हि कैवल्यमविद्या[३]निवृत्त्यादिरूपं मोक्षं प्राप्ता बहवो हिरण्यगर्भादयः केवलिनः केवलिनां जीवन्मुक्तानां प्रत्यक्षाः सन्ति। त एवेश्वरतया श्रुत्यर्थाः सन्त्विति भावः। तथा च सांख्यसूत्रम्—

**मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा।**

इति परिहरति। **ते हीति**। हिरण्यगर्भादयः प्राकृतिकादीनि बन्धनानि छित्त्वैव मुक्ताः। न तु क्लेशादिना कदाप्यसंसृष्टाः। ईश्वरस्तु सदैव क्लेशादिभिरसंसृष्टः।

**तत्र यः परमात्मा हि स नित्यं निर्गुणः स्मृतः।**
**कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ बन्धमोक्षैः स युज्यते॥**

इत्यादिशास्त्रादिति भावः। निर्गुणः आविद्यकगुणशून्यः। ईश्वरस्य तेभ्यो वैलक्षण्यं विवृणोति—**यथा मुक्तस्येति**। ज्ञानेन निरस्ताऽविद्यस्येत्यर्थः। प्रज्ञायते निश्चीयते संभाव्यत इति प्रकृतिलीनस्याभिमानसम्भवे पश्चाद्बन्धसंभावनेति भावः। **सदैव मुक्त** इति। कालत्रयेऽपि क्लेशतत्फलरहित इत्यर्थः। **सदैवेश्वर** इति। सदैवाप्रतिहत-सामर्थ्यवानित्यर्थः। नन्वीश्वरे न बाह्यं प्रत्यक्षं भानं रूपादिशून्यत्वात्। नापि मानसं अन्यात्मनोऽन्यमनोऽयोज्यत्वात्। अन्यथा चैत्रस्य मैत्रात्ममानसस्याप्यापत्तेः। नाप्यनुमानं दत्तदोषात्। नापि श्रुतिः, श्रुतिप्रामाण्यसिद्धौ श्रुत्येश्वरसिद्धिः। ईश्वरसिद्धौ च तत्प्रत्यक्ष-पूर्वकतया शास्त्रप्रामाण्यसिद्धिरित्यन्योन्याश्रयं मन्वानो[४] बौद्ध ईश्वरे प्रमाणमस्ति न वेति

---

१. ग — **तथा**, घ — **यथा**।
२. ग — **महेश्वरस्य** (**क्रीडतः** पश्चात्), घ — **ईश्वरस्य** (**विशेषणात्** पश्चात्) उपलभ्यते।
३. ग — **निवृत्त०**, घ — **निवृत्ति०**।
४. ग — **मन्वानः**, घ — **मन्यमानः**।

पृच्छति—**योऽसाविति**। जीवेभ्यो भेदसाधकः सदेश्वरत्वादिरूपः प्रकृष्टसत्त्वोपादानात्। प्रकृष्टसत्त्वसम्बन्धात् शाश्वतिकः[1] सहजसिद्धः।

**साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।**

इति श्रुत्या निरुपाधिकसच्चिन्मात्रतया सिद्धस्य भगवत ईश्वरत्वं प्रकृतिसम्बन्धोपाधिकमेव कारणोपाधिरीश्वर इत्यादिश्रुतेरिति भावः। **स किं निमित्त** इति? स किं प्रमाणकः? तादृशधर्मवानीश्वरो न केनापि प्रमाणेन सेत्स्यतीति भावः। उत्तरं—**तस्येति**। शास्त्रं श्रुत्यादिः। पुनः पृच्छति—**शास्त्रं पुनरिति**। शास्त्रस्यैव प्रामाण्यं कुत इत्यर्थः? उत्तरं—**प्रकृष्टेति**। ईश्वरस्योपाधिर्यत् प्रकृष्टं सत्त्वं तत्कारणकमित्यर्थः। कालत्रयेऽप्यनभिभूतसत्त्वोपाधिकस्य यथार्थप्रत्यक्षरूपवाक्यार्थज्ञाने बाधकाभावात्। तादृशवाक्यार्थज्ञानजन्यत्वेन शास्त्रस्य[2] प्रामाण्यमित्यर्थः। नन्वेवमन्योन्याश्रयः शास्त्रप्रामाण्ये सिद्धे [3]सत्त्वसिद्धिस्तत्सिद्धौ च तन्मूलकतया शास्त्रप्रामाण्यसिद्धिरिति चेन्न, मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवदीश्वरसिद्धेः प्रागेव शास्त्रप्रामाण्यसिद्धेः। मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यादिति। आप्तस्य वेदकर्तुः प्रामाण्यात् यथार्थज्ञानवत्त्वात् प्रामाण्यं स्वार्थगोचरप्रमाजनकत्वमनुमेयमित्यर्थः। ननु तर्ह्यन्योन्याश्रयस्तत्राह—**मन्त्रेति**। मन्त्रो विषादिनाशकः। आयुर्वेदचिकित्साशास्त्रं वेदस्थमेव। तत्र संवादेन प्रामाण्यग्रहात् तद्दृष्टान्तेन वेदत्वावच्छेदेन प्रामाण्यमनुमेयमित्यर्थः। तेन नाऽन्योन्याश्रयः प्रामाण्यग्रहार्थमीश्वरनिश्चयस्यानपेक्षणादित्यर्थः।

**मन्त्रायुर्वेदवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।**

इति सूत्रतया गौतमेन व्यवस्थापितत्वात्। अत्र तु प्रकृष्टसत्त्वस्य शास्त्रप्रामाण्यनिर्वाहकतामात्रमुक्तमिति न कोऽपि दोषः। **एतयोरिति**। विषयतासंबन्धेन च परमेश्वरत्वे क्रमेण वर्त्तमानयोरे[4]तयोः शास्त्रोत्कर्षयोरनादि[5]निमित्तनैमित्तिकभावः सम्बन्धः। शास्त्रं नैमित्तिकं सत्त्वोत्कर्षश्च [6]निमित्तं कारणत्वादित्यर्थः। निमित्तमाह—**सदैवेति**। ईश्वरस्याऽद्वितीयत्वमपि प्रतिपादयति—**तच्चेति**। नास्ति साम्यम् अतिशयश्च यस्मात् तादृशमित्यर्थः। अतिशयनिर्मुक्तौ हेतुमाह—**यदेवेति**। यस्माद्धेतोर्यदेवातिशयि

---

१. ग — **शाश्वतिक०**, घ — **शाश्वतिकः**।
२. ग — **शास्त्र०**, घ — **शास्त्रस्य**।
३. ग — **सत्त्व०**, घ — **प्रकृष्टत्व०**।
४. ग — **एतयोः** उपलभ्यते, घ — **एतयोः** नोपलभ्यते।
५. ग — **निमित्त०**, घ — **निर्निमित्त०**।
६. घ — **उपाधि०** [निमित्तं प्राक्] उपलभ्यते, ग — **उपाधि०** नोपलभ्यते।

निरतिशयं तदेव तदैश्वर्यं स्यादिति योजना। सातिशयत्वे सत्यैश्वर्यमेव न भवति, अप्रति-हतेच्छत्वस्यैवाऽभावात्। अतो यदेव निरतिशयि तदेव मुख्यमैश्वर्यमित्यर्थः। उप-संहरति—**तस्मादिति**। ऐश्वर्येण यत्र विश्रान्तिः प्राप्यते स ईश्वर इत्यर्थः। साम्यनिर्मुक्तौ हेतुमाह—**न चेति**। **द्वयोरिति**। नवम् अल्पकालस्थायि, पुराणं दीर्घकालस्थायि। एवमस्त्वित्येवं रूपेणैकस्मिन्नर्थे क्वचिद् द्वाभ्यां तुल्याभिमताभ्यां कामिते सति एकस्य [१]एकतरस्य सिद्धौ संकल्पसिद्धौ इतरस्येच्छाविघातादूनत्वं न्यूनत्वं स्यात्। अतो न समानाऽनेकेश्वरसंभव इत्यर्थः। ननु उभयोः संकल्पान्नवत्वं पुराणत्वं चोभयमेव भवतु। तत्राह—**द्वयोश्चेति**। ननु योगीश्वरयोरिव तयोरपि समानसंकल्पसंभवे न विरुद्धार्थे युगपत्कामनाबाधान्नोक्तदोष इत्याशङ्क्य—

**एको देवः।**

**एकमेवाद्वितीयम्।**

**भूयः सृष्ट्वा पतयस्त्वथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते।**

**महात्मा न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।**

इत्यादिश्रुतिभिः,

**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभावः।**

इत्यादिस्मृतिभिश्च समानाधिकप्रतिषेधात्, तथा कल्पनमप्रामाणिकमित्या-शयेनोपसंहरति—**तस्मादिति**। तस्माद् विरुद्धार्थसंकल्पे विसंवादात् समानसंकल्पे च मानाभावात्। यस्य क्लेशाद्यपरामृष्टस्य साम्यातिशयविनिर्मुक्तं श्रुतिस्मृतिपुराणैश्चेति शेषः। तस्य पुरुषविशेषत्वमुपसंहरति—**स चेति**। संसारिपुरुषेभ्यः सत्यसंकल्पत्वादिना विशिष्यत इति पुरुषविशेषः संसारिपुरुषविलक्षण इत्यर्थः। अत्र प्रकृष्टसत्त्वसंबन्धा-देवेश्वरस्योत्कर्षकथनाज्जीवस्यापि मलिनसत्त्वकृत एवाऽपकर्षो न स्वतः। इत्थं चोपाधिभेदाज्जीवेश्वरविभागः स्वतस्त्वभेद एव।

**तत्त्वमसि।**

आदिवाक्यबोधित इति भाष्यकारस्य गूढाभिसन्धिः।

[२]केचित्तु रामानुजानुसारिण इत्थमभिप्रायमजानन्तो विशेषशब्दादिस्वारस्यमात्रे-णान्यथाभावमुपवर्णयन्ति। तथाहि—यद्यप्यात्मन आकाशस्येवोपाधिभेदैर्जीवेश्वरादि-

---

१. ग — **एकतरस्य** उपलभ्यते, घ — **एकतरस्य** नोपलभ्यते।

२. ग — **केचित्तु रामानुजानुसारिण....तथेति संक्षेपः** उपलभ्यते। घ — **केचित्तु....संक्षेपः** नोपलभ्यते।

रूपत्वसंभवेन लाघवात्,

**तत्त्वमसि।**

आदिश्रुतिबोधितमैक्यमेव। भेदनिन्दया भेदश्रुतितोऽभेदश्रुतेरेव बलवत्त्वात्। अभेदज्ञानस्य मोक्षफलकत्वश्रवणात्। न भेदवाक्यानि त्वारोपितभेदानुवादपराण्येव कार्यकारणोपाधिविशिष्टयोश्च जीवत्वेश्वरत्वे विशिष्टैश्चानुगतधर्मिणः सामान्यात्मनः शुद्धस्य भेदः प्रातिभासिकोऽभेदो वास्तव इति वक्तुं शक्यं, तथापि विशिष्टस्यानतिरेके जीवत्वेश्वरत्वबन्धमोक्षादिसाङ्कर्यप्रसङ्गात्। विशिष्टस्यातिरेके तस्य मिथ्यात्वेन विनाशितया बन्धमोक्षसामानाधिकरण्यानुपपत्तेर्भेदाऽभेदपक्षश्च द्वैतमतेनाविशिष्टः। द्वैतमतेऽपि तत्तदुपाधिविशिष्टयोर्वस्तुतो भेदेऽपि चित्त्वादिनाऽभेदस्याङ्गीकारात्। तस्माद् भेदश्रुतिसिद्धः स्वरूपतोऽन्योन्याभावरूपो भेद एव तयोरस्ति। भेदनिन्दावाक्यानि तु वैधर्म्यलक्षणभेदस्य विभागाऽपरपर्यायस्य निन्दापराणि फेनबुद्बुदादीनामिव किञ्चिद-वच्छेदेन कथञ्चित्प्रतीयमानस्याऽपारमार्थिकत्वात्। आकाशादिदृष्टान्ता अप्येतस्यैवो-पाधिकत्वज्ञापकाः। अभेदवाक्यानि तु दुग्धजलयोरिव सम्मिश्रणस्याग्निविस्फु-लिङ्गादेरिवांशांशिभावेन पारमार्थिकस्याविभागलक्षणस्यैव वाऽभेदस्य बोधकानि। मानानि च तत्र लवणोदकदृष्टान्तवाक्यानि। तस्मान्नाऽखण्डो वाक्यार्थः मानाभावादिति।

तन्न सम्यक्। अयमेव नोऽनर्थो यत् संसार्यात्मदर्शनमित्यादिना वार्त्तिककारै-र्वस्तुतो नित्यमुक्तस्यात्मनः सदा शुद्धस्य कार्यकारणोपाध्यवच्छेद्यत्वरूपः स्वाऽऽभास-द्वारको विशिष्टभाव एव संबंधः। सकलतन्निवृत्तिश्च मोक्ष इति प्रतिपादनान्न बन्धमोक्षयोः सामानाधिकरण्याऽनुपपत्तिः। परम्परयोपाध्यवच्छेद्यस्य शुद्धस्य नित्यत्वात्। अत एव न तन्मताऽविशेषोऽपि परेण। चित्तैकमात्रव्यक्तित्वस्य कार्यकारणोपाधीनां मिथ्यात्वेन विशिष्टमिथ्यात्वादीनां चानङ्गीकारेण साम्याऽसम्भवात्। तस्मादत्र इष्टापत्तिः। केषाञ्चित् स्वबन्धाय कृत्या यथा तथेति संक्षेपः॥ २४॥

[१]तत्र लक्षणमुक्त्वा सार्वज्ञ्यरूपविशेषमाह—

**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५॥**

तत्रेति। सर्वज्ञेति भावप्रधानो निर्देशः। पदार्थानां सम्यग्ज्ञानमिदमस्याल्पमिद-मस्याधिकमिति तारतम्येन वर्तमानं विवर्द्धमानमेकैकस्यापेक्षयेश्वरे निरतिशयं भवति।

---

१. ग — तत्र लक्षणमुक्त्वा....इत्यास्तां विस्तरः, घ — तत्रानुमानं प्रमाणमित्याशयेनाह—तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५॥ तत्र पुरुष-पुरुषविशेषयोर्मध्ये निरतिशयं काष्ठाप्राप्तं ज्ञानं सर्वज्ञस्य भगवतो बीजमनुमापकमित्यर्थः। तथा चायं प्रयोगः—अस्मदादीनां सातिशयं ज्ञानं क्वचित्काष्ठाप्राप्तम्, सातिशयत्वात्, परिमाणवत्। यत्रैव निरतिशयं तारतम्यवर्जितं भवति स सर्वज्ञेश्वरः। स चैक एव अन्यथा व्यवस्थाऽनुपपत्तेरिति दिक्॥ २५॥

तदेव तत्रेश्वरे सार्वज्ञ्याऽनुमापकमित्यर्थः। प्रयोगस्तु सार्वज्ञ्यबीजं सातिशयमस्मदादिज्ञानं क्वचित्काष्ठाप्राप्तं सातिशयत्वात् परिमाणवदिति। यत्र च तत्काष्ठा प्राप्तं सर्वज्ञ एव संसारि-पुरुषविलक्षण इति दिक्।

अथवा तत्रानुमानमपि प्रमाणमित्याशयवानाह—**तत्र निरतिशयमिति**। तत्र ईश्वरे निरतिशयं निर्गतो नास्ति अतिशयो यस्माद् अन्यस्य तादृशमन्यप्रतियोगिकाधिक्यरहितं काष्ठाऽप्राप्तं ज्ञानादिकं सातिशयास्मदादिज्ञानेनोक्तप्रकारेणानुमितम्। तदेव सर्वज्ञस्य भगवतो बीजं प्रमाणत्वाद्बीजमिव बीजमनुमापकम्। निरतिशयं तज्ज्ञानम् क्वचिदाश्रितं ज्ञानत्वात्। अस्मदादिज्ञानवत्। स चाश्रयो लाघवादेको नित्यः संसारिपुरुषविलक्षण इत्येवमनुमापकमिति यावत्। एकत्वे च तत्र न संख्यानानात्वविरोधित्वात्। किन्तु पुरुषद्वयाऽवृत्तिनिरतिशयज्ञानत्वावच्छिन्नाधिकरणतावत्त्वम्। आत्माऽनात्मवृत्तिभिन्न-दुःखवदवृत्तिद्वित्वशून्यत्वं वा। अत्र भिन्नानामीश्वरघटादिद्वित्वस्यावृत्त्यन्तमीश्वर-जीवद्वित्वस्य वारणाय घटपटादिद्वित्वं चेदृशं प्रसिद्धमिति दिक्। ननु स्वमते तस्य

**विज्ञानमानन्दम्।**

इत्यादिश्रुतिभिर्विज्ञानादिस्वरूपतैवाङ्गीक्रियते, न विज्ञानाश्रयत्वम्। अतो बाधितमिदमनुमानमिति। चेन्न, स्वमते प्रकाशरूपस्यापि सूर्यादेः प्रभारूपप्रकाशा-श्रयत्ववत्। ज्ञानरूपस्यापि तस्य

**न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते।**

इत्यादिश्रुतिभिर्नित्यज्ञानाश्रयत्वाङ्गीकारेण बाधाऽभावात्। अत एव प्रयोज-कत्वमपि न, श्रुतेरेवानुकूलतर्कस्य सत्त्वात्। श्रुत्यैकवचनस्य ब्रह्मशिवनारायण-परमात्मेत्यादिनामावगतिरपीत्यास्तां विस्तरः॥ २५॥

तस्य भगवतः [१]सर्गाद्युत्पन्नसत्यलोकादिमात्राधिकारिब्रह्मविष्णुरुद्रादिभ्यो भेदं

**यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।**
**तस्यै[२]ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥**

[३]इत्यादिश्रुतितो गुरुभक्तेरप्यवश्यकर्तव्यताज्ञापनाय सर्वगुरुत्वं चाह—

**स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनाऽनवच्छेदात्॥ २६॥**

---

१. ग — सर्गाद्युत्पन्नसत्यलोकादिमात्राधिकारिब्रह्मविष्णुरुद्रादिभ्यः, घ — ब्रह्मादिभ्यः।
२. ग — एव, घ — एते।
३. ग — इत्यादिश्रुतितो गुरुभक्तेरप्यवश्यकर्तव्यताज्ञापनाय सर्वगुरुत्वं चाह, घ — इति श्रुतेः ईशभक्तिं समत्वेनोक्ताया पुरुषभक्तेरप्यावश्यकतया ज्ञापनायादिगुरुत्वं चाह।

**स पूर्वेषामिति**। स ईश्वरः पूर्वेषामपि सर्गादौ उत्पन्नानां ब्रह्मादीनामपि प्राणिनामस्मदादीनामपि जीवानां गुरुः गृणात्युपदिशत्यपूर्वमर्थं दर्शयति, गुं मृत्युं रुध्नाति परिपालनोपदेशादिना वेति गुरुः। पिता अन्तर्यामिविधया ज्ञानोपदेष्टा च।

**यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदाँश्च प्रहिणोति तस्मै।**

इत्यादिश्रुतेः। कुतः ? कालेनाऽनवच्छेदात्। अनाद्यनन्तत्वादित्यर्थः। द्विपरार्द्धादिकालाऽऽयुषोऽपरिगणनादिति यावत्। तथा[१] चायं पूर्णत्वात् परमगुरुः। अन्ये चास्यैव ज्ञानशक्त्यवतारा इति ज्ञाने अर्चिता एव भवन्तीति भावः। एतदभिप्रेत्यैवात्र, पितेति पदमपहाय गुरुपदमुपात्तमिति संक्षेपः।

अयमत्र निष्कर्षः—श्रुतिस्मृतिपुराणेषु सर्वेषां नाम्नां केवलपरत्वप्रतिपादनाद् गुणातीतः परमात्मैव [२]ब्रह्मविष्ण्वादिपदार्थः। ये तु सत्यलोका[३]दिब्रह्मादयस्ते जीवविशेषा एव, न तु परमेश्वरस्य लीलावताराः।

**अथाशरीरस्य ब्रह्मण एतास्तनवो वायुरादित्यः कालोऽपः प्राणोऽन्नं ब्रह्मा विष्णू रुद्र इत्येके अन्यमभिध्यायन्त्येके अन्यम्।**

इत्यादिमैत्रायणीश्रुतावन्यत्र च श्रुतौ[४]

**ब्रह्मणो मायिकोऽपि देहो नास्ति अग्न्यादिदेहा एव देहाः।**

इति निर्देशेन ब्रह्मणो मायिकलीलाविग्रहस्या[५]प्यभावादज्ञापनात्। अत एव कालीपुराणादौ नृसिंहवराहशरभानां परस्परोपमर्द्यत्वं, शिवस्य नारायणोपदेश्यत्वं मोहपारवश्यादिकम्, अन्यत्र च नारायणस्य शिवोपदेश्यत्वं, वृन्दाशापाद्याक्रान्तत्वं, मोहपारवश्यादिकं, शिवनारायणोर्द्वयोरपि चतुर्मुखोपदेश्यत्वं, चतुर्मुखस्याधिक्यञ्च श्रूयते। चतुर्मुखस्य ब्रह्मणो

---

१. क ख घ — तथा चायं....गुरुपदमुपात्तमिति संक्षेपः, ग — ब्रह्मादयो हि सर्गाद्युत्पत्तिकालेन द्विपरार्द्धादिकालेन च परिच्छिद्यन्ते। अस्य च परिच्छेदकः कालो न श्रूयते, न वा संभवति कारणत्वाऽधिष्ठातृत्वादीनामत्र विश्रामात्। अत ईदृशेनैव तेषां निर्वाहात्। पूर्वसर्गोत्पन्नानां तेषां सर्वेषां साद्यन्तानामनाद्यनन्तो भगवान् परमात्मैव तेभ्यो विलक्षणो गुरुः श्रुतिस्मृतिप्रमाणादिति भावः।

२. क ख घ — ब्रह्मविष्ण्वादि०, ग — ब्रह्मादि०।

३. क ख घ — आदि०, ग — आदिषु।

४. क ख घ — श्रुतौ, ग — स्वतः।

५. क ख — अप्यभावादज्ञापनात्, ग — अप्यभावज्ञापनलीलावताराभावज्ञापनात्, घ — अप्यभावज्ञापनात्।

**यो ब्रह्माणम्।**

इत्यादिभ्यो[१] जीवत्वं श्रुतिस्मृतिषु[२] स्फुटमेव। तस्मान्न ते लीलावताराः, किन्तु जीवविशेषा एव उपासनार्थं परमेश्वरा उच्यन्ते इति केचित्।

तन्न सम्यक्। [३]भक्तानुग्राहकलीलाविग्रहबोधकतापिन्यादिविरोधात्। किन्तु

**[४]भूयः सृष्ट्वा पतयस्तथेशः सर्वाधिपत्यं कुरुते महात्मा।**

इति श्रुतेस्तल्लोकाधिपतित्वेन ब्रह्मविष्णु[५]रुद्रादीनां नानाविधानां स्रष्टृत्वेन परमात्मनः श्रवणात्। नृसिंहरामगोपालतापिनी[६]कैवल्यादिश्रुतिषु लीलाविग्रहस्याप्याम्नानाच्च। ब्रह्मविष्णुरुद्रा द्विविधाः—श्रौताः पौराणाश्चेति। तत्र ये श्रौतास्ते साक्षात् परमेश्वरस्यावताराः। निरवद्यत्वादिश्रवणात्। ये पुनः पौराणाः, ते पुनरविद्यावद्विषय-कर्मतत्फलवत्त्वात् संसारिपुरुषविशेषा एव। रागित्वादीनां जीवलिङ्गानां बहुशः श्रवणात्। अत एव न साक्षात् परमेश्वरस्यावतारा यद्यपि, तथापि शक्तिशक्तिमदभेदेनोपासनार्थमेव परमेश्वस्योच्यन्ते, न तत्त्वतः।

**ब्रह्मविष्णुशिवा ब्रह्मन् प्रधाना ब्रह्मशक्तयः।**
**ततो न्यूनाश्च मैत्रेय देवा यक्षादयस्तथा॥**
**ब्रह्मविष्णुमहेषानां य परः स महेश्वरः।**

इत्यादिस्मृतिभिस्तथाऽवगमात्। अतो येऽपि रामादयस्तेषामवतारास्तेऽपि तथैव। तेषाञ्च सर्वेषां जीवत्वेऽपि परमात्मन्येवाहम्भावादीश्वरावतारत्वं स्मृतिषूच्यते। तेऽपि परमेश्वरशक्तिविशेषरूपतया प्रायः पूर्णत्वाल्लीलयैव बहुविधरूपेणाविर्भवन्ति तिरोभवन्ति चेत्यास्तां विस्तरः। सूचितञ्चैतत् प्रकृतसूत्रेण भगवतः सर्वज्ञत्वेन गुरुत्वप्रतिपादनात्। ब्रह्मादीनाञ्च शिष्यत्वेन[७] स्वतोऽज्ञत्वज्ञापनादित्यपरे वर्णयन्ति। तदपि न सम्यक्। भक्तिप्रवर्तकतन्त्रपुराणेतिहासादीनामानर्थक्यप्रसङ्गात्। अतो वस्तुतो विचित्रानेकशक्तिमत्त्वेनेश्वरत्वात् सर्वसमर्थस्य भक्तानुग्रहादिनिमित्तं तत्तद्रूपेण स्वेच्छयैव

---

१. क ख घ — इत्यादिभ्यः, ग — इत्यादिना।
२. क ख घ — श्रुतिस्मृतिषु, ग — श्रुतिषु।
३. क ख घ — भक्तानुग्राहक० उपलभ्यते, ग — भक्तानुग्राहक० नोपलभ्यते।
४. क ख घ — भूयः, ग — त्रयः।
५. क ख घ — रुद्रादीनां, ग — रुद्राणाम्।
६. क ख घ — कैवल्यादिश्रुतिषु, ग — विष्णुपुराणादिषु।
७. घ — न [शिष्यत्वेन पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — न नोपलभ्यते।

महदल्पकार्यकर्तृत्वमेवोचितम्। अन्यथा विचित्रानन्तशक्तिमत्त्वादिरूपेश्वरत्वानुपपत्तेः। अतो द्वैविध्ये मानाभावादवतारिणोऽवतारेभ्योऽधिकत्वेन गुरुत्वव्यपदेशस्यापि सम्भवात्। मैत्रायणीयश्रुतौ तु स्वादृष्टारब्धभोगार्हशरीराभावस्यैव विवक्षणान्न कोऽपि दोष इति न तथा। तथाहि—यद्यपि

**एकमेवाद्वितीयम्।**

**एको देवः सर्वभूतेषु गूढः।**

**सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।**

इत्यादिश्रुतिभिर्निर्गुण एकरूप एव तथापि

**एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा।**

**एकं रूपं बहुधा यः करोति।**

**अजायमानो बहुधा विजायते।**

इत्यादिश्रुतिभिरन्तर्यामिबहिर्यामिभेदेन द्विविधः। तत्राऽन्तर्यामी अन्तः स्थित्वा प्रेरकः।

**एष एवात्माऽन्तर्याम्यमृतः।**

इति श्रुतेः।

**ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।**

इति स्मृतेश्च। स च चिदचितोः प्रेरकत्वाच्चिदन्तर्यामी, अचिदन्तर्यामी चेति द्विविधः। उपासकानां सविग्रहः प्रतिभाति। अन्येषां तु चिन्मात्ररूपेणापि प्रतिभाति। बहिर्यामी बहिः स्थित्वा नियामकः। यथाऽवतारादिः प्रसिद्धः शास्त्रलोकयोः। सोऽपि नित्यविभूतिनिलयो लीलाविभूतिनिलयश्चेति द्विविधः। तत्राद्योऽवतारी प्रागुक्तः। द्वितीयोऽपि व्यूहावतारभेदेन द्विविधः। तत्र व्यूहो वेदादिप्रदातृसृष्ट्यादिमात्रसम्पादकगुणद्वयमात्रव्यञ्जकविग्रहवान्। स एव ब्रह्मादिरूपः सन् सर्वदेहेषु व्याप्य स्थितः। सर्गस्थितिप्रलये ब्रह्म स्वयं भवति।

**षाड्गुण्यपरिपूर्णोऽसौ वासुदेवः सनातनः।**

**त्रिधा कृत्वात्मनो रूपं चतुर्धा कुरुते जगत्॥**

**अन्तर्यामित्वमापन्नः सर्गं सम्यक् करोति हि।**

इत्यादिस्मृतेः। अवतारस्तु स्वसङ्कल्पपूर्वकपराधीनव्यक्तीकृतदेहो भक्तवात्सल्याद्यनेकगुणोल्वणः।

**माया ह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद।**

**सर्वभूतगुणैर्युक्तं न तु मां द्रष्टुमर्हसि॥**

इत्यादिभगवदुक्तेः।

सोऽपि विभवार्चादिभेदेन द्विविधः। तत्र विभवावतारो गमनागमनसंश्लेषविश्लेष-योग्यं यथा भवति तथा दिव्यं देहं प्रकटयन् स्थितः। सोऽपि स्वरूपावेशभेदेन द्विविधः। तत्र स्वरूपावतारः सर्वेश्वरः स्वीया[1]प्राकृतरूपमितरसजातीयतया प्रकटयन् स्थितः। सोऽपि मनुजामनुजभेदेन द्विविधः। तत्र मनुजो रामकृष्णादिर्नराकृतिः।

**गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्।**

इत्यादिप्रमाणात्। अमनुजस्तद्व्यतिरिक्तो देवतिर्यगादिः यथोपेन्द्रमत्स्यादिः। आवेशाऽवतारोऽपि स्वरूपशक्त्यावेशभेदेन द्विविधः। तत्र स्वरूपावेशाऽवतारः, केषुचिच्चेतनेषु स्वेन सन्निधीभूय स्थितः। शक्त्यावेशावतारः, तथैव शक्त्या सन्निधीभूय स्थितः। तत्राद्यः कपिलानन्तव्यासपरशुरामप्रभृतिः। द्वितीयः पृथुधन्वन्तरिप्रभृतिः।

**स्वशक्तिलेशादृतभूतसर्गः।**

इत्यादिस्मृतेः। एवं

**यद्यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।**
**तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम्॥**

इत्यादिना भगवतोक्ता, आधुनिका अपि महानुभावा मन्तव्याः। अर्चावतारस्तु अर्चकपराधीनात्मस्थितिः। सोऽपि गृहायतनभेदाद् द्विविधः। तत्र गृहार्च्चावतार उपासकैर्गृहदेवालयादौ पूज्यत्वेन स्थापिता मन्त्रादिसंस्कृता मूर्त्तिः। अवतारत्वं तु तस्मिन् मन्त्रादिबलतः सन्निधीभूय भगवतोऽवस्थानात्। आयतनार्चावतारस्तु शालग्रामादिषु स्वसंकल्पादिना सन्निधीभूय स्थितः। अत एव तेषां परमात्मत्वेन पूजातः फललाभ उच्यते शास्त्रेषु। अयं विशेषः, यद्यपि

**चराचरेषु सर्वेष्वपि स एव शक्त्या सन्निहितः।**

इति सर्वस्य तदात्मत्वमुक्तं विष्णुपुराणादिषु

**एकः समस्तं यदिहाऽस्ति किञ्चित् तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत्।**
**सोऽहं स च त्वं स च सर्वमेतदात्मस्वरूपं त्यज भेदमोहम्॥**

इत्यादिना। तथापि विचित्रकार्यानुकूलशक्त्या तेष्वसन्निधानान्न तेषामवतारत्व-व्यपदेशः, किन्तु जीवत्वेनास्मदादितुल्यानामपि पृथुप्रभृतीनामेव विचित्रशक्तिदर्शनात्। कृष्णादीनां तु न शक्त्यावेशमात्रेण तथात्वम्। उक्तप्रमाणविरोधात्।

---

१. क ख घ — **अप्राकृत०**, ग — **प्राकृतम्।**

**सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनभूरुहतलासीनम्।**

इत्यादिश्रुत्या स्वरूपविभवावतारत्वज्ञापनाच्च। एवं ब्रह्मविष्णुरुद्राणामपि बोध्यम्। शास्त्रप्रामाण्यात्। अवतारत्वादेव च ब्रह्मादीनां रामादीनां[१] च लोकवत्तु लीलाकैवल्यन्यायेन स्वीयमैश्वर्यं प्रकटयितुं मनुष्यादिलिङ्गैर्व्यवहरणेऽपि शिष्यत्वेऽपि च न हानिः। जीवलिङ्गानां तेषामन्यथासिद्धत्वेन जीवत्वासाधकत्वात्। अत एव तत्रैकतरालम्बनेनान्यतरस्यापकर्षं वर्णयतां दुर्गतिरपि। एतदभिप्रायेणैव श्रूयते वायुपुराणादिषु—

**तपसा तोषयित्वा तु पितरं परमेश्वरम्।**
**ब्रह्मनारायणौ पूर्वं रुद्रः कल्पान्तरेऽसृजत्॥**
**कल्पान्तरे पुरा ब्रह्मा विष्णुरुद्रौ जनान ह।**
**विष्णुश्च भगवाँस्तद्वद् ब्रह्माणमसृजत् पुनः॥**
**नारायणं पुनर्ब्रह्मा ब्रह्माणं च पुनर्भवः।**
**एवं कल्पेषु कल्पेषु ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥**
**परस्परस्माज्जायन्ते परस्परजयैषिणः।**
**तत्तत्कल्पान्तवृत्तान्तमधिकृत्य महर्षिभिः॥**
**प्रभावः कथ्यते तेषां परस्परसमुद्भवात्।**
**अयं परस्त्वयं नेति संरम्भाभिनिवेशिनः॥**
**यातुधाना भविष्यन्ति पिशाचाश्च न संशयः।**

इत्यादिना। एवं गीतायां राम[२]कृष्णादीनामपकर्षप्रतिपादने श्रूयते निन्दा—

**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।**

इत्यादिना। स्वरूपविभवा[३]वतारत्वेन तद्भेदापकर्षादिप्रतिपादनस्यान्याय्यत्वादित्यभिप्रायात्। एतेन यथा भूमौ बीजाङ्कुरद्रुमाः। द्रुमे च फलशलाटवः। तथा शुद्धचैतन्ये परमात्मनि ईशसूत्रविराजः, विराजि च मत्स्यकूर्मकृष्णादयोऽस्मदादयश्च। यथा फलान्तर्गते बीजे द्रुमप्रसवसामर्थ्यमस्ति, न शलाट्वन्तर्गते। एवं कृष्णादिषु जगत्सृष्टिसामर्थ्यं, नास्मदादिषु। यथा बीजादयो भूमात्राः सत्ताविशिष्टशक्तियोगाद् भूवापूरिता अङ्कुरादिभावं प्रतिपद्यन्ते। एवमीशादयोऽपि चिन्मात्रा एव सन्तो मायाशक्तियोगाच्चिदा-

---

१. क ख घ — रामादीनां, ग — रामकृष्णादीनाम्।
२. ग — अपि [कृष्णादीनां-पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — अपि नोपलभ्यते।
३. क ख घ — अवतारत्वेन, ग — अवतारत्वं न।

पूरिताः सूत्रादिभावम्। तत्रास्मदादीनां कृष्णादिभावः **कीटभृङ्गन्यायेन** भावनाजन्यः। विराजादि[१]भावस्तु **लवणोदकन्यायेन** मनःप्रणिधानप्राप्यः। उपादानोपादेयभावस्याभावसद्भावाभ्यां तथाऽवगमादिति कल्पनं न प्रामाणिकमित्यपि मन्तव्यम्। ईशलिङ्गानां बलवत्त्वादित्यास्तां विस्तरः॥ २६॥

इदानीं परमेश्वरं निरूप्य तत्प्रणिधानं व्याख्यातुं प्रणिधानाङ्ग[२]मन्त्रमाह—

**तस्य वाचकः प्रणवः॥ २७॥**

**तस्येति**। तस्य निरुपाधिकस्येश्वरस्य प्रणवः, अखण्डोङ्कारः वाचकः रूढ्या बोधकं नाम संज्ञारूपकम्।

**अदृष्टविग्रहो देवो भावग्राह्यो मनोमयः।**
**तस्योङ्कारः स्मृतो नाम तेनाहूतः प्रसीदति॥**

इति योगियाज्ञवल्क्यादिस्मृतेः।

**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।**

इति भगवदुक्तेश्च। तत्र[३] अदृष्टविग्रहः अश्रुतशरीरः, भावग्राह्यः [४]भक्तिमात्रग्राह्यः। अत एव मनोमयः मनोऽभिलषिताकारः। अथवा तस्य [५]त्वेच्छया[६]ङ्गीकृतविग्रहावच्छिन्नस्य ब्रह्मादिमूर्त्तित्रयात्मकत्वेन श्रुतस्येश्वरस्य प्रणवः, अश्च उश्च मश्चेत्या[७]कारात्मा [८]अखण्डोङ्कारः।

**अकारं चाप्युकारं च मकारं च प्रजापतिः।**
**वेदत्रयात् समुद्धृत्य ॐङ्कारं निर्ममे पुरा॥**

इति मनुनो[९]क्तेः। वाचकः प्रत्येकशक्त्या बोधकं नाम योगिकम्।

**अकारं ब्रह्माणम् उकारं विष्णुं मकारं रुद्रम्।**

---

१. क ख घ — भावस्तु, ग — भावः।
२. ग — साक्षात्तत्र प्रमाणं [मन्त्रं पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — साक्षात्तत्र प्रमाणं नोपलभ्यते।
३. ग — तत्र [च पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — तत्र नोपलभ्यते।
४. ग — मात्र० [भक्ति० पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — मात्र० नोपलभ्यते।
५. क ख — तु, ग घ — स्व०।
६. क ख घ — अङ्गीकृतविग्रहावच्छिन्नस्य ब्रह्मादिमूर्त्तित्रयात्मकत्वेन श्रुतस्येश्वरस्य, ग — ब्रह्मादिरूपिणः।
७. क ख — आकारात्मा, ग घ — अकारोकारमकारात्मा।
८. क ख घ — अखण्ड०, ग — सखण्ड०।
९. क ख — उक्तेः, ग घ — उक्तः।

इति श्रुतेः। तत्र प्रतिपाद्यस्येशस्यैकत्वेऽपि पदार्थतावच्छेदकानां भेदेन द्वन्द्वः। तस्यैव प्रातिभासिकभेदेन वा द्वन्द्वः। तत्र भेदाभेदयोस्तु मानम्।

**ब्रह्माणमेव विष्णुमेव रुद्रमेव विभक्तांस्त्रीणि वा विभक्तानि।**

इत्यादिश्रुतिः। अखण्डार्थपक्षे तु तस्य जीवपरयोरभेदरूपाखण्डार्थस्य परमात्मनः प्रणवः, अखण्ड एवोङ्कारः वाचकः। अकारस्य जीवे, मकारस्य ब्रह्मणि, उकारस्याऽभेद इति प्रत्येकशक्त्या बोधकं नाम यौगिकमेव।

**अकारेण ममात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणा अनुसंदध्यादुकारेणा-विचिकित्सन्नि।**

इत्यादिश्रुतेः। अत्र समस्तं व्यस्तं—

**त्वां शरणद गृणाम्योम्।**

इति पदमिति स्मृतेः। सर्वेषां पक्षाणां युक्तत्वेऽप्ययं पक्षो युक्ततमः।

**तत्त्वमसि।**

इत्यादिमहावाक्यबोधिताभेदस्य लाभात्। तापिन्या[१]दौ तथैव व्युत्पादनाच्च। अत एवाखण्डात् सखण्ड एवोङ्कारो मनुनाप्यादृतः। तन्त्रे च—

**हंस इत्यजपां नित्यं श्वासप्रश्वासगां बुधः।**
**विपरीतां तु तां कृत्वा सोऽहमेकत्वसिद्धये॥**
**अन्योन्यं सहयोर्लोपात् सिद्ध्यत्योङ्कारशब्दकः।**
**अपूर्वोऽयमुपास्याथ ब्रह्म सद्यो भवेन्नरः॥**
**केवलोऽयं यतेरेव सहकञ्चुकितः पुनः।**
**उपास्योऽयं मनुष्याणां सर्वेषां यतिनां मतः॥**

इत्यभेदार्थकाऽजपामूल उक्तः। अस्मिन् पक्षे च अश्वासावुश्चेत्यादिकर्मधारय एव। अभेदस्य प्रतिपादयिषितत्वात्। अत्रायं निष्कर्षः। प्रणवो न गवादिपदवत् केवलं रूढं नाम। अवयवशक्त्याऽवयवार्थस्यापि बोधनात्। नापि पाचकादिपदवद् यौगिकमेव। रूढ्याऽखण्डितार्थस्यापि बोधनात्। नापि पङ्कजादिपदवद्योगरूढम्। यौगिकार्थान्वितरूढ्यर्थावच्छिन्नस्यैकस्या[२]बोधनात्। नापि चैत्रादिपदवच्[३]छरीरशक्त-

---

१. क ख — आदौ, ग घ — आदिषु।

२. क ख घ — अबोधनात्, ग — बोधनात्।

३. क ख ग — शरीर० उपलभ्यते, घ — शरीर० नोपलभ्यते।

विष्ण्वादिपदपर्यायाणाम्। अकारादीनामपि शरीरशक्तानामात्मनि लाक्षणिकत्वात्। तदात्मोङ्कारो लक्षकं नाम

**सर्वं वेत्ति विष्णुः।**

इत्यादौ ज्ञानाश्रयत्वस्य[१] शरीरे बाधेन विष्ण्वादिपदानामात्मन्येव शक्त्यङ्गीकारात्। तत्पर्यायाणां[२] अकारादिपदानामात्मनि [३]शक्तेरेवाङ्गीकारात्। ॐङ्कार-निविष्टाकारादीनां शास्त्रगृहीतसङ्केतेन अज्ञातार्थज्ञापकानामसति बाधके बलवत्तरे[४] लाक्षणिकत्वायोगाच्च।

**न विधौ परः शब्दः।**

इति न्यायात्। तस्मान्मण्डपादिपदवद् रूढयौगिकं समुदायशक्त्यवयवशक्तिभ्यां प्रत्येकमेव रूढ्यर्थावयवार्थयो[५]र्बोधजननात्। यथा मण्डपपदं मण्डपे शेते इत्यादौ समुदायशक्त्या स्थण्डिलमेव बोधयति, न मण्डपायिनम्[६]। मण्डपं भोजयेत्यादौ त्ववयवशक्त्या मण्डपायिनमेव बोधयतीति न स्थण्डिलम्[७]। एवं प्रणवोऽपि समुदायशक्त्या निरुपाधिकमेवेश्वरं बोधयति। प्रत्येकशक्त्या ब्रह्मादीन् अभेदश्च बोधयतीति दिक्।

अत्र प्रणवस्य वाचकत्वकथनादीश्वरो वाच्य इति लब्धम्। सोऽयं वाच्यवाचक-भावः स्वरूपसम्बन्धविशेषोऽतिरिक्तो विभागरूपो[८] वा। योऽर्थः स शब्दः, यः शब्द सोऽर्थ इति शब्दार्थयोराहार्याऽन्योन्याभेदाध्यासरूपेणेश्वरसङ्केतेन

**ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम्।**

**ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म।**

इत्यादिश्रुतिस्मृतिमूलकेन द्योत्यते। न तु नैयायिकानामिव जन्यते। ईश्वरस्य स्वतन्त्रतया सर्गान्तरे तदीयसङ्केतभेदेन शब्दार्थभेदप्रसङ्गात्। एतन्मते च सत्कार्य-

---

१. क ख घ — **ज्ञानाश्रयत्वस्य** ग — **ज्ञानादेः**।
२. क ख घ — **तात्पर्याणां**, ग — **तत्पर्यायाणाम्**।
३. क ख घ — **शक्तेरेव**, ग — **एव शक्तेः**।
४. क ख घ — **बलवत्तरे**, ग — **लाघवे**।
५. क ख घ — **बोधजननात्**, ग — **बोधनात्**।
६. ग — **तत्रायोग्यत्वात्** [**मण्डपायिनंपश्चात्**] उपलभ्यते, क ख घ — **तत्रायोग्यत्वात्** नोपलभ्यते।
७. ग घ — **भोजनबाधात्** [**स्थण्डिलं** पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — **भोजनबाधात्** नोपलभ्यते।
८. क ख घ — **विभागरूपः**, ग — **अविभागरूपः**।

वादस्याऽङ्गीकारात्। सम्बन्धस्य सदा समानरूपतया [1]प्रलयोऽपि विद्यमानस्य सर्गान्तरे प्रकाशनान्न दोष इति संक्षेपः।

ननु भवत्वेवं वाच्यवाचकभावस्तथापि कथं प्रणवस्यैवात्राऽऽदरः। न[2] च परमात्ममन्त्रत्वविशेषादिति वाच्यम्। सगुणशिवरामादीनामपि परमात्मत्वेनैवोपास्यतया तत्तदाराधनसाधनप्रणवान्यमन्त्राणामपि परमात्ममन्त्रत्वस्य तत्तद्रूपाकर्षणरूपफलस्य च अधिकस्य तत्तत्तापिन्यादिषु प्रतिपादनात्। अतस्तद्वाचकस्तन्मन्त्र इत्येव वक्तुं युक्तमिति चेत् सत्यम्। यद्यप्येवं तथापि तद्यथा—

**शङ्कुना सर्वाणि पर्णानि संतृणात्येवमेवोङ्कारेण सर्वा वाक् संतृण्णा।**

इति श्रुत्या

**ऋग्वेदः स्यादकाराद्य उकारान्तं यजुर्मतम्।**
**सामवेदो मकारान्तः सर्वग्राही ततो ध्रुवः॥**
**षडङ्गन्यायमीमांसा पुराणं स्मृतिपूर्वकम्।**
**वेदेऽन्तर्भूतमेव स्यात् सर्ववेदाश्च तारगाः॥**
**अहयोर्मध्यगा वर्णा लक्षौ कषलगौ यतः।**
**अकारः प्रकृतिस्तत्र हकारः प्रकृतिर्मता॥**
**तथा प्रणवमोङ्कारो जीवात्मा पुरुषः स्मृतः।**
**उकारः प्रकृतिरूपत्वात् प्रकृतिः सहरूपिणी॥**
**पुम्प्रकृत्यात्मका वर्णास्तस्मादम्मध्यगाः सदा।**
**क्षराऽक्षरपरो देवो मकारः परमेश्वरः॥**

इत्यादिस्मृत्या च सर्वेषामानुपूर्वीविशेषविशिष्टवर्णरूपाणां मन्त्राणां प्रणव एवान्तर्भावितत्वात्। तदाराधनेनैव सर्वाराधनतत्फले स्त इत्यभिप्रेत्य

**एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारः यश्छन्दसां ऋषभो विश्वरूपः। ओमितीदं सर्वं, सर्वे वेदा यत् पदमामनन्ति, एतदालम्बनं श्रेष्ठं धनुर्गृहीत्वोपनिषदं महास्त्रं प्रणवो धनुः।**

एतद्वै महोपनिषत्[3]।

---

१. क ख — प्रलयः, ग घ — प्रलये।

२. क ख घ — न च परमात्ममन्त्रत्वविशेषादिति वाच्यं, ग — परमात्ममन्त्रत्वादिति चेन्न।

१. क ख — महोपनिषत्, ग — महोपनिषद् उपनिषदमावर्तयेत्, घ — महोषभो विश्वरूपः रूपमिति।

**ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमि[1]ति प्रणवेनैव तस्मिन्नवस्थिता ॐङ्कारे परे ब्रह्मणि पर्यवसितो भवेत् प्रणवमेवानुसन्दध्यात्।**

इत्यादिश्रुतिभिः श्रेष्ठत्वमभिसन्धाय तस्यैव मुमुक्षुजनाराध्यत्वप्रतिपादनात्। उदाहृतयाज्ञवल्क्यस्मृतौ

**मनोमयस्तेना[2]हृतः।**

इति पदाभ्यां ध्यानविशेषयोगेन तत्तद्रूपाकर्षकत्वज्ञापनाच्च। सर्वमन्त्ररूपत्व-सर्वमन्त्रफलदातृत्वादिहेतुभिः सर्वाधिकोऽयमेवेति।

तस्य वाचकस्तन्मन्त्र इति विहाय **तस्य वाचकः प्रणव** इत्युक्तम्। अन्ये मन्त्राश्चैतन्मन्त्रव्याख्यारूपा अधिकारिविशेषाराध्यरूपा इत्यनवद्यम्। उपाधि-भेदेनाऽप्युपास्यभेदो व्यावहारिकोऽपि नास्ति। नात्र काचन भिदास्ति।

**नैवात्र काचन भिदाऽस्ति।**

इत्यादिश्रुतेरिति सूचयितुं[3] तस्येति व्यस्तैकवचननिर्देशः। तस्य वाचक ॐमिति विहाय **तस्य वाचकः प्रणव** इति निर्देशस्तु ॐमित्यस्यातिरहस्यत्वेन गोप्यत्वाय। अथ कस्मादुच्यते प्रणवः? यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुसामाऽथर्वाङ्गिरसः ब्रह्म ब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च। तस्मादुच्यते प्रणव इति। प्रणवशब्दं व्युत्पादयन्त्याः श्रुत्या अनुसारात् तत्तदर्थकमन्त्रान्तरेणापि बह्वीभावसूचनायेति दिक्। यद्यप्येवं तथापि, **तज्जप** इत्यत्र लक्षितलक्षणया प्रणवोपस्थापितस्य ॐमित्यस्यैव मुख्यतया ग्रहणम्। अथ कस्मादुच्यते ॐङ्कारः?

**यस्मादुच्चार्यमाण एव प्राणानूर्ध्वमुत्क्रामयति, तस्मादुच्यते ओंकारः।**

इत्यादिश्रुत्या तस्यैव विशिष्टफलदत्वेन मन्त्रराजत्वेन चाभिषिक्तत्वादिति दिक्॥ २७॥

एवं वाचकमुक्त्वा तेनैव समाधिगम्यस्य परमात्मनो मानान्तराऽविषयस्य भावनं तदनुसन्धानं विना न सम्भवतीति तदनुसन्धानरूपं जपं स्वजन्यादृष्टेन दुरितनिवृत्त्यात्म-प्रकाशायावश्यमावर्त्तनीयम्। प्रथमतस्तदनु चानुग्रहद्वारा आत्मप्रकाशकमर्थभावनरूपं प्रणिधानमाह—

**तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८॥**

---

१. क ख ग — इति, घ — एति।

२. क ख — आहृतः, ग घ — आहूतः।

३. क ख घ — सूचयितुं, ग — ज्ञापयितुम्।

**तज्जप** इति। [१]तस्य प्रणवस्य जपः विधिवदुच्चारणं, तदर्थस्य प्रणवार्थस्य अचिन्त्यैश्वर्यशक्तियुक्तस्य परमात्मनो भावनं प्रकृतितत्कार्यपुरुषेभ्यो विवेकेनानुसंधानम्—

**व्यक्ताव्यक्ते च पुरुषस्तिस्त्रो मात्राः प्रकीर्तिताः।**

**अर्धमात्रा परं ब्रह्म ज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः॥**

इत्यादिगरुडवाक्येभ्यः। अथवा तदर्थस्य परमात्मनः पूर्णस्य भावनं जीवाभेदेन पुनः पुनश्चेतसि निवेशनम्।

**तमेतमात्मानं ॐमिति ब्रह्मणैकीकृत्य ब्रह्म वात्मनोमित्येकीकृत्य।**

इति श्रुतेः। वस्तुतस्तु—

**अकारेण ममात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणाऽनुसंदध्यात् उकारेणाऽविचिकित्सितः।**

---

१. क ख घ — तस्य प्रणवस्य जपः....अचिन्त्यैश्वर्यशक्तियुक्तस्य, ग — तस्य प्रणवपदशक्यस्योमित्यस्य प्रणवपदस्वारस्यादन्येषामपि मन्त्राणां वाग्भवादीनामष्टाक्षरादीनां च मोक्षहेतूनां जपः विधिवदुच्चारणं वाचिकोपांशुमानसभेदेन त्रिविधं निरूपितमीश्वरगीतादौ—

**यः शब्दो बोधजनकः परेषां शृण्वतां स्फुटम्।**
**स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्त उपांशोरथलक्षणम्॥**
**ओष्ठयोः स्पन्दमात्रेण परस्याश्रुतिबोधकः।**
**उपांशुरेष विज्ञेयः सहस्रं वाचिकाज्जपात्॥**
**यत्पदाक्षरसंगत्यापरिस्पन्दनवर्जिता।**
**चिन्तनैः सर्ववर्णानां मानसं तं जपं विदुः॥**

इति। इदं च मन्त्रपरमेव न स्तोत्रादिपरम्। मानसस्तोत्रपाठस्य तन्त्रे—

**मनसा यः स्मरेत् स्तोत्रं वचसा मनुं जपेत्।**
**उभयं निष्फलं याति भिन्नभाण्डोदकं यथा॥**

इत्यादिना निन्दनात् मन्त्रस्य वाचिकजपनिषेधस्त्वत्र मन्त्रजपोऽत्युच्चैर्न कर्तव्य इत्यर्थको न तु सर्वथा वाचिको नैव कार्य इत्यर्थकः। उदाहृतस्मृत्या वाचिकस्यापि परिगणनात्। जपविधिश्चोक्तस्तन्त्रादौ यथा—**उत्थायात्मनि साक्षिणि स्थितिमतः सच्चित्सुखात्मा भवेत्, उक्त्वा पूर्वकृतं स्वसंविदि बहिः शुद्धस्ततः स्वासनः। गुर्वादेः कृतसन्ततिर्धुतमहाविघ्नो वपुः, संहरन्नूनं तच्च विधाय सृष्टिमुखतो विन्यस्य सन्मातृकाः॥ १॥ संहारादिकं मातृका अपि विभूत्यादीन् स्वमन्त्रान्, ततोऽन्यस्मिन्नस्य विधाय हृदयभिमतं नैवातिदीर्घं मनुम्। नो वा ह्रस्वतरं जपेद्विधियुतः सत्कामश्च विधिर्निष्कामस्य मतो विशिष्टफलदो विध्यन्वितोऽयं द्वयोः॥ २॥ श्रुतेर्मतं सम्यगेतदागमेषु निरूपितम्। मन्त्रार्थज्ञानतस्तच्च पशुभावनिवृत्तये॥ ३॥ वैफल्यं गदितं तेषां पशुभावे यतः शिवैः। तस्माज् ज्ञात्वैव कुर्वीत जपयोगमिति स्थितिः॥ ४॥** तदर्थभावनं तदर्थस्य प्रणवार्थस्य नित्येश्वरस्य।

इत्यादिश्रुतेस्तदर्थस्य जीवपरमात्मनोर[१]भेदस्यैतन्मते द्रव्यगुणयोरिवाविनाभावरूपस्य भावेन [२]चिन्तनमित्यर्थः। [३]जपपूर्वकं भावनं कर्त्तव्यम्—

**प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यायीत नियतो यतिः।**

**जपँश्च प्रणवं नित्यं ब्रह्मविष्णुशिवात्मकम्॥**

**कोटिसूर्यसमं तेजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम्।**

इत्यादिस्मृतेः। तदेवं भक्तियोगेन भगवदनुग्रहस्ततः परवैराग्यादसंप्रज्ञातसमाधिलाभः॥ २८॥

किञ्च, जप इत्यनेन मन्त्रयोगः, अर्थभावनमित्यनेन विवेकज्ञानाऽभ्यासरूपो ज्ञानयोगः, अभेद[४]भावरूपोऽद्वैतयोगश्च संगृहीतः। त्रिविधस्याप्येतस्य प्रणिधानस्य क्लृप्तकारणताकस्वोचितकर्मादिषु समाध्यन्तसाधनं विनाप्यनुपदमेव वक्ष्यमाणरीत्या साक्षात्परम्परया वा धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थचतुष्टयसाधनत्वमस्तीत्यावश्यकमभिप्रेत्य फलान्तरमाह—

**ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च॥ २९॥**

**तत** इति। ततस्त्रिविधयोगरूपादीश्वरप्रणिधानात् प्रत्यक्चेतनाधिगमः। प्रतीपं विपरीतमञ्चति विजानातीति प्रत्यगत्र भ्रान्तो जीवपदाभिधेयः। चेतनोऽत्र

**नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम्।**

इतिश्रुतिप्रमित ईशपदाभिधेयः। तयोरधिगमः साक्षात्कारः। स च तत्र जीवस्य स्वस्य, नास्मि न मे [५]नाऽहमित्याद्याकारो दृढः साक्षात्कैवल्यहेतुः।

---

१. क ख घ — **अभेदस्यैतन्मते**, ग — **अभेदरूपाखण्डार्थस्य**।

२. क ख घ — **चिन्तनं**, ग — **भावनम्**।

३. क ख घ — **जपपूर्वकं भावनं....परवैराग्यादसम्प्रज्ञातसमाधिलाभः**, ग — **अथातो वैराग्यसंस्कृते शरीरे ब्रह्मयज्ञनिष्ठो भवेदित्याद्युपक्रम्य स एव तत्त्वमसीत्यात्माऽवगम्योऽहं ब्रह्मास्मीत्यादिश्रुतिभिरप्यभेदज्ञानस्यैव महाफलत्वब्रह्मयज्ञत्वयोः प्रतिपादनात्। एवं तदर्थस्य सगुणस्यापि भक्तवात्सल्याद्यनेकगुणोल्वणत्वादिना ध्यानं कार्यम्। तेन शीघ्रमेवेष्टसिद्धिर्भवतीति भावः। प्रमाणं चात्र भगवद्गीतादि।**

४. क ख घ — **भाव०**, ग — **भावन०**।

५. ग — न कर्त्ताऽस्मि, न मम रागादयो धर्माः। न वाऽभिमानवानहंकारः। **त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ता भोगश्च यद्भवेत्। तेभ्यो विलक्षणः साक्षी चिन्मात्रोऽहं सदाशिव** इति श्रुतेरिति भावः। तन्मते भोक्ता भोगः द्रष्टा श्रुतौ तु भोगाश्रयः। अतो न तद्विलक्षणोक्तिविरोधः [नाहं-पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **न कर्त्ताऽस्मि....तद्विलक्षणोक्तिविरोधः** नोपलभ्यते।

**तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति।**

इत्यादिश्रुतेः। विरोधिविषयकत्वेन स्वाज्ञानोच्छेदक्षमत्वाच्च। ईशस्य च सर्व-कल्याणगुणपूर्णः सर्वनियन्ता प्रकृतितत्कार्यतदभिमानिपुरुषेभ्यो भिन्न इत्याकारः परोक्षो वासुदेवः सर्वमित्याकारो वा यथाधिकारं परोक्षोऽपरोक्षो वा दृढो भक्तानुग्रहार्थमभि-व्यक्तसाक्षात्कारोऽ[१]परोक्षोऽर्जुनमुचुकुन्दप्रह्लादादीनां श्रीकृष्णनरसिंहरूपो वा यथा-धिकारं यद्यपि न साक्षात्कैवल्यहेतुः सम्भवति। अविरोधित्वेन तस्य तदज्ञान-नाशेऽसमर्थत्वात्। तथापि स प्रत्यगात्मनः स्वात्मसाक्षात्कारद्वारा वस्तुतस्तदज्ञानादेव तदभजनात्, जाततत्कोपेन स्वाज्ञानधाराभिर्विविधबन्धदर्शनात् तद्विषयकाज्ञानमेव स्वाज्ञानद्वारा सर्वानर्थहेतुरिति तदज्ञाना[२]पनयनेन स्वाज्ञानोच्छेदद्वारा वा कैवल्यहेतुः।

**ब्रह्मविदाप्नोति परम्।**

**ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः।**

इत्यादिश्रुतिभिर्बहुशस्तस्यापि मोक्षहेतुत्वबोधनात्। पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययाविति सूत्रयता[३] व्यासेन तथा ज्ञापनाच्च। वस्तुतस्तयोरधिगम-**स्तत्त्वमस्या**दिवाक्यबोधिताभेदसाक्षात्कारस्तत्त्वम्पदार्थयोः शुद्धयोर्न भेद इत्याकारः। शुद्ध[४]स्त्वम्पदार्थो जगत्कर्तृतत्पदार्थाऽविनाभूत इत्याकारो वा विशिष्टाद्वैतसम्मतः।

**भवन्ति ज्ञानिनो नित्यं सर्वतश्च निरागमाः।**

**ऐकात्म्यं नाम कश्चिद्धि कदाचित् प्रतिपद्यते॥**

इत्यादिमहाभारतवाक्यैस्तस्यैव दुर्लभत्वेनो[५]पाधेयत्वज्ञापनात्। अपूर्वाबाधि-तार्थविषयकत्वेनाविद्योच्छेदक्षमत्वाच्च। तदा[६] तदुभयसाक्षात्कारं प्रति समानविषयतया तदुभयार्थभावनस्य युक्तितो हेतुत्व[७]लाभेऽपि केवलं यथाकथञ्चिदप्याचरितमीश्वरभा-वनरूपेश्वरप्रणिधानमेवाऽऽशुप्रसादादिद्वारा तदुभयसाक्षात्कारहेतुर्भवतीत्यभिप्रेत्य—

**स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम्।**

---

१. क ख घ — **अपरोक्षोऽर्जुन०....नरसिंहरूपः** उपलभ्यते, ग — **अपरोक्षो....नरसिंहरूपः** नोपलभ्यते।

२. क ख ग — **अपनयनेन**, घ — **अपनयने**।

३. ग — **भगवता** [सूत्रयता पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **भगवता** नोपलभ्यते।

४. क ख ग — **त्वं**, घ — **तु**।

५. क ख घ — **उपाधेयत्व०**, ग — **उपादेयत्व०**।

६. क ख ग — **तदा**, घ — **तत्र**।

७. क ख घ — **लाभे**, ग — **अलाभे**।

**ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवत्॥**

इत्यादिश्रुतिभिः। तस्मात्

**सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर।**

इत्यादिभगवद्वाक्यैरेव तदुभयादिसाक्षात्कारसाधनतयाऽवगतमिति मुख्यतया अत्रा[1]दरितम्। तस्य च न केवलं मोक्षरूपामुष्मिकफलसाधनतदुभयसाक्षात्कार एव फलम्। अपि त्वैहिकामुष्मिकफलतत्साधनप्रतिबन्धकानां विविधान्तरायाणामभावादिरपीत्याह—**अप्यन्तरायाभावश्चे**ति। वक्ष्यमाणानामन्तरायाणामभावो विनाशः। चकाराद् विविधभोगहेतवः सिद्धयश्च भवन्तीत्यर्थः।

**तस्य ह न देवाश्च नाऽभूत्या ईशते आत्मा ह्येषां भवतीति।**

**यं कामं कामयते सोऽस्य सङ्कल्पादेव समुत्तिष्ठति तेन सम्पन्नो महीयते॥**

इत्यादिश्रुतेः। तत्रापि।

**ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्त्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि।**

इति श्रुतेः। साक्षादन्तरायाऽभावफलकस्य जपस्यात्मसाक्षात्कारो दृष्टद्वारा फलं जनयन् सिद्धिमवाप्नोति।

**जपतो नास्ति पातकम्**

इत्यादिस्मृतिभिस्तथा प्रतिपादनात्। अर्थभावनस्य त्वन्तरायाभावो नान्तरीयकं फलम्।

**लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः।**

**येषां हृदिस्थो भगवान् मङ्गलायतनो हरिः॥**

इत्यादिस्मृतिभिस्तथा ज्ञापनात्। वृद्धास्तु प्रत्यक्चेतनपदं केवलजीवपरं नयन्तस्तत्साक्षात्कारस्यैवादृष्टद्वारार्थभावनफलत्वं विघ्ननिवृत्तेश्च जयफलत्वं, समुदितस्य समुदित[2]फलत्वं प्राहुः॥ २९॥

अन्तरायानाह—

**व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाऽलब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥ ३०॥**

**व्याधी**ति। ये चित्तं तत्फलसाधनेभ्यो योगादिभ्यो विक्षिपन्ति ते विक्षेपा ऐहिकामुष्मिकफलप्रतिबन्धरूपा योगाद्यन्तराया नव। तत्र व्याधिः, धातुरसेन्द्रियनिमित्तो ज्वरादिः। स्त्यानं, चित्तस्य लघुत्वेऽपि चाञ्चल्यादिना कर्मानर्हता। संशयः, सिद्ध्यति न

१. क ख घ — आदरितं, ग — आदृतम्।
२. ग — वा [फलत्वं-पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — वा नोपलभ्यते।

वेत्युभयकोटिको विपर्ययः। प्रमादः, कामादिः। आलस्यं, योगानुष्ठाने प्रवृत्तिविरोधिकफादिना कायगुरुत्वं तमसा[१] चित्तगुरुत्वञ्च। अविरतिः, विषयतृष्णा। भ्रान्तिदर्शनं, इदं कर्म न सिद्ध्यति न वेत्येककोटिको विपर्ययः। अलब्धभूमिकत्वं, समाधिभूम्यलाभः। मधुमत्यादयः समाधिभूमयो वक्ष्यन्ते। अनवस्थितत्वं, लब्धायां भूमौ चित्तस्याऽस्थिरत्वम्। पूर्वभूमौ हि स्थिरं चित्तमुत्तरां भूमिं जयेत्। तस्मादस्थिरत्वं दोषः ॥ ३० ॥

न केवलमेते योगादिसाधनान्तरायाः, किन्तु दुःखादिरूपाऽन्तरायानपि कुर्वन्तीत्याह—

**दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥**

**दुःखेति**। दुःखं शारीरं मानसञ्चाध्यात्मिकम्। तत्र शारीरं व्याधिवशात्। द्वितीयं कामादिवशात्। व्याघ्रसर्पादिजनितमाधिभौतिकम्। ग्रहपीडादिजमाधिदैविकम्। दौर्मनस्यं इच्छाविघातात् क्षोभो मनसि। अङ्गमेजयत्वं अङ्गानां कम्पः। श्वासः बाह्यवायोर्नियमेनाऽन्तःप्रवेशः समाध्यङ्गरेचकविरोधी। प्रश्वासः कौष्ठ्यस्य वायोर्नियमेन बहिर्गमनं पूरकविरोधी। एते विक्षेपसहभुवः। विक्षेपेषूत्पन्नेषु भवन्तीत्यर्थः ॥ ३१ ॥

अथ कृष्यादिवद् बह्वायाससाध्यानां कर्मणां साङ्गानामेव यथोचितफलदातृत्वेन यथा[२]कथञ्चित् क्रियमाणानां[३] फलदातृत्वाभावाच्छ्रमाद्यनेक[४]दुःखफलकत्वदर्शनाद् वर्णाश्रमाभिमानादिनिबन्धनत्वेन परमश्रेयोऽ[५]पघातित्वाच्च नातिप्राशस्त्यं, न वा विद्वदुपादेयत्वं युक्तम्। किन्तु भगवद्भजनस्यैवाग्निवादपूर्णस्याप्य[६]स्य,

**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।**

इति वदता भगवता महा[७]फलत्वप्रतिपादनात्। यथाऽग्निकणोऽतिस्वल्पोऽपि [८]तृणराशिं ज्वालयँस्तेनै[९]व वर्द्धितः पूर्णः सर्वाणि सूचितानि[१०] कार्याणि जनयति। तथा भगवतो यथाकथञ्चिन्नामोच्चारणादिरूपमपि प्रणिधानम् अजामिलादेरिव पापराशिं

---

१. क ख घ — **तमसा चित्तगुरुत्वं** उपलभ्यते, ग — **तमसा चित्तगुरुत्वं** नोपलभ्यते।
२. ग — **अपि** [कथञ्चित्पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **अपि** नोपलभ्यते।
३. क ख घ — **क्रियमाणानां** उपलभ्यते, ग — **क्रियमाणानां** नोपलभ्यते।
४. क ख घ — **दुःखफलकत्वदर्शनात्**, ग — **दुःखफलकं तद्दर्शनात्**।
५. क — **अपघातित्वात्**, ख ग घ — **घातित्वात्**।
६. क ख घ — **अस्य**, ग — **तस्य**।
७. क ख घ — **फलत्व०**, ग — **फल०**।
८. क ख घ — **तृण०**, ग — **महातृण०**।
९. क ख घ — **एव**, ग — **इव**।
१०. क ख घ — **सूचितानि**, ग — **स्वोचितानि**।

नाशयत्[1] तेन नाशेनैवाधिकं सम्पाद्यमानं श्रद्धादिना पूर्णं भजनीय इच्छासहकृतं सर्वाभिलषितं साधयति। तस्मात् प्रणिधानमेवावश्यकम्। तच्च चतुर्विधम्—परममुख्यं, मुख्यं, मुख्यजातीयं, मुख्यकल्पञ्चेति।

तत्राद्यं गोपीनामिव तद्गुणगणश्रवणादिना द्रुतचेतसो[2] द्रुतताम्रस्येव दृढ-तदाकारता[3]तद्विषयकवृत्तिप्रवाहरूपं प्रेम

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।**

इत्यादिनोक्तम्। अनेन प्रेमभक्तियोगो दर्शितः। स च परमेश्वरचरणार-विन्दविषयकैकान्तिकात्यन्तिकप्रेमप्रवाहोऽनवच्छिन्न इत्यर्थः।

द्वितीयं तदसामर्थ्ये[4] बहिःप्रवृत्ति[5]स्वभावस्य मनसः प्रत्याहारेण पुनः पुनर्भगव-त्यात्मनि निवेशनरूपोऽभ्यासो निदिध्यासनाख्यः

**अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।**
**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥**

इत्याद्युक्तम्। तृतीयन्तु तद[6]सामर्थ्येऽपि तत्प्रतीतिफलकनामोच्चारणैकादश्यु-पवासादिरूपं कर्म

**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।**

इत्यादिनोक्तम्। चतुर्थं तत्राऽप्यसामर्थ्ये स्वभावत एव कृतानामपि कर्मणां फलेच्छां त्यक्त्वा परमेश्वरे परमगुरावर्पणम्

**साधु वाऽसाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया।**
**तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥**

इति संकल्पविशेषरूपम्।

**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।**
**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्॥**

इत्यादिनोक्तं भगवद्गीताद्वादशाध्याये। अत्र च प्रणिधानशब्देनो[7]क्तम्। तत्र

---

१. क ख घ — **नाशयत्**, ग — **नाशयति**।
२. क ख घ — **द्रुतचेतसः** उपलभ्यते, ग — **द्रुतचेतसः** नोपलभ्यते।
३. क ख घ — **तद्विषयकवृत्तिप्रवाह०** उपलभ्यते, ग — **तद्विषयकवृत्तिप्रवाह०** नोपलभ्यते।
४. क ख घ — **तदसामर्थ्ये** उपलभ्यते, ग — **तदसामर्थ्ये** नोपलभ्यते।
५. क ख घ — **स्वभावस्य**, ग — **शीलस्य**।
६. क ख घ — **असामर्थ्ये**, ग — **सामर्थ्ये**।
७. क ख घ — **उक्तं**, ग — **ज्ञापितम्**।

निदिध्यासनं समानविषयतया साक्षात्कार[१]जनकत्वसाधनं कर्मादि योगेभ्यश्चान्तरङ्ग-मित्यभिप्रेत्य, अर्थभावनशब्देन पूर्वमादृतं यद्यपि तथाप्यदृष्टद्वारा कृपातिशयफल-कादन्तरायाभावफलकाच्च[२]च। तस्मात् परमं मुख्यं भक्तियोगं सर्वोपायफलभूतमयमत एव तदुभयफलकं प्रेमाख्यमभ्यासमाह—

**तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥**

**तत्प्रतिषेधे**ति। तेषां विक्षेपाणां प्रतिषेधार्थमनायासेन नाशार्थं[३] एकस्मिँस्[४]तत्त्वे मुख्यभगवति, अभ्यासः [५]गोपीनामिव तद्गुणगणश्रवणादिना द्रवीभूतस्य चेतसो मूषानिक्षिप्तद्रुतताम्रस्येव दृढतदाकारतारूपप्रेम

**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।**

इत्यादिना भगवत्सूचितः कार्य इत्यर्थः। यद्बलादनायासेन सम्पन्नायां जीवन्मुक्तौ विक्षेपाः प्रशममुपयान्ति।

**न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्।**

इत्यादिस्मृतेः। अथवा एकं सजातीयविजातीयस्वगतभेद[६]रहितं तत्त्व-मनारोपितमखण्डार्थ इति यावत्। तस्य अभ्यासः तदेकमजरममृतमभयमिति वृत्तिप्रवाहः कार्य इत्यर्थः।

**अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति।**
**आत्मरामः स योगीन्द्रो ब्रह्मीभूतो भवेदिह॥**
**आत्मक्रीडस्य सततं सदात्ममिथुनस्य च।**
**आत्मन्येव सुतृप्तस्य योगसिद्धिरदूरतः॥**

---

१. क ख घ — जनकत्व०, ग — जनकत्वात्।

२. ग — एतादृशनिश्चयविशेषस्यैव च सर्वपापप्रायश्चितरूपता सूचिता। महाभारते आश्वमेधिके व्यासेन युधिष्ठिरं प्रति—**युधिष्ठिर! तव प्रज्ञानसम्यगिति मे मतिः। न हि कश्चित् स्वयं मर्त्यः स्ववशः कुरुते क्रिया॥ ईश्वरेण नियुक्तोऽयं साध्वसाधु च मानवः। करोति पुरुषः कर्म तत्र का परिदेवना॥ आत्मानं मन्यसे चाथ पापकर्माणमन्ततः शृणु। तत्र यथा पापमयं कृष्येत भारत। तपोभिः क्रतुभिश्चैव दानेन च युधिष्ठिरः। तरन्ति नित्यं पुरुषाः येऽस्य पापानि भारत॥** [च पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **एतादृश....भारत** नोपलभ्यते।

३. ग — **भाविप्रतिबन्धार्थं** च [नाशार्थं पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **भावि....च** नोपलभ्यते।

४. क ख — **तत्त्वे मुख्यभगवति**, ग — **मुख्ये तत्त्वे भगवति**, घ — **तत्त्वे मुख्ये भगवति**।

५. क ख घ — **गोपीनामिव....दृढतदाकारता०** उपलभ्यते, ग — **गोपी....कारता०** नोपलभ्यते।

६. क ख घ — **रहितं**, ग — **शून्यम्**।

**अभियोगात् सदाभ्यासात् तत्रैव च विनिश्चयात्।**
**पुनः पुनरनिर्वेदात् सिद्ध्येद् योगो न चान्यथा ॥**

इति स्कन्दोक्तेः। तस्मात् [१]सगुणात्मवदाकाराकारधारावाहिवृत्तिप्रवाहः सविकल्पो निर्गुणगोचरो धारावाहिको निर्विकल्पको वा कार्योऽनायासेन मोक्षमिच्छतेति यावत्॥ ३२ ॥

तस्य[२] चित्तस्यासूयादिमलवतो योगासम्भवात् तन्निरासोपायं चर्यायोगमाह—

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ ३३ ॥**

**मैत्री**ति। अत्र सुखादिशब्दास्तद्वत्पराः। तथा च सुखितेषु[३] मैत्रीं सौहार्दम् ईर्ष्याकालुष्यनिवर्त्तकं, दुःखिषु[४] करुणां [५]दयामसूयाकालुष्यनिवर्त्तिकां, पुण्यवृत्तिषु[६] हर्षं द्वेषनिवर्त्तकम्, अपुण्यशब्दितपापिषु[७] उपेक्षाम् अमर्षकालुष्यनिवर्त्तिकां भावयेत्। तदेवं चर्यायोगेन चित्तमलनिरासकेन मुख्यादिषु[८] यथाक्रममुक्तभावनारूपेण सात्त्विको[९] धर्मो

---

१. क ख घ — सगुणात्म०....मोक्षमिच्छतेति यावत्, ग — मोक्षमिच्छता सगुणभगवद्गोचरं प्रेम निर्गुणनिर्विकल्पकं वा सम्पाद्यमिति भावः। केचित्तु अभ्यासवैराग्याभ्यामन्तरायनिवृत्तौ कर्तव्यायां अभ्यासदार्ढ्यार्थमाह—तत्प्रतिषेधेति। तेषामन्तरायाणां प्रतिषेधार्थमेकस्मिन् कस्मिंश्चिदभिमते तत्त्वेऽभ्यासः चेतसः पुनर्निवेशनं कार्यमित्यर्थमाहुः। तच्चिन्त्यं यथाऽभिमतध्यानाद्वेत्यनेनैव तदर्थलाभात् पौनरुक्त्यप्रसंगाभावादिति दिक्।

२. क ख घ — तस्य चित्तस्यासूयादिमलवतो योगासम्भवात्, ग — सोऽयमसूयादिमलवतश्चित्तस्य न सम्भवति।

३. क ख घ — सुखितेषु मैत्रीं सौहार्दम् ईर्ष्याकालुष्यनिवर्त्तकं, ग — सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मम मित्राणां सुखित्वमिति मैत्रीं सौहार्दं परोत्कर्षासहनरूपेर्ष्याकालुष्यनिवर्त्तकं भावयेत्।

४. क ख घ — दुःखिषु, ग — दुःखितेषु।

५. क ख घ — दयामसूयाकालुष्यनिवर्त्तिकां, ग — कथं तु नामैषां दुःखनिवृत्तिः स्यादिति दयां परापकारचिकीर्षारूपाऽसूयाकालुष्यनिवर्त्तिकां भावयेत् नोपेक्षां च वा हर्षम्।

६. क ख घ — पुण्यवृत्तिषु हर्षं द्वेषनिवर्त्तकं, ग — पुण्यवृत्तिषु मुदितां पुण्यानुमोदेन हर्षम् इष्टलाभजनितोत्साहरूपम्।

७. क ख घ — अपुण्यशब्दितपापिषु उपेक्षाम् अमर्षकालुष्यनिवर्त्तिकां भावयेत्, ग — अपुण्यशब्दितपापेषु उपेक्षाम् औदासीन्यम् अनुकूलप्रतिकूलचिन्ताराहित्यरूपं परलाभासहनरूपामर्षकालुष्यनिवर्त्तकं भावयेत् नानुमोदनं न वा द्वेषम्।

८. क ख — मुख्यादिषु, ग — सुखादिषु, घ — सुख्यादिषु।

९. क ख घ — सात्त्विकः, ग — शुक्लः।

जायते[१]। तेन च शुक्लेन[२] धर्मेण चित्तं प्रसन्नं भवति। प्रसादे च स्थितिपदं लभते। एतच्च पुष्कलं विरक्तस्यैव सम्भवतीति मुख्यचर्यायोगो वैराग्यमेवेति संक्षेपः ॥ ३३ ॥

एवं[३] मैत्र्यादिभावनया प्रसन्नस्य चित्तस्य स्थित्युपायं हठयोगमाह—

**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ॥ ३४ ॥**

**प्रच्छर्दने**ति। कौष्ठ्यस्य[४] वायोः प्रच्छर्दनम्, एकतरनासापुटेन मात्राप्रमाणेन शनैः शनैर्बहिर्निःसारणम्। विधारणं रेचितस्य वायोर्बहिरेव स्थापनं कुम्भकं, न तु सहसा प्रवेशनम्। तथा चात्र पूरकवर्जनाद्रेचितपूरितशान्तप्रत्याहारोत्तराधरसमभेदेन सप्तकुम्भकेषु मध्ये रेचितकुम्भकोऽयं प्रथमाभ्यासेऽनेकनियमानपेक्षतया प्रशस्तः[५]। सर्वमेतदग्रे प्राणायामप्रकरणे स्फुटीभविष्यति। तदेताभ्यां प्राणजये चित्तजयस्तयोर[६]विनाभावात् प्राणायामस्य सर्वपापनाशकत्वात् पापनिवृत्त्या च चित्तमेकत्र लक्ष्ये स्थिरं भवति। वा शब्दः सूत्रे वक्ष्यमाणोपायविकल्पार्थः। प्राणायामस्य हठयोगत्वमुक्तं स्मृतौ—

**हकारेण तु सूर्योऽसौ ठकारेणेन्दुरुच्यते।**
**सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥**
**सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणायामयोरैक्यलक्षणः।**
**हठयोगो योगबीजं प्राणायामः प्रकीर्त्तितः॥**

इति॥ ३४॥

लक्ष्ययोगस्वरूपमुपायान्तरमाह—

**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धिनी ॥ ३५ ॥**

---

१. क ख घ — **जायते**, ग — **उपजायते**।

२. क ख घ — **शुक्लेन धर्मेण**, ग — **विगतरागद्वेषमलम्**।

३. क ख घ — **एवं मैत्र्यादिभावनया....हठयोगमाह**, ग — **द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्य न वासने। एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यत** इत्यादिनाऽवशिष्टेन वासनाक्षयः प्राणसंशयश्च चित्तनिग्रहस्योपायावुक्तौ। तत्र वासनाक्षयोपायः शुभवासनोत्पादनरूपो वासनायोगोऽनेन सूत्रेण कथितः। इदानीं हठयोगाख्यं प्राणसंशयमाह।

४. ग घ — **प्राणस्य [कौष्ठ्यस्य पूर्वं]** उपलभ्यते, क ख — **प्राणस्य** नोपलभ्यते।

५. क ख घ — **प्रशस्तः**, ग — **प्रशस्ततम इति ज्ञापितम्**।

६. ग — प्रभोर्मनसो जये बहिरिन्द्रियाणामिव प्रभोः प्राणस्य जय एव मनसो निरोधसम्भवाच्च। तदुक्तं योगग्रन्थेषु **इन्द्रियाणां मनोनाथो मनोनाथश्च मारुतः। तस्मिन् क्षीणे च तत् क्षीणं तच्चिकित्स्यं प्रयत्नत** इत्यादिः [**अविनाभावात्** पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **प्रभोः....प्रयत्नत इत्यादिः** नोपलभ्यते।

**विषयवतीति**। नासाग्रादौ चित्तस्य संयमरूपाल्लक्ष्ययोगाद्दिव्यगन्धादिसाक्षात्कारो भवति। सेयं विषयवती प्रवृत्तिर्विश्वासमुत्पाद्य परमेश्वरादावतिसूक्ष्मे मनसः स्थितिं[१] सम्पादयतीत्यर्थः। तथा च शास्त्रीयानुभवविषये जाते श्रद्धया योगिनो ध्यानादौ स्थिरा[२] भवतीत्ययं लक्ष्ययोगः।

**या हि नासादिदेशेषु दृष्टिः पुंसां स्थिरा भवेत्।**
**स लक्ष्ययोग आख्यातो योगे श्रद्धाकरः परः॥**

इति स्मृतेरिति॥ ३५॥

ब्रह्मयोगं शिवयोगञ्चाह—

## विशोका वा ज्योतिष्मती॥ ३६॥

**विशोकेति**। अष्टदलादौ नादाख्ये ब्रह्मणि मनसः संयोगाद्[३] विशोका बहुतरसाधनाद्यायासकृतदुःखशून्या[४] ज्योतिष्मती ज्योति[५]र्विषया नादगतचिदानन्दविषया संविन्मनसः स्थितिहेतुरित्यर्थः। तथा ह्ययम[६]त्र क्रमः। हृदयाधोऽधोमुखमष्टदलं कमलं रेचकेणोर्ध्वमुखं विभाव्य तत्र सूर्यमण्डलं द्वादशकलात्मकं जागरितस्थानम् अकारं, तदुपरिचन्द्रमण्डलं षोडशकलात्मकं स्वप्नस्थानम् उकारं, तदुपरि वह्निमण्डलं दशकलात्मकं सुषुप्तिस्थानम् मकारं, तदुपरि नादाख्यं तुरीयं ब्रह्म विभावयेदिति ब्रह्मयोगः। तदुक्तं[७] गीतासारे—

**अनाहतस्य शब्दस्य तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः।**
**ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः॥**
**तन्मनो विमलं याति तद्विष्णोः परमं पदम्।**

हंसोपनिषदि चोक्तः—

**हंसानुसंधानफलभूतोऽनेकविधः सफलः। अस्यैव जपकोट्या**

---

१. क ख घ — स्थितिं सम्पादयति, ग — स्थितिहेतुः।

२. क ख ग — स्थिरा, घ — स्थिरः।

३. क ख घ — संयोगात्, ग — संयमात्।

४. क ख घ — बहुतरसाधनाद्यायासकृतदुःखशून्या, ग — विगतः शोकस्तमप्रधानरजःपरिणामरूपं दुःखं संसारहेतुर्मोहविशेष इष्टलाभानर्हता ज्ञानादिरूपो वा यस्याः सा सर्वदुःखमोहनिवर्त्तिका।

५. क ख घ — विषया, ग — प्रकाशो नादगतश्चिदानन्दो विषयो विद्यते यस्याः सा।

६. क ख घ — अत्र क्रमः, ग — क्रमोऽत्र।

७. क ख घ — तदुक्तं गीतासारे....परमं पदम्, ग — उक्तो हंसोपनिषत्प्रभृतिषु।

**नादम[1]नुभावयति यस्तस्य दशविध उपजायते। चिणीति प्रथमः, चिणिचिणीति द्वितीयः, घण्टानादस्तृतीयः, शङ्खनादश्चतुर्थः, पञ्चमस्तन्त्रीनादः, षष्ठस्तलनादः, सप्तमो वेणुनादः, अष्टमो भेरीनादो, नवमो मृदङ्गनादो, दशमो मेघनादः। नवमं परित्यज्य दशममेवाऽभ्यसेत्। तस्मान्मनोविलीने मनसि गते संकल्पविकल्पे दग्धपुण्यपापे सदाशिवो मशक्त्यात्मना सर्वत्राऽवस्थितः शान्तः प्रकाशयति।**

इत्यादिना। अतः संगृहीतः कालिदासेनापि[2]—

**आनन्दलक्षणमनाहतनाम्नि देशे**
**नादात्मना परिगतं[3] तव रूपमीशे।**
**प्रत्यङ्मुखेन मनसा परिचीयमानं**
**शंसन्ति नेत्रसलिलैः पुलकैश्च धन्या॥**

इति। अथवा भ्रूमध्यादौ ज्योतीरूपे प्रत्यगात्मनि बहिर्दृष्टिबन्धेन मनसः संयमाद् विशोका। हठयोगादाविवायासकृत[4]क्लेशरहिता ज्योतिष्मती साक्षिविषया संविन्मनसः स्थैर्यहेतुरिति शिवयोगः। अयमेव शाम्भवी मुद्रेत्युच्यते। तदुक्तम्—

**अन्तर्लक्ष्या बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।**
**एषा हि[5] शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥**

इति। सा च, योगासनचाञ्चरीभूचरीखेचर्यऽगौचरीनिर्वाणमुद्राभिः सिद्ध्यति। प्रकारस्तु गुरुमुखादवगन्तव्यः। यद्यप्यनेनाऽऽत्मसाक्षात्कारेण कृतार्थत्वान्नास्य स्थितिविशेषतयोपन्यासो युक्तस्तथापि कृताऽऽत्मसाक्षात्कारेणाऽपि परवैराग्यार्थमभ्यासापेक्षणात् तथोक्तम्। स्वविषयस्थैर्यहेतुत्वाच्चाऽन्यविषयकस्थैर्यहेतोः पूर्वयोगाद्भेद इति संक्षेपः॥ ३६॥

अवान्तरवासनायोगमाह—

## वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

**वीतेति।** वीतरागं निर्वासनं यत् सनकादीनां चित्तं तद्विषयं तद्विभावनपरं

---

१. क ख घ — अनुभावयति, ग — अनुभवति।
२. क ख घ — कालिदासेनापि, ग — तान्त्रिकैः।
३. क ख — परिगतं, ग घ — परिणतम्।
४. क ख घ — क्लेशरहिता ज्योतिष्मती, ग — क्लेशरहितत्वात् स्वयमनुभवरूपतया द्वैतदृष्टिकृतक्लेशनाशकत्वाच्च विशोकाख्या ज्योतिष्मती।
५. क ख घ — हि, ग — तु।

कुर्यात्। निर्वासनवासितमन्तःकरणं कुर्यादिति यावत्। अनेनात्र योगिनो मुमुक्षालाभेन वासनायोगो दर्शितः। उक्तञ्च स्मृतौ—

**सत्त्वावलम्बनं यत्तद् बीजं चित्त[1]विशोधने।**
**भवेत् स वासनायोगो योगान्तरविवर्द्धकः॥**

इति[2]। [3]अन्यापि चित्तं स्वभावतः सत्त्वप्रधानमपि तमसा पिहितमस्ति। तत् सात्त्विकभावनया तमोविगमे लब्धवृत्तिकं भवति। तेजःप्रतिबन्धजलशैत्यवदिति विनैव साधनान्तरं योगिनो मोक्षसुखनिष्ठासम्भवात्। अयं शुभो वासनायोगो विरुद्धवासना-निवर्त्तक इति॥ ३७॥

वासनायोगस्यावान्तरं भेदमाह—

**स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥ ३८॥**

**स्वप्नेति।** अत्र ज्ञानशब्दो[4] ज्ञेयपरः। स्वप्ने[5] भगवतो यद्रूपं प्रियमाराधयन्नेव प्रबुद्ध, एवं निद्रादौ यत्सुखमनुभूयते तद[6]वलम्बनं तद्विभावनपरं चित्तं कुर्यात्। पूर्ववासनाप्राप्तसत्त्व[7]प्रधानमेवान्तःकरणं कुर्यादिति यावत्[8]॥ ३८॥

ध्यानयोगमाह—

**यथाऽभिमतध्यानाद्वा॥ ३९॥**

---

१. क ख घ — **विशोधने**, ग — **निरोधने**।
२. क ख घ — **इति**, ग — **इत्यादिना**।
३. क ख घ — **अन्यापि....निवर्त्तक इति** उपलभ्यते, ग — **अन्यापि....इति** नोपलभ्यते।
४. ग — **ज्ञायत इति व्युत्पत्त्या** [ज्ञानशब्दः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **ज्ञायत इति व्युत्पत्त्या** नोपलभ्यते।
५. ग — **तथा च स्वप्ननिद्रयोरवस्थाविशेषयोर्यद्ज्ञेयसत्त्वं तदालम्बनं चित्तमित्यर्थः। तत्र** [**स्वप्ने** प्राक्] उपलभ्यते, क ख घ — **तथा....तत्र** नोपलभ्यते।
६. क ख — **अवलम्बनं**, घ — **आलम्बनं**, ग — **आलम्बनं तद्विषयम्**।
७. क ख घ — **प्रधानं**, ग — **प्रधानगतम्**।
८. ग — एते सर्वे लक्ष्ययोगस्यैवावान्तरभेदाः मन्तव्याः। मनसः स्थैर्यार्थमेकतरमात्रविषया-ऽऽदरादिति दिक्। अथवा स्वरूपज्ञानं स्वप्रज्ञानं पूर्वोक्तनिद्रारूपं च ज्ञानं एतयोरन्यतरस्य चिन्तनं वा चित्तं स्थितिनिबन्धनं भवतीत्यर्थः। अयं च ज्ञाने स्वप्रदृष्ट्या संसारिषु सुषुप्तिदृष्ट्या वा चित्तस्य स्थितिर्भवतीति यावत्। तथा चोक्तम्—**दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घं वा चित्तविभ्रमम्। दीर्घं वाऽपि मनोराज्यं संसारं रघुनन्दन॥ ब्रह्माद्यं स्थावरान्तं च प्रसुप्तं यस्य मायया। तस्य विष्णोः प्रसादेन यदि कश्चित् प्रमुच्यते॥ चराचरं लय इव प्रसुप्तमिह पश्यताम्। किं मृषा व्यवहारेषु न विरक्तं भवेन्मन** इत्यादि [यावत् पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **एते....मन इत्यादि** नोपलभ्यते।

यथेति। किम्बहुना, हरि[1]रामादिरूपं परमेश्वरं बाह्यं चन्द्रसूर्यादिज्योतिर्वा यदेवेष्टं तदेव ध्यायेत्। तस्मादपि ध्यानाल्लब्धस्थितिकस्य चित्तस्य साधनान्तरं विनापि केवले परमात्मनि स्थितौ योग्यता भवतीत्यर्थः। अयमेव ध्यानयोग उक्तो योगग्रन्थेषु।

**विना देशादिबन्धेन वृत्तिर्याऽभिमते स्थिरा।**
**ध्यानयोगो भवेदेव चित्तचाञ्चल्यनाशकः॥**

इत्यादिना। यद्वा यथाभिमतानां तीर्थदेवलोकवर्णतत्त्वादीनां यथाभिमतेषु स्व[2]-देहादिषु ध्यानाद् भावनाविशेषान्मनसः स्थितिर्भवतीत्यर्थः। तत्र यद्यपि ब्रह्मविदो ब्रह्म-मयत्वादिना सर्वमेव तीर्थं प्रतिलोमकूपं च तीर्थानि भवन्तीति तथापि युञ्जानेन चित्त-शुद्ध्यर्थं प्रथमतस्तीर्थादिकमवश्यं भावनीयम्। तद्यथा मूर्द्धनि सहस्रारे अयोध्या, हृदये अनाहते मथुरा, मूलाधारे माया, भ्रूमध्ये आज्ञाचक्रे काशी, स्वाधिष्ठाने काञ्ची, मणिपूरे अवन्ती, कण्ठे विशुद्धे द्वारका, नासाग्रे प्रयागः, ईडायां गङ्गा, पिङ्गलायां यमुना, सुषुम्नायां सरस्वती। अन्यासु नाडीषु नर्मदाद्याः सर्वा अपि सरितः सन्तीति। तत्र तत्राधाराधेयभावेनाभेदेन वा तत्तत्तीर्थं भाव्यं तत्तत्तीर्थयात्रार्थम्। एवं शिरसि कण्ठादधो नाभिपर्यन्तं नाभेरधश्चरणपर्यन्तं ग्रामत्रयम्। शिरः श्मश्रुहृदयकक्षादिषु सलोकेषु देशेषु चतुर्दशाख्यानि ललाटादिषु रोमशून्येषु नवोषराश्च सन्ति। पुर्यादिसविधे चोपपुर्यादीनि सन्तीति तीर्थभावना। एतत्[3] स्पष्टं वराहपुराणादौ—

**ब्रह्मरन्ध्रादयोऽयोध्या सहस्रारं तु तद्विदुः।**
**मथुराऽनाहतं चक्रं हृदये योगिनो विदुः॥**
**मूलाधारं भवेन्माया सर्वा[4]धारयी ततः।**
**आज्ञाचक्रं स्मृता काशी जाबालश्रुतिमूर्द्धनि॥**
**स्वाधिष्ठानं स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका।**
**विशुद्धिर्द्वारका प्रोक्ता सप्तपुर्यो यथाक्रमम्॥**
**आकटेः पादपर्यन्तं शालग्रामं प्रकीर्त्तितः।**
**आकण्ठात् कटिपर्यन्तं प्रोच्यते हरिमन्दिरम्॥**
**आशिरः कण्ठपर्यन्तं नन्दिग्रामं प्रचक्षते।**
**दण्डकं गुह्यलोमानि सैन्धवं श्मश्रुलोमकम्॥**

---

१. क ख घ — रामादि०, ग — हरादि०।
२. क ख घ — देहादिषु, ग — देहे।
३. क ख घ — एतत् स्पष्टं....परं स्मृतं इत्यादि उपलभ्यते, ग — एतत्....इत्यादि नोपलभ्यते।
४. क ख — आधारयी, घ — आधारमयी।

चिबुके जम्बुमार्गं च हृदये पुष्करं स्मृतम्।
उत्पलावर्त्तकं वामां भ्रुवं दक्षां च नैमिषम्॥
कुरुक्षेत्रं सनन्दक्षं तत्कक्षां कुरुमण्डलम्।
सव्यकक्षामर्बुदञ्च विदुः केशान् हिमालयान्॥
नवारण्यानि चैतानि शरीरे सन्ति देहिनाम्।
रेणुका कण्ठकूपे स्यान्नासिकायां तु शूकरम्॥
भ्रुवोर्मध्ये स्थिता काशी तदधो नन्दकाननम्।
वामपाणितले काशी कालेशश्च तथोत्तरे॥
वटेशः पादयोः कालञ्जरं स्यात्तु ललाटके।
नाभिदेशे महाकाल ऊषरा नवकीर्तिताः॥
सव्ये नासापुटे कोका गुदे कुब्जाम्बुकं स्मृतम्।
दक्षेऽर्बुदगिरिर्दन्तबिलं स्यान्मणिकर्णिका॥
प्रयागे नासिकाग्रे तु स एव वट उच्यते।
ईडा वामे स्थिता गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी॥
वार्णी सुषुम्नां विद्यात्तु परा नाड्यः परा सरित्।
शालग्रामस्तु पादाग्रे शूकरं दक्षनासिका॥
पुरीतन्मथुरा प्रोक्ता गयाक्षेत्रं मुखं स्मृतम्।
लिङ्गं निष्कर्मणं लोहार्गलं दन्ता विनायकः॥
जिह्वाग्रे वा हनूसन्धिः प्रभासस्तु प्रकीर्त्तितः।
ब्रह्मखं बदरीक्षेत्रं गुह्यान्येवं चतुर्दश॥
सप्त पुर्यस्त्रयो ग्रामा नवारण्योषरास्तथा।
चतुर्दशैव गुह्यानि मुक्तिद्वाराणि भूतले॥
क्षमातीर्थं तपस्तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः।
सर्वभूतदया तीर्थं ध्यानतीर्थमनुत्तमम्॥
एतानि पञ्च तीर्थानि सत्यषष्ठानि देहिनाम्।
वसन्ति सर्वदेहेषु तेषु स्नानं परं स्मृतम्॥

इत्यादि। अथ देवभावना। तत्र स्वप्रकाशचैतन्यानन्दरूपः पुरुषः शिवः। सत्त्वादिगुणका प्रकृतिः शक्तिः। तदुभयोपादानकत्वात् तन्मयं सर्ववस्तु। एवञ्च चित्ते वासुदेवः, बुद्धौ चतुर्मुखः, अहंकारे शङ्करः, मनसि चन्द्रः, श्रोत्रे दिक्, त्वचि वायुः,

चक्षुषोः सूर्यः। तत्रापि दक्षिणेऽक्षिणि यः पुरुषरूपः स इन्द्रस्वरूप ईश्वरः। वामे यः स इन्द्राणी स्वरूपिणी ईश्वरी। मध्ये च तयोः सम्मिलनात्तत्रैव नयनतेजोरूपौ भावनीयौ तौ दम्पती। एवं रसनायां वरुणः। घ्राणे अश्विनीकुमारौ, वाचि अग्निः, पाण्योरिन्द्रः, पादयोरुपेन्द्रः, पायौ यमः, उपस्थे प्रजापतिः। तत्र तत्राधाराधेयभावेनानुग्राह्यानुग्राहकभावेनाऽभेदेन वा सा सा देवता भाव्या। एवञ्च तत्तद्व्यापारफलयोः पूर्णता भवतीति देवताभावना। अथ लोकभावना। पादमूले पातालं, पार्ष्णिप्रपदयो रसातलं, गुल्फद्वये महातलं, जंघाद्वये तलातलं, जानुद्वये सुतलं, ऊरुद्वये वितलं, [१]तलञ्च जघने, नाभौ भुवर्लोकम्, उरसि स्वर्लोकं, मूर्द्धनि सत्यलोकं, बाह्वादिषु शक्रादिदेवताश्चैवं सर्वमयं शरीरं तत्तल्लोकाँश्चेश्वरीयशरीरतया भावयेदिति निष्कर्षः।

अथ वर्णभावना। सा च मातृका[२]न्यासरीत्या। अथ षट् चक्राणि। तत्र गुदाद् द्व्यङ्गुलोपरि मेण्ढ्राद् द्व्यङ्गुलादधः कन्दस्थानम्। तदुपरि तप्तचामीकरप्रभं त्रिकोणं कामरूपम्। तत्त्रिकोणस्य वामकोणे ईडा, दक्षिणे पिङ्गला, मध्ये सुषुम्ना, सुषुम्ना मध्ये[३] चित्रिणी[४] वर्णमयी तद्वर्णविन्यासात् कमलाकारचक्रनिष्पत्तिः। तथाहि—कामरूपोपरि मूलाधारनामकं चक्रम्। तच्च सुवर्णाभं लंबीजान्वितेन सावित्रीसहितब्रह्मसरस्वती-सहितगणेशाद्यधिष्ठितेन षट्पञ्चाशच्छिवशक्तिमिथुनवता चतुष्कोणेन पृथिवीस्वरूपेण कर्णिकाकारेण मध्ये भूषितं—व-श-ष-[५]सामेकं चतुर्दलम्। तन्मध्ये भास्वराकारम् अधोमुखं चित्स्वरूपिण्या सार्द्धत्रिवलाकारेण स्थितया विद्युत्प्रभया कुण्डलिन्या स्वमुखेन तन्मध्ये मुद्रयित्वा वेष्टितं स्वयम्भूनामकं शिवलिङ्गम्। एतच्च भावितं सकलयोगसिद्धीः पृथिवीजयादिकं ब्रह्मगणेशादि[६]प्रतीतिञ्च वितरति। यच्च हृदयनाभिप्रदेशादिकं कुण्डलिन्या अधिष्ठानमुक्तं तन्मूलाधारादुत्थितायास्तस्या हृदयादौ प्रकटीभावाभिप्रायेणातो न कोऽपि विरोध इत्यास्तां विस्तरः। तदुपरि लिङ्गमूले स्वाधिष्ठाननामकं चक्रम्। तच्च सन्माणिक्यसमप्रभं, वंबीजान्वितेन लक्ष्मीसहित-विष्ण्वधिष्ठितेन द्विपञ्चाशन्मिथुनवता अर्द्धचन्द्राकारेण शुभ्रेण जलस्वरूपेण कर्णिकोत्तमे

---

१. क ख — तलं, ग — अतलमहीतलं, घ — महीतलम्।
२. क ख घ — न्यास०, ग — विन्यास०।
३. क ख ग — मध्ये, घ — सुषुम्नामध्ये।
४. क ख — चिन्त्रिणी, ग घ — चित्रिणी।
५. क ख ग — सामेकं, घ — सात्मकम्।
६. क ख — प्रतीतिं, ग घ — प्रीतिम्।

मध्ये भूषितं ब-भ-म-य-र-लाऽऽत्मक-षड्दलं भावुकानां विष्णुप्रीतिजलजयादिकारकम्। अथ नाभौ मणिपूरनामकं चक्रम्। तच्च विद्युत्प्रभं वंबीजान्वितेन पार्वतीसहितशङ्कराधिष्ठितेन द्विसमधिकषष्टिसंख्याकमिथुनवता त्रिकोणेन उद्यदादित्यप्रभेण तेजःस्वरूपेण कर्णिकोत्तमेन मध्ये भूषितं डादिकान्तवर्णात्मकदशदलं स्वभावुकानां [१]शंकरप्रीतितेजोजयादिकारकम्। अथ हृदये अनाहतनामकं चक्रम्। एतदेव षोडशारषोडशाधारादिनापि आगमादौ प्रसिद्धम्। तच्च धूम्रवर्णं यंबीजान्वितेन प्रकृतिसहितेनेश्वराधिष्ठितेन चतुष्पञ्चाशन्मिथुनवता षट्कोणेन बाणनामकशिवलिङ्गलक्षितेन वायुस्वरूपेण कर्णिकोत्तमेन मध्ये भूषितं कादिठान्त[२]वर्णात्मकद्वादशदलम्। एतच्च भावितं प्रकृतीश्वर[३]प्रतीतिवायुजयादिकारकं कण्ठे विशुद्धनामकं चक्रम्। तच्च श्वेतम् अंबीजान्वितेन अर्द्धनारीश्वरस्वरूपसदाशिवाद्यधिष्ठितेन द्विसप्ततिमिथुनवता वृत्ताकारेण सुधांशु[४]प्रभेण कर्णिकोत्तमेन मध्ये भूषितं [५]स्वरीयवर्णात्मकषोडशदलं भावितं भावुकानां सदाशिवप्रीतिनभोजयादिकारकम्। भ्रूमध्ये आज्ञानामकं चक्रम्। तच्च मुक्ताकारं हंबीजान्वितेनाविद्यासहितजीवाधिष्ठितेन शृङ्गाटकाकारेण चतुःषष्टिस्त्रीपुरुषवता मनोरूपेण कर्णिकोत्तमेन मध्ये भूषितं हकार[६]लकारात्मकवर्णद्वयदलं भैरवानन्दनाम्ना इतरेण शिवलिङ्गेनोपलक्षितं स्वभावुकानामात्मप्रीतिमनोजयादिकारकं पादादिजानुपर्यन्तं पूर्वोक्तलं[७]बीजात्मकविशेषणविशिष्टं पृथ्वीस्थानम्। एवमाजान्वोः पायुपर्यन्तं अपां स्थानम्। आपायोर्हृदय[८]पर्यन्तं तेजःस्थानम्। आहृन्मध्याद् भ्रूपर्यन्तं वायुस्थानम्। तदूर्ध्वम् आकाशस्थानमिति याज्ञवल्क्यगीतादावुक्तम्। सर्वत्र सर्व[९]सत्ताङ्गीकाराद्भावनातो विशेषोपपत्तेरविरुद्धं ज्ञातव्यम्।

मूर्द्धनि सहस्रदलं कमलम्। तच्च शशिप्रभस्य पुरोः[१०] परमात्मनः स्थानम्।

---

१. क ख घ — **शंकर०**, ग — **भवानीशंकर०**।
२. क ख ग — **वर्णात्मक०**, घ — **वर्णात्मकम्**।
३. क — **प्रतीति०**, ख ग घ — **प्रीति०**।
४. ग घ — **नभःस्वरूपेण** [**प्रभेण** पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — **नभःस्वरूपेण** नोपलभ्यते।
५. क ख ग — **स्वरीयवर्णात्मक०**, घ — **स्वरवर्णात्मकम्**।
६. क ख ग — **लकार०**, घ — **क्षकार०**।
७. क ख — **बीजात्मक०**, ग — **बीजान्वितत्वादि०**, घ — **बीजात्मकम्**।
८. क ख घ — **पर्यन्तं**, ग — **अन्तम्**।
९. क ख घ — **सत्ता०**, ग — **सत्त्व०**।
१०. क ख — **पुरोः**, ग घ — **गुरोः**।

ललाटमध्येऽहंकारस्य ललाटोपरि बुद्धितत्त्वस्य तदुपरि प्रकृतेः सहस्रदले पुरुषस्य स्थानमिति प्रपञ्चितं योग[1]ग्रन्थेषु विस्तरभयान्न लिख्यते[2]।

अथानाहतसविधे कन्दमध्यात् समुत्थितं द्वादशाङ्गुलनालं चतुरङ्गुलमधोमुखमप्यूर्ध्वमुखत्वार्थं ऊर्ध्व[3]मुखं भाव्यम्। दहरनामकमष्टदलं कमलम्। तत्र प्राणायामप्रेरितः पूर्वकर्मवासनाबद्धो विज्ञानौजः स्वरूपो जीवो दिवानिशं भ्रमति। तत्र भ्रमणक्रमः। पूर्वदलस्य वामोर्ध्वमूलमारभ्य पत्राग्रपर्यन्तं त्रिंशच्छ्वासपर्यन्तमाकाशतत्त्वमाश्रित्य जीवो भ्रमति। अथ षष्टिश्वासपर्यन्तं वायुतत्त्वं। नवति श्वासान्तं तेजस्तत्त्वम्। विंशत्यधिकशतश्वासान्तं वारितत्त्वम्। पञ्चाशदधिकशतश्वासान्तं पृथिवीतत्त्वम्। एवमेकैकस्मिन् पत्रार्द्धे सार्द्धचतुःशतश्वासा भवन्ति। एवमपरार्द्धे पत्राग्रादाऽऽरभ्यामूलपर्यन्तं प्रथमं सार्द्धशतश्वासान् पृथिवीतत्त्वम्। ततो विंशत्यधिकशतश्वासान् वारितत्त्वम्। नवतिश्वासाँस्तेजस्तत्त्वम्। षष्टिश्वासान् वायुतत्त्वम्। त्रिंशच्छ्वासान् आकाशतत्त्वमाश्रित्य भ्रमति। एवं सम्पूर्णपत्रे नवशतानि श्वासानां भवन्ति। एवमेव दलाष्टकभ्रमणे शतद्वयाऽधिकसप्तसहस्रसंख्याकाः श्वासाः भवन्ति। एवंविधभ्रमणेन वारत्रयमहोरात्रे भ्रमते। तेन षट्शताधिकैकविंशतिसहस्रसंख्याकाः श्वासा भवन्ति। आह चैवं गोरक्षनाथोऽपि—

**षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः।**
**हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥**
**हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः।**

इत्यादि। एतावद्भिः श्वासैः षष्टिघटिका भवन्ति। तथाहि—गुरुदशाक्षरोच्चारणकालेन प्रायशः साधारणजनस्यैकः श्वासो भवति। षष्टिश्वासैरेकः यत्नो भवति। षष्ट्यधिकशतत्रयसंख्याकैः श्वासैरेका घटिका भवति। षष्टिघटिकाभिरहोरात्रम्। षष्ट्यधिकशतत्रयाहोरात्रैर्वत्सरः। एवं प्रतिपुरुषं श्वासनिर्गमवैचित्र्याद् वत्सरादि पृथगिति मन्तव्यम्। अत एव प्राणायामैरायुर्वृद्धिः। अत एव कल्पायुषोऽपि शत[4]वर्षायुषः प्रोच्यन्तो अस्मत्कल्पस्य तदीयश्वासघटितसंवत्सरशतकत्वात्। ज्योतिःशास्त्रसिद्धायुर्दाय एतत्क्रमेणैव। अत एव कदाचित् साधारणवत्सरक्रमेण न मिलत्यपि।

---

१. क ख घ — ग्रन्थेषु, ग — प्रकरणादिषु।
२. क ख घ — लिख्यते, ग — तन्यते।
३. क ख घ — मुखं, ग — मुखतया।
४. क ख घ — वर्ष०, ग — कल्प०।

अथ पूर्वादिदिग्दलचरे श्वसने यादृशी मनोवृत्तिर्भवति तादृशी तत्र [१]तच्छ्वसन-सञ्चारज्ञानायोच्यते। तथा च हंसोपनिषदि—

**[२]एषोऽसौ परमहंसो भानुकोटिप्रतीकाशो येनेदं व्याप्तं तस्याष्टधा वृत्ति-र्भवति। पूर्वदले पुण्ये मतिर्भवति। आग्नेये निद्रालस्यादयो भवन्ति। याम्ये क्रौर्य्ये मतिः। नैर्ऋत्ये पापे मनीषा। वारुण्यां क्रीडायां मतिः। वायव्ये[३] गमनादौ बुद्धिः। सौम्ये रतिप्रीतिः। ऐशान्ये[४] द्रव्यादानम्। मध्ये वैराग्यम्। केसरे जाग्रदवस्था। कर्णिकायां सुप्तम्। लिङ्गे सुषुप्तिः। पद्मत्यागे तुरीयम्।**

इत्यादि। अत एव कृताभ्यासा योगिन आकाशतत्त्ववहनसमनन्तरमेव पत्रान्तर-गमनावान्तरकालीने पत्रद्वयान्तरीये श्वसनसंचारे जायमाने क्षणमात्रं ब्रह्मानन्दोद्बोधे प्रादुर्भूते तत्र मनः स्थिरीकुर्वन्ति। यथा मनः पत्रद्वयान्तर एव श्वसनविशिष्टो जीवः स्थिरो भवति। ततश्चानवरतं ब्रह्मानन्दोद्बोधो भवति। अत एवैश्वर्यादिलक्षणेन्द्रादिगुणार्थिनो योगिन इन्द्रादिदल एव श्वसनविशिष्टं जीवं स्थिरीकुर्वन्ति। स्थिरीकरणोपायस्तु तत्तद्दलश्वसनसञ्चारकालीनायाः पूर्वोक्तायास्तत्तद्दिक्[५]पालनानुरूपाया इन्द्रोऽहमित्या-कारिकायाश्च मनोवृत्तेरनवरतमाश्रयणम्। यावच्चेन्द्राद्यनुरूपा मनोवृत्तिराश्रीयते, तावत्तद्-देवदिग्दलश्वसनविशिष्टो जीवस्तिष्ठति। एवमेव वक्ष्यमाणाऽऽकाशादिगुणविशिष्टा यावत्पर्यन्तं मनोवृत्तिस्तावत्पर्यन्तं तत्तत्त्व एव तथाभूतो जीवस्तिष्ठतीति गुरुपरम्परा-गतयोगिनां सङ्केतः। आकाशादितत्त्ववहनपरीक्षा त्वेवम्। यदाकाशतत्त्वमाश्रित्य जीवः श्वसनप्रेरितः प्राचीनकर्मविशेषवासनाविशेषादिबद्धो रज्जुबद्धः श्येनादिरिव भ्रमति, तदा नासाविवरनिर्गतश्वसनः अनुष्णाशीतस्पर्शो वर्तुलाकारो द्वादशाङ्गुलादपि दीर्घः। नासाग्रस्थितकरतलादिव्यापका[६]यासो रक्तश्वेतश्यामादि[७]सम्मिलितोद्भूतकर्बुरवर्णो जायते। नासाग्रस्थिते च दर्पणे श्वाससम्बन्धेनोत्पन्नाया मलिनच्छायायाः क्रमाद्दर्पणमध्ये संकोचभागच्छन्त्या वर्तुलाकारतया परिणामो वर्णश्च कर्बुरः स्फुटमभिव्यज्यते। एवं

---

१. क ख घ — तत्, ग — तत्र।
२. क ख घ — एषः, ग — यः।
३. क ग घ — वायव्ये, ख — वायवे।
४. क ख घ — ऐशान्ये, ग — ऐशाने।
५. क ख — पालन०, ग घ — पाल०।
६. क ख ग — आयासः, घ — आयामः।
७. क ख घ — सम्मिलित०, ग — सम्मिलन०।

वायुतत्त्ववहने श्वसनोऽसावनुष्णाशीतस्पर्शः षट्कोणाकारो नवाङ्गुलो नासाग्रस्थित-करतलादौ तिर्य्यग्वहन्नाधिगतो धूम्रवर्णश्च जायते। पूर्ववद्दर्पणमलिनच्छायायाः संकुचन्त्या षट्कोणाकारता धूम्रवर्णश्च प्रकटमुपलक्ष्यते। एवं तेजस्तत्त्ववहने श्वसन ऊष्णो रक्तस्त्रिकोणाकारः षडङ्गुलो नासाग्रस्थितकरतलादेरूर्ध्वभाग[१]स्पर्शो जायते। दर्पणच्छायायाश्च रक्तता त्रिकोणता चोपलभ्यते। एवं जलतत्त्ववहने श्वसनः शीतलोऽर्द्धचन्द्राकारः श्वेतवर्णः षडङ्गुलादपि न्यूनगतिः। नासाग्रस्थितकरतलादेरधोभाग[२]स्पर्श उपजायते[३]। दर्पणमलिनच्छायायाश्चार्द्धचन्द्राकारता श्वेतवर्णश्चोपलक्ष्यते। एवं पृथिवीतत्त्ववहने श्वसनोऽनुष्णाशीतस्पर्शः पीतवर्णश्चतुष्कोणो गुरुर्नासाग्रस्थितकरतलादौ मध्येऽभिव्यक्तोऽल्पगतिश्च जायते। दर्पणमलिनच्छायासु चतुष्कोणाकारतापीत-वर्णश्चोपलक्ष्यत इत्यादि गुरूपदेशतोऽवगन्तव्यम्। वहननाड्यौ तूत्सर्गत ईडापिङ्गले। तत्रेडा वामनाडी। तस्यां श्वसनप्रवाहश्चन्द्रसंज्ञः। शक्तिरूपः शीतलत्वात्। पिङ्गला दक्षिणा नाडी। तस्यां श्वसनप्रवाहो दिवाकरसंज्ञः शिवरूपः। उष्णत्वात्। अतो रात्रौ शैत्यप्रधानसमये दक्षिणनाड्या दिवसे उष्णप्रधानसमये वामनाड्या यदि श्वासं सर्वदा वाहयति योगी, तदा कालं जयति। रात्रौ शैत्यादिना दिवा च रौद्रादिना नाऽभिभूतो भवति। एवं यदि वामनाडीवहनसमये भोजनमैथुनादि क्रूरं कर्म, दक्षिणनाडीवहनसमये कर्त्तव्यं भवति, तदा वामनासाविवरमुद्रणवामपार्श्वशयनादिना दक्षिणनाड्यां वहनं श्वसनस्य सम्पादनीयम्। एवं दक्षिणनाडीवहनसमये यात्रादिशुभं कर्म वामनाडी-वहनसमये कर्त्तव्यं भवति, तदा दक्षिणनासाविवरमुद्रणदक्षिणपार्श्वशयनादिना वामनाड्यां वहनं सम्पादनीयम्। तेन योगिनः सिद्धिर्भवतीति संक्षेपः॥ ३९॥

चित्तस्थितिजयस्य ज्ञापकं सिद्धियोगं समाध्यनुकूलमाह—

**परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः॥ ४०॥**

**परमेति**। अस्य स्थिरचित्तस्य योगिनः परममहत्त्वान्तः परममहत्त्वं येषां वियत्पुरुषादीनां तत्पर्यन्तो वशीकारः अप्रतिघातः[४] केनाप्यप्रतिबन्ध्यता। सैव क्षुत्पिपासादि-

१. क — **स्पर्शः**, ख ग घ — **स्पर्शी**।
२. क ख — **स्पर्शः**, ग घ — **स्पर्शी**।
३. क ख घ — **उपजायते**, ग — **जायते**।
४. क ख घ — **अप्रतिघातः केनाप्यप्रतिबन्ध्यता**, ग — **अप्रतिघातो जायते सर्वत्र स्वतन्त्रता भवतीति यावत्**।

पीडा[१]प्रतिबन्धद्वारा समाधिसाधिका चित्तजयस्य च ज्ञापिकेति भावः। अयमेव सिद्धि[२]योगः—

**प्राणस्पन्दनिरोधाद्यैरुपायैर्दृढता परा।**

**सिद्धियोगो भवेदत्र योगः सिद्धिकरः परः॥**

इत्यादिना॥ ४०॥

सम्प्रज्ञातस्य विषयं प्रदर्शयन्नसम्प्रज्ञाताऽपरपर्यायं लययोगमाह—

**क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनतासमापत्तिः॥ ४१॥**

**क्षीणवृत्तेरि**ति। अभ्यासवैराग्याभ्यामपगमवृत्त्यन्तरस्य चित्तस्य ग्रहीतृग्रहण-ग्राह्येषु, ग्रहीता पुरुषः स्थूलसूक्ष्मभेदेन[३], ग्रहणं गृह्यतेऽर्थोऽनेनेतीन्द्रियम्, एवं ग्राह्यं च ग्रहीतृग्रहणग्राह्याणि। तेषु या तत्स्थतदञ्जनता तत्स्थेन उपरागेण तदञ्जनता तन्मयता सम्यक् तदाकारता समापत्तिः सम्यगापत्तिर्लयः सम्प्रज्ञातलक्षणो योगो भवतीत्यर्थः। अत्र स्थूलसूक्ष्मवस्त्वर्थग्राह्यपदेनैवेन्द्रियलाभेऽपि तदर्थ[४]ग्रहपदस्योपादानं गोबलीवर्दन्यायेन। आनन्दस्य तु ह्लादापराख्यस्यान्तःकरणधर्मत्वेन ग्राह्यपदार्थेऽन्तर्भूतस्येन्द्रियादेरवान्तरविभाजकधर्मस्याऽभावान्न पृथगुक्तिः। इत्थञ्च **वितर्कविचारानन्दे**ति सूत्रेणोक्तस्य सवितर्कादिभेदेन चतुर्विधस्य सम्प्रज्ञातस्य लाभः। ग्राह्यपदेन वितर्क-विचारानन्दानां ग्रहीतृपदेनाऽस्मितायाश्च लाभादिति भावः। उपरागेण तदाकारतायां दृष्टान्तमाह—**अभिजातस्येव मणेरि**ति। निर्मलस्य स्फटिकादेर्यथा जपाकुसुमाद्यु-परागेण रक्ताद्याकारता तथेत्यर्थः। यद्यपि ग्राह्यसमापत्तेः प्रथमभूमित्वात् सूत्रे ग्राह्यक्रमेणैव निर्देशो युक्तस्तथापि ग्रहीतृसमाधेर्मुख्यत्वज्ञापनाय ग्रहीतृक्रमेणैव प्रथमतो निर्देशःकृत इति दिक्॥ ४१॥

तत्र ग्राह्यग्रहणगोचरा समापत्तिः स्थूलसूक्ष्मार्थविषयकत्वात् सवितर्कसविचार-

---

१. क ख घ — **प्रतिबन्ध०**, ग — **प्रबन्ध०**।

२. ग — **उक्तः योगग्रन्थेषु** [योगःपश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **उक्तः योगग्रन्थेषु** नोपलभ्यते।

३. क ख घ — **स्थूलसूक्ष्मभेदेन, ग्रहणं गृह्यतेऽर्थोऽनेनेतीन्द्रियं**, ग — **ग्रहणं गृह्यतेऽर्थोऽनेनेति स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधमिन्द्रियम्**।

४. क ख घ — **ग्रह०**, ग — **ग्रहण०**।

भेदेन द्विविधा। पुनर्विकल्पस्य सङ्कीर्णत्वासङ्कीर्णत्वाभ्यां सवितर्क[१]निर्वितर्कभेदेन चतुर्धा भवति। तत्र सवितर्कायाः स्वरूपमाह—

**तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥**

**तत्रे**ति। तत्र तासु मध्ये सवितर्का समापत्तिरेषा ज्ञातव्या, या शब्दार्थज्ञानानां विकल्पैः परस्पराभेदभ्रमैः संकीर्णा मिश्रिता। तथा हि—गौरित्युक्ते शब्दार्थज्ञानानि परस्परं त्रीण्यभिन्नानि लोके भासन्ते। तत्र समाहितस्य योगिनः समाधिप्रज्ञायां समारूढा गवाद्यर्था यदि परस्पराभेदभ्रमरूपैर्विकल्पैरनुविद्धा एव भान्ति तदा सा विकल्पसङ्कीर्णा विकल्पविषया सवितर्कसंज्ञा भवतीत्यर्थः ॥ ४२ ॥

निर्वितर्कामाह—

**स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का ॥ ४३ ॥**

**स्मृतीति**। गवादिपदानां सङ्केतो लोके विकल्पितेष्वेव गृह्यते। तस्य स्मृत्या शाब्दज्ञानं पदार्थानुमितिश्च विकल्पित एव जायते। तत्र स्मृतिपरिशुद्धौ अर्थमात्र-तात्पर्यवता चित्तेन अर्थमात्राभ्यासात् सङ्केतस्मृतेस्त्यागे सति सविकल्पकत्वाभावात् स्वरूपशून्येव, न वस्तुतः स्वरूपशून्याऽतोऽर्थमात्रस्य अविकल्पितार्थस्य निर्भासो भानं यत्रेत्यर्थमात्रविषया सा समापत्तिर्निर्वितर्केत्यर्थः ॥ ४३ ॥

**एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ॥ ४४ ॥**

**एतयैवेति**। एतयैव [२]सवितर्कनिर्वितर्कया च समापत्त्या सूक्ष्मविषया, सूक्ष्मं तन्मात्राहङ्कारादिर्विषयो यस्याः सा तत्र सूक्ष्मेषु विशिष्टेषु स्ववाचक[३]शब्दज्ञाना-भ्यासभेदेना[४]नुविद्धे विकल्पितेषु या समापत्तिः सा सविचारा। तेष्वेव[५] विशेषणशून्ये-ष्वर्थमात्रेषु या समापत्तिः सा निर्विचारेति भावः ॥ ४४ ॥

नन्वस्या ग्राह्यग्रहणसमापत्तेः किम्पर्यन्तं सूक्ष्मविषयत्वं तत्राह—

**सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ॥ ४५ ॥**

---

१. ग — **सविचारनिर्विचार०** [निर्वितर्क० पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **सविचार-निर्विचार०** नोपलभ्यते।

२. क ख ग — **सवितर्क०**, घ — **सवितर्कया**।

३. क घ — **शब्दज्ञानाभ्यासभेदेन**, ख ग — **शब्दज्ञानाभ्यामभेदेन**।

४. क ख — **अनुविद्धे**, ग घ — **अनुविद्धेषु**।

५. क ख घ — **तेष्वेव विशेषणशून्येष्वर्थमात्रेषु या समापत्तिः**, ग — **तदन्या सूक्ष्मार्थमात्र-निर्भासा**।

**सूक्ष्मेति**। अस्याः समापत्तेः सूक्ष्मविषयत्वं उक्तप्रकारम् अलिङ्गपर्यवसानम्। लयं गच्छतीति लिङ्गं महत्तत्त्वादि। न लिङ्गं अलिङ्गं प्रधानम्। तत्पर्यन्तमेव। अतः सूक्ष्मस्याभावात् पुरुषस्य सत्त्वेऽप्य[१]कारणत्वे कार्याधिकसौक्ष्म्याभावादसंग्रह इति दिक्॥ ४५॥

तदे[२]व [३]**निर्वितर्के**त्यादिसूत्रेण चतुर्धा विवृतस्य[४] सम्प्रज्ञातस्य **क्षीणवृत्ते**रित्यादिसूत्रेण ग्राह्यग्रहणभेदेन विशिष्टाऽविशिष्टभेदेन चावान्तरविभागः कृतः। इदानीं सामान्यविशेषात्मना विभक्तस्य[५] सबीजसमाधिरूपं सामान्यलक्षणनिर्बीज[६]समाध्यन्तरसाध्यकसाधनगोचरप्रयत्नावश्यकत्वज्ञापनायाह—

**ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥**

**ता एवेति**। ता एव ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु सामान्यविशेषभावेनोक्ताः समापत्तय एव सबीजः दुःखादेरनात्मसंस्काररूपैर्बीजैः सह वर्तमानः समाधिः। समाधीयते प्रत्यङ्मात्रैकाग्रीक्रियते चित्तमनेनेति भावनाविशेषः सम्प्रज्ञात इत्यर्थः॥ ४६॥

आनन्दादिसमापत्तीनां निर्विचारफलत्वान्निर्विचारायां विशेषं कञ्चिदाह—

**निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७ ॥**

**निर्विचारेति**। पूर्वं समाधिभिरपगतपापस्यान्तःकरणस्य निर्विचार[७]वैशारद्ये निर्विचारस्य सूक्ष्मार्थगोचरनिर्विकल्पस्य समाधेर्वैशारद्ये प्रवाहरूपपाटवे सति, अध्यात्मप्रसादः आत्मानं बुद्धिमधिकृत्य वर्त्तमानः प्रसादः ह्लादाख्यानन्दसाक्षात्कारयोग्योऽत्यन्तसत्त्वोद्रेको भवतीत्यर्थः॥ ४७॥

मुख्यं फलमाह—

**ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा ॥ ४८ ॥**

**ऋतम्भरेति**। तत्र तस्मिन्निर्विचारवैशारद्ये सति, ऋतम्भरा ऋतं सत्यं पुरुषयाथार्थ्यं बिभर्त्तीति ऋतम्भरा सत्यमेव गृह्णती प्रज्ञा भवतीत्यर्थः॥ ४८॥

---

१. क ख घ — **अकारणत्वे**, ग — **अकारणत्वेन**।
२. क ख — **एव**, ग घ — **एवम्**।
३. क ख घ — **निर्वितर्क०**, ग — **वितर्क०**।
४. क ख — **विवृतस्य**, ग — **विभक्तस्य**, घ — **विकृतस्य**।
५. घ — **तस्य** [**विभक्तस्य** पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — **तस्य** नोपलभ्यते।
६. क ग — **समाधि०**, ख घ — **समाध्यन्तर०**।
७. क ख ग — **वैशारद्य०**, घ — **वैशारद्ये**।

अत एव तस्याः क्लृप्ताभ्यो विषयतो विशेषमाह—

**श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥ ४९ ॥**

**श्रुतानुमाने**ति। सा तु समाधिजा प्रज्ञा श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यां श्रुतं श्रवणं शाब्द-बोधः अनुमानं मननं यौक्तिकं ज्ञानं, तद्रूपप्रज्ञाभ्याम् अन्यविषया अतिरिक्तविषया। कुतः ? विशेषार्थत्वात्। विशेषो निर्विकल्पः अज्ञातो विषयो यस्याः सा तथात्वात्। शब्दानुमानयोः पदार्थतावच्छेदकव्यापकतावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमेन तद्ग्रहणायोग्यविशेष्यमात्रविषयकत्वादिति यावत्।

वेदान्तिनस्तु शब्दस्य शक्त्या पदार्थतावच्छेदकपुरस्कारेणैव धीजनकत्वनियमः। न तु लक्षणयाऽपि। अतो लक्षणया केवलस्य ब्रह्मणः शब्दगम्यत्वेऽपि न क्षतिः। तथा च महावाक्यार्थ[1]प्रयोजकीभूतानुभवजनकावान्तरवाक्यस्थपदजन्यस्मृतिकारणीभूतानुभव-जनकत्वमसम्प्रज्ञातयोगस्य स्वजन्यधर्मद्वारेति न कोऽपि विरोधः। न वा महावाक्यार्थ-बोधानुपपत्तिरपीति भाव इति प्राहुः।

इदन्तु बोध्यम्। यद्यपि

**तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि।**

इत्यादिश्रुतेरुपनिषन्मात्रगम्यमेवात्मतत्त्वम्।

**दशमस्त्वमसि।**

इत्यादिवाक्याद् दशमा[2]दिसाक्षात्कारदर्शनात्।

**तत्त्वमसि।**

आदिवाक्यैरप्यपरोक्षप्रमा च सम्भवति। योग्यपदार्थनिरूपितत्वम्पदार्थाभेद-परकशब्दत्वादिना शब्दस्यापरोक्षधीजनकत्वेऽतिप्रसङ्गाभावाद्या[3]गादिवाक्यानां त्वम्प-दार्थाभेदपरत्वाभावात्।

**धार्मिकस्त्वमसि।**

इत्यादिवाक्यानान्तु योग्यपदार्थनिरूपितत्वम्पदार्थाभेदपरत्वाभावात्। तस्मात् तानि विषयाजन्यधीजनकत्वेन परोक्षज्ञानजनकानि।

**तत्त्वमसि**

---

१. क ख घ — **प्रयोजकीभूत०**, ग — **धीजनक०**।

२. क ख घ — **आदि०** उपलभ्यते, ग — **आदि०** नोपलभ्यते।

३. क ख ग — **यागादि०**, घ — **योगादि०**।

आदिवाक्यन्तु निरुक्तरूपेणापरोक्षधीजनकमेव। ततो जातायामप्यपरोक्षप्रमायां विपरीत[१]भावनारूपदोषसत्त्वे फलं न सम्भवतीति प्रतिबन्धनिरासाय निदिध्यासनादि-कम[२]प्यावश्यकमिति प्रतिबन्धनिवृत्तिफलकत्वमेव वक्तुमुचितं न ज्ञानफलकत्वम्, भावनायाः प्रमाणान्तरत्वापातात्। कामिनीं भावयतो व्यवहितकामिनीसाक्षात्कारस्येव भावनाजन्यत्वेनात्मसाक्षात्कारस्याप्रमात्वप्रसङ्गाच्च। मूलीभूतानुभवस्तु सुषुप्तेर्मोक्षाद्वा सम्भवत्येवेति न सर्वथा ज्ञाने भावनाविशेषरूपनिदिध्यासनापेक्षा, तथापि [३]दशमवाक्य-सहकृतेन मनसा चक्षुषा वा अपरोक्षप्रमाजननेन दृष्टान्तासिद्धेः। निरुक्तरूपेण शब्दस्या-परोक्ष[४]ज्ञानजनकत्वे मानाभावात्। इन्द्रियजन्यज्ञानस्यैवाऽपरोक्षत्वप्रतिपत्तेः।

**मनसैवानुद्रष्टव्यम्।**

इति श्रुतेश्च। श्रुत्या प्राक् [५]त्वम्पदतत्पदवाच्यत्वादिना प्रमितयोर्जीवपरमात्मनोर-विनाभावादिरूपाभेदस्य च मनसैव भावनासहकारेणापरोक्षप्रमा भवतीति भावना समाधेर्ज्ञानफलकत्वकथनमेवैतन्मतानुसारेण युक्तमेवेति दिक्।

न वा भावनाजन्यत्वेऽप्यात्मसाक्षात्कारस्याप्रामाण्यम्। अबाधितार्थविषयत्वा-दुक्तसाक्षात्कारस्य तु बाधितार्थविषयत्वादेवाप्रामाण्यं न भावनाजन्यत्वेनेति भावः ॥४९॥

नन्वनादिना विषयभोगसंस्कारेणातिबलीयसाभिहता समाधिप्रज्ञा स्थितिं न लभेतेत्यत आह—

**तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी ॥ ५० ॥**

**तज्जेति।** समाधिप्रज्ञाजन्यः संस्कारो व्युत्थानसंस्कारस्य प्रतिबन्धी बाधक इत्यर्थः। कथमेतदिति चेत् प्रज्ञासंस्कारस्य तत्त्वसंस्पर्शित्वादिति ध्येयम्॥ ५० ॥

ननु सम्प्रज्ञातसमाधिप्रज्ञासंस्कारप्रबलं चित्तं तत्प्रज्ञापरम्परामेव कुर्यात्। तथा च कथं निर्बीजसमाधिं कुर्यात्? तत्राह—

**तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः ॥ ५१ ॥**

**तस्यापीति।** पुरुषख्यात्यनन्तरं वैराग्यसंस्कारप्रचयेन तस्य सम्प्रज्ञातसमाधि-प्रज्ञासंस्कारस्य अपिशब्दात् प्रज्ञायाश्च निरोधे सति सर्ववृत्तिनिरोधात् सर्वासां चित्तवृत्तीनां

---

१. क ख — **भावना०**, ग घ — **भावनादि०**।
२. क ख घ — **अपि** उपलभ्यते, ग — **अपि** नोपलभ्यते।
३. क ख — **दशम०**, ग घ — **दशमे**।
४. क ख घ — **ज्ञान०**, ग — **धी०**।
५. क ख घ — **त्वम्पदतत्पद०**, ग — **तत्तत्पद०**।

स्वकारणे प्रविलयाद् निर्बीजः मिथ्याज्ञानवासनारूपसंस्कारबीजरहितोऽसम्प्रज्ञातसमाधिर्भवति। यस्मिन् सति पुरुषः स्वरूपमात्रनिष्ठः केवलो भवति॥ ५१ ॥

[१]इति श्रीनारायणतीर्थकृतायां योगसिद्धान्तचन्द्रिकायां

प्रथमः समाधिपादः ॥ १ ॥

❈

१. क ख — इति श्रीनारायणतीर्थकृतायां योगसिद्धान्तचन्द्रिकायां प्रथमः समाधिपादः, ग — इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीरामगोविन्दतीर्थपूज्यपादशिष्यश्रीनारायणतीर्थविरचितायां पातञ्जलसूत्रवृत्तौ गूढार्थद्योतिकायां योगसिद्धान्तचन्द्रिकायां समाधिपादः प्रथमः समाप्तः, घ — इति समाधिपादविवृतिः।

## द्वितीयः साधनपादः

निरूपितः समाधिरतः परं साधनानि निरूप्यन्ते द्वितीये। तत्रादौ निरोधसाधनीभूतयोरभ्यासवैराग्ययोः साधनीभूतायां चित्तशुद्धौ हेतुं चित्तमाकर्षयतां बाह्येन्द्रियाणां निग्रहे वा साधारणहेतुं क्रियायोगमाह—

**तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥**

**तप** इति। तप उपवासादिना कायशोषणम्। उक्तमीश्वरगीतायाम्—

**उपवास[1]पराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभिः।**
**शरीरशोषणं प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम्॥**

इति। स्वाध्याय उपनिषदाद्यावृत्तिः। उक्ता च तत्रैव—

**वेदान्तशतरूद्रीयप्रणवादिजपं बुधाः।**
**सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते॥**

इति। प्रणिधानं स्तुत्यादिजनिता भक्तिः। उक्ता च तत्रैव—

**स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनःकायकर्मभिः।**
**सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम्॥**

इति। स्तुतिरत्र गुणमात्रकथनं पूजा चासनपाद्याद्यर्पणम्। एताभिर्जनिता भक्तिरीश्वरपूजनम्। तच्च सर्वक्रियाणां परमेश्वरे परमगुरावर्पणम्। तत्फलसंन्यासो वा। तत्राद्यं—

**कामतोऽकामतो वाऽपि यत् करोमि शुभाशुभम्।**
**तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम्॥**

इत्यादिस्मृतिभिर्व्याख्यातम्। द्वितीयं तु कर्मफलानां भोक्ता परमेश्वर[2] इति चिन्तनम्—

**भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।**
**सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति॥**

इत्यादिना बोधितम्। एतानि निरुक्तार्थ[3]भावनाविशिष्टभक्ति[4]योगभिन्नत्वात्

---

१. क ख ग — पराकादि० घ — परकादि०।
२. घ — एव [परमेश्वरः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — एव नोपलभ्यते।
३. क ख — भावना०, ग — भावन०, घ — भाव०।
४. क ख ग — योग०, घ — योगे।

क्रियायोगः। वागादिव्यापारमात्रत्वात्। क्रियायोग इत्येकवचननिर्देशात्, कायवाङ्मनो-व्यापारः समुच्चित एव क्रियायोगो विशिष्ट[1]फल इति ज्ञापितम्[2]। यद्यपि योगाङ्गेषु नियमे शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि पञ्चो[3]क्तानि, तथापि प्रकृतत्रयाणां दृष्टादृष्ट-द्वाराऽऽशु कायेन्द्रियमनोजपादिविशिष्टफलश्रवणाद् दर्शनाच्च ततः पृथगुक्तिरिति मन्तव्यम्॥ १॥

क्रियायोगफलमाह—

**समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च॥ २॥**

**समाधी**ति। समाधेर्भावनमुत्पादनमर्थःफलं यस्य स तथोक्तः। महत्सु क्लेशादिषु सत्सु समाधिर्न सिद्ध्यति। तत्र क्रियायोगः क्लेशादीन् तनूकृत्य समाधिं भावयति। तनूकरणमिह सूक्ष्मीकरणम्। श्लक्ष्णं दभ्रं कृशं तन्विति कोशात्। च्विप्रत्ययेन च स्वोचितफलाधायकानामतनूनां तनूवत्करणं स्वोचितफलेष्वभिभवमात्रं, न स्वरूपतो हानिः। वर्णाश्रमाद्यभिमानादिमूलकेन क्रियायोगेनाविवेकोच्छेदासम्भवादिति ज्ञापितम्। तथा च क्रियायोगेन सञ्जातः समाधिर्विवेकज्ञानमुत्पाद्य सवासनमिथ्याज्ञानं नाशयतीति निष्कर्षः॥ २॥

अथ के क्लेशाः कियन्तो वेत्यत आह—

**अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥ ३॥**

**अविद्ये**ति। क्लेशा अविद्यादयः। ते च विभागबलात् पञ्चेत्यर्थ॥ ३॥

उत्तरेषां चतुर्णां नाशेऽपि ज्ञानमेवाऽसाधारणं कारणमिति ज्ञापनायाऽविद्या-कार्यत्वेनाविद्यात्मकत्वमाह—

**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥ ४॥**

**अविद्ये**ति। उत्तरेषामस्मितादीनाम् अविद्या वक्ष्यमाणलक्षणा क्षेत्रं प्रसवभूमिः। तेषाम[4]वान्तरभेदमाह—**प्रसुप्ते**ति। प्रसुप्तास्तनवो विच्छिन्ना उदाराश्च तेषाम्। तत्र विदेह-प्रकृतिलयानां प्रसुप्ताः। तत्त्वज्ञानाभावेन शक्तिरूपेणा[5]वस्थानात्। ते हि पुनरुद्भवन्ति। क्रियायोगिनां तनवः क्रियायोग काल एव तेषामभिभवात्। विषयसङ्गिनां विच्छिन्ना

---

१. क ख घ — **फलः**, ग — **फलदः**।
२. क ख घ — **ज्ञापितं**, ग — **ज्ञापितः**।
३. क — **उक्तानि**, ख ग घ — **उक्ताः**,।
४. क ख — **अवतार०**, ग घ — **अवान्तर०**।
५. क ख ग — **अवस्थानात्। ते**, घ — **अवस्थामात्रे**।

उदाराश्च भवन्ति। यथा कस्यचिद्यत्र रागस्तत्र क्रोधो विच्छिन्नोऽपि राग उदार एव। ततोऽन्यत्र तु क्रोध उदारो[१] रागो विच्छिन्न एवेति द्रष्टव्यम्। उक्तञ्च[२]—

**प्रसुप्तास्तत्त्वलीनानां तन्ववस्थास्तु योगिनाम्।**
**विच्छिन्नोदाररूपाश्च क्लेशा विषयसङ्गिनाम्॥**

इति॥ ४॥

तत्राविद्यालक्षणमाह—

## अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखाऽऽत्मख्याति-रविद्या॥ ५॥

**अनित्येति।** अतस्मिँतद्बुद्धिरित्यविद्यायाः सामान्यलक्षणम्। तस्या एव भेदप्रतिपादनम्—अनित्येति। अत्र भाष्यम्—

**अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा, ध्रुवा इयं पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्र-तारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति। तथा अशुचौ परमबीभत्से काये शुचि-ख्यातिः। उक्तञ्च—'स्थानाद् बीजादुपष्टम्भान्निःस्यन्दान्निधनादपि। कायमाधेय-शौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुरि'ति। अशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते—नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या, मध्वऽमृतावयवनिर्मितेव, चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावभावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वास-यन्तीवेति। कस्य केन सम्बन्धः। भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्ययः। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययः। तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः। तथा दुःखे सुख-ख्यातिं वक्ष्यति—'परिणामतापेति' सूत्रे। तथाऽनात्मन्यात्मख्यातिः। बाह्योप-करणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने शरीरे पुरुषोपकरणे वा मनसि अनात्मन्यात्म-ख्यातिरिति तथैव तत्रोक्तम्। व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेन मन्यमानस्तस्य सम्पदम् अनुनन्दत्यात्मसम्पदं मन्यमानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्य-मानः सर्वो ह्यप्रतिबद्ध इत्येषां चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसन्तानस्य कर्माशयस्य च विपाकस्य चेति। तस्याश्चामित्रागोष्पदवद्वस्तुसतत्त्वं विज्ञेयम्। यथा नामित्रो मित्राभावो न मित्रमात्रं किन्तु तद्विरुद्धः सपत्नः। यथा वाऽगोष्पदं न गोष्पदाभावो, न गोष्पदमात्रं, किन्तु देश एव ताभ्यामन्यद्वस्त्वन्तरम्। एवम-विद्यापि न प्रमाणं, न वा प्रमाणाभावः, किन्तु विद्याविपरीतं ज्ञानान्तरमविद्येति।**

---

१. घ — अपि [उदारः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — अपि नोपलभ्यते।

२. क ख ग — उक्तञ्च, घ — तदुक्तम्।

भाष्यार्थस्तु अनित्ये कार्ये कालनिष्ठाभावप्रतियोगिनि विकारेऽहङ्कारादौ नित्यख्यातिः तादृशाभावाप्रतियोगित्वधीः। उदाहरति—**ध्रुवे**ति। परमबीभत्से कुत्सितेऽपवित्रे। कायस्याशुचित्वे स्मृतिं प्रमाणयति—**उक्तञ्चे**ति। स्थानं मलमूत्राद्युपहतं मातुरुदरम्। बीजं शुक्रशोणिते। उपष्टम्भो मातृभुक्तान्नादिरसः। निःस्यन्दो नवद्वारेण रोमकूपादिभिः क्षरणम्। निधनं मरणम्। रात्रावन्येऽशुद्धिहेतवः स्पष्टाः। तथा स्नानादिभिः शौचाधानादपि सदा स्वतोऽशुचित्वमनुमीयत इत्याह—**आधेयशौचत्वा**दिति। ननु शरीरमशुचि, तथापि तत्र शुचिख्यातौ किं प्रमाणमित्याकाङ्क्षायामाह—**अशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यत** इति। नवीनशशाङ्कवदियं कन्या कमनीया। मधुनः अमृतस्यावयवैरंशैर्निर्मितेव ज्ञायते निश्चीयते। भावो मानसो विकारः। तज्ज्ञापिका चेष्टा हावः। कस्य[१] स्त्रीकायस्य निकृष्टस्य केन चन्द्रकलादिनाऽतिनिर्मलेनाभिसम्बन्धः साधर्म्यं नास्त्येव। उपसंहरति—**भवती**ति। एतेन अशुचौ शुचिख्यातिव्याख्यानेन, अपुण्ये [२]जैनसम्मततप्तशिलारोहणादौ [३]कर्ममीमांसासम्मतवक्ष्यमाणकृष्णशुक्लेतिचतुर्थचरणसूत्रे यज्ञीयहिंसादौ [४]वामागमसम्मततीर्थपानादौ वा पुण्यप्रत्ययः। तथाऽनर्थे अर्जन[५]रक्षणादिना दुःखबहुलतया अपुरुषार्थे धनादौ अर्थप्रत्ययः। पुरुषार्थप्रत्ययोऽप्यविद्यात्वेन व्याख्यातः। शुच्यशुचिशब्दयोर्भोगोत्कृष्टसाधनासाधनमात्रोपलक्षकत्वादित्यर्थः। भाष्योक्तमप्यविद्याद्वयमन्यासामपि संसारहेतूनामविद्यानामुपलक्षकमतो न न्यूनता। तत्रेत्युत्तर[६]ग्रन्थे तृतीयामविद्यां व्याख्यातुमादौ वक्ष्यमाणसूत्रमुखेन [७]तस्या उदाहरणं प्रदर्शयति—**तथा दुःख** इति। तथेत्यस्येत्यत्र सुखख्यातिरित्यनेनान्वयः। **वक्ष्यती**ति। अर्थादिति शेषः। **तत्रे**ति। जगद्रूपे दुःखे इत्यर्थः। चतुर्थीमविद्यां व्याचष्टे—**तथाऽनात्मनी**ति। तस्या उदाहरणं—**बाह्ये**ति। बाह्यस्य देहस्योपकरणेषु पुत्रादिष्वहंबुद्धिः। तथा विषयभोगावच्छेदकतयान्तःकरणस्योपकरणे अन्तःकरणेऽहंबुद्धिरित्यर्थः। इमामेव चतुर्थीमविद्यामादाय प्रपञ्चोऽविद्याकार्य इत्युच्यते। अहं कर्त्तेत्याद्यभिमानस्यैव धर्माधर्मोत्पत्तिद्वाराऽखिलजगद्धेतुत्वादिति। अत्र पञ्चशिखाचार्यसंवादमाह—**तथैत**-

---

१. क ख — **कस्य स्त्रीकायस्य**, ग घ — **शृंगारलीलाकस्य**।
२. क ख घ — **जैनसम्मत०** उपलभ्यते, ग — **जैनसम्मत०** नोपलभ्यते।
३. क ख घ — **कर्ममीमांसा....यज्ञीय०** उपलभ्यते, ग — **कर्म....यज्ञीय०** नोपलभ्यते।
४. क ख घ — **वामागमसम्मततीर्थपानादौ** उपलभ्यते, ग — **वाम....आदौ** नोपलभ्यते।
५. क ख ग — **रक्षणादिना**, घ — **रक्षणादौ**।
६. क ख — **ग्रन्थे**, ग घ — **ग्रन्थेन**।
७. क ख — **तस्याः**, ग घ — **तस्य**।

दिति। यथा मयोक्तं तथा अत्र चतुर्थ्यविद्याविषये पञ्चशिखेनाप्येतदुक्तमित्यर्थः। व्यक्ताव्यक्तं व्याकृताव्याकृतं स्थूलसूक्ष्मरूपं बुद्धिसत्त्वमात्मतया गृहीत्वा तस्य सत्त्वस्य सम्पतिं सत्यसंकल्पादिकं शुभवासनादृष्टादिकं चाऽऽत्मसंपदं मन्वानः, तथा तस्य विपत्तिमिच्छाविघातादिरूपं चानुशोचत्यात्मविपत्तिं मन्वानः। एवंविधो यः स सर्वोऽप्यविद्येत्येतदुक्तमित्यन्वयः।

ननु शुक्तिरजतादिभ्रमरूपाणामविद्यानां कथमत्र गणना न कृतेत्याशङ्कायामाह—**एषे**ति। पशोरिव चत्वारि पदानि पादा अशांवस्था इति चतुष्पात्। एवम्भूतैषा संसारस्य मूलं भवतीत्यर्थः। तथा च संसाराहेतुतया नान्यासामत्र [१]गणनमित्याशयः। ननु [२]विग्रहवतोऽविद्याशब्दस्य विद्याभिन्नत्वं विद्याशून्यत्वम्, अत्युत्तमविद्यात्वं, वार्थः स्यान्न तु विपरीतख्यातिरित्याशङ्क्याह—**तस्याश्चे**ति। तस्याश्चाविद्यायाः, वस्तुसतत्त्वं वस्तुस्वरूपता प्रत्ययान्तरत्वमिति यावत्। न त्वभावोऽमित्राऽगोष्पदशब्दार्थवदित्यर्थः। दृष्टान्तं विभजते—**यथेति**[३]। **न मित्राभाव** इति। अत्राभावशब्देन [४]संसर्गान्योन्याभावौ ग्राह्यौ। **न मित्रमात्रमि**ति। नास्ति मित्रं यस्मादिति व्युत्पत्त्या केवलमित्यर्थः। किन्तु तद्विरुद्धो मित्रविरुद्ध इत्यर्थः। तथा च निरूढलक्षणेति भावः। किन्तु देश एवेति। विपुलो देशविशेषोऽगोष्पद इति परिभाषितः[५]। प्रमाणं विद्या ज्ञानान्तरमिति। एतेनाविद्याशब्दस्य ज्ञानविशेषे रूढत्वावधारणादस्मिन् दर्शने वेदान्तिनामिव न प्रकृत्यवान्तरभेदो, न वा सांख्यानामिवाविवेकोऽविद्याशब्दार्थः, किन्तु यथार्थानुभवनाश्यं सामान्यतोऽहमित्याद्याकारं विपरीतं विशिष्टज्ञानमेवेति समर्थितम्। अयं भावः, प्रवाहरूपेणानादिभ्रमैरेवावरणादिकार्यसम्भवाद् अनादिभावरूपत्वेन नित्यत्वात् प्रकृतेरिदानीमेतस्याविद्या उत्पन्ना नष्टेत्यादिधीविषयत्वायोगाच्च, न मलिनसत्त्वप्रधाना प्रकृतिरविद्या, नाप्यविवेकः। तस्य ज्ञानाभावरूपस्य कार्यं प्रति हेतुत्वायोगात्। धर्मिप्रतियोगिज्ञानाज्ञानाभ्यां व्याघातापत्त्या न जानामीति धीविषयत्वायोगाच्च। तस्माद्भेदाभेदोदासीना बुद्ध्यादौ सामान्यतोऽहंधीरेवाविद्या। अतोऽत्यन्तमेकतावगाहिन ईश्वरोऽहमहं भोगीत्येवं बुद्धिगुणदोषावगाहिनश्चास्मिताप्रत्ययाद्भेद इति दिक्।

वेदान्तिनस्तु पापादेरपि विनिगमकाभावेनावरकत्वादिप्रसक्तिगौरवाद् भ्रमादेः

---

१. क ख घ — गणनं, ग — गणम्।
२. क ख घ — विग्रहवतः, ग — विग्रहतः।
३. क ख — यथेति, ग घ — यथा वाऽमित्र इति।
४. क ख ग — संसर्ग०, घ — संसर्गाभाव०।
५. घ — इति भावः [परिभाषितः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — इति भावः नोपलभ्यते।

कार्यत्वेन सोपादानत्वावश्यकत्वाच्च तदेवोपादानं, न जानामीत्यपरोक्षानुभवसिद्धमधिष्ठानज्ञाननाश्यमनिर्वचनीयमविद्यापदवाच्यं कल्प्यते। युक्तश्चायं पक्षः। माया चाविद्या च स्वयमेव भवति। नित्यनिवृत्तापि मूढैरात्मेव दृष्टा।

**भूयश्चान्ते विश्वमायानिवृत्तिः।**

इत्यादिश्रुत्या,

**नाऽसद्रूपा न सद्रूपा माया नैवोभयात्मिका।**
**सदसद्भ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनी॥**

इति स्मृत्या,

[१]**चैतन्याभाससंयुक्तं शरीरद्वयकारणम्।**
**आत्माऽज्ञानं तदव्यक्तमव्याकृतमितीर्यते॥**
**न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाऽभिन्नं न चात्मनः।**
**न सभागं न निर्भागं न चाप्युभयरूपकम्॥**
**ब्रह्मात्मैकत्वविज्ञानहेयमिथ्यात्वकारणात्।**

इति वार्त्तिकोक्त्या च प्रकृत्यवान्तरभेदस्यैवाविद्यापदवाच्यत्वप्रतिपादनादिति प्राहुः।

तन्न सम्यक्। जगत्कारण[२]प्रकृतेरिव विद्याबाध्यत्वेनाविद्यात्वाङ्गीकारेऽखिलप्रपञ्चस्यैवाऽविद्यात्वप्राप्तावेकस्य [३]ज्ञानेनाविद्यानाशाद[४]न्यैरपि प्रपञ्चाननुभवप्रसङ्गात्। अबाध्यत्वे तु विद्यावैफल्यम्। अविद्यानिवर्त्तकत्वाभावात्। विनोपादाननिवृत्तिं भ्रमस्यात्यन्तिकोच्छेदासम्भवाच्च। न चैकाज्ञानपक्षेऽज्ञाननिवृत्तेर्भविष्यत्त्वान्नानाऽज्ञानपक्षे च जीवभेदेन प्रपञ्चभेदाङ्गीकारान्महापटनाशे खण्डपटवदेकाज्ञाननाशे खण्डप्रपञ्चाङ्गीकाराज्ज्ञानप्रपञ्चाननुभवप्रसङ्ग इति वाच्यम्। एकाज्ञानपक्षस्य

**तद्यो यो देवानां प्रत्यबुद्ध्यत स एव तदभवत्।**

इत्यादिश्रुतिबाधितत्वात्। नानाज्ञानपक्षीयसिद्धान्तस्य च कल्पनामात्रत्वात्। स्वप्नादिदृष्टान्तस्य च

**तद्धेदं तर्ह्यव्याकृतमासीत्,**

---

१. क ख घ — चैतन्याभाससंयुक्तं....वार्त्तिकोक्त्या उपलभ्यते, ग — चैतन्य....कोक्त्या नोपलभ्यते।
२. क ख घ — प्रकृतेः, ग — प्रवृत्तेः।
३. घ — तत्त्व० [ज्ञानेन प्राक्] उपलभ्यते, क ख ग — तत्त्व० नोपलभ्यते।
४. क ख ग — अन्यैरपि प्रपञ्चाननुभवप्रसंगात्, घ — अन्येषां प्रपञ्चभानं न स्यात्।

**तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत।**

इत्यादिश्रुत्या,

**वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्।**

इति भगवद्बादरायणसूत्रेण च निरासान्न तद्दृष्टान्तैरपि स्वार्थसिद्धिः। तस्माद् भ्रमपरम्पैवाविद्या, सा चान्तःकरणस्यैव धर्मः। शुक्तिरजतस्वप्नमनोरथादयोऽपि मनःपरिणामा एव बाधाबाधाभ्यां सदसद्रूपाः। तथाहि—ते नात्यन्तसन्तः। प्रतिपन्नधर्मिणि निषेधधीरूपबाधदर्शनात्। नाप्यत्यन्तासन्तः। प्रतीयमानत्वात्। अत्यन्तासतो नृशृङ्गादेरभावात्। अतः सदसदात्मकाः। न च विरोधः। प्रकारभेदेनाविरोधात्। यथा हि लौहित्यं बिम्बरूपेण सत् स्फटिकगतप्रतिबिम्बरूपेण चासदिति[१] दृष्टम्। एवं रजताद्यापणस्थत्वादिरूपेण सत्, शुक्त्याद्य[२]ध्यस्तत्वादिरूपेण चासत्। [३]दृश्यमेव सर्वं जगत्स्वरूपेण सत्, चेतनेऽध्यस्तरूपेण चासदित्यतः सर्वजगद्भानं सदसत्ख्यातिरेव। [४]तथैतदाह भगवान् कपिलः—

**सदसत्ख्यातिर्बाधाबाधाभ्याम्।**

इति। तस्मान्नानिर्वचनीयख्यातिरित्यभिमानः। एवं भ्रमपरम्पैवाविद्येत्यभिमानोऽन्यथाख्यातिवादिनोर्न्यायवैशेषिकयोरख्यातिवादिनां [५]कर्ममीमांसकानामात्मख्यातिवादिनां योगाचारप्रभृतीनां [६]त्रयाणां बौद्धानां च असत्ख्यातिवादिनां [७]माध्यमिकप्रभृतीनामपि।

एतन्न सम्यक्। [८]अज्ञानान्वयव्यतिरेकविरोधात्। दूरादिवशाद्धि रज्जुत्वादिना रज्ज्वाद्यनवगमे भुजगाद्यध्यासो, न तु रज्जुत्वादिनाऽवगमे। तथावगमे त्वध्यासनिवृत्तिरेवेत्यन्वयव्यतिरेकयोः सर्वानुभवसिद्धत्वात्।

---

१. क ख — चाऽसदिति, ग घ — सदिति।
२. क ख ग — अध्यस्तत्वादिरूपेण, घ — अध्यस्तत्वेन।
३. क ख घ — दृश्यं, ग — इत्थम्।
४. क ख ग — तथा, घ — तत्।
५. क ख घ — कर्म० उपलभ्यते, ग — कर्म० नोपलभ्यते।
६. क घ — त्रयाणां बौद्धानां च उपलभ्यते, ख ग — त्रयाणां बौद्धानां च नोपलभ्यते।
७. क ख ग — माध्यमिकप्रभृतीनामपि, घ — माध्यमिकानामिति।
८. क ख ग — अज्ञानान्वयव्यतिरेकविरोधात्, घ — अज्ञानान्वयव्यतिरेकात्मख्यातिवादिनां योगाचारप्रभृतिकविरोधात्।

ननु ना[१]धिष्ठिताज्ञानं कारणं, किन्तु रागादिदोषेणाधिष्ठानप्रतिपत्तिप्रतिबन्धादध्यासः। रागादिश्च [२]पूर्वपूर्वाध्यासात्। तथा च पूर्वपूर्वाध्यासाद् रागादि, रागादितश्चोत्तरोत्तराध्यास इति बीजाङ्कुरवदनादित्वाच्चानवस्थान[३]दोषः, एवमदृष्टहेतुकत्वेऽपीति।

चेन्न। अनन्तरागाणामदृष्टानां च दोषत्वकल्पने गौरवात्। तद्धेतुतयैकदोषकल्पने लाघवात्। स च दोषः—

**एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म।**

इति,

**अथात आदेशो नेति नेति।**

इत्यादिश्रुतिभिः,

**अनिर्वाच्योऽज्ञानेनावृतं ज्ञानम्[४]।**

इत्यादिस्मृतिभिश्चाज्ञानादिपदवाच्यः स्वरूपत एवैकः[५]। दिनद्वयादावपि तदेव ममाज्ञानमित्यपरोक्षानुभवात्। तस्मादनाद्यज्ञानमेवाविद्या सर्वभ्रमहेतुर्न [६]भ्रमपरम्परैवेति वेदान्तिनामभिप्रायादिति चेत्। अत्र वदन्ति। कार्यसामान्यं प्रति क्लृप्तकारणताकानामदृष्टानामध्यासे [७]दोषत्वमात्रकल्पने लाघवम्। धर्मिकल्पनातो धर्मकल्पनालाघवस्य सर्वसम्मतत्वात्। तस्माददृष्टादि[८]जन्या भ्रमपरम्परैवाऽविद्या। दिनद्वयप्रत्यभिज्ञा तु साजात्यावलम्बिनी नातस्तद्विरोधो न वा श्रुतिविरोधः। [९]चैतन्येऽध्यस्तरूपेण सर्वासत्त्वस्य तदर्थत्वादिति संक्षेपः ॥ ५ ॥

अविद्याकार्यभूतामस्मितामाह—

## दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥

---

१. क ख — **अधिष्ठित०**, ग घ — **अधिष्ठान०**।
२. क ख घ — **पूर्वपूर्व०**, ग — **पूर्व०** [उभयत्र]।
३. क ख ग — **दोषः**, घ — **दोषाय**।
४. ग घ — **तेन मुह्यन्ति जन्तवः** [ज्ञानं पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — **तेन....जन्तवः** नोपलभ्यते।
५. क ख ग — **एवैकः**, घ — **एकैव**।
६. क ग घ — **भ्रम०**, ख — **विभ्रम०**।
७. क — **दोष०**, ख ग घ — **दोषत्व०**।
८. क ख ग — **जन्या**, घ — **जन्य०**।
९. क ख घ — **चैतन्येऽध्यस्तरूपेण सर्वासत्त्वस्य तदर्थत्वादिति संक्षेपः** उपलभ्यते, ग — **चैतन्ये ....संक्षेपः** नोपलभ्यते।

दृगिति। दृक् पुरुषः, दृश्यते इति दर्शनं प्रधानम्। शक्तिशब्दो योग्यतार्थकः। भोक्तृभोग्यत्वयोग्ययोरत्यन्तविविक्तयोर्दृग्[१]दृश्यत्वयोरविद्याकृतैकता आत्यन्तिकं तादात्म्यं, साऽस्मितेत्यर्थः। इव शब्दस्त्वहमस्मीति प्रतीतिकृतत्वं तादात्म्यस्य ज्ञापयति॥ ६॥

अस्मितायाः कार्यं रागं लक्षयति—

**सुखानुशयी रागः॥ ७॥**

**सुखेति**। सुखमनुशेते विषयीकरोतीति सुखज्ञस्य सुखानुस्मृति[२]पूर्वकं सुख-तत्साधनेषु तृष्णारूपो गर्द्धो रागसंज्ञकः क्लेश इत्यर्थः॥ ७॥

रागप्रतिघातोत्थतया रागस्य पश्चाद् द्वेषं लक्षयति—

**दुःखानुशयी द्वेषः॥ ८॥**

**दुःखेति**। दुःखमनुशेत इति दुःखाभिज्ञस्य दुःखतत्साधनेषु क्रोधो द्वेषसंज्ञकः क्लेश इत्यर्थः[३]॥ ८॥

द्वेषमूलकतया द्वेषस्य पश्चादभिनिवेशं लक्षयति—

**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥ ९॥**

**स्वरसेति**। स्वस्य रसेन संस्कार[४]मात्रेण वहतीति स्वरसवाही। अपिशब्द-समुच्चितमविद्वांसं तं तथेति तच्छब्दः परामृशति। रूढः प्रसिद्धः। तथा च यथा अविद्वज्जनस्य तथा विदुषोऽपि स्वरसवाहित्वाद्यः क्लेशोऽस्ति। माऽहमभावी भूवं सदा जीव्यासमिति मरणभयरूपः पूर्वजन्मीयमरणदुःखानुभवहेतुकः सोऽभिनिवेशसंज्ञकः क्लेश इत्यर्थः। अविद्यादयस्तु विदुषि न सन्तीति न तेष्वतिव्याप्तिः। क्लेशत्वकथनेन तथाशिषां हेयभाविदुःखानुत्पादविषयत्वं नात्मसुखविषयत्वमिति ज्ञापितम्। अन्यथा सुखत्वेनेवा[५]ल्पत्वेनापि प्रेयस्त्वकल्पनप्रसङ्गात्। प्रेयस्त्वकल्पनवदात्मत्वेनापि तत्कल्पनौचित्यापातात्। तथा चैतन्मतेऽपसिद्धान्तापत्तिः स्पष्टा। इयं च बलवत्तरा वासना

---

१. क ख घ — दृश्यत्वयोः, ग — दृश्ययोः।
२. घ — सुखं मे किमर्थं नष्टमिति पश्चातापानन्तरं [पूर्वकं पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — सुखं.... नन्तरं नोपलभ्यते।
३. घ — सुखनाशे दुःखप्राप्तौ च पश्चातापवान् वृत्तिविशेषो रागाख्यो द्वेषाख्यश्च क्लेशो भवतीति यावत् [इत्यर्थः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — सुखनाशे....यावत् नोपलभ्यते।
४. घ — बलवद् [मात्रेण पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — बलवद् नोपलभ्यते।
५. क ख घ — अल्पत्वेन, ग — आत्मत्वेन।

यावच्चित्तमनुवर्त्तते, न नश्यति ज्ञानेन। अतस्तत्त्वज्ञस्याविद्यास्मितादिसंस्कार-नाशेऽप्यनुवर्त्तत इति दिक्।

एतेषामेवाविद्यादिक्लेशानां पञ्चानां यथासंख्यं तमोमोहमहामोहतामिस्रान्धतामिस्रसंज्ञाः। एतेषामवान्तरभेदः सांख्ये[१] उक्तः—

**भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च तथा दशविधो महामोहः।**

**तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः॥**

इत्यादिना। अयमर्थः। अष्टसु प्रकृतिमहदहङ्कारपञ्चतन्मात्रेष्वात्मबुद्धिरविद्या तमः। तस्याष्टाऽनात्मगोचरत्वादष्टविधत्वं सर्वस्याप्यैश्वर्यस्याणिमाद्यष्टैश्वर्यान्तर्गतत्वात्। तत्प्राप्तिनिमित्तः सिद्धोऽहमस्मीत्याद्यभिमानविशेषोऽस्मिता मोहः। तस्याष्टविधैश्वर्य-गोचरत्वादष्टविधत्वम्। शब्दादिषु पञ्चसु दिव्यादिव्यतया दशविधेषूत्कटदृष्ट्या रागो महामोहः। स च विषयस्य दशविधत्वाद् दशविधः। परेण भुज्यमानेषु शब्दादिषु [२]पर-प्राप्तेष्वणिमादिषु द्वेषस्तामिस्रोऽष्टादशगोचरत्वादष्टादशविधः। प्राप्तेष्वष्टादशसु विषयेषु तपस्विभ्योऽसुरादिभ्यश्च [३]ग्रहणभयमभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः। स चाष्टादशविषयत्वा-दष्टादशविध इति। सोऽयं पञ्चविधः क्लेशोऽवान्तरभेदाद् द्विषष्टिर्भवतीति संक्षेपः॥ ९॥

तदेवं क्लेशानां चित्तविक्षेपकत्वाद् [४]योगाभ्यास[५]योगकामेन प्रथमं पञ्चप्रकारा अपि क्लेशाः परिहरणीयाः। ते चाज्ञाताः परिहर्तुमशक्या इति तेषामुद्देशं कारणं लक्षणं चाभिधाय स्थूलसूक्ष्मभेदेन पुनर्द्विविधानां तेषां च विभागेन हानोपायं च वदन् प्रथमं सूक्ष्माणां हानोपायमाह—

## ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः॥ १०॥

**त** इति। ते विवेकज्ञानदग्धाः सूक्ष्माः क्लेशाः प्रतिप्रसवहेयाः प्रसवविरुद्धः प्रतिप्रसवः, चित्तस्य कृतकृत्यस्यास्मितायां स्वप्रकृतौ लयस्तेन हेयाः नाश्याः। धर्मिनाशादेव तद्धर्माणां संस्काराणामात्यन्तिकनाश इति भावः।

ननु क्लेशसंस्कारा एव संसारहेतवः। तेषां नाश एव मोक्षायापेक्ष्यते, न चित्तनाशः। अतोऽत्र चित्तनाशान्ताऽनुसरणमनुचितमिति।

---

१. क ख घ — **सांख्ये उक्तः**, ग — **कथितः सांख्ये**।

२. क ख — **पर०**, ग घ — **परेण**।

३. क ख ग — **ग्रहणभयं**, घ — **ग्रहणम्**।

४. क घ — **योगाभ्यास०** उपलभ्यते, ख ग — **योगाभ्यास०** नोपलभ्यते।

५. क ख ग — **योग०** उपलभ्यते, घ — **योग०** नोपलभ्यते।

चेन्न, योगिसंकल्पेन भ्रष्टबीजादित इव दग्धबीजशक्तिकादपि कदाचित् पुनरङ्कुरोत्पत्तिप्रसङ्गादिति संक्षेपः ॥ १० ॥

स्थूलानां हानोपायमाह—

**ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥**

**ध्याने**ति। तद्वृत्तयः तेषां क्लेशानां वृत्तय स्थूलाः अभिव्यक्तावस्थाः प्रथमं क्रियायोगेनाल्पीकृताः, ध्यानहेयाश्चित्तैकाग्रतालक्षणेन ध्यानेन प्रज्ञासामग्र्या नाश्या[1] इत्यर्थः। यद्यपि प्रथममिदमेव सूत्रमुपन्यस्तुमुचितं स्थूलनाशस्य प्रथमभूमिकत्वात् तथापि चित्तलयस्य मुख्यफलत्वज्ञापनाय, **ते प्रतिप्रसवेति** सूत्रमेवादावुपन्यस्तमिति दिक्॥ ११ ॥

ननु जात्यायुर्भोगहेतवः पुरुषं क्लिश्नन्तः क्लेशाः कर्माशयश्च तथा, न त्वविद्यादयस्तत्कथमेतेषां क्लेशत्वमित्याशङ्क्य कर्मतत्फलमूलत्वेन बन्धकत्वात्तेषां क्लेशत्वमाह—

**क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥**

**क्लेशे**ति। क्लेशा अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशा मूलं यस्योत्पादे कार्यकारणभावे च स तथोक्तः कर्माशयः। आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयो धर्माधर्मरूपः संस्कारः। स द्विविधः। दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः। दृष्टादृष्टजन्मनी वर्तमानभविष्यती ताभ्यां वेदनीयो भोग्यः, तीव्रसंवेगेन परदेवताराधनादिद्वारा, महदवमानादिना चेह जन्मन्येवानुभवनीयो दृष्टजन्मवेदनीयः। मृदुमध्यवेगेन कृतकर्मणा जन्मान्तरेऽनुभवनीयोऽदृष्टजन्मवेदनीय इति यावत्। तत्र प्रथमः[2] क्रमेण नन्दीश्वरनहुषयोः नन्दीश्वरस्याष्टवार्षिकस्य शिवभजनेन देवत्वादिप्राप्तेः। नहुषस्य महानुभावमहर्षीणामवमानेन सर्पत्वादिप्राप्तेः। एवं द्वितीयोऽन्येषां मन्दानाम्। मनुष्यदेहेन संवत्सरसहस्रादिनिर्वर्त्यभोगस्यासम्भवात्। क्लेशमूल इत्यनेन क्षीणक्लेशानां ज्ञानिनां नास्त्यदृष्टजन्मभोग्यः। ज्ञानेन क्लेशानां कर्मबीज[3]मूलानां नाशात्। नारकिणां तु नास्ति दृष्टजन्मवेदनीय इति ज्ञापितम्॥ १२ ॥

ननु ज्ञानिनां क्लेशादेर्विनाशान्मास्तु धर्माधर्मोत्पत्तिः। [4]प्राकृतानां तु जन्म-

---

१. क ख घ — **नाश्याः**, ग — **नाशाः**।
२. क ख घ — **प्रथमः**, ग — **प्रथमौ**।
३. क ख — **मूलानां**, ग घ — **भूतानां**।
४. क ख — **प्राकृतानां तु जन्मसम्पादिता**, ग घ — **प्राक्तनानन्तजन्मसम्पादिता**।

सम्पादिता, नियतविपाकैस्तु भाविजन्मना भोगः स्यादेव। तेषां दृष्टभोगेन क्षपयितुमशक्यत्वात्। अतः कथं कर्मिभ्यो विशेषस्तत्राह—

**सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥**

**सतीति**। अविद्यादि[१]रूपे मूले सत्येव तद्विपाकः, तस्य कर्माशयस्य संचितस्य क्रियमाणस्य वा विपाकः, विपच्यते साध्यते कर्मभिरिति विपाकः फलं भवति। स च विपाकस्त्रिविधः। जातिर्जन्म देवत्वादिर्वा। आयुः चिरकालं देहप्राणयोर्योगः। भोगः विषयेन्द्रिय[२]संयोग[३]जन्यः सुखदुःखानुभव इति। अयं भावः—कर्माशयोपभोगार्थं जात्यायुषी भोगश्च सुखदुःखयोरनुभवः। स च रागद्वेषानुविद्धः। सन्तोषद्वेषवतोरेव तद्दर्शनात्। न च विदुषो[४] रागद्वेषौ स्तः। तद्धेतुभूताया अविद्यायास्तत्त्वज्ञानेन नाशात्। तस्मात् क्लेशानामपि फलोपजनने कर्माशयसहकारित्वात्। क्लेशादिसलिलावसिक्तायामेवात्म[५]भूतौ विपाकाङ्कुरो, न क्षीणक्लेशोषरात्मभूमौ। न हि कारणमात्रात् फलं, किन्तु सामग्रीतः।

ननु क्लेशानां कर्मसहकारित्वे प्रमाणं नास्ति,

**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन।**

इत्यादिवाक्येभ्यः,

**तदधिगम उत्तरपूर्वार्धयोरश्लेषविनाशौ।**

इत्यादिसूत्रेभ्यः,

**क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे।**

इत्यादिश्रुतिभ्यश्च ज्ञानस्य क्लेशक्षयहेतुत्ववत्, कर्मक्षयहेतुत्वावगमात्। अतः क्लेशाभावकाले कर्माभावस्यावश्यकत्वात्, तत एव विपाकाभावः स्यादिति कथमुक्ताऽव्यवस्थेति चेत्,

अत्रोच्यते। विविधयोनिहेतुषु कर्मसु यत्र रागादिरन्तकाल उद्बोधो भवति, मरणानन्तरं तामेव योनिं जीवः प्राप्नोति नेतरामित्यन्वयव्यतिरेकाभ्यां कर्मवद्रागादिदोषोऽपि विपाकहेतुः।

---

१. क ख — **रूपे**, ग घ — **रूप०**।
२. क ख ग — **संयोग०** उपलभ्यते, घ — **संयोग०** नोपलभ्यते।
३. क ख घ — **जन्यः सुखदुःखानुभवः**, ग — **जन्यसुखानुभवः**।
४. क ख ग — **विदुषः**, घ — **विदुषि**।
५. क ख ग — **भूतौ**, घ — **भूमौ**।

**पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।**
**कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु॥**

इत्यादिस्मृतेः,

**तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषक्तमस्य।**

इति श्रुतेश्च। नरकादिष्वपि रागाद्यनुसारेणैव विपाको भवति। निषिद्धस्त्र्यादिसमासक्तानामेव तप्तलोहमयनारीसमालिङ्गनादिफलश्रवणात्। अतः क्लेशोऽपि विपाकारम्भे स्वातन्त्र्येण हेतुः। ज्ञानोत्तरं चारुविपाकः समाप्यत एव, न त्वारभ्यते इति न तत्र क्लेशापेक्षा। तस्माज्ज्ञानस्य क्लेशाख्यसहकार्युच्छेद एवाग्रहो, न कर्मनाशे। प्रारब्धकर्मणोऽपि नाशप्रसङ्गात्।

न च प्रारब्धातिरिक्तकर्मत्वेन ज्ञाननाश्यतेति वाच्यम्।

**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि।**

इत्यत्र सर्वपदसङ्कोचप्रसङ्गात्। अतो ज्ञानेन विपाकारम्भहेतुतया [१]क्लेशाख्यहेतूच्छेदद्वारा कर्माशयस्य दाह एव क्रियते। स च क्रियमाणस्यानुत्पादः प्राचीनस्य बीजशक्तिनाशश्च। अत एव,

**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।**

इति गीतादौ ज्ञानेन कर्मणो दाहः[२] श्रूयते न नाशः। किन्तु वासनाया इव चित्तनाशादेव नाशः। धर्मिनाशस्य धर्मनाश[३]हेतुतायाः क्लृप्तत्वात्। अत[४] एव तत्त्वविदः सञ्चितक्रियमाणयोर्धर्माधर्मयोः,

**तस्य पुत्रा दायमुपयन्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम्।**

इति श्रुत्या प्रतिपादितमन्येन ग्रहणं सङ्गच्छते। नाशे ग्रहणाऽसम्भवात्। तस्मान्निरुक्तश्रुतिसूत्राणामप्येतदर्थानुसारेणार्थो व्याख्येयः। इत्थञ्च सत्कार्यवादपक्षे स्वरूपतस्तेषां नाशाभावेन सत्त्वेऽपि बीजभावस्य ज्ञानेन नष्टत्वाद्[५]दग्धबीजभावानां शालितुण्डलानामिव दृष्टभोगानुकूलत्वमात्रमिति ज्ञानिनां कर्माशयो नास्त्येवादृष्टजन्मभोग्यः, किन्तु दृष्टभोगनाश्य एवेति दिक्।

---

१. ग घ — **क्लृप्त०** [**क्लेश०** प्राक्] उपलभ्यते, क ख — **क्लृप्त०** नोपलभ्यते।
२. ग घ — **एव** [दाहः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — **एव** नोपलभ्यते।
३. घ — **सामान्यत एव** [हेतुतायाः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — **सामान्यत एव** नोपलभ्यते।
४. क ख ग — **अत एव....ग्रहणासम्भवात्** उपलभ्यते, घ — **अत....सम्भवात्** नोपलभ्यते।
५. क ख — **अदग्ध०**, ग घ — **दग्ध०**।

ननु यदि सत्कर्मपरिपाकेन प्राप्तचरमदेहस्य ज्ञाने सत्यपि दृष्टविपाकस्तर्ह्यन्येभ्योऽतिविशेषो न स्यात्। विधिनिषेधशास्त्रेऽधिकृतो विहितानि निषिद्धानि वा यावन्ति कर्माणि सञ्चिनोति तावद्भिरेक एक[१] आरभ्यते, इत्येकभविकपक्षे ज्ञानिनामिव[२] नियतादृष्टजन्मभोगस्यैवाङ्गीकारात्। युक्तश्चायं पक्षः। तथाहि, नैकं कर्मैकस्य जन्मनः कारणम्। अनादिकालसञ्चितानां क्रियमाणानां च मध्ये किं कर्म प्रथमं फलं दास्यति किं पश्चादिति फलक्रमे नियमाभावाल्लोकानां पुण्यानुष्ठाने फलानिश्चयप्रसक्त्या प्रवृत्तिलोपापत्तेः। न च यदा कदाचित् फल[३]सम्भवेनैव प्रवृत्तिर्भविष्यति। फलसाधनताज्ञानमात्रस्य प्रवृत्तिकारणत्वादिति वाच्यम्। भाव्यनन्तकालमध्ये भाविपापादिना अनुष्ठीयमानकर्मणो विनाशसम्भवाज्झटिति भोगकामनयैव कर्मानुष्ठानात्। नाप्ये[४]ककर्मानेकजन्मनां कारणम्। अनेकेषु जन्मसु कृतं क्रियमाणं च कर्मैकैकं प्रत्येकमेवानेकस्यासंख्यजन्मनः कारणमिति तद्विरुद्ध[५]फलदस्य कर्मणः फलकालाभावप्रसक्त्या तत्र प्रवृत्तिलोपापत्तेः। नाप्यनेकानि कर्माणि मिलित्वा अनेकजन्मनां कारणानि। बहूनां जन्मनां युगपदसम्भवेन क्रमिकोत्पत्तेरवश्यवाच्यतया प्रथमं किं पश्चात् किमिति क्रमे नियमाभावात् पुण्यानुष्ठाने फलानिश्चयप्रसक्त्या प्रवृत्तिलोपप्रसङ्गदोषतादवस्थ्याच्[६]छीघ्रफलकामनयैव कर्मानुष्ठानस्योक्तत्वात्। तस्मादेकं कर्मैकं जन्म करोति, एकमनेकानि जन्मानि करोति, अनेकान्य[७]नेकजन्मानि कुर्वन्तीति पक्षत्रयस्यासम्भवाज्जन्मारभ्य मरणपर्यन्तं विहितप्रतिषिद्धैर्यो धर्माधर्मसमूहो गुणप्रधानभावापन्न उत्पादितः स मरणकाल आरब्धकर्मभोगसमाप्त्या लब्धावसरः सन् स्वफलदानार्थं मरणं प्रसाध्य प्रवृद्ध[८]वेगमेकमेव [९]जन्म फलयोग्यं करोति, नानेकमित्येकभविकपक्ष एव युक्तः।

नन्वेवं विधिनिषेधानधिकृतदेवतिर्यगादिशरीरलाभे प्रायेणोत्तरमपुनर्भवप्रसङ्गः। [१०]अनधिकारेणापूर्वस्यानर्जनात्। प्राचीनसर्वकर्मणां च तस्मिन्नेव शरीरे समापनादिति।

---

१. क — एकः, ख घ — एव, ग — एकभवः।
२. क ख — ज्ञानिनामिव, ग घ — अज्ञानामिव।
३. क ख — सम्भवेन, ग घ — सम्भावनया।
४. क ख — एवं, ग घ — एकम्।
५. क ख ग — फलदस्य, घ — फलस्य।
६. क ख — छीघ्र०, ग घ — झटिति।
७. क ख — एक०, ग घ — अनेक।
८. क ख घ — वेगं, ग — वेगः।
९. ग घ — स्व [जन्म०पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — स्व० नोपलभ्यते।
१०. क ख — अनधिकारेण, ग घ — अनधिकारे।

चेन्न। नरकस्वर्गादिजन्मकर्मणामेव ब्राह्मणस्थावरादियोनिलाभपर्यन्तश्रवणाच्छ्र[1]वणानुक्तकालविशेषस्यैकभविकत्वनियमाच्छान्तिपर्वण्यापद्धर्मे—

**एवं खलु कपोतश्च कपोती च पतिव्रता।**
**लुब्धकेन हता स्वर्गं गता तनैव कर्मणा॥**

इत्यादिना तिर्यञ्चामपि पुण्यश्रवणात्, परस्त्रीगमनादिपापश्रवणाच्च। अन्यत्रेन्द्रादेरपि ब्रह्महत्यादिश्रवणाच्च शरीरान्तरोपभोग्यदृष्टोत्पत्त्यङ्गीकाराद् वा दोषाभावात्। अखिलप्राणिकृतादग्धाप्रतिबद्धाखिलकर्मणामेवैकभविकत्वाङ्गीकारात्। अतः प्रायश्चित्ततत्त्वज्ञानादिना दग्धस्य शीघ्रभोगदायिनाऽवरुद्धस्य चैकभविकत्वाभावेऽपि न हानिः। न वा ज्ञानिनामन्यसाम्यम्। तेषामेवापुनर्भवाङ्गीकारादिति संक्षेपः। कर्मभिः शरीरान्तरोत्पत्तिश्च सत्त्वाद्यनुसारिणी।

**येन येन हि भावेन यद्यत् कर्म करोत्ययम्।**
**तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते॥**

इति मन्वादिस्मृतेः। सत्त्वान्वयश्चाप्तुं प्रयत्नाधीनः शास्त्रीयेष्टसाधनताज्ञानादिना सत्त्वसम्पत्तमो[2]निवृत्त्योः सम्भवात्। सत्त्वाद्याविर्भावेन च शक्यते कालान्तरोपभोग्यं तच्छेषभूतं शरीरान्तरमपि प्रत्याक्रष्टुम्[3]। पुरुषकारप्रधानस्य देशकालविशेषसमवधानस्यापि सम्भवात्।

नन्वयुक्तकालान्तरोपभोग्यस्य कालान्तरेऽभिव्यक्तिरिति चेन्न। चिराचिररूपकालस्याभिव्यञ्जकसामग्र्यामप्रवेशात्?

**चित्रया यजेत पशुकामः।**

इत्यादौ पशुकामस्य कृतायामपि साङ्गायां पशूनां सद्योऽनुपलम्भाद् बाधिता श्रुतिरिति बाह्येन प्रत्युपस्थिते[4] पशुकामस्य चित्राभ्युपाय इत्येतन्मात्रे तात्पर्यं, न तु चिराचिररूपकालेऽपि। तेन यस्य चित्रा सम्पन्ना तस्यासति प्रतिबन्धके पशुभिरवश्यं भवितव्यम्। प्रतिबन्धके सति तु कालान्तर इति शास्त्रकृद्भिर्व्यवस्थापितत्वात्। किन्तु भोक्त्रतिशयाधायी वयोविशेषरूपः। भोक्तृभोग्योभयाऽतिशायी शीतोष्णवर्षारूपत्रऋतुविशेषरूपो जायते इति विशेषः। यथाह हारीतः—

---

१. क ख — छ्रवण०, ग घ — शास्त्र०।
२. क ख घ — निवृत्त्योः, ग — वृत्त्योः।
३. क ख घ — प्रत्याक्रष्टुं, ग — आकृष्टम्।
४. क ख — प्रत्युपस्थिते, ग घ — प्रत्यवस्थिते।

**यस्मिन् यस्मिन् वयसि यः करोति शुभाशुभानि[१]।**

**तस्मिन् तस्मिन् वयसि शारीरवाचिकमानसान्याप्नोति।**

इति। तस्मादैकभविकपक्षे भगवद्भजनादिना यद्यपि शक्यते शरीरपातोत्तरं झटिति नारदादिवच्छरीरं प्रत्याक्रष्टुं, तथापि तस्य कर्माशयहेतुकत्वेन कैवल्यापेक्षया बन्धत्वमेवेत्यनुपादेयकल्पत्वमेव [२]मुमुक्षोरिति सूत्रद्वयतात्पर्यार्थः। यदि तु परमेश्वरेच्छयैव सर्वं तदा तु सुतरामैकभविकः कर्माशयः। परन्तु दृष्टजन्मवेदनीय एव,

**अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।**

इत्यादिस्मृतेः। अणिमाण्डव्यादीनां शैशवे कृतकर्मणामिहैव दुःखफलश्रवणाच्च। ज्योतिष्टोमादिकं च विधिसिद्ध्यर्थमात्रमनुष्ठेयम्। ईशसृष्टजीवानां [३]मरणानन्तरमी[४]श एव लया[५]ङ्गीकारेण भवान्तराभावात्। तस्मादस्मिन् पक्षे एक एव भवः कार्यतयास्मिन्नस्तीति नार्थः। किन्त्वेकस्मिन्नेव शरीरे फलस्य भावः सद्भावोऽस्तीत्येकभविकशब्दार्थः। अस्मिँश्च पक्षे कर्मतत्त्व[६]ज्ञानादिसाधनानामीशप्रसादकोपौ प्रत्येव कारणता, न फलं प्रति। फलमत उपपत्तेरिति सूत्रयता व्यासेन तथा ज्ञापनात्। अतो न कस्याप्यप्रामाण्यमिति संक्षेपः ॥ १३ ॥

अधुना जात्यादीनां हेयत्वार्थं फलमाह—

**ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥**

**त** इति। ते जात्यायुर्भोगाः सर्व एव ह्लादपरितापफलाः समुच्चितसुखदुःखफलकाः। कुतः ? पुण्यापुण्यहेतुत्वात्। समुच्चितधर्माधर्महेतुकत्वादित्यर्थः। सुखावच्छेदेन पुण्यहेतुकाः, दुःखावच्छेदेनापुण्यहेतुका इति यावत्। [७]सर्वस्यापि फलस्य दुःखसम्भिन्नत्वादित्यर्थः ॥ १४ ॥

---

१. क ख — **शुभानि**, ग घ — **शुभाशुभानि**।
२. क ख ग — **मुमुक्षोः**, घ — **मुमुक्षुभिः**।
३. क ख — **मरणानन्तरं**, ग घ — **मरणोत्तरम्**।
४. क ख ग — **ईशः**, घ — **ईश्वरः**।
५. क ख ग — **अङ्गीकारेण**, घ — **अङ्गीकारे**।
६. क ख ग — **ज्ञानादिसाधनानां**, घ — **ज्ञानसाधनादीनाम्**।
७. क ख घ — **सर्वस्यापि फलस्य दुःखसम्भिन्नत्वादित्यर्थः** उपलभ्यते, ग — **सर्वस्य.... इत्यर्थः** नोपलभ्यते।

ननु दुःखफला हेया भवन्तु सुखफलास्तु कथं हेया इत्यत आह—

**परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः॥ १५॥**

**परिणामेति**। परिणामश्च तापश्च संस्कारश्च तज्जन्यानि दुःखानि तैर्योगात् तत्कारणत्वादिति यावत्। विषयाणां भोगे तृष्णाभिवृद्धिः परिणामः, भोगपरिपन्थिनि द्वेषस्तापः, भोगानुभवेन भोगस्मृतिजनकः संस्कारः। एतेषां दुःखसाधनत्वं स्फुटमेव। **गुणवृत्तिविरोधाच्चेति**। गुणानां सत्त्वरजस्तमसां वृत्तयः सुखदुःखमोहास्तासां विरोधः परस्परमभिभाव्याभिभावकत्वं, तस्मादित्यर्थः। गुणवृत्त्यविरोधादिपाठे तु गुणवृत्तीनां सुखादीनां गुणप्रधानभावेन समावेशादित्यर्थः। विवेकिन इत्यनेन विषयसुखं दुःखसम्भिन्नतया सुखकाले योगिन एव पश्यन्तीति सर्वं दुःखं नायोगिनः। सुखकाले दुःखतयाऽनुभवाभावात्। ननु सुखसाधनतया सुखसम्भिन्नतया च सर्वं सुखमेव कथं न भवतीति चेन्न। बाहुल्यस्यैवात्र नियामकत्वात्। दुःखबाहुल्यस्य लोके स्फुटत्वात्। उक्तञ्च विष्णुपुराणे—

**कलत्रमित्रपुत्रार्थगृहक्षेत्रधनादिकैः।**
**क्रियते न तथा भूरि सुखं पुंसां यथाऽसुखम्॥**

इति॥ १५॥

इदानीं हेयं हेयहेतुर्हानं हानहेतुश्चेति चतुष्टयं व्युत्पादयितुं विशिष्य हेयं दर्शयति—

**हेयं दुःखमनागतम्॥ १६॥**

**हेयमिति**। अतीतस्यातीतत्वादेव वर्तमानस्य च भोगेनैव क्षयसम्भवादनागतमेव हेयमित्यर्थः॥ १६॥

हेयहेतुमाह—

**द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः॥ १७॥**

**द्रष्टृदृश्ययोरिति**। द्रष्टा पुरुषः, दृश्यं प्रधानम्। तयोः संयोगोऽविवेकख्यातिहेतुकं भोक्तृभोग्यत्वेन सन्निधानं हेयस्य दुःखस्य [१]हेतुकारणमित्यर्थः॥ १७॥

तत्र दृश्यस्वरूपं कार्यं प्रयोजनं चाह—

**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्॥ १८॥**

---

१. क ख घ — हेतु०, ग — हेतुः।

**प्रकाशे**ति। प्रकाशः प्रपञ्चावभासः सत्त्वधर्मः, क्रिया प्रवृत्तिः रजसो[१] धर्मः, स्थितिर्नियमस्[२]तमसः, ताः प्रकाशक्रियास्थितयः शीलं स्वाभाविकं रूपं यस्य तत्तथाविधमिति स्वरूपमस्य निर्दिष्टम्। भूतेन्द्रियात्मकं भूतानि स्थूलसूक्ष्मभेदेन द्विविधानि। उभयमेतत् पृथिव्यादीनि च गन्धतन्मात्रादीनि च इन्द्रियाणि बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियाऽन्तः-करणभेदेन त्रिविधानि। उभयमेतद् ग्राह्यग्रहण[३]रूपतयाऽऽ[४]त्मस्वरूपाभिन्नः परिणामो यस्य तत्तथाविधमित्यनेन कार्यमस्योक्तम्। भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः। अपवर्गः संसारनिवृत्तिरूपकैवल्यं, तौ भोगापवर्गावर्थः प्रयोजनं यस्य तत्तथाविधमित्यनेन प्रयोजनमस्योक्तम्। तदिदं गुणत्रयं प्रपञ्चकारणं भोगमोक्षप्रयोजनकं दृश्यपदार्थ इत्यर्थः ॥ १८ ॥

गुणानामिव गुणविकाराणामपि दृश्यत्वज्ञापनाय गुणानामवस्थाः प्रदर्शयति—

**विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥**

**विशेषे**ति। विशिष्यन्ते व्यावर्त्यन्ते इति विशेषा व्यावृत्ताः, पञ्च भूतानि दशेन्द्रियाणि, एकादशं मनश्चेत्येते षोडशविकारा एव। तेषां[५] प्रकृतयो बुद्धेर्विकृतयः पञ्चतन्मात्राहङ्कारः षड[६]विशेषाः लिङ्गमात्रं महत्तत्त्वं अलिङ्गगुणानां साम्यावस्थारूपं प्रधानम्। एतानि चत्वारि गुणपर्वाणि गुणानामवस्था इत्यर्थः ॥ १९ ॥

दृश्यं निरूप्य द्रष्टारं निरूपयति—

**द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययाऽनुपश्यः ॥ २० ॥**

**द्रष्टे**ति। द्रष्टा पुरुषो दृशिमात्रः चिन्मात्रो न ज्ञानादिधर्मकः।

**ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन।**

**ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥**

इत्यादिस्मृतेः। एतेन मतान्तराभिमतस्वरूपता[७]निरासः। मात्रपदेन गुणान्तरस्यापि व्यवच्छेदः। अतः शुद्धोऽपि पारार्थ्याचेतनत्वपरिणामित्वादिरूपाशुद्धिरहितोऽपि। एतेन

---

१. क ख ग — रजसो धर्मः, घ — रजोधर्मः।

२. क ख ग — तमसः, घ — तमोधर्मः।

३. क ख — रूपतया, ग घ — रूपम्।

४. क ख घ — आत्मस्वरूपाभिन्नः, ग — आत्मा स्वरूपाभिन्नः।

५. क ख — तेषां, ग घ — एतेषाम्।

६. क ख घ — विशेषाः, ग — अविशेषाः।

७. क ख घ — निरासः, ग — व्यावृत्तिः।

भूतेन्द्रियाद्यन्तर्भावव्यावृत्तिः। प्रत्ययानुपश्यः। प्रत्ययं बुद्धिवृत्तिमनुसृत्य पश्यतीति प्रत्ययानुपश्यः। स्वस्य बुद्ध्यविवेकाद् वृत्तिभिरेकी[१]भूतः सन् शब्दादीन् पश्यतीत्यर्थः। एतेन द्रष्टरि प्रमाणं सूचितम्। चेतनं विना जगतो भानानुपपत्तेरिति भावः ॥ २० ॥

प्रमाणं दर्शयति—

**तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥**

**तदर्थ** इति। तस्य पुरुषस्यार्थः प्रयोजनं भोगापवर्गावेवार्थः प्रयोजनं यस्य स तथेति मध्यमपदलोपिसमासः। पुरुषस्य भोगापवर्गप्रयोजनक एव दृश्यस्यात्मा स्वरूपं कार्यकारणात्मकं गुणत्रयं, न स्वार्थमित्यर्थः। तथा च—

गुणाः परार्थाः,संहत्यकारित्वात्,शय्यादिवत्,

इत्याद्यनुमानेन दृश्यातिरिक्तस्य पुरुषस्य सिद्धिरिति भावः। तदर्थमेव दृश्यमित्येतावन्मात्रेणैव निर्वाहेऽप्यात्मपदं धात्वर्थे दर्शने तदर्थत्वान्वयभ्रमनिरासाय प्रयुक्तमिति दिक् ॥ २१ ॥

ननु पुरुषप्रयोजनकं दृश्यस्य स्वरूपं यदि[२] तर्हि पुरुषार्थहेतुरूपस्थितिकत्वेन चेतनदृष्टिलब्धसत्ताकस्य भोगापवर्गरूपे पुरुषार्थे कृते सत्यवस्थानायोगादत्यन्तोच्छेदप्रसङ्गः। तथा च प्रकृतिनित्यत्वभगवन्नित्यैश्वर्यादिसिद्धान्तहानिः स्यात्। इदानीं [३]संस्कारश्च नोपलभ्येत। यदि चात एव नाशस्तर्हि जीवस्यात्यन्तिकी संसारनिवृत्तिर्न स्यात्। कारणस्य सत्त्वात्। तत्राह—

**कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥**

**कृतार्थमिति**। कृतः समापितोऽर्थो यस्येति कृतार्थम्। एकं कञ्चिन्मुक्तपुरुषं प्रति गुणादिकं नष्टं प्रयोजनाकरणाद्राज्ञो [४]राजवन्नष्टमपि सामान्यतो न नष्टम्। कुतः? तदन्यसाधारणत्वात्। तस्मिन्नन्यपुरुषेऽ[५]साधारणत्वादित्यर्थः। सोऽयमर्थः—

**अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः जन्यन्तीं[६] सरूपाः।**
**अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥**

---

१. क ख ग — भूतः, घ — भूय।
२. क ख ग — यदि तर्हि....उच्छेदप्रसङ्गः उपलभ्यते, घ — यदि....प्रसङ्गः नोपलभ्यते।
३. क ख — संस्कारः, ग घ — संसारः।
४. क ख — राज०, ग घ — राज्य०।
५. क ख — असाधारणत्वात्, ग घ — च साधारणत्वात्।
६. क ख — जनयन्तीं, ग — सृजमाणाः, घ — सृजमानाम्।

इत्यादिश्रुतिसिद्धः। एतदुक्तं भवति। प्रधानस्य कृतार्थं प्रति न प्रवृत्तिः। अनागतावस्थस्यैव पुरुषार्थस्य प्रवृत्तिहेतुत्वात्[१]। अकृतार्थं प्रति तु घटते महदाद्याकारेण प्रवृत्तिरतो नो[२]क्तदोष इति संक्षेपः॥ २२॥

द्रष्टृदृश्यौ[३] व्याख्याय हेयहेतुं संयोगं निरूपयति—

**स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः॥ २३॥**

**स्वेति**। स्वं दृश्यम्। तस्य शक्तिः जडत्वेन [४]भोगयोग्यता। स्वामी पुरुषस्तस्य शक्तिश्चेतनत्वेन भोक्तृयोग्यता, स्वरूपात्मिकैव। तयोः स्वस्वामिस्वरूपयोः शक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः स्वरूपेण भोक्तृभोग्यभावेन भास्यभासकभावेन चोपलब्धौ हेतुः कारणं भोक्तृभोग्यभावेन सन्निधानं संयोग इत्यर्थः। अथवा सुखदुःखाद्याकारदृश्यबुद्धिस्वरूपस्योपलब्धिर्भोगः। स्वामिस्वरूपस्य सच्चिन्मात्रस्योपलब्धिहेतुरपवर्गहेतुर्ज्ञानम्। तद्धेतुः संयोग इत्यर्थः। अथवा स्वशक्तिर्दृश्यं भोग्यतायोग्यत्वात्। स्वामिशक्तिर्द्रष्टृभोक्तृयोग्यत्वात्। तयोः स्वरूपोपलब्धौ हेतुर्यः संयोगविशेषः स एव द्रष्टृदृश्यसंयोगोऽत्र हेयहेतुरुक्तो, न सम्बन्धमात्रम्। प्रलयमोक्षादिसाधारण्यादिति भावः। सूत्रे स्वरूपपदं विवेकख्यातिपर्यन्तस्य दर्शनसामान्यस्य संयोग[५]जन्यत्वज्ञापनेन हेयपक्षे प्रवेशज्ञापनाय। तदुक्तम्—

**त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज।**
**उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज॥**

इति। एवं विवेकख्यात्यन्त्ये कार्ये जनिते कृतकृत्येन जीवेन प्रधानादेरदर्शनात्, तं प्रति नष्टत्वेन दर्शनरूपकार्यावसान एव संयोग इत्यतो दृष्टस्वरूपोपलब्धिर्द्रष्टृदृश्ययोर्वियोगकारणमित्यपि ज्ञापितम्॥ २३॥

संयोगदर्शनावसानत्वं समर्थयिष्यन् दर्शनोच्छेद्यामविद्यां तत्कारणमाह—

**तस्य हेतुरविद्या॥ २४॥**

**तस्येति**। तस्य द्रष्टृदृश्यसंयोगस्य अविद्या प्रवाहानादिरनात्मन्यात्मबुद्ध्यादिरूपा

१. क ख घ — प्रवृत्तिहेतुत्वात्, ग — प्रवृत्तित्वात्।
२. क ख ग — उक्तदोषः, घ — उक्तानुपपत्तिः।
३. क ख — द्रष्टृदृश्यौ, ग घ — दृश्यद्रष्टारौ।
४. क — भोग०, ख ग घ — भोग्य०।
५. क ग घ — जन्यत्वज्ञापनेन, ख — जन्यत्वेन।

ख्याता[1] हेतुः। बीजाङ्कुरन्यायेन स्वप्रयोज्यवासनाद्वारा कारणमित्यर्थः। अहमिति दृग्दृश्ययोरभेदभ्रान्तितद्वासनावासितं चित्तं प्रलयादौ प्रधानभावमुपगतं, सर्गकाले पूर्वपूर्वसंस्कारादृष्टप्रयुक्तं भोगापवर्गार्थं पुरुषस्य सन्निहितं भवति। तेनैव संयोगेन भोगापवर्गौ भवत इति यावत्॥ २४॥

हेयं हेतुं[2] च व्युत्पाद्य मोक्षापरपर्यायं हेयं[3] हेयज्ञानं व्युत्पादयति—

**तदभावात् संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम्॥ २५॥**

**तदभावादि**ति। तस्या अविद्यायाः अभावान्नाशाद् हेयसाधनस्य दृग्दृश्यसंयोगस्याभावो निवृत्तिर्हानपदार्थः। तस्य [4]पुरुषार्थत्वमाह—तद् दृशेः कैवल्यमिति। तद् हानं दृशेः पुरुषस्य कैवल्यं, प्राप्ताप्राप्तविवेकरीत्या मोक्ष इत्यर्थः। तथाहि—[5]अतीतदुःखस्यातीतत्वादेव, वर्तमानस्य च स्वोत्तरोत्पन्नविशेष[6]गुणेनैव नाशसम्भवात्। अनागतस्य तु निवर्त्तयितुमशक्यत्वादेव न तत्त्वज्ञानेन हानं वक्तुं शक्यम्। अतः साक्षात्तत्साधनभूतस्य विवेकख्यातिनिमित्तस्य संयोगस्य निवृत्तिरेव तत्त्वज्ञाने साध्या। हानक्रियैव चानागतावस्थापरिपालनेन भाविदुःखप्रतियोगिकापि भवतीति स्वतः पुरुषार्थरूपा च भवति। इत्थञ्चानागतदुःखस्य, हेयं दुःखमनागतमिति हानक्रियाकर्मत्वरूपहेयत्वोक्तिरपि सङ्गच्छते इति दिक्॥ २५॥

तदभावात् संयोगाभाव इत्यनेनात्यन्तिकदुःखनिवृत्तेः [7]पुरुषार्थरूपतया ज्ञापितायाः कारणमाह—

**विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः॥ २६॥**

**विवेके**ति। दृग्दृश्ययोर्भेदो विवेकस्तस्य ख्यातिः—अन्ये गुणाः, अन्यः पुरुष इत्याकारकं ज्ञानम्। सा कीदृशी। अविप्लवा न विद्यते विप्लवो मिथ्याज्ञानजन्यवासनाभिरन्तराभिभवो यस्याः सा साक्षात्काररूपा। हानोपायः, आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिरूपमोक्षस्य पन्था इत्यर्थः। कारणमिति विहायोपाय इति कथनं तु ज्ञानाज्ञानयोरेव

---

१. क ख घ — ख्याता, ग — व्याख्याता।
२. क ख — हेतुं, ग घ — हेयहेतुम्।
३. क ख — हेयं हेयज्ञानं, ग घ — हेयहानम्।
४. क ख घ — पुरुषार्थत्वं, ग — पुरुषार्थत्वाय।
५. क ख घ — अतीत०, ग — अतीतस्य।
६. क ख घ — गुणेन, ग — गुणैः।
७. क ख घ — पुरुषार्थ०, ग — पुमर्थ०।

साक्षाद्विरोधात् प्रथमतो ज्ञानादज्ञाननाशः। पश्चात् प्रधानस्याधिकारनिवृत्तिः। ततश्चित्तस्य लयः। ततः संयोगनाशः। ततो दुःखस्यानुत्पाद इति क्रमज्ञापनायेति संक्षेपः ॥ २६ ॥

ननु ज्ञानादेव चेन्मोक्षस्तदाऽसंप्रज्ञात[1]योगान्तरप्रयासानुसरणं व्यर्थम्। आत्मतत्त्वस्यौपनिषदत्वेन श्रुत्यैव ज्ञानसम्भवादित्याशङ्क्य, आगमात् परोक्षैव विवेकख्यातिरुदेति नापरोक्षा, किन्तु सा भावनाप्रकर्षादेवेति ज्ञापयिष्यँस्तस्या विवेकख्यातेः स्वरूपमाह—

## तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥

**तस्येति**। तस्य उत्पन्नसाक्षात्कारस्य प्रान्तभूमिः प्रज्ञा प्रकृष्टोऽन्तोऽवसानं यासां ताः प्रान्ताः। चरमा इति यावत्। प्रान्ता भूमयोऽवस्था यस्याः सा प्रज्ञा प्रान्तभूमिः। सप्तधा सप्तप्रकारा भवतीत्यर्थः। सप्तप्रकाराः [2]प्रज्ञावस्थाश्चरमा भवन्तीति यावत्—

१. ज्ञातव्यमखिलं ज्ञातं, न किञ्चिज्ज्ञातव्यमस्तीति या सैका।

२. सर्वजिज्ञासानिवर्तकत्वात् प्रान्ता। न हीयमज्ञस्याल्पस्य वा सम्भवति। तत्तदालम्बनसमाधिना प्रधानान्तप्रज्ञायां स्थिरायामपि आत्मजिज्ञासायाः सत्त्वेन[3] तत्प्रज्ञायाश्चरमत्वात्। एवमग्रिमावस्थानां प्रान्तत्वमवगन्तव्यम्। हातव्याः सर्वे बन्धहेतवो हताः, न किञ्चिन्मम हातव्यमस्तीति या सा द्वितीया।

३. कैवल्यप्राप्त्या प्राप्तव्यमखिलं प्राप्तं, न किञ्चिन्मे प्राप्तव्यमस्तीति या सा तृतीया।

४. विवेकज्ञानसम्पादनेनाखिलं कर्तव्यं कृतं, न मे किञ्चित् कर्तव्यमस्तीति या सा चतुर्थी।

एताश्चतस्रः प्रज्ञाः कार्यविषयनिर्मलज्ञानस्वरूपाः कार्यविमुक्तिसंज्ञाः। चित्तविमुक्तिसंज्ञास्तु तिस्रः—

१. कृतार्थं बुद्धितत्त्वमित्येका।

२. गुणाः कृताधिकारा गिरिशिखरच्युता इव ग्रावाणः पाषाणविशेषाः[4] निरवस्थाना न पुनः स्थितिं यास्यन्ति। उपरममुख्यानां मोहाभिधानरूपसंयोगकारणाभावात्। निष्प्रयोजनत्वाच्चामीषां कुतः प्ररोह इति द्वितीया।

---

१. क ख ग — **योगान्तर०**, घ — **योगान्त०**।
२. क ख घ — **प्रज्ञावस्थाश्चरमाः**, ग — **चरमाः प्रज्ञावस्थाः**।
३. क ख ग — **सत्त्वेन**, घ — **साऽद्वितीयत्वेन**।
४. क ख घ — **पाषाणविशेषाः** उपलभ्यते, ग — **पाषाणविशेषाः** नोपलभ्यते।

३. गुणातीतोऽहं स्वरूपमात्रावस्थितः सच्चिदेकरस इति तृतीया।

इत्थं त्रिप्रकारा चित्तस्वरूपविमुक्तिविषयत्वात् तथोच्यते। ईदृशसप्तप्रकारप्रज्ञावानेव ज्ञानी कुशल इत्युच्यते। अत एतादृश्यः[१] प्रज्ञाः, जिज्ञासाजिहासाप्रेप्साचिकीर्षाशोकभयविकल्पनिवृत्तिफलाः। साङ्गसमाधिं विना न [२]सम्भवन्तीति तदन्तप्रयासः सार्थक एवेति दिक्॥ २७॥

ननु तथापि किमर्थं चित्त[३]रोधहेतुप्राणनिरोधादि[४]लक्षणो योगप्रयासः। मनोनिग्रहस्य श्रुतिजन्यात्ममात्रसत्यबोधेनैव सम्भवात्। तदुक्तम्—

**आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा।**

**अमनस्तां तदा याति तदभावे तदग्रहम्॥**

इत्यादि। अतस्तेन मनसो निग्रहे जाते स्वप्रकाशात्मतत्त्वं केवलं स्वयमेव भासत इति समाधिसिद्धिर्योगाङ्गानुष्ठानप्रयासोऽनुचित इत्याशङ्क्य, आत्ममात्रसत्यत्वबोधरहितानां बहिर्मुखानां सत्ख्यातिवादिनां च मनोनिरोधहेतुकेन चाञ्चल्यनिरासेनैवात्मबोधो मोक्षाख्या शान्तिश्च भवतीति [५]पूर्वमुक्ताननेकयोगान्। साङ्गसमाधियोगेऽन्तर्भावयिष्यन् योगाङ्गानुष्ठानात् तद्भवतीत्याह—

## योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः॥ २८॥

**योगाङ्गेति।** योगस्य तदङ्गानां च[६] अनुष्ठानात् पौनःपुन्य[७]रूपाद् अभ्यासाद् अशुद्धिक्षये चाञ्चल्यादिहेतुक्लेशादिलक्षणपापक्षये सति ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः विवेकख्याति[८]पर्यन्ता ज्ञानस्य श्रवणमननिदिध्यासनजन्यस्य सर्वस्यापि दीप्तिः मिथ्याज्ञानेन अभिभवोऽश्रुतमतार्थग्राहित्वं च भवतीत्यर्थः। साङ्गयोगानुष्ठानस्य स्वजन्यधर्मजन्यशुद्धिद्वारा ज्ञानसाधनत्वमिति भावः।

---

१. क ख घ — एतादृश्यः, ग — एव दृश्यः।

२. क ख घ — **सम्भवन्तीति तदन्तप्रयासः सार्थक एवेति दिक्**, ग — **सम्भवति समाधिश्च मनोनिग्रहहेतुः।**

३. क ख घ — **रोध०**, ग — **निरोध०**।

४. क ख — **लक्षणः**, ग — **लक्षण०**, घ — **लक्षणे**।

५. क ख घ — **पूर्वमुक्त०**, ग — **पूर्वोक्त०**।

६. ग — **अनुपदमेव वक्ष्यमाणानां यमादीनां** [च पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **अनुपदमेव वक्ष्यमाणानां यमादीनां** नोपलभ्यते।

७. क ख घ — **रूपात्**, ग — **रूप०**।

८. क — **पर्यन्ता**, ख ग घ — **पर्यन्तम्**।

अथवा योगाङ्गानां[1] धौतीवस्तीत्यादिषट्कर्मणां महामुद्रादीनां च अनुष्ठानाद् दृढाभ्यासाज्ज्ञानदीप्तिः। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं करणवर्गः। तस्य दीप्तिः रोगाद्यनभिघातेन तेजस्विता दृढता च, आविवेकख्यातेः विवेकख्यातिपर्यन्तं भवतीत्यर्थः। रोगादिना ज्ञानस्य कुण्ठीभावस्तु प्रसिद्ध एव। स चैतेष्व[2]ङ्गेष्वनुष्ठितेषु रोगप्रतिबन्धान्न भवती-[3]त्यर्थः। तथा च करणदार्ढ्यद्वारा समाधि[4]दार्ढ्यार्थार्थकर्मयोगोऽपि [5]प्रथमतोऽनुष्ठेयो रोगभीरुणेति भावः। स च कर्मयोगः षट्कर्मरूपो मुद्रारूपश्चेति द्विविधो निरूपित आकरे यथा—

**धौती वस्ती तथा नेति त्राटकं नौलिकं तथा।**
**कपालभाती चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते॥**
**कर्मषट्कमिदं गोप्यं देहशोधनकारकमिति।**
**महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी॥**
**शक्तिचालो मूलबन्ध उड्डीयानं ततः परम्।**
**जालन्धराभिधो योगो विपरीतकृतिस्तथेति॥**

लक्षणानि च तत्रैवोक्तानि।

तत्र धौती॥ १॥

**चतुरङ्गुलविस्तारं सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत्।**
**पुनः प्रत्याहरेदेतदभ्यासाद्धौतिकर्मवित्॥**
**कासश्वासप्लीहकुष्ठकफरोगादयः क्रमात्।**
**धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः॥** इति।

अथ बस्ती॥ २॥

**नाभिदघ्ने जले पायुन्यस्तनालोत्कटासनः।**
**आधाराकुञ्चनं कुर्यादभ्यासाद् बस्तिकर्म तत्॥**
**गुल्मोदनं चापि वातप्लीहपित्तकफोद्भवान्।**
**बस्तिकर्मप्रभावेन बाध्यन्ते सकलाऽऽमयाः॥**

---

१. क ख — योगाङ्गानां, ग — योगानां, घ — योगानुष्ठानस्य स्वजन्यधर्माङ्गानाम्।
२. क ख घ — अङ्गेष्वनुष्ठितेषु, ग — अभ्यस्तेषु।
३. क ख घ — इत्यर्थः, ग — इति यावत्।
४. क ख — दार्ढ्यार्थार्थ०, ग घ — दार्ढ्यार्थम्।
५. ग — अवश्यं [प्रथमतः पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — अवश्यं नोपलभ्यते।

धात्वेन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दध्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम्।
अशेषदोषोपचयं निहन्यादभ्यस्यमानं जलवस्तिकर्म॥ इति।

अथ नेती॥ ३॥

सूत्रं वितस्तिसुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत्।
मुखान्निर्गमयेत् सा हि नेती सिद्धैर्निगद्यते॥
कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी।
तत्रोर्ध्वजातरोगौघाञ्जरयत्याशु नेतिवित्॥ इति।

अथ त्राटकम्॥ ४॥

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
अश्रुपातादिपर्यन्तमार्यैस्तत् त्राटकं मतम्॥
मोहनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम्।
एतच्च त्राटकं गोप्यं यथा वध्वा रतिः सदा॥ इति।

अथ नौली॥ ५॥

आनन्दवर्त्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्ययोः।
नलांशो भ्रामयेदेषा नौली योगे प्रचक्षते॥
मन्दाग्निसन्दीपनपाचकाग्निसन्धायिकानन्दकरी तथैव।
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रिया मौलिनीयं हि नौली॥

अथ कपालभाती॥ ६॥

भस्त्रेव लोहकाराणां रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभाती विख्याता कफदोषप्रदाहिनी॥ इति।

अथ महामुद्रा॥ १॥

अपसव्येन संपीड्य पादंमूलेन सादरम्।
गुरूपदेशतो योनिं गुदमेढ्यान्तरालगाम्॥
सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणियुगेन हि।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि।
चित्तं चतुष्पथे दत्वा प्रारभेद्वायुधारणम्।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता॥
वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षाङ्गेनाऽभ्यसेत् पुनः।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियतमानसः॥

मुद्रामेतां तु सम्प्राप्य गुरुवक्त्रात् सुगोपिताम्।
अभ्यासयोगतो योगी मन्दभाग्योऽपि सिद्ध्यति॥
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुधारणम्।
जारणं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्॥
कुण्डलीबोधनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम्।
सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्द्धनम्।
कुर्यादभ्यासतस्त्वेषा महामुद्रा सुगोपिता॥

अथ महाबन्धः॥ २॥

योऽस्यां प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।
गुदयोनी समाकुञ्च्य नीत्वा चापानमूर्ध्वगम्॥
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्।
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थमपानप्राणयोः सुधीः॥
कथितोऽयं महाबन्धः सर्वसिद्धिप्रदायकः।
नाडीगलद्रसव्यूहमूर्ध्वं नयति योगिनः॥
उभाभ्यां साधयेत् पद्भ्यामेकैकं सुप्रयत्नतः।
मतमत्र तु केषाञ्चित्कण्ठबन्धं विसर्जयेत्॥
राजदन्तद्वयं तत्र जिह्वयोत्तम्भयेत्॥ इति।

अथ महावेधः॥ ३॥

महावेधं स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधा।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया॥
समहस्तयुगो भूमौ स्थितौ संताडयेच्छनैः।
पुटद्वयं समाक्रम्य वायुः स्फुरतिमध्यगः॥
सोमसूर्याग्निसन्धानं जायते चामृतायते।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायक॥
वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः।
एतत्त्रयं महागुप्तं जरारोगविनाशनम्॥
वह्निवृद्धिकरं चैव सर्वसिद्धिप्रदायकम्। इति।

अथ खेचरी॥ ४॥

छेदनचालनदोहैर्जिह्वां संवर्द्धयेत्तावत्।
यावदियं भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः॥
कलां परामुखीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्त्तयेत्।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते॥
रसं समूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति।
विषयैर्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः॥
खेचर्य्या मुद्रितं येन विवरे लम्बिकोर्ध्वतः।
तस्य न क्षरति बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य तु।
चलितोपपदे बिन्दुः सम्प्राप्तश्च हुताशनम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हि तच्छक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायतं च जीवनम्।
तस्माच्चित्तं च शुक्रं च रक्षणीयं प्रयत्नतः॥
उभयो रक्षणे हेतुः खेचर्येव न संशयः। इति।

इयं व्युत्पादिता स्कान्दे—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी॥
चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निगद्यते॥ इति।

अथ शक्तिचालनम्॥ ५॥

आधारकमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढाम्।
अपानवायुनाकृष्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्॥
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समभ्यसेत्।
अग्निवृद्धिभवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम्॥
विहाय मुद्रां भुजगीं स्वयमूर्ध्वं भवेत् खलु।
तस्मादभ्यसनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता॥ इति।

अथ मूलबन्धः॥ ६॥

पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।
बलादपानमाकृष्य बलादूर्ध्वं समभ्यसेत्॥

कथितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः ।
अग्निवृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ॥ इति ।

अथोड्डीयानम् ॥ ७ ॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च उदरं तत् प्रपीडयेत् ॥
पश्चिमं तानमुदरं कारयेच्चिबुकं हृदि ।
शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुन्दसिद्धिं न गच्छति ॥
सर्वेषामपि बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ।
षणमासमभ्यसन् मृत्युं जयत्येव संशयः ॥
नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने ।
तस्य नाभेर्विशुद्धिः स्यात् येन सिद्धो भवेन्मरुत् ॥ इति ।

अथ जालन्धरबन्धः ॥ ८ ॥

बद्ध्वा गले शिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः ॥
एतस्याभ्यासतो योगी योगसिद्धिमवाप्नुयात् । इति ।

अथ विपरीतकरणी ॥ ९ ॥

ऊर्ध्वनाभिरधस्तालुरूर्ध्वभानुरधःशशी ।
करणी विपरीताख्या सर्वव्याधिविनाशिनी ॥ इति ।

एतत्प्रकारमाह दत्तात्रेयः—

अधः शिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ।
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥
गुरूपदेशतः सम्यङ् न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ।
वलिश्च पलितं चैव षणमासार्द्धे न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जाठराग्निविवर्द्धनम् ॥
आहारो बहुलं तस्य कार्योऽल्पे तु विनश्यति ।
तेन नाभिस्थितो देवो भास्करो दहनात्मकः ॥
तालुमध्ये स्थिताच्चन्द्राच्चलितं त्वऽमृतं मधुः ।
नैव तद्ग्रसने शक्तो योगेनानेन वै चितः ॥

**विशुद्धो रोधतो गच्छेत् सर्वाङ्गेषु ततः क्रमात्॥** इत्यादि।

एतच्च सर्वं **योगाङ्गानुष्ठानादिति** सूत्रे सूत्रितमपि हठयोगाङ्गत्वेन देह[१]सिद्धमात्रफलत्वेन साक्षाद्राजयोगाऽनङ्गत्वात् कण्ठरवेण सूत्रकृता नोक्तमिति मन्तव्यमिति संक्षेपः॥ २८॥

कानि पुनस्तानि साक्षाद्राजयोगस्याङ्गानि यैरशुद्धिक्षये ज्ञानस्य दीप्तिस्तत्राह—

**यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि॥ २९॥**

**यमेति।** तत्र[२] यमाः स्वत एव सफलत्वादत्यावश्यकाः। सर्वमुमुक्षुजनसेव्या आदौ, पश्चात् तत्सापेक्षा नियमाः। एतदुभयाधीनचित्तस्थैर्यसापेक्षाण्यासनानि। तत्सापेक्षः प्राणायामः। तत्सापेक्षः प्रत्याहारः। तत्सापेक्षा धारणा। तत्सापेक्षं ध्यानम्। तत्सापेक्षः समाधिः सविकल्प इत्यष्टौ साक्षात् परम्परया वा निर्विकल्पस्य समाधेरङ्गानीत्यर्थः। अष्टाङ्गमैथुने क्रियानिष्पत्तेरङ्गिनोऽङ्गत्ववत् समाधेरङ्गिनोऽङ्गत्वं वा बोध्यम्। तेन न कोऽपि दोषः॥ २९॥

तत्र के यमास्तत्राह—

**अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः॥ ३०॥**

**अहिंसेति।** तत्र प्राणिदुःखसाधनव्यापारो हिंसा। सा च सर्वानर्थहेतुः। तदभावोऽहिंसा। उक्ता चेश्वरगीतायाम्—

**कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा।**
**अक्लेशजननं प्रोक्ता अहिंसा परमर्षिभिः॥**

इत्यादिना। हिंसायाः सर्वकालमेव सर्वत्र परिहार्यत्वात् प्रथमं तदभावरूपाया अहिंसाया निर्देशः। सत्यं यथादृष्टयथाश्रुतयथानुमितयथाध्यातविषयं व्यवहरणम्। तच्च द्विविधम्—कथनरूपमाचरणरूपञ्च। तत्राद्यं, [३]देवगुरुतीर्थादिसेवनमिष्टसाधनं शालयो मधुरा इत्यादि। द्वितीयं द्विजस्य यज्ञोपवीतादिधारणम्। तथा च यथार्थबोधनानुकूलो व्यापारः सत्यम्। [४]अत्रानुकूल्यं तदर्थबोधनेच्छाकृतत्वम्। तदर्थबोधनेच्छया कृतो

---

१. क ख — सिद्ध०, ग घ — सिद्धि०।

२. क ख ग — तत्र यमाः स्वत एव, घ — अन्यानपेक्षत्वेन।

३. क ख ग — देव०, घ — देवादि०।

४. क ख — अत्रानुकूल्यं तदर्थबोधनेच्छाकृतत्वम्। तदर्थबोधनेच्छया कृतो व्यापार इति यावत्। तेन बोधनीयस्य शक्तिभ्रमादिना विपरीते बोधेऽपि न वक्तुर्यथार्थवाक्येऽव्याप्तिरिति संक्षेपः उपलभ्यते, ग घ — अत्र....संक्षेपः नोपलभ्यते।

व्यापार इति यावत्। तेन बोधनीयस्य शक्तिभ्रमादिना विपरीते बोधेऽपि न वक्तुर्यथार्थ-वाक्येऽव्याप्तिरिति संक्षेपः। तद्भिन्नं चानृतमिति सिद्धम्। यथा

**चैत्यवन्दनमिष्टसाधनम्।**

इत्यादिवाक्यं, युधिष्ठिरस्य द्रोणं प्रति

**अश्वत्थामा हतः।**

इति वाक्यं च। स्वेच्छापूर्वकभ्रमानुकूलत्वात्। शूद्रस्य यज्ञोपवीतधारणाद्याचरणं च। तत्र सत्यं निरूपितम्। तत्रैव—

**यथार्थकथनाचारं सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः।**

इति। तदप्यवध्यहिंसागोचरं ग्राह्यम्। अवध्यहिंसागोचरे सत्ये प्रत्यवायश्रवणात्। अस्तेयं स्तेयानाचरणम्। स्तेयं परद्रव्यापहरणम्। परद्रव्यं परस्य ममेदमिति स्वत्वास्पदं द्रव्यं, तस्यापहरणं अन्यायेन तस्मिन् ममेदमिति स्वत्वापादनम्। अन्यायश्च चौर्यं बलं च। तदुक्तं तत्रैव—

**परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाथ बलेन वा।**
**स्तेयं तस्यानाचरणमस्तेयं धर्मसाधनम्॥**

इति। चौर्यात् समुदायैकदेशप्रच्छादनात्। बलेन शस्त्रादिप्रदर्शनाघातादिना। ब्रह्मचर्यं सर्वावस्थोपस्थेन्द्रियसंयमः। उक्तस्तत्रैव—

**कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा।**
**सर्वत्र मैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते॥**

इति। सर्वावस्थासु यौवनाद्यवस्थासु सर्वदा [१]रात्र्यादावपि। सर्वत्र,

**अयोनौ वा वियोनौ वा पशुयोनौ तथैव च।**

इति मनः। मैथुनं सुखविशेषहेतुशुक्रक्षरणानुकूलो व्यापारोऽष्टविधः—

**स्मरणं स्पर्शनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम्।**
**संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया[२]निर्वृतिरेव च॥**
**एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः।**

इत्यादिना शास्त्रेषु कथितम्। स च साभिलाषस्तथा। तादृशस्यैव शास्त्रेषु निन्दनात्। तस्मात्साभिलाषस्मरणादिरूपाष्टविधमैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यमिति सिद्धम्।

---

१. क ख ग — रात्र्यादौ, घ — ऋतुकालादौ।
२. क ख — निर्वृतिः, ग घ — निष्पत्तिः।

अपरिग्रहः देहयात्रामात्रातिरिक्तभोगसाधनानामस्वीकारः। अर्जनरक्षणक्षयसङ्गहिंसादिदोषभावनया भोगसाधनानां द्रव्यादिदेहान्तानामस्वीकारः। उक्तस्तत्रैव—

**द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि यथेच्छया।**
**अपरिग्रह इत्याहुस्तं प्रयत्नेन पालयेत्॥**

इति। द्रव्याणामपीत्यपिना देहेन्द्रियपरिग्रहः। तत्र द्रव्याणामनादानं स्वत्वासम्पादनं, देहादीनामभिमानत्यागः। फलं तेषां विशिष्य वक्ष्यति सूत्रकारः॥ ३०॥

एतेषां योगिभिरुपादेयं विशेषमाह—

**जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्॥ ३१॥**

**जातीति**। जातिर्ब्राह्मणत्वादिः, देशस्तीर्थादिः, कालो नियतचतुर्दश्यादिः, समयः अनियतो ब्राह्मणभोजनाद्यवसरः। एतैः, ब्राह्मणादिकं[1] प्रयागादौ चतुर्दश्यादौ ब्राह्मणादिप्रयोजनं विना च न हनिष्यामीति क्रमेण जातिदेशकालसमयैर्[2]नवच्छिन्ना न भवन्ति, किन्तु[3] कमपि कुत्रापि कदापि कस्याप्यर्थे न हनिष्यामीति जात्यादिभिरनवच्छिन्नाः सार्वभौमाः। सर्वासु क्षिप्तादिभूमिषु भवाः, महाव्रतमित्युच्यते इत्यर्थः।

**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।**

इत्यादिश्रुत्या निवृत्तिधर्मस्यैव मोक्षसाधनत्वावगमान्निवृत्तिरूपा एते सदा सर्वत्र सर्वावस्थासु सेविता महाफलदा एव भवन्तीति भावः। एतेषु निवृत्तिरूपतया पारमहंस्यधर्मेषु वैराग्यरूपमुख्यचर्यायोगस्यान्तर्भावो वैराग्यहेतुकत्वादेतेषामिति दिक्॥ ३१॥

नियमानाह—

**शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः॥ ३२॥**

**शौचेति**। शौचसापेक्षः सन्तोषस्तत्सापेक्षं तपस्तत्सापेक्षः स्वाध्यायस्तत्सापेक्षमीश्वरप्रणिधानमिति पञ्च नियमा इत्यर्थः। तत्र शौचं मलनिरसनम्। तच्च द्विविधं बाह्यमाभ्यन्तरञ्च। तत्र बाह्यं मृज्जलादिना कायादिमलप्रक्षालनम्। आभ्यन्तरं मैत्र्यादिभावनाभिश्चित्तमलप्रक्षालनम्। तदुक्तमीश्वरगीतायाम्—

**बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः।**
**मृज्जलाभ्यां भवेद् बाह्यं मनःशुद्धिरथान्तरम्॥**

---

१. क ख ग — ब्राह्मणादिकं, घ — गवादिकम्।
२. क ख घ — अनवच्छिन्नाः, ग — अवच्छिन्नाः।
३. क ख ग — किन्तु कमपि कुत्रापि कदापि कस्याप्यर्थे न हनिष्यामि, घ — किन्तु न कमपि न कुत्रापि न कदापि हनिष्यामि।

इति। सन्तोषो यदृच्छा[१]लाभतस्तुष्टिः। उक्ता तत्रैव—

**यदृच्छालाभतो नित्यं अलं पुंसो भवेदिति।**
**तां निष्ठां ऋषयः प्राहुः सन्तोषं सुखलक्षणम्॥**

इति। यदृच्छालाभतः अनायाससिद्धिलाभाद्, नित्यं सर्वदा अलं पूर्णम्। तथा च पूर्णमिति बुद्धिरनुपादित्साहेतुः सन्तोषः। [२]सत्यामपीच्छायां क्षयादिदोषदर्शनादनुपादानमपरिग्रह इति यमनियमपदार्थयोरसंकरः। अत्र[३] यतमानादिवैराग्यहेतुकस्य मुख्यवैराग्यसाधनस्य मैत्र्यादिभावनारूपस्य गौणचर्यायोगस्यान्तर्भावः। तपः [४]देवद्विजगुरुपूजादि कृच्छ्रचान्द्रायणादि प्रागुक्तम्। स्वाध्यायः उपनिषदाद्यावृत्तिः प्रागुक्ता, प्रणवजपतदर्थभावनरूपस्येश्वरप्रणिधानस्य हेतुः—

**वेदान्तोपनिषद् ब्रह्म जपेद्यथाधिदैविकम्।**
**अन्यानि च पवित्राणि विधिदृष्टानि शक्तितः॥**
**अभ्यस्याब्दत्रयं जप्यं शुद्धिकामो जितेन्द्रियः।**
**संनियम्येन्द्रियग्रामं ततः प्रणवमभ्यसेत्॥**

इति शौनकोक्तेः[५]। तत्रानयोः क्रियायोगस्यान्तर्भावः। ईश्वरप्रणिधानं संसारमोचकस्येश्वरप्रसादस्यानुकूलो व्यापारो मोक्षमन्त्रजपतदर्थभावनादिः। अतो ब्रह्मयोगशिवयोगमन्त्रयोगज्ञानयोगाद्वैतयोगभक्तियोगानामन्तर्भावोऽत्र मोक्षसाधननियमे ज्ञातव्यः। एतादृशनियमे महाव्रतत्वं पूर्वोक्तमनुषञ्जनीयम्। कण्ठरवेणानुक्तिस्तु क्रियायोगे तदभावज्ञापनाय। तस्य प्रतिनियतदेशकालाद्यनवच्छिन्नतया सार्वभौमत्वासम्भवात्। अत एवा[६]स्यैवानावश्यकमुक्तं श्रीभागवतादौ—

**यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचित्।**

इति। मत्पर इत्यनेन तु भक्तियोगज्ञानयोगादीनां सार्वभौमत्वेन महाव्रतत्वादावश्यकत्वमेवेति ज्ञापितम्। तदुक्तं विष्णुपुराणेऽपि—

**शय्यासनस्थोऽपि पथि व्रजन् वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।**

---

१. क ख ग — लाभतः, घ — लाभात्।
२. क ख ग — सत्यामपीच्छायां क्षयादिदोषदर्शनादनुपादानमपरिग्रह इति यमनियमपदार्थयोरसंकरः उपलभ्यते, घ — सत्यां....संकरः नोपलभ्यते।
३. क ख ग — अत्र, घ — यत्र।
४. क ख घ — देवद्विजगुरुपूजादि उपलभ्यते, ग — देवद्विजगुरुपूजादि नोपलभ्यते।
५. क ख ग — शौनकोक्तेः, घ — शौनकस्मृत्युक्तः।
६. क ख — अस्य, ग घ — तस्य।

**संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी॥**

इति। स्वस्थः स्वस्मिन् साक्षिणि यत् पूर्णानन्दैकबोधस्तद् ब्रह्मैवाहमस्मीति बोधेन तिष्ठतीति परमात्मनिष्ठः। परिक्षीणवितर्कजालः वक्ष्यमाणो वितर्कजालः प्रतिपक्षभावनां विनापि ब्रह्मात्मप्रणिधानेनैव क्षीणो यस्य तथा संसारबीजक्षयमीक्षमाणः संसारबीजानां[१] मिथ्याज्ञानजन्यवासनानां क्षयमनुदिनमुपलभमानः। तथा अमृतभोगभागीति जीवन्मुक्तिसुखानुभवितेत्येवं[२]रूपो नित्यमुक्तः स्यादित्यर्थः॥ ३२॥

एतेषु यमनियमेषु सम्भावितानां[३] वक्ष्यमाणविघ्नानां निवृत्त्युपायमाह—

**वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥ ३३॥**

**वितर्केति**। वितर्क्यन्ते मिथ्याज्ञानजन्यधारादिवासनाभिरभिमुखीक्रियन्ते इति वितर्काः हिंसादिसंकल्पास्तैरनिष्टसाधनत्वाद्धनिष्याम्येवैनं, कार्यविशेषमनृतमपि वदिष्यामि, अर्थविशेषात् परस्वमप्यपहरिष्यामि, सुखविशेषात् स्त्रियमुपयास्यामि, भोगविशेषाद्यथेष्टभोगसाधनं ग्रहीष्यामीत्यादिभिर्यमादीनां बाधने प्रतिबन्धे प्राप्ते यमादिपरो मुमुक्षुः प्रतिपक्षभावनं विपक्षभावनं हिंसादयोऽज्ञानमूलत्वात् संसारहेतवः। संसारश्च दुःखबहुलः। तथाहि—गर्भवासदुःखं सर्व[४]निरयतुल्यम्। ततो निःसृतस्य बाल्ये पारतन्त्र्याप्रतीकारादिनिबन्धनं, यौवने चार्थार्जनकाममात्सर्यादि[५]निबन्धनं, वार्द्धके च स्वीयानां स्वतन्त्रतया रोगबाहुल्येनेन्द्रियाद्यपाटवेन च कृतं दुःखं, मरणं[६] च महद्दुःखम्। एवं कथञ्चित् सत्कर्मजन्यस्वर्गादावपि परोत्कर्षस्वर्गक्षयादिचिन्ताजन्यं दुःखमापतेदित्येवं दोषचिन्तनं सदा कुर्यादित्यर्थः। एवमसत्कर्मजन्येषु कुम्भीपाकादिनरकेषु श्रवणदुःसहं महदेव दुःखम्। ततस्तिर्यगादियोनिषु दुःखैकतानेषु सुखलेशो दुर्लभ इति दुःखबहुलः संसारो जिहासितः। तद्धानाय[७] च मया

---

१. घ — **मिथ्याज्ञानानां** [**संसारबीजानां** पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — **मिथ्याज्ञानानां** नोपलभ्यते।
२. क ख ग — **रूपः**, घ — **भूतः**।
३. क ख ग — **सम्भावितानां वक्ष्यमाणविघ्नानां**, घ — **सम्भावितवक्ष्यमाणविघ्नस्य**।
४. क ख ग — **निरय०**, घ — **निरूप०**।
५. क ख ग — **निबन्धनं**, घ — **निबन्धने** (उभयत्र)।
६. क ख — **मरणं**, ग घ — **मरणे**।
७. क ख ग — **तद्धानाय च मया....सदा कुर्यादित्यर्थः**, घ — **एवं सांसारिको चित्तानपि ऋतुकालगमनाग्निहोत्रादिधर्मानत्यन्तका मोक्षमार्गभासितः पुनर्विषयभोगादिना-वांताशीशुनकतुल्य अनेकदुःखबहुलं संसारमेव प्राप्स्यामि न सुखलेशमयीति मुहुर्मुहुर्दोषदृष्टिं कुर्यादित्यर्थः**।

हिंसादिबहुलान् धर्मान् विहाय योगः शरणीकृतः। यदि पुनस्ताननुसरामि तदा पुनरादानाद्वान्ताशिश्वतुल्यता स्यात्। अनिवारणीयं संसारदुःखं चापतेदित्येवं दोषचिन्तनं सदा कुर्यादित्यर्थः। इत्थमनुदिनं वितर्केषु दोषं भावयतो वितर्कजालनिवृत्त्या समाधिलाभेनापरोक्षज्ञानाद्ध्रवत्येव मुक्तिरिति भावः ॥ ३३ ॥

इदानीं क्रमेण वितर्काणां स्वरूपं भेदं प्रकारं कारणं फलं तेषु प्रतिपक्षभावनं चाह—

**वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥ ३४॥**

**वितर्का** इति। हिंसादय इति स्वरूपम्। कृतकारितानुमोदिता इति भेदः। स्वयं निष्पादिताः कृताः। कुर्वित्याज्ञया समुत्पादिताः कारिताः। अन्यैः क्रियमाणाः सम्यगित्यङ्गीकृता अनुमोदिताः। एतत्त्रैविध्यं, मन्दमतेर्न मया हिंसा कृताऽतो नास्ति मे दोष इति कारितादौ दोषाभावभ्रमनिरासायेति दिक्। लोभक्रोधमोहपूर्वका इति कारणम्। यद्यपि कामपूर्वका इत्यपि वक्तुं युक्तं, तथापि कामस्य क्रोधलोभद्वारैव हिंसादिकं प्रति कारणत्वेनान्यथासिद्धेर्न तथोक्तमिति मन्तव्यम्। लोभश्चर्ममांसादिविषयिणी तृष्णा। क्रोधः कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकोऽनेनापकृतमिति प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः। मोहो धर्मो भविष्यतीत्येवं विपर्ययः। एतैः कृताः कारिता अनुमोदिताश्च प्रत्येकं त्रिप्रकारा भवन्तीति नवप्रकाराः। तेऽपि पुनः प्रत्येकं त्रिविधा इत्याह—**मृदुमध्याधिमात्रा** इति। मृदवो मन्दाः, मध्या अल्पव्यवधानाः, अधिमात्रा अतितीव्राः। इत्थं सप्तविंशतिप्रकारा भवन्ति। मृदुमध्याधिमात्रा अपि पुनस्त्रेधा भवन्ति—मृदुमृदवः, मृदुमध्याः, मृदुतीव्राः, मध्यमृदवः, मध्यमध्याः, मध्यतीव्राः, तीव्रमृदवः, तीव्रमध्याः, तीव्रतीव्राश्चेत्येकाशीतिप्रकारा भवन्ति। ते पुनर्नियमविकल्पसमुच्चयादिभेदात् प्राणभृद्भेदाच्चासंख्येया भवन्ति। **दुःखाज्ञानानन्तफला** इति। फलं दुःखं, प्राणिमात्रस्य प्रतिकूलवेदनीयश्चित्तधर्मः। अज्ञानं पञ्चपर्वाऽविद्या। दुःखाज्ञाने अनन्तमपरिच्छिन्नं फलं येषां ते तथोक्ताः। तथा हिंसक[१]स्तावद् बन्धनादिना जीवस्य वीर्यमपाकरोति। ततश्च शस्त्रादिनिपातेनात्यन्तं दुःखयति। ततो जीवितादपि मोचयति। ततः परस्य वीर्यनाशादस्य हिंसकस्यापि कालान्तरे तथैव वीर्यक्षयो भवति। ततो दुःखोत्पत्तिस्ततो मरणानन्तरं महानरकतिर्यक्प्रेतादियोनिष्वज्ञानबहुलेषु प्रवेशो यथाकर्म भवति। किं बहुना—

---

१. घ — **प्रथमं [तावत्** पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — **प्रथमं** नोपलभ्यते।

**नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं विशन्ति।**

इति श्रुत्या त्रयीधर्मवतामपि हीनतरो लोकः प्रतिपाद्यते। मनुना चोक्तम्—

**मांसभक्षयिताऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।**

**एतन्मांसस्य मांसत्वे प्रवदन्ति मनीषिणः॥**

इति हिंसाघटितत्वेनाशुद्धिमभिप्रेत्यैव। व्यक्तीभविष्यति इदमुपदिष्टात्। इत्थं भावनमेव तेषु प्रतिपक्षभावनमित्याह—**प्रतिपक्षे**ति॥ ३४॥

एवमहिंसापरस्य योगिनस्तत्फलभूतं सिद्धियोगं दर्शयति—

**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ ३५॥**

**अहिंसे**ति। उक्तप्रतिपक्षभावनेनाहिंसास्थैर्ये सति तत्सन्निधौ अहिंसां भावयतः समीपे वैरत्यागः। सहजविरोधिनामहिनकुलादीनामपि निर्मत्सरतयाऽवस्थिति-र्भवतीत्यर्थः॥ ३५॥

सत्यपरस्याह—

**सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ ३६॥**

**सत्ये**ति। सत्यभावन[१]रूपस्थैर्ये सति क्रियाफलाश्रयत्वं शब्दोच्चारणरूपक्रियाया उद्देश्यफलस्य आश्रयत्वम्। क्रियाऽत्र धर्माधर्मरूपा। फलं सुखदुःखे क्रियाफले आश्रयतीति तथा। तस्य भावस्तत्त्वम्। क्रियाफले स्वेच्छया जनयतीत्यर्थः। यथा धार्मिको भव, स्वर्गी भवेत्युक्ते तथा भवति। अमोघाऽस्य वाक् भवति। सत्येन वाचः शुद्ध्या मन्त्रादिजपस्य पूर्णत्वादिति भावः। सत्यस्य महत्फलत्वम्, अनृतस्य च निन्दितफलत्वं श्रुतं स्मृतिपुराणवेदेषु[२]—

**सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम्।**

**सत्येन लभ्यते ह्यात्मा मुच्यते चापि किल्विषात्॥**

**समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति।**

इत्यादिना॥ ३६॥

अस्तेयपरस्याह—

**अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ ३७॥**

**अस्तेये**ति। अस्तेयस्थैर्ये सति सर्वदिक्कालगतानां रत्नानामुपस्थानं सान्निध्यं

---

१. ग घ — **धर्म०** [**रूप०** पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — **धर्म०** नोपलभ्यते।

२. क ख ग — **स्मृतिपुराणवेदेषु**, घ — **श्रुतिस्मृत्युपपुराणेषु**।

भवतीत्यर्थः। अशास्त्रीये निरभिलाषत्वाद् अयमस्तेयाभ्यासधर्मबलात् [१]सर्वदा सर्वत्र सर्वरत्नानि प्राप्नोतीति यावत्॥ ३७॥

ब्रह्मचर्यपरस्याह—

**ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ ३८॥**

**ब्रह्मचर्ये**ति। ब्रह्मचर्ये सिद्धे सति वीर्यलाभः। वीर्यस्य निरतिशयसामर्थ्यस्य लाभो भवतीत्यर्थः। वीर्यनिरोधे चेतनाशक्तेरबहिर्भावेन अकुण्ठीभावाच्छरीरेन्द्रियमनःसु सामर्थ्यप्रकर्षमायाति। दृश्यते ह्यूर्ध्वरेतस्कानां तेजोविशेषः। तस्मात्तेषु ब्रह्मचर्यमत्या[२]वश्यकमिति भावः। अत एव छान्दोग्ये—

**य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकस्तेषां सर्वेषु कामचारो भवति।**

इत्यादिना ब्रह्मचर्यवतामेव ब्रह्मावाप्तिं सर्वत्राप्रतिहतगतिं यज्ञादिधर्माणां सर्वेषां ब्रह्मचर्यान्तर्भावेन यज्ञादिफलावाप्तिं च प्रतिपादयन्त्या श्रुत्या ब्रह्मचर्यस्यैव परमोत्कर्षः प्रतिपादितः॥ ३८॥

अपरिग्रहपरस्याह—

**अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः॥ ३९॥**

**अपरिग्रहे**ति। अपरिग्रहस्थैर्ये शरीरान्तपदार्थस्य परिग्रहाभावदार्ढ्ये सति, जन्मकथन्ता[३]सम्बोधः। कथमित्यस्य भावः कथन्ता। जन्मनः कथन्ता जन्मकथन्ता। तस्याः सम्बोधः सम्यग्ज्ञानं जन्मान्तरे कोऽहमासं कथमासं, किं कार्यमकारि, के वा भविष्याम इति जिज्ञासायां भवतीत्यर्थः। दुःखबहुलपूर्वापरजन्मज्ञानेन वैराग्यद्वारा दृढमात्मज्ञानं भवति। तेनायमपरिग्रहोऽप्यावश्यक इति भावः॥ ३९॥

उक्ता यमसिद्धयोऽथ नियमसाध्येषु सिद्धियोगेषु प्रथमं बाह्य[४]शौचसिद्धिमाह—

**शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ४०॥**

**शौचादि**ति। शौचं भावयतः पुरुषस्य शौचे निमित्तभूतामशुद्धिं कायादिषु

---

१. क ख ग — **सर्वदा सर्वत्र सर्वरत्नानि**, घ — **सर्वरत्नानि सर्वत्र**।
२. क ग घ — **आवश्यकं**, ख — **आवश्यम्**।
३. क घ — **सम्बोधः**, ख ग — **बोधः**।
४. क ख घ — **शौचसिद्धिं**, ग — **शौचम्**।

पश्यतो भवति जुगुप्सा घृणा। अशुचिरयं कायः, सर्वथा नात्राहङ्कारः कर्त्तव्य[१] इत्यमुनैव हेतुना परैश्च कायवद्भिः स्त्र्यादिभिरसंसर्गः असम्बन्धो भवतीत्यर्थः॥ ४०॥

[२]आन्तरशौचस्य फलमाह—

**सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ४१॥**

**सत्त्वेति।** भवन्तीति शेषः। आन्तरशौचादित्यनुवर्त्तते। मैत्र्यादिभावनारूपाभ्यन्तरशौचात् सत्त्वस्य मनसः शुद्धिर्नैर्मल्यम्। ततः सौमनस्यम्। अक्षोभः। ततः ऐकाग्र्यम्। एकस्मिन् विषये परमात्मनि स्थिरता। तत इन्द्रियजयो विषयेभ्यः पराङ्मुखता। तत आत्मदर्शने योग्यत्वं सामर्थ्यमित्येवंक्रमेण सत्त्वशुद्ध्यादयः शौचाभ्यासवतो भवन्तीत्यर्थः॥ ४१॥

सन्तोषाभ्याससाध्यसिद्धिमाह—

**सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः॥ ४२॥**

**सन्तोषादिति।** यदृच्छालाभेनैव तुष्टिरूपात् सन्तोषान्निवृत्ततृष्णस्य पुरुषस्यानुत्तमः नास्ति उत्तमो यस्मादित्यनुत्तमो [३]विषयसुखेनानुपमेयसुखलाभः सुखस्य प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः। तदुक्तम्—

**यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्।**
**तृष्णाक्षयसुखस्यैते कलां नार्हन्ति षोडशीम्॥**

इति॥ ४२॥

तपःसाध्यां सिद्धिमाह—

**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ४३॥**

**कायेति।** तपसः तपोऽभ्यसाद्, अशुद्धिक्षयाद् यथेष्टगत्यादिप्रतिबन्धक[४]पापमलादेर्नाशात्, कायेन्द्रियसिद्धिः कायेन्द्रियाणाम् अल्पत्वमहत्त्वदूरार्थदर्शित्वादिसामर्थ्यरूपा सिद्धिर्भवतीत्यर्थः। कायस्यातिलाघवेन दूरदेशगमनादिकं धर्मविशेषायत्तं महत्त्वेनान्यैरबाध्यत्वादि च भवति। इन्द्रियाणां दूरार्थसूक्ष्मार्थव्यवहितानेकार्थग्राहिता भवतीति यावत्। एतेन परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार इति सूत्रेणोक्त-

---

१. क ख — कर्त्तव्यः, ग — उचितः, घ — कर्त्तव्यम्।
२. क ख घ — आन्तर०, ग — आभ्यन्तर०।
३. घ — बाह्य० [विषय० प्राक्] उपलभ्यते, क ख ग — बाह्य० नोपलभ्यते।
४. क ख घ — पापमलादेः, ग — पापरूपाशुद्धेर्मलस्य।

सिद्धियोगस्या[१]त्रान्तर्भावो ज्ञातव्यः। हठयोगादिफलत्वं त्वेतस्य नान्तरीयकतयेति भावः। एताश्च सिद्धयो यद्यपि औषधादिभिरपि सम्भवन्ति। वक्ष्यति च सूत्रकार[२]श्चतुर्थचरणे—**जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धय** इति, तथाप्यौषधादिकमपि निष्पापस्यैव फलति। पापनिवृत्तौ च मुख्यो हेतुस्तप एव भवति। तथैव पुराणादिषु श्रवणात्। अतोऽत्र तपःफलत्वेनैवोक्ता इति भावः। अत्र समाधिफलत्वं त्वेतासां नान्तरीयकतया मन्तव्यमिति सङ्क्षेपः ॥ ४३ ॥

स्वाध्यायाभ्याससाध्यां सिद्धिमाह—

**स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ॥ ४४ ॥**

**स्वाध्यायादि**ति। वेदान्तोपनिषदाद्यावृत्तिरूपात् सगुणमन्त्रजपस्तोत्रपाठादिरूपाच्च स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः दर्शनप्रतिबन्धकदुरितनिवृत्यादिना साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः। सम्भाषणानुग्रहादीनि च भाष्ये कण्ठरवेणोक्तानि। देवता ऋषयः साध्याश्च स्वाध्यायशीलस्य दर्शनं गच्छति कार्ये चास्य वर्त्तन्त इति दिक्। देवतेत्युपलक्षणम्। इष्टानामभिमतानां देवानां ऋषीणां सिद्धानां यक्षाणां गन्धर्वाणामेवमन्येषां महानुभावानां सम्प्रयोगे दर्शनं भवति। तेभ्यः स्वान् पुनातीत्यर्थः। ते दर्शनप्रतिबन्धकपापनिवृत्त्या दर्शनमायान्ति, कार्ये चानुकूला भवन्तीत्यर्थः ॥ ४४ ॥

ईश्वरप्रणिधानसाध्यसिद्धिमाह—

**समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ॥ ४५ ॥**

**समाधी**ति। ईश्वरप्रणिधानं पूर्वं व्याख्यातम्। समाधेरुक्तलक्षणस्य सिद्धिरप्रतिबन्धेनानायासेन तत्कृपया गुर्वादिद्वारा च दृढा प्राप्तिर्भवतीत्यर्थः। एतच्च फलं प्रेमभक्तेः स्वतः पुरुषार्थरूपाया नान्तरीयकं यथा फलार्थिनो वृक्षादिसान्निध्येच्छायां गन्धादिरित्यन्यत्र विस्तरः ॥ ४५ ॥

इतः परं सकलरोगादिनिवृत्तिद्वारा हठयोगस्योपायमासनमाह—

**स्थिरसुखमासनम् ॥ ४६ ॥**

**स्थिरे**ति। स्थिरं निश्चलं सुखकरं च यत्तदासनम्। आस्यते आस्ते वाऽनेन प्रकारेणेत्यासनमित्यर्थः। तच्च पद्म-सिद्ध-भद्र-वीर-स्वस्तिक-सिंह-दण्ड-सोपाश्रय-पर्यङ्क-मयूर-कुक्कुट-उत्तानकुक्कुट-पश्चिमतान-मत्स्येन्द्रपीठ-चक्र-गोमुख-

---

१. क ख ग — **अत्र**, घ — **अत्रैव**।

२. क ख घ — **चतुर्थचरणे**, ग — **चतुर्थे**।

कूर्म-धनु-मृगस्वस्तिक-अर्द्धचन्द्र-अञ्जलिक-पीठ-वज्र-मुक्त-चन्द्र-अर्द्धप्रसारित-शव-कपाल-गरुड-अर्द्धासन-कमल-क्रौञ्चनिषदन-हस्तिनिषदन-उष्ट्रनिषदन-कपिनिषदन-योगासन-योन्यासन-समस्थान-आदिभेदेन चतुराशीतिप्रकारम्। एतेषां लक्षणानि योगप्रदीपादावुक्तानि। तत्र पद्मासनस्य—

**अङ्गुष्ठौ सन्निबध्नीयाद्धस्ताभ्यां व्युत्क्रमेण च।**
**ऊर्वोरुपरि विपेन्द्र कृत्वा पादतले उभे॥**
**पद्मासनं भवेदेतत् सर्वेषामेव पूजितम्।**
**उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः॥**
**ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा समौ दृशौ।**
**नासाग्रे विन्यसेद्राजन् दन्तमूलं तु जिह्वया॥**
**उन्नम्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैरिति वा॥ १॥**

अथ सिद्धासनस्य—

**योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-**
**न्मेढ्रे पादमथैकमेकहृदयः कृत्वा समं विग्रहम्॥**
**स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तरम्।**
**त्वेतन्मोक्षकपाटभेदनकरं सिद्धासनं प्रोच्यते॥**
**दक्षिणोत्तरगुल्फेन सीविनीं पीडयेच्छिराम्।**
**अधस्तादण्डयोः सूक्ष्मां सव्योपरि च दक्षिणाम्॥**
**जङ्घोर्वोरन्तरं गार्गि नश्छिद्रं बन्धयेद् दृढम्।**
**समग्रीवशिरस्कन्धः समपृष्ठसहोदरः।**
**नेत्राभ्यां दक्षिणं गुल्फं लोकयन्नुपरि स्थितम्।**
**एतत् सिद्धासनं नाम शीघ्रसिद्धिविधायकमिति वा॥**

एतदेव, योगासनपदेनोच्यते श्रुतिषु। अनायासेन योगसाधनत्वात्॥ २॥

अथ भद्रस्य—

**गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।**
**पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बद्धवा सुनिश्चलः॥**
**भद्रासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविषापहम्॥ ३॥**

अथ वीरासनस्य

**एकं पादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि सत्तमः।**
**इतरस्मिँस्तथा चोरुं वीरासनमुदाहृतम्॥ ४॥**

अथ स्वस्तिकस्य

जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते॥
सीवन्या आत्मनः पार्श्वे गुल्फौ निक्षिप्य पादयोः।
सव्ये दक्षिणगुल्फं तु दक्षिणे दक्षिणोत्तरम्॥
एतत् स्वस्तिकमाख्यातं सर्वपापप्रणाशनमिति च॥ ५॥

अथ सिंहासनस्य

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत्।
दक्षिणं सव्यगुल्फेन दक्षिणेन तथोत्तरम्॥
हस्तौ जानूपरिस्थाप्य स्वाङ्गुलीः सम्प्रसार्य च।
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः॥
सिंहासनं भवेदेतत् पूजितं योगिभिः सदा॥ ६॥

अथ दण्डासनस्य

सुखप्रसारितौ पादौ सुश्लिष्टौ भुवि संस्थितौ।
उपवेश्यार्द्धकायं तु दण्डासनमिति स्मृतम्॥ ७॥

अथ सोपाश्रयस्य

पादौ द्वौ द्विगुणीकृत्य तिर्यगूर्ध्वं यथाक्रमम्।
न्यसेत् पाणी योगपट्टे स्थितः श्लिष्टाङ्गुली नखौ॥
योगपट्टासनं ह्येतत् सर्वेषामपि पूजितम्॥ ८॥

अथ पर्यङ्कस्य

जानुप्रसारितं बाह्वोः शयनं पृष्ठयोगतः।

केचित्तु

पर्यङ्कं योगपट्टेन बध्नीयात् पृष्ठयोगतः।
आकुञ्च्य जानुनी सम्यक् पादं कृत्वा तु दक्षिणम्॥
बाह्यतो वामजङ्घायां वामसव्यादधो बहिः।
किञ्चिद्विनिर्गतं कृत्वा सन्तिष्ठेन्नाभ्य वै कटिम्॥
पर्यङ्कमिति व्याख्यातमासनं योगसिद्धिदं इति स्मृतेः।
पर्यङ्कासनं योगपट्टासनं चैकमेवेति वदन्ति॥ ९॥

अथ मयूरस्य

अवष्टभ्य धरां सम्यक् तलाभ्यां करयोर्द्वयोः।

हस्तयोः कूर्परे चापि स्थापयेन्नाभिपार्श्वयोः ॥
समुन्नतशिरापादौ दण्डवद् व्योम्नि संस्थितः ।
मयूरासनमेतद्वै सर्वपापप्रणाशनम् ॥
सर्वे चाभ्यन्तरा रोगा विनश्यन्ति विषाणि च ॥ १० ॥

अथ कुक्कुटस्य

पद्मासनं तु संयोज्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ ११ ॥

अथोत्तानकुक्कुटस्य

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बद्ध्य कन्धराम् ।
भवेत् कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकुक्कुटम् ॥
उत्तानकूर्मकमिति केचित् ॥ १२ ॥

अथ पश्चिमतानस्य

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ द्वाभ्यां पादद्वितयं गृहीत्वा ।
जानूपरिन्यस्तललाटदेशोऽभ्यसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगितां च पुंसाम् ॥ १३ ॥

अथ मत्स्येन्द्रपीठस्य

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जान्वोर्बहिर्वेष्टितदक्षदोष्णा ।
प्रगृह्य तिष्ठेत् परिवर्त्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥
मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रवृद्धिं प्रचण्डरुङ्मण्डलखण्डनास्त्रम् ।
अभ्यासतः[१] कुण्डलीप्रबोधं दण्डे स्थिरत्वं प्रददाति पुंसाम् ॥ १४ ॥

अथ चक्रासनस्य

शवासनस्थौ द्वौ पादौ कुर्यान्[२]मस्तकतः परौ ।
व्युत्क्रमेण ततः शीघ्रमेतत् सर्वस्य साधनम् ॥
चक्रासनं गुल्मप्लीहवातरोगादिनाशनम् ॥ १५ ॥

अथ गोमुखस्य

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ।
दक्षिणेऽपि तथा सव्ये गोमुखं गोमुखं यथा[३] ॥ १६ ॥

---

१. क ख घ — अभ्यासतः, ग — अभ्यासतम् ।
२. क ख ग — मस्तकतः, घ — मस्तकेऽतः ।
३. क ख घ — यथा, ग — तथा ।

अथ कूर्मस्य

**गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः।**
**कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः॥ १७॥**

अथ धनुषः

**पादाङ्गुष्ठौ च पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधिः।**
**धनुराकर्षणं कृत्वा धनुरासनमीरितम् इति॥ १८॥**

अथ मृगस्वस्तिकस्य

**स्थातव्ये भूतले पादावासनस्थेन योगिना।**
**दक्षिणं वामभागे तु वामपादं तु दक्षिणे॥**
**अन्योन्याभिमुखं कृत्वा मृगशीर्षकरद्वयम्।**
**योगसंसिद्धि[1]हेतुस्तु मृगस्वस्तिकमुच्यते॥ १९॥**

अथार्द्धचन्द्रस्य

**तलपादेन वामेन जानुना दक्षिणेन च।**
**स्थित्वा हस्तपुटं कार्यमर्द्धचन्द्रासनं विदुः॥ २०॥**

अथाञ्जलिकस्य

**भुवि स्थित्वा तु जानुभ्यां तावन्मात्रेण योगिना।**
**हृदि हस्तपुटं कार्यं ज्ञेयमञ्जलिकासनम्॥ २१॥**

अथ पीठासनस्य

**आसनस्थेन पादौ द्वौ न्यस्य तौ भूतले समौ।**
**जानुद्वये हस्ततलं कृत्वा पीठासनं भवेत्॥ २२॥**

अथ वज्रस्य

**सव्येन गुल्फेन गुदं निपीड्य सव्येतरेणैव निरुध्य सन्धिम्।**
**सव्ये करे न्यस्त[2]करेतरस्मिन् शिखां समालोकय पावकस्य[3]॥**
**एतद्वज्रासनं प्राहुर्गुप्तासनमथो विदुः॥ २३॥**

अथ मुक्तस्य

**मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि।**

---

१. क ख ग — हेतुः, घ — हेतोः।
२. क ख घ — करेतरस्मिन्, ग — करेतरः सन्।
३. क ख घ — पावकस्य, ग — पाचकस्य।

गुल्फान्तरं तु विन्यस्य मुक्तासनमिदं भवेत्।
एतद्द्वयं सिद्धासनस्यैवाऽऽन्तरभेदः ॥ २४ ॥

अथ चन्द्रार्द्धस्य

तद्वत्पादद्वयं कृत्वा सुतलान्योन्यसंस्थितम्।
चन्द्रार्द्धमेवं कथितं योगसाधनमुत्तमम्॥
तद्वत् पद्मासनवत् द्विगुणपादद्वयं कृत्वेत्यर्थः ॥ २५ ॥

अथ प्रसारितस्य

तद्वत् पादद्वयं कुर्यात्तन्मुखं तु प्रणामितम्।
पृष्ठतोऽप्युपधानस्थं सम्प्रसार्य करद्वयम्॥
प्रसारितासनं त्वेतत् कथितं योगसिद्धिदम्।
अत्रापि तद्वत् पद्मासनवदित्यर्थः ॥ २६ ॥

अथ शवस्य

उत्तानं शववद् भूमौ शवासनमिदं स्मृतम्[१]।
शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिसाधनम्॥ २७ ॥

अथ कपालासनस्य

भूमौ स्वमस्तकं स्थाप्य हस्तयोः कूर्परे तथा।
पादौ खे दण्डवत् कुर्यात् कपालासनमीरितम्॥ २८ ॥

अथ गरुडासनस्य

गरुडस्येवावस्थितिः ॥ २९ ॥

अथार्द्धासनस्य

एकपादमथैकस्मिन् विन्यस्योरुणि सत्तमः।
आसीतार्द्धासनमिदं योगसाधनमुत्तमम्॥ ३० ॥

अथ कमलासनस्य

दक्षिणोरुगतं वामपादं वामोरुसंस्थितम्।
दक्षिणं तु समाकृष्य तज्जङ्घे तु परस्परम्॥
एतद्धि कमलं नाम विधेरासनमुत्तमम्।
अत एव पद्मासनाद् भेदः। कराङ्गुष्ठयोर्योगानपेक्षणात्॥ ३१ ॥

---

१. क ख घ — स्मृतं, ग — भवेत्।

अथ क्रौञ्चनिषदनम्

**क्रौञ्चस्येवावस्थितिः ॥ ३२ ॥**

एवं हस्तिनिषदनादीनि हस्त्यादीनां निषण्णानां संस्थानदर्शनात् प्रत्येतव्यानि, सम्प्रदायाच्चाऽवगन्तव्यानि। प्रचरदवस्थेषु ग्रन्थेषु तेषामनुपलब्धेः ॥ ३३ ॥ ३४ ॥ ३५ ॥

अथ योगासनस्य

**दक्ष[1]जानोः सव्यगुल्फं सव्ये दक्षिणमेव च।**
**कृत्वा समोपविष्टस्य भ्रूमध्याद् दृष्टिरु[2]च्यते॥**
**वैपरीत्येन वा योगाद् योगसाधनमुत्तमम्।**
**योगासनमिदं प्रोक्तं सर्वयोगिनिषेवितम्॥ ३६ ॥**

अथ योन्यासनस्य

**गुह्यस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्।**
**सीवन्यामथ पादमेकहृदयः कृत्वा समं विग्रहम्॥**
**जानुन्यस्तकराग्रदृष्टिरचलः स्याद् योनिमुद्रान्वितः।**
**इदमपि सिद्धासनस्यैवाऽवान्तरभेदः ॥ ३७ ॥**

अथ समसंस्थानस्य

**बाह्याग्रप्रपदाभ्यां द्वयोराकुञ्चितयोरन्योन्यसंपीडनम्॥ ३८ ॥**

एवं येन संस्थानविशेषणावस्थितस्य स्थैर्यं सुखं च सिद्ध्यति तदासनं स्थिर-सुखम्। तेषु सर्वेषु सिद्धं पद्मं भद्रं स्वस्तिकं[3] चेति चतुष्टयं सारभूतमुक्तममृतबिन्दू-पनिषदि—

**सिद्धं पद्मं स्वस्तिकं वा भद्रासनमथापि वा।**
**बद्ध्वा योगासनं सम्यगुत्तराभिमुखः स्थितः ॥** इति

पद्मसिद्धयोर्झटिति कुम्भकसाधकत्वाद् भद्रस्य च उदरलाघवद्वारा व्याधिनाश-कत्वात् सिंहस्याधिभौतिकोपद्रवनिवारकत्वात्। अत एव हठदीपिकायान्तु स्वस्तिकं विहाय सिंहासनमादाय चतुष्टयमुक्तम्। यथा—

**चतुराशीत्यासनानि शिवेन कथितानि वै।**
**तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम्॥**

---

१. क — जानोः, ख ग घ — जानौ।
२. क ख घ — उच्यते, ग — उत्तमा।
३. क ख ग — स्वस्तिकं, घ — सिंहम्।

**सिद्धं पद्मं तथा भद्रं सिंहं चेति चतुष्टयम् इति।**
**एतेष्वपि सिद्धं पद्मं चेति द्वयं श्रेष्ठम्।**
तदुक्तं गोरक्षेण—
**आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।**
**एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं पद्मासनमिति, संक्षेपः ॥ ४६ ॥**

आसनस्थैर्यस्योपायमाह—

**प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ॥ ४७ ॥**

**प्रयत्नेति।** प्रयत्नः स्वाभाविकः शरीरधारकश्चलत्वाद् यादृच्छिकासनहेतुतयोपदेष्टव्ययोगाङ्गासनविघातकस्तस्यशैथिल्यमुपरमस्तेन। तथा अनन्ते पृथिवीधारिणि स्थिरतरे शेषनागे समापत्त्या धारणया चित्तस्य तदात्मताप्राप्तिरूपापत्त्या चासनं स्थिरं भवतीत्यर्थः। [१]एतच्चानन्तसमापत्तितोऽदृष्टविशेषवशाद्भावनापरिपाकेन तदानन्ताऽनुग्रहाद्वेत्यन्यदेतत् ॥४७॥

आसनजयसाध्यां सिद्धिमाह—

**ततो द्वन्द्वानभिघातः ॥ ४८ ॥**

**तत इति।** तत आसनजयाद् द्वन्द्वानभिघातः। द्वन्द्वैः शीतोष्णादिभिरपीडनं भवतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आसनसाध्यप्राणायामाख्यहठयोगस्य लक्षणमाह—

**तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः ॥ ४९ ॥**

**तस्मिन्निति।** तस्मिन् सति आसनस्थैर्ये सति श्वासप्रश्वासयोः बाह्यवायोराचमनं श्वासः, कौष्ठयस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासस्तयोर्गतिविच्छेदः शास्त्रोक्तरीत्या स्वाभाविकगतेः प्रतिरोधः[२] प्राणायामसंज्ञको योग इत्यर्थः। स चायं रेचकपूरककुम्भकेष्वनुगत इति वक्ष्यमाणप्राणायामसामान्यलक्षणमेतत्। तथाहि—यत्र बाह्यो वायुराचम्यान्तर्धार्यते पूरके तत्रास्ति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः। यत्रापि कौष्ठ्यो वायुर्विरेच्य बहिर्धार्यते रेचके तत्राप्यस्ति द्वयोर्गतिप्रतिषेधः। एवं कुम्भकेऽप्युभयाभावः सुतराम्। अतः

**प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तः पूरकुम्भकरेचकैः।**

इति स्मृतेश्च त्रयाणां प्रत्येकं प्राणायामत्त्वं, न मिलितानामेव। क्वचित्तन्त्रादौ

---

१. क ख — एतच्चानन्तसमापत्तितोऽदृष्टविशेषवशाद्भावनापरिपाकेन तदानन्ताऽनुग्रहाद्वेत्यन्यदेतत्, ग घ — एतच्चानन्तानुग्रहाद्वाऽदृष्टविशेषवशात् भावनापरिपाकेन तदावेशाद्वेत्यन्यदेतत्।
२. क ख — प्रतिरोधः, ग घ — प्रतिषेधः।

मिलितानामेकप्राणायामत्वोक्तिस्तु प्रथमभूमिकायां कस्मिँश्चित् सहाऽनुष्ठाननियमाऽभि-प्रायेणेत्यनुपदमेव स्फुटीभविष्यति॥ ४९॥

सामान्यलक्षणमुक्त्वा लक्ष्यं प्राणायामत्रयं विभजते—

**बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥ ५०॥**

**बाह्येति।** स तु प्राणायामो बाह्यवृत्तिः रेचकः। आभ्यन्तरवृत्तिपूरकः। स्तम्भ-वृत्तिः स्तभ्यते पूरितकुम्भकवन्निश्चलतया विधारकप्रयत्नेन अन्तर्बहिरेव वाऽवस्थाप्यते इति कुम्भकः। इत्थं रेचकपूरककुम्भकभेदात् त्रिविधः। सोऽयं त्रिविधः प्राणायामो देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो निर्णीतो[1] नासाद्वादशान्तादिदेशेन षट्त्रिंशन्[2]मात्रादिकालेन एतावद्वारं कृतमिति संख्यया च नियमित इति यावत्। एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातो भवतीत्येतज्[3]ज्ञापनाय संख्याग्रहणम्। उद्घातश्च नाभिमूलात् प्रेरितस्य शिरस्यभिहननम्। स खल्वयं दिवसपक्षमासादिक्रमेणाभ्यस्तो दीर्घदेशकालव्यापितयैव दीर्घो[4] दुर्लक्ष्यगततया च सूक्ष्मो दीर्घसूक्ष्मसंज्ञको भवतीत्यर्थः। अत्र—

**षट्त्रिंशदङ्गुलं हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः।**
**सव्यापसव्यमार्गेण तेन प्राणोऽभिधीयते॥**
**प्राणो देहगतो वायुरायामस्तन्निबन्धनम्।**

इति स्मृतेः प्राणस्यायामः प्राणायाम इति योगादरेण रेचकपूरककुम्भकानां त्रयाणामपि विभक्ततयोक्तिः। तत्र रेचकस्य लक्षणं स्कान्दे—

**नासासंपुटमङ्गुल्या पीडयित्वा परेण तु।**
**उदराद्रेचयेद्वायुं रेचनाद्रेचकः स्मृतः॥**

इति। उदराद्रेचनं

शनैः शनैर्धारया निःसारणम्।

**बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचकः शनैः।**
**भानुदेवतयाऽजस्रं चान्द्रदैवतयाऽथवा॥**

इति स्मृतेः।

---

१. ग घ — **नियमितः (निर्णीतः** पश्चात्) उपलभ्यते, क ख — **नियमितः** नोपलभ्यते।
२. क ख घ — **मात्रादि०**, ग — **मात्रा०**।
३. क घ — **ज्ञापनाय**, ख ग — **ज्ञानाय**।
४. क ख — **दीर्घो दुर्लक्ष्यगततया**, ग — **दीर्घो लक्ष्यं गततया**, घ — **दीर्घसूक्ष्मं गततया**।

अथ पूरकस्य—

**बाह्ये स्थितं नासापुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्।**

**नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः॥**

इति। अत एव—

**पूरणात् पूरकः प्रोक्त इति योगोऽथ देवले।**

**पूरणं हृदिवत् प्रोक्तं देहे सर्वत्र योगिभिः॥**

तत्र कुम्भकस्तुद्विधः—सहितः केवलश्च। तत्र सहितकुम्भकस्य—

**न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिःस्थितम्।**

**आपूर्य कुम्भवत्तिष्ठेद् केवलः स तु कुम्भकः॥**

**आरेच्यापूर्य यत् कुर्यात् स वै सहितकुम्भकः।**

इत्यादि। अयमेवानेन सूत्रेणोक्तः। देशकालसंख्याभिः परिदृष्ट इत्यनेन रेचकादिदेशादिपरिच्छिन्नत्वकथनात्। अतोऽयं रेचकपूरकाभ्यां सान्तरितो[१] बाह्याभ्यन्तररूपेण रेचकपूरकदेशेन विषयेण युक्तोऽभ्यासबाहुल्यं विनैव जायमान-सामान्य एवेति तृतीयस्यैतस्य अपरं रूपं केवलकुम्भकम्॥५०॥

प्राणायामस्य चतुर्थं विशेषमाह—

**बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ५१॥**

**बाह्येति।** बाह्यं चाभ्यन्तरं च बाह्याभ्यन्तरे विषयो [२]देशो ययोस्तथाभूतौ बाह्याभ्यन्तरवृत्ती पूर्वसूत्रोक्तौ रेचकपूरकौ तयोर्विषयपदस्वारस्यात्। तद्विषययोश्चाक्षेपी अतिक्रमी। तावतिक्रम्य त्यक्त्वा स्वयमेव वर्त्तते इति यावत्। एवम्भूतो यः प्राणायामः स चतुर्थ इत्यर्थः। अस्य च लक्षणं याज्ञवल्क्य आह—

**रेचकं पूरकं त्यक्त्वा यत् सुखं वायुधारणम्।**

**प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः॥**

इत्यादि। यद्यप्ययं तृतीयस्यैवावान्तरभेदस्तथापि देशकालाद्यवधारणकृत-दीर्घसूक्ष्मत्वरूपस्य त्रितयसाधारणधर्मस्याभावाच्चतुर्थ इति पृथगुक्तः।

**ननु**

---

१. क ख घ — **सान्तरितः**, ग — **अन्तरितः**।

२. क ख — **विषयो देशः**, ग घ — **विषयौ देशौ**।

**केवलं सहितं वापि कुम्भकं नित्यमभ्यसेत्।**
**कुम्भके नित्ययुक्तस्य दुर्लभं न हि विद्यते॥**

इत्यादिना कुम्भकस्य नित्यमभ्यसनीयत्वोक्तेर्नित्याभ्यासकाले कालसंख्यादि-परिच्छिन्नत्वमस्याव्याहतम्। तत् कथं पृथगुक्तिरिति चेत् सत्यम्।

**यावद्वा शक्यते तावद्धारणं जपसंयुतम्।**
**धारितं विसृजेत् पश्चात् प्राणं गत्या तु सूक्ष्मया॥**
**शनैः शनैरेष पन्थाः प्राणायामस्य सिद्धये।**

इति वसिष्ठसंहितायां कालाद्यऽ[1]नवच्छिन्नतयैव मुख्याधिकारिणस्तदभ्यास उक्तः। यस्य तु केवलकुम्भके नास्त्येवाभ्यासस्तस्य तु सहिताभ्यास एवोक्तः। यावत् केवलयुक्तः स्यात् तावद् सहितमभ्यसेदिति। अतो देशकालादिविषयानपेक्षणात् तेभ्यो विलक्षणोऽयं पृथगेव भवतीति भावः। अस्यैव वक्ष्यमाणसहितभेदैः साध्यस्य फल-वैभवः पुराणेषु ध्रुवच्यवनविश्वामित्रागस्त्यसंवर्त्तदुर्वासाजडभरतदत्तात्रेयप्रभृतीनां श्रूयते। यथा—

**वाक्सिद्धिः कामचारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च।**
**दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परदेहे प्रवेशनम्॥**
**विण्मूत्रलेपने स्वर्णम[2]दृष्टकरणं तथा।**
**भवन्त्येतानि महतां खेचरत्वं तु[3] योगिनाम्॥**
**दुःखदोषक्षुधानिद्राजरामृत्युविवर्जनम्।**
**सृष्टिसंहारकर्तृत्वमीश्वरेण समानता॥**
**परचित्तप्रवेशेन ज्ञानशक्तिप्रदातृता।**
**सर्वज्ञता सर्वशक्तिः सर्वभूताद्यबाध्यता॥**

इति। तृतीयपादोक्तसंयमफलमप्येतत्सिद्ध्यैव भवतीति ज्ञातव्यम्। एतदुत्पत्ति-क्रममाह भाष्यकारः—

**देशकालसंख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। तथाऽऽभ्यन्तरपरिदृष्ट-विषय आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मतत्पूर्वका भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्य-भावश्चतुर्थः प्राणायाम इति।**

---

१. क ख ग — अनवच्छिन्नतया, घ — अनवच्छिन्नस्य।
२. क ख — अदृष्ट०, ग घ — अदृश्य०।
३. क ख — तु, ग घ — च

अस्यार्थः आदौ कथितदेशकालसंख्याभिर्बाह्यो विषयो[१] रेचकः परिदृष्टोऽभ्यस्तः। पश्चाद्देशादिभिः सहैवाक्षिप्तोऽतिक्रामितो भवतीति शेषः। तथाऽऽभ्यन्तरविषय इति। आभ्यन्तरो विषयः पूरकोऽभ्यस्तः पश्चाद्देशादिभिः सहातिक्रामितो भवतीत्यर्थः। तच्चाक्षिप्तद्वयमुभयथा दीर्घसूक्ष्मो द्विविधो दीर्घसूक्ष्मश्चिरकालं देशादिभिरभ्यस्तौ रेचकपूरकाविति यावत्। तत्पूर्वकः तदुभयाक्षेपपूर्वकस्तदुभयामाक्षिपन्निति यावत्। स्वेदकम्परोमाञ्चोत्थानरूपाणां भूमिकानां मृदुमध्यमोत्तम[२]भेदेन तृतीयकुम्भकेषु यथाक्रमं जायमानानां जपाद् यथोक्तनियमपरिपालनेना[३]ङ्गित्वबलाच्चोत्पद्यमान एवम्भूत उभयोः श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदश्चतुर्थः प्राणायाम इत्यर्थः। एतेन सहितकुम्भकाभ्यास एवास्याऽ[४]साधारणम्।

**यदा नाडीविशुद्धिः स्याद्योगिनस्तत्त्वदर्शिनः।**

**तदा विध्वस्तदोषस्य भवेत् केवलसम्भवः॥**

इति स्मृतेरिति भावः। सहितस्य च सूर्यभेदनाद्यवान्तरभेदा हेतवः। ते चोक्ता हठयोगे—

**सूर्यभेदनमुज्जायी तथा सीत्कारशीतली।**

**भस्त्रिकाभ्रमरीमूर्च्छासहितं वाऽथ कुम्भकाः॥**

इति। सहितं वा उक्तप्रकारं मुख्यं सहितं चेत्यर्थः। अन्यथा पूरकरेचकान्वितत्वेन तेषामपि सहितावान्तरभेदत्वात् सहितं वेति विकल्पानुपपत्तिः। एतेषां लक्षणानि तत्रैवोक्तानि। तत्र सूर्यभेदनस्य यथा—

**आसने सुखदे योगी बद्धवज्रासनस्ततः।**

**दक्षनासां समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः॥**

**आकेशाग्रं नखाग्रं च शिरोऽग्राऽवधिकं ततः।**

**शनैः शनैः सव्यनासा रेचयेत् पवनं सुधीः॥**

**कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत्।**

**पुनः पुनरिदं कुर्यात् सूर्यभेदनमुत्तमम्॥**

---

१. क ख घ — विषयः उपलभ्यते, ग — विषयः नोपलभ्यते।

२. क ख घ — भेदेन तृतीय० उपलभ्यते, ग — भेदेन तृतीय० नोपलभ्यते।

३. क घ — अङ्गित्व०, ख ग — आरोगित्व०।

४. घ — कारणं [असाधारणं पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — कारणं नोपलभ्यते।

अथोज्जायिनो यथा—

**मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं पुनः।**
**अन्तर्लगति[१] हृत्कण्ठाद्धृदयावधि सस्वनः॥**
**पूर्ववत् कुम्भयेत् प्राणं रेचयेदिडया ततः।**
**श्लेष्मदोषहरं कण्ठे जाठरानलवर्द्धनम्।**
**उदरादिप्रदोषाणां विलापनमनुत्तमम्।**
**गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं च कुम्भकम्॥** इति।

अथ सीत्कारस्य—

**सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विसर्जयेत्।**
**एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः॥**
**योगिनीचक्रसंसेव्यः सृष्टिसंहारकारकः।**
**न क्षुधा न तृषा निद्रा तन्द्राऽऽलस्यं न जायते॥**
**भवेत् स्वच्छन्ददेहस्तु सर्वोपद्रववर्जितः।**
**अनेन विधिना यस्तु योगीन्द्रो भूमिमण्डले॥**
**रसनातालुयोगेन यः प्राणं सततं पिबेत्।**
**अब्दार्धेन भवेत्तस्य सर्वरोगपरिक्षयः॥** इति।

अथ शीतल्याः—

**जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भकादनु।**
**शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः॥**
**गुल्मप्लीहोदरं वापि वातपित्तं क्षुधा[२] तृषा।**
**विषाणि शीतली नाम कुम्भको विनिहन्ति चेति॥**

अथ भ्रमर्य्याः—

**वेगोद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम्।**
**योगीन्द्राणां नित्यमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला॥** इति।

अथ मूर्च्छायाः—

**पूरकान्ते गाढतरं बन्धो जालन्धरः शनैः।**
**रेचयेन्मूर्च्छनाख्योऽयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा॥** इति।

---

१. क घ — अन्तर्लगति, ख — यथान्तर्लगति, ग — यथा गलति।
२. क ख — क्षुधा तृषा, ग घ — क्षुधां तृषाम्।

अथ भस्त्रिकायाः—

**आसनं तु ततो बद्ध्वा सम्यक् कमलसंज्ञकम्।**
**समग्रीवोदरः सम्यङ्मुखं संयम्य यत्नतः॥**
**घ्राणेन रेचयेत् प्राणं हृत्कण्ठे पूरयेत्ततः।**
**कपालाऽवधि वेगेन हृत्पद्माऽवधि मारुतम्॥**
**पुनर्विरेचयेत्तद्वत् पूरयित्वा पुनः पुनः।**
**यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥**
**तथैव हि[1] शरीरस्थश्चाल्यते पवनो धिया।**
**यथा श्रमो भवेद्देहे यथा वेगेन पूरयेत्[2]॥**
**यथोदरं भवेत् पूर्णं पवनेन तथा लघु।**
**धारयेन्नासिकां मध्ये तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥**
**कुम्भकं पूर्ववत् कृत्वा रेचयेदिडया ततः।**
**वात्तपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्द्धनम्॥**
**कुण्डलीबोधनं कुर्यात् पापघ्नं सुखदं शुभम्।**
**विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥** इति॥

मुख्यसहितस्तु वक्ष्यते—

**तस्मादेताँस्तु संसेव्य रोगजालविनाशकान्।**
**मुख्यं सहितमभ्यस्य केवलं तु ततो न्यसेत्[3]॥**

सोऽयं द्विविधकुम्भकः सोत्कर्षापकर्षभेदेन पुनर्द्विविधो भवति। तत्र सोत्कर्षः प्राणापानयोर्द्वयोरपि रोधः।

**न प्राणेनाप्यपानेन तथा वायुं समुत्सृजेत्।**
**न सिद्धिर्जायतेऽपानविसर्गेण ततो जयेत्॥**
**शनैर्नासापुटे वायुमुत्सृजन्न तु वेगतः।**
**न कम्पयेच्छरीरं तु सोत्कर्षो मुनिभिर्मतः॥** इति स्मृतेः।

सापकर्षस्तु विसृष्टापानवान्—

**प्राणेन पीडितापानं मुक्त्वा कुम्भकसेवनम्।**

---

१. क ख ग — हि, घ — स्व०।
२. क ख ग — पूरयेत्, घ — चालयेत्।
३. क ख — न्यसेत्, ग घ — अभ्यसेत्।

**सापकर्षो भवेद्योगः कौष्ठ्यबन्धविनाशकः ॥**
**योगपट्टासने स्थित्वा मध्ये पूरकयोगतः ।**
**मूलप्रवृत्तितः पूर्वं प्राणायामं समभ्यसेत् ॥**
**वर्द्धतेऽनेन योगोऽन्यो महासिद्ध्यादिदायकः ।**

इत्यादि स्मृतेः । अत्र नास्ति रोगसम्भावना। अपानस्यानिरोधादतो योगपट्टासने साधितोऽयं मलशोधनमात्रफलत्वात् प्रथमाभ्यास एवावश्यक इति भावः। इत्थञ्च रेचकपूरकौ द्वौ, सहितः केवलश्चेति। द्वावप्युत्कर्षकापकर्षकाविति षट्प्रकारः प्राणायामो भवति। पद्मपुराणे—

**प्राणः प्राणमयो वायुर्वायुरात्मा निगद्यते।**
**तस्यायामः सुमुद्दिष्टः षट्प्रकारः सुयोक्तृभिः ॥**

इति। प्रकृतविभागाभिप्रायेण षट्प्रकारत्वकथनात्।

सोत्कर्षापकर्षभेदेन द्विविधोऽयं कुम्भको मिलित्वा पुनः सप्तविधो भवति। यथाह देवलः—

**कुम्भः सप्तविधो ज्ञेयो रेचितादिप्रभेदतः ।**
**रेचितं पूरितः शान्तः प्रत्याहारोत्तरोऽधरः ॥**
**समश्चेति विनिर्दिष्टः कुम्भकः सप्तभेदतः ।** इति

एतेषां लक्षणानि चाह—

**रेचितस्य बहिस्तम्भो वायो रेचितकुम्भकः ।**
**पूरकेण विना सम्यग् योगोऽयं सुखदो नृणाम् ॥ १ ॥**
**पूरितस्योदरे रोधः पश्चाद्रेचकसंयुतः ।**
**नाडीशुद्धिकरः सम्यक् प्रोक्तः पूरितकुम्भकः ॥ २ ॥**
**कायस्यान्तर्बहिर्व्याप्तिर्या स स्याच्छान्तकुम्भकः ॥ ३ ॥**
**स्थानयोरन्तरे रोधः प्रत्याहाराख्यकुम्भकः ॥ ४ ॥**
**आपूरयेत् क्रमादूर्ध्वमूर्ध्वरोधो हृदादिषु ॥ ५ ॥**
**उत्तरः कुम्भकः स स्यादधोऽधो मूर्द्धतोऽधरः ॥ ६ ॥**
**रेचनापूरणे त्यक्त्वा मनसा मरुतो धृतिः ।**
**या नाभ्यादिप्रदेशेषु समः कुम्भः प्रकीर्त्तितः ॥ ७ ॥**

अत्र शान्तसमौ केवलस्य भेदौ। अन्ये सहितस्य भेदाः । प्रत्याहाराख्यस्तूभयानुगत इति बोध्यम्। **कायस्येति**। रेचकपूरकौ विहाय शरीरस्यान्तर्बहिश्च मनसा वायो-

र्धारणा व्याप्तिरित्यर्थः स्थानयोरित्यत्र वीप्सा ज्ञातव्या। पादतलगुल्फनाभिहृदुदरकण्ठघण्टिकाभ्रूमध्यललाटब्रह्मरन्ध्रादीनि स्थानानि। एतेषु स्थानेषु द्वयोर्द्वयोरन्तरे मध्ये वायोर्धारणं प्रत्याहाराख्यकुम्भकः।

हृदादिस्थानेषु मूर्द्धतो हृदयपर्यन्तं रेचनापूरणे त्यक्त्वा मनसा वायोर्धारणात् समाख्यकुम्भकः। स्थानभेदात् समशान्तयोर्भेदः। अत्र पूरितकुम्भकक्रमः स्कान्दे—

**अथवा ह्यासने यस्मिन् सुखमस्योपजायते।**
**स्वस्तिकादौ तदभ्यस्य योगं युञ्जीत योगवित्॥**
**निमीलिताक्षः सत्त्वस्थो दन्तैर्दन्तानसंस्पृशन्।**
**तालुस्थाचलजिह्वश्च संवृतास्यः सुनिश्चलः॥**
**सन्नियम्येन्द्रियग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः।**
**रविणा प्राणमाकृष्य पूरयेदुदरीं दरीम्॥**
**कुम्भयित्वा शनैः पश्चाद् योगी चन्द्रेण रेचयेत्।**
**युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्॥**
**युक्तं युक्तं च बध्नीयादित्थं सिद्ध्यति योगवित्।**

योगभास्करे—

**इडया पूरयेद्वायुं धारयेत्तु सुषुम्नया।**
**रेचयेत् पिङ्गलानाड्या प्राणायामक्रमः स्मृतः॥**

तन्त्रेऽपि—

**सम्यग्देशे समास्तीर्य ह्यासनं मृदुसंयुतम्।**
**तत्रोपविश्य मेधावी स्वस्तिकादिसमन्वितः॥**
**ऋजुकायः सुखासीनः प्रणमेदिष्टदेवताम्।**
**ततो दक्षिणहस्तस्य अङ्गुष्ठेनैव पिङ्गलाम्॥**
**निरुद्ध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः।**
**यथाशक्त्या निरोधेन ततः कुर्याच्च कुम्भकः॥**
**ततस्त्यजेत् पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः।**
**पुनः पिङ्गलयाऽऽपूर्य पूरयेदुदरं शनैः॥**
**धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदिडया शनैः॥**
**यया त्यजेत्तयाऽऽपूर्य धारयेदनिरोधतः।**
**एवं प्रातः प्रकुर्वीत शक्त्या विंशतिकुम्भकान्॥**

**एवं मध्याह्नसमये कुर्याद्विंशतिकुम्भकान्।**
**ततः सायं प्रकुर्वीत तथा विंशतिकुम्भकान्॥**
**एवमेवार्द्धरात्रेऽपि पुनर्विंशतिकुम्भकान्।**
**कुर्याद्रेचकपूराभ्यां सहितं प्रतिवासरम्॥**
**सहितो रेचकपूराभ्यां तस्मात् सहितकुम्भकः।**
**एवं मासत्रयं कुर्यान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत्॥**
**यदा नाडीविशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि योगिनः।**
**जायन्ते तानि देहे वै तन्मे निगदतः शृणु॥**
**शरीरलघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्द्धनम्।**
**कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम्॥** इति।

अयं च पूरकपूर्वकः क्रम औत्सर्गिकः। सूत्रकारस्य रेचकपूर्वकोऽभिमतः। **बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तीति** सूत्रयता तथा ज्ञापनात्।

**आरेच्यापूर्य यत् कुर्यात् स वै सहितकुम्भकः।**

इति स्कान्दो[१]क्तेश्च। अयं च नाडीचक्रमलशोधकः केवलश्च सिद्धिपर्यन्तम-[२]भ्यसनीयः।

**यावत् केवलसिद्धिः स्यात्तावत् सहितमभ्यसेत्।**

इति स्मृतेः। एतस्य प्रमाणं तु श्रुतौ[३]—

**सव्याहृतीं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह।**
**त्रिःपठेदायातः प्राणः प्राणायामः स उच्यते॥**

इति। सप्तव्याहृतीनामादौ सप्त प्रणवाः। **सुवरिति** याजुषेण पाठेन सप्तव्याहृति-सूत्रयोर्दशगायत्र्यादौ शिरोनेत्रादौ च प्रणवद्वयम्। **वरेणीयमिति** सामपाठेन चतुर्विंशति गायत्र्याम्। **आपोज्योतिरसोऽमृतम्, ब्रह्मभूर्भुवः स्वरोमिति** शिरोमन्त्रेषु **वरौमिति** याजुषेण पाठेन षोडश। एवं द्विषष्ट्यक्षराणि सम्पद्यन्ते। तानि च त्रिगुणितानि षडशी-त्यधिकं शतं भवन्ति। तैस्तावत्संख्याकैः प्रणवैरेव वा प्राणायामः करणीय इत्यर्थः। लिङ्गपुराणे तु—

---

१. क ख ग — उक्तेः, घ — उक्तिः।
२. क ख घ — अभ्यसनीयः, ग — अनुष्ठेयः।
३. क ख — श्रुतौ....प्राणायामः करणीयः उपलभ्यते, ग घ — श्रुतौ....करणीयः नोपलभ्यते।

**प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम्।**
**नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्घात ईरितः ॥**
**मध्यमश्च द्विरुद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रकः।**
**मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्घातः षट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ॥**
**प्रस्वेदकम्पनोत्थानजनकश्च यथाक्रमम्।**
**जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥**
**दृढता लघुता चैव योगिनस्तत्र जायते।**
**आनन्दो जायते मुख्यो ध्वनिसम्पत्तिरेव च ॥**
**अदीनत्वमरोगित्वमल्पनिद्रादिमूत्रकम्।** इति।

मात्रा च स्कन्दपुराणे—

**जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम्।**
**करोति छोटिकां यावत् सा मात्रेति च गीयते ॥**

नन्दिपुराणे—

**त्वरितं लघुभिर्वर्णैर्मात्रा द्वादशभिः स्मृतेति।**

मार्कण्डेये—

**निमेषोन्मेषणे मात्रा कालो लघ्वक्षरं तथा।**
**प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादशमात्रिकः ॥** इति।

[१]निमिषादिलघ्वक्षरान्तं मात्राप्रमाणम्। तदेव विशिष्य दर्शयत्युत्तरार्द्धेन। द्वादशमात्रिको द्वादशगुणितो निमेषादिरयं पदार्थः प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृत इत्यर्थः। दशगुर्वक्षरोच्चारणं वा नाकी, गुर्वक्षरोक्त्या सुरिति स्वरशास्त्रानुसारात्। इयं लघुमात्रा। अतिमात्रालक्षणं त्वाह याज्ञवल्क्यः—

**गोदोहं वत्सपानं वा [२]इषुक्षेपमथापि वा।**
**घण्टायास्तनितं वापि अतिमात्रा ह्युदाहृता ॥** इति।

उद्घातलक्षणं तु—

**प्राणेनोत्सार्यमात्रेण अपानः पीड्यते यदा।**

---

१. क ख — **निमिषादि०**, ग घ — **निमेषादि०**।
२. क ख ग — **इषुक्षेपमथापि**, घ — **इषुक्षेपस्तथापि**।

**गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्घातलक्षणम्।** इति।

पूरकमात्रा तु कुम्भकचतुर्थांशः। रेचकमात्रा कुम्भकार्द्धांशः।

**पूरकं षोडशभिः कृत्वा चतुःषष्ट्या तु मात्रया।**

**धारयेद्रेचयेत् पश्चाद् द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः॥**

इति सामान्यशास्त्रात्। अथवा कौर्म्ये—

**मात्रा द्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः।**

**मध्यमः प्राणसंरोधः षट् त्रिंशन्मात्रिकोत्तमः॥**

इति सामान्योक्तेः पूरकादिषु त्रिष्वपि द्वादशमात्रादिरूपैकैव संख्या। पूरकादिषु विशेषावचनादिति दिक्।

सोऽयमान्तरः कुम्भकः। पूरितस्यान्तःप्रदेशे धारणात्। रेचितकुम्भकस्तु बाह्य-कुम्भकः। रेचितस्य वायोर्बहिरेव स्थापनात्। अयं च पूरकवर्जितः केवलकुम्भके अन्तरङ्गो बहुतरनियमापेक्षश्च भवतीति यद्यपि, प्रच्छर्दनेति सूत्रेणादृतस्तथापि स्कान्दे—

**इत्थं मासत्रयाभ्यासादुभयायामसेवनात्।**

**शुद्धनाडीगणो योगी सिद्धप्राणोऽभिधीयते॥**

इत्यादिना एतस्यैव नाडीशोधकत्वोक्तेर्युक्तिसिद्धत्वाच्च नाडीशुद्ध्यर्थं पूरित-कुम्भकस्यैवाभ्यासो युक्त इति दिक्। तदेते सर्वे पुनः सगर्भागर्भभेदेन द्विविधा उक्ता नन्दिपुराणादौ—

**प्राणायामोऽस्य मथनं तस्यादौ युक्तिरुच्यते।**

**अगर्भश्च सगर्भश्च द्विविधः सम्प्रकीर्त्तितः॥**

**जपध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः।**

**अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः॥**

**जाप्येन तु जपं कुर्यादविलम्बितमद्रुतम्।**

**मनसैव प्रसंख्यातं प्राणायामविधौ सदा॥**

इत्यादि। जाप्येन प्रणवादिमन्त्रेण भगवन्नाम्नादिना वा, ध्यानं मन्त्रस्य, मन्त्रप्रति-पाद्यस्य च भगवतो नारायणस्य सगुणं निर्गुणं वा ध्यानप्रकरणे वक्ष्यमाणम्। इत्थञ्च सगर्भस्य त्रयो भेदा भवन्ति—सधूमकः, सज्वालः प्रशान्तश्चेति। तत्र मन्त्रतदवयव-मात्राध्यानात् सधूमकः। मन्त्रतदवयवतदर्थध्यानात् सज्वालः। मन्त्रतदवयवतद्वाच्य-सगुणध्यानरहितकेवललक्ष्यात्ममात्रध्यानात् प्रशान्तः।

**तस्य मात्रात्रयध्यानात् प्राणायामः सधूमकः।**

**कलांशे देवताध्यानात् सज्वालः परिकीर्त्तितः॥**

**मात्राधूमांशनिर्वस्तुयोगनाडीसमाश्रयात्।**
**प्रशान्त उक्तः शास्त्रेषु सर्वभावविवर्जितः॥**

इत्यादिस्मृतेः। तस्य प्रणवस्य। मात्राधूमेति। मात्राधूमं देवताज्वालारूपनिर्गत-परमात्मवस्तुसमाश्रयाद् योगनाडीसमाश्रयणाच्च प्रशान्त इत्यर्थः। अयं च सोत्कर्षः केवलकुम्भकावस्थः प्रशान्ततमो भवति।

**केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते।**
**न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥**

इत्याद्युदाहृतवाक्यैरेतस्यैवोत्कृष्टत्वज्ञापनात्। एवं प्राणायाममभ्यस्यतः सिद्ध-बिन्दोः। क्षीणपापस्यावस्थाचतुष्टयं सम्पद्यते। तदुक्तं शिवयोगे—

**आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः पुनः।**
**निष्पत्तिश्चेति योगस्य स्यादवस्थाचतुष्टयम्॥**

तत्र प्राणायामप्रकरणोक्तं चतुष्कालिकप्राणायामाभ्यासादिना नाडीशुद्धौ आरम्भावस्था भवति। तस्या लक्षणं तेजस्वित्वसुगन्धित्वादि। अथ घटावस्था—

**प्राणापानौ नादबिन्दुर्जीवात्मपरमात्मनोः।**
**मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते॥**

याममात्रं प्राणापानादिकमेकत्र कर्तुं समर्थो घटावस्थामाप्नोति। तस्यामवस्थायां कामचारित्वदूरदर्शित्वादृश्यत्वादि भवति। तदुक्तम्—

**यदा भवेत् घटावस्था योगिनोऽभ्यासिनः सदा।**
**तदा संसारचक्रेऽस्मिन् नास्ति तद्यन्न साधयेत्॥**

अथ परिचयावस्था—

**दण्डाष्टकं यदा वायुर्निश्चलो योगिनो भवेत्।**
**ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यासिनो भवेत्॥**

अस्यामवस्थायां वायुः सूर्याचन्द्रमसौ त्यक्त्वा षट्चक्राणि भित्वा सुषुम्नाव्योम्नि सञ्चरति। ततः कर्मणां त्रिकूटं पश्यति। तच्च प्रणवजपकायव्यूहोपभोगादिना नाशयेत्। धारणाप्रकरणीयफलं च भवति।

अथ निष्पत्त्यवस्था—

**ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्तिर्योगिनो भवेत्।**
**अनादिकर्मबीजानि यतश्छित्वाऽमृतं भवेत्॥**

अस्यामवस्थायाम्—

**गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान्।**

**सर्वत्र चक्रं विजित्याशु ज्ञानशक्तौ विलीयते ॥**

इत्यन्यत्र विस्तरः ।

सोऽयमखिलो योगो योग्यदेशकालादौ प्रतिषिद्धवर्जनयोग्यभोजनादिना सेव्यः । तत्र देश उक्त आदित्यपुराणे—

**एकान्तगिरिदुर्गेषु तीर्थायतनगह्वरे।**
**सुशोभने मठे वाऽथ कार्यं योगस्य सेवनम् ॥** इति।

मठलक्षणं तु योगतत्त्वप्रकाशे—

**सुशोभनं मठं कुर्यात् सूक्ष्मद्वारं तु निष्प्रभम्।**
**सुलिप्तं गोमयेनैव सुधया वा प्रयत्नतः ॥**
**मक्षिकादिकदोषेण वर्जितं मार्जितं सदा।**
**वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गुलादिभिः ॥** इति।

हठप्रदीपिकायाम्—

**अल्पद्वारमरन्ध्रगर्त्तघटितं नात्युच्चनीचायितम्।**
**सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तविमलं निःशेषजन्तूज्झितम् ॥**
**बाह्ये मण्डपकूपवेदिरचितं प्राकारसंवेष्टितम्।**
**प्रोक्तं योग[1]मठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ॥** इति।

कालस्तु स्वरशास्त्रानुसारेण। कुमारो वा युवा[2]। प्रतिषिद्धं शीतोष्ण-जलवह्निसशब्दस्थलम्। अतितृप्तिक्षुधार्तिविण्मूत्रादिबाधामार्गस्वेदचिन्ताबाहुल्यसमयः। लवणादिभोजनं च।

**नातिशीते न चोष्णे च न शब्दाग्निजलान्विते।**
**जीर्णगोष्ठे शुष्कपत्रचये वल्मीकसञ्चये ॥**
**देशेष्वेतेषु तत्त्वज्ञो योगाभ्यासं विवर्जयेत्।**
**नातितृप्तः क्षुधार्त्तो वा न विण्मूत्रप्रबाधितः।**
**नाध्वखिन्नो न चिन्तार्तो योगं युञ्जीत तत्त्ववित् ॥**
**लवणं सार्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च तीक्ष्णकम् ॥**
**अतीव भोजनं त्याज्यमतिनिद्रातिभाषणम्।**
**हारीतशाकं सौवीरतैलमत्स्यतिलास्तथा ॥**

---

१. क ख घ — मठस्य, ग — हठस्य।
२. घ — वा [युवा पश्चात्] उपलभ्यते, क ख ग — वा नोपलभ्यते।

**अजादिमांसं मद्यं च दधिकोलकुलत्थकाः ।**
**पिण्याकं हिङ्गु लशुनं तक्राण्येतानि वर्जयेत् ॥**

इत्यादि स्मृतेः । योग्यभोजनं तु प्रथमाभ्यासे क्षीरपानमेव ।

**अभ्यासे प्रथमे काले प्रशस्तं क्षीरभोजनम् ।**
**ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमाग्रहः ॥** इति ।

क्षीराद्यलाभे तु गोधूमादिकं योग्यम्—

**गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं मिष्टान्नमण्डनवनीतसितामधूनि ।**
**सुण्ठीपटालकफलादिकपञ्चशाकं मुद्गाद्यमल्पमुदकं च मुनीन्द्रपथ्यम् ॥**
**कर्पूरं मधुरं स्निग्धं गव्यं ताम्बुलमेव च ।**
**चूर्णेन रहितं धातुपोषणं योगिनां शुभम् ॥**
**भोजनं च यदा यदा क्षुधा तदा तदा मितमेव कार्यम् ।**

अन्यथा योगाग्निनिरोधेन धातुवैषम्येण च नानारोगोत्पत्त्या योगप्रतिबन्धेन ज्ञानद्वारकमोक्षासिद्धेः । न चैतत् संन्यासश्रमिणः कथम् ? तस्य पुनर्भोजननिषेधादिति वाच्यम् ।

**एककालं द्विकालं वा योगाभ्यासपरो यतिः ।**
**आचरेद् भोजनं रम्यं हितं पथ्यं मितं सदा ॥**

इति स्मृतेः । निषेधवाक्यस्यायोगिसंन्यासिविषयत्वादिति दिक् ।

इत्थं नियमेन योगं सेवयतो न भवति योगेन प्रतिबन्धः । यस्त्वेतान्नियमाननादृत्य सहसैव प्रवर्त्तते । तस्य तु भवति दोषैः प्रतिबन्धः । ते च दोषाः—

**बाधिर्यं जडता लोपः स्मृतेर्मूकत्वमन्दताः ।**
**कामश्च जायते पूर्णः सर्वज्ञानविनाशनः ॥** इत्यादयः ।

प्रमादाज्जायमानेष्वेतेषु उपायमाह दत्तात्रेयः—

**स्निग्धां यवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रैव धारयेत् ।**
**वातगुल्मप्रशान्त्यर्थमुदावर्त्ते तथा दधि ॥**
**यवागूं चापि पवनं वायुग्रन्थिं प्रतिक्षेपेत्[1] ।**
**तद्वत् कम्पे महाशैलं स्थिरं मनसि धारयेत् ॥**
**विघाते वचसो वाचि बाधिर्ये श्रवणेन्द्रिये ।**
**तथैवाम्लफलं ध्यायेत् तृष्णार्त्तो रसनेन्द्रिये ॥**

---

१. क ख — प्रतिक्षेपेत्, ग घ — प्रतिक्षिपेत् ।

**देशकालानुसारेण धारयेद्धारणां शुभाम्।**
**अत्युष्णे[1] तु महाशीतां तथा शीते विदाहिनीम्॥**
**कीलं शिरसि संस्थाप्य काष्ठं[2] काष्ठेन ताडयेत्।**
**लुप्तस्मृतेः स्मृतिः सद्यो योगिनस्तत्र जायते॥**
**द्यावापृथिव्यौ वाय्वग्नी व्यापिनावपि धारयेत्।**
**अमानुषाः सत्त्वजातबाधाश्चैताश्चिकित्सिताः॥**
**अमानुषं सत्त्वमन्तर्योगिनं प्रविशेद्यदि।**
**वाय्वग्निधारणाच्चैतद्देहसंस्थं विनिर्दिशेत्॥**

इत्यादि। इति संक्षेपः॥ ५१॥

चतुर्विधस्य प्राणायामस्य फलमाह—

**ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ ५२॥**

**तत** इति। ततः तस्मात् प्राणायामात् प्रकाशावरणं आव्रियते बुद्धिसत्त्वप्रकाशो बुद्धिसत्त्वगतं सार्वज्ञमनेनेत्यावरकं तमः पापं च क्षीयते विनश्यतीत्यर्थः। तदुक्तं मनुना—

**दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि[3] यथा मलाः।**
**तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥** इति।

दोषाः पापानि तत्कार्यमावरणादीनि[4] च। ननु तर्हि तपोध्यानाभ्यां प्राणायामोऽन्यथासिद्धः। तपसैव पापनिवृत्तेः, ध्यानेन चा[5]वरणनिवृत्तेः सम्भवादिति चेन्न ज्ञानप्रतिबन्धकपापादिक्षये प्राणायामस्यैव मुख्योपायत्वात्। प्राणायामं विना मन आदीन्द्रियाणां जयासम्भवेन आवरणात्यन्तिकनिवृत्तेरसम्भवात्। ध्यानादेरप्युत्पादासम्भवाच्च। तदुक्तं स्कान्दे—

**समस्तेन्द्रियवृत्तिश्च प्राणो वायुः प्रकीर्त्तितः।**
**तज्जयादिन्द्रियाण्येव निर्जितानि भवन्ति हि॥**

---

१. क ख ग — **अत्युष्णे**, घ — **अनुष्णे**।
२. क ख ग — **काष्ठं काष्ठेन**, घ — **कायं कायेन**।
३. क ख घ — **हि**, ग — **च**।
४. क — **तत्कार्यमावरणादीनि च**, ख — **तत्कार्यमावरणादिश्च**, ग घ — **तत्कार्ये तमो मलः विपर्ययौ च**।
५. क ख — **आवरण०**, ग घ — **तमो०**।

**वृत्तिवृत्तिमतोर्यस्मादभेदः परिकीर्त्तितः।**
**तस्माद् वृत्तिजयादेव वृत्तिमान्निर्जितो भवेत्॥**
**ज्ञानवैराग्ययोक्तृभ्यां प्राणायामकशाहतान्।**
**इन्द्रियाश्वान् विनिर्जित्य सर्वमेव जितं भवेत्॥**
**इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभाविति।**

इन्द्रियाण्येवेत्यत्र एवकारो भिन्नक्रमः। तज्जयादेवेत्यर्थः। तस्मात्सर्वस्यापीन्द्रिय-जयमूलकत्वात् तदर्थं चलचित्तेन प्राणायामाऽभ्यासोऽवश्यं कार्य इति भावः॥५२॥

समाध्यनुकूलं फलान्तरमाह—

**धारणासु च योग्यता मनसः॥५३॥**

**धारणास्विति**। धारणा वक्ष्यमाणलक्षणास्तासु मनसः प्राणायामाभ्या-सेनाऽविकृतस्यान्तःकरणस्य योग्यता विक्षेपरहितः स्थिरीभावो भवतीत्यर्थः॥५३॥

प्रत्याहारं लक्षयति—

**स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥५४॥**

**स्वेति**। चित्तस्य विषयो मोहनीयो रञ्जनीयः कोपनीयश्च रूपादिस्तेन सम्प्रयोग-स्तदभिमुखता, तत्परित्यागोऽसम्प्रयोगो वैराग्येणान्तर्मुखपरिणाम इति यावत्। तस्मिन् सति मधुकरराजमनु मधुमक्षिकाणामिव यश्चित्तस्वरूपानुकार [१]एवेन्द्रियाणां चित्तनिरोधे साधनान्तरं विना तद्वृत्तिनिरोधश्चित्तलक्ष्याभिमुखतारूपः सः। इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रतीपमाह्रियन्तेऽस्मिन्निति व्युत्पत्तेः प्रत्याहारपदार्थ इत्यर्थः। इवशब्दश्चित्तवत् तत्त्वाभि-मुखतेन्द्रियाणां नास्ति, किन्तु विषयान्तरसञ्चारराहित्यमात्रमिति ज्ञापनार्थः। सोऽयं प्रत्याहारो द्विविध उक्तो महाभारते मोक्षधर्मे—

**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा शुचिः।**
**दशद्वादशभिर्वापि चतुर्विंशात् परं ततः॥**

इति। इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यो मनसा **निवर्त्येति** फलीभूतः प्रत्याहारः। प्राणायामसाध्यमाह—**दशद्वादशभिर्वेति**। द्वाविंशतिसंख्याभिः संचोदनाभिश्चित्ताऽश्वस्य प्रतोद-नस्थानीयाभिः प्रेरणाभिः प्रतिमानात्मानं जीवं चतुर्विंशादज्ञानात् प्रकृतिसंज्ञकात् परं प्रति गन्तुं प्रचोदयात् प्रेरयेत्। तत्राऽष्टादशसु स्थानेषु वायोः प्रत्याहरणं याज्ञवल्क्य आह—

---

१. क ख — एव, ग घ — इव।

अष्टादशसु यद्वायोर्मर्मस्थानेषु धारणम्।
स्थानात् स्थानात् समाकृष्य प्रत्याहारो निगद्यते॥

इत्युपक्रम्य—

संपूर्य कुम्भवद्वायुमङ्गुष्ठान्मूर्ध्नि मध्यतः।
धारयत्यनिलं बुद्ध्या प्राणायामप्रचोदितः॥
व्योमरन्ध्रात् समाकृष्य ललाटे धारयेत् पुनः।
ललाटाद्वायुमाकृष्य नेत्रस्थाने निरोधयेत्॥
भ्रूमध्याद्वायुमाकृष्य नेत्रस्थाने निरोधयेत्।
नेत्राद्वायुं समाकृष्य नासामूले निरोधयेत्॥
नासामूलात्तु जिह्वया मूले प्राणं निरोधयेत्।
जिह्वामूलात् कण्ठकूपे ततो वायुं निरोधयेत्॥
कण्ठकूपात्तु हृन्मध्ये हृन्मध्यान्नाभिमध्यमे।
नाभिमध्यात् पुनर्मेढ्रे मेढ्राद् बाह्यलये ततः॥
देहमध्याद् गुदे गार्गि गुदाद्वै ऊरुमूलके।
ऊरुमध्यात्तयोर्मध्ये तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत्॥
चितिमूले ततस्तस्माज्जङ्घयोर्मध्यमे तथा।
जङ्घां ततः समाकृष्य वायुं गुल्फे निरोधयेत्॥
स्थानात् स्थानं समाकृष्य यस्त्वेवं धारयेद्धिया।
निष्पापः स विशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम्॥
एतत्तु योगसिद्ध्यर्थमगस्त्येनापि कीर्त्तितम्।
प्रत्याहारेषु सर्वेषु प्रशस्तमिति योगिभिरिति॥

एवमष्टादशप्रत्याहारचोदनाः। धारणाध्यानसमाधिसंज्ञास्तिस्रः। ततः सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिसंज्ञा द्वाविंशतिचोदनाः। ततोऽपि सम्प्रेरितो जीवो नदीसमुद्रन्यायेन निर्विशेषचिन्मात्रतां प्रतिपद्यत इत्यर्थः॥ ५४॥

इत्थं प्राप्ताप्राप्तविवेकरीत्या प्रत्याहारस्य फलमाह—

**ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ५५॥**

**तत** इति। ततः प्रत्याहारादिन्द्रियाणां मन आद्येकादशानां भोगकरणानां[1] परमा

---

१. क ख ग — भोगकरणानां उपलभ्यते, घ — भोगकरणानां नोपलभ्यते।

वश्यता परमो जयः। मोहनीयादि[1]स्वरूपैः रूपादिभिर्विषयैर्बहिर्मुखतां नीयमानान्यपि न यान्ती-त्यर्थः। इयमेव वश्यता योगद्वाराऽपरोक्षप्रमाया हेतुः। एतस्याभावादेव सौभरिप्रभृतीनां योगात् प्रच्यावोऽपि। अत एवोक्तं भगवता—

**यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।**
**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः॥**
**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत् मत्परः।**
**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता॥**

इति। तदेवमेकाग्रताभूमिसम्पादनद्वारा योगसाधनत्वेन योगस्य बहिरङ्गानि यमादिप्रत्याहारान्तानि सफलानि द्वितीये पादे प्रोक्तानि। धारणात्रयस्य सिद्धिबाहुल्यात् तत्फलभूताभिः सिद्धिभिः सह तत्प्रतिपादनाय तृतीयः पादो भविष्यति॥ ५५॥

इति श्रीनारायणतीर्थकृतायां योगसिद्धान्तचन्द्रिकायां
साधननिर्देशो नाम द्वितीयः पादः॥ २॥

❄

---

१. क ख ग — स्वरूपैः, घ — रूपैः।

# तृतीयो विभूतिपादः

उक्तानि यमादिप्रत्याहारान्तानि योगाङ्गानि। इतः परं धारणादित्रयं तत्फलं च व्युत्पादयिष्यन् प्रथमं धारणां लक्षयति—

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ १ ॥**

**देशेति।** देशे आध्यात्मिके नाभिचक्रहृदयकण्ठमुखभ्रूमध्यमूर्द्धनासादौ बाह्ये पर्वतमस्तकाकाशादौ बन्धश्चित्तस्य विषयान्तरपरिहारेण यच्चित्तस्य स्थापनं तदैकाग्र्यं सा धारणेत्यर्थः। तदुक्तमीश्वरगीतायाम्—

**हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।**
**एवमादिप्रदेशेषु धारणा चित्तबन्धनम्॥**

इति। अत एव ध्यानाद्भेदः। ध्यानस्य देशेनोपलक्षितपरमेश्वरैकाग्र्यरूपत्वात्। धारणायास्तु ध्येयाधारैकाग्र्यरूपत्वात्। तदुक्तं तत्रैव—

**देशावस्थितमालक्ष्य बुद्धेर्या वृत्तिसन्ततिः।**
**वृत्त्यन्तरैरसंस्पृष्टा तद्ध्यानं सूरयो विदुः॥**

इति। सेयं धारणा भूतानां भेदेन स्तम्भिनी प्लाविनी दहनी भ्रामणी शमनी चेति पञ्चधा भवति। तत्र पादादिजानुपर्यन्तदेशे हरितालनिभसलकारसवेधसचतुष्कोण-पृथिव्यैकाग्रता स्तम्भिनी। इयमेव पार्थिवी धारणेत्युच्यते। जानुतः पायुपर्यन्ते देशे अर्द्धेन्दुनिभसवकारसविष्णुकुन्दाभजलैकाग्रता प्लाविनी। इयमेव वारुणी धारणेत्युच्यते। आपायोर्हृदयपर्यन्ते देशे इन्द्रगोपाभत्रिकोणसरेफसरुद्रवह्न्यैकाग्रता दहनी। इयमेव तैजसी धारणेत्युच्यते। हृदयाद् भ्रूमध्यपर्यन्ते देशेऽञ्जनसन्निभसवृत्तसयकारसेशवाय्वेकाग्रता भ्रामणी। इयमेव वायवी धारणेत्युच्यते। भ्रूमध्याद् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्ते देशे सहकारविशुद्ध-वारिसदृशससदाशिवाकाशैकाग्रता शमनी। इयमेव नाभसी धारणेत्युच्यते। अथवा—

**नाभेरधो गुदस्योर्ध्वं धारयेत् पञ्च नाडिकाः।**
**वायुं ततो भवेत् पृथ्वी धारणा चेद्भयापहा॥**
**पृथिवीसम्भवो मृत्युर्न भवेत् तस्य योगिनः।**
**नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पञ्च नाडिकाः॥**
**ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न योगिनः।**
**नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायुं घटिकाः पञ्च धारयेत्॥**

**आग्नेयी धारणा चेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना।**
**न दह्यते शरीरं च प्रविष्टे चाग्निसंस्तरे॥**
**नाभिभ्रूघ्राणमध्ये तु प्रादेशत्रयसंमिते।**
**धारयेत् पञ्चघटिका वायुं सैषा च वायवी॥**
**धारणा नैव वायोस्तु भयं भवति योगिनः।**
**भ्रूमध्यादुपरिष्टात्तु धारयेत् पञ्च नाडिकाः॥**
**वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशधारणा।**
**आकाशधारणां कुर्वन् मृत्युं जयति शाश्वतम्॥**

इति। एवं मनसो बुद्धेश्च धारणा मूर्ध्नि।

**इत्थं हि धारणाः सप्त कुर्वन् योगी भवेद् दृढः।**
**ब्रह्मणः प्रलयेऽप्यस्य मृत्योर्भीतिर्न विद्यते[1]॥**

वायुसंयमनपूर्वकं [2]तत्त्वैकाग्रता कार्येत्युक्तश्लोकानामर्थः। एतासामेव च फलं बहुकालजीवित्वादिरूपं भुशुण्डादीनां योगवासिष्ठे प्रतिपादितम्। एतादृश्यो धारणाः परिच्छिन्नगोचरा अपि सिद्धिसम्पादकतया शास्त्रेषु बहुधा निरूपिताः। मुमुक्षुयोग्या त्वन्यादृश्येव। सा चोक्ता गारुडे—

**प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत्।**
**स तावत्[3]कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्॥**

इत्यादिभिः। इयं च धारणा भगवत्कृपातश्च भवतीति संक्षेपः। अत्रैव लक्ष्ययोगस्यान्तर्भावः॥ १॥

ध्यानं लक्षयति—

**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ २॥**

तत्रेति। तत्र हृत्पुण्डरीकादिदेशोपलक्षिते या प्रत्ययैकतानता प्रत्ययस्य चित्तवृत्तेर्विजातीयप्रत्ययतिरस्कारेण धारावाहिकता सा ध्यानमित्यर्थः।

तदुक्तं विष्णुपुराणे—

**तद्रूपप्रत्ययैकाग्र्यसन्ततिर्यान्यनिःस्पृहा।**
**तद्ध्यानं प्रथमैः षड्भिरङ्गैर्निष्पाद्यते नृप॥**

---

१. क ख घ — विद्यते, ग — जायते।
२. क ख ग — तत्त्व०, घ — तत्तत्तत्त्व०।
३. क ख — कार्य०, ग घ — काल०।

इति। तच्च ध्यानं सगुणनिर्गुणभेदेन द्विविधम्। तत्र सगुणमाह याज्ञवल्क्यादिः। यथा—

नीलोत्पलदलश्यामं पीतकौशेयवाससम्।
चतुर्भुजं शङ्खचक्रगदापद्मादिशोभितम्॥
कोटिसूर्यप्रतीकाशं ध्यायेदच्युतमव्ययम्।
अथैवं चिन्तयेद्देवं निर्मलं ज्ञानदं शुभम्॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं महादेवं महेश्वरम्।
परात् परतरं नित्यं नीलकण्ठं त्रिलोचनम्॥
ब्रह्माणं च सदा ध्यायेत् सर्वपापप्रणाशनम्।
मकारार्थो महादेव उकारार्थो हरिर्मतः॥
अकारार्थो भवेद् ब्रह्मा भावयेत्तु ततः सदा।
तेषामैक्यं ततः सद्यः क्षीणपापो भवेन्नरः॥

इति। निर्गुणस्य तु—

एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं सर्वगं व्योमवद् दृढम्।
अव्यक्तममलं नित्यमादिमध्यान्तवर्जितम्॥
स्थूलसूक्ष्ममनाकाशसंस्पर्शमचाक्षुषम्।
न रसं न च गन्धाढ्यमप्रमेयमनूपमम्॥
आनन्दमजरं नित्यं सदसत्सर्वकारणम्।
सर्वाधारं जगद्रूपममूर्तमजमव्ययम्॥
अदृश्यं दृश्यमध्यस्थं वृत्तिस्थं सर्वतोमुखम्।
सर्वदृक् सर्वतः पादं सर्वस्पृक् सर्वतः शिरः॥
ब्रह्म ब्रह्ममयोऽहं स्यामिति तत्त्वस्य वेदनम्।
तदेतन्निर्गुणं ध्यानमिति योगविदो विदुः॥

इति। ध्यानफलं तु प्रसिद्धं पुराणेषु। यथा—

नाऽश्वमेधेन तत्पुण्यं न च वै राजसूयतः।
यत्पुण्यमेकध्यानेन लभेद् योगी स्थिरासनः॥
महापातकयुक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम्।
भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्तिपावन एव सः॥

इत्यादि। अत्र सूत्रे तत्रेति पदं देशविशेषपरमौत्सर्गिकध्यानाभिप्रायेण। सर्वध्याने देशानियमात्। अतोऽस्यापि गारुडे लक्षणमुक्तम्—

**तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणा।**

इत्यादिना। तस्यैव द्वादशप्राणायामकालेन धारितचित्तस्य द्वादशधारणाकालावच्छिन्नं चिन्तनं ध्यानं प्रोक्तमित्यर्थः ॥ २ ॥

ध्यानसाध्यं समाधिं लक्षयति—

**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ॥ ३ ॥**

**तदेवेति**। तदेव स्वच्छ[1]चित्तस्य [2]वृत्तिप्रवाहरूपं ध्यानमेव अर्थमात्रनिर्भासम्। अर्थमात्रस्य प्रत्ययादि[3]वर्जितस्य ध्येयस्य निःशेषेणासंदिग्धसर्वात्मना भासो भानं यत्र तथाभूतं अहमिदं चिन्तयामीत्येवंविधाकारशून्यम्। अत एव निर्विकल्पकरूपत्वेन प्रत्यक्षागोचरत्वात्। स्वरूपशून्यमिव न वस्तुतः स्वरूपशून्यमनुमानवेद्यत्वात्तु तादृशं[4] ध्यानं भावनाविशेषः समाधि[5]पदार्थः। सम्प्रज्ञातसाधारणं तु ध्यान इव गारुडोक्तं लक्षणम्। यथा—

**ध्यानं द्वादशपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत्।**

इति। व्याख्याताभिप्रायम्। एतत्त्रितयस्य व्यवहारलाघवफलां संयम इति संज्ञामाह—

**त्रयमेकत्र संयमः ॥ ४ ॥**

**त्रयमिति**। एकस्मिन् विषये त्रयं धारणाध्यानसमाधित्रितयं संयमशब्दार्थो भवतीत्यर्थः ॥ ४ ॥

संयमस्य फलमाह—

**तज्जयात् प्रज्ञालोकः ॥ ५ ॥**

**तज्जयेति**। संयमस्य जयात् स्थैर्यात् सात्म्यादिति यावत्। प्रज्ञाया ध्यातव्यविवेकस्वरूपाया आलोको दीप्तिर्वृद्धिः क्रमेण भवतीत्यर्थः। ध्यातव्यगोचरा प्रज्ञा अपरोक्षा भवतीति यावत् ॥ ५ ॥

संयमस्यानुष्ठाने विशेषमाह—

**तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥**

---

१. क ख — **चित्तस्य**, ग घ — **चित्त०**।

२. क ख ग — **वृत्ति०** उपलभ्यते, घ — **वृत्ति०** नोपलभ्यते।

३. क ख घ — **वर्जितस्य**, ग — **रहितस्य**।

४. क ख — **तु तादृशं**, ग घ — **एतादृशं**।

५. क ख ग — **पदार्थः** उपलभ्यते, घ — **पदार्थः** नोपलभ्यते।

**तस्येति**। तस्य संयमस्य स्थूलादिपूर्वपूर्वभूमिकाजयानन्तरं सूक्ष्मसूक्ष्मोत्तरभूमिकासु विनियोगो नियोजनं[१] योगिना कर्त्तव्यमित्यर्थः। अधरामधरां जितां ज्ञात्वोत्तरस्यां भूमौ संयमः कार्य इति यावत्। तदुक्तम्—

**योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्त्तते।**

**योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम्॥**

इति॥ ६॥

अष्टाङ्गेषु मध्ये त्रयाणामावश्यकत्वाऽवधारणार्थं पूर्वेभ्यस्त्रिष्ववान्तरविशेषमाह—

**त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः॥ ७॥**

**त्रयमिति**। पूर्वेभ्यो यमादिपञ्चभ्यः समाधिप्रतिबन्धकदुरितनिवर्तकेभ्यः। अत एव परम्परया समाधेरु[२]पकारकहेतुबहिरङ्गभूतेभ्यस्त्रयं धारणाध्यानसमाधयः, अन्तरङ्गमङ्गिसमानविषयतया साक्षात् स्वरूपोपकारकमित्यर्थः। [३]अतश्चैतत्त्रयाणामेवावश्यकत्वाद् यस्य जडभरतादेः स्वत एव प्राचीनकर्मणा चित्तं संयमयोग्यं तस्य नाऽस्तीतराङ्गावश्यकत्वमित्युक्तं पुराणेषु—

**आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः।**

**विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्त्तिताः॥**

**शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात्।**

इत्यादिना। प्रसाधकाः प्रकृष्टहेतवः। कुतस्तत्राह—**विलम्बेति**। अत एव भगवद्गीतायाम्[४]—

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।**

**निर्विशिष्यामि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥**

इत्युक्तम्। संयमं प्रत्यशक्तस्यैव—

**अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।**

**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय॥**

---

१. क ख घ — नियोजनं, ग — विनियोजनम्।

२. क ख — उपकारकहेतु०, ग — उपकारकेभ्यः, घ — उपकारकत्वेन।

३. क ख — अतश्चैतत्, ग घ — अत एव।

४. ग घ — संयमाशक्तस्यैवाभ्यासकर्मादीनि विशेषत उपदिष्टानि (गीतायां पश्चात्) उपलभ्यते, क ख — संयम....उपदिष्टानि नोपलभ्यते।

इत्यादिनाऽभ्यासादीनि कर्माणि विशेषत उपदिष्टानि। तस्माच्चलचित्तानां [१]यमादिपञ्चकं वस्तुतो बहिरङ्गमप्यावश्यकतयान्तरङ्गमेव। तत्राप्यसमर्थानां क्रियायोग इति स्पष्टम्॥ ७॥

परवैराग्यद्वारा तस्य संयमस्य समाधिनिष्पादकत्वात् समाध्यन्तरापेक्षया तस्यापि बहिरङ्गत्वमित्याह—

**तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य॥ ८॥**

**तदपी**ति। तदपि धारणादित्रयमपि निर्बीजस्य समाधेः बहिरङ्गमेव साक्षादहेतुरेव। विवेकख्यातेः परवैराग्यद्वारैव तस्य हेतुत्वात्। अत एव येषां विदेहप्रकृतिलयानां देवविशेषाणामात्यन्तिकज्ञानवैराग्याभ्यां संयमं विनैवासम्प्रज्ञातो योगो भवति तेषां नास्ति संयमावश्यकत्वमित्युक्तं पुराणेषु[२]—

**धारणादिविधिर्नैव जन्मसिद्धेषु सम्मतः।**
**यतो ब्रह्मादयः सर्वे जन्मना सिद्धिमास्थिताः॥**

इत्यादिना॥ ८॥

ननु त्रिगुणात्मकतया[३] चल[४]स्वभावचित्तस्य संयमादिसाध्यनिर्बीजसमाधौ कीदृशः कतिविधश्च परिणामस्तत्राह—

**व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ**
**निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः॥ ९॥**

**व्युत्थाने**ति। क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं व्युत्थानम्, असम्प्रज्ञातापेक्षया सम्प्रज्ञातश्च। निरोधः परवैराग्यं सम्प्रज्ञातो निरुद्ध्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः। ताभ्यां जनितौ यौ संस्कारौ तयोर्यथाक्रममभिभवप्रादुर्भावौ। अभिभवः क्षिप्तादित्रयस्य दाहः, संप्रज्ञातस्य तु ह्रासः। प्रादुर्भावो वर्तमानेऽध्वनि प्रकटतयाऽवस्थानम्। एतौ द्वौ क्रमेण वर्द्धितौ निरोधपरिणामः, निरोधकालीनः परिणामः। स च निरोध[५]क्षणचित्तान्वयः। निरोध-क्षणेषु कस्मिँश्चित् स्थिरे चित्तेऽन्वित इत्यर्थः। एतच्च विशेषणं योगकाले प्रतिक्षणं तादृशपरिणामभावलाभाय, चित्तस्थैर्यलाभाय चेति संक्षेपः। अनेन धर्मपरिणामो

१. क ख घ — **यमादि०**, ग — **पूर्व०**।
२. क ख घ — **पुराणेषु**, ग — **पुराणे**।
३. क ख घ — **त्रिगुणात्मकतया**, ग — **त्रिगुणात्मतया**।
४. क ख ग — **स्वभाव** घ — **स्वभावस्य**।
५. क ख ग — **क्षण०**, घ — **लक्षण०** (उभयत्र)।

लक्षणपरिणामश्चोक्तः। व्युत्थानत्यागेन निरोधसंस्काररूपधर्मस्य लाभात्। तस्य धर्मस्य वर्तमानावस्थाप्राप्तेश्च॥ ९॥

ननु किमर्थं चित्तधर्मिणो धर्मपरिणामोऽयं निरोधसंस्कारो निरोधकाले कल्प्यते[1], इत्याकाङ्क्षायां निरोधसंस्कारे प्रमाणमाह—

**तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्॥ १०॥**

**तस्येति**। तस्य निरोधावस्थचित्तस्य प्रशान्तवाहिता प्रशान्ततया निश्चलतया वाहिता प्रवाहपरिणामो निरोधसंस्कारबलान्निश्चलनिरोधधारया वहनं चित्तस्य भवतीति यावत्। अतो निरोधसंस्कारस्तत्प्रादुर्भावश्चावश्यमेवेष्टव्य इति भावः। अनेनावस्था-परिणाम उक्तः। संस्कारस्य बलवत्त्वावस्थालाभात्॥ १०॥

इदानीं सिद्धीः प्रदर्शयिष्यन् योगाङ्गसमाधिकार्यं परिणामं दर्शयति—

**सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः॥ ११॥**

**सर्वार्थतेति**। सर्वार्थता[2]बलत्वान्नानाविधार्थग्रहणरूपा विक्षिप्तता एकार्थता एकमात्रविषयता तयोर्यथाक्रमं क्षयोदयौ निरुक्तप्रकारावभिभवप्रादुर्भावौ चित्तस्य योगाङ्ग[3]समाधिकालीनः परिणाम इत्यर्थः॥ ११॥

इदानीमङ्गसमाधावेव परिणामान्तरमुक्तपरिणामोत्तरकालीनमाह—

**ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता-परिणामः॥ १२॥**

**तत** इति। ततः सर्वार्थताया निःशेषतः क्षये सति शान्तोदितौ, शान्तः अतीताध्वनि प्रविष्टः, उदितो वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः, द्वावतीतोत्पद्यमानौ तुल्यप्रत्ययौ एकवस्तुविषयकत्वेन सदृशौ प्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रताकालीनः पुनः परिणामो भवति। सजातीय एकैकः प्रत्ययो नश्यति, अन्योऽन्यश्चोत्पद्यत इत्येवं परिणामो भवतीत्यर्थः। न च पूर्वेण गतार्थता। तत्र चित्तसमाधानरूपलक्षणपरिणामस्यैवोक्तत्वात्। अत्र तु धारावाहिकैकाग्रता सन्तानस्योक्तेर्न गतार्थतेति संक्षेपः॥ १२॥

तदेवं योगतदङ्गतयो परिणामवैलक्षण्यं तयोर्विवेकाय प्रदर्शितम्। अनयैव दिशा व्युत्थानकालीनानपि परिणामाँश्चित्तस्य व्याचष्टे—

---

१. क ख घ — **कल्प्यते**, ग — **कल्पते**।

२. क ख — **बलत्वात्**, ग घ — **चलत्वात्**।

३. क ख घ — **समाधि०**, ग — **समान०**।

**एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥**

**एतेनेति**। एतेन धर्मलक्षणावस्थाभेदेन त्रिविधपरिणामस्य प्रदर्शकसूत्रसन्दर्भेण भूतेन्द्रियेषु स्थूलसूक्ष्मभेदभिन्नभूतेषु ज्ञानकर्मान्तःकरणभेदेनावस्थितेष्विन्द्रियेषु च धर्मलक्षणावस्थापरिणामाः। अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तर[1]प्राप्ते- धर्मपरिणामः। यथा मृदः पिण्डभावत्यागेन घटभावस्तस्यानागतावस्थापरित्यागेन वर्तमानावस्थायाः, वर्तमानावस्थात्यागेनातीतावस्थायाश्च प्राप्तिर्लक्षणपरिणामः। प्रथम- द्वितीयादि[2]लक्षणयोः सम्बन्धेन नूतनत्वप्राचीनत्वरूपोऽवस्थापरिणामः। एते त्रयो धर्म- लक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः। चित्तस्येव भूतेन्द्रियाणां त्रिगुणात्मकतया- ऽवश्यम्भावितया सूचिताः। अयमत्र निष्कर्षः। स्थूलसूक्ष्मभेदेन भूतानि द्विविधानि। तत्र स्थूलानि वियत्पवनतेजोऽम्बुभुवः सूक्ष्माणि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राख्यानि तामसाहङ्कारोपादानकानि परस्परमतिविजातीयानि परस्परमहेतुकानि तेषां विपरिणामाः स्थूलाः। तत्र शब्दतन्मात्राख्यस्य परिणाम आकाशः, स्पर्शतन्मात्राख्यस्य वायुः, रूपतन्मात्राख्यस्य तेजः, रसतन्मात्राख्यस्य जलं, गन्धतन्मात्राख्यस्य पृथिवी। तन्मात्राख्याश्च स्थूलानां सूक्ष्मांशाः। स्वांशेभ्यः स्वस्योत्पत्तेः सम्भवात्। अतो नाकाशस्य वायुः, वायोस्तेजः, तेजसो जलं, जलस्य पृथिवी परिणामः। जातिसाङ्कर्यप्रसङ्गतो विजातीयानां विजातीयपरिणामत्वायोगात्।

ननु तर्हि

**आकाशाद्वायुः वायोरग्निरग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी।**

इत्याद्यनेकश्रुतिस्मृतिविरोध इति चेन्न। तासां तेषामधिष्ठानकारणत्वाभि- प्रायकत्वात्। अधिष्ठानकारणं च यत्राऽविभक्तं येनोपष्टम्भं च सदुपादानकारणं च कार्याकारेण परिणमते तत्। यथा सर्गादौ जलाऽविभक्ताः पृथिवीसूक्ष्मांशास्तन्मात्राख्या जलेनैवोपष्टम्भात् पृथिव्याकारेण परिणमन्ते। तदत्यन्तो[3] जलं महापृथिव्या अधिष्ठान- कारणम्। एवमाकाशादयो वाय्वादीनाम्। आत्मा च सर्वेषाम्।

**यस्य यत्कारणं प्रोक्तं तस्य साक्षान्महेश्वरः।**
**अधिष्ठानतया स्थित्वा सदैवोपकरोति हि॥**

---

१. क ख — प्राप्तेः, ग घ — प्राप्तिः।
२. क ख — लक्षणयोः, ग घ — क्षणयोः।
३. क ख — तदत्यन्तः, ग — अत्यन्तः, घ — इत्यतः।

इति स्मृतेः। उपष्टम्भकत्वं च परमेश्वरस्य साक्षित्वेनैव। न च

**यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति।**

इत्युपादानत्वबोधकश्रुतिविरोध इति वाच्यम्। तस्या अपि कार्याविभागाधारत्वरूपोपादानत्वपरत्वात्। अविभागश्च दुग्धजलयोरिव सम्मिश्रणाख्यः सम्बन्धविशेषः। तथा च यत्र कार्यस्य साक्षादविभागस्तत्परिणामिकारणम्। यथा तन्तवः पटस्य। यत्र तु कार्यस्य कारणाविभागेनाविभागस्तदधिष्ठानकारणम्। यथा जलं पृथिव्या इति।

ननु तर्हि तार्किक[1]मतादऽविशेष इति चेत् का हानिः। तार्किकेन सहजात्या दोषाभावात्। सम्भवति कथञ्चिदप्येकवाक्यत्वे सर्वथा[2]विरोधादेरस्याज्ञतामात्रत्वात्। तन्मते सूक्ष्मांशाः स्थूलानामारम्भकाः। अवयवावयविनोश्च भेद एव। सम्बन्धश्च समवायः। एतन्मते तु सूक्ष्मांशाः स्थूलपरिणामिनः। तादात्म्यञ्च सम्बन्ध इति मतविरोधस्य स्फुटत्वाच्च। अपि च तार्किकैः पृथिवीं प्रति जलस्य निमित्तकारणत्वमिति परिभाष्यते। अस्माभिस्तु समवायसमवायिभ्यामुदासीननिमित्तकारणेभ्यश्च विलक्षणतया चतुर्थमाधारकारणमित्युच्यते। अवयवाविभागस्य निमित्तकारणेष्वदर्शनादित्यन्यत्र विस्तरः॥ १३॥

ननु धर्मेभ्योऽतिरिक्तो धर्मी नानुभूयते यस्य धर्मादिपरिणामः स्यादिति बौद्धशङ्कायां धर्मेभ्यो विविच्य धर्मिणं लक्षयति—

**शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी॥ १४॥**

**शान्ते**ति। शान्ताः कृतव्यापारा अतीताः, उदिता कुर्वद्व्यापारा वर्तमानाः, अव्यपदेश्या शक्तिरूपेणावस्थिताः कथितुमशक्या अनागताः। एतादृशेषु धमेष्वनुपातीति वर्तमानरूपेणानुगतो धर्मीत्यर्थः। अत्राऽव्यपदेश्यान्तं विशेषणं धर्मधर्मिणोर्भेदप्रदर्शनाय। तथा च वर्तमानत्वावर्तमानत्वरूपविरुद्धधर्माध्यासाद्धर्मिणो धर्मस्य च भेद इत्यर्थः।

ननु वर्तमाने धर्मिणि कारणव्यापारात् पूर्वं धर्मादेरवर्तमानत्वे सत्कार्यवादबाधः स्यात्। कारणव्यापारेणासतः कार्यस्योत्पत्त्यङ्गीकारात्।

न च कथञ्चिद्भिन्नत्वेऽपि शक्यात्मनावस्थितस्यात एव भिन्नस्य[3] कारणेनाभिव्यक्तिरेव क्रियते, नोत्पत्तिरितो न सत्कार्यबाधप्रसङ्ग इति वाच्यम्। अभिव्यक्तेरपि जन्यत्वे सत्कार्यवादबाधः स्यात्। नित्यत्वे सदैवाभिव्यक्तिः स्यात्। तस्याऽप्य-

---

१. क ख घ — **मतात्** उपलभ्यते, ग — **मतात्** नोपलभ्यते।
२. क ख घ — **विरोधादेः**, ग — **विरोधात्**।
३. क ख ग — **भिन्नस्य**, घ — **अभिन्नस्य**।

भिव्यक्त्यपेक्षायामनवस्थापत्तेश्चेति चेन्न। [१]धर्मिनिष्ठसत्त्वगुणस्यैव धर्माद्यभिव्यक्तित्वेनाऽभिव्यक्तेर्नित्यत्वेऽपि तमसा [२]प्रतिबन्धत्वान्न व्यवहारोपयोगित्वम्। अभिव्यञ्जकसामग्र्योत्तेजकेन मणेरिव तमसः प्रतिबन्धाद् व्यवहारोपयोगित्वमिति सामग्र्या उत्तेजकत्वमात्राङ्गीकारात् सत्कार्यवादबाधा[३]योगात्। तस्मात् सामग्र्या उत्पादकत्वपक्ष एव नैयायिकोक्तदोषावकाशो नोत्तेजकत्वपक्षेऽपि। अतस्तेषां दूषणप्रयासोऽन्येषां समाधानान्तरप्रयासश्च व्यर्थ एवेति संक्षेपः ॥ १४ ॥

नन्वेकस्य धर्मिणः किमेक एव परिणामः ? उत बहव इत्याशङ्कायाम्, एक एव युक्तो लाघवात्, बहुत्वपक्षे सहकारिभेदकल्पनागौरवादिति प्राप्ते फलभेददर्शनाद् बहुत्वमेव युक्तम्। बहुत्वे को हेतुस्तत्राह—

**क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥**

**क्रमेति**। मृदि चूर्णपिण्डयोः पिण्डघटयोः पौर्वापर्यरूपक्रमस्यान्यत्वं दृश्यमानमेकस्या एव मृदः परिणामानां[४] चूर्णादीनां धर्माणाम् अन्यत्वे नानाविधत्वे हेतुः कारणं लिङ्गञ्चेत्यर्थः। क्रियाभेदादेकस्य धर्मिणो नानाविधाः क्रियाः परिणामाः भवन्ति। क्रियाभेदज्ञानाच्च परिणामा भिन्ना इति च ज्ञानं भवतीति यावत्। एवं धर्मेऽपि लक्षणपरिणामावस्थापरिणामा अवगन्तव्याः। सर्वेषां भावानां [५]नियतेनैव क्रमेण परिणाममानत्वात्। तत्र धर्मलक्षणपरिणामयोः प्रतिक्षणमनुत्पादेऽपि अवस्थापरिणामस्यास्ति प्रतिक्षणमुत्पत्तिः। नवस्य कालान्तरे पुराणतोपलम्भात् क्षणपरम्परापातिना प्रतिक्षणं भिन्नं स्वरूपसत्ताक्रमसमूहेन विना पुराणताया अत्रासम्भवात्। अतः सा प्रतिक्षणमवस्थापरिणाममनुमापयति। अत एव प्रतिक्षणभङ्गुरत्वेन प्रपञ्चस्य स्वप्नसाम्यं निश्चिन्वन्ति प्राज्ञाः। तदुक्तं[६] माण्डूक्ये—

**स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा[७]।**
**तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥**

इति। ननु स्वप्नतुल्यत्वं न युक्तम्। जाग्रद्दृश्यपदार्थानामिव स्वाप्निकानां

---

१. क ख घ — **धर्मि०**, ग — **धर्म०**।
२. क ख — **प्रतिबन्धत्वात्**, ग घ — **प्रतिबद्धत्वात्**।
३. क — **अयोगात्**, ख ग घ — **अभावात्**।
४. क ग घ — **परिणामानां**, ख — **परिमाणानाम्**।
५. क ख घ — **नियतेनैव क्रमेण**, ग — **नियतक्रमेणैव**।
६. क ख घ — **तदुक्तं**, ग — **श्रूयते**।
७. क ख घ — **यथा**, ग — **तथा**।

सम्प्रयोजनत्वादर्शनात्। स्वाप्नभोजनादिना क्षुत्पिपासादिनिवृत्तेरभावादिति चेन्न। जागरितभोजनादिना स्वाप्नक्षुत्पिपासादेरप्रतिबन्धाज्जागरित[1]संप्रयोजनतायाः स्वप्ने व्यभिचारेण साम्यस्याऽपरिहार्यत्वात्। तदुक्तं तत्रैव—

**सम्प्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते।**

**तस्मादाद्यन्तरत्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥**

इति। इदमेव च तेषां मिथ्यात्वं यद् भोगकालेऽप्यस्थिरत्वं ज्ञानोत्तरकाले चाऽसत्त्वम्। एतदभिप्रेत्यैव च तदेतत्त्रयं स्वप्नं मायामात्रमित्याद्याः श्रुतिस्मृतयोऽपि स्वप्नमायात्वादिकं प्रतिपादयन्ति। न त्वात्यन्तिकं तुच्छत्वं ज्ञापयितुमिति सूत्रकारस्य गूढाभिसन्धिः ॥ १५ ॥

सम्प्रत्यापादपरिसमाप्तेः संयमस्य सर्वविषयावश्यकत्वज्ञापनाय विभूतय उच्यन्ते। तत्रादौ परमेश्वरेण साम्यसम्पादिकां विभूतिमाह—

**परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥**

**परिणामेति**। अस्य धर्मिणोऽयं [2]परिणामस्तस्य चायं लक्षणपरिणामोऽयम-वस्थापरिणाम इत्येवं परिहृतविक्षेपतया अनुक्षणं यत्र चिदर्थे संयमात् तत्साक्षात्कारे सति तदितरार्थानामपि सर्वेषामतीतानागतवर्तमानानां साक्षात्कारो योगजन्यधर्मबलाद्योगिनः सङ्कल्पमात्रेण प्रणिधानलेशादेव भवतीत्यर्थः। अयं भावः। सत्त्वप्रधानतया सर्वार्थग्रहणे समर्थस्यान्तःकरणस्याविद्याविक्षेपकृतकुण्ठीभावनिरासद्वारा सर्वार्थज्ञाने संयमो हेतुरि-त्यर्थः। संयमस्याऽन्यविषयकत्वेऽपि न हानिः। योगमात्रस्य सकलप्रतिबन्धनिरासे सामर्थ्यादिति ॥ १६ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

**शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकर-स्तत्प्रविभागसंयमात् सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥**

**शब्देति**। शब्दो गौरित्येकं पदमित्येकत्वबुद्धिवेद्यवर्णेभ्योऽतिरिक्तोऽखण्ड-श्चरमवर्णप्रत्यक्षेणाभिव्यज्यमानः स्फोटः। आशुविनाशितया वर्णानां मिलनासम्भवेनार्थ-प्रत्यायकत्वायोगा[3]त्तथैवार्थस्य स्फुटीकरणात्। यद्वा स्फोटज्ञानेऽपि पूर्वपूर्ववर्णसंस्कार-सहकृतचरमवर्णप्रत्यक्षस्यैव कारणत्वं वाच्यम्। तथा च तद्धेतोरेवास्तु किं तेनेति

१. क घ — सं०, ख — स्व०, ग — स०।
२. क ख घ — परिणामः, ग — धर्मपरिणामः।
३. क ख — तथैव, ग घ — तस्यैव।

न्यायेनानुपूर्वीविशेषविशिष्टवर्णसमुदाय एव वा। अर्थो गौरित्यादिः सास्नादिमान् विषयः। प्रत्ययो गौरित्यादिव्यक्तिविषयकं ज्ञानम्। तेषाम् इतरेतराध्यासाद् अन्योन्यमभेदाध्यासात् सङ्करो विवेकाग्रहणं भवति। वस्तुतस्तु तेषां भेदोऽस्ति। अतस्तेषां मनुष्यादियत्किञ्चि-द्विषयाणामपि प्रविभागभेदे संयमात् साक्षात्कृते सति सर्वभूतानां रुतानि ज्ञायन्ते। अयं काकादिरिममर्थम्। एवं प्रतीत्या अनेन शब्देन कथयतीत्येवमित्यर्थः। यद्यपि साक्षा-त्कृते सतीति सूत्रे नास्ति, तथापि संस्कारसाक्षात्करणादित्यागामिसूत्रेण साक्षात्कार-पर्यन्तानां संयमस्य व्याख्यास्यति[१]। अस्मदादीनां च शब्दार्थप्रत्ययभेदसाक्षात्कारे सत्यपि तस्य साक्षात्कारस्य संयमाजन्यत्वान्न सर्वभूतरुतज्ञानं भवति। योगजधर्मस्यैव तादृश-सामर्थ्यादिति दिक्॥ १७॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

**संस्कारसाक्षात्करणात् पूर्वजातिज्ञानम्॥ १८॥**

**संस्कारेति**। विविधाश्चित्तस्यानुभवक्लेशजाः स्मृतिक्लेशहेतवः संस्काराः, केचित् कर्मजात्यायुर्भोगफलाः पूर्वजन्मपरम्परासञ्चिताः। तेषां श्रुतानुमितानां संयमेन साक्षात्कारात् पूर्वजातीनां ज्ञानं भवतीत्यर्थः। जन्म[२]भूमिरुपदेशस्य युगादिरूपकालस्य मातापित्रादिरूपनिमित्तस्य चेदानीमत्रामुकपुत्रोऽहमित्यनुभवजन्यानादिसंस्कार-विषयत्वात् संस्कारसाक्षात्कारे देशकालनिमित्तादिरूपाशेषविशिष्टानां पूर्वजन्मनामपि साक्षात्कारो भवतीति यावत्। अत्र भगवान् जैगीषव्य उदाहरणम्।

तथाहि—भगवानावट्यो जैगीषव्यं प्रत्युवाच—संस्कारसाक्षात्करणेन दशसु महासर्गेषु भव्यत्वादनभिभूतबुद्धिसत्त्वेन त्वया नरकतिर्यग्[३]ग्रामदुःखं सम्पश्यता देव-मनुष्येषु पुनः पुनरुत्पद्यमानेन सुखदुःखयोः किमधिकमनुभूतमिति। अथ जैगीषव्य उवाच—दशस्वपि महासर्गेषु सुखदुःखयोर्मध्ये दुःखमेवाधिकमनुभूतमिति। आवट्य आह[४]—किं प्रधानवशित्वमनुत्तमसुखमपि दुःखपक्ष एव निक्षिप्तमिति। जैगीषव्यः प्राह—कः संदेहः विषयसुखापेक्षयैवानुत्तमं, न तु कैवल्यापेक्षया। त्रिगुणात्मकस्य प्रत्ययस्य हेयत्वादिति॥ १८॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

**प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्॥ १९॥**

---

१. क ख घ — व्याख्यास्यति, ग — व्याख्यास्यते।
२. क ख घ — भूमिः, ग — भूः।
३. क ख — ग्राम०, ग घ — गर्भ०।
४. क ख घ — आह, ग — उवाच।

**प्रत्ययस्येति**। प्रत्ययस्य रागादिमत्याः स्वीयचित्तवृत्तेः संयमेनाऽऽश्रयादि-रूपाशेषविशेषैः साक्षात्कृताच्चित्तात् परचित्तज्ञानं परस्य भिन्नस्य चित्तान्तरस्याप्य[1]शेष-विशेषतः साक्षात्कारः संकल्पमात्रेण भवतीत्यर्थः। केचित्तु सुखादिना लिङ्गेन परस्य चित्तस्य संयमेन परचित्तज्ञानमिति वदन्ति। तन्न युक्तम्। समानविषयत्वेनैव संयमानु-भवयोः कार्यकारणभावे अदृष्टाश्रुतामतगोचरप्रत्यक्षं न स्यात्। तस्मात्। सजातीयसंयम-त्वादिनैव हेतुहेतुमद्भावो युक्तः। अतः स्वीयचित्तवृत्तिसंयमादपि तत्सम्भवे परानु-सरणप्रयासो व्यर्थ इति दिक्॥ १९॥

अस्यैव परचित्तज्ञानस्य विशेषमाह—

**न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्॥ २०॥**

**न चेति**। तत् परचित्तज्ञानं नीलविषयं पीतविषयमिति सालम्बनं नियमेन न भवति। तस्य परचित्तालम्बनस्य संयमविषयेण स्वचित्तेनाविषयीकरणादित्यर्थः। किमनेनालम्बितमिति प्रणिधाने तु भवत्येव तस्यापि ज्ञानं प्रणिधानविशेषमाहात्म्यादिति संक्षेपः॥ २०॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

**कायरूपसंयमाद् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे**
**चक्षुःप्रकाशाऽसम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्॥ २१॥**

**कायेति**। कायस्य यद्रूपं चाक्षुषत्वप्रयोजकमस्ति तस्मिन् संयमात्तस्य रूपस्य तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे परचक्षुःसंयोगयोग्यतारूपदृश्यताशक्तिप्रतिबन्धे सति चक्षुः-प्रकाश[2]संयोगे परचक्षुःकिरणैरसंप्रयोगेऽन्तर्द्धानं योगिदेहस्याचाक्षुषत्वं [3]यथावकाश-मुत्पद्यते। दिवान्धेनेव केनाप्यसौ न दृश्यत इत्यर्थः। एतेन स्वीयशब्दादिसंयमाच्छ्रोत्राद्य-ऽग्राह्यत्वसिद्धिरुक्ता वेदितव्येति संक्षेपः॥ २१॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

**सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा॥ २२॥**

**सोपक्रममिति**। पूर्वजन्मकृतमिदानीं स्थितं कर्म द्विविधं सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च।

---

१. क ख घ — **अशेष०**, ग — **शेष०**।
२. क ख ग — **संयोगे**, घ — **असंयोगे**।
३. क — **यथावकाशं**, ख ग घ — **यथाकामम्**।

तत्र सोपक्रमं फलदानव्यापारयुक्तम्। निरुपक्रमं कालान्तरे फलप्रदम्[१]। तस्मिन् द्विविधे कर्मणि किं कर्म शीघ्रविपाकं किं वा चिरविपाकमिति संयमात् साक्षात्कृतेऽपरान्तर्शब्दितस्य मरणस्य ज्ञानम्। अमुष्मिन् देशे काले चानेन प्रकारेणामुकहेतुना भविष्यतीत्येवं भवतीत्यर्थः। प्रसङ्गाद[२]योगिनोऽप्याह—**अरिष्टेभ्यो** **वेति**। अरिष्टं त्रिविधम्—आध्यात्मिकम् आधिभौतिकम् आधिदैविकं च। तत्राध्यात्मिकं च विपरीतोऽसुसंचारः, पिहितकर्णस्य नादाश्रवणादिकं च। आधिभौतिकं च अकस्माद्विकृतपुरुषदर्शनादि। आधिदैविकम् अकाण्ड एवात्रायोग्यस्वर्गादिदर्शनम्। उक्तानि[३] स्कान्दे—

**वामनासापुटे यस्य वायुर्वाति दिवानिशम्।**
**अखण्डमेकं तस्यायुर्नश्यत्यब्दत्रयेण हि॥**
**द्व्यहोरात्रं त्र्यहोरात्रं रविर्वहति सन्ततम्॥**
**आद्व्येकवर्षं तस्येह जीवितावधिरुच्यते॥**
**वहेन्नासापुटयुगे दशाहानि निरन्तरम्।**
**वायुश्चेत् प्रतिसंक्रान्तिं तदा जीवेदृतुत्रयम्॥**
**अरुन्धतीं ध्रुवं चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च।**
**आसन्नमृत्युर्नेक्षेत चतुर्थं मातृमण्डलम्॥**
**अरुन्धती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमुच्यते।**
**विष्णोः पदं भ्रूवोर्मध्यं नेत्रग्लौर्मातृमण्डलम्॥**
**वेत्ति नीलादिवर्णस्य कट्वम्लादिरसस्य च।**
**अकस्मादन्यथाभावं षण्मासेन स मृत्युभाक्॥**
**षण्मासमृत्योर्मर्त्यस्य कण्ठोष्ठरसनापुटाः।**
**शुष्यन्ति सततं तद्वत् सजिह्वातालुपञ्चमाः॥**
**रेतःकरजनेत्रान्तं नीलिमानं भजन्ति चेत्।**
**तर्हि कीनाशनगरीं षष्ठे मासि व्रजेन्नरः॥**
**द्रुतमारुह्य सरटस्त्रिवर्णो यस्य मस्तकम्।**
**प्रयाति याति तस्यायुः षण्मासे परिसंक्षयम्॥**

---

१. क ख घ — फलप्रदं, ग — फलदम्।
२. क ख घ — अयोगिनः, ग — अयोगिसाधारणम्।
३. क ख घ — उक्तानि, ग — उक्तं च।

सुस्नातस्यापि यस्याशु हृदयं परिशुष्यति।
चरणौ च करौ वापि त्रिमासं तस्य जीवितम्॥
छाया प्रकम्पते यस्य देहबन्धेऽपि निश्चले।
कृतान्तदूता बध्नन्ति चतुर्थे मासि तं नरम्॥
यस्य वीर्यं मलं मूत्रं क्षुतं सद्यः पतेदिह।
एकधैव भवेद्वर्षं जीवितं तस्य निश्चितम्॥
इन्द्रनीलनिभं व्योम्नि नागवृन्दं य ईक्षते।
इतस्ततः प्रचलितं षण्मासं स तु जीवति॥
मतिर्भ्रश्येच्चलेद्वाणी धनुरैन्द्रं निरीक्षते।
रात्रौ चन्द्रद्वयं चापि दिवा च द्वौ दिवाकरौ॥
दिवा सतारकाचन्द्रं रात्रौ व्योमवितारकम्।
युगपच्च चतुर्दिक्षु शाक्रं कोदण्डमण्डलम्॥
भूरुहे भूधराग्रे वा गन्धर्वनगरालयम्।
दिवा पिशाचनृत्यं च ह्येते पञ्चत्वहेतवः॥
सर्वेष्वेतेषु चिह्नेषु यद्येकमभिवीक्षते।
तदा मासावधिं मृत्युं प्रतीक्षेत न चाधिकम्॥
अकस्माद्वीक्षते यस्तु पुरुषं कृष्णपिङ्गलम्।
तस्मिन्नेव क्षणे रूपं स जीवेद् वत्सरद्वयम्॥
प्रेक्ष्यते भक्ष्यते यो हि पिशाचासुरवायसैः।
भूतैः प्रेतैः श्वभिर्गृध्रैर्गोमायुखरशूकरैः॥
शरभैः करभैः कीरैः श्येनैरन्यैश्च जन्तुभिः।
स्वप्ने स जीवितं त्यक्त्वा वर्षान्ते यममीक्षते॥
गन्धपुष्पांशुकैः शोणैः स्वां तनुं भूषितां नरः।
य पश्येत् स्वप्नसमये सोऽपि मासांस्तु जीवति॥
पांशुराशिं च वल्मीकं यूपं दण्डमथापि वा।
योऽधिरोहति वै स्वप्ने स षष्ठे मासि नश्यति॥
रासभारूढमात्मानं तैलाभ्यक्तं च मण्डितम्।
नीयमानं यमाशायां यः पश्येत् स च पूर्ववत्॥
स्वमौलौ स्वस्तनौ वाऽपि यः पश्येत् स्वप्नगो नरः।
तृणानि शुष्ककाष्ठानि षष्ठे मासि स नश्यति॥

लोहदण्डधरं कृष्णं पुरुषं कृष्णवाससम्।
स्वप्ने योऽग्रे स्थितं पश्येत् स त्रीन् मासान्न लङ्घयेत्॥
काली कुमारी यं स्वप्ने बन्धीयाद् बाहुपाशकैः।
स मासेन समीक्षेत नगरीं शमनोषिताम्॥
नरो यो वानरारूढो यायात् प्राचीं दिशं स्वपन्।
दिनैः पञ्चदशैरेव पश्येत् संयमनीं पुरीम्॥
कृपणोऽपि वदान्यः स्याद् वदान्यः कृपणो यदि।
प्रकृतेर्विकृतिश्च स्यात्तदा पञ्चत्वमृच्छति॥

मार्कण्डेये—

अरश्मिबिम्बं सूर्यं च बिम्बं सूर्यांशुमालिनम्।
दृष्ट्वैकादश मासांस्तु नरो वर्षं न जीवति॥
चरेन्मूत्रं पुरीषं च यः स्वर्णं रजतं तथा।
प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवितं दशमासिकम्॥
दृष्ट्वा प्रेतपिशाचानां गन्धर्वनगराणि च।
सुवर्णवर्णवृक्षांश्च नव मासान् स जीवति॥
स्थूलः कृशः कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते।
प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम्॥
कपोतो गृध्रकाकोलौ वायसो वापि मूर्द्धनि।
क्रव्यादो वा खगस्तिष्ठेत् षण्मासायुः प्रदर्शकः॥
हन्यते काकपङ्क्तिभिः पांशुवर्षेण वा नरः।
शुष्येच्च वै यस्य मर्म स्नानाद्व्रामादधस्तनम्॥
तस्यापि पञ्चभिर्मासैर्विद्यान्मृत्युमुपस्थितम्।
घृते तैले तथाऽऽदर्शे तोये वाऽऽप्यात्मनस्तनुम्॥
यः पश्येदशिरस्कां वा मासादूर्ध्वं न जीवति॥
रक्तकृष्णाम्बरधरा गायन्ती हसती च यम्।
दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति॥
नग्नं क्षपणकं स्वप्ने हसमानं महाबलम्।
एतं चाऽऽवीक्ष्य वलान्तं विद्यान्मृत्युमुपस्थितम्॥
आमस्तकतलं यस्तु निमग्नं पङ्कसागरे।
स्वप्ने पश्यत्यथात्मानं स सद्यो म्रियते नरः॥

केशाङ्गारांस्तथा भस्म भुजङ्गं निर्जलां नदीम्।
दृष्ट्वा स्वप्ने दशाहानु मृत्युरेकादशेऽहनि॥
करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यदायुधैः।
पाषाणैस्ताडितः स्वप्ने सद्यो मृत्युमृच्छति॥
यस्य वै भुक्तमात्रस्य हृदये बाधते क्षुधा।
जायन्ते दन्तघर्षाश्च स गतायुर्न संशयः॥
दीपादिगन्धं नो वेत्ति त्रस्यत्यपि तथा निशि।
नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्षते न स जीवति॥
पिधाय कर्णौ निर्घोषं न शृणोत्यात्मसम्भवम्।
नश्यते चाक्ष्णोर्ज्योतिर्यस्य सोऽपि न जीवति॥
स्वप्नेऽग्निं प्रविशेद्यस्तु न च निष्क्रमते पुनः।
जलप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवितम्॥
उष्ट्रासभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशम्।
प्रयाति तं विजानीयात् सद्यो मृत्युं नरेश्वरः॥
स्ववस्त्रममलं शुक्लं रक्तं पश्यत्यथाऽसितम्।
यः पुमान् मृत्युमासन्नं तस्यापि हि विनिर्दिशेत्॥
यैश्चाऽऽविनीतः सततं येऽस्य पूज्यतमा मताः।
तानेवावजानाति तानेव च विनिन्दति॥
देवान्नार्चयते वृद्धान् गुरून् विप्रांश्च निन्दति।
मात्रापित्रोरहङ्कारं योगिनां च महात्मनाम्॥
प्राप्ते काले तु विदुषस्तद् विज्ञेयं विचक्षणैः।
एवमादीन्यरिष्टानि ज्ञात्वा प्राज्ञो मतिं हरौ॥
कुर्यात्ततो भवेत्तस्य जीवितं मुक्तिरेव वा।
उत्क्रान्तिकाले संस्मृत्य पुनर्योगित्वमृच्छति॥
अक्षीणकर्मबन्धश्च योगवासनया तदा।
तस्मादसिद्धयोगेन सिद्धयोगेन वा पुनः॥
ज्ञेयान्यरिष्टानि तदा येनोत्क्रान्तौ न सीदति।
दृष्ट्वाऽरिष्टं तथा योगी त्यक्त्वा मरणजं भयम्॥
तत्स्वभावं तदाऽऽलोच्य योगं युञ्जीत तत्त्ववित्।
ततो मृत्युभयान्मुक्तो विरहेद्वा यथासुखम्॥

इति। अस्मादेव हेतोर्योगसिद्धिप्रस्तावेऽरिष्टेभ्यो वेति कथितम्। उपलक्षणमेतच्छायापुरुष[१]दर्शनस्यापि। तद्दर्शनप्रकारश्चोक्तस्तन्त्रे—

**आकाशे विगताऽम्बुदे निशि सिते पक्षे पुनः प्रत्यहं**
**[२]भूमावापदमालललाटफलकं ह्येकाग्रचित्तश्चिरम्।**
**प्रातः पृष्ठगतेरवागनिमिषं छायाङ्गलेखां चिरं**
**दृष्ट्वोर्ध्वं नयनेन यत् सिततरं छायानरं पश्यति।**
**तत्कर्णास्यकरास्यपार्श्वहृदयाभावेक्षणेऽर्का १२ऽश्व ७ दिक् १०**
**भू १ रामाक्षि २ समा शिरो विगमतो मासांस्तु षड् जीवति॥**
**हृद्रन्ध्रदृष्ट्या मुनिसंख्यमासान् द्विदेहदृष्ट्या तु मृतिस्तदैव॥**
**सम्पूर्णदृष्ट्या तु न वर्षमध्ये रोगो मृतिर्वेति वदन्ति सत्यम्।**

इति संक्षेपः[३] ॥ २२ ॥

चर्यायोगसाध्यां सिद्धिमाह—

## मैत्र्यादिषु बलादीनि ॥ २३ ॥

**मैत्र्यादिष्विति**। मैत्रीकरुणामुदितासु संयमाद् बलानि तासां मैत्र्यादीनामवन्ध्यानि वीर्याणि भवन्ति। यैर्योगी प्राणिमात्रस्य सुखकरः सुहृद्भवति। स्वस्य परस्य वा परेषु मैत्र्याद्यर्थं प्रयत्ननिरपेक्षो भवतीति यावत्। एवं करुणादिष्वपि बोध्यम्॥ २३ ॥

लक्ष्ययोगसाध्यं सिद्धियोगमाह—

## बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥

**बलेष्विति**। हस्त्यादिबलेषु संयमात् तानि बलानि योगिनः प्रादुर्भवन्ति। योगजधर्मस्याचिन्त्यप्रभावत्वाच्चेति भावः ॥ २४ ॥

शिवयोगसाध्यं सिद्धियोगमाह—

## प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥

**प्रवृत्तीति**। प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मती प्रागुक्ता। तस्यां दृढायां य आलोकः सात्त्विकप्रकाशप्रसरो बुद्धेस्तस्य न्यासाद् विषयेषु योजनात् कः कीदृशः क्व कदेत्यादिप्रतिसन्धानरूपात् सूक्ष्मस्य परमाण्वादेर्व्यवहितस्य निध्यादेर्विप्रकृष्टस्य मेर्वन्तर्वर्त्तिनो

---

१. क ख घ — **दर्शनस्य**, ग — **दर्शनादेः**।
२. क ख घ — **भूमौ**, ग — **नाभेः**।
३. क ख घ — **संक्षेपः**, ग — **शिवम्**।

रसायनादेर्ज्ञानमुत्पद्यते। यथा चक्षुर्न्यासेन घटादीनामपरोक्षं भवति तद्वदित्यर्थः। एतेन श्रुतिषूक्तमेकविज्ञानेन सर्वविज्ञानं व्याख्यातम्। आत्मविषयकसंयमे सिद्धे सर्वेष्वन्येषु संयमापेक्षा नास्ति। तत्र तत्र संयमं विनैव आत्मसंयममाहात्म्यादेव सर्वेषां भानोत्पत्तेः। ननु कोऽयमात्मन्युत्कर्षो, यत्संयमेन सर्वेषामेव ज्ञानमिति चेच्छृणु। जीवस्य स्वामित्वं परमेश्वरस्य च [१]कारणत्वमुत्कर्षः। कारणता चास्योपष्टम्भकत्वेन। यथा पृथिवीं प्रति जलस्य। प्रकृते चोपष्टम्भकत्वं [२]साक्षित्वप्रेरकत्वादिरूपं कारणत्वमेवाश्रित्य श्रुतिषु मृदादिदृष्टान्ता एकविज्ञाने दर्शिताः। तत्रापि संयमबलेनैव मृदादिज्ञानात् सर्वतत्कार्या-परोक्षसम्भवाद् मृद्विकारत्वेन ज्ञानं तु नोत्कर्षाधायकमिति संक्षेपः॥ २५॥

संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

**भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्॥ २६॥**

**भुवनेति।** सूर्ये ब्रह्मलोकमार्गभूते सूर्यमण्डलान्तश्छिद्ररूपे द्वारे संयमात् [३]कथितप्रकारात् साक्षात्कृते सति भुवनज्ञानं भूर्भुवःस्वर्महर्जनस्तपःसत्यम्। अतलं वितलं सुतलं तलातलं महातलं रसातलं पातालं चेति चतुर्दशभुवनानां साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः। भुवनविस्तारो वर्णितः पुराणेषु यथा—

भूरादिसत्यान्तान्युपरितनानि, अतलादिपातालान्तान्यधस्तनानि। तत्रोपरितनानां सर्वेषामधस्थानं भूमिः। जम्बूप्लक्षशाल्मलिकुशक्रौञ्चशाकपुष्कराख्यैः सप्तद्वीपैर्युक्तो भूर्लोको मेरुपृष्ठपर्यन्तं यस्य चतुराशीति[४]योजनोच्छ्रयो मूर्ध्नि द्वात्रिंशत्सहस्र-योजनविस्तारो मूले षोडशसाहस्रयोजनविस्तारः सुमेरुर्मध्ये सौवर्णः पर्वतराजः। तस्य पूर्वादिप्रदक्षिणक्रमेण राजतवैदूर्यस्फटिकहेममणिमयानि शृङ्गाणि। दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूनामा वृक्षो यन्नाम्नायं लवणोदधिवेष्टितो भूमिभागो जम्बूद्वीपनामा भवति। तस्य सुमेरोः सूर्येण निरन्तरं प्रदक्षिणीकरणादवच्छेदभेदेन रात्रिन्दिवं लग्नमिव वर्तते। तथा तस्य मेरोरुत्तरदिशि नीलश्वेतशृङ्गवन्तस्त्रयः पर्वताः प्रत्येकं द्विसहस्रयोजनविस्ताराः। तत्र नीले वैदूर्यमये ब्रह्मर्षयः। श्वेते राजतमये देवासुराः शृङ्गवति हेमरत्नादिमये देवा एव सुरललनाभिः सह निवसन्ति। तेषां पर्वतानामवकाशेषु रमणकं हिरण्मयम् उत्तराः कुरव इति त्रीणि वर्षाणि प्रत्येकं नवयोजनसहस्रविस्ताराणि सन्ति। तत्रोत्तरकुरुषु सर्व-

---

१. क ग घ — **कारणत्वं**, ख — **करणत्वम्**।
२. क ख ग — **साक्षित्व०**, घ — **साक्षि०**।
३. क ख घ — **कथित०**, ग — **उक्त०**।
४. क ख घ — **योजन०**, ग — **सहस्रयोजन०**।

कामफला वृक्षाः मणिमयी सुखस्पर्शा[१] काञ्चनमयवालुका[२]वती भूमिः देवलोकच्युता देवकल्पास्त्रयोदशसहस्रवर्षायुषः सुरललनाकल्पाभिः सह विहरन्ति हिरण्मये यक्षानुगा मायाबलाः सदोत्सवमानसाः प्रियदर्शना एकादश[३]सहस्रायुषो हिरण्मय्यां स्वानुरूपाभिर्ललनाभिः सह विहरन्ति। रमणके सत्कर्मपुञ्जोपार्जितविग्रहाः श्रुताभिजनसम्पन्नाः सुप्रियदर्शना निःसपत्ना दशवर्षसहस्रायुषो मानवा नानाभोगैर्विहरन्ति। एवं मेरोः पूर्वदिशि माल्यवान् पर्वतस्तमेव सीमानं कृत्वा समुद्रपर्यन्तं भद्राश्व[४]नामका देशास्तन्नामकमेवैकं वर्षम्। तत्र माल्यवति बालखिल्यादिप्रभृतयो मुनीन्द्राः सिद्धाश्चोर्ध्वरेतस्का अहरहः सूर्यस्याभिमुखं गच्छन्तो निवसन्ति। भद्राश्वे महाबलास्तेजसा सम्पन्नाः श्वेताः पुरुषा दशवर्षसहस्रायुषो नृत्यगीतवादित्रकुशलाभिः कुसुमवर्णाभिश्चन्द्रप्रभाभिश्च ललनाभिः सह सिद्धचारणसेविते विशालवनादौ विहरन्ति। एवं मेरोः पश्चिमदिशि गन्धमादनः पर्वतस्तमेव सीमानं कृत्वा केतुमालनामका देशास्तन्नामकमेवैकं वर्षम्। तत्र गन्धमादने सानुगो यक्षराजः कुबेरोऽनुदिनं सुरललनाभिः सह हासगानादिना विहरति। केतुमाले सुवर्णवर्णाऽऽभा अनामया वीतशोका दशवर्षसहस्रायुषः स्वकर्मणा तत्र जातविग्रहा मानवा अप्सरोपमाभिर्ललनाभिः सह विहरन्ति। एवं तस्य मेरोर्दक्षिणदिशि निषेधहेमकूटहिमशैलास्त्रयः पर्वताः प्रत्येकद्विसहस्रयोजनविस्ताराः। तत्र निषधे सर्पनागगन्धर्वप्रभृतयो निवसन्ति। तेषां पर्वतानामवकाशेषु हरिवर्षं किम्पुरुषं भारतमिति त्रीणि वर्षाणि प्रत्येकं नवयोजनसहस्रविस्ताराणि सन्ति। तत्र हरिवर्षे प्रह्लादानुयायिनो दैत्यदानवाः श्रीनृसिंहादिना विविधानन्दाननुभवन्तो निवसन्ति। किंपुरुषे किम्पुरुषगन्धर्वादिभिः सह हनुमत्प्रभृतयो नानापुराणेतिहासादिभिः श्रीरामं गायन्तो दिव्योद्याननद्यादिषु विहरन्ति। भारते वर्षे स्वर्गनरकमोक्षाधिकारिणो मनुष्या विविधजातिभेदभिन्ना गङ्गायमुनासरस्वतीसरयूनर्मदागोदावरीकावेरीमहानदीगण्डकीपयोह्लादिनीजलपानस्नानादिनात्मनः कृतकृत्यतां सम्पादयन्तो विन्ध्यचित्रकूटकालञ्जरकामगिरिगोवर्धनरैवतकमलयश्रीशैलसह्याद्रिषु भगवद्भक्त्याऽऽनन्दानुभवेन कैवल्यपदमपि तृणीकुर्वन्तः सञ्चरन्ति महापुरुषाः। एवं विविधदुराशयाः कामक्रोधलोभहिंसासूयामदमात्सर्यादिभिरात्मनो वक्ष्यमाणाऽनेक-

---

१. क ख घ — **सुखस्पर्शा** उपलभ्यते, ग — **सुखस्पर्शा** नोपलभ्यते।

२. क ख ग — **वती०**, घ — **मती०**।

३. क ख ग — **सहस्र०**, घ — **सहस्रवर्ष०**।

४. क ख घ — **नामका देशास्तन्नामकमेवैकं वर्षं**, ग — **नामकं वर्षम्**।

नरकभागितां सम्पादयन्तो दुरात्मानः[१] कुललनाभिः क्षणभङ्गुराभिः सह विहरन्ति वाञ्छन्ति च। तेषां मोक्षो दुर्लभः। तस्माद्भारतं वर्षं श्रेष्ठतमं वर्णयन्ति धर्माधर्मव्यवस्थायाः सत्त्वादिति दिक्।

सुमेरोरधोभागेऽष्टादशसहस्रयोजनविस्तृतं नवममिलावृतं वर्षम्। तत्र च भवानीनाथाः स्त्रीगणा एव विहरन्ति। तत्र च भोगः पूर्णः। चतुर्दिशं मेरोरवष्टम्भगिरिषु मन्दरमेरुमन्दरसुपार्श्वकुमुदाख्येषु पयोमदिक्षुरसमिष्टजलह्रदान्वितेषु नन्दनचैत्ररथवैभ्राजकसर्वतोभद्राद्युपवनशोभितेषु वर्तमानविविधानेकवृक्षफललाभादिना [२]सुखम[३]नुभवन्ति। मेरोः पूर्वेण जठरदेवकूटौ, पश्चिमतः पवनपारियात्रौ, दक्षिणेन कैलासकरवीरौ, उत्तरतस्त्रिशृङ्गमकरौ। अष्टभिरेतैः परिस्तृतोऽग्निरिव परितश्चकास्ति काञ्चनगिरिर्मेरुः। तस्य शिरसि मनोवत्यमरावती तेजोवती संयमिनी कृष्णा अङ्गना श्रद्धावती महोदया यशोमती चेति नवपुरः। तत्र मध्यत उपक्लृप्ता भगवतः पुरी समचतुरस्रायां शातकौम्भीं वदन्ति। अन्यानि ब्रह्मेन्द्रादिदिक्पालानां पुराणि। तत्र भगवतो विष्णोस्त्रिविक्रमस्य पराक्रमाद् ब्रह्माण्डं भित्वा निःसृताः भगवच्चरणपङ्कजावनेजनेनारुणकिञ्जल्कोपरञ्जिताखिलजगदघमलापहोपस्पर्शनाऽमला गङ्गा भगवती स्वयं सीताऽलकनन्दा वक्षुभद्रेति चतुर्द्धा भिद्यमाना चतुर्दिशमभिस्पन्दती सागरं नदीपतिमभिनिविशति। तत्र सीता प्राच्यां, वंक्षुः प्रतीच्यां, भद्रा उत्तरस्याम्, अलकनन्दा भारते वर्षे हेमकूटादिमार्गेणागता जगत् पवित्रयति। यस्या नामग्रहणयात्रादर्शनस्पर्शनप्रवेशमज्जना[४]म्बुपानादिभिः श्रवणमननध्यानविधुरा विविधविषयानुशया दुरात्मानोऽपि मोक्षभाजो भवन्ति। तदेवं सुमेरुमादाय जम्बूद्वीपाख्यं स्थानं शतसहस्रमितम्। ततः सुमेरोश्चतुर्दिक्षु पञ्चाशद्योजनसहस्रेण परिसंख्यातम्। तत्र जम्बूद्वीपः पार्श्वद्वयमादाय द्विगुणेन लवणोदधिना वेष्टितः। ततो द्विगुणः प्लक्षाख्यो द्वीपः। तत्र शिवं वयसं सुभद्रं शान्तं क्षेमम् अमृतम् अभयमिति वर्षाणि। तेषु मणिकूटो वज्रकूट इन्द्रसेनो ज्योतिष्मान् सुपर्णो हिरण्यष्ठीवो मेघमाल इति शैलाः। अरुणानृम्णाङ्गिरसी सावित्री सुप्रभाता ऋतम्भरा सत्यम्भरेत्येता नद्यः। यासां जलोपस्पर्शेन निवृत्त[५]कल्मषाः सहस्रायुषो बहुप्रजाः सन्तः सूर्यमनुदिनं भजन्ते। स च [६]पार्श्वद्वय-

---

१. क ख घ — दुरात्मानः, ग — दुरात्मनः।
२. क ख घ — सुखं उपलभ्यते, ग — सुखं नोपलभ्यते।
३. क ख घ — अनुभवन्ति, ग — भवति।
४. क ख घ — अम्बुपानादिभिः, ग — अम्बुपाननामाङ्कलिपिधारणादिभिः।
५. क ख घ — कल्मषाः, ग — मलाः।
६. क ख घ — पार्श्वद्वय० उपलभ्यते, ग — पार्श्वद्वय० नोपलभ्यते।

स्वद्विगुणेन सुरोदधिनावृतः। तत्रापि सुरोचनं[१] सौमनस्यं रमणकं देववर्षं पारिभद्रम् आप्यायनम् अविज्ञातमिति सर्ववर्षाणि। शैलाश्च स्वरसः[२] शतशृङ्गो वामदेवः कुन्दः कुमुदः पुष्पवर्षः सहस्रस्तुतिरिति सप्तैव। नद्यश्च अनुमतिः सिनीवाली सरस्वती कुरुरजनी नन्दा राकेति सप्त। तासां जलोपस्पर्शेन पुरुषाः उक्तवीर्याः सोममनुदिनं भजन्ते। शाल्मलाद् द्विगुणः कुशद्वीपो घृतोदधिना पार्श्वद्वयमादाय स्वद्विगुणेन वेष्टितः। तत्रापि वसुवसुदानदृढरुचिनाभिगुप्तसत्य[३]कृतविविक्तनाभदेवाख्यानि वर्षाणि सप्तैव। शैलाश्च चक्रश्चतुःशृङ्गः कपिल[४]श्चित्रःकूटो देवानीक ऊर्ध्वरोमा द्रविण इति सप्त। नद्यश्च घृतकुल्या रसकुल्या मधुकुल्या मित्रविन्दा देवगर्भा घृतच्युता मन्त्रमालेति सप्त। यासां जलैस्तथावीर्यास्तृप्ताश्च भगवन्तं जातवेदस्वरूपिणं यजन्ते। कुशात्[५] क्रौञ्चद्वीपो द्विगुणः पार्श्वद्वयमादाय स्वद्विगुणेन क्षीरोदधिना वेष्टितः। तत्रापि आमो मधुरुहो मेषपृष्ठः सुधामा भ्राजिष्ठो लोहितार्णो वनस्पतिरिति वर्षाणि सप्तैव। शैलाश्च शुक्रो वर्द्धमानो भोजन उपबर्हणो नन्दो नन्दनः सर्वतोभद्रमिति सप्त। नद्यश्च अभया अमृतौघा अर्वका तीर्थवती रूपवती पवित्रवती [६]शुक्लीति सप्तैव। यासां जलैरुक्तवीर्याः पुरुषाः वरुणमेव भजन्ते[७]। क्रौञ्चद्वीपाद् द्विगुणः शाकद्वीपः पार्श्वद्वयमादाय दधिमण्डो दधिना परीतस्तत्रापि पुरोजवमनोजवपवमानधूम्रानीकचित्ररेफबहुरूपविश्वधारानामभिः प्रसिद्धानि वर्षाणि सप्तैव। शैलाश्च ईशान उरुशृङ्गो बलभद्रः शतकेशरः सहस्रस्रोतो देवपालो महानस इति सप्तैव। नद्यश्च अनघा आयुर्दा उभयस्पृष्टिरपराजिता पञ्चनदी सहस्रस्तुतिर्निजधृतिः सप्तैव। तद्वर्षपुरुषा ऋतव्रतसत्यव्रतदानव्रतानुव्रतनामानः प्राणं समाधिना यजन्ते। शाकद्वीपात् द्विगुणः पुष्करद्वीपः पार्श्वद्वयमादाय द्विगुणेन स्वादूदकेन परीतः। तस्मिन् द्वीपे मानसोत्तर[८]नामक एवाचलोऽयुतयोजनोच्छ्रायायामोऽर्वाचीनपराचीनवर्षयोर्मर्यादा-भूतस्तिष्ठति। यस्मिन् चतसृषु दिक्षु चत्वारि पुराणि लोकपालानामिन्द्रादीनाम्।

---

१. क ख — सुरोचनम्, ग घ — सुरोवनम्।
२. क — स्वरसः, ख ग घ — सुरसः।
३. क ख — कृत०, ग घ — व्रत०।
४. क ख — चित्रःकूटः, ग घ — चित्रकूटः।
५. क ख — कुशात्, ग घ — कुशद्वीपात्।
६. क ख घ — शुक्ला, ग — शुक्ली।
७. क ख — भजन्ते, ग घ — यजन्ते।
८. क ख — नामकः, ग — नामैकः, घ — नामकैकः।

[1]तदुपरिष्टात् सूर्यरथस्य मेरुपरिभ्रमतः संवत्सरात्मकं चक्रं देवानामहोरात्राभ्यां परिभ्रमति। तत्रत्या भगवन्तं ब्रह्माणं कर्मणा भजन्ते[2]। एतेषु द्वीपेषु [3]सहजसिद्धाः सन्ति। क्षीरोदात् परतः सप्तलक्षोत्तरा सार्द्धकोटिपरिमिता भूः। तत्रापि लोकाः सन्ति। अनन्तरं लोकालोकपर्वतः। तदुपरि दिक्पालगजाः सन्ति। ततो बहिरुर्वरिता काञ्चनमयलौकिकीदेवक्रीडाभूमिः। सेयं वसुमती भूमिः सर्वापि पञ्चाशद्योजनकोटिपरिमिता आवरणेन शतकोटिविस्तृता अण्डस्य मध्ये संक्षिप्ता। भूर्लोकस्य सर्वाधस्तात् पातालं तत्र वासुकिप्रभृतयो नागाधिपतयः सपरिवारा निवसन्ति। तदुपरि रसातलम्। तत्र दैतेयदानवनिवातकवचप्रभृतयो निवसन्ति। तदुपरि महातलम्। तत्र तक्षकप्रभृतयो निवसन्ति। तदुपरि तलातलम्। तत्र मयो मायावी तदनुगाश्च तिष्ठन्ति। तदुपरि सुतलम्। तत्र भगवता स्वीयत्वेनानुगृहीतो बलिरात्मनिवेदी परमभागवतः सगणस्तिष्ठति। तदुपरि वितलम्। तत्र हाटकेश्वरो भवान्या सह मिथुनीभूय विहरति। यतः प्रवृत्ता हाटकी नाम नदी। एवं तत्र तदीया भूतप्रेतपिशाचापस्मारब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकादयो निवसन्ति। तदुपरि अतलम्। यत्र मयपुत्रादयोऽसुरा निवसन्ति। तत्र[4] ते सप्तपातालोकाः स्वर्गादप्यधिक[5]सुखसाधनाः। एतेषामुपरि जलावरणः।

तदुपरि भूमेरधस्ताद् विविधदुःखमयास्तामिस्रान्धतामिस्ररौरवकुम्भीपाक[6]मूलाऽसिपत्रवनसूकरमुखाऽन्धकूपक्रिमिभोजनमदशतप्रभूमिवज्रकण्टकशाल्मलीवैतरणीपयोदप्राणरोधविशसनलालाभक्षणसारमेयोदनमदीचिरयपानक्षारकर्दमरक्षोगणभोजनशूलप्रोतदन्दशूकावटनिरोधनपर्यावर्त्तनसूचिमुखप्रभृतयो नरकाः सन्ति। तेषु च परवित्तकलत्रापहारकपरवञ्चकभूतद्रोहकुटुम्बादिपोषकदेहम्भरपशुपक्षिप्राणपीडकपितृगुर्वादिविद्वेषकपाखण्डधर्मपोषकवृथादण्डप्रदाविवेकिमत्कुणाभिघातकस्वयमेवमिष्टान्नभुजो बलात्कारेण परस्वाऽपहारकपरवधूरतधर्मनाशकवृषलीपतिमृगयासक्तदाम्भिकयाज्ञिकसवर्णभार्यागामिगरदाग्निदमिथ्यावादिसुरापायिविद्यादिमद्[7]द्वेषिभूतोद्वेजकातिथिविद्वेषककृपणपिशुनगणिकागामिविपरीतधर्माचारिधर्मानभिरुचिप्रभृतयो नानाविधयातनाभिर्या-

---

१. क ख — तत्, ग घ — यत्।
२. क ख घ — भजन्ते, ग — यजन्ते।
३. क — सहसिद्धाः, ख ग घ — सहजसिद्धाः।
४. क ख ग — तत्र ते, घ — त एते।
५. क ख घ — सुखसाधनाः, ग — सुखाः।
६. क — मूल० ख ग घ — कालसूत्र०।
७. क ख घ — द्वेषि०, ग — द्वेष०।

त्यमाना हाहेति रुदन्तो वसन्ति। तदुपरि इयं वर्णिता भूमिः। एतस्या उपर्यन्तरिक्षाऽपर-पर्यायो भुवर्लोकः। तत्र ग्रहनक्षत्रतारका ज्योतिष्चक्रे निबद्धाः सञ्चरन्ति।

ननु मेरोरुपरि भुवर्लोकः। तत्र ज्योतिश्चक्रं भ्रमतीति न युक्तम्। तथा सति मेरुणा ज्योतिश्चक्रावरणासम्भवादवच्छेदभेदेन रात्रिन्दिनभेदेन व्यवस्था न स्यादिति चेन्न। वृक्षेणेव पार्श्वान्तरेण मेरोरेकपार्श्वस्थसूर्यादेर्व्यवधानसम्भवेन रात्रिन्दिनव्यवस्थाया उपपत्तेः।

तदुपरि स्वर्लोको माहेन्द्रापरपर्यायः। तत्र षड् देवनिकायाः त्रिदशाः। अग्रिष्वात्ताः याम्याः तुषिताः अपरिनिर्मितवशवर्त्तिनः परिनिर्मितवशवर्त्तिनश्चेति सर्वे संकल्प-सिद्धाः। अणिमाद्यैश्वर्योपपन्नाः स्वेच्छोपात्तविग्रहाः कल्पायुषः कामलम्पटा निवसन्ति। तदुपरि महर्लोके प्राजापत्या देवसमूहाः कुमुदा ऋभवाः प्रतर्दना अजनाभा अमिताभा[१] इति पञ्चविधा इत्येते महाभूतवशिनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्रायुषो निवसन्ति। तदुपरि जनलोकः। तत्र भूतेन्द्रियवशिनो ब्रह्मपुरोहिताः ब्रह्मकायिकाः ब्रह्ममहाकायिका अमरा इत्येते चतुर्विधा द्विगुणद्विगुणोत्तरोत्तरायुषो निवसन्ति। तदुपरि तपोलोकः। तत्राहंकारवशिनस्त्रिविधा देवनिकायाः अभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इत्येते देवसमूहा द्विगुणद्विगुणोत्तरायुषः स्वेच्छया स्वपरान्य-परस्योपान्तचित्ता ऊर्ध्वरेतसो निवसन्ति गच्छन्ति च। तदुपरि सत्यलोकः। तत्राकृत-गृहनिर्माणा आत्मारामाः प्रधानवशिनो यावत्सर्गायुषोऽच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः संज्ञासंज्ञिनश्च क्रमेण सवितर्कसविचारानन्दास्मितायोगिन उपर्युपरि निवसन्ति गच्छन्ति च परमहंसास्तल्लोकवासिनः परोक्षविद्वांसः प्रणवाद्युपासकाश्च। ते च तत्र गतास्ततः पुनर्नावर्त्तन्ते। किन्तु तेनैव [२]सहाधिकाराः सन्तो मुच्यन्ते।

**वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः संन्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः।**
**ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे॥**

इत्यादिश्रुतेस्तदेतत्सर्वं ब्रह्माण्डमध्ये संक्षिप्तं ब्रह्माण्डं च प्रधानस्या[३]ऽवयवो यथाकाशे खद्योतः। तदुक्तं विष्णुपुराणे प्रकृतिं प्रकृत्य—

**अण्डानान्तु सहस्राणां सहस्राण्ययुतानि च।**
**ईदृशानां तथा तत्र कोटिकोटिशतानि चेति॥**

एतद्बहिश्च प्रकृत्यावरणम्। तत्र भवप्रत्यया असंप्रज्ञातयोगिनो निवसन्ति। उपायप्रत्ययास्तु कैवल्यपदे तिष्ठन्ति।

---

१. क — **अमिताभाः**, ख घ — **प्रमिताभाः**, ग — **प्रचिताभाः**।
२. क ख — **सहाधिकाराः सन्तः**, ग — **सहाधिकारां ते**, घ — **सहाधिकारां तेषु**।
३. क ख ग — **अवयवः**, घ — **अणुरवयवः**।

**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।**
**अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः॥**
**तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।**

इत्यादि वदता भगवतोपायप्रत्ययाऽसंप्रज्ञातयोगजप्रमाया एव कैवल्यहेतुत्व-ज्ञापनादिति संक्षेपः। ज्योतिष्शास्त्रे तु पाञ्चभौतिको वर्त्तुलः कन्दुकाकारश्चन्द्रबुधशुक्र-सूर्यमङ्गलबृहस्पतिशनिनक्षत्रकक्षावृतैर्वृतः समन्ताद्देवमनुष्यदैत्यैः समेतः पर्वताराम-ग्रामचैत्यचयैः केसरैः कुसुम इव चितो नान्याधारः स्वशक्त्यैव पञ्चसहस्रयोजनपरिमित आकर्षणशक्तिमान् भूपिण्ड आकाशे नियतं तिष्ठति। आकाशे एव वर्त्तमानो भूपिण्डो निरन्तरमधो यातीति बौद्धाः। तत्र ऊर्ध्वक्षिप्तशरादेर्भूप्राप्त्यनापत्तिप्रसङ्गात्। न च भूमे-र्मन्दा शरादेश्च शीघ्रा गतिरिति वाच्यम्। गुरोः शीघ्र[१]पतनस्य लघोर्मन्दपतनस्यानुभव-सिद्धत्वात्।

ननु भूः सर्वैरपि समैवानुभूयते न कन्दुकाकारेति चेन्न। कन्दुके पिपीलिकादेरे-वाल्पकायानां साम्यभ्रमसम्भवात्। भूसाम्ये देवानामिव मनुष्याणामपि सूर्यदर्शनापत्तिः। स्वर्णमयमेरुप्रतिबिम्बितसूर्येण रात्रिविलोपापत्तिः। उत्तरायाः प्राचीव्यवहारापत्तिश्चेत्या-दयो दोषा आकरे एवोद्भाविताः। अत्र भूगोलस्योत्तरार्द्धं जम्बूद्वीपः।

तत्र भूमध्ये लङ्का दक्षिणे, पूर्वे यमकोटिः, पश्चिमे रोमकः, अधः [२]सिद्धपुरमिति पुरचतुष्टयम्। तेषामुत्तरे मेरुर्दक्षिणे वडवानलः। तेषु पुरेषु लङ्कायां[३] उत्तरतो हिमवान् गिरिः। तन्मध्ये भारतखण्डः। तदुत्तरे हेमकूटः। तन्मध्ये किन्नरखण्डः। तस्योपरि निषधस्तन्मध्ये हरिखण्डः। एवं सिद्धपुरादु[४]त्तरः शृङ्गवान् पर्वतः। तन्मध्ये कुरुखण्डः ततः श्वेतगिरिः। तन्मध्ये हिरण्मयः खण्डः। ततो नीलगिरिः। तन्मध्ये [५]रम्यखण्ड इति। अथ यमकोटेरुत्तरतो माल्यवान् गिरिः। निषधनीलपर्यन्तदैर्घ्यस्तस्य जलधेश्च मध्ये भद्राश्वखण्डः। एवं [६]रामकादुत्तरतो गन्धमादनः। तस्य जलधेश्च मध्ये केतुमालः खण्डः। एवं निषधनीलमाल्यवद्गन्धमादनैरावृतमिलावृतं नाम [७]भवखण्डम्। सा स्वर्गभूमिः।

---

१. क ख घ — **पतनस्य**, ग — **पातस्य**।
२. क ख घ — **सिद्धपुरमिति पुरचतुष्टयं**, ग — **सिद्धपुरचतुष्टयम्**।
३. क ग घ — **लङ्कायां**, ख — **लङ्कायाः**।
४. क ख — **उत्तरः**, ग घ — **उत्तरतः**।
५. क ख घ — **रम्य०**, ग — **रम्यक०**।
६. क ख घ — **रामकात्**, ग — **रोमकात्**।
७. क ख — **भव०**, ग घ — **नवमम्**।

तत्र मेरुः कनकरत्नमयः। तस्य शिखरत्रयम्। तेषु ब्रह्मविष्णुशिवपुराणि। शिखराणामधस्तादिन्द्राद्यष्टलोकपालानां पुराणि। मेरोः पूर्वं मन्दरगिरौ कदम्बः केतुवृक्षश्चैत्ररथं वनमरुणोदं सरः। दक्षिणगन्धशैलगिरौ जम्बूकेतुवृक्षः नन्दनं वनं मानसं सरः। पश्चिमे विपुलशैले केतुवृक्षो वटो धृतिवनं महाह्रदं सरः। उत्तरे सुपार्श्वशैले पिप्पलः केतुवृक्षो वैभ्राजं वनं मानसं सरः। मेरौ विष्णुपदात्पतिता गङ्गा च [1]चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्धा याति। तत्र सीताख्या भद्राश्वम्, अलकनन्दा भारतं, चक्षुः केतुमालं, भद्रा चोत्तरान् कुरून् अखिलपावनाय याति। ऐन्द्रः, कसेरुः, ताम्रपर्णः, गभस्तिमान्, कुमारिकाखण्डः, नागः, सौम्यः, हिमवारणः, गान्धर्व इति [2]भारतखण्डेऽपि नवखण्डाः। तत्र वर्णाश्रमव्यवस्था कुमारिकाखण्ड एव। माहेन्द्रशुक्तिप्रलयर्क्षकपारियात्रसह्यविन्ध्य इति सप्तकुलाऽचलाः। भारतवर्षस्य लङ्कासमीपे कुमारिकाखण्डो इति भूर्लोकस्तस्मादुत्तरे भुवर्लोकः। मेरुः स्वर्लोकस्तत्रैवोत्तरोत्तरं महर्जनस्तपःसत्यमित्युत्तरार्द्धव्यवस्था। पूर्वार्द्धे च क्षारोदधेर्दक्षिणे शाकद्वीपः। ततो दुग्धसिन्धुर्यस्माद्रत्नानि। ततः शाल्मलीद्वीपस्ततो दधिसिन्धुस्ततः कुशद्वीपस्ततो घृतसिन्धुस्ततः क्रौञ्चद्वीपस्तत इक्षुरससिन्धुस्ततो गोमेदद्वीपस्ततो मद्यसिन्धुस्ततः पुष्करद्वीपस्ततः स्वादूदकसिन्धुस्तदन्तर्वडवानलस्तन्निकटे नरकाणि पृथिवीपुटानि सप्त पातालानीति भुवनसंस्था। सा पुराणविरुद्धेत्यत्र केचित्। ग्रहचारादेर्ज्योतिःशास्त्ररीत्यैवानुभवात् पुराणमहत्त्वमुपासनापरम्। कोटिशब्दस्य नानार्थत्वाच्छतवाचकत्वं वेति समादधुरिति दिक्॥ २६॥

पुराणमते[3] संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

## चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्॥ २७॥

**चन्द्र** इति। चन्द्रे संयमात् ताराणां नक्षत्रादिज्योतिषां यो व्यूहः सन्निवेशविशेषस्तस्य साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः। सूर्यस्य नक्षत्राद्यभिभावकत्वात्तत्संयमात् साक्षात्कारकाले नक्षत्रादिज्ञानं कठिनमिति मत्वा पृथगुपायः कथितः[4]॥ २७॥

नक्षत्रादिज्ञानफलमाह—

## ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्॥ २८॥

**ध्रुव** इति। तारादि[5]रूपज्ञानानन्तरं ध्रुवे निश्चले ज्योतिषां प्रधाने संयमात् तासां

---

१. क ख — **चतुर्भिर्नामभिश्चतुर्धा याति** उपलभ्यते, ग घ — **चतुर्भिः....याति** नोपलभ्यते।
२. क ख — **भारत०**, ग घ — **भरत०**।
३. क ख — **पुराणमते** उपलभ्यते, ग घ — **पुराणमते** नोपलभ्यते।
४. क ख घ — **कथितः**, ग — **उक्तः**।
५. क ख घ — **रूप०**, ग — **स्वरूप०**।

ताराणां या गतिः प्रत्येकं [1]नियतकाला नियतदेशा च तस्याम्। इयं तारा अयं ग्रह [2]इयतिकालेऽमुकराशिं यास्यति इत्यादिसाक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ २८॥

बाह्यसिद्धीरुक्त्वान्तःसिद्धीराह—

**नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्॥ २९ ॥**

**नाभीति**। शरीरमध्यवर्तिनाभिकन्दरूपं चक्रं कदलीमूलवदादावुत्पन्नं यतः शाखापल्लवादिवच्छिरःपादाऽऽदिकमवयवजातम् ऊर्ध्वमधश्चाविर्भवति। तस्मिन्नाभि-चक्रे संयमात् साक्षात्कृते सति कायस्थं पदार्थ[3]समूहं रसमलधातुनाडीजीवानामवस्थानं सञ्चारं च जानाति। एतस्मिन् ज्ञाते जीवस्य देहान्तरे प्रवेशमपि जानातीत्यर्थः ॥ २९ ॥

संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

**कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥**

**कण्ठेति**। जिह्वाया अधस्ताज्जिह्वातन्तुः। ततोऽधस्तात् कण्ठः। कण्ठादधस्तात् कूप इव कूपः [4]पुरःपर्यन्तं कूपाकारश्छिद्रम्। तत्र संयमादशेषविशेषतः साक्षात्कृते सति क्षुत्पिपासानिवृत्तिर्भवतीत्यर्थः ॥ ३०॥

संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

**कूर्मनाड्यां स्थैर्यम्॥ ३१ ॥**

**कूर्मेति**। कण्ठकूपस्याधस्ताद् उरसि कुण्डलितसर्प इव[5] स्थिततया कूर्माकारं हृदयपुण्डरीकाख्यं नाडीचक्रं कूर्मनाडीशब्दाभिधेयम्। तस्मिन् संयमाच्चित्तस्य स्थैर्यमचापल्यं सिद्ध्यतीत्यर्थः।

**यदिदं ब्रह्मपुरं दहरं पुण्डरीकं वेश्म।**

इति श्रुत्या ब्रह्मवेशमत्वेन प्रतिपादिते तस्मिन् प्रविष्टचित्तस्यानन्दविशेषलाभेन नान्यत्र मनो गच्छतीति भावः ॥ ३१ ॥

संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

**मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्॥ ३२ ॥**

**मूर्द्धेति**। [6]ब्रह्मरन्ध्रस्थे स्वप्रकाशरूपे ज्योतिषि संयमात् सिद्धदर्शनम्। सिद्धानां

---

१. क ख घ — नियतकाला नियतदेशा, ग — नियतदेशकालाः।
२. क — इयति काले, ख ग — इयत्ता कालेन, घ — इयत्ता काले।
३. क ख — समूहं, ग — व्यूहं, घ — समूह०।
४. क ख — पुरः, ग घ — उरः।
५. क ख — इव, ग घ — वत्।
६. ग घ — मूर्द्धज्योतिषि [ब्रह्मरन्ध्रस्थे प्राक्] उपलभ्यते, क ख — मूर्द्धज्योतिषि नोपलभ्यते।

द्यावापृथिव्योरन्तरालवर्तिनां दिव्यपुरुषाणां प्रमाणान्तरैरदृश्यमानानां दर्शनं साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ३२ ॥

सर्वज्ञत्वे उपायान्तरमाह—

**प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥**

**प्रतिभादिति**। विवेकख्यातिर्हि प्रसंख्यानं संसारतरणोपायः। तदर्थं संयमे क्रियमाणे विवेकख्यातिसूचकं प्रातिभम् उपदेश[1]नैरपेक्ष्येण यथार्थज्ञानशक्तिरूपप्रतिभोत्थम[2]नौपदेशिकं ज्ञानं सर्वार्थविषयकं भवति। तज्ज्ञानबलात् पूर्वोक्तसूर्यादिसंयमान्तरं विनापि योगी सर्वं जानातीत्यर्थः। यथा सूर्योदयसूचकारुणप्रभया लोकः सर्वं पश्यति ॥ ३३ ॥

संयमस्याऽवान्तरसिद्धय उक्ताः। इदानीं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूपां मुख्यां सिद्धिं विवक्षुरादौ तत्संयमहेतुभूतायाश्चित्तसंविदः कारणमाह—

**हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥**

**हृदय** इति। हृदयं परमात्मसिंहासनकल्पं चित्तस्थानमधोमुखं हृत्[3]पङ्कजम्। तस्मिन् संयमात् सवासनस्य स्वपरचित्तस्य साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

चित्ते साक्षात्कृते तद्विवेकेनात्मज्ञानं भवतीति क्रमानुसारेणाह—

**सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासंकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात् स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ॥ ३५ ॥**

**सत्त्वेति**। सत्त्वाधिक्यात् सत्त्वं बुद्धिः पुरुषो भोक्तो सच्चिद्रूपः पुष्करपलाशव[4]न्निर्लेपः। अत एव तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरत्यन्तभिन्नयोः सादृश्यादिनाप्यसंभाविताभेदयोरिति यावत्। एतयोर्यः प्रत्ययाविवेकः प्रत्यययोर्विविच्याग्रहणं सुखादिमती विषयाद्याकारा वृत्तिरन्तःकरणस्य। तत्र भासकांशः प्रत्ययः पुरुषस्येत्येवं विशिष्य भास्यभासकभावेन पृथगग्रहणमिति यावत्। भोगः असमाप्ताधिकारस्यान्तःकरणस्य परिणामे हेतुत्वाद्भोगः। स्वस्य साक्षित्वमात्राज्ञानेनाकृतार्थपुरुषस्याभिमानहेतुत्वाद्भोगः। अत एव तयोः सांकर्यम्। आध्यासिकाऽभेदः पुनः पुनः संसार[5]संपादकमतोऽस्तीति

---

१. ग — **नवनवोल्लेख०** [नैरपेक्ष्येण पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **नव....**नोपलभ्यते।

२. क ख घ — **अनौपदेशिकं** उपलभ्यते, ग — **अनौपदेशिकं** नोपलभ्यते।

३. क ख — **पङ्कजं**, ग घ — **पद्मम्**।

४. क ख घ — **निर्लेपः**, ग — **निर्लिप्तः**।

५. क — **संपादकमतः**, ख ग — **संपादकः**, घ — **संपादकम्**।

तयोर्मध्ये परार्थात् पुरुषभोगसंपादकादन्तःकरणविवेकेन स्वार्थे भासकरूपे साक्षिप्रत्यये संयमात् साक्षात्कृते सति परिपूर्णत्वादिधर्मैः पुरुषस्याविप्लवः साक्षात्कारो भवतीत्यर्थः। यदनन्तरं द्वैत[1]ज्ञानं न पश्यति॥ ३५॥

अस्यैव संयमस्य फलान्तरमाह—

**ततः प्रातिभं श्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥**

**तत** इति। ततः पुरुषसंयमात् प्रातिभं पूर्वोक्तमनौपदेशिकं श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियजं, वेदना त्वगिन्द्रियजम्, आदर्शश्चाक्षुषम्, आस्वादो रासनं, वार्ता घ्राणजम्। इमानि दिव्यशब्दस्पर्शरूपरसगन्धविषयकाणि ज्ञानान्यपि भवन्ति, न पुरुषज्ञानमात्रमित्यर्थः। एतेन विविदिषोरलौकिकविषयानुभवा[2]र्थः। [3]पृथक्कृतस्य योगोऽनावश्यकः पुरुष-संयमेनैव तत्सिद्धेरिति ज्ञापितम्।

अथवा पुरुषसाक्षात्कारस्य न सर्वपरोक्षज्ञानमात्रं फलं, किन्तु परोक्षमपरोक्षं चेति द्विविधमपि ज्ञानं भवतीत्याह—**ततः प्रातिभे**ति। ततः पुरुषसाक्षात्कारात् प्रातिभं प्रति-भामात्रसहकारेण जातं परोक्षं श्रावणं श्रोत्रेन्द्रियसहकारेण जातम्। एवं वेदनादिकमपि बोध्यम्। कृतात्मसाक्षात्कारस्य तत्तदर्थसाक्षात्कारार्थं भूतभौतिकानि प्रणिधान-मात्रेणोपस्थितानि भवन्ति। एतेन योगिनो या सिद्धिः सा सुतरां योगसाध्यब्रह्मा-परोक्षप्रमावतो भवत्येवेति ज्ञापितम्। तथा च यस्येत्थं श्रुतिसिद्धं सर्वविज्ञानं स एवाऽपरोक्षप्रमावानिति निश्चीयते इति भावः॥ ३६॥

ननु तर्ह्ययं योगी[4] कृतकृत्यस्तत्राह—

**ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३७॥**

**त** इति। ते प्रातिभादयः फलविशेषाः समाधौ निःश्रेयसफले असम्प्रज्ञाते उपसर्गाः। हर्षविस्मयादिद्वारा शैथिल्यसम्पादनविघ्नरूपाः। अतो मुक्त्यर्थी तानुपेक्षेत। न ह्यात्मसाक्षात्कारं विना सिद्धिकोटिभिः कृतकृत्यता भवति। उक्तं च भगवता—

**एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत।**

इति। अत एव वसिष्ठ आह—

**सर्वेच्छाजालसंशान्तावात्मलाभोदयो हि यः।**

---

१. क — ज्ञानम्, ख ग घ — जातम्।

२. क ख — **अर्थः**, ग घ — **अर्थम्**।

३. क ख — **पृथक्कृतस्य योगः**, ग घ — **पृथक् लक्ष्ययोगः**।

४. ग — **सिद्धिभिरेव** [योगी पश्चात्] उपलभ्यते, क ख घ — **सिद्धिभिरेव** नोपलभ्यते।

**स कथं सिद्धिवाञ्छायां मग्नचित्तेन लभ्यते ॥**

**न केचन जगद्भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयन्त्यमी ।**

**नागरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव, इति ॥**

तर्हि तत्साधननिरूपणं व्यर्थम्? तत्राह—**व्युत्थान** इति। व्युत्थाने व्यवहार-दशायां सिद्धयः पुमर्थरूपा भवन्ति। अतस्तन्निरूपणं न व्यर्थम्॥ ३७॥

तदेवं ज्ञानादिरूपाः संयमसिद्धीः प्रदर्श्य क्रियारूपा अपि विभूतयः संयम-फलान्याह—

**बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च**
**चित्तस्य परशरीरावेशः ॥ ३८ ॥**

**बन्धे**ति। सर्वत्र व्याप्तिशीलस्य चित्तस्य स्वशरीरमात्रे संकोचेन स्थितिर्बन्धः। तस्य कारणं धर्माधर्मौ तयोः संयमेन शैथिल्यं दृढबन्धनाऽक्षमता भवति। प्रचारसंवेदनम् अपाननाड्या एवम्प्रकारेण चित्तं शरीरे प्रविशति निर्गच्छति चेत्यादिविशेषैश्चित्त-गतिसाक्षात्कारो भवति। तथा च बन्धकरज्जुनाशे मार्गज्ञस्य देशान्तर इव चित्तस्य योगिचित्तस्य परशरीरावेशः परकाये मृते जीविते वा प्रवेशो भवति। प्रचारे ज्ञाते योगी स्वशरीरान्निष्कृष्य चित्तं शरीरान्तरे प्रक्षिपतीति यावत्। प्रक्षिप्तं चित्तं चेन्द्रियाण्यनुपतन्ति मधुकरराजमिव मक्षिकाः ॥ ३८ ॥

**उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥ ३९ ॥**

**उदाने**ति। द्वयी खल्विन्द्रियाणां प्रवृत्तिर्बाह्या आभ्यन्तरी च। आद्या रूपाद्या-लोचनरूपा च। अन्त्या जीवनयोनियत्नरूपा सर्वकरणसाधारणी। तस्याः क्रियाभेदात् प्राणादिभिः संज्ञाभिर्व्यपदेशः। तत्र नासिकाग्रादाहृदयं स्थितः प्राणः। आनाभेरापादतलं मलापनयनादपानः। नाभिप्रदेशं परिवेष्ट्य भुक्तस्य समनयनात् समानः। देहे व्यापनाद् व्यानः। आनासादाशिरोवृत्ति उदान उत्क्रान्तिहेतुः। तत्र उदानस्य संयमेन जयादितरेषां वायूनां निरोधादुदानभावाज्जले महानद्यादौ पङ्के कर्दमे कण्टकेषु च योगिनोऽतिलघुत्वात् तूलपिण्डवदसंसर्गो भवति। उत्क्रान्तिश्च स्वेच्छया मरणं च भवति लभते इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

सिद्ध्यन्तरमाह—

**समानजयाज्ज्वलनम् ॥ ४० ॥**

**समाने**ति। नाभिनिकटस्थाग्निव्यापिनः समानस्य जयात् संयमेन वशीकरणाद् अग्नेर्ज्वलनं दीप्तिर्भवतीत्यर्थः। समानेनाविष्टो वह्निर्मन्दस्तिष्ठति। समानजये तु निरावृतः सन् प्रदीप्तो भवतीति तत्तेजसा योगी ज्वलन्निव प्रतिभाति इति यावत्॥ ४० ॥

संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

**श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्॥ ४१॥**

**श्रोत्रे**ति। उपलक्षणमेतच्चक्षुस्तेजःप्रभृतीनामपि ज्ञेयम्। तथा च तयोस्तयोः सम्बन्धेष्वाश्रयाश्रयिभावादिलक्षणेषु संयमादुक्तप्रकाराद्दिव्यातीन्द्रियाणि दिव्यशब्दस्पर्शरूपरसगन्धग्राहकाणि श्रोतृत्वगक्षिरसनघ्राणाख्यानि भवन्ति यैर्योगी यथेष्टं व्यवहरतीत्यर्थः॥ ४१॥

संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

**कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-**
**समापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ ४२॥**

**काये**ति। कायः पाञ्चभौतिकः स्थूलदेहः। आकाशं शब्दतन्मात्रकार्यम्। तयोः सम्बन्धो व्याप्यव्यापकभावः। आकाशोऽवकाशप्रदातृत्वादिहेतुर्व्यापकः। ततो न्यूनं शरीरम्। तच्च खद्योतकल्पं व्याप्यमिति तस्मिन् सम्बन्धे संयमात् [1]कथितप्रकारात् लघुतूलसमापत्तेश्च लघुतूलादि[2]समताभावनातश्च लघुत्वप्राप्त्या योगिन आकाशे गमनम् ऊर्णनाभेस्तन्तुजालेनेवादित्यरश्मिभिः स्वेच्छया यथेष्टं सञ्चारो[3] भवतीत्यर्थः॥ ४२॥

संयमान्तरस्य सिद्धिमाह—

**बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः**
**प्रकाशावरणक्षयः॥ ४३॥**

**बहिरि**ति। देहे साहङ्कारस्य शरीरसापेक्षा स्वशरीरस्येव बहिर्वस्तूनां सङ्कल्पादिवशता विदेहा सिद्धिः कल्पितेत्युच्यते। या तु शरीरे निरहङ्कारस्य स्वशरीरनैरपेक्ष्येण परशरीरादावपि मनसो बहिर्वस्तूनां सङ्कल्पादिवशता सा महाविदेहाख्या सिद्धिरकल्पितेत्युच्यते। सेयं महाविदेहाख्या सिद्धिः। मनसो बहिरकल्पिता वृत्तिर्योगशास्त्रोक्तस्वगोचरसंयमाद्भवति। ततः शरीरे अहम्भावत्यागादिसंयमात् प्रकाशावरणक्षयः प्रकाशात्मनो बुद्धिसत्त्वस्य यदावरणं क्लेशकर्मविपाकरूपावरणं तस्य समूलस्य क्षयो भवतीत्यर्थः। तेषां क्षये च निरावरणं योगिनश्चित्तं स्वेच्छया विहरति विजानाति चेति भावः॥ ४३॥

तदेवं परिणामत्रयसंयमादित्यारभ्य भूतेन्द्रियाद्यात्मान्तरसंयमानां ज्ञानक्रियादि-

---

१. क ख घ — **कथित०**, ग — **उक्त०**।
२. क — **समता**, ख ग घ — **मयता**।
३. क ख घ — **सञ्चारः**, ग — **संसारः**।

रूपाः सिद्धीः प्रदर्श्येदानीं वितर्कादिसूत्रैः स्वशास्त्रे मुख्यतः प्रकृतेषु ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु ये संयमास्तेषां सिद्धीः प्रतिपादयिष्यन् ग्रहीतृग्रहणयोर्ग्राह्यनिरूप्यत्वादादौ ग्राह्यसंयमस्य सिद्धिमाह—

**स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः ॥ ४४ ॥**

**स्थूलेति**। स्थूलं च स्वरूपं च सूक्ष्मं चान्वयश्चार्थवत्त्वं च स्थूलस्वरूप-सूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वानि। तेषु संयमात् साक्षात्कारपर्यन्तात् तत्तद्रूपवतां पञ्चभूतानां जयो वशवर्तिता भवतीत्यर्थः। तत्र स्थूलं परिदृश्यमानमवयवसंस्थानं, स्वरूपं काठिन्य-सांसिद्धिकद्रवत्वोष्णत्वतिर्यग्गमनाऽवकाशदानादि, सूक्ष्मं शान्तघोरमूढवृत्तिशून्य-त्वाच्छब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्रारूपं कारणम्। अन्वयः प्रकाशक्रियास्थिति-रूपेणान्वेतीत्यन्वयः सत्त्वादिगुणत्रयम्, अर्थवत्त्वं भोगापवर्गार्थता। एतेषु भूतानां पञ्चरूपेषु क्रमेण प्रतिरूपं संयमाद् भूतानि भूतप्रकृतयश्च योगिसंकल्पानुसारिण्यो भवन्ति वत्सानुसारिण्य इव[1] गाव इति यावत्॥ ४४॥

तस्यैव भूतजयस्य फलमाह—

**ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसंपद्धर्माऽनभिघातश्च ॥ ४५ ॥**

**तत** इति। ततो भूतजयादणिमादिप्रादुर्भावः।

**अणिमा लघिमा चैव महिमा गरिमा तथा।**

**प्राप्तिः प्राकाम्यमीशित्वं वशित्वं चाष्टमं स्मृतम्॥**

इत्येवमष्टविधैश्वर्यस्य प्राप्तिर्भवति। प्रादुर्भाव इत्यनेन सत्त्वप्रधानस्य चित्तस्य स्वरूपत एव तद्योग्यत्वात् संयमेनाभिव्यक्तिमात्रमिति ज्ञापितम्। अणिमा संकल्पमात्रेण तत्क्षणादेव [2]प्रकृत्यपगमेन परमाणुवद्देहस्य सूक्ष्मता। लघिमा गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तू-लवल्लघुभावः। महिमा आकाशादिवन्महद्भावः। गरिमा लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वता-दिवद् गुरुभावः। प्राप्तिः परिच्छिन्नभावस्यैव संकल्पमात्रेणावयवदैर्घ्याद्दिशान्तरस्थवस्तु-स्पर्शः[3]। यथा अङ्गुल्यग्रेण चन्द्रादिवस्तुस्पर्शशक्तिः। एताः पञ्चसिद्धयः स्थूलसंयमस्य फलम्। स्वरूपस्य प्राक्राम्यं तच्चेच्छानभिघातः। सूक्ष्मस्य वशित्वम्। तच्च भूतभौति-कानां स्वाधीनकरणम्। अन्वयस्य ईशित्वं भूतानामुत्पत्तिविनाशयोः संस्थानविशेषे च सामर्थ्यम्। अर्थवत्त्वस्य यत्र कामावसायित्वं तच्च सत्यसंकल्पता प्राकाम्यमेव।

---

१. क ख घ — इव गावः, ग — गाव इव।

२. क ख — प्रकृति०, ग — प्रकृष्ट०, घ — प्रकृत०।

३. क ख घ — स्पर्शः, ग — स्पृष्टिः।

नन्वेवं योगी कदाचि[१]ज्जलात्तेजः कुर्यात्। तथा चेश्वरसत्प्रतिपक्षः स्यादिति चेन्न। ईश्वरसंकल्पानुसारेणैव तत्संकल्पस्योत्पत्तेरित्यन्यत्र विस्तरः। एवं कायसम्पद्वक्ष्यमाणा भवति। तद्धर्मानभिघातश्च। तद्धर्मैः पृथिव्यादिभूतधर्मैः काठिन्यादिभिरनभिघातोऽप्रतिबन्धश्च भवति। शिलादिष्वपि योगिशरीरप्रवेशदर्शनादिति संक्षेपः॥ ४५॥

कायसंपदमाह—

**रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥ ४६॥**

रूपं चक्षुःप्रियो गुणः, लावण्यं सर्वाङ्गसौन्दर्यम्, बलं वीर्यं, वज्रसंहननत्वं वज्रस्येव निविडो[२] दृढः संघातो[३] यस्य वज्रस्येव संहननं प्रहारो यस्येति वा। तस्य भावो वज्रसंहननत्वं हनुमत्प्रभृतिषु प्रसिद्धम्। एतानि योगिनः कायसंपद्भवतीत्यर्थः॥ ४६॥

ग्राह्यसंयमस्य सिद्धय उक्ताः। सम्प्रति, ग्रहणसंयमस्य सिद्धिमाह—

**ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ४७॥**

**ग्रहणे**ति। ग्रहणं च स्वरूपं चास्मिता चान्वयश्चार्थवत्त्वं च ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थत्त्वानि। तेषु संयमात् कथितप्रकारात् साक्षात्कारपर्यन्तात्तद्रूपाणामिन्द्रियाणां जयो वशवर्त्तिता भवतीत्यर्थः। ग्रहणं किञ्चिदिदमिति सामान्यतोऽमुक इति विशेषतश्चेन्द्रियाणां विषयाकारपरिणामः। स्वरूपं प्रकाशत्वम्। अस्मिता कारणीभूतसात्त्विकाहङ्कारानुगमः। अन्वयार्थवत्त्वं पूर्ववत्। एतेष्विन्द्रियाणां पञ्चरूपेषु क्रमेण प्रतिरूपं संयमात् सर्वाणीन्द्रियाणि योगिसंकल्पानुसारीणि भवन्तीति यावत्॥ ४७॥

ततः किं तत्राह—

**ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥ ४८॥**

**तत** इति। ततोऽ[४]स्मिन्निन्द्रियजये सति मनोजवित्वं कायस्य मनोवच्छीघ्रतरो गतिलाभः। विकरणभावो विकीर्णता स्वभावाद् व्यापिता स्थूलदेहसम्पर्करहितानामिन्द्रियाणामभिप्रेत[५]देशादिषु [६]प्रवृत्तिलाभ इति यावत्। प्रधानजयो भूतेन्द्रियादि-

---

१. क ख — जलात्, ग घ — जलम्।

२. क ख घ — निविडः उपलभ्यते, ग — निविडः नोपलभ्यते।

३. क ख घ — संघातो यस्य वज्रस्येव संहननं प्रहारो यस्येति वा तस्य भावः वज्रसंहननत्वम्, ग — संघातः प्रहारो वा यस्य तस्य भावो वज्रसंहननत्वम्।

४. क ख — अस्मिन्, ग घ — तस्मिन्।

५. क ख घ — देशादिषु, ग — देशे।

६. क ख — प्रवृत्ति०, ग घ — वृत्ति०।

कारणस्य साम्यावस्थोपलक्षितस्य गुणत्रयस्य जयः स्वेच्छया अनुविधानं भवतीत्यर्थः। तस्मिन् सति सर्वेषां जयोऽयत्नसिद्धः। अत एव सर्ववशित्वं शास्त्रेषु प्रधानजयशब्देन निर्दिश्यते। एताश्च तिस्रः सिद्धयोऽस्मिन् शास्त्रे मधुप्रतीका इत्युच्यन्ते। तत्र कर्मेन्द्रियजयफलं मनोजवित्वम्। अन्यस्यान्यदिति संक्षेपः॥ ४८॥

तदेवं ग्राह्यग्रहणसंयमयोः[१] सिद्धिमुक्त्वा ग्रहीतृसंयमस्य सिद्धिमाह—

**सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ ४९॥**

सत्त्वाधिक्यात् सत्त्वं बुद्धिः, पुरुषस्तद्भोक्ता स्वामी चेतनः। तयोरन्यताया भेदस्य ख्यातिः साक्षात्कारमात्रं प्रमाणस्य[२] तथाभूतस्य साक्षात्कारपर्यन्तस्य संयमस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वेषां [३]परिणामिभावापन्नानां गुणादिघटान्तानां भावानामधिष्ठातृत्वं स्वामिवदाक्रमणं नियन्तृत्वं च सिद्ध्यति। तथा तेषामेव शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मत्वेन स्थितानां युगपद्यथार्थज्ञानवत्त्वरूपं सर्वज्ञातृत्वं च सिद्ध्यतीत्यर्थः। एषा विशोका नाम सिद्धिः॥ ४९॥

एवं संयमेन जातायाः ख्यातेः फलमाह—

**तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ५०॥**

**तदिति**। तस्यां विशोकाख्यायां[४] सिद्धौ वैराग्यात् [५]तद्धेतोः सालम्बने समाधावपि यदा परं वैराग्यं, कृतं कृत्यं, प्राप्तं प्राप्तव्यं, ज्ञातं ज्ञातव्यं, हातं हातव्यमित्यव्यवस्थाफलकं भवति। तस्माद्दोषाणां रागादीनां यद् बीजमविद्या, तस्याः क्षये निःशेषतो नाशे सति कैवल्यम् आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिविशिष्टे स्वरूपे प्रतिष्ठत्वरूपं कैवल्यं भवति। इयं संस्कारशेषाख्या सिद्धिः॥ ५०॥

अथ कैवल्याख्यसिद्ध्यर्थिनो योगिनो यथोक्तवैराग्यवदेव साधनान्तरमाह। अथवा सम्प्रति कैवल्यप्रसङ्गतः कैवल्यसाधने प्रवृत्तस्य योगिनस्तत्प्रत्यूहसम्भवे तन्निराकरणप्रकारमाह—

**स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणे पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥ ५१॥**

**स्थानीति**। स्थानिनः स्वर्गादिलोकाधिकारिणो देवा इन्द्रादयस्तेषां स्वर्गलोक-

---

१. क ख घ — **ग्राह्यग्रहणसंयमयोः**, ग — **ग्राह्यग्रहणयोः**।
२. क ख घ — **प्रमाणस्य**, ग — **प्रमाणमस्य**।
३. क ख — **परिणामिभाव०**, ग घ — **परिणामपरिणामिभाव०**।
४. क ख — **विशोकाख्यायां**, ग — **विशोकायां**, घ — **विशोकाख्यायाः**।
५. क ख — **हेतोः**, ग घ — **हेतौ**।

भोगार्थं योगिनो निमन्त्रणे सति तत्र सङ्गः प्रीतिः, स्मयश्च तादृशप्रार्थने [१]सत्यपि आपाततस्त्यागेनात्मनि कृताभिमानः[२] सिद्धोऽहं विरक्तोऽहं कोऽन्योऽस्ति सदृशो मयेत्याद्यात्मकः। तयोः सङ्गस्मययोरकरणमु[३]पायः।

ननु सङ्गस्मये[४] च का क्षतिरित्यत आह—**पुन**रिति। सङ्गस्मयाभ्यामहंकार-गर्भाभ्यां पुनरेतच्छरीरोत्तरमप्यनिष्टप्रसङ्गात् संसार[५]पाशरूपानर्थप्रसङ्गादित्यर्थः।

**यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।**
**हत्वापि स इमांल्लोकान् न हन्ति निबद्ध्यते॥**

इति वदता भगवता निवृत्ताहङ्कारस्यैव मोक्षप्रतिपादनेन साहङ्कारस्य पुनः पुनर्बन्ध एव ज्ञापितः।

अथात्र प्रथमकल्पिको मधुभूमिको प्रज्ञाज्योतिरतिक्रान्तभवनीयश्चेति योगिनश्च-त्वारः। एतेषु प्रथमस्य नोपमन्त्रणम्। अभ्यासिमात्रत्वात्। तृतीयचतुर्थयोस्तु स्वयमीश्वर-कल्पत्वादुपेक्षणीया एव ते भवन्ति। अतो मधुभूमिकस्यैव कृत्यप्रज्ञावतो द्वितीयस्यैव तद्भवति। तेन कैवल्यार्थिना वासनावर्धकेषु तेषु सङ्गः स्मयश्च न कार्यः। पुनरपि संसारावरोहणरूपानिष्ट[६]प्रसङ्गादिति यावत्॥ ५१॥

सर्वज्ञतासाधनं संयमान्तरमाह—

## क्षणतत्क्रमयोः संयमाद् विवेकजं ज्ञानम्॥ ५२॥

**क्षणे**ति। क्षणः स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोग्यनाधारः समयः। मुहूर्तादयस्तत्समूह-रूपत्वात् तदात्मका एव। तेषां क्रमोऽयमस्मात् पूर्वः क्षणोऽयमुत्तर इत्येवं पौर्वापर्यम्। तयोः संयमात् साक्षात्कारपर्यन्ताद् विवेकजं ज्ञानं विवेकेन इतरव्यावृत्ततया जायमानं सर्ववस्तूनां ज्ञानम्भवतीत्यर्थः। सर्वं वस्तु प्रतिक्षणं परिणमते इति विकारितया क्षणरूपमेव। पठन्ति च नैयायिका अपि, जन्यमात्रं कालोपाधिरिति। जन्याभिन्नं चास्मन्मते प्रधानान्तं कारणम्। कार्यकारणयोस्तादात्म्यसम्बन्धाऽङ्गीकारात्। अतः क्षणक्रमयोः संयमः कार्यकारणसर्वविषयक इति। तस्मात् साक्षात्कारपर्यन्तात् सर्वेषां वस्तूनां विवेकेन ज्ञानं भवतीति यावत्॥ ५२॥

---

१. क ख घ — सत्यपि आपाततः, ग — अपि।
२. क ख — कृताभिमानः, ग घ — कृतार्थताभिमानः।
३. क ख घ — उपायः, ग — तादृशचित्तवृत्तेरुत्सारणं योगिना विधेयम्।
४. क ख — सङ्गस्मये च, ग — सङ्गस्मयाभ्यां, घ — सङ्गे स्मये च।
५. क ख घ — पाश०, ग — यात्रा०।
६. क ख घ — प्रसङ्गात्, ग — सङ्गात्।

तस्य विवेकज्ञानस्यासङ्कीर्णमुदाहरणमाह—

**जातिलक्षणदेशैरन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः ॥ ५३ ॥**

**जातीति**। तुल्ययोरेकजात्येकलक्षणैकदेशावच्छिन्नयोर्जातिर्गोत्वमहिषत्वादिः। लक्षणं नीलपीतादि। देशः पूर्वपश्चिमादिः। एतैरन्यतानवच्छेदात् भेदावधारणस्यासम्भवात्। ततः संयमविवेकज्ञानात् प्रतिपत्तिर्निश्चयो भवतीत्यर्थः। एतच्च क्षणसंयमजन्यज्ञानस्यैकदेशोदाहरणम्। क्षणक्रमसंयमज्ञानस्य तु ज्येष्ठ[१]कनिष्ठताविवेकज्ञानमुदाहरणं स्वयमूह्यम्॥ ५३॥

विवेकज्ञानस्यैकदेशेनासङ्कीर्णोदाहरणं प्रदर्श्येदानीं सहेतुकां विवेकजज्ञानस्य मोक्षोपयोगितामाह—

**तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयकं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ ५४॥**

**तारकमिति**। इति शब्दो हेत्वर्थे[२]। यतो विवेकजं ज्ञानं सर्वविषयं व्यक्ताव्यक्ताः सर्वे पदार्था विषया यस्येति सर्वार्थगोचरम्। तच्च प्रमारूपं यतः सर्वथाविषयं यस्य। योऽवस्थाविशेषः परिणामविशेषादिश्च। तस्मिन् तत् सर्वप्रकारविषयम्। तच्च दिनपक्षमासाब्दयुगकल्पजन्माऽनेकभेदैर्योगिनः क्रमशः सर्वार्थगोचरज्ञानमिव न, किन्तु अक्रमं क्षणजन्मादिघटितपौर्वापर्यरूपक्रमशून्यं युगपदेव सर्वसमूहावलम्बनरूपम्। अतः सर्वत्र दोषसाक्षात्कारेणोक्तवैराग्यद्वारा संसारतारकं भवतीत्यर्थः॥ ५४॥

ननु किमेतासां विभूतीनामनन्तरमेव मोक्षो ज्ञानेन भवति? आहोस्विदेतद्व्यतिरेकेणापीति। तत्राह—

**सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्॥ ५५॥**

**सत्त्वेति**। सत्त्वपुरुषावुक्तलक्षणौ। तयोः शुद्धिसाम्ये सत्त्वस्य समासाधिकारत्वेन सर्ववृत्तिराहित्यं शुद्धिः। पुरुषस्य तद्भोक्तृत्वादिराहित्यं शुद्धिरित्येवं समानायां शुद्धौ पुरुषस्य कैवल्यं मोक्षो भवति, न तत्र सिद्ध्यपेक्षेत्यर्थः॥ ५५॥

[३]इति श्रीनारायणतीर्थकृतायां योगसिद्धान्तचन्द्रिकायां
तृतीयो विभूतिपादः॥ ३॥

---

१. क ख घ — कनिष्ठता, ग — कनिष्ठतादि०।

२. क ख — हेत्वर्थे, ग घ — हेत्वर्थः।

३. क ख — इति श्रीनारायणतीर्थकृतायां योगसिद्धान्तचन्द्रिकायां तृतीयो विभूतिपादः, घ — इति श्रीनारायणतीर्थस्वामिविरचितायां योगसूत्रवृत्तौ विभूतिपादस्तृतीयः, ग — इति श्रीनारायणतीर्थविरचितायां पातञ्जलसूत्रवृत्तौ गूढार्थद्योतिकायां योगसिद्धान्तचन्द्रिकायां विभूतिपादस्तृतीयः।

# चतुर्थः कैवल्यपादः

पादद्वयेन समाधितत्साधनमिति विस्तरतः प्रतिपाद्य तत्फलवैभवं तृतीयपादे प्रदर्श्य कैवल्येनो[१]पसंहारः कृतः। तेन कैवल्यमेव परमपुरुषार्थ इति ज्ञापितम्। तच्च हेयतत्साधनहानरूपं स्वरूपतो द्वितीयपादे कथितमपि तस्या[२]विशेषरूपो व्यूहो नोक्त इत्यतस्तत्प्रतिपादनाय चतुर्थपादारम्भः। तत्र कैवल्ययोग्यं निर्धारयितुं पञ्चप्रकारां सिद्धिमाह—

**जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः ॥ १ ॥**

**जन्मे**ति। जन्मना विशेषयोगेन यथा देवविशेषाणाम्[३]। औषधिना दिव्यरसायनाद्यात्मकेन यथा माण्डव्यादीनाम्। मन्त्रेण शिवविष्ण्वादिमन्त्रजपेन। होम[४]पूजादिसिद्धिस्तु मन्त्रप्रधानत्वान्मन्त्रान्तर्गतैव। यथा वत्सराजनन्दीश्वरप्रभृतीनाम्। तपसा अनशनशीतोष्णादिबाधासहनादिरूपेण। यथा विश्वामित्रादीनाम्। समाधिना आत्मविषयकभावनाविशेषरूपेण। यथा याज्ञवल्क्यदत्तात्रेयप्रभृतीनां सिद्धिरित्येताः पञ्चसिद्धयः। एताः सर्वा अपि पूर्वजन्मकृतसुकृतक्षपित[५]कल्मषाणामेव लभ्या भवन्ति। एतासु चतसृषु[६] विषयविज्ञेयनिरसनदेहादिदार्ढ्यद्वारा समाधावुपयुक्ताः, समाधिना तु कैवल्यमेव तेभ्य उत्कृष्टः। तस्मात् कैवल्यार्थं समाधौ इह जन्मन्येव तदर्थमौषधादौ इह जन्मनि, जन्मान्तरेऽपि वा तल्लाभाय मन्त्रतपआदौ सोत्साहानां विवेकिनां प्रयत्न आवश्यक इति भावः ॥ १ ॥

ननु सिद्धिस्तृतीयपादे वर्णिता अणिमादिप्रादुर्भावरूपा। तत्राऽणोर्महद्भावः। एवं—

**स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा।**
**शतञ्च दश चैकश्च सहस्राणि च विंशतिः ॥**

---

१. क ख घ — उपसंहारः कृतः। तेन ग — उपसंहारात्।
२. क ख ग — अविशेष०, घ — अशेष०।
३. क ख घ — देवविशेषाणां, ग — देवानाम्।
४. ग घ — जन्या [पूजादि० पश्चात्] उपलभ्यते, क ख — जन्या नोपलभ्यते।
५. क ख घ — कल्मषाणां, ग — कल्मषैः।
६. क ख ग — चतसृषु, घ — चतस्रः।

इत्यादिश्रुतिसिद्धकामरूपतादशायां मनुष्यादिरूपेण परिणम्य स्थितानां देवतिर्यगादिजातिपरिणामः। एवम्महतोऽणुभावादिश्च कथम्। पूर्वपरिणामवति परिणामान्तरायोगात्। नानुपमृद्यप्रादुर्भाव इति न्यायेन पूर्वपरिणामनाशस्य हेतुत्वात्। न च तेषां संकल्पमात्रेण तत्सिद्धिः। संयमस्य[1] निमित्तमात्रत्वात्[2]। तत्राह—

**जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ २॥**

**जातीति।** प्रधानादिपृथिव्याद्यन्ताः कायेन्द्रियादिप्रकृतयः। तासाम् आपूराद् धर्माद्यनुरोधेन मनुष्यादिदेहावयवेषु अनुप्रवेशात् कामरूपतादशायां देवतिर्यगादिरूपजात्यन्तरपरिणामः। अणोर्महद्भावश्च भवति। एवं महतोऽणुभावः प्रकृत्यपगमादित्यपि बोध्यम्॥ २॥

ननु तर्हि प्रकृत्यापूरः परमेश्वरस्य योगिनो वा संकल्पमपेक्षते न वा? न चेत्—

**इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिः।**

इति श्रुतीनां,

**स यदि पितृलोककामो भवति संकल्पादेवास्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति।**

इत्यादिश्रुतीनाञ्च विरोधप्रसङ्गः।

आद्ये प्रकृतिस्वातन्त्र्यहानिप्रसङ्गः। एवं धर्मादिनिमित्तानुरोधेन प्रकृत्यापूरेऽपि प्रकृतिस्वातन्त्र्यहानिः। न चेत् सर्वत्रापूरापत्तिरित्यत आह—

**निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥ ३॥**

**निमित्तमिति।** निमित्तं परमेश्वरयोगिसंकल्पधर्माधर्मादिरूपं सहकारि अप्रयोजकं प्रकृतीनामापूरे हेतुर्न भवति। कार्यस्य कारणप्रवर्त्तकत्वायोगात्। किञ्चाकाशे द्रव्याणामनारम्भिकाऽप्यनुक्षणमणूनां क्रिया सर्वसम्मता।

न च तत्र धर्मादिकारणं कस्यापि भोगाहेतुत्वात्। नापि तत्रेश्वरादिसंकल्पः कारणं गौरवात्। अतो निरन्तराणुक्रियाद्युपपत्तये लाघवेन गुणत्वेनैव सामान्यतः प्रवृत्तिकारणत्वात् प्रकृतिस्वातन्त्र्यं सिद्धम्।

अपि च, कदाचिद्दण्डचक्रादिकं विनापि योगिसंकल्पादेव घटो जायते। आदिसर्गे चेश्वरसंकल्पेनैव विनैव सर्वाणि बीजान्युत्पद्यन्ते इति परस्परव्यभिचारान्निमित्तानां न [3]साक्षात्कारणत्वसम्भवः। तृणारणिमण्यादिषु चाग्निकारणत्वेऽन्योन्यव्यभिचारो लोकसिद्ध एवास्ति। अतः सहकार्यप्रयुक्ता प्रकृतिरेव परिणामे स्वतन्त्रेति सिद्धम्।

---

१. क — **संयमस्य,** ख ग घ — **संकल्पस्य।**

२. क ख ग — **निमित्तमात्रत्वात्,** घ — **निमित्तत्वात्।**

३. क ख ग — **साक्षात्कारणत्व०,** घ — **साक्षात्कारत्व।**

म चैवं तर्हि[1] कथं धर्मेश्वरयोगिसंकल्पादीनां प्रकृतिपरिणामहेतुत्वोक्तिः। तत्राह—**वरणे**ति। ततो निमित्तविशेषात् कथिताद् वरणस्यावरकस्य प्रकृतिप्रवृत्तिप्रतिबन्धकस्याधर्मादेर्भेदः क्षयो भवतीत्यर्थः। तथा प्रतिबन्धकोत्सादकत्वेनैव धर्मादेः परिणामे कारणत्वमुक्तमिति भावः।

तत्र दृष्टान्तः[2] **क्षेत्रिकव**दिति। यथा क्षेत्रिकः कृषीवलः केदारात् केदारान्तरं जलानि[3] निनीषुर्जलप्रतिबन्धकावरणमात्रं भिनत्ति। अनन्तरं तत्र स्वयमेव गतं जलं केदाराद्याकारेण परिणमते। न तत्र जलप्रसारणे कस्यचित्प्रयत्नः। एवं धर्मादेर्बोद्धव्यमिति संक्षेपः ॥ ३ ॥

ननु योगिनः कामरूपतादशायां किमेकस्मिन् चित्ते समाधिभोगयोर्ज्ञानाज्ञानयोश्च विरोधान्निर्माणचित्तैर्व्यवहारभाजो भवन्ति अथवा बहूनामेकचित्ताभिप्रायानुसारिप्रवृत्तिदर्शनात्। निर्मातृचित्तस्यैकस्यैव सावयवस्य प्रदीपवद्विस्तारितया कायव्यूहेषु प्रवृत्तिसम्भवाच्च, निर्मातृचित्तेनैव व्यवहारभाजो भवन्तीत्येतयोः पक्षयोः प्रथमं पक्षं सूत्रेण सिद्धान्तयति—

**निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात् ॥ ४ ॥**

**निर्माणे**ति। योगप्रभावात् स्वसङ्कल्पेन निर्मीयन्त इति निर्माणचित्तानि देहसमसंख्यानि मनांसि भवन्ति। कारणमाह—**अस्मितामात्रात्**। योगिसंकल्पप्रेरितस्वप्रकृतिप्रधानबुद्ध्यापूरणान्वितादहंकारादित्यर्थः। मात्रशब्देन मनोव्यावृत्तिः सङ्कल्पमात्रेण मनसो निमित्तमात्रत्वात्।

अत्र द्वितीयपक्षे लाघवसत्वेऽपि

**एकस्तु प्रभुशक्त्या वै बहुधा भवतीश्वरः।**
**भूत्वा यस्मात्तु बहुधा भवत्येकः [4]पुनस्तु सः ॥**
**तस्माच्च मनसो भेदा जायन्ते चैत एव हि।**
**एकधा तद् द्विधा चैव त्रिधा च बहुधा पुनः ॥**

---

१. ग — **तर्हि** उपलभ्यते, क ख घ — **तर्हि** नोपलभ्यते।
२. ग — **तत्र दृष्टान्तः** उपलभ्यते, क ख घ — **तत्र दृष्टान्तः** नोपलभ्यते।
३. क ख — **जलानि** इतिपर्यन्तमेव ग्रन्थ उपलब्धः, ग घ — **जलानि** इति अग्रेऽपि ग्रन्थ उपलब्धः।
४. घ — **पुनस्तु सः**....इत्यारभ्य (४/४) **ननु प्रख्याक्रियास्थितिशीलाः** इतिपर्यन्तं (४/१४) उपलभ्यते, ग — **पुनस्तु सः**....इत्यारभ्य **ननु प्रख्याक्रियास्थितिशीलाः** इतिपर्यन्तं नोपलभ्यते।

**योगीश्वरः शरीराणि करोति विकरोति च।**

**प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित् कैश्चिदुग्रं तपश्चरेत्॥**

**संहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणानिव।**

इति स्मृतेः। सर्वज्ञस्यापि भगवतः स्वसंकल्पनिर्मितदुराप्तरामशरभादिचित्तभेदेनैव कदाचित् कदाचिदज्ञानाच्च प्रथमपक्ष एव साधीयानिति भावः।

अनेककायव्यूहादौ शरीरभेदेन नानाचित्तैरेवात्मन एकत्वेऽपि ज्ञानाऽज्ञानाद्यवस्था, तथा सर्वशरीरेषु आत्मन एकत्वेऽपि चित्तभेदैरेव व्यवस्था युक्ता, नात्मभेदैस्तत्कल्पनायां गौरवेणायुक्तत्वात् श्रुतिविरुद्धत्वाच्च।

न च स्वप्रतिबिम्बितदुःखभोगतदभावयोर्बन्धमोक्षयोर्विषयानुभवाऽननुभवयोश्च विरुद्धयोर्व्यवस्थार्थमात्मनानात्वमावश्यकमिति वाच्यम्। तार्किकसम्मतश्रोत्रस्यैकत्वेऽपि कर्णशष्कुलीभेदेन शब्दग्रहणव्यवस्थावत्तद्व्यवस्थोपपत्तेः। तस्माद्वस्तुत आत्मनोऽपि नानात्वमुक्तमित्यपि ज्ञापितम्॥ ४॥

तर्हि चित्तानां भिन्नाभिप्रायकत्वाद्योगिनो भोगाऽसिद्धिरित्यत आह—

**प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकं चित्तमेकमनेकेषाम्॥ ५॥**

**प्रवृत्तीति**। एकं मुख्यं यन्निर्मातृचित्तं तदेव तेषामनेकेषां बहूनां निर्माणचित्तानां प्रवृत्तिभेदे व्यापारनानात्वे प्रयोजकं नियामकं करोति। अतस्तदभिप्रायानुसारिणी सर्वेषां प्रवृत्तिरित्यर्थः। ऐश्वर्यनिर्वाहार्थमनेकचित्तेष्वन्तर्यामिविधया स्थितमेकं चित्तं तेषामुत्पत्तिस्थितिव्यापारं संहारञ्च करोतीति यावत्। प्रमाणञ्चात्र प्रागेव दर्शितम्—

**संहरेच्च पुनस्तानि।**

इति। एतेनेश्वरस्यांशावतारा अपि व्याख्याताः॥ ५॥

तदेवमुक्तेषु पञ्चसिद्धचित्तेषु मध्येऽपवर्गयोग्यं चित्तं निर्धारयति—

**तत्र ध्यानजमनाशयम्॥ ६॥**

**तत्रेति**। तत्र तेषु पञ्चसु मध्ये ध्यानजं तु अनाशयं न सन्त्याशयाः क्लेशकर्मादिवासना अस्मिन्नित्यनाशयं ध्यानसिद्धं चित्तमेवानाशयं भवति। योगेनैव ज्ञानोत्पत्त्यापि वासनोच्छेदसम्भवात्, न मन्त्रादिभिरित्यर्थः। अतः क्षीणक्लेशत्वात्तदेव चित्तमपवर्गयोग्यमिति भावः॥ ६॥

योगिनोऽपवर्गप्रयोजकं कर्मापि विलक्षणमित्याह—

**कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ ७॥**

**कर्मे**ति। योगिनो निष्पन्नयोगस्य क्षीणक्लेशस्य विद्यावतः कर्म कायेन्द्रियादि-व्यापारोऽशुक्लाकृष्णः पुण्यपापाहेतुः इतरेषां जन्मादिसिद्धानामयोगिनां वा त्रिविधं यथायोग्यं कर्म शुक्लकृष्णयोः प्रत्येकसमुच्चयाभ्यां त्रिविधमित्यर्थः।

तथाहि, कर्म सामान्यं चतुर्विधं—कृष्णं, शुक्लकृष्णं, अशुक्लम्, अशुक्लाकृष्णं चेति। तत्र आद्यं, पापप्रधानं तमोवर्धकत्वाद् दुःखप्रधानफलदं केवलमूढानामर्थकामा-भिलाषिणां दुरात्मनाम्। द्वितीयं, पुण्यपापात्मकं पुण्यप्रधानं रजोवर्धकत्वात् सुखदुःख-फलदं परपीडादिविनिवर्त्यं यागादिषु यदास्तिककामुकानाम्। तृतीयं, केवलं पुण्यात्मकं सत्त्ववर्धकत्वात् सुखफलदं बहिर्योगशून्यानामन्तर्याजिनां तपःस्वाध्यायध्यानाभ्यास-वताम्। चतुर्थः, ज्ञानसाधनव्यापाररूपं कर्मसामान्यं वा दृष्टानुश्रविकविषयवैराग्येणाभि-मानत्यागेन च गुणाऽहेतुत्वात् सुखदुःखफलशून्यकैवल्यमात्रफलदमभिमानफलादित्या-गिनां परमहंसानां भगवद्भक्तानाञ्च भवतीत्यर्थः। शास्त्रप्रमाणं चात्र—

**त्यक्त्वा कर्म फलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।**
**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः॥**
**यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।**
**हत्वाऽपि स इमाँल्लोकान् न हन्ति न निबध्यते॥**

इत्यादिभगवद्वाक्यम्। तस्मादशुक्लाकृष्णकर्म ज्ञानिनामेव संभवतीति। त्यक्ता-भिमानिनामेव तेषु तेषु ज्ञानहेत्वधिकारो नान्येषामास्तिककामुकादीनाम्—

**ब्रह्मचर्यं तपःश्रद्धा नित्यमेकान्तशीलता।**
**विषयेष्वस्पृहताऽस्तेयं सर्वभूतदया क्षमा॥**
**लज्जा धृतिः शुचित्वं च निरोधो मनसस्तथा।**
**एतैरुपायैः संयुक्तस्ततः प्रणवमभ्यसेत्॥**
**नैनमर्हत्यशुद्धात्मा केवलं प्रणवं द्विजः।**
**ततः परतरं ब्रह्म नाऽशुद्धोऽत्र च लभ्यते॥**
**अशुद्धात्माऽभ्यसेन्नैनं प्रत्यवैति न संशयः।**
**कर्मानर्होऽशुचिर्विप्रो न वेदं समुदाहरेत्॥**
**नाऽभ्यसेत्प्रणवं तद्वदपि शुद्धतरो द्विजः।**
**प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यायीत ब्रह्मविद् यतिः॥**

इत्यादिशौनकादिस्मृतेरिरिति ज्ञापितम्।

न च

**न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशुः।**

इत्यादिश्रुतेः,

**त्यज धर्ममधर्मञ्च उभे सत्यानृते त्यज।**

**उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन जानासि तत्त्यज॥**

इत्यादिस्मृतेश्च कैवल्यार्थिनां कर्म सामान्यप्रतिषेधलाभात् कथमुक्ता व्यवस्था? शौनकादिवाक्यं च तृतीयकोटिस्थानपरं भविष्यतीति वाच्यम्।

**विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।**

**अविद्यया मृत्युं तीर्त्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥**

**आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।**

इत्यादिश्रुतेः,

**कायेन मनसा वाचा केवलैरिन्द्रियैरपि।**

**योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये॥**

इत्यादिभगवद्वाक्यैश्च कर्मणामपि कैवल्यहेतुसत्त्वशुद्धौ ज्ञानाङ्गतया साहित्यप्रतिपादनात्,

**न कर्मणा।**

इत्याद्युदाहृतवाक्यैर्वर्जनाच्च, प्रणवजपतदर्थभावनाहठयोगादिकर्मणामेव ब्रह्म विना चानुष्ठेयत्वलाभाद् उक्तव्यवस्थोपपत्तिः।

अत एव न ज्ञानकर्मसमुच्चयादप्रसंगोऽपि भगवद्भक्तिरूपाणां तेषाम्,

**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।**

**स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥**

इति वदता भगवता।

छान्दोग्ये—

**त्रयो धर्मस्कन्धाः यज्ञोऽध्ययनं दानमिति। प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचर्याचार्यकुलवासी तृतीयोऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसꣳस्थोऽमृतत्वमेति।**

इति पृथगेव प्रणवजपतदर्थभावनादिरूपेश्वरप्रणिधानवतः संन्यासिनाऽमृतबोधकश्रुत्या च कर्मशब्दाऽनभिधेयत्वप्रतिपादनात्।

**योगिनः कर्म कुर्वन्ति।**

इत्यत्र कर्मशब्दोक्तिः प्रयत्नसाध्यत्वाभिप्रायेण। तथा—

**अयन्तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्।**

इत्यत्र आत्मसाक्षात्कारे धर्मशब्दः साधनमुखेन तस्यापि प्रत्यक्षसाध्यत्वादिति दिक्।

ननु धर्माधर्मावतिसूक्ष्मौ शास्त्रैकसमधिगम्यौ। तत्र वेदनिन्दितं कर्म, यत् कृष्णस्य पराङ्गनागमनादिरूपत्वं, वेदविहितं कर्म शुक्लं तपःस्वाध्यायादिवद् यागादिकमपि ब्रह्मणे, नात्मने। क्षेत्राय राजन्यं अब्भ्यो वैश्यं तमसे शूद्रं इति मैत्रायणीयानामाश्वमेधिके कर्मणि। एवं गोसवने यावत्संवत्सरं गोव्रतं भवति, तृणानि छिनत्ति, उदकं द्विषि, उपैति मातरं, उपैति श्वसारं, उपैति दुहितरं, उपैति सगोत्रां तदेवमनु इह लोकान्जयतीति।

**य एवं विद्वान् सुरां पिबति प्रजायते वा तनुवीर्यमस्मिन्नुपरि दधाति।**

इति सौत्रामणे,

**व्रीहीनवहन्ति।**

**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत।**

इत्यादिना दर्शपूर्णमासज्योतिष्टोमादौ विहितहिंसादिघटितं उक्तमेव। एवं योगिनामप्युक्तं कर्म विहितत्वाद् युक्तमेव। तथा च शुक्लकृष्णभेदेन कर्मणो द्विविधत्वान्न चतुर्विधकथनमुचितमिति चेत्,

न।

**न वा ह्येते अदृष्टाय,**

यथा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।

**एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढाः।**

**जरामृत्युं ते पुनरेवाऽपियन्ति॥**

इत्यादिश्रुत्या षोडश ऋत्विजो यजमानः, पत्नी चेत्यष्टादश, तैर्निष्पादितानां यज्ञानामदृढत्वस्य तत्कर्तॄणाञ्च कामुकानामविद्वद्गृहस्थानां मूढत्वस्य प्रतिपादनेन,

**न हिंस्यात्।**

इति निषिद्धहिंसाघटितकर्मणः केवलशुक्लत्वव्यवच्छेदात्।

**न च विधिस्पृष्टनिषेधानवकाशः,** इति न्यायात् सामान्यनिषेधस्य च यागीयेतरत्वाद् यागीयहिंसायां न कृष्णत्वम्। अदृढत्वोक्तिस्तु तेषामनित्यफलत्वेन तत्कर्तॄणां मूढत्वोक्तिरपि अनित्यफलकामुकत्वेनेति वाच्यम्। पाककर्मणो हितकारकत्वतृप्तिसाधनत्वयोरिव यागादेरपि सुखसाधनत्वदुःखसाधनत्वयोरविनाभावेन सामान्यशास्त्रविधायकविशिष्टशास्त्रयोर्बाध्यबाधकत्वायोगात्। अत एव

जप्येनैव तु संसिध्येदात्मानं नात्र संशयः।
कुर्याद् अन्यन्न वा कुर्यान् मैत्रो ब्राह्मण उच्यते॥

इति वदता मैत्रमहिमानं प्रशंसता मनुना

इतिहासःपुराणानि पञ्चमो वेद उच्यत इति
इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्,
वेदानध्यापयामास महाभारतपञ्चमान्।

इत्यादिना श्रुतिसमोक्तमहाभारतेऽयमर्थः स्फुटीकृतो भगवता व्यासेन।

तथाहि, वनपर्वणि युधिष्ठिरं प्रति शौनकवचनम्—

ज्ञानविवित्सुर्दोषेषु कर्मसु श्रेयोघातिषु।

न च श्रेयोघातित्वं कामकृतानामेव सुरापानादिकर्मणां, न पुनर्विहितानां यागादीनां शिष्टैरपि पारुष्येण तदाचरणादिति वाच्यम्।

अष्टाङ्गां बुद्धिमाहुर्यां सर्वश्रेयोनिवासिनीम्।
श्रुतिस्मृतिसमायुक्तां राजन् कुर्वन्ति तां बुधाः॥
इज्याध्ययनदानानि तपः सत्यं क्षमा दमः।
अलोभ इति मार्गोऽयं धर्मस्याष्टविधः स्मृतः॥
अत्र पूर्वश्चतुर्वर्गः पितृयानपथे स्थितः।
कर्त्तव्यमिति यत्कार्यं नाभिमानात्समाचरेत्॥
उत्तरो देवयानस्तु सद्भिराचरितः सदा।
अष्टाङ्गेनैव मार्गेण विशुद्धात्मा समाचरेत्॥
सम्यक्संकल्पसंबन्धात् सम्यक् चेन्द्रियनिग्रहात्।
सम्यग्व्रतविशेषाच्च सम्यग्क्रतुसुसेवनात्॥
सम्यगाहारयोगाच्च सम्यगऽध्ययनागमात्।
सम्यक् कर्म तु संन्यासात् सम्यक् चित्तनिरोधनात्॥
एवं कर्माणि कुर्वन्ति संसारविजिगीषवः।

इत्यादिवाक्यैरष्टाङ्गयोगेनाऽऽसादिताऽऽत्मबुद्धेरेव सात्त्विकपुरुषकर्त्तव्यतां प्रतिपादयता शौनकेन।

अर्थ एव हि केषाञ्चिदनर्थं भजते नृणाम्।
अर्थश्रेयसि चासक्तोपश्रेयो विन्दते नरः॥
धर्मार्थं यस्य वित्तेहा वरं तस्य निरीहता।
प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्॥

इत्यादिना बहिःसाधनसाध्यानां विहितकर्मणामेव दोषदुष्टत्वं ज्ञापयताऽकर्त्तव्यत्वकथनात्। तथा गदापर्वणि जनमेजयं प्रति वैशम्पायनवचनम्। जैगीषव्ययोगिनो गृहे आगतस्याऽऽतिथ्येन पूजयित्वाऽऽगन्तुकामस्य पृष्ठतः स्वर्गादिलोकपर्यन्तं गत्वा तत्र तत्राऽश्वमेधादिकर्मवर्त्तिनां लोकानवलोक्य ब्रह्मलोकगतं जैगीषव्यं दृष्ट्वा, तत्रापि गन्तुकामं देवलं तपोदानादिसाध्यमहर्लोकस्थैः सिद्धैस्तव प्रवृत्तिर्धर्मणि दृष्ट्वा गतिर्न सम्भवतीति कथनादतिखिन्नः पुनः स्वगृहमागत्य संन्यासबुद्धिं कृतवन्तं प्रति—

**संन्यासकृतबुद्धिं तं भूतानि पितृभिः सह।**
**ततो दृष्ट्वाऽऽस्मदुःखोऽस्मान् तद्धि संविभजिष्यति॥**
**देवलस्तु वचः श्रुत्वा भूतानां करुणां तथा।**
**दिशो दशव्याहरतां त्यक्तुं मोक्षं मनोदये॥**
**ततस्तु फलमूलानि पवित्राणि च भारत।**
**पुरोरप्यश्वोपवृतैरवरोधति सहस्त्रशः॥**
**पुनर्नो देवलः क्षुद्रो नूनं छेत्स्यति दुर्मतिः।**
**अभयं सर्वभूतेभ्यो यो दत्वा नाऽवबुध्यते॥**
**ततो भूयो व्यगणयत्स्वबुद्ध्या मुनिसत्तमः।**
**मोक्षो गार्हस्थ्यधर्मो वा किं नु श्रेयस्करो भवेत्॥**
**इति निश्चित्य मनसा देवलो राजसत्तमः।**
**त्यक्त्वा गार्हस्थधर्मं स मोक्षधर्ममरोचयत्॥**

इति।

मोक्षधर्मे च भीष्म उवाच—

**अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।**
**प्रजानामनुकम्पार्थं गीतं राज्ञा विचख्नुना॥**
**छिन्नस्थूलं वृषं दृष्ट्वा विलापं च गवां भृशम्।**
**गोग्रहे यज्ञवाटस्य प्रेक्षमाणः स पार्थिवः॥**
**स्वस्ति गोभ्योऽस्तु लोकेषु ततो निर्वचनं कृतम्।**
**हिंसायां हि प्रवृत्तायामाशीरेषा तु कल्पिता॥**
**अव्यवस्थितमर्यादैर्विमूढैर्नास्तिकैर्नरैः।**
**संशयात्मभिरव्यक्तैर्हिंसा समनुवर्णिता॥**
**सर्वकर्मस्वहिंसां हि धर्मात्मा मनुरब्रवीत्।**
**कामकाराद् विहिंसन्ति बहिर्वेद्यां पशून् नराः॥**

तस्मात् प्रमाणतः कार्यो धर्मः सूक्ष्मो विजानता।
अहिंसा सर्वभूतेभ्यो धर्मेभ्यो ज्यायसी मता॥
उपोष्य संशितो भूत्वा हित्वा वेदकृताः श्रुतीः।
आचार इत्यनाचारः कृपणाः फलहेतवः॥
यदि यज्ञांश्च वृक्षांश्च यूपांश्चोद्दिश्य मानवाः।
वृथा मांसं न खादन्ति नैष धर्मः प्रशस्यते॥
सुरा मत्स्या मधु मांसमासवं कृसरौदनम्।
धूर्तैः प्रवर्तितं ह्येतत् तत् त्रिवेदेषु कल्पितमत्र
मानान्मोहाच्च लोभाच्च लौल्यमेतत्प्रकल्पितम्।
विष्णुमेवाभिजानन्ति सर्वयज्ञेषु ब्राह्मणाः॥
पायसैः सुमनोभिश्च तस्यापि यजनं स्मृतम्।
यज्ञीयाश्चैव ये वृक्षा वेदेषु परिकल्पिताः॥
यच्चापि किञ्चित् कर्त्तव्यमन्यच्चोक्षैः सुसंस्कृतम्।
महासत्त्वैः शुद्धभावैः सर्वं देवार्हमेव तत्॥

इत्यादिग्रन्थेनेति। तथा तत्रैवान्यत्र यज्ञे गवालम्भनं दृष्ट्वा सर्वज्ञेन कपिलेन **हा वेद३** इति प्लुतेन वेदानामविक्षेपेण स्वतःप्रमाणवेदेषु कथमेतत्कृतमिति सन्देहनिवृत्तये गोशरीरे प्रविश्य स्यूमरश्मिनामा ऋषिः प्रवृत्तिधर्मेष्वावश्यकत्वं निवृत्तिधर्मस्य च हेयत्वमब्रवीत्।

स्वर्गकामो यजेतेति सततं श्रूयते श्रुतिः।
पशवश्चाथ धान्यं च यज्ञस्याङ्गमिति श्रुतिः॥
गृहस्थ एव यजते गृहस्थस्तप्यते तपः।
गार्हस्थ्यमस्य धर्मस्य मूलं यत्किंचिदेजते॥
ऋणवन्तो यदा मर्त्याः पितृदेवद्विजातिषु।
श्रिया विहीनैरलसैः पण्डितैः सम्प्रवर्तितम्॥
निराशैरलसैः श्रान्तैस्तप्यमानैः स्वकर्मभिः।
शमस्योपरमो दृष्टः प्रव्रज्यायामपण्डितैः॥
कस्यैषा वाग् भवेत् सत्या मोक्षो नास्ति गृहादिति।
अश्रद्दधानैरप्राज्ञैः सूक्ष्मदर्शनवर्जितैः॥
प्रजनाद्यभिनिर्वृत्ताः सर्वे प्राणभृतो जनाः।
प्रजनं चाप्युतान्यत्र न कथंचन विद्यते॥

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञानां परश्चेति विनिश्चयः।
वेदवादविदश्चैव प्रमाणमुभयं तदा॥
एतानि सह यज्ञेन प्रजापतिरकल्पयत्।
तेन प्रजापतिर्देवान् यज्ञेनायजत प्रभुः॥

इत्यादिवाक्यैः प्रतिपादयन्तं योगिस्यूमरश्मिं प्रति—

अपवर्गेऽथ संत्यागे बुद्धौ च कृतनिश्चयाः।
विशोका नष्टरजसस्तेषां लोकाः सनातनाः॥
तेषां गतिं परां प्राप्य गार्हस्थ्ये किं प्रयोजनम्।
ब्रह्मणैव स्म ते देवांस्तर्पयन्त्यमृतैषिणः॥
एतावदनुपश्यन्ति यतयो यान्ति मार्गगाः।
नैषां सर्वेषु लोकेषु कश्चिदस्ति व्यतिक्रमः॥
ज्ञानं प्लावयते सर्वं योऽज्ञानं ह्यनुवर्तते।
ज्ञानादपेत्य या वृत्तिः सा विनाशयति प्रजाः॥
शास्त्रं ह्यबुद्ध्वा तत्त्वेन केचिद् वादबलाज्जनाः।
कामद्वेषाभिभूतत्वादहङ्कारवशं गताः॥
याथातथ्यमविज्ञाय शास्त्राणां शास्त्रदस्यवः।
ब्रह्म-स्तेना निरारम्भा दम्भमोहवशानुगाः॥
नैर्गुण्यमेव पश्यन्ति न गुणाननुयुञ्जते।
तेषां तमःशरीराणां तम एव परायणम्॥
आनृशंस्यं क्षमा शान्तिरहिंसा सत्यमार्जवम्।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा शमस्तथा॥

इत्यादिवाक्यैः सात्त्विकेन मुमुक्षुणा—

त्याग एव हि सर्वेषां मोक्षसाधनमुत्तमम्।
त्यजतैव हि विज्ञेयं त्यक्तुः प्रत्यक् परं पदम्॥

इति श्रुत्यनुसारात्

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ् समाः।

इत्यादिश्रुत्या नित्यकर्त्तव्यतया बोधितानि दर्शपूर्णमासाग्निहोत्रादिरूपाणि राजसाधिकारिकाणि हिंसादिवद्धटितानि तु सूनादीनि नाम साधिकारिकाणि त्याज्यानीत्युक्तम्।

तथैव पितापुत्रसंवादेऽपि—

**तातैतद्बहुशोऽभ्यस्तं जन्मजन्मान्तरेष्वपि।**
**त्रयीधर्ममधर्माख्यं न सम्यक् प्रतिभाति मे॥**

तथा नारदेन भीष्मं प्रति किञ्चिदुञ्छवृत्तेन उक्तम्। तथाहि,

**सत्याख्येनोञ्छवृत्तिना केन विदूषिणा।**
**यदन्तः पुरुषो लोके तदन्तः पितृदेवता॥**

इत्यादिशास्त्रमवलम्ब्य रामादीनां तादृगनुष्ठानञ्च श्रुत्वा श्यामाकादिभिर्यज्ञे क्रियमाणं तद्धर्मपरीक्षार्थं धर्मः स्वयं मृगो भूत्वा तमाह—

**यदि मन्त्राङ्गहीनो यो यज्ञो भवति वैकृतः।**
**मां भो भक्षीय होत्रे त्वं गच्छ स्वर्गमनिन्दितः॥**
**ततस्तु यज्ञे सावित्री साक्षात्तं स न्यमन्त्रयत्।**
**निमन्त्रयन्ती प्रत्युक्ता मानसं सहवासिनम्॥**

इति वदता सत्येन

**पर्यग्निकृतानाख्यानुत्सृजन्तीति शास्त्रदृष्ट्या मृगस्त्यक्तः।**
**ततः स हरिणो गत्वा पदान्यष्टौ न्यवर्त्तत॥**
**सा च हिंसय मां सत्य हतो यास्यामि सद्गतिम्।**
**पश्य ह्यपसरसां दिव्यां मया दत्तेन चक्षुषा॥**
**मृगमालोक्य हिंसायाः स्वर्गवासं समर्थयत्।**
**स तु धर्मो मृगो भूत्वा बहुवर्षोषितो वने॥**
**तस्य निष्कृतिमाधत्त न ह्यसौ यज्ञसंविधिः।**
**तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा॥**
**तयोर्महत्समुच्छिन्नं तस्माद् हिंसा न याज्ञिया।**
**ततस्तं भगवान् धर्मो यज्ञं याजयत स्वयम्॥**
**सा समानं सभार्याय लोभेन तपसा परम्।**
**अहिंसा सफलो धर्मो हिंसाधर्मस्तथा हितः॥**

इत्यादिना विहितहिंसादेरपि कृष्णत्वस्यैव स्फुटीकरणात्।

**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।**
**निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्॥**
**यावनर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।**
**तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥**

इत्यादिना कर्मकाण्डस्य

**नाल्पे सुखमस्ति।**

इति श्रुत्यवगतदुःखरूपगुणत्रयकार्यपरिच्छिन्नार्थपरत्वम्। तत एव तत्त्यागेनाऽऽत्मज्ञस्य सर्वानन्दावाप्तिं च वदता भगवताऽपि तथैव ज्ञापनाच्च। अत एव मनुनाऽपि—

**यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।**
**आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥**
**एतद्धि जन्मसाफल्यं ब्राह्मणस्य विशेषतः।**
**प्राप्यैतत्कृतकृत्यो हि द्विजो भवति नान्यथा॥** इति

ननु यद्येवं तदा ज्योतिष्टोमादिकर्माण्युद्दिश्य अशुद्धमिति चेत्, न।

**शब्दादिति**, प्रणयनं भगवतो बादरायणस्य व्यर्थं स्यादिति चेत्, न। तस्य सर्वं वाक्यं सावधारणमितिन्यायेन मारणाख्यं कर्म हिंसादिदोषघटितत्वाल्लौकिकतादृशवदशुद्धं कृष्णमेव इति चेत्, न।

**अग्निषोमीयं पशुमालभेत।**

इति विधिशब्दात् कामुकानां शिश्नोदरार्थिनां देवतोद्देशेन तद्विधायकशब्दादिति यावत्। अन्यथाऽशुद्धत्वव्यवच्छेदकार्थस्य शुद्धमेव शब्दादिति सावधारणकस्य शुद्धं शब्दादित्येव सूत्रस्य प्रणयनसम्भवेन न तु द्वयगर्हितं, प्रणयनवैयर्थ्यापत्तेः। तस्मान्नेदं छिन्नं केवलशुद्धत्वमात्रैः, किन्तु केवलाशुद्धव्यवच्छेदकमिति न तद्विरोधलेशोऽपि।

न चात्रैतस्य शुद्धत्वमात्रपरत्वाभिप्रायसमर्थकस्य भगवत्पादीयभाष्यविरोध इति वाच्यम्। मीमांसकमतानुसारेण तस्य तादृशार्थपरत्वात्। अत एव पुराणेषु स्वयमेव भगवता व्यासदेवेन हिंसादिवर्तिनां चतुर्णामप्यसमानं साक्षात्परम्परया मोक्षसाधनत्वं तत्तदा समाभिमानेन स्वशास्त्रविहितकर्मानुष्ठायिनां तु तत्तदुचितलोकावाप्तिः। सर्वथा यमिनां संन्यासिनां तु मोक्षः कपिलेनैवोक्तः—

**देवयानादिवै यानं चत्वारः शाश्वता मताः।**
**एषां ज्यायः कनीयस्त्वं शास्त्रेषूक्तं बलाऽबलम्॥**
**एवं विदित्वा सर्वार्थानारभेतेति वैदिकम्।**
**नाऽऽरभेतेति वान्यत्र नैष्ठिकी श्रूयते श्रुतिः॥**
**अनारम्भे ह्यदोषः स्यादारम्भे दोष उत्तमः।**
**एवं स्थितस्य शास्त्रस्य दुर्विज्ञेयं बलाऽबलम्॥**
**संन्यासी मोक्षमाप्नोति ब्रह्मलोकं वनाश्रमी।**
**स्वर्लोकमृषिलोकं वा गृहस्थब्रह्मचारिणौ॥**

इत्यादिना। अयमत्र निष्कर्षः

**जायमानो वै नरस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् भवति।**

**ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्य प्रजया पितृभ्यः ॥**

इत्युक्तश्रुतेर्यथान्विताश्रमैरनधीत्याऽनिष्ट्वा, प्रजामनुत्पाद्य वाऽनृणत्वस्याऽसम्भवात्,

**ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत्।**

**अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानः पतत्यधः ॥**

इत्यादिना पापफलस्य पतनस्य श्रवणान्नित्यतया प्राप्तेश्च

**असमयेषु संन्ध्यावन्दनादेरिव गार्हस्थ्ये।**

**वसन्ते वसन्ते ब्राह्मणोऽग्नीनाऽऽदधीत।**

**वसन्ते ज्योतिषा यजेत।**

**प्रतिसंवत्सरं सोमेन।**

इत्यादिश्रुतिस्मृतिभिर्नित्यतया विहितेष्वग्निहोत्रज्योतिष्टोमादिषु विहितो व्रीहिपश्वाद्यालम्भो न कामकारः, किन्तु नित्याऽकरणे प्रत्यवायश्रवणात्। तथा च संध्यादिवन्नित्यस्य यज्ञादेः,

**प्रवृत्तिसंज्ञके धर्मे फलमभ्युदयः परः।**

**न हि धर्माद्भवेत्किञ्चित्पापं नरकदं क्वचित्॥**

**धर्मः प्रज्ञां वर्द्धयति मानस्तु च पुनः पुनः।**

**वृद्धप्रज्ञस्तपश्चर्या पापं नारभते क्वचित्॥**

**धर्मेण पापमपनुदति।**

**न हि कल्याणकृत् कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।**

इत्यादिपुराणेतिहासादिवाक्यैः पापाजनकत्वव्याप्यं शुक्लत्वमेव प्रतीयते, न पापजनकत्वव्याप्यं कृष्णत्वम्। तथा सति सदभावस्य प्रत्यवायजनकत्वं नोच्येत। न हि पापजनकत्वं पराङ्गनागमनादिरूपकर्मणोऽभावः प्रत्यवायसाधनमिति वक्तुं युक्तं च शुभं वा कृतं वा कुत्रचित् कदाचित् केनचित्। अपि च,

**पदे जुहोति, वर्त्मनि जुहोति।**

इत्यादिविशेषविधिना

**आहवनीये जुहोति।**

इति सामान्यविधिर्बाध्यते।

**अग्नीषोमीयं पशुमालभेत।**

इति विधायकविशेषविधिना

**न हिंस्यात्।**

इति साक्षात्सामान्यनिषेधो निन्दार्थवादानुमितनिषेधश्च बाध्यत एव, सामान्यस्य विहितातिरिक्ते सावकाशत्वात्। आनुमानिकविशेषस्य च प्रात्यक्षिकविधितो दुर्बलत्वात्। अन्यथा तेन बलवद्द्वेषविषयाऽनिष्टसाधनताबोधरूपां निवर्त्तनां कुर्वतेष्टसाधनत्वप्रति- क्षेपान्नित्यप्राप्तालम्भनादेः प्रवर्तनाविषयत्वानुपपत्तितो विधिर्बाध्येत। न चैतद्युक्तमति- प्रसंगात्। तस्मादुक्तो विशेषविधिर्बलवदिच्छाविषयस्वर्गादिसाधनताबोधरूपां प्रवर्त्तनां कुर्वन् स्वविषयस्य यागादेरनर्थसाधनत्वाभावमप्यर्थादाक्षिपति विधिविषयस्यानर्थसाध- नत्वाऽभावादुक्तमेव। नञोऽसत्वे लिङादिविधेः प्रेरणाऽपरपर्याया प्रवर्त्तनैवार्थः। नञः- सत्वे तु निवर्त्तनैव। ते च प्रवृत्तिनिवृत्तिप्रयोजकव्यापारद्वयम्।

तत्र प्रधानविधिप्रवृत्तौ भाव्यत्वेन स्वर्गादिफलमन्वेति। अङ्गविधौ तु प्रधानं कर्मैवाऽन्वेति। अङ्गविधिपर्यालोचनया तथैव लाभात्। तथा च हिंसादिविधिना क्रतो- र्हिंसादिसाध्यत्वलाभः। निषेधविधिना तु हिंसाद्यनर्थसाधनत्वलाभः। अत्र चानर्थसाधनं त्ववगतमपि न प्रधानविधिर्बाधं प्राप्नोति। अङ्गजन्याऽनिष्टे प्रधानस्याऽप्रयोजकत्वात्। अतो विषयभेदेनाऽविरोधान्न तयोर्बाध्यबाधकभावः सम्भवतीति। क्रत्वर्थापि हिंसा दुष्टैवेति, तद्घटितं कर्म न शुक्लमेव, किं तु कृष्णमपीति चेत्, सत्यं, यद्यप्यङ्गविधिपर्या- लोचनायां नास्ति विरोधस्तथापि ज्योतिष्टोमविधिः साङ्गप्रधानं पुरुषस्य विहितपुरुषार्थ- हिंसानिषेधमग्नीषोमीयहिंसायामनवरतम्।

न ह्यग्नीषोमीयहिंसां वर्जयित्वा ज्योतिष्टोमः शक्यते अनुष्ठातुम्। तत्र च निषेध- प्रवृत्तौ प्रधानविधिरेव बाध्येत। निषिद्धाङ्गं न प्रधानं केवलं कारणं, साङ्गस्यैव फलसाध- नत्वश्रवणात्। तस्मादस्ति विरोध इति सामान्यबाधः। अतः हिंसाया अदुष्टत्वात् तद्घटितं कर्म ज्योतिष्टोमादिकं शुक्लमेव।

एवं श्येनस्यापि वैधप्रवर्त्तनाविषयत्वात् पुरुषकामितपुरुषार्थसाधनत्वाच्च। धर्म- त्वमेव अभिचारहीनं च त्रिभिः कृच्छ्रैर्व्यामोहनित्यादिप्रायश्चित्तं तु तत्र तज्जन्यफलस्य शत्रुवधस्याऽशास्त्रीयस्य नरकरूपाऽनिष्टसाधनाऽधर्मत्वात्। अत एवास्मात् काम्या- न्नित्यानां ज्योतिष्टोमानां भेदः। तत्र फलसाधनयोरप्यनिष्टसाधनत्वाभावात्।

तस्माद्विधिविषयः सर्वोऽपि हिंसादिवर्जस्तदनुष्ठितो वा धर्म एव शास्त्रप्रामाण्या- दिति जैमिनीयानामाशयः। तथा फलसाधने रागत एव प्रवृत्तिसिद्धेर्न तु यागस्य प्रवर्त्तक- त्वम्। तेन श्येनस्य रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वादौदासीन्यान्न तस्यानर्थहेतुत्वं विधिना प्रतिक्षिप्यते।

अग्नीषोमीयहिंसायां तु क्रत्वङ्गभूतायां फलसाधनत्वाभावेन रागाभावाद्विधिरेव प्रवर्त्तकः। स च स्वविषयस्यानर्थहेतुतां प्रतिक्षिपतीति। प्रधानभूता हिंसा अनर्थं जनयति, न क्रत्वर्थेति। न हिंसाया निश्चितत्वेन ज्योतिष्टोमादेर्दुष्टत्वमिति जैमिनीयैकदेशिनां प्राभाकराणामाशयः।

तथा श्येनादेरभिचारस्य साक्षाद्वेदेन निषेधात्। प्रायश्चित्तोपदेशाच्च बलवदनिष्टाऽजनकत्वरूपविध्यर्थस्य बाधादधर्मत्वम्। अग्नीषोमीयहिंसादेस्तु निषेधाद्यश्रवणाच्च बलवदनिष्टाऽजनकत्वरूपविध्यर्थस्याऽबाधाद् धर्मत्वमिति तार्किकाणामाशयः। साधुश्चैतद् भाति शास्त्रप्रामाण्याऽभ्युपगन्तॄणाम्।

धर्माधर्मयोः शास्त्रैकप्रमाणत्वादिति चेत्, सत्यम्। अत्रायमभिप्रायः पतञ्जलिकपिलव्यासप्रभृतीनां **न हिंस्यात्** इति निषेधशास्त्रं हिंसाविधायकविशेषशास्त्रेण बाध्यते। तेन हिंसामात्रस्यानर्थसाधनत्वावगतावपि वैधहिंसायां क्रतूपकारकत्वस्य तद्घटितप्रधाने च स्वर्गादिफलसाधनत्वस्यावगतौ बाधकाभावात्।

न हि अनर्थसाधनत्वावगतप्रवर्तनाविषयत्वं विरुध्येत्, येन प्रवर्तना स्वविषयस्याऽनिष्टसाधनत्वमाक्षिपेत्। तादृशानर्थे बलवद्द्वेषाणाञ्च दशायां स्वर्गादौ रागौत्कट्यमात्रेण प्रवृत्त्युपपत्तेः। अत एव लौकिकहिंसाद्यनेकानर्थेऽपि तज्जन्यानर्थे बलवद्द्वेषाऽभावदशायां तात्कालिकेष्टे रागौत्कट्यमात्रेण दृश्यते प्रवृत्तिः। वस्तुतस्तु बलवद्द्वेषविषयाऽनिष्टसाधनमिदमिति ज्ञानसत्त्वेऽपि दृश्यते रागौत्कट्यादास्तिकस्य मुमुक्षोरपि प्रवृत्तिरिति बलवद्द्वेषविषयोद्दिष्टेष्टसाधनताज्ञानस्य उत्कटरागजन्यप्रवृत्तावेव विरोधित्वं कल्प्यते।

तथा च तादृशाऽनर्थे साक्षान्निषेधवाक्यैर्निन्दार्थबादानुमितवाक्यैर्यागादौ बलवद्द्विष्टसाधनत्वेऽवगतेऽप्यास्तिककामुकस्य स्वर्गादौ रागौत्कट्यादुपपद्यते प्रवृत्तिः। सर्वत्रैव हि विधिना सर्वस्यैवाधिकारिणो यागादौ रागौत्कट्याऽविषया या स्वर्गादितत्साधनताबोधमात्ररूपा प्रवर्त्तनैव क्रियते। रागद्वेषयोरौत्कट्यं तु जन्मान्तरीयकर्मवशात् कादाचित्कमेककालिकञ्च। न तत्र विधिनिषेधयोर्व्यापारः। तद्व्यापारभूतयोश्च कर्म बलाबलतारतम्येन पापाद्यनिष्टसाधनत्वस्वर्गसाधनत्वयोस्तात्कालिकसुखदुःखसाधनत्ववन्नैव कश्चिद्विरोधः। अतः,

**भूतिकामो वायव्यं श्वेतमालभेत।**

इति वायव्यादिपशुहिंसायाः प्रत्यवायसाधनत्वैकरूपकारकत्वभूत्यादिसाधनत्वादिविरोधित्वाच्च निषेधस्तद्भिन्नपरत्वेन संकोच्यते। अत्र संकोचे मानाभावात्। यत्रापि

नित्यपशुयागस्थले अकरणे प्रत्यवायश्रवणम्। तत्रापि करणे स्वल्पः प्रत्यवायोऽकरणे तु भूयानित्येवं कल्पनात् प्रवृत्त्युपपत्तेर्न कश्चिद्विरोधः।

न हि धर्माद्भवेत्किञ्चित्पापमित्याद्युदाहृतवाक्यं तु तुल्यबलपापाऽजनकत्वव्याप्यं शुक्लत्वं बोधयति। न तु केवलं पापजनकत्वव्याप्यं पापं, कथमिति वाक्यशेषेणैव तथा प्रतिपत्तेः। अन्यथा,

**तस्य तेनानुभावेन मृगहिंसात्मनस्तदा।**

**तपो महत्समुच्छिन्नं तस्माद् हिंसा न यज्ञिया॥**

इत्यादिमोक्षधर्मीयोदाहृतवाक्यैर्यज्ञीयहिंसाया दुष्टत्वं प्रतिपाद्यमानं वितुद्येत। तस्मात्सिद्धं यज्ञीया हिंसा प्रधानाङ्गविधिविषयत्वात् प्रधानमुपकरोति समिधादिवद् इष्टोपपत्तिनाऽऽन्तरीयकमनर्थं च जनयतीति। तद्घटितज्योतिष्टोमादिकं कर्म शुक्लकृष्णं विधितो निन्दार्थवादानुमितनिषेधात् षोडशिग्रहणाऽग्रहणवत्कृताऽकृतमेव। तद्दोषसहिष्णोस्तत्राधिकार इति न्यानेन न श्येनादिष्विव कामकारकृतमेव अश्रद्दधानस्य तत्र प्रवृत्तिः। अपि च,

**उपनयनादूर्ध्वमेनानि प्राग्वद्विसृजेत्।**

इयं मानुषी श्रुतिः।

**यदि वेतरथाऽब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्।**

**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥**

इत्यादिजाबालश्रुत्याऽनावश्यकतया सूचितेषु ब्रह्मचर्याद्याश्रमेषु सलिङ्गेष्वनित्येषु गार्हस्थ्यस्य,

**शिश्नोदरकृतेऽप्राज्ञो विवसं बहु भुञ्जते।**

**मोहरागवशाक्रान्त इन्द्रियार्थवशानुगः॥**

**मनोपस्थेन्द्रियस्येह विषयान्याति सेवितुम्।**

**तस्यौत्सुक्यं च भवति प्रवृत्तिश्चोपपत्तितः॥**

**ततो विहारैर्नात्मानं स सम्यगवबुध्यते।**

**अविद्यानां गतिस्त्वेषा बुध्यतां योग उत्तमः॥**

इत्यादिशौनकवाक्योपोद्बलिताऽनुभवप्रमाणकशिश्नोदरार्थे हेतुरागद्वेषकृतत्वेनाऽतितुच्छत्वात् सुतरां तन्मूलकरागनित्यत्वं तुच्छत्वञ्च। अतो रागिणः पुरुषस्य मुमुक्षोः शुद्धकरणे प्रत्यवायगन्धोऽपि नास्ति, उक्तवाक्यैरेव व्यवस्थालाभसम्भवात्।

न च ऋणित्वश्रुतिविरोधः। इत्थञ्च ऋणिश्रुतौ जायमान इत्यस्यापि नोत्पद्यमान

इत्यर्थः, किन्त्वधिकारिसम्पद्यमान इत्यर्थः। न चात्र किं विनिगमकमिति वाच्यम्। आश्रमाऽनित्यबोधकप्रमाणस्य नैष्ठिकब्रह्मचर्याद्यङ्गीकारेण जायमानप्रजोत्पादनाऽनङ्गीकारपक्षादेश्च विनिगमकत्वात्। न च ऋणित्वश्रुतिविरोधात्,

**यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहूयात्।**

इत्यादिविधिविरोधाय संन्यासादिश्रुतिरेवाऽन्धपंग्वादिविरक्तपरा भविष्यति।

**तत्रैव शक्यते वक्तुमन्धपंग्वादयो नराः।**

**गृहस्थे हि न शक्नोति कर्तुं तेषामिमं विधिम्॥**

**नैष्ठिकब्रह्मचर्यं वा परिव्राजकतापि वा।**

इति मीमांसावार्त्तिककृद्भिस्तथा प्रतिपादनादिति वाच्यम्।

**यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्।**

इति प्रत्यक्षसंन्यासविधितो ऋणश्रुतेरर्थवादस्य दुर्बलत्वात्। अतः सन्निहितयावज्जीवाग्निहोत्रविधिस्तुतिमात्रपरस्य विध्यन्तरकल्पनेऽसामर्थ्यात्। कल्पनेऽपि वा रागवदाऽऽधिकारिकविधेरेव कल्पनात्। तद्विरोधेन न संन्यासविधिः संकोच्यते। प्रत्यक्षश्रुतिसंकोचापेक्षयाऽर्थवादबाधस्यैवौचित्यात्।

अपि च मीमांसायां विधानार्थाऽसमर्थेऽधिकारित्वादिवाक्यैः श्रुत्यर्थज्ञानवतः कर्मफलरागिणः समर्थस्यैव कर्मण्यधिकारप्रतिपादनात्। जातमात्रस्य श्रुत्यर्थबोधाऽनर्हस्याधिकारत्वाऽयोगात्। कर्मफलाऽनभिलाषिणां गर्गाक्षपादशुक्रवसिष्ठमार्कण्डेयशौनकप्रभृतीनामसमर्थानां शिलोञ्छवृत्तिमुद्गलप्रभृतीनां गृहस्थानामपि नित्यज्योतिष्टोमाद्यकरणश्रवणात्। अकरणे प्रत्यवायाऽश्रवणात्। देवलप्रभृतीनामनुत्पादितसुतानामपि संन्यासश्रवणाच्च जायमानपदं लाक्षणिकं वाच्यमिति।

ऋषीणामभिज्ञनिष्कामाऽसमर्थभिन्नपरत्वेनाऽवश्यं संकोचनीयम्। तथा च न तदनुरोधात् संन्यासविधीनां संकोचः शक्यः कर्तुं केनापि। एवं यावज्जीवाऽग्निहोत्रविधिरपि रागिसमर्थविज्ञपरतयैव व्यवस्थाप्यते। रागाभावेऽग्निहोत्रानुष्ठानासम्भवात्। संन्यासे यदहरेवेत्येवकारोदये क्षणीयान्तराऽभावावगमाच्च। एतदपि प्रेत्यैव वेदान्तवार्त्तिकेऽप्युक्तम्।

**न चेहाऽविदुषोऽपि स्यादृणित्वं हेत्वसम्भवात्।**

**न किञ्चिन्नः सुरैर्वृत्तं ऋणित्वं येन नो भवेत्॥**

शास्त्रादृणित्वमिति चेत्, न। शास्त्रस्यार्थवादतः अवदानविधेरर्थवादो ऋणिवचः श्रुताविति। तस्मात्सिद्धमवशीकृतचित्तेन रागिणा शुक्लकृष्णानि कर्माणि प्रायो वशीकृते,

न तु शुक्लान्येव सर्वथा वशीकृते, न तु संन्यासादिनाऽशुक्लाऽकृष्णान्येव कार्याणि नान्यानि। जातबोधस्य विरक्तस्य

**त्यज धर्ममधर्मञ्च उभे सत्याऽनृते त्यज।**

**उभे सत्यानृते त्यक्त्वा तस्मात् त्यजसि तत् त्यज॥**

इत्यादिना शुक्लकृष्णयोर्द्वयोस्तद्बीजस्य च त्यागप्रतिपादनात्। पितापुत्रसंवादेऽपि पुत्रस्याऽशुभभयादिग्रहात् प्रागेव जातबोधस्य धर्मार्थदयात्रयीधर्मत्यागलाभाच्च। अतो ऋणानि त्रीण्यपाकृत्येतिमनुवाक्यमप्यपक्वचित्तपरतयैव नेयम्। यः पक्वकषायः पुरुष आपातबोधजातवैराग्येण क्रोधवियोगादिजनितेन तौष्टिकेन वा गार्हस्थ्यादेस्तुच्छत्वमभिसंधाय हठात् ऋणान्यनपाकृततयाऽकृतमोक्षः शमं संन्यासं करोति, स अधो याति नान्यो भगवद्भक्तादिरिति तादृशस्य यजने प्रजोत्पादने च समर्थस्यापि देवर्षितुल्यानां चित्तानाम्,

**न किंकरो नायमृणी च राजन् सर्वात्मना यः शरणं शरण्यम्।**

**गतो मुकुन्दं परिहृत्य कृत्यं तत्पादमूलं भजतः प्रियस्य॥**

**त्यक्तान्यभावस्य हरिः परेशः,**

**विकर्म यच्चोपपतितं, कथञ्चिद् धूनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टम्॥**

इत्यादिना निष्कामत्वभक्त्या माहात्म्येनैवानृणित्वनिष्पापयोः प्रतिपादनात्।

न चार्थित्वनिष्कामत्वयोः स्वाधीनत्वाद् इष्टां प्रजां चोत्पाद्यैव निष्कामभक्तिरुचिता। अत एव जरत्कारप्रभृतेर्गार्हस्थ्याऽसम्पादनमपि श्रूयत इति वाच्यम्। परीक्ष्य कर्मचिताञ्छोकान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्।

**नास्य कृतः कृतेन।**

इति श्रुत्या निर्वेदस्य कर्मफलाऽनित्यत्वबोधादिपरीक्षामात्रकर्त्तव्यत्वोक्त्या गार्हस्थ्योत्तरकर्त्तव्यत्वादिविषयाभावात्।

**पूर्वाऽभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि**

**सः सदृशं चेष्टते। तस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि॥**

इत्यादिना रागनिर्वेदादयः प्राक्तनसंस्काराधीनत्वं वदता भगवता स्वाधीनत्वाऽभावप्रतिपादनाच्च। अपि च

**यदहरेवैनस्तदहरेवोपरमेदधीत्याथ यजेत्।**

इति शतपथश्रुतेराधानादिषु सश्रद्धोपकारित्वम्। श्रद्धा चाधीतवेदस्याऽऽपाततः प्रतिपन्नवेदार्थस्य अदृढेत्याद्युदाहतश्रुत्या यज्ञानामदृढत्वं दर्शयन्त्या प्रागेवापनीता। तया च गृहस्थस्याप्यधिकारिणः श्रद्धाऽधीनस्यैव रागौत्कट्यात् तत्र प्रवृत्तिः। यथा केवलकृष्णे

कदाचिद्विज्ञाऽविज्ञस्य वा। न चोपनिषदध्ययनात् यागे च यज्ञपतिः सम्भवति। येन निन्दाश्रवणात् प्रागेववत्र श्रद्धाऽऽवश्यकत्वबुद्धिश्च सम्भाव्येत।

**स्वाध्यायोऽध्येतव्यः।**

इति ब्रह्मचर्येण नार्थज्ञानपर्यन्तस्योपनिषदध्ययनस्य सिद्धत्वात्। यदि तु काण्डद्वयव्यापि अपि पूर्वकाण्ड एव श्रद्धावान् भवति, तर्हि तस्य मोहशंकारागवशात् तस्य ऐन्द्रियरागस्य कर्मनिबन्धनमधरीकुर्वतस्तत्त्वज्ञानासिना छिन्नः। अतो न नः किञ्चिच्छिन्नम्। सर्वथाऽप्यज्ञानाद् रागौत्कटनादेव हिंस्रकर्मणि प्रवृत्तिरिति सिद्धम्। वस्तुतस्तु स्वर्गपदार्थः—

**यन्न दुःखेन संभिन्नं न च ग्रस्तमनन्तरम्।**
**अभिलाषोपनीतं च तत्सुखं स्वःपदास्पदम्॥**

इति शास्त्राद्दुःखाऽसंस्पृष्टं धारावाहिकं सुखं तच्च जगतः स्वत एव काम्यं, तत्साधने च साङ्गे रागत एव प्रवृत्तिः सम्भाव्यते। साधनतामात्रं च वेदादवगम्यते। यथा शत्रुवधो दुःखनिदाननिवृत्तितया सर्वस्य काम्यः तत्साधने च रागत एव प्रवृत्तिः। साधनतामात्रं श्येनस्य वेदेन बोध्यते, एतावन्मात्रेण च न विधिविषयत्वमिष्टसाधन-तयाऽवगतेऽपि रागं विनाऽनुष्ठानाऽसम्भवात्। अतो रागजन्यप्रवृत्तिविषयत्वात् श्येन इव साङ्गज्योतिष्टोमाऽवधिरौदासीन्यमेव।

यथा वा ऋतुगमनसौत्रामणीसुराग्रहादौ ऋतुकालादावपि व्यवायादेः रागत एव प्राप्तत्वात्। तदुक्तं भागवते—

**लोके व्यवायामिषमद्यसेवानित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।**
**व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासुनिवृत्तिरिष्टा॥**

इति। अयमर्थः, हि यस्मात् लोके प्राणिनां व्यवायः स्त्रीसम्भोगः। आमिष-मद्यसेवा आमिषं मांसादि, मद्यं सुरा, अनयोः सेवा भक्षणं, पानं चरति। नित्यास्तु रागत एव यास्ता एव, तेषां रागौत्कट्येन तत्साधनतया गतेषु रागत एव प्रवृत्तेरानुभावि-कत्वात्। तत्र तेषु व्यवायादिषु न चोदना ऋतौ भार्यामुपेयात्।

**सौत्रामण्यां सुराग्रहान् गृह्णाति।**

इत्येवं वाक्यं न विधिः। नाऽत्यन्ताऽप्राप्तप्रापकविधिः, किन्तु नियमविधिरूप-मित्याह—**व्यवस्थितिरिति**। तेषु व्यवायामिषमद्यसेवासु विवाहयज्ञसुराग्रहैर्व्यव-स्थितिः। स्वीयायां न परकीयायाम्, स्वीयायामपि ऋतुदिनेषु तद्भिन्नदिनेषु च रागतः प्राप्तं मैथुनं, विवाहे न स्वीयायां ऋतुदिनेष्वेव। एवं रागतः सदाप्राप्तमामिषभक्षणं ज्योतिष्टो-मादियज्ञ एव।

**सुरापानं च सौत्रामणे यज्ञ एव कर्त्तव्यम्।**

इत्येवंविधानुमतिरूपनियमो व्यवस्थितिः। यथा

**व्रीहीनवहन्ति।**

इत्यत्र पुरोडाशसाधनीभूततुषविमोकसाधनतया लोकत एव प्राप्तं नखविदलनावघातश्च। तत्र नखविदलनपक्षेऽप्राप्तस्यावघातमेव कुर्यादिति। न तु तथापि तत्र नियमादृष्टलाभेन तत्र कुर्यादेव नियमलाभादावश्यकतेत्याशङ्क्याह—**आसु निवृत्तिरिष्टेति।** आसु व्यवायामिषमद्यसेवासु निवृत्तिः परिसंख्यैवेष्टा, नाऽयोगव्यवच्छेदफलको नियमः, प्रापकप्रमाणप्रवृत्त्युत्तरमेवास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तेः। यथा वा प्राप्तेयं पञ्चनखभक्षणे।

**पञ्च पञ्चनखा भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।**
**शशकः श्वाविधो गोधा शशः कूर्मश्च पञ्चमः॥**

इति परिगृहीतपञ्चातिरिक्तमार्जारादिनिवृत्तिफलकत्वात्। उपलक्षणमेतत् यागीयहिंसादेः।

**हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदना।**

इत्यादिना भागवते तत्रापि विधिविषयत्वनिरासात्। यद्यपि नित्यनैमित्तिकयोः कामनाविशेषानुबन्धो नास्ति, किन्तु नित्यनैमित्तिकयोरकरणे प्रत्यवायमात्रम्। अकरणे प्रत्यवायभियैवानुष्ठानाद्विधिविषयत्वमपि। अतो न श्येनादाविव रागप्राप्तत्वमपि। तथाहि,

**श्येनेनाभिचरन् यजेत।**

इति सामानाधिकरण्येन श्येनकर्तृकतयाऽवगतस्याऽभिचारस्य मरणानुकूलविषदानादिरूपस्य मरणप्रयोजकव्यापारस्य श्येनफलस्य प्रमाणान्तरतोऽवगतत्वात् तत्साधने श्येने सम्भवति रागतः।

**न हिंस्यात्।**

इति निषेधविषयत्वेन विधिशक्तिस्फुटीभावश्च श्येनेनावश्यं वैरिमरणमिति। नैवमग्नीषोमीयहिंसायां तत्फलस्य तद्घटितप्रमाणान्तरतोऽप्राप्तत्वात् तत्साधने रागतः प्रवृत्तेर्बाधात्।

यदि व यथाकथञ्चित्फलज्ञानमादाय तज्जनितोपायेच्छाप्रयुक्तकृतिविषयत्वरूपाद् रागतः प्राप्तिः समानेत्यभिमानस्तदा सर्वत्रैव विधिलोपप्रसङ्गः। सुखे सुखसामान्येच्छया योऽर्थः इच्छयैव सर्वप्रवृत्तेः विशिष्य तत्तत्सुखरूपविशेषज्ञानमित्यर्थः। ज्ञानं प्रकृतेऽपि समानम्। अतो ऋतुकालीनगमनादिफलभूतायाः प्रजायाः विधिप्रवृत्तिर्नापि उपप्लवते, तन्निमित्तीकृत्य ऋतुगमननियमनद्वाराऽन्यदा सम्भोगमात्रनिवृत्तिर्लभ्यत इति युक्तम्।

तत्र न चैव परम्परया प्रत्यवायनिवृत्तिर्वा, तच्च न मानान्तरेणाऽवगतम्। पुरोवादाभावाच्च नानुवादरूपमपि। वाक्यं यदा लभेत तदाऽग्नीषोमीयमिति देवतामात्रविधायकं येन सामान्येन आलभतेरवगतफलकत्वं स्यात् किन्तु पशुविशिष्टं कर्म, पशोश्च संस्कारात् हृदयस्याग्रेऽवद्यतीत्यादिना विधीयन्ते। तस्मात् चोदनेत्यनेन तत्र विधिविषयत्वखण्डनं न युक्तम्।

शास्त्रेणैवेष्टसाधनत्वावगमात्, प्रवृत्तेः रागतः प्राप्तत्वाऽभावात्। तथापि,

**अकामस्य क्रिया काचित् दृश्यते नेह कर्हिचित्।**

**यद् यद्धि कुरुते जन्तुस्तत्तत्कामस्य चेष्टितम्॥**

इति स्मृतेर्नित्ये नैमित्तिके च सर्वत्रेष्टसाधनत्वमेव विधिनाऽऽक्षिप्यते। इष्टञ्च

**कर्मणा पितृलोकः।**

इति श्रुतेः। पितृलोकादिकं तत्र सकामं हिंस्रकर्मणि प्रेरयति। चोदनाऽन्यत्राऽऽलम्भननिवृत्तिं सूचयति। सकामो यदि हिंस्रकर्मणि सरागः स्यात्तदा स्वर्गाद्युद्दिश्य

**क्रत्वादिरूपतेव हिंस्रकर्म कुर्यात्।**

इत्यभ्यनुज्ञा द्वाराऽन्यल्लौकिकं हिंस्रं कर्म न कुर्यादिति सिद्धपरिसंख्या। अत एव चान्तःकरणशुद्ध्यर्थं कृत्येभ्योऽपि तेभ्यो नात्यन्तिकीपापनिवृत्तिः, किन्त्वभिनयमात्रमिति सूचितम्,

**कर्मणा कर्मनिर्हारो न ह्यात्यन्तिक इष्यते।**

**अविद्वदधिकारित्वात्प्रायश्चित्तं विमर्शनम्॥**

इत्यादिना भागवते। तस्माद्युक्तमुक्तं हिंसायां यदि रागः स्याद् यज्ञ एव न चोदनेति। न चोदनेत्यनेनाऽत्यन्ताऽप्राप्तप्रापकमेव वाक्यं मुख्यो विधिः।

**विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति।**

**तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसंख्येति गीयते॥**

इति विधेः स्वार्थेऽज्ञाताबाधितार्थकत्वेन प्रामाण्यात्। नियमविधिस्तु अन्यतः प्राप्तकर्त्तव्यताकस्याऽर्थस्याऽयोगव्यवच्छेदमात्रफलत्वात्। परिसंख्या तु विध्यभाव एव। स्वार्थहानिः, परार्थकल्पना, प्राप्तबाधश्चेति दोषत्रयोपेतत्वात्।

न च, अत एव मास्त्वत्र परिसंख्येति वाच्यम्। अगत्या

**पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः।**

इत्यादाविवावश्याऽऽदरणीयत्वात्। स्वार्थस्य यागकर्त्तव्यत्वस्य हानेः, परार्थस्याऽन्यनिवृत्तिरूपार्थस्य कल्पनायाः, प्राप्तस्य स्वर्गादिरागेण प्रवृत्तिरूपार्थस्य बाधः

इष्टापत्तिः। तस्मात्सिद्धयागादिकर्मविध्याभासविषयत्वान्न शुक्लमेव, किन्तु शुक्ल-कृष्णमेव न वेदं मुमुक्षुजनकर्त्तव्यताकं किन्त्वशुक्लाऽकृष्णमेव। तथैव शिष्टाचारादिति संक्षेपः।

ननु तर्हि शिष्टजनकादीनां शुक्लकृष्णकर्मानुष्ठानमनुपपन्नमिति चेत्, न तेषामपि

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।**

इत्यनेन ज्ञानोत्पत्तेः पूर्वमेव गार्हस्थ्याभिमानोचितं तथा कर्मसूचनादनुपपत्तेर-भावात्। न यदि तु ज्ञानकालेऽपि तादृशानां तथा कर्मणि प्रमाणमस्ति तदा लोक-संग्रहार्थानि मन्तव्यानि,

**लोकसंग्रहमेवाऽपि संपश्यन् कर्तुमर्हसि॥**

इति वदता भगवता आज्ञापनात्।

न च तथापि वस्तुतस्तेषां शुक्लकृष्णत्वात् तत्फलयोः सुखदुःखयोरापत्तिः। वस्तुतः परपीडाऽनुगृहीतत्वेन शुक्लकृष्णत्वे ह्यभिमानफलयोस्त्यागेन तान्प्रत्यशुक्लाऽ-कृष्णरूपत्वस्योक्तत्वेन तत्फलस्याऽसम्भवात्। फलकामनावत एव कर्मभ्यः फलोत्पत्तिश्रवणादित्यन्यत्र विस्तरः॥ ७॥

ननु तिष्ठत्वयोगिनामथाऽविद्यकर्म, तथाप्यनाद्यनन्तकाले कदाचिद्वासनाऽनभि-व्यक्त्या मोक्षः स्यादेवेति किमर्थं नियमेन ध्यानजस्यानाशयचित्तस्यापेक्षेत्यत आह—

**ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाऽभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥ ८॥**

**तत इति।** त्रिविधात्कर्मणो मरणकालानन्तरं जात्यायुर्भोगरूपविपाकदानायाऽ-भिव्यक्तात् तद्विपाकानुगुणानामेव वासनानां यस्य कर्मणो विपाकस्तस्यानुगुणा या वासनाः कर्मविपाकमनुकुर्वन्ति, तासामेवानादिकालसञ्चितानामभिव्यक्तिरुद्गमो भवति। फलोन्मुखादेव कर्मणो देवजातीयभोगोचितवासनानामेवोद्भवः। मानुष-नारकादिकर्मणः फलोन्मुखात्तु मनुष्यादिजातीयभोगोचितवासनानामेवोद्भवो न दैवानाम्। सर्वासामेव सर्वत्राभिव्यक्तौ तत्तज्जातिनियतभोगो न स्यात्। हीने प्रकृष्ट-वासनायाः, प्रकृष्टे हीनवासनायाः प्रतिबन्धकत्वात्। तस्माद्वासनाऽभिव्यक्ते-र्नैयत्यान्नाऽयोगिनां तत्त्वज्ञानं विना मोक्षाऽऽशङ्का गन्धोऽपीति दिक्॥ ८॥

बहुजन्मव्यवहितानामपि वासनानामभिव्यक्तिं कर्मफलान्यथानुपपत्तिप्रमाणेन साधयति—

**जातिदेशकालाव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृति-संस्कारयोरेकरूपत्वात्॥ ९॥**

**जातीति।** जातिः योन्यन्तरं, देशः भूर्भुवःस्वर्लोकादिः, कालो युगकल्पादिः तैः व्यवहितानामपि अन्तरितानामपि वासनानां आनन्तर्यं अव्यवहितवत्कारित्वं भवति। अन्यथा कर्मफलाऽनुपपत्तेः, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्, एकाकारत्वादित्यर्थः। नानायोनिषु परिभ्रमन् जीवः कामपि मनुष्यादियोनिमनुभूय यदा सुकृतासुकृतकर्मबलतो देवादियोन्यन्तरसहस्रव्यवधानेन, स्वर्गादिलोकव्यवधाने, युगकल्पादिव्यवधानेनैव पुनर्मनुष्यादियोनिं प्रतिपद्यते, तदा तद्योनिभोगोचितवासनास्तदानीन्तना एव मध्ये योन्यन्तरेण तिरोहिताः। पुनस्तद्योनिरूपोद्बोधकसमवधानेन तद्योन्युचितकर्मफल-भोगार्थं प्रकटीभवन्ति। अतस्तासां व्यवहितानामप्यानन्तर्यमर्थाद्भवति, अव्यवहित-फलजननात्। न तु व्यवहितप्राग्जन्मन्येवान्यादृशेऽपि योन्यन्तरवासना वक्तुं शक्या।

न चान्यजातिसंस्कारेणैवाऽन्यजात्युचितविपाकनिर्वाहिका स्मृतिः सम्भवति, स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्। यथाऽनुभवास्तथाः संस्काराः। ते च कर्मफलोन्मुख-वासनारूपाः। यथा च वासनास्तथा स्मृतय इति स्मृतिसंस्कारवासनोद्बोधाद् योनिवि-शेषाद् युज्यते। अत एव व्यवहितानामपि धारानुच्छेदात् पुनः सजातीयविपाकान्तरा-रम्भकत्वं सम्भवत्येवेति दिक्॥ ९॥

ननु जन्मान्तरितवासनाः न सन्ति मानाभावात्। न च योनिव्यवहितभोगानु-पपत्तिरेव प्रमाणमिति वाच्यम्। रूपादिविशिष्टस्य सवासनस्यैव जनकत्वस्वाभाव्या-दुत्पत्तिः, तां विनाऽनुपपत्तेरिति चार्वाकाशङ्कायामाह—

**तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ १०॥**

**तासामिति।** तासां वासनानाम्, अनादित्वं धाराऽनादित्वम्। कुतः? आशिषो नित्यत्वात् 'सदा जीव्यासमि' ति मरणत्रासस्य प्रतिजन्मनियतत्वात्। तथा च तत्तज्ज-न्मन्यनुभूते मरणे भयस्य पूर्वजन्मानुभवाधीनसंस्कारजस्मृत्यैव सम्भवाद्वासनानामना-दित्वम्। चकारात् कार्यकारणभावश्च सिध्यति। सर्वत्र जन्मानुभवस्मृत्यादौ प्राथम्या-भावेन वासनापरम्पराभिः कार्यपरम्परासम्भवात्। यदुक्तं सवासनस्यैव जनकत्वस्वाभा-व्यादुत्पत्तिरिति। तन्न युक्तं, सवासनजन्मप्रत्यपि संस्कारजाऽदृष्टस्य हेतुत्वेन ममतादि-वैचित्र्योपपत्तयेऽवश्यवक्तव्यतया संस्कारधाराया अनादित्वमिति सिद्धम्। यद्यप्य-त्राऽऽशीर्नित्यतया तद्धेतुवासनाया एवाऽनादित्वं सिध्यति न भोगवासनानां, तथापि तत्राऽनवस्थायाः प्रामाणिकत्वेनाऽदोषत्वे तद्दृष्टान्तेनाऽन्यासामप्यनादित्वमनुमेयमिति भावः॥ १०॥

ननु अनादिवासनानां कथमुच्छेदोऽनादिभावस्य नित्यत्वनियमात्? तत्राह—

**हेतुफलाश्रयालम्बनैः संगृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ ११॥**

**हेत्विति**। नैताः पुरुषवदनादयः, किन्तु प्रवाहानादय इति उच्छेदसम्भवः, तदेव दर्शयति। हेतुः अविद्या तत्कार्यञ्च। तथाहि—सत्त्वाद्धर्मस्तस्मात् सुखं, रजस्तमोभ्याम-धर्मः तस्माद् दुःखम्। सुखाद्रागो दुःखाद्द्वेषः, ततश्च प्रपञ्चः। तेन मनसा वाचा कायेन वा परिस्पन्दमानः परमनुगृह्णाति उपहन्ति, ततः पुनर्धर्माधर्मौ, ततः सुखदुःखे रागद्वेषाविति प्रवृत्तमिदं षडरं संसारचक्रं देहाद्यनेकानर्थरूपम्। तस्य प्रतिक्षण-मावर्त्तमानस्याऽविद्यैव मूलकारणम्। फलं शरीरादि स्मृत्यादयश्च, आस्कन्दितत्वात्। एषां योगजविवेकज्ञानेन दग्धबीजभावकल्पत्वे विहिते निर्मूलत्वान्न वासनाः प्ररोहं यान्तीति तासामभावः॥ ११॥

ननु वासनानामत्यन्तोच्छेदाऽभ्युपगमे सत्कार्यवादहानिप्रसंगः। सत्कार्यवाद-पक्षेऽसतः सम्भवस्य सतो विनाशस्य चानङ्गीकारात्। अत एव नात्यन्तोच्छेदस्तदा कुतः कैवल्यवार्त्ता? तत्राह—

**अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्॥ १२॥**

**अतीतेति**। भवेदप्ययं दोषो यदि स्वरूपाऽपायो वासनानामस्माभिरुच्येत, किन्त्वत्यन्ताऽतीततामात्रम्। यतोऽतीतानागतं भूतभविष्यद्वर्तिवस्तु दृश्यं स्वरूपतोऽस्ति। कारणादौ नास्ति योगिनां दर्शनम्, अतिप्रसंगोत्पत्तेः। सतो विनाशाऽसम्भवाच्च।

नन्वेकदा विरुध्यमानानां धर्माणां कथमेकत्र सत्ता घटेत? तत्राह—**अध्व-भेदादिति**। भिन्नाध्वकत्वादविरोध इत्यर्थः। वर्तमानलक्षणानामेव धर्माणामेकदा विरोधो नाऽन्यादृशाम्। इत्थञ्च वर्तमानाऽध्वनि दुःखादिवासनाश्रयं चित्तं साधिकारभोग्यता-माऽऽयत् बन्ध इत्युच्यते। तत्त्वज्ञाने सति निरधिकारमतीताध्वनि प्रवेशितम्। प्रकृत्या-त्मना पुरुषार्थस्य कृतकृत्यत्वात् पुनरावृत्तिरहितमुक्तमिति भावः।

एतच्च वेदान्तिनामपि वस्तुतोऽविरुद्धम्—

**वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्।**

इत्यादिश्रुतेः। कार्यस्य कारणमेव स्वरूपमिति तैरप्यङ्गीकारात्। तथा च कार्याऽऽकारेण भासितैव स्वप्न इति। योगिज्ञानेऽप्यतीतानागतवर्त्मना परिणामो विषयः। अतो न कार्यस्य भानार्थे पृथक्सत्त्वमाऽऽवश्यकम्। कारणसद्भावेनैव नित्यत्वसम्भवात्। कारणञ्च पूर्वपूर्वाऽविद्यावान्नोत्तरोत्तराऽविद्याकल्पकश्चेतन एव। एवं मुख्यः सद्रूपः स एव।

प्रकृतिस्तु स्वकार्याऽपेक्षयैव सद्रूपा न स्वरूपतः शुक्तिरजतादिवद्दृश्यत्वात् जडत्वाच्च। तस्माद् यदुक्तमतीतानागतं स्वरूपतोऽस्ति तदपि युक्तम्।

**सदेव सोम्येदमग्र आसीत्।**

इत्यादिश्रुतेः। उत्पत्तेः पूर्वपरतश्च ब्रह्मात्मनाऽस्ति, न तद्व्यतिरेकेण। कथं तर्हि नित्यरूपाणामुत्पत्तिर्लयो वा? तत्राह—**अध्वभेदादि**ति। फेनबुद्बुदादिवद्विवर्ताऽवस्थाभेदाऽभिप्रायकत्वात्। तस्मान्न वासनोच्छेदानुपपत्तिरिति संक्षेपः ॥ १२ ॥

नन्वतीतानागतं स्वरूपतोऽस्तीत्युक्तं, तत्र किं तस्य परिणामिस्वरूपम्? तत्राह—

**ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः ॥ १३ ॥**

**त** इति। ते महदादिघटाद्यन्ताः व्यक्ताः वर्तमानावस्थाः, सूक्ष्मा अतीतानागतावस्थाः, गुणात्मानः सत्त्वरजस्तमोरूपा गुणाः आत्मपरिणामिस्वरूपं येषां ते तथाभूता गुणा परिणामा इति यावत्। अत एव जडत्वमप्युपपद्यत इति भावः। अत एवोक्तं भाष्यकृता—

**सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रम्। परमार्थतो गुणात्मानः, तथा च शास्त्रानुशासनम्—गुणानां परमं रूपं न दृष्टिपथमृच्छति, यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्।**

इति। परमं मूलकारणभावापन्नं मायेव। मृषा निर्विकारेण व्यामोहकेन्द्रजालादिवत् क्षणभङ्गुरम्। अतः सुतुच्छकमत्यल्पसारं स्थिरांशाभावादिति यथा श्रुतार्थः। वस्तुतस्तु परमं रूपम् अधिष्ठानम्—

**अस्तिभातिप्रियात्मकं दृष्टिपथं प्राप्तम्।**
**नानारूपात्मकं स्वरूपं मायेव मिथ्या ॥**

इति प्रतिभासहेतुकं लौकिकमायावत्। सुतुच्छकं मिथ्यैवेत्यर्थः ॥ १३ ॥

ननु प्रख्याक्रियास्थितिशीलाः सत्त्वरजस्तमोगुणाः सर्वत्र कार्येष्वन्वयितया परिणामिकारणं, तर्हि स्वशास्त्रे सांख्ये च कथं कारणस्यैकत्वसाधर्म्यनिर्देशस्तत्राह—

**परिणामैकत्वाद् वस्तुतत्त्वम् ॥ १४ ॥**

**परिणामे**ति। सत्त्वरजस्तमसां सत्त्वरजस्त्वादिना परस्परं भेदेऽपि प्रकृतित्वेनैकत्वमित्यर्थः। यद्यपि त्रयो गुणास्तथापि तेषामङ्गाङ्गिभावलक्षणो यः परिणामः, क्वचित्सत्त्वमङ्गं, क्वचिद्रजः, क्वचित्तम इत्येवंरूपस्तस्यैकत्वाद् वस्तुनः कारणस्य तत्त्वमेकत्वमित्यर्थः।

अथवा परिणामस्य महदादिरूपकार्यस्यैकत्वाद्वस्तूनां गुणानां परमार्थतो नानात्वेऽप्येकत्वमित्यर्थः। यथा तन्तूनां वस्तुतो भेदेऽपि परिणामरूपेण पटैकत्वव्यवहार-

स्तथा गुणानां नानात्वेऽपि व्यावहारिकेणाऽनित्येन परिणामरूपेण महदादिनैकत्वव्यवहार इति यावत्। अत एव व्यावहारिकस्याऽग्न्याद्यवयविन एकस्यावयवविभागे सति नानात्वमेव पारमार्थिकमुक्तवती छान्दोग्यश्रुतिः—

**यदग्ने रोहितं रूपं तेजसस्तद्रूपं यच्छुक्लं तदपां यत्कृष्णं तदन्नस्य अथागादग्नेरग्नित्वं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्।**

इति॥ १४॥

इदानीं मुक्तिहेतुज्ञानविषयं चित्तात्मनोर्विवेकं ज्ञाताऽज्ञातविषयत्वसदाज्ञातविषयत्वाभ्यां वक्ष्यमाणसूत्रैः समर्थयिष्यन् तदुपपादकं चित्तार्थयोर्विवेकं दर्शयति। चित्तार्थयोर्भेदनिश्चयं विना ज्ञाताऽज्ञातविषयत्वस्याऽसिद्धेः। तत्सिद्धिं विना च चित्तात्मनोर्विवेकसिद्धिः कुतः? तत्र रज्जुसर्पतत्प्रत्ययोरिव महदादिघटाद्यन्तपदार्थतत्प्रत्यययोरपि सहोपलम्भादभेद एव युक्तः। अतो न विज्ञानव्यतिरेकेणाऽर्थोऽस्ति। किन्तु सत्वेन प्रतिक्षणविनाशिविज्ञानमेव स्वाऽध्यस्तवासनावैचित्र्यबलात् कार्यकारणभावेनाऽवस्थिततया भातीति क्षणिकविज्ञानवादी बौद्धस्तं प्रत्याह—

**वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥ १५॥**

**वस्त्विति**। तयोर्विज्ञानार्थयोः विभक्तः पन्थाः भिन्नो मार्गः। विज्ञानार्थयोर्भेद इति यावत्। कुतः? वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्। वस्तुनः स्त्रीपिण्डादेः साम्ये एकत्वे चित्तानां प्रमातॄणां सुखदुःखमोहरूपतया स्फुटभेदादित्यर्थः।

अयं भावः—एकस्यां रूपलावण्यवत्यां योषिति पत्युः सुखं, सपत्नयास्तु द्वेषः, कामुकस्य मोहः, परमहंसस्य जुगुप्सेत्येकस्मिन् वस्तुनि नानाविधत्वचित्तोदयो दृश्यते। वस्तु च तदेवाऽस्ति। अतः स्वरूपभेदोन्नयनवर्त्मकत्वाऽनेकत्वरूपविरुद्धधर्माऽध्यासाद्भेद एव। चित्तं च तेषां क्षणिकविज्ञानमेव। अतश्चित्तभेदेनैव विज्ञानार्थयोरपि भेदः सिध्यति। उपलक्षणमेतन्नीलपीतावित्यादिसमूहालम्बने विज्ञानैक्येऽपि नीलपीतादेरर्थस्य भेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः।

न च तत्र नीलपीतत्वाद्याकारभेदादसाङ्कर्यमिति वाच्यम्। आकारस्याऽतिरिक्तत्वे सर्वविज्ञानात्मत्वहानिः। अनतिरेकत्वे तद्दोषतादवस्थ्यम्।

न च घटे नीलादिवज्ज्ञानगते एव ज्ञानाऽभिन्न इति वाच्यम्। नीलत्वपीतत्वयोर्विरोधेनैकस्मिन् धर्मिणि समावेशाऽयोगादित्यन्यत्र विस्तरः॥ १५॥

नन्वस्तु विज्ञानाद्भिन्नोऽर्थः, तथापि विज्ञानसमकालीन एव सोऽस्तु, अन्यथा प्रमाणाभावात्। अनुमानं चात्र—ज्ञानसहभूरेवायमर्थः, भोग्यत्वात्, सुखादिवदिति। तथा च सर्वं दृश्यं प्रातिभासिकमेव नाऽज्ञातसत्ताकम्।

न चैवं मोक्षाऽभावप्रसङ्गः, तदानीं प्रमातुश्चित्तस्याभावादिति वाच्यम्। निरुपप्लवस्वप्रकाशपरमानन्दबोधरूपस्याऽऽत्मन एव ज्ञानेन विस्मृतग्रैवेयकादेरिवाऽप्राप्तत्वभ्रमनिवृत्त्या मोक्षत्वाऽङ्गीकारेण तदानीं प्रमातुश्चित्तस्याऽनपेक्षणादिति दृष्टिसृष्टिवादिनो वेदान्तिनः सौगतैकदेशिनः सौत्रान्तिका वैभाषिकाश्च प्रष्टव्याः—

किं साक्षिनियतं दृश्यं उत वृत्तिनियतम्? तत्राऽऽद्ये दृष्टेर्नित्यत्वेन दृश्यस्यापि तन्नियतत्वेन नित्यत्वापत्तिः। द्वितीयेऽपि किमनेकविज्ञाननियतं, उतैकनियतम्? नाद्यः, प्रातिभासिकस्य स्वप्नवदेकविज्ञाननियतत्वात्। अतः परिशेषादेकविज्ञाननियतमेव तद्वाच्यम्। तदपि न युक्तमित्याह—

**न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥ १६॥**

**न चे**ति। वृत्त्याख्यज्ञानेन सह चित्तस्याऽभेदाद्विज्ञानमेवात्र चित्तं तत्तन्त्रं तन्नियतम्। तथा च नापि वस्तु एकविज्ञाननियतमिति प्रतिज्ञा। तत्र हेतुः—**तदप्रमाणकमि**ति। तदा तर्हि तदप्रमाणकम्। तच्चित्तनियतं किं स्यात्? चित्तापाये कुत्र विलीयेत, न कुत्रापीत्यर्थः। तस्माद्वस्तु स्थिरमज्ञातसत्ताकमिति शेषः।

अयं भावः—यदि पदार्थानां विज्ञानकारणेषु लय इत्युच्यते, तर्हि विज्ञानार्थयोरभेदाऽऽपत्त्या विज्ञानवादिनय एव प्रवेशः। तच्च दूषितं दूष्यं चावयोः। यदि तु स्वकारणेषु लय इत्युच्यते, तदा विनाशकारणाऽऽकाङ्क्षायामन्वयव्यतिरेकाभ्यां मुद्गरप्रहारादेव विनाशकारणत्वेन विज्ञाननाशसमकालं घटादिवस्तुनाशाऽनुपपत्तिरिति। अपि च यद्येकचित्तनियतं तदा सुखादिवदसाधारण्यापत्तिः, न चेष्टापत्तिः। अन्येन दृश्यमानत्वादिति संक्षेपः।

इदञ्च दृष्टिसृष्टिवादिनां वेदान्तिनामप्यविरुद्धम्। प्रतिकर्मव्यवस्थार्थं पदार्थानामज्ञातसत्तायास्तैरप्यङ्गीकारात्। वस्तुतस्तु स्ववासनयैवेदं दूषणम्। तन्मते स्वदृष्टान्तसलिलधारया सकलशङ्कामलप्रक्षालनादिति संक्षेपः॥ १६॥

चित्ततदर्थयोर्विवेकप्रकारः प्रदर्शितः। इदानीं ज्ञाताऽज्ञातविषयत्वसदाज्ञातविषयत्वाभ्यां चित्तात्मनोर्विवेकप्रकारं प्रतिपादयति—

**तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥ १७॥**

**तदुपरागे**ति। चित्तस्य कालभेदेन ज्ञातमज्ञातं च वस्तु भवति। कुतः? तदुपरागापेक्षित्वात्। इन्द्रियादिद्वाराऽर्थाकारतारूपो य उपरागस्तत्सापेक्षत्वात्। अर्थज्ञानमिति शेषः। अतो ज्ञाताऽज्ञातविषयतया चित्तं परिणाम्यपीति भावः।

अथवा सत्त्वप्रधानस्य चित्तस्य सर्वग्रहणसर्वव्यापनयोग्यत्वात् सदा सर्वं वस्तु

ज्ञायेतेत्यत आह—**तदुपरागेति**। अर्थाकाराकारित्वरूपो य उपरागोऽर्थेनेन्द्रियस्य तत्सापेक्षत्वादित्यर्थः। यदा कर्मवशादयस्कान्तमणिकल्पा विषयाः अयस्कल्पं चित्तं स्वमाहात्म्यादाऽऽकृष्येन्द्रियादिद्वारा स्वस्मिन् संयोज्य स्वाकारैराकारयन्ति लाक्षारस इव वस्त्रं, तदा ते चित्तेनोपरक्ता विषयाश्चित्तस्य ज्ञाता भवन्ति। इतरे त्वज्ञाता इति यावत्॥ १७॥

नन्वेवं पुरुषोऽपि यस्मिन् काले नीलमनुभवति, तस्मिन् काले न प्रायः पीतादिकम्। अतस्तस्यापि चित्तवद् ज्ञाताऽज्ञातविषयत्वेन परिणामित्वाऽऽपत्तिरित्यत आह—

**सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्याऽपरिणामित्वात्॥ १८॥**

**सदेति**। पुरुषस्य हि विषयवृत्तिकं चित्तमेव साक्षाद्विषय इति, तत्प्रभोः विषयसाक्षिणः चित्तवृत्तयः चित्तपरिणामाः सुखादिरूपा भोगाः सदा स्वसत्ताकाले ज्ञाता भवन्ति। कुतः ? पुरुषस्याऽपरिणामित्वात् साक्षिणोऽपरिणामित्वादित्यर्थः। परिणामित्वे हि परिणामस्य कादाचित्कत्वात्, पुरुषपरिणामस्यापि कादाचित्कत्त्वाऽऽपत्त्या विद्यमानाऽपि चित्तवृत्तिः कदाचिन्न ज्ञायेत। न चेष्टापत्तिः।

**पुरुषो विषयी नित्यं सत्त्वं च विषयः स्मृतः।**

इत्यनुगीता विरोधात्। तस्मात्सर्वाऽवभासनसमर्थे स्वप्रकाशचिद्रूपे कूटस्थनित्ये साक्षिणि यदा यदा सवृत्तिकं चैतन्यप्रतिबिम्बेन विज्ञानमच्चित्तं प्रतिबिम्बितं भवति, तदा तदा सर्वानेवाऽवभासयतीति। सदा ज्ञाता एव चित्तवृत्तयः पुरुषस्य भवन्ति। विषयाकारवृत्तीनां कादाचित्कत्वेऽप्यहमाद्याकारवृत्तेः सार्वदिकृत्वात्, अहमादेर्निरावृतत्वादिति भावः॥ १८॥

ननु चित्तमेव क्षणिकं स्वप्रकाशं स्वस्वार्थयोर्भासकमस्तु किमन्तर्गडुना साक्षिणेत्याह—

**न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्॥ १९॥**

**न तदिति**। तच्चित्तं न स्वाभासं न स्वप्रकाशं, स्वस्वार्थगोचरवृत्त्यभावकाले आत्मवन्न स्वस्वार्थयोर्भासकमिति यावत्। कुतः ? दृश्यत्वात् दुःख्यहं, क्रुद्धोऽहं, शान्तं मे मन इति घटादिवद्भास्यत्वात्। अतो दृश्यस्य द्रष्टृत्वमनुपपन्नमिति। चित्तभानार्थं पुरुष आवश्यक इति भावः॥ १९॥

किञ्च—

**एकसमये चोभयानवधारणम्॥ २०॥**

**एकेति**। क्षणिकवादिमते एकसमये च उत्पत्तिक्षण एव उभयानवधारणं

चित्तचित्योः प्रत्यक्षं न सम्भवतीत्यर्थः। पूर्वं सत एव प्रत्यक्षगोचरत्वात् स्वस्य च प्रागसत्वादिति भावः ॥ २० ॥

ननु मास्तु स्वप्रकाशं चित्तं स्वसन्तानेनोत्तरोत्तरेण चित्तान्तरेण तु गृह्यताम्। तथा च न कर्तृकर्मविरोधोऽपि। तत्राह—

**चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च ॥ २१ ॥**

**चित्तान्तरेति।** वृत्तिरूपचित्तान्तरेण वृत्तिरूपचित्ते दृश्येऽभ्युपगम्यमाने तु बुद्धिबुद्धेर्वृत्तिवृत्तेरतिप्रसङ्गोऽनवस्थापातः।

न च द्वित्रा एव ग्राह्या इति नाऽनवस्थेति वाच्यम्। ग्राहकचित्ताऽनिश्चये ग्राह्यचित्ताऽनिश्चयात्। एतेनाऽऽत्मनित्यत्वजडत्वाऽभ्युपगमिनामपि तार्किकवैशेषिकाणामुत्तरोत्तरपूर्वपूर्वज्ञानग्रहणकल्पना परास्ता। ज्ञानगोचराऽनन्तज्ञानकल्पनागौरवस्याऽपरिहार्यस्य समानत्वात्।

एवमन्योऽपि दोषस्तेषां मत इत्याह—**स्मृतिसङ्करश्चेति।** वृत्तिवृत्तेरिति शेषः। विषयानुभवकाले ज्ञानधारा जातेति विषयस्मृतिकालेऽप्यनन्तानां तज्ज्ञानानां स्मृतिरेकदैव भविष्यति। 'नीलं मया पुरा ज्ञातं' नीलज्ञानं तज्ज्ञानञ्चेत्येवमनन्ताकारः सोऽयं स्मृतीनां सङ्करोऽयुगपदुत्पत्तिरूपः प्राप्तः। तथा च—स्मृत्यानन्त्यात्कस्मिन्नर्थे स्मृतिरियमुत्पन्नेति ज्ञातुमशक्यत्वात्। नीलस्मृतिरियं न चित्तस्मृतिरिति विभागो न स्यादित्यर्थः। तस्माल्लाघवेन सकलवृत्तिगोचरैकविभुस्वप्रकाशज्ञानपक्ष एवाऽस्मदभिमतः साधीयानिति भावः ॥ २१ ॥

ननु कूटस्थस्य साक्षिणश्चित्तेन सह विषयेन्द्रिययोरेव क्रियापूर्वकसम्बन्धाभावात्कथं तत्तेन संवेद्यमित्यत आह—

**चितेरप्रतिसंक्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम् ॥ २२ ॥**

**चितेरिति।** अपरिणामित्वेनाऽप्रतिसञ्चाराया अपि चितेः स्वीयबुद्धिदर्शनं बुद्ध्याकारताऽऽपत्त्यैव भवतीत्यर्थः।

अयं भावः—ज्ञातुः सञ्चारो न साक्षादेव ज्ञाने हेतुः, किं त्वर्थाकारता हेतुः सन्निकर्षद्वारा, अन्यथा स्वप्नादौ मनःसञ्चाराऽभावेनार्थभानाऽयोगात्। अतो विभुत्वेनैव सर्वत्र सन्निकृष्टस्याऽऽत्मनः सञ्चारो नापेक्षित इति। आपत्तिग्रहणं च विषयांशे मनस इव पारमार्थिकाकारो न, किं तु परस्परं दर्पणयोरिव प्रतिबिम्बवत्त्वम्, तस्मिन् सति स्वभोग्यतोपरक्तबुद्धिसाक्षितारूपं संवेदनमिति संक्षेपः ॥ २२ ॥

ननु भवतु चितेः स्वीयबुद्धितद्वृत्तिसंवेदनं, शब्दादिसंवेदनं तु कथं भवेत्?

बुद्धिवच्छब्दादीनामपि चितौ प्रतिबिम्बनसामर्थ्याऽङ्गीकारे तु सर्वदैव सर्वार्थभान-प्रसङ्गात्। कथं वा चितेः स्वसंवेदनम्? उक्ता ह्यनवस्थायाश्चित्तवत् पुरुषेऽपि समानत्वात्। स्वविषयत्वरूपस्वप्रकाशत्वेन निर्वाहस्तु, चित्तात्मत्वपक्षेऽपि कर्तुं शक्य इत्याशंक्याह—

**द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥**

**द्रष्टृदृश्ये**ति। सर्वे ग्रहीतृग्रहणग्राह्याः पुरुषस्यार्थाः भोग्या अस्मिन्निति सर्वार्थम्। 'अयं घट' इत्यनन्तरं 'घटमहं जानामी' ति वृत्त्यन्तरस्य ग्रहीतृग्रहणग्राह्याकारस्य 'अयं घट' इति वृत्तिवदेव साक्षिभास्यस्य प्रायशो दर्शनात्। सर्वार्थत्वे हेतुः **द्रष्टृदृश्योपरक्तमि**ति द्रष्टृदृश्योभयाकारमित्यर्थः। बाधकं विना सन्निकृष्टवस्त्वाकारतास्वाभाव्यस्य चितेः सर्वसम्मतत्वादिति भावः।

तथा च बुद्धिसंवेदनमेव बुद्धिस्थस्य शब्दादेः स्वस्य च संवेदनं यद्धि शब्दादि-पुरुषोभयाकारा बुद्धिवृत्तिः पुरुषे प्रतिबिम्बिता भासते, इदमेव शब्दादेः पुरुषस्य च दृश्यत्वं बुद्धेर्दृश्यत्ववदिति। अतो न पुरुषदर्शनार्थं द्रष्ट्रन्तरापेक्षा। नापि कर्मकर्तृत्व-विरोधोऽन्तःकरणद्वारत्वादिति भावः।

वस्तुतस्तु द्रष्टृदृश्ययोर्द्वयोरुपरक्तमुपरागघटकं चित्तं सर्वार्थं सर्वभानप्रयोजकं, तथा नात्मा। यद्यपि न संविदन्तरविधयोऽनवस्थापत्तेः, नापि स्वविषये कर्तृकर्मविरोधः, तथापि यथा परेषामालोके आलोकान्तरसंयोगाऽभावेऽपि प्रतियोगिताऽनुयोगिताऽन्य-तरसम्बन्धेनाऽऽलोकसंयोगवत्त्वादेवाऽऽलोकघटादेः प्रत्यक्षम्। तथा प्रतियोगिताऽनु-योगिताऽन्यतरसम्बन्धेन विषयाकारवृत्त्यारूढसाक्षिविषयतासम्बन्धवत्त्वात्साक्षिदृश्य-योर्द्वयोरपि व्यवहारोपपत्तिरिति, न द्रष्ट्रन्तरापेक्षा। द्रष्टा च वृत्त्यारूढ एव विषयं विषयी-करोतीति विषयतासम्बन्धनिर्वाहकतया भवति। चित्तं सर्वार्थमिति संक्षेपः।

अथवा ननु यदि चित्ताऽतिरिक्तात्मा कथं तर्हि 'अहं करोमी' ति चित्तस्याऽऽ-त्मत्वभ्रमो लोकानां तार्किकादीनां चेत्याशङ्क्य क्वचिदुपरागेणैव चित्तस्य सर्वार्थसामर्थ्यबीजमाह—**द्रष्टृदृश्ये**ति। 'ममेदं कर्त्तव्यमि'ति मदंशविषयांशव्यापारा-ऽऽवेशविशिष्टं सर्वार्थं भोगापवर्गार्थं भवति। अतो मदंशाऽभेदाऽऽरोपादात्मेति भ्रम इति भावः॥ २३॥

ननु चित्तमेव यदि सर्वार्थं सर्वात्मकञ्च तदाऽसंख्येयवासनावशात् स्वत एव चित्तस्य परिणामोऽस्तु, किं पुरुषेण? वासनावशाद्बद्धस्य तस्यैव भोगाऽपवर्गयोः सम्भवादित्यत आह—

**तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्॥ २४॥**

**तदसंख्येये**ति। तच्चित्तं, असंख्येयवासनाभिः संख्यातुमशक्याभिः क्लेशादिवासनाभिः चित्रमपि नानारूपमपि कर्तृत्वेन भोक्तृकल्पमपीति यावत्। परार्थं परस्य स्वामिनश्चेतनस्याऽर्थो भोगापवर्गौ प्रयोजनं यस्य तथाविधं परभोगसाधनत्वेन भोग्यमेव न भोक्तेति यावत्। कुतः ? संहत्यकारित्वात्। देहेन्द्रियादिसाहाय्येनैव भोगादिकार्यकारित्वात्। यदितरसहायेन एवाऽर्थक्रियाकारि, तत्परार्थं, गृहशय्यादिवदिति भावः ॥ २४ ॥

तदेवं बुद्धिपुरुषविषयाणां विवेकं प्रदर्श्य तज्ज्ञानात् प्राप्यं कैवल्यं निर्णेतुं दशभिः सूत्रैरुपक्रमते—

**विशेषदर्शिन आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः ॥ २५ ॥**

**विशेषदर्शिन** इति। मातृमानमेयात्मकस्याऽखिलप्रपञ्चस्य तत्राय:—पिण्डवदेकीभावापन्नस्य यथोक्तप्रकारैरन्योन्यं विशेषदर्शिनः 'अयमस्मादन्य' इति विवेकसाक्षात्कारवतश्चित्तस्य आत्मभावभावनाविनिवृत्तिः 'चेतनोऽहं करोमी' त्यनादिकालप्रवृत्तचित्तात्मत्वसंस्कारविनिवृतिर्भवतीत्यर्थः।

अथवा आत्मभावना आत्मरूपे भावना जिज्ञासा 'कोऽहमासं, कुत आगतः, क्व गमिष्यामि, किं भविष्यती' त्येवंरूपा तस्या, सशोकप्रवृत्तिनिवृत्त्याद्यनर्थहेतोर्विनिवृतिस्तदपगमरूपा जीवन्मुक्तिर्भवतीति यावत्॥ २५ ॥

तदनन्तरं पुनः किं भवतीत्याशङ्कायामाह—

**तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम् ॥ २६ ॥**

**तदे**ति। तदा विशेषदर्शनाऽवस्थायां परवैराग्यवशाद् विवेकनिम्नं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रेण प्रवहणशीलम्। अत एव विषयोन्मुखतापरित्यागेन कैवल्यप्राग्भारं कैवल्ये प्राग्भारो यस्येति कैवल्याभिमुखं चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ २६ ॥

अयञ्च विवेको यद्यपि शास्त्रादपि ज्ञायते तथापि परोक्षतयाऽनादिकालप्रवृत्तवासनानिवृत्तौ न समर्थः। किं तु भावनाविशेषजन्य एवेति समर्थयिष्यन् नाऽनेन शास्त्रीयविज्ञानेनैव कृतकृत्यता भवति। पूर्वपूर्ववासनावशान्मोहादिवृत्तीनामनुवृत्तेरित्याह—

**तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः ॥ २७ ॥**

**तच्छिद्रे**ति। तच्छिद्रेषु विशेषदर्शनछिद्रेषु अन्तरालेषु व्यवहाराद्यवस्थासु व्युत्थानरूपासु प्रत्ययान्तराणि 'मनुष्योऽहं, ब्राह्मणोऽहमि' त्यादिविपरीतज्ञानानि जायन्ते। कुतः ? पूर्वसंस्कारेभ्यः। प्राक्तनतादृशाऽनुभवजन्येभ्यो विपरीतसंस्कारेभ्यो भवन्तीत्यर्थः ॥ २७ ॥

ननु ज्ञाने जातेऽपि चेतनविपरीतभावनाऽनिवृत्तिस्तर्हि कथं निवृत्तिः स्यात्? आत्मज्ञानस्यैव हृदयग्रन्थिभेदकत्वश्रवणात्। तत्राह—

**हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥ २८॥**

**हानमिति**। एषां संस्काराणां हानं दाहः क्लेशवदुक्तं क्लेशानामिव कथितं पूर्वाचार्यैरित्यर्थः। **ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः, ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः**, इति सूत्राभ्यां यथा स्थूलसूक्ष्मक्लेशानां समाधितत्त्वज्ञानचित्तलयाभ्यां दाहनाशौ प्रोक्तौ, तथा तत्संस्काराणामपीति फलितार्थः॥ २८॥

इदानीं तादृशभावनाविशेषरूपः समाधिर्येनोपायेन भवति, तत्राह—

**प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥ २९॥**

**प्रसंख्यान** इति। प्रसंख्यानं साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वानां सम्यक् साक्षात्कारः। तत्राऽप्यकुसीदस्य फलमलिप्सोरन्तरायाऽभावेन सर्वथा निरन्तरं विवेकख्यातेः सत्त्वपुरुषान्यताख्यात्युदयात् परवैराग्येण धर्ममेघः समाधिः प्रकृष्टमशुक्लाऽकृष्णं धर्मं पुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति व्युत्पत्तेः ज्ञानहेतुभूतधर्मसाधनो धर्ममेघनामाऽसम्प्रज्ञातयोगो भवतीत्यर्थः। अनेन विवेकज्ञानहेतुकं परवैराग्यमेव तादृशसमाधेः साधनम्। फलन्तु निःशेषेण क्लेशादीनामुन्मूलको धर्मविशेष इति समर्थितम्॥ २९॥

समाधेर्मुख्यफलमाह—

**ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ ३०॥**

**तत** इति। ततोऽसम्प्रज्ञातसमाधितः क्लेशकर्मनिवृत्तिः क्लेशानामविद्याद्यभिनिवेशान्तानां कर्मणां च पुण्यपापहेतुनां चोक्तत्रिविधानामऽत्यन्ताऽतीतताऽवस्था भवतीत्यर्थः॥ ३०॥

ननु यदि समाधिबलादेव क्लेशादिनिवृत्तिस्तर्हि किं ततो जातस्य ज्ञानस्य फलम्? तत्राह—

**तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्याऽऽनन्त्यात् ज्ञेयमल्पम्॥ ३१॥**

**तदेति**। तदा समाधिजजीवन्मुक्त्यवस्थाकाले 'आव्रियते चित्तमेभिरि'त्यावरणानि सर्वेषां देहक्लेशसुखदुःखादिलक्षणानि तान्येव बन्धकत्वात् मलानि कार्मसंज्ञाभिः प्रतिपादितानि। एतैरपेतस्य रहितस्य ज्ञानस्य समाधिपराकाष्ठा तस्य विवेक-

साक्षात्कारस्य निर्मलगगननिभस्याऽऽनन्त्यादभिभावकतमोनिवृत्त्या विमुक्तत्वाज्ज्ञेयं प्रकाश्यमल्पं गणनास्पदं न भवति। अक्लेशेनैव सर्वं ज्ञेयं जानातीत्यर्थः।

अथवा आनन्त्यात्साकारताकृतपरिच्छेदराहित्याज्ज्ञेयं दृश्यमल्पं संविन्मात्रमेव तत्र प्रकाशमानं भवति नान्यदित्यर्थः। आह चैवं श्रुतिरपि—

**यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येदित्यादिका।**

**तस्मात्तदा ग्रहणसमर्थमपि चैतन्यं तदा दृश्यं तदुपरमादेव॥**

न गृह्णातीति संक्षेपः॥ ३१॥

ततः किमित्यत आह—

**ततः कृतार्थानां परिणामक्रमपरिसमाप्तिर्गुणानाम्॥ ३२॥**

**तत** इति। ततो ज्ञानाऽऽनन्त्येन ज्ञेयाल्पत्वात् कृतो निष्पादितो भोगापवर्गलक्षणः पुरुषार्थो यैस्ते कृतार्था गुणाः सत्त्वरजस्तमांसि तेषां परिणामः कार्यरूपाऽन्यथाभावरूपः कथितः, तस्य क्रमोऽनुपदमेव वक्ष्यमाणस्तस्य परिसमाप्तिर्निष्ठा पुनः सम्भवो नेत्यर्थः॥ ३२॥

तत्र क्रमं सोपपत्तिकमाह—

**क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥ ३३॥**

**क्षणे**ति। क्रम इति लक्ष्यनिर्देशः। क्षणप्रतियोगीति लक्षणनिर्देशः। परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इति प्रमाणनिर्देशः। तत्र क्षणप्रतियोगी क्षणस्याऽवसरस्य विरोधिक्षणेनाऽप्यनन्तरित इति यावत्। एवंभूतः पूर्वापरीभावः क्रम इति निष्कर्षः। परिणामापरान्तनिर्ग्राह्य इति परिणामस्याऽपरान्तेन चरमावस्थया निर्ग्राह्योऽनुमेय इत्यर्थः।

वस्त्रादिषु दृश्यमाना पुराणताऽनवच्छिन्नपरिणामधारापूर्विका। अत्राऽप्यवान्तरभेदस्योपलभ्यमानत्वात्। न हि क्षणाऽव्यवहितपरिणामधारारूपक्रमं विना पुराणतायाः सूक्ष्मतमसूक्ष्मतरसूक्ष्मस्थूलादिरूपाऽवान्तरभेदः सम्भवति। तस्मात्परिणामक्षणेष्वविरलः क्रमोऽस्त्येवेत्यनुमेय इति यावत्। अधिकं व्यक्तमाकरे॥ ३३॥

इदानीं कैवल्यस्वरूपमाह—

**पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ ३४॥**

**पुरुषार्थे**ति। कृतकृत्यतया कृतकर्त्तव्यतया पुरुषार्थशून्यानां गुणानां पुरुषोपकरणानां लिङ्गशरीरात्मकानां यः प्रतिप्रसवः स्वकारणेऽत्यन्तविलयः स बुद्धेः

कैवल्यम्। एतदेव च प्रधानस्यापि ज्ञानिपुरुषं प्रति कैवल्यमुच्यते। तेन पुरुषेण सह पुनरसंयोगाद् या तु धर्मधर्म्यऽभेदाच्चितिशक्तिः स्वस्वरूपिणी स्वरूपप्रतिष्ठा बुद्धि-सत्त्वोपाधिरूपशून्यरूपा। जपापाये स्फटिकस्य स्वरूपप्रतिष्ठावत् सा पुरुषस्य कैवल्य-मित्यर्थः।

यद्यपि प्रकृतिपुरुषयोर्द्वयोर्युगलीभावे भोगाख्यः पुमर्थ एकाकितायां तु निवृत्त्या केवलतारूपः पुमर्थो भवति। सा च केवलता परस्परवियोगे निर्विकारतारूपा द्वयोरेव भवति। अतो द्वे एव कैवल्ये लक्षिते तयोश्च द्वयोः सक्रियप्रकृतिकृतत्वमेवेति। वस्तुत पुरुष औपचारिकमात्रम्। सर्वमुक्तं च सांख्यकारिकायामपि—

**तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति पुरुषः।**
**संसरति बध्यते मुच्यते च नानाऽऽश्रया प्रकृतिः॥**

इति। मूलमत्रापि—

**न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।**
**न मुमुक्षुर्न वै मुक्तिरित्येषा परमार्थता॥**

इति श्रुतिः।

तथापि स्वरूपप्रतिष्ठारूपकैवल्यं पुरुषस्यैव स्वाभाविकं स्वप्रकाशचिद्रूपत्वात्। अत एव मोक्षार्थं करणानां प्रवृत्तिरपि सङ्गच्छते। पुरुषार्थमेव तेषां प्रवृत्तेरुपपादनात्। तस्माच्छ्रुतिसूत्रयोर्भोगतन्निवृत्त्याख्यौ पुरुषार्थावेव। वस्तुतः पुरुषे औपचारिकाविति ज्ञापितम्। न तु स्वरूपप्रतिष्ठारूपकैवल्यमपि तत्र नास्तीत्युक्तमित्यभिप्रायेणैव सूत्रे स्वरूपप्रतिष्ठा वेत्युक्तमिति संक्षेपः।

अविरुद्धमेतद्वेदान्तिनामपि स्वप्रकाशपरमानन्दरूपतयाऽऽत्मन एव पुमर्थरूप-तायास्तैरङ्गीकारात्। यद्यपि स्वमते सुखरूपता नास्ति, तथापि दुःखभोगाऽत्यन्ताऽभाव-रूपतया पुमर्थत्वे न कोऽपि विवादः। तैरपि दुःखनिदाननिवृत्तिरूपतयाऽविद्यानाशस्यैव वस्तुत आत्मरूपस्य शास्त्रफलत्वप्रतिपादनादिति संक्षेपः। इति शब्दोऽयं योगसूत्रशास्त्र-समाप्तिद्योतकः॥ ३४॥

इति श्रीपरमहंसपरिव्राजकाचार्यरामगोविन्दतीर्थभगवत्पूज्यपाद-
शिष्यश्रीनारायणतीर्थस्वामिविरचितायां पातञ्जल-
सूत्रवृत्तौ कैवल्यपादः समाप्तः॥ ४॥

❋

प्रथमं परिशिष्टम्

# योगसूत्रम्

## समाधिपादः प्रथमः

अथ योगानुशासनम्॥ १ ॥
योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ २ ॥
तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥ ३ ॥
वृत्तिसारूप्यमितरत्र ॥ ४ ॥
वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः ॥ ५ ॥
प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि ॥ ७ ॥
विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ ८ ॥
शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः ॥ ९ ॥
अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ १० ॥
अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः ॥ ११ ॥
अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥ १२ ॥
तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः ॥ १३ ॥
स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः ॥ १४ ॥
दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञावैराग्यम्॥ १५ ॥
तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥ १६ ॥
वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः ॥ १७ ॥
विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः ॥ १८ ॥
भवप्रत्ययो विदेहप्रकृतिलयानाम्॥ १९ ॥
श्रद्धावीर्यस्मृतिसमाधिप्रज्ञापूर्वक इतरेषाम्॥ २० ॥
तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥ २१ ॥
मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपि विशेषः ॥ २२ ॥
ईश्वरप्रणिधानाद्वा ॥ २३ ॥
क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ॥ २४ ॥
तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्॥ २५ ॥

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्॥ २६ ॥

तस्य वाचकः प्रणवः ॥ २७॥

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥ २८ ॥

ततः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च ॥ २९ ॥

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थित्वानि
चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः ॥ ३० ॥

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ॥ ३१ ॥

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः ॥ ३२ ॥

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥ ३३ ॥

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥ ३४॥

विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी॥ ३५ ॥

विशोका वा ज्योतिष्मती॥ ३६ ॥

वीतरागविषयं वा चित्तम्॥ ३७॥

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥ ३८ ॥

यथाऽभिमतध्यानाद्वा॥ ३९ ॥

परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः ॥ ४० ॥

क्षीणवृत्तेरभिजातस्येव मणेर्ग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थतदञ्जनता समापत्तिः ॥ ४१ ॥

तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः सङ्कीर्णा सवितर्का समापत्तिः ॥ ४२ ॥

स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निर्वितर्का॥ ४३ ॥

एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता॥ ४४॥

सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्॥ ४५ ॥

ता एव सबीजः समाधिः ॥ ४६ ॥

निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः ॥ ४७॥

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा॥ ४८ ॥

श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्॥ ४९ ॥

तज्जः संस्कारोऽन्यसंस्कारप्रतिबन्धी॥ ५०॥

तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीजः समाधिः ॥ ५१ ॥

## साधनपादो द्वितीयः

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ॥ १ ॥

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥ २ ॥
अविद्याऽस्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः ॥ ३ ॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥ ४ ॥
अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥ ५ ॥
दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता ॥ ६ ॥
सुखानुशयी रागः ॥ ७ ॥
दुःखानुशयी द्वेषः ॥ ८ ॥
स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः ॥ ९ ॥
ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥ १० ॥
ध्यानहेयास्तद्वृत्तयः ॥ ११ ॥
क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीयः ॥ १२ ॥
सति मूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः ॥ १३ ॥
ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात् ॥ १४ ॥
परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ॥ १५ ॥
हेयं दुःखमनागतम् ॥ १६ ॥
द्रष्टृदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ॥ १७ ॥
प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ॥ १८ ॥
विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ॥ १९ ॥
द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः ॥ २० ॥
तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ॥ २१ ॥
कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ॥ २२ ॥
स्वस्वामिशक्त्योः स्वरूपोपलब्धिहेतुः संयोगः ॥ २३ ॥
तस्य हेतुरविद्या ॥ २४ ॥
तदभावात्संयोगाभावो हानं तद् दृशेः कैवल्यम् ॥ २५ ॥
विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः ॥ २६ ॥
तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ॥ २७ ॥
योगाङ्गानामनुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ॥ २८ ॥
यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ २९ ॥
अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः ॥ ३० ॥
एते जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ॥ ३१ ॥
शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ॥ ३२ ॥

वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्॥ ३३॥
वितर्का हिंसाऽऽदयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखाज्ञानानन्तफला इति प्रतिपक्षभावनम्॥ ३४॥
अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः॥ ३५॥
सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्॥ ३६॥
अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्॥ ३७॥
ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः॥ ३८॥
अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः॥ ३९॥
शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः॥ ४०॥
सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च॥ ४१॥
सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः॥ ४२॥
कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः॥ ४३॥
स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः॥ ४४॥
समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्॥ ४५॥
तत्र स्थिरसुखमासनम्॥ ४६॥
प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्॥ ४७॥
ततो द्वन्द्वानभिघातः॥ ४८॥
तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः॥ ४९॥
स तु बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः॥ ५०॥
बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः॥ ५१॥
ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्॥ ५२॥
धारणासु च योग्यता मनसः॥ ५३॥
स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः॥ ५४॥
ततः परमा वश्यतेन्द्रियाणाम्॥ ५५॥

## विभूतिपादः तृतीयः

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा॥ १॥
तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्॥ २॥
तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः॥ ३॥
त्रयमेकत्र संयमः॥ ४॥

तज्जयात् प्रज्ञाऽऽलोकः ॥ ५ ॥
तस्य भूमिषु विनियोगः ॥ ६ ॥
त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ॥ ७ ॥
तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ॥ ८ ॥
व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ॥ ९ ॥
तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ॥ १० ॥
सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधिपरिणामः ॥ ११ ॥
शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रतापरिणामः ॥ १२ ॥
एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः ॥ १३ ॥
शान्तोदिताव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ॥ १४ ॥
क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुः ॥ १५ ॥
परिणामत्रयसंयमादतीतानागतज्ञानम् ॥ १६ ॥
शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात्सङ्करस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतरुतज्ञानम् ॥ १७ ॥
संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम् ॥ १८ ॥
प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम् ॥ १९ ॥
न च तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात् ॥ २० ॥
कायरूपसंयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्द्धानम् ॥ २१ ॥
सोपक्रमं निरुपक्रमञ्च कर्म तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ॥ २२ ॥
मैत्र्यादिषु बलानि ॥ २३ ॥
बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ २४ ॥
प्रवृत्त्यालोकन्यासात् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ॥ २५ ॥
भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥ २६ ॥
चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ॥ २७ ॥
ध्रुवे तद्गतिज्ञानन् ॥ २८ ॥
नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ॥ २९ ॥
कण्ठकूपे क्षुत्पिपासानिवृत्तिः ॥ ३० ॥
कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ॥ ३१ ॥
मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ॥ ३२ ॥
प्रातिभाद्वा सर्वम् ॥ ३३ ॥
हृदये चित्तसंवित् ॥ ३४ ॥

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थत्वात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्॥ ३५॥

ततः प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवार्ता जायन्ते॥ ३६॥

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः॥ ३७॥

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः॥ ३८॥

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च॥ ३९॥

समानजयाज्ज्वलमनम्॥ ४०॥

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद्दिव्यं श्रोत्रम्॥ ४१॥

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाशगमनम्॥ ४२॥

बहिरकल्पिता वृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षयः॥ ४३॥

स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वसंयमाद् भूतजयः॥ ४४॥

ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः कायसम्पत् तद्धर्मानभिघातश्च॥ ४५॥

रूपलावण्यबलवज्रसंहननत्वानि कायसम्पत्॥ ४६॥

ग्रहणस्वरूपास्मिताऽन्वयार्थवत्त्वसंयमादिन्द्रियजयः॥ ४७॥

ततो मनोजवित्वं विकरणभावः प्रधानजयश्च॥ ४८॥

सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्वं सर्वज्ञातृत्वं च॥ ४९॥

तद्वैराग्यादपि दोषबीजक्षये कैवल्यम्॥ ५०॥

स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्॥ ५१॥

क्षणतत्क्रमयोः संयमाद्विवेकजं ज्ञानम्॥ ५२॥

जातिलक्षणदेशैरन्यताऽनवच्छेदात्तुल्ययोस्ततः प्रतिपत्तिः॥ ५३॥

तारकं सर्वविषयं सर्वथाविषयमक्रमं चेति विवेकजं ज्ञानम्॥ ५४॥

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्॥ ५५॥

## कैवल्यपादः चतुर्थः

जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः॥ १॥

जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्॥ २॥

निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्॥ ३॥

निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्॥ ४॥

प्रवृत्तिभेदे प्रयोजकश्चित्तमेकमनेकेषाम्॥ ५॥

तत्र ध्यानजमनाशयम्॥ ६॥

कर्माशुक्लाकृष्णं योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्॥ ७॥
ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्॥ ८॥
जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्॥ ९॥
तासामनादित्वं चाशिषो नित्यत्वात्॥ १०॥
हेतुफलाश्रायलम्बनैः सङ्गृहीतत्वादेषामभावे तदभावः॥ ११॥
अतीतानागतं स्वरूपतोऽस्त्यध्वभेदाद्धर्माणाम्॥ १२॥
ते व्यक्तसूक्ष्मा गुणात्मानः॥ १३॥
परिणामैकत्वाद्वस्तुतत्त्वम्॥ १४॥
वस्तुसाम्ये चित्तभेदात्तयोर्विभक्तः पन्थाः॥ १५॥
न चैकचित्ततन्त्रं वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्॥ १६॥
तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तु ज्ञाताज्ञातम्॥ १७॥
सदा ज्ञाताश्चित्तवृत्तयस्तत्प्रभोः पुरुषस्यापरिणामित्वात्॥ १८॥
न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्॥ १९॥
एकसमये चोभयानवधारणम्॥ २०॥
चित्तान्तरदृश्यत्वे बुद्धिबुद्धेरतिप्रसङ्गः स्मृतिसङ्करश्च॥ २१॥
चितेरप्रतिसङ्क्रमायास्तदाकारापत्तौ स्वबुद्धिसंवेदनम्॥ २२॥
द्रष्टृदृश्योपरक्तं चित्तं सर्वार्थम्॥ २३॥
तदसंख्येयवासनाभिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्॥ २४॥
विशेषदर्शिन आत्मभावभावनानिवृत्तिः॥ २५॥
तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं चित्तम्॥ २६॥
तच्छिद्रेषु प्रत्ययान्तराणि संस्कारेभ्यः॥ २७॥
हानमेषां क्लेशवदुक्तम्॥ २८॥
प्रसङ्ख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथा विवेकख्यातेर्धर्ममेघः समाधिः॥ २९॥
ततः क्लेशकर्मनिवृत्तिः॥ ३०॥
तदा सर्वावरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्॥ ३१॥
ततः कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्॥ ३२॥
क्षणप्रतियोगी परिणामापरान्तनिर्ग्राह्यः क्रमः॥ ३३॥
पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति॥ ३४॥

योगसूत्रमिति समाप्तम्

❋

द्वितीयं परिशिष्टम्

# वर्णानुक्रमयोगसूत्रसूची

❋

तृतीयं परिशिष्टम्

# योगसिद्धान्तचन्द्रिकायां निर्दिष्टानाम् उद्धरणानां
## अनुक्रमणी

❊

चतुर्थं परिशिष्टम्

# योगसिद्धान्तचन्द्रिकाव्याख्यास्थितपारिभाषिकशब्दानां लक्षणानि

| | |
|---|---|
| अज्ञानम् | पञ्चपर्वा अविद्याऽज्ञानम्। |
| अणिमा | संकल्पमात्रेण तत्क्षणादेव प्रकृत्यपगमेन परमाणुवद्देशस्य सूक्ष्मता। |
| अथ | अथ शब्द आरम्भार्थः। |
| अधिगमः | अधिगमः साक्षात्कारः। |
| अध्यात्मप्रसादः | आत्मानं बुद्धिमधिकृत्य वर्तमानः प्रसादः। |
| अनभिघातः | अप्रतिबन्धः। |
| अनाशयम् | न सन्त्याशयाः क्लेशकर्मादिवासना अस्मिन्नित्यनाशयम्। |
| | ध्यानसिद्धं चित्तमेवाऽनाशयम्। |
| अनुत्तमः | नास्ति उत्तमो यस्मादित्यनुत्तमः। |
| अनुमानम् | सामान्यात्मनाऽध्यवसायोऽनुमानम्। |
| | मननं यौक्तिकं ज्ञानम्। |
| अन्तर्यामी | अन्तःस्थित्वा प्रेरकः। |
| अपरिग्रहः | देहयात्रामात्रातिरिक्तभोगसाधनानामस्वीकारः। |
| अपवर्गः | संसारनिवृत्तिरूपकैवल्यम्। |
| अभिनिवेशः | प्राप्तेष्वष्टादशसु विषयेषु तपस्विभ्योऽसुरादिभ्यश्च ग्रहणभयमभिनिवेशः। |
| | अभिनिवेशोऽन्धतामिस्रः। |
| अभिभवः | दाहः। |
| अयुक्तः (योगी) | अयुक्तस्त्वसमाहितमनाः। |
| अर्थभावनम् | परमात्मनो भावनं प्रकृतितत्कार्यपुरुषेभ्यो विवेकानुसन्धानम्। |
| | पूर्णस्य भावनं जीवाऽभेदेन पुनः पुनश्चेतसि निवेशनम्। |
| अर्थः | प्रयोजनम्। |
| अलब्धभूमिकत्वम् | समाधिभूम्यलाभः। |

| | |
|---|---|
| अलिङ्गम् | न लिङ्गमलिङ्गं प्रधानम्। |
| अवस्थापरिणामः | नूतनत्वप्राचीनत्वरूपः। |
| अविद्या | प्रकृतिमहदहंकारपञ्चतन्मात्रेष्वाऽऽत्मत्वबुद्धिरविद्या। |
| | अविद्या तमः। |
| अविरतिः | विषयतृष्णा। |
| अशुक्लम् (कर्म) | केवलं पुण्यात्मकं सत्त्ववर्धकत्वात् सुखफलदम्। |
| अशुक्लाकृष्णम् (कर्म) | ज्ञानसाधनव्यापाररूपं कर्मसामान्यं सुखदुःखफलशून्यकैवल्यमात्रफलदम्। |
| असम्प्रज्ञातः | सर्ववृत्तीनां निरोधोऽसम्प्रज्ञातः। |
| | असम्प्रज्ञातो निर्बीजः समाधिः। |
| अस्तेयम् | स्तेयाऽनाचरणम्। |
| अस्मिता | अभिमानविशेषोऽस्मिता। |
| | ग्रहीत्रैकीभूताऽस्मिता। |
| | अस्मिता मोहः |
| अहिंसा | वैरत्यागः। |
| | सहजविरोधिनामहिनकुलादीनामपि निर्मत्सरतयाऽवस्थितिः। |
| आकाशम् | शब्दतन्मात्रकार्यम्। |
| आगमः | शब्देन श्रोतुरतदर्थाकारा वृत्तिरागमः। |
| आधिदैविकं (दुःखम्) | ग्रहपीडादिजमाधिदैविकम्। |
| आधिभौतिकं (दुःखम्) | व्याघ्रसर्पादिजनितमाधिभौतिकम्। |
| आध्यात्मिकं (दुःखम्) | दुःखं शारीरं मानसञ्चाध्यात्मिकम्। |
| | शारीरं व्याधिजं मानसं कामादिजम्। |
| आनन्दः | सत्त्वप्रकर्षेण जायमानाऽऽह्लादस्य साक्षात्कार आनन्दः। |
| आनुश्रविकाः (विषयाः) | गुरुमुखादनुश्रूयत इत्यनुश्रवो वेदः, तत्प्रतिपाद्याः स्वर्गादितत्साधनादय आनुश्रविकाः। |
| आयुः | चिरकालं देहप्राणयोर्योगः। |
| आयुर्वेदः | आयुर्वेदः चिकित्साशास्त्रं वेदस्थमेव। |
| आलस्यम् | योगाऽनुष्ठाने प्रवृत्तिविरोधिकफादिना कायगुरुत्वम्। |
| आवरणम् | क्लेशकर्मविपाकरूपाऽऽवरणम्। |
| आशयः | आशेरते सांसारिकाः पुरुषा अस्मिन्नित्याशयः। |
| | आशयो धर्माधर्मरूपः संस्कारः। |

| | |
|---|---|
| | आशयाः वासनाः। |
| | चित्तभूमावाशेरत इत्याशयाः। |
| आसनम् | स्थिरं निश्चलं सुखकरं च यत्तदासनम्। |
| | आस्यते आस्ते वाऽनेन प्रकारेणेत्यासनम्। |
| इन्द्रियजयः | विषयेभ्यः पराङ्मुखता। |
| ईश्वरः | ऐश्वर्येण यत्र विश्रान्तिः प्राप्यते स ईश्वरः। |
| उदाराः (क्लेशाः) | विषयसङ्गिनामुदाराः। |
| उदितः | वर्तमानेऽध्वनि स्फुरितः। |
| उपसर्गाः | शैथिल्यसम्पादनविघ्नरूपाः। |
| ऋतम्भरा | ऋतं सत्यं पुरुषयाथार्थ्यं बिभर्त्तीति ऋतम्भरा। |
| | सत्यमेव गृह्णाति प्रज्ञा। |
| एकम् | मुख्यं यन्निर्मातृचित्तम्। |
| एकाग्रम् | एकाग्रं तु शुद्धसत्त्वोद्रेकादात्ममात्रगोचरः। |
| एकार्थता | एकमात्रविषयता। |
| कर्म | धर्माधर्मौ कर्म। |
| कायः | पाञ्चभौतिकः स्थूलदेहः। |
| कायावसायित्वम् | सत्यसंकल्पता। |
| कृतार्थम् | कृतः समापितोऽर्थो यस्येति कृतार्थम्। |
| कृष्णं (कर्म) | पापप्रधानं तमोवर्धकत्वाद् दुःखप्रधानफलदम्। |
| कैवल्यप्राग्भारम् | कैवल्याभिमुखम्। |
| कैवल्यम् | आत्यन्तिकदुःखनिवृत्तिविशिष्टे स्वरूपे प्रतिष्ठत्वरूपम्। |
| क्रमः | पूर्वापरीभावः। |
| क्रिया | क्रिया प्रवृत्तिः, रजसो धर्मः। |
| क्रियायोगः | कायवाङ्मनोव्यापारः। |
| क्रोधः | कृत्याकृत्यविवेकोन्मूलकोऽनेनाऽपकृतमिति प्रज्वलनात्मकश्चित्तधर्मः। |
| क्लेशाः | अविद्यादयः। |
| | पुरुषं क्लिश्नन्तः क्लेशाः। |
| | जात्यायुर्भोगहेतवः क्लेशाः। |
| गरिमा | लघुतरस्यापि तूलादेः पर्वतादिवद् गुरुभावः। |
| गुणपर्वाणि | गुणानामवस्थाः। |

| | |
|---|---|
| गुणात्मानः | आत्मपरिणामिस्वरूपं येषां ते तथाभूता गुणा परिणामाः। |
| गुरुः | गुरुः गृणात्युपदिशत्यपूर्वमर्थं दर्शयति। |
| | गु मृत्युं रुध्नाति परिपालनोपदेशादिना वेति गुरुः। |
| क्षणः | स्ववृत्तिध्वंसप्रतियोग्यनाधारः समयः। |
| क्षयोदयौ | अभिभवप्रादुर्भावौ। |
| क्षिप्तम् | क्षिप्तं रजस उद्रेकादस्थिरम्। |
| क्षेत्रिकः | कृषीवलः। |
| चितिशक्तिः | निर्विषयस्वप्रकाशसच्चिद्रूपतैव चितिशक्तिः। |
| चेतनः | आत्ममात्रदृष्टा चेतनः। |
| जन्मकथन्ता | कथमित्यस्य भावः कथन्ता, जन्मनः कथन्ता जन्मकथन्ता। |
| जपः | प्रणवस्य जपः विधिवदुच्चारणम्। |
| जातिः | गोत्वमहिषत्वादिः। |
| | योन्यन्तरम्। |
| जुगुप्सा | घृणा। |
| तनवः (क्लेशाः) | क्रियायोगिनां तनवः। |
| दृश्यम् | दृश्यं प्रधानम्। |
| दृष्टाः (विषयाः) | दृष्टाः स्त्र्यन्नपानादयः। |
| दौर्मनस्यम् | दौर्मनस्यम् इच्छाविघातात् क्षोभो मनसि। |
| द्वेषः | परेण भुज्यमानेषु शब्दादिषु परप्राप्तेष्वणिमादिषु द्वेषः। |
| | द्वेषस्तामिस्रः। |
| | भोगपरिपन्थिनि द्वेषस्तापः। |
| द्रष्टा | वृत्त्यारूढः। |
| | द्रष्टा पुरुषः। |
| | दृशिमात्रः चिन्मात्रो न धर्मादिधर्मकः। |
| धर्मपरिणामः | अवस्थितस्य धर्मिणः पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरप्राप्तेर्धर्मपरिणामः। |
| धर्ममेघः समाधिः | धर्ममेघः समाधि प्रकृष्टमशुक्लाऽकृष्णं कर्म पुरुषार्थसाधकं मेहति सिञ्चतीति। |
| धर्मी | वर्तमानरूपेणाऽनुगतो धर्मी। |
| निदिध्यासनम् | एकतानतादिरूपः। |
| निद्रा | तम आलम्बनं विषयो यस्याः सा वृत्तिर्निद्रा। |
| निरुपक्रमं कर्म | कालान्तरे फलप्रदम्। |

| | |
|---|---|
| निरोधः | निरोध उपशमः। |
| | निरिन्धिनाग्निवत् स्वकारणे लयः। |
| | निरोधः परवैराग्यं सम्प्रज्ञातो निरुद्ध्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तेः। |
| निर्गुणः | निर्गुणः आविद्यगुणशून्यः। |
| निर्ग्राह्यः | अनुमेयः। |
| निर्माणचित्तानि | योगप्रभावात् स्वसंकल्पेन निर्मीयन्त इति निर्माणचित्तानि। |
| पुरुषविशेषः | संसारिपुरुषेभ्यः सत्यसंकल्पत्वादिना विशिष्यत इति पुरुष-विशेषः। |
| पूजा | आसनपादाद्यर्पणम्। |
| पूरकः | आभ्यन्तरवृत्तिः पूरकः। |
| प्रकाशः | प्रपञ्चावभासः सत्त्वधर्मः। |
| प्रज्ञा | प्रज्ञा पुरुषगोचरा ख्यातिः। |
| प्रज्ञालोकः | प्रज्ञाया ध्यातव्यविवेकस्वरूपाया आलोको दीप्तिः। |
| प्रणवः | अखण्डोङ्कारः। |
| | अश्च उश्च मश्चेत्याकारात्मा। |
| प्रणिधानम् | स्तुत्यादिजनिता भक्तिः। |
| प्रतिपक्षभावनम् | विपक्षभावनम्। |
| प्रतिप्रसवः | प्रसवविरुद्धः प्रतिप्रसवः। |
| | स्वकारणेऽत्यन्तविलयः। |
| प्रतिबन्धी | बाधकः। |
| प्रत्यक् | प्रत्यगत्र भ्रान्तो जीवपदाभिधेयः। |
| प्रत्यक्षम् | इन्द्रियविषयसामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषाऽवधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षम्। |
| प्रत्ययाविवेकः | प्रत्यययोर्विविच्याऽग्रहणम्। |
| प्रमादः | प्रमादः कामादिः। |
| प्रयोजकम् | नियामकम्। |
| प्रश्वासः | प्रश्वासः कौष्ठ्यस्य वायोर्नियमेन बहिर्गमनम्। |
| | पूरकविरोधी। |
| | कौष्ठ्यस्य वायोर्निःसारणं प्रश्वासः। |
| प्रसंख्यानम् | साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वानां सम्यक् साक्षात्कारः। |
| प्रसुप्ताः (क्लेशाः) | विदेहप्रकृतिलयानां प्रसुप्ताः। |

| | |
|---|---|
| | तत्त्वज्ञानाभावेन शक्तिरूपेणाऽवस्थिताः। |
| प्राकाम्यम् | इच्छाऽनभिघातः। |
| प्रादुर्भावः | प्रकटतयाऽवस्थानम्। |
| प्रान्तभूमिः | प्रान्ता भूमयोऽवस्था यस्या सा प्रज्ञा प्रान्तभूमिः। |
| प्राप्तिः | देशान्तरस्थवस्तुस्पर्शः। |
| बन्धः | विषयान्तरपरिहारेण स्थापनम्। |
| बहिर्यामी | बहिः स्थित्वा नियामकः। |
| ब्रह्मचर्यम् | अष्टविधमैथुनत्यागो ब्रह्मचर्यम्। |
| भावनम् | उत्पादनम्। |
| भुवनज्ञानम् | चतुर्दशभुवनानां साक्षात्कारः। |
| भूतजयः | भूतानां वशवर्तिता। |
| भूमयः | चित्तस्य पञ्चभूमयोऽवस्थाविशेषाः। |
| भोक्ता (पुरुषः) | सच्चिद्रूपः पुष्करपलाशवन्निर्लेपः। |
| भोगः | भोगः विषयेन्द्रियसंयोगजन्यः सुखदुःखानुभवः। |
| | सुखदुःखाद्याकारदृश्यबुद्धिस्वरूपस्योपलब्धिर्भोगः। |
| | भोगः सुखदुःखान्यतरसाक्षात्कारः। |
| भ्रान्तिदर्शनम् | इदं कर्म न सिद्ध्यति न वेत्येककोटिको विपर्ययः। |
| मनोजवित्वम् | कायस्य मनोवच्छीघ्रतरो गतिलाभः। |
| मन्त्रः | मन्त्रो विषादिनाशकः। |
| महिमा | आकाशादिवन्महद्भावः। |
| मूढम् | मूढं तमस उद्रेकात् कृत्याकृत्यविमुखमुल्लङ्घ्य क्रोधादिभिर्विरुद्धकृत्येष्वेव निरन्तरम्। |
| मैत्री | मैत्री सौहार्दम् ईर्ष्याकालुष्यनिवर्तकम्। |
| युक्तः (योगी) | युक्तः समाहितमनाः। |
| योगः | योगः समाधिः। |
| | योगो भूमिविशेषः। |
| | वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्तिर्योगः। |
| योग्यता | विक्षेपरहितः स्थिरीभावः। |
| रागः | शब्दादिषु पञ्चसूत्कटदृष्ट्या रागः। |
| | रागो महामोहः। |
| रूपम् | चक्षुप्रियो गुणः। |

| | |
|---|---|
| रेचकः | बाह्यवृत्तिः रेचकः। |
| लघिमा | गुरुतरस्यापि पर्वतादेस्तूलवल्लघुभावः। |
| लक्षणपरिणामः | अनागतवर्तमानातीतावस्थापरित्यागेन लक्षणपरिणामः। |
| लावण्यम् | सर्वाङ्गसौन्दर्यम्। |
| लिङ्गम् | लयं गच्छतीति लिङ्गं महत्तत्त्वादिः। |
| लोभः | चर्ममांसादिविषयिणी तृष्णा। |
| वज्रसंहननत्वम् | वज्रस्येव निविडो दृढः संघातः। |
| वशीकारः | अप्रतिघातः केनाऽप्यप्रतिबन्ध्यता। |
| वश्यता | जयः। |
| विकल्पः | वस्तुशून्यो बाधितविषयप्रत्ययः। |
| विक्षिप्तम् | सत्त्वोद्रेकाद्रजोविशिष्टम्। |
| विक्षेपः | ये चित्तं तत्फलसाधनेभ्यो योगादिभ्यो विक्षिपन्ति ते विक्षेपाः। |
| | विक्षेपा ऐहिकामुष्मिकफलप्रतिबन्धद्वारा योगाद्यान्तरायाः। |
| विच्छिन्नाः (क्लेशाः) | विषयसङ्गिनां विच्छिन्नाः। |
| वितर्कः | स्थूलांशचतुर्भुजादेः साक्षात्कारो विचारः। |
| वितर्काः | वितर्क्यन्ते मिथ्याज्ञानजन्यधारादिवासनाभिरभिमुखीक्रियन्त इति वितर्काः। |
| विदेहाः | षाट्कौषिकदेहशून्या विदेहाः। |
| विनियोगः | नियोजनम्। |
| विपर्ययः | अयथार्थज्ञानम्। |
| विपाकः | विपाकस्तयोः फलं सुखदुःखे। |
| | विपच्यते साध्यते कर्मभिरिति जात्यायुर्भोगात्मकः। |
| | विपच्यते साध्यते कर्मभिरिति विपाकः फलम्। |
| विभक्तः पन्थाः | भिन्नो मार्गः। |
| विरामः | विरमणं विरामो वृत्तीनामभावः। |
| विवेकः | दृग्दृश्ययोर्भेदो विवेकः। |
| विवेकजं ज्ञानम् | विवेकेन इतरव्यावृत्ततया जायमानं सर्ववस्तूनां ज्ञानम्। सर्वार्थगोचरम् |
| विशेषाः | विशिष्यन्ते व्यावर्त्यन्ते इति विशेषाः व्यावृत्ताः। |
| विषयः | मोहनीयो रञ्जनीयः कोपनीयश्च रूपादिः। |

| | |
|---|---|
| विषयता | विषयता च व्यापारानुबन्धिनी। |
| वीर्यम् | वीर्यं प्रयत्नः। |
| वृत्तयः | वृत्तयो दीपस्य शिखा इवावस्थापरिणामरूपा बाह्या आभ्यन्तराश्च। |
| | शान्तघोरमूढाश्चित्तस्य वृत्तयः क्षणभङ्गुराः। |
| | क्लेशानां वृत्तय स्थूला अभिव्यक्तावस्थाः। |
| व्यक्ताः | वर्तमानावस्थाः। |
| व्यापारः | व्यापारश्च वृत्तिरेव। |
| व्युत्थानम् | क्षिप्तमूढविक्षिप्ताख्यं भूमित्रयं व्युत्थानम्। |
| व्यूहः | सन्निवेशविशेषः। |
| शान्तः | अतीताऽध्वनि प्रविष्टः। |
| शीलम् | स्वाभाविकं रूपम्। |
| शुक्लकृष्णं (कर्म) | पुण्यपापात्मकं पुण्यप्रधानं रजोवर्धकत्वात् सुखदुःखफलदम्। |
| शौचम् | मलनिरसनम्। |
| श्रद्धा | पुरुषगोचरा सात्त्विकी श्रद्धा। |
| श्रुतम् | श्रवणं शाब्दबोधः। |
| श्वासः | श्वासः बाह्यवायोर्नियमेनाऽन्तःप्रवेशः। |
| | समाध्यङ्गरेचकविरोधी। |
| | बाह्यवायोराचमनं श्वासः। |
| संयोगः | सन्निधानं संयोगः। |
| संवेगः | संवेगोऽत्र वैराग्यम्। |
| संशयः | सिद्ध्यति न वेत्युभयकोटिको विपर्ययः। |
| संसारहेतवः | क्लेशसंस्कारा एव संसारहेतवः। |
| संस्कारशेषः | ख्यातिसंस्कारः। |
| सत्यम् | यथार्थबोधनानुकूलो व्यापारः सत्यम्। |
| सन्तोषः | पूर्णमिति बुद्धिरनुपादित्साहेतुः सन्तोषः। |
| समाधिः | राजयोगाऽपरपर्यायः। |
| सम्प्रज्ञातः | चित्तस्य राजसतामसवृत्तीनां निरोध उपशमः सम्प्रज्ञातः। |
| सम्प्रयोगः | तदभिमुखता। |
| सम्बोधः | सम्यग्ज्ञानम्। |
| सर्वार्थम् | सर्वभानप्रयोजकम्। |

| | |
|---|---|
| सारूप्यम् | चित्तेन सह द्रष्टुर्वृत्तौ सारूप्यमवैलक्षण्यम्। |
| सुतुच्छकम् | अत्यल्पसारम्। |
| | सुतुच्छकं मिथ्यैव। |
| सूक्ष्मविषयत्वम् | अलिङ्गपर्यवसानम्। |
| सूक्ष्माः | अतीतानागतावस्थाः। |
| सोपक्रमं कर्म | फलदानव्यापारयुक्तम्। |
| सौमनस्यम् | अक्षोभः। |
| स्तम्भवृत्तिः (कुम्भकः) | स्तभ्यते पूरितकुम्भकवन्निश्चलतया विधारकप्रयत्नेन अन्तर्बहिरिव नाऽवस्थाप्यते इति कुम्भकः। |
| स्त्यानम् | चित्तस्य लघुत्वेऽपि चाञ्चल्यादिना कर्माऽनर्हता। |
| स्तुतिः | गुणमात्रकथनम्। |
| स्थानिनः | स्वर्गादिलोकाधिकरणो देवाः। |
| स्मयः | कृताभिमानः। |
| स्मृतिः | अनुभवविषयादनधिकविषयो गृहीतग्राही प्रत्ययः। |
| | स्मृतिर्ध्यानम्। |
| स्वाध्यायः | उपनिषदाद्यावृत्तिः। |
| स्थितिः | स्थितिर्नियमस्तमसः। |
| हिंसा | प्राणिदुःखसाधनव्यापारो हिंसा। |
| हानम् | दृग्दृश्यसंयोगस्याऽभावात्मकनिवृत्तिर्हानपदार्थः। |
| हेयाः | नाश्याः। |

❋

## सुश्रीडॉक्टर विमलाकर्नाटकमहोदयानां ग्रन्थाः

१. **व्याख्याकारों की दृष्टि से पातञ्जलयोगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन**
(पुरस्कृतम्) का. हि. वि. प्रकाशन, १९७४

२. **भारतीय दर्शन** (योगदर्शन), हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ, १९७५

३. **सांख्यकारिका** (गौडपादभाष्यहिन्दीव्याख्या विभूषिता) चौखम्भा प्रकाशन, १९८४

४. **पातञ्जलयोगदर्शनम्** (तत्त्ववैशारदी-योगवार्त्तिकेतिटीकाद्वयोपेतं व्यासभाष्यम्)
(खण्डचतुष्टयम्) सपाठभेद 'बालप्रिया'ऽऽख्यहिन्दीव्याख्याया विभूषितम्
(पुरस्कृतम्) का. हि. वि. प्रकाशन, १९९२

५. **पातञ्जलयोगसूत्रवृत्तिः** (रामानन्दयतिविरचिता 'मणिप्रभा' युता सपाठभेद
'सुप्रिया'ऽऽख्यहिन्दीव्याख्योपेता च)
(पुरस्कृतम्) चौखम्भा प्रकाशन, १९९६

६. **योगदर्शन का इतिहास** (संस्कृत वाङ्मय का बृहत् इतिहास) दर्शनखण्ड
संस्कृत अकादमी, उत्तर प्रदेश, १९९९

७. **श्रीमद्भागवत में सांख्ययोग के तत्त्व : एक परिशीलन** यन्त्रस्थः
(श्रीधरीसंस्कृतटीका के आधार पर)

❋

चौ. सं. सी. १०८

योगसिद्धान्तचन्द्रिका

डॉ० विमला कर्णाटक

## सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची


**आर्ष ग्रन्थ**

| | |
|---|---|
| अग्नि पुराण | सम्पा. - नागशरण सिंह, प्रका. नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली-1985 |
| अंगिरस स्मृति | सम्पा.- ए.एन. अयंकर, प्रका.- वसन्त प्रैस, अड्यार लायब्रेरी, मद्रास-1953 |
| अथर्ववेद | ले. - महर्षि अंगिरस, प्रका. - दयानन्द संस्थान, नई दिल्ली, सं. 1997 |
| ऋग्वेद (भाग 1-2) | प्रका. - दयानन्द संस्थान, भगवानदास एण्ड कम्पनी, कश्मीरी गेट, दिल्ली, तृतीय संस्करण |
| कठोपनिषद् (एकादशोपनिषद्) | सम्पा.- स्वामी सत्यानन्द, प्रका.- भगवानदास एण्ड कं., कश्मीरी गेट, दिल्ली, तृतीय संस्करण |
| कठोपनिषद् (शांकरभाष्य सहितम्) | व्या. - डॉ. बैजनाथ पाण्डेय, प्रका. - मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली : पटना : वाराणसी, प्र.सं. 1977 |
| कूर्म महापुरणम् | सम्पा. - श्री खेमराज श्रीकृष्णदास, प्रका. - नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली-1984 |
| गरुड महापुराणम् | वही, |
| गरुड़ पुराणम् | सम्पा. - डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य, प्रका. - चौखम्बा संस्कृत संस्थान, विद्याविलास प्रैस, वाराणसी, प्र.सं., सम्वत्-2019 |
| छान्दोग्योपनिषद् ( एकादशोपनिषद् ) | सम्पा.- स्वामी सत्यानन्द, प्रका.- भगवान दास एण्ड कं., कश्मीरीगेट, दिल्ली, तृ.संस्करण |
| दक्षस्मृति (अष्टादश स्मृतयः) | सम्पा. - त्रिपाठी, प्रका. - श्री वेंकटेश्वरम् स्टीम प्रैस, बम्बई- |

धर्मशास्त्र संग्रह (भाग 1-2 ) — सम्पा. डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, प्रका.- नवरंग, नई दिल्ली, प्र.सं. - 1982

पद्म महापुराणम् — सम्पा.- खेमराज श्रीकृष्णदास, प्रका.- नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली-1985

पराशर स्मृति ( भाग 1-3 ) — व्या. माधवाचार्य, प्रका.- दी एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता-1974

भागवत् महापुराणम् — सम्पा.- खेमराज श्रीकृष्णदास, प्रका.नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, देहली-1987

मनुस्मृति — व्या-पं. हरगोविन्द शास्त्री, सम्पा.- पं. गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, द्वितीय संस्करण, सं. 2026

माण्डूक्योपनिषद् (गौडपाद कारिका एवं शांकरभाष्य सहितम् ) — व्या.- स्वामी निखिलानन्द, प्रका.-श्री रामकृष्णाश्रम, मैसूर, छटा सं. -1974

याज्ञवल्क्य स्मृति — व्या. डॉ. उमेशचन्द्र, प्रका.-चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी-1967

लिंगपुराणम्(भाग 1-2 ) — सम्पा.- श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रका.-संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, तृ.सं.-1975

वराह पुराणम् — सम्पा.- श्री हृषीकेश शास्त्री, प्रका.- चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, द्वि.सं. -1982

वामन महापुराणम् — सम्पा.- खेमराज श्रीकृष्णदास, प्रका.- नाग पब्लिशर्स, जवाहर नगर, दिल्ली-1984

वायु महापुराणम् — वही, 1983

विष्णु पुराणम् — सम्पा.- थानेशचन्द्र उप्रैति, प्रका. -परिमल पब्लि., दिल्ली, प्र.सं. 1987

स्कन्द पुराणम् (भाग 1-2 ) — सम्पा.- श्रीराम शर्मा आचार्य, प्रका.-संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली, द्वि.सं. 1976

स्कन्द महापुराणम् (भाग 1-7) — सम्पा.– श्री नागशरण सिंह, प्रका.– नाग पब्लि., जवाहर नगर, दिल्ली- 1987

श्वेताश्वतर उपनिषद् — व्या. डॉ. वेदवती वैदिक, प्रका.– नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नई दिल्ली, प्र.सं. 1984

श्रीमन्महाभारतम् — सम्पा.– टी.आर. कृष्णाचार्य तथा टी.आर. व्यासाचार्य, श्री सत्गुरु पब्लिकेशन्स, ओरियन्टल एण्ड इण्डोलोजिकल पब्लिशर्स, शास्त्री नगर, दिल्ली, द्वि.सं. 1985


## 2. मूल संस्कृत ग्रन्थ


अपरोक्षानुभूति — सम्पा.– पं. मनोहरलाल शर्मा, प्रका. चितरञ्जन एवेन्यु कलकत्ता, सम्वत् 2031

कारिकावली (न्यायचन्द्रिका सहितम्) — ले.– विश्वनाथ, सम्पा.– ढुण्ढिराज शास्त्री, प्रका.– जयकृष्णदास गुप्ता, विद्याविलास प्रैस, वाराणसी- 1923

गोरक्ष संहिता — व्या. रायबहादुर शीर्षचन्द्र वसु, प्रका.– श्री सतगुरु पब्लि, शक्तिनगर, दिल्ली- 1981

* घेरण्ड संहिता — अनु. राय बहादुर शीर्षचन्द्र बसु, प्रका. श्री सत्गुरु पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1981

* तर्कभाषा — ले. केशवमिश्र, सम्पा.– श्रीनिवास शास्त्री, साहित्यभण्डार सुभाष बाजार, मेरठ, सप्तम् संस्करण- 1987

दत्तात्रेय योगशास्त्र — सम्पा– डॉ. ब्रह्ममित्र अवस्थी, प्रका.– स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, रूप नगर, दिल्ली- 1982

* धातुपाठ — ले.– पाणिनि मुनि, प्रका.– रामलाल कपूर ट्रस्ट, दिल्ली- 1975

नागेशभट्टीय बृहद्योग सूत्रवृत्ति — ले.– नागेशभट्ट, सम्पा.– वासुदेवशास्त्री, प्रका.– डिपार्टमैंट आफ पब्लिक इंस्ट्रक्शन, बम्बई- 1917

| | |
|---|---|
| नागोजीभट्ट वृत्ति (पातञ्जल योगसूत्रम् ) | ले.- नागोजीभट्ट, प्रका.- चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याविलास प्रैस, वाराणसी- 1930 |
| न्याय दर्शनम् | ले.- महर्षि गौतम, व्या.- आचार्य ढुण्ढिराज शास्त्री, सम्पा.- श्री नारायण मिश्र, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, तृ.सं., सं. 2039 |
| न्यायसिद्धान्त मुक्तावली | सम्पा.डॉ. गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, प्रका.- चौखम्बा सुरभारतीय प्रकाशन, वाराणसी- 1978 |
| पदचन्द्रिका | ले.- अनन्तदेव, प्रका.- गुजराती प्रिन्टिंग प्रैस,गुजरात- 1927 |
| पंचदशी | ले.विद्यारण्यमुनि, सम्पा.- डॉ. चमनलाल गौतम, प्रका.- संस्कृति संस्थान, ख्वाजा कुतुब, बरेली,प्र.सं. 1976 |
| पातञ्जल योगदर्शनम् (भावागणेश वृत्ति सहितम् ) | ले. - भावागणेश, प्रका. - चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याविलास प्रैस, वाराणसी- 1930 |
| पातंजल योगदर्शनम् | व्या.स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, सम्पा.- श्री रामशंकर भट्टाचार्य, प्रका.- मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली- 1975 |
| पातञ्जल योगदर्शनम् (व्यासभाष्य, तत्त्ववैशारदी एवं योगवार्तिक सहितम् ) | सम्पा. - श्री नारायण मिश्र, प्रका. - भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, द्वि.सं.-1981 |
| पातञ्जलयोग दर्शनम् (हिन्दी व्याख्या) | व्या.ब्रह्मलीन मुनि, प्रका. - चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी- 1970 |
| पातञ्जलयोगसूत्रम् (साधनपाद ) | व्या.डॉ. वेदव्रत योगी सच्चिदानन्द, प्रका.-सच्चिदानंद योग मिशन, अमर प्रिंटिंग प्रैस, दिल्ली, प्र.संस्करण |
| पातञ्जल योगसूत्र भाष्यविवरणम् | ले.- शंकराचार्य, सम्पा.- श्रीराम शास्त्री, प्रका-मद्रास गवर्नमैंट आरियन्टल सीरीज, गवर्नमैंट आरियन्टल मैन्यु. लाईब्रेरी, मद्रास- 1952 |

| | |
|---|---|
| पातञ्जल योगसूत्रम् (मणिप्रभा सहितम् ) | ले. - रामानन्द यति, प्रका. - चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्या विलास प्रैस, वाराणसी - 1930 |
| ब्रह्मसूत्र (शांकरभाष्य सहितम् ) | ले. बादरायण व्यास, भाष्य. - शंकराचार्य, व्या. एवं प्रका. - स्वामी सत्यानन्द सरस्वती, गोविन्द मठ, टेढी नीम, वाराणसी, च. सं., सम्वत् 2040 |
| योग करणिका | सम्पा. - डॉ. नरेन्द्रनाथ शर्मा, प्रका. - ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली - 1981 |
| योगतन्त्र ग्रन्थमाला | ले. - डॉ. गोपीनाथ कविराज, प्रका. - चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सं. 2026 |
| योगदर्शनम् (योगसिद्धान्त चन्द्रिका एवं सूत्रार्थबोधिनी सहितम् ) | ले. - स्वामी नारायण तीर्थ, प्रका. - चौखम्बा संस्कृत सीरीज, विद्याविलास प्रैस, वाराणसी - 1910 |
| योगप्रदीपिका (योगदर्शनम् ) | ले. - बलदेव मिश्र, सम्पा. - ढुण्ढिराज शास्त्री, प्रका. - चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1931, प्र. सं. |
| योगवासिष्ठ (भाग 1-2 ) | व्या. वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, प्रका. - मुन्शीराम मनोहर लाल पब्लिशर्स, दिल्ली, तृतीयावृत्ति - 1981 |
| योगसार संग्रह | ले. - विज्ञानभिक्षु, सम्पा. - डॉ. पवन कुमारी गुप्ता, प्रका. - ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्र. सं. 1984 |
| योगसूत्रम् ( राजमार्तण्ड, प्रदीप, वृत्ति, मणिप्रभा, चन्द्रिका, योगसुधाकर सहितम् ) | सम्पा. - ढुण्ढिराज शास्त्री, प्रका. - काशी संस्कृत ग्रन्थमाला - 83, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वि. सं., सं. 2039 |
| योगसूत्र वैदिकी वृत्ति | ले. - हरिप्रसाद, प्रका. - श्री वेंकटेश्वर यन्त्रालय, बम्बई - 1907 |
| योगसुधाकर | व्या. सदाशिवेन्द्र सरस्वती, प्रका. विद्याविलास प्रैस, वाराणसी - 1930 |
| योगसूत्रभाष्य सिद्धि | ले. सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, प्रका. संवित प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र. सं. 1973 |

| | |
|---|---|
| लघु योगवासिष्ठ | सम्पा.- वासुदेव शर्मा, प्रका.- मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली : मथुरा : वाराणसी, द्वि.सं., 1985 |
| वेदान्त परिभाषा ( भगवती सहित ) | व्या.श्रीमदानन्द झा, प्रका.- अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लक्ष्मण पुरी, संवत् 1981 |
| वेदान्तसार | व्या.महेशचन्द्र भारतीय, प्रका.- विमल प्रकाशन, गाजियाबाद, प्र.सं. 1978 |
| वेदान्त सिद्धान्त कुसुमाञ्जलि | सम्पा.- श्री राम प्रसाद त्रिपाठी, प्रका.- आनन्द वन ग्रन्थमाला, स्वामी काशिकानन्द जी ट्रस्ट, गीता धर्म प्रैस, वाराणसी |
| सांख्यतत्त्वकौमुदी | ले.- वाचस्पति मिश्र, व्या.- गजानन शास्त्री मुसलगांवकर, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी- 1978 |
| साँख्यसूत्रम् ( भाष्य सहितम् ) | सम्पा.- रामशंकर भट्टाचार्य, भारतीय विद्या प्रकाशन, वाराणसी, द्वि. सं., 1977 |
| सिद्ध सिद्धान्त संग्रह | सम्पा.- श्री गोपीनाथ कविराज, प्रका.- जयकृष्ण दास गुप्ता, गोपाल मन्दिर, वाराणसी- 1925 |
| सिद्धान्तबिन्दु ( न्याय रत्नावली तथा लघु व्याख्या सहितम् ) | ले. श्री मधुसूदन सरस्वती, सम्पा.- पं. त्र्यम्बकराम शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, द्वि.सं., सं.- 2046 |
| शिवयोग दीपिका | ले.- सदाशिव योगीश्वर, आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली 139, द्वि.संस्करण, |
| शिव संहिता | अनु.रायबहादुर शीर्षचन्द्र वसु, प्रका.- श्री सत्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली - 1979 |
| श्रीमदभगवद्गीता | व्या.- मधुसूदन सरस्वती, सम्पा.- ब्रह्मदत्त द्विवेदी, प्रका.- सेठ श्री विनोद कुमार मोरारका, कलकत्ता, 1975 |
| हठयोग प्रदीपिका | अनु.- पञ्चम् सिंह, प्रका.- श्री सत्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली- 1981 |

**सहायक ग्रन्थ ( हिन्दी )**


अद्वैत तत्त्व मीमांसा — ले.- डॉ. सुधा जैन, रीडर, संस्कृत विभाग, म.द.विश्वविद्यालय, रोहतक, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली-1986

आचार्य विज्ञानभिक्षु और भारतीय दर्शन में उनका स्थान — ले.- सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव, प्रका.- लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, प्र.सं. 1968

उपनिषद् दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण — ले. रामचन्द्र दत्तात्रेय रानाडे, प्रका. राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर- 1971

उपनिषदों में योगविद्या — ले.- डॉ. रघुवीर वेदालंकार, प्रका.- के.सी.पब्लिशर्स, अमर प्रिंटिंग प्रैस, दिल्ली, प्र.सं. 1991

जैन साहित्य का बृहद् इतिहास — प्रका. - पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी, 1973

दार्शनिक विवेचनाएँ — ले. - हरिमोहन झा, प्रका.- बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, सम्मेलन भावन, पटना-1973

पतञ्जलि कालीन भारत — ले.- प्रभुदयाल अग्निहोत्री, प्रका.- बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना- 1967

पातञ्जल योग साधना — ले.-स्वामी सच्चिदानन्द योगी, प्रका.-योगधाम, आर्य नगर, ज्वालापुर, वि.सं. 2026

पातञ्जल योगसूत्र का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन — ले. -नलिनी शुक्ला, रामकृष्ण नगर, कानपुर, सं.- 2031

पातञ्जल योगसूत्र : एक समालोचनात्मक अध्ययन — ले.-डॉ. पवन कुमारी गुप्ता, प्रका.- ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली - 1979

पुराणेतिहासयोः सांख्ययोग दर्शन विमर्शः — ले.- डॉ. श्री कृष्ण मणि त्रिपाठी, सरस्वती भवन अध्ययनमाला- 24, प्रका.- सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी, प्र.सं.,1979

प्राणायाम — ले.- स्वामी कैवल्यानन्द, प्रका. पॉपुलर प्रकाशन, बम्बई, चतुर्थ संस्करण, 1966

| | |
|---|---|
| प्रायोगिक योग शिक्षा | ले.–कुमारी अरुणा आनन्द, प्रका.–आनन्द प्रकाशन, नौरोजी नगर, दिल्ली |
| भारतीय दर्शन | ले.–वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद- 1912 |
| भारतीय दर्शन (भाग 1-2) | ले.डॉ. राधाकृष्णन्, अनु.– नन्दकिशोर गोमिल विद्यालंकार, प्रका. राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली 1972 |
| भारतीय दर्शन | ले.–उमेश मिश्र, हिन्दी समिति, सूचना विभाग, लखनऊ, उ.प्र. । |
| भारतीय दर्शन का इतिहास (प्रथम भाग) | ले.–डॉ. एस.एन.दास गुप्ता, अनु.–कलानाथ शास्त्री प्रका.–राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर-1978 |
| भारतीय दर्शन की भूमिका | ले.–डॉ. रामचन्द्र पाण्डेय, अनु.–अशोक कुमार मोंगा प्रका.– सुन्दरलाल जैन, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, प्र.सं.1969 |
| भारतीय दर्शन परम्परा | ले.–हरवंशलाल शर्मा, प्रका.– नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली, प्र.सं. 1972 |
| भारतीय दर्शनशास्त्र का इतिहास | ले.– डॉ. नन्दकिशोर देवराज और डॉ. रामानन्द तिवारी, प्रका.– हिन्दुस्तानी एकेडमी (उ. प्र), इलाहाबाद, द्वि.सं. 1950 |
| भारतीय दर्शन में चेतना का स्वरूप | ले.– श्रीकृष्ण सक्सेना, प्रका.– चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी- 1968 |
| भोजप्रबन्ध | ले.– बल्लाल, प्रका.– रामनारायण लाल बेनी माधव, प्रयाग- 1961 |
| योग दर्शन | ले.–सम्पूर्णानन्द, प्रका. हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश । |
| योग दर्शन को नागेशभट्ट का योगदान (शोध प्रबन्ध) | ले.– डॉ. रमा जैन, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली- 1981 |

योगसार — ले. स्वामी सच्चिदानन्द योगी सरस्वती, सम्पा. – डॉ. वेदव्रत, प्रका. सच्चिदानन्द योग मिशन, हैदराबाद, दिल्ली, प्र. सं. - 1981

योगसूत्र की वृत्तियों का तुलनात्मक अध्ययन (शोध-प्रबन्ध ) — ले. - डॉ. कृष्णा आर्य, संस्तुत कर्त्ता - डॉ. वाचस्पति उपाध्याय, दिल्ली वि. वि., दिल्ली- 1984

यौगिक सूक्ष्म व्यायाम — ले. धीरेन्द्र ब्रह्मचारी, विश्वायतन योगाश्रम, दिल्ली, द्वि. सं. - 1965

योगी का आत्मचरित्र — ले. – दीनबन्धु शास्त्री तथा स्व. सच्चिदानन्द योगी, पातञ्जल योग साधना आश्रम, रोहतक

राजयोग — ले. – स्वामी विवेकानन्द, प्रका. – श्रीरामकृष्ण आश्रम, नागपुर ।

राजाभोज — ले. विश्वेश्वर नाथ रेऊ, प्रका. इलाहाबाद अकादमी, उ. प्र. - 1932

व्याखाकारों की दृष्टि में पातञ्जल योगसूत्र का समीक्षात्मक अध्ययन — ले. – कुमारी विमला कर्नाटक, प्रका. – काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी - 1974

वैदिक संहिताओं में योग तत्त्व (शोध प्रबन्ध ) — ले. – योगेन्द्र पुरुषार्थी, गुरुकुल काँगडी विश्वविद्यालय, हरिद्वार - 1980

वैशेषिक दर्शन : एक अध्ययन — ले. नारायण मिश्र, प्रका. चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी - 1968

शिव महापुराण की दार्शनिक तथा धार्मिक समालोचना — ले. – डॉ. रामशंकर त्रिपाठी, प्रका. – शंकर प्रैस, वाराणसी - 1975

शिवयोगदीपिका — ले. – सदाशिव योगीश्वर, प्रका. – आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली - 139, द्वितीयावृत्ति ।

शंकराचार्य - उनके मायावाद तथा अन्य सिद्धान्तों का आलोचनात्मक अध्ययन — ले. – बलदेव मिश्र, प्रका. – साहित्य भण्डार, सुभाष बाजार, मेरठ - 1964

| | |
|---|---|
| श्रीमद्भगवद्गीता-दिव्यदर्शन | ले.- गयाप्रसाद द्विवेदी, प्रका.- साहित्यभवन, आगरा-1972 |
| श्री शंकराचार्य | ले.-बलदेव उपाध्याय, प्रका.-हिन्दुस्तान एकेडमी, इलाहाबाद-1963 |
| षट्चक्र निरूपण | सम्पा.- श्री स्वामी हंसस्वरूप, विज्ञान मन्दिर, ऋषिकेश- 1980 |
| सर्वदर्शन संग्रह | ले.- माधवाचार्य, भाष्य.-उमाशंकर शर्मा ऋषि, प्रका.-चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी- 1961 |
| सांख्यदर्शन का इतिहास | ले.-आचार्य उदयवीर शास्त्री, प्रका.-विरजानन्द वैदिक शोध संस्थान, गाजियाबाद, द्वि.सं. 1979 |
| सांख्यदर्शन की ऐतिहासिक परम्परा | ले.- डॉ. आद्याप्रसाद मिश्र, प्रका.- सत्यप्रकाशन, बलरामपुर हाऊस, इलाहाबाद, प्र.सं. -1967 |
| हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ( हठयोग प्रदीपिका सहित ) | ले.- डॉ. सुरेन्द्र कुमार शर्मा, प्रका.- ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली |

## ENGLISH HELP BOOKS


| Title | Author / Publisher |
|---|---|
| A Compandian of the Raj Yoga Philosophy | Raja Ram Tooka Ram, Golden Publication Services, Delhi-1983. |
| A Comparative study of the concept of liberation in Indian Philosophy. | A.K.Lad, Girdhar Lal Kesar Das, chowk Burhampura, Cmp-1967. |
| A Concordance of the Principal upniṣads and Bhagwat Geeta | Colonel G.A.Jacob, Motilal Banarshi Dass, Delhi, Second Edition-1971. |
| A Glossory of Smriti Literature | Suresh Chander Banerjee, Punthi Pustak, Calcutta, First.Edt.-1963. |
| A History of Indian Philosophy(Vol.1-2) | Jadunath Sinha, Central Book Agency, Bankem Chatterjee Street, Calcutta-1952. |
| Bhoja Raja | P.T.S. Ayyangar, Annamalai Univ. Historical Series, Methodolist Publishing House, Madras-1931. |
| Catalogus Catalogurum (Vol.1-2) | Theoder Aufracht, Fraing Steiner Verlog, G.M.D.H. Wisebaden-1962. |
| Concentration and Meditation | Sawami Sivanand, The Yoga Vedant Forest Academy, Garhwal(U.P.)-1964. |
| Concept of Mind in Indian Philosophy | K.Sevan Channa, Bombay-1963 |
| Essays in Indian Philosophy and Religion | P.Nagraj Rao, Lalvani Publishing House, Madras-1971. |
| Essence of Yoga | Sawami Sivananda, Yogavadanta forest Uni. Garhwal, Rishikesh, Forth Edn. 1950. |

| | |
|---|---|
| Great Systems of Yoga | E.Wood, Russi J.H. Tarapurwala,Narajo Road, Bombay-1. |
| Hatha Yoga | Prof.Shyam Sunder Goswami,L.N. Fowler and Company, Ltd.London ,1959. |
| History of Samkhya Philosophy | A.B.Keith,Nag. Publishers,Jawahar Nagar, Delhi,1975. |
| History of Sanskrit poetiser | M.B.Das, Delhi-1971. |
| Mannual of Yoga | Desmond Dunne, London,W.Foulshan and Company, London, Ist. Edns.1956. |
| New Catalogus Catalogrum (An alphabetical Register of Sanskrit and allied works and authors) Vol.10. | V.Raghvan, Ed. by K.Kunhan Raja, Associate Edit. Dr.C.S.Sunda Ram, Univ. of Madras, 1978. |
| One hundred and Twelve upnişads and their philosophy | Ed. by Dr.A.N.Bhattacharya, Primal Publications, Delhi. Ist Edn., 1987. |
| Patanjala Yoga | Gasper, M. Koelman, S.J. Papel Alhen Acum, Poona-1970. |
| Patanjali's Yoga Sutra | S.V.Ganpati, Hindi Parchar Press, Thyagaraja Nagar, Madras-1962. |
| Philosophy in India | Satchidanand Murti, Sh.Kireet Joshi for Indian Council of Philosophical Research,First Edit. 1985. |
| Philosophies of India | HemRich Zimmer, Edit by Joseph Combell, Prenciton Uni Press, Princeton,New Jessey, 1969. |

Practical Yoga — Ernest Wood, Rider and Company, Hutchinson House. Startfort, London-1952.

Pranayam — Swami Kaivalya Nand, Bombay Popular Parkashan, Bombay, Forth Edn. 1966.

Purva Mimansa in its sources. — Jha, Ganga Nath, Banaras Hindu Uni. Press, Varanasi-1964.

Raja Yoga or Occuttism — H.P.Blavatsky, Theosophical Company, India (Ltd.) Esplanad.Road Bombay, 1931.

Samkhya and Advait Vedant: A Comparative Study — Sen Gupta, Anima, Pub. by Manoranjan Sen Gyan Ashram, S.P.Sen. Road, Lucknow, First Edition, 1973.

Samkhya Concept of Personality — A.K.Majumdar, Calcutta Univ. Press, 1930.

Science Studies Yoga — James Fuder Burk, Himalayan Inter-National Institute of Yoga, Science and Philosophy of U.S.A., 1977.

Secrets of Patanjala Yoga — Tej Singh, Jyoli Ayurveda Ashram, Nodsa, Farukabad.

The Encyclopedia of Indian Philosophy(Vol.1-4) — K.H. Potter, Motilal Banarsi Dass, Delhi-1974.

The Heyapaksha of Yoga — P.V.Pathak. The New order book Company. Ellis Bridge, Ahmedabad, 1931.

The Mind in Action — G.C.George, May & Carties Ltd., 21. Bridelane, London.

| | |
|---|---|
| The Science of Yoga | Tamini, I.K., The Theosophical Publishing House, Adyar, Madras-1968. |
| The Six Systems of Indian Philosophy. | M.D.Rajadhyaksha, Bhartiya Book Corp. Delhi-1986. |
| The Wisdom of the East Karma and Rebirth | John Murry-50, Albemark Street, London, 1972. |
| The Yoga of Saints | V.H.Date, Pub.by Munshi Ram Manohar Lal, New Delhi, 1974. |
| The Yoga Upnișadah | Tr. by Upnișada Braham Yogin, Edt. by Pt.A.Mahadeva Shastri, Vasna Press, Theosophical Society,Adyar, Madras, 1968. |
| Upnișads and Yoga | T.R.Kulkarni,Bhartiya Vidha Bhawan, Bombay-1972. |
| Vacașpati Misra and Advait Vedant | S.S.HaSurkor. Mithila Institute, Darbhanga, 1958. |
| Yoga and Psyco Analysis | P.Kumar Paul. Dr. Bhagwan Dass Memorial Trust Lajpat Nagar,N.Delhi. |
| Yoga as a Therapantic Fact Prasamga | Swami Adidevanand, Uni. of Mysore, 1966. |
| Yoga and Western Psycholgoy | G.Coster, Geoffrey Comberledge, Oxford Uni. Press, London-1949. |
| Yoga as Philosophy and Religion | Dr.S.N.Das Gupta, Moti Lal Banarsi Dass, Delhi-1974. |
| Yoga as depth Psychology and Para Psychology (Vol.I.) | G.T.Kenghe, Pub. by - Bharat Manisha, Varansi, First Edition, 1975. |

| | |
|---|---|
| Yoga and Personality | K.S.Joshi, Vadayana Publications, Alahabad, 1967. |
| Yoga:Immorality & Freedom | Eliade Mircea, Routlege, Kegan Paul, Broadway House, 68-74 London-1958. |
| Yoga Philosophy in Relation to other system of Indian thought. | Dr.S.N.Dass Gupta,Motilal Banarsi Dass-Delhi-1974. |
| Yoga Psychology | Swami Abhedanand, Ram Krishan Vedant Nath, Calcutta-1960. |
| Yoga Psychology:Methods and appraoches (Vol.I) | A.Lal Singh, Bhartiya Vidya Parkashan, Varanasi, 1920. |
| Yogic Exercises | S.Majumdar, Orient Langmans, Bombay, Calcutta,Madras, Delhi, 1960. |
| Yogic Powers and God realisation | V.M.Bhatt. Bhartiya Vidya Bhawan, Chaupatty, Bombay,1960. |

## कोश-ग्रन्थ


| | |
|---|---|
| अमरकोश | ले.- अमरसिंह, सम्पा.- कृष्णजी गोविन्द ओक, प्रका.- उपासना, वाराणसी- 1981 |
| उपनिषद् वाक्य महाकोश | ले.- गजानन शम्भु साधले, के.सी. पब्लिशर्स, आजाद-पुर, दिल्ली, द्वि.सं. 1990 |
| 3. न्यायोक्तिकोश | ले. छविनाथ मिश्र, अजन्ता पब्लिकेशन्स, इण्डिया, दिल्ली, प्र.सं. 1978 |
| पौराणिक कोश | ले. राणा प्रसाद शर्मा, प्रका. ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी, प्र.संस्करण सं. 2028 |
| वाचस्पत्यम् ( भाग 1-6 ) | ले. तारानाथ भट्टाचार्य, प्रका. चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी- 1971 |
| विश्व संस्कृत सूक्ति कोश (भाग 1-3 ) | ले. मुनि ललितप्रभ सागर, प्रका. गर्ग एण्ड कं. जोधपुर, भारत प्रिंटर्स , जोधपुर- 1990 |
| संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ | ले. शर्मा एवं झा, |

## PERIODICALS

1. Adyar Lib. Bulleton — The Adyar Library and research Centre, The Theosophical society, Adyar, Madras.

2. Annals of BORI Poona. Vol.36, 48, 49, 1968.

3. East and West Quarterly,Institute , Italiana per it media, Ed. Estremo Orinte-April, 1955.

4. Epigraphica Indica(Vol.II) — Published under the authority of Govt. of India, Calcutta.

5. Indian Antiquary(Vol.I) — Thacker Vimming & Co. Bombay,1872.

6. Journal of Royal Asiatic Society of Bengal, Calcutta.

7. Proceedings of all India Oriental Research Conference,Nagpur University, Oct.1946.

8. Review of Philosophy and Religion(Vol.8) No.1 April, 1939, The Anand Publishing House, 3-A Lowther Road, Allahabad.

9. Spiritual India - July, 1976.

10. Vedant Kesari, Madras, 1943-44.

## परिशिष्ट - (क)

### योगसिद्धान्त चन्द्रिका में अन्य ग्रन्थो से लिये गए उद्धरणों की अकारादि क्रम से सूची

1. अकारं च उकारं च मकारं च प्रजापतिः । वेदत्रयात् समुद्धृत्य ...। म.स्मृ. 2.76
2. अकारं ब्रह्माणम् - ना.उप. 4
3. अकारेण ममात्मानमन्विष्य मकारेण ब्रह्मणा अनुसंदध्यादुकारेणाविचिकित्सन् । नृ.उप.7.।
4. अजामेकां लोहित शुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजा जनयन्तीं सरूपाः ।
   अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोन्यः ।। भ.ना. 8.4
5. अजायमाणो बहुधा विजायते । मुद्गलो. 3.।
6. अण्डानान्तु सहस्त्राणांसहस्त्राण्ययुतानि च । ईदृशानां तथा तत्र कोटि-कोटि शतानि च ।।
   वि.पु. 2.7.27
7. अत एव तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद् गतक्षयम् ।
   एतज्ज्ञानं च मोक्षश्च शेषोऽन्यो ग्रन्थ विस्तरः ।। ब्र.वि. 5,
8. अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते । अज्ञात
9. अत्रात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं यो न पश्यति, आत्मारामः स योगीन्द्रो ब्रह्मीभूतो भवेदिह ।
   आत्मक्रीडस्य सततं सदात्ममिथुनस्य च, आत्मन्येव सुतृप्तस्य योगसिद्धिरदूरतः ।।
   अभियोगात् सदभ्यासाद् तत्रैव च विनिश्चयात्, पुनः पुनरनिर्वेदात् सिद्धयेत् योगो न चान्यथा ।।
   स्क.पु., योगाख्यान वर्णन, श्लोक 6-8 पृ. 53
10. अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् । अभ्यास योगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जयः ।।
    अभ्यासेऽपि असमर्थोऽसि मत्कर्मपरमोभवेत् । भ.गी. 12.9-10
11. अथवा ह्यासने यस्मिन् सुखमस्योपजायते । स्वस्तिकादौ तदभ्यस्य योगं युञ्जीत् योगवित् ।।
    स्क.पु. 2.25
12. अथातः आदेशो नेति नेति । बृ.उप. 3.9.26
13. अथाशरीरस्य ब्रह्मणएतास्तनवो वायुरादित्यः कालोऽपः, प्राणोऽन्नं ब्रह्मा विष्णु रुद्रः ।। मैत्रायणी
14. अथैतदप्यशक्तोऽसिकर्तुमुद्योगमाश्रितः । सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।। भ.गी. 12.।।
15. अथैव चिन्तयद्दैवं निर्मलं ज्ञानदं शुभम् । शुद्ध स्फटिक सकाशं महादेवं महेश्वरम् ।

परात्परतरं नित्यं नीलकण्ठं त्रिलोचनम् । ब्रह्माणं च सदाध्यायेत् सर्वपाप प्रनाशनम् ।।
मकारार्थो महादेवः उकारार्थो हरिर्मतः । अकारार्थो भवेद्ब्रह्मा भावयेत्तु ततः सदा ।।
तेषामैक्यं ततः सद्यः क्षीण पापो भवेन्नरः । अज्ञात

16 अदृष्ट विग्रहो देवा भावग्राह्यो मनोमयः । तस्योंकार स्मृतोनाम तेनाहूतः प्रसीदति ।। यो.या.

17 अन्तर्लक्ष्याबहिर्दृष्टिर्निमिषोन्मेषवर्जिता । एषा हि शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ।। ह.प्र. 4.36

18 अनाहतस्य शब्दस्य तस्यशब्दस्य यो ध्वनि । ध्वनेरन्तर्गतं ज्योति ज्योतिरन्तर्गतं मनः ।।
तन्मनो विमलं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।। योगशिखोपनिषद् 6.2।

19 अधः शिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमेदिने । क्षणाच्चकिञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।।
गुरुपदेशतः सम्यङ् न तु शास्त्रार्थ कोटिभिः । बलिश्च पलितं चैव षण्मासार्द्धे न दृश्यते ।।
याम मात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् । नित्यमभ्यास युक्तस्य जठराग्नि विवर्द्धनम् ।।
आहारो बहुलं तस्य कायोऽल्पे तु विनश्यति । तेन नाभिस्थितो देवो भास्करो दहनात्मकः ।।
तालुमध्ये स्थिताच्चन्द्राच्चलितंत्वमृतं मधुः । नैव तद्ग्रसनेशक्तो योगेनानेन वैचित्तः ।।
विशुद्धो रोधतो गच्छेत् सर्वाङ्गेषु ततः क्रमादित्यादि । द.यो.शास्त्र पृ. 4।

20 अनिर्वाच्योऽज्ञानेनावृत्तं ज्ञानम् । अज्ञात

21 अष्टादशसु यद्वायोर्मर्मस्थानेषु धारणम् । स्थानात् स्थानात् समाकृष्य प्रत्याहारो निगद्यते ।।
ापूर्य कुम्भवद्वायुमङ्गष्ठान्मूर्ध्नि गध्यतः । धारयत्यनिलं बुद्ध्या प्राणायामप्रचोदितः ।।
व्योमरन्ध्रात् समाकृष्य ललाटे धारयेत् पुनः । ललाटाद्वायुमाकृष्य भ्रुवोर्मध्ये निरोधयेत् ।।
भ्रुमध्याद्वायुमाकृष्य नेत्रस्थाने निरोधयेत् । नेत्राद्वायुं समाकृष्य नासामूले निरोधयेत् ।।
नासामूलात्तु जिह्वाया मूले प्राणं निरोधयेत् । जिह्वामूलात् कण्ठकूपे ततो वायुं निरोधयेत् ।
कण्ठकूपात्तु हृन्मध्ये हृन्मध्यान्नाभिमध्यमे । नाभिर्मध्यात् पुनर्मेढ्रे मेढ्राद् बाह्यलये ततः ।।
देहमध्याद् गुदे गार्गि गुदाद्वै उरुमूलके । उरुमध्यात्तयोर्मध्ये तस्माज्जान्वोर्निरोधयेत् ।।
चितिमूले ततस्माज्जङ्घयोर्मध्यमे तथा । जङ्घां ततः समाकृष्य वायुं गुल्फे निरोधयेत् ।।
स्थानात् स्थानं समाकृष्य यस्त्वेवं धारयेद्धिया । निष्पापः स विशुद्धात्मा जीवेदाचन्द्रतारकम् ।।
एतत्तु योगसिद्धयर्थं सामस्त्येनापि कीर्तितम् । प्रत्याहारेषु सर्वेषु प्रशस्तमिति योगिभिरिति ।।
यो.या. 7.6-

22 अभ्यासयोग युक्तेन चेतसा नान्यगामिना । अनन्य चेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः ।

तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः । भ.गी. 8.8, 8.14

21. अभ्यासे प्रथमे काले प्रशस्तं क्षीर भोजनम् । ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृड्नियमाग्रह ।।

शि.सं. 3.37-38

22. अयोनौ वा वियोनौ वा पशुयोनौ तथैव च, स्मरणं स्पर्शनं केलिप्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिवृत्तिरेव च, एतद्मैथुनमष्टांगं प्रवदन्ति मनीषिणः । द.स्मृ. 7.31-32

23. अरश्मिबिम्बं सूर्यं च बिम्बं सूर्याशुभानिलम् । दृष्ट्वैकादश मासांस्तु नरो वर्षं न जीवति ।।

चरेन्मूत्रं पुरीषं च यः स्वर्णं रजतं तथा । प्रत्यक्षमथवा स्वप्ने जीवितं दशमासिकम् ।।

दृष्ट्वा प्रेत पिशाचानां गन्धर्वनगराणि च । सुवर्णवर्णवृक्षांश्च नव मासान् स जीवति ।।

स्थूलः कृशः कृशः स्थूलो योऽकस्मादेव जायते । प्रकृतेश्च निवर्तेत तस्यायुश्चाष्टमासिकम् ।।

कपोतो गृध्रकाकोलौ वायसो वापि मूर्द्धनि । कव्यादो वा खगस्तिष्ठेत् षण्मासायु: प्रदर्शकः ।।

हन्यते काक पङ्क्तिभिः पांशुवर्णेण वा नरः । शुष्येच्च वै यस्य मर्म स्थानाद्वामाद्धस्तनम् ।।

तस्यापि पञ्चभिर्मासैर्विद्यान्मृत्युमुपस्थितम् । घृते तैले तथाऽऽदर्शे तोये वाऽप्यात्मनस्तनुम् ।।

यः पश्येदशिरस्कां वा मासादूर्ध्वं न जीवति । रक्तकृष्णाम्बरधरा गायन्ती हसती च यम् ।।

दक्षिणाशां नयेन्नारी स्वप्ने सोऽपि न जीवति । नग्नं क्षपणकं स्वप्ने हसमानं महाबलम् ।।

एतं चाऽऽवीक्ष्य वल्गन्तं विद्यान्मृत्युमुपस्थितम् । आमस्तकतलं यस्तु निमग्नं पङ्कसागरे ।।

स्वप्ने पश्यत्याथात्मानं स सद्यो म्रियते नरः । केशाङगारांस्तथा भस्म भुजङगं निर्जलां नदीम् ।।

दृष्ट्वा स्वप्ने दशाहानु मृत्युरेकादशेऽहनि । करालैर्विकटैः कृष्णैः पुरुषैरुद्यदायुधैः ।।

पाषाणैस्ताड़ितः स्वप्ने सद्यो मृत्युमवाप्नुयात् । सूर्योदये यस्य शिवाः क्रोशन्त्यायान्ति संमुखम् ।।

विपरीत्यापरीत्या च स सद्योमृत्युमृच्छति । यस्य वै भुक्तमात्रस्य हृदये बाधते क्षुधा ।।

जायन्ते दन्तघर्षाश्च स गतायुर्न संशयः । दीपादिगन्धं नो वेत्ति त्रस्यत्यपि तथा निशि ।।

नात्मानं परनेत्रस्थं वीक्षते न स जीवति । पिधाय कर्णौ निर्घोषं न शृणोत्यात्मसम्भवम् ।।

नश्यते चाक्ष्णोर्ज्योतिर्यस्य सोऽपि न जीवति । स्वप्नेऽग्निं प्रविशेद्यस्तु न च निष्क्रमते पुनः ।।

जलप्रवेशादपि वा तदन्तं तस्य जीवितम् । उष्ट्ररासभयानेन यः स्वप्ने दक्षिणां दिशम् ।।

प्रयाति तं विजानीयात् सद्योमत्युं नरेश्वर । स्ववस्त्रममलं शुक्लं रक्तं पश्यत्यथाऽसितम् ।।

यः पुमान् मृत्युमासन्नं तस्यापि हि विनिर्दिशेत् । यैश्चाऽऽविनीतः सततं येऽस्य पूज्यतमा मता ।।

तानेव वावजानाति तानेव च विनिन्दति । देवान्नार्चयते वृद्धान् गुरून् विप्रांश्च निन्दति ।।

मातापित्रोरहंकारं योगिनां च महात्मनाम् । प्राप्ते काले तु विदुषस्तद् विज्ञेयं विचक्षणै ।।
एवमादीन्यरिष्टानि ज्ञात्वा प्राज्ञो मतिं हरौ । कुर्यात्ततो भवेत्तस्य जीवितं मुक्तिरेव वा ।।
उत्क्रान्तिकाले संस्मृत्य पुनर्योगित्वमृच्छति । अक्षीणकर्मबन्धश्च योगवासनया तदा ।।
तस्मादसिद्धयोगेन सिद्धयोगेन वा पुनः । ज्ञेयान्यरिष्टानि तथा येनोत्क्रान्तौ न सीदति ।।
दृष्ट्वारिष्टं तथा योगी त्यक्त्वा मरणजं भयम् । तत्स्वभावं तदाऽऽलोच्य योगं युञ्जीत तत्त्ववित्।
ततो मृत्युभयान्मुक्तो विहरेद्वा यथासुखम् ।। मा.पु. 40.3-44

24. अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तघटितं नात्युच्च नीचायितम् , सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तं विमलं निःशेषजन्तूज्झितम् ।।
बाह्ये मण्डप कूप वेदिरचितं प्राकार संवेष्टितम्, प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धर्हठाभ्यासिभिः ।
ह.प्र. 1.13

25. अवजानन्ति मां मूढाः मानुषीं तनुमाश्रितम् ।। भ.गी. 9.11

26. असाध्य कश्चिद्योगः कस्यश्चित्तत्त्वनिश्चयः । प्रकारौ द्वौ ततो देवो जगादः परमः शिव ।।
यो.वासिष्ठ 6.1

आ

1. आकाशे विगताम्बुदे निशिसिते पक्षे पुनः प्रत्यहं, भूमावापदमाललाटफलकं त्स्येकाग्रचित्त स्थिरम् ।
प्रातः पृष्ठगतेरवाग निमिषं छायांक लेखां चिरं दृष्टवोर्ध्वं नयनेन् यत् रिततरं छायानरं पश्यति ।
तत्कर्णास्य, करास्य पार्श्व हृदयाभावेक्षणेऽर्का 12 अश्व 7 दिग् 10 भू । रामाक्षि 2 समाशिरो
विगमतो मासांस्तु षड् जीवति ।। हृद्रन्ध्रदृष्टया मुनिसंख्यमासान् द्विदेह दृष्टया तु मृतिस्तदैव ।
सम्पूर्ण दृष्टया तु न वर्ष मध्ये रोगो मृतिर्वेति वदन्ति सत्य ।। अज्ञात

2. आत्मसत्यानुबोधेन न संकल्पयते यदा, अमनस्तां तदा याति तद्भावे तदग्रहणम् ।। गौ.का. 3.32

3. आत्मावाऽरेदृष्टव्य श्रोतव्योमन्तव्योनिदिध्यासितव्य । बृ.उप. 2.4.5

4. आनन्द लक्षणमनाहत नाम्निदेशे, नादात्मना परिगतं तव रूपमीशे, प्रत्यङ्मुखेमनसा परिचीयमानं,
शंसन्ति नेत्र शलीलैः पुलकेश्च धन्याः । अज्ञात्

5. आनन्दावर्त्त वेगेन तुन्दं सव्यापसव्योः । नलांशो भ्रामयेदेषा नौली योगो प्रचक्षते ।।
मन्दाग्नि सन्दीपन पाचकाग्नि सन्धायिकानन्दकरी तथैव ।
अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रिया मौलिनीयं हि नौली । ह.प्र. 2.33-34

6. आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः पुनः, निष्पत्तिश्चेति योगस्य स्यादवस्था चतुष्ट्यम् ।।
शिव संहिता, 3.29

7. आरेच्यापूर्य यत्कूर्यात् स वै सहित कुम्भकः । यो.क. 3.132

8. आसन स्थान विधेयो न योगस्य प्रसाधकाः, विलम्बजननाः सर्वे विस्तरा परिकीर्तिताः ।।

शिशुपाल सिद्धिमाप स्मरणभ्यास गौरवाद् । ग.पु. 235. 48

9. आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् । एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं पद्मासनम् ।। गो.सं. 1.9

इ.

1. इत्थं मासत्रयाभ्यासाद् प्राणायाम सेवनात् । शुद्ध नाड़ी गणो योगी सिद्ध प्राणोऽभिधीयते ।।

स्क.पु. यो.आ.श्लोक 49, पृ. 121

2. इडया पूरयेद्वायुं धारयेत्तु सुषुम्नया । रेचयेत् पिङ्गलानाड्या प्राणायाम क्रम स्मृतः । यो.भा.

3. इन्द्रियाणि इन्द्रियार्थेभ्यो निवर्त्य मनसा शुचिः । दशद्वादशभिर्वाऽपि चतुर्विंशात् परं ततः ।।

म.भा. शां.पर्व, मोक्ष धर्म, 311.10

4. ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुनतिष्ठति । भ.गी. 18.61

उ.

1. उकारं विष्णु । ब्र.विं. 71

2. उत्तर पूर्वाघयोरश्लेष विनाशौ । ब्र.सू. 4.1.9.13

3. उत्तानं शववद् भूमौ शवासनमिदं स्मृतम् । शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्ति साधकम् ।। ह.प्र.86

4. उत्तानौ चरणौ कृत्वा उरु संस्थौ प्रयत्नतः । उरुमध्येतथोत्तानौ पाणिकृत्वा समौदृशौ ।।

नासाग्रे विन्यसेद्राजनदन्तमूलं तु जिह्वया । उन्नम्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ।।

वही, 1.47-48

5. उत्सेक उद्धेर्यद्वत् कुशाग्रेणैव विन्दुना । मनसो निग्रह तद्वद् भवेदपरिखेदतः । गौ.का. 3.4

6. उपवास पराकादि कृच्छ्र चान्द्रायणादिभिः । शरीरशोषणं प्राहुः तापसास्तपुत्तमम् ।। कू.पु.उ.11.21

ऊ.

1. ॐ तत्सदिति निर्देशोब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः ।। भ.गीता 17.23

2. ॐमित्येकाक्षरं ब्रह्म । ब्र.वि. 2

ऋ.

1. ऋग्वेदः स्यादकाराद्यः उकारान्तं यजुर्मतम् । सामवेदो मकारान्तः सर्वग्राही ततो ध्वरुः ।।

षडङ्ग न्यायमीमांसा पुराणं स्मृतिपूर्वकम् । वेदेन्तर्भूतमेवस्याद् सर्ववेदाश्च तारंगाः ।।
अहयोर्मध्यगावर्णो लक्षौ कषलगौ यतः । अकारः प्रकृतिस्तत्र हकारः प्रकृतिर्मताः ।
तथाप्रणवगोकारो जीवात्मा पुरुषः स्मृतः । उकारः प्रकृति रूपत्वात् प्रकृति सहरूपिणी,
पुम्प्रकृत्यात्मका वर्णास्तस्मादम्मध्यगाः सदा ।। अज्ञात

## ए.

1. एककालं द्विकालं वा योगाभ्यासपरो यतिः । आचरेद् भोजनं रम्यं हितं पथ्यं मितं सदेति ।।अज्ञात
2. एकमेवाद्वितीयम् । छा.उ. 6.2.।
3. एकमेवाऽद्वितीयं ब्रह्मेति - पैंगलोपनिषद् ।.।
4. एकान्त गिरिदुर्गेषु तीर्थायतन गह्वरे । सुशोभने मठे वाऽथ कार्यं योगस्य सेवनम् ।। आ.पु.
5. एको देवः सर्वभूतेषुगूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । श्वेता. 6.।।
6. एको वशी सर्वभूतान्तरात्मा एकं रूपं बहुधा यः करोति । कठो.5.12
7. एकं ज्योतिर्मयं शुद्धं स्वर्गं व्योमवद्दृढम् । अव्यक्तममलं नित्यमादिमध्यान्तर्वर्जितम् ।।
8. स्थूल सूक्ष्ममनाकाशमस्पर्शमचाक्षुषम् । न रसं न च गन्धाढ्यमप्रेयमनूपमम् ।।
   आनन्दमजरं नित्यं सदसत्सर्वकारणं । सर्वाधारं जगत्रूपममूर्तमजमव्ययम् ।।
   अदृश्यं दृश्यमध्यस्थं वृत्तिस्थं सर्वतोमुखम् । सर्वदृक् सर्वतः पादं सर्वस्पृक् सर्वतः शिरः ।
   ब्रह्मब्रह्ममयोऽहंस्यामिति तत्त्वस्य वेदनम् । तदेतन्निर्गुणं ध्यानमितियोगविदोविदुः ।। यो.या.9.5-9
8. एकः समस्तं यदिहास्ति किञ्चिद् तदच्युतो नास्ति परं ततोऽन्यत् ।
   सोऽहं स च त्वं सर्वमेतदात्म स्वरूपं त्यज् भेदमोहम् । वि.पु. 2.16.23
9. एतद्वै महोपनिषद् - म.ना. 17.15
10. एतद् बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्चभारत । गीता 15.20
11. एतद्वै सत्यकाम परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोंकारः यश्च्छन्दसाम्, ऋषभोविश्वरूपः । मै.उ. 6.5
12. एवं खलु कपोतश्च कपोति च पतिव्रताः , लुब्धकेन हता स्वर्गं गता तेनैव कर्मणा ।।
    म.भा. शां.पर्व, आपद्धर्म- 149. 15
13. एष एवात्माऽन्तर्याम्यमृत ।। अज्ञात्

## ओ.

1. ओमितीदं सर्वम् ।। तै.उप. ।.8.।

2. ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । मा.उप. ।

3. ओमिति ब्रह्म । तै.उप. ।.8.।

## क.

1. कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा । अक्लेशजननं प्रोक्ता अहिंसा परमर्षिभिः ।। कू.पु.उ. ।।.14

2. कर्मणा मनसा वाचा सर्वावस्थासु सर्वदा । सर्वत्रमैथुनत्यागं ब्रह्मचर्यं प्रचक्षते ।। वही, ।।.16

3. कलत्रमित्र पुत्रार्थ गृहक्षेत्र धनादिकैः, क्रियते न तथाभूरिसुखं पुंसां यथाऽसुखम् । वि.पु. 5.6.56

4. कर्पूरं मधुरं स्निग्धं गव्यं ताम्बूलमेव च । चूर्णेणरहितं धातुपोषणं योगिनां शुभम् । अज्ञात्

5. क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे । मु. 2.2.8

6. कामतोऽकामतो वाऽपि यत्करोमि शुभाशुभम् । तत्सर्वं त्वयि संन्यतं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् । अज्ञात

7. कुक्कुटासन बन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बद्धय कन्धराम् । भवेत् कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकुक्कुटम् । ह.प्र. ।.26

8. कुम्भं सप्तविधोज्ञेयो रेचितादि प्रभेदतः । रेचितं पूरितं शान्तः प्रत्याहारोत्तरोऽधरः ।
समश्चेतिविनिर्दिष्टः कुम्भकः सप्तभेदतः । रेचितस्य बहिस्तम्भो वायुरेचित कुम्भकः ।
पूरकेन विना सम्यग् योगोऽयं सुखदोनृणाम् । पूरितस्योदरेरोधः पश्चाद्रेचक संयुतः ।
नाडीशुद्धिकरः सम्यक् प्रोक्तः पूरित कुम्भकः । कायस्यान्तर्बहिर्व्याप्तिर्या स स्याच्छान्त कुम्भकः।
आपूरयेत् क्रमादूर्ध्वमूर्ध्वरोधो हृदादिषु । उत्तरः कुम्भकः स स्यादधोऽधो मूर्द्धतोऽधरः ।
रेचनापूरण त्यक्त्वा मनसा मरुतोधृतिः । या नाभ्यादि प्रदेशेषु समः कुम्भः प्रकीर्तितः । अज्ञात

9. केवले कुम्भके सिद्धे रेचकपूरकवर्जिते । न तस्य दुर्लभं किञ्चिद् त्रिषु लोकेषु विद्यते । वही

10. केवलं सहितं वाऽपि कुम्भकं नित्यमभ्यसेद् । कुम्भके नित्ययुक्तस्य दुर्लभं न हि विद्यते । वही

## ग.

1. गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् । पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलः ।
भद्रासनं भवेदेतद् सर्वव्याधि विषापहम् । ह.प्र. ।.55-56

2. गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् । दक्षिणं सव्य गुल्फेन दक्षिणेन तथोत्तरम् ।
हस्तौ जानु परिस्थाप्य स्वांगुलीसम्प्रसार्य च । व्यातवक्त्रोनिरीक्षेत् नासाग्रं सुसमाहितः ।
सिंहासनं भवेदेतद्पूजितं योगिभिः सदा । वही, ।.52 - 54

3. गृहीत्वा चेतनां वायुः क्रियाशक्तिं च वेगवान्, सर्वत्र चक्रं विजित्याशु ज्ञानशक्तौ विलीयते ।।

शिव संहिता 3.67

4. गोदोहं वत्सपानं वा इषुक्षेपमथापि वा । घण्टायास्तिनितं वापि अतिमात्रा ह्युदाहृतेति । याज्ञ.

5. गोधूमशालियवषाष्टिक शोभनान्नं मिष्ठान्नमण्डन नवनीत सिधामधूनि, सुण्ठी पटोलक फलादिक पञ्च शाकं मुद्गाद्यमल्पमुदकं च मुनीन्द्र पथ्यम् । यो.क. 15.32

## च.

1. चतुरङगुल विस्तारं सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् । पुनः प्रत्याहरेदेतदभ्यासाद् धौतिकर्मवित् ।
   काशश्वासप्लीहकुष्ठ कफरोगादयः क्रमात् । धौतिकर्मप्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः । ह.प्र. 2.24-25

2. चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि वै । तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ।।
   सिद्धं पद्मं तथा भद्रं सिंहं चेति चतुष्टयम् । वही, 1.35-36

3. चैतन्याभास संयुक्तं शरीरद्वय कारणम् । आत्माऽज्ञानं तदव्यक्तमव्याकृतमितीर्यते । अज्ञात

## ज.

1. जलेन श्रम जातेन गात्रमर्दनमाचरेत् । दृढतालघुताचैवयोगिनस्तत्र जायते ।
   आनन्दो जायते मुख्यो ध्वनि सम्पत्तिरेव च । अदीनत्वमरोगीत्वगल्प निद्रादिमूत्रकम् ।। यो.क.3. 146

2. जानुं प्रदक्षिणीकृत्य न द्रुतं न विलम्बितम् । करोति यावत् सा मात्रेति च गीयते । स्क.पु.

3. जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे । ऋजुकायः सुखासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ।

   ह.प्र.1.21

4. जाप्येन तु जपं कूर्यादविलम्बितं द्रुतम् । मनसैव पुंसंख्यातं प्राणायामविधौ सद् । न.पु.

5. जीवन्नेव विद्वान् हर्षामर्षाभ्यां विमुच्यते । अज्ञात्

6. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः । श्वे. 1.8, 2.15

7. ज्ञानाग्नि दग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः । भ.गी. 4.11

8. ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते अर्जुन । वही, 4.37

9. ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन् । ज्ञान स्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ।।

   सौ.पु. 11.25

## त.

1. तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिड्ग मनोयत्र निषक्तमस्य । बृ. उप. 4.4.6
2. तद्धीदं तर्ह्याव्याकृतमसीत, तन्नाम रूपाभ्यामेव व्याक्रियते । वही, 1.4.7
3. तद्वृति प्रत्ययैकाग्रसन्ततिर्यान्यानिःस्पृहा । तद्ध्यानं प्रथमै षड्भिरड्गैः निष्पाद्यतेनृप ।।

   वि.पु. 6.7.91
4. तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।। भ.गी. 4.34
5. तद्योयो देवानां प्रत्यबुद्धयत स एव तदभवत् । बृ.उप. 1.4.10
6. ततोऽभ्यास क्रमेणैव निष्पत्तिर्योगिनो भवेत् । अनादिकर्मबीजानि यतश्छित्वाऽमृतं भवेत् ।

   शिवसंहिता 3.66
7. तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि । बृ.उप. 3.92.6
8. तपसा तोषयित्वा तु पितरं परमेश्वरम् । ब्रह्म नारायणौ पूर्वं रुद्रः कल्पान्तरेऽसृजत. ॥
   कल्पान्तरे पुरा ब्रह्मा विष्णु रुद्रौ जनानहै , विष्णुश्च भगवांस्तद्वद् ब्रह्माणमसृजत पुनः ।
   नारायणं पुनर्ब्रह्मा ब्रह्माणं च पुनर्भवः , एवं कल्पेषु कल्पेषु ब्रह्मविष्णु महेश्वराः ।।
   परस्परस्माज्जायन्ते परस्पर जयैषिणः , तत्तत्कल्पान्तवृत्तान्तमधिकृत्य महर्षिभिः ।।
   प्रभावः कथ्यते तेषां परस्पर समुद्भवात्, अयं परस्त्वयं नेति सरम्भाभिनिवेशिनः,
   यातुधाना भविष्यन्ति पिशाचाश्च न संशयः । वरा.पु. अज्ञात
9. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ।। श्वेता. उप. 3.8,6.15
10. त्यज धर्ममधर्मं च उभे सत्यानृते त्यज् , उभे सत्यानृते त्यक्त्वा येन त्यजसि तं त्यज । स.उ.2.12
11. त्रिषु धामसु यद्भोग्यं भोक्ताभोगश्च यद्भवेत् । कैवल्योपनिषद् 18
12. तरति शोकमात्मविद् ....।। छा.उप. 7.1.3
13. त्वरितं लघुभिर्वर्णैर्मात्रा द्वादशभिः स्मृता । न.पु.
14. तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मरत् । भ.गी. 8.7
15. तस्मान्मद्भक्ति युक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः । न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राप्यश्रेयो भवेदिह ।अज्ञात
16. तस्य पुत्रा दायमुपर्यान्ति सुहृदः साधुकृत्यां द्विषन्तः पापकृत्याम् । वही
17. तस्यमात्रा त्रयध्यानात् प्राणायामः सधूमकः । कलांशेदेवता ध्यानात् सज्वालः परिकीर्तितः ।
   मात्राधूमांशनिर्वस्तुयोगनाडी समाश्रयात् । प्रशान्त उक्तः शास्त्रेषु सर्वभाव विवर्जितः ।। वही

18. तस्य ह न देवाश्च नादभूत्याईशते आत्माह्येषा भवति । बृ.उप. 1.4.10

19. तस्यैव ब्रह्मणि प्रोक्तं ध्यानं द्वादश धारणा, ध्यानं द्वादश पर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत् ।

गरुड पुराण- 235.29

20. तेषां सतत युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम् । ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते ।भ.गी.10.10

**द.**

1. दण्डष्टकं यदावायु निश्चलो योगिनो भवेत् । ततः परिचयावस्था योगिनोऽभ्यासिनो भवेत् ।

शिव संहिता, 3.59-60

2. दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रिय चिन्तकाः । भौतिकाश्चशतं पूर्णं सहस्त्रं त्वाभिमानिकाः ।
बौद्धा दशसहस्त्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः । पूर्णं शतसहस्त्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्तचिन्तकाः ।
पुरुषं निर्गुणं प्राप्य काल संख्या न विद्यते । वायु पुराण- अज्ञात

3. दह्यन्ते ध्यायमानां धातूनां हि यथामलाः । तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहाद ।।

मनु.स्मृ. 6.71

4. दुःख दोष क्षुधा निद्रा जरामृत्युविवर्जनम् । सृष्टि संहार कर्तृत्वमीश्वरेण समानता ।
परचित्त प्रवेशेन ज्ञान शक्ति प्रदातृता । सर्वज्ञता सर्वशक्तिः सर्वभूताद्यबाध्यता ।। अज्ञात

5. द्रव्याणामप्यनादानमापद्यपि यथेच्छया । अपरिग्रह इत्याहुस्तं प्रयत्नेन पालयेत् । कू.पु.उ. 11.19

6. द्वौ कर्मौ चित्त नाशस्य योगो ज्ञानञ्च राघवः । योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ।

ल.यो.वा. ~~2~~. 5/9

7. दक्षिणोत्तर गुल्फेन सीविनीं पीडयेच्छिराम् । अधस्तादण्डयोः सूक्ष्मां सव्योपरि च दक्षिणाम् ।।

गो.सं. 1.10

**ध.**

1. धारणादिर्विधिर्नैवजन्मसिद्धेषु सम्मतः , यतो ब्रह्मादयः सर्वे जन्मनासिद्धिमास्थिता ।।

2. धौति बस्ती तथानेति त्राटकं नौलिकं तथा । कपाल भाति चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ।।
षट्कर्मकमिदं गोप्यं देह शोधन कारकमिति । ह.प्र. 2.22-23

**न.**

1. न तु तद् द्वितीयमस्ति ततोऽन्यद्विभक्तं यद्पश्येत् ।। बृ.उप. 4.3.24

2. न मुञ्चति न गृह्णाति वायुमन्तर्बहिः स्थितम् । आपूर्यकुम्भवत्तिष्ठेत् केवलः स तु कुम्भकः ।
आरेच्यापूर्य यत् कूर्यात् स वै सहित कुम्भकः । शि. पु. वा.सं. उ. खण्ड,2.37.24

3. न सन्नासन्न सदसद्भिन्नाऽभिन्नं न चात्मनः , न सभागं न निर्भागं न चाप्युभय रूपकम् । प.उ.2

4. नाऽसद्रूपा न सद्रूपा मायानैवोभयात्मिका, सदसदभ्यामनिर्वाच्या मिथ्याभूता सनातनीति । यो.प्र.पृ.509

5. नाकस्य पृष्ठे सुकृतेऽनुभूत्वेनं लोकं हीनतरं विशन्ति । मुं. ।.।20

6. नातितृप्तः क्षुधार्तोर्वा न विण्मूत्र प्रबाधितः । नाध्वखिन्नो न चिन्तार्तो योगं युञ्जीत तत्ववित् ।
स्क.पु. यो.आ.द्वितीय खण्ड,पृ. ।।

7. नातिशीते न चोष्णे च न शब्दाग्निजलान्विते । जीर्णगोष्ठे शुष्कपत्रचये बल्मीकसञ्चये ।
देशेष्वेतेषु तत्वज्ञो योगाभ्यासं विवर्जयेत । हारित शाकं सौवीरतैलमत्स्यनिलास्तथा ।
अजादि मांसं मद्यं च दधिकोलकुलत्थकाः । पिण्याकं हिङगुलशुनं तक्राण्येतानि वर्जयेत् ।।
मा.पु. 36.47-50

8. नात्र काचन भिदाऽस्ति, नैवात्र काचनभिदाऽस्ति ।। म.वा.र. 4

9. नाभेरधो गुदस्योर्ध्वं धारयेत पञ्चनाडिकाः । वायुं ततो भवेद पृथवी धारणा चेद्भयापहा ।
पृथ्वी सम्भवो मृत्युर्न भवेत् तस्य योगिनः । नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पञ्चनाडिकाः ।
ततो जलाद्भयं नास्ति जले मृत्युर्न योगिनः । नाभ्यूर्ध्वमण्डले वायु घटिका. पञ्च धारयेत् ।
आग्नेयी धारणा चेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना । न दह्यते शरीरं च प्रविष्टे चाग्निसंस्तरे ।
नाभिभ्रूघ्राणमध्ये तु प्रादेशत्रयसम्मिते । धारयेत् पञ्चघटिकावायुं सैषा च वायवी ।।
धारणा नैव वायोस्तु भयं भवति योगिनः । भ्रूमध्यादुपरिष्टात्तु धारयेत् पंच नाडिकाः ।
वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशधारणा । आकाशधारणां कुर्वन् मृत्युं जयति शाश्वतम् ।
द.यो. पृ. 35-37

10. नाभिदग्घे जले पायुन्यस्तनालोत्कटासनः । आधाराकुचनं कूर्यादभ्यासाद्वस्तिकर्म तत् ।
गुल्मोदनं चापि वातप्लीह पित्त कफोद्भवान् । बस्ति कर्मप्रभावेन बाध्यन्ते सकलामया ।
धात्वेन्द्रियान्तःकरणप्रसादं दध्याच्च कान्तिं दहन प्रदीप्तिम् ।
अशेष दोषोपचयं निहन्यादभस्यमानं जल बस्तिकर्मेति । ह.प्र. 2. 26 - 28

11. नाश्वमेधेन तत्पुण्यं न च वै राजसूयतः । यत्पुण्यमेकध्यानेन लभेद्योगी स्थिरासनः । स्क.पु.2.127

12. नासांसपुटमंगुल्या पीडयित्वा परेण तु । उदराद्रेचयेद्वायु रेचनाद्रेचकः स्मृतः । वही,

13. नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानाम् । गुह्यका 7।

14. निमेषोन्मेषणेमात्रा कालो लघ्वक्षरं तथा । प्राणायामस्य संख्यार्थं स्मृतो द्वादश मात्रिकः । मा.पु.36.15

15. निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः । अश्रुपातादिपर्यन्तमार्यैस्तत् त्राटकं मतम् ।
मोहनं नेत्र रोगानां तन्द्रादीनां कपाटकम् । एतच्चत्राटकं गोप्यं यथा वध्वा रतिः सदेति ।
ह.प्र. 2.31-32

16. नीलोत्पलदल श्यामं पीतकौशेय वाससम् । चतुर्भुजं शंख चक्र गदापद्मादि शोभितम् ।
कोटि सूर्य प्रतिकाशं ध्यायेदच्युतमव्ययम् । अज्ञात

प.

1. पद्मासनं तु संयोज्य जानूर्वोरन्तरे करौ । निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ।
ह.प्र. 1.25

2. परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाथ बलेन वा । स्तेयं तस्यानाचरणमस्तेयं धर्मसाधनम् । कू.पु.उ. 11.17

3. पादाङ्गुष्ठौ च पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि । धनुराकर्षणं कृत्वा धनुरासनमीरितम् । ह.प्र.1.27

4. पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् । कारणं गुण सङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मांस्वत्यादि।
कू.पु.उ. 3.11

5. पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया । भ.गी. 8.22

6. पूरकं षोडशभिः कृत्वा चतुः षष्ठया तु मात्रया , धारयेद्रेचयेत् पश्चात् द्वात्रिंशन्मात्रया पुनः । अज्ञात

7. पूरणात् पूरकः प्रोक्त इति योगोऽथ देवले, पूरणं हृदियत् प्रोक्तं देहे सर्वत्र योगिभिः ।। वही

8. प्रणवेन परं ब्रह्म ध्यायीत् नियतो यतिः । जपश्च प्रणवं नित्यं ब्रह्मविष्णु शिवात्मकम् ।।
कोटिसूर्य समं तेजो ध्यायेदात्मनि निर्मलम् । वही,

9. प्रसार्य पादौ भुविदण्डरूपौ द्वाभ्याञ्च पादद्वित्यं गृहीत्वा । जानु परिन्यस्त ललाटदेशाऽभ्यसेदिदं पश्चिमतानमाहुः । उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगितां च पुंसाम् । ह.प्र. 1.30-31

10. प्रसुप्तास्तत्व लीनानां तन्ववस्था तु योगिनाम् , विच्छिन्नोदार रूपाश्च क्लेशा विषय सङ्गिनामिति।। अज्ञात

11. प्राणः प्राणमयो वायुर्वायुरात्मा निगद्यते । प.पु.

12. प्राणापानौनाद बिन्दुर्जीवात्म परमात्मनोः, मिलित्वा घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते । शि.सं.3.55

13. प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तः पूरक कुम्भक रेचकैः । ह.प्र. 2.71

14. प्राणायामस्य मानं तु मात्राद्वादशकं स्मृतम् । नीचो द्वादशमात्रस्तु सकृदुद्धात् ईरितः ।
मध्यमश्च द्विरुद्धातश्चतुर्विंशति मात्रकः । मुख्यस्तु यस्त्रिरुद्धातः षट्त्रिशन्मात्र उच्यते ।
प्रस्वेद कम्पनोत्थानं जनकश्च यथाक्रमम । लिं.पु., प्र.ख. पृ. 75

15. प्राणायामैर्द्वादशभिर्यावत्कालः कृतो भवेत् । एतावत्कार्य पर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत् ।
ग.पु. 235.28

16. प्राणायामोऽस्य मथनं तस्यादो युक्तिरुच्यते । अगर्भश्च सगर्भश्चद्विविध. सम्प्रकीर्तितः ।।
जप ध्यानं विनाऽगर्भः सगर्भस्तत्समन्वितः । अगर्भाद् गर्भसंयुक्तः प्राणायामः शताधिकः ।
शिव पुराण वा.सं. 6.33-34

17. प्राणेनोत्सार्यमाणेन अपानः पीड्यते यदा । गत्वा चोर्ध्वं निवर्तेत एतदुद्धातलक्षणम् । ह.प्र. 2.12

18. प्राणो देह गतो वायुरायामस्तन्निबन्धनम् । स्क.पु. यो.आ. पृ. 5।

19. प्रास स्पन्द निरोधाद्यैरुपायैर्द्रढता परा । सिद्धियोगो भवेदत्र योगः सिद्धिकरः परः ।। अज्ञात

**ब.**

1. बहिर्यद्रेचनं वायोरुद्राद्रेचकः शनैः, भानुदेवतयाऽजस्रं चान्द्रदेवतया अथवा । अज्ञात

2. बाधीर्यं जड़ता लोपः स्मृतेर्मूकत्व मन्दता । कामश्च जायते पूर्णः सर्वज्ञान विनाशनः । अज्ञात

3. बाह्यमाभ्यन्तरं शौचं द्विधा प्रोक्तं द्विजोत्तमाः । मृज्जलाभ्यां भवेद् बाह्यं मनः शुद्धिरथान्तरम् ।
कू.पु.उ. ।।.28

4. बाह्ये स्थितं नासपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात्, नाडीश्च सर्वाः परिपूरयेद्यः स पूरको नाम महानिरोधः । अज्ञात

5. ब्रह्मरन्ध्रादधोऽयोध्या सहस्रारं तु तद्विदुः । मथुराऽनाहतं चक्रं हृदये योगिनो विदुः ।।
मूलाधारं भवेन्माया सर्वाधारयी ततः । आज्ञाचक्रं स्मृता काशी जाबालश्रुतिमूर्द्धिनि ।।
स्वाधिष्ठानं स्मृता काञ्ची मणिपूरमवन्तिका । विशुद्धिद्वारका प्रोक्ता सप्तपुर्य्यो यथाक्रमम् ।
आकटेः पादपर्यन्तं शलग्रामः प्रकीर्तितः । आकण्ठात् कटिपर्यन्तं प्रोच्यते हरिमन्दिरम् ।
आशिरः कण्ठपर्यन्तं नन्दिग्रामं प्रचक्षते । दण्डकं गुह्य लोमानि सैन्धवं श्मश्रुलोमकम् ।
चिबुके जम्बुमार्गं च हृदये पुष्करं स्मृतम् । उत्पलावर्त्तकं वामां भ्रुवं दक्षां च नैमिषम् ।
कुरुक्षत्रं सुनन्दक्षं तत्कक्षां कुरुमण्डलम् । राव्यकक्षामर्बुदञ्च विदुः केशान् हिमालयम् ।
नवारण्यानि चैतानि शरीरे सन्ति देहिनाम् । रेणुका कण्ठकूपे स्यान्नासिकायां तुशूकरम् ।

भ्रुवोर्मध्ये स्थिता काशी तदधो नन्दकाननम् । वामपाणितले काशी कालेशश्च तथोत्तरे ।।
वटेशः पादयोः कालञ्जरं स्यात्तु ललाटके । नाभिदेशे महाकाल ऊषरा नवकीर्तिताः ।।
सव्ये नासापुटे कोका गुदे कुब्जाम्बुकं स्मृतम् । दक्षेऽर्बुदगिरिर्दन्तबिलं स्यान्मणिकर्णिका ।
प्रयागे नासिकाग्रे तु स एव वट उच्यते । ईडा वामे स्थिता गंगा पिङगला यमुना नदी ।
वाणीं सुषुम्नां विद्यात्तु परा नाड्य परा सरित् । शालग्रामस्तु पादाग्रे शूकरं दक्षनासिका ।
पुरीतन्मथुरा प्रोक्ता गयाक्षेत्रं मुखं स्मृतम् । लिंगं निष्कर्म्मणं लोहार्गलं दन्ता विनायकः ।
जिह्वाग्रे वा हनूसन्धिः प्रभासस्तु प्रकीर्तितः । ब्रह्मखं बदरी क्षेत्रं गुह्यान्येवं चतुर्दश ।
सप्त पुर्य्यस्त्रयो ग्रामा नवारण्योषरास्तथा । चतुर्दशैव गुह्यानि मुक्तिद्वाराणि भूतले ।
क्षमातीर्थं तपस्तीर्थं तीर्थमिन्द्रियनिग्रहः । सर्वभूतदया तीर्थं ध्यानतीर्थमनुत्तमम् ।।
एतानि पञ्च तीर्थानि सत्य षष्ठानि देहिनाम् । वसन्ति सर्वदेहेषु तेषु स्थानं परं स्मृतम् ।।

वराह पुराण- अज्ञात

6. ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति । तै. 3.10.4
7. ब्रह्मविदाप्नोति परम् । वही, 2.1.1
8. ब्रह्म विष्णु शिवा ब्रह्मण प्रधानाब्रह्मशक्तयः । ततो न्यूनाश्च मैत्रेय देवायक्षादयस्तथा ।
ब्रह्म विष्णु महेशानां यः परः स महेश्वरः । वि.पु. 1.22. 58
9. ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमिति ....। छा. उप. 2.23.1
10. ब्रह्मात्मैकत्व विज्ञानहेय मिथ्यात्व कारणाद् । परब्रह्म उपनिषद् 3
11. ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।। श्वेता. 2.8

भ.

1. भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः । भ.गी. 18. 55
2. भवन्ति ज्ञानिनो नित्यं सर्वतश्च निरागमाः । एकात्म्यं नाम कश्चिद्धि कदाचित् प्रतिपद्यते ।
3. भस्त्रेव लोहकाराणां रेच पूरौ ससंभ्रमी । कपाल भाति विख्याता कफदोष प्रदाहिनी । ह.प्र. 2.35
4. भूयश्चान्ते विश्वमाया निवृत्ति । श्वेता. 1.10
5. भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च तथा दशविधो महामोहः ।
तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ।। सां.का. 48
6. भोक्तां यज्ञतपसां सर्वलोक महेश्वरम् । सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।भ.गी.5.29

### म.

1. मनः एव मनुष्याणां कारणं बन्ध मोक्षयोः । बन्धाय विषयासक्तं मोक्षो निर्विषय स्मृतम् । मै.6.34
2. मय्येक चित्तता योगो वृत्त्यन्तरनिरोधतः । कू.पु.उ. 11.12
3. मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेश्य, निवसिष्यसि मय्येव अतः उर्ध्वं न संशयः । भ.गी.12.8
4. मनसैवानुद्रष्टव्यम् । बृ.उप. 4.4.19
5. महापातक युक्तोऽपि ध्यायन्निमिषमच्युतम् । भूयस्तपस्वी भवति पङ्क्ति पावन एव स । अज्ञात
6. मात्राद्वादशको मन्दश्चतुर्विंशतिमात्रकः । मध्यमः प्राण संरोधः षट्त्रिंशन्मात्रिकोत्तमः ।

   कू.पु. उ. 11.32
7. मायाह्येषा मया सृष्टा यन्मां पश्यसि नारद । सर्वभूत गुणैर्युक्तं न तु मां दृष्टुमर्हसि ।।

   भा.पु. 4.28.61
8. माया चाविद्या च स्वयमेव भवति । नृ. उप. 9.3
9. मांस भक्षयित्वाऽमुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम् । एतत्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिणः । मनु.5.55

### य.

1. य एवैतं ब्रह्मलोकं ब्रह्मचर्येणानुविन्दति तेषामेवैष ब्रह्मलोकः तेषां सर्वसु कामचारो भवति ।

   छा.उप. 8.4.3
2. यच्च कामसुखं लोके यच्चदिव्यं महत्सुखम् । तृष्णाक्षय सुखस्यैते कलां नार्हन्ति षोडशीम् ।।

   वा.पु. 93.101
3. यत्कर्मभिर्यतपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् । योगेन् दान धर्मेण श्रेयोभिरितरेण च । भा.पु. 11.20.33
4. यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः । इन्द्रियाणि प्रमाथिनी प्रसभं हरन्ति मनः ।
   तानि सर्वाणि संयम्य युक्तं आसीत्मत्परः । वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिताः ।

   भ.गी. 2.60-61
5. यत्र चैवात्मानात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति । वही, 6.20
6. यत्र सुप्तो न कञ्चन् कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति । आनन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीय पादः । बृ. उप., 4.3.19
7. यत्रैतत् पुरुषः स्वपीति निद्रानाम, सत्ता सौम्यः तदा सम्पन्नः भवति, स्वमपीतो भवति, स्वं ह्यपीतो भवति, तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते । छा.उप. 6.8.1

8. यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योग सेवया । भ.गी. 6.20

9. यथार्थ कथनाचारं सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः । कू.पु.उ. 11.16

10. यद् यद् विभूतिमत् सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा । तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंश सम्भवम् ।

भ.गी. 10.41

11. यदात्मतत्त्वं प्रसमीक्ष्य देही एकः कृतार्थो भवते वीतशोकः ।
यदात्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वम् दोषोपमेनेह मुक्तः प्रपश्यन् ।
अजं ध्रुवं सर्व तत्त्वैर्विशुद्धं ज्ञात्वा देवमुच्यते सर्वपाशैः ।। श्वे. 2.14-15

12. यदा नाड़ी विशुद्धिः स्याद्योगिनस्तत्वदर्शिनः, तदाविध्वस्त दोषस्य भवते केवल सम्भवः ।

शिव संहिता, 3.27

13. यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह । बुद्धिश्च न विचेष्टेत तामाहुः परमां गतिम् ।

कठो. 2.3.10-11

14. यदा भवेद् घटावस्था योगिनोऽभ्यासिनः सदा । तदा संसारचक्रेऽस्मिन् नास्ति तद्यन्न साधयेत् ।

शिव संहिता, 3.59

15. यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेदहितानामनाड्यो द्वासप्तति सहस्त्राणि हृदयात् पुरीततिमभिप्रतिष्ठन्नेताभिः प्रत्यवसृत्य पुरीतति शेते । बृ.उप. 2.1.19

16. यदिदं ब्रह्मपुरं दहरं पुण्डरीकं वेश्मेति । आत्म प्रबोधोपनिषद् -।

17. यदृच्छा लाभतो नित्यं अलं पुंसो भवेदिति , तां निष्ठां ऋषयः प्राहुः सन्तोषं सुख लक्षणम् ।

कू.पु. उ. 11.27

18. यमानभीक्ष्णं सेवेत नियमान्मत्परः क्वचिद् । भा.पु. 11.10.5

19. यमेवैषः वृणुते तेनलभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनू स्वाम् । मु.उ. 3.2.3

20. यस्मादुच्चार्यमाण एव ऋग्यजुः सामाऽथवाङिगरसः ब्रह्मब्राह्मणेभ्यः प्रणामयति नामयति च तस्माद्दुच्यते प्रणव । अ.शिरः 3.5

21 यस्मिन् यस्मिन् वयसि यः करोति शुभानि । तस्मिन् तस्मिन् वयसि शरीर वाचिक मानसान्याप्नोति । अज्ञात

22. यस्य देवे यथाभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ । तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः । श्वे.6.23

23. यस्य यत्कारणं प्रोक्तं तस्य साक्षान्महेश्वरः , अधिष्ठानतया स्थित्वा सदैवोपकरोति हि । वही

24. यस्य नाहं कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते ।

हत्वाऽपि स इमांल्लोकान् न हन्ति निबद्धयते । भ.गी. 18.17

25. या हि नासादि देशेषु दृष्टिः पुंसां स्थिरा भवेत्,

स लक्ष्य योग आख्यातो योगे श्रद्धाकरः परः । अज्ञात

26. यावद्वा शक्यते तावद्धारणं जपसंयुतम्,

धारितं विसृजेत् पश्चात् प्राणं गत्या तु सूक्ष्मया,

शनैः शनैरेषा पन्था प्राणायामस्य सिद्धये ।। वही

27. येन येन हि भावेन यद्यत् कर्म करोत्ययम् ।

तेन तेन शरीरेण तत्तत्फलमुपाश्नुते । मनु.स्मृ. 12.8।

28. ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनयः एव ते ।

आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ।। भ.गी. 5.22

29. योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते ।

योऽप्रमतस्तु योगिनः स योगे रमते चिरम् ।। सौ.ल.उप. 5

30. यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मैः । श्वेता. 6.18

31. योनिस्थान कमडघ्रिमूलघटितं कृत्वादृढम् विन्यसेन्मेढ्रे पादमथैक्यमेकदृश्यः कृत्वा समं विग्रहम् ।

स्थानुसंयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद् भ्रूवोरन्तरं त्वेतन्मोक्ष कपाट भेदनकरं सिद्धासनं प्रोच्यते ।।

ह.प्र. 1.37

32. यं कामं कामवते सोऽस्य संकल्पादेव समुतिष्ठति, तेन सम्पन्नो महीयते । छा.उप. 8.2.10

### र.

1. रविणा प्राणमाकृष्य पूरयेदुदरीं दरीम् । कुम्भयित्वा शनैः पश्चाद् योगी चन्द्रेण रेचयेत् ।।
स्क.पु. यो.आ. भाग-2,पृ. 47

2. रेचकं पूरकं त्यक्त्वा यत् सुखं वायु धारणम् । प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
योगकरणिका 3.।33

### ल.

1. लवणं सार्षपं चाम्लमुष्णं रुक्षं च तीक्ष्णकम् । अतीव भोजनं त्याजमतिनिद्रातिभाषणम् ।। द.यो.28
2. लाभस्तेषां जयस्तेषां कुतस्तेषां पराजयः । येषां हृदिस्थो भगवान मंगलायतनो हरिः । अज्ञात

### व.

1. व्यक्ताव्यक्ते च पुरुषस्तिस्रो मात्राः प्रकीर्तितः । अर्धमात्रा परं ब्रह्मज्ञेयमध्यात्मचिन्तकैः । ग.पु.
2. वाक् सिद्धिः काम चारित्वं दूरदृष्टिस्तथैव च । दूरश्रुतिः सूक्ष्मदृष्टिः परदेहे प्रवेशनम् ।
विण्मूत्रलेपने स्वर्णमदृष्टकरणं तथा । भवन्त्येतानि महतां खेचरत्वं तु योगीनाम् । शि.सं.3.54
3. वामनासापुटे यस्य वायुर्वाति दिवानिशम् । अखण्डमेकं तस्यायुर्नश्यत्यब्दत्रयेण हि ।
द्वयहोरात्रं त्रयहोरात्रं रविर्वहति सन्ततम् । आद्वयेकवर्षे तस्येह जीवितावधिरुच्यते ।
वहेन्नासापुटयुगे दशाहानि निरन्तरम् । वायुश्चेत् प्रतिसंक्रान्तिं तदा जीवेदृतुत्रयम् ।।
अरुन्धतीं ध्रुवं चैव विष्णोस्त्रीणि पदानि च । आसन्न मृत्युर्नेक्षेत चतुर्थं मातृमण्डलम् ।।
अरुन्धी भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमुच्यते । विष्णोः पदं भ्रुवोर्मध्ये नेत्रग्लौर्मातृमण्डलम् ।
वेत्ति नीलादिवर्णस्य कटुवमलादिरसस्य च । अकस्मादन्यथाभावं षण्मासेन स मृत्युभाक् ।
षण्मासमृर्योर्मर्त्यस्य कण्ठोष्ठरसनापुटाः । शुष्यन्ति सततं तद्वत् सजिह्वातालुपञ्चमाः ।।
रेतःकरजनेत्रान्तं नीलिमानं भजन्ति चेत् । तर्हि कीनाशनगरीं षष्ठे मासि व्रजेन्नरः ।
द्रुतमारुह्य सरटस्त्रिवर्णो यस्य मस्तकम् । प्रयाति याति तस्यायुः षण्मासे परिसंक्षयम् ।।
सुस्नातस्यापि यस्याशु हृदयं परिशुष्यति । चरणो च करौ वापि त्रिमासं तस्य जीवितम् ।
छाया प्रकम्पते यस्य देहबन्धेऽपि निश्चले । कृतान्तदूता बध्नन्ति चतुर्थे मासि तं नरम् ।
यस्य वीर्य मलं मूत्रं क्षुतं सद्यः पतेदिह । एकधैव भवेद्वर्षं जीवितं तस्य निश्चितम् ।।
इन्द्र नीलनिभं व्योम्नि नागवृन्दं य ईक्षते । इतस्ततः प्रचलितं षण्मासं स तु जीवति ।

मतिर्भ्रश्येच्चलेद्वाणी धनुरैन्द्रं निरीक्षते । रात्रौ चन्द्रद्वयं चापि दिवा च द्वौ दिवाकरौ ।।

दिवा सतारकाचन्द्रं रात्रौ व्योमवितारकम् । युगपच्च चतुर्दिक्षु शाक्रं कोदण्डमण्डलम् ।

भूरूहे भूधराग्रे वा गन्धर्वनगरालयम् । दिवा पिशाचनृत्यं च ह्येते पञ्चत्वहेतवः ।

सर्वेष्वेतेषु चिह्नेषु यद्येकमभिवीक्षते । तदा मासावधिं मृत्युं प्रतीक्षेत नचाधिकम् ।

अकस्माद्विक्षते यस्तु पुरुषं कृष्णपिङ्गलम् । तस्मिन्नेव क्षणे रूपं स जीवेद् वत्सरद्वयम् ।

प्रेक्ष्यते भक्ष्यते यो हि पिशाचासुरवायसैः । भूतैः प्रेतै श्वभिर्गृध्रैर्गोमायुखरशूकरैः ।

शरभैः करभैः कीरैः श्येनैरन्यैश्च जन्तुभिः । स्वप्ने स जीवितं त्यक्त्वा वर्षान्ते यममीक्षते ।

गन्धपुष्पांशुकैः शोणैः स्वां तनुं भूषितां नरः । यः पश्येत् स्वप्नसमये सोऽपि मासांस्तु जीवति ।

पांशुराशिं च वल्मीकं यूपं दण्डमथापि वा । योऽधिरोहति वै स्वप्ने स षष्ठे मासि नश्यति ।

रासभारूढमात्मानं तैलाभ्यक्तं च मुण्डितम् । नीयमानं यमाशायां यः पश्येत् स च पूर्ववत् ।

स्वमोलौ स्वस्तनो वाऽपि यः पश्येत् स्वप्नगो नरः । तृणानि शुष्ककाष्ठानि षष्ठे मासि स नश्यति॥

लोहदण्डधरं कृष्णं पुरुषं कृष्णवाससम् । स्वप्ने योऽग्रे स्थितं पश्येत् स त्रीन् मासान्न लंघ्येत् ।।

कालीकुमारी यं स्वप्ने बन्धीयाद् बाहुपाशकैः । स मासेन समीक्षेत नगरीं शमनोषिताम् ।

नरो यो वानरारूढो यायात् प्राचीं दिशं स्वप्न् । दिनैः पञ्चदशैरेव पश्येत् संयमनीं पुरीम् ।

कृपणोऽपि वदान्यः स्याद् वदान्यः कृपणो यदि । प्रकृतेर्विकृतिश्च स्यात्तदा पञ्चत्वमृच्छति ।

स्क. पु. काशी खण्ड-4 पूर्वार्द्ध 42. 3-39

4. वामोरु मूलार्पित दक्षपादं जान्वोर्बहिर्वेष्टितदक्षदोष्णा ।

प्रगृह्य तिष्ठेत् परिवर्त्तिताङग श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ।

मत्स्येन्द्र पीठं जठर प्रवृद्धिं प्रचण्ड रुडमण्डलखण्डनास्त्रम् ।

अभ्यासतः कुण्डलीनी प्रबोधं दण्डे स्थिरतं प्रददाति पुंसाम् । ह.प्र. ।.28-29

5. बिना देशादि बन्धेन वृत्तिर्याभिमते स्थिरा । ध्यानयोगो भवेदेव चित्तचाञ्चल्य नाशकम् । अज्ञात

6. वृत्तिहीनं मनः कृत्वाक्षेत्रज्ञं परमात्मनि । एकीकृत्यविमुच्येत् योगयुक्तः स उच्यते । स्क.पु.भा.2

7. वेदान्तशतरुद्रीय प्रणवादिजपं बुधा । सत्त्वशुद्धिकरं पुंसां स्वाध्यायं परिचक्षते । कू.पु.उ. ।।.22

8. वेदान्त विज्ञान सुनिश्चितार्था सन्यासयोगाद्यतयः शुद्ध सत्वाः,

ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परा मृतात् परिमुच्यन्ति सर्व । मु.उप. 3.2.6

9. वेदान्तोपनिषद् ब्रह्मजपेद्यचाधिदैविकम्, अन्यानि च पवित्राणि विविदृष्टानि शक्तितः,

अभ्यस्याब्दत्रयंजप्यं शुद्धिकामो जितेन्द्रियः, संन्नियम्येन्द्रियग्रामं ततः प्रणवमभ्यसेद् ।।शौनक

10. वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत् । ब्रह्मसूत्र

11. वैराग्यमाद्यं यतमान संज्ञं क्वचिद्विरागो व्यतिरेकसंज्ञाः, एकेन्द्रियाख्यं हृदिराग सौक्ष्म्यं, तस्याप्याभावस्तु वशीकृताख्यम् । सारासार विवेकार्थमुद्योगः प्रथमो भवेत् । अभ्यासेन कषायाणां परिशेषवधारणम् । द्वितीयोऽथ कषायाणामौत्सुक्येन व्यवस्थितिः ।
मनस्येव तृतीयः स्याद् बहिर्मात्रा निवर्तितः । उपेक्षा सर्वथा तत्र स्याद्विराग चतुर्थक ।। अज्ञात

**श.**

1. श्लक्षणं दभ्रकृशं तन्विति । अ.को. 3.1.61

2. शय्यासनस्थोऽपि पथिव्रजन वा स्वस्थः परिक्षीण वितर्क जालः ।
संसार बीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्ययुक्तोऽमृत भोगभागी । वि.पु. अज्ञात

**ष.**

1. षट्त्रिंशदंगुलं हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः । सव्यापसव्य मार्गेण तेन प्राणोऽभिधीयते । स्क.पु.पृ.120

2. षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्त्राण्येक विंशति, हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा,
हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः । गो. सं. 1.41-42

3. षाड्गुण्य परिपूर्णोऽसौ वासुदेवः सनातनः । त्रिधाकृत्वात्मनो रूपं चतुर्धा कुरुते जगत् ।
अन्तर्यामित्वमापन्नः सर्गं सम्यक् करोति हि । अज्ञात

**स.**

1. सच्चिदानन्द विग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनभूरुहतलासीनम् । अज्ञात

2. सत्यं ज्ञानमनन्तमद्वयं सुखं ब्रह्म । वही

3. सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् , सत्येन लभ्यते ह्यात्मा मुच्यते चापि किल्विषात् ।
कू.पु. उ. 11.16

4. समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति । प्र.उ. 6.1

5. स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मनः कायकर्मभिः, सुनिश्चला भवेद्भक्तिरेतदीश्वरपूजनम् । कू.पु.उ. 11.29

6. स्थानाद् बीजादुपष्टम्भानिःस्यन्दान्निधनादपि । कायमाधेय शौचत्वात् पण्डिता ह्यशुचिं विदुः ।
व्या.भा. 2.5

7. स्निग्धां यवागूमत्युष्णां भुक्त्वा तत्रैव धारयेत् । वातगुल्मप्रशान्त्यर्थमुदावर्त्ते तथा दधि ।

यवागूं चापि पवनं वायुग्रन्थिं प्रतिक्षिपेत् । तद्वत् कम्पे महाशैलं स्थिरं मनसि धारयेत् ।।
विघाते वचसो वाचि बाधिर्ये श्रवणेन्द्रिये । तथैवाम्लफलं ध्यायेत् तृष्णार्त्तो रसनेन्द्रिये ।।
देशकालानुसारेण धारयेद्धारणां शुभाम् । अत्युष्णे तु महाशीतां तथा शीते विदाहिनीम् ।
कीलं शिरसि संस्थाप्य काष्ठं काष्ठेन ताडयेत् । लुप्तस्मृतेः स्मृतिः सद्यो योगिनस्तत्र जायते ।
द्यावापृथिव्यौ वाय्वग्नी व्यापिनावपि धारयेत् । अमानुषाः सत्त्वजातबाधाश्चैताश्चिकित्सिताः ।।
अमानुषं सत्त्वमन्तर्योगिनं प्रविशेद्यदि । वाय्वग्निधारणाच्चैतद्देहसंस्थं विनिर्दिशेद् ।

मा.पु. 36.54-6।

8. सन्नियम्येन्द्रिय ग्रामं नातिनीचोच्छ्रितासनः । अज्ञात

9. सम्प्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते स्वर्गं सर्वतः प्राप्य धीरा मुक्तात्मनः सर्वमेवाविशन्ति । मु.उप. 3.2.5

10. सम्यग्देशे समास्तीर्य ह्यासनं मृदुसंयुतम् । तत्रोपविश्य मेधावी स्वस्तिकादिसमन्वितः ।
ऋजुकायः सुखासीनः प्रणमेदिष्टदेवताम् । ततो दक्षिणहस्तस्य अङगुष्ठेनैव पिङगलाम् ।
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया तु शनैः शनैः । यथाशक्त्या निरोधेन ततः कुर्य्याच्च कुम्भकः ।
ततस्त्यजेत् पिङगलया शनैरेव न वेगतः । पुनः पिङगलयाऽऽपूर्य पूरयेदुदरं शनैः ।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदीडया शनैः । यया त्यजेत्तयाऽऽपूर्य धारयेदनिरोधतः ।
एवं प्रातः प्रकुर्वीत शक्त्या विंशति कुम्भकान् । एवं मध्यान्ह समये कुर्याद्विंशति कुम्भकान् ।
ततः सायं प्रकुर्वीत तथा विंशति कुम्भकान् । एवमेवार्द्धरात्रेऽपि पुनर्विंशति कुम्भकान् ।
कुर्याद्रेचकपूराभ्यां सहितं प्रतिवासरम् । सहितो रेचकपूराभ्यां तस्मात् सहितकुम्भकः ।
एवं मासत्रयं कुर्य्यान्नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् । यदा नाडीविशुद्धिः स्यात्तदा चिह्नानि योगिनः ।
जायन्ते तानि देहे वै तन्मे निगदतः शृणु । शरीर लघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्द्धनम् ।
कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितमिति । द.यो. पृ. 27-28

11. समस्तेन्द्रियवृत्तिश्च प्राणोवायुः प्रकीर्तितः । तज्जयादीन्द्रियाण्येव निर्जितानि भवन्ति हि ।
वृत्तिवृत्तिमतीर्यस्माद भेदः परिकीर्तितः । तस्माद्वृत्तिजयादेव वृत्तिमान्निर्जितो भवेद् ।।
ज्ञानवैराग्य भोक्तृभ्यां प्राणायाम कशाहतान् । इन्द्रियाश्वान विनिर्जित्य सर्वमेव जितं भवेत् ।
इन्द्रियाण्येव तत्सर्वं यत्स्वर्गनरकावुभौ । अज्ञात

12. समाधिस्तत्र निर्बीजो राजयोगः प्रकीर्तितः । दीपवद्राजते यस्मादात्मा सच्चिन्मयः प्रभुरिति । वही

13. सम्प्रयोजन्ता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते । तस्मादाद्यन्तरत्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृता । गौ.का.2.7

14. स यदि पितृलोक कामो भवति संकल्पादेव अस्य पितरः समुत्तिष्ठन्ति । छा.उप. 6.2.1

15. सर्वं मद्‌भक्तियोगेन मद्‌भक्तो लभतेऽञ्जसा । भा.पु. 1.20.33

16. स्वदेहमरणिं कृत्वा प्रणवं चोत्तरारणिम् । ध्याननिर्मथनाभ्यासाद् देवं पश्येन्निगूढवद् । श्वे.1.14

17. स्वरूपाभिव्यक्तिर्महायोगो निरालम्बः । तत्साधनं त्वभावयोगः समाधिपदाभिधेयो निराभासः ।
योगस्तु द्विविधोज्ञेयो ह्यभावः प्रथमो मतः । अपरस्तु महायोगः सर्वयोगोत्तमोत्तमः ।
शून्यं सर्वं निराभासं स्वरूपं यत्र चिन्त्यते । अभावयोगः स प्रोक्तो येनात्मानं प्रपश्यति ।
यत्र पश्यति चात्मानं नित्यानन्दं निरञ्जनम् । मयैक्यं स महायोगो भाषितः परमः स्वयम् ।
कू.पु.उ. 11.7-10

18. स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतोभयात् । भ.गी. 2.40

19. सव्याहृतीं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह । त्रिपदेदायतः प्राणः प्राणायामः स उच्यते । अमृ.उप.10

20. सव्ये दक्षिण गुल्फं तु पृष्ठ पार्श्वे निवेशयेत् । दक्षिणेऽपि तथासव्ये गोमुख गोमुखं यथा ।
ह.प्र. 1.22

21. स्वेच्छाजालं सशान्तात्मलोभादयो हि यः । स कथं सिद्धिवाच्छायामग्नचित्तेन लभ्यते ।।
न केचन जगद्‌भावास्तत्त्वज्ञं रञ्जयत्यमीं । नगरं नागरीकान्तं कुग्रामललना इव । अज्ञात

22. साधु वाऽसाधु वा कर्म यद्यदाचरितं मया, तत्सर्वं त्वयि सन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् । वही

23. सूर्यचन्द्राख्ययोः प्राणायामोरैक्य लक्षणः । हठयोगो योगबीजं प्राणायाम;प्रकीर्तितः ।। वही

24. सुशोभनं मठं कूर्यात् सूक्ष्मद्वारं तु निष्प्रभम् । सुलिप्तं गोमयेनैव सुधया वा प्रयत्नतः ।
मक्षिकादि दोषेण वर्जितम् मार्जितं सदा । वासितं च सुगन्धेन धूपितं गुग्गलादिभिः ।
योगतत्त्वोपनिषद्- 32-34

25. सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् । मुखान्निर्गमयेत् सा हि नेति सिद्धैर्निगद्यते ।
कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टि प्रदायिनी । तत्रोर्ध्व जातरोगोधाञ्जरयत्याशु नेतिविद् ।
ह.प्र. 2.29-30

## ह.

1. हकारेण तु सूर्योऽसौ ठकारेणेन्दुरुच्यते । सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते । यो.सि.उप. 1.32

2. हारीत शाकं सोवीरतैलमत्स्यनिलास्तथा , अजादि मांसं मद्यं च दधिकोलकुलत्थकाः ,
हिङ्ग लशुनं तक्राण्येतानि विवर्जयेद् । योगकरणिका, 15.30

3. हृत्पुण्डरीके नाभ्यां वा मूर्ध्निर्नपर्वत मस्तके । एवमादिप्रदेशेषु धारणाच्चित्त बन्धनम् ।
देशावस्थितामलक्ष्य बुद्धेर्वावृत्तिसन्ततिः । वृत्यन्तरैरसंस्पृष्ट तद्ध्यानं सूरयो विदुः ।

कू.पु. उ. 11.39-40

4. हंस इत्यजपां नित्यं श्वासप्रश्वास गां बुधः । विपरीतां तु तां कृत्वा सोऽहमेकत्व सिद्धये ।
अन्योऽन्यं सहतो लोपात् सिद्धयत्योंकार शब्दकः, अपूर्वोऽयमुपास्याथब्रह्मसद्यो भवेन्नर ।
केवलोऽयं यतेरेव सहकञ्चुकितः पुनः, उपास्योऽयं मनुष्याणां सर्वेषां यतिना मतः । अज्ञात

5. हंसानुसंधान फलभूतोऽनेक विधः सफलः । अस्यैव जपकोट्या नादमनुभावयति यस्तस्य दशविध जायते । चिणीति प्रथमः, चिणिचिणीति द्वितीयः , घण्टानादः तृतीय, शंखनादः चतुर्थः , पञ्चमः तन्त्रीनादः, षष्ठस्तलनादः, सप्तमो वेणुनादः, अष्टोभेरी नादो , नवमो मृदंगनादो, दशमो मेघनादः । नवमं परित्यज्य दशममेवाऽभ्यसेत् । तस्मान्मनो विलीने मनसि गते संकल्प विकल्पे दग्धपुण्यपापे सदाशिवोमशक्त्यात्मना सर्वत्रावस्थितः शान्तः प्रकाशयति । हंस उप. 16-17, 21 पृ. 567-69

**********

००००००००

%%%%

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः १३९

सदाशिवयोगीश्वरविरचिता

# शि व यो ग दी पि का ।

द्वितीयावृत्तिः ।

मूल्यं—रूप्यकत्रयम् । ( रु. ३-०० )

आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः ।

ग्रन्थाङ्कः १३९

सदाशिवयोगीश्वरविरचिता

# शि व यो ग दी पि का ।

[ मन्त्र-लय-हठ-राजाख्यचतुर्विधयोगानां विवरणम् ]

सदाशिवब्रह्मेन्द्रपञ्चरत्नं च ।

एतत्पुस्तकं

आश्रमस्थपण्डितैः संशोधितं, तच्च कार्यकारीविश्वस्तैः

'श्रीमान् गणपतराव यादवराव नातू एम्. ए.

इत्येतैः

आश्रममुद्रणालये मुद्रयित्वा तत्रैव प्रकाशितम् ।

द्वितीयावृत्तिः ।

ख्रिस्ताब्दाः १९७८

शालिवाहनशकाब्दाः १९००



मूल्यं-रूप्यकत्रयम् । ( रु. ३-०० )

# शिवयोगदीपिकाप्रस्तावना ।

सन १८८४ मितसंवत्सरारम्भे शिवयोगदीपिकाख्यो ग्रन्थः 'पुडुकोटा संस्थाने प्राप्तः। मद्रासइलाखान्तर्गतदक्षिणभागे द्राविडदेशे बहुस्थलेषु एतद्ग्रन्थस्य पुस्तकानि वर्तन्ते । अस्मिन्ग्रन्थे संक्षेपेण मन्त्रलयहठराजाख्यचतुर्विधयोगानां सौलभ्येन स्पष्टतया च वर्णनं कृत्वा व्यवस्थानिर्णयोऽस्ति ।

उपरिनिर्दिष्टग्रन्थस्य कर्ता क इत्यस्मिन्विषये प्रमाणतयैतद्ग्रन्थं विनाऽन्यत्साधनं नास्ति । ग्रन्थस्य नाम्ना सदाशिवयोगीश्वरः कर्तेति अनुमीयते । 'पुडुकोटा' संस्थाने ये सदाशिवब्रह्मनाम्ना प्रसिद्धा अवधूतयोगीश्वरा अभवंस्त एवैत इति प्रतिभाति । किं च साग्रग्रन्थनिरीक्षणेनापि एतादृशमहात्मानं योगीश्वरं विनाऽन्यः कोऽपि एतादृगनुभवप्रतिपादकग्रन्थलेखको भवेदित्यनुमातुं न शक्यते । यतोऽस्मिन्ग्रन्थे सर्वयोगभूमिकानां सूक्ष्माङ्गप्रत्यङ्गविभागेन यथाविवेचनं कृतं दृश्यते तथा सुलभतया संक्षिप्ततया च वर्णनं कर्तुं सदाशिवब्रह्मयोगीश्वरानवधूतान्विना कोऽपि अनुभवसिद्धस्तद्देशे भूतपूर्व इति न श्रुतम् । किं च ग्रन्थमहत्त्वेनैतद्ग्रन्थोपयुक्तता त्वत्यन्तं विद्यते ।

ग्रन्थप्रतिपाद्यविषयविज्ञापनात्प्रागिपद्वाचकेभ्योऽवश्यं निवेदनीयं यथा ब्रह्मसूत्राणि दशोपनिषत्प्रतिपाद्यसर्वविषयाणां व्यवस्थापकत्वेन निर्णायकानि, तथा पातञ्जलसूत्राण्यपि योगप्रतिपादकबहूपनिषत्प्रतिपाद्यबहुविधयोगस्य साकल्येन व्यवस्थापकत्वान्निर्णायकानीत्यत्र न संदेहः । योगप्रतिपादकोपनिषदां विद्यारण्यगुरुश्रीशंकरानन्दविरचिता दीपिका अपि आनन्दाश्रमे मुद्रिता वर्तन्ते ।

इदानीं प्रकाश्यमानग्रन्थेऽष्टशतोपनिषन्मध्ये यासु योगः प्रतिपाद्यस्ता योगोपनिषदस्तत्प्रतिपाद्यविषयसंग्रहः कृतोऽस्ति । यासामुपनिषदामेतद्दीपिकायां समावेशस्तदुपनिषन्नामनिर्देशोऽत्र उचितस्थले करिष्यते ।

अन्यदेकं महद्वर्तते तच्च केचन वाचका इतिहासदृष्ट्या योगोपनिषत्कालनिर्णयवत्प्रामाण्य आक्षिपेयुस्तेभ्य इदमवश्यं निवेद्यते—तात्त्विकदृष्ट्या योगोपनिषत्प्रतिपादितविषयजातज्ञानमभ्यासिनां जिज्ञासूनां चात्यन्तोपयोगि, अतस्तासां तज्ज्ञान्प्रति अत्यन्तोपयुक्तता विद्यते ।

शिवयोगदीपिकायाः पञ्च भागा विद्यन्ते । तत्र प्रथम विषयोपक्रमः । द्वितीयतृतीययोर्हठयोगविवेचनम् । चतुर्थपञ्चमयोरष्टोत्तरशतोपनिषन्मध्यस्थमण्डलब्राह्मणोपनिषदि राजयोगाख्यतद्भाष्ये च ये विषयास्तेषां प्रतिपादनम् । राजयोगभाष्यसहिता मण्डलब्राह्मणोपनिषत्पुस्तकरूपेण ' महाराजराजश्री ए० महादेव शास्त्री बी० ए० क्युरेटर गव्हरमेन्ट ओरिएन्टललायब्ररी मैसूर ' इत्येतैः संशोध्य मुद्रापिता । एतद्वेदान्तविषयेऽपि ' सर० के० शेषाद्रिआयर ' एतेषां बुद्धिमत्ताया यावती प्रशंसा क्रियेत तावती स्वल्पा । अत्रैतावत्कथनमवश्यं मण्डलब्राह्मणोपनिषद्येव राजयोगस्य सांख्यतारकामनस्करूपत्रैविध्येन स्पष्टतया वर्णनं वर्तते ।

योगतत्त्वोपनिषदि योगशिखोपनिषदि वराहोपनिषदि च चतुर्विधयोगानां ये चतुर्विधा अधिकारिणस्तेषां वर्णनं दृश्यते ।

यासूपनिषत्सु केवलं योगस्यैव विवेचनं ता उपनिषदोऽत्र प्रदर्श्यन्ते—

१ मन्त्रयोगस्य विवरणं बहूपनिषत्सु विद्यते तथाऽपि विशेषतो योगतत्त्वोपनिषदि योगशिखोपनिषदि च वर्तते ।

२ लययोगस्य सविस्तरं वर्णनं हंसोपनिषदि, सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्, योगचूडामण्युपनिषद्, वराहोपनिषद्, मण्डलब्राह्मणोपनिषद्, इत्यादिषु प्रसङ्गतो वर्णनम् ।

३ हठयोगस्य वर्णनमधोनिर्दिष्टोपनिषत्सु दृश्यते—

१ योगतत्त्वोपनिषद्. २ योगचूडामण्यु० ३ योगशिखो० ४ योगकुण्डलि० ५ अमृतनादो० ६ नादबिन्दू० ७ ध्यानबिन्दू० ८ ब्रह्मविद्योपनिषद् ९ वराहो० । शाण्डिल्योपनिषदि तु सविस्तरं हठयोगस्य वर्णनम् ।

४ राजयोगप्रतिपादिका उपनिषदः—

१ मण्डलब्राह्मणो० २ अद्वयतारको० ३ तेजोबिन्दू० ( श्रीमदाचार्यविरचितापरोक्षानुभूतिग्रन्थे विषया अत्रत्या एव स्युः । ) ४ त्रिशिखि० ५ दर्शनोपनिषद् ( एतद्विषयाः सूतसंहिताज्ञानवैभवखण्ड आयाताः । श्रीमज्जगद्गुरु—श्रीशंकराचार्यशृङ्गेरीपीठश्रीमद्विद्यारण्यस्वामिनां सूतसंहिताव्याख्यानं वर्तते ) ६ अमृतबिन्दू० ( ३ हठयोगवर्णने निर्दिष्टासूपनिषत्सु प्रसङ्गतो वर्णनम् । )

एतदन्यासु बह्वषूपनिषत्सु वेदान्तप्रतिपाद्यज्ञानयोगापरपर्यायराजयोगस्य वर्णनमस्ति । ताश्चोपनिषदः—

१ ब्रह्मोपनिषद्. २ कैवल्यो० ३ श्वेताश्वतरो० ४ मैत्रेय्यु० ५ स्कन्दोपनिषद् ६ निरालम्बोपनिषद्. ७ निर्वाणो० तथा संन्यासविधायकोपनिषदो नव—१ नारदपरिव्राजको० २ संन्यासो० ३ परमहंसपरिव्राजको० ४ भिक्षुको० ५ तुरीयातीतो० ६ अवधूतो० ७ याज्ञवल्क्यो० ८ जाबालो० ९ परमहंसो० ।

यद्यप्यस्माभिर्योगोपनिषदां स्थूलो विभागो हठराजरूपद्वैविध्येन कृतस्तथाऽप्येतादृशविभागकरणं वस्तुतः समीचीनं न । यतः सर्वास्वप्युपनिषत्सु हठराजयोगयोरभ्यासक्रमः कथितोऽस्ति । तस्मादयं विभागो गौण इति ज्ञेयम् । सप्राणायामध्यानं हठयोगः। केवलध्यानं राजयोग इति सर्वसंमतं सर्वज्ञं च। अष्टस्वङ्गेषु यमनियमासनप्राणायामाख्यानि चत्वारि अङ्गानि बहिरङ्गाणि । तेषां विनियोगो हठेऽस्ति । प्रत्याहारो धारणा चान्तरङ्गे राजयोगस्येति योगिनो मन्यन्ते । राजयोगस्य श्रेष्ठान्तरङ्गध्यानजातः समाधिः फलम् । हठयोगे प्राणायामसाहाय्येन समाधिः साध्यः । एवं सर्वा अप्युपनिषदो लक्ष्यरूपेण समाधिस्थितेः प्रशंसां कुर्वन्ति । तथा च समाधिस्थितिः संपादनीयेत्यत्र न संशयः । एतद्विषये कस्यापि विवादो नास्ति । अतः प्रसङ्गतोऽष्टाङ्गनिरूपणं सर्वत्र न्यूनाधिकप्रमाणेन दृश्यते । तस्मात्सर्वासूपनिषत्सु हठराजयोगयोर्वर्णनस्य सत्त्वादविभागेनैव सर्वोपनिषत्सु हठराजयोगयोर्निरूपणमित्यपि वक्तुं प्रशस्तम् । योगतत्त्वयोगशिखोपनिषद्रीत्या हठयोगो राजयोगस्य पूर्वभूमिकेति वक्तुं युक्तम् । प्रख्यातहठप्रदीपिकायामप्येत्थमुक्तम् । हठयोगप्रदीपिकाग्रन्थे हठयोगस्याङ्गानां निरूपणं स्पष्टतया विद्यते ।

योगतत्त्वोपनिषद् ।

योगो हि बहुधा ब्रह्मन्भिद्यते व्यवहारतः ।
मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥ १९ ॥
आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयः स्मृतः ।
निष्पत्तिश्चेत्यवस्था च सर्वत्र परिकीर्तिता ॥ २० ॥

योगशिखा ।

कथितं तु तव प्रीत्या ह्येतदभ्यासलक्षणम् ।

मन्त्रो लयो हठो राजयोगोऽन्तर्भूमिकाः क्रमात् ॥ १३० ॥
एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ।

हठयोगप्रदीपिका ।

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहणीव ॥
प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ।
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ २ ॥ १ उपदेशः
राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ ७९ ॥ ४ उ०
सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ।
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ॥ १०३ ॥ ४ उ०
राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ॥ ३ उपदेशः
राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते ॥ १२६ ॥

राजयोगाभ्यासकर्तृभ्यः सूचना–केषांचिद्वेदान्तपण्डितानां मतं कानिचिदक्षराणि वाक्यानि च संज्ञाभूतानि । यथा, ॐ प्रणवः, वेदान्तमहावाक्यानि तत्त्वमस्यादीनि । एतेषामर्थचिन्तनमेव ध्यानपदवाच्यं राजयोगाभ्यास इति । इदं न यथार्थम । राजयोगाभ्यासेच्छुभ्य इयत्सविनयं विज्ञाप्यते–निर्गुणब्रह्मस्थितिसिध्यर्थं नानाविधानि श्रुतिवाक्यानि बहुविधसरण्या कचिद्विस्तृततया च साधनादिप्रतिपादनं कुर्वन्ति । सर्ववाक्याणामन्तिमो हेतुस्तु अधिकारिमात्रस्य प्रणवध्यानपूर्वकनिर्विकल्पसमाधिद्वारा ब्रह्मप्राप्तिः । अन्यथा नानार्थशब्दजालचिन्तनेनाभ्यासे विघ्नसंभवः ।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥

मुण्डकस्य द्वितीयः खण्डः ।

धारणाख्याङ्गसाहचर्यं विना ध्यानस्थितिसिद्धिरशक्या । इदमत्र तात्पर्यं ध्यानस्यैव निदिध्यासनमित्यपरपर्यायः । ध्यान एव च धारणाया अन्तर्भावो भवतीति ।

योगचूडामण्युपनिषद्यपि एतत्सिद्धान्तप्रतिपादनं वर्तते—

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥ ११११ ॥
धारणा द्वादश प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ ११२ ॥
यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ।
तस्मिन्दृष्टे क्रिया कर्मयातायातो न विद्यते ॥ ११३ ॥

मण्डलब्राह्मणोपनिषद्यपि—ध्यानविस्मृतिः समाधिरिति । एतद्व्याख्यानमपि चित्ते स्थापयितुमर्हम् । तच्च—विषयव्यावर्तनपूर्वकं चैतन्ये चेतस्थापनं धारणा भवति । सर्वशरीरेषु चैतन्यैकतानता ध्यानम् । ध्यानविस्मृतिः समाधिरिति । उपरिनिर्दिष्टधारणाध्यानसमाधिलक्षणावलोकनेनैतज्ज्ञायेत राजयोगस्येतिकर्तव्यतायाः सीमा समाधिः । स च ध्यानं विना साध्यो न । ध्यानसिद्धिस्तु धारणाबलमवलम्ब्य । इदं शास्त्रसंमतमनुभवसिद्धं च । अतो राजयोगाभ्यासिनापि तदन्तरङ्गसाधनाभ्यासोऽत्यन्तमावश्यक इतिकथनस्याप्यपेक्षा नैव विद्यते । राजयोगः, सांख्ययोगः, ज्ञानयोग, वेदान्तविचारः, एते सर्वे शब्दा एकार्थवाचका इतिज्ञापनस्यावश्यकता दृश्यते ।

हठयोगप्रदीपिका ४ उपदेशः ।

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥ ३ ॥
अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥ ४ ॥

एतद्विषये सुज्ञान्प्रार्थये वैराहोपनिषद्श्चतुर्थोऽध्यायो वाच्यः । तत्रैको मनोरञ्जक इतिहासो वर्णितोऽस्ति । शुकयोगीश्वराः सांख्ययोगिन आसन् । तेषां मार्गस्य विहंगममार्ग इति संज्ञा । वामदेवास्तु हठयोगाभ्यासित्वात्पिपीलिकामार्गावलम्बिनः । पिपीलिकामार्गाख्यहठयोगावलम्बनेन वामदेवानामष्टसिद्धिरूपान्तरायासत्त्वेऽप्यस्मिन्नेव जन्मनि जीवन्मुक्तिसुखमाप्त्यभावः । किंच विदेहकैवल्ये मुक्तिप्राप्तौ

वाऽन्तरायमाप्त्या पुनर्जन्मस्वीकार एवाऽऽवश्यकोऽभवत् । एवंरीत्या हठयोगे सिद्धयः पुनर्जन्म च विघ्ना वर्तन्ते । एवं हठराजयोगयोर्महदन्तरमित्येतस्यार्थस्य प्रकटीकरणे पूर्वोक्तेतिहासस्य तात्पर्यं विद्यते ।

एतद्दीपिकायां ध्यानं धारणेति क्रमो वर्तते परं तु पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायेनोपनिषदादिप्रामाण्येन च धारणा ध्यानमिति क्रमो ज्ञेयः ।

कै० सर मुतुस्वामी आयर इत्येतैर्बहुभ्यो वत्सरेभ्यः पूर्वं नाम सन १८९४ मितवत्सरे मह्यं योगमार्गप्रकाशनेच्छा प्रदर्शिता । तथा योगाभ्यासकरण इदानींतनमत्प्रकृतप्रयत्नेनाल्पमपि साहाय्यं स्याच्चेत्तर्हि मच्छ्रमस्य पूर्णं सार्थक्यं जातमिति मंस्ये । एतद्ग्रन्थशोधनादौ पुण्यनगरस्थैर्बहुमान्यैः ' डाक्टर गणेश कृष्ण गर्दे एल एम् अँड एस ' इत्यैर्बहूपकृतं तथाऽऽनन्दाश्रमव्यवस्थापकैः ' रा. रा. हरि नारायण आपटे ' इत्येतैर्मदिच्छामुररीकृत्यैद्ग्रन्थमुद्रापणादिना बहूपकृतम् ।

' काशीनाथशास्त्री आगाशे ' इत्येतैरियं प्रस्तावनाऽऽर्ययोगीश्वरकृष्णस्वामिप्रार्थनया संस्कृतभाषया व्यलेखीति शम् ।

---

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

श्रीदक्षिणामूर्तये नमः ।

## सदाशिवयोगीश्वरविरचिता

# शिवयोगदीपिका

तत्र प्रथमः पटलः ।

परमयोगिमनोम्बुजषट्पदं त्रिविधकारणकारणमव्ययम् ।
सगुणनिर्गुणतत्त्वमनामयं गुरुसदाशिवलिङ्गमहं भजे ॥ १ ॥

श्रीमद्गुरुप्रसादेन योगं ज्ञात्वा शिवात्मकम् ।
वक्ष्यामि सुप्रबोधाय शिवयोगप्रदीपिकाम् ॥ २ ॥

शिवतत्त्वविदां श्रेष्ठ वक्ष्यामि शृणु तेऽधुना ।
शिवयोगं परं गुह्यमपि त्वद्भक्तिगौरवात् ॥ ३ ॥

मन्त्रो लयो हठो राजा चेति योगाश्चतुर्विधाः ।
तानाहुः पूर्वमुनयः सिद्धाः शंभुप्रबोधितान् ॥ ४ ॥

एकाक्षरं द्व्यक्षरं वा षडक्षरमथापि वा ।
अष्टाक्षरं वा मोक्षाय मन्त्रयोगी सदा जपेत् ॥ ५ ॥

यस्य चित्तं निजं ध्यायेन्मनसा मरुता सह ।
लीनं भवति नादेन लययोगी स एव हि ॥ ६ ॥

भवेदष्टाङ्गमार्गेण मुद्राकरणबन्धनैः ।
तथा केवलकुम्भेन हठयोगी वशानिलः ॥ ७ ॥

त्रिषु लक्ष्येषु यो ब्रह्मसाक्षात्कारं गमिष्यति ।
ज्ञानोपायमनोवृत्तिरहितो राजयोगवित् ॥ ८ ॥

उत्तरोत्तरवैशिष्ट्याद्योगाश्चत्वार एव हि ।
तेष्वेक एव मुख्योऽसौ राजयोगोत्तमोत्तमः ॥ ९ ॥

सोऽपि त्रिधा भवेत्सांख्यस्तारकश्चामना इति ।
पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानं यत्सांख्यमुच्यते ॥ १० ॥

बहिर्मुद्रापरिज्ञानाद्योगस्तारक उच्यते ।
अन्तर्मुद्रापरिज्ञानादमनस्क इतीरितः ॥ ११ ॥
श्लाघ्यः सांख्याचारकोऽयममनस्कोऽपि तारकात् ।
राजत्वात्सर्वयोगाणां राजयोग इति स्मृतः ॥ १२ ॥
नाभेदः शिवयोगस्य राजयोगस्य तत्त्वतः ।
शिवार्चिनां तथाऽप्येवमुक्तो बुद्धेः प्रवर्तते ॥ १३ ॥
प्रतिपाद्यस्तयोर्भेदस्तथा शिवरतात्मनाम् ।
तस्मान्मनीषिभिर्ग्राह्यः शिवयोगस्तु केवल. ॥ १४ ॥
ज्ञानं शिवमयं भक्तिः शैवं ज्ञानं शिवात्मकम् ।
शैवं व्रतं शिवार्चेति शिवयोगो हि पञ्चधा ॥ १५ ॥
शिवाचारविहीनो यः पशुरेव न संशयः ।
स तु संसारचक्रेऽस्मिन्नजस्रं परिवर्तते ॥ १६ ॥
सत्यं वदामि तत्तत्त्वं निर्णीतं पूर्वसूरिभिः ।
सर्वदेवमयः साक्षात्सर्वभूतमयस्तथा ॥१७॥
सर्वज्ञानसमः सम्यक्सर्वतत्त्वोत्तरोत्तरः ।
सर्वतेजोमयः साक्षात्सर्वानन्दस्वरूपवान् ॥ १८ ॥
मायासमेतः सकलो निष्कलः केवलः परः ।
अस्तिनास्तिद्वयातीतो वाङ्मनोगोचरात्मकः ॥ १९ ॥
अवर्णो वर्णसंयुक्तो नीरूपी विश्वरूपभृत् ।
परमात्मा परं ब्रह्म कश्चिद्देवोऽस्ति चिच्छिवः ॥ २० ॥
शिवादुत्पद्यते शक्तिः शान्त्यतीता परात्मिका ।
अप्रतर्क्यगुणोपेता जृम्भते सा शिवाज्ञया ॥ २१ ॥
सा शक्तिः पञ्चधा भिन्ना भवति ब्रह्मरूपिणी ।
पञ्चभूतात्मिका नित्या तस्या आसीदिदं जगत् ॥२२॥
आदौ व्योम्नि स्थितो भाति साक्षाद्देवः सदाशिवः ।
सदाशिवादीश्वरोऽपि संभूतः पवने स्थितः ॥ २३ ॥
ईश्वरादभवद्रुद्रो वह्नौ स्थित्वा प्रतापवान् ।
रुद्राद्विष्णुर्महातेजा वारितत्त्वे व्यवस्थितः ॥ २४ ॥

विष्णुतत्त्वोदितो ब्रह्मा पृथ्वीतत्त्वे व्यवस्थितः ।
एवं पराशक्तिजाता विश्वपाः पञ्च मूर्तयः ॥ २५ ॥
निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
शान्त्यतीता कला ह्येताः स्थिता ब्रह्मादिमूर्तिषु ॥२६॥
तया शिवाज्ञया ह्येता वर्तन्ते सुमहोज्ज्वलाः ।
ब्रह्मणो देवता दैत्या मुनयो मानवास्तथा ॥ २७ ॥
स्वेदजा अण्डजाः सर्वे प्राणिनश्च जरायुजाः ।
तृणगुल्मलतावृक्षाद्यनेकोद्भिज्जकोटयः ॥ २८ ॥
गिरयः सरितश्चान्ये समुद्राश्च सरांसि च ।
संभवन्ति क्रमेणैव तस्माच्छिवमयं जगत् ॥ २९ ॥

यस्तं शिवं केवलचित्स्वरूपं सूर्येन्दुवैश्वानरमण्डलस्थम् ।
गुरुप्रसादात्त्रिमलं क्षपयित्वा ध्यात्वा यजन्मोक्षसुखं प्रयाति ॥३०॥

शिवज्ञानं द्विधा ज्ञेयं सगुणं निर्गुणं तथा ।
आदौ सगुणमाश्रित्य पश्चान्निर्गुणमाचरेत् ॥ ३१ ॥
सगुणं बहुधा प्रोक्तं बाह्याभ्यन्तरगोचरम् ।
इन्द्रियादिभिरग्राह्यं निर्गुणं त्वन्तरिक्षवत् ॥ ३२ ॥
एवं तत्त्वपरिज्ञानं गुरुष्वेव व्यवस्थितम् ।
अत एव मुमुक्षूणां पूजनीयश्च सद्गुरुः ॥ ३३ ॥

सदायुरारोग्यमपारभूतिं विद्यां यशः स्वर्गसुखं च मोक्षम् ।
फलानि सर्वाणि नरः समाप्तुं कथं समर्थो गुरुणा विहीनः ॥३४॥

उक्तलक्षणसंपन्नमाचार्यं सर्ववेदिनम् ।
कर्मणा मनसा वाचा शिववत्पूजयेद्गुरुम् ॥ ३५॥
तस्माद्गुरुमुखेणैव दीक्षितो यः शिवार्चकः ।
चतुर्वर्गफलावाप्तिः सुखं तस्य करे स्थिता ॥ ३६ ॥
त्रिकालं वा द्विकालं वा एककालमथापि वा ।
भक्त्या गुरूक्तमार्गेण पूजयेच्चिन्मयं शिवम् ॥ ३७ ॥
अन्तर्यागो बहिर्यागो द्विविधं तच्छिवार्चनम् ।
मुख्या चाभ्यन्तरे पूजा सा च बाह्यार्चनोदिता ॥ ३८ ॥

आत्मस्थमत्यन्तरुचिप्रशान्तमश्रान्तमीशं हि यजन्ति सन्तः ।
तं वाह्यनानाप्रतिमासु बाह्यक्रियाभिरेवाल्पधियो यजन्ति ॥३९॥

हृत्पद्मं शिवधर्मकन्दसहितं सुज्ञाननालं तथा ।
नित्यैश्वर्यदलाष्टकं शशिनिभं वैराग्यसत्कर्णिकम् ॥
श्रीरुद्रेश्वरकेसराञ्चितमिदं संचिन्त्य तन्मध्यमे ।
सूर्येन्दुज्वलवह्निमण्डलगतं ध्यायेच्छिवं चिन्मयम् ॥४०॥

प्रसन्नवदनं शान्तं द्व्यष्टवर्षीयमुज्ज्वलम् ।
अनेककोटिकंदर्पलावण्यसमविग्रहम् ॥ ४१ ॥
चतुर्भुजं मृगीटङ्कवरदाभयधारिणम् ।
चन्द्ररेखाशिरोभूषं शरच्चन्द्रनिभद्युतिम् ॥ ४२ ॥
दिव्याम्बरधरं देवं दिव्यगन्धानुलेपनम् ।
दिव्याभरणशोभाढ्यं दिव्यपुष्पैरलंकृतम् ॥ ४३ ॥
त्रिनेत्रं त्रिगुणाधारं त्रिमलक्षयकारणम् ।
सर्वमङ्गलया देव्या निजवामाङ्कशोभितम् ॥ ४४ ॥
भास्वत्कल्पतरोर्मूले फलपुष्पसमन्विते ।
वेदिकायां समासीनं नवरत्नमयासनम् ॥ ४५ ॥
अद्वैतमच्युतं विष्णुं नित्यं निर्वाणगोचरम् ।
अचिन्त्यमजमव्यक्तमादिमध्यान्तवर्जितम् ॥ ४६ ॥
परं शिवं हृदि ध्यात्वा निश्चयीभूतमानसः ।
यजेदाभ्यन्तरद्रव्यैरवधानेन तद्यथा ॥ ४७ ॥

शमाम्बुपरिषेचनं सकलपूर्णभावाम्बरं
त्रिशक्तिगुणसंयुतं विहितयज्ञसूत्रं तथा ।
स्वसंविदनुलेपनं समधिकानुकम्पाक्षतान्
शिवाय विनिवेदयेत्प्रकटभक्तिपुष्पाणि च ॥ ४८ ॥

धूपमान्तरचतुष्टयेन वै दीपमिन्द्रिगुणोत्तरेण तु ।
कल्पयेच्च सुखदुःखवर्जितं जीवरूपमुपहारमान्तरे ॥ ४९ ॥
रजस्तमःसत्त्वगुणत्रयं च ताम्बूलकं प्राणनमस्कृतिं च ।
इत्येवमाभ्यन्तरमुख्यपूजाद्रव्याणि संपादय शंकराय ॥ ५० ॥

अथवाऽऽवाहनाद्यैस्तमुपचारैश्च राजवत् ।
पूजयस्व शिवं भक्त्या परमात्मानमान्तरे ॥ ५१ ॥
अत एव सदा पूजामिमामाभ्यन्तरीं कुरु ।
समस्तपापदलनीं सर्वदुःखविनाशिनीम् ॥ ५२ ॥
शिवभक्तिप्रदां साक्षान्मनोनैर्मल्यकारिणीम् ।
सर्वैश्वर्यकरीं सम्यग्योगज्ञानप्रदायिनीम् ॥ ५३ ॥

इति श्रीसदाशिवयोगीश्वरविरचितायां शिवयोगदीपिकायां प्रथमः पटलः ।

## अथ द्वितीयः पटलः ।

अथ ते संप्रवक्ष्यामि शिवपूजाविधिं बुधैः ।
पुनःप्रकारमाख्यातं योगमार्गैकगोचरम् ॥ १ ॥
योगात्संजायते ज्ञानं ज्ञानाद्योगः प्रवर्तते ।
द्वयोः संसिद्धये भूमौ शरीरं रक्षयेद्बुधः ॥ २ ॥
शरीरं कफनाशेन सुस्थैर्यं याति निश्चितम् ।
स कफो हठयोगेन विनश्यति शरीरिणाम् ॥ ३ ॥
शिवयोगः साधकानां साध्यस्तत्साधनं हठः ।
यमादिभिरथाष्टाङ्गैर्देवपूजां समाचरेत् ॥ ४ ॥
यमनियमगुणैश्च स्वात्मसिद्धिं विधाय
स्ववशविविधपीठैरेव भूत्वा स्थितात्मा ।
असुनियमजलेन स्नापयेद्दिव्यलिङ्गं
प्रकटितचतुरङ्गं बाह्यमेतद्विधानम् ॥ ५ ॥
शंभोरपीन्द्रियनिवर्तनमेव गन्धो
ध्यानं प्रसूननिचयो दृढधारणा सा ।
धूपः समाधिरिति शुद्धमहोपहार-
माभ्यन्तराख्यचतुरङ्गविधानमेतत् ॥ ६ ॥
एवमष्टाङ्गयोगेन सदाऽन्तःपद्मसद्मनि ।
पूजयेत्परमं देवं किं बाह्यैर्देवपूजनैः ॥ ७ ॥
स्वात्मन्येव सदाऽष्टाङ्गैः पूजयेच्छिवमव्ययम् ।
शैवः स एव विद्वांश्च स च योगविदां वरः ॥ ८ ॥

सुब्रह्मचर्यं नियताशनं च धृतिर्दया सूनृतमार्जवं च ।
शौचं क्षमाऽस्तेयमथो अहिंसा यमा दशैते मुनिभिः प्रणीताः॥९॥
संतोष आस्तिक्यगुणो मतिश्च तपो व्रतं शंकरपूजनं च ।
ह्रीर्योगशास्त्रश्रवणं जपश्च प्रदानमेते नियमा दश स्मृताः ॥ १० ॥
यमैश्च नियमैः सम्यगेवं विंशतिसंख्यया ।
स्थिरश्च नियतो भूत्वा स्वात्मशुद्धिं समाचरेत् ॥११॥
सिद्धाम्बुजं स्वस्तिकमुक्तवीरभद्राहिभुक्केसरिगोमुखानि ।
सुखासनं चैव समङ्कितानि तथा दशैतानि वरासनानि ॥१२॥
गृहिणामम्बुजं नित्यं सिद्धं त्वितरवर्त्मनाम् ।
सुखासनं च सर्वेषामित्येतत्त्रिविधं वरम् ॥ १३ ॥
यानि कानि प्रशस्तानि ह्यासनानि वशानि च
तेष्वभीष्टासनासीनो विविक्तस्थानमाश्रयेत् ॥१४॥
तत्र रम्यं मठं कुर्यान्सूक्ष्मद्वारं च निर्व्रणम् ।
प्राकारवेष्टितं शुद्धं बहिःशालासमान्वितम् ॥ १५ ॥
सुगन्धकुसुमाकीर्णं वितानपरिशोभितम् ।
मृदूपधानशय्याद्यैरासनाद्यैः समाकुलम् ॥ १६ ॥
सुधूपवासितं नित्यं गोमयेन सुलेपितम् ।
समित्पुष्पफलोपेतं कन्दमूलफलान्वितम् ॥ १७ ॥
समग्रभस्मरुद्राक्षकुशाजिनविभूषितम् ।
शुद्धान्नपानसंपन्नं सर्वौषधसमाश्रितम् ॥ १८ ॥
सदा मनोहरास्पन्दं मठे वासमुपेत्य च ।
सदाशिवं प्रपूजयेद्हृदि स्थिरसमाहितः ॥ १९ ॥
तद्यथा शृणु हे विद्वन्नादौ केवलकुम्भके ।
प्राणायामजलेनैव स्नापयेच्चिन्मयं शिवम् ॥२०॥
प्राणायामस्तथा प्रोक्तः प्राकृतो वैकृतस्तथा ।
ताभ्यां विना जृम्भतेऽसौ केवलः कुम्भकः स्वयम् ॥२१॥
निश्वासोच्छ्वासरूपेण रेचपूरस्वभावतः ।
प्राणानिले वर्तमाने प्राकृतः स उदाहृतः ॥ २२ ॥

आगमोक्तविधानेन रेचपूरककुम्भकैः ।
यदि प्राणनिरोधः स्याद्वैकृतः स उदाहृतः ॥ २३ ॥
प्राकृतं वैकृतं चेति द्वयमेतन्महात्मनः ।
क्षणात्संस्तम्भयेद्यस्तु स हि केवलकुम्भकः ॥ २४ ॥
प्राकृतो मन्त्रयोगः स्याद्वैकृतो लय एव हि ।
हठः केवलकुम्भाख्यो राजयोगोऽमनाः स्मृतः ॥२५॥
प्रथमस्त्वजपायोगो नादो वायोर्लयस्तथा ।
मनोनिलस्थिरं पश्चाद्वृत्तिशून्यं चतुर्थकम् ॥ २६ ॥
प्राणवायुनिरोधेन लभते च चतुष्टयम् ।
तस्मादभ्यासशूरस्त्वं प्राणायामपरो भव ॥ २७ ॥
सकारान्तमिदं बीजं बहिर्याति सबिन्दुकम् ।
सविसर्गं सकारान्तं तद्बीजं प्रविशत्यधः ॥ २८ ॥
प्राणानिलश्च सर्वेषां प्रवर्तकनिवर्तकः ।
एवं जीवोऽजपानामगायत्रीं जपतेऽन्वहम् ॥ २९ ॥

एकविंशतिसहस्रसंख्यया षट्शताधिकमहर्निशं नरः ।
श्रीगुरूक्तविधिनाऽरुणोदये संस्मरन्वहति सोऽजपाफलम् ॥३०॥

अजपां नाम संकल्प्य नरः पापैः प्रमुच्यते ।
शिवयोगमवाप्नोति शीघ्रमेव न संशयः ॥ ३१ ॥
अजपानामगायत्रीमन्त्रं वर्णद्वयं यदा ।
त्रिवेणीसंगमे लीनं स शब्दः प्रणवो भवेत् ॥३२॥

सोऽहं कृत्वाऽऽत्ममन्त्रं स्वपदपरतरं व्यक्तवर्णद्वयं त-
द्व्यालुम्पेद्व्यञ्जने द्वे पुनरपि रचयेद्दिव्यमोंकारमन्त्रम् ।
कृत्वाऽनुस्वारयुक्तं सकलमनुपरं ब्रह्मनाडीं नयेद्यः
पूर्णानन्दः स कुण्डल्यनुभवविकलः कर्मणे सूतिमेति ॥ ३४ ॥

इला स्मृतेन्दुरिति सूर्यसुतेति योगात्
सा पिङ्गलाऽर्क इति विष्णुपदीति तासाम् ।
सा मध्यमाऽग्निरिति गीरिति या त्रिवेणी
योगस्थलं तदिदमेव हि यत्त्रिकूटम् ॥ ३५ ॥

तस्मात्त्रिकूटनामापि त्रिवेणीसंगमस्थलम् ।
शृङ्गाटकचतुष्पीठनामान्येकस्थलस्य हि ॥ ३६ ॥
शब्दद्वारे गते यत्र गन्धद्वारे तथैव च ।
समायोगैश्चतुष्पीठशृङ्गाटकसुसंज्ञिकम् ॥ ३७ ॥

उच्छ्वासनिश्वासकृतासुवायुना त्रिकूटदेशे मनसा सहाङ्ग ।
स्थित्वा सुषुम्नाख्यतदूर्ध्वनाडिकात्रिकोणमार्गे गमनं कुरुष्व ॥३८॥
प्राणानिलस्योद्गमने निरोधे निपातिता चोर्ध्वसुसूक्ष्मशक्तिः ।
प्रत्याहते मध्यगता प्रबोधिता सा योगतो मूलनिकुञ्जनी स्यात्॥३९॥

तस्मात्त्रिविधशक्तीनां पातेन प्रविबोधनात् ।
आकुञ्चनेन योगीन्द्रा यान्त्यमी परमं पदम् ॥ ४० ॥
अत एव महाश्चर्यं चन्द्रसूर्याग्निसद्मनि ।
संधानं कुरु तद्भक्त्या प्रणवध्वनिना सह ॥ ४१ ॥
त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणाः ।
ओमित्येकाक्षरे मन्त्रे परे ब्रह्मणि सन्ति वै ४२ ॥
इति पूर्वे च संसिद्धा विदुः केवलकुम्भकम् ।
हठे ह्येकमिदं श्रेष्ठं गोपितं परमाद्भुतम् ॥ ४३ ॥
गमागमौ प्राणवायोर्विधानेन हि गच्छतः ।
यथा तस्य शरीरस्य गमागमविधिस्तथा ॥ ४४ ॥
सिद्धसंमतशास्त्रेषु स्थितः केवलकुम्भकः ।
तथाऽप्यतिरहस्यत्वान्न विजानाति मूढधीः ॥ ४५ ॥
गुरोर्यस्य प्रसादाच्च सिध्येत्केवलकुम्भकः ।
यदि किं करणैर्मुद्राबन्धनैर्वा समाधिभिः ॥ ४६ ॥
निःशब्दे केवले कुम्भे प्राप्ते विष्णोः पदं महत् ।
तथा खलु तयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ॥ ४७ ।
निःशब्दं तत्त्वमित्याहुरनिर्वाच्यं परं पदम् ।
भूतेन्द्रियादिप्रकृतेस्तत्त्वानां च लयात्मकम् ॥ ४८ ॥
मूलोड्याणजलन्ध्रबन्धनविधामभ्यस्यतो योगिनो
वायोरुद्गमने निरङ्कुशविधेस्तद्व्योमसंरोधनात् ॥

भूतानीन्द्रियवर्गतद्गुणमनोहंचित्तबुद्ध्यादयः
सर्वं लीनमुपैति वृत्तिरहितं सौख्यं तदा किंचन ॥४९॥

योऽपानसूर्यमथ वायुनिरोधनेन
प्राणेन्दुना सह तदूर्ध्वगतं प्रकृत्या ।
योगैकसिद्धिमनिशं कुरुते समस्तां
प्रज्ञावतामपि स एव हि मूलबन्धः ॥ ५० ॥

अधश्चोर्ध्वं च नाभेर्यो बन्धनं कुरुते बलात् ।
उड्डियानमसौ बन्धो रुग्जरामृत्युनाशनः ॥ ५१ ॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
एष जालंधरो बन्ध ऊर्ध्वामृतनिबन्धकः ॥ ५२ ।

अथोर्ध्वमध्यस्थिरबन्धनाभ्यामाकुञ्चनादूर्ध्वमपानवायोः ।
प्राणैकरन्ध्रे मरुतां प्रवेशाच्छीघ्रं भवेत्केवलकुम्भसिद्धिः ॥५३॥

अयं केवलकुम्भाख्यो यस्याजस्रं वशो भवेत् ।
सदा भवति विख्यातः स एव प्राणसंयमी ॥ ५४ ॥

प्राणायामविधानं यो मासत्रयमपि समाचरेन्नियत ।
तनुलघुता दीपनता नाडीशुद्धिर्ध्वनिश्चतस्य भवेत् ॥

गगनं पवने प्राप्ते तत्क्षणादुन्मनी भवेत् ।
केवलं कुम्भकं प्राप्तो तावदेव समभ्यसेत् ॥ ५६ ।

नत्वा गुरुं ब्रह्मविदां वरेण्यं जित्वाऽन्तरस्थं षडमित्रवर्गम् ।
स्थित्वा सदैकान्तविशुद्धदेशे ध्यात्वा शिवं भ्रूयुगमध्यपद्मे ॥ ५७ ॥

श्रुत्वा सदाऽनाहतदिव्यनादं धृत्वा विभिन्नामलबिन्दुरत्नम् ।
पीत्वा सुधां चन्द्रमसः पतन्तीं छित्त्वाऽथ संकल्पविकल्पजालम् ॥

कृत्वा त्रिकूटे दृढबन्धनं ततो गत्वा त्रिकोणे मनसाऽनिलैः सह ।
भित्त्वा तथैवोपरि सूक्ष्मकुण्डलीं नीत्वा सखे विष्णुपदं सुखी भव ॥

इत्थं शिवं विष्णुपदस्वरूपं विष्णुं सदा भावितविष्णुमूर्तिम् ।
विष्णोः पदं केवलकुम्भशुद्धं प्राणाम्बुना स्नानविधौ भजस्व ॥६०॥

इति श्रीसदाशिवयोगीश्वरविरचितायां शिवयोगदीपिकायां द्वितीयः पटलः ।

---

अथ तृतीयः पटलः ।

---

इति यमादिचतुरङ्गविधानं बाह्यमुक्तमभिराञ्जितवाक्यैः ।
अथ शिवार्पितमनाः शृणु वक्ष्ये अन्तरङ्गचतुरङ्गविधानम् ॥ १ ॥
सन्मनोमहित शोणतलेऽस्मिञ्श्रोत्रमुख्यविजितेन्द्रियवर्गात् ।
जातघृष्टविमलामलगन्धैर्लेपनं गुरुसदाशिवलिङ्गे ॥ २ ॥

संकोचमाचरति कूर्म इहाङ्गकाना-
मङ्गे यथा भुवि तथा निखिलेन्द्रियाणि ।
प्रत्याहरस्व नियतात्मनि संयतात्मा
मन्यामहे परमतत्त्वमिदं तदेव ॥ ३ ॥
आधारमुख्यनलिनैर्विविधैः सुवर्णै-
स्तन्मध्यभासुरतरैः सुमनोभिरङ्ग ।
नानाविधैः सगुणनिर्गुणभावपुष्पैः
श्रीलिङ्गमूर्तिमनिशं हृदि पूजयस्व ॥ ४ ॥
आधारलिङ्गमणिपूरकहृद्विशुद्धि-
भ्रूमध्यमस्तकनभोबिलसंज्ञकानि ।
एतानि तानि यमिनां सुखदायकानि
ध्यानस्थलानि सुविचित्रतराणि नूनम् ॥ ५ ॥
अन्तश्चेतोनियमितबहिश्चक्षुरिष्टासनं च
कायावक्रत्वमनिशमहो ध्यानमुद्रेयमस्याम् ।
स्वात्मानन्दं समरसगतं शान्तमद्वैतरूपं
शैवध्यानं कुरु हृदि सखे ह्ययमुक्तस्त्वमेव ॥ ६ ॥
ध्यानस्थलेषु सर्वेषु नव चक्राणि योगिभिः ।
श्रेष्ठानि तानि कथ्यन्ते वक्ष्यामि शृणु तेऽधुना ॥ ७ ॥
मूलाधारे त्रिधा वृत्तं ब्रह्मचक्रं भगोपमम् ।
तत्कन्देऽग्निनिभां ध्यायेदथ शक्तिमभीष्टदाम् ॥ ८ ॥
स्वाधिष्ठानं ततश्चक्रं तत्र चातुर्दलाम्बुजम् ।

तद्देवोड्यायनं ध्यायेत्पश्चिमाभिमुखं शिवम् ॥ ९ ॥
पञ्चावर्तं नाभिचक्रं सर्पाकारं तडिन्निभम् ।
तत्र कुण्डलिनीं मध्ये शक्तिं सिद्धिप्रदां स्मरेत् ॥१०॥
अधोमुखाष्टपत्राब्जयुतं हृच्चक्रमिष्टदम् ।
तन्मध्ये कर्णिकां ज्योतिर्लिङ्गाकारमिमं स्मरेत् ॥११॥
पञ्चमं कण्ठचक्रं च तत्राङ्गुलिचतुष्टये ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्नां सुस्थितां स्मरेत् ॥ १२ ॥
षष्ठं च घण्टिकालिङ्गमूलं तद्राजदन्तकम् ।
ध्यायेत्तदूर्ध्वं तद्द्वारं तत्र शून्यं सुसिद्धये ॥ १३ ॥
भ्रूचक्रं सप्तमं त्वेकं नालं कन्दं सुवाक्प्रदम् ।
ध्यायेद्दीपशिखाकारं तन्मध्ये ज्ञानलाञ्छनम् ॥ १४ ॥
ब्रह्मरन्ध्रेऽष्टमं चक्रं निर्वाणाख्यं सुसूक्ष्मकम् ।
तत्र जालंधरं धूमशिखाभं मोक्षदं स्मरेत् ॥ १५ ॥
आकाशचक्रं नवमं प्रशस्तं त्रिकूटकं पूर्णगिरीशपीठम् ।
तत्रोर्ध्वशक्तिं शुभदां सुशून्यां ध्यायेद्द्व्याष्टारसरोजमध्ये ॥१६॥
अथ ते षोडशाधारान्कथयामि विशेषतः ।
तेजोध्यानं पदाङ्गुष्ठे कुर्याद्दृष्टिःस्थिरा भवेत् ॥१७॥
पादस्य पार्ष्णिकामूलं द्वितीयाधारसंज्ञिकम् ।
संपीड्य स्थापयेदग्निदीपनं भवति क्षणात्॥ १८ ॥
आकुञ्चयेत्तथाऽऽधारं सदा संकोचनेन तु ।
अपानमरुतस्थैर्यं जायते तद्द्वितीयकम् ॥ १९ ॥
मेढ्रागारे दण्डसंकोचनेन ब्रह्मग्रन्थींस्त्रीन्समुत्पाट्य पश्चात् ।
चेतोवायूपस्थनाड्यां प्रवेशाद्बिन्दुस्तम्भःसंभवत्येव सिद्धम् ॥२०॥
पञ्चमाधारमोड्यानं ध्यानं कृत्वा मुहुर्मुहुः ।
मलमूत्रकृमीणां च मारणं भवति ध्रुवम् ॥ २१ ॥
नाभ्याधारं ततः षष्ठे प्रणवं यो वदेद्बुधः ।
समाधिनैकाचित्तेन तस्य नादे लयो भवेत् ॥ २२ ॥

सप्तमं तु हृदाधारं तत्र प्राणान्निरोधयेत् ।
तदा तन्मध्यकमलं विकासं भजति क्षणात् ॥ २३ ॥
कण्ठाधारं कण्ठमूलं पीडयेच्चिबुकेन तु ।
ईडापिङ्गलयोर्वायुप्रवाहः सुस्थिरो भवेत् ॥२४॥
नवमं घण्टिकाधारं जिह्वाग्रं तत्र दापयेत् ।
सुधासारं स्रवत्येव सदा संतृप्तिकारणम् ॥ २५ ॥
या लम्बिका चालनदोहनाभ्यां दीर्घीकृता तां विपरीतमार्गात् ।
यस्तालुमूलान्तरगर्भदेशे प्रवेशयेत्सोन्मनितां प्रयाति ॥ २६ ॥
जिह्वादौ रसनाधारं कुर्याद्यो मथनं यदि ।
सिध्येत्तस्यामृतास्वादः कविता च स्फुटा भवेत् ॥२७॥
द्वादशं दशनाधारमूर्ध्वं तद्राजदन्तकम् ।
षण्मासाद्दृश्यते ज्योतिरन्तर्जिह्वाग्रघट्टनात् ॥ २८ ॥
त्रयोदशं प्राणमूलं तत्र दृष्टिः स्थिरीकृता ।
यदि चेन्मनसा नित्यं वायुस्तत्र स्थिरो भवेत् ॥ २९ ॥
चतुर्दशं ललाटाख्यमाधारं तत्र योगवित् ।
मनसा वायुमारोप्य सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ३० ॥
भ्रुवाधारं पञ्चदशं तदूर्ध्वं चक्षुषा बुधः ।
पश्येत्संकिरणाकारं शीघ्रमेव हि पश्यति ॥ ३१ ॥
नेत्राधारं षोडशं तु तदूर्ध्वं चालयेद्बुधः ।
ज्योतिष्पुञ्जमपाङ्गे तत्पश्यति क्षिप्रमेव हि ॥ ३२ ॥
बन्धत्रयेणाऽऽसनबन्धनेन मन्त्रेण नादश्रवणेन योगी ।
भवेत्तदा केवलकुम्भकेन ध्यानेन चित्ताष्टविधावधानी ॥३३॥
देहपात्रे ज्वलज्ज्ञानवह्नौ भूतगुणाधिकम् ।
क्षिप्त्वा दशाङ्गमलिङ्गं धूपयेद्धारणाद्बुधः ॥३४॥
ध्यानैकगोचरमतिस्थिरता भवेद्या
सा धारणेति शिवयोगविदो वदन्ति ।
शैवक्रमेण रचितेह पुनः प्रकाराद्
भूम्यादिभूतधरणेन पृथक्पृथक्च ॥ ३५ ॥

धारिणी वारुणी चैव आग्नेया मारुती तथा ।
नभोमयीति कथ्यन्ते सूरिभिः पञ्च धारणाः ॥३६॥
अत एव तथा प्रोक्ता धारणा योगवित्तमैः ।
सर्वसिद्धिप्रदास्ताश्च सदाभ्यासरतात्मनाम् ॥३७॥

पादादिजान्वन्तमहीतलेऽस्मिन्वायुं लकारेण समाधिरोप्य ।
स्मरंश्चतुर्बाहुधरं चतुर्मुखं संधारयेद्भूमिजयं समाप्नुयात् ॥ ३८ ॥

वकारेणोपेतं सलिलनिलये जानुनाभ्यन्तदेशे
स्थिरं कृत्वा वायुं मधुरिपुममुं संस्मरेत्पतिचेलम् ।
प्रसन्नास्यं शुद्धस्फटिकमणिनिभं शङ्खचक्राङ्कबाहुं
जलादुत्पन्नोद्यद्भयजयमिदं त्वं भजे वारुणीयम् ॥३९॥
नाभेः कण्ठान्तदेशे वरशिखिनिलये वायुमारोप्य रेफा-
त्र्यक्षं रुद्रस्वरूपं तरुणरविनिभं भस्मनोद्धूलिताङ्गम् ।
शान्तं शीघ्रप्रसन्नं वरदमभयदं संस्मरन्भावयेत्तं
यस्तस्याभ्यासिनोऽग्नेर्भयहरणमिहासंभवेद्धारणायाः॥४०॥

गलादिभ्रुवोर्मध्यदेशे समीरस्थले मान्तवर्णेन देदीप्यमानम् ।
प्रकाशस्वरूपं स्मरेदीश्वरं यः सखे वायुवत्क्रीडतीशप्रभावात् ॥४१॥

अभ्रूमध्यादिकान्ते पवनमतिदृढं व्योमदेशे प्रकुर्व-
न्सोमं सोमार्धमौलिं दशकरकमलं पञ्चवक्त्रं त्रिनेत्रम् ।
श्रीकण्ठं सायुधं तं समधिकवरदं सर्वतत्त्वादितत्त्वं
बिन्दुं व्योमस्वरूपं शिवमभययुतं चिन्तयेद्यः स मुक्तः ॥४२॥
इत्येवं धारणाः पञ्च घटिकापञ्चकान्विताः ।
एकैकां धारयेत्ताभिर्देहसिद्धिं भजेन्नरः ॥ ४३ ॥

एतासु भूम्यादिकधारणासु नृणां सदा प्राणनिरोधनेन ।
ये दोषजाः सर्वपुराणरोगा नश्यन्ति शीघ्रं न हि संशयोऽत्र ॥४४॥

ज्ञानेन कर्मणा पञ्च धारणा योगिभिर्धृताः ।
समभ्यासरता यत्र तरन्ति भवसागरम् ॥४५॥

इयं धारणा । अथ समाधिः—

सुज्ञानदीपं सुधियाऽवलम्ब्य हृदालये त्वं मनसाऽवलोकय ।

स्वात्मोपहारं परमात्मलिङ्गे समाधिनाऽस्मिन्विनिवेदयस्व ॥४६॥
जलसैन्धवयोर्यथैक्ययोगो भवतीहापि तथैव सामरस्यम् ।
मनसश्च सदाऽऽत्मनश्च योगात्स समाधिरिति कथ्यते मुनीन्द्रैः ॥४७
यदा भवति चैकत्वं जीवात्मपरमात्मनोः ।
तदा समाध्यवस्थायां गमिष्यन्ति यमीश्वराः ॥ ४८ ॥
श्रोत्रादीनि न चेन्द्रियाणि विषयाः शब्दादयोऽहं मनो
वृत्तिर्नैव सुखासुखानि च तथा मानावमानावपि ।
शीतोष्णामितपुण्यपापसुमहासंकल्पजालान्यहो
नैवानेव समाधिना सह मनालीने परब्रह्मणि ॥ ४९ ॥
युक्ताहारो मुनीन्द्रो निरशनपर एवाथवा युक्तनिद्रो
निद्रात्यक्तो गुहायां वसति विचरति क्ष्मातले निस्पृहात्मा ।
नानाकर्मक्रियासु प्रथितकुशलयुक्तोऽपि वा निष्क्रियो वा
नानाचेष्टास्वजस्रं विहरति च समाधौ समासक्तचेताः ॥५०॥
एवमष्टाङ्गयोगेन हठेनानेन नैष्ठिकैः ।
अनालस्यकृताभ्यासात्सिद्धयः शृणु तस्य ताः ॥५१॥
प्रथमे हतरुग्वर्षे सर्वलोकप्रियो भव ।
वत्सरे च द्वितीयेऽथ कवितां कुरुते सुवाक् ॥
भुजगाद्यैस्तथा दुष्टैस्तृतीये न प्रबाध्यते ॥ ५२ ॥
चतुर्थकेऽनातुरता पिपासा निद्रादिशीतातपवर्जितः स्यात् ।
दूरश्रवाः पञ्चमवत्सरे वाक्सिद्धिं परेषां तनुषु प्रवेशः ॥५३॥
षष्ठेन वज्रैरपि नैव भिद्यते ततोऽतिवेगी च स दूरदर्शनः ।
त्यजेद्ध्रुवं सप्तमवत्सरेऽथ विभूतयस्तस्य भवेयुरष्टमे ॥ ५४ ॥
गगनचरो दिग्विचरो नवमेऽब्दे यस्तु वज्रकायः स्यात् ।
स मनोवेगी दशमे यत्रेच्छा तत्र गच्छति प्रमनाः ॥५५॥
एकादशके वर्षे सर्वज्ञः सिद्धिमान्भवेद्योगी ।
द्वादशके शिवतुल्यो कर्ता हर्ता स्वयं भवति ॥ ५६ ॥
द्वादशवर्षैरेवं सद्गुरुनाथस्य पादयोर्भक्त्या ।
निर्विघ्नेन धूतात्मा सिद्धो भवतीति संसिद्धम् ॥ ५७ ॥

अत एव महाश्चर्यं योगमष्टाङ्गमादरात् ।
शिवपूजाङ्गमेतद्धि त्वमेवाभ्यसनं कुरु ॥ ५८ ॥
निरन्तरकृताभ्यासाज्जरामरजवर्जितः ।
स जीवेदिच्छया लोके ततो मुक्तिमवाप्नुयात् ॥५९॥
यमेन नियमेनैव मन्ये भक्तिरिव स्वयम् ।
स्थिरासनसमायुक्तो महेश्वरपरान्वितः ॥ ६० ॥
चराचरलयस्थानं लिङ्गमाकाशसंज्ञिकम् ।
प्राणेन व्योम्नि संलीने प्राणलिङ्गी भवेन्नरः ॥ ६१ ॥
प्रत्याहारेण संयुक्तः प्रसीदति न संशयः ।
ध्यानधारणसंयुक्तो चरणस्थलवान्सुधीः ॥ ६२ ॥
लिङ्गैक्याद्वैतभावात्मा निश्चलैक्यसमाधिना ।
एवमष्टाङ्गयोगेन वीरशैवो भवेन्नरः ॥ ६३ ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन कर्मणा ज्ञानतोऽपि वा ।
त्वमप्यष्टाङ्गयोगेन शिवयोगी भवानघ ॥ ६४ ॥

इति श्रीसदाशिवयोगीश्वरविरचितायां शिवयोगदीपिकायां तृतीयः पटलः ।

---

अथ चतुर्थः पटलः ।

यत्सर्वगं श्रुतिशिरःपरमैकमाद्यं
ज्योतिर्मयं दृढविरक्तजनाभिगम्यम् ।
गोसंस्थितं गुरुसदाशिवयोगिनाथं
लिङ्गस्वरूपमहमन्वहमाश्रयामि ॥ १ ॥
राजयोगः परिग्राह्यो विद्वद्भिस्तेन हेतुना ।
यस्य साधनमष्टाङ्गहठयोग इहोच्यते ॥ २ ॥
पूर्वोक्ताष्टविधाङ्गानि हठे तानि स्थितानि च ।
एकैकश्लोकरूपेण कृतानि च मया शृणु ॥ ३ ॥
आहारनिद्रेन्द्रियदेहसर्वव्यापारशीतातपसंज्ञितानाम् ।
जयश्च शान्तिश्च भवेद्यमाङ्गः शनैः शनैः साधयितुं स योग्यः ॥४॥
भक्तिर्गुरौ परमतत्त्वपदेऽनुरक्ति-
र्निःसङ्गता स्वयमुपागतलाभतुष्टिः ।

एकान्तवासपरता च मनोनिवृत्ति-
र्वैराग्यभाव इति ये नियमास्त एव ॥ ५ ॥
स्वस्वरूपे सर्वकालमासनत्वं सुखासनम् ।
सर्ववस्तुन्युदासीनभावश्चाऽऽसनमीरितम् ॥ ६ ॥
विदुर्बुधा रेचकपूरकुम्भसंघट्टनश्वासतया प्रयत्नात् ।
प्राणस्थिरत्वं जगतां च मिथ्या चित्तं स्थिरं प्राणनिरोधभावः ॥७॥
चित्तस्यान्तर्मुखेन प्रतिहतबहुचैतन्यकल्लोलजाल
स्योत्पन्नस्यास्य नानाविपुलमतिविकारस्य संसक्तिरेव ।
तत्तन्नानाविकारग्रसनमिति तथा कथ्यते योगविद्भिः
प्रत्याहारः स एवाविचालितसुमनास्तं कदाऽहं भजामि ॥ ८ ॥
सोऽहंभावात्प्रकटितपदमद्वैतमुख्यस्वभावं
यद्यल्लोके स्फुरति खलु तदात्मस्वरूपस्वभावम् ।
सम्यग्दृष्टिर्गुरुकरुणया सर्वभूतेषु याति
स्वात्मारामः स भवति सखे ध्यानमार्गैकनिष्ठः ॥ ९ ॥
स्फुरति परमतत्त्वं तस्य बाह्यान्तरे यत्
सततममलमत्या धारणं निश्चलेन ।
पुनरपि च वदामस्ते प्रकाशोऽयमास्ते
चलनरहितचित्तं केवलं धारणा सा ॥ १० ॥
निजानुभवशीलता निखिलतत्त्वसाम्यश्रुतेः
स्मृतेरपि चलस्थितिस्थिरतया निदिध्यासता ।
सदैकपरिभावनासहजता ह्यनायासनात् ।
समाधिरिति कीर्तिता सततनिर्विकल्पात्मता ॥ ११ ॥
बाह्ये चाभ्यन्तरे ब्रह्म सर्वजन्तुषु भासते ।
तथाऽपि गुरुभक्ताख्या ते न पश्यन्ति तत्पदम् ॥ १२ ॥
अथ शृणु महाश्चर्यं राजयोगाभिधानकम् ।
इमं सद्गुरुणा याति सज्जनो नान्यकर्मभिः ॥ १३ ॥
दुष्कराभ्यासयोगेन महायासेन किं फलम् ।
क्षणेन लभ्यते ब्रह्म सद्गुरोरवलोकनात् ॥ १४ ॥

खण्डज्ञानवतां च षट्समयसंमोहान्धकारात्मनां
नानावेदपुराणशास्त्रकविताबाग्वैखरीशालिनाम् ।
मूढानां चतुराश्रमैकनियमाद्गुर्वात्मकानां कथं
योगज्ञानमिदं भवेद्गुरुमुखाभावेऽपरोक्षात्मकम् ॥१५॥

क्षेत्रार्थरम्यगृहपुत्रकलत्रमित्रै-
वदैर्महारसरसायनधातुवादैः ।
तैः काममन्त्रलययोगहठादिभेदै
र्बद्धात्मनां कथमिहास्ति गुरुप्रसादः ॥ १६ ॥

आदौ वर्णाश्रमाचारगुरौ ब्रह्मज्ञताऽस्ति चेत् ।
भजेत्तमेव यत्नेन नोचेदन्यं गुरुं भजेत् ॥ १७ ॥

आत्मानमद्वंद्वमनन्तमाद्यं निरञ्जनं निश्चलनित्यदीप्तम् ।
सच्चिन्मयानन्दपरामृतं यो वेत्ति स्वभावेन गुरुः स एव ॥ १८ ॥

ज्ञानवैराग्यलाभेन तृणीकृत्य जगत्त्रयम् ।
आदौ सद्गुरुमाश्रित्य तत्त्वज्ञानं समभ्यसेत् ॥ १९ ॥
ज्ञातृत्वमन्तरिक्षं च समानो वायुरेव च ।
श्रोत्रमग्निर्ध्वनिर्वारिवाग्भूः खे तत्त्वपञ्चकम् ॥ २० ॥
मनश्चैव वियद्व्यानो वायुश्चर्म धनंजयः।
स्पर्शोऽम्भश्च क्षमा पाणिर्मरुतस्तत्त्वपञ्चकम् ॥ २१ ॥
नभो बुद्धिरुदानं च मरुद्वार्ग्निरेव च ।
पायू रूपं धरा पादो वह्नेर्यत्तत्त्वपञ्चकम् ॥ २२ ॥
चित्तं विष्णुपदं वायुरपानो रसनानलः ।
रसो जलमुपस्थं भूरपां तत्त्वानि पञ्चकम् ॥२३॥
अहंकारस्तथा प्राणो घ्राणो गन्धो गुदं च हि ।
भूमितत्त्वानि कीर्त्यन्ते पञ्चधा तत्त्ववेदिभिः ॥ २५ ॥
पञ्चविंशतितत्त्वानि पञ्चभूतस्थितानि च ।
तानि यो वेत्ति तत्त्वज्ञः स शिवः स च मुक्तिभाक् ॥
आध्यात्मिकाधिभूताधिदैवतानि यथाक्रमम् ।
दशेन्द्रियेषु विभजञ्जीवान्तःकरणेषु च ॥ २६॥
नाहं भूतगुणेन्द्रियाणि च मनोऽहंचित्तबुद्धिर्वपुः
प्राणाश्चाऽऽश्रमधर्मकर्मनिरतो नैव प्रपञ्चोऽखिलम् ।

नित्यं निश्चलमेकमच्युतमजं शान्तं शिवं निर्गुणं
शुद्धं बुद्धपदं तु यत्तदहमस्मीति स्मरञ्जीवति ॥ २७ ॥
देहत्रये प्रथितषोडशधाविकारान्
लिङ्गानि सप्तदशधा नवधा पदार्थान् ।
आत्मानमष्टविधया प्रकृतेः स्वभावान्
ज्ञात्वा तदन्य इति जीवति यो महात्मा ॥ २८ ॥
सत्यं ज्ञानमनन्तं यद्ब्रह्मेति वदति श्रुतिः ।
मुक्तानन्दस्वरूपं च ननु तत्त्वमिति स्थितः ॥ २९ ॥
नैतदहं नैतदहं चेति च यदन्याद्विभावयाऽऽत्मानम् ।
सोऽहमिति सोऽहमिति ननु भावय सर्वं त्वमात्मानम् ।
हृदि ज्ञानादेव मोक्ष इत्येतद्वाक्यमादरात् ।
गृहीत्वा ज्ञानयोगेऽस्मिन्समाहितमना भव ॥ ३१ ॥
अतः परं तारकं गुह्यं दृष्टप्रत्ययसंयुतम् ।
ममानुभवसंसिद्धं योगं प्राणसखे शृणु ॥ ३२ ॥
मन्त्रेण लययोगेन हठयोगेन सर्वदा ।
यावद्ब्रह्म न जानन्ति तावत्क्लिश्यन्ति पण्डिताः ॥
नेत्रे निर्मीलिते नित्यं किंचिदुन्मीलिते तदा ।
यो मनश्चक्षुषा ब्रह्म पश्यतीति स योगिराट् ॥ ३४ ॥
शशिभास्करयोर्मध्ये तारयो स्थिरतेजसः ।
बिन्दुद्वयं च संयोज्य ब्रह्मतारकमभ्यसेत् ॥ ३५ ॥
बाह्यान्तर्मध्यलक्ष्येषु ब्रह्मदर्शनतत्परः ।
दृष्टादृष्टस्वरूपाणि ननु तानि विलोकय ॥ ३६ ॥
मूलकन्दादण्डलग्नाद्ब्रह्मनाडी शशिप्रभा ।
तस्य मध्ये तडित्कोटिनिभा तामूर्ध्वगामिनीम् ॥३७॥
मनसा लक्षयेन्मूर्तिं सदृशीं बिसतन्तुना ।
आब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तगतां सिद्धिप्रदां स्मरेत् ॥ ३८ ॥
ललाटोर्ध्वे तथा लक्ष्ये योगी गोल्लाटमण्डपे ।
विस्फुरत्तारकाकारं मनसा लक्षयेत्सदा ॥ ३९ ॥
अथवा कर्णयोर्द्वारे तर्जनीभ्यां निरोधयेत् ।
श्रीहट्टमस्तके नादं घुंघुंकारं शृणोति च ॥ ४० ॥
चक्षुर्मध्ये तथा नीलज्योतीरूपं विलोकयेत् ।

अन्तर्लक्ष्यमिति ज्ञेयं बहिर्लक्ष्यमथ शृणु ॥ ४१ ॥
नासाग्रदेशाच्चतुरः षडष्ट तथा दश द्वादश संख्ययाऽङ्गुलिः ।
बहिस्थनीलं च सुधूम्ररक्ततरङ्गपीताद्भुततत्त्वपञ्चकम् ॥ ४२ ॥
अथवा सन्मुखाकाशे स्थिरदृष्ट्या विलोकयेत् ।
ज्योतिर्मयूखा दृश्यन्ते योगिभिर्धीरमानसैः ॥ ४३ ॥
दृष्ट्यग्रे वाऽप्यपाङ्गे वा तप्तकाञ्चनसंनिभाम् ।
भूमिं संलक्षयेद्दृष्टिः स्थिरा भवति योगिनः ॥ ४४ ॥
अथवा शिरसश्चोर्ध्वं द्वादशाङ्गुलसंमिते ।
ज्योतिष्पुञ्जं निराकारं लक्षयेन्मुक्तिदं भवेत् ॥ ४५ ॥
यत्र यत्रार्थवान्योगी तत्र तत्र विलक्षयेत् ।
आकाशमेव यत्तस्य चित्तं भवति तादृशम् ॥ ४६ ॥
इत्येवं विविधाकारं बहिर्लक्ष्यमुदीरितम् ।
शृणुष्व मध्यलक्ष्यं च कथितं पूर्वसूरिभिः ॥ ४७ ॥
श्वेतादिवर्णनवखण्डसुचन्द्रसूर्य-
सौदामिनीवह्निशिखेन बिम्बात् ।
ज्वलन्नभो वा स्थलहीनमेकं
विलक्षयेत्तत्खलु मध्यलक्ष्यम् ॥ ४८ ॥
निराकारं पश्येद्गुणरहितमाकाशमथवा
तमोरूपं गाढं स्फुरदुरुपराकाशमथवा ।
महाकाशं कालानलनिभमथात्यन्तरुचिरं
परं तत्त्वाकाशं रविशतनिभं सूर्यखमिति ॥ ४९ ॥
व्योमपञ्चकमेतद्धि तद्बाह्याभ्यन्तरस्थितम् ।
यः पश्यति नरो लक्ष्ये स व्योमसदृशो भवेत् ॥ ५० ॥
तारणाच्च गुरुशिष्ययोर्द्वयोस्तारकोऽयमिति योगसंज्ञिकः ।
तारकं भवमहाब्धितारकं तत्त्वमेव परिशीलनं कुरु ॥५१॥
फलमेकं द्विधाऽऽचार्या यथार्थं सांख्यतारयोः ।
उपाधिरहितः सांख्यो योगः सोपाधिकः स्वयम् ॥ ५२ ॥
इति श्रीसदाशिवयोगीश्वरविरचितायां शिवयोगदीपिकायां चतुर्थः पटलः ।

---

अथ पञ्चमः पटलः ।

पुनश्चातिरहस्यं यज्ज्योतिषां निलयं महत् ।
दिव्यलिङ्गस्थलं दृष्टमन्तर्लक्ष्यात्मकं शृणु ॥ १ ॥
नान्तस्थलं बहिर्व्याप्तमपरोक्षस्वरूपकम् ।
आकाशाभ्यन्तराकाशमन्तर्लक्ष्यं तदेव हि ॥ २ ॥
लक्ष्यलीनमनसाऽनिलेन यो वर्तते चलिततारको भवेत् ।
खेचरीयमथ सैव शांभवी मुद्रयाऽस्तु कृतया जगद्गुरुः ३॥
लोकेऽन्तःखेचरी मुद्रा अज्ञात्वा बाह्यखेचरीम् ।
अवलम्ब्य रता केचिज्जिह्वाछेदनकर्मणा ॥ ४ ॥
तालुमूलद्वादशान्तमध्यं प्रत्यक्कलात्मकम् ।
यत्तस्मिञ्ज्योतिषि मनो दत्त्वा निजहृदि क्रमात् ॥५॥
दृष्टिस्तु पूर्णिमा ज्ञेयं दृश्यमादौ तमोमयम् ।
तन्मध्ये मनसा पश्येज्ज्योतिर्लिङ्गं सुनिश्चलम् ॥ ६ ॥
नासाग्रदत्तानिमिषोन्मिषबाह्यदृष्ट्या
लक्ष्ये सदाशिवविमर्शकगूढदृष्ट्या ।
ज्योतिःस्वरूपमचलं परिणामहीनं
पश्यन्ति ये त इह संयमिनः कृतार्थाः ॥ ७ ॥
पश्चिमाभिमुखं लिङ्गमभिन्नवलयाकृतिम् ।
त्वं पूर्वाभिमुखो भूत्वा पश्य पश्य महाद्भुतम् ॥ ८ ॥
यदा तज्ज्योतिरोंकारं ब्रह्माच्युतशिवात्मकम् ।
पश्यन्ति सूरयः शान्तं तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ ९ ॥
पूर्णेन्दुबिम्ब इव रत्नमणिदीपिकेव
मध्याह्नसूर्य इव वह्निशिखेव नित्यम् ॥
विद्युत्प्रभेव शिवलिङ्गमहो विचित्रं
लक्ष्यान्तरे ज्वलति पश्यति चक्षुरग्रे ॥ १० ॥
आत्मलिङ्गमिदं पश्य किमन्यैः कर्मविभ्रमैः ।
अहिंसाद्यष्टपुष्पैस्त मानसैरङ्ग पूजय ॥ ११ ॥
पुष्पाण्यहिंसेन्द्रियनिग्रहश्च दयाक्षमाज्ञानसमाह्वयानि ।
ध्यानं तपः सत्यममीभिरेवं प्रपूजयेदात्मनि सिद्धलिङ्गम् ॥ १२ ॥
यो निमीलदनिमीलदम्बको रेचपूरपरिवर्जितानिलः ।
सर्वसंशयविभिन्नमानसो राजयोगपदभाक्स एव हि ॥ १३ ॥

शृङ्गाटके यस्तु मनो नियम्य त्रिकोणगामी शशिभास्कराभ्याम् ।
बाह्यान्तरङ्गप्रवणैकगोभिरष्टावधानी हठराजयोगी ॥ १४ ॥

दृग्दृश्यमानसंबन्धादुन्मन्यन्तं विचिन्तयेत् ।
शिवयोगमिदं गुह्यं जीवन्मुक्तिकरं मुने ॥ १५ ॥

रोचिस्तडिद्धूम्रकबिन्दुनादं कलाभखद्योतरवीन्दुदीप्ताः ।
तत्प्रत्ययानेकसुवर्णवर्णा किञ्जल्कदण्डा नवरत्नमुख्याः ॥ १६ ॥

वक्त्रेणाऽऽपूर्य वायुं हुतवहनिलयेऽपानमाकृष्य धृत्वा
स्वाङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीभिः स्वकरतलयोः षड्भिरेवं निरुध्य ।
श्रोत्रे नेत्रे च नासापुटयुगलमथानेन मार्गेण धीराः
पश्यन्ति प्रत्ययांस्तान्प्रणवबहुविधध्यानसंलीनचित्ताः १७॥

दृष्टिर्वा रविसोमपावकयुता चन्द्रार्कयोरागमे
दीप्तानिश्चलगेहदीपनिकटे वानिर्मतीनामपि ॥
दृश्यन्ते स्फुरिता स्फुटा नयनयोरग्रे च तत्प्रत्यया-
स्तेषां तत्परचेतसां विगलिता तद्व्यावृतीनां मुने ॥ १८ ॥

प्रमाणप्रत्ययातीतं शान्तं तेजोमयात्मकम् ।
तदतीतं परब्रह्म चेति विद्वद्भिरीरितम् ॥ १९ ॥

भावयोगमसंकल्पविकल्पास्पदमद्भुतम् ।
संप्राप्तो यस्तस्य भवेदवस्था चोन्मनी हि सा ॥ २० ॥

आधारमध्यहृद्व्याप्तं नादबिन्दुकलात्मकम् ।
तदतीतं स्वरूपं यत्तदेव परमं पदम् ॥ २१ ॥

यः समेति मनसा निराश्रयं निरवलम्बपदतत्त्वमव्ययम् ।
भावनाविरहितं निरामयं परशिवो हृदि स तन्मयो भवेत् ॥ २२ ॥

अणुमात्रं यदि भवेदास्तित्वं विदुषां भुवि ।
तदेव बन्धहेतुः स्याद्भावाभावावुभौ त्यजेत् ॥ २३ ॥

ज्ञानज्ञेयौ ध्यानध्येयौ लक्ष्यालक्ष्ये भवाभवौ ।
ऊहापोहौ यो दृग्दृश्ये सर्वं त्यक्त्वा जीवन्मुक्तः ॥ २४ ॥

सर्वास्ववस्थास्वकृतप्रयत्नो निश्चिन्तभावो मृतवत्स तिष्ठन् ।
कल्लोलहीनाम्बुधिवन्निवातप्रदीपवत्तत्त्वमयः सुखी स्यात् ॥२५॥

शृणु चिच्छिवपूजायाः प्रकारं कथयाम्यहम् ।
रहस्यं सर्वशास्त्रार्थसारं सद्यो विमुक्तिदम् ॥ २६ ॥

निश्चिन्तैव शिवध्यानं निष्क्रिया तस्य पूजनम् ।
प्रदक्षिणं निश्चलत्वं सोऽहंभावो नमस्क्रिया ॥ २७ ॥
मौनं संकीर्तनं तस्य जपस्तु परिपूर्णता ।
कृत्याकृत्यज्ञता शीलं निर्वाणं समदर्शनम् ॥ २८ ॥
सर्वेन्द्रियगुणरहिता रूपातीता निरञ्जना शान्ता ।
भावाभावविदूरा सहजावस्थेति सा कथिता ॥ २९ ॥
जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिश्च तुरीयं च तथैव च ।
तुर्यातीतं च सहजं न किंचिच्चिन्तयेत्ततः ॥ ३० ॥
विहाय कर्माण्यघसंयुतानि गृह्णाति कर्माणि शुभान्वितानि ।
स्वर्गोन्मुखो यः पुरुषः प्रवृत्तो नैवाधिकारी स तु जागरेऽपि ॥ ३१ ॥
अलमलमखिलसुखैकपदश्चेति कदाचिन्निवृत्तमनो यः ।
स तु जाग्रदवस्थायां तिष्ठन्मोक्षोन्मुखो भवति ॥ ३२ ॥
संसारोत्तरणं ममास्ति कथमित्याचार्यसंसेवनं
विद्वत्संगमकामविस्मृतिसदाचारैः समं मौनताम् ।
वैराग्यश्रुतिशास्त्रनिश्चयधिया कामाद्यरिध्वंसनं
योगाभ्यासमुपैति दम्भरहितं जाग्रत्स्वभावान्वितः ॥ ३३ ॥
मृतो जाग्रदवस्थासु यदि चेदन्यजन्मनि ।
स्वप्नावस्थां गतो याति पूर्वाभ्यासवशाद्भुवि ॥ ३४ ॥
स्वप्ने यदखिलं लोकं पश्यञ्शरदभ्ररूप इव चित्ते ।
तिष्ठन्सत्तामात्रः स्वप्नावस्थान्वितश्चरति ॥ ३५ ॥
गते द्वैतभावे स्थिते शान्तिशेषे प्रकाशस्वभावे चिदानन्दभानौ ।
बहिर्वृत्तियुक्तोऽप्यहो हृत्प्रवृत्तः सुषुप्तिस्थितश्चित्रवद्भाति योगी ॥
अनमृतोऽप्यमृतक्षयमानसो विदितशान्ततनुर्निरहंकृतिः ।
गलितगन्धगुणः स तुर्यभाग्वहति जीवति मुक्तिमभावनः ॥ ३७ ॥
संपूर्णकुम्भ इव वारिनिधानमध्ये
संशून्यकुम्भ इव विष्णुपदान्तराले ॥
अन्तर्बहिः प्रथितपूर्णसुशून्यभावः
सचित्रदीप इव भाति तुरीययुक्तः ॥ ३८ ॥
केश्चिद्ब्रह्मेति केश्चिद्धरिरिति शिव इत्यादि केश्चिद्रस नाना—
भेदैः प्रोक्तं सशून्यप्रकृतिपुरुषकालार्थरूपीति केश्चित् ।

कैश्चिल्लोकैर्विकल्पात्मकबहुवचनैर्देहयुक्तोऽपि नित्यं
मुक्तः स्याद्यस्तुरीयातीतसमाख्यामवस्थां समेत्य ॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन क्रमादभ्यासयोगतः ।
तुर्यातीतां तामवस्थां समासाद्य सुखी भव ॥ ४० ॥
सर्वावस्थां गतो वाऽपि सर्वावस्थां न संस्मर ।
त्यज सङ्गमशेषं च मनोऽन्तर्बहिरन्वितम् ॥ ४१ ॥
निवर्तयान्यकर्माणि शिवयोगं प्रवर्तय ।
सहजाममनस्कान्तां मुद्रां सच्चिन्मयीं भज ॥ ४२ ॥
आत्मानं गगनं कृत्वा बिन्दुं कृत्वा तथैव च ।
द्वयं समरसं कुर्यादमनस्ककला हि सा ॥ ४३ ॥
स्वप्नजागरणातीतं मृतजीवनवर्जितम् ।
स्वामिञ्शिवामनस्काख्यं गमिष्यामः कदा वयम् ॥ ४४ ॥
सचराचरजगदखिलं यत्किंचिदिदं भवेन्मनोदृश्यम् ।
मनसोऽप्युन्मानितां याति स तत्त्वं कथं न भवेत् ॥ ४५ ॥
अथवा यत्र मनः संयाति हि तत्रैव तन्मनः स्थाप्य ।
तत्कारणाल्लयः स्याद्वृद्धिः स्याद्वार्यमाणं तु ॥ ४६ ॥
यथेच्छया मनो गच्छेत्स्वयमेव निवर्तते ।
निरङ्कुशेन विधिना करटीव मदोत्कटः ॥ ४७ ॥
नाद एव लयश्रेष्ठो मुद्राणां खेचरी वरा ।
योगश्रेष्ठो निरालम्बो ह्यवस्थासु मनोन्मनी ॥ ४८ ॥
राजयोगस्य मुद्रां तामेत्य योगी मनोन्मनीम् ।
विचरत्यखिलाँल्लोकान्बालोन्मत्तपिशाचवत् ॥ ४९ ॥
जीवन्मुक्तिप्रकारस्य योग एव न चान्यथा ।
स एव सिद्धिदः सम्यक्सर्वदर्शनसंमतः ॥ ५० ॥
मन्त्रलयावारम्भकघटसंज्ञौ परिचयो हठः स्यात् ।
समनिष्पत्तिरमृत एव महान्राजयोगस्तु ॥ ५१ ॥
तस्मात्संसेव्य एवंविध इह यमिना श्रेयसे योगमार्गो
ह्यालस्यं धूर्तसङ्गं स्वजनकुपितशास्त्रान्धकारोरुरोगान् ।
जित्वा मन्वन्तरायान्पुनरपि च महायोगजैश्वर्यसिद्धि-
स्त्यक्त्वा स्थित्वा सुदेशे सुजनपरिवृतेऽबाधिते धर्मराज्ये ॥ ५२ ॥

तापत्रयं नवविधं व्यवहारभावाः
षट्कौशिकानि षडमित्रकपञ्चकोशा ।
षड्भावजा विकृतयश्च षडूर्मयश्च
निष्पन्नयोगमहतां भुवि न स्युरेव ॥ ५३ ॥

महादीप्तवह्निर्दहेच्छुष्कमात्रं यथा पुण्यपापात्मकं सर्वकर्म ।
तथा निर्दहेत्क्षणाज्ज्ञानवह्निस्ततो मुक्तिमायाति निष्पन्नयोगी ।५४॥

अत्यल्पदीपः सुमहत्तमस्तु विनाशयेद्यो निबिडं हठाद्यथा ।
अल्पोऽप्यहो योगसमाधिरेष विनाशयेत्कर्म शुभाशुभं तथा ॥५५॥

यो यो योगसमुद्यतोऽवनितले यात्यन्तिकामापदं
स्वर्लोकान्समुपेत्य शाश्वतसुखं तत्रानुभूय स्वयम् ।
संजायेत ततः सतां श्रुतिमतां यस्मिन्कुले योगिनां
तुष्टिं प्राप्य निवर्तयेदविभवं योगी शिवाख्यं परम् ॥ ५६ ॥

ब्रह्मणि परे हृदयमपि यस्य लीनं
तस्य मातापितराविह परत्र चरितार्थौ ।
तस्य कुलजाः स्युरनघा जयन्ति सर्वे
तस्य पदसंघटितभूरतिपवित्रा ॥ ५७ ॥

योगशास्त्रे रहस्यानि सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः ।
संक्षेपेण कृता बोध्या शिवयोगप्रदीपिका ॥ ५८ ॥

अभ्यासशूराय जितेन्द्रियाय शिवे गुरौ भक्तिसुनिश्चलाय ।
देयं रहस्यं शिवयोगशास्त्रं यो मूढदाता गुरुपातकी स्यात् ॥ ५९ ॥

पुरबाणानजसायकान्समुद्रकृतून्करेषूंस्तथा
निधिबाणांश्च पञ्च पञ्चधा पटलिकास्त्वेवं शिवाङ्कं मया ॥
परमित्यादिकशब्दजालविविधच्छन्दोभिरेतत्कृतं
गिरिनागाम्बकसंख्ययाऽपि सकलं वन्यैश्च योगान्बहून् ॥ ६० ॥

| | |
|---|---|
| पुरबाणान् ५३ | अजसायकान् ५९ |
| समुद्रकृतून् ६७ | करेषून् ५२ |
| निधिबाणान् ५३ | गिरिनागाम्बक २८७ |

इति श्रीसदाशिवयोगीश्वरविरचितायां शिवयोगदीपिकायां योगशास्त्रे राजयोगप्रकारेऽमनस्कविधानो नाम पञ्चमः पटलः ।

समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

---

# सदाशिवब्रह्मेन्द्रपञ्चरत्नम् ।

यत्संदर्शनमात्राद्भक्तिर्जाताऽप्यकर्णविद्धस्य ।
तत्संदर्शनमधुना कृत्वा नूनं कृतार्थोऽस्मि ॥ १ ॥
योऽनिशमात्मन्येव ह्यात्मानं संदधन्वीथ्याम् ।
भस्मच्छन्नानल इव जडाकृतिश्चरति तं नौमि ॥ २ ॥
यस्य विलोकनमात्राच्चेतसि संजायते शीघ्रम् ।
वैराग्यमचलमखिलेष्वपि विषयेषु प्रणौमि तं यमिनम् ॥ ३ ॥
पुरतो भवतु कृपाब्धिः पुरवैरिनिविष्टमानसः सोऽयम् ।
परमशिवेन्द्रकराम्बुजसंजातो यः सदाशिवेन्द्रो मे ॥ ४ ॥
उन्मत्तवत्संचरतीह शिष्यस्तवेति लोकस्य वचांसि शृण्वन् ।
खिद्यन्नुवाचास्य गुरुः पुराऽहो ह्युन्मत्तता मे न हि तादृशीति ॥५॥
पञ्चकमेतद्भक्त्या श्लोकानां विरचितं लोके ।
यः पठति सोऽपि गच्छेत्करुणां शीघ्रं सदाशिवेन्द्रस्य ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यवर्यश्रीसच्चिदानन्दशिवाभिनवनृसिंहभारती-
स्वामिविरचितं श्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रपञ्चरत्नं संपूर्णम् ।

ॐ

# पातञ्जलीययोगचिकित्सापद्धतिः

## (PĀTAÑJLĪYA YOGACIKITSĀPADDHATIḤ)

**THESIS SUBMITTED TO THE MANGALORE UNIVERSITY**
**FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF**

# DOCTOR OF PHILOSOPHY

**IN SANSKRIT**

*by*


**K. KRISHNA SHARMA** *M.A.,*
*P.G.Dip. in Yoga Therapy*
Lecturer
Department of Human Conciousness and Yogic Sciences
Mangalore University
Mangalagangotri - 574 199


*Under the Guidance of*


**Dr. K. Narayana Bhat**
*Acharya, M.A., Ph.D., Shastra Praudhi.*


2004
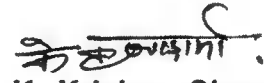
# DECLARATION

*I hereby declare that this thesis entitled* PĀTAÑJALĪYA YOGACIKITSĀ PADDHATIḤ *submitted to Mangalore University by me is the result of an investigation carried out by me under the guidance of Dr. K. Narayana Bhat, Acharya, M.A.,Ph.D., Shastra Praudhi, Director/Principal, Sanskrit P.G. Studies and Research Centre, S.D.P.T. First Grade College, Kateel (D.K.)*

*I also declare that this thesis or any part thereof has not been submitted before to this University or to any other University for the award of any degree.*

Mangalagangotri

Date : 8.3.2004.

**K. Krishna Sharma**

Lecturer in Yogic Science

Department of Human Consciousness and Yogic Sciences

Mangalore University, Mangalagangotri.

**Dr. K. Narayana Bhat**
*Acharya, M.A., Ph.D., Shastra Praudhi* Director/Principal
Sanskrit P.G. Studies and Research Centre
S.D.P.T. First Grade College, Kateel (D.K.)

## CERTIFICATE

*I hereby certify that this thesis entitled PĀTAÑJALĪYA YOGACIKITSĀPADDHATIḤ submitted to Mangalore University by K. Krishna Sharma, Lecturer in Yogic Science, Department of Human Consciousness and Yogic Sciences, Mangalore University, Mangala gangotri, for the award of the degree of* **Doctor of Philosophy** *in Sanskrit is the product of bonafide Research carried out by him under my guidance, and that it is worthy of consideration for the award of the degree of Doctor of Philosophy in Sanskrit/Yoga.*

*I further certify that this thesis or part thereof has not previously formed the basis for the award of any degree, diploma, associateship, fellowship of any other university or institute.*

Date : 5-3-91

Dr. Narayana Bhat K.
Acharya, M.A., Ph.d
Shastrapraudhi
**Research Guide**

(Dr. K. Narayana Bhat)
Principal
SRI DURGA CENTRE FOR POST GRADUATE STUDIES AND RESEARCH IN SANSKRIT
KATEEL - 574 148, (D.K.)

# कृतज्ञतासमर्पणम्

'पातञ्जलीय योगचिकित्सापद्धतिः' इत्यभिधानाख्यः प्रबन्धस्य लेखने सर्वरीत्या उत्तेजनं मार्गदर्शनं तथा अस्मिन् शोधकार्ये परिपूर्ण मार्गदर्शनं दत्तवद्भ्यः पूजनीयाश्च डा. के. नारायणभट्टमहोदयेभ्यः हार्दिकं कार्तज्ञतां समर्पयामि ।

एवं योगविषये अध्ययनं कर्तुं तथा योगविषय प्रवेशाय कारणीभूतः योगविद्या गुरुभ्यः डा. के. कृष्णभट्ट महोदयेभ्यः अस्मिन्नवसरे प्रणमामि । तथा अन्ये योगाध्यापकेभ्यः एवं पाठितवन्तः तेभ्योऽपि सादरं वन्दे ।

अल्पकालेन अस्य प्रबन्धस्य मुद्रणे उपकृतभ्यः डा. के. पद्मनाभ केकुण्णाय महोदयेभ्यः तथा तस्य सहोद्योगिनाश्च कृतज्ञतां समर्पयामि ।

अस्मिन् कर्मणि यदा यदा काठिन्यं अनुभूतं तदा तदा याचितरूपेण सर्वविधेन सहकृतवद्भ्यः डा. एच्. आर्. लक्ष्मीनारायणभट्टमहोदयेभ्यः धन्यवादान् व्याहरामि ।

भावचित्रान् समीचीनतया स्वीकृत्य सहकृतवद्भ्यः अभय महोदयेभ्यः सादरं वन्दे ।

पुस्तकरूपेण अन्तिमाकारं दत्वा समये सहकृतवद्भ्यः गायत्री प्रिण्टिङ्ग् प्रेस् स्वामी श्री एम्. नागराज महोदयेभ्यः धन्यवादाः ।

तथैव अन्यान्यस्तरेषु सहकृतवद्भ्यः सर्वेभ्यो अस्मिन्नवसरे सन्तोषपूर्वकं कृतज्ञतां व्याहरामि ।

अस्मिन् कर्मणि सर्वदा सहकृतायै मम धर्मपत्नी श्रीमती रजनी च अस्मिन् सुसन्दर्भे कृतज्ञतार्हा भवति ।

मातापितरौ गुरूंश्च प्रणम्य विरमामि ॥

दिनाङ्कः : ०३-०३-२००४

के. कृष्णशर्मा

# विषयानुक्रमणिका

* * *

*

**DEDICATED**

TO MY BELOVED

PARENTS AND GURUJIS

WHO SACRIFICED THEIR YESTERDAYS

FOR MY BETTER TOMORROW

*

# प्रस्तावना

**यस्त्यक्त्वा रूपमाद्यं प्रभवति जगतोऽनेकधानुग्रहाय**
**प्रक्षीण क्लेशशशिर्विषमविषधरोऽनेककत्रः सुभोगी ।**
**सर्वज्ञानप्रसूतिर्भुजगपरिकरः प्रीतये यस्यनित्यं**
**देवोऽहीशः स वो व्यात् सितविमलतनुर्योगदोयोगयुक्तः ॥**

**योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।**
**योपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥**

*एवं गुरूपारम्पर्यानुक्रमेण परम्परागतविदधायाः गुरून् नमस्कृत्य ''पातञ्जलीय योगचिकित्सापद्धतिः'' इत्यभिधानाख्यः महाप्रबन्धस्य प्रस्तावना प्रस्तूयते ।*

*भारतदेशे भारतीयसम्प्रदायानुसारेण मानवजन्म ः मोक्षप्राप्त्यर्थं अन्यन्तश्रेष्ठतमम् इति पूर्वजैः उदीरितम् । तदर्थं धर्म , अर्थ , कामान् परस्परमनतिक्रम्य जीवने अनुभोक्तव्यम् । तत्र धर्माचरणमेव मुख्यतमम् । धर्माधर्म विचारान् अनेकानि शास्त्राणि प्रतिपादितानि । परन्तु मोक्षविधायकानि काचनानि एव । तत्रापि भारतीय साम्प्रदायिकविद्वांसैः अङ्गीकृतानि मोक्षविषयकशास्त्राणि दर्शनानि इति कथ्यन्ते । तानि मुख्यतया षट्सङ्ख्याकानि । यथा साङ्ख्ययोगौ , न्यायवैशेषिकौ , पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा चेति । एवं योगशास्त्रमपि दर्शनशास्त्रेषु अन्यतमत्वमाप्नोति ।*

*तथापि अन्यदर्शनापेक्षया सुलभसाधनेन अत्र साधनविषये सौलभ्यमस्ति परमपुरुषार्थं प्राप्तुमर्हन्तीति इत्येकमेव कारणेन सार्वकालिकया सर्वत्रापि योगाभ्यासे जनाः प्रयत्नं कुर्वन्ति । परन्तु साम्प्रतं समाजे सर्वे योगशास्त्ररीत्या अभ्यासं न कुर्वन्तः दृश्यते । तथापि ऐहिक जीवनसाफल्यं*

*अनुभोक्तुं शक्नुवन्ति । तत् कथमित्युक्ते तदेव योगशास्त्रस्य वैशीष्ट्यम् । ''शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'' इति कालिदासवचनानुसारेण शरीरस्य दृढतां सम्पाद्य मोक्षप्रतिबन्धकान् दूरीकर्तुम् अन्ते कैवल्यप्राप्त्यर्थं च इदं शास्त्रं प्रवृत्तम् इत्येव शास्त्रस्य वैशिष्ट्यं शास्त्रस्यावान्तरविषयश्च भवति । अत्र प्रारम्भिकस्तरे विद्यामन विषयान् स्वीकृत्य कथं मानवः स्वस्थतां प्राप्तुं शक्नोति इति विचिन्त्य तत् हेतुभूतः रोगनिवारणोपायः साध्यम् इति पातञ्जलयोगसूत्रे, हठयोगप्रदीपिकायां, घेरण्डसंहितादि ग्रन्थेषु विवेचितम् । तथापि चिकित्साप्रधानतया न तत्रविवेचितत्वात् जनाः तत् प्रयोजनेनवञ्चित्ताः भवन्तीति मत्वा तदनुसृत्य ''पातञ्जलीय योगचिकित्सापद्धतिः'' नामकमिदं महाप्रबन्धं प्रस्तुतमस्ति । अस्मिन् महाप्रबन्धे ये विषयाः क्रोडीकृताः सञ्जीकृताश्च सन्ति तेषां सङ्क्षेपेणेनैव बोधनार्थं तानत्रपरियाप्यन्ते । अस्य प्रबन्धस्य विभागः मुख्यतया चतुर्ष विभागेषु विभक्तं वर्तते । मुख्यतया चतुर्षु विभागेषु विभक्तं वर्तते । तथापि विषयविशदीकरणार्थं तत्र उपविभागाः अपि कल्पिताः सन्ति । यथा-*

**प्रथमः भागः शास्त्रपरिचयः ।**
**द्वितीय भागः योगाभ्यासक्रमः ।**
**तृतीयः भागः योगचिकित्सापद्धतिः ।**
**चतुर्थः भागः उपसंहारः ।।**

*एवं रीत्या विद्यमान अस्य प्रबन्धस्य उपयोगस्तावत् अधुनातनकाले अत्यावश्यकं वर्तते । अधुना प्रतिहतं ७५ रोगा एव भवन्ति । तेषां उपशमनार्थं तथा दूरीकरणार्थं उभयत्रापि रोगस्य शमनं आवश्यकं वर्तते । तस्मात् आङ्ग्लभाषायां यथा उक्तम्-* **Sound Mind in sound body** *अथवा कालिदाससूक्त्यनुसारेण शरीर तथा मनसः मेलनं ततोऽपि अधिकरूपेण आरोग्यपालनं चआवश्यकं वर्तते।एतदर्थं योगाभ्यासमेव उत्तमतरम् वर्तते।आरोग्य सम्पादनद्वारेण*

*अन्यान्य साधनादयः इत्येव पूर्वजै प्रतिपादितम् । तथैव पतञ्जलिरिप योगसूत्रे उक्तवान् चित्तविक्षेपादेव सर्वाण्यपि सम्भवन्ति इति । यथा-*

*व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरति भ्रान्ति दर्शनालब्धभूमिकत्वानावस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः । तथा दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासाः विक्ष सहभुवः इत्युक्तत्वात् एतेषां कारणं चित्तविक्षेपः परन्तु शरीरे दृश्यन्ते इति । तत् परिहारार्थं तथा स्वास्थ्य प्राप्तिपूर्वकं ज्ञानप्राप्त्यर्थम् इदं प्रवृत्तम् । तस्मादेव तदाधारेण पातञ्जलीय ग्रन्थाधारेण चिकित्सा अपि कर्तु शक्यते इति अवगम्य इदं कार्यं कृतोऽसि तेन साधारणजनाः अपि बहूपयोगं प्राप्नुवन्ति , उत्तमाः भवितुं शक्यते इत्येव विशेष प्रयोजनाश्च । तस्मात् हंसक्षीरन्यायेन विद्वांसाः अस्य प्रबन्धस्य विवेचनं कुर्युः इत्युक्त्वा सर्वेभ्यो प्रणम्य विरमामि ।*

**सहनाववतु । सहनौ भुनक्तु । सहवीर्यं करवावहै ।**
**तेजस्विनावधीतमस्तु । मा विद्विषावहै ।**
**ॐ शान्तिः शान्तिः शान्ति ।।**

# प्रथमः भागः

श्रीगणेशायनमः

# पातञ्जलीय योगचिकित्सापद्धतिः

## 1. 1. योगदर्शनविचारः

घटित वाक्यार्थज्ञानं प्रति घटतपदार्थज्ञानस्य कारणत्वं प्राचीनैः तत्र तत्र उक्तवान् सांप्रतं पातञ्जलीययोगचिकित्सापद्धतिः इति शीर्षक पङ्क्तौ घटकतया वर्तमानस्य पातञ्जलीय पदस्य तत् पदार्थस्य च विवेचनं क्रियेत । पतञ्जलशब्दस्य अण् प्रत्यययोगे णित्वात् आदिवृद्धिः । तदा पातञ्जल इति रूपः भवति । पतञ्जलि ऋषिना प्रोक्तं इत्यर्थः अण् प्रत्ययेन सूच्यते । तत्सम्बन्धित्वार्थस्य सूचकत्वेन पातञ्जलशब्दस्य ख प्रत्ययस्य योगे पातञ्जलीय इति शब्दः सिद्ध्यति। तेन साम्प्रतस्य विषयस्य सूचकत्वं अस्य शब्दस्य। तथा च पतञ्जलिप्रोक्त योगसम्बन्धी चिकित्सा पातञ्जलीययोगचिकित्साशब्देन सूच्यते ।

महर्षिः पतञ्जलिः योगदर्शनस्य सूत्रकारः प्रवर्तकश्च इति लोके प्रसिद्धः । पतन् अञ्जलिः इति व्यत्पत्या अस्य हेतुभूतस्य आख्यानस्य प्रतिपादनस्य कर्तव्यत्वात् तदत्र क्रियेत । रामभद्रदीक्षितो नाम कविः पतञ्जलिचरितम् नाम काव्यं अरचयन्। तत्र अष्टमसर्गे सः पतञ्जलेः चरितम् उक्तवान् इति ज्ञायते। तत्र पतञ्जलेः जन्म एवं विवृतमस्ति। यथा- शेषशायी महाविष्णुः योगनिद्रायां चिदम्बरक्षेत्रे शिवस्य नृत्यं दृष्ट्वा आनन्दतुन्दिलः अभवन् । आदिशेषः विषयममुं ज्ञात्वा तस्यापि शिवस्य नाट्यदर्शनेच्छां प्रकटितवान्। तदानीं महाविष्णुः एवं आदिष्टवान्। त्वं भूलोके अवतरणं कृत्वा पाणिनेः व्याकरणसूत्रान् अवगमनार्थं भाष्यं तथा वार्तिकञ्च कुरु इति। तदानीं चिदम्बरक्षेत्रे शिवनर्तनस्य दर्शनस्य अवकाशः अपि तत्र तव लभ्यते इत्येतत् तव शिवाज्ञा इति । तथैव गोवार्द देशे गोणिका नाम तपस्विनी अर्घ्यप्रदान समये तस्याः अञ्जलिपुटे आगतः इत्यस्मात् कारणात् सा तं पतञ्जली (पतन्+अञ्जलिः) इति नामाङ्कितवतो ।

पातञ्जलेः कालविषये आधुनिकानां तथा प्राचीनानां मते चर्चा अस्ति । परन्तु भारतीय समप्रदायानुसारेण क्रि. पू. द्वितीयशतकम् इति निश्चितम् । आधुनिकानां मते तस्य जीवनकालः क्रि.श. ३००-४०० आसीदिति । परन्तु अद्यावधि पतञ्जलि विषये तस्य कालः, स्थान साधन सिद्धयाश्च तथा तस्य कृति विषयेऽपि इदमित्थं इति न लभ्यते । एवं विद्यमानेऽपि शिवरामकृष्णः इति कश्चन कविः एवं उक्तवान् । यथा-

**योगेन चित्तस्य पदेनवाचां**
**मलं शरीरस्य च वैद्यकेन ।**
**योपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां**
**पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।।** इति ।

अत्र ज्ञातुं शक्यते यत् एक एव पतञ्जलिः यत् योगशास्त्रस्य व्याकरणस्य तथा वैद्यशास्त्रस्य प्रवक्ता इति । सः श्रेष्ठः मुनिः च आसीदिति । परन्तु सर्वैः विद्वांसः मतमिदम् न अङ्गीकुर्वन्ति । तत् समस्या अधुना न शक्यं परिहर्तुम् ।

## 1. 2. दर्शनानां विवेचनम् :-

वेदोदितार्थस्य मोक्षस्य परमपुरुषार्थस्य मोक्षस्य स्फुटप्रदर्शनं कुर्वन्ति भारतीय आस्तिक दर्शनानि । भारतीय दार्शनिक क्षेत्रे वर्तमानानि चार्वाकादारभ्य वेदान्तपर्यन्तानि दर्शनानि आस्तिकनास्तिकभेदेन द्वैविधानि भवति । तत्र चार्वाकः, जैनः, वैभाषिकः, सौत्रान्तिकः, विज्ञानवादिनः, माध्यमिकबौद्धाः इत्येते षड् नास्तिकाः भवन्ति । अतः एषु नाम्नः प्रवर्तमानानि नास्तिकदर्शनानि भवन्ति । नास्तिकशब्दस्य व्युत्पत्त्यवसरे ''अस्तिन नास्ति दिष्टं मतिः'' इति पाणिनिना सूत्रितम् । अतः नास्ति परलोकं इति ये मन्यन्ते नास्तिका इत्यर्थः समायाति । एवं रीत्या विचार्यमाणे सति ये खलु जैनाः, चतुर्विधाः बौद्धा अपि मरणान्तरं स्वकर्मानुभवयोग्यः अपरः लोक अस्ति इति स्व स्व युक्त्या विभिन्नरूपेण स्वीकुर्वन्ति । चार्वाकस्तु ''भस्मीभूतस्य

देहस्य पुनरागमनं कुतः'' इत्युक्त्या मरणानन्तरं लोकं नाङ्गीकरोति। अतः पाणिनिमताभिप्रायेण सः चार्वाकः एक एव नास्तिकः भवति । तथापि जैनप्रभृति माध्यमिक पर्यन्ताः आगमप्रमाणं वेदप्रमाणं इति वा नाङ्गीकुर्वन्ति। तेन तेषां दर्शनानि वेदार्थपरिदर्शन सहकारिणि अथवा वेदप्रमाण उपोद्बलितानि न भवन्ति इत्यर्थः। अतः वेदप्रमाण अभ्युपगन्तृत्वाभावात् वेदविरोधित्वाच्च नास्तिका इति एते व्यवहृताः लोके। अपि च ''वेदप्रमाणमनभ्यपगन्तृत्वं'' नास्तिकस्य लक्षणम्। क्वचिदत्र यौगिकार्थः, क्वचिदत्र योगरूढार्थः अन्यत्र तात्पर्यार्थस्य च ग्रहणं लोके तावत् सन्दर्भे तत्र तत्र तया तथा पूर्वाचार्यैः विद्वद्भिः कृतं परिदृश्येत। अतः अत्रापि पाणिनिदर्शनमनुसृत्य नास्तिकशब्दस्य यौगिकार्थं विहाय तात्पर्यार्थवत् वेदप्रमाणलक्षणं स्वीकुर्यः । तथा च चार्वाकप्रभृतयः एते षट् दार्शनिकः नास्तिकाः भवन्ति । तद्दर्शनानि अपि नास्तिक दर्शनानि । अलं विस्तरेण ।

प्राचीनैः ऋषिभिः वेदस्य संरक्षणं द्विधा कृतम् । प्रथमस्तावत् शिक्षादि षडङ्गाध्ययनेन पदक्रमादि वेदविकृति अध्ययनविधानेन च । द्वितीयस्तु वेदार्थस्य परिदर्शनं तदनुष्ठानं वेदार्थ तत्वस्य च परिरक्षणं चेति । वेदार्थ तत्वस्य विचाराः वेदार्थमीमांसा एव । अत एव धर्मजिज्ञासा शब्दस्य धर्मविषयक विचारः ब्रह्मजिज्ञासा शब्दस्य पूजितविचार इति भाष्यकृतो दृश्यते । एवं च पूर्वोत्तरमीमांसा दर्शनं साक्षात् वेदार्थतत्वविचारिणी इति विचारके भवतः। अपि च वेदार्थतत्वानां विचार्य परिदृश्यमान जगदुत्पत्तिः तथा च जगत् उपसंहारः कथं केषु केन विधानेन भवति इति विचारणं कृतं सांख्ययोगे । एतेन पञ्चविंशति, षड्विंशति तत्वभेदेन दर्शने प्रसिद्धौ लके । एतानि चतुर्विधानि दर्शनानि वेदं अपौरुषेयमिति अङ्गीकृतानि । वेदप्रमाणमङ्गीकृत्यापि वैज्ञानिक युक्तिं अङ्गीकृत्य जगदुत्पत्तिप्रलयौ वेदप्रतिपादिततत्वानि च सूक्ष्मेक्षिकया परिदृश्यन् परमाणुवादं अङ्गीकृत्य परमाणून् नित्यान् इति मन्वानौ न्यायवैशेषिकौ आस्तिकदर्शनेषु अन्यतमौ । प्रत्यक्षं अनुमानामिति प्रमाणद्वयमङ्गीकृत्य स्वतो व्याकर्तकत्वेन परमाणुषु विशेषपदार्थं स्वीकुर्वन् वैशेषिक

इति ख्यातिगतः लोके । अपि च द्रव्यादि सप्तपदार्थान् प्रत्यक्षं अनुमानं उपमानं शब्दं चेति चतुर्विध प्रमाणेन विचार्य ईश्वरोक्तवान् वेदं प्रमाणं इति अङ्गीकुर्वन् नैयायिकः न्यायदर्शन पथानुसारी भवति । एवं च वेदप्रमाणं अभ्युपगन्तृत्वात्मकं आस्तिक्यं अवाप्य वेद अपौरुषेय इति मन्वानाः मीमांसकाः वेदान्तिनः सांख्याः योगिनश्च भवन्ति । नैयायिक वैशेषिकौ तु आस्तिकौ तथापि वेदः सर्वज्ञेन ईश्वरेण उक्तः इति वेदं ईश्वरोक्तं अङ्गीकृत्य तत् पौरुषेयत्वेन अङ्गीकुर्वाणौ इति एतेषु अपौरुषेय पौरुषेयेति द्विविधौ प्रसिद्धौ । एवं च पूर्वमीमांसा उत्तरमीमांसा, सांख्य योगः, न्याय वैशेषिकेति षट् आस्तिकदर्शनानि इति सम्पीडितोऽर्थः ।

### 1. 3. वैदिकसाहित्यं तथा योगदर्शनम् :-

भारतीय वैदिकवाङ्मयः अपौरुषेय वेदराशि इति लोके प्रसिद्धम् । अतः अधुनातनस्य सर्वे विचाराः तत एव प्रादुर्भवन्तीति वेदवाङ्मये अस्य विषयस्य अवलोकनं आद्य कर्तव्यं भवति । तद्विचारे ''योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे '' (ऋ. १/३०/७)

**कदा योगो वाजिनो रासभस्य ।** – (१/३४/९)

**पाहि क्षेम उत योगो वारं नः ।** – (ऋ)

इत्येतेषु ऋक्षु योगशब्दः प्रयुक्ताः दृश्यन्ते । तत्र प्रथमे मन्त्रे योगशब्दः संयोगार्थकः दृश्यते । यतो हि वयं व्यवन्तं सर्वकार्यारम्भे तथा युद्धकाले आवाहयामः इति भाष्यपङ्क्तेः वर्तमानत्वात् । द्वितीयमन्त्रे योगशब्दः संयोगार्थकत्वेन प्रयुक्तः । भाष्यस्तावत्- वयं सम्बद्धमाणं वाचिनः दर्शनं कर्तुं अशक्नुम इति । अत्र दर्शनं कर्तुं अशक्नुमः इत्यस्य अर्थः क्वचिदेव दर्शनं भवति इति तद्दर्शनस्य प्रतिपादनं अत्र तात्पर्यार्थः । एवं च एकास्मिन् वाजिनः अपरत्र रासभस्य संयोजनं कृत्वा तत्संयुक्त शकटे मृत्तिकां आनयन् यज्ञकार्यदर्शनं कदा लभ्येत इति मन्त्रस्य तात्पर्यार्थः । अनेन एतदुक्तं भवति यत् यत्र योगशब्दः संयोगार्थ इति ।

तृतीयमन्त्रस्य भाष्यपङ्क्तिस्तु अस्मान् रक्ष तथा अग्रे च वृद्धिं कुरु। एतावत् पर्यन्तं ऐश्वर्यरक्षणं कुरु । तथा अग्रे सम्पदभिवृद्धिं च कुरु इति । अस्याः पङ्क्तेः परामर्शनेन अयमर्थप्रतियते यत् योगशब्दः संयोगार्थकः इति । यतोऽहि क्षेमयोगे नः पाहि इति मन्त्रे अन्वयः भवति ।

(एवं च) वेदार्थः दुरूहत्वात् वेदार्थस्य संरक्षणार्थं वेदार्थस्य विशदीकरणार्थं च वेदाङ्गानां शास्त्राणां च सार्थक्यं इति पूर्वाचार्याणां अभिप्रायः दृश्यते श्रूयते च । अतः योगदर्शनं तावत् वेदवाङ्मये अव्याकृतरूपेण आसीत् इति निश्चीयते। अतः अपौरुषेयोऽयं योगविषयः। वेदकालानन्तरं सूत्रकार इति आधुनिकाः क्रमिक आर्षीकारं मन्वते । तथा च भारतीय दर्शनानां प्रादुर्भावः प्रकटितरूपात्मकः सूत्रकालादारभ्य समभवत् इति सम्प्रतस्य अनेकैः हेतुभुः निश्चिनुमः ।

अस्य दर्शनस्य प्राचीनत्वं वर्तते यथा- हिरण्यगर्भ एव योगस्य वक्ता नान्यः पुरातन (या.व.स्मृति) इत्युक्त्वा हिरण्यगर्भ एव अस्य योगस्य प्रथमप्रवक्ता इत्युक्तं भवति । अस्य प्रवक्तृत्वेन उपरि दर्शित वाक्ये स्वीकृतत्वात् योगदर्शनस्य आरभ्य अनेन अभवत् इति निश्चिनुमः । तथा च तत्प्राक् योगदर्शनस्य प्रवक्ता न कश्चनासीदिति च ज्ञायते । तर्हि योगदर्शनस्य अयं हिरण्यगर्भः भवेत् इति चेत् तन्न । "योगे योगे तवस्तरं वाजे वाजे हवामहे" इत्यादि श्रुतिषु योगशब्दं तथा च कठ, श्वेताश्वतर इत्यादि उपनिषत्सु योगविषयः प्रदर्शन्ते । तद्यथा-

**त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदिन्द्रियाणि मनसा संनिवेश्य ।**
**ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ।।** – (श्वे.उ. ७)

**शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका ।**
**तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति ।।** (कठ. ६-१६)

इत्यादि श्रुतिषु शरीरधारणं नाडी विशेषस्य परिज्ञानं, तथा च तत्र प्राणस्य संयोजनं, तेन अमतत्व प्राप्तिः इत्याद्याः योगदर्शनोक्त पदार्थाः प्रतिपादिताः दृश्यन्ते । उपनिषदां श्रुतित्वेन परिगृहीतत्वात् श्रुतीनां अपौरुषेयत्वेन अङ्गीकृतत्वाच्च योगदर्शनस्य कर्तृत्वेन हिरण्यगर्भस्य स्वीकारे

अपौरुषेयत्वेन प्रसिद्धस्य अङ्गीकृतस्य पौरुषेयत्वेन पुरुष कर्तृत्वेन च वदतो व्याघातः प्रसङ्गेन इति हिरण्यगर्भः न योगस्य कर्ता । प्रवक्तृत्वं तु स्वीकारयोग्यमेव श्रुतिषु प्रसिद्धिं गतानामेव युक्ति-तर्काभ्यां काव्यविशेषेण निबन्धनमेव कर्तृत्वम् । तत्कर्तृत्वं उपर्युक्त प्रवक्तृत्वस्य शब्दस्य अन्तर्गतं भवति । अतः याज्ञवल्क्यादि स्मतिषु उक्तरीत्या हिरण्यगर्भ एव योगस्य आदिमः इत्युक्तम् अनुगतम् सार्थक्यं च भवति ।

**हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः** – (म.भा.)
**हिरण्यगर्भो द्युतिमन् य एष छन्दसि स्तुतः** – (म.भा.)

महाभारतस्य आभ्यां युक्तिभ्यां ''हिरण्यगर्भस्समवर्तताग्रे'' इत्यस्मिन् श्रुतिषु श्रूयमाण हिरण्यगर्भ एव आदिमयोगप्रवर्तकः नान्यः तथा च न अनयोर्भेद इति च निश्चितं भवति ।

**सांख्यस्य वाक्या कपिलः परमाभिः स उच्यते ।**
**हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ।।** – (म.भा.)

इत्यस्मिन् महाभारतवचने सांख्यदर्शनस्य वक्तृत्वेन कपिलस्य योगवक्तृत्वेन च पृथक् उक्तं दृश्येत । अपि तु तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं ज्ञात्वादेवं मुच्यते सर्वपादौः ।

**एकं च सांख्यं च योगं च यः**

इति श्वेताश्वतर भगवद्गीता वचनयोः सांख्ययोगस्य एकदर्शनत्वेन स्वीकृतं दृश्यते । अतः सांख्ययोगदर्शन कर्तृषु विरोधः उपस्थापितं भवति । अनयोः एकैव कर्ता विभिन्नो वा इति । हिरण्यगर्भस्य नाम 'हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे' इति श्रुतावेव समुपलभ्यते ।

प्रभृतयः विद्वांसाः क्रि.पू. ..... वर्षे वेदः आसीत् तत् समयं वेदस्य कालमिति अभिप्रयन्ते । सांख्यस्य वाक्या कपिलः इति इयं उक्तिः महाभारतस्य वेदकालानन्तरं बहु अर्वाचीनं क्रि.पू. .... इति तत्कालं ते निश्चिनुवन्ति ।

अनेनापि हेतुना क्रमिक आविष्कारः अत्र दृश्यते। हिरण्यगर्भ इति श्रीमन्नारायणस्य ब्रह्मणश्च नाम कोशादिषु दृश्येत।

कोशे - **हिरण्यं परमं धाम हिरण्यस्य समानतः**
**हिरण्यगर्भः स प्रोक्तः ।**

इत्यादिषु वचनेषु एवं च एतदुक्तं भवति- 'हिरण्यगर्भो भूगर्भः' । वेदेष्वपि संहिताकाले योगदर्शनः हिरण्यगर्भेन उक्तमासीत् । तत्कारणं सांख्ययोगाभिपन्नं इति श्वेताश्वतर उपनिषदि श्रूयमाणं वचनं संहिताकालानन्तरं उपनिषत्कालीन चेति उपनिषत्काले तेन हिरण्यगर्भोक्तं दर्शनं एव सांख्येति योगेति च पृथक् प्रसिद्धं गतौ स्तः । तथा सांख्ययोगस्य आदिप्रवर्तक हिरण्यगर्भः एतेति निगदितं भवति । अतः अनयोः पूर्वोक्त वचनयोः न विरोधः । अस्माकं तु मते वेदस्य अपौरुषेयत्वेन स्वीकृतत्वात् आधुनिकविमर्शकानामिव न तत् कालस्य निश्चयः ।

**ऋषिं प्रसूतं कपिलं यस्त्वमग्रे ज्ञाने बिभर्ति जायमानं च पश्येत्**

'कपिलोऽग्रज' इति पुराणवचनात् कपिलो हिरण्यगर्भो वा व्यपदिश्यते इति श्वेताश्वतरोपनिषद् श्रीशङ्कराचार्यवचनाच्च कपिलमेव हिरण्यगर्भः आसीदिति आचार्याभिप्राय उपोद्बलितया अवगम्यते। तत्र वयं तु ब्रूमः यत्रकुत्रापि श्रुतिषु कपिलैव हिरण्यगर्भः इति नोक्तः । श्री शङ्कराचार्यस्तु कपिलोग्रज इति पुराणवचनमनुसृत्य अग्रे जातः अग्रजः इति व्यत्पत्या च कपिल एव हिरण्यगर्भ इति निर्णीतवान् इति तत्सन्दर्भेण अस्माभिरनुमीयेत । यद्यपि विष्णोः कपिल इत्यपरनाम महर्षिः कपिलाचार्य इत्यत्र श्रूयते। नात्र हिरण्यगर्भस्य कपिल इति। अतः विष्णुरेव कपिलः । इत्यत्र न सन्देहः । अथवा सांख्ययोगप्रवर्तक आचार्य कपिलः वेदोक्त हिरण्यगर्भस्य अन्तरकालीनः तस्मात् भिन्नः इत्यपि सांख्यस्य वक्ता कपिलः उच्यते । इति महाभारत वचनात् न नु हिरण्यगर्भेव कपिल इति।

योगदर्शनस्य विकसन विषये हिरण्यगर्भस्य कपिलस्य च नामान्तरं पतञ्जलेः नामैव आचार्यत्वेन श्रूयते। यद्यपि कपिलानन्तरं महर्षेः पतञ्जलेः पूर्वं नारद, देवल, असित, वार्षगण्य, जैगीषव्य इत्यादिनां भगवद्गीता वचनादिषु (असितो, देवलो, व्यासः......) श्रूयते। तभापि तेषु क्रविकत्व प्रतिपादने न हेतवः भवन्ति। यतोऽहि तेषां कृतत्वस्य अप्रसिद्धाभावात् ।

## 1. 4. **साङ्ख्यशास्त्रस्य परिचयः**

साङ्ख्यम् इत्युक्ते सम्यक् ख्यातिः इत्यर्थः । तस्मात् बुद्धिः इत्यस्मिन् अर्थे पर्यवसानं भवति । तदेव अस्मिन् शास्त्रे सङ्ख्यया उक्तम् । तत् सङ्ख्या तावत् २५ वर्तन्ते । अस्य प्रवक्ता कपिलमहर्षिः । परन्तु अयुता कपिलमहर्षेः साङ्ख्यं न दृश्यते । ईश्वरकृष्णकृत साङ्ख्यकारिका एव सर्वत्र दृश्यते । अत्र पञ्चविंशति तत्वान् अधोनिर्दिष्टवत् उक्तमस्ति ।

**सृष्टिक्रमः**

पुरुषः

प्रकृतिः

महत् (बुद्धि)

अहङ्कारः

मनः ५ ज्ञानेन्द्रियाणि ५ कर्मेन्द्रियाणि ५ तन्मात्राणि
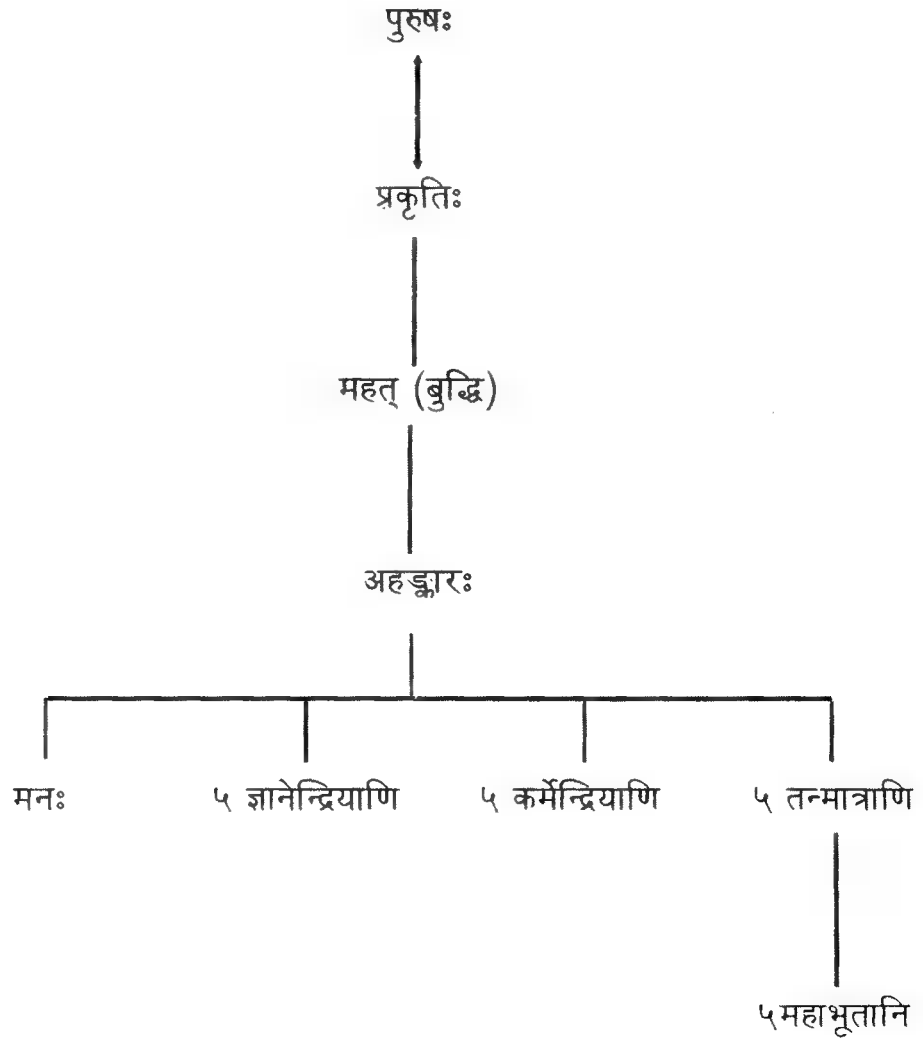
५महाभूतानि

इति ।

**प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्माद् गणश्च षोडशकः ।**
**तस्मादपि षोडशकान् पञ्चभ्यः पञ्चभूतानि ।।** – (सां.का. २२)

इति । मूलप्रकृतिः तस्मात् अहङ्कारः । तस्मात् षोडशगणाः । मनः, पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, पञ्चकर्मेन्द्रियाणि, पञ्चतन्मात्राणि तत्रापि पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि इति २४ तत्वानि भवन्ति । पुरुषस्तु स्वतन्त्रः । तदेव प्रकृति विकृतिरूपेण कथं भवति इति उक्तं यथा-

**मूलप्रकृतिरविद्यामहदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त ।**
**षोडशकस्तु विकाराः न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः ।।** – (सां. का. २)

अत्र स्पष्टीकृतं यत् पुरुषस्तु न प्रकृतिः या न विकृतिः- सः केवलं साक्षी भवति इति निर्दुष्टतया उक्तम् । अत्र कथं सृष्टिः प्रवर्तते इत्युक्ते त्रिगुणम् एव अस्य कारणम् । प्रकृतिस्तु त्रैगुण्यरूपेण वर्तते । तत्र त्रिगुणम् । सदा भवति परन्तु यदा सत्वगुणाधिक्यं भवति सृष्टिः प्राभ्यते । सृष्टिक्रमात् पूर्वं यत्र वर्तते तदेव प्रकृति अवस्था। अत्र त्रिगुणाः विद्यन्ते यथा इत्युक्तम् ।

**प्रीत्यप्रीतिविशादान्मकाः प्रकाशवृत्तिनियमार्थाः ।**
**अन्योन्याभिभवाश्रयजननमिथुनवृत्तयश्च गुणाः ।।** – (सां.का. १२)

गुणानां रूपाणि तावत् सुख, दुःख मोहात्मिका भवन्ति । ते क्रमशः प्रकाश, प्रवृत्ति, नियमनार्थाः । वर्तन्ते। तथा एकं अन्यं अभिभवाश्रय, जनन, मिथुनवृत्तयादि गुणेन विद्यमानाः वर्तन्ते ।

**गुणानां स्वरूपस्तावत् अधोनिर्दिष्टवत् वर्तते-**
**सत्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं च रजः ।**
**गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः ।।** – (सां.का. १३)

सत्वं तु लघु, प्रकाशकं, इष्टम् इत्युक्ते सुखस्वरूपं भवति । रजोगुणस्तावत् उत्तेजकम्, चलं भूत्वा दुःखस्वरूपं भवति । तमोगुणस्तावत् गुरु, वरणकम् मोहरूपात्मकं भवति । एवं विद्यमानेऽपि एकं अन्यं प्रकाशितं करोति । यदा अन्यगुणेन साकं भवति सर्वदा स्वतन्त्रतया न भवति । कथं कार्यरूपेण भवन्ति । इत्यस्यैव उदाहरणं वर्तते यथा प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति । प्रकाशार्थं

दीपः वर्ति, तैल, अग्निना कथं प्रज्वाल्यते तथा इति विवृतं साङ्ख्यशास्त्रे। इत्युक्ते पुरुष प्रकाशनार्थमेव इदं सर्वं न तु अन्यथा। अत्र पुरुषबहुत्वमेव अङ्गीकृतम् यथा-

**जन्ममरणकरणानां प्रीतिनियमादयुगपद् प्रवृत्तेश्च।**
**पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥** – (सां.का. १७)

जन्म, मरण, तथा अन्तःकरण, इन्द्रियाणि, भिन्नभिन्न नियमेन विद्यमानत्वात्, एकत्रैव एकदा प्रवृत्तिः नास्ति इति कारणात्, तस्य कारणं त्रिगुणं इत्युक्तत्वात्। गुणानां भेदेन पुरुषबहुत्वं प्रतिपाद्यते।

**एतदेव अन्य ग्रन्थेषु उक्तं अधो निर्दिष्टवत् वर्तते।**
**वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च ॥** – (कठ २/२/४०)

**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।**
**परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः ॥** – (गीता. १३-२१)

**य एनं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।**
**सर्वथा वर्तमानेऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥** – (गी. १३-२३)

एवं विद्यमान साङ्ख्यशास्त्रे अधस्तात् निर्दिष्टवत् २६ तत्वानि वर्तन्ते।

१. पुरुषः, २. प्रधान (प्रकृति), ३. महत्तत्व, ४. अहङ्कारः ५. मनः, ६. शब्द, ७. स्पर्श, ८. रूप, ९. रस, १०. गन्ध, ११. आकाश, १२. वायु, १३. तेजस्, १४. जल, १५. पृथिवी, १६. श्रोत्र, १७. त्वक्, १८. त्वक्, १९. चक्षुस्, २०. रसन, २१. घ्राण, २२. वाक्, २३. पाणि, १४. पाद, २५. पायु, २६. उपस्थ।

इत्युक्ते उपादानकारणात् प्रकृति; कार्ये विकृति ईदृश धर्मेषु शून्यत्वं इत्युक्त्वा अनुभवरूपरूपः यथा पुरुषः।

**४. प्रकृति विकृतयः इति।**

एवं विद्यमान साङ्ख्यशास्त्रे मुख्यं तत्वं इत्युक्ते सत्कार्यवादः अत्र कारणमेव कार्यरूपत्वेन परिणमते तस्मात् कार्यकारणे अभेदः सत्यत्वं च सिद्धं भवति। क्षीरमेव दधिर्भवति। बीजे एव वृक्षं सूक्ष्मतया भवति। एवं कार्यकारणे अनन्यत्वं उक्तत्वात् तिलादेव तैलं मृद् एव घटस्य कारणं इत्यादिवत् नैऋत्यं सिद्धम्। तस्मात् सत्कार्यम् इति उक्तं कारिकायाम् यथा-

**असदकारणादुपादानग्रहणात्सर्वसम्भवाभावात् ।**
**शक्तस्य शक्यकरणात् कारणाभावाश्च सत्कार्यम् ॥**

इति। अस्मिन् शास्त्रे मोक्षस्वरूपस्तावत् यथा- प्रकृतितत्वात् प्रथमतया सृष्टिक्रमे परिणमितं बुद्धिः अन्तःकरणः। अत्रैव दुःखादयः भवन्ति। अस्मिन् बुद्धौ पुरुषस्य तादात्म्यसम्बन्धात् सुखदुःखादयः पुरुषे आरोपितं भवति। अस्मिन् सम्बन्धमेव संसारः। आत्मा सुखदुःखवान् इति प्रतीतिः। गुरूपदेशादि प्रकृति पुरुष विवेकज्ञानं यदा भवति तदा बुद्धिः नष्टं भवति तदानीं सुखदुःखादयः पुरुषे न भवन्ति। एवं रीत्या विद्यमान पुरुषस्य परिशुद्धावस्था एव मोक्षः।

## 1. 5. योगदर्शनस्य उगमः

सत्स्वपि योगशब्दस्य बह्वर्थस्य "साम्प्रतं सर्ववृत्तिनिरोधात्मकस्य समाध्यर्थः परिगृह्यते ।" 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' सर्ववृत्तिनिरोधे तु असम्प्रज्ञानसमाधिरिति सूत्रभाष्य उक्तिभ्याम्। विभिन्नात्मकेषु समाध्यवस्थासु तत्तत् समाधेः उक्तफलस्य प्राप्तिः योगपरम्पयविधिः तत्र तत्र प्रदर्शितं भाष्यादिषु दृश्यते। तद्यथा- "सत्वपुरुषयोरन्यतासङ्कीर्णयोः" "प्रत्ययाविशेषो भोगः" परार्थत्व स्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम्। तयोरत्यन्तासङ्कीर्णयोः प्रत्ययविशेषो भोगः पुरुषस्य दर्शितविजयत्वात् इत्याभ्यां सूत्र भाष्य उक्तिभ्याम्। एवं च योगदर्शनोक्ताः २६ पदार्थाः समाधौ साक्षात्कृतां भवन्ति योगिनः इति तत् साक्षात्कार करणत्वेन चित्तवृत्तिनिरोधात्मकेन च समाधीयते

अस्मिन् इति व्युत्पत्या समाधिशब्दः योगस्य दर्शनार्थकत्वं न जहाति। अपि तु तस्मादेव अस्य योगस्य दर्शनत्वेन स्वीकृतः दृश्यते।

## 1.6. महर्षि पतञ्जलिः कालश्च

आधुनिक विचारकेषु जे.एच्. वुड्स् नामकः पाश्चात्य संशोधकः अस्य जीवनकालं ई. ३००-४०० मध्ये आसीदिति मन्यते। तथापि पातञ्जलमहाभाष्य चरकप्रतिसंस्कृतैः मनोवाक्कायदोषाणां हन्त्रे अहीपतये नमः इति चक्रपाणिदत्तेन स्वग्रन्थे रचितं श्लोकं दृश्यते।

**अपि च वैय्याकरणपरम्परायां-**

**वाक्यकारं वररुचिं भाष्यकारं पतञ्जलिं**<br>**पाणिनीं सूत्रकारं च प्रणतोऽस्मि मुनित्रयम् ॥**

इति महाभाष्यकर्तृत्वेन संस्तुतिः दृश्यते। अन्यत्र-

**योगेन चित्तस्य पदेन वाचा मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।**<br>**योपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ॥**

इति योगशास्त्रे, व्याकरणशास्त्रे, वैद्यशास्त्रेऽपि ग्रन्थप्रणीतृत्वेन पतञ्जलिः अवगम्यते। महाभाष्यकारस्य समयः पाणिन्यनन्तरं इत्यत्र न संशयः। अपि च "अथ योगानुशासनम्" इति योगशास्त्रस्य आदिमसूत्रं अथ शब्दानुशासनम् इति महाभाष्यस्य आदिमः पङ्क्तिः तस्य अवलोकनेन एतद् विज्ञायते यत् अनयोः कर्ता एकैव इति। उभयत्रापि अनुशासनशब्दस्य अथ शब्दस्य च प्रयुक्तत्वात् अथ शब्दस्य अधिकारार्थत्वेन उभयत्र स्वाकाञ्च महर्षिः पतञ्जलिरेव तयोः कर्ता इति निश्चिनुमः। वैद्यकीयशास्त्रे तु अस्य ग्रन्थस्य नाम्नाः प्रसिद्धिः साम्प्रतं नास्ति एव। तथापि चरकसंहितायाः टीकाकारेण चक्रपाणिदत्तेन चरकसंहितायाः विषयसम्बन्धित्वेन तदाधारभूतः आयुर्वेदविषयकःपतञ्जलिकृतः ग्रन्थः आसीदिति अनुमिमः।

एवं च पाणिनिसूत्रमाधारीकृत्य महाभाष्यः रचितः। महाभाष्यकार पतञ्जलिरेव योगसूत्रकार इति अङ्गीकृत्य तत्कालनिर्णयं क्रियते चेत् क्रि.पू. ६०० पाणिनेः काल इति भारतीयानां अभिप्रायः। तदनन्तरग्रन्थस्य भाष्यस्य अवलोकने प्रतीयते तद् भाषाविषयस्य च वैशिष्ट्येन क्रि.पू.

द्वितीयशतमानाद् तृतीयशतमानपर्यन्तं पतञ्जलेः कालं आसीदिति। समयावसरे इतोप्यधिकविचारः समुपलभ्यते चेत् तदत्र संयोजयतः ।

## 1.7. पतञ्जलेः पूर्वं योगशास्त्रस्य परिचयः

वैदिकसाहित्ये आदिमे संहिताभागे अतिसूक्ष्मरूपेणवर्तमानः योगविषयः उपनिषत्काले विस्मृतिं अवाप । तत्र कठोपनिषदः द्वितीयतृतीय वल्योः छन्दोभ्योपनिषदि अष्टमाध्याये सङ्कलितमस्ति । अपिच मण्डलब्राह्मणोपनिषद् पर्यन्तं योगस्य विषयः योगविषयात् विषयीकृत्य प्रतिपादयन् तत् स्तौति । योगविषयानधिकृत्यैव योगोपनिषदिति नामा साम्प्रतं दरीदृश्यते लोके । एवं क्रमेण उपनिषत्काले विस्मृतिं गत्वा तदर्थाविष्करणामैव अवाप । तत्रादौ सूत्रकारः अस्य दर्शनस्य पतञ्जलिरेव । अथ योगानुशासनम् इत्यारभ्य पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति । इत्यन्तं तत्र समाधिपाद इति प्रथमपादः । अस्मिन् पादे समाधिशब्दार्थविचारः, शास्त्रप्रमाणानि, योगोपायः, योगान्तराया इत्यादि विषयाः निबद्धाः ।

द्वितीये साधनतात्मके पादे सर्वविध योगिनां उचित साधनानि विवृतानि । क्रियायोगः, अष्टाङ्गयोग इत्यादीनां अभ्यास विषयेषु समुचितं मार्गदर्शनं दत्तमस्ति । अत्र अभ्यास, वैराग्य, विवेक विषयेषु सूत्रकारः प्राधान्यत्वं दर्शितवान् । तेन चित्तवृत्तिनिरोधः भाति इति । तथैव तत्प्रयोजनानि प्राणायामादीनां विचाराः सङ्कलिताः सन्ति । विभूतिपाद इति तृतीयस्य नाम । अत्र विभिन्नानां समाधीनां साधनानां फलत्वेन प्रसिद्धिं गतानां सिद्धीनां सुस्पष्टनिरूपणं कैवल्यनिर्वचनं विवेकज्ञाननिरूपणं इत्यादिविषयाः आबद्धाः सन्ति ।

चतुर्थोयं कैवल्यपादः । अस्य दर्शनस्य उद्देशत्वेन ख्यातस्य परमपुरुषार्थस्य कैवल्यस्य सुस्पष्टं निर्वचनं तदर्थप्रतिपादनं च कृतमस्ति । चतुर्विधात्मकानां कर्माणां बाह्यपदार्थानां सत्ता

जीवन्मुक्तीनां मनोवृत्ति इत्यादीनां निरूपणं कृत्वा धर्ममेधः समाधिः कैवल्यरूपव्यवस्था च सूत्रात्मकेन सङ्कलिताः दृश्यन्ते ॥

## 1. 8. पतञ्जलेः पश्चात् योगशास्त्रस्य परिचयः

पतञ्जलिस्तु योगशास्त्रस्य प्रवक्ता । ततः पूर्वं शास्त्रत्वं नासीत् योगस्य । स एव सूत्रान् लिखित्वा शास्त्रत्वं उक्तारि इत्यादि विषयाः पुर्वमेव निरूपितमस्ति । अत्र तु अधुनातनकाले विद्यमानतथातदनन्तरकालेवृद्धिङ्गताः प्रमुखभागाः योवर्तन्तेतानेवसूक्ष्मतया प्रतिपादितोऽस्ति । तत्रापि प्रमुखतया अधोनिर्दिष्टाः योगाः वर्तन्ते । राजयोगः, हठयोगः, कर्मयोगः, भक्तियोगः, कुण्डलिनीयोगः, मन्त्रयोगाश्च भवन्ति ।

**राजयोगः** -

राजृ दीप्तौ इति धातोः निष्पन्नं पदं 'राज' इति । अस्य अर्थः भवति स्वयम्प्रकाशवान् इति । तदर्थं राज्ञः विद्यमान गुणाः आवश्यकानि भवति। तैः तावत् स्वयमेव संयमनेन सम्पादितानि गुणानि अन्यथा राजा भवितुं नार्हति इति । तदर्थं संयमनम् आवश्यकं वर्तते । संयमनेनैव स्वयं प्रकाशितो भवति नान्यथा । तदर्थं विद्यमान सर्वेगुणाः एकत्र राजयोगशब्देन व्यवहारः । एतत्तु पतञ्जलेः अनन्तरं जातं न तु पूर्वम् । अत्र विद्यमान गुणाः अधोनिर्दिष्टवत् वर्तन्ते । यथा-

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधि इति पतञ्जलेः अष्टाङ्गयोगमेव भवति । अस्यैव नामान्तरम् अष्टाङ्गयोगः, पातञ्जलयोगः, पातञ्जलदर्शनम्, राजयोगः इत्यादयः भवति । एतत्तु योगशास्त्ररीत्या अतीव सुखकरः मार्गः तथा व्यवस्थितरीत्या विद्यमानश्च भवति सर्वश्रेष्ठमपि इति मत्वा श्री योगिराज सदाशिवब्रह्मेन्द्रसरस्वतीमहोदयः उक्तं 'राजत्वात् राजयोगः' इति । अत्र उक्त यमनियमादीनां अष्टाङ्गयोगानां परिचयः अस्मिन्नेव प्रबन्धे अन्यत्रापि वर्तते इति मत्वा अत्र पुनः न दीयते ।

**हठयोगः-** अस्य कालस्तावत् क्रि.श. ९ शतकादारभ्य १४ शतकपर्यन्तं उच्छ्रायकाल इति चरित्रकाराः वदन्ति । परन्तु तदनन्तरकालेऽपि तस्य आविष्काराः ग्रन्थानां रचना इत्यादयः दृश्यन्ते । परन्तु अस्मिन् विभागस्य मुख्यांशाः सर्वत्र एकरूपेण स्वीकृतमस्ति । अभ्यासक्रमे तु अङ्गानां सङ्ख्ये तावत् व्यत्यासः दृश्यते । अभ्यासविषये व्यत्यासः नास्ति ।

हठयोग इत्यत्र ह तथा ठ इति अक्षरद्वयमस्ति । ह इत्यस्य सूर्यनाडी ठ इत्यस्य चन्द्रनाडी इति व्यवहारः । उभय नाड्यौ प्राणः चलति । तस्य संयोग एव हठयोगः । इति तदर्थं ये ये अभ्यासक्रमाः वर्तन्ते तानेव मिलित्वा हटयोगाभ्यास इति व्यवहारः । तथा चोक्तं गोरक्षणायेन सिद्धसिद्धान्तपद्धतौ

**हकारः कीर्तितः सूर्यठकारश्चन्द्र उच्यते ।**
**सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्धठयोगो निगद्यते ॥**

तत्प्रतिपादिका विद्या हठयोगविद्या, हठयोगशास्त्रमिति ।

उपर्युक्त इडापिङ्गलयोः एव चन्द्र, सूर्य, वाम, दक्षिण इत्यादि व्यवहारः अपि दृश्यते । अधुना उपलभ्यमान ग्रन्थेषु मुख्यतया हठयोगप्रदीपिका, घोरण्डसंहिता, शिवसंहिता, सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः, अमरौघशासनम्, गौरक्षशतकम्, विज्ञानभैरवादयः प्रमुखाः वर्तन्ते। अत्रापि हठयोगप्रदीपिका तथा घेरण्डसंहिता प्रमुखतया स्वीकृतमस्ति ।

हठयोगप्रदीपिकाकारः स्वात्मारामः वदति मङ्गलश्लोके एक यथा-

**श्री आहिनायाय नामोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ।**
**विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहणीव ॥**

– (ह.यो.प्र. १/१)

गिरिजायै आदिनाथकृतो हठविद्योपदेशो महाकालयोगशास्त्रादौ प्रसिद्धः । एवं विद्यमान

हठयोगस्य प्रयोजनं राजयोगं आरोढुं इत्येव प्रथमतः उक्तवान् तस्मात् राजयोगस्थिति प्राप्तुम् एव हठयोगः ।

**इत्येव स्पष्टम् । तदेव व्याख्यानमस्ति यथा-**
**प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ।**
**केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ।।** – (ह.यो.प्र. १/२)

**भ्रान्त्याबहुमाध्वान्ते राजयोगमजानताम् ।**
**हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ।।** – (ह.यो.प्र. १/३)

एवं "हठ विना राजयोगः" इति द्वितीयाध्यायेऽपि उक्तवान् । तस्मात् स्पष्टं यत् राजयोग प्राप्त्यर्थमेव हठयोग न तु अन्यथा । तदर्थं हठयोगप्रदीपिकायां अभ्यासक्रमः वर्तते यथा-

आसन, प्राणायाम, बन्धमुद्रादयः, धारण, ध्यान, नादानुसन्धानम् इति षडङ्गाः उक्ताः वर्तन्ते । प्रथमम् सोपानं भवति आसनम् । अन्तिमं तु नादानुसन्धानम् । एतेषां अभ्यासादयः विवरणतया हठयोगग्रन्थेषु उक्तमस्ति । तदनन्तरकाले तावत् ते षट्कर्माणि इति व्यवहारः । अभ्यासे तावत् भेदाः निरूपताः वर्तन्ते । हठयोगानुसारेण शरीरं ५२००० नाड्याः सन्ति । तेषां मलशोधनं करणीयं प्रथमतः । तदनन्तरमेव ध्यानादीनां अभ्यासः । प्रथमतः नाडीशुद्धिः कार्यः । अन्यथा प्राणसञ्चारः नाडीषु न भवति इति तदेव उक्तं यथा-

**मलाकुलासु नाडीषु मारुतो मध्यगः ।**
**कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ।।**

एवं अभ्यासेन नाडीगणाः शुद्धाः भवन्ति । तदानीं मूलधारे सुप्तां कुण्डलीं सुषुप्तायां नेतुं शक्यते । तद् यदा सहस्रारं प्रतिष्ठापितुं भवति तदानीं मोक्ष इति ।

यदा मध्यनाड्यां प्राणः चलति तदेव राजयोगश्च आरम्भ इत्यपि तेषां आदायः । तस्मात् अत्र प्राणसंयमनेन कुण्डली जागरणं तु प्रमुखं भवति । तदर्थं शरीरशुद्धि, नाडीशुद्धि, इन्द्रियादीनां शुद्धिः, मनःशुद्धि इत्यादि विचाराः विवृतमस्ति ।

अभ्यासक्रमाः प्रमुखतया अधोनिर्दिष्टरूपेण सन्ति।

आसनानि - ३२

क्रियाः - ६

प्राणायामाः - ७

बन्धाः मुद्राश्च - १०

धारणा - ५

ध्यानप्रकाराः - ५

नादानुसन्धानम् - २

एवम् अभ्यासेन अः स्थानं प्राप्यते तस्य वर्णनं करोति यथा-

**सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये।**
**राजयोग समारूढः पुरुषः कालवञ्चकः॥** – (ह.यो.प्र. ४/१०३॥)

**यावन्नैव प्रविशति हरन्माठतो मध्यमार्गे**
**यावद् बिन्दुर्न भवति दृढः प्राणवातप्रबन्धात्।**
**यावद् ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्वं**
**तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः॥** – (ह.यो.प्र. ४/११४॥)

इति। एवं हठयोगस्तु राजयोगपदप्राप्त्यर्थमेव इति उक्तवान् अवगन्तुं शक्यते यत् नाममात्रं भिन्नम् उद्देशस्तु एकएव इति।

**कर्मयोगः**

यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (वैशेषिक) इति व्याहरता महर्षिणा कणादेन, भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (यो.सू. २-१६) इति प्रतिपादयता महर्षिणा पतञ्जलिना साध्विदं निर्दिश्यते यद् जीवनस्य लक्ष्यं लौकिकपारलौकिकोभयसुखावाप्तिः। नान्तरेण कर्म लौकिकी पारलौकिको वा सिद्धिः साध्या। कर्मणैव जीवनस्य साफल्यम्। कर्मैव स्वाभीष्टसाधनपुरःसरं मोक्षावाप्तिमपि

साधयति । अत एव यजुर्वेदे आदिश्यते यत् कर्माणि कुर्वन्तेव शतवर्षं यावद् जिजीविशेत् । निष्कामकर्मभावनया कर्मकरणेन न बन्धनावाप्तेः न च कर्मफला-

वलेपः । उक्तं च

**कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविशेच्छतं समाः ।**
**एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे ॥** – (यजु. ४०-२)

कार्यप्रवृत्तिमन्तरेण जीवने न किञ्चित् साफल्यं न दृश्यते । अत एव कर्मणोऽनिवार्यं त्वं शस्यते निर्दिश्यते च । उक्तं च नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो हयकर्मणः शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः ॥ (गीता. ३-८)

कृतेऽपि कर्मणि कथमिव कर्म बन्धसाधनं न स्यात् इति जिज्ञासायां प्रोच्यते यत् इन्द्रियनिग्रहपुरःसरं अनासक्यभावतया कृतं कर्म न बन्धनहेतुत्वं भजते अतएवोच्यते-

**यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।**
**कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते ॥** – (गी. ३-६)

एवं गीतायां प्रतिपाद्यते यद् मानवेन स्व जीवन निर्वाहार्थम्, आजीविका सञ्चालनार्थम्, वृत्ते प्रवर्तनार्थं कर्म कार्यम् । तच्च अनासक्ति भावनया विधेयम्, न च कलाभिलाषस्तत्र श्रेयस्करः । फलकामनाभावेऽपि अकर्मणि प्रवृत्तिः सर्वथा दुःखायैव । अतएवोच्यते-

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।**
**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोस्त्वकर्मणि ॥** – (गी. २-४७)

कर्मसु कौशलमेव योगः । किमत्र कर्मकौशलेनाभिप्रेतम्? कुशान् लाति छिनत्ति इति कुशलः । यथा आवधानेन तीक्ष्णकुशाग्रच्छेदनेन कुशलत्वं सिद्ध्यति तथैव कर्मविषयेऽपि कुशलत्वम् इष्यते । कर्म द्विविधम्- १. सुखोदर्कं २. दुःखोदर्कं च । सकामभावनया फललिप्सया च क्रियमाणं कर्म मनोऽनुकूल-फल-लाभाभावे दुःखोदर्कम् । १. निष्कामभावनया च क्रियमाणं कर्मफलेऽप्साभावात्

सुखोदर्कं सुखसाधकं च। अतएव भगवता कृष्णेन सन्दिश्यते यत् ज्ञानपूर्वकं कृतं कर्म पापपुण्यात्मकं द्विविधमपि फलं परिजहाति । एतादृशं कर्म कौशलने सम्पादितं प्रोच्यते ॥ एतदेव योगस्य स्वरूपम् । उक्तं च-

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते ।**
**तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम् ।।**

यत्र निष्कामभावना तत्र शाश्वती शान्तिः । अन्यत्र च सकामत्वेन बन्धनम् । अतः कथं कार्यं कार्यम् इति जिज्ञासाय कमलपत्रनिदर्शनेन विषयोऽयं विशदीक्रियते ।। यथा सलिलस्थमपि पद्मपत्रं न सलिलेन लिप्यते, तथैव अनासक्तभावेन कृष्णार्पणबुद्ध्या च कृतं कर्म न दोषाय, न बन्धनाय ।

**ब्रह्मण्यादाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः ।**
**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ।।** – (गी. ७-२०)

**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम् ।**
**अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबद्ध्यते ।।**

मुक्तिकोपनिषादि विनयोऽयं महता विस्तरेण विविच्यते । तत्र चैवं प्रतिपाद्यते यदियं वासनासरित् शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां प्रचरति, सा शुभे पथि नियोज्या । यदा वासनेयं अशुभाद् निवर्त्य शुभे पथि नियुज्यते तदा सर्ववासनाक्षयाद् तदा मुक्तिपदलाभे भवति। सेयं वासना विविध जन्मसम्बद्धा। इयं चिराभ्यासयोगेन क्षीयते। यावद् वासना समुदयो न तावद् मानसिकि शान्तिः । वासना विनाशे तु चेतः शान्तार्चिर्दोष इव शमम् उपैति । वासना हेतोरेव प्राणसञ्चारः, तेन च वासना, तथा च चित्तवीजाङ्कुरोदगामः। चित्तवृत्तस्य द्वे बीजो-प्राणस्पन्दनं वासना च। द्वयोरेकस्यापि निग्रहे द्वयोरेव विनाशः सञ्जायते । अस्य संसारवृक्षस्य मन एव मूलम् । तदेव सङ्कल्परूपेण प्रतिपुरूपम् अवतिष्ठति । तस्योपशमने संसारवृक्षस्य विनाशः सञ्जायते । वासनायै बन्धनम्, वासनाक्षयेण च मोक्षः । उक्तं च-

**शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासनासरित् । (मुक्तिको ५)**
**पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि ॥ (मुलि ६)**
**वासनाविलये चेतः शममायाति दीपवत् । (मु. १७)**
**द्वे बीजे चित्तवृक्षस्य प्राणस्पन्दनवासने ॥**
**एकस्मिंश्च तयोः क्षीणे क्षिप्रं द्वे अपि नश्यतः ॥ (मु. २७)**

**अस्य संसारवृक्षस्य मनो मूलमिदं स्थितम् ।**
**सङ्कल्प एव तन्मन्ये सङ्कल्पोपशमने यत् ॥ (मुक्ति ३७)**

**बन्धो हि वासना बन्धो मोक्षः स्याद् वासनाक्षयः । (मुक्ति ६८)**
**एवं कर्मयोगस्य तथा कर्मणः बन्धमोक्षविषये विवरणम् दृश्यते ॥**

**भक्तियोगः**

भक्ति इति शब्दः भज सेवायां इति धातोः निष्पन्नं पदम् । अस्य सेवनम् इति अर्थः । भक्तिस्तु विविध प्रकाराः । भगवद्गीतायां श्रीकृष्णः भक्तियोगो नाम एकस्मिन् अध्याये सर्वविधान् समीचीनतया वर्णितवान् । तथैव नारदभक्तिसूत्रः, शाण्डिल्यभक्तिसूत्रः, भागवतपुराणम्, वेद उपनिषदादिषु दृश्यते । परन्तु स्पष्टतया भगवद्गीता तथा उपनिषत्सु वर्तते । तत्र भक्तिर्नाम विशेषप्रेमरूपा इत्येव वर्णितं भवति । भगवद्गीतायाम् उक्तं भवति यथा-

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।**
**आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थो ज्ञानी च भरतर्षभ ॥** – (गी. ७-१६)

**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।**
**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥** – (गी. ७-१७)

इति । अत्र चतुर्विधाः भक्त्याः भवति यथा आर्तः, जिज्ञासुः अथार्थी तथा ज्ञानी इति । तत्र ज्ञानी सर्वश्रेष्ठः भवति । तथापि अन्यैः यदा भक्तिपथे यजन्ति तदा मे प्रिया एव भवन्ति इति । भक्ते अन्य वैशिष्ट्यान् एवं उक्तमस्मि ।

**वेदेषु यज्ञेषु तपस्सु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम् ।**
**अत्योति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगीपरं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥** – (गी. ८-२८)

**यान्ति देवव्रता देवान् पितृन्यान्ति पितृव्रताः ।**
**भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥** – (गी. ९-२५)

**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः ।**
**एवं रूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥** – (गी. ११-४८)

**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन च चेज्यया ।**
**शक्य एवं विधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥** – (गी. ११-५३)

**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन ।**
**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥** – (गी. ११-५४)

**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥** – (गी. १८-६६)

**महान्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।**
**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥** – (गी. ९-१३)

एवं भगवद्गीतानुसारेण भक्तिस्तु येनकेनापि उपदेष्टव्यं नास्ति स्वयमेव अविर्भू च ब्रह्मविजये जिज्ञासा भवति चेत् तदापि साधुरेव भवति । तस्य इत्थमेव भवेत् इति नियमः नास्ति । नारद भक्तिसूत्रे ८४ सूत्राणि सन्ति । तत्र अधोनिर्दिष्टवत् व्याख्यातम् वर्तते ।

अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः (१)

सा त्वस्मिन् परमप्रेमरूपा (२)

अमृतरूप च (३)

यल्लब्ध्वा पुमान् सिद्धो भवति, अमृतो भवति, तृप्तो भवति ॥ (४)

एवं रीत्या विद्यमान भक्तिः परा अपरा इत्यादिरूपेण विभक्तं वर्तते । अन्न परा भक्तिः या अपरा भक्तिः उभावपि श्रेष्ठमेव । परन्तु तस्य तस्य सामर्थ्यानुसारेण भवितव्यमेव । एवं विद्यमान भक्तिः सर्वश्रेष्ठम् इति उक्तम् यथा-

सा तु कर्मज्ञानयोगेभ्योऽप्यधिकतरा (२५) इति उक्तवान् कर्मयोग, ज्ञानयोगादपि श्रेष्ठं भक्तियोगमेव इति। विष्णुपुराणे उक्त रीत्या भक्तेः विविध प्रकाराणि उक्तानि यथा-

१. श्रवणम् (२. कीर्तनम् (३. स्मरणम् (४. पादसेवनम् (५. अर्चनम् (६. वन्दनम् (७. दास्यम् (८. सख्यम् (९. आत्मनिवेदनम् इति नवधा भक्तिः। एतदेव भागवते विविधप्रकारेण अभ्यासेन समाधिः भवति इति उक्तं यथा-

१. गुणमाहात्म्यासक्ति (२. रूपासक्ति (३. पूजासक्ति (४. स्मरणासक्ति (५. दास्यासक्ति (६. सख्यासक्ति (७. वात्सल्यासक्ति (८. कान्तासक्ति (९. आत्मनिवेदनासक्ति (१०. तन्मयासक्ति (११. परमविरहासक्ति इति।

रागात्मिकी भक्तौ विविधस्तराः वर्तन्ते यथा-

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्चन, स्वरभङ्ग, कम्प, वैवर्ण्य, अश्रु तथा प्रलय इति।

परा भक्तौ विद्यमानस्तराः यथा-

स्वरूपज्ञान, निर्विकल्पसमाधि, परावैराग्य, तत्वमसि, इत्यादयः। यदा भक्तिरूपेण, ज्ञानं प्राप्नोति तदा साधकः अधोनिर्दिष्टरूपेण ज्ञानम् अनुभवति यथा-

१. सालोक्य (२. सामीप्य (३. सारूप्य (४. सायुज्य। तदर्थं नामजप तथा प्रणवजपाः अत्यन्तं श्रेष्ठं इति ज्ञानिनः वदन्ति॥

**कुण्डलिनीयोगः**

अस्मिन् जगति द्वौ शक्तयः वर्तेते। तौ शिवः तथा शक्ति इति तन्त्रलोके व्यवहारः। तान्त्रिक व्यवहारे तावत् शिवः पुरुष शक्तिः शक्ति इति यदुच्यते तत् स्त्रीशक्तिः। कुण्डलिनी इत्युक्ते प्राणशक्तिः सार्धत्रय कुण्डलाकारे शरीरे मूलाधार चक्रे यत् वर्तते तत् भवति। तां जाग्रतं

कृत्वा सुषुम्नानाडीद्वारेण सहस्रारं नीत्वा समाधिं प्राप्नुयात् । तदेव कुण्डलिनी योगः । एतदर्थं अहार, जीवनक्रमः, आसन, प्राणायाम, बन्धमुद्रादीनां अभ्यासाः वर्तन्ते । एतेषां सविवरणं अभ्यासमेव कुणडलिनीयोगः । एवं विद्यमान कुणडलिनीयोगस्यैव भूतशुद्धिः इत्यपि नामान्तरमस्ति । किमर्थमित्युक्ते अनेन पञ्चमहाभूतानां शुद्धिः भूत्वा समाधिः जायते इति मत्वा नामान्तरम् ।

कुण्डलिनी सामान्य मानवेषु सुप्तावस्थायां भवति । तदानीं यथा सर्पः निद्रावस्थायां शिरः अग्रभागं च मिलित्वा शेते तथैव भवति इत्यर्थः । तादृशरूपेण कन्दभागे भवति । तदानीं शरीरे विद्यमान द्वासप्तति सहस्र नाडीषु प्राणः यथेच्छं विहरति । तस्मात् शरीरस्य आयुः क्षीयते । शक्तिह्रासो भवति । प्राणसंयमनं तु आवश्यकम् । एतदर्थं विविधरूपेण अभ्यासः कार्यः । अभ्यासेन कुण्डलिनिजागृतं भवति । एवं विद्यमान शरीरे तावत् प्रमुखतया त्रिनाड्याः वर्तन्ते । ते इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना इति । अत्र प्रमुखतया प्राणः इडा पिङ्गलयोर्मध्ये सामान्य मानवेषु प्रवहति । यदा प्राणायाम ध्यानादि अभ्यासेन प्राणसंयमं कर्तुं प्रभवति तदा सुषुम्नायां चलति प्राणः । तदेव उन्मनी अवस्था इति कथ्यते । एतदर्थं प्राणसंयमनं तु नाडीद्वयोः सहायेनैव कार्यः न तु अन्यथा । एतदर्थं अभ्यासाः वर्तन्ते । तदानीं नाडीनां ज्ञानं भवति । तथा प्राण उपप्राणानां ज्ञानम् अपि भवति । पञ्चप्राणाः वर्तन्ते यथा- प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान इति । उपप्राणाः यथा- देवदत्त, कृकर, धनञ्जय, कूर्म, नागादयः भवन्ति । नाडयाः वर्तन्ते ७२००० । परन्तु प्रमुखाः यथा- सुषुम्ना, इडा, पिङ्गला, कुहू, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, सरस्वती, पूषा, पयस्विनी, शङ्खिनी, यशस्विनी, वरुणा, विशोदरा, आलम्बुषा इति चतुर्दश वर्तन्ते । एतेषां वर्णनं तथा चक्राणां निरूपणं तु षट्चक्रनिरूपणं तथा पादुकापञ्चकम् इत्यादि ग्रन्थेषु उपलभ्यते । सौन्दर्यलहरी इति

श्रीशङ्कराचार्यकृतमपि अस्यैव वर्णनं भवति । अत्र विस्तृतया कुण्डलिनी वर्णनं वर्तते । अधुना षट्चक्राणां निरूपणं सूक्ष्मतया अधोनिर्दिष्टवत् दीयते ।

पञ्चविंशति तत्वाः कथं सन्ति इति अत्र दत्तं वर्तते ।

**Table - 1**

| | Centre in which dissolved | Greater Tatvas. |
|---|---|---|
| 1. | Muladhara | Gandha Tanmatra, Prthvi tatva, Grana, P[illegible] |
| 2. | Svadhisthana | Rasa, Ap, Jihva, Pini. |
| 3. | Manipuraka | Rupa, Tejas, Chakshu, Piyu. |
| 4. | Anahata | Sparsha, Vayu, Sparsha, Upastha. |
| 5. | Vishuddha | Shabda, Akasha, Shrotra, Vik. |

**Table - 2**

| Chakra | situation | No.of petals | Letter on same | Regnant tatva and its qualities | Colour of tatva |
|---|---|---|---|---|---|
| Muladhara | Spinal centre of region below genitals | 4 | va, śa, ṣa, sa | Prthvi cohesion, stimulating sense of smell | yellow |
| Svadhisthana | Above the genitals | 6 | ba, bha, ma, ya, ra, la | Ap, contraction, stimulating sense of taste. | white |
| Manipuraka | Navel | 10 | ḍa, ḍha, ṇa, ta, tha, da, dha, na, pa, pha | Tejas, expansion, producing heat and stimulating sense of colour and form. | |

| | | | | | |
|---|---|---|---|---|---|
| Anahata | Heart | 12 | ka, kha, ga, gha, ṉa, ca, cha, ja, jha, na, ṭa, ṭha | Vayu, general movement, touch | Smoky |
| Vishuddha | Throat | 16 | a, ā, i, ī, u, ū, ṛ, ṛṛ,, lṛ, lṛṛ, e, ai, o, au, am, aḥ | Ākasha, hearing | White. |
| Ājṉa | Eyebrows | 2 | ha & kṣa. | Manas, mental faculties. | |

**Table - 3**

| Shape of Mandala | Bija & vahana | Devata & vahana | Shakti of the Dhatu | Linga & Yoni | Other tatvas. |
|---|---|---|---|---|---|
| 1. Square | Um on the Airavata | Brahma on Hamsa | Dakini | Svayambhu and Traipura Trikona | Gandha tattva & feet |
| 2. Cresent | Vam on Makara | Vishnu on Garuda | Rakini | -- | Rasa, hand |
| 3. Triangle | Ram on a ram | Rudra on a bull | Caakini | -- | Rupa, Anus. |
| 4. Six pointed hexagon | Yam on an antelope | Isa | Kakini | Bana and Trikona | Sparsha, penis. |
| 5. Circle | Ham on a white elephant | Sadashiva | Sakini | -- | Sabda, Mouth. |

| 6. -- | Om | Shambhu | Hakini | Itara & Trikona | Mahat, Hiranyagarbha |
|---|---|---|---|---|---|

**मन्त्रयोगः**

मननात् त्रायते इति मन्त्रः । एवं विद्यमान मन्त्राः एकाक्षरारभ्य बहुविधाः वर्तन्ते । तेषां पुरश्चरण विधानेन समाधिप्रापणं मन्त्रयोग इति व्यवहारे श्रूयते । अत्र पुरश्चरणम् इत्युक्ते विधिविधानानि विद्यमानेऽपि प्रमुखतया अक्षरलक्षं जपित्वा तदनन्तरं जापनेन समाधिप्रापणं भवति । अक्षरलक्षं इत्युक्ते मन्त्रे कीयदक्षराणि भवन्ति तावत् संख्या परिमाणं लक्षजपं करणीयं भवति । मोक्षप्रापणार्थं मुख्यतया विद्यमान मन्त्राणि अधोनिर्दिष्टानि इति योगदीपिकाकारः श्री सदाशिवब्रह्मेन्द्रसरस्वतीयोगिभिः उक्तं यथा-

एकाक्षरम्, द्व्यक्षरम्, पञ्चाक्षरम्, अष्टाक्षरं वा इति ।

एकाक्षरम् - ॐ ।

द्व्यक्षरम् - सोऽहम् ।

पञ्चाक्षरम् - ॐ नमः शिवाय ।

अष्टाक्षरम् - ॐ नमो नारायणाय ।

प्रत्येकसम्र् मन्त्रस्य ऋषिः, छन्दः, देवता इति भागत्रयं वर्तते । तान् ज्ञात्वा यताविधि अभ्यसनीयः । अस्य उच्चारणं भवति यथा- वाचिक, ओष्ठ्य, मानसिकम् इति । तत्रापि मानसिकाभ्यासस्य फलम् अधिकं भवति । यथा पतञ्जलिना उक्तम्-

''तज्जपः तदर्थभावना'' इति तथैव अभ्यासः कार्यः । तदानीमेव तस्य प्रयोजनं समाधिः भवति अन्यथा । मन्त्राणाम् उपदेशः गुरोः सकाशात् स्वीकरणीयः । तत्र काम्यमन्त्राः तथा मोक्षदायकमन्त्रा इति भागद्वयं वर्तते । अन्यथा अस्य विभागः वर्तते यथा-

सिद्धमन्त्राः, सान्ध्यामन्त्राः, ससिद्धमन्त्राः, तथा अरिमन्त्राश्चेति। परन्तु एतेषां सर्वेषामपि मूलं भवति वेद एष। मन्त्रयोग साधनार्थं अधोनिर्दिष्टः षोडश अङ्गानि उक्तानि वर्तन्ते।

१. भक्ति, २. आसन, ३. शुद्धि, ४. पञ्चाङ्गसेवना, ५. आचार, ६. धारण, ७. दिव्य देश सेवना, ८. प्राणक्रिया, ९. मुद्रा, १०. तर्पण, ११. हवन, १२. बलि, १३. यज्ञ, १४. जप, १५. ध्यान, १६. समाधि।

एवम् अभ्यासकरणेन मन्त्राणां द्वारा समाधिः इत्येव अत्र विशेषः। परन्तु सर्व योगेषु आचार-विचार, आसन प्राणायाम-ध्यानादयः सामान्यभागाः वर्तन्ते। परन्तु अभ्यासम् एव भिन्नाः भवन्ति। तस्मात् वक्तुं शक्यते यत् बाह्यरूपेषु योगाः विभिन्नाः वर्तन्ते। अन्ततः सर्वमपि समानमेव इति ॥

# पातञ्जलयोगशास्त्रस्य परिचयः

पातञ्जलीये योगशास्त्रे चत्वारः पादा वर्तन्ते। प्रथमः समाधिपादः, द्वितीयः साधनपादः, तृतीयो विभूतिपादः, चतुर्थः कैवल्यपादश्चेति। प्रत्येकस्मिन् पादे विधानविवेचनं अधुना कुर्मः।

## १ समाधिपादः:

अस्मिन् पादे ५१ सूत्राणि सन्ति। प्रथमं सूत्रं तावत्, 'अथ योगानुशासनम्' इति। एवमुक्तत्वात् योगशास्त्रं ननु जिज्ञासाशास्त्रं अनुष्ठानयोग्यं अनुष्ठेयम् इति स्पष्टं भवति। अस्मिन् शास्त्रे योगो विषयत्वेन वर्तते। तत्र योगस्य अवान्तरा भेदाः, साधनपद्धतिः, तथा साधनानां फलानि - इत्येतेषां निरूपणं कृतमस्ति। शास्त्रस्यास्यानुष्ठानात् प्रयोजनं किम्? इत्युक्ते, अपवर्गः = मोक्षः = कैवल्यम् = परमात्मप्राप्तिः इति। स्वरूपस्थितिः। एवं कैवल्यप्राप्तेः जिज्ञासुः अधिकारी भवति। अत्र प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः। योगस्तु साधनम्। स्वरूपस्थितिः साध्यम्। तस्मात् योगस्थितेः तथा योगस्य च साध्यसाधकसम्बन्धो वर्तते। अधिकारिणस्तथा योगस्य च कर्तृकर्तव्यभावः सम्बन्धः। एवंरीत्या योगशब्दस्यार्थः समाधिरेव, न तु संयोगः। तदेव पतञ्जलिना उक्तं यथा - 'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इति। अत्र योगाङ्गानां तथा समाधेश्च अङ्गाङ्गिभाव उदीरितः। समाधिस्तु द्विविधा - सम्प्रज्ञाताऽसम्प्रज्ञातेति। स एव योगसाधनस्य प्रमुखो भागः, तथा साधनीयविषयश्च। तस्मादेव अस्मिन् दर्शने 'योग'शब्दः समाध्यर्थे प्रयुक्तोऽस्ति। विषयोऽयं पतञ्जलिमहर्षिणा चतुर्षु पादेषु विभज्य विवृतोऽस्ति सूत्रमुखेन। एतदेव पातञ्जलं योगसूत्रम्।

पातञ्जलयोगसूत्रस्य प्रथमे पादे प्रथमतो योगशास्त्रस्यौचित्यम्, मङ्गलाचरणम्, दर्शनत्वम्, 'योग'शब्दस्यार्थश्चैते विवृताः। ततः परं वृत्तिः, तद्विभागाः इत्यादीनि। 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः' इत्युक्त्वा चित्तवृत्तिनिरोधार्थं आवश्यकी ज्ञानसम्पादनपद्धतिर्विवृताऽस्ति। तदानीं प्रत्यक्षानुमानागमप्रमाणानि अङ्गीकृतानीति विवृतम्। एतास्तु वृत्तयः सामान्यतया पञ्चधा इत्युदीरितम् - 'प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः' इति। तदनन्तरं तेषां स्वरूपं स्पष्टतया पञ्चसु सूत्रेषु विवृतम्। एवंरीत्या मानवस्य सामान्यविषयाः विशेषरूपेण अन्यत्र कुत्रापि स्पष्टतया न लभ्याः। तत्रापि विशेषतया 'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः' इति सूत्रस्यानुसारेण चित्तवृत्तिनिरोधाय सतताभ्यासपूर्वकं वैराग्यमावश्यकम् इति स्पष्टं भवति। अभ्यास एवं भवेद्यथा - 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' इति उक्तत्वात् सत्कार्यैः सम्पादितः संस्कार एव अभ्यासः, न तु अल्पकालीन इति स्पष्टं भवति। तदानीमेव दृष्टानुश्रविकविषयेषु वशीकारो भवति। तेन वैराग्यं इति। तदनन्तरमेव गुणवैतृष्ण्यम्। ततः समाधिः। समाधिर्द्विविधा - यथा सम्प्रज्ञाताऽसम्प्रज्ञातेति। तत्साधनेऽपि 'यथा कर्म तथा फलम्' इतिवत् अभ्यासस्य वेगमनुसृत्यैव समाधिप्राप्तिः। अथ 'समाधिरीश्वरप्रणिधानात्' इत्युक्त्वा ईश्वरस्य लक्षणम्, तत्प्राप्त्युपायांश्च वदति। तत्र प्रमुखतया प्रणवजपः उदाहृतः। तेन समाधिमार्गे विद्यमानाः योगान्तरायाः सर्वेऽपि नष्टा भवन्तीति उक्तम्। एवं अभ्यासे तावत् अभ्यासिना एकतत्त्वमनुसर्तव्यम्, न तु विविधतत्त्वानि इति। सर्वदा चित्तप्रसादनप्राप्त्यर्थं आवश्यकानां विषयाणां विवेचनं कृतमस्ति ततः परम्। एवं समाधिः, तत्प्रकारौ, समाधिप्राप्त्यर्थं आवश्यका विविधा विचाराश्चाऽत्र अत्यन्तस्पष्टतया विवृताः सन्ति प्रथमे पादे।

## २ साधनपादः

द्वितीये पादे तु, समाधिप्राप्त्यर्थं विद्यमानाः अभ्यासक्रमाः निरूपितास्सन्ति। प्रारम्भे तावत् समाधिप्रापणे क्रियायोगस्यावश्यकता, तथा तत्पद्धतिश्च उक्ताऽस्ति। अनन्तरं क्लेशानां विवरणं दत्तम्। तेषां हानोपायाः उक्ताः यथा - 'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः' इति। सूक्ष्मप्रवृत्तीनामपि हानोपायः ध्यानमेवेत्युक्तत्वात् योगशास्त्रे ध्यानस्य अतीवाऽनिवार्यत्वं वर्तते इति स्पष्टम्। अन्यथा ता एव वृत्तयः जन्मादीनां कारणानि कथं भवन्ति? इति विवृतमस्ति। इदं सर्वमपि गुणपरिणामः। स तु पुरुषप्रकृतिसंयोगेन भवति। तस्य वियोग एव ज्ञानम्, कैवल्यम् इति धिया तस्य प्राप्त्यर्थं विविधाः प्रकारा उदीरिताः। योगप्राप्त्यर्थं अधोनिर्दिष्टा अष्टाङ्गयोगपद्धतिः महर्षिणा पतञ्जलिना प्रतिपादिताऽस्ति।

'यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि' इति। एवंरीत्या विद्यमानानां योगाङ्गानां अभ्यासस्य फलं यथा, 'योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः' इति उक्तत्वात् योगाङ्गानां अनुष्ठानात् अशुद्धिक्षयो भवति। तच्छारीरिकं वा मानसं वेति अत्र विभागो नास्ति। परन्तु पूर्वसूत्रानुसारेण चित्तशुद्धिरेव। तत् कथं भवतीति विवृततया उक्तमस्ति। तत्रापि योगाङ्गानां विभागो बहिरङ्ग अन्तरङ्गश्चेति द्विविधः। बहिरङ्गसाधनानि यथा, यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहाराः। तेषां विवरणं साधनपादे वर्तते। एवं द्वितीये पादे ५५ सूत्राणि सन्ति।

## ३ विभूतिपादः

अन्तरङ्गसाधनानां विवरणं तृतीये विभूतिपादे विद्यते। तृतीये पादेऽपि ५५ सूत्राणि

सन्ति। आरम्भे धारणाध्यानसमाधयोऽन्तरङ्गसाधनानि विवृतानि। परन्तु निर्बीजसमाधिपक्षे धारणध्यान(सम्प्रज्ञात)समाधयोऽपि बहिरङ्गान्येव साधनानि। धारणध्यानसमाधय एकत्र चेत् संयमः। तस्योपयोगः कथं कार्यः? तदभावे समाधिनाशः कथं भवेदिति विवृतमस्ति।

### ४ कैवल्यपादः

चतुर्थः पादस्तु कैवल्यपादः। अत्र ३४ सूत्राणि सन्ति। अत्र प्रथमपादत्रये उक्तरीत्या साधनानन्तरं कथं कैवल्यं प्राप्नुयात्? इति विवृतं वर्तते। समाधिर्यदा भवति, तदा स्वाभाविकतया सिद्धयो भवन्ति। ताः सर्वा अपि निमित्तमात्राः, न तु शाश्वताः। तस्मात् तेषामपि उपयोगो न कार्यः। ध्यानेन तदाशिषोऽपि निर्मूलनं कार्यम्। अन्यथा, संस्काररूपेण बाधते। तत्तु अनित्यम्। तदानीमेव सूक्ष्मगुणानां ज्ञानं भवति। तेन कैवल्यप्राप्तिः। अन्यथा स्मृतिसंकरो भवति। यदा चित्तं द्रष्टृदृश्योपरक्तं भवति, तदा विवेकनिम्नं कैवल्यप्राग्भारं भवति। तदानीं गुणानां परिणामः समाप्तिः। अन्ते कैवल्यम् इति। एवं योगरीत्या कैवल्यप्राप्तिविधिः पतञ्जलिमहामुनिना चतुर्षु पादेषु सूत्ररूपेण विवृताऽस्ति।

## 1. 10. पातञ्जलयोगसूत्रे भाष्यकाराः वृत्तिकाराश्च

दर्शनक्षेत्रे सूत्रग्रन्थानां स्थानं अत्यन्तमहत्वमावहति। पल्लवितहरिदूर्णेनपरिशोभायमानस्य वृक्षस्य यथा मूलं प्रधानं तथैव दर्शमानासूत्राणां स्थितिः। ''सूचनात् सूत्रमुच्यते'' इत्यभियुक्तवचनात् विशार्चसूचकं वाक्यं सूत्तमिति लोके व्यवह्रियमाणं साधुसङ्गच्छते।

**अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।**
**अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥**

इति शास्त्रविदां सुत्रलक्षणम्। सूत्रे अक्षराणामल्पवत्वं न तु अर्थाल्पत्वमिति न तिरोहितार्थः। न सूत्रस्थानि पदानि सन्दिग्धानि। अपि तु अनेक विषयसम्बन्धेन बह्वर्थसूचकानि भवन्ति। बह्वर्थसंसूचनेन पदानि सन्दिग्धानि भवन्ति इति सूत्रस्थानां पदानामर्थानां निश्चयं कर्तुं भाष्यपङ्क्तेः सार्थकता भवति।

**भाष्यम्**

भाष्यकारस्तु सूत्रस्थान् पदान् तत्तत् शास्त्ररीत्या विविच्य तदर्थान् निश्चिन्वन्ति। तन्निरूपणावसरे यानि स्वपदानि प्रयुक्तानि तेषु यदि सन्देहोत्पत्तिर्भवेत् तस्यापि विश्लेषणं तत्र भवितव्यम्। एवञ्च स्वसिद्धान्तानुसारेण दृष्टान्तपुरस्सरं सूत्राणां विवृतिस्तद्ग्रन्थभागो वा लोके भाष्यमिति प्रार्थनमस्ति।

श्री शङ्कराचार्यः ब्रह्मसूत्रस्य भाष्यकारः वात्स्यायनाचार्यः न्यायसूत्रणां भाष्यकारः। शाबरमुनिः पूर्वमीमांसासूत्राणां भाष्यकारो यथा तथैवत्रापि भाष्यकृत् भवितव्यं नात्र संशयः। योगभाष्यस्य विषयाणां प्रदर्शनं कर्तव्यत्वेन विहितत्वात् भाष्यकृद्विचारनिरूपणेन विना भाष्यविषयाः अप्रदर्शिता भवेयुरिति च आदौ प्राथम्येन भाष्यकृदः देशकालादि विचार प्रस्तूयते।

**योगभाष्यकृत्व्यासः**

योगभाष्यकर्ता क इति निर्णेतुं क्लिब्दम्। यतो हि भाष्ये यत्रकुत्रापि न दृश्यते भाष्यकृन्नाम।

तथापि ''प्रत्येकस्मिन् पादावसाने भाष्यान्ते'' इति श्री पातञ्जले सांख्यप्रवचने[1] योगशास्त्रे श्रीमद्व्यासभाष्ये इति समाप्तिवाक्यं दृश्यते। अनेन वाक्येन व्यासः भाष्यकर्ता इति विजानीमः । अपि च योगशास्त्रे भाष्यग्रन्थोऽयं तत् पश्चाद्भाविभिः वार्तिकादिभिः सर्वैः आकरणग्रन्थैः समाधारितमासीदिति ''रत्नकारः प्रवादानां भाष्यं व्यासविनिर्मितं'' इत्यादि पङ्क्तिना-त्प्रतीयते ।अतः विद्वद्भिः स्वीकृतत्वात् समग्रं समृद्धं सर्वावयवोपेतं च श्री व्यासभाष्यं इत्यत्र नास्ति संशयः । अस्य भाष्यस्य रचनानन्तरं योगशास्त्रे सर्वावयवसम्पूर्णता समायानां इति भाष्याध्ययनेन प्रतीयते ।

योगशास्त्रोपरि विज्ञानभिक्षुना वार्तिकं व्यरचितम् । तदवसरे ''सर्ववेदार्थसारोऽत्र[3] वेदव्यासेन भाषितः'' इति तं व्यासं भाष्यं स्तौति । तेनात्र विजानीमो भाष्यकारः वेदव्यास इत्यभिधानवानासीत् इति ।

षड्दर्शनाचार्यः वाचस्पतिमिश्रः योगशास्त्रे तत्ववैशारदी नाम योगग्रन्थं व्यरचि। सोऽपि तदवसरे ''वेदव्यासेन भाषितं इत्युल्लिखितवान्। अनेन वेदव्यासः योगभाष्यकार इति निश्चितुमः । पश्चमो वेद इति ख्यातस्य महाभारतस्य रचयिता पराशरपुत्रः कृष्णद्वैपायनेत्यपर नामः वेदव्यास इति महाभारतस्थ वाक्यसन्दर्भेण भारतीय पाश्चात्य विद्वदभिप्रायेण चाङ्गीकुर्मः । अपि च ''इति वैयासिक्यां शारीरिकमीमांसायां'' इति ब्रह्मसूत्र ग्रन्थस्य समाप्तिवाक्यदर्शनेन ब्रह्मसूत्रस्यापि कर्ता ''व्यास'' इत्यवगच्छामः । एवं च पूर्वोक्तेषु त्रिषु ग्रन्थेषु व्यासकर्तृत्वस्य दर्शनादत्र सन्दिध्यते कोऽयं व्यास योगभाष्यकृदिति। अतस्तदत्रविचारयामः ''एवं द्वैपायनो जज्ञे सत्यवत्यां पराशरात् । न्यस्तोद्वीपे स यद्बालस्तस्माद्द्वैपायनः स्मृतः'' विव्यास वेदान् यस्मात्स तस्मात् व्यास इति स्मृतः ।'' इति महाभारतपङ्क्तेः पराशरपुत्रः द्वैपायनो व्यासः मभाभारकृत्, स एव वेदं विस्तारयामासेति ज्ञायते। महाभारते भगवद्गीतावसरे ''ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः'' इत्युक्तमस्ति। श्लोकोक्त

ब्रह्मसूत्रशब्देन ब्रह्मसूचकानि उपनिषद्वाक्यानि इति श्री शङ्कराचार्यः अर्थं चकार । शास्त्रमर्यादा अङ्गीकृतावता न केनापि शारीरक सूत्रेति तत् पदार्थं स्वीकृतमिति स्फुटमेवाभाति। अतः ब्रह्मसूत्रकृत् बादरायणो व्यासः कृष्णद्वैपायनतो भिन्नेति जानीमः । पाश्चात्यविद्वांसः अपि ई.पू. द्वितीय शतकं सूत्र कालं इति मेनीरे ।

महाभारतकृत् कृष्णद्वैपायन व्यासात् ब्रह्मसूत्रकृत बादरायणव्यासः भिन्न एव । यतो हि महाभारतकालस्य ब्रह्मसूत्रकालस्य मध्ये अत्यधिककालान्तरस्य सत्वात् । अपि च ''अष्टादशपुराणानां कर्ता सत्यवती सुतः'' इत्यादि युक्तिषु यत्रकुत्रापि भाष्यकर्तृत्व विचारः कृष्णद्वैपायनस्य व्यासस्य न श्रूयते । अतः वेदव्यासः न भाष्यकारः तथापि योगवार्तिकग्रन्थे ''तदिदं सूत्रमारभ्यसमग्रं शास्त्रं सर्वलोकहिताय भगवान् बादरायणो व्याचष्टे'' इति विज्ञानभिक्षुता उद्घोषितं दृश्यते । तेन विज्ञायते ब्रह्मसूत्रकृता बादरायणव्यासेन योगभाष्यं विरचितमिति । तथापि तयोर्यदि एककर्तृकत्वे ''एतेन योगः पत्युक्त इति बादरायणसूत्रे योगदर्शनस्य खण्डनं अयुक्तं भवति अतः भिन्नकर्तृत्वं निश्चीयते इति चेत् अत्र समाधानम्-

ब्रह्मसूत्रकृत् बादरायण एव योगभाष्यकर्ता भवितुमर्हति । ब्रह्मसुत्रस्य द्वितीयाध्याये सांख्यतत्वस्य निराकरणानन्तरं ईश्वरं पदार्थान्यतममिति स्वीकुर्वन्तमं योगदर्शनं ''एतेन योगः[4] प्रयुक्त इति सूत्रेण प्रत्युक्तम् । ब्रह्मचैतन्यं तदेवैकं तत्वमिति प्रतिपादनं वेदान्ते प्रकृतत्वात् । साम्प्रतं योगदर्शने तु सुत्रानुसारी तद्भाष्यस्य प्रकृतत्वात् ''तस्य वाचकः[5] प्रणवः'' इत्यत्र ''वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य'' पूर्वे हि गुरवः कालेनाच्छिद्यते इत्यादयो भाष्यसन्दर्भः तत्र तत्र दृश्यन्ते । अपि च ''कथञ्चिदासादितः क्लेशतिमिरविनाशो योगप्रदीपः'' इत्यादि भाष्यसन्दर्भः सूत्रविषयं अतिरेचमदिति भाति, तादृशभाष्यसन्दर्भः सूत्रविषयं स्फुटीकुर्वन् तत्र तत्र शोभायने इति न तत् दोषाय ।

अपि च ये खलु भाष्यकाराः सूत्रकाराश्च ते तैस्तैकृत सूत्रभाष्यादिभ्योप्यधिक विषयपरिज्ञाता आसन् इत्यत्र न संशयः। अपि तु यं विषयं यत्र प्रतिपादयन्ति तत्र तद्विषयं शास्त्रभुक्ति प्रमाणे प्रतिपादनं कुर्वन्त आसन् । अतः तदवरकालोत्पन्नैतदध्ययनेन ते तद्विषयमामाभिज्ञः नेतरेषुविषयेष्विति प्रतिबुध्यते चेत् नास्मिन्विषये आश्चर्यम्। इदानीमपि वाचस्पतिमिश्रविरचित तत्ववैशारदी इत्यादिषु तथेवेह दृश्यते। ब्रह्मसूत्रभाष्यटीका 'भामती' इति तत्र योगप्रत्युक्ति सन्दर्भे योगमतं स्फुटतरेण खण्डनं कृतं तेन वाचस्पतिमिश्रेण सैव योगतत्ववैशारद्यां ईश्वरं योगदर्शनं सविकल्पनिर्विकल्पकादिसमाधि इत्यादीन् सुस्पष्टं प्रतिपादयामास । न्यायशास्त्रे सांख्यशास्त्रेऽपि तत्र तत्र तत्प्रतिपक्षखण्डनावसरे तदितरशास्त्रं सम्यक् निरसनं कृतं बह्वत्र दृश्यते । अत बादरायणेन योगशास्त्रं ब्रह्मसूत्रे तिरस्कृतेऽपि व्यासभाष्यकर्तृत्वमपि भवितुमर्हति। अपि च ब्रह्मसूत्रकृत बादरायणः वेदान्ताभिज्ञः योगदर्शनाभिज्ञश्च आसीदिति तयोरेककर्तृत्वं बहुशोभतेतराम्।

ये खलु आधुनिक पाश्चात्य विमर्शकाः जे. एच्. वुड्स् प्रभृतयः तेषां विचारः युक्तितः बहुदूरत्वमुपैति इति सत्यासत्यविमर्शनार्थं नोपकरोतीति तदेतेन निराकृतं भवति।

यथापि कृष्णद्वैपायनेन वेदविस्तरं पुराणादि प्रणयनं कृतं तथापि बादरायणेन ब्रह्मसूत्रं योगशास्त्रे भाष्यं च रचितं इत्यङ्गीकारे नास्ति विरोधः। अतः बादरायणः व्यासः योगभाष्यस्य कर्ता इति सम्पिण्डितोऽर्थः ।

# द्वितीयः भागः

# द्वितीयो भागः योगाभ्यासक्रमः

योगशास्त्रं तु पतञ्जलिमहामुनेः कारणात् सुप्रसिद्धमभूत्। तावत्पर्यन्तं योगविचाराः विविधग्रन्थेषु व्यस्तरूपेणासन्। परन्तु शास्त्रत्वं पतञ्जलेः कारणादेव प्राप्तमिति सर्वैरपि ज्ञातमस्ति। ततः परमाविष्कृते योगपद्धतौ तु पतञ्जलिप्रोक्तानां योगाङ्गानां एव विभिन्नरीत्या विवरणं, अभ्यासक्रमः, विविधप्रकाराश्च दृश्यन्ते। पातञ्जलयोगशास्त्रानुसारेण यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धारणध्यानसमाधिरिति अष्टौ अङ्गानि। अभ्यासस्तु - 'स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः' इति व्याख्यातः। इत्युक्ते अनवच्छिन्नरूपेण सर्वदा निरन्तरं अभ्यासः कार्यः। परन्तु सत्कार्यमेव भवितव्यम्, न तु असत्कार्यम्। इत्युक्ते सत्कारो गुरुपूजनम्, विद्वज्जनैः सह मेलनम्, तथा श्रवणादिकार्येषु सज्जनहितानि, शास्त्रविहितानि च कर्माणि एव कुर्वन् यः चित्ते दाढ्यँ प्राप्नोति, स एव उत्तमोऽभ्यासी इति अत्र उदीरितं भवति। एतदर्थमेव यमनियमादीनां अष्टाङ्गयोगानां अभ्यासः यथाक्रमं व्याख्यातः पतञ्जलिना योगशास्त्ररूपेण। तदनन्तरकाले तु तस्यैव अष्टाङ्गयोगस्य 'राजयोगः' इत्यभिधानं जातम्। तद्विवरणं तु, 'राजृ दीप्तौ' इति धातोः निष्पन्नं पदं 'राज' इति। तस्मात् 'राज' इत्युक्ते 'स्वयंप्रकाशवान्' इत्यर्थः। अत्र योगपक्षे तु स्वयं प्रकाशः बुद्धेर्वर्तते। बुद्धिः कांश्चन विधीन् विधानांश्च अभ्यस्यति चेत् प्रकाशिता भवति इति कारणात् 'राजयोगः' इत्युक्तम्। बुद्धेः प्रकाशनं इत्युक्ते योग एव। तदर्थं अष्टाङ्गयोगपद्धतिरतीव समीचीनो मार्गः इति। 'योगानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः' इति सूत्रानुसारेण अवगम्यते यत् योगानुष्ठानात् ज्ञानदीप्तिः विवेकख्यातिपर्यन्तं वर्धते इति। कथमित्युक्ते शरीरे मनसि च विद्यमाना अशुद्धिः क्षीणा भवति, तदानीं तत्रापि अशुद्धिः बुद्धेः उपरि विद्यमानोऽनुपयोगी चित्तव्यवहारः। तस्य निष्कासनेन बुद्धिः प्रकाशिता भवति इति। तस्मादेव श्रीसदाशिवब्रह्मेन्द्रसरस्वतिना

स्वकीयशिवयोगदीपिकायां 'राजत्वात् राजयोगं' इत्युदीरितम्। स्वभावतः स्वयं प्रकाशमानो गुणो वर्तते इति कारणात् 'राजयोगः' इति। एतमेव स्वामिविवेकानन्दमहोदयोऽपि अष्टाङ्गयोगस्य 'राजयोगः' इति व्यवहृतवान्। तदनन्तरकाले तु राजयोगस्य विवरणमन्यथाऽपि जातम् यथा, 'योगेषु राजा', अथवा 'योगे राजा' इत्यादिरीत्या। परन्तु अत्र अवगम्योऽयं विषयः यत् 'योगः' इत्युक्ते समाधिः। तस्मात् पूर्वतनैः उक्तरीत्या 'विराजमानः' 'सम्प्रकाशमानः', इत्यादि एव साधु भवति। स एव उन्नततमः, न तु अन्यः। किमर्थमित्युक्ते समाधिप्रापणार्थं बहवो योगिनः, मुनयः, साधकाश्च विविधान् मार्गोपायान् स्वीकृतवन्त आसन्। मार्गविषये 'इदमित्थम्' इति निश्चयो नास्ति। तदेव स्वात्मारामेण हठयोगप्रदीपिकायां उक्तं वर्तते यथा, 'स कोटि लयप्रकाशः' इति। तेन ज्ञातं भवति यत् मनः लयप्रकाशः, कोट्यधिकसंख्याकाः लयप्रकाशा वर्तन्ते इति। एवंरीत्या विद्यमानस्य अष्टाङ्गयोगस्य परिचयः अत्र सूक्ष्मतया दीयते।

१. यमः

'यम' इत्युक्ते 'संयमः' इत्यर्थः। एतत्तु पञ्चधा विभक्तं वर्तते यथा, अहिंसा, सत्यं, अस्तेयं, ब्रह्मचर्यं, अपरिग्रहश्चेति। एते तावत् व्यक्तिस्तरे अभ्यासे भवितव्यानि। साधकेन स्वयं करणीयानि भवन्ति। तत्र तादृशो दृढः सङ्कल्पो भाव्यः। तथैव सत्यास्तेयब्रह्मचर्याऽपरिग्रहाः अहिंसाधेरणैव वर्तन्ते। न तु अन्यथा। सर्वस्यापि अहिंसा एव मूलम्। एष विषयः न केवलं योगशास्त्रे अपि तु अन्यशास्त्रेषु, सर्वधर्मेषु, सर्वत्राऽपि च अङ्गीकृतोऽस्ति। अनेनैव व्यक्तिविकसनमपि भवति इति सम्यक् ज्ञातं वर्तते। इदमेव पतञ्जलिमहर्षिणा उक्तं अधोनिर्दिष्टेषु सूत्रेषु यथा, 'अहिंसासत्यमस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः' इति। एतदेव पञ्चशिखाचार्येण उदीरितं यथा, 'स

खल्वयं ब्राह्मणो यथा व्रतानि बहूनि समादित्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति' इति। तदेव ईशावास्योपनिषदि उक्तं यथा,

'यस्तु सर्वाणि भूतानि आत्मन्येवानुपश्यति।

सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते।' इति।

यदा साधकः सर्वाणि भूतानि स्वयं आत्मनि एव पश्यति, तथा च सर्वभूतेषु स्वं आत्मानं पश्यति, तदा सर्वात्मदर्शनं भवति। तस्मात् कारणात् सः न विजुगुप्सते इति।

'यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः। इति।

यदा साधकः ज्ञानी भूत्वा सर्वभूतानां दर्शनं स्वकीये हृदि करोति, तदानीं तस्य कीदृशो मोहः? कीदृशः शोको भवति? इत्युक्ते तस्य शोकमोहादिलेपो न भवति इत्यर्थः।

अहिंसाव्रतपालनं यथा उक्तं पतञ्जलिना - 'जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्' इति। एषा अहिंसा तु सर्वकाले सर्वदेशकालसमायदिभ्यो विभागो न कार्यः। तया रीत्या निरन्तररूपेण पालनीयं सार्वकालिकं महाव्रतं इति। तस्य प्रयोजनं तथा आवश्यकत्वं ईशावास्योपनिषदि उक्तं यथा -

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।

तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः। इति।

हिंसा तावत् त्रिविधा भवति। शारीरिकी, मानसिकी, वाचिकी चेति। शारीरिकी हिंसा तावत् शरीरे, शरीरस्य साहाय्येन वा क्रियमाणा भवति। मानसिकं तु मानसिकक्लेशसम्पादनम्।

[illegible] क्रियमाणा हिंसा [illegible] भवति। एषा हिंसा रागद्वेषकामलोभमोहभयादि तमोगुणसहितं भवति। ईदृशरीत्या अन्येषां जीवजन्तूनां हिंसनेन आत्मन एव हिंसा स्वयमेव कृता इव भवति। तस्मात् स्वस्याऽन्तःकरणमपि हिंसया दुष्टसंस्कारदूषितं भवति। एतदेव उपर्युक्तस्य ईशोपनिषदो वाक्यस्य तात्पर्यम्। ये तथा हिंसां अनुसरन्ति, तेषां स्थानं कुत्र भवति इति उक्तं यथा -

'असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽवृताः।

तांऽस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः।' इति। तदेव अन्यान्यसन्दर्भेषु कथं भवतीति गीतायामुक्तं यथा -

'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।' (गीता २ - ३) इति।

'प्रभवार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम्।

यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।

अहिंसार्थाय हिंस्राणां धर्मप्रवचनं कृतम्।

धारणाद् धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः।

यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः।' इत्यादिवाक्यानां सम्यगवगाहनेन अवगन्तुं शक्यते यत् धर्मस्य अहिंसा मूलं वर्तत इति।

इत्थं विद्यमाना हिंसा कथं भवतीति पतञ्जलिना उक्तं यथा - 'वितर्काहिंसादयः कृतकारिताऽनुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका मृदुमध्याधिमात्रा दुःखज्ञानानन्तरफला इति प्रतिपक्षभावनम्'

इति। हिंसानिवारणार्थं हिंसादिविषयेषु सर्वदा हिंसादिविषयाणां विरोधभावने चिन्तनमावश्यकम्। तदानीं प्रतिपक्षभावना भवति। तेन अहिंसापालनं भवतीति अहिंसापालनेन फलं निरूपितं यथा, 'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः' इति। अहिंसायां दृढस्थितिसम्पादनेन तस्य सान्निध्ये सर्वप्राणिनः स्वाभाविकं वैरं त्यक्त्वा ऐकमत्येन भवन्तीत्यर्थः। सत्यम्। अस्य विषये सुभाषितकारेणोक्तमस्ति यथा,

'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयान्न ब्रूयात्सत्यमप्रियम्।

प्रियञ्च नानृतं ब्रूयादेष धर्मः सनातनः।' इति। तस्मादेव पतञ्जलिना उक्तमस्ति - 'सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्' इति। कथमित्युक्ते सत्ये यः प्रतिष्ठितो भवति, तस्यान्तःकरणं नितरां निर्मलं स्वच्छं च भवति। तदानीं तस्य वाणीमुखात् यत्किञ्चिदुच्चरितं भवति, तत्तु भविष्यति काले यद्भवितव्यं तदेव। तस्मात् तत् तथैव भवति। तत्र तस्य क्रियाफलं तथैव भवति। तदेव क्रियारूपेण परिणमत इत्यर्थः।

**अस्तेयम्ः**

न स्तेयं अस्तेयम्। इत्युक्ते अस्मिन् प्रपञ्चे यस्य कस्यापि च वस्तुनः स्वामी तु भवत्येव। तस्मात् यत्किमपि भवतु नाम, तस्य स्वामिनोऽनुज्ञां विना तद् वस्तु स्वीक्रियते चेत् तत् स्तेयं भवति। सर्वदा सर्वत्राऽन्येषां वस्तुनो, विषयस्य वा अस्वीकरणं अस्तेयं भवति। यः अस्तेयस्य सर्वदा पालनं करोति, तस्य फलं उक्तं पतञ्जलिना यथा, 'अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम्' इति। यः अस्तेयस्य पालनं करोति स सर्वरीत्या रागादीन् पूर्णतया परित्यजति। तदानीं तस्य कस्मिंश्चिदपि वस्तुनि विषये वा न्यूनता न भवति। तस्मात् सर्वविधानां सम्पदां स्वामी स

भवति। तस्मादेव सर्वरत्नानि तस्य सकाशे भवन्तीति।

**ब्रह्मचर्यम्:**

अत्र व्याख्यानं तु अनेकग्रन्थेषु विविधरीत्या वर्तते। परन्तु साधारणतया अङ्गीक्रियते यत् - सर्वदा ब्रह्मणि मनस्संयमनं, तदर्थं इन्द्रियनिग्रहः आवश्यको वर्तते। तत्रापि गुह्येन्द्रियाणां संयमनं अतीवप्रमुखं वर्तते। किमर्थमित्युक्ते, तस्य स्वभावस्तावत् रतिः। सैव चित्तचाञ्चल्यं कारयति। तस्य संयमनमेव ब्रह्मचर्यम्। तदेव मुख्यतया सर्वशास्त्रेषु पुरुषार्थसाधनाय व्याख्यातं भवति। अत्र विवधा उपायाः, आचारविचारादिविषयाः स्मृतिग्रन्थेषु दृश्यन्ते। एवंरीत्या वर्तमाने ब्रह्मचर्ये यः प्रतिष्ठितो भवति, स शारीरिकं मानसिकं सर्वविधं च चैतन्यं प्राप्नोति। तेन सः अन्येषां कृते ज्ञानं प्रदातुं प्रभवति। योगसाधने तु कुत्रापि अवरोधं विना समाधिं प्राप्नोतीत्यर्थः। तदेव उक्तं पतञ्जलिना - 'ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः' इति।

**अपरिग्रहः:**

दैनन्दिनजीवनयानार्थं यावदावश्यकं तावदेव स्वीकरणीयम्। अन्यथा साधकस्य मनः सङ्गृहीतस्य वस्तुनो रक्षणार्थं चरिष्यति। एतदर्थं मनःसंयमो वर्तते। स एव अपरिग्रह इति कथ्यते। अस्याऽपरिग्रहस्य प्रयोजनं तावदुदीरितं पतञ्जलिना यथा - 'अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः' इति। तेन तावत् स्मृतिशक्तिः संवर्धते। जन्मान्तरकथा ज्ञातुं शक्यते। तया रीत्या बुद्धिः स्वच्छतां गच्छतीत्यर्थः।

**नियमाः:**

'शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः।' अत्र शौचं तावत् द्विविधम् वर्तते

यथा बाह्य आन्तरञ्च। बाह्य तावत् मृत्तिका,जल,वस्त्र,स्वस्थानादीनां सुस्थितौ पालनं, शरीरस्य शुद्धीकरणम्, शुद्धसात्त्विकनियमिताहारसेवनेन शरीरे सात्त्विकगुणसंरक्षणम्, नीरोगत्वम्, स्वस्थतापालनम् भवति। तदर्थं बस्ति, नेति, धौति इत्यादिक्रियाणां अभ्यासः, औषधीनां उपयोगेन शरीरशोधनं च भवति।

अन्तःशौचमित्युक्ते ईर्ष्या-अभिमान-तृष्णा-असूयादिमलानां दूरीकरणं भवति। तदर्थं मैत्री, करुण, मुदित,उपेक्षादीनां अभ्यासः, प्रतिप्रसवपद्धतिमुपयुज्य अनावश्यकविषयानां दूरीकरणम्, दुर्व्यवहारादीनां शुद्धव्यवहारद्वारा दूरीकरणम्, अविद्यादिक्लेशानां विवेकज्ञानद्वारा अपसरणम्, इत्यादिरूपेण चित्तशुद्धिः इत्यादयः आन्तरिकशौचाः वर्तन्ते। शुद्धं, निर्विकारं, नीरोगं, स्वस्थं च शरीरं विना योगसाधनं कठिनतमं भवति। तदर्थं योगे विद्यमानास्वन्यान्यपद्धतिषु काश्चन अत्र उच्यन्ते यथा - हठयोगे उक्तरीत्या षट् क्रियाः -

'धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकिस्त्राटकस्तथा।

कपालभातिश्चेति षट् कर्माणि समाचरेत्।' इति गोरक्षसंहितायामुक्तमस्ति। तथा एतदेव हठयोगप्रदीपिकायां , घेरण्डसंहितायां चोक्तं वर्तते। षट् कर्मणां विधिः तथा अभ्यासक्रमश्च क्रियाविभागे व्याख्यातो वर्तते इति मत्वा अत्र न विव्रियते।

एवं विद्यमानशौचपालनेन लभ्यानि प्रयोजनानि पतञ्जलिना सूत्रद्वयेन उक्तानि सन्ति यथा - 'शौचात् स्वाङ्गजुगुप्सा परैरसंसर्गः' इति। शौचपालनेन मलाः दूरीभवन्ति। तेन स्वे शरीरे विद्यमाना ममत्वबुद्धिः दूरीभवति। तदानीं स परैः संसर्गं दूरीकरोति। तथा सत्त्वशुद्धिः भवतीति। तेन 'सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्द्रियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च'। यदा सत्त्वशुद्धिर्जायते

तदा चित्तशुद्धिर्भवति। तदा मनः प्रशान्तं भवति, स्वच्छताञ्च याति। स्वभावतः स्वच्छं मनः एकाग्रं भवति। तेन इन्द्रियजयः सम्पद्यते। तेन स्वत आत्मदर्शनयोग्यता च भवतीति। तत्तु कठोपनिषदि उक्तं वर्तते यथा,

'पराञ्चि खानि व्यतृणात् स्वयंभूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।

कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्॥ (कठ. ४ - १) इति।

**सन्तोषः**

स्वसामर्थ्यस्यानुसारेण उचितान् प्रयत्नान् कृत्वा तेन यत् फलं प्राप्नोति, तेन फलेन प्रसन्नचित्तो भवेत्। स एव सन्तोषः। दुःखस्तावज्जडः। तदेव मनुस्मृतावप्युक्तं यथा,

'आध्यात्मिकाश्चतस्त्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः।

बाह्यविषयोपरमान् पञ्च नव तुष्टयोऽभिमताः॥ (सां. का. ५०) इति। एवंप्रकारस्य सन्तोषस्य अभ्यासेन अनुत्तमः सुखलाभः एव सम्पद्यत इति पतञ्जलिना स्पष्टीकृतं यथा - 'सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः' (पा. यो. सू. ३-४१) इति। तेन तृष्णायाः सर्वनाशो भवति। अन्यथा तद् बाह्यसुखमेव। बाह्यसुखानुभवेन तृष्णा वर्धते एव। तदर्थमेव व्यासेन उक्तमस्ति यथा,

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः शोडषीं कलाम्॥' इति।

**तपः**

योगाङ्गेषु प्रमुखतया विद्यमाना उपाधिस्तावत् चित्तशुद्धिर्भवेदिति। तदर्थं तपः अपि

उक्तमस्ति। समाधिप्रापणार्थं चित्तशुद्धिरावश्यकी। चित्तशुद्ध्यर्थं मनः, इन्द्रियाणि, शरीरम्, प्राणः, इत्यादीनां वशीकरणाय उचितरीत्या अभ्यासः कार्यः। तदर्थं विद्यमाना विशेषा नियमाः तप इति व्यवहृता वर्तन्ते। तेषु मुख्यतया चान्द्रायण-कृच्छ्र-सान्तपनादीनि वर्तन्ते। अस्य च तपसोऽभ्यासात् कायेन्द्रियसिद्धिः, अशुद्धिक्षयश्च भवतीति पतञ्जलिना उक्तम् यथा - 'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः' (पा. यो. सू. २-४३) इति। उपर्युक्तसूत्रेणायमर्थो भवति यथा तपसोऽभ्यासेन शरीराशुद्धेः क्षयो भवति। तथा इन्द्रियशुद्धिरित्युक्ते इन्द्रियाणां नियमनसामर्थ्यसम्पादनमित्यर्थः। तदानीं मनोऽपि स्वाभाविकतया वशीकृतं भवतीत्यर्थः। एवंरीत्या कायेन्द्रियसिद्ध्यर्थं तपसोऽभ्यासः आवश्यक इति सिद्धम्।

**स्वाध्यायः**

स्वगतः अध्यायः स्वाध्यायः, इत्युक्ते आत्मज्ञानाय मानसिकोऽभ्यासः। तत्र प्रमुखतया प्रणवध्यानं भवति। तथैव वेदमन्त्रोच्चारणम्, अवगमनम्, पुराणादिशास्त्राणां अध्ययानम् इत्यादिरूपेण स्वाध्यायो भवति।एवंरीत्या अभ्यासेन इष्टदेवतानां सिद्धपुरुषाणां च अपरोक्षं भवति। तेन योगमार्गे साधनं सुलभं भवति इति। तदेव पतञ्जलिना उक्तम् - 'स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः' (पा. यो. सू. १-४४) इति।

**ईश्वरप्रणिधानम्:**

ईश्वरप्रणिधानं नाम सर्वदा सर्वकर्मणां ईश्वरार्पणबुद्ध्या आचरणम्। अनेन चित्तवृत्तिः शीघ्रं स्थिरा भवति। समाधिस्तु तस्याः फलम्। तदर्थमेव पतञ्जलिना उदीरितम् - 'समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात्' इति। एवं शरीरेन्द्रियमनसां निग्रहणाय उत्तमतया प्राणसञ्चयनार्थं

यमनियमानां उपयोगः। यमनियमानां अभ्यासो नास्ति चेत्, तादृशस्तु योगेऽधिकारी न भवति, समाहितचित्तोऽपि न भवति। तदर्थं विद्यमानानां गुणानां सम्पादनाय एव यमनियमानां अभ्यासः। अत्रैव आहारविहाराचारविचाराश्च अन्तर्गता भवन्ति इति कारणात् तेषां परिचयोऽपि दीयते।

**बन्धाः**

बन्धशब्दस्य धारणम् इत्यर्थः। योगपरम्परायां बन्धत्रयमेव वर्तते। तेषां अभ्यासक्रमः गुरुपरम्पराद्वारैव ज्ञातुं शक्यते। हठयोगप्रदीपिकायां घेरण्डसंहितायां च बन्धानां विवरणं लभ्यते। तथैव प्राचीनतान्त्रिकग्रन्थेषु विद्यामनानां बन्धानां , तथा मुद्राणाञ्च प्रयोगे व्यत्यासो दृश्यते। योगाभ्यासे बन्धाः केवलं प्राणायामाभ्यासार्थं वर्तन्ते। तथापि योगग्रन्थेषु बन्धाः त्रय एव। जालन्धरबन्धः, उड्याणबन्धः, मूलबन्धश्चेति। अन्य एकश्चतुर्थः महाबन्धस्तु मुद्रारूपेण अभ्यासः। प्राणायामाभ्यासेऽनावश्यकः। बन्धशब्दस्य 'धारणम्' इति अर्थे स्वीकृते सति वायोः धारणम् इत्यर्थः। यदा प्राणायामाभ्यासः क्रियते, तदा शरीरमध्ये लिङ्गस्थानात् कण्ठदेशपर्यन्तं स्वप्रयत्नेनैव वायुं यथास्थाने बद्धं कुर्यात्। अन्यथा प्राणायामस्य। फलं न लभ्येत। एवं निगदितस्थानेषु वायोरवरोधनार्थं बन्धाः विद्यन्ते। तेन प्राणशक्तेः सञ्चयनं कृत्वा सुषुम्नानाड्यां कुण्डलिनीशक्तेः प्रवहणं कर्तुं शक्नुयात्। अन्यथा न। एवं विद्यमानानां बन्धत्रयाणां विवेचनं क्रियते।

**मूलबन्धलक्षणम्:**

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्।

असानमूर्ध्वमुत्कृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते॥ इत्युक्ते पादस्य पार्ष्णिभागेन जननेन्द्रियस्य मूलभागं सम्यक् धृत्वा उपविशेत्। मलद्वारसङ्कोचनं कृत्वा अधोभागं सम्पूर्णतया आकुञ्चयेत्।

तदानीं मूलबन्धः इत्यभिधीयते। किमर्थमयं मूलबन्धः इत्युक्ते अधस्तात् व्याख्यातमस्ति -

'अधोगतिमसानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते जलात्।

आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं तु योगिनः।' इति। अपानवायुः सदा शरीरे अधस्तात् प्रवहति। तेन शरीरे निश्शक्तिर्भवति। तस्मात् तस्य ऊर्ध्वगमनं कारयितुं अनेन अभ्यासेन शक्यते। अत एव मूलबन्धः इत्यर्थः। मूलमित्युक्ते सामान्यार्थे आरम्भस्थानमित्यर्थः। मूलाधारचक्रस्य स्थानं 'मूलं' इति शब्देन साधारणतया व्यवह्रियते। परन्तु योगिनां मते नाभेरधः योनिभागे मांसपिण्डानां दौर्बल्यकरणार्थं विद्यमानो दुर्वायुः इत्यर्थः।

**अभ्यासक्रमः:**

गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।

वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः। अत्र सामान्यतया अभ्यासः पद्मासने उपविश्य भवति। विशेषस्तु मूलबन्धासने उपवेष्टव्यमिति। मूलबन्धासनमित्युक्ते उभयोः पार्ष्ण्योः उपरि गुदं निक्षिप्य जानुद्वयोः स्पर्शः भूमौ यथा भवति, तथा निक्षेपणम्। एवं रीत्या उपविश्यते चेत् मूलबन्धासनम्। अत्रैव पार्ष्णिभागेन सम्यक् योजयित्वा पायुभागं पुनः पुनः आकुञ्चितं कुर्यात्। तदानीं अपानो वायुः ऊर्ध्वगतो भवति।

**अभ्यासफलम्:**

'प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।

गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।' अपानवायुः प्राणवायुश्च ऐक्यं गच्छतः। नादस्तथा बिन्दुश्च लीनौ भवतः। अनेन हृदये विद्यमानोऽनाहतः शब्दः श्रूयते।

अन्ते योगसिद्धिं, तन्नाम समाधिं च स प्राप्नोति।

**विशेषफलम्:**

'अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।'

सततं मूलबन्धस्याभ्यासेन प्राणापानौ ऐक्यं यातः। तदानीं जठराग्निर्वर्धते। मनः प्रशान्तं भवति। शरीरे कश्मलस्य क्षीणता भवति। तेन मूत्रपुरीषादयोऽपि क्षीयन्ते। इत्युक्ते अधुनातने काले विद्यमानान् प्रमेहादीन् तथा जननग्रन्थिदोषान् दूरीकरोति इति सामान्यतया वक्तव्यं भवति। एतेन वार्धक्ये वर्तमानोऽपि यौवनं अनुभवति शरीरे, मनसि च। ततोऽपि अभ्यासो दृढो भवति चेत् कुण्डलिनीप्रबोधोऽपि जायते। तदानीं [illegible] स्थिरतां व्रजति। तस्मादेव योगाभ्यासे अवश्यं मूलबन्धः कार्य इति योगिनां मतम्।

**उड्डीयानबन्धः:**

सुषुम्नायामुड्डीयतेऽनेन बद्धः प्राण इति उड्डीयानम्। उत्पूर्वाड्डीङविहायसा गतावित्यस्मात् करणे ल्युट्। इत्युक्ते अस्माकं शरीरे यस्य भागस्य बन्धनेन जीवनाधारभूतं प्राणः मेरुदण्डे सूक्ष्मतन्तुवत् ब्रह्मरन्ध्रपर्यन्तं व्याप्य विद्यमानायां सुषुम्नायां सञ्चरति, तेनैव उड्डीयानबन्धः इति मत्स्येन्द्रादियोगिभिः कथितं यथा,

'बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।

तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिस्समुदाहृतः।' इति।

**उड्डीयानबन्धस्य लक्षणम्ः**

'उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं समाचरेत्।

ऊड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥' उदरभागं नाभेरूर्ध्वं अधस्तात् उपरिष्ठादपि च इत्युक्ते सम्पूर्णं उदरभागं मेरुपृष्ठे नियोजयेत् यथा तथा आकर्षणं कुर्यात्। परन्तु किञ्चित् ऊर्ध्वतां व्रजेत्। तदानीं तदुड्डीयानं भवति। परन्तु एष अभ्यासो गुरुमुखेनाध्येयः। अत्र उत्कटासने स्थित्वा रेचकं कृत्वा उपर्युक्तवत् आकुञ्चनं करणीयम्। तस्यां स्थितौ किञ्चित्कालपर्यन्तं स्थातव्यम्। एवं अभ्यासेन सः मृत्युमपि जेतुं शक्नोति। यथा सिंहः मातङ्गं हन्ति, तथा। परन्तु अभ्यासार्थं उत्तमरीत्या रेचकाभ्यासः दृढः कार्यः। तेन अभ्यासः सुलभो भवेत्।

**अभ्यासफलम्ः**

'उड्डियाणं तु सहजं गुरुणा कथितं तथा।

अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते॥'

प्रयत्नेन विनाऽपि सुलभतया उड्डीयणात्मको बन्धः कार्यः। अभ्यासस्तु गुरुमुखेनैव ज्ञेयः न त्वन्यथा। एवंरीत्या ज्ञात्वा यः सदा अभ्यासं करोति, सः वृद्धोऽपि तरुणवत् शक्तिमान् भवति। इत्युक्ते शरीरेन्द्रियाणां तथा जाठराग्नेश्च शक्तिः, मानसिकी शक्तिश्च यूनो यथा तथा भवति इत्यर्थः। तथैव तस्य सतताभ्यासेन अधिको लाभः कथं भवति इति अत्र वदति यथा -

'नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः।

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः॥' इति। उड्डीयानबन्धस्य अभ्यासकाले

नाभेः ऊर्ध्वं अधस्ताच्च सङ्कोचनं कुर्यात्। तदपि आरम्भकाले प्रयत्नपूर्वकम्। अनन्तरं सहजतया, इत्युक्ते अल्पेन प्रयत्नेन, कुर्यात्। एवं षण्मासाभ्यासेन स अभ्यासी मृत्युमपि जयति। अत्र नाभेरूर्ध्वं अधस्ताच्च सङ्कोचनेन उदरभागः सम्पूर्णतया मेरुपृष्ठपर्यन्तं नयेत् इत्यर्थः। तदानीमेव प्राणशक्तेः चलनं सुषुम्नया नाड्या भवति। तेन जीवन्मुक्तो भवति। तथा मृत्युं जयति इत्यर्थः।

**जालन्धरबन्धलक्षणम्:**

'कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम्।

बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः।'

अन्यबन्धेषु यथोक्तं तथा विना प्रयत्नेन कार्यः अयं बन्धः। तदर्थं पद्मासने उपविश्य पूरकं कृत्वा रेचकात् पूर्वं अस्य बन्धस्य अभ्यासः। तदानीं कण्ठं आकुञ्च्य कण्ठमूले (हृदये) चिबुकं दृढं धारयेत्। एतदेव जालन्धरबन्ध इति संज्ञारूपेण उक्तमस्ति। अस्याभ्यासेन जरामृत्युः विनाशं याति। तत् कथं इति अधस्तात् विवृतं वर्तते।

बध्नाति हि सिराजालमधोगामि नभोजलम्।

ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशकः।

अस्य जालन्धरबन्धस्य अभ्यासेन शरीरे विद्यमानचन्द्रमण्डलात् अधोगामि नभोजलं सिराजाले बध्नाति। तेन तस्य रक्षणं भवति। तस्मात् कण्ठस्थाने यानि दुःखानि आयान्ति, तानि दूरीकरोति इत्यर्थः। कण्ठे तावत् दुःखानि श्वासप्रश्वासयोः विषये भवन्ति। तानि मरणे समाप्तं भवति। तस्मादेव जरामृत्युविनाशकः इति उक्तम्। अत्र जरा, मृत्युः, इत्यादिविषयाः मानवस्य आयुर्विषये विद्यमानानि प्रमाणानि। आयुःक्षयः इत्युक्ते अत्र योगपद्धत्यां तु नभोजलस्य ह्रासो भवति। स

तु सर्वदा चन्द्रमण्डलात् सूर्यमण्डलं प्रति स्रवति। तस्य रक्षणं आयोः रक्षणमिति मत्वा तस्य रक्षणाय प्राधान्यं अत्र वर्तते। अस्य बलाबलेन ज्ञापकशक्तिरपि व्यत्यस्ता भवति। रक्षणेन स्मृतिर्वर्धते।

**विशेषफलम्:**

'जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे।

न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।' जालन्धरं बन्धं समीचीनतया यः अभ्यस्यति, तस्य शरीरे चन्द्रमण्डलात् यो द्रवः पतति तत् पीयूषम्। तदग्नौ न पतति। अग्नौ इत्युक्ते सूर्यमण्डले। तस्मात् कारणात् वायुप्रकोपः शरीरे न भवति। वायुप्रकोपस्तावत् अजीर्णस्य कारणं भवति। तेन नानाविधा रोगा भवन्ति। तस्मात् यः जालन्धरबन्धं अभ्यस्यति, तस्य वायुप्रकोपो न भवतीत्यर्थः। एतत्तु प्रमुखं वर्तते। किमर्थमित्युक्ते शरीरे विद्यमानेषु त्रिदोषेषु वायोः संयमनमेव कष्टतरं वर्तते। तत्तु अनेन साधयितुं शक्यते।

### 2. 3. क्रियाः

योगाभ्यासे तावत् विवरणतया अभ्यासक्रमाः पातञ्जलयोगसूत्रे नास्ति । परन्तु हठयोगप्रदीपिकायां स्वात्मारामेण स्पष्टतया निर्दिष्टमस्ति। अस्मिन् ग्रन्थारम्भे एव स्वात्मारामेण उक्तं वर्तते यत् राजयोगपदप्राप्त्यर्थमेव हठयोगस्य उपदेशः इति। हठयोगे तावत् प्रथमाङ्गत्वेन असनम् अङ्गीकृतमस्ति। तदनन्तरं प्राणायामविधिः विवृतमस्ति। तत्र शरीरे विद्यमान नाडीनां शुद्धिकार्य अन्यथा प्राणः समीचिनतया न प्रवहति। तेन प्राणायामस्य फलं न लभेत्। अन्यथा रोगादीन् उल्बणं गत्वा शरीरे दोषान् जाग्रयात् इति उक्तवान्। तस्मादेव उक्तं यथा-

**मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।**
**अन्यस्तु नाचरेत् तानि दोषाणां समभावतः** ।। – इति। (ह.यो.प्र.)

अत्र एवम् उक्तत्वात् के के अभ्यासयोग्याः इति ज्ञात्वैव कुर्यात्। तदर्थं गुरूपदेश अत्यावश्यकः वर्तते। अन्येनैव आचरणीयं वर्तते। एवं रीत्या घेरण्डसंहितायाम् अपि तस्य विचाराः विवृताः वर्तन्ते। प्रमुखतया ईदृशक्रियाणां सङ्ख्या तावत् षट् एव उपविभागाः वर्तन्ते घेरण्डसंहितायाम् । अत्र केवलं मुख्यक्रियाणां परिचयः एव क्रियते। तेषां साकम् उपयोगा अपि विवृतमस्ति। तथा उपयोगेन तादृशरीत्या विद्यमानरोगाणां शोधनं सुलभतरं भवति। एतदर्थं एतेषाम् अध्ययनम् अभ्यासश्च करणीयं भवति।

**षट्क्रियाः** 

- धौति
  - अन्तर्धौति
    - वातसारं
    - वारिसारं
    - वह्निसारं
    - बहिष्कृतम्
  - दन्तधौति
    - दन्तमूलं
    - जिह्वामूलं
    - रन्ध्रेकर्णयुग्मयोः
    - कपालरन्ध्रं
  - हृद्धौति
    - दण्डधौति
    - वमनधौति
    - वासोधौति
  - मूलशोधनम्
- बस्ति
  - जलबस्ति
  - शुष्कबस्ति
- नेति
- त्राटक
- नौलि
- कपालभाति
  - वातक्रम
  - व्युत्क्रम
  - शीत्क्रम
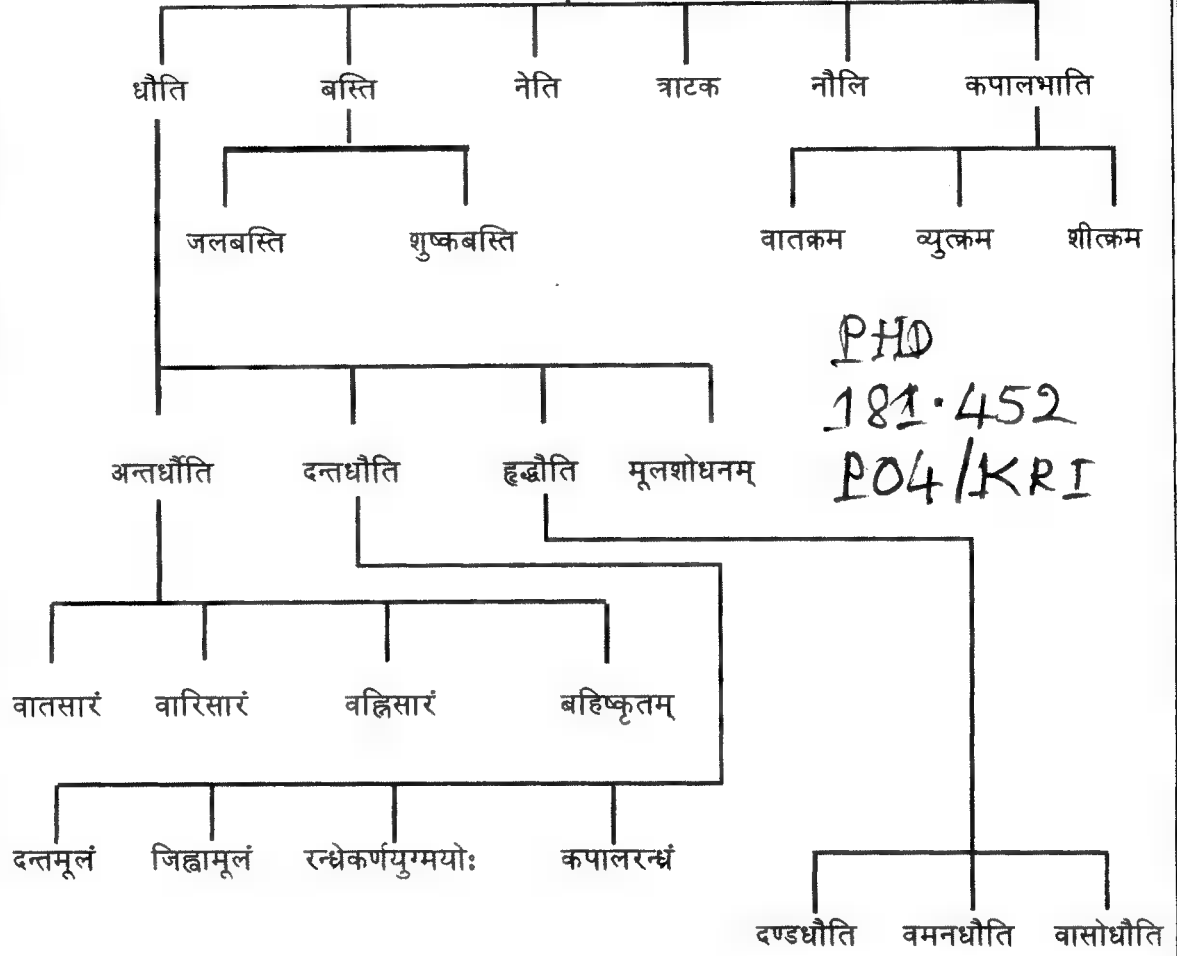


एवम् उपर्युक्तरीत्या विभागाः वर्तन्ते घेरण्डसंहितायाम् । हठयोगप्रदीपिकायाम् उक्तवत् षट्क्रियाणां विवरणम् अत्र दीयते ।

**धौतिर्बस्ति तथा नेति त्राटकं मौळिकं तथा ।**
**कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते ॥**

**कर्मषट्कमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ।**
**विचित्रगुणसन्धायी पूज्यते योगिपुङ्गवैः ॥**

घटस्य शरीरस्य शोधनं मलापनयनं करोतीति घटशोधनकारक इदमुद्दिष्टं कर्माणां षट्कं धौत्यादिकं गोपनीयम् । विलक्षणं गुणं षट्कर्मरूपं सन्धानं कर्तुं शीलस्येति विचित्रगुणसन्धायी

योगिपुङ्गवैः योगिश्रेष्ठैः पूज्यते सत्क्रियते च। गोपनाभावे तु षट्कर्मकम् अन्यैरपि विदितं स्यादिति भावः।

तत्र धौतिः

**चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ।**
**गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैग्रसेत् ।**
**पुनः प्रत्याहरे शैतदुरितं धौतिकर्म तत् ।।**

**कासश्वासप्लीहकुष्ठं कफरोगांश्च विंशतिः ।**
**धौतिकर्म प्रभावेण प्रयान्त्येव न संशयः ।।**

अथ बस्तिः

**नाभिदघ्न जले पायौ न्यस्त नालोत्कटासनः ।**
**आधाराकुञ्चनं कुर्यात् क्षालनं बस्ति कर्म तत् ।।**

**गुल्मप्रलीहोदरं चाहु वातपित्तकफोद्भवाः ।**
**बस्तिकर्मप्रभावेण क्षीयन्ते सकलामयाः ।।**

**धात्विन्द्रियान्तःकरण प्रसादं दद्याच्च कान्तिं दहनप्रदीप्तिम् ।**
**अशेषदोषोपचयं निहन्यात् अभ्यस्तमानं जलबस्तिकर्म ।।**

अथ नेतिः

**सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।**
**मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धयेर्निगद्यते ।।**

**कपालशोधनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ।**
**जत्रूर्ध्व जातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ।।**

अथ त्राटकम्

**निरीक्षेत् निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ।**
**अश्रुसम्पातपर्यन्त माचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ।।**

**मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ।**
**यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ।।**

अथ नौलिः

**अमन्दावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।**
**नतांसो भ्रामयेदेता नौलिः सिद्धैः प्रशस्यते ।।**

**मन्दाग्निसन्दीपन पाचनादि सन्धापिकानन्दकरी सदैव ।**
**अशेषदोषामय शोषणी च हठक्रिया मौलिरियं च नौलिः ।।**

अथ कपालभातिः

**भस्त्रावल्लोकहारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमौ ।**
**कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशेषणी ।।**

**षट्कर्मनिर्गतस्थौल्य कफदोषमलादिकः ।**
**प्राणायामं ततः कुर्यात् अनायासेन सिद्ध्यति ।।**

घेरण्डसंहितायाम् उक्त विशेषफलानपि अत्र सङ्गृहीतमस्ति । यथा-

**षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम् ।**
**मुद्रया स्थिरताश्चैव प्रत्याहारेण धीरता ।।**

**वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारकम् ।**
**सर्वरोगक्षयकरं देहानिलविवर्धनम् ।।**

**नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठे शतवारं च कारयेत् ।**
**उदर्यमामयं त्यक्त्वा जाठराग्निं विवर्धयेत् ।।**

**अथातः सम्प्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधनकारकम् ।**
**जरामरणरोगादीन्नाशयेद्दीर्घलम्बिका ।।**

**तर्जन्यङ्गुल्यकाग्रेण मार्जयेत् कर्णरन्ध्रयोः ।**
**नित्यमभ्यासयोगेन नादान्तरं प्रकाशयेत् ।।**

**वृद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेण मर्दयेत् बालरन्ध्रकम् ।**
**एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।।**

**नाडीनिर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।**
**दण्डधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद्ध्रुवम् ।।**

**गुल्मज्वरप्लीहकुष्ठं कफपित्तं विनश्यति ।**
**आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिनेदिने ।।**

**अपानक्रूरता तावद्यावन्मूलं न शोधयेत् ।**
**तस्मात्सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ।।**

**प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।**
**भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ।।**

**एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम् ।**
**नेत्ररोगा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ।।**

**न जायते वार्धकं च ज्वरो नैव प्रजायते ।**
**भवेत्स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत् ।।**

एवं रीत्या अभ्यासक्रमः तथा तेषाम् उपयोगाः व्याख्याततत्वात् स्पष्टं यत् आरोग्यप्राप्त्यर्थमेव पूर्वयै उक्तानि षट्कर्माणि । अनन्तरमेव अन्यान्य साधनापद्धतयः तस्मात् वयमपि 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसादनम्' इतिवत् उत्तमशरीरसम्पादनाय उपयोक्तव्यं समीचिनतया इति मे भाति । किमथरं इत्युक्ते अत्र वातपित्तकफरोगाणां सुलभपरिहार उपायाः वर्तन्ते । इदम् अन्येषाम् उपरि तथा स्वयं च अभ्यस्य अवगतमस्ति । इत्यत्र नास्ति सन्देहः ।।

## 2. 4. आसनानि

अस भुवि धातोः निष्पन्नं पदं आसनमिति । आस्यते अनेन इति आसनम् । नाम स्थास्यति इत्यर्थः । शरीरम् एकरूपेण अनुकूलतया स्थापनम् अथवा यस्यकस्यापि आकारानुसारं स्थापनम् 'आसनम्' इति सम्पीडितोऽर्थः । तस्मादेव आसनस्यापि नामानि आकारसदृशमेव भवन्ति । यथा- 'वृक्षासनम्' इत्युक्ते वृक्षवत् इत्यर्थः ।

**मयूरासनं-** मयूरवत् शरीरस्थिति इत्यर्थः ।

**गरुडासनम्-** गरुडवत् शरीरस्थितिः इत्यर्थः । एवं आसनानि बहवः भवन्ति । अत एव

तेषां गणना असंख्या एव । तस्मिन् विषये हठयोगप्रदीपिकायाम् उक्तम्- ''आसनानि यावन्तो तावन्तो जीवराशयः'' इति । अस्मिन् प्रपञ्चे विद्यमानाः जीवराशयः आसनसंख्यत्वेन उक्तमस्ति । तद्विषये प्राचीनैरुक्तं- ३४ लक्ष इति । परन्तु तावतामासनानां अभ्यासः आवश्यकं वा? तदभ्यासक्रमः अनुगृह्णातुं शक्यते वा इति सन्देहः । सर्वैरपि सर्वासां आसनानां अभ्यासः न कार्यः । तथा आसनाभ्यासः अशक्यमपि च । परन्तु आसनाभ्यासः आवश्यकः । तथापि तत्र निर्दिष्ट संख्यात्वेन वक्तुं न शक्यते । किमर्थम् इति चेत्, तत् तस्य तस्य शरीररचना तथा सामर्थ्यं च अनुसृत्य वर्तते । तत्र एकैकमपि आसनस्य विरुद्धतया सहायक आसनानि वर्तन्ते । तेषां अभ्यासेनैव आसनक्रमः सुगमः भवति । अन्यथा शरीरे वेदनां उत्पद्यते । समीचीनतया अभ्यस्यते चेत् वेदना दूरी भवति । एवं विद्यमानस्य आसनस्य लक्षणं पतञ्जलिना योगसूत्रे उक्तम् । तद्यथा स्थिरं सुखमासनम् इति । आसन अभ्यासेन शरीरे सुखानुभवः तथा स्थिरता च भवेत् । तत् केवलं शरीरम् इति न, मनसि अपि अपि । तदानीमेव तत् आसनं भवति । अन्यथा न तद् आसनम् । आसनाभ्यासेन मनसा काया च लघुत्वं भवति चेत् सुखानुभवः भवति अन्यथा न । अपि च शरीरेन्द्रियाणां स्थिरता सम्पादनार्थं मनसः स्थिरता अपेक्षते । एवं क्रमेण अभ्यासः करणीयः चेत् आदौ तदुपायः अभ्यसनीयः । अभ्यासक्रमस्य उपायः यथा- ''प्रयत्नशैथिल्य आनन्तसमापत्तिभ्याम्'' इति पतञ्जलिमहर्षिणा उक्तम् । प्रयत्नशैथिल्यमित्युक्ते विना काठिन्येन अभ्यासः । तेन अभ्यासेन अनन्तेवास्तुनि मनः केन्द्रीकरणम् अथवा नागनायके आदिशेषे समापत्तिः भवति । अनन्ते समापत्तिः क्रियते चेत् तदा मनसः स्थिरत्वं स्वभावतः भवति । तदा शरीरेऽपि स्थिरता भवति । आदिशेषे समापत्तिः चेत् तद्वदेव अचलः तथा चित्तं अचलो भवति इति । परन्तु शरीरे इन्द्रियाणि, चित्तं, श्वासोच्छ्वासः, मांसाद्यवयवाः सन्ति । तेषु स्थिरता तथा

सुखता प्राप्त्यर्थं एतत् गुरुमुखेनैव ज्ञातव्य भवति । अस्मिन् परम्परायां प्रत्येकस्मिन् आसने चत्वारिविभागाः सन्ति । यथा-

१. श्वासोच्छ्वासः, २. विन्यासः, ३. स्थितिः, ४. दृष्टिरिति ।

श्वासोच्छ्वासः प्रत्येकस्मिन् आसने प्रत्येकतया श्वासोच्छ्वास अस्ति । तेन साकं शरीरविन्यास अपि करणीयः । तयोः उभयोः वेगः समानमेव भवितव्यम् । तत्रापि आसनं श्वासः श्वासोच्छ्वासः कुत्र कुत्र कथम् इति सामान्य नियमो नास्ति । प्रत्येकस्मिन् आसने स च श्वासोच्छ्वासः भिन्ना एव । एवं रीत्या श्वासोच्छ्वासस्य करणेन मनसः नरमण्डलश्च काठिन्यं दूरी भवति । तस्य स्थितिस्थापकत्वं वर्धते ।

**२. शरीरविन्यासः -** विशेषेण न्यासः विन्यासः । शरीरस्य विविधरूपेण स्थापनं इत्यर्थः । ते विन्यासाः पद्मासनं, वृक्षासनं, मयूरासनं, उष्ट्रासनम् इत्यादि । परन्तु स्थापनार्थं शरीरे मांसखण्डेषु काठिन्यता भवति । तन्निवारणार्थं श्वासोच्छ्वासपूर्वकं विन्यासः करणीयः । तदानीं शरीरे मांसखण्डेषु रक्तचलनं सुलभतया भवति । तेन कठिनता दूरी भवति । परन्तु यावत् शक्यं तावदेव अभ्यसेत् । अन्यथा कष्टतरं अपायं च भवति । किमर्थम् इत्युक्ते बलात्कारेण क्रियमाणे रक्तसञ्चारस्य अवरोधनमेव भवति । शरीरे अतीव श्रमोऽपि जायते । तदानीं वेदनापि भवति । श्वासोच्छ्वासेनसाकं विन्यासः क्रियते चेत् कुत्रापि बाधा न भवति । स्नायुव्यूहस्य बलं तथा दृढता वर्धते च । तदानीमेव सम्यक् रूपेण शरीरस्य स्थापनं शक्यम् । एवं समीचीनपद्धतिर्विना शरीरं विभिन्न विभिन्न आकारेषु स्थापयितुं अशक्यम् । तस्मात् विन्यासः श्वासोच्छ्वासौ आसने मूलाधारौ । अन्यथा आसनसिद्धिः भवेत् ।

**३. स्थितिः -** एकस्मिन्नेव आकारे दीर्घकालपर्यन्तं शरीरस्य स्थापनं स्थितिरित्युच्यते । अनेन शरीरे स्थिरता भवति । तस्य उपयोगः मनसः स्थिरीकरणार्थम् । तेन शरीरस्यापि स्थिरता । तत् कथमित्युक्ते अस्माकं इन्द्रियाणि बर्हिर्मुखाः सन्ति । तेन बहिस्थानां विषयाणां

स्वीकरणं भवति । ततः अन्तः विद्यमाने ज्ञानं विषयवस्तुना सह सम्पर्कः भवति । असौ द्वावपि इन्द्रियव्यापारौ स्तः । तदानीं इन्द्रियेषु स्थिरता नास्ति । चाञ्चल्यमेव वर्तते । यदा आसनस्थितिः भवति तदानीं इन्द्रियाणां व्यापारः नास्ति । तस्मात् स्वाभाविकतया स्थिरता सम्पद्यते । तदर्थमेव आसनेषु एकस्मिन्नेव स्थितौ स्थातुं प्रयत्नतया सार्थक्यं भवति । परम्परा प्रवर्तका अपि वदन्ति यथा- ''आसनस्थितौ सार्ध एकघण्टाकाल पर्यन्तं स्थातव्यम्'' इति । तदेव आसनस्य स्थिति इति ।

**४. दृष्टिः -** एकत्रैव वीक्षणं दृष्टि इति उच्यते । अत्र मुख्यतया अन्तर्दृष्टिः बर्हिर्दृष्टि इति द्विधा विभागः क्रियते । बर्हिर्दृष्टै न तु नासाग्रदृष्टिः, जिह्वाग्र, भ्रूमध्यरूपेण नाना प्रदेशेषु प्रेक्षणं भवति । अन्तर्दृष्टौ तु अक्षणौ निमील्य हृदयाकाशे, मूर्धज्योतिषु अनाहतध्वनौ इत्यादिषु केन्द्रीकरणं भवति । एतादृश अभ्यासेन मनः चाञ्चल्यं दूरी भवति । मनः स्थिरो भवति च । तदानीं स्वाभाविकतया शरीरस्थापि स्थिरता भवति इति नियमः । अत्र तु पञ्चज्ञानेन्द्रियाणां तथा कर्मेन्द्रियाणां निग्रहार्थं एते उपायाः सूचिताः वर्तन्ते । इन्द्रियाणां साकं मनसः अपि स्थिरत्वं न सम्पद्यते । यथा भगवद्गीतायां उक्तम्- ''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः'' इति । तस्मात् ''मनः प्रशमनोपायः योगः'' इत्युक्तम् अध्यात्मरामायणे । मनः प्रशमनं इत्युक्ते रजोगुणस्य प्रशमनं इत्युक्तं भवति । पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, कर्मेन्द्रियाणि तथा मनः अहङ्कारात् उत्पद्यन्ते । तस्मात् रजोगुणाधिक्यं भवति । ''आसनेन रजोहन्ति'' इति उपनिषद्वाक्यम् । (योगोपनिषद्) आसनाभ्यासेन रजोगुणनाशः भवति सत्त्वगुणः वर्धते च । तदानीमेव मनसि शरीरे च स्थिरता सुखता च अनुभवितुं शक्यते । अन्यथा न । तदेव पतञ्जलिना आसनस्य उपयोग कथन सूत्रे उक्तं यथा- ''ततो द्वन्द्वानभिघातः'' (पा. यो. सू. सा. पा.) आसनाभ्यासेन शीतोष्णसुखदुःखादयः दूरी भवन्ति । तेषां बाधा न भवति इति उदीरितम् । एवं विद्यमान आसनानां अभ्यासक्रमः

पातञ्जलयोगसूत्रे न विवृतम्। तत्तु हठयोगप्रदीपिकायां, घेरण्डसंहितायां च वर्तते। परन्तु तादृश ग्रन्थेषु केवल प्रामुख्य आसनानां विवरणं लभ्यते । ''योगकुरण्टी नामक ग्रन्थे द्विशताधिक आसनानां विवरणं अस्ति इति श्रूयते। परन्तु तस्य ग्रन्थस्य उपलब्धिः अधुना नास्ति। अस्ति चेत्- ''ब्रिटिष् लैब्रेरी, इङ्ग्लेण्ड्'' देशे एव न तु अन्यत्र। अत्र हठयोगप्रदीपिकायां घेरण्डसंहितायां च उक्तरूपेण आसनस्य परिकल्पनं दीयते।

**हठयोगप्रदीपिकायां आसनपद्धतिः प्रयोजनश्च-**

हठयोगस्य तावत् प्रथमाङ्गं आसनम्। अत्र अभ्यासक्रमः एवं अस्ति।

**असनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा।**
**अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे ॥** इति ॥

आसनं, नानाविधैः प्राणायामः, नानविध मुद्राणां अभ्यासः, तदनन्तरं नादानुसन्धान अभ्यासः इत्येते हठयोगो अनुक्रमेण अभ्यसनीयाः वर्तन्ते। अत्र आसनाभ्यासेन फलं एकं वदति- ''कुर्यात् तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम्'' इति तेन स्पष्टं भवति यत् आसनाभ्यासेन स्थैर्यं तथा अङ्गलाघवं भवति इति। पातञ्जलयोगसूत्रे अपि उक्तमस्ति रोगस्य चित्तविक्षेपत्वं कारणम् इति । यथा व्याधिस्थानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानि चित्तविक्षे-पास्तेन्तरायाः'' इति (स.पा. ३०) । अङ्गानां लघावं नाम लघुत्वमिति । तदर्थं गौरवरूप तमोगुणस्य नाशः अपेक्षते। तदपि एतेन उक्तम्। एवं तमोगुण रजोगुण नाशनद्वारा सत्वगुणस्य वृद्धिः । तदानीं शरीरे मनसि च स्थिरता सुखता च अनुभवितुं आसनाभ्यास इति।

## 2. 5. मुद्राः

मुद्राणां अभ्यासक्रमस्तु हठयोगप्रदीपिकायां तथा घेरण्डादि ग्रन्थेषु वर्तन्ते । नास्ति पातञ्जलयोगसूत्रे। अत्र वक्तव्यं भवति यत्- पातञ्जलयोगस्य अभ्यासार्थं बहवः अन्ययोगाभ्यासानां सहायता आवश्यकं वर्तते। पातञ्जलिस्तु केवलं मुख्यरूपाणां निरूपणं सूत्रतया कृतमस्ति। विवरणं तथा अभ्यासक्रमार्थं तस्मात् अन्यत्रैव आश्रयणीयं भवति। एवं चिन्त्यमाने हठयोगे उत्तमरीत्या

विचाराः लभन्ते। तथैव मुद्राणामपि विवरणम् अत्र दीयते। मुदं रातीति मुद्रा। मुदन्तु मनसि भवति। तेन शरीरेऽपि सन्तोषः भवति इत्यर्थः। अभ्यासे तावत् मुद्राः आसनवत् दृश्यन्ते। परन्तु कुम्भकाः वर्तन्ते। आसने कुम्भकं नास्ति। कुम्भकार्थं बन्धाः अपेक्षन्ते। तस्मात् बन्धाः कुम्भकान्तर्गताः वर्तन्ते व्याख्यानेषु। एतद्विना तान्त्रिकभागेषु अपि बहवाः मुद्राः सन्ति। अत्र तेषां अभ्यासः नास्ति। तेषां तु उपयोगः ध्यानस्थितौ भवति। अत्र तु ध्यानात्पूर्वं शरीरं तथा मनसः स्थिरीकरणार्थं विद्यमानांशः वर्तते। घेरण्डसंहितायां मुख्यतया २५ मुद्रा उक्ताः वर्तन्ते। हठयोगप्रदीपिकायां तु केवलं दशमुद्राः वर्तन्ते। अधो निर्दिष्टवत् तेषां व्याख्यानं वर्तते। घेरण्डसंहितायां यथा-

**महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।**
**मूलबन्धो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी॥**

**विपरीतकरी योनिर्वज्रोली शक्तिचालिनी।**
**तडागी माण्डुकी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा॥**

**अश्विनीपाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।**
**पञ्चविंशति मुद्राश्च सिद्धिदा इह योगिनाम्॥**

तत्र कानिचित् मुद्राणां विशेषफलान् अत्र प्रस्तूयते। यथा-

**वलितं पलितं चैव जरामृत्युं निवारयेत्।**
**क्षयकासम् उदावर्ता प्लीहादीर्न ज्वरं तथा॥**

**नाशयेत् सर्वरोगांश्च महामुद्रा प्रसाधनात्।**
**उड्डीयानं वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी॥**

**समग्राद्बन्धनाध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते।**
**उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्॥**

**जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।**
**जालन्धरमहामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी॥**

**महाबन्धः परोबन्धो जरामरणनाशनः।**

**प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम् ॥**

**रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।**
**मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना तथा ॥**

**महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ ।**
**प्रत्यां कुरुते यस्तु सयोगीयोगवित्तमः ॥**

**न मृत्युतो भयं तस्य न जरा तस्य विद्यते ।**
**गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुङ्गवैः ॥**

**मुद्रां च साधयेन्नित्यं जरां मृत्युं च नाशयेत् ।**
**ससिद्धः सर्वलोकेषु प्रलयोऽपि न सीदति ॥**

**काकीमुद्रा भवेदेषा सर्वरोगविनाशिनी ।**
**यावन्तश्चोदरे रोगा अजीर्णाद्या विशेषतः ॥**
**तान् सर्वान्नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥**

हठयोगप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः तावत् मुद्रादिकथनाध्यायः । अत्र दशमुद्राणां विवरणं फलेन साकम् अस्ति। अस्य मुख्य उद्देशस्तु कुण्डलिनी प्रबोधनम्। तथापि अभ्यसे अन्यान्यलाभाः अवर्तन्ता इति मत्वा साधारणजनानां अपि उपयोगः दृश्यते । तथैव रोगादीनामपि दूरीकरणं शक्यं इति उक्तम् । उक्तानुसारेण अभ्यस्यते चेत् उत्तमः फलितांशः अस्तेव । तदेव अस्मिन् कालए पुनःपुनः विमर्शणीयविषयः भवति। अधुना प्रामुख्यमुद्राणां व्याख्या हठयोगप्रदीपिकानुसारेण लिख्यते । यथा-

**तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।**
**ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥**

**महामुद्रो महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।**
**उड्डीयानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥**

**करणीविपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।**
**इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥**

**आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।**

वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ।।

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं तथा ।।

अथ महामुद्रा

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितपदं कृत्वा कराभ्यां धारयेत् दृढम् ।।

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ।।

क्षयकुष्ठगुदावर्त गुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य दोषेषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ।।

अथ महाबन्ध

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।।

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ।
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत् ।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ।

सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ।।
मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ।

राजतन्त्रस्य जिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति ।।
अयं तु सौंनाडीनामूर्ध्वगतिनिरोधकः ।

अयं खलु महाबन्धो महासिद्धि प्रदायकः ।।
कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।

त्रिवेणी सङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।।
रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।

महामुद्रा महाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।।

महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्डमुद्रया ।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।

पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।

मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ।।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।

वलीपलितवेपघ्नः सेव्यते साधकोत्तमैः ।।

एतत् त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम् ।।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघाभिदुरं सदा ।।

सम्यक् दिक्षवनामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।

खेचरी

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेणथ वर्धयेत् तावत् ।
सा यावद् भ्रूमध्यां स्पृशति तदा खेचरी सिद्धिः ।।

स्नुहिपत्रनिभं शस्तं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रधर्षयेत् ।
पुनः सप्तहिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलहिराबन्धः प्रणश्यति ।।

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिभोजयेत् ।

सा भवेत् खेचरीमुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥

रसनामूर्ध्वगं कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्यु जरादिभिः ॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न मूर्छा भवेत् तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

पीड्यते न रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोध्वतः ।
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम् ।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया ॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति भोगवित् ॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देहो देहं न मुञ्चति ॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ।
कुलीनं तमहं मन्ये इतरो कुलघातकाः ॥

गोशब्देनोदितो जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ॥

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतः समन्वितम् ।
तिष्ठते खेचरीमुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।

एको देव विरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी ॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥

यत्किञ्चित् श्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥

ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी ।
आहारोबहुलस्तस्य सम्पाद्यसाधकस्य च ॥

अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ।
अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ॥

क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ।
वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु कालजित् ॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा परा मुद्रा भद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ॥

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ॥

इति मुद्रा दशप्रोक्ता आदिनायेन शम्भुना ।
एकैता तासु यमिनी महासिद्धिप्रदायिनी ॥

इत्यादिरूपेण मुद्राणां व्याख्यानं दृश्यते । अत्र स्पष्टतया उक्तमस्ति राजयोगार्थमेव एषां अभ्यासः । तथा समीचीनरीतया अभ्यस्यते चेत् एकैकमपि उत्तमं फलं दास्यति इति । अत्र

बन्धत्रयाणां विवरणं न कृतमस्ति। बन्धत्रयाणां विवरणं प्रत्येकतया दत्तमस्ति। अत्रापि महामुद्रा विपरीतकरणी च अनन्तसुलभं तथा महान् फलान् दास्यन्ति इत्यत्र नास्ति सन्देहः ॥

## 2. 6. **प्राणायामः**

पातञ्जलीय अष्टाङ्गयोगे तृतीय अङ्गः प्राणायामः । प्राणस्य आयामः प्राणायामः । प्राण इत्युक्ते प्राणशक्तिः न तु प्राणायामः । प्राणशक्ति इत्युक्ते अस्य प्रपञ्चस्य मूलभूतः शक्तिः । सर्वपदार्थानां आधारभूतः चैतन्यरूपः शक्तिः। अस्य सञ्चयनं विस्तरणम् इत्यादि अर्थेषु आयाम शब्दः प्रयुक्तः । अस्माकं शरीरे प्राणः अस्ति चेत् प्राणे अथवा जीव इति व्यवहारः । तदभावे तन्न। तस्मात् जीवशब्देन प्राणस्य व्यवहारः न अन्तर्भावः। अस्य प्राणस्य गतिः नाडीषु भवति । नाडीनाम यत्र प्राणशक्तेः प्रवाहः विद्यते तत् । शक्तः यत्र चलति सात्वत्र नाडी न । नाड्याः प्राणवाहिनः भूत्वा जीवकोशे भवन्ति। नड- गतौ इति धात्वोः उत्सनः शब्दः नाडी। अत्र केचन वदन्ति यथा । नाड्याः द्विविधाः केचन बृहत् रूपेण द्रष्टुं या अनुभोक्तुं शक्याः । केचन नाड्याः सूक्ष्माः द्रष्टुं अशक्याः । परन्तु ज्ञानेन ज्ञातुं शक्याः । योगशास्त्ररीत्या मानवशरीरे ७२,००० नाड्याः सन्ति। तेषु अविरततया चैतन्यं प्रवहति। तद्योगादेव अस्माकं जरामरणादयः भवन्ति । तस्मात् तासु नाडीषु प्रवहमाणस्य चैतन्यस्य सञ्चयनं क्रियते चेत् एकत्रैव स्थिरो भवति। स्थितीव तस्य तस्य यदा विनियोगस्तदा आवश्यकरूपेण तस्य विनियोगः कर्तुं शक्यते। यदा तस्य सद्विनियोगः समीचीनतया भवति तदा शक्तिह्रासः न भवति । तस्मात् तस्य निग्रहः आवश्यकः । तदपि नाडीद्वारेण भवितव्यं नान्यथा। ७२,००० नाडीषु त्रयः प्रमुखाः। इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना इति नाडीज्ञानं भवितुं शक्यते। परन्तु द्रष्टुं न शक्यते। अस्माकं शरीरे इडा, पिङ्गला इत्यनयोः नाम, दक्षिणनासापुटौ इति व्यवहारः। सुषुम्नानाडी शरीरमध्ये मेरुदण्डे अस्ति इति योगविदामभिप्रायः । इडा, पिङ्गलयोः सूर्य चन्द्र इत्यपि नामान्तरम्। तथापि नाम, दक्षिण नासापुटौ न तौ नाड्यौ।

तमोः नाड्योः अस्तित्वं तत्र सूचयन्तौ स्तः इति। किमर्थम् इत्युक्ते प्राणशक्तेः मूलकेन्द्रं मूलाधारचक्रे कुण्डलिन्याम् । ततः दक्षिणपार्श्वे आरभ्य वामनासापुटे इडानाडी प्रवहति । तथैव वामपार्श्वे आरभ्य दक्षिणनासापुटे पिङ्गला नाडी प्रवहति । यदा प्राणशक्तेः प्रवाहः पिङ्गलानाड्यां तदानीं मनः शरीरश्च क्रियावन्तौ भवतः। सूर्यप्रकाशनेन यथा प्रपञ्चे सर्वैः जाग्रताः भवन्ति तथैव तस्मिन् नाड्यां चैतन्यप्रवाहेन आलस्यादयः न भवन्ति।

## इडानाडी

इडानाड्यां चैतन्यप्रवाहेन मन्दत्वं, आलस्यं, शरीरे मनसि च भासते। यद्यपि प्राणशक्तेः पिङ्गलायां सत्यपि विश्रान्तिः आवश्यकं चेत् तदानीं चैतन्यं इडायामेव प्रवहति । यथा चन्द्रस्य गतिः तथा शैत्यं, मन्दत्वं शरीरे मनसि च ददति । एवं सर्वदा इडापिङ्गलयोर्मध्ये चैतन्यस्य प्रवाहः भवति। योगिनां मते तु यदा प्राणशक्तिः इडानाड्यां वायुरूपेण चलति तदानीं रात्रीति । यदा पिङ्गला नाड्यां तदा दिन इति च। उभय नाड्यौ सूक्ष्मरूपेण वायुः चलति चेत् सन्ध्याकालमिति । सन्ध्याकालः ध्यानयोग्यं भवति। यतो हि तदानीं मनसः चाञ्चल्यं न भवति । तदेव सन्ध्याकाल इति प्रकृतौ सूर्योदयसमये तथा सूर्यास्तसमये च निर्दिष्टमस्ति।

शरीरस्य अन्तर्बहिश्च वायुः वायुः नासापुटद्वारेणैव चलति। तदेव श्वासोच्छ्वास इति कथ्यते । तस्य निग्रह विधिः प्राणायामः । श्वासोच्छ्वासरूपेण वायौ तथा शरीरे चलति । अतः अस्याः नियन्त्रणं तेनैव वायुना भवितव्यं न तु अन्यथा । शरीरः, मनः, श्वासोच्छ्वास इति त्रयाणां समस्थितः जीव इति भवितव्यम्। तदप्यत्र प्रमाणानुसारेण भवितव्यम् इति। मनः श्वासोच्छ्वास उभयमपि शरीरे वर्तते। परन्तु मनः यथा प्रवर्तन्ते तदनुसृत्य श्वासोच्छ्वासः। यदा तदा मनसि क्लेशः, दुःखः, सन्तोषः, उद्वेगादयः आयान्ति तदा तदनुरीत्या श्वासोच्छ्वासः विशेषतया भवति ।

एतासां श्वासविशेषरीत्या तदनुरीत्या शरीरस्यापि वृद्धिः, ह्रासादयः भवन्ति । तस्मात् श्वासोच्छ्वासस्य संयमनेन मनः स्थिरो भवति।

मनः यदा प्रशान्तं भवति तदा चित्तविक्षेपो नास्ति। तदर्थमेव प्राणायाम इति पतञ्जलिना उक्तं यथा- ''प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य'' इति। अर्थात् समीचीनरीत्या श्वासस्य निष्कासनं तथा आपूरणेन अथवा पूरकरेचकाभ्यां मनः स्थिरो भवति। तदेव मनःस्थिरीकरणं प्राणायाम प्रक्रियायां क्रियते च। तेन ताभ्यां अन्ते केवलकुम्भकः पर्यवस्यति परन्तु प्राणायामस्य अभ्यासे काश्चन नियमाः सन्ति। पूरक, कुम्भक, रेचकयोः १:४:२ निष्पत्तौ भवितव्यम् इति नियमः योगशास्त्रेषु दृश्यते । तस्य अभ्यासार्थं कुम्भकाभ्यासे बन्धा अपि करणीयाः । अन्यथा शरीरे विपरिणामो भवेत्। तद्यथा यदा पूरकेन सह वायोः कुम्भकं भवति तदा तस्य ऊर्ध्वगमनं भवति । तदा तत् उरःस्थानात् ऊर्ध्वभागे शिरोभागे गच्छति चेत् तत्र वायोः विकोपेन उपद्रवाः भवन्ति । तत् आवरोधनाय कुम्भकाः आवश्यकाः। कुम्भकेन विना प्राणायामः क्रियते चेत् हानिः नास्ति तथा प्रयोजनमपि अल्पम्। कुम्भकः बन्धत्रयाणां साकं भवितव्यम्। ते च बन्धाः- १. मूलबन्धः, २. उड्याणबन्धः, ३. जालन्धरबन्धः -इति त्रिविधम्। अस्य विवरणं पूर्वमेव दत्तमस्ति।

प्राणायामस्य लक्षणं पतञ्जलिना उक्तं यथा- ''तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः'' इत्युक्ते आसनाभ्यासे स्थितिप्राप्त्यनन्तरं अथवा आसनसिद्धे सति प्राणायामाभ्यासः । स च अभ्यासः पूरकरेचकयोः गतिविच्छेदनम्। तन्नाम केवलकुम्भकम् इत्यर्थः। अत्र प्राणायामस्य अन्तिमस्थितिः केवलकुम्भक इति सिद्धम् । तदभ्यासः कथं भवितव्यम्? आहारादि नियमाः कथम् इत्यादि विषयाः पतञ्जलिना उक्तं नास्ति। तथापि तौ विषयौ हठयोगप्रदीपिकायां तथा घेरण्डसंहितायां च प्रतिपादितो वर्तते। तान् विषयान् अग्रे विव्रियते।

प्राणायामभेदान् पतञ्जलिना एवम् उक्तम् । यथा- ''बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देश

कालसङ्ख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः'' इत्युक्ते प्राणायामः त्रिधा । ते च रेचक, पूरक, कुम्भकभेदात् । परन्तु कालेन परिदृष्टाः सङ्ख्याभिः परिदृष्टा, दीर्घसूक्ष्मः । अत्र देश एव प्रदेशः अथवा कालः । स च अङ्गुष्ठ अग्रभागात् कनिष्ठिका पर्यन्तं नासिकादि प्रदेशेषु इत्यर्थः । अत्र श्वासप्रश्वासयोः गणना एव सङ्ख्या इति व्यवहारः । अभ्यासक्रमे श्वासप्रश्वासाः दीर्घः तथा सूक्ष्माः भवेत् अथवा मध्यमा वा । तदानीं अनेकाः श्वासप्रश्वासाः भवितव्यम् । तेषां समीचीनतया निग्रहणं चतुर्थः प्राणायामः केवल कुम्भकात्मकः । अत्रैव बाह्य-आन्तरिकविषयाणां निग्रहः भवति । यदा देशकालसङ्ख्याभिः वायुः दीर्घः सूक्ष्म वा भूत्वा अतिक्रान्तः भवति तदानीं कुम्भको भवति । तदेव केवल कुम्भक इति योगशास्त्रविदामभिप्रायः । ''ततः क्षीयते प्रकाशावरणम् ।'' इति सूत्रे प्राणायामस्य अभ्यासफलम् एव उक्तमस्ति उपर्युक्त सूत्रेण । यदा प्राणायामाभ्यासः भवति तदानीम् अभ्यासिनः कर्मनाशः भवति । यः कर्म विवेकज्ञानावरणात्मकः तत् नश्यति कुम्भकाभ्यासेन इत्यर्थः । अस्मिन् विषये व्यासवचनं यथा- ''तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य'' इति । एवं प्राणायाम अभ्यासात् मनः धारणासु योग्यता भवति ।

पातञ्जलीययोगशास्त्रे शरीर तथा मनसः, सामाजिक, आध्यात्मिक रूपेण आरोग्यसम्पादनाय विद्यमान सर्वे विषयाः वर्तन्ते । प्रथमसूत्रे, तथा द्वितीयसूत्रे वर्तते यथा-

योगः अनुष्ठानशास्त्रः न तु जिज्ञासा शास्त्रम् । तत्र चित्तभूमयः क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र निरुद्ध इति चतुर्धा । क्रमशः अभ्यासेनैव निरुद्ध प्राप्तुं शक्यम् अन्यथा न । वयं तु साधारणतया प्रारम्भे विद्यमान विभागत्रयेषु विद्यमानाः न तु अन्तिम स्तरे । तस्मात् चित्तविक्षेपद्वारा सर्वे अपि रुग्णाः भवति । नीरोगी भवेत् चेत् चित्तनिरोधः आवश्यकमेव । तदर्थमेव द्वितीयं सूत्रम् प्रवृत्तम् । कथं चित्तवृत्तिरेव रोगस्य कारणम् इति पश्यामः-

चित्तनदी नाम उभयतो वाहिनी वहति कल्याणाय वदति पापय च । या तु कैवल्य प्राग्भारा

विवेक विषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भारा अविवेकविषयनिम्ना पापावहा। तत्र वैराग्ये विषयस्रोतः खिलीक्रियते। विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्तवृत्ति निरोधः । चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिनी स्थितिः । तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः । तत्सम्पिपादविषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः । स तु दीर्घकालसेवितो निरन्तरासेवितः तपसा ब्रह्मचर्येण विधया श्रद्धया च सम्पादितः सत्कारवान् दृढभूमिर्भवति । व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः ।

एतदर्थं प्रणवस्य जपः, प्रणवाभिधेयस्य ईश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतः चित्तमेकाग्रं सम्पद्यते। तथा चोक्तम्-

**स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमासते ।**
**स्वाध्याययोगसम्पत्या परमात्मा प्रकाशते ।।**

इति। अनेन अनारायाः दूरीभवन्ति। अन्तरायाः तव विद्यन्ते यथा- नवान्तरायश्चित्तस्य विक्षेपाः। सहैते चित्तवृत्तिभिर्भवन्ति। एतेषामभावे न भवन्ति पूर्वोक्तश्चित्तवृत्तयः। तत्र व्याधिः धातुरसकरणवैषम्यम्। स्त्यानम् अकर्मण्यता चित्तस्य। संशयः उभयकोहिस्पृक् विज्ञानं स्यादिदमेवं नैव स्यात् । इति । प्रमादः समाधिसाधनानामभावनम् । आलस्यं कायस्य चित्तस्य च गुरुत्वादप्रवृत्तिः । अविरतिः चित्तस्य विजयसम्प्रयोगात्मागर्धः। भ्रान्तिदर्शनं विपर्ययज्ञानम्। अलब्धभूमिकत्वं समाधिभूमेरलाभः । अनवस्थिततत्वं यल्लब्धायां भूमौ चित्तस्याप्रतिष्ठा । समाधिप्रतिलम्भे हि सति तदवस्थितं स्यादिति। एते चित्तविक्षेपा नव योगमलाः, योगप्रतिपक्षाः, योगान्तराया इत्यभिधीयन्ते । एभिः साकम् अन्यै अपि प्रादुर्भवन्ति यथा- दुःखम् आध्यात्मिकाधिभौतिकम् आधिदैविकं च। येनाभिहताः प्राणिनः तदुपघाताय प्रयतन्ते तद्दुःखम् । दौर्मनस्यम् इच्छाविधाताच्छेदसः क्षोभः । यदङ्गान्योजयति तदङ्गमेजयत्वम् । प्राणो यद्वाह्यं

वायुमाचमति स श्वासः। यत्कौष्ठ्यं वायुं निःसारयति स प्रश्वासः। एते विक्षेपसहभुवो विक्षिपयित्तस्यैते भवन्ति । समाहितचित्तस्यैते न भवन्ति ।

अथैते विक्षेपाः समाधिप्रतिपक्षाः ताभ्यामेवाभ्यासवैराग्याभ्यां निरोद्धव्याः । तत्राभ्यासस्य विषयमुपसंहरन् इदमाह-

विक्षेपप्रतिषेधार्थमेकतत्वालम्बनं चित्तमभ्यसेत् । यस्य तु प्रत्यर्थनियतं प्रत्ययमात्रं क्षणिकं च चित्तं तस्य सर्वमेव चित्तमेकाग्रम् । नास्त्येव विक्षिप्तम् । यदि पुनरिदं सर्वतः प्रत्याहृत्य एकस्मिन्नर्थे समाधीयते तदा भवत्येकाग्रमित्यतो न प्रत्यर्थनियतम् ।

योऽपि सदृशप्रत्ययप्रवाहेन चित्तमेकाग्रं मन्यते, तस्य एकाग्रता यदि प्रवाहचित्तस्य धर्मः, तदा एकं नास्ति प्रवाहचित्तं क्षणिकत्वात्। अथ प्रवाहांशस्यैव प्रत्ययस्य धर्म, सः सर्वः सदृशप्रत्ययवाही वा विसदृशप्रत्ययप्रवाही वा प्रत्यर्थनियतत्वादेकाग्र एवेति विक्षिप्तचित्तानुपपत्तिः । तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तमिति । यदि च चित्तेनैकेनानन्विताः स्वभावभिन्नाः प्रत्यया जायेरन्, अथ कथमन्यप्रत्ययदृष्टस्यान्यः स्मर्ता भवेत्। अन्यप्रत्ययोपेतचित्तस्य च कर्माशयस्यान्यः प्रत्यय उपभोक्ता भवेत्? कथञ्चित् समाधीयमानमप्येतत् गोमयपायसीन्यायमाक्षिपति । किं च स्वात्मानुभवापह्नवः चित्तस्यान्यत्वे प्राप्नोति । कथम्? यदहं अद्राक्षं तत्स्पृशामि, यच्चास्प्राक्षं तत्पश्यामि, इत्यहमिति प्रत्ययः सर्वस्य प्रत्ययस्य भेदे सति प्रत्ययिन्यभेदेनोपस्थितः । एकप्रत्ययविषयोऽयमभेदात्माहमिति प्रत्ययः कथमत्यन्तभिन्नेषु चित्तेषु वर्तमानः सामान्यमेकं प्रत्ययिनमाश्रयेत्? स्वानुभवग्राह्यश्चायमभेदान्माहमिति प्रत्ययः । न च प्रत्यक्षस्य माहात्म्यं प्रमाणान्तरेणाभिभूयते। प्रमाणान्तरं च प्रत्यक्षबलेनैव व्यवहारं लभते। तस्मादेकमनेकार्थमवस्थितं चित्तम् ।

तत्र सर्वप्राणिषु सुखसम्भोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम् । एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते । ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते । कौष्ठ्यस्य वायोः नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषात् वमनं प्रच्छर्दनम् । विधारणं प्रानायामः । ताभ्यां वा मनसः स्थितिं सम्पादयेत् ।

उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः । कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तं स्यात् इति चेत् नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति । अनादिकर्मक्लेशवासमाचित्ता प्रत्युपस्थित विषयजाला चाशुद्धिः नान्तरेण तपसा सम्भेदमापद्यत इति तपस उपादानम् । तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते । स्वाध्यायः प्रणवादि पवित्राणां जपः । मोक्षशास्त्राध्ययनं वा । ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं, तत्फळसंन्यासो वा । स ध्यासेव्यमानः समाधिं भावयति । क्लेशां प्रतनूकरोति । प्रतनूकृतान् क्लेशान् प्रसङ्ख्यानाग्निना दग्धबीजकल्पानप्रसवधर्मिणः करिष्यतीति । तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्वपुरुषान्यताख्यानिमात्रख्यातिः सूक्ष्माप्रज्ञा समाप्ताधिकारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति । एतदर्थं साधना आवश्यकी । साधनाविना सिद्धिः न भवति । तस्मात् इतः परं साधना पद्धतिरुच्यते ।

योगाङ्गन्यष्टावभिधायिष्यमाणाग्नि । तेषामनुष्ठानं पञ्चपर्वणोविपर्ययस्याशुद्धिरूपस्यक्षयो नाशः । तत् क्षये सम्यग्ज्ञानस्याभिव्यक्तिः । यथा यथा च साधनान्यनुष्ठियन्ते तथा तथा तनुत्वमशुद्धिरापद्यते । यथा यथा च क्षीयते तथा तथा क्षयक्रमानुरोधिनी ज्ञानस्यापि दीप्तिर्वर्धते । सा खल्वेषा विवृद्धिः प्रकर्षमनुभवत्या विवेकख्यातेः । आगुणपुरुषस्वरूप विज्ञानादित्यर्थः । योगाङ्गानुष्ठानमशुद्धेर्वियोगकारणम् । यथा परशुच्छेदस्य । विवेकख्यातेस्तु प्राप्तिकारणं, यथा धर्मः सुखस्य नान्यथाकारणम् । कतिचैतानि कारणानि शास्त्रे भवन्ति? नवैवेत्याह । तद्यथा

उत्पत्ति, स्थिति, अभिव्यक्तिविकार, प्रत्यय, आप्ति, वियोग अन्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ।

तत्रोत्पत्तिकारणं मनसः पुरुषार्थता, शरीरस्योवाहार इति । अभिव्यक्तिकारणं यथा रूपस्यालोकस्तथा रूपज्ञानं विकारकारणं मनसो विषयान्तरं यथाग्निः पाकस्य । प्रत्ययकारणं धूमज्ञानमग्निज्ञानस्य । प्राप्तिकारणं योगाङ्गानुष्ठानं विवेकख्यातेः विवेककारणं तदेवाशुद्धेः । अन्यत्वकारणं यथा सुवर्णस्य सुवर्णकारः एवमेकस्य स्त्रीप्रत्ययस्याविद्या मूढत्वे, द्वेषो दुःखत्वे, रागः सुखत्वे, तत्वज्ञानं माध्यस्थे, धृतिकारणं शरीरामिन्द्रियाणां तानि च तस्य । महाभूतानि शरीराणाम् । तानि च परस्परं सर्वेषाम् . तैर्यग्यौनमानुषदैवतानि च परस्परार्थत्वादिति । एवं नवकारणानि । तानि च यथा सम्भवं पदार्थान्तरेष्वपि योज्यानि योगाङ्गानुष्ठानं तु द्विधैव कारणत्वं लभत इति । यथाक्रममेषाम् अनुष्ठानं स्वरूपं च वक्ष्यामः ।

तत्राहिंसा सर्वथा सर्वभूतानाभिद्रोहः, उत्तरे च यमनियमास्तन्मूलास्तत्सिद्धिपरतैयैव तत्प्रतिपादनाय प्रतिपाद्यन्ते, तदवदातरूपकरणायैवोपादीयन्ते । तथा चोक्तम्- स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादित्यते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसानिदानेभ्यो निवर्तमानस्तामेवावदातरूपामहिंसां करोति । सत्यं यथार्थे वाङ्मवसे । यथा दृष्टं यथा श्रुतं तथा वाङ्मनश्चेति । परत्र स्वबोध सङ्क्रान्तये वागुक्ता सा यदि न वाचिता भ्रान्ता वा प्रतिपत्ति वन्ध्या वा भवेदिति। एषा सर्वभूतोपकारार्थं प्रवृत्ता न भूतोपघाताय। यदि चैव मप्यधीयमाना भूतोपघातपरैव स्यान्न सत्यं भवेत्पापमेव भवेत् । तेन पुण्याभ्यासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्टंतमः प्राप्नुयात् । तस्मात्परीक्ष्य सर्वभूतहितं सत्यं ब्रूयात्। स्तेयमदास्त्रपूर्वकं द्रव्याणां परतः स्वीकरणम्। तत्प्रतिषेधः पुनरस्पृहारूपमस्तेयमिति । ब्रह्मचर्यं गुप्तेन्द्रियस्थोपस्थस्य संयमः । विषयाणामर्जनरक्षण क्षयसङ्गहिंसादोषदर्शनादस्वीकरणमपरिग्रह इत्येते यमाः। तत्राहिंसा जात्यवच्छिन्नामत्स्यवधकस्य

मत्स्येष्वेव नान्यत्र हिंसा । सैव देशवच्छिन्ना न तीर्थे हनिष्यामिति । सैव कालावच्छिन्ना न चतुर्दश्यां न पुण्येऽहनि हनिष्यमिति । सैव त्रिभिरुपरतस्य समयावच्छिन्नादेव ब्राह्मणार्थे तान्यथा हनिष्यामिति । यथा च क्षत्रियाणां युद्ध एव हिंसा। नान्यत्रेति। एभिर्जातिदेशकाल समयैरनवच्छिन्ना अहिंसादयः सर्वथैव परिपालनीयाः सर्वभूमिषु सर्वविषयेषु सर्वथैवाविहित व्यभिचाराः सार्वभौमा महाव्रतमित्युच्यन्ते ।

तत्र शौचं मृज्जलादिजनितं मेध्याभ्यवहरणादि च बाह्यम् । आभ्यन्तरं चित्तमलानामाक्षालनं सन्तोषः सन्निहित साधनादधिकस्यानुपादित्सा । तपोद्वन्द्वश्च जिघत्साविपासे शीतोष्णे स्थानासने काष्ठ मौनाकार मौने य । क्रतानि चैषां यथायोगं कृच्छ्रचान्द्रायणसान्तपनादीनि । स्वाध्यायो मोक्षशास्त्राणामध्ययनं प्रणव जपो वा । ईश्वरप्रणिधानं तस्मिन् परमगुरौ सर्वकर्मार्पणम् । शय्यासनस्थोऽथ पथि व्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीण वितर्कजालः । संसारबीजक्षयमोक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोगभागी । यत्रेदमुक्तं तमः प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च इति । तत्र हिंसा तावत्- कृतकारिता अनुमोदितेति त्रिधा । एकैका पुनस्त्रिधा लोभेन मांसचर्मार्थेव क्रोधेन अपकृतमनेनेऽति, मोहेन धर्मो मे भविष्यतीति । लोभक्रोधमोहाः पुनस्त्रिविधाः- मृदुमध्याधिमात्रा इति । एवं सप्तविंशतिर्भेदाः भवन्ति हिंसायाः । मृदुमध्याधिमात्राः पुनस्त्रिधा- मृदुः-मृदुः मध्यमृदुः तीव्रमृदु इति । तथा मृदुमध्यो मध्यमध्यः तीव्रमध्य इति । तथा मृदुतीव्रोमध्यतीव्रो अधिमात्रतीव्र इति । एवमेकाशीति भेदा हिंसा भवति । सा पुनर्वियमविकल्प समुच्चयभेदादसङ्ख्येया, प्राणभृद्भेदस्यापरिसङ्ख्येयत्वादिति । एवमनृतादिष्वपि योज्यम् ।

ते खल्वमी वितर्का दुःखज्ञानान्तफला इति प्रतिपक्षभावनम् । दुःखमज्ञानं च अनन्तफलं योषामिति प्रतिपक्षभावनं तथा च हिंसकस्तावत् प्रथमं वध्यस्य वीर्यमक्षिपति । ततश्च शस्त्रादि निपातनेन दुःखयति । ततो जीवितादपि मोचयति । ततो वीर्याक्षेपादस्य चेतनाचेतनमुपकरणं

क्षीणवीर्यं भवति। दुःखोत्पादान्नरकं तिर्यक्प्रेतादिषु दुःखमनुभवति, जीवितव्यपरोपणात् प्रतिक्षणं च जीवितात्यये वर्तमानो मरणविच्छिन्नमपि दुःखविपाकस्य नियतविपाकवेदनीयत्वात् कथञ्चिदेवोच्छ्वसिति।

यदि कथञ्चित् पुण्यपापगता हिंसा भवेत्। तत्र सुखप्राप्तौ भवेदल्पायुरिति। एवमनृतादिष्वपि योज्यं यथा सम्भवम्। एवं वितर्काणां च अमुमेवानुगतं विपाकमनिष्टं भावयन् न वितर्केषु मनः प्रणिधीत। प्रतिपक्षभावनाहेतोर्देया वितर्का यदा च स्युरप्रसवधर्माणः तदा तत्कृतमैश्वर्यं योगितः सिद्धिसूचकं भवति। तत्सन्निधौ सर्वप्राणिनां वैरत्यागः भवति। सत्यप्रतिष्ठायां धार्मिको भूया इति भवति धार्मिकः। स्वर्गं प्राप्नुहि इति स्वर्गं प्राप्नोति। अतोधाऽस्य वाक् भवति। सर्वदिक्स्थाने अस्योपतिष्ठन्ते रत्नानि। यस्य लाभादप्रतिधान् गुणानुत्कर्षयति। सिद्धश्च विनेयेषु ज्ञानमाधातुं समर्थो भवामिति। अपरिग्रहेन कोऽहमासं, कथमहमासं, किंस्विद्विदं, कथंस्विद्विदं, के वा भविष्यामः कथं वा भविष्याम? इत्येवमस्य पूर्वान्तपरान्तमध्येष्वात्मभावजिज्ञासा स्वरूपेणापावर्तते एता यमस्थैर्ये सिद्धयः।

नियमेषु शैचात् स्वाङ्गे जुगुप्सायां शौचमारभमाणः कायावद्यदर्शी कायानभिष्वङ्गी यतिर्भवति। किं च परैरसंसर्गः कायस्वभावलोकी स्वमपि कायं जिहासु मृज्जलादिभिरुक्षालयन्नपि कायशुद्धिमपश्यन् कथं परकायैरत्यन्तमेवाप्रयतैः संसृजेत। शुचेः सत्वशुद्धिः ततः सौमनस्यं, ततः ऐकाग्र्यं तत इन्द्रियजयः, ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं बुद्धिसत्वस्य भवतीत्येतच्छौच स्थैर्यादधिगम्यत इति। यच्चकामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम्। तृष्णाक्षयसुखस्यैते न हितः षोडशीं कलाम् इति। निवर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुध्यावरणमलम्। तदावरणमलापगमात्काय सिद्धिरणिमाद्या। तथेऽन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्योनि। स्वाध्यायान् देवा ऋषयः सिद्धाश्च दर्शनं गच्छन्ति। कार्ये चास्य वर्तन्त इति। ईश्वरार्पितसर्वभावस्य समाधिसिद्धिः, यथा

सर्वमीप्सितमवितथं जानाति देशान्तरे देहान्तरे कालान्तरे च। ततोऽस्य प्रज्ञा यथाभूतं जानातीति । आसनादीनि तद्यथा पद्मासनं क्रौञ्चनिषदनं हस्तिनिषदनं उष्ट्रनिषदनं समसंस्थानं स्थिरसुखं यथासुखं चेत्येवमादीनि। एवं आसनसिद्ध्यर्थे प्रयत्नोपरमात् सिद्धति। येन नाङ्गमेजयो भवति । अनन्ते वा समापन्नं चित्तं आसनं तिर्वर्तयतीति। सन्यासनजये बाह्यस्य वायोराचमनं श्वासः। कौष्ठ्यस्य वायोर्निस्सारणं प्रश्वासः। तयोर्गतिविच्छेद उभयाभावः प्राणायामः। यत्र प्रश्वासपूर्वको गत्यभावः स बाह्यः। यत्र श्वासपूर्वको गत्यभावः स आभ्यन्तरः। तृतीयः स्तम्भवृत्तिः। यथोभयाभावः सकृत्प्रयत्नाद्भवति। यथा तप्ते न्यस्तमुपले जलं सर्वतः सङ्कोचमापद्यते। तथा द्वयोर्युगपद्धत्यभाव इति। त्रयोप्येते देशेन परिहृष्टाः, द्वयानस्य विषयो देश इति। कालेन परिदृष्टाः, क्षणानामियन्तावधारणेनावच्छिन्ना इत्यर्थः। सङ्ख्याभिः परिदृष्टा, एतावद्भिः श्वासप्रश्वासैः प्रथम उद्घातः तद्वन्तिगृहीतस्यैतावद्भिर्द्वितीयः उद्घातः एवं तृतीयः। एवं मृदुः एवं मध्यः, एवं तीव्रः इति सङ्ख्या परिदृष्टः। स खल्वयमभ्यस्तो दीर्घसूक्ष्मः। देशकालसङ्ख्याभिर्बाह्यविषयपरिदृष्ट आक्षिप्तः। तथा आभ्यन्तरविषय परिदृष्ट आक्षिप्तः। उभयथा दीर्घसूक्ष्मः। तत्पूर्वको भूमिजयात् क्रमेणोभयोर्गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायामः। तृतीयस्तु विषयानालोचितो गत्यभावः सकृदारब्ध एव, देशकालसङ्ख्याभिः परिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः। चतुर्थस्तु श्वासप्रश्वासयोर्विषयावधारणान् क्रमेण भूमिजयादुभयाक्षेपपूर्वको गत्यभावश्चतुर्थः प्राणायाम इत्ययं विशेषः। प्राणायामानभ्यस्यतोऽस्य योगिनः क्षीयते विवेक ज्ञानावरणीयं कर्म। यत्तदाचक्षते महामोहमयेनेन्द्रजालेन प्रकाशशीलं सत्वमावृत्य तदेवाकार्ये विनियुङ्क्ये इति। तदस्य प्रकारावरणं कर्मसंसारनिबन्धनं प्राणायामाभ्यासात् दुर्बलं भवति, प्रतिक्षणं च क्षीयते। तथा चोक्तम्- तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य इति। एवं अभ्यासेन सः संयमम् अपि कर्तुं शक्यते। संयमेन अधोनिर्दिष्टरूपेण प्रयोजनं भवति इति व्याख्यानं वर्तते।

तथा संयमात् कश्चन उदाहरणानि दत्तानि वर्तन्ते यथा-

तत्प्रस्तारः सत्पलोकाः । तत्रावीचेः प्रभृति मेरुपृष्ठादारभ्याद्ध्रुवान् ग्रहनक्षत्रतारा विचित्रोऽन्तरिक्षा लोकः ततः परः स्वर्लोकः पञ्चविधो माहेन्द्रस्मृतीयो लोकः । ततुर्थः प्राजापत्यो महर्लोकः । त्रिविधो ब्राह्मः । तद्यथा जनलोकस्तपोलोकः सत्यलोक इति ।

**ब्राह्मास्त्रिभूमिको लोकः प्राजापत्यस्ततो महान् ॥**
**माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिवि ताराभुवि प्रजाः ।**

इति । तत्राचीचेर्युपरि निर्विष्टाः षण्महानरकभूमयो घनसलिलनीलाकाशतमः प्रतिष्ठा महाकालाम्बरीषरौरवमहारौरव कालसूत्रान्धतामिस्राः । यत्र स्वकर्मोपार्जित दुःखवेदनाः प्राणिनः कष्टमार्दीर्घकालमाक्षिप्य जायन्ते । ततो महातलरसातलतलातलसुतलवितलातलपातालाख्यानि सत्यपातालानि । भूमिरियमष्टमी सप्तद्वोपा वसुमती, यस्याः सुमेरुर्मध्ये पर्वतराजः काञ्चनः । तस्य राजतवैडूर्य स्फटिकहेममनिमयानि शृङ्गाणि । तत्र वैडूर्य प्रभानुरागान्नीलोत्पलश्यामनमसो दक्षिणो भागः । श्वेतः पुर्वः । स्वच्छः पश्चिमः । कुरण्डकाभः उत्तरः । दक्षिणपार्श्वे चास्य जम्बूः । यतोऽयं जम्बूद्वीपः । तस्य सूर्यप्रचारात्रिंशदिवं लग्नमिव विवर्तते । तस्य नीलश्वेतशृङ्गवन्त उदीचीनास्त्रयः पर्वता द्रिसाहसस्रायामाः । तदन्तरेषु त्रीणि वर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि रमणकं हिरण्मयमुत्तराः कुरव इति । निषधहेमकूट हिमशैला दक्षिणतो द्विसहस्रायामाः । तदन्तरेषु त्रीणिवर्षाणि नवनवयोजनसहस्राणि हरिवर्षं किं पुरुषां भारतमिति । सुमेरोः प्राचीना भद्राश्वाः माल्यवत्सीमानः । प्रतीचीनाः केतुमालाः गन्धमादनसीमानः । मध्ये वर्षमिलावृतम् । तदेतद्योजनशतसहस्रं सुमेरोर्दिशि दिशि तदर्धेन व्यूढम् ।

सखल्वयं शतसहस्रयामो जम्बूद्वीपस्ततो द्विगुणेन लवणोदधिना वलयाकृतिनावेष्टितः । ततश्च द्विगुणा द्विगुणाः शाकशुकक्रौञ्चशाल्मलगोमेधपुष्करद्वीपाः समुद्राश्च सर्पराशीकल्पाः

सविचिन्नशैलावतंसा इक्षुरससुरासर्पिर्दधिमण्डक्षीरस्वादूदकाः सप्तसमुद्रपरिवेष्टिता वलयाकृतयो लोकालोकपर्वतपरिवाराः पञ्चाशद्योजनकोटिपरिसङ्ख्याताः । नदेत्सर्वं सुप्रतिष्ठितसंस्थानमण्डमध्ये व्यूढम् । अण्डं च प्रधानस्थाणुरवयो यथाकाशे खद्योत इति । तत्र पाताले जलधौ पर्वतेष्वेतेषु देव निकाया असुरगन्धर्वकिन्नरपुरुषयक्षराक्षसभूतप्रेतपिशाचापस्मार काप्सरोब्रह्मराक्षसकूष्माण्डविनायकाः प्रतिवसन्ति । सर्वेषु द्वीपेषु पुण्यात्मनो देवमनुष्याः । सुमेरुस्त्रिदशानामुद्यानभूमिः । तत्रमिश्रवनं नन्दनं चैत्ररथं सुमानसमित्युद्यानानि, सुधर्मादेवसभा, सुदर्शनं पुरम्, वैजयन्तः प्रासादः । ग्रहनक्षत्रतारकास्तु ध्रुवे निबद्धे । वायुविक्षेपानियतेनोपलक्षित प्रचाराः सुमेरोरुपर्युपरि सन्निवेष्ट । दिवि विपरिवर्तन्ते । महेन्द्रनिवासिनः षड्देवनिकायाः त्रिदशा अग्निष्वात्ता याम्यास्तुविता अपरिनिर्मित वशवर्तिनः परिनिर्मितवशवर्तितश्चेति । ते सर्वे सङ्कल्पसिद्धाः अणिमाद्यैश्च ऐश्वर्योपन्नाः कल्पायुषो वृन्दारकाः कामभोगिन औपपादिकदेश उत्तमानुकूलाभिरप्सरोभिः कृतपरिवाराः । महति लोके प्राजापत्ये पञ्चविधो देवनिकायः कुमुदा ऋभवः प्रतर्दना अञ्जनाभाः प्रचिताभा इति । एते महाभूतवारीनो ध्यानाहाराः कल्पसहस्त्रायुषः । प्रथमे ब्रह्मणो जनलोके चतुर्विधो देवनिकायो ब्रह्मपुरोहिता ब्रह्मकायिका ब्रह्ममहाकायिका अजरामरा इति । एते भूतेन्द्रियवादीनो द्विगुणद्विमुखोन्तरायुषः ।

द्वितीये तपसि लोके त्रिविधो देवनिकायः- अभास्वरा महाभास्वराः सत्यमहाभास्वरा इति । ते भूतेन्द्रियप्रकृतिवादीनो द्विगुणद्विगुणोन्तरायुषः सर्वेध्यानाहारा ऊर्ध्वरेतस ऊर्ध्वमप्रतिहतज्ञाना अधरभूमिष्वनावृत ज्ञानविषयाः । तृतीये ब्रह्मण सत्यलोके चत्वारो देवनिकाया अच्युताः शुद्धनिवासाः सत्याभाः सञ्ज्ञासञ्ज्ञितश्चेति । ते च अकृतभवनन्यासाः स्वप्रतिष्ठा उपर्युपरि स्थिताः प्रधानवादीनो यावत्सर्गायुषः । तत्राच्युताः सवितर्कध्यानसुताः शुद्धनिवासाः सविचारध्यानसुखाः, सत्याभा आनन्दमात्रध्यानसुखाः, सञ्ज्ञासञ्ज्ञिनश्चास्मितामात्र ध्यानसुखाः । तेऽपि त्रैलोक्यमध्ये

प्रतितिष्ठन्ति । त एते सप्तलोकाः सर्व एव ब्रह्मलोकाः । विदेहप्रकृतिलयासु मोक्षपदे वर्तन्त इति न लोकमध्ये न्यस्ता इति । एतद्योमिना साक्षात्करणीयं सूर्यद्वारे संयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि । एवं तावदभ्यसेद्यावदिदं सर्वं दृष्टमिति ।

नाभिचक्रे संयमं कृत्वा कायव्यूहं विजानीयात् । वातपित्तश्लेष्माणस्त्रयो दोषाः । धातवः सप्त त्वग्लोहितमांस्नाय्वस्थिमज्जशुक्राणि । पूर्वं पूर्वमेषां बाह्यमित्येष विन्यासः । जिह्वया अधस्तास्तन्तुः । ततोऽधस्तात्कण्ठः । ततोऽधस्तात्कूपः । तत्र संयमात् क्षुत्पिपासे न बाधेते । कूपादध उरसि कूर्माकार नाडी । तस्यां कृतसंयमः स्थिरपदं लभते । यथा सर्पो गोधा चेति ।

एवं विधमनात्वात् अवगन्तुं यत् शरीरे विद्यमान रोगान् तेषां लक्षणं च तत्समाधी इन्द्रियाणां अवस्थाया ज्ञातुं सुलभः । किमर्थमित्युक्ते इन्द्रियाणि पराञ्चि वर्तन्ते । तेषां द्वारेणैव लोकज्ञानं भवति । तथा बुद्धौ स्फुटितं या अनुभूतं यत् वर्तते तस्य लोकेन साकं मेलनमपि इन्द्रियाणां द्वारेणैव । तस्मात् मनः, इन्द्रियाणि, बुद्धिः, अहङ्कारः, शरीरश्चेतेषां सहयोगः सहकार एव अरोग्यम् । तत्प्रापणार्थं उपरि उक्तरीत्या अभ्यासः कार्यः । अधुना निदानविभागे तावत् तेषां सहयोगं विमृश्य रोगकारणं तथा स्थानं ज्ञातुं शक्यते । तदर्थं मानसिक स्थितिज्ञानम् अपि अत्रैव लभ्यते । एवं शारीरिक मानसिक, आध्यात्मिक तथा सामाजिक स्तरेषु आरोग्यज्ञानं तथा आरोग्य सम्पादनं च भवति ।

हठयोगप्रदीपिकायां अधोनिर्दिष्टरुपेण व्याख्यानं वर्तते । प्राणायाम अभ्यासनार्थं पूर्वं काचित् नियमाः पालनीयाः भवन्ति । तैरपि स्पष्टतया उक्तमस्ति । तान् सर्वान् सङ्ग्रहेण अत्र ददामि ।

प्राणायाम अभ्यासिनः पूर्वसिद्धता आहारश्चः

**अयासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ।**
**गुरूपदिष्टमार्गे प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥**

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्विकया क्रिया ।
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिः प्रयान्ति च ।।

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ।।

यथा सिंहो गतो व्याघ्रो भवेद्वस्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ।।

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बन्धीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ।।

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ।।

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथापरम् ।
नाडीशुद्धिं ततः पश्चात्प्राणायामं च साधयेत् ।।

दूरदेशे तथाऽरण्ये राजधान्यां जनान्तिके ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृतश्चोसिद्धिहा भवेत् ।।

अविश्वासं दूरदेशे अरण्ये रक्षिवर्जितम् ।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात्त्रीणि विवर्जितम् ।।

सुदेशे धार्मिके राज्ये सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
कृत्वा तत्रैकं कुटीरं प्राचारैः परिवेष्टितम् ।।
वापीकूपतटाकं च प्राचीरमध्यवर्ति च ।
नात्युच्चं नातिनिम्नं च कुटीरं कीटवर्जितम् ।।

सम्यग्गोमयलिप्तं च कुटीरं तत्र निर्मितम् ।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत् ।।

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च ऋतौ तथा ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगो हि रोगदः ।।

वसन्ते शरदि प्रोक्तं योगारम्भं समाचरेत् ।
तदा योगी भवेत्सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेद्ध्रुवम् ।।

चैत्रादि फाल्गुनान्ते च माघादि फल्गुनान्तिके ।
द्वौ द्वौ मासावृतुभागावनुभावश्चतुश्चतुः ।।

वसन्तश्चैत्रवैशाखौ ज्येष्ठाषाढा च ग्रीष्मकौ ।
वर्षाश्रावणभाद्राभ्यां शरदश्विनकार्तिकौ ।
मार्गपौषौ च हेमन्तः शिशिरो माघफाल्गुनौ ।।

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनां च यथोदितम् ।
माघादि माघवान्तेषु वसन्तानुभवं विदुः ।।

वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं तु समाचरेत् ।
तदा योगो भवेत्सिद्धो विनायासेन कथ्यते ।।

मिताहारं विना यस्तु भोगारम्भं तु कारयेत् ।
नानारोगी भवेत्तस्य किञ्चिद्योगो न सिद्ध्यति ।।

शाल्यन्नं भवपिष्टं वा तथा गोधूमपिष्टकम् ।
मुद्गं माष चणकादि शुभ्रं च तुषवर्जितम् ।।

पटोरुं सुरणं मानं कक्कोलं च शुकाशकम् ।
द्राढिकां कर्कटीं रम्भां डुम्बरीं कण्टकण्टकम् ।।

आमरम्भां बालरम्भां रम्भादण्डं च मूलकम् ।
वार्तकीं मूलकं ऋद्धिं योगो भक्षणमाचरेत् ।।

बालशाकं कालशाकं तथा पटोलपत्रकम् ।
पञ्चशाकं प्रशंसीयाद्वास्तुकं हिमलोचिकाम् ।।

शुद्धं सुमधुरं स्निग्धमुदरार्धविवर्जितम् ।
भुज्यते सुरसम्प्रीत्या मिताहारमिमं विदुः ।।

अन्नेन पूरयेदर्धं तोयेन तु तृतीयकम् ।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद्वायुचारणे ।।

कट्वाम्लं लवणं तिक्तं भृष्टं च दधितक्रकम् ।
शाकोत्कटं तथा मद्यं तालं च पनसं तथा ।।

कुलित्थं मसुरं पाण्डुं कूष्माण्डं शाकदण्डकम् ।

तुम्बीकोल कपित्थं च कण्टबिल्वं पलासकम् ।।

कदम्बं जम्बीरं बिम्बं लिकुचं लशुनं विषम् ।
कामरङ्गं वियालं च हिङ्गुशाल्मलि केमुकम् ।।

योगारम्भे वर्जयेच्च पथिस्त्रीवह्निसेवनम् ।
नवनीतं घृतं क्षीरं शर्करादौक्षवं गुडम् ।।

पक्वरम्भां नारिकेलं दाडिम्बमशिवासवम् ।
द्राक्षां तु लवलीं धात्रीं रसमाम्लं विवर्जितम् ।।

लघुपाकं प्रियं स्निग्धं तथा धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ।।

कठिनं दुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा ।
अतिशीतं चाति चोष्णां भक्ष्यं योगी विवर्जयेत् ।।

प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ।
एकाहारं निराहारं यामान्ते च न कारयेत् ।।

एवं विधि विधानेन प्राणायामं समाचरेत् ।
आरम्भे प्रथमे कुर्यात् क्षीराज्यं नित्यभोजनम् ।।

मध्याह्ने च सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत् ।
कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले ।।

स्थूलासने समासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
नाडीशुद्धिं समासाद्य प्राणायामं समभ्यसेत् ।।

प्राणायामाभ्यासार्थम् उपरि उक्तरूपेण पूर्वसिद्धता कार्या । अन्यथा अभ्यासः कष्टदायकं भवति । तेन अन्य कलशोः उत्पद्यन्ते । तदर्थमेव समीचीन गुरूपदेशतः ज्ञेयम् इति सिद्धम् वर्तते ।।

## 2.7. ध्यानप्रकाराः

अस्मिन् विभागे प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधिपद्धतयः मिलित्वा ध्यानप्रकारा इति

उक्तमस्ति। यद्यपि शास्त्रीय रीत्या ध्यानम् अन्यप्रकारान् भिन्नमपि अभ्यासे प्राथमिकस्तरे व्यत्यासः न भवति । तस्मात् ध्यानप्रकारमित्येव व्यवहृतमस्ति । तस्मात् अत्र प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधि विषये विद्यमान सरल अभ्यासेषु किञ्चित् प्रतिपादनं क्रियते ।

पतञ्जलिना उक्तं यथा-

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

चित्तनिरोधे चित्तवन्निरुद्धाति इन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवदुपायान्तरम् अपेक्षते । यथा मधुकरराजं मक्षिक उत्पतन्तमनुत्पतन्ति, निविशमान मनुनिविशन्ते, तथेन्द्रियाणि चित्तनिरोधे निरुद्धानित्येष प्रत्याहारः ।

**ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम् ।**

शब्दादिष्वव्यसनमिन्द्रियजय इति केचित् । सक्रिर्व्यसनम्, व्यस्यत्येनं श्रेयस इति । अविरुद्धाप्रतिपत्तिर्न्याय्या । शब्दादि सम्प्रयोगः स्वेच्छयेत्यन्ये ॥ रागद्वेषाभावे सुखदुःखशून्यं शब्दादिज्ञानमिन्द्रियजय इति केचित् । ततश्च परमान्वियं च वश्यता, यच्चित्तनिरोधे निरुद्धानीन्द्रियाणि नेतरेन्द्रियजयवत् प्रयत्नकृतमुपायान्तरमपेक्षन्ते योगिन इति ॥

**देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।**

नाभिचक्रे, हृदयपुण्डरीके, मूर्धज्योतिषि, नासिकाग्रे, जिह्वाग्र इत्येवमादिषु देशेषु बाध्येषु वा विजये चित्तस्य वृत्तिमात्रेण बन्ध इति धारणा ॥

**तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।**

तस्मिन् देशे ध्येयालम्बनस्य प्रत्ययस्यैकतानता सदृशः प्रवाहः प्रत्ययान्तरेणापरामृष्टो ध्यानम् ।

**तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।**

ध्यानमेव ध्येयाकारनिर्भासं प्रत्ययात्मकेन स्वरूपेण शून्यमिव यदा भवति ध्येयास्वभावावेशात् तदा समाधिरित्युच्यते ।

एतदेव हठयोगे उक्तवत् कानिचित् अधोर्निर्दिष्टानि वर्तन्ते ।

**अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमिषोन्मेषवर्जिता ।**
**एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥**

**अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते ।**
**दृष्ट्या निश्चलतारतया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥**

**मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादात् गुरोः ।**
**शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत् तत्वं पदं शाम्भवम् ॥**

**तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेह भ्रुवौ ।**
**पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मतीकारकः क्षणात् ॥**

**अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदन्तेक्षण-**
**श्चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्द भावेन यः ।**
**ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं**
**तत्वं तत्पदमेमि वस्तु परमं वाच्यं किं पराधिकम् ॥**

**ध्यानोपहार एवात्मा ध्यानस्य महार्चनम् ।**
**विना नेतरेणायमात्मा लभ्यत एव नो ॥** – (योगवासिष्ठे)

घेरण्डे उक्तवत् ध्यानं त्रिविधं तथा तस्य प्रकाराः वर्तन्ते यथा-

**स्थूलं ज्योतिस्तथा सूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः ।**
**स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयं तथा ।**
**सूक्ष्मं बिन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता ॥**

**स्वकीयहृदये ध्यायेत्सुधासागरमुत्तमम् ।**
**नीपोपवनसङ्कुलैर्वेष्टितं परिखा इव ॥**

**मालतीमल्लिकाजाती कैसरैश्चम्पकैस्तथा ।**
**पारिजातै स्थलपद्मै गन्धामोदित दिङ्मुखैः ॥**

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम् ।
चतुःशाखा चतुर्वेदं नित्यपुष्पफलान्वितम् ॥

भ्रमराः कोकिलास्तत्र गुञ्जन्ति निगदन्ति च ।
ध्यायेत्तत्र स्थिरो भूत्वा महामाणिक्यमण्डपम् ॥

तन्मध्ये तु स्मरेद्योगी पर्यङ्कं सुमनोहरम् ।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद्यद्ध्यानं गुरुभाषितम् ॥

तस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः ॥

सहस्रारे महापद्मे कर्णिकायां विचिन्तयेत् ।
विलग्नसहितं पद्मं दलैर्द्वादशाभियुतम् ॥

शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशैर्बीजभाषितम् ।
हसक्षमलवश्यं हसखप्रे यथाक्रमम् ॥

तन्मध्ये कर्णिकायां तु उक्थादिरेखात्रयम् ।
हलक्षकोणसंयुक्तां प्रणवं तत्र वर्तते ॥

ध्यायेत्तत्रगुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम् ।
श्वेताम्बरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम् ॥

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम् ।
एवं विधगुरुध्यानात्स्थूलध्यानं प्रसिद्ध्यति ॥

स्थूलध्यानं तु कथितं तेजोध्यानं शृणुष्व मे ।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षमेव च ॥

मूलाधारे कुण्डलिनी भूजगाकाररूपिणी ।
तत्र तिष्ठति जीवात्मा प्रदीपकलिकाकृतिः ॥

ध्यायेत्तेजोमयं ब्रह्म तेजोध्यानं परात्परम् ।
ध्यायेष्वालावलीयुक्तं तेजोध्यानं तदेव हि ॥

तेजोध्यानं श्रुतं चण्ड सूक्ष्मध्यानं शृणुष्व मे ।
बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जाग्रती भवेत् ॥

**आत्मना सहयोगेन नेत्ररन्ध्राद्विनिर्मता ।**
**विहरेद्राजमार्गे च चञ्चलत्वान्न दृश्यते ॥**

**शाम्भवीमुद्रया योगो ध्यानयोगेन सिद्ध्यति ।**
**सूक्ष्मध्यानमिदं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ॥**

**स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते ।**
**तेजोध्यानाल्लक्षगुणं सूक्ष्मध्यानं परात्परम् ॥**

एवं सूक्ष्मध्यानं उत्तमम् इति उक्तम्। तदेव उपनिषत्सु अपि नादानुसन्धानरूपेण उक्तमस्ति । तदर्थं क्रमशः अभ्यासः कार्यः तदानीं स्वाभाविकतया ज्ञानदीप्तिर्भवति इत्येव अर्थः । तदेव अभ्यासः जीवतनम् इत्यपि अवगन्तु शक्यते ।

## 2. ४. योगाभ्यासस्य पूर्वसिद्धता

सामान्य जीवनपद्धतौ अपि शरीरस्वास्थ्यस्य महत्वं सर्वे जानान्ति। तत्तु आसनानां अभ्यासेन लभ्यते। कथमित्युक्ते आरोग्यं नाम केवल शारीरिकं न। शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिकरूपेण सर्वदा अभिवृद्धिः इति अधुनातन आरोग्यशास्त्रकाराः अङ्गीकृतं वर्तते। परन्तु विषयमिदं योगशास्त्रे द्विसहस्रवर्षात् प्रागेव उक्तमस्ति। तथैव योगशास्त्रे शारीरिक स्वास्थ्यस्य तथा मानसिक स्वास्थ्यस्य च महत्वं समानतया दत्तमस्ति। अत्र केवलं रोगमुक्तः स्थितिः आरोग्यं इति न मनुते। दुःखरहितशरीरं तथा मनः इत्येव मन्यते। तस्मात् शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, सामाजिक, भौतिक, आध्यात्मिक स्तरेषु सुयोग्य सामरस्यं तथा सुसंवाद प्रापणमेव आरोग्यम्। कश्चन व्यक्तेः आरोग्यं किञ्चित् प्रमाणे तस्य आनुवंशिक, कौटुम्बिक, सामाजिक बाह्यविषयानाधारीकृत्य विद्यमानेऽपि इदं सर्वमपि तरणसामर्थ्यं अस्माकं हस्ते वर्तते। योगासनद्वारा शरीर, मनः, बुद्धि एतान् शुद्धीकृत्य आरोग्यसम्पादनं शक्यम्।

आरोग्यसम्पादनार्थं विविध प्रकारेषु व्यायामाः सन्ति। व्यायामः इत्युक्ते विशेषेण आयामः अथवा शरीरे विद्यमान स्नायूनां विशेषरूपेण चलनम् इत्यर्थः। अत्र विभागद्वयमस्ति। (१) अङ्गभाग साधनव्यायामः। (२) सर्वाङ्गसाधनव्यायामः।

१. अङ्गभाग साधन व्यायामः : धवनं, अन्यान्य क्रीडाप्रकाराः भवन्ति।

२. सर्वाङ्ग साधन व्यायामः : योगासनम्। इदं केवलं व्यायाम प्रकारः इति वक्तुं न शक्यते। किमर्थमित्युक्ते अभ्यासेन देहबलवृद्धिः मनोबलवृद्धिश्च भवति। साकं मनःस्वास्थ्यं मनश्शान्तिश्च फलति। योगासनस्य प्रत्येकमपि विन्यासः उद्देशपूरितं तथा बुद्धिपूर्वकं कौशल्येन कर्तव्यं भवति। अभ्यासेन तत् सम्पूर्णं भवति। अन्ते शरीरः तथा बुद्धिश्च स्थिरौ भवतः। परन्तु ईदृशानुभवः आसनाभ्यासे आरम्भे न भवति। तस्मात् आसनमपि व्यायाम प्रकारः इत्येव

जनजनितमभूत् । योगासनाभ्यासेन शरीरे विद्यमान स्नायवः अन्तरिन्द्रियाः, ग्रन्थयश्च क्रियात्मकाः भवन्ति । तदानी तेषां कार्यक्षमता वर्धते । तेन अवयवाः स्वस्थाः भवन्ति । स्थिरत्वं प्राप्नुवन्ति । तदानीं शरीरे लघुत्वं आयाति । मनसः चाञ्चल्यश्च प्रतिबन्धनं आयाति । शरीरेण साकं मनः अपि कार्यमग्नं भवति । तदनन्तरं स्वाभाविकतया मनः, बुद्धि, आत्मा इत्यादिषु कुतूहलं वर्धते । शरीरस्योपरि प्रभुत्वं अपि प्राप्नोति ।

आसनैः उपर्युक्तरीत्या प्रयोजनं कथं भवति इति विविध शास्त्रानुसारेण अत्र विवेचयामः । साङ्ख्य तथा योगशास्त्ररीत्या शरीरप्रापणं त्रिगुणानां परिणामेनैव नान्यथा । तस्मात् अङ्गाङ्गैः विद्यमान शरीरे सत्वरजस्तमोगुणाः वर्तन्ते । सत्वगुणं तावत् स्थूल शरीरे किञ्चिदेव भवति । अधिकरूपेण तमोगुणः, तदन्तरं रजोगुणः । परन्तु रजोगुणः चलं वर्तते । शरीरस्य तथा इन्द्रियाणां उद्भव अहङ्कारादेव भवति । अहङ्कारे रजोगुणस्य अधिक्यं भवति । अङ्गाङ्गैरपि रजोगुणेन साकं विद्यमानत्वात् चञ्चलाः भवन्ति । मनः अपि चञ्चलमेव । तस्मात् सर्वदा तैः इन्द्रियैः तेषां विषयवस्तुनि लग्नाः भवन्ति । विपश्चिताः न भवन्ति । सर्वदा विषयानुभवे एव मग्नाः भवन्ति । तदानीं मनः अपि तत्रैव रमते नान्यत्र । इदानीं मनः तथा अन्य दशेन्द्रियान् अन्तर्मुखं कर्तव्यं भवति । अन्यथा मनः प्रशमनं अशक्यम् । एवं करणीयं चेत् प्रथमतः इन्द्रियान् सर्वाण्यपि एकरीत्या, एकस्मिन् एव कर्मणि यथा मग्नाः भवन्ति तथा करणीयम् । तेन साकं मनः प्रशमनपद्धतिरपि करणीयम् । तदेव आसनद्वारेण क्रियते । आसनकरणसमये श्वासोच्छ्वासादयः अङ्गाङ्गचलनै साकं एकीभूत्वा विधिवत् अभ्यासः क्रियते चेदेव तेषां समतोलनं भवति । न तु केवलं अङ्गाङ्गचालनेन । केवलं अङ्गाङ्गानां चालनं व्यायामः भवति । तत्र केवल शरीरमात्रस्य चालनम् । तस्मात् स्थिरता प्राप्तुं अशक्यम् । तथा विधिवत् श्वासोच्छ्वास, विन्यास, स्थिति, दृष्ट्यादीनां साकं अभ्यासः क्रियते चेत् शरीरे सर्वरूपेण चैतन्यं वर्धते । तमोगुणः तथा रजोगुणश्च

क्षीणो भवति। मुख्यतया प्रथमतः रजोगुणः क्षयो भवति। तदेव उपनिषदि उक्तं वर्तते यथा- ''आसनेन रजो हन्ति'' इति। रजोगुणनाश इत्युक्ते अत्र मनः प्रशमनं इत्यर्थः। तदानीं मनः अग्रमान अभ्यासार्थं दृढशरीरेण साकं सिद्धो भवति। ईदृशरीत्या शरीरस्य स्थिरता मानसिक स्थैर्येण साकं आसनेनैव शक्यं इति हठयोगप्रदीपिकाकारः स्वात्मरामः प्रतिपादितः। आसनाभ्यासार्थं कश्चन नियमाः परिपालनीयाः वर्तन्ते। तेषु प्रामुख्य नियमान् अत्र दीयते।

१. प्रातःकाले अथवा सायङ्काले आसनाभ्यासनार्थं उत्तमः समयः। ब्राह्मीमुहूर्ते चेत् प्रथम प्राशस्त्यम्। तदानीं स्वभावतः मनसः तथा शरीरस्य स्थितिः सत्वाधिक्येन भवति। अभ्यासेन उभावपि स्थिरतां शीघ्रतया प्राप्नुवयात्। सायङ्कालेऽपि सन्ध्यासमयः उत्मतः। तदानीं अपि स्वभावतः सुलभतया स्थिरतां प्राप्तुं शक्यम्। परन्तु दिवसे कृत कर्मणा शरीरे मनसि च स्वभाविक सामर्थ्यस्य न्यूनता भवति। क्लेशश्च अनुभूते। परन्तु आधुनिक जीवने अन्य उपायः नास्ति।

**२. प्रदेशः**

आसनाभ्यासनार्थं हठयोगे उक्तरीत्या स्वीक्रियते चेत् एकान्तप्रदेशं, गुप्रप्रदेशं, कीटवर्जितं, सुराज्यं, मठं भवेत्। तत्र जल, आहारविरामः सुलभतया लभेत्।

एतदुक्तं यथा हठयोगप्रदीपिकायां स्वात्मारामेण-

**सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्ष्ये निरुपद्रवे।**
**धनुः प्रमाणपर्याप्तं शिलाग्निजलवर्जिते।**
**एकान्ते मठिका मध्ये स्थातव्यं हठयोगिना॥**

तथैव मठस्य लक्षणमपि उक्तं यथा-

**अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्च नीचायतं**
**सम्यग्गोमयलिप्तममलं निश्शेषजन्तूज्झितम्।**
**बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेश्रितं**
**प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः॥**

एवं योगमठस्य लक्षणं नन्दिकेश्वरपुराणे उक्तं यथा-

**मन्दिरं रम्य विन्यासं मनोज्ञं गन्धवासिनम् ।**
**धूमामोदादि सुरभि कुसुमोत्करमण्डितम् ।।**

**मुनितीर्थनदीवृक्ष पद्मिनीशैल शोभितम् ।**
**चित्रकर्मनिबद्धं च चित्रभेद विचित्रितम् ।।**

**कुर्यात् योगगृहं धीमान् सुरम्यं शुभवर्त्मना ।**
**दृष्ट्वा चित्रगतांश्छान्तान् मुनीन् याति मनःशमम् ।।**

**सिद्धान् दृष्ट्वा चित्रगतान् मतिरभ्युद्यमे भवेत् ।**
**मध्ये योगगृहस्थाय लिखेत् संसारमंडलम् ।।**

**श्मशानं च महाघोरं नरकांश्च लिखेत् क्वचित् ।**
**तान् दृष्ट्वा भीषणाकारान् संसारे सारवर्जिते ।।**

**अनवसादो भवति योगी सिद्ध्यभिलाषुकः ।**
**पश्यंश्च व्याधितान् जन्तून् नतान् मत्तांश्चलद्व्रणान् ।।**

एवं रीत्या विद्यमान मठे स्थित्वा सर्वचिन्तारहितो भूत्वा गुरूपदिष्टमार्गेण योगं सदा सम्यक्रूपेण अभ्यासः करणीयः इति नियमः। अधारवाक्याः सन्ति यथा-

हठयोगप्रदीपिकायां स्वात्मारामेण योगिना यथा-

**एवं विधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ।**
**गुरूपदिष्ट मार्गेण योगमेव सदाभ्यसेत् ।।**

राजयोगे-

**वेदान्ततर्कोक्तिभिरागमैश्च नानाविधैः शास्त्रकदम्बकैश्च ।**
**ध्यानादिभिः सत्करणैर्न गम्यश्चिन्तामणिर्हेकगुरुं विहाय ।।**

स्कन्दपुराणे-

**आचार्याद्योगसवरस्वमवाप्य स्थिरधीः स्वयम् ।**
**यथोक्त लभते तेन प्राप्नोति च निर्वृतिम् ।।**

सुरेश्वराचार्यः-

**गुरुप्रसादाल्लभते योगमष्टाङ्गसंयुतम् ।**
**शिवप्रसादाल्लभते योगसिद्धिं च शाश्वतीम् ॥**

उपर्युक्त आधारवाक्येषु विद्यमान गूढविषयः यत् इत्युक्ते गुरोः मार्गदर्शनं विना अभ्यासे विद्यमान सूक्ष्मविषयान् ज्ञातुं अशक्यम् । नानाशास्त्राणां ज्ञानं आवश्यकम् । अन्यथा प्रयत्नः वृथा भवेत् । तस्मात् सद्गुरोः अश्रयः आवश्यकः इत्यर्थः ।

३. अभ्यासकाले योगसिद्ध्यर्थ नियमपालनं आवश्यकम् । अन्यथा योगसिद्धिः न भवेत् । तत्तु उक्तं वर्तते । एवं हठयोगप्रदीपिकायाम्-

**अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।**
**जनसङ्गश्च ताल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ॥**

उपर्युक्त षड्विधाः योगनाशाय हेतवः भवन्ति इति वदति ।

**अत्याहारः** इत्युक्ते अतिशयित आहारः अत्याहारः । क्षुधापेक्षया अधिकभोजनं क्रियते चेत् शरीरे मनसि च आलस्यं भवति । तेन निद्रादि स्वभावाः जायन्ते । तत्तु चित्तवृत्तेः चाञ्चल्यस्य कारणं भवति न तु स्थिरता प्रापणार्थम् ।

**प्रयासः** श्रमजनानुकूलो व्यापारः । दूरप्रयाणं, दैहिक श्रमजनन कायकर्माणि इत्यादीनि यथा श्रमः भवेत् तथा न करणीयं इत्यर्थः । तदानीं मनः ध्यानासक्तो न भवति । अन्यत्र विषयासक्तमेव भवति ।

**४. प्रजल्पः** प्रकृष्टो जल्पः प्रजल्पः इत्युक्ते बहुभाषणम् । भाषणं नाम अन्तःकरणे विद्यमान विषयान् वाक्रूपेण बहिः निस्सारणम् । तदानी मानसिक वाचिक तथा कायिक व्यापाराः इन्द्रियनिग्रहणं न कुर्युः । तेन ध्यानिरोधो भवति ।

**५. नियमग्रहः** तत्तत्कालविहित आचारविचाराणां परिलानं न क्रियते चेत् । शरीरं तथा

मनश्च स्वाधीनं न भवेत्। यथा इन्द्रियाणि विषयान् आकाङ्क्ष्यते तथा प्रवर्तेत। तेन समाधिः न भवेत्।

६. **जनसङ्गः** जनानां सङ्गः जनसङ्गः। तेन कामादिवासनाः जायन्ते। तैः विविधरीत्या कालुष्यं मनसि उत्पादयन्ति इत्येव कारणात्। तदेव भगवद्गीतायां उक्तं वर्तते यथा-

**सङ्गात् सञ्जायते कामः कामात् क्रोधोभिजायते।**
**क्रोधाद्भवति संमोहः संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।**
**स्मृतिभ्रंशात् बुद्धिनाशः बुद्धिनाशात् प्रणश्यति॥**

७. **लोलस्य भावः लोल्यं-** चाञ्चल्यम् इत्यर्थः। सदा अन्यस्मिन् विषयेषु आसक्तिः। स्थिरभावः तथा एकस्मिन् एव विषये अस्थिर स्वभावः। तदानीं चित्तचाञ्चल्यमेव न तु चित्तशुद्धिः। तेन षड्भिः योगः विशेषेण नश्यति।

योगसिद्ध्यर्थम् अधोविद्यमान षड्भिः गुणैः आवश्यकानि यथा-

**उत्साहात् साहसात् धैर्यात् तत्वज्ञानाश्च निश्चयात्।**
**जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति॥** – ८. शौचम्

योगाभ्यासात् पूर्वं शरीरस्य शौचक्रियादीन् आवश्यकतया पालनीयानि। तत्तु स्नानादिकर्मणा। अन्यथा मनः एकाग्रतां न प्राप्नुयात्। तेन लाभ योगसूत्रे पतञ्जलिना एवमुक्तमस्ति-

शौचात् स्वाङ्गजिगुप्सा परैरसंसर्गः। सत्त्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्रेन्द्रियजयत्व आत्म दर्शनयोग्यत्वानि च।

पुनः पुनः शरीरक्षालनेनापि शरीरशुद्धिः न भवति इति ज्ञानेन स्वशरीरे परशरीरेऽपि च असंसर्गभावना उदेति। तथैव पालनेन रजस्तमोभ्यामनभिभवः। तेन सत्त्वं शरीरे सुखं ददाति सौमस्यं उदेति। नियतेन्द्रियविषये एकाग्रता भवति। तेन स्थैर्यः प्रजायते। तदानीं आत्मदर्शने विवेकख्यातिरूपे चित्तस्य योग्यत्वम् उदेति।

९. अभ्यासानन्तरं तत्क्षणमेव स्नानं न कुर्यात् । तेन शरीरे विद्यमान उष्णांशस्योपरि विरोधगुणः प्रजायते । अभ्यासकाले शरीरस्य उष्णता किञ्चित् अधिकं भवति । तथा सर्वाणि इन्द्रियाणि, अवयवाद्याः प्रसन्नतां प्राप्नुवन्ति । तस्मिन् काले सहसा स्नानकरणेन अप्रसन्नता एव उदेति । तस्मात् मुहूर्तमेकं अपहाय स्नातुं शक्यते । स्नानजलं तावत् न अतिशैत्यं तथा न अत्युष्णं भवेत् । तेनापि शरीरस्य हानिरेव । उष्णाम्बुना अधःकायस्य परिषेको बलावहः । इति वाग्भटाचार्यः । तस्मात् शिरसि साधारणजलेन स्नातव्यम् इति ।

१०. साधारणतया असनानां अभ्यासः दिने एकवारम् अलम् । विशेषतया तु अन्यत् । प्राणायाम, ध्यानादीन् त्रिवारं वा चतुर्वारं अभ्यासः कर्तुं शक्यते ।

११. योगाभ्यासः कर्तुं आवश्यकानि वस्त्राणि कनिष्ठतया धारणियानि । अन्यथा तदेव अन्तरायोभवेत् अभ्यासार्थम् ।

१२. सर्वेषाम् अभ्यासानाम् अभ्यासः केवल भूमौ न करणीयम् । तस्योपरि काचित् आसनं करणीयम् । तत् यथा भवितव्यं चेत् शरीरस्य उष्णं भूमिस्पर्शं न भवेत् । भूमेः उष्णं या शैत्यं शरीरस्पर्शं न भवेत् तथा जागरूकतया भवेत् । अन्यथा शरीरस्थ प्राणशक्तेः हानिरेव । न तु प्रयोजनम् ।

१३. दक्षिणमुखी कृत्वा अभ्यासः न कार्यः । यथानुकूलं तथा अन्यभागेषु मुखं कृत्वा कर्तुं शक्यते । परन्तु उत्तराभिमुखेन सिद्धपुरुषाणां सम्पर्कः सुलभतया भवति इति पूर्वाचार्यैः वदन्ति ।

१४. सर्वत्र अभ्यासे शरीरस्य अङ्गाङ्गचालनं श्वासोच्छ्वासादीनां सह तुल्यवेगेन न तु अतिवेगेन अथवा अतिमन्दतया कार्यः । अतिवेगः तथा अतिमन्दश्च शरीरे आयासं, काठिन्यं च जनयति । कुत्रापि विन्यासः असमाधानेन वेगेन न भवितव्यम् ।

१५. प्रत्येकस्मिन् आसने श्वासोच्छ्वासः, विन्यासः, स्थितिः, दृष्टि इति चत्वारौ विभागाः अनुसर्तव्याः । परन्तु आसने श्वासोच्छ्वासनियमाः, प्राणायामस्य आसनं, ध्यानस्य प्राणायामः इति तेषां सम्बन्धः । समीचीनरीत्या पद्धत्या श्वासोच्छ्वास आसनाभ्यासे भवितव्यम् । सर्वदा एकस्मिन् एव आसने प्राणायाम अभ्यासः न तु व्यत्यासः ।

ध्यानकरणार्थं प्राणायामं कृत्वा प्राणायामनियमानुसारेण प्रत्याहारं करणीयम् । अन्यथा अभ्यासक्रमः समीचीनं न भवेत् ।

१६. अभ्यासकाले यत्रकुत्रापि श्रमः जायते चेत् तत्रैव स्थातव्यं न तु अतिप्रयत्नः । तेन दोष एव आविर्भवति ।

१७. अभ्यासात् पूर्वं किञ्चित् जलाहारं स्वीकर्तुं शक्यते । सम्पूर्णं आहारं अभ्यासानन्तरं अर्धघण्टां विहाय स्वीकर्तव्यम् । अभ्यासकाले उदरं रिक्तं भवेत् । आहारादयः न भवितव्यम् । भवति चेत् श्वासोच्छ्वासादयः सम्यक्तया न भवन्ति । जीर्णप्रक्रियस्य उपरि अवरोधो जायते ।

१८. वह्निस्त्रीपथिसेवनामादौ वर्जनमाचरेत् । इत्युक्ते योगाभ्यासस्य आरम्भकाले शैत्यनिवारणाय वह्निसेवनं, स्त्रीसङ्गः, तीर्थयात्रादि गमनागमेन शरीरे बाधा जायते । शरीरायाजन कर्मान् न कुर्यादित्यर्थः । तथैव गोरक्षवचनं यथा-

**वर्जयेत् दुर्जनप्रान्तं वह्नि स्त्री पथिसेवनम् ।**
**प्रातःस्नानोपनानादि कायक्लेशविधिं तथा ।।**

इति ।

ईदृशरीत्या पूर्वसिद्धतां कृत्वा योगमभ्यसेत् । तदानीमेव तत् योगः दुःखनाशाय हेतुः भवति । अन्यथा न । दुःखमेव ददाति ।

## 2.9. आहाराः अभ्यासक्रमाश्च

योगाभ्यासे आहार, विहार, वाङ्मयनियमाः अतिप्रमुखाः वर्तन्ते । आहारं तावत् सात्विक, राजसिक, तामसिकरूपेण त्रिधा विभक्तं भवति ।

**सात्त्विकाहारः** **आयुस्सत्त्वबलारोग्य सुखप्रीतिविवर्धनाः ।**
**रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ।।**

अत्र भगवान् श्रीकृष्णः सस्याहार मांसाहारभेदेन नोक्तवान् । कीदृशं आहारं कथं स्वीकुर्म

इत्यनेन तस्य गुणावगुणाः शरीरे भवन्ति तथा मनसि अपि। तत्र आयुष्करम् इत्युक्ते। आयुषः विवर्धनार्थं सहायकं यत् तदेव। शरीरे सत्त्वं वर्धते यत् तत् सत्त्व। शारीरिकं मानसिकं च बलं विवर्धमानः बल्यम्। रोगराहित्यं भवेत् चेत् आरोग्यम्। शारीरस्य मानसः च सुखप्रीतिविवर्धनाः यैः वर्तन्ते तादृशाः आहारा उत्तमाः। तादृश वस्तुषु रसगुणं, स्निग्धत्वं, शारीरे मानसे च स्थिरतां दातु विद्यमानगुणाः भवितव्यम्। भक्षणेन सुखं दातव्यानि वर्तन्ते चेत् तदानीं सात्त्विकाहार इति वक्तुं शक्यते।

**राजसिकाहारः** यैः आहाराः भक्षणसमये अतीव कटु, आम्ल, लवण, अत्युष्ण, तीक्ष्ण, रूक्ष, विदाहिनः भूत्वा दुःखशोकादि रोगान् जनयन्ति चेत् राजसिका इति वक्तव्यम्।

**कट्वाम्ल लवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः।**
**आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥**

**तामसिकाहारः** शरीरे मनसि च जडत्वं आनयति तथा शीघ्रतया तस्य स्वभावं नष्टं भवति। तेन मनसि, शरीरे च दुष्परिणामः भविष्यति चेत् तत् तामसिकाहार इति वक्तुं शक्यम्। तदेव उक्तं यथा-

**यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्।**
**उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्॥**

पाचनं कृत्वा यामकालं तावत् अतीतं चेत् तादृश आहारस्य स्वाभाविकगुणः नष्टं भवति। तत् आलस्यमेव ददाति। गतरसम् इत्युक्ते अतिव क्वथनकरणेन तस्य उत्तम गुणाः नष्टं जातं चेत्। तदनन्तरं विद्यमान आहारभागः। अथवा फलादयः शुष्कभूताश्चेत् विद्यमानं गुणम्। पूति इत्युक्ते दुर्गन्धपूरितानि। पर्युषितं नानु सिद्धं कृत्वा निक्षिप्तम् आहारे रुचिव्यत्यासः। तथैव कश्चन भुक्त्वा त्यक्तपदार्थः उच्छिष्टं भवति। अशुद्धरीत्या विद्यमान तथा खाद्यमान आहारपदार्थाः अमेध्यम् इति। ईदृशरीत्या विद्यमानानि तामसिक आहारा इति कथितानि। तेन भक्षणेन तैः

दुःखशोकादीन् आनयन्ति इत्यर्थः । तथैव तत्तत् गुणेषु विद्यमानैरेव तादृशाकारं जनयन्ति । तस्मादेव पूर्वादार्यैः वदन्ति यत्-

**आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवास्मृतिः ।**
**इत्यादिरूपेण उपनिषत्प्रमाणेन सिद्धं भवति ।**

आहारादिषु सात्त्विकाहारमेव श्रेष्ठतमं वर्तते । आयुर्वेदे उक्तमसि यथा- 'अतिशाकेन वर्धते व्याधिः'' इत्यादि प्रमाणवचाननुसारेण अधिकतया शाकानां भक्षणमपि योगाभ्यासिनः अहितमेव । तेन शरीरे विद्यमान व्याधि वर्धते न तु क्षीयते । उत्तम आहारपदार्थाः यथा-

गोधूमः, यव, दधि, पटोलं, शुण्ठि, दुग्धं शर्कराणि, लवण, क्षार, आम्लगुणानि आहाराणि शरीरपोषणायायैव किञ्चित्मात्रं सहकृताः भवन्ति । तेषां उपयोग अपि क्वचिदेव अलम् । तस्मात् सामान्यतया ऋतुधर्ममाश्रित्य देशानुगुणेन, कालानुगुणेन च आहारसेवनं कर्तव्यं भवति । मानवः यादृशरीत्या आहारसेवनं करोति तादृशरीत्या तदनुसारगुणेन मनःपरिवर्तनं भवति । तदनुसारेण शरीरं बुद्धिश्च । तस्मात् सात्त्विकाहारमेव सेवेत । योगाभ्यासिनः रजोगुणं तथा तमोगुणं विवर्धमान आहारान् न सेवितव्यानि । मादकद्रव्याणि, धूमपानानि, स्त्रीसेवनादीन् वर्जयेत् । योगाभ्यासिनः अभ्यासकाले भोजने यथाशक्ति घृतं दुग्धं च उपयोक्तव्यं वर्तते । तेन शरीरे सत्त्वगुणस्य वर्धनं भवति ।

**जीवनपद्धतिः** योगसाधकाः आहार, विहार, स्नान, अभ्यासादिषु जागरूकतया नियमपलानं करणीयम् । सः गुरुवाक्येषु श्रद्धान् भवेत् । केवलं भोगसाधनार्थं शारीरिक आरोग्यं दृढीभूतं चेत् अलम् इति धिया योगाभ्यासः न उत्तमं मार्गम् । शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादीन् शुद्धीकृत्व देहेन्द्रियादिषु यानि कर्माणि भवन्ति तान् सर्वानपि भगवदर्पणकरणमेव उत्तमः मार्गः । एतेन यानि यानि कर्माणि यदायदा भवितव्यानि तानि परमात्मानुग्रहेण नियमितरूपेण

सम्पादनार्थम् उत्साहः, धैर्यः, तत्त्वज्ञानेनिश्चयः श्रद्धा, जनसङ्गपरित्याग इत्यादयः आवश्यकानि। तदेव हठयोगप्रदीपिकायां एवमुक्तम्-

**उत्साहात्साहसाद्धैर्यात् तत्त्वज्ञानाश्च निश्चयात्।**
**जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति॥**

तथैव योगाभ्यासार्थं वयः परिमितिः नास्ति। अस्मिन् विषये शास्त्रकारा हि सम्पूर्णं अनुमतिं दत्तवन्ताः। यथा-

**युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा।**
**अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः॥**

तस्मान् सर्ववयोमानः रोगग्रस्ताः, दुर्बला अपि अभ्यासात् सिद्धिं प्राप्नुवन्ति। आलसीनां तु उपयोगः नास्ति।

### योगाभ्यासे सामान्यपद्धतिः

वृद्धाः ये नूतनतया योगाभ्यासं कुर्वन्ति। तैः सुलभानि तथा महदुपकाराणि आसनात् अभ्यस्य कश्चित् प्राणायामानाम् अभ्यासः कार्यः। बाल्यादपि अभ्यस्य अभ्यासक्रमं ये जानन्ति तैः यथाशक्ति आसनप्राणायामादीन् कर्तुं शक्यते। नूतनाभ्यासिनः सूर्यनमस्कारः, पश्चिमतानासनः, पूर्वतानासन, सर्वाङ्गासन, हलासन, कर्णपीडासन, ऊर्ध्वपद्मासन, पिण्डासन मत्स्यासन, उत्तानपादासन, शीर्षासन इत्यादि आसनाभ्यासान् क्रियते चेत् अलम्। परन्तु विन्यासपूर्वकं रेचक पूरकैः साकं अभ्यसनीयम्। कनिष्ठतया विंशति निमिषमात्रम्। तदनन्तरं उज्जायी, सूर्यभेद, शीतली, भस्त्रिका, अनुलोमविलोम, नाडिशुद्ध्यादि प्राणायामान् अभ्यस्य ध्यानादीन् कुर्यात्। तेन शरीरेन्द्रियादयः दृढो भूत्वा, मनः परिशुद्धः भवति। आयुः प्रमाणं वर्धते। नवचैतन्यं प्राप्नोति।

मध्यमवयसि विद्यमानाः अधिकसंख्यया आसनाभ्यासः कार्यम्। तेन देहः मार्दतो भूत्वा

रोगादीनां उपद्रवः न भवति। तथैव प्राणायामः सुलभः भवति। शरीरेन्द्रियेषु सत्त्वगुणाधिक्यात् मन अपि निर्मलं भूत्वा मेधाशक्तिः आयुश्च वर्धते।

अतिवृद्धाः केवल सर्वाङ्गासन, हलासन, उत्तानपादासन, शीर्षासन, पद्मासनादीन् अभ्यस्य महाबन्धं कृत्वा सुलभतया विद्यमान रेचककुम्भकप्राणायामं करणीयम् । तदनन्तरं पूरककुम्भकप्राणायामः, समवृत्ति विषमवृत्तिः, सीतली इत्यादि प्राणायामाः कर्तव्याः वर्तन्ते। परन्तु प्रतिदिनं अभ्यसनीयानि। एतेन अरोगी भूत्वा आजीवनं सुखी भवितुं शक्यते।

दुर्बलाः तथैव रोगग्रस्ता अति प्रामुख्यानि आसनानि तथा प्राणायामान् किञ्चित् किञ्चित् अभ्यस्य तदनन्तरं अधिकतया आसनप्राणायामान् अभ्यसेत्। एवं विधानेन रुग्णस्य रोगनाशः, दुर्बलस्य दौर्बल्यं हत्वा सः सशक्तः नीरोगी च भवति।

ईदृश रीत्या कथं प्रयोजनः भवति इति प्रत्येकतया विवेचनं कृतमस्ति। तस्मात् अत्र तान् पुनरावर्तनप्रसङ्गात् न लिख्यते।

# तृतीयः भागः

# 3. 1. योगचिकित्सापद्धतिः

योगशब्दस्य समाधिरिति प्रारम्भे व्याख्यातम् । चिकित्सा शब्दस्य अर्थः तथा उपयोगश्च साम्प्रतं विचारितव्यं भवति इति तन्निरूप्यते । तद्यथा-

१. कित (रोगापनयने) +सन् ''अः'' या क्रिया रोगहारिणी सा चिकित्सा निगद्यते ।1

२. चिकित्सनम्- **रोगमाद्यैः परीक्षेत ततोऽनन्तरमौषधम् ।**
**ततः कर्म भिषक्पश्चात् ज्ञानपूर्वं समाचरेत् ।**

३. **भेषजं केवलं कर्तुं यो जानाति न चामयम् ।**
**वैद्यकर्म स चेत् कुर्याद्वधर्मीति राजतः ।।**

४. **यस्तु केवल रोगज्ञः भेषजेष्वविचक्षणः ।**
**तं वैद्यं प्राप्य रोगी स्यात् यथा नौर्नाविकं विना ।।**

५. **यस्तु रोगविशेषज्ञः सर्वभैषज्य कोविदः ।**
**देशकालविभागज्ञः तस्य सिद्धिर्न संशयः ।।**

६. **याभिः क्रियाभिर्जायन्ते शरीरं धातवः समाः ।**
**सा चिकित्सा विकाराणां कर्म तद्भिषजां मतम् ।।**

८. **यद्युदीर्णं शमयति नान्यं व्याधिं करोति च ।**
**सा क्रिया न तु या व्याधिं हरत्यन्यमुदीरयेत् ।।** – (भावप्रकाश)

एवं चिकित्सा शब्दस्य व्याख्यानं द्रष्टुं शक्यते । तेन ज्ञायते यत् केवलं रोगशमनं न अलम् । आगन्तुकरोगान् अपि हेयं तथा शरीरं नीरोगं करणीयं च इति चिकित्सायासग्रपञ्चः । अत्र चिकित्साकरणार्थं व्याधयः बहवः सन्ति । मुख्यतया विभागद्वयमास्ति यथा आधिज व्याधिज इति । आधिज रोगाः इत्युक्ते जन्मजन्मान्तरात् वंशपरम्परतया अथवा कर्मसम्बन्धरूपेण आगताः रोगाः भवति । व्याधयः आसीत् जन्मानि क्रियमाण कर्मसम्बन्धैः, आहारविहारादिषु विरोधाभ्यासेन आगताः भवन्ति । परन्तु एतादृशरोगाः शरीरे मनासि च बाधं कुर्वन्ति । तान् दुरीकर्तुमपि केवलं

औषधप्रयोगेन अशक्यम् । एतदर्थ या पद्धतिः अनुकरणीयं भवति सा योगचिकित्सा पद्धतिः इति निगद्यते ।

पतञ्जलि महर्षिभिः योगेन कथं समाधिः प्राप्तुं शक्यते? इति उक्तमस्ति । परन्तु तत्रैव समाधिप्राप्यर्थं तत्प्राक्तनसोपानेषु साधनकरणसमये ये ये विघ्नाः आगच्छेत् तेषां परिहारोपायाः अष्टाङ्गाः अपि व्याख्यातम् । ते सर्वैरपि विघ्नैः मनोदैहिक रोगरूपेण जीवनं बाधयन्ति इति नवीनवैद्यानां मतम् । तस्मात् शरीरे तथा मनसि च अन्तरित चिन्तादीन् दूरीकर्तुं अभ्यासः विधीयते स योगमतानुसारेण समीचीनं इत्यपि सिद्धमस्ति । कथं इदं शक्यमित्युक्ते ''योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षयः ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः'' इति सूत्रकारवचनात् । ते च योगमलाः ''व्याधिस्थानसंशयप्रमादालक्ष्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपाः तेऽन्तरायाः ।'' तथा दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्व श्वासप्रश्वासाः विक्षेपसहभुः'' इति सूत्रोकत्ववान् ते योगमलाः भवन्ति । अत्र प्रथमोक्त सूत्रानुसारेण द्वितीय तृतीयसूत्रेषु उक्त योगमलानां निराकरणम् उक्तम् । तदेव सूक्ष्मतया तथा स्थूलतया च रोगाणां दूरीकरणं तथा अनागतस्य हानं विवेकख्यातिपर्यन्तम् इति । तस्मात् चिकित्साशब्दे उक्तवत् रोगरहित शरीरमनः सम्पादनं शक्यम् इति ज्ञातुं शक्यते । शरीरे विद्यमानमलान् दूरीकर्तुं आसनप्राणायादि प्रक्रियाः अत्र विवृतमस्ति । तेषां विवरणं पूर्वमेव दत्तमस्ति । शरीरमनः शुद्ध्यर्थम् अहिंसादि यमनियमाः समीचीनतया व्याख्यातमस्ति । एतेषां समीचीन सम्यक् अभ्यासेन सर्वेमलाः प्रयान्ति । तदानीं प्रत्याहार धारण ध्यान समाधयः सिद्धाः भवन्ति । एतेषां अभ्यासेन कर्म कर्मफलाः संस्काराः सर्वेः परिसमापनं गच्छन्ति तेन विवेकख्यातिः अन्ते कैवल्यप्राप्तिश्च । एवं अष्टसु अङ्गेषु विद्यमान अष्टाङ्गयोगस्यैव राजयोग उत्यपि नामान्तरम् । अत्र स्वस्थस्य लक्षणं सूश्रुतेन एवं उक्तमस्ति यथा-

**समदोषसमाग्निश्च समधातु मलक्रियाः ।**
**प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः स्वस्थ इत्यभिधीयते ।।** इति ।

इत्युक्तेन शरीरे दोष, धातु, मलाः तथा अग्निश्च समानतया व्यवस्थिततया भवितव्यम् । तयोः साकं प्रसन्न आत्मा, प्रसन्न इन्द्रियाणि भवन्ति चेत् सः स्वस्थ इति आयुर्वेदाचार्याणां मतम् । तदेव अत्रापि स्वीक्रियते । इति वाग्भटाचार्यः । ईदृशरीत्या विद्यमान ''स्वस्थ'' शब्दस्य विवेचनं क्रियते चेत् स्वास्थ्य विषये आयुर्वेद अन्य वैद्यपद्धतिविधानात् अतिगहनतमं विस्तृतं कल्पनां स्वीकृतमस्ति इति अवगतिः भवति ।

**समदोषः-** अस्मिन् शरीरे मनसि च विद्यमान वात, पित्त, कफनामात्मक त्रिदोषः समानाः भवेयुः । आयुर्वेदशास्त्रस्य मूलस्ताभाः त्रिदोषा एव । विश्वव्यापारस्य सक्रमता तथा शारीरिक जीवनस्य सुव्यवस्थयोः प्रचोदकद्रव्या इत्युक्ते त्रिदोषा एव । तैः यावद् आवश्यकानि तावदेव भवितव्यानि शरीरे । प्रमाणे यत् किञ्चित् व्यत्यासः भवति चेत् रोगा उद्भवन्ति । तस्मादेव ''रोगस्तु दोषवैशाल्यम्'' इति उक्तम् ।

**समाग्निः-** भुक्तं आहारं जीर्णीकृत्वा धातुगतं कर्तुं शरीरे जठरे पाचकाग्नि धात्वग्नौ सप्रमाणे भवेत् । अत्र यत्किमपि प्रामणे व्यत्ययः भवेत् तर्हि रोगाः जायन्ते । तदेव उक्तमस्ति यथा- ''रोगाः सर्वेऽपि मन्देऽग्नौ'' इति । इत्युक्ते अग्निमान्द्यमेव सर्वरोगाणां मूलम् अर्थात् अग्निबलमेव आरोग्यस्य आधार इति ।

**समधातुमलक्रियः-** शरीरघटकरूपेण विद्यमान रस, रक्त, मांस, वसा, अस्थि मज्जा, वीर्य इति सप्तधातवः । यदा अनुक्रमेण प्रेषां उत्पत्तिः भवति तथैव मला आपि जायन्ते । यथा मल, मूत्र, स्वेद, नख, रोम, पुरीष इत्यादयः । अत्रापि धातूनां समरसकरणं तथा मलविसर्जनम् इत्यादयः नैसर्गिक प्रक्रियाः यथोचितं भवेत् । तदानीं धातवः शरीरपोषणं कर्तुं शक्ताः भवन्ति ।

**प्रसन्नात्मेन्द्रियमनाः-**

एतदेव आयुर्वेदशास्त्रस्य वैशिष्ट्यम् । यदा आत्म, इन्द्रिय, मनाः प्रसन्नाः न सन्ति तदानीं शारीरिक अङ्गाङ्गरचना, शरीरप्रक्रियाः समर्पकोऽपि पूर्णारोग्यं न भवति । कदाचित् शरीरे रोगाः विद्यमानेऽपि आत्मेन्द्रियमनाः प्रसन्नाः चेत् शारीरिक पीडां विस्मर्तुं साध्यम् । परन्तु यदा आत्म इन्द्रिय मनाः रुग्णाः भवन्ति तदानीं शरीरे स्वास्थ्यं विद्यमानेऽपि स्वास्थ्यानुभवः न भवति । एतत्तु भारतीयसम्प्रदायानुसारेण स्वस्थस्य लक्षणम् । एतादृश शारीरिक, मानसिक, सामाजिक तथा आध्यात्मिक स्वास्थ्या सम्पादनाय इतोऽपि सुलभः तथा अधिकप्रयोजनकारी च योगाभ्यासाः । योगाभ्यासाः शरीरे विद्यमान रोगमुद्दिश्य तन्निस्मरणार्थं यथाक्रमम् अभ्यस्तः चेत् सः स्वस्थो भवति। तादृश उपायः योगचिकित्सा भवति। एतत्तु पतञ्जलिमहर्षि प्रणीत योगसूत्राणाम् आधारेण कर्तुं अतीव सुलभः । तदेव पद्धतिः पातञ्जलीय योगचिकित्सा पद्धतिः ।

एवं विद्यमान योगचिकित्सापद्धतौ चिकित्सासमये रुग्णस्य रोगनिदानं, चिकित्सा पद्धतिः, चिकित्सकः तथा चिकित्सोपयोगी विषया इति चतुर्थ विभागः क्रियते ।

**१. रोगनिदान पद्धतिः-** रोगस्तु शरीरं भवति नान्यत्र । तस्मात् योगशास्त्ररीत्या एव अत्र रोगाणां विवेचनं क्रिया चेत् एव योगाङ्गानां साहाय्येन चिकित्सा अपि समीचीनं भवेत् । अन्यथा अपूर्णं भवति यथा अन्यान्य चिकित्सा पद्धतयः भवन्ति तथैव । योगशास्त्रद्वारा शरीरस्य आविर्भावः २६ तत्त्वानां आधारेणैव । तस्मिन् शरीरे त्रिदोषाः । शरीरे नाडीनां समूहः, तथा तेषां द्वारा चेतन्यस्य प्रवाहः । ईदृशरीत्या विद्यमानस्य स्थूलसूक्ष्मरूपेण विभागाः । तदानीं पञ्चकोशेषु, विभागा इति शरीरस्य उगमसिद्धान्ताः दृश्यन्ते । तानेव समीचीनतया विभज्य यथाक्रमम् अवगम्यते चेत् तेषां उपयोगक्रमः ज्ञातुं शक्यते । तदानीं तत्र तत्स्थाने यत्किमपि न्यूनातिरिक्तं अस्ति चेत् तदापि अवगम्यते । तदेव अधुना वयं विविधरोगनाम्ना व्यवह्रियते ।

तदेव रोगनिदानम् इत्युक्ते रोगस्थानम् । तस्य मूलकारणं, तथा रोगावस्था इत्यादीनां सूक्ष्मज्ञानप्रपणमेव निदानं भवति । तदर्थं अधोनिर्दिष्टरूपेण विषयाः ज्ञातव्याः ।

**त्रिदोष परिचयः -** वात, पित्त, कफ इति त्रयः दोषाः सन्ति । तस्मात् ते त्रिदोषः । दूष्यते अनेन इति दोषः । शरीरे वात, पित्त, कफाः मूलभूतांशाः ।

### 3. 2. **चिकित्साविचारः**

योगपद्धत्या चिकित्सासमयेऽपि रुग्णस्य रोगनिदानं चिकित्सापद्धतिः, चिकित्सकः तथा चिकित्सोपयोगी विषया इति चतुर्धा विभक्तव्यं भवति ।

रोगनिदानपद्धतिः -

१. आयुर्वेदोऽक्त प्रकारेण वात, पित्त, कफदोषाणां परीक्षणपुरःसरं एकः पद्धतिः ।

२. नाडीपरीक्षणद्वारा परीक्षा पद्धतिः ।

३. आधुनिकरीत्या बाह्यचिह्नानां अध्ययनेन ।

४. मलमूत्रादि परीक्षणद्वारा इत्यादि रूपेण रोगनिदानं कर्तुं शक्यते । एतेषां विवरणं अत्र न दीयते ।

सर्वत्र लभ्यत्वात् । परन्तु उपर्युक्तरीत्या चिकित्सां कर्तुं आयुर्वेदादि विभागाः न शक्नुवन्ति । किमर्थं इत्युक्ते केवलं रोगनाशं कुर्वन्ति । तथा मानवा आपि यदा रोगाः दूरी भवन्ति तदा कीदृशं प्रयत्नं स्थपयन्ति च । तथैव जीवनक्रमं भवति । धनविनियोगमपि अधिकम् ईति मत्वा जनाः दूरी भवन्ति । अत्र योगाभ्यासे तथा न भवति । किमर्थं इत्युक्ते योगस्तु साङ्ख्यशास्त्रानुसारेण वृद्धिं गतमस्ति । अत्रापि २४ तत्वा एव प्रमुखाः । तेषां अन्तत एव शरीरं, मनः, इन्द्रियाणि,

बुद्धिश्च वर्तन्ते । यदा रुग्णस्य विषये सत्त्वरजस्तमोगुणानां साम्यं तथा वातपित्तकफदोषाणां साम्यं ज्ञातुं शक्त्ये । तदा रोगस्य गतिं तथा मूलकारणं ज्ञातुं शक्त्ये । तथैव शरीरे मनस्ति च रोगत्वं प्राप्तुं तथा बुद्धेः प्रकाशनार्थं पञ्चकोशानां सम्यक् ज्ञातेन वात, पित्त, कफ दोषाणां समरसकरणेन तथा सत्त्व, रजस्तमोगुणानां समतोलनं आवश्यकं वर्तते । दोषसाधर्म्यं तु विवृततय आयुर्वेदात् स्वीकर्तुं शक्यते । पञ्चकोशानां विषयस्तु उपनिषदि एव वर्तते । तथैव त्रिगुणं साङ्ख्यतत्वान्तर्गतं वर्तते । एवं त्रयाणां मेलनेन योगस्यापि परिपूर्णता भवति, कथं तेषां उपयोग इति पश्यामः ।

### 3. 3. **चिकित्सापद्धतौ विविधप्रकाराः**

अधुना प्रपञ्चे ३२ चिकित्साप्रकाराः वर्तन्ते । परन्तु अस्माकं प्रदेशे कर्नाटकराज्ये च अलोपति, आयुर्वेद, सिद्धपद्धतिः, युनानि, होमियोपति, अयस्कान्तचिकित्सा, मूलिकावैद्यम्, प्राणचिकित्सा इत्यादि चिकित्सापद्धतयः सर्वकारेण अङ्गीकृताः एतद्विना रेकी, अयस्कान्तचिकित्सा, मसाज् इत्यादि बहवः चिकित्सापद्धतयः सन्ति । अत्र तावत् कानिचित् पद्धतीनां सूक्ष्मपरिचयः आङ्ग्लभाषायां सरलतया दीयते ।

### 1. REIKI

**A complementary therapy**

Reiki is a complementary therapy and one of the many facets of alternative medicine available today. It is a method of natural healing which is centred upon *universal life energy,* the meaning of the Japanese word *reiki.* The therapy was named after Dr. Mikao Usui, a Japanese theologist, who rediscovered the art of healing using and by transferring this universal life energy. Following a prolonged period of meditation, Dr. Usui acquired the ability of transferring reiki energy. He was also able to help others to act as channels for this energy.

To benefit fully from the technique, it is preferable to be initiated into the reiki energy. This is done by a reiki master. A number of reiki grand masters brought the practice to the West to allow many people to prepare themselves for self-discovery. Reiki is now used to heal, either the practitioner or others, in meditation and in conjunction with other therapies such as aromatherapy.

In many cases traditional reiki, as generated by Dr. Usui, forms the basis of reiki-do, an amplification of the technique which essentially translates into using reiki as a way of life........................

**Reiki energy**

Reiki energy is regarded as life energy at its most effective with the maximum vibration. It is considered to have an almost divine quality and as such includes everything, in a world where problems and disorders are deemed to be due to the feeling of detachment from the world. There is no division of reiki energy into positive and negative froms but when a person undergoes a session of therapy, they allow the energy to be taken into themselves with beneficial effects. Essentially, those receiving reiki energy decide subconsciously just how much of the life energy is taken in.

Those who use reiki regularly often find they are more joyful, lively and their own inbuilt energy is enhanced- almost as if their batteries had been fully charged! Existing conflicts within the person are broken down and there is a greater vitality, leading to relaxation and a stimulation of the body. As this improvement develops, the natural processes of renewal and removal of toxing are enhanced and rendered more effective, ultimately opening up more of the body to the life energy.

Body organs such is the skin, and protective systems such as the immune system are improved providing the individual is prepared regularly to undertake reiki and in the first place to undergo an attunement or initiation into reiki energy. The initiation is merely a means whereby the universal life energy is

bestowed through the reiki master. The master acts as a channel and a link with God to release the healing power.

An initiation is not absolutely essential but is allows the individual access to the universal life energy, which is used rather than their own life energy. Also, an initiation conveys a greater capacity for using reiki energy, with no associated tiredness and further, it provides a protective mechanism against any negative manifestations.

**The treatment**

Effects and limitations

There are several interrelated effects that result from taking in reiki energy:

it enables the universal life energy to be received;

it creates a feeling of deep relaxation;

energy blockages are removed allowing a flow of life energy throughout the body;

toxims of various sorts are removed; these and other waste products are removed from the system much more quickly.

When the toxins have been removed from the body, more energy can be received and the vital processes and functions become more highly tuned. When the body takes in more and more life energy, it is said that its frequency becomes higher, facilitating contact with the Universal Spirit and generating trust in the universal life energy.

Deep relaxation is central to reiki therapy and this is very much dependent upon the divine quality attributed to the energy. The extent to which reiki can work is defined by the receiver of the energy because only the necessary amount of energy is drawn in. A refusal to accept reiki, whether or not it is made consciously, will result in no energy flowing. This is, in a way, one limitation or reiki, albeit self-imposed. It should also be appreciated that attitude

is very important and if someone attempts to use reiki in the wrong way, it will not work. Slef-discovery must go hand in hand with everyday experience of real life and it is not possible to hide from the troubles of the real world through misplaced introspection.

A qualified therapist in the appropriate discipline must be sought to deal with major problems and difficulties. Of course, adopting reiki in tandem with another therapy will be very beneficial as the reiki will maximise the treatment being received. This applies whether the therapist is ■ homoeopath, naturopath or medic.

**The use of whole-body reiki**

Because no one part of the body exists independently, and because a disease or disorder in one area will inevitably affect the whole body, the use of reiki is best applied in a whole-body way, to cleanse and revitalise the complete system.

*(Alternatic Medicine, Pp. 141 to 144)*

## Herbal Remedies

History of the use of herbal remedies

Herbalism is sometimes maligned as a collection of home-made remedies to be applied in a placebo fashion to one symptom or another, provided the ailment is not too serious and provided there is a powerful chemical wonder-drug at the ready to suppress any 'real' symptoms. We often forget, however, that botanical midicine provides a complete system of healing and disease prevention. It is the oldest and most natural form of medicine. Its record of efficacy and safety spans centuries and covers every country worldwide. Because herbal medicine is holistic medicine. it is, in fact, able to look beyond the symptoms to the underlying systemic imbalance; when skillfully applied by a trained practitioner, herbal medicine offers very real and permanent solutions to concrete problems, many of them seemingly intractable to pharmaceutical intervention.

**Early civilizations**

The medicinal use of herbs is said to be as old as mankind itself. In early civilizations, food and medicine were linked and many plants were eaten for their health-giving properties. In ancient Egypt, the slave workers were given a daily ration of garlic to help fight off the many fevers and infections that were their beneficia properties were compiled by the ancient Egyptians. Most of our knowledge and use of herbs can be traced back to the Egyptian priests who also practised herbal medicine. Records dating back to 1500 B.C listed medicinal herbs, including caraway and cinnamon.

The ancient Greeks and Romans also carried out herbal medicine, and as they invaded new lands their doctors encountered new herbs and introduced herbs such as resemary or lavender into new areas. Other cultures with a history of herbal medicine are the Chinese and the Indians. In Britain, the use of herbs developed along with the establishment of monasteries around the country, each of which had its own herb garden for use in particularly Wales and Scotland, Druids and other Celtic healers are thought to have had an oral tradition of herbalism, where medicine was mixed with religion and ritual.

**The first publications**

Over time, these healers and their knowledge led to the writing of the first 'herbals', which rapidly rose in importance and distribution upon the advent of the printing press in the 15th century. John Parkinson of London wrote a herbal around 1630, listing useful plants. Many herbalists set up their own apothecary shops, including the famous Nicholas Culpepper (1616-1654) whose most famous work is The Complete Herbal and English Physician, Enlarged, published in 1649. Then in 1812, Henry Potter started a business supplying herbs and dealing in leeches. By this time a huge amount of traditional knowledge and folklore on medicinal herbs was available from Britain, Europe, the Middle East, Asia and the Americas. This promoted Potter to write Potter's Encyclopaedia of Botanical Drugs and Preparations, which is still published today.

**The decline of herbal medicine**

It was in this period that scientifically inspired conventional medicine rose in popularity, sending herbal medicine into a decline. In rural areas, herbal medicine continued to thrive in local folklore, traditions and practices. In 1864 the National Association (later Institute) of Medical Herbalists was established, to organize training to herbal medicine practitioners and to maintain standards of practice. From 1864 until the early part of this century, the Institute fought attempts to ban herbal medicine and over time public interest in herbal medicine has increased, particularly over the last 20 years. This move away from synthetic drugs is partly due to possible side effects, bad publicity and in some instances, a mistrust of the medical and pharmacological industries. The more natural appearance of herbal remedies has led to its growing support and popularity. Herbs from America have been incorporated with common remedies and scientific reserch into herbs and their active ingredients has confirmed their healing power and enlarged the range of medicinal herbs used today.

**Its rise and relevance today**

Herbal medicine can be viewed as the precursor of modern pharmacology, but today it continues as an effective and more natural method of treating and preventing illness. Globally, herbal medicine is three to four times more commonly practised than conventional medicine.

Nowhere is the efficacy of herbalism more evident than in problems related to the nervous system. Stress, anxiety, tension and depression are intimately connected with most illness. Few health practitioners would argue with the influence of nervous anxiety in pathology. Nervous tension is generally acknowledged by doctors to contribute to duodenal and gastric ulceration, ulcerative colitis, irritable bowel syndrome and many other gut-related pathologies.

We know also, from physiology, that when a person is depressed, the secretion of hydrochloric acid-one of the main digestive juices- is also reduced so that digestion and absorption and rendered less efficient. Anxiety, on the

other hand, can lead to the release of adrenaline and stimulate the over-production of hydrochloric acid and result in a state of acidity that may exacerbate the pain of an inflamed ulcer. In fact, whenever the voluntary nervous system (our conscious anxiety) interferes with the autonomic process (the automatic nervous regulation that in health is never made consciously), illness is the result.

Herbalists rely on their knowledge of botanical remedies to rectify this type of human malfunction. The medical herbalist will treat a stubborn dermatological problem using 'alternatives' specific to the skin problem, and then apply circulaotry stimulants to aid in the removal of toxins from the area, with remedies to reinforce other organs of eliminations, such as the liver and kidneys. Under such natural treatment, free of any discomforting side effects, the patient can feel confident and relaxed- perhaps for the first time in many months.

Curiously, this is an approach that has never been taken up by orthodox medicine. There, the usual treatment of skin problems involves suppression of symptoms with steriods. However, the use of conventional antihistamines or benzodiazepines often achieves less lasting benefit to the patient because of the additional burden of side effects, such as drowsiness, increased toxicity, and long-term drug dependence.

Herbs, on the other hand, are free from toxicity and habituation. Because they are organic substances and not manmade synthetic molecules, they possess an affinity for the human organism. They are extremely efficient in balancing the nervous system. Restoring a sense of wellbeing and relaxation is necessary for optimum health and for the process of self-healing.

Naturally, the choice of a treatment should be based upon a thorough health assessment and the experience and training of a qualified herbal practitioner. The herbalist will then prepare and prescribe herbal remedies in

a variety of different forms, such as infusions, loose teas, suppositories, inhalants, lotions, tinctures, tablets and pills. Many of these preparations are available for home use from chemists, health shops and mail-order supplies.

*(Alternatic Medicine. Pp. 248 to 252)*

* * *

## Homoeopathy

The aim of homoeopathy is to cure an illness or disorder by treating the whole person rather than merely concentrating on a set of symptoms. Hence, in homoeopathy the approach is holistic, and the overall state of health of the patient, especially his or her emotional and psychological wellbeing, is regarded as being significant. A homoeopath notes the symptoms that the person wishes to have cured but also takes time to discover other signs or indications of disorder that the patient may regard as being less important. The reasoning behind this is that illness is sign of disorder or imbalance within the body. It is believed that the whole 'make-up' of a person determines, to a great extent, the type of disorders to which that individual is prone and the symptoms likely to occur. A homoeopathic remedy must be suitable both for the symptoms and the characteristics and temperament of the patient. Hence, two patients with the same illness may be offered different remedies according to their individual natures. One remedy may also be used to treat different groups of symptoms or ailments.

### Like cures like

Homoeopathic remedies are based on the concept that 'like cures like', an ancient philosophy that can be traced back to the 5th century BC., when it was formulated by Hippocrates. In the early 1800s, this idea awakened the interest of a German doctor, Samuel Hahnemann, who believed that the medical

practices at the time were too harsh and tended to hinder rather than aid healing. Hahnemann observed that a treatment for malaria, based on an extract of cinchona bark (quinine). actually produced symptoms of this disease when taken in a small dose by a healthy person. Further extensive studies convinced him that the production of symptoms was the body's way of combating illness. Hence, to give a minute dose of a substance that stimulated the symptoms of an illness in a healthy person could be used to fight that illness in someone who was sick. Hahnemann conducted numerous trials (called 'provings'), giving minute doses of substances to healthy people and recording the symptoms produced. Eventually, these very dilute remedies were given to people with illnesses, often with encouraging results.

Modern homoeopathy is based on the work of Hahnemann, and the medicines derived from plant, mineral and animal sources are used in extremely dilute amounts. Indeed, it is believed that the curative properties are enhanced by each dilution because impurities that might cause unwanted side effects are lost. Substances used in homoeopathy are first soaked in alcohol to extract their essential ingredients. This initial solution, called the 'mother tincture', is diluted successively either by factors of ten (called the 'decimal scale' and designated X) or 100 (the 'centecimal scale' and designated C). Each dilution is shaken vigorously before further ones are made, and this is thought to make the properties more powerful by adding energy at each while impurities are removed. The thorough shakings of each dilution are said to energize, or 'potentiate', the medicine. The remedies are made into tablets or may be used in the form of ointment, solutions, powders, suppositories, etc. High potency (i.e. more dilute) remedies are used for severe symptoms and lower potency (less dilute) for milder ones.

The homoeopathic view is that during the process of healing, symptoms are redirected from more important to less important body systems. It is also held that healing is from innermost to outermost parts of the body and that

more recent symptoms disappear first, this being known as the 'law of direction of cure'. Occasionally, symptoms may worsen initially when a homoeopathic remedy is taken, but this is usually short-lived and is known as a 'healing crisis'. It is taken to indicate a change and that improvement is likely to follow. Usually, with a homoeopathic remedy, an improvement is noticed fairly quickly although this depends upon the nature of the ailment, health, age and wellbeing of the patient and potency of the remedy.

A first homoeopathic consultation is likely to last about one hour so that the specialist can obtain a full picture of the patient's medical history and personal circumstances. On the basis of this information, the homoeopathic doctor decides on an appropriate remedy and potency (which is usually 6C). Subsequent consultations are generally shorter, and full advice is given on how to store and take the medicine. It is widely accepted that homoeopathic remedies are safe and non-addictive, but they are covered by the legal requirements governing all medicines and should be obtained from a recognized source.

*(Alternatic Medicine, Pp. 248 to 252)*

* * *

## Massage

### Origins

We massage ourselves nearly every day. The natural reaction to reach out and touch a painful part of the body-such as a sprain- forms the basis of massage. As long ago as 3000 BC massage was used as a therapy in the Far East, making it one of the oldest treatment used by humans. In 5 BC in ancient Greece, Hippocrates recommended that to maintain health, a massage using oils should be taken daily after a perfumed bath, Greek physicians were well used to treating people who suffered from pain and stiffness in the joints. The relaxation and healing powers of massage have been well documented over the past 5,000 years.

The therapeutic vale of applying oils and rubbing parts of the body to lessen pain and prevent illness was recognized among the ancient Mediterranean civilizations. In ancient times scented oils were almost always used when giving massages, creating an early form of aromatherapy massage.

**Popularity**

Massage increased in popularity when, in the 19th century, Per Henrik Ling, a Swedish fencing master and academic, created the basis for what is now known as Swedish massage. Swedish massage deals with the soft tissues of the body.

Swedish massage is a combination of relaxing effects and exercises that work on the joints and muscles, but it is still based on the form that was practised in ancient times. More recently, a work was published in the 1970s called *The Massage Book*, by George Downing, and this introduced a new concept in the overall technique of massage, that the whole person's state should be assessed by the therapist and not solely the physical side. The emotional and mental states should be part of the overall picture. Also combined in his form of massage were the methods used in reflexology and shiatsu and this was known as therapeutic massage. The aim of this is to use relaxation, stimulation and invigoration to promote good health.

**Uses**

Massage is commonly used to induce general relaxation, so that any tension or strain experienced in the rush of daily life can be eased and eliminated. It is found to be very effective, working on the mind as well as the body. It can be used to treat people with hypertension (high blood pressure), sinusitis, headaches, insomnia and hyperactivity, including people who suffer from heart ailments or circulatory disorders. At the physical level, massage is intended to help the body make use of food and to eliminate the waste materials, as well as stimulating the nervous and muscular system and the circulation of blood. Neck and back pain are conditions from which many people suffer,

particularly if they have not been sitting correctly, such as in a slightly stooped position with their shoulders rounded. People whose day-to-day work involves a great deal of physical activity, such as dancers and athlets, can also derive a great deal of benefit from the use of massage. Stiffness can be a problem that they have after training or working, and this is relieved by encouraging the toxins that gather in the muscles to disperse. Massage promotes a feeling of calmness and serenity, and this is particularly beneficial to people who frequently suffer from bouts of depression or anxiety. Once the worry and depression have been dispelled, people are able to deal with their problems much more effectively and, being able to do so, will boost their self-confidence.

*(Alternatie Medicine, Pp. 248 to 252)*

* * *

### 3. 4. भारतीयचिकित्सापद्धतिः

''आयुः'' इत्यस्य शब्दस्य जीवितमित्यर्थः । जीवनकालस्य सुख-दुःख, कालपरिमिति इत्यादीनां वृद्धिक्षयाणां हेतुः द्रव्यः, तस्य गुणकर्मादीनां ज्ञानं यत् विदधाति तत् आयुर्वेद इति सामान्यतया वक्तुं शक्यते । तस्मात् 'आयुर्वेदस्य' ज्ञानेन जीवनविधानं ज्ञातु शक्यते । अतः आयुष्यस्य लक्षणम् एवं अस्ति । अस्मिन् शास्त्रे सुख-दुःख, हित-अहित, रूप, द्रव्यगुण, कर्मरूपान् ज्ञातुं आवश्यकं विवरणं वर्तते तथा च आयुः चतुर्धा विभक्तं यथा- हितमयः, अहितमयः, सुखमयः दुःखमय इति आयवः वर्तन्ते । तेषां लक्षणं यत्र शास्त्रीयरीत्या उक्तं वर्तते सैव आयुर्वेद इति नाम्ना प्रथितं वर्तते ।

## आयुः प्रकाराः

**१. सुखायुः**

सुखीजीवनमित्युक्ते प्रशान्तमनः, व्यक्तिस्वातन्त्र्यं, तथा आवश्यक विषयाणां प्राप्तिः मुख्यतमाः वर्तन्ते ।

**२. दुःखायुः**

जीवनारम्भादपि रोगाणां बाधा, यस्मिन् कस्मिन्नपि कार्ये प्रवर्तयिष्यति चेत् बहवाः विघ्नाः, सदा अन्यान्यरीत्या कष्टकार्पण्यानि, धन, बन्धु, मित्रादिविषयेषु, विद्यन्ते चेत् सदा स पुरुषः दुःखी एव भवति । ईदृशरीत्या जीवनयानं तु दुःखायुः ।

**हितायुः**

इहलोकपरलोकज्ञानम्, आत्महित-परहितज्ञानेन प्रशस्तजीवनम्, सत्यसन्धता,

शान्तिपरायणता, मद-मत्सराणां निरोधः, ज्ञानविज्ञानबुद्धिः, दानधर्मेषु आसक्तिः, स्वाध्यायासक्ति इत्यादि प्रक्रियाः भवन्ति ।

**आहितायुः**

जीवनारभ्यादपि गर्हितं जीवनम्- यथा पूर्वकर्मवशात् नीचकुले जन्मं प्राप्य चौर्यादि नीचकर्मसु अध्यवसायः तथा नीचजनेषु सौहार्दता, नीचबुद्धिः, तेन सर्वत्र सर्वैरपि निन्दयन्ति । तस्मात् गर्हितं जीवनं यातव्यं भवति । तदेव अहितायुः ।

एवं रीत्या विद्यमानस्य आयुष्यस्य रक्षणार्थं अधोनिर्दिष्टाः विषयाः आवश्यकाः भवन्ति । दिनचर्या, रात्रिचर्या, ऋतुचर्या इति । तेषां पालनं तथा तदनुकूलरीत्या आरोग्यपालनं, सद्व्रतानां परिपालनं चेत्येते विषयाः अनुसर्तव्या भवन्ति । एतादृशरीत्या विद्यमानस्य आद्यन्तो नास्ति । विश्वनिर्मापकः ब्रह्म एव विज्ञानम् आस्मिन् जगति सृष्टवान् । तथैव ब्रह्मणा एव अस्मिन् जगति आयुर्वेदोऽपि सृष्टं इति पुर्वजैः मन्यन्ते । ब्रह्मनिर्मितं आयुर्वेदे एकलक्षपरिमितानि श्लोकाः सन्ति इति वदन्ति । तथा अथर्ववेदस्य उपाङ्गत्वेन इममायुर्वेदं स्वीकुर्वन्ति च । अस्य आयुर्वेदस्य अष्टौ विभागाः सन्ति परन्तु मुख्यतया विभागद्वयमेव दृश्यते । यथा कायचिकित्सा शल्यचिकित्सा चेति । कायचिकित्सा तावत् अत्रेयसम्प्रदायानुसारीचरकात् तथा शल्यचिकित्सा धन्वन्तरि सम्प्रदायानुसारीसुत्रतात् अपि प्रसिद्धिं अवाप ।

आयुर्वेदस्य अष्टविभागाः यथा-

१. कायचिकित्सा

२. शल्यचिकित्सा

३. शलाक्यम्

४. भूविद्यां

५. कौमारभृत्यम्

६. अगदतन्त्रम्

७. रसायनतन्त्रम्

८. वाजीकरणम् इति।

एवं रीत्या विद्यमाना भारतीया चिकित्सापद्धतिः कथं आविभूतम् इति अधस्तात् सूचितमस्ति ।

ब्रह्मः
|
प्रजापतिः
|
अश्विनौ
|
इन्द्रः

भरद्वाजः | मिति, काश्यपादयः | अत्रेयः (पुनर्वसुः)

भरद्वाजः → धन्वन्तरिः (काशी राजवंशीयः)

अत्रेयः (पुनर्वसुः) → अग्निवेशादयः

धन्वन्तरिः (काशी राजवंशीयः)　　　　　　　　　　अग्निवेशादयः

दिवोदासः　　　　　　　　　　अत्रेयः (पुनर्वसुः)

अन्यत् प्रथा वर्तते यत्-

ब्रह्म

दक्षप्रजापतिः

अश्विनीकुमारौ

इन्द्र

भरद्वाज　　　　　　　　　　धन्वन्तरी

अत्रेयपुनर्वसु　　　　　　　　　　सुश्रुत

अत्रेयपुनर्वसु　　　　　　　　　　सुश्रुत

चरक　　　　　　　　　　नागार्जुन

हरिवंश तथा भागवतपुराणधारेण वर्तते यथा-

| १ | २ | ३ | ४ |
|---|---|---|---|
| सुक्षेत्र | सुनहोत्र | सुनहोत्र | सुनहोत्र |
| काशिक | काश | काश | प्रकाशिराट् |
| दीर्घतपा | दीर्घतपा | दीर्घतपा | |
| धन्वन्तरि (द्वितीय) | धन्व | धन्वन्तरि | धन्वन्तरि |
| | धन्वन्तरि | | |
| केतुमान | | केतुमान | केतुमान |
| भीमरथ | | भीमरथ | भीमरथ, दिवोदास |

दिवोदास धन्वन्तरि (तृतीय)

दिवोदास

| प्रतर्दन | प्रतर्दन | प्रतर्दन |
|---|---|---|

**तेषु ब्रह्मः** - अयं आयुर्वेदस्य प्रथमः गुरुः अपि च विश्वसृष्टिकर्ता स ब्रह्मैव । सः यथा चतुर्वेदानाम् आविर्भावं कृतवान् तथैव चत्वारि उपवेदान् च सृष्टवान् । तत्र आयुर्वेदमपि एकम् । यथा वेदाः वर्तन्ते तथैव ब्रह्मसृष्टत्वात् अपौरुषेयः, अनादि नित्यं आयुर्वेद इति सुश्रुतसंहितायां तथा चरकसंहितायां उक्तमस्ति । अथर्ववेदे विशेषतः शल्यतन्त्रविचाराः तेषां प्रयोगाश्च वर्णितमस्ति ।

**शिवः**- ऋग्वेदोक्त रुद्रः प्रकाण्ड चिकित्सकः-

**अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः । अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥**

इत्यादि श्रुत्या अवगम्यते । यजुर्वेदेऽपि-

**त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम् । उर्वारुकमिवबन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात् ॥**

इत्यादि श्रुत्या शिवं दैविक चिकित्सकरूपेण सूचितमस्ति । अथर्ववेदे तावत् भगवान् एव अस्मिन् जगति जनात् दण्डयितुं रोगान् सृजति । स एव तस्य परिहारोपायान् सूचयति इति च उल्लिखितमस्ति । पुराणेऽप वैद्यचिकित्सा शिवेनैव आरब्धं, आयुर्ग्रन्थाः त्रेतायुगे रचिता इति प्रतिबिम्बितमस्ति । शिवस्य कण्ठे विद्यमानसर्पः औषधस्य द्योतकं इति च उक्तमस्ति । तान्त्रिक युगेऽपि जनाः शिव एव वैद्यरसायनकेन्द्राणां मूलकेन्द्र इति च वदन्ति । एवं विद्यमान आयुर्वेदः केवलं मानवकुलमुद्दिश्य प्रवर्तितमिति वक्तुं न शक्यते मतोहि गवायुर्वेद, अश्वायुर्वेद, वृक्षायुर्वेद इत्यादिरूपेण भेदाः सन्ति । ते तिर्यक्प्राणिनां स्थावरजीविनां च हिताहित बोधनाय प्रवर्तिता.... । एवं अष्टाङ्गत्वेन विद्यमानः आयुर्वेदः ब्रह्मात् शिष्यपरम्परानुसारेण इन्द्रं प्रतिप्राप्तम् । महर्षिणः तेषां प्रतिनिधित्वेन भारद्वाजं इन्द्रं प्रति प्रेशितवन्तः आसन् । सः इन्द्रात् आयुर्वेदं अधीतवान् । भगवान् धन्वन्तरिः काशिराजः दिवोदासरूपेण अवतारं धृत्वा विश्वामित्रस्य पुत्राय सुश्रुताय उपदिष्टवान् । गुरुः दिवोदासः शिष्यः सुश्रुतः इत्यनयोर्भेदः । उभावपि क्षत्रियौ इति कारणादेव स्यात् तस्मिन् काले शल्यतन्त्रमेव अधिकं प्रचुरं अभवत् । भारद्वाज महर्षिभिः सकाशात् अत्रेय महर्षयः आयुर्वेदं ज्ञात्वा अग्निवेश, पराशर, भेल, हारीत, जतुकर्ण, क्षारपाणि, इत्यादि शिष्यान् प्रति उपदिष्टवन्तः ।

### 3. 5. योगशास्त्ररीत्या शरीरपरिचयः-

अत्र स्थूलशरीरः, सूक्ष्मशरीरः, इन्द्रियविचाराः, तेषां व्युत्पत्तिः, तेषां कार्यरूपादयः विवृतं भवति।

स्थूल भूतानि तु पञ्चीकृतानि। पञ्चीकरणं तु आकाशादि पञ्चसु एकैकं द्विधा समं विभज्य, तेषु दशसु भागेषु प्राथमिकान् पञ्चभागान् प्रत्येकं चुतर्धा समं विभज्य, तेषां चतुर्णां भागानां स्वस्वद्वितीयार्धपरित्यागेन भागान्तरेषु योजनं भवति। तदुक्तं यथा-

**द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्धा प्रथमं पुनः।**
**स्वस्वेतर द्वितीयांशैर्योजनात्वं च पञ्च ते ।।** – (पञ्चदशी १.२७)

अस्य प्रमाण्यं न आशङ्कनीयं त्रिवृत्करणश्रुतेः पञ्चीकरणस्य अपि उपलक्षणत्वात्। पञ्चानां पञ्चात्वकत्वे समाने अपि "वैशेष्यात्सु तद्वादः तद्वादः" इति न्यायेन आकाशादि व्यपदेशः सम्भवति । तदानीं आकाशे शब्दः अभिव्यज्यते, वायौ शब्दस्पर्शौ, अग्नौ शब्दस्पर्शरूपाणि, अप्सु शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः च। एतेभ्यः पञ्चीकृतेभ्यः भूतेभ्यः भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत्यम् इति एतन्नामकानां उपर्युपदिविद्यमानानाम्, अतलविलसुतलरसातलमहातलपातालनामकानाम् अधोऽधोविद्यमानानां लोकानां ब्रह्माण्डस्य तदन्तर्वर्ति चतुर्विध स्थूलशरीराणां तदुचितानां अन्नपानादीनां च उत्पत्तिः भवति।

चतुर्विध शरीराणि तु जरायुजाण्डजोद्भिज्जस्वेदजाख्यानि। जरायुजानि जरायुभ्यो जातानि मनुष्यपशवादीनि।

**अण्डजानि अण्डेभ्यो जातानि पक्षिपन्नगादीनि।**
**उद्भिज्जानि भूमि उद्भिद्य जातानि कक्षवृक्षादीनि।**
**स्वेदजानि स्वेदात् जातानि यूकमशकानि।**

अत्रापि चतुर्विध सकल स्थूलशरीरं एकानेकबुद्धिविषयतया वनवत् जलाशयवत् वा समष्टिः, वृक्षत् जलवत् वा व्यष्टिः अपि भवति । एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं वैश्वानरः, विराट् इति च उच्यते । सर्व नराभिमानत्वात् विविधं राजमानत्वात् च । अस्य एषा समष्टिः स्थूलशरीरं अन्नविकारत्वात् अन्नमयकोशः स्थूलभोगायतनत्वात् च स्थूलशरीरं जाग्रत् इति च व्यपदिश्यते । एतद्व्यष्ट्युपहतिं चैतन्यं विध इति उच्यते, सूक्ष्मशरीराभिमानं अपरित्यज्य स्थूलशरीरादि प्रविष्टत्वात् ।

अस्यापि एषा व्यष्टिः स्थूलशरीरम्, अन्नविकारादेव हेतोः अन्नमयकोशः, जाग्रत् इति च उच्यते । तदानीं एतौ विध्ववैश्वानरौ दिग्वातार्कवरुणाश्विभिः क्रमान्नियन्त्रितेन श्रोत्रादीन्दिभ पञ्चकेन क्रमात् शब्दस्पर्शरूपरसगन्धान्, अग्नीन्द्रोपेन्द्रयमप्रजापतिभिः क्रमान्नियन्त्रितेन वागादीन्द्रियपञ्चकेन क्रमात् वचनादानगमनविसर्गानन्दान्, चन्द्रचतुर्मुखशङ्कराच्युतैः क्रमान्नियन्त्रितेन मनोबुद्ध्यहङ्कारचित्ताख्येन अन्तरिन्द्रिय चतुष्केण क्रमात् सङ्कल्पनिश्चयाहङ्कार्य चैतान् च सर्वान् एतान् स्थूलविषयान् अनुभवतः "जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः" इत्यादिश्रुतेः ।

एवं पञ्चीकृतपञ्चभूतेभ्यः स्थूलप्रपञ्चोत्पत्तिः ॥

*सूक्ष्मभूतानां उत्पत्तिः तथा इन्द्रियानां च स्थानम् । तमः प्रधानविक्षेपशक्तिम दज्ञानोपहितचैतन्यात् आकाशः, आकाशात् वायुः, वायो अग्निः, अग्ने आपः, अद्भ्यः पृथिवी च उत्पद्यते । एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः इत्यादिश्रुतेः ।* – (तै. उ. २-१.१.)

तेषु जाड्याधिकदर्शनात् तमः प्राधान्यं तत्कारणस्य तदानीं सत्वरजस्मांसि कारणगुणप्रक्रमेण तेषु आकाशादिषु उत्पद्यन्ते । एतान्येव सूक्ष्मभूतानि तन्मात्राणि अपञ्चीकृतानि च उच्यन्ते ।

एतेभ्यः सूक्ष्मशरीराणि स्थूलभूतानि च उत्पद्यन्ते ।

### 3. 7. सूक्ष्मशरीरः- प्राणशक्तेः निरूपणम्

सूक्ष्मशरीराणि सप्तदशावयवानि लिङ्गशरीराणि । अवयवास्तु ज्ञानेन्द्रियपञ्चकं बुद्धिमनसी कर्मेन्द्रियपञ्चकं वायुपञ्चकं च इति । ज्ञानेन्द्रियाणि श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वाघ्राणाख्यानि । एतानि आकाशादीनां सात्वेकांशेभ्यो व्यस्तेभ्यः पृथक्पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते । बुद्धिः नाम निश्चयात्मिका अन्नः करणवृत्तिः । मनः नाम सङ्कल्पविकल्पात्मिका अन्तःकरणवृत्तिः । अनयोरेव चित्ताहङ्कारयोः अन्तर्भावः । एते पुनः आकाशादि सात्विकांशेभ्यः मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते । एतेषां प्रकाशात्मकत्वात् सात्विकांश कार्यत्वम् । इयं बुद्धिः ज्ञानेन्द्रियैः सहिता विज्ञानमयकोशः भवति । अयं कर्तृत्व भोक्तृत्व सुखित्वदुःखित्वाद्यभिमानित्वेन इहलोकपरलोकगामी व्यावहारिक जीव इति । मनस्तु ज्ञानेन्द्रियैः सहितं मनोमयकोशः भवति । कर्मेन्द्रियाणि वाक्पाणिपादपायूपस्थाख्यानि । एतानि पुनः आकाशादीनां रजोंशेभ्यः व्यस्तेभ्यः पृथक्पृथक् क्रमेण उत्पद्यन्ते । वायवः प्राणापानव्यानोदानसमानाः । प्राणो नाम प्राग्गमनवान् नासाग्रवर्ती । अपानो नाम अवाग्गमनवान् पार्श्वदिस्थानवर्ती । व्यानो नाम वियग्गमनवान् अखिलशरीरवर्ती । उदानो नाम कण्ठस्थानीय ऊर्ध्वगमनवान् उत्क्रमणवायुः । समानो नाम शरीरमध्यगाः अशितपीतान्नादि समीकरणकरः । केचित्तु नागकूर्मकृकले देवदत्तधनञ्जयाख्याताः पञ्च अन्ये वायवः सन्ति इति वदन्ति ।

तत्र नागः उद्गिरणकरः । कूर्मः उन्मीलनकरः । कृकलः क्षुन्करः । देवदत्तः जृम्भणकरः । धनञ्जयः पोषणकरः । एतेषां प्राणादिषु अन्तर्भावात् प्राणादयः पञ्चैव इति केचित् ।

### 3. 8. पञ्चकोशनिरुपणम्

एतत् प्राणादि पञ्चकम् आकाशादिगतरजोंशेभ्यः मिलितेभ्यः उत्पद्यन्ते। इदं प्राणादिपञ्चकं कर्मेन्द्रियैः सहितं तत् प्राणमयकोशः भवति। अस्य क्रियात्मकत्वेन रजोंशः कार्यत्वम्।

एतेषु कोशेषु मध्ये विज्ञानमयः ज्ञानशक्तिमान् कर्तृरूपः। मनोमयः इच्छाशक्तिमान् करणरूपः। प्राणमयः क्रियाशक्तिमान् कार्यरूपः। योग्यत्वात् एव एतेषां विभाग इति वर्णयन्ति। एतत् कोशत्रयं मिलितं सत् सूक्ष्मशरीरम् इति उच्यते।

अत्रापि अखिलसूक्ष्मशरीरं एकबुद्धिविषयतया वनवत् जलाशयवत् वा समष्टिः, अनेकबुद्धिविषयतया वृक्षवत् जलवत् वा व्यष्टि अपि भवति। एतत्समष्ट्युपहितं चैतन्यं सूत्रात्मा हिरण्यगर्भः प्राण इति च उच्यते, सर्वत्रानुस्यूतत्वात् ज्ञानेच्छाशक्तिक्रियाशक्तिमदुपहितत्वात् च।

अस्यैषा समष्टिः स्थूलप्रपञ्चापेक्षया सूक्ष्मत्वात् सूक्ष्मशरीरं विज्ञानमयादि कोशत्रयं जाग्रद्वासनामयत्वात् स्वप्न अत एव स्थूलप्रपञ्चलयस्थानम् इति च उच्यते।

एतौ सूत्रात्मातैजसौ तदानीं मनोवृत्तिभिः सूक्ष्मविषयान् अनुभवतः ''प्रविविक्तभुक् तैजसः'' इत्यादिश्रुतेः।

आनन्दमयकोशः भवति यत् अन्तरिन्द्रियाणां व्यापारेण यत् सुखानुभूयते तत् स्थानं भवति। तस्य तु अस्तित्वं अस्मिन् शरीरे भवति। तदपि अज्ञानान्तर्गतमेव भक्ति। तस्यापि निरोधान् परमात्म तत्वज्ञानं भवति इति पञ्चकोशान्तर्गत शरीरस्य विवरणं दत्तम् वर्तते।

### 3. 9. मनोनिरूपणम्

योगशास्त्रे तावत् मनसः उत्पत्ति अहङ्कारादेव। तस्मात् रजोगुणप्रधानं भवति। तथैव सर्वैः अङ्गीकुर्वन्ति षष्ठानीन्द्रियाणि इति। पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि तथा पञ्चकर्मेन्द्रियाणि सन्ति। एते तु बहिरिन्द्रियाणि। अन्तःकरणम् इत्युक्ते मनः, अहङ्कारः, बुद्धिश्च। अत्र करणं इत्युक्ते इन्द्रियमित्यर्थे एव स्वीकरणीयम्। अन्तरिन्द्रियेषु मनः वेद्यमानोऽप बहिरिन्द्रियम् अपि कर्मं करोति। एतस्मात् कारणात् मन उभयात्मकम् इति भगवद्गीतायां तथा साङ्ख्ये, योगे च उक्तं भवति। तथैव तस्य कर्मः सङ्कल्पविकल्पात्मकं भवति। रजोगुणाधिक्यात् चञ्चलं भवति। तदेव तस्य स्वभावः। कार्यं तावत् बहिस्थज्ञानं इन्द्रियद्वारेण स्वीकृत्य अन्तःकरणादिषु योजनं तथा अन्तःकरणे या बुद्धौ उदित ज्ञानान् बहिरिन्द्रियेषु कार्यरूपे योजनं भवति। तस्मात् सदा चञ्चलं भवति। तथैव तस्य वृद्धिह्रासादयः इन्द्रियाणामुपरि भवति। इन्द्रियाणि यथा यथा विजयानवगाहते तथा तथा मनः तत्र तत्र चलति। एतस्मात् कारणात् इन्द्रियाणां निग्रहमेव मनः निग्रहणार्थं विद्यमान पद्धतिः। तस्मादेव योगवासिष्ठे उक्तमस्ति यथा- मनः प्रशमनोपायः योग इति। परन्तु पतञ्जलिः मनः प्रशमनार्थं या तस्मिन् विषये विमर्शां न अकारि। किमर्थमित्युक्ते तत् चित्तान्तर्गतं भवति चिन्त तथा चित्तवृत्तिनिरोधेन सर्वमपि निरोधयितुं शक्यमित्येव सिद्धान्तः। तथैव हठयोगोऽपि उक्तमस्ति। यथा-

**चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।**<br>
**योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत्॥**

इति। परन्तु मनसः विजये स्पष्टतया निरूपितमस्ति भगवद्गीतायाम्। तथैव ध्यानविषयविवरणसमये हठयोगप्रदीपिकायां तथा घेरण्डे च विवृतं वर्तते। मनसः वृद्धिह्रासादयः

आहारेण अपि भवति । भुक्तस्य आहारस्य एकः भागः मन इति सामान्यज्ञानं सर्वेषां वर्तते । अत्र मनः कथं त्रिगुणात्मकं वर्तते । तथैव आहारेऽपि त्रिगुणाः सन्ति । सर्वत्रापि क्वचित् अधिकम् अन्यानि न्यूनाः भवन्ति । मनसि रजोगुणमधिकम् आाहरेषु या खाद्येषु तस्य स्वभावरूपेण विद्यमान गुणं तथा भोज्यविधाने अपि तस्य गुणं व्यत्यस्तं भवति । एवं सात्विकाहारमेव रजोरूपेण खाद्यते चेत् तस्य परिणामः रज एव भवति ।

तस्मात् कारणात् सात्विकांशभूयिष्ठरूपेण सर्वान् विषयान् स्वीक्रियते चेत् तदंशः वर्धते शरीरं मनसि च । तदानीं चञ्चलस्वभावः स्वाभाविकतया न्यूनं भवति । एवं योगे विद्यमान अन्यान्य अभ्यासादपि रजोगुणं न्यूनीकर्तुं शक्नुम इति अवगम्यते यथा- ''ततो द्वन्द्वानभिघातः'' इति पातञ्जलिना आसनस्य प्रयोजनम् उक्तम् । द्वन्द्वं तावत् मनसि भवति । शीत, उष्ण सुखदुःख, प्रयोजनम् अप्रयोजनम् इत्यादयः । तेषां बाधानिवारणं तथा असम्पर्क एव अनभिघातः । तथैव उपनिषदि उक्तमस्ति । ''आसनेन रजो हन्ति'' इति । एभिः कारणादेव योगाङ्गानां अभ्यासात् इन्द्रियाणां निग्रहः भवति इति । तदेव पतञ्जलिना उदीरितम् । यथा-

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः । इति । तथा अनुष्ठीयते चेत् ज्ञानदीप्तिं प्राप्य ततः अविवेकपर्यन्तं स्थानं लब्धुं शक्यम् इति । परन्तु इन्द्रियाणां स्वस्थता सम्पादनाय अत्र यमनियमासनप्राणायाम तथा प्रत्याहाराणि अलं भवति । तदन्तरविद्यमान विषयाः अन्तरङ्गसाधनाः समाधि सिद्ध्यर्थं अपेक्ष्यते न तु इन्द्रियनिग्रहाय । तेषां अभ्यासेनापि इन्द्रियनिग्रहणं तथा मनोनिग्रहः साध्यः । अत्र प्रमुखतया इन्द्रियनिग्रहार्थं तथा मनः निग्रहणार्थं यम नियमा एव प्रमुखाः भवन्ति । तत्रापि शौचं नियमे वर्तते । तस्य अभ्यासेनैव प्रयोजनं भवति । यथा-

१. शौचात् स्वाङ्गनिमुप्सा परैरसंसर्गः ।

२. सत्वशुद्धि सौमनस्यैकाग्रयेन्द्रियजयान्मदर्शन योग्यत्वानि च ॥

ततश्चात्मदर्शनयोग्यत्वं, बुद्धिसत्वस्य भवतीत्येतत् शौस्थैर्यादधिगम्यत इति ।

**कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।**
**निवर्त्यमानमेव तपो हिनस्त्यशुद्ध्यावरणमलम् ॥**

तदावरणमलापगमात्कायसिद्धिरणिमाद्या । तथेन्द्रियसिद्धिर्दूराच्छ्रवणदर्शनाद्येति । एवं पतञ्जलिना मनः स्थानं तथा निग्रहोपायाः विदिताः वर्तन्ते ।

''मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ॥'' इति भगवद्गीतावचनानुसारं मनोबलं अत्र किञ्चित् निरूप्यते यथा-

**उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।**
**(मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः)**

**आत्मबलम्**

लोके न काचिदपि शक्तिस्तादृशी बलवती फलवती सकलसामर्थ्यवती च, यादृशी आत्मशक्तिः । आत्मिकशक्तेर्गौरवं नानुमातुं न च वर्णयितुं शक्यते । आत्मबलेन किं किं न साध्यते । आत्मबलेनैव इच्छाशक्तेरुद्गमः । इच्छाशक्तेः प्रतापेन न केवलं भौतिकम् अभीष्टं पूर्यते, अपि तु ईश्वरावाप्तिरपि तीव्रमनःसङ्कल्पसाध्या । अत एव योगदर्शने प्रोच्यते-

**तीव्रसंवेगानामासन्नः ।** –योग. १-२१

न बाह्या शक्तिस्तथा मानवस्योपकर्त्री, कार्यसाधिका च, यथा आत्मशक्तिः, आत्मविश्वासः, आत्मबलं च । आत्मबलसङ्ग्रहे कृते सति दुष्करमपि सुकरम्, दुर्लभमपि सुलभम्, दुर्जयमपि

सुजयं सम्पद्यते । का वा शक्तिरासीत् पुरुषोत्तमस्य रामस्य यत् स सैन्यबलहीनोऽपि, निर्वासितोऽपि, वानरमात्रसहायोऽपि त्रिभुवनविजयिनं सर्वसाधनसम्पन्नं विविध-माया-बल-समवेतं रावणं विजयेत? सा शक्तिरात्मशक्तिरासीत्, या रामं विजय-वैजयन्तीं प्रापयत्। उक्तं च-

**विजेतव्या लङ्का चरणतरणीयो जलनिधि-**
**र्विपक्षः पौलस्त्यो रणभुवि सहायाश्च कपयः ।**
**तथाप्येको रामः सकलमवधीद्राक्षसकुलं**
**क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे ।।** – (भोजप्र. १७०)

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानम् अवसादयेत्- लोके कस्य नाभीष्टा आत्मोन्नतिः । सर्वोऽपि लोक आत्मोन्नत्ये आत्माभ्युदयाय स्वाभिलषितपूर्तये च यतते अध्यवस्यति व्यवस्यति च । आत्मोन्नतिः सर्वस्य प्रेष्ठा गरिष्ठा च। यतो हि- 'आत्मलाभमनु लाभसम्पदः।' स्वोन्नतिः सर्वोत्तमा । कश्च तदवाप्त्युपाय इति विचारणायाम् अवगम्यते यन्न परसाहाय्येनात्मोन्नतिः सुलभा सुकरा च । आत्मोन्नत्ये स्वावलम्बनं स्वपुरुषार्थाश्रयण च सर्वोत्कृष्टम्। यत्र स्वावलम्बनं साहसं धैर्यं च तत्र परमेश्वरोऽपि साहाय्यकृद् भवति। उक्तं च-

God helps those who help themselves

**उद्यमः साहसं धैर्यं बुद्धिः शक्तिः पराक्रमः ।**
**षडेते यत्र वर्तन्ते तत्र साहाय्यकृद् विभुः ।।**

भगवद्गीतायां श्रीकृष्णेन प्रतिपाद्यते यद् आत्मबलाश्रयणेन आत्मोन्नतिर्जायते। पराश्रयणं दुःखोदर्कम्। आत्मैव पुरुषाथाश्रयणे बन्धुत्वम् आपद्यते, हीनभावोपासने च शत्रुत्वेन विपरिणमते । अतो न कदाचिदपि हीनभावनाऽऽश्रयणीया। उच्यते च-

**उद्धरेवात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् ।**
**आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ।।** – (गीता. ६-५)

सुखदुःखयोर्लक्षणं व्यादिशता व्यासेनाप्येतदेव समर्थ्यते यत् स्वप्रयत्नाश्रितं यत् तत् सुखम्, यत् परायत्तं तद् दुःखमिति ।

**सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम् ।**
**एतद् विद्यात् समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ।।** – (माहा.)

मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः- मन एव लोके सर्वोत्तमं ज्योतिः । अत एव यजुर्वेदे मनो ज्योतिषां ज्योतिरिति वर्ण्यते ।

**यज्जाग्रतो दूरमुदैति दैवं तदु सुप्तस्य तथैवैति ।**
**दूरगमं ज्योतिषां ज्योतिरेकं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ।।** – (यजु. ३४-१)

मनोबलं यथा शक्तिप्रदम्, न तथा लोके किञ्चिनान्यत् । मनोबलमेव इच्छाशक्ति (**will-power**)-रूपेण विपरिणमते । मनोबलस्य इच्छाशक्तेर्वा महत्वं सर्वलोकविदितम् । मनोबलेनैव महात्मा गान्धिः आङ्ग्लशासकान् विजित्य भारतं स्वातन्त्यम् आनैषीत् । मन एव सत्त्वगुणोपेतं चेत् तन्मोक्षसाधनं जायते । तदेव विपरीतं सत् तमोगुणोपेतं बन्धनस्य कारणम् आपद्यते । अतएवोच्यते- 'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः ।'

कथमिव मनसो निग्रहो वशीकरणं वा स्यादिति जिज्ञासायां गीतायां प्रतिपाद्यते यद् इन्द्रियजयेन अभ्यास-वैराग्याभ्यां च मनसो वशीकरणं सञ्जायते । सति इन्द्रियजये आत्मा बन्धुरूपः, तदभावे च शत्रुरुपः ।

**बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जितः ।**
**अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्तेतात्मैव शत्रुवत् ।।** – (गीता. ६-६)

नीतिश्लोकेऽप्येतदेव समर्थ्यते यत्- 'आत्मबुद्धिः सुखायैव, गुरुबुद्धिर्विशेषतः ।' इत्यनेन

आत्मसाहाय्यमेव सुखसाधकं प्रोच्यते। महात्मना बुद्धेन एतदेवाश्रित्य मनसो महत्वं निर्दिश्यते यन्मन एव सर्वार्थसाधकम्। स्वस्थेन मनसा कृतं कर्मं सुखदच्छायेव सुखसाधकम्।

**मनो पुण्वंगमा धम्मा मनोसेट्ठा मनोमया।**
**मनसा चे पसन्तेन भासति वा करोति वा।**
**ततो 'नं सुखमन्वेति छाया' व अनपायिनो॥** – (धम्मपद १-२)

अन्यत्रापि तेनोपदिश्यते यद् आत्मैव आत्मनः प्रभुः, आत्मैव आत्मनो गतिः। अत आत्मानं संयच्छेत, वणिक् सदश्वमिव।

**अत्ता हि अत्तनो नाथो अत्ता हि अत्तनो गति।**
**तस्मा सञ्ञामयत्तानं अस्सं भद्रं व वाणिजो॥** – (धम्मपद २५-२१)

एवं सिद्ध्यति यद्- 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।'

### 3.10. जीवनिरूपणम्

इदानीं प्रत्यागात्मनि इदमिदमयमर्थं आरोपयति इति विशेषतः उच्यते। अतिप्राकृतः तु ''आत्मा वै जायते पुत्रः'' इत्यादि श्रुतेः स्वस्मिन्नेव स्वपुत्रे अपि प्रेमदर्शनात् पुत्रे पुष्टे नष्टे च अहमेव पुष्टः नष्टः च इत्याद्यनुभवात् च पुत्र आत्मा इति वदति।

**चार्वाकः**

चार्वाकस्तु ''स वा एषपुरुषोऽन्नरसमयः'' इत्यादि श्रुतेः, प्रदीप्तग्रहात् स्वपुत्रं परित्यज्यापि स्वस्यनिर्गमदर्शनात्, स्थूलोऽहम्, कृशोऽहम् इत्याद्यनुभवाच्च'' स्थूलशरीरम् आत्मा इति वदति। अपरः चार्वाकः ''तेहप्राणाः प्रजपतिं पितरमेत्योचुः'' इत्यादि श्रुतेः इन्द्रियाणामभावे, शरीरचलत्वाभावात्, काणोऽहं बधिरोऽहं इत्याद्यनुभवाच्च इन्द्रियाणि आत्मा इति वदति। अपरे

चार्वाकः ''अन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः'' इत्यादि श्रतेः प्राणाभावे इन्द्रियादिचलनायोगात्, अहम् अशनायावान् अहं पिपासावान् इत्याद्यनुभवाच्च प्राण आत्मा इति वदति । अन्यस्तु चार्वाकः ''अन्योत्तर आत्मा मनोमयः'' इत्यादि श्रुतेः, मनसि सुप्ते प्राणादेः अभावात्, अहं सङ्कल्पवान् अहं विकल्पवान् इत्याद्यनुभवाच्च, मन आत्मा इति वदति ।

**बौद्धाः**

बौद्धस्तु ''अन्योन्तर आत्मा विज्ञानमयः'' इत्यादि श्रुतेः कर्तुः अभावे करणस्य शक्त्यभावान् अहं कर्ता अहं भोक्ता इत्याद्यनुभावाच्च, बुद्धिः आत्मा इति वदति । प्राभाकराः नैय्यायिकाश्च-प्राभाकरतार्किकौ तु ''अन्योन्तर आत्मा आानन्दमयः'' इत्यादि श्रुतेः बुद्ध्यादीनाम् अज्ञाने लयदर्शनात् अहं अज्ञ अहं ज्ञानी, इत्याद्यनुभवाच्च अज्ञानम् आत्मा इति वदतः ।

**भाट्टः**

भाट्टस्तु ''प्रज्ञानघन एवानन्दमयः'' इत्यादि श्रुतेः, सुषुप्तौ प्रकाशाप्रकाशसद्भावान्, माम् अहं न जानामि इत्याद्यनुभवाच्च, अज्ञानोपहेतं चैतन्यं आत्मा इति वदति । अपरः बौद्धः ''असदेवेदमग्रमासीत्'' इत्यादि श्रुतेः सुषुप्तौ सर्वाभावम्, सुषुप्तौ नासम् इति उत्थितस्य स्वाभाव परामर्शविजयानुभावाच्च शून्यं आत्मा इति वदति ।

**अद्वैतपक्षे-**

एतेषां पुत्रादीनाम् अनात्मत्वं उच्यते । एतैः अतिप्राकृतवादिभि उक्तेषु श्रुतियुक्त्यनुभवाभासेषु पूर्वपूर्वोक्तश्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां उत्तरोत्तरश्रुतियुक्त्यनुभवाभासैः बाधदर्शनात् पुत्रादीनां अनात्मत्वं स्पष्टमेव । किं च 'प्रत्यक्' 'अस्थूलः' 'अचक्षुः' 'अप्राणः'

'अमनुः' अकर्ता, चैतन्यं चिन्मात्रं सत् इत्यादि प्रबलं श्रुतिविरोधात्। अस्य पुत्रादि शून्यपर्यन्तस्य नदस्य चैतन्य भास्यत्वेन घटादिवत् अनित्यत्वान् अहं ब्रह्म इति विद्वदनुभव प्राबल्याच्च, तत्तच्छ्रुतियुक्त्यनुभवाभासानां बाधिततत्वादपि पुत्रादिशून्यपर्यन्तं अखिलं अनात्मैव । अतः तत्तद्भासकं नित्यशुद्धबुद्धमुक्त स्वभावं प्रत्यक्चैतन्यमेव आत्मवस्तु इति वेदान्तविद्वदनुभवः ।

**साङ्ख्यमतम्**:

अत्र तावत् पुरुषबहुत्वं अङ्गीकृतं वर्तते। शास्त्रानुसारेण विवरणं आधारेण साकं पश्यामः ।

**जन्ममरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत् प्रवृत्तेश्च ।**
**पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव** ।। – (सां. का. १७)

**वायुर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव ।**
**एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च** ।। – (कठो. २-२-१०)

**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः ।**
**परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुषः परः** ।। – (गीता. १३-१२)

**य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह ।**
**सर्वथा वर्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते** ।। – (गीता. १३-२३)

**तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।**
**संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया च प्रकृतिः** ।। – (सां. का. ६२)

**रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नान्यात्मनमात्मना प्रकृतिः ।**
**सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण** ।। – (सां. का. ६३)

**जन्मादि व्यवस्थातः पुरुष बहुत्वम्** । – (सां. द. १-१४९)

**उपाधिभेदेऽप्येकस्य नानायोग आकाशस्येव घटादिभिः** । – (सां. १/१५०)
**उपाधिर्भिद्यते न तु तद्वा** । – (सां. १/१५१)

**एवमेकत्वेन परिवर्तमानस्य न विरुद्धधर्माध्यासः** । – (सां. १/१५२)

**योगदर्शने ईश्वरसिद्धेः समाधानम्** ।

**ईश्वरसिद्धेः** – (सां.दे. १.९२)

**योगीनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः ।** – (सां. द. १-९१)

**निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोहः प्रवर्तते ।**
**सत्वामात्रेण देवेन तथा चायं जगज्जनः ।।**

**अत आत्मानि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च संस्थितम् ।**
**निरिच्छत्वादकर्तासौ कर्तासन्निधिमात्रतः ।।** – (सां. प्र. भाष्य १/९७)

**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः ।**
**न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ।। १४ ।।**

**नादत्ते कस्यचित् पापं न चैव सुकृतं विभुः ।**
**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुच्यन्ति जन्तवः ।। १५ ।।**

**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येजा नाशितमात्मनः ।**
**तेषामादित्यमज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।। १६ ।।** – (गी. ५)
**ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्ध ।** – (सां. द. ३/५५)

**न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात् ।** – (सां. द. ३/५४)
**अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ।**
**सहि सर्ववित् सर्वकर्ता ।**
**सन्निध्यामत्रेणेश्वरस्य सिद्धिस्तु शुतिस्मृतिषु सर्वसमात्यर्थः ।**

**अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति ।**
**ईशानो भूतभयस्य न ततो विजुगुप्सते एतद्वै तत् ।।**

**सृजते च गुणान् सर्वान् क्षेत्रज्ञस्त्वनुपश्यति ।**
**गुणान् विक्रियते सर्वानुदासीनवदीश्वरः ।।** – (सां.प्र. भाष्य ३.५७)

### 3. 11. योगशास्त्रस्य २६ तत्वानि:

श्री पतञ्जलिमहायोगिना पातञ्जलयोगसूत्रे तत्वानां निर्दिष्टसूचना तावत् अधोनिर्दिष्टसूत्रेषु उक्तवत् वर्तते । इदं सर्वमपि ज्ञानप्राप्त्यर्थं एव । तदानीं तत्वानां ज्ञानम् अनावश्यं भवति । तस्मात् एवं प्रतिपादितमस्ति ।

**द्रष्टदृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।**

**प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।**
**विशेषाविशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि ।**

द्रष्टादृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रात्ययानुपश्यः । इत्येतेषु सूत्रेषु उक्तं वर्तते । तदेव व्याख्यानं यथा-

द्रष्टा बुद्धे प्रतिसंवेदी पुरुषः । दृश्या बुद्धिसत्वोपारूढाः सर्वे धर्माः । तदेतद् दृश्यमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारिदृश्यत्वेन सम्भवति पुरुषस्य दृशिरूपस्य स्वामिनः अनुभवकर्म विषयतामापन्नं यतः। अन्यस्वरूपेण प्रतिपन्नमन्यस्वरूपेण प्रतिलब्धात्मकं स्वतन्त्रमपि परार्थत्वात्परतन्त्रम् । तयोर्हकदर्शनशक्त्योरनाडिरर्थकृतः संयोगो हेयहेतुदुःखस्य कारणमित्यर्थः । तथा चोक्तम्- तत्संयोगहेतु विवर्जनात्सादयमात्यन्तिको दुःखप्रतीकारः । कस्मात्? दुःखहेतोः परिहार्यस्य प्रतीकारदर्शनात् । तद्यथा- पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य, भेत्तृत्वं, परिहारः कण्टकस्य पादानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहिते न वाधिष्ठानम् । एतत्रयं यो वेद लोके स तत्र प्रतीकारमारभमाणो भेदजं दुःखं नाप्नोऽति । कस्मात्? तयिक्रियायाः कर्मस्थत्वात् । सत्वे कर्मणि तयिक्रियाया नापरिणामितनितिक्रिये क्षेत्रज्ञे दर्शित विषयत्वात् । सत्वे तु तपमाने तदाकारातु रोधी पुरुषोनुतप्यत इति । इतः परं दृश्यस्वरूपमुच्यते । प्रकाशशीलं सत्वम् । क्रियाशीलं रजः । स्थितिशीलं तम इति । एते गुणाः परस्परोपरक्तप्रविभागाः परिणामिन संयोगनियोगधर्माण इतरेतरोपाश्रयेणो पार्जितमूर्तयः परस्पराङ्गित्वेऽप्यसम्भिन्न शक्तिप्रविभागास्तुल्यजातीयातुल्य जातीयशक्तिभेदानु पातिनः प्रधानवेलायामुपदर्शितसंविधानागुणत्वेऽपि च व्यापारमात्रेण प्रधानान्तर्णीतानुमितस्तिताः पुरुषार्थकर्तव्यतया प्रयुक्तसामर्थ्याः सन्निधिमात्रोपाकरिणोऽय

स्कान्तमणिकल्पाः । प्रत्ययमन्तरेणैकतमस्य वृत्तिमनुवर्तमानाः प्रधानशब्दवाच्या भवन्ति । एतद्दृश्यमित्युच्यते ।

तदेतद् भूतेन्द्रियात्मकं भूतभावेन पृथिव्यादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते । तथेन्द्रियभावेन श्रोत्रादिना सूक्ष्मस्थूलेन परिणमते इति तत्तु नाप्रयोजनमपि तु प्रयोजनमुरसीहत्य प्रवर्तत इति भोगापवर्गार्थं हि तद्दृश्यं हि पुरुषस्येति । तत्रेष्टानिष्टगुणस्वरूपावधारणमविभागापन्नं भोगो भोक्तुः स्वरूपावधारणमपवर्ग इति । द्वयोरतिरिक्त मन्यद्दर्शनं नास्ति । तथा चोक्तम् अयं खलु त्रिषु गुणेषु कर्तृषु अकर्तरि च पुरुषे तुल्यातुल्यजातीये चतुर्थे तत्क्रियासक्षिप्युपनीयमानान् सर्वभावानुपपन्नानुपश्यत् न दर्शनमन्यच्छकन्तत इति तावेतौ भोगापवर्गौ बुद्धिकृतौ बुद्धावेव वर्तमानौ कथं पुरुषे व्यपादिश्येते इति । यथा विजयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते । सहि तत्फलस्य भक्तोऽति, एवं बन्धमोक्षौ बुद्धावेव कर्तमानौ पुरुषे व्यपदिश्येते । सहि त्कलशस्य भाक्तेऽति । बुद्धेरेव पुरुषार्थं परिसमाप्तिर्बन्धस्तदर्थवसायो मोक्ष इति । एतेन ग्रहणधारणोहापोहतत्वज्ञानाभिनिवेश बुद्धौ वर्तमानाः पुरुषोऽरध्याशेर्पित सद्भावाः, सहि तत्फलस्य भाक्तेऽति । ततः परं दृश्यानां गुणानां प्रकटनं भवति यथा-

दृश्यानां गुणानां स्वरूपभेदावधारणार्थमिहमारभ्यते । यथा-

तत्राकाशवाय्वग्न्युदकभूमयो भूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धतन्मात्राणामविशेषाणां विशेषाः । तथा श्रोत्रत्वक्चक्षुजिह्वाघ्राणानि बुद्धीन्द्रियाणि, वाक्पाणिपादपायूपस्थानि

कर्मेन्द्रियाणि, एकादशं मनः सर्वार्थम् इत्येतान्यस्मिता लक्षणस्याविशेषस्य विशेषाः। गुणानामेष पीडशको विशेषपरिणामः।

षड्विशेषाः यथा-

शब्दतन्मात्रं स्पर्शतन्मात्रं रूपतन्मात्रं रसतन्मात्रं गन्धतन्मात्रं चेति एकद्वित्रि चतुष्पञ्चलक्षणाः शब्दादयः पञ्चविशेषाः, षष्टश्चाविशेषोऽस्मितामात्र इति। एते सत्तामात्रस्यात्मन्ते महतः षडविशेषपरिणामः। यत्तत्परमविशेषेभ्यो लिङ्गमात्रं महत्वन्वं तस्मिन्नेते सत्तामात्रे महत्यात्मन्यवस्था विवृद्धिकाष्ठामनुभवन्ति। प्रतिसंसृज्यमानाश्च तस्मिन्नेव सत्तामात्रे महत्यात्मव्यवस्थाय यत्तन्निःसत्तासत्तं निःसदसत्तिरसदव्यक्तमलिः। प्रधानं तत्प्रतियात्ते। एष तेषां लिङ्गमात्रः परिणामो निःसत्तासत्तं चालिङ्गपरिणाम इति।

अलिङ्गावस्थायां पुरुषार्थो हेतुः; नालिङ्गामवस्थायामादौ पुरुषार्थता करणं भवतीति। न तस्य पुरुषार्थता कारणं भवतीति। नासौ पुरुषार्थकृतेति नित्याख्यायते। त्रयाणांत्ववस्थाविशेषणामादौ पुरुषार्थता कारणं भवति। स चार्थो हेतुर्निमित्तं कारणं भवतीत्यनित्याख्यायते। गुणास्तु सर्वधर्मानुपातिनो न प्रत्यस्तमयन्ते नोपजायन्ते। व्यक्तेभिरेवातीतां नागत व्ययागमव्यतीभिर्गुणान्वयिनीभिरूपजननापायधर्मका इव प्रत्यवभासन्ते यथा देवदत्तो दरिद्राति। कस्मात्? यतोऽस्य म्रियन्ते गाव इति। गवामेव मरणात्तस्य दरिद्रता स्वरूपहानादिति समः अमाधिः।

लिङ्गमात्रमलिङ्गस्य प्रत्यासन्नं, तत्र तत्संसृष्टं विविच्यते, क्रमानतिवृत्तेः। तथा षड्विशेषा लिङ्गमात्रे संसृष्ट। विविच्यन्ते परिणामक्रमनियमात्। तथा तेष्वविशेषेषु भूतेन्द्रियाणि संसृष्टानि

विविच्यन्ते । तथा चोक्तं पुरुस्तात् । न विशेषेभ्यः परं तत्वान्तरमस्तीति विशेषानां नास्ति तत्वान्तरपरिणामः । तेषां तु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्यायिष्यन्ते ॥

दृशिमात्र इति दृक्शक्तिरेव विशेषणापरामृष्टेन्यर्थः। स पुरुषो बुद्धेः प्रतिसंवेदी। सबुद्धेर्नसरूपो नात्यन्तं विरूप इति । न तावत्सरूपः । कस्मात्? ज्ञाताज्ञातविषयत्वात्परिनामीती हि बुद्धिः, तस्याश्च विषयो गवादिर्घटादिर्वा ज्ञातश्चाज्ञातश्चेति परिणामित्वं दर्शयति । सदा ज्ञातविषयत्वं तु पुरुषस्यापरिणामित्वं परिदीपयति । कस्मात्? नहि बुद्धिश्च नाम पुरुषविषयश्च स्यात् गृहीतागृहीता चेति सिद्धं पुरुषस्य सदा ज्ञातविषयत्वं ततश्चापरिणामित्वमिति । किं च परार्थाबुद्धिः संहत्यकारित्वात्, स्वार्थः पुरुष इति । तथा सर्वार्थाध्यवसायकत्वात्त्रिगुणाबुद्धिः त्रिगुणत्वादचेतनोति । गुणानां तूपद्रष्टा पुरुष इति । अतो न सरूपः । अस्तु तर्हि विरूप इति । नात्यन्तं विरूपः । कस्मात्? शुद्धोऽप्यसौ प्रत्ययानुपश्यः यतः प्रत्ययं बौद्धमनुपश्यति । तमनुपश्यन्नतदात्मापि तदात्मक इव प्रतिभासते । तथा चोक्तम्- अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसंकृपा च परिणामिन्यर्थे प्रतिसङ्क्रान्तेव तद्वृत्तिमनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहरूपया बुद्धिवृत्तेरनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्यवरिष्टा हि ज्ञानवृत्तिदित्याख्यायते । एवं रीत्या विद्यमान सर्गनिरूपणं तु अधोनिर्दिष्ट रेखाचित्रे दर्शितमस्ति ।

ईश्वर

पुरुष

प्रकृति

महत्

अहङ्कार

मनस्

पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि

पञ्चकर्मेन्द्रियाणि

पञ्चतन्मात्राः

पञ्चमहाभूताश्च

योगशास्त्रे विद्यमान २६ तत्वानि ।

### 3. 12. त्रिदोषसिद्धान्तः

दोषाः त्रिविधा वात, पित्त, कफ इति । तेषां स्थानादिकम् अधोनिर्दिष्टवत् वर्तते ।
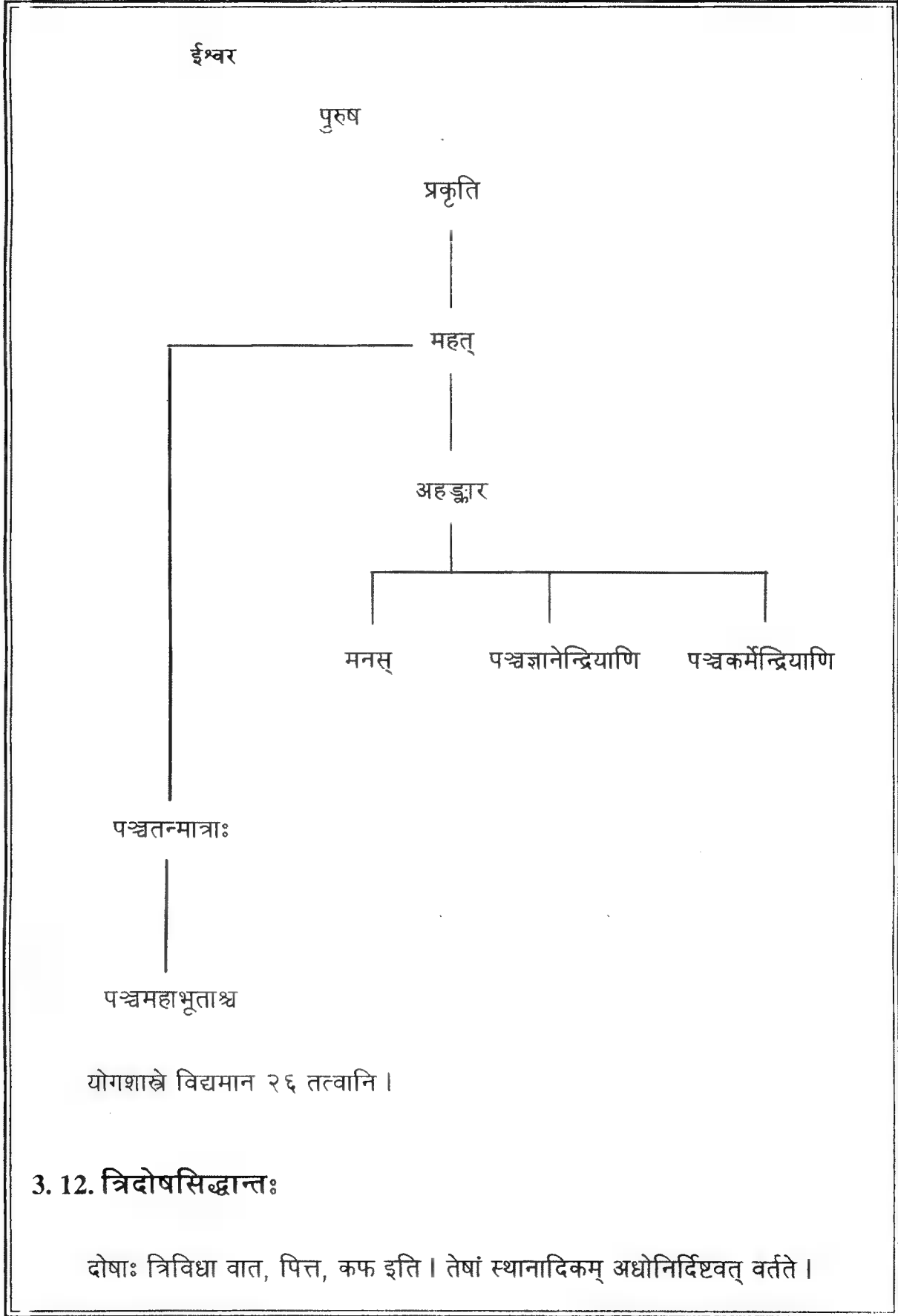
वातपित्तकफदोषाणाम् उत्पत्तिः-

अथ तेषां उत्पत्तिः कथं भवतीति दर्शयते। षड्रसस्य भुक्तमात्रस्य अन्नस्य च (प्रथमपाकतः आहारपरिणामावस्थायाम् इत्यर्थः) कफस्योद्भवो यस्मादिति कफोद्भवात् मधुरात्प्रपाकतः फेनभूतः कफ इति उदीर्यते। अतःपरं विदग्धस्य पच्यमानस्य आशयादिति (आमाशयात्) पच्यमानस्य अन्नस्य आम्लभावतमच्छं (नाम अन्नं द्रवरूपम् इत्यर्थः) पित्तमुदीर्यते। आम्लं च पित्तं आम्लपभावादाहारस्य उत्पद्यते इति युक्तमेवेति उक्तः, अतःपरं पक्वाशयं प्राप्तस्य वह्निना शोष्यमाणस्य अत एव परिपिण्डितस्य पक्वस्य अन्नस्य किहरूपतया परिणतस्य कटुभावतो वायु उत्पद्यते। इति आमाशयस्य अन्नं रसमलाय पच्यते। तत आहारपरिणामजन्यावस्थायां रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसन्मेदस्ततोऽस्थ च।

अस्थ्योमज्ञा ततः शुक्रं शुक्राद्गर्भः प्रजायते।

रसात् रक्तार्थं पच्यमानात् किट्टं कफा जायते प्रसादश्च मांसं एकमेव पुर्वापूर्वधातुपचनादुत्तरोत्तर धातुमनोत्पादो भवति॥ – (च.चि.अ. १५.सू. ६-३१)

आयुर्वेदाचार्याणां दोषविषये एवम् अभिप्रायः-

१. दोषधातुमल मूलं हि शरीरम्। – (सु.सू.अ. १५-३)

२. वायुः पित्तं कफश्चोक्त शरीरो दोष सङ्ग्रहः। – (च.सू.अ. १-५६)

३. दूषणस्वभावात् दोषा इति। – (अ.सं.सू. २०)

एवं शरीरे त्रिदोषाः सर्वदा विद्यन्ते। त्रिदोषं विना शरीरं नास्ति। तेषां सङ्ग्रह एव शरीरः ।

अधुना तेषां स्वभाव-स्थान-गुणकर्माणां परिचयः सङ्क्षेपेण दीयेते।

**कफः**

निर्वचनम्-

**फेन फलति इति कफः ।** – (सु.सू. अ. २१)
**श्लिष आलिङ्गने । (तेन) श्लेष्मेति ।** – (५.१.)

**श्लेष्माः सोमः श्लेष्मस्तेन सौम्यः ।।** – (वा. शा. अ. ३)

वात पित्त कफ इति त्रिदोषाः धातुरूपेण शरीरे कार्यं कुर्वन्तः। शरीरस्य अस्तित्वं तथा कार्यं, जीविकणानां कार्यं तथा सर्वशरीरस्य नियामकरूपेण कार्यं कुर्वन्ति । एतैरेव त्रिधातव अपि । किमर्थं इत्युक्ते भ्रूणादारभ्य जननमरणपर्यन्तं सर्वावस्थाणां नियन्तृकत्वं रूपेण कार्यं त्रिधातव एव कुर्वन्ति। वार्धक्यम्, जरा, व्याधि, मरणादयः त्रिदोषकारणेनैव भवति। एते शरीरे सर्वत्रविद्यमानेऽपि आधिक्यं तु कुत्रचित् एव भवति। यतो हि वातस्यानं तु नाभेः ऊर्ध्वं हृदयपर्यन्त । कफस्थानं हृदयादूर्ध्व शिरःपर्यन्तम् ।।

श्लेष्माणां गुणकर्माणि

**गुरुशीतमृदुस्निग्धमधुर स्थिरपिच्छलाः ।**
**श्लेष्मणः प्रशमं यान्ति विपरीतगुणैर्गुणाः ।।** – (च.सू.अ. १)

एवं कफस्य गुणकर्माणि उदीरितमस्ति चरकेन। अस्य कफस्य विभागः स्थानान्तरत्वेन पञ्चविधा विभक्तमस्ति। यथा-

(१.) अवलम्बक, (२) क्लेदक, (३) बोधक, (४) तर्पक, (५) श्लेषकत्व इति। एतेषां स्थानानि यथा-

अवलम्बकः उरःस्थाने भवति। क्लेदकः आमाशये सम्भवति। बोधकः जिह्वामूलः कण्ठस्थः भवति। तर्पकः शिरस्थः भवति। श्लेष्मकः सन्धिस्थः। एवं शरीरस्य प्रपोषणे कफस्य आवश्यकता च। अस्मिन् स्थाने यत्रकुत्रापि कफस्य वृद्धि अथवा क्षयः भवति चेत् शरीरं दूषयति तेन सः रोगग्रस्तो भवति।

**वायोः स्वरूपः गुणाश्च।**
**रूक्षः शीतो लघुः सूक्ष्मः चलोऽथ विशदः खरः।** – (च.सू. १)

**योगवादः परं वायुः संयोगादुभयार्थकृत्।**
**दाहकत्तेजसा युक्तः शीतकृत् सोमसंश्रयात्॥**

**पित्तं पङ्गुः कफं पङ्गुः पङ्गवो मलधातवः।**
**वायुना यत्र नीयन्ते तत्र गच्छन्त्यनामयम्॥**

**वायुरायुर्बलं वायुः वायुर्धाता शरीरिणम्।**
**वायुर्विश्वमिदं सर्वं प्रभुर्वायुश्च कीर्तितः॥**

एवं वातस्य स्वरूपं तत कार्यञ्च बोधयति चरकः तद्यथा स्वभावतः शुष्कत्वं ददाति, लघुः, अन्यत्र सूक्ष्मसंवेदी च स्वभावतः चञ्चलत्वं अस्ति। यत्र दाह, तेजस्, शीताद्याः सन्ति तत्र वायुसंयोगेन तादृश गुणाः वर्धन्ते इत्यस्मात् योगवाद इति लक्षणम् उदीरितम्।

एवमेव तदेव वायुः शरीरे बलं ददाति। शरीरधारणे अपि वायोः सहयोगः आवश्यकम्। धारणशक्तिः तस्य वायुनः स्वभावः। तस्मादेव वायुः शरीरे विद्यमान पर्यन्तं 'जीवः' इति व्यवहारः। अन्य 'निर्जी' इति। तदेव वायुः विश्वस्य प्रभुः। किमर्थं इत्युक्ते तेन विना जीविनां अस्तित्वमेव न भवति। तस्मात् सर्वेषां आधाररूपेण विभुत्वमाप्नोति वायुः। परन्तु अस्य कश्चन विशेष अस्ति। वात, पित्तः, कफाः मलधातवः। तथापि समीचीनतया शरीरे तस्य आवश्यकता
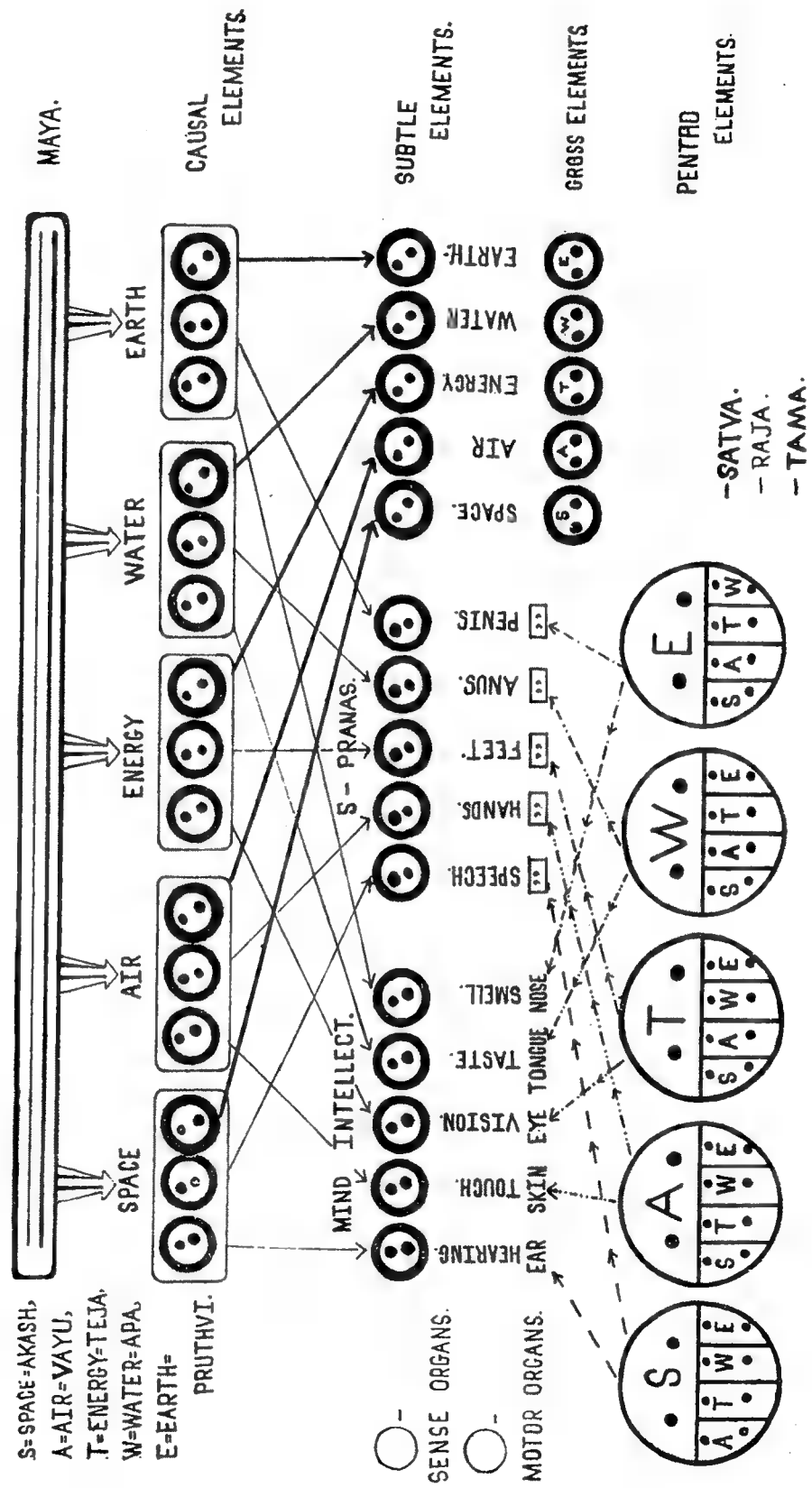
# PANCHAMAHABHOOTAS & TRIDOSHAS.

SATVA—
RAJA —
TAMA —

PENTAD ELEMENTS.

S
A T W E
SPACE

A
S T W E
AIR

T
S A W E
ENERGY

W
S A T E
WATER

E
S A T W
EARTH

BIOLOGICAL
ELEMENTS.

S A
A T W E S T W E
VATA

T W
S A W E S A T E
PITTA

W E
S A T E S A T W
KAPHA
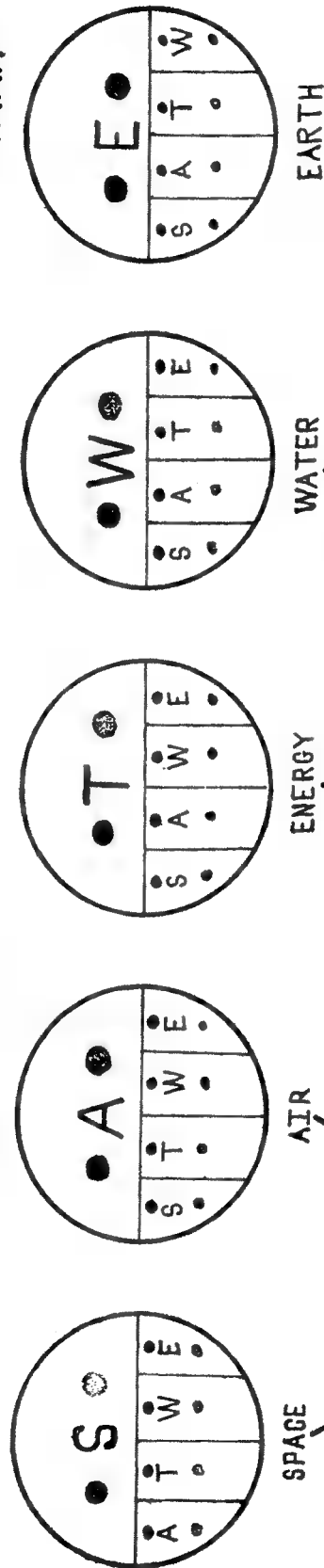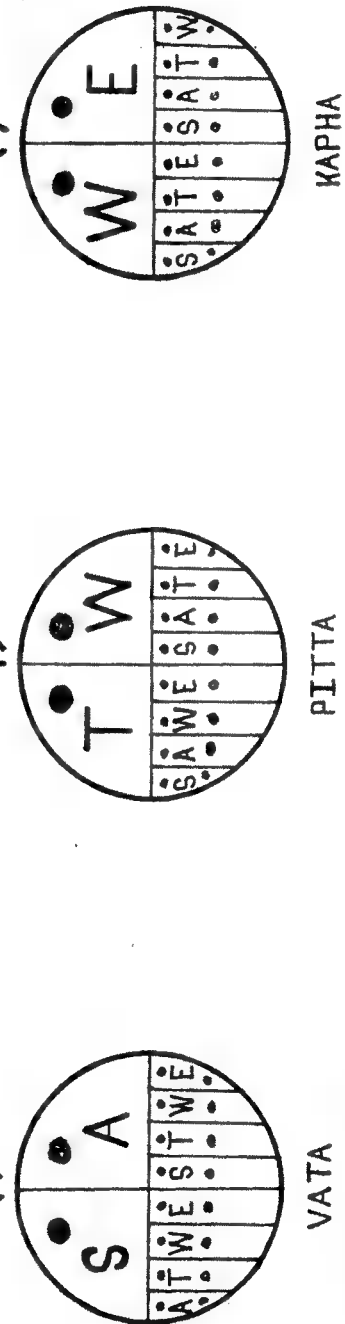
S = SPACE = AKASH, A = AIR = VAYU, T = ENERGY = TEJA, W = WATER = APA, E = EARTH = PRUTHVI.

अस्ति। तैः शरीरे यथोचितं तेषां स्थानेषु भवितव्यम्। अन्यथा शरीरनाशाय हेतवः भवति। तस्मादेव दोषा इति कथ्यन्ते। सूक्ष्मतया त्रिदोषाः तथा तस्य सिद्धान्तस्य परिचयः अत्र दीयते ।

## 3. 13. योगचिकित्सापद्धतिः

अत्र प्रमुखतया पतञ्जलिमहर्षिणा उक्तप्रकारेण तथा तेनाधारेण रोगानां चिकित्साविधानं भवति। चिकित्साकरणार्थं मुख्यतया रोगनिदानम् आवश्यकम्। निदानरूपेण रोगस्य ज्ञानं तथा तस्य चिकित्सा तु अन्यान्य योगाङ्गानां अभ्यासेन भवति। निदानादीनां ग्रहणान् पूर्व पतञ्जलि उक्तरूपेण चिकित्सासहायक विषयाधारि सूत्रान् अत्र क्रोडीक्रियते। तेषां आधारेण अवगमन विषयाः बहवाः वर्तन्ते। अत्र प्रामुख्यांशान् पश्यामः।

पातञ्जलयोगसूत्रे विद्यमान चिकित्सासहायक सूत्राणि-

१. अथ योगानुशासनम्।

२. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।

३. अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा।

४. अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः।

५. अभ्यसवैराग्याभ्यां तन्निरोधः।

६. तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः।

७. स तु दीर्घकाल नैरन्तर्य सत्कारासेवितो दृढभूमिः।

८. दृष्टानुश्रविक विजयवितृष्णस्य वशिकार सञ्ज्ञा वैराग्यम्।

९. व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चिता विक्षेपास्तेऽन्तरायाः ।

१०. दुःख दौर्मनस्याङ्गमेजयत्व श्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः ।

११. मैत्री करुणमुदितोऽपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसारणम् ।

१२. प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य ।

१३. विशोका वा ज्योतिष्मती ।

१४. स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा ।

१५. यथामभिमतध्यानाद्वा ।

१६. तपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः ।

१७. अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः ।

१८. ध्यानहेयास्तद्वृन्तयः ।

१९. योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धितये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः ।

२०. यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ।

२१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यथा ।

२२. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रविधानानि नियमाः ।

२३. अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।

२४. सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्म् ।

२५. अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।

२६. ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।

२७. अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्ता सम्बोधः ।

२८. शौचात् स्वाङ्गजिगुप्सा परैरसंसर्गः ।

२९. सत्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्र्येन्दियजयात्मदर्शनयोग्यत्वानि च ।

३०. सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः ।

३१. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः ।

३२. स्वाध्यायादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।

३३. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

३४. तत्र स्थिरसुखमासनम् ।

३५. प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम् ।

३६. ततोद्वन्द्वानभिधानः ।

३७. तस्मिन् सति श्वासप्रश्वासयोगानिविच्छेदः प्राणायामः ।

३८. ततः क्षीयन्ते प्रकाशवरणम् ।

३९. धारणासु च योग्यता मनसः ।

४०. स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।

४१. ततः परमावश्यतेऽन्द्रियाणाम् ।

४२. चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।

४३. नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।

४४. कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः ।

४५. कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ।

४६. उपर्युक्त सूत्रेषु तथा परिशीलनेन दशमसूत्रपर्यन्तं तावत् शारीरिक मानसिक रोगाणां उत्पत्तिः तथा तेषां लक्षणं सूक्ष्मतया उक्तं भवति । तत् सूत्रात्मकत्वेन विद्यमानान् तथैव भवति । तथैव अनन्तरं उक्त सूत्रेषु तेषां परिहारोपायः, अभ्यासक्रमाः उक्ताः वर्तन्ते । तदपि सूक्ष्मतया सूत्ररूपेण । तस्य अवगमनार्थं तदनन्तरकालीन भाष्यादीन्, वृत्तिं, तथा अन्यशास्त्राणां, ग्रन्थाणां, योगशास्त्रे विद्यमान अन्यान्य ग्रन्थाणां विवेचनं आवश्यकं वर्तते । रोगनिदाने तु भारतीयचिकित्सापद्धतौ विद्यमान चरक, सुश्रुत, वाग्भट, माधवनिधानादीन् स्वीकर्तुं शक्यम् । तैरपि साङ्ख्यतत्वाधारेणैव वृद्धिं गताः तथा तत्र आधारविषयाः समान एव । एवं विद्यमानत्वान् तत्र अतीव उत्तमः सम्बन्धः परिकाल्पितः वर्तते । तैरपि त्रिगुणात्मकानि वर्तन्ते । अन्य पद्धतेः आलम्बनं नास्ति । योगाभ्यासार्थं अभ्यासानां विवरणं अधोनिर्दिष्ट ग्रन्थेषु विवृततया उक्तम् दृश्यते । यथा- हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता, शिवयोगदीपिका, सिद्धसिद्धान्तपद्धतिः, योगरहस्यम्, योगतारावली, योगोपनिषदः -इत्यादयः । तस्मात् एतेषु ग्रन्थेषु उक्त विषयानाधारीकृत्य चिकित्सा पद्धतिः तथा निदानपद्धतिः अनुकरणीयं भवति । तत्र तावत् योगशास्त्ररीत्या पञ्चकोशाः, त्रिगुणाः, इन्द्रियविचाराः विवेचनीयानि वर्तन्ते । तदानीं प्रमुखकारणं रोगस्य तथा तस्य हानं सुलभं भवति ।

●

# चतुर्थः भागः

# 4. उपसंहारः

इतः पूर्वं विवेचनकृतरीत्या विवेचनकृतरीत्या विद्यमानस्य चिकित्सापद्धतेः आवश्यकत्वं अधुनातनकाले अस्ति इति पूर्वमेव निर्दिष्टं तथा सूचितम्। परन्तु अन्य प्रयोजना अन्यत्र अलभ्यमाना अत्रैव विद्यमानाः ये ये वर्तन्ते इति अत्र सूचितम्। सर्वेऽपि चिकित्सापद्धतयः रोगस्य स्थितिं दृष्ट्वा शामकरूपेण विद्यमान चिकित्सा भवन्ति। औषधिप्रयोगेण शरीरे विद्यमान अनावश्य धातु या अंशान् दूरीकर्तुं शक्यते तथा आवश्यकान् पूरणं शक्यते। नष्ट स्वसामर्थ्यम् इन्द्रियेषु या मनसि पूरणं न शक्यम्। एतदेव अस्य प्रमुख विशेषः। तथा हानिः न्यूनम्। किमर्थं इत्युक्तं यावत् शक्यं तावदेव अभ्यासः। यावदभ्यासः करोति तावत् इन्द्रियाणां, मनसः, बुद्धेः च शुद्धिर्भवति। तावत् ज्ञानं प्राप्नोति। अन्यत्र कुत्रापि ईदृशीं व्यवस्था नास्ति। तत् केवलं द्रव्याणामुपरि आधारभूतं भवति। परन्तु जीवरक्षणविषयकाः तत्र वर्तन्ते इत्येव विशेषः अन्यत्र योगेन रोगनिरोधः, अभिवृद्धिः, रोगशामक इति त्रिधा। अपि प्रयोजनः वर्तते। अन्यत्र एकं वर्तते चेत् अन्यत् नास्ति। तदनन्तरं अधुनातनकाले चिन्त्यते चेत् अल्पधनव्ययेन अधिकलाभांश अत्र लभ्यते। अत्र केवलं चिकित्सा न जीवनविषयक विद्याभ्यासः भवति। आवश्यकविषयान् सर्वानपि क्रमबद्धरीत्या कृतत्वात् नूतनं जीवनपद्धतिम् अनुसारामः। यदा रोगः दूरी भवेत् तदानीं सः बहून् विषयान् ज्ञातुं प्रभवति तथा स्वतन्त्रः भवति शरीरे बुद्धौ च। अन्यत्र उभयत्रापि परतन्त्रः एव परन्तु साङ्क्रामिक रोगेषु चिकित्सा असाध्यं योगपद्धत्या इत्येव वक्तव्यं भवति। तत्केवलं औषधिना शक्यम्। अन्यैः शारीरिक मानसिक रोगाः वर्तन्ते ८५% तेषां सर्वेषामपि प्राथमिक या द्वितीयस्तरे योगचिकित्साद्वारेण दूरीकर्तुं शक्यते। तदनन्तरं तु प्रथमतया जीवरक्षणम् अनन्तरं तु चिकित्सा भवति। तस्मात् सर्वेभ्योऽपि आरोग्यस्तरे एव योगाभ्यासं कृत्वा आरोग्यवृद्धिः

उत्तमपद्धतिः भवति । तस्मादुत्तमरीत्या अभ्यासव्यवस्था, जीवनपद्धतिः विहितं चेत् सुलभरूपेण योगचिकित्सायाः फलं सर्वैः अनुभोक्तुं शक्यं इत्यर्थ नास्ति सन्देहः । एतदर्थमेव अस्माकं पूर्वजैः भूरिकृत प्रयत्नस्य सार्थक्यं भवति इत्येव मम आशा ।

**अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया ।**
**चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः ॥**

# परिशिष्टम्

परिशिष्टः भाग १

## आसनानाम् अभ्यासक्रमाः

### 1. Swastikaasana

Step I : Sit on the floor with stretched leg and keep the palms on the ground. Breathe for 5 times.

II : While exhaling fold the left leg and keep it in the root of the right thigh. Inhale there itself.

III : While exhaling fold the right leg and keep over the left leg.

IV : Sit erect with cinmudra (Forefinger tip and tip of the thumb)

V : Breathe for 10 times.

VI : Unfold the right leg while inhaling. Again inhaling unfold the left leg.

### 2. Vajrasana :

Step I : While exhaling sit on your heels with your hands on your thigh. Breathe for 10 times. Inhaling stretch the legs.

### 3. Vajrasana (Urdhwamukha) :

Step I : Sit in Vajrasana.

II : Inhaling reise both hands and clasp it above the head. Keep your hands and back staight and erect. Gazing middle of the palms, breathe for 5 times.

III : Exhaling put down the hands.

IV : Inhaling stretch the legs.

### 4. Simhasana :

Step I : Sit in Vajrasana.

II : Place the palms on the ground, gaze the middle of the eye brows. Open your mouth, stretch your tongue outside. Breathe for 10 times.

III : Come to the position of Vajrasana.

IV : Inhaling stretch your legs.

**5. Tadasana I:**

Step I : Stand erect (toes touching each other). Breathe for 5 times.

II : While inhaling raise the hands and while exhaling bring down the hands. Repeat 5 times.

**6. Tadasana II :**

Step I : While inhaling raise the hands and exhaling bend forward.

II : Come up while inhaling and exhaling come to step I. Repeat 5 times.

**7. Tadasana (Urdhwa) :**

Step I : Stand erect.

II : Inhaling keep right leg in a foot distance and raise the hands upward. Join the palms and gazing middle of the palms, breathe for 5 times.

III : Exhaling put down the hands and join the right leg with left.

**8. Trikonasana :**

Step I : Stand erect. Inhaling spread the right leg and spread the hands.

II : While exhaling bend to the right side and hold your toe, breathe for 5 times. Gaze the tip of left hand.

III : Inhaling come up to step I.

IV : Exhaling bend to the left side and hold your toe breathe for 5 times gaze the tip of right hand.

V : Inhaling come to the step I.

VI : Exhaling close the right leg with left leg and stand errectly.

**9. Trikonasana (Parivartha) :**

Step I : Stand erect.

II : Inhaling keep the right leg to right in one leg distance.

III : Exhaling bend forward and hold the left toe with right hand and keep the left hand as perpendicular to the ground. Gazing tip of the left hand, breathe for 5 times.

VI : Inhaling come up.

V : Repeat the same procedure in other side also.

VI : Exhaling close the right leg and hands.

**10. Parsvakonasana :**

Step I : Stand erect.

II : Spread the right leg while inhaling.

III : While exhaling bend the right knee and keep the right palm on the ground. Stretch the left hand. Breathe for 5 times.

IV : Come upto step II while inhaling.

Repeat the same procedure in the left side also.

**11. Veerabhadrasana :**

Step I : Stand erect.

II : While inhaling spread the right leg and hands.

III : While exhaling bend the right knee up to 90 and gaze the tip of right hand. Breathe for 5 times.

IV : While inhaling come to the position II.

Repeat the same practices in the left side also.

**12. Suptavajrasana :**

Step I : Sit in Vajrasana.

II : While exhaling hold yor toes and inhale there itself.

III : Exhaling bend forward and touch the ground by your head. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling come up and stay in Vajrasana position.

**13. Parsvottanasana :**

Step I : Stand erect.

II : Inhaling spread the legs and take the hands on the back and keep as one does namaskara.

III : Exhaling bend to the right side (after turning right). Inhalr = =, exhale there itself for 5 times.

IV : Inhaling come upto position I.

V : Repeat all the practices in the left also.

VI : Exhaling come to position I.

**14. Prasaritapadottanasana :**

Step I : Stand erect.

II : Inhaling spread the right leg.

III : While exhaling bend forward and keep the hand and hands on the ground. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling come upto step II.

V : Exhaling come to step I.

**15. Parighasana :**

Step I. Kneel on the floor.

II : Inhaling stretch the right leg to right side and stretch the hands parallel to the ground.

III : Exhaling turn the right foot to right, bend the body from trunk to right, place the right palm above right foot and join the left palm with right palm without bending the right leg. See straight forward. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling keep the body straight, stretching the both hands.

V : Exhaling close the right leg with left and bring down the hands.

VI : Repeat the same practices in other side also.

**16. Paschimottanasana :**

Step I : Stretch the legs and sit on the ground.

II : Exhaling bend forward and hold the toes with repective hands. Place the forehead on the knee joint. Breathe for 5 times.

III : While inhaling come to the position I.

**17. Purvottanasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Inhaling palce the palms straight back side on the ground about a foot distance and exhale.

III : Inhaling lift the body up, breathe for 5 times.

IV : Exhaling come down and inhale there itself.

V : Exhale and come to position I.

**18. Janushirshasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Exhaling fold the left leg and keep the heel in such a way that it should touch the perineum. Inhale there itself.

III : While exhaling hold the right leg, breathe for 5 times.

IV : Inhaling release the hands & exhale there itself.

V : Inhaling stretch the left leg.

Repeat all the procedures in other side also.

**19. Navasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched leg.

II : Inhaling lift both the legs, breathe for 5 times.

III : Exhaling come down.

**20. Mahamudra :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : While exhaling fold the left leg and place it near the right leg joint. Left heel should press the perineum. Inhale there itself.

III : While exhaling bend forward and hold the right toe with both hands.

IV : After full exhalation contract the abdomen and do Jaladhara Bandha. Hold the breathe as much as possible.

V : Inhaling release the Jaladhara Bandha and hands. Repeat 5 times.

VI : Inhaling stretch the left leg.

Repeat the same procedure in other side also.

**21. Bharadhwajasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : While inhaling fold the left leg outwardly.

III : Exhaling keep the right leg over the left thigh. Inhale there itself.

IV : Exhaling hold the right toe by the right hand through the back. Keep left palm below the right knee. Breathe for 5 times looking back.

V : Inhaling release the hands & exhale there itself.

VI : Inhaling stretch the right leg.

VII : Exhaling stretch the left leg.

Repeat all the procedures in other side also.

**22. Ardhamatseyendrasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Exhaling keep the left feet below the right thigh.

III : Inhaling fold the right leg vertically.

IV : Exhaling keep the right feet on the other side of the left knee and inhale there itself.

V : Exhaling hold the right toe by the left hand in such a way that the fight knee should come beyond the left hand. Breathe for 5 times.

VI : Inhaling release the hands and exhale their itself.

VII : Inhaling keep the right leg as in step III.

VIII : Exhaling unfold the right leg.

IX : Inhaling unfold the left leg.

Repeat all the procedures in other side also.

**23. Vakrasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Inhaling folf the right leg vertically.

III : Exhaling turn to right side and place the right hand on back. Stretch the left hand to the right side of the right knee. See back side. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling release the hands.

V : Exhaling stretch the right leg.

Repeat the same procedure in left side also.

**24. Marichasana I :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : While inhaling fold the left leg vertically (upward) to the ground.

III : While exhaling circumference the left knee by your left hand. Bend forward and place the forehead on the right knee. Breathe for 5 times (close the eyes).

IV : While inhaling come up and release the hands.

V : While exhaling spread the left leg forward.

Repeat all the procedures in other side also.

**25. Marichasana II :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Exhaling fold the right leg and place it over the left thigh.

III : Inhaling fold the left leg vertically.

IV : Exhaling circumference the left knee from the left hand and hold

the left wrist by the right hand, bend forward and place the forehead on the ground, breathe for 5 times (close the eyes).

V : Inhaling come up, release the hands.

VI : Exhaling stretch the left leg.

VII : Inhaling stretch the right leg.

Repeat the same procedure in the right side also.

**26. Marichasana III**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Inhaling fold the right leg vertically to the ground.

III : Exhaling circumference the right knee with left hand and hold the left wrist by tight hand. Inhale deeply.

IV : Exhaling turn to right side and see back side. Take 5 breathings.

V : Inhaling release the hands.

VI : Exhaling stretch the right leg.

Repeat the same procedure in the left also.

**27. Pavanamuktasana :**

Step I : Lie down flatly on your back.

II : While exhaling fold your right leg and hold it tightly (as taught).

III : Inhaling raise up your head and try to touch your right knee. Breathe for 5 times.

IV : Exhaling put down the head.

V : Inhaling unfold right leg.

Repeat the same procedure with the left leg and both the legs.

**28. Bhujangasana :**

Step I : Lie down on your stomach and keep your palms below your shoulders.

II : Inhaling lift your head, chest and stomach by stretching the back. Breathe for 10 times.

III : Exhaling keep it down.

**29. Shalabhasana :**

Step I : Lie on the front.

II : Fold the legs while exhaling, with inhalation hold your ankles by respective hands and raise your head, breathe for 5 times.

III : Exhaling release your hands and keep the hands on the ground.

IV : Inhaling stretch the legs.

**30. Paryankasana :**

Step I : Lie down on the left side with the head supported by the left hand, breathe for 5 times.

II : Inhaling lift the right leg up and hold your toe, breathe for 5 times.

III : Exhaling and come to step I.

Repeat the same in the left side also.

**31. Siddhasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : While exhaling fold the left leg and place the left leg near the perineum. Inhale there itself.

III : While exhaling fold the right leg and place the right ankle on the left ankle. Sit errectly in cin-mudra closing the eyes. Breathe for 5 times.

IV : While inhaling stretch the right leg. Exhale there itself.

V : While inhaling stretch the left leg.

**32. Kurmasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : While inhaling spread the legs side ways.

III : While exhaling bend the body forward and place the forehead on the ground. Insert the hands below the legs ana= = = keep them as instretched, close the eyes. Breathe for 5 times.

IV : While inhaling come up.

V : Exhaling close the legs.

**33. Ustrasana :**

Step I : Stand on your knees. (Knees should be kept at a distance of one foot).

II : While exhaling bend to back side. Rest the palms on the heels. Look back. Breathe for 5 times.

III : Inhaling come up.

**34. Vrkshasana :**

Step I : Stand erect.

II : Inhaling fold the left leg and keep in the root of the right thigh. Exhale there itself.

III : Inhaling raise the hands and clasp above head. Seeing upward, breathe for 5 times.

IV : Exhaling put down the hands. Inhale there itself.

V : Exhaling put down the left leg.

Repeat the same procedure in other side also.

**35. Shirshasana :**

Step I : Keep your hands on the ground as taught. Adjust the head to it.

II : While inhaling slowly raise your feet and leg without bendint the knees. Breathe as directed.

III : While exhaling slowly come down and bending from the waist alone.

(Not to rest fully on the head. Leave the body weight on your shoulders, close the eyes.)

**36. Marjalasana I :**

Step I : Kneel down on the floor with the knees slightly apart.

II : While exhaling bend forward and place the palms on the ground. (Stand on your palms and knees with stretched legs.)

III : Inhaling raise the head and see upward, breathe for 5 times.

IV : Exhaling put down the head and come to the position I.

**37. Marjalasana II :**

Step I : Kneel down on the floor with the knees slightly apart.

II : While exhaling bend forward and place the palms on the ground. Inhale there itself. (Stand on your palms and knees with stretched legs).

III : While exhaling see the navel and breathe for 5 times.

**38. Dhanurasana (Parsvasahita) :**

Step I : Perform Dhanurasana.

II : Exhaling turn to right side and breathe for 5 times.

III : Inhaling come to Dhanurasana.

IV : Exhaling turn to left side and breathe for 5 times.

V : Inhaling come to Dhanurasana.

VI : Exhaling put down the head.

VII : Inhaling stretch the legs.

**39. Upavistakonasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Inhaling stretch the right leg to right side and left leg to left side.

III : Exhaling bend forward and hold toes with respective hands, place the forehead on the ground, breathe for 5 times.

IV : Inhaling come up, release the hands.

V : Exhaling close the legs.

**40. Baddhakonasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Exhaling close the soles and fold the legs together to inward. Heels should press the perineum. Sit errectly and breathe for 5 times.

III : While exhaling bend forward and place the forehead on the ground. Close your eyes. Simultaneously press the thigh with elbows. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling come up.

V : Inhaling stretch the legs.

**41. Viparithakarani :**

Step I : Lie on your back and breathe for 5 times.

II : While inhaling raise your legs and keep legs vertically up. Back should be supported by the hands, breathe for 25 times.

III : Exhaling come up to position I.

IV : Relax there itself.

**42. Sarvangasana :**

Step I : Lie on your back and breathe for 5 times.

II : While inhaling raise your legs and body up to the shoulder joing (body should be perpendicular to the ground. Chin should touch the root of the throat, close the eyes). Breathe for 5 times.

III : While exhaling come to step I.

**43. Halasana :**

Step I : Lie on your back.

II : While inhaling raise your legs and keep the body vertical to the ground.

III : While exhaling bend the body towards front and place the foot on the ground. Clasp the hands from the back side. Breathe for 5 times (Close the eyes).

IV : While inhaling raise the leg upward.

V : While exhaling come to step I.

**44. Uttanapadasana :**

Step I : Lie down flatly on your back.

II : Inhaling place the forehead on the ground and lift both legs together and keep it in 45 angle. Simultaneously raise and stretch your hands keeping parallel to the legs. Breathe for 5 times.

III : Exhaling come down to the position I.

**45. Padottana :**

Step I : Lie on your back. Spread the hands.

II : Lift the right leg while inhaling and breathe for 5 times.

III : Exhaling being down.

IV : Repeat the same on the left leg and on both the legs.

**46. Tankasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Inhaling spread the legs side ways.

III : Exhaling bend the body forward and place the forehead on the ground. Insert the hands below the legs and hold from the front side above the ankles, close the eyes. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling release the hands and come up.

V : Exhaling come to position I.

**47. Ardhabaddhapadmapaschimottanasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched leg.

II : While exhaling fold the left leg and keep over the right thigh. Hold the left toe by the left hand though the back. Inhale there itself.

III : While exhaling hold the right toe by your right hand. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling remove your hands and exhale there itself.

V : Inhaling spread the left leg.

Repeat all the procedures in other side also.

**48. Tiryanmukhaikapadapaschimottanasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : While inhaling fold the left leg outwardly.

III : Exhaling hold the right leg by both the hands. Breathe for 5 times there itself.

IV : Inhaling release the hands and exhaling spread the left leg.

Repeat all the procedures in other side also.

**49. Udarakarshana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Inhaling fold the right leg vertically.

III : Exhaling turn to right. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling turn to front side.

V : Exhaling stretch the right leg.

Repeat all the procedures in other side also.

**50. Gomukhasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : Exhaling fold the left leg and place it below the right hip. Inhale there itself.

III : Exhaling fold the right leg and place it over the left thigh.

IV : While exhaling raise the right arem over the head and left arm from back. Clasp the palme. Breathe for 5 times.

V : Inhaling release the hands. Exhale there itself.

VI : Inhaling release the right leg and exhale there itself. Inhaling release the left leg also.

VII : Repeat the same procedure in other side also.

**51. Setubandhasana :**

Step I : Lie down on the floor.

II : Inhaling bend the legs straightly at knee joint and join the heels. Exhale there itself.

III : Keep the palms on the ground on the either side of the head. Inhaling lift the body and keep the head on the ground by bending the neck. Exhale there itself.

IV : Inhaling lift the eaist up and fold the hands and keep it on the chest. Breathe for 5 times.

V : Release the hands and keep it on the ground on the either side of the head. Exhaling bring down the head. Inhale there itself.

VI : Exhaling keep the head in normal. Inhale there itself and exhaling stretch the legs.

**52. Suptaikapadangustasana :**

Step I : Lie on your back.

II : While inhaling raise the right leg and hold the right toe by the right hand without bending the leg. Keep your left palm on the left thigh. Exhale there itself.

III : While exhaling raise the head upward the place the forehead on the knees. Breathe for 5 times (close the eyes).

IV : Inhaling put down the head.

V : Exhaling release the hands and put down the left leg.

Repeat all the procedures in the left side also.

**53. Urdhwamukha Swanasana :**

Step I : Lie on your stomach.

II : Place the palms below the shoulder joint.

III : Inhaling lift the head, chest, stomach, waist and knee joint (like Bhujangasana). Stand on your toes and palms only. Seeing upward, breathe for 5 times.

**54. Adhomukha Swanasana :**

Step I : Lie on your stomach.

II : Exhaling lift the trunk, bend the body to forward and see the navel region, breathe for 5 times.

III : Exhaling lie on the ground.

**55. Jatharaparivartha :**

Step I : Lie on the back with spread hands and breathe for 5 times.

II : Lift the legs with inhalation.

III : See the left palm and bring the legs near the right hand while exhaling, breathe for 5 times.

IV : Inhale and lift.

V : Repeat the same in the left side also.

**56. Katiparivartha :**

Step I : Stand erect.

II : Inhaling place your right leg to the right side about one foot distance and place the palms on the waist.

III : Exhaling turn to right side and breathe for 5 times.

IV : Inhaling turn to front side.

Repeat the same procedure in left side also.

V : Exhaling come to the position I.

**57. Ardhachandrasana :**

Step I : Stand erect. Inhaling raise the left hand.

II : Exhaling bend to right without bending the knees. Breathe for 5 times.

III : Inhaling come to the position I.

IV : Exhaling put down the left hand.

Repeat the same procedure in other side also.

**58. Padmasana :**

Step I : Sit on the floor with stretched legs.

II : While exhaling fold the right leg and place it over the left thigh. Inhale there itself.

III : While exhaling fold the left leg and place it over the right thigh. Sit errectly with cin-mudra for 3 minutes.

IV : While inhaling stretch the left leg. Exhale there itself.

V : While exhaling stritch the right leg.

**59. Baddhapadmasana :**

Step I : While exhaling cross over the hands on the back and hold the toes by respective hands. Breathe for 5 times.

II : While inhaling release the hands and come to Padmasana.

**60. Shavasana :**

Step I : Remove your hands. Keep it on the ground. Now just lie down there itself for 5 minutes.

**61. Shavasana I :**

Step I : Keeping the right hand on abdomen and left hand on the chest. Observe your breathe for 5 minutes.

**62. Shavasana II :**

Step I : Remove your hands. Keep it on the ground (palms upward). Start relaxing from the toe onwards part by part upto the head. Now just lie down there itself for 5 minutes.

**63. Padangustasana :**

Step I : Stand errect.

II : Inhaling place the right leg to right side in a foot distance.

III : Exhaling bend forward and hold the toes with respective hands. Place the forehead on middle of the knees. Breathe for 5 times.

IV : Inhaling release the hands and stand straightly.

V : Exhaling close the legs.

**64. Udyanabandha :**

Step I : Stand erect.

II : Inhaling keep the right leg to right side in a foot distance.

III : Exhaling slightly bend the knees, place the palms on the knee joints. Inhale there itself. Exhale fully, hold the breathe do chin lock, contract the stomach, stand in this position 5 seconds.

IV : Inhaling lift the head, make the stomach free. Repeat 5 times.

परिशिष्ट भाग २

## क्रियाणामभ्यासः

**1. Jalaneti**

Fill the pot with saline water. Pour the water through the sport of pot to one nostril which comes through the other nostril. Head is slightly tilted to the opposite side. Mouth should be open for respiration which helps to flow water through another nostril. Repeat the practice in other nostril also.

**2. Sutraneti**

**Preparation:** A soft, cleaned 9 inches long thread should be prepared for the practice.

**Method** Insert the one end of the thread through the one nostril. It should be passed through the mouth. Holding the ends by both the hands pull in and out carefully and then take it out from the mouth. Practice in another nostril also.

**3. Dandadhouti**

**Preparation:** Take properly cleaned, smoothened plantain stalk or turmeric stalk. Being in empty stomach.

Method: Inserting the stalk into the gullet, moving up and down carefully is called dandadhouti. Then it should be taken out.

**4. Vastradhouti**

**Preparation:** Be in empty stomach. A soft cloth should be closed which is four fingers width and 15 spans length. Cloth should be well boiled and cleaned in the water.

**Method:** Swallowing one end of the cloth little by little till it remains half a feet outside and taking carefully out is called vastradhouti.

**5. Agnisara** Stand in Utkatasana. While inhaling expand the belly and while

exhaling contract the belly, so that it should the back. Repeating this process is called Agnisara.

**6. Nouli** Stand in Utkatasana after a complete exhalation hold the breath with a contraction and raising the abdominal muscles in the middle of the stomach. Staying in this position becomes madhyamanouli.

**7. Kapalabhati** Sit in Padmasana. Forcibly inhaling and exhaling with rapidly like a bellows of a blacksmith is called kapalabhati.

**8. Trataka** Keep a ghee lamp at eye level with thereon four feet away from the eyes. Sitting erectly gazing the flame steadily without winking the eyes till tears come out.

* * *

परिशिष्टः भाग ३

## प्राणायामाः

**1. Ujjayee Pranayama :**

Step I : Sit in Swasthikasana.
II : Inhale and exhale slowly observing the breathe 21 times.

**2. Anuloma-viloma Pranayama :**

Step I : Sit in Swasthikasana.
II : Breathe alternatively starting with left 21 cycles.

**3. Suryabheda Pranayama :**

Step I : Sit in Swasthikasana.
II : Hold the nose as explained and keep your left hand in cin-mudra.
III : Inhale and exhale through the right nostril only 21 times.

**4. Chandrabheda Pranayama :**

Step I : Sit in Swasthikasana.

II : Hold the nose as explained and keep your left hand in cin-mudra.

III : Inhale and exhale through the left nostril only 21 times.

**5. Bhastrika Pranayama :**

Step I : Sit in Swasthikasana. Place your palms on your knees.

II : Inhale through both nostrils. Exhale through both nostrils fastly giving jerks.

**6. Bhramari Pranayama :**

Step I : Sit in Swasthikasana.

II : Inhale deeply, exhaling produce the sound 'M' and hear it. Repeat 21 times.

**7. Bahyakumbhaka :**

Step I : Sit in Swasthikasana. Exhale completely. Hold the breathe. Close the nose tightly for 5 seconds.

II : Open the nostril and inhale. Repeat....times.

**8. Sitkari Pranayama :**

Step I : Sit in Swasthikasana.

II : Open the lips pressing the tip of the tongue to teeth. Inhale through the teeth making hissing sound.

III : Close your mouth and exhale through the nose. Repeat 12 times.

**9. Sheetali Pranayama :**

Step I : Sit in Swasthikasana.

II : Inhale through the mouth folding the tongue and close the mouth.

III : Exhale through the nostrils. Repeat 10 times.

# आधारग्रन्थसूची
## (Bibliography)


1. **Adya Ananthacharya** *Charaka Samhita* Aryavaidyaka Granthamale, Bijapur, 1950
2. **Swami Adidevananda** *Patanjala Yogadarshana* Ramakrishna Ashrama, Mysore. 1970
3. **Swami Vivekananda** *Rajayoga* Advaitashram, 5, Delhi Entally Road, Calcutta, 1972
4. **Swami Veereshwaranand** *Srimad Bhagavadgita* Sri Ramakrishna Mutt, 11, Ramakrishna Mutt Road, Madras, 1982
5. **Adya Ananthacharya** *Astanga Hrdya* Aryavaidyakagranthamale, Bijapur, 1950
6. **Swami Satyananda Saraswathi** *Asana, Pranayama, Bandha & Mudra* Bihar school of yoga, Munger, 1998
7. **M. L. Bhattacharya** *Sushruta Samhita* V.V. Mohalla, Mysore, 1957
8. **M. P. Pandit** *Kundalini Yoga* Ganesh & Co., Madras, 1995
9. **Sir John Woodroffe** *Serpent power* Ganesh & Co., Madras, 1995
10. **Sir John Woodroffe** *Mantra & Tantra* Ganesh & Co., Madras, 2000
11. **Niranjanananda Saraswati** *Hathayoga Pradipika* Bihar School of Yoga, Bihar
12. **Kuvalayananda** *Hathapradipika* Kaivalyadhama, Lonavala
13. **Kuvalayananda** *Gheranda Samhita* Kaivalyadhama, Conavala
14. **Kuvalayananda** *Brhadyajnavalkya Smriti* Kaivalyadhama, Conavala
15. **Kadava Shambhu Sharma** *Goraksha Paddhati* Yogeshwar Mutt, Mangalore, Kadri
16. **Kadava Shambhu Sharma** *Siddhasiddhanta Paddhati* Yogeshwar Mutt, Mangalore, Kadri
17. **Kadava Shambhu Sharma** *Amaraugha Shasanam* Yogeshwar Mutt, Mangalore, Kadri
18. **Ravanakrita** *Nadidarpanam* Choukambha Sanskrit Series, Varanasi
19. **Isvarakrishna** *Sankhyakarika* Choukambha Sanskrit Series, Varanasi
20. *Sankhyatatvakaumudi* Choukambha Sanskrit Series, Varanasi.
21. **Subrahmanya Shastri** *Yogopanishat* Adyar Library, Madras

22. **Prasaranga (Collection of Papeers)** *Ycrgayatri Bharatiya* Prasaranga, Mysore University

23. **Sadashiva Brahmendra Saraswati** *Shivayogadipika* Choukamba Sanskrit Series, Varanasi

24. **Collection of Upanishads** *Dashopanishadah* Choukamba Sanskrit Series, Varanasi

25. **Kuvalayananda** *Asana* Kaivalyadhama, Lonavala, 1972

26. **Kuvalayananda** *Pranayama* Kaivalyadhama, Lonavala, 1972

27. **Dr. R. K. Garde** *Yoga therapy* D.B. Tafaporevala & Sons company Ltd., 1984

28. **Kuvalayananda** *Yoga therapatics* Kaivalyadhama, Lonavala

29. **Satyananda Saraswati** *Yoga Nidra* Bihar School of Yoga, Mungar

30. **S.N. Dasgupta** *Indian Philosophy* Motilal Banarasidas, New Delhi

31. **Dr. Ram Mohan Mahopadhyaya** *Saddarsana Samuccaya* Choukamba Sanskrit Series, Varanasi

32. **A.N. Chaturvedi** *Shatchakra Nirupanam* Choukamba Sanskrit Series, Varanasi

33. **Prof. R.K. Sharma** *Adhyatma Ramayana* Kendriya Sanskrit Vidyapeetha, New Delhi

34. **Goyenka** *Bhagavadgita* Gita Press Gorakhpur

35. **Adidevananda** *Kathopanishat* Ramakrishnashrama, Mysore

36. **Adidevananda** *Rgveda Samhita* Ramakrishnashrama, Mysore

37. **Adidevananda** *Yajurveda Samhita* Ramakrishnashrama, Mysore

38. **Dr. V.L. Tripathi** *Bodhayana Grhyasutra* Choukamba Sanskrit Series, Varanasi

39. **B.K. S. Iyangar** *Light on Yoga* Vyasa, Bangalore

40. **B.K.S. Iyangar** *Light on Pranayama*

41. **Prof. T. Krishnamacharya** *Yogasanagalu* Manipal Power Press, Manipal

42. **Pattabhi Joisa** *Yogamala* Vanivilas Prss, Mysore

43. **Swami Atmananda** *Four Yogas* Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay

44. **V.B. Athavale** *Basic Principles of Ayurveda* Choukamba Sanskrit Series, Varanasi

45. **M.M. Gore** *Anatomy and Physiology of Yogic practices* Kaivalyadhama Lonavala

46. **Yogendra** *Yoga Essays* Yoga Institute, Santacruz, Bombay

47. **Yogendra** *Stress and its management by Yoga* Motilal Banarasidas, New Delhi

48. **S.K. Ramachandra Rao** *Yoga Kosha* Kalpataru Research Institute, Bangalore

49. **Adidevananda** *Taittiriya Upanishat* Ramakrishnashrama, Mysore

50. **Swami Satyananda Saraswati** *A systematic course in the ancient tantric techniques of Yoga and Kriya* Bihar School of yoga, Munger

51. **Dr. Kapiladeva Dwivedi Acharya** *Samskrita Nibandha Shatakam* Vishwavidyalaya Prakashana, Varanasi

52. **Amrta Bharati** *Adi urta prana* CCRYN, New Delhi

53. **N. Kumar Kaul** *Aspects of yoga* B. R. Publishing corporation, New Delhi

54. **Jaimini** *The science of Yoga* Theosophical Publishing House, Adyar, Madras

55. **Swami Satyananda** *Four chapters on Freedom* Bihar School of Yoga, Muger

56. **Swami Jnanananda** *Philosophy of Yoga* Sri Ramakrishnashrama Publications

57. **Chandradhara Sharma** *A critical survey of Indian philosophy* Motilal Banarasidas

58. **Swami Brahmananda** *Hathayoga pradipika* Theosophical Publishing House, Adyar, Madras

59. **Dr. Nagendra** *Pranayama* SVYASA, Bangalore

60. **Dr. Nagendra** *Promotion of Positive Health* SVYASA, Bangalore

61. **Sri Swami Gitananda** *Bandhas & Mudras* Anandashram, Pondichery

62. **Swami Ranganathananda** *Message of Upanishats* Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay

63. **Swami Jnanananda** *Philosophy of Yoga* Sri Ramakrishnashram, Calcutta

64. **Krishna Chaitanya** *Gita for modern man* Clarion Books, New Delhi

65. **Swami Ranganathananda** *Pancadasi* Ramakrishna Ashram, Calcutta

66. *Dashopanishath* Motilal Banarasidas

67. **Swami Krishnananda** *A short history of religions and philosophic thought in India* The divine life society, Shivanandanagar, Rishikesh, 1973

68. **Krishna Chaitanya** *Gitra for Modern Man* Clarion Books, New Delhi

69. **Dr. H. R. Nagendra** *New Horizons in Modern Medicine*

70. **Kuvalayananda and Vinekar** *Yoga Essays* Kaivalyadhama, Lonavala, Pune

71. **Henry Lindlahr** *Practice of Nature cure*

72. **S.J. Singh** *History & Philosophy of nature cure*

73. **M.K. Gandhi** *My Nature Cure*

74. **Hilgard, E.R. Atkinson, R.L.R. Harcourt, Brace Jovanvich and Atkinson** *Introduction to Psychology* New York, 1979

75. **Maharshi Mahesh Yogi** *Transcendental Meditation*

76. **Swami Niranjanananda** *Tantra Darshan* Sri Panchadarshanam Paramahamsa, Alak Bara, Deoghar

77. **Swami Niranjanananda** *Yoga Darshan* Sri Panchadarshanam Paramahamsa, Alak Bara, Deoghar

78. **Swami Satyananda Saraswati** *Four chapters on Freedom (commentary o the yoga sutras of Patanjali)* Bihar School of Yoga, Munger

79. **Swami Shivananda Saraswati** *Mind. its mysteries & control* Divine Life Society, Rishikesh, 1938

80. **Ammon, Polich and Stambul** *Alcoholosm and Treatment* John Wiley & Sons, New Delhi, 1939

81. **Ammon, Plich and stambul** *Concern for status and educated Women* Classical Publishing, New Delhi

82. **Crisp Tony** *Yoga and Child Birth* Mcgraw Hill, New Delhi

83. **Hurlock, E.B.** *Child Growth and Development* Mcgraw Hill, New Delhi

84. **Swami Satyananda Saraswati** *Nawa Jogini Tantra* Bihar School of Yoga, Munger

85. **Garrett H.E., Vakis** *Statistics of Psychology and Education*

86. **Swami Muktibodhananda Saraswati** *Swara Yoga* Bihar School of Yoga, Munger

87. **Swami Niranjanananda Saraswati** Bihar School of Yoga, Munger

88. **Swami Satyananda Saraswati** *Tattva Shuddhi* Bihar School of Yoga, Munger

89. **Banerjee S.C.** *A Brief History of Tantra Literature* Nyaya Prakasha, Calcutta, 1988

90. **Basu M.** *Fundamentals of the Philosophy of Tantras* Mira Basu, Calcutta, 1980

91. **Bhattacharya N.N.** *A History of the Tantric Religion* Manohar Publications, 1987

92. **Chatterjee S.C.** *An Introduction to Indian Philosophy* University of Calcutta, 1984

93. **Eliade M.** *Yoga : Immortality and Freedom* Princton University Press, 1973

94. **Hiriyanna M.** *Outlines of Indian Philosophy* Blakie and Son, Bombay, 1983

95. **Larson G.J.** *Classical Samkhya*

96. **Manikkar T.G.** *Samkhya karika of Ishwarkrishna with Gaudapada Bhashya* Oriental Book Agency, Pune, 1972

97. **Mishra K.** *The Kashmir Shaivism: The Central Philosophy of Tantrism* Oregon, Rudra Press, 1993

98. **Pandit M.P.** *Lights on the Tantra* Ganesh & Co., Madras, 1977

99. **Pandit M.P.** *Basis of Tantra Sadhana* Dipti Publication, Pondicherry

100. **Sinha, N.** *Samkhya Philosophy* Munshiram Manoharlal, Delhi

101. **Swami Chandra** *Hindu Dharma* Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay

102. **Shekharananda Saraswati, Swami Niranjanananda Saraswati** *Tantra Darshan* Sri Panchadarshanam Paramahamsa Alakh Bara, 1993

103. **Swami Chandrashekharananda Saraswati** *The Guru Tradition* Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1991

104. **Arya U.** *Yoga Sutras of Patanjali* Pennsylvania, Himalayan Institute

105. **Swami Krishnananda** *Yoga: As a Unversal Science (on Patanjala Sutras)* Divine of Life Society, Shivanandanagar, 1982

106. **Ananthanarayanam** *From man to God-man (The inspiring life story of Swami N. Ananthanarayanam)* Divine Life Society Shivananda Nagar, 1970

107. **Diwakar** *Mahayogi: Life, Sadhana and Teachings of Sri Aurobindo* Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1976

108. **Paramahamsa Yogananda** *The family and the Early life of Self-realization Fellowship* Los Angeles

109. **Karandikar** *Ramakrishna and Vivekananda* Bharatiya Vidya Bhavan, Poona, 1991

110. **Nalini Kanta Gupta** *The yoga of Sri Aurobindo (Collected works)* Sri Aurobindashram Trust, Pondicherry, 1972

111. **Narasimha Swami** *Self Realization : Life and Teachings of Raman Maharshi* Niranjanananda Swami, Tiruvananthapuram, 1931

112. *Past, Present and Future* Bihar School of yoga, Munger, 1995

113. **Romain Rollans** *The Life of Vivekananda and the Universal Gospel* Mayavati (Almora), Advaita Ashram, 1944

114. **Satprem** *Sri Aurobindo* Sri Aurobindo Ashram, Pondicherry, 1970

115. *The vision and work of Sri Aurobindo* Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry, 1992

116. **Sri Aurobindo and the Mother** *A Practical Guide to Integral Yoga* Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry, 1955

117. **Sri Aurobindo** *The life Divine* All India Books, Pondicherry, 1982

118. **Sri Aurobindo** *The synthesis of Yoga* Sri Aurobindo Ashram Press, Pondicherry, 1980

119. **Swami Nikhilananda** *A Biography* Sri Panchadarshanam Paramahamsa Alakh Bara, Deoghar, 1993

120. **Swami Ranganathananda** *Eternal values of a changing Society* Bharatiya Vidya Bhavan, Bombay, 1971

121. **Swami Shivananda Saraswati** *Autobiography* Divine Life Society, Rishikesh, Shivananda Nagar, 1980

122. **Swami Shivananda Saraswati** *Yoga Samhita* Divine Life Society Rishikesh, Shivananda Nagar, 1984

123. — *Teachings of Swami Vivekananda* Advaita Ashram, Calcutta, 1987

124. ---- *The Master, His Mission and His works Swami Shivananda Birth Centenary (Commemorative Volume)* Bihar School of Yoga, Munger, 1987

125. **Swami Shivananda** *Yogi Paramahamsa Yogananda Realization Fellowship* Divine Life Society, Shivananda Nagar, Los Angeles, Self, 1958

126. **Goyandaka Jayadayal** *Srimad Bhagavadgita* Gorakhpur, Gita Press, 1969

127. **Krishna Chaitanya** *Gita for Modern Man* Clarion Books, New Delhi, 1986

128. **Paramahamsa Niranjanananda** *Gita Darshan Hindi (Vol. V,VI,XII and XV chapters)* Sri Panchadarshanam Paramahamsa Alakh Bara, Deoghar

129. **Sri Jnanadev** *Jnaneshwari* Samata Books, Madras, 1979

130. **Swami Chidbhavananda** *The Bhagavadgita* Tirupparaittural T.N., Sri Ramakrishna Tapovanam, Tiruchirapalli, 1995

131. **Swami Chinmayananda** *The Holy Geeta* Central Chinmaya Mission Trust, Bombay, 1995

132. **Swami Krishnananda** *The Philosophy of Bhagavadgita* Divine Life Society, Shivanandanagar, 1980

133. **Tilak, B.G.** *Gita Rahasya* Tilak Brothers, Poona, 1965

134. **Swami Chinmayananda** *Kenopanishad* Central Chinmaya Mission Trust, Bombay

135. **Swami Chinmayananda** *Mandukyopanishad* Central Chinmaya Mission Trust, Bombay

136. **Swami Chinmayananda** *Ishopanishad* Central Chinmaya Mission Trust, Bombay

137. **Chatterjee and D.M. Datta** *An Introduction to Indian Philosophy* Blakie and Son, Bombay, 1983

138. **Constant Lounsbery** *Buddhist Meditation* Kegan Paul, London, 1935

139. **S. N. Dasgupta** *History of Indian Philosophy (5 vols.)* Motilal Banarasidas, Delhi, 1991

140. **Frazer** *The Golden Bough: A study in Magic and Religion* Macmillan, London, 1971

141. **Humphreys** *Buddhism* Penguin Publications, 1969

142. **Mrs. Sudesh Narang** *The Vaishnava Philosophy* Nag Publishers, Delhi, 1984

143. **Mukherjee** *The Buddhist Philosophy* Calcutta University, Calcutta

144. **Parrindev** *What World Religious Teach* Harrap, London, 1968

145. **Pha Daksinganadhikorn** *Buddhism* Wat Phrajetubon (Thailand), 1973

146. **Radhakrishnan** *Indian Philosophy (2 vols.)* George Allen and Unwin, New York, 1966

147. **Rikey and A. Rusken Dharmsala** *A Manual of Key Buddhist Terms* Library of Tibetan Works and Archives, 1992

148. **Suvira Jaiwal** *The Origin and development of Vaishnavism* Munshiram Manoharlal, New Delhi, 1980

149. **Swami Krishnananda** *A short History of Religious and Philosophic Thought in India* The Divine Life Society, Shivananda Nagar, 1973

150. **Swami Tattvananda** *Vaishnava Sects, Shaiva Sects and Mother worship* Firma KLM Pvt.Ltd., Calcutta, 1984

151. **Bijlani, R.L. and Mahendra S.K.** *The Human Machine* National Book Trust, New Delhi

152. **Meyer B.J., Meij H.S., Meyer A.C.** *Human Physiology* AITBS Publishers and Distributors, Delhi.

1.JALANETI

2.VASTRA DHUTI

3.SAMASTHITI

4.SWASTIKASANA

5. VAJRASANA

6. TADASANA .1

7. TADASANA .2

8. PADANGUSTASANA

9.TRIKONASANA

10.PARSVAKONASANA

11.PARSVOTTANASANA

12.PRASARITAPADOTTANASANA

13.PASCIMOTTANASANA

14.PURVOTTANASANA

15.NAVASANA

16.JANUSHRSHASANA

17.MAHAMUDRA

18.MARICHASANA

19.BHARADHWAJASANA

20.ARDHAMATS YENRASANA

21.PADMASANA

22.DHYANA

23.VIPARITAKARANI
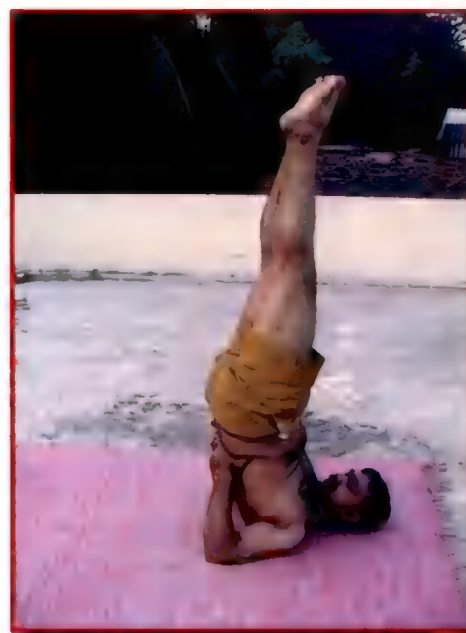
24.SARVANGASANA

25.HALASANA

26.SHAVASANA

27.UTTANAPADASANA

28.VRKSHASANA

29.KURMASANA

30.KURMASANA(SUPTA)

31.VIRABHADRASANA

32.SETUBANDHASANA

33.SARVANGA SETUBANDHASANA

34.JALANDHARA BANDHA

35.UDDIYANA BANDHA
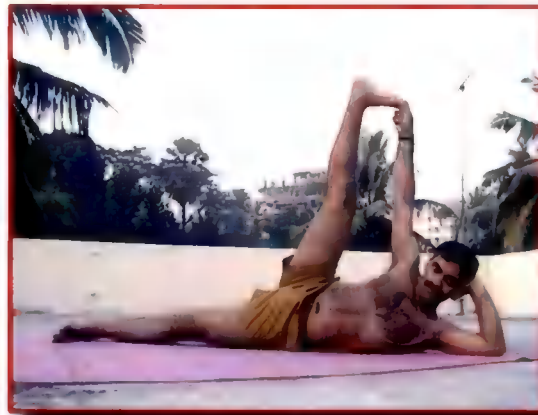
36.PARYANKASANA

37.PAVANAMUKTASANA

38.PAVANAMUKTASANA

39.BHUJANGASANA

40.SHALABHASANA(EKAPADA)

41.SHALABHASANA

42.DHANURASANA

43.USTRASANA

44.UIJAYEE PRANAYAMA

45.ANULOMA VILOMA PRANAYAMA

46 .ANULOMA VILOMA PRANAYAMA

47.VAKRASANA

48.MAKARASANA

49.SIMHASANA

50.SIDDHASANA

NATH AGHORĀNANDA

# YOGA-KARṆIKĀ

AN ANCIENT TREATISE ON YOGA

NATH AGHORĀNANDA

# YOGA-KARṆIKĀ

## AN ANCIENT TREATISE ON YOGA

*Edited with English Introduction by*

**Dr. Narendra Nath Sharma**

*M.P. Education Service, Government College, Seoni (M.P.).*

***Eastern Book Linkers***

DELHI : : (INDIA)

# PREFACE

This was some time in May 1977 when I visited Vārāṇasī in search of rare printed books and manuscripts that I came across an old hermit at Gāya-ghāṭ, sitting in a peculiar position, practising Yoga. I stood still and waited for the chance to talk. After a while, he woke up from trance. I saw him wrapping a book in a red piece of cloth and preparing to go.

I approached the hermit. With my hands joined in reverencc I prostrated at his feet. He blessed me with a benign show of hands and enquired of my mission. I answered I was interested in Yoga, especially in regard to the sitting postures (*āsanas*) and the position of fingers (*mudrās*) in Yogic practice. I acquainted him with my work on the *Gṛhyasūtras* of Āśvalāyana and the *Kalpa-Cintāmaṇi* of Dāmodara Bhaṭṭa.

Our meet grew into friendship. We met every day at day-break and sun-set, on the sacred bank of the river Gaṅgā. His talk, though very general, was a scholarly discourse on the topic of Yoga. It was during the conversation that I learnt of thc *Yoga-Karṇikā*—the book he was wrapping in the red piece of cloth when I first met him at Gāya-ghāṭ.

On the day of my departure for Delhi I met the hermit as usual at sun-rise. I had brought some precious presents for him which he accepted most cheerfully and in return of which he bestowed his blessings on me most graciously. But I noticed that he consented to my departure with some reluctance, for as it appeared to me, though a Yogi, detached

and dispassionate he had become attached and attracted to me. As a token of love he gave me the book *Yoga-Karṇikā* which was precious to him as his very life.

I accepted the present in joyful spirit, promising that I would send a fresh copy soon after it is published again.

I have been working on the book for the last two years. There has been a constant flow of correspondance between Yogī Bhairava Nath (for that was the name of the venerable hermit, I met in Vārāṇasī) and myself. The present edition is the result of mighty labour done in the light of midnight lamp. I do not shirk labour and as a result of my labour, I believe, what was not intelligible to the reader in the old print, would become clear to him now. For all the corrupt readings of the old edition are replaced by the correct readings in the present edition. The revision is carried out after a thorough scrutiny and check-up.

The present edition has several new features : A critical introduction prefixed to the text highlights some most important aspects of *Yoga-sādhanā* occurring in the text ; presents correct interpretation of some very intricate, ambiguous and nonethical practices enjoined therein ; sheds light on the healthy aspects of Yoga and makes a highly valuable contribution to the field of ethics and religion. The edition contains an index of Yogic words. The reader will find that quite a high percentage of terminology incorporated in the text is not found in any other treatise on Yoga.

*Acknowledgment of Obligations*

Amongst several personages who helped me in my literary and spiritual activities I mention the following with reverence and respect : My spiritual preceptor : Yogī Bhairava Nath who initiated me in the sphere of Yoga; my literary guide Dr. Satya Vrat Shastri, Head, Department of Sanskrit,

University of Delhi, who has always been a source of inspiration to me in life and in studies; Dr. R.N. Dandekar BORI, Poona whose encouragement has been a source of great impetus and incentive to the successful completion of this work ; my Principal Dr. V. M. Wagh a reputed educationist and a great humanitarian for giving full facilities in conducting research; Shri L. P. Bhargava for useful suggestions in restoring the corrupt readings to the correct original; my niece Madhu Bala Sharma who has checked the work at the final stage of printing; my publisher Shri Sham Lal Malhotra, propritor Eastern Book Linkers, who has carried out the arduous task of printing and publishing the work with rare dexterity, promptness and skill.

**4-3-1981**
SEONI (M.P.) **Narendra Nath Sharma**

## CONTENTS

## INTRODUCTION

### *Yoga—a definition*

The term *Yoga* is derived from √*yuj*—to join. By implication it applies to a set of means whereby the personal soul (*pratyagātman*) is absorbed into the transcendental soul (*paramātman*) or the universal soul (*Viśvātman*). A book on Yoga, as a corollary to it, is understood to contain some means (*sādhanās*) whereby the individual soul loses its identity and is totally merged into the higher soul, namely Brahman. The practice of means helps the personal soul withdraw the mind from the objects of the phenomenal world and achieve realization that it is of the nature of the universal soul, unborn and eternal. In this process, realization is the goal and Yoga is a means of its achievement.[1] This is corroborated by Patañjali who at the beginning of his Yogasūtras defines Yoga as the process for disciplining the mind by withdrawing the senses from the external objects and focusing the same in the internal on the self-illuminating ātman.[2]

### *Yoga—its antiquity and purpose*

According to the *Bhagavad-Gita*,[3] the supreme lord, at the beginning of Creation, taught Vivasvat the science of Yoga. Vivasvat handed it down to Manu and Manu taught it to his son Ikṣvāku. Thus this science descended to the royal sages. This great teaching passed down from teachers to disciples from generation to generation. The Kṣatriyas were

---

1 *Bhagavad-Gītā* IX. 55.

2. Pātañjala *Yogasūtra* 1. 1. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:

3. Bh. Gītā IV. 1ff.

the custodians of this science. We have an evidence in the *Nārada Purāṇa*[1] that Yogirāja Śuka, son of Sage Veda Vyāsa received instructions in Yoga from the royal sage Janaka, the lord of Mithilā.

The primordial lord (*Bhagavān*), at the beginning of creation imparted this science to the Kṣatriyas whom he made the rulers of this earth, just to strengthen them so that by dint of their Yogic power they might become capable of protecting the earth—the Brāhmaṇas and other subjects. In protecting the Brāhmaṇas and other subjects, the protection of the earth could be rendered easy.[2]

Through the vast period of time Yoga was lost in this world. The revival of Yoga came about in the lord's discourse to Arjuna on the battlefield of Kurukṣetra.[3] As the Brahmanical tradition records, the seience of yoga was of Kṣatriya origin. Lord Kṛṣṇa himself belonged to the Kṣatriya clan.

According to ācārya Śaṅkara's exposition of *Bh. Gītā* (iv.i), the purpose of this science was primarily mundane rather than spiritual. It was spiritual only secondarily. The purpose of imparting instruction to Arjuna in Yoga was just to create strength in him to fight with his own kith and kin, to overpower or suppress the forces of disruption and establish stability, law and order in the universe. It was to generate spirit in

---

1. *Nārada Purāṇa* II. 42.
2. Śaṅkara on Bh. Gītā (IV. 1) "सर्गादौ प्रोक्तवानहं जगत्पालयितॄणां क्षत्त्रियाणां बलाधानाय । तेन योगबलेन युक्ताः समर्था भवन्ति ब्रह्म परिरक्षितुम् । ब्रह्मक्षत्त्रे परिपालिते जगत्परिपालयितुमलम् ।
3. *Bhagavad-Gītā* iv. 2-3
   एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः ।
   स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ।।
   स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
   भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ।।

Arjuna and remove his depression that lord gave lessons in Yoga. The ultimate aim of the lord was against inaction or renunciation. Though lord laid stress upon the performance of duty (*svadharma*) with detachment, his exhortation was not motiveless, for it had an aim of creating strength in Arjuna to establish order and equanimity in this chaotic and disorderly world. A number of exercises of rigorous austerities as prescribed in the science preached by the traditionists help control senses, discipline the mind, prepare the aspirant for the concentrated effort. *Prāṇāyāmas*, *Āsanas* and other exercises can cure mental imbalance and enable a person face joys and sorrows, glories and tragedies with detachment[1] and equanimity.[2] As a practical science Yoga alone can establish harmony, law and order in the universe.

The tradition of Yoga is very ancient. It is certainly pre-vedic. The discovery of an image in Yogic posture in the ruins of Mohenjodaro in Sind (Pakistan) is a strong evidence to support that the Yogic cult is of hoary antiquity. Yoga as the principal constituent of the Upaniṣadic learning is as much a part of Vedic cult as the ritual of the Brahmanic lore. On the theoretical side, Yoga is akin to the oldest system of philosophy—Sāṅkhya inasmuch as it accepts the concept of Duality in the existence of eternal Prakṛti consisting of *tattvas* and the eternal ātman (*Puruṣa*), attributeless and unattached, and also in the acceptance of evolution of the universe as a result of the union of Ātman and Prakṛti. In the heirarchy of Vedic cult the Purāṇas play a significant role in dissipating the knowledge of Yoga both for the material and spiritual ends. In non-Vedic Indian cults such as Jainism and Buddhism the practices of Yoga—meditation and the like-play an important role in lifting man to nobler heights materially and spiritually.

---

1. *Bh. Gītā* II 50 योगः कर्मसु कौशलम्
2. Ibid. II. 48. सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते

*Yoga as a way of life*

For the attainment of right vision (*samyag-jñāna*) in all our activities, Yoga is an essential means. But different preceptors have described Yoga in their own way. Thus Yoga has acquired different designations : *Kriyā Yoga*, *Jñāna-Yoga*, Bhakti Yoga, Haṭha Yoga etc. According to different systems of philosophy and religion, it has been classed under different categories or appellations such as Jaina, Bauddha, Sāṅkhya, Śaiva, etc. But whether it is a Yoga of action or knowledge or whether it is related to Jain or Bauddha tenets of creed or whether it is indigenous or imported, it matters little. Differences arising from different situations are just natural. For instence, Yoga-in-action (*Kriyā-Yoga*) implies an all-round awareness or knowledge of what I do. On the other hand, for the vision of the supreme (*paramārtha-darśana*) the knowledge of 'who am I' is a must. Yoga insists on *awarenere* on both the planes—the plane of action or of knowledge and it is applicable to all conditions and climes universally. To circumscribe Yoga by any designation or label as Jaina, Bauddha, Aryan or non-Aryan would indeed be an erroneous way of thinking.

*Yoga—a supreme power*

Yoga is a sovereign power, subordinate to none. A sovereign ruler is capable of accomplishing whatever he desires to accomplish. Similarly, a Yogi can fulfil his needs which otherwise are not possible to accomplish. The *Brahmāṇḍa Purāṇa*[1] identifies Yoga with the sovereign power, the possession of which can help the aspirant achieve his goal of liberation. As a bird cannot fly without wings, the aspirant cannot realize Brahman without the wings of Yoga.[2] He who has entered

1. *Brahmāṇḍa Purāṇa* II. 3.10.115 ऐश्वर्यं विदितो योग ऐश्वर्यं योग उच्यते ।
2. Ibid. योगैश्वर्यमृते मोक्षः कथञ्चिन्नोपपद्यते ।
   अपक्षस्येव गमनं गगने पक्षिणो यथा ।।

Yoga has acquired a vision that can behold the universe at a single glance.[1] He becomes identical with the universal soul and there remains nothing hidden from his mind's eye. Lord Kṛṣṇa draws a portrait of such a Yogi in the *Bhagavad-Gītā*[2] in the following way :

> The Yogī with pure buddhi, firmly self-controlled, gives up the objects of sense and puts away desires and hate, lives in a solitary place, eating little, holding under control speech, body and mind. Thus he practices meditation and enters samādhi. Keeping away passion, freed from egoism, pride, anger, greed, desire and possession, unselfish and serene he is released from the entanglements of the senses and becomes a Brahman even when alive, in the very existence itself.

*Brahmāṇḍa Purāṇa* is critical of a person who treats Yogī with contempt and disrespect.[3] On the other hand, Yogīśvara Kṛṣṇa praises Yoga as superior to the Veda.[4]

---

1. *Brahmāṇḍa Purāṇa* I. 3,15.64

    सर्वं योगेश्वरैर्व्याप्तं त्रैलोक्यं हि निरन्तरम् ।
    तस्मात्पश्यन्ति ते सर्वं यत्किञ्चिज्जगतीगतम् ॥

2. *Bh. Gītā* XVIII
3. Ibid II. 3. 19. 58ff.

    परीवादो न कर्तव्यो योगिनान्तु विशेषतः ।
    परीवादात्क्रिमिर्भूत्वा तत्रैव परिवर्तते ॥
    योगीन्परिवदेद् यस्तु ध्यानिनो मोक्षकाङ्क्षिणः ।
    स गच्छेन्नरकं घोरं श्रोताऽप्यस्य न संशयः ॥
    योगीश्वरपरीवादान्न स्वर्गं याति मानवः ।
    योगेश्वराणामाक्रोशं शृणुयाद् यो यतात्मनाम् ॥
    स हि कालं चिरं मज्जेन्नरके नात्र संशयः ।
    कुम्भीपाकेषु पच्यन्ते जिह्वाच्छेदे पुनः पुनः ।
    समुद्रे च यथा लोष्ठस्तद्वत्सीदन्ति ते नराः ।
    मनसा कर्मणा वाचा द्वेषं योगिषु वर्जयेत् ॥

4. *Bhagavadgītā* II. 45

    त्रैगुण्यविषया योगानिस्त्रैगुण्यो भवार्जुन ।

*Yoga-Karṇikā—Contents and their analysis*

The science of Yoga is the finest product of Indian mind, and the present book teaches Yoga with all its accomplishments. It is an epitome of Yogic knowledge. It clears off many misrepresentations of Yogic concepts and prepares an easy way for the sādhaka to reach his goal. The book is divided into fifteen chapters. Each chapter contains a particular aspect or characteristic of Yoga and its analysis. The contents of the chapters run as follows :

(1) Routine of the aspirant at the break of day.
(2) Centres of Meditation
(3) Breathcontrol
(4) Preliminaries to Yoga
(5) Yogic postures
(6) Withdrawal of the senses from external objects
(7) A category of Breath-control (*Kumbhaka*)
(8) Position of fingers during the practice of Yoga
(9) Concentration of the mind with the retention of the breath
(10) Meditation
(11) Abstract meditation
(12) Yoga of absorption
(13) Postures in Yogic practice
(14) Purification of the body
(15) Injunctions and Prohibitions.

(1) *Routine of the aspirant*

No aspirant can walk on the path of Yoga unless he has performed the preliminary practices. The first and foremost among these is the external and internal purification. But it is not possible to attain purification without *nitya-karman.*

For a new entrant the internal purification is most obligatory. For those who have attained the internal purification (*citta-śuddhi*) and the knowledge of the eternal and non eternal substances there is no need of performing *nitya-karman.*

Chapter I outlines a number of preliminary activities which the Yogī should repeat everyday. Rising early in the morning before sunrise, he should go to the riverside and take bath. He should observe the practice of purification Since, inside the body, when the nāḍīs are impure, breath cannot pass firmly through the middle channel (*suṣumnā*). *Yoga-Karṇikā* devotes Chapter 14 to the purification of body (षटशोधनम्).

The aspirant's routine starts with the very break of the day. He is enjoined to hold morning prayers, observe *prāṇā yāma*, chant a set of mantras of particular deities—lord of Gaṇas and other deities and repeat mahāmantras—*Kulvuka* and *Setu* with the full awareness of their significance. For particular ends, particular mantras are prescribed.

Ordinarily, tantras make no distinction between persons of high and low equipment[1] and their sphere of activity is universal rather than regional. Still we find certain assignment made according to caste-variation. But insofar *tantra-vidyā* is concerned this is rather an exception than a rule.

*Section II* relates to the centres of meditation, tip of the nose, etc. Here too in the practice of *Pañcāmara* Yoga, a number of goddessess are conceived according to the caste.[2] Moreover, though the ultimate end of a yogī is to realize the identity of the individual and the absolute, yet he has an ample scope to divert his attention to the attainment of gross material objects. This is just to satisfy his carnal desires. For until his *vāsanās* are fully satisfied and until he has developed a complete sense of detachment, he cannot attain the sādhanā of Yoga.

---

1. विप्राणां प्रणवः सेतुः क्षत्रियाणां तथैव च ।
   वैश्यानां तु फडर्थः स्यान्माया शूद्रस्य कथ्यते ॥
2. ओं ब्रह्मण्यै नमः स्वाहा ।
   ओं क्षत्रियायै नमः स्वाहा ।
   ओं वैश्यायै नमः स्वाहा ।
   ओं शूद्रायै नमः स्वाहा ।

The succeeding sections (3-13) deal with the eight course discipline (*aṣṭāṅga-yoga*), viz., yama, niyama āsana, prāṇāyāma, pratyāhāra, dhāraṇā, dhyāna and samādhi. No equivalent in English or in any other language can interpret the full significance of these terms which can better be analysed and explained rather than defined. So far their analysis is concerned, Tantrics are agreed upon this point though they have differed in the method of their analysis and the enumeration of their sorts. Eight courses of Yoga are the following :

*Yama*—This according to Pātañjala *Yoga-sūtras* includes non violence (*ahiṁsā*), absolute truthfulness (*satyam*), abstention from stealing (*asteya*), non indulgence in sensuality (*brahmacarya*) and not to accept or expect any material goods beyond meeting one's barest bodily needs (*aparigraha*). According to *Yoga-Karṇikā* yama comprises quietude, satiation, regulated diet and sleep, control of mind and absolute vacuity in the inner self.

*Niyama*, according to Pātañjala *Yogaśūstras*, consists of bodily purity (*śauca*), contentment (*santoṣa*) exertion to reach one's goal (*tapa*), self-study (*svādhyāya*) and concentration on one's personal deity (*Īśvara-praṇidhāna*). According to *Yoga-Karṇikā* it means complete detachment, desirelessness, absence of contentment and meditation on god.

*Āsana*—Bodily posture. For a particular desire to fulfil, a particular āsana is prescribed. In the Yogic practice, bodily postures are as important as the peculiar position of fingers (mahāmudrās).

*Prāṇāyāma*—Full control over the breathing system. *Yogakarṇikā* contains three sections on this subject. Its importance is evident therefore.

*Pratyāhāra*—Complete withdrawal of the mind and senses from the world of passions, desires and freedom from covetousness, envy and possessive instinct. A Yogi has to divert his mind and senses from the external world to his inner self.

*Dhāraṇ*—Cultivation of determination to concentrate on some object or thought.

of vital airs. *Māṁsa*[1] is the vow of silence. *Mudrā*[2] (inter-

*Dhyāna*—Pin-pointed concentration on some object.

*Samādhi*—Achievement of a state of complete absorption in one's inner self.

This eight course discipline is the prime requisite for success on the path of Yoga.

*Section* 14 deals with the purification of body (*ghaṭa-śodhana*) by sevenfold means, viz (1) sixfold activities (satkarman i.e. *dhauti, vasti, neti, laulī, troṭaka* and *kapālabhāti* (2) *āsana* (3) *mudrā* (4) *pratyāhāra* (5) *prāṇāyāma* (6) *dhyāna* and (7) *Samādhi*. *Yogakarṇikā* outlines these activities in detail. Since they purge the body of all impurities (*malas*) they are essential factors for realizing the soul.

*Section* 15 contains sādhanā saṅketas, injunctions and prohibitions. For, the slightest departure from the prescribed path is bound to lead the aspirant on to a very wrong course.

Finally, each system of knowledge has its own symbols. The system of tantric Yoga makes an extensive use of mystic symbols which are very often misinterpreted. For instance, the tantrics use *madya* (wine), *māṁsa* (meat) *matsya* (fish) *mudrā* (inter-weaving of fingers during religious worship in the form of Yoni, etc.) and *maithuna* (sexual intercourse) as parts of Yogic process. In the left path (vāma-mārga) practices of the Vijrayānists, the words are taken in their literal sense, the indulgence into wine and women being an integral part of their cult. But, as a matter of fact, in their original sense, the words convey altogether a different meaning. The *Āgamasāra* explains the *pañca makāras* (*madya, matsya, māṁsa, mudrā, maithuna*) in the following way.

*Madya*[1] is the nectarine stream issuing from the cavity of stream where the soul resides. *Matsya*[2] means the suppression

1. सोमधारा क्षरेद् या तु ब्रह्मरन्ध्राद् वरानने ।
   पीत्वाऽऽनन्दमयीं तां यः स एव मद्यसाधकः ॥
2. मशब्दाद् रसना ज्ञेया तत्स्यन्दं रसनं प्रिये ।
   सदा यो भक्षयेद् देवि स एव मांससाधकः ॥

weaving of fingers during religious worship) is a physical process calculated to enhance concentration of the worshipper. *Maithuna*[3] is meditation on the acts of creation and destruction.

The aim of *Yogakarṇikā* is to give the correct interpretation of the most misunderstood terminology of the Yoga Tantrism. As an instance of misrepresented terminology Aghorānanda gives a popular instance of misinterpretation.

मातृयोनौ क्षिपेल्लिङ्गं पितुः शिरसि पादुकाम् ।
भगिनीस्तनमालोड्य पितुः स्वासस्य चुम्बनम् ।
यः करोति महेशानि निर्वाणपदमश्नुते ।।
नटीं कापालिकीं वेश्यां चाण्डालीं रजकाङ्गनाम् ।
अहर्निशि भजेद् यो हि स एव श्रीसदाशिवः ।।

The text as it stands conveys totally an obnoxious and indecent sense which even a Cārvāka would not condescend to accept. But in the secret Tantric circles, the apparently indecent words of gross import carry an altogether different sense. Thus *yoni* means aparājitā flower, *liṅga* a karabīra flower, pādukā a droṇa flower, stana a japā flower, svasā a lotus. Similarly, naṭī (an actress), kāpālikā (a Saivite nun) *Veśyā* (a pross), *Caṇḍālī* (a low-class woman) and *rajakāṅganā* (a washer woman) signify fingers and a thumb (तर्जनी, मध्या, अनामिका, कनिष्ठिका and अङ्गुष्ठ). The aspirant should practice aṅganyāsa, placing the particular finger or thumb on the particular part of the body, reciting the ritual formula and then worship the lord with flowers prescribed for worship.

---

1. गङ्गायमुनयोर्मध्ये मत्स्यौ द्वौ चरतः सदा ।
   तौ मत्स्यौ भक्षयेद् यस्तु स एव मत्स्यसाधकः ।।
2. सहस्रारे महापद्मे कर्णिका मुद्रिता चरेत् ।
   आत्मा तत्रैव देवेशि केवलं पारदोपमम् ।
   सूर्यकोटिप्रतीकाशं चन्द्रकोटिसुशीतलम् ।
   यस्य ज्ञानोदयस्तत्र मुद्रासाधक उच्यते ।।
3. मैथुनं परमं तत्त्वं सृष्टिस्थित्यन्तकारणम् ।
   मैथुनाज्जायते सिद्धिर्ब्रह्मज्ञानं सुदुर्लभम् ।।

# YOGA-KARNIKĀ

मङ्गलाचरणम्

अखण्डं सच्चिदानन्दं निर्विकारं परात्परम् ।
वन्देऽहं सकलाधारं श्रीगुरुं श्रीजगन्मयम् ॥
अघोरानन्दनाथेन क्रियते योगकर्णिका ।
साधकानां हितार्थाय बहुयत्नेन सम्मुदा ॥

अथ प्रथमः पादः

प्रातःकृत्यम्

प्रातःकृत्यं विना मन्त्री नाधिकारी तु कर्म्मसु ।
तस्मादादौ प्रवक्ष्यामि प्रातःकृत्यं वरानने ॥१

रजनीशेषयामस्य शेषार्द्धमरुणोदयः ।
तदा साधक उत्थाय मुक्तस्वापः कृतासनः ॥२

ध्यायेच्छिरसि शुक्लाब्जे द्विनेत्रं द्विभुजं गुरुम् ।
श्वेताम्बरपरीधानं श्वेतमाल्यानुलेपनम् ॥३

वराभयकरं शान्तं करुणामयविग्रहम् ।
वामेनोत्पलधारिण्या शक्त्यालिङ्गितविग्रहम् ॥४

स्मेराननं सुप्रसन्नं साधकाभीष्टदायकम् ।
एवं ध्यात्वा साधकेन्द्रो मानसैरुपचारकैः ॥५

पूजयित्वा जपेन्मन्त्री वाग्भवं बीजमुत्तमम् ।
यथाशक्ति जपं कृत्वा समर्प्य दक्षिणे करे ॥६

ततस्तु प्रणमेद् धीमान् मन्त्रेणानेन सद्गुरुम् ।
भवपाशविनाशाय ज्ञानदृष्टिप्रदर्शिने ॥७

नमः सद्गुरवे तुभ्यं भक्तिमुक्तिप्रदायिने ।
नराकृते परब्रह्मरूपायाज्ञानहारिणे ॥८

तत्त्वज्ञानप्रकाशाय तस्मै श्रीगुरवे नमः ।
प्रणम्यैवं गुरुं तत्र चिन्तयेन्निजदेवताम् ॥९

पूर्ववत् पूजयित्वा तु मूलमन्त्रं जपं चरेत् ।
यथाशक्ति जपं कृत्वा पूर्ववच्च समर्पयेत्[1] ॥१०

नमस्कृत्वा विधानेन चौरमन्त्रं जपेत् सुधीः ।
विना चौरगणेशानं यो मन्त्रं प्रजपेन्नरः ॥११

सर्वमन्त्रफलं तस्य हरते गणनायकः ।
अङ्गेषु मातृकान्यासं कृत्वा मन्त्रं जपेत् सुधीः ॥१२

क्रोमित्यङ्कुशबीजं हि हृदये दशधा जपेत् ।
ह्रीं ह्रीं चक्षुर्द्वये चैव ह्रीं ह्रीं श्रुत्योर्जपेत् सुधीः ॥१३

हुं हुं नासापुटद्वन्द्वे मुखे स्त्रीं द्विविधं जपेत् ।
नाभौ क्लीमिति हंसौ लिङ्गे गुदे त्वं परिकीर्तितम् ॥१४

भ्रूमध्ये प्रणवं तद्वत् जप्त्वा च प्रणमेत् सुधीः ।
ध्यायेत् कुण्डलिनीं देवीं सर्वमन्त्रस्वरूपिणीम् ॥१५

सर्वदेवमयी सा तु साक्षादमृतविग्रहा ।
मूलाधारे त्रिकोणाख्ये इच्छाज्ञानक्रियात्मके ॥१६
मध्ये स्वयम्भूलिङ्गन्तु सूर्यकोटिसमप्रभम् ।
सार्द्ध त्रिवलयाकारा स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिता ॥१७

एवं ध्यात्वा पठेत् स्तोत्रं शृणु तत् कथयामि ते ।
(ओं) नमस्ते देवदेवेशि योगेशप्राणवल्लभे ॥१८

सिद्धिदे वरदे मातः स्वयम्भूलिङ्गवेष्टिते ।
प्रसुप्तभुजगाकारे सर्वदा कारणप्रिये ॥१९

कामकलान्विते देवि ममाभीष्टं कुरुष्व च ।
सर्वदा रक्ष मां देवि जन्मसंसारसागरात् ॥२०

इति कुण्डलिनीस्तोत्रं ध्यात्वा यः प्रपठेत् सुधीः ।
मुच्यते सर्वपापेभ्यो भवसंसाररूपकैः ॥२१

---

१. शक्तिविषये वामकर समर्पयेदिति विशेषः ।

इति स्तोत्रं पठित्वा तु प्रणमेद् भक्तिपूर्वकम् ।
नमस्कृत्वा बहिर्गच्छेद्वामपादपुरस्सरः ॥२२

दिनचर्या

त्यक्त्वा मूत्रपुरीषं च दन्तधावनमाचरेत् ।
ततो गत्वा जलाभ्यासे स्नानं कुर्य्याद्यथाविधि ॥२३
नदीं वा देवखातं वा दीर्घिकामपरं तथा ।
गङ्गाद्याः सरितः सर्वाः स्नाने प्रशस्यते बुधैः ॥२४
काश्यादिः सर्वतीर्थानि भारते यानि सन्ति वै ।
तानि स्नाने प्रशस्येत सर्वपापहराणि वै ॥२५
परखात्रे तु कर्त्तव्यं पञ्चपिण्डोद्धरं सुधीः ।
[ओं] उत्तिष्ठोत्तिष्ठ पञ्चत्वं त्यज पुण्यं परस्य च ॥२६
पापानि मे विनश्यन्तु शान्ति देहि सदा मम ।
मृदोदकं च गङ्गाया मृक्षयित्वा विधानतः[1] ॥२७
स्नानं कुर्वीत विधिना महाकालवचो यथा ।
आदायाप उपस्पृश्य प्रविशेत् सलिले ततः ॥२८
नाभिमात्रं जले स्थित्वा मलानपनयेत्ततः ।
सकृत् स्नात्वा ततोन्मज्य मन्त्रमाचमनं चरेत् ॥२९
आत्मविद्याशिवातत्त्वैः स्वाहान्तैः साधकाग्रणीः ।
त्रिःस्पृश्यापो द्विरुन्मृज्य चाचमेन्मन्त्रवित्ततः ॥३०
विलिख्य मण्डलं तत्र मन्त्रं द्वादशधा जपेत् ।
तेजो रूपं जलं ध्यात्वा सूर्य्यमुद्दिश्य देशिकः ॥३१
तत्तोयैस्त्र्यञ्जलिं दत्वा तेनैव पयसा त्रिधा ।
अभिषिच्य स्वमूर्द्धानं सप्तछिद्राणि रोधयेत् ॥३२
सङ्कल्पं विधिवत् कृत्वा त्रिर्निमज्य जलान्तरे ।
उत्तराभिमुखं भूयः पूर्वाभिमुख एव वा ॥३३
स्वस्तिकं पुण्डरीकाक्षं विष्णुमूर्ति प्रभुं स्मरन् ।
अथवा चिन्तयेत्तत्र केवलं निजदेवताम् ॥३४

---

१. ओंमश्वक्रान्तेत्यादिमन्त्रेण मृक्षयित्वा विधिना स्नानं कुर्य्यादिति ।

तत्पादैकरजोधारा निपतन्ति स्वमूर्द्धनि ।
चिन्तयेद् ब्रह्मरन्ध्रेण प्रविशन्तीं स्वकां तनुम् ॥३५
तदा संक्षालयेत्तोयमन्त्रं ध्यात्वा गतं मतम् ।
तत्क्षणाद्विरजा मन्त्री भवेदेव न संशयः ॥३६
उत्थाय गात्रं संमार्ज्य पिदध्याच्छुद्धवाससी ।
ललाटे तिलकं कुर्य्याद् गायत्रीबद्धकुन्तलः ॥३७
ऊर्ध्वपुण्ड्रं मृदा कुर्य्यात्[1] त्रिपुण्ड्रं भस्मना सह ।
तिलकं वै द्विजः कुर्याच्चन्दनेन यथेच्छया ॥३८
वैदिकीं तान्त्रिकीं सन्ध्यां यथानुक्रमयोगतः ।
एवं समाचरेन्मन्त्री तान्त्रिकीं शृणु कथ्यते ॥३९
आचम्य पूर्ववत्तोयैस्तीर्थानावाहयेत् सुधीः ।
प्रक्षाल्य पाणिपादौ च त्रि पिबेदम्बु वीक्षितम् ॥४०
संवृत्याङ्गुष्ठमूलेन द्विः प्रमृज्येत्ततो मुखम् ।
संहृत्य तिसृभिः पूर्वं मुखमेवमुपस्पृशेत् ॥४१
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां च घ्राणं पश्चादनन्तरम् ।
अङ्गुष्ठानामिकाभ्यां च चक्षुः श्रोत्रे पुनः पुनः ॥४२
नाभिं कनिष्ठाङ्गुष्ठेन हृदयन्तु तलेन वै ।
सर्वाभिस्तु शिरः पश्चाद्बाहुमात्रेण संस्पृशेत् ॥४३

[ओं गङ्गे चेत्यादि]

मन्त्रेणानेन मतिमान् मुद्रयांकुशसंज्ञया ।
आवाह्य तीर्थं सलिले मूलं द्वादशधा जपेत् ॥४४
ततस्तु तोयतो बिन्दुं त्रिधा भूमौ विनिक्षिपेत् ।
प्रजप्य विधिना तोयं दक्षहस्ते समानयेत् ॥४५
वीक्ष्य तेजोमयं ध्यात्वा चेडयाकृष्य साधकः ।
देहान्तःकलुषं तेन रेचयेत् पिङ्गलाख्यया ॥४६
निकृष्य पुरतो वज्रशिलायां मन्त्रमुच्चरन् ।
त्रिवारं तारयेन्मन्त्री हस्तौ प्रक्षालयेत्ततः ॥४७
आचम्योक्तेन मन्त्रेण सूर्य्यार्घ्यं च निवेदयेत् ।
तारमाया हंस इति घृणिसूर्य्यं ततः परम् ॥४८

---

१. ऊर्ध्वपुण्ड्रं द्विजः कुर्य्यादिति प्रमाणैरिति ।

इदमर्घ्यं तुभ्यमुक्त्वा दद्यात् स्वाहेत्युदीरयन् ।
ततो ध्यायेन् महादेवीं गायत्रीं परदेवताम् ॥४६
प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने त्रिरूपां गुणभेदतः ।
प्रातः ब्राह्मीं रक्तवर्णां द्विभुजां ■ कुमारिकाम् ॥५०
कमण्डलुं तीर्थपूर्णमक्षमालां च बिभ्रतीम् ।
कृष्णाजिनाम्बरधरां हंसारूढां शुचिस्मिताम् ॥५१
मध्याह्ने तां श्यामवर्णां वैष्णवीं च चतुर्भुजाम् ।
शंखचक्रगदापद्मधारिणीं गरुडासनाम् ॥५२
पीनोत्तुङ्गकुचद्वन्द्वां वनमालाविभूषिताम् ।
युवतीं सततं ध्यायेन्मध्येमार्त्तण्डमण्डले ॥५३
सायाह्ने वरदां देवीं गायत्रीं संस्मरेत् यतिः ।
शुक्लां शुक्लाम्बरधरां वृषासनकृताश्रयाम् ॥५४
त्रिनेत्रां वरदां पाशं शूलं च नृकरोटिकाम् ।
बिभ्रतीं करपद्मैश्च वृद्धां गलितयौवनाम् ॥५५
एवं ध्यात्वा महादेव्यै जलानामञ्जलित्रयम् ।
दत्वा जपेत्तु गायत्रीं शतधा दशधापि वा ॥५६
ततस्तु तर्पयेन्मन्त्री देवर्षिपितृदेवताः ।
प्रणवं स द्वितीयाख्यं तर्पयामि नमः पदम् ॥५७
शक्तौ तु प्रणवे मायां नमः स्थाने द्विठं पठेत् ।
ततोऽर्घ्यमिष्टदेवाय दत्वा मूलं जपेत् सुधीः ॥५८
यथाशक्ति जपं कृत्वाप्युक्तवच्च समर्पयेत् ।
प्रणम्य स्वेष्टदेवाय जलमादाय साधकः ॥५६
नत्वा तीर्थं पठेत् स्तोत्रं देवताध्यानतत्परः ।
पूजास्थानं समागत्य ततः पूजां समाचरेत्[1] ॥६०
पूजा संक्षेपतः कार्या अशक्ते साधकेऽपि च ।
यतो हि निरनुष्ठानात् स्वल्पानुष्ठानमुत्तमम् ॥६१

पूजाविधिः

आचम्य मूलमन्त्रेण ऋषिन्यासं समाचरेत् ।
करशुद्धिं ततः कुर्य्यान् न्यासं च करदेहयोः ॥६२

---

१. षोडशदशपञ्चभेदा उपचाराः प्रसिद्धा इति ।

सर्वाङ्गे व्यापकं कृत्वा प्राणायामं चरेत् सुधीः ।
ध्यानपूजाजपं चेति संक्षेपपूजने विधिः ॥६३

प्रातःकृत्यं प्रातरेव सन्ध्यां कुर्यात्त्रिकालतः ।
मध्याह्ने पूजनं कुर्यात् सर्वतन्त्रेष्वयं विधिः ॥६४

प्रातः सूर्योदयः कालो मध्याह्नस्तदनन्तरम् ।
सायं सूर्य्यास्तसमयं त्रिकालानामयं क्रमः ॥६५

जपनियमः

देवतागुरुमन्त्राणामैक्यं सम्भावयेद्धिया ।
मन्त्राणां देवता प्रोक्ता देवता गुरुरूपिणी ॥६६

अभेदेन जपेद्यस्तु तस्य सिद्धिरनुत्तमा ।
गुरुं शिरसि सञ्चिन्त्य देवतां हृदयाम्बुजे ॥६७

रसनायां मूलविद्यां तेजोरूपां विचिन्त्य च ।
त्रयाणां तेजसात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ॥६८

तारेण सम्पुटीकृत्य मूलमन्त्रं च सप्तधा ।
जप्त्वा तु साधकः पश्चान्मातृकापुटितं स्मरेत् ॥६९

मायाबीजं स्वशिरसि दशधा प्रजपेत् सुधीः ।
वदने प्रणवं तद्वत् पुनर्म्मायां हृदाम्बुजे ॥७०

प्रजप्य सप्तधा मन्त्री प्राणायामं समाचरेत् ।
मालां संपूज्य यत्नेन साधको जपमाचरेत् ॥७१

जपं समाप्य मतिमान् स्तोत्रं कवचकं पठेत् ।
प्रणामं दण्डवत् कृत्वा क्षमस्वेति विसर्जयेत् ॥७२

मन्त्रार्थं मन्त्रचैतन्यं योनिमुद्रां न वेत्ति यः ।
शतकोटिजपेनैव तस्य सिद्धिर्न जायते ॥७३

नतिं गुर्वादीनामादौ ततो मन्त्रशिखां भजेत् ।
ततोऽपि मन्त्रचैतन्यं मन्त्रार्थभावना ततः ॥७४

गुरुध्यानं शिरःपद्मे हृदीष्टध्यानमावहेत् ।
कुल्लुकां च ततः सेतुं महासेतुमनन्तरम् ॥७५

निर्वाणं च ततः कुर्य्याद् योनिमुद्रां विभावनाम् ।
अङ्गन्यासं प्राणायामं जिह्वाशोधनमेव च ॥७६
प्राणयोगं दीपनीं च आशौचभङ्गमेव च ।
भ्रूमध्ये वा नासाग्रे वा दृष्टिसेतुं जपं पुनः ॥७७
सेतुमाशौचभङ्गं च प्राणायाममिति क्रमात् ।
कुल्वुकां मूर्ध्नि संजप्य हृदि सेतुं विचिन्तयेत् ॥७८
महासेतुं विशुद्धौ च कण्ठदेशे समुद्धरेत् ।
मणिपूरेति निर्वाणं कुर्य्यात् साधकसत्तमः ॥७९
मन्त्रशिखां प्रवक्ष्यामि शृणु तच्च समाहितः ।
मूलाधारे सुवर्णाभं शिखाकारं विचिन्तयेत् ॥८०
स्वाधिष्ठाने वैद्युताभं नाभौ बालार्कवर्च्चसम् ।
हृदि वह्निशिखाकारं कण्ठे च भास्करद्युतिम् ॥८१
ज्वलद्दीपशिखाकारं तेजोरूपं विचिन्तयेत् ।
लम्बिकायां चन्द्रबिम्बं शिखाकारं विभावयेत् ॥८२
शरच्चन्द्रनिभं ज्योतिर्भ्रूमध्ये परिचिन्तयेत् ।
नवमे विश्वतेजश्च सहस्रारे विचिन्तयेत् ॥८३
यातायातक्रमेणैव तत्र कुर्य्यान्मनोलयम् ।
नवचक्रे शिखाकारं भावयेन्मन्त्रवित्तमः ॥८४
सा एवेति मन्त्रशिखा द्रुतमन्त्रफलप्रदा ।
यस्य मन्त्रस्य यद्ध्यानं कृत्वा याति प्रयत्नतः ॥८५
तन्मन्त्रं दशधा जप्त्वा इष्टमन्त्रं ततो जपेत् ।
अनेन विधिना मन्त्री मन्त्रचैतन्यमाप्नुयात् ॥८६
अथवान्यप्रकारेण चैतन्यं प्रजपेत् सुधीः ।
कामबीजं रमाबीजं शक्तिबीजं ततः परम् ॥८७
एतानि पूर्वमुच्चार्य मातृकां तदनन्तरम् ।
पुटितं मूलमंत्रं च शतमष्टोत्तरं जपेत् ॥८८
कोटिकोटिगुणं तत्र लभते नात्र संशयः ।
मन्त्रार्थचिन्तनं वक्ष्ये यथा शङ्करभाषितम् ॥८९
अकारेण जगत्पाता संहर्त्ता स्यादुकारतः ।
मकारेण जगत्स्रष्टा प्रणवार्थ उदाहृतः ॥ओं॥९०

शिववाची हकारस्तु औकारः स्यात् सदाशिवः ।
शून्यदुःखहरार्थं तु तस्मात्तेन शिवं यजेत् ॥हौं९१
दोदुर्गावाचकं देवी ऊकारश्चापि रक्षणे ।
विश्वमाता नादरूपा कुर्वथो बिन्दुरूपकः ॥९२
तस्मात्तेनैव बीजेन दुर्गामाराधयेत् शिवे ॥ दूं ॥
कः कालो ब्रह्म रः प्रोक्तं महामायार्थकश्च ई ॥९३
विश्वमातार्थको नादो बिन्दुर्दुःखहरार्थकः ।
तेनैव कालिकां देवीं पूजयेत् दुःखशान्तये ॥ क्रीं ॥९४
हकारः शिववाची स्याद्रेफः प्रकृतिरुच्यते ।
महामायार्थ ईशब्दो नादो विश्वप्रसूः स्मृतः ॥९५
दुःखहरार्थको बिन्दुर्भुवन्तेन न पूज्यते । (ह्रीं)
महालक्ष्म्यार्थकः शः स्यात् धनार्थे रेफ उच्यते ॥९६
ईस्तुष्टार्थेऽपरो नादो बिन्दुर्दुःखहरार्थकः ।
लक्ष्मीदेव्या बीजं चैतत् तेन देवीं प्रपूजयेत् ॥ (श्रीं)॥९७
सरस्वत्यर्थं ऐंशब्दो बिन्दुर्दुःखहरार्थकः ।
सरस्वत्या बीजमेतत् तेन वाणीं प्रपूजयेत् ॥ (ऐं)९८
कः कामदेव उद्दिष्टोऽप्यथवा कृष्ण उच्यते ।
ल इन्द्र ईस्तुष्टिवाची सुखदुःखप्रदं च मम् ॥९९
कामबीजार्थ उक्तस्ते तव स्नेहान्महेश्वरि । क्लीं ।
हः शिवः कथितो देवी ऊःभैरव इहोच्यते ॥१००
परार्थो नादशब्दस्तु बिन्दुर्दुःखहरार्थकः ।
वर्म्मबीजत्रयो ह्यत्र कथितस्तव यत्नतः ॥ हूं ॥१०१
गणेशार्थे ग उक्तस्ते बिन्दुर्दुःखहरार्थकः ।
गबीजार्थं च कथितं तव स्नेहान्महेश्वरि ॥ गं ॥१०२
गो गणेशो व्यापकार्थो लकारस्तेज औ मतः ।
दुःखहरार्थको बिन्दुर्गणेशं तेन पूजयेत् ॥ ग्लौं ॥१०३
क्षो नृसिंहो ब्रह्म र श्च ऊर्ध्वं दन्तार्थकश्च औ ।
दुःखहरार्थको बिंदुर्नृसिंहं तेन पूजयेत् ॥ क्ष्रौं ॥१०४

नामादिवर्णः सर्वेषां नाम उक्तः स्वयम्भुवा ।
तेनैवार्थन्तु जानीयादर्थलक्ष्यं तु चिन्तयेत् ॥१०५
यथायथा विभक्तयन्तं मन्त्रार्थं चिन्तयेच्छिवे ।
तत्तद्वर्णादियोगेन संक्षेपात् कथितं त्वयि ॥१०६
दुर्गोत्तारणवाच्यः सस्तारकार्थस्तु तारकः ।
मंत्रार्थं रेफ उक्तोऽत्र महामायार्थकश्च ईः ॥१०७
विश्वमातार्थको नादो बिन्दुर्दुःखहरार्थकः ।
वधूबीजार्थ उक्तोऽत्र तव स्नेहान्महेश्वरि ॥ (स्त्रीं)१०८
यत्र बिन्दुद्वयं मन्त्रमेकं दुःखहरार्थकम् ।
अन्यत् सुखप्रदं देवि ज्ञात्वा चार्थं विचिन्तयेत् ॥१०९
यत्र बिन्दुद्वयं मन्त्रमन्यत् पूर्णार्थकं मतम् ।
स्वाहामन्त्रार्थको देवि परार्थं वा प्रकीर्त्तितम् ॥११०
शक्रमाता वषट्प्रोक्ता हरिप्रीत्यार्थकानि वा ।
सुरार्था फट् हयग्रीवे विस्रीं बीजं विनिर्द्दिशेत् ॥१११
यं बीजं वायुवाची स्याल्लेमैन्द्रं परिकीर्त्तितम् ।
अनेकाक्षरबीजे च स्वस्वबीजः स्वनामकम् ॥११२
एवं ज्ञात्वा महेशानि मन्त्रार्थं परिचिन्तयेत् ।
एकबीजद्वयं यत्र पृथगर्थं प्रकल्पयेत् ॥११३
वीप्सार्थं वा महेशानि ज्ञात्वा मन्त्रं जपेद्धिया ।

आथर्वणी श्रुतिर्विश्वसारतन्त्रे चोच्यते ।

[दकारस्य देवो दक्षिणामूर्तिः शिवः । इन्दुर्विन्दु-
र्देवता चन्द्रमाः । उकारस्य देवता विष्णुः ॥ दुं ॥
कामबीजस्य देवता कन्दर्पः । वाग्भवबीजस्य उ-
ग्रतारा । कुर्च्चबीजस्य देवता विघ्नघ्नः क्रोधभैरवः ।
लज्जाया नीलसरस्वती । लक्ष्म्या लक्ष्मीः । स्वाहायाः
शक्तिः । फट्कारस्य शिवो ब्रह्मा हरिरिति ॥]

अथवान्यप्रकारेण मन्त्रार्थं परिचिन्तयेत् ।
आधारे चिन्तयेद्दिव्यां शुद्धस्फटिकसन्निभाम् ॥११४

बन्धूकरुचिरां लिङ्गे नाभौ स्फटिकसन्निभाम् ।
रक्तश्यामां च हृत्पद्मे हरिद्वर्णां विशुद्धके ॥११५

आज्ञायां चिन्तयेद्विद्वान् चतुर्वर्णां तु रञ्जिताम् ।
षट्चक्रे परमेशानि ध्यायेत् साधकसत्तमः ॥११६

ध्यानेन परमेशानि यद्रूपं समुपस्थितम् ।
तदेव परमेशानि मन्त्रार्थं विद्धि पार्वति ॥११७

अथवान्यत् प्रकारेण मन्त्रार्थं चिन्तयेत् सुधीः ।
एकाक्षरे महेशानि सम्पूर्णं देहरूपकम् ॥११८

द्वितीये मध्यभागश्च तृतीये च तृतीयकः ।
द्वयक्षरे मन्त्रवर्णे च द्विधा च परिभावयेत् ॥११९

आद्यर्णं नाभिपर्य्यन्तं पादान्तं शेषवर्णकम् ।
त्र्यक्षरे मन्त्रवर्णे च त्रिधा च परिभावयेत् ॥१२०

प्रथमं बाहुपर्य्यन्तं कट्यन्तं च द्वितीयकम् ।
तृतीयं पादपर्य्यन्तं क्रमेण परिचिन्तयेत् ॥१२१

चतुरक्षरमन्त्रे तु गलान्तं प्रथमं न्यसेत् ।
बाह्वन्तं च द्वितीयेन नाभ्यन्तं च तृतीयकम् ॥१२२

चतुर्थन्तु ततो देवि पादान्तं परिचिन्तयेत् ।
पञ्चाक्षरे तु मन्त्रे तु पञ्चधा परिचिन्तयेत् ॥१२३

ग्रीवान्तं प्रथमं देवि बाह्वन्तं च द्वितीयकम् ।
तृतीयं कुक्षिपर्य्यन्तमूर्वन्तं च चतुर्थकम् ॥१२४

पादान्तं पञ्चमं देवि भवत्येव न संशयः ।
षडक्षरे तु मन्त्रे तु मुखान्तं प्रथमं भवेत् ॥१२५

द्वितीयं गलपर्य्यन्तं बाह्वन्तं च तृतीयकम् ।
चतुर्थं पृष्ठपर्य्यन्तं कुक्ष्यन्तं पञ्चमं भवेत् ॥१२६

षडर्णमूरुपर्य्यन्तं पादान्तं सप्तमं भवेत् ।
पादान्तमष्टमं चैव भवत्येव न संशयः ॥१२७

नवाक्षरे तु मन्त्रे तु नासान्तं प्रथमं भवेत् ।
ऊर्वन्तं चाष्टमं चैव पादान्तं नवमं भवेत् ॥१२८

दशाक्षरे तु मन्त्रे तु शिरोन्तं प्रथमं भवेत् ।
चिबुकान्तं द्वितीयं स्यात् तृतीयं कर्णयुग्मकम् ॥१२९

चतुर्थान्तं भवेद् ग्रीवा पञ्चमं बाहुयुग्मकम् ।
षष्ठं पृष्ठन्तु जानीयात् सप्तमं सममण्डलम् ॥१३०

उदरं चाष्टमं चैव ऊर्वन्तं नवमं भवेत् ।
पादान्तं दशमं देवि भवेत्सत्यं न संशयः ॥१३१

एवं क्रमेण सर्वत्र बोद्धव्यं च परस्परम् ।
शाक्तानां चैव शैवानां वैष्णवानां तथैव च ॥१३२

सौराणां गाणपत्यानां मन्त्राणां कथयामि ते ।
एवं क्रमेण जानीहि तत्तदंशविनिर्णयः ॥१३३

मन्त्राणां देवता ज्ञेया देवता मन्त्ररूपिणी ।
इति मन्त्रार्थयुक्तश्च भावयेत् साधकाग्रणीः ॥१३४

मन्त्रार्थमेव सञ्चिन्त्य गुरुध्यानं समाचरेत् ।
इति ध्यात्वा ततो देवि कुल्लुकां प्रजपेत्ततः ॥१३५

कुल्लुका

देवभेदेन यद् भेदं तत् सर्वं च विवर्जयेत् ।
स्वमूलं च जपेन्मूर्ध्नि कुल्लुकार्थे न संशयः ॥१३६

सर्वेषां चैव देवानां मन्त्रमात्रं प्रकीर्त्तितम् ।
प्रजपेद्दशधा मूर्ध्नि स भवेत् कुल्लुकाजपः ॥१३७

सेतुः

यो जपेत् परमेशानि विना सेतुं महामनुम् ।
[illegible] सर्वार्थहानिः स्यात् मृते च नरकं व्रजेत् ॥१३८

आदावन्ते च देवेशि सेतुं दत्वा जपेन्मनुम् ।
ततः सिद्धो भवेद्देवि मंत्रविद्याविशेषतः ॥१३९

विप्राणां प्रणवः सेतुः क्षत्रियाणां तथैव च ।
वैश्यानां तु फडर्थः स्यात् माया शूद्रस्य कथ्यते ॥१४०

अजप्त्वा हृदि देवेशि यो वै मन्त्रं समुच्चरेत् ।
सर्वेषामेव मन्त्राणामधिकारो न तस्य हि ॥१४१
महासेतुं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वा च हितेऽनघे ।
महासेतुं विना देवि यो जपेत् स तु पापभाक् ॥१४२
सर्वेश्च वधूबीजन्तु जप्तव्यं मन्त्रसिद्धये ।
निर्वाणं संप्रवक्ष्यामि शृणुष्वा च हितेनघे ॥१४३
प्रणवं पूर्वमुच्चार्य्य मातृकाद्यं समुद्धरेत् ।
मातृकार्णाः समस्तास्तु पुनः प्रणवमुद्धरेत् ॥१४४
एवं पुटितमन्त्रं तु प्रजपेन्मणिपूरके ।
निर्वाणं यो न जानाति तस्य मन्त्रो न सिद्ध्यति ॥१४५
योनिमुद्रां प्रवक्ष्यामि मन्त्रीणां फलहेतवे ।
विना येन न सिद्ध्येत कल्पकोटिशतैरपि ॥१४६
मूलाधारे कर्णिकान्तं त्रिकोणं त्रिगुणात्मकम् ।
तद्योनि कुहरे लिङ्गं पश्चिमाभिमुखं परः ॥१४७
तस्योपरिगतां ध्यायेत् सार्द्धं त्रिवलयान्विताम् ।
प्रसुप्तां भुजगाकारां विशतं तु तनीयसीम् ॥१४८
तडित्सूर्य्येन्दुकोटीनां प्रभापूरितविग्रहाम् ।
मनो दण्डाहतं कृत्वा हुङ्कारेणैव कुण्डलीम् ॥१४९
पवनानलसंयोगाच्चैतन्यं कारयेदथ ।
ज्वलद्दीपशिखाकारं विश्राम्य प्रतिपङ्कजे ॥१५०
सहस्रारे हंसपीठे परमात्मनि योजयेत् ।
तस्या योगान्निराकारः साकारो भवति क्षणात् ॥१५१
ध्यात्वा तयोः सामरस्यं मनस्तस्माद्विघट्टयेत् ।
चन्द्रार्द्धमण्डले भाले ततः कुलगुरून् यजेत् ॥१५२
प्रह्लादानन्दनाथं च सनकानन्दनाथकम् ।
कुमारानन्दनाथं च वसिष्ठानन्दनाथकम् ॥१५३
क्रोधानन्दसुखानन्दौ ध्यानानन्दं ततः परम् ।
बोधानन्दमथाभ्यस्य ध्यायेत् कुलमुखोपरि ॥१५४

महारसरसोल्लासहृदया घूर्णलोचनाः ।
कुलालिङ्गनसम्भिन्नाश्चूर्णिताशेषतामसाः ॥१५५
कुलशिष्यैः परिवृताः पूर्णान्तःकरणोद्यताः ।
वराभययुताः सर्वे कुलतत्त्वार्थवेदिनः ॥१५६
इत्थं कुलगुरुं ध्यात्वा प्रणिपत्य पुनः पुनः ।
आनन्दलोलमूर्तां तां रतिश्रान्तां मनोहराम् ।
पुनस्तेन पथा मूले संस्थाप्य प्रणमेदनु ॥१५७

प्रकाशमानां प्रथमे प्रयाणे
प्रतिप्रयाणेष्वमृतायमानाम् ।
अन्तःपदव्यामनुसञ्चरन्ती-
मानन्दरूपाममलां प्रपद्ये ॥१५८

मन्त्रचैतन्यमेतत्तु कथितं गुरुभाषितम् ।
तत्प्रभापटलव्याप्तपाटलीकृतदेहवान् ॥१५९
योनिमुद्रान्तरं वक्ष्ये गौतमीतन्त्रसम्मतम् ।
मूलाधारं चतुष्पत्रं स्वाधिष्ठानं च षड्दलम् ॥१६०
मणिपूरे दशदलं दलन्द्वादशकं हृदि ।
कण्ठे च षोडशदलं द्विदलं च भ्रूमध्यके ॥१६१
एवं षट्चक्रसंचिन्त्य यथोक्तन्तु विधानतः ।
आदौ पूरकयोगेन आधारे योजयेन्मनः ॥१६२
गुदमेढ्रान्तरे शक्तिस्तामाद्यां च प्रवर्त्तयेत् ।
लिङ्गभेदक्रमेणैव ब्रह्मचक्रं च प्रापयेत् ॥१६३
शम्भुलतां परां शक्तिमेकीभावं विचिन्तयेत् ।
तत्रोत्थितामृतं यत्तु द्रुतं लाक्षारसोपमम् ॥१६४
पाययित्वा च शक्तिं तां ब्रह्माख्यां योगसिद्धिदाम् ।
षट्चक्रदेवतां तत्र सन्तर्प्यामृतधारया ॥१६५
आनयेत्तेन मार्गेण मूलाधारं ततः सुधीः ।
एवमभ्यस्यमानस्य अहन्यहनि निश्चितम् ॥१६६
जरामरणदुःखाद्यैर्मुच्यते भवबन्धनात् ।
पूर्वोक्ता दूषिता मन्त्राः सर्वे सिद्ध्यन्ति नान्यथा ॥१६७

ये गुणाः सन्ति देवस्य पञ्चकृत्यविधायिनः।
ते गुणाः साधकवरा भवन्त्येव न चान्यथा ॥१६८

कुब्जिकातन्त्रे

योनिमुद्रा महेशानि यदि कर्त्तुं न शक्यते।
मायया वा श्रिया वापि कामेन प्रणवेन वा ॥१६९

सम्पुटं मूलमन्त्रं तु जपेदष्टसहस्रकम्।
तेनैव च सुसिद्धं स्यात् मन्त्रसाधनमाचरेत् ॥१७०

अङ्गन्यासं ततः कुर्यात् तद्विधानं वदामि ते।
यद्बीजाद्या भवेद्विद्या तद्बीजेनाङ्गकल्पना ॥१७१

अङ्गन्यासविहीनं तु न दास्यति फलं क्वचित्।
प्राणायामं ततः कुर्य्यात् मूलेन प्रणवेन वा ॥१७२

पूरकं वामनाड्यान्तु कुर्य्यात् षोडशधा जपैः।
कुम्भकं मध्यनाड्यां तु चतुःषष्टीं जपेत्ततः ॥१७३

रेचनं पिङ्गलायां तु तदर्द्धं जपसंख्यया।
विपरीतं ततः कुर्य्यात् यथाशक्त्या तु साधकः ॥१७४

तदशक्तं चतुर्थ्यादि प्राणं संयमनं चरेत्।
ईडया पूरयेद्वायुं सकृद्वा मूलविद्यया ॥१७५

मध्यनाड्या कुम्भयेच्च वेदसंख्यां वरानने।
नेत्रसंख्यां क्रमेणैव रेचयेत् पिङ्गलाध्वना ॥१७६

पुनः पुनः क्रमेणैव यथा वारत्रयं भवेत्।
बाह्यादौ पूरणं वायुरुदरे पूरको भवेत् ॥१७७

सम्पूर्णं कुम्भयेद्वायोर्धारणं कुम्भकं भवेत्।
बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचनं हि सः ॥१७८

कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम्।
प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्ज्जनीं मध्यमां विना ॥१७९

प्राणायामं विना देवि पूजने न हि योग्यता।
अपरंकं प्रवक्ष्यामि मुखशोधनमुत्तमम् ॥१८०

यन्न कृत्वा महादेवि जपपूजा वृथा भवेत् ।
अशुद्धजिह्वया देवि यो जपेत् स तु पापभाक् ॥१८१

मुखशोधनमात्रेण जिह्वामृतमयी भवेत् ।
अन्यथा मुखविड्युक्ता जिह्वा भवति सर्वदा ॥१८२

भक्षणे दूषिता जिह्वा मिथ्यावाक्येन दूषिता ।
कलहैर्दूषिता जिह्वा तत् कथं प्रजपेन्मनुम् ॥१८३

तत् शोधनमनाचर्य्य न जपेत् पामरः क्वचित् ।
शैवशाक्तवैष्णवादेः सर्वस्यावश्यमेव वा ॥१८४

अन्यथा प्रजपेन्मन्त्रं मोहेन यदि भामिनि ।
सर्वं तस्य वृथा देवि मन्त्रसिद्धिर्न जायते ॥१८५

अन्ते नरकगामी च भवेत् सोऽपि न चान्यथा ।
देवो यदि जपेन्मन्त्रं अकृत्वा मुखशोधनम् ॥१८६

पतनं तस्य देवेशि किं पुनर्मर्त्यवासिनाम् ।
सर्वेषां प्रणवं मन्त्रं प्रशस्तं मुखशोधने ॥१८७

वदने दशधा तारं जपित्वा जपमाचरेत् ।
कालिकायां विशेषोऽयं वदामि तत् शृणुष्व मे ॥१८८

कालीबीजं त्रयन्तारं त्रयं कामत्रयं तथा ।
तारायाः प्रणवं माया द्वयं च मुखशोधने ॥१८९

दुर्गाया वाग्भवं बीजं त्रयं च मुखशोधने ।
सर्वत्र प्रणवं शस्तं प्राणयोगमतः शृणु ॥१९०

अथ वक्ष्यामि देवेशि प्राणयोगं शृणुष्व मे ।
विना प्राणं यथा देहः सर्वकर्मसु ह्यक्षमः ॥१९१

विना प्राणं तथा मन्त्रः पुरश्चर्याशतैरपि ।[1]
मायया पुटितो मन्त्रः सप्तधा जपतः पुनः ।
सप्राणो जायते देवि सर्वत्रैवं विधिः स्मृतः ॥१९२

अथास्य दीपनं वक्ष्ये सर्वमन्त्रेषु भामिनि ।
अन्धकारगृहे यद्वन्न किञ्चिदवभासते ॥१९३

---

१. शतेन किमिति पाठान्तरम्

दीपनीरहितो मन्त्रस्तथैव परिकीर्तितः ।
वेदादिपुटितं मन्त्रं सप्त वारं जपेत् पुनः ॥१९४

दीपनीयं समाख्याता सर्वत्र परमेश्वरि ।
मतान्तरं प्रवक्ष्यामि शिवेन भाषितं यथा ॥१९५

तारमायारमायोगपुटितेन जपेन्मनुम् ।
शतमष्टोत्तरेणैव दीपयेत् साधकोत्तमः ॥१९६

दीपनं कथितं मन्त्रं दीपनन्तु प्रकाशनम् ।
निद्रादोषोपशान्त्यर्थमुपायं च वदामि ते ॥१९७

पिङ्गलायां गते वायौ विद्या निद्रातुरा प्रिये ।
ईडायां च गते वायौ तदा निद्रातुरा मनुः ॥१९८

एतत्ते कथितं देवि निद्राया लक्षणं प्रिये ।
प्रजपेद्यदि निद्रायां किं तस्य जपपूजने ॥१९९

सर्वं तस्य वृथा देवि अरण्ये रोदनं यथा ।
स्वापकालन्तु मन्त्रस्य जपोऽनर्थफलप्रदः ॥२००

स्वापकालो वामवाहो जागरो दक्षिणावहः ।
नाडीद्वयं गते प्राणे सर्वबोधं प्रयान्ति च ॥२०१

दिवा न पूजयेद्देवि रात्रौ नैव च नैव च ।
सर्वदा पूजयेद्देवि दिवारात्रिविवर्जितः ॥२०२

आदौ कामकलाबीजं स्वमन्त्रान्ते तु सञ्जपेत् ।
प्रायश्चित्तमिदं कृत्वा देवीमन्त्रं जपेद्यदि ॥२०३

किं तस्य दक्षिणावायुस्तस्य निद्रातुरे न किम् ।
रहस्यानेन चार्वङ्गि मुक्तनिद्रा सनातनि ॥२०४

योनिमन्त्रं मनोर्दत्वा आद्यन्ते परमेश्वरि ।
सप्तवारं जपेत्तां ■ दीपनीयं प्रकीर्त्तिता ॥२०५

वेदादिपुटितं कृत्वा प्रयत्नेन सुरेश्वरि ।
दशधा प्रजपेन्मन्त्रं सूतकं द्वयमुक्तये ॥२०६

दृष्टिसेतुभ्रुवोर्मध्ये नासिकाग्रे च ओमिति ।
दशधा प्रजपित्वा च ततो मन्त्रजपं चरेत् ॥२०७

जपान्ते ■ ततः कुर्यात् सूतकद्वयमुक्तये ।
प्राणायामं ततः कृत्वा गुह्यातीति विसर्जयेत् ॥२०८

ध्यानं पूजादानयज्ञा जपहोमादिकाः क्रियाः ।
क्रियामुक्तिरयं योगः सपिण्डे सिद्धदायकः ॥२०९

यत् करोमीति सङ्कल्पं कार्यारम्भे मनः सदा ।
तत् सङ्गाचरणं कुर्वन् क्रियायोगरतो भवेत् ॥२१०

क्षमाविवेकवैराग्यशान्तिसन्तोषनिस्पृहाः ।
एतन्मुक्तियुतश्चासौ क्रियायोगी निगद्यते ॥२११

मात्सर्यं ममता माया हिंसा च मदगर्वितः ।
कामः क्रोधो भयं लज्जा लोभो मोहस्तथा शुचिः ॥२१२

रागद्वेषौ घृणालस्यं भ्रान्तिर्दम्भोऽक्षमा भ्रमः ।
यस्यैतानि न विद्यन्ते क्रियायोगी ■ उच्यते ॥२१३

यावन्मनो लयं याति कृष्णे स्वात्मनि चिन्मये ।
भवेदिष्टमना मन्त्री जपहोमौ समभ्यसेत् ॥२१४

विदिते परतत्त्वे तु समस्तैर्नियमैरलम् ।
तालवृन्तेन किं कार्यं लब्धे मलयमारुते ॥२१५

तावत् कर्म्माणि कुर्वन्ति यावज्ज्ञानं न विद्यते ।
ज्ञाने जाते परेशानि कर्माकर्म न विद्यते ॥२१६॥

इति योगसङ्केताः ।

अथ चौरगणेशमन्त्रान् न्यसेत्—यथा गणेशविमर्शिन्याम्

चक्षुर्द्वयं तथा कर्णद्वयं नासापुटद्वयम् ।
मुखं नाभिं लिङ्गमूलं गुदस्थाने तथैव च ॥२१७

मनोद्वारे भ्रुवोर्मध्ये दशैते द्वारसङ्गिताः ।
अङ्कुशं प्रथमं बीजं हृदये दशधा जपेत् ॥२१८

प्रजपान्ते ततो मातः कपाटं निक्षिपेत्ततः ।
कर्णयोश्चेत्तथा कूर्चं कालीं नासापुटे ततः ॥२१९

मुखे स्त्रीं द्विविधं बीजं नाभौ कालीं ततो जपेत् ।
हंसौ बीजं लिङ्गमूले ल्वूं मूले परिकीर्त्तितम् ॥२२०

ओङ्कारं च भ्रुवोर्मध्ये मनःस्थाने तथैव च ।
एतदेकादशं बीजं प्रतिद्वारे कवाटवत् ॥२२१॥

वर्णविलासतन्त्रे

गणेश उवाच

अधुनाहं प्रवक्ष्यामि चौरमन्त्रमतः शृणु ।
चौरमन्त्रपरिज्ञानं विना हे ब्राह्मणेश्वरि ॥२२२

पुराणं प्रपठेद्यस्तु स एव मूर्त्तिमान् कलिः ।
परजन्मनि पापिष्ठः स भवेच्चौरकुक्कुरः ॥२२३

शिवपूजा विष्णुपूजा शक्तिपूजा विशेषतः ।
सर्वपूजासु यत्तेजो हरते गणपः स्वयम् ॥२२४

पञ्चाशद्गणदेवानां ज्योतिषि मुनिपुङ्गवः ।
प्रतिद्वारपथे गत्वा प्रतिपद्मेषु जृम्भते ॥२२५

हरन्ति जपतेजांसि प्रतिपद्मेषु संस्थिताः ।
जपपूजासु यत्तेजस्तत्र चौरगणाधिपाः ॥२२६

तस्माच्चौरप्रबोधार्थं चौरमन्त्रं जपेद्दश ।
ततस्तु पूजयेद्धीमान् यस्य या इष्टदेवताः ॥२२७

ततः फलमवाप्नोति ब्रह्मादित्रिदिवौकसः ।
चौरमन्त्रं महामन्त्रं पञ्चाशद्गणतोषणम् ॥२२८

चौरमन्त्रं विना भद्रे शान्तिस्वस्त्ययनं कुतः ।
चौरमन्त्रं चाह भद्रे प्रतिद्वारे कवाटवत् ॥२२९

रहस्यं ते प्रवक्ष्यामि पञ्चाशद्गणतोषणम् ।
अङ्कुशं पञ्चमं बीजं प्रथमे दशधा जपेत् ॥२३०

प्रजप्य सुभगे मातः कवाटं निक्षिपेत्ततः ।
अन्यथा चाङ्कुशैर्बीजैः कपाटं भेदिरे गणाः ॥२३१

चन्द्रिकान्तर्गतं नित्यं शङ्करं वरसुन्दरम् ।
चन्द्रिकासु समासीत शिञ्जिनी अणिमागुणाः ॥२३२

चन्द्रबिम्बात्मिका नित्या गणेशपरिपूजिता ।
द्रीं द्रीं वीजद्वयमिति विन्यसेन्नयनद्वये ॥२३३

कर्णयोश्च तथा द्रीं द्रीं हुं हुं नासाद्वये तथा ।
मुखे स्त्रीं द्विविधं बीजं नाभौ क्लीं मगेश्वरि ॥२३४

हंसौ बीजं लिङ्गमूले गुदे ल्वुं परिकीर्त्तितम् ।
हुङ्कारं च भ्रुवोर्मध्ये मनःस्थाने तथैव च ॥२३५

एतदेकादशद्वारे चौरमन्त्राणि विन्यसेत् ।
दशधा चौरमन्त्रं च एकधा वापि बीजकम् ॥२३६

अनेनैव जपेनापि प्रतिद्वारे कवाटकम् ।
शृणु चापि प्रवक्ष्यामि मन्त्रस्य जपनिर्णयम् ॥२३७

प्रातःकाले च शय्यायां मुक्तस्वापः स्वदेहके ।
पूर्ववन्मातृकान्यासं विन्यसेन् मातृकास्थले ॥२३८

तथा एकादशद्वारे चौरमन्त्राणि विन्यसेत् ।
दशधा चौरमन्त्रं च एकधा वापि सञ्जपेत् ॥२३९

चौरमन्त्रजपात्तुष्टिर्गणेशस्य तदा भवेत् ।
यमस्य नाधिकारोऽपि चौरमन्त्रजपात् प्रिये ॥२४०

सर्वमन्त्रजपात्तेजः सर्वस्मात् समुपस्थितम् ।
तत्तेजोहरणे शक्तिर्गणेशस्य न चैव हि ॥२४१॥

अथ प्रयोगः

[हृदि क्रों १० । दक्षचक्षुषि द्रीं द्रीं वामे च ।
दक्षकर्णे द्रीं द्रीं वामे च । दक्षनासायां हुं हुं वामे च ।
मुखे स्त्रीं स्त्रीं । नाभौ क्लीं क्लीं । लिङ्गे हंसौ । गुदे
ल्वुं । भ्रुवोर्मध्ये हुं । सर्वत्र दशधा वा एकधा जपेत् ।
अथान्तर्मातृका । ततो बाह्यमातृका । संहारमातृका ।]

दत्तात्रये

अङ्गेषु मातृकान्यासं पूर्वमन्त्रं जपेत् सुधीः ।
एवं च मन्त्रसिद्धिः स्यान्मन्त्रयोगः स उच्यते ॥२४२
चौरगणेशमन्त्रान् विन्यस्याजपामन्त्रं जपेत् समर्पयेच्च ।

नत्वा ब्रह्म निराकारं योगिनां च हिताय च ।
नवचक्रं प्रवक्ष्यामि यथा शङ्करभाषितम् ॥२४३॥

योगस्वरोदये

ईश्वर उवाच
त्रितीर्थं यत्र नाडीकस्त्रिपुण्यं परमेश्वरि ।
स्वदेहे यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥२४४

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्षं व्योमपञ्चकम् ।
स्वदेहे यो न जानाति स योगी नामधारकः ॥२४५

विशेषं कथयिष्यामि शृणु चैकमनाः सति ।
मूलकन्दस्थले चैका नाडी तेजस्वितापरा ॥२४६

गुदोर्ध्वे सा त्रिधा भूयादिडावामे शशिप्रभा ।
शक्तिरूपा महानाडी ध्यानात्सर्वार्थदायिनी ॥२४७

दक्षिणे पिङ्गलाख्येति पुंरूपा सूर्यविग्रहा ।
मध्यभागे सुषुम्नाख्या ब्रह्मविष्णुशिवात्मिका ॥२४८

शुद्धचित्तेन सा विज्ञा विद्युत्कोटिसमप्रभा ।
भुक्तिमुक्तिप्रदा ध्यानादणिमादिगुणप्रदा ॥२४९

सुषुम्नान्तः समाश्रित्य नवचक्रं यथा शृणु ।
मूलाधारं चतुष्पत्रं गुदोर्ध्वे वर्त्तते महत् ॥२५०

तन्मध्ये स्वर्णपीठे तु त्रिकोणमण्डलं परम् ।
तत्र वह्निशिखाकारा मूर्त्तिः सर्वत्र सिद्धिदा ॥२५१

अस्या ध्यानं मनोमध्ये विना पाठेन वाङ्मयम् ।
सर्वशास्त्राणि संकर्षं सदा स्फुरति योगवित् ॥२५२

लिङ्गमूले तु रक्ताभं साधिष्ठानन्तु षड्दलम् ।
तन्मध्ये बालसूर्याभं महज्ज्योतिः सुसिद्धिदम् ॥२५३

ध्यानाच्च वर्द्धते आयुः कन्दर्पसमतां व्रजेत् ।
तृतीयं नाभिदेशे तु दिग्दलं परमाद्भुतम् ॥२५४

महामेघप्रभं तत्तु कोटिविद्युत्समन्वितम् ।
कल्पान्तोऽग्निसमज्योतिस्तन्मध्ये संस्थितं स्वयम् ॥२५५

अस्य ध्यानाच्चिरायुः स्यादरोगी जगताम्वरः ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो जगन्मोक्षकरो महान् ॥२५६

अनाहतं महापीठं चतुर्थकमलं हृदि ।
सूर्यपत्रं महाज्योतिर्महासूक्ष्मन्तु चाक्षुषम् ॥२५७

तन्मध्येऽष्टदलं पद्ममूर्द्धवक्त्रं महाप्रभम् ।
प्राणवायोः स्थलं चास्य लिङ्गाकारन्तु कर्णिका ॥२५८

कालिकाख्या कर्णिकेयमस्या मध्ये तु कुण्डली ।
पद्मावत्याः प्रभाङ्गुष्ठप्रमाणरत्नसन्निभा ॥२५९

तस्य सञ्ज्ञी जीव इति अनन्तो बलरूपतः ।
तस्य ध्यानाद् जगद् वश्यं खेचरीसर्वगो भवेत् ॥२६०

भवन्ति वश्या देवाद्याश्चित्ताकर्त्तुर्न चान्यथा ।
इष्टानिष्टं भवेद् वश्यं सत्यं सत्यं न संशयः ॥२६१

इष्टसिद्धिर्भवेत्तस्य सर्वज्ञादिगुणोदयः ।
कलापत्रं पञ्चमन्तु विशुद्धं कण्ठदेशतः ॥२६२

अस्य मध्ये पुमानेकः कोटिचन्द्रसमप्रभः ।
नश्यन्त्यसाध्यरोगा हि सहस्रायुश्च चिन्तनात् ॥२६३

आज्ञाख्यं षट्कं चक्रं भ्रुवोर्मध्ये द्विपत्रकम् ।
अग्निज्वालानिभं ज्योतिः पुंसस्त्रीतो विवर्जितम् ॥२६४

ध्यानाच्चास्य सर्वसिद्धिरजरामरतां व्रजेत् ।
चतुःषष्टिदलं तालुमध्ये चक्रन्तु मध्यमम् ॥२६५

पीयूषपूर्णकोटीन्दुसन्निभममृतस्थली ।
तन्मध्ये घटिकासंज्ञा कर्णिका रक्तसन्निभा ॥२६६

सह चेन्दुकलातन्द्रामृतधारां स्रवत्यसौ ।
एतद्ध्यात्वामृतैः स्नात्वा सदा रोगात् प्रमुच्यते ॥२६७

उन्मादज्वरपित्तादिदाहशून्यादिवेदनाः ।
नश्यन्ति च शिरोदुःखं जाड्यभावोपि नश्यति ॥२६८

ब्रह्मरन्ध्रेऽष्टमं चक्रं शतपत्रं महाप्रभम् ।
जलन्धरं नामपीठमेतत्तु परिकीर्त्तितम् ॥२६९

सिद्धपुंसस्थलं ज्ञात्वा अग्निधूमनिभा शिखा ।
आदिमध्यान्तहीना स्त्रीपुंमूर्त्तिर्वर्त्तते परा ॥२७०

अन्तर्यामी भवेद् ध्यानादाकाशेऽपि समागमः ।
निरन्तरं सर्ववेत्ता इत्युच्चानो महान् भवेत् ॥२७१

जगन्मध्ये स्थितो जन्तुर्जगद्‌बाधाविवर्जितः ।
नवमन्तु महाशून्यं चक्रन्तु तत्परात्परम् ॥२७२

तदुपरिपरं किञ्चिन्नास्ति किञ्चिन्महापरम् ।
महाचक्रं सिद्धिचक्रं पूर्णगौर्यादिसंज्ञकम् ॥२७३

तन्मध्ये वर्त्तते पद्मं सहस्रदलमद्‌भुतम् ।
ऊर्ध्ववक्त्रं महावक्त्रं वर्णशोभाप्रदं महत् ॥२७४

सर्वकल्याणसम्पूर्णमस्य तुल्यं न विद्यते ।
परिमाणं वक्तुमस्य मनसा वचसा न हि ॥२७५

त्रिकोणकर्णिकातन्त्रं वर्त्तते जगदीश्वरि ।
कला सप्तदशी तत्र वर्त्तते परमेश्वरि ॥२७६

निरञ्जनकला सा तु कोटिसूर्य्यसमप्रभा ।
कोटिचन्द्रप्रभा चैव शीतोष्णादिविवर्जिता ॥२७७

अस्य ध्यानात् साधकस्य मनोदुःखं भवेन्न हि ।
अनन्तपरमानन्दस्थानं ज्ञेयं तदर्द्धतः ॥२७८

ऊर्द्धगतकला तत्र तस्य ध्यानाद्भवेदिति ।
इति सिद्धिराजयोगं स्त्रीणां भोगं महासुखम् ॥२७९

गीतवाद्यविनोदादि सशिवं वर्द्धते क्षितौ ।
ध्यानं निरन्तरं चास्य पुण्यपापौ स्थिरौ न हि ।
निजरूपस्य दृष्टिः स्याद् दुरार्थार्थं ■ पश्यति ॥२८०॥

इति नवचक्रम्

इत्यघोरानन्दविरचितायां कर्णिकायां प्रातःकृत्यादिनिर्णयो नाम प्रथमः पादः ॥

# अथ द्वितीयः पादः

ईश्वर उवाच

सुखसाध्यं लक्षयोगमिदानीं शृणु पार्वति ।
पञ्चधा लक्षयोगश्च ऊर्ध्वलक्षादिभेदतः ॥१

ऊर्ध्वलक्षमधोलक्षं वाह्यलक्षं तथैव च ।
मध्यलक्षं तथा ज्ञेयमन्तर्लक्षं तथैव च ॥२

लक्षणं शृणु चैषां हि फलं ज्ञात्वा महेश्वरि ।
आकाशे दृष्टिमास्थाय [illegible] ऊर्ध्वन्तु कारयेत् ॥३

ऊर्ध्वलक्षं भवेदेषा परमेशस्य चैकता ।
नासिकोपरि देवेशि द्वादशाङ्गुलमानतः ॥४

दृष्टिस्थिरन्तु कर्त्तव्यमधोलक्षमिदं भजेत् ।
तथा च नासिकाग्रे तु स्थिरा दृष्टिरियं शृणु ॥५

[illegible] भवेत् स्थिरा दृष्टिश्चिरायुः स्थिरदृष्टिमान् ।
वाह्यलक्षं स्वयं ज्ञेयं याति तत्त्वनिरासिनाम् ॥६

कामिनां तु बहिर्दृष्टिश्चिन्तादिषु सुसिद्धिदा ।
एतद् बाह्यमध्यलक्षं दृष्टिचिन्तानिराकुलः ॥७

अन्तर्लक्षं शृणु सुभ्रु दिग्विदिगादिवर्जितम् ।
बाह्याभ्यन्तर आकाशं बाधामन्त्रं परं मतम् ॥८

चलज्जाग्रत्सुषुप्तेषु भोजनेषु [illegible] सर्वदा ।
सर्वावस्थासु देवेशि चित्तं शून्ये नियोजयेत् ॥९

कर्त्ता कारयिता शून्यं मूर्तिमान् शून्य ईश्वरः ।
हर्षशोकघटस्थोऽयं जन्ममृत्यू लभेत् स्वयम् ॥१०

घटस्थां चिन्तयेन्मूर्त्तिमितश्चिन्तास्वरूपधृक् ।
विषयं विषवत् दृष्ट्वा त्यक्त्वा ज्ञात्वा तु मारुतम् ॥११

संज्ञाशून्यमना भूत्वा पुण्यपापैर्न लिप्यते ।
बाह्यमाभ्यन्तरं यद्द हि अन्तर्लक्षमिति स्मृतम् ॥१२

एतद्ध्यानात्सदा किञ्चिद् दुःखं न स्याच्छिवो भवेत् ।
शून्यन्तु सच्चिदानन्दं निःशब्दं ब्रह्मशब्दितम् ।
सशब्दं ज्ञेयमाकाश इति भेदद्वयन्त्विह ॥१३॥

अथ षोडशाधाराः

ईश्वर उवाच

नवचक्रं कलाधारं त्रिलक्षं व्योमपञ्चकम् ।
समग्रं यो न जानाति ■ योगी नामधारकः ॥१४

षोडशाधारभेदन्तु शृणु देवि विशेषतः ।
अङ्गुष्ठपादयोस्तेजः सलक्षस्थिरदृष्टिमान् ॥१५

पादाङ्गुष्ठे य आधारः प्रथमं योगतत्त्वतः ।
द्वितीयं पादमूलन्तु पादमूलं परं स वै ॥१६

पादस्य पार्ष्णि संस्थाप्य बलवान् प्रभवेन्मुनिः ।
पादमूलेऽथवा पृष्ठे पादाङ्गुष्ठे विधारयेत् ॥१७

तृतीयन्तु गुदाधारे गुदसङ्कोचनक्रिया ।
विकाशाकुञ्चनं तस्य स्थिरवायौ च मृत्युजित् ॥१८

लिङ्गाधारं चतुर्थन्तु लिङ्गसङ्कोचनन्तु च ।
लिङ्गसङ्कोचनाभ्यासात् पश्चिमादण्डमध्यगः ॥१९

वज्रानाडी तु तन्मध्ये पुनरभ्यसनन्तथा ।
सञ्चारो वायुमनसो रति सञ्चरति त्रिधा ॥२०

ग्रन्थित्रयविभेदन्तु तद्भेदो ब्रह्ममार्गतः ।
ब्रह्मपद्मे वायुपूर्णे भूत्वा तिष्ठति योगिराट् ॥२१

वीर्य्यस्तम्भो भवेत्तेन साधयेत्तु सदा युवा ।
मूलाधारे ब्रह्मपद्मे षट्पद्मे च तथातथा ॥२२

पञ्चमं जठराधारं तदा बन्धयति क्रमात् ।
मृत्युनामाङ्गसिद्धोऽयं मृत्युरेव क्षयङ्करः ॥२३

अनेन पश्चिमादूर्ध्वं वायुं कुर्य्यात् विशालधीः ।
बन्धोऽयं बुद्धिमनसोः पञ्चमाधारकालजित् ॥२४

नाभ्याधारे भवेत् षष्ठं तत्र प्राणं समभ्यसेत् ।
स्वयमुत्पद्यते नादो नादतो मुक्तिदण्डतः ॥२५

सप्तमो हृदयाधारस्तस्मिन् वायुनिबन्धनात् ।
ऊर्ध्ववक्त्राणि पद्मानि विकसन्ति महान् भवेत् ॥२६

कण्ठाधारोऽष्टमस्तत्र कण्ठसङ्कोचलक्षणः ।
जालन्धराख्यो बन्धः स्यात् तस्मिन् सति मरुद्दृढः ॥२७

नवमो घण्टिकाधारस्तत्र जिह्वाग्रतः कृते ।
चलने दोहने चैव जिह्वा जायेत लम्बितम् ॥२८

नासिकाप्राप्तजिह्वोऽयं तालुलग्नो भवेत्ततः ।
एकादशो भवेज्जिह्वातलजाधार ईश्वरि ॥२९

जिह्वाग्रमन्थने तस्मिन् पानीयं मधुरं भवेत् ।
तत्पीतेषु कविर्गीतिर्ज्योतिश्छन्दोविदुर्वरः ॥३०

द्वन्द्वाधारो द्वादशेति सर्वरोगः क्षयङ्करः ।
धारयेद् दन्तयोर्मध्ये जिह्वाग्रं च बलादपि ॥३१

धृत्वार्द्धघटिकामात्रं सर्वरोगांस्तु नाशयेत् ।
नासाधारस्ततः ज्ञेयो नासालक्षस्त्रयोदश ॥३२

मनः स्थिरं करोत्येव वायुः स्थिरकरो महान् ।
नासापुटेऽस्थिरा दृष्टिराधारोऽयं चतुर्दशः ॥३३

कृतेऽस्मिन् स्वीयतेजः स्यात् प्रत्यक्षं षट्त्रिमासतः ।
पार्थिवं त्रुटति क्षिप्रं प्रत्यक्षं स्वीयतेजसा ॥३४

पञ्चदशो भ्रुवोर्मध्ये स्थिरा दृष्टिस्तथा ध्रुवम् ।
अस्मिन् दृष्टिः स्थिरा कोटिकिरणानि स्फुरन्ति हि ॥३५

नेत्राधारः षोडशोयमङ्गुल्यग्रे न चालयेत् ।
सर्वज्ञः प्रभवस्तेन वर्द्धते जठरानलः ।

प्रत्यक्षं तद्भवेत्सर्वं तदभ्यासान्न संशयः ॥३६

पञ्चाकाशम्

आकाशं च महाकाशं पराकाशं परात्परम् ।
तत्त्वाकाशं सूर्य्याकाशमाकाशं पञ्चलक्षणम् ॥३७

सबाह्याभ्यन्तरे नित्यं निराकाशस्तु निर्म्मलम् ।
कर्त्तव्यं लक्षमाकाशं साधयेत् साधनं विना ॥३८

घनान्तरालसदृशं पराकाशं तथैव च ।
कालान्ताग्निसमं ज्योतिर्म्महाकाशं स्मरेत्तथा ॥३९

कोटिकोटिप्रतीपाभं तत्त्वाकाशं स्मरेत्तथा ।
सूर्याकाशं तथा कोटिसूर्यबिम्बसमं स्मरेत् ॥४०

सबाह्याभ्यन्तरे चैव साकाशं लक्षयेत्तु यः ।
शिववद् विहरेद्विश्वे पापपुण्यविवर्जितः ।

एतेषां चैव लक्षेन कर्म्मद्वारानपाहरेत् ॥४१॥

पञ्चामरायोगः

शिवस्य चरणाम्भोजं प्रणम्य च पुनः पुनः ।
वक्ष्ये पञ्चामरायोगं योगिनां च हिताय वै ॥४२॥

रुद्रयामले उत्तरखण्डे आनन्दभैरवं प्रति

आनन्दभैरव्युवाच

नेतियोगं हि सिद्धानां महाकफविनाशनम् ।
दण्डयोगं प्रवक्ष्यामि हृदयग्रन्थिभेदनम् ॥४३

धौतियोगं ततः पश्चात् सर्वं मलविनाशनम् ।
लौलीयोगं हि परमं सर्वाङ्गोदरचालनम् ॥४४

क्षालनं परमं योगं नाडीनां क्षालनं स्मृतम् ।
एवं पञ्चामरायोगं यमिनाममतिगोचरम् ॥४५

यमनियमकाले तु पञ्चामरक्रियां चरेत् ।
अमरासाधनादेव अमरत्वं भवेद्ध्रुवम् ॥४६

एतत् करणकाले च तथा पञ्चामरासनम् ।
पञ्चामरामक्षणेन अमरायोगसिद्धिभाक् ॥४७

तानि द्रव्याणि वक्ष्यामि तवाग्रे परमेश्वर ।
येन हीना न सिद्धचन्ति कल्पकोटिशतेन च ॥४८

एका तु अमरा दूर्वा तस्या ग्रन्थि समानयेत् ।
अन्या तु विजया देवि सिद्धिरूपा सरस्वती ॥४९

अन्या तु बिल्वपत्रस्था शिवसन्तोषकारिणी ।
अन्या तु योगसिद्धचर्थं निर्गुण्ठी चामरा मता ॥५०

अन्या तु कालतुलसी श्रीविष्णोः प्रियतोषिणी ।
एता पञ्चामरा ज्ञेया योगसाधनकर्मणि ॥५१

एतेषां द्विगुणं ग्राह्यं विजयापत्रमुत्तमम् ।
ब्राह्मणी क्षत्रिया वैश्या शूद्रा सर्वत्र पूजिता ॥५२

एतद् द्रव्याणि संगृह्य भक्षयेच्चूर्णमुत्तमम् ।
तच्चूर्णभक्षसमये एतन्मन्त्रादिपञ्चकम् ॥५३

पठित्वा भक्षणं कृत्वा नरो मुच्येत सङ्कटात् ।
ओं हरे अमरपुष्टे त्वममृतोद्भवसम्भवे ।
अमरं मां सदा भद्रे कुरुष्व त्वं हरप्रिये ॥५४

ओं दुर्गायै स्वाहा

ओं सम्विन्दे ब्रह्मसम्भूते ब्रह्मपुत्रि सदानघे ।
भैरवानां हितार्थाय पवित्रा भव सर्वदा ॥५५

ओं ब्राह्मण्यै नमः स्वाहा

ओं सिद्धिमूलकरे देवि हीनबोधप्रबोधिनि ।
राजपुत्रवशङ्कारि राजकन्ये त्रिशूलिनि ॥५६

ओं क्षत्रियायै नमः स्वाहा

ओं अज्ञानेन्धनदीप्ताङ्गे ज्ञानाग्ने ज्ञानरूपिणि ।
आसनस्याहुतिप्रीति सम्यग् ज्ञानं प्रयच्छ मे ॥५७

ओं वैश्यायै नमः स्वाहा

ओं नमस्यामि सुभगे योगमार्गप्रदायिनि ।
त्रैलोक्यविजये मातः समाधिफलदा भव ॥५८

श्रीं शूद्रायै नमः स्वाहा

ओं कायसिद्धिकरे देवि बिल्वपत्रनिवासिनि ।
अमरत्वं सदा देहि शिवतुल्यं कुरुष्व मे ॥५९

ओं शिवदायै नमः स्वाहा

ओं निर्गुण्ठि परमेशानि योगानामधिदेवते ।
सा मां रक्ष त्वममरे भावसिद्धिप्रदे नमः ॥६०

ओं शोकापहायै नमः स्वाहा

ओं विष्णोः प्रिये महामाये कालज्वालनिवारिणि ।
तुलसि मां सदा रक्ष मामेकममरं कुरु ॥६१

ओं ह्रीं श्रीं क्रीं ह्रीं अमरायै नमः स्वाहा

[ओं अमृते अमृतोद्भूते अमृतमाकर्षय ॥
अमुकीं देवतामेव वशमानय स्वाहा ।]
पुनरेकत्र चाहृत्य सर्वेषां सेवनं चरेत् ।
धेनुमुद्रां योनिमुद्रां मत्स्यमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥६२
तत्त्वमुद्राक्रमेणैव तर्पणं कारयेद्बुधः ।
अमन्त्रकं सप्तवारं गुरुनाम्ना शिरोऽर्पयेत् ॥६३
सप्तवारमिष्टदेव्या नाम्ना मूर्ध्नि प्रदापयेत् ।
ततस्तर्पणमाकुर्य्यात् तर्पयामि नमो नमः ॥६४
एतद्वाक्यस्य पूर्वे तु इष्टमन्त्रं समुच्चरेत् ।
परदेवतां समुद्धृत्य सर्वाद्यैः प्रणवं स्मृतम् ॥६५
ततो मुखे प्रजुहुयात् कुण्डलीनामपूर्वकम् ।
वाग्वादिनी मे जिह्वाग्रे सर्वशत्रुवशङ्करी ॥६६
शत्रुकण्ठे त्रिशूलिनी स्वाहेति मन्त्रमुच्चरेत् ।
एतदुक्त्वा आश्रमी ■ वशी साधकसत्तमः ॥६७

निवेद्य कुण्डलीमुखे जुहोमि स्वाहा। इत्यनेन स्वीकृत्य कुण्डलीस्तोत्र—
कवचं पठेत्

अथ योगसङ्केताः

अविज्ञाते यस्मिन्नसदपि जगद्भाति सदिव
यथात्मान्तःपूजं हुतभुगिव वा नीलगगनम् ।

सुविज्ञाते यस्मिन् स्वयमपि सदा भाति न परं
नमस्तस्मै कस्मै वचनहृदयातीतपतये ॥६८

नत्वा [illegible] निराकारं निराभासं निरञ्जनम् ।
योगिनामुपकारार्थं प्राणायामो निगद्यते ॥६९

प्राणो देहगतो वायुरायामस्तस्य निग्रहः ।
वामदक्षिणमार्गेण प्रयाणात् प्राण उच्यते ॥७०

प्राणसंरोधनाज् ज्ञानं ज्ञानादेव विमुच्यते ।
मूलस्य मूलं प्रणवं तस्मादोङ्कारमुच्चरेत् ॥७१

अचक्षरात्मकतारेण परेशः प्रतिपद्यते ।
तस्मादोङ्कारं प्रजपेद्भक्तो मन्त्रार्थशेषतः ॥७२

अकारेण जगत्पाता संहर्त्ता स्यादुकारतः ।
मकारेण जगत्स्रष्टा प्रणवार्थमुदाहृतम् ॥७३

मन्त्रकोटिसहस्राणि बीजकोटिशतानि [illegible] ।
सर्वं च भस्मनिर्धूतं [illegible] देवो निरञ्जनः ॥७४

गोरक्षे

पद्मासनं समारुह्य समकायः शिरोधरः ।
नासाग्रदृष्टिरेकान्तो यजेदोङ्कारमव्ययम् ॥७५

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्य्याऽग्निदेवताः ।
प्रणवस्य सुतिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥७६

त्रयः कालास्त्रयो देवास्त्रयो लोकास्त्रयः स्वराः ।
त्रयो देवाः स्थिता यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥७७

क्रिया इज्या तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी ।
त्रिधा शक्तिः स्थिता [illegible] तत्परं ज्योतिरोमिति ॥७८

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत् प्रणवं सदा ।
न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा ॥७९

मार्कण्डेयपुराणे

ओमित्येतत् त्रयो देवास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः ।
विष्णुक्रमास्त्रयश्चैव ऋक्सामानि यजूंषि च ॥८०

मात्राश्चार्द्धं च तिस्रश्च विज्ञेयाः परमार्थतः ।
तत्र युक्ते तु योगीशः स तल्लयमवाप्नुयात् ॥८१

अकारस्त्वथं भूर्लोक उकारश्चोच्यते भुवः ।
सव्यञ्जनमकारश्च स्वर्लोकः परिकल्प्यते ॥८२

वैदिकस्तान्त्रिकश्चैव प्राणायामो द्विधा मतः ।
क्रिया भिन्ना फलं चैकमिति जानीहि निश्चितम् ॥८३

नमस्ते विश्वरूपाय विश्वातीताय वै नमः ।
ब्रह्मविष्णुस्वरूपाय नमस्ते शङ्करात्मने ॥८४

आदौ वैदिकः प्राणायामः काशीखण्डे पञ्चत्रिंशदध्याये

गायत्रीं शिरसा चार्द्धं सप्तव्याहृतिपूर्विकाम् ।
त्रिर्जपेत् सदशोङ्कारः प्राणायामोऽयमुच्यते ॥८५

प्राणायामंश्चरन्विप्रो नियम्येन्द्रियमानसम् ।
अहोरात्रकृतैः पापैर्मुक्तो भवति तत्क्षणात् ॥८६

दशद्वादशसंख्यो वा प्राणायामः कृतो यदि ।
नियम्य मानसं तेन तदा तप्तं महातपः ॥८७

सव्याहृतिः प्रणवकः प्राणायामस्तु षोडश ।
अपीन्द्रगहनं मासात् पुनन्त्यहरहः कृतात् ॥८८

यथा पार्थिवधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः ।
तथेन्द्रियैः कृता दोषा ज्वाल्यन्ते प्राणसंयमात् ॥८९

एकं सम्भोज्य विधिवद् ब्राह्मणं यत्फलं लभेत् ।
प्राणायामैर्द्वादशभिस्तत्फलं श्रद्धयाप्यते ॥९०

वेदादिवाङ्मयं सर्वं प्रणवे यत् प्रतिष्ठितम् ।
ततः प्रणवमभ्यस्य वेदादि वेदयापकः ॥९१

प्रणवे नित्ययुक्तस्य सप्तसु व्याहृतिष्वपि ।
त्रिपदायान्तु गायत्र्यां न भयं जायते क्वचित् ॥९२

एकाक्षरं परं ब्रह्म प्राणायामं परन्तप ।
गायत्र्यास्तु परं नास्ति पावनं कलशोद्भव ॥९३

कर्म्मणा मनसा वाचा यद्रात्रौ कुरुते त्वघम् ।
उत्तिष्ठन् पूर्वसन्ध्यायां प्राणायामैर्विशोधयेत् ॥९४

यदह्ना कुरुते पापं मनोवाक्कायकर्म्मभिः ।
आसीनः पश्चिमां सन्ध्यां प्राणायामेन संहरेत् ॥९५

विन्दूपनिषदि

यथा पर्वतधातूनां दह्यन्ते धमनान्मलाः ।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ति प्राणनिग्रहात् ॥९६

प्राणायामास्त्रयः प्रोक्ता रेचपूरककुम्भकाः ।
सव्याहृतिं सप्रणवां गायत्रीं शिरसा सह ।

त्रिःपठेदायतः प्राणः प्राणायामः स उच्यते ॥९७

इति स्मृतिः

गायत्री ब्रह्मरूपा तु सावित्री विष्णुरूपिणी ।
सरस्वती रुद्ररूपा उपास्या रूपभेदतः ॥९८

योगी याज्ञवल्क्यः

पूर्वसन्ध्ये तु गायत्री सावित्री मध्यमा स्मृता ।
या भवेत् पश्चिमा सन्ध्या विज्ञेया सा सरस्वती ॥९९

करविन्यासो यथा स्मृतिः

कृत्वोत्तानौ करौ प्रातः सायं चाधोमुखौ करौ ।
मध्ये समकराभ्यां च जप एवमुदाहृतः ॥१००

शङ्खः

त्रिस्रोऽङ्गुल्यस्त्रिपर्वाणो [illegible] चैकपर्विका ।
अनामामध्यमारभ्य जप एवमुदाहृतः ॥१०१

मदनपारिजाते

मध्यमाया द्वयं पर्वं जपकाले तु वर्जयेत् ।
एवं मेरुं विजानीयाद् दूषितं ब्रह्मणा स्वयम् ॥१०२

अङ्गुल्यग्रेण यज्जप्तं यज्जप्तं मेरुलङ्घितम् ।
असंख्यातं च यज्जप्तं तत्सर्वं निष्फलं भवेत् ॥१०३

अङ्गुल्यग्रे निषेधात् पर्वणाजप इति गोभिलः ।

नरसिंहपुराणे

कदाचिदपि यो विद्वान् गायत्रीमुदके जपेत् ।
गायत्र्यग्निमुखी प्रोक्ता तस्मादुत्थायतां जपेत् ॥१०४

यज्जले शुष्कवस्त्रेण स्थले चैवार्द्रवाससा ।
जपहोमौ तथा दानं सर्वं तन्निष्फलं भवेत् ॥१०५

गृहेषु तत्समं जप्यं गोष्ठे शतगुणं स्मृतम् ।
नद्यां शतसहस्रन्तु अनन्तं शिवसन्निधौ ॥१०६

दशभिर्जन्मजनितं शतेन च पुराकृतम् ।
त्रियुगन्तु सहस्रेण गायत्री हन्ति दुष्कृतिम् ॥१०७

सहस्रपरमं देवि शतमध्यां दशावराम् ।
गायत्रीन्तु जपन् विप्रो न ■ पापैर्विलिप्यते ॥१०८

त्रिविधोयं जपः प्रोक्तस्तस्य भेदं निबोधत ।
वाचिकश्च उपांशुश्च मानसश्च त्रिधा स्मृतः ॥१०९

त्रयाणां जपयज्ञानां श्रेयान् स्यादुत्तरोत्तरः ।
यदुच्चनीचस्वरितैः स्पष्टं शब्दवदक्षरैः ॥११०

मन्त्रमुच्चारयेद् व्यक्तं जपयज्ञो स वाचिको ।
शनैरुच्चारयेन्मन्त्रमीषदोष्ठौ प्रचालयन् ॥१११

किञ्चिच्छब्दं स्वयं विद्यादुपांशुः ■ जपः स्मृतः ।
ध्येया यदक्षरश्रेण्यो वर्णाद्वर्णं पदात्पदम् ॥११२

शब्दार्थचिन्तनाभ्यासः ■ उक्तो मानसो जपः ।

तेन स्वरादिषु व्यक्तवर्णोच्चारणवानवाचकः । सर्वग्रहणमात्रयोग्यः किञ्चिच्छब्दवानुपांशुः । जिह्वौष्ठचालनमन्तरेण वर्णार्थसन्धानात्मको मानसः इति । वाचिकेप्युच्चजपनिषेधमाह शङ्खः ।

नोच्चैर्जपं बुधः कुर्य्यात् सावित्र्यास्तु विशेषतः ॥११३

योगियाज्ञवल्क्यः

न च भ्रमन्न विहसन्न पार्श्वमवलोकयन् ।
लोकाश्रितो न जप्यं च न प्रावृत्तशिरस्तथा ॥११४

न पदा पादमाक्रम्य न वै बहिः करौ स्मृतौ ।
नैवंविधं जपं कुर्य्याद् न च संश्रावयेज्जपम् ॥११५

उत्तिष्ठथ वीक्षमाणोऽर्कमासीनः प्राङ्मुखो जपेत् ।
प्राक्कुशेष्वेवमासीनो वसानो वाससी शुभे ॥११६

वृद्धास्तु

यदि स्यात् क्लिन्नवासा वै गायत्रीमुदके जपेत् ।
अन्यथा च शुचौ भूम्यां कुशोपरि समाहितः ॥११७

व्यासः

जपकाले न भाषेत व्रतहोमादिकेषु च ।
एतेष्वेवावसक्तस्तु यद्यागच्छेद् द्विजोत्तमः ॥११८

अभिवाद्य ततो विप्रं योगक्षेमं च कीर्त्तयेत् ।

याज्ञवल्क्यः

यदि वाग्यमलोपः स्याद् जपादिषु कदाचन ।
व्याहरेद्वैष्णवं मन्त्रं स्मरेद्वा विष्णुमव्ययम् ॥११९

गौतमः

क्रोधं मोहं क्षुतं निद्रां निष्ठीवनं विजृम्भणम् ।
दर्शनं वनितानां च वर्जयेज्जपकर्मणि ॥
आचामेत् सम्भवे चैषां स्मरेद्विष्णुं सुरार्चितम् ॥१२०

बौधायनः

नाभेरधश्च संस्पर्शं कर्मयुक्तो विवर्जयेत् ॥१२१

इति छन्दोगपरिशिष्टम्

तिष्ठेदोदयनात् पूर्वं मध्यमामपि शक्तितः ।
आसितस्तूद्गमाच्चान्त्यां सन्ध्यां पूर्वं त्रिकं जपन् ॥१२२

एतत् सन्ध्यात्रयं प्रोक्तं ब्राह्मण्यं यदधिष्ठितम् ।
■■ नास्त्यादरो ■■■ न स ब्राह्मण उच्यते ॥१२३

पूर्वां सन्ध्यां प्रणवव्याहृति सावित्रीरूपं त्रिकं जपन् आउदयनात् सूर्योदयपर्यन्तं तिष्ठेत्, उत्थितो भवेदित्यर्थः। मध्यमामपि सन्ध्यां यथाशक्ति त्रिकं जपन् तिष्ठेत्। पश्चिमां तु आउद्गमान्नक्षत्रदर्शनपर्यन्तं जपन्नासीत उपविष्टः स्यात्। शङ्खः। कुशध्यामासीनं कुशोत्तरायाम्वा पवित्रपाणिरुदङ्मुखः सूर्याभिमुखो वा अक्षमालामादाय देवीं ध्यायन् जपं कुर्यात्। अथ च

**ओङ्कारं पूर्वमुच्चार्य भूर्भुवः स्वस्ततः परम्।**
**गायत्रीप्रणवञ्चान्ते जपेद् ह्येवमुदाहृतः ॥१२४**

इति याज्ञवल्क्येन जपे गायत्री आद्यन्ते प्रणवद्वयाभिधानात्। प्रागुक्तत्रिकं प्रवणद्वयं बोध्यम्। त्रिकन्तु प्रणवे द्वे नैकादविरुद्धम्। परवचनेन सन्ध्याविधानमुपसंहृतम्। निन्दया निन्दाविधानं च। प्राणायामादि गायत्रीजपान्तं सन्ध्योपासनामाह गोभिलः। अथातः सन्ध्योपासनाविधिं व्याख्यास्यामः। सुप्रक्षालितपाणिपादवदन उपविश्योपस्पृश्य प्रागग्रेषु दर्भेषु प्राङ्मुख उदङ्मुखो वा वद्धशिखो यज्ञोपवीतीति, ततः ओं भूर्भुवः स्वर्महर्जनस्तपः सत्यमिति सप्तव्याहृतयः प्रतिप्रणवाद्या गायत्र्या आपोज्योतिरसोमृतं ब्रह्म भूर्भुवः स्वरोमिति। शिरोदशप्रणवसंयुक्तस्त्रिरभ्यस्तपूर्वकं कुम्भकरेचकाभ्यां प्राणायामः। एवं त्रीणि कृत्वा सप्तवारं षोडश वा आचामेत्। ततो मार्जनम्। प्रणवेन व्याहृतिभिस्तिसृभिर्गायत्र्या आपो हि ष्ठादितिसृभिरिति। अथोदकं हस्ते कृत्वा ततो नासिकामादाय आयतासु न वायतासु वा त्रिः सकृद्वा जपेदृतं च सत्यमिति। त्रीण्युदकाञ्जलिमादित्यं क्षिपेत्। सावित्र्या उपस्थापनमुदत्यं चित्रमिति। अथ ध्यानम्। मार्त्तण्डोदयपूर्वां गायत्रीमष्टकृत्व एकादशकृत्वो द्वादशकृत्वः पञ्चदशकृत्वः शतकृत्वो वा इति। सहस्रकृत्वोऽष्टकृत्वः प्रयोक्ता पृथिवीमभिनयति। एकदशकृत्वोन्तरिक्षं द्वादशकृत्वः दिवं पञ्चदशकृत्वः सर्वदेशान् जयति। शतकृत्वः सर्वान् कामान् सहस्रकृत्वो यत्किञ्चित सर्वमिति। य इमां सन्ध्यां नोपास्ते नाचष्टे न स जयति। ये तूपासते श्रोत्रियो भवतीति ततश्च यथा विधिजपित्वेति।

इत्यघोरविरचितकर्णिकायां लक्षादिनिर्णयो नाम द्वितीयः पादः।

# अथ तृतीयः पादः

विश्वनाथं प्रणम्यादौ श्रीगुरोः पादपद्मतः ।
सर्वेषां च हितार्थाय प्राणायामं निरूपयेत् ॥१

ईडया कर्षयेद्वायुं बाह्यं षोडशमात्रया ।
धारयेत् पूरितं योगी चतुःषष्ट्या च मात्रया ॥२

सुषुम्नामध्यगं कृत्वा द्वात्रिंशन्मात्रया शनैः ।
नाड्या पिङ्गलया चैनं रेचयेद् योगवित्तमः ॥३

प्राणायाममि‌ं प्राहुर्योगशास्त्रविशारदाः ।
भूयोभूयः [illegible]ात्तस्य अभ्यासेन समाचरेत् ॥४

मात्रावृद्धिक्रमेणैव सम्यग् द्वादश षोडश ।
जपध्यानादिभिर्युक्तं सगर्भं तं विदुर्बुधाः ॥५

तदपेत्यं च निर्गर्भं प्राणायामं परे विदुः ।
क्रमादभ्यसतः पुंसो देहे स्वेदोद्गमोऽधमः ॥६

मध्यमः कम्पसंयुक्तो भूमित्यागपरो मतः ।
उत्तमस्य गुणावाप्तिर्यावच्छीलनमिष्यते ॥७

प्राणायामं चरेन्मन्त्री रेचपूरककुम्भकैः ।
रेचयेद्वक्षसा विद्वान् मात्राशोडशकेन च ॥८

द्वात्रिंशन्मात्रयापूर्य चतुःषष्ट्या च धारयेत् ।
एकश्वासश्चैकमात्रा मात्राया नियमो मतः ॥९

वामजानुनि हस्तस्य भ्रमणं यावता भवेत् ।
कालेन मात्रा सा ज्ञेया मुनिभिर्वेदपारगैः ॥१०

प्राणायामो द्विधा प्रोक्तः सगर्भश्च निगर्भकः ।
सगर्भो मन्त्रजापेन निगर्भो मात्रया भवेत् ॥११

प्राणायामात्परं धर्मः प्राणायामात्परं तपः ।
प्राणायामात्परं ज्ञानं प्राणायामात्परं पदम् ।।१२

प्राणायामात्परं योगः प्राणायामात्परं न हि ।
नास्ति नास्ति पुनर्नास्ति कथितं तव सुव्रते ।।१३

वत्सराभ्यासयोगेन ब्रह्म साक्षाद्भवेद् ध्रुवम् ।
चैतन्यावरणं यद्यत् क्षीयते नात्र संशयः ।।१४

प्राणायामं विना मुक्तिरन्यान्नास्ति मयोदितम् ।
प्राणायामं विना यद्यत् साधनं तत्फलं भवेत् ।।१५

प्राणायामेन मुनयः सिद्धिमापुर्न चान्यथा ।
प्राणायामपरो योगी न योगी न च एव सः ।।१६

गमनागमनं वायोः प्राणस्य धारणं तथा ।
प्राणायाम इति प्रोक्तो योगिनां योगसाधनम् ।।१७

आद्यन्तयोर्विधीयन्ते नासिकापुटधारणाः ।
रेचयेदीडया नाड्या पूरयेद्वामतस्ततः ।।१८

द्वात्रिंशदभ्यसेन्मन्त्रं प्राणायामः स उच्यते ।
ब्रह्महत्यासुरापानमगम्यागमनं तथा ।।१९

सर्वमाशु क्षयं याति प्राणायामेन वै द्विजः ।
भ्रूणहत्यादिपापानि नाशयेन्मासमात्रतः ।।२०

प्रातः सायं चरेन्नित्यं षोडशप्राणसंयमम् ।
नाशयेत् सर्वपापानि तुलाराशिमिवानलः ।।२१

सर्वेषामेव पापानां प्रायश्चित्तमिदं स्मृतम् ।
अथवा किं बहूक्तेन शृणु गौतमतत्त्वतः ।।२२

प्राणायामान्नहि परो योगिनां मुक्तिसिद्धये ।
प्राणायामं विधायेत्थं कथितं तव सुव्रते ।।२३

ताराप्रदीपे

प्राणायामं प्रवक्ष्यामि महापातकनाशनम् ।
यस्याभ्यासप्रसादेन जीवन्मुक्तो भवेन्नरः ।।२४

प्राणायामैः कृतैर्यस्मान्नित्यं षोडशभिः पुनः ।
दैवं देहं च यत्पापं सर्वं तन्नश्यति ध्रुवम् ॥२५

परोपतापजं पापं परद्रव्यापहारजम् ।
परस्त्रीमैथुनोत्पन्नं प्राणायामशतं दहेत् ॥२६

महापातकजातानि ब्रह्महत्याशतानि च ।
सर्वाण्येव प्रदह्यन्ते प्राणायामैश्चतुश्शतैः ॥२७

आदावन्ते च यत्नेन प्राणायामं समाचरेत् ।
कार्येष्वपि समस्तेषु शुभेष्वेवाशुभेषु च ॥२८

प्राणायामैर्विना यद्यत् कृतं कर्म निरर्थकम् ।
इन्द्रियेष्वपि ये दोषा वातपित्तकफोद्भवाः ॥२९

त्वगसृङ्मांसमेदोत्था मज्जास्थिशुक्रसम्भवाः ।
एते सर्वे प्रदह्यन्ते प्राणस्यान्तर्निरोधनात् ॥३०

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना सर्वसिद्धिदा ।
नाडीत्रयं भावयेच्च विद्वान् सर्वार्थसिद्धये ॥३१

इडया पूरयेद्वायुं कुम्भनात् कुम्भकः स्मृतः ।
त्यजेत् पिङ्गलया तं च सावधानेन योगवित् ॥३२

क्रमेणैव प्रयत्नेन प्राणायामत्रयं चरेत् ।
प्रणवैर्मूलमन्त्रैर्वा सङ्ख्यां कृत्वा समन्ततः ॥३३

अष्टद्विगुणमात्राभिरिडया च प्रपूरणम् ।
कुम्भके च चतुःषष्टी रेचके च द्विषोडशः ॥३४

कनिष्ठानामिकाङ्गुष्ठैर्यन्नासापुटधारणम् ।
प्राणायामः स विज्ञेयस्तर्जनीमध्यमां विना ॥३५

प्रातः काले तथा मध्ये दिनान्ते रात्रिमध्यके ।
अशीतिप्राणसंरोधं चरेत्कालचतुष्टये ॥३६

ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत् सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥३७

त्रिमासं नियताभ्यासात् नाभिचक्रस्य शोधनम् ।
काकचञ्चुमरुत्पानात् षण्मासात् सत्कविर्भवेत् ॥३८

विशुद्धेश्वरतन्त्रे

प्राणायामत्रयं कुर्याद् विद्यया तदनन्तरम् ।
पूरकं वामनाड्यान्तु कुर्यात् षोडशधा जपैः ॥३९

कुम्भकं मध्यनाड्यान्तु तदर्द्धं जपसंख्यया ।
विपरीतं पुनः कुर्याद् यथाशक्त्या तु साधकः ।
तदशक्तश्चतुर्थ्यादि प्राणसंयमनञ्चरेत् ॥४०

समयाङ्कमातृकायाम्

इडया पूरयेद्वायुं सकृच्च मूलविद्यया ।
मध्यनाड्यां कुम्भयेच्च वेदसंख्यां वरानने ॥४१

नेत्रसंख्याक्रमेणैव रेचयेत् पिङ्गलाध्वना ।
पुनः पुनः क्रमेणैव यथा वारत्रयं भवेत् ॥४२

बाह्यादौ पूरणं वायोरुदरे पूरको भवेत् ।
सम्पूर्णं कुम्भयेद्वायोर्धारणं कुम्भकं भवेत् ।
बहिर्यद्रेचनं वायोरुदराद्रेचनो हि सः ॥४३

इति मन्त्रसाधनम् । घेरण्डे

उपविश्यासने योगी पद्मासनं समाचरेत् ॥४४

गुर्वादिन्यासं संकृत्य यथा वै गुरुभाषितम् ।
नाडीशुद्धिं प्रकुर्वीत प्राणापानविशुद्धये ॥४५

वायुवीजं ततो ध्यात्वा धूम्रवर्णं सतेजकम् ।
चन्द्रेण पूरयेद्वायुं वीजषोडशकैः सुधीः ॥४६

चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया वायुः सूर्यनाड्याश्च रेचयेत् ॥४७

उत्थाप्याग्निं नाभिमूलाद् ध्यायेत्तेजावलीयुतम् ।
वह्निवीजं षोडशेन सूर्यनाड्या च पूरयेत् ॥४८

चतुःषष्ट्या मात्रया च कुम्भकेनैव धारयेत् ।
द्वात्रिंशन्मात्रया चैव शशिनाड्या च रेचयेत् ॥४९

नासाग्रे शशधृग्विम्बं ध्यात्वा ज्योत्स्नासमन्वितम् ।
ठं वीजं षोडशेनैव ईडया पूरयेन्मरुत् ॥५०

चतुःषष्ट्या मात्रया ■ वं बीजेनैव धारयेत् ।
अमृताप्लावितं ध्यात्वा नाडीधौतं विभावयेत् ॥५१

एवंविधि नाडीशुद्धिं कृत्वा नाडीं विशोधयेत् ।
दृढो भूत्वासनं कृत्वा प्राणायामं समाचरेत् ॥५२

हठप्रदीपे

अथासनं स्थितो योगी वशी हितमितासनः ।
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामं समाचरेत् ॥५३

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ।
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥५४

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।
मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥५५

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ।
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कुतो भवेत् ॥५६

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥५७

प्राणायामं ततः कुर्यान् नित्यं सात्त्विकया धिया ।
सुषुम्ना चान्तरालस्था मलाः शोषं प्रयान्ति च ॥५८

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति पुनः सूर्येण रेचयेत् ॥५९

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
विधिवत् कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।६०

येन त्यजेत्तेनापूर्य धारयेदविरोधतः ।
रेचयेच्च ततोन्येन शनैः पवनमारुतम् ॥६१

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडीगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥६२

प्रातर्मध्यन्दिने सायं मध्यरात्रे तु कुम्भकान् ।
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥६३

कनीयसि भवेत् स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी बद्धपद्मासने स्थितः ॥६४

जलेन श्रमजातेन गात्रमार्जनमाचरेत् ।
दृढता लघुता वापि तेन गात्रस्य जायते ॥६५

अभ्यासे प्रथमे काले शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे दृढीभूते न तादृङ्नियमो ग्रहः ॥६६
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः ।
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥६७

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगपरिक्षयः ।
अयुक्तः स तु दोषेण सर्वव्याधिसमुद्भवः ॥६८

हिक्काकासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदना ।
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य व्यतिक्रमात् ॥६९

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ।
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धयति योगवित् ॥७०

यदा नाडीविशुद्धिः स्यात् तदा चित्तं निराकुलम् ।
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥७१

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनात् ॥७२

गोरक्षे

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ।
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥७३

अमृतं दधिसङ्काशं गोक्षीरं धवलोपमम् ।
ध्यात्वा चन्द्रमसो बिम्बं प्राणायामी सुखी भवेत् ॥७४

दक्षिणे श्वासमाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
कुम्भयित्वा विधानेन पुनश्चन्द्रेण पूरयेत् ॥७५

प्रज्वलज्ज्वलनज्ज्वालापुञ्जमादित्यमण्डलम् ।
ध्यात्वा नाभिस्थितो योगी प्राणायामी सुखी भवेत् ॥७६

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्य्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडीगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥७७
यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनात्[1] ॥७८

एकश्वासमयी मात्रा उद्घाटच गगने गतिम् ।७९
रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः ॥

प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥८०
मात्राद्वादशसंयुक्तौ निशाकरदिवाकरौ ॥

दोषजालमपघ्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥८१

पूरकं द्वादशं कुर्यात् कुम्भकं षोडशं तथा ।
रेचकं दश ओङ्कारः प्राणायामः स उच्यते ॥८२

घेरण्डे

सुखासने चोपविश्य प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
ध्यात्वा विधिं रजोगुणं रक्तवर्णं सवर्णकम् ॥८३

ईडया पूरयेद्वायुं मात्रया षोडशैः सुधीः ।
पूरकान्ते कुम्भकाद्ये कर्त्तव्यमुड्डियानकम् ॥८४

सत्त्वमयं हरिं ध्यात्वा उकारैः शुक्लवर्णकैः ।
चतुःषष्टया मात्रया च अनिलं कुम्भकं चरेत् ॥८५

कुम्भकान्ते रेचकाद्ये कर्त्तव्यं च जलन्धरम् ।
रुद्रं तमोगुणं ध्यात्वा मकारैः कृष्णवर्णकैः ॥८६

द्वात्रिंशन्मात्रया चैव रेचयेद्विधिणा पुनः ।
पुनः पिङ्गलमापूर्य कुम्भकेनैव धारयेत् ॥८७

इडया रेचयेत्पश्चात् तद्बीजेन क्रमेण तु ।

---

1. Repeated. The same as v. 72

यद्वा

अनुलोमविलोमेन वारंवारं च धारयेत् ॥८८

पूरकान्ते कुम्भकाद्ये धृतं नासापुटद्वयम् ।
कनिष्ठानामिकागुष्ठैस्तर्जनीभ्यां विना धृतम् ॥८६

प्राणायामो निगर्भश्च विना वीजेन जायते ॥६०

वामजानूपरिन्यस्तं भ्रामयेद्वामपाणिना ।
एकादिमात्रापर्यन्तं पूरकुम्भकरेचकम् ॥६१

अन्यच्च

वामपाणितलं वामजानूपरि च भ्रामयेत् ।
कालेन मात्रा सा ज्ञेया योगिनां योगसाधने ॥६२

प्राणायामान्तरं घेरण्डे

उत्तमा विंशतिर्मात्रा मात्रा षोडश मध्यमा ।
अधमा द्वादशी मात्रा प्राणायामस्त्रिधा मतः ॥६३

ससमाने च जानीयाद्रेचपूरककुम्भकम् ।
अनुलोमविलोमेन यथा वारत्रयं भवेत् ॥६४

अधमाद् जायते घर्मो मेरुकम्पश्च मध्यमात् ।
उत्तमाच्च धरात्यागस्त्रिविधं सिद्धिलक्षणम् ॥६५

प्राणायामात् खेचरत्वं तथैव रोगनाशनम् ।
तथैव रोधयेच्छक्ति प्राणायामान्मनोन्मनी ॥६६

मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्य्यं प्रजायते ।
ये मनःसुस्थिरा भावाः सैवावस्था मनोन्मनी ॥६७

काशीखण्डे

षट्त्रिंशदङ्गुलीं हंसः प्रयाणं कुरुते बहिः ।
सव्यापसव्यमार्गेण प्रयाणात् प्राण उच्यते ॥६८

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ।
तदैव जायते योगी क्षमः प्राणनिबन्धने ॥६६

दृढासनो यथाशक्ति प्राणं चन्द्रेण रेचयेत् ।
पूरयेदथ सूर्येण प्राणायामोऽयमुच्यते ॥१००

स्रवत् पीयूषधारौघं ध्यायंश्चन्द्रसमं त्विषि ।
प्राणायामेन योगीन्द्रः सुखमाप्नोति तत्क्षणात् ॥१०१

रविणा प्राणमाकृष्य पूरयेदौदरिं दरीम् ।
कुम्भयित्वा शनैः पश्चात् योगी चन्द्रेण रेचयेत् ॥१०२

ज्वलज्ज्वलनपुञ्जाभं शीलयन्नुष्णगुं हृदि ।
अनेन याम्ययोगेन योगीन्द्रः शर्मभाग्भवेत् ॥१०३

इत्थं मासत्रयाभ्यासादुभयायामसेवनात् ।
शुद्धनाडीगणो योगी सिद्धप्राणो विधीयते ॥१०४

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ।
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं भवेन्नाडीविशोधनात् ॥१०५

प्राणो देहगतो वायुरायामस्तन्निबन्धनम् ।
एकश्वासमयी मात्रा प्राणायामो निरूप्यते ॥१०६

मध्यं च उत्तमं चैव प्राणायाममुपक्रमात् ।
चले नीले चलत् सर्वं निश्चलं तत्र निश्चलम् ॥१०७

स्थाणुत्वमाप्नुयाद्योगी ततोऽनिलनिबन्धनात् ।
यावद्देहे स्थितः प्राणो जीवितं तावदुच्यते ॥१०८

निर्गते तत्र मरणं ततः प्राणं निबन्धयेत् ।
यावद्बन्धो मरुद्देहे तावच्चेतो निराशयम् ॥१०९

यावद् दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ।
[कालः सार्द्धशतो ब्रह्मे तिपाठः सम्मतस्त्विति]* ॥११०

कालसाध्वसतो ब्रह्मा प्राणायामं सदा चरेत् ।
योगिनः सिद्धिमापन्नाः सम्यक्प्राणनियन्त्रणात् ॥१११

मन्दो द्वादशमात्रस्तु मात्रा लब्धाक्षरा मता ।
मध्यमो द्विगुणः पूर्वादुत्तमस्त्रिगुणः स्मृतः ॥११२

स्वेदं कम्पं विषादं च जनयेत् क्रमशस्त्वसौ ।
प्रथमे जनयेत्स्वेदं द्वितीयेन तु वेपथुम् ॥११३

विषादं हि तृतीयेन सिद्धिप्राणेऽत्र योगिनः ।
क्रमेण सेव्यमानोऽसौ नयते यत्र चेच्छति ॥११४

---

*This is obviously the emended text of 'कालसाध्वसतो ब्रह्मा' occurring in the next line.

हठान्निरुद्धप्राणोयं रोमकूपेषु निःसरेत् ।
देहं विदारयत्येव कुष्टादि जनयत्यपि ॥११५

ततः प्रत्यायतव्योसौ क्रमेणारण्यहस्तिवत् ।
वन्यो गजो गजारिर्वा क्रमेण मृदुतामियात् ॥११६

करोति शास्त्रनिर्देशं न चलं परिलङ्घयेत् ।
तथा प्राणहृदिस्थोऽयं योगिनः क्रमयोगतः ॥११७

गृहीतः सेव्यमानस्तु विश्रम्भमुपगच्छति ।

गोरक्षे

अधमे द्वादशी मात्रा मध्यमा द्विगुणा मता ।
उत्तमा त्रिगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥११८

अधमे च शनैर्धर्मः कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥११९

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारश्च जायते ।
प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥१२०

धारणा द्वादश प्रोक्ता ध्यात्वा ध्यानविशारदैः ।
ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥१२१

यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतो मुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रियाकर्म यातायातं न विद्यते ॥१२२

निरुत्तरतन्त्रे

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥१२३

प्राणायामतः समाध्यन्तं सर्वं तद्गोरक्षोक्तवद्बोद्धव्यमिति ।
यमनियमयोगेन भवेदष्टाङ्ग एष वै ॥

दत्तात्रेयसंहितायाम्

ततः पश्यति मेधावी पद्मासनसमन्वितः ।
समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणम्य चेष्टदेवताम् ॥१२४

ततो दक्षिणहस्तस्य चाङ्गुष्ठेन तु पिङ्गलाम् ।
निरुध्य पूरयेद्वायुमिडया च शनैः शनैः ॥१२५

यथाशक्त्या निरोधेन ततः कुर्य्याच्च कुम्भकम् ।
ततस्त्यजेत् पिङ्गलया शनैरेव न वेगतः ॥१२६

पुनः पिङ्गलयाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ।
धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेन्मारुतं शनैः ॥१२७

यथा त्यजेत्तथापूर्य धारयेदविरोधतः ।
एवं प्रातः समासीनः कुर्याद्विंशतिकुम्भकान् ॥१२८

एवं सायं प्रकुर्वीत पुनर्विंशति कुम्भकान् ।
कुर्वीत रेचकुम्भाभ्यां सहितं प्रतिवासरम् ॥१२९

कुर्यादेवं चतुर्वारमनालस्यो दिने दिने ।
एवं मासत्रयं कुर्यात् नाडीशुद्धिस्ततो भवेत् ॥१३०

ग्रहयामले

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥१३१

रेचश्चापूर्य्य यः कार्यः स वै सहितकुम्भकः ।
यावत् केवलसिद्धिः स्यात् सहितं तावदभ्यसेत् ॥१३२

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ।
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥१३३

गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामं समाचरेत् ।
यावद् वायुः स्थितो देहे तावज्जीवितमुच्यते ॥१३४

मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत् ।
मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥१३५

कथं स्यादुन्मनीभावः कायशुद्धिः कथं भवेत् ।
शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥१३६

तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ।
प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ॥१३७
तथा सुषुम्नापार्श्वस्था मलाः शोधं प्रयान्ति हि ।
बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ॥१३८

धारयित्वा यथाशक्ति पुनः सूर्येण रेचयेत् ।
प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥१३९

विविधं कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ।
येन त्यजेच्च तेनैव पूरयेदविरोधतः ।
रेचयेच्च ततोऽन्येन रेचयेच्च न वेगतः ॥१४०

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्ध्वा त्यजेद्वामया ।
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिम्बद्वयं ध्यायतः
शुद्धा नाडीगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥१४४

प्रातर्मध्यदिनं सायं मध्यरात्रे च कुम्भकान् ।
चतुरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥१४२

प्राणायामो महाधर्मो योगिनां मोक्षदो भवेत् ।
प्राणायामो दिवारात्रौ देवीजालं परित्यजेत् ॥१४३

अधमे द्वादशी मात्रा मध्यमे द्विगुणा स्मृता ।
उत्तमे त्रिगुणा ज्ञेया प्राणायामस्य निर्णयः ॥१४४

कनीयसि भवेत्स्वेदं कम्पो भवति मध्यमे ।
उत्तिष्ठत्युत्तमे योगी बद्धपद्मासने मुहुः ॥१४५

जलेन श्रमजातेन गात्रमार्जनमाचरेत् ।
दृढता लघुता दीप्तिस्तेन गात्रस्य जायते ॥१४६

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात् तदा चिह्नानि बाह्यतः ।
जायन्ते योगिनां देहे तानि वक्ष्याम्यशेषतः ॥१४७

सबला लघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्द्धनम् ।
कृशत्वं च शरीरस्य तस्य जायेत निश्चितम् ॥१४८

पूर्वोक्तकाले कुर्वीत परमभ्यासमेव च ।
ततः परं यथेष्टन्तु शक्तिः स्याद्वायुधारणे ॥१४९

यथेष्टधारणाद्वायोः सिद्धिः कुम्भस्य केवला ।
केवले कुम्भकेनैव रेचपूरकवर्जिते ।
न तस्य दुर्लभं किञ्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते ॥१५०

प्रस्वेदो जायते पूर्वं मर्दनं तेन कारयेत् ।
ततस्तु धारणाद्वायोः क्रमेणैव शनैः शनैः ॥१५१

कम्पो भवति देहस्य आसनस्थस्य जायते ।
ततोऽधिकतराभ्यासाद्दार्दुरी जायते ध्रुवम् ॥१५२

यथैव दर्दुरो गच्छेदुत्प्लुत्योत्प्लुत्य भूतले ।
पद्मासनस्थितो योगी तथा गच्छति भूतले ॥१५३

ततोऽधिकतराभ्यासाद् भूमित्यागश्च जायते ।
पद्मासनस्थ एवासौ भूमिमुत्सृज्य वर्त्तते ॥१५४

निराधारो विचित्रं हि तदा सामर्थ्यमुद्वहेत् ।
अल्पं वा बहु वा भूत्वा योगी न व्यथते क्वचित् ॥१५५

अल्पमूत्रपुरीषे तु अल्पनिद्रा च जायते ।
कृमयो वृश्चिका नाना स्वेददुर्गन्धता तनोः ॥१५६

एतानि सर्वदा तस्य न जायन्ते कदाचन ।
अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥१५७

ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृङ् नियमग्रहः ।
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद् वश्यः शनैः शनैः ॥१५८

तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ।
प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥१५९

अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ।
हिक्का कासश्च श्वासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥१६०

भवन्ति विविधा दोषाः पवनस्य व्यतिक्रमात् ।

ग्रहयामले

उपायं च प्रवक्ष्यामि शीघ्रं योगस्य सिद्धये ॥१६१

क्षीरं घृतं च मिष्टान्नं मिताहारं च शस्यते ।
षट्कर्मभिर्गतस्थैर्यैः कफमेदोमलातिगः ॥१६२

प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिध्यति ।
प्राणायामैरेव सर्वे संशुष्यन्ति मलाः प्रिये ॥१६३

मदः श्लेष्मादिकं न्यस्य कर्मषट्कं न सम्मतम् ।
सुमनस्कात्मको भाव्यो यदि वायुं समभ्यसेत् ॥१६४

षट्कर्मयोगमाप्नोति पवनाभ्यासतत्परः ।
ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥१६५

अतः सिद्धिं गतास्ते च तस्मात् पवनमभ्यसेत् ।
यावद्बद्धो मरुद्देहे तावच्चित्तं निराशयम् ॥१६६
त्रोटकं चेद्भ्रुवोर्मध्ये तावत् कालभयं कुतः ।
विधिवत् प्राणसंयामैर्नाडीचक्रं विशोधितम् ॥१६७

सुषुम्नावदनं भित्त्वा मुखाद्विशति मारुतः ।
मारुते मध्यसंचारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥१६८
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ।

मार्कण्डेयपुराणे

भैक्ष्यं यवागुं तक्राद्याः पयो यावकमेव वा ॥१६९

फलमूलं विपक्वं वा कणपिण्याकशक्तयः ।
इत्येते वै शुभाहारा योगिनां सिद्धिकारकाः ॥१७०

अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च त्यागो लोभस्तथैव च ।
व्रतानि पञ्च भिक्षूणामहिंसापरमानि वै ॥१७१

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचमाहारलाघवम् ।
नित्यं स्वाध्याय इत्येते नियमाः परिकीर्त्तिताः ॥१७२

सारभूतमुपासीत ज्ञानं यत् कार्यसाधनम् ।
ज्ञानानां बहुता येयं योगविघ्नकरी हि सा ॥१७३

इदं ज्ञानमिदं ज्ञेयमिति यः शुचितं चरेत् ।
अपि कल्पसहस्रायुर्नैव ज्ञेयमवाप्नुयात् ॥१७४

त्यक्तसङ्गो जितक्रोधो लघ्वाहारो जितेन्द्रियः ।
पिधाय बुद्ध्या द्वाराणि मनो ध्याने निवेशयेत् ॥१७५

वेदा श्रेष्ठा सर्वयज्ञक्रियासु
यज्ञाज्जप्यं ज्ञानमाहुश्च जप्यात् ।

ज्ञानाद्ध्यानं सङ्गरागैरुपेतं
तस्मिन् प्राप्ते शाश्वतस्योपलब्धिः ॥१७६

दृष्ट्वा च परमात्मानं प्रत्यक्षं विश्वरूपिणम् ।
तत्प्राप्तये महापुण्यमोमित्येकाक्षरं जपेत् ॥१७७
तदेवाध्ययनं तस्य स्वरूपं शृण्वतः परम् ।
अकारश्च तथोकारो मकारश्चाक्षरत्रयम् ॥१७८

एतास्तिस्रः स्मृता मात्राः सात्त्वराजसतामसाः
निर्गुणा योगगम्यान्या अर्द्धमात्रा तु संहिता ॥१७९

गान्धारीति च विज्ञेया गान्धारस्वरसंश्रयात् ।
पिपीलिकागतिः स्पर्शा प्रयुक्ता मूर्ध्नि लक्ष्यते ॥१८०

यथा प्रयुक्त ओंकारः प्रतिनिर्याति मूर्धनि ।
तथोङ्कारमयो योगी अक्षरे त्वक्षरो भवेत् ॥१८१

प्रणवो धनुः शरश्चात्मा ब्रह्म वेध्यमुदाहृतम् ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥१८२

ओमित्येतत्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयोऽग्नयः ।
विष्णुक्रमास्त्रयश्चैव ऋक्सामानि यजूंषि च ॥१८३

मात्राश्चार्धं च तिस्रश्च विज्ञेयाः परमार्थतः ।
तत्र युक्ते तु यो योगी स तल्लयमवाप्नुयात् ॥१८४

अकारस्त्वथ भूर्लोक उकारश्चोच्यते भुवः ।
सव्यञ्जनो मकारश्च स्वर्लोकः परिकल्प्यते ॥१८५

प्राणायामैर्दहेद्दोषान् धारणाभिश्च किल्बिषम् ।
प्रत्याहारेण संसर्गं ध्यानेनाधीश्वरान् गुणान् ॥१८६

यथा पर्वतधातूनां ध्मातानां दह्यते मलम् ।
तथेन्द्रियकृता दोषा दह्यन्ते प्राणनिग्रहात् ॥१८७

प्रथमं साधनं कुर्यात् प्राणायामेषु योगवित् ।
प्राणापाननिरोधश्च प्राणायाम उदाहृतः ॥१८८

लघुमध्यतुरीयाख्यस्त्रिविधः परिकीर्तितः ।
तस्य प्रमाणं वक्ष्यामि यथातर्कं शृणुष्व मे ॥१८९

लघुर्द्वादशमात्रस्तु द्विगुणः स तु मध्यमः ।
त्रिगुणाभिश्च मात्राभिरुत्तमोऽयमुदाहृतः ॥१६०

प्रथमेन जयेत् स्वेदं द्वितीयेन तु वेपथुम् ।
विषादं हि तृतीयेन जयेद्दोषाननुक्रमात् ॥१६१

मृदुत्वं सेव्यमानास्तु सिंहशार्दूलकुञ्जराः ।
यथा यान्ति तथा प्राणो वश्यो भवति योगिनः ॥१६२

वश्यमन्तं यथेच्छातो नागं नयति हस्तिपः ।
तथैव योगी छन्देन प्राणं नयति साधितम् ॥१६३

यथा हि साधितः सिंहो मृगं हन्ति न मानवान् ।
तद्वद्विशुद्धः पवनः किल्बिषं न नृणां तनुम् ॥१६४

तस्माद् युक्तः सदा योगी प्राणायामपरो भवेत् ।
अतीतानागतानर्थान् विप्रकृष्टतिरोहितान् ॥१६५

विजानातीन्दुसूर्यार्क्षग्रहाणां ज्ञानसम्पदा ।
तुल्यप्रभावस्तु यथा योगी प्राप्नोति संविदम् ॥१६६

नान्धार्तः क्षुधितः श्रान्तो न च व्याकुलचेतनः ।
युञ्जीत योगं राजेन्द्र योगी सिद्धार्थमादृतः ॥१६७

नातिशीतेन चैवोष्णे द्वन्द्वे लब्धानिलात्मके ।
कालेष्वेतेषु युञ्जीत न योगं ध्यानतत्परः ॥१६८
सशब्देऽग्निजलाभ्यासे जीर्णे गोष्ठे चतुष्पथे ।
शुष्कपर्णे च ये नद्यां श्मशाने संसरीसृपे ॥१६९
सभये कूपतीरे वा चैत्ये वल्मीकसञ्चये ।
देशेष्वेतेषु तत्त्वज्ञो योगाभ्यासं विवर्जयेत् ॥१००

अलौल्यमारोग्यमनिष्ठुरत्वं
गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पम् ।
कान्तिः प्रसादः स्वरसौम्यता च
योगप्रवृत्ते प्रथमं हि चिह्नम् ॥१०१

अनुरागं जनयति परोक्षे गुणकीर्त्तनम् ।
न बिभ्यति ■ सत्त्वानि सिद्धेर्लक्षणमुत्तमम् ॥१०२

शीतोष्णादिभिरत्युग्रैर्यस्य बाधा न जायते ।
न भीतिमेति चान्येभ्यस्तस्य सिद्धिरुपस्थिता ॥१०३

ब्रह्ममन्त्रसाधनं प्राणायामो महानिर्वाणे

प्राणायामं ततः कुर्यात् मूलेन प्रणवेन वा ।
मध्यमानामिकाभ्यां च दक्षहस्तस्य पार्वति ॥१०४

वामनासापुटं धृत्वा दक्षनासापुटेन च ।
पूरयेत् पवनं मन्त्री मूलमष्टमितं जपन् ॥१०५

अङ्गुष्ठेन दक्षनासां धृत्वा कुम्भकयोगतः ।
जपेद्द्वात्रिंशता वृत्या ततो दक्षिणनासया ॥१०६

शनैः शनैस्त्यजेद्वायुं जपन् षोडशधा मनुम् ।
वामनासापुटेप्येवं पूरकुम्भकरेचकम् ॥१०७

पुनर्दक्षिणतः कुर्यात् पूर्ववत् सुरपूजिते ।
प्राणायामविधिः प्रोक्तो ब्रह्ममन्त्रस्य साधने ॥१०८

इत्यघोरविरचिते योगसङ्केते प्राणायामनिर्णयो नाम
तृतीयः पादः ॥

# अथ चतुर्थः पादः

योगसङ्केतः

गुणातीतोऽपि यो विश्वं सृजत्यवति लुम्पति ।
अज्ञानान्तं सदा शान्तं ज्ञानानन्दं शिवं भजे ॥१

प्रणम्य व्यापकं विष्णुं विश्वातीतं च निष्कलम् ।
अधुना योगसङ्केतं वक्ष्यामि शास्त्रसम्मतम् ॥२

घेरण्डे

नास्ति मायासमं पाशं नहि योगात् परं बलम् ।
नहि ज्ञानात् परं बन्धुर्नह्यज्ञानात् परो रिपुः ॥३

अभ्यासात् कादिवर्णानां यथा शास्त्राणि बोधयेत् ।
तथा योगं समासाद्य तत्त्वज्ञानं च लभ्यते ॥४

सुकृतैर्दुष्कृतैः कार्यैर्जायते प्राणिनां घटः ।
घटादुत्पद्यते कर्म घटयन्त्रं यथा भ्रमत् ॥५

ऊर्ध्वाधो भ्रमते यद्वद् घटीयन्त्रो गवां वशात् ।
तद्वत् कर्मवशाज्जीवो भ्रमते जन्ममृत्युना ॥६

शोधनं दृढतां चैव स्थैर्यं च लाघवं यथा ।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्थं सप्त साधनम् ॥७

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम् ।
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धैर्यता ॥८

प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात् प्रत्यक्षमात्मनि ।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः ॥९

आसनं प्राणरोधश्च प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ।
यमनियमयोगेन भवेदष्टाङ्ग एष वै ॥१०

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्राणायामस्य यद्विधिः ।
यस्य धारणमात्रेण देवतुल्यो भवेन्नरः ॥११

आदौ स्थानं तथा कालं मिताहारं तथा परम् ।
नाडीशुद्धिं च तत्पश्चात् प्राणायामं च साधयेत् ॥१२

दूरदेशे तथारण्ये राजधानौ जनान्तिके ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृते च सिद्धिहा भवेत् ॥१३

अविश्वासो दूरदेशे अरण्ये भक्षवर्जितम् ।
लोकारण्ये प्रकाशश्च तस्मात् त्रीणि विवर्जयेत् ॥१४

ब्रह्मयामले

हठविद्या परा गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।
देवी वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ॥१५

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।
एकान्ते मठमध्ये च स्थातव्यं हठयोगिना ॥१६

घेरण्डे

कृत्वा कुटीरं तत्रैकं प्राचीरैः परिवेष्टितैः ।
कूपं वापीतडागं च प्राचीरं मध्यवर्त्तिनम् ॥१७

नात्युच्चं नातिनीचं तं कुटीरं कीटवर्जितम् ।
सम्यग् लिप्त्वा गोमयाद्यैः कुर्यात् रन्ध्रविवर्जितम् ।
एवं स्थानेषु गुप्तेषु प्राणायामं समभ्यसेत् ॥१८

कालः

हेमन्ते शिशिरे ग्रीष्मे वर्षायां च चतुर्ष्वपि ।
योगारम्भं न कुर्वीत कृते योगे रुजो भवेत् ॥१९

वसन्ते च शरत्काले योगारम्भं समाचरेत् ।
तदा योगी भवेत्सिद्धो रोगान्मुक्तो भवेत् ध्रुवम् ॥२०

चैत्रादिफाल्गुनान्ते च माघादिफाल्गुनान्तिके
द्वौ द्वौ मासावृतौ भोगावनुभावश्चतुश्चतुः ॥२१

वसन्तश्चैत्रवैशाखौ ज्येष्ठाषाढौ च ग्रीष्मकः ।
वर्षा श्रावणभाद्रौ च शरदाश्विनकार्त्तिकौ ।
हेमन्तो मार्गपौषौ च शिशिरो माघफाल्गुनौ ॥२२

अनुभावं प्रवक्ष्यामि ऋतूनां च यथोदितम् ।
माघादि माधवान्तं च वसन्तानुभवश्चतुः ॥२३

चैत्राद्याषाढपर्यन्तं ग्रीष्मस्यानुभवश्चतुः ।
भाद्रादि मार्गशीर्षान्तं शरदोऽनुभवश्चतुः ॥२४

आषाढाद्याश्विनान्तं ■ ■ वर्षानुभवश्चतुः ।
भाद्रादिमार्गशीर्षान्तं शरदोऽनुभवश्चतुः ॥२५

कार्त्तिकादिकमाघान्तं हेमन्तोऽनुभवश्चतुः ।
मार्गादिचतुरो मासान् शिशिरानुभवश्चतुः ॥२६

वसन्ते वापि शरदि योगारम्भं समाचरेत् ।
तथा योगे भवेत् सिद्धिर्विनायासेन सिध्यति ॥२७

मिताहारो घेरण्डे

मिताहारं विना यस्तु योगारम्भं समाचरेत् ।
नानारोगो भवेत्तस्य किञ्चिद् योगो न सिध्यति ॥२८

शुद्धं समधुरं स्निग्धमुदरार्धविराजितम् ।
भुनक्ति पिबति योगी मिताहारमिदं विदुः ॥२९

अन्नेन पूरयेदर्द्धं तोयेन तृतीयांशकम् ।
उदरस्य तुरीयांशं संरक्षेद् वायुचारणे ॥३०

कट्वम्ललवणं तिक्तं भ्रष्टं तक्रं तथा दधि ।
शाकोटकं तथा मद्यं हिंगुलसुनमेव च ॥३१

योगादौ वर्जयेद् योगी परस्त्रीं वह्निसेवनम् ।
नवनीतं घृतं क्षीरं गुडं शक्रादि चैक्षवम् ॥३२

पक्वरम्भां नारिकेलं दाडिममसीमारसम् ।
द्राक्षा लवणी धात्री च रसालाम्लविवर्जितम् ।
हरीतकी च खर्जूरं योगी भक्षणमाचरेत् ॥३३

लघुपाकं प्रियं स्निग्धं यथा धातुप्रपोषणम् ।
मनोभिलषितं भोग्यं योगी भक्षणमाचरेत् ॥३४

काठिन्यदुरितं पूतिमुष्णं पर्युषितं तथा ।
अतिशीतं चातिचोष्णं भक्षं योगी विवर्जयेत् ॥३५

प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ।
एकाहारं निशाहारं यामान्ते च न कारयेत् ॥३६

आरम्भे प्रथमे कुर्यात् क्षीराज्यं नित्यभोजनम् ।
मध्याह्ने चैव सायाह्ने भोजनद्वयमाचरेत् ॥३७

कुशासने मृगाजिने व्याघ्राजिने च कम्बले ।
स्थूलासने समासीनः प्राङ्मुखो वाप्युदङ्मुखः ।
नाडीशुद्धिं ततः कुर्यात् प्राणायामेन योगवित् ॥३८

शरीरशोधनं घेरण्डे

नेती धौती तथा वस्तिर्लौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभाति चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥३९

योगस्वरोदये

प्राणायामैरेव सर्वं शुध्यति च कलेवरम् ।
षट्कर्मफलमाप्नोति कर्मषट्कं न सम्मतम् ॥४०

स्वरोदये

नेतीं धौतिं परित्यज्य वस्तिलौलिकीत्राटकम् ।
अवश्यमेव कर्त्तव्यं तत्सर्वं वच्मि साम्प्रतम् ॥४१

जलवस्तिः शुष्कवस्तिः वस्तिः स्याद् द्विविधं परम् ।
जलवस्तिं जले कुर्यात् शुष्कवस्तिं सदा क्षितौ ॥४२

नाभिलग्नजले वायुं न्यस्तं नानोत्कटासनम् ।
आकुञ्चनं प्रसारं च जलवस्तिं समाचरेत् ॥४३

प्रमेहं च उदावर्त्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।
तस्मात् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ॥४४

शुष्कवस्तिः

वस्ति पश्चिमतानेन चालयित्वा शनैरधः ।
अश्विनीमुद्रया वायुमाकुञ्चयेत् प्रसारयेत् ॥४५

एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषो न विद्यते ।
विवर्धयेत् जाठराग्निमामवातं विनाशयेत् ॥४६

लौली

अमन्दं वेगात्तुन्दं च भ्रामयेदुभपार्श्वयोः ।
सर्वरोगाणि हन्तीति देहानलविवर्धने ॥४७

भूमादावतिवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ।
नतांशो भ्रामयेदेषा लौली स्यात् परमेश्वरि ॥४८

मन्दाग्निसन्दीपनपाचकादि-
सन्दीपकानन्दकरी तथैव
अशेषदोषामयशोचनीय-
हठक्रियामौलिरियं च लौली ॥४९

त्राटकं घेरण्डे

निमिषोन्मेषे संत्यज्य सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत् ।
यावदश्रुर्निपतति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥५०

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम् ।
न जायते नेत्ररोगो दिव्यदृष्टिप्रदायकः ॥५१

ग्रहयामले

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं प्रयत्नतः ।
अश्रुसंपातपर्यन्तं त्राटकं तन्महेश्वरि ।

यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटिका ॥५२

योगस्वरोदये

त्राटकं च भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥५३

यस्य चित्ते हठं नास्ति सहजानन्दनिर्भरम् ।
कर्त्तव्यं च स्थिरा दृष्टिस्तेनैव परमं स्थिरम् ॥५४

लौली रुद्रयामले उत्तरखण्डे

आनन्दभैरव उवाच

लेउलीसाधनादेव चिरजीवी निरामयः ।
पुनः पुनश्चालनं च कुर्यात् स्वोदरमध्यगम् ॥५४

कुलालचक्रवत् कुर्याद् भ्रमणं चोदरस्य च ।
सर्वाङ्गचालनादेव कुण्डलीशक्तिचालनम् ।
चालनात् कुण्डलीदेव्याश्चेतना सा भवेत् प्रभो ॥५५

गोमुखासनमारुह्य धृत्वा पादयुगं करौ ।
चालयेदुदरं पश्चाल्लेउलीसाधनं भवेत् ॥५६

वज्रासनस्थितो योगी कराभ्यां पादयोर्घृतम् ।
चालयेदतिवेगेन लौली भवति निश्चितम् ॥५७

कपालभातिर्घेरण्डे

वात्क्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः ।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात् कफदोषं निवारयेत् ॥५८

ईडया पूरयेद् वायुं पिङ्गलायां विरेचयेत् ।
पिङ्गलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥५९

पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु धारयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥६०

शीत्क्रमेण

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानाले विरेचयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवसमो भवेत् ॥६१

भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं विनाशयेत् ।
न जायते च वार्द्धक्यं ज्वरो नैव प्रजायते ॥६२

योगस्वरोदये

हिक्कां दद्यात् सदा वक्त्रे नासानाले विजृम्भते ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवद्वितीयतः ॥६३

भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च सर्वोपद्रववर्जितः ।
न क्षुधा देवि न तृष्णा निद्रालस्यं प्रजायते ॥६४

व्युत्क्रमेण

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।
पायं पायं प्रकुर्वीत श्लेष्मादोषं निवारयेत् ॥६५

योगस्वरोदये

भस्त्रेव लोहकारे च कर्णपूरौ समं भ्रमौ ।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविनाशिनी ॥६६

अन्तर्धौतिः

वातसारं वह्निसारं वारिसारं बहिष्कृतम् ।
घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥६७

काकचञ्चुवदास्येन पिबन् वायुं शनैः शनैः ।
चालयन्नुदरं पश्चाद् वर्त्मना रेचयेच्छनैः ॥६८

वह्निसारम्

नाभिग्रन्थिं मेरुपृष्ठं शतवारं च चालयेत् ।
उदरामयं परित्यज्य जठराग्निं विवर्धयेत् ॥६९

वह्निसारमिदं धौतं योगिनां योगसिद्धिदम् ।
इदं धौतं परं गोप्यं न प्रकाश्यं कदाचन ॥७०

वारिसारः

आकण्ठं पूरयेद्वारि व्युत्क्रमे पिबतः शनैः ।
चालयेदर्धवक्त्रेण चोदराद्रेचयेदधः ॥७१

वारिसारं परं धौतं साधयेद् यः प्रयत्नतः ।
मलदेहं शोधयित्वा परदेहं प्रपद्यते ॥७२

नाडीक्षालनम्

काकीमुद्रां साधयित्वा पूरयेदुदरं मरुत् ।
धारयेदर्धयामान्तं चालयेदर्धवर्त्मना ॥७३

नाभिलग्नजले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत् ।
कराभ्यां क्षालयेन्नाडीं यावन्मलविसर्जनम् ॥७४

तावत् प्रक्षाल्य नाडीं च उदरे वेशयेत् पुनः ॥७५

इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ॥७६

केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद्ध्रुवम् ।
यामार्द्धं धारणाशक्ति यावन्नो धारयेन्नरः ।
बहिष्कृतं महाधौतं तावन्नैव च कारयेत् ॥७७

मूलशोधनम्

अपानक्रूरता यावत् मूलं तावत् न शोधते ।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ॥७८

सव्यहस्तस्य यत्नेन मध्यमाङ्गुलिना सुधीः ।
यत्नेन क्षालयेद् गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः॥७९

वारयेत् कोष्ठकाठिन्यमाजीर्णं च निवारयेत् ।
कारणकान्तिपुष्टयोश्च दीपनं वह्निमण्डलम् ॥८०

इत्यघोरविरचिते योगसङ्केते चतुर्थः पादः

# अथ पञ्चमः पादः

## साधनसङ्केतः

या काशी कामशत्रोरतिदयिततमा शूलसंस्थापनेया
यस्या विश्लेषतोऽभूदितरजनसमो व्याकुलात्मा महेशः ।
यस्यामिच्छन्ति मृत्युं सलिलजमुखा निर्जराः संविहाय
सा काशी ज्ञानदात्री मम भवतु सदा पातु विश्वं ह्यपायात् ॥१

काशीं काशिपतिं नत्वा योगिनां च हिताय वै ।
वक्ष्ये साधनसङ्केतं योगशास्त्रस्य सम्मतम् ॥२

अथ आसनानि घेरण्डे

आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः ।
चतुरशीतिलक्षानि शिवेन कथितानि वै ॥३

तेषां मध्ये विशिष्टानि षोडशोनशतं कृतम् ।
तेषां मध्ये तु लोकेऽस्मिन् द्वात्रिंशदासनं शुभम् ॥४

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तवज्रं च स्वस्तिकम् ।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ॥५

मृतं गुप्तं तथा मात्स्यं मात्स्येन्द्रासनमेव च ।
गोरक्षं पश्चिमातानमुत्कटं सकटं तथा ॥६

मायूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा उत्तानकुम्मकम् ।
उत्तानमण्डुकं वृक्षं माण्डूकं गारुडं वृषम् ॥७

शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजङ्गं योगमासनम् ।
द्वात्रिंशदासनानीति मर्त्यलोके च सिद्धिदाः ॥८

गोरक्षे

आसनानि च तावन्ति यावन्तो जीवजातयः ।
एतेषामतुलान्भेदान्विजानाति महेश्वरः ॥९

चतुरशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ।
आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम् ।
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ॥१०

काशीखण्डे

आसनानि हि तावन्ति यावन्तो जीवयोनयः ।
एतेषामतुलान् भेदान् विजानाति महेश्वरः ।
चतुरशीतिलक्षाणामेकैकं समुदाहृतम् ॥११

ततः शिवेन पीठानां षोडशोनशतं कृतम् ।
आसनेभ्यः समस्तेभ्यो द्वयमेतमुदाहृतम् ॥१२

एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् ।
सिद्धासनं च पद्माख्यं तेषु द्वे क्षिप्रसिद्धिदे ॥१३

घेरण्डे

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं संपीडच गुल्फेतरं
मेढ्रं पादमथैकमेकनियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।

स्थाणुः संयमितेन्द्रियश्च सदृशं पश्येद्भ्रुवोरन्तर-
मेतन्मोक्षकपाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥१४

शिवगीता

वामपादं न्यसेद्गुह्ये दक्षपादं ध्वजोपरि ।
योनिमुद्राबन्ध एवं भवेदासनमुत्तमम् ॥१५

काशीखण्डे

वामाङ्घ्रिपार्ष्णिभागं च पायुरन्ध्रे दृढं न्यसेत् ।
वामोरूपर्य्यवामं च कुर्यान्मेढ्रमपीडयन् ॥१६

सिद्धासनमिदं प्रोक्तं योगिनो योगसिद्धिदम्
एतदभ्यसनान्नित्यं वर्ण्पदाप्ति(?)मवाप्नुयात् ॥१७

पद्मासनं काशीखण्डे

दक्षिणं चरणं न्यस्य वामोरूपरि योगवित् ।
दक्षोपरि च वामं च पद्मासनमिदं विदुः ॥१८

कराभ्यां धारयेत् पश्चादङ्गुष्ठौ दृढबन्धनात् ।
भवेत् पद्मासनादस्मादभ्यासाद् दृढविग्रहः ॥१९

अथ वाह्यासने चास्मिन् सुखमस्योपजायते ।
स्वस्तिकादौ तदाध्यास्य योगं युञ्जीत योगवित् ॥२०

न तोयवह्निसामीप्ये न जीर्णारण्यगोष्ठयोः ।
न वंशमशकाकीर्णे न चैत्ये न च चत्वरे ॥२१

केशभस्मतुषांगारकीकसादिप्रदूषिते ।
नाभ्यसेत् पूतिगन्धादौ न स्थाने जनसंकुले ॥२२

सर्वबाधाविरहिते सर्वेन्द्रियसुखावहे ।
मनःप्रसादजनने सुधूपामोदमोहिते ॥२३

नातितृषः क्षुधार्तो न न विड्मूत्रप्रबाधितः ।
नाध्वखिन्नो न चिन्तार्तो योगं युञ्जीत योगवित् ॥२४

गोरक्षे

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनाप्यदृश्यं
वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नात् ।
मनः स्थिरो यस्य विनावलम्बं
स एव योगी स गुरुः स शिष्यः ॥२५

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा ।
ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि वदन्ति षट् ॥२६

दत्तात्रेये

आसनेन रुजो हन्ति प्राणायामेन पातकम् ।
विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥२७

धारणाभिर्मनोधैर्यं ध्यानाच्चैतन्यमद्भुतम् ।
समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥२८

योगस्वरोदये

यमश्च नियमश्चैव आसनं प्राणसंयमः ।
प्रत्याहारो धारणा च समाधिश्च विशेषतः ॥२९

अष्टाङ्गयोग एभिस्तु चैतेषां लक्षणं शृणु ।
शान्तिः सन्तोष आहारो निद्राल्पं मनसो दमः ॥३०

शून्यान्तःकरणश्चेति यमा इति प्रकीर्त्तिताः ।
त्यक्त्वा दूरे तु चापल्यं मनःस्थैर्य्यं विधाय च ॥३१
एकत्र मेलनं नित्यं प्राणमात्रे न सामभिः ।
सदोदासीनभावस्तु सर्वत्रेच्छाविवर्जितः ॥३२

यथालाभेन सन्तुष्टः परमेश्वरमानसः ।
मानदानपरित्याग एते तु नियमा इति ॥३३

गौतमीये

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्य्यं दमार्जवम् ।
क्षमा धृतिर्मिताहारः शौचं चेति यमा दश ॥३४

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानं देवस्य पूजनम् ।
सिद्धान्तश्रवणं चैव ह्रीर्नतिश्च तपो हुतम् ॥
दशैते नियमाः प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ॥३५

दत्तात्रये

यमा वै दश वै प्रोक्ता ऋषिभिस्तत्त्वदर्शिभिः ।
लज्जाहारस्तु तेष्वेको मुख्यो भवति नापरः ॥३६

इत्यघोरविरचिते योगसङ्केते पञ्चमः पादः ॥५॥

# अथ षष्ठः पादः

प्रत्याहारः

प्रणम्य परमात्मानं परमेशं परात्परम् ।
अधुना संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारमनुत्तमम् ॥१

घेरण्डे

अथातः संप्रवक्ष्यामि प्रत्याहारकमुत्तमम् ।
यस्य विज्ञानमात्रेण कामादिरिपुनाशनम् ॥२

यतो यतो निश्चरति मनश्चञ्चलमस्थिरम् ।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव समानयेत् ॥३

यत्र यत्र गता दृष्टिर्मनस्तत्र प्रगच्छति ।
ततः प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥४

शीतं वापि तथा चोष्णं यन्मनःस्पर्शयोगतः ।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥५

मधुराम्लकतिक्तादौ रसे गतं मनो यदा ।
तस्मात् प्रत्याहरेदेतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥६

गौतमीये

इन्द्रियाणां विचरतां विषयेषु निबन्धनम् ।
बलादाहरणं तेभ्यः प्रत्याहारो विधीयते ॥७

गोरक्षे

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् ।
तत् प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥८

यथा तृतीयकालस्थो रविः प्रत्याहरेत् प्रभाम् ।
तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं तथा ॥९

अङ्गमध्ये यथाङ्गानि कूर्मः सङ्कोचयेद् ध्रुवम् ।
योगी प्रत्याहरत्येवमिन्द्रियाणि यथात्मनि ॥१०

यं यं शृणोति कर्णाभ्यामप्रियं प्रियमेव च ।
तं तमात्मनि विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥११

अमेध्यमथवा मेध्यं यं यं पश्यति चक्षुषा ।
तं तमात्मनि विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥१२

अस्पर्शमथवा स्पर्शं यं यं स्पृशति चर्मणा ।
तं तमात्मनि विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥१३

अलोल्यमथवा लोल्यं यं यं स्पृशति जिह्वया ।
तं तमात्मनि विज्ञाय प्रत्याहरति योगवित् ॥१४

चन्द्रामृतमयीं धारां प्रत्याहरति भास्करः ।
यत्प्रत्याहरणं तस्याः प्रत्याहारः स उच्यते ॥१५

एका स्त्री भुज्यते द्वाभ्यामागते चन्द्रमण्डले ।
तृतीयो यो भवेत्ताभ्यां स भवेदजरामरः ॥१६

नाभिदेशे भवत्येको भास्करो दहनात्मकः ।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः ॥१७

भवत्यधोमुखश्चन्द्रो गृह्णात्यूर्ध्वमुखो रविः ।
ज्ञातव्यं कारणं तत्र येन पीयूषमध्यतः ॥१८

ऊर्ध्वान्नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
कारणं विपरीताख्यं गुरुवाक्येन लभ्यते ॥१९

ग्रहयामले

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा मुखे यद्वायुधारणम् ॥
प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ॥२०

प्राणायामद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ।
धारणा तद्द्विषट्केन ध्यानं ध्यानविशारदैः ॥२१

ध्यानं द्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ।
यत्समाधौ परं ज्योतिरनन्तं विश्वतो मुखम् ।
तस्मिन् दृष्टे क्रिया काचित् यातायातो न विद्यते ॥२२

एकवारं प्रतिदिनं कुर्यात् केवलकुम्भकम् ।
एवं हि प्रत्याहारो स्यादेवं कुर्याद्धि योगतः ॥२३

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यो यत्प्रत्याहरते स्फुटम् ।
योगी कुम्भकमास्थाय प्रत्याहारः स उच्यते ॥२४

यद्यत् पश्यति चक्षुर्भ्यां तत्तदात्मनि भावयेत् ।
यद्यद् जिघ्रति नासाभ्यां तत्तदात्मनि भावयेत् ॥२५

यद्यच्छृणोति कर्णाभ्यां तत्तदात्मनि भावयेत् ।
जिह्वया यद्रसयति तत्तदात्मनि भावयेत् ॥२६

एवं ज्ञानेन्द्रियाणां हि तत् संख्यातिस्तु संक्षयेत् ।
यामं यामं प्रतिदिनं योगी यत्नादतन्द्रितः ॥२७

तदा विचित्रसामर्थ्यं जायते योगिनो ध्रुवम् ।
दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः क्षणाद्दूरस्थितिस्तथा ॥२८

वाक्सिद्धिः कामचारत्वं तदा दृश्यपदं भवेत् ।
मलमूत्रप्रलेपेन लौहानां स्वर्णतां तथा ॥२९

खेचरत्वं तथा स्याच्च सतताभ्यासयोगतः ।
तदा बुद्धिमता भाव्यं योगिना योगसिद्धये ॥३०

एते विघ्ना महासिद्धौन रमेत्तेषु बुद्धिमान् ।
न शीलयेत्तु कस्मैचित् स्वसामर्थ्यं हि सर्वदा ॥३१

कदाचिद्दर्शयेन्मर्त्यो भक्तियुक्ताय वा पुनः ।
यथा मूर्खो यथा मूढो यथा बधिर एव वा ॥३२

तथा वर्त्तेत लोकेषु स्वसामर्थ्यस्य गुप्तये ।
नो चेच्छिष्या हि बहवो भवन्त्येव न संशयः ॥३३

स्वस्वकार्येषु योगीन्द्रं प्रार्थयन्ति जनाः [illegible] ।
तत्कर्मकरणव्यग्रो स्वाभ्यासे शिथिलो भवेत् ।

अभ्यासेन विहीनस्तु ततो लौकिकतां व्रजेत् ॥३४

इत्यघोरविरचिते योगसङ्केते षष्ठः पादः ॥

# अथ सप्तमः पादः

कुम्भकविधिः

प्रणम्य शिवमद्वैतं लोकानां च हिताय वै ।
वक्ष्यामि कुम्भकान् सर्वान् येन सिद्धिं लभेन्नरः ॥१

योगस्वरोदये

प्राणायामस्त्रिधा चेति बहुधा प्रथमं शृणु ।
आसने प्राणसंयामे न शक्ताः सुकुमारकाः ॥२

महापुण्यप्रभावेण शक्यते तु महात्मना ।
इडां शशिप्रभां ध्यात्वा यथाशक्ति तु कुम्भयेत् ॥३

महाज्योतिर्मयो भूत्वा वायुपूर्णकलेवरः ।
शक्तित्रासन्तु संत्रास्य रेचयेद्वायुर्महितः ॥४

पिङ्गलामर्कवर्णं तु त्यजेद् ध्यात्वा शनैः शनैः ।
अयं पतङ्गकाष्ठाग्निप्रत्यासेन पुनः पुनः ॥५

कृत्वा कलेवरं शुद्धं कुर्याद् यत्नैर्महात्मना ।
मनो निवार्य संसारे विषयेषु तथैव च ॥६

मनोविकारान् सर्वांश्च त्यक्त्वा शून्यमयो भवेत् ।
प्रत्याहारो भवत्येष सर्वनिन्दाचमत्कृतः ॥७

ध्यानं च द्विविधं प्रोक्तं स्थूलसूक्ष्मविभेदतः ।
स्थूलं मन्त्रमयं विद्धि सूक्ष्मन्तु मन्त्रवर्जितम् ॥८

इत्येतत्कथितं सर्वं योगसङ्केतमुत्तमम् ।
अधुना चाष्टकुम्भस्य लक्षणं शृणु कथ्यते ॥९

शीत्कारं सूर्यभेदं च उज्जायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्ट कुम्भकाः ॥१०

ब्रह्मयामले । (केवलं प्राणायामेन नाडीशुद्धिकथनानन्तरम्)

तत्सिद्धये विशेषज्ञश्चिरान् कुर्वीत कुम्भकान् ।
विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥११

विचित्रकुम्भकास्तु

सूर्यभेदेन मृडघाख्यं तथा शीत्कारशीतली ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लावनी सप्त कुम्भकाः ॥१२

घेरण्डे कथितं सहितकुम्भकम्

सहितं सूर्यभेदश्च उज्ज्यायी शीतली तथा ।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा केवली चाष्ट कुम्भकाः ॥१३

प्राणायामकथनान्ते

कथितं सहितं कुम्भं सूर्यभेदनकं शृणु ।
पूरयेत् सूर्यनाड्या न यथाशक्ति वहिर्मरुत् ॥१४

धारयेद् बहुयत्नेन कुम्भकेन जलन्धरे ।
यावत्स्वेदी न(ख) केशाभ्यां तावत्कुर्यात्तु कुम्भकम् ॥१५

प्राणापानौ समानश्चोदानव्यानौ च वायवः ।
उद्गारे नाग इत्युक्तः कूर्मस्तून्मीलने स्मृतः ॥१६

कृकरः क्षुत् करोत्येव देवदत्तो विजृम्भने ।
धनञ्जयो मन्दमन्दो मृतदेहं न मुञ्चति ॥१७

प्राणाद्याः पञ्च विख्याता नागाद्याः पञ्च वायवः ।
नागो गृह्णाति चैतन्यं कूर्मश्चैव निमेषणम् ॥१८

चित्तं धनञ्जयः शब्दं क्षणमात्रं न निस्सरेत् ।
सर्वे ते सूर्यसम्भिन्ना नाभिमूलात् समुद्धरेत् ॥१९

इडया रेचयेत् पश्चाद् धैर्येणाखण्डवेगतः ।
पुनः सूर्येण चाकृष्य कुम्भयित्वा यथाविधि ॥२०

रेचयित्वा साधयेत्तु क्रमेण च पुनः पुनः ।
कुम्भकं सूर्यभेदन्तु जरामृत्युविनाशकम् ॥२१

बोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानलं विवर्धते ।
इति ते कथितं चण्डि सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥२२

स्वरोदये

कुम्भयेत् सहजं वायुं यथाशक्त्या प्रयत्नतः ।
रेचयेच्चन्द्रमार्गेण सूर्यमार्गेण पूरयेत् ॥२३

चन्द्रमाः पिबते सूर्यं सूर्यः पिबति चन्द्रकम् ।
अन्योन्यकालाभावेन जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥२४

सूर्यभेदनानन्तरम्

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा मुक्तासनं ततः ।
दक्षनाड्या समाकृष्य वह्निस्थं पवनं शनैः ॥२५

आकेशान्तनखाग्राद्वा निरोधावधि कुम्भयेत् ।
ततः शनैः दक्षनाड्या रेचयेत् पवनं सुधीः ॥२६

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहम् ।
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदेन ह्युत्तमम् ॥२७

कुम्भकं सूर्यभेदं च जरामृत्युविनाशकम् ।
रोधयेत् कुण्डलीं शक्तिं देहानलं विवर्धयेत् ॥२८

सूर्यभेदनानन्तरं काशीखण्डे

दृढासनं यथाशक्ति प्राणं चन्द्रेण रेचयेत् ।
पूरयेदथ सूर्येण प्राणायामो यदुच्यते ॥२९

स्रवत् पीयूषधारौघं ध्यायंश्चन्द्रसमं त्विषि ।
प्राणायामेन योगीन्द्रः सुखमाप्नोति तत्क्षणात् ॥३०

रविणा प्राणमाकृष्य पूरयेदौदरीं दरीम् ।
कुम्भयित्वा शनैः पश्चाद् योगी चन्द्रेण रेचयेत् ॥३१

ज्वलज्ज्वलनपुञ्जाभं शीलयन्नुष्णगुं हृदि ।
अनेन योग्ययोगेन योगीन्द्रः शर्मभाग् भवेत् ॥३२

उज्ज्यायी घेरण्डे

नासाभ्यां वायुमाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत् ।
हृद्गलाभ्यां समाकृष्य वायुं वक्त्रे च धारयेत् ॥३३

मुखं प्रफुल्लं सम्बन्ध्य कुर्याद् जालन्धरं ततः ।
आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः ॥३४

उह्यायीं कुम्भकं चण्डि सर्वकार्याणि साधयेत् ।
न भवेत् कफरोगश्च क्रूरवायुरजीर्णकः ॥३५

आमवातक्षयः कासज्वरप्लीहा न जायते ।
जरामृत्युविनाशाय चोह्यायीं साधयेन्नरः ॥३६

अथ शीतलीकुम्भकं घेरण्डे

जिह्वया वायुमाकृष्य उदरे पूरयेच्छनैः ।
क्षणं च कुम्भकं कृत्वा नासाभ्यां रेचयेत् पुनः ॥३७

सर्वदा साधयेद् योगी शीतलं कुम्भकं शुभम् ।
अजीर्णं कफपित्तं च नैव तस्य प्रजायते ॥३८

ग्रहयामले

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत् कुम्भकादितः ।
शनैस्तु घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं प्रिये ॥३९

गुलमप्लीहादिकान् दोषान् ज्वररेतःक्षयं क्षुधाम् ।
तृष्णां च शीतलीनामा कुम्भकोऽयं निहन्ति वै ॥४०

अथ भस्त्राख्याकुम्भकं घेरण्डे

भस्त्रेव लोहकारेण यथा क्रमेण संभ्रमेत् ।
ततो वायुं च नासाभ्यां चालयेत्तु शनैः शनैः ॥४१

एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्यात्तु कुम्भकम् ।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि ॥४२

त्रिवारं साधयेद् येन भस्त्रिकाकुम्भकं सुधीः ।
न च रोगं न च क्लेशमारोग्यं च दिने दिने ॥४३

अथ ग्रहयामले

सम्यक् पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः प्रिये ।
मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं प्राणेन रेचयेत् ॥४४

तथैव स्वशरीरस्थं पवनं चालयेत् स्फुटम् ।
यथा लगति हृत्कण्ठकपाले श्वसनस्ततः ॥४५

वेगेन पूरयेत् किञ्चिद्हृत्पद्मावधिमारुतम् ।
पुनर्विरेचयेत् तद्वत् पूरयेच्च पुनः पुनः ॥४६

यथैव लौहकारस्य भस्त्रां वेगेन चालयेत् ।
तथैव स्वशरीरस्थं पवनं चालयेच्छनैः ॥४७

यदा श्रमो भवेत् पूर्णो बन्धने च तदा लघु ।
धारयेन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥४८

कुम्भकं पूर्ववत् कृत्वा चालयेदिडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥४९

कुण्डलीरोधनं चक्रे मारघ्नं शुभदं सुधीः ।
ब्रह्मनाडीं मुखे संस्थं कफघ्नं मलनाशनम् ॥५०

सम्यङ्मात्रं समुद्भूतं ग्रन्थित्रयविभेदनम् ।
विशेषेणैव कर्त्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥५१

अथ भ्रामरीकुम्भकं घेरण्डे

अर्द्धरात्रिगते योगी जन्तूनां शब्दवर्जिते ।
कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां कुर्यात् पूरककुम्भकम् ॥५२

शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तर्गतं सुधीः ।
प्रथमं झिल्लिनादं च वंशीनादं ततः परम् ॥५३

तुरीभेरीमृदङ्गादिनिनादानेकदुन्दुभिः ।
एवं नानाविधो नादो जायते नित्यमभ्यसात् ॥५४

अनाहतस्य [illegible] तस्य शब्दस्य यो ध्वनिः ।
ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर्ज्योतिरन्तर्गतं मनः ॥५५

तन्मनो विलयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ।
एवं भ्रामरीसंसिद्धः समाधि सिद्धिमाप्नुयात् ॥५६

ग्रह्यामले

वेदोद्घोषपूर्वकं भृङ्गनादं
भङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम् ।

योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगी
चित्ते याता काचिदानन्दवल्ली ॥५७

वेदोद्घोषं प्रणवम् इति । बाह्यप्रकाशभ्रामरी दत्तात्रये

अनिलं मन्दवेगेन भ्रामरीकुम्भकं चरेत् ।
मन्दं मन्दं रेचयेच्च भृङ्गीनादस्ततो भवेत् ॥५८

अन्तःस्थे भ्रामरीं नादं श्रुत्वा तत्र मनो लयेत् ।
समाधिर्जायते तत्र आनन्दं देहमित्यतः ॥५९

अथ मनोमूर्च्छा । घेरण्डे

मुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्चैव भ्रुवोन्तरम् ।
संत्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ।
आत्मनि मनसो योगादानन्दं जायते ध्रुवम् ॥६०

ग्रहयामले ।

पूरकान्ते गाढतरं बद्ध्वा जालन्धरं शनैः ।
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥६१

अथोड्डाख्यकुम्भकम् । ग्रहयामले ।

मुखं संयम्य नासाभ्यां चाकृष्य पवनं शनैः ।
यथा लगति कण्ठान्ते हृदयावधि सस्वनः ॥६२

पूर्ववत् कुम्भयेद् प्राणं रेचयेदिडया ततः ।
श्लेष्मारोगहरं चैतदनेन दीप्तबन्धनम् ॥६३

नाडीजलोदराधातुगण्डदोषविनाशनम् ।
गच्छता तिष्ठता कार्यमुड्डाख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥६४

अथ प्लावनी

अन्तःप्रवर्त्तिता धारा मारुतो पूरितोदरः ।
यथा पयस्यगाधेपि प्लवते पद्मपत्रवत् ॥६५

दन्तमूलधारणकुम्भकं काशीखण्डे

संपीड्य रसनाग्रेण राजदन्तं बिलं महत् ।
ध्यात्वा सुधामयीं देवीं सुखासनकरी भवेत् ॥६६

योगस्वरोदये

दन्ताधारो द्वादशेति सर्वरोगक्षयङ्करः ।

धारयेद्दन्तयोर्मध्ये जिह्वाग्रं च बलादपि ।
धृतार्धघटिकामात्रं सर्वरोगन्तु नाशयेत् ॥ ६७

स्वरोदये

मुखनासिककर्णानामङ्गुलिभिर्निरोधयेत् ।
दन्तोदरमिति प्रोक्तं सन्मुखीकरणं त्विदम् ॥६८

पूरकान्ते प्रकर्तव्यं पानं जालन्धराभिधम् ।
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥६९

अथ आकुञ्चनेनैव कण्ठसङ्कोचने कृते ।
मध्यपश्चिमतानेन प्राणः स्यान्मध्यनाभितः ॥७०

अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत् ।
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो लभेत् ॥७१

सर्वत्र कुम्भके कुर्याद् गुदस्याकुञ्चनं सुधीः ।
तदा वायुर्भवेद्वश्यो भवेच्च धारणक्षमः ॥७२

तत् प्रमाणं भगवद्गीतायाम्

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणे प्राणं तथापरे ।
प्राणापानगतिं रुद्ध्वा प्राणायामपरायणः ।७३

मार्कण्डेयपुराणे

प्राणापानाविरोधश्च प्राणायाम उदाहृतः ॥७४

केवलकुम्भकं घेरण्डे

नासाभ्यां वायुमाकृष्य केवलं कुम्भकं चरेत् ।
एकदा च चतुःषष्टी धारयेत् प्रथमे दिने ॥७५

केवलीं चाष्टधा कुर्याद् यामे यामे दिने दिने ।
अथवा पञ्चधा कुर्यात्त्वयि तत् कथयामि ते ॥७६

प्रातर्मध्याह्नसायाह्ने मध्यरात्रे चतुर्थके ।
त्रिसन्ध्यमथवा कुर्यात् ससमाने दिने दिने ॥७७

पञ्चवारं दिने वृद्धि वारैकं वा दिने तथा ।
अजपा परिमाणं च यावत् सिद्धिः प्रजायते ।
कुम्भके केवले सिद्धे किन्न सिध्यति भूतले ॥७८

इत्यघोरविरचिते योगसङ्केते सप्तमः पादः ॥

# अथ अष्टमः पादः

## मुद्रासाधनम्

नत्वा गुरुपदद्वन्द्वं साधकानां सुखाय च ।
मुद्राणां साधनं वक्ष्ये योगशास्त्रस्य सम्मतम् ॥१

मुद्रासाधनमाहात्म्यं मुद्रा मोदप्रदायिनी ।
साधनात् सुखमत्यन्तं प्राप्नोति नात्र संशयः ॥२

यथैव राजती मुद्रा यस्यास्ति स च मोदवान् ।
यावज्जीवनपर्यन्तं दैन्यदुःखैर्न बाध्यते ॥३

तथा योगाङ्गमुद्रेयं लब्ध्वा दुःखैर्न लिप्यते ।
करस्थमायुषं कृत्वा विचरेच्च महीतले ॥४

ग्रहयामले

शीत्कारं च सदा वक्त्रे घ्राणे चैव विजृम्भकम् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवद्वितीयकः ॥५

न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च सर्वोपद्रववर्जितः ।
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भुवि मण्डले ॥६

## अथ मुद्रासाधनम्

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्डियानं मूलबन्धो बन्धो जालन्धराभिधः ॥७

करणं विपरीताख्यं वज्रिणी शक्तिचालनम् ।
इदन्तु मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥८

देवेशि कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धीनां दुर्लभं मरुतामपि ॥९

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्टकम् ।
कस्यचिन् नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥१०

घेरण्डे तथान्ययोगशास्त्रे च ।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधस्ततः परम् ।
मूलबन्धश्च तत् पश्चादुड्डीयानं जलन्धरम् ॥११
तडागी भुजगी काकी मातङ्गी खेचरी तथा ।
विपरीतकरणी योनी वज्रिणी शक्तिचालिनी ॥१२
पाशिनी च नभोमुद्रा अश्विनी माण्डवी तथा ।
शाम्भवी च ततः पश्चादिति विंशति मुद्रिकाः ॥१३

घेरण्डे । महामुद्रा

पायुमूलं वामगुल्फे संपीड्य दृढयत्नतः ।
याम्यपादं प्रसार्याथ कराभ्यां धृतमङ्गुलिम् ॥१४
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत् ।
पूरकैर्वायुमापूर्य महामुद्रा निगद्यते ॥१५
वलितं पलितं वापि जरामृत्युं निवारयेत् ।
क्षयङ्कासगुदावर्त्तं प्लीहाजीर्णज्वरव्यथाम् ।
नाशयेत् सर्वरोगाणि महामुद्राप्रधारणात् ॥१६

गोरक्षे

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ्घ्रिणा
हस्ताभ्यामनु धारयेत् प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् ।
आपूर्य श्वसनं स्वकुक्षियुगलं बद्ध्वा शनै रेचयेद्
एषा व्याधिविनाशिनी सुमतिदा मुद्रा नृणां कथ्यते ॥१७
चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत् पुनः ।
यावत्तुल्या भवेत् संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥१८
नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ॥१९
क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥२०

कथितेयं महामुद्रा जरामरणनाशिनी ।

दत्तात्रेये

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि भैरवोक्तं समाचरेत् ॥२१

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
प्रसार्य दक्षिणं पादं हस्ताभ्यां धारयेद्दृढम् ॥२२

चिबुकं हृदये न्यस्य पूरयेद्वायुना पुनः ।
कुम्भकेन यथाशक्तया धारयित्वा च रेचयेत् ॥२३

वामाङ्गेन समभ्यस्य दक्षिणाङ्गेन चाभ्यसेत् ।
प्रसारितस्तु यः पादस्तमुरूपरि विन्यसेत् ॥२४

ब्रह्मयामले

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥२५

कण्ठे वक्त्रं समारोप्य धारयेद्वायुमुद्धृतम् ।
यथा दण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥२६

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डलीसहिता भवेत् ।
आदौ सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता ॥२७

अतः शनैः शनैरेव रेचयेत्तं न वेगतः ।
इयं ऋज्वी महामुद्रा तव स्नेहात् प्रकाश्यते ॥२८

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ।
महामुद्रा तु तेनैव समाख्याता महेश्वरि ॥२९

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेन समभ्यसेत् ।
यावत् संख्या भवेत्तुल्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥३०

अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति ।
क्षयकुष्ठगुदावर्त्तगुदप्लीहापुरोगमाः ।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत् ॥३१

कथितेयं महामुद्रा जरामरणनाशिनी ।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥३२

अथ महाबन्धः

अन्य एव महाबन्धो मुद्रां बद्ध्वायमभ्यसेत् ।
महाबन्धस्थितो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ॥३३

अयमेव महाबन्धः सिद्धैरभ्यस्यते नरैः ।
पाष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥३४

वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।
पूरयित्वा मुखे वायुं हृदये चिबुकं दृढम् ॥३५

निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ।
रेचयेच्च शनैरेवं महाबन्धोऽयमुच्यते ॥३६

अमुं योनिं महाबन्धं महासिद्धिप्रदायकम् ।
वामाङ्गे च समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥३७

अयं च सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिं निरोधयेत् ।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ॥३८

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ॥३९

अथ महावेधः

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा प्रकरणं तथा ।
वायूनां गतिमाकृष्य विधृतं कण्ठमुद्रया ॥४०

समस्तयुक्तो यो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।
पुटद्वयं समाकृष्य वायुश्चरति सत्वरः ॥४१

सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै ।
वह्निवृद्धिकरं चैवाणिमाद्यष्टगुणप्रदम् ॥४२

मृतावस्था समुत्पन्ना ततो मृत्युभयं कुतः ।
राजदण्डश्च जिह्वायां बन्धः यत्र भवेद्धितः ॥४३

महावेधसमाभ्यासो महासिद्धिप्रदायकः ।
बन्धत्रयं महागुह्यं जरामरणनाशनम् ॥४४

अथाभिक्रियते यामं यामं यामं दिने दिने ।
पुण्यसम्भारसन्धावं पापौघार्तिहरं सदा ॥४५

सम्यक् शिक्षावतामेव स्वप्नं प्रथमसाधने ।
महामुद्रा महाबन्धो महावेध इति त्रयम् ॥४६

अथ मूलबन्धः । ब्रह्मयामले

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमुत्थाप्य मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥४७

अधोगतमपानं च ऊर्ध्वाङ्गे कुरुते हठात् ।
आकुञ्चनेन तं वच्मि मूलबन्धं महेश्वरि ।
योनिपार्ष्णि तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ॥४८

वारं वारं तथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः ।
प्राणादिमोदिता बिन्दुर्मूलबन्धेन चैकतः ॥४९

ततो योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ।
अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ॥५०

युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ।
अपाने चोर्ध्वगे याति सम्प्राप्ते नाभिमण्डले ॥५१

तदानुनासिका दीर्घा वर्धते वायुना हता ।
[नासामार्गवाहिनी अजपा न दीर्घा वहति इत्यर्थः] पाठान्तरं यथा
तदानलशिखादीर्घा वर्धते नात्र संशयः ॥५२

ततो जातं बद्धयोनौ प्राणेषु च स्वरूपकम् ।
तैलाभ्यङ्गं प्रदीपन्तु ज्वलनो देहगस्तथा ॥५३

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता संविवर्धते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥५४

बिलं प्रविश्यैव ततो ब्रह्मनाड्यान्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यः परमेश्वरि ॥५५

महाबन्धस्तद्यथा । घेरण्डे

वामपादस्य गुल्फेन पायुमूलं निरोधयेत् ।
दक्षपादेन तद्गुल्फं सम्पीड्य यत्नतः सुधीः ॥५६

शनैस्तु चालयेत् पार्ष्णि योनिमाकुञ्चयेच्छनैः ।
जलन्धरे ध्रियेत् प्राणं महाबन्धो निगद्यते ॥५७

अथ महावेधं यथा

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना ।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधं विना तथा ॥५८

महाबन्धं समासाद्य उड्डायी कुम्भकं चरेत् ।
महावेधं समाख्यातं योगिनां सिद्धिदायकम् ॥५९

बन्धत्रयं महागुह्यं योगसिद्धिकरं परम् ।

मूलबन्धं घेरण्डे

पार्ष्णिपादेन वामेन योनिमाकुञ्चयेत्ततः ॥६०

नाडीग्रन्थिं मेरुदण्डे सम्पीडच यत्नतः सुधीः ।
मेढ्ं दक्षिणगुल्फे तु दृढबन्धं समाचरेत् ॥६१

जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धं निगद्यते ।

गोरक्षे

पार्ष्णिभागेन संपीडच योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥६२

अपानप्राणयोरैक्यात् क्षयान्मूत्रपुरीषयोः ।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥६३

उड्डीयानबन्धः । ग्रहयामले

बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणमुड्डीयते ततः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं ज्ञातव्यः परमेश्वरि ॥६४

उड्यानं कुरुते यस्मादविश्रान्तो महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धो निगद्यते ॥६५

उदरे पश्चिमातानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी ॥६६

उड्डानकं तु सहजं कथ्यते परमेश्वरि ।
अभ्यासेन वितन्त्रस्तु वृद्धोऽपि (?) तरुणो भवेत् ॥६७

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात् प्रयत्नतः ।
षण्मासाभ्यासवान् मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥६८

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद्दृढम् ।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥६९

पश्चिमोत्तानमुदरे कारयेद् हृदये गले ।
शनैः शनैर्यथा प्राणस्तुन्दं सिद्धिं स गच्छति ॥७०

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमोऽयुड्डीयानकः ।
उड्डीयाने महेशानि मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥७१

दत्तात्रेयसंहितायाम्

उड्डीयानं च सहजं मुनिभिः कथ्यते सदा ।
अभ्यसेद् यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते ।
नाभेरूर्ध्वमधश्चापि प्राणं कुर्यात् प्रयत्नतः ॥७२

षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ।
मूलबन्धस्तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु योगवित् ॥७३

(उड्डीयानं मूलबन्धवद्गुह्याकुञ्चनं कार्यमिति मतम्) गोरक्षे यथा ।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तो महाखगः ।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेशरी ॥७४

उदरात् पश्चिमे भागे अधोनाभेर्निगद्यते ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥७५

काशीखण्डे

उड्डीनं कुरुते यस्मादहोरात्रं महाखगः ।
उड्डीयानं ततः प्रोक्तं तत्र बन्धो विधीयते ॥७६

जठरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च धारयेत् ।
उड्डीयानो ह्ययं बन्धो मृत्योरपि भयं हरेत् ॥७७

अथ जालन्धरबन्धः । गोरक्षे

बध्नाति हि शिराजालं बाधो याति न भोजनम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखस्य नाशनः ॥७८

जालन्धरकृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥७९

ग्रहयामले

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः ॥८०

नाभिस्थाग्निकपालस्थं सहस्रकमलाच्च्युतम् ।
अमृतं सर्वदा स्रावं विन्दुतां याति देहिनाम् ॥८१
यथाग्निश्च तदमृतं न पिबेच्च पिबेत् स्वयम् ।
याति पश्चिममार्गेण एवमभ्यासतः सदा ॥८२
अमृतं कुरुते देहं जालन्धरमतोऽभ्यसेत् ।

ग्रहयामले

बध्नाति हि शिराजालं मध्यगामी न भोजनम् ।
अतो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥८३

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचने कृते ।
न पीयूषं पचत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥८४

कण्ठसङ्कोचने नैव द्वे नाड्यौ कुम्भयेद्दृढम् ।
बन्धत्रयमिदं गुह्यं महासिद्धिनिषेवितम् ॥८५

अथ आकुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ।
मध्यपश्चिमतानं स्यात् प्राणस्तु मध्यनाभिगः ॥८६

ब्रह्मस्थानस्थितो बोधः प्रयाति पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥८७

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डानाख्यां तु कारयेत् ।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमं पथम् ॥८८

अनेनैव विधानेन सेवते पवनालयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥८९

काशीखण्डे

बध्नाति हि शिराजालमधोगामी न भोजनम् ।
एष जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः ॥९०

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रधावति ॥९१

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताक्षयकारकः ॥९२

घेरण्डे

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत् ।
जालन्धरकृतो बन्धो षोडशाधारबन्धनम् ॥९३

जालन्धरमहामुद्राममृताक्षयकारिणीम् ।
महामुद्रा महाबन्धो महाबेध इति त्रयम् ।

बन्धत्रयं महादुःखं ग्रहयामलसम्मतम् ॥९४
मूलबन्धो महाबन्धो महाबेध इति त्रयम् ।

बन्धत्रयं महागुह्यमिति घेरण्डसम्मतम् ॥९५
मूलबन्धस्तूड्डीयानो जालन्धर इति त्रयम् ।

बन्धत्रयं महागुह्यं जरामरणनाशनम् ॥९६
बन्धत्रयं च त्रिविधं योगशास्त्रस्य सम्मतम् ।
सर्वदा साधयेद् योगी श्रद्धया यत्नतः सदा ॥९७

अथ तडागी । घेरण्डे

उदरे पश्चिमातानं कुर्यात्तु तडागाकृतिम् ।
तडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥९८

अथ भुजङ्गीमुद्रा घेरण्डे

वक्त्रं किञ्चित् सुप्रसार्य अनिलं गलया पिबेत् ।
सा भवेद् भुजगीमुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ॥९९

यावन्त उदरे रोगा अजीर्णाद्या विशेषतः ।
तत्सर्वं नाशयेदाशु यत्र मुद्रा भुजङ्गिनी ॥१००

अथ काकीमुद्रा घेरण्डे

काकचञ्चुवतास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
काकीमुद्रा भवेदेषा रोगिणां रोगनाशनम् १०१

काशीखण्डे

काकचञ्चुवदास्येन शीतलं शीतलं पिबेत् ।
प्राणं प्राणविधानज्ञो योगी भवति निर्जरः ॥१०२

अथ खेचरीमुद्रा। घेरण्डे (आदौ जिह्वाशोधनं कृत्वा)

तर्जनीमध्यमानामा अङ्गुलीत्रययोगतः ।
वेशयेद्गलमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिकामलम् ॥१०३

शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ।
मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः ॥१०४

तदग्रं लोहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ।
नित्यं कुर्यात् प्रयत्नेन रवेरुदयचास्तके ॥१०५

एवं कृते च नित्ये च लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।
वृद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेन मार्जयेद्गालरन्ध्रकम् ॥१०६

एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।
नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥१०७

अङ्गुल्या च प्रदेशिन्या मार्जयेत् कर्णरन्ध्रयोः ।
नित्यमभ्यस्य योगोऽयं नादान्तरं प्रकाशयेत् ॥१०८

ब्रह्यामले

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ।
न खेचरी महामुद्रा न नादः सदृशो लयः ॥१०९

घेरण्डे

जिह्वाधो नाितसम्भिन्ना रसनां चालयेत् सदा ।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत् ॥११०

एवं नित्यसमभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।

दत्तात्रये

नासिकास्पर्शजिह्वेयं तालुलग्ना भवेत्ततः ।

घेरण्डे

रसनां हि तालुरन्ध्रे शनैः शनैः प्रवेशयेत् ॥१११

भ्रुवोर्मध्यगता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।
न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते ॥११२

न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहो भवेद् ध्रुवम् ।
न चाग्निर्दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः ॥११३

न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः ।
देवतुल्यं भवेद्गात्रं समाधिर्जायते ध्रुवम् ॥११४

कपालरन्ध्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात् ।
नानाविधिसमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने ॥११५

दत्तात्रये

अन्तः कपालविवरे जिह्वां व्यावृत्य बन्धयेत् ।
भ्रूमध्ये दृष्टिरप्येषा मुद्रा भवति खेचरी ॥११६

ग्रहयामले

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥११७

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परिवर्त्तयेत् ।
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥११८

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्द्धं यस्तु तिष्ठति ।
विषयान्मुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥११९

न रोगमरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥१२०

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न स कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यस्य मुद्रास्ति खेचरी ॥१२१

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सर्वनमस्कृता ॥१२२

खेचर्या मुद्रिता येन विवरं लम्बिकोर्ध्वकम् ।
तस्य न क्षरते विन्दुः कामिन्या श्लेषितस्य च ॥१२३

चलितोऽपि यदा विन्दुं संप्राप्ते योनिमण्डले ।
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छुक्तया निबन्धो योनिमुद्रया ॥१२४

ऊर्ध्वजिह्वास्थितो भूत्वा सोमपानं करोति यः ।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवान् ॥१२५

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्ति च दीपकः ।
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥१२६

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरं यस्य योगिनः ।
तक्षकेनापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥१२७

तस्मादिदं प्रकुर्वीत नित्यं युक्तः समाहितः ।
रसनां वेशयेदूर्ध्वं पिबेदमरवारुणीम् ॥१२८

कुलिनं तमहं वन्दे इतरे च कुसाधकाः ।
गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ॥१२९

गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।
जिह्वाप्रवेशसम्भूतवायुना स्थापितं खलु ।
चन्द्राद्गलति संसारं तस्मादमरवारुणी ॥१३०

मूर्ध्नि षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठात्
ऊर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्ति परां चिन्तयेत् ।
तत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामृतं यः पिबे-
न्निर्दोषः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरञ्जीवति ॥१३१

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वा रसस्यन्दनी
सा क्षारकटुकादिदुग्धसदृशी क्षीराज्यतुल्याथवा ।
व्याधीनां हरणं जयन्तकरणं शास्त्राङ्गमुद्गीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणवत् सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ॥१३२

एवं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।
एको देवो निरालम्बो ह्येकावस्था मनोन्मनी ॥१३३

सुचिरं ज्ञानजनकं पञ्चतत्त्वसमन्वितम् ।
तिष्ठन्ति खेचरीमुद्रा अस्मिन् शून्ये निरञ्जने ॥१३४

घेरण्डे

आदौ लवणक्षारं च तत्र तिक्तकषायनम् ।
नवनीतं घृतं क्षीरं दधि तक्रं मधूनि च ॥१३५

द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनोदकम् ।

योगस्वरोदये

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा कलार्द्धं योऽवतिष्ठते ।
क्षणेन मुच्यते देवि व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥१३६

रसना त्वन्तरे नित्यं यावद् ब्रह्मबिलं गता ।
अमृतं रसनाग्रेण पीयमानं विचिन्तयेत् ॥१३७

सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो योगीन्द्रो नात्र संशयः ।
रसनातालुमूले च वायुं पीत्वा शनैः शनैः ॥१३८

षण्मासाभ्यन्तरे देवि महायोगी भविष्यति ।
क्षीरेण नश्यते व्याधिः कटुकण्डुविनाशनम् ॥१३९

सुस्वादेन महादेवि बालपाकविनाशनम् ।
घृतास्वादेन मात्रेण अमरत्वं लभेन्नरः ॥१४०

मधुस्वादरसाष्टे च शास्त्रमुदीरते स तु ।
मिष्ठान्नखण्डखाद्यादिलड्डुकस्वादवर्त्तिनी ॥१४१

नानाविधं रसं प्राप्य आनन्दं च दिने दिने ।

काशीखण्डे

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा ।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥१४२

न पीड्यते च रोगेण न च लिप्यते कर्मणा ।
बाध्यते न च कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥१४३

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ।
तेनैव खेचरी प्रोक्ता मुद्रा सिद्धैर्निषेविता ॥१४४

यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ।
यावद्बद्धा नभोमुद्रा तावद्बिन्दुर्न गच्छति ॥१४५

अश्विनीमुद्रा

आकुञ्चयेद् गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः ।
सा भवेदश्विनी मुद्रा मुद्रा शक्तिप्रबोधिनी ॥१४६

विपरीतकरणी मुद्रा

यत् किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपकम् ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥१४७

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न च शास्त्रार्थकोटिभिः ॥ १४८

ऊर्ध्वं नाभिरधः स्थानमूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणं विपरीताख्यं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥१४९

नित्यमभ्याससंयुक्तं जठराग्निविवर्द्धनम् ।
स्वल्पाहारो निराहारः क्षुधार्त्तो बलहा भवेत् ॥१५०

आहारं बहुलं तस्य सम्पाद्य साधकस्य तु ।
नात्याहारो यदि भवेदग्निर्देहं दहेत् क्षणात् ॥१५१

अधःशिरश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने ।
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेद्धि दिने दिने ॥१५२

वलितं पलितं चैव षण्मासार्द्धे विनाशयेत् ।
मासमात्रं तु यो नित्यमभ्यसेच्च स चार्कजित् ॥१५३

मासमात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत् स तु योगवित् ।

योनिमुद्रा घेरण्डे

सिद्धासनं समासाद्य कर्णचक्षुर्नसोमुखम् ॥१५४

अङ्गुष्ठतर्जनीमध्यानामादिभिश्च धारयेत् ।
काकिनीं प्राणतः कृष्य अपाने योजयेत्ततः ॥१५५

षट्चक्राणि क्रमाद्ध्यात्वा हुं हंसः मनुना सुधीः ।
चैतन्यमानयेद् देवि निद्रिता या भुजङ्गिनी ॥१५६

जीवेन सहितां शक्ति समुत्थाप्य पराम्बुजे ।
शक्तिमयं स्वयं रत्या परशिवेन सङ्गमम् ॥१५७

नानासुखं विहारं च चिन्तयेत् परमं सुखम् ।
शिवशक्तिसमायोगादेकात्मत्वं विभावयेत् ॥१५८

आनन्दमयसम्भूत्वा अहं ब्रह्मेति सम्भवेत् ।

योनिमुद्रां परां गोप्यां देवानामपि दुर्लभाम् ।
सकृद् यो भावसंसिद्धः समाधिस्थः स एव हि ॥१५९

अथ वज्रोणी घेरण्डे

धरामवष्टभ्य करस्तनाभ्या-
मूर्ध्वं क्षिपेत् पादयुगं शिरः खे ।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय
वज्रोणीमुद्रां मुनयो वदन्ति ॥१६०

वज्रोणी ग्रहयामले

वज्रोणी चामरोणी च सयोनिश्च त्रिधा मता ।
यत्तासां लक्षणं वक्ष्ये कर्त्तव्यं च विशेषतः ॥१६१

स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि योगोक्तनियमं विना ।
वज्रोणीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनः ॥१६२

अधोभागे गतं बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितन्तु स्वकं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥१६३

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैव द्वितीयं च नारी च वलवर्त्तिनी ॥१६४

मेढ्रेन च शनैः सम्यक् कृत्वा कुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषो वापि नारी वा वज्रोणीसिद्धिमाप्नुयात् ॥१६५

प्रयत्नतः शिराजालं फुत्कारे कम्बु वर्धयेत् ।
शनैः शनैः प्रकुर्याच्च वायुसञ्चारकारणात् ॥१६६

भार्याभगगतं बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितं पलितं बिन्दुं बिन्दुमाकृष्य रक्षयेत् ॥१६७

एवन्तु रक्षयन् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवान् ।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥१६८

सुगन्धि योगिनो देहं जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः ॥१६९

मलायत्तं बलं पुंसां शुक्रायत्तं च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मलं चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥१७०

ऋतुमत्या रजोप्येवं स्वयं बिन्दुं च रक्षयेत् ।
मेढ़्रादाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगतः ॥१७१

सहयोन्यमरोली च वज्रोलीत्रयभेदतः ।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः साङ्गलेपनम् ॥१७२

आसीनयोः सुखेनैव सूक्ष्मव्यापारयेत् क्षणात् ।
सहयोनिरियं प्रोक्ता श्रद्धया परमेश्वरि ॥१७३

पित्तोल्वणत्वात् प्रथमं च धारां
विहारनिःसारतयान्त्यधाराम् ।
निषेवते शीतलमध्यधारां
कम्पोलिकैः खण्डमतेरवर्यः ॥२७४

अमरीं यः पिबेन्नित्यं न्यासं कुर्वन् दिने दिने ।
वज्रोलीमभ्यसेदेवममरोलीति कथ्यते ॥१७५

यक्षणाकुञ्चनेनोर्ध्वं यद्रजः सा हि योगिनी ।
अतीतानागतं ज्ञानं खेचरी च प्रजायते ॥१७६

देहसिद्धिं च लभते वज्रोल्यभ्यासयोगतः ।
अयं शुभकरो योगो भोगान् भुङ्क्ते विमुक्तिदः ॥१७७

वज्रोली यदि कर्त्तव्या क्षीरेण चाभ्यसेत्सुधीः ।
शत्रूणां नाशकर्त्तव्यं शत्रुवृद्धिं न कारयेत् ॥१७८

शक्तिचालनी । ग्रहयामले

कुण्डलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ।
कुण्डल्यरुन्धती देवी शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥१७९

गङ्गायमुनयोर्मध्ये वाला रण्डा तपस्विनी ।
बलादाकृष्य गृह्णीयात् तद्विष्णोः परमं पदम् ॥१८०

पुच्छं प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेदपि ।
निद्रां विहाय सा ऋज्वी ऊर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥२८१

वज्रासनस्थितो योगी चालयित्वा तु कुण्डलीम् ।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥१८२

मृत्युवक्त्रगतस्यापि ततो मृत्युभयं कुतः ।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ॥१८३

ऊर्ध्वमाकर्षते किञ्चित् सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायाः समुद्गता ॥१८४

जहाति नित्यं प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वयम् ।
तस्मात् सञ्चालयेन्नित्यं शब्दगर्भामरुन्धतीम् ॥१८५

यस्याः सञ्चालनेनैव रोगी रोगैर्विमुच्यते ।
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनः ॥१८६

किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ।
अभ्यासान्निस्सृतां चैन्द्रीं सह नित्यं समाश्रयेत् ॥१८७

धारयेत्तूत्तमाङ्गे च दिव्यदृष्टिप्रदायिकाम् ।
इति मुद्रा दश प्रोक्तास्तव स्नेहान्महेश्वरि ॥१८८

एकैकं धायुयमिनां महासिद्धिप्रदायकम् ।

शक्तिचालनी मुद्रा घेरण्डे

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता ।
शयिता भुजगाकारा सार्द्धत्रिवलयान्विता ॥१८९

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवपशोरिव ।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत् ॥१९०

उद्घाटयेत् कवाटन्तु यथा कुञ्जिकया हठात् ।
कुण्डलिन्याः प्रबोधेन ब्रह्मद्वारं विभेदयेत् ॥१९१

नातिबृहद्वेष्टनं च न च एव बहिः स्थितम् ।
गोपनीयं गृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत् ॥१९२

वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम् ।
दुकूलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनाम्बरलक्षणम् ॥१९३

एवमम्बरयुक्तं च कटीसूत्रेण योजयेत् ।
भस्मना गात्रसंलिप्तः सिद्धासनं यथाचरेत् ॥१९४

नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद्बलात् ।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनीमुद्रया ॥१९५

यावद्गच्छेत् सुषुम्नायां वायुं प्रवेशयेद्धठात् ।
तदा वायुप्रयत्नेन मुद्रां भुजगीकुम्भिकाम् ॥१९६

बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते ।
शब्दद्वयं फलैकन्तु योनिमुद्रा च चालनम् ॥१९७

विना शक्तिचालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति ।
आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां ततोऽभ्यसेत् ॥१९८

शक्तिचालनी गोरक्षे

कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्टधा कुण्डलाकृतिः ।
ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥१९९
येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् ।
मूलेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरि ॥२००

प्रबुद्धा वह्नियोगेन व्रजत्यूर्ध्वं सुषुम्नया ।
कुण्डलिन्या यथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥२०१

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बद्ध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यानं चलच्चेक्षितम् ।
वारम्वारमपानमूर्ध्वमनिलं नोच्चारयेत् पूरितं
मुञ्चेत् प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावावतः ॥२०२

पाषाणीमुद्रा घेरण्डे

स्कन्दपृष्ठे क्षिपेत् पादौ पाशवत् दृढबन्धनम् ।
सा एव पाषाणी मुद्रा शक्तिबोधप्रकारिणी ॥२०

नभोमुद्रा

यत्र तत्र स्थितो योगी सर्वकार्येषु सर्वदा ।
ऊर्ध्वजिह्वां स्थितो भूत्वा धारयेत् पवनं सदा ।
नभोमुद्रा भवेदेतद् रोगिणां रोगनाशिनी ॥२०४

माण्डूकी मुद्रा

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत् ।
शनैर्ग्रसेदमृतं च माण्डूकीमुद्रिकां विदुः ॥२०५

वलितं पलितं नैव जायते नित्ययौवनम् ।
न केशं जायते पक्वं यः कुर्यान्नित्यमाण्डुकीम् ॥२०६

नासारन्ध्रजलपानफलम्

विगतघननिशीथे प्रातरुत्थाय नित्यं
पिबति खलु नरो यो नासारन्ध्रेण वारि ।
स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा त्वर्कतुल्यो
वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः ॥२०७

मातङ्गिनीमुद्रा घेरण्डे

कण्ठलग्नजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत् ।
मुखान्निर्गमयेत् पश्चात् पुनः पुनः पुनः पुनः ॥२०८

मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी ।
प्रथमाभ्यासकालेन नासारन्ध्रे जलं पिबेत् ॥२०९

ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते साधयेन् मुद्रिकां पराम् ॥२१०

शाम्भवीमुद्रा घेरण्डे

नेत्राञ्जनं समालोक्य आत्मारामं निरीक्षयेत् ।
सा भवेत् शाम्भवी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता ॥२११

वेदशास्त्रपुराणाद्या सामान्यगणिका इव ।
एकैव शाम्भवीमुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥२१२

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम् ।
स च ब्रह्मा सृष्टिकारी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम् ॥२१३

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वर !
शाम्भवीं यो विजानाति स्वयं ब्रह्म नचान्यथा ॥२१४

इत्यघोरविरचितायां योगकर्णिकायां योगसङ्केते अष्टमः पादः ॥

## अथ नवमः पादः

प्रणम्य परमात्मानं कैवल्यं मुक्तिदं शिवम् ।
अधुना धारणं वक्ष्ये अनेकग्रन्थसम्मतम् ॥१

गौतमीये

अङ्गुष्ठगुल्फजानुवन्धपावनीलिङ्गनाभिषु ।
हृद्ग्रीवाकण्ठदेशेषु लम्बिकायां तथानसि ॥२
भ्रूमध्ये मस्तके मूर्ध्नि द्वादशस्ते यथाविधि ।
धारणं प्राणमरुतो धारणेति निगद्यते ॥३

अथ पञ्चधारणा । काशीखण्डे

स्तम्भिनी प्लावनी चैव दाहिनी भ्रामणी तथा ।
शमनी च भवन्त्येता भूतानां पञ्च धारणा ॥४

आसनेन समायुक्तः प्राणायामेन संयुतः ।
प्रत्याहारेण सम्पन्नो धारणामथ चाभ्यसेत् ॥५

हृदये पञ्चभूतानां धारणं यत् पृथक् पृथक् ।
मनसो निश्चलत्वेन धारणा सा विधीयते ॥६

आदौ मूलाधारं यथा । काशीखण्डे

हरितालनिभां भूमिं सालङ्कारां सवेषसाम् ।
चतुष्कोणां हृदि ध्यायेदेषा स्यात् क्षितिधारणा ॥७

दत्तात्रेयसंहितायाम्

पृथिवीधारणं वक्ष्ये पार्थिवेभ्यो भयापहम् ।
नाभेरधोगुदस्योर्ध्वं घटिकां पञ्च धारयेत् ॥८

वायुं ततो भवेत् पृथ्वीधारणं तद्भयापहम् ।
पृथिवीसम्भवात् तस्य न मृत्युर्योगिनो भवेत् ॥९

गोरक्षे

या पृथ्वी हरितालहेमरुचिरा तत्त्वं लकारान्विता
संयुक्ता कमलासनेन हि चतुष्कोणादहिस्थायिनी ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितां धारयेद्
एषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद् ध्रुवा धारणा ॥१०

घेरण्डे

कथिता शाम्भवी मुद्रा सुसूक्ष्मा पञ्चधारणा ।
धारणानि समासाद्य किन्न सिध्यति भूतले ॥११

अनेन परदेहेन स्वर्गेषु गमनागमम् ।
मनोगतिर्भवेत्तस्य खेचरत्वं न चान्यथा ॥१२

यस्तत्त्वं हरितालदेशरचितं भूमौ लकारान्वितो
वेदाश्रं कमलासनेन सहितं कृत्वा हृदि स्थापितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिकां चिन्तान्वितं धारये-
देषा स्तम्भकरी सदा क्षितिजयं कुर्याद्ध्रुवा धारणा ॥१३

(सर्वत्र मूलाधारं पीतवर्णाभं, शोणपुष्पाभम् इति सत्यं, न तु शोणरक्तमिति )

अथ जलमण्डलधारणा काशीखण्डे

कण्ठेऽम्बुतत्त्वमर्द्धेन्दुनिभं विष्णुसमन्वितम् ।
वकारबीजं कुन्दाभं ध्यायेदम्बु जयेदिति ॥१४

दत्तात्रेये

नाभिस्थाने ततो वायुं धारयेत् पञ्चनाडिकाम् ।
ततो जलभयं नास्ति जलमृत्युर्न योगिनः ॥१५

गोरक्षे

अर्द्धेन्दुप्रतिमं च कुन्दधवलं कण्ठे तु तत्त्वास्य तं
यत्पीयूषवकारबीजसहितं युक्तं सदा विष्णुना ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिकां चिन्तान्वितं धारये-
देषा दुःसहकालकूटजरणा स्याद्वारुणी धारणा ॥१६

अथ वह्निमण्डलधारणं काशीखण्डे

तालुस्थमिन्द्रगोपाभं त्रिकोणं रेफसंयुतम् ।
रुद्रेणाधिष्ठितं तेजो ध्यात्वा वह्निं जयेदिति ॥१७

दत्तात्रये

नाभ्यूर्ध्वंमण्डले वायुं धारयेत् पञ्चनाडिकाम् ।
आग्नेयी धारणा सेयं न मृत्युस्तस्य वह्निना ॥१८

गोरक्षे

यत्तालुस्थितमिन्द्रगोपसदृशं तत्त्वं त्रिकोणानलं
तेजोरूपयुतं प्रवालरुचिरं रुद्रेण यत् सङ्गितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिकां चिन्तान्वितं धारये-
देषा वह्निजयं सदा विदधते वैश्वानरी धारणा ॥१९

घेरण्डे

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसदृशं बीजं त्रिकोणान्वितं
तत्त्वं तेजमयं प्रदीप्तमरुणं रुद्रेण यत् सङ्गितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितं धारयेद्
एषा मानवकालभीतिहरणी वैश्वानरी धारणा ॥२०

अथ वायवी धारणा काशीखण्डे

वायुतत्त्वं भ्रुवोर्मध्ये वृत्तमञ्जनसन्निभम् ।
यं बीजमीशदैवत्यं ध्यायेद्वायुं जयेदिति ॥२१

दत्तात्रये

नाभिभ्रुवोर्हि मध्ये तु प्रादेशद्वयसम्मितम् ।
धारयेत् पञ्चघटिकां वायुसेवा हि वायवी ॥
धारणात्तस्य वायोस्तु योगिनो न भयं भवेत् ॥२२

गोरक्षे

यद्भिन्नाञ्जनपुञ्जसन्निभमिदं वृत्तं बहिरन्तरे
तत्त्वं वायुमयं यकारसहितं तत्रेश्वरो देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिकां चिन्तान्वितं धारयेद्
एषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥२३

घेरण्डे

यद्भिन्नाञ्जनपुण्यसन्निभमिदं धूम्रावभासं परं
तत्त्वं सत्त्वमयं यकारसहितं यत्रेश्वरी देवता ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्च घटिकां चिन्तान्वितं धारये-
देषा खे गमनं करोति यमिनां स्याद्वायवी धारणा ॥२४

आकाशधारणा काशीखण्डे

आकाशं च मरीचिधामसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
यन्नादेन सदा शिवेन सहितं शान्तं हकाराक्षरम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितं धारयेद्
एषा मोक्षकवाटपाटनपटु प्रोक्ता नभोधारणा ॥२५

दत्तात्रेये

भ्रूमध्यादुपरिष्ठात्तु धारयेत् पञ्चनाडिकाम् ।
वायुं योगी प्रयत्नेन सेयमाकाशधारणा ॥२६

आकाशधारणं कुर्वन् मृत्युं जयति तत्त्वतः ।
यत्रतत्र स्थितो वापि सुखमत्यन्तमश्नुते ॥२७

एवं च धारणा पञ्च कुर्याद्योगी विधानतः ।
ततो दृढशरीरस्य मृत्युरस्य न विद्यते ॥२८

इत्येवं पञ्चभूतानां धारणं यः समभ्यसेत् ।
ब्रह्मणः प्रलये वापि तस्य मृत्युर्न विद्यते ॥२९

गोरक्षे

आकाशं हि विशुद्धवारिसदृशं यद्ब्रह्मरन्ध्रस्थितं
तन्नादेन सदाशिवेन सहितं तत्त्वं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकवाटपाटनपटुः प्रोक्ता नभोधारणा ॥३०

घेरण्डे

यत् सिन्धोः सितशुद्धवारिसदृशं व्योम परं भासितं
तत्त्वं देवसदाशिवेन सहितं बीजं हकारान्वितम् ।
प्राणं तत्र विलीय पञ्चघटिकां चिन्तान्वितं धारये-
देषा मोक्षकवाटभेदनकरी कुर्यान्नभोधारणा ॥३१

इत्यघोरविरचिते योगकर्णिकायां योगसङ्केते नवमः पादः ॥

# अथ दशमः पादः

शिवं शान्तं सर्वमयं नत्वा स्तुत्वा पुनः पुनः ।
वक्ष्यामि ध्यानयोगं च योगिनां च हिताय वै ॥१

ध्यानं काशीखण्डे

चिन्तायां ध्यै स्मृतो धातुश्चिन्तातत्त्वे सुनिश्चलः ।
एतद्ध्यानमिह प्रोक्तं सगुणं निर्गुणं द्विधा ॥२

सगुणं वर्णभेदेन निर्गुणं केवलं मतम् ।
समन्त्रं सगुणं विद्धि निर्गुणं मन्त्रवर्जितम् ॥३

अन्तश्चेतो बहिश्चक्षुरवस्थाप्य सुखासनम् ।
समत्वं च शरीरस्य ध्यानमुद्रातिसिद्धिदा ॥४

नाश्वमेधेन तत् पुण्यं न च वै राजसूयतः ।
यत् पुण्यमेकध्यानेन लभेद्योगी स्थिरासनः ॥५

शब्दादीनां च तन्मात्रा यावत्कर्मादिषु स्थिता ।
तावदेव स्मृतिर्ध्यानं स्यात् समाधिरतः परम् ॥६

धारणा पञ्चनाडीका ध्यानं स्यात् षष्ठनाडिका ।
दिनद्वादशकेन स्यात् समाधिरिह मन्यते ॥७

दत्तात्रेयसंहितायां पञ्चधारणान्ते

समभ्यसेत्तदा ध्यानं घटिकाषष्टिमेव च ।
वायुं निरुध्य तं ध्यायेद् देवताभिष्टवाञ्छनम् ॥८

सगुणं ध्यानमेतत् स्यादणिमादिसुखप्रदम् ।
निर्गुणं खमिव ध्यायेन् मोक्षमार्गः प्रवर्तते ॥९

निर्गुणध्यानसम्पन्नः समाधिं च समभ्यसेत् ।
दिनद्वादशकेनैव समाधिं समवाप्नुयात् ।
वायुं निरुध्य मेधावी जीवन्मुक्तो भवेद् ध्रुवम् ॥१०

गोरक्षे

यच्चत्ते निर्मला चिन्ता तद्धि ध्यानं प्रचक्षते ।
द्विविधं भवति ध्यानं सकलं निष्कलं तथा ॥११

सकलं वर्णभेदेन निष्कलं सकलं भवेत् ।
उपाधितत्त्वयुक्तानि कुर्वन्त्यष्टगुणोदयाः ॥१२

स्पृष्टं ब्रह्मात्मकं तेजः शिवज्योतिरनुत्तमम् ।
ध्यात्वा जप्त्वा विमुक्तः स्यादिति गोरक्षभाषितम् ॥१३

अश्वमेधसहस्राणि वाजपेयशतानि च ।
एकस्य ध्यानयोगस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥१४

उपाधिश्च तथा तत्त्वं द्वयमेतदुदाहृतम् ।
उपाधिः प्रोच्यते वर्णस्तत्त्वमात्मा विधीयते ॥१५

उपाधेरन्यथाजातं तत्त्वसंस्थितिरन्यथा ।
समस्तव्याधिविध्वंसि तदाभ्यासेन जायते ॥१६

शब्दादीनां च तन्मात्रं यावद्वर्णादिषु स्थितम् ।
तावदेव स्मृतं ध्यानं समाधिः स्यादतः परम् ॥१७

धारणा पञ्चनाडीभिर्ध्यानं च षष्ठनाडिका ।
दिनद्वादशके तस्य समाधिः प्राणसंयमात् ॥१८

घेरण्डे

स्थूलं सूक्ष्मं तथा ज्योतिर्ध्यानं स्यात् त्रिविधं विदुः ।
स्थूलं मूर्तिमयं प्रोक्तं ज्योतिस्तेजोमयन्तथा ।
सूक्ष्मं विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता ॥१९

अथ स्थूलध्यानं तत्रैव

स्वकीयहृदये ध्यायेत् सुधासागरमुत्तमम् ।
तन्मध्ये रत्नदीपन्तु सुवर्णवालुकामयम् ॥२०

चतुर्दिक्षु नीपतरुबहुपुष्पसमन्वितम् ।
नीपोपवनसङ्कूलैर्वेष्टितं परिखान्वितम् ॥२१

मालतीमल्लिकाजातीकेशरैश्चम्पकैस्तथा ।
पारिजातैः स्थलपद्मं गंन्धामोदितदिङ्मुखैः ॥२२

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी कल्पवृक्षं मनोहरम् ।
तत्र शाखाचतुर्वेदं नित्यपुष्पफलान्वितम् ॥२३

भ्रमरैः कोकिलैर्मत्तैर्गुञ्जन्ति निगदन्ति च ।
ध्यायेत्तत्त्वस्थिरो भूत्वा महामाणिक्यमण्डपम् ॥२४

तन्मध्ये संस्मरेद्योगी पङ्कजं सुमनोहरम् ।
तत्रेष्टदेवतां ध्यायेद् तद्ध्यानं गुरुभाषितम् ॥२५

यस्य देवस्य यद्रूपं यथा भूषणवाहनम् ।
तद्रूपं ध्यायते नित्यं स्थूलध्यानमिदं विदुः ॥२६

महत्त्वारे महापद्मे कर्णिकायां विचेष्टयेत् ।
विलग्नमङ्कितं पद्मं द्वादशदलसंयुतम् ॥२७

शुक्लवर्णं महातेजो द्वादशबीजभूषितम् ।
हसक्षमलवरयुं हसखफ्रें यथाक्रमम् ॥२८

तन्मध्ये कर्णिकायान्तु अकथादित्रिरेखकम् ।
हलक्षकोणसंयुक्तं प्रणवं तत्र वर्त्तते ॥२९

नादविन्दुमयं पीठं ध्यायेत्तत्र मनोहरम् ।
तत्रोपरि हंसयुग्मं पादुका तत्र वर्त्तते ॥३०

ध्यायेत्तत्र गुरुं देवं द्विभुजं च त्रिलोचनम् ।
श्वेताम्बरधरं देवं शुक्लगन्धानुलेपनम् ॥३१

शुक्लपुष्पमयं माल्यं रक्तशक्तिसमन्वितम् ।
एवंविधि गुरुध्यानात् स्थूलध्यानं प्रसिध्यति ॥३२

स्थूलध्यानन्तु कथितं तेजोध्यानं शृणुष्व मे ।
यद्ध्यानेन योगसिद्धिरात्मप्रत्यक्षं जायते ॥३३

मूलाधारे कुण्डलिनी भुजगाकाररूपिणी ॥३४

जीवात्मा तिष्ठति तत्र तेजोध्यानं तदेव हि ।
तेजोध्यानं श्रुतं चण्डं सूक्ष्मध्यानं वदामि ते ॥३५

बहुभाग्यवशाद्यस्य कुण्डली जागृता भवेत् ।
आत्मना सहयोगेन चञ्चलात्मा न दृश्यते ॥३६

शाम्भवीमुद्रया योगी ध्यानयोगेन सिध्यति ।
सूक्ष्मं ज्ञानं परं ध्यानं देवानामपि दुर्लभम् ॥३७

स्थूलध्यानाच्छतगुणं तेजोध्यानं प्रचक्षते ।
तेजोध्यानाल्लक्षगुणं परात् परं परात् परम् ॥३८

इति ते कथितं चण्डध्यानयोगं सुदुर्लभम् ।
आत्मसाक्षाद्भवेद्यस्मात्तस्माद्ध्यानं विशिष्यते ॥३९

गोरक्षे

आधारं प्रथमं चक्रं स्वर्णाभं च चतुर्दलम् ।
कुण्डलिन्या समायुक्तं ध्यात्वा मुच्येत किल्विषात् ॥४०

साधिष्ठाने च षट्पत्रे षण्माणिक्यसमप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा संक्षोभयेज्जगत् ॥४१

मणिपूरे मेघवर्णे दिग्दले वह्निमण्डले ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा पापैः प्रमुच्यते ॥४२

हृदाकाशे स्थितं शम्भुं प्रचण्डरवितेजसम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥४३

सततं घण्टिकामध्ये विशुद्धे दीपकप्रभे ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा दुःखं विमुञ्चति ॥४४

स्रवत् पीयूषसम्पूर्णे लम्बिकाचन्द्रमण्डले ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वा मृत्युं प्रमुञ्चति ॥४५

भ्रुवोरन्तर्गतं देवं षण्माणिक्यशिरोपमम् ।
नासाग्रदृष्टिरात्मानं ध्यात्वानन्दमयो भवेत् ॥४६

ध्यायेन्नीलनिभं नित्यं भ्रूमध्ये परमेश्वरम् ।
आत्मानं विजितप्राणो योगी योगमवाप्नुयात् ॥४७

निर्गुणं च शिवं शान्तं गगने विश्वतोमुखम् ।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी ध्यात्वा ब्रह्ममयो भवेत् ॥४८

आकाशं यत्र शब्दः स्यात्तदाब्जं चक्रमुच्यते ।
तत्रात्मानं शिवं ध्यात्वा योगी योगमवाप्नुयात् ॥४९

निर्मलं गगनाकारं मरीचिजालसन्निभम् ।
आत्मानं सर्वगं ध्यात्वा योगी मुक्तिमवाप्नुयात् ॥५०

इत्यघोरविरचितायां योगकर्णिकायां योगसङ्केते दशमः पादः ॥

# अथ एकादशः पादः

प्रणम्य निर्गुणं नित्यं निरीहं निष्कलं शिवम् ।
समाधिलक्षणं यच्च वदामि शास्त्रसम्मतम् ॥१

काशीखण्डे

जलसैन्धवयोः साम्यं यथा भवति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरिह भण्यते ॥२

यथा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं यत् स समाधिरिहोच्यते ॥३

यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः ।
स नष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिरभिधीयते ॥४

नात्मानं न परं वेत्ति न शीतं नोष्णमेव च ।
समाधियुक्तो योगीन्द्रो न सुखं न सुखेतरम् ॥५

कल्पान्तेनैव कालेन लिप्यते नैव कर्मणा ।
विद्यते नैव शस्त्रास्त्रैर्योगी मुक्तः समाधिना ॥६

युक्ताहारविहारश्च युक्तचेष्टो हि कर्मसु ।
युक्तनिद्रावबोधश्च योगी तत्त्वं प्रपश्यति ॥७

तत्त्वं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।
हेतुदृष्टान्तरहितं वाङ्मनोभ्यामगोचरम् ॥८

तत्र योगी निरालम्बे निरातङ्के निरामये ।
षडङ्गयोगविधिना परे ब्रह्मणि लीयते ॥९

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि तद्भवेत् ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्र तन्मयतां व्रजेत् ॥१०

दत्तात्रेये

समाधिसमतावस्था जीवात्मपरमात्मनोः ।
यदि स्याद् देहमुत्स्रष्टुमिच्छा चेत्तत्सृजेत्स्वयम् ।।११

परब्रह्मणि लीयेत त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ।
अथ नो चेत् समुत्सृष्टं स्वशरीरं यदि प्रियम् ।।१२

सर्वलोकेषु विचरेदणिमादिगुणान्वितः ।
कदाचित्स्वेच्छया देवो भूत्वा स्वर्गेऽपि सञ्चरेत् ।।१३

मनुष्यो वापि यक्षो वा स्वेच्छयापि क्षणाद्भवेत् ।
सिंहो व्याघ्रो गजो वापि स्यादिच्छातोन्यजन्मताम् ।।१४

यथेष्टमेव वर्त्तेत योगी विद्वान् महेश्वरः ।
कविमार्गोपयुक्तन्ते सङ्केतेष्टाङ्गयोगतः ।।१५

गोरक्षे

यत् सर्वद्वन्द्वयोरैक्यं समाधिः स विधीयते ।
न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ।।१६

नात्मानं न परं वेत्ति योगी मुक्तः समाधिना ।
खाद्यते न स कालेन बाध्यते न स कर्मणा ।
साध्यते न च केनापि योगी मुक्तः समाधिना ।।१७

अभेद्यः सर्वशस्त्राणामवध्यः सर्वदेहिनाम् ।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी मुक्तः समाधिना ।।१८

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ।।१९

निराद्यन्तं निरालम्बं निष्प्रपञ्चं निराश्रयम् ।
निरामयं निराकारं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ।।२०

निर्मलं निश्चलं नित्यं निर्गुणं निष्क्रियं महत् ।
ज्ञानं विज्ञानमानन्दं ब्रह्म ब्रह्मविदो विदुः ।।२१

निरातङ्के निरालम्बे निराधारे निराश्रये ।
योगी योगविधानेन परब्रह्मणि लीयते ।।२२

हेतुं तदन्तनिर्मुक्तं मनोबुद्धेरगोचरम् ।
यमधिज्ञानमानन्दं तत्त्वं तत्त्वविदो विदुः ॥२३

यथा घृते घृतं क्षिप्तं घृतमेव हि जायते ।
क्षीरे क्षीरं तथा योगी तत्त्वमेव हि जायते ॥२४

दुग्धे क्षीरं घृतं सर्पिरतो वह्निरिवार्पितः ।
तन्मयत्वं व्रजत्येव योगी लीनः परे पदे ॥२५

भवभीतिहरं नृणां मुक्तिसोपानसंज्ञकम् ।
गुह्याद्गुह्यतरं गुह्यं गोरक्षेण प्रकाशितम् ॥२६

योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः ।
यत्स्वयं च दिनं यस्य कथितं वदनाम्बुजात् ॥२७

घेरण्डे

अहं ब्रह्म न चान्योस्मि ब्रह्मैवाहं न शोकभाक् ।
सच्चिदानन्दरूपोऽहं नित्यमुक्तः स्वभाववान् ॥२८

उन्मनी सहजावस्था सर्वत्रैकात्मवाचका ।
जले विष्णुः स्थले विष्णुर्विष्णुः पर्वतमस्तके ।
ज्वालामालाकुले विष्णुः सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥२९

भूचराः खेचराश्चाद्या यावन्तो जीवजन्तवः ।
वृक्षगुल्मलतावल्लीतृणाद्या वारिपर्वताः ॥३०

सर्वं ब्रह्म विजानीयात् सर्वं पश्यति चात्मनि ।
आत्मघटस्थचैतन्यमद्वैतं शाश्वतं परम् ॥३१

घटाद्भिन्नतरं ज्ञात्वा वीतरागविवासनम् ।
एवंविधि समाधिः स्यात् सर्वसंकल्पवर्जितः ॥३२

स्वदेहे धनदाराद्या बान्धवेषु धनादिषु ।
सर्वेषु निर्ममो भूत्वा समाधिं समवाप्नुयात् ॥३३

लयामृतं परं तत्त्वं शिवोक्तं विविधानि च ।
तेषां संक्षेपमादाय कथितं मुक्तिलक्षणम् ॥३४

इत्यघोरविरचिते योगकर्णिकायां योगसङ्केते एकादशः पादः ॥

# अथ द्वादशः पादः

ध्यात्वा नित्यं निराकारमव्ययमद्भुतं शिवम् ।
वक्ष्ये लोकोपकारार्थं लययोगमनुत्तमम् ॥१

योगस्वरोदये

यस्य चित्ते हठं नास्ति सहजानन्दनिर्भरम् ।
कर्तव्या ■ स्थिरा दृष्टिस्तेनैव परमं पदम् ॥२

दत्तात्रेये

लययोगश्चित्तयोगात् सङ्केतैश्च प्रजायते ।
आदिनाथेन सङ्केता अनन्तकोटयः प्रकीर्त्तिताः ॥३

कृपयैकैकसंयुक्तं शबरेभ्योऽपि दत्तवान् ।
तानि सर्वाणि वक्तुं हि न शक्नोम्यतिविस्तरात् ॥४

कानिचित् कथयिष्यामि सहजाभ्यासतः सुखम् ।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपन् भुञ्जन् शून्यं ध्यायेदहर्निशम् ॥५

अयमेकोपि सङ्केत आदिनाथेन भाषितः ।
नासाग्रदृष्टिमात्रेण परमः परिकीर्त्तितः ॥६

शिरः पश्च तु मर्गस्य ध्यानं मृत्युञ्जयः परः ।
भ्रूमध्ये दृष्टिमात्रेण परं सङ्केत उच्यते ॥७

विभूतिलेपलाभोपि उत्तमः परिकीर्त्तितः ।
स्वस्य दक्षिणपादस्याङ्गुष्ठेन लयमुत्तमम् ॥८

उत्तमः शरवद्भूमौ शयनं चेत्तदुत्तमम् ॥९

शिथिले निर्जने देशे कुर्याच्चेत् सिद्धिमाप्नुयात् ।
एवं च बहुसङ्केतान् कथयामास शङ्करः ॥१०

सङ्कल्पैर्बहुभिर्जन्यैर्यस्य चित्तलयो भवेत् ।
स एव लययोगः स्याद् हठयोगं ततः शृणु ॥११

ज्ञानसारे

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा कलार्धं योऽवतिष्ठति ।
क्षणेन मुच्यते देवि व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥१२

रसना त्वन्तरे नित्यं यावद्ब्रह्मविलङ्घता ।
अमृतं रसनाग्रेण पीयमानं विचिन्तयेत् ॥१३

मासार्धे जयति मृत्युं सत्यं सत्यं हि पार्वति !
सर्वव्याधिविनिर्मुक्तो योगीन्द्रो नात्र संशयः ॥१४

रसनातालुमूले च वायुं पीत्वा शनैः शनैः ।
षण्मासाभ्यन्तरे देवि ! महायोगी भविष्यति ॥१५

रसनास्वादसम्भेदविशेषं शृणु पार्वति !
क्षीरेण नश्यति व्याधिः कटुकण्डुविनाशनम् ॥१६

सुखादेन महादेवि ! बालपाकविनाशनम् ।
घृतास्वादनमात्रेण अमृतत्वं लभेन्नरः ॥१७

मधुस्वादरसाच्चैव शास्त्रमुद्गिरते स तु ।
मिष्ठान्नखण्डखाद्यानि लड्डुकस्वादवर्त्तिनी ॥१८

एवमादीन्यनेकानि कामधेनुरुपस्थिता ।
दिव्यकन्यां रमेन्नित्यमाकृष्टिर्जायते सदा ॥१६

अणिमादिगुणोपेत ऊर्ध्वरेताः प्रजायते ।
हिक्वां दद्यात् सदा वक्त्रे प्राणं चैव विजृम्भते ॥२०

एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ।
योगिनीगणमासाद्य सृष्टिसंहारकारकः ॥२१

न क्षुधा न तृषा निद्रा तस्य देवी प्रजायते ।
भवेच्च स्वर्गगामीव सर्वदोषविवर्जितः ॥२२

स्वरोदये

सुस्थासनं समासीनो नीरजायतलोचनः ।
चिन्तयेत्परमात्मानं यो वदेत् स भविष्यति ॥२३

आकाशे नासिकाग्रे तु सूर्यकोटीसमं स्मरेत् ।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णमित्यादिरूपतः ॥२४

एवं ध्यात्वा चिरायुस्स्याद् अङ्गजननवर्जितः ।
शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसङ्गतः ॥२५

हठज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत् ।
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः ॥२६

इत्यघोरविरचिते योगकर्णिकायां योगसङ्केते द्वादशः पादः ॥

# अथ त्रयोदशः पादः

अघोरानन्दनाथेन श्रीगुरोः पादपङ्कजम् ।
नत्वा परहितार्थाय आसनानि निगद्यते ॥१

घेरण्डे

सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम् ।
सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च ॥२
मृतं गुप्तं तथा मात्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च ।
गोरक्षं पश्चिमातानमुत्कटं सङ्कटं तथा ॥३
मायूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा उत्तानकूर्मकम् ।
उत्तानमाण्डुकं वृक्षं माण्डुकं गरुडं वृषम् ॥४
शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजङ्गं योगमासनम् ।
द्वात्रिंशदासनानि च मर्त्यलोके शुभानि च ॥५

सिद्धासनम्

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसे-
न्मेढ्रे पादमथैकमेव नियतं कृत्वा समं विग्रहम् ।
स्थाणुः संयतितेन्द्रियाचलदृशा पश्येद् भ्रुवोरन्तर-
मेतन्मोक्षकवाटभेदजनकं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥६

काशीखण्डे सिद्धासनम्

वामाङ्घ्रिपार्ष्णिभागं च पायुरन्ध्रे दृढं न्यसेत् ।
वामोरूपर्यवामं च कुर्यान्मेढ्रमपीडयन् ।
सिद्धासनमिदं प्रोक्तं योगिनो योगसिद्धिदम् ॥७

पद्मासनं घेरण्डे

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धत्वा कराभ्यां दृढम् ।

अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद्व्याधिविनाशनाय यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥८

काशीखण्डे

दक्षिणं चरणं न्यस्य वामोरूपरि योगवित् ।
याम्योपरि च वामं च पद्मासनमिदं विदुः ॥९

कराभ्यां धारयेत् पश्चादङ्गुष्ठौ दृढबन्धनात् ।
भवेत् पद्मासनादस्मादभ्यासाद् दृढविग्रहः ॥१०

दत्तात्रेये

चतुरशीतिलक्षेषु चासनेषूत्तमं शृणु ।
आदिनाथेन संप्रोक्तं पद्मासनमिहोच्यते ॥११

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ।
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥१२

नासाग्रे विन्यसेच्चक्षुर्दन्तमूलं च जिह्वया ।
उत्तोल्य चिबुकं वक्षे संस्थाप्य पवनं शनैः ॥१३

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ।१४

ग्रहयामले

ऊर्वोरुपरि मेढ्रान्त उभे पादतले तथा ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥१५

अथ भद्रासनं घेरण्डे

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः ।
पादाङ्गुष्ठौ कराभ्यां च धृत्वा च पृष्ठदेशतः ॥१६

जालन्धरं समासाद्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥१७

गौतमीये

सीमन्याः पार्श्वयोर्न्यस्य गुल्फयुग्मं सुनिश्चलम् ।
वृषणाधः पादपार्ष्णिपाणिभ्यां परिबन्धयेत् ॥

भद्रासनं समुद्दिष्टं योगिभिः परिपूजितम् ।१८

मुक्तासनं घेरण्डे

पायुमूले वामगुल्फं दक्षगुल्फं तथोपरि ।
समकायं शिरोग्रीवा मुक्तासनं तु सिद्धिदम् ॥१९

वज्रासनं घेरण्डे

जङ्घाभ्यां वज्रवत् कृत्वा गुदपार्श्वे पदावुभौ ।
वज्रासनं भवेदेतद्योगिनां सिद्धिकारणम् ॥२०

वज्रासनं गौतमीये

ऊर्वोः पादौ क्रमान्न्यस्य जान्वोः प्रत्यङ्मुखाङ्गुली ।
करौ निदध्यादाख्यातं वज्रासनमितीरितम् ॥२१

स्वस्तिकासनं घेरण्डे

जानुनोरन्तरे योगी कृत्वा पादतले उभे ।
ऋजुकायं समासीनं स्वस्तिकं तं प्रचक्षते ॥२२

सिंहासनं घेरण्डे

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेणोर्ध्वताग्रतः ।
चितिमूलौ भूमिसंस्थौ करौ च जानुनोपरि ॥२३

जालन्धरं व्यस्तवक्त्रं नासाग्रमवलोकयेत् ।
सिंहासनं भवेदेतत् सर्वव्याधिविनाशनम् ॥२४

गोमुखम्

पादौ च भूमौ संस्थाप्य पृष्ठपार्श्वे निवेशयेत् ।
स्थिरकायं समासाद्य गोमुखं गोमुखाकृति ॥२५

वीरासनम्

एकपादमथैकस्मिन् विन्यसेदूरुसंस्थितम् ।
इतरस्मिन् तथा पश्चाद्वीरासनमिदं विदुः ॥२६

गौतमीये

एकपादमधः कृत्वा विन्यस्योरौ तथेतरम् ।
ऋजुकायो विशेद्योगी वीरासनमितीरितम् ॥२७

धनुरासनम्

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ
कर्णौ च स्पृष्ट्वा धृतपादयुग्मम् ।
कृत्वा धनुस्तुल्यविवर्त्तिताङ्गं
निगद्यतेऽयं धनुरासनेति ॥२८

मृतासनम्

उत्तानशववद् भूमौ शयनन्तु शवासनम् ।
सर्वासनश्रमहरं चित्तविश्रान्तिकारणम् ॥२९

गुप्तासनम्

जानूर्वोरन्तरे पादौ कृत्वा पादौ च गोपयेत् ।
पादावुपरि संस्थाप्य गुदं गुप्तासनं विदुः ॥३०

मत्स्यासनम्

मुक्तपद्मासनं कृत्वा उत्तानं शयनं चरेत् ।
कूर्पराभ्यां शिरो वेष्ट्य मत्स्यासनन्तु रोगहम् ॥३१

योगेन्द्रासनम्

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ
संन्यस्तभालं चितिपश्चिमा[ता]नम् ।
यत्नेन पादौ विधृतौ कराभ्यां
योगेन्द्रपीठं पश्चिमा[ता]नमाहुः ॥३२

गोरक्षासनम्

जानूर्वोरन्तरे पादौ उत्तानौ व्यक्तसंस्थितौ ।
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुत्तानाभ्यां प्रयत्नतः ॥३३
कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा नासाग्रमवलोकयेत् ।
गोरक्षासनमित्याहुर्योगिनो सिद्धिकारणम् ॥३४

मत्स्येन्द्रासनम्

उदरं पश्चिमातानं कृत्वा उत्थाय यत्नतः ।
नम्राङ्गं वामपादं हि दक्षजानूपरि न्यसेत् ॥३५
तत्र याम्यकुर्परं च याम्यकरे च वक्त्रकम्
भ्रुवोर्मध्यगता दृष्टिः पीठं मत्स्येन्द्रमुच्यते ॥३६

उत्कटासनम्

अङ्गुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फौ च खे गतौ ।
तत्रोपरि गुदं न्यस्तं विज्ञेयमुत्कटासनम् ॥३७

सङ्कटासनम्

वामपादचितेर्मूलं संन्यस्य धरणीतले ।
पाददण्डेन याम्येन वेष्टयेद् वामपादकम् ।
जानुयुग्मे करयुग्ममेतत् सङ्कटमासनम् ॥३८

मयूरासनम्

धरामवष्टभ्य करतलाभ्यां
तत् कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वम् ।
उच्चासने दण्डवतोत्थितोत्थं
मायूरमेतत् प्रवदन्ति पीठम् ॥३९

बहुकदलप्रभुक्तं भस्मकार्यादशेषं
ज्वलयति जठराग्निं जारयेत् कालकूटम् ।
हरति सकलरोगानामगुल्मज्वरादीन्
तरति सकलदोषानासनं श्रीमयूरम् ॥४०

कुक्कुटासनम्

पद्मासनं समासाद्य जानूर्वोरन्तरे करौ ।
कूर्पराभ्यां समासीनमुच्चस्थकुक्कुटासनम् ॥४१

कूर्मासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधो व्युत्क्रमेण समाहितः ।
ऋजुकायः शिरोग्रीवः कूर्मासनं वदन्त्यतः ॥४२

योनिमुद्रासनं शिवगीतायाम्

सव्यपार्ष्णिं गुदे स्थाप्य दक्षिणं च ध्वजोपरि ।
योनिमुद्राबन्ध एवं भवेदासनमुत्तमम् ॥४३

योनिमुद्रासने स्थित्वा प्रजपेद्यः समाहितः ।
यत्किञ्चिदपि वा मन्त्रं तस्य स्युः सर्वसिद्धयः ॥४४
(इत्याद्यनेकमाहात्म्यम्)

उत्तानकूर्मकासनम् ।

कुक्कुटासनबन्धस्थं कराभ्यां च धृतं शिरः ।
शेते कूर्मवदुत्तानमेतदुत्तानकूर्मकम् ॥४५

मण्डुकासनम्

पार्श्वयोः पृष्ठदेशे च अङ्गुष्ठे द्वे च संस्पृशेत् ।
जानुयुग्मं पुरस्कृत्य साधयेत् मण्डुकासनम् ॥४६

उत्तानमण्डुकासनम्

मण्डुकासनमध्यस्थं कूर्पराभ्यां धृतं शिरः ।
शेते भेकवदुत्तानमेतदुत्तानमण्डुकम् ॥४७

वृक्षासनम्

वामोरूमूलदेशे तु याम्यपादं निधाय च ।
तिष्ठेच्च वृक्षवद् भूमौ वृक्षासनमिदं विदुः ॥४८

गड्वासनम्

जङ्घोरूभ्यां धरां पीडय स्थितकायो द्विजानुना ।
जानूपरि करं युग्मं गड्वासनमुच्यते ॥४९

वृषासनम्

याम्यगुल्के पायुमूलं वामभागे पदेतरम् ।
विपरीते स्पृशेद्भूमिं वृषासनं तदेव हि ॥५०

शलभासनम्

अधोस्य शेते करयुग्मवक्षे
भूमिमवष्टभ्य करतलाभ्याम् ।
पादौ च शून्ये च वितत्य चोर्ध्वौ
वदन्ति पीठं शलभं मुनीन्द्राः ॥५१

मकरासनम्

अधोस्य शेते हृदयं निधाय
भूमौ च पादौ च प्रसार्यमाणौ ।
शिरसातिचान्द्रं करदन्तयुग्मं
देहाग्निकारि मकरासनं तत् ॥५२

उष्ट्रासनम्

अधोस्य शेते पदयुग्मव्यस्तं
पृष्ठे निधायापि धृतं कराभ्याम् ।
आकुञ्चयेच्चर्ममुदस्य गाढं
उष्ट्रीयपीठं मुनयो वदन्ति ॥५३

भुजगासनम्

पादाङ्गुष्ठाक्षिपर्यन्तमधोभूमौ च विन्यसेत् ।
करतलाभ्यां धरां धृत्वा उर्ध्वशिराः फणीरिव ॥५४
देहाग्निर्वर्धते नित्यं सर्वरोगं च नाशयेत् ।
जाग्रता भुजगीदेवीसाधनाद् भुजगासनम् ॥५५

योगासनम्

उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जान्वोरुपरि ।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानौ करयुग्मकौ ॥५६
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत् ।
योगासनं भवेदेतद्योगिनां योगसाधने ॥५७

इत्यघोरविरचितायां योगकर्णिकायां योगसङ्केते आसनवर्णनं नाम

त्रयोदशः पादः ॥

# चतुर्दशः पादः

घटशोधनम्

प्रणम्य परमात्मानं निर्गुणं निष्फलं शिवम् ।
घटस्य शोधनं वक्ष्ये प्रायो घेरण्डसम्मतम् ॥१

घेरण्डे शोधनम्

दृढतां चैव धैर्यं च स्थैर्यं च लाघवं तथा ।
प्रत्यक्षं च निर्लिप्तं च घटस्थं सप्त साधनम् ॥२

षट्कर्मणा शोधनं च आसनेन भवेद्दृढम् ।
मुद्रया स्थिरतां चैव प्रत्याहारेण धैर्यता ॥३

प्राणायामैर्लाघवं च ध्यानात् प्रत्यक्षतात्मनि ।
समाधिना च निर्लिप्तं मुक्तिरेव न संशयः ॥४

धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्लौलिकी त्राटकं तथा ।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत् ॥५

धौतिः

अन्तर्धौतिर्दन्तधौतिर्हृद्धौतिर्मूलशोधनम् ।
धौतिश्चतुर्विधा प्रोक्ता घटं कुर्वन्ति निर्मलम् ॥६

अन्तर्धौतिः

वातसारं वह्निसारं वारिसारं बहिष्कृतम् ।
घटस्य निर्मलार्थाय अन्तर्धौतिश्चतुर्विधा ॥७

काकचञ्चुवदास्येन पिबेद्वायुं शनैः शनैः ।
चालयेदुदरं पश्चाद्वर्त्मना रेचयेच्छनैः ॥८

सर्वरोगक्षयङ्कारं देहानलविवर्धकम् ।
वातसारं परं गोप्यं देहनिर्मलकारणम् ॥९

नाभिग्रन्थिमेरुपृष्ठं शतवारं च चालयेत् ।
उदरामयं परित्यज्य जठराग्निं विवर्धयेत् ॥१०

वह्निसारमिदं धौतं योगिनां योगसिद्धिदम् ।
इदं धौतं परं गोप्यं न प्रकाश्यं कदाचन ॥११

आकण्ठं पूरयेद्वारि वक्त्रेण पिबतः शनैः ।
अपानक्रूरतां यावन्मलं तावन्न शोधते ॥१२

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन मूलशोधनमाचरेत् ।
चालयेद्दक्षवर्त्मेन चोदराद्रेचयेदधः ॥१३

वारिसारं परं धौतं साधयेद् यः प्रयत्नतः ।
मलदेहं शोधयित्वा परदेहं प्रपद्यते ॥१४

काकीमुद्रां साधयित्वा पूरयेदुदरं मरुत् ।
धारयेदर्धयामान्तं चालयेदर्धवर्त्मना ॥१५

नाभिलग्नजले स्थित्वा शक्तिनाडीं विसर्जयेत् ।
कराभ्यां क्षालयेन्नाडीं यावन्मलं विसर्जयेत् ॥१६

तावत् प्रक्षाल्य नाडीं च उदरे वेशयेत् पुनः ।
इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम् ॥१७

केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद्ध्रुवम् ।
यामार्धधारणाशक्ति यावन्न साधयेन्नरः ॥१८

बहिष्कृतं महद्धौतं तावन्नैव च कारयेत् ।
दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रे च कर्णयुग्मयोः ॥१९

कपालधौतिं पञ्चैते दन्तधौतिं विचक्षते ।
खदिरेण कषेनाथ शुद्धमृत्तिकया तथा ॥२०

मार्जयेद्दन्तमूलं च यावत् किल्बिषमाहरेत् ।
दन्तमूलं परं धौतिं योगिनां योगसाधने ॥२१

नित्यं कुर्यात् प्रभाते च दन्तरक्षां च योगवित् ।
दन्तमूलं धारणादि कार्येषु योगिनां यतः ॥२२

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि जिह्वाशोधनकारणम् ।
जरामरणरोगादि नाशयेद्दीर्घलम्बिका ॥२३

तर्जनी मध्यमा नाम अङ्गुलीत्रययोगतः ।
वेशयेत्तालुमध्ये तु मार्जयेल्लम्बिकामलम् ॥२४

शनैः शनैर्मार्जयित्वा कफदोषं निवारयेत् ।
मार्जयेन्नवनीतेन दोहयेच्च पुनः पुनः ॥२५

तदग्रं लोहयन्त्रेण कर्षयित्वा शनैः शनैः ।
नित्यं कुर्यात् प्रयत्नेन रवेरुदयचान्तके ॥२६

एवं कृते च नित्ये च लम्बिका दीर्घतां व्रजेत् ।

कर्णद्वारशोधनम्

अङ्गुल्या च प्रदेशिन्या मार्जयेत् कर्णरन्ध्रयोः ।
नित्यमभ्यासयोगोऽयं नादान्तरं प्रकाशयेत् ॥२७

कपालरन्ध्रशोधनम्

वृद्धाङ्गुष्ठेन दक्षेन मार्जयेत्तालुरन्ध्रकम् ।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ।
नाडी निर्मलतां याति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥२८

इति दन्तधौतिप्रकरणम्

अथ हृद्धौतिः

निद्रान्ते भोजनान्ते च दिवान्ते च दिने दिने ।
हृद्धौतिं द्विविधं कुर्याद्दन्तधावनवाससा ॥२९

रम्भादण्डं हरिद्रदण्डं वेत्रदण्डं तथैव च ।
हृन्मध्ये चालयित्वा तु पुनः प्रत्याहरेच्छनैः ॥३०

कफपित्तं तथा क्लेदं रेचयेदूर्ध्ववर्त्मना ।
हृदये जलचक्रं च यावत् खण्डं न जायते ॥३१

तावत्कालं सर्वदिने प्रभाते साधयेत् सुधीः ।
हृदये कफभाण्डस्य खण्डनं जायते ध्रुवम् ॥३२

पवनागमने सौख्यं प्राप्नोति नात्र संशयः ।
दन्तधौतिविधानेन हृद्रोगं नाशयेद् ध्रुवम् ॥३३

भोजनान्ते पिबेद्वारि आकण्ठपूरितं सुधीः ।
ऊर्ध्वदृष्टिक्षणं कृत्वा तज्जलं वामयेत् पुनः ॥३४

नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं विनाशयेत् ।
चतुरङ्गुलविस्तारं सूक्ष्मवस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥३५

पुनः प्रत्याहरेदेतत् प्रोच्यते धौतिकर्मवित् ।
चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशेन तु ॥३६

गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तवस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ।
पुनः प्रत्याहरेदेतत् क्षालनं धौतिकर्म तत् ॥३७

गुल्मज्वरप्लीहाकुष्ठं कफपित्तं च नश्यति ।
आरोग्यं बलपुष्टिश्च भवेत्तस्य दिने दिने ॥३८

पीतमूलस्य दक्षेन मध्यमाङ्गुलिनापि वा ।
यत्नेन क्षालयेद् गुह्यं वारिणा च पुनः पुनः ॥३९

वारयेत् कोष्टकाठिन्यमामाजीर्णं निवारयेत् ।
कारणं कान्तिपुष्टेश्च दीपनं वह्निमण्डलम् ॥४०

अथ वस्तिः

जलवस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्तिः स्याद् द्विविधः स्मृतः ।
जलवस्तिजले कुर्याच्छुष्कवस्तिं सदा क्षितौ ॥४१

नाभिलग्नजले पायुं न्यस्य नानोत्कटासनम् ।
आकुञ्चनं प्रसारं च जलवस्तिं समाचरेत् ॥४२

प्रमेहं च गुदावर्त्तं क्रूरवायुं निवारयेत् ।
भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कामदेवसमो भवेत् ॥४३

वस्तिं पश्चिमतानेन चालयित्वा शनैरधः ।
अश्विनीमुद्रया पायुमाकुञ्चयेत्प्रसारयेत् ॥४४

एवमभ्यासयोगेन कोष्टदोषो न विद्यते ।
विवर्धयेज्जाठराग्निमामवातं विनाशयेत् ॥४५

वितस्तिमात्रं सूक्ष्मसूत्रं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमेत्पश्चात्प्रोच्यते नेतिकर्मवित् ॥४६

साधनान्नेतिकर्माणां खेचरीसिद्धिमाप्नुयात् ।
कफदोषा विनश्यन्ति दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥४७

अमन्दवेगात्तुन्दश्च भ्रामयेदुभपार्श्वयोः ।
सर्वरोगाणि हन्तीति देहानलविवर्धने ॥४८

इति लौली । अथ त्राटकम्

निमिषोन्मेषौ सन्त्यज्य सूक्ष्मलक्षं निरीक्षयेत् ।
यावदश्रु निपतति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः ॥४६

एवमभ्यासयोगेन शाम्भवी जायते ध्रुवम् ।
न जायते नेत्ररोगो दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥५०

वात्क्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः ।
भालभातिं त्रिधा कुर्यात् कफदोषं निवारयेत् ॥५१

ईडया पूरयेद्वायुं रेचयेत् पिङ्गलापथे ।
पिङ्गलया पूरयित्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥५२

पूरकं रेचकं कृत्वा वेगेन न तु धारयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कफदोषं निवारयेत् ॥५३

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत् ।
पायं पायं प्रकुर्वीत श्लेष्मदोषं निवारयेत् ॥५४

शीत्कृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानाले विरेचयेत् ।
एवमभ्यासयोगेन कामदेवद्वितीयकः ॥५५

कामदेवसमो भवेदिति पाठान्तरम्

भवेत् स्वच्छन्ददेहश्च कफदोषं निवारयेत् ।
न जायते वार्द्धकं च ज्वरो नैव प्रजायते ॥५६

इत्यघोरविरचिते योगकर्णिकायां योगसङ्केते घटशोधनं नाम चतुर्दशः पादः ॥

# पञ्चदशः पादः

प्रणम्य गुरुपादाब्जं ध्यात्वा ब्रह्म निरन्तरम् ।
वक्ष्ये साधनसङ्केतं विश्वेश्वरप्रसादतः ॥१

प्रथमे च महामुद्रां साधयेद्यत्नतः सुधीः ।
ततोऽभ्यसेन्महाबन्धो महावेधस्ततः परम् ॥२

बन्धत्रयं महागुह्यं ब्रह्यामलसम्मतम् ।
मूलबन्धो महाबन्धो महावेध इति त्रयम् ॥३

साधयेत् सर्वदा योगी एतद् घेरण्डसम्मतम् ।
मूलबन्धं पुनः कुर्यादुड्डीयानस्ततः परम् ॥४

जालन्धरं ततः कुर्याद् बन्धत्रयमितीरितम् ।
नासाभ्यां वायुमाकृष्य उदरं पूरयेच्छनैः ॥५

मूलस्थानं समाकुञ्च्य हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
उदरे पश्चिमातानं जालन्धरमितीरितम् ॥६

उड्डीयाने विशेषोऽयं वक्ष्यामि तत् समासतः ।
वज्रासने विशेद्योगी पादाभ्यां करयोर्धृतम् ॥७

उदरे पश्चिमातानं मूलमाकुञ्चयेत्ततः ।
साधयित्वा यथाशक्ति द्वितीयं भेदनं शृणु ॥८

पेषयेच्च मूलाधारं शनैः शनैः प्रयत्नतः ।
उड्डीयाने महासिद्धि लभेच्च साधयेत्सदा ।
अन्याश्चापि च मुद्राश्च साधयेद्वा न साधयेत् ॥९

दत्तात्रेये । अधिकारिकथनम्

युवावस्थोऽपि वृद्धोऽपि व्याधितो वा शनैः शनैः ।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति योगे सर्वस्य तन्त्रिता ॥१०

ब्राह्मणाश्रमिणो वापि वृद्धो वाप्यहितोऽपि वा ।
कापालिको वा चार्वाकः श्रद्धया सहितः सुधीः ॥११

योगाभ्यासरतो नित्यं सर्वसिद्धिमवाप्नुयात् ।
क्रियायुक्तः स सिद्धः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ॥१२

शास्त्रस्य पाठमात्रेण कथं सिद्धिः प्रजायते ।
मुण्डी वा दण्डधारी वा काषायवसनोऽपि वा ॥१३

नारायणवदो वापि जटिलो भस्मलेपनः ।
नमः शिवाय वाच्यो वा वह्वर्च्यापूजकोऽपि वा ॥१४

स्थानद्वादशपूज्यो वा बहुवत्सलभाषितः ।
क्रियाहीनोऽथवा क्रूरः कथं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥१५

न वेशधारणं सिद्धेः कारणं विद्यते खलु ।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतत् तु सांकृते ॥१६

शिश्नोदरार्थं योगः स्यात् कथं ना वेशधारिणः ।
अन्नपानविहीनास्तु वञ्चयन्ति जनान् किल ॥१७

उच्चावचैर्विप्रलम्भैर्जायन्ते कृशमानवाः ।
योगिनो वयमित्येवं सुखभोगपरायणाः ॥१८

शनैस्तथाविधानज्ञान् योगाभ्यासविवर्जितान् ।
कृतार्थान् वचनैरेव वर्जयेद्वेशधारिणः ॥१९

एते चारिष्टभूताः स्युर्योगाभ्यासस्य सर्वदा ।
वर्जयेत्तान् प्रयत्नेन ईदृशी सिद्धिदा क्रिया ॥२०

प्रथमाभ्यासकाले तु प्रवेशस्य सदामले ।
आलस्यं प्रथमो विघ्नो द्वितीयस्तु प्रकथ्यते ॥२१

पूर्वोक्ता धूर्त्तगोष्ठी च तृतीयो मन्त्रसाधनम् ।
चतुर्थो धातुवादश्च पञ्चमः पापवादकः ॥२२

एवं बहुविधा विघ्ना मृगतृष्णासमा उमे ।
स्थिरा मनसि जायन्ते तांस्तु ज्ञात्वा त्यजेत्सुधीः ॥२३

मलमूत्रादिनिर्दोषैरष्टादशभिरेव च ।
वर्जितो दारसम्बन्धं वस्त्रं वाजिनमेव च ।
नान्यत्रास्तरणासीनः परशङ्काविवर्जितः ॥२४

तस्मिन् स्थले समास्तीर्य आसनं विष्टरादिकम् ।
तत्रोपविष्टो मेधावी पद्मासनसमन्वितः ॥२५

प्राणायामं ततः कुर्यात् नित्यं सात्त्विकया धिया ।
अथ वर्ज्यानि वक्ष्यामि योगविघ्नकराणि च ॥२६

लवणं सर्षपं चाम्लमुष्णं रूक्षं च निन्दकम् ।
अतीव भोजनं त्याज्यं स्त्रिया सङ्गमनं बहु ।
अग्निसेवा तु संत्याज्या धूर्तगोष्ठी विशेषतः ॥२७

ब्रह्मयामले

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमः ग्रहः ।
जनसङ्गश्च लौल्यं च एभिर्योगः प्रणश्यति ॥२८

उत्साहान्निश्चयाद्धैर्यात्तत्वज्ञानाच्च साहसात् ।
जनसङ्गपरित्यागात् षड्भिर्योगो हि सिध्यति ॥२९

कट्वम्लतिक्तलवणोष्णहरीतशाकाः
सौवीरतैलसर्षपमत्स्यमद्याः ।
अजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोलाः
पिन्याकहिंगुलशुनादि न पथ्यमस्मिन् ॥३०

वर्जयेद्दुर्जनप्रीतिं वह्नितापस्य सेवनम् ।
प्रातःस्नानोपवासादिकायक्लेशविधिं तथा ॥३१

इत्यपथ्यानि । अथ ग्राह्यम्

गोधूमशालिकलयायवषष्टिकान्न-
क्षीराज्यखण्डनवनीतशितामधूनि ।
शुण्ठीकणाकणकलादिकपञ्च शाकं
दुग्धादि दिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ॥३२

कालशाकं वालशाकं तथा पटोलपत्रकम् ।
पञ्चशाकं प्रशंसन्ति वास्तुकं हीलमोचिकम् ॥३३
मिष्टं सुमधुरं स्निग्धं रम्यं धातुप्ररोहणम् ।
मनोभिलिषितं भोज्यं योगी भोजनमाचरेत् ॥३४

रुद्रयामले उत्तरखण्डे

अनाचारेण हानिः स्यादिन्द्रियाणां बलेन च ।
महापातकमुख्यानां सङ्गदोषेन हानयः ॥३५

सम्भवन्ति महादेव तव योग्यं सुकर्म च ।
वृद्धो वा यौवनस्थो वा बालो वा यत्र तत्र वा ।
एकवर्णाद् दीर्घजीवी स्यान्नरो लोकवल्लभः ॥३६

इत्यघोरविरचिते योगशास्त्रे योगारम्भे त्याज्यग्राह्यविधानकथनं नाम
पञ्चदशः पादः ॥

इति श्रीमघोरानन्दनिर्वाणिना संगृहीता योगकर्णिका समाप्ता ।
(ओं तत्सत् समाप्तोयं ग्रन्थः)

॥ एतत् जपसङ्केतं जपनियमस्थाने प्राक् चिन्तनीयम् ॥

अतः परं महापुष्पं वक्ष्यामि शृणु यत्नतः ।
मातृयोनौ क्षिपेल्लिङ्गं पितुः शिरसि पादुकाम् ।
भगिनीस्तनमालोड्य पितुःस्वासस्य चुम्बनम् ॥१
मातृयोनिं परित्यज्य भ्रमणं सर्वयोनिषु ।
यः करोति महेशानि निर्वाणपदमश्नुते ॥२
नटीं कापालिकां वेश्यां चण्डालीं रजकाङ्गनाम् ।
अहर्निशि भजेद् यो हि स एव श्रीसदाशिवः ॥३

अस्यार्थः

योन्यपराजितापुष्पं करवी लिङ्गपुष्पकम् ।
द्रोणं च पादुकापुष्पं जपा च भगिनीस्तनम् ॥४
पितुःस्वसा मुखपद्मं क्षिपेत् क्रमाद् वरानने ।
प्रत्यङ्गुल्ये तु षड्योनिं जपेच्च दश पर्विकाः ॥५
पुंस्त्र्यादिना सर्वयोनिं भ्रमेच्च जपकालिनः ।
कराङ्गुल्ये तु यद्रेखाः सर्वेषां मातृयोनिवत् ॥६
तस्माद्रेखाः परित्याज्याः प्रजपेत् करपर्विकाः ।
अङ्गुष्ठं तर्जनीमध्यानामिका च कनिष्ठिका ७
अङ्गुष्ठादिक्रमान्न्यस्य जपकाले भजेत् प्रिये ।
इत्थं पूजाजपादिभिः कृत्यात्यागं करोति यः ।
स एव मुक्तिमाप्नोति कामपुष्पं स एव हि ॥८

—०००—

## INDEX (योगपदानुक्रमकोशः)

# शांभवी तन्त्र

म. म. डा. गोपीनाथ कविराज

# शाम्भवीतन्त्रम्

(मूल तथा व्याख्या)

व्याख्या उपदेशक

महामहोपाध्याय डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज (पद्मविभूषण)

भाषा शब्दांकनकार

एस. एन. खण्डेलवाल

भारतीय विद्या प्रकाशन

वाराणसी — दिल्ली

प्रकाशक :

**भारतीय विद्या प्रकाशन**

१. १, यू.बी., बैंग्लोरोड,
जवाहर नगर, दिल्ली–११०००७

२. पो.बा. ११०८, कचौड़ी गली,
वाराणसी–२२१००१

प्रथम आवृति : १९९४

मूल्य : ६०.००

**I.S.B.N**

लेजर टाईप सेटिंग :

ईशान कॉम्प्रिंट

५६-ए कमला नगर, दिल्ली-११०००७

मुद्रक :

जैन अमर प्रिंटिंग प्रेस,

जवाहर नगर, बैंग्लो रोड

दिल्ली-११०००७

# निवेदन

इस तन्त्र को प्रायः लुप्त तंत्र माना गया है। परम्परा की दृष्टि से इसे शैवतंत्र के अन्तर्गत् कहा जा सकता है। मानव के विकास की विधा में साधना का स्थान अन्यतम है। साधना क्रममार्ग के अवलम्बन से सम्पन्न होती है। अर्थात् क्रमिक रूप से सोपान क्रम से उर्ध्वारोहण। जो अधिकारी प्राक्तन एवं पूर्वार्जित क्रम के अनुसार जितना उन्नत होता है, वह उसी मात्रा में क्रमोन्नति का भागी होता है। अर्थात उसने पूर्वार्जित एवं प्राक्तन कर्म के अनुसार पूर्वजन्म में जहां तक की साधना को सम्पन्न कर लिया था, इस जन्म में वह उसी विन्दु से साधना प्रारंभ करता है। अंर्थात् पूर्वजन्म में वह साधन पथ पर जहां तक अग्रसर हो चुका था, इस जन्म में उससे आगे के साधन पथ पर वह गतिशील होने लगता है। उसे पूर्व सम्पादित साधना को दोहराने की आवश्यकता नहीं रहती। श्रीमद्‌भगवत्‌गीता में भी इसी सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की गयी है। इसी कारण से एक ही शास्त्र में अधिकारी भेद को प्रधान रखकर तदनुरूप अनेक साधनाओं का वर्णन किया गया है। जो जिस प्रकार की योग्यता से सम्पन्न है, वह तदनुरूप साधना का वरण करता है। तदनुरूप साधना का वरण करने के अभाव में साधक अग्रगामी गति प्राप्त कर सकने से वंचित रह जाता है। इसी कारण एक ही शास्त्र में अनेक साधन विधि का उल्लेख प्राप्त होता है। साधकों की योग्यता में विविधता है।

जो साधना किसी एक साधक के लिये उपादेय है, वही साधना किसी अन्य साधक के लिये हानिकर भी हो सकती है। इसीलिये विधान है कि योग्य तथा अन्तर्दृष्टि से साधक सम्पन्न गुरु की पूर्वजन्मार्जित योग्यता का आकलन करते हुये, उसी क्रम से आगे वाली साधना का विधान करते हैं। इसी कारण प्राचीन काल के एक ही गुरु अथवा ऋषि विभिन्न साधकों को विभिन्न साधन निर्देश देते हुये परिलक्षित होते है। इसके उदाहरण हैं ऋषि वशिष्ठ। जहां वे पुराणों में द्वैतवादी साधन पथ का, विभिन्न कर्मकाण्ड का उपदेश देते हैं, वहीं वे योगवाशिष्ठ में जिस अद्वैतमत का प्रतिपादन करते हैं, वह राजयोग की अत्यन्त उच्च अवस्था

का द्योतक है। पुराणों में जो वशिष्ठ परम वैष्णव हैं, वहीं वे परम वाममार्गी महाचीनाचार का वरण करते हुये भगवती नीलसरस्वती विद्या के उपदेष्टा भी हैं। यह विभिन्नता एवं विविधता वशिष्ठ की अपने आप में अपनी विभिन्नता नहीं हैं, प्रत्युत जिस स्तर का शिष्य जब उनके सम्मुख उपस्थित होता है, तब वे उसके अनुरूप साधन पथ का विधान कर देते हैं। यह पूर्ण गुरु का लक्षण है। अपूर्ण अथवा किंचित पूर्ण किंवा अर्धपूर्ण गुरु में यह योग्यता नहीं रहती। वह यह नहीं जानता कि विभिन्न एवं परस्परतः विविधता का आभास देने वाले समस्त पथों का गन्तव्य एक ही है। पर्वतों के गह्रो से निकली समस्त नदियां अन्ततः एक ही महासमुद्र में आत्मविसर्जन कर देती है।

पूर्णगुरु में यह न्यूनता नहीं है। उसे वह तथ्य अच्छी तरह से ज्ञात रहता है कि समस्त विभिन्नता तथा विविधता का पर्यवसान उस 'एक' में ही है। अतः वह साधकों के रुची, वैचित्र्य के कारण अनेक ऋजु एवं कुटिल, प्रकार की साधनाओं का विधान करता है। साधको के इसी रूचिवैचित्र्य के कारण ही एक ही सत्ता दुर्गा, राम, कृष्ण, इन्द्र, बुद्ध, सूर्य, महावीर, मरूत, ईसामसीह, जरथुस्त्र आदि-आदि अनन्त रूपों में अपना आत्मप्रकाशन करती रहती है। जिसकी जैसी भावना होती है, उसके लिये प्रभु की वैसी ही मूरत अपना दर्शन देने के लिये उद्यत हो जाती है।

इस प्रकार कर्ममार्ग का अवलम्बन लेने पर अथवा उसका गहन अध्ययन करने पर यह विदित होने लगता है कि प्राचीन काल में विभिन्न स्तर के साधकवर्ग के हितार्थ सरल-उपयोगी-सम्यक् साधना का विधान किया गया था। यह विधान व्यक्ति अथवा समुदाय द्वारा गठित अथवा रचित नहीं था। वौद्धिक विकास की चरम स्थिति में अर्थात् समाधि की अवस्था में परमसत्ता से जो अनुप्रेरणा प्राप्त होती थी, अथवा पश्यन्ति वाक् स्थिति से अवरोहण करते हुये जब अन्तःप्रज्ञा मध्यमा की स्थिति में आरुढ़ किंवा अभिव्यक्त होती थी, तव एक और अद्वय अनन्त सत्ता प्रश्नकर्त्ता एवं उत्तरदाता के रूप में द्विधा विभक्त होकर ज्ञान एवं साधना के विभिन्न रूप का वैखरी वाक् का आश्रय लेते हुये बहिः, प्रकाशन करती थी। इस

प्रश्नकर्त्ता स्थिति को तन्त्र एवं आगम में भैरवी-आनन्द-भैरवी-पार्वती-देवी आदि के रूप में स्वीकृत किया गया है और समाधान, दाता उत्तरदाता हैं भैरव-आनन्द भैरव-शिव-महादेव आदि के रूप में।

यह महान् ग्रंथ भी इसी प्रकार से विन्यस्त है। जीव की दुःस्थिति देखकर महाकरूणा के वशीभूत होकर देवी अपने में ही अद्वय रूप से स्थित परमसत्ता से जीव के कल्याणार्थ विहित एवं उपादेय साधना की विधि की परिपृच्छा करती हैं और सर्वज्ञ-पंचकृत्यकारी आत्मदेव अपने स्वीयरूप से अभिन्न देवी को जीव कल्याणार्थ स्तरानुक्रम से तथा अधिकारी भेद से सरल उपाय का उपदेश प्रदान करते हैं। इस प्रकार इस एक ही ग्रंथ में हठयोग राजयोग लययोग मन्त्रयोग आत्मयोग प्रभृति विभिन्न प्रस्थानों का अंकन किया गया है। इसके अनुशीलन करने वाले सुधीजन अपनी रुचि-सामर्थ्य तथा धरणाशक्ति के तारतम्य से इसमें वर्णित साधन पथ का आश्रय लेकर अनन्त पथ पर गतिशील होते आये हैं।

ग्रंथ का कालनिर्णय करना यहां अभिप्रेत नहीं है। तब भी सामान्यतः यह रचना ई. पू० छठी सदी की प्रतीत होती है, क्योंकि नवम शताब्दी (ईसा के पश्चात्) से प्रवहमान होने वाली वेदान्त और भक्तिधारा का इसमें लेशमात्र भी नहीं मिलता। इस ग्रंथ में प्रयुक्त व्याकरण के आर्ष प्रयोग भी पारिणनी के सूत्रों से है। अतः यह निर्विवाद है कि ग्रंथ का रचना काल पाणिनी से पूर्व के ही है। इस प्रकरण से यह स्थापित हो जाता है कि यह रचना हजारो वर्ष के काल के कराल थपेड़ो को सहते हुय भी बची है। इसकी जो उपयोगिता प्राचीन काल में थी, वह आज भी उसी प्रकार से विद्यमान है।

शांभवी तन्त्र आज अपने पूर्ण रूप में प्राप्त नहीं है। इसका एक क्षुद्र अंश मेरे अनुवाद के साथ 'ज्ञानसंकुली तंत्र' के नाम से भारतीय विद्या संस्थान, वाराणसी द्वारा प्रकाशित किया जा रहा है। प्रस्तुत ग्रंथ भी अति विशाल शांभवी तंत्र का ही एक अंश मात्र है। इसमें शांभवी विद्या का सर्वत्र आभास प्राप्त होता है, अतः इसकी मूल संज्ञा 'शांभवी तन्त्र' ही समीचीन प्रतीत हो रही है। देवकृपा से इसके अन्य अंश की जहां तक प्राप्ति अदूर भविष्यत् में हो सकेगी, उसका प्रकाशन इसके विभिन्न खण्ड

के रूप में करने की योजना है। सम्प्रति इसका संस्कृत अंश स्वनामधन्य महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ जी कविराज द्वारा दृष्ट है, जिसके कारण इस ग्रंथ की प्रामाणिकता स्वतःसिद्ध हो जाती है। अनेक कारणों से यह ग्रंथ कविराज जी के जीवन काल में प्रकाशित नहीं हो सका था। हिन्दी अनुवाद यथार्थ शब्दशः अनुवाद न होकर व्याख्यापरक है, जिससे जिज्ञासु साधकवर्ग का तथा अध्येता का हित साधन हो सकेगा, यह आशा करता हूं।

महाराणा प्रताप जयन्ती,
एस. एन. खण्डेलवाल
१९९३ई०
बी ३१/३२, लंका, वराणसी

## ।। ॐ ।।

एकं ज्ञानं नित्यमाद्यन्त शून्यं
नान्यत् किञ्चित्वर्त्तते वस्तुसत्यम् ।
यद्भेदोऽस्मिन्निद्रियोगाधि नावै
ज्ञानस्यास्य भासते नान्यथैव ।। १ ।।

अथभक्तानुरक्तो हि वक्ति योगानुशासनम् ।
ईश्वरः सर्व भूतानामात्म मुक्ति प्रदायकम् ।। २ ।।

त्यक्त्वा विवादशीलानां स्वतं दुर्ज्ञानहेतुकं ।
आत्मज्ञानाय भूतानामनन्यगत चेतसाम् ।। ३ ।।

सत्यं केचित्प्रशंसन्ति तपः शौचं तथापरे ।
क्षमा केचित्प्रशंसन्ति केचिद्वैराग्यमुत्तयम ।। ४ ।।

केचित् ज्ञानं प्रशंसन्ति तथैव शममार्जवम् ।
केचित् गृहस्थ-कर्माणि प्रशंसन्ति विचक्षणाः ।। ५ ।।

अग्निहोत्रादिकं कर्म तथा केचदपूरं विदः ।
मंत्रयोगं प्रशंसन्ति केचित्तीर्थानुसेवनम् ।। ६ ।।

एवं बहूनुपायान् प्रवदन्ति हि मुक्तये ।
एवं व्यवसिता लोके कृत्याकृत्यविदोजनाः ।। ७ ।।

व्यामोहमेवगच्छन्ति विमुग्धाः पापकर्मणा ।। ८ ।।

एतदेव वलं वीर्यं लब्ध्वा दुरित पुण्यकम् ।
विभ्रमत्यवशां तत्र जन्म मृत्यु परम्परा ।। ६ ।।

एवं मति मतां श्रेष्ठैः श्रुत्यालोकनतत्परैः ।
आत्मानो बहवः प्रोक्ताः कृत्याकृत्य विदुःजनाः ।। १० ।।

ात्यत् प्रत्यक्ष विषयं तदन्यत्नास्ति चक्षते।
ऋुतः स्वर्गादयः सन्तीत्यन्ये निश्चित् मानसाः।। ११।।

ज्ञानप्रवाहमित्यन्ये शून्यं केचित्परं विदुः।
द्वावेवतत्वं मत्येत् परं प्रकृतिपूरुषौ।। १२।।

अत्यन्त भिन्नमतयः परमार्थ पराङ्गमुखाः।
एवमन्येतु सञ्चिन्त्य यथामति यथाश्रुतम्।। १३।।

निरीश्वरमिदं प्राहुः सेश्वरं च जगत्परे।
वदन्ति विविधैर्भेदैः सयुक्त्या स्थिति-कातरः।। १४।।

एतेचान्ये च मुनयः संज्ञाभेदा पृथग्विधाः।
शास्त्रेषु कथिताहये ते लोक व्यामोह कारकाः।। १५।।

एतद्विवादशीलानां मतं वक्तुं न शक्यते।
भ्रमंनत्यस्मिन् जनाः सर्वे मुक्ति मार्गवहिष्कृताः।। १६।।

आलोक्य सर्वशास्त्राणि विचार्य च पुनःपुनः।
इदमेकं सुनिष्पन्नं योगशास्त्रं मतं परम्।।
यास्मिन् ज्ञाते सर्वमिदं ज्ञातं भवति निश्चितम्।
अस्मिन् परिश्रमः कार्यः किमन्यत्शास्त्रभाषितम्।। १७।।

योगशास्त्रमिदंगोप्यमस्माभिः परिभाषितम्।
सुभक्ताय प्रदातव्यं त्रैलोक्ये च महात्मने।। १८।।

कर्मकाण्डं ज्ञानकाण्डमेतदेव द्विधामतम्।
भवति द्विधोभेदौ ज्ञानकांण्चकर्मकः।। २०।।

द्विविधः कर्मकाण्डः स्यात् निषेध विधिपूर्वकः।
निषिद्धकर्मकरणो पापं भवति निश्चितम्।। २१।।

विधान कर्मकरणे पुण्यं भवति निश्चितम्।
त्रिविधो विधिकूटः स्यान्नित्य नैमित्तिकाम्यकः।। २२।।

नित्येऽकृते किल्विषं स्यात् काम्ये नैमित्तिके फलम्।
द्विविधं तु फलं ज्ञेयं स्वर्गो नरकेरेव च।। २३।।

स्वर्गो नानाविधश्चैव नरकोऽपि तथा भवेत् ।
पुण्ये कर्मणि वै स्वर्गो नरकं पाप कर्मणि ।। २४ ।।

कर्मबन्धमयी सृष्टिर्नान्यथा भवति ध्रुवम् ।
जन्तुभिश्चानुभूयन्ते स्वर्गे नानासुखानि च ।। २५ ।।

नानाविधानि दुःखानि नरके दुस्सहानि वै ।
पापकर्मवशाद्दुःखं पुण्यकर्मवशात्सुखम् ।। २६ ।।

तस्मात्सुखार्थो विविधं पुण्यं प्रकुरूते ध्रुवम् ।
पाप भोगवसाने तु पुर्नजन्म भवेत्खलु ।। २७ ।।

पुण्य भोगवसानेऽपि तत्तथा भवति ध्रुवम् ।
स्वर्गेऽपि दुःखसंभोगाः परस्त्री दर्शनादिकम् ।। २८ ।।

तस्मात् दुःखमिदं सर्वं भवेन्नास्त्यत्र संशयः ।
तत्कर्म कल्पकैः प्रोक्तं पुण्यं पापमिति द्विधा ।।२९ ।।

पुण्यपापभयोबन्धो देहिनां भवति क्रमः ।
इहामुत्र फलद्वेषी सफल कर्म संत्यजेत् ।। ३० ।।

नित्यनैमित्तिके संगं त्यक्त्वा योगे प्रवर्तते ।
कर्मकाण्डस्य माहात्म्यं ज्ञात्वा योगी त्यजेत् सुधीः ।। ३१ ।।

पुण्यं पापं द्वयं त्यक्त्वा ज्ञानकाण्डे प्रर्वर्तते ।
आत्मावारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यं इत्यादि च श्रुते ।। ३२ ।।

सा सेव्यातु प्रयत्नेन मुक्तिदा हेतुदायिना ।
दुरितेषु च पुण्येषु योऽधि वृत्तिं प्रचोदयात् ।। ३३ ।।

सोऽहम् प्रवर्त्तते मत्तो जगत्सर्वं चराचराम् ।
सर्वं च दृश्यते मत्तः सर्वं च मयि लीयते ।। ३४ ।।

न तद्भिन्नो ऽ हमस्मात् यत्मद्भिन्नं न तु किंचन् ।
जलपूर्णेष्वसंख्येषु शरावेषुयथा भवेत् ।। ३५ ।।

एकस्य भात्यसंख्यत्वं तद्वद्नेभ्दोऽत्र दृश्यते ।
उपाधीर्षुशरावेषु या संख्या वर्तते परम् ।। ३६ ।।

सांसंख्यः भवति यथा रवौ चात्मनि या तथा।
यथैव कल्पकः स्वमेनानाविधतयेष्यते।। ३७।।

जागरेऽपितथाप्येकस्तथैव नवधा जगत्।
सर्पबुद्धि यथा रज्जौ सुक्तौ वा रजतभ्रमः।।३८।।

तद्वदेव जगदिदं विकृतं परमात्मति।
रज्जुज्ञानाद्यथासर्पो मिथ्या भूतोनिवर्तते।।३९।।

आत्माज्ञानात्तथायाति मिथ्याभूतमिदं जगत्।
रूप्य भ्रमन्तिरियं याति मुक्ति ज्ञानाद्यथा खेलु।।४०।।

जगत्रान्तिरियं याति चात्मज्ञानात् सदा तथा।
यथावेशोरगाभ्रान्ति भवेदेववशांजनात्।।४१।।

तथा जगदियं भ्रान्तिरध्यास कल्पना जगत्।
आत्मज्ञानाद्यथायाति रज्जुज्ञानादुभूजंगमः।।४२।।

यथादोषवशात् शुक्लम् पीतं भवति नान्यथा।
अज्ञानदोषादात्मा ऽपि जगद्भवति दुस्त्यजनम्।।४३।।

दोष नाशेयथा शुक्लो गृह्यते रोगिणा स्वयं।
शुद्धज्ञानात्तथाज्ञान नाशादात्मतथाक्रियः।।४४।।

कालत्रयेऽपिन्यथा रज्जुः सर्पो भवेदिति।
तथात्मानभवेद्विश्वम्, गुणातीतो निरञ्जनः।।४५।।

आगमापायिनो नित्या नाश्यत्वादीश्वरादयः।
आत्मबोधेन केनापि शास्त्रदेतत् विनिर्णितम्।।४६।।

यथावातवशात् सिन्धौ उत्पन्नाः फेनबुदबुदाः।
तथात्मति समुद्भूतः संसार क्षणभंगुरः।।४७।।

अभेदौ भासते नित्यं वस्तुभेदो न भासते।
द्वित्वंत्रित्वादिभेदोऽयं भ्रमत्वे पर्यवस्यति।।४८।।

तदभूतं यच्च भाव्यं वै मूर्तामूर्त्ते तथैव च।
सर्वमेव जगदिदं विवृत्तं परमात्मनि।।४९।।

कल्पेकेः कल्पिताविद्या मिथ्या यातामृषात्मिका।
एतन्मूलं जगदिदं कथं सत्यं भविष्यति।।५०।।

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेत्तचराचरत्म्।
तस्मात्सर्व परित्यज्य चैतन्यं तु समाश्रयेत।। ५१।।

घटस्याभ्यन्तरे बाह्ये यथाकाशः प्रवर्तते।
तथात्माभ्यन्तरबाह्ये कार्यवर्गेषु नित्यशः।। ५२।।

असंलग्नंयथाकाशं मिथ्याभूतेषु पंचसु।
असंलग्नसितथात्मातु कार्यवर्गेषुनान्यथा।। ५३।।

ईश्वरादि जगत्सर्वमात्मा व्याथ समंततः।
एकोऽस्ति सच्चिदानन्दः पूर्णोद्वैत विवर्जितः।।५४।।

यस्मात् प्रकाशको नास्ति स्वप्रकाशोभवेत्ततः। ५५।।

स्वप्रकाशो यतस्तस्मादात्मज्योति स्वरूपकः।
आत्मनः सर्वथातस्मादात्म पूर्णोभवेत्खलु।। ५६।।

यस्मान्न विद्यते नाशो पंचभूतैवृथात्मकैः।
तस्मादात्मा भवेन्नित्यः स्वेन भास्यो भवेत्खलु'।। ५७।।

यस्मात् तदन्यो नास्तीह तस्मादेको ऽस्ति सर्वदा।
यस्मात् तदन्यो मिथ्यास्यादात्मा सत्यो भवेत्ततदा।। ५८।।

अविद्याभूतसंसारे दुःखनाशः सुखं यतः।
ज्ञानादद्यन्तशून्यस्यात्तस्मादात्मा भवेत्सुखी।। ५६।।

यस्मान्नाशितमज्ञानं ज्ञानेन विश्वकारणम्।
तस्मादात्माभवेद्ज्ञदानं ज्ञानं तस्मात् सनातनम्।। ६०।।

कालतो विविधं विश्वं यदाचैव भवेदिदम्।
तदेकोऽस्ति स एकात्मा कल्पनापथवर्जितः।। ६१।।

ख नं न वायुर्नचाग्निश्च न जलं पृथिवी न च।
नैतत्कार्यनेश्वरादि पूर्णेकात्मा भवेत्खलु।। ६२।।

वाह्ययानि सर्वभूतानि विनाशयन्ति कालतः।

यतो वाचो निवर्तन्ते आत्माद्वैत विवर्जितः।। ६३।।

आत्मानमात्मना योगी पश्यत्यात्मनि निश्चितम्।
सर्व-संकल्प-सन्यासी त्यक्त मिथ्या भवग्रहः।। ६४।।

आत्मनात्मनि चात्मानं दृष्टवानन्तं सुखात्मकम्।
विस्मृश्यविश्वं रमते समाधेस्तीव्रता तथा।। ६५।।

यदानाशं समायति विश्वं नास्ति तदा खलु।। ६६।।

हेयं सर्वमिदं यत्तु मायाविलसितं ततः।
स्वतः न प्रीतिविषयस्तु न वित्त सुखात्मकम्।। ६७।।

अरिमित्रमुदासीनं त्रिविधंस्यादिदम् जगत्।
व्यवहारेषु नियतं दृश्यते नान्यथा पुनः।। ६८।।

प्रियाप्रियादि भेदस्तु वस्तुषुनियतः स्फुटम्।
आत्मोपाधिवशादेवं भवेत्पुत्रेऽपिनान्यथा।। ६९।।

मायाविलसितं विश्वं ज्ञात्वैवं श्रुतियुक्तवः।
अध्यारोपापवादाभ्यां लीयं कुर्वन्तु योगिनः।। ७०।।

कर्मजन्यमिदं विश्वं मत्वा कर्माणि वेदतः।
निखिलोपाधि विजितो यदा भवति पूरुषः।। ७१।।

तदा विजयतेऽखण्ड ज्ञानरूपी निरंजनः।
सः कामयते पुरुष सृजति चैव प्रजाः स्वयम्।। ७२।।

अविधा भासते यस्मात् तस्मात् मिथ्या स्वभाविनी।
शुद्ध ब्रह्मत्व सम्बन्धोऽविद्यया सह यो भवेत्।। ७३।।

ब्रह्म तेर्नदृशतां यान्ति यतः आभासते नमः
तस्मात् प्रकाशते वायुः वायोरग्नि ततः जलम्।। ७४।।

प्रकाशते ततो पृथ्वी कल्पनेह्यं स्थिता शती।
आकाशाद्वायुराकाश पवनादग्नि संभवः।। ७५।।

खवाताग्नेर्जलम् व्योमवाताग्नि वारिजा मही।
खं शब्दं लक्षणं वायु चञ्चल स्पर्श लक्षणम्।। ७६।।

स्याद्रूप लक्षणा तेजः सलिलम् रसलक्षणम् ।
गन्ध लक्षणाका पृथ्वी नान्यथा भवति ध्रुवम् ।। ७७ ।।

विशेष गुणाः स्फुरिन्त यतः शास्त्राद्विनिर्णयः ।
शब्दैक गुणमाकाशं द्विगुणो वायुरुच्यते ।। ७८ ।।

तथैव त्रिगुणं तेजो भवत्यापश्चर्तुगुणाः ।
शब्दस्पर्शश्चरूपश्च रसोगन्धस्तथैव च ।। ७९ ।।

एषा पंच गुणा पृथ्वी कल्पकैः कल्यतेऽधुना ।
चक्षुषा गृह्यते रूपं गन्धो घ्राणेन गृह्यते ।। ८० ।।

रसो रसनपा स्पर्शाः त्वचा संगृह्यते परम् ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दो नियतं भाति नान्यथा ।। ८१ ।।

चैतन्यात्सर्वमुत्पन्नं जगदेतच्चराचरम्
अस्ति चेत्कल्पनेयंस्यात् नास्ति चेदस्ति चिन्मयम् ।। ८२ ।।

पृथ्वीशीर्णा जलेमग्ना जलमग्नौ च तेजसि ।
लीनं वायौ तथा तेजो व्योमाग्निवातो लयं ययौ ।। ८३ ।।

अविद्यायां महाकाशो लीयते परमे पदे ।
विज्ञेयआवरणाशक्ति दुरात्मा सुखरूपिणी ।। ८४ ।।

जड़रूपा महामाया, रजः सत्वतमोगुणा ।
सा मायावरणाशक्त्याआवृत्ताविज्ञानरूपिणी ।। ८५ ।।

दृश्यते जगदाकारं तत् विक्षेपस्वभावया ।
तमो गुणाधिका विद्या सा दुर्गाभवेत्स्वयम् । ८६ ।।

ईश्वरत्वं तदुपहितं चैतन्यात्तदभूतध्रुवम् ।
सत्वाधिका च या विद्या लक्ष्मी सा दिव्यरूपणी ।। ८७ ।।

चैतन्यं तदुपहितं विष्णुः भवतिनान्यथा ।
रजोगुणाधिकाविद्या ज्ञेया वै सा सरस्वती ।। ८८ ।।

यश्चित् स्वरूपा भवति ब्रह्मा तदुपकारकः ।
ईशाथाः सकला देवाः दृश्यन्ते परमात्मनि ।। ८९ ।।

शरीरादि जडं सर्वं साअविद्या कल्पिता तथा।
एवं रूपेण कल्पन्ते कल्पकाः विश्वसम्भवम्।। ९०।।

तत्वातत्वं भवतीह कल्पनान्येन चोदिता।
प्रमेयत्वादि रूपेण सर्वं वस्तु प्रकाश्यते।। ९१।।

तथैव वस्तुनास्त्येव भासको वर्तते परम्।
स्वरूपत्वेन रूपेण स्वरूपं वस्तु भासते।। ९२।।

विशेष शब्दोपादनि भेदो भवति नान्यथा।। ९३।।

एक सत्यं पूरतिानन्द रूपः।
पूर्णो व्यापी वर्तते नमस्ति किंचित्।
एतत ज्ञानं यः करोत्येव नित्यं।
मुक्तः सः स्यान्मृत्यु संसार दुःखात्।। ९४।।

यस्यारोपवादाभ्यां यत्र सर्वे लयं गताः।
स एको वर्तते नान्यत् न चित्तेनावधार्यते।। ९५।।

पितुरन्नमयात्कोशाज्जायते पूर्वकर्मकृत्।
तच्छरीरं विदुः दुःखं स्वप्रभोगाय सुन्दरम्।। ९६।।

माँसास्थिस्नायु मज्जादि निर्मितम् भोगमन्दिरम्।
केवलं दुःखभोगाय नाडि संमति गुम्फितम्।। ९७।।

परप्रेत्स्थमिदं गात्रम् पंचभूत विनिर्मितम्।
ब्रह्माण्ड सर्गकं दुःखं सुखभोगाय कल्पितम्।। ९८।।

विन्दु शिवो रजः शक्तिरूभयोः मेलनात्स्वयम्।
स्वप्रभूतानि जायन्ते स्वशक्त्या जडरूपया।। ९९।।

तत्पंचीकरणस्थूलादात्मसंख्यार्णिका मता।
ब्रह्मांण्डे यानि वस्तूंति नियतानि स्वकर्मभिः।। १००।।

तद्भूतपंचकात् सर्वं भोगाख्यं जीवसंज्ञके।
पूर्वकर्मानुरोधेन करोमि घटनामहम्।। १०१।।

अजडः सर्वभूतान् वै जडस्थित्याभुनक्तितान्।

जडात् स्वकर्मभिर्बद्धो जीवाख्यो विविधौ भवेत् ।। १०२ ।।

भोगायोत्पद्यते भोगावसाने च स्वकर्मभिः ।
देहेऽस्मिन् वर्तते मेरुः सप्तद्वीप समन्विते ।। १०३ ।।

सरितः सागरास्तत्र क्षेत्राणि क्षेत्रपालकः ।
ऋषयो मुनयः सर्वे नक्षत्राणि ग्रहास्तथा ।। १०४ ।।

पुण्यतीर्थानि पीठानि वर्तन्ते पीठदेवताः ।। १०५ ।।

सृष्टिसंहारकचौरा भ्रमन्तौ राशिभास्करौ ।
नभोवायुश्च वन्हिश्च जलं पृथ्वी तथैव च ।। १०६ ।।

भैलोक्ये यानि भूतानि तानि सर्वाणिदेहतः ।
मेरूं संवेष्ट्य सर्वत्रं व्यवहारः प्रवर्तते ।। १०७ ।।

जानाति यः सर्वमिदं स योगी नात्र संशयः
ब्रह्मांण्ड संज्ञके देहे यथादेश व्यवस्थितम् ।। १०८ ।।

मेरूशृंगे सुधारश्मि द्विअष्टकलया युतः ।
वत्तृतेऽहर्निशं सोऽपि सुधावर्षत्यधोमुखम् ।। १०६ ।।

ततोऽमृतं द्विधाभूत यातिसूक्ष्मं यथा च वै ।
इड़ामार्गेण पुष्ट्यर्थं याति मन्दाकिनी जलम् ।। ११० ।।

पुष्णाति सकलं देहं इडामार्गेण निःसृतम् ।
एषा पीयूष रश्मि र्हिं वामपार्श्वे व्यवस्थितः ।। १११ ।।

अपरः शुभ्र दुग्धोयो हर्षाकर्षितमंडलः ।
मध्यमार्गेण सृष्ट्यर्थं मेरो संयाति चन्द्रमा ।। ११२ ।।

मेरूमूले स्थितः सूर्यः कलाद्वादश संयुताः ।
दक्षिणे पथि रश्मिभिः वहति ऊर्ध्व प्रजापतिः ।। ११३ ।।

पीयूष रश्मि निर्यासं धातुश्च ग्रसति ध्रुवम् ।
समीरमंडलैः सूर्योः भ्रमते सर्वविग्रहैः ।। ११४ ।।

एषः सूर्यः परामूर्तिः निर्वार्णं दक्षिणे पथि ।
वहते लग्न योगेन सृष्टि संहारकारकः ।। ११५ ।।

सार्ध लक्षत्रयंनाड्यः सन्तिदेहान्तरे नृणाम।
प्रधानभूताः नाड्यस्तु तासुसन्ति चतुर्दश।। ११६।।

सुषम्नेडापिंगला च गांधारी हस्ति जिह्विका।
कुह सरस्वती पूषाशंखिनी च पयस्विनी।। ११७।।

वारूण्यलम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी।
एतासु तिस्त्रो मुख्याः स्युः पंगलेडा सुषुम्निकाः।। ११८।।

तिसृष्वेका सुषुमैव सुख्या सा योगिबल्लभा।
अन्यास्तु चाश्रयं कृत्वा नाडय सन्ति हि देहिनाम्।। ११९।।

नाड्यस्तु ता अधोवदनाः पद्मवन्तु निभाः स्थिताः।
सोम सूर्याग्नि रूपिण्यः पृष्ठवंशम् समाश्रिताः।। १२०।।

तासां मध्यगता नाड़ी चित्रा स्यात् ममबल्लभा।
ब्रह्मरन्ध्रे च तत्रैव सूक्ष्मात्सूक्ष्म तरंगिता।। १२१।।

पंचवर्णोज्ज्वला शुद्धा सुषुम्नामध्य चारिणी।
देहस्य उपाधि रूपा सा सुषुम्ना भिन्न रूपिणी।। १२२।।

दिव्यमार्गोऽयं प्रोक्तम् अमृताकार कारकः।
ध्यानमार्गेण योगीन्द्रो दुरितौधम् विनाशयेत्।। १२३।।

गुदात द्वयमङ्गुल मूर्ध्ये मेद्रधोद्वयंगुलात् परे।
चतुरङ्गुल विस्तारो आधारो वर्तते समः।। १२४।।

तस्मिन्नाधारप्राधोज कर्णिकायां सुशोभना।
त्रिकोणा वर्तते योनिः सर्वत तन्त्रेषु गोपिता।। १२५।।

तत्र विद्युल्लताकारा कुंडली परदेवता।
याष्टप्रकारा कुटिला सुषुम्नाभगसन्निभा।। १२६।।

जगन्संसृष्टि रूपा सा निर्माणेसततोद्यता।
वाचाह्यवाच्या वाग्देवी सदा दैवैः नमस्कृता।। १२७।।

इडा नाम्नी तु या नाडी वामकार्णे व्यवस्थिता।
मध्य नाडी समाश्लिष्य वामनासापुट गता।। १२८।।

पिंगला नाम या नाडी दक्षमार्गे व्यवस्थिता।
सुषुम्नां सा समाश्लिष्य दक्ष नासापुटे गता।। १२६।।

इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना या भवेत्खलु।
षड्स्थानेषु षट्चक्रं षटपद्म योगिनो विदुः।। १३०।।

पंचस्थानानि सुषुम्नाया ......................।
प्रयोजनवशत्तानि ज्ञानव्यानि इहशांस्त्रकः।। १३१।।

अन्याचेहापरा नाडी मूलाधारात् समुत्थिता।
रचना मेढ्रनयनपादांगुष्ठञ्च शोभकम्।। १३२।।

दक्षिनेत्रागुंष्ठकर्णान् सर्वागंपायुकुक्षिकम्।
लब्ध्वा निवर्तते सा वै यथादेश समुद्भवा।। १३३।।

एतेभ्यः एस नाडीं सा तां पश्यन्ति क्रमाब्दुधाः।
सार्ध लक्षत्रयं जाता यथाभाग व्यवस्थिता।। १३४।।

ऐता भोगवहा नाड्यो वायुसंचार दक्षकाः।
प्रोताप्रोताभि संख्या ताः तिष्ठन्त्यस्मिन् कलेवरे।। १३५।।

सूर्यमंडल मध्यस्थः कलाद्वादशसंयुतः।
वस्तिदेशे ज्वलद्वन्हिवर्तते चात्र पाचकः।। १३६।।

वैश्वानराग्नि रेवात्र ममतेजोऽशसम्भवः।
करोति विविधं पाकं प्राणिनां देहमास्थितः।। १३७।।

आयु प्रदायको बर्न्हिबलं पुष्टिं ददाति च।
शरीरपाटवं चापि हत्ररोग समुद्मवः।। १३८।।

तस्माद्वैश्वानराग्निं च प्राज्वाल्यविधिवत् सुधी।
तत्रान्नं जुहुयात योगीप्रत्यहं गुरु शिक्षया।। १३६।।

ब्रह्माण्ड संज्ञके देहे स्थानानि स्थु बहूनि च।
मयोक्तानि प्रधानानि ज्ञातव्यानीह शास्त्रके।। १४०।।

नानाप्रकार नामानि स्थानानि विविधानि च।
वर्तन्ते विग्रहे तानि, वक्तुं शक्यन्ते न च।। १४१।।

इत्थं प्रकल्यिपते देहे, देहे वसति सर्वगः।
अनादि वासनामालालंकृतः कर्मश्रृंखला।। १४२।।

नानाविध गुणोपेतः सर्वव्यापारकारकः।
पूर्वार्जितानि कर्माणि भुनक्ति विविधानि च।। १४३।।

यद्यत् संदृश्यते लोके सर्वं तत्कर्म संभवम्।
सर्वान् कर्मानुसारेण जन्तुभोगान् भुनक्ति वै।। १४४।।

ये ये कामादयो दोषाः सुखदुःख प्रदायकाः।
ते ते सर्वे प्रवर्तन्ते जीवे कर्मानुसारतः।। १४५।।

पुण्योपरक्तं चैतन्यं प्राणान् प्रायाति केवलम्।
वाहये पुण्येत्वधं प्राप्य भोज्यवस्तु स्वयं भवेत्।। १४६।।

ततः कर्मबलात् पुंसः सुखं वा दुःखमेव च।
पापारक्तम् चैतन्यं नैव तिष्ठति निश्चितम्।। १४७।।

न तद्भिन्नो भवेत् सोऽपि तद्भिन्नं न तु किंचन।
मयोपहित चैतन्यात् सर्वं वस्तु प्रजायते।। १४८।।

यथाकालोपभोगोऽयं जन्तुना विविधोद्भवम्।
यथा दोषवशात् सुक्तौ रजतारोपणां भवेत्।। १४९।।

तथा स्वकर्मदोषात्वै ब्रह्मण्यारोप्यते जगत्।
तद् वासनाभ्रमोत्पन्नं मूलं नास्ति समर्थितम्।। १५०।।

उत्पन्नं दृश्यते यद्वै ज्ञानं तन्मोक्षसाधनम्।
साक्षाद्विशेषदृष्टिस्तु साक्षात्कारिणिविभ्रमे।। १५१।।

कारणं नान्यथयुक्त्या सत्यं सत्यं मयोदितम्।
साक्षात्कारि भ्रमो साक्षात् साक्षात्कारिणि नाशयेत्।। १५२।।

सोहि नास्तीति संसारे भ्रमो नैव निर्वतते।
मिथ्या ज्ञानि वृत्तिस्तु विशेष दर्शनोद्भवेत्।। १५३।।

अन्यथा च निवृत्तिस्याद् दृश्यते रजत भ्रमः।
यावन्नउत्पद्यते ज्ञानं साक्षात्कारे निरंजने।। १५४।।

तावत् सर्वाणि भूतानि दृश्यन्ते विविधानि च।
यदा कर्मार्जितो देहो निर्वाण साधनां भवेत्।। १५५।।

तदा शरीरवहनं सुफलं स्यान्नचान्यथा।
यादृशी वासनामाला वर्तते जीवसंगिनी।। १५६।।

यादृशं चरते जन्तु कृत्याकृत्य विधौभ्रमम्।
संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेदयोगसाधकः।। १५७।।

कृत्वा वर्णाश्रमं कर्म फलवर्जनमाचरेत्।
विषयासक्त पुरुषाः विषयेषु सुखेप्सिवः।। १५८।।

बचोभिः रुद्धानिर्वाणाः वर्तन्ते पापकर्मणि।
आत्मानमात्माना पश्यन्न किञ्चिदिह पश्यति।। १५९।।

तदा कर्म परित्यागे न दोषोऽस्ति मतं मम।
कामादेव विलीयन्ते ज्ञानादेव न चान्यथा।। १६०।।

अभावे सर्वतत्वानां समं तत्वंप्रकाशते।
हृद्यस्ति पंकज दिव्यं दिव्यलिंगेन भूषितं।। १६१।।

कादिगंताक्षरोपेतं द्वादशारं सुशोभितं।
प्राणो वसतितत्रैव वासनाभिरलंकृतः।। १६२।।

अनादि कर्म संश्लिष्टः प्रोक्तोऽहंकार संयुतः।
प्राणस्य वृत्तिभेदेन, नामानि विविधानि च।। १६३।।

वर्तन्ते तानि सर्वाणि,वक्तुं शक्यन्ते न च।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानो व्यानश्च पंचमः।। १६४।।

नागः कूर्मश्च कृकलो देवदत्तो धनंजयः।
दशनामानि मुख्यानि मयोक्तानीह शास्त्रके।। १६५।।

कुर्वन्ति तेऽत्र कार्याणि प्रेरिताश्चैव कर्मभिः।
अत्रापि वायवः पंचमुख्यास्तु दशतः पुनः।। १६६।।

तत्रापिं श्रेष्ठकर्त्तारौ प्राणापानमयोदितौ।
हृदय प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमंडले।। १६७।।

उदानः कण्ठदेशे स्याद्व्यनः सर्वशरीरजः।
नागादि वायवः पञ्चकुर्वन्त्यत्र हि विग्रहे।। १६८।।

उग्द्वारोन्मीलं क्षुद्वै जृम्महिक्का पंचकम्।
अनेनविधिना यो वै ब्रह्माण्डं वेत्ति विग्रहम्।। १६६।।

सर्व पविनिर्मुक्त सर्वो यपाति परां गतिम्।
अधुना कथयिष्यामि क्षिप्रं योगस्य सिद्धये।। १७०।।

यज्ज्ञात्वा नावसीदन्ति योगिनो योगसाधने।
भवेद्वीर्यवती विद्या गुरुवक्त्र समुद्रवा ।। १७१।।

अन्यथा फलहीना स्यात् निर्वीर्याप्यति दुःखदा।। १७२।।

गुरु संतो ययत्नेन यो वै विद्यां उपासते।
अविलम्वे विद्यायः तस्याः फलमवाप्नुयात्।। १७३।।

गुरुर्पिता गुर्रुमातागुरुर्देवो न संशयः।
कर्मणा मनसा वाचा तस्माच्छिष्यै प्रसेव्यते।। १७४।।

गुरूप्रसादतः सर्वं लभ्यते शुभमात्मना।
तस्मात्सेको गुरुनित्यमन्यथा न शुभं भवेत्।। १७५।।

प्रदक्षिणा त्रयं कृत्वा स्पृष्ट्वा सव्येन पाणिना।
अष्टांगेन नमस्कुर्याद्गुरू पादसरोरूहम्।। १७६।।

श्रद्धायत्नवतीं पुसां सिद्धि भवति निश्चिता।
अन्येषाञ्च न सिद्धि स्यात् तस्माद्यत्नेन साधयेत्।। १७७।।

न भवेत् संघ युक्ताना तथा विश्वासिनांमपि।
गुरु पूजाविहीनानां तथा च बहुसंगिनाम्।। १७८।।

मिथ्यावादरतानाश्च तथा निष्ठुरभाषिणाम्।
गुरु संतोषहीना ना न सिद्धिः स्यात् कदाचन।। १७६।।

फलिष्यतीति विश्वासः सिद्धेः प्रथमलक्षणम्।
द्वितीयं श्रद्धया युक्तं तृतीयं गुरुपूजनम्।। १८०।।

चतुर्थं समताभावः पञ्चमेन्द्रियनिग्रहः।

षष्ठं च प्रमिताहारः सप्तमं नैव विद्यते।। १८१।।

योगादेशमिमं प्राप्य लब्ध्वा योगविदं गुरुम्।
गुरुपदिण्ट विधिना धिया निश्चित्य साधयेत्।। १८२।।

सुशोभनो भवेद्योगी पद्मासन समन्विता।
आसनोपरि संविश्य पवनाभ्यासमाचरेत्।। १८३।।

समकायः प्राञ्जलिश्च प्रणाल्य च गुरुन् सुधीः।
दक्षे वामे च विघ्नेशं क्षेत्रपालम्बिकां पुनः।। १८४।।

ततः स्वदक्षांगुष्ठेन निरुध्य पिंगलां सुधीः।
इडया पूरायेद्वायु यथा शक्या तु कुंभयेत्।। १८५।।

ततः त्यक्त्वा पिंगलया शनैरेव न वेगतः।
पुनः पिङ्गलया पूर्वं यथाशक्त्यां च कुंभयेत्।। १८६।।

इड्या रेचयेद्धीमान्न वेगेन शनैः शनै।
एवं योग विधानेन कुर्याद्विंशति कुंभकान्।। १८७।।

सर्वद्वन्दविनिर्मुक्तः माहवै विगतालसः।
प्रातःकालं च मध्याहे सूर्यास्तेचार्धरात्रिके।। १८८।।

कुर्यादिवं चर्तुवारं काले श्वेतेषु कुंभकान्।
इत्थं नासत्रयं कुर्यादिनस्यो दिने दिने।। १८६।।

ततो रवै नाड़ि शुद्धिस्यादविलम्बेन निश्चितम्।
यदा तु नाड़ि शुद्धिरयाद्योगिनस्तत्वदर्शिनः।। १६०।।

तदा विध्वस्तपापस्य भवेदारम्भ संभवः।
चिन्हानि योगिनो देहे दृश्यन्ते नाड़िशुद्धितः।। १६१।।

कथ्यन्ते तु समन्तात्तान्यङ्गे संक्षेपतोमया।
समकायः सुगन्धि श्च सुकान्ति सुरसाधकः।। १६२।।

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयस्तथा।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु योगावस्थाः भवन्ति ताः।। १६३।।

आरम्भ कथितोऽस्माभिरधुना वायुसिद्धये।

अपरः कथ्यते पश्चात् सर्वदुःखौधनाशकः ।। १६४ ।।

प्रौढवन्हि सुभोजिश्च सुखी सर्वाङ्ग सुन्दरः ।
सम्पूर्णाहृदयः योगी सर्वोत्साह बलान्वितः ।। १६५ ।।

जायन्ते योगिनो वश्यमेते सर्वे कलेवरे ।
अथ वर्ज्यं प्रवक्ष्यामि योगविध्नकरं परम् ।। १६६ ।।

येन संसार दुःखाधिं तीर्त्वा यास्यन्ति योगिनः ।
अम्ल रूक्ष तथा तीक्ष्णां लवणां सर्षपं कटु ।। १६७ ।।

वहुश्च भ्रमणं प्रातःस्नानं तैल विदाहकं ।
स्तेयश्च परद्वेषश्च अहंकारमनार्जवम् ।। १६८ ।।

उपवासमसत्यञ्च मेचकम् प्राणिपीडनम् ।
स्त्री सङ्गाग्नि सेवाश्चवह्गालापं प्रियाप्रियम् ।। १६६ ।।

अतीवभोजनं योगीत्यजेदेत्तानि लक्षणम् ।
उपायाञ्च प्रवक्ष्यामि क्षिप्रं योगस्यसिद्धये ।। २०० ।।

गोपनीयं सुसिद्धानां येनसिद्धर्भवेत्खलु ।
क्षीरं घृतंञ्च मिष्ठान्नं ताम्बूल चूर्णवर्जितम् ।। २०१ ।।

कर्पूरं विष्ठरं मिष्टं सुभवं सूक्ष्मवस्मकम् ।
सिद्धान्त श्रवणं नित्यं वैरोग्य गृह सेवते ।। २०२ ।।

नाम संकीर्तनं विष्णोः सुनादश्रवणं परम् ।
धृति क्षमा तपश्शौचं ह्रीमति गुरुसवनम् ।। २०३ ।।

सदेतानि परं योगी नियमानि समाचरेत् ।
अनिलेऽर्क प्रविष्टे च भोक्तव्यं योगिभिः सदा ।। २०४ ।।

वामौ प्रविष्टे शशिनि शयनं साधकोत्तमैः ।
सद्यो भुङक्तेऽपि सुधि ते नाभ्यासः क्रियते बुधैः ।। २०५ ।।

अभ्यासकाले प्रथमं धृतंक्षीराज्यभोजनम् ।
ततोऽभ्यासे स्थिरीभूते न तादृक् नियमग्रहः ।। २०६ ।।

अभ्यासिना च भोक्तव्यं स्तोकं स्तोकं अनेकधा ।

पूर्वोक्त कालेषु कुर्यात् कुम्भकान् प्रतिवासरम् ।। २०७ ।।

ततो यथेष्ठ शक्तिः स्याधोगिनोवायु धारिणे ।
यथेष्ठ धारणाद्वायोः कुम्भकः सिध्यतिध्रुवम् ।। २०८ ।।

केवले कुम्भके सिद्धे किं न स्यादिह योगिनः ।
स्वेदः संजायते देहे योगिनः प्रथममेदिने ।। २०९ ।।

यथा संजायते स्वेदो मर्दनं कारयेत् सुधी ।
अन्यथा विग्रहं धार्तुनष्टो भवति योगिनः ।। २१० ।।

भवति द्वितीय कंपाधतुरोमधामे मतः ।
ततोऽधिकाराभ्यासाद्गगने साधिकाधिका ।। २११ ।।

योगी पद्मासनस्थोऽपि भुवमुसृज्य वर्तते ।
वायु सिद्धिस्तदाज्ञेया संसारध्वांत नाशिनी ।।

तावत्कालं प्रकुर्वीत योगोक्तनियमं ग्रहम् ।
अल्पनिद्रा पुरीषं च स्तोकं मूत्र च जायते ।। २१२ ।।

आरोगिद्यमदीनत्वं योगिनस्तत्वदर्शिभिः ।
स्वेदोलाला कृमिश्चैव सर्वथैव न जायते ।। २१३ ।।

कफपित्तानिलाश्चैव साधकस्यकलेवरे ।
तस्मिन् काले साधकस्य भोज्येषु नियम ग्रहः ।। २१४ ।।

अत्यल्पं बहुवा भुक्तो योगी न व्यथते हि सः ।
अद्याभ्यास वशाद्योगी भूचरी सिद्धिमाप्नुयात् ।। २१५ ।।

येनदुर्घर्ष जन्तूनां मृतिस्याद्वान ताडनात् ।
सत्यत्र बहवो विघ्नेः दारूणाः दुर्निवारणा ।। २१६ ।।

तथापि साधयेत् योगी प्राणैः कण्ठगतैरपि ।
ततोरहस्थुपाविष्ठः साधकः संजितेन्द्रिय ।। २१७ ।।

प्रणवं प्रजपेत् दीर्घं विघ्नानां नाशहेतवे ।
पूर्वार्जितानि कर्माणि प्राणायामेन निश्चितम् ।। २१८ ।।

नाशयेत् साधको धीमन्तिहलोके भवानि च ।

पूर्वार्जितानि पापानि पुण्यानि विविधानि च।। २१६।।

नाशयेत् षोडशप्राणायामेन योगिपुंगवः
ायातूयाचलानाहो प्रदहेत्प्रलयाग्निना।। २२०।।

ततः पापविर्निमुक्तो योगी पुष्णयानि नाशयेत्।
प्राणायामेन योगीन्द्रो लब्धैश्वर्याष्टकानि वै।। २२१।।

पाप पुण्योदधिं तीर्त्वा त्रैलोक्येसेश्वरतामि याति।
ततोऽभ्यास क्रमेणैव धटादि त्रितयं भवेत्।। २२२।।

येनस्यात् सकला सिद्धिर्योगिनः स्वेक्षिता ध्रुवम्।
वाक्सिद्धिः कामचरितं दूरदृष्टि तथैव च।। २२३।।

दूरश्रुति सूक्ष्मदृष्टिः परकायप्रर्वेशनम्।
विष्ठा मूत्रलेपेन स्वर्णामदृश्यं करणं तथा।। २२४।।

भवन्त्येतानि महतां खे चरत्वं च योगिनां।
यदा भवेत् घटावस्था पवनाभ्यासिनः परा।। २२५।।

तदा संसारचक्रेऽस्मिनृतत्रास्ति यन्नासाध्येत्।
प्राणापान नादविन्दुं जीवात्मपरमात्मना।। २२६।।

मिलित्वा घटते यस्मात् तस्माद्वैघट उच्यते।
पानमासं सद्यधर्तुम् समर्थःस्याद् अतन्द्रितः।। २२७।।

प्रत्याहारतदैव स्यात् नान्तरा भवति ध्रुवम्।
यं यं जानति योगिन्द्रः तमतमात्मेति भावयेत्।। २२८।।

यरिन्द्रियैः विधानज्ञस्ततदिंन्द्रिय जयो भवेत्।
याम मात्रं यदा पूर्णं भवेदभ्यास योगतः।। २२९।।

एक बारं प्रकुर्वीत यदा योगि च कुंभकम्।
दंडाष्टकं यदा वायुः निश्चलो योगिनो भवेत्।। २३०।।

स्वसामर्थ्यतदांगुष्ठे निष्ठेत् वा तूलवत् सुधी।
ततः परिचयावस्था योगिनोभ्यासतो भवेत्।। २३१।।

यो वै वायुश्चन्द्रसूर्यम् त्यक्त्वातिष्ठन्ति निश्चलः।

वायोः परिचितो वायुः सुपुम्नाव्योम्नि संचरेत् ।। २३२ ।।

क्रिया शक्तिं गृहीत्वैव चक्रान् भित्वा च निश्चितम् ।
यदा परिचयावस्था भवेदभ्यास योगतः ।। २३३ ।।

त्रिकूट कर्मणांयोगी तदापश्यति निश्चितम् ।
ततश्च कर्मकूटानि प्रणावेन विनाशयेत् ।। २३४ ।।

स योगी कर्म भोगाय कायव्यूह ममाचर्रत् ।
अस्मिन् काले महायोगी पंचधा धारणाचरेत् ।। २३५ ।।

येन भूतादिसिद्धिः स्यात्तद्भुतभयापहा ।
आधारे घटिकापंच नाभि हृन्मस्तके तथा ।। २३६ ।।

तदूर्ध्व घटिकापंच नाभि हृन्मस्तके तथा ।
भ्रूमध्योर्ध्वे तथा पंचघटिका धारयेत्सुधी ।। २३७ ।।

तथा भूतादिना नष्टोयोगीन्द्रो न भवेत्खलु ।
मेधावी पंच्भूतानां धारणाम् यःसमभ्यसेत ।। २३८ ।।

शतब्रह्ममृतेनापि मृत्युःतस्य न विद्यते ।
ततोऽभ्यासक्रमेणैव निष्पत्ति र्योगिनो भवेत् ।। २३६ ।।

अनादि कर्मबीजानि येन तीर्त्वाऽमृतं पिबेत् ।
यदा निष्पत्ति र्भवति समाधिस्थेन कर्मणा ।। २४० ।।

जीवन्मुक्तस्य शान्तस्य भवेत् धीरस्य योगिनः ।
यदानिष्पत्ति सम्पन्नः समाधिः स्वेच्छया भवेत् ।। २४१ ।।

गृहीत्वा चेतनावायुः क्रियाशक्तिश्च वेगवान् ।
सर्वान् चक्रान् विजित्याशु ज्ञानशक्तौ विलीयते ।। २४२ ।।

इदानीं क्लेशहान्यर्थं वक्तव्यं वायुसाधनम् ।
येनसंसार चक्रेऽस्मिन् रोगहानिर्भवेदध्रुवम ।। २४३ ।।

रसनां तालु मूले यः स्थापयित्वा विपश्चितः ।
पिवेत् प्राणानिलं रोगाणां संक्षयो भवेत् ।। २४४ ।।

काकजिह्वाः पिबेत वायु शीतलं यो विचक्षणाः ।

प्राणापान विधानज्ञः स भवेत् मुक्ति भाजनम् ।। २४५ ।।

सरसं यः पिवेद्वायुं प्रत्यहं विधिना सुधी ।
नश्यन्ति योगि तस्य श्रमदाहज्वरामयाः ।। २४६ ।।

रसना ऊर्ध्वगाकृत्वा यश्चन्द्र सलिलं पिबेत् ।
मासमात्रेण योगीन्द्रो मृत्युञ्जयति निश्चितम् ।। २४७ ।।

राजदन्तविलं गाढं सम्पीड्य विधिनापिबेत् ।
ध्यात्वा कुण्डलिनीं देवीं षण्मासेन कविर्भवेत ।। २४८ ।।

काकचञ्चा पिबेत् वायुं संधयोरूभयोरपि ।
कुण्डलिन्या मुखं ध्यात्वा क्षयरोगस्य शान्तये ।। २४६ ।।

अहर्निशं पिबेद्योगी काकचञ्चा विपश्चितः ।
दूरश्रुति दूरदृष्टिः यथास्यादशनं खलु ।। २५० ।।

दन्तैर्दन्तान् समापीड्य पिबेद्वायु शनैश्शनैः ।
ऊर्ध्वजिहः समेधावी मृत्युज्जयतिसोऽचिरात् ।। २५१ ।।

षण्मासमात्रमभ्यास यः करोति दिने दिने ।
सर्वपापविनिर्मुक्तो रोगान् त्रसयते हि सः ।। २५२ ।।

संवत्सरं कृताभ्यसाद् भैरवो भवति ध्रुवम् ।
अणिमादि गुणान् लब्ध्वा जितभूतगणा स्वयमम् ।। २५३ ।।

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धं यदि तिष्ठति ।
क्षेणेन मुच्यते योगी व्याधि मृत्यु जरादिभिः ।। २५४ ।।

रसनां प्राणासंयुक्ता पीड्ययमानां विचिन्तयेत् ।
न तस्य तायते मृत्यु सत्यं सत्यं मयोदितम् ।। २५५ ।।

एवमभ्यासयोगेन कामदेव द्वितीयकः ।
न क्षुधा न तृषा निन्द्रा नैव मूर्च्छा प्रजायते ।। २५६ ।।

अनेनैव विधानेन योगीन्द्रोऽवनि मण्डले ।
भवेत्स्वछन्दचारी च सर्वापत्परिवर्जितः ।। २५७ ।।

न तस्य पुनरावृत्तिः मोदते स सुरैरपि ।

पुण्य पापेन लिप्येत् ह्येतदाचरणेन सः ।। २५८ ।।
चतुराशीत्यासनानि सन्ति नानाविधानि च ।
तेभ्यश्चतुराण्यादाय मयोक्तनि ब्रवीम्यहम् ।। २५६ ।।

योनी संपीड्य यत्नेन पादमूलेन साधकः ।
मेढ्रोपरिपाद मूलं विन्यसे द्यगवित् सदा ।। २६० ।।

दृष्ट्वा निरीक्ष्य भ्रूमध्यं निश्चलं सञ्जितेन्द्रियः ।
विशेद्वक्रकायश्च रहस्युद्वेग वर्जितः ।। २६१ ।।

एतत् सिद्धासनं ज्ञेयं सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
एनाभासवशात् शीघ्रं योगी निष्पति मापुयात् ।। २६२ ।।

सिद्धासनं सदा सेव्यं पवनाभ्यासिना परम् ।
येन संसारमुत्सृज्य लभते परमां गतिम् ।। २६३ ।।

नान्तः परतरं गुह्यमासनम् विद्यते भुवि ।
येनानुध्यानः मात्रेणयोगी पापाद्विमुच्यते ।। २६४ ।।

उत्तानौचरणौ कृत्वा उरु संस्थौ प्रयत्नतः ।
उरू मध्ये तथोत्तानौ पाणीकृत्वा ततो दशौ ।। २६५ ।।

नासाग्रे विन्यसेत् राजदंतमूलं च जिहूया ।
उन्नम्य चिबुकं वक्षे संस्थाप्य पवनं शनैः ।। २६६ ।।

यथाशक्त्या समाकृष्यापूरयेदुदरं शनैः ।
यथाशक्येव पश्चात्तु रेचयेदतिरोधतः ।। २६७ ।।

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधि विनाशनं ।
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते परम् ।। २६८ ।।

अनुष्ठाने कृते प्राणो समश्चलतितत्क्षणात् ।
भवेदभ्यासेन सम्यक् साधकस्य न संशयः ।। २६९ ।।

पद्मासनं स्थितोयोगी प्राणापो विधानतः ।
पूरयेत्स विमुक्तः स्यात् सत्यं सत्यं सत्यं वदाम्यहम् ।। २७० ।।

प्रसार्य चरणाद्वतं परस्परसंयुतम् ।

स्वप्राणिभ्यां दृढ़ धृत्वा जानूपरि शिरोन्यसेत् ।। २७१ ।।
आसनाग्रमिदं प्रोक्तं जठरानलदीपनं ।
देहावसाद हरणं पश्चिमोत्तान संज्ञकम् ।। २७२ ।।

य एतदासनं श्रेष्ठं प्रत्यहं साधयेत्सुधी ।
वायु पश्चिम मार्गेण तस्य सञ्चरति ध्रुवम् ।। २७३ ।।

एतदभ्यासशीलानां सर्वसिद्धिः प्रजायते ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन साधयेत् सिद्धसाधकः ।। २७४ ।।

गोपीनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित् ।
येन शीघ्रं मरूत्सिद्धिर्भवेद्दुःखौधनाशिनी ।। २७५ ।।

जानूवन्तरे सम्यक् कृत्वा पदतले उभे ।
समकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रवक्षते ।। २७६ ।।

अनेन विधिनायोगी मारुतं साधयेत्सुधी ।
देहे न क्रमते व्याधिः तस्य वायुश्च सिध्यति ।। २७७ ।।

सुखासनमिदं प्रोक्तं सर्वदुःख प्रणाशनम् ।
स्वस्तिकं योगिभिः गोप्ये स्वस्थीकरणमुत्तमम् ।। २७८ ।।

आदौ पूरक योगेन स्वाधारेपूरयेन्मनः ।
गुदमेढ्रान्तरे योनि तामाकुंञ्च्य प्रवर्त्तयेत् ।। २७९ ।।

ब्रह्मयोनिगतं ध्यात्वा कामकंटसन्निभम् ।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीलतम् ।। २८० ।।

तस्योर्ध्वेतु शिखा सूक्ष्मा चिद्रूपा परमा कला ।
तथापिहितमात्मानमेकीभूतं विचिन्तयेत् ।। २८१ ।।

गच्छति ब्रह्ममार्गेण लिङ्गत्रयक्रमेण वै ।
सूर्यकोटि प्रतीकाशं चन्द्रकोटि सुशीलतम् ।। २८२ ।।

अमृतं तद्विसर्गस्थं परमानन्द लक्षणम् ।
श्वेतरक्त सुतेजाड्यं धारायातैः प्रवर्विणम् ।। २८३ ।।

पीताकुलामृतं दिव्यं पुनरेव विशेत्कुल ।

पुनरेवाकुलं गच्छेन्मात्रा योगेन नान्यथा ।। २८४ ।।

सत्यप्राणसमाख्याता ह्यस्मिन्तन्त्रे मयोदितम् ।
पुनः प्रलीयते तस्यां कालाग्न्यदि शिवान्तकम् ।। २८५ ।।

योनि मुद्रा पराह्येषा बन्धस्तस्याः प्रकीर्तितः ।
तस्यास्तु वंधमात्रेण तत्रास्ति यत्र साधयेत् ।। २८६ ।।

छिन्नरूपास्तु ये मन्त्रा कीलिता स्तम्भिताश्च ये ।
दग्ध मंत्रा शिखाहीना मलिनास्तु तिरस्कृता ।। २८७ ।।

मेदिता भ्रमसंयुक्ताः सप्ताहं मूर्च्छिताश्च ये ।
मंदाबाला तथा वृद्धाः प्रौढ़ा यौवनगर्विता ।। २८८ ।।

अरिपक्षेस्थिता ये च तिवीर्या सत्वसवर्जिताः ।
तथा सत्वेहीना ये खंडिताः शतधा कृताः ।। २८९ ।।

यद्यदुच्चरते योगी मन्त्ररूपम् शुभाशुभम् ।
तत्तत्सिद्धिभिवाप्नोति योनिमुद्रा निवन्धनात् ।। २९० ।।

विधानेन च संयुक्ताः प्रभवन्ति चिरेण तु ।
सिद्धि मोक्षप्रदाः सर्वेगुणाऽप्ति विनियोजिताः ।। २९१ ।।

दीक्षयित्वा विधानेन अभिसिञ्चा सहस्त्रधा ।
ततो मन्त्राधिकारार्थमेषा मुद्रा प्रकीर्त्तिता ।। २९२ ।।

ब्रह्महत्या सहस्त्राणि त्रैलोक्यमभिधातयेत् ।
नासौ लिप्यति पापेन योनिमुद्रा निबन्धनात् ।। २९३ ।।

गुरुहा च सुरापी च स्तेपि च गुरुतल्पगः ।
एतैयायैर्न वध्यन्ते योनिमुद्रा निबन्धनात् ।। २९४ ।।

तस्मादभ्यासंनित्यं कर्त्तव्यं मोक्षकांक्षिभिः ।
अभ्यासाज्जायते सिद्धिः अभ्यासान्मोक्षमाप्नुयात् ।। २९५ ।।

संवित्तम् लभतेऽभ्यासात्योगोऽभ्यासात्प्रर्वर्त्तते ।
मंत्राणां सिद्धिरभ्यासादभ्यासाद्वायु साधनः ।। २९६ ।।

कालवंचनमभ्यासायथा मृत्युञ्जो भवेत् ।

वाक्सिद्धिः कामचारित्वं भवेदभ्यासयोगतः ।। २६७ ।।

योनिमुद्रा परं गोप्या न देया यस्य कस्यचित् ।
सर्वथा नैव दातव्य प्राणौः कण्ठगतैरपि ।। २६८ ।।

अधुनाकथयिष्यामि योगं सिद्धिकरं परम् ।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परम दुर्लभम् ।। २६६ ।।

सुप्ता गुरु प्रसादेत यदा जागर्ति कुण्डली ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधसा महेश्वरी ।। ३०० ।।

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधसा महेश्वरी ।
ब्रह्मरंध्र मुखे सुप्ता मुद्राभ्यासं समाचारेत् ।। ३०१ ।।

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीत कृतिस्तथा ।। ३०२ ।।

उड्डयानश्चैव वज्रोलीं दशमं शक्तिचालनम् ।
इदम् हि मुद्रा दशकं मुद्राणा मुत्तमोत्तमम् ।। ३०३ ।।

महामुद्रा प्रवक्ष्यामि तत्रेऽस्मिन् मम बल्लमां ।
यां प्राप्य सिद्धि क़पिलाद्याा पुरागताः ।। ३०४ ।।

अपसव्येन सम्पीड्य पादमूलेन सादरम् ।
गुरुपदेशतो योनिं गुदमेढ्रातंरालयाम् ।। ३०५ ।।

सव्यं प्रसारितं पादं धृत्वा पाणि युगेन वै ।
नवद्वाराणि संयम्य चिबुकं हृदयोपरि ।। ३०६ ।।

चिंत्त पयेद्दच्वा  प्रारभेद्वायुधारणम् ।
महामुद्रा भवेदेषा सर्वतंत्रेषु गोपिता ।। ३०७ ।।

वामागेन समभ्यस्य दशाङ्गेनाभ्यसेत्पुनः ।
प्राणायामं समं कृत्वा योगी नियत मानसः ।। ३०८ ।।

मुद्रामेतां तु संप्राप्य गुरुवक्त्रात्सुशोभितम् ।
अनेन विधिना योगी मदभाग्योऽपिसिध्यति ।। ३०६ ।।

..................नाडीनाञ्चालनं बिन्दुधारणं ।

जारणं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम् ।। ३१० ।।

कुण्डली तापनं वायोः ब्रह्मरन्ध्रे प्रसेवनम् ।
सर्वरोग प्रशमनं जठराग्नि विवर्धनम् ।। ३११ ।।

वपुषः कान्तिममलां जरामृत्युविनाशिनम् ।
वाञ्छितार्थ फलं सौख्यमिन्द्रियाणांञ्चमारणाम् ।। ३१२ ।।

एतदुक्तानि सर्वाणि योगारूढस्य योगिनः ।
भवेदभ्यासतो वश्ये नात्रकार्या विचारणा ।। ३१३ ।।

गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिता ।
यां च प्राप्य भवाम्भोधेः यानमिच्छन्ति योगिनः ।। ३१४ ।।

गुप्ताचार प्रकर्त्तव्यो न देया यस्यकस्यचित् ।
तस्या प्रसारितः पादो विन्यस्यतदुपरि ।। ३१५ ।।

गुदयोनी समाकुञ्च्य कृत्वा पावकमूर्ध्वकम् ।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम् ।। ३१६ ।।

कथितोऽयम् महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः ।
नाडिजालादसव्यूहं मूर्ध्वं नयन्ति योगिनः ।। ३१७ ।।

उभाम्यां साधयेत्पद्भ्यां एकैकं सुप्रयत्नतः ।
भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्ना मध्यसंगता ।। ३१८ ।।

अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थि पंजरः ।
सम्पूर्ण हृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः ।। ३१९ ।।

बन्धेनानेन योगीन्द्रस्साधयेत्सर्वमीप्सितम् ।
अपान प्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेष्वपि ।। ३२० ।।

महावेधस्थितो योगी कुक्षमापूर्य वायुना ।
स्फीतौसंताडऽयेद्धिमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया ।। ३२१ ।।

वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुगवः ।
ग्रंथीन् सुषुम्नामार्गेण ब्रह्मरंध्रं भिनन्त्यसौ ।। ३२२ ।।

यः करोति सदाभ्यास महावेधं सुगोपितम् ।

वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरण नाशिनीम्।।
चक्रमध्ये स्थितिः देवाः कम्पन्ते वायुताड़नात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते।। ३२३।।

महामुद्रा महाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ।
तस्माद्योगी प्रयत्नेन करोति त्रितयं क्रमात्।। ३२४।।

एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वा करोति यः।
षण्मासाभ्यन्तरे मृत्युञ्जयत्येव न संशयः।। ३२५।।

एतत् त्रयस्य माहत्म्यं सिद्धो जानाति नेतरः।
यज्ज्ञात्वा साधकास्सर्वे सिद्धिं सम्यक् लभन्ति च।। ३२६।।

गोपनीयं प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अनाभ्यासान्न सिद्धिं स्यात् मुद्राणामेष निश्चयः।। ३२७।।

भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढं सुधी।
उपविश्यासने तेन नानोपद्रव वर्जितं।। ३२८।।

लम्बिकोर्ध्वे स्थिते गर्त्ते रसनां विपरीतगां।
संयोजयोत् प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।। ३२९।।

मुद्रैषा खेचरी प्रोक्त भक्तानाम पुरोधतः।
सिद्धिनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकाधिका।। ३३०।।

निरन्तरं कृताभ्यासात् पीयूषं प्रत्यहं पिवेत्।
ते न विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेशरी। ३३१।।

अपवित्रः पवित्रो वा सेर्वावस्थां गतोऽपिवा।
खेचरीयस्य सिद्धातु।
क्षणार्धं कुरूते यस्तुतीर्त्वा पापमहार्णवम्।
दिवा भोगान् प्रभुक्त्वैव सत्कुलेऽयं प्रजायते।। ३३२।।

मुद्रैषा खेचरी यस्तु सुस्थितोऽस्यामतंद्रिता।
शतब्रह्मा गतेवापि क्षणार्धं मन्यतेऽपि सः।। ३३३।।

गुरुपदेशतो मुद्रां यो वेन्ति खेचरीमिमां।

नाना पापरतो धीमान् सः याति परमां गतिम् ।। ३३४ ।।

स्वप्राणैः सदृशो यस्तु तस्मादपि न दीयते ।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेय सुरपूजिता ।। ३३५ ।।

वध्वा गले स्थिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत् ।
वन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभम् ।। ३३६ ।।

नाभिस्थो वह्नि धातूनां सहस्त्र कमलच्युतम् ।
पिवेत् पीयूषं विरसं तदर्थ बन्धयेदिदम् ।। ३३७ ।।

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिवति बुद्धिमान् ।
असुरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये ।।

जालन्धरो वंध एष सिद्धानां सिद्धिदायकः ।
अभ्यासात् क्रियते सिद्धं योगिनः सिद्धिमिच्छताम् ।। ३३८ ।।

पादमूलेन संपीडय गुदमार्ग सुमंत्रितः ।
बलादपानमाकृष्ट्य क्रमाद्बन्धं समाचरेत् ।। ३३६ ।।

कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरण नाशनः ।
अपान प्राणयोरैक्यं यः करोत्यधिकंपितम् ।। ३४० ।।

बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिध्यति ।
सिद्धानां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले ।। ३४१ ।।

वन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानलः ।
पद्मासन स्थितो योगी भुवमुयसृज्य वर्तते ।। ३४२ ।।

सुसुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत् ।
संसार सागरं तर्तुं यदिच्छेद्योगिपुंगवः ।। ३४३ ।।

भूतले स्वशिरो दत्वा खेनयेच्चरण द्वयम् ।
विपरीत कृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेपु गोपिता ।। ३४४ ।।

एनां या कुरुते नित्यंमभ्याद्यामनात्रकम् ।
मृत्युञ्जयति सः योगी प्रलयेनापिसीदति ।। ३४५ ।।

अमृतं कुरुते पानं सिद्धानां समताभियात् ।

संसेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः।। ३४६।।

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्यानो बंध एष स्यात् सर्वदुःखौघनाशनः।। ३४७।।

उदरं पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं तु कारयेत्।
•उड्यानोपमयं बन्धो मृत्युमातंग केशरी।। ३४८।।

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिस्साद्येन शुद्धो भवेन्मरुत्।। ३४६।।

षण्मासाभ्यासनद्योगी मृत्युञ्कजयति निश्चितम्।
तस्योदराग्नि र्ज्वनृति रस वृद्धिश्च जायते।। ३५०।।

अनेन सुत गं सिद्धि विग्रहस्य प्रजायते।
रोगाणाम् संक्षय श्चापि योगिनो भवति ध्रुवम्।। ३५१।।

गुरोर्लब्धातु यत्नेन साधयेत विचक्षणः।
निर्जने सुस्थितौ देशे बन्धं परमदुर्लभम्।। ३५२।।

वज्रोली कथयिष्यामि संसारध्वांतनाशिनीम्।
स्वभक्तेभ्यः षट्मासेन गुह्याद्गुहयत्तमामपि।। ३५३।।

स्वेच्छाया वर्तमानोऽपियोगोक्त नियमैर्बिना।
मुक्तो भवेत् गृहस्थोऽपि बज्रोल्याभ्यसयोगतः।। ३५४।।

बज्रोल्यासह योगोऽयम् भोगमुक्तेऽपि मुक्तिदः।
प्रस्मादति प्रयत्नेन कर्त्तव्यो योगिभिः सदा।। ३५५।।

अंगिरस भयो व्यायं यत्नेन विधिवत् सुधी।
आकुंचन लिंगनालेन स्वशरीरे प्रवेशयत्।। ३५६।।

स्वकं विन्दुं च संबोध्य लिंगवालानमाचरेत्।
दैवाच्चलति चेदूर्ध्वम् निरूद्धो योनिमुद्रया।। ३५७।।

वामभागेपितेच्छिद्रम् भृत्यालिंग निवारयेत्।
गुरुपदेशतो योगी हूं हूं कारेण योनितः।। ३५८।।

अपानवायु माकुचन बलावकर्षयेद्रजः।

अनेनविधिनायोगी शिप्रंयोगस्य सिद्धये।। ३५६।।

गव्य भुक् कुरुते योगी गुरुपादाब्ज पूजकः।
विन्दु रिन्दुभयोज्ञेयो रजः सूर्यमयं तथा।। ३६०।।

योगिनां साधनवतां भवेदिव्यं वपुस्तदा।
मरणां विन्दु पातेनजीवन विन्दु धारणे।। ३६१।।

उभयं मेलनं कार्य स्वशरीर प्रयलतः।। ३६२।।

अहं विन्दु रजो शक्तिरुभयोमेलनं यदा।
तस्मादति प्रयत्नेन कुरुते विन्दु धारणम्।। ३६३।।

जायते म्रियते लोको बिन्दुनानात्र संशयः।। ३६४।।

एतुदज्ञात्वासदायोगी विन्दुधारणमाचरेत्।
सिद्धे बिन्दौमहारत्ने कि न सिध्यति भूतले।। ३६५।।

यसा प्रसादान्महिमा ममाप्येतादृशो भवेत्।
बिन्दुः करोती सर्वेषाम् सुखमृदुःखम् च संस्थिति।। ३६६।।

संसारिणाम् विमूढ़ानाम् जन्मामरण शालिनाम्।
अयम् शुभकरोयोगो योगिनामतमुत्तमम्।। ३६७।।

अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति योगे भुक्तेऽपि मानवः।
सफलसाधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले।। ३६८।।

भुक्त्वा भोगानशेषान्तै योगेनानेन निश्चितम्।
अनेन सफला सिद्धिः योगिनां भवति ध्रुवम्।। ३६९।।

सुखभोगेन महतांतरगादेन समभ्यसेत्।
सहजोरूपमरोली च वज्रल्या भेदतो भवेत्।। ३७०।।

येस केन प्रकारेण विन्दुं योगिः प्रसाधयेत्।
देवाच्चलति चेद्वेगे मेलतं चन्द्रसूर्ययो।। ३७१।।

अमरोली ही यं प्रोक्तालिंगनालेन शोधयेत्।
गतम् विन्दुं स्वकम् योगिः बंधयेद्योनि मुद्रया।। ३७२।।

सहजोलीहीयं प्रोक्ता सर्वतंत्रेषु गोपिता।

संज्ञाभेदादभ्वेद्भेदः कार्ये तुल्या गतिर्यदि ।। ३७३ ।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन साध्यते योगिभिः सदा ।
अयं योगो माया प्रोक्तो भक्तानां स्नेहत परम् ।। ३७४ ।।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयो यस्यकस्यचित् ।
एतद्गुह्यतमं गुह्यं न भूतो न भविष्यति ।। ३७५ ।।

तस्मात् अति प्रयत्नेन गोपनीयं सदा बुधैः ।
स्वमूत्रौत्सर्ग काले या बलादाकृष्यवायुना ।। ३७६ ।।

स्तोकं स्तोकत्यजेत् मूत्रमाकृष्यतत्पुनः पुनः ।
गुरुपदेश मार्गेण प्रत्यहः यः समाचरेत् ।। ३७७ ।।

विन्दु सिद्धि भवेत्तस्य महासिद्धि प्रदायके ।
षण्मासमभ्यूसे ह्यवै प्रत्यहं गुरुशिक्षया ।। ३७८ ।।

शतांगनोपभोगेऽपि न विन्दु स्तस्य नश्यति ।
सिद्धे विन्दौ महारत्ने किं न सिध्यति भूतले ।। ३७९ ।।

ईशत्वं यत्प्रसादेन ममापि दुर्लभम् भवेत् ।। ३८० ।।

आधारे कमले सुप्तां चालयेत् कुंडलीमिमाम् ।
अपान वायुमारूध्य बलादाकृष्य बुद्धिमान् ।। ३८१ ।।

शक्ति चालनमेनं हि प्रत्यहं यः समाचरेत् ।
आयु वृद्धि भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम् ।। ३८२ ।।

विहाय निद्राम भुजंगी स्वयं उर्ध्वम् व्रजेत्खलु ।
तत्समादभ्यासनम् कानर्यम् योगिनां सिद्धिमिच्छिताम् ।। ३८३ ।।

यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम् ।
येनविग्रह सिद्धिः स्यादणिमादि गुणप्रदा ।। ३८४ ।।

गुरुपदेश विधिना तस्य मृत्यु भयं कुतः ।
मुहूर्तद्वय पर्यन्त विधिना शक्ति चालनम् ।। ३८५ ।।

यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिर्न दूरतः ।
मुक्तासनेन कर्त्तव्यम् योगिभिः शक्ति चालनम् ।। ३८६ ।।

एतत्तु मुद्रा दशकं न भूतम् न भविष्यति ।
ऐकैकाभ्यासने सिद्धो सिद्धि भवतिनान्यथा ।। ३८७ ।।

ब्रूहि में वाक्यमीशन परमार्थधिय प्रति ।
ये विघ्ना सन्ति लोकानां चेन्मयि प्रियशंकरः ।। ३८८ ।।

### ईश्वर उवाच

श्रुणुदेवि प्रवक्ष्यामि यथा विघ्नाः स्थिताः सदा ।
मुक्तिं प्रति नराणां च भोगः परमवंधकः ।। ३८९ ।।

नारीशय्यासनं वस्त्रं पानी वनमास्य विचुंबनम् ।
ताम्बूलम् भक्ष्य पानानि राज्य शौर्य विभूतयः ।। ३९० ।।

हेमरुप्यं तथा ताम्रं रत्नान्यगुरुधेनवम् ।
पांडित्यं वेदशास्त्राणि नृत्यं गीतम् विभूषणम् ।। ३९१ ।।

वंशी वीणामृदंगाश्च गजेन्द्रो चाश्ववाहनम् ।
दारापत्यानि विषयानि विघ्नामेते प्रकीतिता ।। ३९२ ।।

भोगरुपाश्चये विघ्ना उत्तम अथवा सहायकन्निमान् श्रुणु ।
स्थानम् पूजातिथिर्होमस्तथा सौख्यामयोदिता ।। ३९३ ।।

व्रतोपयास नियमामौनमिन्द्रिय निग्रहः ।
ध्येयो ध्यानं तथा मंत्रोदानं ख्यातिर्दिशासु च ।। ३९४ ।।

वापी कूप तडागादि प्रसादाराम कल्पका ।
यद्वा चान्द्रायणाम् कृच्छं तीर्थानि विषयानि च ।। ३९५ ।।

दृश्यते च इमा विघ्ना धर्मारुपेण संस्थिता ।
येन विघ्नं भवेद्रानम् कथयामि वरानने ।। ३९६ ।।

गोमुखाधासनं कृत्वा धौति प्रक्षालनं च यत् ।
नाडी संचार विज्ञान प्रत्याहार निरोधनम् ।। ३९७ ।।

कुक्षि संचालनम् क्षरीम् प्रवेश इन्द्रियध्वना ।
नाडिकर्माणि कस्यापि नियमान् श्रूयतां मम ।। ३९८ ।।

निबन्धातुरसं छिद्रं घटिकां ताडऽयेत्पुनः।
ऐषकाल समाधिः स्यात् सांगभूतमिदम् श्रुणु।। ३६६।।

संगमं गच्छ साधूनां संकोचं भजदुर्जनात्।
प्र.शेनिर्गमे वार्युगुरु लक्ष्यं विलोकयेत्।। ४००।।

पिण्डस्थम् रूपसंस्थम् च रूपस्थम् रूपवर्जितम्।
ब्राह्मे ऽमिन्नमृतावस्था हृदयं च प्रशाम्यति।। ४०१।।

इति एते प्रथिता विघ्ना ज्ञानरूपे व्यवस्थिता।
मंत्र भोगोहटश्चैव लय योगस्तृतीयकः।। ४०२।।

चतुर्थो राजयोगः स्यात् द्विधा भावविवर्जितः।
चतुर्धा साधको ज्ञेयो मृदु मध्याधिमात्रकः।। ४०३।।

अधिमात्रातमश्रेष्ठो भवाब्धौ लघिनक्षमः।
परोत्साहि सुसंमूढो व्याधिस्था गुरुदूषकः।। ४०६।।

लोभी पापमतिश्चैवं बहूशी वनिताश्रयः।
चपलः कातरो रोगी पराधनोति निष्ठुरः।। ४०७।।

मंदाचारो मंदवीर्योः ज्ञातव्यो मृदुमानवः।
द्वादशाव्दे भवेद्सिद्धि तस्य यततः परम्।। ४०८।।

मंत्रयोगेधिकारि सः ज्ञातको गुरुणा ध्रुवम्।
समबुद्धि क्षमायुक्तः पुष्याकांक्षि प्रियंवदः।। ४०६।।

मध्यस्थः सर्वकार्येषु सामान्य स्यान्नसंशयः।
एतज्ज्ञात्वैव गुरुभिः दीयते युक्तिोलयः।। ४१०।।

स्थिर बुद्धिर्लये युक्तः स्वाधीनो वीर्यवानपि।
शूरो वयस्थः श्रद्धावान् गुरुपादाब्जपूजकः।। ४११।।

एतस्मै दीयते धीरैर्हठयोगश्च साधकः।
महावीर्यचितोत्साही मनोज्ञः शौर्यवानपि।। ४१२।।

शास्त्रज्ञोऽभ्यासशीलश्च निर्भेदश्च निराकुलः।
नवयौवन सम्पन्नो मिताहारी जितेन्द्रियः।। ४१३।।

निर्भयाश्च शुचिर्दक्षो दाता सर्वजनाश्रयः
अविकारी स्थिरोधीमान् यथार्थेच्छा स्थितः क्षमी ।। ४१४ ।।

सुशीलो धर्मचारी च गुप्त चेष्टः प्रियंवदः ।
शास्त्र विश्वास सम्ल्पन्नों देवता गुरुपूजकः ।। ४१५ ।।

जनस्नां विरक्तश्च महाव्याधि विवर्जितः ।
अधिमात्रतरोज्ञश्च सर्वयोगस्य साधकः ।। ४१६ ।।

त्रिभिः संवत्सैरेः सिद्धिरेतस्य स्यान्नसंशयः ।
सर्वयोगधिकारी च नात्र कार्या विचारणा ।। ४१७ ।।

गाढ़ातपेस्वप्रतिबिम्बमीश्वरम् निरीक्ष्य निष्फालित लोचनद्वयम् ।
यदा नभे पश्यति स्व प्रतीकां नभागसोतत् क्षणमेव तम्पतिम् ।। ४१८ ।।

प्रतीकोपासना कार्या दृष्टादृष्टं फलप्रदा ।
पुनाति दर्शनामात्रेण नात्र कार्य विचारणाः ।। ४१९ ।।

प्रत्यह प्रक्षेते यो वै स्वप्रतीक नर्भागसो ।
आयुर्वृद्धि भवेत्तस्य मृत्युस्यान कदाचन ।। ४२० ।।

यदा पश्यति सम्पूर्णं स्वप्रतीक नभांगणे ।
तदा जप समायायति वायुं निर्जित तं चरेत् ।। ४२१ ।।

यः करोति सदाभ्यासं चात्मानं विंदते परम् ।
पूर्णानिंदेक पुरुषं स्वप्रतीकं प्रसादतः ।। ४२२ ।।

यात्राकाले विवाहे च शुभं कर्मणिसंकटे ।
पापक्षये पुण्यवृद्धौ प्रतीकोपासनं चरेत् ।। ४२३ ।।

निरन्तर कृताभ्यासादंतरे पश्यति ध्रुवम् ।
तदा भुक्ति मवाप्नोति योगी नियतमानसः ।। ४२४ ।।

अंगुष्ठाभ्यामुभे श्रोत्रे तर्जनीभ्याम् विलोचने ।
नासा रंध्रे च मध्याभ्यांभ्यामन्याम् वदनमृदृढम् ।। ४२५ ।।

निरुध्य मारुतं योगी यदेवम् कुरुते भृशम् ।
तदालक्षणमात्मानम् ज्योतिरूपम् प्रपश्यसि ।। ४२६ ।।

तत्रोजौ दृश्यते येन क्षणमात्रम् विनाविलम् ।
सर्व पापविर्निमुक्तः रत न्याति परमां गतिम् ।। ४२७ ।।

निरन्तर कृताभ्यासात्योगी विगत कंल्मषः ।
सर्वदेहादि विस्मृत्यतद्भिन्नस्तुस्वयं भवेत् ।। ४२८ ।।

यः करोति सदाभ्यासं गुप्ताचारेण मानवः ।
स वै ब्रह्मणिलिनः स्यात् पापकर्म रतोयदि ।। ४२९ ।।

गोपनीयः प्रयत्नेन सदाः प्रत्यय कारकः ।
निर्वाणदायको लोके योगोऽयम् ममबल्लभः ।। ४३० ।।

नादः संजापते तस्य क्रमेणाभ्यासतश्चवै ।
मंत्र भृंगावली वीणाः सदृशा प्रथमः ध्वनिः ।। ४३१ ।।

घंटारव सम पश्चात् ध्वनि मे घर्रवोपमः ।
एवमभ्यासनः पश्चात् संसारध्वान्तनाशनः ।। ४३२ ।।

ध्वनीतस्मिन् मनो दत्वायदा तिष्ठति निर्भरम् ।
तत्र नादे यदा चित्तं रमते योगिनो भ्रशम् ।। ४३३ ।।

तत्र नादे यदा चित्तं रमने योगिनो भ्रशम् ।
विस्मृतं सकलं वाह्यं नादेन सह शाम्यति ।। ४३४ ।।

एतदभ्यास योगेन जित्वा सम्यक् गुणान् बहून् ।
सर्वारम्भपरित्यागी चिदाकाशे विलीयते ।। ४३५ ।।

नासनं सिद्धसदृशम् न कुंभं सदृशम् बलम् ।
न खेचरी समा मुद्रा न नादसदृशयोऽलयः ।। ४३६ ।।

इदानीम् कथयिष्यामि मुक्तस्यानुभवं परम् ।
यज्ज्ञात्वा लभते मुक्तिं पापयुक्तोऽपि साधकः ।। ४३७ ।।

समभ्यचर्येश्वरम् सम्पक् तत्पार्श्वे योगमुत्तमम् ।
गृह्णीयात् सुस्थितो भूत्वा गुरुं संतोष्य बुद्धिमान् ।। ४३८ ।।

जीवादि सकलं वस्तुनि दत्वा योगविद गुरूम् ।
संतोष्याति प्रयत्नेन योगोऽयमृगृह्यते बुधैः ।। ४३९ ।।

विप्राज संतोष्य मेधावी नाना मंगल संयुतः।
ममालये शुचिर्भूत्वा प्रगृहीया इच्छुमात्मकम्।। ४४०।।

अन्यस्यानेन विधिना प्राक्तम् विग्रहादिकम्।
भूत्वा दिव्यवर्पुयोगी गृह्वीयाद्वक्ष्पमानकम्।। ४४१।।

पद्मासनस्थितो योगी जनसंगविवर्जितः।
विज्ञान नाड़ी द्वितीयमङ्गुलीभ्याम् निरोधयेत।। ४४२।।

सिद्धिस्तदार्विभवति सुखीरूपी निरंजनः।
तस्मिन् परिश्रमः कार्यो येन सिद्धि भवेत् खलु।। ४४३।।

यः करोति घनाभ्यासान् तस्य सिद्धिः र्नदूरतः।
वायु सिद्धिभवेदेव क्रमात् पुंसो न संशयः।। ४४४।।

संकृत् यः कुरुते योगी पापौघं नाशयेत् ध्रुवम्।
तस्य स्यात् मध्यमे वायु प्रवेशो नानुसंशयः।। ४४५।।

एतदभ्यास शीलोऽयं स योगी देव पूजकः।
अणिमादि गुणान्लब्ध्वा विचरेत् भुवन त्रये।। ४४६।।

यो वै यस्यानिलाभ्यासात् तत् भवेत्तस्य विग्रहः।
तिष्ठदात्मनि मेधावी स पुनः क्रीड़ते भृशम्।। ४४७।।

एतद्योगम् परम् गोप्यन् न देयम्यअस्य कस्यचित्।
मस्व प्रणैनै समायुक्तम् तमेव कथ्यते ध्रुवम्।। ४४८।।

योगी पद्मासने तिष्ठे कंठे कूपम् यदास्मरन्।
जिंहु कृत्वाताल मूले क्षुत्पिपासा निवर्तते।। ४४६।।

कंठकूपादधः स्थाने कूर्मनाऽयस्ति शोभना।
तस्मिन् योगी मनोदत्वा चित्तस्थैर्यलभेद्भृशम्।। ४५०।।

शिरः कपाले रुद्राक्षं विवरं चिन्यतेत्यदा।
तदा ज्योतिः प्रकाशः स्यात् विद्युत्तेजसमं प्रभम्।। ४५१।

ऐतच्चिन्तन मात्रेण पापानाम् संक्षयो भवेत्।
दुराचारोऽपि पुरुषो लभते परमं पदम्।। ४५२।।

अहर्निशिम् यदा चिंताम् तत् करोति विचक्षणः ।
सिद्धानाम् दर्शनम् तस्य भाषणं च भवेत् ध्रुवम् ।। ४५३ ।।

तिष्ठन् भुंजन् स्वपन् गच्छन् ध्यायेच्छून्य महार्निशिम् ।
तदाकाशमयो योगी चिदाकाशे विलीयते ।। ४५४ ।।

एतज्ज्ञानम् सदा कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता ।
निरन्तर कृताभ्यासात् मम तुल्यो भवेत् ध्रुवम् ।। ४५५ ।।

एतद्धयानबलो योगी सर्वेषां बल्लभो भवेत् ।
सर्वान् भूत जयान् कृत्वा निराशीरपपरिग्रहः।। ४५६ ।।

नासाग्रं येन दृश्येत् पद्मासन गतेन वै ।
मनसो मरण तस्य खेचरत्वम् प्रसिध्यति ।। ४५७ ।।

ज्योतिम् पश्यति योगीन्द्रः शुद्ध शुद्धावलोकनम् ।
तत्राभ्यासबलेनैव स्वयंतद्रक्षको भवेत् ।। ४५८ ।।

उत्तानं शयने भूमौ सुप्ताध्यायेदन्निरन्तरम् ।
सद्यः श्रम विनाशाय श्वासं योगी विचक्षणः ।। ४५९ ।।

शिरः पश्चात्तु भागस्य ध्याने मृत्युंजयो भवेत् ।
भ्रूमध्या दृष्टि मात्रेणा हयपरः परिकीर्तितः ।। ४६० ।।

चर्तुविधस्यचान्नस्य रसस्त्रेधाविभज्यते ।
तत्रसार तमो लिंगदेहस्य परिपोषकः ।। ४६१ ।।

सप्तधातुमयं पिण्ड नेति पुष्णाति मध्यगः ।
यातिविण्मूत्ररूपेण तृतीयांशः तनोवहिः ।। ४६२ ।।

अथ भागद्वयं नाडयः प्रोक्तास्ता सकला अपि ।
पोषयंति वपुर्वायुं सर्वमापादमस्तकम् ।। ४६३ ।।

नाडिमिरेभिः सर्वाभिः वायुसंचरते यदा ।
तदैवान्नरसोदेहे साम्येवेह प्रवर्तते ।। ४६४ ।।

चतुर्दशानाम् तत्रेह व्यापारे मुखमागतः ।
ताः समग्रा न हीना स्वप्राण संचार नाड़िकाः ।। ४६५ ।।

गुदात्द्व्यंगुलत्श्चोर्ध्वम् मेढ्रेकांगुलतस्त्वधः।
एवम् स्वस्ति समकंदं समंन्ताच्चतुरंगुलम्।। ४६६।।

पश्चिमाभिमुखं योनि गुदमेंढ्रान्तरालगा।
तत्र कंदं समाख्यातम् तत्रास्तु कुंडली सदा।। ४६७।।

संवेष्ट्य सकला नाड़ी रष्टधा कुटिलाकृति।
मुखेनिवेश्य तत्पुच्छं सुषुम्ना विवरे स्थिताः।। ४६८।।

सुप्तनागोपमाह्येषा स्फुरति प्रभया स्वया।
अहिवत्संधि संस्थाना बाग्देवी बीजसंगिता।। ४६९।।

ज्ञेयाशक्तिरियम् विष्णोः निर्भरस्वर्णाभास्वर।
सत्वं रजस्तमश्चेति गुणात्रय विकस्वराः।। ४७०।।

तत्र बन्धूक पुष्पाभ कामबीजं प्रकीर्तितम्।
कलहंस सम योगे प्रयुक्ताक्षररूपिणीम्।। ४७१।।

सूर्यानाडीमसाश्वष्य बीजं तत्र वरम् स्थितम्।
शरच्चन्द्रनिभं तेजस्त्रयमेतत् पुरस्थितम्।। ४७२।।

सूर्य कोटि प्रतीकाशं चन्द्र कोटि सुशीतलम्।
एतत्भयम् मिलित्वैव देवी त्रिपुरभैरवी।। ४७३।।

बीजसंज्ञ परम् तेजस्तदेव परिकीर्तितम्।
क्रिया विज्ञान शक्तिभ्याम् युतम् तत्परितो भ्रमात्।। ४७४।।

उत्तिष्ठद्विषतं त्वाभं सूक्ष्मं शोणशिखान्युत्तम्।
योनिस्थम् तत्परं तेज स्वयंभूलिंग संस्थितम्।। ४७५।।

आधार पद्ममेतद्धियोनिर्यस्यास्ति कंदतः।
परिस्फुर द्वादिशांतं चर्तुवर्णां चतुर्दलम्।। ४७६।।

कुलाभिधं सुवर्णाभिं स्वयम्भू लिंग संगतम्।
द्विरदो यत्र सिद्धोऽस्ति डाकिनी यत्र देवता।। ४७७।।

तत्पद्म मध्यगा योनिस्तत्र कुण्डलिनी स्थिता।
तस्या ऊर्ध्वे स्फुरत्तेज कामबीजं भ्रमन् मतः।। ४७८।।

यः करोति सदा ध्यानं मूलाधारे विचक्षणः।
तस्य या दार्दुरी सिद्धिर्भमि त्यागः क्रमेणा वै।। ४७६।।

वपुष्कर्मन्तरात्कृष्टा जठराग्नि विवर्धनम्।
आरोग्यंश्च पटुत्वश्च करणानां च जायते।। ४८०।।

भूतार्थं च भविष्यम् च वेत्ति सर्वं विभूषणम्।
ज्यश्रुतान्यपि शास्त्राणि स रहस्यं बदेत् ध्रुवम्।। ४८१।।

वस्त्रे सरस्वती देवी सदा नृत्यति निर्भरम्।
मंत्रसिद्धि मवेत्तस्य जपादेव न संशयः।। ४८२।।

जरामरण दुःखौधौ शंगं याति गुणैः सह।
इदम् ध्यानम् सदा कार्यम् पवनाभ्यासिना परम्।। ४८३।।

ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मुच्यते नात्र संशयः।
मूलपद्मं यदा ध्यायेत् स्वयभू लिंग संज्ञकम्।। ४८४।।

तदा तत्क्षणमात्रेण पापौघं नाशयेत् ध्रुवम्।
यं यं कामयते चित्ते तं तं फलमवाप्नुयात्।। ४८५।।

निरन्तर कृताभ्यासात् तं पश्यति विमुक्तिदम्।
वत्सराज्यंतरे श्रेष्ठं पूजनीयं प्रयत्नतः।। ४८६।।

तन्त्रे श्रेष्टतमं ह्येतत् नान्यरस्ति महत्तमम्।
आत्मसंस्थम् शिवम् त्यक्त्वा बहिस्थं यः समर्चयेत्।।४८७।।

हस्तस्य पिडमुत्सृज्य भ्रमते जीविताशया।
आत्मलिंगार्चनम् कुर्यादनालस्यो दिने दिने।। ४८८।।

तस्य स्यात् संकलासिद्धिः नात्रकार्याविचारणा।
निरन्तरकृताभ्यासात् षण्मासे सिद्धिमाप्नुयात्।। ४८९।।

तस्य वायु प्रवेशोऽपि सुपुम्णायां भवेत् ध्रुवम्।
मनोजयं च लभते वायु विन्दु विधारणम्।। ४९०।।

एषा हि कामुष्मिकी सिद्धिर्भवन्नैवात्र संशयः।
द्वितीयं च सरोजं च लिंगमूले व्यवस्थितम्।। ४९१।।

तद्दलति षड्वर्णं परि भास्वर षट्दलम् ।
स्वाधिष्ठानाभिधं तत्र पंकजं शोणरूपकम् ।। ४६२ ।।

बालाख्यो यत्र सिद्धोऽस्ति देवी यत्रास्ति राकिनी ।
ये ध्यायन्तिं सदा दिव्यं स्वाधिष्ठानारविंदकम् ।। ४६३ ।।

तस्याः कामांगनाः सर्वाः भजंते काममोहिताः ।
विविधं च अश्रुतं शास्त्रं निःशंको वै वदेत्ध्रुवम् ।। ४६४ ।।

सर्व रोगविनिर्मुक्तो लोके चरति निर्भ्रमः ।
मरणां बाधते तेन सकलेनापि न बाध्यते ।। ४६५ ।।

तस्य स्यात् परमा सिद्धिः अणिमादि् गुणाप्रदा ।
बापु सरचते देहे रसवृद्धि र्भवेद् ध्रुवम् ।। ४६६ ।।

आकाशपंकजं गलितं पीयूमार्य बर्धते ।
तृतीयं पंकजं नाभौ मणिपूरक संज्ञकम् ।। ४६७ ।।

डादिफावर्ण सयुक्तं दिग्दलम् विष्णुदैवतम् ।
तत्र मन्दाकिनी सिद्धिः किन्नरी तत्र देवता ।। ४६८ ।।

तस्मिन् ध्यानं सदा योगी करोति मणिपूरके ।
तस्य पाताल सिद्धिः स्यात् निरंतर सुखावहा ।। ४६६ ।।

ईप्सितंच भवेल्लोके दुःखरोगविनाशनम् ।
कालस्य वचनं चापि परदेहे प्रवेशनम् ।। ५०० ।।

जांबुनदादिकरणं सिद्धानां दर्शनं भवेत् ।
औपधी दर्शनं चापि निधीनां दर्शनं तथा ।। ५०१ ।।

हृदयेऽनाहतं नाम चतुर्थं पंकजं भवेत् ।
कादिण वर्ण संस्थानं द्वादशारसमन्वितम् ।। ५०२ ।।

अतिशोणम् कामराजं प्रसाद स्थान मीरितम् ।
पद्मस्थं तत्परम तेजो वाण लिंगं प्रकीर्तितम् ।। ५०३ ।।

तस्य स्मरण मात्रेण दृष्टादृष्टं फलं भवेत् ।
सिद्धः पिनाकी यत्र काकिनी यत्र देवता ।। ५०४ ।।

एतस्मिन् सततं ध्यानं ह्यपाथोजे करोति यः।
क्षुभ्यन्ते तस्य कान्त्यावै कामार्त दिव्ययोषिता।। ५०५।।

ज्ञानं चाप्रतिमं तस्य त्रिकाल विषयं भवेत्।
दूरश्रुति दूरदृष्टिः स्वेच्छया स्वगता व्रजेत्।। ५०६।।

सिद्धानां दर्शनं चापि योगिनां दर्शनं तथा।
भवत्खेचरसिद्धिश्च खेचराणाम् जयम् तथा।। ५०७।।

ये धायन्ति परम् नित्यं वाणलिंगं द्वितीयकम्।
खेचरी भूचरी सिद्धिः भवेत्तस्य न संशयः।। ५०८।।

एतत् ध्यानस्य महात्म्यं कथितुं नैव शक्यते।
ब्रह्माधाः सकलाः देवाः गोपयन्ति परंत्विदम्।। ५०६।।

कंठस्थान स्थितम् पद्मम् विशुद्धं नाम पंचमम्।
सुहेमानं भास्वरमिदम् षोडशस्वर शोभितम्।। ५१०।।

छगलं अस्ति सिद्धोऽत्र शकिनी चाधिदेवता।
ध्यानं करोति यो नित्यं सः योगीश्वर पंडितः।। ५११।।

किं तस्य योगिनोऽन्यत्र विशुद्धारको सरोरूहे।
चर्तुवेदान्धिमासन्ति रहस्यानि विधेरिव।। ५१२।।

इहस्थाने मनोयस्य दैवाद्याति लयं यदा।
तदा बाह्य परित्यज्य स्वांन्तरे रमते चिरम्।। ५१३।।

तस्य न क्षतिमायाति स्वशरीरं स्वशक्तितः।
संवत्सरे सहस्त्रेऽपि बज्रातिं कठिनस्यवै।। ५१४।।

यदा जयति तद्ध्यचान योगीन्द्रो ऽवनिमंडले।
तदा वर्ष सहस्त्राणि तत्क्षणाम् मन्यतेकृती।। ५१५।।

आज्ञापद्मं भ्रुवोर्मध्ये हंसोपेतम् द्विपत्रकम्।
शुक्लाभं तन्महाकालः सिद्धो देव्याम हाकिनी।। ५१६।।

शरच्चन्द्रनिभं तत्राक्षरबीजं विजृम्भितम्।
पुमान् परमहंसोऽयम् यत ज्ञात्वा नावसीदति।। ५१७।।

एतदेव परम तेजः सर्वतन्त्रेषु मंत्रिणाः ।
चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभन्ते नात्रसशंयः ।। ५१८ ।।

तृतीयं तदिदम् लिंगम् तदाहुः भुक्तिदायकम् ।
ध्यानमात्रेण योगीन्द्रो मत्समो भवति ध्रुवम् ।। ५१६ ।।

इडा हि वरूणा ख्याता पिंगलासीति मुच्यते ।
वाराणसी तयोर्मध्ये विश्वनाथोऽत्र भाति सः ।। ५२० ।।

एतत् क्षेत्रस्य महात्म्यं ऋषिभिः तत्वदर्शिभिः ।
शास्त्रेषु बहुधा प्रोक्तं परमतत्वं सुभाषितम् ।। ५२१ ।।

सुषुम्ना मेरूणा ख्याता ब्रह्मरंध्रं यतोऽस्ति वै ।
ततश्चेषा परावृत्या तदाज्ञा पद्मदक्षिणे ।। ५२२ ।।

वामानासापुटात् यानि गंगेति परिगीयते ।
ब्रह्म रंध्रे हि यत्पद्मं सहस्त्राख्यं व्यवस्थितम् ।। ५२३ ।।

तत्र कदे हि या योनिः तस्यां चन्दो व्यवस्थितः ।
त्रिकोणकारतुः तस्याः सुधाक्षरति संततम् ।। ५२४ ।।

इडायाम् अमृतम् तत्र समश्रवति चन्द्रमा ।
अमृतं बहती धाराद्रूपं निरंतरम् ।। ५२५ ।।

वाम नासपुटे याति गंगेतेत्युक्ताहि योगिभिः ।
आज्ञा पंकजं दक्षांशा वामनासापुटं गता ।। ५२६ ।।

उदेन्यत्रैहैव, तत्रेड़ा वरूणा समुदाहृता ।
ततो द्वय मिहस्थाने वाराणास्यां तु चिन्तयेत् ।। ५२७ ।।

तदाकारा पिंगलापि तदाज्ञाकमलोत्तरे ।
दक्षनासापुटं याति प्रोक्तास्माभिः असीतिवै ।। ५२८ ।।

मूलाधारे हि यत्पद्मचतुः पत्रं व्यवस्थितम् ।
तत्र कंदेऽस्ति या योनिः तस्या सूर्यो व्यवस्थिता ।। ५२६ ।।

ततः सूर्य मंडलद्वारं विषं क्षरति दुस्तरम् ।
पिंगलायां विषं तत्र सन्त्मायातनुतापनम् ।। ५३० ।।

/

विषंतत्र वहति या धारारूपम् निरंतरम् ।
दक्षनासापुटं याति कल्पितामपि पूर्ववत् ।। ५३१ ।।

आज्ञापंकजं वामांशा दक्षनासापुटं गता ।
उदग्वहापिंगलापि पुरासीति प्रवर्तिता ।। ५३२ ।।

आज्ञापद्ममिदं प्रोक्तं यत्रदेवो महेश्वरः ।
पीठत्रयं ततश्चोर्ध्वं निरुक्तं योगचितंकैः ।। ५३३ ।।

तद्विन्दुनादशक्त्याख्यं भालपट्टे व्यवस्थितम् ।
यः करोतिसदाध्यानम् आज्ञापद्मेतु गोपिता ।। ५३४ ।।

पूर्वजन्मकृतंकर्मम् स्मृतं स्यादविरोधतः ।
इहस्थिरो यदा योगी ध्यानं कुर्यान्निरन्तरम् ।। ५३५ ।।

तदा करोति प्रतिमा प्रति तल्पन् महार्थवत् ।
यक्ष राक्षस गन्धर्वा अप्सरो गण किन्नराः ।। ५३६ ।।

सेवते चरणौ तस्य सर्वे तस्य वशानुणाः ।
करोति रसनां योगी प्रविष्टा विपरीतगा ।। ५३७ ।।

लम्बिका ध्र्वेषु गर्तेषु घृत्वा ध्यानम् भयापहम् ।
यस्मिन् स्थाने मन्नोयस्य क्षणार्धे वर्त्ततेवलम् ।। ५३८ ।।

तस्य सर्वाणि पापनि संश्यं यांति तत्क्षणाात् ।
यानि यानीहि प्रोक्तानि पंचपद्मे फलानि वै ।। ५३९ ।।

तानिसर्वाणि सुतरां एतत् ज्ञानादभृवन्ति हि ।
यः करोति सदाभ्यासम् आज्ञापद्मे विचक्षणाः ।। ५४० ।।

वासनायां वंधं तिरस्कृत्य प्रमोदते
प्राण प्रयाण समये य स्मरेन्सुधी
त्यजेत्प्राणंस धर्मात्मा परमात्मनि लीयते ।। ५४१ ।।

तिष्ठन् गच्छन् श्वसन् भुंजन् योध्यानंकुरुतेनरः ।। ५४२ ।।

पापकर्म विकुर्वाणो नहि सज्जति किल्विषे ।
योगी द्वन्दविर्निमुक्तो स्वयया प्रभयास्वयम् ।। ५४३ ।।

द्विदले ध्यान महात्म्यंकथितुम् नैवशक्यते।
ब्रह्मादि देवता श्चैव किचिंन्मात्र वदन्ति ते।। ५४४।।

अत ऊर्ध्वं तालु मूले सहस्त्रारं सरोरूहम्।
अस्ति यत्र सुषुम्नायां मूलं सविवररूप स्थितम्।। ५४५।।

तालुमूला सुषम्ना या अधावेक्त्रा प्रवर्तते।
मूलाधारण पोन्यन्ता सर्वनाड़ी समाश्रिचता।। ५४६।।

वीज भूतानि वर्तते ब्रह्म मार्ग प्रदायिका।
तालुस्थाने च यत्पद्मं सहस्त्रारं पुरोहितम्।। ५४७।।

तत्कन्दे योनिरेकास्ति पश्चिमाभि मुखीमता।
तस्याः मध्ये सुषुम्नायां मूलं सविवरं स्थितम्।। ५४८।।

ब्रह्मरंध्रादिवोक्तां सा मूलाधारपंकजे।
तत्तंतु रन्ध्रे तन्छक्ति सुषुम्ना कुंडली सदा।। ५४९।।

सुषुम्नायांस्थिता नाड़ी चित्रास्यान्मम बल्लभ।
तस्यां मम मते कार्या ब्रह्मरन्ध्रादि कन्ल्पना।। ५५०।।

यस्य स्मरणमात्रेण सर्वज्ञ त्वं प्रजायते।
पापक्षय श्च भवति न भूयः पुरुषो भवेत्।। ५५१।।

प्रवेशितं च लागुल्यं मुखे स्वस्थ निवेशयत्।

तेनात्र न वहत्यैन देहचार समीरण।। ५५२।।

तेन संसारचक्रेऽस्मिन् विभ्रमत्येव सर्वदा।
तदर्थं वै प्रवर्तन्ते योगिनः प्राणाधारणे।। ५५३।।

तत एवाखिला नाडीः रुध्वा चेष्टि विचेष्टिनाम्।
विद्युंदगा कुण्डलिन्याः मुखरन्ध्रा द्वहिं भवेत्।। ५५४।।

सुषुम्नायां रादैवायं बहेत्प्राण समीरणः।
मूलपद्म स्थिता योनिः वामदक्षिणकोणतः।। ५५५।।

इडापिंगलयोर्मध्ये सुषुम्ना योनि मध्यगा।
ब्रह्मरन्ध्रं तु तत्रैव सुषुम्ना धारमंडले।। ५५६।।

यो जानाति स मुक्तः स्यात् कर्मबन्धाद्विचक्षणः ।
ब्रह्मरन्ध्रं मुखे तासां संगमः स्यादसंशयः ।। ५५७ ।।

यस्मिन्नन्ते स्नातकानां मुक्ति स्यादविरोधतः ।
गंगायमुनयोर्मध्ये बहत्येषा सरस्वती ।। ५५८ ।।

तासां तु संगम स्नात्वा धन्याः यान्ति परां गतिम् ।
इडा गंगा पुरा प्रोक्ता पिंगला चार्क पुत्रिका ।। ५५९ ।।

मध्या सरस्वती प्रोक्ता तासां संङ्गोऽति दुर्लभाः ।
सितासिते संगमे यो मनसा स्नानमाचरेत् ।। ५६० ।।

सर्व पाप विनिर्मुक्तो याति ब्रह्म सनातम् ।
त्रिवेण्या संगमे यो वै पितृकर्मसमाचरेत् ।। ५६१ ।।

पुरामयोक्ता या योनिः सहः सहस्त्रारे, सरोसहे ।
तस्या अधो वर्तते चन्द्रः तध्यानं क्रयुते बुधैः ।। ५६२ ।।

यस्य सम्रणामात्रेण योगिन्द्रोऽवनि मंडले ।
पूज्यो भवति देवानां सिद्धानां समंतोभवेत् ।। ५६३ ।।

शिरः कपालविवरे ध्याये दुग्ध महोदधि ।
तत्र स्थित्वा सहस्त्रारे पद्मे चन्द्रं विचिन्तयेत् ।। ५६४ ।।

शिरः कपालः विवरे द्विरष्ट कलया युतः ।
पीयूष भानुहंसाख्य स्तारयोन्निरञ्जनः ।। ५६५ ।।

निरन्तरकृताभ्यासात् त्रिदिने पश्यति ध्रुवम् ।
दृष्टि मात्रेणा पापौघं दहति एव सः साधकः ।। ५६६ ।।

अनागतं च स्फुरति चित्तुशुद्धिः भवेत्खलु ।
सद्यः कृत्वापि दहति महापातक पुंजकम् ।। ५६७ ।।

अनुकूल्यं ग्रहाः यान्ति सर्वे नश्यन्ति उपद्रवाः ।
उपसर्गाः समं यान्ति युद्धे जयमवाप्नुयात् ।। ५६८ ।।

खेचरी भूचरी सिद्धिः भवेच्छीरेन्दु दर्शनात् ।
ध्यानादेव भवेत्सर्वं मात्र कार्य विचारणा ।। ५६९ ।।

सतताभ्यासयोगेन सिद्धोभवति् नान्यथा।
सत्यं सत्यं पुनः सत्यं मम तुल्यो भवेदमृवम्।। ५७०।।

योगशास्त्रेऽपि अभिरते योगिनां योगदायकम्।
अतः ऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्त्रारं सरोसहम्।। ५७१।।

तारयित्वा पितृन् सर्वान् स याति परमां गतिम्।
नित्यं नैमित्तिकं काम्यं प्रत्यह यः समाचरेत्।। ५७२।।

मनसा चिन्तयित्वा तु सोऽक्षयं फलमाप्नुयात्।
सकृद्यः कुरुते स्नानं स्वर्गेसौख्यं भुनंक्त सः।। ५७३।।

दग्धपापान् सौख्यान् वै योगी शुद्धमति स्वयं।
अपवित्राः पवित्रो वा सर्वावस्थां गतोऽपिवा।। ५७४।।

स्नानाचरणमात्रेण पूतोभवति नान्यथा।
मृत्युकाले प्लुतं देहं त्रिवेण्यां सलिलं यदा।। ५७५।।

विचिन्त्य यः त्यजते प्राणान् सः तदामोक्षमाप्नुयात्।
नातः परतरं गुह्य त्रिषुलोकेषु विद्यते।। ५७६।।

गोपत्वम् सुप्रयत्नेन न चाख्येयम् कदाचन।
ब्रह्मरन्धे मनोदत्वा क्षणार्ध यदि तिष्ठति।। ५७७।।

सर्व पाप विर्निमुक्तो सः याति परमांगतिम्।
यस्मिन् लीन मनो यस्य सः योगी लीयतेमपि।। ५७८।।

अणिमादि गुणान् भुक्त्वा स्वेच्छया पुरुषोत्तमः।। ५७९।।

एतद्रधं ज्ञानमात्रेण मर्त्यः,
संसारेऽस्मिन् बल्लभो मे भवेत्सः।
पांपं जित्वा मुक्ति मार्गाधिकारी।
ज्ञानं दत्वा तारयत्यद्‌भुतं वै। ।५८०।।

चर्तुमुखादि त्रिदशैरगम्यं योगिबल्लभं।
प्रयत्नेन सुगोप्यं तदव्र् द्मरंरन्ध्रं मयोदितं।। ५८१।।

योगशास्त्रेप्यभिरतंयोगिनां योगदायकम्।

अतऊर्ध्वं दिव्यरूपं सहस्त्रारं सरोरूहम्।। ५८२।।

ब्रह्माण्डाख्यस्यदेहस्य बाह्ये तिष्ठति मुक्तिदम्।
कैलाश नाम तस्यैव महेशो यत्र विद्यते।। ५८३।।

आकुलाख्योऽविनाशी च क्षय वृद्धि विवर्जितः।। ५८४।।

स्थान.ास्य ज्ञानमात्रेण नृणी, सरोऽस्मिन् संभवो नैवभूयः।
भूतग्रामं संतताभ्यास योगात् वर्तुं हर्तुं स्याच्च शक्ति समग्रा।। ५८५।।

स्थाने परेहंस निवासभूते, कैलाश नाम्नीहि निविष्ट चेष्टाः।
योगी हतव्यधि रधकृताधिः वाधाश्चिरं जीवति मृत्युमुक्तः।। ५८६।।

चित्तवृत्तिर्यदा लीनाऽ कुलाख्ये परमेश्वरे।
तदा समाधि सम्पन्तो योगी निश्चलतां व्रजेत्।। ५८७।।

निरन्तरं कृतात्ध्यानाज्जगद्विस्मरणं भवेत्।
यदा विचित्र सामर्थ्यं योगिनो भवति ध्रुवम्।। ५८८।।

अस्माद्गलित पीयूषं पिवेद्योगी निरन्तरम्।
मृत्यु मृत्युं विधायाशु कुलं जित्वा सरोरुहे।। ५८९।।

अत्र कुंडलिनी शक्ति लयंयाति कुलाभिधा।
तदा चतुर्विधासृष्टि लीयते परमात्मनि।। ५९०।।

यद्गात्वा प्राण विषयं चित्तवृत्तिर्विलीयते।
तस्मिन् परिश्रमो योगी करोति निरपेक्षकः।। ५९१।।

चित्तवृत्तिर्यदालीना तस्मिन् योगी भवेध्रुवम्।
तदा विजयतेऽखण्ड ज्ञान रूपी निरञ्जनः।। ५९२।।

ब्रह्माण्डे वाह्ये संचित्य स्व प्रतीकं पथोदितम्।
तयावेश्य महत्शून्यं चिन्तयेद विरोधतः।। ५९३।।

आद्यान्तमध्यशून्यं तत् कोटि सूर्य समप्रभम्।
चन्द्र कोटि प्रतीकाशंमभ्यस्य सिद्धिमाप्नुयात्।। ५९४।।

एतद्ध्यानं सदा कुर्यादनालस्यो दिने दिने।
तस्य सकालासिद्धिर्वत्सरा नात्र संशयः।। ५९५।।

क्षणार्द्धं निश्चलेत्तम मनोवस्य भवेध्रुवम् ।
तस्यं कल्मष संघास्तत्क्षणादेव नश्यति ।। ५९६ ।।

यं दृष्ट्वा न निवर्त्तते मृत्यु संसारवर्त्मनि ।
अभ्यस्यैतं प्रयत्नेन स्वाधिष्ठानेन वर्त्मना ।। ५९७ ।।

एतद्ध्यानस्य माहात्म्यं मया वक्तुं न शक्यते ।
यः साध्यति जानाति सोऽन्यो नास्मादिमं मतम् ।। ५९८ ।।

ध्यानादेव..विचित्रे क्षण सम्भवम् ।
अणिमादि गुणोपेतां भवत्येव व न संशयः ।। ५९९ ।।

राजयोग मयाऽख्यातः सर्वतंत्रेषु गोपितः ।
राजधिराज योगंहि कथयामि समासतः ।। ६०० ।।

स्वस्तिकं चासनं कृत्वा गुमूटेजन्तुवर्जिते ।
गुरुं संपूज्य यत्नेन ध्यानमेतत् समाचरेत् ।। ६०१ ।।

निरालाम्बो भवेज्जीवो ज्ञात्वा वेदान्त युक्तिः ।
निरालम्बं मनः कृत्वा नं किञ्चित् साधनयेत्सुधी ।। ६०२ ।।

एतत् ध्यानान्महासिद्धि र्भवत्येव न संशयः ।
वृत्तिहीनं मनः कृत्वा पूर्णरूपं स्वयं भवेत् ।। ६०३ ।।

साधयेत् सततं यो वै स योगिविगतस्पृहः ।
अर्हन्मामन कोप्यास्मिन् सर्वदात्मैव विद्यते ।। ६०४ ।।

को बन्ध कस्य वा मोक्षः एकं पश्येत् सदाहि सः ।
एतत् करोति यो नित्यं स मुक्तो नात्र संशयः ।। ६०५ ।।

स एव योगी मद्भक्तः सर्व लोकेषु पूजितः ।
अहमस्मीति च तज्जीवात्म परमात्मनोः ।। ६०६ ।।

अहं तदेतदुभयं त्यक्त्वाऽखण्ड विचिन्तयेत् ।
अध्यारोपादिवादाभ्यां यत्र सर्वं विलीयते ।। ६०७ ।।

तदीजः आश्रयेद्योगी सर्वसंगविवर्जितः ।
अपरोक्ष चिदानन्दं पूर्णं त्यक्त्वां भ्रमाकुलम् ।। ६०८ ।।

परोक्षमपरोक्ष च कृत्वा मूढ़ाः भ्रमन्ति वै।
चराचरमिदं विश्वं परोक्ष यः करोति च।। ६०६।।

अपरोक्षं परम् ब्रह्म त्यक्त्वा तस्मिन् प्रलीयते।
ज्ञानकारणाजं ज्ञाय यया नित्यं यथा भृशम्।। ६१०।।

अभ्यासं कुरुते योगी तदा संगविर्जितः।
सैवमभ्यसतो नित्यं स्वप्रकाशं प्रकाशते।। ६११।।

श्रोतुर्बुद्धेः समाप्यर्थं निवर्तन्ते गुरोर्गिरः।
तदाभ्यासवाशादेकं स्वतो ज्ञानं प्रवर्तते।। ६१२।।

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्यामनसा सह।
साधनादलभेदज्ञानं स्वयं स्फुरति तत्वतः।। ६१३।।

हठं बिना राजयोगो राजयोगो बिना हठम्।
तस्मात् प्रवर्त्तते योगी हठे सदगुरु मार्गतः।। ६१४।।

स्थिते देहे जीवतियोऽधुना न म्रियते भृशम्।
इन्द्रियार्थायभोगेषु स जीवति न संशयः।। ६१५।।

अभ्यास पाकपर्यन्तं मित्तान्नशरणो भवेत्।
अन्यथा साधनंधीमान् कर्त्तुं पारयुतीह न।। ६१६।।

अतीव साधुसल्लापं वदेत् संसदि बुद्धिमान्।
करोति पिण्ड रक्षार्थं वहालाप विवर्जितः।। ६१७।।

त्यजते ज्यजते संग सर्वथा त्यजते भृशम्।
अन्यथा न लभेन्मुक्तिं सत्यं सत्यं मयोदितम्।। ६१८।।

गृहे वै क्रियतेऽभ्यासः संगं त्यक्त्वा तदन्तरे।
व्यवहाराय कर्त्तव्यो वाह्यो संगो न रागतः।। ६१६।।

स्वे स्वे कर्माणि बाह्यो वर्त्तन्ते सर्वे ते कर्मसम्भवाः।
निमित्तमात्र करणो न दोषोऽस्ति कदाचन।। ६२०।।

एवंनिश्चित्य सुधिया गृहस्थोऽपि यदाचरेत्।
सदा सिद्धिमवाप्नोति नात्र कार्या विचारणा।। ६२१।।

पापपुण्य विर्निमुक्तः परित्यक्तांग सङ्गकः ।
यो भवेत् स विमुक्तः स्यात् गृहे तिष्ठन् सदागृही ।। ६२२ ।।

पापपुण्ये न लिप्येत् योगयुक्तो सदा गृही ।
कुर्वन्नपि तदोपायान् स्वकार्ये लोकसंग्रहे ।। ६२३ ।।

अधुना संप्रवक्ष्यामि मंत्रसाधनमुत्तमम् ।
ऐहिकामुष्मिक सुखं येन स्यादविरोधतः ।। ६२४ ।।

यस्मिन् मंत्रवरे ज्ञाते योगसिद्धिर्भवेत् खलु ।
योगिनः साधकेन्द्रस्य सर्वैश्वर्या सुखप्रदा ।। ६२५ ।।

मूलाधारेऽस्ति पत्पद्मं चर्तुदल समन्वितम् ।
तन्मध्ये वाग्भवं बीजं विस्फुरन्तं तडित्प्रभम् ।। ६२६ ।।

हृदये कामराजं तु बन्धूक कुसुमप्रभम् ।
आज्ञारविन्दे शक्त्याख्ये चन्द्रकोटिसमप्रभम् ।। ६२७ ।।

बीजत्रयमिदंगोयं भुक्तिं मुक्ति फलप्रदम् ।
एतन्मत्रं त्रयं योगी साधयेत् सिद्धिदायकः ।। ६२८ ।।

एतन्मंत्रं गुरोर्लब्ध्वा न द्रुतं न विलम्बितम् ।
अक्षराक्षरसन्धानं निःसंदिग्ध मनो जपेत् ।। ६२९ ।।

सद्गतश्चैक चित्तश्च शास्त्रोक्त विधिना सुधी ।
देव्यस्तु परतोलक्ष्यं हुत्वा लक्षत्रयं जपेत् ।। ६३० ।।

करवीर प्रसूनं तु गुडक्षीराज्य संयुत्तम ।
कुष्ठे योव्याकृतै धीमान् अपान्ते जुहुयात् सुधी ।। ६३१ ।।

ततो ददाति कामान् वै देवी त्रिपुर भैरवी ।
गुरुं सतोप्य विधिवत् लब्ध्वां मंत्र वरोतमम् ।। ६३२ ।।

अनेनविधिनायुक्तो मन्दाभग्योऽपि सिध्यति ।
लक्षमेकं जपेद्यस्तु साधकी विजितेन्द्रियः ।। ६३३ ।।

दर्शनातस्य क्षुभ्यन्ते योषितो मदनातुराः ।
पतन्ति साधकस्याग्रे निर्लज्जाः भयवर्जितः ।। ६३४ ।।

जपेन च द्विलक्षेन याप्यस्मिन् विषयोस्थिता।
आगच्छति यथापंथं उक्ते चाकुलविग्रहाः।। ६३५।।

ददते तस्मै सर्वस्वं तस्यैव वशेस्थिता।
त्रिभिलक्षैस्तथा जप्यै मण्डलीकाः समण्डलाः।। ६३६।।

वशमायन्ति ते सर्वे नात्रकार्या विचारणा।
षड्भिर्लक्षैर्महीपालाः सभृत्य बलवाहनाः।। ६३७।।

लक्षैर्द्वादशकैर्जप्यै यक्षोरक्षोरगेश्वराः।
वशमायान्ति ते सर्वे आज्ञां कुर्वन्ति नित्यशः।। ६३८।।

त्रिपंचलक्षजपैस्तु साधकेन्द्रस्य धीमतः।
सिद्धविद्याधराश्चैव सगन्धर्वाप्सरो गणाः।। ६३६।।

वशमायान्ति ने सर्वे नात्रकार्या विचारणा।
हठात् श्रवण विज्ञानं सर्वज्ञत्वं प्रजायते।। ६४०।।

तथाष्टद शाभिर्लक्षै र्देहेनानेन साधकः।
अतिष्ठेन्मेदिनी त्यक्त्वा दिव्यदेहस्तु जायते।। ६४१।।

भ्रमते स्वेच्छया लोके छिद्रा पश्यति मेदिनीम्।
अष्टाविंशतिभिर्लक्षे र्विद्याधरपति भवेत्।। ६४२।।

साधकस्तु भवेद् धीमान्कामरूपो महाबलः।
त्रिशं लक्षे सर्वथा जपै ब्रह्मा विष्णु समो भवेत्।। ६४३।।

रुद्रत्वं षष्टिाभिर्लक्षैः शक्तितत्वमशीतिभिः।
कोट्येकया महायोगी लीयते परमे पदे।। ६४४।।

साधकस्तु भवेद् योगी त्रैलोक्यो सोऽस्ति दुर्लभः।
त्रिपुरोत्रिपुरन्त्वेकं शिवं कल्याण कारणम्।। ६४५।।

अक्षयं तत्पदं शान्तंमप्रमेयमनामपम्।
लभतेऽसौ न सन्देहो धीमान् सर्वमीप्सितम्।। ६४६।।

शिव विद्या महाविद्या गुप्ता चाग्रे महेश्वरी।
मद् भाषितमिदं प्रोक्तं गोपनीय मतो बुधैः।। ६४७।।

भवेद् वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या च प्रकाशिता ।
य इदं पठेन्नित्यं माद्यौपान्तं विचक्षणाः ।। ६४८ ।।

योगसिद्धिभवेत् तस्य क्रमेणैव न संशयः ।
स मोक्षं लभते धीमान् य इदं नित्यमर्चयेत् ।। ६४६ ।।

मोक्षर्थीभ्य स सर्वेभ्यः साधुभ्यः श्रावयेद्यतिः ।
क्रिया युक्तस्य सिद्धि स्यादक्रियस्य कथं भवेद् ।। ६५० ।।

तस्मात् क्रिया विधानेन कर्त्तव्यो योगिपुङ्गवैः ।
यदृच्छालाभ संतुष्टः संत्यक्तान्तरसंगकम् ।। ६५१ ।।

गृहस्थः स लोकेशो मुक्तः स्याद्योगसाधनैः ।
गृहस्थानां भवेत् सिद्धिरीश्वराणां जनेनवै ।। ६५२ ।।

साधनेन विना देवि कथं सिद्धिः वारनने ।
तत्मात्सासाधनमुत्पाद्यासाधयेत् सिद्धिमुत्तमाम् ।। ६५३ ।।

## ।। इति ।।

# शाम्भवीतन्त्रम्

यह ग्रंथ शंकर पार्वती संवादरूप है। ग्रंथ के प्रारंभ में भगवान शंकर पार्वती जी से कहते हैं ज्ञान एक है, नित्य है, आदि अन्त से रहित है। अन्य कोई तत्व सृष्टि में सत्य नहीं है। इन्द्रियों से प्राप्त ज्ञान में, द्वैत और भेद, भासित होते हैं। ज्ञान ब्रह्म है, कालगति से बाधित नहीं है। इन्द्रिय-ज्ञान सीमित है। इन्द्रियों की स्थिति, अंधकार में है। द्वैत-भाव या भेद-बुद्धि में, सत्य नहीं है। मानव-ज्ञान की चरम सीमा ब्रह्म-ज्ञान है, जिसे प्राप्त करने के लिये, इन्द्रियों के परे जाना आवश्यक है। सब कुछ ब्रह्म में स्थित और ब्रह्म से व्याप्त है। एकरस, अपरिवर्तनीय ज्ञान, सत्य, अथवा ब्रह्म का अनुभव चित्त की वृत्तियों के परे है। चित्त शांति के पश्चात ही एकरस का अनुभव होता है।

आत्मा, सब प्राणियों में, समान रूप से विद्यमान है। आत्मज्ञान ही मुक्ति है। अपने भक्तो के लाभ के लिये, भगवान शंकर ने, इस महान योगोपदेश का वर्णन माता पार्वती के प्रश्नों के उत्तर रूप में किया है। सृष्टि-लीला ब्रह्म में स्थित है। महान सत्ता के विलास से लीला का विकास, विनाश एवं रक्षण होता है। हम मनुष्यों की इस रजोगुणी सृष्टि में, परमसत्ता जो कुछ करना चाहती है, मानव के माध्यम से ही करती है क्योंकि सृष्टि, नियमों पर आधारित है। नियमों का आदर ईश्वर भी करते हैं। साधना द्वारा शनैः शनैः अपने द्वैत-आवरण को दूर करता हुआ अपनी व्यक्तिगत चेतनास्तर को प्रत्येक साधक, पूर्ण बना सकता है। भगवत् कृपा सबमें समान रूप से प्रवाहित होती है। व्यक्ति अपनी पात्रतानुसार कृपा प्राप्त करता है। व्यक्ति की पात्रता बढ़ाने के लिये ही समस्त साधनायें बनीं।

अनेक मतमनान्तर और सम्प्रदाय, आंशिक सत्यों पर आधारित हैं, इसीलिये भेद उत्पन्न होते हैं। मानव समाज, एक होने पर भी भ्रम-वश बट जाता है और दुःखी होता है। व्यक्ति का धर्म, सृष्टि धर्म से, अलग

नहीं हो सकता। मुक्ति, पूर्णत्व अथवा पूर्ण विकास ही, निश्चित कालबाधित सृष्टि-धर्म है।

आत्मदर्शन चाहने वाले साधक मतमतान्तरों से भ्रमित होकर अज्ञान बढ़ा लेते हैं, व्यर्थ चिन्तन में फंस जाते है। सभी प्राणियों की अनन्य गति, आत्मदर्शन अथवा सत्यदर्शन में है। ज्ञान, तर्क के परे है। तर्क बुद्धि पर आश्रित है। बुद्धि सीमित है।, असीम का भान नहीं करा सकती, सांसारिक लाभ दे सकती है। जब तक असीम में गति न हो जाय तब तक बुद्धि और तर्क का सम्बल भी नहीं छोड़ना चाहिये, लेकिन यह भी नहीं भूलना चाहिये कि जब चेतनस्तर उठ जाता है तभी सत्य का अनुभव होता है। जब असीम से सम्बन्ध हो जायेगा, असीम संसार भी ठीक हो जायेगा, क्योंकि इन्द्रियानूभूत संसार सृष्टि-नियमों पर आधारित है। असीम की तरफ कदम उठाने पर सीमित संसार अवश्य शुद्ध और सुलभ होगा। सूक्ष्म और स्थूल दोनो ही ब्रह्ममय है। हमारे लिये दोनो का निरूपण लाभदाई है।

कोई दर्शन सत्य की प्रशंसा करता है तो कोई तपस्या की, कोई शुद्धता की, पवित्रता की अथवा आचार व्यवहार की तो अन्य क्षमाभाव की प्रशंसा करते हैं। कोई-कोई वैराग्य-साधना को ही श्रेष्ठ बताते है। ब्रह्ममय, पूर्ण विकसित जीवन एकांगी नहीं हो सकता। कुछ विद्वान कहते हैं कि सांसारिक ज्ञान ही सर्वोपरि है। कुछ आचार्य ज्ञान-मार्ग को सर्व श्रेष्ठ मार्ग बताते हैं, तो अन्य शम दम तितिक्षा-उपरति एवं सरल व्यवहार और को कुछ विचारक गृहस्थ जीवन के कर्मो की ही प्रशंसा करते हैं। कहते हैं कि परमसत्ता को किसने देखा है। जो इन्द्रिय ज्ञान-अनुभूत है, वही सत्य है, मृत्यु के बाद क्या होता है, किसने देखा है? कुछ बुद्धिमान, अग्नि-होत्र, होमादि (मनुष्य आदि) कर्मो को सर्वश्रेष्ठ मान बैठे, तो अन्य मंत्र-योग मंत्रसिद्धि को। कुछ ने निर्णय दे दिया कि तीर्थ, तीर्थदर्शन ही सर्वोपरि साधना है।

हम लोग अपनी जीवन-यात्रा में अनुभव करते हैं कि विभिन्न मत मुक्ति की राह तो बताते हैं, परन्तु समाज तथा व्यक्ति दुःखी रहता है। कर्म, अकर्म, विधि-निषेध, आदि की गति और क्षेत्र उलझन से भरे हैं। विविध व्याख्याओं और मतमनातरों का प्रतिपादन विद्वानों ने अपने

चिंतन के आधार पर किया। तत्वों के अनुपात-भेद के कारण प्राणियों में भिन्नता मिलती है, किन्तु ब्रह्म में तो सभी तत्व संतुलित है। रूचि और तत्व भेद का अन्य कोई आधार नहीं है।

एक शरीर में अनेक अंग होते है।, कुछ प्रत्यक्ष है और कुछ परोक्ष हैं। बुद्धि, मन, अंहकार और आत्मा आदि निराकार अप्रत्यक्ष तत्व हैं इनका केवल अनुभव होता है। हम केवल स्थूल हाथ या पैर अथवा शिर या पेट भी नहीं हैं। स्थूल शरीर, और उसमें स्थित निराकार तत्व, सब मिलकर एक व्यक्ति का रूप धारण करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में कर्म हैं, विचार है, भावनायें हैं, प्रकाशिका शक्ति है। जिस व्यक्ति में साकार और निराकार का समन्वय है, वही विकसित व्यक्तित्व वाला है। विभिन्न मतमतान्तरों में भेद स्वाभाविक है। उचित-अनुचित की व्याख्या में बहुधा द्वन्द्व-भेद भी उत्पन्न हो जाता है, इसलिये हम पाते हैं कि अनुचित कर्म अनचाहे भी हो जाते हैं। भ्रम, मोह और अज्ञान से पाप उत्पन्न होता है। मुक्ति-पथ तो सरल, स्वाभाविक, सर्वांगीण विकास है।

नाना प्रकार की एकांगी साधनाओं से, व्यक्ति को, विशिष्ट परन्तु आंशिक शक्तियां प्राप्त होती हैं। परम लक्ष्य, परम पुण्य, परम पुरूषार्थ की सिद्धि तो, चेतना के सर्वांगीण विकास द्वारा हो सकती है। असह्य बने, जन्म मृत्यु, सुख-दुःख, लाभ हानि के चक्रों में घूमता हुआ जीव यात्रा करता रहता है। विकसित चेतना ही बन्धनों से परे का अनुभव देती है।

अनेक शास्त्र रचयिताओं ने व्यक्तिगत चिन्तन के आधार पर अपने अपने मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताया है। जो जिस साधनामार्ग से गया वह उसी को उत्तम मानेगा। सब मार्ग सब व्यक्तियों के लिये उपयुक्त नहीं होते। तत्व भेद को जानना, मानना और समझना होगा। व्यक्तित्व का विकास पूर्णत्व की ओर है, परन्तु एक साधना पद्धति सब के लिये उपयोगी नहीं हो सकती।

विचारकों, आचार्यों ने आत्मा के विषय में , अपने विचार एवं अनुभव प्रस्तुत किये हैं। आत्म-ज्ञान की राह भी, रूचि अनुसार बताई, लेकिन अधिकारी-भेद, देश-काल और परिस्थितियों की भिन्नता को कुछ विद्वान नज़र-अंदाज कर बैठे। कुछ विद्वानों ने तो यहां तक कह डाला

कि-जो कुछ उन्होंने कहा, उससे भिन्न कुछ भी सत्य नहीं है। मानव का ज्ञान-मात्र ऐसी सीमाओं में नहीं बंध सकता।

जिसने जो कुछ कहा, अपने मत के समर्थन के लिये कहा। इन्द्रियानुभूत-जगत को ही सब कुछ मानने वाले विद्वान् भूल गये कि इन्द्रियानुभव में आने वाली लीला के आगे भी, लीला सृष्टि है। क्या आज का कोई योग्य व्यक्ति या वैज्ञानिक मान सकता है, कि जो कुछ हम देखते हैं, अथवा सुनते हैं उसके अतिरिक्त कुछ भी नहीं है? हम अच्छी तरह जानते हैं कि हमारी आंखे, कान, आदि इन्द्रियों की ताकत, सीमित क्षेत्र Limited frequencies तक ही काम करती है।

मानव की ज्ञान यात्रा में, जब विद्वान ऐन्द्रिय जगत के आगे बढे तो कुछ शून्य की स्थिति तक पहुंच कर रुक गये। अन्य विचारक दो तत्वों की मान्यता ले बैठे कि प्रकृति और पुरुष के मिलन से सृष्टि-क्रम बना है।

ज्ञान मार्ग को सर्वश्रेष्ठ बताने वालों का मानव समाज पर बहुत समय तक एकछत्र शासन रहा। इनके विवेचन में, व्यक्ति का सांसारिक व्यवहार महत्वहीन हो गया, फलस्वरूप दैनिक जीवन में अनेक दुख बढ़ गये। जिस समाज में केवल आत्मा की बातें होती हैं, वहां राक्षस उत्पन्न होने लगते हैं। शरीर को अकर्मण्य बनाकर अथवा शरीर के द्वारा संभव असामाजिक कर्मों को नगण्य मानना हानिकारक है। आत्मदर्शन का संबंध दैनिक आचरण से भी है। जो ऊंची २ बातें करते हैं लेकिन कर्म को महत्व नहीं देते, वह मानव समाज के लिए घातक सिद्ध होते हैं। आज के योगी अपने को सिद्ध और महान मानते हैं लेकिन दैनिक आचरण के प्रति उदासीन और असंतुलित हो जाते हैं। जब सभी कुछ प्रभुमय है और परम सत्ता सबमें विद्यमान है तो संसार को व्यर्थ मानना परम अवहेलना है।

विरोधी मतों के कारण समाज और व्यक्ति परमध्येय से च्युत हो गये। कुछ बहककर श्रेष्ठ मार्ग से ही मुंह मोड़ बैठे, कहने लगे कि आत्मा आदि के व्यर्थ झगड़ों में पड़कर संसार बिगाड़ने से क्या लाभ हो सकता है? कुछ बिना समझे बूझे पुरानी मान्यताओं को अपनाकर संतुष्ट हो गये। कुछ लोग अकर्मण्य चिंतन प्रधान होकर व्यर्थ बन गये। कुछ लोगों

नें घबड़ांकर सभी सिद्धातों को तिलांजलि दी और उनके मन को जो अच्छा लगे वही करने लगे।

संसार लीला द्वैत भाव पर आधारित है। संसार में द्वन्द्व निश्चित है, परन्तु यह भी निश्चित है कि द्वन्द्वातीत अवस्था भी इसी जीवन में प्राप्त हो सकती है लेकिन सत्य की टोह में कुछ विद्वान नास्तिक निरीश्वरवादी हो गए और कुछ विद्वान कहने लगे कि परमसत्ता ईश्वर, परमेश्वर और ब्रह्म इस संसार के बाहर है। उसकी प्राप्ति इस जगत को त्यागने पर अथवा इससे बाहर जाने पर ही सम्भव है।

विभिन्न मतों का प्रतिपादन करने वाले विद्वान, विविध भेदों से, अपने विचार की पुष्टि करने के लिए, स्थिति-कातर होकर युक्तियां प्रमाण और तर्क प्रस्तुत करने लगे। फलतः व्यक्ति और समाज राह खो बैठा, पूर्वाग्रही हो गया और मानने लगा कि जो उनकी मान्यता है, वही सही है। दिमाग की सब खिड़कियां बन्द हो गई, किंकर्तव्य विमूढता आ गई। नऐ विचार और सिद्धान्त सुनने और मनन करने को लोग तैयार न रहे। जो वस्तु या तत्व बंध जाता है, वही गंदला एवं अधोगामी हो जाता है।

सभी मतों का विवरण देना असम्भव है, क्योंकि मत, भ्रम तथा किंकर्त्तव्य विमूढता उत्पन्न करते है। समाज के साधारण व्यक्ति न इतनी खोज कर सकते हैं और न उनके पास इतना समय, साधन और योग्यता ही है। मुक्ति और पूर्णत्व के मार्ग से लोग भटक गए। भ्रम, मोह और अज्ञान बढ़ा और आलस्य तथा शरीर-सुख की लालस ने मानव को दबा लिया। व्यक्ति समाज और देशों के पतन की कहानी अज्ञान की कहानी है। सिद्धान्तो के सागर में गोते लगाते रहना ही हमारा जीवन ध्येय कभी नहीं हो सकता।

परमज्ञानी भगवान शंकर कहते हैं कि सभी शास्त्रो को पुनःपुनः एकमत देखने और विचारने पर जो निश्चित मत बनता है वह बताता हूं। इसमें जातिगत, लैंगिक और देशगत भेद नहीं है। यह राह सभी प्राणियों के लिये उपयोगी है।

व्यक्ति के सर्वांगींण विकास के लिये, निश्चयात्मिका बुद्धि आवश्यक है। योगशास्त्र सभी के लिये लाभदायी है। इसका साधन, केवल

मानवशरीर और मानव मन की अपेक्षा करता है। इसका सम्यक्‌ज्ञान प्राप्त करके मानव अपनी विकसित शक्तियों को, लीलाक्रम में पूर्ण उपयोगी कर सकता है। तब सांसारिक एवं परमार्थिक आदर्शों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जायेगा, भ्रम के लिये कहीं स्थान नहीं रहेगा।

योग साधना में, परिश्रम करना श्रेयस्कर है। मुक्ति, पूर्णविकास, पूर्णत्व प्राप्त करने के लिये, अपनी शक्ति को इस मार्ग पर केन्द्रित करना उचित है। शास्त्रों की भवाटवी में भ्रमित होने से, क्या लाभ है? सम्यक्‌-ज्ञान और आलस्य विहीन साधना, व्यक्तित्व को पूर्ण विकसित कर सकती है। अंतःकरण की सुषुप्त शक्तियों को जागृत कर सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। व्यक्ति जितना विकसित है उतना ही सुखी है।

योगशास्त्र रहस्यमय है। साधना करते करते इसके गोपनीय रहस्य और प्रभाव समझ में आते है। योगशास्त्र की व्याख्या साधको और योग्य अधिकारियों को पूर्ण लाभ प्राप्त कराने के लिये और चेतना के स्तर को अधिकाधिक विकसित करने के लिये की गई है। त्रैलोक्य में, संपूर्ण सृष्टि में, कहीं पर भी जन्मा हुआ व्यक्ति इससे लाभ उठा सकता है।

मनुष्य की दो शक्तियां ज्ञान और कर्म—ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति-फलदायी है। इच्छाशक्ति आधार है। इन्हीं शक्तियों पर सम्पूर्ण विकास और लीला आधारित है।

ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग में भी दो दो मार्ग हो गये। ज्ञान में एक तो भौतिक संसार के ज्ञान का मार्ग है और दूसरा इन्द्रियातीत का ज्ञान है। कर्ममार्ग में विधि और निषेध का भेद है। निषिद्ध कर्म करने से जीवन पापमय होता है। वैध कर्म से पुण्य प्राप्त होता है। प्रत्येक कर्म का फल होता है। फल पुण्यमय अथवा पापमय हो सकता है।

वैध कर्मों के भी, तीन भेद हैं; नित्य, नैमित्तिक और काम्य नित्य कर्मों के न करने से निश्चित हानि होती है। नैमित्तिक और काम्य कर्मों से फल प्राप्त होते हैं। कर्म सकाम और निष्काम भी होते हैं, नीचे गिराने वाले पतनकारी और उन्नति प्राप्त कराने वाले। यही पतन और उन्नति नरक और स्वर्ग कहा गया है। व्यक्तित्व का उत्थान, विस्तार एवं विकास स्वर्ग है।

स्वर्ग तथा नरक अथवा उत्थान एवं पतन भी अनेक स्तरों वाले हैं। सत्-कर्म से उन्नति और असत्-कर्म से पतन निश्चित है। मानव अपने चुनाव द्वारा उन्नतिशील बने अथवा पतन में चला जाये। इच्छा शक्ति ही प्रेरित करती है। क्रिया का चुनाव अपने हाथ में है।

सम्पूर्ण सृष्टि कर्म और उनके शुभाशुभ फलप्राप्ति के नियम से बंधी है, कर्ममयी है। मानव कर्मयोगी है। कर्म के शाश्वत नियम को कोई तोड़ नहीं सकता। कर्म से बंधा जीव, पशु के समान, कभी कभी तो नारकीय भोग प्राप्त करता रहता है। अनेक प्रकार के दुखों से भरे जीवन को नरक कहा गया है और अनेक प्रकार के सुखों से परिपूर्ण जीवन को स्वर्ग बताया गया है। सभी व्यक्तिगत और समाजगत जीवन क्रमो में, दोनों तत्वों का सम्मिश्रण होता है। मात्राभेद से नारकीय और स्वर्गिक जीवन को पहचाना जाता है।

जो सुख चाहते हैं उन्हें पूर्णमय उचित, समाज-सम्मत, शास्त्र-सम्मत श्रेष्ठ कर्म करना चाहिये। दिव्य-जीवन प्राप्त होने पर भी पाप कर्म का फल दुःख होता है, जिसे भोगना पड़ता है, जैसे स्वर्ग में भी पर-स्त्री-गमन दहनीय माना गया है। पाप और पुण्य दोनों प्रकार के कर्मो के फल-भोग के लिये पुनर्जन्म निश्चित है।

बंधनो से बंधे जीवन में दुःख होता है। पाप और पुण्य दोनों ही बन्धन-कारक हैं। कर्मों की विषद व्याख्या करने वालो ने अन्त में यही स्वीकार किया है कि कर्मफलों से बंधा जीव, शरीर और रूप धारण करता रहता है और नाना प्रकार के सुख, दुःख, तथा मिश्रित भोग प्राप्त करता है। इसीलिये विद्वानों का मत है कि फलाकांक्षा न करने वाला व्यक्ति, कर्म तो करता है लेकिन बंधता नहीं। किसी प्रकार के कर्म में राग नहीं होना चाहिये। कर्म तो करना ही पड़ेगा क्योंकि मानवी-सृष्टि रजोगुणी है और इस सृष्टि में, कर्म नितान्त निश्चित नियम है। फलासक्ति का त्याग ही सर्वोच्च्व त्याग है।

नित्य और नैमित्तिक फलदाई कर्मो में राग न रखते हुए योग्य कर्मो में व्यक्ति प्रवृत्त हो। व्यक्तिगत संसार तो सुधरेगा ही साथ में व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास भी होगा। फल प्राप्त होगें, भोग मिलेंगे, परन्तु व्यक्ति बधेगा नहीं। योगाभ्यास भी कर्म है, लेकिन कर्म की व्याख्या को

भली प्रकार जानने वाला योगी, चेतना-स्तर के सिवा और कुछ नहीं चाहता। धीरे-धीरे विकास की आकांक्षा भी समाप्त हो जाती है।

पुण्य, पाप, कर्म, अकर्म, स्वर्ग, नरक, सुख, दुःख आदि की व्याख्याओं में व्यक्ति न फसे। कर्मणा गहनो गतिः। विकसित व्यक्ति, सभी तत्वों की सम्यक् व्याख्या सहज स्वाभाविक रूप में स्वयं समझ लेता है।

जीव को जानना चाहिये कि संपूर्ण लीला, चैतन्य सत्ता की है। इसी को आत्मा कहा गया है। आत्मा ही देखने, सुनने, जानने एवं मनन करने योग्य है। यही सच्चा कर्मयोग है। श्रुतियों का निश्चित मत है कि आत्मा ही विचारणीय है। अन्य सभी तत्व आत्मा से ही उत्पन्न, प्रकाशित और भाषित होते हैं। पूर्ण विकसित चेतना ही आत्मा है। विकसित व्यक्तित्व और चेतना क्या नहीं प्राप्त करा सकते। ऐसे ही ज्ञानमय वचन सबके लिये सुसेव्य हैं, भली प्रकार जानने समझने योग्य हैं, क्योंकि यही मुक्ति और पूर्णत्व प्राप्ति के साधन हैं। आत्मा ही परमात्मा है।

भगवान शंकर कहते हैं कि अनेक रूपो में, पाप और पुण्य में, सुख दुःख आदि में, चित्त वृत्तियों को प्रेरित करने वाली सत्ता तो मैं स्वयं हूं। संपूर्ण सृष्टि मुझसे प्रेरित होती है। जगत के चर, अचर मेरे द्वारा, मुझमें ही भासित होते हैं और मुझमें ही लीन होते हैं। मैं इस सृष्टि से भिन्न नहीं हूं और मुझसे भिन्न इस सृष्टि में कुछ भी नहीं है। मैं ही आदि अन्त और मध्य हूं। सैकड़ो थालियों में भरे जल में अनेक सूर्य दिखाई पड़ते हैं, लेकिन सूर्य एक ही है। मैं ही संपूर्ण सृष्टि में अनेक रूपों में भासित होता हूँ। मै ही आत्मा हूँ। रूपों पर आधारित ऐन्द्रिय जगत में भेद दिखाई पड़ते है। जितनी अधिक स्थूलता होगी उतनी ही विविधता दिखेगी। सूक्ष्म तत्वों की ओर बढ़ने पर अनेकता मिलने लगती है। सम्यक् ज्ञान होने पर रस्सी सांप नहीं दिखाई पड़ती और सीप में चांदी का आभास नहीं होता। सत्य का सामीप्य प्राप्त करना सभी का कर्त्तव्य भी है और सबके लिये सम्भव भी है।

परमात्मा के प्रति भ्रमित होने के कारण ही इस संसार में अनेकता मिलती है। आत्म-ज्ञान के पश्चात् जगत रहता है, लेकिन खिलवाड़ ज्ञान बढ़ता है। लगता है कि जो चाहे कर लेगें, सब कुछ अपने बस में है।

विकसित चेतना क्या नहीं कर सकती। संसार में अनुभव होने वाले बन्धन, दुःख निराशा, असफलता आदि भ्रान्ति और अज्ञान के फल है। सम्यक् दर्शन हाने पर जैसे रस्सी सांप नहीं रह जाती, उसी प्रकार आत्म-ज्ञान होने पर संसार के भ्रम स्वयं नष्ट हो जाते हैं। आंखे खराब होने पर अथवा पीलिया रोग के कारण संसार पीला भासित होता है। आत्म-ज्ञान न होने के कारण ही संसार की वस्तुयें त्यागने, छोड़ने अथवा उनके घटने से बड़ा कष्ट होता है। जैसे दृष्टि के दोष दूर होने पर सफेद वस्तु पीली नहीं सफेद दिखाई देती है, उसी प्रकार ज्ञान शुद्ध होने पर अज्ञान और भ्रम का अन्त हो जाता है। आत्मा की लीला के अलावा अन्य कुछ अनुभव में नहीं आता। आत्म-ज्ञान की यही प्रक्रिया है। जैसे तीनों काल में रस्सी सांप नहीं हो सकती, वैसे ही आत्मा स्थूल विश्व नहीं है। विश्व है स्थूल, परन्तु आत्मा है सूक्ष्माति-सूक्ष्म-निरंजन-गुणातीत, अनत् परमसत्ता अथवा ब्रह्म।

महान् दार्शिनकों का निश्चित मत है कि ईश्वर समेत समस्त सृष्टि का विनाश और निर्माण हुआ करता है। आत्म बोध होने पर सब स्वयं ही समझ में आ जाता है। अन्य किसी राह से यह बात समझाई नहीं जा सकती। बुद्धि और तर्क के परे जाना ही होगा। ससीम माध्यमों से असीम केवल आभास हो सकता है। पूर्ण ज्ञान प्राप्त होने पर सीमा नहीं रहेगी। सब कुछ असीम सत्तामय हो जायेगा। मन, बुद्धि, शरीर, कर्मवचन और भावना के परे सत्चित आनन्दधन है। जहां परिवर्तनीय और अपरिवर्तनीय तत्व एक रस हो जाते हैं। परिवर्तन होते हैं परन्तु प्रभावित नहीं करते।

### सृष्टि लीलाक्रमः

जैसे समुद्र में वायु के कारण फेन बुदबुदे आदि अनेक आकार उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार चेतना के समुद्र में स्पन्दन होने के कारण सृष्टि उत्पन्न और नष्ट होती है। महत् चेतना ही स्पन्दन के कारण अनेक रूप धारण करती है। रूप आकार नष्ट होने पर चेतना समुद्र में सब कुछ फिर शुद्ध रूप में मिल जाता है। जैसे समुद्र में जल प्रधान है, यद्यपि अनेक अन्य तत्व भी जल में मिले हुये हैं, उसी प्रकार ईश्वर, आकाश तथा अन्य स्थूल तत्वों के विद्यमान होने पर भी, चेतना समुद्र

में सब कुछ चेतनामय है। यही चेतना आत्मा कही गई है।

मानव जीवन में, समय को हम वर्षों, महीनों दिनों आदि में नापते हैं, लेकिन अनन्तकालगणना में, मानव जीवन के सौ या पचास वर्ष क्षण समान हैं। इसीलिये मानव जीवन क्षणभंगुर कहा गया है। भ्रम के पर्यवसान होने पर स्वरूप परिवर्तन में मोह नहीं रहता।

सूक्ष्मतम चेतना के स्पन्दन से यह सृष्टि उत्पन्न होती है। स्थूलतर और स्थूलतम हो जाती है। सत्य ज्ञान होने पर जो नित्य वस्तु है जिसे आत्मा, परमात्मा परमसत्व आदि नाम दिये गये हैं, वही दिखायी देती है। स्थूलता से उत्पन्न भेद, चेतना तत्व में ही विलीन हो जाते है। जब तक भेद बुद्धि है, तब तक भ्रम है। सृष्टि लीला के आदि में जो तत्व था और वही जो अब भी सब में है तथा जो भविष्य में भी रहेगा, जो अपरिवर्तनीय है, वही स्थूल और सूक्ष्म सबका आधार है। सबमें ओतप्रोत है। इससे अन्य नित्य, सत्य, तत्व कोई नहीं है। समस्त सृष्टि परमात्मा में भासित, प्रकाशित, दृष्ट होती है। सब कुछ परमात्मामय है।

विद्वानों ने कल्पना अर्थात मस्तिष्क के द्वारा इस परिवर्तनशील जगत की परिभाषायें बनानें ओर इसे समझने के प्रयत्न किये। जब अविद्या ही जगत का मूल कारण है तो यह अपरिवर्तनीच और नित्य सत्य कैसे हो सकता है? स्थूल के जिस स्तर पर हम हैं, वहीं से सूक्ष्म स्तरों की ओर बढ़ें और सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्व आत्मा को पहचान लें। जब चैतन्य तत्व से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ चराचर सृष्टियां इसी के अंग, हैं, तो अन्य सभी तत्वों को पाकर सूक्ष्म तत्व को जानने का प्रयास ही सर्वश्रेष्ठ है।

जैसे घट के भीतर और बाहर आकाश व्याप्त रहता है, उसी प्रकार सभी चर-अचर रूपों में, प्राणियों में, कार्य समूहों में वाह्य एवं अन्तः जगत के कार्यो मे, व्यक्ति और समाज के कर्म और विचार समुच्चय में, चारों तरफ आत्मा विद्यमान रहता है। यह निश्चित है कि आत्मा, सभी कार्य समूहों से असंलग्न है। जैसे आकाश शून्य सभी रूपों के भीतर और बाहर रहता हुआ भी, निर्विकार रहता है। अपना विकार रहित स्वरूप कभी नही त्यागता। यद्यपि आकाश अन्य सभी तत्वों में समाहित रहता है। आत्मा, यदि विकारी हो जाये तो शुद्ध तत्व नहीं रहेगा और

मरण-धर्मा हो जायेगा।

ईश्वर आदि देवताओं समेत सम्पूर्ण सृष्टि, आत्मा द्वारा व्याप्त क्रियाशील और जीवित है। वही सत्‌चित-आनन्द-धन, पूर्ण, द्वैतहीन, अद्वैततत्व है, जिसका कोई प्रकाशक नहीं है। जिसके प्रकाश से सभी प्रकाशित हैं, सभी शोभा पाते हैं, वह आत्मा पूर्ण है, स्वयंप्रभा है। देश काल परिस्थिति और रूप से आत्मा बंधा नही है। सब जगह व्याप्त है। उपाधियों के कारण, आत्मा की अलग अलग सत्तायें नहीं मानना चाहिये। इसका कभी रूप परिवर्तन नहीं होता, घटाव और बढ़ाव नहीं होता। नाश और निर्माण तो पंच महाभूतों का होता है। आत्मा नित्य एक रूप है। यह निश्चित सत्य है। इस तत्व से भिन्न कोई सत्ता इस सृष्टि लीला में नित्य नहीं है। आत्मा एक ही भाव में स्थित रहता हैं, एकरस है। इससे भिन्न अन्य सभी तत्व परिवर्तनीय हैं, इसीलिये शास्त्रों ने जगत लीला को मिथ्या बताया है। यदि आत्मा में कुछ जुड़ने या निकलने वाला रहे तो आत्मा भी सीमित तत्व हो जायेगा।

संसार-प्रपंच अविद्या के कारण सत्य भासित होता है। इस संसार में दुःख नाश और सुख प्राप्ति के लिये, ज्ञान पूर्वक विचार करके, आदि अन्त से रति एकरस आत्मा में स्थित होना चाहिये। आत्मा ही सुख स्वरूप है। जिस व्यक्ति का अज्ञान नष्ट हो जाता है अथवा जिसे सत्य-ज्ञान प्राप्त हो जाता है, उसके लिये अविद्या और अज्ञान पर आधारित विश्व-लीला बन्धन कारक नहीं रह जाती। यही आत्म-ज्ञान है, यही सनातन सत्य है। अनन्तकाल से यही ज्ञान अवाधित भाव से अविछिन्न रूप में चला आ रहा है। इसका रूप नहीं बदला, अन्य सभी सीमित ज्ञान बदलते रहे।

यह सृष्टि, काल पर आधारित है। समय से निर्माण और विनाश हुआ करता है। लीला ही बिगड़ती है। आत्मा तो त्रिकालावाधित एक भाव में स्थित रहता है। इस आत्मा का ज्ञान कल्पना एवं इन्द्रिय-अनुभव के परे है। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, ईश्वर, जीव, देवसमूह आदि सभी सत्तायें भेद-प्रभेद से गुण युक्त है, अपूर्ण हैं। केवल आत्मा ही गुणातीत पूर्णतत्व है। वाह्य आवरण और आकार वाले तो सभी समय के साथ नष्ट हो जाते है। जहां वाणी चित्त और मन गति नहीं, ऐसे

आत्मा में द्वैत-भाव असम्भव है। अपने में निश्चित भाव से सर्वव्यापी आत्मा को अभ्यास द्वारा योगी देख पाता है। सिद्ध योगी साधारण मनुष्य की तरह सांसारिक कर्मो को करता हुआ, प्रारव्ध को भोगता हुआ संकल्प विकल्प रहित होता है। सांसारिक कार्यो में लगे रहने पर भी, कुठांरहित बना रह सकता है। अपने आत्मा में स्थित एकरस आत्मभाव में सिद्ध योगी ही कुठांरहित बना रह सकता है। अपने आत्मा में स्थित अर्थात् अपने स्वरूप को जानने वाला आत्मा को सृष्टि लीला का कर्त्ता, नियामिक भोक्ता मानता हुआ, आत्म-सुख में रमण करता है। सबमें आत्मा के दर्शन करता है। संसार-प्रपंच में रहता हुआ भी, योगी निर्लिप्त रहता है। सहज समाधि की स्थिति रहती है, उसका ज्ञान दृढ़ हो जाता है। परिस्थितियों से बंधा वह पशु समान नहीं रहता। परिस्थितियों को बनाने, बदलने के क्षमता प्राप्त कर लेता है। लीलापति से एकत्व स्थापित करने पर योगी में भी लीलापति की सर्व-व्यापकता, सर्व-शक्तिमत्ता प्रकट होने लगती है। सहज समाधि की स्थिति में अनन्त सुख की अनुभूति अबाधगति से प्रवाहित रहती है।

## माया

माया विश्व-जननी है। इससे भिन्न कोई अन्य तत्व सृष्टि रचना का कारण नहीं है। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश आदि भावों को उत्पन्न करके सृष्टि को माया आच्छादित करती है। माया स्वयं को ज्ञान शक्ति, क्रिया शक्ति और इच्छा शक्ति में विभाजित कर सम्पूर्ण सृष्टि को कर्म में प्रेरित करती है। माया को, महामाया, महाशक्ति आदि नामों से वर्णित किया गया है। माया शक्ति को ठीक ठीक समझ लेने पर विश्व लीला महत्वहीन हो जाती है। सब कुछ माया का खिलवाड़ जान पड़ता है। माया के कारण सब भूतों में समान रूप से व्याप्त आत्मा में भी द्वैत का आभास होता है। जो कुछ भी अनुभव में आता है, माया का विलास है। माया तो आत्मा से निम्नकोटि की तरंग-लीला है। "मीयते इति माया"। जो परिवर्तनशील है, वह सब माया है।

आत्मभाव मे स्थित व्यक्ति माया-लीला में प्रीति राग अथवा आसक्ति नहीं मानता। माया से उत्पन्न सभी सुख शरीर के है। सुख-भाव इन्द्रिय मन और बुद्धि तक सीमित है। आत्मा इन से परे है।

मायामय संसार व्यवहार दृष्टि से तीन भावों को प्राप्त होता है, शत्रु, मित्र, तथा उदासीन। दैनिक व्यवहार मे इन्हीं तीन भावों का अनुभव होता है। भावनाओं और विचारों पर आधारित प्रिय और अप्रिय का भेद वस्तु-जन्य है। भेद शाश्वत तथा नित्य नहीं है। प्रिय और अप्रिय के मापदंड भी बदलते रहते हैं। अपनी भावनाओं के कारण वही पुत्र कभी प्रिय तो कभी अप्रिय लगता है। अपने भीतर स्थित बुद्धि और मन ही शत्रु और उदासीन भावों के लिये उत्तरदायी हैं। योगी के लिये न कुछ प्रिय है न कुछ अप्रिय है, न वह उदासीन है और न लिप्त है। श्रुतियों को युक्तिपूर्वक पढ़कर, व्यक्ति को जान लेना चाहिये कि सम्पूर्ण विश्वलीला माया पर आधारित है। अध्यारोप और अपवादन्याय से योगी माया-तत्व को चैतन्य तत्व में लय कर लेता है।

कर्मों के फलस्वरूप संसार उत्पन्न होता है। अतः ज्ञान के द्वारा कर्मों के स्वरूप को समझ लेना चाहिये। सत्य को जानने से समस्त उपाधियां, जो माया और भावनाओं पर आश्रित हैं और द्वन्द उत्पन्न करती हैं, उनसे परे जाकर अखण्ड ज्ञान रूपी निरन्जन तत्व को प्राप्त करके व्यक्ति वही हो जाता है। मालिक बन जाता है, दास नहीं रहता। सकामभाव में आना, परिग्रह एवं अपरिग्रह आदि सभी द्वन्द्वमयी भावनायें उसके वश में होती है। वह विश्वपति के समान अपने विश्व की सृष्टि और प्रलय इच्छानुसार करने में समर्थ होता है। माया से मुक्ति की तथा आत्मतत्व में गति की यही प्रक्रिया है। संसार के सभी धर्मो ने इसी भाव-साधना को श्रेयस्कर बतलाया है।

जिस किसी भाव या वस्तु में अविद्या अथवा अपूर्णता का आभास मिले, यह परिवर्तनीय है। अपरिवर्तन की सीमा तक सब माया है। शुद्ध ब्रह्म-ज्ञान अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार ज्ञान अथवा विद्या से ही हो सकता है, अविद्या से नहीं। यद्यपि माया ब्रह्म से बाहर नहीं है, फिर भी ब्रह्म-ज्ञान तक पहुंचने के लिये बुद्धि मन और इन्द्रियो को अभ्यास द्वारा शनैः शनैः तैयार करना चाहिये।

ब्रह्म शुद्ध चैतन्य सत्ता है। वेदान्त जिस रूप में ब्रह्म को मानता है वह क्रियाहीन स्पन्दन रहित चैतन्य तत्व है जो न कुछ उत्पन्न करता है न नष्ट करता है परंतु सब कुछ उसी में आधारित है। ब्रह्म की यह

व्याख्या दर्शन शास्त्र में भारत की अद्वितीय देन है। ईश्वर क्रियाशील है। ब्रह्म निराकार अनिर्वचनीय है। ईश्वर सकार भी है और ब्राह्मी स्थिति में निराकार है। अविद्या (माया) से संबंधित होकर ब्रह्म से ईश्वर-तत्व अथवा महतत्व या महामाया, महतत्व से शुद्ध अंहकार, उससे आकाश, आकाश से वायु, वायु से तेज अथवा अग्नि, अग्नि से जल और जल से पृथ्वी की उत्पति मानी गई है। चैतन्यसमुद्र के स्पन्दन को महामाया कहते है। महामाया में ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और इच्छा-शक्ति प्रस्फुटित होती है। ईश्वर अथवा महामाया इन तीन शक्तियों के रूप में बुद्धिगम्य है।

आकाश का गुण शब्द है। वायु का गुण स्पर्श है। वायु में शब्द भी होता है क्योंकि आकाश से उत्पन्न होने के कारण उसका गुण प्राप्त करता है, और अपने विशिष्ट गुण, स्पर्श के कारण भिन्न नाम प्राप्त करता है। अग्नि में प्रकाश, तेज रूप का ज्ञान होता है। इसमें पूर्ववर्ती दोनों महाभूतों के गुण शब्द और स्पर्श भी विद्यमान है। अपने पूर्वगामी तीन महाभूतों के गुण शब्द स्पर्श रूप को भी लिये रहता है। पृथ्वी स्थूलतम है। इसका विशिष्ट गुण गन्ध है परन्तु इसमें शब्द, स्पर्श, रूप, एवं गंध भी उपस्थित है। यद्यपि सबकी उत्पत्ति मूलतः ब्रह्म अथवा आत्मा से है, फिर भी जैसे-जैसे स्थूलता बढ़ती गई नये-नये गुण जुड़ते गये। गुण की विशिष्टता पर नाम ओर रूप के भेद आधारित है। ब्रह्म को ही समझने और अनुभव योग्य करने के लिये आत्मा की संज्ञा है। ब्रह्म और आत्मा गुणतीत है।

मानव शरीर में पंच महाभूतों के गुणों को ग्रहण करने के लिये, पांच ज्ञानेन्द्रियां है। इन्हीं के माध्यम से हम अपने स्पन्दन क्रम की सीमाओं के अन्दर सृष्टि का अनुभव करते है। सृष्टि गुणमयी है, मायामयी है। ब्रह्म गुणातीत है।

आकाश का गुण शब्द है–ज्ञानेन्द्रिय श्रवण है। वायु का विशेष गुण स्पर्श हैं ज्ञानेन्द्रिय त्वचा है। अग्नि अथवा तेज का विशिष्ट गुण रूप है, इसकी ज्ञानेन्द्रिय चक्षु है। जल का विशिष्ट गुण रस है–ज्ञानेन्द्रिय रसना है, तथा पृथ्वी का विशिष्ट गुण गंध है और इसकी ज्ञानेन्द्रिय घ्राण है।

सब कुछ चैतन्य से उत्पन्न हैं। चर-अचर, रूप-समुदाय, एवं मानवी

सृष्टि की सीमित स्पन्दन गति के अनुभव क्षेत्र के परे की अन्य सब सृष्टियां भी चैतन्य समुद्र की तरंगों के भिन्न-भिन्न स्तरों पर उदित होती हैं। समुद्र का रूपक पूर्ण व्याख्या नहीं करता परन्तु सूक्ष्म सत्ता को बुद्धिगत-करने के लिए निकटतम उदाहरण लिया गया है।

सृष्टि के प्रलय-क्रम को भली-भांति जान लेने से चैतन्य सत्ता की एकरसता, व्यापकता, अपरिवर्तनीयता का आभास मिलता है। स्थूलतम तत्व-पृथ्वी-प्रलय क्रम में जल में मिल जाता है। जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में मिल जाते हैं। आकाश तत्व अहंकार में, अहंकार तत्व महतत्व मे और महतत्व परमतत्व अथवा परमसत्ता या शुद्ध चैतन्य मे लीन होता है। अविद्या अर्थात् अज्ञान या सीमित ज्ञान ही आवरण शक्ति है। यही द्वैत उत्पन्न करती है। इसे जान लेने पर आत्मा जो पूर्ण सुखरूप है उस का आभास मिलता है।

माया की विक्षेपशक्ति के कारण ही जगत सत्य और सुखदायी दिखाई पड़ता है। महामाया में सूक्ष्मरूप से जड़त्व निहित है। अनुभव में आने वाले पांच महाभूतों में आकाश सबसे सूक्ष्म है, परन्तु उसमें भी जड़ता है। यद्यपि उसमें पृथ्वी के समान जड़ की सघनता नहीं है। महामाया से सत्व, रज और तम का आरम्भ होता है। आत्मा चैतन्य है, गुणातीत है। प्रत्येक व्यक्ति में चैतन्य है। व्यक्ति स्वयं को जब जड़ से सम्बन्धित कर लेता है और अपने चैतन्य-स्वरूप को विस्मृत कर देता है, तब सुख दुःख आदि द्वन्दों का अनुभव करता है। व्यक्ति में सूक्ष्मातिसूक्ष्म चैतन्य तत्व से सघनतम जड़ तत्व-पृथ्वी तक सभी तत्व विद्यमान है। तत्वों के अनुपात-भेद के कारण सृष्टि की विविधता है। अणु परमाणु की संरचना अथवा अनुपातों को बदल देने से, एक वस्तु दूसरी वस्तु या रूप में परिणत की जा सकती है। महर्षि पंतजलि ने इसे पदार्थ परिणाम की संज्ञा दी है। शास्त्रों का मत है कि जो एक शरीर में है, वही ब्रह्मांड में है।–"यत्पिण्डे तद्ब्रह्मांण्डे।"

जड़ता से चैतन्य की ओर की यात्रा, हमारे सुख को शुद्ध, सूक्ष्म एवं धनीभूत करते हुए, आनन्द का रूप प्रदान करती है। महामाया की विक्षेप और आवरण शक्ति के कारण ब्रह्म ही जगत के रूप में भासित होता है। महामाया के क्रियावैचित्र्य को ही शास्त्रो में दुर्गा, महाकाली,

लक्ष्मी, महालक्ष्मी, सरस्वती आदि संज्ञाओं से सम्बोधित किया गया है। देवताओं की कल्पना भी इसी प्रकार गुण और कर्म-विशिष्टता पर आधारित है। चैतन्य जब महामाया की आवरण शक्ति से युक्त होता है तो अपनी रूचि और मति के अनुरूप विद्वान पुरूष उसका वर्णन ईश्वर अथवा अन्य देवताओं के रूप में करते हैं।

चैतन्य से जड़ और जड़ से चैतन्य की ओर यात्रा की व्याख्या ही, सृष्टि रूपी समस्या-निर्माण और प्रलय का पूर्ण विश्लेषण है। मनुष्य की ज्ञान-शक्ति सीमित है। पूर्ण का अनुभव किया जा सकता है– तर्क से समझा नहीं जा सकता। समाधि अवश्य व्यक्ति को पूर्णत्व प्रदान करती है। शरीर एवं इन्द्रियों के बन्धन से मुक्त करते हुये, चैतन्य के अनुभव में सहायता करती है।

परिवर्तनशील जगत में आत्मा ही शाश्वत है, अन्य सब रूप, स्वरूप एवं वस्तुएं, भूत समुदाय कहे गये है। अपनी भावना के कारण चैतन्य ही सब रूपों में भिन्न आभास देता है। भिन्न भिन्न रूपो में आत्मा को देखना चाहिये, जो एकरस चैतन्य है, पूर्ण आनन्द-स्वरूप सत्य है सम्पूर्ण सृष्टि में वही व्याप्त है। उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इस ज्ञान का जो नित्य चिन्तन करता है, वह मरण-धर्मा संसार के दुःखों से मुक्ति का अनुभव करता है। संसार यथार्थतः लीलाक्रम ही जान पड़ता है। जैसे ब्रह्म सत्-चित्-आनन्द हैं, उसी प्रकार व्यक्ति भी आत्मभाव में स्थित होकर आनन्दमय हो सकता है।

सृष्टि खिलवाड़ है लीला है, यह आरोप और अपवाद न्याय से भी सिद्ध है। एक अपरिवर्तनीय ब्रह्म में ही सब कुछ का निर्माण और लय होता रहता है। मुक्त योगी अर्थात पूर्ण व्यक्ति के चित्त मे इससे भिन्न कोई भाव नही रह जाता।

## कर्म और सृष्टि

शरीर, बुद्धि और मन से होने वाले कर्म चेतना-सागर में स्पन्दन उत्पन्न करते हैं। स्पन्दन से अणु परमाणुओं की क्रिया आरम्भ होती है। अपने अपने जीवन काल में हम सभी अनुभव करते हैं कि हमारे विचार कर्म और भावनायें किस प्रकार हमारे शरीर, आयु इत्यादि में परिवर्तन

लाते रहते हैं। एक क्रोधी व्यक्ति का चेहरा क्रूर और भयावह हो जाता है। वही व्यक्ति यदि क्रोध त्याग दे शांत रहने लगे तो क्रूर और भयावह चिन्ह नष्ट हो जायेगें व्यक्तित्व आकर्षक हो जायेगा।

परमाणओं के सम्मिलन, अलगाव, विनाश निर्माण आदि के नियम हैं। हमारे कर्मों विचारों और भावनाओं के अनुसार हमारे व्यक्तिगत परमाणु बदलते है और शरीर की आयु पूरी होने पर समान भाव वाले अणु-परमाणु नियमाधीन, कर्म-श्रृंखला एवं वासना-माला के अनुरूप उपयुक्त स्थान, समय, परिवार, देश आदि को, पुनर्निर्माण पुनः मिलन हेतु-चुन लेते हैं। शास्त्रो ने कर्म विचार भावनाओं आदि में सामूहिक रूप को कर्म संस्कार कहा है। चेतना के अनन्त सागर में अणु परमाणुओं के मिलन और विच्छेद के कारण ही सृष्टि बनती और बिगड़ती रहती है अर्थात् बदलती रहती है। पूर्व कर्मों के अनुसार माता-पिता के अन्नमय कोष के माध्यम से जीव का पुर्नजन्म होता है। शरीर का बनना, बढ़ना और नष्ट हो जाना स्थूल जड़ अथवा प्राकृतिक शक्तियों के खिलवाड़ या सनंक पर आधारित है। प्रबल सृष्टि-नियमो पर ही सब कुछ आधारित है, इसीलिये शरीर के भागों को अत्यधिक महत्व नहीं देना चाहिये। शरीर ही सुख है, ऐसा नही मानना चाहिये। स्थूल शरीर की तुलना में कर्म, विचार, भावनायें और इनसे भी सूक्ष्म सूक्ष्मतर तत्व संस्कार आदि अधिकाधिक महत्वपूर्ण हैं। इसलिये शास्त्रों ने कहा है कि जो जैसा करता है, वैसा फल पाता है।

मांस, अस्थि, स्नायु, मज्जा, नाड़ी आदि से बना यह शरीर ही सब कुछ भोगता रहता है। सब सांसारिक अनुभवों और क्रियाओं का माध्यम शरीर ही है। भोग आत्मा के नहीं है, शरीर के है। शुद्ध चैतन्य आत्मा को इसी कारण द्रष्टा कहा गया है। जब तक शरीर रहेगा, चाहे अनचाहे ही भोग, प्रिय और अप्रिय का संयोग तथा वियोग होता रहेगा। भोगों को, जो परिस्थितियों और प्रारब्ध के अनुसार प्राप्त होते हैं, आसक्ति पूर्वक भोगने से दुःख उत्पन्न होता है। सभी भोगों को चाहे बिना, प्रारब्ध लीला का अंग मानकर, ग्रहण करने में, न दुःख रहता है न सुख, सब कुछ आनन्दमय हो जाता है। बहुत ऊची अवस्था में यह भाव दृढ़ हो पाता है। सभी इस भाव के अधिकारी नहीं है। इस उच्चतम अनुभूत

मत का अनधिकारी व्यक्ति अधिकतर दुरुपयोग ही करते आये है।

पंचभूतों से बने इस शरीर को अच्छी तरह समझ कर जान लेना चाहिये कि सम्पूर्ण ब्रह्मांड में द्वन्द्व है, सुख-दुःख आदि है। वस्तुओं और रूपों में सुख भाव अपनी ही कल्पना पर आधारित हैं।

बिन्दु शिव है, रजः शक्ति है। शास्त्रमतानुसार शिव और शक्ति के संघात से अनेक भूत समुदाय उत्पन्न होते हैं। जड़ रूपा सृष्टि में शिव और शक्ति तत्व भी जड़ है। जड़ में स्थित यही निर्माण शक्ति, लीला क्रम में नियमों के अनुसार क्रिया करती रहती है। प्रकृति में सब कुछ नियमों पर आधारित क्षणिक संवेग और आवेग नहीं चलते। नियम निश्चित हैं।

महाभूतों के पंचीकरण नियम से स्थूल जगत की उत्पत्ति होती है। यही आत्म-संख्यार्णिका मत है। ब्रह्मांड में सब कुछ कर्मानुसार उत्पन्न होता है। भगवान् शंकर कहते हैं कि पंचभूतों के मिश्रण से अनेक रूपों की उत्पति पूर्व कर्म के भोगों के लिये मैं करता हूं। भोग हेतु उत्पन्न होने वाले तत्व-संघात के सामूहिक रूप को जीव की संज्ञा दी गई है, [illegible] र्मश्रृंखला और वासना माला से बंधा रहता है।

आत्मा जड़ तत्व से रहित है। वह अनेक रूपों भूतों वस्तुओं में प्रवाहित होकर उन्हें जीवित अवस्था प्राप्त कराता है। जीव भी जड़ है, परन्तु पंच महाभूतों से अधिक सूक्ष्म है। वही जीव कर्मानुसार, विविध रूप धारण करते हुये, भोग प्राप्त करता रहता है। अपने कर्मफल के भोगों के लिये ही जीव पुनः पुनः उत्पन्न होता है। जब जीव में कोई जड़ता नहीं रह जाती, तब वही आत्मा बन जाता है। इसी नियम पर, फलाशा-त्याग का सिद्धांत आधारित है।

अनेक शरीरों, रूपों, योनियों और सृष्टियों अनादि वासना और कर्म-श्रृंखला के कारण परमाणुओं के माध्यम से जन्म-मरण अथवा रूपान्तर होता रहता है। नाना गुणों से ओत-प्रोत जीव, सभी व्यापारों का करने वाला तथा पूर्वार्जित संस्कार के अनुसार भोग प्राप्त करने वाला है। सृष्टि के भिन्न भिन्न स्तरों पर जो कुछ उत्पन्न होता है, नष्ट होता है अथवा जो भोग प्राप्त होते हैं, कुछ कर्मो के कारण हैं। जीव पशु के समान कर्मफल भोगता रहता है। कर्म से उत्पन्न होने वाले फल ही

दुःख-सुख का सृजन करते हैं। जीव की प्रवृति भी संस्कारों के अनुरूप ही होती है। माया की उपाधि और माध्यम से चैतन्य में सृजन और विनाश की संपूर्ण लीला होती रहती है।

इस सृष्टि में जो कुछ प्रपंच भासित होता है वह कर्म से उत्पन्न, कर्म फलस्वरूप है। सब जीव पशु के समान कर्मानुसार व्यक्तिगत एवं सामूहिक भोग तथा कर्म किया करते हैं। कर्म तो इच्छाओं से उदित होते हैं। कर्मो को इच्छा-दोष भी कहा गया है। काल-चक्र, कर्म-चक्र भी कहा गया है। काल-दोष भी कहा है। काल-चक्र, कर्म चक्र और लीला-क्रम में रमता जीव विविध रूपों में उत्पन्न होता रहता है और कर्म श्रृखंला एवं वासना माला से उत्पन्न फल भोगता रहता है सीप में चांदी का भ्रम होता है। आत्मा में जीव का भ्रम इसी भाँति का है। सीप कभी चांदी नहीं होती, रस्सी कभी सांप नहीं होता, आत्मा कभी जीव नहीं होता।

भिन्न भिन्न मतों और संप्रदायों ने ब्रह्म की अनेक परिभाषायें बना दी। ब्रह्म-अनुभव में आता है, कांच की आंखों से नहीं प्राप्त होता। आवागमन जीव का होता है। आत्मा में आवागमन, प्रारब्ध और बन्धन आदि का आरोप भ्रम-जन्य है।

### आत्मा और पुनर्जन्म

पुण्य और पाप, दोनों कर्मफल हैं। जीव इनसे बंधता है। आत्मा शुद्धतम चैतन्य तत्व है। जब कोई रूप शरीर नष्ट होता है तो जीव ही अन्य जन्म प्राप्त करने के लिये जाता है। जीव का पुनर्जन्म होता है, आत्मा का पुनर्जन्म नहीं हो पाता। वह तो सम्पूर्ण सृष्टि में समान रूप से विद्यमान है। पाप और पुण्य ब्राह्य विकार है, जो भोग्य वस्तु का रूप धारण करते हैं। इनका संबंध क्रिया और फल से है। आत्मा निर्विकार है। कर्म-संस्कारो से बंधा जीव सुख और दुःख प्राप्त करता रहता है। चैतन्य पाप से परे है, अलिप्त है। उस चैतन्य-तत्व आत्मा में पाप अथवा पुण्य का आरोप भ्रम-जन्य है। यह कभी एकीभाव से अन्यथा नहीं होता, एकरस रहता है। यह सत्य है कि पाप और पुण्य उसी प्रकार कर्म-विकार जैसे अनेक वृक्ष पृथ्वी के विकार है। पाप और पुण्य की परिभाषायें

बदलती रहती हैं। समाज और व्यक्ति के लिये लाभदायी कर्म पुण्यमय होते है। कर्म करते हुए कर्तापन पर कर्तृत्वाभिमान रहने पर कर्म फल उत्पन्न करते है। लेकिन बंधन कारक नहीं होते। कर्मठ होना मानवीय सृष्टि का नियम है। कुछ भी चेतन से भिन्न नहीं है, उसी पर सब कुछ आधारित है। माया के माध्यम से चैतन्य ही सब वस्तुओं का उत्पत्ति-कर्त्ता, पालनकर्त्ता, भोग्य और भोक्ता है।

उदाहरणार्थ, आकाश शून्य है और दीवारों से घिरकर दूषण ग्रहण कर लेता है। मकान के अन्दर का आकाश मकान से बाहर के आकाश से यद्यपि अलग नहीं होता, फिर भी दोषों के कारण भिन्न अनुभूति देता है। यह कहना भ्रम-जन्य एवं अनुचित होगा कि दीवारें गिरने पर वही आकाश जो पहले दीवारों में बंधा था या घिरा था, अपने में ही स्थित दूषणों के कारण अशुद्धत्व को प्राप्त हुआ, और जब उसी स्थान पर या अन्य स्थान पर दीवारें बनी, तो वही आकाश का टुकड़ा-विशेष, जो पहले दीवारों में बन्द था, फिर दीवारों में पूर्व दूषणों के कारण बंद हो गया। उदाहरण सीमित तथा सत्य की आंशिक व्याख्या करने वाले होते हैं, सत्य का पूर्ण निरूपण नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह कथन भ्रम उत्पन्न करेगा कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है। संस्कारों और जीवों का पुनर्जन्म होता है। चैतन्य, समान रूप से सम्पूर्ण लीला में व्याप्त है। यह भ्रम है कि चैतन्य का कोई अंग-विशेष बंध जायेगा। प्रारब्ध, संस्कार, कर्म, विचार, भावना आदि आत्मा को नहीं बांधते। यह भ्रांति है कि हम आत्मा में किसी जड़ वस्तु का आरोप करें या जड़ से आत्मा को बंधा मानें। जीव भ्रमण करता है, आत्मा सर्वत्र व्याप्त रहती है। प्रारब्ध अथवा कर्मों से बंध कर जीव ही नाना योनियों में भोग प्राप्त करता है और कर्म भी करता रहता है। कर्म-शृंखला और वासना माला, इच्छाशक्ति, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति के माध्यम से विक्षेपावरण रूपों वाली यही महामाया है। वहां जीव है जो लिंग शरीर, कारण शरीर आदि का सम्बंधी और व्यवहारी है। आत्मा जीव नहीं है। दर्शन के इस उच्चतम् सिद्धान्त का दुरूपयोग करने पर, जीवन में अनेक भ्रांतियां दुःख, पाप आदि उत्पन्न होते हैं। चेतना-स्तर के अनुसार, अधिकारी-भेद बनता है, जो विकसित और अविकसित व्यक्तित्व का आधार है।

कालचक्र में पड़कर जीव विविध रूपों में उत्पन्न होते रहते हैं, कर्म-श्रृंखला एवं वासना का फल भोगते हैं सीप में जिस प्रकार चांदी का भ्रम होता है, उसी प्रकार जीव में आत्मा का आरोप भ्रम से ही उत्पन्न होता है अपने कर्मफल से उत्पन्न आवागमन, दुःख, सुख आदि को हम व्यर्थ ही ब्रह्म सत्ता पर आरोपित करते हैं। ईश्वर दुःख उत्पन्न क्यों करता है ? बुरा फल क्यों होता है ? सत्कर्म करने पर भी दुःख आता है इत्यादि भाव भ्रम पर आधारित है।

उत्पन्न और लय होने वाले भूत-समूह का, इन्द्रियों से अनुभव में आने वाले तत्वों का और सृष्टि का यथार्थ ज्ञान ही मोक्ष का साधन है। विशेष दृष्टि द्वारा ही सत्य का (ज्ञान) साक्षात् होता है। बुद्धिगत तर्क का सम्बन्ध देखने और दिखाने वाली माया से है। अपने दृष्टिकोण पर अपना अधिकार ही साधना का श्रेय है।

मुक्ति का अर्थ है सत्य का ज्ञान। सभी लीलाओं को ठीक-ठीक समझना होगा। ब्रह्म सत्ता अथवा चैतन्य तत्व इस विश्व लीला से बाहर नहीं रहता। वह तो सभी में समान रूप से विद्यमान है। स्वर्ग, ब्रह्मलोक, विष्णुलोक, वैकुण्ठ आदि चेतना के विभिन्न स्तरों पर आधारित मानवीय-सृष्टि से अधिक सूक्ष्म लीलास्तर है। जब सृष्टि ब्रह्म में ही स्थित है, चैतन्य से ओतप्रोत है तो हम मुक्त होकर कहां जाने की बात सोचें ? आज तक जितना दर्शनशास्त्र बना उसमें ब्रह्म अथवा चैतन्य से आगे की बात नहीं मिलती। पूर्णत्व, सम्यक् ज्ञान, मुक्ति, सत्य ज्ञान, ब्रह्मैक्य आदि पर्यायवाची है।

यह निश्चित सत्य है कि ऊपर लिखे विश्लेषण से भिन्न मुक्ति का अन्य अर्थ नहीं हो सकता। चैतन्य को जानकर उसी में स्थित हो जाना मुक्ति है। यही पूर्णत्व का धर्म सम्पूर्ण सृष्टि पर लागू होता है। जाने-अनजाने, अनेक चैतन्य की ओर अग्रसर है, जहां सब कुछ असीम है सूक्ष्म से स्थूल की ओर मात्रा बंधन है। स्थूल की ओर जाना चेतना स्तर का विकास है। पूर्ण विकास मुक्ति है।

भ्रम अथवा माया के स्वरूप को ठीक-ठाक समझ लेना ही सत्य ब्रह्म का साक्षात्कार है। आवरण और विक्षेप शक्तियों को जान लेना ही ब्रह्ममय होना है। सत्य-ज्ञान से द्वैत, विभिन्नता, अनेकता आदि का आभास कराने वाली माया का प्रभाद दूर होता है। यह भ्रम है कि ब्रह्म इस संसार में नहीं है अथवा इससे परे है। विशेष दृष्टि प्राप्त प्राप्त होने पर ही भ्रम का निवारण होता है। अन्य किसी राह से सीपी में चांदी के भ्रम का निवारण नहीं हो सकता। परमसत्ता का साक्षात्कार ही मुक्ति का निश्चित मार्ग है। जब चैतन्य एक है, सत्य एक है, सब कुछ उसी में स्थित हैं, चैतन्य से हम बाहर नहीं है, तो मुक्ति के लिये हम उसे अन्यत्र ढूँढ़ने कहाँ जायें।

निश्चित सत्य है कि शरीर, भूत आदि कर्म से उत्पन्न होते हैं, जिन्हें अशरीरी चैतन्य चेतनता प्रदान करता है। वासना माया जीव की सहचरी है, आत्मा की नहीं। जो व्यक्ति संसार-सागर के पार का अनुभव करना चाहता है, चैतन्य में स्थित अथवा उससे एकाकार होना चाहता है, वह कर्म, अकर्म, विधि, निषेध, रूपसमुदाय आदि के रहस्य को, ठीक ठीक समझ ले यही साधना है। चेतना-स्तर का सतत् विकास ही साधना है। पूर्णत्व की प्राप्ति, मुक्ति का अनुभव, आनन्दमय से एकाकार होना ही साधना है साधना का चरम लक्ष्य है।

मानव सृष्टि में उत्पन्न होने वाले जीव अपने जाति, परिवार, संप्रदाय तथा देश काल परिस्थिति आदि के अनुसार कर्म करते रहते हैं और प्राप्त हुए फल में सुख मानते हैं। जब तक हमारा सुख, ब्रह्म वस्तुओं अथवा रूपों पर आधारित है तबतक, द्वैत रहेगा, मिश्रित अनुभव प्राप्त होगें। संसार-लीला में द्वैत-अनुभवों का सिद्धान्त निश्चित है।

संसारी विषयों में आसक्त होता है। आत्मभाव में स्थित व्यक्ति, उचित अनुचित कर्मो की सामाजिक व्याख्या को मानता हुआ, सभी कर्मो को अलिप्त भाव से करता रहता है। उसे पाप और पुण्य नहीं लगते, संस्कार नहीं बनते। सभी पद्धार्थो में, क्रियाओं तथा विचार-जगत में भी वह चैतन्य का दर्शन करता है। वह जानता है कि चैतन्य से भिन्न कुछ नहीं है। आत्मज्ञानी में षट् विकार कामना, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य तथा बंधन कारक लक्षण राग द्वेष, अविधा, अस्मिता, अभिनिवेश भी

सत्य ज्ञान के कारण नष्ट हो जाते है। ऐसी जाग्रत अथवा विकसित चेतना वाला व्यक्ति, जिसका व्यक्तित्व पूर्णतया परिष्कृत हो चुका है, संसार के उचित कर्मों को करता हुआ भी किसी बन्धन अथवा दोष को प्राप्त नहीं होता। जब एक चैतन्य तत्व से भिन्न अन्य कुछ अनुभव में ही नहीं आता, तब आत्म-दर्शन अथवा समदृष्टि प्राप्त होती है, जो सत्य का दर्शन और पूर्णत्व का अनुभव कराती है। यही मुक्तावस्था है।

### साधना

हमारे पास जो शरीर, बुद्धि, मन, चेतना-स्तर, एवं संस्कार समूह हैं, वही हमारी साधना की आधार शिला है। जो हमारे पास है वह क्यों मिला, अन्य की पूंजी इससे भिन्न क्यों है, यह जानना होगा। ज्ञान-वर्धन करना होगा, सत्य का साक्षात्कार करना होगा। शरीर, बुद्धि और मन तीनों का परिष्करण करना होगा। शरीर व्यर्थ नहीं है, बहुत महत्व-पूर्ण है। व्यक्तित्व के अन्य अंग भी उतने ही महत्व के हैं। हृदय रूपी कमल में दिव्य प्राण और वासनायें स्थित हैं। अनादिकाल की कर्म श्रृंखला से बंधा, अंहकार युक्त प्राण ही वृत्ति-भेद से अनेक नाम रूपवाला बनता रहता है।

हम पहले प्राण को समझें कि यह क्या है ? जबतक यह शरीर में रहता है तब तक सब कुछ ठीक है। चला जाता है तो शरीर सड़ने लगता है, रूप-परिवर्तन हो जाता है। प्राण के पांच मुख्य भेद हैं, जिन्हे क्रिया भेद से अपान, समान, उदान, व्यान ओर प्राण कहा गया है। अन्य ५ प्राण भी हैं परन्तु गौण हैं। इनके नाम हैं–नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय। इन दसों को कहीं-कहीं वायु और पवन भी कहा गया है। प्राण-वायु प्रमुख है और इसका स्थान हृदय देश माना गया है। अपान वायु प्रमुख गुदादेश में स्थित है। समान-वायुं नाभि-देश में, उदान कंठ क्षेत्र में और व्यान सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। नाग आदि जो ५ गौण प्राण हैं और वायु की संज्ञा पाते है उनके काम इस प्रकार है। नाग वायु द्वारा उद्गार की क्रिया होती है। कूर्म वायु द्वारा नेत्र-उन्मीलन क्रिया, कृकल द्वारा भूख-प्यास, देवदत्त द्वारा खांसी और डकार का संचालन होता है। ब्रह्मांड में जो कुछ भी है, उसमें यही दस प्राण अथवा वायु व्याप्त है।

व्यक्ति का योग सिद्ध हो जाये अर्थात् सत्य से, चैतन्य से, युक्त हो जाये, अथवा उसका अनुभव कर ले तो वह सभी दुःखों या बन्धनों से मुक्त हो जाता है। इस प्रकार की श्रेष्ठतम् गति प्राप्त हो, यही हमारी साधना का चरम उद्देश्य है। साधना पद्धति को सम्यक् रूपेण जानकर योगी को अनन्त सुख मिलता है। साधना की प्रत्येक क्रिया में प्रत्येक सीढ़ी पर सुख मिलता है। साधना की प्रत्येक क्रिया में प्रत्येक सीढ़ी पर सुख बढ़ना चाहिये। सीखी हुई विद्या अभ्यास से फलवती होती है। अभ्यास रहित विद्या फलहीन, बलहीन और दुःख वर्धक होती है। साधना आरम्भ करने से पहले सिद्धान्त भली भांति समझ लेने चाहिये। केवल शारीरिक क्रिया शरीर को लाभ देगी। मन और बुद्धि के क्रिया में साथ रहने से व्यक्तित्व का सम्यक् विकास होगा। साधना में कष्ट का अनुभव हो तो साधना रोक दें, कारण ढूढें, पद्धति ठीक करें, योग्य व्यक्ति से सलाह लें, ग्रन्थ देखें और फिर साधना में लग जायें। किसी भी क्रिया को इतना अधिक न करें कि थकावट हो अथवा कार्य-क्षमता घटे। ईश्वर द्वारा हम इस जीवन में जिस कर्म में लगा दिये गये उसमें किसी प्रकार शिथिलता न हो। क्षमता, क्रियाशीलता, चित्तशांति, शक्ति, सामर्थ्य बढ़ती रहें और आलस्य, अज्ञान, मोह, भ्रम, अतिनिन्द्रा आदि कम होते जायें, तो समझना चाहियें कि साधना ठीक चल रही है। यही मापदण्ड है।

### शरीर

मानव शरीर में मेरूदण्ड महत्वपूर्ण है। इसी में भाव द्वीपों अर्थात् केन्द्रों या कमलो का स्थान है। इस शरीर में नदियों, सागर, क्षेत्र, क्षेत्राधिपति, क्षेत्रपाल, ऋषिमुनि, नक्षत्र, ग्रह आदि के स्थान माने गए हैं। इसमें सब पुण्य तीर्थ हैं, पीठ स्थान हैं, पीठाधिपति देवता भी हैं। सृष्टि का निर्माण एवं संहार करने वाली शक्तियां-चंद्र तथा सूर्य भी मानव शरीर में प्रतीक रूप से स्थित हैं। आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि महाभूत भी इसी शरीर में है। संपूर्ण सृष्टि में जो है, वह सूक्ष्म अथवा प्रतीक रूप से शरीर में विद्यमान है।

सृष्टि संरचना की मुख्य-मुख्य बातें समझ में आ जावें एवं शरीर रचना का आध्यात्मिक स्वरूप जान लिया जाय, इसीलिए यत् पिडं तत् ब्रह्माण्डं की बात कही गई है। शरीर से अधिक उपयोगी माध्यम हमारे

गास क्या हो सकता है, जो स्थूल सृष्टि रचना का चित्र हमारे पास उपस्थित कर दे समुद्र की लहर में समुद्र के मुख्य गौण सभी तत्व मात्राभेद से विद्यमान होते हैं। इसी प्रकार मानव-शरीर में भी सृष्टि लीला के सभी तत्व हैं। भिन्न-भिन्न शरीरों में तत्व-अनुपात अलग अलग होता है। तत्व-प्रवाधनता से ही चेतनास्तर जाना जाता है। मनुष्यों में विविधता तत्व-अनुपात-भेद के कारण है। अनुपात-भेद पूर्व कर्मो पर आधारित होता है। प्रत्येक मनुष्य के लिए उपयोगी है कि अपनी तत्व-शुन्द्धि करता रहे और सृष्टि विकास-क्रम (Evolutionary process) में पीछे न रहे।

स्थूल से सूक्ष्म तत्वों का महत्व एवं बल अधिक है। व्यक्ति शनैः शनैः अपनी तत्व शुद्धि करता जाय। तत्व-शुद्धि पर ही व्यक्ति का ज्ञान, योग्यता, अनुभूति, सूक्ष्म दृष्टि, मानसिक प्रतिक्रियायें, भावना आदि का विशुद्ध अनुपात आधारित है। चेतना के विकास के लिए आवश्यक है

शास्त्र-चिन्तन, पठन-पाठन, श्रवण, मनन, निदिध्यासन (अच्छी तरह समझे हुए सिद्धान्त ओर अपने व्यक्तिगत जीवन में उनकी उपयोगिता में निश्चित मत होकर उन्हें आचरण में उतार लेना)। अनेक शारीरक क्रियायें तथा समस्त साधनायें तत्वशुद्धि के लिए है।

जिस प्रकार पृथ्वी की स्थिति के लिए पर्वत-श्रेणियों की आवश्यकता है, उसी प्रकार शरीर में मेरूदण्ड है। योगी को अपने शरीर की पूर्ण जानकारी होनी होनी चाहिये। शरीर-विज्ञान-शास्त्र (Anatomy) और योगी का शरीर-विज्ञान अलग-अलग नहीं है। साधना करते हुए शरीर को समझने के लिए विज्ञान का सहारा लेना लाभदायी है। मानव शरीर ब्रह्माण्ड का छोटा रूप है। यह देशकाल और परिस्थितियों से प्रभावित होता है।

अपनी अमृत किरणों से चंद्रमा संसार में जीवनदायी रस की वर्षा करता है। मेरूदण्ड के ऊपरी सिरे पर चंद्रमा की स्थिति मानी गई है, जिसे सोलह कलाओं अर्थात् रूपों या क्रियाओं वाला माना जाता है। यह चंद्रमा दिन-रात पीयूष-स्त्रवण करता है। चंद्रमा से निकलता हुआ जीवनदायी रस दो भागों में बंट जाता है। इड़ा नाड़ी में जाने वाल रस शरीर को लाभ देता है। यह इड़ा अथवा अमृत वाहिनी-नाड़ी, जो

चन्द्रकिरण भी कही गई है, शरीर के बायें भाग में स्थित है। चन्द्र रस का शेषांश तालूमूल में छिद्र से बहकर मध्यमार्ग से अर्थात् भोजन और वायु-नली से आमाशय में चला जाता है।

मेरूदण्ड के मूल में अर्थात् नीचे के सिरे पर द्वादश कलायुक्त सूर्य स्थित है। मेरूदण्ड के दाहिने भाग में स्थित पिंगला नाड़ी द्वारा सम्पूर्ण शरीर को ताप अथवा गर्मी सूर्य पहुंचाता रहता है। यही ताप प्रजापति कहा गया है, सूर्य ग्रस लेता है अर्थात् भस्म कर देता है। वायु मार्ग द्वारा सूर्य का ताप सम्पूर्ण शरीर में भ्रमण करता है।

शरीर को सभी धातुओं और तत्वों को चन्द्ररस लाभ अथवा पोषण देता है और वायु से भरे इस शरीर में सूर्य का ताप रसों का पाक करता रहता है। सूर्य और चन्द्र शक्ति है और पिंगला के माध्यम से क्रियाशील रहता है। वह सृष्टि और संहार दोनों का कारक है। समय आने पर यह सूर्य शांत हो जाता है और शरीर भी नष्ट हो जाता है।

शरीर में छोटी बड़ी साढ़े तीन लाख नाड़ियां हैं। जिनमें चौदह प्रमुख हैं :– सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला, गान्धारी, हस्ति, जिह्विका, कुहू, सरस्वती, पूषा, शस्निी, पयखिनी, वारूणी, अलम्बुषा, विश्वोदरी, तथा यशस्विनी। इन में तीन नाड़ियां – इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना महत्वपूर्ण हैं। योगी के लिए सुषुम्ना नाड़ी अत्यधिक महत्व की है, प्रिय है और अनन्त सुखदायिनी है। साधक की अन्य सभी नाड़ियां सुषुम्ना के अधीन हो जाती है। साधारण व्यक्तियों में सुषुम्ना सोई रहती है, अन्य नाड़ियां कार्य करती है। सुषुम्ना का मुख नीचे की ओर है। इसका स्वरूप कमलनाभ के रेशे के समान है और मेरूदण्ड के सहारे यह स्थित है। चन्द्रमा एवं सूर्य की क्रियाओं का एकीकरण यह नाड़ी कर सकती है। सुषुम्ना के मध्य में चित्रानाड़ी स्थित है, जो योगियों को सर्वाधिक प्रिय है। यह चित्रा नाड़ी सूक्ष्मतरंगों के रूप में ब्रह्मरंध्र तक जाती है। अनुभव में आने पर यह शुद्ध उज्वल प्रकाश-स्वरूपा नाड़ी पांच वर्णों में प्रकाशित होती है। इसे दिव्यमार्ग कहा गया है। यह अमृतस्वरूपा है। योगी ध्यान एवं अन्य साधनाओं द्वारा अपने सभी विकारों को नष्ट करता हुआ चित्रा नाड़ी के माध्यम से अमृत-तत्व प्राप्त करता है।

गुदा-द्वार से ३ सेन्टीमीटर ऊपर और जननेन्द्रिय से ३ सेन्टीमीटर

दूर ५ सेन्टीमीटर विस्तार वाला मूलाधार ही कंदके आकार का चक्र है। मूलाधार कमल में कर्णिका के समान त्रिकोणाकार योनि स्थित है। यह योनिस्थान तन्त्र-शास्त्रों में रहस्यमय माना गया है। इसी त्रिकोणाकार योनि स्थान में विद्युत रेल के समान रूप वाली आठ स्थानों से मुड़ी हुई कुण्डलिनी-शक्ति सुषुम्ना के मुख को आच्छादित किये हुये स्थित है। इस कुण्डलिनी को सृष्टि लीला चलाने वाली महामायों के समान महत्वपूर्ण वर्णित किया गया है। इसे सब देवताओं द्वारा पूजित-वाग् देवी कहा गया है। बैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती एवं परा नाम से वर्णित चार वाणियों की अधिष्ठात्री वाग्देवी यही है। मुखरित वाणी वैखरी हैं, मध्यमा वाणी कण्ठ में स्थित है, पश्यन्ती का स्थान हृदय है। जिससे सभी वाणियां उत्पन्न होती हैं, वह परावाणी है और मूलाधार से उत्पन्न है।

शरीर के वाम भाग में मेरूदण्ड के सहारे इड़ा नाड़ी स्थित है, जो बायें नासापुट तक जाती है। पिंगला नाड़ी मेरूदण्ड के दक्षिण में स्थित है और सुषुम्ना से मिली हुई दाहिने नासापुट तक जाती है। इड़ा पिंगला के मध्य में सुषुम्ना नाड़ी स्थित है। शरीर में छः स्थानों पर छः चक्र अथवा छः कमल सिद्धा योगियों ने माने हैं। पांच चक्र सुषुम्ना में स्थित हैं। चक्रों के अनेक नाम योगियों ने माने हैं। पांच चक्र के अनेक नाम योगियों ने माने है।चक्रो का विशद वर्णन संदर्भ-सहित इस ग्रंथ मे उचित स्थान पर आगे किया गया है।

अन्य सभी नाड़ियां योग-साधना के लिये गौण हैं। मूलाधार चक्र से आरम्भ होकर अन्य नाड़ियां जिह्वा, आंखों, कानों, उंगलियों, पांव, हाथ, पेट आदि अनेक अंगो में जाती है। नाड़ियां सम्पूर्ण शरीर में फैली हैं और अंग विशेष की आवश्यकतानुसार आज्ञा, रस तथा वायु का वहन करती हैं। विभिन्न रूपों वाली साढ़े तीन लाख नाड़ियां शरीर के सभी भागों में फैली हुई हैं।

मूलाधार चक्र में द्वादश कला युक्त सूर्य स्थित है। सूर्य मण्डल में अग्नि स्थित है, जो पाचन क्रिया भी करता है। मूलाधार के क्षेत्र को वस्तिदेश भी कहा गया है। अग्नि को वैश्वानर कहा गया है, जिसके सम्बन्ध में महेश्वर कहते हैं कि प्रकाश रेखा के रूप वाला वैश्वानर अग्नि ही मेरा तेज-अंश है। यह अग्नि मन्द होने पर अनेक रोगों को उत्पन्न कर देता है। वैश्वानर अग्नि को बुद्धिमान प्रज्वलित करता रहे, भोजन के सिद्धान्तों को समझे और वैश्वानर अग्नि में उचित अन्नों की आहुति देता रहे।

ब्रह्मांड का प्रतिनिधित्व करने वाले मानव शरीर के वर्णन का अन्त नहीं है, आवश्यकतानुसार अन्य अध्यायों में भी किया गया है। शरीर का पूर्ण वर्णन असम्भव है। शास्त्रों में शरीर को ब्रह्मांड का प्रतिनिधि मानकर बहुत से स्थान, देश, प्रदेश, समुद्र, नदियां, पहाड़, दैवी शक्तियां, देवी एवं देवताओं के स्थान विभिन्न अंगो में माने हैं। जैसे सम्पूर्ण ब्रह्मांड में प्राण वायु के कारण क्रिया होती है, उसी प्रकार अनादि वासनामाला एवं अनन्त कर्म श्रृंखला से अलंकृत प्राण शरीर में निवास करता है और संस्कार-अनुसार अनेक कर्म प्राण वायु के आधार से करता रहता हैं।

## गुरु

गुरु ही ब्रह्म के समान कहे गये है क्योंकि गुरु ब्रह्मैक्य करा देते हैं। आजकल योग्य गुरु प्राप्त नहीं होते। सम्यक् ज्ञान कराने वाला ही गुरु है, इसीलिये सभी को गुरु बनने का अधिकार नहीं है। साधरणतया हमें शिक्षा देने वाले बहुत लोग हो सकते हैं, जिनका चेतना स्तर हम से अधिक विकसित हो।

गुरु की खोज एवं गुरु पाने की लालसा ने समाज में अनेक विकृतियां उत्पन्न कर दीं। इस ग्रन्थ को ही गुरु मानकर साधना आरम्भ करना उत्तम होगा। शास्त्र बताते हैं कि उचित समय पर गुरु स्वयं प्राप्त हो जाता है, खोजने से नहीं मिलता। भगवान् शिव द्वारा माता पार्वती के माध्यम से यह ग्रन्थ साधकों के लिए उपदेश रूप में प्राप्त हुआ है।

ग्रन्थ से ही गुरु भी सीखता है। साधक सचेत रहे कि वह हठी और अधीर न बने। किसी भी क्रिया में स्वयं को थकाये नहीं। क्रियायें उसी समय तक करे जब तक सरल सहज रूप से सुख प्राप्त होता रहे।

यदि उचित गुरु मिले तो मन, वचन, क्रम से शिष्य उनकी सेवा करे। माता-पिता और देवता तीनों स्थानो की पूर्ति, गुरु करता है। प्रतिदिन गुरु की तीन प्रदक्षिणायें करें, साष्टांग प्रणाम करे, दाहिने हाथ से चरण स्पर्श करें। सम्यक् प्रयत्न और दृढ़ श्रद्धा ही सिद्धि शीघ्र प्राप्त कराती हैं। बहुत लोगों का संग और प्रपंच करना, कर्म न करना और कर्म के सिद्धान्त पर विश्वास न करना, आवश्यकता से अधिक लोगों के साथ रहना, गुरु पूजा न करना इत्यादि साधक की प्रगति में बाधक होतें

है।

असत्य व्यवहार और असत्य भाषण को जो व्यक्ति जीवनोपयोगी समझता हो, कठोर वाणी का जो त्याग न कर सके, देशकाल परिस्थिति तथा शास्त्र मर्यादा की सीमाओं के अन्दर रहते हुये जो गुरु को संतोष न दे सके, उसे साधना नहीं करनी चाहिये। व्यर्थ परिश्रम और दुष्परिणाम ही उसके हाथ लगेंगे। विद्या, ज्ञान क्रिया आदि की साधना द्वारा इसी जीवन काल में सुफल मिलने चाहिये।

### सफलता के लक्षण

किसी विद्या के अभ्यास अथवा साधना के फल, हमें अपने जीवन में दिखाई पड़ना चाहिये। साधना का लक्ष्य सिद्धि है। सिद्धि के लिये प्रथम आवश्यक लक्षण है विश्वास। दूसरा प्रत्येक क्रिया में स्वाभाविक श्रद्धा। श्रद्धा जड़ नहीं है, वह विवेकपूर्ण होनी चाहिये। तीसरा लक्षण गुरु-पूजन है। साधक जब अपनी साधना में आगे बढ़ता है, उसमें चौथा लक्षण समत्व-भाव अथवा समदृष्टि का उदय होता है। पहले कहे गये तीन लक्षण साधक के वश में है। साधना की सफलता अथवा सिद्धि की उपलब्धि समत्व दृष्टि से आरम्भ होती है, जो चित्त का गुण है। पाँचवा लक्षण इन्द्रिय-निग्रह है, जो सहज स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो। हठ एवं अविवेकपूर्ण कर्मो द्वारा इन्द्रिय-निग्रह हानिकारक है। निग्रह होता है, किया नहीं जाता। सत् साधना का छठवां लक्षण मिताहार है। सिद्धि प्राप्ति के लिए सातवां कोई लक्षण नहीं है।

योग साधना की सुन्दर आधारशिला है कि योग्य एवं श्रेष्ट गुरु व्यक्ति अथवा ग्रंथ से साधना पद्धति को भली भाँति जानना चाहिये। मनन के बाद जब बुद्धि निश्चयात्मिका हो जाय तब विधि अनुसार आलस्यहीन होकर साधना करे।

### प्राणायाम

प्राणावायु पर सृष्टि रचना आधारित है। साधक को शरीर एवं चित्त की वृतियों को श्रेष्ठ गति मे प्रेरित करने के लिये प्राणायाम का अभ्यास अवश्य करना चाहिये। प्राणायाम की शक्ति का अनुभव कोई भी व्यक्ति कर सकता है। क्रोधित अथवा चिंतित होने पर व्यक्ति रीढ़ सीधी करके बैठ जाये। आसन लगाना जानता हो तो पद्मासन लगाकर

बैठ जायें। कम से कम सोलह कुंभक करे। निश्चित रूप से शांति का अनुभव होगा। प्राणायाम की साधना आध्यात्मिक और भौतिक सभी प्रकार की उपलब्धियों के लिये महान उपयोगी क्रिया है।

योगी पद्मासन में प्राणायाम का अभ्यास करे। शरीर को सीधा रखते हुये हाथ जोड़ कर गुरु को अपने चित्त में ही प्रणाम करे क्षेत्रपाल अथवा स्थानीय शक्तियों को प्रणाम करे और सृष्टि की अधिष्ठात्री देवी शक्ति मां को प्रणाम करे। दाहिने हाथ के अंगूठे से दाहिने नासापुट अर्थात् पिंगला को दबाये। बायें नासापुट से अर्थात् इड़ा से वायु को शनैः शनैः शरीर में पूर्णरूपेण भर ले। बायें नासापुट को भी दबा ले और यथा शक्ति वायु को शरीर में रोके रहे। दाहिने नासापुट से शनैः शनैः वायु को निकाले। वेग से वायु को न नकाले। यह एक प्राणायाम कहा जायेगा। दूसरे प्राणायाम में दाहिने नासापुट से वायु को शनैः शनैः निकाले। वायु को शरीर में भरना पूरक कहा जाता है, रोकना कुम्भक और वायु को निकालना रेचक कहा जाता है। इस प्रकार एक समय में कम से कम २० प्राणायाम का अभ्यास करे। ध्यान रहे कि थकावट और अकुलाहट न हो। आकुलता मिटाने के लिये थोड़ी देर प्राणायाम की क्रिया को रोक कर दो चार लम्बी सांसे ले ले। स्थिरता प्राप्त होने पर तब प्राणयाम करे। यह आवयक नहीं है कि २० प्राणयाम एक ही श्रृंखला में करे। लेकिन यह आवयकता है कि जब प्राणायाम करने बैठे, कम से कम २० बार करे।

अनेक प्रकार के प्राणायाम होते हैं। सिद्धि, शांति, आरोग्य इत्यादि प्राप्त करने के लिये उपर्युक्त पद्धति समुचित हैं। इसी प्राणायाम पद्धति से सब सिद्धियां प्राप्त हो सकती है। प्राणायाम के साथ जप करने से महान लाभ भी शीघ्र प्राप्त होते हैं क्योंकि प्राणायाम मुख्यतया शारीरिक क्रिया है और जप प्राधानतः मानसिक क्रिया है। सम्यक् प्रगति के लिए, शारीरिक एवं मानसिक सन्तुलन आवश्यक है, अन्यथा साधना एकांगी रहेगी।

साधना के लिए बैठने पर चिन्ता-मुक्त अवस्था होनी चाहिये। यदि व्यग्रता हो तो साधना प्रारम्भ करने से पहले, कुछ काल के लिए आंख मूंद कर बैठा रहे। प्रातःकाल, मध्यान्ह, संध्याकाल एवं अर्धरात्रि साधना

के लिए अत्यन्त उपयुक्त चार अवसर है। दिनचर्या के कारण समय में कुछ हेर फेर करने में हानि नहीं होगी। तीन महिने तक यदि कोई व्यक्ति आलस्यहीन होकर चारों समय प्राणायाम करे तो निश्चित रूप से शरीर की सभी नाड़ियां शुद्ध हो जायेगीं। नाड़ि-शुद्धि के पश्चात् योगी सत्य अथवा तत्व का आभास पाने लगता है। भय नष्ट होने लगता है, अशुद्ध प्रवृतियों से मुक्त होने लगता है, पाप कर्मों में रूचि नहीं रह जाती, चित्त में विकास के लक्षण का उदय होने लगता है।

शरीर में साधना के कारण उत्पन्न होने वाले चिन्हों को संक्षेप में बताता हूं। शरीर सुगठित होगा, सुंगध उत्पन्न होगी, श्वास सधकर धीमी हो जायेगी। शरीर के अन्दर होने वाली क्रियाओं की विशेष जानकारी प्राप्त होगी, जैसे अस्वस्थता क्यों हुई, आलस्य क्यों आया, उत्साह क्यों कम हुआ, थकान क्यों हुई, चित्त चंचल क्यों हुआ इत्यादि। दोषों का कारण जान लेने पर उपचार आसान होता है। प्राणायाम की साधना करते रहने पर इस प्रकार की विशेष जानकारी जब होने लगे या कारण समझ मे आने लगे तो जान लेना चाहिये कि योग-साधना के लिए शरीर तैयार हो गया। प्राणायाम की साधना से प्राप्त होने वाले इस प्रारम्भिक लक्षणों के उदय को योग में आरम्भ-अवस्था कहा जाता है। प्राणायाम जब अधिक परिपक्व होने लगेगा तो वायु पर सिद्धि प्राप्त होगी और सभी प्रकार के दुःख तथा पाप उत्पन्न करने वाले संस्कार सहज ही नष्ट हो जायेंगें। इस आरम्भ अवस्था में पहुंचने पर अनुपयुक्त कर्मो में रूचि नहीं होगी। पाचक अग्नि बढ़ेगी, शरीर के सभी अंग सुन्दर एवं पुष्ट होगें, बल तथा उत्साह बढ़ेगा और हृदय में आनन्द छलकता रहेगा। सभी योग साधनाओं में चार अवस्थाएं होती हैं :–१. आरम्भ, २. घट, ३. परिचय और ४. निष्पत्ति।

### आरम्भ अवस्था

ऊपर लिखे सभी लक्षण आरम्भ के हैं।

### घट अवस्था

प्राण, अपान, नाद और बिंदु, जीवात्मा तथा परमात्मा का जब एकीकरण होता है तब साधना की घट-अवस्था आती है।

### परिचय-अवस्था

इड़ा और पिंगला को छोड़कर वायु सुषुम्ना में प्रवाहित है। कुंडलिनी जागृत हो, षटचक्रों का भेदन हो जाय तब यह अवस्था आती है। सभी वायुओं का एकीकरण हो जाता है। साधक भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञाता हो जाता है। प्रणव (ओम्) के जप से सभी प्रकार के कर्म समूह नष्ट हो जाते हैं।

### निष्पत्ति-अवस्था

समाधि-अवस्था में स्थिर होकर सभी कर्म योगी करता रहे, यही चरम सिद्धि है। प्रारब्धा संचित और क्रियमाण रूपी कर्म-त्रिकूट का क्षय कर दे और अमृतावस्था में स्थिर हो जाये। सहज समाधि की अवस्था निष्पत्ति है।

### साधना में वाधक एवं सहायक कारण

योग साधना में वाधक तत्वों को जानना आवश्यक है। योगी प्रयत्न पूर्वक इन से बचे यदि वह संसार के दुःखो से बचना चाहता है। खट्टा, रूखा, कड़ुवा, अधिक नमकीन, चटपटा भोजन न करे, सरसों का तेल न खायें। अधिक भ्रमण हानिकर है, प्रातः काल का स्नान यदि कष्टदायी हो न करे लेकिन अपनी क्रियायें करता रहे। अधिक तेल का उपयोग न करें। अधिक गर्मी और अधिक सर्दी से बचे। चोरी से किये जाने वाले क्रम न करे। द्वेष से बचे। अंहकार से बराबर सचेत रहे। सरल आचरण एवं मृदु भाषण करे। अनावश्यक एवं कष्टदायी उपवास न करे। असत्य से यथाशक्ति बचे और किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाने का भाव न रखे। स्त्री-सहवास अत्यधिक संयमित हो। अग्नि न तापे। व्यर्थ बकवास तथा गप्पों से बचे। किसी की भलाई या बुराई की चर्चा में राग न करे, रस न ले। अधिक भोजन कभी न करे कि भारीपन जान पड़े।

इन उपायों को व्यवहार में लाने वाला योगी शीध्र ही कौशल प्राप्त कर लेता है। क्रियायें सिद्ध होनें लगती है और प्रकृति की शक्तियों पर अधिकार प्राप्त होने लगता है। इन आदेशों का पालन सिद्ध पुरूषों के लिए भी महत्वपूर्ण है, उन्हे विना अपनायें, सिद्धि प्राप्त नहीं होती।

दूध, घी, मिठाई, बिना चूने का पान, स्निग्ध पदार्थ, खीर, हल्के और कम वस्त्र, सिद्धांत-श्रवण अथवा अध्ययन, गृहस्थाश्रम में रहते हुये भी वैराग्य-साधना अर्थात् मोह और राग पर नियंत्रण, हरि नाम संकीर्तन, सुन्दर संगीत का श्रवण एवं गायन, मनन, क्षमाभाव, तपस्यामय जीवन अर्थात् नियमित कार्यक्रम, संकोचपूर्ण व्यवहार, श्रेष्ठ जनों की सेवा इत्यादि नियमों का पालन योगी के लिये आवश्यक है।

वायु जब दाहिने नासापुट से चल रही हो, अर्थात सूर्य नाड़ी या पिंगला से चल रही हो तब भोजन करना चाहिये। सोते समय बायां स्वर चलना अधिक लाभदायी है। भोजन के तत्काल बाद या बिल्कुल खाली पेट अभ्यास नहीं करना चाहिये।

अभ्यास की प्रारम्भिक अवस्था में घी मिली खीर बहुधा खानी चाहिये। अभ्यास में जब स्थिरता आने लगे तब घी दूध और खीर की मात्रा कम कर दे। योगी के लिये आवश्यक है कि चिड़िया की तरह, थोड़ा थोड़ा भोजन दिन में कई बार करे। प्राणायाम का अभ्यास चार कालों में अवश्य करे। श्यामा तुलसी, आंवला और बेल का उपयोग बहुत लाभदायी है।

कुम्भक यथाशक्ति करे, हठ न करे। शनैः शनैः कुम्भक सिद्ध हो जायेगा। साधनाकाल मे आने वाले पसीने को पोछ दे या मल दे। शरीर पर पसीना सूखने से धातुयें नष्ट होती है। प्राणायाम के समय छाती में धड़कन बढ़ेगी, चिन्ता न करे। धड़कन शान्त कर ले और अभ्यास फिर आरम्भ कर दे। कुम्भक की अवधि को अधिकाधिक बढ़ाता जाय।

इस प्रकार से साधना करते समय वायु-सिद्धि प्राप्त होती है। साधना यदि बढ़ती रही और नियमों का ठीक पालन होता रहा तो नींद बहुत कम हो जायेगी। शरीर पूर्णतया निरोग रहेगा। उत्साह बढ़ता रहेगा और शरीर कान्ति बढ़ेगी। मूत्र बहुत कम होगा। दैन्य भाव नष्ट हो जायेगा, उदासीनता नहीं रहेगी। यथार्थ का दर्शन होने लगेगा। पसीना कम आयेगा। कीटाणुओं से उत्पन्न होने वाले रोग नहीं होगें। कफ, वात, पित्त से उत्पन्न होने वाले कष्ट नहीं होगें।

## भूचरी सिद्धि

योगी यदि साधना करता रहे और सूक्ष्म भोजन करता रहे तो भूचरी सिद्धि प्राप्त होती है। इस सिद्धि के बाद हिंसक पशुओं से भय नहीं रहता। मार (ताड़ना) से चोट नहीं लगती। साधनो की राह मे कठिन अड़चन आती है परन्तु योगी धैर्य पूर्वक इनका सामना करता रहे। यदि साधक जितेन्द्रिय तथा एकान्त से बने, प्रणव (ओम्) का दीर्घ जप करे तो पूर्व तथा इस जन्म के कर्मो से उत्पन्न हुये सम्पूर्ण पाप और पुण्य रूपी फल अर्थात् संस्कार नष्ट हो जाते हैं, बन्धन का कारण नहीं बनते। योगी एक समय में केवल १६ प्राणायाम करके चिन्ता, कष्ट, उद्विग्नता, क्रोध, काम-विकार आदि होने पर भी विचलित नहीं हो सकता।

इस प्रकार साधना करते हुए, योगी, अधोगामी विचारों, कर्मों अथवा पापमय विचारों से छूटने के बाद अपने पुण्यमय कर्मों के बन्धनों से भी धीरे धीरे छुटकारा पा लेता है। प्राणायाम साधना द्वारा शनैः शनैः आठों प्रकार के ऐश्वर्य (अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्रकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व, कामावसायिता) योगी प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार की सिद्धियां अथवा चमत्कार प्राप्त कर, योगी ऐश्वर्यशाली बनता है। जब कुम्भक करते करते योगी प्राण अपान को, नाद और विन्दु को, जीवात्मा परमात्मा को एकाकार कर देता है, तब वह आकाशगामी हो जाता है। संसार चक्र में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसे वह प्राप्त न कर सके। इस प्रकार की घुट अवस्था तब प्राप्त होती है, जब योगी कुम्भक करने का अभ्यास कर लेता है।

प्रत्याहार स्वयं सिद्ध हो जाता है। योगी जो कुछ जानना चाहता है, उस का अन्तरमन उसे दिखा, बता देता है। इन्द्रियों पर उसे पूर्ण विजय अथवा अधिकार प्राप्त हो जाता है। वह समदृष्टि प्राप्त करता है।

जब योगी ८ दण्ड तक (३ घंटे १२ मिनट तक), कुम्भक करने लगता है तो अपने अंगूठे के सहारे ही रूई के समान टिका रह सकता है।

## परिचय अवस्था

**इस अवस्था में** शरीर में स्थित वायु इड़ा और पिंगला को छोड़ कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है और सुषुम्ना द्वारा सहस्त्रार तक चला जाता है। सभी चक्र अथवा कमलों का भेदन हो जाता है। यह सब अभ्यास से सम्भव है। सुषुम्ना में वायु का पूर्ण प्रवाह होते ही, कुण्डलिनी शक्ति जागृत हो जाती है। तीनों कालों में हुए अथवा होने वाले कर्मो को योगी देखने लगता है अर्थात् त्रिकालदर्शी हो जाता है। कर्म समूह को, (ओम्) प्रणव का जप करते हुए योगी पूर्णतया नष्ट कर लेता है।

ऐसी अवस्था प्राप्त करने के पश्चात्, इच्छित कर्मो के लिये ही योगी शरीर मे स्थित रह जाता है। इस अवस्था में पहुचंने पर योगी निम्न-लिखित ५ स्थानों में क्रमशः धारणा करें ताकि पंच महाभूतों से उत्पन्न होने वाले भय अथवा बाधायें दूर हो जायें। २ घंटे तक मूलाधार चक्र में धारणा करे। इससे पृथ्वीतत्व पर पूर्ण विजय प्राप्त होगी। २ घंटे स्वाधिष्ठान चक्र में धारणा करे, इससे जल तत्व पर अधिकार हो जायेगा। २ घंटे तक नाभि अर्थात् मणिपुर चक्र में ध्यान करे। इससे अग्नि तत्व पर विजय होगी। हृदय स्थान में अनाहत चक्र है, २ घंटे तक इसमें धारणा करने पर वायु तत्व पर विजय प्राप्त होती है। इसके बाद कण्ठ में स्थित विशुद्ध-चक्र पर २ घंटे धारणा करने से आकाश तत्व पर विजय मिलती है। इस प्रकार संसार के सभी तत्व, योगी जीत लेता है। पंच-तत्वों की उपाधि से ऊपर उठा हुआ योगी इनसे प्रभावित नहीं होता। मृत्यु पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है। सैकड़ो ब्रह्मा के काल तक भी ऐसा योगी नष्ट नहीं हो सकता। इस अभ्यास क्रम से योग की पूर्ण सिद्धि प्राप्त होती है। अनादि कर्मो के बीज नष्ट हो जाते हैं। इसी क्रम में समाधि प्राप्त होने लगती है।

प्राणायाम का अभ्यास बढ़ने पर समाधि प्राप्त होने लगती है। समाधि पर जब अधिकार प्राप्त होता है, तब योगी पूर्णतया शांत धैर्यवान एवं जीवन मुक्त हो जाता है। अभ्यास करने वाला योगी प्राण वायु को अपने वश में कर लेता है तब क्रिया शक्ति और कर्मठता बहुत बढ़ जाती है। शरीर में स्थित सभी चक्र विजित हो जाते हैं और साधक अनन्त ज्ञान शक्ति के स्त्रोत से सम्बन्धित हो जाता है

### प्राणायाम के अन्य भेद :

पूरक, कुम्भक, रेचक प्राणायाम पूर्ण प्रक्रिया है। विशिष्ट लाभ पाने के लिये, प्राणायाम के अन्य तरीके यहां वर्णित हैं। यह प्राणायाम विशिष्ट रोगों, क्लेशों, को दूर करने के लिये हैं। संसारयात्रा में उत्पन्न होने वाले रोगों की शान्ति भी आवश्यक है।

१. जिव्हा को पीछे लौटाकर तालुमूल में टिका दे, और नाक से श्वास ग्रहण करता रहे तो अनेक रोग शान्त हो जाते हैं। यह अभ्यास साधारण दिनचर्या निभाते हुये किया जा सकता है। धीरे-धीरे सिद्ध हो जायेगा। इस अभ्यास से, हठ योग की महत्वपूर्ण खेचरी मुद्रा सिद्ध करने में सहायक होती है।

२. कौवे की चोंच की तरह जीभ को होठों के बाहर लम्बी गोल करते हुये निकाले। श्वास इसी गोल जीभ से ले। सख्त गर्मी में शीतलता मिलेगी। यदि प्राण और अपान वायु को खींचकर मिला देने की प्रक्रिया भी करें, तो इस प्राणायाम द्वारा, शरीर का कोई भी रोग दूर किया जा सकता है। शारीरिक कष्टों से मुक्ति मिल जाती है। इस प्रकार रस युक्त वायु को पीकर, श्रम, जलन और ज्वर को तत्काल शान्त किया जा सकता है। जिव्हा को उल्टाकर, चन्द्रमा से टपकते हुये अमृत रस को ग्रहण करने का अभ्यास होने पर, एक महीने में सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति हो जायेगी। मृत्यु तुल्य कष्ट देने वाले रोग एवं मृत्यु को निकट लाने वाले रोग भी शांत हो जाते है।

३. राजदंतों को अच्छी तरह दबा कर, कुन्डलिनी का ध्यान करते हुये श्वास लेने का अभ्यास जो योगी बना लेता है, उसे छः महीने से वाणी की सिद्धि हो जाती है। वाणी-सिद्धि का अर्थ है कि अपने विचार प्रभावशाली पद्धति में व्यक्त कर सके, वाणी मधुर गंभीर और वजनदार हो जाय। अब स्वर नाभिदेश से उत्पन्न होगें। कुंडलिनी को वाग्देवी अर्थात वाचा-शक्ति उत्पन्न करने वाली माना गया है। राजदंत सामने के ऊपर नीचे चार दांत है जो बाल्यावस्था में पहले निकलते हैं।

४. कौवे की चोंच की तरह होठों को बनाकर प्रातः सांय कुछ समय

तक वायु पीने का अभ्यास करे तो क्षय रोग शान्त हो जायेगा। वायु पीते समय कुंडलिनी पर ध्यान करे। होठों की बनी चोंच से वायु पीवे, वायु रेचन नाक से ही करे। साधारण व्यक्तियों के लिये तो सम्भव नहीं लेकिन जो एकान्त स्थान में साधना करता है, वह यदि कौवे की चोंच बनाकर दिन रात वायु पीने का अभ्यास बना ले तो शीघ्र ही दूर-दृष्टि, दूर-दर्शन एवं सूक्ष्म दृष्टि वाला हो जाता है।

५. दाँतो पर दाँत दबाकर, जिव्हा को पीछे लौटाकर, धीरे-धीरे श्वास लेने का अभ्यास जो कर लेता है, उसकी मेघा शक्ति बढ़ जाती है। शरीर में उत्पन्न होने वाले मृत्यु तुल्य कष्ट भी शांत हो जाते हैं। छः महिने के अभ्यास के पश्चात् योगी इस क्रिया में सिद्ध हो जाता है। इस सिद्धि से अधोगामी विचारों पर वश हो जाती है। अनुवयुक्त संस्कार नष्ट हो जाते हैं, रोगभय से मुक्त हो जाता है। यदि एक वर्ष तक अभ्यास करे तो भूत-पिशाचों पर भैरवी नामक शक्ति प्राप्त हो जाती है। अणिमा आदि सिद्धियां आने लगती है।

जिव्हा को उलट कर यदि थोड़ी देर भी श्वास (मुंह बंद रखते हुये, नाक से) ले सके तो स्वास्थ्य लाभ होता है। यदि किसी प्रकार जीभ को पीछे की तरफ दबाकर ध्यान करने का अभ्यास कर ले तो अखण्ड स्वास्थ्य प्राप्त हो जायेगा। इस प्रकार का अभ्यास जब सिद्ध हो जाता है, व्यक्ति कामदेव के समान सुन्दर शरीर वाला हो जाता है। भूख, प्यास, नींद और विस्मृति पर पूर्ण अधिकार हो जाता है। वासनायें परेशान नहीं करतीं।

इस प्रकार की कोई एक भी साधना करने वाला व्यक्ति बन्धन-मुक्त हो जाता है। पृथ्वी पर वह कहीं रहें, उसे मोह नहीं बांध सकता। पाप कर्मो में सकी रूचि न बन पायेगी न रह पायेगी। सिद्ध पुरूषों को स्वर्ग तुल्य सुख प्राप्त होते हैं। सुख उनके पीछे भागते हैं। व्यक्ति आनन्द मग्न रहता है और मुक्ति का अनुभव करता है। बन्धन पूर्ण-पुनर्जन्म उसे प्रभावित नहीं कर सकता।

### आसन

आसन अनेक हैं। चौरासी प्रकार के आसन प्रमुख हैं। प्रत्येक आसन में कुछ विशेषता है। आसानों के प्रभाव को समझकर अपनाना

चाहिये। प्रत्येक आसन का किसी अंग विशेष पर प्रभाव पड़ता है अपने ध्येय के अनुसार आसनों का चुनाव कर लेना चाहिये।

साधना के लिए उपयोगी चार आसनों का वर्णन करता हूं। बैठकर करने वाले आसनों में आसन तभी सिद्ध अथवा ठीक समझना चाहिये, ... पांव और घुटने, पृथ्वी पर टिके रहें।

### १. सिद्ध आसन

गुदा-द्वार और जननेन्द्रिय के मध्य में सींवन हैं इसे योनिस्थान कहते है। दाहिनें अथवा बायें पैर की ऐड़ी से योनि-स्थान को दबा ले, दूसरे पैर की एड़ी जननेन्द्रिय के ऊपर पेडू में लगावे। दोनों पैर की उंगलियों को दूसरे पैर के बीच खींच ले या दबा ले। दृष्टि को आज्ञा चक्र में स्थिर करे। शरीर सीधा रहे निश्चल रहे, झूले नही। एकान्त शांत स्थान में शान्त चित्त और उद्वेगहीन होकर बैठे।

यह सिद्धासन, सिद्ध पुरूषों के लिये भी लाभदायी है। इस आसन के अभ्यास से साधना में शीघ्र सफलता मिलती है। सिद्धासन का सदैव अभ्यास करना चाहिये। प्राणायाम-साधना में यह आसन विशेष लाभदायी है। इसके द्वारा संसार के द्वंद्वो से परे जाकर श्रेष्ठ गति प्राप्त होगी। इस आसन के समान रहस्यमय आसन अन्य नहीं है। इस आसन के अभ्यास से भी पापमयी गति रूकने लगती हैं अर्थात् पतन कारी कर्म और विचार संयमित होने लगते है।

### २. पद्मासन

दोनों पावों के तलवों को खीच कर आमने सामने की जांघ पर रख ले। ऐड़ी पेट में लग जाय। दोनों हाथों को नाभि के सामने मुड़े हुए पैरो पर टिकाकर सम्पुटित कर ले अर्थात् हथेलियों को ऊपर की ओर करके एक को दूसरे पर रख ले।

#### विशिष्ट क्रिया :

दृष्टि को नाक के अग्रभाग में स्थित करे। सामने के राजदंतों के पीछे जड़ में जीभ लगाये। ठोढ़ी को वक्षस्थल पर टिका दे। धीरे-धीरे

श्वास भरे। यथाशक्ति श्वास को रोके और शनैः शनैः निकाल दे। नाक और आंख बन्द करने की आवश्यकता नहीं है। रेचक बहुत धीरे-धीरे होना चाहिये। यह आसन अधिक अभ्यास करने पर सिद्ध होता है, लेकिन बहुत लाभप्रद है। धैर्यशाली और बुद्धिमान ही इस आसन का अधिकारी है। हठ एवं बल पूर्वक न करे और जब तक आराम से बैठ सके, तभी तक इस आसन में बैठे। थोड़ी देर में दोनो नासापुटों में श्वास का प्रवाह समान रूप से होने लगता है। सब प्रकार की साधनाओं में श्वास की यह सम- स्थिति उत्तम है। चित्त की अशांति मिटती है। संस्कारों पर अधिकार प्राप्त होता है। अवनति-कारक भाव संयमित हो जाते हैं।

### ३. पश्चिमोत्तान आसन

दोनों पैरों को आगे लम्बा कर दे। अंगूठे और एड़ी मिले रहें। दोनों हाथों से दोनों पैर या दोनों अंगूठे मजबूती से पकड़ ले। घुटनों पर सिर झुकाकर टिकायें।

यह आसन कुछ अभ्यास के पश्चात् आता है। मधुमेह (Diabetes), पीठ में दर्द, मंदाग्नि के दोष ठीक कर देता है। शरीर के तमाम अवसादों को हरण करता हुआ जठराग्नि को प्रदीप्त कर देता है। यदि इस श्रेष्ठ आसन का बुद्धिमान व्यक्ति प्रतिदिन अभ्यास करे तो शरीर के पिछले भागों में वायु का प्रभाव होता है और सुषुम्ना का द्वार शीघ्र खुलता है।

अभ्यास में लगे व्यक्ति को ही लाभ होता है। यदि नियमित अभ्यास न हो तो सिद्धि, सफलता, लाभ आदि नहीं प्राप्त होते। इस आसन में शरीर की वायु-शुद्धि अति शीघ्र होती है। शरीर में वायु संचार बढ़ने से अनेक कष्ट दूर होते हैं। बुद्धि प्रकाश-मय होती है। स्मरण शक्ति की अभिवृद्धि होती है।

आसनों को करते समय जप या ध्यान करते रहने से पाप वृत्तियां शीघ्र दूर हो जाती हैं। बुरी आदतें छूट जाती हैं।

## स्वस्तिकासन-सुखासन

दोनों पैरों को समेटकर एक पांव की उंगलियों को दूसरे पांव के घुटने के बीच फंसा दे। शरीर सीधा हो। अनेक प्रकार के प्राणायाम इस आसन में किये जा सकते हैं। इस आसान में साधक अधिक समय तक बैठ सकता है। यह आसन भी रहस्यमय कहा गया है, क्योंकि इस का प्रभाव चित्त पर अधिक होता है।

## विशिष्ट क्रिया

इस आसन के साथ प्राणायाम करते समय अधोभाग में स्थित इन्द्रियों को ऊपर खीचें। इसे मूल-बंध कहते है। पूरक करते समय मूल बंध लगा ले। प्राणायाम अपनी गति पर चलता रहे अर्थात् पूरक कुम्भक रेचक क्रमशः, यथाशक्ति होते रहें और ध्यान को मूलाधार में योनिस्थान में लगावे। इससे वासनायें समाप्त होने लगती हैं। ध्यान करे कि ब्रह्मयोनि में अग्निशिखा के समान सूक्ष्म चैतन्य शक्ति को प्रतीक, श्रेष्ठ, परम, कला-सम्पन्न कुंडलिनी-शक्ति स्थित है। इसमें करोड़ों सूर्य का तेज और करोड़ो चंद्रमाओं की शीतलता है। इस कुंडलिनी शक्ति को आत्मा का स्वरूप मानकर ध्यान करे। ब्रह्म-मार्ग अर्थात् सुषुम्ना से होकर त्रिकूट (मूलाधार, अनाहत ओर आज्ञाचक्र) को पार पर कुंडलिनी ऊपर जाती है और श्वेत तथा लाल रंग की तेजो मय अमृतमयी धारा को पीने लगती है। उसका विश्राम स्थान अमृत है जो सहस्त्रार में चन्द्रमा का साथी है। यह परमानन्द स्वरूपिणी है। यह कुंडलिनी शक्ति दिव्य अमृत पीकर शांत हो जाती है। उसी रस को पीने के लिये इसे योग-साधना द्वारा बार बार ऊपर ले जाया जाता है। अन्य कोई मार्ग अभी तक ज्ञात नहीं है। इस कुंडलिनी शक्ति को बार-बार अमृत पिलाने के कारण शरीर में ही स्थित कालाग्नि अर्थात् विनाशक तत्व शांत जो जाते हैं। तंत्र शास्त्र की यही चरम उपलब्धि है।

## योनिमुद्रा

इस ग्रंथ में योनिमुद्रा के महत्व का विशद् वर्णन किया गया है। किसी आसन में वैठ जायं, दोनो अंगूठो से दोनों कान के छेदों को बन्द करे। दोनों आंखों को दोनों तर्जनियों से बन्द करे, दोनों नासापुटों को

दोनों मध्यमा उंगलियों से दबा ले, अनामिका और कनिष्ठिका उंगलियों से दोनों होठों को ऊपर नीचे से दबा ले। श्वास चाहे तो नाक से ले अथवा काकी मुद्रा से खीचे। यथाशक्ति कुम्भक करे। वायु का रेचन बहुत धीरे-धीरे करे।

योनिमुद्रा रहस्यमय है। इसको सिद्ध करना आवश्यक है। कोई योग-सिद्धि ऐसी नहीं जो इसके द्वारा प्राप्त न हो जाय। इस के साथ मूलबंध करने से अधिक लाभ होता है। मंत्र चाहे दूषित हो, छिन्न हो, कीलित हो, स्तंभित अथवा दग्ध हो, शिखाहीन हो अथवा मलिन एवं तिरष्कृत हो, वे सभी सिद्ध हो जायेगें। व्यक्ति चाहे मोह में पड़ा हो अथवा भ्रमपूर्ण हो, एक एक सप्ताह तक मूर्छित रहते वाला हो, मंदबुद्धि हो, वृद्ध हो, प्रौढ़ हो अथवा नवयुवक हो, यह मुद्रा सबके लिये लाभदायी है। ऐसा व्यक्ति जो विरोधी भावों में फंस गया हो, निर्वीर्य हो गया हो, सत्वहीन हो चुका हो और चित्त को सैकड़ो धाराओं एवं भ्रान्तियों में विभाजित हो गया हो—अर्थात् दिशाहीन हो, वह भी इस योनिमुद्रा से लाभ उठा सकता है। शुभ अथवा अशुभ चाहे जैसा मंत्र जप हो, योनिमुद्रा के अभ्यास से सिद्ध हो जाता है। विधान के अनुसार अभ्यास करने पर यह योनिमुद्रा सभी सिद्धियों मोक्ष और ऐश्वर्य को देने वाली है।

इस मुद्रा को बहुत सूझ बूझ के साथ करना चाहिये। किसी शिक्षक से विधिपूर्वक सीखे तो अधिक लाभदायी है। इसका अभ्यास आजीवन करता रहे। इस मुद्रा साधना द्वारा व्यक्ति सभी प्रकार की साधानाओं का अधिकारी बन जाता है। इसका अभ्यास करने वाला पापमय वृत्तियों से छूट जाता है, चाहे उसने ब्रह्म हत्या अथवा गुरु हत्या की हो, सुरापन करने वाला हो, चोर हो या महा व्यभिचारी हो। जो मोक्ष के अभिलाषी हैं, उन्हें मुद्रा का अभ्यास नित्य करना चाहिये। योनि मुद्रा रहस्यमयी है। तंत्र शास्त्रो में इसे बहुत महत्व किया गया है।

### अभ्यास योग

इस संसार के सब लाभ एवं योग्यतायें अभ्यास पर आधारित हैं। सफलता अभ्यास से मिलती है, अभ्यास से योग सिद्ध होता है, मंत्र सिद्धि अभ्यास से होती है और प्राणों पर अधिकार अभ्यास से होता है। अन्य

कोई राह नहीं है। व्यक्ति अपने मृत्यु के समय को अभ्यास के द्वारा टाल सकता है, मृत्युजयी अर्थात् इच्छा-मृत्यु प्राप्त करने वाला हो सकता है। वाणी-सिद्धि, इच्छानुसार गमन, आदि योग-सिद्धियां अभ्यास से ही प्राप्त होती हैं। इन्हीं विभूतियों के कारण अभ्यास को भी योग की संज्ञा दी गई है।

### दस मुद्रायें अथवा बंध

अब उन मुद्राओं का वर्णन करता हूं जो योग साधना में महत्वपूर्ण हैं। अन्य मुद्रायें भी हैं, लेकिन उन्हे महत्वपूर्ण नहीं माना गया है। मुद्रायें रहस्यमयी कही गई हैं, क्योंकि साधक के शरीर और चित्त पर इनके प्रभाव की प्रक्रिया पूर्णतया समझाना असम्भव है। इनके अभ्यास से, कुंडलिनी शक्ति शीघ्र जागृत होती है और सभी चक्रों (कमलों) का भेदन हो जाता है। इस कुंडलिनी शक्ति (माहेश्वरी शक्ति) को भली भांति समझ लेना चाहिये। यह सुषुम्ना के मुख पर सोई हुई है। इसका सम्यक् वर्णन इस ग्रंथ में आगे किया गया है। महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी, जालंधर-बंध, मूलबंध, विपरीत करणी, उड्डयान बंध वज्रोली और शक्ति चालन नामक दस मुद्रायें उत्तम हैं।

### महामुद्रा

यह तंत्रशास्त्र में लाभदायी क्रिया है। कपिल आदि सिद्धों ने इस मुद्रा का बड़ा महत्व बताया है। दाँये पैर की ऐड़ी को गुदा और मेढ्र-मूल (लिंगमूल) के बीच दबा ले। बायाँ पैर लम्बा फैलादे। दोनों हाथों से फैले हुये पांव को पकड़ ले, ठोढ़ी को हृदयदेश में दबा दे। शरीर के नव द्वारों को भीतर खीचनें का विचार करे अर्थात् मन को अन्तरमुखी करे। श्वास का पूरक, कुम्भक रेचक धीरे धीरे करे। थोड़ी देर, बांये पैर से अभ्यास करने के बाद बायें पैर से अभ्यास करे। थोड़े समय में दोनों नाड़ियां (इड़ा और पिंगला) सम हो जाती है अर्थात् दोनों नासपुटों से वायु समान रूप से चलने लगती है। इस अवस्था में चित्त शान्त हो जाता है। मंद बुद्धि मंद भाग्य साधक वर्ग को भी इस मुद्रा के कारण, साधना में गति मिलती है। योगाभ्यास काल में दोनों नासपुटों से सम-वायु चालन लाभदायी है।

इस क्रिया से शरीर का नाड़ी-जाल शुद्ध होने लगता है। नाड़ियों में प्रवाह-शक्ति बढ़ जाती है। महामुद्रा से ब्रह्मचार्य पालन में सहायता मिलती है। पातकीय संस्कारों का विनाश करने एवं कलुषित वृत्तियों को नष्ट करने में सहायता होती है। कुंडलिनी के लिए आवश्यक उष्णता उत्पन्न होती है ताकि चल पड़े, अर्थात् अपने परम-मार्ग ब्रह्मरंध्र की ओर अग्रसर हो। शरीर मलरहित शुद्ध कांतिमय हो जाता है। बुढ़ापे और मृत्यु के कष्ट नहीं होते। इच्छित साधनाओं की प्राप्ति होती है, सुख मिलता है, इन्द्रियां शान्त होती है।

अभ्यासरत योगी को ही कुछ प्राप्त होता है। यह इतनी लाभदायी मुद्रा है कि पंच महाभूतों पर अधिकार के बाद भी योगी इसका अभ्यास करता है।

### महाबंध

एक पांव फैलाये रहे, दूसरे की ऐड़ी समेटकर फैले पांव की जांघ पर रख ले। प्राणायाम की आवश्यता नहीं है। श्वास धीरे-धीरे चलावे। ठोढ़ी दबाकर हृदय पर लगा ले। गुदा और लिंग स्थानों को ऊप्र खीचें अर्थात् मूलबंध लगावे। इस क्रिया से अपान-वायु खिचंती है और प्राण वायु से मिलती है। पांव बदल-कर दोनों पांव से अभ्यास करे। इससे नाड़ी जाल शुद्ध और रस-प्रवाह उर्ध्वगामी हो जाता है। कुछ अभ्यास के पश्चात् वायु सुषुम्ना में प्रवेश करने लगती है। शरीर पुष्ट और अस्थिपंजर दृढ़ होता है। लगन के साथ इस बंध का अभ्यास करे।

### महाबेध

पांवो और ठोढ़ी की स्थिति महामुद्रा की तरह होती है। पेट में वायु भरकर पेट को आगे पीछे चलावे। इस प्रकार दवाब पड़ने पर सुषुम्ना कुछ समय बाद खुलने लगती है, उसकी गाठे खुल जाती हैं। वायु पर अधिकार प्राप्त होता है। वायु के उपयोग पर ही जीवन और मरण की क्रियायें आधारित है। अभ्यास से चक्रों के देवता कम्पित होने लगते हैं अर्थात् देवताओं के आसन डोल जाते हैं। ऐसे समय में कुंडलिनी महाशक्ति कैलासगामिनी हो जाती है जहां शिव से अर्थात् कल्याण से शक्ति का मिलन हो जाता है। महामुद्रा, महाबंध और महाबेध तीनों

का इसी क्रम से अभ्यास करना चाहिये। एक अभ्यास लाभदायी नहीं होता। तीनों क्रियायें क्रमशः एक ही समय में होनी चाहिये।

प्राणायाम के समान चारों कालों में इन तीन मुद्राओं का भी अभ्यास करे। अधिक समय नहीं लगता, लाभ अधिक होता है। छः महिनों तक उचित अभ्यास करने पर मृत्यु की तरफ ले जाने वाली धाराओं पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। सिद्ध पुरूष इन क्रियाओं का महत्व जानते हैं और निरतंर करते रहते हैं।

## खेचरी मुद्रा

इसका अभ्यास लगन से करना चाहिये। प्राणायाम के वर्णन में जीभ को पीछे लौटाकर तालुमूल में लगाने की क्रिया, इस मुद्रा का प्रारम्भिक अभ्यास है। किसी एक आसन में बैठकर, दृष्टि को भ्रूमध्य अथवा आज्ञाचक्र में स्थित करे अर्थात् आंखे मूंदकर ध्यान करे मानों आखों से आज्ञाचक्र में देख रहा हो। साधक का चित्त शांत हो, स्थान एकान्त हो। जिव्हा को अभ्यास द्वारा लंबिका के पीछे तालुमूल के छेद में प्रविष्ट करे। यही सुधाकूप है जिसमें जिह्य का अधिकाधिक प्रवेश कराता जाय जब तक छिद्र के अन्तिम सिरे तक जीभ न पहुंच जाय। मक्खन लगाकर उंगलियों से दोहन करने से जिह्वा शीघ्र लम्बी हो जाती है। जीभ के नीचे डोरी काटने की जरूरत नहीं, यद्यपि अन्य ग्रंथो में यह डोरी काटने की क्रिया वर्णित है।

इस मुद्रा में योगी अमृतपान करने लगता है। जीवनदायी रस जो व्यर्थ जाता है उसका उपयोग होने लगता है। पोषक रसों को अमृत कहा गया है।

हठयोग के षटकर्मों में खेचरी को सर्वाधिक लाभदायी बताया गया है। जिसकी खेचरी सिद्ध हो गई, वह योग-मार्ग में वेगपूर्वक बढ़ता है। शरीर पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। इस मुद्रा का अभ्यास यदि प्रतिदिन एक क्षण के लिए भी किया जाय तो दिव्य शरीर प्राप्त होता है। संस्कारों की शुद्धि होती है। इस जीवन में भोगों को दिव्यता के साथ भोगता हुआ योगी दिव्यकुल में जन्म पाता है। इस मुद्रा में स्थित होकर सौ वर्षो को एक क्षण के समान योगी बिता देते हैं।

यह क्रिया मुख्यतः हठयोग की हैं। आलस्यहीन साधना अपेक्षित है। यह मुद्रा सुरपूजित कही गई है।

### जालंधर-बंध

किसी आसन में बैठकर ठोढ़ी को हृदय में दबाकर टिका दे। पद्मासन में अथवा सिद्धासन में बैठकर अभ्यास अधिक लाभदायी है। इस बंध का अभ्यास करने से योनिमुद्रा भी शीघ्र सिद्ध हो जाती है। इस बंध के साथ, योनिमुद्रा और मूलबंध का अभ्यास आसानी से जोड़ा जा सकता है।

सहस्त्रार से टपकने वाले अमृत अर्थात् चन्द्ररस का पूर्ण उपयोग हो जाता है। शरीर को लाभ होता है। अन्यथा नाभिस्थान में स्थित अंग अग्नि इस रस को जलाती रहती है। इस बंध के द्वारा अमृत रस को शरीर के लाभहेतु उपयोग करने पर असुरों के समान शक्ति प्राप्त होती है। व्यक्ति संसार में अनेक सुख भोग कर सकता है। योगियों के लिए यह बंध बहुत लाभदायी माना गया है।

इस बंध का प्राणायाम के साथ अभ्यास करने पर पद्मासन में बैठा हुआ योगी आकाश और वायु तत्वों को शीघ्र जीत लेता है। पृथ्वी त्याग कर ऊपर उठ सकता है। शान्त एकान्त स्थान में इसका अभ्यास करना चाहिये।

### विपरीत-करणी ।शीर्षासन।

ललाट के शिरोभाग को जमीन मे लगावे। दोनों हाथों का गुंफन करके कपाल को सहारा देते हुये दोनों को जमीन पर टिकावे। मुलायम गद्दी अथवा कपड़े को लपेटकर ललाट के नीचे रख लें, नहीं तो दाग और गाठें बन जायेगीं। दोनों पांव को सीधा आकाश में उठा दे। आरम्भिक अवस्था में दीवार आदि के सहारे अभ्यास करें। शीर्षासान के पश्चात् थोड़ी देर लेटना चाहिये। शवासन का अभ्यास अधिक लाभदायी है।

इस क्रिया में हठ नहीं करना चाहिये। किसी अवस्था में अधिकता न करें और आंखो को यथासम्भव बन्द रखें।

शनैः शनैः अभ्यास बढ़ाते हुये यदि साधक ३ घंटे तक शीर्षासन

करने लगे तो मृत्युकारक तत्वों को पूर्णतया बस में कर लेगा। सहस्त्रार से झरने वाले अमृत रसों का पूर्ण लाभ शरीर को इस क्रिया से प्राप्त होता है। व्यक्ति सिद्धपुरूष हो जायेगा।

### उड्डयान बंध

पद्मासन में अथवा आधे खड़े होकर श्वास को ठेलकर बाहर निकाल दे। यथासम्भव पेट में वायु न रहे। नाभि-क्षेत्र को पीछे खींचकर पीठ में लगाने का अभ्यास करे। पेट पीछे खींचकर रोके रहे जबतक ऊबे नहीं। थकने पर पेट ढीला करे और सीधा खड़ा हो जाये। यदि आधे खड़े आसन में यह बंध कर रहे है, और बैठे हैं तो आराम कर ले। दो-चार श्वास ले। चित्त शांत करके फिर अभ्यास करे। एक समय में तीन बार बंध लगावें अधिक नहीं। इसका अभ्यास ठीक होने पर पेट को आगे पीछे धौकनी की तरह चलावें। आगे चलकर नवली निकाल सकते हैं और नवली-चालन कर सकते हैं।

इस आसन का चारों कालों में अभ्यास कर सकते हैं। ६ माह के अभ्यास से मृत्यु कारक प्रभावों को दूर कर सकते हैं। शरीर में वायु शुद्ध होती है, जठराग्नि प्रज्वलित होती है, रसों की वृद्धि होने लगती है और अस्थिपंजर दृढ़ होता है। यदि रोग है तो दूर होने लगते हैं। एकान्त शान्त स्थान में अभ्यास करे। पसीना आवे तो पोंछ दे या मालिश कर दे। शरीर को सूखने न दे। पसीने को शरीर पर सुखाने से धातुयें नष्ट होती है।

### वज्रौली

वज्रौली क्रिया का महत्व काम वासना पर अधिकार एवं वीर्य रक्षण के लिये है। यह हठयोग के षट् कर्मो में से एक है और शरीर के लिये लाभदायक है। गृहस्थ भी इसका अभ्यास कर सकते हैं और छः मास के अभ्यास से इसमें सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। इस क्रिया में मूत्र नली में कैथेटर डालना पड़ता है। एक साथ पूरा कैथेटर न डालें। एक या दो अंगुल कैथेटर रोज चढ़ावें और प्रतिदिन आगे आगे बढ़ाते जायें। इस क्रिया का अभ्यास आरम्भ करने के पहले नवली-चालन और मूलबंध सिद्ध होने से पेट प्रत्येक योगिक क्रिया के उपयुक्त बन जाता है। जब

मूत्राशय तक कैथेटर बिना कष्ट जाने लगे तब मूत्र बंध के माध्यम से नली द्वारा पानी ऊपर खीचनें का प्रयास करे। नवली क्रिया से पानी आदि शीघ्र खींच सकते है। पानी आदि को २४ मिनट तक रोके और निकाल दे। आरम्भ में कैथेटर साधारण मोटा बाद में अधिक मोटा कर देना चाहिये। कैथेटर और लिक्विड पैराफीन आधे घंटे तक उबालें और पूरा ध्यान रखें कि तौलिया हाथ, पानी एवं बर्तनों के कारण लिंग नाल में कीटाणु न जाने पावें। पानी खीचनें का अभ्यास जब हो जाये तो मट्ठा तथा दूध खीचें तत्पश्चात् घी खीचें। अन्त में व्यक्ति पारा खीचनें का अभ्यास कर सकता है। यह चरम सीमा है।

हमारे जीवन में वीर्यरक्षा का बड़ा महत्व है। ज्यादातर लोग वीर्य के कमजोरी के कारण ही आलसी, अनमने, अनुत्साही होते हैं। कोई काम करने का जोश नहीं रहता। बिन्दु धारण जीवन है, बिन्दु नाश मरण है। बिन्दु पात से भय, अपराध भाव अथवा किसी प्रकार की कुंठा नहीं उत्पन्न होनी चाहिये। यदि रक्षा हो सके तो लाभ है। जितनी वीर्य रक्षा होगी, उतना ही जीवन में संसारिक और पारमार्थिक लाभ होगा। काम करने के घंटे बढ़ जायेगें, थकान नहीं आवेगी। जैसे क्रियाओं में हठ नहीं की जाती, उसी प्रकार वीर्य रक्षण जबरदस्ती नहीं होता। ब्रह्मचर्य पालन के लिए शारीरिक और मानसिक अवस्था तैयार करनी पड़ती है। व्यर्थ बातचीत अधिक लोगों में व्यर्थ मिलना घूमना आदि रोकना पड़ता है। सिद्धांत ग्रंथो का अध्ययन प्रतिदिन करना आवश्यक हैं यौगिक क्रियायें करना भी उतना ही आवश्यक है। प्राणायाम शीर्षासन और वज्रौली ब्रह्मचर्य के लिए आवश्यक त्रिकूट है।

शरीर में स्थित बिन्दु सृजन-शक्ति का प्रतीक है। बिन्दु का सम्बन्ध सूर्यमंडल से है जो मूलाधार में स्थित है। जठराग्नि पर बिन्दु का प्रभाव पड़ता है। शरीर की कांति से भी वीर्य का सम्बन्ध है। सूर्यमंडल, शक्ति का स्थान है और चन्द्रमंडल शिव का। कुंडलिनी शक्ति महामाया की प्रतिनिधि है। शिव और शक्ति के मिलन से परम कल्याण होता है। बिन्दु की क्रिया से ही जीवन वर्धन और संकोचन अर्थात् निर्माण, विकास और विनाश की लीला होती है। योगी को अपना ब्रह्मचर्य सिद्ध कर लेने पर साधना में बड़ी गति मिलती है। बिन्दु नाश से साधना की गति

मंद होती है और कुछ समय पश्चात् एकदम रूक जाती है। बिन्दु की पूर्ण रक्षा करने से कोई सफलता पहुंच के बाहर नहीं रहती। इसकी महिमा का ज्ञान साधना करने वाले ही अच्छी तरह समझ सकते हैं। शरीर में सुख और दुःखकारी भावों का उदय बिन्दु क्षय और रक्षण पर आधारित है।

जब बज्रौली का अभ्यास करे तो नमक, मिर्च, मसाले आदि त्याग दे, नहीं तो मूत्र नली में जलन होगी। क्रिया की सिद्धि के पश्चात् यह बन्धन नहीं रहेगा। पेशाब करते समय रोक रोक कर मूत्र त्याग करें। बार-बार ऊपर खीचे मानों वापस थैली में भर रहे हों। यदि पेशाब में जलन जान पड़े तो खड़े होकर मूत्र त्यागे और तरल पदार्थ अधिक पीयें, जिनसे पेशाब अधिक बनता हो।

संसार में अधिकतर व्यक्ति अज्ञान में पड़े हुए जीवन बिता देते हैं और कर्मठता एवं बौद्धिक योग्यता से केवल स्थूल लाभ उठाते हैं। यदि चेतना-स्तर एवं शरीर की साधना सफल व्यक्ति भी करे तो उनका विकास होगा। सबके लाभ हेतु जो साधनाऐं योग्य व्यक्तियों के अनुभव पर आधारित हैं उन्ही का अभ्यास योगी पुरूष करता है।

अभ्यास से ही सिद्धि प्राप्त होती है। अभ्यास का और सिद्धियों को प्राप्त करने का अधिकार भोगमय संसार में रहने वालों को भी है। मुक्ति प्राप्त करने का भी अधिकार सबको है लेकिन सभी प्रकार के लाभों को प्राप्त करने के लिये साधना करना आवश्यक है। पृथ्वी पर कहीं पर रहने वाले हों सभी सिद्ध हो सकते हैं। प्रारव्ध को भोगते हुये भी योग साधना द्वारा सब सिद्धियां प्राप्त हो सकती हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है। महान सुख देने वाली साधनायें सम्यक् रूप से करनी चाहिये।

कुछ पाश्चात्य डाक्टरों का मत है कि वीर्य धनीभूत प्रोटिन (Concentrated high protein) मात्र है जिसका रक्षण अनेक शरीर दोष उत्पन्न करता है। वीर्य खर्च करते रहना लाभदायी है। इसके रक्षण को अधिक महत्व देना अप्राकृतिक और हानिकारक है। यह विचार भ्रामक है। वीर्य शक्ति है। शक्ति का उपयोग हम संभोग में करें तो क्षणिक सुख-लाभ होता है और वह सुख भी ऐसा जो अपनी मानसिक व्यवस्था पर आधारित होता है। अपनी यौन शक्ति को हम अन्य लाभदायी

विकासात्मा क्रियायों में लगा सकते हैं।

### सहजोली और अमरौली

यह दोनों वज्रौली के भेद हैं। अनका उद्देश्य भी बिन्दु रक्षण ही है। यदि अचानक बिन्दु-चालन हो जाय अथवा वासना जागे तो इड़ा और पिंगला को अर्थात् दोनों नासापुटों को बराबर चला ले, इससे वीर्यक्षरण रूक जायेगा। अमरौली में वज्रौली के समान ही मूत्रनाली का शोधन करना होता है। कैथेटर डालकर मूत्र नली में धीरे-धीरे हवा फूँकी जाती है।

सहजोली रहस्यपूर्ण क्रिया है। इस साधारण क्रिया से अनेक लाभ होते हैं। इसकी साधना अत्यन्त सरल है। प्रयत्न पूर्वक इसे सिद्ध करना चहिये। मूत्र रोक रोक कर त्याग करना चाहिये। सर्वदा मूत्र त्याग करते समय वायु को वेग पूर्वक मूत्र द्वार से ऊपर खीचने का अभ्यास करें तो बिन्दु रोकने की शक्ति प्राप्त होती है। ऐसा मत है कि सौ स्त्रियो के साथ संभोग करने पर भी बिन्दुपात नहीं होता। बिन्दु रूपी महारत्न को सिद्ध करने पर इस पृथ्वी पर क्या सिद्ध नहीं हो सकता।

भगवान शंकर कहते हैं, बिन्दु धारण से ईश्वरत्व प्राप्त होता है जिसके लिये मुझे साधना करनी पड़ती है। मुझे जो ईश्वरत्व प्राप्त हुआ है वह बिन्दुधारण के कारण ही है।

### शक्ति चालन

मूलाधार कमल में कुंडलिनी सोयी हुई है। उसका चालन इस क्रिया द्वारा करना चाहिये। अपान वायु को रोकर बलपूर्वक ऊपर खीचे। मुक्तासान में स्थित होकर यह क्रिया करें। यही शक्ति चालान क्रिया है। शक्ति चालन क्रिया का अभ्यास प्रतिदिन करे तो आयु में वृद्धि होती है और रोगनाश होता है। कुंडलिनी, जो सर्पिणी-रूपी कही गई है, वह निंद्रा त्याग कर स्वयं ऊपर जाने लगती है। सिद्धि चाहने वाले योगी को शक्ति चालन का नित्य अभ्यास करना चाहिये। जो शक्ति चालन का अभ्यास नित्य करता है, उसका शरीर सुन्दर हो जाता है। काया-सिद्ध होती है और अणिमा आदि ऐश्वर्य प्राप्त होने लगते हैं। क्रिया को ठीक समझकर प्रतिदिन दो मुहूर्त तक जो विधिपूर्वक अभ्यास करता है, उसे

मृत्युभय नहीं रहता।

यह दस मुद्रायें हैं। इनमें एक मुद्रा का भी अभ्यास करने पर भी सभी प्रकार की इच्छित सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। स्त्रियां भी इनका अभ्यास कर सकती हैं।

### साधना के विघ्न एवं सहायक

देवी पार्वती ने प्रश्न किया कि भगवन् उन विघ्नों का वर्णन कीजिये जो परमार्थ की राह में साधक के सामने आते हैं।

भगवान शंकर ने उत्तर दिया–'हे देवी, सुनो।' मुक्ति पथ पर चलने वाले मनुष्यों के सामने संसार के भोगो में राग ही परमबन्धन है।

नारी (नारी के लिए पुरूष) शैया, भोजन, आसन, वस्त्र, स्त्री-सुख, चुम्बन, पान-पीने की अनेक वस्तुयें, राज्य, ऐश्वर्य, शौर्य (शरीर-बल-अभिमान) एवं अनेक विभूतियां, सोना, चांदी, तांबा, रत्न, गोधन, पांडित्य, वेद, शास्त्र, नृत्य, गीत, उत्तम अलंकार तथा चिन्ह, वंशी, वीणा, मृदंग, हाथी घोड़े, वाहन, पत्नी, सन्तान आदि विघ्न उत्पन्न करते हैं।

भोग रूपी विघ्नों के अतिरिक्त धार्मिककृत्य जो विघ्नकारी होते है उन्हें भी जानना चाहिये। स्नान, पूजा, अतिथि सेवा, होम, अग्निक्षेत्र, सुख, प्रसन्नता, व्रत, उपासना, नियम, मौन, इन्द्रिय, निग्रह, अध्ययन्न, मंत्र, दान, चतुर्दिक ख्याति, वापी, कूप, तड़ाग, महल, बाग बगीचा, काव्य, कलायें, यक्ष, चंद्रायण, कृच्छ–चंद्रायण, तीर्थ आदि विषय भी बाधक हो जाते हैं। यह सब पुण्य कार्य है, लेकिन सचेत रहना चाहिये कि ये साधना में बाधक न हों।

अब वह राह बताता हूं कि उन्नति के मार्ग में बाधाएं न आयें।

गोमुख आदि आसन का अभ्यास तथा धौति, प्रक्षालन आदि क्रियायें करें। नाड़ी-संचार-विज्ञान, प्रत्याहार और इन्द्रिय-निरोध को जानना चाहिये। नवली-चालान और वज्रौली करे। नाड़ियों के कर्म अर्थात प्राणायाम करे। मूत्रछिद्र से खीचें हुये रस को चौबिस मिनट तक रोके फिर बाहर निकाल दे। यह कालसमाधि है।

साधु पुरूषो का संग और दुर्जनों से संकोच का व्यवहार करना चाहिये। प्रत्येक श्वास के साथ अपने लक्ष्य का ध्यान रखें। एक क्षण

के लिए भी जीवन के लक्ष्य को भूले नहीं। ऐसा मनन करते रहना चाहिये कि वह ब्रह्म ही सब रूपों में स्थित है, परन्तु ब्रह्म का कोई रूप नहीं है। इस प्रकार मनन करते-करते जब इस पिण्ड रूपी शरीर का मान नहीं रह जाता तब ब्रह्मैक्य हो जाता है और चित्त पूर्णतया शान्त हो जाता है।

सभी विघ्न, नाना रूपों एवं भावनाओं में विद्यमान रहते हैं। सत्य का ज्ञान ही योग-सिद्धि है।

### योग के स्वरूप भेद

मंत्र योग, हठयोग, लययोग, और राजयोग जिसमें राजाधिराज योग भी है। यही चार मुख्य योग हैं।

### साधक अधिकारी भेद

गुरु को अधिकारी भेद भली भांति समझ लेना चाहिये।

साधक चार प्रकार के होते हैं। मृदु, मध्यम, अधिमात्रिक और अधिमात्रम्। वैयक्तिक गुणों पर अधिकारी भेद आधारित होते है। अधिमात्रम् साधक सर्वश्रेष्ठ है और संसार सागर को लाघंने में पूर्णतया समर्थ हैं।

### १. मृदु साधक

मन्द-उत्साही, मूढ़ भाव वाले, मोह करने वाले, हठी, व्याधियों से जिनका जीवन भरा है, श्रेष्ठ पुरूषों के निन्दक, लोभी, पाप-रत-मति, बहुत भोजन करने वाले, स्त्रीलुब्ध (मन को स्त्रियों में आश्रित करने वाला) चपल कातर, रोगी, पराधीन, अति निष्ठुर, मन्द आचरण वाले, मन्द वीर्य (आलसी) यह मृदु साधक होते है। यदि परम प्रयत्न के साथ यह लोग साधना करे तो १२ वर्षो में योग-सिद्धि प्राप्त करेगें। ये केवल मंत्रयोग के अधिकारी होते हैं।

### २. मध्यम साधक

समत्व बुद्धि वाले, क्षमाशील, पुण्याकांक्षी, प्रियभाषी, समस्त कालों में सामान्य भाव, संशय रहित व्यक्ति मध्यम साधक हैं। ये लय-योग के अधिकारी हैं। गुरु को चाहिये कि साधक के गुण भलीभांति समझ

लें, तभी लय-योग की शिक्षा दें।

### ३. अधिमात्रिक साधक

स्थिर बुद्धि, लग्नशील, स्वाधीन (रोटी कमाने-परिवार एवं संसारिक बोझों से मुक्त) वीर्यवान, शूर, स्थिर आयुवाला, (परिपक्व आयु), श्रद्धावान्, गुरुचरणों का पूजक, धर्यवान हो, तो अधिमात्रिक साधक है। उसे हठ योग की दीक्षा सांगोपांग देनी चाहिये।

### ४. अधिमात्रम् साधक

सभी प्रकार की योग साधनाओं के ये पूर्ण अधिकारी होते हैं। महान पौरूषवाला, उत्साही, मन की गतियों को जानने वाला, शौर्यवान्, शास्त्रज्ञानी, अभ्यासशील, भेद-बुद्धि रहित, आकुलता-हीन, नवयौवन सम्पन्न, मिताहारी, जितेन्द्रिय, निर्भय, पवित्र, दक्ष, दाता, सभी लोगो को सहारा देने वाला, विकारहीन, स्थिर-बुद्धि, बुद्धिमान, यथार्थ इच्छा वाला, (जो अपनी क्रियाओं की बाबत डींग न मारता हो) प्रिय भाषी, शास्त्रों में विश्वासी, देवता एवं श्रेष्ठ जनों के प्रति आदर भाव रखने वाला तथा जन साधारण में अनुरक्ति न रखता हो ओर जिसके शरीर में कोई महान व्याधि न हो, ऐसा साधक अधिमात्रतम कहा गया है अर्थात् योग का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी माना गया है। सब प्रकार के योगों की शिक्षा वह ले सकता है ऐसे गुणवाले व्यक्ति के मिलने पर अन्य किसी बात का विचार किये विना योग की सम्पूर्ण शिक्षा देनी चाहिये।

राजयोग अर्थात् आष्टांग योग, जिसकी व्याख्या महर्षि पतंजलि ने की है, उसके साधरण रूप से सभी अधिकारी हैं। आयु, लिंग, देश, जाति के भेद बाधक नहीं हैं। यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, यह राजयोग के आठ अंग है।

### प्रतीकोपासना अर्थात् छाया-पुरूष-सिद्धि

जब धूप भलीभांति तप रही हो, अपनी छाया में ही छाया-पुरूष अर्थात् ईश्वर को, दोनों नेत्रों को अच्छी तरह खोल कर देखे। कुछ समय बाद अपनी उसी छाया को आकाश रूपी आंगन में कल्पना द्वारा देखे। जब अपनी छाया आकाश में दिखाई पड़ने लगे तो समझ ले कि वह

छाया पुरूष ईश्वर है।

शुभ मुहूर्त में जब आकाश स्वच्छ हो सूर्य यौवनावस्था में हो अपना चित्त शांत हो, एकान्त मैदान में अथवा नदी के किनारे अपनी छाया के कंठ अथवा सिर पर त्राटक करे। त्राटक जब स्थिर हो जाये आकाश में देखे। छाया पुरूष के दर्शन आकाश रूपी आंगन में शीघ्र होने लगेगें। भविष्य में होने वाली घटनाओं का आभास मिलने लगेगा।

छाया पुरूष की इस उपासना को प्रतीकोपासना कहते हैं। यह साधना दृष्ट और अदृष्ट अनेकों प्रकार के फल देने वाली है। छाया दर्शन पवित्रता उत्पन्न करता है। इसमें कोई शंका नहीं है। प्रतिदिन अभ्यास करने वाले की आयु बढ़ जाती है और विनाशकारी तत्व नहीं पनपते। आकाश रूपी आंगन में जब अपना प्रतीक (छाया) पूर्ण-रूपेण प्रत्यक्ष होने लगे और साथ में यदि मंत्र जप का अभ्यास किया जाय तब साधक वायु तत्व पर विजय प्राप्त कर लेता है, इच्छा-विचरण सिद्ध हो जाता है। यदि प्रतिदिन अभ्यास चलता रहे तो कुछ समय बाद अपने प्रतीक में परमात्मा के दर्शन होने लगेगें। परमात्मदर्शन का भाव स्थिर होने पर, छाया रूपी पूर्णआनन्दमय एकपुरूष की कृपा से व्यक्ति परमतत्व में स्थित् हो जाता है। साधक अपने पापमय संस्कारों को नष्ट कर लेता है, पुण्यमय संस्कार वृद्धि प्राप्त करते हैं। यात्राकाल, विवाह, शुभकर्मो के अवसर पर तथा संकट काल में उचित आदेश प्राप्त होने लगते हैं। निरन्तर अभ्यास द्वारा छाया पुरूष को साधक अपने अन्तःकरण में देखने लगता है। वह सुख का अधिकारी बनता है। प्रसन्न एवं शान्तिचित्त हो जाता है।

### नाद योग

दोनों कान के छिद्र अंगूठों से बन्द करे, दोनो तर्जनियों से दोनों नेत्र बंद करे तथा अनामिका और कनिष्ठिका उंगलियों से होठों को नीचे ऊपर से दबा ले। वायु को रोक ले। यह अभ्यास योगी दिन प्रतिदिन करे तो आत्मारूपी ज्योति शीघ्र दृष्टिगोचर होगी। लय न टूटे और विशुद्ध एकरस, विमल ज्योति जब दीखने लगे तो कुसंस्कार नष्ट हो जाते हैं और श्रेष्ठ मार्ग में गति होती है। निरन्तर अभ्यास, योगी के पापमय

संस्कारों का पूर्णतया विनाश कर देता है। इन्द्रियां और उनके विषय भूल जाते हैं। साधक शरीर से परे शरीरी (आत्मा) से एकाकार हो जाता है इस क्रिया का अभ्यास गुप्त भाव से यदि सर्वदा करता रहे तो साधक ब्रह्मलीन होता है, चाहे उसने पापकर्म ही क्यों न किये हों। यह शीघ्र लाभ देने वाली साधना रहस्यमय है। निर्वाण प्रदान करने वाली है एवं प्रयत्न पूर्वक अभ्यास करने योग्य है। भगवान् शंकर कहते हैं कि यह क्रिया मेरी प्रिय साधना है।

अभ्यास करते करते कुछ समय पश्चात् नाद की उत्पति होती है। भौंरों की गुंजार तथा वीणा के स्वर के समान मंत्र गूंजने लगता है। साधक की नाद विषयक अनुभूति यही है। कुछ समय बाद घंटा बजने के स्वर, तत्पश्चात् मेघ गर्जन का नाद अनुभव में आता है। अभ्यास करते रहने पर, संसार में उत्पन्न होने वाले दुःख नष्ट हो जाते हैं। नाद में चित्त लगाकर साधक जब स्थिर हो जाता है तो लय-लोग सिद्ध हो जाता है। नाद में योगी का चित्त निरन्तर रहने रमने लगता है, सभी बाहरी वस्तुएं विस्मृत हो जाती है, चित्त-वृत्तियों का शमन हो जाता है। लगातार अभ्यास द्वारा साधक अनेक सिद्धियां प्राप्त कर लेता है। कर्मक्षेत्र में संकल्प रहित होकर वह क्रियाशील रहता है। चित्तरूपी आकाश में लय प्राप्त करता है, अर्थात् चित्त की चंचलता शान्त हो जाती है। सृष्टि लीला में पात्र भाव से अलिप्त, अपने लाभ हानि के विचारों से परे रहकर कर्म करता रहता है।

सिद्ध-आसन के समान आसन नहीं है, कुम्भक के समान बलदायी क्रिया नहीं है, खेचरी के समान कोई मुद्रा नहीं है तथा नाद योग के समान अन्य कोई लय-योग नहीं है।

## मुक्त पुरूषों के अनुभव

मुक्त पुरूषों के अनुभव जानकर पाप-संस्कारों से युक्त साधक भी मुक्ति लाभ करते हैं। साधक अपने इष्ट की भली प्रकार पूजा करे और उन्हीं के पास उत्तम योगों की साधना करे। आसन सुखदायी हो अर्थात् सरल हो। गुरु से भलीभांति योग क्रियाओं की दीक्षा ले। योग्य गुरु को जीवनोपयोगी सभी वस्तुयें देकर प्रयत्नपूर्वक संतुष्ट करे। बुद्धिमान

ब्राह्मणों को संतुष्ट करे। नाना प्रकार की मंगल वस्तुओं को धारण करे। मंदिर में पवित्र होकर कल्याणकारक योग का ज्ञान ग्रहण करे। जन सम्पर्क से अलग, पद्मासन में स्थित दोनों विज्ञान नाड़ियों (इड़ा और पिंगला) को उंगलियों से रोक ले। प्राणायाम का अभ्यास करे। परिश्रमपूर्वक अभ्यास करने पर योगी का प्राणायाम सिद्ध हो जाता है, सुख रूपी निरजंन का अनुभव होने लगता है और सिद्धियां प्राप्त होने लगती हैं। प्राणायाम के गहन अभ्यास द्वारा वायुसिद्धि प्राप्त होती है और अन्य सिद्धियां दूर नहीं रह जातीं। नित्यप्रति के प्राणायाम अभ्यास से पापमय संस्कार नष्ट होते हैं तथा प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करने लगता है। देवपूजन करता हुआ अभ्यास में लगा हुआ योगी अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर तीनों लोकों में भ्रमण कर सकता है। योगी जिस भाव को लेकर प्राणायाम का अभ्यास करता है, उसी भाव के अनुरूप उसका शरीर हो जाता है। आत्मभाव में स्थित होकर वह योगी सृष्टिलीला में निर्विकार योगदान करता है।

मैं अपने अनुभव के प्रमाण से साधनाफल का युक्तियुक्त वर्णन बताता हूं। योग रहस्यमय साधना है। अधिकारी का निर्णय किये बिना सभी व्यक्तियों को इसका उपदेश नहीं करना चाहिये।

कण्ठ-कूप के नीचे कूर्मनाड़ी स्थित है, इसमें मन को लगाने से चित्त की स्थिरता शीघ्र प्राप्त होती है।

सिर के कपाल भाग में रूद्राक्ष के समान बिंवर है। इसमें ध्यान लगाने से विद्युत प्रकाश का अनुभव होता है। इस चिन्तन द्वारा पापमय संस्कार नष्ट होते हैं एवं दुराचारी व्यक्ति भी श्रेष्ठ पथ प्राप्त करने लगता है। दिन रात यदि इस पर ध्यान स्थिर रहे तो सिद्ध पुरूषों के दर्शन तथा उनसे वार्तालाप का निश्चित लाभ प्राप्त होता है। इस शून्य स्थान का चिन्तन वैठे हुये, भोजन करते हुये, सोते हुये, दिन रात करते रहना सम्भव है। अभ्यास करते रहने पर योगी का आकाश तत्व प्रधान हो जाता है। वह अपने चित्तरूपी आकाश में शान्त सुस्थिर हो जाता है, अर्थात् साधक का चित्त स्पंदनहीन हो जाता है। योगी अन्तरमुखी होकर चित्त में भ्रमण करता है।

ध्यान की क्रिया को भली भांति जानकर-समझकर सिद्धि चाहने वाला योगी निरन्तर अभ्यास करे। भगवान् शंकर कहते हैं कि सतत् अभ्यास द्वारा योगी मेरे समान ईश्वरत्व और शक्ति प्राप्त करेगा। ध्यान-अभ्यास के बल पर योगी सर्वलोकप्रिय बन जाता है। सृष्टि के कारणरूप सब भूतों पर विजय प्राप्त कर अपरिगृही एवं पूर्णकाम हो जाता है।

पद्मासन में स्थित जो साधक नाक के अग्र भाग पर दृष्टि स्थिर करता है, उसके मन के सभी संकल्प-विकल्प नष्ट हो जाते हैं और आकाशचारी सिद्धि प्राप्त होती है।

जो योगी शुद्ध चित्त श्रद्धापूर्वक ज्योति का दर्शन करता रहता है, वह अपने अभ्यास के बल पर स्वयं उस ज्योति का अधिकारी हो जाता है।

भूमि पर चित्त लेटकर आज्ञा चक्र में ज्योति का ध्यान करने से श्रम का तत्काल नाश होता है और श्वास पर संयम प्राप्त होता है।

सिर के पिछले भाग पर ध्यान करने से हानिकारक तत्वों पर विजय प्राप्त होती है। मृत्यु टल जाती है। आज्ञाचक्र में दृष्टि स्थिर करने से योगी अद्वितीय कीर्ति अर्जन करता है।

### भोजन एवं रस

चार प्रकार के भोजन लेह्य, चोष्य, चर्व्य और पेय ही हैं। शरीर मे भोजन से उत्पन्न होने वाले रस तीन भागों में बंट जाते हैं। सारतम भाग शरीर के सूक्ष्मतम अंगों का पोषण करता है, जैसे बुद्धि, मन, एवं इन्द्रियां आदि। रस का दूसरा भाग सप्त धातुमय शरीर पिंण्ड का पोषण करता है। रस का तीसरा भाग विष्ठा और मूत्र के साथ बाहर निकल जाता है। अन्न का आधा भाग सम्पूर्ण नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण नाड़ियों का पोषण करता हुआ शरीर का रक्षण करता है। वायु का संचार नाड़ियों के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में होता है। उसी माध्यम से अन्नों का रस समान रूप से अंगों को पुष्ट करता है नाड़ियों में चौदह नाड़ियां प्राण-प्रवाह की क्रिया में मुख्य हैं। अन्य नाड़ियां इनके अधीन है।

## कुण्डलिनी, एवं मूलाधार चक्र

गुदाद्वार से दो अंगुल ऊपर, लिंगमूल से एक अंगुल नीचे स्वस्तिक-चिन्ह के समान चार अंगुल का चौकोर कन्द है। कन्द के मध्य में पीछे की ओर मुख किये हुये योनि है, जिनमें कुण्डलिनी विद्यमान है। कुण्डलिनी आठ स्थानों से टेढ़ी है और स्वयं को पूर्णरूपेण लपेटे हुए पूंछ को अपने मुख में लेकर सुषुम्ना नाड़ी के मुख पर स्थित है यह सोई हुई नागिन के समान है और अपनी ही प्रभा से प्रकाशित होती रहती है, स्वयं प्रकाश है। इसमें सर्प के समान अत्यन्त सूक्ष्म ग्रन्थियां हैं। वाग्देवी अर्थात् वाणी की अधिष्ठात्री देवी वीज रूप से यहीं स्थित मानी गई हैं यही वाणी का उत्पत्ति स्थान है।

कुण्डलिनी शक्ति को वैष्णवी शक्ति भी माना गया है। यह शुद्ध स्वर्ण आभा वाली है, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण को विकसित करती है। किसी किसी ग्रन्थ में कुण्डलिनी में स्थित श्रेष्ठ तेज़ को बीज कहा गया है क्रिया और विज्ञान से युक्त तेज बीज मूलाधार चक्र में योनि में स्थित है। वंधूक पुष्प के रंग वाला कामवीज भी वहीं स्थित माना गया है। इस कामवीज को कुछ लेखकों ने हंस भी कहा है। पिंगला नाड़ी के पास ही परमतेजोमय तेजबीज की स्थिति भी मानी गई है। इस प्रकार कतिपय योगियों ने मूलाधार में ही वाग्वीज, कामवीज और तेज अथवा शक्ति वीज की स्थिति मानकर, त्रिपुरभैरवी का स्थान वहीं मान लिया है। मूलाधार की चार दिशाओं में चार पंखुड़ियां हैं। इनको वर्ण माला के चारों अक्षरों का (व, श, ष, और स) उत्पत्ति स्थान माना गया है। इस कमल को कुल कहा गया है जो कि स्वयंभूलिंग से युक्त है और स्वर्ण आभावाला है। यहां का सिद्ध चिन्ह हाथी तथा अधिष्ठात्री देवी डाकनी हैं। मूलाधार चक्र के बीच में योनि है और योनि में कुण्डलिनी हैं जिसके ऊपर प्रकाशभय तेजबीज स्वतंत्र रूप से भ्रमण करने वाला और इस प्रकार कुण्डलिनी की परिक्रमा करने वाला माना गया है।

इस मूलाधार चक्र में जो ध्यान करता है, उसे प्रथम दादुरी सिद्धि प्राप्त होती है। तत्पश्चात् भूमि से ऊपर उठने की सिद्धि मिलती है। कान्तिमय शरीर, उत्कृष्ट जठराग्नि, आरोग्य, कार्यपटुता एवं अंगों की क्रियाशीलता बढ़ती है। साधक भूत भविष्य की सभी बातों का ज्ञाता

हो जाता है। साधक शास्त्रों के सत्य अर्थ अर्थात् रहस्य को जान जाता है। जिन शास्त्रों को न कभी सुना हो न पढ़ा हो उनका रहस्य भी जानने लगता है। सरस्वती देवी साधक की वाणी में नृत्य करने लगती है। मंत्र-सिद्धि शीघ्र होने लगती है। ऐसे साधक को विजय वरण करती है। बुढ़ापा एवं मृत्यु कारक दोष समूह नष्ट हो जाते हैं अर्थात् कायाकष्ट और विस्मृत आदि दोष नहीं उत्पन्न होते। अनेक प्रवृतिकारक गुणों का भी शमन हो जाता है। चित्त-शांति प्राप्त होती है। समभाव में स्थित व्यक्ति निर्लिप्त होकर कर्म करता रहता है। प्राणायाम करने वाले साधकों को कुण्डलिनी शक्ति का निरन्तर ध्यान करना चाहिये, क्योंकि योगी जब मूलाधार-स्थित स्वयंभूलिंग का ध्यान करने लगता है तो अनेकों दुःखो से छुटकारा पाने लगता है। ध्यान-सिद्धि और कुण्डलिनी-सिद्धि के पश्चात् दुःखपूर्ण संस्कारों एवं परिस्थितियों से छुटकारा पाने के लिए एक क्षण का ध्यान शक्तिशाली होता है। योगी जिस वस्तु की कामना करता है उसे सहज ही प्राप्त कर लेता है। शक्ति-तत्व के पूर्ण जागरण के पश्चात् कुछ भी अप्राप्त नहीं रह जाता। कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के पश्चात यदि निरन्तर एक वर्ष तक अभ्यास चलता रहे, तो संपूर्ण मुक्ति दायी तत्व प्राप्त होने लगते हैं।

मूलाधार चक्र के योनि-स्थान में जो स्वयंभूलिंग स्थित है, वह तंत्र शास्त्र का सर्व श्रेष्ठ तत्व है। इससे बड़ी शक्ति शरीर में अन्य कहीं नहीं है। अपने भीतर लिंग अर्थात् चिन्ह को छोड़कर बाह्य संसार में स्थित लिंगों और चिन्हों की जो व्यक्ति पूजा करता है, वह अपने घर की अथवा स्वयं प्राप्त महान् शक्ति को भूलकर शक्तिहीन वस्तुओं में जीवनी शक्ति की आशा करता हुआ भ्रमित रहता है। स्वयं में स्थित स्वंयभूलिंग की अर्चना निरालस्य होकर करनी चाहिये। छः महिनों के निरन्तर अभ्यास द्वारा सकल सिद्धियां प्राप्त होती है। शक्ति प्राप्ति के लिये अन्य किसी साधना का विचार करना व्यर्थ है। अभ्यास के कारण शीध्र की सुषुम्ना नाड़ी में वायु सहज भाव से प्रवेश करने लगती है। इसके बाद मन की गतियों पर विजय प्राप्त होने लगती है तथा वायु और विन्दु पर अधिकार प्राप्त होने लगता है इसके बाद मन की गतियों पर विजय प्राप्त हो जाती है कामनाओं पर पूर्ण विजय होने लगती है और एहिक तथा आमुष्मिकी सिद्धियां (लौकिक तथा पारलौकिक) प्राप्त होने लगती है।

## स्वाधिष्ठान चक्र

लिंगमूल में मूलाधार-स्थान के ऊपर (पेडू में) स्वाधिष्ठान चक्र है जो लाल वर्ण के कमल के समान है। ६ दल हैं जिन पर वर्णमाला के छः अक्षर (व, भ, म, य, र, ल) स्थित है। अर्थात् ६ अक्षरों का यह उत्पति स्थान है। बालनामक सिद्ध का स्थान है तथा अधिष्ठातृदेवी का नाम राकिनी है। दिव्य स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान स्थिर करने वाले व्यक्ति पर कामिनियां मोहित हो जाती हैं। बिना पढ़े और बिना सुने हुये शास्त्रों का ज्ञान आविर्भूत होता है। सब प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है। भ्रम-रहित होकर साधक पृथ्वी पर जीवन यापन करता है। मरण क्रिया को साधक बांध देता है और उसे बंधन में कोई नहीं डाल पाता। परम सिद्धि प्राप्त होती है, जिनमें अणिमादि आठ ऐश्वर्यो का समावेश है। वायु संचार भलीभांति होने के कारण शरीर में लाभदायी रसों की वृद्धि होती है। सहस्त्रार से टपकने वाले अमृत-रस की मात्रा बढ़ जाती है।

## मणिपुर चक्र

यह नाभि स्थान में स्थित तीसरा चक्र अथवा कमल है। दस पंखुड़ियां है और वर्णमाला के दस अक्षरों (ड, ढ, ण, त, थ, द, घ, न, प, फ,) का उत्पति स्थान है। विष्णु देवता अधिष्ठता हैं, मंदाकिनी सिद्धि है, किन्नरी देवी है।

इस चक्र पर ध्यान करने से योगी को पाताल सिद्धि प्राप्त होती है। अर्थात् नाभि के नीचे के सभी अंगों की शुद्धि और उन पर विजय मिलती है। सुख का धारा-प्रवाह अनुभव होता है। मनचाही घटनायें होने लगती हैं। दुःख और रोग का नाश हो जाता है। काल बाधा प्रभावित नहीं करती, परकाया-प्रवेश की क्षमता प्राप्त होती है। सुवर्ण बनाने की क्रिया अथवा सिद्धि मिलती है। सिद्धों का दर्शन होने लगता है, औषधियों को तथा धरती में छिपे खज़ानों को जानने की शक्ति मिलती है।

### अनाहत चक्र

चौथे कमल या अनाहत चक्र का स्थान हृदय है। यह बारह पंखुड़ियों वाला है। वर्णमाला के बारह अक्षरों (क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, ठ) का उत्पति स्थान है इस कमल पर अत्यन्त लाल रंग का परम तेज युक्त बाणलिंग स्थित माना गया है। यह सुख स्थान है, कामनाओं का अधिष्ठत्ता है। इस कमल में ध्यान स्थिर करने पर दृष्ट और अदृष्ट का ज्ञान होने लगता है। जाने-अनजाने फल अथवा लाभ प्राप्त होते हैं। यह पिनाकी नामक सिद्ध का स्थान कहा गया है। कांकिनी अधिष्ठातृ देवी कही गयी है। शरीर सुन्दर और आकर्षक हो जाता है। अप्रतिम ज्ञान, त्रिकाल ज्ञान, दूर छुति, दूरदृष्टि, स्वेच्छागमन आदि गुण प्राप्त होते हैं। सिद्धों और योगियों के दर्शन होने लगते हैं। आकाश गमन की क्षमता प्राप्त होती है एवं आकाशचारी सभी जीव मित्रभाव रखते हैं।

प्रथम बाणलिंग मूलाधार में है। दूसरा बाणलिंग का स्थान अनाहत है। तीसरा वाणलिंग आज्ञाचक्र में माना गया है। अनाहत चक्र में ध्यान स्थिर करने का माहात्म्य ब्रह्मादि सकल देवता भी ठीक-२ वर्णन नहीं कर सकते। यह चक्र महान् रहस्यों का स्थान है।

### विशुद्ध चक्र

यह पांचवा चक्र कंठस्थान में स्थित चक्र कहा जाता है। सोलह पंखुड़ियों वाला यह चक्र वर्णमाला के सोलह अक्षरों (अ, आ, इ, ई, ऊ, उ, ऋ, ल, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः) का उत्पति स्थान है। शुद्ध स्वर्ण की आभा वाला है।

यह छगल, नामक सिद्ध का स्थान है। शालिनी अधिष्ठातृदेवी है। इस चक्र में ध्यान करने से पांडित्य बढ़ता है। चारों वेदों का वर्णन करने में ब्रह्मा के समान योग्यता प्राप्त होती है। योगी के लिये इस चक्र का ध्यान गुणकारी है। योगी का मन जब इस चक्र में स्थिर हो जाता है, देवताओं के दर्शन होने लगते हैं। बाह्य वस्तुओं से चित्त निवृत होकर अपने अंतर में स्थित हो जाता है। शरीर की शक्तियों का ह्रास नहीं होता है। हजार वर्षो तक भी शरीर मजबूत और स्वस्थ रह सकता है। इस चक्र में ध्यान स्थिर करने वाला योगी सहस्त्र वर्षो का समय क्षण के समान बिता देता है अर्थात् समय का प्रवाह योगी को प्रभावित नहीं करता।

## आज्ञा चक्र

शरीर में स्थित चक्रों में छठवां चक्र आज्ञा चक्र है। यह भूमध्य में स्थित है। हंस की तरह शुभ्र आभा वाला है। महाकाल सिद्ध का स्थान है एवं हाकिनी देवी है। इस चक्र में शरत्कालीन चंद्रमा की कान्ति छायी रहती है। दो पंखुड़ियों वाला है। वर्ण-माला के दो अक्षर (ह, क्ष) का उत्पत्ति स्थान है। परमहंस पुरूष का स्थान यहां माना गया है। इस चक्र को सिद्ध करने पर किसी दुःख का अनुभव नहीं होता। धैर्य बहुत बढ़ता है। यहां परमतेजमय देवता का भी स्थान कहा गया है और इस चक्र को सभी तंत्रों में महत्वपूर्ण स्थान दिया है। यहां ध्यान करने से परासिद्धि प्राप्त होती है।

तीसरे वाणलिंग की स्थिति इस आज्ञा चक्र में मानी गई है। यह मुक्तिदायक चक्र है। भगवान शंकर कहते हैं कि इस चक्र में ध्यान करने वाला मेरे समान हो जाता है, इसमें कोई संशय नहीं है।

शास्त्रों में इड़ा नाड़ी को वरूणा नदी कहा गया है। पिंगला को असी नदी माना है। वरूणा और असी के बीच स्थित वाराणसी यही आज्ञा चक्र है। विश्वनाथ का निवास इसी में है। ऋषियों, महार्षियों एवं शास्त्रकारों द्वारा इस चक्र में माहात्म्य का अत्यधिक वर्णन किया गया है। इस चक्र को श्रेष्ठतम चक्र बताया है।

मेरूदण्ड के सहारे स्थित सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक गई है। सुषुम्ना ही गंगा कही गई है। यह बायें नासापुट के पास से गुजरती है और आज्ञा चक्र के दायें होकर जाती है। वाराणसी में तीनों नदियों की जैसी स्थिति है, उसी की कल्पना यहां की गयी है।

## सहस्त्रार

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित कमल सप्तम चक्र है। इसमें एक हजार पंखुड़ियां हैं। सहस्त्रार कंदरूपी है। कंद में योनि स्थान है। योनि में चंद्रमा की स्थिति है। योनि त्रिकोणकार है और इससे जीवन पोषक अमृत टपकता है। चन्द्रमा से अमृत रस बहकर इड़ा नाड़ी में गिरता है। यह अमृत-धारा निरंतर प्रवाहित होती रहती है।यह इड़ा नाड़ी आज्ञाचक्र के दाहिने होकर बायें नासापुट में आती है इड़ा का उद्गम स्थान अथवा आरम्भ स्थान

वाम नासापुट है। पिंगला का उद्गम दक्षिण नासापुट है और सुषुम्ना का उद्गम ब्रह्मरन्ध्र है।

कंद रूपी मूलाधार की योनि में सूर्य है। सूर्य से कठोर विष अथवा ताप प्रवाहित होता है, जिसकी गर्मी पिंगला नाड़ी द्वारा शरीर में फैलती है। यह तेज रूपी विष दक्षिण नासापुट में पिंगला से प्रवाहित होकर आता है। इड़ा अधोवाहिनी है और पिंगला ऊर्ध्वाहिनी है। सुषुम्ना निश्चेष्ट है, जो प्राणायाम की साधना द्वारा संचारित की जाती है। इसमें होकर कुंडलिती शक्ति ऊपर एवं नीचे दोनों दिशाओं में प्रवाहित होती हैं। आज्ञाचक्र में पीठत्रय माना गया है क्योंकि वहां से पिंगला, इड़ा और सुषुम्ना तीनों गुजरती है। पीठत्रय में नाद-बिन्दु और शक्ति का सुमेल है। आज्ञाचक्र अर्थात् पीठत्रय में ध्यान स्थिर करने वाला योगी अपने पूर्व जन्मों का स्मरण प्राप्त कर लेता है। यक्ष, गन्धर्व, अप्सरायें आदि ऐसे ध्यान-सिद्ध योगी के अधीन हो जाते हैं। उस योगी की चरण सेवा सभी जीव उसके वशीभूत होकर करते हैं। इस आज्ञाचक्र में ध्यान के साथ-साथ योगी अपनी जिव्हा को उलट कर लंबिका के पीछे गड्ढे में प्रवेश करा देते हैं, अर्थात् ध्यान के साथ-२ खेचरी मुद्रा लगा लेते हैं।

मन का स्थान आज्ञा चक्र में है। यदि चंचल मन अपने स्थान पर थोड़ी देर के लिये भी स्थिर होने लगे तो योगी के पाप-संस्कार-समूह नष्ट होने लगते हैं। आज्ञा चक्र में ध्यान करने से अनेक फल प्राप्त होते हैं। वासनाओं के बन्धनों से मुक्ति मिलती है और योगी प्रसन्नता प्राप्त करता है। मृत्यु के समय जो योगी आज्ञाचक्र में ध्यान करता है परमात्मा में लीन होता है। बैठे, चलते, सोते, खाते यहां तक कि सांस लेते हुये भी जो योगी आज्ञा चक्र में ध्यानरत रहता है वह पाप कर्म करता हुआ भी पाप-संस्कार ग्रहण नहीं करता। द्वन्द्वों से मुक्त आत्म-प्रकाश से युक्त होता है। भगवान शंकर कहते हैं कि आज्ञाचक्र के माहात्म्य का वर्णन में भी पूरी तरह नहीं कर सकता। ब्रह्मादि देवता भी इस चक्र का वर्णन अंशमात्र ही कर पाते है। अब तब वर्णित सभी गुण, ऐश्वर्य और सिद्धियां आज्ञा चक्र में ध्यान करने से प्राप्त हो सकती है।

तालुमूल के ऊपर सहस्त्रार कमल अथवा चक्र है। सुषुम्ना का आरम्भ इसी चक्र के छिद्र (योनि) से होता है। सुषुम्ना का मुख नीचे

मूलाधार में स्थित है, जहां के योनि-स्थान में सुषुम्ना समाप्त होती है। शरीर की सभी नाड़ियों की यह आश्रय है। भूतमयी सृष्टि का बीज यही सुषुम्ना है। यही ब्रह्म-मार्ग प्रदान करने वाली भी है।

तालुमूल के ऊपर जो सहस्त्रार-पद्म का कंद है उसमें स्थित योनि पीठ की ओर मुंह करके यह स्थित है। योनि के छिद्र में सुषुम्ना का मूल है। ब्रह्मरन्ध्र से मूलाधार तक फैली हुई तंतु के समान सुषुम्ना में कुंडलिनी शक्ति का चालन होता है। सुषुम्ना के भीतर चित्रा नाड़ी स्थित रहती है, उसी में ब्रह्मरन्ध्रादि की कल्पना करनी चाहिये लेकिन सुषुम्ना लिखने की पद्धति बन गई है। चित्रानाड़ी इतनी महान है कि उसके चिन्तन मात्र से पापमय संस्कार नष्ट होने लगते हैं।

कुंडलिनी शक्ति अपनी पूँछ को अपने मुख में रखकर सुषुम्ना द्वार को आच्छादित करके सोई रहती है, इसीलिये सुषुम्ना नाड़ी में वायु का आवागमन नहीं होता। योगी वायु-संचार करना चाहता है और इसी एक उद्देश्य-प्राप्ति के लिये अनेक क्रियायें करता है। जब तक सुषुम्ना नहीं जागृत होती तभी तक भ्रमों का अस्तित्व रहता है। सभी नाड़ियों को छोड़ कर, योगी केवल एक ही बात की साधना करता है कि सुषुम्ना के मुख को कुंडलिनी छोड़े और सुषुम्ना में वायु-संचार किसी प्रकार से भी हो जाये।

मूलाधार मे स्थित त्रिकोणाकार योनि के बायें कोण से इड़ा, दाहिने कोण से पिंगला तथा योनि छिद्र के मध्य से सुषुम्ना का सम्बन्ध है। केवल सुषुम्ना ही ब्रह्मरन्ध्र तक जाने वाली नाड़ी है। अच्छे साधक निस्सन्देह जानते हैं कि अनेक बन्धनों से मुक्ति तभी मिलती है जब शक्ति का सम्बन्ध शिव से इस सुषुम्ना मार्ग द्वारा हो जाता है।

जैसे गंगा और यमुना के मध्य से सरस्वती गुप्त रूप से स्थित है और जैसे अनेक संगम में स्नान करने वाला श्रेष्ठ गति प्राप्त करता है, उसी प्रकार योगी के लिये इन तीनों इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना का संगम प्राप्त करना महत्वपूर्ण है। यमुना काले रंग की है, गंगा श्वेत है, सरस्वती गुप्त रंग वाली है। इनके संगम रूपी प्रयाग राज में मनसहित स्नान करने वाला श्रेष्ठ मार्गगामी होता है और सब पापो को भस्म करके ब्रह्ममय हो जाता है। संगम पर पितृ-तर्पण का बड़ा महत्व बताया गया है। नाड़ीत्रय के कर्म का जागृत करना ही पितृतारक क्रिया है।

तीनों नाड़ियों और योग भाषा में वर्णित तीन नाड़ियों के संगम की तरह हमारे कर्मो की भी एक त्रिवेणी है। नित्य, नैमित्तिक एवं काम्य कर्मो का आचरण विचार पूर्वक एवं लगन पूर्वक करना चाहिये। तीनों नाड़ियों के संगम पर भी उसी प्रकार योगी को बारबार अपने मन को स्नान कराना चाहिये। जो व्यक्ति एक बार संगम पर स्नान कर लेता है दिव्य सुख का अनुभव करता है। योगी अपने सभी प्रकार के संस्कारों एवं पापमय को भस्म करते हुये, इस शरीर स्थित त्रिवेणी में बारबार स्नान करता है। पवित्र तथा अवपवित्र सभी अवस्थाओं में यह योग [illegible] रूपी स्नान लाभदायी है। स्नान शुद्धि कारक है इसलिये योगी चाहे जिस भाव में हो, त्रिवेणी के स्नान हेतु प्रयत्नशील रहता है। मृत्यु के समय [illegible]र जैसे त्रिवेणी में शरीर का विसर्जन मुक्तिदायक कहा गया है, उसी प्र[illegible]ार योगी का मन मृत्युकाल में यदि त्रिवेणी में स्थित होता है तो योग[illegible] मुक्ति का अधिकारी हो जाता है। तंत्र-शास्त्र मे इन तीन नाड़ियों क[illegible] क्रिया के समान अन्य कोई वस्तु रहस्यमय नहीं है। इन्हीं ता[illegible] [illegible]ृष्टि के बन्धन एवं मुक्तिहारिणी शक्तियां निहित हैं।

इन रहस्यों को अनाधिकारी को बताने से लाभ के बदले हानि होती है। [illegible]सी प्रकार सहस्त्रार में ध्यान स्थिर करने से भी अनेक लाभ होते हैं।

साधक का मन यदि एक क्षण के लिये सहस्त्रार में टिका रह जाये तो पापमय विचार नष्ट होने लगते हैं। पतन करने वाले विचारों का त्याग ही मुक्ति की साधना है। जिसका मन जिसमें लीन होता है अथवा रमता है, उसी को प्राप्त करता है अर्थात् उसी राह पर चलता है। श्रेष्ठ योगी अणिमादि ऐश्वर्यो को भोगकर मुझसे एकाकार हो जाता है। ब्रह्मरन्ध्र एवं सहस्त्रार को भली भांति जानने से व्यक्ति सर्वशक्तिमान सत्ता का प्रिय पात्र बनता है। उसे पाप पर विजय प्राप्त होती है, मुक्ति-मार्ग का अधिकार मिलता है।

भगवान शंकर कहते हैं मैं भी साधक को विलक्षण ज्ञान प्रदान करता हूं। ब्रंह्मादि देवताओं के लिये ब्रंह्मरन्ध्र तथा सहस्त्रार का ज्ञान महत्वपूर्ण है। इस ज्ञान की प्रयत्लनपूर्वक रक्षा करनी चाहिये। सृष्टि का रहस्य इस ज्ञान में है।

ब्रह्मरन्ध्र में स्थित सहस्त्र दल कमल में योनि स्थान के नीचे चन्द्र मंडल है। बुद्धिमान साधक इस चन्द्रमंडल का ध्यान करते हैं जिससे पृथ्वी पर योगियों को पूज्य स्थान प्राप्त होता है। योगी ऐसे गुणों को अपने मे जगा लेता है जिससे संसारी उसे मान देते हैं। योगी अपनी इच्छानुसार देवताओं के लिये पूज्य एवं सिद्धों में सर्व श्रेष्ठ सिद्ध बन सकता है।

सिर के कपाल-विवर में दूध के समान तरल पद्धार्थ से भरा सागर स्थित है, वहीं स्थित चन्द्रमा का ध्यान करे। चन्द्रमा १६ कला से युक्त है। उस क्षीर सागर में चन्द्रमा के समान शीतल एवं सूर्य के समान देदीप्यमान हंस विहार करता है। यह तारने वाला निरंजन तत्व प्रत्येक मानव शरीर के अन्दर है। निरन्तर अभ्यास करने पर निश्चित रूप से इस हंस का आभास ३ दिनों में साधक को प्राप्त हो जाता है। इसके दर्शन मात्र से साधक के पापमय संस्कार नष्ट होने लगते हैं। अज्ञात का ज्ञान होने लगता है चित्त शुद्धि होने लगती है। निरन्तर अभ्यास द्वारा महान पातकों के समूह भी शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। संसार में जीवों को प्रभावित करने वाले ग्रह, साधक के अनुकूल हो जाते हैं और ग्रहों से उत्पन्न होने वाले उपद्रव शान्त हो जाते है। बाधाएं शान्त होकर टल जाती हैं, और युद्ध आदि में विजय प्राप्त होती है। आकाशगमन और भूचरी सिद्धियां प्राप्त होने लगती हैं। माहात्म्य कहां तक कहा जाये। अन्य विचार सब व्यर्थ हैं क्योंकि ध्यान से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है। सतत् अभ्यास द्वारा ही सिद्धियां मिलती हैं, सोचने विचारने और अनेक कर्म करने से नहीं। भगवान शंकर प्रतिज्ञा पूर्वक कहते हैं कोई भी साधक, मेरे समान बन सकता है।

योग-शास्त्र के अध्ययन में एवं योग की क्रियायों में लगे हुये सभी योगियों को शरीर के ऊपरी सिरे पर स्थित, दिव्य सहस्त्र दल कमल ही योगसिद्धि देने वाला है। पिण्ड रूपी इस शरीर की क्रियायों से बाहर मुक्तिदायक तत्व शिरोभाग में स्थित है। इसे क्षीर सागर एवं विष्णु स्थान भी कहा गया है और इसे ही महेश्वर का निवासस्थान कैलास भी कहा गया है। यही स्थान तंत्रशास्त्र में अकुल कहा गया है, क्योंकि यह अविनाशी है। क्षय एवं बृद्धि की क्रियाओं से रहित है तथा संसार लीला

से अप्रभावित है। इस स्थान के ज्ञान मात्र से संसार में भ्रमित व्यक्ति द्वन्द्व भावों से मुक्त हो जाता है। निरन्तर अभ्यास द्वारा, योगी भूत समूह को मारने एवं जीवित करने की शक्ति प्राप्त कर सकता है। सहस्त्र दल कमल के ऊपर क्षीर सागर में हंस के निवास स्थान का अनेकों रूपकों द्वारा वर्णन किया जाता है। मन लगाकर व्याधि रहित होकर, योगी यदि अपनी चेतना को हंस में स्थित कर दे तो पाप संस्कारों से उत्पन्न बाधाओं पर विजय प्राप्त हो जायेगी। जब चित्त वृत्तियां कुल स्थान में, जो परमेश्वर का सूक्ष्म रूप से द्योतक है, पूर्णतया लीन हो जाती हैं तो परमेश्वरी को समाधि प्राप्त होती है और चचंलता पूर्णतया नष्ट हो जाती है। निरन्तर ध्यान के अभ्यास से योगी वाह्य जगत का विस्मरण कर लेता है। इस स्थिति में पहुंचने पर योगी को विचित्र सामर्थ्य प्राप्त होता है। इसी स्थान से निकले हुये अमृत रस का योगी निरन्तर पान करता रहता है। बार-बांर मरने और जन्म लेने के विधान पर जिसे कुल कहा गया है–विजय प्राप्त होती है। कुंडलिनी शक्ति इसी अकुल स्थान में लीन होती है। चारों प्रकार की सृष्टि अंहज, वेदज, उद्‌भिज और पिन्डज योगी के लिये विलीन हो जाती है। जहां जाकर चित्तवृत्ति विषयों से हटकर पूर्ण आनन्द मे लीन होती है, उसी की साधना विचारशील योगी परिश्रमपूर्वक करता है।

जब तक चित्त-वृत्तियां पूर्णतया शान्त नहीं हो जाती, तब तक साधक योगी नहीं कहा जा सकता। चित्त-वृत्तियों के लीन होने पर ही अखंड ज्ञान रूपी निरन्जन की प्राप्ति होती है। अपने शरीर के बाहर अपने प्रतीक की उपासना, जो पहले बताई गई है, सिद्ध करके अपने सिर के इस महत्वपूर्ण स्थान में लाकर निरन्तर चिन्तन करना चाहिये। प्रतीक आदि, अन्त और मध्य से परे है। करोडों चन्द्रमा के समान शीतल है। अभ्यास से इसकी सिद्धि प्राप्त होगी। आलस्यहीन होकर जो साधक एक वर्ष तक अपने प्रतीक का ध्यान प्रतिदिन करता रहता है, उसे शनैः शनैः सकल सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं। मन यदि आधे क्षण के लिए भी इस प्रकार ध्यान मे निश्चल हो कर टिक जाये तो पाप-संस्कार उसी क्षण नष्ट होने लगते है। जिसके दर्शन कर लेने पर मृत्युमय संस्कार से साधक पार हो जाता है, उसका अभ्यास प्रयत्नपूर्वक अनुष्ठान रूप में

बताये हुए मार्ग पर करना चाहिये।

भगवान् शंकर कहते हैं कि ध्यान का माहात्म्य इतना विशाल है कि मैं भी पूर्ण वर्णन नहीं कर सकता। ध्यान की साधना के कारण ही साधक विचित्र वस्तुओं को पाने और देखने की शक्ति प्राप्त करता है। अणिमा आदि सिद्धियां अपने वश में कर लेता है। सृष्टि के सम्पूर्ण सम्भव लाभ प्राप्त होने लगते हैं, इसमें कोई संशय नहीं।

हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग स्वयं में पूर्ण नहीं होते। उत्तम गुरु से अपने लिंये उपयुक्त मार्ग प्राप्त करके योगी साधना करता है। बिना मार्ग-दर्शक गुरु के बुद्धिमान साधक को हठयोग में प्रवृत्त नहीं होना चाहिये।

## राजाधिराज योग

तंत्र में रहस्यमय राजाधिराज योग का यह संक्षिप्त वर्णन है। स्वस्तिक आसन (सुखासन) में बैठकर गुरु का मानसिक पूजन करे ओर ध्यान साधना करे। शान्त, सरल, भाव में स्वस्थचित्त होकर बैठे। इस योग का वही अधिकारी है जो वेदान्त को युक्तिपूर्वक समझकर संसारिक भाव से मुक्त हो गया और स्वयं को लीलाक्रम का अंगमात्र मानकर सम-अवस्था में स्थित हो गया। मन को वृत्तिहीन बनाकर साधक स्वयं पूर्ण के समान हो जाता है। यह ध्यान साधना सब प्रकार की सिद्धियां प्रदान करती है।

ऐसा योगी, स्पृहा त्यागकर बराबर साधना करता रहता है। इसके लिये अर्हत नामक देवता स्वयं से अलग नहीं है। आत्मा ही शाश्वत् है, नित्य है और सर्वत्र विद्यमान है। वह सबमें परम-सत्ता को देखता है। योगी का विचार बन जाता है कि न तो कोई बन्धन है न मोक्ष ही कुछ है, क्योंकि वह सबमें एकरस उस परम सत्ता को ही देखता, जानता है। इस प्रकार का भाव जिसमें स्थिर हो जाता है, वह सर्वदा मुक्त और आत्मा में ही स्थित रहता है। ऐसा योगी मेरा पूर्ण भक्त है, जो सब लोकों में पूज्यनीय है।

जीवात्मा और परमात्मा दोनों में मैं ही हूं। मैं ही दोनों में भासित होता हूँ। साधक को खंड-भाव अथवा भेद भाव को त्यागकर यह चिन्तन

करना चाहिये। अध्यारोप और अपवाद सिद्धान्त के द्वारा भी सब कुछ उसी एक में लीन होता है।

इस प्रकार साधना करने से साधक ओज प्राप्त करता है। सब प्रकार के रोग निवृत्त हो जाते हैं। मूढ़जन भ्रम से व्याकुल होकर अपरोक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष चिदानन्दपूर्ण ब्रह्म का त्याग करके, तथा अपरोक्ष को परोक्ष समझकर भ्रान्त होते हैं। सत्य का ज्ञान इस चराचर विश्व को समझकर भ्रान्त होते है। सत्य का ज्ञान इस विश्व को जो द्वन्द्वमय है, परोक्ष कर देता है। भ्रम दूर हो जाता है। परब्रह्म अपरोक्ष है। बुद्धि के क्षेत्र में उसे संज्ञायें दी जाती हैं परन्तु वह नित्य एकरस है एवं अनेक भी है। अनेक द्वन्द्वों के नष्ट होने पर उसके सिवाय कुछ शेष नहीं रहता है सब कुछ उसी में स्थित अथवा लीन हो जाता है।

योगी को वस्तुओं और रूपों में राग त्याग कर अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार अभ्यास करता हुआ साधक अपने में ही स्थित परम प्रकाश द्वारा, तेजस्वी होता है।

श्रोता की बुद्धि की सभी शंकाओं, विविध अर्थो को, गुरु की शिक्षा शांत करती है। मति जब निश्चयात्मिका हो जाती है, श्रद्धा एवं विश्वास दृढ़ हो जाते हैं, तब गुरु की वाणी की भी आवश्यकता नहीं रह जाती। साधक के अभ्यास के कारण एकरस ज्ञान स्वतः स्फुरित होता है। जहां वाणी मूक हो जाती है, जो वाणी के परे है, तथा जो मन के द्वारा मूक हो जाती है, तथा जो मन के द्वारा अप्राप्य है, कल्पना के द्वारा जाना नहीं जा सकता, वह विकारहीन वास्तविक ज्ञान केवल साधना द्वारा स्फुरित होता है।

आज जो शरीर हमारे पास है, उसमें प्रवाहित चैतन्य तत्व ही शरीर को जीवित की संज्ञा प्रदान करता है। चैतन्य तत्व विभिन्न शरीरें में नही मरता। इन्द्रियों के लिये भोग-प्रसंगों में भी वही चैतन्यतत्व निःसंशय चेतना प्रदान करता है।

अभ्यास परिपक्व अथवा स्थिर होने तक मिताहार आवश्यक है। अन्य किसी मार्ग से बुद्धिमान साधक भी अपनी साधनाओं मे पूर्णतत्व प्राप्त करने में समर्थ नहीं होगा। समाज में, सभा आदि में, बुद्धिमान साधक, साधु, प्रिय एवं लाभदायी वाणी बोले। शरीरपिण्ड रक्षा हेतु कर्म

करे। व्यर्थ अधिक सम्भाषण न करे। राग का त्याग अवश्य करे। अनेक रूपों में उत्पन्न होने वाले रोग को सर्वथा शीघ्रतापूर्वक त्याग करे। मुक्ति मार्ग की अन्य राह नहीं है।

### गृहस्थ और साधना

अपने घर में रह कर गृहस्थोचित कर्म करते हुये, लेकिन राग भाव को त्यागकर श्रेष्ठ पुरूष सब प्रकार के अभ्यास कर सकते हैं। कर्त्तव्य-भाव से आवश्यक व्यवहार हेतु, ब्राह्मणसंग करे। व्यक्ति कर्म-कर्म-श्रृंखला के नियम के कारण, अथवा कर्म के निश्चित नियम के पालन हेतु कर्मो में प्रवृत्त होते हैं। योगी निमित्त-भाव से कर्म करता है। निमित्त-भाव से किये गये कर्मसंस्कार दोषों को जन्म नहीं देते। सृष्टि लीला कर्म-श्रृंखला पर आधारित है। कर्म राग-भाव से नहीं, निमित भाव से करना चाहिये।

बुद्धिमान व्यक्ति, गृहस्थ होते हुये भी इस प्रकार का निश्चित मत बनाकर योगाभ्यास एवं लौकिक कर्म करे। सिद्धियां निश्चित प्राप्त होगी। इसमें कोई मतभेद नहीं हो सकता। पाप और पुण्यमय संस्कारों में राग त्यागकर, गृहस्थ आश्रम में रहते हुये भी लोक-लाभ लोक सेवा एवं लोक संग्रह के लिये उपायपूर्वक कर्म करता रहे। संपूर्ण कर्म विधि पूर्वक करता हुआ भी साधक अकर्त्ता रहता है। जब राग नहीं होगा तो कर्त्तृत्वाभिमान नहीं रह सकता। यह राजाधिराज योग गृही तथा विरक्त दोनों के लिये समान रूप से सुलभ एवं उपादेय है।

### मंत्र योग

उत्तम मंत्र योग का शुभ वर्णन लौकिक और पारलौकिक सुखों का अविरोध लाभ कराता है। श्रेष्ठ मंत्र अथवा उचित मंत्र जानकर अभ्यास द्वारा, योग सिद्धियां शीघ्र प्राप्त की जा सकती हैं। साधकों में श्रेष्ठ योगी को भी मंत्र-योग सभी ऐश्वर्य और सुख देने वाला होता है। लौकिक और पारलौकिक लाभ, मंत्र सिद्धि द्वारा सहज प्राप्य है।

त्रिकूट अथवा त्रिपुर में स्थित शक्ति का मंत्र गुरु से प्रयत्नपूर्वक प्राप्त करना चाहिये। मूलाधार, अनाहत एवं आज्ञाचक्रों में शक्तियों का स्थान माना गया है। यही त्रिकूट अथवा त्रिपुर है। मूलाधार में वाणी को उत्पन्न करने वाली विद्युत प्रभा वाली वाग्देवी अर्थात् वाणी की

अधिष्ठात्री देवी का बीज अक्षर स्थित है। अनाहत चक्र में कामनाओं का स्फुरण होता है। यहां काम बीज अक्षर की स्थिति है। आज्ञा चक्र को साक्षात् सर्वसम्पन्ना शक्ति का स्थान माना गया है। यहां शक्ति का बीज अक्षर है। इन तीनों स्थानों की अधिष्ठात्रियां, परम सत्ता की अंशरूपा, विशिष्ट शक्तियां मानी गई हैं। देवी देवताओं की कल्पना, भाव और अर्थ को स्पष्ट करने के लिये, अधिष्ठाता रूप में की गई है। इन तीनों शक्तिओं के सम्मिलित बीजमंत्र की साधना सिद्धि चाहने वाले साधक प्रयत्न करें तो भोग एवं मुक्ति दोनों लाभ सहज रूप से प्राप्त हो सकते हैं।

(इस ग्रंथ के अन्त में अप्राप्य हस्त लिखित "त्रिकूट रहस्य" से त्रिशक्तियों अथवा त्रिपुर-भैरवी का बीज मंत्र उधृत किया गया है। तंत्र-ग्रंथों में मंत्रो को अत्यन्त गोपनीय माना गया है। यह मंत्र, मंत्र कोष में भी प्राप्त नहीं हो सका था। साधक को चाहिये कि इस मंत्र की साधना करने के पहले, अधिकारी भेद के वर्णन से अपने आप को स्वयं तौल ले। यदि गुणों की कमी हो तो पहले अपनी कमी दूर करे ले, अन्यथा साधक लाभ के बदले हानि एव चित्त की अशान्ति पायेगा। वर्तमान युग में गुरु-पद्धति अत्यधिक भ्रष्ट हो गई है। साधना की चाह रखने वाले भी योग्य व्यक्ति उचित गुरु प्राप्त नहीं कर पाते। इस ग्रन्थ को गुरु मान कर, अधिकारी भेद के अध्यायों द्वारा अपने तत्व को भली भांति समझकर उपयुक्त साधना पद्धति ग्रहण की जा सकती है।)

गुरु से मंत्र को प्राप्त करके निश्चित मति एवं संशयहीन चित्त से मंत्र का जप, एक एक अक्षर का स्पष्ट उच्चारण करते हुये समत्व गति से अर्थात् न बिलम्बित गति से, न द्रुगति से करना चहिये।

बुद्धिमान मनुष्य एकाग्र चित्त होकर शास्त्रोक्त विधि से देवी त्रिपुरेश्वरी से लाभ पाने के लिये इस मंत्र का तीन लाख जप तथा एक लाख आहुतियां दें। कनेर का फूल, गुड़, खीर और घी को मिलाकर हविष्य बनाये। योनि की आकृति का कुण्ड बनाये तथा तीन लाख जप पूर्ण होने के बाद एक लाख आहुतियां दे। प्रत्येक दिन की जप एवं आहुति संख्या अपनी दिनचर्या के अनुसार स्वयं निश्चित कर ले। अधिक समय तक चलने वाले अनुष्ठान वर्तमान युग की दिनचर्या में कष्ट-साध्य

होते हैं। संध्याकाल से अर्धरात्रि तक का समय द्वितीय प्रहर शक्ति साधना के लिये उपयुक्त माना गया है। अर्धरात्रि से तीन घंटे पंहले से अर्धरात्रि तक का समय सर्वोतम माना गया है। सब प्रकार की कामनओं को, त्रिपुर भैरवी देवी निश्चित रूप से पूर्ण करती हैं।

गुरु को विधि पूर्वक संतुष्ट करके, श्रेष्ठ मंत्र प्राप्त कर, इन्द्रिय संयम के साथ साधना करने वाला व्यक्ति, यदि मन्द-भाग्य भी हो तो केवल एक लाख मंत्र जप से सिद्धि प्राप्त कर सकता है। ऐसे साधक का शरीर आकर्षक एवं कांति-युक्त हो जाता हैं। तंत्रशास्त्रों में तो यहां तक कह दिया गया है कि योगी को देखकर काम-मोहित होकर नव युवती क्षुब्ध हो जाती हैं, निर्लज्ज और भयहीन होकर योगी को अपना मन भी अपर्ण करती है। किसी विशेष उद्देश्य या लक्ष्य प्राप्ति अथवा कामना सिद्धि के लिये यदि मंत्र का दो लाख जप किया जाये तो देवी त्रिपुर भैरवी शीघ्र गति से जिस प्रकार माता अपने बालक की पुकार पर विह्वल हो जाती हैं, साधक को लाभ देने के लिये उचित मार्ग द्वारा प्रयत्नशील हो जाती है तथा अपनी संपूर्ण शक्ति साधक को दे देती है। देवी द्वारा शक्ति प्रदान का अर्थ है कि साधक के शरीर में मूलाधार, अनाहन और आज्ञा चक्रों में स्थित किन्तु सोई हुई शक्ति पूर्ण रूपेण जागृत हो जाती है। साधक को समस्त ऐश्वर्य प्राप्त होने लगते हैं और तीनों चक्रों में स्थित शक्ति व्यक्ति के उपयोग में आने लगती है।

त्रिपुर भैरवी के मंत्र का तीन लाख जप करने से, मंडल सहित समस्त मंडलेश्वर, साधक के प्रभाव क्षेत्र में आ जाते हैं।

मंत्र का छः लाख जप करने से साधक को प्राप्त शक्तियों के कारण सेना और परिचारकों सहित महीपालगण प्रभाव-क्षेत्र में आ जाते हैं।

बारह लाख जप से मनुष्येतर सृष्टि के यक्ष, राक्षय, सर्प, आदि भी साधक के प्रभाव में आने लगते है एवं आज्ञा-पालन करते है।

१५ लाख जप करने पर, बुद्धिमान श्रेष्ठ साधक का सम्बन्ध गन्धर्व, विद्याधर, अप्सराओं एवं सिद्धिगणो की सृष्टि से हो जाता है। सुनने की शक्ति बढ़ जाती है तथा सर्वज्ञा प्राप्त हो जाती है।

१८ लाख मंत्र जप से साधक का शरीर दिव्य हो जाता है एवं

पृथ्वी की आकर्षण-शक्ति के विपरीत ऊपर उठने की शक्ति प्राप्त होती है। साधक इच्छानुसार संसार में भ्रमण कर सकता है। पृथ्वी के नीचे स्थित रहस्यों को एक छिद्रमात्र से देख सकता है।

देवी त्रिपुर भैरवी के मंत्र का २८ लाख जप करने से विद्याधरों की सृष्टि पर पूर्ण अधिकार प्राप्त हो सकता है। साधक की बुद्धि विलक्षण हो जाती है। वह कामदेव के समान कान्तिवान सुगठित शरीर प्राप्त करता है एवं शरीर में अत्याधिक बल का अनुभव होता है।

३० लाख मंत्र जप से व्रह्मा और विष्णु के समान शक्ति प्राप्त करता है।

मंत्र के साठ लाख जप से रूद्रत्व प्राप्त होता है।

अस्सी लाख जप से सृष्टि में व्याप्त शक्ति तत्वों पर अधिकार प्राप्त करता है।

एक करोड़ मंत्र जप पूर्ण होने पर साधक महायोगी हो जाता है और परम पद का अधिकारी बनता है। इतना अधिक जप करने वाला व्यक्ति त्रैलोक्य में दुर्लभ है। त्रिपुर (मूलाधार, अनाह और आशा चक्र) के अन्तर्गत स्थित समस्त शक्तियों का वह पूंर्ण अधिकारी हो जाता है।

इन तीन चक्रों में स्थित शक्ति महान् कल्याणकारी है एवं सृष्टि का आदिकरण हैं। साधक यदि चाहे तो वह स्वयं कभी नष्ट न हो।

त्रिपुर में स्थित शक्तित्रय जानने योग्य है, जिसे जानकर समस्त पनताकारी तत्वों से रहित होकर साधक शान्त त्रिपुर-पद को प्राप्त करता है। बुद्धिमान साधक अपने समस्त अभीष्ठ निःसंदेह प्राप्त कर सकता है।

### चेतावनी

इस ग्रन्थ में वर्णित शिव-विद्या महा विद्या है। यह रहस्यमय एवं अतिउत्तम है। विद्वान् साधक, भगवान शिव की बताई इस विद्या को रहस्यमय मानकर श्रद्धापूर्वक सम्हाल कर रखें। विद्या गोपनीय रहने पर बलवती होती है प्रकाशित करने पर निर्बल हो जाती है इत्यादि।

बुद्धिमान साधक इस ग्रन्थ को भली भांति आद्योपान्त पढ़कर

बुद्धिगत करले। क्रमशः योग-सिद्धि में ग्रन्थ का चिन्तन, मनन एवं निदि्व्यासन अत्याधिक मनस्वी साधक द्वारा मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है।योगी के लिये उचित है कि मुक्ति पथ पर चलने वाले अधिकारी और योग्य सत्य-पथ के विश्लेषण-कर्त्ता को यह ग्रन्थ सुनाये।

कर्त्तव्यनिष्ठा, संयमशील एवं धैर्यवान् व्यक्ति को ही सिद्धियां मिलती हैं। अकर्मण्य व्यक्ति को केवल ग्रंथ पाठ एवं ज्ञान चर्चा से सार्थकता प्राप्त नहीं हुआ करती। श्रेष्ठ योगियों को विधि पूर्वक क्रिया करना चाहिये।

सहज स्वभाविक रूप से प्राप्त भोगों में एवं वस्तुओं में संतोष मानते हुये, पूर्ण कर्मठ, आसक्ति रहित एवं त्याग-भाव-प्रधान गृहस्थ साधक, लोक-पूजित हो सकता है और मोक्ष भी प्राप्त कर सकता है। भक्तों की कृपा से भी गृहस्थों को सहजरूप में अनेक शक्तियां प्राप्त हो सकती है। भगवान शंकर माता पार्वती से कहते हैं कि हे देवी, साधना किये विना कुछ भी सिद्ध नहीं हो सकता। अनेक उत्तम उपलब्धियों और सिद्धियों के लिये प्रत्येक व्यक्ति निरालस्य एवं भ्रम रहित होकर साधना करे।

## पुस्तक परिचय

यह एक लुप्तप्राय: तन्त्र माना गया है। इसमें भगवान शिव ने योगमार्ग, तन्त्रमार्ग तथा सहजमार्ग का अत्यन्त सरल और सर्वजनसुलभ विधान बतलाया है। इस ग्रंथ की व्याख्या के उपदेशक हैं महामहोपाध्याय डा. गोपीनाथ जी कविराज। अत: इस ग्रंथ की उपयोगिता इसलिये भी बढ़ जाती है कि एक साधन सिद्ध महापुरूष ने इस ग्रंथ में वर्णित सिद्धान्तों का अपनी अन्त:प्रज्ञा में अनुभव करके उसके सारतत्त्व का उपदेश प्रस्तुत किया है।


# भारतीय विद्या प्रकाशन

1 यू. बी. जवाहर नगर बैंग्लो रोड दिल्ली-110007

फोन-2521570

पो. बा. न. 1108 कचौड़ी गली वाराणसी-221001

फोन-3223766

# हठयोग

## एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
## एवं
## हठयोग प्रदीपिका
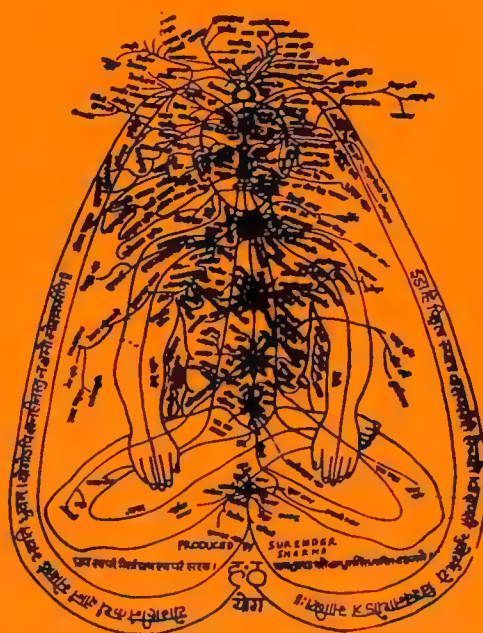
सुरेन्द्र कुमार शर्मा

## हठयोग—एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
## एवं
## हठयोगप्रदीपिका

—सुरेन्द्र कुमार शर्मा

**हठयोग**—आत्मस्थिति रूप परम स्वरूप को प्राप्त करने के लिए भारत की प्राचीनतम साधना-पथ का प्रतिनिधित्व करता है। इसी कारण भारतीय दर्शन परम्परा में इसका अपना विशिष्ट स्थान है क्योंकि कायाघट के हठयोगाग्नि में तापन को परमशिवरूप जल की प्राप्ति का साधन माना गया है। इसी यौगिक प्रक्रिया के विभिन्न पक्षों (षट् कर्म, आसन, प्राणायाम, मुद्रा और कुण्डलिनी-जागरण इत्यादि) का विशद विश्लेषण हठयोग-प्रदीपिका का विषय है। प्रस्तुत पुस्तक महायोग और उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालते हुए हठयोगसम्बन्धी भ्रान्तियों को निरस्त करने का प्रयास है। हठयोग के घटक तत्त्वों का पर्यालोचन तथा मूल ग्रन्थ को उपस्थापित करने से पूर्व इस पर विकासात्मक दृष्टि से प्रकाश डाला गया है।

मूल्य : रु० ५०.००

# हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोगप्रदीपिका

# हठयोग : एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
# एवं
# हठयोगप्रदीपिका

सुरेन्द्र कुमार शर्मा

ईस्टर्न बुक लिंकर्स
दिल्ली :: (भारत)

प्रकाशक :
**ईस्टर्न बुक लिंकर्स**
5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहर नगर, दिल्ली-110007



प्रथम संस्करण : 1985
मूल्य : रु० 50.00

मुद्रक :
रूबी प्रिंटिंग सर्विस,
मोहन मार्किट, रोहतास नगर,
शाहदरा, दिल्ली-3

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ।।
(ब्रह्माण्ड पुराण)

ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा धर्मज्ञोऽपि जितेन्द्रियः ।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये ।।
(भगवान् शङ्कर)

# पुरोवाक्

संस्कृत वाङ्मय विशाल होने के साथ ही साथ इतना विविध है कि इसमें न केवल मानव जीवन अपितु स्थावर जङ्गमात्मक इस विश्व का कोई भी अङ्ग इसके विवेचन से वञ्चित नहीं रहा है। इसके महनीय कलेवर में विकसित विद्याओं एवं कलाओं की संख्या अपरिगणनीय है। जीवन को बहुत सूक्ष्मता से देखने, समझने एवं उसको यथा-सम्भव परिपूर्ण बनाने के लिए प्राचीन भारतीय मनीषियों का योगदान सर्वथा अक्षुण्ण है। विद्याओं एवं कलाओं की विविधता में भी एकसूत्रता पाई जाती है और वह है अध्यात्मप्रवणता जहाँ आकर ही सभी स्रोतों का पर्यवसान होता है। सबका परम लक्ष्य यही है कि हम कौन हैं, हमारा स्वार्थ और परमार्थ क्या है तथा उनकी प्राप्ति हम किस प्रकार कर सकते हैं।

भारतीय वाङ्मय एक वृक्ष के समान है जिसके मूल तो वेद हैं तथा व्याकरण एवं धर्म, अर्थ, कामादि विषयक शास्त्र शाखा प्रशाखाएँ तथा पत्र-पुष्प हैं, पर इसका फल तो दर्शन शास्त्र ही है। इस शास्त्र की दो मुख्य प्रवृत्तियाँ हैं सांख्य और योग। संख्या चर्चा विचारण की व्युत्पत्ति से सांख्य पद सिद्धान्त पक्ष को निरूपित करता है तो 'युज्यते अनुभवपथ मानीयते अनेन' की व्युत्पत्ति से योग का अभिप्राय ज्ञान का अनुभवात्मक अनुष्ठान ही है। वस्तुतः सांख्य और योग ये दोनों ही एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह दार्शनिक तत्त्वों के दो अनिवार्य पक्ष हैं जिनके बिना दर्शन की दृश्यते अनेन की व्युत्पत्ति समुचित नहीं बनती।

योग को महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की वृत्तियों का निरोध कहा है, जिसे गीता में दुर्निग्रह एवं सुदुष्कर माना है। किन्तु वहीं यह बताया गया है कि इन्द्रियनिग्रह के द्वारा मनोनिग्रह सर्वथा सरल हो जाता है। इसी को योग की परम्परा में हठयोग कहते हैं। जिसमें विविध मुद्राओं एवं आसनों के द्वारा इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके चित्त की वृत्तियों का आनायास निरोध सम्पादित हो जाता है। यहाँ यह बात बताना नितराम आवश्यक है कि हठयोग का भी लक्ष्य अन्य दर्शनों की ही भाँति आत्मसाक्षात्कार ही है जिसकी चरम परिणति मोक्ष में होती है।

अपने अन्तेवासी सुरेन्द्रकुमार शर्मा की कृति हठयोग एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य एवं हठयोग प्रदीपिका को स्थालीपुलाकन्याय से ही अवलोकन कर मुझे प्रसन्नता हुई है कि ग्रन्थकार ने हठयोग की उपर्युक्त चेतना को आत्मसात् कर प्रस्तुत ग्रन्थ में उसका सम्यक् निर्वाह किया है। हठयोग के इतिहास का विवेचन अपने आप में एक बहुत ही जटिल कार्य है क्योंकि उसके सूत्र विविध एवं परस्पर विरुद्ध परम्पराओं में उलझे पड़े हैं जिन्हें सुलझाकर एकरूपता में लाना ही परमश्लाघ्य कार्य है जिसे यहाँ कुशलतापूर्वक सम्पन्न किया गया है। साथ ही हठयोगप्रदीपिका को आधार बनाकर कतिपय उत्कृष्ट आसनों, मुद्राओं और प्राणायाम के प्रकारों का सुस्पष्ट एवं प्रामाणिक निरूपण किया गया है।

अन्त में नादानुसन्धान सहित समाधि की अवस्था का निरूपण भी यहाँ सुबोध शैली में हुआ है। इन सबके प्रायोगिक दिग्दर्शन हेतु आयुर्वेद के ग्रन्थों के समुद्धरण कृति की महत्ता को और उत्कृष्ट बना देते हैं। अपनी प्रथम रचना में ही इतनी सफलता के लिए मैं सुरेन्द्र को बधाई देना चाहता हूँ और कामना करना चाहता हूँ कि वे निरन्तर एक के बाद एक ग्रन्थ के प्रणयन में लगे रहें तथा इस क्षेत्र में यशस्वी हों।

**डा० ब्रजमोहन चतुर्वेदी**
एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट्०,
प्रोफेसर संस्कृत-विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली-7

# भूमिका

सप्त सिन्धु के निवासी प्राचीन ऋषियों व मुनियों की ज्ञानवर्धक, उर्वर एवं कल्पना विचार प्रधान ऋतम्भरा प्रज्ञा ने जिस ज्ञानार्जन की प्रशस्त परम्परा का परिवर्धन कर एक ऐसे दर्शनाङ्कुर को मानव मानस भूमि पर प्रतिष्ठापित किया, जो कालान्तर में विभिन्न धर्म शाखाओं एवं साम्प्रदायिक पत्रों से युक्त महान् दर्शन वृक्ष के रूप में उपस्थापित हुआ, फलस्वरूप समस्त मानव जन को जिससे आध्यात्मिक फल प्राप्त हुआ।

इस प्रकार की विभिन्न मर्त्य कल्पना अभौतक सत्ता से सम्बद्ध होकर एक नवीन मार्ग की ओर अग्रसर हुई, जिसे अखण्ड सत्ता के नाम से अभिहित करते हैं और इसकी प्राप्ति ही मानव जीवन की उदात्त भावना का चरम एवं अन्तिम लक्ष्य है, क्योंकि क्लेशमय भौतिक सत्ता से आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति का एकमात्र उपाय यही है। दर्शन शब्द के मूल में भी यही सिद्धान्त दृष्टिगत होता है। 'दर्शन' का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है—दृश्यते अनेन इति दर्शनम्। क्या ? अखण्ड तत्त्व का वास्तविक तात्त्विक स्वरूप। अर्थात् लक्ष्य प्राप्ति ही मोक्ष का नामान्तर है। तच्च्युति—

**पुनरपि जननं पुनरपि मरणं पुनरपि जननीजठरे शयनम्।**

संसृति का मुख्य हेतु है। अत एव सिसृक्षा से उत्पन्न त्रिगुणात्मिक ("जगदाभास") असत्य अथवा प्रातिभासिक सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह माया नामक एक सामान्य वस्तु के द्रव्य से बना है, जो बाद में भिन्न प्रकार के सत्त्व, रजस् एवं तमस् नामक कार्य करते हुए अनुमान किया जाता है। माया तत्त्व समग्र कर्मों का कोष है)।[1] माया का यथार्थ ज्ञान दर्शन का ध्येय है। क्योंकि "प्राचीन भारत में पूर्णत्व के अन्वेषण के परिणामस्वरूप द्वैत तथा अनैकान्तिक दृष्टियों के साथ-साथ अद्वैत-दृष्टि का भी विकास हुआ था। दार्शनिक विचार के क्रम विकास की दृष्टि से वैदिक संहिता तथा उपनिषदों का अद्वैतवाद

---

1. भारतीय दर्शन का इतिहास—भाग पञ्चम, पृ०-30

यदि छोड़ भी दिया जाय, तो भी बहुसंख्यक दार्शनिक समीक्षकों में अद्वैत-चिन्तन का प्रभाव दिखाई देता है। प्राचीन मीमांसा शास्त्रों में जिस प्रकार अद्वैत-तत्त्व का अनुसन्धान मिलता है, वह शाङ्करमत से अत्यन्त प्राचीन है। भर्तृहरि तथा मण्डनमिश्र का ब्रह्मवाद आचार्य शंकर-प्रचारित अद्वैत से भिन्न होने पर भी, अद्वैतवाद ही है। प्राचीनकाल में शब्दाद्वैतवाद का विद्वत्समाज में अत्यधिक प्रचार रहा। जयन्त की न्यायमञ्जरी में, शान्तरक्षित तथा कमलशील के तत्त्वसंग्रह तथा उसकी टीका में, जैनसाहित्य में, सोमानन्द तथा उत्पलाचार्य की शिवदृष्टि और उसकी टीका आदि ग्रन्थों में, पूर्वपक्ष के रूप में इस मत की चर्चा की गई है। बौद्ध-दार्शनिक समाज में योगाचार-मत अद्वैतवाद है और माध्यमिक मत भी उसी प्रकार का है, उनमें एक है विज्ञानाद्वैतवाद और दूसरा है शून्याद्वैतवाद। प्रसिद्धि है कि कालक्रम से बुद्ध का नाम भी 'अद्वयवादी' पड़ गया था। नैयायिकों के अद्वैतवादी न होने पर भी नैयायिकशिरोमणि उदयनाचार्य ने आत्मतत्त्व-विवेक में अद्वैतवाद के ऊपर विशेष श्रद्धा प्रकट की है। शैव तथा शाक्त आगमों में भी अद्वैत की महिमा ही घोषित हुई है। इन्हें तान्त्रिक अद्वैतवाद कहा जा सकता है। ईश्वराद्वयवाद प्रत्यभिज्ञा तथा स्पन्द-साहित्य के माध्यम से प्रचारित हुआ था।··· अद्वैतवाद विभिन्न प्रकार का होने पर भी, सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर प्रतीत होता है कि इन सब में किसी-न-किसी अंश में सोपान-परम्परागत एक क्रम विद्यमान है।''[1] इसी प्रकार विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों में योग परक वैचित्र्य दृष्टिगत होने पर भी मूलतः एवं विशेष रूप से अन्तर्निहित एक ही तत्त्व का बोध होता है और उसी महायोग के चार प्रमुख अङ्गों (मन्त्र, लय, हठ और राज) का विवेचन योग-शास्त्रों में किया गया है।

महायोग के उपर्युक्त अङ्गों में क्रमशः श्रेष्ठता को प्राप्त कर अन्तिम योग राजयोग ही उत्तमोत्तम है तथा इसके तीन प्रकार—(सांख्य, तारक और अमनस्क) निर्दिष्ट हैं। पच्चीस तत्त्वों का ज्ञान सांख्य, बहिर्मुद्रा का ज्ञान तारक और अन्तर्मुद्रा के परिज्ञान से अमनस्क योग होता है। इस प्रकार सांख्य से तारक और तारक से अमनस्क योग श्रेष्ठ है।[2] परन्तु तत्त्व की दृष्टि से शिवयोग और राजयोग एक ही हैं और साधकों का

1. तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि—डा० गोपीनाथ कविराज, पृ०-1-2, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, सन्-1978
2. मन्त्रो लयो हठो राजा चेति योगाश्चतुर्विधाः। 1/4
उत्तरोत्तरवैशिष्ट्याद्योगाश्चत्वार एव हि।
तेष्वेक एव मुख्योऽसौ राजयोगोत्तमोत्तमः॥
सोऽपि त्रिधा भवेत्सांख्यस्तारकश्चामना इति।
पञ्चविंशतितत्त्वानां ज्ञानं यत्सांख्यमुच्यते॥
बहिर्मुद्रापरिज्ञानाद्योगस्तारक उच्यते।
अन्तर्मुद्रापरिज्ञानादमनस्क इतीरितः॥
श्लाध्यः सांख्यात्तारकोऽयममनस्कोऽपि तारकात्।
राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः॥ 1/9-12
शिवयोगदीपिका, आनन्दाश्रमसंस्कृतग्रन्थावलिः। ग्रन्थाङ्क-139, सन्-1978

साध्य शिवयोग तथा उसका साधन हठयोग कहलाता है। योग (योगाङ्गप्रक्रिया) से ज्ञान और ज्ञान से योग (समाधि) प्रवर्तित होता है तथा बुद्धिमान् पुरुष को इन दोनों की सिद्धि हेतु शरीर की रक्षा करनी चाहिये। महाकवि कालिदास के अनुसार भी—

**शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम् ।**

अतएव शरीर को कफ रहित एवं सुस्थैर्य हेतु हठयोग का ही अवलम्बन करना चाहिये, क्योंकि शरीरियों का कफ केवल हठयोग द्वारा ही नष्ट होता है।[1]

इस प्रकार की प्राचीन भावाभिव्यक्तियों पर अन्वेषकों का दृष्टिपात क्यों नहीं हुआ यह अपने आप में एक रहस्य ही तो है। विचारकों की दृष्टि से प्राचीन हठयोग वास्तव में अस्पृष्ट है। जबकि हठयोग का प्रचलन तान्त्रिक ग्रन्थों के प्रणयन से कई शताब्दी पूर्व था ऐसा कहना अतिशयोक्ति पूर्ण नहीं क्योंकि यह सर्वविदित है कि प्रत्येक सिद्ध को सर्वप्रथम हठयोग का अभ्यास करना चाहिए अथवा हठयोग का अभ्यास उसे तब करना चाहिये जबकि वह अन्य साधनों से अपने लक्ष्य को प्राप्त न कर सकता हो, इसलिए सुस्पष्ट है कि तन्त्र वहाँ से प्रारम्भ होते हैं, जहाँ हठयोग समाप्त होता है[2] (प्रकृत् शब्द हठयोग की प्राचीनता के द्योतक हैं)।

वस्तुतः तात्पर्य यह है कि तन्त्र के भव्य भवन के निर्माण में हठयोग ने सबल नींव प्रदान की तथा इसी भवन की प्रशंसा में प्राचीन आचार्यों ने कई ग्रन्थों का प्रणयन तो किया लेकिन इसके मूल कारण हठयोग के यथार्थ स्वरूप की उपेक्षा के साथ। जिसके फलस्वरूप विभिन्न दर्शनों की विविध विश्लेषणात्मक असङ्गतियों में घृष्ट होता हुआ प्राचीन हठयोग का यथार्थ स्वरूप अपनी मूलस्थिति से अपभ्रष्ट होता रहा। अनेक साम्प्रदायिक आचार्यों ने हठयोग निर्दिष्ट विशिष्ट मुद्राओं के वास्तविक स्वरूप को विकृत कर मुद्रा, मैथुन इत्यादि जैसे गर्हित अर्थों में उपस्थापित किया। इन परिस्थितियों में जबकि हठयोग दर्शन सूर्य को सघन प्रतिक्रिया मेघ ने आच्छन्न कर लिया था कि तभी आदि शंकराचार्य जैसे अद्वितीय, महिमा एवं प्रतिभाशाली व्यक्तित्वयुक्त गोरक्षनाथ रूप चन्दनानिल का आविर्भाव हुआ जिसके तीव्र वेग ने उस असामयिक दुर्दिन को दिग्लीन

---

1. शरीरं कफनाशेन सुस्थैर्यं याति निश्चितम् ।
   स कफो हठयोगेन विनश्यति शरीरिणाम् ।। शिवयोगप्रदीपिका—2/3

2. It means that every worshipper should practice first Hathayoga or that he should do so only when he fails to achieve his end by other means......It is therefore clear that Tantras begin where Hathayoga ends.—Guhyasamāja Tantra, edited by Benoytosh Bhattacharya, p. xvi-xvii.

कर दिया तथा उसकी सुगन्ध केवल इस मर्त्यभूमि पर ही नहीं प्रत्युत इस विज्ञान प्रधान युग में भी श्री शिव के मस्तकस्थ चन्द्रमण्डल पर विराजित हुई,* क्योंकि उसने सभी धर्मों का समन्वय 36 तत्त्वों में कर, पञ्चभूत निर्मित इस देह में इतने देवी-देवताओं का वास दिखाकर सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को इस प्रकार से पिण्डस्थ कर दिया कि कायज्ञान एक ऐसे चरमबिन्दु को प्राप्त कर गया जो स्वयं सिद्धियों से युक्त, अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमय था। उनकी रचनाओं पर वेद और उपनिषदों के तात्त्विक विचारों, बौद्ध, सांख्य, योग, तन्त्र, अद्वैत, द्वैताद्वैत तथा कश्मीर शैव सम्प्रदाय के मूल तत्त्वों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में परिलक्षित होता है। दर्शन प्रधान ग्रन्थ 'सिद्धसिद्धान्तपद्धति' में परमशिव का ज्ञान बुद्धि ज्ञान से भिन्न व समस्त मानवजन के बाह्य एवं आन्तरिक अनुभूति का एकमात्र आधार है।

इन्हीं मूलभूत सिद्धान्तों के प्रचार और प्रसार का मुख्यतम श्रेय आगे चलकर श्री स्वात्माराम योगीन्द्र प्रणीत हठयोगप्रदीपिका को जाता है. क्योंकि उन्होंने गोरक्षनाथ के मूल सिद्धान्त (सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की शरीर में विद्यमानता) को चरितार्थ करने के उद्देश्य से काया योग साधना पद्धति का अवलम्बन कर, उससे प्राप्त मुक्ति का संचार किया। "मुक्ताई से अपने उपदेश में अल्लम प्रभु कहते हैं कि जिस प्रकार एक दूध पीते बालक को माँ के दूध से छुड़ाकर अनेक प्रकार के भोजन दिए जाते हैं, उसी प्रकार वास्तविक शिक्षक, भक्त को बाह्य प्रकार की पूजा में ध्यान केन्द्रित करने की शिक्षा देता है तथा बाद में उनको छुड़वा देता है, जिससे अन्त में वह सब प्रकार के कर्तव्यों से विरक्त हो जाता है तथा सत्य-ज्ञान प्राप्त करता है जिससे उसके सब कर्म नष्ट हो जाते हैं। यहाँ अध्ययन तथा व्याख्यान का यथेष्ट उपयोग नहीं परन्तु सबका शिव से तादाम्य का साक्षात्कार करना आवश्यक है।"[1] अतएव यह सुस्पष्ट है कि हठयोग साधना पद्धति का मुख्यतम उद्देश्य मुक्ति है ऐसा महान् हठयोगी अल्लम प्रभु ने भी स्वीकार किया है तथा इसी तत्त्व की उद्घोषणा करते हुए स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार कहते हैं कि जब तक ध्यान में परम-तत्त्व सहज रूप से नहीं आता, तब तक ज्ञान का उपदेश केवल आलाप मात्र है।[2] इस प्रकार परम साध्य के साधनाङ्गों का युक्तिपूर्ण वर्णन हठयोगप्रदीपिका में परिलक्षित होता है।

इस प्रसङ्ग में यह कथन असङ्गत नहीं कि प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोग के सभी अंगों (विशेष रूप से प्राणायाम) का सविस्तर एवं सुस्पष्ट वर्णन किया गया है, क्योंकि प्राणायाम श्वास की वह साधन क्रिया है जिसके द्वारा साध्यद्वय सिद्ध होते हैं। प्रथम असाध्य रोगों का नाश एवं द्वितीय कुण्डलिनी शक्ति जागरण द्वारा मुक्ति। प्राणायाम सम्बन्धी

---

* चन्द्रमा पर किए गए सफल प्राणायाम प्रयोग।

1. प्रभु लिङ्ग लीला, पृ०-57-58, भारतीय दर्शन का इतिहास, भाग-5, एस० एन० दास गुप्ता, पृ०-51
2. हठयोगप्रदीपिका—4/113

विवेचनान्तर्गत यह बताना अत्यावश्यक हो जाता है कि प्राणायाम का प्रयोग अत्यन्त प्राचीन एवं पाश्चात्य जगत् में भी प्रचलित था।[1]

प्रस्तुत ग्रन्थ में हठयोगप्रदीपिका के तुलनात्मकाध्ययनाभावाभाव व सिद्धासन और प्राणायाम को अत्यधिक स्पष्ट करने के उद्देश्य से चित्र भी उपस्थापित किये गए हैं। सिद्धासन की महत्ता को हठयोगमार्गानुगामी आचार्यों ने ही नहीं अपितु अद्वैतवाद के प्रचारक श्री आदिशङ्कराचार्य ने भी स्वीकार करते हुए कहा है कि—जिस (आसन) में सुखपूर्वक, अविच्छिन्न ब्रह्मचिन्तन हो, उसे ही आसन जानो तथा अन्य केवल सुखनाशक ही हैं। जो समस्त भूतों का आदिकारण, विश्व का अविनाशी अधिष्ठान और जिसमें ब्रह्मवेत्ता स्थित रहते हैं उसे सिद्धासन अथवा सिद्धों का आश्रय कहते हैं।[2]

प्रकृत ग्रन्थ सामान्य ज्ञान विवेचन के अतिरिक्त शोध के उद्देश्य से भी लिखा गया है। प्रेरणा स्रोत विषयक प्रसङ्ग में सर्वप्रथम मैं यह बताना चाहूँगा कि सन् 1981-

---

1. The Science of breathing is as old as the world. It is practised not merely for health but for evolving certain occult powers which are latent in all of us. The Chinese, two thousand years before the Christian era, had this science; the Greeks and Romans also practised it. Some of the Roman writers mentioned the practice of holding the breath for medical purposes, because it was believed that thereby they could induce heat in the internal regions of the body and also could strengthen the internal regions. Plato refers to the custom of resorting to breathing in certain ways, and later on, in mediaeval ages, writers have made mention of this science. Kant wrote a work on the power of the mind to control sickness by the mere force of the will, and there is one chapter on this matter alone, that is, treating certain diseases by the holding of the breath. This science therefore must be deeply important not only for the curing of disease but for other more important purposes.—Speeches and writings of Virchand R. Gandhi. The Yoga philosophy—Published by the Trustees Devchand Lalbhai Pustakoddhar Fund, Bombay, 1912.
2. सुखेनैव भवेद्यस्मिन्नजस्रं ब्रह्मचिन्तनम्।
   आसनं तद्विजानीयान्नेतरत् सुखनाशनम्॥
   सिद्धं यत् सर्वभूतादि विश्वाधिष्ठानमव्ययम्।
   यस्मिन् सिद्धाः समाविष्टास्तद्वै सिद्धासनं विदुः॥ अपरोक्षानुभूति—112, 113

82 में **अपर्णा आश्रम मानतलाई** से योगशिक्षा प्राप्त कर, मानव जीवन में योग के महत्त्व का बोध हुआ। परिणामस्वरूप यह निश्चय किया कि भविष्य में योगपरक विशेषानुसन्धानिकाध्ययन एवं आश्रम में दिये गये उपदेशानुसार योग का प्रचार एवं प्रसार का भरसक प्रयत्न करना चाहिये। इसके लिए मैं वहाँ के समस्त शिक्षकों का आभारी हूँ। सहायक ग्रन्थों के सम्बन्ध में (प्राणायाम के चित्र हेतु) कल्याण का योगाङ्क तथा कैवल्य धाम की हठप्रदीपिका ने समय-समय पर मेरा दिशा निर्देश किया।

श्रद्धेय गुरुवर प्रो० ब्रजमोहन चतुर्वेदी संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय का मैं अत्यन्त ऋणी एवं कृतज्ञता का पात्र हूँ जिन्होंने हठयोगप्रदीपिका की अतिप्राचीन टीका उपलब्ध कराई तथा स्वयं अत्यन्त व्यस्त होने पर भी अपने अमूल्य विचारों द्वारा मेरा दिशा निर्देशन किया।

मैं अपने लघु शोध निर्देशक पूज्य गुरु रीडर डा० बलदेवराज शर्मा संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय के प्रति हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ जिन्होंने समयाभाव होने पर भी मेरी सहायता की। पुस्तक का शुद्ध व परिमार्जित रूप उन्हीं के अथक प्रयास असीम कृपा व अगाध प्यार का ही फल है।

प्राणायाम के बाहरी चित्र हेतु मित्र सुरेन्द्र सिंह ने जो मेरी मदद की वह अकथनीय है। इस विषय में मैं कुमारी किरण शर्मा का ऋणी हूँ। दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में कार्यरत श्री कल्याण सिंह, श्री हरमन्दिर पाल, श्री रघुबीर सिंह और श्री बनवारी लाल का मैं अत्यन्त आभारी हूँ क्योंकि इनके अथक प्रयासों के कारण ही मुझे सहायक ग्रन्थों की उपलब्धि हो सकी। प्रकाशक श्री श्यामलाल मलहोत्रा (प्रोपराइटर, ईस्टर्न बुक लिंकर्स) का भी मैं आभारी हूँ जिन्होंने अल्प समय में ही इस ग्रंथ को प्रकाशित करने की कृपा की है। इस पुस्तक के निर्माण एवं प्रकाशन में मित्रवर श्री हरीश कौशिक, श्री भगवती प्रसाद, श्री रमण कुमार तथा श्री रमाकान्त तिवारी आदि मित्रों का मैं हृदय से आभार व्यक्त करता हूँ क्योंकि इनके सतत सहयोग व प्रोत्साहन के द्वारा ही यह कार्य पूर्ण हो रहा है।

अन्त में केवल यही कहना चाहूँगा कि—

यदत्र सौष्ठवं किञ्चित्तद्गुरोरेव मे नहि।
यदत्रासौष्ठवं किञ्चित्तन्ममैव गुरोर्नहि ॥

—सुरेन्द्र कुमार शर्मा

# विषयानुक्रमणी

# संकेत-सूची

| | | |
|---|---|---|
| कठ उ० | — | कठोपनिषद् |
| घे० सं० | — | घेरण्ड-संहिता |
| पा० यो० द० | — | पातञ्जल योगदर्शन |
| भा० पु० | — | भागवत पुराण |
| म० स्मृ० | — | मनुस्मृति |
| मै० उ० | — | मैत्रायण्युपनिषद् |
| यो० कु० उ० | — | योगकुण्डल्युपनिषद् |
| यो० चू० उ० | — | योगचूडामण्युपनिषद् |
| यो० तत्त्व० उ० | — | योगतत्त्वोपनिषद् |
| शा० उ० | — | शाण्डिल्योपनिषद् |
| शि० सं० | — | शिव-संहिता |
| शि० स्व० | — | शिवस्वरोदय |
| ह० प्र० | — | हठप्रदीपिका |
| ह० यो० प्र० | — | हठयोगप्रदीपिका |

अध्याय 1

# हठयोग—एक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

दर्शन परम्परा के सन्दर्भ में भारतीय दर्शन प्रारम्भ से ही आस्तिक एवं नास्तिक[1] रूपी दो विचारप्रधान धाराओं में विभक्त रहा है। जहाँ एक ओर नास्तिक शब्द रूपी मणिमुकुट धारण करनेवाले जैन, बौद्ध और चार्वाक प्रभृति दर्शनों ने अपनी तर्कपूर्ण शैली से यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि हम सब उस ईश्वर की देन नहीं, वहीं दूसरी ओर ईश्वरीयसत्ताविषयक ज्ञानाऽमृतरस की गागर को धारण करने वाले वेदान्त, न्याय वैशेषिक, अर्वाचीन सांख्य और योग प्रभृति आस्तिक दर्शनों ने अपनी बाण सदृश अकाट्य लेखनी की जिह्वा से प्रस्फुटित तर्कों से यह सिद्ध किया है कि हम सब निरीह प्राणी ईश्वर की देन तथा उसी के वशीभूत केवल कठपुतली मात्र ही हैं। इसी कारण से अनुप्रेरित इन आस्तिक दर्शनों का भारतीय दर्शन साहित्य में ही नहीं अपितु समस्त विश्व दर्शन साहित्य में अनूठा एवं विशिष्ट योगदान रहा है, जिनमें योगदर्शन का अपना अलग एवं उच्चतम स्थान है, क्योंकि योगदर्शन में निर्दिष्ट ऋतम्भरा प्रज्ञा के द्वारा ही प्राचीन भारतीय मनीषियों को वैदिक मन्त्रों का बोध हुआ था।[2]

योग दर्शन में प्रतिपाद्य 'योग' का वर्णन आस्तिक, नास्तिक एवं अन्य संस्कृत साहित्य के ग्रन्थों में बहुलता से प्राप्त किया जा सकता है। जहाँ वैदिक विचारधारा में इसका अर्थ संयोग हेतु हुआ है, गणित शास्त्र में इसका अर्थ मिलाना दृष्टिगोचर होता है। वैयाकरण दृष्टिकोण के अनुसार योग शब्द 'युज्यते अनेन' इस व्युत्पत्ति के अनुसार

1. आस्तिक शब्द भारतीय दर्शन परम्परा में वेदों की प्रामाणिकता मानने वालों के लिए प्रयुक्त हुआ है और जो वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास नहीं करते वे नास्तिक कहलाते हैं, क्योंकि वेद ईश्वरवादी ग्रन्थ हैं, इसलिए कालान्तर में आस्तिक शब्द ईश्वर में विश्वास करने वालों के लिए तथा जो ईश्वर में विश्वास नहीं करते उनके लिए नास्तिक शब्द का प्रयोग होने लगा।
2. (क) सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा।

ऋग्वेद-10/129/4

'युजिर् योगे' धातु से करण अर्थ में घञ् प्रत्यय करके बना है, जिसका अर्थ संयुक्त होना अथवा मिलाना है। पातञ्जल योगदर्शन में 'युज् समाधौ' धातु से निष्पन्न योगपद का उल्लेख किया गया है, किन्तु भाष्यकार भगवान् व्यास के मन्तव्यानुसार योग एवं समाधि पर्यायवाची हैं।[1]

**योग शब्द की व्युत्पत्ति**—इस प्रकार शुद्ध तर्क की कसौटी पर परखने से यह प्रतीत होता है कि 'योग' शब्द नाना प्रकार के व्यापक अर्थों में प्रयुक्त हुआ है।[2] फिर भी इसका जो आध्यात्मिक अर्थ है उसमें प्रकार भेद होने पर भी कुछ अंश में मूलतः सामञ्जस्य प्राप्त होता है उसे जीवात्मा और परमात्मा का संयोग, प्राण और अपान का संयोग,

---

(ख) ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्
देवात्मशक्ति स्वगुणैर्निगूढाम्।
यः कारणानि निखिलानि तानि
कालात्मयुक्तान्यधितिष्ठत्येकः ॥ श्वेताश्वतरोपनिषद्—1/3

1. (क) व्यास भाष्य, पृ॰. 1
(ख) योगः समाधि, पृ॰. 3

2. "योगः—1 सम्बन्धः। 2 (क) समुदायशब्दस्य अवयवशक्तिः (त॰दी॰) (नील॰ 4 पृ॰31) (सि॰ च॰ 4, 31)। यथा पाचकादिपदेषु योगः अत्र च पाचकादिपदात् पचति इति व्युत्पत्त्या पाककर्ता बुद्ध्यते इति बोध्यम्। अत्र योगबलं समाख्या इति मीमांसका वदन्ति (वाच॰)। (ख) वैयाकरणास्तु शास्त्रकल्पितावयवार्थमात्रबोध-प्रयोजको योगः (शक्तिः)। यथा पाचकादौ इत्याहुः (ल॰म॰ आकांक्षादिवि॰ पृ॰ 12) 3 (क) चित्तवृत्तिनिरोधः इति योगिन आहुः (पा॰ पा॰ 1 सू॰ 2) (ख) क्लेशकर्मविपाकाशयपरिपन्थिचित्तवृत्तिनिरोधो योगः (सर्व॰सं॰पृ॰ 132 पात॰) अत्रेदं बोध्यम्। विषयेष्वलंप्रत्ययवत उदासीनस्य बहिरिन्द्रियेभ्यो व्यावृत्तं मनो यदा आत्ममात्रनिष्ठं भवति तदा तत्कर्मानुगुणप्रयत्नाभावात्कर्म मनसि नोत्पद्यते स्थिरतरं मनो भवति स एव योगः (वै॰ उ॰ 5/2/16)। अथवा आत्मस्थे मनसि षडङ्गयोगेन इन्द्रियादिकं परित्यज्य मनो यदा आत्ममात्रे तिष्ठति तदा मनःकर्मणोनुत्पादः तदा मनो निश्चलं भवति। तदवस्थायां शरीरावच्छेदेन दुःखं न जायते। स आत्मना बाह्यव्यावृत्त-मनसः संयोगो योग उच्यते। षडङ्गानि स्कन्दपुराणे उक्तानि यथा-आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा। ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ (वै॰ सू॰ 5/2-16) (वै॰ वि॰ ) इति। यद्वा इन्द्रियाणि विषयेभ्यः प्रत्याहृत्येन्द्रियेभ्यो मनः प्रत्याहृत्य साक्षात्कर्तव्ये वस्तुनि मनः प्रणिधानं योगः (नील॰) इति। स च योगो द्विविधः।
राजयोगः हठयोगश्च। तत्र राजयोगः पतञ्जलिनोक्तः। हठयोगस्तु तन्त्रशास्त्रोक्तः प्रकारान्तरेणापि। योगो द्विविधः सम्प्रज्ञातः असम्प्रज्ञातश्चेति। तथा योगस्त्रिविधः

चन्द्र और सूर्य का मिलन रज और बिन्दु का मिलन, शिव शक्ति का सामञ्जस्य, चित्त-वृत्ति का निरोध अथवा पूर्वोक्त पाद-टिप्पणी में निर्दिष्ट किसी अन्य प्रकार से भी उसका लक्षण किया जाये परन्तु मूलमें विशेष भेद नहीं है।[1] स्कन्दपुराण के अनुसार जहाँ जीवात्मा और परमात्मा दोनों का जो समान रूपत्व है, वही सर्वसंकल्परहित समाधि कहा

---

ज्ञान-योगः कर्मयोगः भक्तियोगश्च (भाग० स्क० 11 अ० 20 श्लो० 6) इति। इदं च बोध्यम् 'षष्ठभगवदवतारो दत्तात्रेयः' स च आन्वीक्षिकीमलकार्यं प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान् (भाग० 1 / 3 / 12)। तेन च स्वसंहितायां योगोनुशिष्टः इति 4 उपायः (5) युक्तिः (6) जीवात्मपरमात्मनोः सम्बन्धः इति केचिद्वेदान्तिन आहुः तदुक्तम् योगं संयोगमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः इति (वाच०)। (7) देवतानुसंधानं योगः इति रामानुजीयाः नारद-पञ्चरात्रविदः आहुः (सर्व० पृ० 117 रामा०)। (8) अप्राप्तस्यार्थस्य प्राप्तये पर्यनुयोगो योगः। यथा योगाचारः इत्यादौ इति बौद्धा आहुः। (9) शब्दादीनां प्रयोगः इति वैयाकरणा आहुः (10) भेषजम् इति भिषज आहुः। (11) योगः कर्मसु कौशलम्, इति कर्मकर्तारोङ्गीचक्रुः (12) छलम् (उपाधि) इति व्यवहारशास्त्रज्ञा आहुः। अत्र स्मृतिः योगाधमनविक्रीतं योगदानप्रतिग्रहम्। यस्य वाप्युपधिं पश्येत्तत्सर्वं विनिवर्तयेत्॥ (याज्ञ० अ०2 श्लो० 181टी० मिता० पृ०94) इति। योगः कपटम् इति मनुः (8/165) (13) रविचन्द्रयोगाधीना विष्कम्भादयः सप्तविंशति पदार्थाः इति ज्योतिषज्ञा आहुः। (14)तिथिवारनक्षत्राणां सम्बन्धविशेषः। यथा सिद्धियोगः अमृतसिद्धियोगः अर्धोदययोगः दग्धयोगः इत्यादिः इति मौहूर्तिका आहुः (15) लग्नादिगृहविशेषे स्थितो ग्रहविशेषः। यथा राजयोगः नाभसंयोगः इत्यादिः इति कार्तान्तिका आहुः। (16) यात्रायाम् आलग्नात्केन्द्रत्रिकोणस्थितो बुधजीवशुक्राद्यन्यतमः इति ज्योतिःशास्त्रज्ञा आहुः। तदुक्तम् एको ज्ञ ज्यसितेषु पञ्चमतपः केन्द्रेषु योगस्तथा द्वौ चेत्तेष्वधियोग एषु सकला योगाधियोगः स्मृतः योगे क्षेममथाधियोगगमने क्षेमं रिपूणां वधः (मु० चि०) इति। (17) कामुककामिनीसंमेलनं योगः इत्यालंकारिका वदन्ति। (18) चित्तद्वारेणात्मेश्वरसंबन्धो योगः (सर्व० सं० पृ० 169 नकुली०) (न्याय कोश-पृ० 670 से उद्धृत)

1. योऽपानप्राणयोश्चैव रजसो रेतसस्तथा।
   सूर्याचन्द्रमसोर्योगो जीवात्मपरमात्मनोः।
   एवं हि द्वन्द्वजालस्य संयोगो योग उच्यते॥ योगशिखोपनिषद्—1/68

जाता है। जीवात्मा और परमात्मा की अविभागरूप एकता ही परमयोग है।[1] याज्ञ-वल्क्य-संहिता में जीवात्मा और परमात्मा का संयोग योग कहा गया है।[2] गीता के अनुसार समत्व ही योग है।[3] जबकि पातञ्जल योगदर्शन के अनुसार चित्तवृत्ति का निरोध ही योग कहा गया है।[4] कठोपनिषद् के अनुसार इन्द्रिय, मन और बुद्धि की स्थिर धारणा का नाम योग है।[5] मैत्रायण्युपनिषद् के अनुसार प्राण, मन और इन्द्रियों का एकत्व तथा सर्वभाव का परित्याग ही योग कहलाता है।[6]

अग्निपुराण[7], आदित्यपुराण[8], कूर्मपुराण[9] और लिङ्गपुराण[10] आदि में चित्तवृत्ति के निरोध से ही योग की सम्भावना की अभिव्यक्ति की गई है। उपाध्याय यशोविजय ने द्वात्रिंशिका में कहा है कि सर्वकर्म मल का नाश तथा मोक्ष के साथ संयोग ही योग है[11] आचार्य हेमचन्द्र ने चारों पुरुषार्थों में मोक्ष को प्रमुख पुरुषार्थ मानकर योग को उसका कारण माना है।[12] महाभारत के शान्तिपर्व में योग द्वारा परम लक्ष्य की प्राप्ति बताई गई है।[13]

---

1. यत्समत्वं द्वयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः।
   स नष्ट-सर्वसंकल्पः समाधिरभिधीयते॥
   जीवात्मपरमार्थोऽयमविभागः परन्तप।
   स एव तु परो योगः समासात्कथितस्तव॥—स्कन्द पुराण अध्याय-29
2. संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः—याज्ञवल्क्यस्मृति—2/44
3. समत्वं योग उच्यते।—गीता-2/48
4. योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः—पा० योग दर्शन-1/2
5. तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रियधारणाम्—कठोपनिषद्—2/3/11
6. एकत्वं प्राणमनसोरिन्द्रियाणां तथैव च।
   सर्वभावपरित्यागो योग इत्यभिधीयते॥ मैत्रायण्युपनिषद्—6/25
7. चित्तवृत्तिनिरोधश्च जीवब्रह्मात्मनोः परः।—अग्निपुराण-372
8. योगात् संजायते ज्ञानं योगो मय्येकचित्तता।—आदित्य पुराण
9. मय्येकचित्तता योगो वृत्त्यन्तरनिरोधतः।—कूर्म पुराण -11
10. योगो निरोधो वृत्तेस्तु चित्तस्य द्विजसत्तमाः—लिङ्ग पुराण-8
11. मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते—द्वात्रिंशिका-10/1
12. चतुर्वर्गेऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम्।
    ज्ञान-श्रद्धान-चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः॥ योगशास्त्र (1/15)।
13. शान्तिपर्व-232/32

**महायोग**—इन सब परिभाषाओं को देखने पर यह प्रतीत होता है कि स्वाभाविक योग एक ही है अनेक नहीं। यह महायोग के नाम से श्रेष्ठ साधकों में प्रसिद्ध है तथा अवस्था भेद के कारण ही यह मन्त्रयोग, हठयोग, लययोग और राजयोग रूपी अंगों से प्रकट होता है जैसा कि योगतत्त्वोपनिषद् एवं शिवसंहिता में कहा गया है।[1] इसी कारण से उसे महायोग कहा जाता है।[2]

लिङ्ग पुराण में योग के मन्त्र, स्पर्श, भाव, अभाव एवं महायोग रूपी पाँच भेद स्वीकार किए गए हैं[3] जबकि बोधसार ग्रन्थ में लिखा है कि लय, मन्त्र, हठ, राज, सांख्य और भक्ति योग इन (षट्) सब योगों के अन्दर मतैक्य है। जो मोक्षमार्गगामी हैं, उन सब बुधों ने देखा है कि सबका उद्देश्य मोक्षप्राप्ति है।[4] भारतीय संस्कृत साहित्य में योग (अष्टांग, लय, मन्त्र, हठ, राज, कर्म, सांख्य, ध्यान, भक्ति, तारक, विचार, शब्द, जप, पाशुपत, शैव, अहोरात्र, माहेश्वर, पातञ्जल, भृगु शिव और कापालिकयोग) इत्यादि नामों से जाना जाता रहा है[5] किन्तु मुख्य रूप से इसके केवल चार भेद (मन्त्र, हठ, लय और राजयोग) ही स्वीकार किए गए हैं क्योंकि 'योगाचार्य महर्षियों ने कहा है कि अध्यात्म, आधिदैव और आधिभूत इन भावत्रयों के अनुसार मन, वायु व वीर्य ये तीनों ही एक हैं, इसीलिए मन को वशीभूत करने से वीर्य ओर वायु अपने आप वशीभूत हो जाते हैं। वायु को वशीभूत करने से मन व वीर्य अपने आप ही अधीन हो जाते हैं। और

---

1. (क) योगो हि बहुधा ब्रह्मन् भिद्यते व्यवहारतः।
   मन्त्रयोगो लयश्चैव हठोऽसौ राजयोगकः ॥ योगतत्त्वोपनिषद्-19
   (ख) मन्त्रयोगो हठश्चैव लययोगस्तृतीयकः।
   चतुर्थो राजयोगः स्यात् स द्विधाभाववर्जितः ॥ शिवसंहिता-5/14
2. मन्त्रो लयो हठो राजयोगोथभूमिकाः क्रमात्।
   एक एव चतुर्धाऽयं महायोगोऽभिधीयते ॥ योगशिखोपनिषद्-1/129
3. लिङ्ग पुराण-75
4. लये मन्त्रे हठे राज्ञि भक्तौ साङ्ख्ये हरेर्मते।
   मतैक्यमस्ति सर्वेषां ये बुधा मोक्षमार्गगाः ॥ बोधसार
5. "राजयोग, हठयोग, ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग, जपयोग, लययोग, मन्त्रयोग शब्दयोग, प्रणवयोग, हंसयोग, तन्त्रयोग, स्वरयोग, ध्यानयोग, भृगुयोग, शिवयोग, पाशुपतयोग, प्रेमयोग, अनासक्तयोग, समाधियोग, ब्रह्मयोग, नामकीर्तनयोग, स्पर्शयोग, बुद्धियोग, अस्पर्शयोग, पुरुषोत्तमयोग, प्रकृति-पुरुषयोग, भावयोग, अभावयोग, क्रियायोग, विज्ञानयोग, गृहस्थयोग, पतिव्रतयोग, सांख्ययोग, कुण्ड-लिनीयोग, सुषुप्तियोग, स्वप्नयोग, चित्तयोग, इच्छायोग, मानसयोग, अहङ्कार योग, ज्ञानेन्द्रिययोग, कर्मेन्द्रिययोग, पूर्णयोग, कबीरपंथीयोग, स्वामी नारायण योग, बौद्धयोग, जैनयोग, पारसी मत-योग, ईसाई मत योग" इत्यादि
   योगदर्शन सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, पृष्ठ-17 से उद्धृत।

सुकौशल पूर्ण क्रियाओं के द्वारा वीर्य को वशीभूत करके उर्द्ध्वरेता हो जाने से मन व प्राणवायु अनायास उस योगी के वश में आ जाते हैं। राजयोग में बुद्धि से सम्बन्ध रखने वाली क्रियाओं से अधिक सम्बन्ध रखा गया है। और मन्त्र, हठ व लय इन तीन प्रकार की योगप्रणालियों में मन, वायु तथा वीर्य इन तीनों का सम्बन्ध अधिक रूप से है। इनमें से लययोग में मन की क्रिया का आधिक्य और मन्त्र व हठयोग में वायु धारण तथा रेतोधारण सम्बन्धी क्रियाओं की अधिकता देखी जाती है। शास्त्रों में मन्त्रयोगी के लिए वे सब तो चाहिए, उपरान्त प्राणायामसिद्धि व वायुनिरोध के लिए विशेष व्यवस्था रखी गई है।[1]

हठ—'हठ' में प्रयुक्त हकार और ठकार से अभिप्राय क्रमशः सूर्य नाड़ी और चन्द्र-नाड़ी प्रोक्त है। इस प्रकार सूर्य चन्द्र की एक रूपता ही हठ कहलाती है और इसके द्वारा सर्वदोष उत्पन्न जड़ता नष्ट होती है[1] तथा क्षेत्रज्ञ और परमात्मा की एकता होती है।[2] अतः सूर्य और चन्द्र नाड़ी के परस्पर संयोग को ही 'हठयोग' कहते हैं।[3] यहाँ सूर्य और चन्द्र से अभिप्राय क्रमशः पिङ्गला और इडा नाड़ी है तथा जिनका वास शरीर के दक्षिण एवं वाम भाग में माना गया है।[4] हठयोग के अन्य ग्रन्थों में हकार और ठकार निम्नलिखित पर्यायवाची शब्दों के द्वारा भी जाना जाता है—

ह—सूर्य, रवि, यमुना, शक्ति, रज, प्राण, पवन, अधः और
पिङ्गला नाड़ी।

ठ—चन्द्र, शशि, गंगा, शिव, बिन्दु, अपान, मन, ऊर्ध्व और इडा नाड़ी।

हठ=परस्पर मिलाना जिससे हठात् सिद्धि मिल जाये। गुह्य—समाज में ज्ञान

---

1. श्री धम्मकल्पद्रुम खण्ड 4, पृ०-1131
2. हकारेण तु सूर्यः स्यात् ठकारेणेन्दुरुच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोरैक्यं हठ इत्यभिधीयते॥
   हठेन ग्रस्यते जाड्यं सर्वदोष समुद्भवम्
   क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं तदा भवेत्—योगशिखोपनिषद् 1/133,34
3. हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
   सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद्हठयोगो निगद्यते॥ हठयोगप्रदीपिका
   —ज्योत्स्ना टीका—1/1
4. (क) मेरोर्वामे स्थिता नाड़ी इड़ा चन्द्रामृता शिवे।
   दक्षिणे सूर्यसंयुक्ता पिङ्गला नाम नामतः॥
   (ख) इड़ा वामे स्थिता नाड़ी शुक्ला चन्द्रस्वरूपिणी॥
   शक्तिरूपा तु सा नाड़ी साक्षादमृतविग्रहा।
   दक्षिणे या पिङ्गलाख्या पुंरूपा सूर्यविग्रहा॥ षट्चक्रविवृतिः पृष्ठ-78

प्राप्ति हेतु हठयोग को एक साधन के रूप में स्वीकार किया है।[1] और यह सिद्धों के द्वारा सेवित है।[2]

इस हठयोग की व्याख्या हम इस प्रकार से भी कर सकते हैं कि प्राणायाम आदि क्रिया के अभ्यास से उत्पन्न राजयोग के बिना ही परमात्मा का साक्षात्कार रूप चित्त की वृत्ति का निरोध करना ही हठयोग कहलाता है और वह तन्त्र प्रसिद्ध है।[3] जबकि 'अमर' इत्यादि कोषों में हठ शब्द बलात्कार हेतु प्रयुक्त हुआ है।[4] हठ एवं हठयोग शब्दार्थ हेतु शब्दकल्पद्रुम में इनकी व्याख्या अत्यधिक विस्तार एवं भली-प्रकार से निर्दिष्ट है, जिसमें हठयोग की दो प्रकार की विधियों पर प्रकाश डाला गया है।[5]

---

1. दर्शने तु कृतेऽप्येवं साधकस्य न जायते।
   यदा न सिध्यते बोधिर्हठयोगेन साधयेत्॥ गुह्यसमाज तन्त्र 18/162

2. एवं ध्यात्वा चिरायुस्स्याद् अङ्गजननवर्जितः।
   शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसङ्गतः॥
   हठज्योतिर्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत्।
   अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः॥
   योगकर्णिका-12/25-26

2. हठयोग—प्राणायामादिक्रियाभ्यासजन्यः राजयोगं विनैव परमात्मसाक्षात्कार-रूपश्चित्तवृत्तिनिरोधः। स च तन्त्रप्रसिद्धः तत्प्रकारस्तु हठदीपिकादावुक्तो द्रष्टव्यः। अत्र विग्रहः हठेन बलात्कारेण योगः चित्तवृत्तिनिरोधः इति।
   न्यायकोश पृ०-1064

3. (क) प्रसभं तु बलात्कारो हठः। अमरकोश पृष्ठ-393
   (ख) हठः स्यात् प्रसभे पृश्न्यां हेठो बाधापि हेठयोः।
   अपष्ठुः पुंसि काले च वामे स्यादन्यलिङ्गकः॥ मेदिनी—पृ०-39

4. हठ, कीलबन्धे। बलात्कृतौ। प्लुतौ। इति कवि-कल्पद्रुमः॥ (भा०-पर०-भक-प्लुतौ अक०-सेट्।) कीले बन्धः कीलबन्धः। हठति छागं कीले बध्नाति इत्यर्थः। कातन्त्रादौ बलात्कारमात्रे। हठति परचक्रं बली। इति दुर्गादासः॥ हठः पुं०(हठ+पुंसीति घः।) बलात्कारः। इत्यमरः। प्रश्नी। इति मेदिनी॥
   हठयोगः। यथा, हठयोगप्रदीपिकायाम्। १/१०।
   "अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः। अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः" ॥)
   हठपर्णी, स्त्री, (हठति प्लवते। इति हठ+अच्। तादृशं पर्णमस्याः। ङीष्।)
   शैवालः। इति त्रिकाण्डशेषः॥

5. हठयोगः पुं, (हठेन योगः) योगविशेषः। यथा—
   "इदानीं हठयोगस्तु कथ्यते हठसिद्धिदः। कृत्वासनं पवनाशं शरीरे रोगहारकम्॥
   पूरकं कुम्भकञ्चैव रेचकं वायुना भजेत्। इत्थं क्रमोत्क्रमं ज्ञात्वा पवनं साधयेत् सदा॥

'हकार' और 'ठकार' रूपी द्वन्दों को परस्पर मिलाना ही हठ योग कहलाता है क्योकि "हठयोगी लोगों का विचार है कि वैषम्य ही जगत् की उत्पत्ति और दृश्यमानता का मूल कारण है, जिससे जगत् प्रकट होता है। वह जब तक समावस्था में विद्यमान रहता है, तब तक जगत् नहीं रहता। वह अद्वैत या प्रलय की अवस्था है। साम्यभंग होने पर ही वैषम्य, द्वन्द्व अथवा द्वैत भाव का उदय होता है, यही सृष्टि का बीज है। जो दो विरुद्ध शक्तियाँ एक दूसरे का उपमर्दन कर स्थिति-रूप से निष्क्रिय भाव में विद्यमान रहती हैं, वे जब समत्व का त्याग करती हैं, अर्थात् जब उनमें गुण-प्रधान भाव जग उठता है, तब सृष्टि और संहार के व्यापार सूचित होते हैं।

बहिःशक्ति की प्रधानता से सृष्टि और अन्तःशक्ति की प्रधानता से संहार होता है। स्थिति दोनों शक्तियों की समानता का निदर्शन है। इन दोनों शक्तियों के भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न पारिभाषिक नाम रखे गए हैं। शिव-शक्ति तथा पुरुष प्रकृति मूलतः इस आदिद्वन्द्व के ही वाचक हैं। जीव-देह में प्राण और अपान के रूप में इस विरुद्ध अथवा परस्पर-सम्बद्ध शक्तियुगल का ही विकास हमें दिखाई पड़ता है।[1]

इस "हठयोग की साधना से सिद्ध देह की प्राप्ति होती है। इससे प्राप्त शरीर वज्र-लौह के समान कठोर, स्वस्थ, रोगमुक्त एवं दीर्घायु होता है। हठयोगी शरीर के साथ जीवन और मृत्यु का भी स्वामी होता है। उसमें युवावस्था का तेज होता है। उसे इच्छामृत्यु सिद्ध होती है। संहार-मुद्रा धारण करके वह जीवन-त्याग करता है।"[2]

**हठ एवं राजयोग में सम्बन्ध**—इस प्रकार यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि इन सब भेदों में राजयोग (समाधि) ही श्रेष्ठ है[3] और इस राजयोग की प्राप्ति का एकमात्र

---

धौत्यादिकर्म्मषट्कञ्च संस्कुर्यादहठसाधकः। एतन्नाड्यान्तु देवेशि !
वायुपूर्णं प्रतिष्ठितम् ।।
ततो मनो निश्चलं स्यात्तत आनन्द एव हि। हठयोगान्न कालः स्यान्मनः शून्ये
भवेद्यदि ।।

इदानीं हठयोगस्य द्वितीयं भेदवत् शृणु ।
आकाशे नासिकाग्रे तु सूर्यकोटिसमं स्मरेत् ।।
श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णमित्यादिरूपतः ।
एवं ध्यात्वा चिरायुः स्यादङ्गाजननवर्जितः ।।
शिवतुल्यो महात्मासौ हठयोगप्रसादतः ।
हठाज्ज्योतिर्म्मयो भूत्वा ह्यन्तरेण शिवो भवेत् ।।
अतोऽयं हठयोगः स्यात् सिद्धिदः सिद्धसेवितः ।।" इति। योगस्वरोदय ।।
शब्दकल्पद्रुम भाग पञ्चम पृ०-50।

1. भारतीय संस्कृति और साधना, पृष्ठ 255
2. संत काव्य में योग का स्वरूप, पृष्ठ 201
3. "राजत्वात्सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।"

उपाय केवल हठयोग ही है तथा ये दोनों अन्योन्याश्रित हैं क्योंकि हठयोग के बिना राजयोग और राजयोग के बिना हठयोग अपने आप में अपूर्ण है।[1] पातञ्जल योगदर्शन के आठ अंगों में से पूर्व के चार अंगों को हठयोग एवं बाद के चार अंगों को राजयोग की श्रेणी में रखकर दोनों को अन्योन्याश्रित कह सकते हैं क्योंकि जिस प्रकार राजयोग अपने आप में साधन ही नहीं अपितु साध्य भी है। उसी प्रकार हठयोग भी अपने आप में पूर्ण लक्ष्य कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि सृष्टि, स्थिति और लय का कारण अन्तःकरण ही है, उसकी सहायता से जिसका साधन किया जाता है उसको राजयोग कहते हैं। मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार ये अन्तःकरण के चार भेद हैं। अन्तःकरण दृश्य और आत्मा द्रष्टा है। अन्तःकरण रूपी कारण दृश्य से जगत् रूपी कार्यदृश्य का कार्यकारण सम्बन्ध है। दृश्य से द्रष्टा का सम्बन्ध स्थापित होने पर सृष्टि होती है। चित्त वृत्ति का चाञ्चल्य ही इसका कारण है। **वृत्तिजयपूर्वक स्वस्वरूप का प्रकाश करना ही राजयोग कहलाता है।** राजयोग में विचारबुद्धि का प्राधान्य रहता है। विचार शक्ति की पूर्णता द्वारा राजयोग का साधन होता है। राजयोग के ध्यान को ब्रह्मध्यान कहते हैं। इसकी समाधि ही निर्विकल्पक समाधि कहलाती है। राजयोग से सिद्धिप्राप्त महात्मा का नाम जीवन्मुक्त है। महाभावप्राप्त योगी महाबोधप्राप्त योगी वा महालय प्राप्त योगी तत्त्व ज्ञान की सहायता से राजयोगभूमि में अग्रसर होते हैं। राजयोग सब योग साधनों में श्रेष्ठ है और साधन की चरम सीमा है, इसी कारण इसको राजयोग कहते हैं।[2] जबकि

---

1. हठं बिना राजयोगो राजयोगं बिना हठः।
   न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत्॥ हठयोगप्रदीपिका-2/76
2. सृष्टिस्थितिविनाशानां हेतुता मनसि स्थिता।
   तत्साहाय्यात्साध्यते यो राजयोग इति स्मृतः॥
   अन्तः करणभेदास्तु मनो बुद्धिरहङ्कृतिः।
   चित्तञ्चेति विनिर्दिष्टाश्चत्वारो योगपारगैः॥
   तदन्तःकरणं दृश्यमात्मा द्रष्टा निगद्यते।
   विश्वमेतत्तयोः कार्यकारणत्वं सनातनम्॥
   दृश्यद्रष्ट्रोश्च सम्बन्धात्सृष्टिर्भवति शाश्वती।
   चाञ्चल्यं चित्तवृत्तीनां हेतुमत्र विदुर्बुधाः॥
   वृत्तीर्जित्वा राजयोगः स्वस्वरूपं प्रकाशयेत्।
   विचार बुद्धेः प्राधान्यं राजयोगस्य साधने॥
   ब्रह्मध्यानं हि तद्ध्यानं समाधिर्निर्विकल्पकः।
   तेनोपलब्धिसिद्धिर्हि जीवन्मुक्तः प्रकथ्यते॥
   उपलब्धमहाभावा महाबोधान्विताश्च वा।
   महालयं प्रपन्नाश्च तत्त्वज्ञानावलम्बतः॥
   योगिनो राजयोगस्य भूमिमासादयन्ति ते।
   योगसाधनमूर्द्धन्यो राजयोगोऽभिधीयते॥ श्री धर्मकल्पद्रुम भाग-4 से उद्धृत

यह देखा जाता है कि 'सूक्ष्म शरीर के तीव्र संस्कार से उत्पन्न हुए कर्म्मों के भोग के आश्रय रूपी जीव का स्थूल शरीर बनता है, अर्थात् सूक्ष्म शरीर के भाव के अनुरूप ही स्थूल शरीर का संगठन होता है और सूक्ष्म शरीर व स्थूल शरीर एक ही सम्बन्धयुक्त होकर रहते हैं तब इसमें क्या सन्देह है कि स्थूल शरीर के कार्यों के द्वारा सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य नहीं किया जा सकता है ? फलतः अधिकारी विशेष के लिए स्थूल शरीर प्रधान योग क्रियाओं का आविष्कार योग शास्त्र में किया गया है । जिनके द्वारा साधक प्रथम अवस्था में स्थूल शरीर की क्रियाओं का साधन करता हुआ स्थूल शरीर पर सम्पूर्ण आधिपत्य कर लेता है और क्रमशः उस शक्ति को अन्तर्मुख करके उसके द्वारा सूक्ष्म शरीर को वश में लाकर चित्तवृत्ति निरोध के द्वारा परमात्मा का साक्षात्कार करने में समर्थ होता है और इसी योग प्रणाली को हठयोग कहते हैं ।"[1] "प्राण, अपान, नाद, बिन्दु, जीवात्मा व परमात्मा के मेल से उत्पन्न होने के कारण स्थूल शरीर का नाम घट है । जलमध्य स्थिति आम कुम्भ की तरह शरीर रूपी यह घट सदा ही जीर्ण रहा करता है । इसलिए योगरूपी अनल के द्वारा दग्ध करके इस घट की शुद्धि करनी चाहिए । जीर्ण भावयुक्त स्थूल शरीर को हठयोग के द्वारा दृढ़ करके सूक्ष्म शरीर को भी योगानुकूल किया जाता है । स्थूल शरीर सूक्ष्मशरीर का ही परिणाम मात्र है । इसलिए जिस प्रकार ककारादि वर्णों के अभ्यास द्वारा क्रमशः शास्त्र ज्ञान लाभ होता है उसी प्रकार जिन सुकौशलपूर्ण क्रियाओं के द्वारा प्रथमतः स्थूल शरीर को वश में लाकर क्रमशः सूक्ष्म शरीर पर आधिपत्य स्थापन पूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध किया जा सकता है उन साधनों की हठसंज्ञा होती है ।[2] श्री गोरक्षनाथ विरचित 'अमरौघप्रबोध' के अनुसार प्रभञ्जन विधान में रत ही हठयोग कहलाता है ।[3] संक्षेप में इतना कहना मात्र ही पर्याप्त होगा कि आत्मसाक्षात्कार हेतु राजयोग से निम्न द्वितीय श्रेणी की क्रिया का नाम ही हठयोग है एवं इसका उपदेश

---

1. श्री धर्मकल्पद्रुम—भाग-4—पृष्ठ 1129-30
2. प्राणाऽपाननादबिन्दुजीवात्मपरमात्मनाम् ।
   मेलनाद्घटते यस्मात्तस्माद्वै घट उच्यते ।।
   आमकुम्भमिवाऽम्भःस्थं जीर्यमाणं सदा घटम् ।
   योगानलेन सन्दह्य घटशुद्धिं समाचरेत् ।।
   हठयोगेन प्रथमं जीर्यमाणामिमां तनुम् ।
   द्रढयन् सूक्ष्मदेहं वै कुर्याद् योगयुजं पुनः ।।
   स्थूलः सूक्ष्मस्य देहो वै परिणामान्तरं यतः ।
   कादिवर्णान् समभ्यस्य शास्त्रज्ञानं यथाक्रमम् ।।
   यथोपलभ्यते तद्वत् स्थूलदेहस्य साधनैः ।
   योगेन मनसो योगो हठयोगः प्रकीर्त्तितः ।। श्री धर्म्मकल्पद्रुम से उद्धृत—4/पृ0-1127-28
3. यस्तु प्रभञ्जनविधानरतो हठस्सः—अमरौघप्रबोध-4

केवल राजयोग हेतु हुआ है।[1] किन्तु इस तथ्य के अतिरिक्त इस हेतु को भी विस्मरण नहीं करना चाहिए कि राजयोग रूपी परम लक्ष्य के साथ-साथ इसका अव्यवहित उद्देश्य देह शुद्धि है और जिसको योगियों की पारिभाषिक भाषा में घट शुद्धि भी कहते हैं।

**हठयोग एवं पातञ्जल योग में अन्तर**—महायोग (लय, मन्त्र, हठ और राज) के सभी अंगों में महर्षि पातञ्जल की ही प्रणाली प्रचलित है किन्तु प्रत्येक में योग के किसी विशिष्ट स्वरूप का ही निदर्शन है। वास्तव में योग की केवल दो प्रमुख प्रणालियाँ हैं, एक वह जो योगसूत्र द्वारा प्रतिपादित है और जिसका भाष्य व्यास ने किया तथा दूसरी प्रणाली वह है जो गोरक्षनाथ रचित गोरक्षशतक तथा स्वात्मारामयोगी की हठ-योगप्रदीपिका में वर्णित है। संक्षेप में दोनों योग प्रणालियों में यह अन्तर है कि जहाँ पातञ्जल योग चित्तानुशासन पर ही सारा प्रयास लगाते हैं वहाँ हठयोग का प्रमुख सम्बन्ध है शरीर उसके स्वास्थ्य शुद्धता एवं रोगरहितता से। इस तथ्य का उद्घाटन इसी से हो जाता है कि जहाँ पातञ्जल ने आसन की परिभाषा किसी ऐसी शरीरावस्थिति से की है जो स्थिरसुख हो (स्थिरसुखमासनम्) वहाँ हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थ बहुत से आसनों का उल्लेख करते हैं, यथा—मयूरासन, सिद्धासन, पद्मासन, स्वस्तिकासन, इत्यादि जिनसे शरीरस्थ रोगों का निवारण होता है। जहां पातञ्जल योग दर्शन विचारप्रधान दर्शन ग्रन्थ है वहीं हठयोग के ग्रन्थ प्रक्रिया प्रधान होने के साथ-साथ उन पर ज्ञान का भी प्रभाव है। इसके अतिरिक्त हठयोग में कुछ क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिन्हें हठयोग की पारिभाषिक भाषा में षट्कर्म कहते हैं यथा नेति, धौति, बस्ति, त्राटक इत्यादि जिनके विषय में पातञ्जल मौन हैं।[2] इसके अतिरिक्त हठयोग के ग्रन्थों में मुद्रा एवं बन्धों का सविस्तर वर्णन दृष्टिगोचर है तथा मुद्राओं की संख्या पाँच से पच्चीस तक भी मानी गई है।[3] जबकि पातञ्जल योगदर्शन में इन मुद्राओं एवं बन्धों की चर्चा तक नहीं मिलती। हठयोग तथा पातञ्जलयोग में एक यह अन्तर भी है कि जहाँ हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम एवं नादानुसन्धान की विधि का साङ्गोपाङ्ग विवेचन कर इनके

---

1. (क) श्रीमद्गोरक्षनाथेन सदामरौधवर्तिना।
   लयमन्त्रहठाः प्रोक्ता राजयोगाय केवलम्॥ वहीं-73
   (ख) केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते। हठयोगप्रदीपिका-1/2
   (ग) मन्त्रे हठे लये चैव सिद्धिमासाद्य यत्नतः।
   पूर्णाधिकारमाप्नोति राजयोगपरो नरः॥ योगशास्त्र
2. धर्मशास्त्र का इतिहास भाग-5 पृ0-276
3. (क) पाँच मुद्राएँ—गोरक्षसंहिता-1/56
   (ख) दस मुद्राएँ—हठयोगप्रदीपिका-3/6-7
   (ग) पच्चीस मुद्राएँ—घेरण्ड संहिता-3/1-3

महत्त्व को स्वीकार किया है वही पातञ्जल योग में केवल प्राणायाम का अल्पमात्र ही वर्णन उपलब्ध होता है। इसके अतिरिक्त एक अन्य भेद यह भी कहा जा सकता है कि हठयोग के ग्रन्थों में आसन, प्राणायाम और (विशेषकर) मुद्राओं का प्रमुख उद्देश्य है कुण्डलिनी अर्थात् व्यक्ति की वह मार्मिक शक्ति जो सुषुम्ना के मूल में सर्प के समान कुण्डली लगाये रहती है को जगाना और उसे कतिपय (षट्) चक्रों से पार कराकर ब्रह्म-द्वार तक ले जाकर स्थिर करना,[1] जबकि योगदर्शन में चक्रों एवं नाड़ियों का वर्णन यदा-कदा ही दृष्टिगोचर होता है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग दर्शन में जहाँ यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि को योग के आठ अंगों के रूप में स्वीकार किया है[2] वहीं पर हठयोग के ग्रन्थ योगांगों की दृष्टि से एकमत नहीं हैं। दत्तात्रेय-संहिता,[3] मण्डलब्राह्मणोपनिषद्,[4] जाबालदर्शनोपनिषद्[5] वराहोपनिषद्,[6] सिद्धसिद्धान्त संग्रह[7] ने जहाँ योग के आठ अंग स्वीकार किए हैं वहीं पर योगतत्त्वोपनिषद् ने इन्हीं आठ अंगों को हठ-योग के अंग कहा है— "पूर्वोक्त लययोग के बाद अब हठयोग सुनो—यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, भ्रूमध्य हरि का ध्यान और समाधि को अष्टांग योग कहते हैं।"[8] सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इन उपनिषदों के रचनाकारों ने पातञ्जल योग प्रणाली का ही अनुगमन किया है, क्योंकि अन्य हठयोग के ग्रन्थों में हठयोग के छः[9] एवं

---

1. हठयोगप्रदीपिका-3/1-4
2. पातञ्जलयोगदर्शन-2/29
3. दत्तात्रेय-संहिता—श्लोकार्धसंख्या-52-56
4. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्-1/1
5. जाबालदर्शनोपनिषद्-4-5
6. वराहोपनिषद्-5/11-12
7. सिद्धसिद्धान्त संग्रह-2/49-50
8. स एव लययोगः स्याद्हठयोगमतः शृणु।
   यमश्च नियमश्चैव ह्यासनं प्राणसंयमः ॥
   प्रत्याहारो धारणा च ध्यानं भ्रूमध्ये हरिम्।
   समाधिसमताऽवस्था साष्टाङ्गो योग उच्यते ॥
   
   योगतत्त्वोपनिषद्—24-25
9. (क) अमृतनादोपनिषद्-6
   (ख) क्षुरिकोपनिषद्—सम्पूर्ण
   (ग) योगचूडामण्युपनिषद्-2
   (घ) ध्यानबिन्दूपनिषद्-41
   (ङ) गोरक्ष-संहिता-1/6
   (च) योगमार्त्तण्ड-2

सात[1] अंगों की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है। हठयोग के सात (षट्कर्म, आसन, मुद्रा, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान व समाधि) ही मानना उपयुक्त प्रतीत होता है[2] क्योंकि बिना षट्कर्म किए शरीर का शोधन एवं आसन के लिए सुखपूर्वक बैठना दुष्कर प्रतीत होता है। अत हठयोग के कुछ शास्त्रों में यम-नियम की परिकल्पना का परित्याग कर षट् कर्मों की महत्ता को स्वीकार कर उनका सविस्तर वर्णन दृष्टिगोचर होता है क्योंकि हठयोगियों का लक्ष्य (कलियुग में असम्भव मानी जाने वाली) शारीरिक शक्तियों का विकास कर अद्वैतसिद्धि प्राप्त करना था। जैसा कि भगवान् शंकराचार्य अपने अद्वैत-वेदान्तीय-प्रकरण ग्रन्थ अपरोक्षानुभूति में राजयोग तथा हठयोग विषयक भेद प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि पूर्णतया सभी प्रकार से क्षीण कलमष साधकों को ज्ञान मार्ग से मोक्ष प्राप्ति राजयोग के अन्तर्गत आती है। परन्तु जिन साधकों अथवा मुमुक्षुओं के पाप-कषाय आदि अवशिष्ट हैं, उन्हें हठयोग के अनुपालन से ही मोक्ष मार्ग में सफलता मिल सकती है। अद्वैत-वेदान्तीय-राजयोग के सन्दर्भ में व्यापक व्याख्या देते हुए आदि शंकराचार्य कहते हैं कि बुद्धिमन्दता विषयासक्ति रूपी रस्सी से जकड़े होने के कारण ब्रह्म के प्रत्यक्ष दर्शन में असमर्थ मुमुक्षुओं को चाहिए कि वे चिरकाल तक निर्गुण ब्रह्म की उपासना पद्धति का अभ्यास करते रहें।[3]

(१) यम (2) नियम (3) त्याग (4) मौन (5) देश (6) काल (7) आसन (8) मूलबन्ध (9) देहसाम्य (10) दृक् स्थिति (11) प्राणसंयम (12) प्रत्याहार (13) धारणा (14) आत्मध्यान और (15) समाधि रूपी (निदिध्यासन हेतु) राजयोग के पन्द्रह अंगों[4] का (पतञ्जलि ने जो अष्टांग योग का वर्णन

---

1. शोधनं दृढ़ता चैव स्थैर्य्यं धैर्य्यं च लाघवम्।
   प्रत्यक्षञ्च निर्लिप्तञ्च घटस्य सप्तसाधनम्॥
   षट्कर्मणां शोधनञ्च आसनेन भवेद् दृढम्।
   मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता॥
   प्राणायामाल्लाघवञ्च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनि।
   समाधिना निर्लिप्तञ्च मुक्तिरेव न संशयः॥ घेरण्ड-संहिता 1/9-11
2. षट्कर्मासनमुद्रा प्रत्याहारश्च प्राणसंयामः।
   ध्यानसमाधी सप्तैवाङ्गानि स्युर्हठस्य योगस्य॥ योगशास्त्र
3. नित्याभ्यासादृते प्राप्तिर्न भवेत्सच्चिदात्मनः।
   तस्माद् ब्रह्म निदिध्यासेज्जिज्ञासुः श्रेयसे चिरम्॥ अपरोक्षानुभूति-101
4. यमो हि नियमत्यागो मौनं देशश्च कालता।
   आसनं मूलबन्धश्च देहसाम्यं च दृक्स्थितिः॥
   प्राणसंयमनं चैव प्रत्याहारश्च धारणा।
   आत्मध्यानं समाधिश्च प्रोक्तान्यङ्गानि वै क्रमात्॥ वही, 102-103

किया है उससे विलक्षण है क्योंकि पतंजलि अमान्य है अवैदिक होने से) सविस्तर वर्णन करते हुए शंकराचार्य कहते हैं कि इन अंगों से युक्त योग का नाम ही राजयोग है। जिनके कषाय स्वल्प क्षीण हुए हों उन्हें यह हठयोग के सहित और जिनका चित्त परिपक्व हो उन्हें यह राजयोग अकेला ही मोक्षसिद्धि देने वाला है। यह गुरु और इष्ट-देवता के भक्तों को, सभी को सुगमता से शीघ्र ही प्राप्त हो सकता है।[1]

**हठयोग की प्राचीनता**—इस प्रक्रिया प्रधान योग की प्राचीनता के विषय में अगर ऐतिहासिक दृष्टिकोण निकाल दिया जाए तो जब से सृष्टि की उत्पत्ति हुई है तब से ही मनुष्य एवं समस्त जीव-जन्तु किसी-न-किसी रूप में आसन का प्रयोग अवश्य करते रहे हैं क्योंकि जिसमें सुखपूर्वक बैठा जाए वही आसन कहलाता है। यहाँ तक कि गर्भावस्था में भी मनुष्य किसी-न-किसी आसन में अवश्य ठहरता है। घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि संसार में जितने भी जीव-जन्तु हैं, उतनी ही संख्या आसनों की है।[2]

यह प्रक्रिया प्रधान "योग भारतीय परम्परा की एक विशेष देन है। इसका इतिहास भारत के प्रागैतिहासिक काल से सम्बन्धित है। सिन्धु घाटी की सभ्यता में उप-लब्ध मुद्राओं एवं पद्मासन की स्थिति में उत्कीर्ण किसी देव विशेष का चित्र"[3] इस बात का परिचायक है कि यह प्रक्रिया प्रधान परम्परा प्रागैतिहासिक काल में भी विद्यमान एवं भारतीय ऋषियों की अक्षय सम्पत्ति थी।

इस योग की प्राचीनता के विषय की चर्चा करते हुए एस०एन० दास गुप्ता के शब्दों को देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय ने इस प्रकार लिखा है कि "योग-क्रियाओं में अलग-अलग सम्प्रदायों ने अलग-अलग परिवर्तनों का समावेश किया, लेकिन इन सम्प्रदायों का सांख्य दर्शन की ओर कोई विशेष झुकाव न था। इस प्रकार योग-क्रियाएँ शैव तथा शाक्त सिद्धान्तों के अनुसार भी विकसित हुईं···वे एक दूसरी दिशा में विकसित हुईं जिसे हठयोग कहते हैं। जिनके बारे में यह कल्पना की गई कि वह लगातार किए जाने वाले स्नायविक व्यायामों के द्वारा—जिनका सम्बन्ध रोग निवारण तथा दूसरी अति प्राकृतिक क्षमताओं के द्वारा···जिनका सम्बन्ध रोग निवारण तथा दूसरी अति प्राकृतिक क्षमताओं के साथ भी

---

1. एभिरङ्गैः समायुक्तो राजयोग उदाहृतः।
   किञ्चित्पक्वकषायाणां हठयोगेन संयुतः॥
   परिपक्वं मनो येषां केवलोऽयं च सिद्धिदः।
   गुरुदैवतभक्तानां सर्वेषां सुलभो जवात्॥ वही—143-144
2. आसनानि समस्तानि यावन्तो जीवजन्तवः घेरण्ड-संहिता, 2/1
3. गोरक्ष-संहिता एक अध्ययन सुरिन्द्रकौर—लघु शोध प्रबन्ध पृ०2

जोड़ा गया—रहस्यात्मक तथा जादुई करामातों को जन्म देता है।···तन्त्र तथा दूसरी उपासना पद्धति के विकास पर भी इन क्रियाओं का प्रभाव अधिक था।···सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्ति कदाचित् पतञ्जलि थे, क्योंकि उन्होंने न केवल अनेक प्रकार की योग-क्रियाओं का संग्रह किया तथा उन विभिन्न मन्तव्यों को बटोरा जिनका सम्बन्ध योग से था या जोड़ा जा सकता था, बल्कि इन सबको सांख्य दर्शन पर कलम भी कर दिया, जिसके फलस्वरूप उन्हें वह रूप प्राप्त हुआ जिनमें वे हमें आज उपलब्ध हैं। वाचस्पति तथा विज्ञानभिक्षु इस बात से सहमत हैं कि पतञ्जलि योग के प्रवर्तक नहीं थे बल्कि एक संग्रहकर्ता थे"[1] अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि इस प्रक्रिया प्रधान(हठ)योग के प्रवर्तक कौन थे ? सामान्यत: योगशास्त्रों में हठयोग के प्रवर्तक के रूप में मार्कण्डेय, भरद्वाज, मरीचि, जैमिनि, पराशर, भृगु व विश्वामित्र आदि पूज्यपाद महर्षियों का नामोल्लेख प्राप्त होता है तथा इन्हीं महर्षियों की अगाध अनुकम्पा से संसार में प्रत्येक युग में हठयोग का विकास होता गया है।[2] दत्तात्रेयसंहिता के अनुसार कपिल आदि मुनि और इनके शिष्यों ने हठयोग किया था। जिसके अन्तर्गत महामुद्रा, महाबन्ध, खेचरी मुद्रा, जालन्धरबन्ध, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरणी और वज्रोलि के तीन प्रकार वज्रोलि, अमरोलि और सहजोलि आते हैं।[3]

---

1. (क) भारतीय दर्शन का इतिहास···एस०एन० दास गुप्ता, पृ० 237 (भाग 1)
   (ख) भारतीय दर्शन सरल परिचय···देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय-181

2. मार्कण्डेयो भरद्वाजो मरीचिरथ जैमिनि: ।
   पराशरो भृगुश्चापि विश्वामित्रादयस्तथा ।।
   एषां पूज्याङ्घ्रिपद्मानामृषीणां कृपयाऽनिशम् ।
   हठयोगविकाशो वै जगत्यत्र विजृम्भते ।। योगशास्त्र

3. कपिलाद्यास्तु शिष्याश्च हठं कुर्युस्ततो यथा ।
   तद्यथा च महामुद्रा महाबन्धस्तथैव च ।
   ततः स्यात्खेचरी मुद्रा बन्धो जालन्धरस्तथा ।
   उड्डियाणं मूलबन्धो विपरीतकरणी तथा ।
   वज्रोलिरमरोलिश्च सहजोलिस्त्रिधा मता । दत्तात्रेय संहिता श्लोकार्ध संख्या 57-61

हठयोग प्रदीपिकाकार ने वसिष्ठ आदि ऋषियों[1] एवं मत्स्येन्द्रनाथ आदि योगियों के साथ-साथ बत्तीस (32) ऐसे महासिद्धों का नामोल्लेख किया है, जिन्होंने हठयोग विद्या के प्रभाव से मृत्यु रूपी काल दण्ड को काटकर मृत्युञ्जयी की पदवी प्राप्त की है।[2] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी एक श्लोक उद्धृत करते हुए लिखते हैं कि हठयोग की दो विधियाँ हैं—"एक तो गोरक्षनाथ की पूर्ववर्त्ती जिसका उल्लेख मृकण्डपुत्र या मार्कण्डेय आदि ने किया था और दूसरी गोरक्षनाथ आदि द्वारा उपदिष्ट।[3] किन्तु यह एक गहन अन्वेषण का विषय है कि हठयोग की कौनसी प्रणाली गोरक्षनाथ से पूर्ववर्ती थी क्योंकि स्वयं गोरक्षनाथ लिखते हैं कि 'वायु' और 'विन्दु' भेद से 'हठ' दो प्रकार का है।[4] ब्रह्मवैवर्त पुराण के अनुसार इस हठयोग (चक्र एवं नाड़ी वर्णन युक्त होने के कारण यहाँ हठयोग करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है) का प्रादुर्भाव ब्रह्मा से हुआ है। इस पुराण के अनुसार एक बार देवादिदेव ब्रह्मा इड़ा आदि छः नाड़ियों को निरुद्ध कर मूलाधार आदि छः चक्रों का लंघन करके प्राणों को ब्रह्मरन्ध्र में स्थापितोपरान्त योगस्थ हो गये।[5] परन्तु हठपरम्परा के अनुसार इसके प्रवर्तक भगवान् शिव हैं। गोरक्षसंहिता में

1. वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः। हठयोगप्रदीपिका-1/20
2. श्री आदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः।
   चौरङ्गीमीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥
   मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः।
   कोरण्डकः सुरानन्दः सिद्धिपादश्च चर्पटिः ॥
   कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः।
   कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥
   अल्लामः प्रभुदेवस्य घोडाचोली च टिण्टिणिः।
   भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥
   इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः।
   खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥ हठयोग प्र०-1/5-9
3. द्विधा हठः स्यादेकस्तु गोरक्षादिसुसाधितः।
   अन्ये मृकण्डुपुत्राद्यैः साधितो हठसंज्ञकः ॥ नाथ सम्प्रदाय-पृ०-1/138
4. हठोऽपि द्विविधः क्वापि वायुबिन्दुनिषेवणात्—अमरौध प्रबोध-5
5. सुखं योगासनं कृत्वा बभूव संपुटाञ्जलिः,
   इड़ां सुषुम्नां मेध्यां च पिङ्गलां नलिनीं धुराम्।
   नाड़ीषट्कं च योगेन निरुध्य च प्रयत्नतः,
   मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरमनाहतम्।
   विशुद्धं परमाज्ञाख्यं षट्चक्रं सन्निरुध्य च।
   लंघनं कारयित्वा च तं षट्चक्रं क्रमाद् विधिः।
   ब्रह्मरन्ध्रं समानीय वायुबद्धं चकार ह। ब्रह्मवैवर्तं श्रीकृष्ण खण्ड अध्याय 20

कहा गया है कि यह शास्त्र साक्षात् स्वयं श्री आदिनाथ शिव के मुखारविन्द से ही निकला है।[1] हठयोग-प्रदीपिका के अनुसार उन सर्वशक्तिमान् श्री आदिनाथ को नमस्कार है जिन्होंने हठयोग विद्या का उपदेश किया।[2] पादुकापञ्चक और सिद्ध सिद्धान्त-पद्धति में भी सम्बन्धित प्रक्रिया की उत्पत्ति का कारण भगवान् शिव को माना है।[3]

इस हठयोग की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा शिव के द्वारा हुई। इस प्रकार के उपर्युक्त सन्दर्भों को यह कह कर भले ही टाल दिया जाए कि पौराणिक अथवा नाथ परम्परा से सम्बन्धित प्रत्येक शास्त्र, प्रत्येक विद्या एवं इन ग्रन्थों में वर्णित प्रत्येक सन्दर्भों आदि की उत्पत्ति ब्रह्मा अथवा शिव से मानने की एक अव्यवस्थ परम्परा रही है किन्तु ऐतिहासिक अन्वेषणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हठयोग के प्रमुख अंग के रूप में प्रतिष्ठित आसनों का उल्लेख सिन्धु घाटी की सम्यता में विद्यमान था तथा उन आसनों को मुद्राओं पर अंकित करने की भी एक सुदृढ़ परम्परा थी। 1922 में हुए अन्वेषणों से यह सिद्ध किया गया है कि मोहनजोदड़ो के समय इस परम्परा का विकास अपने चरमोत्कर्ष को प्राप्त कर चुका था। इस तथ्य के सन्दर्भ में श्री नीलकण्ठ शास्त्री के शब्द द्रष्टव्य हैं।[4]

इस प्रकार यह स्पष्ट सिद्ध है कि "सचमुच ये क्रियाएँ बहुत प्राचीन थीं। सिन्धु सम्यता के ठोस ध्वंसावशेष उदाहरण के लिए पत्थर की मूर्तियाँ तथा मुहरों पर अंकित चित्र अकाट्य रूप से इस बात का सूचन करते हैं कि ये क्रियाएँ इस देश में 3000 ई० पूर्व तक भी प्रचलित थीं। कालक्रम से ये क्रियाएँ बहेतु सामग्री जैसी हो गईं जिन्हें तरह-तरह के धार्मिक सम्प्रदायों ने ही नहीं अपितु दार्शनिक सम्प्रदायों तक ने भी अपना लिया था।[5]

---

1. योगशास्त्रं पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
   यत्स्वयं चादिनाथस्य निर्गतं वदनाम्बुजात्॥ गोरक्ष-संहिता, 2/100
2. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या—ह०प्र०, 1/1
3. (क) पादुकापञ्चकस्तोत्रं पञ्चवक्त्राद्विनिर्गतम्।
   षडाम्नायफलप्राप्तं प्रपञ्चे चातिदुर्लभम्॥ पादुकापञ्चक-7
   (ख) शास्त्रेष्वन्येषु सर्वेषु शिवेन कथितः पुरा। सिद्धसिद्धान्तपद्धति 25/22
4. The deer throne of the God and his yogic posture are the most unequivocal features left, and these prove nothing more than the antiquity of yoga, a system of physical discipline and mental magic. It should be observed that the yogic posture of our God is not unique in Mohen Jodaro finds.
   (The cultural Heritage of India—Vol, IV pp. 66-67
5. भारतीय दर्शन सरल परिचय—श्री देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय पृ०-180

श्री वी०आर० रामचन्द्र दीक्षितार ईसवी सन् से 3000 वर्ष पूर्व तथा उससे भी प्राचीन भारत वर्ष में प्रचलित योग साधना को पाशुपत योग साधना का ही प्रारम्भिक रूप मानते हैं।[1] ईसवी सन् से अति प्राचीन सिन्धु सभ्यता के ध्वंसावशेषों, वेदों **और उपनिषदों के[2] अतिरिक्त** यदि सूक्ष्म दृष्टि से प्राचीन वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थों का पर्यालोचन किया जाय तो उनमें भी हठयोग विषयक सामग्री की उपलब्धि हो सकती है। यह एक अलग चिन्तनीय विषय है कि केचित् अर्वाचीन हठयोगपरम्परानुगामी आचार्यों ने आयुर्वेद ग्रन्थों को अनुपयोगी एवं व्यर्थ बताया है।[3] औषध शास्त्रों की वमन क्रिया तथा अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के षट्कर्मों की प्रमुख गजकरणी क्रिया[4] एवं वमन धौति[5] रूपी उपाङ्ग क्रिया में प्रकार भेद होने पर भी मौलिक सामञ्जस्य है क्योंकि दोनों की क्रिया पद्धतियों का एक मात्र लक्ष्य है, शरीर को कफ, पित्त इत्यादि रोगों से दूर करके शरीर को स्वच्छ एवं निरोग बनाना। चरक-संहिता के अध्याय बीस में वर्णित है कि "कफ में वैद्य सम्पूर्ण उपक्रमों में से वमन को प्रधानतम मानते हैं क्योंकि वह आदि से ही आमाशय में अनुप्रविष्ट होकर विकार-सम्बन्धी कफ की जड़ को अशेषतः ऊपर खींच लाता है। वहाँ पर कफ के जीते जाने पर शरीर के अन्तर्गत कफ के विकार शान्त हो जाते हैं जैसे खेत की क्यारी के बन्ध के टूट जाने पर जल से सींचे न जाने के कारण शालि जौ तथा षष्टिक आदि धान्य सूख जाते हैं। पूर्व में कहा गया है कि छाती विशेषतः श्लेष्मा का स्थान है, और यहाँ आमाशय को मुख्य माना है। आमाशय भी यद्यपि कफ स्थानों में गिना गया है परन्तु वह मुख्य नहीं। सुश्रुत में आमाशय को मुख्य माना गया है।

---

1. कल्याण का योगाङ्क—पृ०-237

2. वेदों तथा उपनिषदों में उपलब्ध हठयोग विषयक ज्ञान की समीक्षा आगे की गई है।

3. चरकानुचरणचतुराश्चटुलधियः सुश्रुतश्रवणलोलाः।
   अमनस्कौषधि···वा···ज्या कथमखिलंगतं तत्क्षयो भवति॥
   बिन्दुनादो महोषध्यौ विद्येते सर्वजन्तुषु।
   तावविज्ञाय सर्वेऽपि म्रियन्ते गुरुवर्जिताः॥ अमरौघप्रबोध 12-13,

4. उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले।
   क्रमपरिचयकेश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः॥ हठयोगप्रदीपिका 2/38

5. भोजनान्ते पिबेद्वारि चाकण्ठपूरितं सुधीः।
   ऊर्ध्वदृष्टिक्षणं कृत्वा तज्जलं वमयेत्पुनः।
   नित्यमभ्यासयोगेन कफपित्तं निवारयेत्॥ घेरण्ड-संहिता-1/39

टीकाकार आमाशय से आमाशय का ऊर्ध्वभाग लेते हैं। योगीन्द्रनाथ ने इस सन्दर्भ की टीका करते हुए यहाँ पर भी 'तत्र आमाशयस्य ऊर्ध्वभागे उरोलक्षणे' ऐसा कहा है। अर्थात् वह वहाँ उरस् (छाती) का ही ग्रहण करते हैं। परन्तु यदि आमाशय ही ग्रहण किया जाए तो भी कोई हानि नहीं। आमाशय क्लेदक श्लेष्मा का स्थान है। वमन से क्लेदक श्लेष्मा बाहर निकल जाती है।"[1] वैद्यक शास्त्र के एक अन्य प्रमुख ग्रन्थ योग-तरंगिणी में वमन क्रिया को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि 'यवागू को कण्ठपर्यन्त पीकर अथवा दूध, छाछ, दही इनको कण्ठपर्यन्त पीकर तथा उस प्राणी को अप्रिय भोजन तथा कफकारी भोजन कराय दोषों को उत्क्लेशित कर और जिसको स्नेहन स्वेदन कर चुके हैं ऐसे मनुष्य को वमन करावे तो वमन उत्तम होता है।[2] इसी भाव को काश्यप-संहिता में इस प्रकार कहा गया है कि पूर्व की ओर मुख कराकर उत्तम आसन में रोगी को बिठाकर वैद्य उस कषाय को जो न अत्यन्त गाढ़ा हो, न अत्यन्त उष्ण तथा न ही अत्यन्त शीत हो…आलोडन कर पूर्वोक्त ग्रहघ्नी आदि के कल्क के साथ कण्ठपर्यन्त पिलावे।…पार्श्वों को सिकोड़ कर थोड़ा आगे को झुक कर वमन हेतु बैठना चाहिए।[3]

जहाँ घेरण्ड-संहिता एवं हठयोगप्रदीपिका सदृश हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में वमन हेतु जल किस प्रकार का होना चाहिए इसको स्पष्ट नहीं किया गया है, वहीं आयुर्वेद ग्रन्थों में प्रसंगवश इसकी चर्चा करते हुए स्पष्ट कहा गया है कि 'कफ रोगों में पीपल, मैनफल और सेंधा नमक इनके चूर्ण को गरम जल में, पित्त रोगों में परवल अडूसा और नीम इनको शीतल जल में तथा अजीर्ण रोगों में गरम जल में सेंधा नमक

---

1. …वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति, तत्रावर्जिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा—
भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्दमानान्यम्भसा
प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति ॥ चरक-संहिता—अध्याय 20/18

2. पीत्वा यवागूमाकण्ठं क्षीरतक्रदधीनि च।
असात्म्यैः श्लेष्मलैर्भोज्यैर्दोषानुत्क्लेश्य देहिनः ॥
स्निग्धस्विन्नायवमनं दत्तं सम्यक्प्रवर्तते ॥ योगतरङ्गिणी—6/10-11

3. उपविष्टमासने प्राङ्मुखो भिषगालोड्य तं कषायं ग्रहघ्न्यादिकल्कैर्नातिघनोष्ण-शीतमाकण्ठात् पाययेत्,…उपसंगृहीतपार्श्वः स्यादीषन्न्युब्जः।"
काश्यपसंहिता वा वृद्धजीवकीय तन्त्र, अध्याय-3

डालकर वमन करना चाहिए।[1] और इन सब वमनों में सेंधा नमक सहित देना हितकर माना गया है।[2]

उपर्युक्त वमन हेतु आयुर्वेद ग्रन्थों में जहाँ कण्ठ को ऐरण्ड[3] की कोमल नाल से या "जिनके नख भली प्रकार कटे हुए हैं ऐसी दो अंगुलियों (मध्यमा + तर्जनी) से अथवा नीलोत्पल, कुमुद, सौगन्धिक, इनमें से किसी एक के नाल से स्पर्श करते हुए सुखपूर्वक वमन करने का विधान है[4] वहीं घेरण्ड-संहिता में रम्भादण्ड, हरिद्रादण्ड और वेत्रदण्ड का विधान किया गया है।[5]

इसी प्रकार आयुर्वेद की नस्तक्रिया,[6] अनुवासन बस्ति[7] और उत्तरबस्ति[8] क्रिया को हठयोग की क्रमश: नेति क्रिया, बस्ति क्रिया और वज्रोलि मुद्रा के समकक्ष ही समझना चाहिये क्योंकि इन क्रियाओं की विधियों एवं उनसे प्राप्त लाभों में कोई विशेष भेद नहीं है, यदि आयुर्वेद शास्त्रों में वर्णित क्रियाओं में औषधी विषयक ज्ञान का उल्लंघन कर लिया जाये। इसके अतिरिक्त हठयोगप्रदीपिका में स्पष्ट कहा गया है कि चर्बी प्रधान और श्लेष्म प्रधान व्यक्तियों को ही षट्कर्म (गजकरणी वमनधौति इत्यादि) करने चाहिए। और इन दोषों से रहित व्यक्ति को इन क्रियाओं की आवश्यकता नहीं है तथा षट्कर्मों से कफ इत्यादि दोषों की निवृत्ति अवश्यमेव होती है।[9] इसी भाव की

---

1. कृष्णाराठफलं सिंधुंकफे कोष्णजलैः पिबेत् ।
   पटोलवासानिम्बैश्चपित्ते शीतं जलं पिबेत् ॥
   सश्लेष्मवातपीडायां सक्षीरं मदनं पिबेत् ।
   अजीर्णे कोष्णपानीयं सिंधु पीत्वा वमेत्सुधीः ॥

   योगतरंगिणी-6/19-20

2. वमनेषु च सर्वेषु सैंधवं मधुना हितम् । वही 6।12
3. कण्ठमेरण्डनालेन स्पृशन्तं वामयेद्भिषक् । वही 6।21
4. नखाभ्यामङ्गुलीभ्यामुत्पलकुमुदसौगन्धिकनालैर्वा कण्ठमभिस्पृशन् ।

   चरक संहिता-15/13

5. रम्भादण्डं हरिद्रादण्डं वेत्रदण्डं तथैव च । घेरण्ड-संहिता-1/37
6. काश्यपसंहिता—अध्याय 4
7. योगतरङ्गिणी—8/8-12
8. वही—8/24-30
9. (क) मेदः श्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ।
   अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ हठयोगप्रदीपिका 2/21

   (ख) षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः । वही 2/36

अभिव्यक्ति औषधशास्त्रों में भी की गई है।[1] इन क्रियाओं के अतिरिक्त आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में किसी ऐसे आसन का भी उल्लेख प्राप्त होता है जिनका सम्बन्ध जानूओं से था।[2]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि अर्वाचीन हठयोग के प्रथम अंग के रूप में प्रतिष्ठित षट् कर्मों को ईसवी शताब्दी से पूर्व तथा उसके कुछ समय बाद के आयुर्वेद ग्रन्थों में आये हुये पञ्चकर्मों[3] में स्थान मिल चुका था। इसी भाव को हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि ईसवी शताब्दी से पूर्व षट्कर्मों[4] (हठयोग के प्रथम अंग) का तथा आसनों का प्रयोग सामान्य जन किया करते थे क्योंकि आयुर्वेद के ग्रन्थों का भी यही लक्ष्य था कि ऐसी क्रियाओं एवं औषधियों का प्रयोग करना जिससे सामान्य जन को शारीरिक लाभ एवं मानसिक सुख की प्राप्ति हो सके। सम्भवतः इसी लक्ष्य से प्रभावित होकर गोरक्षनाथ से कई शताब्दी पूर्ववर्त्ती काकचण्डीश्वर-कल्पतन्त्र' में भी जल नेति क्रिया का महत्त्व समझ कर उसका वर्णन करते हुए कहा गया है कि प्रातः काल उठ कर दो पसर जल नासिका छिद्र से जो मनुष्य पान करता है वह

---

1. (क) कफाधिकाश्च ये रोगाः·····················।।
काश्यप-संहिता अध्याय-7

(ख) य एते कफजा रोगा एते सन्तर्पणोद्भवाः।
ते चापतर्पणीयाः स्युर्लङ्घनीयास्त एव च।। वही अ०-7

(ग) बलवंतं कफव्याप्तं हृल्लासादिनिपीडितम्।
तथावमनसात्म्यं च धीरचित्तं च वामयेत्।। योगतरङ्गिणी 6/2

(घ) अतिबालोऽतिवृद्धो गुल्फप्लीहोर्ध्वरक्तलोम······। काश्यपसंहिता-अ०-7

(ङ) सुकुमारं कृशं बालं वृद्धं भीरुं न वामयेत्।। योगतरङ्गिणी-6/10

2. (क) वामनं पाययित्वा तु जानुमात्रासने स्थितम्। वही-6/21

(ख) जानुमात्रासनोपविष्टमाप्तैर्ललाटे पृष्ठे पार्श्वयोः···। सुश्रुत चिकित्सा-अ० 33

(ग) उपविष्टमासने············उपसंगृहीतपार्श्वः—
स्यादीषन्न्युब्जः। काश्यपसंहिता-अध्याय-3, पृ०-155

3. वमनं रेचनं नस्यं निरूहश्चानुवासनम्।
एतानि पञ्च कर्माणि कथितानि मुनीश्वरैः।। योगतरङ्गिणी-9/36

4. धौतिबस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि प्रचक्षते।। ह० प्र०-2/22

बुद्धिमान, नेत्रों में गरुड़ के सदृश, वली और पलित से रहित सभी रोगों से मुक्त होता है।[1] हठयोग के ग्रन्थों के अनुसार इस क्रिया के द्वारा श्लेष्म विकार नष्ट होता है।[2]

यदि सूक्ष्म दृष्टि से ई० शताब्दी के पूर्ववर्त्ती आयुर्वेद के अतिरिक्त ग्रन्थों को देखा जाये तो उन ग्रन्थों में भी आसन से पूर्व कुछ ऐसी क्रियाओं की ओर संकेत किया गया है जिसे परवर्त्ती साहित्य में स्पष्ट शब्दों में षट्कर्म कहते हैं। पातञ्जल योग दर्शनानुसार जिसमें स्थिरता एवं सुख की प्राप्ति हो उसे आसन कहते हैं और साधक का शरीर प्रयत्न की शिथिलता (देह कम्पादि न होना) और अनन्त समापत्तियों (अनन्त विध आसनों को विचार कर उसमें से श्रेष्ठ एवं लाभकारी आसन को स्वीकार करना) के द्वारा ही आसन स्थिर और सुखकर होता है।[3] भोजवृत्ति टीका के अनुसार वह आसन जब स्थिर अर्थात् निष्कम्प सुखरूप और जो व्याकुलता करने योग्य न हो, ऐसा होता है तब वह योगाङ्गता को प्राप्त होता है।[4] जैन आगमों में आसन सम्बन्धी विचार करते हुये स्पष्ट संकेत प्राप्त होता है कि इन आसनों के अभ्यास के प्रारम्भिक काल में किञ्चित् कष्ट का अनुभव होने के कारण ये 'कायक्लेश' है।[5] आयुर्वेद ग्रन्थों में स्पष्ट

---

1. प्रसृतियुगलमात्रं प्रातरुत्थाय नित्यं पिबति खलु नरो यो घ्राणरन्ध्रेण वारि।
   स भवति मतिपूर्णश्चक्षुषा तार्क्ष्यतुल्यो वलिपलितविहीनः सर्वरोगैर्विमुक्तः ॥
   काकचण्डीश्वर कल्पतन्त्रम् उदककल्प 3

2. नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेण रेचयेत्।
   पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मदोषं निवारयेत् ॥ घेरण्ड-संहिता-1/58

3. (क) स्थिरसुखमासनम्। पा० यो० दर्शन 2/46

   (ख) प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। वही 2/47

   (ग) "अनन्तसमापत्तिभ्याम्' से यह तो स्पष्ट हो ही जाता है कि पातञ्जल योग दर्शन के काल से पूर्व ही बहुत आसनों का प्रचलन था जिनका नामोल्लेख करना सम्भवतः पातञ्जल को स्वीकार्य इसलिए नहीं था, क्योंकि अनन्तविध आसनों के नामोल्लेख एवं उनकी प्रक्रिया बताने से उनका दर्शन प्रधान ग्रन्थ केवल प्रक्रिया प्राधान मात्र होकर रह जाता।

4. तद्यदास्थिरं निष्कम्पं सुखमनुद्वेजनीयं च भवति तदा योगाङ्गतां भजते ॥ भोजवृत्ति टीका 2/46

5. उ० सू०—30/27

उक्त है कि शरीर का कम्पायमान एवं शिथिल होना वात, पित्त एवं कफ विकार के लक्षण है ।[1]

अब प्रश्न उत्पन्न होता है कि जिस मनुष्य का शरीर वात-पित्त-कफ त्रिविध दोषों से दूषित रहता है क्या वह आसन में सुखपूर्वक नहीं बैठ सकता ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए हठयोग प्रदीपिका में स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि (पूर्वं षट् कर्माणि समाचरेत्)[2] अर्थात् पहले षट्कर्म करने चाहिएँ इसके अतिरिक्त घेरण्ड-संहिता में भी आसनों से पूर्व षट्कर्म का विधान किया गया है।[3] इस प्रकार यह निर्द्वन्द्व सिद्ध होता है कि जब तक शरीर रूपी घट को दावाग्नि रूपी षट्कर्म में दग्ध नहीं किया जायेगा, तब तक यह शरीर रूपी घट स्थिर सुख आसन रूपी जल हेतु व्यर्थ ही है क्योंकि आसनों से पूर्व अगर षट्कर्म कर लिए जाए तो शरीर किञ्चित् अभ्यास मात्र से ही आसनानुकूल बन जाता है और जिससे साधक को शीघ्र ही आसन सुखदायी होने लगता है।

इन सब उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि षट्कर्म की क्रियाओं का चाहे वह आयुर्वेद से सम्बन्धित ही क्यों न हो ईसवी शताब्दी से बहुत पहले प्रचलन था।

हठयोग विषयक ज्ञान एवं उसकी प्राचीनता बिषयक सन्दर्भ की चर्चा करते हुए डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य लिखते हैं कि "बौद्ध धर्म ने योग के सिद्धान्तों को चुपचाप ग्रहण तो कर लिया, परन्तु उनका प्रचार जैसा ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी में हुआ वैसा उससे पहले नहीं हुआ। किन्तु बौद्ध लोग निश्चेष्ट होकर नहीं बैठे रहे। उनका एक ऐसा दल था जो छिपकर (राज) योग एवं हठयोग दोनों प्रकार के योगों की साधना किया करता था और उन लोगों ने अपने सामूहिक उन साधनाओं को शास्त्र का रूप देकर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो पातञ्जलयोग पद्धति से बहुत कुछ मिलती है, बल्कि यों कहना चाहिए कि दोनों में बहुत कम अन्तर है। (राज) योग और हठयोग की मूलभित्ति पर तन्त्रों का निर्माण हुआ और तन्त्रों की सहायता से यह शास्त्र सर्वाङ्ग-पूर्ण बन गया।[4] सेनार्ट का तो यह विचार है कि योग ही बौद्धमत का मूल कारण है

---

1. (क) विषादविजृम्भाविनामवेपथु·········वातज्वरानिलाङ्गानि स्युः ॥
(चरक-संहिता, निदानस्थान-1/15-21)
(ख) वेपथुर्विषमो वेगः··························च भवन्त्यनिलजे ज्वरे ॥
योगतरङ्गिणी-21/16-17
2. हठ० प्र० 2/21,
3. घे० स० 1/10,
4. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 281,

और पुर्से बौद्धमत को योग की ही एक शाखा के रूप में स्वीकार करते हैं।[1]

हठयोग सम्बन्धी साधनाओं एवं उसकी निर्धारित क्रियाओं का स्पष्ट दिग्दर्शन ईसवी सन् की तृतीय शताब्दी के गुह्य समाज तन्त्र में उपलब्ध होता है। इस तन्त्र ग्रन्थ में षडाङ्ग योग का वर्णन किया गया है।[2]

11वीं शताब्दी से पूर्व हठयोग के प्रचार का इससे अधिक प्रमाण और क्या हो सकता है कि "नरपतिजयचर्यास्वरोदय" शास्त्र में स्वरोदय ज्ञान का सविस्तार वर्णन दृष्टिगोचर होता है। इस स्वरोदय शास्त्र का ज्ञान राजा के लिये ही नहीं अपितु देवताओं के लिये भी आवश्यक माना गया है। इस ग्रन्थ में स्पष्ट निर्देश है कि जिस राजा के पास स्वर शास्त्र का पारंगत एक भी दैवज्ञ नहीं होता और कदाचित् वह विजय प्राप्त कर भी ले तो उसकी वह विजय घुणों से बनाये हुए अक्षरों के और अंधे से गृहीत पक्षी चटक के समान होती है। उसका राज्य केले के खम्भे के समान निस्सार होता है। स्वरशास्त्र का अभ्यास करने वाला, सत्यवादी और जितेन्द्रिय दैवज्ञ की आज्ञा पालन करने वाले राजा को निरन्तर विजयलक्ष्मी प्राप्त होती है।[3]

सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि इस प्राचीन प्रक्रिया प्रधान योग की परम्परा रूपी ज्ञान गंगा का प्रवाह अनादि काल से ही अनवरत बहता आया था जिससे केवल बौद्ध ही नहीं अपितु जैन दर्शन भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका था। इतिहास स्वयं साक्षी है कि भगवान् महावीर स्वयं यौगिक तथा ध्यान-क्रियाओं में लीन रहे थे और उन्हें उत्कटिकासन में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी।[4] इसके अतिरिक्त वह स्वयं प्रक्रिया प्रधान योगी थे तथा उन्होंने इस प्रक्रिया प्रधान योग का प्रचार और प्रसार भी किया

---

1. संतकाव्य में योग का स्वरूप, पृ० 124,

2. सेवाषडङ्गयोगेन कृत्वा साधनमुत्तमम्।
   साधयेदन्यथा नैव जायते सिद्धिरुत्तमा॥
   प्रत्याहारस्तथा ध्यानं प्रणायामोऽथ धारणा।
   अनुस्मृतिः समाधिश्च षडङ्गो योग उच्यते॥ गुह्यसमाजतन्त्र 18/139-40

3. कथञ्चिद्विजयी युद्धे स्वरज्ञेन बिना नृपः।
   घुणवर्णोपमं तत्तु यथान्धचटकग्रहः॥
   यस्यैकोऽपि गृहे नास्ति स्वरशास्त्रस्य पारगः।
   रम्भास्तम्भोपमं राज्यं निश्चितं तस्य भूपतेः॥
   स्वरशास्त्रे सदाभ्यासी सत्यवादी जितेन्द्रियः।
   तस्यादेशस्य यः कर्त्ता जयश्रीस्तं नृपं भजेत्॥

   नरपतिजयचर्यास्वरोदय-1/10-12

4. भारतीय दर्शन में योग—डा० मंगला—पृ०-142

था ।[1] औपपातिकसूत्र में जहाँ वीर, कमल, दण्ड, वज्र इत्यादि आसनों का उल्लेख प्राप्त होता है वहीं आगम शास्त्रों में प्राणायाम विषयक सन्दर्भ की चर्चा दृष्टिगोचर होती है ।[2]

इन सब उपर्युक्त प्रमाणों से यह निर्विवाद सिद्ध होता है कि ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व हठयोग के महत्त्वपूर्ण अंग षट् कर्म, आसन और प्राणायाम अपनी विकसित अवस्था को प्राप्त कर चुके थे और अति प्राचीन एवं जन सामान्य प्रिय इन क्रियाओं को विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों और दर्शन ग्रन्थों में भी निबद्ध कर दिया गया था, क्योंकि यह सर्वविदित तथ्य है कि किसी भी शास्त्र का प्रणयन अपने समय में पराकाष्ठा को प्राप्त उपलब्ध मान्यताओं को लेकर ही हुआ करता है । यह एक अलग चिन्तन का विषय है कि महर्षि पातंजल इन क्रियाओं से कितना कुछ ग्रहण कर सके तथा उन्होंने किस प्रकार से इस प्रक्रिया प्रधान योग को दर्शन प्रधान ग्रन्थ के रूप में परिष्कृत एवं परिमार्जित किया जो आज हमें वर्तमान रूप में उपलब्ध होता है ।

यद्यपि हठयोग के सिद्धान्त, ग्रन्थ रूप में पर्याप्त परवर्त्ती हैं, किन्तु जैसाकि हम अपने अध्ययन में स्पष्ट कर चुके हैं कि इसके चिह्न हमें निर्विवाद रूप से सिन्धुघाटी के प्रागैतिहासिक अवशेषों में उपलब्ध होते हैं और वहीं से सम्भवत: वेदों तथा उपनिषदों में यत्र-तत्र अवतरित होकर वेदोत्तर काल में पल्लवित होते हैं ।

---

1. "Mahavira and Gautama were conteporaneous and both of them were undoubtedly great practical yogins and not only their respective traditions, but even their opponents recognise them to be so. As already noted by this time, yoga was not only well-established as a practical discipline and as a system of thought, but it had also become very much popular and already influenced not only religious but also other fields of Indian life. Mahavira and especially Gautama tried to make it even more popular." (Yoga-Historical background Dr. Kenghe pp. 123-24)
2. (क) औपपातिक सूत्र, बाह्यतपोधिकार-30

   (ख) उत्तराध्ययन सूत्र—29/73

क्योंकि 'इसी हठयोग के द्वारा चित्तवृत्तिनिरोध व शान्तिलाभ होता है,[1] इत्यादि प्रमाणों के द्वारा श्रुति ने हठयोग का समर्थन किया है एवं स्मृतियों और परवर्ती कालीन धर्मग्रन्थों ने इसका अनुसरण।

हठयोग परम्परा के मुख्य विषय के रूप में प्रचलित प्राणायाम का प्रयोग वैदिक परम्परा के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋग्वेद में भी अवलोकनीय है। शाब्दिक रूप में प्राणायाम का अर्थ 'प्राण का नियन्त्रण अथवा विराम' माना गया है। ऋग्वेद के दशम मण्डल में इसका प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है। एक जगह प्रयुक्त हुआ है कि "प्राणा-द्वायुरजायत' अर्थात् आदि पुरुष के प्राण से वायु प्रकट हुई।[2] सम्भवतः ऋग्वेद के दशम मण्डल में 'अपान' की ओर भी निर्देश है।[3] तैत्तिरीय संहिता में प्राणों के पाँच प्रकारों का वर्णन उपलब्ध होता है।[4] जिस पर टिप्पणी करते हुए सायणाचार्य ने उन प्राणों का स्थान निर्धारित करते हुए कहा है कि हृदय में प्राण, गुदा में अपान, नाभि में समान, कण्ठ में उदान और व्यान की सम्पूर्ण शरीर में विद्यमानता है।[5]

अथर्ववेद में 'प्राणा' एवं 'अपाना' का बहुवचन में प्रयोग दृष्टिगोचर होता है।[6] और एक जगह "अष्टायोग" तथा 'षड्योग' का प्रयोग किया गया है।[7] इसके अतिरिक्त एक जगह शरीर में आठ चक्रों की विद्यमानता बताते हुए कहा गया है कि आठ चक्रों वाला तथा नवदरवाजों (छिद्र) वाला यह शरीर ही देवों की अयोध्यापुरी है। उसी इस शरीर पुरी के शिरोभाग में सुनहले वर्ण का एक कोश (ब्रह्मगुहा) अत्यन्त सुखमय है। वह

---

1. "हठाच्चेतसो जयम्" "हठेन लभ्यते शान्तिः" (श्री धर्मकल्पद्रुम, भाग चार पृ० 1127 से उद्धृत)
2. ऋग्वेद, 10/90/13
3. 'अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती' (10/189/2)
4. प्राणापानौ मे पाहि समानव्यानौ मे पाहि उदानव्यानौ मे पाहि। (1/6।3।3)
5. हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिसंस्थितः।
   उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः। सायणाचार्य
6. प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्। अथर्ववेद-8/1/1
7. इमं यवमष्टायोगैः षड्योगेभिरचर्कृषु।
   तेना ते तन्वो ३ रपोऽपाचीनमप व्यये॥ वहीं-6/91/1

ज्योति से समाच्छादित है ।[1] यजुर्वेद और सामवेद संहिता में भी 'प्राण' शब्द का प्रयोग अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है ।[2] गौतम धर्म सूत्र (1161) तथा बौधायन धर्मसूत्र में भी प्राणायाम का निर्देश प्राप्त है । उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ईसा से कई शताब्दी पूर्व ही प्राणायाम का इतना विकास हो चुका था कि धार्मिक कृत्यों अथवा प्रायश्चित्तों के रूप में भी इस क्रिया का उपयोग किया जाता था ।[3]

उपनिषदों में तो इस योग की चर्चा प्रसंगवश अनेक स्थलों पर हुई है । श्वेताश्वतरोपनिषद् में योगी के लिए कौन-सा स्थान योगाभ्यास हेतु उत्तम है—इसी चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'योगी को समतल, शुद्ध, कंकड़, अग्नि और बालू से रहित शब्द, जल और आश्रय की दृष्टि से सर्वथा अनुकूल नेत्रों को पीड़ा न देने वाले, गुहा आदि वायुशून्य स्थान में मन को ध्यान में लगाने का अभ्यास करना चाहिए ।[4] इसके अतिरिक्त इस क्रियात्मक योग की चर्चा करते हुए एक जगह षडङ्ग योग की परिकल्पना दृष्टिगोचर होती है । सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो यहाँ हठयोग सम्बन्धी (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) अंगों का वर्णन अत्यन्त विशिष्ट रूप से दर्शाया गया है ।[5] हठयोग का स्पष्ट संकेत देते हुए अन्यत्र कहा गया है कि 'शरीर का हलका होना, आरोग्य, अलोलुपता, नेत्रों की प्रसन्नतावर्धक शरीर कांति, मधुर स्वर, शुभ गन्ध, इत्यादि योगप्रवृत्ति के प्रथम लक्षणान्तर्गत आते हैं ।[6] इसी भाव को हठयोगप्रदीपिका में भी स्पष्ट

---

1. अष्टाचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या ।
   तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥ वही-10/2/31

2. वैदिक कोश—पं० भगवद्दत्त, प्रथम भाग, पृ०-337-351

3. धर्मशास्त्र का इतिहास—पी० वी० काणे, भाग पञ्चम ।

4. समे शुचौ शर्करावह्निबालुका विवर्जिते शब्दजलाश्रयादिभिः ।
   मनोऽनुकूले न तु चक्षुःपीडने गुहानिवाताश्रयणे प्रयोजयेत् ॥ श्वेता० 2/10

5. त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सन्निरुध्य ।
   ब्रह्मोडुपेन प्रतरेत विद्वान् स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥
   प्राणान् प्रापीड्येह संयुक्तचेष्टः क्षीणे प्राणे नासिकयोच्छ्वसीत ।
   दुष्टाश्वयुक्तमिव वाहमेनं विद्वान् मनो धारयेताह प्रमत्तः ॥ वही, 2/8-9

6. लघुत्वमारोग्यमलोलुपत्वं वर्णप्रसादं स्वरसौष्ठवं च ।
   गन्धः शुभो मूत्रपुरीषमल्पं योगप्रवृत्तिं प्रथमा वदन्ति ॥ वही, 2/13

करते हुए इनको हठयोग के लक्षण के रूप में स्वीकार किया है।[1] इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित योग प्रवृत्ति के प्रथम लक्षण ही हठयोग के ही लक्षण हैं क्योंकि यह सर्वविदित है कि राजयोग से पहले हठयोग में नैपुण्य परमावश्यक माना गया है। इसके अतिरिक्त कठोपनिषद्[2] तैत्तिरीय,[3] छान्दोग्य,[4] कौषीतकि,[5] इत्यादि उपनिषदों में भी इस योग का बाहुल्य दृष्टिगोचर होता है। हठयोग के घटक तत्त्वों में नाड़ी ज्ञान का अपना एक अलग एवं विशिष्ट स्थान है और इसका वर्णन हमें कठोपनिषद् में भी प्राप्त होता है जहाँ वर्णित है कि हृदय में एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ हैं, जो वहाँ से सब ओर फैली हुई हैं। उनमें से एक नाड़ी, जिसको सुषुम्ना[6] कहते हैं, हृदय से मस्तक की ओर गयी है। भगवान् के परमधाम में जाने का अधिकारी उस नाड़ी के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर सबसे ऊँचे लोक में अर्थात् भगवान् के परमधाम में जाकर अमृतस्वरूप परमानन्दमय परमेश्वर को प्राप्त हो जाता है; और दूसरे जीव मरणकाल में दूसरी नाड़ियों के द्वारा शरीर से बाहर निकलकर अपने-अपने कर्म और वासना के अनुसार नाना योनियों को प्राप्त होते हैं।[7] इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से उपनिषदों में वर्णित तथ्यों का अन्वेषण करने पर यह प्रतीत होता है कि मोक्ष हेतु प्रक्रियात्मक योग को एक प्रमुख साधन के रूप में जाना जाने लगा था।

---

1. वपुःकृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले।
   अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाड़ीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम्॥
   हठयोग प्र०—2/78
2. कठोपनिषद्, 2/6 11,/1/2/12
3. तैत्तिरीय, 2/4, 3/1/9,
4. छान्दोग्य, 7/6/1-2
5. कौषीतकि, 3/2, 3, 4
6. सुषुम्णा चर्व्यवल्लीव मेरुश्लिष्टा पुरोगता।
   ग्रीवान्तं प्राप्य गलिता तिर्यग्भूता वरानने।
   शङ्खिनीनालमालम्ब्य गता सा ब्रह्मसादनम्॥ निगमतत्त्वसारवचन
7. (क) शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
   तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति॥
   कठोपनिषद्—2/3/16
   (ख) हृदयस्य नाड्यः प्राधान्येन शतम्, एका च। एकाधिकशतसङ्ख्याकाः प्रधान-नाड्य इति यावत्। तासां मध्ये या मूर्धानमभिनिःसृता तया सुषुम्णाख्यया नाड्याऽन्तकाले ऊर्ध्वमुद्गच्छन्नमृतत्वम्—परमां मुक्तिमधिगच्छति···।
   श्रीगोपालानन्दस्वामि विरचित भाष्य पृ०—124

प्राचीन ऋषियों ने सूत्रग्रन्थों की रचना के समय इस योग के महत्त्व को स्वीकारा जिसका प्रबल प्रमाण महर्षि गौतम का न्यायदर्शन[1] तथा महर्षि कणाद का वैशेषिक दर्शन[2] है। देवल धर्मसूत्र में प्राणायाम का उल्लेख एवं परिभाषा प्राप्त होती है, जिसमें प्राणायाम को तीन प्रकार का माना गया है, कुम्भ, रेचन और पूरण।[3] महर्षि बादरायण के ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्ययन में आसन, ध्यान आदि का वर्णन प्राप्त होता है।[4] वेदों, उपनिषदों में सूचित तथा दर्शन साहित्य में वर्णित योग साधना का पल्लवित-पुष्पित रूप हमें गीता में भी दृष्टिगोचर होता है, जिसमें योगाभ्यासी का स्थान निश्चित किया गया है[5] तथा योगांग के रूप में प्रतिष्ठित ध्यान का वर्णन प्राप्त होता है।[6]

मनुस्मृति में जहाँ यम और नियम की चर्चा करते हुए यह निर्दिष्ट है कि जो व्यक्ति यमों का सेवन न करते हुए केवल नियमों का ही पालन करता है, वह पतित होता है।[7] वहाँ याज्ञवल्क्यस्मृति में पद्मासन का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जबकि श्री विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा व्याख्या में इसे बद्धपद्मासन की संज्ञा दी गई है।[8] इसके अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति में भी एक ऐसी नाड़ी का वर्णन प्राप्त होता है जो सूर्यमंडल का

---

1. समाधि-विशेषाभ्यासात्। अरण्य-गुहा-पुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः।
   तदर्थं यम-नियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥
   न्याय दर्शन—4/2/38, 4/2/42
2. अभिषेचनोपवास-ब्रह्मचर्य-गुरुकुलवास-वानप्रस्थ-यज्ञदानप्रोक्षणदिग्-नक्षत्रमन्त्रकाल-नियमाश्चादृष्टाय। वैशेषिक दर्शन, 6/2/2
3. त्रिविधः प्राणायामः। कुम्भो रेचनं पूरणमिति। देवल धर्मसूत्र कृत्यकल्प। मोक्षकाण्ड
4. ब्रह्मसूत्र, 4,1, 7-11
5. गीता, 6।11-14
6. वही, 18।52
7. यमान् सेवेत सततं न नित्यं नियमान् बुधः।
   यमान्पतत्यकुर्वाणो नियमान्केवलान्भजन् ॥
   आनृशंस्यं क्षमा सत्यमहिंसा दममस्पृहा।
   ध्यानं प्रसादो माधुर्यमार्जवं च यमा दश ॥
   मनुस्मृति 2/204
8. (क) ऊरुस्थोत्तानचरणः सव्ये न्यस्योत्तरं करम्।
   उत्तानं किञ्चिदुन्नाम्य मुखं विष्टभ्य चोरसा ॥ याज्ञवल्क्य स्मृति-3/198
   (ख) ऊरुस्थावुत्तानौ यस्य स तथोक्तः बद्धपद्मासनः। मिताक्षरा

भेदन कर ब्रह्मलोक के भी पार पहुंचती है तथा जिसके द्वारा जीव मुक्ति को प्राप्त होता है।[1] इस नाड़ी को कालान्तर में सुषुम्ना के नाम से भी पुकारा गया है।[2] इस नाड़ी के अतिरिक्त याज्ञवल्क्य स्मृति में हमारे शरीर में विद्यमान बहत्तर हजार नाड़ियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है,[3] जैसाकि अर्वाचीन हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में वर्णित है।[4]

प्रायः हठयोग के प्रमुख ग्रन्थों में षट्कर्म की त्राटक क्रिया का उल्लेख दृष्टिगोचर होता है। इस क्रिया में किसी वस्तु पर अपना ध्यान लगाकर अश्रुपात पर्यन्त एकटक देखते रहना चाहिए।[5] सम्भवतः अगर सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो महाकवि कालिदास ने भी इस क्रिया के महत्त्व को स्वीकार किया है तथा उन्होंने स्वयं ही लिखा है कि पार्वती ग्रीष्मऋतु में अपने चारों ओर आग जलाकर सूर्य की ओर एकटक देखती रहती थी[6] और जिसका मुख्य ध्येय हठक्रिया द्वारा शिव की प्राप्ति था। इसके अतिरिक्त कालिदास के अन्य ग्रन्थों में हठयोग सम्बन्धी आसन विशिष्ट मुद्राओं का भी वर्णन दृष्टिगत होता है।[7]

पुराण-कालीन युग में भी इन क्रियाओं का महत्त्व बढ़ने लग गया था, जिसका प्रमुख उदाहरण सर्वशिरोमणि भागवत-पुराण है, जिसमें वर्णित है कि मूलाधार से कुण्ड-

---

1. ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम्।
   ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन याति परां गतिम्॥ याज्ञवल्क्य-3/167
2. इड़ा वामे स्थिता नाड़ी पिङ्गला दक्षिणे मता।
   तयोर्मध्यगता नाड़ी सुषुम्ना वंशमाश्रिता॥
   पादाङ्गुष्ठद्वये याता शिफाभ्यां शिरसा पुनः।
   ब्रह्मस्थानं समापन्ना सोमसूर्याग्निरूपिणी॥ शारदातिलक
3. द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयादभिनिःसृताः।
   हिताहिता नाम नाड्यस्तासां मध्ये शशिप्रभम्॥ याज्ञवल्क्य स्मृति-3/108
4. तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसप्ततिरुदाहृता।
   प्रधानाः प्राणवाहिन्यो भवस्तत्र दश स्मृता॥ योगमार्तण्ड-17
5. (क) निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः।
   अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम्॥ हठयोगप्रदीपिका-2/31
   (ख) निमेषोन्मेषकं त्यक्त्वा सूक्ष्मलक्ष्यं निरीक्षयेत्।
   यावदश्रूणि पतन्ति त्राटकं प्रोच्यते बुधैः॥ घेरण्ड-संहिता-1/53
6. शुचौ चतुर्णां ज्वलतां हविर्भुजां शुचिस्मिता मध्यगता सुमध्यमा।
   विजित्य नेत्रप्रतिघातिनीं प्रभामनन्यदृष्टिः सवितारमैक्षत॥ कुमारसम्भव 5/20
7. द्रष्टव्य—रघुवंश/13वां सर्ग एवं वीरासन हेतु-13/52

लिनी शक्ति को उठाकर सुषुम्ना-मार्ग से ब्रह्मरन्ध्र तक ले जाना चाहिए। इसकेअतिरिक्त अन्य हठयोग सम्बन्धी क्रियाओं का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[1]

गरुड़ पुराण[2] के अतिरिक्त ब्रह्मपुराण[3] में भी क्रियात्मक योग का वर्णन उपलब्ध होता है तथा इसमें योगाभ्यास का फल भी दर्शाया गया है। शिवमहापुराण में यम नियम सहित आठ अंगों का उल्लेख कर संक्षेप में आसन, प्राणसंरोध, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि ये ही वास्तव में योग के षडङ्ग माने गए हैं।[4] इसके अतिरिक्त उपरोक्त पुराण में आठ आसनों का भी वर्णन दृष्टिगोचर होता है।[5] अग्निपुराण में आसनों के अतिरिक्त युक्त प्राणायाम से लाभ एवं अयुक्त प्राणायाम से होने वाली हानियों की भी चर्चा की गई है।[6]

कालोपरान्त हठयोग की इन क्रियाओं को इतना अधिक महत्त्व दिया जाने लगा कि जिससे तान्त्रिक सम्प्रदाय भी प्रभावित हुए बिना न रह सका। अनेक तन्त्रग्रन्थों में इन क्रियाओं का महत्त्व प्रकट किया गया है, जिनमें महानिर्वाण तन्त्र इत्यादि मुख्य ग्रन्थ हैं। 11वीं शती के शारदातिलक तन्त्रशास्त्र में नाद, बिन्दु, नाड़ी इत्यादि का पर्याप्त उल्लेख प्राप्त होता है। इसके साथ-साथ षड्चक्र निरूपण एवं कुण्डलिनी शक्ति पर भी प्रकाश डाला गया है।[7]

हठयोग के अन्तर्गत आने वाले शिव तथा शक्ति तत्त्व का निरूपण करते हुए तान्त्रिक ग्रन्थ इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि 'शिव' का स्थान सहस्रचक्र है जो कपाल प्रदेश में स्थित है तथाशक्ति का स्थान मूलाधार चक्र है जो कि गुदेन्द्रिय में स्थित हैं।[8]

---

1. भागवतपुराण—स्कन्ध 3 अ० 28, स्कन्ध 11 अ० 15, स्कन्ध 11, अ० 8
2. गरुडपुराण—अध्याय-8
3. ब्रह्मपुराण—योगविधिनिरूपण
4. शिवपुराण—7/2/37-14-16
5. स्वस्तिकं पद्ममध्येन्दुं वीरं योगं प्रसाधितम्।
   पर्यङ्कं च यथेष्टं च प्रोक्तमासनमष्टधा॥ वही—7/2/37-20
6. अग्निपुराण—अध्याय-372, 373
7. शारदातिलक—1/50-57, 25/65
8. Yogic and Tantric Medicine—O.P. Jaggi, p. 121

## हठयोग का अर्वाचीन काल

परवर्ती युग में ज्ञान-विज्ञान का ऐसा प्रवाह प्रवाहित हुआ कि मनुष्य को इस तथ्य पर चिन्तन करने के लिए बाध्य होना पड़ा कि इस दुःखमय संसार रूपी सागर को किस प्रक्रिया रूपी नौका के द्वारा शीघ्रता से पार किया जा सकता है। इसी चिन्तन रूपी गंगा का इतना तीव्र प्रवाह बहा कि चारों ओर उसी का स्वर सुनाई देने लगा तथा उसने समस्त धर्मों, दर्शनों एवं विभिन्न सम्प्रदायों के अज्ञान रूपी तटबन्धों का विच्छेदन कर एक ऐसी पद्धति का निर्माण किया जो अनेक प्रकार की सिद्धियों, जादुई करामातों एवं अनेक परम्पराओं का समावेश लिए हुई थी। जिसके फलस्वरूप हठयोग की सत्ता नाथ सम्प्रदाय के दर्शन सिद्धान्तों में अन्तर्भूत होकर नूतन रूप में प्रकट हुई और जिसने आसन, मुद्रा, प्राणायाम, कुण्डलिनी, जागरण एवं धौति, बस्ति, नेति, कुञ्जल इत्यादि षट्कर्म रूपी योग के बाह्य अंगों पर इतना अधिक महत्त्व दिया कि उसकी बढ़ती हुई लोकप्रियता से सभी सम्प्रदाय प्रभावित हुए। नाथ सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य श्री गोरक्षनाथ (गोरखनाथ) के काल (10वीं श० से 11वीं शती के मध्य)[1] में तथा उनके परवर्ती काल में शैव तथा शाक्त साधनाएँ परस्पर एक दूसरे में समा गई थीं। शिव शक्ति में अभेद सम्बन्ध स्थापित हो गया था। स्वयं गोरक्षनाथ के अनुसार पिण्ड में ब्रह्माण्ड व्यापिनी परासंवित् ही कुण्डलिनी के रूप में स्थित है, जिसका उद्बोधन ही हठयोग का प्रधान लक्ष्य है। हठयोग के अनुयायी ऐसा विश्वास करते थे कि शिव में शक्ति और शक्ति में शिव का वास है, दोनों में अविभाग रूप एकता अर्थात् दोनों एकमेव होकर अनुस्यूत हैं। चन्द्रमा तथा उसकी चन्द्रिका की भाँति शिव और शक्ति अभिन्न हैं।[2]

---

1. (क) गोरक्ष का जन्म 1100 ई० में या इसके कुछ समय बाद हुआ था।—द्रष्टव्य श्री आर०सी० घेरे कृत मराठी ग्रन्थ 'गोरक्षनाथ की जीवनी एवं शिष्यों की परम्परा' (पृष्ठ 224)—धर्मशास्त्र से उद्धृत पृ०-276

   (ख) श्री पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने गोरक्षनाथ का जन्म दसवीं शताब्दी के लगभग ठहराया है—देखिए 'हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय' पृ० 71

   (घ) गोरक्षनाथ का समय यदि दसवीं शताब्दी से लेकर ग्यारहवीं शताब्दी के मध्य मान लिया जाए तो कोई हानि नहीं होगी।

   (ग) विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में—उत्तरी भारत की संत परम्परा-चतुर्वेदी पृ० 56

2. शिवस्याभ्यन्तरे शक्तिः शक्तेरभ्यन्तरे शिवः।
   अन्तरं नैव पश्यामि चन्द्रचन्द्रिकयोरिव ॥
   नानाशक्तिस्वरूपेण सर्वपिण्डाश्रयत्वतः।
   पिण्डाधार इतीष्टाख्या सिद्धान्त इति धीमताम् ॥ सिद्धसिद्धान्त संग्रह 4/37-38

यहाँ यह विचारणीय है कि नाथ से तात्पर्य क्या है ? नाथ वह अनादि धर्म है जो भुवनत्रय की स्थिति का कारण है क्योंकि नाथ के 'ना' शब्द से अनादि रूप अर्थ प्रकटित होता है तथा 'थ' का अर्थ है (भुवनत्रय का) स्थापित होना। श्री गोरक्षनाथ को इसी कारण से नाथ कहा जाता है।[1] क्योंकि "संतों के पूर्व का धार्मिक वातावरण भी विशृंखल था। जैन धर्म का शुद्धाचार धीरे-धीरे तन्त्र एवं योग को स्वीकार कर चुका था। बौद्धों का सम्प्रदाय बदलते-बदलते महायान, वज्रयान एवं सहजयान तक पहुंच चुका था। इन वज्रयानी एवं सहजयानी साधकों में योग की प्रमुखता थी, किन्तु इन्होंने आचरण का एक ऐसा मानदण्ड रखा था, जिसका बाहरी रूप अत्यन्त ही घृणित था। निम्न वर्ग को अपने महायान पर सवार कराकर पार उतारने वाली इनकी क्रान्ति धीरे-धीरे कुण्ठित हो गई थी। सहजयानी सिद्धों में आकर साधना बहुत कुछ लोक-धरातल पर पहुंच गई थी, पर उसका मुद्रा-मैथुन का रूप गर्हित था। इसकी प्रतिक्रिया के रूप में नाथपन्थियों का शुद्धतावादी शैव-सम्प्रदाय संगठित हुआ, जिसके सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण साधक गोरक्षनाथ हुए। गोरक्षनाथ ने साधना में वज्रदेह की सिद्धि का आदर्श स्वीकार किया और सिद्धों की साधना में शुद्धता का संचार किया।"[2] श्री "गोरक्षनाथ के नाम पर बहुत से ग्रन्थ चलते हैं, जिनमें अनेक तो निश्चित रूप से परवर्ती हैं और कई सन्देहास्पद हैं। सब मिलाकर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि गोरक्षनाथ की कुछ पुस्तकें नाना भाव से परिवर्तित, परिवर्द्धित और विकृत होती हुई आज तक चली आ रही हैं। उनमें कुछ न कुछ गोरक्षनाथ की वाणी अवश्य रह गई है, पर सभी की सभी प्रामाणिक नहीं हैं। गोरक्षनाथ और उनके द्वारा प्रभावित योगमार्गीय ग्रन्थों के अवलोकन से स्पष्ट रूप से पता चलता है कि गोरक्षनाथ ने योगमार्ग को एक बहुत ही व्यवस्थित रूप दिया है। उन्होंने शैव प्रत्यभिज्ञादर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर अनेक प्रकार से प्रचलित काया-योग के साधनों को व्यवस्थित किया है, आत्मानुभूति और शैव परम्परा के सामञ्जस्य से चक्रों की संख्या नियत की तथा उन्होंने लोक भाषा को भी अपने उपदेशों का माध्यम बनाया।[3] डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने श्री गोरक्षनाथ के नाम पर प्रचलित ग्रन्थों का ब्यौरा इस प्रकार से दिया है।

1. अमनस्क 2. अमरौघशासनम् 3. अवधूतगीता 4. गोरक्षकल्प 5. गोरक्षकौमुदी 6. गोरक्षगीता 7. गोरक्षचिकित्सा 8. गोरक्षपञ्चक 9. गोरक्षपद्धति 10. गोरक्षशतक

---

1. नाकारोऽनादिरूपं हिथकार: स्थाप्यते सदा।
   भुवनत्रयमेवैक: श्रीगोरक्ष नमोऽस्तु ते॥ (राजगुह्य) नाथ सम्प्रदाय पृ०-3
2. संतकाव्य में योग का स्वरूप—पृ०-89
3. नाथ-सम्प्रदाय—107-108

11. गोरक्षशास्त्र 12. गोरक्ष-संहिता 13. चतुरशीत्यासन 14. ज्ञानप्रकाशशतक 15. ज्ञानशतक 16. ज्ञानामृतयोग 17. नाड़ीज्ञानप्रदीपिका 18. महार्थमञ्जरी 19. योगचिन्तामणि 20. योगमार्तण्ड 21. योगबीज 22. योगशास्त्र 23. योगसिद्धान्तपद्धति 24. विवेकमार्तण्ड 25. श्रीनाथसूत्र 26. सिद्धसिद्धान्तपद्धति 27. हठयोग 28. हठसंहिता। इन पुस्तकों में अधिकांश के कर्त्ता स्वयं गोरक्षनाथ नहीं थे।[1] इसके अतिरिक्त आज भी हठयोग से सम्बन्धित ग्रन्थ अप्रकाश्य ही पड़े हुए हैं।[2]

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त हठयोग विषयक उपनिषदों का भी निर्माण कम नहीं हुआ है। इन उपनिषदों से सम्बन्धित काल के विषय में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि इनमें से कुछ 11 वीं शताब्दी से पूर्व एवं कुछ 11वीं शताब्दी के बाद रची गईं।

आचार्य महादेव शास्त्री ने सन् 1920 में मद्रास की अड्यार लाइब्रेरी से 'योग उपनिषद्' नामक ग्रन्थ में 20 उपनिषदों का संग्रह प्रकाशित किया। जिनका नाम इस प्रकार है—

1. अद्वयतारकोपनिषद्
2. अमृतनादोपनिषद्
3. अमृतबिन्दूपनिषद्
4. क्षुरिकोपनिषद्
5. तेजोबिन्दूपनिषद्
6. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्
7. दर्शनोपनिषद्
8. ध्यानबिन्दूपनिषद्
9. नादबिन्दूपनिषद्
10. पाशुपतब्राह्मणोपनिषद्
11. ब्रह्मविद्योपनिषद्
12. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्
13. महावाक्योपनिषद्
14. योगकुण्डल्युपनिषद्
15. योगचूडामण्युपनिषद्
16. योगतत्त्वोपनिषद्
17. योगशिखोपनिषद्
18. वाराहोपनिषद्
19. शाण्डिल्योपनिषद्
20. हंसोपनिषद्[3]

इन उपनिषदों में चतुर्विधयोग एवं उनके घटक तत्त्वों के अन्तर्गत कुण्डलिनी, चक्र, नाड़ी, नाद, बिन्दु विभिन्न आसन और प्राणायाम इत्यादि का सविस्तर वर्णन किया

1. इन पुस्तकों से सम्बन्धित ज्ञान हेतु द्रष्टव्य-वही-पृ० 109-111
2. "To-day, due to popularity of the Subject, innumerable books have been published on Hathayoga, but very few can be said to have been based on a sound study of the tradition and literature. Vast traditional literature on the subject is still lying unpublished" Yoga : Historical Background—Dr. Kenghe P.-189
3. कल्याण का योगाङ्क

गया है। अत एव यह निर्विवाद सिद्ध है कि 11वीं शताब्दी एवं उसके परवर्त्ती काल में हठयोग अपनी चरम सीमा को प्राप्त कर चुका था तथा उसके प्राचीन सिद्धान्त ग्रन्थ रूप में निबद्ध हो गये थे। इस हठयोग की परम्परागत ज्ञान गंगा का परम्परा रूपी प्रवाह अनादि काल से ही प्रवाहित होता आया है। सम्भवत: सिन्धु घाटी की सभ्यता से भी प्राचीन, यह एक अलग विषय है कि इसका सम्बन्ध किस मत से रहा होगा। इस परम्परा का प्रवाह ईसवी सन् से कई शताब्दी पूर्व कुछ कम होने लगा था कि तभी ऐसी विभूति (पातञ्जल) का भारतभूमि में प्रादुर्भाव हुआ, जिसने न केवल प्राचीन ऋषियों एवं योगियों के उद्गारों का संकलन किया अपितु उनके उद्गारों को दर्शन का ऐसा रूप दिया जो आज समस्त विश्व में पूजनीय है। इसके अनन्तर सम्प्रदाय-ग्रन्थों, पुराणों एवं तन्त्र ग्रन्थों में भी इस प्रक्रिया-प्रधान योग का उत्थान एवं पतन जुड़ा हुआ है। प्राचीन सभ्यता का यह पौधा बाहरी आक्रमणों के बावजूद 11 वीं शताब्दी के बाद ऐसे महान् वट वृक्ष के रूप में प्रतिष्ठित हुआ कि जिसकी शारीरिक एवं मानसिक रोग निवारणार्थ तथा अलौकिक सिद्धि प्रदायक और आत्मानुभूति रूपी छत्र-छाया के नीचे सभी धर्मों, सम्प्रदायों एवं दर्शनों ने आश्रय लिया।

अर्वाचीन काल में लिखे गए हठयोग से सम्बन्धित घेरण्ड-संहिता, शिव-संहिता, षट्चक्रनिरूपण, शिवस्वरोदय और हठयोगप्रदीपिका इत्यादि प्रमुख ग्रन्थ हैं—इन ग्रन्थों में 14वीं शताब्दी के लगभग की हठयोगप्रदीपिका का अपना अलग एवं विशिष्ट स्थान है।

## हठयोगप्रदीपिका

प्रस्तुत पुस्तक से सम्बन्धित आचार्य स्वात्माराम योगीन्द्र के इस ग्रन्थ में समस्त हठयोग विषयक तत्त्व का सार है। यह ग्रन्थ चार उपदेशों में विभक्त है जिसकी कुल श्लोक संख्या (383) है। इस ग्रन्थ की विषयवस्तु संक्षेप में इस प्रकार है—

**प्रथम उपदेश**—प्राचीन परम्परा का अनुसरण करते हुए 69 श्लोकात्मक प्रथम उपदेश श्री आदिनाथ एवं गुरु गोरक्षनाथ को प्रणाम करने के उपरान्त हठयोग के 33 सिद्धों के नाम कीर्तन से प्रारम्भ होता है। एतदनन्तर हठाभ्यास के लिए उपयुक्त स्थान का निर्देश करके 15 प्रमुख आसनों का लाभ सहित वर्णन तथा योगी के लिए पथ्यकारी और अपथ्यकारी भोजन नियम का सविस्तर विवेचन उपलब्ध होता है। इस उपदेश में यह द्रष्टव्य है कि आसन को हठयोग के प्रथम अंग[1] के रूप में स्वीकार करके ग्रन्थकार

1. हठ० प्र०—1/19

ने पातञ्जल योग दर्शन,[1] योगतत्त्वोपनिषद्,[2] एवं जाबालदर्शनोपनिषद्[3], की परम्परा का परित्याग करके किसी अन्य (सम्भवतः पौराणिक अथवा किसी विशिष्ट उपनिषद्) हठ परम्परा का अनुगमन किया है। किन्तु यहाँ यह कहना युक्तिसंगत नहीं होगा कि हठयोगप्रदीपिकाकार ने यम और नियम की उपेक्षा की है। जहाँ पातञ्जल योग दर्शन का आरम्भ यम, नियम से होता है, वहाँ इस ग्रन्थ का आरम्भ आसन से करके यम और नियम की अवहेलना नहीं की गई, अपितु उनका भी वर्णन किया है।

**द्वितीय उपदेश**—इस उपदेश में श्लोकों की संख्या 78 है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसमें प्राणायाम प्रयोजन, षट् कर्म, आहार की उपयोगिता, प्राणायाम का समय, प्राणायाम के आठ प्रकार एवं उनसे प्राप्त होने वाले लाभों का सविस्तर विवेचन और हठयोग एवं राजयोग में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध बताते हुए हठसिद्धि का लक्षण स्पष्ट किया गया है।

**तृतीय उपदेश**—123 श्लोकों से युक्त इस उपदेश में कुण्डलिनी को जीव की मार्मिक शक्ति बताकर उसे सम्पूर्ण योग का आधार बताया गया है।[4] और कुण्डलिनी जागरण के उपाय स्वरूप दस मुद्राओं तथा उनकी सिद्धि पर्यन्त प्राप्त लाभों का सविस्तर विवेचन दृष्टिगोचर होता है।

**चतुर्थ उपदेश**—इस उपदेश में समाधि, कुण्डली जागरण, लय आदि की परिभाषा का परिणाम सहित वर्णन करने के उपरान्त शाम्भवी और खेचरी मुद्रा की सिद्धि का स्पष्ट विवेचन किया गया है। अन्त में नादानुसन्धान की चारों अवस्थाओं का निर्देश कर नादश्रवण के परिणामस्वरूप समाधि प्राप्ति एवं उसकी अवस्था का निर्देश 113 श्लोकों में किया गया है।

संक्षेप में यही कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि आजकल के समाज में उत्पन्न विविध रोगों के उपशमन हेतु और हठयोग सम्बन्धी समस्त विश्व में व्याप्त भ्रान्तियों को निरस्त करने में प्रस्तुत ग्रन्थ अत्यन्त सहायक सिद्ध होगा क्योंकि भारतीयदर्शनों में बहुधा भौतिक खण्ड सत्ताओं के पीछे एक अभौतिक, परमार्थ, अद्वय, परम लक्ष्य, परम-शिवरूपी अखण्ड सत्ता की कल्पना की गई और उपर्युक्त प्रमाणों के मूल में भी यही दर्शाया गया है कि बाह्य योग को चाहे किसी भी नाम से क्यों न पुकारा जाये, मूलतः उसका एक ही लक्ष्य होता है।

**—परमार्थतत्त्व**

---

1. पा० यो० द०—2/29
2. यो० तत्त्व० उ०—25
3. जा० द० उ०—1/4-6
4. ह० प्र०—3/1

अध्याय-2

# हठयोग के लिए स्थान तथा हठयोग के बाधक और साधक तत्त्व

## हठविद्या का प्रयोजन

ग्रन्थ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करते हुए ग्रन्थकार श्री स्वात्मारामयोगीन्द्र सर्वशक्तिमान् भगवान् श्री आदिनाथ को प्रणाम कर बताते हैं कि यह हठविद्या राजयोग रूपी उच्चतम शिखर पर चढ़ने वालों के लिए सीढ़ी के समान है।[1] इसी विद्या हेतु इस ग्रन्थ की रचना की गई है। हठयोग जहां साधन है वहीं राजयोग साध्य बन जाता है।

## सिद्ध परम्परा

हठाभ्यास हेतु स्थान निर्धारण से पूर्व ग्रन्थकार ने अपने पूर्वज सिद्धों का नाम-स्मरण परमावश्यक माना जो आज भी हठयोगसिद्धि की शक्ति से मृत्युञ्जयी होकर ब्रह्माण्ड में विचरण करते हैं। वे सिद्ध हैं—सर्वश्री आदिनाथ, मत्स्येन्द्र, शाबर, आनन्द भैरव, चौरङ्गी, मीन, गोरक्ष, विरूपाक्ष, बिलेशय मन्थान, भैरवयोगी, सिद्धि, बुद्ध, कन्थडि, कोरण्टक, सुरानन्द, सिद्धिपाद, चर्पटी, कानेरी, पूज्यपाद, नित्यनाथ, निरञ्जन, कपाली, बिन्दुनाथ, काकचण्डीश्वर, अल्लाम, प्रभुदेव, घोडाचोली, टिण्टिणि, भानुकी, नारदेव, खण्ड, कापालिक आदि।[2]

'आदि' पद पर टीका करते हुए ज्योत्स्नाटीकाकार लिखते हैं कि आदि पद

---

1. श्री आदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या।
   विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव।।—ह० प्र०, 1/1
2. ह० प्र०, 1/5-9

तारानाथ इत्यादि अन्य सिद्धों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[1] इन आचार्यों द्वारा प्रदत्त यह विद्या सर्वदुःखनिवारणार्थ एकमात्र आश्रय रूपी मठ है।

## हठयोगाधिकारी

इस विद्या के सन्दर्भ में कहा गया है कि इस विद्या को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए क्योंकि गुप्त रहने पर यह विद्या अत्यन्त शक्तिशाली हो जाती है और प्रकट होने पर शक्तिहीन। शिव-संहिता में भी इसी भाव को किंचित् पाठभेद से व्यक्त किया गया है।[2]

अधिकारी के सन्दर्भ में हठयोगप्रदीपिका पर ज्योत्स्ना टीकाकार लिखते हैं कि जितेन्द्रिय, शान्त, भोगों में अनासक्त, निर्दोष और मुमुक्षु आज्ञाकारी अधिकारी को ही इस विद्या का उपदेश देना चाहिए। याज्ञवल्क्य स्मृति उद्धृत करते हुए आगे कहा गया है कि शास्त्रोक्त कर्मों से युक्त, कामना और संकल्प रहित, यम और नियमों से युक्त, निस्संग, विद्यायुक्त, क्रोधरहित, सत्य, धर्मपरायण, गुरुसेवारत, मातृपितृभक्त, गृहस्थादि आश्रम में स्थित श्रेष्ठ आचारी और विद्वानों ने जिसको भली प्रकार शिक्षा दी गई हो, ऐसा पुरुष योग का अधिकारी होता है।[3]

## हठयोग हेतु स्थान का निर्धारण

एतदनन्तर योगाभ्यासी के योगाभ्यास हेतु उत्तम स्थान की चर्चा की गई है, क्योंकि इस परम्परा के अभ्यासी को सर्वप्रथम स्थान, तदुपरान्त क्रमशः काल, आहार, नाड़ी शुद्धि और प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। इसके विपरीत आचरण करने पर अर्थात् दूरदेश में, अरण्य में और राजधानी में बैठकर योगाभ्यास करने से सिद्धि की हानि होती है।[4]

स्थान निर्धारित करते हुए कहा गया है कि हठयोगी को अच्छे राज्य में, धार्मिक देश में, जहाँ से अच्छी भिक्षा उपलब्ध हो सके, उपद्रवों से रहित, ऐसी कुटिया में वास

---

1. आदिशब्देन तारानाथादयो ग्राह्याः।
2. शिवसंहिता, 207
3. विद्युक्तकर्मसंयुक्तः कामसंकल्पवर्जितः।
   यमैश्च नियमैर्युक्तः सर्वसंगविवर्जितः॥
   कृतविद्यो जितक्रोधः सत्यधर्मपरायणः।
   गुरुशुश्रूषणरतः पितृमातृपरायणः॥
   स्वाश्रमस्थः सदाचारो विद्वद्भिश्च सुशिक्षितः॥—ज्योत्स्ना-1/11
4. घे० स०-5/23

करना चाहिए, जो एकान्त में हो, तथा जिसके चार हाथ प्रमाण पर्यन्त पत्थर, अग्नि और जल न हो। पुनः कुटिया के लक्षण को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जिसका द्वार छोटा हो, छिद्र अथवा बिल रहित हो, भूमि समतल हो, अधिक विस्तृत न हो, गोमय लिप्त, कीटरहित, बाहर का मण्डप वेदी और कूपयुक्त हो तथा जो चारदीवारी से युक्त हो।[1]

स्थान के विषय में प्राचीन कालीन श्वेताश्वतरोपनिषद् में वर्णित है कि ऊंचे-नीचे स्थान से रहित शुद्ध, पत्थरों से रहित, अग्नि और बालू से वर्जित इत्यादि निर्वात एकान्त गुफा को साधक योगाभ्यास हेतु अपना आश्रय बनाए।[2]

इस प्रकार के भाव योगतत्त्वोपनिषद् और घेरण्डसंहिता में भी दृष्टिगोचर होते हैं।[3]

## हठयोग में बाधक और साधक तत्व

स्थान निर्धारण के पश्चात् योग के बाधक तत्त्वों की चर्चा कर इनके परित्याग का निर्देश दिया गया है, जिनमें अधिक भोजन, अधिक परिश्रम, अधिक बोलना, नियम पालन में आग्रह, अधिक लोकसंगति और मन की चंचलता है।[4] योग में बाधक तथा साधक तत्त्वों का भगवद्गीता में भी स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है जिसमें वर्णित है कि अति अशन करने वाले, न बिल्कुल अशन रहित, न अधिक सोने वाले और न अधिक जागने वालों के लिए योग लाभकारी होता है, अपितु युक्त आहार-विहार, युक्त चेष्टा करने वाले और युक्त सोने और जागने वाले को ही योग लाभकारी होता है।[5] शिव-संहिता में (भोगरूप, धर्मरूप, और ज्ञानरूप) मुख्य तीन विघ्न मानकर गौणों की संख्या अधिक बताकर उनका अन्तर्भाव मुख्यों में कर दिया है।[6] कुलार्णवतन्त्र में इनकी संख्या आठ बताकर इन्हें क्रमशः घृणा, लज्जा, भय, शोक, जुगुप्सा, कुलशील और जाति रूपी पाश कहा गया है।[7]

---

1. ह० प्र०-1/12-13
2. श्वे० उ०—2/10
3. (क) यो० त० उ०, 32-35
   (ख) घे० स०, 5/6-7
4. ह० प्र०, 1/15
5. भग० गी०, 6/16/17
6. शि० सं०—5/3-5
7. Principles of Tantra, 639

ज्योत्स्ना टीका के अनुसार इन (हठप्रदीपिका में वर्णित) छः विघ्नों का परित्याग इसलिए आवश्यक है क्योंकि ये विघ्न काम और चंचलता की वृद्धि के हेतु हैं तथा इनसे योग विशेषकर नष्ट होता है।[1]

एतदनन्तर उत्साह, साहस, धैर्य यथार्थज्ञान, संकल्प और लोकसंग का परित्याग इन छः तत्त्वों को योग में सहायक माना है।[2] क्योंकि इनके द्वारा योग सिद्धि शीघ्र एवं सुनिश्चित हो जाती है। इस पर ज्योत्स्ना टीकाकार लिखते हैं कि विषयों में लगे चित्त को भी रोकना यह उद्यम रूप साहस, साध्य-असाध्य को विचार कर शीघ्र प्रवृत्ति रूप साहस, धैर्य जैसे कि जीवन पर्यन्त में तो सिद्ध होगा ही इस खेद के अभाव को धैर्य कहते हैं और मृगतृष्णा के जल तुल्य विषय मिथ्या हैं, केवल ब्रह्म ही सत्य है, यह वास्तविक (सत्य) ज्ञानरूप तत्त्वज्ञान, निश्चय अर्थात् शास्त्र और गुरु के वाक्यों में विश्वास, श्रद्धा, और योगाभ्यास के विरोधी जनों का परित्याग इन छः वस्तुओं से योग शीघ्र सिद्ध होता है।[3]

इस प्रकार आसनों से पूर्व ग्रन्थकार ने योगी का स्थान निर्धारित करके योग में बाधक एवं साधक तत्त्वों का निरूपण करना भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं समझा है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका, 1/15
2 ह० प्र०, 1/16
3. ज्योत्स्ना, 1/16

## अध्याय-3

# आसन

### आसनों की संख्या

हठयोगप्रदीपिकाकार ने पातंजल योग प्रणाली का अनुसरण न करते हुए गोरक्ष संहिता,[1] योगचूडामण्युपनिषद्[2] और विष्णुपुराण[3] का अनुसरण किया है। इन्होंने आसन को प्रथम अंग के रूप में स्वीकार करके इसको शरीर में स्थिरता, आरोग्यता और लघुत्व प्रदान करने वाला बताया है।[4] किन-किन आसनों को विशेष मानकर उनका निरूपण करना चाहिए, इस प्रसंग में कहा गया है कि वसिष्ठ आदि मुनियों तथा मत्स्येन्द्रनाथ अदि योगियों द्वारा स्वीकृत कुछ आसनों का ही वर्णन इस ग्रन्थ में उपलब्ध होता है।

स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार आसनों की कुल संख्या का प्रत्यक्ष रूप से वर्णन नहीं करते परन्तु गोरक्ष-संहिता एवं घेरण्ड-संहिता के अनुसार आसन उतने हैं, जितने इस नश्वर जगत् में जीवजन्तु। उन चौरासी लाख आसनों में से चौरासी श्रेष्ठ हैं तथा उनमें भी बत्तीस विशिष्ट हैं।[5] किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने 15 आसनों[6] का और सर्वप्रथम

1. गो० सं०, 1/6
2. यो० चू० उ०, 2
3. वि० पु०, 37/16
4. ह०प्र०, 1/19
5. सिद्धं पद्मं तथा भद्रं मुक्तं वज्रं च स्वस्तिकम्।
   सिंहं च गोमुखं वीरं धनुरासनमेव च।।
   मृतं गुप्तं तथा मत्स्यं मत्स्येन्द्रासनमेव च।
   गोरक्षं पश्चिमोत्तानमुत्कटं संकटं तथा।।
   मयूरं कुक्कुटं कूर्मं तथा चोत्तानकूर्मकम्।
   उत्तानमण्डुकं वृक्षं मण्डूकं गरुडं वृषम्।।
   शलभं मकरं चोष्ट्रं भुजंगं योगमासनम्।
   द्वात्रिंशदासनानि तु मर्त्यलोके हि सिद्धिदम्।। घेरण्ड संहिता, प्र।-16
6. स्वस्तिक, गोमुख, वीर, कूर्म, कुक्कुट, उत्तानकूर्म, धनु, मत्स्येन्द्र, पश्चिमतान, मयूर, शव, सिद्ध, पद्म, सिंह और भद्र।

स्वस्तिक आसन का उल्लेख किया है। वैसे भी स्वस्ति शब्द भारतीय समाज में कल्याण-कारी माना गया है, यहाँ यह प्रतीत होता है कि इन आसनों के द्वारा समस्त संसार का कल्याण हो, इसी आशय से अभिभूत होकर ग्रन्थकार ने सर्वप्रथम इस आसन का उल्लेख किया है।

## 1. स्वस्तिकासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पैरों के तलुवों को घुटने और जंघा के मध्य में सम्यक् प्रकार से स्थापित करके, शरीर को सीधा रखकर सन्तुलित बैठना ही स्वस्तिकासन कहलाता है।[1]

इस आसन का उल्लेख अन्य हठयोग के ग्रन्थों में भी प्राप्त होता है। घेरण्ड-संहिता में इस आसन को पाँच आसनों के अनन्तर किंचित् पाठभेद से प्रस्तुत किया गया है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और शाण्डिल्योपनिषद्[4] में भी इसका वर्णन किया गया है, किन्तु शण्डिल्योपनिषद् में इस आसन को प्रथम स्थान प्रदान कर इस आसन की महत्ता को स्वीकारा है।

यह आसन पैरों के तलवों के लिए बहुत उपयोगी है। जिन व्यक्तियों के पैरों में दुर्गन्ध, पसीना और दर्द की शिकायत रहती है, उन व्यक्तियों को यह आसन प्रातःकाल अवश्य करना चाहिए। इस आसन का चालीस दिन पर्यन्त अभ्यास करने से पैरों के तलवों को असीम बल मिलता है। इसके अभ्यासी को चलने में हल्कापन महसूस होता है। जिन व्यक्तियों के पैरों में ज्यादा दर्द होता है, उनको इस आसन का अभ्यास कम से कम 15 मिनट तक अवश्य करना चाहिए।

## 2. गोमुखासन

दाहिने गुल्फ को वाम भाग की कटिप्रदेश में तथा वाम गुल्फ को दाहिने भाग

---

1. ह० प्र०, 1।21
2. घे० स०, 2।12
3. त्रि० ब्रा० उ०, 35
4. शा० उ०, 3।1

के कटिप्रदेश में सम्यक् प्रकार से स्थापित करने से जो गोमुखाकृति बनती है, उसे गोमुखासन कहते हैं।[1]

इस आसन का वर्णन हमें जाबालदर्शनोपनिषद्[2], त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और घेरण्ड-संहिता[4] इत्यादि हठयोग के अन्य ग्रन्थों में भी उपलब्ध होता है। केवल घेरण्ड संहिता में शब्दसाम्य को छोड़कर अन्य दोनों ग्रन्थों में यह श्लोक किंचित् पाठ-भेद से प्रयुक्त हुआ है। प्रतीत होता है कि इन ग्रन्थों में अवश्य पूर्ववर्ती का उत्तरवर्ती ग्रन्थ पर प्रभाव पड़ा होगा।

इस आसन का अभ्यास करते समय यह अवश्य ध्यान देना चाहिए कि मेरुदण्ड बिल्कुल सीधा हो जिससे फेफड़ों में प्राणवायु का सम्यक् प्रकार से संचार हो सके। इसी कारण से यह आसन फेंफड़ों से सम्बन्धित समस्त रोगों का नाश करके, फेफड़ों में विद्यमान वायुग्रन्थियों को अधिक खोलता है, जिससे ज्यादा-से-ज्यादा वायु-ग्रंथियां श्वास का आधिक्य प्राप्त करें। इसके अतिरिक्त यह आसन समस्त शरीर के साथ-साथ पैरों, घुटनों और दोनों जंघाओं के लिए परम उपयोगी सिद्ध है। इस आसन का ब्रह्ममुहूर्त में अभ्यास करने से रक्तशुद्धि होती है। इसके अतिरिक्त इस आसन के निरन्तर अभ्यास के द्वारा मनुष्य को कभी भी क्षय और दमा जैसे रोगों की सम्भावना नहीं हो सकती। यह आसन स्वास्थ्य की दृष्टि से परम उपयोगी माना गया है।

## (3) वीरासन

एक पांव को विपरीत जंघा से स्पर्श कराते हुए तथा दूसरे पांव को विपरीत जंघा के ऊपर स्थापित करने को वीरासन कहते हैं।[5]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार एक जंघा पर एक पांव तथा दूसरे पांव को पीछे की ओर बढ़ा देना ही वीरासन कहलाता है।[6] जबकि जाबालदर्शनोपनिषद् के मन्तव्यानुसार

---

1. हठयोगप्रदीपिका, 1।22
2. जाबालदर्शनोपनिषद्, 3।3-4
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 3
4. घेरण्ड-संहिता, 2/14
5. हठयोगप्रदीपिका, 1/23
6. घेरण्ड-संहिता, 2/15

बाएं पैर को दक्षिण जंघा पर रखकर देह को सीधा करके बैठना ही वीरासन कहलाता है।[1] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार एक चरण को बांयी जांघ पर और दूसरे को दाहिनी जांघ पर रखने से वीरासन होता है।[2] शाण्डिल्योपनिषद् में भी इसी भाव को व्यक्त किया गया है।[3]

ऐसी कथा प्रचलित है कि इस आसन में लक्ष्मण जी सिद्धहस्त थे और अक्सर वे इसी आसन का उपयोग किया करते थे। इसी कारण से आधुनिक योगविद् इसे लक्ष्मणासन भी कहते हैं। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से जंघाओं, पिण्डलियों को तो असीम लाभ मिलता ही है साथ में इससे चित्त में एकाग्रता भी बढ़ती है। कुछ आधुनिक योगियों के द्वारा यह खड़े होकर भी लगाया जाता है क्योंकि खड़े होकर वीरासन के अभ्यास से शरीर को अत्यधिक लाभ मिलता है। किन्तु श्लोक के अन्वयार्थ हेतु इसे बैठकर ही सिद्ध किया जा सकता है। शिकारी अथवा लक्ष्यार्थ भेदन में निपुणता हेतु यह आसन परमावश्यक माना गया है। इसके साथ-साथ इस आसन के निरन्तर अभ्यास से मनुष्य के शरीर में ही नहीं अपितु मस्तिष्क को भी असीम बल मिलता है।

## (4) कूर्मासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पांवों की एड़ियों से गुदा के विपरीत (दाएं टखने से गुदा के वाम भाग तथा वाम टखने से गुदा के दायें) भाग को दबाकर बैठने को योग के जानकार कूर्मासन कहते हैं।[4]

घेरण्ड संहिता में इसी भाव को इस प्रकार से व्यक्त किया गया है कि दोनों अण्डकोषों के नीचे एड़ियों का अतिक्रमण कराकर सीधा बैठना ही कूर्मासन कहलाता है।[5]

यह आसन पेट, घुटने, जंघा संबंधी समस्त रोगों का निवारण करता है। इस आसन के अभ्यासी को बवासीर जैसे कष्टदायी रोगों की तो सम्भावना ही नष्ट हो जाती है, इसके साथ-साथ यह आसन ब्रह्मचर्य के लिए अति उत्तम माना गया है क्योंकि इसमें बैठने से वीर्य ऊर्ध्वगामी हो जाता है। इस आसन में श्वास-प्रश्वास की स्थिति सामान्य एवं दृष्टि भ्रूमध्य रखनी चाहिए। इसका सबसे अधिक लाभ यह भी

---

1. जाबालदर्शनोपनिषद्, 3/6
2. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिद्, 37
3. शाण्डिल्योपनिषद्, 3/4
4. हठयोग प्र०—1/24
5. घेरण्ड-संहिता, 2/27

है कि इस आसन का अभ्यास यदि कोई व्यक्ति शीतकालीन ऋतु में भी करता है, तो उसे शरीर में उष्णता महसूस होगी। इन सब लाभों के अतिरिक्त यह अपान वायु को ऊर्ध्वगामी करने में सहायक सिद्ध होता है। यदि इसी आसन में पीछे की ओर झुक जाए तो मेरुदण्ड में लचीलापन आता है और आगे की ओर झुकने से जठराग्नि की अभिवृद्धि के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति जागृत होती है।

## (5) कुक्कुटासन

इसकी विधि निर्धारित करते हुए कहा है कि सर्वप्रथम पद्मासन लगाकर दोनों घुटनों और जंघाओं के मध्य से दोनों हाथों को निकाल कर, समस्त शरीर को हाथों से उठाकर, आकाश में स्थित रहना ही कुक्कुटासन कहलाता है।[1]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[2] और घेरण्ड-संहिता[3] में इसी भाव को व्यक्त किया गया है कि आकाश में दोनों भुजाओं को दोनों घुटनों और जंघाओं के मध्य से निकालकर, उस पर सम्पूर्ण शरीर का भार वहन करना ही कुक्कुटासन कहलाता है।

इस आसन में योगी की स्थिति मुर्गे सदृश हो जाती है अतएव इस आसन को कुक्कुटासन कहते हैं। ऐसा माना जाता है कि यह आसन 15-20 मिनट साधने से योगी को उतनी शक्ति प्राप्त होती है, जितनी सामान्य जन को कुक्कुट खाने से प्राप्त होती है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से हाथों, जंघाओं, घुटनों और पिण्डलियों को तो असीम बल मिलता ही है साथ में वक्षःस्थल पुष्ट होकर फैलता है। इस आसन से जठराग्नि प्रज्ज्वलित हो जाती है तथा सम्पूर्ण शरीर में स्थिरता उत्पन्न होती है। जिन व्यक्तियों के हाथ कांपते हों उन्हें यह आसन अवश्य करना चाहिए क्योंकि इस आसन में मनुष्य की हथेलियां मजबूत, अंगुलियां पुष्ट एवं मणिबन्ध सुदृढ़ होता है। सम्पूर्ण भुजा में उत्पन्न किसी भी विकृति के निवारणार्थ यह आसन परम उपयोगी माना जाता है।

## (6) उत्तानकूर्मासन

पूर्वोक्त बताये गये कुक्कुटासन की अवस्था में दोनों हाथों से ग्रीवा को पकड़ने पर अभ्यासी की जो आकृति बनती है उसे उत्तानकूर्मासन कहते हैं।[4]

---

1. ह० प्र०, 1/25
2. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 41
3. घेरण्ड संहिता, 2/26
4. ह० प्र०, 1/26

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[1] और घेरण्ड-संहिता[2] में इसी आसन को इन शब्दों द्वारा अभिव्यक्त किया गया है कि कुक्कुटासन लगाकर दोनों भुजाओं से दोनों बन्धों को बांधकर कछुए के समान सीधा हो जाना ही उत्तानकूर्मासन कहलाता है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से कमर पतली, सीना चौड़ा तथा मेरुदण्ड में लचीलापन आता है। कुक्कुटासन से प्राप्त होने वाले लाभों के अतिरिक्त इस आसन के द्वारा नाभिविकृति से उत्पन्न होने वाले दोषों का निवारण शीघ्रता से हो जाता है। जिस प्रकार कछुआ समय पर अपने बाह्य अंगों को समेट लेता है, उसी प्रकार इस आसन के द्वारा योगी बाह्य विषयों से अपना चित्त हटाकर भ्रूमध्य में लगाता है। यह आसन रक्तशोधन करने वाला भी माना गया है। ग्रीवा में उत्पन्न किसी भी विकार को दूर करने में यह परम उपयोगी आसन है। ब्रह्ममुहूर्त में इस आसन का अभ्यास करने से शरीर की दुर्गन्ध जाती रहती है और यदि इस आसन में निर्विकार भाव से शून्य आकाश को देखा जाये तो उससे नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। अतएव यह आसन अन्य कई आसनों से ज्यादा महत्वपूर्ण आसन कहा जाता है।

### (7) धनुरासन

इस आसन की विधि निरूपित करते हुए कहा गया है कि दोनों पैरों के दोनों अंगूठों को हाथों से पकड़कर कानों तक खींचकर धनुष के समान स्थापित करना ही धनुरासन कहलाता है।[3]

त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के अनुसार दोनों पैरों के अंगूठों को पकड़कर धनुष के आकार में कानों तक धनुष के समान खींचना ही धनुरासन कहलाता है।[4] जबकि घेरण्ड-संहिता में इसकी विधि इस प्रकार से बताई गई है कि दोनों पांवों को भूमि पर सीधे स्थापित करे तथा दोनों हाथों को पीठ की ओर करके पांवों को पकड़ लेने से शरीर जब धनुष के समान बन जाता है तब धनुरासन कहलाता है।[5]

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यदि किसी कारणवश किसी की नाभि अपने स्थान

---

1. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 42
2. घेरण्डसंहिता, 2/28
3. ह० प्र० 1/27
4. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 43
5. घेरण्डसंहिता, 2/16

से हट जाये, तो उसे इस आसन का अभ्यास 4 से 6 मिनट अवश्य करना चाहिए। ऐसा करने से हटी हुई नाभि अपने स्थान को प्राप्त करती है तथा नाभि स्थान से उत्पन्न होने वाली समस्त नाड़ियां इस आसन के द्वारा अपना-अपना कार्य ठीक प्रकार से करती हैं। यह आसन मोटे पेट वालों के लिए अत्यावश्यक माना गया है। इस आसन का अभ्यास करने वालों का मेरुदण्ड अत्यधिक लचीला एवं ग्रीवा सुन्दर बन जाती है। हृदय रोगी को यह आसन वर्जित है।

## (8) मत्स्येन्द्रासन

दाहिने पैर को वामजंघा के मूल में स्थापित करके, बायें पैर को घुटने के ऊपर से लाकर भूमि पर स्थापित करने के पश्चात् शरीर को इतना मोड़ें कि विपरीत हाथों से दोनों पांवों को अर्थात् दायें हाथ से बायां पैर और बायें हाथ से दायां पैर पकड़ कर स्थिर रहें। इसे मत्स्येन्द्रासन कहते हैं तथा यह श्री मत्स्येन्द्रनाथ द्वारा बताया गया है।[1] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् और घेरण्ड संहिता में भी इस आसन का विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध होता है।[2]

इस आसन के अभ्यासी की जठराग्नि प्रदीप्त होती है। वह साधक अनेक प्रकार के प्रचण्ड रोगों से मुक्ति पा जाता है, इसके निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और योगी का चन्द्ररस अपनी चंचलता का त्याग कर स्थिरता को पाता है।[3]

कुण्डलिनी शक्ति हठयोग का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय है। यह एक ऐसी शक्ति है, जिसके जागृत होने पर ही योगी की मुक्ति सम्भव है। कुण्डलिनी पद्मतन्तु सदृश और कमल के कन्द के समान ही मूलकन्द की फणाग्र से देखकर, अपनी पूंछ को मुख में दबाकर ब्रह्मरन्ध्र के मुख को ढककर सोई रहती है।[4]

इस शक्ति पर स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि मेरुदण्ड के तल में जो मूलाधार चक्र है,वह बहुत काम की वस्तु है। यही जगह प्रजनन-शक्ति का बीज या वीर्य का आधार है। इस त्रिकोण स्थान में एक छोटा-सा सांप कुण्डली लगाये बैठा है, योगी लोग उसको

---

1. ह० प्र० 1/28
2. (क) त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 48-49
   (ख) घेरण्डसंहिता, 2/21
3. ह० प्र० 1/29
4. योगकुण्डल्युपनिषद्—1/82-83

इस तरह से व्यक्त करते हैं। यह निद्रित सांप ही कुण्डलिनी है, इसको जागृत करना ही समस्त राजयोग का उद्देश्य है।[1]

चन्द्ररस एक ऐसा अमृत है जो मनुष्य के तालु-मूल से स्रवित होता रहता है। उसको नाभि स्थित अग्निस्वरूप सूर्य के द्वारा ग्रसते रहने के कारण ही मनुष्य की आयु क्षीण होती रहती है। अतएव उसकी रक्षा परमावश्यक मानी गई है।[2]

इसके अतिरिक्त यह आसन गुल्फ, प्लीहा यकृत् और पेट के कीटाणु आदि रोगों को नष्ट करता है। भुजबन्ध, जानु, और जंघा सम्बन्धी रोगों में भी लाभकारी है। यह आसन हठयोग प्रवर्त्तक आचार्य मत्स्येन्द्रनाथ के नाम से इसलिए प्रसिद्ध है, क्योंकि मत्स्येन्द्रनाथ इसी आसन का प्रायः प्रयोग करते थे। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से नाद श्रवण और समाधि भी लग सकती है।

### (9) पश्चिमतानासन

दोनों पैरों को भूमि पर दण्ड की भाँति सामने फैलाकर, दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठों को भली प्रकार से पकड़कर, घुटनों पर मस्तक लगाकर रखना ही पश्चि-मतानासन कहलाता है।[3]

इसी भाव को त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में इस प्रकार व्यक्त किया गया है कि दोनों पैरों को जमीन पर फैलाकर दोनों हाथों से पैर के अंगुठों को पकड़कर सिर को घुटनों पर लगाकर रखना ही पश्चिमतानासन कहलाता है।[4]

यह आसन पूर्वोक्त आसनों में अग्रगण्य माना गया है क्योंकि इससे साधक का प्राणवायु मेरुदण्ड स्थित, सुषुम्नावाही हो जाता है। इसके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त, उदर पतला और शरीर रोगरहित होता है।[5] प्राणवायु से तात्पर्य मुख्य वायु से है क्योंकि मुख्य वायुओं की संख्या पाँच मानी गई है[6] और इन मुख्य वायुओं में प्राणवायु को सर्व-श्रेष्ठ माना गया है।

---

1. सरल राजयोग, पृ० 20
2. ह० प्र०, 3/76
3. ह० प्र०—1/30
4. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्, 50-51
5. ह० प्र०—1/31
6. प्राणाऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च। शिवस्वरोदय-42

यह आसन समस्त शरीर के लिए ही उपयोगी माना गया है क्योंकि इससे सम्पूर्ण शरीर के सभी अङ्ग प्रभावित होते हैं। स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को दर्शाया है कि इसके अभ्यास से प्राणवायु सुषुम्नावाही हो जाता है। सुषुम्नावाही से अभिप्राय समाधि की प्रथम अवस्था अगर मान लिया जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। यह आसन जितना उदर के लिए लाभकारी माना गया है उतना ही मेरुदण्ड के लिए भी। इस आसन के सिद्ध होने पर शरीर की दुर्गन्ध नष्ट हो जाती है तथा शरीर से भीनी-भीनी सुगन्ध का आविर्भाव होता है। इस आसन को यथाशक्तिपूर्वक लगाना ही श्रेयस्कर माना गया है।

## 10. मयूरासन

दोनों हाथों को भूमि पर भली प्रकार स्थापित करके दोनों कोहनियों को नाभि प्रदेश के दोनों ओर लगाकर दण्ड के समान सीधा अधर में उठने को मयूरासन कहते हैं।[1]

जिस प्रकार मयूर दो पैरों के सहारे अपने सम्पूर्ण शरीर को आकाश में साधे रखता है, उसी प्रकार इस आसन के अभ्यासी को भी दोनों हाथों से ऊपर सम्पूर्ण शरीर को अधर में साधे रखना पड़ता है। इसी कारण इस आसन को मयूरासन कहते हैं। जाबाल-दर्शनोपनिषद् में इस आसन की विधि को भली प्रकार से बताते हुए कहा गया है कि अपनी दोनों हथेलियों को भूमि पर रखकर कुहनियों के अग्रभाग को नाभि के दोनों पार्श्वों में रखे, फिर सिर और पांवों को ऊंचा उठाकर आकाश में दण्ड के समान स्थित हो, यह मयूर आसन सब पातकों का नाश करने वाला है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] और शाण्डिल्योपनिषद्[4] में भी इसका वर्णन इस प्रकार से किया गया है कि हाथ की दोनों हथेलियों को जमीन पर टिका कर रखना और दोनों कोहनियों के नाभि के दोनों तरफ दबा कर बैठना फिर माथे और पैरों को ऊपर उठाकर लकड़ी के समान आकाश में अधर रखना यह मायूरासन है जो सर्वपापों का नाश करने वाला है।

कहीं-कहीं मयूर शब्द की जगह मयूर शब्द प्राप्त होता है।[5] यह आसन कठिन अवश्य है किन्तु इसके लाभ उतने ही अधिक माने गए हैं। स्वयं हठयोग प्रदीपिकाकार ने

---

1. ह० प्र०—1/32
2. जाबालदर्शनोपनिषद्—1/10-11
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—47-48
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/10-11
5. घेरण्डसंहिता—2/25

इसके लाभों का वर्णन करते हुए कहा है कि इस मयूरासन के निरन्तर अभ्यास से शीघ्र ही गुल्म, जलोदर आदि सभी रोगों का नाश होता है, यह आसन त्रिदोषों (वात, पित्त कफ) को दूर करता है। इसका निरन्तर अभ्यास अधिक एवं कुपथ्य को भी अच्छी तरह से पचाता है । तथा जठराग्नि को प्रदीप्त करके विष को भी मस्त करने की सामर्थ्य रखता है।

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से कोहनियों, हथेलियों और मणिबन्धों को असीम बल की प्राप्ति होती है। इससे उदरसम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण हो जाता है। शरीर का कंपायमान होना बन्द हो जाता है। शरीर में रक्त का प्रवाह ठीक प्रकार से होने लगता है। फेफड़ों तथा नेत्रों के लिए यह अत्यावश्यक माना गया है। इस आसन के अभ्यासी पर विष का प्रभाव नहीं होता। अतएव इस आसन को समस्त हठयोग के ग्रन्थों में अग्रगण्य स्थान प्राप्त होता है।

## 11. शवासन

मेरुदण्ड को सीधा करके पीठ के बल भूमि पर शव के समान लेट जाना ही शवासन कहलाता है। यह आसन शारीरिक थकान दूर करने के साथ-साथ मानसिक शान्ति प्रदायक माना गया है।[1]

घेरण्डसंहिता में भी इन शब्दों के साथ इस आसन का वर्णन किया गया है कि शव के समान पृथ्वी पर सीधा लेट जाना ही शवासन कहलाता है तथा इसको श्रम का हरण करने वाला बताया गया है।[2]

यह आसन जितना आसान है उतना ही कठिन भी माना गया है। समस्त आसनों, प्राणायामों एवं मुद्राओं से उत्पन्न थकान इसी आसन से दूर हो जाती है। प्रायः योगी लोग इसी आसन का प्रयोग आसनों के उपरान्त करते हैं। यदि अपनी चित्तवृत्ति को बाह्य विषयों से हठाकर चक्रों पर इस आसन में केन्द्रित किया जाय तो शीघ्र ही कुण्डलिनी शक्ति जागृत होकर, चक्रों का भेदन कर, ब्रह्मरन्ध्र की ओर अग्रसर होती है। इस आसन के निरन्तर अभ्यास से अनाहत नाद का भी श्रवण किया जा सकता है। हृदयरोगी के लिए यह आसन परमोपयोगी माना जा सकता है।

शीर्षासन के बाद इस आसन का प्रयोग अवश्य ही करना पड़ता है अन्यथा हानि की ही सम्भावना उत्पन्न हो सकती है।

---

1. ह० प्र०—1/34
2. घेरण्डसंहिता—2/17

## 12. सिद्धासन

गुदा तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग में एक चरण की एड़ी को दृढतापूर्वक लगाकर, दूसरे पैर की एड़ी को लिंगेन्द्रिय के ऊपर दृढ़ता से रखकर, ठोड़ी को हृदय के ऊपरी भाग पर अच्छी प्रकार स्थापित कर उपरान्त इन्द्रियों को वश में करके, भ्रूमध्य भाग को एकटक दृष्टि से देखें। मोक्ष द्वार का भेदन करने वाला यह सिद्धासन कहा गया है। इस आसन को कुछ विद्वान् लोग सिद्धासन, अन्य वज्रासन, कुछ मुक्तासन और कोई इसे गुप्तासन के नाम से पुकारते हैं।[1]

इस आसन की चर्चा करते हुए आगे कहा गया है कि जिस प्रकार यमों में मिताहार और नियमों में अहिंसा का स्थान है वैसे ही समस्त आसनों में सिद्धासन मुख्य है। यदि कोई योगी केवल इसी आसन का अभ्यास करता है तो उसके शरीर की 72 सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[2] हठयोग के ग्रन्थों में ऐसा माना गया है कि हमारे शरीर में बहत्तर हज़ार नाड़ियाँ विद्यमान हैं।[3]

इस आसन के सिद्ध होने के पश्चात् अन्य किसी भी आसन की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इस आसन को सावधानी पूर्वक करने से प्राणवायु केवल कुम्भक में बन्ध जाता है। इसके निरन्तर अभ्यास से उन्मनी कला स्वयमेव जागृत हो जाती है और तीनों बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धर बन्ध और उड्डीयानबन्ध) स्वयं ही लग जाते हैं। यह आसन समस्त आसनों में मुख्य माना जाता है।[4]

## 13. पद्मासन

बायीं जंघा के ऊपर दाहिना पांव तथा दाहिनीं जंघा पर वाँयाँ पाँव रखकर दोनों हाथों को कमर के पीछे से लाकर दाहिने हाथ में दायें पैर के अंगूठे को तथा बायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे को दृढ़ता से पकड़ कर ठुड्डी के कण्ठकूप से लगाये। इसके पश्चात् अपनी दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिर रखे, तो सब प्रकार की व्याधियों को नष्ट करने

---

1. ह० प्र०—1/37-39
2. वही—1/40-41
3. (क) शिवस्वरोदय—32
   (ख) ध्यानबिन्दूपनिषद्—51
4. ह० प्र०—1/43

वाला यह पद्मासन कहलाता है। तथा दूसरे मत के अनुसार दोनों चरणों को यत्नपूर्वक विपरीत जंघाओं पर दृढ़ता पूर्वक स्थापित करके ठुड्डी को कण्ठकूप से लगायें तत्पश्चात् नाभि के नीचे वाम हथेली पर दक्षिण हथेली को रखकर अंजलि मुद्रा बनाकर बैठें, प्राणवायु को धीरे-धीरे ऊपर उठाकर, नासाग्रदृष्टि रखते हुए जिह्वा को तालु के अग्र-भाग पर स्थापित करें। इसे पद्मासन कहते हैं जो सब प्रकार के रोगों का नाशक है। कोई बुद्धिमान् विरला पुरुष ही इसे प्राप्त करता है, सब लोग इसे सिद्ध नहीं कर सकते।[1]

प्रथम के स्वरूप को देखते हुए उसे बद्धपद्मासन की ही संज्ञा देना अधिक उचित प्रतीत होता है क्योंकि इस प्रकार के पद्मासन का उल्लेख सर्वमान्य नहीं है। पद्मासन के स्वरूप को बताते हुए दूसरा लक्षण सही होता है। योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार दोनों जाँघों पर एक दूसरे पैर के तलवों को सीधा रखने से पद्मासन कहलाता है जो सब पापों का नाश करने वाला है।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्[3] के अनुसार दोनों जाँघों पर दोनों पैर के तलवों को रखकर बैठने से पद्मासन होता है जो सब व्याधियों और विषों का नाशक बताया गया है। पद्मासन पर अच्छी तरह से बैठकर दाहिने हाथ से बाएं पैर के अंगूठे को और बायें हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ना बद्ध-पद्मा-सन कहलाता है। जबकि शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दोनों जंघाओं पर दोनों पैरों के तलवों को रखकर दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को उल्टी रीति से पकड़ कर रखना, सर्वमान्य पद्मासन है।[4] जाबालदर्शनोपनिषद् ने भी दोनों हाथों से दोनों पैरों के अंगूठे को पीठ के पीछे से लाकर पकड़ने को ही पद्मासन कहा है।[5]

किन्तु बद्ध-पद्मासन के यदि शाब्दिक तत्त्व का अनुशीलन किया जाये तो यही अर्थ निकलता है कि जिस आसन में शरीर बाँधा जाये वही बद्ध-पद्मासन कहलाता है। इसके लाभों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि जो योगी इस आसन में स्थित होकर नासिका द्वारा प्राणवायु को ब्रह्मरन्ध्र में ले जाकर रोकता है, वह मुक्त है।[6] प्राणवायु का ब्रह्मरन्ध्र में जाकर ठहरना ही समाधि की अवस्था का द्योतक है। प्राण की प्रशंसा करते हुए शिव-स्वरोदय में कहा गया है कि 'प्राण ही परम मित्र है। प्राण ही परम सखा है और प्राण के सदृश श्रेष्ठ बन्धु कोई नहीं है।[7] प्राणायाम के सिद्ध होने के पश्चात् पद्मासन में ही

---

1. ह० प्र०—1।46-49
2. योगकुण्डल्युपनिषद्—1।5
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—39-40
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/3
5. जाबालदर्शनोपनिषद्—3/5
6. ह० प्र०—1/51
7. शिवस्वरोदय—219

योगी भूमि से ऊपर उठने लगता है।[1] यह आसन पैरों, घुटनों और जंघाओं के लिए बहुत अच्छा माना गया है। इस आसन के सिद्ध होने पर योगी की समाधि स्वयमेव लगने लग जाती है।

## 14. सिंहासन

दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी नाड़ी के दोनों ओर अर्थात् बाँयी ऐड़ी को दाहिने पार्श्व में तथा दायीं एड़ी को वाम पार्श्व में स्थापित कर दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रख तथा सभी अंगुलियों को फैला कर मुख को यथाशक्ति खोलकर अपनी दृष्टि को नासाग्र भाग पर स्थिति करना सिंहासन कहलाता है।

यह आसन उत्तम योगियों द्वारा पूजित है, क्योंकि इस आसन में तीनों बन्ध स्वयमेव लग जाते हैं।[2] त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में भी इसी प्रकार का वर्णन उपलब्ध होता है।[3] जबकि शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार दाहिने गुल्फ के साथ बाएँ गुल्फ को और बायें गुल्फ के साथ दायें गुल्फ को लगाकर बैठना, दोनों हाथों को दोनों बाजुओं पर रखना, दोनों हाथों की अंगुलियों को फैलाकर, भली प्रकार एकाग्र होकर प्रसन्न मुख में नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि रखना, सिंहासन कहलाता है। योगीजन सदा इसकी प्रशंसा करते हैं।[4]

सीवनी नाड़ी पर दबाव पड़ने से ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है। अतः ब्रह्मचर्य हेतु यह आसन सबसे श्रेष्ठ माना जाता है। मुख को यथाशक्ति खोलने से यह गले तथा जिह्वा के लिए उपयोगी माना जा सकता है। इससे नेत्रज्योति तो बढ़ती ही है, इसके निरंतर अभ्यास से शरीर में असीम बल, सिंह सदृश साहस भी उत्पन्न होता है। तीनों बन्ध लग जाने से योगी की आयु में वृद्धि, कामदेव सदृश देह की प्राप्ति के साथ-साथ कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी आसन सहायक सिद्ध हो सकता है।

## 15. भद्रासन

दोनों पैरों की एड़ियों को अण्डकोष के नीचे सीवनी के पार्श्व भाग में इस प्रकार

---

1. योगतत्त्वोपनिषद्—55
2. ह० प्र०—1/52-54
3. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—44
4. शाण्डिल्योपनिषद्—3/5-6

से स्थापित करें कि वाम एड़ी सीवनी नाड़ी के वाम और दाहिनी एड़ी सीवनी नाड़ी के दायें भाग पर आये तत्पश्चात् अपने दोनों हाथों से पैरों को भली प्रकार पकड़कर स्थिर रहें। वह भद्रासन सभी रोगों को दूर करने वाला कहा गया है। कुछ सिद्धयोगी इसे गोरक्षासन भी कहते हैं। योगियों को इस प्रकार के हल्के आसनों से उत्पन्न श्रम को दूर करना चाहिए।[1]

शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार लिंगेन्द्रिय के नीचे की सीवनी पर दोनों गुल्फों को जमाकर रखने और हाथों से पैरों के दोनों पार्श्वों को दृढता पूर्वक पकड़ कर निश्चित बैठने से भद्रासन होता है, जो समस्त रोगों और विष आदि का नाश करने वाला है।[2] जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार दोनों घुटनों को अण्डकोष के नीचे, पार्श्वों में रखने और दोनों हाथों से पार्श्वभाग तथा पाँवों को दृढ़ता से बाँधकर बैठने को भद्रासन कहते हैं, यह भद्रासन विष से उत्पन्न हुए रोगों का नाश करने वाला है।[3] घेरण्ड-संहिता में इस आसन को अधिक स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि दोनों एड़ियों को उलट कर अण्डकोशों के नीचे रखें तथा पीठ की ओर पद्मासन के समान दोनों अंगूठों को पकड़ लें, जालन्धर बन्ध की स्थिति करके नासिका के अग्रभाग को देखें, यह भद्रासन कहलाता है।[4]

इस आसन के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी तथा मूत्र सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है। "ब्रह्मचर्य के लिए यह बहुत उपयोगी माना जाता है।" नितम्ब प्रदेश में उत्पन्न सभी दर्दों को यह दूर करता है। इसे बच्चों, युवाओं और वृद्धों के लिए सबसे सरल और उपयोगी माना जा सकता है। यह आसन घुटनों, जंघाओं और पिण्डलियों के लिए भी उपयोगी है।

शाण्डिल्योपनिषद् में कहा गया है कि ये आसन समस्त रोगों के निवारक और विष का शमन करने वाले हैं अशक्य व्यक्ति को भी इन्हें सुखपूर्वक धारण करने का अभ्यास करना चाहिए। इन आसनों की सिद्धि त्रिलोक की सिद्धि के समान है।[5]

---

1. ह० प्र०—1/55-56
2. शा० उ०—3/8
3. जा० द० उ०—3/7
4. घे० सं०—2/9
5. शाण्डिल्योपनिषद्—3

अध्याय-4

# नाड़ी-शोधन प्राणायाम

आसनों के पश्चात् हठयोग के सभी ग्रन्थों में यह स्पष्ट किया गया है कि वायु के चलायमान होने पर चित्त भी चंचल होता है तथा वायु के स्थिर हो जाने पर चित्त भी स्थिर हो जाता है और तभी योगी स्थिरता को प्राप्त होता है।[1] जब तक शरीर में वायु की विद्यमानता रहती है तब तक ही जीवन कहलाता है, उसका शरीर से निकल जाना ही मरण है। अत: प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। किन्तु मलयुक्त नाड़ियों में प्राणवायु का गमन सम्यक् प्रकार से नहीं हो सकता और जब तक प्राणवायु का गमन नहीं होता तब तक उन्मनी अवस्था की प्राप्ति असंभव है। उन्मनी अवस्था को स्पष्ट करते हुए हठयोगप्रदीपिकाकार स्वयं लिखते हैं कि जब प्राणवायु सुषुम्ना में प्रवेश करता है तब मन में स्थिरता आ जाती है। मन का सम्यक् रूप से स्थिर रहना ही उन्मनी अवस्था कहलाती है।[2] मलों से व्याप्त सभी नाड़ियां जब निर्मल हो जाती हैं तब साधक समुचित रूप से प्राणवायु को नियंत्रित करने में समर्थ होता है। इसीलिए प्रतिदिन सात्त्विक बुद्धि से नाड़ी-शोधन प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए। घेरण्ड-संहिता में कहा गया है कि कुश का आसन, मृगछाला या सिंह छाला कम्बल अथवा स्थल में से किसी प्रकार के आसन पर पूर्व या उत्तर की ओर मुख करके, नाड़ी शुद्ध होने पर प्राणायाम का साधन करना चाहिए।[3] गोरक्षसंहिता के अनुसार प्राण-अपान को संयुक्त करके प्रणव की बारह मात्राओं से पूरक[4] करना चाहिए। इससे सभी दोषों का शोधन

---

1. (क) गोरक्ष-संहिता—1/89
   (ख) ह०प्र०—2/2
2. वही—2/42
3. घेरण्ड-संहिता, 5/32
4. (क) पूरक—श्वास वायु को नासिका द्वारा उदर में भरना पूरक कहलाता है।
   (ख) रेचक—नासिका द्वारा श्वास को निकालना।
   (ग) कुम्भक—श्वास को उदर में रोके रखना कुम्भक कहलाता है।

हो जाता है। यह योगियों के लिए सदा ज्ञातव्य है।[1]

नाड़ी शोधन की प्रक्रिया को निरूपित करते हुए हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि पद्मासन में बैठकर साधक को चन्द्र नाड़ी (बायीं नासिका) से श्वास को ग्रहण करके अपनी शक्ति के अनुसार श्वास को रोककर सूर्य नाड़ी (दायीं नासिका) से श्वास को छोड़ना चाहिए और पुनः प्राणवायु को सूर्यनाड़ी द्वारा खींचकर धीरे-धीरे करके फिर विधिवत् श्वास को उदर में रोककर चन्द्रनाड़ी से छोड़ देना चाहिए जिससे श्वास का त्याग किया हो उसी नासिकारन्ध्र से श्वास का ग्रहण कर श्वास को तब तक रोकें जब तक श्वास छोड़ने की संवेदना न हो। और तब श्वास को धीरे-धीरे दूसरे नासिका-रन्ध्र से छोड़ें। यदि प्राणवायु को इड़ा से पूरित करें तो उसे कुम्भक कर पुनः दूसरे से छोड़ देना चाहिए और बाद में पिंगला से वायु ग्रहण करके, कुम्भक कर, बायें से छोड़ देना चाहिए। इस प्रकार बायें और दाहिने नासिकारन्ध्र से लगातार प्राणायाम का अभ्यास करने से योगसाधकों के नाड़ी-समूह तीन मास से कुछ अधिक समय में निर्मल हो जाते हैं।[2] उचित रीति से प्राणायाम का अभ्यास करने से सभी रोगों का नाश होता है किन्तु प्राणायाम के गलत अभ्यास से वायु के प्रकोप से हिचकी, दमा, खांसी, सिर, कान और आंखों में पीड़ा तथा अन्य प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जाती है।[3] और जब नाड़ियां निर्मल हो जाती हैं तब उसके बाह्य लक्षण प्रकट होते हैं, जैसे शरीर निश्चित रूप से पतला और कान्तिमान् हो जाता है। इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है, अन्तः प्रवर्तित नाद का अनुभव होता है तथा आरोग्य लाभ होता है।[4]

## षट् कर्म

षट्कर्म उन छः क्रियाओं का नाम है, जिनके द्वारा शरीर का शोधन माना गया है। यह छः शोधन क्रियाएं स्थूलता और कफ वाले व्यक्ति को सबसे पहले करनी चाहिए। किन्तु जिन व्यक्तियों में त्रिदोषों (वात-पित्त-कफ) की समानता हो, उन्हें इन क्रियाओं के अभ्यास की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है। ये छः शोधन क्रियाएं इस प्रकार से हैं—धौति, बस्ति, नेति, त्राटक, नौलि और कपालभाति।[5]

---

1. गोरक्ष-संहिता—2/3
2. ह० प्र०—2/7-10
3. वही—2/16-17
4. वही—2/19-20
5. (क) वही—2/22
   (ख) घेरण्ड-संहिता—1/12

## 1. धौति

चार अंगुल चौड़ा, पन्द्रह हाथ लम्बा कपड़ा, जल में भिगोकर गुरु के निर्देश के अनुसार धीरे-धीरे निगलना चाहिए। पुन: इसे धीरे-धीरे बाहर निकालना चाहिए—इसे धौति-क्रिया कहते हैं।[1] जबकि घेरण्ड-संहिता के अनुसार अन्तधौति, दन्तधौति, हृद्धौति और मूलशोधन के भेद से धौतिकर्म चार प्रकार का माना गया है। इसके द्वारा योगी स्वशरीर को स्वच्छ एवं सुन्दर बनाते हैं।[2] इस धौतिक्रिया के फलस्वरूप खांसी, दमा, तिल्ली, कुष्ठ तथा अन्य बीस प्रकार के कफ-सम्बन्धी रोगों का नाश होता है।[3] इसके साथ ही क्रमश: नाड़ी समूहों पर नियन्त्रण पाकर साधकगण अपानवायु को ऊपर उठाकर कण्ठनली में लाकर, उदरस्थित पदार्थों (अन्न आदि) का वमन करते हैं। हठ-योग के जानकार इसे गजकरणी कहते हैं।[4]

## 2. बस्ति

नाभिपर्यन्त जल में स्थित होकर गुदा में एक नली का प्रवेश कराकर उत्कटासन में साधक गुदा का संकोचन कर जल द्वारा अन्दर के भाग का शोधन करे। इसी क्रिया को बस्ति क्रिया कहते हैं।[5] घेरण्ड-संहिता में बस्तिकर्म दो प्रकार का बताया गया है—(1) जलबस्ति और (2) शुष्कबस्ति। जलबस्ति जल में और शुष्कबस्ति स्थल में की जाती है।[6]

इस बस्ति-क्रिया के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा, जलोदर तथा वात-पित्त-कफ से उत्पन्न होने वाले सभी दोष नष्ट हो जाते हैं, इससे त्रिदोषों का पूर्णत: निवारण हो जाता है, धातु, इन्द्रिय तथा अन्त:करण की प्रसन्नता होती है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा शरीर कामदेव के समान सुन्दर व आकर्षक बन जाता है।

## 3. नेति

चिकनी और लगभग नौ इंच लम्बी सूत से बनी सूत्र नेति को नासिका में डाल-

1. ह०प्र०—2/24
2. घेरण्ड-संहिता—1/13
3. ह० प्र०—2/25
4, वही—2/38
5. वही—2/27
6· घेरण्ड-संहिता—1/45

कर उसे मुख से बाहर निकालना ही नेति कर्म कहलाता है।[1]

इस क्रिया के अभ्यास से कपालप्रदेश की शुद्धि होती है। यह दिव्यदृष्टिप्रदायिनी है। इससे स्कन्ध प्रदेश से ऊपर होने वाले रोगसमूहों का नाश होता है। घेरण्ड-संहिता के अनुसार आधे हाथ लम्बा डोरा लेकर नासिका में डालकर मुख के द्वारा बाहर निकालना नेति कर्म कहलाता है। इसके साधन से खेचरी मुद्रा की सिद्धि कफ-दोषों की निवृत्ति और दिव्यदृष्टि उपलब्ध होती है।[2]

## 4. त्राटक

स्थिर दृष्टि से किसी सूक्ष्म लक्ष्य को एकाग्र होकर तब तक देखना जब तक आंख से आंसू न आ जाय। आचार्यों द्वारा यह त्राटक कर्म कहा गया है।[3]

इस त्राटक के द्वारा नेत्र रोगों का नाश होता है तथा तन्द्रा आदि की निवृत्ति होती है। अतः इस त्राटक को सोने की पेटी के समान महत्त्व देकर इसकी रक्षा करनी चाहिए।[4]

इस क्रिया में अपनी दृष्टि को किसी भी सूक्ष्म पदार्थ पर केन्द्रित करना चाहिए। यदि किसी वृक्ष के पत्तों पर अपनी दृष्टि को केन्द्रित किया जाये तो नेत्रों की ज्योति बढ़ती है। इसका अभ्यास धीरे-धीरे बढ़ाना चाहिए। इसके सिद्ध होने पर मनुष्य की एकाग्रता बढ़ती है तथा वह किसी भी प्राणी को वशीभूत कर सकता है।

## 5. नौलि

स्कन्ध प्रदेश को (60 डिग्री) आगे की ओर झुकाकर तीव्र वेग वाले भंवर के समान उदर के दायें भाग को वाम भाग तथा वाम भाग को दाहिनी तरफ वेग से घुमाना चाहिए। सिद्धों ने इसे ही नौलिकर्म कहा है।[5]

नौलि क्रिया करने से पूर्व उड्डीयान बन्ध अवश्य लगाना चाहिए। इस क्रिया को करने से पहले सीधे खड़े होकर, दोनों पांवों में एक फुट के लगभग दूरी रख कर, दोनों

---

1. ह० प्र०—2/29
2. घेरण्ड-संहिता—1/50-51
3. ह० प्र०—2/31
4. वही—2/32
5. वही—2/33

हाथों से दोनों पांवों के घुटनों को दबाते हुए वायु का रेचक करके पेट को पिचका कर मेरुदण्ड से लगाना चाहिए। इस क्रिया के पश्चात् नल तथा नाभि प्रदेश को ऊपर उठाने का अभ्यास करना चाहिए। इस क्रिया के चालीस दिन अभ्यास करने के बाद नल तथा नाभि अपने स्थल से ऊपर की ओर आ जाता है। तत्पश्चात् उस प्रदेश को उदर में भंवर के समान घुमाना चाहिए। इसी क्रिया को नौलि कर्म कहते हैं।

सदा प्रसन्नतावर्धक इस नौलि कर्म के प्रभाव से मन्द हुई जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा पाचन शक्ति में वृद्धि होती है। हठक्रिया में अग्रणी यह अनेक प्रकार के रोगों की नाशक है।[1]

## 6. कपालभाति

लुहार की धौंकनी के समान शीघ्रतापूर्वक श्वास का रेचक तथा पूरक करने को कपालभाति कहते हैं। इससे कफ आदि रोगों की निवृत्ति होती है।[2]

घेरण्ड-संहिता में इस क्रिया के तीन भेद बताये गये हैं—

(क) **वातक्रम**—इड़ा नाड़ी से वायु का पूरक और पिंगला से रेचन तत्पश्चात्, पिंगला से पूरक तथा इड़ा से रेचक।

(ख) **व्युत्क्रम**—दोनों नासारन्ध्रों से जल को खींचकर मुख से निकालना तथा मुख से पीकर दोनों नासारन्ध्रों से जल को निकालना।

(ग) **शीत्क्रम**—शीत्कार के साथ जल को मुख के द्वारा ग्रहण करके दोनों नासारन्ध्रों से निकालना।

उपर्युक्त निर्दिष्ट षट्क्रियाओं द्वारा मुटापा, कफ, पित्त और वात सम्बन्धी रोग तथा मल इत्यादि दोषों का निवारण करने के पश्चात् ही प्राणायाम करना चाहिए क्योंकि इससे प्राणायाम अनायास ही सिद्ध होता है।

कुछ आचार्यों का ऐसा मत है कि सभी प्रकार के मलों का केवल प्राणायाम से ही नाश हो जाता है। अतः वे अन्य क्रियाओं की आवश्यकता नहीं समझते।[3] सम्भवतः ऐसा प्रतीत होता है कि स्वयं हठयोगप्रदीपिकाकार ने इन षट् कर्मों की उपयोगिता को समझ कर उन षट् कर्मों का सविस्तार विवेचन किया है तथा उन्होंने पहले ही कह दिया है कि "इन षट् क्रियाओं को करने के बाद प्राणायाम अनायास ही सिद्ध हो जाता है।[4]

---

1. ह० प्र०—2/34
2. वही—2/35
3. वही—2/37
4. वही—2/36

## प्राणायाम

प्राणायाम द्वारा स्वास्थ्य-सम्पादन की विधि दैवी चिकित्सा है। शरीरस्थ च्यवनप्रक्रिया को अश्विनीकुमार या प्राणायाम ही सम्यक् रोककर पुनः स्वास्थ्य और आयु की वृद्धि कर सकते हैं। शरीरस्थ रसों को फिर से यविष्ट बनाने वाली विधि भी प्राणायाम ही है। प्राचीन ऋषियों ने प्राणविद्या के रहस्य को जानकर जिस योगविधि का आविष्कार किया, अनन्तकाल तक यही विधि अमृततत्त्व और दीर्घ आयुष्म की प्राप्ति के लिए सर्वोत्कृष्ट मानी जाती रहेगी। प्राण की प्रतिष्ठा ही अमृततत्त्व है, प्राण की उत्क्रान्ति ही मृत्यु है। ब्रह्मचर्य ही प्राणप्रतिष्ठा का सर्वोत्तम मार्ग है। सर्व प्रकार की निर्विकारिता ही प्राणों को प्रकृतिस्थ क्षोभरहित रखती है।[1] साधारणतः हमारा चित्त जब संसारमुखी होता है तब श्वास भी बाहर की ओर विचरण करता है। इस श्वास की गति की ओर योगियों ने ध्यान दिया है। जब श्वास हमारी बायीं अथवा दाहिनी नासिका से चलता है तब संसार-वासना स्पन्दित होती है। सब जीवों का श्वासप्रवाह इन्हीं दो नासापुटों से प्रवाहित होता है, अतएव संसार-वासना किसी तरह निवृत्त नहीं होती। इसी कारण योगियों ने ऐसी चेष्टा की है कि श्वास बाहर की ओर गमनागमन न करे। बाहर की ओर गमनागमन करने का पथ इड़ा और पिंगला नाड़ी हैं और साधारणतः अज्ञानी की ज्ञाननाड़ी-सुषुम्ना-पथ बन्द रहता है। योगी इसीलिए इड़ा और पिंगला नाड़ी का द्वार बन्द करके सुषुम्ना मार्ग से प्राण को चलाने की चेष्टा करते हैं, अन्यथा मनुष्य के अन्दर वास्तविक ज्ञान का उदय होना सम्भव नहीं। हमें समस्त ज्ञान नाड़ी-पथ से होता है। ब्रह्मज्ञान भी नाड़ी-पथ से ही होता है, वह ब्रह्मज्ञान प्रवाहिका नाड़ी सुषुम्ना है। उसी से प्राण को चलाना ही प्राणायाम का वास्तविक उद्देश्य है।[2]

प्राणायाम का शाब्दिक अर्थ है····'प्राणस्य आयामो गतिरोधः' अर्थात् प्राण वायु अर्थात् श्वास-प्रश्वास की गति को रोकना ही प्राणायाम कहलाता है। आचार्य पातंजल के अनुसार आसन के सिद्ध होने पर श्वास-प्रश्वास की गति को रोकने का ही नाम प्राणायाम है।[3]

डा० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल के शब्दों में प्राणायाम के द्वारा प्राणवायु मात्र नहीं, अपितु दशों वायु वश में आ जाते हैं। परन्तु इसके लिए शरीर में वायु के आ जाने

---

1. कल्याण योगांक—पृ० 658
2. कल्याणांक—720
3. पातंजल योगदर्शन—2/49

के सत्र मार्ग वन्द कर देना आवश्यक होता है। शरीर के रोम-रोम में नाड़ी मुखों का अन्त है, जिनके द्वारा शरीर में पवन आता जाता है। इसी कारण कुछ योग-पन्थों में भस्म धारण आवश्यक बताया गया है। किन्तु वायु के यातायात के प्रधान द्वार नौ हैं। इन नौ द्वारों को वन्द रखना नाथपन्थी भाषा में 'वायुभक्षण' के लिए आवश्यक है। इस प्रकार जब वायु शरीर में व्याप्त हो जाता है तो बिन्दु स्थिर होकर अमृत का आस्वादन होता है और अनाहत नाद सुनाई देने लगता है, तथा स्वयं-प्रकाश आत्म-ज्योति के दर्शन होने लगते हैं।[1] कुम्भक के समय-भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का होता है उत्तम मध्यम और कनिष्ठ। उत्तम प्राणायाम में कुम्भक 50 सेकण्ड का होता है, मध्यम 33 सेकण्ड का और कनिष्ठ प्राणायाम 16 सेकण्ड का होता है।

| प्राणायाम | पूरक | कुम्भक | रेचक | बाह्य कुम्भक |
|---|---|---|---|---|
| कनिष्ठ | 4 | 16 | 8 | 1 |
| मध्यम | 6 | 33 | 10 से 12 | 2 |
| उत्तम | 8 | 50 | 12 से 16 | 3 |

उत्तम प्राणायाम में प्रवेश होने के पश्चात् प्राणतत्त्व सुषुम्ना द्वारा मस्तिष्क में चढ़ने लगता है। आरम्भ में वह पिपीलिका (चींटी) के समान धीरे-धीरे सूक्ष्म परिमाण में ऊपर चढ़ता है। पश्चात् तीनों ग्रन्थिभाग के आगे नाड़ी के शेष भाग की शुद्धि होने पर मेढक की गति से कूदकर ऊपर चढ़ने लगता है और भस्त्रा प्राणायाम द्वारा कुम्भक बढ़ने से ग्रन्थियों के भेदन होने पर विहङ्गम (पक्षी) की तरह उड़कर शीघ्र प्राणतत्त्व सहस्रदलकमल में प्रवेश करता है। जब प्राणतत्त्व मस्तिष्क में जाने लगता है तब मस्तिष्क का शोधन हो जाता है और सहनशीलता भी बढ़ जाती है, जिससे कष्ट मालूम नहीं होता। एकाध वर्ष बाद जब प्राणतत्त्व अधिक वेग से गति करने लगता है तब मन की एकाग्रता होकर आनन्द का अनुभव होने लगता है।[2]

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम के सम्बन्ध में कहा गया है कि विधिपूर्वक प्राणायाम के अभ्यास से समस्त नाड़ी समूहों के निर्मल होने पर प्राणवायु सुषुम्ना के मुख का भेदन कर उसमें सुखपूर्वक प्रविष्ट हो जाता है, इसका सुषुम्ना में प्रवेश होने पर मन में स्थिरता उत्पन्न होती है। मन का भली प्रकार से स्थिर हो जाना ही मनोन्मनी अवस्था कहलाता है।[3]

---

1. कल्याण का योगांक—पृ० 703
2. वही—पृ० 553
3. ह० प्र०—2/41-42

इसके अनन्तर हठयोगप्रदीपिका में कुम्भक भेद का निरूपण करते हुए कहा गया है कि 'सूर्यभेदन, उज्जायी, सीत्कारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्च्छा और प्लाविनी ये आठ प्रकार के कुम्भक होते हैं।[1] गोरक्ष-संहिता के अनुसार प्राणायाम तीन प्रकार का है।[2] योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार प्राणायाम चार प्रकार का है—सूर्यभेदी, उज्जायी शीतली और भस्त्रिका।[3] शाण्डिल्योपनिषद् के अनुसार रेचक, पूरक और कुम्भक के भेद से प्राणायाम तीन प्रकार का है।[4]

हठयोगप्रदीपिका में प्राणायाम करने से पूर्व कुछ बातों को आवश्यक माना है कि पूरक के अन्त में जालन्धर बन्ध लगाना चाहिए और कुम्भक के अन्त तथा रेचक के प्रारम्भ में उड्डियान बन्ध करना चाहिए। जालन्धर बन्ध के पश्चात् नीचे के प्रदेश (गुदा) का शीघ्रता से आकुञ्च करना चाहिए इसी को मूलबन्ध भी कहते हैं। मूलबन्ध होने से तथा मध्यभाग (उदर) को पीछे की ओर दबाने से अर्थात् उड्डियान बन्ध लगाने पर प्राण सुषुम्ना में प्रवेश करता है।[5]

## प्राणायाम के भेदों का निरूपण

### 1. सूर्यभेदन

योगाभ्यासी को सर्व प्रथम किसी भी प्रकार का आसन बिछाकर, उस पर सुखपूर्वक (कोई भी) आसन लगाना चाहिए। तदनन्तर दाहिने नथुने से बाहरी वायु को धीरे धीरे अन्दर खींचकर, उसे जब तक सम्भव हो सके अधिकाधिक रोककर बायें नथुने से धीरे-धीरे श्वास को छोड़ना चाहिए। इसी को सूर्यभेदी प्राणायाम कहते हैं। यह अभ्यास मस्तकप्रदेश को शुद्ध करता है, वात-सम्बन्धी रोगों का नाशक है, उदर में

---

1. (क) ह० प्र०—2/44
   (ख) घेरण्ड संहिता—5/55
2. गोरक्ष-संहिता—2/4-6
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—21
4. शाण्डिल्योपनिषद्, षष्ठ खण्ड
5. (क) ह० प्र०—2/45-46
   (ख) मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालन्धरबन्ध के लिए मुद्रा निरूपण अध्याय द्रष्टव्य है।

उत्पन्न कृमि दोषों को दूर करने वाला है। अतः इस सूर्यभेदन नामक प्राणायाम का उत्तम अभ्यास पुनः पुनः करना चाहिए।[1]

इस प्राणायाम को ग्रीष्म ऋतु में तथा अधिक पित्त वाले व्यक्तियों के लिए निषिद्ध माना गया है। इस प्राणायाम के प्रभाव से कपाल प्रदेश में उत्पन्न श्लेष्म, वातवहा नाड़ियों के विकार, रक्तदोष, उदरसम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है। सूर्य अग्नि स्वरूप है। उसी पर इस प्राणायाम का नामकरण हुआ है क्योंकि इस प्राणायाम को करने से शरीर में उष्णता की वृद्धि होती है। घेरण्डसंहिता के अनुसार यह सूर्यभेद संज्ञक कुम्भक वृद्धावस्था तथा मृत्यु का नाश करने वाला है। इससे कुण्डलिनी शक्ति का जागरण होता है और शरीरस्थ अग्नि प्रदीप्त होती है।[2]

## 2. उज्जायी

मुख को बन्द कर दोनों नासारन्ध्रों से धीरे-धीरे इस प्रकार श्वास लेना चाहिए कि जिससे शब्द उत्पन्न हो, तथा जिससे कण्ठ से लेकर हृदय प्रदेश पर्यन्त उसके स्पर्श का अनुभव हो। पूर्ववत् कुम्भक करने के उपरान्त श्वास का इड़ा नाड़ी से रेचक कर देना चाहिए। इससे कण्ठ में उत्पन्न होने वाले कफ दोष दूर होते हैं तथा जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा नाड़ी सम्बन्धी, जलोदर और धातु सम्बन्धी रोगों का निराकरण होता है। अतः इस प्राणायाम का अभ्यास चलते हुए तथा बैठते हुए भी करना चाहिए।[3]

योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से मस्तिष्क की उष्णता, गले का कफ और अन्य अनेक प्रकार के रोग दूर हो जाते हैं और देह की अग्नि की वृद्धि होती है।[4] इस प्राणायाम के प्रभाव से उदर सम्बन्धी रोगों का निवारण होता है। हृदय की धड़कन न्यून होती है। घेरण्ड-संहिता के अनुसार इससे पूर्ण कार्य सिद्ध हो जाते हैं, कफरोग, क्रूर वायु और अजीर्ण की उत्पत्ति नहीं होती। आमवात, क्षय. कांस, ज्वर, प्लीहा आदि रोगों की उत्पत्ति नहीं होती। यहां तक कि इस प्राणायाम के सिद्ध होने पर जरा-मरण का भी नाश हो जाता है।[5]

---

1. ह० प्र०—2/48-50
2. घेरण्ड संहिता—5/67
3. ह०प्र०—2/51-53
4. योगकुण्डल्युपनिषद्—28
5. घेरण्ड-संहिता—5/70-71

## 3. सीत्कारी

जिह्वा को दोनों ओष्ठों के मध्य रखकर मुख से सीत्कार करते हुए वायु का पूरक करना चाहिए तथा (वायु का) रेचक केवल नासारन्ध्र से ही करना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से अभ्यासी कामदेव के समान सुन्दर बन जाता है।

वह योगाभ्यासी योगिनी समूहों द्वारा प्रशंसा प्राप्त करता है, वह सृष्टि और संहार करने में भी समर्थ होता है, और उसे कभी भी भूख-प्यास, निद्रा तथा आलस्य नहीं सताता। इस (प्राणायाम) का अभ्यासी बलयुक्त होकर शरीर पर नियन्त्रण प्राप्त करके सभी प्रकार के उपद्रवों से बचा रहता है और इस भूमिमण्डल में एक विख्यात योगी के रूप में प्रसिद्ध हो जाता है।[1]

इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से रक्त की शुद्धि, उदर के रोगों का नाश, आलस्य का निवारण तथा मानसिक स्थिरता की प्राप्ति होती है। इसके अभ्यास से मुख पर पड़ने वाली झाईयां, झुरियाँ तथा पीलापन दूर होता है। यह प्राणायाम पित्तप्रकोप का शमन करके शरीर को सुन्दर बनाता है। भूख, प्यास और गर्मी के समय में यह अत्यन्त लाभकारी प्राणायाम माना जाता है।

## 4. शीतली

काकचंचुवत् जिह्वा को गोल बनाकर उसे दोनों ओष्ठों के मध्य स्थापित करके श्वास का पूरक करने के पश्चात् कुम्भक का अभ्यास करना चाहिए। तत्पश्चात् धीरे-धीरे बुद्धिमान् योगाभ्यासी को दोनों नासारन्ध्रों के द्वारा वायु को बाहर निकाल देना चाहिए।

इस शीतली कुम्भक के अभ्यास से गुल्म, प्लीहा आदि अनेक रोग, ज्वर, पित्त, भूख, प्यास इत्यादि विकार तथा विष का प्रभाव भी नष्ट हो जाता है।[2]

घेरण्ड-संहिता एवं योगकुण्डल्युपनिषद् में भी इसके लाभों का वर्णन उपलब्ध होता है कि इस प्राणायाम के अभ्यास से अजीर्ण, कफ-पित्त, गुल्म, प्लीहा, तृषा, ज्वर तथा विष सदृश रोगों का नाश होता है।[3]

---

1. ह० प्र०—2/54-56
2. ह० प्र०—2/57-58
3. (क) घेरण्ड-संहिता—5/73
   (ख) योगकुण्ड०—31

इसके अतिरिक्त इससे शरीर में तेजस्विता तथा सुन्दरता की वृद्धि होती है और इससे उदर के कीड़ों का नाश एवं जठराग्नि प्रदीप्त होती है। यह प्राणायाम उच्च-रक्तचाप वालों के लिए बहुत अच्छा माना गया है। किन्तु सर्दी, जुकाम आदि से पीड़ित जनों को इसका अभ्यास नहीं करना चाहिए।

## 5. भस्त्रिका

सम्यक् प्रकार से पद्मासन लगाकर, मेरुदण्ड तथा गर्दन को सीधा कर बुद्धि-मान् को चाहिए कि मुख को बन्द करके उदरस्थ वायु को किसी भी एक नासारन्ध्र से यत्नपूर्वक इस प्रकार से बाहर निकाल दे कि शब्द करती हुई वायु हृदय, कण्ठ, तथा कपाल प्रदेश का स्पर्श करे। रेचक करने के उपरान्त शीघ्र ही वेगपूर्वक पुनः वायु का हृदय कमल पर्यन्त ग्रहण करना चाहिए। पुनः उपर्युक्त रीति से वायु का रेचक और पूरक करें। इस क्रिया को बार-बार उसी प्रकार से करना चाहिए जिस प्रकार लुहार के द्वारा वेगपूर्वक धौंकनी चलायी जाती है। इसका अभ्यास तब-तक करना चाहिए जब तक शरीर में थकान न आ जाये। थकावट होने पर साधक को दायें नासा-रन्ध्र से श्वास का ग्रहण करना चाहिए, जब वायु द्वारा उदर पूर्णरूप से भर जाये तब नासिका को मध्यमा तथा तर्जनी अँगुलियों से दृढ़ता रहित धारणा कर विधिपूर्वक कुम्भक कर वामनासारन्ध्र से वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार यह भस्त्रिका प्राणायाम वात-पित्त-कफ इत्यादि रोगों का निवारण करता है तथा इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। इस प्राणायाम के निरन्तर अभ्यास से सुषुम्ना के मुख पर जमें हुए कफ आदि दोषों का नाश होता है फलस्वरूप सुखदायी तथा हितकारी प्राणवायु शीघ्र ही कुण्डली को जगाता है।

इसके अतिरिक्त यह भस्त्रिका प्राणायाम शरीर की तीनों ग्रन्थियों का सम्यक् प्रकार से भेदन करता है। अतः इसका अभ्यास विशेष रूप से करना चाहिए।[1] आरम्भिक काल में इस प्राणायाम का अधिक अभ्यास नहीं करना चाहिए क्योंकि अधिक करने पर फुफ्फुसकोष पर ज्यादा दबाव पड़ने का भय रहता है।

## 6. भ्रामरी

इस प्राणायाम में वेगपूर्वक भ्रमर के समान आवाज करते हुए दोनों नासारन्ध्रों

---

1. ह० प्र०—2/59-67

से श्वास का पूरक कर भ्रमरी के समान शब्द करते हुए ही श्वास को बाहर निकाल देना चाहिए। यह रेचक क्रिया धीरे-धीरे करनी चाहिए। इसके निरन्तर अभ्यास से श्रेष्ठ साधकों के चित्त आनन्दयुक्त हो जाते है।[1]

स्वामी श्री कृष्णानन्द जी 'प्राणायामविषयक मेरा अनुभव' में लिखते हैं कि "सिद्धासन लगाकर नेत्र बन्द कर लें और भ्रू में लक्ष्य रखें तथा जालन्धर बन्ध लगा हो। इस प्राणायाम के समय जालन्धर बन्ध बराबर लगा रहना चाहिए।" फिर दोनों नासा-पुटों से भ्रमर के नाद के समान स्वरसहित पूरक करें। पश्चात् 3 सेकण्ड कुम्भक करके शनैः शनैः आवाज सहित रेचक करें। इस प्रकार 144 प्राणायाम करें। सुनते हैं कि भ्रामरी और मूर्छा कुम्भक का बौद्ध सम्प्रदाय में अधिक प्रचार था। इस कुंभक की पांच अवस्थाएं हैं। प्रथमावस्था में कुछ दिन पूरक करके पश्चात् कुम्भक के समय महामुद्रा की जाती है। नियमपूर्वक तीन सेकण्ड का कुम्भक होने पर पुनः सिद्धासन लगा कर रेचक किया जाता है। पहले बायें पैर से, पीछे दाहिने पैर से, पश्चात् दोनों पैर फैला-कर महामुद्रा करके इस प्राणायाम का अभ्यास किया जाता है। दूसरे प्राणायामों के साथ की जाने वाली महामुद्रा में और भ्रामरी के साथ की इस महामुद्रा को कोई-कोई साधक 48 से 72 तक करते हैं। इसलिए एक वर्ष के पश्चात् जानु से 6 इंच आगे और गुल्फ से 10 इंच ऊपर के भाग में कपाल लग जाता है।

पहली अवस्था की सिद्धि होने के बाद दूसरी अवस्था में खेचरी करके 6 सेकण्ड का कुम्भक होता है और एक समय विधि के अनुसार मस्तिष्क को बायें से दाहिनी तरफ घुमाकर जालन्धर बन्ध लगाकर रेचक किया जाता है। इस रीति से 144 कुम्भक में 144 बार मस्तिष्क के घुमाने की क्रिया करनी पड़ती है। इस प्रकार तीसरी, चौथी और पाँचवीं अवस्था में कुम्भक बढ़ाया जाता है, तथा मस्तिष्क भी अधिक समय घुमाया जाता है। मस्तिष्क घुमाने की क्रिया से मस्तिष्क में प्राणतत्त्व चारों ओर चक्कर लगता हुआ प्रतीत होता है। इस प्राणायाम की क्रिया के बाद नाद बहुत जोर से उठता है। इस-लिए मन की एकाग्रता शीघ्र होती है।[2]

## 7. मूर्च्छा

श्वास का पूरक करने के बाद दृढ़तापूर्वक जालन्धर बन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करे। पुनः श्वास को धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह मूर्च्छना नामक प्राणायाम मस्तिष्क में मूर्च्छा उत्पन्न करने वाला तथा सुखदायी है।[3]

---

1. ह० प्र०—2/68
2. कल्याण का योगांक—पृ० 560-61
3. ह० प्र०—2/69

इस प्राणायाम को एक बार साध लेने पर भ्रामरी वाले सिद्धासन में तथा दूसरे अन्य प्राणायामों को सिद्ध करने वाले शवासन में भी नादानुसन्धान कर सकते हैं। वैसे इस प्राणायाम का अभ्यास भ्रामरी प्राणायाम के सिद्ध हो जाने पर ही करना श्रेयस्कर माना जाता है। इसके सिद्ध होने पर रेचक के समय जब नेत्रों को बन्द कर भ्रूमध्य में ध्यान लगाया जाता है तब वहाँ से प्राण तत्त्व का हल्का नीला (हल्के नीलम नग जैसा) प्रकाश दिखाई देता है। इसके निरंतर अभ्यास से मन शांत होता है। बाह्य विषयों से चित्तवृत्ति हटकर ध्येय विषय पर केन्द्रित होती है और मन आत्मा में रमण करने लगता है। इसके निरंतर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति जाग्रत होती है तथा योगी समाधि की अवस्था को प्राप्त होता है। कुछ विद्वानों के मतानुसार यह समाधि की प्रथमावस्था कही गई है। यहाँ पर यह बात विशेष ध्यातव्य है कि उच्च रक्तचाप वालों के लिए यह प्राणायाम विवर्जित है।

घेरण्ड-संहिता के अनुसार पूर्वोक्त कुम्भक को करके विषयों से हटाकर मन को भौंहों के मध्य में स्थित आज्ञाचक्र में लगावें और इस पद्म में विद्यमान परमात्मा में लीन कर दें। इस मूर्च्छा कुम्भक की सिद्धि से आनन्द की प्राप्ति होती है, यह सत्य है।[1]

## 8. प्लाविनी

दोनों नासारन्ध्रों से उदर को पर्याप्त मात्रा में श्वास द्वारा पूर्ण रूप से भर लें, फिर धीरे-धीरे उसका रेचक करें। इसका अभ्यासी अथाह जल में भी कमलपत्र के समान आसानी से उतर सकता है।[2]

यह प्राणायाम उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण करता है, जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदर सम्बन्धी अनावश्यक कीटों का नाश, कब्ज का निवारण तथा वायु सम्बन्धी समस्त रोग इससे दूर होते हैं। इस प्राणायाम में मन की परमात्मा में लीनता, कुण्डलिनी शक्ति का जागरण तथा सिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ यह प्राणायाम समाधि में भी अत्यन्त सहायक होता है। इसके अतिरिक्त इस प्राणायाम का चालीस दिन अभ्यास करने से शरीर हल्का, वीर्य की वृद्धि तथा रक्त की शुद्धि होती है। उदर में वायु के विद्यमान रहने पर, साधक पानी में कमल पत्र की भाँति विचरण कर सकता है।

घेरण्ड-संहिता में प्राणायाम का आठवाँ भेद 'प्लाविनी' न मानकर 'केवली' प्राणायाम माना है। केवली कुम्भक में श्वास और प्रश्वास के साथ सोऽहं का उच्चारण

---

1. घेरण्ड-संहिता—5/82
2. ह० प्र०—2/70

आवश्यक है[1] जबकि हठयोग प्रदीपिकाकार ने कुम्भक के दो भेद सहित कुम्भक और केवल कुम्भक माने हैं।[2]

(क) **सहित कुम्भक**—जब प्राणायाम रेचक और पूरक के साथ किया जाए तब वह सहित कुम्भक कहलाता है और जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाए तब तक सहित कुम्भक का ही अभ्यास करना चाहिए।

(ख) **केवल कुम्भक**—रेचक-पूरक के बिना अपने आप जो उदर में वायु का धारण होता है, वह केवल कुम्भक कहा जाता है। इस केवल कुम्भक की सिद्धि होने पर उस साधक के लिए तीनों लोकों में कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता। इसका साधक अपनी इच्छानुसार वायु धारण करने में सक्षम होकर राजयोग पद की प्राप्ति करता है। इसके निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी का जागरण तथा उससे सुषुम्ना नाड़ी मल रहित होती है और हठयोग में सिद्धि की प्राप्ति होती है।[3]

प्राणायाम की समाप्ति कर ग्रन्थकार हठयोग सिद्धि का लक्षण देते हुए कहते हैं कि शरीर में हल्कापन, मुख पर प्रसन्नता, स्वर में सौष्ठव, नयन की तेजस्विता, रोग का अभाव, बिन्दु पर नियंत्रण, जठराग्नि की प्रदीप्ति तथा नाड़ियों की विशुद्धि, ये सब हठसिद्धि के लक्षण हैं।[4]

---

1. घेरण्ड-संहिता—5/83-86
2. ह० प्र०—2/71
3. ह० प्र०—2/72-75
4. वही—2/78

अध्याय-5

# मुद्रा-निरूपण

प्राणायाम के सिद्ध होने पर मुद्राओं का अभ्यास कुण्डलिनी जागरण हेतु परमावश्यक है। मुद्राओं के निरूपण से पूर्व मुद्राओं के महत्त्व तथा प्रयोजन की चर्चा यहाँ आवश्यक प्रतीत होती है। शास्त्रों में तो स्पष्ट उक्त है कि बिना प्रयोजन के तो मंद भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता अतएव इनका प्रयोजन बताते हुए ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि ब्रह्मरन्ध्र के द्वार पर प्रसुप्त कुण्डली को जगाने हेतु सब प्रयत्नों द्वारा मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए।[1]

योग तन्त्रों में कुण्डलिनी कोई नवीन वस्तु नहीं है। इसका वर्णन हठयोग के ग्रन्थों तथा उपनिषदों में प्राप्त होता है, इसका दूसरा नाम आधार शक्ति है और वह सभी पदार्थों को आश्रय देती हुई उन सबकी मूल सत्ता के रूप में विद्यमान रहती है। छान्दोग्योपनिषद् में कहा गया है कि हृदय की 101 नाड़ियाँ हैं तथा उनमें से एक मस्तक में प्रवेश करके अमरता की उपलब्धि कराती है। अन्यों से अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती।[2] यह कुण्डलिनी शक्ति चैतन्य सम्पादन करने के कारण निरालम्ब होकर शुद्ध चित्तस्वरूप में स्थित हो जाती है। यदि यह आधारशून्य हो जाएगी तो समस्त संसार की वस्तुएं भी आधारहीन होकर नष्ट हो जायेंगी। ग्रन्थकार के शब्दों में जिस प्रकार पर्वतों तथा वनों से युक्त सम्पूर्ण पृथ्वी का आधार शेषनाग है, उसी प्रकार सभी योग यन्त्रों का आधार कुण्डली है।[3] और जब गुरु के प्रसाद से यह प्रसुप्त कुण्डली जग जाती है, तब

---

1. (क) ह० प्र०—3/5
   (ख) शिव-संहिता—4/14
2. छान्दोग्योपनिषद्—8/6/6
3. ह० प्र०—3/1

सभी पद्म (मूलाधार, स्वाधिष्ठान आदि) तथा सभी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं।[1] और जब तक यह देह में सोई रहती है तब तक जीव पशु के समान रहता है तथा असंख्य योगाभ्यास करने पर भी उसको ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती।[2] इसके जागरण पर सुषुम्ना मार्ग प्राण हेतु राजपथ के समान सुखदायी हो जाता है। चित्तविषयों से हट जाता है तथा मृत्युभय नष्ट हो जाता है। इस सुषुम्ना नाड़ी के कई पर्यायवाची शब्द हैं जैसे शून्य पदवी, ब्रह्मरन्ध्र, महापथ, श्मशान, शाम्भवी और मध्य मार्ग।[3]

अतः इसी कुण्डलिनी शक्ति को जगाने के लिए ही मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिए। इन मुद्राओं की संख्या दस है—महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यानबन्ध, मूलबन्ध, जालंधर बन्ध, विपरीत करणी, वज्रोली और शक्तिचालन।[4]

जबकि घेरण्ड संहिता में इनकी संख्या पच्चीस और गोरक्ष-संहिता में इनकी संख्या पाँच बताई गई है।[5] शिव-संहिता में मुद्राओं की संख्या दस बताते हुए इनको क्रमशः उत्तमोत्तम कहा है।[6]

हठयोग के अतिरिक्त मुद्राओं का उल्लेख तन्त्र साहित्य में भी प्राप्त होता है। इनका नाम क्रमशः डोम्बि, नटी, रजकी, ब्राह्मणी और चण्डाली है तथा इनकी संख्या पाँच मानी गई है।[7]

### 1. महामुद्रा

वाम पैर की एड़ी से सीवनी नाड़ी को दबाएँ तथा दाहिने पैर को भूमि पर फैला कर दोनों हाथों से दृढ़ता पूर्वक पकड़ लें तदुपरान्त जालन्धर बन्ध लगाकर वायु को ऊपर की ओर ले जाकर रोकना चाहिए। जिस प्रकार डण्डे की चोट से सर्प दण्ड के समान सीधा हो जाता है उसी प्रकार मुद्राओं के निरन्तर अभ्यास से कुण्डलिनी शक्ति सहसा

---

1. (क) वही—3/2
   (ख) शिव-संहिता—4/13
2. घेरण्ड-संहिता—3/50
3. ह० प्र०—3/3-4
4. वही—3/6-7
5. (क) घेरण्ड-संहिता—3/1-3
   (ख) गोरक्ष-संहिता—1/56
6. शिव-संहित—4/58
7. Studies in the Tantras Part I by Prabodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939

सीधी हो जाती है और तब इड़ा और पिंगला मृतवत् हो जाती हैं तथा वायु सुषुम्ना मार्गी हो जाता है। इसके बाद योगी को धीरे-धीरे श्वास का रेचक करना चाहिए, अत्यन्त शीघ्रता से नहीं। श्रेष्ठ योगियों ने इसी को महामुद्रा कहा है। महासिद्धों द्वारा बताई गई इस महामुद्रा के अभ्यास से महाक्लेश आदि दोष तथा मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है। इसी कारण विद्वानों में श्रेष्ठों ने इसे महामुद्रा कहा है।

चन्द्र नाड़ी से अभ्यास करने के पश्चात् सूर्य नाड़ी से अभ्यास एवं जब दोनों की संख्या समान हो जाए तब इस मुद्रा को विसर्जित करना चाहिए। इस महामुद्रा के अभ्यासी के लिए पथ्य भोजन तथा अपथ्य भोजन नहीं रह जाता, रसहीन वस्तु भी रसयुक्त हो जाती है तथा विषतुल्य कुत्सितान्न भी अमृत के समान बन जाता है। महामुद्रा के अभ्यास से अभ्यासी के क्षय, कुष्ठ, कोष्ठबद्धता, गुल्म, अजीर्ण तथा अनेक प्रकार के उत्पन्न होने वाले रोग नष्ट हो जाते हैं। इस महामुद्रा को जो कि मनुष्य को महासिद्धि प्रदायक है, प्रयत्नपूर्वक गुप्त तथा किसी अधर्मी को नहीं बतानी चाहिए।[1]

गोरक्ष-संहिता[2] तथा घेरण्ड-संहिता[3] में भी इनके लाभों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से क्षय, कुष्ठ, गुल्म, अजीर्ण आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

## 2. महाबन्ध

वाम चरण को एड़ी की सीवनी नाड़ी पर लगायें तथा दक्षिण चरण को वाम-जङ्घा पर दृढ़तापूर्वक स्थापित करें। तत्पश्चात् वायु का पूरक करके चिबुक को कण्ठकूप पर दृढ़तापूर्वक रखें। तब मूल बन्ध लगाते हुए मन को सुषुम्ना में लगाना चाहिए। यथाशक्ति कुम्भक करने के पश्चात् धीरे-धीरे वायु का रेचक करना चाहिए। इस प्रकार वायीं ओर से अभ्यास करने के बाद पुनः दायीं तरफ से अभ्यास करना चाहिए।

कुछ आचार्यों के मत को उद्धृत करते हुए हठयोग प्रदीपिकाकार कहते हैं कि जालन्धर बन्ध नहीं लगाना चाहिए अपितु जालन्धर बन्ध की अपेक्षा जिह्वा-बन्ध ही श्रेयस्कर है क्योंकि इससे प्राणों की गति ब्रह्मरन्ध्र की ओर हो जाती है।

यह महाबन्ध निश्चित ही महान् सिद्धियों का प्रदाता है तथा इसके अभ्यास से

---

1. ह० प्र०—3/10-18
2. गोरक्ष-संहिता, प्रथम शतक
3. घेरण्ड-संहिता—3/6-7

सभी नाड़ियों की ऊर्ध्वगामिता रुक जाती है। यह महाबन्ध कालपाश को तोड़ने में सामर्थ्य रखता है, इसके अभ्यास से तीनों धाराओं (इड़ा, पिङ्गला और सुषुम्ना) का संगम होता है तथा मन भृकुटि (शिव स्थान) में लगने लगता है।[1] योगकर्णिका में कहा गया है कि यह त्रिवेणी सङ्गम को प्राप्त करता है तथा मन केदार में रमण करता है।[2]

## 3. महावेध

महावेध की महत्ता का वर्णन हठयोगप्रदीपिका[3] तथा घेरण्डसंहिता[4] में इस प्रकार से किया गया है कि जिस प्रकार रूपयौवनसम्पन्ना स्त्री पुरुष के बिना व्यर्थ होती है, उसी प्रकार महामुद्रा तथा महाबन्ध ये दोनों ही महावेध के बिना व्यर्थ ही हैं। इसके अनन्तर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा गया है कि योगी को महाबन्ध लगाकर मन को एकाग्रचित्त कर श्वास को ग्रहण करने के पश्चात् जालंधर बन्ध द्वारा वायु की गति का निरोध करना चाहिए।

तदुपरान्त दोनों हथेलियों को भूमि पर लगाकर सम्पूर्ण शरीर को तुला के समान दोनों हथेलियों पर उठा लेवें। इसके अनन्तर धीरे-धीरे नितम्ब प्रदेश को भूमि पर ताड़न करें। ऐसा करने से प्राणवायु दोनों नासारन्ध्रों को छोड़कर सुषुम्नावाही हो जाता है।

सोम (इड़ा) सूर्य (पिङ्गला) अग्नि (सुषुम्ना) इन तीनों का परस्पर सम्बन्ध होने पर अमरता की प्राप्ति तथा मृतावस्था की उत्पत्ति होने पर अर्थात् इड़ा और पिंगला के निष्क्रिय होने पर वायु का सुषुम्ना से रेचन करना चाहिए।

इस महावेध के अभ्यास से अभ्यासी को महासिद्धियों की प्राप्ति, झुर्रियों, बालों का पकना तथा शरीर का कांपना बन्द होता है। इसलिए श्रेष्ठ साधक इसका अभ्यास करते हैं।

इन तीनों (महामुद्रा, महाबन्ध और महावेध) को अत्यन्त गुप्त रखना चाहिए। ये तीनों वृद्धावस्था और मृत्यु का विनाश करती हैं, इनके अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है तथा ये अणिमा आदि सिद्धियों की प्रदाता मानी जाती हैं।

प्रतिदिन तीन घंटे तक आठ बार इनका अभ्यास करना चाहिए। ये (साधक को) सभी द्रव्यों को देने वाली और सभी प्रकार के पापों को नष्ट करने वाली हैं। अच्छे

---

1. ह० प्र०—3/19-24
2. योगकर्णिका—8/38
3. ह० प्र०—3/25
4. घेरण्ड-संहिता—3/21

जानकार साधकों को भी इनका अभ्यास प्रारम्भ काल में अल्प मात्रा में ही करना चाहिए।[1]

शिव-संहिता में कहा गया है कि जो साधक प्रतिदिन इन मुद्राओं का चार बार अभ्यास करता है वह केवल छः मास में ही मृत्यु पर विजय पाता है।[2]

## 4. खेचरी

योग-विज्ञान में यह तथ्य सर्वविदित है कि हमारे तालुमूल में एक विवर से चन्द्र-रसरूपी अमृत स्रवित होता रहता है तथा जो नाभि प्रदेश पर पहुंच कर भस्म हो जाता है, उसका नष्ट होना ही मृत्यु का हेतु है। अतः उसको यत्नपूर्वक नाभि प्रदेश तक न पहुंचने देना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है। इस मुद्रा की प्रक्रिया में जिह्वा को इतना दीर्घ करना चाहिए कि वह भृकुटि प्रदेश का स्पर्श करने लगे। तब उसको वापिस मुख में उलट कर उस विवर तक ले जाकर उससे स्रवित होने वाले सार को जिह्वा द्वारा ग्रहण करना चाहिए, ऐसा करने से मृत्यु का भय सदा के लिए समाप्त हो जाता है। स्वयं ग्रन्थकार के अनुसार जिह्वा को उलटकर कपाल-छिद्र में प्रवेश कराने के पश्चात् दृष्टि को भृकुटि पर स्थापित करने से खेचरी मुद्रा कहलाती है। खेचरी मुद्रा की सिद्धि के लिए जिह्वा का छेदन, चालन और दोहन इन तीन क्रियाओं को तब तक करते रहना चाहिए जब तक जिह्वा का स्पर्श भृकुटि पर न हो जाए। जिह्वा की छेदन, चालन और दोहन प्रक्रिया बताते हुए आगे कहा गया है कि स्नुही के पत्ते के समान धार वाले चिकने और निर्मल शस्त्र के द्वारा जिह्वा को रोममात्रा में काट दें। तत्पश्चात् सैन्धव नमक तथा हरड़ के चूर्ण को सात दिन तक कटे हुए भाग पर मलना चाहिए। सात दिन पश्चात् पुनः रोम मात्रा में काट दें। साधक इसी क्रम का षट्मास पर्यन्त प्रति दिन अभ्यास करता रहे। छः मास तक इसी क्रिया को करने से जिह्वा मूल का आवरण हट जाता है।

तदनन्तर जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र में लगाना चाहिए, इसी को खेचरी मुद्रा तथा इसी को व्योमचक्र भी कहते हैं।

जो साधक आधे क्षण भी जिह्वा को विपरीत कर कपाल छिद्र में लगाता है, वह शीघ्र ही विष, रोग, मृत्यु तथा वृद्धावस्था आदि से मुक्त हो जाता है। जो खेचरी मुद्रा को जान जाता है, उसे रोग, मृत्यु, तन्द्रा, निद्रा, भूख, प्यास तथा मूर्च्छा आदि से मुक्ति

---

1. ह० प्र०--3/26-31
2. शिव-संहिता—4/28

मिल जाती है। वह कर्मों में लिप्त तथा काल से भी बाधित नहीं होता। इसमें चित्त भृकुटि रूपी शून्य में विचरण करता है तथा जिह्वा कपाल-कुहर रूपी आकाश में स्थित रहती है, इसी कारण से सिद्ध लोग इसे खेचरी मुद्रा कहते हैं, इस के द्वारा जिस योगी ने जिह्वा को उलटकर कपाल छिद्र को बन्द कर लिया है, उसका बिन्दु कामिनी के द्वारा आलिङ्गित होने पर भी स्खलित नहीं होता अर्थात् उसके बिन्दु की रक्षा होती है। यदि वह बिन्दु कदाचित् स्खलित हो जाए तथा योनि-मण्डल को प्राप्त कर ले तो भी वह बिन्दु योनिमुद्रा के द्वारा निबद्ध होने पर भी शक्ति से खींचकर ऊर्ध्वगामी हो जाता है। जो योगवित् स्थिर रहकर जिह्वा को उलटाकर सोमपान करता है वह अर्धमास में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त करता है, इसमें संशय नहीं क्योंकि जिस योगी का शरीर प्रतिदिन सोमद्रव्य से पूर्ण रहता है उसको सर्पदंश का विष नहीं चढ़ता तथा जिस प्रकार अग्नि लकड़ी को और दीपक तेल तथा बाती को नहीं त्यागता, उसी प्रकार सोमद्रव्य से पूर्ण देही को आत्मा नहीं त्यागती। जिह्वा के प्रवेश से उत्पन्न अग्नि से जो चन्द्रद्रव्य स्रवित होता है, उसी को अमरवारुणी कहते हैं और यदि जिह्वा का अग्रभाग सदा कपालछिद्र का चुम्बन कर, उससे स्रवित होने वाले स्राव का ग्रहण करता रहे, तो जिह्वा को क्रमशः लवण, तीखा, खट्टा, दुग्ध, मधु तथा घृत के समान रसों का आस्वादन होने लगेगा।[1] उसके समस्त रोगों का नाश, वृद्धावस्था का निवारण, शस्त्र का प्रभाव नष्ट तथा अणिमा आदि अष्टसिद्धियों की प्राप्ति के साथ-साथ उसके प्रति सिद्धांगनाएँ आकर्षित होती हैं।

जिह्वा को कपाल छिद्र में स्थिर करके ऊर्ध्व स्थित पराशक्ति का चिन्तन करते हुए, प्राणायाम के द्वारा षोडशदल-कमल से स्रवित निर्मल धारा की तरङ्गों के समान चन्द्ररस का जो साधक पान करता है, वह कमल डण्ठल के समान कोमलकाय प्राप्त कर व्याधि रहित होकर दीर्घायु को प्राप्त करता है।

ज्ञान के जनक तथा पांच स्रोतों (दो नाक, दो कान तथा एक मुख) से युक्त छिद्र जो कि ज्ञानयुक्त शून्य है उसी में खेचरी मुद्रा रहती है। जिस प्रकार से सृष्टि का मूल बीज प्रकृति है, देवों में श्रेष्ठ परमात्मा है और अवस्थाओं में एकमात्र अवस्था मनोन्मनी अवस्था है, उसी प्रकार मुद्राओं में एकमात्र खेचरी मुद्रा मानी गई है।[2]

## 5. उड्डीयान बन्ध

इसके नामकरण विषयक प्रसङ्ग के अनुसार सुषुम्ना नाड़ी में निरुद्ध प्राण-वायु

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/31-32
2. ह० प्र०—3/32-53

इस बन्ध के द्वारा ऊर्ध्वगामी किया जाता है, क्योंकि इससे प्राणवायु रूपी पक्षी निरन्तर क्सुषुम्नामार्ग से शून्य में उड़ान भरता रहता है, इसीलिए इसे उड्डीयान कहा जाता है। इस बन्ध की प्रक्रिया निर्धारित करते हुए निर्दिष्ट है कि साधक को रेचक करने के उपरान्त नाभिस्थल को ऊपरी की ओर तथा उदर को नीचे और पीछे की ओर खींचकर मेरुदण्ड के साथ लगाना चाहिए। यह उड्डीयान बन्ध मृत्यु रूपी गज हेतु सिंह के समान है।

योगकुण्डल्युपनिषद् में इसको प्रथम स्थान न देकर द्वितीय स्थान पर रखा गया है।[1]

यदि कोई वृद्ध भी गुरु निर्दिष्ट मार्ग से एवं निरन्तर स्वाभाविक रूप से उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है तो वह भी युवक सदृश बन जाता है। इस बन्ध के छः मास तक निरन्तर अभ्यास से साधक की मृत्यु पर विजय तथा उसको निश्चित ही मुक्ति प्राप्त होती है।[2]

इसके निरन्तर अभ्यास से नाभिचक्र की गति ठीक होती है, उदर सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है, फेफड़ों को असीम बल की प्राप्ति, वीर्य ऊर्ध्वगामी जठराग्नि प्रदप्ति होती है एवं कुण्डलिनी शक्ति को जगाने में भी यह बन्ध सहायक सिद्ध होता है।

## 6. मूलबन्ध

दोनों पावों की किसी भी एक एड़ी से गुदेन्द्रिय तथा लिंगेन्द्रिय के मध्य भाग को दबाकर गुदा का आकुंचन करते हुए अपान वायु को ऊपर की ओर खींचना चाहिए। इसी को मूलबन्ध कहते हैं। अर्थात् अधोगामी अपानवायु को जो साधक गुदेन्द्रिय प्रदेश के आकुंचन के द्वारा बलपूर्वक ऊर्ध्वगामी कर लेता है, उसे ही योगीजन मूलबन्ध कहते हैं। इस प्रक्रिया में गुदेन्द्रिय प्रदेश को दबाकर बलपूर्वक बार-बार योनि का आकुंचन तब तक करते रहना चाहिए जब तक अपान वायु ऊर्ध्वगामी न हो जाए।[3]

घेरण्ड-संहिता में इसका निरूपण इस प्रकार से किया गया है कि बायीं एड़ी से गुह्यप्रदेश को संकुचित कर प्रयत्नपूर्वक मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि को लगाकर दबाए और दायीं एड़ी से उपस्थ को दृढ़तापूर्वक दबा ले। यह मूलबन्ध है तथा इससे वृद्धावस्था नष्ट होती है। संसार रूपी सागर से पार होने वाले आकांक्षियों को जनहीन स्थान (निर्जन)में

---

1. योगकुण्डल्युपनिषद्—41
2. ह० प्र०—3/54-59
3. ह० प्र०—3/60-62

छिपकर ही इस मुद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इससे मरुत् सिद्धि होती है। अतएव मौन एवं आलस्य रहित होकर इसका अभ्यास करना चाहिए।[1]

इसके लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि इसके निरन्तर अभ्यास से प्राण तथा अपान वायु की एकता एवं नाद और बिन्दु में ऐक्य स्थापित होकर योगसिद्धि की प्राप्ति होती है। प्राण और अपान की एकता से मल और मूत्र की अल्पता होती है। यहाँ तक कि वृद्ध भी युवक सदृश बन जाता है।

जब इस बन्ध के अभ्यास से अपान वायु ऊर्ध्वगामी हो जाता है, तब वह वह्नि-मण्डल अर्थात् उदर की जठराग्नि में जा पहुंचता है। अपान वायु से आहत हुई जठराग्नि और अधिक प्रदीप्त हो उठती है। तब अग्नि और अपान वायु प्राण को उष्ण बना देते हैं। इससे देह की अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है।

जब प्राणवायु और अपान वायु का घर्षण होता है, तब सोई हुई कुण्डलिनी सन्तप्त होकर जग जाती है तथा दण्ड से आहत हुई सर्पिणी की भांति फुन्कारती हुई सीधी हो जाती है और ब्रह्मनाड़ी में उसी प्रकार प्रवेश करती है जिस प्रकार सर्पिणी अपने बिल में प्रवेश करती है। अतएव योगियों को प्रति दिन मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[2]

इस प्रकार का वर्णन योगकुण्डल्युपनिषद् में भी प्राप्त होता है।[3] इसके अतिरिक्त इस बन्ध के निरन्तर अभ्यास से गुदा सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण तथा उदर सम्बन्धी रोग शीघ्र नष्ट हो जाते हैं। बवासीर सदृश रोगों की तो यह अचूक दवा है।

## 7. जालन्धर बन्ध

सभी हठयोग के ग्रन्थों में इस बन्ध की चर्चा की गई है। कुछ प्राचीन योगियों के मतानुसार इस की आवश्यकता नहीं समझी गई क्योंकि उनके मतानुसार जिह्वा बन्ध होने पर जालन्धर बन्ध के समस्त लाभ योगी को प्राप्त हो जाते हैं, अतएव जालन्धर बन्ध की विशेष उपयोगिता दृष्टिगोचर नहीं होती, किन्तु हठयोगप्रदीपिकाकार ने इसके महत्त्व को समझ कर इसकी प्रक्रिया निर्धारित करते हुए कहा है कि 'कण्ठ को संकुचित करने के

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/14-17
2. ह० प्र०—3/63-68
3. योगकुण्डल्युपनिषद्—43-45

उपरान्त ठोड़ी को हृदय-प्रदेश (कण्ठ-कूप) में दृढ़ता पूर्वक स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहते हैं, जो वृद्धावस्था तथा मृत्यु का विनाशक है।[1]

शिव-संहिता में इसके महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए इसे देवताओं के लिए भी दुर्लभ बताया है।[2]

इससे प्राप्त लाभों की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि यह बन्ध समस्त नाड़ी जाल को बांधता है जिससे निम्नगामी चन्द्ररस का बाध होने पर कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का निवारण होता है।

शिव-संहिता में कहा है कि बुद्धिमान पुरुष इस बन्ध के द्वारा अमरवारुणी को पीकर अमरत्व तथा भुवनत्रय में प्रसन्नता को प्राप्त करता है।[3] कण्ठ-सङ्कोच वाले इस बन्ध को लगाने से चन्द्ररस जठराग्नि में नहीं गिरता तथा इससे वायु के विकार भी नहीं होते। यह बन्ध इड़ा और पिङ्गला नाड़ियों में वायु के प्रवाह को दृढ़तापूर्वक रोकता है। यह मध्यचक्र अर्थात् विशुद्ध चक्र है। इससे शरीर के सोलह आधारों का बन्ध होता है। सोलह आधारों के नाम इस प्रकार हैं—(1) अंगुष्ठ (2) गुल्फ (3) जानु (4) ऊरू (5) सीवनी (6) लिङ्ग (7) नाभि (8) ग्रीवा (9) हृदय (10) कण्ठदेश (11) लम्बिका (12) नासिका (13) भ्रू मध्य (14) मस्तक (15) मूर्धा और (16) ब्रह्मरन्ध्र।

इन आधारों का बन्ध परमावश्यक है क्योंकि इसके बिना योगसिद्धि की कल्पना ही व्यर्थ है।

इसके अतिरिक्त इस बन्ध से मन में स्थिरता, मस्तिष्क सन्तुलित एवं विशुद्ध रहता है। कण्ठ सम्बन्धी समस्त रोगों का नाश तथा नेत्र, कर्ण, नासिका और ग्रीवा के लिए भी यह बन्ध उपयोगी है।

महासिद्धों के द्वारा इन तीनों बन्धों (मूलबन्ध, उड्डियान बन्ध और जालंधर बन्ध) का सेवन श्रेष्ठ है तथा योगियों के मतानुसार ये सभी बन्ध हठतन्त्रों के साधन स्वरूप हैं।[4]

## 8. विपरीतकरणी मुद्रा

दिव्यरूप चन्द्रमण्डल से जो अमृत तत्त्व स्रवित होता है, उस सबको

---

1. ह० प्र०—3/69
2. शिव-संहिता—4/38
3. शिव-संहिता—4/39
4. ह० प्र०—3/75

नाभिमण्डल स्थित अग्निस्वरूप सूर्य ग्रसता रहता है, इसी कारण से शरीर वृद्धावस्था को प्राप्त है।

सूर्य के मुख में वह चन्द्र रस स्रवित न हो, इसकी एक दिव्य क्रिया कही गई है तथा इस क्रिया को गुरु के उपदेश से ही जाना जा सकता है न कि करोड़ों शास्त्रों के समूह से। नाभिमण्डल को ऊपर और तालुमूल को नीचे करने से सूर्यमण्डल ऊपर तथा चन्द्र-मण्डल नीचे की ओर हो जाता है। इसी क्रिया को विपरीत करणी मुद्रा कहते हैं जो कि गुरु के द्वारा ही प्राप्त है।[1]

घेरण्ड-संहिता के अनुसार नाभिमूल में सूर्य नाड़ी और तालुमूल में चन्द्रनाड़ी का वास माना गया है। सहस्रार के अमृतस्राव को सूर्य नाड़ी ग्रहण करती है और उसी से प्राणी की मृत्यु कही गई है। यदि उसी स्राव का पान चन्द्र नाड़ी करें तो जीव को मृत्युभय नहीं सताता। अतः सूर्यनाड़ी को ऊपर तथा चन्द्रनाड़ी को नीचे करना ही विपरीत-करणी मुद्रा कहलाती है।[2]

शिव-संहिता के अनुसार भूमि पर सिर रखकर दोनों पैरों को ऊपर स्थापित करना ही विपरीतकरणी मुद्रा है।[3] इसका प्रतिदिन अभ्यास जठराग्नि को प्रदीप्त करता है। किन्तु यह विशेष ध्यातव्य है कि इसके अभ्यासी को पर्याप्त मात्रा में आहार ग्रहण करना चाहिए अन्यथा प्रदीप्त जठराग्नि शरीरस्थ रक्त, मज्जा आदि धातुओं को जलाने लगती है।

प्रारम्भकाल में एकक्षणपर्यन्त ही नीचे की ओर सिर एवं पांवों को ऊपर की ओर स्थापित करना चाहिए। इसके अभ्यास की वृद्धि प्रतिदिन क्षणमात्रा में ही करनी चाहिए।

इस मुद्रा के छः मास निरन्तर अभ्यास से शरीर की झुर्रियां तथा बालों की श्वेतता नष्ट एवं इसका प्रतिदिन एक प्रहर का अभ्यास साधक को कालजित् बना देता है[4]

## 9- वज्रोली

योगोक्त नियम रहित स्वेच्छाचारी योगी यदि इस क्रिया को जानता है तो

1. ह० प्र०—3/78
2. घेरण्ड-संहिता—3/33-34
3. शिव-संहिता—4/45
4. ह० प्र०—3/79-81

वह भी योगसिद्धि का अधिकारी होगा। इस मुद्रा की सिद्धि अप्राप्य न सही किन्तु दुष्कर अवश्य मानी गई है। चौदह अंगुल पर्यन्त शीशे, तांबे, स्वर्ण, रजत अथवा रबड़ की पतली नली को लिंगेन्द्रिय के माध्यम से प्रतिदिन एक-एक अंगुल परिमाण से ऊपर की ओर प्रवेश कराना चाहिए। बारह दिन पर्यन्त लिंगेन्द्रिय के शुद्ध होने पर वायु का ग्रहण और त्याग करना चाहिए। दृढ़ अभ्यासानन्तर क्रमशः जल, दूध, तेल, शहद और पारा ग्रहण करना चाहिए। इस अभ्यास में सिद्धहस्त होने पर ही योगी स्वबिन्दु अथवा रज को आकर्षित करें।

इस प्रकार स्वबिन्दु की रक्षा करने वाला साधक मृत्यु पर विजय पाता है क्योंकि बिन्दु का पतन ही मृत्यु और बिन्दु की रक्षा ही जीवन है। बिन्दु को शरीर में धारण करने वाले साधक के शरीर से सुगन्ध उत्पन्न होती है।

सहजोली और अमरोली भेदों से यह दो प्रकार की है। सहज़ोली क्रिया में साधक वज्रोली के उपरान्त गोबर के उत्तम भस्म को जल में मिलाकर अपने सम्पूर्ण अंगों पर लगाते हैं। यह शुभकारी सहजोली क्रिया भोगयुक्त होते हुए भी मुक्ति-दायिनी है।

वज्रोली का सम्यक् अभ्यास करते हुए नासिका प्रदेश से स्रवित होने वाले स्राव का पान ही अमरोली है। ज्योत्स्ना टीका के अनुसार जो पुरुष शिवाम्बुरूप अमरी को नासिका से नित्य पीता है अर्थात् नासिकाछिद्र द्वारा अमरी को अंतर्गत करता है और प्रतिदिन वज्रोली का भली प्रकार अभ्यास करता है उस मुद्रा को कापालिक अमरोली कहते हैं अर्थात् नासिका के छिद्र से पान की अमरी वज्रोली के अनन्तर अमरोली कहलाती है।[1]

यदि कोई साधिका भी इस क्रिया को जानती है तो वह शीघ्र ही भूत-भविष्य को जानने वाली, आकाशगामिनी एवं उसे कार्यसिद्धि की प्राप्ति होती है।[2]

## 10 शक्तिचालन

भारतीय दर्शनों में जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीयावस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। प्रथम तीन सामान्य जन के लिए जहां सुलभ हैं वहीं चतुर्थ तुरीयावस्था की उपलब्धि केवल योगियों को ही होती है। प्रथम तीन अवस्थाओं में कुण्डलिनी (जीव की मार्मिक शक्ति) प्रायः सुप्तावस्था में रहती है और तुरीयावस्था में यह जागृत हो उठती है तभी 'अहं ब्रह्मास्मि' का बोध होता है।

---

1. ज्योत्स्ना टीका—3/97
2. ह० प्र०—3/82-96

घेरण्ड-संहिता के अनुसार यह शक्ति मूलाधार से 4 अंगुल ऊपर 3/1-2 लपेटे खाकर सोई रहती है और जब तक यह सुप्तावस्था में विद्यमान रहती है तब तक जीव पशु के समान इस मर्त्यलोक में विचरण करता है, कोटियोग का अभ्यास करने पर भी उसे ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती ।[1]

जिस प्रकार कोई सामान्य जन चाभी से अवरोधक कपाट को खोलता है, उसी प्रकार योगी इस शक्ति के द्वारा मोक्षद्वार का भेदन करता है। डा० गोपीनाथ कविराज के अनुसार 'अरणि-मंथन करने से जिस प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित की जाती है, अर्थात् अरणिस्थ सुप्त अग्नि जिस प्रकार संघर्षण से उद्दीप्त होती है, उसी प्रकार साधन प्रणाली द्वारा प्रसुप्त कुण्डलिनी को जगाना पड़ता है। अग्नि जिस प्रकार प्रकट होते ही ईंधन (काष्ठादि) को दग्ध करती है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के चैतन्य होने पर साधना विलुप्त हो जाती है। बाह्य साधनामात्र—अर्थात् विचार, भक्ति या हठ किंवा मन्त्र-योगादि—यह सम्पूर्ण उपासना पुरुषकार-सापेक्ष अथवा कर्तृत्वाभिमानजन्य हैं। यह कर्तृत्व-बोध क्रम से कुण्डलिनी-चैतन्य के समान लुप्त हो जाती है, और कर्तृत्व-बोध के लुप्त होने से कुण्डलिनी अधिक जागृत होती है। जिस समय एक बार कुण्डलिनी चेतन होने लगती है, उस समय स्वभाव के नियम से ही सब कार्य स्वयं ही होते जाते हैं। जिस प्रकार अनुकूल स्रोत में नौका छोड़ देने पर उसको समुद्र में पहुंचाने के अन्य प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार कुण्डलिनी को जगाने से और उसके प्रवाह में प्राण व मन को डाल देने से जीव को ब्रह्मावस्था प्राप्त करने के लिए पृथक् उपाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। सङ्कोच शक्ति अथवा ऊर्ध्वबिन्दु-स्थित आकर्षण-शक्ति के प्रभाव में अन्तर्मुखगति क्रमशः वृद्धिगत होती है, और अन्त में साम्यावस्था में स्थिर हो जाती है ।[2]

स्वामी विवेकानन्द लिखते हैं कि 'प्राणायाम से पहले त्रिकोण-मण्डल को ध्यान में देखने का प्रयत्न करना चाहिए। आंखें बन्द करके इसके चित्र की मन-ही-मन स्पष्ट रूप से कल्पना कर सोचना चाहिए कि इसके चारों ओर अग्निशिखा है और उसके बीच में कुण्डलिनी सोई पड़ी है। ध्यान में इस कुण्डलिनी शक्ति को मूलाधार चक्र में जब स्पष्ट भाव से देख सकोगे, तब उसको जगाने के लिए कुम्भक करके उस वायु के बल से उसके मस्तक पर आघात करो। जिनकी कल्पना शक्ति जितनी अधिक है वे फल भी उतनी शीघ्रता से पाते हैं और उनकी कुण्डलिनी भी उतनी ही शीघ्र जागृत होती है। जितने दिन वह जागृत नहीं है उतने दिन सोचे—वह जग गयी है और इड़ा तथा पिंगला की गति अनुभव करने की चेष्टा करो, जोर देकर उनको सुषुम्ना पथ में चलाने की चेष्टा करो, इससे शीघ्र ही कार्य होगा।'[3]

---

1. घेरण्ड-संहिता—3/49/60
2. भारतीय संस्कृति और साधना—डा० गोपीनाथ कविराज
3. सरल-राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, पृ० 21

हठयोगप्रदीपिकाकार के अनुसार जिस सुषुम्ना मार्ग से उस निरामय ब्रह्मपद की प्राप्ति होती है, यह कुण्डलिनी उसी सुषुम्ना मार्ग को मुख के द्वारा ढककर सोई रहती है। यह शक्ति सर्प के समान कुटिल आकार वाली तथा गङ्गा (इड़ा नाड़ी) और यमुना (पिङ्गला नाड़ी) के मध्य में स्थित है जिसको पुरुषार्थ से ही जगाना चाहिए, क्योंकि वहीं भगवान् विष्णु का परम पद है।

कन्द के ऊपर स्थित इस शक्ति को प्रातः और सायं आधे प्रहर तक पिंगला नाड़ी से पूरक करके परिधान युक्ति से पकड़ कर प्रतिदिन चलाना चाहिए। आगे कन्दस्थान का लक्षण देते हुए कहा है कि लिंगेन्द्रिय तथा नाभि के मध्य एक हाथ ऊंचाई वाला, चार अंगुल परिमाण वाला, कोमल, श्वेत तथा वस्त्र के द्वारा लिपटे हुए के समान कन्द स्थान है। इस कन्द प्रदेश को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों के टखनों से दबाना चाहिए। तदनन्तर भस्त्रिका प्राणायाम करना चाहिए, इससे कुण्डलिनी शीघ्रता से जागृत हो जाती है। अथवा नाभिमण्डल स्थित सूर्यनाड़ी का आकुंचन कर इस शक्ति को चलाने का अभ्यास करना चाहिए। इस शक्ति को दो मुहूर्त्त पर्यन्त निर्भय होकर चलाने से यह शक्ति सुषुम्ना में कुछ प्रविष्ट होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है।

जिस साधक ने इस शक्ति को चलायमान कर लिया है, वही राजयोग आदि सिद्धियों को प्राप्त करता है। वह योगी लीला करता हुआ मृत्यु पर विजय पाता है। इस शक्ति चालन के अभ्यास से बहत्तर सहस्र नाड़ियों का मल दूर हो जाता है।[1]

इस प्रकार आदिनाथ शम्भु द्वारा उपदिष्ट ये सभी मुद्राएं साधकों को महासिद्धि प्रदान करने वाली हैं। और जो साधक एकाग्र मन से इन मुद्राओं का अभ्यास करता है, वह अणिमा आदि गुण-ऐश्वर्य के साथ-साथ मृत्यु पर भी विजय पाता है।[2]

---

1. ह० प्र०—3/97-116
2. शिव-संहिता—4/58

### अध्याय-6

# समाधि

ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से साक्षी में निर्भासित होने लगता है, चित्त के ध्येयस्वरूपाविष्ट हो जाने के कारण 'अहमिदं चिन्तयामि' (मैं इसका चिन्तन करता हूँ) इत्यादि ज्ञानाकारक वृत्तियों का उदयन होने के कारण जब प्रत्ययात्मक स्वरूप से शून्य-सा हो जाता है, तब वही समाधि कहलाने लग जाता है। अर्थात् ध्यान ही जब ध्येयाकार रूप से प्रतीत होने लग जाए और ज्ञानाकार रूप से उसका अलग निर्भास न हो, तब ध्यान ही समाधि है।[1]

ध्यान में ध्याता, ध्येय और ध्यान का अलग-अलग ज्ञान रहता है और समाधि में इनका पृथक्-पृथक् भान नहीं रहता, केवल ध्येयाकार रूप से ही सबकी प्रतीति होती है। यही समाधि और ध्यान में विभिन्नता है।[2]

जाबालदर्शनोपनिषद् के अनुसार जब मनुष्य परमात्मा को परमार्थतः देख लेता है तब अखिल दृश्य जगत् विलीन हो जाता है।[3]

इस प्रकार एक समय में ब्रह्म के एक रूप का ही साक्षात्कार होता है। आत्मदर्शी मुनि ब्रह्म के अविनाशी प्रत्यक् चैतन्यस्वरूप का ही वरण करते हैं और परिणामी दृश्य स्वरूप का अपलाप करते हैं।[4]

सब प्रकार के सङ्कल्पों से सर्वथा शून्य हो जाने का नाम ही 'समाधि' है, जिस समाधि में मन सर्वथा निश्चल हो जाता है और जीवात्मा और परमात्मा का भेद मिट

---

1. तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः (पा० यो०—3/3)
2. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 441
3. जाबालदर्शनोपनिषद्, 10 /12
4. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 421

जाता है। जीवात्मा का प्रत्यक् चैतन्य में सर्वव्यापी अन्तरात्मा में ब्रह्म के अतीन्द्रिय रूप में स्थित होना ही समाधि है। जीवात्मा के अन्दर यह प्रत्यक् चैतन्य अथवा परमात्मा जिसे निर्विकल्प 'परम अह' भी कहते हैं, क्षुद्र अहम् प्रत्यय से आच्छन्न रहता है, जो देहाभिमान का कारण है। इस क्षुद्र अहम् बुद्धि के निवृत्त हो जाने पर प्रत्यक् चैतन्य अथवा निर्विकल्प 'परम ब्रह्म' का उदय होता है। अतः समाधिलाभ के लिए क्षुद्र अहं बुद्धि की निवृत्ति अवश्य है और वही समाधि है।[1]

सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् के अनुसार जीवात्मा की एकता के ज्ञान के उदय को ही 'समाधि' कहते हैं।[2]

मुक्तिकोपनिषद् के अनुसार 'मुनियों द्वारा साधित समाधि उस सङ्कल्पशून्य अवस्था का नाम है जिसमें न तो मन की क्रिया है और न बुद्धि का व्यापार है, जो आत्मज्ञान की अवस्था है और जिसमें उस (प्रत्यक् चैतन्य) के अतिरिक्त सबका बाध है'।[3]

अन्नपूर्णोपनिषद् के अनुसार 'इस गुणसमाहार (बाह्य प्रपञ्च) को आत्मा से भिन्न देखने वाले तत्त्वदर्शी पुरुष की आन्तरिक शान्ति से उत्पन्न स्थिति का नाम समाधि है।'[4]

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार जैसे नमक पानी में मिल जाने से उसकी उसके साथ एकरूपता हो जाती है, वैसे ही आत्मा और मन की एकरूपता समाधि कही गई है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों की एकरूपता और समता हो जाने पर इच्छामात्र का अभाव हो जाता है और वही समाधि कही जाती है।[5]

हठयोगप्रदीपिकाकार ने कुण्डली जागरण तथा उसके परिणाम, लय, शाम्भवी और खेचरी मुद्रा का वर्णन करते हुए इन सभी को समाधि के मार्ग के रूप में निरूपित किया है और अन्त में नादानुसन्धान तथा नादश्रवण के परिणाम स्वरूप समाधि की अवस्था का सविस्तार विवेचन किया है।

## कुण्डली

विविध आसन, कुम्भक, और विचित्र मुद्राओं का अभ्यास कुण्डली जागरण

1. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 422
2. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—16
3. मुक्तिकोपनिषद्—2/55
4. अन्नपूर्णोपनिषद्—1/29
5. ह० प्र०—4/1-7

हेतु किया जाता है क्योंकि इसके जागने पर प्राण शून्य अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में लीन हो जाता है और जब प्राण शून्य में गमन करता है तो उसके फलस्वरूप चित्त भी शून्य में प्रवेश कर जाता है। तभी साधक क्रिया-कलापों से मुक्त हो जाता है। इसी कारण से नित्यप्रति स्वच्छ स्थान पर बैठकर सुषुम्ना के यथार्थ भेदन को जानकर और प्राण को उसमें प्रविष्ट कराकर ब्रह्मरन्ध्र में उसका निरोध करना चाहिए अतएव जब सुषुम्ना में प्राण चलने लगता है तब मनोन्मनी अवस्था सिद्ध होती है।[1]

## लय

हठयोगप्रदीपिका के अनुसार इन्द्रियों का स्वामी मन है, मन का स्वामी वायु है, वायु का स्वामी लय है और लय नाद पर आश्रित है। यह लय मत-मतान्तर में मोक्ष नाम से कही जाने वाली वस्तु हो या न हो, किन्तु यह सत्य ही है कि मन और प्राण के लय होने से किसी अनिर्वचनीय आनन्द की अनुभूति होती है। इस लय की प्राप्ति श्वास-प्रश्वास के निरुद्ध, विषय ग्रहण के बन्द, चेष्टारहित और विकाररहित साधकों को ही होती है। जहाँ मन एकाग्र हो वहीं लय होता है। उसी स्थान पर मस्तिष्क और जीवमात्र की शाश्वतशक्ति दोनों उस ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। क्योंकि विषय की विस्मृति ही लय है और उस स्थिति में वासनाओं का सदा अभाव रहता है।[2]

योगतत्त्वोपनिषद् में इस लय योग को अनेक प्रकार का बताया गया है और कहा गया है कि चित्त का लय योग है, यह बहुत तरह का कहा गया है। चलते, बैठते, सोते, खाते निष्कल परमात्मा का ध्यान करना चाहिए।[3]

घेरण्ड-संहिता में लयसिद्धियोगसमाधि की चर्चा करते हुए कहा गया है कि योनिमुद्रा का साधन करके योगी स्वयं में शक्ति की भावना और परमात्मा में पुरुष की भावना करे। पुनः ऐसी भावना करे कि मुझ में और परमात्मा में शक्ति और पुरुष रूप में विहार हो रहा है। फिर आनन्दमय ऐक्य स्थापित करता हुआ यह चिन्तन करे कि 'मैं अद्वैत ब्रह्म हूँ' इससे जो समाधि होती है उसे लयसिद्धि योग कहते हैं।[4]

---

1. ह० प्र०—4/8-20
2. ह० प्र०—4/21-33
3. (क) योगतत्त्वोपनिषद्—23
   (ख) योगकर्णिका—12/4
4. घेरण्ड-संहिता—7/12-13

## खेचरी

खेचरी मुद्रा के सम्बन्ध में पहले भी चर्चा की जा चुकी है किन्तु यह मुद्रा समाधि का भी मार्ग है अतः इसका स्थान पुनः निरूपित किया जा रहा है।

जब प्राणवायु इड़ा तथा पिंगला नाड़ियों के मध्यमार्ग अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में संचरण करता है तो उसी स्थान पर खेचरी मुद्रा रहती है क्योंकि इन दोनों नाड़ियों के मध्य रहने वाला शून्य प्राणवायु को ग्रसता रहता है, इस मध्य को व्योमचक्र भी कहा है।

योगचूडामण्युपनिषद् में कहा गया है कि खे का तात्पर्य आकाश है और जिस मुद्रा के द्वारा चित्त आकाशगामी हो जाता है उसको खेचरी मुद्रा कहते हैं।[1]

चन्द्रमण्डल से स्रवित होने वाले अमृत को शिव की प्रिया (गङ्गा) भी कहते हैं। उसको मेरुदण्ड स्थित दिव्य और अनुपम सुषुम्ना के द्वारा पूरित करना चाहिए और जब सुषुम्ना पूर्व की ओर से भी पूरित हो जाए अर्थात् प्राणवायु जब भृकुटि के ऊपर के भाग में गमन करने लगता है, तब खेचरी मुद्रा की सिद्धि होती है और इस सिद्धि के निरन्तर अभ्यास के द्वारा उन्मनी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि भृकुटि के मध्य शिव का स्थान है और वहीं मन लीन हो जाता है और वहीं यह अंतिम स्थान है क्योंकि वहाँ मृत्यु नहीं होती।

मन को निरालम्ब करके किसी भी प्रकार का चिन्तन नहीं करना चाहिए, इससे वह साधक बाह्य और आभ्यन्तर से घट के समान होकर आकाश में स्थित हो जाता है। जैसे-जैसे बाहर की वायु मन्द होकर गति करता है वैसे-वैसे प्राण भी लीन होता जाता है और तब मध्य प्राणवायु मन के साथ (ब्रह्मरन्ध्र में) स्थिरता को प्राप्त होती है।

इस मुद्रा के निरन्तर अभ्यास से साधक को चाहिए कि वह सिर से पैर तक समस्त शरीर को चन्द्ररस रूपी अमृत से भर देवे, इससे साधक महाकाय, महाबल तथा पराक्रम से युक्त हो जाएगा और साधक आकाश में शून्य कुम्भ की भांति अन्दर से शून्य तथा बाहर से भी शून्य हो जाए तथा समुद्र में भरे हुए कुम्भ की भांति अन्दर से तथा बाहर से भी पूर्ण हो जाए क्योंकि यह समस्त संसार मन की ही रचना मात्र है तथा समस्त मनोविलास भी मन की ही रचना मात्र है अतएव मन को समस्त काल्पनिक रचनाओं से अलग कर निर्विकल्प (ब्रह्म) का आश्रय लेना चाहिए क्योंकि इससे निश्चित ही शान्ति प्राप्त होगी।

इस खेचरी मुद्रा का तब तक अभ्यास करते रहना चाहिए जब तक योगनिद्रा

---

1. योग० चू० उ०—55

प्राप्त न हो, क्योंकि योगनिद्रा अर्थात् समाधि की प्राप्ति होने पर कभी कालभय नहीं रहता है। इस समाधि में सम्पूर्ण ज्ञेय वस्तु के परित्याग से मन विलीन हो जाता है और मन के विलीन होते ही कैवल्य अर्थात् ब्रह्म ही शेष रह जाता है।[1]

## नादानुसन्धान

अब लय से समाधि के ही अङ्गरूप नादानुसन्धान प्रक्रिया का निरूपण किया जा रहा है। 'कठोपनिषद्' में कहा गया है कि जिस काल में योगाभ्यास के बल से पाँच ज्ञानेन्द्रिय, छठा मन और सातवीं बुद्धि लयभाव को प्राप्त हो जाती है, उसको परमगति कहते हैं। मोक्ष, मुक्ति, कैवल्य, ब्राह्मी स्थिति निर्वाण और अमनस्क-स्वरूप प्रतिष्ठा भी इसी को कहते हैं। यही बात शिवसंहिता में भी कही गई है 'जिस काल में सविकल्प समाधि के साधन से, निर्विकल्प समाधि सिद्ध हो जाती है मन दृश्य का चिन्तन छोड़कर वृत्ति-रहित हो जाता है, उस काल में साधक स्वयं पूर्णरूप हो जाता है। यानी 'उपाधि-विलयात् विष्णो' के अनुसार, अज्ञान की कार्यरूप वृत्ति ब्रह्म में लीन हो जाती है और साधक ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। जीव ब्रह्म का स्वरूप से तो अभेद है, परन्तु उपाधिकृत भेद है, योगाभ्यास के बल से उस उपाधि का लय कर लेने पर जीवात्मा ब्रह्मपद को प्राप्त हो जाता है। यही बात दक्षिणामूर्ति जी ने वेदान्तडिण्डिम में कही है—

"न जीवब्रह्मणोर्भेदः स्फूर्तिरूपेण विद्यते स्फूर्तिभेदेन मानम्, न जीवब्रह्मणोर्भेदः प्रियरूपेण विद्यते प्रियभेदेन मानम्।" अर्थात् जीव ब्रह्म का स्फुरण रूपी वृत्ति से भेद है, स्वरूप से भेद नहीं। चेतन में अविद्या की जो उपाधि जगत् की सत्यता, स्वरूप का विस्मरण, दृश्य में आसक्ति है, यही जीवदशा है।[2]

भगवान् शङ्कराचार्य जी ने मन के लय का सर्वोत्तम साधन नादानुसन्धान, अपने 'योगतारावली' ग्रन्थ में नीचे के श्लोकों में बताया है कि 'योगशास्त्र के प्रवर्तक भगवान् शिवजी ने मन के लय होने के सवा लक्ष साधन बतलाए हैं, उन सब में नादानुसन्धान सुलभ और श्रेष्ठ है। हे नादानुसन्धान! आपको नमस्कार है आप परमपद में स्थित कराते हैं, आपके ही प्रसाद से मेरा प्राणवायु और मन ये दोनों विष्णु के परमपद में लय हो जाएंगे। योगसाम्राज्य में स्थित होने की इच्छा हो तो सब चिन्ताओं को त्यागकर सावधान हो एकाग्र मन से अनहद नादों को सुनो।

---

1. ह० प्र०—4/42-61

2. कल्याण का योगाङ्क, पृ० 271

सदा शिवोक्तानि सपादलक्षलयावधानानि वसन्ति लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं मन्यामहे मान्यतमं लयानाम्॥
नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं त्वां मन्महेतुत्वपदं लयानाम्।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं विलीयते विष्णुपदे मनो मे॥
सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा।
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता॥[1]

शिव-संहिता में भी मन को लय करने में उत्तमोत्तम साधन नाद ही कहा है।[2]

भगवान् शङ्कराचार्य की भाँति श्री स्वात्माराम योगीन्द्र भी यही मानते हैं कि श्री आदिनाथ के द्वारा प्रोक्त लय के सवा करोड़ विद्यमान प्रकारों में से एक नादानुसन्धान ही मुख्यतम लय है।[3] नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि जिस प्रकार बादलों के चले जाने पर सूर्य का उदय होता है, उसी प्रकार प्रारब्ध के समाप्त होने पर तथा आत्मा और ब्रह्म की एकता का चिन्तन करने पर कल्याणकारी, ज्योतिर्मय परमात्मा का नादरूप में साक्षात्कार होता है।[4]

योगी को मुक्तासन में बैठकर, शाम्भवी मुद्रा को सिद्ध करके, एकाग्रचित्त होकर दक्षिण कर्ण से अन्तस्थ नाद को सुनने का प्रयत्न करना चाहिए।[5] जबकि नादबिन्दूपनिषद् में वैष्णवी मुद्रा की ओर संकेत दिया गया है और मुक्तासन की जगह सिद्धासन का उल्लेख है।[6]

इस नाद की चार अवस्थाएँ सभी योगों में मान्य हैं—आरम्भावस्था, घटावस्था, परिचयावस्था और निष्पत्ति अवस्था।

1. **आरम्भावस्था**—इस अवस्था में जब ब्रह्मग्रन्थि का भेदन होता है तब योगी का मन शून्य होकर उसे परमानन्द की प्राप्ति होती है। तत्पश्चात् शरीर में से विचित्र प्रकार की क्वणक रूपी अनाहत ध्वनि सुनाई देती है जिससे साधक दिव्य शरीर वाला तेजस्वी, दिव्य गन्ध युक्त, अरोगी, आह्लादक हृदय तथा शून्य से युक्त हो जाता है।

2. **घटावस्था**—इस अवस्था में वायु निरुद्ध होकर सुषुम्नावाही हो जाता है,

---

1. कल्याण का योगाङ्क—271
2. शिव-संहिता—5/30
3. ह० प्र०—4/65
4. नादबिन्दूपनिषद्—30
5. ह० प्र०—4/67
6. नादबिन्दूपनिषद्—31

तब योगी दृढ़ासन होकर, अधिक ज्ञानी और देवतासदृश बन जाता है। इससे साधक की विष्णुग्रन्थि का भेदन होता है, जिससे अतिशून्य में परमानन्द की सूचक भेरी के आघात सदृश शब्द उत्पन्न होने लगते हैं।

शिव-संहिता में कहा गया है कि यह अवस्था प्राणायाम के द्वारा ही संभव है तथा इस अवस्था में प्राण-अपान, नादबिन्दु, जीवात्मा और परमात्मा एक हो जाते हैं।[1]

3. **परिचयावस्था**—इस अवस्था की प्राप्ति में जीव को शून्य में मर्दल ध्वनि का श्रवण होता है और तब सब प्रकार की सिद्धियों का आश्रय लेकर प्राण महाशून्य में गमन करता है। तब चित्त आनन्द को प्राप्त कर दोष, दुःख, जरा, व्याधि, क्षुधा और निद्रा आदि से रहित होकर सहजानन्द को प्राप्त करता है।

शिव-संहिता में वर्णित है कि इस अवस्था में योगी का प्राणवायु चन्द्र और सूर्य नाड़ी को त्याग कर सुषुम्नावाही होकर निश्चल हो जाता है तथा योगी त्रिकुट कर्मों को देखता हुआ अमरत्व को प्राप्त करता है।[2]

4. **निष्पत्त्यवस्था**—इस अवस्था की प्राप्ति में प्राणवायु रुद्रग्रन्थि का भेदन कर शिवस्थान को प्राप्त करता है और तब योगी को मिश्रित शब्दों वाली वीणा का स्वर सुनाई देता है। तभी योगी का चित्त एकाग्र होकर राजयोग समाधि हेतु बनता है और योगी ईश्वर सदृश सृष्टि का संहारक और कर्त्ता बन जाता है।

शिव-संहिता में इस अवस्था के द्वारा जीवन्मुक्त होना बताया है।[3]

इस प्रकार ग्रन्थकार ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि मोक्ष हो या न हो, किन्तु यहाँ पर ही एक अखण्ड सुख प्राप्त होता है, लय से उत्पन्न वह सुख राजयोग अर्थात् समाधि के द्वारा प्राप्त होता है। और जो जन राजयोग को नहीं जानते हुए केवल हठ-प्रक्रिया का ही अभ्यास करते हैं, वे साधक फलहीन प्रयास ही करते हैं।

इस नादानुसन्धान से समाधि प्राप्त करने वाले योगीश्वरों के हृदय में एक अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है।[4] इस नादानुसन्धान की प्रथमावस्था में अनेक प्रकार के महान् नाद सुनाई देते हैं, और बाद में अभ्यास के दृढ़ होने पर सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होते जाते हैं।

प्रथमकाल में समुद्र, मेघ, भेरी, झर्झर ध्वनिसदृश, मध्य में ढोल, शङ्ख, घण्टा तथा घड़ियाल की ध्वनि के समान और अन्त में किङ्किणी, वेणु, वीणा तथा भ्रमर

1. शिव-संहिता—3/55-56
2. वही—3/60-65
3. वही—3/67,
4. ह० प्र०—4/68-80

निःस्वन की ध्वनि के समान नाना प्रकार के नादों का श्रवण शरीर के अन्दर से होता है। मेघ, भेरी आदि सुनाई देने वाले महान् ध्वनि वाले नादों में भी सूक्ष्म से सूक्ष्मतर नाद का ही श्रवण करना चाहिए और जिस किसी भी नाद में सर्वप्रथम मन लग जाए, उसमें ही स्थिर होकर उसके साथ ही लीन हो जाना चाहिए।

जिस प्रकार भ्रमर फूलों के रस का पान करता हुआ गन्ध की अपेक्षा नहीं रखता, उसी प्रकार नादासक्त चित्त बाह्य-विषयों की भी उपेक्षा नहीं करता। विषय-उद्यान में विचरण करने वाले मत्त गजेन्द्र रूपी मन को वश में करने के लिए यह नाद तीक्ष्ण अंकुश के समान है। क्योंकि नाद-बन्धन से बांधा गया (चंचल) मन अपनी चंचलता को त्याग कर छिन्न पंखों वाले पक्षी की भांति शीघ्र ही स्थिरता को प्राप्त करता है।[1]

नादबिन्दूपनिषद् में कहा गया है कि यदि हम मन को हिरण और तरंग की संज्ञा प्रदान करें तो यह नाद उस हिरण को फांसने के लिए जाल का और तरंग को रोकने के लिए तट का काम देता है।[2]

जिस प्रकार काष्ठ से उत्पन्न अग्नि काष्ठ के साथ ही शान्त हो जाती है, उसी प्रकार नाद में प्रवर्तित चित्त भी नाद के साथ लीन हो जाता है। इस प्रकार सभी हठ और लय के उपाय राजयोग की सिद्धि के लिए हैं। राजयोग से युक्त पुरुष मृत्युंजय हो जाता है। इस नादानुसन्धान से सदा पापों के संचय का नाश होता है और तब चित्त और वायु निश्चित रूप में उस निरंजन में विलीन हो जाते हैं और तब शङ्ख और दुंदुभि नाद कभी सुनाई नहीं देते अपितु उन्मनी-अवस्था की उत्पत्ति पर शरीर काष्ठवत् हो जाता है तथा वह साधक सभी अवस्थाओं से मुक्त और चिन्ताओं से रहित होकर मृतवान् रहता है।

## समाधि फल

समाधि से युक्त योगी काल के द्वारा खाया नहीं जा सकता, कर्मों के द्वारा बांधा नहीं जा सकता तथा वह गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और न ही शब्द इन सबसे लिप्त होता है। उसका चित्त न तो सोया हुआ और न ही जागा हुआ रहता है। वह स्मृति तथा विस्मृति से दूर हो जाता है। वह योगी शीत-उष्ण, दुःख-सुख, मान-अपमान को नहीं जानता अर्थात् इन सब द्वन्द्वों से निर्लिप्त रहता है। इस अवस्था की प्राप्ति में योगी सब

1. ह० प्र०—4/83-91
2. नादबिन्दूपनिषद्—45

शास्त्रों से अबध्य रहता है। सब देहधारियों से वह अशक्य (बलवान्) और यन्त्र-मन्त्रों से अग्राह्य होता है तथा वह निश्चित रूप में मुक्त हो जाता है।

ग्रन्थ के अन्त में कहा गया है कि जब तक सुषुम्ना में प्राणवायु का संचार नहीं हो जाता, जब तक प्राणवायु के नियन्त्रण से चन्द्ररस स्थिर नहीं हो जाता और जब तक ध्यान में परम-तत्त्व सहज रूप से नहीं आता, तब तक ज्ञान का उपदेश केवल दम्भ और मिथ्या प्रलाप मात्र ही है[1]।इसी अवस्था की प्राप्ति ही हठयोग का परम उद्देश्य ह।

1. ह० प्र०—4/97-113

# उपसंहार

अनवरत प्रवाहित हो रही हठयोग की प्रशस्त प्रक्रिया-प्रधान परम्परा से प्रभावित होकर ऋतम्भराप्रज्ञायुक्त जिन भारतीय मनीषियों ने क्रिया एवं अध्यात्मचिन्तन की जिस उत्कृष्ट ज्ञानराशि के द्वारा समस्त मानव जीवन को अत्यधिक उदात्त बनाने की धारणा की, उसी के सङ्कल्प रूपी ज्ञानकण प्राचीन काल से ही भारत भूविमण्डल में आकाश और दिशा के साथ परमाणुओं के शाश्वत संयोग की भाँति इस तरह संयुक्त हुए कि यही प्रक्रिया-प्रधान योग बौद्ध, जैन, तन्त्र इत्यादि योगों के रूप में प्रकटित हुआ। प्राचीन भारतीय संस्कृति रूपी गङ्गा के हठयोग रूपी तीव्रप्रवाही जल ने सभी धर्मों, दर्शनों, सम्प्रदायों एवं मतों के अज्ञान रूपी तटबन्धों का विच्छेदन कर एक ऐसा मुक्तिमार्ग प्रशस्त किया कि जिसका अनुगमन कर विभिन्न दार्शनिकों ने ही नहीं अपितु सामान्य जनों ने भी अपने आपको कृतार्थ किया। इस हठयोग की समस्त मूर्धन्य व्यावहारिक गतिविधियों एवं सैद्धान्तिक मतों का चरम लक्ष्य, परम लक्ष्य की प्राप्ति है, जिसे हम मिथ्या भेद से उत्पन्न अज्ञान के वशीभूत होकर आत्मा, परमात्मा, जीव, ईश्वर, ब्रह्म इत्यादि की कल्पना रूपी कल्मषता से कलङ्कित करते हैं।

किन्तु शोचनीय विषय यह है कि हठयोग की इतनी महत्त्वपूर्ण प्रणाली का निश्चयात्मक ज्ञान अद्यावधि नहीं हो पाया है। हमारे देश में योग की कई प्रणालियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। प्राचीनतम प्रणाली सिन्धु घाटी के अवशेषों में प्राप्त मुद्राओं के माध्यम से होती है। दूसरी प्रणाली बौद्ध योग की है। तीसरी प्रणाली पातञ्जल योग दर्शन के अन्तर्गत आती है। चतुर्थ प्रणाली के रूप में तन्त्र ग्रन्थों में योग सिद्धान्तों की उपलब्धि होती है। एतदनन्तर गोरक्ष प्रचलित पद्धति का दिग्दर्शन होता है। इस पद्धति के समय "भारतीय धर्म साधना की अवस्था विचित्र थी। शुद्धजीवन, सात्त्विक वृत्ति और अखण्ड ब्रह्मचर्य की भावना उन दिनों अपनी निम्नतम सीमा तक पहुंच चुकी थी। गोरक्षनाथ ने निर्मम हथौड़े की चोट से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण-विचूर्ण कर दिया।"[1]

---

1. नाथसम्प्रदाय—229

योग की इन सब प्रणालियों में क्या-क्या सम्बन्ध रहा है तथा सिन्धु घाटी में उपलब्ध योग की प्रणाली किस प्रकार से उत्तरवर्ती प्रणालियों को प्रस्फुटित तथा पल्लवित करने में उत्तरदायी रही है तथा पातञ्जल योग, तन्त्रीय योग और हठयोग का परस्पर कितना अटूट सम्बन्ध रहा है······इस पर मूल स्रोतों के आधार पर गम्भीर इतिहास-परक गवेषणा की अत्यधिक आवश्यकता है।

इसके अतिरिक्त पूर्वोक्त समस्त विवेचन के आधार पर यह निस्संकोच सिद्ध किया जा सकता है कि प्रस्तुत 'हठयोगप्रदीपिका' श्री स्वात्मारामयोगीन्द्र की अनुपम प्रक्रिया प्रधान कृति होने के साथ-साथ दर्शन ग्रन्थों से भी अत्यधिक प्रभावित है। अनेक जटिल प्रसङ्गों यथा प्राणायाम, कुण्डलिनी, आसनों व नादानुसन्धान से प्राप्त लाभों का सविस्तर वर्णन और वज्रोली मुद्रा के द्वारा योगसिद्धि की प्राप्ति जैसे तार्किक विवेचनों के कारण हठयोगप्रदीपिका समस्त प्रक्रिया-प्रधान एवं साधना-प्रधान शास्त्रों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है।

पूर्व के अध्यायों में हठयोग के मूल ग्रन्थों उपनिषदों और विभिन्न हठयोग सम्बन्धी ग्रन्थों के द्वारा हठयोग के विभिन्न पक्षों पर किये गए चिन्तन का तुलनात्मक चित्र उपस्थापित करने का विनम्र प्रयास किया गया है।

हठयोग वास्तव में स्वास्थ्यवर्धक है और इसके फलस्वरूप जीवन में निर्वाह सुखपूर्वक होता है, यह इसका इहलौकिक लाभ है। इसके अतिरिक्त कुण्डलिनी शक्ति के जागरण द्वारा यह मानव दुःख के कारण कर्तृत्व भाव का नाशक है और अन्त में जीव की समाधि अवस्था में स्थित परमार्थ सुख और पारलौकिक सुख की प्राप्ति करवाता है। अन्त में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि मोह मुग्ध जो जीव विपरीत ज्ञानकारिणी अविद्या के चक्र में पड़ कर संसार के यथार्थ स्वरूप से भटक रहे थे, उन्हें यह प्रस्तुत ग्रन्थ एक नई दिशा की प्रेरणा प्रदान करेगा। यही मेरी ईश्वर से प्रार्थना है।

# मुख्य सन्दर्भ ग्रन्थ सूची


1. अथर्ववेद-संहिता—चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी।
2. अथर्ववेद-संहिता—श्रीकण्ठशास्त्री, माधवपुस्तकालय, कमला नगर, दिल्ली।
3. अपरोक्षानुभूतिः—(क) स्वामी विमुक्तानन्द (ख) पं० मनोहरलाल शर्मा।
4. कल्याणयोगाङ्क—गीता प्रेस गोरखपुर, सम्वत् 1992
5. कुमारसम्भव—व्याख्याकार श्री जगदीशलाल शास्त्री, प्रकाशक मोतीलाल बनारसी दास, सन् 1965
6. काकचण्डीश्वरकल्पतन्त्रम्—सम्पादक, श्री कैलाशपति पाण्डेय, प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, सम्वत् 2039
7. गोरक्ष-संहिता—सम्पादक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान ख्वाजा कुतुब (वेद नगर) बरेली (उत्तर प्रदेश) सन् 1982
8. गुह्य समाज तन्त्र—सम्पादक श्री एस. बाग्ची, मिथिलाविद्यापीठ, दरभङ्गा, 1965
9. घेरण्ड-संहिता—वही 6, सन् 1981
10. घेरण्ड-संहिता—सम्पादक, श्रीश चन्द्र वसु, अड़यार मद्रास, 1933
11. जयेन्द्र योग प्रयोग—डा० रमेश कुमार, सम्पादक डा० रुद्रदेव त्रिपाठी, मेघप्रकाशन ब्रह्मपुरी, दिल्ली, सन् 1982
12. दत्तात्रेय-योगशास्त्र—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, स्वामी केशवानन्द योग संस्थान, रूप नगर, दिल्ली
13. धर्मशास्त्र का इतिहास—भाग पंचम—डा० पाण्डुरंग काणे, अनुवाद अर्जुन चौबे काश्यप, प्रकाशक हिन्दी समिति उत्तर प्रदेश, लखनऊ, प्रथम संस्करण 1973
14. नरपतिजयचर्यास्वरोदय—सम्पादक पण्डित गणेशदत्त पाठक, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी 1971
15. नाथ और संत साहित्य—डा० नगेन्द्र नाथ उपाध्याय, शोध-प्रबन्ध, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय प्रकाशन
16. नाथ सम्प्रदाय—हजारी प्रसाद द्विवेदी, लोक भारती प्रकाशन, 1966

17. पातञ्जल योग दर्शन—सम्पादक पं० तुलसीराम, प्रकाशक स्वामी प्रेस, मेरठ, सन् 1977
18. पातञ्जल योग दर्शन—व्यास भाष्य, भोजवृत्ति सहित—अनुवादक श्री स्वामी विज्ञानाश्रम, प्रकाशक—श्री मदनलाल लक्ष्मी निवास चंडक, अजमेर नगर, सम्वत् 2018
19. पातञ्जल योगशास्त्र: एक अध्ययन—डा० ब्रह्ममित्र अवस्थी, इन्दु प्रकाशन, दिल्ली सन् 1978
20. प्रायोगिक योगशिक्षा—कुमारी अरुणा आनन्द, आनन्द प्रकाशन, नौरोजी नगर, दिल्ली, सन् 1982
21. ब्रह्मपुराण—सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, प्रकाशक संस्कृति संस्थान, बरेली सन् 1971
22. ब्रह्मसूत्र—श्री सत्यानन्द सरस्वती, प्रकाशन गोविन्द मठ, टेढ़ीनीम, वाराणसी, सम्वत् 2035
23. भगवद् गीता—डा० राधाकृष्णन्, प्रकाशक राजपाल एण्ड सन्ज, दिल्ली, सन् 1962
24. भागवतपुराण—प्रकाशक पंडित पुस्तकालय, राजा दरवाजा, काशी, सन् 1952
25. भारतीय दर्शन—श्री एस० एन० दास गुप्ता प्रकाशक राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, विद्यालय मार्ग तिलक नगर, जयपुर, 4
26. भारतीय दर्शन की रूपरेखा—एम० हिरियन्ना, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, सन् 1965
27. भारतीय दर्शन में योग—डा० मंगला, प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1983
28. मनुस्मृति—प्रकाशक हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता, संस्करण 6, सम्वत् 1993
29. याज्ञवल्क्यस्मृति—चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी—1 सन् 1967
30. योगकर्णिका—नाथ अघोरानन्द—सम्पादक श्री एन० एन० शर्मा, ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली-7, सन्, 1981
31. योग दर्शन—श्री वेदमूर्ति तपोनिष्ठ वही 20—तृतीय संस्करण 1969
32. योगप्रदीपिका—ब्रह्मचारी याज्ञवल्क्य—मोतीलाल बनारसीदास, सन् 1981
33. योगशास्त्र—आचार्य हेमचन्द्र, प्रकाशक ऋषभ जौहरी, किशनलाल जैन, दिल्ली, सन् 1663
34. विष्णु-पुराण—सम्पादक वेदमूर्ति तपोनिष्ठ, वही-20 सन् 1967
35. वैदिक कोष—श्री भगवद्दत्त—ऐंग्लो ओरियण्टल, विक्रम सम्वत् 1982
36. शिवमहापुराण की दार्शनिक समालोचना—डा० रमाशंकर त्रिपाठी, प्रकाशक हरिशंकर त्रिपाठी, अस्सी, वाराणसी, 1975

37. शिव-संहिता—श्री रायबहादुर, श्री चन्द्र वसु, प्रकाशक श्री सत्गुरु प्रकाशन, एम० एस० पी० सन् 1981
38. शिवस्वरोदय—अनुवादक पं० हरेकृष्ण शास्त्री, प्रकाशक ठाकुर दास एण्ड सन्स, राजा दरवाजा, वाराणसी, सन्-1980
39. श्री धर्म्मकल्पद्रुम—चतुर्थ खण्ड—श्री स्वामी दयानन्द—प्रथम संस्करण नारायण प्रेस, बनारस, सन्-1917
40. षट्चक्र निरूपण और पादुकापञ्चम—तृतीय संस्करण, सम्पादक श्री तारानाथ विद्यारत्न, प्रकाशक बी०घोष, आगमानुसन्धान समिति, कलकत्ता सन्-1941
41. सन्त काव्य में योग का स्वरूप—डा० रामेश्वर प्रसाद सिंह—प्रकाशन—अनुपम प्रकाशन पटना 1977
42. सरल राजयोग—स्वामी विवेकानन्द, अनुवादक श्री पृथ्वीनाथ शास्त्री, प्रकाशन श्री रामकृष्ण आश्रम, मध्य प्रदेश
43. सिद्धसिद्धान्त पद्धति—सम्पादिका—श्रीमती कल्याणी मलिक, प्रकाशन—पूना ओरियण्टल बुक हाउस, पूना 1954
44. सिद्धसिद्धान्त संग्रह—सम्पादक—श्री गोपीनाथ कविराज, प्रकाशक—श्री जयकृष्ण दास गुप्ता, गोपाल मन्दिर, बनारस, सन्-1925
45. हठयोगप्रदीपिका—संस्करणकर्ता स्वामी दिगम्बर जी, डा० पीताम्बर झा, कैवल्य-धाम श्रीमन्माधव योगमन्दिर समिति, लोनावाला (पूना), सम्वत् 2035
46. हठयोगप्रदीपिका—सम्पादक डा० चमनलाल गौतम, संस्कृति संस्थान वेदनगर, बरेली, उत्तर प्रदेश सन्-1982
47. हठयोगप्रदीपिका—सम्पादक पंचम सिंह, इण्डियन बुक सेन्टर, शक्तिनगर, दिल्ली, एस० एस० पी० सन् 1979
48. हठयोगप्रदीपिका—ब्रह्मानन्द रचित ज्योत्स्ना टीका सहित—सम्पादक श्री खेमराज, श्री वेङ्कटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई, सम्वत्-1968
49. अन्नपूर्णोपनिषद्—उपनिषत् संग्रह—सम्पादक प्रो० जगदीशलाल शास्त्री, मोती-लाल बनारसीदास, दिल्ली, सन् 1980
50. अमृतनादोपनिषद्—वही
51. ईशादि नौ उपनिषद्—गीता प्रेस, गोरखपुर, सं०-2010
52. कठोपनिषद्—वही—48
53. कौषीतकि उपनिषद्—वही—48
54. छान्दोग्योपनिषद्—गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० 2023
55. जाबालदर्शनोपनिषद्—वही—48
56. त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद्—वही
57. ध्यानविन्दूपनिषद्—वही
58. मण्डलब्राह्मणोपनिषद्—वही

59. मैत्रायण्युपनिषद्—वही
60. मुक्तिकोपनिषद्—वही
61. योगकुण्डल्युपनिषद्—वही
62. योगचूडामण्युपनिषद्—वही
63. योगतत्त्वोपनिषद्—वही
64. योगसाधना—वही—45
65. योगशिखोपनिषद्—वही—48
66. शाण्डिल्योपनिषद्—वही
67. श्वेताश्वतरोपनिषद्—वही
68. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्—वही

आयुर्वेदग्रन्थ—

69. काश्यप-संहिता—प्रकाशक—चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी—1976
70. चरक-संहिता—सम्पादक—श्री जयदेव विद्यालङ्कार, प्रकाशक—मोतीलाल बनारसीदास, बनारस, सं०-1993
71. योगतरंगिणी—सम्पादक श्री खेमराज श्री कृष्णदास, "श्री वेङ्कटेश्वर" स्टीम प्रेस, बम्बई
72. सुश्रुतसंहिता—सम्पादक श्री भास्कर गोविन्द घाणेकर, प्रकाशक–जयकृष्णदास, हरिदास गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, सं०-2007

अप्रकाशित—

73. गोरक्ष-संहिता एक अध्ययन—कुमारी सुरिन्द्र कौर, लघु शोध-प्रबन्ध, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली, सन्-1983
74. Guhyasamaja Tantra or Tathagata guhyaka—Edited—Sh. Benoytosh Bhattacharya, Oriental Institute, Baroda-1967
75. Studies in Tantras Part-1—Prabhodh Chandra Bagchi, Published by the university of Calcutta—1939.
76. The Cultural Heritage of India—Vol. IV—Published by Swami Lokeswarananda, Secretary, The Ramakrishna Mission Institute of Culture, Calcutta—1975.
77. Yoga—Historical background —Dr. C. T. Kenghe. Published by Bhattacharya, Bharata Manisha, Pande Haveli, Varanasi-1975.
78. Yogic and Tantric Medicine—Vol. II by O. P. Jaggi, Atma Ram and Sons, Delhi—1979.

# प्रथमोपदेशः

श्रीआदिनाथाय नमोऽस्तु तस्मै येनोपदिष्टा हठयोगविद्या ॥
विभ्राजते प्रोन्नतराजयोगमारोढुमिच्छोरधिरोहिणीव ॥ 1 ॥

प्रणम्य श्रीगुरुं नाथं स्वात्मारामेण योगिना ॥
केवलं राजयोगाय हठविद्योपदिश्यते ॥ 2 ॥

भ्रान्त्या बहुमतध्वान्ते राजयोगमजानताम् ॥
हठप्रदीपिकां धत्ते स्वात्मारामः कृपाकरः ॥ 3 ॥

हठविद्यां हि मत्स्येन्द्रगोरक्षाद्या विजानते ॥
स्वात्मारामोऽथवा योगी जानीते तत्प्रसादतः ॥ 4 ॥

श्रीआदिनाथमत्स्येन्द्रशाबरानन्दभैरवाः ॥
चौरङ्गी मीनगोरक्षविरूपाक्षबिलेशयाः ॥ 5 ॥

मन्थानो भैरवो योगी सिद्धिर्बुद्धश्च कन्थडिः ॥
कोरन्टकः सुरानन्दः सिद्धपादश्च चर्पटिः ॥ 6 ॥

कानेरी पूज्यपादश्च नित्यनाथो निरञ्जनः ॥
कपाली बिन्दुनाथश्च काकचण्डीश्वराह्वयः ॥ 7 ॥

अल्लामः प्रभुदेवश्च घोडाचोली च टिन्टिणिः ॥
भानुकी नारदेवश्च खण्डः कापालिकस्तथा ॥ 8 ॥

इत्यादयो महासिद्धा हठयोगप्रभावतः ॥
खण्डयित्वा कालदण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति ते ॥ 9 ॥

अशेषतापतप्तानां समाश्रयमठो हठः ॥
अशेषयोगयुक्तानामाधारकमठो हठः ॥ 10 ॥

हठविद्या परं गोप्या योगिना सिद्धिमिच्छता ।।
भवेद्वीर्यवती गुप्ता निर्वीर्या तु प्रकाशिता ।। 11 ।।

सुराज्ये धार्मिके देशे सुभिक्षे निरुपद्रवे ।।
धनुःप्रमाणपर्यन्तं शिलाग्निजलवर्जिते ।।
एकान्ते मठिकामध्ये स्थातव्यं हठयोगिना ।। 12 ।।

अल्पद्वारमरन्ध्रगर्तविवरं नात्युच्चनीचायतं
सम्यग्गोमयसान्द्रलिप्तममलं निःशेषजंन्तूज्झितम् ।।
बाह्ये मण्डपवेदिकूपरुचिरं प्राकारसंवेष्टितं
प्रोक्तं योगमठस्य लक्षणमिदं सिद्धैर्हठाभ्यासिभिः ।। 13 ।।

एवंविधे मठे स्थित्वा सर्वचिन्ताविवर्जितः ।।
गुरूपदिष्टमार्गेण योगमेव समभ्यसेत् ।। 14 ।।

अत्याहारः प्रयासश्च प्रजल्पो नियमग्रहः ।।
जनसङ्गश्च लौल्यं च षड्भिर्योगो विनश्यति ।। 15 ।।

उत्साहोत्साहसाद्धैर्यात्तत्त्वज्ञानाच्च निश्चयात् ।।
जनसङ्गपरित्यागात्षड्भिर्योगः प्रसिद्ध्यति ।। 16 ।।

अथ यमनियमाः

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यं क्षमा धृतिः ।।
दयार्जवं मिताहारः शौचं चैव यमा दश ।। 17 ।।

तपः सन्तोष आस्तिक्यं दानमीश्वरपूजनम् ।।
सिद्धान्तवाक्यश्रवणं ह्रीमती च तपो हुतम् ।।
नियमा दश सम्प्रोक्ता योगशास्त्रविशारदैः ।। 18 ।।

अथ आसनम्

हठस्य प्रथमाङ्गत्वादासनं पूर्वमुच्यते ।।
कुर्यात्तदासनं स्थैर्यमारोग्यं चाङ्गलाघवम् ।। 19 ।।

वसिष्ठाद्यैश्च मुनिभिर्मत्स्येन्द्राद्यैश्च योगिभिः ।।
अङ्गीकृतान्यासनानि कथ्यन्ते कानिचिन्मया ।। 20।

जानूर्वोरन्तरे सम्यक्कृत्वा पादतले उभे ।।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत्प्रचक्षते ।। 21 ।।

सव्ये दक्षिणगुल्फं तु पृष्ठपार्श्वे नियोजयेत् ॥
दक्षिणेऽपि तथा सव्यं गोमुखं गोमुखाकृति ॥ 22 ॥

एकं पादं तथैकस्मिन्विन्यसेदूरुणि स्थितम् ॥
इतरस्मिंस्तथा चोरुं वीरासनमितीरितम् ॥ 23 ॥

गुदं निरुध्य गुल्फाभ्यां व्युत्क्रमेण समाहितः ॥
कूर्मासनं भवेदेतदिति योगविदो विदुः ॥ 24 ॥

पद्मासनं तु संस्थाप्य जानूर्वोरन्तरे करौ ॥
निवेश्य भूमौ संस्थाप्य व्योमस्थं कुक्कुटासनम् ॥ 25 ॥

कुक्कुटासनबन्धस्थो दोर्भ्यां सम्बध्य कन्धराम् ॥
भवेत्कूर्मवदुत्तान एतदुत्तानकूर्मकम् ॥ 26 ॥

पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां गृहीत्वा श्रवणावधि ॥
धनुराकर्षणं कुर्याद्धनुरासनमुच्यते ॥ 27 ॥

वामोरुमूलार्पितदक्षपादं जानोर्बहिर्वेष्टितवामपादम् ॥
प्रगृह्य तिष्ठेत्परिवर्तिताङ्गः श्रीमत्स्यनाथोदितमासनं स्यात् ॥ 28 ॥

मत्स्येन्द्रपीठं जठरप्रदीप्तिं प्रचण्डरुग्मण्डलखण्डनास्त्रम् ॥
अभ्यासतः कुण्डलिनीप्रबोधं चन्द्रस्थिरत्वं च ददाति पुंसाम् ॥29॥

प्रसार्य पादौ भुवि दण्डरूपौ दोर्भ्यां पदाग्रद्वितयं गृहीत्वा ॥
जानूपरि न्यस्तललाटदेशो वसेदिदं पश्चिमतानमाहुः ॥ 30 ॥

इति पश्चिमतानमासनाग्र्यं पवनं पश्चिमवाहिनं करोति ॥
उदयं जठरानलस्य कुर्यादुदरे कार्श्यमरोगतां च पुंसाम् 31 ॥

धरामवष्टभ्य करद्वयेन तत्कूर्परस्थापितनाभिपार्श्वः ॥
उच्चासनो दण्डवदुत्थितः स्यान्मयूरमेतत्प्रवदन्ति पीठम् ॥ 32 ॥

हरति सकलरोगानाशु गुल्मोदरादीनभिभवति च दोषानासनं श्रीमयूरम् ॥
बहु कदशनभुक्तं भस्म कुर्यादशेषं जनयति जठराग्निं जारयेत्कालकूटम् ॥ 33 ॥

उत्तानं शववद्भूमौ शयनं तच्छवासनम् ॥
शवासनं श्रान्तिहरं चित्तविश्रान्तिकारकम् ॥ 34 ॥

चतुरशीत्यासनानि शिवेन कथितानि च ॥
तेभ्यश्चतुष्कमादाय सारभूतं ब्रवीम्यहम् ॥ 35 ॥

सिद्धं पद्मं तथा सिंहं भद्रं चेति चतुष्टयम् ॥
श्रेष्ठं तत्रापि च सुखे तिष्ठेत्सिद्धासने सदा ॥ 36 ॥

योनिस्थानकमङ्घ्रिमूलघटितं कृत्वा दृढं विन्यसेत्
मेढ्रे पादमथैकमेव हृदये कृत्वा हनुं सुस्थिरम् ॥
स्थाणुः संयमितेन्द्रियोऽचलदृशा पश्येद्भ्रुवोरन्तरं
ह्येतन्मोक्षकपाटभेदजननं सिद्धासनं प्रोच्यते ॥ 37 ॥

मतान्तरे तु

मेढ्रादुपरि विन्यस्य सव्यं गुल्फं तथोपरि ॥
गुल्फान्तरं च निक्षिप्य सिद्धासनमिदं भवेत् ॥ 38 ॥

एतत्सिद्धासनं प्राहुरन्ये वज्रासनं विदुः ॥
मुक्तासनं वदन्त्येके प्राहुर्गुप्तासनं परे ॥ 39 ॥

यमेष्विव मिताहारमहिंसां नियमेष्विव ॥
मुख्यं सर्वासनेष्वेकं सिद्धाः सिद्धासनं विदुः ॥ 40 ॥

चतुरशीतिपीठेषु सिद्धमेव सदाभ्यसेत् ॥
द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधनम् ॥ 41 ॥

आत्मध्यायी मिताहारी यावद्द्वादशवत्सरम् ॥
सदा सिद्धासनाभ्यासाद्योगी निष्पत्तिमाप्नुयात् ॥ 42 ॥

किमन्यैर्बहुभिः पीठैः सिद्धे सिद्धासने सति ॥
प्राणानिले सावधाने बद्धे केवलकुम्भके ॥ 43 ॥

उत्पद्यते निरायासात्स्वयमेवोन्मनी कला ।
तथैकस्मिन्नेव दृढे सिद्धे सिद्धासने सति ।
बन्धत्रयमनायासात्स्वयमेवोपजायते ॥ 44 ॥

नासनं सिद्धसदृशं न कुम्भः केवलोपमः ॥
न खेचरीसमा मुद्रा न नादसदृशो लयः ॥ 45 ॥

अथ पद्मासनम्

वामोरूपरि दक्षिणं च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम् ।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्
एतद्व्याधिविनाशकारि यमिनां पद्मासनं प्रोच्यते ॥ 46 ॥

उत्तानौ चरणौ कृत्वा ऊरुसंस्थौ प्रयत्नतः ॥
ऊरुमध्ये तथोत्तानौ पाणी कृत्वा ततो दृशौ ॥ 47 ॥

नासाग्रे विन्यसेद्राजदन्तमूले तु जिह्वया ॥
उत्तम्भ्य चिबुकं वक्षस्युत्थाप्य पवनं शनैः ॥ 48 ॥

इदं पद्मासनं प्रोक्तं सर्वव्याधिविनाशनम् ॥
दुर्लभं येन केनापि धीमता लभ्यते भुवि ॥ 49 ॥

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ।
वारं वारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं
न्यञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ 50 ॥

पद्मासने स्थितो योगी नाडीद्वारेण पूरितम् ॥
मारुतं धारयेद्यस्तु स मुक्तो नात्र संशयः ॥ 51 ॥

अथ सिंहासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
दक्षिणे सव्यगुल्फं तु दक्षगुल्फं तु सव्यके ॥ 52 ॥

हस्तौ तु जान्वोः संस्थाप्य स्वाङ्गुलीः सम्प्रसार्य च ॥
व्यात्तवक्त्रो निरीक्षेत नासाग्रं सुसमाहितः ॥ 53 ॥

सिंहासनं भवेदेतत्पूजितं योगिपुङ्गवैः ॥
बन्धत्रितयसन्धानां कुरुते चासनोत्तमम् ॥ 54 ॥

अथ भद्रासनम्

गुल्फौ च वृषणस्याधः सीवन्याः पार्श्वयोः क्षिपेत् ॥
सव्यगुल्फं तथा सव्ये दक्षगुल्फं तु दक्षिणे ॥ 55 ॥

पार्श्वपादौ च पाणिभ्यां दृढं बध्वा सुनिश्चलम् ॥
भद्रासनं भवेदेतत्सर्वव्याधिविनाशनम् ॥ 56 ॥

गोरक्षासनमित्याहुरिदं वै सिद्धयोगिनः ॥
एवमासनबन्धेषु योगीन्द्रो विगतश्रमः ॥ 57 ॥

अभ्यसेन्नाडिकाशुद्धिं मुद्रादिपवनक्रियाम् ॥
आसनं कुम्भकं चित्रं मुद्राख्यं करणं तथा ॥ 58 ॥

अथ नादानुसन्धानमभ्यासानुक्रमो हठे ।
ब्रह्मचारी मिताहारी त्यागी योगपरायणः ।
अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ 59 ॥

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः ।।
भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।। 60 ।।

कट्वम्लतीक्ष्णलवणोष्णहरीतशाक-
सौवीरतैलतिलसर्षपमद्यमत्स्यान् ।
आजादिमांसदधितक्रकुलत्थकोल-
पिण्याकहिङ्गुलशुनाद्यमपथ्यमाहुः ।।61।।

भोजनमहितं विद्यात्पुनरस्योष्णीकृतं रुक्षम् ।।
अतिलवणमम्लयुक्तं कदशनशाकोत्कटं वर्ज्यम् ।।
वह्निस्त्रीपथिसेवानामादौ वर्जनमाचरेत् ।। 62 ।।

तथा हि गोरक्षवचनम्

वर्जयेद्दुर्जनप्रान्तं वह्निस्त्रीपथिसेवनम् ।।
प्रातःस्नानोपवासादि कायक्लेशविधिं तथा ।। 63 ।।

गोधूमशालियवषाष्टिकशोभनान्नं
क्षीराज्यखण्डनवनीतसितामधूनि ।।
शुंठीपटोलकफलादिक पञ्च शाकम्
मुद्गादिदिव्यमुदकं च यमीन्द्रपथ्यम् ।। 64 ।।

पुष्टं सुमधुरं स्निग्धं गव्यं धातुप्रपोषणम् ।।
मनोभिलषितं योग्यं योगी भोजनमाचरेत् ।। 65 ।।

युवा वृद्धोऽतिवृद्धो वा व्याधितो दुर्बलोऽपि वा ।।
अभ्यासात्सिद्धिमाप्नोति सर्वयोगेष्वतन्द्रितः ।। 66 ।।

क्रियायुक्तस्य सिद्धिः स्यादक्रियस्य कथं भवेत् ।।
न शास्त्रपाठमात्रेण योगसिद्धिः प्रजायते ।। 67 ।।

न वेषधारणं सिद्धेः कारणं न च तत्कथा ।।
क्रियैव कारणं सिद्धेः सत्यमेतन्न संशयः ।। 68 ।।

पीटानि कुम्भकाश्चित्रा दिव्यानि करणानि च ।।
सर्वाण्यपि हठाभ्यासे राजयोगफलावधि ।। 69 ।।

इति हठयोगप्रदीपिकायां प्रथमोपदेशः ।।

# द्वितीयोपदेशः ॥

अथासने दृढे योगी वशी हितमिताशनः ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण प्राणायामान्समभ्यसेत् ॥ 1 ॥

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत् ॥
योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरोधयेत् ॥ 2 ॥

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ॥
मरणं तस्य निश्क्रान्तिस्ततो वायुं निरोधयेत् ॥ 3 ॥

मलाकुलासु नाडीषु मारुतो नैव मध्यगः ॥
कथं स्यादुन्मनीभावः कार्यसिद्धिः कथं भवेत् ॥ 4 ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् ॥
तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणे क्षमः ॥ 5 ॥

प्राणायामं ततः कुर्यान्नित्यं सात्त्विकया धिया ॥
यथा सुषुम्नानाडीस्था मलाः शुद्धिं प्रयान्ति च ॥ 6 ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् ॥
धारयित्वा यथाशक्ति भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ 7 ॥

प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः ॥
विधिवत्कुम्भकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत् ॥ 8 ॥

येन त्यजेत्तेन पीत्वा धारयेदतिरोधतः ॥
रेचयेच्च ततोऽन्येन शनैरेव न वेगतः ॥ 9 ॥

प्राणं चेदिडया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यया रेचयेत्
पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बध्वा त्यजेद्वामया ॥
सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिनाभ्यासं सदा तन्वतां
शुद्धा नाड़िगणा भवन्ति यमिनां मासत्रयादूर्ध्वतः ॥10॥

प्रातर्मध्यन्दिने सायमर्धरात्रे च कुम्भकान् ॥
शनैरशीतिपर्यन्तं चतुर्वारं समभ्यसेत् ॥ 11 ॥

कनीयसि भवेत्स्वेदः कम्पो भवति मध्यमे ॥
उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निबन्धयेत् ॥ 12 ॥

जलेन श्रमजातेन गात्रमर्दनमाचरेत् ॥
दृढता लघुता चैव तेन गात्रस्य जायते ॥ 13 ॥

अभ्यासकाले प्रथमे शस्तं क्षीराज्यभोजनम् ॥
ततोऽभ्यसेद् दृढीभूते न तादृङ्नियमग्रहः ॥ 14 ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैःशनैः ॥
तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥ 15 ॥

प्राणायामादियुक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् ॥
अयुक्ताभ्यासयोगेन सर्वरोगसमुद्भवः ॥ 16 ॥

हिक्का श्वासश्च कासश्च शिरःकर्णाक्षिवेदनाः ॥
भवन्ति विविधा रोगाः पवनस्य प्रकोपतः ॥ 17 ॥

युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत् ॥
युक्तं युक्तं च बध्नीयादेवं सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ 18 ॥

यदा तु नाडीशुद्धिः स्यात्तथा चिह्नानि बाह्यतः ॥
कायस्य कृशता कान्तिस्तदा जायेत निश्चितम् ॥ 19 ॥

यथेष्टधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् ॥
नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडीशोधनम् ॥ 20 ॥

मेदश्लेष्माधिकः पूर्वं षट्कर्माणि समाचरेत् ॥
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः ॥ 21 ॥

धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ॥
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते ॥ 22 ॥

कर्माष्टकमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम् ॥
विचित्रगुणसन्धायि पूज्यते योगपुङ्गवैः ॥ 23 ॥

तत्र धौतिः

चतुरङ्गुलविस्तारं हस्तपञ्चदशायतम् ॥
गुरूपदिष्टमार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत् ॥
पुनः प्रत्याहरेच्चैतदुदितं धौतिकर्म तत् ॥ 24 ॥

कासश्वासप्लीहकुष्टं कफरोगांश्च विंशतिः ॥
धौतिकर्मप्रभावेन प्रयान्त्येव न संशयः ॥25॥

नाभिदघ्नजले पायौ न्यस्तनालोत्कटासनः ॥
आधाराकुञ्चनं कुर्यात्क्षालनं बस्तिकर्म तत् ॥26॥

### बस्तिकर्म

गुल्मप्लीहोदरं चापि वातपित्तकफोद्भवाः ॥
बस्तिकर्मप्रभावेन क्षीयन्ते सकलामयाः ॥27॥

धात्विन्द्रियान्तःकरणप्रसादं
दद्याच्च कान्ति दहनप्रदीप्तिम् ॥
अशेषदोषोपचयं निहन्या-
दभ्यस्यमानं जलबस्तिकर्म ॥28॥

### अथ नेतिः

सूत्रं वितस्ति सुस्निग्धं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखान्निर्गमयेच्चैषा नेतिः सिद्धैर्निगद्यते ॥29॥

कपालशोधिनी चैव दिव्यदृष्टिप्रदायिनी ॥
जत्रूर्ध्वजातरोगौघं नेतिराशु निहन्ति च ॥30॥

### अथ त्राटकम्

निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्मलक्ष्यं समाहितः ॥
अश्रुसम्पातपर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् ॥31॥

मोचनं नेत्ररोगाणां तन्द्रादीनां कपाटकम् ॥
यत्नतस्त्राटकं गोप्यं यथा हाटकपेटकम् ॥32॥

### अथ नौलिः

अमदावर्तवेगेन तुन्दं सव्यापसव्यतः ॥
नतांसो भ्रामयेदेषा नौलिः सिद्धैः प्रचक्ष्यते ॥33॥

मन्दाग्निसन्दीपनपाचनादि सन्धापिका नन्दकरी सदैव ॥
अशेषदोषामयशोषणी च हठक्रियामौलिरियं च नौलिः ॥34॥

### अथ कपालभातिः

भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ ॥
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशोषणी ॥35॥

षट्कर्मनिर्गतस्थौल्यकफदोषमलादिकः ॥
प्राणायामं ततः कुर्यादनायासेन सिद्ध्यति ॥36॥

प्राणायामैरेव सर्वे प्रशुष्यन्ति मला इति ॥
आचार्याणां तु केषाञ्चिदन्यत्कर्म न सम्मतम् ॥37॥

### अथ गजकरणी

उदरगतपदार्थमुद्वमन्ति पवनमपानमुदीर्य कण्ठनाले ॥
क्रमपरिचयवश्यनाडिचक्रा गजकरणीति निगद्यते हठज्ञैः ॥38॥

ब्रह्मादयोऽपि त्रिदशाः पवनाभ्यासतत्पराः ॥
अभूवन्नन्तकभयात्तस्मात्पवनमभ्यसेत् ॥39॥

यावद्बद्धो मरुद्देहे यावच्चित्तं निराकुलम् ॥
यावद्दृष्टिर्भ्रुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥40॥

विधिवत्प्राणसंयामैर्नाडीचक्रे विशोधिते ॥
सुषुम्नावदनं भित्वा सुखाद्विशति मारुतः ॥41॥

### अथ मनोन्मनी

मारुते मध्यसञ्चारे मनःस्थैर्यं प्रजायते ॥
यो मनःसुस्थिरीभावः सैवावस्था मनोन्मनी ॥42॥

तत्सिद्धये विधानज्ञाश्चित्रान्कुर्वन्ति कुम्भकान् ॥
विचित्रकुम्भकाभ्यासाद्विचित्रां सिद्धिमाप्नुयात् ॥43॥

### अथ कुम्भकभेदाः

सूर्यभेदनमुज्जायी सीत्कारी सीतली तथा ॥
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छा प्लाविनीत्यष्ट कुम्भकाः ॥44॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः ॥
कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्डियानकः ॥45॥

अधस्तात्कुञ्चनेनाशु कण्ठसङ्कोचने कृते ॥
मध्ये पश्चिमतानेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥46॥

आपानमूर्ध्वमुत्थाप्य प्राणं कण्ठादधो नयेत् ॥
योगी जराविमुक्तः सन् षोडशाब्दवयो भवेत् ॥47॥

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभिमण्डले ।
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्वशरीरगः । शिवसंहितायाम् अ० 3 श्लो० 7 ।

अथ सूर्यभेदनम्

आसने सुखदे योगी बद्ध्वा चैवासनं ततः ॥
दक्षनाड्या समाकृष्य बहिःस्थं पवनं शनैः ॥48॥

आकेशादानखाग्राच्च निरोधावधि कुम्भयेत् ॥
ततः शनैः सव्यनाड्या रेचयेत्पवनं शनैः ॥49॥

कपालशोधनं वातदोषघ्नं कृमिदोषहृत् ॥
पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदनमुत्तमम् ॥50॥

योगाभ्यासक्रमं वक्ष्ये योगिनां योगसिद्धये ।
उषःकाले समुत्थाय प्रातःकालेऽथवा बुधः ॥ 1 ॥

गुरुं संस्मृत्य शिरसि हृदये स्वेष्टदेवताम् ।
शौचं कृत्वा दन्तशुद्धिं विदध्याद् भस्मधारणम् ॥ 2 ॥

शुचौ देशे मठे रम्ये प्रतिष्ठाप्यासनं मृदु ।
तत्रोपविश्य संस्मृत्य मनसा गुरुमीश्वरम् ॥ 3॥

देशकालौ च संकीर्त्य संकल्प्य विधिपूर्वकम् ।
अद्येत्यादि श्रीपरमेश्वरप्रसादपूर्वकं समाधि-
तत्फलसिद्ध्यर्थमासनपूर्वकान् प्राणायामादीन् करिष्ये ।
अनन्तं प्रणमेद्देवं नागेशं पीठसिद्धये ॥4 ॥

मणिभ्राजत्फणासहस्रविधृतविश्वम्भरा-
मण्डलायानन्ताय नागराजाय नमः ।
ततोऽभ्यसेदासनानि श्रमे जाते शवासनम् ।
अन्ते समभ्यसेत्तत्तु श्रमाभावे तु नाभ्यसेत् ॥5॥

करणीं विपरीताख्यां कुम्भकात्पूर्वमभ्यसेत् ।
जालन्धरप्रसादार्थं कुम्भकात्पूर्वयोगतः ॥6॥

विधायाचमनं कृत्वा कर्माङ्गं प्राणसंयमम् ।
योगीन्द्रादीन्नमस्कृत्य कौर्मीञ्च शिववाक्यतः ॥7॥ कूर्मपुराणे ।

नमस्कृत्याथ योगीन्द्रान् सच्छिष्यांश्च विनायकम्।
गुरुं चैवाथवा योगी युञ्जीत सुसमाहितः ॥8॥

बद्धाभ्यासे सिद्धपीठं कुम्भकाबन्धपूर्वकम् ।
प्रथमे दश कर्तव्या पञ्चवृद्ध्या दिने दिने ॥ 9 ॥

कार्या अशीतिपर्यन्तं कुम्भकाः सुसमाहितैः।
योगीन्द्रः प्रथमं कुर्यादभ्यासं चन्द्रसूर्ययोः ॥10॥

अनुलोमविलोमाख्यमेतं प्राहुर्मनीषिणः।
सूर्यभेदनमभ्यस्य बन्धपूर्वकमेकधीः ॥11॥

उज्जायिनं ततः कुर्यात्सीत्कारीं शीतलीं ततः।
भस्त्रिकाञ्च समभ्यस्य कुर्यादन्यन्नवापरान् ॥12॥

मुद्राः समभ्यसेद्बद्धगुरुवक्त्राद् यथाक्रमम् ।
ततः पद्मासनं बद्ध्वा कुर्यान्नादानुचिन्तनम् ॥13॥

अभ्यासं सकलं कुर्यादीश्वरार्पणमादृतः।
अभ्यासादुत्थितः स्नानं कुर्यादुष्णेन वारिणा ॥14॥

स्नात्वा समापयेन्नित्यं कर्म संक्षेपतः सुधीः।
मध्याह्ने पि तथाभ्यस्य किञ्चिद्विश्रम्य भोजनम् ॥15॥

कुर्वीत योगिनां पथ्यमपथ्यन्न कदाचन ॥
एलां वापि लवङ्गं वा भोजनान्तं च भक्षयेत् ॥16॥

केचित्कर्पूरमिच्छन्ति ताम्बूलं शोभनं तथा ।
चूर्णेन रहितं शस्तं पवनाभ्यासयोगिनाम् ॥17॥

भोजनानन्तरं कुर्यान्मोक्षशास्त्रावलोकनम्।
पुराणश्रवणं वापि नाम सङ्कीर्तनं विभोः ॥18॥

सायं सन्ध्याविधिं कृत्वा योगं पूर्ववदभ्यसेत् ।
यदा त्रिघटिकाशेषो दिवसोऽभ्यासमाचरेत् ॥ 19 ॥

अभ्यासानन्तरं कार्या सायंसन्ध्या सदा बुधैः ॥
अर्धरात्रे हठाभ्यासं विदध्यात्पूर्ववद्यमी ॥20।

विपरीतां तु करणीं सायंकालार्धरात्रयोः।
नाभ्यसेद्भोजनादूर्ध्वं यतः सा न प्रशस्यते ॥ 21 ॥

अथोज्जायी ॥

मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥
यथा लगति कण्ठात्तु हृदयावधि सस्वनम् ॥ 51 ॥

पूर्ववत्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥
श्लेष्मदोषहरं कण्ठे देहानलविवर्धनम् ॥ 52 ॥

नाडीजलोदराधातुगतदोषविनाशनम् ॥
गच्छता तिष्ठता कार्यमुज्जाय्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ 53 ॥

अथ सीत्कारी ॥

सीत्कां कुर्यात्तथा वक्त्रे घ्राणेनैव विजृम्भिकाम् ॥
एवमभ्यासयोगेन कामदेवो द्वितीयकः ॥ 54 ॥

योगिनीचक्रसामान्यः सृष्टिसंहारकारकः ॥
न क्षुधा न तृषा निद्रा नैवालस्यं प्रजायते ॥ 55 ॥

भवेत्सत्त्वं च देहस्य सर्वोपद्रववर्जितः ॥
अनेन विधिना सत्यं योगीन्द्रो भूमिमण्डले ॥ 56 ॥

अथ शीतली ॥

जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भसाधनम् ॥
शनकैर्घ्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेत्पवनं सुधीः ॥ 57 ॥

गुल्मप्लीहादिकान् रोगान् ज्वरं पित्तं क्षुधां तृषाम् ।
विषाणि शीतलीनाम कुम्भिकेयं निहन्ति हि ॥58॥

अथ भस्त्रिका ॥

ऊर्वोरुपरि संस्थाप्य शुभे पादतले उभे ।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ 59 ॥

सम्यक् पद्मासनं बध्वा समग्रीवोदरं सुधीः ॥
मुखं संयम्य यत्नेन घ्राणं घ्राणेन रेचयेत् ॥ 60 ॥

यथा लगति हृत्कण्ठे कपालावधि सस्वनम् ॥
वेगेन पूरयेच्चापि हृत्पद्मावधि मारुतम् ॥ 61 ॥

पुनर्विरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः ॥
यथैव लोहकारेण भस्त्रा वेगेन चाल्यते ॥ 62॥

तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं धिया ॥
यदा श्रमो भवेद्देहे तदा सूर्येण पूरयेत् ॥ 63 ॥

यथोदरं भवेत्पूर्णमनिलेन तथा लघु ।
धारयेन्नासिकां मध्यतर्जनीभ्यां विना दृढम् ॥ 64 ॥

विधिवत्कुम्भकं कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् ।
वातपित्तश्लेष्महरं शरीराग्निविवर्धनम् ॥ 65 ॥

कुण्डलीबोधकं क्षिप्रं पवनं सुखदं हितम् ।
ब्रह्मनाडीमुखे संस्थकफाद्यर्गलनाशनम् ॥ 66 ॥

सम्यग्गात्रसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् ।
विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम् ॥ 67 ॥

अथ भ्रामरी ॥

वेगाद्घोषं पूरकं भृङ्गनादं भृङ्गीनादं रेचकं मन्दमन्दम् ॥
योगीन्द्राणामेवमभ्यासयोगाच्चित्ते जाता काचिदानन्दलीला ॥68॥

अथ मूर्च्छा

पूरकान्ते गाढतरं बध्वा जालन्धरं शनैः ॥
रेचयेन्मूर्च्छनाख्येयं मनोमूर्च्छा सुखप्रदा ॥ 69 ॥

अथ प्लाविनी ॥

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः ।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पद्मपत्रवत् ॥70॥

प्राणायामस्त्रिधा प्रोक्तो रेचपूरककुम्भकैः ।
सहितः केवलश्चेति कुम्भको द्विविधो मतः ॥71॥

यावत्केवलसिद्धिः स्यात्सहितं तावदभ्यसेत् ।
रेचकं पूरकं मुक्त्वा सुखं यद्वायुधारणम् ॥ 72 ॥

प्राणायामोऽयमित्युक्तः स वै केवलकुम्भकः ।
कुम्भके केवले सिद्धे रेचपूरकवर्जिते ॥ 73 ॥

न तस्य दुर्लभं किञ्चित्त्रिषु लोकेषु विद्यते ।
शक्तः केवलकुम्भेन यथेष्टं वायुधारणात् ॥ 74 ॥

राजयोगपदं चापि लभते नात्र संशयः ।
कुम्भकात्कुण्डलीबोधः कुण्डलीबोधतो भवेत् ॥ 75 ॥

अनर्गला सुषुम्ना च हठसिद्धिश्च जायते।
हठं विना राजयोगो राजयोगं बिना हठः ॥
न सिध्यति ततो युग्ममानिष्पत्तेः समभ्यसेत् ॥ 76 ॥

कुंभकप्राणरोधान्ते कुर्याच्चित्तं निराश्रयम् ।
एवमभ्यासयोगेन राजयोगपदं व्रजेत् ॥ 77 ॥

वपुः कृशत्वं वदने प्रसन्नता नादस्फुटत्वं नयने सुनिर्मले ।
अरोगता बिन्दुजयोऽग्निदीपनं नाडीविशुद्धिर्हठयोगलक्षणम् ॥78॥

इति हठयोगप्रदीपिकायां द्वितीयोपदेशः ॥ 2 ॥

# तृतीयोपदेशः ।

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः ।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली ॥ 1 ॥

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जार्गात कुंण्डली ।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च ॥2॥

प्राणस्य शून्यपदवी तथा राजपथायते ।
तदा चित्तं निरालम्बं तदा कालस्य वञ्चनम् ॥ 3 ॥

सुषुम्ना शून्यपदवी ब्रह्मरन्ध्रं महापथः ।
श्मशानं शाम्भवी मध्यमार्गश्चेत्येकवाचकाः ॥ 4 ॥

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम् ।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत् ॥ 5 ॥

अथ मुद्राभेदाः

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी ।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः ॥ 6 ॥

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम् ॥ 7 ॥

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम् ।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि ॥ 8 ॥

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम् ।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा ॥ 9 ॥

अथ महामुद्रा ॥

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेद्दृढम् ॥ 10 ॥

कण्ठे बन्धं समारोप्य धारयेद्वायुमूर्ध्वतः ॥
यथा दण्डहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते ॥ 11 ॥

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत् ॥
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रया ॥ 12 ॥

ततः शनैः शनैरेव रेचयेन्नैव वेगतः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥
इयं खलु महामुद्रा महासिद्धैः प्रदर्शिता ॥ 13 ॥

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः ॥
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः ॥ 14 ॥

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥
यावत्तुल्या भवेत्सङ्ख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ 15 ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः ॥
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति ॥ 16 ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ॥
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥17॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरा नृणाम् ॥
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥18॥

अथ महाबन्धः ॥

पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ॥
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ॥ 19 ॥

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चुबुकं दृढम् ॥
निष्पीड्य वायुमाकुञ्च्य मनोमध्ये नियोजयेत् ॥20॥

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः ॥
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत् ॥21॥

मतमत्र तु केषाञ्चित्कण्ठबन्धं विवर्जयेत् ॥
राजदन्तस्थजिह्वाया बन्धः शस्तो भवेदिति ॥22॥

अयं तु सर्वनाडीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः ।।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः ।।23।।

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षणः ।।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मनः ।।24।।

रूपलावण्यसम्पन्ना यथा स्त्री पुरुषं विना ।।
महामुद्रामहाबन्धौ निष्फलौ वेधवर्जितौ ।।25।।

अथ महावेधः ।।

महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधीः ।।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।।26।।

समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनैः ।।
पुटद्वयमतिक्रम्य वायुः स्फुरति मध्यगः ।।27।।

सोमसूर्याग्निसम्वन्धो जायते चामृताय वै ।।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत् ।।28।।

महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायकः ।।
वलीपलितवेपन्नः सेव्यते साधकोत्तमैः 29 ।।

एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम् ।।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणमादिगुणप्रदम् ।।30।।

अष्टधा क्रियते चैव यामे यामे दिने दिने ।।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा ।।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम् ।।31।।

अथ खेचरी ।।

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतिगा ।।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ।।32।।

छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत् ।।
सा यावद्भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः ।।33।।

स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।34।।

ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् ।।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ।।35।।

एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत् ॥
षण्मासाद्रसनामूलशिलाबन्धः प्रणश्यति ॥36॥

कलां पराङ्मुखीं कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत् ॥
सा भवेत्खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते ॥37॥

रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति ॥
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभिः ॥38॥

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ॥
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥39॥

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ॥
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥40॥

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता ॥
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता ॥41॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः ॥
न तस्य क्षरते बिन्दुः कामिन्याश्लेषितस्य च ॥42॥

ऊर्ध्वजिह्वः स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति यः ॥
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित् ॥43॥

नित्यं सोमकलापूर्णं शरीरे यस्य योगिनः ॥
तक्षकेणापि दष्टस्य विषं तस्य न सर्पति ॥44॥

इन्धनानि यथा वह्निस्तैलवर्त्तिं च दीपकः ॥
तथा सोमकलापूर्णं देही देहं न मुञ्चति ॥45॥

गोमांसं भक्षयेन्नित्यं पिबेदमरवारुणीम् ॥
कुलीनं तमहं मन्ये इतरे कुलघातकाः ॥46॥

कृतार्थौ पितरौ तेन धन्यो देशः कुलं च तत् ।
जायते योगवान्यत्र दत्तमक्षय्यतां व्रजेत् ॥
दृष्टः सम्भाषितः स्पृष्टः पुम्प्रकृत्या विवेकवान् ।
पञ्चकोटिशतापातं पुनाति वृजिनं नृणाम् ॥
ब्रह्मवैवर्ते

गृहस्थानां सहस्रेण वानप्रस्थशतेन च ।
ब्रह्मचारिसहस्रेण योगाभ्यासी विशिष्यते ॥
ब्रह्माण्डे

राजयोगस्य माहात्म्यं को विजानाति तत्त्वतः ।
तज्ज्ञानी वसते यत्र सन्देशःपुण्यभाजनम् ।।
दर्शनादर्चनादस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः ।
अज्ञा मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः ।।
अन्तर्योगं बहिर्योगं यो जानाति विशेषतः
त्वया मयाप्यसौ वन्द्यः शेषैर्वन्द्यस्तु का पुनः ।।
राजयोग, कूर्म्मपुराणे

एककालं द्विकालं वा त्रिकालं नित्यमेव वा ।
ये युञ्जते महायोगं विज्ञेयास्ते महेश्वराः ।।

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि ।।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम् ।।47।।

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादितः खलु ।।
चन्द्रात्स्रवति यः सारः स स्यादमरवारुणी ।।48।।

चुम्बन्ती यदि लम्बिकाग्रमनिशं जिह्वारसस्पन्दिनी
सक्षारा कटुकाम्लदग्धसदृशी मध्वाज्यतुल्या तथा ।।
व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम् ।।49।।

मूर्ध्नः षोडशपत्रपद्मगलितं प्राणादवाप्तं हठादूर्ध्वास्यो रसनां नियम्य विवरे शक्तिं परां चिन्तयन् ।। उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेन्निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति ।।50।।

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धांतरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम् ।।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद्बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कार्यसिद्धिः ।। 51।।

सुषिरं ज्ञानजनकं पञ्चस्रोतःसमन्वितम् ।।
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् शून्ये निरञ्जने ।।52।।

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी ।।
एको देवो निरालम्ब एकाधस्था मनोन्मनी ।।53।।

अथोड्डीयानबन्धः ।।

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।।54।।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः ॥
उड्डीयानं तदेव स्यात्तत्र बन्धोऽभिधीयते ॥55॥

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत् ॥
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी ॥56॥

उड्डियानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा ॥
अभ्यसेत्सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते ॥57॥

नाभेरूर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः ॥
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः ॥58॥

सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः ॥
उड्डियाने दृढे बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत् ॥59॥

अथ मूलबन्धः ॥

पार्ष्णि भागेन सम्पीडय योनिमाकुञ्चयेद्गुदम् ॥
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते ॥60॥

अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्
आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्धं हि योगिनः ॥61॥

गुदं पार्ष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात् ॥
वारंबारं यथा वोर्ध्वं समायाति समीरणः ॥62॥

प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम् ॥
गत्वा योगस्य संसिद्धिं गच्छतो नात्र संशयः ॥63॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः ॥
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥64॥

अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम् ॥
तदाऽनलशिखा दीर्घा जायते वायुनाऽहता ॥65॥

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम् ।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम् ॥
मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद्ब्रवीमि ते ।
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके ॥

याज्ञवल्क्ये—

ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम् ।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा ॥66॥

तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते ।
दण्डाहता भुजङ्गीव निश्वस्य ऋजुतां व्रजेत् ॥67॥

विलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्त्तव्यो योगिभिः सदा ॥68॥

अथ जालन्धरवन्धः ॥

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढम् ।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशकः ॥69॥

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम् ।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौधनाशनः ॥70॥

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे ।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति ॥71॥

कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद्दृढम् ।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम् ॥72॥

अङ्गुष्ठगुल्फजानूरुसीवनीकण्ठलिङ्गनाभयः ।
हृद्ग्रीवा कण्ठदेशश्च लम्बिका नासिका तथा ॥
भ्रूमध्यं च ललाटं च मूर्धा च ब्रह्मरन्ध्रकम् ।
एते हि षोडशाधाराः कथिता योगिपुङ्गवैः ॥

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डीयानं तु कारयेत् ॥
इडां च पिङ्गलां बध्वा वाहयेत्पश्चिमे पथि ॥73॥

अनेनेन विधानेन प्रयाति पवनो लयम् ।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा ॥74॥

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम् ।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः ॥75॥

यत्किञ्चित्स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः ।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः ॥76॥

तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुखवञ्चनम् ।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः ॥77॥

अथ विपरीतकरणी ॥

ऊर्ध्वं नाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी ।
करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते ॥78॥

नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी।
आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च ॥
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात् ॥79॥

अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात्प्रथमे दिने ॥
क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने ॥80॥

वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते ॥
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित् ॥ 81॥

अथ वज्रोली ॥

स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति स योगी सिद्धिभाजनम् ॥82॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी ॥83॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ॥
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥84॥

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात् ॥85॥

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥86॥

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात् ॥87॥

सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः ॥88॥

चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥89॥

अथ सहजोलिः ॥

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जलेषु भस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम् ॥90॥

वज्रोलीमैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम् ॥
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापकयोः क्षणात् ॥91॥

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा ॥
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः ॥92॥

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम् ॥
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनाम् ॥93॥

अथामरोली ॥

पित्तोल्वणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाग निसारतयान्त्यधारा ।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली ॥94॥

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने ॥
वज्रोलीमभ्यसेत्सम्यगमरोलीति कथ्यते ॥95॥

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत् ॥
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते ॥96॥

अथ शक्तिचालनम् ॥

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी ॥
कुंण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः ॥97॥

उद्घाटयेत्कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात् ॥
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत् ॥98॥

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम् ॥
मुखेनाच्छाद्य तद्द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥99॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम् ॥
बन्धनाय च मूढानां यस्तां वेत्ति स योगवित् ॥100॥

कुण्डली कुटिलाकारा सर्पवत्परिकीर्तिता ॥
सा शक्तिश्चालिता येन स मुक्तो नात्र संशयः ॥101॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डा तपस्विनी ॥
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम् ॥102॥

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी ॥
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली ॥103॥

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम् ॥
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात् ॥104॥

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम् ॥
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया ॥105॥

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम् ॥
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम् ॥106॥

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढम् ॥
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् ॥107॥

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम् ॥
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत् ॥108॥

भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः ॥
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः ॥109॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ ॥
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित्सुषुम्नायां समुद्गता ॥110॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नायां मुखं ध्रुवम् ॥
जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः ॥111॥

तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम् ॥
तस्माः सञ्चालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥112॥

येन सञ्चालिता शक्तिः स योगी सिद्धिभाजनम् ॥
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया ॥113॥

ब्रह्मचर्यरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः ॥
मण्डलाद्दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्याभ्यासयोगिनः ॥114॥

कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद्विशेषतः ॥
एवमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः ॥115॥

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने ।
कुतः प्रक्षालनोपायः कुण्डल्यभ्यसनादृते ॥116॥

इयं तु मध्यमा नाडी दृढाभ्यासेन योगिनाम् ।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत् ॥117॥

अभ्यासे तु विनिद्राणां मनो धृत्वा समाधिना ।
रुद्राणी वा यदा मुद्राभद्रां सिद्धिं प्रयच्छति ॥118॥

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा ।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते ।।119।।

मारुतस्य विधिं सर्वं मनोयुक्तं समभ्यसेत् ।
इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा ।।120।।

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना ।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी ।।121।।

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम् ।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः ।।122।।

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहितः ।
अणिमादिगुणैः सार्धं लभते कालवञ्चनम् ।।123।।

इति हठप्रदीपिकायां तृतीयोपदेशः ।।3।।

# चतुर्थोपदेशः ।

नमः शिवाय गुरवे नादबिन्दुकलात्मने ।
निरञ्जनपदं याति नित्यं यत्र परायणः ॥1॥

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ॥
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ॥2॥

राजयोगसमाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्याशून्यं परं पदम् ॥3॥

अमनस्कं तथा द्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥4॥

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथात्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥5॥

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥6॥

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्टसर्वसङ्कल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥7॥

राजयोगस्य माहात्म्यं को वा जानाति तत्त्वतः ।
ज्ञानं मुक्तिः स्थितिः सिद्धिर्गुरुवाक्येन लभ्यते ॥8॥

दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना ॥9॥

विविधैरासनैः कुम्भैर्विचित्रैः करणैरपि ।
प्रबुद्धायां महाशक्तौ प्राणः शून्ये प्रलीयते ॥10॥

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥11॥

सुषुम्नावाहिनि प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥12॥

अमराय नमस्तुभ्यं सोऽपि कालस्त्वया जितः ।
पतितं वदने यस्य जगदेतच्चराचरम् ॥13॥

चित्ते समत्वमापन्ने वायौ व्रजति मध्यमे ।
तदामरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥14॥

ज्ञानं कुतो मनसि सम्भवतीह तावत्
प्राणोऽपि जीवति मनो म्रियते न यावत् ।
प्राणो मनो द्वयमिदं विलयं नयेद्यो
मोक्षं स गच्छति नरो न कथञ्चिदन्यः ॥15॥

ज्ञात्वा सुषुम्नासद्भेदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥
स्थित्वा सदैव सुस्थाने ब्रह्मरन्ध्रे निरोधयेत् ॥16॥

सूर्याचन्द्रमसौ धत्तः कालं रात्रिन्दिवात्मकम् ॥
भोक्त्री सुषुम्ना कालस्य गुह्यमेतदुदाहृतम् ॥17॥

द्वासप्ततिसहस्राणि नाडीद्वाराणि पञ्जरे ॥
सुषुम्ना शाम्भवी शक्तिः शेषास्त्वेव निरर्थका ॥18॥

वायुः परिचितो यस्मादग्निना सह कुण्डलीम् ॥
बोधयित्वा सुषुम्नायां प्रविशेदनिरोधतः ॥19॥

सुषुम्ना वाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी ॥
अन्यथा त्वितराभ्यासाः प्रयासायैव योगिनाम् ॥20॥

पवनो बध्यते येन मनस्तेनैव बध्यते ॥
मनश्च बध्यते येन पवनस्तेन बध्यते ॥21॥

हेतुद्वयं तु चित्तस्य वासना च समीरणः ॥
तयोर्विनष्ट एकस्मिन्तौ द्वावपि नश्यतः ॥22॥

मनो यत्र विलीयेत पवनस्तत्र लीयते ॥
पवनो लीयते यत्र मनस्तत्र विलीयते ॥23॥

दुग्धाम्बुवत्सम्मिलितावुभौ तौ तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि ॥
यतो मरुत्तत्र मनः प्रवृत्तिर्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः ॥24॥

तत्रैकनाशादपरस्य नाश एकप्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः ॥
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः ॥25॥

रसस्य मनसश्चैव चञ्चलत्वं स्वभावतः ॥
रसो बद्धो मनो बद्धं किन्न सिद्ध्यति भूतले ॥26॥

मूर्च्छितो हरते व्याधीन्मृतो जीवयति स्वयम् ॥
बद्धः खेचरतां धत्ते रसो वायुश्च पार्वति ॥27॥

मनः स्थैर्ये स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत् ॥
बिन्दुस्थैर्यात्सदा सत्त्वं पिण्डस्थैर्यं प्रजायते ॥28॥

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः ॥
मारुतस्य लयो नाथः स लयो नादमाश्रितः ॥ 29 ॥

सोऽयमेवास्तु मोक्षाख्यो मास्तु वापि मतान्तरे ॥
मनः प्राणलये कश्चिदानन्दः सम्प्रवर्तते ॥ 30 ॥

प्रनष्टश्वासनिश्वासः प्रध्वस्तविषयग्रहः ॥
निश्चेष्टो निर्विकारश्च लयो जयति योगिनाम् ॥ 31 ॥

उच्छिन्नसर्वसङ्कल्पो निःशेषाशेषचेष्टितः ॥
स्वावगम्यो लयः कोऽपि जायते वागगोचरः ॥ 32 ॥

लयो लय इति प्राहुः कीदृशं लयलक्षणम् ॥
अपुनर्वासनोत्थानाल्लयो विषयविस्मृतिः ॥ 33 ॥

## अथ शाम्भवी मुद्रा

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव ॥
एकैव शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव ॥ 34 ॥

अन्तर्लक्ष्यं बहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता ॥
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता ॥ 35 ॥

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि ॥
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्वं परं शाम्भवम् ॥ 36 ॥

श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः ॥
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि ॥ 37 ॥

अथोन्मनी ॥

तारे ज्योतिषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ ॥
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात् ॥ 38 ॥

केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलैः ॥
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम् ॥ 39 ॥

अर्धोन्मीलितलोचनः स्थिरमना नासाग्रदत्तेक्षणः
चन्द्रार्कावपि लीनतामुपनयन्निस्पन्दभावेन यः ॥
ज्योतीरूपमशेषबीजमखिलं देदीप्यमानं परं
तत्त्वं तत्पदमेति वस्तु परमं वाच्यं किमत्राधिकम् ॥ 40 ॥

दिवा न पूजयेल्लिङ्गं रात्रौ चैव न पूजयेत् ॥
सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥ 41 ॥

अथ खेचरी ॥

सव्यदक्षिणनाडिस्थो मध्ये चरति मारुतः ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तस्मिन् स्थाने न संशयः ॥ 42 ॥

इडापिङ्गलयोर्मध्ये शून्यं चैवानिलं ग्रसेत् ॥
तिष्ठते खेचरी मुद्रा तत्र सत्यं पुनः पुनः ॥ 43 ॥

सूर्याचन्द्रमसोर्मध्ये निरालवान्तरं पुनः ॥
संस्थिता व्योमचक्रे या सा मुद्रा नाम खेचरी ॥ 44 ॥

सोमाद्यत्रोदिता धारा साक्षात्सा शिववल्लभा ॥
पूरयेदतुलां दिव्यां सुषुम्नां पश्चिमे मुखे ॥ 45 ॥

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत् ।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते । 46 ॥

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते ।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते । 47 ॥

अभ्यसेत्खेचरीं तावद्यावत्स्याद्योगनिद्रितः ।
सम्प्राप्तयोगनिद्रस्य कालो नास्ति कदाचन ॥ 48 ॥

निरालम्बं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ।
स बाह्याभ्यन्तरे व्योम्नि घटवत्तिष्ठति ध्रुवम् ॥ 49

बाह्यवायुर्यथा लीनस्तथा मध्ये न संशयः ।
स्वस्थाने स्थिरतामेति पवनो मनसा सह ॥ 50

एवमभ्यसमानस्य वायुमार्गे दिवानिशम् ।
अभ्यासाज्जीर्यते वायुर्मनस्तत्रैव लीयते ॥ 51 ॥

अमृतैः प्लावयेद्देहमापादतलमस्तकम् ।
सिध्यत्येव महाकायो महाबलपराक्रमः ॥ 52 ॥

इति खेचरी ॥

शक्तिमध्ये मनः कृत्वा शक्तिं मानसमध्यगाम् ।
मनसा मन आलोक्य धारयेत्परमं पदम् ॥ 53 ॥

खमध्ये कुरु चात्मानमात्ममध्ये च खं कुरु ।
सर्वं च खमयं कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ 54 ॥

अन्तः शून्यो बहिः शून्यः शून्यः कुम्भ इवाम्बरे ॥
अन्तः पूर्णो बहिः पूर्णः पूर्णः कुम्भ इवार्णवे ॥ 55 ॥

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम् ।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥ 56 ॥

सङ्कल्पमात्रकलनैव जगत्समग्रं
सङ्कल्पमात्रकलनैव मनोविलासः ।
सङ्कल्पमात्रमतिमुत्सृज निर्विकल्प-
माश्रित्य निश्चयमवाप्नुहि राम शान्तिम् ॥57॥

कर्पूरमनले यद्वत्सैन्धवं सलिले तथा ।
तथा सन्धीयमानं च मनस्तत्त्वे विलीयते ॥ 58 ॥

ज्ञेयं सर्वं प्रतीतं च ज्ञानं च मन उच्यते ।
ज्ञानं ज्ञेयं समं नष्टं नान्यः पन्था द्वितीयकः ॥ 59 ॥

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत्किञ्चित्सचराचरम् ।
मनसो ह्युन्मनीभावाद्द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ 60 ॥

ज्ञेयवस्तुपरित्यागाद्विलयं याति मानसम् ।
मनसो विलये जाते कैवल्यमवशिष्यते ॥ 61 ॥

एवं नानाविधोपायाः सम्यक् स्वानुभवान्विताः ।
समाधिमार्गाः कथिताः पूर्वाचार्यैर्महात्मभिः ॥ 62 ॥

सुषुम्नायै कुण्डलिन्यै सुधायै चन्द्रजन्मने ।
मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने ॥ 63 ॥

अशक्यतत्त्वबोधानां मूढानामपि सम्मतम् ।
प्रोक्तं गोरक्षनाथेन नादोपासनमुच्यते ॥ 64 ॥

श्रीआदिनाथेन सपादकोटिलयप्रकाराः कथिता जयन्ति ।
नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ॥ 65 ॥

मुक्तासने स्थितो योगी मुद्रां सन्ध्याय शाम्भवीम् ।
शृणुयाद्दक्षिणे कर्णे नादमन्तस्थमेकधीः ॥ 66 ॥

श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम् ॥
शुद्धासुषुम्नासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः ॥ 67 ॥

आरम्भश्च घटश्चैव तथा परिचयोऽपि च ।
निष्पत्तिः सर्वयोगेषु स्यादवस्थाचतुष्टयम् ॥ 68 ॥

अथारम्भावस्था ॥

ब्रह्मग्रन्थेर्भवेद्भेदोत्थानन्दः शून्यसम्भवः ।
विचित्रः क्वणको देहेऽनाहतः श्रूयते ध्वनिः ॥ 69 ॥

दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धस्त्वरोगवान् ।
सम्पूर्णहृदयः शून्य आरम्भो योगवान् भवेत् ॥ 70

अथ घटावस्था ॥

द्वितीयायां घटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ।
दृढासनो भवेद्योगी ज्ञानी देवसमस्तदा ॥71॥

विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसूचकः ।
अतिशून्ये विमर्दश्च भेरीशब्दस्तथा भवेत् ॥ 72 ॥

अथ परिचयावस्था ॥

तृतीयायां तु विज्ञेयो विहायोमर्दलध्वनिः ।
महाशून्यं तदा याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् ॥ 73 ॥

चित्तानन्दं तदा जित्वा सहजानन्दसम्भवः ।
दोषदुःखजराव्याधिक्षुधानिद्राविवर्जितः ॥ 74 ॥

रुद्रग्रन्थिं यदा भित्वा शर्वपीठगतोऽनिलः ।
निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणद्वीणाक्वणो भवेत् ॥ 75 ॥

एकीभूतं तदा चित्तं राजयोगाभिधानकम् ।
सृष्टिसंहारकर्तासौ योगीश्वरसमो भवेत् ॥ 76 ॥

अस्तु वा मास्तु वा मुक्तिरत्रैवाखण्डितं सुखम् ।
लयोद्भवमिदं सौख्यं राजयोगादवाप्यते ॥ 77 ॥

राजयोगमजानन्तः केवलं हठकर्मिणः ।
एतानभ्यासिनो मन्ये प्रयासफलवर्जितान् ॥ 78 ॥

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम् ।
राजयोगपदं प्राप्तं सुखोपायोऽल्पचेतसाम् ॥
सद्यः प्रत्ययसन्धायी जायते नादजो लयः ॥ 79 ॥

नादानुसन्धानसमाधिभाजां योगीश्वराणां हृदि वर्धमानम् ।
आनन्दमेकं वचसामगम्यं जानाति तं श्रीगुरुनाथ एकः ॥ 80 ॥

कर्णौ पिधाय हस्ताभ्यां यं शृणोति ध्वनिं मुनिः ।
तत्र चित्तं स्थिरीकुर्याद्यावत्स्थिरपदं व्रजेत् ॥ 81 ॥

अभ्यस्यमानो नादोऽयं बाह्यमावृणुते ध्वनिम् ॥
पक्षाद्विक्षेपमखिलं जित्वा योगी सुखी भवेत् ॥ 82 ॥

श्रूयते प्रथमाभ्यासे नादो नानाविधो महान् ।
ततोऽभ्यासे वर्धमाने श्रूयते बहुसूक्ष्मकः ॥ 83 ॥

आदौ जलधिजीमूतभेरीझर्झरसम्भवाः ।
मध्ये मर्दलशङ्खोत्था घण्टाकाहलजास्तथा ॥ 84 ॥

अन्ते तु किङ्किणीवंशवीणाभ्रमरनिःस्वनाः ।
इति नानाविधा नादाः श्रूयन्ते देहमध्यगाः 85 ॥

महति श्रूयमाणेऽपि मेघभेर्यादिके ध्वनौ ।
तत्र सूक्ष्मात्सूक्ष्मतरं नादमेव परामृशेत् ॥ 86 ॥

घनमुत्सृज्य वा सूक्ष्मे सूक्ष्ममुत्सृज्य वा घने ।
रममाणमपि क्षिप्तं मनो नान्यत्र चालयेत् ॥ 87 ॥

यत्रकुत्रापि वा नादे लगति प्रथमं मनः ॥
तत्रैव सुस्थिरीभूय तेन सार्धं विलीयते ॥ 88 ॥

मकरन्दं पिबन् भृङ्गो गन्धं नापेक्षते यथा ॥
नादासक्तं तथा चित्तं विषयान्नहि काङ्क्षते ॥ 89 ॥

मनोमत्तगजेन्द्रस्य विषयोद्यानचारिणः ॥
नियमने समर्थोऽयं निनादनिशिताङ्कुशः ॥ 90 ॥

बद्धं तु नादबन्धेन मनः सन्त्यक्तचापलम् ॥
प्रयाति सुतरां स्थैर्यं छिन्नपक्षः खगो यथा ॥ 91 ॥

सर्वचिन्तां परित्यज्य सावधानेन चेतसा ॥
नाद एवानुसन्धेयो योगसाम्राज्यमिच्छता ॥ 92 ॥

नादोऽन्तरङ्गसारङ्गबन्धने वागुरायते ॥
अन्तरङ्गकुरङ्गस्य वधे व्याधायतेऽपि च ॥ 93 ॥

अन्तरङ्गस्य यमिनो वाजिनः परिघायते ॥
नादोपास्तिरतो नित्यमवधार्या हि योगिना ॥ 94 ॥

बद्धं विमुक्तचाञ्चल्यं नादगन्धकजारणात् ॥
मनः पारदमाप्नोति निरालम्बाख्यखेटनम् ॥ 95 ॥

नादश्रवणतः क्षिप्रमन्तरङ्गभुजङ्गमः ॥
विस्मृत्य सर्वमेकाग्रः कुत्रचिन्नहि धावति ॥ 96 ॥

काष्ठे प्रवर्तितो वह्निः काष्ठेन सह शाम्यति ॥
नादे प्रवर्तितं चित्तं नादेन सह लीयते ॥ 97 ॥

घण्टादिनादसक्तस्तब्धान्तःकरणहरिणस्य ॥
प्रहरणमपि सुकरं शरसन्धानप्रवीणश्चेत् ॥98॥

अनाहतस्य शब्दस्य ध्वनिर्य उपलभ्यते ॥
ध्वनेरन्तर्गतं ज्ञेयं ज्ञेयस्यान्तर्गतं मनः ॥
मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ 99 ॥

तावदाकाशसङ्कल्पो यावच्छब्दः प्रवर्तते ॥
निःशब्दं तत्परं ब्रह्म परमात्मेति गीयते ॥ 100 ॥

यत्किञ्चिन्नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा ॥
यस्तत्त्वान्तो निराकारः स एव परमेश्वरः ॥ 101 ॥

सर्वे हठलयोपाया राजयोगस्य सिद्धये ॥
राजयोगसमारूढः पुरुषः कालवञ्चकः ॥ 102 ॥

तत्त्वं बीजं हठः क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभिः ॥
उन्मनी कल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते ॥ 103 ॥

सदा नादानुसन्धानात् क्षीयन्ते पापसञ्चयाः ॥
निरञ्जने विलीयेते निश्चितं चित्तमारुतौ ॥ 104 ॥

शङ्खदुन्दुभिनादं च न शृणोति कदाचन ॥
काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यवस्थया ध्रुवम् ॥ 105 ॥

सर्वावस्थाविनिर्मुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥
मृतवत्तिष्ठते योगी स मुक्तो नात्र संशयः ॥ 106 ॥

खाद्यते न च कालेन बाध्यते न च कर्मणा ॥
साध्यते न स केनापि योगी युक्तः समाधिना ॥ 107 ॥

न गन्धं न रसं रूपं न च स्पर्शं न निःस्वनम् ॥
नात्मानं न परं वेत्ति योगी युक्तः समाधिना ॥ 108 ॥

चित्तं न सुप्तं नोजाग्रत्स्मृतिविस्मृतिवर्जितम् ॥
न चास्तमेति नोदेति यस्यासौ मुक्त एव सः ॥ 109 ॥

न विजानाति शीतोष्णं न दुःखं न सुखं तथा ॥
न मानं नापमानं च योगी युक्तः समाधिना ॥ 110 ॥

स्वस्थो जाग्रदवस्थायां सुप्तवद्योऽवतिष्ठते ।।
निःश्वासोच्छ्वासहीनश्च निश्चितं मुक्त एव सः ।। 111 ।।

अवध्यः सर्वशस्त्राणामशक्यः सर्वदेहिनाम् ।।
अग्राह्यो मन्त्रयन्त्राणां योगी युक्तः समाधिना ।। 112 ।।

यावन्नैव प्रविशति चरन्मारुतो मध्यमार्गे
यावद्विन्दुर्न भवति दृढप्राणवातप्रबन्धात् ।
यावद्ध्याने सहजसदृशं जायते नैव तत्त्वं
तावज्ज्ञानं वदति तदिदं दम्भमिथ्याप्रलापः ।। 113 ।।

इति हठप्रदीपिकायां समाधिलक्षणं नाम चतुर्थोपदेशः ।। 4 ।।

---

**नोट**—मुख्य सन्दर्भ ग्रन्थ सूची के क्रम

क्रम संख्या 9 में 6 के स्थान पर 7
,, ,, 31 में 20 के स्थान पर 21
,, ,, 34 में 20 के स्थान पर 21
,, ,, 64 में 45 के स्थान पर 46
,, ,, 65 में 48 के स्थान पर 49 पाठ पढ़ा जाये ।

# श्लोकानुक्रमणी

(क्ष)



(ख)



(ग)



(घ)



(च)

(छ)



(ज)



(ज्ञ)



(त)



(द)



(ध)

(न)



(प)



(ब)

(भ)



(म)



(य)

(ह)

# अनुक्रमणी

## सांख्य-दर्शन का इतिहास

**अनु० — डॉ० शिव कुमार**

प्रस्तुत पुस्तिका ए० बी० कीथ की **The Sāṁkhya System** नामक पुस्तक का अनुवाद है। कीथ की यह पुस्तक प्राचीनता, सारगर्भितता, विशदता एवं सर्वाङ्गीण विवेचन के उपरान्त भी आङ्गल भाषा में होने के कारण सांख्य दर्शन के अध्येताओं का यथोचित ध्यान आकर्षित नहीं कर सकी। अतः इसका हिन्दी अनुवाद आवश्यक समझा गया।

विषय की विविधता के आधार पर पुस्तक को आठ अध्यायों में विभक्त किया गया है। **प्रथम अध्याय** में उपनिषदों में उपलब्ध सांख्य का वर्णन है। **दूसरे अध्याय** में सांख्य और बौद्ध दर्शन का ऐतिहासिक और तुलनात्मक अध्ययन है। **तीसरे अध्याय** में विकसनशील महाकाव्यों में सांख्य के स्वरूप का विवेचन है। **चतुर्थ अध्याय** में सांख्य और योग का काल-क्रम की दृष्टि से तुलनात्मक अध्ययन है। **पांचवें अध्याय** में सांख्य के एक प्राचीन परन्तु अनुपलब्ध ग्रन्थ षष्टितन्त्र का विवेचन है। **छठे अध्याय** में ग्रीक और सांख्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन है। **सातवें अध्याय** में सांख्य-कारिका और **अन्तिम आठवें अध्याय** में उत्तरवर्ती सांख्य-दार्शनिकों के योगदान का विवेचन है। आशा है प्रस्तुत अनुवाद कीथ के विचारों को हिन्दी माध्यम से सांख्य दर्शन के अध्येताओं तक सुगमता से प्रेषित कर सकेगा।

**मूल्य : रु० ५०.००**

# मुद्रा

# विज्ञान एवं साधना

श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

# मुद्रा
# विज्ञान एवं साधना

[illegible] द्विवेदी 'आनन्द'

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

॥ श्रीः॥

चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला
३९०

# मुद्रा : विज्ञान एवं साधना

( नित्यकर्मीय एवं तान्त्रिक मुद्राओं का सर्वाङ्गपूर्ण विवेचन )

डॉ० श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

प्रकाशक

**© चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन**

( भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक )

के० ३७/११७, गोपालमन्दिर लेन

पो० बा० नं० ११२९, वाराणसी-२२१००१

दूरभाष : २३३५२६३; २३३३४३१



प्रथम संस्करण 2005

मूल्य 250.00



अन्य प्राप्तिस्थान

**चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान**

३८ यू० ए०, जवाहरनगर, बंगलो रोड

पो० बा० नं० २११३

दिल्ली-११०००७

दूरभाष : २३८५६३९१

❖

**चौखम्बा विद्याभवन**

चौक ( बैंक ऑफ बडौदा भवन के पीछे )

पो० बा० नं० १०६९, वाराणसी-२२१००१

दूरभाष : २४२०४०४

अक्षर-संयोजक : मुकेश कम्प्यूटर्स, वाराणसी-०१

# प्राक्कथन

भारतीय योग-साधना विश्व की श्रेष्ठतम एवं अन्यतम साधना है। भारतीय मनीषियों ने मानव-जीवन के चार पुरुषार्थ माने हैं। उनमें चतुर्थ पुरुषार्थ 'मोक्ष' है। मोक्ष का साधन 'ज्ञान' है। ज्ञान का साधन 'योग' है। गोरक्षनाथ जी ने ठीक ही कहा है कि 'अज्ञान के कारण ही संसरणरूप बन्धन है और ज्ञान द्वारा ही उसका अन्त सम्भव है—

'अज्ञानादेव संसारो ज्ञानादेव विमुच्यते'; किन्तु योग-हीन 'ज्ञान' भी मोक्ष नहीं दे सकता— 'योगहीनं कथं ज्ञानं मोक्षदं भवतीश्वरि'। योगहीन 'ज्ञान' एवं ज्ञानहीन 'योग' दोनों ही मोक्ष नहीं दे सकते—

योगोऽपि ज्ञानहीनस्तु न क्षमो मोक्षकर्मणि।

कोई भी साधक ज्ञाननिष्ठ, विरक्त, धर्मज्ञ एवं जितेन्द्रिय भी क्यों न हो; किन्तु यदि वह देवता भी हो तो भी विना 'योग' के मोक्ष नहीं प्राप्त कर सकता—

ज्ञाननिष्ठो विरक्तोऽपि धर्मज्ञो विजितेन्द्रियः।
विना योगेन देवोऽपि न मोक्षं लभते प्रिये।।

इसीलिए 'सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद्' में कहा भी गया है—

योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्धते।
योगग्रस्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम्।।

योगेन योगं संरोध्य भावं भावेन चाञ्जसा।
निर्विकल्पं परं तत्त्वं सदा भूत्वा परं भवेत्।।

इसी योग-साधना का एक मुख्य अंग 'मुद्रा' है। यह आसनों से भी उत्कृष्टतर है और प्राणायामों से भी; क्योंकि इसका तात्त्विक स्वरूप सर्वातिशायी एवं अत्यन्त रहस्यान्वित है। 'मुद्रा' क्या है? 'मुद्रा' है— आनन्दश्री की प्राप्ति। समस्त योगों में प्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाली एवं ऐश्वर्यरूपिणी विमर्श शक्ति के आनन्दोत्कर्ष की परमाह्लादिनी शक्ति ( श्री ) की स्वात्मानुभूतिमयी अभि-व्यक्ति ही 'मुद्रा' है और वही भगवान् की तात्त्विक पूजा भी है—

आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्राः।। ( महार्थमञ्जरी )

योग का वह अंग, जो समस्त नाड़ी-जाल को शोधित कर दे, चन्द्रमा एवं सूर्य को चालित कर दे, शरीर के रसों को शोषित एवं बिन्दु को ऊर्ध्वोन्मुख कर दे, उसे ही 'महामुद्रा' कहते हैं—

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः।
रसानां शोषणं चैव महामुद्रा विधीयते।। ( गोरक्षशतक )

'मुद्रायें' अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व एवं वशित्व नामक अष्टसिद्धियाँ प्रदान करती हैं और दुर्लभ हैं—

आदिनाथोदितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।
वल्लभं सर्वसिद्धानां दुर्लभं मरुतामपि।। ( हठयोगप्रदीपिका )

तथा ये 'मुद' ( मोद ) या आनन्द प्रदान करने वाली, देवताओं को प्रसन्न करने वाली तथा सिद्धों को अत्यन्त प्रिय यौगिक साधनायें हैं। इसीलिये इन्हें 'मुद्रा' की आख्या प्रदान की गई है। तान्त्रिक योग की सर्वोच्च उपलब्धि— कुण्डलिनी का ऊर्ध्वा-रोहण करते हुये परमशिव के साथ 'सामरस्य' प्राप्त करना भी मुद्रा के द्वारा ही सम्भव है। इन्हीं कारणों से इन्हें 'रत्नों की तिजोरी' कहकर अत्यन्त गुप्त रखने का उपदेश दिया गया है—

गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं मूलस्त्रीसुरतं यथा।। ( हठयोगप्रदीपिका )

'बन्ध' और 'मुद्रा' अष्टांगयोग में तो नहीं आते; किन्तु तान्त्रिक योग में इनकी महत्ता सर्वातिशायी है; क्योंकि तान्त्रिक योग 'शक्ति' का पुजारी होता है। वह स्वामी विवेकानन्द की तरह ही यह मानता है कि— Weakness is death अर्थात् षाट्कौशिक शरीर की अन्य कोई मृत्यु नहीं है; प्रत्युत 'कमजोरी ही मौत है'। कमजोरी है— अपूर्णता, सुषुप्ति एवं द्वैतभाव। भारतीय योगशास्त्र यह कहता है कि 'कमजोर' वह नहीं है, जिसके विषय में यह कहा जाय कि 'उसमें शक्ति ही नहीं है' या 'उसमें कम शक्ति है' या 'उसकी शक्ति क्षीण है'; प्रत्युत वह यह मानता है कि संसार का कोई भी मानव न तो शक्तिहीन है, न अल्प शक्ति वाला है और न ही शक्तिक्षीण है; प्रत्युत वह केवल वह व्यक्ति है, जिसकी 'शक्ति सो गई है, सो रही है और विना जगाये वह अनन्त काल तक सोती ही रहेगी।' इसीलिये वेदों में भी कहा गया है कि 'उठो और जागो'— 'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत।' इसी शक्ति को सोने से जगाना और 'शव' से 'शिव' बनना, 'पशु' से 'पशुपति' बनना तथा 'जीवोऽहं' ( सकलोऽहं ) के स्थान पर 'शिवोऽहं' की अनुभूति करना या अद्वैत-परामर्श में, 'अहं देवी न चान्योऽस्मि'— मैं देवीस्वरूपा पराशक्ति हूँ' की अपरोक्षानुभूति प्राप्त करना ही तान्त्रिक योग का परम लक्ष्य है। चूँकि मुद्रायें इस परम लक्ष्य ( शक्ति का जागरण, शक्ति का आयत्तीकरण, शक्ति एवं शक्तिमान का सामरस्य ) की प्राप्ति का अन्यतम साधन हैं; इसीलिये तान्त्रिक योग में इनकी अन्यतम महत्ता प्रतिपादित की गई है और सुषुप्ता आदिशक्ति 'ईश्वरी' को जागृत करने का परम साधन घोषित किया गया है—

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।। ( शिवसंहिता )

इसी मुद्रा-साधना से कपिल आदि ऋषियों को भी अप्रतिम एवं विलक्षण सिद्धियाँ प्राप्त हुई हैं—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन्मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धाः संसिद्धिं कपिलाद्याः पुरा गताः।।

इसमें मान्त्रिक, शारीरिक, यौगिक, तान्त्रिक एवं हाव-भाव प्रदर्शित करने वाली विविध प्रकार की मुद्राओं का सन्निवेश करते हुये उसके तात्त्विक स्वरूप की व्याख्या के साथ ही साथ ही उसके स्थूल, सूक्ष्म सभी संकेतितार्थों की भी व्याख्या की गई है। यह भी प्रयास किया गया है कि पाठक मुद्राओं को उँगलियों के विशिष्ट सन्निवेश, अंगों द्वारा विभिन्न आकृतियों के निर्माण एवं साम्प्रदायिक वैभिन्य के संकेतात्मक चिह्नों के रूप में ही ( मुद्राओं को ) ग्रहण न कर ले; प्रत्युत उन्हें भारतीय साधना के गम्भीर रहस्यों एवं तात्त्विक दृष्टियों का भी प्रतीक समझे।

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन के सञ्चालक एवं प्रकाशक माननीय श्री वल्लभदासजी एवं श्रीनवनीतदासजी गुप्त का मैं अत्यन्त आभारी हूँ कि वे योग के सर्वातिशायी महत्त्व को स्वीकार करके और उसकी अप्रतिम महनीयता का यथार्थ मूल्यांकन करके उसके विभिन्न अंग-प्रत्यंगों पर भी रचनायें प्रकाशित करने का श्लाघ्य साहस दिखाते हुये 'मुद्रा' विषय पर यह रचना मुद्रा-जिज्ञासुओं के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं।

विजयादशमी, 2004 ई. **श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'**

# प्रस्तावना

भारतीय धर्म-साधना की पद्धतियों में से किसी भी धर्म, सम्प्रदाय या मत की साधना-पद्धति ऐसी नहीं है, जिसमें कि मुद्रा का विधान न हो। 'मुद्रा' अपने तात्त्विक स्वरूप में वह नहीं है, जो कि अपने बाह्य स्वरूप में परिलक्षित होती है। 'मुद्रा' अपने यथार्थ स्वरूप में कोई बाह्यवर्ती एवं कर्मकाण्डीय व्यापार नहीं है। मूलतः तो यह अपने चिदानन्दात्मक आत्मस्वरूप के उन्मीलन का एक साधन है। यह केवल साधन-मात्र भी नहीं है, प्रत्युत अपने अन्तरतम में यह शिवशक्तिस्वरूप है। इसीलिये 'मालिनीविजयोत्तरतन्त्र' ( अधिकार-7 ) में कहा गया है कि 'मुद्रा' शिव-शक्ति है—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः।

इसके अनुग्रह या शक्ति से मान्त्रिक मन्त्र-सिद्धि प्राप्त कर लेता है अर्थात् यह मन्त्र-सिद्धि का साधन भी है—

याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात्।

( मा. वि. तन्त्र-7.1 )

'कुलार्णवतन्त्र' में तो इसकी मोदनात्मक एवं द्रावणात्मक रूप में विवेचना करके मात्र इसके साधनात्मक पक्ष को उद्घाटित करते हुये कहा है—

मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च।
तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्याः कुलेश्वरि।।

किन्तु इसका एक उच्चतर साध्य पक्ष भी है। इसके इसी साध्य पक्ष को मालिनी-विजयोत्तरतन्त्र में शिव-शक्ति कहा गया है।

स्वास्थ्य एवं रोगोपचार की दृष्टि से लाभप्रद ध्यानमुद्रा, वायुमुद्रा, शून्यमुद्रा, पृथ्वीमुद्रा, वरणमुद्रा, सूर्यमुद्रा, प्राणमुद्रा एवं शिवलिङ्गमुद्रा का आजकल अधिक उपयोग हो रहा है।

योगशास्त्रोक्त मुद्रायें ( महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर-बन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालिनी, नभोमुद्रा, योनि, वज्राणी, ताडागी, माण्डवी, शाम्भवी, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी, भुजङ्गिनी, पञ्चधारणी आदि मुद्रायें ), तन्त्रोक्त मुद्रायें ( त्रिखण्डा, सर्वसंक्षोभकारिणी, सर्वविद्राविणी, आकर्षणी, सर्वावेशकरी, उन्मादिनी, महाङ्कुशा, खेचरी, समयमुद्रा, संहारमुद्रा, बीजमुद्रा, योनिमुद्रा आदि मुद्रायें ) तो हैं ही; इसके अतिरिक्त भी मुद्राओं के अनेक भेद हैं। प्रत्येक विशिष्ट साधन-पद्धति, धर्म एवं दृष्टि के अनुसार मुद्राओं के विभिन्न स्वरूप निर्मित होते रहे हैं। जैसे कि बौद्ध धर्म में कर्ममुद्रा,

धर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा एवं महामुद्रा का विधान पाया जाता है। इसके अतिरिक्त भी मुद्रायें हैं। 'अद्वयवज्र' ने 'समयमुद्रा' का विधान करके इसे ही श्रेष्ठतमा मुद्रा घोषित किया है।

सिद्धसरहपा ने एक पृथक् मुद्रा 'भवमुद्रा' का उल्लेख किया है, जो कि सांसारिक सुख-दुःख और क्लेश देकर भव-बन्धन में बाँधती है— 'भव मुद्दे सअल हि जग वाहिउ।'

बौद्ध दर्शन के अनुसार बोधिचित्त के उद्बुद्ध हो जाने के अनन्तर प्राप्त मुद्राचतुष्क मोक्षप्रद है। इसीलिये इन्हें 'मुद्रा' कहा जाता है ( दोहाकोष )। इसे 'मुद्रा' इसलिये कहते हैं; क्योंकि यह मुद्रण करती है—

मुद्र्यते लक्षणेनेति मुद्रणं तेन भण्यते।

'श्रीसम्पुट' में लोचना, मामकी, पाण्डरा एवं तारा को क्रमशः कर्ममुद्रा, ज्ञानमुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा कहा गया है।

'मुद्रा' मोद प्रदान करने वाली है— यह अर्थ बौद्ध तान्त्रिकों का है; लेकिन अन्य बौद्धों ने 'मुद्रा' का यह अर्थ स्वीकार नहीं किया; जैसा कि अद्वयवज्रसंग्रह में कहा भी गया है—

'कर्मणा काय-वाक्-चित्त-चिन्ता तु प्रधाना मुद्रा कल्पनास्वरूपा तस्यामानन्दं जायते।'

इसके बाद बौद्धतन्त्रों में अनेक नाम जोड़े गये; यथा— इन्द्रा, यमा, गौरी, वारुणी, वारियोगिनी, कौबेरा, वज्रडाकिनी, नैरात्म्ययोगिनी, ऐशाना, वुक्कसी, पावका, राक्षसा, आशया, वायव्या, चौरिका, वैताली, भूचरी, खेचरी आदि ( साधनमाला )।

'सिद्ध तिलोपा' ने कर्ममुद्रा को अधिक महत्त्व दिया है। 'बोल-कक्कोलसाधना' में भी कर्ममुद्रा को रेखाङ्कित किया गया है। अद्वयवज्र ने भी वज्र-परिणति के लिये कर्ममुद्रा को रेखाङ्कित किया है।

'श्रीसम्पुट' में कहा गया है कि भगवान् बुद्ध 'निर्माणचक्र' में लोचना मुद्रा, 'धर्मचक्र' में मामकी मुद्रा, 'सम्भोगचक्र' में पाण्डरा मुद्रा एवं 'महासुखचक्र' ( महासुख काया ) में तारामुद्रा से सम्भोगाश्लिष्ट हैं।

सिद्धों ने भगवती नैरात्मा को 'महामुद्रा' के रूप में कल्पित किया है।

'प्रज्ञोपायविनिश्चयसिद्धि' का मत है कि मुद्रा के उपयोग से वज्रावेक्ष जागृत होता है। बौद्ध तन्त्र में प्रधान मुद्रायें चार हैं—

1. कर्ममुद्रा ( आदि अभिषेक की क्रियायें निष्पाद्य )।
2. धर्ममुद्रा ( ज्ञानप्राधान्य। वैलक्षण्य एवं स्थैर्य की दशा )।
3. महामुद्रा ( शुद्ध अद्वय ज्ञान। जगत् के सभी पदार्थों की प्रतिष्ठा )।
4. समयमुद्रा ( योगी द्वारा सहज स्व-स्वरूप की प्राप्ति )।

तात्त्विक दृष्टि से स्वरूप-निर्वचन किया जाय तो नाद ही 'मन्त्र' और स्थिति ही 'मुद्रा'

है; जैसा कि जयरथ ने 'विवेक' में कहा है— 'नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा।' और वह मुद्रा किसी स्वाभाविक स्थिति की संज्ञा है— 'मुद्रा या काचिदास्थितिः।'

आचार्य अभिनवगुप्तपाद कहते हैं कि वह योगी, जो कुल ( शरीर ) में स्थित तो दृष्टि-गत होता है, किन्तु 'शैवसमावेश' के परामृत में जिसका सम्पूर्ण अस्तित्व डूबा हुआ है और जो चिदैकात्म्य की दृढ़ता से देहभाव विस्मृत कर चुका है, उसकी उठने-बैठने की निःशेष क्रियायें सामान्य शारीर क्रियायें न रहकर 'मुद्रायें' ही बन जाती हैं। हाथ आदि शरीराङ्गों से निर्मित आकृतियाँ 'मुद्रा' नहीं हैं—

'कुले शरीरे सत्यपि, प्राप्तपरेश्वरैकात्म्येन योगिनः। अतएव तत्रैव दार्ढ्याद्विस्मृतदेह-भावस्य, या काचन उत्थितत्वादिरूपा देहे स्थितिः सैव चिच्छक्तिप्रकृतिरूपा वास्तवी मुद्रा; न तु नियतकरादिनिर्वर्त्यसन्निवेशादिरूपा इत्यर्थः। यदुक्तम्— 'नादो मन्त्रः स्थितिर्मुद्रा।'

आचार्य अभिनवगुप्त इसी कथ्य को इन शब्दों में प्रस्तुत करते हैं—

कुले योगिन उद्रिक्तभैरवीयपरासवात्।
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या काचिदेव सा।।

( तन्त्रालोक-4.200 )

## मुद्राओं के प्रकार

यदि मुद्राओं के प्रकार पर प्रकाश डाला जाय तो वे अनेक दृष्टियों से वर्गीकृत किये जाने के कारण अनेक प्रकार की होती हैं। मुख्यतः ये मुद्रायें तीन प्रकार की हैं— मनोजा, वाग्भवा एवं देहोद्भवा। जैसा कि तन्त्रालोक में कहा भी गया है—

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

'मनोजा' मुद्रायें वे होती हैं, जो मानसिक अनुसन्धान से उद्भूत होती हैं।

'वाग्भवा' मुद्रायें वे मुद्रायें कहलाती हैं, जो मन्त्रों द्वारा उद्भूत होती हैं।

'देहोद्भवा' मुद्रायें वे मुद्रायें होती हैं, जो शरीराङ्गों की विशिष्ट आकृतियों को बनाने से उद्भूत होती हैं। ये अङ्गविक्षेपात्मक मुद्रायें कहलाती हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ( तन्त्रालोक-15.158 ) का मत यह है कि शरीर, मन एवं वाणी— तीनों ही से मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये—

मुद्राप्रदर्शनं पश्चात् कायेन मनसा गिरा।

शिव-शक्ति का स्वरूप ही मुद्राओं का तात्त्विक स्वरूप है— मुद्राख्याः शिवशक्तयः।'

मुद्राओं के प्रयोजन के सन्दर्भ में सामान्य विश्वास यह है कि मुद्राओं के प्रदर्शन से सम्बद्ध शक्तियों का प्रादुर्भाव हो जाता है।

## मुद्रा की परिभाषा

जो दुष्ट ग्रहों से साधक को मुक्त कर दे एवं पापसमूह को द्रवीभूत कर दे, गला दे, वह मोचन-द्रावणकारिणी शक्ति ही 'मुद्रा' कहलाती है—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्यः पापौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ताः शक्तयोः मताः।।

स्वच्छन्दतन्त्र में मुद्रा की तात्त्विक व्याख्या करते हुये कहा गया है कि मन्त्र तो ज्ञान-शक्ति है; लेकिन मुद्रा परमात्मा की क्रियाशक्ति है—

मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका।

'नेत्रतन्त्र' में कहा गया है कि आत्मा के स्वरूप की अभिव्यक्ति हेतु तीन साधन हैं— मन्त्र, ध्यान और मुद्रा।

आचार्य क्षेमराज मुद्रा की व्याख्या करते हुये कहते हैं कि 'मुदो हर्षस्य राणात् पाश-मोचनभेदद्रावणात्मत्वात् परसंविद् द्रावणमुद्रणाच्च मुद्रा।'

क्षेमराज का कथन है कि जब मुद्रा के द्वारा अणु ( आत्मा ) मुद्रित हो जाता है अर्थात् वशीभूत हो जाता है तब मन्त्रवीर्य की स्फुरत्ता द्वारा, विज्ञान द्वारा आत्मा द्वादशान्तपर्यन्त प्रसृत हो जाता है। नेत्रतन्त्र ( 7.33 ) भी मुद्रा की इसी अर्थ में व्याख्या करता है—

मुद्रया तु तया देवि आत्मा वै मुद्रितो यदा।
तदा चोर्ध्वं तु विसरेद्विधानेनोर्ध्वतः क्रमात्।।

नेत्रतन्त्र ( 21.10 ) में स्वात्मस्वरूपाभिव्यक्ति के जो तीन साधन बताये गये हैं, उनमें मन्त्र, ध्यान एवं मुद्रा— तीनों ही को गृहीत किया गया है।

शैव-शाक्त परम्परा में मुद्रा का अर्थ 'शक्ति' है, जो कि योगिनी-साधिका के रूप में प्रस्तुत होकर भैरवीचक्र की पूजा सम्पन्न करने में एक शक्ति की भूमिका निष्पन्न करती है।

संगीतशास्त्र में जो नृत्य का वर्णन आता है, उसमें नृत्य के साथ-साथ अनेक भाव-भङ्गिमायें भी प्रस्तुत की गई हैं। वे सारे शारीर हाव-भाव नृत्य-व्यापार में नर्तक के मनोभाव को व्यक्त करते हैं। ये बाह्य दृश्यों, घटनाओं, मनोभावों, मानसिक स्थितियों, भावोद्वेगों एवं रसानुभूतियों को व्यक्त करते हैं।

अद्वयप्रधान शास्त्रों में सभी कुछ स्वात्मस्वरूप ही प्रतीत माना जाता है; अतः वहाँ मुद्रा भी परसंविद्रूपा ही मानी जाती है।

यथार्थ दीक्षा एवं यथार्थ भैरव-विमर्शन के समय साधक भैरवीभाव से अभिभूत हो जाता है; अतः भैरव की उपासना में उनकी मुद्राओं का भी प्रदर्शन करना चाहिये। भगवान् शिव ने भगवती पार्वती से इसी विषय पर जोर देकर कहा है कि—

एता मुद्रा महादेवि! भैरवस्य प्रदर्शयेत्।
आवाहने पूजनान्ते तथा चैव विसर्जने।।

आचार्य जयरथ भी इसी की पुष्टि में कहते हैं कि 'ननु एवं स्वात्मनि भैरवीभावः कृतो भवेत्। भैरवस्य सन्निधिनिमित्तमवश्यप्रदर्शनीया मुद्राः।'

योगिनीहृदय ( चक्रसङ्केत ) में कहा गया है कि—

चिदात्मभित्तौ विश्वस्य प्रकाशामर्शने यदा।
करोति स्वेच्छया पूर्णा विचिकीर्षासमन्विता।।
क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात्तथा।
मुद्राख्या सा यदा संविदम्बिका त्रिकलामयी।।

आचार्य भास्करराय अपने सेतुबन्ध ( चक्रसङ्केत-56 ) में कहते हैं कि 'जब चिच्छक्ति स्वात्माभिन्न भित्ति में स्वेच्छापूर्वक विश्वमयोल्लेख का 'प्रकाश' में आमर्शन करती है, तब वे ही क्रियाशक्ति बनकर विश्व के मोदन एवं द्रावणरूप धर्मद्वय से विशिष्ट होकर 'मुद्रा' नाम वाली कहलाती हैं'—

'यदा तावच्चिच्छक्तिः स्वात्माभिन्नायां भित्तावधिकरणे स्वेच्छया विश्वमयोल्लेखस्य प्रकाशामर्शने करोति। ............ तदा सैव क्रियाशक्तिर्भूत्वा विश्वस्य मोदनद्रावणरूपधर्मद्वयविशिष्टा सती मुद्राख्या भवति।'

महेश्वरानन्द अपने 'परिमल' में कहते हैं कि—

आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्राः।।

वे कहते हैं कि जिस दशा में समस्त योगप्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाली ऐश्वर्यरूपिणी, परमात्म-विमर्श के आनन्द के उत्कर्ष की, 'श्री' अर्थात् परमाह्लादिनी शक्ति अभिव्यक्ति या स्वानुभूतिमयी रूप से प्रकाशित होती है। वही परमात्मा की पूजा की 'मुद्रा' है।

जिस अवस्था में पूज्य-पूजकत्वरूप दोनों स्वभावों में सामरस्य स्थापित करके स्थित परमेश्वर का स्वविश्रान्तिलक्षणात्मक आनन्द के प्रति जो उल्लास है तथा उस समय जो परामृश्यमान स्वातन्त्र्यसारात्मक स्फुरत्ता होती है, उसकी 'श्री' ( अमित वैभव ) की अनुस्यूति जिसमें होती है, उन्हें ही करङ्किणी, संक्षोभिणी आदि 'मुद्रा' कहा जाता है।

निस्तरङ्ग समुद्रावस्थानस्थानीय वह स्वविश्रान्तिचमत्कार या आत्मपरामर्श क्रियारूप अलौकिक आनन्द, जिसमें समस्त फेन, बुद्बुद एवं बिन्दु आदि बाह्यानन्दरूप परिस्पन्द आत्मविलीन हो चुके हों, वही मोद ( आनन्द ) प्रदान करने के कारण करङ्किणी आदि मुद्राप्रपञ्च के उदय एवं विलय की भूमि होने के कारण 'मुद्रा' नाम से प्रसिद्ध है—

'निस्तरङ्गसमुद्रावस्थानस्थानीया तत एव स्वान्तर्विलीनफेनबुद्बुदबिन्द्वादिप्रायाशेषबाह्यानन्दपरिस्पन्दा स्वविश्रान्तिचमत्काराऽपरपर्यायपरामर्शक्रियारूपा काचिदलौकिकानुभूतिरानन्दसम्पन्मुदं रातीति व्युत्पत्त्या करङ्किण्याद्यन्यमुद्राप्रपञ्चोदयविलयभूमिर्मुद्रात्वेनानुसन्धेयेति।' कहा भी गया है—

सा सिद्धिः सर्वसिद्धीनां सिद्धित्वे परिकीर्तिता।
ज्ञानं ह्यकलितं चैकं मुद्रा चैका ग्रहात्मिका।
द्वावेतौ यस्य जायेते सोऽन्वयी सिद्धशासने।।

आनन्द के प्रति परानन्द, निरानन्द, महानन्दानन्द, विषयानन्द के स्वभावतः सम्पूर्ण आनन्द-सामरस्य को उन्मीलित करने हेतु जो 'उल्लास' है, वही 'श्री' है। कहा भी गया है— कौलार्णवानन्दमयोर्मिरूपाम्।'

चिद्गगनचन्द्रिका में भी कहा गया है कि—

यत् परो निरुपसर्गतः परः स्यान्महानपि च केवलः शिवे।
उत्तरश्च विषयात् स च त्वदानन्द उल्लससि तद्भनासि यत्।।

उक्त गाथा में महेश्वरानन्द ने 'श्री' को इसी अर्थ में गृहीत किया है और ऐसी ही 'श्री' से मुद्रा रसासिक्त है।

तन्त्रराजतन्त्र में कहा गया है कि भगवती ललिता देवी 'प्रकाश' शिव की विमर्शशक्ति हैं। भास्करराय के अनुसार भगवती का लौहित्य कामेश्वर, ललिता एवं साधक की आत्मा है। यह भी कहा गया है कि 'लौहित्यमेतस्य सर्वस्य विमर्शः' ( Redness is the Vimarsh of all this )। अपनी आत्मा ललिता देवी हैं और विश्व उनका शरीर है। इसी विश्वशरीरा एवं सर्वात्मरूपा भगवती ललिता को जो आनन्दित कर दे, वही 'मुद्रा' है। जो उन पराभट्टारिका, राजराजेश्वरी महात्रिपुरसुन्दरी भगवती को साधक के प्रति उत्प्रेरित कर दे, उसे भी 'मुद्रा' कहते हैं। 'तन्त्रराजतन्त्र' में बीस मुद्राओं का उल्लेख है; यथा— आवाहनी, स्थापिनी, सन्निरोधनी, अवगुण्ठनी, सन्निधापिनी, हेति ( बाण, धनुष, पाश, अंकुश ), नमस्क्रिया, संक्षोभिणी, द्राविणी, आकर्षिणी, वश्या, उन्मादनी, महांकुशा, खेचरी, बीज, योनि, शक्त्युत्थापनी ( त्रिखण्डा )। तन्त्रराजतन्त्र में मुद्राओं के तीन भेद बताये गये हैं— स्थूल, सूक्ष्म और पर।

तन्त्रराजतन्त्र के अनुसार भगवती के बाण, धनुष, पाश एवं अंकुश भी मुद्रायें हैं और इनका प्रतीकात्मक अर्थ इस प्रकार है—

1. शब्दादितन्मात्राः पञ्चपुष्पबाणाः ( 21 )।
2. मन इक्षु धनुः ( 22 )।
3. रागः पाशः ( 23 )।
4. द्वेषोऽङ्कुशः ( 24 )।

'रहस्यनामसाहस्र' में भी इन मुद्राओं का अर्थ इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—

रागस्वरूपपाशाढ्या क्रोधाकाराङ्कुशोज्ज्वला।
मनोरूपेक्षुकोदण्डा पञ्चतन्मात्रसायका:।।

तन्त्रराजतन्त्र में भी कहा गया है—

..............................तन्मात्रा: पुष्पसायका:।
मनो भवेदिक्षुधनु: पाशो राग उदीरत:।
द्वेष: स्यादङ्कुश: प्रोक्त: क्रमेण वरवर्णिनी।।

'देवीयामल' में मुद्रा को शारीरिक भौतिक कर्मकाण्डीय न मानकर उसे उसके तात्त्विक स्वरूप में ग्रहण करते हुये कहा गया है कि मुद्रा देह द्वारा स्वात्मस्वरूपोन्मीलन या स्वरूपलाभ कराकर आनन्द प्रदान कराने वाली एक विशिष्ट क्रिया है—

मुदस्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

योगिनीहृदय में तो कहा गया है कि भगवती 'संवित्' ही क्रियाशक्ति के रूप में विश्व का मोदन एवं द्रावण करती हुई 'मुद्रा' कहलाती है।

आचार्य शिवानन्द ने मुद्राओं को किन्हीं शक्तियों का स्वरूप बताया है। शिवानन्द शरीर की विशेष क्रियाओं एवं अङ्गुली-सन्निवेशमात्र को मुद्रा नहीं मानते; बल्कि इसके स्वरूप को इससे उच्चतर भावभूमि पर प्रतिष्ठित मानते हैं। योगिनीहृदय में कहा गया है कि मुद्रा की अनेक विशेषतायें एवं शक्तियाँ हैं—

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि मुद्रा: सर्वार्थसिद्धिदा:।
याभिर्विरचिताभिस्तु सम्मुखा त्रिपुरा भवेत्।।

स्पष्ट है कि मुद्रा के मुख्यत: दो कार्य हैं— समस्त सिद्धियों की प्रदायकता और त्रिपुरा देवी का साक्षात्कार। मुद्रा पाशजाल का द्रावण करती है और तन्निष्ठ भक्तों का पाश से मोचन करती है; इसलिये भी इसे 'मुद्रा' कहते हैं—

द्रावणात् पाशजालस्य तत्परस्य च मोचनात्।
मुद्रापीठमिति प्रोक्तं कामरूपं नमाम्यहम्।।

दीपमालिका, वि. सं.-2061
सीधी-मध्य प्रदेश

**श्यामाकान्त द्विवेदी 'आनन्द'**

# विषयानुक्रमणिका

●

**यज्ञकृत्येषु चेच्छक्तौ हस्तौ मुद्रादिषु क्षमौ।**
**तदा मुद्रां विधायैव तत्तत्कृत्यं समाचरेत्॥**

**मुद्राविमुक्तहस्तेन क्रियते कर्म दैविकम्।**
**यदि तन्निष्फलं तस्मात्कर्म मुद्रान्वितश्चरेत्॥**

यज्ञादि कृत्यों का मुद्राविरहित सम्पादन क्षम्य होते हुये भी समस्त यज्ञकृत्यों को मुद्रापूर्वक ही सम्पन्न करना उत्तम कहा गया है। मुद्रा से विमुक्त दैविक कृत्य सर्वथा निष्फल होते हैं; अत: समस्त दैविक कृत्य मुद्रासहित ही सम्पन्न किये जाने चाहिये।

( भास्कररायप्रणीत 'तृचभास्कर' से साभार )

# मुद्रा : विज्ञान एवं साधना
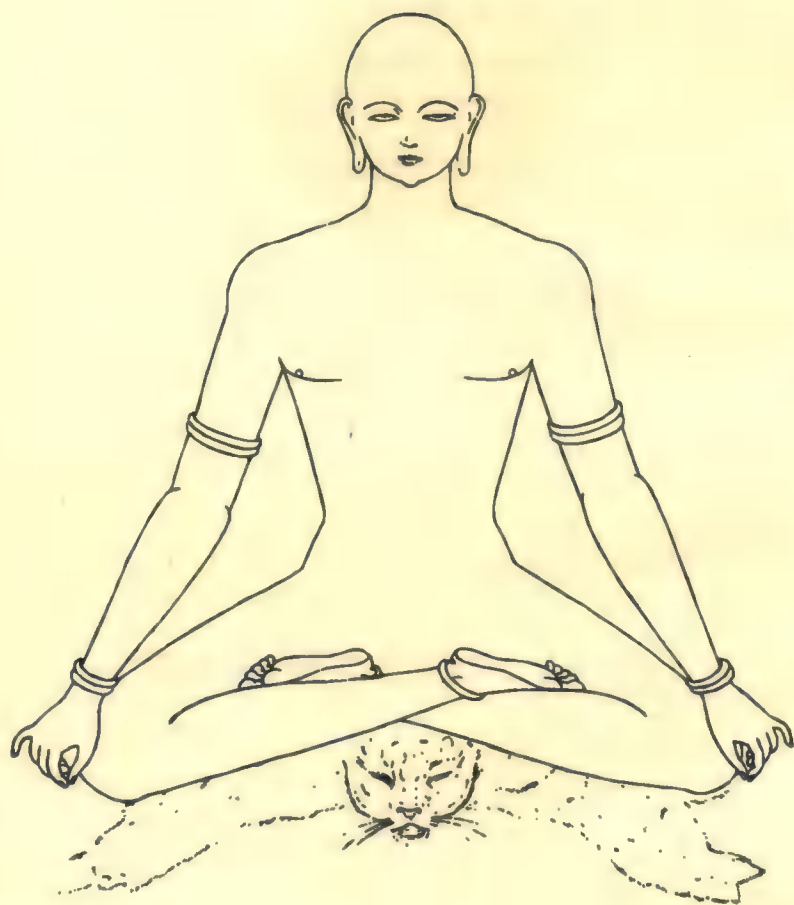
॥ श्रीः॥

# मुद्रा : विज्ञान एवं साधना

## मुद्राविज्ञान : एक परिचय

'मुद्रा' अपने यथार्थ स्वरूप में परसंवित्तत्त्व का ही साधनात्मक एवं योगात्मक स्वरूप है। 'देवीयामल' में कहा गया है कि मुद्रा साधक को स्वरूप-साक्षात्कारात्मक परम लाभ प्रदान करती है। 'मुद' ( आनन्द = आनन्दस्वरूप आत्मा ) को देने के कारण ही इसकी आख्या है— 'मुद्रा'। मुद्रा के दो स्वरूप हैं। इसे बाह्य एवं आन्तर दोनों अर्थों में गृहीत किया गया है। इसका आन्तर स्वरूप 'मालिनीविजयवार्त्तिक' में इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

कुलयोगिन उद्रिक्तभैरवीयरसासवात्।
घूर्णमानस्य यः कश्चित् कोऽप्युदेति यथा तथा॥
शरीरगः समावेशो मोदनद्रावणात्मकः।
सा स्वीकृतजगन्मुद्रा मुद्रा नैरुत्तरे मते॥

पाशुपत शास्त्र एवं पाञ्चरात्रागम आदि में तो बाह्य मुद्राओं को ग्रहण किया गया है; किन्तु रहस्य-प्रधान आगमों में मुद्राओं को रहस्यात्मक अर्थ में ( शक्ति के अर्थ में ) आन्तर मुद्रा के रूप में स्वीकार किया गया है। इस अर्थ में मुद्रा मात्र 'परसंवित्' है और 'शक्ति' है। संवित्तत्त्व प्राण के रूप में परिणत होकर देह में स्थित है।

इसी प्रकार संवित्तत्त्व मुद्रारूप में भी साधक में स्थित है। महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध आदि मुद्रायें अपने बाह्य स्वरूप में कुछ भी क्यों न हों; किन्तु उनका तात्त्विक स्वरूप आनन्दात्मक एवं शक्त्यात्मक है। नेत्रतन्त्र में यदि इसे 'शक्ति' का स्वरूप माना गया है तो महेश्वरानन्द ने इसे 'आनन्दोल्लासश्री' की दशा कहा है।

मुद्रा मन्त्रशास्त्र में अंगुलिसन्निवेशात्मक रूप में है तो योगशास्त्र में यह बन्धात्मक एवं योगसाधना की एक प्रविधि के रूप में स्वीकृत है।

एक शंका उठती है कि मुद्रा और बन्ध में वह कौन-सा वैशिष्ट्य है या उसमें ऐसे कौन-से व्यावर्तक चिह्न, भेदक लक्षण एवं सुनिश्चित भिन्नतायें हैं, जिससे कि उन्हें आसन से पृथक् रखा जाय? बन्ध एवं मुद्रा को आसन का ही रूप क्यों न माना जाय?

एक शंका यह भी उठती है कि जब षडंग, अष्टांग एवं सप्तांग योग में से किसी भी अंग में मुद्रा एवं बन्ध का उल्लेख न होने पर भी यह योग का प्रधान अंगभूत

साधन है तो इसका अन्तर्भाव यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि में से किसके भीतर किया जाय? स्पष्ट है कि इसे यम, नियम, प्राणायाम, धारणा, ध्यान एवं समाधि नामक अंगों में से किसी में भी अन्तर्भूत नहीं किया जा सकता। फिर शेष बचता है— 'आसन' नामक योगांग। इसे आसन नामक योगांग में ही अन्तर्भूत क्यों न माना जाय?

एक शंका पुन: उठती है कि यदि मुद्राओं एवं बन्धों को योग के आसनांग में ही अन्तर्भूत मान लिया जाय तो इनको आसन से पृथक् 'मुद्रा' एवं 'बन्ध' नाम क्यों दिया? गया यदि ये आसन के ही भेद हैं तो इन्हें मुद्रा एवं बन्ध के रूप में पृथक् से निरूपित करके आसनों से पृथक् क्यों किया गया? वे कौन-से भेदक तत्त्व हैं, जो कि मुद्रा और बन्ध को आसनों से पृथक् करते हैं? यदि इन समस्त शंकाओं को व्यापक आयाम में रखकर और समस्त मुद्राओं एवं बन्धों तथा उनके समस्त भेदों-उपभेदों पर गम्भीरता से विचार किया जाय तो मुद्रा एवं बन्ध को निरस्त संशयात्मक स्वरूप में पारिभाषित करना कठिन है। इस परिभाषा को अतिव्याप्ति दोष से मुक्त रखकर मुद्राबन्ध के स्वरूप को निर्धारित करना एक कठिन प्रयत्न होगा।

अभिनवगुप्तपादाचार्य 'मुद्रा' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं—

'मुद्राश्च सकलकरचरणादिकरणव्यापारमय्य: क्रियाशक्तिरूपा, तत्कृतो गण: समूहात्मपरशक्त्येकरूप: स्वस्यात्मन: प्राणपुर्यष्टकशून्यादे: देहस्य आवेश:–झटिति परस्वरूपानुप्रवेशेन पारतन्त्र्यात्मकजडतातिरोधानेन स्वतन्त्रकर्तृतानुविद्धप्रमातृतोदय:।'

मुद्रा एक आवेश है। इस आवेश का लक्षण क्या है? इस विषय में कहा गया है—

कलोद्वलितमेतच्च चित्तत्वं कर्तृतामयम्।
अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम्।।

मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मन:।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्स्यादावेशलक्षणम्।।

परस्वरूपानुप्रवेश के द्वारा पारतन्त्र्यात्मक तथा जड़ता के तिरोधान होने के कारण स्वतन्त्रकर्तृता से अनुविद्ध प्रमातृता का उदय ही मुद्रा है।

मुद्रा और बन्ध में क्या भेद है तथा आसनों से इन्हें किस प्रकार शत-प्रतिशत रूप में पृथक् किया जाय? इसकी कोई लक्ष्मण रेखा खींचना सम्भव नहीं है।

[1]हठयोग-प्रदीपिका में कहा गया है कि ब्रह्मद्वार ( सुषुम्ना के मुख के अग्रभाग ) में सोती हुई ईश्वरी कुण्डलिनी को जगाने के लिए साधक को मुद्राओं का अभ्यास करना चाहिये—

१. **मुद्रा और बन्ध में भेद**— हठयोगप्रदीपिका में उड्डीयान, मूलबन्ध, जालन्धर को मुद्रा एवं बन्ध दोनों कहा गया है—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।[१]

यहीं दश मुद्राओं का उल्लेख किया गया है, जो निम्नांकित हैं—

१. महामुद्रा
२. महाबन्ध
३. महावेध
४. खेचरी
५. उड्यान
६. मूलबन्ध
७. जालन्धर बन्ध
८. विपरीतकरणी
९. वज्रोली
१०. शक्तिचालन

घेरण्डसंहिता के अनुसार महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान, जालन्धर, मूलबन्ध, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, विपरीतकरणी, योनि, वज्राणी, शक्तिधारिणी, ताडागी, माण्डवी, शाम्भवी, धारणा मुद्रा ( ५ प्रकार की ), अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गी एवं भुजङ्गिनी— ये २५ मुद्रायें हैं। शिवसंहिता में वे ही १० मुद्रायें हैं, जो हठयोग-प्रदीपिका में बताई गई हैं। अन्तर केवल यह है कि हठयोगप्रदीपिका में जिसे 'शक्ति-चालन' मुद्रा कहा गया है, उसे ही शिवसंहिता में ही 'शक्तिचालन' तथा घेरण्डसंहिता में 'शक्तिधारिणी' कहा गया है—

१. दशमं शक्तिचालनम् ( शिवसंहिता )।
२. विपरीतकरी योनिर्वज्राणी शक्तिधारिणी ( घेरण्डसंहिता )।
३. करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम् ( हठयोगप्रदीपिका )।

यह भी मान्यता है कि मूलतः 'मुद्रा' एक ही है और वह मूल मुद्रा 'योनिमुद्रा' है। योनिमुद्रा के ही सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्रायें रूपान्तर हैं—

एका चैव महामुद्रा योनिमुद्रात्वमागता।
तया विभक्तः स्वात्मा तु संक्षोभादिप्रभेदतः।।

यह भी कहा गया है कि बाह्य पूजा में तो सर्वसंक्षोभिणी आदि मुद्राओं का प्रयोग किया जाना चाहिये; किन्तु आन्तर्यजन के समय महायोनि मुद्रा का प्रयोग किया जाना चाहिये। शिवानन्द दीपिका में कहते हैं— 'बाह्यपूजायां सर्वसंक्षोभिणीमुद्रायाः प्राथम्यमभिमतं परमेश्वरेण। अन्तर्यजनवेलायां श्रीमहायोनिमुद्रायाः प्राथम्यमिति।'

---

उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।

घेरण्डसंहिता में भी उड्डीयान, जालन्धर, मूल एवं महाबन्ध को 'बन्ध' एवं 'मुद्रा' दोनों आख्यायें प्रदान की गई हैं— 'उड्डीयानं जलन्धरम्। मूलबन्धो महाबन्धो।।
शिवसंहिता में भी महाबन्ध, जालन्धर बन्ध, मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध को 'बन्ध' भी कहा गया है और मुद्राओं के प्रकरण में इन्हें 'मुद्रा' भी कहा गया है।
क्या बन्ध भी मुद्रान्तर्गत हैं और उनका स्वस्वरूप मुद्रा से पृथक् नहीं है?

१. हठयोगप्रदीपिका : तृतीयोपदेश ( ३.५ )

## मुद्राओं के अभ्यास का उद्देश्य

**हठयोगप्रदीपिका का मत**— कुण्डलिनी का जागरण।

अन्य उद्देश्य या फल— १. जरा-मरण का नाश, २. दिव्य अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति एवं ३. देवताओं की प्रसन्नता की प्राप्ति।

**वैशिष्ट्य**— आदिनाथोक्त हैं। समस्त सिद्धों को अति प्रिय हैं— 'वल्लभं सर्व-सिद्धानाम्'। देवताओं को भी दुर्लभ हैं। रत्न की मञ्जूषा की भाति गोपनीय हैं। कुलस्त्री-सम्भोग की वार्ता के समान ये अत्यन्त गोपनीय हैं—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी।।[१]

इन मुद्राओं में से प्रत्येक मुद्रा महान् सिद्धियाँ प्रदान करने की क्षमता रखती है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि जो व्यक्ति मुद्राओं के अभ्यास का गुरुपरम्परा-प्राप्त उपदेश देता है, वही यथार्थ गुरु है। वही योगसिद्ध स्वामी है और साक्षात् ईश्वर है—

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः।।[२]

ऐसा मुद्रासाधक समाहित योगी अणिमादिक सिद्धियाँ प्राप्त करता है और काल-वञ्चन करने में समर्थ हो जाता है।

**घेरण्ड ऋषि का मत**— ऋषि घेरण्ड कहते हैं कि—

१. मुद्रा-स्वरूप के ज्ञान से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।

२. मुद्रायें अत्यन्त गोपनीय हैं; अतः जिस किसी भी व्यक्ति को नहीं दे देनी चाहिये; प्रत्युत अधिकारी व्यक्ति को ही दी जानी चाहिये।

३. मुद्रायें प्रीतिप्रदायक एवं देव-दुर्लभ हैं—

( क ) येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते।
( ख ) गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्।।
( ग ) प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि।।

४. मुद्रायें सर्वसिद्धों को अति प्रिय हैं और जरा-मरण की नाशिका हैं।

५. ये शठ, भक्तिहीन, अनधिकारी व्यक्ति को नहीं दी जानी चाहिये; बल्कि ऋजु स्वभाव वाले, शान्त चित्त वाले, गुरुभक्त एवं कुलीन लोगों को ही प्रदातव्य हैं।

६. मुद्रायें समस्त रोगों का विनाश करती हैं। नित्याभ्यासी की जठराग्नि अत्यधिक तीव्र हो जाती है।

---

१. हठयोगप्रदीपिका। २. हठयोगप्रदीपिका।

७. मुद्रा साधकों के वार्धक्य, मृत्यु, अग्नि, वायु, कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, श्लेष्मा एवं बीस प्रकार के कफ रोगों को नष्ट कर देता है—

( क ) तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।।

( ख ) कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।।

वस्तुतः मुद्रा के समान महत्त्वपूर्ण, उपादेय एवं सिद्धियाँ प्रदान करने वाली दूसरी कोई साधना ही नहीं है—

बहुना किमिहोक्तेन सारं वच्मि च चण्ड ते।
नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले।।[1]

**शिवसंहिताकार का मत**— शिवसंहिता में मुद्रा के विषय में निम्न उल्लेख्य बिन्दुओं को चिह्नित किया गया है—

१. मुद्रायें योगसिद्धिकर ( योग सिद्धि-प्रदायिका ) हैं।

२. मुद्रायें गोपनीय हैं।

३. यह सिद्धों का परम योग है और दुर्लभ योग है— 'योगसिद्धिकरं परम्'।।

गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।।

कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मरन्ध्र के मुख में सोई रहती है। गुरुकृपा से जब भी वह जागृत होती है तब षट्चक्रों में स्थित समस्त ग्रन्थियों का भेदन कर डालती है; अतः ब्रह्मद्वार-रूप मुख में सोती हुई कुण्डलिनी को जागृत करने हेतु मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये—

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।।

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।

तस्मात् सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मरन्ध्रमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।

४. ( शिवसंहिता में प्रोक्त ) १० मुद्रायें ही श्रेष्ठ हैं। इनमें श्रेष्ठ और कोई मुद्रायें हैं भी नहीं तथा होगी भी नहीं। इनमें से एक का भी अभ्यास कर लेने पर सिद्धि प्राप्त हो जाती है—

एतत्तु मुद्रा दशकं न भूतं न भविष्यति।
एकैकाभ्यसने सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा।।

---

१. घेरण्डसंहिता उपदेश ( ३.९५ )

**महेश्वरानन्द की मुद्राविषयक दृष्टि**— आचार्य महेश्वरानन्द ने मुद्रा के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन किया है। उनके अनुसार प्रकाशस्वरूप परमात्मा की पूजा के लिए अंगन्यास आदि के साथ किसी विशेष बाह्य मुद्रा की आवश्यकता नहीं होती।

जिस अवस्था में समस्त योग-प्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत कर देने वाले ऐश्वर्यरूप परमात्मविमर्श के आनन्दोत्कर्ष की श्री— परमाह्लादिनी शक्ति अभिव्यक्त या स्वानुभूतिमयी प्रकाशित होती है, वही परमात्मा की नमस्या ( पूजा ) मुद्रा है—

आणन्दुल्लाससिरी धुल्लइदट्ठमहसिद्धि सोहग्गा।
दीसइ जत्थ दसाए सोच्चिअ देवस्स सव्वमुद्दाओ।।

( आनन्दोल्लासश्रीः छुल्लिकताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्राः।। )

स्वोपज्ञ परिमल में महेश्वरानन्द इसी बात को शब्दान्तर में इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं—

'यस्यामवस्थायां देवस्य क्रीडाविजिगीषाद्यनेकप्रकारस्वातन्त्र्यसारत्वात् पूज्यपूजकत्वोभयस्वभावसामरस्यशालिनः परमेश्वरस्य स्वविश्रान्तिलक्षणमानन्दं प्रति य उल्लासः तथा परामृश्यमानतया स्फुरत्ता, तस्याः श्रीः तद्वदुपर्युपर्यनुस्यूतिलक्षणा प्ररूढिर्दृश्यते, निर्विवादमपरोक्षीक्रियते, सैव सर्वाः करङ्किण्यादयः संक्षोभिण्यादयोऽन्यथा वा प्रसिद्धास्तास्ताः, मुद्रा इत्यवगन्तव्यम्।'

इस परिभाषा के भावान्तर को इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है— 'करचरणाद्याकुञ्चनावकुञ्चनादिसङ्कोचोल्लङ्घनेन निस्तरङ्गसमुद्रावस्थानस्थानीया तत एव स्वान्तर्विलीनफेनबुद्बुदबिन्द्वादिप्रायाऽशेषबाह्यानन्दपरिस्पन्दा स्वविश्रान्तिचमत्काराऽपरपर्यायपरामर्शक्रियारूपा काचिदलौकिकानुभूतिरानन्दसम्पद् मुदं रातीति व्युत्पत्त्या करङ्किण्याद्यन्यमुद्राप्रपञ्चोदयविलयभूमिर्मुद्रात्वेनानुसन्धेयेति।' कहा भी गया है—

सा सिद्धिः सर्वसिद्धीनां सिद्धित्वे परिकीर्तिता।
ज्ञानं ह्यकलितं चैकं मुद्रा चैका ग्रहात्मिका।
द्वावेतौ यस्य जायेते सोऽन्वयी सिद्धिशासने।।

इस तत्त्वात्मिका ( सिद्धिस्वरूपा ) मुद्रा में अष्टसिद्धियों का पारम्परिक अर्थ भी स्वीकृत नहीं है।

| **महार्थमञ्जरी एवं परिमल की मुद्राविषयक दृष्टि और अष्ट सिद्धियों का अर्थ** | **अष्ट सिद्धियों का पारम्परिक अर्थ** |
| --- | --- |
| **१. अणिमा**— परमेश्वर की पूजा के हेतु सर्वमुद्रा में आनन्दोल्लासश्री में प्रकाशरूप से सर्वपदार्थान्तर्भाव की सामर्थ्य ही 'अणिमा' है। | **१. अणिमा**— शरीर को अणुवत् सूक्ष्मतर कर लेने की सिद्धि ही 'अणिमा' सिद्धि है। |

२. **महिमा**— उसी प्रकार व्यापकता का सञ्चार ही 'महिमा' है।

३. **लघिमा**— भेदों के प्रति साधक का औदासीन्य ( उपेक्षा ) ही 'लघिमा' है।

४. **प्राप्ति**— स्वात्मविश्रान्ति ही 'प्राप्ति' है।

५. **प्राकाम्य**— वेद्यविलास में अभिरुचि या प्रीति 'प्राकाम्य' है।

६. **ईशित्व**— सम्पूर्ण प्रमुसत्ता ही 'ईशित्व' है।

७. **वशित्व**— विमर्शरूप भूमि ही 'वशित्व' है।

८. **कामावसायित्व**— पूर्णाहम्भाव की भावना ही कामावसायित्व है।

वे सब अद्वैत सर्वव्यापक परमात्मा की पूजा में स्वात्म-विमर्शरूप 'मुद्रा' में ही अधिगृहीत हो उठते हैं। परमेश्वर की स्वात्मविमर्शस्वरूपिणी 'शक्ति' ही सर्वमुद्रामयी है।[१]

२. **महिमा**— गगनादि में व्यापक हो जाना ही 'महिमा' सिद्धि है।

३. **लघिमा**— समुद्रादि जलसमूह को विना स्पर्श किये हुये पार कर जाना ही 'लघिमा' सिद्धि है।

४. **प्राप्ति**— यथाकाम, यथाभीष्ट वस्तु को पा जाना ही 'प्राप्ति' सिद्धि है।

५. **प्राकाम्य**— संकल्पमात्र से सर्वत्र अप्रतिहत गति से गमन करने की शक्ति ही 'प्राकाम्य' सिद्धि है।

६. **ईशित्व**— सार्वत्रिक प्रभुत्व ( ऐश्वर्य ) से युक्त होना ही 'ईशित्व' सिद्धि है।

७. **वशित्व**— इन्द्रियार्थोपभोगार्थ स्वेच्छाभासाधीन हानोपादान भोगेच्छा से निवृत्तिपरक निष्कामता ही 'वशित्व' सिद्धि है।

८. **कामावसायित्व**— स्वाभिलाषा से ही स्वर्गनरकादि की अनुभूति में आनन्दोल्लासश्री में प्रकाशरूप से सर्वपदार्थान्तर्भाव का सामर्थ्य प्राप्त कर लेना ही 'कामावसायित्व' सिद्धि है ।

---

इस पूजात्मक मुद्रा में ध्यान, होम, हव्य, वह्नि, स्रुवा आदि का भी अभिधेय अर्थ स्वीकृत नहीं है; प्रत्युत रहस्यार्थ ( प्रतीकार्थ ) स्वीकृत है; यथा—

१. **ध्यान**— ध्यानं या निश्चला चिन्ता निराकारा निराश्रया।
न तु ध्यानं शरीरादिमुखहस्तादिकल्पनम्।।

२. **हवन**— महाशून्यालये वह्नौ भूताक्षविषयादिकम्।
हूयते मनसा सार्धं स होमश्चेतना स्रुचा।।

३. **अग्नि और हव्य**— पराहन्तामये संविदग्नौ संवेद्यतर्पणे।
इयन्तालक्षणं हव्यं जुहुयादबहिर्मुखः।।

---

१. तत्र च ताः सिद्धयो यदा प्रकाशरूपतया सर्वपदार्थान्तर्भावसामर्थ्यमणिमा। तथैव व्यापकत्वं महिमा। भेदरूपगौरवव्युदासो लघिमा। स्वात्मविश्रान्तिलाभः प्राप्तिः। वेद्यविलासोपलालनं प्राकाम्यम्। अनवच्छिन्नैश्वर्यशालित्वमीशितृत्वम्। विप्रकृष्टतया सर्वंसहता वशित्वम्। पूर्णाहम्भावभावना यत्र कामावसायित्वमिति संविन्मयत्वौचित्येन परामृश्यते तदानीमस्मदुक्तमुद्रापर्वानुप्रवेश इति न किञ्चिदासां क्षुल्लकीकरणम्, प्रयोजनाभावात्। ( स्वोपज्ञ परिमल )

**४. हव्य—** अथ हव्यमिदन्ताख्यं हावं हावं स्वचिन्मुखे।
उल्लङ्घ्य मायामालिन्यं स्वैरमासीत मेरुवत्।।

महेश्वरानन्द कहते हैं कि उक्त पूजात्मक मुद्रा में ध्यानादि अंगों के प्रतीकार्थों–रहस्यार्थों के सहित पूजा-द्रव्यों को भी सम्मिलित मानना चाहिये, उनकी भी कल्पना कर लेनी चाहिये—

'मन्त्रमुद्राविद् ध्यानहोमादयोऽपि साधकव्यापाराः संविदद्वैतानुगुण्येन स्वयमूहनीयाः।'[१]

हमारे व्यावहारिक लोक में तो खड्ग-गोरोचनपातालप्रभृति विभूति के स्पन्द ही सिद्धियाँ मानी जाती हैं। उनकी अपेक्षा तो अणिमा-महिमा-लघिमा-प्राप्ति-प्राकाम्य-ईशित्व-वशित्व-कामावसायित्व आदि अष्ट सिद्धियाँ महत्तर सिद्धियाँ हैं; किन्तु मुद्रा में इन अष्टसिद्धियों के अर्थ को और अधिक वृहत्तर आयाम में स्वीकार किया जाता है और उनमें गुप्त रहस्यार्थों को ही स्वीकार किया जाता है।[२]

लोक में तो अष्टसिद्धियों का निम्न अर्थ ही ज्ञात है—

१. स्वशरीरं प्रत्यणूकरणसामर्थ्यमणिमा।
२. गगनादिव्यापकत्वकौशलं महिमा।
३. समुद्रसलिलादावपि पद्भ्यां प्रयाणे तदस्पर्शो लघिमा।
४. यथाभिलषितपदार्थलाभः प्राप्तिः।
५. सङ्कल्पमात्रात् सर्वत्राप्रतिहतगतित्वं प्राकाम्यम्।
६. सार्वत्रिकं प्रभुत्वमीशितृत्वम्।
७. इन्द्रियार्थोपभोगे स्वेच्छामात्राधीनहानोपादानत्वं वशित्वम्।
८. स्वाभिलाषमात्रात्सद्यः स्वर्गनरकाद्यनुभूतिर्यत्र कामावसायित्वमिति विवेकः।[३]

किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में मुद्रा के अंगीभूत इन अष्टैश्वर्यों— अष्टसिद्धियों के अर्थ रहस्यात्मक हैं और वे ही स्वीकृत हैं। इन रहस्यार्थों एवं प्रतीकार्थों से गर्भित अष्टसिद्धियों से युक्त मुद्रा ही यहाँ 'मुद्रा' मानी गई है। सामान्य अर्थ में गृहीत ( आंगिक हाव-भाव प्रदर्शित करने वाली ) मुद्रा यहाँ स्वीकृत नहीं है।[४]

जहाँ आनन्दोल्लासश्री का दर्शन होता है, उस दशा को ही तो देवता की 'मुद्रा' माना जाता है; क्योंकि 'मुदं राति ददाति इति मुद्रा'; फिर यह आनन्दोल्लास कितने आनन्दों से गर्भित है? यह परानन्द, निरानन्द, महानन्द, आनन्द, विषयानन्द एवं स्वभावाशेषानन्द के सामरस्य को उन्मीलित करने वाला आनन्दश्री नाम से विख्यात है।[५]

---

१. महेश्वरानन्द : स्वोपज्ञ परिमल।
२. स्वोपज्ञ परिमल।
३. परिमल ( महेश्वरानन्द )।
४. स्वोपज्ञ परिमल।
५. स्वोपज्ञ परिमल।

**स्वच्छन्दतन्त्र एवं नेत्रतन्त्र का मत**— स्वच्छन्दतन्त्र में मुद्रा को क्रियाशक्ति कहा गया है। नेत्रतन्त्र में आत्मस्वरूप की अभिव्यक्ति के तीन साधन कहे गये हैं और उनमें मुद्रा भी एक है। तीन साधन निम्नांकित हैं—

**आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति के साधन** ( नेत्रतन्त्र )

मन्त्र ध्यान मुद्रा
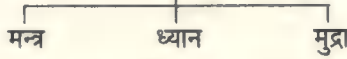
ऋजुविमर्शिनी में भी मुद्रा को क्रियाशक्ति कहा गया है।

**शिवानन्द का मत**— शिवानन्द कहते हैं कि मुद्रा केवल आंगिक प्रदर्शन या अंगों का विशिष्ट सन्निवेश-मात्र नहीं है; प्रत्युत यह शक्ति का स्वरूपान्तर है— 'मुद्रा नाम कश्चन शक्तय:।'[१] इसीलिए कहा गया है—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्य: पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ता: शक्तयो मता:।।

अंगुलिसन्निवेशात्मक बाह्य मुद्राओं का तो समस्त तन्त्रों में वर्णन किया गया है; किन्तु योग में बन्धरूप एवं संस्थान-विशेषानुसरणरूप मुद्राओं का वर्णन हठयोग के ग्रन्थों में पाया जाता है। अद्वयप्रधान तन्त्रों में मुद्रा परसंवित् के रूप में मान्य है। योगिनीहृदय ( १.५७ ) में भी मुद्रा को संविद्रूपा ही स्वीकार किया गया है।

**नित्याषोडशिकार्णव-मत**— नित्याषोडशिकार्णव के तृतीय पटल में कहा गया है कि मुद्रा वह योग-साधना है, जो कि समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है तथा जिसे निर्मित करने पर ( दिखाने या प्रयोग में लाने पर ) भगवती त्रिपुरा प्रसन्न होकर साधक के समक्ष उपस्थित हो जाती हैं—

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि मुद्रा: सर्वार्थसद्धिदा:।
याभिर्विरचिताभिस्तु सम्मुखा त्रिपुरा भवेत्।।

**मुद्रा के कार्य**

सर्वार्थसिद्धिप्रदायकत्व त्रिपुरा-दर्शन ग्रहों से विमुक्ति पाशौघ-द्रावण

( क ) मोचयन्ति ग्रहादिभ्य: पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ता: शक्तयो मता:।।

( ख ) द्रावणात् पाशजालस्य तत्परस्य च मोचनात्।
मुद्रापीठमिति प्रोक्तं कामरूपं नमाम्यहम्।। ( सङ्केतपद्धति )[२]

**तन्त्रालोक का मत**— अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं कि मुद्रा स्वरूपलाभ का

---

१. ऋजुविमर्शिनी। २. ऋजुविमर्शिनी।

साधन है। देहद्वार से मुद अर्थात् स्व-स्वरूपात्मक उपलब्धि होती है; इसीलिए इसे मुद्रा कहा जाता है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

**योगिनीहृदय का मत**— योगिनीहृदय के मतानुसार संविदम्बिका क्रियाशक्ति के रूप में विश्व का मोदन एवं द्रावण करती हुई मुद्रा के रूप में विद्यमान है—

क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात्तथा।
मुद्राख्या सा यदा संविदम्बिका त्रिकलामयी।।[1]

अमृतानन्द कहते हैं कि जब विमर्श शक्ति विश्व के रूप में प्रसृत होना चाहती है तब क्रियाशक्ति बनकर स्वविकारभूत विश्व का परचिदानन्दलक्षणरूप मोदन द्वारा एवं एकरसीभावलक्षणात्मक द्रावण के द्वारा 'मुद्रा' रूप ग्रहण कर लेती है—

'यदा विमर्शशक्तिः विश्वरूपेण विहर्तुमिच्छति तदा क्रियाशक्तिर्भूत्वा स्वविकारभूतस्य विश्वस्य परचिदानन्दलक्षणेन मोदनेन तदैकरस्यलक्षणेन द्रावणेन च मुद्राख्यामापन्नेत्यर्थः।'[2]

'विश्वस्य मोदनाद् द्रावणाच्च। अत्र त्वनुकूलक्रियैव मोदनम्। द्रावणं नाम तदेकरसीभावः। संविद् मुद्राख्यां लभते।'[3]

## मुद्रा के भेद

अभिनवगुप्तपाद की दृष्टि में मुद्रा में स्वरूपप्रतिबिम्बता निहित है। विद्यानन्द ने अर्थ-रत्नावली में मुद्रा के जो दो भेद बताये हैं; वे हैं— बाह्या ( कररचनात्मक ) बन्धस्वरूपा।

शिवानन्द जी ने खेचरी मुद्रा के ३ भेद किये हैं— अंगुलिविरचनात्मक, बोधगगन-चारिता एवं संस्थानविशेषानुसरणरूपा।

आचार्य क्षेमराज ने स्वच्छन्दतन्त्र ( २.१०२ ) के आधार पर समस्त मुद्राओं के तीन भेद किये हैं; जो निम्नांकित हैं—

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

अभिनवगुप्तपादाचार्य ने मुद्रा के चार भेद बताये हैं— तन्त्रालोक ( ३२.९ ) में प्रतिपादित उस दृष्टि की व्याख्या करते हुए जयरथ कहते हैं—

अङ्गुलिन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुदा च कायिकी।।

मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्तिता।
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता।।

---

१. योगिनीहृदय ( चक्रसङ्केत )।　　२. दीपिका।　　३. अमृतानन्द : दीपिका।

अभिनवगुप्तपाद ने तन्त्रालोक ( मुद्राह्निकः ३२.५-६ ) में खेचरी मुद्रा के भी अनेक भेद बताये हैं और करङ्किणी, क्रोधना, भैरवी एवं लेलिहानिका का नामोल्लेख किया है।

१. करङ्किणी = ज्ञानसिद्धों की मुद्रा।
२. क्रोधिनी = मन्त्रसिद्धों की मुद्रा।
३. भैरवी = मेलापसिद्धों की मुद्रा।
४. लेलिहाना = शाक्तसिद्धों की मुद्रा।
→ **मुद्राचतुष्टय**

कायिकी मुद्रा पाशुपतों में प्रचलित है ( जयरथ )।

**यामुनाचार्यवर्णित मुद्राषट्क** ( आगमप्रामाण्य )—

| | | |
|---|---|---|
| १. कर्णिका | ३. कुण्डल | ५. भस्म |
| २. रुचक | ४. शिखामणि | ६. यज्ञोपवीत |

कपालमुद्रा, खट्वांग मुद्रा ( पाशुपतीय उपमुद्रा )।

पाञ्चरात्र एवं पाशुपत आदि मतों में बाह्य मुद्राओं का प्रतिपादन किया गया है; जबकि अद्वयप्रधान तन्त्रों में सब कुछ आत्मस्वरूप होने के कारण मुद्रा भी परसंवित्तिरूपा है ।

**कौलावलीनिर्णय और मुद्राविधान**— शाक्तों की साधना का सविध एवं शास्त्रोक्त विधान करने वाला एवं अतिप्रिय तन्त्रग्रन्थ 'कौलावलीनिर्णय' मुद्रा-प्रदर्शन एवं मुद्रा-साधना को साधना-क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं अपरिहार्यतः आवश्यक नित्य कृत्य के रूप में प्रस्तुत करता है। इसमें कहा गया है कि शाक्त साधक को—

१. ब्राह्ममुहूर्त में निद्रा एवं आलस्य का त्याग करके सूर्य के तेज एवं चन्द्रमण्डल से मण्डित सहस्रदल कमल में रजतपर्वत के समान श्वेत, वीरासनस्थित, शुक्लाभूषण-विभूषित, शुक्लाम्बरधारी, शक्तिसमन्वित श्रीगुरुदेव का नित्य ध्यान करते हुए प्रतीकात्मक उपचारों ( यथा— भूम्यात्मक गन्ध, भावात्मक पुष्प, वाय्वात्मक धूप, तेजसात्मक दीप, अमृतात्मक नैवेद्य, वरुणात्मक जल, आकाशात्मक मुकुट आदि ) से पूजा करके योनिमुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिये।

२. संविदा-ग्रहण ( जपारम्भ के पूर्व का कृत्य ) के समय सात बार मूलमन्त्र का जप करके आवाहनादि मुद्राओं तथा धेनुमुद्रा दिखाकर तीन बार छोटिका मुद्रा से दिग्बन्धन करके फिर गुरु-तर्पणोपरान्त तत्त्वमुद्रा द्वारा परिवारसहित देवी का हृदय में तर्पण करते हुये अग्रिम कृत्यों का निष्पादन करना चाहिये।

३. पूजारम्भ के समय पुष्प सूंघकर नाराच मुद्रा से इसे ईशान कोण में फेंक देना चाहिये।[1]

---

१. कौलावलीनिर्णय

**नाराच मुद्रा का स्वरूप**— दाहिने हाथ की तर्जनी को अंगूठे के आगे लाकर ऊर्ध्व रेखा से मिलाते हुये शेष उँगलियों को ऊपर उठाना ही नाराच मुद्रा है।

४. साधक को चाहिये कि मद्यशोधन-क्रियान्तर्गत पञ्चसंज्ञक मुद्राओं द्वारा इष्ट-देवता को भक्तिपूर्वक प्रणाम करे।

**( क ) चतुरस्रिका मुद्रा**— दोनों हाथों की हथेलियों को भूमि पर अधोमुख उंगलियों को सीधी करके रखना चाहिये। यही चतुरस्रिका मुद्रा है।

**( ख ) सम्पुट मुद्रा**— दोनों हथेलियों ( पाणितन्त्रों ) को एक-दूसरे के अभिमुख सम्पुटाकार मिलाने को सम्पुट मुद्रा कहते हैं।

**( ग ) योनिमुद्रा**— दोनों कनिष्ठिकाओं के मूल में दोनों अंगुष्ठों को रखकर, फिर दोनों तर्जनियों के ऊपर दोनों मध्यभागों को और दोनों अनामिकाओं एवं कनिष्ठिकाओं को अंगुष्ठ से दबाकर रखने को योनिमुद्रा कहते हैं।

**( घ ) सम्पुटाञ्जलि मुद्रा**— सम्पुट मुद्रा बनाकर उसी में दोनों कनिष्ठिकाओं के मूल में दोनों अंगूठों को लगा देने को सम्पुटाञ्जलि मुद्रा कहते हैं।[1]

( क ) 'ह्रां नमः' कहकर चतुरस्रिका मुद्रा,
( ख ) 'ह्रीं नमः' कहकर संवृत्त मुद्रा,
( ग ) 'क्लीं नमः' कहकर सम्पुट मुद्रा,
( घ ) 'प्लुं नमः' कहकर सम्पुटाञ्जलि मुद्रा,
( ङ ) 'सः नमः' कहकर योनि-मुद्रा प्रदर्शित करनी चाहिये।

साधक को द्रव्यशोधन की क्रिया के अन्तर्गत आनन्दभैरवी का पूजन करके 'वं' का जप करके द्रव्य को अमृत मानकर फिर, आवाहिनी, स्थापिनी, सन्निधापिनी, सन्निरोधिनी, अवगुण्ठन, षंडग की मुद्रायें तथा छोटिका मुद्रा द्वारा दिग्बन्धन करके, परमीकरण करके धेनुमुद्रा से अमृतीकरण करना चाहिये।

**मुद्राशोधन**— सुपक्व, मनोहर, शर्करादि से पूरित मुद्रायें भी देवी की पूजा में स्वीकृत हैं। भुने हुए धान्य भी मुद्रा के रूप में स्वीकृत हैं। मुद्राओं के शोधन का मन्त्र निम्नांकित है—

ॐ तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः दिवीव चक्षुराततम् ॐ तद्विप्रासो विपण्यवो जागृवांसः समिन्धते विष्णोर्यत् परमं पदम्।

मुद्रायें दिखाकर मूल मन्त्र का जप करना चाहिये।[2]

**शंखमुद्रा**— दाहिने हाथ से वाम कर के अंगूठे को पकड़कर फिर मुट्ठी एवं अंगूठे

---

१. कौलावलीनिर्णय। २. कौलावलीनिर्णय।

को उत्तान करके फैलाना चाहिये; साथ ही वामवर्ती हाथ की शेष उँगलियाँ उसी प्रकार संयुक्त रूप में फैली रहें एवं दाहिने अंगूठे से लगी रहें। इसे ही शंखमुद्रा कहते हैं।

**मत्स्य मुद्रा**— दाहिना हाथ अधोमुख रहे और वाम पाणि भी; तथापि एक-दूसरे के ऊपर सभी उँगलियाँ मिली हुई और सीधी रहें। अंगूठों को किञ्चित् चलाये। इसे ही मत्स्य मुद्रा कहते हैं।

**आवाहनी मुद्रा**— दोनों हाथों की ऊर्ध्वमुख अञ्जलियों को अधोमुख करने से आवाहनी मुद्रा बनती है।

**स्थापिनी मुद्रा**— आवाहनी मुद्रा को ऊर्ध्वमुख करने पर स्थापिनी मुद्रा बनती है।

**सन्निधापिनी मुद्रा**— दोनों हाथ की बँधी हुई मुट्ठियों को मिलित रूप से रखने पर सन्निधापिनी मुद्रा बनती है।[१]

**सन्निरोधिनी मुद्रा**— मुट्ठियों के भीतर अंगूठों को दबाकर उन्हें अधोमुख करने पर सन्निरोधिनी मुद्रा बनती है।

**अवगुण्ठन मुद्रा**— सन्निरोधिनी मुद्रा में यदि तर्जनी सीधी कर दी जाय तो अवगुण्ठन मुद्रा बनती है।

**परमीकरण महामुद्रा**— परस्पर दोनों हाथों के अंगूठों को ग्रथित करके शेष अंगुलियों को सीधी फैला देने को महामुद्रा या परमीकरण कहते हैं।

**धेनुमुद्रा**— दोनों हाथों की उंगलियों को नीचे की ओर करके दोनों मध्यमाओं, दोनों तर्जनियों तथा दोनों अनामिकाओं को दोनों कनिष्ठाओं से संयुक्त करे तो धेनुमुद्रा बनती है।

नियमानुसार स्वकल्पोक्त विधि से साधकों को मुद्रायें प्रदर्शित करके छोटिका मुद्रा द्वारा तीन साल से दिग्बन्धन करके प्राणप्रतिष्ठा के मन्त्र से लेलिहान मुद्रा के द्वारा यन्त्र पर हाथ रखकर या पाँच कुशों द्वारा प्राणप्रतिष्ठा करनी चाहिए।[२]

**लेलिहान मुद्रा**— दाहिने हाथ की तर्जनी, मध्यमा एवं अनामिका को सीधी करके अधोमुख करे और अनामिका के ऊपर अंगुष्ठ को रखे तथा कनिष्ठा को सीधी फैला दे तो लेलिहान मुद्रा बनती है।

ज्ञानमुद्रा से परमेश्वरी का पूजन करना चाहिये।

**ज्ञानमुद्रा**— अंगुष्ठ एवं तर्जनी के संयोग से अर्थात् तर्जनी को अंगुष्ठ के मूल में लगाने से ( अंगुष्ठ एवं तर्जनी के संयोग द्वारा ) जो ( अंगुष्ठ की जड़ में ) गोलाकार रचना बनती है, उससे युक्त ऊर्ध्वोन्मुख अंगुष्ठ की रचना ज्ञानमुद्रा कहलाती है।[३]

१. कौलावलीनिर्णय। २. कौलावलीनिर्णय। ३. कौलावलीनिर्णय।

महादेवी की नीराजना करने के अनन्तर साधकों को चाहिए कि वे देवता को चक्रमुद्रा दिखायें।

बायें हाथ की वृद्धा अंगुली के गर्भ में कनिष्ठा एवं दक्षिणवर्ती हाथ की कनिष्ठा के गर्भ में जोड़कर फिर वाम एवं दक्षिण अंगुष्ठों का संयोग करने से चक्रमुद्रा बनती है।

साधक को चाहिये कि वह इष्टदेवी को दुग्ध, दधि, पायस, मोदक, चर्व्य, चोष्य, लेह्य, पेय, भक्ष्य एवं भोज्य आदि पदार्थ समर्पित करके तथा चुल्लूक देकर प्राणमुद्रा का प्रदर्शन करे।[१]

**प्राणमुद्रा**— वृद्धा, अनामा और कनिष्ठा के संयोग से प्राणमुद्रा बनती है।
**अपान मुद्रा**— वृद्धा, मध्यमा एवं तर्जनी से अपान मुद्रा बनती है।
**व्यान मुद्रा**— वृद्धा, अनामा और मध्यमा से व्यान मुद्रा बनती है।
**उदान मुद्रा**— कनिष्ठा से रहित समस्त अंगुलियों से उदान मुद्रा बनती है।
**समान मुद्रा**— सम्पूर्ण अंगुलियों के संयोग से समान मुद्रा बनती है।

प्राणाय स्वाहा, अपानाय स्वाहा, व्यानाय स्वाहा, उदानाय स्वाहा, समानाय स्वाहा कहकर मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये।

यह भी शास्त्र-विधान है कि अग्नि में देवी को समाविष्ट समझकर संहारमुद्रा द्वारा 'देवीं अग्नये स्वाहा' मन्त्र से तीन आहुतियाँ प्रदान करनी चाहिये। इसी प्रकार गणदेवताओं को संहारमुद्रा से लाकर उनका पूजन करना चाहिये।

कुम्भमुद्रा लगाकर सुगन्धित जल को लेकर मूलमन्त्रपूर्वक 'अमुकं देवतां अभिषिञ्चामि' कहने के अन्त में हृदय मन्त्र लगाकर अपने सिर में समन्त्र की भावना करनी चाहिये।

साधना में योनिमुद्रा का सर्वातिशायी महत्त्व है। सृष्टि चार प्रकार की है। यह जिसकी योनि से उत्पन्न होती है, उसी में लय हो जाती है। यही योनिमुद्रा है। इसके बन्धन से सभी मन्त्र सिद्ध हो जाते हैं।[२]

'शाक्तानन्दतरङ्गिणी' के अनुसार वामांगुष्ठ एवं अनामिका को युक्त करके जिस तत्त्वमुद्रा की रचना होती है, उसके द्वारा देवता के मुख में मूल मन्त्र से तीन बार तर्पण करना चाहिये। इससे द्रव्य अमृत के तुल्य हो जाता है।

मुद्रा-प्रदर्शन के साथ-साथ शरीरांग भी निर्धारित हैं; यथा—

## गोरक्षनाथोपदिष्ट अष्ट मुद्रायें

गोरक्षनाथ जी ने अपनी 'अष्टमुद्रा' नामक पुस्तक में आठ मुद्राओं का उल्लेख किया है, जो निम्नांकित हैं—

---

१. कौलावलीनिर्णय। २. कौलावलीनिर्णय।

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. मूलनी | ३. खीरनी | ५. भूचरी | ७. अगोचरी |
| २. जलश्री | ४. खेचरी | ६. चाचरी | ८. उनमनी |

**मुद्राओं का स्वरूप—**

**१. मूलनी मुद्रा—** अवधी यंद्रीमध्ये मूलनी मुद्रा।
काम तृष्णा ले उतपनीं काम।।

**२. जलश्री मुद्रा—** कामतृष्णासमो कृत्वा मुद्रा तौ भई मूलनी।
नाभी मधे जलश्री मुद्रा काल क्रोध ले उतपनी।।

**३. खीरनी मुद्रा—** काल क्रोध समो कृतवा मुद्रा तौ भई जलश्री।
हृदा मध्ये खीरनी मुद्रा ज्ञान दीप ले उतपनी।।

**४. खेचरी मुद्रा—** ज्ञानदीप समो कृतवा मुद्रा तौ भई खीरनी।
मुख मध्ये खेचरी मुद्रा स्वादबिस्वाद ले उतपनी।।

**५. भूचरी मुद्रा—** स्वाद विस्वाद समो कृतवा मुद्रा तो भई खेचरी।
नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा गंध निबंध ले उतपनी।।

**६. चाचरी मुद्रा—** गंध विगंध समो कृतवा मुद्रा तौ भई भूचरी।
चखिमध्ये चाचरी मुद्रा दिष्टि-विदिष्टि हो उतपनी।।

**७. अगोचरी मुद्रा—** दिष्टि विदिष्टि समो कृतवा मुद्रा तौ भई चाचरी।
करण मध्ये अगोचरी मुद्रा सबद कुसबद ले उतपनी।।

**८. उनमनी मुद्रा—** सबद कुसबद समो कृतवा मुद्रा तौ भई अगोचरी।
ब्रह्माण्ड असथानि उनमनी मुद्रा परम जाति लै उतपनी।।

परम जोति समो कृतवा मुद्रा तौ भई उनमनी।
सुंनि मँडल तहाँ नीझर झरिया।
चंद सुरजि ले उनमनि धरिया।।

( चन्द्रमा और सूर्य के योग से जब उन्मनावस्था आती है, तब ब्रह्मरन्ध्र ( शून्यमण्डल ) में अमृत का निर्झर झरने लगता है। )

उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयवा नींझर पाणी।
लंका छाडि पलंका जाइबा तब गुरमुख लेबा वाणी।।

असाध साधंत गगन गाजंत उनमनी लागत ताली।
उलटंत पवनं पलटंत वाणी अजीव पीवत जे ब्रह्मज्ञानी।।

अनहद सूं मन उनमन रहै, सो सन्यासी अगम की कहै।
बदंत गोरख रुति ते सूरिवां उनमनि मन मैं वास।।

उनमनि डांडी मन तराजू पवन कीया गदियाना।
मन पवन दो काय सुपारी उनमनी तिलक सिंदूरं।।

नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिवा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा बहुरि न पीयवा खीरं।।

नासा अग्र निजु ज्यौ बाई। इड़ा प्यंगुला मधि समाई।। ( गो० बा० )

**वज्रोली-अमरोली मुद्रा—**

बजरी करंता असरी राखै अमरि करंता बाई।
भोग करंता जे व्यंद राखै ते गोरख का गुरभाई।।

**खेचरी मुद्रा—** मुख मध्ये खेचरी मुद्रा स्वाद विस्वाद ले उतपनी।।

**भूचरी मुद्रा—** नासिका मध्ये भूचरी मुद्रा गंध निबंध ले उतपनी।।

**चाचरी मुद्रा—** चखि मध्ये चाचरी मुद्रा दिष्टि विदिष्टि ले उतपनी।

**आचार्य रामानन्द कहते हैं—**

चाचरी भूचरी खेचरी अगोचरी उन्मुनी पाँच मुद्रा साधत सिद्ध राजा।।

**उन्मनी मुद्रा—** गोरक्षनाथ ने 'अमनस्क योग' में इसे अमनस्क कहा है—

तत्त्वस्य सम्मुखे जाते अमनस्कं प्रजायते।।

अमृतोद्दीपनी विद्या निरपाया निरञ्जना।
अमनस्का कला कापि जयत्यानन्ददायिनी।।

**मत्स्येन्द्रनाथ—**

१. ( कौणसो पाती किहि विधि रहै )
पाँचों पाती उनमनि रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।

२. ( तामैं निहचल कैसे रहे )
तामहिं निहचल उनमन रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।

३. रूप अरूप मन उनमनि रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।

४. सिव सकती ले उनमन रहै। ऐसा विचार मछिंद्र कहै।

५. सदा चेतनि मन उनमत रहै। सतगुर होइ सु बूंझां कहै।

६. गगन अस्थाने मन उनमन रहै। ऐसा बिचारि मछिन्द्र कहै।

**गोरखनाथ—**

१. अहनिसि मन लै उनमन रहै। गम की छाँड़ि अगम की कहै।।

२. मन पवना लै उनमनि धरिवा ते जोगी ततसारं।

३. यहु मन लै जे उनमन रहै।
तौ तीनि लोक की बातां कहै।

४. अवधू दम कौं गहिबा उनमनि रहिवा ज्यूं बाजवा अनहदतूरं।
५. छठैं छमासि काया पलटिबा तब उनमुनि जोग अपारं।
६. सुंनि मंडल तहाँ नीझर झरिया चंद सुरजि ले उनमनि धरिया।
७. उनमनि रहिबा भेद न कहिबा पीयबा नींझर पांणी।
८. असाध साधंत गगन गाजंत उनमनी लागंत ताली।
९. अनहद सूं मन उनमन रहै। सो सन्यासी अगम की कहै।
१०. बदंत गोरख सति ते सूरिबां उनमनि मन मैं बास।
११. उनमन जोगी दसवैं द्वार। नाद व्यंद ले धूँधूँकार।
१२. परचय जोगी उनमन खेला। अहनिसि रंछया करै देवता स्यूं मेला।

**आचार्य रामानन्द—**

१. उनमुनी दिष्टि सो भाव देखै।
२. उनमनी भरे जदद मसाल।
३. चाचरी भूचरी खेचरी अगोचरी उन्मुनी।
पाँच मुद्रा साधते सिद्ध राजा। ( रामरक्षा )[1]

**उन्मनी मुद्रा की प्रक्रिया—** योगीश्वर गोरक्षनाथ उन्मनीकारक विधि के विधान का प्रस्तुतीकरण इस प्रकार करते हैं कि तारों ( आँख की पुतलियों ) को ज्योति में लगाकर भौंहों को कुछ ऊर्ध्व करना चाहिये ( ऊपर चढ़ा लेना चाहिये )। यह पूर्वयोग ( तारक योग ) का योग-मार्ग ( पद्धति ) क्षण भर में उन्मनीभाव उत्पन्न कर देता है—

तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयन् भ्रुवौ।
पूर्वयोगस्य मार्गोऽयमुन्मनीकारकः क्षणात्।।[2]

समस्त चिन्ताओं से मुक्त होकर तथा सुरम्य प्रदेश में समासीन होकर योग का अभ्यास करना चाहिये। सब प्रकार की चिन्ताओं से मुक्त होकर, एकान्त स्थान में स्थिर होकर, समान आसन में समासीन होकर, पीछे की ओर कुछ झुककर अर्थात् तनकर, स्थिरांग होकर, सुखपूर्वक बैठकर एवं एक हाथ तक दृष्टि को स्थिर करके योग का अभ्यास करना चाहिये। इस विधि से योगाभ्यास करने से मन सुस्थिर हो जाता है और क्रमशः वायु, वाणी, देह एवं दृष्टि में स्थैर्य आ जाता है। जिसको अमनस्क योग की प्राप्ति हो रही हो और जो सब ओर से उदासीन हो, ऐसे योगी के शरीर में मृदुता एवं लघुता आ जाती है।[3]

---

१. विशेष ध्यातव्य— उन्मनी मुद्रा का उल्लेख हठयोगप्रदीपिका, घेरण्डसंहिता एवं शिवसंहिता में नहीं है।
२. अमनस्कयोग।
३. अमनस्कयोग।

दृश्य के विना ही जिसकी दृष्टि स्थिर हो जाय, विना किसी प्रकार के प्रयत्न के जिसकी वायु स्थिर हो जाय एवं विना किसी अवलम्बन के जिसका चित्त स्थिर हो जाय; वही योगी है। वही गुरु होने के योग्य है और वही सेव्य है—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यं वायुः स्थिरो यस्य विना प्रयत्नम्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बनं स एव योगी स गुरुः स सेव्यः।।[१]

सुखासन पर समासीन होकर परतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये। साधक को अभ्यास द्वारा परतत्त्व को प्रकाशित करना चाहिये। ये भूतात्मक जगत्, ये पञ्चभूत, यह पञ्चभूतात्मक शरीर आदि सभी वितथ हैं; अतः 'ये हैं ही नहीं'— ऐसी भावना करनी चाहिए।

सब प्रकार की चिन्ताओं से रहित होकर मन से किसी का भी चिन्तन नहीं करना चाहिये। जो योगी ऐसा करता है, ऐसे योगी के बाहर एवं भीतर तत्त्व ( उसके सम्मुख ) उपस्थित हो जाता है अर्थात् उसे बाहर एवं भीतर सर्वत्र तत्त्व स्फुरित रूप में दृष्टिगोचर या अनुभूत होता है। तत्त्व के सम्मुख होने पर अमनस्क योग हो जाता है। अमनस्क योग की प्राप्ति होने पर चित्त आदि का सम्यक् लय हो जाता है—

( क ) न किञ्चिन्मनसा ध्यायेत्सर्वचिन्ताविवर्जितः।
स बाह्याभ्यन्तरे योगी जायते तत्त्वसम्मुखः।।

( ख ) तत्त्वस्य सम्मुखे जाते अमनस्कः प्रजायते।
अमनस्केऽपि सञ्जाते चित्तादिविलयो भवेत्।।[२]

हठयोगप्रदीपिका में भी कहा गया है—

बाह्यचिन्ता न कर्तव्या तथैवान्तरचिन्तनम्।
सर्वचिन्तां परित्यज्य न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।[३]

चित्त आदि का विलय हो जाने पर पवन ( वायु ) का लय हो जाता है। मन और पवन का विलय हो जाने पर इन्द्रियार्थों ( पञ्च महाविषयों ) का त्याग हो जाता है। इन्द्रियार्थों ( शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ) का त्याग हो जाने पर योगी को बाह्य ज्ञान नहीं रह जाता। बाह्य ज्ञान के विनष्ट होने पर वैषम्य के अभाव के कारण सर्वसाम्य हो जाता है। सर्व-साम्य होने पर साधक व्यापारशून्य हो जाता है और परब्रह्म में समाविष्ट योगी लयीभूत हो जाता है।[४]

**अन्तर्मुद्रा और उन्मनी**— योगिराज गोरक्षनाथ ने अमनस्क योग को अन्तर्मुद्रात्मक कहा है और इसे ही यथार्थ योग कहा है—

**मुद्राद्वय**— गोरक्षनाथ के अनुसार मुद्रायें दो प्रकार की हैं—

---

१. अमनस्कयोग।
२. अमनस्क योग।
३. स्वात्माराम मुनीन्द्र।
४. अमनस्क योग।

बहिर्मुद्रा ( बहिर्योग ) एवं अन्तर्मुद्रा ( अन्तर्योग )।

पूर्वयोग या तारक योग बाह्य मुद्रा से मुक्त होने के कारण बहिर्योग है और अमनस्क योग ( उन्मनी योग ) अन्तर्मुद्रात्मक होने के कारक यथार्थ योग है।[१]

**अमनस्क और राजयोग**— गुरु गोरक्षनाथ कहते हैं कि अमनस्क योग ( उन्मनी मुद्रा से प्राप्य योग की उन्मनावस्था ) ही राजयोग है—

राजयोगः स कथितः स एव मुनिपुङ्गव।
राजत्वात् सर्वयोगानां राजयोग इति स्मृतः।।[२]

अन्तर्योग और बहिर्योग में से अन्तर्योग अमनस्क योग है। अन्तर्योगात्मक अमनस्क योग में चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक्, सोम १० इन्द्रियों और प्राणों का ज्योतिर्मण्डल में हवन करते हैं।

( क ) होता = चित्त, बुद्धि, अहंकार, ऋत्विक्, सोम।
( ख ) हव्य = ( हवन-सामग्री ) = २० इन्द्रियाँ।
( ग ) होमकुण्ड = ज्योतिर्मण्डल।[३]

इस अमनस्क ( उन्मनी भाव ) की साधना हेतु पवित्र, निर्जन एवं मनोहर प्रदेश, समान आसन, कुछ तन कर बैठने की स्थिति, सुखासन, समस्त अंगों की यथास्थान स्थापना, सुस्थिर चित्तता, निश्चलता, एक हाथ आगे तक दृष्टि-स्थापन, पैर के नख से शिखापर्यन्त समस्त अंगों का शैथिल्य, आन्तर-बाह्य समस्त चिन्ताओं का त्याग, औदासीन्य, आनन्द-पूर्वक सन्तुष्टि के साथ अभ्यास, वाणी, मन एवं शरीर के क्षोभ का परित्याग तथा शिला की भाँति शरीर की सुस्थिरता ( निश्चलता ) होनी चाहिये।[४]

जब जहाँ पर जिस प्रकार मन स्थिर हो तब वहाँ उसी प्रकार उसको रहने देना चाहिये। उसे वहाँ से कभी नहीं हटाना चाहिये।[५]

ऐसा साधक न सोता है और न जागता है। वे स्वप्न-जागरण-विहीन होते हैं; क्योंकि स्वप्न चिदंशरहित होता है और जागरण में विषयग्रह का प्राधान्य होता है—

स्वप्ने चिदंशशून्यत्वं जागरे विषयग्रहः।
स्वप्नजागरणातीतमतस्तत्त्वं विदुर्बुधाः।।

दृष्टि जहाँ-कहीं संलग्न होती है, वहीं पर स्थिर होकर धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है। चारो ओर फैलाई हुई दृष्टि जब धीरे-धीरे प्रत्याहृत होकर पुनरावर्तित होती है, तब साधक परतत्त्व को स्वयं अपने में देखता है। जैसे सोकर उठा हुआ कोई पुरुष रसादि विषयों

---

१. अमनस्क योग ( उत्तरार्ध )।
२. अमनस्क योग।
३. अमनस्क योग।
४. अमनस्क योग ( ५०-५७ )।
५. अमनस्क योग।

का अनुभव करता है, वैसे ही योगनिद्रा के समय योगी जागता ही रहता है, इसीलिए वह 'योगी' कहलाता है—

यथा सुप्तोत्थितः कश्चिद् विषयान् प्रतिपद्यते।
जागर्त्येव ततो योगी योगनिद्राक्षणे तथा।।[१]

जाग्रत-स्वप्न के मध्य की स्थिति ही उन्मनी है—

निद्राजाग्रन्मध्यभागे संविद्भेदान्तरे तथा।
मध्ये संविद्वेद्योश्च सूक्ष्मबुद्ध्याऽभिलक्षय।।

एतत्पदं निजं रूपं यत् प्राप्य न विमुह्यति।
एतदज्ञानमात्रेण प्रवृत्तं जगदीदृशम्।।

मन जहाँ स्थिर होता है, वहीं नष्ट हो जाता है—

स्थिरीभूता च यत्रैव विनश्यति शनैः शनैः।

मन के स्थिर होने पर न तो कोई विधि है और न ही कोई क्रम है—

सदाभ्यासे स्थिरीभूते न विधिर्नैव च क्रमः।

स्थिरीकरण के लिए चिन्तन का त्याग अपरिहार्यतः आवश्यक है; क्योंकि तभी तत्त्व प्रकाशित हो पाता है; अन्यथा नहीं—

न किञ्चिच्चिन्तयेद् योगी औदासीन्यपरो भवेत्।
न किञ्चिच्चिन्तनादेव स्वयं तत्त्वं प्रकाशते।।

इस साधना में थोड़ा-सा भी प्रयत्न नहीं किया जाना चाहिये, संकल्प-कामना नहीं होनी चाहिये एवं अहं-त्वं का बोध भी नहीं होना चाहिये; क्योंकि—

यावत्प्रयत्नलेशोऽस्ति यावत्सङ्कल्पकामना।
अहं त्वमिति सम्प्राप्तिस्तावत्तत्त्वस्य का कथा।।

न रोका गया मन अपनी इच्छा पूरी करके अपने-आप शान्त हो जाता है तथा प्रयत्न-पूर्वक निवारित करने पर भी कभी निवृत्त नहीं होता। मन जब तक तत्त्व प्राप्त नहीं करता, तब तक इधर-उधर भागता रहता है—

दुर्निवार्यं मनस्तद्वद्यावत्तत्त्वं न बिन्दति।

मनोवृत्ति आत्मा में सदा सुस्थिर रहती है—

सदाभ्यासान्मनोवृत्तिस्तदात्मनि।

जो कुछ भी चराचर जगत् है, वह सब मन से दृश्य है। मन का उन्मनीभाव होने पर अद्वैत हो जाता है—

---

१. अमनस्क योग।

मनोदृश्यमिदं सर्वं यत् किञ्चित्सचराचरम्।
मनसोऽप्युन्मनीभावेऽद्वैतभाव: प्रकल्पते।।[१]

योगी को न तो दिन में जागना चाहिये और न ही रात्रि में सोना चाहिये; प्रत्युत उसे तो नित्य रात्रि एवं दिन में सहज तत्त्व में सोना चाहिये—

न दिवा जागरितव्यं स्वपितव्यं नैव रात्रिभागेऽपि।
रात्रावह्नि च सहजे स्वपितव्यं योगिना नित्यम्।।

अमनस्कस्वरूप सहजतत्त्व में स्थित पुरुष के विषय में दिन और रात्रि शब्द हैं ही नहीं; क्योंकि वे जागरण-शयन-वर्जित तथा चिन्मात्रानन्दावस्थित रहते हैं।

ओंकारादि विभिन्न करणों से प्राण का संयोजन, हृदयकमल में ज्योतिश्चिन्तन एवं महाशून्यालम्बन ( चित्त का निरालम्बन )— इन सबका मनविभ्रम-निराकरणार्थ अवाच्य अमनस्क का सेवन करना चाहिये—

अवाच्यमेकममनस्कत्वं बुधै: सेव्यताम्।[२]

उन्मनी तो भगवती की पवित्र आख्या भी है—

सर्वयन्त्रात्मिका सर्वतन्त्ररूपा मनोन्मनी।[३]

भ्रूमध्य से अष्टम स्थान ब्रह्मरन्ध्र है और उसके नीचे मनोन्मनी उन्मनी है—

भ्रूमध्यादष्टमं स्थानं ब्रह्मरन्ध्रादधस्तनं मनोन्मनीम्।

**उन्मनी का जन्म**— सुषुम्नावाहिनि प्राणे सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।[४] स्वच्छन्दतन्त्र में उसका स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

या शक्ति: कारणत्वेन तदूर्ध्वं चोन्मनी स्मृता।
नात्र कालकलामानं न तत्त्वं न च देवता।।

सुनिर्वाणं पदं शुद्धं रुद्रवर्णं तदुच्यते।
शिवशक्तिरिति ख्याता निर्विकल्पा निरञ्जना।।

त्रिपुरोपनिषद् में कहा गया है कि उन्मनीभाव परमपद है—

निरस्तविषयासङ्गं सन्निरुद्धं मनो हृदि।
यदा यात्युन्मनीभावं तदा तत्परमं पदम्।।

**उन्मनी मुद्रा**— योगशास्त्र में उन्मनी एक मुद्रा भी है। उसका स्वरूप इस प्रकार है—

नेत्रत्रयोन्मेषनिमेषमुक्ते वायुर्यया वर्णितरेचपूर:।
मनश्च सङ्कल्पविकल्पशून्यं मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम्।।

बृहन्नारदीय पुराण में कहा गया है—

---

१. अमनस्क योग।
२. अमनस्क योग।
३. ललितासहस्रनाम।
४. सौभाग्यभास्कर।

ध्यानध्यातृध्येयभावो यदा पश्यति निर्भरम्।
तदोन्मनत्वं भवति ज्ञानामृतनिषेवणात्।।

उन्मनी अद्वैतभाव की स्थिति है; क्योंकि—

मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते।।[1]

उन्मनी नमस्कार्य है; इसीलिए हठयोगप्रदीपिकाकार कहते हैं—

मनोन्मन्यै नमस्तुभ्यं महाशक्त्यै चिदात्मने।।

स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि तत्त्व ( चित्त ) ही बीज है ( क्योंकि चित्त ही उन्मनी-रूप अंकुर है )। प्राणापान की एकता रूप हठयोग उसका क्षेत्र है। औदासीन्य जल है। उसी से उन्मनी कल्पलतिका का जन्म होता है—

तत्त्वं बीजं हठ: क्षेत्रमौदासीन्यं जलं त्रिभि:।
उन्मनीकल्पलतिका सद्य एव प्रवर्तते।।[2]

मन-उन्मन लययोग सन्तों में पर्याप्त रूप में मिलता है। मन को उन्मनरूपी परमात्मा में लीन करने से मन निर्मल हो जाता है, सन्त कवि दादूदयाल कहते हैं कि जैसे मैले मन को शुद्ध मन से धोकर स्वच्छ किया जाता है, उसी प्रकार इस मन को उन्मनी में लीन करके पूर्ण निर्मल करना चाहिये। उन्मनी ध्यान एवं उन्मनी मुद्रा— दोनों ही उन्मन योग के लिए आवश्यक हैं। दादूदयाल कहते हैं कि वैरागी योगी सदैव उन्मनी ध्यान में ही लीन रहता है— 'जुगिया बैरागी बाबा रहै अकेला उन्मनी लागा।' मन को अन्तर्मुखी करने पर ही उन्मनी ध्यान लगता है। कबीर कहते हैं कि लोग परमात्मा को बाहर ढूँढ़ने में सारा जीवन नष्ट कर देते हैं; किन्तु उन्मनी ध्यान से उसकी प्राप्ति शरीर के भीतर ही हो सकती है। उन्मन ध्यान ही क्रमश: धीरे-धीरे उन्मन समाधि में परिणत हो जाता है। कबीर कहते हैं कि उन्मनी ध्यान में संलग्न रहने से मन थक गया है। सहज समाधि लग गई है। किसी बात का वर्णन नहीं किया जा सकता। उन्मन ध्यान घर के भीतर ही है— 'बाहर खोजत जनम गँवाया। उन्मन ध्यान घट भीतर पाया।'

उन्मनी ध्यान का साफल्य केवल उन्मनि मुद्रा पर ही आश्रित है। मन का अन्तर्मुखी-करण ही उन्मनी मुद्रा है। कबीर कहते हैं कि साधक को चाहिये कि मन को अन्तर्मुखी करके उन्मनी मुद्रा लगाये। उन्मनी मुद्रा में उन्मन ध्यान करने से मन शून्य में प्रविष्ट हो जाता है। यही 'मन उन्मन लय योग' है। यही 'मन शून्य लय योग' है।

मन-उन्मन योग में मन का परिष्करण आवश्यक है। उन्मनी मुद्रा में मन को अन्तर्मुखी करना होता है। ज्ञान एवं सदाचार के विना मन अन्तर्मुखी हो ही नहीं सकता। मन ज्ञान एवं सदाचार से शुद्ध होने पर उन्मनी ध्यान में लीन हो जाता है। कबीर कहते है कि

---

१. हठयोगप्रदीपिका। २. हठयोगप्रदीपिका।

साधक उन्मनी समाधि में लीन होकर गगन में रसास्वादन किया करते हैं। मन को ब्रह्म-रन्ध्र में केन्द्रित करना मनशून्य योग है। सन्तों की दृष्टि में शून्य में ध्यान का केन्द्रीयकरण ही उन्मनी मुद्रा है।

सन्तों ने भी अगोचरी, भूचरी, चाचरी, खेचरी, शाम्भवी एवं उन्मनी मुद्राओं का उल्लेख किया है। सन्तों के मत में ( यथा— सन्त यारी के मत में )—

१. त्रिकुटी में दामिनी जैसी ज्योति पर मन का केन्द्रीयकरण 'चाचरी' मुद्रा है।
२. मस्तक में ज्योति का दर्शन करना 'भूचरी' मुद्रा है।
३. गगनगुफा या ब्रह्मरन्ध्र में ज्योति-ध्यान 'खेचरी' मुद्रा है।
४. शून्य में ध्यान का केन्द्रीयकरण 'उन्मनी' मुद्रा है।

तान्त्रिकों में कुण्डलिनी साधना के अतिरिक्त मुद्रा-साधना भी प्रचलित रही है।[१] कुण्डलिनी को जागृत करने के लिए योगी को सबसे पहले दस मुद्राओं की साधना करनी पड़ती है।

कबीर कहते हैं— 'उन्मुनि रहै ब्रह्म को चीन्है परम तत्त्व को ध्यावै।' 'उन्मनि रहनी' का समस्त विवरण इस प्रकार है—

सन्तो सहज समाधि भली।
आँख न मूँदूँ, कान न रुँधूँ काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मै हँस हँस देखूँ सुन्दर रूप निहारूँ।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन जो कुछ करूँ सो पूजा।
गिरह उद्यान एक सम देखूँ भाव मिटाऊँ दूजा।
जहँ जहँ जाउँ सोई परिकरमा जो कुछ करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ सो तब करूँ दण्डवत पूजूँ और न देवा।।[२]

**उन्मनी मुद्रा, आज्ञा चक्र एवं ध्यान**— शिवसंहिता में ११ मुद्राओं का वर्णन किया गया है। इसमें योनिमुद्रा, महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, जालन्धर, मूलबन्ध, विपरीत-करिणी, उड्डीयानबन्ध, वज्रोली एवं शक्तिचालन का एवं घेरण्डसंहिता में वज्राणी, माण्डवी, ताडागी, शाम्भवी, योनि आदि का वर्णन तो है; किन्तु इन दोनों में उन्मनी मुद्रा का उल्लेख कहीं नहीं किया गया है। हठयोगप्रदीपिका में उन्मनी का उल्लेख निम्न रूपों में किया गया है[३]—

---

१. प्रिंसपल्स आफ तन्त्राज।
२. कहे कबीर यह उन्मुनि रहनी सो परगट कर गाई।
३. हठयोगप्रदीपिका में महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली, शक्तिचालन इन १० मुद्राओं का उल्लेख तो है, किन्तु इसमें उन्मनी मुद्रा का उल्लेख नहीं किया गया है।

( क ) अवस्था के रूप में मनोन्मनी—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी।। ( ३.५४ )

( ख ) राजयोग, समाधि, अमनस्क, सहजा, लय एवं अद्वैत के अर्थ में—

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी।
अमरत्वं लयस्तत्त्वं शून्या शून्यं परं पदम्।।

अमनस्कं तथाऽद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम्।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः।। ( ४.३-४ )

( ग ) सुषुम्णा में प्राणसञ्चार की अवस्था के रूप में—

सुषुम्नावाहिनी प्राणो सिद्ध्यत्येव मनोन्मनी।। ( ४.२० )

( घ ) उन्मनी मुद्रा के रूप में ( किन्तु १० मुद्राओं में इसका कहीं भी उल्लेख नहीं किया गया है )—

१. तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्।।

२. केचिदागमजालेन केचिन्निगमसङ्कुलैः।
केचित्तर्केण मुह्यन्ति नैव जानन्ति तारकम्।।

( तारकं = उक्तोन्मन्येव तरणोपायः )

नेत्रों की कनीनिकारूप तारा को ज्योति में ( तारों को नासिका के अग्र भाग में ) लगाने से उत्पन्न प्रकाशमान तेज में लगाकर भृकुटियों को थोड़ा ऊपर करने से अन्तर्लक्ष्म बहिर्दृष्टि-रूप योग में मन का संयोग उन्मनीकारक अवस्था उत्पन्न करता है। उन्मनीकारक = उन्मन्य-वस्थाकारक।

उन्मनी के विना कोई संसार-सागर से तारने वाला नहीं है— 'उन्मन्येव तरणोपायः' ( ज्योत्स्ना )।

( ङ ) खेचरी की परिपक्वावस्था के रूप में—

पुरस्ताच्चैव पूर्येत निश्चिता खेचरी भवेत्।
अभ्यस्ता खेचरी मुद्राप्युन्मनी सम्प्रजायते।। ( ४.४७ )

भ्रुवोर्मध्ये शिवस्थानं मनस्तत्र विलीयते।
ज्ञातव्यं तत्पदं तुर्यं तत्र कालो न विद्यते।। ( ४.४८ )

( च ) अद्वैतावस्था के रूप में—

मनसो ह्युन्मनीभावाद् द्वैतं नैवोपलभ्यते।। ( ४.६१ )

( छ ) उन्मनी अवस्था प्राप्त करने हेतु भ्रूध्यान आवश्यक है—

उन्मन्यवाप्तये शीघ्रं भ्रूध्यानं मम सम्मतम्।। ( ४.८० )

( ज ) चित्त ( तत्त्व ) बीज है। ह + ठ = खेत है। औदासीन्य = जल है। उन्मनी कल्पलतिका है। उन्मनी = असम्प्रज्ञात समाधि।

( क ) शाम्भवी मुद्रा का उपयोग— दक्षिण कान से नादश्रवण ( ४.६७ )।

( ख ) पराङ्मुखी मुद्रा का उपयोग— स्फुट, अमल नाद को सुषुम्णा में सुनना ( ४.६८ )।

## उन्मनी अवस्था एवं उसमें स्थित योगी के लक्षण

हठयोगप्रदीपिका में उन्मनी अवस्था में स्थित योगी के निम्न लक्षण दिये गये हैं—

१. शंख, दुन्दुभी आदि की गम्भीर ध्वनियों को भी उन्मन योगी सुन नहीं पाता तथा उसका शरीर काष्ठ के साथ संवेदनहीन एवं स्थिर या निश्चल हो जाता है—

काष्ठवज्जायते देह उन्मन्यावस्थया ध्रुवम्।। ( ४.१०६ )

२. वह समस्त अवस्थाओं से विनिर्मुक्त, सर्वचिन्तातीत तथा मृतक के समान संवेदनहीन एवं निश्चल हो जाता है।[1]

३. वह काल, कर्म एवं अन्य यन्त्र-मन्त्र के प्रयोगों से अप्रभावित हो जाता है।

४. ऐसा योगी समाधिस्थ होने पर गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द को, अपने को, दूसरे को नहीं जानता।

५. वह जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, स्मृति, उदय एवं अस्त से परे है।[2]

६. वह शीत, ऊष्ण, सुख, दुःख, मान, अपमान किसी की भी संवेदना नहीं रखता।

७. वह जागृतावस्था में भी सुषुप्तवत् रहता है। वह उच्छ्वास-निश्वास से रहित एवं मुक्त होता है।

८. वह समस्त शस्त्रों से अवध्य होता है। वह समस्त प्राणियों द्वारा अशक्य ( अग्राह्य ) होता है। सभी मन्त्रों एवं यन्त्रों की पकड़ से पर होता है।[3]

## क्रममुद्रा

क्रमसूत्रों में लिखा गया है कि अन्तःस्वरूप क्रममुद्रा के द्वारा बहिर्मुख होने पर भी साधक समाधिस्थ ही रहता है। वहाँ पहले बाह्य से अन्तः में प्रवेश होता है तथा आभ्यन्तर से बाह्य स्वरूप में भी प्रवेश समाधिबल से सम्पन्न होता है। इस प्रकार यह मुद्राक्रम बाह्य एवं आभ्यन्तर से संयुक्त होता है—

'क्रममुद्रया अन्तःस्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः। तत्रादौ बाह्यात् अन्तःप्रवेशः आभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः आवेशवशात् जायते इति सबाह्याभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः।'[4]

---

१-३. हठयोगप्रदीपिका। ४. प्रत्यभिज्ञाहृदयम् में उद्धृत।

इसका अर्थ यह है कि सृष्टि, स्थिति और संहार संवित् समूहरूप क्रम को जो मुद्रित करती है— आत्मसात् करती है, वह तुरीय चिति शक्ति ही 'क्रममुद्रा' है। इस पूर्णाहन्तास्वरूप क्रममुद्रा के द्वारा विषयों में व्यापृत रहने पर भी जिसने परशक्ति के विकास का साक्षात्कार कर लिया है, वह परम योगी हो जाता है और वहाँ बाह्य अर्थात् निगले जाते हुए विषयसमूह से अन्तः पराचिति भूमि में ग्रसनक्रम से समावेश होता है और आभ्यन्तर अर्थात् साक्षात्कृत चितिशक्तिस्वरूप से समावेश के सामर्थ्य से ही इदन्तात्मक विषयसमूह में वमन की युक्ति से प्रवेश— चिद्रस की निविड़ता का प्रसारस्वरूप समावेश हुआ करता है।[1]

इस प्रकार यह नित्योदित— बाह्यान्तर समावेश 'मुद'— हर्ष के वितरण करने से परमानन्दस्वरूप होने के कारण, पाशों को नष्ट करने एवं विश्व को अन्तः— तुरीय सत्ता में मुद्रित करने के कारण मुद्रात्मा और सृष्ट्यादि क्रम का आभासक होने के कारण तथा क्रमाभासस्वरूप होने के कारण 'क्रम' कहा जाता है।[2]

जब साधक का परमेश्वर के साथ ऐकात्म्य होता है तब शरीर में एक प्रकार का तनाव या भावप्रदर्शनार्थ एक विशेष प्रकार का आकृतिजन्य आंगिक परिवर्तन हो जाता है और उसे ही 'मुद्रा' कहते हैं। इसमें उँगलियों की विशेष आकृतियाँ निर्मित हो जाती हैं। कभी-कभी हाथ उठ जाता है। कभी कभी मुख-चेष्टा में परिवर्तन हो जाता है। ये ही आकृतिपरिवर्तन की रचनायें 'मुद्रा' कहलाती हैं। पराशक्ति की मदिरा से मत्त शरीर में जो उत्थानादि चेष्टायें उत्पन्न हो जाती हैं, वे भी मुद्रायें कहीं जाती हैं—

कुले योगिनि उद्रिक्तभैरवीयपरासवात्।
घूर्णितस्य स्थितिर्देहे मुद्रा या काचिदेव सा।।[3]

**आवाहनी मुद्रा**— दोनों हाथों के अँगुलियों की अञ्जलि बनाकर अनामिकाओं के मूल में अँगूठा लगावे।

**स्थापिनी मुद्रा**— आवाहिनी मुद्रा को अधोमुख करे।

**सन्निधापिनी मुद्रा**— दोनों हाथों की मुट्ठी बाँधकर दोनों अँगूठों को ऊपर उठा दे।

**सन्निबोधिनी मुद्रा**— दोनों अंगूठों की मुष्टी के भीतर कर मुष्टी को अधोमुख करे।

**सकलीकरण मुद्रा**— देवता के अंगों में षडंगन्यास करे।

**परमीकरण मुद्रा**— दोनों हाथों को एक साथ मिलाकर अधोमुख करे।[4]

इसके अनन्तर 'वं' मन्त्र से धेनुमुद्रा द्वारा अमृतीकरण एवं निम्न मन्त्र से प्राणप्रतिष्ठा करें—

---

१. शक्तिसूत्र।
२. प्रत्यभिज्ञाहृदयम्।
३. तन्त्रालोक।
४. शाक्तानन्दतरङ्गिणी।

**आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हंसः अमुकि देव्याः प्राणा इह प्राणाः आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हंसः अमुकि देव्याः जीव इह स्थितः। आं ह्रीं क्रों यं रं लं वं शं षं सं हौं हसः अमुकि देव्याः सर्वेन्द्रियाणि वाङ्मनश्चक्षुःश्रोत्र-घ्राणप्राणा इहागत्य सुखं चिरं तिष्ठन्तु स्वाहा।**

देवी के वाम या दक्षिण भाग में प्राणादि ग्रासमुद्राओं का प्रदर्शन किया जाना चाहिए—

**प्राण मुद्रा**— दाहिने हाथ की उँगलियों को कुछ वक्राकार करके उनके अग्रभाग को एक-दूसरे से संलग्न करे।

**अपान मुद्रा**— तर्जनी एवं मध्यमा तथा अंगुष्ठ को संयुक्त करे।

**व्यान मुद्रा**— मध्यमा, अनामिका एवं अंगुष्ठ को संलग्न करे।

**उदान मुद्रा**— कनिष्ठा को छोड़कर शेष चार उँगलियों को संलग्न करे।

**समान मुद्रा**— अंगुष्ठादि को छोड़कर शेष चार उँगलियों को संलग्न करे।[1]

## शाम्भवी मुद्रा और उसका विशेष महत्त्व

घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका, अमनस्क योग आदि योग के तान्त्रिक एवं नाथपन्थी अनेक ग्रन्थों में शाम्भवी मुद्रा को कुलवधू की भाँति सम्माननीय एवं उसकी तुलना में वेदों एवं शास्त्रों को घृणित वेश्याओं की भाँति लज्जास्पद कहा गया है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
एकैव शाम्भवी विद्या गुप्ता कूलवधूरिव।।

इसे समस्त शास्त्रों में गुप्त कहा जाता है—

एषा हि शाम्भवी मुद्रा सर्वशास्त्रेषु गोपिता।।

शाम्भवी मुद्रा केवल मुद्रामात्र नहीं है; प्रत्युत यह शक्ति है। शाम्भवी मुद्रा आदि शक्ति 'उमा' है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

आदिशक्तिरुमा चैषा मत्तो जन्मवती पुरा।

यह भगवतीस्वरूपा तो है ही; साथ ही साक्षात् भगवान् शिव से उत्पन्न भी हुई है—

मत्तो जन्मवती पुरा।

यह वह रहस्यमयी एवं गोपनीय से भी गोपनीय विद्या है, जिसे किसी सामान्य व्यक्ति को दिया भी नहीं जा सकता। इसे केवल अधिकारी व्यक्ति ही प्राप्त करने का अधिकारी है; अन्य नहीं—

गुह्यात् गुह्यतरा विद्या न देया यस्य कस्यचित्।

इस शाम्भवी मुद्रा का ज्ञान जिस किसी भी अञ्चल या देश में विद्यमान है, वह देश भी धन्य एवं पुण्यशाली है—

---

१. शाक्तानन्दतरङ्गिणी। २-३. अमनस्कयोग।

एतज्ज्ञानं वसेद् यत्र स देशः पुण्यभाजनम्।

उस प्रदेश के दर्शन एवं स्पर्श से व्यक्ति २१ पुश्तों सहित मुक्ति प्राप्त कर लेता है—

दर्शनात् स्पर्शनात्तस्य त्रिसप्तकुलसंयुताः।
जना मुक्तिपदं यान्ति किं पुनस्तत्परायणाः।।[१]

## शाम्भवी मुद्रा और आज्ञाचक्र का महत्त्व

**आधुनिक विज्ञान की दृष्टि में आज्ञा चक्र के महत्त्व का विश्लेषण—**

१. स्नायु-विज्ञानियों के परीक्षणों से ये तथ्य सामने आये हैं कि आज्ञाचक्र के स्थान में 'आप्टिक चि आज्मा' के समीप की कोशिकाओं से निरन्तर एलेक्ट्रो मैग्नेटिक तरंगें निकलती रहती हैं। इनकी क्षमता एक्सरे एवं लेसर आदि किरणों से भी अधिक मानी जाती है। वे संकल्प से परिचालित एवं नियन्त्रित होती हैं। वे कठोर से कठोर अवरोधों को पार करके सुनिर्दिष्ट स्थानों में जा सकती हैं। आज्ञाचक्र की सूक्ष्म विद्युत् तरंगों द्वारा परोक्ष जगत् का साक्षात्कार भी हुआ करता है।

२. इस चक्र में स्थित विद्युत् तरंगें केवल परोक्ष जगत् का साक्षात्कार ही नहीं करातीं; प्रत्युत इनकी सहायता से किसी भी व्यक्ति की मनःस्थिति— भावना, कल्पना, इच्छा, आकांक्षा आदि के विषय में यथार्थ अनुमान भी लगाया जा सकता है।

३. अपनी ही नहीं; प्रत्युत इस तृतीय नेत्र की सहायता से दूसरों की अभिरुचि को भी परिवर्तित किया जा सकता है।

४. इस आज्ञाचक्रस्थ तृतीय नेत्र के द्वारा अदृश्य सहायकों ( Invisible helpers ) भूत, प्रेत एवं पितरों से भी सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है।

५. मनोविज्ञान के प्रयोगों ने सिद्ध किया है कि यह वह केन्द्र है, जिसके द्वारा दिव्य दर्शन, दिव्य श्रवण, दूरदर्शन, भूत-भविष्य का ज्ञान, पूर्वाभास, दूरानुभूति, विचार-सम्प्रेषण जैसे कार्य सिद्ध किये जा सकते हैं।

६. इस केन्द्र से निःसृत सूक्ष्म भाव-तरंगों द्वारा सम्मोहन जैसे कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं।

७. ध्यानयोगी यह मानते हैं कि इसी स्थान पर ध्यान केन्द्रित करने से आत्म-साक्षात्कार, ईश्वरानुभूति एवं आदान-प्रदान आदि कार्य भी सम्पन्न किये जा सकते हैं। इसके माध्यम से सामान्य व्यक्ति भी ( इस केन्द्र को जागृत करके ) परमसत्ता के साथ एकाकार हो सकता है।

८. नये विकासवादी वैज्ञानिक कहते हैं कि प्राचीन काल में मस्तिष्क के मध्य

१. अमनस्कयोग।

दोनों भौंहों के मध्य एक तृतीय नेत्र था; किन्तु बाद में वह ग्रन्थि के रूप में रूपान्तरित हो गया। पीनियल ग्रन्थि तृतीय नेत्र का ही परिवर्तित स्वरूप है। यह ग्रन्थि अपने अन्दर अनन्त रहस्यों को छिपाये हुये है। एक या दो मिलीग्राम की यह विलक्षण रचना शरीर के विकास एवं उसकी हलचलों में बहुत बड़ी भूमिका निभाती है।

९. ध्यानयोग की क्रिया में विभिन्न ध्यानकेन्द्रों को जागृत करने के लिए भी इस केन्द्र पर ध्यान एकाग्र किया जाता है।

१०. यदि केन्द्र असन्तुलित हो जाय तो असमय शारीरिक प्रौढ़ता का आना, जननांगों का शीघ्रता से बढ़ना, ग्रन्थि के हारमोनों के विकास में अवरोध आना, शरीर-मस्तिष्क का विकास बन्द हो जाना आदि अनेक समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं।

११. वैज्ञानिक शोध ने यह भी सिद्ध किया है कि जीव-जन्तु इस तृतीय नेत्र का उपयोग ( अपने दैनिक कार्यों में ) उसी प्रकार करते हैं, जैसे सामान्य मनुष्य अपनी दो आँखों का उपयोग करते हैं। वे समय, दिशा, मौसम एवं प्रकृति की अन्य घटनाओं का भी अनुमान इसी केन्द्र से करते हैं।

१२. ठण्ढे रक्त वाले प्राणियों में इस केन्द्र की कोशिकायें थर्मोस्टेट का काम करती हैं और शरीर का तापक्रम सन्तुलित रखने हेतु ( जैसे कि गर्मी में ठण्ढे एवं ठण्ढ़क में गर्म स्थानों में जाकर तापक्रम नियन्त्रण में रखने हेतु ) भी इसी केन्द्र से निर्देश प्राप्त होते हैं।

१३. पश्चिमी जर्मनी के वैज्ञानिक शोध सिद्ध करते हैं कि यह केन्द्र ( तृतीय चक्षु ) कुतुबनुमा का भी कार्य निष्पादित करता है। पशु-पक्षी इसी कुतुबनुमा द्वारा दिशा का अनुमान लगाते हैं। पृथ्वी-चुम्बकत्व एवं जैव चुम्बकत्व— दोनों के तरंगों की गति समान है। इसी के द्वारा साइबेरिया के आव्रजक पक्षी आस्ट्रेलिया आकर पुनः साइबेरिया लौट जाते हैं। मानव में यह अंग निरर्थक हो गया है; किन्तु योग से इसे जागृत करके इसकी विलक्षण क्षमताओं को प्राप्त किया जा सकता है।

कवि गेटे को इस केन्द्र की शक्ति जाग्रत हो गई तो उन्होंने देखा कि मेरे स्थान वाइम्नर से हजारों मील सुदूर सिसली में एक भयानक भूकम्प आया है। उसने इस बात को अपने मित्रों को बताया। किसी ने विश्वास तो नहीं किया; किन्तु समाचारपत्रों से पता चला कि घटना सही थी।

नैन्सी नामक अंग्रेज महिला ने जिन्ना की पारसी पत्नी द्वारा आत्महत्या कर लेने एवं पूर्वी पाकिस्तान के टूट कर पृथक् होने की जो भविष्यवाणी की थी, उस पर किसी ने विश्वास तो नहीं किया; किन्तु बाद में वह घटना घटी।

१४. आज्ञाचक्रगत शाम्भवी मुद्रा लगाने या भ्रूमध्य में ध्यान लगाने से पूर्वजन्मों

में किये गये कर्मों का भी स्मरण हो जाता है—

ध्यानयोगनिरतस्य जायते पूर्वजन्मकृतकर्मणां स्मृतिः।[१]

१५. आज्ञाचक्रवर्तिनी शाम्भवी मुद्रा या भ्रूमध्य ध्यान से दूरदर्शन एवं दूरश्रवण नामक सिद्धियाँ भी प्राप्त हो जाती है—

क्षेत्रबिन्दुनिलये च दूरतो दर्शनश्रवणयोः समर्थता।[२]

१६. शाम्भवी मुद्रागत इस ध्यान द्वारा प्रतिमा में स्थित देवी-देवता से वार्तालाप भी होता है—

इह सन्निहितस्वचित्तवृतिः प्रतिमायाः प्रतिजल्पनं करोति।

१७. भ्रूद्वय के मध्य में निरालम्बा मुद्रा लगाने पर योगी स्वर्ग एवं नक्षत्रसमूह को देखता है और साथ ही वह विष्णु के पद्माकाश को भी देखता है—

निरालम्बां मुद्रां निजगुरुमुखेनैव विदितामिह
स्थाने कृत्वा स्थिरनिशितधीः साधकवरः।
सदाभ्यासोऽश्वस्यत्यमरनिलयानन्तरखिला-
नुडुश्रेणीं विष्णोरपि पदमुडूनामपि पतिम्।।[३]

१८. यहाँ ध्यान लगाने वाला योगी समस्त देववन्दित ब्रह्मा एवं विष्णु को, प्रेताधिप, वारिप, देवाधिप, देवनिकाय, सूर्य, वह्नि, पवन, तार्क्ष्य, यक्षेश्वर, गन्धर्व, किन्नर, सिद्ध-समूह, यक्ष, राक्षस, अनेक भव्याकृतियाँ, दिव्य दृश्य, कान्तिकलाकलापकलित विद्याधर, मातृका, राक्षस, उत्तुंग तरंग वाली तथा जलमयी कल्लोलिनी ( स्वर्ग गंगा ), स्वर्ण पर्वत, उत्तुंग पीवरपयोधरभार से नम्र ( झुकी हुई ) अप्सराओं का समूह, पर्वत, विभिन्न दिशायें, कुरंगादि शोभित रमणीय अरण्य, जलहस्ती, राजहंस, वकपंक्ति, नवीन मेघ, विद्युत्, महान् सुख एवं परमेश्वर आदि सभी को देखता है— 'स्थानेऽस्मिन् परमेश एष भगवान् व्यक्तो भवत्यव्ययः' और वह योगी वेदान्तवेद्य पुराणपुरुष में लयीभूत हो जाता है—

दीव्यन्तं परमं पुराणपुरुषं वेदान्तवेद्यं कविम्।
विश्वाद्यं प्रविशन्ति सन्ततमहानन्दैककन्दं विभुम्।।[४]

१९. इस परम तेजस्वरूप आज्ञाचक्र को देखने पर परमोत्कृष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

चिन्तयित्वा परां सिद्धिं लभते नात्र संशयः।[५]

२०. इस स्थान का ध्यान करने से पूर्व जन्म के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं—

पूर्वजन्मकृतं कर्म विनश्येदविरोधतः।

---

१. त्रिपुरासारसमुच्चय ( नागभट्ट )।
२. त्रिपुरासारसमुच्चय।
३. त्रिपुरासारसमुच्चय।
४. त्रिपुरासारसमुच्चय।
५. शिवसंहिता।

यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा एवं किन्नर आदि उसके वशीभूत होकर उसके चरणों की सेवा करते हैं।

यक्षराक्षसगन्धर्वा अप्सरोरगकिन्नराः।
सेवन्ते चरणं तस्य सर्वे तस्य वशानुगाः।।

जो इस पद्म का स्मरण करता हुआ प्राणत्याग करता है, वह परमात्मा में विलीन हो जाता है—

त्यजेत् प्राणं स धर्मात्मा परमात्मनि लीयते।

शिवसंहिता में शाम्भवी मुद्रा का सर्वाधिक महत्त्वांकन करते हुए उसे कुलवधू एवं उनकी तुलना में वेदों, शास्त्रों एवं पुराणों को वेश्या कहा गया है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।।[१]

शाण्डिल्योपनिषद् ( १.४८ ) में कहा गया है कि इड़ा नाड़ी से वायु को आकृष्ट करके भ्रूमध्य में धारण करने पर जो अमृत-क्षरण होता है, उसका पान करके साधक रोगनिवृत्त हो जाता है—

आत्मन्यात्मानमिडया धारयित्वा भ्रुवोन्तरे।
विभेद्य त्रिदशाहारं व्याधिस्थोऽपि विमुच्यते।।

## आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास में आज्ञाचक्र की साधना

आसन एवं प्राणायाम के अभ्यास में भी आज्ञाचक्र की साधना का विधान है। गोरक्ष-पद्धति ( १.११ ) में कहा गया है कि सिद्धासन में भ्रूमध्य दृष्टि रखकर साधना करनी चाहिये। सिद्धासन में भ्रूमध्य में दृष्टि रखकर ही जप करने का विधान किया गया है—

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्।
भ्रूमध्ये दृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत्।।

भ्रूमध्य का स्थान सोम ( इड़ा ), सूर्य ( पिंगला ) एवं अग्नि ( कुण्डलिनी ) का संगम है; इसीलिये इसे त्रिकूट पर्वत भी कहा गया है।

वाराहोपनिषद् ( ५.६३ ) के अनुसार जब नासापुटद्वय से समाकृष्ट वायु को सोम-सूर्याग्नि-सम्बन्ध से कुण्डल्यग्नि आज्ञाचक्र में ग्रस लेती है, तब प्राणादि के लय हो जाने पर जो स्फूर्ति प्राप्त होती है, वह अमृतप्रदा होती है—

पुटद्वयं समाकृष्य वायुः स्फुरति सत्वरम्।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धात् जानीयादमृताय वै।।

ध्यानबिन्दूपनिषद् ( ३८.४० ) में कहा गया है कि भ्रूमध्य ब्रह्मोपलब्धि का मूल

---

१. शिवसंहिता ( ३.६० )।

स्थान होने के कारण ब्रह्मायतन एवं अमृतस्थान है। इसीलिये उसमें यहीं पर प्राणालय का विधान किया गया है।

यहाँ कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य पद्मनाल की सहायता से धीरे-धीरे जल पीने के लिए ऊर्ध्वाकर्षण करता है, उसी प्रकार योगी मूलाधार में अपान के साथ ऐक्य-भावापन्न वायु को ऊर्ध्वमुखी बनाकर सुषुम्णा मार्ग से अनाहतपाथोज से होकर भ्रूमध्य में ले जाय एवं वहीं उसे लयीभूत कर दे—

यथैवोत्पलनालेन तोयमाकर्षयेन्नरः।
तथैवोत्कर्षयेद् वायुं योगी योगपथे स्थितः।।

अर्धमात्रात्मकं कृत्वा कोशमूलं तु पङ्कजम्।
कर्षयेन्नालमात्रेण भ्रुवोर्मध्ये लयं नयेत्।।

भ्रूमध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतस्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत्।।

योगकुण्डल्योपनिषद् ( ३.७-८ ) में कहा गया है कि बैन्दवस्थान में केवल कुम्भक के द्वारा प्राणरोध किया जाना चाहिये।

शाण्डिल्योपनिषद् ( १.७.३४ ) में कहा गया है कि तारकयोग के अभ्यास से भ्रूमध्य में तारक ज्योति के दर्शन होने पर चित्तवृत्ति के शान्त हो जाने पर प्राणस्पन्दन निरुद्ध हो जाता है।

घेरण्डसंहिता ( ५.८२ ) में कहा गया है कि कुम्भक प्राणायाम के अभ्यास में मन को भ्रूमध्य में केन्द्रित करने से मन मूर्च्छित होकर वृत्तिशून्य हो जाता है। इसे मनोमूर्च्छा कुम्भक प्राणायाम कहा जाता है और यह योगियों को भी आनन्द प्रदान करता है—

सुखेन कुम्भकं कृत्वा मनश्च भ्रुवोरन्तरे।
सन्त्यज्य विषयान् सर्वान् मनोमूर्च्छा सुखप्रदा।।

आज्ञाचक्र को खेचरगति, अमृतक्षरण, प्राण एवं मन का निरोध, मन का केन्द्र, ॐकार का स्थान, दिव्यदृष्टि एवं सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति का केन्द्र होने के कारण योगशास्त्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान माना जाता है। इसके अनेक साधना-केन्द्र हैं—

१. नाभि एवं उसके नीचे के केन्द्र— ऐन्द्रिय बोध एवं शारीर चेतना के केन्द्र।

२. हृदयस्थ अनाहत चक्र— भावप्रधान साधना के लिये उपयुक्त केन्द्र।

३. अनाहत एवं आज्ञाचक्र— चेतना के ऊर्ध्वारोहण हेतु हृदय एवं उसके ऊर्ध्ववर्ती केन्द्रों का अभ्यास किया जाता है।

४. धारणा, ध्यान, मनोलय, ॐकारोपासना हेतु ज्ञानमार्गियों का यही साधनाकेन्द्र है।

जब कुण्डलिनी शक्ति भ्रूमध्य में प्रवेश कर जाती है तब तालुचक्रस्थित चन्द्रमा

से अमृतक्षरण होता है, जिनका पान खेचरी मुद्रा द्वारा किया जाता है।

भैरवी तन्त्र में कहा गया है कि योगी पद्मासन लगाकर बैठे, नेत्रों को यत्किञ्चित् संकुचित करके भौंहों को भी थोड़ा सिकोड़े, दृष्टि एवं मन को भ्रूमध्य में स्थिर करे, मूलाधारस्थ कुण्डलिनी शक्ति को सुषुम्णा मार्ग से भ्रूमध्य में लाकर वहाँ समासीन देवता ( अर्धनारी-नटेश्वर ) के साथ युक्त कर दे, वाम नासा के मार्ग से शनैः-शनैः वायु को आकर्षित करके भ्रूमध्य में धारण करे और फिर दक्षिणवर्ती नासिका के मार्ग से रेचन क्रिया करे। यही अन्तर्याग है—

वामेनानिलमाकृष्य किञ्चिदाकुञ्चयेद् भ्रुवम्।
रेचयेद् भानुमार्गेण जिह्वां तालुगतां चरेत्।।
शक्तिं शिवपदे योज्य किञ्चिदाकुञ्चितेक्षणम्।
अन्तर्यागमिदं देवि! कथितं गुरुभिः क्रमात्।।

योगशिखोपनिषद् ( ५.५५ ) में कहा गया है कि जितेन्द्रिय योगयुक्त योगी आकाश ( भ्रूमध्य से मूर्धापर्यन्त ) में चित्त को धारण करने से अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है।

दर्शनोपनिषद् ( ७.१०-१२ ) एवं शाण्डिल्योपनिषद् ( १.८.२ ) में कहा गया है कि वायु-धारणात्मक प्रत्याहार-साधना में भ्रूमध्य भी वायु-धारण करने का एक केन्द्र है। प्रत्याहार के इस विधान में— स्वस्तिकासन में निश्चल भाव से समासीन होना, दोनों नासापुटों द्वारा वायु को आकर्षित करना, शरीर को आपादमस्तक वायु से परिपूरित करना, फिर आरोहावरोह क्रम से वायु को धारण करना पड़ता है।

५. आरोहक्रम में दोनों पैर, मूलाधार, नाभिकन्द, हृदय, कण्ठमूल, तालु, भ्रूमध्य, ललाट एवं मूर्धा में वायु धारण की जाती है।

५. अवरोहक्रम में मूर्धा, ललाट, भ्रूमध्य आदि से नीचे आते हुये पादद्वय में आकर वायु-धारण समाप्त की जाती है।

योगतत्त्वोपनिषद् ( ९८.१०२ ) में कहा गया है कि भ्रूमध्य से ऊर्ध्वप्रदेश में आकाश तत्त्व की धारणा की जाती है।

●

# मुद्रातत्त्व एवं साधना

## मुद्रा

स्वरोदय शास्त्र में मुद्राप्रयोग का भी विधान है। इसमें सर्पमुद्रा का उल्लेख करते हुए कहा गया है—

आदौ तु क्रियते मुद्रा पश्चात् युद्धं समाचरेत्।
सर्पमुद्रा कृता येन तस्य सिद्धिर्न संशयः।।

इस प्रकार शिवस्वरोदय में युद्ध के पहले मुद्रा-ग्रहण का विधान किया गया है।

कुलार्णवतन्त्र में कहा गया है कि चूँकि यह साधनात्मिका क्रिया देवताओं को आह्लादित करती है और उनके मन को द्रवित करने की क्षमता रखती है; इसीलिए इसे मुद्रा कहा जाता है और इसे अवश्य प्रदर्शित करना चाहिए—

मुदं कुर्वन्ति देवानां मनांसि द्रावयन्ति च।
तस्मान्मुद्रा इति ख्याता दर्शितव्या कुलेश्वरि।।

ऋजुविमर्शिनी-टीका में शिवानन्द ने मन्त्र एवं मुद्रा को ज्ञान एवं क्रिया से सम्बद्ध माना है। वे कहते हैं— 'मन्त्रमुद्राशब्देन ज्ञानक्रिये लिलक्षयिषिते।'

सुभगोदयवासना ( ३५ ) में भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हुए कहा गया है—

ज्ञानक्रियासतत्त्वेन मन्त्रमुद्राक्रमेण तु।

शिवानन्द कहते हैं कि मन्त्र एवं मुद्रा ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति के रूपान्तर हैं। स्वच्छन्दतन्त्र ( ४.३७५ ) में इसी तत्त्व की सुस्पष्ट रूप में पुष्टि भी की गई है—

मन्त्रो वै ज्ञानशक्तिश्च मुद्रा चैव क्रियात्मिका।

नेत्रतन्त्र में भी आत्मस्वरूपाभिव्यक्ति के साधनत्रय में मुद्रा को भी एक साधन माना गया है। ये साधनत्रय हैं— मन्त्र, ध्यान एवं मुद्रा।

शिवस्वरोदय में अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद तथा मातृमण्डल आदि का भी वर्णन किया गया है; जिनका सम्बन्ध मुद्रा एवं धारणा से है; यथा—

अरुन्धती = जिह्वा का अग्र भाग। ध्रुव = नासिकाग्रभाग ( अगोचरी मुद्रा )। विष्णुपद = भृकुटिद्वय। तारा = चक्षुपुत्रिका ( मातृमण्डल )।

अरुन्धती भवेज्जिह्वा ध्रुवो नासाग्रमेव च।
भ्रुवो विष्णुपदं ज्ञेयं तारकं मातृमण्डलम्।।

शिवस्वरोदय में षण्मुखी मुद्रा का भी विधान किया गया है।

शिवानन्द 'मुद्रा' शब्द की व्याख्या करते हुए इसको इस प्रकार पारिभाषित करते हैं कि ये ग्रहादि के दुष्परिणामों से रक्षा करती हैं और पापसमूह को विगलित करती हैं, द्रावण करती हैं; अत: 'मुद्रा' कहलाती हैं— मुद्रा नाम काश्चन शक्तय:। उक्तं च—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्य: पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ता: शक्तयो मता:।।[1]

मोचन एवं द्रावण नामक व्यापारों से युक्त क्रिया ही मुद्रा है।

**आचार्य शिवानन्द की दृष्टि**— मन्त्रादि की साधना के काल में उँगलियों का विशिष्ट सन्निवेशमात्र ही मुद्रा नहीं है, प्रत्युत इन मुद्राओं के प्रदर्शन से इन मुद्राओं से सम्बद्ध शक्तियों का जो आविर्भाव होता है, वह भी 'मुद्रा' पद के अर्थ में सन्निविष्ट है।

तन्त्रालोक ( ३२.१-२ ) में श्रीदेवीयामल के प्रमाण के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि मुद्राओं में परमात्मा या परा शक्ति का परस्वरूप प्रतिबिम्बित रहता है। चूँकि मुद्रा देह के माध्यम से साधक को आत्मा के स्वस्वरूपरूप 'मुदा' प्रदान करती है; अत: इसे 'मुद्रा' कहा जाता है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।

**मुद्रा के कार्य**— मुद्रा के तीन कार्य होते हैं—

१. नाड़ियों का शोधन।

२. चन्द्रमा एवं सूर्य ( अपान एवं प्राण ) का चालन।

३. रसना का शोषण ( सहस्रार से द्रवित चन्द्रामृत का पान )।

शोधनं नाड़िजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययो:।
रसनाशोषणं कुर्यान्महामुद्राऽभिधीयते।।[2]

'शिवसंहिता' में कहा गया है कि मुद्रा बन्धन का अभ्यासारम्भ करने के पूर्व आधार-पद्म में मन को वायु के साथ लगाना एवं भरना चाहिए—

आदौ पूरकयोगेन स्वाधारे पूरयेन्मन:।

**मुद्रासाधन का फल**— जो मुद्रासाधन करते हैं; उन्हें निम्न फल प्राप्त होता है—

१. वृद्धावस्था नहीं आती।

२. मृत्यु का भय जाता रहता है।

३. अग्नि, जल एवं पर्वत का भी भय नहीं रहता।

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निजलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।।

---

१. नित्याषोडशिकार्णव। २. विवेकमार्तण्ड।

मुद्रा-साधक को निम्न लाभ भी होते हैं—

कासः श्वासः प्लीहकुष्ठं श्लेष्मरोगाश्च विंशतिः।
मुद्राणां साधनाच्चैव विनश्यन्ति न संशयः।।

अर्थात् मुद्रा-साधकों को कास रोग, श्वास रोग, प्लीहा रोग, कुष्ठ रोग एवं श्लेष्मा रोग नहीं होते।

मुद्रायें सभी सिद्धों को अत्यन्त प्रिय रही हैं और ये जरा-मरण की नाशिका हैं—

वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम्।

घेरण्ड ऋषि तो कहते हैं कि पृथ्वीमण्डल में मुद्रा के समान सिद्धिप्रद और कोई नहीं है—

नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले।

किन्तु मुद्रा प्राप्त करने के अधिकारी सभी लोग नहीं हुआ करते। इसके अधिकारी तो केवल निम्न अधिकार प्राप्त व्यक्ति ही होते हैं—

१. ऋजुप्रकृति
२. शान्तचित्त
३. गुरुभक्त
४. कुलीन

ऋजवे शान्तचित्ताय गुरुभक्तिपराय च।
कुलीनाय प्रदातव्यं भोगमुक्तिप्रदायकम्।।

शिवसंहिता में इसे गोपनीय, योगसिद्धिकर और सिद्धों का परम दुर्लभ योग कहा गया है—

अधुना कथयिष्यामि योगसिद्धिकरं परम्।
गोपनीयं सुसिद्धानां योगं परमदुर्लभम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

योगिनीहृदय ( १.५७ ) में कहा गया है कि भगवती संवित् शक्ति ही क्रियाशक्ति के स्वरूप में जगत् का मोदन एवं द्रावण नामक द्विविध व्यापार निष्पादित करती हुई 'मुद्रा' कहलाती हैं—

क्रियाशक्तिस्तु विश्वस्य मोदनाद् द्रावणात्तथा।
मुद्राख्या सा यदा संविदम्बिका त्रिकलामयी।।

द्रावण = द्रावणं नाम तदेकरसीभावः। दीपिकाकार कहते हैं—

यदा विमर्शशक्तिः विश्वरूपेण विहर्तुमिच्छति तदा क्रियाशक्तिर्भूत्वा स्वविकारभूतस्य विश्वस्य परचिदानन्दलक्षणेन मोदनेन तदैकरस्यलक्षणेन द्रावणेन च मुद्राख्यामापन्नेत्यर्थः।

भाव यह है कि विमर्शशक्ति ही क्रियाशक्ति का स्वरूप धारण करके परचिदानन्दात्मक आनन्द के द्वारा तथा ऐकरस्यस्वरूप द्रावण के द्वारा 'मुद्रा' नामक आख्या ग्रहण कर लेती है।

द्रावण क्या है? तदैकरस्यं द्रावणम् ( सेतुबन्ध में उद्धृत )।

आचार्य विद्यानन्द ने अर्थरत्नावली में मुद्रा के दो भेद किए हैं— बाह्य, कररचनास्वरूपा एवं आन्तर, बन्धस्वरूपा।

'खेचरी' भी एक मुद्रा है। शिवानन्द ने उसके तीन भेद उद्घाटित किए हैं—

उँगलियों के सन्निवेश या विरचनाविशेष द्वारा सुनिर्मित, बोधगगनचारिता एवं संस्थान-विशेषानुसरणरूपा।

स्वच्छन्दागम में तो सभी मुद्राओं के तीन स्वरूप स्वीकार किये गए हैं। आचार्य क्षेम-राज भी इसी की पुष्टि में कहते हैं—

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

तन्त्रालोक में मुद्रा को चतुर्विध घोषित किया गया है। जयरथ ने इसकी व्याख्या के प्रसंग में कहा है—

अङ्गुलिन्यासभेदेन करजा बहुमार्गगा।
सर्वावस्थास्वेकरूपा वृत्तिर्मुद्रा च कायिकी।।

मन्त्रतन्मयता मुद्रा विलापाख्या प्रकीर्त्तिता।
ध्येयतन्मयता मुद्रा मानसी परिकीर्तिता।।

मुद्राओं के जो दो भेद हैं; उनमें उंगलियों के सन्निवेशविशेष से निर्मित मुद्राओं का अनेक नामों, अनेक प्रकारों, अनेक स्व-स्वरूपों एवं अनेक शास्त्रों में सविस्तार वर्णन किया गया है। इनमें बन्धस्वरूपा या संस्थान-विशेष का अनुसरण करने वाली ये क्रियायें मुद्रा एवं बन्ध दोनों नामों से हठयोगप्रदीपिका आदि अनेक योगग्रन्थों में सविस्तार वर्णित हैं।

खेचरी आदि मुद्राओं का सविस्तार विवेचन त्रिकदर्शन में भी प्राप्त होता है। मालिनी-विजयोत्तरतन्त्र ( सप्तमोऽधिकार ) में कहा गया है कि मुद्रायें शिव-शक्ति के स्वरूपान्तर हैं—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में ही मुद्राओं के भेद एवं उनके नाम भी कहे गये हैं।

**मुद्रासम्बन्धिनी दार्शनिक दृष्टि**— तान्त्रिक दर्शनों के अनुसार शिव की शक्ति ही शारीर-चेष्टाओं के रूप में प्रकट होती है। अतएव मुद्रा शिव-शक्ति की आख्या है। अभिनव-गुप्तपाद ने तन्त्रालोक में मुद्रा के अनेक प्रकारों का उल्लेख किया है; यथा— मनोजा मुद्रा ( गुरुमुख-श्रव्य ), वाग्भवा मुद्रा, मन्त्रजा मुद्रा। देह के विक्षेप से मुद्रा के अनेक भेद हो जाते हैं।

देवाख्ययामल में मुद्रा को विम्ब ( चैतन्य ) का प्रतिविम्ब माना गया है। जब शरीर में श्रम की स्फुरणा होती है तब शरीर में कुछ विचित्र परिवर्तन होते हैं और ये परिवर्तन

ही मुद्रायें हैं। अतः मुद्रा से विम्ब का उदय हो सकता है—

१. मुद्राबिम्बोदयो नाम्ना। ( तन्त्रालोक आ०-३२ )

२. प्रतिबिम्बोदयो मुद्रा। ( तन्त्रालोक )

३. बिम्बात्समुदयो यस्या इत्युक्ता प्रतिविम्बिता।
विम्बस्य यस्या उदय इत्युक्ता तदुपायता।। ( तन्त्रालोक )

मुद्रा ब्रह्म को जानने का साधन है।

मुद्रा की दूसरी व्याख्या यह है कि मुद्रा वह पद्धति है, जिससे देवता भी द्रवित हो उठते हैं। देवता मुद्राप्रदर्शन से प्रसन्न हो उठते हैं। यह अशेष पाशों से मोचन ( मुक्ति ) कराती है; इसलिए भी यह मुद्रा है—

१. इत्याशयेन मुद्रा मोचयते पाशजालतोऽशेषात्।
कार्याय यान्पुर्यष्टकसंस्कारान्द्रावयेत्तथा।। ( तन्त्रालोक )

२. यह स्वरूपोद्घाटन कराती है, स्वरूपलाभ कराती है; इसलिए भी मुद्रा कहलाती है—

मुदं स्वरूपलाभाख्यं देहद्वारेण चात्मनाम्।
रात्यर्पयति यत्तेन मुद्रा शास्त्रेषु वर्णिता।।

( मु = स्वरूपलाभ। द = शरीर द्वारा। राति = प्रदान करता है। मोदयति इति मुद्रा। द्रावयति इति मुद्रा। )[1] मुद्राओं में मुख्य मुद्रा खेचरी मुद्रा है। त्रिशूलिनी, क्रोधना, भैरवी, महाप्रेता, ज्वालिनी, करिङ्कणी, क्षोभिणी, ध्रुवा, योगमुद्रा एवं लेलिहानिका आदि अनेक मुद्रायें हैं। शरीर की दृष्टि से देखें तो काममुद्रा, करमुद्रा, वाक् मुद्रा एवं चित्तमुद्रा आदि अनेक मुद्रायें हैं। वाणीमुद्रा मन्त्रोच्चारण से सम्बन्ध रखती है। चितमुद्रा का अर्थ अन्तः-करण में प्रवेश है। करमुद्रा अङ्गुलियों की विविधात्मक न्यासपद्धति है। काममुद्रा शरीर को एक स्थिति में स्थापित करने की प्रक्रिया है।

**मुद्रा में मानसिक स्थिति**— योगी मूलाधार से शक्ति को उद्रिक्त करके नाभिदेश में मन को निविष्ट करता है। उसे चाहिए कि वह वहीं पर मन को बार-बार अवरुद्ध करके इड़ा एवं पिंगला की वायु को मध्य मार्ग में समाविष्ट करे। बिन्दु, नाद एवं ब्रह्मरन्ध्र नामक तीनों आकाशों तक प्राण को ले जाकर कुम्भक के द्वारा प्राण को रोककर पुनः शक्ति ( व्यापिनी की पूर्व स्थिति ), व्यापिनी एवं समना— इन तीन आकाशों को अतिक्रान्त करके उन्मना-वस्था की दिशा में अग्रपद होना चाहिए और अन्ततः परम शिव में लयीभूत हो जाना चाहिए।[2]

द्वितीय पद्धति यह है कि नाद, बिन्दु, वायु एवं ब्रह्मरन्ध्र की क्रमिक स्थिति में आरोहण करना चाहिए। मूलाधार चक्र से नाद, बिन्दु एवं शक्ति— इन तीनों आकाशों में मन को

१. अभिनवगुप्तपाद : तन्त्रालोक।

२. यही गगनचारित्व एवं परमव्योम की स्थिति है।

सन्निविष्ट करके और पुनः इनका वेधन करके शिवत्व की सम्प्राप्ति करनी चाहिए—

ध्वनिज्योतिर्मरुद्युक्तं चित्तं विश्रम्य चोपरि।
अनेनाभ्यायोगेन शिवं भित्वा परं व्रजेत्।।[१]

**त्रिशूलिनी मुद्रा**— दोनों हाथों को कण्ठ के नीचे स्थापित करके वाम चरण को दक्षिण चरण पर स्थापित करना चाहिए। कनिष्ठिका एवं मध्यमा से नासिका के छिद्रों को विदीर्ण करना चाहिए और अनामिका तथा तर्जनी से भ्रूभंग को कुञ्चित करना चाहिए तथा मन्त्र पढ़ते हुए जिह्वा का चालन्न करते हुए 'हा हा हा हा' करना चाहिए।

यदि ब्रह्मरन्ध्र में इस त्रिशूल मुद्रा का प्रयोग किया जाय तो योगी पृथ्वी छोड़ देता है और रस में सम्मिलित रस की भाँति शिव में लीन हो जाता है।

खेचरी मुद्रा निष्कला मुद्रा है। अनेक मुद्रायें इसी के विभिन्न प्रकार हैं। आवेशरहित मुद्रा यथार्थ मुद्रा नहीं है। देह का विकार भी मुद्रा नहीं है। निष्कलावस्था में स्थित योगी खेचरी मुद्रा में स्थित रहता है।

## स्वरोदय शास्त्र और मुद्रा

'शिवस्वरोदय' स्वरोदयशास्त्र का ग्रन्थ है। उसमें अनेक मुद्राओं के ग्रहण करने का विधान किया गया है। उसमें षण्मुखी मुद्रा की पद्धति का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि मुख, नासिका, नेत्र, कान को अपनी अंगुलियों से बन्द करके सक्रिय तत्त्व के प्रति जागरूकता उत्पन्न करनी अर्थात् तत्त्वों को उदित करना ही षण्मुखी मुद्रा कहलाता है—

मुखनासाक्षिकर्णान्तानङ्गुलीभिर्निरोधयेत् ।
तत्त्वोदयमिति ज्ञेयं षण्मुखीकरणं प्रियम्।।[२]

शिवस्वरोदयोक्त मुद्रायें हैं— सर्पमुद्रा ( २३९ ), षण्मुखी मुद्रा ( ३८२ ), अगोचरी आदि एवं धारणायें हैं— अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद, मातृमण्डल आदि।

इसमें कहा गया है कि सर्वप्रथम मुद्रा का ग्रहण करना चाहिए– 'आदौ तु क्रियते मुद्रा'। इसे युद्ध करने के पूर्व धारण करना अनिवार्यवत् माना गया है; क्योंकि कहा भी गया है—

आदौ तु क्रियते मुद्रा पश्चाद्युद्धं समाचरेत्।।

## तान्त्रिक बौद्धसाधना और मुद्रा

तान्त्रिक बौद्ध जिसे 'मुद्रा' कहते हैं, वह शक्ति का ही बाह्य रूप या उसकी बाह्याभि-व्यक्ति हैं। इसके चार प्रकार हैं— कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा।

गुरु-दीक्षा लेने के बाद साधक को साधना हेतु प्रज्ञा ग्रहण करनी पड़ती है। प्रज्ञा ही

---

१. तन्त्रालोक। २. शिवस्वरोदय ( ३८२ )।

मुद्रा या नायिका है। यह विवाह जैसी क्रिया है। इसके पश्चात् अभिषेक की क्रिया सम्पन्न की जाती है। फिर साधक एवं मुद्रा दोनों मण्डल में प्रविष्ट होते हैं और योगक्रिया निष्पन्न की जाती है।

**कर्ममुद्रा**— यह एक प्रारम्भिक क्रिया है। कर्म पद काय, वाक् एवं चित्त की चिन्तादि रूप क्रिया है। इस मुद्रा के अन्तर्गत क्षण के चार भेद एवं आनन्द की चार श्रेणियाँ अन्तर्भुक्त हैं। उन चार क्षणों के नाम हैं— विचित्र, विपाक, विलक्षण और विमर्द।

**धर्ममुद्रा**— यह धर्मधातुस्वरूप है। यह सहजस्वभाव है और प्रवाह की दृष्टि से नित्य है। इस मुद्रा में अज्ञान एवं भ्रान्ति पूर्णतया निवृत्त हो जाती है। मध्य नाड़ी = सुषुम्णा नाड़ी = ब्रह्मनाड़ी ही ज्ञान एवं योग का मार्ग है। आगमिक बौद्ध दर्शन इड़ा-पिंगला को 'प्रज्ञा' एवं 'उपाय' कहकर इसी सुषुम्णा नाड़ी को 'अवधूती' कहता है और इसका ही नामान्तर है—धर्ममुद्रा। प्रज्ञा और उपाय की सूचक नाड़ियों को बौद्ध 'ललना' एवं 'रसना' कहते थे। तथता के अवतरण का यह उत्कृष्ट मार्ग है। यही 'मध्यमा प्रतिपत्' भी है। इसके अभ्यास से निरोध का साक्षात्कार होता है। इस मार्ग में ग्राह्य एवं ग्राहक विकल्प निवृत्त हो जाते हैं।

**महामुद्रा**— महामुद्रा तृतीय मुद्रा है। यह निःस्वभाव है। यहाँ आवरणों के सारे प्रकार नष्ट हो जाते हैं। यह नभवत् स्वच्छ एवं समस्त सम्पत्तियों का निधान है। यह निर्वाणस्वरूप है। इस अप्रतिष्ठित मानस की अवस्था में अकल्पित संकल्पों का उन्मेष होता है। यह 'अस्मृत्य मनसिकार' नाम वाली पूर्ण निरालम्बावस्था है।

**समयमुद्रा**— यह तान्त्रिक बौद्ध में चतुर्थ मुद्रा के रूप में स्वीकृत है। यह अचिन्त्य-स्वरूपा मुद्रा है। इस अवस्थाविशेष में विश्वकल्याणार्थ स्वच्छ 'सम्भोग काय' एवं 'निर्माण काय' स्वरूप वाला होकर 'वज्रधर' स्फुरित होता है। तिब्बती बौद्ध इस विश्वकल्याणकारी स्वरूप को 'हेरुक' कहते हैं। समयमुद्रा महामुद्रा का फल है।

योगी गोरक्षनाथ ने भी गोरखबानी ( २७५ ) में अनेक मुद्राओं का उल्लेख किया है; जो कि तत्कालीन योगि-सम्प्रदाय में प्रचलित थीं—

नासिका अग्रे भ्रूमण्डले अहनिस रहिबा थीरं।
माता गरभि जनम न आयबा, बहुरि न पीयवा खीरं।।

'दर्शन' कानों की मुद्रा है। गोरक्षनाथ कहते हैं—

दरसण माई दरसण बाप दससण माहीं आपै आप।
या दरसण का कोई जाणै भेव सो आपै करता आपै देव।।

## मुद्राभ्यास का उद्देश्य

योगियों का कथन है कि अनादि सुषुप्ता कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करने के लिए

मुद्राभ्यास करना चाहिए—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।

## मुद्रासाधना का महत्त्व

ऋषि घेरण्ड कहते हैं कि मुद्रायें इतनी मूल्यवान हैं कि इनकी साधना से समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। यह ज्ञान परम गुह्य ज्ञान है; अतः इसका उपदेश भी सभी को करना निषिद्ध है। ये मुद्रायें योगियों को परम प्रिय हैं और देवताओं के लिए दुर्लभ हैं—

मुद्राणां पटलं देवि! कथितं तव सन्निधौ।
येन विज्ञातमात्रेण सर्वसिद्धिः प्रजायते।।

गोपनीयं प्रयत्नेन न देयं यस्य कस्यचित्।
प्रीतिदं योगिनां चैव दुर्लभं मरुतामपि।।

ग्रन्थान्तर में भी इसी की पुष्टि की गई है—

मुद्राणां दशकं रूपं ह्येतद्व्याधिविनाशकम्।
देवेशि! कथितं दिव्यमष्टैश्वर्यप्रदायकम्।।

वल्लभं योगिनामेतद् दुर्लभं मरुतामपि।
गोपनीयं प्रयत्नेन यथा रत्नकरण्डकम्।
कस्यचिन्नैव वक्तव्यं कुलस्त्रीसुरतं यथा।।

सारांश यह कि मुद्रायें व्याधियों को विनष्ट करती हैं और दिव्य ऐश्वर्यों ( अणिमा। लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति, ईशित्व, वशित्व, प्राकाम्य आदि ) को प्राप्त कराती हैं। ये परम गोपनीय हैं और देवों को भी अप्राप्य हैं।

## मुद्राभ्यास की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय दर्शनशास्त्रों में सांख्यदर्शन प्राचीनतम दर्शन है, जो कि बुद्ध के आविर्भाव से भी पूर्व था। कपिल इसी सांख्य दर्शन के उद्भावक थे। स्वयं कपिल ऋषि भी मुद्राओं का अभ्यास किया करते थे—

महामुद्रां प्रवक्ष्यामि तन्त्रेऽस्मिन् मम वल्लभे।
यां प्राप्य सिद्धा सिद्धिं च कपिलाद्याः पुरागताः।।

## मुद्राओं के प्रकार

हठयोगप्रदीपिका में मुद्राओं के निम्नांकित प्रकार बताए गए हैं—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १. महामुद्रा | ३. महावेध | ५. उड्यान | ८. विपरीतकरणी | ९. वज्रोली |
| २. महाबन्ध | ४. खेचरी | ६. मूलबन्ध | ७. जालन्धरबन्ध | १०. शक्तिचालन |

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिध:।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।।

घेरण्डसंहिता में मुद्राओं के २५ प्रकार बताए गए है; जो निम्नांकित हैं—

| | | | |
|---|---|---|---|
| १ महामुद्रा | ६. महावेध | ११. माण्डवी | १६. काकी |
| २. नभोमुद्रा | ७. खेचरी | १२. शाम्भवी | १७. योनि |
| ३. उड्डीयान | ८. विरीतकरणी | १३. पञ्चधारणा | १८. मातंगी |
| ४. जालन्धर | ९. शक्तिचालिनी | १४. अश्विनी | १९. वज्राली |
| ५. मूलबन्ध | १०. ताड़ागी | १५. पाशिनी | २०. भुजङ्गिनी |

इन उल्लिखित मुद्राओं की संख्या तो २० ही है; फिर भी मुद्राओं की संख्या २५ ही कही गई है—

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डीयानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं महाबन्धं महावेधश्च खेचरी।।

विपरीतकरिणी योनि वज्राली शक्तिचालिनी।
ताडागी माण्डवी मुद्रा शाम्भवी पञ्चधारणा।।

अश्विनी पाशिनी काकी मातङ्गी च भुजङ्गिनी।
पञ्चविंशति मुद्रा वै सिद्धिदाश्चेह योगिनाम्।।

मुद्रा की संख्या २५ कहने का कारण यह है कि पञ्चधारणा नामक मुद्रा के ५ भेद हैं; अत: मुद्राओं की कुल संख्या २५ हो जाती है। पञ्चधारणारूप मुद्रा के पाँच भेद हैं— पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, वैश्वानरी धारणा, वायवी धारणा एवं नभो धारणा।

शिवसंहिता में मुद्राओं के मात्र १० भेद बताए गए हैं; जो महामुद्रा, महाबन्ध, महा-वेध, खेचरी, जालन्धरबन्ध, मूलबन्ध, विपरीतकरिणी, उड्डियानबन्ध, वज्रोली एवं शक्ति-चालन के नाम से जाने जाते हैं।

हठयोगप्रदीपिका में वर्णित १० मुद्राओं की ही शिवसंहिता में भी यथावत् स्वीकृति है।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में मुद्राओं के २६ प्रकार बताए गए हैं।

गोरक्षनाथ ने गोरखबानी में मुद्रा का प्रतीकात्मक अर्थ भी ग्रहण किया है। वे कहते हैं कि मैंने चन्द्र एवं सूर्य ( इड़ा-पिंगला ) नाड़ियों को मूँद लिया अर्थात् सुषुम्णा का मार्ग खोल दिया। यही मेरी मुद्रा है— 'चन्द्र-सूर नीं मुद्रा कीन्हीं' ( गो० बा०-११० )।

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र के अनुसार मुद्राओं का नाम और उनका स्वरूप निम्नानुसार है—

त्रिशूलं च तथा पद्मं शक्तिश्चक्रं सवज्रकम्।
दण्डदंष्ट्रे महाप्रेता महामुद्रा खगेश्वरी।।

महोदया कराला च खट्वाङ्गं सकपालकम्।
हलं पाशाङ्कुशं घण्टा मुद्गरस्त्रिशिखोऽपरः।।

आवाहस्थापनीरोधा द्रव्यदा नतिरेव च।
अमिता योगमुद्रेति विज्ञेया वीरवन्दिते।।

इनमें त्रिशूल एवं पद्ममुद्रा का स्वरूप इस प्रकार है—

**त्रिशूलमुद्रा**— तर्जनीमध्यमानामा दक्षिणास्यप्रसारिताः।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकाक्रान्तास्त्रिशूलं परिकीर्तितम्।।

**पद्ममुद्रा**— पद्माकारौ करौ कृत्वा पद्ममुद्रां प्रदर्शयेत्।

**शक्तिमुद्रा**— सम्मुखौ प्रसृतौ कृत्वा करावन्तरिताङ्गुली।
प्रसृते मध्यमे लग्ने कौमार्यः शक्तिरिष्यते।।

**वज्रमुद्रा**— कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ श्लिष्टौ शेषाः स्युर्मणिबन्धगाः।
वज्रमुद्रेति विख्याता चैन्द्री सन्तोषकारिका।

**दण्डमुद्रा**— ऊर्ध्वप्रसारितो मुष्टिर्दक्षिणोऽङ्गुष्ठगर्भगः।
दण्डमुद्रेति विख्याता वैवस्वतकुलप्रिया।।

**दंष्ट्रामुद्रा**— वामतो वक्रगां कुर्याद्वाममुष्टेः कनिष्ठिकाम्।
दंष्ट्रेयं कीर्तिता देवि! चामुण्डा कुलनन्दिनी।।

इन मुद्राओं के प्रदर्शन या प्रयोग से मान्त्रिक की रक्षा होती है और उसे मन्त्रसिद्धि प्राप्त होती है।

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि मुद्राख्याः शिवशक्तयः।
याभिः संरक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात्।।[१]

मालिनीविजयोत्तर तन्त्र में २६ प्रकार की मुद्राओं का उल्लेख करते हुए उनके स्वरूप की व्याख्या की गई है। वे निम्नांकित हैं—

१. त्रिशूल ७. दंष्ट्रा १२. कराला १७. अंकुश २२. रोधा
२. पद्म ८. महाप्रेत १३. खट्वांग १८. घण्टा २३. द्रव्यदा
३. शक्ति ९. महामुद्रा १४. कपाल १९. त्रिशिख मुद्गर २४. नति
४. चक्र १०. खगेश्वरी १५. हल २०. आवाह २५. अमृता
५. वज्र ११. महोदया १६. पाश २१. स्थापिनी २६. योगमुद्रा
६. दण्ड

१. मालिनीविजयोत्तरतन्त्र।

तन्त्रालोक (३२.५-६) में करंकिणी, क्रोधना, भैरवी, लेलिहानिका आदि मुद्राओं को खेचरी का विस्तार कहा गया है।

१. करङ्किणी : ज्ञानसिद्धों की मुद्रा
२. क्रोधिनी : मन्त्रसिद्धों की मुद्रा
३. भैरवी : मेलापसिद्धों की मुद्रा
४. लेलिहाना : शाक्तसिद्धों की मुद्रा
५. खेचरी : शाम्भवसिद्धों की मुद्रा

→ विज्ञानभैरव, क्रमदर्शन, चिद्गगनचन्द्रिका, महार्थमञ्जरी आदि ग्रन्थों में उल्लिखित।

## मुद्रा के १० या २५ भेद

### शिवसंहिता/हठयोग प्रदीपिका में प्रतिपादित १० मुद्रायें

महामुद्रा महाबन्ध महावेध खेचरी जालन्धर
मूल विपरीतकरणी उड्डियान वज्रोली शक्तिचालन

### गोरक्षशतक के अनुसार ५ मुद्रायें

महामुद्रा नभोमुद्रा उड्डियानमुद्रा जालधरबन्ध मूलबन्ध

### घेरण्ड ऋषि के अनुसार २५ मुद्रायें

महा नभो उड्डियान जालन्धर मूलबन्ध महावेध खेचरी विपरीतकरणी योनि
वज्राली शक्तिचालिनी ताड़ागी माण्डवी शाम्भवी पञ्चधारणा अश्विनी पाशिनी काकी
मातङ्गी भुजङ्गिनी पार्थिवी आम्भसी आग्नेयी वायवी आकाशी
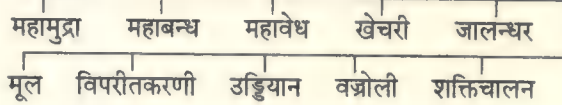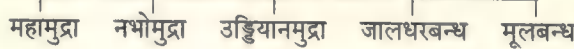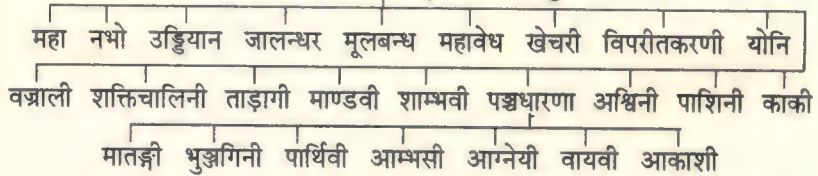
**गोरक्षनाथ के योगबीज की दृष्टि**— वायु को वश में करने वाले श्रेष्ठतम बन्ध तीन हैं— मूलबन्ध, उड्डियानबन्ध एवं जालन्धरबन्ध।

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानकः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।

योगबीज में उड्डियान, जालन्धर आदि को मुद्रा के रूप में नहीं; प्रत्युत बन्ध के रूप में निरूपित किया गया है।

**गोरक्षशतक में गोरक्ष-दृष्टि**— 'गोरक्षशतक' में गोरक्षनाथ ने मुक्तिदा मुद्राओं में केवल ५ मुद्राओं का नामोल्लेख किया है और उन्हें योगबीज की भाँति बन्ध नहीं; प्रत्युत 'मुद्रा' कहा है। वे इसी तारतम्य में खेचरी मुद्रा के स्वरूप की भी विवेचना कर गए हैं; किन्तु नभोमुद्रा के रूप में—

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धञ्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।।

इसके बहुत आगे ६४ वें श्लोक में खेचरी मुद्रा का उल्लेख किया गया है और महामुद्रा का स्वरूप— विवेचन करने के बाद ही खेचरी मुद्रा का स्वरूप-निर्वचन बड़े विस्तार के साथ किया गया है। इसका विवेचन अगली छब्बीस अर्धालियों में विस्तार-पूर्वक किया गया है। यथा—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैव खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धैर्नमस्कृता।।

इसी तारतम्य में गोरक्षनाथ ने नभोमुद्रा का भी नामोल्लेख किया है—

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः।
न तस्य सरते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च।।

यावद् बिन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुत।
यावद् बद्धा नभोमुद्रा तावद् बिन्दुर्न गच्छति।।

पाशुपत शास्त्र में कायिकी मुद्रा प्रतिपादित हुई है। इस तथ्य को व्याख्याकार जयरथ ने उद्धृत किया है। आचार्य महेश्वानन्द महार्थमञ्जरी की ५१वीं गाथा में मुद्रा की विवेचना करते हुए कहते हैं कि परमात्मा की स्वात्मविमर्शस्वरूपिणी शक्ति ही मुद्रात्मिका है। जिस अवस्था में [illegible] योग-प्रचलित अष्ट महासिद्धियों के सौभाग्य को तिरस्कृत करने वाले ऐश्वर्यस्वरूप [illegible]-विमर्श के आनन्द के उत्कर्ष की परमाह्लादिनी शक्ति व्यक्त होती है या स्वानुभूति के रूप में अभिव्यक्त होती है, वही परमात्मा की पूजा मुद्रा है—

आशान्दुल्लाससिरी छुल्लइददृमहसिद्धिसोहम्गा।
दीसइ जत्थ दसाए सोच्चिअ देवस्स सव्वमुद्दाओ।।

( आनन्दोल्लासश्रीः क्षुल्लकिताष्टमहासिद्धिसौभाग्या।
दृश्यते यत्र दशायां सैव देवस्य सर्वमुद्रा।। )

महेश्वरानन्द परिमल में मुद्रातत्त्व की व्याख्या करते हुए कहते हैं— 'यस्यामवस्थायां देवस्य क्रीडाविजिगीषाद्यनेकप्रकारस्वातन्त्र्यसारत्वात् पूज्यपूजकत्वोभयस्वभावसामरस्यशालिनः परमेश्वरस्य स्वविश्रान्तिलक्षणमानन्दं प्रति य उल्लासः तथा परामृश्यमानतया स्फुरत्ता तस्याः श्रीः तद्वदुपर्युपर्यनुस्यूतिलक्षणा प्ररूढिर्दृश्यते निर्विवादमपरोक्षीक्रियते, सैव सर्वा करङ्किण्यादयः संक्षोभिण्यादयोऽन्यथा वा प्रसिद्धास्तास्ता मुद्रा इत्यवगन्तव्यम्।'

सारांश यह कि परमेश्वर की स्वविश्रान्तिस्वरूप आनन्द के प्रति जो उल्लास है और परामृश्यमान स्वरूप में जो स्फुरत्ता है, उसकी 'श्री' की अपरोक्षानुभूति ही मुद्रा है; जो कि बाह्य रूप में बाह्य मुद्रा के रूप में भी प्रदर्शित की जाती है। अणिमा, गरिमा, महिमा,

प्रकाम्य, ईशित्व, वशित्व, प्राप्ति एवं कामावसायित्व के रूप में जो अष्ट सिद्धियाँ हैं, वे भी इसी 'श्री' एवं परमाह्लादिनी विमर्शशक्ति ( आनन्द शक्ति ) की अभिव्यक्तियाँ हैं और यही आनन्द शक्ति पूजानुगत मुद्रा का यथार्थ स्वरूप है।

**अभिनवगुप्तपादाचार्य का मत**— तन्त्रालोक में अभिनवगुप्तपादाचार्य कहते हैं—

मुद्राप्रदर्शनं पश्चात्कायेन मनसा गिरा। ( १५.२५९ )

जयरथ इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि भैरव के साक्षात्कार हेतु मुद्राओं का प्रदर्शन आवश्यक है। भगवान् शिव देवी पार्वती से कह रहे हैं कि हे महादेवी! भैरव की इन मुद्राओं का प्रदर्शन भी इस अवसर पर आवश्यक है। आवाहन, पूजन तथा विसर्जन की मुद्रायें पृथक्-पृथक् होती हैं। ये उन्हीं अवसरों पर यथानुरूप प्रदर्शित भी की जाती हैं—

एता मुद्रा महादेवि! भैरवस्य प्रदर्शयेत्।
आवाहने पूजनान्ते तथा चैव विसर्जने।।

'ननु एवं स्वात्मनि भैरवीभाव: कृतो भैरवस्य सन्निधिनिमित्तमवश्यप्रदर्शनीया मुद्रा:' ( जयरथ : विवेक )।

इन मुद्राओं का प्रदर्शन आवाहन, पूजा के अन्त में तथा विसर्जन के समय करना चाहिए।

मुद्राओं का प्रदर्शन केवल शरीर से ही नहीं; प्रत्युत तीन प्रकार से करना चाहिए; वे इस प्रकार हैं— कायिक, मानसिक एवं वाणीगत।

मुद्राप्रदर्शनं पश्चात्कायेन मनसा गिरा। ( अभिनव० )

मनोजा गुरुवक्त्रस्था वाग्भवा मन्त्रसम्भवा।
देहोद्भवाङ्गविक्षेपैर्मुद्रेयं त्रिविधा स्मृता।।

**( क ) मनोजा मुद्रायें**— मन से उत्पन्न ( मानसिक अनुसन्धान से उद्भूत ) ही मनोजा मुद्रायें कहलाती हैं।

**( ख ) वाग्भवा मुद्रायें**— गुरुमुख में स्थित और वाणी के माध्यम से व्यक्त होने वाली मुद्रायें वाग्भवा मुद्रायें कहलाती हैं। वाग्भवा मुद्रायें मन्त्रसम्भवा भी मानी जाती हैं।

**( ग ) देहोद्भवा मुद्रायें**— ये आंगिक होती हैं। ये उँगलियों के विक्षेप से उद्भूत होती हैं। इन आंगिक एवं विक्षेपमयी आकृतियों से शाक्तस्पन्द में विशेषोल्लास उदित होता है। इस प्रकार मनोजा, वाग्भवा एवं देहोद्भवा— तीन प्रकार की मुद्रायें होती हैं।

## मुद्राओं का आदर्श स्वरूप

मुद्रानामक पूजा-व्यापार शिव-शक्तिरूप ही है— 'मुद्राख्य: शिवशक्तय:' मुद्राओं का प्रदर्शन शरीर, मन एवं वाणी— तीनों से करना चाहिए। इन मुद्राओं को मन से

निष्पादित करने का भी शास्त्रों में विधान है। मुद्राओं को शिव एवं शक्ति का स्वस्वरूप मानकर ही उनका मन में भक्तिपूर्वक स्मरण करना चाहिए।

बौद्धों की तान्त्रिक साधनाओं में भी मुद्राओं का प्रयोग किया जाता है।

## बौद्धतन्त्रों की मुद्रायें

बौद्ध तान्त्रिक साधना में मुद्रा का अर्थ नारी से सम्बद्ध है। अभिषेक में भी नारियों का होना अनिवार्य माना जाता है। ये नारियाँ मुद्रा कही जाती हैं। मुद्रा ( नारी शक्ति ) द्वारा साधक अपने भीतर निहित शक्तियों को जाग्रत किया करता है। यहाँ साधक परम-तत्त्व शिव एवं मुद्रा ( नारी ) शक्ति तत्त्व का प्रतीक है। मुद्राओं को विद्या भी कहा गया है। इन विद्याओं ( मुद्राओं ) के निम्न प्रकार हैं—

| | |
|---|---|
| १. भागिनेया | ६. मातुल की पत्नी |
| २. दुहित्री | ७. पितृव्य पत्नी |
| ३. भगिनी | ८. पिता की भगिनी |
| ४. जननी | ९. स्वमातृ भगिनी |
| ५. भार्या की जननी | १०. स्वभार्या |

अन्य दस विद्यायें निम्नवत् हैं—

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| १. शूद्री | ३. ब्राह्मणी | ५. डोम्बी | ७. नटी | ९. चर्मकारी |
| २. क्षत्रिणी | ४. वेश्या | ६. कैवर्ती | ८. रजकी | १०. चाण्डाली |

साधक को इन १० विद्याओं को गुरु को समर्पित करने का तान्त्रिक विधान है। गुरु तारा, पाण्डरा, मामकी, लोचना, स्पर्शवज्रा, रसवज्रा, रूपवज्रा, गन्धवज्रा आदि देवियों की भी शिष्यों से पूजा कराता है तथा गुरु साधक को उसकी अपनी पत्नी के साथ या चाण्डाली आदि अन्य मुद्राओं के साथ साधना करने का आदेश देता है।

इन मुद्राओं के प्रतीकार्थ भी हैं। ये १० मुद्रायें ही १० साधना भूमियों की भी प्रतीक हैं, जो निम्नांकित हैं—

| | | |
|---|---|---|
| १. प्रमुदिता | ४. अर्चिष्मती | ७. दुरङ्गका |
| २. विमला | ५. सुदुर्जया | ८. अचला |
| ३. प्रभाकरी | ६. अभिमुखी | ९. धर्ममेध्या |

नारी को प्रज्ञापारमिता का स्वरूप माना गया है।[1]

अद्वयवज्र 'अद्वयवज्रसंग्रह' में कहते हैं कि गुह्य क्रिया ( रति कर्म ) से प्रज्ञा एवं उपाय दीप्त हो उठते हैं— प्रज्ञोपायगुह्याभ्यां दीप्यत।

सेकोद्देश्य टीका में मुद्रा को मांसल नारी के रूप में स्वीकार करके कलशाभिषेक,

---

१. सेकोद्देश्य टीका।

गुह्याभिषेक एवं प्रज्ञाभिषेक का विधान किया गया है और कहा गया है कि 'तत्स्तुष्टो गुरुर्लोकसंवृत्या स्वनस्पर्शनं कारयति, स्वमुद्रायास्तेन कलशाभिषेक: स एव। ततो गुह्य-पूजा कृत्वा शिष्यामृतं ददाति, मुद्रारविन्दं चालोकयति तेन गुह्याभिषेको भवति।।'

## मुद्रा, आनन्द और क्षण

तन्त्रशास्त्र में चार मुद्रायें मानी गई हैं— कर्ममुद्रा, धर्ममुद्रा, महामुद्रा एवं समयमुद्रा।

**कर्ममुद्रा**— इसमें आदि अभिषेक की क्रियायें एवं विधि-निषेध तथा कर्म-विपाक, वैचित्र्य एवं वैविध्य सभी अन्तर्भुक्त हैं।

ये मुद्रायें शारीरिक चेष्टाओं की अपेक्षा पित्त की आन्तरिक भूमियाँ अधिक हैं।

अद्वयवज्रसंग्रह में कहा गया है— 'कर्ममुद्रा-कर्म या काय वाक् चित्त चिन्ता तत्प्रधाना मुद्रा कल्पनास्वरूपा तस्यां कर्म्ममुद्रायां आनन्दा जायन्ते।

**धर्ममुद्रा**— निष्प्रपञ्चा, निर्विकल्पा, अकृत्रिमा, उत्पादरहिता, करुणास्वभावा, परमा-नन्दैकसुन्दरोपायभूता। यह है— 'निस्तरङ्गशून्यता करुणाभिन्ना।'

**महामुद्रा**— अविकल्पितसङ्कल्प अप्रतिष्ठित मानस।
अस्मृत्य मनसिकार निरालम्ब नमोऽस्तु ते।।

इसमें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय आदि की त्रिपुटी नष्ट हो जाती है, अत: यह निर्वाणस्वरूपिणी है।

**समयमुद्रा**— समयमुद्रा सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने की अवस्था है। इस अवस्था में मन्त्र, जप, तप, होम, मण्डल आदि के सारे विधान निरर्थक एवं अप्रयोज्य माने जाते हैं—

न मन्त्रजापो न तपो न होमो न माण्डलेयं न च मण्डलं च।
स मन्त्रजाप: स तप: स होम: तन्माण्डलेयं न च मण्डलं च।।

धर्ममुद्रा में ज्ञान-प्राधान्य रहता है; अत: उसमें वैलक्षण्य एवं स्थैर्य दोनों रहते हैं। महामुद्रावस्था में संसार के समस्त पदार्थ अप्रतिष्ठ हो जाते हैं और शुद्धाद्वैत ज्ञान का उन्मेष होता है। विना महामुद्रा के कर्ममुद्रा निष्कल रहती है। अन्तत: समयमुद्रा या सहजमुद्रावस्था काम्य रहती है। इसमें योगी स्वरूपावस्थान प्राप्त कर लेता है।

शृणु देवि! प्रवक्ष्यामि मुद्रा: सर्वार्थसिद्धिदा:।
याभिर्विरचिताभिस्तु सम्मुखा त्रिपुरा भवेत्।। ( ३.२ )

शिवानन्द ने ऋजुविमर्शिनी में मुद्रा की व्याख्या में दो परिभाषायें प्रस्तुत की हैं—

मोचयन्ति ग्रहादिभ्य: पाशौघं द्रावयन्ति च।
मोचनं द्रावणं यस्मान्मुद्रास्ता: शक्तयो मता:।। ( सेकोद्देश )

द्रावणात् पाशजालस्य तत्परस्य च मोचनात्।
मुद्रापीठमिति प्रोक्तं कामरूपं नमाम्यहम्।। ( सं० प० )

शिवानन्द कहते हैं कि मुद्रायें तो अनिर्वचनीय आध्यात्मिक शक्तियाँ हैं— 'मुद्रा नाम काश्चन शक्तय:।'

त्रिखण्डा मुद्रा त्रिपुरा के आह्वान हेतु प्रसुक्त होती है। प्रथम मुद्रा सर्वसंक्षोभकारिणी कहलाती है। मुद्रायें निम्नांकित हैं—

प्रथमा मुद्रा : सर्वसंक्षोभकारिणी मुद्रा
द्वितीया मुद्रा : सर्वविद्राविणी मुद्रा
तृतीया मुद्रा : त्रैलोक्याकर्षिणी मुद्रा
चतुर्थी मुद्रा : सर्वावेशकरी मुद्रा

अंगुलिविरचनात्मा — बोधगगनचारिता कलात्मा — उद्योगात्मा संस्थानविशेषानुसरणरूपा

पञ्चमी मुद्रा : उन्मादिनी मुद्रा
षष्ठी मुद्रा : महांकुशाख्या मुद्रा
सप्तमी मुद्रा : खेचरी मुद्रा[1]
अष्टमी मुद्रा : बीज मुद्रा
नवमी मुद्रा : योनि मुद्रा

## खेचरी मुद्रा

१. चिबुकं योजयित्वा तु षोडशस्वरमण्डले।
चन्द्रसूर्यनिरोधेन मूलशक्तिनिकुञ्चनात्।
रसनामन्तरा कृत्वा अनच्के धारयेन्मन:।
एष सा खेचरी ध्याता उन्मनात्वं प्रयच्छति।।

२. चिबुककण्ठसमायोगात् प्रविकास्य शिरोऽम्बुजम्।
चन्द्रसूर्यनिरोधेन मूलशक्तिं निकुञ्च्य च।।
रौद्रीं कुचिकयोद्घाट्य द्विरष्टकमलोदरे।
रसनामन्तरा कृत्वा नासाग्रे रोपयेद् दृशम्।।
यवमात्रत्रिकोणं तु मीलनोन्मीलनात्मकम्।
लिहन् स्वरसनाग्रेण पिबन्नमरवारुणीम्।।
सदा समरसीभूतं मन: शून्ये निवेशयेत्।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मनात्वप्रदायिनी।[2]

श्रीतन्त्रसद्भाव में इसका स्वरूप इस प्रकार विवेचित किया गया है—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत्।
दण्डाकारं तु तत्तावन्नयेद् यावत् कखत्रयम्।।
निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत त्रयेण तु।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते।।

---

१. नित्याषोडशिकारणवि। २. ज्ञानार्णव तन्त्र।

मुद्रा, आनन्द एवं क्षण का पारस्परिक सम्बन्ध इस प्रकार है—

| क्षण | आनन्द | मुद्रा |
|---|---|---|
| १. विचित्र | आनन्द | कर्ममुद्रा |
| २. विपाक | परमानन्द | धर्ममुद्रा |
| ३. विलक्षण | सहजानन्द | महामुद्रा |
| ४. विमर्द | विरमानन्द | समयमुद्रा |

चार प्रकार के ही क्षण हैं, जहाँ आनन्दों का उद्भव होता है। विकल्प ही क्षोभ उत्पन्न करते हैं। विकल्पों का कारण है— मन। मन के कार्यों की समाप्ति की अवस्था है— अमनस्कारावस्था। यह अवस्था परमोच्च आनन्द, परमोच्च मुद्रा एवं परमोच्च क्षण की अवस्था होती है।

**नारोपा का मत**— नारोपा की 'सेकोद्देश' टीका में उपर्युक्त आनन्दों के १६ भेद किये गए हैं और ४-४ आनन्दों की एक श्रेणी निर्मित की गई है। सेकोद्देश टीका में जो आनन्द-क्रम दिया गया है, वह 'अद्वयवज्रसंग्रह' के आनन्दतन्त्र क्रम से भिन्न है। 'हेवज्र-तन्त्र' में सहजानन्द के लिए बोधिचित् ( शुक्र ) के प्रवाह को रोकना आवश्यक माना गया है। 'गुह्याभिषेक' एवं 'प्रज्ञाभिषेक' में भी यह विधान स्वीकृत है। स्खलन मृत्यु है—

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।

**यामुनाचार्य का मत**— आचार्य श्री यामुनाचार्य ने आगम प्रामाण्य में छः मुद्राओं का वर्णन किया है— कर्णिका, रुचक, कुण्डल, शिखामणि, भस्म, और यज्ञोपवीत।

कपालमुद्रा, खट्वाङ्ग मुद्रा, उपमुद्रायें पाशुपत मत में स्वीकृत हैं।

**पाञ्चरात्र का मत**— पाञ्चरात्र आदि वैष्णवागमों में शंख एवं चक्र आदि को गर्म करके शरीर पर उनके चिह्न बनाना भी 'मुद्रा' कहा गया है। पाशुपतागम में शरीर पर धारण किए गए अनेक द्रव्यों को भी मुद्रा कहा गया है।

अभिनवगुप्तपाद ने तन्त्रालोक ( आ०-२९ ) में मुद्राओं के प्रयोग को उचित माना है तथा पाञ्चरात्रागम, पाशुपतागम में निर्दिष्ट मुद्राओं ( बाह्य मुद्राओं ) को भी सार्थक स्वीकार किया है एवं रहस्यप्रधान तन्त्रों के अनुवर्ती साधकों के लिए रहस्यात्मक मुद्राओं को ( मुद्राओं के प्रतीकार्थों एवं रहस्यार्थों को ) उपादेय माना है।

**नेत्रतन्त्र का मत**— नेत्रतन्त्र ( २१.८० ) में स्वात्माभिव्यक्ति के लिए तीन साधनों का निर्देश किया गया है— मन्त्र, ध्यान एवं मुद्रा।

अद्वैतप्रधान तन्त्रों में सभी कुछ आत्मस्वरूप माना जाता है। अतः इस दृष्टि से मुद्रा को भी परसंवित् का ही एक स्वरूप स्वीकार्य किया जाता है।

**नित्याषोडशिकार्णव**— नित्याषोडशिकार्णव ( पटल-३.२८ ) में कहा गया है कि त्रिपुरासम्बन्धी मुद्राओं की यह महत्ता है कि उनके प्रदर्शन से स्वयं भगवती त्रिपुरा प्रकट हो जाती हैं। पूजाकाल में ही इन मुद्राओं का प्रयोग किया जाना चाहिए—

एता मुद्रा महेशानि! त्रिपुराया मयोदिताः।
पूजाकाले प्रयोक्तव्या यथानुक्रमयोगतः।।

योनिमुद्रा सर्वोच्च मुद्रा है और अन्य सभी मुद्रायें इसी के रूपान्तर हैं—

एका चैव महामुद्रा योनिमुद्रात्वमागता।
तया विभक्त आत्मा तु संक्षोभादिप्रभेदतः।।

१. सर्वसंक्षोभिणी : द्राम् ( द्रां )
२. सर्वविद्राविणी : द्रीम् ( द्रीं )
३. सर्वाकर्षिणी : क्लीम् ( क्लीं )
४. सर्ववेशकारिणी : ब्लूम् ( ब्लूं )
५. सर्वोन्मादिनी : सः
६. सर्वाङ्कुशा : क्रोम् ( क्रों )
७. खेचरी : ह् स् क्रोम्
८. बीजमुद्रा : हसौ
९. योनिमुद्रा : ऐं

→ ये नवों मुद्रायें नवों चक्रों में बीज के उच्चारण के साथ प्रदर्शित की जानी चाहिए। नवों मुद्राओं के बीज अर्थरत्नावली में इसी प्रकार प्रस्तुत किये गये हैं।

इन समस्त मुद्राओं में प्रथमा मुद्रा सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा एवं अन्तिम मुद्रा योनिमुद्रा है।

बाह्यपूजा में सर्वसंक्षोभिणी मुद्रा प्रथम मुद्रा है। योनिमुद्रा बन्ध के मन्त्रगत समस्त दोषों के निराकरणार्थ तन्त्रों में कहा गया है—

यद्यदुच्चरते मन्त्री मन्त्रवर्णं शुभाशुभम्।
तत्तत्सिद्ध्यति देवेशि! योनिमुद्रा निबन्धनात्।।

योनिमुद्रा की ही भाँति खेचरी मुद्रा की भी महत्ता है। शैव-शाक्त-बौद्ध-कौलिक तन्त्र-ग्रन्थों में मद्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन— पञ्च पदार्थों को बाह्योपासना में स्वीकार किया गया है और उनकी भी आख्या मुद्रा है। आन्तरी 'मुद्रा' क्या है? ये निम्नांकित हैं—

कुलयोगिन उद्रिक्त भैरवीयरसासवात्।
घूर्णमानस्य यः कश्चित् कोऽप्युदेति यथा तथा।।

शरीरगः समावेशो मोदनद्रावणात्मकः।
सा स्वीकृत जगन्मुद्रा मुद्रा नैरुत्तरे मते।।[१]

---

१. मालिनीविजयवार्तिक।

# मुद्राओं के विभिन्न भेद

## १. महामुद्रा और उसका स्वरूप

साधक को बाएं पैर की एड़ी से गुदा एवं पेट के मध्य में स्थित योनिस्थान को बड़ी कोमलतापूर्वक दबाकर दायें पैर को फैलाकर और दोनों हाथों से अंगूठे को पकड़कर शरीर के नवों द्वारों को रोककर ठोढ़ी को हृदयस्थल पर संयत करके तथा चित्त को परमात्मा में निलीन ( एकाग्र ) करके वायु-साधन का अभ्यास करना चाहिए। यही योग-शास्त्र में महामुद्रा कही जाती है।[१]

इस मुद्रा-साधना में साधक को स्थिर मन से प्रथमतः वामांग से अभ्यासारम्भ करना चाहिए और उसके बाद दायें अंग से करना चाहिए। दोनों अंगों से अभ्यास करते समय साधक को प्राणायाम का अभ्यास समान रूप से करना चाहिए। इस अभ्यास से तो मन्द-भाग्य योगी भी सिद्ध हो जाता है।

महामुद्राभ्यास से ( प्राणायामाभ्याम के माध्यम से ) शरीर की समस्त नाड़ियों का सञ्चालन एवं चालन होता है; उनमें वायु का संचार हो जाता है और स्फूर्ति आ जाती है।[२]

**महामुद्रा-साधना के लाभ** ( शिवसंहिता[३] )—

---

१. शिवसंहिता

२. शिवसंहिता इसके करने से क्षय, बवासीर, प्लीहा, अपच, कुष्ठ, मलावरोध समाप्त हो जाता है।

३. अनेन विधिना योगी मन्दभाग्योऽपि सिध्यति।
सर्वासामेव नाडीनां चालनं बिन्दुमारणम्।।
जीवनं तु कषायस्य पातकानां विनाशनम्।
कुण्डली-तापनं वायोर्ब्रह्मरन्ध्रप्रवेशनम्।।
सर्वरोगोपशमनं जठराग्निविवर्धनम्।
वपुषा कान्तिममलां जरामृत्युविनाशनम्।।
वाञ्छितार्थफलं सौख्यमिन्द्रियाणाञ्च मारणम्।
एतदुक्तानि सर्वाणि योगरूढ़स्य योगिनः।
भवेदभ्यासतोऽवश्यं नात्र कार्या विचारणा।।
गोपनीया प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।
यां तु प्राप्य भवाम्भोधेः पारं गच्छन्ति योगिनः।।
मुद्रा कामदुघा ह्येषा साधकानां मयोदिता।
गुप्ताचारेणा कर्तव्या न देया यस्य कस्यचित्।।

१. महामन्द भाग्य वालों को भी सिद्धि की प्राप्ति।

२. शरीर की समस्त नाड़ियों का चालन ( गतिमयता ) और सभी नाड़ियों में वायु-संचार एवं स्फूर्ति।

३. वीर्य की स्थिरता।

४. जीवन में स्थैर्य एवं समस्त पापों का क्षय।

५. कुण्डलिनी शक्ति की प्रबुद्धता और उसका वायुसहित ब्रह्मरन्ध्र में प्रवेश।

६. समस्त रोगों का नाश।

७. जठराग्नि की प्रदीप्ति।

८. शरीर में कान्ति।

९. जरा-वार्धक्य एवं मृत्यु का नाश।

१०. मनोकामनाओं की पूर्ति।

११. सुख की प्राप्ति।

१२. इन्द्रियों पर विजय।

१३. सब कुछ की सिद्धि।

१४. संसार-सागर से पार होना।

हठयोगप्रदीपिका में स्वात्माराम मुनीन्द्र महामुद्रा-साधन के निम्न लाभ बनाते हैं—

१. आधार शक्ति कुण्डली ऋज्वीभूत ( सरल ) हो जाती है।

२. महाक्लेशों ( अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेश ) का अन्त।

३. द्विपुटाश्रया इड़ा-पिंगला नाड़ी की मरणावस्था आ जाती है ( सुषुम्णा नाड़ी में प्राण-प्रवेश )।

४. इड़ा-पिंगला की मृत्यु।

५. इसके साधक को पथ्यापथ्य का विचार नहीं करना पड़ता।

६. समस्त छः हों प्रकार के रसों की सुपाच्यता।

७. खादित विष भी अमृत बन जाता है।

८. क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त, गुल्म एवं इनसे सम्भूत रोगों का नाश।

९. महान् सिद्धियाँ प्रदान करता है।

१०. अजीर्ण का नाश।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः ।
तस्या दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।।

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।। ( ह० प्र० )

महामुद्रा दसों मुद्राओं में प्रथम मुद्रा है। इसकी साधना-विधि यह है कि वाम पाद के मूल ( तलभाग ) से अर्थात् पार्ष्णि से योनि-स्थान ( गुदा-लिंग का मध्यभाग ) को सम्यक् रूप से सम्पीड़ित करके ( दबाकर ) और दक्षिण पैर को फैलाकर ( दक्षिण पाद की पार्ष्णि अर्थात् एडी को भूमि से मिलाकर ) और उसकी उँगलियों को ऊपर करके उस दक्षिण पाद को सिकुड़ी हुई दोनों हाथों की तर्जनियों से दृढ़तापूर्वक अंगुष्ठ के स्थान में जोर से पकड़ना चाहिए। कण्ठ प्रदेश में भली प्रकार जालन्धर नामक बन्ध लगाकर वायु को ऊर्ध्व देश ( सुषुम्ना ) में धारण करना चाहिए। ब्रह्मानन्द ज्योत्स्ना में कहते हैं कि— साम्प्रदायिकों का कथन है कि मूलबन्ध तो योनि के सम्पीड़न एवं जिह्वा के बन्धन से ही चरितार्थ है; पृथक् रूप से मूलबन्ध लगाने का कोई प्रयोजन ही नहीं है।[1]

घेरण्डसंहिता में इस विधान को और अधिक सुस्पष्ट करते हुए कहा गया है कि इसके साधन में— गुह्यप्रदेश को दृढ़तापूर्वक बायीं एड़ी से दबाना चाहिए, दाहिने पैर को फैलाकर हाथ से पैर की उँगलियों को पकड़ना चाहिए और कण्ठ को सिकोड़कर भौहों के मध्य स्थान में देखना चाहिए। यही 'महामुद्रा' है—

पायुमूलं वामगुल्फे सम्पीड्य दृढ़यत्नतः।
याम्यपादं प्रसार्याथ करे धृतपदाङ्गुलः।।

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा भ्रुवोर्मध्ये निरीक्षयेत्।
महामुद्राभिधा मुद्रा कथ्यते चैव सूरिभिः।।

ग्रहयामल में कहा गया है—

योनिप्रदेश को बायीं एड़ी से दबाकर दक्षिण पाँव को फैलाकर मुंह को दोनों हाथों से पकड़कर और उसे कण्ठ में सिकोड़कर कुम्भक करते हुए वायु को रोके।

ऐसा करने से डण्डे से घायल ( चोट खाये ) सर्प के समान कुण्डलिनी खड़ी हो जाती है ( जैसे आहत सर्प )। इस प्रकार कुटिला ( टेढ़ी ) कुण्डलिनी सरल भाव ग्रहण कर लेती है।

इसके बाद कुम्भक से भरी वायु का रेचन कर देना चाहिए। यही साधना-विधि महामुद्रा है—

पादमूलेन वामेन योनिं सम्पीड्य दक्षिणे।
पादं प्रसारितं कृत्वा कराभ्यां धारयेद् दृढम्।।

कण्ठे वक्त्रं समारोप्य धारयेद् वायुमूर्ध्वतः।
यथादण्डाहतः सर्पो दण्डाकारः प्रजायते।।

१. हठयोगप्रदीपिका–ज्योत्स्ना।

ऋज्वीभूता तथा शक्तिः कुण्डली सहसा भवेत्।
तदा सा मरणावस्था जायते द्विपुटाश्रिता।।

तदा शनैः शनैरेव रेचयेत् नैव वेगतः।
इयं खलु महामुद्रा तव स्नेहात् प्रकाश्यते।।

ग्रहयामल में इसकी साधना के अन्य फल भी बताए गए हैं—

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रा तु तेनैव समाख्याता महेश्वरी।।

चन्द्राङ्गेन समभ्यस्य सूर्याङ्गेन समभ्यसेत्।
यावत्संख्या भवेत्तस्या ततः संख्यां विसर्जयेत्।।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमपि जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुदप्लीहपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां च योऽभ्यसेत्।।

कथितेयं महामुद्रा जरामरणनाशिनी।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।

अर्थात् महाक्लेशादि एवं मरणादि दोष भी महामुद्रा के अभ्यास से नष्ट हो जाते हैं। चन्द्रस्वर का अभ्यास करके सूर्यांग से निश्चित संख्यापर्यन्त अभ्यास करने से पथ्यापथ्य एवं विष भी खाने पर पच जाते हैं। क्षयादिक रोग, जरा, मरण आदि सभी का महामुद्रा से नाश हो जाता है।

स्वात्माराम मुनीन्द्र ने भी 'हठयोगप्रदीपिका' इसी तथ्य की इन शब्दों द्वारा पुष्टि की है—

महाक्लेशादयो दोषाः क्षीयन्ते मरणादयः।
महामुद्रां च तेनैव वदन्ति विबुधोत्तमाः।।

चन्द्राङ्गे तु समभ्यस्य सूर्याङ्गे पुनरभ्यसेत्।
यावत्तुल्या भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत्।।

न हि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः।
अपि भुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यति।।

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः।
तस्य दोषाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत्।
कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम्।
गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित्।।

## २. महाबन्ध और उसका स्वरूप

स्वात्माराम मुनीन्द्र ने हठयोगप्रदीपिका में जिन १० मुद्राओं का उल्लेख किया है, उनमें 'महाबन्ध' द्वितीय मुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रा दशकं जरामरणनाशनम्।।

इस मुद्रा का विधान इस प्रकार है कि इसमें साधकों को वाम चरण की पार्ष्णि को योनिस्थान में ( गुदा-लिंग के मध्य स्थान में ) लगाना चाहिए तथा वाम जंघा के ऊपर दक्षिण पाद ( दाहिने पैर ) को रखना चाहिए। इसी स्थिति में बैठना चाहिए—

पार्ष्णि वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत्।
वामोरुपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा।।

इसके अनन्तर पूरक करना चाहिए और हृदय में दृढ़तापूर्वक चिबुक ( ठोढ़ी ) को साध कर ( जालन्धर बन्ध लगाकर ) योनि ( गुदा-लिंग का मध्य भाग ) को संकुचित करके ( मूलबन्ध लगाकर ) मन को मध्य नाड़ी में प्रवेश कराना चाहिए।

फिर वायु को यथाशक्ति ( कुम्भक के द्वारा ) धारण करके शनैः-शनैः वायु का रेचन कर देना चाहिए। इसी प्रकार वामांग में भी भली प्रकार अभ्यास करने के बाद दक्षिणांग में इसका अभ्यास करना चाहिए और यह अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक कि वामांगाभ्यास की संख्या के बराबर न हो जाय।

जहाँ तक जालन्धर बन्ध में कण्ठ के संकोच का उपयोग है, उसके विषय में किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का कथन है कि इस जालन्धर बन्ध में कण्ठ का जो बन्धन ( संकोच ) है, उसे छोड़ देना चाहिए; क्योंकि दाढ़ ( राजदन्त ) के ऊपर अवस्थित जिह्वा का बन्ध ही जालन्धर बन्ध में उचित है; कण्ठ-संकोच की अपेक्षा वही उत्तम है। स्वात्माराम कहते हैं—

पूरयित्वा ततो वायुं हृदये चिबुकं दृढ़म्।
निष्पीड्य योनिमाकुञ्च्य मनो मध्ये नियोजयेत्।।

धारयित्वा यथाशक्ति रेचयेदनिलं शनैः।
सव्याङ्गे तु समभ्यस्य दक्षाङ्गे पुनरभ्यसेत्।।

मतमत्र तु केषाञ्चित् कण्ठबन्धं विवर्जयेत्।
राजदन्तस्थजिह्वायां बन्धः शस्तो भवेदिति।।

शिवसंहिता में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

दाहिना पैर फैलाकर, बायीं जांघ पर रखकर, गुदा और योनि को सिकोड़ कर अपान

वायु को ऊपर चढ़ाकर प्राणवायु को नीचे की ओर खींचकर दोनों को ( नाभिस्थल में ) समान वायु से संयुक्त करके ऊपर उठाने के लिए इस महाबन्ध का अभ्यास जो साधक करता है, उसके लिए यह ( महाबन्ध ) सिद्धिमार्गदायक कहा गया है। योगी के नाड़ी-जाल से रसव्यूह ऊपर की ओर जाता है। इस महाबन्ध का अभ्यास बड़ी सावधानी से दोनों पैरों से बारी-बारी से करना चाहिए। इस बन्ध के अभ्यास से सुषुम्णा नाड़ी के भीतर वायु स्थित हो जाती है। इसके अभ्यास से शरीर के अस्थिपञ्जर का ढांचा सुदृढ़ होता है। सभी बन्ध संयत होते हैं और योगी का हृदय सन्तुष्ट हो जाता है।

इस महाबन्ध के अभ्यास से योगीन्द्र अपनी समस्त इच्छायें पूरी कर सकता है।[१]

घेरण्डसंहिता में ऋषि घेरण्ड ने इस मुद्रा को इस प्रकार स्पष्ट करने का प्रयास किया है— बायीं एड़ी से गुदामूल का निरोध करके दाहिने पैर से यत्नपूर्वक बायीं एड़ी को दबाता हुआ धीरे-धीरे गुह्यदेश को चालित करे एवं धीरे-धीरे गुह्यदेश को सिकोड़े तथा जालन्धर बन्ध से प्राणवायु को धारण करे। इसी मुद्रा की आख्या है— 'महाबन्ध'। ऋषि घेरण्ड कहते हैं कि महाबन्ध सभी मुद्राओं में श्रेष्ठ है। यह जरा-मृत्यु को दूर करती है। इसके प्रभाव से सभी मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं—

महाबन्धः परो बन्धो जरामरणनाशनः।
प्रसादादस्य बन्धस्य साधयेत् सर्ववाञ्छितम्।।

**महाबन्ध मुद्रा के फल**— स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका में कहते हैं कि महाबन्ध ( राजदन्तों में स्थित जिह्वा का बन्ध ) ७२००० नाड़ियों की ऊर्ध्व गति का प्रतिबन्धक है। नाड़ियों के जाल का जो बन्धन करे, उसे 'जालन्धर बन्ध' कहते हैं। महा-बन्ध महासिद्धियों का प्रदायक है—

अयं तु सर्वनाड़ीनामूर्ध्वं गतिनिरोधकः।
अयं खलु महाबन्धो महासिद्धिप्रदायकः।।

---

१. ततः प्रसारितः पादो विन्यस्य तमुरूपरि।।
गुदयोनिं समाकुञ्च्य कृत्वा चापानमूर्ध्वगम्।
योजयित्वा समानेन कृत्वा प्राणमधोमुखम्।।
बन्धयेदूर्ध्वगत्यर्थं प्राणापानेन यः सुधीः।
कथितोऽयं महाबन्धः सिद्धिमार्गप्रदायकः।।
नाड़ीजालाद्रसव्यूहो मूर्धानं याति योगिनः।
उभाभ्यां साधयेत् पद्भ्यामेकैकेसु प्रयत्नतः।।
भवेदभ्यासतो वायुः सुषुम्णामध्यसङ्गतः।
अनेन वपुषः पुष्टिर्दृढबन्धोऽस्थिपञ्जरे।।
सम्पूर्णहृदयो योगी भवन्त्येतानि योगिनः।
बन्धेनानेन योगीन्द्रः साधयेत्सर्वमीप्सितम्।।( शिवसंहिता-३७-४२ )

इतना ही नहीं; यह मुद्रा मृत्युपाशस्वरूप महाबन्धन से मुक्ति प्रदान कराती है; तीन नदियों के संगम ( प्रयाग ) को धारण करती है और भृकुटियों के मध्य स्थान में अवस्थित भगवान् शिव के धाम केदार तीर्थ को भी प्राप्त कराती है—

कालपाशमहाबन्धविमोचनविचक्षण: ।
त्रिवेणीसङ्गमं धत्ते केदारं प्रापयेन्मन:।।

## ३. महावेध और उसका यथार्थ स्वरूप

स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका में कहते हैं कि योगी महाबन्ध मुद्रा में स्थित होकर एकाग्र बुद्धि से पूरक प्राणायाम करके कण्ठमुद्रा ( जालन्धर मुद्रा ) से प्राणादिक वायुओं को ( जो कि ऊर्ध्व अधोगत्यात्मक हैं ) निश्चल रीति से अवरुद्ध करके ( कुम्भक प्राणायाम करके ), हाथ के तलों को भूमि पर रखकर और इन भूमिसंलग्न दोनों हाथों से योनि-स्थान-संलग्न पार्ष्णि वाले वाम पाद से नितम्ब को ऊपर उठाकर धीरे-धीरे ताडित करे।

इसके परिणामस्वरूप इडा-पिंगला के मार्ग का त्याग करके प्राण सुषुम्णा नाड़ी में प्रवाहित होने लगता है। फिर चन्द्रमा-सूर्य-अग्नि से अधिष्ठित इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा नाड़ियों की वायु एक हो जाती है। इड़ा-पिंगला के मध्य प्राण-सञ्चार अवरुद्ध हो जाने से उनकी मरणावस्था आ जाती है; क्योंकि इड़ा-पिंगला में प्राण-सञ्चार ही उनका जीवन है। इस मरणावस्था के प्रस्तुत होने पर वायु का विरेचन कर देना चाहिए।[१]

इसी यौगिक मुद्राभ्यास को 'महावेध' कहते हैं।

घेरण्डसंहिता में इस विधान को और अधिक सुस्पष्ट रीति से समझाते हुए कहा गया है कि प्रथमत: महाबन्धमुद्रा का अभ्यास करे और फिर उड्डीयान बन्ध करके कुम्भक द्वारा वायु का स्तम्भन करे इसे ही 'महावेध' कहते हैं।[२]

शिवसंहिता में इसके स्वरूप को इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है— अपान एवं प्राण को एकीकृत करके महावेध में स्थित होकर योगी अपने उदर को वायु से पूरित करके दोनों पार्श्वों को ताड़ित करे। यही 'महावेध' का स्वरूप है।[३]

अभ्यासपटु योगी वायु के द्वारा सुषुम्णा मार्ग में स्थित ग्रन्थि को अच्छी तरह संविद्ध

---

१. महाबन्धस्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधी:। वायूनां गतिमावृत्त्यां निभृतं कण्ठमुद्रया।।
समहस्तयुगो भूमौ स्फिचौ सन्ताडयेच्छनै:। पुटद्वयमतिक्रम्य वायु: स्फुरति मध्यग:।।
सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै। मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।।

२. महाबन्धं समारुह्य उड्डीयानकुम्भकं चरेत्। महावेध: समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायक:।।

३. अपानप्राणयोरैक्यं कृत्वा त्रिभुवनेश्वरि।
महावेधस्थितो योगी कुक्षिमापूर्य वायुना।
स्फिचौ सन्ताडयेद्धीमान् वेधोऽयं कीर्तितो मया।।

करके ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करता है। जो योगी महावेध को गोपनीय रखकर सदैव इसका अभ्यास करता रहता है, उसकी वायु सिद्ध हो जाती है और इसके परिणामस्वरूप उसके वार्धक्य एवं मृत्यु का नाश हो जाता है। वृद्धावस्था तारुण्य में रूपान्तरित हो जाती है और मृत्यु उसके वशीभूत हो जाती है।

महावेध के अभ्यास से रहित महामुद्रा और महाबन्ध दोनों निष्फल हो जाते हैं। अतः योगी को महामुद्रा, महाबन्ध एवं महावेध— तीनों का अभ्यास यथाक्रम बड़ी ही सावधानी-पूर्वक करना चाहिए।

प्रत्येक योगी को ( सिद्धि-प्राप्ति की इच्छा रखने वाले योगी को ) इन तीनों अभ्यासों को सावधानीपूर्वक गोपनीय रखना चाहिए; अन्यथा गोपनीयता नष्ट होने पर सिद्धि भी नष्ट हो जाती है।[१]

**महावेध का महत्त्व**— जिस प्रकार पुरुषों के विना नारी का समस्त रूप-लावण्य एवं यौवन व्यर्थ रहता है, उसी प्रकार महावेध के विना मूलबन्ध एवं महाबन्ध भी व्यर्थ एवं निरर्थक हो जाते हैं—

रूपयौवनलावण्यं नारीणां पुरुषं विना।
मूलबन्धमहाबन्धौ महावेधं विना यथा।।[२]

यह महासिद्धिदायक मुद्रा है—

महाबन्धं समारुह्य उड्डीयानकुम्भकं चरेत्।
महावेधः समाख्यातो योगिनां सिद्धिदायकः।।

जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करते हैं, वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं और उन पर वृद्धावस्था आक्रमण नहीं करती। यह परम गुह्य अभ्यास है; अतः इसे सदैव गोपनीय रखना चाहिए।[३]

## महावेध के अभ्यास का फल

१. सुषुम्णा में प्राण-सञ्चरण ( प्राणवायु की मध्य नाड़ी में गति )।

२. इडा-पिंगला की ( वायु-सञ्चार न होने से ) मृत्यु।

---

१. गोपनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिमीप्सुभिः।
अन्यथा च न सिद्धिः स्यान्मुद्राणामेष निश्चयः।। ( शिवसंहिता )

२. घेरण्डसंहिता

३. महाबन्धमूलबन्धौ महावेधसमन्वितौ।
प्रत्यहं कुरुते यस्तु स योगी योगवित्तमः।।
न च मृत्युभयं तस्य न जरा तस्य विद्यते।
गोपनीयः प्रयत्नेन वेधोऽयं योगिपुङ्गवः।।
( घेरण्डसंहिता-२३-२४ )

३. सोम, सूर्य, अग्नि ( इड़ा-पिंगला-सुषुष्णा ) का मोक्ष का साधन बन जाना ( जायते चामृताय वै )।

४. अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति। वली-पलित-वेपथु का नाश ( केशों की शुक्लता का दूरीकरण )।

५. अणिमादिक सिद्धियों की प्राप्ति। वली-पलित-वेपथु का नाश ( केशों की शुक्रता का दूरीकरण )।

६. जरा-मृत्यु का नाश।

७. वह्नि-वृद्धि[१]।

८. वायु-सिद्धि।

९. वार्धक्य-जरा-क्षय।

१०. सुषुम्णा मार्ग से वायु के प्रवेश एवं ताडन से सभी चक्र एवं उनके देवता— गणेश, ब्रह्मा, विष्णु, महादेव, ईश्वर आदि का प्रकम्पित होने लगना।

११. कुण्डलिनी शक्ति का जागृत होकर कैलास ( ब्रह्मस्थान ) में लीन हो जाना।

१२. तीनों मुद्राओं के अभ्यास से ६ मासों में मृत्यु पर विजय।

१३. सिद्धि की प्राप्ति[२]।

तीनों क्रियाओं के अभ्यास की संख्या का विधान निम्नानुसार है—

अष्टधा क्रियते चैव यामे-यामे दिने-दिने।
पुण्यसम्भारसन्धायि पापौघभिदुरं सदा।
सम्यक्शिक्षावतामेवं स्वल्पं प्रथमसाधनम्।।

( हठयोगप्रदीपिका-३.२१ )

---

१. सोमसूर्याग्निसम्बन्धो जायते चामृताय वै।
मृतावस्था समुत्पन्ना ततो वायुं विरेचयेत्।।
महावेधोऽयमभ्यासान्महासिद्धिप्रदायक:।
वलीपलितवेपघ्न: सेव्यते साधकोत्तमै:।।
एतत्त्रयं महागुह्यं जरामृत्युविनाशनम्।
वह्निवृद्धिकरं चैव ह्यणिमादिगुणप्रदम्।। ( हठयोगप्रदीपिका )

२. वेधेनानेन संविध्य वायुना योगिपुङ्गव:।
ग्रन्थिं सुषुम्णामार्गेण ब्रह्मग्रन्थिं भिनत्यसौ।।
य: करोति सदाभ्यासं महावेधं सुगोपितम्।
वायुसिद्धिर्भवेत्तस्य जरामरणनाशिनी।।
चक्रमध्ये स्थिता: देवा: कम्पन्ति वायुताडनात्।
कुण्डल्यपि महामाया कैलासे सा विलीयते।।
एतत् त्रयं प्रयत्नेन चतुर्वारं करोति य:।
षण्मासाभ्यन्तरं मृत्युं जयत्येव न संशय:।। ( शिवसंहिता )

## ४. खेचरी मुद्रा और उसका स्वरूप

कपाल छिद्र में जिह्वा-प्रवेश के साथ भृकुटियों के मध्य का दर्शन करना ही खेचरी मुद्रा कहलाती है—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
( हठयोगप्रदीपिका-३.३२ )

**खेचरी मुद्रा की साधना-विधि**— जिह्वा के नीचे जिह्वा और उसकी जड़ को मिलाने वाली जो नाड़ी है, उसका छेदन करता हुआ निरन्तर रसनाग्र भाग को परिचालित करे। ऐसा प्रतिदिन करने से जिह्वा बड़ी हो जाती है। क्रम से अभ्यास द्वारा जिह्वा को इतनी लम्बी करे कि वह भौंहों के मध्य तक पहुँच जाय। जिह्वा को क्रमशः तालुमूल में ले जाना चाहिए। तालु के मूल में जो गर्त ( गड्ढा ) है, उसे 'कपालकुहर' कहते हैं। जिह्वा को कपाल-कुहर के मध्य ऊपर की ओर उल्टी करके स्थापित करना चाहिए और दोनों भौंहों के मध्य स्थान को लगातार देखना चाहिए। यही विधि एवं विधान 'खेचरी मुद्रा' है।[१]

योगसाधक को अनेक प्रकार के साधन-सम्बन्धी विघ्नों या उपद्रवों को दूर करके वज्रासनस्थ होकर, दोनों भौंहों के मध्य में दृढ़तापूर्वक दृष्टि को संयत करके लम्बिका के ऊपर स्थित गर्त में रसना को उलटकर प्रयत्नपूर्वक सुधाकूप ( अमृत के कूपस्वरूप तालु-विवर ) में संयोजित करना चाहिए।[२]

यह खेचरी मुद्रा समस्त सिद्धियाँ प्रदान करने वाली है। भगवान् शिव कहते हैं कि खेचरी मुद्रा मुझे प्राणों से भी अधिक प्रिय है—

---

१ जिह्वाधोनाड़ीसञ्छिन्नां रसनां चालयेत् सदा।
दोहयेन्नवनीतेन लोहयन्त्रेण कर्षयेत्।।
एवं नित्यं समाभ्यासाल्लम्बिका दीर्घतां व्रजेत्।
यावद्गच्छेद् भ्रुवोर्मध्ये तथा गच्छति खेचरी।।
रसनां तालुमध्ये तु शनैः शनैः प्रवेशयेत्।
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोर्मध्ये गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।
( घेरण्ड संहिता-२५-२७ )

२. भ्रुवोरन्तर्गतां दृष्टिं विधाय सुदृढां सुधीः।।
उपविश्यासने वज्रे नानोपद्रववर्जितः।।
लम्बिकोर्ध्वे स्थिते गर्ते रसनां विपरीतगाम्।।
संयोजयेत्प्रयत्नेन सुधाकूपे विचक्षणः।
मुद्रैषा खेचरी प्रोक्ता भक्तानामनुरोधतः।।५३।।
( शिवसंहिता-५१-५३ )

सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।

यदि साधक इसका निरन्तर अभ्यास करता रहे तो वह अमृतपान करने लगता है। उसका शरीर पक्व-पुष्ट हो जाता है। यह खेचरी मुद्रा मृत्युरूपी हाथी के लिए साक्षात् सिंह के समान है। साधक चाहे कितना भी अपवित्र क्यों न हो; किन्तु यदि उसकी खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाती है तो वह सभी अवस्थाओं में शुद्ध हो जाता है। जो योगी मात्र आधे क्षण के लिए ही इस खेचरी मुद्रा का अभ्यास करता है, वह पाप-महासागर को भी पार करके समस्त दिव्य भोगों का आस्वादन करता है। यदि उसे जन्म भी लेना पड़े तो पवित्र कुल में ही जन्म लेता है।

जो योगी इस मुद्रा का अभ्यास स्वस्थ चित्त एवं प्रमादरहित होकर करता है, उसके लिए सैकड़ों ब्रह्मा के कार्यकाल व्यतीत हो जाने पर भी वह आधे क्षण के ही समान प्रतीत होता है। गुरु के उपदेश से जिस साधक को यह खेचरी सिद्ध हो जाती है, वह अनेक- विध पाप-कर्म में प्रवृत्त रहकर भी परम गति को प्राप्त कर लेता है। हे देवों के द्वारा पूजित पार्वति! इस मुद्रा का उपदेश सभी को ( जिस-किसी को ) नहीं करना चाहिए; केवल सुपात्र साधक ही इसके अभ्यास का अधिकारी होता है। इस मुद्रा को बड़ी ही सावधानी से गोपनीय रखना चाहिए।[१]

**हठयोगप्रदीपिका में निर्दिष्ट साधना-विधि**— साधक को अपनी जीभ की जड़ को सात दिनों में एक बार थोड़ा-थोड़ा काट कर और जीभ में मक्खन लगाकर जीभ का प्रतिदिन दोहन करना चाहिए एवं उसे खींच-खींचकर इतनी बड़ी कर लेनी चाहिए कि वह भौंह तक पहुँच जाय और फिर उसे मुख के अन्दर उल्टा करके कपालकुहर में

---

१. सिद्धीनां जननी ह्येषा मम प्राणाधिकप्रिया।
निरन्तरकृताभ्यासात्पीयूषं प्रत्यहं पिबेत्।।
तेन विग्रहसिद्धिः स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी।
अपवित्रः पवित्रो वा सर्वावस्थाङ्गतोऽपि वा।
खेचरी यस्य शुद्धा तु स शुद्धो नात्र संशयः।।
क्षणार्धं कुरुते यस्तु तीर्त्वा पापमहार्णवम्।
दिव्यभोगान् प्रभुक्त्वा च सत्कुले स प्रजायते।।
मुद्रैषा खेचरी यस्तु स्वस्थचितो ह्यतन्द्रितः।
शतब्रह्मगतेनापि क्षणार्धं मन्यते हि सः।।
गुरूपदेशतो मुद्रां यो वेत्ति खेचरीमिमाम्।
नानापापरतो धीमान् स याति परमां गतिम्।।
सा प्राणसदृशी मुद्रा यस्मै कस्मै न दीयते।
प्रच्छाद्यते प्रयत्नेन मुद्रेयं सुरपूजिते।।
( शिवसंहिता-५४-५९ )

स्थापित करके श्वासनलिका को भी थोड़ी-थोड़ी देर के लिए बन्द कर देना चाहिए। ऐसा करने से चन्द्रमा से निपतित अमृत मूलाधार-स्थित अग्नि में न गिरकर साधक को स्वयं प्राप्त होने लगता है; जिससे कि वह जरा-मृत्यु-विष आदि सभी पर विजय पाकर मृत्युञ्जयी बन जाता है। इसी समय योगी को अपने नेत्रों को त्रिकुटी के मध्य स्थिर करना चाहिए। शाम्भवी मुद्रा भी करते रहना चाहिए।[1]

**खेचरी मुद्रा के अभ्यास में निहित क्रियायें—** इस मुद्रा के अभ्यास में मुख्यतः निम्न क्रियायें है—

१. कपालकुहर में जिह्वा की स्थिरतापूर्वक स्थापना।

२. दोनों भौंहों के मध्य दृष्टि को स्थिर करना।

जिह्वागत अन्य क्रियायें हैं— जिह्वा का छेदन, जिह्वा का चालन एवं जिह्वा का दोहन[2]।

खेचरी मुद्रा के अभ्यास में व्योमचक्र एवं शाम्भवी मुद्रा प्रधान कारक तत्त्व हैं।

छेदनादि से जिह्वा के लम्बी हो जाने पर जिह्वा को तीनों नाड़ियों के मार्ग ( कपाल छिद्र, में स्थिर करना ( व्योम चक्र ) आवश्यक है।

कलां पराङ्मुखी कृत्वा त्रिपथे परियोजयेत्।<br>
सा भवेत् खेचरी मुद्रा व्योमचक्रं तदुच्यते।।[3]

हाथ के अंगूठे एवं तर्जनी से जिह्वा को पकड़कर वाम एवं दक्षिणरूप से हिलाना और अंगूठे तथा तर्जनी से गोदोहन के समान जिह्वा का दोहन तब तक करना चाहिए,

---

१. कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।<br>
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।। ( स्वात्माराम मुनीन्द्र हठयोगप्रदीपिका )<br>
भास्करराय 'सेतुबन्ध' में कहते हैं कि भगवती त्रिपुरसुन्दरी ही स्वयं खेचरी मुद्रा बनकर सर्वरोगहर चक्र में स्थित हैं— 'यानि पापानि ये च रोगास्तेषां सर्वेषां नाशं कुर्वती या विशेषदर्शनात्मिका प्रमा तदभिन्ना संविन्मयी निर्विषयज्ञानपरा क्रिया शक्त्यभिन्ना त्रिपुरसुन्दर्येव खेचरी भूत्वा सर्व-रोगहरे चक्रे स्थिता।'

२. छेदनचालनदोहैः कलां क्रमेण वर्धयेत्तावत्।<br>
सा यावद् भ्रूमध्यं स्पृशति तदा खेचरीसिद्धिः।।<br>
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम्।<br>
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत्।।<br>
ततः सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत्।<br>
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिदेत्।।<br>
एवं क्रमेण षण्मासं नित्यं युक्तः समाचरेत्।<br>
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति।।<br>
( हठयोगप्रदीपिका-३.३३-३६)

३. हठयोगप्रदीपिका ( तृतीयोपदेश ३.३७ )

जब तक कि वह भ्रुवद्वय के मध्य भाग का स्पर्श न कर ले। स्नुही ( सेहुँड़ ) के पत्ते के समान तीक्ष्ण एवं चिकने तथा निर्मल ( निर्दोष ) शस्त्र से जिह्वा के मूल की नाड़ी को रोम के बराबर काटना ( छेदन करना ) चाहिए। इस छेदन के बाद चूर्ण किए हुए लवण ( सैन्धव ) एवं हरड से जिह्वा के मूल को पूर्णतया घिस कर सात दिनों तक प्रतिदिन छेदन एवं घर्षण प्रत्येक प्रात:काल एवं सायंकाल करना चाहिए। योगियों के लिए लवण का प्रयोग निषिद्ध है। इसके स्थान पर खदिर ( कत्था ) और पथ्या का चूर्ण लेना चाहिए। सात दिन व्यतीत हो जाने पर आठवें दिन पुन: रोममात्र जीभ की जड़ को काटना ( छेदन करना ) चाहिए; किन्तु इस बार भी ( प्रथम बार से अधिक ) रोममात्र ही जिह्वा की जड़ का कर्तन ( छेदन ) करना चाहिए।

खेचरी मुद्रा में जिह्वा की क्रियायें हैं— छेदन, चालन, दोहन एवं जिह्वा स्थापन।

इसके अनन्तर जिह्वा को उलटकर और उसे कपाल-कुहर में स्थापित करके ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमा से स्रवित अमृत को ( पातालस्थ सूर्य से छीनकर ) स्वयं पीना। इसमें पाँचवीं किया है— भ्रूमध्य में दृष्टिस्थापन।

**खेचरी मुद्रा-सिद्धि के फल—**

खेचरी मुद्रा के सिद्ध हो जाने पर निम्न परिणाम एवं सिद्धियाँ दृष्टिगोचर होती हैं—

१. तालुछिद्र में एक घटिका ( मुहूर्त ) मात्र की जिह्वा की स्थिरता से धातुवैषम्य से उत्पन्न व्याधि, मृत्यु, वार्धक्य एवं सर्प-वृश्चिक-दंश के विष के प्रभावों से मुक्ति[१]।

२. रोग, मरण, तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्च्छा आदि से मुक्ति।

३. रोग एवं पीड़ा, कर्म-फल एवं काल के प्रभाव से मुक्ति।

४. बिन्दु-क्षरण से मुक्ति ( बिन्दु-स्थैर्य-बिन्दु का ऊर्ध्वीकरण )।

---

१. रसनामूर्ध्वगां कृत्वा क्षणार्धमपि तिष्ठति।
विषैर्विमुच्यते योगी व्याधिमृत्युजरादिभि:।।
न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा।
न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम्।।
खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वत:।
न तस्य सरते बिन्दु: कामिन्या श्लेषितस्य च।।
चलितोऽपि यदा बिन्दु: सम्प्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हत: शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।।
ऊर्ध्वजिह्व: स्थिरो भूत्वा सोमपानं करोति य:।
मासार्धेन न सन्देहो मृत्युं जयति योगवित्।।
( हठयोगीप्रदीपिका-३.३८-४४ )

जो योगी तालु के ऊपर के छिद्र में क्षणार्ध भी स्थिर रहता है, वह धातुओं के वैषम्य-रूप व्याधि एवं मृत्यु-जरा-वार्धक्य तथा वृश्चिक-सर्पादि-दंश के विष-प्रभाव से मुक्त रहता है।

वह योगी, जो खेचरी मुद्रा को जानता है— रोग, मृत्यु एवं अन्तःकरण की तमोगुणी वृत्तिरूप तन्द्रा, निद्रा, क्षुधा, तृषा एवं ( तमोगुणात्मिक ) मूर्च्छा आदि के दुष्परिणामों एवं इनकी समस्त दशाओं से मुक्त रहता है। वह योगी रोग की पीड़ा से कभी पीड़ित नहीं होता और न तो काल के पाश में बाँधा ही जा पाता है। जिस योगी ने खेचरी मुद्रा से लम्बिका ( तालु ) के ऊर्ध्ववर्ती छिद्र ( कपालकुहर ) को आच्छादित कर लिया है, वह कामिनियों के मृदु स्पर्श से भी अक्षुब्ध रहता है तथा उसका शुक्र ( रेतस् ) कभी भी क्षरित नहीं होता। उसका बिन्दु ( शुक्र ) मस्तक से नीचे कभी गिरता ही नहीं। यदि उसका बिन्दु चलायमान होता भी है और मदनागार में गिर भी जाता है तो योगी योनिमुद्रा ( जननेन्द्रिय-संकोचन ) के द्वारा वज्रोली क्रिया की सहायता से उसे ऊपर खींचकर पुनः सुषुम्णा मार्ग द्वारा मस्तक में चढ़ा लेता है—

चलितोऽपि यदा बिन्दुः सम्प्राप्तो योनिमण्डलम्।
व्रजत्यूर्ध्वं हृतः शक्त्या निबद्धो योनिमुद्रया।।

जो योगी कपालकुहर में गिरते हुए चन्द्रामृत का पान करता है ( ऊर्ध्व छिद्र में गिरे हुए पीयूष का पान करता है ), वह योगज्ञाता योगी पन्द्रह दिनों में ही मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। जिस योगी का शरीर नित्य चन्द्रकला ( अमृत ) से पूर्ण रहता है, उसके शरीर को यदि तक्षक नाग भी काट ले तो उसके शरीर पर उसके विष का कोई प्रभाव नहीं होता।

जिस प्रकार अग्नि को यदि लकड़ी मिलती रहे तो वह कभी नहीं बुझती और यदि दीपक को तेल मिलता रहे तो वह भी नहीं बुझता; ठीक उसी प्रकार यदि शरीर को ब्रह्मरन्ध्र से गिरने वाला सोमकलात्मक अमृत प्राप्त होता रहे तो जीवात्मा ऐसे शरीर का कभी त्याग नहीं करता अर्थात् ऐसा अमृतप्राप्त शरीर मृत्युञ्जयी होता है, मृत्युपाश से अतीत होता है। इसीलिये योगी के लिए यह विधान है कि वह प्रतिदिन गोमांस का भक्षण करे और वारुणी ( सुरा ) का सेवन करे।

**गोमांस-भक्षण का अर्थ**— गोमांस के भक्षण का अर्थ गौ नामक पशु के मांस का भक्षण नहीं है; प्रत्युत जिह्वा के मूल को सात-सात दिनों पर सूत्र की मोटाई में काटना है। चूँकि इस विधान में जिह्वा के मांस को काटना पड़ता है; अतः उसका लाक्षणिक अर्थ 'मांस-भक्षण' हो गया। किन्तु इस अर्थ ने भी अपने निहितार्थ की अभिव्यक्ति नहीं की और उसका अर्थ 'जिह्वा को तालुप्रदेश में प्रविष्ट कराना' ही स्वीकार किया गया है—

गोशब्देनोदिता जिह्वा तत्प्रवेशो हि तालुनि।
गोमांसभक्षणं तत्तु महापातकनाशनम्।।[१]

यह यौगिक साधना वाला ( खेचरीगत ) गोमांस-भक्षण बड़े से बड़े पाप को भी नष्ट कर देता है।

**अमरवारुणी का अर्थ**— वैसे तो अमरवारुणी का अर्थ है— देवताओं की शराब या अमरत्व प्रदान करने वाली शराब; किन्तु वस्तुत: यह कोई सुरा ( शराब ) है ही नहीं; प्रत्युत यह ब्रह्मरन्ध्र में स्थित चन्द्रमा से चूने वाला अमृत है। खेचरी मुद्रा सिद्ध हो जाने पर उपर्युक्त ऊर्ध्वजिह्व योगी उपर्युक्त ( ब्रह्मरन्ध्र से स्रवित ) पीयूष को पीने लगता है। यह ब्रह्मरन्ध्रस्थ चन्द्रमा से नि:सृत अमृत ही अमरवारुणी की आख्या से प्रसिद्ध है—

जिह्वाप्रवेशसम्भूतवह्निनोत्पादित: खलु।
चन्द्रात् स्रवति य: सार: स स्यादमरवारुणी।।[२]

**खेचरी शब्द का अर्थ**— वस्तुत: खेचरी शब्द आकाश में सञ्चरण का द्योतक है। खेचरी का अर्थ है— 'ख' ( आकाश ) में 'चरण' ( सञ्चरण ) करने वाली या कराने वाली। अभिधेय अर्थ में यह शब्द एक विशिष्ट मुद्रा को संकेतित करता है—

कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा।
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।।[३]

कपाले मूर्ध्नि कुहरं सुषिरं तस्मिन् कपालकुहरे विपरीतं प्रतीपं गच्छतीति विपरीतगा पराङ्मुखीभूता जिह्वा रसना स्यात्। भ्रुवोरन्तर्गता भ्रुवोर्मध्ये प्रविष्टा दृष्टिर्दर्शनं स्यात्। सा खेचरी मुद्रा भवति। कपालकुहरे जिह्वाप्रवेशपूर्वकं भ्रुवोरन्तर्दर्शनं खेचरीति लक्षणं सिद्धम्।।'[४]

इसी भाव को इन शब्दों में भी व्यक्त किया गया है—

चित्तं चरति खे यस्माज्जिह्वा चरति खे गता।
तेनैषा खेचरी नाम मुद्रा सिद्धैर्निरूपिता।।

क्योंकि इस मुद्रा के द्वारा चित्त ( अन्त:करण ) दोनों भृकुटियों के मध्यस्थान में स्थित आकाश में विचरण करता है और जिह्वा भी दोनों भृकुटियों के मध्य में ही विचरण करती है; अत: इस 'ख' ( आकाश ) में सञ्चरण कराने वाली ( चित्त एवं जिह्वा दोनों को आकाश मार्ग में स्थिर कराने वाली ) मुद्रा को खेचरी कहते हैं। जिस मुद्रा के करने से जिह्वा भृकुटियों के मध्य भाग में स्थित आकाश में विचरण करे, उसे 'खेचरी' कहते हैं।[५]

इस मुद्राभ्यास के समय योगी की जिह्वा यदि तालु के ऊर्ध्ववर्ती विवर का निरन्तर स्पर्श

---

१. हठयोगप्रदीपिका ( तृ० उप० )
२. हठयोगप्रदीपिका ( तृ० उप० )
३. हठयोगप्रदीपिका ( तृ० उप० )
४. ज्योत्स्ना ( ब्रह्मानन्द गिरि )
५. हठयोगप्रदीपिका।

करती हुई चन्द्रकलामृत का पान करती रहे तो योगी समस्त रोगादिक व्याधियों, वृद्धावस्था एवं शस्त्राघात के प्रभावों से निर्मुक्त रहता है और साथ ही अमृतत्व की प्राप्ति करता है—

व्याधीनां हरणं जरान्तकरणं शस्त्रागमोदीरणं,
तस्य स्यादमरत्वमष्टगुणितं सिद्धाङ्गनाकर्षणम्।

वह अणिमादिक सिद्धियों को भी प्राप्त कर लेता है और सिद्ध रमणियों को भी अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है।[१]

जो योगी जिह्वा को कपालकुहर ( तालुरन्ध्र ) में ले जाकर और जिह्वा को ऊर्ध्वमुखी करके परमशक्ति कुण्डलिनी का ध्यान करता हुआ प्राणवायु के साधन एवं हठयोग से प्राप्त कण्ठस्थ षोडशदल पद्म में गिरते हुए अमृत का पान करता है, वह रोगरहित हो जाता है और उसका शरीर कमलनाल के समान मसृण हो जाता है; साथ ही वह अमृतायित शरीर के साथ चिर काल तक जीवित रहता है—

उत्कल्लोलकलाजलं च विमलं धारामयं यः पिबेति।
निर्व्याधिः स मृणालकोमलवपुर्योगी चिरं जीवति।।

मेरु ( सुषुम्ना ) के ऊर्ध्व भाग में स्थित कपालकुहर में चन्द्रकलामृत ( प्रालेय ) जल रहता है। उसमें तम एवं रजोगुण से परे तथा सतोगुण से सम्पन्न विद्वान् आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करता है। यही विवर सुषुम्ना, इड़ा, पिंगला आदि प्रमुख प्राणवाहिनी नाड़ियों का उद्गम स्थान है। शरीर का सारतत्त्व चन्द्रामृत है। यह द्रवित होकर अधोगमन करता हुआ सूर्य के मुख में गिरता है। इस अमृत को नीचे गिरने से रोकने की यह क्रिया ही खेचरी क्रिया है। इसके द्वारा कायसिद्धि ( शरीर का अमरत्व ) प्राप्त होती है[२]—

यत्प्रालेयं प्रहितसुषिरं मेरुमूर्धान्तरस्थं
तस्मिंस्तत्त्वं प्रवदति सुधीस्तन्मुखं निम्नगानाम्।
चन्द्रात्सारः स्रवति वपुषस्तेन मृत्युर्नराणां
तद् बध्नीयात्सुकरणमथो नान्यथा कायसिद्धिः।।

नाड़ियों के पाँच स्रोतों से युक्त ( इड़ा आदि नाड़ियों के प्रवाह से युक्त ) विवर ( कपालकुहर ) ज्ञान का भी उद्गम स्थान है। उस शून्य निरञ्जनस्वरूप विवर में खेचरी मुद्रा स्थिर हो जाती है। प्रणवात्मक ( सृष्टिमय ) बीज केवल एक है। मुद्राओं में प्रधानतम मुद्रा केवल एक है और वह खेचरी है। निराधार एवं निरञ्जन परमात्मा भी मात्र एक ही है। सर्वोच्च अवस्था भी केवल एक ही है और वह है— 'मनोन्मनी'—

एकं सृष्टिमयं बीजमेका मुद्रा च खेचरी।
एको देवो निरालम्ब एकावस्था मनोन्मनी।।[३]

**घेरण्ड ऋषि का मत**— जिस योगी को खेचरी मुद्रा सिद्ध हो गई हो; उसे मूर्च्छा,

१-३. हठयोगप्रदीपिका।

क्षुधा, पिपासा, आलस्य, रोग, जरा एवं वृद्धावस्था का भय नहीं रह जाता; क्योंकि ये योगी को प्रभावित नहीं कर पाते। ऐसे योगी को न आग जला सकती है और न वायु शुष्क कर सकता है। न जल उसे आर्द्र कर सकता है और न ही सर्प उसे काट सकता है। इस मुद्रा-सिद्धि से योगी के शरीर में दिव्य कान्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। इसके द्वारा कपाल और रसना के योग से अनेक रसों का प्रादुर्भाव होता है और समाधि जैसी उच्च योगावस्था प्राप्त हो जाती है। इसके द्वारा ही रसना के योग से अनेक रस उत्पन्न हो जाते हैं। इतना ही नहीं; इस मुद्रा के द्वारा जिह्वा से विलक्षण रसों का सञ्चार होता है और विशेषाह्लाद प्राप्त होता है। इसके कारण खारे, तीते, कषाय आदि रसों का उद्रेक होता है। इसके साथ ही इसके द्वारा मक्खन, घृत, दही, दूध, तक्र, मधु, दाख एवं अमृत के स्वाद की भी अनुभूति होती है—

न च मूर्च्छा क्षुधा तृष्णा नैवालस्यं प्रजायते।।

न च रोगो जरामृत्युर्देवदेहं प्रपद्यते।<br>
नाग्निना दह्यते गात्रं न शोषयति मारुतः।।

न देहं क्लेदयन्त्यापो दंशयेन्न भुजङ्गमः।<br>
लावण्यं च भवेद् गात्रे समाधिर्जायते ध्रुवम्।।

कपालवक्त्रसंयोगे रसना रसमाप्नुयात्।<br>
नानारससमुद्भूतमानन्दं च दिने दिने।।

आदौ लवणक्षारं च ततस्तिक्तकषायकम्।<br>
नवनीतं घृतं क्षीरं दधितक्रमधूनि च।<br>
द्राक्षारसं च पीयूषं जायते रसनादिकम्।।[1]

**नित्याषोडशिकार्णव** ( चतुश्शती: वामकेश्वरीमत ) **के अनुसार खेचरी मुद्रा का स्वरूप**— वामकेश्वरतन्त्र या नित्याषोडशिकार्णव में खेचरी मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

सव्यं दक्षिणदेशे तु दक्षिणं सव्यदेशतः।<br>
बाहुं कृत्वा महेशानि हस्तौ सम्परिवर्त्य च।।

कनिष्ठानामिके देवि! युक्त्वा तेन क्रमेण तु।<br>
तर्जनीभ्यां समाक्रान्ते सर्वोर्ध्वमपि मध्यमे।।

अङ्गुष्ठौ तु महेशानि मारयेत् सरलावपि।<br>
इयं सा खेचरी नाम्ना मुद्रा सर्वोत्तमा प्रिये।।

इसका अर्थ निम्नानुसार है— 'प्रथमं सव्यं बाहुं दक्षिणदेशे दक्षिणं बाहुं सव्यदेशे

---

१. घेरण्ड संहिता ( ३/२८-३२ )।

कृत्वा पुनर्हस्तौ परस्परतः सम्परिवर्त्य ततः कनिष्ठाद्वयमनामिकाद्वयं च परिवर्त्तनक्रमेण संयोज्य पुनस्तर्जनीभ्यामुभयभागतः समाक्रान्ते मध्यमाङ्गुली-सर्वोर्ध्वतः समुन्नमय्याङ्गुष्ठौ परस्परश्लिष्टौ कुर्यादितीयं खेचर्याख्या सप्तमी मुद्रा।[1]

ग्रन्थान्तर में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—

चिबुकं योजयित्वा तु षोडशस्वरमण्डले।
चन्द्रसूर्याग्निरोधेन मूलशक्तिनिकुञ्चनात्।।

रसनामन्तरा कृत्वा अनच्के धारयेन्मनः।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मानत्वं प्रयच्छति।।[2]

'ज्ञानसार' नामक ग्रन्थ में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

बिन्दुकण्ठसमायोगात् प्रविकास्य शिरोऽम्बुजम्।
चन्द्रसूर्याग्निरोधेन मूलशक्तिं निकुञ्च्य च।।

रौद्रीं कुञ्चिकयोद्घाट्य द्विरष्टकमलोदरे।
रसनामन्तरा कृत्वा नासाग्रे रोपयेद् दृशौ।।

यवमात्रं त्रिकोणं तु मीलनोन्मीलतात्मकम्।
लिहन् स्वरसनाग्रेण पिबन्नमरवारुणीम्।।

सदा समरसीभूतं मनः शून्ये निवेशयेत्।
एषा सा खेचरी मुद्रा उन्मनात्वप्रदायिनी।।[3]

खेचरी मुद्रा 'ज्ञानसार' की दृष्टि से कुछ भिन्न स्वरूप वाली है। इसमें दृष्टि को भ्रूद्वय के मध्य न रखकर नासिकाग्र पर रखने का विधान किया गया है।

तन्त्रसद्भाव में कहा गया है—

बद्ध्वा पद्मासनं योगी नाभावक्षेश्वरं न्यसेत्।
दण्डाकारं तु तत्तावन्नयेद् यावत् कखत्रयम्।।

निगृह्य तत्र तत्तूर्णं प्रेरयेत् खत्रयेण तु।
एतां बद्ध्वा महायोगी खे गतिं प्रतिपद्यते।।

'योगिनीहृदय' के चक्रसंकेत में खेचरी मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

धर्माधर्मस्य संघट्टादुत्थिता वित्तिरूपिणी।
विकल्पोत्थक्रियालोपरूपदोषविघातिनी।।

विकल्परूपरोगाणां हारिणी खेचरी तथा।
सर्वरोगहराख्ये तु चक्र संविन्मयी स्थिता।।

---

१. शिवानन्द : ऋजुविमर्शिनी।
२. अर्थरत्नावली।
३. विद्यानन्द : अर्थरत्नावली में उद्धृत।

धर्म ( शक्ति ) एवं अधर्म ( शिव ) के संघट्ट ( सामरस्य ) से उद्भूत संवित्तिरूपिणी विकल्पात्मक क्रियारूप दोषों का विघात करने वाली, विकल्परूप रोगों का हरण करने वाली, निर्विकल्प बोधभूमिसञ्चारिणी चिच्छक्ति सर्वरोगहर नामक चक्र में स्थित है।

खेचरी समस्त कष्टों को नष्ट करने वाली, नित्योदया, शिवत्व प्राप्त कराने वाली एवं निरस्त सकलक्रियाक्रम में निवास करने वाली चिति शक्ति है—

खे निरस्तसकलक्रियाक्रमे या चितिश्चरति शाश्वतोदया।
सा शिवत्वसमवाप्तिकारिणी खेचरी सकलखेदहारिणी।।

अपूर्णम्मन्यतालक्षणात्मक संवित्ति का विनाश करने वाली एवं सर्वरोगहर चक्र में निवास करने वाली मुद्रा ही खेचरी मुद्रा है। अमृतानन्द योगी योगिनीदीपिका में कहते हैं—
अपूर्णम्मन्यतालक्षणानां हारिणी सर्वरोगहराख्ये चक्रे खेचरी मुद्रा स्थिता।।

## ५. उड्डीयान बन्ध और उसका स्वरूप

योगिराज गोरक्षनाथ ने 'योगबीज' में प्रथम स्थान में मूलबन्ध एवं द्वितीय स्थान में उड्डीयान बन्ध को रक्खा है— 'प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानकः।' नियम यह है कि कुम्भक के आदि में तथा रेचक के अन्त में उड्डीयान बन्ध करना चाहिए। इससे सुषुम्णा में बद्ध प्राण ऊपर की ओर उड़ने लगता है। इसके करने से वृद्ध व्यक्ति भी तरुण हो जाता है—

कुम्भकादौ रेचकान्ते कर्तव्यस्तूड्डियानकः।
बद्धो येन सुषुम्णायां प्राणस्तूड्डीयके ततः।।

नाभि के ऊपर के भाग और पश्चिम द्वार को उदर के सम भाव में संकुचित करना चाहिए। उदर के मध्य भाग में स्थित गुह्यादि चक्र की सभी नाड़ियों को नाभि के ऊपर उठाने का नाम ही उड्डीयान बन्ध है। यह बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंह के समान है—

उदरे पश्चिमे तानं नाभेरुर्ध्वन्नु कारयेत्।
उड्डीयानं कुरुते यत्तदविश्रान्तमहाखगः।।
उड्डीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेशरी।।[१]

जितने भी बन्ध हैं, उनमें उड्डीयान प्रमुख है। इसके अभ्यास से अनायास ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है—

समग्राद् बन्धनाद्ध्येतदुड्डीयानं विशिष्यते।
उड्डीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।

'दत्तात्रेय संहिता' में कहा गया है कि उड्डीयान बन्ध के अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है। इसके छः मासों के अभ्यास से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है—

---

१. घेरण्डसंहिता।

अभ्यसेद्यस्तु सत्त्वस्थो वृद्धोऽपि तरुणायते।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।[१]

जो साधक दिन में चार बार उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करता है, उसकी नाभि शुद्ध हो जाती है। उसकी वायु भी शुद्ध हो जाती है। छः मास तक इसका अभ्यास करने से मृत्यु पर भी विजय प्राप्त हो जाती है। इसके अभ्यास से जठराग्नि तीव्र हो उठती है और शरीर पुष्ट हो जाता है तथा रस का सञ्चार होता है। इसका अभ्यास सदैव एकान्त में करना चाहिए—

नित्यं यः कुरुते योगी चतुर्वारं दिने दिने।
तस्य नाभेस्तु शुद्धिः स्याद्येन शुद्धो भवेन्मरुत्।।
षण्मासमभ्यसेद् योगी मृत्युं जयति निश्चितम्।
तस्योदराग्निर्ज्वलति रसवृद्धिश्च जायते।।
रोगाणां संक्षयश्चापि योगिनां भवति ध्रुवम्।
गुरोर्लब्ध्वा तु यत्नेन साधयेच्च विचक्षणः।
निर्जने सुस्थिते देशे बन्धं परमदुर्लभम्।।[२]

'गोरक्षशतक' में गोरखनाथ कहते हैं कि जिस प्रकार विना विश्राम किए पक्षी भी उड़ता रहता है, उसी प्रकार उड्डीयान बन्ध मृत्युरूपी गजराज के लिए सिंह के समान है। इस बन्ध का अभ्यास उदर के पश्चिम भाग एवं नाभि के नीचे के भाग में किया जाता है। इसीलिए इसे उड्डीयान बन्ध कहा जाता है—

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेशरी।।
उदरात्पश्चिमे भागे ह्यधो नाभेर्निगद्यते।
उड्डीयानस्य बन्धोऽयं तत्र बन्धो विधीयते।।

साधक नाभि के ऊपर और नीचे आकर्षण का प्रयोग करता है अर्थात् पेट को खींच-कर पीठ में लगाने का प्रयास करता है। यही उड्डीयान बन्ध है।[३]

नाभिप्रदेश के ऊर्ध्वभाग एवं अधोभाग को मेरुदण्ड की ओर खींचकर ( पीठ की ओर आकृष्ट करके ) जो बन्ध लगाया जाता है, 'शिवसंहिता' में इसके तीन लक्षण दिए गए हैं—

१. पेट को पीछे की ओर इतना खींचना कि यह मेरुदण्ड से चिपक जाय। यही है— इसका आकर्षण या तानपक्ष।

२. यह समस्त दुःखों एवं पापों को नष्ट कर देता है।

---

१. घेरण्डसंहिता।
२. घेरण्डसंहिता।
३. शिवसंहिता/विवेकमार्तण्ड/गोरक्षशतक।

३. यह मृत्युरूपी हाथी के लिए सिंहस्वरूप काल है—

नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं पश्चिममाचरेत्।
उड्डयानबन्ध एषः स्यात् सर्वदुःखौघनाशनः।।

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरुर्ध्वं तु कारयेत्।
उड्डयानाख्योऽत्र बन्धोऽयं मृत्युमातङ्गकेशरी।।

जिस बन्ध से बद्ध प्राण उड़कर ( सहज ऊर्ध्वमुख होकर ) सुषुम्ना नाड़ी में पहुँच जाता है, उसे योगियों द्वारा उड्डीयान बन्ध कहा गया है। जिस प्रकार पक्षी आकाश में निरन्तर उड़ने लगता है, उसी प्रकार सुषुम्ना नाड़ी से देहावकाश ( ब्रह्मरन्ध्र ) में उड़ता है। ऊपर चढ़ता जाता है, इसी कारण यह उड्डीयानबन्ध कहा जाता है—

बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः।
तस्मादुड्डीयनाख्याऽयं योगिभिः समुदाहृतः।।

उड्डीनं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड्डीयानं तदेव स्यात् तत्र बन्धोऽभिधीयते।।

नाभि के ऊपर और नीचे उदर में पीछे की ओर इस तरह आकर्षण करना चाहिए कि दोनों भाग पीछे पीठ तक पहुँच जाय तो यह उड्डीयान बन्ध मृत्युरूपी हाथी के लिए साक्षात् सिंह के समान है। गुरु द्वारा यह उड्डीयान बन्ध सदा स्वाभाविक कहा गया है। इस बन्ध का अभ्यास नित्य करने वाला यदि वृद्ध भी हो तो वह तरुण हो जाता है। नाभि के ऊपर और निचले भाग में अच्छी तरह से तान ( आकर्षण या खिंचाव ) करना चाहिए। साधक छः मास तक इस प्रकार अभ्यास करने से मृत्यु को भी वश में कर लेता है, दीर्घ जीवनयापन करता है तथा स्वस्थ रहता है। समस्त षोडशाधारों के बन्धों में उड्डीयान बन्ध ही प्रमुख है। इसकी सिद्धि होने पर साधक को अनायास ही मुक्ति प्राप्त हो जाती है। उड्डीयान बन्ध का अभ्यास करते समय प्राण विहंग की गति से सुषुम्ना में उड़ता है और इस तरह की समाधि की अवस्था में साधक मुक्ति को अधिगत करता है।

**विशेष**— दोनों जानुओं को मोड़कर पैरों के तलवों को परस्पर मिलाकर पेट के नाभि से नीचे और ऊपर आठ अंगुल हिस्से को प्रयत्नपूर्वक खींचकर रीढ़ की अस्थि ( मेरुदण्ड ) से लगाने पर पेट के स्थान में गड्ढा-सा दिखाई पड़ने लगता है। इससे प्राण सुषुम्णा की ओर उड़ने लगता है। यह बन्ध पैरों के तलवों को विना मिलाए भी किया जा सकता है। इससे प्राण और वीर्य ऊर्ध्वगामी होते हैं, मन्दाग्नि का नाश होता है, भूख लगती है और जठराग्नि बढ़ती है।[१]

---

१. हठयोगप्रदीपिका—

उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत्।
उड्डीयानो ह्यसौ बन्धो मृत्युमातङ्गकेसरी।।

इस प्रकार साधक को चाहिए कि वह मूलाधार को अच्छी तरह से सिकोड़कर उड्डीयान बन्ध ( नाभिस्थान को पीठ की ओर मेरुदण्ड तक आकृष्ट करना ) करे और इड़ा-पिंगला दोनों नाड़ियों को स्तम्भित कर ( जालन्धर बन्ध लगाकर ) प्राण को सुषुम्ना में पश्चिम मार्ग में प्रविष्ट करे। ऐसा करने से प्राण स्थिर हो जाता है और ब्रह्मरन्ध्र में लीन हो जाता है। प्राण का लय हो जाने पर— स्थैर्य होने पर मृत्यु का भय नहीं रह जाता, वृद्धावस्था नष्ट हो जाती है, रोगादिक का आक्रमण नहीं होता— बाल नहीं झड़ते, बाल नहीं पकते और मृत्युपाश से मुक्ति मिल जाती है। महासिद्ध योगी इन तीन ( मूलबन्ध, उड्डीयान एवं जालन्धर ) बन्धों का अभ्यास किया करते हैं। समस्त हठसाधनों में योगी इन बन्धों को सिद्धियाँ प्रदान करने वाला बन्ध मानते हैं। 'हठयोग प्रदीपिका' में स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं—

मूलस्थानं समाकुञ्च्य उड्डियानं तु कारयेत्।
इडां च पिङ्गलां बद्ध्वा वाहयेत् पश्चिमे पथि।।

अनेनैव विधानेन प्रयाति पवनो लयम्।
ततो न जायते मृत्युर्जरारोगादिकं तथा।।

बन्धत्रयमिदं श्रेष्ठं महासिद्धैश्च सेवितम्।
सर्वेषां हठतन्त्राणां साधनं योगिनो विदुः।।

स्वरोदयशास्त्र में मुद्रा एवं आसन रोगों की स्वीकृति है।

## स्वरोदय शास्त्र में आसन-विधान

**पद्मासन**— स्वरोदय शास्त्र में मात्र पद्मासन को ही स्वीकार किया गया है; क्योंकि समस्त आसनों में पद्मासन सर्वाधिक प्रिय एवं सर्वाधिक प्रयुक्त आसन रहा है। क्या वैष्णव, क्या शैव, क्या शाक्त, क्या स्मार्त्त, क्या योगी, क्या भक्त, क्या ज्ञानी, क्या कर्मकाण्डी, क्या हिन्दू, क्या बौद्ध, क्या सिक्ख और क्या जैनी— सभी ने इसे स्वीकार किया है। भगवान् बुद्ध, महावीर, २४ तीर्थंकर, कापालिक, कौल, सिद्ध आदि सभी ने इसे ही अपनी साधना में स्थान दिया है।

योगिराज गोरक्षनाथ ने गोरक्षशतक में कहा है कि आसनों में मात्र दो ही आसन

---

उड्डीयानं तु सहजं गुरुणा कथितं सदा।
अभ्यसेत् सततं यस्तु वृद्धोऽपि तरुणायते।।
नाभेरुर्ध्वमधश्चापि तानं कुर्यात्प्रयत्नतः।
षण्मासमभ्यसेन्मृत्युं जयत्येव न संशयः।।
सर्वेषामेव बन्धानामुत्तमो ह्युड्डियानकः।
उड्डियाने दृढ़े बन्धे मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।।

श्रेष्ठतम हैं और वे हैं— सिद्धासन एवं कमलासन।

आसनेभ्यो समस्तेभ्यो द्वयमेतदुदाहृतम्।
एकं सिद्धासनं तत्र द्वितीयं कमलासनम्।।

पद्मासन की परिभाषा—

वामोरूपरि दक्षिणञ्च चरणं संस्थाप्य वामं तथा
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढ़म्।
अंगुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकये-
देतद् व्याधिविकारनाशनकरं पद्मासनं प्रोच्यते।। ( गोरक्षशतक )

अर्थात् वामवर्ती जानुमूल में दाहिना पैर स्थापित करके तथा दायें जानुमूल में वाम चरण स्थापित करके तथा दोनों हाथों को पीछे से ले जाकर दायें हाथ से बायें पैर के अंगूठे एवं बायें हाथ से दायें पैर के अंगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़ कर चिबुक को हृदय से लगाकर नासिकाग्र को दोनों नेत्रों से देखने का विधान करने वाले तथा समस्त व्याधियों एवं शारीरिक तथा मानसिक विकारों को नष्ट करने वाले आसन को 'पद्मासन' कहते हैं।

आसनों का महत्त्व प्रत्येक साधना समाज में स्वीकृत रहा है—

ॐ आसण करि पदम आसण बंधि। पिछलै आसण पवनां संधि।।[१]

## ६. मूलबन्ध और उसका स्वरूप

साधक को चाहिए कि वह योनिस्थान ( गुदा-मेढ्र के मध्य भाग ) को किसी भी पैर की एड़ी से दबाकर गुदा को सिकोड़े ( संकुचन करे ) और फैलाये तथा अपान वायु को ऊपर की ओर आकृष्ट करे। यही 'मूलबन्ध' कहलाता है। वह साधन-प्रक्रिया, जिसके द्वारा साधक निम्नाभिमुखी एवं निम्नगामिनी अपान वायु को ऊपर की आकृष्ट करता है, मूलबन्ध कहलाती है। ऊपर की ओर आकृष्ट करने का लक्ष्य यह है कि वायु को सुषुम्णा में प्रवाहित करता है। इसे ही मूलबन्ध कहा जाता है।[२]

मूलबन्ध कुण्डलिनी-जागरण में सहायक होता है। मूलबन्ध का अभ्यास करते समय मेरुदण्ड में नाभिग्रन्थि दबाना चाहिए—

---

१. गोरखनाथ गो० बा० ( १७३ )
आसण इन्द्री जेणौ आप बसि राख्या तेसौ पाया सर्व निरंतर मेरे ज्ञानी।
( गो० बा०-८९ )
मूल चपि डिट आसणि बैठा तब मिटि गया आवागवनं।

२. पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद् गुदम्। अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धोऽभिधीयते।।
अधोगतिमपानं वा ऊर्ध्वगं कुरुते बलात्। आकुञ्चनेन तं प्राहुर्मूलबन्ध हि योगिनः।।
( हठयोगप्रदीपिका-६१-६२ )

नाभिग्रन्थि मेरुदण्डे सम्पीड्य यत्नतः सुधीः।

( घेरण्ड संहिता-३.१४ )

मूलबन्ध उड्डीयान बन्ध से संयुक्त हो जाता है और अपान वायु सुषुम्णा में सुगमता से चढ़ने लगती है।

साधक को चाहिए कि एड़ी के अधोभाग से बलपूर्वक अच्छी तरह से दबाकर बार-बार वायु को गुदा का आकुञ्चन करते हुए इस प्रकार ऊपर की ओर खींचे कि वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रविष्ट हो जाय।

निम्नगामी प्राण एवं अपान वायु, नाद एवं बिन्दु मूलबन्ध के द्वारा एकता प्राप्त करके योगसिद्धि प्रदान करते हैं। अपान वायु एवं प्राण वायु की एकता से मल-मूत्र का क्षय होने से वृद्ध व्यक्ति भी युवक हो जाता है। अपान वायु के ऊर्ध्वगामी होकर वह्निमण्डल ( नाभि के नीचे त्रिकोण ) में प्रविष्ट करने पर वायु से प्रताड़ित होने पर अग्निशिखा बढ़ जाती है।[1]

मूलबन्ध लगाने पर अपान एवं प्राण के साथ एक होकर सुषुम्ना में प्रवेश करता है। इससे नादाभिव्यक्ति होती है। फिर नाद के साथ ही प्राणापान हृदय प्रदेश से ऊर्ध्व प्रदेश में जाकर बिन्दु के साथ एकता स्थापित करके ऊपर उठने लगते हैं। इससे योग-सिद्धि होती है। 'ज्योत्स्ना' नामक टीका में ब्रह्मानन्द गिरि कहते हैं— मूलबन्धे कृतेऽपानः प्राणेन सहैकीभूय सुषुम्नायां प्रविशन्ति। ततो नादाभिव्यक्तिर्भवति। ततो नादेन सह प्राणापानौ हृदयोपरि गत्वा नादस्य बिन्दुना सहैक्यमाधाय मूर्ध्नि गच्छतः। ततो योगसिद्धिः।'

हमारे नाभि के नीचे के भाग में त्रिकोण वह्निमण्डल है। महर्षि याज्ञवल्क्य का कथन है—

देहमध्ये शिखिस्थानं तप्तजाम्बूनदप्रभम्।
त्रिकोणं तु मनुष्याणां चतुरस्रं चतुष्पदाम्।।

मण्डलं तु पतङ्गानां सत्यमेतद् ब्रवीमि ते।
तन्मध्ये तु शिखा तन्वी सदा तिष्ठति पावके।।

---

१. गुदं पाष्ण्या तु सम्पीड्य वायुमाकुञ्चयेद् बलात्।
वारं वारं यथा चोर्ध्वं समायाति समीरणः।।
प्राणापानौ नादबिन्दू मूलबन्धेन चैकताम्।
गत्वा योगस्य संसिद्धिं यच्छतो नात्र संशयः।।
अपानप्राणयोरैक्यं क्षयो मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।
अपाने ऊर्ध्वगे जाते प्रयाते वह्निमण्डलम्।
तदानलशिखा दीर्घा जायते वायुनाहता।।

( हठयोगप्रदीपिका-६३-६६ )

इस समय अपान वायु के सहित जठराग्नि की शिखा बढ़ जाती है।

इस स्थिति में अग्नि और अपान दोनों अग्नि की दीपशिखा से ऊष्ण होकर ऊर्ध्व प्रदेश की ओर गतिशील प्राणवायु में जा पहुँचते हैं। इससे देह में स्थित अग्नि अत्यन्त प्रदीप्त हो जाती है। तब उससे ताड़ित होकर कुण्डलिनी जाग्रत हो जाती है और दण्ड से आहत भुजंगिनी के सदृश श्वास लेती हुई सीधी हो जाती है। इसके बाद वह कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मनाड़ी ( सुषुम्ना ) के भीतर प्रविष्ट हो जाती है; ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार सर्पिणी बिल में प्रविष्ट हो जाती है। इसलिए योगियों के द्वारा नित्य मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।[1]

गुदा एवं लिंगस्थान के रन्ध्र को बन्द करने की संख्या मूलबन्ध है। वाम पैर की एड़ी को गुदा और लिंग के मध्य भाग में दृढ़ लगाकर गुदा को सिकोड़कर योनिस्थान को संकुचित करने के द्वारा अधोगत अपान वायु को ऊर्ध्वाकर्षित करना मूलबन्ध है। यह कब्ज को दूर करता है तथा वीर्य को पुष्ट एवं ऊर्ध्वगामी करता है। इस मुद्रा से साधक संसार-सागर से भी उत्तीर्ण हो जाता है और उसकी वायु सिद्ध हो जाती है—

संसारसमुद्रं तर्तुमभिलषति यः पुमान्।
विजनेषु गुप्तो भूत्वा मुद्रामेनां समभ्यसेत्।।

घेरण्ड ऋषि के मत से यह साधना विजन स्थान में करनी चाहिए। साधक को मौनाव-लम्बी होना चाहिए और आलस्य एवं प्रमाद से अपने को दूर करके साधना करनी चाहिए—

अभ्यासाद् बन्धनस्यास्य मरुत् सिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
साधयेद् यत्नतो तर्हि मौनी तु विजितालसः।।

( घे० सं०-३.१६-१७ )

'शिवसंहिता' में कहा गया है कि साधक पैर की एड़ी से गुदामार्ग को अच्छी प्रकार से दबाकर अपान वायु को खींचकर धीरे-धीरे ऊपर की ओर ले जाय, यही बुढ़ापे एवं मृत्यु के भय को नष्ट करने वाला मूलबन्ध है। इस प्रकार प्राण एवं अपान

---

१. ततो यातो वह्न्यपानौ प्राणमुष्णस्वरूपकम्।
तेनात्यन्तप्रदीप्तस्तु ज्वलनो देहजस्तथा।।
तेन कुण्डलिनी सुप्ता सन्तप्ता सम्प्रबुध्यते।
दण्डाहता भुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां व्रजेत्।।
बिलं प्रविष्टेव ततो ब्रह्मनाड्यन्तरं व्रजेत्।
तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा।।

( हठयोगप्रदीपिका-६७-६९ )

की एकता होने पर बन्ध के द्वारा योनिमुद्रा स्वतः सिद्ध हो जाती है।[१] योनिमुद्रा के सिद्ध हो जाने पर इस पृथ्वी पर साधक को समस्त योगसिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इस मूलबन्ध के सिद्ध हो जाने पर श्रेष्ठ योगी पद्मासन में स्थित होकर वायु पर विजय प्राप्त करके पृथ्वी से क्रमशः ऊपर उठते हुए आकाश में स्थित होकर विचरण करता है। यदि योगी संसार-सागर को पार करना चाहता है तो उसे किसी निर्जन एकान्त स्थान में मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिए।

गोरक्षनाथ 'विवेकमार्तण्ड' में कहते हैं कि जो योगी महामुद्रा, नभोमुद्रा 'उड्डीयान बन्ध' जालन्धर बन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करना जानता है, वही मुक्ति प्राप्त करता है—

महामुद्रा नभोमुद्रामुड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी सिद्धिभाजनम्।।

अपानवायु एवं प्राणवायु का ऐक्य होने पर इससे मल-मूत्र का क्षय होने पर वृद्ध व्यक्ति भी तरुण हो जाता है। यह मूलबन्ध के अभ्यास से ही सिद्ध होता है। अपान वायु को ऊपर की ओर खींचकर ( प्राणवायु से मिलाते हुए ) पैर की एड़ी से योनिस्थान को दृढ़ता से दबाकर गुदा को सिकोड़ना चाहिए। यही मूलबन्ध का अभ्यास कहा जाता है—

अपानप्राणयोरैक्ये क्षयान्मूत्रपुरीषयोः।
युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात्।।

पार्ष्णिभागेन सम्पीड्य योनिमाकुञ्चयेद्गुदम्।
अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो निगद्यते।।[२]

योगबीज में मूलबन्ध को प्रथम स्थान दिया गया है—

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीय उड्डियानकः।
जालन्धरस्तृतीयस्तु लक्षणं कथयाम्यहम्।।

'योगबीज' में कहा गया है कि बन्ध प्रधान हैं, जिनके नित्याभ्यास से वायु वश में हो जाता है और वे हैं— मूलबन्ध, उड्डीयान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध। गोरखनाथ कहते हैं—

मूल चक्र वहाँ प्रगटै ज्यंदू। पलटै काया थिर होइ कंधु।
मूल बंध वज्र कछोटा पकड़िबा थीरं सत उडियांणी बंधिबा बीरं।।

---

१. पादमूलेन संपीड्य गुदमार्गं सुयन्त्रितम्।।
बलादपानमाकृष्य क्रमादूर्ध्वं सुचारयेत्। कल्पितोऽयं मूलबन्धो जरामरणनाशनः।।
अपानप्राणयोरैक्यं प्रकरोत्यधिकल्पितम्।बन्धेनानेन सुतरां योनिमुद्रा प्रसिद्ध्यति।।
सिद्धायां योनिमुद्रायां किं न सिध्यति भूतले। बन्धस्यास्य प्रसादेन गगने विजितानिलः।।
पद्मासने स्थितो योगी भुवमुत्सृज्य वर्धते।।
सुगुप्ते निर्जने देशे बन्धमेनं समभ्यसेत्। संसारसागरं तर्तुं यदीच्छेद् योगिपुङ्गवः।।
( शिवसंहिता-६४-६८ )

२. गोरक्षशतक ( ८१-८२ ) विवेकमार्तण्ड।

## ७. माण्डूकी मुद्रा

मुख को बन्द करके जिह्वा की जड़ को तालु के ऊपर की ओर चलाना चाहिए और सहस्रदल पद्म से निर्गत अमृत का पान करना चाहिए। इसे ही माण्डूकी मुद्रा कहते हैं—

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीमुद्रिकां विदुः।।[१]

**फल**— वलित ( त्वचा का सिकुड़ना ), पलित ( बालों का श्वेत होना ) रुक जाता है और यौवन चिरस्थायी हो जाता है।

## ८. ताड़ागी मुद्रा

उत्तान होकर लेटते हुए पेट को तालाब की भाँति गहरा करते हुए प्राणायाम करने को ताड़ागी मुद्रा कहते हैं—

उदरं पश्चिमोत्तानं कृत्वा च तडागाकृतिः।
ताडागी सा परा मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।।[२]

## ९. अश्विनी मुद्रा

इसमें मलद्वार को बार-बार संकुचित एवं विस्तृत करने ( सिकोड़ने एवं फैलाने ) का अभ्यास करना होता है; क्योंकि यह शक्तिप्रबोधकारिणी है—

आकुञ्चयेद्गुदद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।।[३]

## १०. पाशिनी मुद्रा

दोनों पावों को कण्ठ की पीठ पर रखकर पाशवत् परिबद्ध होने का अभ्यास ही पाशिनी मुद्रा है—

कण्ठे पृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवं दृढ़बन्धने।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्तिप्रबोधकारिणी।।[४]

यह मुद्रा शरीरांगों में शक्ति का सञ्चार करती है।

## ११. जालन्धर बन्ध और उसका स्वरूप

'शिवसंहिता' के अनुसार जालन्धर बन्ध नामक बन्ध ही पाँचवीं महामुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो.............................................।।

जालन्धरबन्ध की परिभाषा—

---

१-४. घेरण्डसंहिता।

बद्धार्गलशिराजालं हृदये चिबुकं न्यसेत्।
बन्धो जालन्धरः प्रोक्तो देवानामपि दुर्लभः।।

इस बन्ध का अभ्यास देवताओं के लिए भी दुर्लभ है— 'देवानामपि दुर्लभः।' सहस्रार से स्रवित पीयूष को नाभि में स्थित अग्नि पी जाती है। नाभि में पतित होकर नाभि-स्थित अग्नि के द्वारा इसे पीने से बचाने के लिए यह जालन्धर बन्ध किया जाता है।[१]

जालन्धर बन्ध के अभ्यास से बुद्धिमान साधक स्वयं अमृत पी लेता है और जीवन्मुक्ति-स्वरूप अमरत्व प्राप्त करके तीनों लोकों में सुखपूर्वक विचरण करता है। यह जालन्धर बन्ध सिद्धों को योग-सिद्धि प्रदान करता है। जो सिद्धि प्राप्त करने का इच्छुक है, वह योगी नित्य ही इस बन्ध का अभ्यास करता है।[२]

चूँकि यह बन्ध शिरा-नाड़ियों के समूह को बाँधता है और कपाल के छिद्ररूप नभ के जल का प्रतिबन्धक है; अतः इसे जालन्धर बन्ध कहा जाता है। यह कण्ठ के कष्टों का भी नाशक है। इसी कारण इसे जालन्धर बन्ध कहते हैं—

बध्नाति हि शिराजालमधोगामि नभोजलम्।
ततो जालन्धरो बन्धः कण्ठदुःखौघनाशनः।।[३]

इसके द्वारा अमृत जठराग्नि में नहीं पड़ने पाता और वायु का भी कोप नहीं होता; साथ ही अन्य नाड़ियों में वायु का गमन भी नहीं होता—

जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसङ्कोचलक्षणे।
न पीयूषं पतत्यग्नौ न च वायुः प्रकुप्यति।।[४] (गोरक्षशतक)

शिराणां नाडीनां जालं समुदायं बध्नाति। अधोगन्तुं शीलमस्येत्यधोगामि नभसः कपाल-कुहरस्य जलममृतं च बध्नाति प्रतिबध्नाति। ततस्तस्माज्जालन्धरो जालन्धरनामकोऽवर्थो बन्धः जालं शिराजालं जालानां समूहो जालं धरतीति जालन्धरः।[५]

कण्ठ को संकुचित करके, हृदय पर ठोढ़ी रखकर जालन्धर बन्ध होता है। इससे सोलह प्रकार का आधार बन्ध होता है और यह मृत्यु को पराजित करता है—

कण्ठसङ्कोचनं कृत्वा चिबुकं हृदये न्यसेत्।
जालन्धरे कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्।
जालन्धरं महामुद्रा मृत्योश्च क्षयकारिणी।।[६]

ग्रहयामल में कहा गया है—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेत् चिबुकं दृढम्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयममृताव्ययकारकः।।[७]

---

१. भास्करराय, सेतुबन्ध।
२. शिवसंहिता।
३-४. हठयोगप्रदीपिका।
५. ज्योत्स्ना (ब्रह्मानन्द गिरि)।
६. घेरण्डसंहिता।
७. घेरण्डसंहिता में टीकाकार द्वारा उद्धृत।

अन्य ग्रन्थों में इसका स्वरूप इस प्रकार निरूपित किया गया है—

बन्धेनानेन पीयूषं स्वयं पिबति बुद्धिमान्।
अमरत्वं च सम्प्राप्य मोदते भुवनत्रये।।

जालन्धर: बन्ध एष सिद्धानां सिद्धिदायक:।
अभ्यास: क्रियते नित्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।।

**जालन्धर बन्ध की सिद्धि**— घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि इस मुद्रा का अभ्यास छ: मास करने पर ही सिद्धि मिलती है तथा यह सिद्धिप्रदायिका मुद्रा है—

सिद्धं जालन्धरं बन्धं योगिनां सिद्धिदायकम्।
षण्मासमभ्यसेद् यो हि स सिद्धो नात्र संशय:।।

गोरखनाथ ने 'गोरक्षशतक' में कहा है कि मुक्ति प्रदान करने वाले जो पाँच बन्ध हैं, उनमें महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डीयान बन्ध के अतिरिक्त जालन्धर बन्ध भी है—

महामुद्रां नभोमुद्रां उड्डियानं जलन्धरम्।
मूलबन्धश्च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम्।।

इसका विधान यह है कि कण्ठ को हृदय की ओर संकुचित करके ( झुकाकर ) हृदय पर चिबुक को दृढ़तापूर्वक स्थापित करना चाहिए। यह मुद्रा साधक को जरा एवं मृत्यु दोनों से मुक्ति दिला देती है; क्योंकि यह दोनों की विनाशिका है—

कण्ठमाकुञ्च्य हृदये स्थापयेच्चिबुकं दृढ़म्।
बन्धो जालन्धराख्योऽयं जरामृत्युविनाशक:।।[१]

कण्ठ को हृदय की ओर झुकाकर रखने ( कण्ठसंकोचन करने ) से इड़ा एवं पिंगला नाड़ियों का स्तम्भन हो जाता है, प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित होते हुए ऊर्ध्वमुख हो जाता है। इसे सोलहों आधारों का बन्धन करने वाला मध्यचक्र— कण्ठचक्र या विशुद्धचक्र समझना चाहिए। यह सोलह दल वाले विशुद्ध चक्र का अवरोधक या प्रतिबन्धक है। इससे अमृत का नीचे गिरना रुक जाता है—

कण्ठसङ्कोचनेनैव द्वे नाड्यौ स्तम्भयेद् दृढ़म्।
मध्यचक्रमिदं ज्ञेयं षोडशाधारबन्धनम्।।[२]

## १२. योनिमुद्रा

सिद्धासन से बैठकर दोनों अंगूठों से दोनों कान, दोनों तर्जनियों से दोनों आँखें, दोनों मध्यमाओं से दोनों नाक के छिद्र और दोनों अनामिकाओं से मुंह बन्द कर लेना चाहिए। काकी मुद्रा के द्वारा प्राणवायु को खींचकर अपान वायु के साथ मिला देना चाहिए। देहस्थित छ: चक्रों का ध्यान करके 'हुं' और 'हंस:' इन दोनों मन्त्रों के द्वारा सोई हुई कुण्डलिनी देवी को जागृत करना चाहिए और जीवात्मा के साथ मुक्त कुण्डलिनी शक्ति

---
१-२. हठयोगप्रदीपिका।

को सहस्रदल कमल पर ले जाकर ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'मैं स्वयं शक्तिमय होकर शिवजी के साथ अनेक प्रकार के विहार कर रहा हूँ।' फिर दृढ़ चित्त से ऐसा चिन्तन करना चाहिए कि 'शिव-शक्ति के संयोग से आनन्दस्वरूप होकर मैं ही ब्रह्मस्वरूप में स्थित हूँ।' इसके अभ्यासकाल में ब्रह्मचर्य अत्यावश्यक है।

## १३. अगोचरी मुद्रा

नासिका के अग्रभाग पर मन को दृढ़तापूर्वक स्थिर करने ( दृष्टि-स्थिरीकरण ) को ही अगोचरी मुद्रा कहते हैं।

## १४. भूचरी मुद्रा

नासिकाग्र से चार अंगुल दूर आकाश में मन को पूर्णतया स्थिर करने को भूचरी मुद्रा कहते हैं।

## १५. चाचरी मुद्रा

आज्ञाचक्र में मनः-स्थिरीकरण ही चाचरी मुद्रा है। इसे भूचरी मुद्रा भी कहते हैं।

## १६. ज्ञान मुद्रा

पद्मासन, सिद्धासन या अन्य किसी आसन से बैठकर दोनों हाथों के पञ्जे घुटने पर खोलकर रखे तथा तर्जनी उँगलियों को अंगूठों के मध्य में इस प्रकार लगाये कि गोल छल्ला सा बन जाय। इसी मुद्रा से ध्यान किया जाता है।

## १७. विपरीतकरणी मुद्रा और उसका स्वरूप

योग की साधना करने वाले को इस मुद्रा के अभ्यास के समय अपने शिर को पृथ्वी पर टिकाकर एवं दोनों पैरों को आकाश में एक-सीध में रखकर शरीर को स्थिर रखते हुए इसका अभ्यास करना चाहिए। इसे ही समस्त तन्त्रग्रन्थों में विरीतकरणी मुद्रा कहा गया है। जो साधक इसका अभ्यास प्रतिदिन तीन घण्टों तक करता है, वह मृत्यु को अपने वश में कर लेता है। प्रलय काल में भी उसका विनाश नहीं होता। जो विपरीतकरणी का अभ्यास करके अमृतपान करता है, वह सिद्धों के समान महान् एवं शक्तिशाली हो जाता है। ऐसा अभ्यासी त्रिलोकपूज्य हो जाता है। शिवसंहिताकार की यही दृष्टि है।[१]

**घेरण्ड ऋषि का मत**— घेरण्ड ऋषि 'घेरण्डसंहिता' में कहते हैं कि नाभि में सूर्य

---

१. भूतले स्वशिरो दत्ता खे नयेच्चरणद्वयम्।विपरीतकृतिश्चैषा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
एतद् यः कुरुते नित्यमभ्यासं याममात्रतः।मृत्युं जयति सः योगी प्रलये नापि सीदति।।
कुरुतेऽमृतपानं यः सिद्धानां समतामियात्।स सेव्यः सर्वलोकानां बन्धमेनं करोति यः।।
( शिवसंहिता-६९-७१ )

एवं तालुमूल में चन्द्र है। सहस्रार में सुधा का नित्य प्रवाह होता रहता है। सूर्य द्वारा अमृत-पान कर लेने से जीव की मृत्यु हो जाती है।

सूर्य नीचे है और चन्द्र ऊपर है। यदि विपरीत क्रम में ( इस विपरीतकरणी मुद्रा के माध्यम से ) सूर्य को ऊपर एवं चन्द्रमा को नीचे कर दिया जाय तो इस मुद्रा को विपरीत-करणी मुद्रा कहा जाता है। इसके द्वारा अमृत सूर्य को ( कुण्डलिनी को, त्रिकोणमय अग्नि को ) प्राप्त न होकर स्वयं साधक को प्राप्त होने लगता है। इसे पीकर साधक अमर हो जाता है। इस मुद्रा में शिर को पृथ्वी में लगाकर, दोनों हाथों की टेक लेकर एवं दोनों पावों को उठाकर शिर को स्थिर रखना चाहिए।[१]

घेरण्ड ऋषि के मतानुसार सूर्य का यथार्थ वासस्थान नाभि का मूल प्रदेश एवं चन्द्रमा के निवास का मूल स्थान तालु का मूल है। चन्द्रमा से स्रवित अमृत को मृत्यु पी जाती है— 'अमृतं ग्रसते मृत्युः'। इसी कारण जीव मृत्युधर्मा है; अन्यथा वह भी अमर हो जाय— 'ततो मृत्युवशो नरः।' यह मुद्रा योगशास्त्र की नहीं; प्रत्युत तन्त्रशास्त्र की है और सभी तन्त्रों में स्वीकृत, उल्लिखित है तथा गोपनीय है—

विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।

**स्वात्माराम मुनीन्द्र का अभिमत**— तालुमूल में स्थित चन्द्रमा से जो कुछ भी पीयूष ( सोमकला जल ) द्रवित होकर स्रवित होता है, उसे नाभिप्रदेश में स्थित अनलात्मक सूर्य पी जाता है। जैसे राहु सूर्य को ग्रस लेता है, वैसे ही इस अमृत को सूर्य ग्रस लेता है। इस अमृत को सूर्य के मुख में गिरने से बचाने के लिए गुरु के उपदेश ( मार्गदर्शन ) द्वारा दिव्य करणस्वरूप विपरीतकरणी मुद्रा को जानना चाहिए। यह करोड़ों शास्त्रों के अर्थ ( शास्त्रार्थ ) से भी ज्ञेय नहीं है। इसीलिए कहा गया है कि इसे गुरु के उपदेश से जानना चाहिए।[२]

---

१. नाभिमूले वसेत् सूर्यस्तालुमूले च चन्द्रमाः।
अमृतं ग्रसते मृत्युस्ततो मृत्युवशो नरः।।
ऊर्ध्वं च जायते सूर्यश्चन्द्रं च अध आनयेत्।
विपरीतकरी मुद्रा सर्वतन्त्रेषु गोपिता।।
भूमौ शिरश्च संस्थाप्य करयुग्मा समाहितः।
ऊर्ध्वपादः स्थिरोभूत्वा विपरीतकरी मता।।
( घेरण्डसंहिता-३२-३५ )

२. यत्किञ्चित् स्रवते चन्द्रादमृतं दिव्यरूपिणः।
तत्सर्वं ग्रसते सूर्यस्तेन पिण्डो जरायुतः।।
तत्रास्ति करणं दिव्यं सूर्यस्य मुख्वञ्चनम्।
गुरूपदेशतो ज्ञेयं न तु शास्त्रार्थकोटिभिः।।
( स्वात्माराम मुनीन्द्र )

गुरु गोरक्षनाथ ने भी गोरक्षसंहिता ( २.३२-३ ) में कहा है कि अग्निरूपी सूर्य नाभि में रहता है तथा अमृतस्वरूप चन्द्रमा तालुमूल में नित्य निवास करता है। तालुमूल में नीचे की ओर मुख करके रहने वाला चन्द्रमा जिस अमृत की वर्षा करता है, उसे ऊर्ध्व-मुखी अग्निस्वरूप सूर्य नाभि में पी लेता है। जो योगी विपरीतकरणी मुद्रा को जानते हैं, वे उस अमृत को अग्नि के मुख से छीनकर अपने मुख में ही रख लेते हैं—

नाभिदेशे वसत्येको भास्करो दहनात्मकः।
अमृतात्मा स्थितो नित्यं तालुमूले च चन्द्रमाः।।

वर्षत्यधो मुखश्चन्द्रो ग्रसत्यूर्ध्वो मुखो रविः।
ज्ञातव्या करणी तत्र यथा पीयूषमाप्यते।।

जिस यौगिक क्रिया में नाभि ऊपर की ओर और तालु नीचे की ओर हो जाय अर्थात् सूर्य की स्थिति ऊपर एवं चन्द्रमा की स्थिति ( अवस्थान ) नीचे जो जाय, वह शीर्षासन-स्वरूप योगप्रक्रिया विपरीतकरणी मुद्रा है। यह गुरुवाक्यलभ्या है। जो इस मुद्रा का नित्य प्रति अभ्यास करता है, उसकी जठराग्नि प्रदीप्त हो उठती है और वह यथारुचि अधिक आहार ग्रहण कर सकता है। यदि आहार कम लिया गया तो जठराग्नि उसके शरीर को तत्काल परिदग्ध करने लगती है। अभ्यासारम्भ में प्रथम दिन केवल क्षणमात्र के लिए सिर को नीचे एवं पैरों को ऊपर करके इसका अभ्यास करना चाहिए; देर तक नहीं।[1]

ब्रह्मानन्द 'ज्योत्स्ना' में कहते हैं— 'अधः अधोभागे भूमौ शिरो यस्य सोऽधःशिराः कराभ्यां कटिप्रदेशमवलम्ब्य बाहुमूलादारभ्य कूर्परपर्यन्ताभ्यां बाहुभ्यां स्कन्धाभ्यां गलपृष्ठ-भागशिरःपृष्ठभागाभ्यां भूमिमवष्टभ्याधःशिरा भवेत्।'

इस मुद्रा के अभ्यासकाल को प्रत्येक दिन एक क्षण से अधिक क्षण तक क्रमशः बढ़ाते हुए इसकी साधना की जानी चाहिए। यदि छः मासों तक इसका प्रतिदिन अभ्यास किया जाय तो—

( क ) केश कभी नहीं पकते।

( ख ) एक प्रहर ( ढाई से तीन घड़ी ) पर्यन्त इस मुद्रा का अभ्यासी मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है।

( ग ) प्रारब्ध कर्मों के फलोपभोग भी क्षीण हो जाते हैं।[2]

---

१. ऊर्ध्वनाभेरधस्तालोरूर्ध्वं भानुरधः शशी। करणी विपरीताख्या गुरुवाक्येन लभ्यते।।
नित्यमभ्यासयुक्तस्य जठराग्निविवर्धिनी। आहारो बहुलस्तस्य सम्पाद्यः साधकस्य च।।
अल्पाहारो यदि भवेदग्निर्दहति तत्क्षणात्। अधःशिराश्चोर्ध्वपादः क्षणं स्यात् प्रथमे दिने।।
( हठयोगप्रदीपिका-७९-८१ )

२. क्षणाच्च किञ्चिदधिकमभ्यसेच्च दिने दिने। वलितं पलितं चैव षण्मासोर्ध्वं न दृश्यते।
याममात्रं तु यो नित्यमभ्यसेत्स तु कालजित्।। ( हठयोगप्रदीपिका-८२ )

**ब्रह्मानन्द गिरि का अभिमत**— 'ज्योत्स्ना' नामक टीका में ब्रह्मानन्द जी कहते हैं कि दोनों हाथों से कटिप्रदेश को पकड़कर बाहुमूल से कूर्परपर्यन्त कन्धों, गर्दन एवं सिर के पिछले भाग को भूमि पर स्थित करना चाहिए।

## १८. वज्रोली मुद्रा और उसका स्वरूप

हठयोगयोगप्रदीपिका एवं शिवसंहिता के अनुसार वज्रोली मुद्रा नवीं मुद्रा है—

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
उड्यानं मूलबन्धश्च बन्धो जालन्धराभिधः।।

करणी विपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालनम्।
इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्।।

( हठयोगप्रदीपिका-६-७ )

महामुद्रा महाबन्धो महावेधश्च खेचरी।
जालन्धरो मूलबन्धो विपरीतकृतिस्तथा।।

उड्डानं चैव वज्रोली दशमं शक्तिचालनम्।
इदं कि मुद्रादशकं मुद्राणामुत्तमोत्तमम्।।

( शिवसंहिता-२४-२५ )

घेरण्ड ऋषि ने घेरण्डसंहिता में वज्राली मुद्रा का भी उल्लेख किया है, जिसका स्वरूप वज्रोली मुद्रा से साम्य नहीं रखता। इसमें कहा गया है कि दोनों हाथों को पृथ्वी पर स्थिर भाव से टिकाकर दोनों पैरों एवं मस्तक को आकाश में उठा देने को वज्राली मुद्रा कहते हैं—

धरामवष्टभ्य करयोस्तलाभ्यामूर्ध्वं क्षिपेत्पादयुगं शिरः खे।
शक्तिप्रबोधाय चिरजीवनाय वज्रालिमुद्रां कवयो वदन्ति।।

**वज्राली मुद्रा**— वज्राली मुद्रा को श्रेष्ठतम योगमुद्रा कहते हुए यह कहा गया है कि यह मुक्ति का कारण तथा परमोपकारी एवं सिद्धिप्रद है। इससे ( वज्रोली-साधना की भाँति ) बिन्दु-सिद्धि, ऊर्ध्वरेतस्त्व-सिद्धि, शुक्रास्खलन-सिद्धि प्राप्त होती है और परिणामतः बिन्दुसिद्धि के अनन्तर ऐसा कोई भी कार्य है ही नहीं, जो कि सफल नहीं होता? कौन सा प्राप्तव्य है, जो हस्तगत नहीं होता? इसके द्वारा तो भोगियों को भी सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

अयं योगो योगश्रेष्ठो योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायकः।।

एतद् योगप्रसादेन बिन्दुसिद्धिर्भवेद् ध्रुवम्।
सिद्धे बिन्दौ महायत्ने किं न सिध्यति भूतले।।

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिस्तस्य भवति निश्चितम्।।

घेरण्ड ऋषि ने वज्रोली, अमरोली, सहजोली आदि का उल्लेख नहीं किया है; किन्तु हठयोगप्रदीपिका में इनका उल्लेख ही नहीं; अपितु इनके स्वरूप की विशद विवेचना भी की गई है।

**शिवसंहिता में वर्णित वज्रोली का स्वरूप**— भगवान् शिव कहते हैं कि वज्रोली मुद्रा—

१. संसार में व्याप्त अज्ञानान्धकार की विनाशिका है।

२. गृहस्थों को भी ( योगोक्त नियमों का पालन न करने पर भी ) मुक्ति दिलाने वाली एक अनुत्तर योगविधि है।

३. भोगपरायण व्यक्ति को भी मोक्ष दिलाती है।

४. योग में सिद्धि दिलाकर अमृतपान कराती है।

५. साधक के शरीर को दिव्य बना देती है।

६. साधक को शिवस्वरूप बना देती है ( शिवतुल्य महिमान्वित कर देती है )।

७. बिन्दु में स्थैर्य लाकर उसे स्खलनातीत कर देती है।

८. समस्त प्रकार के भोगों का आस्वादन कराती है।

९. समस्त सिद्धियाँ प्रदान करती है।

१०. सर्वार्थसिद्धि एवं प्राकाम्य-सिद्धि के साथ ही साधक को लोकोत्तर सिद्ध बना देती है।

११. समस्त मनोरथों की सिद्धि प्रदान कर देती है।

१२. साधक को ( भोगपरायण होते हुए भी ) ऊर्ध्वरेतस् ब्रह्मचारी एवं अस्खलित योगी बना देती है।

भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं कि वज्रोली भोगैषणा-परायण गृहस्थों को भी विरक्त योगी, ऊर्ध्वरेतस् ब्रह्मचारी बना देती है। अज्ञान-तिमिर का ध्वंस करने वाली यह वज्रोली भोगासक्त गृहस्थों को भी महामुक्ति प्रदान करती है।[१]

**वज्रोली की साधना-पद्धति**— इसके विधानानुसार साधक नारी की जननेन्द्रिय से रज को उपस्थनाल में आकृष्ट करके अपने शरीर में प्रविष्ट करके तथा बिन्दु को निरुद्ध करके जननेन्द्रिय-चालन करे। यदि संयोगवश बिन्दु अपने स्थान से खलित हो जाय तो साधक को चाहिए कि वह योनिमुद्रा के द्वारा उसे निबद्ध करे। बिन्दु को निबद्ध करके ऊपर की ओर ले जाकर वाम भाग में स्थित करके योगी गुरु के आदेशानुसार 'हुं हुं' का उच्चारण

---

१. वज्रोलीं कथयिष्यामि संसारध्वान्तनाशिनीम्। स्वभक्तेभ्यः समासेन गुह्याद् गुह्यतमामपि।।
स्वेच्छया वर्तमानोऽपि योगोक्तनियमैर्विना। मुक्तो भवति गार्हस्थ वज्रोल्यभ्यासयोगतः।।
वज्रोल्यभ्यासयोगोऽयं भोगे युक्तेऽपि मुक्तिदः। तस्माददतिप्रयत्नेन कर्तव्यो योगिभिः सदा।।
( शिवसंहिता-७८-८० )

करके लिंग का चालन करे तथा अपान वायु को आकुञ्चित करके बलपूर्वक रज का योनि से आकर्षण करे। इस विधि से योगी योग की शीघ्र ही सिद्धि के लिए अमृतपान करता है। गुरु के चरणकमल का पूजक योगी अपने शरीर में चन्द्रस्वरूप बिन्दु और सूर्यस्वरूप रज दोनों को प्रविष्ट करता है।

भगवान् शिव कहते हैं कि मैं बिन्दुस्वरूप हूँ और शक्ति रजस्वरूपिणी है। योगी के शरीर में इन दोनों के सामरस्य से शरीर का दिव्यीकरण निष्पन्न होता है। शरीर से शुक्र-स्खलन ही मृत्यु है और बिन्दु को धारण करना ही जीवन है। योगसाधक को बड़ी सावधानी से बिन्दु की रक्षा करनी चाहिए। भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं—

अहं बिन्दू रजः शक्तिरुभयोर्मेलनं यदा।
योगिनां साधनावस्था भवेद् दिव्यं वपुस्तदा।।

मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।
तस्मादतिप्रयत्नेन कुरुते बिन्दुधारणम्।।

बिन्दु से ही प्राणी का जन्म होता है और उसी से मृत्यु होती है। बिन्दु ही उसके शरीर प्राप्त करने में कारण है और बिन्दु का अभाव हो जाने से ही शरीर की मृत्यु हो जाती है। बिन्दु की ही सिद्धि करनी चाहिए। इसकी रक्षा करने में सभी सिद्धियाँ सहज, सुलभ हैं। इसकी सिद्धि से पृथ्वी पर भला क्या सिद्ध नहीं हो सकता? बिन्दु-रक्षा के परिणाम-स्वरूप ही शिव इतने महिमाशाली बने हुए हैं। शरीर में स्थित बिन्दु का अभाव होना ही संसार में आसक्त, माया-विमोहित एवं वार्धक्य तथा मृत्यु के कवलीभूत प्राणियों के दुःखों का कारण है। बिन्दु-रक्षारूप यह शांकर योग सभी के लिए सर्वोत्तम है। भोगयुक्त मानव भी बिन्दु-रक्षा ( वज्रोली मुद्रा का अभ्यास ) से सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वह समस्त मनोरथों की प्राप्ति भी कर लेता है तथा सिद्ध भी हो जाता है। इस वज्रोली के अभ्यास से साधक समस्त भोगों का आस्वादन करता है और समस्त सिद्धियाँ अधिगत कर लेता है।[१]

## १९. अमरोली मुद्रा और उसका स्वरूप

अमरोली और सहजोली भी वज्रोली की ही सहायक क्रियायें हैं। शिवसंहिता में कहा गया है कि यदि दैवयोग से वीर्य अपने स्थान से उत्तेजनापूर्वक चलायमान हो जाय और साधक रज-बिन्दु के ऐक्य में सफल हो जाय तो यही अमरोली मुद्रा है। इसमें साधक

---

१. अभ्यासात् सिद्धिमाप्नोति भोगयुक्तोऽपि मानवः।
सकलः साधितार्थोऽपि सिद्धो भवति भूतले।।
भुक्त्वा भोगानशेषान् वै योगेनानेन निश्चितम्।
अनेन सकला सिद्धिर्योगिनां भवति ध्रुवम्।
सुखभोगेन महता तस्मादेनं समभ्यसेत्।।
( शिवसंहिता-९३-९४ )

लिंगनाल से ( वीर्यवाहिनी नाड़ी से ) रज-बिन्दु का शोषण करता है। शिवसंहिता ( ४.८६ ) में बिन्दु को चन्द्रमा और रज को सूर्य कहा गया है। अमरोली मुद्रा को शिवसंहिता में इस प्रकार पारिभाषित किया गया है—

देवाच्चलति चेद् वेगे मेलनं चन्द्रसूर्ययोः।
अमरोलिरियं प्रोक्ता लिङ्गनालेन शोषयेत्।।

हठयोगप्रदीपिका में अमरोली को वज्रोली का ही एक प्रकार बताकर उसे उससे अभिन्न सिद्ध किया गया है—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।
जले सुभस्म निक्षिप्य दग्धगोमयसम्भवम्।।

वज्रोली, सहजोली एवं अमरोली— इन तीनों का फल एक ही है।

वज्रोली मुद्रा की सिद्धि के लिए मैथुनानन्तर स्त्री एवं पुरुष दोनों को ( दग्ध गोमय को जल में डालकर बनाये गये ) भस्म का अपने मस्तक, शिर, नेत्र, हृदय, स्कन्ध एवं भुजाओं पर लेप लगाना चाहिये—

जले सुभस्म निक्षिप्य दग्ध गोमयसम्भवम्।
वज्रोली मैथुनादूर्ध्वं स्त्रीपुंसोः स्वाङ्गलेपनम्।
आसीनयोः सुखेनैव मुक्तव्यापारयोः क्षणात्।।

सहजोली के विषय में मात्र इतना ही कहा गया है कि दग्ध गोमय को जल में मिलाकर निर्मित भस्म का मस्तकादि अंगों पर लेप किया जाना चाहिए। इस भस्म-लेपन क्रिया को मत्स्येन्द्र आदि योगियों ने सहजोली मुद्रा कहा है—

सहजोलिरियं प्रोक्ता श्रद्धेया योगिभिः सदा।
अयं शुभकरो योगो भोगयुक्तोऽपि मुक्तिदः।।

यह योग केवल पुण्यात्माओं, धैर्यवानों, तत्त्वदर्शियों एवं मत्सरहीन साधकों को ही सिद्ध होता है; मत्सरशीलों को नहीं—

अयं योगः पुण्यवतां धीराणां तत्त्वदर्शिनाम्।
निर्मत्सराणां सिध्येत न तु मत्सरशालिनम्।।

**अमरोली का स्वरूप**— अमरोली क्रिया का स्वरूप इस प्रकार बताया गया है—

पित्तोल्बणत्वात्प्रथमाम्बुधारां विहाय निःसारतयान्त्यधारा।
निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।।

अर्थात् अधिक पित्त वाली प्रारम्भिक बिन्दुधारा और सार अंश से शून्य एवं अन्त की बिन्दुधारा का त्याग करके शीतल मध्य धारा ( चन्द्रामृत ) का ही इस मुद्रा में सेवन किया जाता है। इसे खण्ड कापालिकमत में अमरोली कहा जाता है।

साधक नासिका द्वारा अमरी ( शिवाम्बु ) का नित्य पान करते हुए वज्रोली मुद्रा के द्वारा वीर्य के ऊर्ध्वाकर्षण का अभ्यास करता है। उसका यह अभ्यास अमरोली कहलाता है—

अमरीं यः पिबेन्नित्यं नस्यं कुर्वन् दिने दिने।
वज्रोलीमभ्यसेत् सम्यगमरोलीति कथ्यते।।

अमरोली के अभ्यास से निःसृत सुधा चन्द्रामृत को विभूति ( भस्म ) में मिलाकर उत्तम अंगों ( सिर, कपाल, नेत्र, कन्धे, कण्ठ एवं हृदय ) आदि में लेप करना चाहिए। इससे साधक की दृष्टि दिव्य हो जाती है—

अभ्यासान्निःसृतां चान्द्रीं विभूत्या सह मिश्रयेत्।
धारयेदुत्तमाङ्गेषु दिव्यदृष्टिः प्रजायते।।

यदि नारी अच्छी तरह अभ्यास में निपुणता प्राप्त करके वज्रोली मुद्रा के द्वारा पुरुष के वीर्य का आकुञ्चन करके ( आकर्षण करके ) रज की रक्षा करती है तो वह योगिनी होती है। इस प्रकार के अभ्यास से नारी का रज तनिक भी नष्ट नहीं होता। उसके शरीर में मूलाधार से समुत्थित नाद हृदय के ऊर्ध्व भाग में पहुँचकर बिन्दुरूप हो जाता है—

तस्याः किञ्चिद् रजोनाशं न गच्छति न संशयः।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति।।

अमृतसिद्धि-नामक ग्रन्थ में इसका स्वरूप इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है—

बीजं च पौरुषं प्रोक्तं रजश्च स्त्रीसमुद्भवम्।
अनयोर्बाह्ययोगेन सृष्टिं सञ्जायते नृणाम्।।

यदाभ्यन्तरयोगः स्यात्तदा योगीति गीयते।
बिन्दुश्चन्द्रमयो प्रोक्तो रजः सूर्यमयं तथा।।

अनयोः सङ्गमादेव जायते परमं पदम्।
स्वर्गदो मोक्षदो बिन्दुः धर्मदोऽधर्मदस्तथा।
तन्मध्ये देवताः सर्वास्तिष्ठन्ते सूक्ष्मरूपतः।।

अर्थात् पुरुष के वीर्य एवं नारी के रज के बाह्य योग से सन्तानोत्पत्ति होती है। दोनों का आन्तरिक योग होने पर ही योगी कहा जाता है। बिन्दु चन्द्रात्मक एवं रज सूर्यात्मक है। इनके योग से परमपद की प्राप्ति होती है। बिन्दु स्वर्ग, मोक्ष, धर्म एवं अधर्म— सब कुछ प्रदान करता है। सूक्ष्म रूप से सभी देवता इसमें निवास करते हैं—

वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु एवं रज एक होकर अपने ही शरीर में एक हो जायँ तो समस्त सिद्धियाँ प्रदान करते हैं। जो नारी योनि के संकोच द्वारा रज को ऊर्ध्व करके रक्षा करती है, वह योगिनी है। वह भूत एवं भविष्य को जानती है तथा उसे खेचरी की सिद्धि प्राप्त होती है। वज्रोली के अभ्यासयोग से देहसिद्धि ( रूप-लावण्य आदि )

की प्राप्ति होती है। यह योग अत्यन्त पुण्यकारक है। भोगों को भोगने पर भी यह योग मोक्ष प्रदान करता है।

**वज्रोली, सहजोली एवं अमरोली का उद्देश्य**— इसका उद्देश्य है— शरीर में बिन्दु की रक्षा। इस मुद्रा से बिन्दु एवं रज के एक होकर ऊर्ध्वमुख होने से देह-सिद्धि, योगसिद्धि एवं मुक्ति या स्वरूपावस्था की प्राप्ति होती है। यद्यपि वज्रोली योगसिद्ध पुरुषों की साधना की गहन अनुभूति है तथापि कौलों, कापालिकों एवं अन्य वामाचारी तान्त्रिकों ने इसे वासना-तुष्टि का साधनमात्र बना लिया। योगी का उद्देश्य वीर्य को ऊर्ध्वमुख करना है तथा योगिनी का उद्देश्य रज को ऊर्ध्वगामी करने में निहित है। बिन्दु एवं रज की ऊर्ध्वमुखी एकता से कायसिद्धि, योगसिद्धि एवं तत्त्वसाक्षात्कार सम्पन्न हुआ करते हैं। मूलाधार ( मूल बन्ध ) द्वारा अपान वायु ( चन्द्र ) एवं प्राणवायु ( सूर्य ) को नाभिस्थान में संस्थित करके वज्रोली के द्वारा सुषुम्नामार्ग से ऊर्ध्वमुख करके ब्रह्मरन्ध्र में स्थापित करना भी वज्रोली का उद्देश्य है।

योगतत्त्वोपनिषद् में वज्रोली की महत्ता इस प्रकार बतायी गई है—

वज्रोलीमभ्यसेद् यस्तु स योगी सिद्धिभाजनम्।
लभ्यते यदि तस्यैव योगसिद्धिः करे स्थिता।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।

वज्रोली की सिद्धि से—

१. योगी भूत एवं भविष्य दोनों को जान जाता है।

२. वह आकाश-सञ्चरण की शक्ति भी आयत्त कर लेता है।

३. वह जननेन्द्रिय से स्खलित अपने शुक्र को नारी के जननेन्द्रिय से आकृष्ट कर सकता है।

४. वह नारी के रज को भी खींच सकता है।

५. वह जननेन्द्रिय में स्रवित बिन्दु को रज के साथ मिश्रित करके उसे पुनः अपने शरीर में आकृष्ट कर सकता है।

६. वह भोगी होते हुये भी योगी एवं ब्रह्मचारी बन सकता है।

७. वज्रोली वीर्यस्खलन रोकने वाली क्रिया है। अमरोली स्खलित बिन्दु को भी नारी के रज के साथ मिश्रित करके अपने शरीर में खींच लेने की क्रिया है ।

८. अभ्यास के काल में प्राण एवं अपान को एकीभूत करके सुषुम्ना मार्ग से ऊर्ध्वगामी करने हेतु पवन पर विजय आवश्यक है।

गोरक्षनाथ ने गोरखबानी ( सबदी १४१ ) में इस विधान को स्वीकार किया है—

बजरी करंतां अमरी राखै अमरिं करंतां बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राषै ले गोरख का गुरभाई।

**वज्रोली मुद्रा** ( हठयोगप्रदीपिका की दृष्टि से )— जो योगी वज्रोली मुद्रा का अभ्यास करना जानता है, वह योगशास्त्र के नियमों के पालन के विना भी अपनी इच्छा से जीवन-धारण करते हुए सिद्धि प्राप्त कर लेता है। वज्रोली के साधक के लिए दो दुर्लभ वस्तुयें अत्यावश्यक हैं— दूध एवं आज्ञाकारिणी नारी—

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु नारी च वशवर्तिनी।।

वज्रोली मुद्रा का स्वरूप इस प्रकार है कि पुरुष या नारी बिन्दुप्रवाह को ऊर्ध्व प्रदेश में आकर्षित करे। लिङ्गेन्द्रिय के आकुञ्चन से बिन्दु को ऊर्ध्वाकर्षित करने का अभ्यास किया जाय तो इससे वज्रोली मुद्रा की सिद्धि होती है—

मेहनेन शनैः समयगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात्।।

सम्भोगानन्तर बिन्दु को क्षरित होने से रोकने के लिए उस बिन्दु को धीरे-धीरे आकुञ्चित करके उसे ऊपर ले जाने का स्त्री या पुरुष धीरे-धीरे अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा की सिद्धि हो जाती है। शीशे की बनी हुई नली से उपस्थ के छिद्र में वायु के सञ्चार हेतु फूत्कार करना चाहिये—

यत्नतः शस्तनालेन फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत वायुसञ्चारकारणात्।।

दुग्ध, नारी, शीशे की नली एवं वायुयोग— ये चारो वस्तुयें वज्रोली मुद्रा के लिए आवश्यक हैं।

**शीशे की नली** ( शस्तनाल )— लिंगेन्द्रिय के छिद्र में प्रवेश करने योग्य चौदह अंगुल लम्बी शीशे की नली बनवानी चाहिए। उसे धीरे-धीरे दो-दो अंगुल, तीन-तीन अंगुल के क्रम से लिंगछिद्र में प्रवेश कराने का इस प्रकार अभ्यास करना चाहिए कि बारह अंगुल प्रविष्ट हो जाय और मात्र दो अंगुल बाहर रह जाय। टेढ़े एवं ऊर्ध्वमुख भाग को बाहर रखना चाहिए। फिर सुनार की धौंकनी के नल के समान नली को लेकर उसके अगले भाग को उपस्थ में प्रविष्ट करे और उसमें फूँके तो उपस्थ मार्ग का शोधन होता है। इसके बाद अन्य क्रियायें करे।

**जलाकर्षणाभ्यास**— इसके अनन्तर योगी को चाहिए कि वह अपने जननेन्द्रिय से जल को ऊपर खींचे।

**वीर्याकर्षणाभ्यास**— इसके अनन्तर वह अपने जननेन्द्रिय से वीर्य का आकर्षण करे। तत्पश्चात् जननेन्द्रिय में अधःपतित वीर्य का आकर्षण करना चाहिए—

नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत्।।

एवं संरक्षयेद् बिन्दुं मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन जीवनं बिन्दुधारणात्।।

बिन्दु ( वीर्य ) को शरीर में धारण करते रहने से योगी के शरीर में दिव्य गन्ध की उत्पत्ति हो जाती है। शरीर कान्तिमय हो जाता है। जब तक शरीर में वीर्यबिन्दु स्थिर है, तब तक काल का भय नहीं रहता— शरीर जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट नहीं होता।

मनुष्यों का चित्त शुक्राश्रित है। जीवन शुक्राधीन है; अतः वीर्य एवं मन दोनों की रक्षा की जानी चाहिये।[१] ऋतुमती नारी के रज एवं अपने बिन्दु की रक्षा की जानी चाहिये। योगाभ्यास में निपुण योगी को चाहिये कि वह लिंगेन्द्रिय के छिद्र से ( वज्रोली की विधि से ) रज एवं बिन्दु दोनों का ऊर्ध्वाकर्षण करे।[२]

**वज्रोली के भेद**— वज्रोली मुद्रा की दो सहायक क्रियायें और हैं और उन्हें तान्त्रिक योगियों ने सहजोली एवं अमरोली कहा है। ये दोनों ही वज्रोली मुद्रा के विशेष भेद हैं—

सहजोलिश्चामरोलिर्वज्रोल्या भेद एकतः।

सहजोली में तो सम्भोगानन्तर गोबर के कण्डे की भस्म को जल में भिगोकर स्त्री-पुरुष दोनों को अपने सिर, ललाट, नेत्र, हृदय, स्कन्ध एवं बाहुओं में लगाने ( लेप करने ) का विधान है; किन्तु अमरोली का विधान दूसरा है। इसमें पित्तप्रधान प्रारम्भिक बिन्दुधारा और सारशून्य अन्तिम बिन्दुधारा का त्याग करके शीतल मध्यधारा ( चन्द्रामृत ) का ही ( इस मुद्रा में ) सेवन करने का विधान है। यही खण्डकापालिकों की दृष्टि है—

निषेव्यते शीतलमध्यधारा कापालिके खण्डमतेऽमरोली।

अमरोली की क्रिया में साधक नासिका के द्वारा अमरी ( शिवाम्बु ) का नित्य पान करते

---

१. सुगन्धो योगिनो देहे जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे तावत्कालभयं कुतः।।
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं शुक्रायत्तं च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव रक्षणीयं प्रयत्नतः।।

२. ऋतुमत्या रजोऽप्येयं निजं बिन्दुं च रक्षयेत्।
मेढ्रेणाकर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित्।।

**पिण्ड के दिव्यीकरण के मुख्य साधन—**

( क ) विपरीतकरणी मुद्रा के द्वारा चन्द्र से स्रवित एवं अग्नि या ( सूर्य ) में पतित होने वाले अमृत का साधक द्वारा स्वयं पान करना=चन्द्रकलामृतपान।

( ख ) वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्य को स्खलित होने से रक्षित करते हुए उसे रज के साथ एकीकृत करके उसकी ऊर्ध्वस्थापना।

( ग ) नाद श्रवण

( घ ) ब्रह्मचर्य

हुए वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्याकर्षण का अभ्यास करता है। उसका यही अभ्यास अमरोली कहा जाता है।

अमरोली के अभ्यास से निकली हुई सुधा ( चन्द्रामृत ) को भस्म ( विभूति ) में मिश्रित करके उसको उत्तम अंगों ( सिर, कपाल, नेत्र, कन्धों, कण्ठ एवं हृदय आदि में ) लेप करना चाहिये। इससे साधक में दिव्य दृष्टि का उन्मेष हो जाता है।

**योगिनी और योगी**— यदि कोई नारी वज्रोली मुद्रा के द्वारा पुरुष के वीर्य का आकुञ्चन करके ( आकर्षण करके ) रज की रक्षा करती है तो वह योगिनी है। इस प्रकार के अभ्यास से नारी का रज तनिक भी नष्ट नहीं होता। उसके शरीर में मूलाधारोत्थित नाद हृदय के ऊर्ध्व भाग में पहुँचकर बिन्दु हो जाता है। इसी प्रकार जो साधक योनिगत बिन्दु की भी रक्षा कर लेता है, वही योगी है—

पुंसो बिन्दुं समाकुञ्च्य सम्यगभ्यासपाटवात्।
यदि नारी रजो रक्षेद् वज्रोल्या साऽपि योगिनी।।

तस्याः किञ्चिद् रजोनाशं न गच्छति न संशयः।
तस्याः शरीरे नादश्च बिन्दुतामेव गच्छति।।

**बिन्दु एवं रज का एकीकरण**— प्राण एवं अपान, 'ह' एवं 'ठ', सूर्य एवं चन्द्रमा, शुक्र एवं रज— इनकी एकता ( सामरस्य ) को ही 'योग' कहा जाता है। वज्रोली मुद्रा के अभ्यास से बिन्दु एवं रज एक होकर अपने ही शरीर में एक हो जायँ तो समस्त सिद्धियाँ प्रदान करने लगते हैं। जो नारी योनि के संकोच द्वारा रज को ऊर्ध्व करके उसकी रक्षा करती है, वह भूत-भविष्य की ज्ञाता बन जाती है— उसकी खेचरी सिद्ध हो जाती है, तब वह योगिनी कहलाती है—

रक्षेदाकुञ्चनादूर्ध्वं या रजः सा हि योगिनी।
अतीतानागतं वेत्ति खेचरी च भवेद् ध्रुवम्।।

## २०. शक्तिचालनी मुद्रा और उसका स्वरूप

समस्त मुद्राओं का प्रधान लक्ष्य एक है और वह है— शक्ति का जागरण अर्थात् सोती हुई शक्ति को जगाना—

तस्मात्सर्वप्रयत्नेन प्रबोधयितुमीश्वरीम्।
ब्रह्मद्वारमुखे सुप्तां मुद्राभ्यासं समाचरेत्।।[१]

इसी परिप्रेक्ष्य में आगे दश मुद्राओं का वर्णन किया गया है; जो कि महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उड्यान, मूलबन्ध, जालन्धर, विपरीतकरणी, वज्रोली एवं शक्तिचालन हैं।

शक्तिचालन मुद्रा का सम्बन्ध भगवती कुण्डलिनी के जागरण से है। तान्त्रिक योग

१. हठयोग प्रदीपिका।

का मूलाधार भी कुण्डलिनी ही है—

सशैलवनधात्रीणां यथाधारोऽहिनायकः।
सर्वेषां योगतन्त्राणां तथाधारो हि कुण्डली।।

यह गुरुप्रसाद से ही जागृत होती है; किन्तु जब जागृत होती है तब समस्त शरीरस्थ पद्म एवं ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं—

सुप्ता गुरुप्रसादेन यदा जागर्ति कुण्डली।
तदा सर्वाणि पद्मानि भिद्यन्ते ग्रन्थयोऽपि च।।

वह कौन-सी शक्ति है, जिसे जगाया जाता है? यह शक्ति आत्मशक्ति है, पर देवता है, कुण्डली है; जो कि साढ़े तीन वलयों में वलयित होकर सर्पिणी की भाँति सो रही है—

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धं त्रिवलयान्विता।।

यावत् सा निद्रिता देहे तावज्जीवो पशुर्यथा।
ज्ञानं न जायते तावत् कोटियोगं समभ्यसेत्।।[१]

**कुण्डलिनी**— कुलकुण्डलिनी मूलाधार चक्र में अनादि काल से सो रही है। तान्त्रिकों के रूपक के अनुसार अकुल ( शिव ) शिवलोक में बहुत ऊपर स्थित है और उसकी वियुक्ता पत्नी अनन्त कालों से उससे बिछुड़कर पाताल लोक में सुप्तावस्था में वियोगिनी प्रोषित्पतिका नायिका की भाँति पड़ी है। इसके अनेक नाम हैं जिनमें से मुख्य हैं—

१. कुटिलांगी ४. शक्ति ६. कुण्डली
२. कुण्डलिनी ५. ईश्वरी ७. अरुन्धती
३. भुजंगी

कुटिलाङ्गी कुण्डलिनी भुजङ्गी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुन्धती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः।।

कुण्डली के जागरण की विधियों का तान्त्रिक योग के ग्रन्थों एवं पुराणों में भूरिशः उल्लेख मिलता है। उपनिषदों में भी इस विषय पर सविस्तार प्रकाश डाला गया है।

**कुण्डलिनी-जागरण की विधि**— अनादिकाल-सुषुप्ता भुजंगिनी कुण्डलिनी का उत्थापन ही शक्ति का जागरण एवं शक्ति का उत्थापन है। जब तक यह शक्ति नहीं जागती; योग के किसी भी अंग— आसन-प्राणायाम-प्रत्याहार-धारणा-ध्यान-समाधि एवं मुद्रा-बन्ध-षट्कर्म आदि की पूरी सिद्धि सम्भव नहीं हो पाती।

**हठयोगप्रदीपिका की शक्त्युत्थापन-विधि**— स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि जिस प्रकार कुञ्जी के द्वारा हठपूर्वक किवाड़ खोला जाता है, उसी प्रकार योगियों के द्वारा

१. घेरण्ड संहिता।

कुण्डलिनीरूपी चाभी के द्वारा मोक्ष के बन्द द्वार को खोला जाता है—

उद्घाटयेत् कपाटं तु यथा कुञ्चिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्।।[१]

जिस मार्ग से निरामय बाह्य स्थान ( ब्रह्मरन्ध्र ) में प्रवेश किया जाता है, उसी सुषुम्ना द्वार को अवरुद्ध करके परमेश्वरी कुण्डलिनी सोती है। कन्द के ऊर्ध्व भाग में कुण्डलिनी सोयी रहती है। यह योगियों को मोक्ष प्रदान करती है और अज्ञानियों के लिये बन्धनकारिणी है। जो उसे जानता है, वही योग का ज्ञाता है—

येन मार्गेण गन्तव्यं ब्रह्मस्थानं निरामयम्।
मुखेनाच्छाद्य तद् द्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी।।

कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः सुप्ता मोक्षाय योगिनाम्।
बन्धनाय च मन्दानां यस्तां वेत्ति स योगवित्।।

नाभि के नीचे और लिंगेन्द्रिय के ऊपर कन्द स्थित है। इसी कन्द के ऊपर सुषुम्ना द्वार को अवरुद्ध करके कुण्डलिनी सोती है। योगी इस कुण्डलिनी शक्ति का चालन ( प्रबोधन ) करके मुक्त हो जाते हैं और ब्रह्मरन्ध्र में स्थित शिव का साक्षात्कार कर लेते हैं।

कुण्डली शक्ति का आकार सर्प के समान है। यह शक्ति जिसके द्वारा चालित या प्रबुद्ध की जाती है, वह योगी अज्ञान के बन्धन से निवृत्त है रहता। गंगा ( इड़ा ) एवं यमुना ( पिंगला नाड़ी ) के मध्य बालरण्डा तपस्विनी के समान कुण्डलिनी स्थित है। उसे ग्रहण करना परम पद की प्राप्ति है। इडा गंगा के समान है और पिंगला यमुना के समान है—

गङ्गायमुनयोर्मध्ये बालरण्डां तपस्विनीम्।
बलात्कारेण गृह्णीयात्तद्विष्णोः परमं पदम्।।

इडा भगवती गङ्गा पिङ्गला यमुना नदी।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये बालरण्डा च कुण्डली।।

इड़ा नाड़ी भगवती गंगा है। पिंगला नाड़ी यमुना नदी है। इन दोनों के मध्य में बालरण्डा ( निराहारा ) तपस्विनी कुण्डलिनी स्थित है। उसे हठयोग के द्वारा प्रबुद्ध करके ग्रहण करना परम पद परमेश्वर की प्राप्ति है। कुण्डलिनी जब तक इन दोनों इड़ा-पिंगला नाड़ियों के मध्य सोती रहती है और सुषुम्ना में प्रबुद्ध होकर प्रवेश नहीं करती है; तब तक निष्कल रहती है। परदेवता आत्म शक्ति कुण्डलिनी भुजंगाकारा है और सोयी हुई है। वह जब तक सोती रहती है, प्राणी पशु के समान अज्ञानी रहता है। चाहे करोड़ों प्रकार की योग-साधना की जाय, ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं होता, जब तक कि कुण्डलिनी जग न जाय। 'बालरण्डा तपस्विनी' इसलिए कहा गया है; क्योंकि कुण्डलिनी शिव से विरक्त होकर

---

१. हठयोगप्रदीपिका।

गंगा ( इड़ा ) एवं पिंगला ( यमुना ) की मध्य स्थली में तपस्या करती है और ब्रह्मनाड़ी सुषुम्ना में प्रवेश कर जाग्रत होकर ब्रह्मरन्ध्र में शिव का सायुज्य प्राप्त करती है—

पुच्छे प्रगृह्य भुजगीं सुप्तामुद्बोधयेच्च ताम्।
निद्रां विहाय सा शक्तिरूर्ध्वमुत्तिष्ठते हठात्।।

सोती हुई भुजंगी कुण्डलिनी को पूँछ पकड़कर जगाना चाहिए। वह निद्रा का त्याग कर हठपूर्वक उठकर स्थित हो जाती है, जाग जाती है। पूँछ पकड़कर सर्पाकृति कुण्डलिनी को जगाने का अभिप्राय है— प्राणनिरोध का अभ्यास। इससे वायु के द्वारा ताड़ित होकर कुण्डलिनी जग जाती है। गोरक्षनाथ 'गोरक्षशतक' में शक्तिचालिनी मुद्रा के विषय में कहते हैं—

कृत्वा सम्पुटितौ करौ दृढ़तरं बद्ध्वा तु पद्मासनम्
गाढ़ं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यात्वा च तत्प्रेक्षितम्।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत् पूरितम्।
मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रबोधान्नरः।।

दोनों हाथों को एक-दूसरे से सटाकर पद्मासन में अच्छी तरह स्थित होकर वक्षःस्थल पर चिबुक को लगाकर कुण्डलिनी का ध्यान करते हुए बार-बार प्राणायाम द्वारा वायु को खींच कर उसे अपान वायु से मिलाकर कुम्भक द्वारा वायु को रोककर श्वास बाहर निकालने से शक्ति के प्रबोधन द्वारा अतुल बोध प्राप्त करता है।

शक्तिचालिनी मुद्रा के अभ्यासकाल में साधक सिद्धासन या पद्मासन में बैठकर दोनों हथेलियों को पृथ्वी पर जमा दे। बीस-पच्चीस बार धीरे-धीरे दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठाकर ताड़न करे। इसके अनन्तर मूलबन्ध लगाकर दोनों नासिकाओं से पूरक करके प्राणवायु को अपान वायु से मिलाकर जालन्धर बन्ध लगाकर कुम्भक करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे, गुह्य प्रदेश का संकोचन एवं प्रसारण करे। इसके बाद जालन्धर बन्ध खोलकर रेचक से वायु बाहर निकाल कर एकाग्र चित्त बैठ जाय। इससे कुण्डलिनी जग जाती है—

अवस्थिता चैव फणावती सा प्रातश्च सायं प्रहरार्धमात्रम्।
प्रपूर्य सूर्यात्परिधानयुक्त्या प्रगृह्य नित्यं परिचालनीया।।

मूलाधार में स्थित कुण्डलिनी को दक्षिण नासा से वायु खींचते हुए पूरक की विधि से सूर्यास्त और सूर्योदय के समय सायं एवं प्रातःकाल में डेढ़-डेढ़ घण्टे ( ९० मिनट ) तक परिधानयुक्ति से परिचालित ( प्रबोधित ) करना चाहिए।

( परिचालन करना अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति को अच्छी तरह चालित करते हुए सुषुम्ना में समुत्थित करना )।

कुण्डलिनी का परिचालन एकाग्र चित्त होकर नाभिदेश को वस्त्र से आच्छादित करके

गोपनीयता के साथ करना चाहिए। घेरण्डसंहिता में कहा गया है—

नाभिं सम्वेष्ट्य वस्त्रेण न च नग्नो बहिः स्थितः।
गोपनीयगृहे स्थित्वा शक्तिचालनमभ्यसेत्।।

नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। नग्नावस्था में बाहर इसका साधन नहीं करना चाहिए। नाभिस्थानीय पेट को दायें-बायें, बायें-दायें परिचालित करना चाहिए।

कन्द का सम्पीडन ही शक्तिचालन है। कन्द के स्थान और स्वरूप का वर्णन किया गया है। मूल स्थान से एक वित्ता के ऊपर मेढ्र एवं नाभि के मध्य में कन्द का स्थान है। यह चौड़ाई में चार अंगुल ( तीन इञ्च ) है। यह मसृण एवं श्वेत है तथा वेष्टित किये हुये वस्त्र के समान है। साधक को वज्रासन में स्थित होकर दोनों पैरों की एड़ियों के पास हाथों से दृढ़तापूर्वक पकड़कर उस कन्द का प्रपीड़न करना चाहिए अर्थात् दबाना चाहिए। इस प्रकार वज्रासन में स्थित होकर शक्तिचालन करते हुए योगी को 'भस्त्रा कुम्भक' प्राणायाम करके कुण्डलिनी को जगाना चाहिये—

ऊर्ध्वं वितस्तिमात्रं तु विस्तारं चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं प्रोक्तं वेष्टिताम्बरलक्षणम्।।

सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेद् दृढ़म्।
गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत्।।

वज्रासने स्थितो योगी चालयित्वा च कुण्डलीम्।
कुर्यादनन्तरं भस्त्रां कुण्डलीमाशु बोधयेत्।।

कन्दयोनि की स्थिति के सम्बन्ध में गोरखनाथ जी कहते हैं—

ऊर्ध्वं मेढ्रादधो नाभेः कन्दयोनिः खगाण्डवत्।
तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः सहस्राणां द्विसप्ततिः।।

मेढ्र से ऊपर और नाभि के नीचे पक्षी के अण्डे की भाँति कन्दयोनि है। यह बहत्तर हजार नाड़ियों का उत्पत्ति-स्थान है।

याज्ञवल्क्य का कथन है कि गुदा से दो अंगुल ऊपर और मेढ्र ( लिंगेन्द्रिय ) से दो अंगुल नीचे देह का मध्य भाग है। उसके मध्य में मनुष्यों का कन्दस्थान नौ अंगुल लम्बा और चार अंगुल चौड़ा है। यह अण्डाकार है—

गुदात्तु द्व्यङ्गुलादूर्ध्वं मेढ्रात्तु द्व्यङ्गुलादधः।
देहमध्यं तयोर्मध्यं मनुजानामितीरितम्।।

कन्दस्थानं मनुष्याणां देहमध्यान्नवाङ्गुलम्।
चतुरङ्गुलिविस्तारमायामं च तथाविधम्।
अण्डाकृतिवदाकारभूषितं च त्वगादिभिः।।

नाभि का आकुञ्चन करते हुए नाभिदेशस्थ भास्कर का आकुञ्चन करना चाहिए। इस प्रकार कुण्डली शक्ति का चालन करना चाहिए। इससे योगी को मृत्यु का भय नहीं रह जाता; भले ही वह मृत्यु के मुख में ही क्यों न पड़ा हो। दो मुहूर्त ( ९६ मिनट तक ) शक्ति का इस तरह चालन करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना में प्रविष्ट होकर कुछ ऊपर की ओर खिंच जाती है। ऐसा करने से कुण्डलिनी सुषुम्ना के मुख का त्याग करके भीतर प्रवेश करती है। इसके फलस्वरूप प्राणवायु अपने-आप सुषुम्ना में प्रविष्ट हो जाती है।[1]

जिस शक्तिचालन मुद्रा से प्राण सुषुम्ना में चला जाता है, उस अरुन्धती ( कुण्डलिनी ) का, जो कि सुख से सोती है, नित्य चालन करना चाहिए। इससे योगी रोगों ( कास-श्वास-ज्वर आदि ) से मुक्त हो जाता है। जो योगी कुण्डली को सञ्चालित कर लेता है, अणिमादि सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है, वह खेल-खेल में ही अनायास मृत्यु को भी अपने वश में कर लेता है।[2]

जो साधक इन्द्रियों को वश में रखकर ब्रह्मचर्य का पालन करता है तथा सात्त्विक आहार का सेवन करता है, वह शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यासी योगी एक मण्डल ( ४० दिवसों ) में ही प्राणायाम की सिद्धि कर लेता है। कुण्डलिनी का चालन करके योगी को विशेष रूप से भस्त्राकुम्भक का नित्याभ्यास करना चाहिए। इससे उसे मृत्युभय आक्रान्त नहीं करता। उसकी अकाल मृत्यु नहीं होती। वह स्वेच्छा से देह छोड़ने में स्वतन्त्र होता है; क्योंकि मृत्यु उसके वश में रहती है।[3]

विना कुण्डलिनी का चालन किये शरीरस्थित बहत्तर हजार नाड़ियों के दृढ़ाभ्यास से आसन, प्राणायाम और मुद्राओं की साधना के द्वारा मध्यमा नाडी, सुषुम्णा सरल हो जाती

---

१. भानोराकुञ्चनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्ततः।
मृत्युवक्त्रगतस्यापि तस्य मृत्युभयं कुतः।।
मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयं चालनादसौ।
ऊर्ध्वमाकृष्यते किञ्चित् सुषुम्नायां समुद्गता।।
तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ध्रुवम्।
जहाति तस्मात् प्राणोऽयं सुषुम्नां व्रजति स्वतः।। ( हठयोगप्रदीपिका )

२. तस्मात्सञ्चालयेन्नित्यं सुखसुप्तामरुन्धतीम्।
तस्याः सञ्चालनेनैन योगी रोगैः प्रमुच्यते।।
येन सञ्चालिता शक्तिः स योगो सिद्धिभाजनम्।
किमत्र बहुनोक्तेन कालं जयति लीलया।। ( हठयोगप्रदीपिका )

३. ब्रह्मचर्चरतस्यैव नित्यं हितमिताशिनः।
मण्डलाद् दृश्यते सिद्धिः कुण्डल्यभ्यासयोगिनः।।
कुण्डलीं चालयित्वा तु भस्त्रां कुर्याद् विशेषतः।
एनमभ्यसतो नित्यं यमिनो यमभीः कुतः।। ( हठयोगप्रदीपिका )

है— कुण्डलिनी के प्रवेश के लिए सुगम मार्ग के रूप में प्रशस्त हो जाती है। अभ्यास के समय मन को समाधि में लीन करने पर निद्रारहित अवस्था में साधक को रुद्राणी, शाम्भवी मुद्रा या उन्मनी अवस्था कल्याणकारिणी सिद्धियाँ प्रदान करती है।[१]

अभ्यास के समय मन को समाधि में लीन करने पर निद्रारहित अवस्था में साधक विभिन्न स्थितियाँ प्राप्त करता है।

मुद्रा हठयोग का प्रधान अंग है। आसन, मुद्रा और कुम्भक— ये हठसाधना के प्रधान अंग माने जाते हैं।

**शिवसंहिता की शक्त्युत्थापन-विधि**— शिवसंहिता में कहा गया है कि मूलाधार चक्र में प्रसुप्त कुण्डली शक्ति को बुद्धिमान साधक अपान वायु पर आरूढ़ होकर उसे बलपूर्वक चालित करे। यह सर्वशक्तिप्रदा शक्तिचालनमुद्रा है। जो साधक प्रतिदिन शक्ति-चालन मुद्रा का अच्छी तरह विधि-विधान के साथ अभ्यास करता है, उसकी आयु में वृद्धि हो जाती है तथा उसके शरीरादि रोगों का ध्वंस हो जाता है। शक्तिचालन मुद्रा के अभ्यास से निद्रा का परित्याग करके कुण्डलिनी शक्ति स्वयं ऊपर उठ जाती है, जागृत हो उठती है; अतः सिद्धि के आकांक्षी साधक को शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। जो साधक गुरु के मार्गदर्शन में इस मुद्रा का अभ्यास करता है, उसे अणिमादि सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं तथा वह मृत्यु से अतीत हो जाता है।[२]

जो साधक केवल दो मुहूर्त ( दो क्षण ) तक भी इस शक्तिचालन मुद्रा का अभ्यास करता है, उसके लिए योगसिद्धि सहज सुलभ है। योगियों को चाहिये कि वे योगासन में स्थित होकर इस मुद्रा का अभ्यास करें।

इस दस मुद्राओं के समान योगाभ्यास न तो कभी भूतकाल में था और न ही भविष्य में इनके समान कोई अभ्यास होगा। एक-एक का अभ्यास ही पूर्ण विधि से करने पर परम सिद्धिदायक है। योगसाधना में सिद्धि का मुख्यतम उपाय मुद्राभ्यास है; अन्य साधनाओं की कोई आवश्यकता नहीं है।[३]

---

१. इयं तु मध्यमा नाड़ी दृढ़ाभ्यासेन योगिनाम्।
आसनप्राणसंयाममुद्राभिः सरला भवेत्।। ( हठयोगप्रदीपिका )

२. आधारकमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपानवायुमारुह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।।
शक्तिचालनमेवं हि प्रत्यहं यः समाचरेत्।
आयुर्वृद्धिर्भवेत्तस्य रोगाणां च विनाशनम्।। ( शिवसंहिता )

३. विहाय निद्रां भुजगी स्वयमूर्ध्वे भवेत्खलु। तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिना सिद्धिमिच्छता।।
यः करोति सदाभ्यासं शक्तिचालनमुत्तमम्। येन विग्रहसंसिद्धिः स्यादणिमादिगुणप्रदा।।

**घेरण्डसंहिता की शक्त्युत्थापन-विधि**— घेरण्ड ऋषि कहते हैं कि एक बालिस्त चौड़ा और चार अंगुल लम्बा श्वेत मुलायम वस्त्र नाभि पर रखकर उसे कटिसूत्र से बाँध लेना चाहिए। शरीर में भस्म का लेप करके सिद्धासन लगाकर प्राणवायु को खींचकर अपान वायु से मिलाना चाहिए। जब तक सुषुम्ना द्वार से वायु प्रवेश न कर जाय, तब तक अश्विनी मुद्रा से गुह्य का आकुञ्चन करते रहना चाहिए। इस प्रकार श्वास रुकने से कुम्भक के प्रभाव से सर्पाकार कुण्डलिनी जाग कर ऊर्ध्व मार्ग में खड़ी हो जाती है। शक्तिचालिनी मुद्रा के विना योनिमुद्रा सिद्ध नहीं होती।

घेरण्ड ऋषि यह भी कहते हैं कि यह मुद्रा सर्वाधिक गोपनीय है। प्रतिदिन प्रयत्न एवं गोपनीयता के साथ इसका अभ्यास करते जाना चाहिए। यह मुद्रा जरा एवं मृत्यु— दोनों का ध्वंस करने वाली है। इसके नित्याभ्यास से रोगों का क्षय होता है और सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं—

नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धिः स्याद् रोगाणां संक्षयो भवेत्।।[1]

घेरण्डसंहिता में शक्तिचालिनी मुद्रा के सन्दर्भ में कहा गया है कि कुण्डलिनी मूलाधार में सार्धत्रिवलय होकर सर्पिणी के रूप में सोयी हुई है। उसके सुप्तावस्था में योगी अज्ञावस्था में रहता है। जैसे चाभी से ताला खुलता है, उसी प्रकार कुण्डलिनी के जागरण से ब्रह्मरन्ध्र का बन्द द्वारा खुलता है। नाभि को वस्त्र से लपेट कर एकान्त स्थान में शक्ति-चालनी मुद्रा का अभ्यास करना चाहिये—

मूलाधारे आत्मशक्तिः कुण्डली परदेवता।
शयिता भुजगाकारा सार्धं त्रिवलयान्विताः।।आदि।।

इस साधना में बालिस्त भर चौड़ा एवं चार अंगुल लम्बा श्वेत एवं कोमल वस्त्र नाभि पर रखकर कटिसूत्र में बाँधा जाता है और शरीर में भस्म का लेपन करके, सिद्धासन से बैठकर, प्राण को खींचकर उसे अपान से मिलाने की क्रिया करनी पड़ती है।[2]

---

गुरूपदेशविधिना तस्य मृत्युभयं कुतः। मुहूर्तद्वयपर्यन्तं विधिना शक्तिचालनम्।।
यः करोति प्रयत्नेन तस्य सिद्धिरदूरतः। युक्तासनेन कर्तव्यं योगिभिः शक्तिचालनम्।।
एततु मुंद्रादशकं न भूतं न भविष्यति। एकैकाभ्यासनं सिद्धिः सिद्धो भवति नान्यथा।।
( शिवसंहिता )

१. घेरण्डसंहिता ( ३.५९-६० )

२. वितस्तिप्रमितं दीर्घं विस्तारे चतुरङ्गुलम्।
मृदुलं धवलं सूक्ष्मं वेष्टनालम्बरलक्षणम्।।
एवमम्बरयुक्तं च कटिसूत्रेण योजयेत्।
भस्मना गात्रसंलिप्तं सिद्धासनं समाचरेत्।।

मुद्रायें कालवञ्चनात्मिका भी हैं—

तस्य वाक्यपरो भूत्वा मुद्राभ्यासे समाहित:।
अणिमादिगुणै: सार्धं लभते कालवञ्चनम्।।

## मुद्रा और राजयोग

मुद्राओं की सिद्धि कब होती है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि मुद्रायें केवल शारीर व्यापार या शारीर अभ्यासमात्र नहीं है; प्रत्युत ये मन:साधनात्मक हैं; अत: इनकी सिद्धि में राजयोग की प्रधान भूमिका है; इसीलिए हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है—

नासाभ्यां प्राणमाकृष्य अपाने योजयेद् बलात्।
तावदाकुञ्चयेद् गुह्यं शनैरश्विनमुद्रया।।
यावद् गच्छेत् सुषुम्नायां वायु: प्राकाशयेद् हठात्।
तदा वायुप्रबन्धेन कुम्भिका च भुजङ्गिनी।।
बद्धश्वासस्ततो भूत्वा ऊर्ध्वमार्गं प्रपद्यते।
शक्तेर्विना चालनेन योनिमुद्रा न सिध्यति।। (३/५३-५७)
गोपनीयं प्रयत्नेन दिने दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिभि: सिद्धिकांक्षिभि:।।

शक्तिचालिनी के बाद ही योनिमुद्रा का अभ्यास करना चाहिये। हे चण्डकपाले! इस प्रकार शक्तिचालनी मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करना चाहिए। जो योगी इसका अभ्यास करता है, उसे सिद्धियाँ एवं विग्रहसिद्धि प्राप्त तो होती ही हैं; साथ ही उसके रोग भी नष्ट हो जाते हैं। इसी सन्दर्भ में घेरण्ड ऋषि कहते हैं—

आदौ चालनमभ्यस्य योनिमुद्रां समभ्यसेत्।
इति ते कथितं चण्डकापाले शक्तिचालनम्।।
गोपनीयं प्रयत्नेन दिन दिने समभ्यसेत्।
मुद्रेयं परमा गोप्या जरामरणनाशिनी।।
तस्मादभ्यासनं कार्यं योगिभि: सिद्धिकांक्षिभि:।
नित्यं योऽभ्यसते योगी सिद्धिस्तस्य करे स्थिता।
तस्य विग्रहसिद्धि: स्यात् रोगाणां संक्षयो भवेत्।।

कुण्डलिनी शक्ति आधारकमल में सो रही है, उसे जगाकर बलपूर्वक अपान वायु का आकर्षण करना चाहिए। यही शक्तिचालनी मुद्रा है। यह सर्वशक्तिप्रदा क्रिया है—

आधारे कमले सुप्तां चालयेत् कुण्डलीं दृढ़ाम्।
अपानवायुमारूह्य बलादाकृष्य बुद्धिमान्।
शक्तिचालनमुद्रेयं सर्वशक्तिप्रदायिनी।।

हठयोगप्रदीपिका में कहा गया है कि ७२००० नाड़ियों के शोधन में ( उनमें स्थित अशुद्धि को दूर करने में ) शक्तिचालनमुद्रा ( कुण्डलिनी के अभ्यास ) से बढ़कर कोई प्रक्षालनोपाय नहीं है—

द्वासप्ततिसहस्राणां नाडीनां मलशोधने। कुत: प्रक्षालनोपाय: कुण्डल्यभ्यसनादृते।।

राजयोगं विना पृथ्वी राजयोगं विना निशा।
राजयोगं विना मुद्रा विचित्रापि न शोभते।।

साधक को प्राणायाम की सभी विधियों को मनोयोगपूर्वक करना चाहिए और उस मनीषी को मन की प्रवृत्ति किसी विषयान्तर में निरत नहीं करनी चाहिये—

इतरत्र न कर्तव्या मनोवृत्तिर्मनीषिणा।

सर्वेश्वर भगवान् आदिनाथ शम्भु ने इन्हीं अभ्यासों को दश महामुद्रा कहा है। ये महासिद्धिप्रदायिका हैं। इसकी प्रत्येक मुद्रा महासिद्धिप्रदा है—

इति मुद्रा दश प्रोक्ता आदिनाथेन शम्भुना।
एकैका तासु यमिनां महासिद्धिप्रदायिनी।।

जो इन मुद्राओं का उपदेष्टा योगी है, वही गुरु, स्वामी एवं ईश्वर है—

उपदेशं हि मुद्राणां यो दत्ते साम्प्रदायिकम्।
स एव श्रीगुरुः स्वामी साक्षादीश्वर एव सः।।

राजयोग है क्या? स्वात्माराम मुनीन्द्र कहते हैं कि राजयोग वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वक आत्मगोचर एवं धारावाहिक रूप में प्रसृत ( प्रवाहित ) निर्विकल्प वृत्ति है। ज्योत्स्ना में यही व्याख्या की गई है— 'वृत्त्यन्तरनिरोधपूर्वकात्मगोचरधारावाहिकनिर्विकल्पकवृत्तिः राजयोगः।'

**राजयोगं विना पृथ्वीः**— राजयोग के विना पृथ्वी शोभित नहीं होती। पृथ्वी का क्या अर्थ है? ज्योत्स्नाकार का कथन है कि 'पृथ्वी' शब्द स्थैर्य गुण का प्रतिनिधि एवं सूचक है। आसन में स्थिरता आवश्यक है। पृथ्वी भूतत्त्व है। भूतत्त्व स्थिर है। जल, अग्नि एवं वायु तत्त्व अस्थिर हैं, अतः पृथ्वी को स्थिरता का सूचक मान लिया गया है। पृथ्वी का नाम ही है— ( अचला ) स्थिर। यद्यपि नक्षत्र-विज्ञान की दृष्टि से पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है; अतः स्थिर नहीं है, तथापि अपने पिण्ड के भीतर वह स्थिर है। वह बाहर अपनी सम्पूर्ण पिण्डात्मक रचना के रूप में सूर्य की परिक्रमा करते हुए ३६५ दिन ५ घण्टे ८८ मिनट एवं ४५.५१ सेकेण्ड लगाती है। अपनी धुरी पर भी वह स्थिर नहीं है; तथापि अपने मध्य में स्थिरवत् है; अन्यथा पृथ्वी तूफान जैसी होती। पृथ्वी के सम्बन्ध में प्रारम्भिक मत यह था कि पृथ्वी ब्रह्माण्ड का एक ऐसा अचल केन्द्र है, जिसके चारो ओर सूर्य, नक्षत्र तथा अन्य खगोलपिण्ड चक्कर काटते हैं। इस सिद्धान्त के प्रथम प्रवर्त्तकों में निडोस के यूरोडाक्सियस ( ३६० ई० पूर्व पू० ) एक थे । यूनानी दार्शनिक अरिस्टाकस ( ३१०-३२० ई० पू० ) का मत यह नहीं था। उनके अनुसार 'स्थिर नक्षत्र एवं सूर्य स्थिर हैं। पृथ्वी एक वृत्त की परिधि के चारो ओर की परिक्रमा करती है और सूर्य इस परिक्रमा-कक्ष के केन्द्र में है।'

अलेक्जेण्ड्रिया के दार्शनिक कलाडियस टालमी का अभिमत है कि निडोस के दार्शनिक

यूरोडाक्सियस का मत वैज्ञानिक नहीं है। कापरनिकस ( १४७३-१५४३ ) ने कहा कि सूर्य ही ब्रह्माण्ड का केन्द्र है और पृथ्वी अचला नहीं— स्थिर नहीं; अस्थिर है और वह सूर्य की परिक्रमा करती है—

१. पृथ्वी का अपनी धुरी पर परिक्रमा का काल २३ घण्टा, ५६ मिनट और ४.९ सेकेण्ड।

२. पृथ्वी की सूर्य के चतुर्दिक प्रदक्षिणा का काल ३६५ दिन, ५ घण्टे, ८८ मिनट और ४५.५१ सेकेण्ड।

जिस प्रकार थाली को पीटने पर उस पर रक्खे छोटे कण नाचने या हिलने लगते हैं, ठीक उसी प्रकार यदि पृथ्वी भी अस्थिर होती तो उस पर स्थित पहाड़, नदियाँ, नगर, मकान आदि कोई भी स्थिर नहीं रह पाते; अत: पृथ्वी आपेक्षिक दृष्टि से तो स्थिर ही है। इसी दृष्टि से ज्योत्स्ना में ब्रह्मानन्द गिरि कहते हैं—

पृथ्वीशब्देन स्थैर्यगुण: राजयोगादसनं लक्ष्यते।

पृथ्वी का अर्थ है— स्थैर्य। राजयोग का अर्थ है— आसन।

राजयोग के विना परमपुरुषार्थस्वरूप मोक्ष प्राप्त करना सम्भव नहीं है— 'राजयोगं विना परमपुरुषार्थफलासिद्धि: इति हेतुरग्रेऽपि योजनीय:।'

'राजयोगं विना निशा' क्यों कहा गया है? निशा के समान कुम्भक प्राणायाम राजयोग के विना शोभायमान नहीं होता; क्योंकि जिस प्रकार रात्रि में राजपुरुषों का सञ्चार नहीं होता, उसी प्रकार कुम्भक ( प्राणायाम ) में प्राणों का सञ्चार नहीं होता।

निशा का अर्थ है— कुम्भक प्राणायाम। निशाशब्देन प्राणसञ्चाराभाव:, कुम्भक प्राणायाम=निशा।

राजयोग का अर्थ है— राजयोग नामक ज्ञान एवं मन:प्रधान साधना। 'निशाशब्देन प्राणासञ्चाराभावलक्षण: कुम्भको लक्ष्यते। राजयोगं विना निशेव निशा कुम्भको न राजते । निशायां प्रायेण राजजनसञ्चाराभावात्।'

राजयोगं विना मुद्रा विचित्राऽपि न शोभते। अर्थात् राजयोग के विना मुद्रा भी सुशोभित नहीं होती।

## २१. योगमुद्रा

पद्मासन से बैठकर हथेलियों को एड़ियों पर रखिये। धीरे-धीरे श्वास बाहर निकाल कर एवं आगे झुककर मस्तक को जमीन से लगाइये। यदि अधिक समय तक अभ्यास करना हो तो सामान्यावस्था में ( प्रथमावस्था में आकर ) श्वास लें। हाथों को एड़ियों पर न रखकर पीठ पर भी रख सकते हैं। बायीं कलाई को दाहिनी कलाई से पकड़ें। इससे पेट के सभी विकार दूर हो जाते हैं।

## २२. भुजङ्गिनी मुद्रा

मुख को थोड़ा फैलाकर गले के द्वारा वायु-पान करना भुजंगिनी मुद्रा कहलाती है। फल = वार्धक्य + मृत्यु का निवारण।

## २३. मातङ्गिनी मुद्रा

मुख से निकालने के बाद मुख से खींचकर दोनों नासारन्ध्रों से निकालने की क्रिया को मातंगिनी मुद्रा कहते हैं।

## २४. काकी मुद्रा

मुख को कौवे की चोंच के समान बनाकर धीरे-धीरे वायु-पान करने को काकी मुद्रा कहते हैं। फल = रोग-राहित्य।

**सन्त ज्ञानेश्वर की दृष्टि**— ज्ञानेश्वर ने भावार्थदीपिका में मूल बन्ध का बहुत सरल ढंग से वर्णन किया है। वे कहते हैं कि जंघे को पिंडुली से मिला दो। पाँव के तलुए एक पर एक ड्योढ़ा करके गुदास्थान के मूल में स्थिर रखकर जोर से दबाओ। दाहिना पाँव नीचे रक्खो एवं वृषण से गुदास्थान तक जो रेखा है, उसे उससे दबाओ। इस वृत्ति में बायाँ पाँव अपने-आप ही ऊपर रहेगा। गुदा और शिश्न के मध्य जो केवल चार अंगुल स्थान है, उसमें से दोनों ओर डेढ़-डेढ़ अंगुल छोड़कर बीच में जो एक अंगुल जगह रह जाती है, वहाँ एडी के उत्तर भाग से दबाओ और शरीर स्थिर करो। पीठ के नीचे का भाग इस प्रकार उठाओ कि उठाया प्रतीत न हो तथा दोनों घुटनों का भी सन्तुलन सम्भालो। इस स्थिति में सम्पूर्ण शरीर एड़ी के मस्तक पर रहेगा। हे अर्जुन! यही है— मूलबन्ध। इसे ही गौण वज्रासन भी कहते हैं। इस प्रकार जब मूलाधार का बन्ध सिद्ध हो जाता है और अपान वायु का अधोमार्ग बन्द हो जाता है तब वायु भीतर की ओर संकुचित होने लगती है।[१]

नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान चक्र के ऊपर जो बन्ध बनता है, उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं। इसी प्रकार जब ठोढ़ी कण्ठ के नीचे के गड्ढे में जम जाती है, हृदय को जोर से दबाती है और कण्ठमणि अदृश्य हो जाती है तो इस बन्ध को जालन्धर बन्ध कहते हैं।[२]

मूलबन्ध के द्वारा अपान वायु को बन्द कर दिया जाता है। फिर पीछे वह पलटती है और संकुचित होते ही तत्काल फूलती है। सन्ताप से वह उन्मत्त हो जाती है और

१. पक्षान्तर में की गई व्याख्या—

( क ) राज्ञो नृपस्य योगो राजयोगो ( राजा के साथ संयोग या मिलन = राजयोग ) राज-सम्बन्धस्तं विना पृथ्वी भूमिर्न राजते। शास्तारं विना भूमौ नानोपद्रवसम्भवात् ।

२. राजा चन्द्रः सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा ( श्रुति )। तस्य योगं सम्बन्धं विना निशा रात्रिर्न राजते। राजा = चन्द्रमा। चन्द्रमा के विना निशा सुशोभित नहीं होती = राजयोगं विना निशा।

मनमानी जगहों में गर्जन करती है और ठहर-ठहर कर नाभिकमल मणिचक्र से लड़ने लगती है। वह सारे पेट को खोज डालती है और बाल्यावस्था का समस्त सड़ा कीचड़ बाहर फेंक देती है। वह शरीर के कोष्ठ-कोष्ठ को खोजती है और कफ एवं पित्त का स्थान नहीं रहने देती। वह धातु के समुद्रों को उलट देती है। वह मेदा के पर्वतों को फोड़ डालती है तथा भीतरी हड्डी से मिली हुई मज्जा को बाहर निकालती है और नाड़ियों का सम्बन्ध छुड़ा देती है।[1]

**शक्त्युत्थापनसम्बन्धिनी ज्ञानेश्वर की दृष्टि**— मूलबन्ध लगाने पर कुण्डलिनी निरुद्ध अपान वायु अवयवों को शिथिल कर डालती हैं। अपान वायु साधकों को भयभीत कर देती है। वह व्याधियाँ भी प्रकट करती है तथा साथ ही उसको नष्ट भी कर देती है। वह जलतत्त्व एवं पृथ्वी तत्त्व— दोनों को एक में सान डालती है।

दूसरी ओर लगे हुए आसन की ऊष्णता से कुण्डलिनी नामक शक्ति को जागृत कर देती है। जैसे कोई नागिन का सँपोला कुंकुम नहाया हुआ हो और अनेक वलयों में वलयित होकर सो रहा हो, उसी प्रकार की छोटी-सी कुण्डलिनी साढे तीन वलयों ( सार्ध त्रिवलयों ) में वलयित होकर और मुख को मध्य में किये हुये सर्पिणी के समान सोती रहती है। वह देखने में ऐसी प्रतीत होती है; मानों वह—

१. कुंकुम में नहाया हुआ संपोला हो।

२. विद्युतनिर्मित कंकण हो।

३. अग्नि-ज्वालाओं से परिवेष्टित एक विशिष्ट रचना हो।

४. घोंटे हुए सोने का पासा हो।

५. वह छोटे से स्थान में दबी हुई पड़ी रहती है; किन्तु वज्रासन के दबाव के कारण जाग जाती है। जगने पर वह ऐसी प्रतीत होती है; मानो—

( क ) कोई नक्षत्र उलटा पड़ा हो।

( ख ) सूर्य का आसन छूट गया हो।

( ग ) चतुर्दिक प्रसृत तेज के बीज से अंकुर फूटे हों।

ऐसी कुण्डलिनी अपने वलयों ( फेटों ) को छोड़कर कौतुक के साथ अंगड़ाई लेती हुई नाभिस्थान पर दिखाई पड़ती है। चिरकाल से भूखी और हठपूर्वक जगाने से जागृत वह कुण्डलिनी भोजन के लिए ऊपर की ओर मुंह फाड़ती है और हृदयकमल के नीचे स्थित पवनसमूह को खा जाती है और माँसल स्थानों के कुछ भागों को अपना ग्रास ( कवल )

---

राजयोगं विना नृपसम्बन्धं विना मुद्रा राजभिः पत्रेषु क्रियमाणश्चिह्नविशेषः। विचित्रापि पृथ्वीपक्षे रत्नादिजनकत्वेन विलक्षणापि। निशापक्षे ग्रहनक्षत्रादिभिर्विचित्रापि। मुद्रापक्षे रेखाभिर्विचित्राऽपि न राजते। ( ब्रह्मानन्द गिरि-ज्योत्स्ना )

१. भावार्थदीपिका। ( श्लोक ६.१२-१३ )

बना ड़ालती है। फिर वह हृदय के भी एक-दो ग्रास चट कर जाती है। तत्पश्चात् वह तलुवों एवं हथेलियों का भी भेदन करती है और प्रत्येक अवयव की ग्रन्थियों में भी पहुँचती है। वह अधोभाग को भी नहीं छोड़ती। वह नख का भी सत्त्व निकाल लेती है और त्वचा के ढांचे को हड्डी के कंकाल से जोड़ देती है। वह हड्डियों की नलियों का भी रस निकालती है, नसों के जाले धो डालती है; जिससे कि रोममूलों की वृद्धि बन्द हो जाती है। फिर वह तृषाकुल कुण्डलिनी सप्तधातुओं के समूह को भी पीती है, जिससे कि शरीर का प्रत्येक भाग शुष्क हो जाता है। वह नासारन्ध्रों से निःसृत एवं १२ अंगुल पर्यन्त प्रसृत वायु को हटाकर भीतर घुस जाती है और तब नीचे की वायु ऊपर चढ़ती है एवं ऊपर की वायु नीचे उतरती है। जब इन दोनों वायुओं का मिलन होता है तब चक्रों के मात्र सूक्ष्म पुर्जे ही बच पाते हैं। कुण्डलिनी इन दोनों से कहती है कि जाओ, तुम्हारी यहाँ कोई उपयोगिता नहीं है।

कुण्डलिनी शरीर के पृथ्वी से सम्बद्ध धातु को पूर्णतया खा जाती है। वह इसमें से कुछ भी शेष नहीं रहने देती। फिर वह जलतत्त्व को भी पूर्णतया अपना आहार बना ड़ालती है। पृथ्वीतत्त्व एवं जलतत्त्व— दोनों का आहार कर चुकने के बाद वह तृप्त हो जाती है और इसी स्थिति में सुषुम्ना नामक नाड़ी के पास शान्त होकर स्थित हो जाती है।

वह आहारोपरान्त प्राप्त तृप्ति से ( सन्तुष्टि द्वारा ) मुख से जो गरल उगलती है, उसी अमृत से प्राणवायु जीवन धारण करती है। वह विष भीतर से बाहर की ओर अग्नि के रूप में निकालता है, किन्तु वह शैत्य फैलाता है; जिसके परिणामस्वरूप शिथिलीकृत, गलित, शुष्क एवं निष्प्राणीभूतवत् शरीरावयव दृढ़ होने लगते हैं।

कुण्डलिनी के जागरण की इस अवस्था में—

१. नाड़ियों के मार्ग बन्द हो जाते हैं।

२. नवों प्रकार के वायु की गति बन्द हो जाती है।

३. इड़ा-पिंगला नाड़ियाँ एक में मिल जाती हैं।

४. तीनों ग्रन्थियाँ छूट जाती हैं।

५. चक्रों की कलियाँ खिल उठती हैं।

६. चन्द्रमा और सूर्य नामक कल्पित वायु ढूँढ़ने पर भी कहीं दृष्टिगत नहीं होते।

७. बुद्धि का विकास बन्द हो जाता है।

८. घ्राणेन्द्रिय में स्थित सौरभ कुण्डलिनी के साथ नाड़ी में प्रविष्ट हो जाता है।

९. ऊर्ध्वस्थित समस्त चन्द्रामृत सरोवर कुण्डलिनी के मुख में गिर पड़ता है।

१०. इसके द्वारा नली में जो रस भर जाता है, वह समस्त शरीर में फैल जाता है और प्राणवायु के योग से यत्र-तत्र शुष्क हो जाता है।[१]

---

१. भावार्थदीपिका।

११. उस समय शरीर के रूप से मानों कान्ति ही अवतार ग्रहण करती है और ऊपर से त्वचारूपी आवरण डाल लेती है।

ऐसा प्रतीत होता है मानों, सूर्य मेघरूपी घूंघट काढ़े हुए है और मेघ के हट जाने पर वह अत्यन्त तेजस्वी दृष्टिगोचर हो रहा हो। ठीक इसी प्रकार जो शरीर त्वचारूपी सूखा पड़ा रहता है, वह भूसे की भाँति झड़ जाता है। उस समय शरीर के अवयवों की कान्ति ऐसी प्रतीत होती है जैसे वह स्फटिक से बनी हो या रत्नरूपी बीज में अंकुर प्रस्फुटित हो उठे हों, या सन्ध्याकाल के आकाश का रंग निकाल कर उन्हीं से ही कोई नया शरीर बना दिया गया हो, या आत्मज्योति का लिंग ही परिमार्जित करके रख दिया गया हो, या शरीर कुंकुम से नहाया हुआ हो, या आत्मरस ही शरीर के रूप में ढाल दिया गया हो, या शान्ति ने ही मूर्ति का रूप धारण कर लिया हो, या आनन्दस्वरूप चित्र ही लिपि के रूप में प्रकट हो गया हो ( आनन्दरूपा चित्र की लिखावट हो ), या महासुख की प्रतिमा हो या सन्तोषरूपी वृक्ष का पौधा रोपा गया हो, या महासुख का विग्रह हो, या सन्तुष्टिरूप वृक्ष का रोपा लगाया गया हो, या स्वर्णचम्पक की कलिका हो, या अमृत की मूर्ति हो, या मसृणता की बरेज में वसन्त आ गया हो, या शरदर्तु की आर्द्रता से चन्द्रबिम्ब पल्लवित हो उठा हो, या मूर्तिमान तेज ही आसनस्थ हो गया हो। कुण्डलिनी के अमृत का पान करते समय योगी का शरीर इसी प्रकार तेजस्वी, आकर्षक एवं सुन्दर बन जाता है। उस तेजोमय देह को देखकर यमराज भी भयभीत हो उठता है। यह शरीर वार्धक्य के बन्धन से अतीत हो जाता है। यौवन की ग्रन्थि का उद्भेदन हो जाता है। उसकी आयु यथार्थ आयु से कम दिखाई पड़ती है।

उसके शरीर में ऐसे नए नख निकलते हैं, जो ( देखने पर ) स्वर्ण के वृक्ष के पल्लवों में नित्य नव्य रत्नों की कलिकाओं के समान दृष्टिगत होते हैं। दाँत भी नए हो जाते हैं और छोटे-छोटे होते हैं। ये देखने में ऐसे लगते हैं, मानों हीरों की पंक्तियाँ बैठा दी गई हों। शरीर में जो रोमों के अंकुर होते हैं, वे ऐसे लगते हैं मानों माणिक्य के नोकदार कण हों। हथेलियाँ एवं तलवे रक्त कमल के समान दृष्टिगत होते हैं। नेत्र निर्मल हो जाते हैं। नेत्र ऐसे दिखते हैं मानों पक जाने पर सीपी का सीवन तोड़कर मोती बाहर निकल आये हों या सीपी की सियन खुल गई हो, जिससे मोती बाहर दिखने लगे हों । यही दृश्य दिखाई पड़ता है, ऐसे योगी के अर्धोन्मीलित नेत्रों का। दृष्टि पलकों में नहीं समाती और निकलकर व्यापक होना चाहती है। वह रहती तो अर्धोन्मीलित ही है; किन्तु आकाश तक व्याप्त रहती है।

ऐसे योगी का शरीर स्वर्ण का हो जाता है; किन्तु वह सोना के समान वजनी नहीं होता; प्रत्युत वायु का लघुत्व रखता है। उसमें पृथ्वी एवं जल के अंश नहीं रहा करते। उसे समुद्र का तट दिखाई पड़ता है और स्वर्ग का सुमधुर स्वर दृष्टिगोचर होता है। उसे

चींटी के मन का समाचार, अवस्था एवं मनोभाव ज्ञात हो जाता है। वह पवन के अश्व पर सवार हो सकता है। वह जल पर चले तो उसके तलुवे भीगते नहीं। उसे इसी प्रकार की अनेक सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

## २५. कुण्डलिनी

प्राणों का हाथ पकड़कर हृदयाकाश की सीढ़ी बनाकर सुषुम्ना नाड़ी के जीने से पहुँची हुई जगदम्बा कुण्डलिनी चैतन्य-चक्रवर्ती है। उसने जगद्बीज ओंकार के अंकुररूप जीव पर छाया की है। वह निराकार ब्रह्म का साकार विग्रह है। वह परमात्मा शिव का सम्पुट है। वह ओंकार की प्रसवित्री जन्मभूमि है। वह कुण्डलिनी बाला जब हृदय में पहुँचती है तो अनाहत ध्वनि करने लगती है। उसके साथ बुद्धि की चेतना उपस्थित रहती है। इसी कारण बुद्धि को वह मधुर ध्वनि श्रुतिगोचर होती रहती है। वह ध्वनि ऐसी सुनाई पड़ती है, मानों घोषाकार कुण्ड में ध्वनि-चिह्न के आकार एवं ओंकार के रूप में लिखे गए हों। चूँकि वहाँ कल्पना करने वाला भी नहीं रहता; अतः यह ज्ञात नहीं होता कि कहाँ से किस वस्तु की ध्वनि श्रुतिगोचर हो रही है।

जब तक पवनतत्त्व का नाश नहीं होता तब तक आकाश में ध्वनि होती रहती है और आकाश गरजता रहता है। इस समय सहज रूप में ही ब्रह्मरन्ध्र की खिड़की खुल जाती है।[१]

कमलगर्भ के आकार के महदाकाश में, जो कि चैतन्यविग्रह है, कुण्डलिनी परमेश्वरी मानों तेजरूपी कलेवा अर्पित करती है। वह बुद्धिरूपी शोक का इस प्रकार नैवेद्य अर्पित करती है कि द्वैत का ध्वंस हो जाता है। इस स्थिति में कुण्डलिनी अपना तेज परित्यक्त करती है और केवल प्राणस्वरूप में अवशिष्ट रह जाती है। वह इस प्रकार दृष्टिगत होती है, मानों पवन की पुत्रिका ( कठपुतली ) ने अपनी ओढ़ी हुई सोने की साड़ी उतार कर रख दी हो। ऐसा प्रतीत होता है मानों किसी दीपक की दृष्टि वायु से लड़कर लुप्त हो गई हो या विद्युत् चमक कर आकाश में विलीन हो गई हो।

हृदयकमल में कुण्डलिनी ऐसी दिखती है, मानों वह सोने की शलाका हो या कोई प्रकाश का प्रपात प्रवाहित हो रहा हो। उस शक्ति का रूप शक्ति में उसी प्रकार समाविष्ट या संलीन हो जाता है, जैसे हृदय भूमि के दर्रे में समा गया हो।

उसे या तो शक्ति कहें या प्राण— वह दोनों है। इस समय वह प्राण के रूप में रहती है। इस समय नाद, बिन्दु, कला, ज्योति— ये नहीं रह जाते। इस समय मन को वशीकृत करना, पवन का आश्रय लेना या ध्यानाभ्यास करना आदि निरर्थक हो जाता है। पिण्ड से पिण्ड का ग्रास, जो कि नाथ सम्प्रदाय का मर्म है, वही भगवान् कृष्ण ने गीता में उद्घाटित किया है।

---

१. भावार्थदीपिका।

जब शक्ति के तेज का लोप हो जाता है तब देह का रूप भी मिट जाता है और योगी इतना सूक्ष्म हो जाता है कि आँख में भी छिप सकता है। वह सावयव होते हुए भी वायुस्वरूप हो जाता है। ऐसा लगता है मानों केले के वृक्ष का गाभा अपने आच्छादन का त्याग करके खड़ा हो गया हो या आकाश के शरीर में अंग उत्पन्न हो गये हों। इस प्रकार का शरीर प्राप्त करने पर उसे खेचर कहते हैं। यह पद प्राप्त होते ही अनेक चमत्कार प्रकट होने लगते हैं। यथा—

१. योगी जहाँ-कहीं से भी निकल जाय, उसके पावों से निर्मित रेखाओं के स्थान पर अणिमादिक सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं।

२. देह के देह में पृथ्वी, जल और तेज ( अग्नितत्त्व ) तीनों महाभूत लुप्त हो जाते हैं।

३. हृदय में पृथ्वीतत्त्व को जलतत्त्व गला देता है। जलतत्त्व अग्नितत्त्व को शुष्क कर डालता है और वायुतत्त्व अग्नितत्त्व को बुझा देता है। फिर केवल वायुतत्त्वमात्र शेष रह जाता है। वह शरीर को आधार प्रदान किये रहता है।

४. इसके अनन्तर वायुतत्त्व भी आकाशतत्त्व में विलीन हो जाता है। इस समय कुण्डलिनी की 'कुण्डलिनी' आख्या न रहकर वायु हो जाती है अर्थात् कुण्डलिनी का नाम वायु हो जाता है। 'कुण्डलिनी' नाम के बदले उसका नाम 'वायु' पड़ जाता है।

५. जब तक कुण्डलिनी ब्रह्म में समाविष्ट नहीं हो जाती, तब तक उसकी शक्ति बनी रहती है। फिर वह जालन्धर बन्ध छोड़ देती है और सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करती है एवं गगनरूपी पहाड़ी पर जा पहुँचती है।

६. अब कुण्डलिनी ओंकार की पीठ पर पाँव रखकर शीघ्रता से पश्यन्ती वाक् रूपी सीढ़ी पर चढ़ जाती है और जिस प्रकार सागर में सरिता उसी प्रकार ओंकार की अर्द्धमात्रा तक आकाशतत्त्व के हृदय में जा मिलती हुई दिखाई देती है। फिर वह ब्रह्मरन्ध्र में स्थिर रहकर सोऽहंभावरूपी भुजायें फैलाकर दौड़ती हुई परब्रह्म से मिल जाती है। उस काल में पञ्चमहाभूतों का आवरण विदीर्ण हो जाता है और शक्ति का शक्तिमान के साथ सामरस्य ( महामिलन ) हो जाता है।

७. उस सामरस्यात्मक ब्रह्मानन्द में आकाशतत्त्व सहित सब कुछ विलीन हो जाता है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है; मानों समुद्र ही मेघों के मुख से निकलकर नदी-प्रवाह में बहकर अपने-आप में ही मिल गया हो।[१]

इस समय ऐसा प्रतीत होता है; मानों ब्रह्म ही ब्रह्मपद में समाविष्ट गया हो। ऐसी लोकोत्तर एकता की दशा उपस्थित हो जाती है। इस समय द्वैत निर्मूल हो जाता है।

८. इस समय गगन में गगन विलीन हो जाता है। उस अवस्था का जिसे अनुभव हो जाय, वही सिद्ध पुरुष है।

१. भावार्थदीपिका।

९. उस अनुभव की वार्ता वाणी के हाथ में नहीं आती; अतः संवादरूपी ग्राम में पहुँचना सम्भव नहीं रह पाता। यहाँ तक कि इस अभिप्राय को प्रकट करने वाली वाणी भी दूर रह जाती है।[१]

१०. इस समय भृकुटी की पिछली ओर मकार का भी प्रवेश नहीं हो पाता। अकेले प्राण को भी गगन में प्रवेश करने में सङ्कट का सामना करना पड़ता है और जब वह वहीं मिल जाता है तब शब्दरूपी दिन का अस्त हो जाता है और आकाश का ध्वंस हो जाता है। अतएव महदाकाश के शरीर में जब आकाश का भी ठिकाना नहीं लगता, तब भला शब्द की थाह लग पाना कहाँ सम्भव है? यह वस्तु वाणी द्वारा वर्ण्य एवं कानों द्वारा श्रव्य नहीं है। यदि दैवयोग से कुछ अनुभव प्राप्त हो जाता है तो अनुभवी साधक तद्रूप बन जाता है। उसके अनन्तर कुछ भी ज्ञातव्य नहीं रह जाता।[२]

११. जब शब्द पीछे हटता है तब संकल्प की आयु समाप्त हो जाती है और वहाँ पर विचार की वायु का भी प्रवेश नहीं होता। जो उन्मनी अवस्था की शोभा है, तुर्यावस्था का तारुण्य है, अनादि और अननुमेय परम तत्त्व है, जो विश्व का मूल है, जो योगवृक्ष का फल है, जो आनन्द का जीवन है, जो आकार की अन्तिम सीमा है, जो मोक्ष का एकान्त है, जिसमें आदि और अन्त लीन हो गये हों, जो महाभूतों का बीज है, जो महातेज का तेज है, जो परमात्मा का निजस्वरूप है, वह महासुख अनिर्वाच्य है। यही ब्रह्मप्राप्ति का मार्ग है। इस अनुभूति के होने पर सम्पूर्ण विश्व का लय हो जाता है।[३]

**षट्चक्रनिरूपणम् में कुण्डलिनी का स्वरूप**— पूर्णानन्द यति ने कुण्डलिनी का स्वरूप इस प्रकार चित्रित किया है—

तस्योर्ध्वे बिसतन्तुसोदरलसत् सूक्ष्मा जगन्मोहिनी
ब्रह्मद्वारमुखं मुखेन मधुरं सञ्छादयन्ती स्वयम्।
शङ्खावर्त्तनिभा नवीनचपला मालाविलासास्पदा
सुप्ता सर्पसमा शिवोपरि लसत् सार्द्धत्रिवृत्ताकृतिः।।[४]

कूजन्ती कुलकुण्डली च मधुरं मत्तालिमालास्फुटं
वाचं कोमलकाव्यबन्धरचना भेदातिभेदक्रमैः।
श्वासोच्छ्वासविभञ्जनेन जगतां जीवो यया धार्यते
सा मूलाम्बुजगह्वरे विलसति प्रोद्दामदीप्तावलिः।।

तन्मध्ये परमा कलाऽतिकुशला सूक्ष्मातिसूक्ष्मा परा
नित्यानन्दपरम्परातिविगलत् पीयूषधाराधरा।
ब्रह्माण्डादिकटाहमेव सकलं यद् भासया भासते
सेयं श्रीपरमेश्वरी विजयते नित्यप्रबोधा दया।।[५]

---

१. भावार्थदीपिका।
२. ज्ञानेश्वरः भावार्थदीपिका।
३. ज्ञानेश्वरी।
४. षट्क्रनिरूपण। ( १० )
५. षट्चक्रनिरूपण। ( १२ )

## २६. शाम्भवी मुद्रा

१. मन को आज्ञाचक्र में स्थिर करके, दृष्टि को सम स्थल में अधिकाधिक दो हाथ और कम से कम एक बीता के अन्तर से किसी मनोनीत पदार्थ की कल्पना में केन्द्रित करके स्थिर करना या चलते-फिरते, उठते-बैठते, सोते-जागते एवं कार्य करते समय अपने में अपना लक्ष्य रखकर अलक्ष्य को लक्ष्य बनाना। परा का स्फुरण यशवन्ती बनकर मध्यमा वैखरी के अर्थ की एकता करता है या नहीं? इसी का निरीक्षण करना आन्तर लक्ष्य है। इसी मुद्रा के करने से शिव जी के नाम पर इसका नाम पड़ा— शाम्भवी मुद्रा।

२. नासिकाग्र भाग पर दृष्टि जमाना चाहिए। इसका भाव यह है कि यदि साधक नेत्रों को अधिक खोलेगा तो विक्षेप होगा और सर्वथा बन्द रखने पर आलस्य से चित्त का लय होगा। अतएव भृकुटी के मध्य में लक्ष्य स्थिर करना चाहिए। नेत्रों को यत्किञ्चित् खुला रक्खे, जिससे चित्त का लक्ष्य अन्तर्मुख ( ध्येयाकार ) रहे। दृष्टि बाहर की ओर ( नेत्र खुला ) रहे; किन्तु बाह्य पदार्थ दिखाई न पड़े।

३. दोनों भृकुटियों के मध्य दृष्टि जमाकर स्थिर मन से ध्यान द्वारा परमात्मा का दर्शन करे।

'घेरण्डसंहिता' में कहा गया है कि वेद-शास्त्र-पुराण आदि तो सामान्य गणिका के समान हैं; परन्तु शाम्भवी मुद्रा तो कुलवधू की भाँति सम्माननीय है—

वेदशास्त्रपुराणानि सामान्यगणिका इव।
इयं तु शाम्भवी मुद्रा गुप्ता कुलवधूरिव।।

जो इसे जानता है, वह आदिनाथ नारायण एवं स्रष्टा ब्रह्मा के समान है—

स एव आदिनाथश्च स च नारायणः स्वयम्।
स च ब्रह्मा सृष्टिकरी यो मुद्रां वेत्ति शाम्भवीम्।।[१]

सत्यं सत्यं पुनः सत्यं सत्यमुक्तं महेश्वरः।
शाम्भवीं यो विजानीयात् स च ब्रह्मा न चान्यथा।।

शाम्भवी मुद्रा द्वारा चित्त का लय हो जाता है—

अन्तर्लक्ष्यबहिर्दृष्टिर्निमेषोन्मेषवर्जिता।
एषा सा शाम्भवी मुद्रा वेदशास्त्रेषु गोपिता।।

अन्तर्लक्ष्यविलीनचित्तपवनो योगी यदा वर्तते
दृष्ट्या निश्चलतारया बहिरधः पश्यन्नपश्यन्नपि।
मुद्रेयं खलु शाम्भवी भवति सा लब्धा प्रसादाद् गुरोः
शून्याशून्यविलक्षणं स्फुरति तत्तत्त्वं परं शाम्भवम्।।[२]

---

१. हठयोगप्रदीपिका। ( ४.३५ )　　२. हठयोगप्रदीपिका।

अन्तर्लक्ष्यमनन्यधीरविरतं पश्यन्मुदा संयमी
दृष्ट्युन्मेषनिमेषवर्जितमियं मुद्रा भवेच्छाभवी।
गुप्तेयं गिरिशेन तन्त्रविदुषा तन्त्रेषु तत्त्वार्थिना-
मेषा स्याद्यमिनां मनोलयकरी मुक्तिप्रदा दुर्लभा।।

ऊर्ध्वदृष्टिरधोदृष्टिरुर्ध्ववेधो ह्यधः शिराः।
राधासन्त्रविधानेन जीवन्मुक्तो भवेत्क्षितौ।।

**फल**— श्रीशाम्भव्याश्च खेचर्या अवस्थाधामभेदतः।
भवेच्चित्तलयानन्दः शून्ये चित्सुखरूपिणि।।[१]

## २७. षड्मुखी मुद्रा

अंगूठों से दोनों कान बन्द करना, तर्जनी और मध्यमा से नेत्र बन्द करना एवं अनामिका-कनिष्ठिका से नासारन्ध्रों को बन्द करके ध्यान लगाने से प्रकाश का साक्षात्कार होता है।

## २८. पराङ्मुखी मुद्रा

इसमें कान, नेत्र, नासिका— इन तीनों के दोनों छिद्रों एवं मुख को हाथ की उँगलियों से बन्द करना पड़ता है— 'श्रवणपुटनयनयुगलघ्राणमुखानां निरोधनं कार्यम्।' नादानुसन्धान में इस मुद्रा का प्रयोग किया जाता है; क्योंकि 'शुद्धसुषुम्णासरणौ स्फुटममलः श्रूयते नादः।' इससे नाद स्फुटतापूर्वक श्रुतिगोचर होता है।[२]

## २९. उन्मनी मुद्रा

तारे ज्योतींषि संयोज्य किञ्चिदुन्नमयेद् भ्रुवौ।
पूर्वयोगं मनो युञ्जन्नुन्मनीकारकः क्षणात्।।

इसमें नेत्र के तारों को नासिकाग्र भाग में लगाकर और उससे उत्पन्न ज्योति में मन लगाकर भृकुटियों को थोड़ा ऊपर उठाकर अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टि योग की साधना करनी होती है।

## ३०. माण्डूकी मुद्रा

मुख को बन्द करके जिह्वा की जड़ को तालु के ऊपर चलाना चाहिए और शनैः-शनैः सहस्रदल पद्म से निर्गत पीयूष का पान करना चाहिए। पीयूष-पान की इस यौगिक पद्धति को माण्डूकी मुद्रा कहते हैं—

मुखं सम्मुद्रितं कृत्वा जिह्वामूलं प्रचालयेत्।
शनैर्ग्रसेदमृतं तां माण्डूकीमुद्रिकां विदुः।।

**माण्डूकीमुद्रा के अभ्यास का फल**— माण्डूकी मुद्रा का नित्य अभ्यास करने

१-२. हठयोगप्रदीपिका।

से साधक के शरीरांगों में वलित ( त्वचा-संकुचन ), पलित ( बालों की श्वेतता ) तथा वार्धक्य नहीं आता यौवन में स्थायित्व आ जाता है।

## ३१. नभोमुद्रा

योगी जब भी कभी कोई भी कार्य करे, तब सदैव जिह्वा को ऊपर की ओर करके कुम्भक प्राणायाम के द्वारा स्थिरता प्राप्त करके वायु धारण करे। ऐसा करने से साधक के समस्त रोगों की निवृत्ति हो जाती है।

## ३२. वज्रोणि मुद्रा

दोनों हाथों की हथेलियों से पृथ्वी तल को पकड़कर दोनों पैरों को ऊपर उठाते हुए तथा मस्तक को आकाश की ओर ऊपर उठाते हुए हाथों के खड़ा रहने को वज्रोणि मुद्रा कहते हैं। इसे ही वृश्चिकासन भी कहते हैं।

**वज्रोणि मुद्राभ्यास के फल**— यह योगों में श्रेष्ठतर योग है। यह योगियों को मुक्ति प्रदान करता है। यह योगियों के हित को साधित करने वाला है—

अयं योगे योगश्रेष्ठ: योगिनां मुक्तिकारणम्।
अयं हितप्रदो योगो योगिनां सिद्धिदायक:।।

यह योग-साधन बिन्दु-सिद्धि प्रदान करने वाला योग है। यदि बिन्दु की सिद्धि हो जाय तो क्या नहीं सिद्ध हो सकता? भोगी पुरुष भी यदि इसका अभ्यास करे तो समस्त सिद्धियाँ प्राप्त कर लेता है—

भोगेन महता युक्तो यदि मुद्रां समाचरेत्।
तथापि सकला सिद्धिर्भवति तस्य निश्चितम्।।

## ३३. पञ्चधारणा मुद्रा

इन पञ्चतत्त्वात्मक धारणा मुद्राओं की सविस्तर विवेचना की गई है। पञ्चधारणा मुद्रा के पाँच भेद हैं— पार्थिवी धारणा, आम्भसी धारणा, आग्नेयी धारणा, वायवी धारणा एवं आकाशी धारणा।

**१. पार्थिवी धारणा मुद्रा**— घेरण्ड ऋषि के अनुसार इसका स्वरूप इस प्रकार है—

१. पृथ्वी तत्त्व का वर्ण ( रंग ) हरिताल की भाँति पीला है।
२. पृथ्वी तत्त्व का बीज लकार है— 'लं'।
३. पृथ्वी तत्त्व का आकार चौकोर है।
४. पृथ्वी तत्त्व के देवता ब्रह्मा हैं।

इन समस्त बीजादि के साथ ब्रह्मा का हृदय में ध्यान करके उन्हें हृदय में स्थापित करना चाहिये और उस समय प्राणवायु को खींचकर कुम्भक के द्वारा पाँच घड़ी ( दो

घण्टा ) मन को स्थिर रखना चाहिये। इस अभ्यास को ही पार्थिवी धारणा मुद्रा कहते हैं। इसे ही अधोधारणा भी कहते हैं।

**पार्थिवी धारणा का फल**— पार्थिवी धारणा के निम्न फल हैं—

( क ) पृथ्वी तत्त्व पर विजय।

( ख ) मृत्युञ्जयत्व।

( ग ) निरापद रूप में समस्त पृथ्वी पर विचरण की क्षमता-प्राप्ति।

**२. आम्भसी धारणा मुद्रा**— 'वं'—

( क ) जल तत्त्व का वर्ण ( रंग ) शंख के समान श्वेत और चन्द्रमा के समान निर्मल है। यह कुन्द के समान धवल है।

( ख ) इसकी संज्ञा अमृत है।

( ग ) इसका बीज वर्ण 'वकार' है।

( घ ) इसका देवता 'विष्णु' है।

साधक को चाहिये कि इन बीजादिक विवरणों के सहित देवता विष्णु से समन्वित जल तत्त्व का ध्यान करे एवं प्राण को आकृष्ट करके पाँच घड़ी पर्यन्त चित्त को स्थिर करके कुम्भक प्राणायाम करे। इसे ही आम्भसी धारणा मुद्रा कहते हैं।

**आम्भसी धारणा मुद्रा का फल**—

( क ) दुःसह ताप-पाप का अन्त।

( ख ) गहरे से गहरे जल में डूबने पर भी मृत्यु से रक्षा।

**सावधानी**— इस गोपनीय मुद्रा को बता देने पर सिद्धि नष्ट हो जाती है।

**३. आग्नेयी धारणा मुद्रा**— 'रं' —

( क ) तत्त्व का स्थान— नाभिस्थल में अग्नितत्त्व स्थित है।

( ख ) तत्त्व का वर्ण— इसका वर्ण इन्द्रगोपवत् रक्त है।

( ग ) तत्त्व का बीज— इस तत्त्व का बीज रकार है।

( घ ) तत्त्व का आकार— इस तत्त्व का आकार चतुष्कोण है।

( ङ ) तत्त्व के देवता— इस तत्त्व के देवता रुद्र हैं।

( च ) यह तत्त्व तेज का समूह है और अतिदीप्तिमान है। योग बल से अग्नितत्त्व को उदित करके, एकाग्र चित्त होकर कुम्भक प्राणायाम द्वारा वहाँ प्राण को पाँच घड़ी तक रोकना चाहिये। इसे ही आग्नेयी मुद्रा ( वैश्वानरी धारणा ) कहते हैं।

**वैश्वानरी धारणा मुद्रा का फल**—

( क ) काल के भय से मुक्ति।

( ख ) प्रदीप्त अग्नि में प्रवेश से भी व्यक्ति पर अग्नि का कोई भी प्रभाव नहीं पड़ता।

**४. वायवी धारणा मुद्रा** — 'यं'—

( क ) वायु तत्त्व का वर्ण— अञ्जन के समान धूम्रवर्ण।

( ख ) वायु तत्त्व का बीज— वायु तत्त्व का बीजाक्षर है— यकार।

( ग ) वायु तत्त्व का देवता— इस तत्त्व के देवता ईश्वर हैं।

( घ ) वायु तत्त्व का गुण— इस तत्त्व का गुण सतोगुण है।

योग के प्रभाव से वायु तत्त्व का उदय करके, एकाग्र चित्त होकर, प्राणवायु को आकृष्ट करके कुम्भक प्राणायाम की सहायता से वायु को पाँच घड़ी तक धारण करना ही वायवी धारणा मुद्रा है।

**वायवी धारणा मुद्रा का फल**—

१. आकाश में चलने की क्षमता।

२. वार्धक्य एवं मृत्यु का विनाश।

३. वायु-प्रकोप या वायु-शक्ति से मृत्यु न होने की क्षमता-प्राप्ति।

**सावधानी**— अपात्र के समक्ष सिद्धि-भेद प्रकट कर देने पर सिद्धि का लुप्त हो जाना निश्चित है; अत: इसे गोपनीय रखना चाहिये।

**५. आकाशी धारणा मुद्रा** — 'हं'—

( क ) आकाश तत्त्व का वर्ण— इसका वर्ण समुद्र के जल की भाँति विशुद्ध है।

( ख ) आकाश तत्त्व के देवता— इस तत्त्व के देवता सदाशिव हैं।

( ग ) आकाश तत्त्व का बीजाक्षर— इस तत्त्व का बीजाक्षर 'हं' है।

योग के प्रभाव से हृदय में आकाश तत्त्व का उदय करके ( आकाश तत्त्व के देवता, बीज आदि के साथ तत्त्व का ध्यान करके ) प्राणवायु को कुम्भक प्राणायाम के द्वारा पाँच घड़ी तक स्तम्भित किये रहना ही आकाशी धारणा मुद्रा है।

**आकाशी धारणा मुद्रा का फल**—

१. इसका ज्ञानी ही योगवित् है, अन्य नहीं।

२. इसकी मृत्यु कभी नहीं होती और प्रलयकाल में भी वह दु:खी नहीं होता।

सारी मुद्राओं का सामान्य फल यह है कि ये सभी सिद्धों को अत्यन्त प्रिय हैं और जरा-मरण को नष्ट कर देने वाली हैं।

इदं तु मुद्रापटलं कथितं चण्डकापलि।
वल्लभं सर्वसिद्धानां जरामरणनाशनम्।।

ये मुद्रायें समस्त रोगों की नाशिका हैं और जठराग्नि को तीव्रतर करने वाली हैं—

मुद्राणां पटलं ह्येतत्सर्वव्याधिविनाशनम्।
नित्यमभ्यासशीलस्य जठराग्निविवर्धनम्।।

मुद्रा-साधकों को मृत्यु, जरा, अग्नि, जल एवं वायु से सम्बद्ध कोई भय कभी भी कष्ट नहीं देता—

तस्य नो जायते मृत्युर्नास्य जरादिकं तथा।
नाग्निर्जलभयं तस्य वायोरपि कुतो भयम्।।

ऐसे साधकों को कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, कफ आदि का भी कोई भय सन्तप्त नहीं करता। इनके समान पृथ्वी पर कोई भी साधना इतनी अधिक सिद्धियाँ प्रदान नहीं कर सकतीं।

नास्ति मुद्रासमं किञ्चित् सिद्धिदं क्षितिमण्डले।

## नाथपन्थ एवं अन्य शैव-शाक्त पन्थों में मुद्रा के प्रयोग

नाथपन्थी मुद्रा को दो अर्थों में प्रयुक्त करते हैं और वे हैं— शारीरिक धरातल एवं मानसिक धरातल।

कनकटा योगी कान फाड़कर कुण्डल धारण करते हैं। इसे वे कर्णमुद्रा कहते हैं। योगी लोग मुद्रा, नाद, कन्था, आसन, खप्पर, झोली, विभूति एवं बटुवा आदि धारण करते थे और 'अजपाजाप' करते थे। बंगाल के पुराने नाथपन्थी ( योगी या कापालिक ) अपने कानों में मनुष्य की अस्थियों का कुण्डल एवं ग्रीवा में अस्थियों की माला धारण करते थे। ये पैरों में नूपुर एवं हाथों में नरकपाल लेकर चलते थे। मेखला, गोपीयन्त्र ( सारंगी ) एवं भस्म भी रखते थे। रुद्राक्ष, पवित्री, शृंगी, लंगोटी, घंघारी, सुमिरनी एवं किंगरी को भी व्यवहार में लाते थे।

वैष्णव एवं शैव परम्परा में शंख एवं त्रिशूल आदि को आग पर गर्म करके शरीर पर उसका स्पर्श कराकर उसकी अनुकृति को शरीरांग पर धारण करने के रूप में मुद्रा धारण करने की परिपाटी विद्यमान है।

कबीरदास ने मुद्रा को मानसिक धरातल पर प्रयोग करने का परामर्श देकर इसे प्रतीकार्थ में ग्रहण किया है। वे कहते हैं—

सो जोगी जाके मन में मुद्रा। रात दिवस ना करई निद्रा।।
मन में आसण मन में रहणा। मन का जप तप मन सू कहँणा।।
मन खपरा मन मैं सींगी। अनहदनाद बजावै रंगी।।
पंच प्रजारि भसम करि भूका। कहै कबीर सो लहसै लंका।।

## अष्टमुद्रायें और उनका स्वरूप

गोरक्षनाथ की स्वयं की एक पुस्तक ही है, जिसका नाम है— 'अष्टमुद्रा'। उसमें वर्णित ये अष्टमुद्रायें निम्नवत् हैं—

**१. मूलनी मुद्रा**— ( काम-तृष्णा का उद्भव ) काम एवं तृष्णा में समत्वस्थापन। ( इन्द्रिय = जननेन्द्रियसम्बन्धी )।

**२. जलश्री मुद्रा**— ( नाभि-स्थान में काल-क्रोध ) उद्देश्य क्या है? काल एवं क्रोध में समत्वभाव की स्थापना।

**३. खीरनी मुद्रा**— ( हृदय स्थान में ज्ञानदीप लेकर आविर्भूत ) ज्ञानदीप में समत्व भावस्थापन।

**४. खेचरी मुद्रा**— ( मुख में उत्पन्न, स्वाद-विस्वाद लेकर उत्पन्न ) इन दोनों में समत्व स्थापन = खेचरी मुद्रा।

**५. भूचरी मुद्रा**— ( नासिका के मध्य उत्पन्न ) ( गन्ध-विगन्ध लेकर उत्पन्न ) गन्ध-विगन्ध में समत्वस्थापना = भूचरी मुद्रा।

**६. चाचरी मुद्रा**— ( आँख के मध्य उत्पन्न ) ( दृष्टि-विदृष्टिसहित उत्पन्न ) दृष्टि-विदृष्टि में समत्वस्थापना = चाचरी मुद्रा।

**७. अगोचरी मुद्रा**— शब्द-कुशब्द के साथ उत्पन्न, ( करण के मध्य उत्पन्न ) = दृष्टि-विदृष्टि में समत्व-स्थापना = अगोचरी मुद्रा।

**८. उन्मनी मुद्रा**— ( परम ज्योति लेकर उत्पन्न। ब्रह्माण्ड स्थान में उत्पन्न ) परम ज्योति को समभावस्थ करने से उन्मनी ज्योति सिद्ध होती है।

**अष्ट मुद्रा के ज्ञान का लाभ**— यती अष्ट मुद्रा का जाणो भेव। सो आपै करता आपै देव।

गोरक्षनाथ मनमुद्रा का भी विधान करते हैं—

मन मुद्रा कै रूप न रेख। जगत रूप मन ही मन देखि।।
काया थै मन जांन न देह। रति दिवस अभि अंतरि लेह।।

मन को रात-दिन कभी भी शरीर से बाहर जाने ही नहीं देना चाहिए। मन के इस अनवरत अन्तर्मुखीकरण को ही मनमुद्रा कहते हैं।

**वज्रोली और अमरोली**— इसके विषय में गोरक्षनाथ कहते हैं—

बजरी करंतां अमरी राखै अमरि करंतां बाई।
भोग करंतां जे ब्यंद राखै ले गोरख का गुरभाई।। ( गो० बा० )

गुरु गोरक्षनाथ विपरीतकरणी मुद्रा का विधान करते हुए कहते हैं—

विपरीत करणी करि लै जूं थिर ह्वै वाई। वाई जब थिरि ह्वै महारस सीझै।।

( गो० बा०-१४९ )

घेरण्ड ऋषि का कथन है कि मुद्रा की योगसाधना में इसलिए महत्ता है; क्योंकि मुद्रा स्थिरता प्रदान करती है—

मुद्राया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।।

## मन्त्रशास्त्रीय मुद्रायें

योगशास्त्रीय ( हठयौगिक ) मुद्राओं के अतिरिक्त मन्त्रशास्त्रीय मुद्रायें भी होती हैं। इन मन्त्रशास्त्रीय मुद्राओं में मुख्य मुद्रायें निम्नांकित हैं—

**१. सम्मुखम्**— इसमें दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरे के साथ मिलाना होता है।

**२. सम्पुटम्**— इसमें दोनों हाथों की हथेलियों को फुलाकार एक हथेली की उँगलियों को दूसरे हाथ की उँगलियों पर रखकर सामने की ओर कली के आकार में रखकर प्रस्तुत किया जाता है।

**३. विततम्**— इस मुद्रा में दोनों हाथों की हथेलियों को एक-दूसरे के सामने रखा जाता है।

**४. विस्तृतम्**— इस मुद्रा में दोनों हाथों की हथेलियों को कुछ दूरी पर रखकर उँगलियों को खुला रखा जाता है।

**५. द्विमुखम्**— इस मुद्रा में दोनों हाथों की हथेलियों को ( एक हथेली की कनिष्ठ उँगली से दूसरे हाथ की कनिष्ठ उँगली एवं एक हाथ की अनामिका से दूसरे हाथ की अनामिका को ) आपस में मिलाना चाहिए।

**६. त्रिमुखम्**— इस मुद्रा में दोनों मध्यमाओं को उँगली के अग्र भाग से स्पर्श किया जाता है ( मध्यमा उँगलियों को परस्पर मिलाया जाता है )।

**७. चतुर्मुखम्**— इस मुद्रा में त्रिमुखम् मुद्रा के साथ दोनों तर्जनियों को भी मिला देना चाहिए।

**८. पञ्चमुखम्**— चतुर्मुखम् मुद्रा के साथ दोनों अंगूठों को मिला देने पर पञ्च-मुखम् मुद्रा होती है।

**९. षण्मुखम्**— पञ्चमुखम् मुद्रा के साथ कनिष्ठाओं को खोल देना चाहिये।

**१०. अधोमुखम्**— दोनों हाथों को उल्टा करके उनकी अँगुलियों को मोड़े और उन्हें मिलाकर नीचे की ओर कर देना चाहिए।

**११. व्यापकाञ्जलिकम्**— इस प्रकार से मिले हुए हाथों को शरीर की ओर से घुमाकर सीधा कर देना चाहिए।

**१२. शकटम्**— दोनों हाथों को उल्टा कर दें, एक हाथ का अंगूठा दूसरे हाथ के अंगूठे से मिला दें। तर्जनियाँ सीधी रखें एवं मुट्ठी बांध दें।

**१३. यमपाशम्**— इस मुद्रा में तर्जनी उँगली से तर्जनी को बाँधना होता है और साथ ही दोनों मुट्ठियों को भी बाँधा जाता है।

**१४. ग्रन्थितम्**— दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरे के साथ ग्रन्थित करना चाहिए।

**१५. सन्मुखोन्मुखम्**— इस मुद्रा में दोनों हाथों की पाँचों उँगलियों को मिलाना चाहिए। पहले बायें हाथ पर दाहिना हाथ रखा जाय और उसके बाद दायें हाथ पर बायाँ हाथ रखना चाहिए।

**१६. प्रलम्बम्**— इस मुद्रा में दोनों हाथों की उँगलियों को कुछ मोड़ कर फिर उन्हें उल्टा करके नीचे की ओर कर देना चाहिए।

**१७. मुष्टिकम्**— इस मुद्रा में दोनों हाथों की मुट्ठियों को बाँधकर परस्पर मिलाना चाहिए और इसमें दोनों अंगूठों को ऊपर की ओर ही रखना चाहिए।

**१८. मत्स्य**— इस मुद्रा में दोनों हाथों को पूरा खोल देना होता है। दायें हाथ को पीठ पर बायाँ हाथ उल्टा करके रखना चाहिए। दोनों अंगूठों को पृथक्-पृथक् रखना चाहिए।

**१९. कूर्म**— सीधे बायें हाथ की मध्यमा, अनामिका और कनिष्ठिका को मोड़ें, उल्टे दाहिने हाथ को मध्यमा-अनामिकाओं को उन तीनों उँगलियों के नीचे रक्खें और बायीं तर्जनी पर दायीं कनिष्ठिका एवं बायें अंगूठे पर दायीं तर्जनी रखनी चाहिए।

**२०. वराहकम्**— इस मुद्रा में दायें हाथ की तर्जनी उँगली को बायें अँगूठे से मिलाना चाहिए एवं दोनों हाथों की उँगलियों को एक-दूसरे से बाँधना चाहिए।

**२१. सिंहाक्रान्तम्**— इस मुद्रा में दोनों हाथों को कानों के निकट लाना पड़ता है और इसके साथ ही हाथ को खुला रखना पड़ता है। इसमें हथेलियाँ सामने रखी जाती हैं।

**२२. महाक्रान्तम्**— इस मुद्रा में दोनों हाथों की उँगलियों को कानों के निकट लाया जाता है।

**२३. मुद्गरम्**— इस मुद्रा में दायें हाथ की मुट्ठी बाँधकर बायें हाथ की हथेली पर दाहिनी कोहनी रखी जाती है।

**२४. पल्लवम्**— इस मुद्रा में दायें हाथ की उँगलियों को मुख के सामने हिलाना चाहिए।

●

## कार्यविशेष में प्रयोज्य मुद्रायें

**देवोपासना की मुद्रायें**— आवाहन, स्थापन, सन्निद्ध, अवगुण्ठन, धेनुमुद्रा, सरली।

**भोजन-मुद्रायें**— प्राणाहुति, अपानाहुति, व्यानाहुति, उदानाहुति, समानाहुति।

**पञ्चदेव-मुद्रायें**— शंख, घंटा, चक्र, गदा, पद्म, वंशी, कौस्तुभ, श्रीवत्स, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड़, नारसिंही, वाराह, हयग्रीव, धनुष, बाण, परशु, त्रैलोक्यमोहिनी, काम, मत्स्य, कूर्म, लिंग, योनि, त्रिशूल, अक्ष, वर, मग, क्षट्वांग, अभय, कपाल, डमरु, दन्त, पाश, अंकुश, विघ्न, परशुमोदक, बीजपुर, पद्म।

**न्यास-मुद्रा**— सर्वसिद्ध्यै व्याघ्रचर्म ज्ञानसिद्ध्यै मृगाजिनम्।
वस्त्रासनं रोगहरं वेत्रजं श्रीविवर्धनम्।।

मुदं करोति देवानां द्रावयत्यसुरांस्तथा।
मोदनाद् द्रावणाच्चैव मुद्रेति परिकीर्तिता।।

अर्थात् देवताओं को हर्ष तथा असुरों का विनाश करने के कारण ही इसका नाम मुद्रा पड़ा।

जप से पहले २४ मुद्राओं के प्रदर्शन का विधान शास्त्रों में मिलता है। मुद्रा का अभिप्राय हाथ को विशेष आकृति में मोड़ना है। हाथों को विभिन्न प्रकार से मोड़ने पर अलग-अलग मुद्रायें बनती हैं। मुद्राओं का प्रदर्शन अपने इष्टदेवता की मूर्ति, चित्र या यन्त्र के समक्ष एकान्त स्थान में किया जाता है। किसी दूसरे व्यक्ति के उपस्थित रहने पर इनका प्रदर्शन वर्जित है। जप के पूर्व की २४ मुद्राओं के नाम इस प्रकार हैं—

**नित्य पूजा-मुद्रायें**— प्रार्थना, अंकुश, कुन्त, कुम्भ, तत्त्व। ये सभी मुद्रायें प्रत्येक साधक को दैनिक स्नानादि के समय करनी चाहिये।

**सन्ध्या-मुद्रायें**— सन्ध्याकाल की चौबीस मुद्रायें हैं— सम्मुखी, सम्पुटी, वितत, विस्तृत, द्विमुखी, त्रिमुखी, चतुर्मुखी, पञ्चमुखी, षष्टमुखी, अधोमुखी, व्यापक, आञ्जलिक, शकट, यम, पाश, ग्रथित, सन्मुखोन्मुखी, प्रलय, मुष्टिक, मत्स्य, कूर्म, वाराह, सिंहाक्रान्त, महाक्रान्त, मुद्‌गर।

**शक्ति-मुद्रायें**— अंकुश, वर, अभय, धनुष, बाण, खड्ग, चर्म, मूसल, दुर्ग।

**महाकाली-मुद्रायें**— महायोनि, मुण्ड, भूतिनी।

**महालक्ष्मी-मुद्रायें**— पंकज, अक्षमाला, वीणा, व्याख्यान, पुस्तक।

**तारा-मुद्रायें**— योनि, भूतिनी, बीज, धूमिनि, लेलिहा।

**त्रिपुरा-मुद्रायें**— सर्वविक्षोभकारिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षणी, सर्ववश्यकरी, उन्मादिनी, महांकुशा, खेचरी, बीज, योनि।

**अंगन्यास-मुद्रायें**— अंगन्यास की छः मुद्रायें होती हैं— हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्र, फट्।

**करन्यास-मुद्रायें**— करन्यास की भी छः मुद्रायें होती हैं— तर्जनी, मध्यमा, अनामिका, कनिष्ठिका, अंगुष्ठ, फट्।

**जीवन्यास-मुद्रायें**— इसकी भी छः मुद्रायें होती हैं— बीज, लेलिहा, त्रिखण्डा, नाद, बिन्दु, सौभाग्य।

**ध्यानावेश-प्रार्थना में**— विघ्नघ्नी, विस्मय, प्रार्थना, अर्घ्य, सूर्य-प्रदर्शनी।

**योग-साधना में**— मुकुल, पङ्कज, व्याक्रोशी, निष्ठुर, योग, महामुद्रा, उड्डीयान, महाखग, जालन्धर, मूलबन्ध, महावेध, विपरीतकरणी, वज्रोली, माण्डूकी, शाम्भवी।

**पञ्च-तत्त्व की मुद्रायें**— पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, अश्विनी, पाशिनी, काकी, मातङ्गिनी, भुजङ्गिनी, रिपु-जिह्वाग्रहा, गालिनी, सर्वसंक्षोभकारिणी, तर्जनी, क्रोध।

**शान्ति-रक्षण**— अशनि ( कुशलि ), स्फोट ( छेटिका ), शुभङ्करी, मुष्टी, शक्ति, पञ्चमुखी, प्रार्थना, संहार, बलिदान की चार मुद्रायें।

**होम की मुद्रायें**— अवगुण्ठिनी, सप्तजिह्वा, प्रज्वालिनी, मृगी, हंसी, शूकरी, काम्य मुद्रायें, आवशिष्टिका मुद्रा।

●

## विविध देवमुद्रायें

**विष्णु**— शङ्ख, चक्र, गदा, पद्म, वेणु, श्रीवत्स, कौस्तुभ, वनमाला, ज्ञान, बिल्व, गरुड़, नृसिंह, वराह, हयग्रीव, धनुष, बाण, परशु, जगन्मोहन, काम।

**शिव**— लिङ्ग, योनि, त्रिशूल, अक्ष, वर, अभय, मृग, खट्वाङ्ग, कपाल, डमरु।

**गणेश**— दन्त, पाश, अंकुश, विघ्न, परशु, मोदक, बीजपूर।

**सूर्य**— पद्म।

**शक्ति**— पाश, अंकुश, वर, अभय, धनुष, बाण, खड्ग, चर्म, मूशल, दुर्ग।

**महाकाली**—महायोनि, मुण्ड, भूतिनी।

**महालक्ष्मी**— लक्ष्मी, चक्र।

**महासरस्वती**— अक्षमाला, वीणा, व्याख्या, पुस्तक।

**तारा**— योनि, भूतिनी, बीज, धूमिनी, लेलिहा।

**त्रिपुरसुन्दरी**— सर्वसंक्षोभिणी, सर्वविद्राविणी, सर्वाकर्षणी, सर्ववश्यकरी, सर्वोन्मादिनी, महांकुशा, खेचरी, बीज, योनि।

**भुवनेशी**— पाश, अंकुश, वर, अभय, पुस्तक, ज्ञान, बीज, योनि।

●
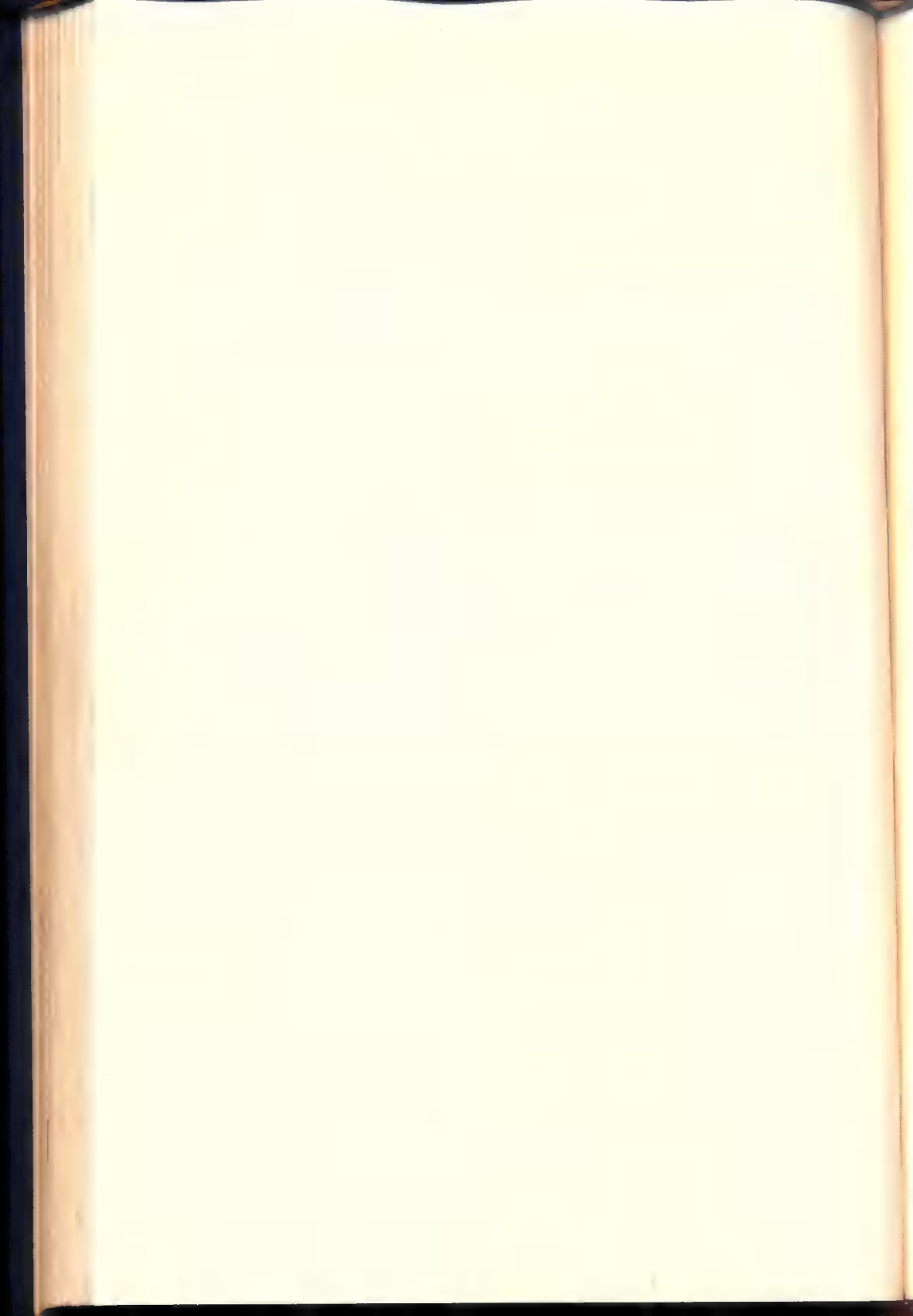
# मुद्राओं के स्वरूप

(१) प्रार्थना मुद्रा

(४) कुन्त मुद्रा

(२) अंकुश मुद्रा (अ)
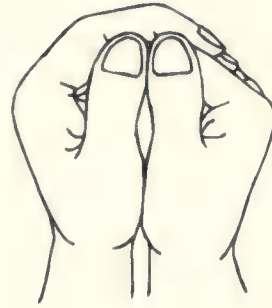
(५) कुम्भ मुद्रा (अ)

(३) अंकुश मुद्रा (ब)
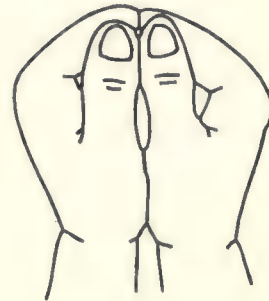
(६) कुम्भ मुद्रा (ब)

(७) तत्त्व मुद्रा

(१०) अपान मुद्रा

(८) प्राण मुद्रा (अ)

(११) व्यान मुद्रा

(९) प्राण मुद्रा (ब)

(१२) उदान मुद्रा

(१३) समान मुद्रा

(१६) संस्थापनी मुद्रा

(१४) ग्रास मुद्रा
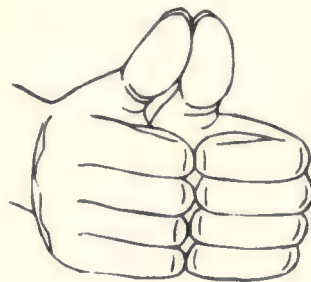
(१७) सन्निधापनी मुद्रा

(१५) आवाहनी मुद्रा
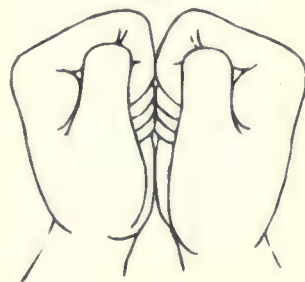
(१८) सन्निरोधिनी मुद्रा
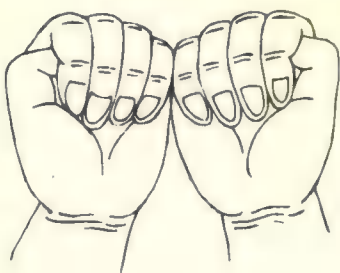
(१९) सम्मुखीकरणी मुद्रा (अ)

(२२) शङ्ख मुद्रा
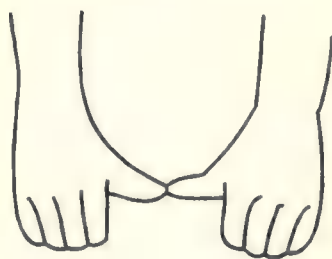
(२०) सम्मुखीकरणी मुद्रा (ब)

(२३) चक्र मुद्रा

(२१) अवगुण्ठनी मुद्रा
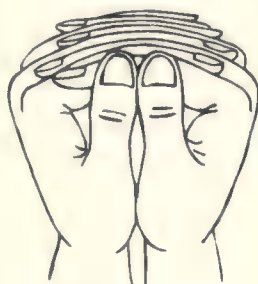
(२४) गदा मुद्रा

(२५) पद्म मुद्रा
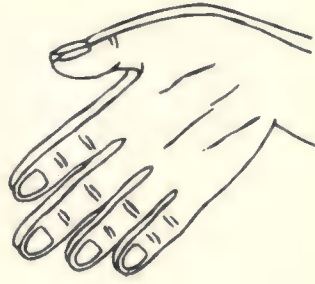
(२८) परशु मुद्रा
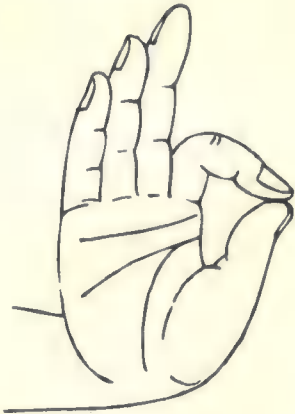
(२६) ज्ञान मुद्रा (अ)
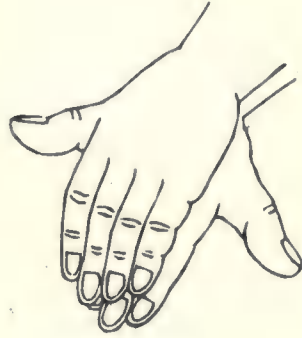
(२९) मत्स्य मुद्रा
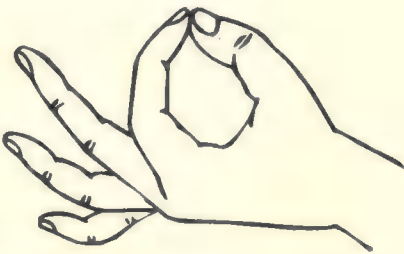
(२७) ज्ञान मुद्रा (ब)
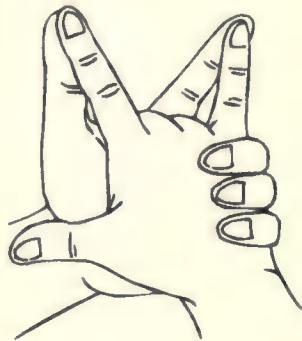
(३०) कुर्म (कच्छप) मुद्रा
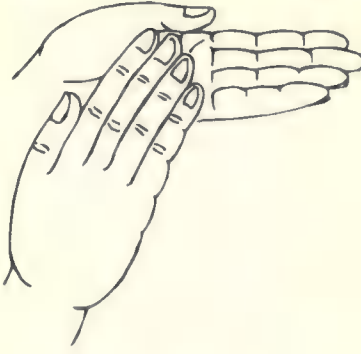
(३१) हयग्रीव मुद्रा
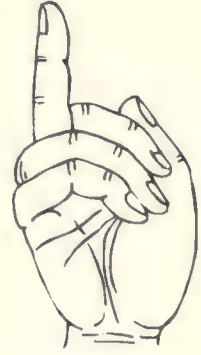
(३४) दन्त मुद्रा

(३२) वर मुद्रा

(३५) पाश मुद्रा
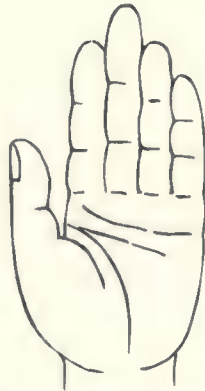
(३३) अभय मुद्रा

(३६) मोदक मुद्रा

(३७) खड्ग मुद्रा

(४०) लेलिहा मुद्रा

(३८) मुशल मुद्रा
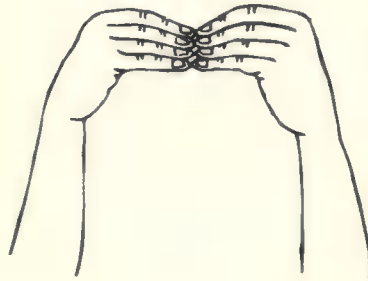
(४१) सुमुखी मुद्रा

(३९) मुण्ड मुद्रा

(४२) सम्पुटी मुद्रा
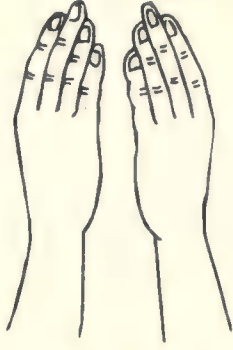
(४३) वितत मुद्रा

(४६) त्रिमुखी मुद्रा
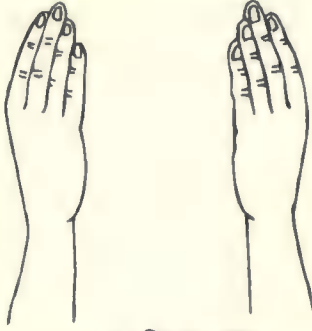
(४४) विस्तृत मुद्रा
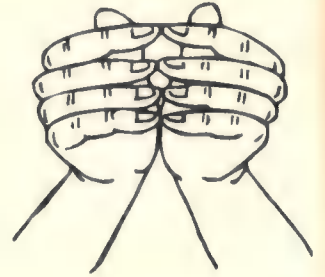
(४७) चतुर्मुखी मुद्रा
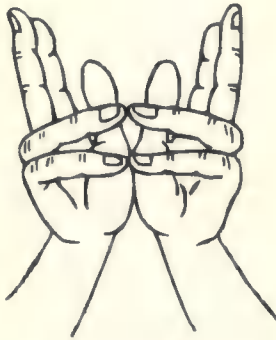
(४५) द्विमुखी मुद्रा
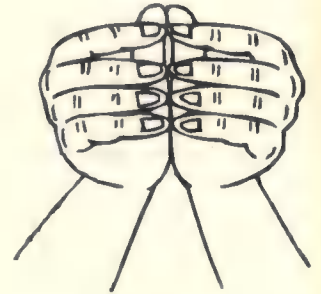
(४८) पञ्चमुखी मुद्रा
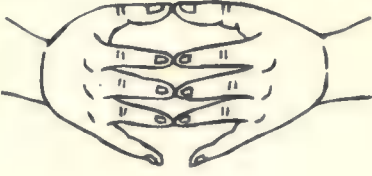
(४९) षण्मुखी मुद्रा
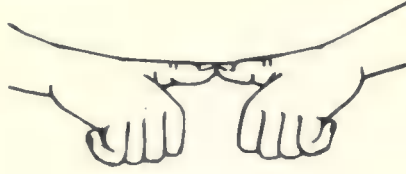
(५२) शकट मुद्रा
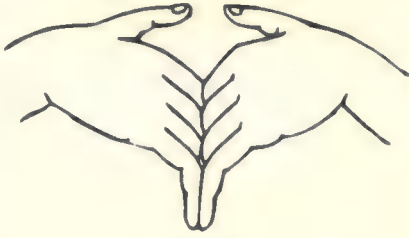
(५०) अधोमुखी मुद्रा
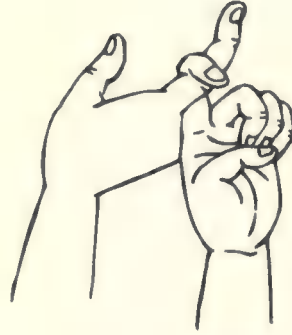
(५३) यम-पाश मुद्रा
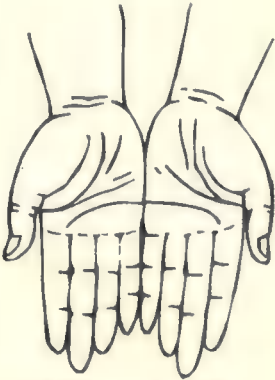
(५१) व्यापकाञ्जलि मुद्रा

(५४) ग्रन्थित मुद्रा
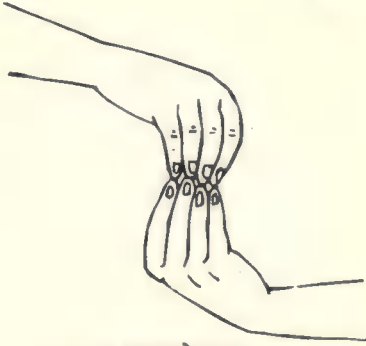
(५५) सम्मुखोन्मुख मुद्रा

(५८) वराह मुद्रा
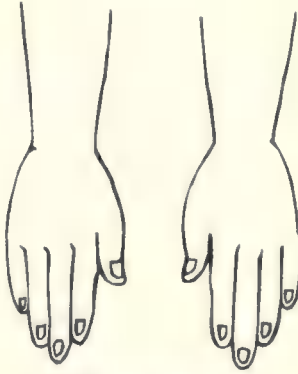
(५६) प्रलम्ब मुद्रा

(५९) सिंहाक्रान्त मुद्रा

(५७) मुष्टिक मुद्रा

(६०) महाक्रान्त मुद्रा

(६१) मुद्गार मुद्रा

(६४) बीज मुद्रा

(६२) पल्लव मुद्रा

(६५) त्रिखण्डा मुद्रा

(६३) धेनु मुद्रा
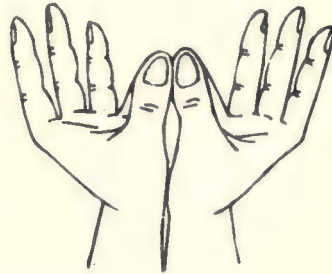
(६६) ज्वालिनी (सप्तजिह्वा) मुद्रा

(६७) मृगी मुद्रा

(७०) सर्वाकर्षिणी मुद्रा
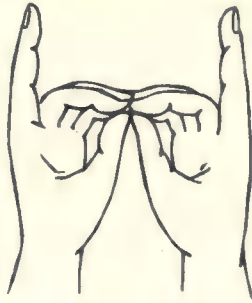
(६८) सर्व-संक्षोभिणी मुद्रा
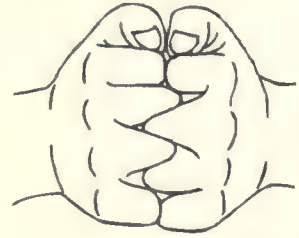
(७१) सर्व-वशङ्करी मुद्रा
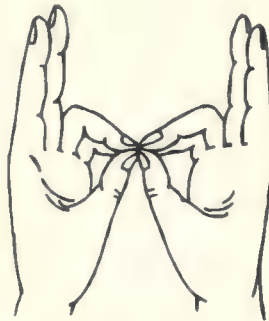
(६९) सर्व-विद्राविणी मुद्रा
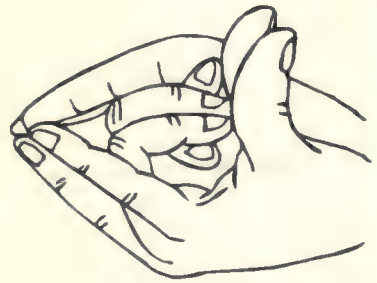
(७२) सर्वोन्मादिनी मुद्रा
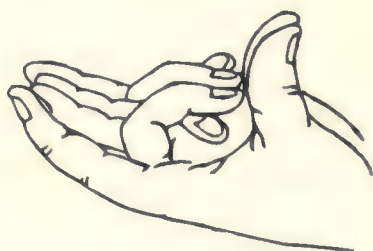
(७३) सर्व-महाङ्कुशा मुद्रा

(७६) संहार मुद्रा (अ)

(७४) खेचरी मुद्रा

(७७) संहार मुद्रा (अ)
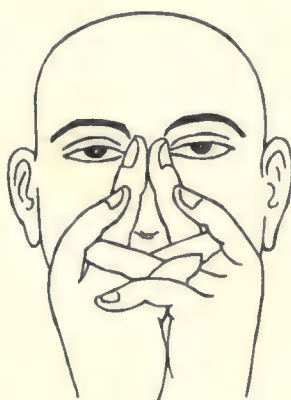
(७५) योनि मुद्रा

(७८) सुरभि मुद्रा
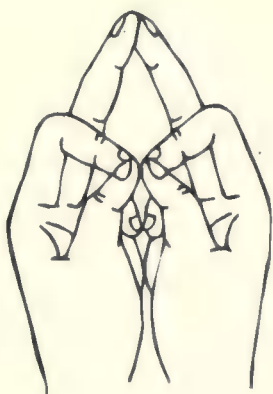
(७९) सर्वबीज मुद्रा
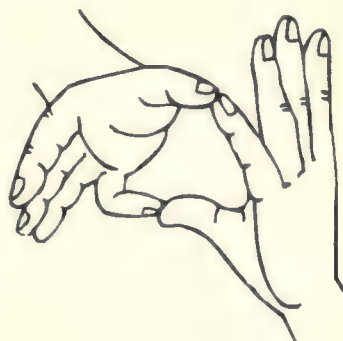
(८२) गालिनी मुद्रा

(८०) चतुरस्र मुद्रा
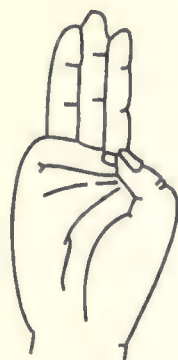
(८३) वरुण मुद्रा
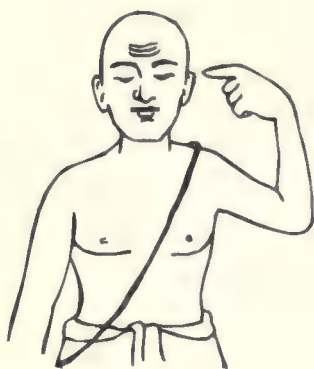
(८१) सौभाग्यदण्डिनी मुद्रा

(८४) पृथ्वी मुद्रा

(९१) वायु मुद्रा

(९४) वज्रप्रदम मुद्रा

(९२) आकाश मुद्रा

(९५) लिङ्ग मुद्रा

(९३) सूर्य मुद्रा

(९६) निर्वाण मुद्रा

(९७) पूषण मुद्रा (अ)

(१००) कुण्डलिनी मुद्रा
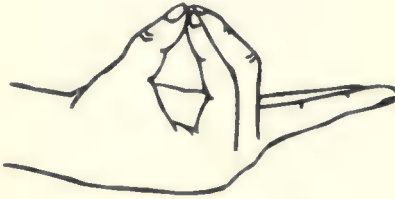
(९८) पूषण मुद्रा (ब)

(१०१) रुद्र मुद्रा

(९९) कुबेर मुद्रा

(१०२) गरुड मुद्रा

(१०३) मातंगी मुद्रा

(१०६) भ्रमर मुद्रा

(१०४) महाशीर्ष मुद्रा
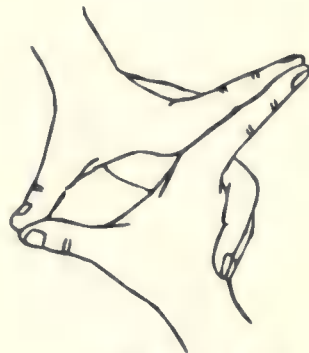
(१०७) उत्तरबोधी मुद्रा
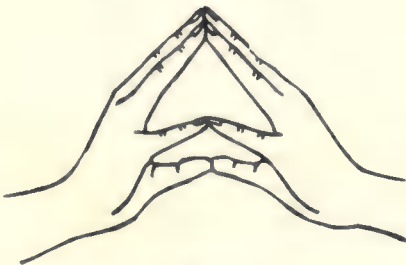
(१०५) हाकिनी मुद्रा
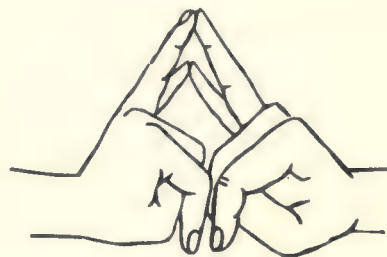
(१०८) शक्ति मुद्रा

(१०९) मुकुल मुद्रा

(११२) ध्यानी मुद्रा

(११०) कालेश्वर मुद्रा
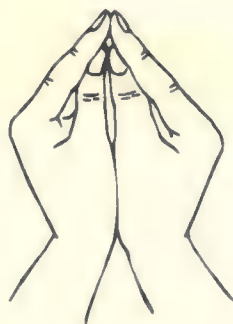
(११३) अन्तः मुद्रा
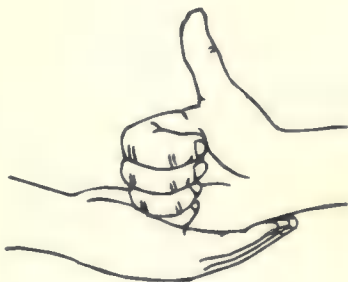
(१११) शिवलिङ्ग मुद्रा

(११४) वरद मुद्रा

(११५) भूमिस्पर्श मुद्रा

(११८) पुष्पपुट मुद्रा

(११६) धर्मचक्र मुद्रा
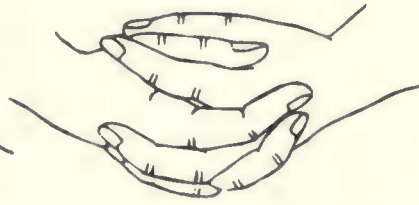
(११९) उषस् मुद्रा

(११७) नाग मुद्रा
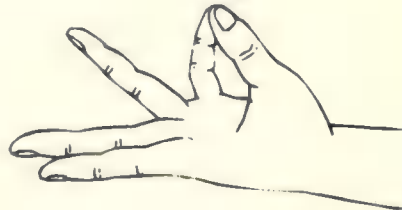
(१२०) भूडी मुद्रा

## मुद्राओं के लक्षण

हस्तद्वये त्वधोवक्त्रे सम्मुखे च परस्परम्।
वामाङ्गुलीर्दक्षिणानामङ्गुलीनां च सन्धिषु।।
संवेश्य मध्यमाभ्यां तु तर्जन्यौ द्वे प्रयोजयेत्।
कनिष्ठे द्वे अनामाभ्यां युञ्ज्यात् सा **धेनुमुद्रिका**।।
वामाङ्गुष्ठं तु संगृह्य दक्षिणेन तु मुष्टिना।
कृत्वोत्तानं तथा मुष्टिमङ्गुष्ठं तु प्रसारयेत्।।
वामाङ्गुलीस्तथा श्लिष्टाः संयुक्ताः सुप्रसारिताः।
दक्षिणाङ्गुष्ठसंस्पृष्टा मुद्रा **शङ्ख**स्य चोदिता।।
हस्तौ तु सम्मुखौ कृत्वा संलग्नौ सुप्रसारितौ।
कनिष्ठाङ्गुष्ठकौ लग्नौ मुद्रा **चक्र**स्य सिद्धिदा।।
अन्योन्याभिमुखौ हस्तौ कृत्वा तु ग्रथिताङ्गुली।
अङ्गुल्यौ मध्यमे भूयः संलग्ने सुप्रसारिते।।
**गदा**मुद्रा समाख्याता परा मुक्तिकरी तथा।
करौ तु सुमुखौ कृत्वा सम्मुखावुन्नताङ्गुली।
तलान्तर्मिलिताङ्गुष्ठौ कुर्यात्सा **पद्म**मुद्रिका।।
हस्तौ तु विमुखौ कृत्वा ग्रथयित्वा कनिष्ठके।
तर्जन्यौ मुखतः श्लिष्टे श्लिष्टावङ्गुष्ठकौ तथा।।
मध्यमाऽनामिकायुग्मे द्वौ पक्षाविव चिन्तयेत्।
एषा **गरुड**मुद्रा स्यादशेषविषशातिनी।।
अन्योन्याभिमुखौ हस्तौ कृतौ चेद् ग्रथिताङ्गुली।
अङ्गुष्ठौ च मिथः श्लिष्टौ मुद्रैषा **ग्रथिता**भिधा।।
मुष्टिद्वयस्य तर्जन्यौ प्रसार्योर्ध्वाधरीकृते।
ग्रथिते चेदसौ मुद्रा **यमपाशा**भिधा मता।।
हस्तं मुसलवत्कृत्वा मुष्टिमाबध्य तर्जनीम्।
प्रसार्य सङ्कुचेत्सेयं मुद्रा स्या**दङ्कुशा**भिधा।।

अत्रैव मध्यमाया अपि प्रसारणं सम्प्रदायसिद्धम्।

हस्ताभ्यामञ्जलिं कृत्वाऽनामिकामूलपर्वणोः।
अङ्गुष्ठौ निक्षिपेत्सेयं मुद्रा **त्वावाहनी** स्मृता।।

अधोमुखी त्वियं चेत्स्यान्मुद्रा **संस्थापिनी** मता।
उच्छ्रिताङ्गुष्ठमुष्ट्योस्तु संयोगात् **सन्निधापिनी**।।

अन्तःप्रवेशिताङ्गुष्ठा सैव **संरोधिनी** मता।
मुष्टिद्वयस्थिताङ्गुष्ठौ सम्मुखा तु परस्परम्।
संश्लिष्टावुच्छ्रितौ कुर्यात्सेयं **सम्मुख**मुद्रिका।।

मुष्टिद्वयस्य तर्जन्यौ प्रसार्याधोमुखीकृते।
अनुलोमविलोमेन भ्रामिते देवताऽभितः।
दुष्टदृष्टिनिरासाय सैषा मुद्राऽ**वगुण्ठनी**।।

हृदयादिषडङ्गानां मुद्रा देवतनौ कृताः।
**सकलीकरणा**भिख्याः सर्वावयवपूर्तिदाः।।

त्रिद्व्येकदशकत्रिद्विसङ्ख्याकाङ्गुलिभिः क्रमात्।
**हृदयादिषडङ्गानां** मुद्रा ऊह्या विपश्चिता।।

तर्जन्यादित्रयेण प्रसारितेन हृदयम्। अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां प्रसारिताभ्यां योजितमुखाभ्यामधोऽग्राभ्यां शिरः। प्रसृताङ्गुष्ठेनाधोमुखेन शिखा। करद्वयदशाङ्गुलीभिः प्रसृताभिः कवचम्। तर्जन्यादित्रयाग्रेण त्रिकोणाग्रतुल्येन नेत्रम्। द्विनेत्र्यां त्वनामिकालोपः। हस्तद्वयस्याप्यङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां सशब्दाभ्यामभितो भ्रामिताभ्यां अस्त्रमिति साम्प्रदायिकोऽर्थः।

अधोमुखी धेनुमुद्रा देवस्योपरि दर्शिता।
**अमृतीकरणी** प्रोक्ता परमानन्ददायिनी।।

अधोमुखौ ग्रथिताङ्गुष्ठौ प्रसृताङ्गुलिकौ करौ।
**परमीकरणं** नाम देवस्योपरि चालितौ।।

प्रसृताङ्गुलिकौ हस्तौ मिथः श्लिष्टौ च सम्मितौ।
कुर्यात्स्वहृदये सेयं मुद्रा **प्रार्थन**संज्ञिका।।

अञ्जल्याऽ**ञ्जलि**मुद्रा स्याद् **वासुदेवा**भिधा च सा।
सैव शीर्षादिपादान्तं चालिता चेदधोमुखी।
मुद्रैषा **व्यापिका** नाम सद्गुणव्याप्तिदायिनी।।

तर्जन्यादित्रये कार्ये हस्तयोः सङ्कुचन्मुखे।
प्रसारिते सुसरले तथाङ्गुष्ठकनिष्ठिके।।

दक्षहस्तस्य तर्जन्या वामस्यानामिकामुखम्।
अनामया च तर्जन्या मुखं मध्यां च मध्यया।।

अङ्गुष्ठेन कनिष्ठाया अङ्गुष्ठस्य कनिष्ठया।
स्पर्शयेद् **गालिनी** मुद्रा सैषा तीर्थापकर्षिणी।।

अङ्गुष्ठाग्रेण संस्पृश्ये कनिष्ठामध्यपर्वणी।
**गन्ध**मुद्रेति सा ख्याताऽङ्गुष्ठयोर्मध्यपर्वणी।।

तर्जन्यग्रेण संस्पृश्ये **पुष्प**मुद्रेति कीर्तिता।
तर्जनी मध्यमाऽनामा मध्यपर्वाणि संस्पृशेत्।
अङ्गुष्ठाग्रेण ता धूपदीपनैवेद्यमुद्रिकाः।।

ऊर्ध्वाङ्गुलिभि**र्ग्रास**मुद्रा वामकरे कृता।
सैव **ताम्बूल**मुद्रा स्याद्दक्षे सङ्कुचिताङ्गुलिः।।

तर्जनीमध्यमाङ्गुष्ठः **प्राण**मुद्रा प्रकीर्तिता।
मध्यमाऽनामिकाङ्गुष्ठैः स्या**दपान**स्य मुद्रिका।।

कनिष्ठाऽनामिकाऽङ्गुष्ठै**र्व्यान**मुद्रा प्रकीर्तिताः।
तर्जन्यनामिकाङ्गुष्ठैः स्या**दुदान**स्य मुद्रिका।।

**समान**मुद्राऽङ्गुलिभिः संहताभिस्तु पञ्चभिः।
मणिबन्धस्थितौ कृत्वा प्रसृताङ्गुलिकौ करौ।।

कनिष्ठाङ्गुष्ठयुगले मिलित्वाऽन्ते प्रसारयेत्।
**सप्तजिह्वा**ख्यमुद्रेयं वैश्वानरवशङ्करी।।

मिलिताऽनामिकाङ्गुष्ठमध्यमाग्राणि योजयेत्।
शिष्टे द्वे उच्छ्रिते कुर्या**न्मृग**मुद्रेयमीरिता।।

अनयोरुपयोगस्तु होमविधौ भविष्यति।

कमलाकृतिमुद्रा तु **सौर**मुद्रेति कीर्तिता।।

**बिम्ब**मुद्रोक्ता कालिकापुराणे—

मुष्टिद्वयं तथोत्तानं कृत्वा संयोज्य पार्श्वतः।
दक्षिणस्य कनिष्ठादीन् प्रसार्य क्रमतः पुरः।।

तथा वामकनिष्ठादीन् एकैकान् सुप्रसारयेत्।
अष्टौ मुद्राः समाख्याता नाम तासां क्रमाच्छृणु।।

प्रोन्नामोन्नामने चैव बिम्बं पाशुपतं तथा।
शुद्धं त्यागः सारणी च तथा चैव प्रसारिणी ।। इति ।।

**कमलबिम्ब**मुद्रे सौरमन्त्रमात्रेषूपयुक्ते—

दक्षाङ्गुष्ठं वामाङ्गुष्ठे क्षिप्त्वा हस्तद्वयेन तु।
एकमुष्टिं सावकाशां कुर्यात्सा **कुम्भ**मुद्रिका ।।

अधोमुखे वामहस्ते ऊर्ध्वास्यं दक्षहस्तकम्।
क्षिप्त्वाङ्गुलीरङ्गुलीभिर्ग्रथयित्वा विवर्तयेत् ।।

प्रोक्ता **संहार**मुद्रेयं विनियुक्ता विसर्जने।

इयमेव **निर्याण**मुद्रेत्युच्यते।

( भास्कररायकृत 'तृचभास्कर' से उद्धृत )
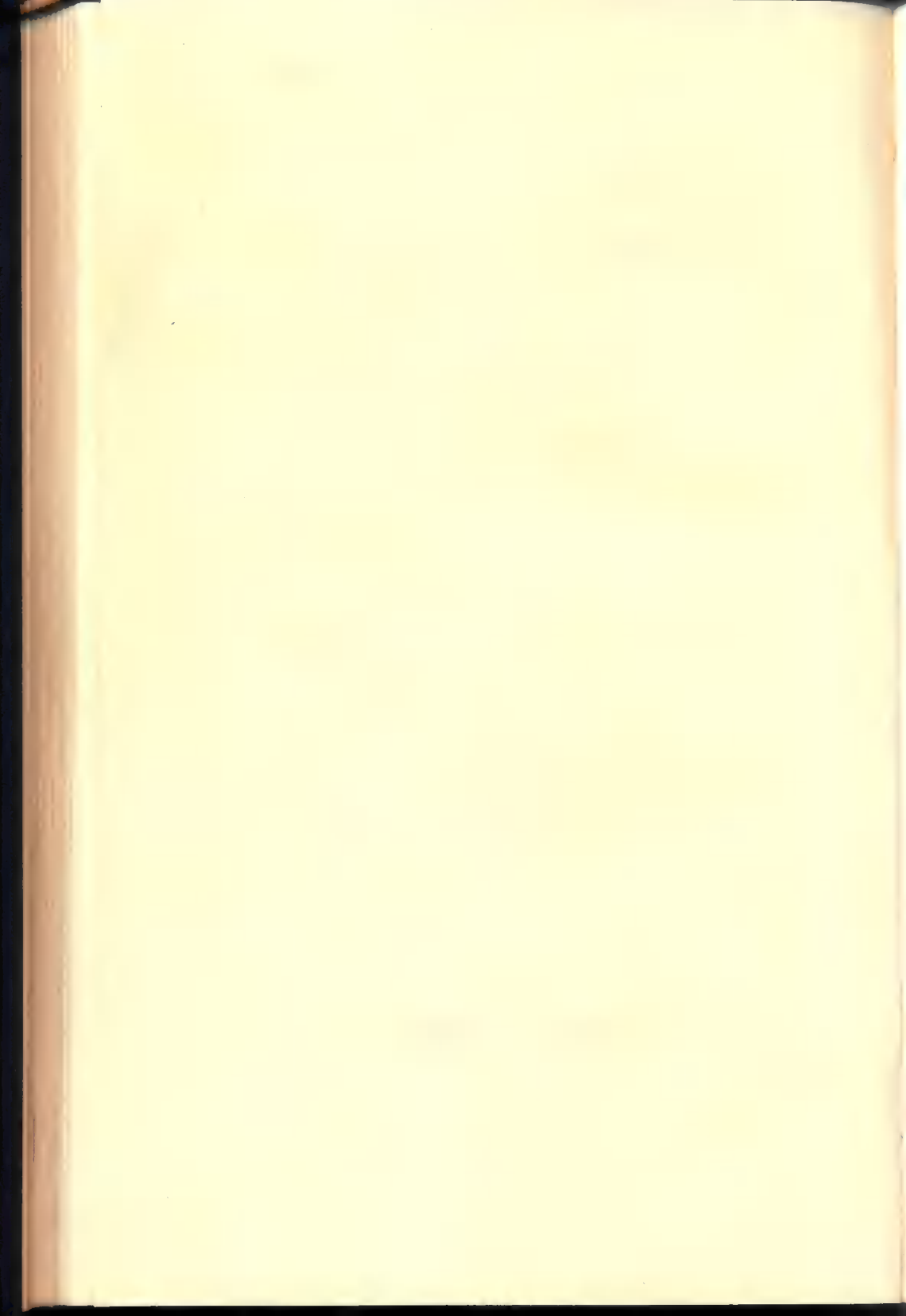
## तन्त्रशास्त्र के महत्वपूर्ण प्रकाशन :

* **अन्नदाकल्पतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **एकजटातारासाधनतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **कुण्डलिनी शक्ति** । अरुणकुमार शर्मा
* **कुलार्णव तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । परमहंस मिश्र
* **तन्त्रविज्ञान और साधना** । सीताराम चतुर्वेदी
* **तन्त्रसार:** । 'नीर-क्षीर-विवेक' नामक हिन्दी टीका सहित । परमहंस मिश्र । 1-2 भाग
* **तन्त्रालोक** । जयरथकृत संस्कृत टीका एव राधेश्याम चतुर्वेदी कृत हिन्दी टीका सहित
* **त्रिपुरा रहस्यम्** । ज्ञानखण्ड एवं महात्म्खण्ड । हिन्दी टीका सहित । जगदीश चन्द्र मिश्र
* **नीलसरस्वती-तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **भूतडामरतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **मन्त्रमहोदधि** । 'नौका' संस्कृत टीका तथा 'अरित्र' हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय
* **रूद्रयामलतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय । 1-2 भाग
* **ललितासहस्रनाम्** । हिन्दी टीका सहित । श्रीभारतभूषण
* **वरिवस्यारहस्यम्** । संस्कृत हिन्दी टीका सहित । श्यामाकान्त द्विवेदी
* **वर्ण-बीज-प्रकाश:** । सरयू प्रसाद द्विवेदी
* **शारदातिलकम्** । हिन्दी टीका सहित । सुधाकर मालवीय । 1-2 भाग
* **सर्वोल्लास-तन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **सिद्धनागार्जुनतन्त्रम्** । हिन्दी टीका सहित । एस. एन. खण्डेलवाल
* **सौन्दर्यलहरी** । 'लक्ष्मीधरी' संस्कृत एवं 'सरला' हिन्दी व्याख्या । सुधाकर मालवीय


चौखम्भा सुरभारती प्रकाशन
वाराणसी

# प्रकाशक का वक्तव्य

महात्मा ॐ आजकल योग पर बहुत कुछ विवेचना कर रहे हैं और अवसर अवसर पर पुस्तकें भी लिख कर हमें प्रकाशनार्थ देते रहते हैं। इसी प्रकार 'वज्रोली' जो मनुष्य को पूर्ण शक्ति शाली बना सक्ती है ॐ ने तैयार की है। और इसमें दी गई बातें सब ॐ ही के अनुभव की हैं। हम इस संबंध में अनभिज्ञ होने के कारण कुछ भी कहने में समर्थ नही हैं। जिस किसी महाशय को इस संबंध में कुछ शंका समाधान करना हो तो वे कृपाकर महात्मा ॐ से मिलें।

इन दिनों में कुछ महाशय जिनके विचार ॐ से नहीं मिलते हैं प्रायः हमसे उनकी पुस्तकों के संबध में वाद विवाद करने पर उतारू हो जाते हैं, परन्तु इस वक्तव्य द्वारा हम यह सार्वजनिक रूप से प्रकट करते हैं कि पुस्तकों के भाव, पुस्तकों की भाषा आदि की जिम्मेवारी सदा लेखक पर ही होती है प्रकाशक इस संबंध में विशेष कुछ भी जिम्मेवारी नहीं रखते और न यही मान लिया जाना चाहिए कि जो भी पुस्तक प्रकाशित की जावे उसमें व्यक्त भावों व भाषा के लिये प्रकाशक भी जिम्मेवार ही हो। वास्तव में पुस्तक का लेखक ही अपने विचारों को पूर्ण रूप से व्यक्त कर सकता है। लेखक की आज्ञानुसार कहीं कहीं और कभी कभी भाषा में केवल सुधार कर देने से ही प्रकाशक व लेखक दोनों एक ही विचार के नहीं हो सक्त हैं और न कहे जा सक्ते हैं। रहा हमारा निजी व्यक्तिगत संबंध जिसे ॐ जानते हैं या हम और जनता को इससे कोई विशेष संबंध कदापि नहीं हो सकता।

हमें पूर्ण विश्वास है कि योग ग्रंथावली की यह 'वज्रोली' पुस्तक योग में विश्वास व श्रद्धा रखने वालों के लिये महत्वशाली व उपयोगी सिद्ध होगी।

निवेदक—

व्यास सूर्यराज

मंत्री—म० प्र० मन्दिर।

# विषय-सूची

# प्रस्तावना

ॐ योग शब्द कितना व्यापक है, इस बातको जानने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। यहाँ तो इतना ही कहना है कि योग शब्द का मुख्य अर्थ है हमारे और ब्रह्म के बीचमें के अंतराय (परदे) को फाड़ डालना। इस परदे को हटाने के लिये छः योग प्राधन हैं। जैसे कि क्रिया योग, प्राणयोग, मनोयोग, भावना योग, बुद्धि-योग, और बिन्दु योग। इन योगों की पूर्णतया अन्यान्याश्रयता और साम्यता है, जिसका कारण योग का प्रारम्भ क्रम है। हमारे इस योग का प्रारम्भ बिन्दुजय के लक्ष्य से होता है। अतः इसका नाम बिन्दु-योग है। जिस क्रिया से इस बिन्दुजय के तत्व को साधक प्राप्त किया करता है उस क्रिया का नाम ही वज्रौली मुद्रा है। इस मुद्रा में बिन्दुजय की विधी बताकर उसके लाभ आदि बतलाये गये हैं। बस इस मुद्रा को समझने के लिये ही यह छोटा सा निबन्ध लिखा गया है। इस निबन्ध में वज्रौली संबन्धी सभी बातों पर प्रकाश डालकर साधन संबन्धी कठिना-इयों को सुलभ बनाने की भरसक चेष्टा की गई है। यहाँ तक कि वज्रौली के अन्दर और बाहर की गुप्त बातों को भी खोल दिया गया है जिनको पढ़कर साधक वज्रौली संबन्धी बहुत ही

गलतफहमियों को सहज ही हृदयांगम कर के समझ सके कि वज्रौली का रहस्य साधकों को भोगरूप पाप में लगा कर वीर्य का नाश करना नहीं अपितु उसको निर्दोष बना पारद की शद्धश्यता में लेजा कर ऊर्ध्वरेता बना ईश्वराभिमुख कर देना है। ( केवलं पारदोपमम् ) वीर्य का पारे की शद्धश्यता में आजाना ही ईश्वर प्राप्ति के मार्ग में प्रवेश करना है। जब यही ऊर्ध्वगामी होकर सहस्रार की दिव्य किरणों में लय हो जाता है तब ही साधक ब्रह्मरूपता को प्राप्त हो जाया करता है। यही तत्व वज्रौली मुद्रा का सार है। जिसको समझ कर साधक उन मूढ किंवदन्तियों और धूर्तों के माया जालसे बच सकेंगे जो वज्रौली मुद्रा को भोगरूप, पाप का साधन बनाते हैं। इन गुप्त और प्रकट बातों के साथ में ॐ ने पाठकों के सुविधार्थ वज्रौली संबन्धी औजार और आसनों के चित्र भी दिये हैं जिससे उनको पाठक सुगमता से समझ सकेंगे।

शायद इस निबन्ध को पढ़ कर कुछ गुप्तता के पोषक ॐ को यह कहें कि ऐसी गुप्त बातों को आम जनता के सामने नहीं रखना चाहिये। यह तो श्रद्धालु अधिकारियों को ही देना चाहिये। इन सज्जनों से ॐ का इतना ही कहना है कि यदि कोई वस्तु गुप्त नाम से कहीं और रखी जाने की हो तो वह एक मात्र पाप ही है। यही कारण है कि मनुष्य मात्र अपने पापप्रद कार्यों को छिपाने का प्रयत्न किया करते हैं। ॐ के अनुभव में धार्मिक बातों को गुप्त रखने का तरीका व्यभिचार

पूर्ण तंत्रों और स्वार्थपरता से ही चला है। यदि ऐसा न होता तो भगवान् गीता में और उपनिषदों में कहीं भी यह कहते नहीं मिलते कि मैं तुमको यह गुप्त और पवित्रताओं की राजविद्या बता रहा हूँ। हम तुमको यह गुप्त तत्व बता रहे हैं जहाँ पर मन वाणी और बुद्धि नहीं पहुंच सकती है।

ॐ के विचार में इस बेहूदी गुप्तता ने ही भारत की बहुतसी बहुमुल्य विद्याओं का नाश किया है। यदि अब भी हम इस पाप से नहीं छूटेंगे तो हमारा जो कुछ है वह भी नाश हो जायगा। आज इस गुप्तपन के पापसे मुक्त रह कर ही ( चाहे भौतिकता में ही सही ) पाश्चात्य जगत ऊपर उठ रहा है। अतः हमें किसी भी साधन को गुप्तता की चिता में फूकना नहीं चाहिये। रही श्रद्धा और अधिकारी की बात। इनका स्थान तो आज अंधविश्वाश और कामनाओं ने ही ले लिया है। पूर्वकालीन श्रद्धाकी दृष्टि में भोग नाम का कोई पदार्थ ही नहीं था। उदाहरणार्थ नचीकेता को ही देख लीजिये वह यमराजके सब कुछ देने पर भी कहता है कि कुछ हो तो लूँ बिना हुई वस्तु को देने और लेने लगना ही तो सबसे बड़ी मूर्खता है। साधक की इस मोक्ष स्वरूप अखंड धारा का नाम ही श्रद्धा है। मोक्ष मार्ग में इस श्रद्धा और साधक का एक स्वरूप माना है इस श्रद्धा से युक्त साधक के लिये भोगों का अस्तित्व ही बन्धन, पाप, अत्याचार और सबसे बड़ा व्यभिचार है। इसके अस्तित्व का अभाव मुक्ति का तात्विक बीज है। आज इस कामकामी संसार में उप-

रोक्त श्रद्धालु अधिकारी का मिलना ही दुस्तर है। जिधर देखो उधर 'अंधेनैव नीयमान यथान्धाः' अंधविश्वास का साम्राज्य है आज के गुरुओं के यहाँ विवेक वैराग्य सम्पन्न सदाचारी, संयमी वासनाक्षयी अधिकारी नहीं अपितु विवेक, वैराग्य, संयम, सदा-चार से रहित संपत्तिशाली भोगों के पुतले, सिद्धि और चमत्कारों के चाहक जो भोग व कामना की पूर्ति के नहीं होने पर गुरु की कौन कहे भगवान् तक को भी छोड़ देने वाले कामी पुरुष ही श्रद्धालु अधिकारी माने जाते हैं। यदि उपरोक्त विवेचन सत्य है तो संसार श्रद्धालु अधिकारी का नहीं अपितु अंधविश्वाशी, कामकामियों का ही है। तो फिर किसी गुन पोषक और श्रद्धालु अधिकारी के समर्थक को संसार से आज ही कूच कर देना चाहिये। नहीं, ऐसा नहीं, शास्त्रों में यह भी लिखा है कि जब २ भी संसार में अंधविश्वास और कामनाओं का अधिकार हो जावे तब २ ही सच्चे ब्राह्मण और संन्यासियों को घर २ घूम कर जनता में सत्यतत्त्व का प्रचार करना चाहिये। यह अर्थ भगवान् श्री आदि शंकराचार्य के निम्न लिखित वाक्य का है कि 'कोवा गुरु योहि हितोप देष्टा' गुरु स्वार्थ परता की दीक्षा से नहीं अपितु हितका उपदेश देने से होता है। इस सर्वहित सत्य उपदेश से कामकाभी पुरुषों की कामना का दमन ( चाहे थोड़ा ही क्यों न हो ) होकर शुद्ध श्रद्धा की जागृति होगी जो समय पर विस्तार पाकर विश्व कल्याण का कारण होजावेगी। अन्यथा गुरुता और अधि-कारियों के भरोसे हमारी विद्या तो नाश होगी ही और अध-

कचरे साधनों से लोगों को हानि भी अधिक उठानी पड़ेगी। अतएव ऐसे गुरुतर कार्य का यापन करने में वही व्यक्ति सफली भूत हो सकेंगे जिसके हृदय में संसार का कल्याण करने की लग्न होग। सत्य विद्या का जीर्णोद्धार करने की सद्प्रेरणा होगी एवं निजत्व के अभाव के साथ ही साथ निस्वार्थ भावना का समावेश होगा।

ॐ जो स्त्री के बिना बज्रोली का सिद्ध होना असम्भव मानते हैं, वह अपने को व्यभिचारी, भ्रष्ट और बज्रोली जैसी शुद्ध वीर्य-रक्षक विज्ञानिक क्रिया को नष्ट करने के पाप को अपने ऊपर लादते हैं। हां! जैसे एक सद्गृहस्थ अपनी सद्गृहस्थी को निबाहता हुवा ईश्वर प्राप्त कर सकता है वैसे ही एक बज्रोली सिद्ध ईश्वर प्राप्त मनुष्य भी अपने जीवन रूपि सर्प के मुख में से कामुकता के दाँत या विषय विष रूपि विष की थैली निकाल कर काम जयी होकर सद्गृहस्थीको निबाह सकता है।

इस तत्व को समझाने के लिये ही इस पुस्तिका का दूसरा भाग लिखा गया है न कि कामी बनाने के लिये। इतना होते हुए भी बज्रोली की मुख्य मुक्त-सिद्धि ब्रह्मप्राप्ती को नैष्ठिक ब्रह्मचारी और गौण सिद्धिको कामजयी सद्गृहस्थी प्राप्तकिया करता है। इनसे अन्य कामासक्त मनुष्य बज्रोली को छूकर अपनी मौत आप बनते हैं। इन दोनों तत्वों का अनुभव अपने २ चरित्रों के अनुसार साधक बज्रोली मुद्रा करके ले सकते हैं।

## अनुभव की परिभाषाः—

ॐ इस निबन्ध में बताये हुए मात्र साधन अनुभव सिद्ध हैं। अनुभव दो तरह का होता है, एक क्रिया-साध्य, और दूसरा विज्ञानबुद्धि-साध्य। क्रिया-साध्य साधनों को ॐ ने साधको द्वारा एक बार नहीं अनेक बार परीक्षा करके लिखा है। मनो-विज्ञान और बुद्धिविज्ञान-साध्य साधनों की परीक्षा विज्ञानबुद्धि द्वारा ही हुआ करती है जिसका भी ॐ ने भरसक प्रयत्न किया है। इन दोनों अनुभवों के मिलाप से ही, एक पूरा अनुभव सिद्ध हुआ करता है। इस पूर्ण अनुभव का नाम ही सच्चा अनुभव होता है। इस सच्चे पूर्ण अनुभव से ही साधकों को पूर्ण सिद्धि मिला करती है। अतः पूर्ण अनुभव का नाम सिद्धि और पूर्ण सिद्धि का नाम अनुभव है। जो साधक अनुभव की इस परिभाषा को समझ लेगा वो ही अनुभव-सिद्ध होकर सिद्धि को प्राप्त कर सकेगा। क्रिया-साध्य साधन का नाम क्रिया और मनोविज्ञान, बुद्धि विज्ञान-साध्य साधन का नाम चमत्कार कहा जाया करता है।

विश्वात्मा ॐ

* ॐ तत्सत् *
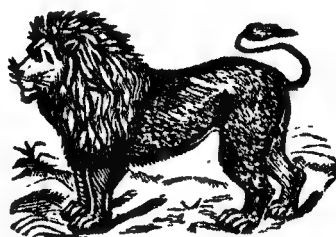
# भूमिका.

विश्वात्मा ॐ ने इस पुस्तक को लिख कर भारतीय साधकों का हित साधन ही किया है। योग,समाधि और संयम का महत्व असाधारण है। परन्तु इन दोनोंकी प्राप्ति बिना धारणा और ध्यान के नहीं हो सकती। धारणा को सफल करनेके लिये अनेक प्रकार की मुद्राएँ करनी पड़ती हैं। जैसे अगोचरी, भूचरी, चाचरी, खेचरी और साम्भवी आदि। योग-शास्त्र में मुद्राओं का महत्व अनुपम है। मुद्राओं से अनेक प्रकार के लाभ हो सकते हैं और असाधारण सिद्धियें भी इनके द्वारा प्राप्त की जा सकती हैं।

साम्भवी और षणमुखी मुद्रा से जिस प्रकार मन और प्राणवायु को विजय कर अंतःकरण की शुद्धि से संप्रज्ञात् समाधि को प्राप्त कर सकते हैं—ठीक वैसे ही योगी लोग वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्य सिद्ध कर समाधि को प्राप्त हो सकते हैं। योग शास्त्रों का सिद्धान्त है कि "मन, वायु और वीर्य यह तीनों एक ही पदार्थ है, इन तीनों में से किसी एक को वशीभूत करने से तीनों वशीभूत हो जाते हैं"। अतः एव योग-शास्त्रों में इन तीनों को वशीभूत करने की पृथक २ प्रणालियें बतलाई गई हैं जैसे—ईश्वर प्रणिधान या एकत्व के अभ्यास से मन

को, प्राणायाम से वायु को वशीभूत करने का आदेश है—ठीक वैसे ही 'वज्रौली मुद्रा' से वीर्य को वशीभूत किया जासकता है।

आज कल क्रिया-योग के विशेषज्ञ बहुत ही विरले महात्मा मिलते हैं। कारण सूक्ष्म विषय की बातें कहने से उसका प्रत्यक्ष में कुछ भी असर नहीं होता। श्रद्धा और भक्ति से उन बातों को सुन लेने या मान लेने पर ही निर्भर रहना पड़ता है परन्तु स्थूल विषय की स्थूल क्रियाओं को करने और करवाने वालों पर भौतिक दृष्टि से भी अधिक उत्तरदायित्व है। इसमें साधक या सिद्धि के प्रयत्नों की सफलता या असफलता स्पस्ट दिखलाई पड़ती है अतः बिना अनुभव किये स्थूल कार्यों की शिक्षा देना शिष्यों के सामने अपना पतन करना है और साथ २ साधक का जीवन भी नष्ट भ्रष्ट कर देने का अपराधी बनता है। इतनी कठिनतम क्रिया को सहज में बतलाने के लिये जो प्रयत्न 'वज्रौली' के लेखक महाशय ने किये हैं वे अवश्य ही प्रशंसनीय और सर्व साधारण के उपयोगी हैं। इस पुस्तक में केवल उपदेश ही नहीं दिया गया है वरन् प्रत्येक क्रिया को करने के लिये आसन और उसके यन्त्रों ( औजारों ) के चित्र नाम और परिचय भी दे दिये हैं। स्वतंत्र शीर्षकों को देखने से तो पुस्तक का विषय स्पष्ट समझ में आजाता है। सर्व साधारण पाठकों को भी इससे यह शिक्षा मिल सकती है कि 'वज्रौली मुद्रा' से वीर्य सिद्धि किस प्रकार से हो सकती है।

देश में इस समय बहुत से पुरुष हीन वीर्य होकर अपने जीवन को बरबाद कर देते हैं। खास कर युवक युवतियाँ तो अनेक वैद्य और डॉक्टरों की शरण जाकर अपना दम्पति सौख्य स्थिर करना चाहते हैं। उनके लिये यह मुद्रा बहुत उपयोगी हो सकती है। यदि वे अपने श्री गुरुदेव के सामने इस क्रिया को सिद्ध करलें तो भोग और मोक्ष दोनों ही मिल सकते हैं। छान्दोग्योपनिषद् में लिखा है कि 'आचार्याद्ध्येव विद्याविदिता साधिष्ठं प्रपयति' गुरु के मुख से जानी विद्या ही यथेष्ट फल को प्राप्त करवाती है। शिव संहिता कहती है कि 'दमवेद्वीर्यवती विद्या गुरु वक्र समुद्भवा अन्यथा फलहीनास्यान्निर्वीर्याप्यति दुःखदा'। गुरु मुख से सीखी हुई विद्या ही वीर्य वती होती है अन्यथा—अपने मन से पुस्तकें पढ़ने आदि से—जो विद्या आती है। वह दुःखदाई होती है। इस लिये यदि हमें अपने 'वज्रौली मुद्रा' विद्या को सफल, वीर्यवती, और सुख वाली बनानी है तो इसे गुरु मुख से ही समझ कर उन्हीं के सामने—इसका साधन करना चाहिये।

इस पुस्तक में सार रूप में 'वज्रौली मुद्रा' सम्बन्धी मुख्य बातें आगई हैं। स्त्री संभोग आदि विषयों को सीमित भाषा में लिख कर लेखक ने जिस प्रकार वज्रौली के नाम पर व्यभिचार करने वालों का और इस विद्या को गुप्त रखने की बहानेबाजी से साधकों के जीवन और इस उत्साह को नष्ट भ्रष्ट करने वाले अयोगियों को सावधान करदिया है, ठीक वैसे ही सज्जन

साधकों को बतला दिया गया है कि यह 'वज्रौली मुद्रा' अपने वीर्य की रक्षा और ब्रह्म तेज की प्राप्ति करने के लिये है। इसका दुरुपयोग करने वाला साधक योग से विमुख होकर भोगी और रोगी होता हुआ स्वयं अपना पतन कर देता है। अतः एव हम भूमिका को समाप्त करते हुए पाठकों का ध्यान 'वज्रौली मुद्रा' के महत्व पूर्ण। वीर्य रक्षा की ओर खींचते हुए उचित परामर्श देते हैं, कि इस पुस्तक को पढ़ कर आप स्वयं लाभ उठावें और अपने इष्ट मित्रों को वीर्य-रक्षा का ज्ञान करवावें जिससे अपने देश, समाज और धर्म का अभ्युदय हो। अस्तु।

भवदीय शुभेच्छु

**पं० बद्रीदास पुरोहित**

"वेददान्त भूषण"

'वनस्थ'

# वज्रौली मुद्रा

वज्रौली-मुद्रा योग-शास्त्र का एक चौकन्ना बना देने वाला साधन है। इसका नाम सुनते ही श्रोता के मन में उत्साह, संशय, भय, आश्चर्य दौड़ने लगा करता है। क्योंकि यह साधन भोगी और त्यागी दोनों ही को प्रोत्साहित करता है। भोगी तो इसको पढ़ते ही हजारों स्त्रियों को भोगने की खुशी के झूले में झूलने लगता है। त्यागी इससे ईश्वर मिलन की आनन्दी वृति का रसस्वादन करने का स्वप्न देखा करता है। यह दोनों बातें ही श्रोता के उत्साह का कारण है परन्तु दूसरे ही क्षण वह संशय की सूली पर चढ़ा हुआ अपने को भय की श्रृङ्खला से जकड़ा हुआ देखता है। वह सोचता है क्या यह साधन मुझ से हो सकेगा। यदि बिगड़ गया तो मेरा क्या हाल होगा, इत्यादि बातें सोचता हुआ मन ही मन कहा करता है कि कैसा आश्चर्य है कि भोग मोक्ष दोनों एक साथ ही प्राप्त हो सकते हैं। क्या भोग की पत्नी मुक्ती और मुक्ति का पति भोग हो सकता है ? कदापि नहीं, यदि ऐसा होता तो मोक्ष-मार्गी पुरुषों को सर्व त्यागी क्यों कहा जाता ? क्या कभी जननेन्द्रिय से प्रकृति विरुद्ध जल दुग्ध, घृत, मधु आदि

द्रव और पारद आदि ठोस पदार्थ खींचे जा सकते हैं ? यही बातें हैं जो साधक को उत्साहित करती हुई भी संशय युक्त करके आश्चर्य में डाला करती हैं। ॐ पाठकों के हितार्थ उपरोक्त बातों को अपने अनुभव और बुद्धि के अनुसार इस लेख में हल करना चाहता है जिससे पाठक बज्रौली की सत्यता को जान कर ही उसमें प्रवृत होकर बज्रौली की बहुत सी कठिनाइयों को पार कर जायेंगे।

## ❀ बज्रौली की कठिनाइयों ❀

ॐ एक तो कठिनता होती है और एक मृत्यु से खिलवाड़ करना होता है; अतः बज्रौली कठिन ही नहीं अपितु मृत्यु से खिलवाड़ करना है। जैसे मृत्यु को खेल में जीतना कठिन ही नहीं अपितु दुस्तर भी है तैसे ही बज्रौली की कठिनाइयों से पार पाना भी दुस्तरातिदुस्तर है क्योंकि ये साधन अदृश्य लोक (शरीर के अन्तर भाग) का साधन है। इसके सिद्ध करने में बुद्धि के सिवाय अन्य कोई भी इन्द्रिय काम नहीं दे सकती है। अतः यह इन्द्रिय-ग्राह्य साधन नहीं बुद्धि-ग्राह्य है। जैसे "बुद्धि ग्राह्यमतीन्द्रियम्"। इन्द्रिय में शलाका डालने तक ही तुम्हारे हाथ आंख आदि इन्द्रियें काम कर सकती हैं किन्तु इसके आगे वह हाथ भी सलाका को अन्दर ढकेलने के सिवाय कुछ नहीं जान सकता कि वह शलाका किधर कहाँ जाकर क्या काम

कर रही है, यहाँ तो बुद्धि के संकेत द्वारा अन्तरस्पर्श ही साधक को कुछ जता सकता है कि अन्दर क्या हो रहा है अतः इस साधन के अन्तर कार्यों को समझना इतना ही कठिन है जितना अंधे को भूँगली ( नलिकाष्ट ) में डाली हुई सूई के छिद्र को समझना कठिन हुआ करता है। इसीलिये ही तो ॐ कहा करता है कि वज्रौली के साधन में लगना अपने को अन्ध कूप में ढकेल देना है। उपनिषदों के मतानुसार शरीर के अन्दर जीवन तन्तु इतने सूक्ष्म हैं कि जितने बाल के अग्र भाग के सौ टुकड़े करके उसके शतांश ( १०० मा ) भाग की सूक्ष्मता हुआ करती है। जिनको एकाग्र सूक्ष्मातिसूक्ष्म बुद्धि के सिवाय साधक किसी साधन या ( सूक्ष्मदर्शी ) यन्त्रों तक से भी नहीं देख सकता है। यद्यपि इनमें बहुत सी जीवन किरणें ऐसी हैं जिनको स्पर्शन आघात नहीं छू सकता है या स्पर्शन आघात के नीचे वह नहीं आसकती हैं फिर भी यह अज्ञात लोक का कार्य है जिसमें थोड़ी भी गलती होने पर साधक दुखोंके गर्तमें ही नहीं अपितु कभी २ मौत का शिकार भी हो जाया करता है। अतः साधकों का कर्तव्य है कि वह अपने को किसी सच्चे अनुभवी गुरु की सहायता से सोच समझ कर ही इस साधन में लगावे।

## ❀ भोजन ❀

ॐ वज्रौली के लिये निम्न लिखित वस्तुओं को छोड़कर सब पदार्थ ग्राह्य ही हैं। त्याज्य पदार्थ हैं:—तेल, मिर्च, खटाई,

लहसन, प्याज, मांस और अति उष्ण, अति तीक्ष्ण खाद्य पदार्थ, गांजा, सुलफा, अफीम, भंग, शराब, कोकीन, तम्बाकू, जरदा, नस्य, काफी आदि पदार्थ भी बिलकुल छोड़ देने चाहिये। अन्य खाद्य पदार्थों में भी रजतम की प्रधानता को छोड़ कर ही भोजन करना चाहिये। सर्व साधारण के लिये दाल, रोटी, शाक, भात, खिचड़ी आदि पथ्य ताजे फल और सूखे मेवे बहुत लाभप्रद होते हैं। बज्रौली के लिये सबसे प्रधान भोजन दुग्ध, मक्खन व घृत ही है। जिस साधक को ये भरपूर न मिल सकें वे बज्रौली मुद्रा को कभी न छूवें और यदि छूवेंगे तो कल्पनातीत हानि होगी।

## ● बज्रौली के औजार ❀

ॐ बज्रौली-मुद्रा के लिये चार प्रकार के औजारों की आवश्यकता हुआ करती है। इसके बिना साधकों को बज्रौली मुद्रा में सफलता नहीं मिलती है। इनमें से नं० १ और नं० ४ तो सीसे और तांबे के हैं, और नं० २ व नं० ३ चाँदी के। इनमें से नं० १ से नं० ३ तक की मोटाई सूत २ और लम्बाई ७ इञ्च होनी चाहिये। नं० १ सीसे वाली ठोस और आगे से इन्द्री में डालने वाले भाग की ओर से १ एक इञ्च मुड़ीहुई होनी चाहिये और नं० २ चाँदी वाली पोली नलीके दोनों भाग ऊपर को ही मुड़े हुए होने चाहिये। इसका बाहर का भाग पेच वाला और अन्दर का भाग साफ रहना चाहिये। नं० ३ वाली पोली नली का अन्दर

का भाग ऊपर को व बाहर का भाग नीचे को मुड़ा हुआ रहना चाहिये। इसके दोनों ही भाग साफ होते हैं। नं० ४ तांबे वाली पोली नली दो सूत से कुछ मोटी, १०-१२ इंच लम्बी होती है। जिसके नीचे के भाग में पेच और ऊपर के भाग में एक प्याली लगी होनी चाहिये (चित्रों से पूर्णतया समझलो) इनमें से नं० १ तांबेवाली को छोड़कर अन्य तीनों का कार्य ॐ अब रबड़ की नली से भी लेन लगा है जो बहुत ही सुगम और खतरे से रहित सिद्ध हुई है परन्तु इसमें एक कमी अवश्य ही रह गई है कि वह अन्दर से मुड़ी हुई नहीं है। यह नली दो सूत मोटी और तीन फुट लम्बी होनी चाहिये। रबड़ की नली को काम में लेने से प्रथम उसको उत्तम तरह से साफ कर लेना चाहिये। साफ करने की विधी यह है कि बाहर से तो उसको साबुन आदि से धो लेना चाहिये और अन्दर से उसमें जल भर कर उसके बाहर के भाग को खूब मलना चाहिये इस क्रिया से उसके अन्दर का सब मैल धुल कर वह अन्दर से बिलकुल साफ हो जायगी।

## ❀ सर्व प्रथम साधन ❀

ॐ इस साधन को आप सबसे प्रथम आरम्भ करदें और सबके सहायक रहते हुए सबके अन्त तक चालू रक्खें। इसके पूर्णतया सिद्ध होजाने पर साधक का अपान पर अधिकार स्नायु सञ्चालन की शक्ति प्राप्त होकर उनमें बल का विकास होने लगता है; साथ ही स्तम्भन शक्ति भी बढ़ती जाती है। इस क्रिया की सिद्धि के हो जाने पर ही साधक बिना नली के पारदादि

पदार्थों को खींचने की शक्ति प्राप्त किया करता है परन्तु क्रिया को मनोविज्ञान पूर्वक करना चाहिये। ॐ ये क्रिया नहीं अपितु, बज्रौली सिद्धि का मूल मन्त्र है। क्रिया इस तरह है कि जब २ भी आप लघु शंका किया करें तब २ ही अपने दांतो * को उपर नीचे से मिलाकर बलपूर्वक दबाते हुए अपनी मूत्र धारा के तीव्र हो जाने पर एक दम रोक लिया करें। इस वेग को एक बार लघुशंका करने में चार बार रोकना और छोड़ना चाहिये। ऐसे ही इन्द्रिय से खीचे जाने वाले पदार्थों को भी रोक २ कर ही छोड़ा करें। जब आप इस अभ्यास के बल से पारद को रोकने लगेंगे तो आपको बज्रौली में सफलता प्राप्त हो जायगी। यदि किसी साधक को मूत्र के वापिस खीचने में कुछ हानि की भ्रम भावना हो ( सो तो है नहीं ) तो उसको जल, दुग्ध, घृत आदि को ही रोक २ कर छोड़ना चाहिये। जलके रोक २ कर छोड़ने से इन्द्रिय के अन्दर के विक्रित पदार्थ भी धुलने लगते हैं जिनके धुलने पर आकर्शित पदार्थ शीघ्र और अधिक फल देने लगते हैं। यह क्रिया सुगम होकर भी अधिक फल देने वाली है।

* दांतों को ऐसे दबा कर क्रिया करने वाले साधकों के दांतों में कभी कोई रोग नहीं हुआ करते हैं। यदि कोई सर्व साधारण मलमूत्र त्याग करने वाला पुरुष भी इस क्रिया को नियमित रूप से करेगा तो उसके दांतों को बहुत लाभ होगा। दांतों के रोगी लाभ उठावें।

# ❋ औजारों के प्रयोग की विधी ❋

ॐ इन औजारों में से सर्व प्रथम नं० १ शीशे की ठोस शलाका को निम्न लिखित क्रम से प्रयोग में लाना चाहिये। सर्व प्रथम इस शलाका को किसी कपड़े से खूब रगड़ कर साफ करके थोड़ासा घी लगा कर प्रथम दिन करीब एक अंगूल ही इन्द्रिय में प्रवेस करना चाहिये यहां जहां पर आपकी इन्द्रिय का कुछ मोटा सा भाग है शलाका कुछ कठिनता से अटक कर अन्दर जाया करती है अतः घबराने की कोई आवश्यकता नहीं; कार्य हठ से नहीं साहस और धैर्य से करना चाहिये। यह कठिनता १–२ दिन में अपने आप ही मिट जायगी। यद्यपि इस छल्ले के पार करने पर करीब पांच अँगुल तक रास्ता साफ होने से शलाका अपने आप ही सुगमता से अन्दर जाया करती है तथापि शलाका को एक २ अंगूल ही अन्दर डालना चाहिये। शलाका के पांच छः अंगुल और जाने पर अण्ड कोष के बीच में शलाका एक बार फिर कुछ अटकेगी। यहां पर और भी धैर्य्य, साहस और एकाग्रता की आवश्यकता है। शलाका को बार २ घी लगा कर डालने से २–३ दिन में रास्ता अपने आप ही नरम होकर खुल जावेगा जिसके खुल जाने से शलाका ८ से ११ अंगुल अन्दर जाने लगेगी, बस यहां पर आपकी इस शलाका का कार्य्य पूर्ण हो जाता है। इसकी पूर्णता की मोटी परीक्षा शलाका का मूत्राशय पर आघात पहुँचाना ही है। मूत्राशय पर आघात पहुँचने का चिन्ह मूत्र का प्रवाहित हो जाना ही है मूत्र प्रवाह किसी २ साधक का

किसी २ समय इतना तेज़ हो जाया करता है कि साधक के रोकने पर भी हाथ में निकल जाया करता है। इस सब कार्य को साधक १२-१३ दिनों में समाप्त कर दिया करता है। इसके पूर्ण हो जाने पर साधक को नं० २ चाँदी वाली पोली नली और नम्बर ३ तांबे वाली धमनी से काम लेना पड़ता है। विधि यह है कि नं० २ चांदी वाली पोली नली के सफा भाग को इन्द्रिय में ऐसे डाले जिससे उसका पेचवाला भाग ऊपर को रहे। पश्चात् नं० ३ तांबे वाली के पेच को इस चाँदी वाली के पेच पर कस देना चाहिये ऐसा करने से नं० ३ का प्याली वाला भाग आपके ठीक मुख के पास आ जावेगा। प्याली के मुख के पास आजाने पर उसमें उसी प्रकार मुख लगा कर जैसे सुनार अपनी फूकनी में लगाया करता है, वायु भरनी चाहिये। जब वायु इन्द्रिय में पूर्णतया भर जावे तब उसको बाहर जाकर निकाल देना चाहिये। वायु निकालते समय पहिले मूत्र और पीछे कुछ झाग सहित फड़ २ करती हुई वायु बहुत जोरों से निकला करती है। इस क्रिया से वायु ५-७ दिन में ही पूर्ण रूप से भरने और निकलने लगेगी, वायु पूर्णतया भर जाने पर नाभि के नीचेके भाग 'पट्ठ' में एक विशेष प्रकार की फटन जैसी वेदना मालूम हुआ करती है जिससे साधक को भान सा होने लगा करता है कि मानो मूत्र बाहर निकलने को बाधित कर रहा है। यह विशेष फटन ही साधक की वायु के पूर्ण भर जाने की सूचना और इस साधन की सफलता का चिन्ह है। इसके पूर्ण हो जाने पर साधक को नली की प्याली में जल भर कर फूँक के द्वारा
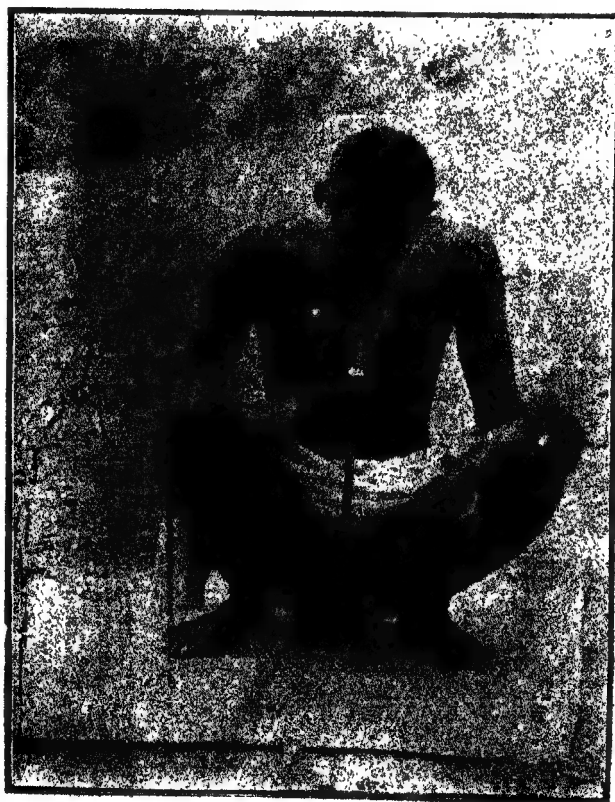
नं० ३ की नली नं० २ वाली नली में लगाकर
मुख से वायु भरी जारही है।

ही इन्द्रिय में धकेलना चाहिये। जब साधक इस विधि से एक छटांक जल इन्द्रिय में बिना परिश्रम भर सकेगा तब इस नली का कार्य भी पूर्ण हो जावेगा। इसके आगे साधक को नं० ४ वाली नली काम में लेनी चाहिये। इस नली को इन्द्रिय में ऐसे डाले जिसमें इन्द्रिय के अन्दर वाला मुख ऊपर को और बाहर वाला मुख पानी की कटोरी में रहे। प्रथम वायु खेंचनी चाहिये फिर जल, फिर दुग्ध, घृत, शहद और पारा खींचना चाहिये। यदि साधक को अश्वी-मुद्रा और नौली-क्रिया तथा नलों का उठाना बैठाना ठीक तरह से आता है तो वह उपरोक्त पदार्थों को बहुत ही शीघ्र खेंच सकेगा? यहां तक कि कोई साधक तो प्रथम दिन ही वायु को और २-३ दिन में जलको खीचने लगा करता है। सेर भर जल खींचने के पीछे आधा सेर दुग्ध और आधा सेर दूध के पीछे पाव भर घृत और तब आध पाव शहद और बाद में एक छटाँक पारा खींचना चाहिये। यह क्रम सर्वसाधारण के लिये उपयोगि और लाभप्रद है। यों तो सेर भर पानी खींचने वाला साधक पाव भर पारा भी खींच सकता है परन्तु इससे हानि की भी सम्भावना है। बज्रौली के लिये अश्वी-मुद्रा और नौली क्रिया आवश्यक है।

ॐ साधकों को यह बात बिल्कुल सत्य माननी चाहिये कि अश्वी-मुद्रा और नौली-क्रिया तथा पवनवस्ती के बिना बज्रौली मुद्रा होना कठिन ही नहीं अपितु असम्भव है अतः बज्रौली के साधकों का कर्तव्य है कि वह अश्वीमुद्रा और नौलीक्रिया को उत्तम तरह से सीख कर बज्रौली-मुद्रा में लगे।

ॐ ऊपर आप पुराने औजारों के नाप तोल प्रयोग विधि शकल और रबड़ की नली आदि के तरीके समझ चुके हैं अब ॐ आपको वह सुगम अनुभूत औजार और उसके प्रयोग का तरीका भी बता देता हूँ जिसमें आपकी सब कठिनाइयें सुगम हो जाती हैं। यह औजार नाई के बाल भिगाने वाला फोव्वारा (EFFUSER) है। इसके प्रयोग की विधि पानी चढाते हुवे चित्र के परिचय में देखिये। बताने की बात यही है कि इस औजार का काम में लाने से पहिले इसके मुख में पानी को फोवारे की आकृती में बदलने वाला जो स्क्रू होता है उसे निकाल देना चाहिये और चित्र के अनुसार रबड़ की नली लगाकर प्रथम वायु, पश्चात् जल चढ़ाने का अभ्यास करना चाहिये। बस इसके समझ पूर्वक करने से आपका वायु और जल चढाने का कार्य सुगमता से सफल हो जायगा, मुंह से वायु और जल भरने की क्लिष्टता भी मिट जायगी और यह अभ्यास बहुत सुलभ, सुगम, सरल व कम प्रयास से हो जायगा।

## ● अश्वी-मुद्रा ●

ॐ अश्वी-मुद्रा उस क्रिया का नाम है जिसको घोड़ा लीद करने के पश्चात् अपनी गुदा से किया करता है। इसकी सिद्धि के लिये साधक को अपनी गुदा को बहुत आकर्षण विकर्षण (खोलना बन्द करना) करना पड़ता है। अब इस आकर्षण विकर्षण (संकोच-विकास) द्वारा साधक की गुदा बिना ही परिश्रम
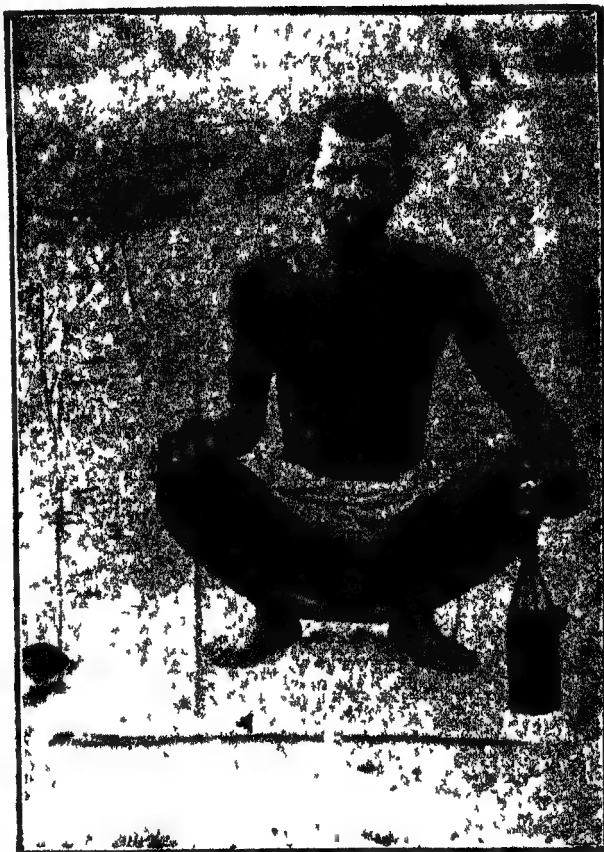
नाई के फौवारे द्वारा वायु और पानी चढ़ाया जा रहा है।

नं० ४ की नली लगाकर वायु खींची व
निकाली जा रही है।

खुलने व बन्द होने लगे तब यह मुद्रा सिद्ध हो जाती है। अश्वी मुद्रा की दूसरी विधि यह है कि आप किसी समसूत्र सीधी जमीन पर कोई कपड़ा बिछा कर चित्त लेट कर अपने दोनों घुटनों को इतने खड़े कर लीजिये जिससे आपके दोनों पैरों की एड़ियें दोनों नितंबों के लग जाँय। ऐसे होने पर आप अपनी गुदा के अन्दर के भाग को ( जो अन्दर से पोला है ) बलपूर्वक बाहर की ओर धकेलो। जब धकेलने में असमर्थ हो जाओ तब अन्दर की तरफ भी उतने ही बलसे खीचने की चेष्टा किया करो। इस अश्वी-मुद्रा से साधक को बहुत ही अद्‌भुत लाभ हुआ करते हैं। परन्तु बज्रौली की सिद्धि के लिये साधक को आकर्षण विकर्षण गुदा से नहीं अपितु इन्द्रिय से करना पड़ता है। यद्यपि इस आकषण विकर्षण से गुदा और लिंग एक साथ ही खींचा और खुला करते हैं तथापि साधक को बज्रौली करते समय में लिंग इन्द्रिय के खिंचाव पर ही अधिक ध्यान देना चाहिये क्योंकि बज्रौली की पूर्ण सिद्धि तब ही हुआ करती है जब साधक गुदा को बिलकुल हिलाये बिना ही इन्द्रिय को खोल और बन्द कर सकता है। इस इन्द्रियाकर्षण के सिद्ध हो जाने पर साधक उस हरेक पदार्थ को ( जिसको गुदा उपस्थ के एक साथ खींचते हुए बहुत बल से खींचा करता है ) इशारे मात्र से ही खींच सकता है। अतः बज्रौली के उपासकों को उपस्थाकर्षण पहिले सिद्ध कर लेना चाहिये।

# ❀ पवन-वस्ता ❀

ॐ यह क्रिया जो आपको बताई जा रही है वह वज्रौली के लिये बहुत अनुभव द्वारा उपयोगी सिद्ध करके लिखी है। इसके करने से साधक अपान की शुद्धि को बहुत शीघ्र प्राप्त करलिया करता है। अपान की शुद्धि और सिद्धी ही वज्रौली की सिद्धी का मूल बीज मंत्र है। जो साधक इस क्रिया को गुदा और लिंग से करना सिद्ध करलेगा वह कुछ ही दिनों में वज्रौली का सहज सिद्ध हो जावेगा। अतः साधकों को इसे अवश्य साध लेना चाहिये। विधि यह है:—पग के अंगूठे से सवाई ड्योढी मोटी और आठ-दस अंगुल लम्बी जिसमें हाथ की मध्यमा अंगुली प्रवेश कर सके इतनी पोली बढ़िया पालिस की हुई काष्ट की या अन्य किसी भी धातु की सचीकण नली, जिसके मध्य भाग में एक ऐसा छल्ला बनाया गया हो जो नली को गुदा में जाने से रोक रक्खे, लेकर घृत लगा तीन-चार अंगुल गुदा में डालकर उत्कट आसन से बैठ कर या नौली क्रिया के सदृश घुटनों पर हाथ रखकर आगे झुक कर जल वस्तीवत वायु को खींचने का अभ्यास करें। इस वस्ती के अभ्यास से आप पांच सात दिनमें ही वायु को सुख पूर्वक खीचने लगेंगे। महीने दो महीने में तो आप वायु को इतनी खीचने लगेंगे जिससे एक ही सड़ाटे (श्वास) के पूरक में आपका पेट फुटबौल वत भरकर फूलने लगेगा। इस अभ्यास के ठीक तरह से हो जाने पर आप बिना नली के भी

वायु को गुदा से पूरक, रेचक, कुम्भक कर सकेंगे। जैसे नासिका से भस्त्रिका प्राणायाम किया जा सकता है वैसे ही गुदा से भी हो सकेगा। गुदा से रेचक, पूरक, कुम्भक करने लगने ही का नाम पवन-वस्ती या अपानायाम कहा जाता है। इस क्रिया को उपस्थ से करने लग जाना ही वज्रौली का सफल रहस्य है।

## ❀ फल ❀

ॐ यह क्रिया बज्रौली की सफलता की तो कुंजी है ही इसमें किसी को भी सन्देह करने की गुंजायश नहीं है। इससे पेट के मात्र रोग नाश हो जाते हैं यह अपान शुद्धिकर होने से अपान की कठोरता, उद्दण्डता, क्रूरता, विकृतता का नाश करती है। इससे सब तरह के उदर शूल, कुक्षी शूल और वायु शूलोंका नाश हो जाता है। इससे वायु गोला और अन्य किसी भी तरह की पेट की गाँठों को सहज में ही मिटाया जा सकता है। इससे पेट की नसें लचीली हो जाती हैं। रक्त शुद्धि के लिये यह क्रिया महान् अमृतमय प्रयोग है। वीर्य-वाही नसें इससे शुद्ध और सुदृढ़ हो जाती हैं। यह अपान के मात्र विकारों को नाश करके मन्दाग्निको मिटा कर क्षुधा की खूब वृद्धि करती है। जैसे बाहर की वायु के अन्दर बाहर जाने आने पर गन्दे से गन्दा मकान भी शुद्ध हो जाता है तैसे ही इस क्रिया से पेट की महान् से महान् दुर्गन्ध भी शुद्ध हो जाया करती है। इससे मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर

( पैक्कस सौलर ) आदि चक्रों का संशोधन, उद्घाटन होकर कुन्डलनी शक्ति का ऋजुत्व एवं जागरण हो जाता है। यह क्रिया कुछ ही दिनों में प्राण अपान की एकता करके साधक के कुम्भक को बढ़ाकर प्रत्याहारादि की सिद्धी करके समाधी तक पहुँचा दिया करती है।

## ❀ नौली-क्रिया ❀

ॐ बज्रौली-मुद्रा के लिये उपस्थाकर्षण से भी अधिक नौली क्रिया की आवश्यकता है। सिद्धान्त से नौली-क्रिया ही बज्रौली की सिद्धि का मूल मंत्र है। नौली पेट के अन्दर के नलों को वर्तुल ( गोलाकार ) घुमाने का ही नाम है। नौली की विधि यह है कि प्रथम समसूत्र में सीधा खड़ा होकर आगे की ओर इतना झुकें कि जिससे आपका मस्तक ठीक गोड़ों के सन्मुख आजावे। इतना झुकने पर आप अपने दोनों हाथों को दोनों घुटनों पर रखकर पेट की समस्त वायु को नासापुट से विरेचन करके उदर को ऊपर की ओर खींचते हुए बायें दायें घुमाने की चेष्टा किया करें। ऐसा करने से कुछ ही दिनों में आपके दोनों नल पेट में उत्तम तरह से घूमने लगेंगे, नलों का पूर्ण तया घूमने लगना ही नौली क्रिया की पूर्णता है। नौली के पूर्ण हो जाने पर साधक को अपना पेट पूर्णतया अन्दर को खींच कर ( उड्डीयान बन्द लगाकर ) अपने दोनों नलों को बाहर की ओर फेंक कर खड़ा करने का
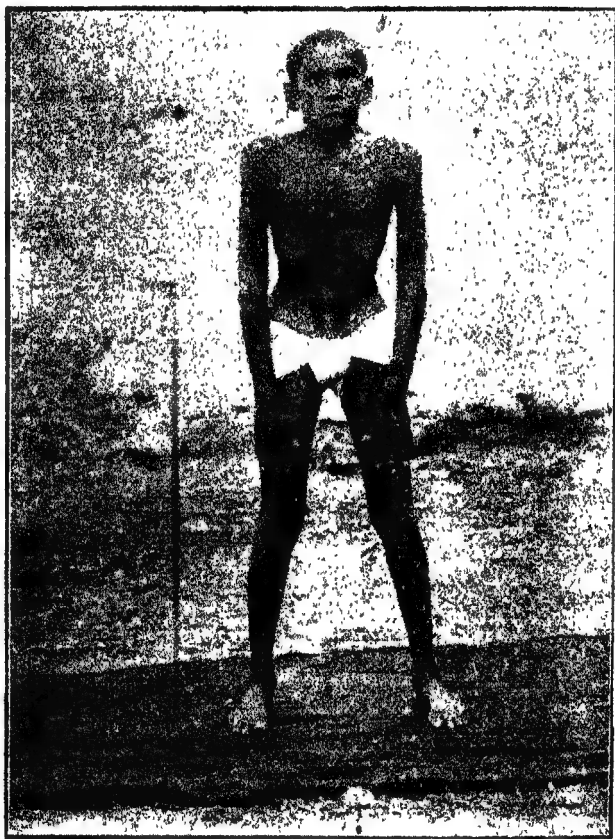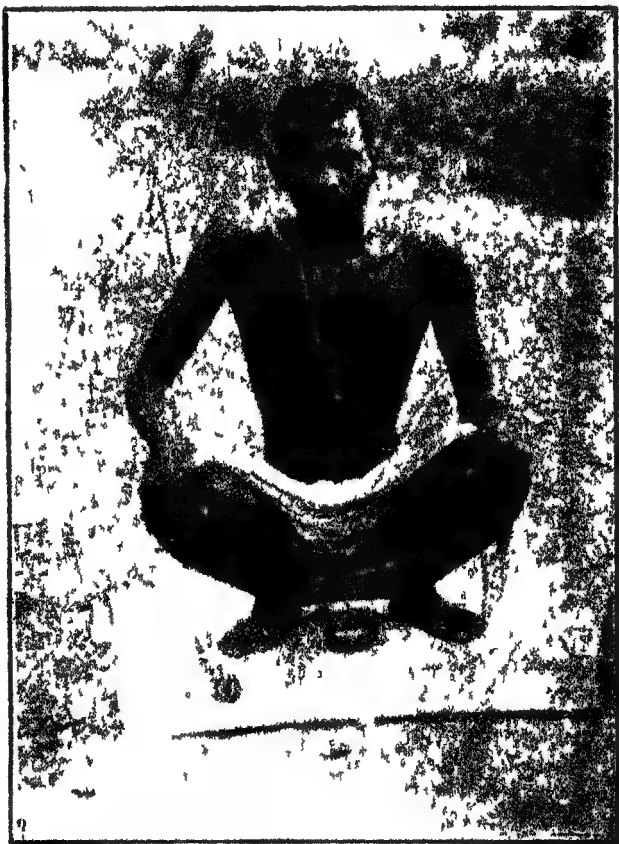
नौलीक्रिया.

कटोरी में जल, दूध, शहद व पारा डाल कर
नं० १ की नली द्वारा खींचा जा रहा है।

अभ्यास करना चाहिये। जब साधक के दोनों नल हृदय से कन्द स्थान तक डंडाकार खड़े होने लगेंगे तब ही साधक को वज्रौली मुद्रा में सफलता प्राप्त हो सकेगी।

## वज्रौली के लिये अश्वी मुद्रा
## ❀ और नौली का प्रयोग ❀

ॐ जब आप अश्वी मुद्रा ( लिंगाकर्षण और नौली क्रिया ) तथा दोनों नलों को पूर्णतया खड़ा करने में एक साथ सफल हो जावें तब भद्र आसन या घुटनों के बल बैठकर या कुछ आगे को झुककर खड़े २ ही अपनी इन्द्रिय में नं० ४ वाली नली डालकर दोनों नलों को खड़ा करके यदि यह पदार्थाकर्षण दोनों नलों को वायु से बिलकुल खाली करके किया जाय तो साधकों के लिये हर एक दृष्टि से लाभप्रद और खींचने में सुगम होगा। सर्व प्रथम उपस्थ के अन्दर के भाग के आकर्षण विकर्षण से वायु को खींचने की चेष्टा करें। यदि आप अश्वीमुद्रा, नौलीक्रिया और दोनों नलों का ठीक ठीक एक साथ प्रयोग करेंगे तो प्रथम दिन या एक दो दिन में ही वायु को सुगमता से खींच सकेंगे।

( ॐ के यहां लम्बी रबड़ की नली लगाकर खड़े २ कुछ आगे को झुक कर वायु, जलादि पदार्थ खीचने वाले साधक भी वर्तमान हैं ) जब यह खींची हुई वायु शब्द करती हुई पेट में जाने लगेगी तब आप अपनी सफलता पर फूले न समायेंगे।

पांच सात दिन वायु खींचने के पश्चात् आप वायु को आनन्द पूर्वक खींच सकेंगे। जल खींचने के लिये आपको नली के बाहर के भाग को जलकी कटोरी आदि में डुबो कर नली को घुमाकर इन्द्री के अन्दर वाले भाग को खीचते हुए दोनों नलों को उठाना होगा। इसक्रिया के एक साथ होते ही आप जल को बहुत ही सुगमता से खींच सकेंगे। इन दोनों नलोंके बीच में एक और नल विशेष है जो लिंग से कंठ पर्यन्त लम्बा है।जसको कहीं २ नाभि स्तम्भ के नामसे कहा है और जिसका परिज्ञान हो जाने पर साधक मुँह से पीये हुए जल का गुट्टा और लिंग से वैसा का वैसा ही निकाल सकता है जैसा की पीया गया था। इस नल की चर्चा गुरुगम्य होने से यहाँ जानबूझ कर नहीं की गई है। प्रथम दिन तो आप से एक दो तोला जल खींचा जा सकेगा। आगे क्रम से जलका खींचना बढाते जावें। जब आप एक सड़ाढे (श्वास) मे पाव भर जल खींचने लगेंगे तब आप से पारे और शहद के सिवाय दुग्धादि द्रव्य बहुत ही सुगमता से खींचे जावेंगे।

## ❀ पारे के खींचने में एक अड़चन ❀

ॐ वैसे तो सेर दो सेर जल खींचने वालों को पारा खीचना कोई कठिन कार्य नहीं है परन्तु पारे को खींचते समय साधक को एक अड़चन का सामना करना पड़ता है। वह अड़चन है पारे का चाँदी की नली में जमने लगना। इस अड़चन से चाँदी की नली खराब होने लगती है जिससे साधक को पारे के

खींचने में कठिनता का सामना करना पड़ता है। यद्यपि ॐ ने उपरोक्त अड़चन को रबड़ की नली से दूर कर दिया है परन्तु रबड़ की नली से भी इस अड़चन की प्रथम बुराई ही दूर हुई है। रबड़ के अन्दर का भाग मुड़ा हुआ न होने से साधक को पूर्वोक्त पदार्थों के खींचने की कठिनता का तो सामना करना ही पड़ता है। नली का अन्दर का भाग मुड़ा हुआ होने से साधक को हरएक वस्तु खींचकर अन्दर रोकने की सुविधा अपने आपही मिल जाया करती है।

## ❋ कुछ अन्य बातें ❋

ॐ यद्यपि साधक उपरोक्त साधनों से पारे को पर्याप्त मात्रा में खींचने की सिद्धी को प्राप्त हो जाया करता है तथापि वह बज्रौली की पूर्णता से बहुत ही दूर रहा करता है। बज्रौली की पूर्णता में पहुँचने के लिये साधक को कुछ और बातें भी समझ लेनी चाहियें। उनमें से कुछ यह हैं:—

मनकी पवित्रता और बलिष्ठता को प्राप्त करना, अपान वायु को शुद्ध करके उसपर अपना पूर्णतया अधिकार करलेना, वीर्यवाही स्नायुओं को शुद्ध, दृढ़ तथा बलवान बनालेना। जिस नली में प्रवेश करके वीर्य ऊर्ध्व गामी होकर अमोघत्व को प्राप्त होता है उस नली का पूर्ण परिज्ञान प्राप्त कर लेना। यह इन्द्रिय मार्ग अन्दर जाकर दो मार्गों में विभाजित हो जाता है। इन दो मार्गों में से एक मार्ग मूत्राशय में प्रवेश

करता है, दूसरा मार्ग वीर्याशय में प्रवेश करता है। बज्रौली के साधक को इन दोनों मार्गों का ज्ञान प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है। जो साधक इन दोनों मार्गों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लेता है वह मूत्राशय और वीर्याशय के रोगों को सहज ही मिटा सकता है। इन मार्गों का पूर्ण परिज्ञान हो जाने पर साधक को वीर्य के उन दो मार्गों को समझना होता है जो अध्र्व और ऊर्ध्व मार्ग के नाम से कहे जाते हैं। इन दोनों मार्गों को समझ कर उन पर अपना अधिकार प्राप्त कर लेना ही बज्रौली सिद्धि के भौतिक और अध्यात्मिक तत्व को जान लेना है। जैसे वीर्य के दो मार्ग हैं, वैसे मूत्राशय के भी दो मार्ग हैं। इनको वाम और दाये मार्ग कहते हैं। इन सब बातों को समझने पर साधक को वीर्य के पतन, ऊर्ध्व गमन वीर्य के साथ मूत्र क्यों नहीं आता और मूत्र के साथ में वीर्य क्यों नहीं आता, वीर्य ऊर्ध्व गामी किन कारण से और अध्र्व गामी किन कारणों से होता है इत्यादि बातें अपने आपही सूझने लगती हैं। (इस मार्ग का सम्बन्ध षटचक्र और सुषुम्णा आदि नाड़ियों से है जो; सीधी शरीर के पिंड को भेद कर मस्तक में पहुंचती हैं।) उपरोक्त लिखी हुई बातों की सिद्धि किये बिना बज्रौली मुद्रा प्रदर्शन के सिवाय अन्य कुछ भी नहीं है।

ॐ यदि आपने अपने मन को पवित्र और बलिष्ट बना लिया है, अपान वायु को शुद्ध करके उसको अपनी इच्छा के अनुसार चलाने की शक्ती को प्राप्त कर लिया है, वीर्यवाही

तन्तुओं को सुदृढ़ता की खुराक दे दी है तो आप अपने वीर्य को एक सड़ाके ( श्वास ) में ही मस्तक के मध्य केन्द्र में पहुँचा सकते हैं। यही बज्रौली की सिद्धि का मूलमन्त्र है।
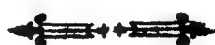
## ❀ मनकी पवित्रता और बलिष्ठता ❀

अपवित्र और निर्बल मन वाले साधकों को बज्रौली तो क्या किसी कार्य में सफलता नहीं मिला करती है। सफलता ही नहीं निर्बल और अपवित्र मनवाले साधकों को संसार में भी जिन्दा रहने का अधिकार नहीं होता। अतः हरेक साधक का कर्तव्य है कि वह अपने मनको पवित्र और बलिष्ठ बनावे, मनकी पवित्रता शुद्ध संकल्पों से और पुष्टता एकाग्रता एवं एक संकल्पता से ही हुआ करती है। शुद्ध संकल्प ही मनकी शक्ति को बढ़ाने वाला आहार है और एकाग्रता ही मनकी बलिष्ठता का कारण है। अतः मनको बुरे संकल्पों से बचाकर एकाग्रही रखना चाहिये। बुरे संकल्पों से मनकी शक्ती वैसे ही सड़कर नाश हो जाया करती है जैसे रसोई घर की नाली में गन्दा जल डालनेसे वह सड़जाया करती है। जैसे सड़ियल पानीसे कठोर से कठोर पत्थर सड़ने लग जाता है, वैसे हो बुरे संकल्पों से शक्तिशाली से शक्तिशाली मन भी मुर्दा होकर सड़ उठा करता है। मन की पवित्रता और पुष्टता ही सफलता की कुंजी है।

# अपान की पवित्रता

ॐ अपान की सिद्धि के बिना जो साधक बज्रौली मुद्रा में हाथ डाला करता है वह साधक बज्रौली की सिद्धि को नहीं अपितु रोग और मृत्यु की सिद्धि को प्राप्त हुआ करता है। अत: बज्रौली के उपासकों को अपान को शुद्ध अवश्य करलेना चाहिये। अपान शुद्धि के कुछ उपाय निम्न लिखित हैं।

अनाभ्रभिरत्री का प्राणायाम, पलावनीप्रणायाम, अश्वीमुद्रा, तड़ागी मुद्रा, योनी मुद्रा, शक्ति चालनी मुद्रा, महा मुद्रा, उड्डीयान बन्ध, महा बन्ध, महा बेध, और जलबस्ती, पवन बस्ती, स्थल बस्ती तथा नौली क्रिया और प्राणायाम तत्व * नामक पुस्तिका में कहे हुए अपानायाम के मात्र प्रयोग अपान शुद्धिकर हैं।

अपान शुद्धि और सिद्धि के लिये बहुत से आसन भी लाभ प्रद हैं। जिनमें से कुछ यह हैं:—

पश्चिमोत्तान आसन सर्पासन, सुलभासन, हंसासन, पवन मुक्तासन, गर्भासन, नाभ्यासन, कूर्मासन, शंखासन, मयूरासन, उत्तानपाद आसन, उत्तान पृष्ठासन, मत्स्येन्द्रासन, मत्स्यासन, शीर्षासन योग मुद्रा आसानादि। अन्य भी पेट पर असर करने वाले आसन हैं। उपरोक्त लिखे हुये साधनों से साधक अपान को शुद्ध कर और सिद्धि करके अपने अधिकार में ला सकता है

---

* यह पुस्तक हमारे यहाँ से ।॥) में मिल सकेगी। प्रकाशक.

## ❁ वीर्य वाही स्नायुओं की सुदृढ़ता ❁

ॐ जिस साधक का मन शुद्ध और पुष्टता से युक्त है जो उपरोक्त अपान शुद्धि के साधनों से सम्पन्न होकर गीता के भोजन विज्ञान युक्त रस वाला (प्रवाहक) चिकना (भेदक) स्थाई बल से युक्त जिसमें वजन की अपेक्षा बल अधिक ठहरने वाला हो। "हृदय प्रिये न कि जिव्हा प्रिये" जो आयु वृद्धि, बल आरोग्यता, सुख प्रीति बढ़ाने वाले भोजन को करने वाले साधक की वीर्य वाही नसें अपने आप ही सुदृढ़ और मजबूत हो जाया करती हैं, जो साधक मनोबल और अपान शुद्धि तथा स्नायु-बल से युक्त हो जाया करता है वो ही वीर्य बल प्राप्त किया करता है। जो वीर्य बल से युक्त होता है उसको ही बज्रौली की पूर्णता प्राप्त हुआ करती है।

## बिना औजारों के पदार्थों को खींचने के साधन

ॐ इस दिव्य साधन के सिद्ध हो जाने पर आप वायु आदि पदार्थों को इन्द्रिय से खींचने में सहज ही सफल हो जावोगे। सिद्धान्त से इस साधन में सिद्ध हो जाना ही बज्रौली की गुप्तातिगुप्त सिद्धि को पाजना है।

साधन:—सर्व प्रथम आप अपने नाभि मण्डल में रहनेवाले अपान वायु को विचार और भावनाओं के नेत्रों से पकड़कर मनो विज्ञान पूर्वक अपनी प्राण शक्ति को मानसिक शक्ति में

परणित करके नाभि के चारों ओर घुमाने का अभ्यास करें। यदि आप अपनी मात्र शक्ति मनोभावों के रूप में और मन को अपनी आत्मशक्ति के रूप में संघठित कर सके तो आप थोड़े ही दिनों में अपान को अपनी रुची के अनुसार घुमा फिरा सकोगे। जब आप अपनी नाभि स्थित अपान को अपनी इच्छानुसार संचालित करने में सफल हो जावो तब विजित अपान को उसी तरह से गुदाद्वार से अपनी रुची के अनुसार बाहर फेंकने का अभ्यास करो; जैसे कुपित अपान को पाद के रूप में निकाला करते हैं। इसमें सफल हो जाने पर गुदा को बन्द रख कर इन्द्रि से वायु को बाहर फेंकने और अन्दर खींचने का अभ्यास करो। इन अभ्यासों के सफल हो जाने पर आपको वायु से पारे पर्यन्त मात्र पदार्थों को बिना औजार खींचना उतना ही सुगम हो जावेगा जितना की नोली और अश्वमुद्रा ठीक हो जाने पर औजारों से खींचना होता है।

इस दिव्य-बल को पूर्णतया प्राप्त करने पर आपको अन्दर की वायु बाहर और बाहर की वायु अन्दर लेना बिलकुल ही सहज हो जावेगा। यहाँ तक की आप अपनी इन्द्रिय को अन्दर और बाहर की वायु से भरकर यथा रुची रख सकेंगे। एक साथ या फौवारे के सदृश्य थोड़ी २ निकाल सकेंगे। इससे आगे के व्यवहार की बात को बताने में ॐ असमर्थ है। आध्यात्मि-कता की दृष्टि से इस साधन में सफल होने पर साधक को

अपान को प्राण में होम करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है, वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाने का बल प्राप्त होकर साधक को मोक्ष मार्ग में प्रवेश करने का अधिकार मिल जाता है, जो बज्रोली मुद्रा या बिन्दु योग का परम लक्ष सिद्धान्त है।

## दूसरा साधनः—

ॐ यह वैसाही साधन है जिसको कि गुप्तातिगुप्त गुरु परमपरा की वस्तु मानकर छिपाया जाया करता है। कितने ही गुप्तपोषक कहा करते हैं कि ऐसे सुगम और सरल साधनों को पुस्तक में लिख कर श्रद्धा रहित अन-अधिकारी पुरुषों को बता कर अपने विरोधी दल को तैयार और प्रतिष्ठा को दूसरों के हाथ में बेच देना है। ऐसे साधनों को सीख कर ही बहुत से साधक नुगरे बन जाते हैं। और कहने लगते हैं कि अजी यह कौनसी सिद्धि की बात है इसे तो मैं भी कर लेता हूँ। इत्यादि

यद्यपि उपरोक्त बातें सच है परन्तु वे मनुष्यों के लिये नहीं पशुओं के लिये हैं। मनुष्य कभी नुगरा, कृतघ्न नहीं हो सकता है। ॐ से भी ऐसे श्वान मनुष्यों की भेंट हुई है जो ॐ से छल कर दूसरों का शिकार बन गये हैं। कोई नर्मदा तट का योगी बना तो कोई नीलगिरी गिरनार का सिद्ध बन बैठा। कोई हिमालय का समाधिस्त बना। किसी ने ॐ के पैर पर दांत जमाये परन्तु ये सब कामकामी पुरुषों की वृति है न कि मुमुक्षुओं की। किन्तु

इन थोड़े से नर पशुओं के दोषों को लेकर मात्र विश्व के मनुष्यों को किसी विद्या से वञ्चित रखना कहाँ की सभ्यता और कितने पैसों का गुरुत्व है। उपरोक्त बातों को वेही देखेंगे जो ज्ञान के भण्डारी नहीं मान के पुजारी हैं।

जिनके पेट नहीं पीठ है। जो परमार्थी नहीं स्वार्थी हैं,जिनमें उद्धारक का गौरव नहीं गुरुपन का घमण्ड है। जो व्यापक के आकाश में नहीं व्यक्तित्व की चिक में बैठ कर सिद्धियें बाँटा करते है, जिनके जीवन का लक्ष्य ही दूसरों का उद्धार है, जो अपना जीवन देकर भी दूसरों का कल्याण करना चाहते हैं उनके लिये प्रेय और श्रेय में से कुछ भी अदेय, गुप्त नहीं है। फिर ऐसे साधनों की तो कीमत ही क्या है।

इस साधन को श्रद्धा, विश्वास, धैर्य, साहस, मनोविज्ञान पूर्वक कीजिये सफलता बहुत शीघ्र होगी। आप पहले कहे हुए सर्व प्रथम साधन मूत्राकर्षण विकर्षण से या औजारों द्वारा खींचे हुए पदार्थों के आकर्षण विकर्षण से साधन को प्रारम्भ कर सकते हैं। साधन ये हैं:-जब आप अपने अन्दर मीनाय से बहती हुई मूत्र धारा को या औजारों द्वारा खींचे हुवे पदार्थों को आठ दस अंगुल बहार से अन्दर की ओर खींचता हुआ देखें और उसके खिंचाव का धक्का आपके अन्तर कोष्ठ में मालूम होने लगे तब एक पानी के भरे हुए प्याले में अपनी इन्द्रिय को ऐसे रक्खें

जैसे कि पानी को छू जावे अर्थात् उसके छिद्र से हवा और पानी एक साथ मिलते रहें। इस पर स्थिति के ठीक हो जाने पर आप अपनी मूत्र धारा या औजारों द्वारा खींचे हुए पदार्थों की धारा को वेग पूर्वक चालू करके बल पूर्वक एक दम धमणी की तरह छोड़ने और खींचने का अभ्यास किया करें यदि आपकी इन्द्रिय की पवन बस्ती सिद्ध है और आप धमण क्रिया से बाहर की वायु और जल का मिश्रण करके अन्दर की वायु को छोड़ने में सफल हो गये हों तो उस दिन ही बिना औजारों के सब पदार्थों को खींच सकेंगे। अभ्यास की सुगमता के लिये प्रथम अवस्था में पानी के प्याले को इन्द्रिय के मूलसे कुछ ऊंचा रखलेना ठीक होता है। जैसे २ अभ्यास की पूर्ति होती जावे वैसे २ ही क्रम से प्याले को निचे करते जाना चाहिये।

पवन बस्ती सिद्ध साधक इस क्रियामें बहुत शीघ्र सफलता प्राप्त किया करता है। ॐ के विचार में तो इसके निरन्तर दृढ अभ्यास से आठ दस मासमें कोई भी साधक सफलता प्राप्त कर सकता है।

## तीसरा साधनः—

ॐ किसी भी साधन की सत्यता की कसौटी साधक की साधना—शक्ति और तत्परता तथा शुद्ध वैज्ञानिक विचार विनिमय पर निर्भर रहा करती है। साधक की साधनतत्परता और शुद्ध वैज्ञानिक विचार विनिमय शक्ति ही सफलता की दिव्य

कुँजी है। जिस साधक ने इस दिव्य कुँजी को पा लिया होगा वही साधक बिना औजारों के साधनों में सफलता प्राप्त कर सकेगा। यह गन्धर्वनगर की बातें नहीं क्रियायोग के दिव्य अनुभवजन्य प्रयोग हैं जिनको कोई भी क्रियाशील साधक साध कर लाभ उठा सकता है। जिस साधक को इन्द्रिय से पवन वस्ति सिद्ध हो गई है वह इन साधनों को स्वतः सिद्ध ही पा सकता है। उसको इन साधनों में कोई नई या कठिन बात मालूम नहीं होगी।

तीसरा साधन यह है जब साधक औजारों से पदार्थ खींचने में बिलकुल सिद्ध हस्त हो जावे तब उसको नली द्वारा वायु को पेट में खूब अच्छी तरह से भर कर नली को इन्द्रिय से निकाल कर पेट में भरी वायु को बहुत ही शीघ्र २ बल पूर्वक इन्द्रिय से निकालना और खींचना चाहिये। इस अभ्यास के बल से आप थोड़े ही दिनों में अन्दर और बाहर की वायु को एक बना सकेंगे बाहर और अन्दर की वायु का एक हो जाना ही सफलता का रहस्य है। इन दोनों वायुओं के एक होते ही अन्दर की वायु बाहर और बाहर की वायु अन्दर अपने आप ही आने जाने लगेगी जिसको देख समझ कर आपतो कहेंगे कि पर्वत के ओले ही पहाड़ था, और आपके मित्र आपको एक योग सिद्ध महान् योगी मानने लगेंगे। कुछ परिश्रम कीजिये और फल पाइये क्योंकि 'जिन खोजा तिन पाइया'।

# इन्द्रिय से खींचे जाने वाले पदार्थों की अन्वेषणा

ॐ वज्रौली से खींचे जाने वाले पदार्थों के नाम ऊपर दिये गये हैं। उनका वैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य जीवन और स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। इनमें सर्व प्रथम खींचा जाने वाला पदार्थ वायु है जो मनुष्य जीवन और स्वास्थ्य के लिये सब से पहली वस्तु है। अन्न और जल जैसे पदार्थ के बिना बहुत या कुछ दिन तक जीवन और स्वास्थ्य रह सकता है। परन्तु प्राण-वायु के बिना जीवन और स्वास्थ्य एक क्षण के सौ वें भाग तक रहना भी असम्भव है। अतः वायु में जीवन और स्वास्थ्य का प्रथम सार-तत्व वर्तमान है। ऋग्वेद के एक मंत्र में कहा है कि हे वायु तुम आते हुये अपनी औषधि लेते आओ। दूसरे एक मंत्र में फिर कहा है कि हे वायु तुम्हारे में अमृत का सागर है। अतः वायु को इन्द्रिय से पीना अमृत और सिद्धि को अपने अन्दर भरना है। अनुभव से भी वीर्य दोषी पुरुषों के लिये इन्द्रिय से पी हुई वायु अमृत ही सिद्ध हुई है। पवित्र मनोभावों से युक्त साधकों को इस बात का अनुभव एक दो सप्ताह में ही हो जावेगा।

दूसरा खींचने का पदार्थ जल है जिसका अर्थ ही जनन शक्ति को अमोघ और ऊर्ध्वगामी बनाना है वीर्य जल का ही एक रूपान्तर तत्व है। अतः जलका वीर्य रक्षक पदार्थों में मुख्य स्थान है। मेह स्नान मेढ स्नान, उदर स्नान, तैरना आदि प्रयोगों से वीर्य दोष का मिटाना सिद्ध हो चुका है। जब

शरीर के बाहर के भागों पर पड़ा हुआ जल भी वीर्य दोष के लिये अचूक सिद्ध हो चुका है तो फिर शरीर के अन्दर रहने वाले वीर्य वाहक तन्तुओं पर पहुँच कर वह कितना उत्तम फल देगा इस बात को कोई भी बुद्धिमान विज्ञानवेत्ता पुरुष मान सकता है। वेद में जल की प्रशंसा पर सैकड़ों मंत्र आये हैं। बहुत से मन्त्रों में तो जल में विश्वमात्र की औषधी बनाई गई है। ( अप्सु विश्वभेषजम् ), जल का ही एक नाम वरुण है जिसका अर्थ ही सुन्दरता है। अतः वज्रोली द्वारा विधि पूर्वक खींचा हुआ जल ही कुछ दिनोंमें साधक के वीर्य में पुष्टता, रक्तमें तेजी आंखों में स्वच्छता लाने लगता है। अपनी प्रकृति ( वात, पित कफ, के अनुसार कांच की रंगदार शीशी में भरकर और सूर्य की किरणों में रखकर उस जल को भी खीचने से बहुत लाभ हुआ है। रक्त दोषी को लाल शीशी का और वीर्य दोषी को आसमानी शीशी का जल अमृत का फल दिया करता है।

तीसरा पदार्थ दुग्ध है जिसके तुल्य इस लोक में, दिव्यलोक में और अन्तरिक्ष लोक में कोई अन्य औषधि नहीं है। जैसे कि ( पय औषधीसु दिव्या हीन्तरिक्षे )। आयुर्वेद में दूध को सद्यो वीर्य कहा है। अतः दुग्ध भी वज्रोली मुद्रा के लिये अमृत मय पेय है। परन्तु वज्रोली के लिये दुग्धको बड़ी सावधानी से चुनना चाहिये।

चौथा पदार्थ घी है जो भारीपन में दुग्ध और जल से हलका और गुण में इनका मथा हुआ सार तत्व है। घृत को वेद

में चक्षु, आयु, अमृत, अजन्मा आदि कहा गया है। अतः साधकों के लिये घृत बज्रौली की मुख्य वस्तु है। इससे अपान की शुद्धी, नसों का लचीलापन वीर्य की निर्दोषता, रक्त में चमक, शरीर में हलकापन और मन में एक प्रकार की मधुर मस्ती सी आने लगा करती है। साधकों को इसको महंगा होने पर भी अवश्य काम में लाना चाहिये।

पांचवा पदार्थ शहद है। जिसका शुद्ध नाम मधु है। मधु शब्द इतना पुरातन है कि वह वेदों में भी अनेक बार आया है। इसके महत्व को मधु शब्द का अर्थ जानने वाले विद्वान् ही समझ सकते हैं। इसका आरोग्यता तथा रक्तशुद्धि से घनिष्ट सम्बन्ध है। धार्मिक कृत्योंमें भी इसका प्रथम नाम आता है। सबसे महत्व की बात यह है कि इससे कल्याणमूर्ती शिव का अभीशेष भी होता है। जिसका अर्थ यह है कि मधु कल्याण को भी कल्याण देने वाला या कल्याण प्रिय पदार्थ है। मधु वनस्पतिरूप समुद्र का मथन किया हुआ अमृत ( वेजीटेबिल ) रस है जिसकी श्रेष्ठता में किसी को सन्देह हो ही नहीं सकता है। यह उन जन्तु विशेषों का खींचा हुआ अमर रस है जो विष में से भी अमृत को पहचान कर खींच सकते हैं। जिसको यह बुद्धि का ठेकेदार मनुष्य खींचना तो दूर रहा समझ तक भी नहीं सकता है। यह उन मक्षिकाओं की निजकी विज्ञान संग्रहित सम्पत्ति है जिसको हमारा मनुष्य समाज स्वार्थ वश

उनसे एक डाकू के सदृश लूट लेता है। वह इतना ही कह कर संतोष कर लेती है कि:—"परोपकाराय सतां विभूतय"।

कुछ भी क्यों न हो मधु सचमुच ही मधु ही है इसके महत्व को समझ कर ही हमारे योगवेत्ताओं ने इसको बज्रौली के साधन पदार्थों में लिया है जो बज्रौली के लिये बहुत ही महत्व की वस्तु है परन्तु यह चिपकना होने से साधक को कुछ खींचना कठिन अवश्य होता है अतः इसके खींचने को कुछ अभ्यासी अनावश्यक समझते हैं परन्तु ॐ के मतानुसार लाभ और बल की दृष्टि से इसको साधक अवश्य खींचें। हाँ! अभ्यास की सुगमता के लिये पहले कुछ पानी मिला कर खींच सकते हैं। यह अन्दर जाकर साधक का ज्ञात और अज्ञात बहुत लाभ पहुँचाता है।

छठा पदार्थ पारा है। पारा एक रसायनिक वृद्ध को जवान और मृत्यु से अमर बनाने वाला पदार्थ है। इसके गुणों की पूर्णता तो भगवान् शंकर के सिवाय कोई जान नहीं सकता। आयुर्वेद में पारे का अनन्त गुण और अनन्त शक्ति कहा है। पारे की विशेषताओं को जानने के लिये श्री आदि शंकराचार्य के गुरु से निर्मित पारदसंहिता देखना चाहिये। बज्रौली के लिये पारे की इससे भी अधिक विशेषता है क्योंकि बज्रौली का निर्माण वीर्य शक्ति के अमोघत्व के लिये हुआ है और पारा स्वयं वीर्य ही है। अन्तर केवल इतना ही है कि वीर्य मनुष्य के अन्दर का वीर्य है और पारा मनुष्य के बाहर का वीर्य है।

वीर्य का सजातीय पदार्थ होने से पारा बज्रौली के लिये कितना उपयोगी है इस तत्व को कोई भी वीर्य-विज्ञानवेत्ता पुरुष जान सकता है। इसके अन्दर और बाहर के भेद को मिटाकर एक रूप देना ही बज्रौली की परम सिद्धि है। मोटे तौर से समझने की बात यह है कि जो पारेरूप वीर्य को बाहर से खींचकर अन्दर रोक सकता है वह अन्दर के वीर्य को क्यों न रोक सकेगा अर्थात् पारा खींचने के पश्चात् वीर्य अवश्य रोका जा सकता है। पारा खींचने से साधक को अन्य भी बहुत से लाभ होते हैं।

ॐ के अनुभव के अनुसार साधक को सर्व प्रथम दो ढाई तोला पारा ही खींचना चाहिये अधिक से अधिक अपने वीर्य से दुगना पारा खींचा जा सकता है। साधारणतया मनुष्य के अन्दर दो से तीन तोला तक वीर्य रहता है इससे अधिक खींचने से पारा अपने वजन से साधक के अन्तर स्नायुओं को तोड़ या अंतर चर्म को फाड़ सकता है। अतः पारा खींचते समय साधक को सावधान रहने की पूर्णतया आवश्यकता है। अभ्यास की सुविधा और सफलता की पूर्णता के लिये प्रथम दिन तीन माशे पारा खींच कर ऊपर से सेर भर दूध पी लेना चाहिये। जब इस पारे को चार घन्टे हो जावे तो उसको निकाल देना चाहिये। इसी क्रम से सप्ताह में तीन माशे पारे के हिसाब से चौबीस सप्ताह या छः महीने में छः तोला पारा चढ़ाया जा सकता है। इससे अधिक बढ़ाने की कोई आवश्यकता नहीं। पारे की गर्मी को शान्त करने और नशों की शक्ति बढ़ाने के लिये दूध और घृत की खुराक बढ़ाते रहना

चाहिये अन्यथा पारे की उष्णता साधक के मस्तिष्क में जाकर साधक को विक्षिप्त बना सकती है। जितना कि पारा बज्रौली के लिये पूर्णता और सिद्धि का साधक है उतना ही खुराक की कमी और खींचने की अधिकता से मौत का विकराल मुख भी है। वीर्य लाभ के लिये घृत के पीछे बादाम का घृत ( बादाम रोगन ) भी खींचा जा सकता है। योग संध्या के लेखक ने तेल का खींचना भी लिखा है। शायद तेलाकर्षण से इन्द्रिय की नशों में बल की वृद्धि होती हो, ( करडापन भी होता हो परन्तु ॐ को इसका खास कुछ भी अनुभव नहीं है। यह बात ॐ ने एक अनुमान के बल पर लिखी है। वह अनुमान यह है कि ॐ ने गणेश-क्रिया के लिये एक साधक को गुदा के चक्रों पर घी लगाने को कहा था उसने घी के अभाव में तेल का प्रयोग कर लिया जिससे उसके गुदा चक्र बहुत ही कठिन, करड़े पड़ गये थे। अतः तेल का प्रयोग साधक अपनी जिम्मेदारी पर ही करें।

ॐ उपरोक्त खींचे जाने वाले पदार्थों का जीवन, स्वास्थ्यरक्षा, वीर्यवृद्धि और शुद्धि—पुष्टि से कितना वैज्ञानिक सम्बन्ध है इस बात को जानने से और उन पदार्थों के वीर्य के मौलिक मुख्य केन्द्रों में पहुँचाने के लिये बज्रौली जैसी इन्जक्सन क्रिया की कला का वैज्ञानिक दृष्टि से निर्माण देखने पर हमारे पूर्वजों के वैज्ञानिक कौशलके आगे हमें नतमस्तक होना

पड़ता है और वे स्वास्थ्य एवं जीवन-विज्ञान और वीर्य-विज्ञान को कहां तक जानगये थे इसका पता भी सहज ही लग जाता है। ॐ अपने अनुभवों के बल पर जोर दे कर कह सकता हूँ कि यदि विज्ञानवेत्ता लोग इस पर ध्यान देंगे तो विश्व का इससे बहुत अधिक लाभ होगा।

## ❋ बज्रौली की पूर्णता ❋

ॐ योग-शास्त्र में वायुसे पारे पर्यन्त खींच लेना ही बज्रौली की पूर्ण सिद्धि मानी गई है किन्तु यह सिद्धि औजार से नहीं अपितु स्वयं इन्द्रिय से खींचे जाने पर ही मिला करती है। जब साधक वायु से पारे तक में इन्द्रिय को बिना औजार डुबो कर यथा रुची पारे आदि को खींच सकेगा; अपनी इन्द्रिय को काम वेदना के बिना ही केवल अन्दर और बाहर की वायु से भर सुदृढ़, कठिन बनाकर यथा रुची रख सकेगा, जब खींचे हुवे मात्र पदार्थ को सूखे के सूखे निकाल सकेगा, अर्थात् उनके संग में मूत्र, झागादि बिलकुल नहीं आवेंगे तब ही साधक के हाथ बज्रौली की पूर्ण सिद्धि लगेगी। और वह ब्रह्मचर्य के तीव्र भाव-वेग से वीर्य को ऊर्ध्वगामी बनाकर मस्तक में ले जाकर ब्रह्म बिन्दु का रूप दे सकेगा। वीर्य का स्वभाविक गुण आकर्षण और विकर्षण है आकर्षण जीवन है और विकर्षण मृत्यु। जैसे कि "मरणं बिन्दु पातेन जीवनं बिन्दु धारणं"। बज्रौली की पूर्णता में साधक आकर्षित पदार्थों को पचा भी सकता है।

## ❀ पूर्णता की परीक्षा और उसके कुछ उपाय ❀

ॐ वज्रौली की पूर्णता को परखने के लिये साधक को सर्व-प्रथम अपने वीर्य को वीर्य के केन्द्र में ही संचालित कर के उसको वहां का वहां ही पूर्व स्थिति की भांति ही शान्त कर देना चाहिये। इस साधन में सफल हो जाने पर वीर्य संचालित कर के इन्द्रिय के मध्य भाग में लाकर वापस वीर्य को वीर्य के पूर्व स्थानमें लेजाकर पूर्वावस्थावत् पूर्ण शान्त बना देनेका अभ्यास किया करें। इस अभ्यास में सफल हो जाने पर बिलकुल पड़ते हुवे वीर्य को रोक कर पूर्वावस्था में पहुंचा कर पूर्णतया वेदना रहित बना देना चाहिये। चौथी अवस्था में आपको नीचे पड़े हुवे वीर्य को खींच कर पूर्व रूप में पहुँचा कर पूर्ण शान्त बनाना होगा। उपरोक्त चारों साधनों में सफल हो जाने पर आप अपने को वज्रौली में पूर्ण सिद्ध मान लीजिये।

## ❀ असली वीर्य के लक्षण ❀

ॐ ऊपर कहा गया है कि वीर्य और पारा सँजातीय पदार्थ हैं भेद केवल अन्दर और बाहर का ही है। जैसे बिना बन्धन के पारे को रोकना कठिनातिकठिन है वैसे ही बिना बन्धन (संयम) के वीर्य को रोकना भी दुस्तरातिदुस्तर है। जैसे पारा अग्नि से नाश हो उड़जाया करता है वैसे ही वीर्य भी कामाग्नि के (कामुक विचारों) से नाश होजाता है। जैसे पारा अग्नि के

आधान से रहित होजाने पर मनुष्य को रोग, वृद्धापन, मृत्यु से छुड़ा देता है वैसे ही वीर्य भी कामाग्नि के आधान से रहित हो जाने पर मनुष्य को जन्म, मृत्यु, रोग से छुड़ा कर ब्रह्म में लय कर दिया करता है। अतः वीर्य पारे का ही आवान्तर स्वरूप है जिस समय साधक का वीर्य पारे जैसा रंग रूप धारण करके पारेके सम वजन होजावे तब ही साधक को अपने वीर्य का असली रूप समझ लेना चाहिये। इस वीर्य को ही हमारे पूर्वजों ने अमोघ-वीर्य, ऊर्ध्वरेतस, ओज, तेजश शुक्र, पवित्रता, कान्ति, बिन्दु, भर्गादि नामों से कहा है।

## ❁ बज्रौली की उत्पत्ति कैसे हुई ❁

ॐबज्रौली की उत्पत्ति, उसका कार्यक्रम, उसमें प्रियोगित हुए पदार्थों का विज्ञान, उसका उपस्थ इन्द्रिय से सम्बन्ध सभी बातें बताती हैं कि बज्रौली का निर्माण, वीर्य के संशोधन, संरक्षण, उद्‌शोधन करके उसको भोग में लगाने के लिये नहीं अपितु वीर्य के उपरोक्त असली तत्व को प्राप्त करके मुक्ति पाने के लिये हुआ है। जब साधक को बज्रौली की सिद्धि वीर्य के उपरोक्त अमोघत्व को प्राप्त हो जाती है तब कुछ आगे बढजाने पर साधक के चमकीले वीर्य में एक विशेष तरह की असाधारण नवीन, शुभ्र सिन्दूर जैसी झांई बनने लगजाती है। इस झांई के पूर्णता में पहुंचने पर साधक को उससे सिन्दूर वर्ण को तीव्रतर झांई में गुलाबी रंग की शुभ्रतर किरणें बनती हुई दिखाई पड़ती

हैं। इसी ही प्रकाश के क्रम विकास से साधक का वीर्य एक दिन पूर्ण प्रकाश को प्राप्त होजाया करता है। वीर्य का इस प्रकाश में बदल जाना ही वीर्यजय, ब्रह्मलय या मुक्ति कहा जाता है। इस वीर्य की प्रथम अवस्था का नाम शुक्र (शुक्र) दूसरी का ओज, तीसरी का बिन्दु, चौथी का स्वर्ग, पांचवीं का ब्रह्मतेज, छुठी का ब्रह्म, सातवीं का अनामी अवस्था कहा जाता है। इस तत्व की पूर्ण प्राप्तिके लिये ही वज्रौली मुद्रा का निर्माण हुआ है।

## वज्रौली का फल

ॐ भारत के दुर्भाग्य से कहो या विषय लोलुपता से कहो आज भारत के नवयुवक और नवयुवतियें निन्यानवे प्रतिशत (या ॐ अत्योक्ति नहीं करता है तो शत प्रतिशत) ही एक न एक प्रकार के रज वीर्य दोष से ग्रसित हैं। इस दोष से इनका बढ़ता हुआ जीवन वैसे ही घटती की ओर जा रहा है जैसे कि किसी कटने वाले वृक्ष का जाया करता है। इन वीर्य दोषी युवक युवतियों को न तो जीवन का ही आनन्द मिलता है और न मौत का ही मिलता है। जैसे गली हुई लकड़ी घड़ने और जलाने के काम की नहीं रहा करती है तैसे ही वीर्य दोषी दंपति भी किसी काम के नहीं रहा करते हैं। यह रोग नहीं अपितु एक बिना अग्नि की भभकती हुई भयानक चिता है जिसमें मनुष्य की बुद्धि, स्मृति, धृति, प्रज्ञा, साहस, निर्भयता, आरोग्यता, कांति, शान्ति आदि सद्गुण जल कर भस्म हो जाते हैं। इस

महान, अभिशाप रूप अग्नि रोग से बचाने के लिये हमारे पूर्वजों ने बज्रौली मुद्रा जैसी दिव्य क्रिया का निर्माण किया है। जिसके ठीक तरह किसी अनुभवी गुरु के समीप में रह कर अभ्यास करने से मनुष्य मात्र के रोग नाश हो सकते हैं। वीर्य और रज सम्बन्धी रोगों का मिट जाना तो एक साधारण सी बात है। वीर्य दोष के मिटजाने पर साधक वीर्य के उस ऊर्ध्वगामी तत्व का प्राप्त हो जाता है, जिसके प्राप्त हो जाने पर साधक मृत्यु तक से भी छूट सकता है। शुक्र पद का अर्थ पूर्ण जवानी पूर्ण आरोग्यता, पूर्ण बुद्धि, पूर्ण स्मृति, पूर्ण प्रज्ञा, पूर्ण धृति, पूर्ण साहस, पूर्ण निर्भीकता, पूर्ण कांति तथा पूर्ण शांति आदि है। शुक्र से उठ कर वीर्य ओज पद को प्राप्त हुआ करता है। ओज का अर्थ पूर्ण बल है. जिसके बिना मनुष्य उभय लोकों में से किसी भी लोक का अधिकार नहीं पा सकता। जैसे कि ( नय-मात्मा बलहीनेन लभ्यं ते ) निर्बल मनुष्य को आत्मा की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इस मन्त्र के बल शब्द में शरीर बल, इन्द्रिय बल, प्राण बल, मनो बल, बुद्धि बल आदि मात्र बलों का समावेश है। शुक्र और ओज से युक्त ही पुरुष पूर्ण मनुष्य कहलाने का अधिकारी है। ओज की पूर्णता से उठ कर वीर्य बिन्दु तत्व में प्रवेश किया करता है। इस बिन्दु शब्द को योग शास्त्र ने बहुत ही महत्व दिया है। यहां तक कि बिन्दु से ही साधक मृत्युञ्जय हो जाता है। जैसे कि (एवं संरक्षयते बिन्दु मृत्युञ्जयति तत्ववित्)

इस बज्रौली योगका वेत्ता साधक इस तरह से बिन्दु रक्षा करके मृत्युको जय कर लेता है। फिर कहा है कि (यावद् बिन्दुस्थिरो देहे तावत्काल भयंकुतः) जब तक देह में विन्दु सुरक्षित रहता है तब तक मृत्युका भय कहीं भी नहीं है। अथर्ववेद में भी कहा है कि (ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्यु मुपाघ्नत) विन्दु जय रूप तप से ही देवों ने मृत्यु को मार डाला। विन्दु जय से ही प्राण जय का साधन हो जाता है। जैसे कि (चले विन्दु चले प्राणे निश्चले निश्चलं भवेत्) विंदु की स्थिरता ही प्राण की स्थिरता और विंदु का चलना ही प्राण का चलना है। विंदु के स्थिर हो जाने पर ही साधक शिव पद को प्राप्त हुआ करता है। जैसे कि हे पार्वती मैं विन्दु जय से ही शिव पद को प्राप्त हो सका हूँ फिर कहते हैं कि (अहं विंदु शिवो विंदु) मैं विंदु और शिव विंदु है। फिर देखिये कि (अहं विंदु रजा शक्ति) विंदु मैं शिव और रज शक्ती पार्वती है। इस शिवशक्ति रज—वीर्य का एकी करण ही राजयोग कहा जाता है। जैसेकि (रजसो रेतसो योगात् राज-योग इतिस्मृतिः) रजरूपी पार्वती और रेत रूपी शिव के संभोग से ही राजयोग सिद्ध हुआ करता है। इस रज रूप पार्वती का स्थान नाभि और बिन्द का स्थान मस्तक का मध्य भाग कहा है। इस रजका वर्ण सिन्दूर और बिन्दु का वर्ण श्वेत कहा है। इस रज रूपी पार्वती को नाभि से उठा कर मस्तक के मध्य केन्द्र में शिव से मिला देना ही योग सिद्धि या बज्रौली सिद्धि का सफल रहस्य है। कहां तक कहें विंदु ही ॐ का ईश्वरत्व है।

उध्वंगति का दिव्य संकेत है। विंदु ही गणित का तात्विक बीज है। विंदु ही सोभाग्यवती का सौभाग्य है। तभी तो योग शास्त्र में कहा है कि ( सिद्धे विन्दौ महाशक्ति कि न सिध्यति भूतले ) हे पार्वती विंदु के सिद्ध हो जाने पर पृथ्वी में साधक को क्या २ सिद्ध नहीं हो सकता है अर्थात् सब कुछ सिद्ध हो जाता है ( न तस्य रोगो न जरा न मृत्यु ) विंदु सिद्ध साधक को रोग, बुढ़ापा, मृत्यु आदि कुछ भी नहीं छू सकते हैं।

कुछ भी क्यों न कहो विंदु मनुष्य और ईश्वर के बीच का द्विभाषिया है। जो ईश्वर की बात साधक को और साधक की बात ईश्वर को समझाया करता है। ईश्वर के सम्पर्क में पहुंचाना ही बज्रौली का सच्चा अर्थ है। योग शास्त्र में कुछ इसके सिवाय भी लिखा हुआ है। वह है स्त्री पुरुष का समागम। ॐ के अनुभव में मोक्ष दायक साधन को स्त्री समागम जैसे तुच्छ विषय में लगाना कितनी बड़ी तुच्छता है। इस बात को कोई भी समझदार पुरुष समझ सकता है। यदि इतना समझ कर भी उपरोक्त गलती से साधक अपने को नहीं बचा सकता हो उसको निम्न लिखित बातें अवश्य जान लेनी चाहियें।

जब तक बज्रौली पूर्णतया सिद्ध न हो जाय तब तक गृहस्थी भी स्त्री समागम नहीं कर सकता। स्त्री समागम तो क्या बल्कि तत्सम्बंधी विचार भी नहीं लाना चाहिये। स्त्री समागम और तत्सम्बन्धी विचारों से वीर्य का जीवन—सार नष्ट होता रहता है। बज्रौली के पूर्णतया सिद्ध होजाने पर साधक को

आपन को पूर्ण सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जिससे स्त्री समागम ता साधक को एक तुच्छातितुच्छ बात नजर आने लगती है। इस से वह वीर्य के बिना संचालित किये काम वेदनासे रहित स्थिति में ही इन्द्रिय को बाहर या अन्दर की वायु से भर कर रबड़ की नली की तरह कठिन बना सकता है। इस मैथुन से साधक को वायु के इन्द्रिय में रोकने के सिवाय और कोई हानि न होकर दिन प्रतिदिन बल का विकास हो हुआ करता है। इस मैथुन के सिद्ध हो जाने पर ही साधक स्त्री के रज को आकर्षण कर सकता है। वीर्य के पारे की सदृश्यता में आजाने पर ही साधक स्खलितता के दोष से छूट जाया करता है। यदि इसी वीर्य को साधक पारे की सदृश बंध बनाले तो फिर उसकी शक्ति का कहना ही क्या है। पारा वीर्यस्थ मन की एक अपूर्व वस्तु है। किसी विज्ञान विशेष निर्मित पारे की गोली मुख में रख कर मैथुन करने से जब तक वह मुख में से नहीं निकल जायगी तब तक स्खलन हो ही नही सकता है। अतः जैसे २ वीर्य पारे की सादृश्यता में पहुँचता जाता है। तैसे ही तैसे साधक स्खलन के दोष से मुक्त हो जाता है।

## ❁ अनुभूत फल ❁

ॐ ऊपर जो कुछ भी कहा गया है वह शास्त्र और अनुभव का मिश्रण है परन्तु अब जो कहा जाता है वह सब अनुभव की ही बातें हैं। इन अनुभवजन्य बातों के बल पर ही यह निबन्ध

लिखा गया है। बज्रौली के जलादि प्रयोगों से मूत्राशय और वीर्याशय को बड़ी सुगमता से धोकर सफा किया जा सकता है। तथा उनके ठीक प्रयोगों से वीर्य के मात्र दोष नाश हो जाते हैं। इस रोग के सभी रोगियों को इन प्रयोगों से आनन्द भूत सफलता मिली है। स्वप्नदोष तो बज्रौली के प्रयोगों से कुछ ही दिनों में मिटजाता है। रक्त शुद्ध होकर उसमें कान्ति आने लगती है नेत्र निर्मलता को प्राप्त होजाते हैं। उदर के मात्र विकार मिटकर क्षुधा की अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अतः बज्रौली के साधकों को खाने पीने का पूर्ण प्रबन्ध रखना चाहिये। मल और मूत्र की बद्धता तो बज्रौली के अभ्यासी को कभी छू तक नहीं सकती है। शायद इन प्रयोगों से बहुमूत्र (Diabetes) का रोग भी मिट जाता है परन्तु इसमें ॐ का कोई निजी अनुभव नहीं है। इन बातों की जांच करना शरीर शास्त्र के ज्ञाता और चिकित्सकों का काम है। साधक को किसी अनुभवी गुरु के समीप में ही प्रयोग करना चाहिये अन्यथा लाभ के सिवाय हानि की सम्भावना अधिक है।

## ❀ स्तम्भन और बज्रौली ❀

ॐ की इस निबन्ध में कामुकता और सिद्धि से सम्बन्ध रखनेवाली बातें लिखने की इच्छा बिल्कुल ही नहीं थी क्यों कि ॐ इन दोनों बातों को योग मार्ग के सबसे बड़े विघ्न मानता है। इनमें कामुकता भौतिक और सिद्धि दैविक विघ्न

है। परन्तु इस निबन्ध के पूर्ण लिखजाने पर एक ऐसा कारण आ उपस्थित हुआ जिससे ॐ इस विषय पर कुछ लिखने को बाध्य होगया। वह कारण था एक जिज्ञासु का यह पूछना कि क्या बज्रौली का सन्तानोत्पत्ति और स्तम्भन से भी कुछ सबन्ध है। ॐ ने कहा कि बज्रौली के भोग शब्द का भौतिक तत्व ही सन्तान पैदा करनेके आध्यात्मिक तत्वको पाजाना है। इस प्रजनन तत्व के भौतिक स्वरूप का नाम ही शुद्ध शास्त्रीय भाषा में स्तम्भन, अमोघ, अव्यर्थ तत्व है। जो लोग स्तम्भन का अर्थ कामुकता की तृप्ति या मैथुन की दृढ़ता लेते हैं वो शास्त्रीय भाषा का दुरुपयोग और अपने जीवन, चरित्र, सभ्यता, संस्कृति की हत्या करते हैं। उक्त जिज्ञासु ने कहा कि मैंने अमुक बज्रौली के अभ्यासी से इस विषय पर चर्चा की थी उसने कहा कि आप जानते हैं मैं बज्रौली करता हूँ। बज्रौली से स्तम्भन नहीं होता है और होता है तो बहुत कम होता है। ॐ ने कहा एक ओर तो वह अपने को बज्रौली का सिद्धहस्त होने का फतवा बांट रहे हैं और दूसरी ओर बज्रौली के भौत्यिक सिद्धान्त के विरुद्ध ऐसी बेहूदी अनर्गल बात कह रहे हैं। इस सज्जन के मतानुसार तो बज्रौली और उसको बतलाने वाले यौगिक ग्रन्थ तथा उसके प्रवर्तक बज्रौली (बन्दु) योग के पूर्ववेत्ता सब ही झूठे, ढोंगी, जनता की आंखों में धूल डालने के साधन है। ॐ ने जितने भी ग्रन्थों में बज्रौली का विधि विधान पढ़ा है उन सबमें बज्रौली को बिन्दुजय, स्तम्भन, अमोघ, अव्यर्थवीर्य बनाने के

लिये ही बताया है। इसके प्रमाण में ॐ अपनी परिस्थिति के अनुसार इस विषय की सब बातें पाठकों को बताकर कुछ थोड़े शब्द ही उद्धृत करता है। जैसे कि बज्रौली की पूर्णता में साधक स्खलित वीर्य को ऊर्ध्व कर सकता है। स्त्री के रज को खींच कर अपने स्तम्भन बल से वीर्य के रूप में परिणत कर सकता है। यहाँ तक कि पूर्ण सिद्ध, स्त्री के प्राण और पूर्ण सिद्ध पुरुष के प्राणों तक को भी खींच कर अपने प्राण में प्राण, वीर्य में वीर्य, मन में मन को स्तम्भन कर सकते हैं इत्यादि। इतना तो नहीं परन्तु जो मनुष्य कुछ थे ही नहीं उनको बज्रौली के साधन से ॐ ने सब कुछ बने हुए देखा है। उपरोक्त प्रमाणों को देखकर कोई भी बुद्धिमान पाठक समझ सकता है कि उक्त बज्रौली ग्रन्थ का कथन कितना सत्य है तथा वह बज्रौली को किस लिये करना है। परन्तु उपरोक्त प्रमाणों के होते हुये भी ॐ पाठकों को सावधान कर देता है कि वह अपने विचारों को अकामुक बनाये बिना और किसी सच्चे बज्रौलीवेत्ता गुरु के मिले बिना उपरोक्त स्तम्भन के लिये बज्रौलीमुद्रा को कभी न छूवे। क्योंकि कामुकता के विचारों के आघात से शुद्ध से शुद्ध वीर्य भी दूषित होकर नाश होने लगता है। उसमें यत्किञ्चित भी आघात सहने की शक्ति नहीं रहा करती है जैसे कमजोर घड़ा टांका देते हुए भी फटता रहता है, तैसे ही दूषित वीर्य भी कामुक विचारों के युक्त होने से मुद्रा के साधनों से भी नाश की ही ओर प्राप्त होता है।

## ❀ बज्रौली और प्रजनन तत्व ❀

ॐ उत्तम सन्तान बनाने के लिये उत्तम प्रजनन तत्व की आवश्यकता होती है। उत्तम प्रजनन तत्व को योग शास्त्रों में गौरीशङ्करात्मक कहा है। गौरी-रज का वर्ण सिन्दूर और शिव-

बिन्दु का वर्ण श्वेत पारदवत् कहा है। इसको ही योग में ब्रह्म बिन्दु और ब्रह्म बीज नाम से कहते हैं। इसी तत्व को भगवान् गीता में अपना सनातनबीज स्वरूप बताते है जैसे कि 'बीजं मां सर्व भूतानां विधि पार्थ सनातनम्' इस तत्व से सन्तान बनाना कामोपासना नहीं अपितु भगवदुपासना कहा जाता है जैसे कि 'प्रजनश्चास्मिकन्दर्प' धर्म विरुद्ध भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ आदि २। जिस प्रजनन तत्व क्रिया में मेरी धारणा तत्व को ही सन्तान के रूप में बदला जाता है वह प्रजनन क्रिया का काम नहीं अपितु मेरे प्रजननस्वरूप का साक्षात्कार करना मेरे प्रजननतत्व की उपासना है इस उपासना तत्वके मौलिकस्वरूप का साक्षातकार करना ही वज्रौली मुद्रा के भोग शब्द का शुद्धार्थ है। इस सनातन ब्रह्म बिन्दु, ब्रह्म-बीज का उद्गम स्थान योगशास्त्र में कथित ब्रह्म-नाड़ी है। वज्रा नामक नाड़ी में पहुँचने पर साधक को इस तत्व के मौलिक स्वरूप का बोध हो जाता है। वज्रा में पहुंचाने वाली होने से ही इस मुद्रा का नाम वज्रौली पड़ा है। ब्रह्म नाड़ी गत बिन्दु का ब्रह्म में आने से वज्र, अमोघ अन्यथा सुषुम्णा में आने से केवल वीर्य नाम पड़ा करता है। यही सन्तानोत्पादक तत्व का स्वरूप है। इस से नीचे वाले वीर्य से प्रथम तो गर्भ ही नहीं रहता है, रह गया तो पेट में ही मिट जाता है, पेट में नहीं मिटा तो जन्म लेते ही मरजाता है। यदि इन सर्व आपत्तियों से बचगया तो अल्पजीवी होता है, यदि किन्हीं कारणों से दीर्घ-जीवी भी हो गया तो रोगी, शोकी जीवन बिताया करता है। अतः हर एक साधक का कर्त्तव्य है कि वह अपने वीर्य को सुषुम्णा से नीचे न उतरने दे क्योंकि इससे नीचे वाले वीर्य में प्रजननतत्व नहीं अपितु मनुष्य जीवन का महान् पाप रहता है। सुषुम्णा के वीर्य से मनुष्य, वज्रा के वीर्य से महापुरुष, चित्रा के वीर्य से देव, मनुष्य उत्पन्न हुआ करते हैं। यही सन्तान विज्ञान की

कसौटी है। इसको ही योग में गौरीशङ्कर, ब्रह्मबिन्दु, ब्रह्मबीज के नाम से और गीता में धर्मानुकूल, प्रजनन तत्व, सनातन, बीज के नाम से कहा गया है। इस प्रजनन तत्व में मन, प्राण, वीर्य ईश्वरात्मिक तत्वों का एक कोरण बना हुआ रहा करता है। जिन साधकों को इस भगवान् तत्वस्वरूप गौरीशङ्करा-त्मक सनातन बीज़ की प्राप्ति होजाया करती है वे एक प्रकार के योगी ही हुआ करते हैं। सुषुम्णा वाले रज वीर्य से गर्भाधान रहते समय साधकों का मेरुदण्ड के मज्जातन्तुओं में एक विशेष तरह की आल्हादप्रद गुदगुदी सी हुआ करती है। वज्रा के रज वीर्य से गर्भाधान रहते समय चक्षुओं के मध्य केन्द्रों में एक विचित्र तरह की विद्युत की क्षणिक चमक का साधकों को साक्षात्कार हुआ करता है। चित्रा के रजोवीर्य से गर्भ रहते समय साधकों के चक्रों के अन्दर आने से विद्युत गति (current) का प्रवाह इतना तेज हो जाया करता है कि वह बिजली के लट्टुओं की तरह प्रकाश उत्पन्न किया करते हैं। उसके प्रकाश के प्रवाह से कुछ देर के लिये साधक भी प्रकाश-मय हो जाया करते हैं। जिन साधकों का यह बीजात्मक प्रकाश स्तम्भ ऊर्ध्व प्रयाण करता हुआ सा दीखा करता है उनके लड़का और जिनके नीचे को ओर बहता हुआ सा दीखा करता है उनके लड़की हुआ करती है। उपरोक्त गर्भाधान का साधकों को उसी क्षण गर्भ रहने का परिज्ञान हो जाया करता है।

उपरोक्त गौरीशङ्करात्मक सनातन बीज का वज्रोली द्वारा उत्तम साधक किसी वज्रोली के तत्ववेत्ता गुरु के पास साधन कर तीन वर्ष में प्राप्त कर सकता है। इस ही की पूर्ति के लिये हमारे पूर्वाचार्यों ने निम्न लिखित ब्रह्मचर्य रख कर सुषुम्णागत रजवीर्य को और २५ वर्ष स्त्री ३६ वर्ष पुरुष अस्खलित वीर्य

को रख कर वज्रागतवीर्य को तथा ३६ वर्ष स्त्री और ४८ वर्ष पुरुष अस्खलित ब्रह्मचर्य को रख कर चित्रागत रज वीर्य को पूर्व कालीन स्त्री पुरुष प्राप्त किया करते थे। क्या भारत को अब भी कभी ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करने का सौभाग्य प्राप्त होगा?

## ऊर्ध्वगति और वज्रौली

ॐ मनुष्य की नैसर्गिक रचना ही उस तत्व से हुई है जिसमें स्वभाव से ही अधः और ऊर्ध्वगति रहती है। जिन मनुष्यों में अधोगति के भाव उभर, सामने या ऊपर आजाया करते हैं वे अधोगामी और जिनमें ऊर्ध्वगामी तत्व उभर सामने या ऊपर आजाया करते हैं वे ऊर्ध्वगामी होते हैं। इस बात को गीता में भी कहा है कि 'हे अर्जुन जो मनुष्य सत्व में स्थित हैं वे ऊर्ध्वगामी होते हैं, जो रज में स्थित होते हैं वे मध्य में रहते हैं और जो तम में फँसे रहते हैं से अधोगामी होते हैं' उस अधो और ऊर्ध्वगामी पदार्थ का नाम है 'बिन्दु'। इस बिन्दु का अधोगामी अंश अन्न जल आदि भौतिक पदार्थों से और ऊर्ध्वगामी अंश आत्मसोर से बनता है। इस बिन्दु तत्व के उपरोक्त दोनों तत्वों से ही मनुष्य का अध्यात्मिक और अधि-भौतिक जीवन निर्माण, धारणा और संहार हुआ करता है। योग में इस बिन्दु को बहुत ही महत्व की वस्तु माना है। पाठकों के हितार्थ बिन्दु तत्व के अधो व ऊर्ध्वगामी तत्वों का विवेचन किया जाता है।

इस अधोगामी तत्व से इन्द्रिय और ऊर्ध्वगामी तत्व से निरिन्द्रिय होता है। इसके सइन्द्रिय भाग को वीर्य, मन, प्राण, अपान, समान व व्यान कहते हैं। और निरिन्द्रिय भाग को ऊर्ध्वरेतस्व, उदान, धनञ्जय व देव दत्त कहते हैं। इनमें से अपान, शरीर के नीचे के भाग में रह कर उसकी व्यवस्था

करता है। समान इधर उधर पड़ने से रोकता है। प्राण जीवन तत्व के मध्य बिन्दु को स्तम्भन किये रहता है और व्यान इन सबकी व्यापक व्यवस्था को स्थित रखता है। दूसरा आध्यात्मिक तत्व उदान और धनञ्जय निरिन्द्रिय तत्व है। इन दोनों पदार्थों के अधोगति वाले भाग मिल कर कण्ठ से नीचे के शरीर और इन्द्रियों के कार्य को व्यवस्थित रूप से चलाते हैं। उदान और धनंजय मिल कर निरिन्द्रिय मस्तिस्क, निरिन्द्रिय रोम क्रिया और निरिन्द्रिय परलोक मार्ग का सञ्चालन किया करते हैं। इन शरीर गत तत्वों को और मस्तिस्कगत तत्वों की क्रियाओं का ठीक तरह से मिल कर होते रहना ही जीवन और सम्बन्ध विच्छेद का नाम ही मृत्यु कहा जाता है। इन दोनों की तात्विक कड़ी को मिलाये रखना ही वीर्य और ऊर्ध्वरेतश्व का कार्य है। इस कड़ी को जोड़े रखने में ही देव, मन की आवश्यकता हुआ करती है। जिस साधक का यह बिन्दु त्रय का आदिभौतिक भाग अपने अस्तित्व सहित अध्यात्म भाग में जज्ब हो कर एकत्व को प्राप्त हो जाता है वह साधक ऊर्ध्वगामी और जिस साधक का अध्यात्म भाग अपने अस्तित्व सहित अधिभौतिक एकता को पा लेता है वह अधोगामी हुआ करता है। जो साधक उपरोक्त बिन्दुत्रय के तेजोंश की उपासना करते हैं वे ऊर्ध्वगामी और मृत्युञ्जय हो जाया करते हैं और जो उपरोक्त बिन्दुत्रय के तमोंश की, भौतिक तत्व की उपासना करते हैं वे अधोगामी और मृत्यु को प्राप्त हुआ करते हैं। इस तत्व को योगशास्त्र ने दो वाक्यों से बिल्कुल ही स्पष्ट कर दिया है कि "मरणं बिन्दु पातेन जीवनम् बिन्दु धारणे। चले बिन्दु चलेत प्राणः निश्चले निश्चलं भवेत्" ॥ वीर्य का ऊर्ध्वगामी तत्व ऊर्ध्वरेतश्व और प्राण का ऊर्ध्वगामी तत्व धनञ्जय उदान और मन का ऊर्ध्व गामी तत्व देव कहा जाता है। इन तीनों के धारण का नाम

जीवन और पतन का नाम मृत्यु है। ऐसे ही यहां चले का अर्थ अधोगति जन्म मृत्यु के प्रभाव से और निश्चले का अर्थ ऊर्ध्वगति, प्राणायाम, ब्राह्मी स्थिति या पूर्णस्थिरता है जिसमें जाकर बिन्दु प्राण व मन का बिल्कुल ही उतक्रमण नहीं हुआ करता जैसे कि "तस्य प्राणा न उतक्रामंति" उसके प्राण ब्रह्मरूप होने से नीचे की ओर उतक्रमण नही होते हैं। गीता अध्याय १४ में लिखा है कि रजोगुण प्रधान होने से मनुष्य जन्म मिलता है सतोगुण की ओर बढ़ने लगना ऊर्ध्वगति 'ऊर्ध्वा कुण्ठे' कहा जाता है और तमोगुण की ओर बढ़ने लगना अधोगति अधः पतन कहा जाता है।

"ॐ" उपरोक्त विवेचन से आपके समझ में आगया होगा कि आपके वीर्य, प्राण, मन में अधोगति और ऊर्ध्वगति वाले नैसर्गिक तत्व वर्तमान हैं। जो साधक अधोगति के तत्व को संयम बल, ऊर्ध्वगामी तत्व से दबा कर ऊर्ध्वगामी तत्व को उभार सकता है वह साधक ऊर्ध्वगति को सहज ही प्राप्त हो सकता है। परन्तु यह सब होगा तब ही जब साधक बिन्दुत्रय के उपरोक्त ऊर्ध्वगामी तत्व पर अपना पूर्णतया अधिकार कर लेगा। इसके आधार पर ही योग शास्त्र में आकाश गमन आदि सिद्धियों की नींव रक्खी गई है। जैसे कि पातंजलि योगदर्शन विभूति पाद् ३९ वाँ मन्त्र * में कहा है कि जब प्राण, वायु, अपान, समान, व्यान को उदान द्वारा जय कर लिया जाता है तब साधक जल, कीच, कांटे आदि पर चल सकता है फिर सूत्र

---

१ गीता १४ अध्याय का श्लोक—

ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥ १८ ॥

* उदान जयाजल पंक कण्टकादिष्व संग उत्क्रान्तिश्च ॥

४२ × में कहा है कि शरीर और आकाश के सम्बन्ध संयम से साधक सड़ कपड़े की रुई के समान हल्का होकर आकाश में उड़ सकता है।

अतः शास्त्रों में भी ऐसे कुछ उदाहरण मिलते हैं, जैसे कि भीम के फेंके हुए हाथी आकाश में उड़ने का वर्णन आदि। ऊपर कहा गया है कि उदान वायु मरण के अनन्तर मनुष्य के सूक्ष्म शरीर को ऊपर के लोक में लेजाने का कारण बनता है और कभी कभी शरीरगत धनञ्जय वायु ब्रह्माण्डगत धनंजय वायु की सहायता से मुर्दे को खड़ा कर दिया करता है। इन दोनो वायुओं को निकालने के लिये ही हिन्दु धर्म में कपाल क्रिया की जाती है। परन्तु ध्यान ये रखना चाहिये कि ये सब वर्णन बिन्दुत्रय के ही उदान से सम्बन्ध रखते हैं। काम और मनोजयी हुए बिना कोई साधक उदान जयी नहीं हो सकता है। जिसको वीर्य की भाषा में ऊर्ध्वरेतस्व कहते हैं उसको ही प्राण की भाषा में उदान कहते हैं। साधक काम जयी होने से ऊर्ध्वरेतस्व और उदानजय के तत्व को प्राप्त कर सकता है। इन दोनों की विजेय सहायक आन्तरिक शक्ति का नाम ही

---

× कायाकाशयो स्सम्बंध संयमाल्लघुतूल समापत्तेश्चाकाश गमनम् ॥

नोट—उपरोक्त सूत्रों में बताई हुई सिद्धियें आदि आजकल के योगियों की जुबान में ही मिलती हैं कार्य में नहीं। हां कहीं २ बाजारु बाजीगर अग्नि आदि पर चलने के चुटकले जरूर दिखा दिया करते हैं जिनका सम्बन्ध योग से कुछ भी नहीं होकर चाल बाजी से ही अधिक हुआ करता है यही कारण आज के वैज्ञानिक समय में सिद्धियों के अभ्यास को बहुत से क्षेपक, फिजूल, विज्ञान प्रकृति के विरुद्ध कहने लग गये हैं। पाठकों को इन पतनकारी बातूनी सिद्धियों में न फंस योग का परमार्थिक तत्व खोजने की चेष्टा करनी चाहिये।

मन–बिन्दु है। सिद्धान्त से वीर्य, प्राण, मन एक ही तत्व के तीन नाम हैं। जैसे कि "इति बिन्दु प्रथम् भवेत्" उदान स्वरूप वीर्यबिन्दु और अपान मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र में रहते हैं। मणिपुर चक्रमें वीर्य का पूरण और प्राण का समान तत्व रहते हैं शुक्र और व्यान व्यापक चक्रमें रहते हैं। इन चारों शक्तियों को जानने के पश्चात साधक सङ्कण्डे से भी हलका हो सकता है। यहाँ बिन्दु योग की दृष्टि से प्राण और मन बिन्दु का भी वीर्य बिन्दु में ही समावेश हो गया है।

## ॐ समाधी और वज्रौली ॐ

ॐ यहां समाधी की समालोचना नहीं करनी है यहां तो इतना ही कहना है कि बिन्दु योग ही समाधी का बीज मन्त्र है। बिन्दु योग के सिद्ध हुए बिना समाधी को पाना इतना ही दुस्तर है जितना कि प्राण के बिना प्राणी, सूर्य के बिना प्रकाश होता है। योगशास्त्र ने कहा है कि बिन्दुयोग ही प्राणायाम का तत्व प्रत्याहार का बीज, धारणा का सार, ध्यान की कुँजी, समाधि का अमर रस है। बिन्दुयोग की ही सिद्धि इन सब की सिद्धि है और बिन्दुयोग की ही असिद्धि इन सब की असिद्धि है। बिन्दुयोग के सिद्ध होते ही साधक जीव से शिव हो जाता है। महादेव कहते हैं कि हे पार्वती 'बिन्दुयोग को ही सिद्ध करके मैं शिव तत्व को प्राप्त हुआ हूँ।' योगी गोरख भी कहते हैं कि 'जो जाने पारे (वीर्य) का भेव (भेद), वह योगी नहीं साक्षात् देव।' अभी तो शङ्कर कहते हैं कि –'सिद्धेबिन्दु महामन्त्रे किं न सिध्यन्ति भूतले' बिन्दुयोग के सिद्ध होते ही प्राय योग स्वयं ही सिद्ध हो जाते हैं। उनके लिये फिर कुछ अन्य साधन की आवश्यकता नहीं रहती है। इस योग के अनेकों उदाहरणों में

से प्रातः स्मरणीय पितामह भीष्म का ज्वलन्त उदाहरण है। इस योग के साधनार्थ साधक को सर्व प्रथम यह समझना चाहिये कि प्राण और मन वीर्य के ही दूसरे नाम हैं। वीर्य का ब्रह्मबिन्दु, प्राण का जीवनप्रकाशबिन्दु और मनका सङ्कल्पबिन्दु नाम है। इन तीनों के जय को ही प्राणायाम, प्रत्याहार, एक तत्व को धारणा ध्यान और इनके ब्रह्ममें लय करदेने को ही समाधी कह सकते हैं। इस समाधी को भगवान ने गीता में चार भागों में बांटा है। प्रथम शरीर की शून्यता और इन्द्रियों की सजीवता दूसरी शरीर और इन्द्रियों की शून्यता और मनकी सजीवता, तीसरी शरीर, मन, इन्द्रिय की शून्यता और बुद्धि की सजीवता, यहां तक की समाधी ही संप्रज्ञात समाधी कही जाती है। चौथी समाधी में शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि सब कुछ ही लोप होजाती है। इस समाधी वाले योगी के प्राणों का फिर किसी अवस्था में उत्क्रमण नहीं होता है। प्रथम समाधी में साधक के वही अवयव ठण्डे पड़ा करते हैं जिनको ब्रह्मा ने आत्मा विमुखी और बहिर्दर्शी बनाया है। इस अवस्था में साधक के ईड़ा पिंगला गत चक्रों का भेदन और तद्गत कुण्डलनी शक्ति का जागरण हो जाया करता है। दूसरी समाधी में साधक की ज्ञानइन्द्रियों का लय और शुष्मणागत चक्रोंको भेदन तथा तद्गत कुण्डलनी शक्ति का स्फोट हो जाता है। इस अवस्था का नाम ही प्रत्याहार कहा जाता है। तीसरी समाधी में साधक के वज्रागत चक्रों का भेदन और तद्गत कुण्डलनी शक्ति का उद्बोधन हो जाता है।

चौथी समाधी में साधक के चित्रा के चक्रों का भेदन और तद्गत कुण्डलनी के अन्तिम शिवात्मक प्रकाश का दर्शन हुआ करता है। चित्रा में ही ईड़ा, पिंगला, शुष्मणा, बज्रादि नाड़ियों का अस्तित्व रहता है। चित्रा में पहुंचते ही इनका अस्तित्व मिटजाता है अर्थात् यह गति रहित हो जाती हैं। जैसे चित्रा में पहुंच कर ईड़ादि नाड़ी अपना अस्तित्व खो बैठती है वैसे ही चित्रा में पहुंच कर प्राण, मन, बिंदु भी अपना अस्तित्व खो देते हैं। चित्रा में जाकर न तो नाड़ी नाड़ी ही रहती है; न प्राण, मन, बिन्दु ही रहते हैं। यहां पहुँचने ही यह सब एक आत्मरेखा विद्युत् प्रकाश आनन्द लहरों में परिवर्तित हो जाते हैं। इस आत्म रेखा को विद्युत्-प्रभा, आनन्दलहरी का नाम ही ब्रह्मनाड़ी कहा जाता है। इस दिव्य नाड़ी में पहुँचते ही "ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति" के पद को प्राप्त हो जाता है। इस तात्विक समाधी के तत्व में पहुंच कर फिर योगी का उत्थान नहीं हुआ करता है। उसकी मात्र अवस्था एक ही तरह की हुआ करती है। यह तो रही शास्त्रीय समाधी की बात आज कल कुछ ऐलची समाधी भी लगाई जाती है। उनमें से प्रथम समाधो का स्वरूप ऐसा होता है। जैसे कि मोटर के मात्र अवयव बन्ध होने पर भी उसका खास यन्त्र चालू रखा जा सकता है वैसे ही इस समाधी में साधक अपने मात्र अवयवों को बन्द करके हृदय की सूक्ष्म तन्त्री को चालू रखा करता है। जिसकी गति को डाक्टर लोग भी समझने में

असमर्थ रहा करते हैं। यह समाधी उपरोक्त समाधी से कुछ मिलती जुलती सी है। दूसरी समाधी में साधक अपने चारों प्राणों को धनंजय नामक उप प्राणों में लय करके लगाया करता है। अर्थात् वह अपने मात्र प्राण प्रवाहों को धनंजय में बदल कर रोम कूपों से आनन्द पूर्वक श्वास प्रश्वास लेता रहता है। यह भी डाक्टरों की पहुँच से परे है। तीसरी समाधी किसी नस विशेष को दबा कर लगाई जाती है। उपरोक्त दोनों में साधक अपने को खूब अच्छी तरह से समझा करता है परन्तु इस समाधी में वह अपने पन को बिलकुल ही भूल जाता है। चौथी समाधी प्राणों को कुछ हल्के धीमे बेमालूम से करके आंखों को उलट कर लगाई जाती है। जो देखने में बड़ी भयानक और विचित्र होती है। इसको भाले भाले आदमी तो नहीं डाक्टर अवश्य समझ सकते हैं। अन्य भी कई प्रकार की हलकी भारी समाधी लगाई जाती है।

## ❋असली और नकली समाधी की पहिचान❋

ॐ असली समाधी की सब से उत्तम और मोटी पहिचान यह होती है कि असली समाधी में बैठे हुये योगी के अंगप्रत्यंग वजन, रंग, बाल रोमादि की घटती बढ़ती नहीं होती है। उसको क्षुधा पिपासादि की व्याधि नहीं सताती है। शरीर में किसी तरह की दुर्गन्ध आदि का असर नहीं हुआ करता है। उठने के

समय मुख पर सुस्ती आदि न होकर एक विशेष तरह की मुग्ध मुस्कराहट हुआ करती है और नकली समाधी में सब कुछ इसके विपरीत हुआ करता है अर्थात् शरीर घट जाता है। बाल बढ़ते हैं क्षुधा तृष्णा का भी यत्किञ्चित असर हुआ करता है। चहरा फीका, ढीला, सुस्त पड़ जाता है। किसी समाधी में तो समाधिस्थ योगी के मुखसे लारें भी पड़ती रहा करती है। उठने पर शरीर में आलस युक्त अकड़ आदि हुआ करती है॥

## ❀ मृत संजीवनी और बजौली ❀

ॐ अब यह बात विश्व का सिद्धान्त हो चुकी है कि विर्य का शरीर में रहना ही जीवन, सुख, शान्ति और मुक्ति है। तथा वीर्य का शरीर से विचलित होजाना ही मृत्यु दुःख और आंशाती पढ़ता है। वैज्ञानिकों का कथन है कि एक बार में जितना वीर्य खर्च होता है उतने से मनुष्य के १० दिन के जीवन की मौत हो जाती है। यह आधुनिक वैज्ञानिक मत है। जो अभी तक इस विषय में बिलकुल ही अन्धा है। प्राचीन ब्रह्मचर्य विज्ञान इतने से ही सन्तुष्ट नहीं होता है। वह तो वीर्य के एक बिन्दु के नाश को भी पूर्ण मौत मानता है। एक विद्वान् का कहना है कि बिन्दु खर्च करते समय अपने सिर के नीचे कफन अवश्यर खो क्यों कि बिन्दु खर्च ही मृत्यु का सच्चा स्वरूप है। यदि सन्तान बनाने की आवश्यकता न होती तो हमारे पूर्वज कभी बिन्दु खर्च

करने की आज्ञा ही न देते। बिन्दु के खर्च करनेमें एकमात्र सन्तान बनाना ही गुण है। बाकी सब हानि ही हानि है। इतना सब होते हुए भी यह कामुक संसार वीर्य को ऐसा खर्च कर रहा है जैसे कि विक्षिप्त अपनी बुद्धि का और मूर्ख अपने धन को किया करता है। वीर्य को ऊर्ध्वगामी बना कर मनुष्य मृत्यु के भय से छूट सकता है। जैसे कि— "ऊर्ध्वरेता भवति यावत् तावत् काल भयं कुतः" मौत को मार सकता है। जैसे कि— "ब्रह्मचर्येण तपसा देवामृत्युमुपाघ्नत"। इच्छा जीवन और इच्छा मृत्यु को प्राप्त कर सकता है। प्रातः स्मरणीय भीष्मजी में उपरोक्त सर्व बात विद्यमान थे। महर्षि शुक्राचार्यजी मृत्यु संजीवनी विद्याके सिद्धहस्त थे। उनका नाम शुक्राचार्य उनकी शुक्र सम्बन्धी निपुणता का परिचायक है। वे जानते थे कि मनुष्य के किस विशेष तन्तु से वीर्य का सम्बन्ध विच्छेद हो जाने पर मृत्यु और किस स्नायु विशेष से वीर्य का सम्बन्ध जुड़ जाने पर मृत मनुष्य जीवित होजाया करता है। उनको वीर्य विज्ञान के साथ प्राण विज्ञान का भी पूर्ण बोध था, इस बोध के कारण वे असुरों के गुरु कहे जाते थे। उपरोक्त दोनों शब्दों के मिलने से पता लग जाता है कि शुक्राचार्य वीर्य से प्राण बनाने वाली विद्या के गुरुत्व को भली प्रकार से जानते थे। जो शुक्र के आचरणों द्वारा अशु प्राणों में जीवन आनन्दरञ्जन बना सकता है, वही शुक्राचार्य हुआ करता है। इस शुक्रविद्या और प्राणविद्या में पूर्ण निपुण बनकर इन दोनों के तात्विक सम्बन्ध

के विज्ञान को बताना ही बज्रौलीमुद्रा का तात्विक विज्ञान है। जो साधक उपरोक्त बज्रौली सम्बन्धी वीर्य-प्राण के सम्बन्ध विच्छेद के विज्ञान को पूर्णतया समझ लेगा वह मृत्यु-संजीवनी विद्या में अवश्य सफल होगा।

## मौत दो प्रकार की होती है

ॐ मौत दो प्रकार की होती है। एक अधूरी दूसरी पूरी-अधूरी मौत उसको कहते हैं जो डर से, डूबने से, बिजली से, हार्टफेल से, मिर्गी से, सर्प काटने से, या अन्य भी किसी आत्मातक ढंग से, हुआ करती है। अर्थात् जिसमें इन्द्रिय संचालन शक्ति का नाश न होकर किसी कारण वश शून्य हो जाया करती हैं, वही मृत्यु अधूरी मृत्यु कही जाती है। वैज्ञानिकों ने इस मृत्यु का समय कुछ मिनट और भारतियों ने बारह घण्टे तक माना है। सिद्धान्त से जब तक शरीर में उदान और धनंजय वायु तथा ऊर्ध्वरेतस तत्व रहा करता है तब तक मृत्यु अधूरी ही रहा करती है। इस मृत्यु से मरे हुए प्राणी को ही मृतसंजीवनी विद्या बिन्दुयोग ( बज्रौली ) की पूर्ण सिद्धि से जीवित किया जा सकता है। यदि वैज्ञानिकों का इधर यत्किञ्चित भी ध्यान हो गया तो विश्व का बहुत कुछ लाभ हो सकता है। क्यों कि भारतीय मत में उपरोक्त तीनों तत्व मृतक के जलने तक शरीर में रहा करते हैं। यदि वैज्ञानिको ने उन जीवन तन्तुओं को

समझ लिया जिनमें जाकर चार प्राण और चार उपप्राण और भौतिक वीर्य शून्यता की निद्रा में सोजाया करते हैं, और जिनमें जाने से शरीर में जीवन संचार होने लगा करता है; साथ ही इस जीवन तत्व को जगाने के साधनों को भी खोज लिया तो वह सहज ही मुर्दे को जिन्दा बनाने में सफल होने लगेंगे। बिन्दु योग ही इस गहन तत्व की कुञ्जी है।

## ❁ स्वाध्याय बल और बज्रोली ❁

ॐ कितने ही स्वाध्यायशील पठनपाठन प्रिय छात्र या अन्य भी कहा करते हैं की हम स्वाध्याय करना चाहते हैं परन्तु स्वाध्याय करते समय हमारे स्वाध्याय तन्तु इतने थक जाते हैं कि जिनसे स्वाध्याय करना तो दूर रहा हम अपने ऊपर मस्तक का रखना भी एक भयानक बोझ समझने लगते हैं उसकी थकान की सुशक्ता, डलता, निरसता से हमें स्वयं घृणा अरुचि उपरामता प्राप्त होने लग जाती है। यदि यह थकान सुस्ती हमको न हो तो नहीं जाने हम कितना स्वाध्याय कर सकते हैं इत्यादि बातों से मालूम हो जाता है कि आज भारत के स्वाध्याय बल की क्या दुर्गति हो गई है।

ॐ इस बात को कोई भी बुद्धिमान पुरुष समझ सकता है कि इस स्वाध्याय बल की निर्बलता, दुर्गति का कारण वीर्य की कमी और ब्रह्मचर्य का नाश ही है स्वाध्याय के साथ में नव वधू

का नहीं अपितु कुमारी सरस्वती का सम्बन्ध है जैसे कुमारी और बधू शब्द एक में नहीं रहते हैं तैसे ही वीर्य नाश और स्वाध्याय एक में नहीं रहा करते हैं। इस ही तत्व की रक्षा के लिये तो हमारे पूर्वजों ने स्वाध्याय के साथ में ब्रह्मचर्य का अमोघ सम्बन्ध जोड़ा है। जो कुमारी सरस्वती के समय को नव बधू के अधिकार में दे देते हैं उनके स्वाध्याय बल की दुर्गति हुआ करती है या यों कहो कि उनके अन्दर से जाती हुई कुमारी सरस्वती अपने स्वाध्याय बल को भी ले जाती है। अतः जिनको स्वाध्याय सरस्वती की उपासना करनी है उनको २५ वर्ष तक कभी अनाध्याय रूप नव वधू से सम्बन्ध जोड़ना नहीं चाहिये अर्थात् अखण्ड ब्रह्मचर्य व्रत सेवन करना चाहिये क्योंकि वीर्य रक्षा ही स्वाध्याय बल का बीजमंत्र है। २५ वर्ष तक स्वाध्याय तन्तुओं को वीर्य के प्रकाश का पूर्ण सेचन मिलने पर वह सौ वर्ष पर्यन्त स्वाध्याय कार्य करने योग्य हो जाते हैं। या यों कहो कि उनके स्वाध्याय बल का सौ वर्ष तक ह्रास नहीं होकर संयम पूर्वक जीने से उसमें दैनिक रूप से वृद्धि ही हो जाती है। यदि किसी कारणवश उपरोक्त स्वाध्याय तन्तुओं के बल का ह्रास होगया हो तो उसकी पूर्ति किसी वज्रौली के तत्ववेता गुरुद्वारा वज्रौलीमुद्रा करके की जा सकती है। वज्रौली का तत्ववेता योगी जानता होता है कि वीर्य का किन तन्तु विशेषों से सम्बन्ध हो जाने से स्वाध्याय बल की थकान हट जाती है और किन से सम्बन्ध होने पर बुद्धिबल ऋतम्भराशक्ती की प्राप्ति हुआ करती है

किनके संयोग से आप्त विद्या के तात्विक बल की प्राप्ति हुआ करती है। बज्रौली के तत्व का ज्ञाता पुरुष क्षण भर में तपे हुये स्वाध्याय तन्तुओं को अमृत के सदृश ठण्डे बना सकता है। थके हुये ज्ञान तन्तुओं को क्षणभर में स्फूर्ति सम्पन्न बना कर स्वाध्याय शक्तिसम्पन्न बना सकता है परन्तु यह सब तब ही हो सकता है जब साधक को तन्तु विज्ञान प्राप्त होकर वीर्य पर और अपान की सिद्धि होकर उसकी शक्ति तथा गति पर पूर्ण अधिकार हो जाया करता है।

## कुछ अन्य सहायक प्रयोग

ॐ जिन साधकों का वीर्य इतना निर्बल कमजोर अशक्त पतला पड़ गया है जो कि सांकल्प स्फूर्ति मात्र के ही आघात से बहजाता हो, जो बज्रौली के औजारों के स्पर्श को भी नहीं सह सकता हो उन साधकों के हितार्थ ॐ यहां कुछ उपयोगी नियम एवं औषधियों के प्रयोग देता है। यदि साधक इन प्रयोगों और औषधियों को चरित्र की पवित्रता, मन की शुद्धता और दृढ़ता के साथ सेवन करेंगे तो वे वीर्य की पुष्टि को प्राप्त होकर बज्रौली साधने योग्य अवश्य हो जायेंगे। यद्यपि ॐ चिकित्सक वैद्य, डाक्टर, हकीम और औषधि-विज्ञान का तत्ववेत्ता नहीं है तथापि ॐ के यह प्रयोग और औषधियें बारम्बार काम में लेने

से और निश्चय महात्मा पुरुषों से प्राप्तव्य होने से शुद्ध निर्दोष अनुभूत हैं। जिनको पथ्य पूर्वक सेवन करने से साधकों को प्रकृतिभेद से लाभ अवश्य होगा। नियम निम्न लिखित हैं।

१ वीर्य-दोषी पुरुषों को गर्म जल से स्नान नहीं करना चाहिये अपितु इसके विरुद्ध ठण्डे जल से खूब मल २ कर नहाना चाहिये।

२ वीर्य-दोषी पुरुषों को अपने चरित्र, मन को बिल्कुल निर्दोष, शुद्ध, पवित्र बना लेना चाहिये। इनके पवित्रता के बिना यह रोग कभी जा ही नहीं सकता है।

३ वीर्य-दोषी पुरुषों को इतना गर्म दुग्ध या अन्य भी कोई खाद्य अथवा पेय वस्तु नहीं खानी पीनी चाहिये जिसका स्पर्शज तन्तुओं पर आघात पहुँचता हो।

४ वीर्य-दोषी पुरुषों को सोते समय अपने हाथ, पांव, मस्तक, रीढ़, गर्दन और गुह्य स्थानों को ठण्डे जल से धोकर सोना चाहिये।

५ वीर्य-दोषी पुरुषों को जब तक उनका मन पूर्णतया पवित्र शुद्ध, दृढ़ न हो जावे तब तक सब पौष्टिक, वीर्यवर्धक, उत्ते-जक पदार्थों का त्यागकर चरित्र और मन के सुधार में लगा रहना चाहिये। अन्यथा उत्थान का मार्ग कठिन है।

६ वीर्य-दोषी पुरुषों को फैशन, विलास, शृंगार से अत्यन्त बचना चाहिये।

७ वीर्य-दोषी पुरुषों को सादे बिस्तर पर सोना, लंगोट लगाना, स्वच्छ, पवित्र सादे थोड़े स्वदेशी वस्त्र पहनना और सादा ही भोजन करना चाहिये।

८ वीर्य-दोषी पुरुषों को हलकी रोचक व्यायाम जैसे घूमना, तैरना कुछ आसनादि अवश्य करना चाहिये।

९ वीर्य-दोषी पुरुषों के रहने का मकान सजावट फैसन से रहित रोचक स्वच्छ पवित्र प्राकृतिक वायु से युक्त, गन्दे वातावरण से रहित होना चाहिये।

१० वीर्य दोषी मनुष्यों को भ्रष्ट सुसाइटियों का संग छोड़कर महान पवित्रतायुक्त लोगों की सुसाइटी में रहने बैठने की आदत डालनी चाहिये।

११ वीर्य दोषी पुरुषोंको सोते समय अपने आस पास के वातावरण को शान्तिपाठादि से बिल्कुल पवित्र, स्वच्छ, आदर्श बनाकर निम्न लिखित मंत्र की एक माला का एकाग्र चित्त से मंत्र के अर्थ का ध्यान करते हुए जप कर सोना चाहिये। मन्त्र यह है:—

ॐ अमोघवीर्याय विद्महे ऊर्ध्वरेताय धीमही तन्नोब्रह्मचर्य प्रचोदयात्।

ॐ इन एकादश नियमोंका यथार्थ पालन करने वाला साधक कुछ ही दिनों में वीर्य-दोष से अवश्य छूट जायगा ।

## ❀ कुछ औषधी प्रयोग ❀

१ ॐ अश्वत्थ ( पीपल वृक्ष ) के पक्के फलोंको खाने से वीर्य दोष जड़ मूल से चला जाता है । विधि यह है—पथ्य पूर्वक रह कर पक्के हुए रसयुक्त फल बारह मास तक आहार के रूपमें खानेसे साधक अमोघवीर्य को प्राप्त हो जाता है । ऐसा कितने ही महात्माओं का अनुभव है । साधक अपने सुभीते के अनुसार खाकर लाभ उठावे ।

२ पीपल के पके हुये फलों का रस पीने से भी वीर्यदोष निर्मूल हो जाता है ।

३ पीपल की डाढ़ी ( जटा ) की कच्ची कोपलों के चूर्ण को धारोष्ण दुग्ध के साथ में लेने से वीर्य दोष बिल्कुल मिट जाता है ।

४ पके हुए सूखे पीपल के फलों के चूर्ण को कच्चे धारोष्ण दूध के साथ में लेने से वीर्यदोष मिट जाता है ।

५ पीपल के गूंद का हलवा बनाकर खाने से भी वीर्यदोष का मिट जाना पढ़ा है ।

६ वड़ के दूध को १ से २१ तक पतासों में एक बून्द रोज के हिसाब से बढ़ाकर लेने से भी वीर्यदोष मिट जाता है ।

७ बढ़ की कच्ची कोपलों को छाया में सुखा चूर्ण बना कर

धारोष्ण दूध या ठण्डे जलके साथ में लेने से भी वीर्यदोष मिट जाता है ।

८ उपरोक्त रीति से ही बड़ की डाढ़ी की कोपलों के चूर्ण से भी वीर्यदोष मिट जाता है।

९ गूलर के पके फलों को सेंधे नोन के साथ में खाने से भी वीर्यदोष मिट जाता है।

१० बिल्व के पके फलों के गूदे को कच्चे दूध में मिलाकर पीने से वीर्यदोष अवश्य मिटजाता है। इससे हड्डी और नसें भी बलवान होने लगती हैं।

११ बिल्व पत्र के पत्तों को रगड़ कर पीने से भी वीर्यदोष मिटजाता है।

१२ कीकर ( बबूल ) की कच्ची फलियों के रस का दूध में मिला कर पीने से वीर्यदोष मिट जाता है।

१३ कीकर की कच्ची फलियों को छाया में सुखा कर चूर्ण बना कर उसके लड्डू बनाकर खानेसे भी वीर्यदोष मिटजाता है।

१४ एक केले की पकी फली के छोटे २ टुकड़े करके पाव भर दूध में खीर बना कर उसमें सीजते में ही तीन माशे श्वेत मूसली का चूर्ण मिला कर खाने से वीर्यदोष अवश्य मिट जाता है।

१५ जलजमनी बूँटी को रगड़ कर ठण्डे पानी में पीने से भी वीर्यदोष मिट जाता है ।

१६ ईसवगुल के सत को बूरा सक्कर के साथ में जमा कर खाने से भी वीर्यदोष मिटजाता है।

१७ रतनजोति बूटी को ठण्डे पानी के साथ में पीने से वीर्य-दोष बहुत शीघ्र मिटा करता है।

१८ ब्राह्मी तीन मासे शंखपुष्पी ३ मासे चारों मगज ११ बदाम २१ काली मिर्च ठण्डे पानी में रगड़ आध पाव कच्चा दूध मिला कर पीने से वीर्य दोष मिटजाता है। बुद्धि बढ़ती है पागलपन हटता है विचारों में भी स्वच्छता आने लगती है।

१९ २ ½ तुलसी पत्र २ ½ पत्ते नीम के प्रातकाल खाने से वीर्य और रक्त की शुद्धि होती है।

२० पुनर्नवा ( सांठी ) की एक तोला जड़ को दर्दरी करके आधा सेर दूध और आधा सेर पानी मिला कर इतना उबालो जितना कि उसमें से पानी जल जावे फिर ठण्डा कर पीने से वीर्यदोष मिटजाता है नेत्रों की ज्योति बढ़ती है।

२१ एक तोला सालम एक तोला ताज मखाना १ तोला तुकमलंगा १ तोला इसबगोल का सत १ तोला विदारीगन्द १ तोला बीजबन्द ६ माशे छोटी इलायची के बीज ३ माशे केशर इन सब दवाइयों को कूट कपड़ छान कर बराबर की मिश्री मिला कर शील गर्म दूध के साथ में ३ माशे की फाकी प्रतिदिन लेने से वीर्य की कमी पतलापनादि दोष अवश्य मिट जाते हैं। इन दवाईयों में से प्रकृति के अनुकूल पड़ कर कोई दवाई साधक को पूर्ण लाभ पहुँचा सकती है।

# उपसंहार

## "बज्रौलीबाजों से सावधान"

ॐ किसी भी विषय को बताने के पहले उसकी भलाई, बुराई, कठिनाई और त्रुटियों को पाठकों के सम्मुख रखदेना ही उस विषय की सफलता का तत्व है। क्योंकि जबतक साधक इन भलाई आदि को पूर्णतया नहीं समझ लेगा तब तक वह उन से बचकर अपने लक्ष्य को नहीं पा सकता। अतः पाठकों का कर्त्तव्य है कि वह आगे लिखी जाने वाली बज्रौलीबाजों की धूर्त्तताओं से पूर्ण सावधान रहें। इस पूर्ण सावधानी के लिये ही ॐ ने इस लेख का शीर्षक बाज शब्द से युक्त रखा है क्योंकि भारतीय भाषा में बाज शब्द बहुत ही बुरा है। बाज शब्द जुड़ने से अच्छी से अच्छी बात भी सन्देहास्पद हो जाया करती है। इस कारण को ही लेकर पूने के बाबा विध्वंसक संघ ने अपना उद्देश बाबाबाजी का विध्वंस करना रखा है। बाबाबाजी ने भारतवर्ष की कितनी हानि की है, उसने भारतीय समाज और व्यक्ति को कैसे २ चकमे देकर किन २ आपत्तियों में डाला है, इन बातों को यह संघ बड़ी उत्तमता से जनता के सामने रख रहा है। इन सिद्धों के चकमे में बड़े २ राजा महाराजा सबकुछ खो चुके हैं। सैकड़ों बुद्धिमान अपनी बुद्धिमानी को निर्बुद्धिपन में बदल चुके हैं। कुछ भी क्यों न कहो इन आसुरी सिद्धों की सिद्धियों ने बड़े २

घर माले, नष्ट किये है। ॐ को देखते २ ही कितने ही बी. ए. एल एल. बी., एम. ए. आदि को अन्न खाना छुड़ाकर धूल खाना सिखा दिया है। इत्यादि बुराइयों से बचाने के लिये ही इस संघ ने बोबा के साथ बाज शब्द जोड़ा है। इस संघ के सदस्य कहते हैं कि इनका ध्येय बोबाबाजी का विध्वंश करना है। ॐ के अनुभव में जैसे इस शब्द का अर्थ बाबाओं का नाश नहीं अपितु उनकी पाप लीलाओं का ही नाश है। वैसे ही बज्रौलीबाजों से सावधान का अर्थ भी उनकी पापलीलाओं से ही सावधान करने से है। वह पाप लीला यह है। एक बज्रौलीबाज ने प्रथम तो एक आदमी पर अपने बज्रौली सिद्ध होने की धाक जमाई और पीछे बज्रौली की परीक्षा पूर्ति के लिये उसकी स्त्री को मांगा यह बात उस पुरुष ने एक सच्चे महात्मा से (जिस पर उसको पूर्ण विश्वास था) पूछी तो उसने उत्तर दिया कि ऐसे आदमी को सूट कर देना चाहिये जो योग के नाम पर व्यभिचार करना चाहता है। अब तुम उस पापी का विश्वास मत करना। इस सावधानी के पश्चात् एक दिन उस सज्जन ने इस धूर्त से कहा कि बज्रौली के नाम पर किया हुआ व्यभिचार पाप नहीं होता। उस धूर्त ने कहा कि नहीं क्योंकि प्रथम तो बज्रौली का साधक पूर्ण व्यभिचारी और पीछे पूर्ण महात्मा होता है। अधिक से अधिक स्त्रियों को भोग तृप्ति देना ही तो बज्रौली सिद्धि का मुख्य उद्देश है। एक दूसरे बज्रौलीबाज अध्यापक ने अपने एक विश्वास

पात्र से कहा कि अब मैं बज्रौली से दुग्ध खींचने लगा हूँ । अतः मुझको स्त्री की पूर्ण आवश्यकता है ।

अमृतसर में तरणतारण रोड की नहर पर एक बगीचे में एक महात्मा ठहरे हुए थे । ॐ का एक मित्र उन से मिलने गया तो उस समय वह एक स्त्री से मैथुन कर रहा था । यह देख वह मित्र चुपके से लौट आये और मिलने पर उस घटना की ओर कुछ संकेत किया तो वह धूर्त बोला कि मैं उस औरत को बज्रौली सिखा कर अपनी बज्रौली की परीक्षा कर रहा था ।

बद्रीयात्राके मार्गमें ॐ को एक बज्रौलीबाज नागा और अवधूतानी मिले । ॐ ने नागा से पूछा आप इस युवती को संग में क्यों रखते हैं । नागे ने कहा कि बज्रौली सिद्धि के लिये । ॐ ने पूछा क्या आप बज्रौली जानते हैं तो उसने उत्तर दिया कि हाँ अवश्यमेव जानता हूँ ।

ॐ—क्या मुझे दिखा सकेंगे ।

नागा—क्यों नहीं ।

इतनी बात चीत के बाद उन दोनों ने ॐ को पाव भर पारा खींच कर बताया । यह सब होजाने पर ॐ ने अवधूतानी से अलग लेजाकर पूछा । क्या नागे में दूसरे पुरुषों से कुछ विशेषता है । अवधूतानी ने कहा नहीं कुछ भी नहीं

कहते हैं अभी तो हम सिद्धि के मार्ग में हैं विशेषता आगे मिलेगी। ॐ फिर तुम इसके जाल में कैसे फंस गई। उसने उत्तर दिया योंही इसकी बातों से मूर्ख होकर। अब पछताने से क्या होता है।

एक युवती को एक बज्रौली बाज उड़ा लेगया। कुछ महीने बाद उस स्त्री ने मौका पाकर अपने घर वालों को पत्र लिख कर कहा कि किसी तरह मुझको इस धूर्त से बचाओ नहीं तो मैं आत्म-हत्या करलूँगी। मैं इसकी नीचता को न समझ कर ही इसके पाप जाल में फँस गई थी।

एक दिन एक बज्रौली के तत्व से अनभिज्ञ बज्रौलीबाज अपने मूर्ख मित्रों में बैठा हुआ अपने बज्रौली-सिद्ध होने की धाक जमा रहा था। वहां पर बैठे हुए एक सज्जन ने किसी दूसरे बज्रौली के विशेषज्ञ का नाम लेकर कहा कि उनको बज्रौली का अच्छा ज्ञान है। यह सुन कर पहिले तो वह धूर्त्त बिगड़ा और उक्त सज्जन की बात मूर्खता पूर्ण कहने लगा। परन्तु इस सज्जन के सत्य सिद्ध करने के साहस पर उस धूर्त नालायक ने उस विशेषज्ञ के लिये ऐसी बात कह डाली जिसको कोई भी सभ्य पुरुष नहीं कह सकता था। बात यह थी-तब तो उस विशेषज्ञ के पास में कोई दैनिक रूपसे १६ वर्ष की युवती अवश्य आती होगी।

उपरोक्त कथन से सहज ही सिद्ध हो जाता है कि वह नालायक बज्रौली में किस लक्ष्य से लगा है। दूसरी बात

गह है कि ऐसे युवतिउपासक वज्रौलीबाजों से जनता को कितना सावधान रहना चाहिये। यह धूर्त पार्टी एक उच्च शिक्षालय के अध्यापकों की थी। जिस शिक्षालय में ऐसे धूर्त शिक्षकों का जम-घट हो, जिनकी उपासना का विषय युवती औरतों की चर्चा करना हो उसके छात्र कितने उत्तम होंगे, इस बात को कोई भी शिक्षा के तत्त्व का ज्ञाता जान सकता है। मैं दावे के साथ कहता और सिद्ध कर सकता हूं कि वज्रौली की सिद्धि के लिये युवती साधक नहीं अपितु बाधक है। यह सब बातें उन पापियों की लीलाएँ हैं जो अपने व्यभिचार को धर्म बता कर जनता की आँखों में धूल झोंकते हैं।

बड़ौदा स्टेट के मैसाणे प्रान्त में से पांच सात कोस एक देहात के गाँव में एक वज्रौलीबाज साधू रहता था। वह अपनी इन्द्रिय से तेल को खींच कर भोली भाली जनता के सामने उसको मूत्र नली से निकाल कर दिया जला दिया करता था। दिया जला कर कहता था कि देखो मेरे मूत्र से दिया जला करता है। इसी तमासगीरी से उसने जनतासे पच्चीस तीस हजार रुपया ठगा और अन्त में वह महापुरुष डाकुओं द्वारा मारा गया। इत्यादि २।

अतः पाठकों एवं पाठिकाओं का कर्त्तव्य है कि वे इन आततताइयों से सावधान रहें क्योंकि इस क्रिया में मैं यदि अत्योक्ति नहीं करता हूँ तो नब्बे प्रतिशत व्यक्ति कामासक्त होकर, नव प्रति

शत–धोखा देने की दृष्टि से और एक प्रतिशत बिन्दुलय द्वारा ब्रह्म प्राप्ति के लिये लगा करते हैं। परन्तु ॐ का इस कृपा पर लेख लिखनेका ध्येय यही है कि वीर्यदोषी पुरुषों को वीर्यदोष से मुक्त करके साधकों को ईश्वराभिमुख बनाना। यदि विचारों की पवित्रता से शुद्ध होकर कोई साधक इन साधनों को काम में लावेंगे तो वे वीर्यदोष से मुक्त अवश्य होंगे। वीर्यदोष के लिये जितनी विचारों की मलीनता घातक है उतनी मैथुन क्रिया भी नहीं। उदाहरणार्थ जैसे किसी नाली में एक दम बहुत जल डाल देने से वह धुल कर साफ़ होजाती है और थोड़ा २ डालने से सड़ने लगती है, वैसे ही हर समय के कामुक विचारों से वीर्य भी सड़न को प्राप्त होकर साधकों के नाना रोगों का कारण हो जाया करता है। अतः पाठकों का कर्त्तव्य है कि वह विचारों को परम पवित्र रक्खें, क्योंकि असंयमी त्यागी से संयमी भोगी उत्तम होता है।

कितने ही धूर्त वज्रौली न जानते हुये भी अपने को उसका सिद्ध बतला कर सैकड़ों साधकों को वज्रौली के साधनों में लगा कर रोगी बना कर मृत्यु के मुख तक पहुंचा देते हैं। कितने ही अनजान लोग वज्रौली के लिये कांच की नली काम में लेने को कहते हैं। ऐसे अनजानों के उपदेश से साधकों को सावधान रहने की आवश्यकता है, अन्यथा हानि होने पर मौत का मुकाबिला करना पड़ेगा।

कितने ही मूर्ख वज्रौली के साधक को पानी, दूध, खींच लेने पर रजाकर्षण की परीक्षा के लिए एक रबड़ की नली के बायें दायें खींचने वाले दो रेशम के डोरे बांधकर उस नली को इन्द्रिय में डालकर डोरी के बाहर वाले भाग को इन्द्रिय के दायें बायें बांधकर मैथुन करने के लिये कहा करते हैं। साधकों का कर्तव्य है कि ऐसे मूर्खों की बातें कभी न मानें। मानने पर रेशम के डोरे से इन्द्रिय पर रगड़ आकर उसके कट जाने पर लेने के देने पड़जायेंगे। डोरे की रगड़ से स्त्री के गुप्त स्थान के फटजाने का भी भय रहा करता है। इस बात को रेशम के डोरे की तीक्ष्णता और करड़ेपन का जानने वाले सब ही पुरुष समझ सकते हैं।

ॐ ने निजी एवं साधकों द्वारा जो अनुभव इस सम्बन्ध में प्राप्त किया है उसे यथा साध्य इस छोटी सी पुस्तिका में संक्षेप में पाठकों के सामने रखने का प्रयत्न किया है। ॐ की यह हार्दिक उत्कण्ठा है कि विज्ञान-विशारद एवं शरीर-शास्त्र के विशेषज्ञ इस ओर विशेष ध्यान दें और इस योग का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर वीर्य क्षति से विश्व का आजकल जो बुरा हाल हो रहा है उसे रोकने में सहायक हों, विश्व कल्याण के भागी बनें। ॥ ॐ ॥

❀ शीघ्र ही प्रकाशित हो रही है ❀

# महात्मा आनन्दस्वरूपजी "ॐ" के

## अनुभूत, सरल एवं सर्वोपयोगी साधनों पर प्रकाश डालने वाली सचित्र पुस्तिका

# उदर रोग से बिना मौत क्यों मरते हो

इस पुस्तिका में समस्त उदर रोगों को समूल नष्ट करने के लिये बहुत सरल और सजीव साधनों का विवेचन है। हरएक के सुभीते के लिये प्रत्यक्ष अनुभव किये हुए व्यक्तियों के कई फोटो चित्र भी देदिये हैं। इन साधनों का उपयोग कर कई भाइयों ने पूर्ण लाभ उठाया है।

"ॐ" महाराज को पूर्ण विश्वास है कि कोई उदर रोग का रोगी लगातार छ मास तक ठीक उनके आदेशानुसार इन साधनों का उपयोग करे तो उसके रोग समूल नष्ट ही नहीं होंगे अपितु वह भविष्य में फिर कभी उदर रोग से ग्रसित हो ही नहीं सकता।

पुस्तक की उपयोगिता देखते प्रथम संस्करण के शीघ्र खपजाने की सम्भावना है अतः पहले से ही अपना आर्डर नीचे के पते पर रजिष्टर करालेना ठीक होगा जिससे पुस्तक निकलते ही भेजी जा सके।

विनीत—

पुस्तक विक्रेता—
व्यास ब्रदर्स जालोरी गेट,
जोधपुर.

मन्त्री,
श्री मरुधर प्रकाशन मंदिर
जोधपुर.

# शुद्धि-पत्र

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| आ | १ | हृद्यांगम | हृदयंगम |
| ,, | ४,६ | शद्दृश्यता | सद्दृश्यता |
| ,, | ६ | माग | मार्ग |
| इ | ३ | पपित्रता | पवित्रता |
| ई | २ | नीयमान यथान्धा | नीयमानाः यथान्धाः |
| उ | ४ | हीग | होगी |
| ,, | [illegible] | शद्प्रेरणा | सद्प्रेरणा |
| ,, | २१ | वज्रौसी | वज्रौली |
| ऊ | १६ | चम्तकार | चमत्कार |
| ऋ | ८,११ | साम्भवी | शाम्भवी |
| लृ | ७ | आचार्याद्येव | आचार्याद्ध्येव |
| ,, | ८ | प्रपयति | प्रापयति |
| ,, | ६ | टमवेद्वीर्यवतो | भवेद्वीर्यवती |
| ,, | १० | वक्र | वक्त्र |
| ,, | १० | समद्भव | समुद्भवा |
| लॄ | १२ | वेद्दान्त | वेदान्त |
| [illegible] | ७ | भूलने | भूलने |
| ,, | ११ | श्रङ्खला | शृङ्खला |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ,, | १६ | मुक्ती | मुक्ति |
| २ | ३ | वरती | करती |
| ,, | १६ | सलाका | शलाका |
| ३ | २ | जता | बता |
| ,, | १३ | आधात | आघात |
| ५ | ७ | लेन | लेने |
| ६ | १५ | आकर्शित | आकर्षित |
| ८ | २१ | पूण | पूर्ण |
| ९ | १७ | वज्रै ली | वज्रौली |
| १२ | १ | पवन-वस्नी | पवन-वस्वि |
| १२ | ४ | सिद्धो | सिद्धि |
| १३ | २ | वस्त्रिका | भस्त्रिक |
| १४ | ४ | सिद्धो | सिद्धि |
| १४ | ४ | समाधी | समाधि |
| १६ | ८ | स्तबन्ध | स्तम्भ |
| १७ | ११ | सिद्धी | सिद्धि |
| १८ | ६,१४ | अध | अधः |
| १८ | १६ | सुषुम्मणा | सुषुम्णा |
| १८ | २२ | शक्ती | शक्ति |
| १९ | १४ | शक्तो | शक्ति |
| २० | ७ | अनाभीभस्त्री | अनाभि-भस्त्रिका |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| २० | ८ | योनी-मुद्रा | योनि-मुद्रा |
| २० | १४ | पश्चिमीमान | पश्चिमोत्तान |
| २० | १४ | सुलभासन | शलभासन |
| २१ | १६ | ग्र | से |
| २२ | १ | परणित | परिणत |
| २२ | २ | मनोभाओं | मनोभावों |
| २२ | १० | इन्द्रि | इन्द्रिय |
| २३ | ४ | लत्त | लक्ष्य |
| २३ | ७ | परमपरा | परंपरा |
| २३ | १७ | नर्वदा | नर्मदा |
| २३ | १८ | नीलगिरी | नीलगिरि |
| २३ | १८ | हिम लय | हिमालय |
| २३ | १९ | सगाधिस्त | समाधिस्त |
| २३ | २० | वृति | वृत्ति |
| २७ | ३ | अप | अन्न |
| २८ | १७ | हीन्तरिक्षं | अन्तरिक्षं |
| २९ | १० | आराग्यता | आरोग्य |
| २९ | १३ | अभीशेष | अभिषेक |
| २९ | १३ | अथ | अर्थ |
| ३० | १५ | शकर | शङ्कर |

| पृष्ठ | पंक्ति | अशुद्ध | शुद्ध |
|---|---|---|---|
| ३० | १८ | शकराचार्य के | शङ्कराचार्य के |
| ३३ | २० | धारणा | धारणात् |
| ३५ | ४ | आवान्तर | अवान्तर |
| ३५ | ११ | प्रियोगिता | प्रयोगिता |
| ३८ | १८ | बिन्द | बिन्दु |
| ४१ | ५ | आनद | आनन्द |
| ४२ | १६ | भौत्यिक | भौतिक |
| ४२ | १६ | बन्दु | बिन्दु |
| ४२ | १६ | पूर्ववेत्ता | पूर्ववेत्ता |
| ५१ | १६ | शुष्मणागत | सुषुम्णागत |
| ५२ | ३ | शुष्मणा | सुषुम्णा |
| ५४ | ६ | विर्य | वीर्य |
| ५४ | ११ | आंशती | अशान्ति |
| ५६ | ११ | सांकल्प | सङ्कल्प |
| ५६ | १६ | प्रयौग | प्रयोग |
| ६० | १ | निश्प्रिय | निस्पृह |
| ६५ | १८ | चकमे | चक्रमे |
| ६६ | ५ | विध्वंश | विध्वंस |
| ६६ | १४ | गूत्र | मूत्र |
| ७० | ३ | कृया | क्रिया |

# बिन्दु-योग

अर्थात्

## वज्रोली मुद्रा द्वारा वीर्य विजय

रचयिता:—

नैष्ठिक ब्रह्मचारी

महात्मा आनन्दस्वरूपजी

प्रकाशक:—

मरुधर प्रकाशन मन्दिर, जोधपुर.

मुद्रक:—

कुँवर सरदारमल थानवी

श्री सुमेर प्रिंटिंग प्रेस, जोधपुर

| प्रथमावृत्ति | १ जनवरी | मूल्य |
| --- | --- | --- |
| १००० | सन् १९३७ | [illegible] आने |
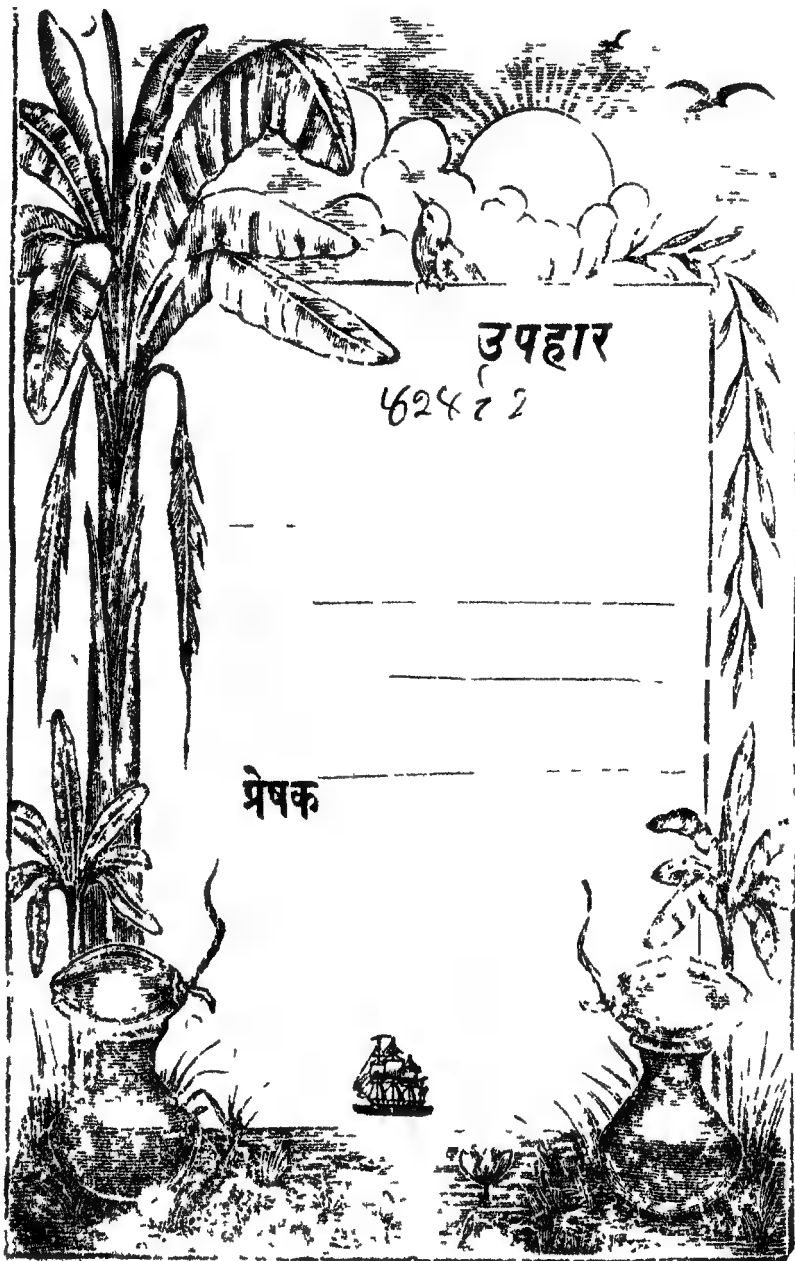
उपहार



प्रेषक

# The Khecarīvidyā of Ādinātha

A critical edition and annotated translation of an early text of *haṭhayoga*

James Mallinson

Routledge Studies in Tantric Traditions

# The Khecarīvidyā of Ādinātha

*The Khecarīvidyā of Ādinātha*, a Sanskrit text dated to pre-1400 CE, teaches *khecarī-mudrā*, one of the most important exercises of *haṭhayoga*, in which the tongue is inserted above the palate in order to drink the *amṛta* or nectar of immortality dripping from the top of the skull. It is said to bestow immortality, the ability to remain in deep meditation for long periods and the power of flight upon its practitioners. The text has been edited for the first time and has never before been accessible to an English speaking readership. It is accompanied by an introduction and an extensively annotated translation. The author has drawn on twenty-seven Sanskrit manuscripts and original fieldwork amongst yogins in India to demonstrate how earlier tantric yogic techniques developed and mutated into the practices of *haṭhayoga*. The work sheds new light on the development of *haṭhayoga* and explains its practices.

**James Mallinson** has a BA and DPhil in Sanskrit from Oxford and an MA in South Asian ethnography from the School of Oriental and African Studies. He has spent several years living with sadhus and yogins in India and now translates Sanskrit poetry for the Clay Sanskrit Library and yoga texts for YogaVidya.com.

## Routledge Studies in Tantric Traditions

Edited by Gavin Flood

*Professor of Religious Studies, University of Stirling*

The *Routledge Studies in Tantric Traditions* series is a major new monograph series which has been established to publish scholarship on South, East and Southeast Asian tantric traditions. The series aims to promote the serious study of both Hindu and Buddhist tantric traditions through the publication of anthropological and textual studies and will not be limited to any one method. Indeed, the series would hope to promote the view that anthropological studies can be informed by texts and textual studies informed by anthropology. The series will therefore publish contemporary ethnographies from different regions, philological studies, philosophical studies, and historical studies of different periods which contribute to the academic endeavour to understand the role of tantric texts and their meaning in particular cultural contexts. In this way, the series will hope to establish what the continuities and divergencies are between Buddhist and Hindu tantric traditions and between different regions. The series will be a major contribution to the fields of Indology, Sinology, History of Religions and Anthropology.

**Identity, ritual and state in Tibetan Buddhism**
*Martin A. Mills*

**The Khecarīvidyā of Ādinātha**
A critical edition and annotated translation of an early text of *haṭhayoga*
*James Mallinson*

# The Khecarīvidyā of Ādinātha

## A critical edition and annotated translation of an early text of *haṭhayoga*

James Mallinson

Routledge
Taylor & Francis Group
LONDON AND NEW YORK

First published 2007
by Routledge
2 Park Square, Milton Park, Abingdon, Oxon OX14 4RN

Simultaneously published in the USA and Canada
by Routledge
270 Madison Ave, New York, NY 10016

*Routledge is an imprint of the Taylor & Francis Group, an informa business*

This edition published in the Taylor & Francis e-Library, 2008.

"To purchase your own copy of this or any of Taylor & Francis or Routledge's collection of thousands of eBooks please go to www.eBookstore.tandf.co.uk."



*British Library Cataloguing in Publication Data*
A catalogue record for this book is available from the British Library

*Library of Congress Cataloging in Publication Data*
Ādinātha, 10th cent.
[Khecarīvidyā. English & Sanskrit]
The Khecarīvidyā of Ādinātha : a critical edition and annotated translation of an early text of hathayoga / James Mallinson.
p. cm. – (Routledge studies in tantric traditions series)
Includes bibliographical references and index.
ISBN-13: 978–0–415–39115–3 (hardback : alk. paper)
1. Hatha yoga–Early works to 1800. I. Mallinson, James, 1970- . II. Title.
BL1238.56.H38 A3513
294.5'436–dc22

2006033161

ISBN10: 0–415–39115–6 (Print Edition)
ISBN13: 978–0–415–39115–3

ISBN 0-203-93826-7 Master e-book ISBN

# Contents

# Preface

The original impetus for the work contained in this book, which is a revision of the doctoral thesis I submitted for examination in Oxford in 2003, was my wish to use Sanskrit philology to investigate Hindu asceticism. It was clear to me that the practice of yoga, and in particular *haṭhayoga*, was one of the traits shared by most of the ascetic orders that flourish in India today, and the one most suited to philological research. I thus sought a Sanskrit text on *haṭhayoga* to edit critically. Christian Bouy's masterful survey of haṭhayogic literature, *Les Nātha-Yogin et les Upaniṣads*, threw up various possibilities, and I settled on the *Khecarīvidyā*. Not only was it important to the yogic textual tradition - it is cited by several commentators and verses from it are used in later texts - but its beautiful and unique teachings describe a practice still used by yogins in India today, so I could draw on their insights to elucidate the text.

Furthermore, the *Khecarīvidyā* appeared to suit my purposes for two practical reasons. Firstly, according to the catalogues I consulted, there were seven manuscripts of it to be collated, an easily manageable number for a text three hundred *śloka*s long. Secondly, unlike most other texts on *haṭhayoga*, it taught a single practice, so I thought it would be relatively easy to understand. How misguided I was! By discovering more names under which the text was known and more ways of searching for witnesses, I ended up unearthing twenty-seven manuscripts of the text, and I soon realised that to get to the bottom of its teachings would require an understanding of a wide range of subjects, in particular the vast and dauntingly complex world of tantric Śaivism.

I could not have been in a better place for help in overcoming these problems. The presence in Oxford of my thesis supervisor, Professor Alexis Sanderson, had attracted a group of doctoral and post-doctoral students whose energy and enthusiasm for philological research into tantric Śaivism were a constant inspiration to me, and they helped to reassure me of the importance for understanding Indian religion of the often tedious business of collating and editing manuscripts. Many helped directly with this book but a few were particularly generous with their time and learning. I must first thank Professor Sanderson who was always ready to help me with his encyclopedic knowledge and expert guidance. Dr. Somdev Vasudeva is responsible for any elegance in the book's presentation and provided me with a great deal of useful textual material as well as encouragement and advice. Dr. Dominic Goodall spurred me into going to India in search of manuscripts and helped

me with the south Indian witnesses. Csaba Kiss was very generous with the fruits of his work on the *Matsyendrasaṃhitā*. Other Oxford contemporaries whom I wish to thank by name for their comments and help are Dr. Harunaga Isaacson, Dr. Alex Watson, Dr. Isabelle Onians, Dr. Jim Benson, Professor Richard Gombrich and Dr. Csaba Dezső. From outside of Oxford I thank Christian Bouy, whose work inspired me to start the thesis and who has helped me in my search for sources, Sebastian Pole, who with his practical expertise in yoga and his knowledge of *āyurveda* both encouraged and aided me in my work, Professor Arlo Griffiths, who made several improvements and corrections to the original thesis, Dr. Matthew Clark, who provided me with a copy of his doctoral thesis on Indian asceticism and answered my many questions, and the late Dr. Manmath Gharote who obtained several manuscripts for me and gave me copies of his editions of Sanskrit works on *haṭhayoga*.

Thanks are due to the many people who have helped me obtain copies of manuscripts, in particular Simon Stocken, Dr. David White, Cassia Smith-Bingham, His Highness Gaj Singh, Maharaja of Jodhpur, M. Ram, Dr. Dominik Wujastyk and the staff at the following institutions: the Maharaja Man Singh Library, Jodhpur (especially Kr. Mahendra Singh Tanwar), the Indian Institute Library, Oxford, the Wellcome Institute for the History of Medicine, London, the Government Oriental Manuscripts Library, Madras, the Scindia Oriental Research Institute, Ujjain, the Sarvajanik Library, Nasik, the Prajñāpāṭhaśālā, Wai, the National Archives, Kathmandu, the Nepal-German Manuscript Preservation Project, the Oriental Institute, Baroda, the Institut français de Pondichéry, the Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune, the Bombay University Library, the Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur, and the Oriental Research Institute, Bikaner.

For funding my studies and field trips I thank the British Academy for Humanities Research, the Boden Fund, Eton College and the Spalding Trust.

Finally, this book could not have been completed without the help of my wife Claudia, my family and all the yogins in India who shared their knowledge and insights with me, in particular Śrī Rām Bālak Dās.

# Introduction

# The *Khecarīvidyā*

The *Khecarīvidyā* is a dialogue between Śiva and his consort, Devī. It calls itself a tantra[1] and consists of 284 verses divided into four *paṭala*s. In the colophons of its manuscripts its authorship is ascribed to Ādinātha, the first of the gurus of the Nātha order, who is usually identified with Śiva.[2] The first *paṭala* (77 verses) starts with praise of the text itself, followed by a coded description of the *khecarīmantra* and detailed instructions for the key physical practice of the text. This practice is called *khecarīmudrā*,[3] and involves the freeing and lengthening of the tongue of the yogin in order that it might be turned back and inserted above the soft palate to break through the *brahmadvāra*, the door of Brahmā, so that the yogin can drink the *amṛta*, the nectar of immortality, which is stored behind it. The second *paṭala* (124 verses) describes the different *kalā*s in the body where *amṛta* is stored, the rewards to be gained from accessing the *amṛta* in these *kalā*s, and how to cure the problems that may arise in the course of the practice. The third *paṭala* (69 verses) describes practices involving the insertion of the tongue into the abode of Brahmā and the raising of Kuṇḍalinī in order to flood the body with *amṛta* and defeat death by temporarily or permanently leaving the body. The short fourth *paṭala* (14 verses) describes herbal preparations which can effect various magical results (*siddhi*s) for the yogin.

The *Khecarīvidyā* is the source of four verses in the vulgate of the *Haṭhapradīpikā*, eleven verses in its ten-chapter recension and at least sixty-four verses in its long recension.[4] It is also the source of all 49 *śloka*s of the second *adhyāya* of the *Yoga-kuṇḍalyupaniṣad* and of two verses in the *Haṭharatnāvalī*. It is cited by Nārāyaṇa in his commentaries on 52 atharvan *upaniṣad*s and is quoted in the *Gorakṣasiddhānta-saṃgraha*, an anthology of passages connected with Gorakṣanātha, who is said to be the original teacher of *haṭhayoga*. The *Matsyendrasaṃhitā*, a collection of haṭhayogic and tantric lore associated with Matsyendranātha, who is claimed by the Nātha school to have been Gorakṣanāṭha's guru, has among its 55 *paṭala*s all four *paṭala*s of the *Khecarīvidyā*. The *Khecarīvidyā* was the subject of a lengthy commentary by Ballāla called the *Bṛhatkhecarīprakāśa*. Jayatarāma used it extensively when composing his Hindī manual of *haṭhayoga*, the *Jogpradīpakā*.[5] The *Khecarīvidyā* was thus regarded as an authority on *haṭhayoga* and associated with the Nātha order of yogins.[6]

The text has received little attention from modern scholars. R.G. Harshe, in

*Summaries of Papers submitted to the 17th Session of the All-India Oriental Conference*, Ahmedabad, 1953, under the heading "*Mahākālayogaśāstra*: *Khecarīvidyā* by Ādinātha", wrote: "It is not published so far as it is known and a critical edition is being presented for the first time". It has not been possible to ascertain whether this edition was in fact ever presented or published. Bouy (1994) noticed the borrowings from the *Khecarīvidyā* in the *Haṭhapradīpikā* and *Yogakuṇḍalyupaniṣad*; it was his pioneering work that first drew my attention to the text. White (1996:169–170) gives a synopsis of the text and Roşu (1997:429 n.40) mentions it in passing.[7]

## The date and place of composition of the text

The *terminus a quo* of the *Khecarīvidyā* is the date of composition of the *Vivekamārtaṇḍa*, a work mentioned at *Khecarīvidyā* 1.14cd.[8] *Vivekamārtaṇḍa* (or °*mārtāṇḍa*) is one of the many names by which the work now usually known as the *Gorakṣaśataka* has been called.[9] No internal references allow us to establish a *terminus a quo* for the *Vivekamārtaṇḍa*, so its mention in the text is not especially helpful in dating the *Khecarīvidyā*. As noted by Bouy (ibid.:15 n.30), two verses of the *Vivekamārtaṇḍa* are cited without attribution in the *Śārṅgadharapaddhati*, a lengthy anthology of verses on a wide range of subjects.[10] This establishes a *terminus ad quem* for the *Vivekamārtaṇḍa* of 1363 CE (Sternbach 1974:17).

The *terminus ad quem* of the *Khecarīvidyā* is the date of composition of the *Haṭhapradīpikā* which, as mentioned above, borrows four *śloka*s from the *Khecarīvidyā*. The *Haṭhapradīpikā* is an anthology of passages from various texts.[11] The four borrowed verses are not found in any work other than the *Khecarīvidyā*, so one can be confident that the *Haṭhapradīpikā* has borrowed from the *Khecarīvidyā* and was therefore composed after it. Bouy (1994:81–85) summarises earlier attempts at dating the *Haṭhapradīpikā* and, adding further evidence, concludes "Dans l'état actuel des connaissances, il y a tout lieu de penser que la *Haṭhapradīpikā* est une anthologie qui a été composée dans le courant du xv[e] siècle".[12] Thus the most that can be said about the date of the composition of the *Khecarīvidyā* is that it was almost certainly prior to 1400 CE.

About the place of composition of the text nothing definite can be said. Its witnesses are found all across the subcontinent, from Jodhpur in the west to Calcutta in the east, and from Kathmandu in the north to Pondicherry in the south. An origin in southern India is hinted at by the superiority of the readings found in the manuscripts of the *Matsyendrasaṃhitā*, parts of which show evidence of origins in the Tamil region of south India, and by the good readings found in a Grantha manuscript from Pondicherry (witness G) which is unique in showing no signs of contamination with the other manuscript traditions.[13]

## The witnesses of the text

The manuscript witnesses of the *Khecarīvidyā* fall into five groups:[14]

- The *Khecarīvidyā* manuscripts (S$\alpha\beta\gamma$)

- The *Matsyendrasaṃhitā* manuscripts ($\mu$)
- Manuscript G
- Manuscript $R_2$
- The *Yogakuṇḍalyupaniṣad (U)* and manuscript T.

The five manuscript groups are now examined in detail.

## The *KhV* manuscripts

Twenty-two manuscripts form a discrete group on account of their similarity. Their sigla are: S, $NW_1$ $MK_1K_3$ (=subgroup $\alpha$), $J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ (=subgroup $\beta$) and $J_1J_5W_2R_1B$ (=subgroup $\gamma$). In the following pages these witnesses are referred to collectively as "the *KhV* manuscripts". The edited text as presented corresponds most closely to the text as found in these witnesses.

The twenty-two *KhV* manuscripts present similar versions of the text but can be divided into three distinct subgroups which I have called $\alpha$, $\beta$ and $\gamma$. See for example the list of *siddhi*s given at 1.75cd (this verse is omitted in G):[15]

> *pādukākhaḍgavetālasiddhidravyamanaḥśilāḥ* //75//
>
> 75d °manaḥśilāḥ ] $\mu$; °m abhīpsitaṃ S$\alpha$, °manaḥśilā $\beta$, °m anekaśaḥ $\gamma$

Of these three subgroups, $\alpha$ is perhaps the best, sharing the most readings with $\mu$ and G (which as will be shown below often preserve the best readings). $\beta$ is the largest and least homogeneous subgroup while $\gamma$ is the most idiosyncratic. The subgroups themselves can be further divided. Thus $K_1$ and $K_3$ make up $\alpha_3$. The rest of $\alpha$, i.e. N, $W_1$ and M, make up $\alpha_1$, which is in turn further divided because of the close similarity of N and $W_1$ (=$\alpha_2$). $J_2$, $J_4$, V and $K_4$ make up $\beta_1$ on account of their similarity while in $\gamma$ B is distinct on account of its corrected readings, leaving $\gamma_1$ (=$J_1$, $J_5$, $W_2$ and R) which contains $\gamma_2$ (=$J_1$ and $J_5$). Because of extensive contamination between and within the subgroups it has not been possible to use stemmatic analysis to decide which readings are to be adopted.[16] The *KhV* manuscripts are divided into subgroups in order to make the apparatus less cluttered.

The text as presented in the *Bṛhatkhecarīprakāśa* (witness S) is derived from witnesses in the tradition of groups $\alpha$ and $\beta$. Several times in his extensive commentary Ballāla gives alternative readings and these can all be found among the witnesses of $\alpha$ and $\beta$.[17]

## The *Matsyendrasaṃhitā* manuscripts

Three manuscripts of a text entitled *Matsyendrasaṃhitā* have been collated. Their sigla are $AJ_6J_7$ and they are referred to collectively as "the *MaSaṃ* manuscripts", or as the group $\mu$.[18] Verses 14.1–17.1 of the *Matsyendrasaṃhitā* correspond to the

first three *paṭala*s of the *Khecarīvidyā* and *Matsyendrasaṃhitā paṭala* 28 corresponds to *Khecarīvidyā paṭala* 4.

The *Matsyendrasaṃhitā* is a long treatise in 55 *paṭala*s on Śaiva tantric ritual and *haṭhayoga*.[19] It is ascribed to Matsyendranātha, the second in the traditional list of gurus of the Nātha order[20] with which the *Khecarīvidyā* is usually affiliated.[21] As far as I am aware, the *Matsyendrasaṃhitā* is neither mentioned nor cited in any other works.[22] Evidence helpful in dating the text is scant, but there are clues as to where some parts of it were composed. The mention of cannabis *(siddhimūlikā)* in *paṭala*s 29 and 39 suggests an origin in eastern India after the advent of Islam in that region.[23] There is strong evidence for other parts of the text having been composed in the Tamil region of south India. At 55.3 the frame story mentions a king from the south whose city is called Allūra. The city has not been identified, but the suffix *-ūra* suggests the Tamil region.[24] References to the predominantly south Indian *paścimāmnāya* stream of Śaivism are found throughout the text. Southern origins can also be inferred from the injunction at 8.31 to worship the god Śāstṛ, a village deity found only in the Tamil region.[25] Furthermore the yoga taught in the text is often described as *śāmbhava*, a name commonly used in south India to describe Śaiva yoga.[26]

The layers of narrative in the text are complex—it is a dialogue between Śiva and Pārvatī which was overheard by Matsyendranātha while in the belly of a fish and which he then told to an unnamed Cola king who had it written down. The *Khecarīvidyā* as a dialogue between Śiva and the goddess fits neatly into the didactic section of the text but appears to have been added to an earlier layer. At the beginning of the *Matsyendrasaṃhitā* when Pārvatī asks Śiva for instruction in *śāmbhava* yoga she lists the subjects about which she wants to know. These subjects correspond closely to the subject matter of *paṭala*s 2–7 and 22–38, and she does not mention *Khecarīvidyā*.[27] The inclusion of the *Khecarīvidyā* causes some internal contradictions in the text: for example, a hand-gesture *khecarīmudrā* unlike those described at *Khecarīvidyā* 2.81–82 or 3.54 is mentioned in the eleventh *paṭala*,[28] and the praise of cannabis as the ultimate drug at 29.1–2 contrasts sharply with its not being mentioned in *paṭala* 28 (=*Khecarīvidyā paṭala* 4).[29] This evidence suggests that the *Khecarīvidyā* is a later addition to an earlier version of the *Matsyendrasaṃhitā*. However the *Khecarīvidyā* does tie in well with the subject matter of the *Matsyendrasaṃhitā*, which for the most part is a blend of Kaula ritual and *haṭhayoga*. In style and language too the texts are very similar. *Matsyendrasaṃhitā* 17.2–18.63 (particularly 17.20c–37b) echoes parts of the *Khecarīvidyā* and appears to be derived from it. For example, 17.24c–31, about the use, protection and worship of the book in which the text is written, is very similar to 14.18–28 (= *Khecarīvidyā* 1.18–28). The *Matsyendrasaṃhitā* is not entirely derivative when it covers subjects found in the *Khecarīvidyā*. Parts of its earliest layer are helpful for understanding the *Khecarīvidyā*. Thus *Matsyendrasaṃhitā paṭala* 27 covers in greater detail the practices described at *Khecarīvidyā* 2.72–79.[30]

Many of the readings found in $\mu$ are different from, and often superior to, those of the other *Khecarīvidyā* witnesses. Their superiority can be seen at 3.24a where we find *prapibet pavanaṃ yogī*, "the yogin should breathe in air". Only $\mu$

and G have the reading *pavanaṃ*; the other witnesses read *paṃcamaṃ*. Similarly at 2.64ab, in the description of the location of the vessel of nectar in the head, only $J_6$ and $J_7$ read *parāmṛtaghaṭādhārakapāṭaṃ*, "the doorway at the base of the vessel of the supreme *amṛta*". For °*ghaṭā*°, A reads °*caṭā*°, G has °*ghaḍā*° and $R_2$ and the *KhV* manuscripts have °*ṣaḍā*°. At 1.22cd, in the instructions for the worship of the written text, only $\mu$ has *granthiṃ (em.; granthi codd.) nodgranthayed asya vinā kaulikatarpaṇāt*, "one should not untie its knot without [carrying out] a Kaula libation"; for the first *pāda* G and $\alpha$ have variants on the unlikely *granthaṃ samarpayed asya*, $R_2$, S and $\beta$ retain the negative with *granthaṃ tu nārcayed asya* while $\gamma$ has *granthaṃ tu cārcayed devi.*[31] Again, at 3.13a–14b, in a description of Kuṇḍalinī, the edition reads:

> *siñcantī yogino deham āpādatalamastakam* /
> *sudhayā śiśirasnigdhaśītayā parameśvari* //13//
> *punas tenaiva mārgeṇa prayāti svapadaṃ priye* /
>
> "...sprinkling the body of the yogin from the soles of his feet to his head with dewy, unctuous, cool nectar, o supreme goddess, she then returns by that same pathway to her own abode, my dear."

For 13cd all the witnesses other than $\mu$ have variants on *atha sā śaśiraśmisthā śītalā parameśvari*, "then she, cool [and] sitting on a moonbeam, o supreme goddess". The particle *atha* and the omission of *sudhayā śiśirasnigdhaśītayā* leave the participle *siñcantī* with neither a main verb nor anything with which to sprinkle the yogin's body.

As hinted at in the example of °*ghaṭā*° above, $\mu$ and G (and sometimes $R_2$) often share readings not found elsewhere and generally these readings are superior to those of the other witnesses. A very clear example of this is found at 1.69. This verse is found only in $\mu$, G and $R_2$ and is necessary to make sense of the passage in which it occurs. Similarly, at 2.37a, $\mu$, G and $R_2$ read *tatrastham amṛtaṃ* while the *KhV* manuscripts have the inferior *tatra sthāne 'mṛtaṃ* and *tatra saṃsthāmṛtaṃ*.

So far, the superior variants found in $\mu$ (and occasionally G and $R_2$) that have been pointed out are simple and obvious improvements to the syntax or meaning of the readings found elsewhere. If we turn to 3.55a–69b, however, the differences become more interesting.[32]

The passage as found in $\mu$ is a Kaula eulogy of *madirā*, alcohol. In G, $R_2$ and the *KhV* manuscripts, it has been redacted to make it more palatable to orthodox practitioners of *haṭhayoga*.[33] Thus $\mu$'s *madirā* becomes *khecarī* (see 3.56a, 57a and 65c) and the necessity of alcohol for success becomes the necessity of *śivabhakti*: *madirārādhanaṃ* at 3.59b becomes *madīyārādhanaṃ*; where $\mu$ has *tatprasādavihīnānāṃ tannindāparacetasām* at 3.59cd the *Khecarīvidyā* manuscripts substitute *mat*° and *man*° for *tat*° and *tan*°; *pūjāṃ saṃtyajya mādirīm* at 3.60d becomes *pūjāṃ saṃtyajya māmakīm*; *vāruṇyā tarpayet* at 3.62a becomes *bhaktyā saṃtarpayet* and so on.[34] Other passages in $\mu$ were so alcoholic that they had to be omitted altogether (see the entries in the last register of the critical edition apparatus at 3.62b, 3.64b and 3.67c). G, $R_2$ and the *Khecarīvidyā* manuscripts probably derive from a single archetype, in which the text as it is found in $\mu$ was first redacted to remove the

Kaula references. There are several differences between them, however, and it is likely that their traditions diverged early on in the transmission of the text. In G attempts have been made to alter some of the verses found in $\mu$ that are omitted in $R_2$ and the *Khecarīvidyā* manuscripts. Thus at 17.110cd $\mu$ has

> *asaṃpūjya pibed devi madirāṃ yaḥ sa pāpabhāk*

which is found in G as

> *mām asaṃpūjya yogena pāpaṃ bhavati nānyathā*

and where $\mu$ at 113c–114b has

> *saṃtarpya śivam īśānaṃ devīṃ devāṃś ca sarvaśaḥ*
> *tatprasādena labhate samyagjñānam akhaṇḍitam*

in G we find

> *saṃtarpya śivam īśānaṃ sarvadevotsavapradam*
> *matprasādena mahatā sarvavijñānavān bhavet.*

$\mu$'s 17.107ab, *asaktaḥ sumahāpūjāṃ yadi kartuṃ ca sādhakaḥ*, is found verbatim at G 273ab but is absent from the *Khecarīvidyā* manuscripts. $\mu$ follows this half-verse with *kuryād bindvekadānaṃ vā guruvākyāvalambakaḥ*, the *bindvekadānaṃ vā* of which is replaced with *ekaikayā devi* in G; the *Khecarīvidyā* manuscripts have this half-verse at 3.67ab but in a different context and replace the offending phrase with *ekaikam abhyāsaṃ*.

It might well be asked how one can be so certain of the direction of borrowing, especially since the *Matsyendrasaṃhitā* has borrowed the entire *Khecarīvidyā*. Several points indicate that $\mu$'s version of the passage is the oldest:

- As mentioned above, $\mu$'s primacy can be inferred elsewhere in the text from its preservation of good readings not found in the other witnesses, and from its containing a large number of *aiśa* forms that are found corrected in the other witnesses.[35]

- Contextually, $\mu$'s version seems to fit better. The first three lines of the passage suggest that the section on Khecarī is over.[36]

- At 3.61ab, the combination of *śivena* and *mādirīm* fits better than the *KhV* manuscripts' incongruous pairing of *śivena* with *māmakīm* (G has *mānavaḥ* for the latter).

- At 3.62a, $\mu$'s *vāruṇyā tarpayed* is more natural than the unlikely *bhaktyā saṃtarpayed* of G, $R_2$ and the *Khecarīvidyā* manuscripts.

- If one were altering a text, it is more likely that one would omit troublesome passages than insert extra ones. The passage in $\mu$ at 17.106c–107d, which is omitted in $R_2$ and the *Khecarīvidyā* manuscripts (apart from 17.107cd

> which is found slightly altered at *Khecarīvidyā* 3.67ab), fits well contextually as well as syntactically with the following half-verse while its omission in the *Khecarīvidyā* manuscripts gives the passage a disjointed feel.[37]

Analysis of the three witnesses of $\mu$ indicates that they all descend from a single hyparchetype and that the readings of A derive from those of $J_7$ which derive from those of $J_6$.[38]

## Manuscript G

Witness G is a palm-leaf manuscript written in Grantha script in the collection of the Institut français de Pondichéry. Entitled *Khecarīvidyā*, it is missing its first two folios and starts at the edition's 1.20a. It has no *paṭala* divisions and does not include *paṭala* 4.

As stated above, G, $R_2$ and the *KhV* manuscripts probably derive from an earlier attempt to expunge the explicitly Kaula references found in $\mu$. G often shares good readings with $\mu$ that are not found in the *Khecarīvidyā* manuscripts, and has unique readings that appear to be deliberate alterations. See for example G's *ca gurutarpaṇāt* at 1.22d, where $\mu$, $R_2$ and the *KhV* manuscripts have *kaulikatarpaṇāt*.[39] G also regularly has good readings not found in any other witnesses and several of these have been adopted in the edition. See e.g. 1.70a, 2.3d, 2.22c, 2.40a, 2.88c and 2.92a. G shows no evidence of contamination with any of the other manuscript traditions.

## Manuscript $R_2$

Witness $R_2$ is a paper manuscript of the *Khecarīvidyā* from the collection of the Asiatic Society of Bengal. Like G it does not include *paṭala* 4 of the *Khecarīvidyā*, but unlike G it breaks the text into three *paṭala*s in the same places as the *Khecarīvidyā* manuscripts.

$R_2$ shares several readings with $\mu$ or $\mu$ and G which are not found in the other witnesses. Twice it shares readings with G which are not found elsewhere. On the other hand, it often has readings which are not found in $\mu$ or G but are found in the *Khecarīvidyā* manuscripts. In the few verses for which witness *D* (Nārāyaṇa's *Dīpikā*) is a witness, $R_2$'s readings are uniquely close to it.[40]

As stated above it seems likely that G, $R_2$ and the *Khecarīvidyā* manuscripts derive from a single archetype in which attempts were made to expunge references to the explicitly Kaula practices found in $\mu$. $R_2$'s preservation of readings found only in $\mu$ and/or G and its lack of a fourth *paṭala* indicate that it and the *Khecarīvidyā* manuscripts derive from another later archetype from which G does not descend. At this point, the manuscript tradition of $R_2$ branched off before the redaction of the archetype of the *Khecarīvidyā* manuscripts. Later, through contamination with the tradition of the *Khecarīvidyā* manuscripts, $R_2$ acquired some of their readings.

At two places (2.110ab, 3.49b), $R_2$ has good readings which are not found elsewhere but neither of these has been adopted in the edition.

## The *Yogakuṇḍalyupaniṣad* (*U*) and manuscript T

The 49 *śloka*s of the second *adhyāya* of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* are all found in the first 64 *śloka*s of the first *paṭala* of the *Khecarīvidyā*. Witness T, like *U*, stops at what is 1.64b in my edition of the *Khecarīvidyā*, but it has the $14\frac{1}{2}$ *śloka*s that the *upaniṣad* omits.

Bouy (1994) has shown how in the eighteenth century a corpus of 108 *upaniṣad*s was compiled in south India. In order to do this, some new *upaniṣad*s had to be put together and the vogue at that time for the teachings of *haṭhayoga* led to haṭhayogic works being used for the task. The compilers were orthodox *vedāntin*s and tried to keep their compositions within the limits of upaniṣadic and *advaita* convention. Thus *U* omits most of the *Khecarīvidyā*'s first *paṭala*'s explicit references to tantra and tantric practices. Fourteen of the *Khecarīvidyā*'s first sixty-three verses are omitted altogether in the *upaniṣad*. In these verses (13c–20b, 21a–25b, 26a–28b, 30ab, 61ab) Śiva calls the *Khecarīvidyā* a tantra and mentions other tantras in which the practice is taught. The verses omitted by the *upaniṣad* include (at 22–25) the directions for worship of the *grantha* in which the text is written down, a practice described in other tantric works but not possible in the case of a divinely-revealed *upaniṣad*. Verses in which the text is referred to abstractly as *śāstra* rather than the more tangible *grantha* are generally retained and in 11a only *U* and J3 have *śāstraṃ* as opposed to *granthaḥ*.[41] The first chapter of the *upaniṣad* is not presented as a dialogue.[42] Without introducing his interlocutors, the redactor presses on with the second chapter, keeping it as a dialogue but concealing the tantric leitmotif of the text as a conversation between Śiva and Pārvatī by substituting the vocative forms *brahman* and *mune* where the *Khecarīvidyā* has *devi* and *priye* respectively. For longer vocatives, he substitutes colourless verse-fillers. Thus at *Khecarīvidyā* 8b *parameśvari* becomes *guruvaktrataḥ* and at 1.50d *tiṣṭhaty amaravandite* becomes *tiṣṭhed eva na saṃśayaḥ*.

Witness T is curious in that like *U* it stops at the edition's 1.64b but it keeps the verses that *U* omits and the vocatives addressed to the goddess. This must be either the result of conflation between manuscripts of the *upaniṣad* and of the *Khecarīvidyā* or evidence that *Khecarīvidyā* 1.1–64b existed as a text in its own right before being redacted to make the *upaniṣad*'s first *adhyāya*.

On the next page is a stemmatic diagram of the relationships between the witnesses. In this diagram, only the positions of the witnesses themselves represent definite historical facts; the remaining nodes and the lines are conjectural, and no attempt has been made to indicate the widespread contamination between the witnesses and witness groups.
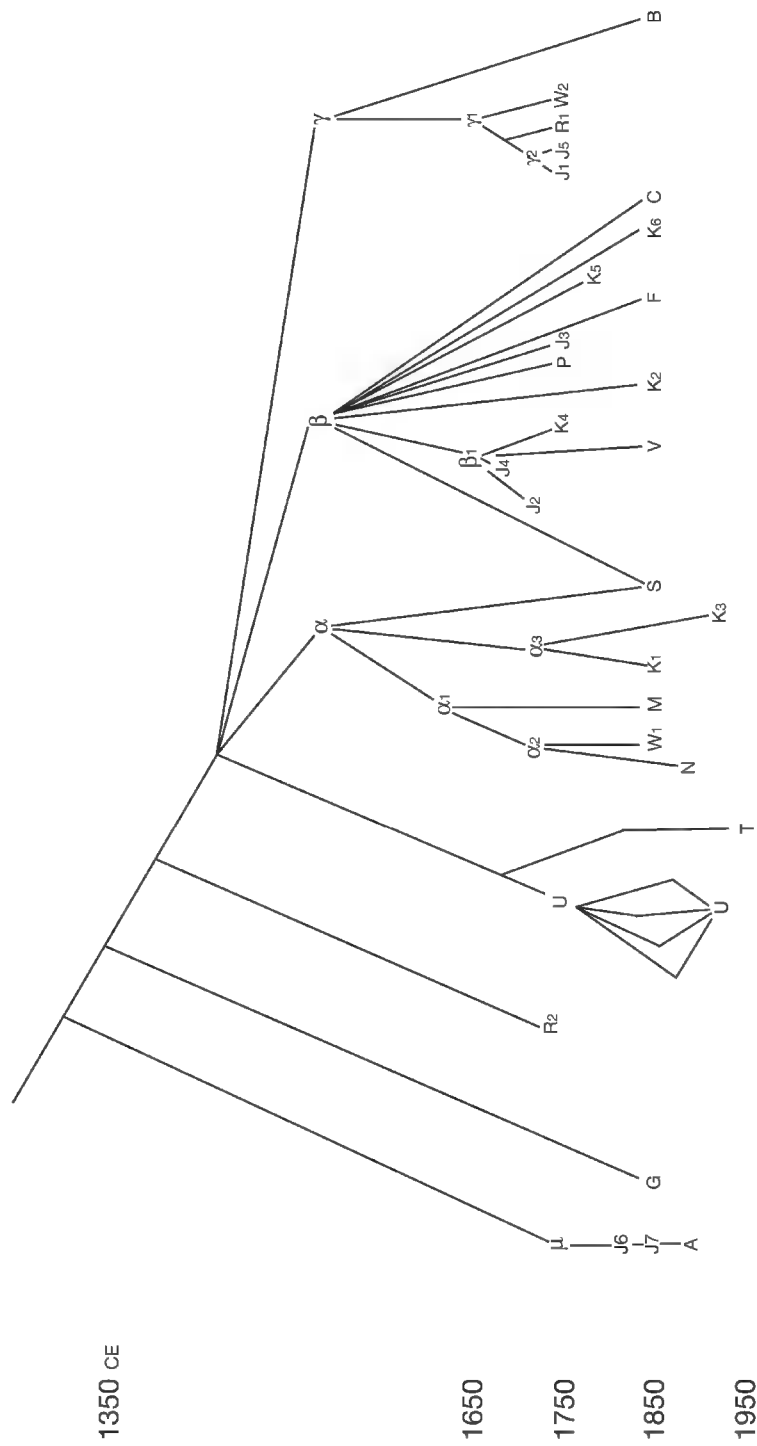
*Figure 1*: Stemmatic diagram of the relationship between the witnesses of the *Khecarīvidyā*

## The *Khecarīvidyā*: part, whole or wholes?

The colophons of G, $R_2$ and the *Khecarīvidyā* manuscripts describe the *Khecarīvidyā* as being part of the *Mahākālayogaśāstra* of Ādinātha.[43] I have found no catalogue references to a manuscript by that name and the single textual reference to it that I have come across postdates the *Khecarīvidyā*'s composition by some centuries and may be derived from the *Khecarīvidyā*'s own attribution to the text.[44] This suggests that the *Mahākālayogaśāstra* never existed and that the *Khecarīvidyā* was connected with this fictitious text in order to anchor it within an appropriately weighty-sounding tradition.[45] Alternatively, the name *Mahākālayogaśāstra* may have been used to mean the teachings on yoga found in the *Mahākālasaṃhitā*, whose authorship is also ascribed to Ādinātha. As noted by GOUDRIAAN (GOUDRIAAN & GUPTA 1981:78), the *Mahākālasaṃhitā* "functions as the locus of ascription for a number of *stotras* and other texts".[46] Its manuscript colophons say that the text originally consisted of 500,000 verses, but the manuscripts themselves provide only fragments of it (30 of at least 255 *paṭalas*).[47]

Whether or not the *Mahākālayogaśāstra* ever existed, examination of the *Khecarīvidyā* indicates that it was part of a larger work. The name of the text is very unusual—I know of no other tantric or haṭhayogic work called *vidyā*. In such texts *vidyā* may mean a mantra or a particular type of mantra and in all instances of the word in the text of the *Khecarīvidyā* this is what it means. Some tantras contain coded descriptions and instructions for the use of many different *vidyā*s.[48] It seems that the framework of the *Khecarīvidyā* was taken from a chapter of such a text in which the *vidyā* of Khecarī was described, and then filled out with instructions about the physical practice.[49]

The third *paṭala* ends with Śiva saying to the Goddess (3.68):

> "I have taught this yoga, which brings success in all yogas, out of fondness for you, o Goddess. What more would you like to hear?"

To which the Goddess replies (3.69):

> "O Śambhu, on whose head is the half-moon [and] who can be attained [only] by true devotion, may you be victorious. You have described well the secret *Khecarīvidyā*."

The second line is as it is found in the *KhV* manuscripts and fits with this being the end of the teaching of a text called *Khecarīvidyā*. In $\mu$, however, we find the following:[50]

> "...you have taught the secret method of mastering the *vidyā* of Khecarī."

As we have seen above, $\mu$ often preserves older readings than those found in the *Khecarīvidyā* manuscripts and this reading suggests that we have come to the end of a section describing the form and practice of the Khecarī mantra rather than the end of the text itself.

The *Khecarīvidyā* manuscripts also have a fourth *paṭala* in just fourteen verses which makes no mention of Khecarī or the practice,[51] but describes drugs *(auṣadhāni)* for attaining magical powers. Besides its lack of continuity in subject matter, this *paṭala* is different in style from the preceding three, most noticeably in the variety and complexity of the metres that it uses. The first three *paṭala*s are entirely in *anuṣṭubh* metre with a few *vipulā*s. The fourth *paṭala* uses *vasantatilakā*, *upajāti*, and *sragdharā* metres as well as *anuṣṭubh*. Witnesses $\mu$, G and $R_2$, which regularly have better readings than the *Khecarīvidyā* manuscripts, do not include this fourth *paṭala* with the other three.[52] The colophon to the Mysore *Khecarīvidyā* manuscript's fourth *paṭala* reads *iti siddhauṣadhāni* without ascribing it to the *Khecarīvidyā*, while in the colophons of the first three *paṭala*s it reads *iti śrīādināthaviracite mahākālayogaśāstre khecaryāṃ prathamaḥ/dvitīyaḥ/tṛtīyaḥ paṭalaḥ*. It seems likely that this fourth *paṭala* has been appended to the *Khecarīvidyā*, perhaps on the model of the *Yogasūtra*'s fourth *pāda*, which mentions drugs *(auṣadhi)* in its first *sūtra*. Similarly, DIGAMBARJĪ & JHĀ's edition of the *Haṭhapradīpikā* includes a short fifth *upadeśa*, found in only a small proportion of the witnesses, which details ways of curing physical imbalances through breath-control and diet.[53]

Analysis of the witnesses thus indicates that the text probably went through the following four stages in the course of its development:

1. It first existed as part of a longer text, in the form of a chapter describing the mantra *(vidyā)* of Khecarī. As such the text would probably have consisted of the edition's 1.1–44 and 3.55–69.[54]

2. This chapter was extracted from the larger text and the remaining verses found in the edition's first three *paṭala*s were added.[55] These verses contain instructions for the physical practice of *khecarīmudrā* and were probably gathered from a number of different sources.[56]

3. These three *paṭala*s were then redacted to remove the references to unorthodox Kaula practices found in the *Matsyendrasaṃhitā* manuscripts.

4. The fourth *paṭala*, on magical potions, was added to the text.

## Editorial policy

The text has been presented in the form in which it is found in the *Khecarīvidyā* manuscripts. It is in this form that the text enjoyed its greatest popularity and it is this form for which there is the greatest amount of evidence. The composite nature of the text and the redaction it has undergone have resulted in internal contradictions that must have been present since at least the second stage outlined above. Rather than attempt the impossible task of creating a completely coherent text I am presenting it as an occasionally incoherent document whose incoherence tells the story of the development of both the text and *haṭhayoga*.

It has been impossible to adopt readings by means of the kind of stemmatic analysis advocated by WEST (1973) and others. There is considerable contamination between and within the witness groups to the extent that stemmatic analysis is impossible.[57] The following are among the most glaring indicators of this contamination:

- $\mu \leftarrow$ all other witnesses : 1.33c–35b is found after 1.53d in all witnesses. It is only found at 1.33c–35b in $\mu$, which has the passage twice. It seems that it was originally at 1.33c–35b but was then mistakenly put after 1.53d and this mistake found its way into the $\mu$ manuscripts through conflation of sources.
- $\mu \leftarrow$ the *Khecarīvidyā* witnesses : these witnesses have *nābhi*° at 2.40a as opposed to G's correct *liṅga*°. Cf. 2.92a.
- $\alpha \leftrightarrow \beta$ : as mentioned above, Ballāla mentions alternative readings in his commentary. These can all be found in $\alpha$ and $\beta$.
- $\mu \leftrightarrow \alpha_3$ : e.g. 1.6a *abhyāsāl*, 1.9d *saṃsṛti*, 1.19d *vadet*, 1.74b *prajīvati*, 4.6d *labhet*.
- $R_2 \leftarrow$ everything else: $R_2$ is often the only other witness to share readings with $\mu$, G or the *Khecarīvidyā* witnesses.
- $K_2PJ_3F \leftrightarrow \gamma$ : these witnesses omit 2.90d–91a, 3.30 and 4.4ab.
- $K_4 \leftarrow \mu G\alpha$ : $K_4$, uniquely among the witnesses of $\beta$ and $\gamma$, has the reading *abhedyaḥ* found in $\mu G\alpha$ at 2.29a.
- $N \leftrightarrow J_1R_1$ : these witnesses omit 2.107.
- $\alpha_1 \leftrightarrow K_2$ : these witnesses omit 2.5b–6a.
- $\alpha_3 \leftrightarrow K_2 \leftrightarrow \gamma$ : these witnesses omit 3.56cd.

As WEITZMANN (1977:229) has observed, in a contaminated tradition the true reading can easily survive in just one witness, so I have taken the merit of each individual variant to be the criterion for its selection.[58] As stated above, the text as found in the *Khecarīvidyā* manuscripts has been used as a blueprint, but where a variant reading from $\mu$, G or *U* improves the text without conflicting with the ideological standpoint of the *Khecarīvidyā* manuscripts, it has been adopted.[59]

Where a plausible alternative can be found among the other witnesses, the readings of *U* have not been adopted. This is because *U* has undergone the most redaction so its variant readings are the least likely to be original. At 1.6cd, however, its reading has been adopted since it is the only one of which I can make any sense. There are two other places (1.38c, 1.51a) where the reading of *U* has been adopted over those of all the other witnesses.

Examples have been given above of how $\mu$, G and $R_2$ often preserve better readings than the other witnesses. Where these are straightforward improvements to the text they have been adopted. Where their variants in the *Khecarīvidyā* manuscripts

show signs of doctoring for ideological reasons they have not. Thus, in the example already given of $\mu$ and G's *pavanam* for the *Khecarīvidyā* manuscripts' *pañcamam* at 3.24a, *pavanam* has been adopted. Similarly, the verse found at 1.69 in $\mu$, G and $R_2$, which is missing from the *Khecarīvidyā* manuscripts, is adopted. On the other hand, the passage at 3.57–69 is presented as it is found in the *KhV* manuscripts despite $\mu$'s version being original and more coherent. Verses in which I have considered doctrine more important than originality include 2.39 (*°bhūtalayo bhavet* for *°bhūtajayaṃ labhet*), 2.50 (*yoginaḥ* for *yoginyaḥ*), 2.72 (*tālu°* for *bhāla°*), 3.11 (*sadāmṛtatanuḥ* for *parāmṛtatanuḥ*) and 3.31 (*nityadehamayam* for *tyaktvā deham imam*).

On matters such as how long a technique should be practised or how long it takes to produce results the readings of $\mu$, G and $R_2$ have usually been adopted if they differ from those of the *KhV* manuscripts. This approach could of course be flawed—the redactors of the *Khecarīvidyā* may have altered practical details as a result of first-hand observation.

My reliance on the quality of individual variants as the criterion for their adoption gives me considerable editorial licence. Where I feel that my reasons for adopting a particular variant may not be clear I have explained them in the notes to the translation.

## Language

The *Khecarīvidyā* is written in simple Sanskrit, similar to that of other tantric and haṭhayogic works. *Aiśa* peculiarities are common, more so in $\mu$ than in the *Khecarīvidyā* manuscripts in which the *aiśa* forms found in $\mu$ have often been corrected. In the following list of *aiśa* forms I have for the most part only included those peculiarities which are found in the text as constituted or in $\mu$.[60]

### Aiśa peculiarities in the text

**plural declined as singular** 4.7a *pañcamāsena*.

**neuters declined as masculines in dual and plural** 2.59d *sthānāḥ*; 2.110b *phalān*.

**masculine singular becoming neuter singular** 1.4d *tadabhyāsaṃ ca durlabham* ($\mu$ only); 1.5a *abhyāsam*;[61] 1.54b, 1.55b *abhyāsam*; 2.89a, 2.124c *bhedam*; 2.107c *saṃgamam*; 3.14d *yogam*; 3.44a *kālam*; 3.59c *na sidhyati mahāyogam* ($\mu$ only); 3.68a *etad yogaṃ mayākhyātam* ($\mu$ only).

**neuter singular becoming masculine singular** 2.117a *divyadarśanaḥ*.

**neuter singular becoming feminine singular** 2.77b *adharā*.

**dual *-ābhyām* for *-ayoḥ*** 2.95c *karṇābhyām*.

***-in* stem declined as *-i* stem** *(metri causa)* 2.6c *parameṣṭhīnām*.

**substantive for adjective** 2.39c, 3.22d *śivasāmyaḥ*; 4.3c *mahāmārutasāmyavegaḥ*.

***-ya* for *-tvā* in the absolutive** 2.37a *tatrastham amṛtaṃ gṛhya* (μ only); after 3.62b *tāsām ekatamāṃ gṛhya* (μ only).

***-tvā* for *-ya* in the absolutive** 1.70a *saṃpītvā*.

**active verb with causative sense** 2.123d *viśet*; 3.2a *praviśya*; 3.3a *praviśet*.

**incorrect verb-forms** 1.46d, 1.47d *samucchinet*; 1.52a *kramati*; 1.57b *praviśyati*; 2.50c *samupāsante*; 2.96d *śṛṇutvā* (μ only); 2.110b *labhati*; 3.39b *grasatīm*.

**consonant stem becomes vowel stem for purposes of sandhi** 2.60b *śirordhve*; 3.8 *jyotirūpiṇī*.

**incorrect sandhi** 1.16c *asmin tantravare*;[62] 2.18d *vikhyātā 'maravandite*.[63]

**awkward syntax** 1.8cd *tadā tat siddhim āpnoti yad uktaṃ śāstrasaṃtatau*; 2.71cd *dambhakauṭilyaniratās teṣāṃ śāstraṃ na dāpayet*.[64]

## Metre

The first three *paṭala*s of the text were composed in *anuṣṭubh* metre. In *paṭala* 4, verses 1, 5–9 and 11–14 are in *anuṣṭubh*, verse 2 is in *vasantatilakā*, verses 3 and 10 are in *upajāti* and verse 4 is in *sragdharā*. As I have presented it, the text contains the following *vipulā*s in its *anuṣṭubh* verses:

**na-vipulā** [17 in total]: 1.5c, 10c, 60c, 76c, 77a; 2.8a, 40c, 47c, 58a, 59a, 63a, 71c; 3.4a, 11a, 30a, 37a, 66a.

**bha-vipulā** [5]: 1.52a; 2.90a, 116a; 3.1c; 4.9a.

**ma-vipulā** [6]: 1.34c, 62c; 2.23a, 43c, 114c; 3.25a.

**ra-vipulā** [2]: 2.111a; 3.35c.

# The haṭhayogic *khecarīmudrā*

This chapter starts with a survey of textual evidence for practices related to the haṭhayogic *khecarīmudrā* before the composition of the *Khecarīvidyā*.[65] This is followed by an examination of the practice as it is described in haṭhayogic texts. Next ethnographic data is drawn on to see how and why *khecarīmudrā* is practised today. The chapter finishes with a brief look at those who practised the technique in the past and those who practise it today.

## Forerunners of the haṭhayogic *khecarīmudrā*

### The Pali canon

A practice which has elements of the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā* is described in three passages in the Buddhist Pali canon. In two of the passages the technique is said to bring the mind under control and in the third it is said to suppress the appetite. The first passage is from the *Mahāsaccakasutta* (*Majjhima Nikāya* I, Book 9, pp. 242–246). The Buddha has been questioned by Saccaka, a Jaina who is also called Aggivessana, about *kāyabhāvanā*, "development of the body", and *citta-bhāvanā*, "development of the mind". In his reply the Buddha describes his attempts to control his mind with physical practices including the pressing of the tongue against the palate, before describing further attempts involving *appānaka jhāna*, "non-breathing meditation", and fasting. The passage runs as follows:[66]

> "Then, Aggivessana, this occurred to me: 'Suppose now that I clench my teeth, press my palate with my tongue and restrain, suppress and torment my mind with my mind.' So, indeed, Aggivessana, I clenched my teeth, pressed my palate with my tongue and restrained, suppressed and tormented my mind with my mind. Aggivessana, as I clenched my teeth, pressed my palate with my tongue and restrained, suppressed and tormented my mind with my mind, sweat came from my armpits. Just as when, Aggivessana, a strong man, taking hold of a weaker man by the head or shoulders, restrains, suppresses and torments him, so when I clenched my teeth, pressed my palate with my tongue and restrained, suppressed and tormented my mind with my mind, sweat

> came from my armpits. But although, Aggivessana, unsluggish energy arose in me and unmuddled mindfulness came about, my body was impetuous, not calmed, while I was troubled by that painful exertion. And indeed, Aggivessana, this painful feeling arose in me and remained without taking over my mind. Then, Aggivessana, this occurred to me: 'Suppose I meditate the non-breathing meditation'..."

He goes on to hold his breath until he is afflicted by terrible headaches, strong winds in the stomach and a great heat that is like being roasted over burning coal. He then tries fasting until the skin of his belly touches his backbone, he falls over from fainting, his hair falls out and, finally, he loses his fair complexion. At this point he declares:[67]

> "Then, Aggivessana, this occurred to me: 'The ascetics or Brahmins of the past who experienced painful, sharp [and] severe sensations due to [self-inflicted] torture [experienced] this much at most, not more than this. And those ascetics or Brahmins who in the future will experience painful, sharp [and] severe sensations due to [self-inflicted] torture [will experience] this much at most, not more than this. And those ascetics or Brahmins who in the present experience painful, sharp [and] severe sensations due to [self-inflicted] torture [experience] this much at most, not more than this. But I indeed, by means of this severe and difficult practice, do not attain to greater excellence in noble knowledge and insight which transcends the human condition. Could there be another path to enlightenment?"

The Buddha is here clearly condemning the ascetic practices that he has undertaken, including the technique of pressing the tongue against the palate. However, in the following passage from the *Vitakkasanthānasutta* (*Majjhima Nikāya* I, Book 9, pp. 120–121), after being asked about *adhicitta*, "higher thought", he recommends the practice that we have just seen dismissed:[68]

> "Then if, monks, a monk concentrates on the thought function and the nature of those thoughts, but there still arise in him sinful and unwholesome thoughts associated with desire, aversion and confusion, then, monks, he should clench his teeth, press his palate with his tongue and restrain, suppress and torment his mind with his mind. Then, when he clenches his teeth, presses his palate with his tongue and restrains, suppresses and torments his mind with his mind, those sinful and unwholesome thoughts associated with desire, aversion and confusion are got rid of, they disappear. By getting rid of these the mind turns inward, becomes calm, one-pointed and focussed."

In the *Suttanipāta* (p. 138, vv. 716–718), when asked to explain *monam*, "sagehood", the Buddha says:[69]

> "[The sage] should be [as sharp] as a razor blade. Pressing his palate with his tongue he should be restrained with respect to his stomach.

> He should not have an inactive mind nor should he think too much. [He should be] without taint, independent and intent on the holy life. He should learn the practices of solitude and serving ascetics. Solitude is called sagehood. Solitary you will indeed be delighted and shine forth in the ten directions."

The *Paramatthajotikā* commentary on this passage describes the pressing of the palate with the tongue as a means of overcoming thirst and hunger. This is echoed both in medieval haṭhayogic texts,[70] and by contemporary Indian yogins who say that the haṭhayogic *khecarīmudrā* enables extended yogic practice by removing the need to eat or drink.

Here is not the place to attempt to ascertain the Buddha's true attitude towards this practice. For our purposes it is enough to conclude that these passages provide evidence that an ascetic technique involving the pressing of the tongue against the palate (but *not* its insertion above the palate) was current at the time of the composition of the Pali canon and that this practice had two aims: the control of the mind and the suppression of hunger and thirst.[71]

## Early Sanskrit texts

The earliest Sanskrit reference that I have found to a practice similar to the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā* is in the *Viṣṇusmṛti*. DERRETT (1973:32) describes this dharmaśāstric text as "a puzzle", standing "between the thought-world of Manu and that of the Vaiṣṇava Purāṇas". KANE (1968: vol. 1.2 p. 125) believes the text to consist of two layers, a prose nucleus composed between 300 and 100 BCE, and a later verse layer, added between 400 and 600 CE. The following passage (97.1) comes at the beginning of a prose section on *dhyāna*:[72]

> "With the feet placed on the thighs and facing upwards, with the right hand placed in the left, with the tongue unmoving and placed at the palate, not touching the teeth together, looking at the tip of his nose and not looking around, fearless and calm, he should think of that which is beyond the twenty-four elements...And for him who is devoted to meditation yoga manifests within a year."

Here the practice involving the tongue has no explicit purpose but is just one of various physical postures to be adopted by the meditator.

The next passage is from the *Maitrāyaṇīyopaniṣad*. This work is a later *upaniṣad* but its date is uncertain. In his edition of the text, VAN BUITENEN makes no attempt at dating it. He does however distinguish between an early layer of the text and later interpolations, and includes the following passage among the interpolations (1962:85). The mention of Suṣumṇā *nāḍī* shows that the passage has been influenced by tantric physiology; it may be no older than the *Khecarīvidyā*.

At 6.18 yoga has been described as *ṣaḍaṅga*, consisting of *prāṇāyāma*, *pratyāhāra*, *dhyāna*, *dhāraṇā*, *tarka* and *samādhi*. The following passage (6.20–21) concerns *dhāraṇā*:[73]

> "Elsewhere it has also been said: Next is the ultimate fixing of this [object of *dhyāna*]. By pressing the tip of the tongue and the palate [and there]by checking speech, mind and breath [the yogin] sees Brahman through consideration *(tarkeṇa)*. When, after the termination of mental activity [the yogin] sees the *ātman* by means of the *ātman*, more minute than an atom and shining, then having seen the *ātman* by means of the *ātman* he becomes without *ātman*. Because of his being without *ātman* he is to be conceived of as without thought, without origin; this is the definition of liberation. That is the ultimate mystery. For it is said thus:
>
> > 'For by calmness of the mind
> > he destroys good and bad action.
> > Happy and abiding in the *ātman*
> > he attains eternal bliss.'
>
> Elsewhere it has also been said: The upward-flowing channel called Suṣumṇā carries the breath and ends in the palate. By way of this [channel] which is joined with Om and the mind, the breath moves upward. Turning the tip [of the tongue] back over the palate and restraining the sense-organs greatness looks upon greatness. Then he becomes without *ātman*. Through being without *ātman* he does not partake of pleasure or pain and attains isolation."

Here the technique of turning the tongue back onto the palate seems to serve a similar purpose to that found in the first two Pali passages, namely that of controlling the activity of the mind. It is also connected with the raising of the breath by way of the Suṣumṇā *nāḍī*.

The Pali and Sanskrit passages cited above provide evidence (albeit rather scant) that a meditational practice involving pressing the tongue to the palate was known and used by Indian ascetics as early as the time of the composition of the Pali canon. The practice as described in these texts is however very different from the *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā*, being merely its bare bones. We must turn to the texts of tantric Śaivism for the flesh.

## Texts of tantric Śaivism[74]

A verse from the *yogapāda* of the *Kiraṇatantra* describes in brief a practice similar to that described in the *Maitrāyaṇīyopaniṣad* (which may well postdate the *Kiraṇatantra*):[75]

> "Holding the breath and, while trembling (*sasphuram* ?), contracting the throat, by means of the conjunction of the tongue and palate there is instant rising [of the breath]."

Both this and the *Maitrāyaṇīyopaniṣad* passage describe a forerunner of the idea found in the *Khecarīvidyā* and other haṭhayogic texts that the insertion of the tongue into the cavity above the palate results in the raising of Kuṇḍalinī.[76] The later tantric and haṭhayogic emphasis on the raising of Kuṇḍalinī is not found in the *yogapāda*s of early works of tantric Śaivism such as the *Kiraṇatantra*, where the emphasis is on the raising of the breath through the central channel.

We now turn to five passages from texts that are products of possession-based Yoginī cults or their Kaula derivatives. These passages describe methods of conquering death by drinking *a-mṛta*, "non-death". Similar techniques are described elsewhere in tantric Śaiva works but in these the yogin is instructed to visualise the body being flooded with the *amṛta* rather than to drink it.[77]

The first of these passages is from the *mudrāṣaṭka* of the *Jayadrathayāmala*. It is a description of a yogic *karaṇa* called *antarjala* and comes in the middle of a long passage describing several other such *karaṇa*s.[78] These are all extremely obscure and the text is corrupt in several places. However the passage contains one of the earliest references to a yogic practice in which the tongue is definitely placed in *the hollow above* the palate and which links the practice with the drinking of *amṛta*. The previous twenty verses describe a technique of breath-retention by which the yogin can flood his body with *amṛta* and then increase the duration of the retention to attain various magical powers and worlds. I translate the passage thus:[79]

> "[The *sādhaka*] should drink that nectar of the stream which is milked as if from a cow's teats. Satiated by that *amṛta* he [becomes] free from wrinkles and grey hair. [...] When the tongue has reached the head of Viṣṇu, on union with the void it enters the aperture of the palate without even slightly touching [the side]. Then, o Brahmin, making the mouth like the hollow beak of a bird and then holding that sensation until [his] condition becomes steady, the yogin in the steady state floats comfortably. As a result of the relaxation of [the yogin] there and of the consideration of the two smells (?), the supreme nectar flows forth, struck by the tongue at the moon in the void. That which has the form of consciousness having tasted that *[amṛta]* assuredly moves upwards. This conjunction of Śiva and Śakti is the uprooting of the Key goddess.[80] †[The conjunction] in which the power of sight is above the pronunciation of an extended vowel is a garden created by the pervasiveness of Śiva.† Joining the tongue and the palate, [the yogin] joins the aperture of the palate above the throat with the energy of vibration up to the twelve levels."

Although there are many difficulties in this passage it is clearly the closest we have come so far to the *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā*.[81]

In the *Maitrāyaṇīyopaniṣad* and *Kiraṇatantra* passages, the placing of the tongue at the palate is connected with the raising of the breath; in this passage, at 160a, *cidrūpam*, "that which has the form of consciousness", is said to rise. The breath is often associated with consciousness, but Kuṇḍalinī is also said to be *cidrūpā* (see

e.g. *KMT* 6.4) so it may be that here we have the first instance of the placing of the tongue at the palate being associated with the raising of the goddess Kuṇḍalinī (or a forerunner of her), particularly in the light of the following half-verse, in which Śiva and Śakti are said to be united.

The next passage is from the *Mālinīvijayottaratantra*:[82]

> "And now the supreme secret, the acme of the *amṛta* of Śiva's gnosis is described for the destruction of disease and death in yogins. [The yogin] should visualise Parā in her own form pouring forth *amṛta* in the sixteen-spoked wheel in the void, whose hub is formed by the moon. Armed with the previously[-described] *nyāsa*, for an instant (?) the wise [yogin] should then lead his tongue to the uvula and insert it [there]. He should visualise the white heavenly *amṛta*, flowing from the orb of the moon. [If] his mouth fills with a slightly salty liquid that smells of iron then he should not drink it but spit it out. He should practise thus until [the liquid] becomes sweet-tasting. Drinking it, within six months he effortlessly becomes free of decrepitude and disease; after a year he becomes a conqueror of death. Once it has become sweet-tasting thenceforth his mouth fills up with whatever flowing substance he, with focussed mind, visualises in it, such as blood, alcohol or fat or milk or ghee and oil etc."[83]

Unlike in the other passages describing the defeat of death, in this passage the tongue is not explicitly said to enter the aperture above the uvula—*lambake viniyojayet* at 21.3d could mean either "[the yogin] is to place [his tongue] at the uvula" or "[the yogin] should place [his tongue] in [the cavity above] the uvula". However, in the light of the other passages, in which the insertion of the tongue above the palate is explicitly instructed, it seems likely that the same is intended here.[84]

The next passage is from the *Kaulajñānanirṇaya*:[85]

> "Next, a great secret which destroys all diseases. [The yogin] should point his tongue upwards and insert his mind in there. By regular practice he destroys death, my dear. In an instant he is freed from sickness, disease, death, decrepitude and the like. All diseases are destroyed, like deer by a lion. In an instant disease is destroyed, [there is] the destruction of severe leprosy. With a sweet taste, o great goddess, there is the removal of wrinkles and grey hair. With a milky taste, o wise one, a man becomes immortal. When [there is] a taste like ghee, o goddess, then autonomy arises."

The idea of a progression of tastes presented in the *Mālinīvijayottaratantra* and *Kaulajñānanirṇaya* passages is nowhere mentioned in the *Khecarīvidyā*, but is found at *Gorakṣaśataka*$_{\mathrm{N}}$ 149 (=*Haṭhapradīpikā* 3.49) and *Gheraṇḍasaṃhitā* 3.27–28.[86]

The next passage is another from the *Kaulajñānanirṇaya*, in a difficult section found at 6.15–28. The goddess asks Bhairava about *kālavañcana*, "cheating death". Bhairava answers:[87]

> "Stretching the uvula *(dantarāyam)* until he can reach the aperture of Brahmā *(brahmabilam)*,[88] the wise man also extracts the best of *amṛtas* with the tip of his tongue. Truly indeed, o great ascetic lady, he conquers death in a month. Putting the tongue at the root of the palate, he should gently breathe in. He should practise for six months, o goddess; he will be freed from great diseases."

Various benefits arise from the practice: the yogin becomes free of old age and death, he knows the past and future, has long-distance hearing and vision, is not affected by poison and is impervious to attack. Then at 23–26 we read:[89]

> "[The yogin] should recognise that which is in the middle of the uvula in the form of a drop to be *amṛta*, which destroys wrinkles and grey hair. The wise man should put his tongue in the place cool to the touch; he becomes free of wrinkles and grey hair and devoid of all disease. Always devoted to the way of yoga, death cannot happen to him. He should insert his tongue into the base of the palate to destroy disease. Standing, awake, asleep, moving, eating [or] delighting in sexual intercourse, he should curl [back] his tongue constantly, joining it with its own mouth *(svavaktreṇa)*."[90]

The yogin defeats death and becomes free *(svacchandagaḥ)* (vv.27–28).

The final passage describing the conquering of death is from the *Kubjikāmata-tantra*:[91]

> "And now I shall teach another practice, which destroys death. [The yogin] should contract the *mūla cakra* situated at the organ of generation and immediately concentrate on it. He should open up the uvula after rubbing and pressing [it]. Satiated by the *amṛta* from the uvula he is sure to conquer death. By carrying out this practice, o beautiful goddess, he destroys fever, consumption, excessive heat or extreme discolouration [of the body].[92] Putting the tongue in the void, without support, not touching the teeth with the teeth nor joining the lips together, eschewing [any] contact of these, [the yogin] is sure to defeat death. This yoga that is the conquest of death has not been [taught] before, nor will it be [taught again]."

As I have said above, these five passages describing techniques for the conquest of death are all from scriptures of possession-based Yoginī cults or their Kaula derivatives. They contain the first references to practices in which the tongue enters the hollow above the palate, so it seems likely that the technique has its roots in rites of possession. The tongue's entry into the cavity above the palate has been reported to occur spontaneously as a result of altered mental states which themselves can be

precipitated by breathing practices and drugs.[93] In the above passages the yogin is instructed to put his tongue into the cavity; there is no suggestion of spontaneity. Thus these techniques may be attempts to recreate a state of possession.[94] With the tongue inserted in the cavity, it is difficult for the yogin to swallow and saliva/*amṛta* collects in the mouth.

The last passage from the texts of tantric Śaivism that I shall examine is found in the *Kularatnoddyota*, a work of the Paścimāmnāya's Kubjikā cult. It is the earliest example, that I have located, of a practice involving the tongue being called *khecarīmudrā*.[95] This *khecarīmudrā* is the first of eight *mudrā*s described in the text:[96]

> "[The yogin] should block all the doors of the body and restrain the breath. The tongue should be placed at the tip of the uvula, blocking the internal channel. Tensing the hands and feet, with clenched fists, o great ascetic lady, raising the face upwards, half-stretched out into space, and fixing the pupils [of the eyes], contracting the base region, fixing the gaze in the way of the ether and making the mind have me as its support at the crossroads *(catvarastham)*,[97] o beautiful lady: the technique is considered to be like this. This *mudrā* is called *khecarī* and is the queen of all the *mudrā*-kings."

This practice is in the tradition of the pre-āgamic tongue practices cited earlier rather than those of the tantric Śaiva passages above. Here and in the passages from the Pali canon, the *Viṣṇusmṛti* and the *Maitrāyaṇīyopaniṣad*, the yogin is to exert himself, straining to hold his breath and tensing the body, whereas in the other āgamic passages (and in the *Khecarīvidyā*) the yogin is to relax,[98] breathing freely,[99] as his body is flooded with *amṛta*. The absence of *amṛta* in the *Kularatnoddyota* passage and the description of the tongue as *ghaṇṭikāntasthā*, "at the tip of the uvula", make it likely that the tongue was to be held at the uvula rather than inserted into the cavity above it. The absence of *amṛta* is all the more striking in the light of the third *mudrā* described in the passage, the *śaśinī*, "lunar", *mudrā*:[100]

> "Placing his mind at the left side of the Svādhiṣṭhāna, o queen of the gods, [the yogin] should visualise the Sahasrāra *cakra* as spotless and full of the supreme *amṛta*, o great goddess of illusion. Flooding [it] with a stream of *amṛta* he should visualise his entire body as joined with the Vidyāyoginī. This *mudrā* is called *śaśinī* and accomplishes all ends."

## *Khecarīmudrā* in tantric texts

The passages cited above that describe the conquest of death indicate that physical practices very similar to the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā* were used by *sādhaka*s of various tantric traditions before the composition of the *Khecarīvidyā*. Like the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā* these practices were connected with the raising of breath/Kuṇḍalinī and enabled the yogin to drink *amṛta* and thereby be free of old

age, disease and death. However, despite there being descriptions of many different *khecarīmudrā*s in the texts of tantric Śaivism, it is not until the relatively late *Kularatnoddyota* that we find the first instance of a practice involving the tongue being called by that name, and even then that practice is somewhat different from the *Khecarīvidyā*'s *khecarīmudrā*.[101]

*Mudrā* in tantric Śaivism is a large and complex subject and I shall not attempt to explore it in detail here.[102] Instead I shall examine only the *khecarīmudrā* in tantric Śaiva texts and in particular those *khecarīmudrā*s which are in some way related to the haṭhayogic *khecarīmudrā*, in order to help explain the adoption of the name for the haṭhayogic practice.

In the texts of tantric Śaivism, a Khecarī is a particular type of Yoginī,[103] and she lives among the Khecaras, "sky-dwellers". Becoming a Khecara, sporting with them, being worshipped by them and reaching their abode *(khecarapada)* are mentioned throughout the Bhairavāgama as goals of *sādhana*, and *khecarīmudrā* is often the means.[104]

The *Kubjikāmatatantra* (*paṭala*s 14–16) describes a hierarchy of five groups of feminine deities: Devīs, Dūtīs, Mātṛs, Yoginīs and Khecarīs, among whom the Khecarīs are the highest, distinguished from Yoginīs. In the *Kaulajñānanirṇaya* Khecarī is described as the overall mother of all *siddhiyoginī*s.[105] The same verse of the *Kaulajñānanirṇaya* lists two other types of Yoginī: Bhūcarī and Gocarī.[106]

Kṣemarāja describes four groups of deities *(devatācakrāṇi)* in the sequence of manifestation of *śakti* at *Spandanirṇaya* 1.20: Khecarī, Gocarī, Dikcarī and Bhūcarī, of which the most refined is Khecarī.[107] In his *Śivasūtravimarśinī* (2.5), the same author describes Khecarī as °*parasaṃvitsvarūpā*, "having the form of the highest consciousness". Kṣemarāja's formulations are sophisticated interpretations of the less metaphysically refined Yoginī cult. In both systems Khecarī, however she is understood, occupies an exalted position, and the same is true of her *mudrā*. Thus, in the 32nd *āhnika* of the *Tantrāloka*, which is devoted to *mudrā*, we read:[108]

> "Among these (i.e. the *mudrā*s taught in the *Mālinīvijayottaratantra*) the most important is *khecarī* [since it is the one] whose essence is a deity."

The importance of *khecarīmudrā* is stressed again later in the same chapter:[109]

> "There is one seed-syllable, that of emission, whose power resides in all mantras; and there is one *mudrā*, *khecarī*, which animates all *mudrā*s."

Similarly, at *Jayadrathayāmala* 4.2.645c *khecarīmudrā* is described as "the queen amongst all *mudrā*s" *(sarvamudrāsu rājeśī)*, and we saw above how *Kularatnoddyota* 3.108d calls *khecarīmudrā* "the queen of all *mudrā*-kings" *(sarvamudreśvareśvarī)*.

Thus *khecarīmudrā* is a key component of tantric practice. But what is it? In his analysis of the *mudrā*s of the *Mālinīvijayottaratantra*, VASUDEVA (1997:15–20) follows the divisions found in the text in identifying three types of *mudrā*: liturgical, iconic and yogic. Yogic *mudrā*s are so called "not because they are primarily employed in yoga but rather because their practice involves yogic principles" (ibid.:18).

The *khecarīmudrā*s of tantric Śaivism fall into this yogic category. In the 32nd *āhnika* of his *Tantrāloka*, Abhinavagupta describes nine variants of the *khecarīmudrā*. These involve esoteric yogic techniques and require the yogin to assume bizarre physical attitudes in imitation of the *mudrā*-deities that he seeks to propitiate.[110] At the beginning of the chapter he cites the *Devyāyāmala*'s definition of *mudrā* as *bimbodayā* and analyses the compound in two ways: either *mudrā* is "that which arises from the original" or "that from which the original arises". As VASUDEVA says (ibid.:19):

> ...these extreme Khecarīmudrās are reflections, imprints or replications *(pratibimba)* of the dynamism of consciousness (Khecarī). The corollary is... the direct experience of Khecarī, or to use different terminology the possession by the goddess Khecarī, manifests itself in the practitioner with these bizarre symptoms.

Thus the two levels of sophistication possible in the interpretation of Khecarī mentioned above are also possible in her *mudrā*. On the level of Khecarī as etheric Yoginī, *khecarīmudrā* brings about possession by her; on the level of Khecarī as supreme consciousness, *khecarīmudrā* brings about experience of that consciousness. In the *Jayadrathayāmala* the *lelihānā mudrā* (one of the nine types of *khecarīmudrā* described by Abhinavagupta) is said to be *sarvadāveśakārikā*, "always effecting possession";[111] Kṣemarāja says that *khecarīmudrā* is so called "because [it brings about] movement in the ether, i.e. the sky of awakened consciousness" *(khe bodhagagane caraṇāt)*.[112]

The *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā* has many of the attributes of the possession-oriented *mudrā*s of the Bhairavāgama, and these are the key to its understanding rather than the sophisticated interpretations of the Kashmiri exegetes. The *Jayadrathayāmala*'s *mudrāṣaṭka* describes several extremely bizarre *mudrā*s and many of these result in *yoginīmelaka* and *khecaratva*, the aims of *khecarīmudrā* as described in the earliest layer of the *Khecarīvidyā*.[113]

## Why was the haṭhayogic practice called *khecarīmudrā*?

The purpose of *mudrā*s in *haṭhayoga* is to awaken Kuṇḍalinī.[114] As we have seen above, causing breath or Kuṇḍalinī to rise up the central channel is mentioned as an aim of many of the practices described in the *śaivāgama* in which the tongue enters the cavity above the palate. Thus it is appropriate that such a practice should be called *mudrā* in the texts of *haṭhayoga*. But why should it be called *khecarīmudrā*?[115]

Many of the practices of *haṭhayoga* can be understood as tantric ritual within the realm of the yogin's own body.[116] The *haṭhayogin* can accomplish the ends of tantric practice without external ritual or a consort with whom to engage in sexual rites. *Gorakṣaśataka* 72–75 locates both *bindu*, sperm, and *rajas*, menstrual fluid, in the body of the yogin. By combining the two, the *haṭhayogin* can produce within his own body the supreme *tattva* of the tantric sexual rite.[117] There are two processes at work in this interiorisation of tantric ritual. Firstly, it is a way of effecting

independence similar in some ways to both the vedic renouncer's internalisation of the sacrifice[118] and the Kashmiri Śaiva exegetes' transformation of tantric ritual into a mental process. Secondly, it is the result of a deliberate strategy of the redactors of the texts of *haṭhayoga*. By adopting the terminology of tantric works the writers of these texts would have lent them the authority of the *āgama*s. As we have seen above, *khecarīmudrā* was a highly esteemed part of tantric ritual, and its accommodation within the practices of *haṭhayoga* would have brought that esteem with it. A contraction of *Tantrāloka* 32.64 (which was cited above, on page 25) is found at *Haṭhapradīpikā* 3.53ab:[119]

"There is one seed-syllable, that of emission, and one *mudrā*, *khecarī*."

Parallel to the interiorisation of tantric ritual is a process in which practices of tantric Śaivism are transformed into techniques that work on the human body. I call this process "corporealisation". Although the techniques of *haṭhayoga* are the richest source of examples of this process, it began long before any haṭhayogic texts had been composed, as is evinced by the five passages describing the conquest of death by drinking *amṛta* cited earlier in this chapter.[120]

Besides *khecarīmudrā*, the *Khecarīvidyā* describes two more corporealised techniques. The first is the bizarre practice of *mathana*, "churning" or "kindling", described at 1.57c–64d, which involves inserting a probe into the nasal cavity and churning it about. At *Kubjikāmatatantra* 12.60–65 a subtler *mathana* is described which combines yogic techniques and visualisation, using sexual intercourse as its explanatory paradigm. This in turn can be seen as a grosser form of a visualisation given in the *Tantrāloka* which, although not called *mathana*, describes the meditation on the rubbing together of Soma, Sūrya and Agni as the *araṇi*, "the kindling stick", by the agitation of which, the meditator, "burning brightly, becomes full by enjoying the oblation of Mahābhairava in the great sacrificial fire which is called the heart".[121] Jayaratha gives a yogic interpretation of this passage which is similar in some ways to the technique of *mathana* described in the *Kubjikāmatatantra*.

The second corporealised technique in the *Khecarīvidyā* is the practice of massaging the body with various bodily fluids described at 2.72–79. This technique appears to be a corporealisation of alchemical practices in which various substances are rubbed into mercury in order to fix it.[122]

An example of corporealisation from elsewhere in the haṭhayogic corpus is the *mudrā* called *mahāvedha*, "the great piercing", described at *Haṭhapradīpikā* 3.25–28. The yogin is to sit cross-legged with his left heel under his perineum. Putting his hands flat on the ground, he should raise his body and then gently drop it, thus making his heel tap against the perineum, forcing the breath or Kuṇḍalinī into the central channel. This is a corporealisation of the tantric *vedhadīkṣā*, "piercing initiation". *TĀ* 29.236–281 describes several different types of *vedhadīkṣā*. Using mantras and visualisations, the guru causes *śakti* to rise up the pupil's middle path and pierce the *cakra*s and *ādhāra*s stationed along it.

The haṭhayogic *khecarīmudrā* can be seen as a corporealisation of tantric techniques of cheating death in which the head is visualised as containing a store of lunar *amṛta* which, when accessed by means of the breath or Kuṇḍalinī, pours out

into the rest of the body, nourishing and immortalising it. The subtle practice is described in many tantric works.[123] The haṭhayogic *khecarīmudrā* (as well as its tantric predecessors) bestows a concrete ontological status on the *amṛta*. In the descriptions of the subtle technique the yogin is to visualise it (verb forms from $\sqrt{}$*smṛ* are used); in the corporealised technique the tongue is inserted into the cavity above the palate and the yogin drinks the *amṛta*.

The haṭhayogic *khecarīmudrā* is also a corporealisation of the tantric ritual practices of eating meat and drinking wine: the tongue is meat and *amṛta* is wine. This is explicitly stated in the *Haṭhapradīpikā*:[124]

> "[The yogin] should constantly eat the meat of the cow and drink the liquor of the gods. I reckon him to be a Kaula; the others are destroyers of the *kula*. By the word 'cow' the tongue is meant, because the insertion of [the tongue] at the palate is the eating of the meat of the cow, which destroys great sins. The essence that flows from the moon, brought about by the fire generated by the tongue's insertion, is the liquor of the gods."

The name *khecarī*, "[she who] moves in the ether", is particularly appropriate for a practice in which the tongue enters a hollow space.[125] In the *Gorakṣaśataka* the name *khecarī* is explained thus:[126]

> "The mind moves in the ether *(khe)* because the tongue moves in the void *(khe)*; thus there is this *khecarīmudrā* worshipped by all the *siddhas*."

This explanation neatly connects the insertion of the tongue above the palate with a sophisticated interpretation of *khecarīmudrā* similar to that given by the Kashmiri exegetes.[127]

## *Khecarīmudrā* in haṭhayogic texts

If one examines the early texts of *haṭhayoga* different approaches to its practice become apparent.[128] At one end of the spectrum is the *Khecarīvidyā*, with its roots in Yoginī-cults and Kaulism. At the other end is the *Dattātreyayogaśāstra* which, while still far from the realm of orthodoxy, is a product of a more renunciatory and ascetic tradition.[129] The two different approaches are summarised succinctly in the *Śārṅgadharapaddhati* (the *Dattātreyayogaśāstra* practice is given first):[130]

> "[The yogin] should insert the previously trained mind and breath into the *śaṅkhinī [nāḍī]*[131] in the rod[-like] pathway at the rear by contracting the *mūlādhāra*. Breaking the three knots he should lead [mind and breath] to the bee-cave. Then the *bindu* born of *nāda* goes from there to dissolution *(layam)* in the void.[132]Through training the yogin becomes one whose destiny is assured, chaste *(ūrdhvaretāḥ)*, supremely blissful, and free of old age and death.

> Or, by upward impulses of the breath *(udghātaiḥ)*[133] [the yogin] should awaken the sleeping goddess Kuṇḍalinī whose abode is the Base [and] whose form is like a lotus fibre. Inserting her into the Suṣumṇā *[nāḍī]* he should pierce the five *cakra*s. Then he should insert the goddess into Śiva, who has the radiance of the moon, a shining faultless light, in the thousand-petalled lotus, and flood his entire body, inside and out, with the nectar there. Then the yogin should think of nothing."

The practices that are taught in the *Khecarīvidyā* can be understood in the terms of the second paradigm. The language and ideas of the first are almost entirely absent, with just a brief appearance at 2.107–115.

Of all the texts of *haṭhayoga* only the *Dattātreyayogaśāstra* describes practices which conform exactly to the first paradigm. The *Dattātreyayogaśāstra* mentions neither Kuṇḍalinī nor *cakra*s. Closest to this position are the original *Gorakṣaśataka*[134] and the *Yogabīja*, whose descriptions of *sādhana* match that described in the first alternative but also include *śakticālana*, a technique for awakening Kuṇḍalinī that involves pulling on the tongue.[135] Only the *Khecarīvidyā* and the *Vasiṣṭhasaṃhitā* adhere closely to the second alternative. All other haṭhayogic texts teach both approaches and, as we shall see below, this results in some inconsistencies.

The standpoint of any particular text can be seen in how it understands the purpose of *khecarīmudrā*. In the *Khecarīvidyā*, as we have seen, *khecarīmudrā* is used to raise Kuṇḍalinī and access the store of *amṛta* in the head in order to flood the entire body, rejuvenating and nourishing it. In the *Dattātreyayogaśāstra* the purpose of *khecarīmudrā* is not explicitly stated, but the practice is grouped with *jālandharabandha*, the chin-lock, which is said to prevent the lunar *amṛta* from being consumed by the solar fire in the stomach, thereby rendering the body immortal.[136] This aim of *khecarīmudrā*, for which the name *mudrā*, in its meaning of "seal", is particularly appropriate, is explained in the *Gorakṣaśataka*$_N$:[137]

> "The *bindu*[138] of [the yogin] who has sealed the hollow above the uvula by means of *khecarī* does not fall [even] when he is embraced by an amorous woman. As long as *bindu* is in the body where is the danger of death?"

Thus there are two contradictory aims of *khecarīmudrā* in the texts of *haṭhayoga*. In one, *amṛtaplāvana*, the store of *amṛta* is to be accessed and used to flood the body; in the other, *bindudhāraṇa*, *amṛta* (or *bindu*) is to be kept where it is.[139] Many texts describe both aims. In contrast to the verse cited above, at *Gorakṣaśataka*$_N$ 149–152 the body is to be filled with *amṛta*; the first two lines of the *Gorakṣaśataka*$_N$ passage cited above are also found at *Haṭhapradīpikā* 3.41, while at *Haṭhapradīpikā* 4.53ab in another description of *khecarīmudrā* we read *amṛtaiḥ plāvayed deham āpādatalamastakam*, "[the yogin] should inundate his body from top to toe with the *amṛta*s".[140]

The existence of both ideas in these texts shows how the early manuals of *haṭhayoga* were attempting to syncretise the practices of different schools. None of the

texts that attempt to describe a complete system of yoga (e.g. the *Dattātreyayogaśāstra*, *Gorakṣaśataka*$_N$ or *Haṭhapradīpikā*) is entirely coherent. Only the more specialist treatises such as the *Amanaskayoga* and the original *Gorakṣaśataka* present an uncontradictory whole. As mentioned above, the *Khecarīvidyā* has not entirely escaped this syncretism: 2.107–115 is more in keeping with the idea of *bindudhāraṇa* than *amṛtaplāvana*.[141]

The *Khecarīvidyā* seems to be an attempt by a school of yogins whose roots lay in Kaula tantrism at reclaiming the haṭhayogic *khecarīmudrā* from more orthodox *bindudhāraṇa*-oriented schools of *haṭhayoga*.[142] The *Dattātreyayogaśāstra*, which almost certainly predates the *Khecarīvidyā*, teaches a *bindudhāraṇa*-oriented *khecarīmudrā*. The practice as described in the *Gorakṣaśataka*$_N$ is for the most part a technique of *bindudhāraṇa* and may derive from the *khecarīmudrā* described in the *Kularatnoddyota* (see note 96). The compilers of the *Khecarīvidyā* knew the *Gorakṣaśataka*$_N$ and pay it respect at *Khecarīvidyā* 1.16, but give a very different interpretation of the haṭhayogic *khecarīmudrā*.

Of all haṭhayogic works, the most eclectic is the *Haṭhapradīpikā*, which borrows verses from almost every haṭhayogic text that we know existed before its compilation. The *Haṭhapradīpikā* is the second work (after the *Yogabīja*) that claims to belong to the Nātha school and it is the founding of this most eclectic of orders that resulted in its composition.[143]

After the composition of the *Haṭhapradīpikā*, we find a proliferation in the number of haṭhayogic texts and commentaries.[144] The main reason for this increase is the interest in *haṭhayoga* taken by Advaita Vedāntins. Bouy (1994) examines the textual evidence for this interest in detail. He summarises the situation thus (ibid.:5):

> The *Haṭhapradīpikā*, which is nothing more than an anthology, was compiled by Svātmārāma during the XVth century. This Haṭha-yogic work aroused great interest, especially among followers of Śaṃkara's Advaita philosophy. As early as the XVIth–XVIIth centuries, works written by Advaita Vedāntins, such as Nārāyaṇa's *Dīpikā* on a collection of Ātharvaṇa Upaniṣads, Śivānanda Sarasvatī's *Yogacintāmaṇi*, and Nārāyaṇa Tīrtha's commentary on the *Yogasūtra*, entitled the *Yogasiddhāntacandrikā*, referred to Gorakṣa, i.e. the author of the *Gorakṣaśataka*, and quoted from the *Haṭhapradīpikā* and Nātha treatises on *haṭhayoga*. In other words, from that time a number of Sanskrit texts belonging to Nātha literature were considered by Advaita adepts to be authoritative on *yoga*.

The texts of *haṭhayoga* provided material for part of a corpus of one hundred and eight *upaniṣads* that was compiled in the first half of the eighteenth century. Works on *haṭhayoga* were used to create new recensions of old Upaniṣads and to compose entirely new ones (including the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* whose second *adhyāya* contains 49 of the *Khecarīvidyā*'s first 65 verses). This is well documented by Bouy (for a summary see ibid.:6).

What effect did the Advaita interest have on the understanding and practice of *khecarīmudrā*? We may assume that the Nāthas continued to practise it as before: few new Sanskrit Nātha texts appear after the *Haṭhapradīpikā* yet we know that the Nāthas attracted considerable patronage until at least the beginning of the nineteenth century and for a long period were probably the largest ascetic order in North India.[145] It seems that, textually speaking, they could rest on their laurels with an established corpus of works, while the Vedāntins sought to accommodate the newly fashionable practices of *haṭhayoga* within their soteriology.[146] Other than the *Yogakuṇḍalyupaniṣad*'s second *adhyāya* the upaniṣadic passages that mention *khecarīmudrā* are all taken from *Gorakṣaśataka*$_N$ 64–71 and thus describe it as a method of *bindudhāraṇa*.[147] The verses in the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* taken from the *Khecarīvidyā* describe the *khecarīmantra* and the mechanics of the practice without mentioning *amṛtaplāvana*. In the *Yogacintāmaṇi* of Śivānanda Sarasvatī (c.1600 CE; see BOUY 1994:119), *khecarīmudrā* is said to be useful in holding *prāṇa* in the head; *bindu* is not mentioned (f. 6r$^{4-7}$). The Advaita Saṃnyāsins, intent on liberation, concentrated on the renunciatory and controlling aspect of *khecarīmudrā*, playing down its *siddhi*-oriented tantric heritage. They added little but a shift of emphasis to the nexus of ideas surrounding the practice.

A late Vaiṣṇava manual of *haṭhayoga*, the *Gheraṇḍasaṃhitā*, makes no mention of *amṛta* when describing the practice, but describes the variously flavoured *rasa*s that the tongue will taste (3.27c–28d).[148] The benefits of *khecarīmudrā* listed at 3.24a–26b and 7.11 are purely physical except for *samādhi*. As the orthodox ideologies of Vedānta and Bhakti increased their grip on yoga, tantric ideas were slowly squeezed out. The *khecarīmudrā* of later haṭhayogic works has little connection with tantra; indeed it has more in common with the practice that was current at the time of the composition of the Pali canon.[149]

## *Khecarīmudrā* in modern India

My ethnographic fieldwork in India has focussed on traditional *haṭhayoga*, by which I mean *haṭhayoga* that has not been shaped by the developments which started in the late nineteenth century and which have helped to make yoga the global phenomenon it is today.[150] *Khecarīmudrā* appears to play little part in this modern *haṭhayoga*: IYENGAR, perhaps the most influential of all modern teachers of *haṭhayoga*, mentions it only in passing (1977:118-9) and neither ALTER (2004) nor DE MICHELIS (2004), who examine the development of modern yoga in India and abroad, mention it at all.

Haṭhayogic texts talk of four types of yoga: *mantra, laya, haṭha* and *rāja*. *Rājayoga* is usually said to be the best and often equated with *samādhi*.[151] Some traditional *haṭhayogin*s in India today have adopted the modern yogic understanding of *haṭhayoga* as denoting physical practices and *rājayoga* mental ones. *Haṭha* is seen as a preliminary for *rāja*. Some practices are deemed to have two varieties, one *haṭha* and one *rāja*. Thus the *bindudhāraṇa*-oriented *khecarīmudrā* described at *Haṭhapradīpikā* 3.31–53 is the physical *haṭhayoga* practice, while the *samādhi*-oriented

*khecarīmudrā* of 4.42–55, in which the tongue is not explicitly mentioned, is the purely mental, and therefore superior, *rājayoga* practice. This is how *khecarīmudrā* was explained to me by Raghuvara Dās Yogīrāj of Jaipur and he assured me that the *rājayoga* variety was much more important than that of *haṭhayoga*, about which he was somewhat dismissive. Satyānanda Sarasvatī distinguishes between two types of *khecarīmudrā* in his commentary on the *Haṭhapradīpikā* (1993:279): a *haṭhayoga khecarīmudrā*, in which the tongue is inserted into the cavity above the palate, and an implicitly superior, *samādhi*-oriented *rājayoga khecarīmudrā*, in which the tongue is pressed against the palate in the manner of the practices described in the Pali canon and early Sanskrit works. The majority of the *khecarīmudrā*-practising yogins that I met during my fieldwork emphasised the practice's importance for entering a state of *samādhi*. Paraśurām Dās Yogīrāj of Kota called it *samādhi kā aṅg*, "a limb of *samādhi*". By *samādhi*, most of my informants meant simply a trance-like meditation carried out for long periods of time rather than the specific state of absorption described in the *Yogasūtra* and its commentaries.[152]

Only two of my informants (Dr. Tripāṭhī of Varanasi and Svāmī Praṇavānand Sarasvatī of Rishikesh) mentioned *bindudhāraṇa* as an aim of *khecarīmudrā* and I suspect that this is at least partly due to their having read haṭhayogic texts. Both associated *bindudhāraṇa* with the raising of Kuṇḍalinī. They did not mention the drinking or tasting of *amṛta*. In contrast, all my other informants said that the main aim of the practice is the drinking of *amṛta* and associated it with the ability to fly.[153] Lāl Jī Bhāī of Rishikesh practises *khecarīmudrā* for at least two to three hours every day in order to drink *amṛta*, which, he said, brings about *naśā*, "intoxication", like whisky. If he doesn't drink it every day he feels out of sorts and cannot apply himself to anything. Govind Dās Yogīrāj said that *amṛta* has a taste *jiskā varṇan kiyā nahīṃ jāyega*, "whose taste cannot be described". Similarly, Nainā Dās Yogīrāj said that the goal of the practice is the drinking of *amṛta* and that its rewards could not be described but had to be experienced.[154]

Thus, while all are agreed that *khecarīmudrā* is an important means to *samādhi*, the more educated practitioners of *haṭhayoga* frame their understanding of its aims in the terms of the prevalent ideology of orthodox asceticism (i.e. *samādhi* by means of *bindudhāraṇa* and the raising of Kuṇḍalinī), but those whose understanding derives from non-textual sources see it to be also a means of attaining such *siddhi*s as the drinking of *amṛta*, the power of flight and the ability to remain in meditation without food or water for extended periods. Despite the orthodox elite's attempts to remove or ignore the power-seeking, *siddhi*-oriented heritage of the practice (and of *haṭhayoga* in general), it lives on in the oral tradition of the *haṭhayogin*s of today.

## Practitioners of *khecarīmudrā*

What can be said about ascetics who use or have used techniques involving the tongue? Apart from the passage from the *Viṣṇusmṛti*, the evidence from works prior to the haṭhayogic corpus seems to indicate that it was the preserve of unorthodox yogins. In the *Mahāsaccakasutta* the Buddha includes the technique of

pressing the tongue against the palate amongst extreme ascetic disciplines, such as extended breath-retention and fasting, that were practised by Jainas and Ājīvikas. SANDERSON (1986:211) has pointed out that the *Jayadrathayāmala* preserves elements of Kāpālika practice. The descriptions of ascetics in the *Kaulajñānanirṇaya* and *Matsyendrasaṃhitā* indicate their Pāśupata and Kāpālika heritage.[155]

*Khecarīmudrā* gained fame as part of the *sādhana* of the Nāthas who continued this tradition of antinomian asceticism. The long version of the *Haṭhapradīpikā* calls the practitoner of *khecarīmudrā* an *avadhūta*.[156] The Nātha order was open to anyone, regardless of caste or sex and the same text says, "Pure or impure or in any state, he who practises *khecarī* is assuredly an adept", adding that both outcastes and brahmins can quickly attain *mokṣa* through the practice.[157]

The popularity of the Nāthas led to other orders adopting their appearance and practices (and, in the case of the Vedāntins, their texts). With their monopoly on the magical asceticism that so appeals to the Indian public broken, the Nāthas found it hard to compete for patronage. ELIADE (1969:302) described them as showing "all the signs of a sect in decomposition". Meanwhile, the numerically strongest ascetic orders in India today all have suborders that closely resemble the Nāthas, and some of their members practise *haṭhayoga*.[158] In my fieldwork in India I found that among *haṭhayogin*s of all sects, those who practise *khecarīmudrā* are rare and are held in respect by their peers. Although the practice has a long pedigree, I doubt that it has ever been very popular.

As indicated by the inclusion of two householders among my ethnographic informants, the practice is not nowadays restricted to ascetics.[159] Whether this is because of the advent of printing having increased awareness of haṭhayogic practices or whether ascetic gurus have always initiated lay disciples into such techniques is impossible for me to say. Both the lay practitioners of *khecarīmudrā* that I met during my fieldwork were acqainted with the texts of *haṭhayoga*, but both had been initiated into the practice by ascetic gurus.

# Sources

## Manuscript sources of the *Khecarīvidyā*

In this chapter I first list the sources that have been collated as the basis of the critical edition of the *Khecarīvidyā*. These sources are presented here in the order in which they are reported in the apparatus. Their order reflects the age of their archetypes.[160] Thus the manuscripts that make up the group $\mu$ are given first because the archetype of $\mu$ is the earliest witness of the *Khecarīvidyā* of which we have evidence.

- A (Amritsar)

  *Matsyendrasaṃhitā*. Paper. Devanāgarī. Good condition. c. 1850 CE. 120 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 30 × 14 cm. with 11 lines to a side. The text consists of 55 *paṭala*s with 14.1 to 17.1 (inclusive) corresponding to the first three *paṭala*s of the *Khecarīvidyā*. These are found at ff. 39r-49v. *Paṭala* 14 (f. 39r$^4$–f. 41v$^5$) corresponds to the *Khecarīvidyā*'s first *paṭala*. *Paṭala* 15 (f. 41v$^5$–f. 45r$^7$) ends at verse 83 (= *KhV* 2.81). *Paṭala* 16 (f. 45r$^7$–f. 49v$^3$) consists of 114 verses (= *KhV* 2.82–3.68b). The *Matsyendrasaṃhitā*'s *paṭala* 28 (f. 69v$^{10}$–f. 70v$^5$) corresponds to the *Khecarīvidyā*'s *paṭala* 4. There is a title page consisting of a label from "Bhajan Lal Mss Dealer and Bookseller, Gali Tokrian, Katra Safaid, Amritsar". The label has the number 64657 in arabic numerals written at the top. In addition to the information given above it states that the author of the manuscript is "Matsya Nātha", the "Recension" is "Kasmir" and it was written "Near 1900 V.S.". The "Where from obtained" section has been left blank.

  The readings of A are very close to those of $J_6$ and $J_7$ but include more careless errors. A appears to derive from $J_7$ which in turn derives from $J_6$.

  Beginning (f. 1r$^1$):

  > oṃ śrīgaṇeśāya namaḥ śrīnāthāya namaḥ

  End (f. 120r$^1$):

  > iti śrīmatsyendrasaṃhitāyāṃ paṃcapaṃcāśaḥtpaṭalaḥ samāpta-
  > saṃpūrṇam // oṃ yādṛśaṃ pustakaṃ dṛṣṭvā tādṛśaṃ likhitaṃ

> mayā yadi śuddhaḥm aśudhaṃ vā / mama doṣa na dīyate // 1
> //⊛//⊛//⊛// × // × // × //⊛//⊛//⊛//⊛//

Uncatalogued.

The Wellcome Institute for the History of Medicine, London. MS Sansk. β 1115.

- J6 (Jodhpur)

*Matsyendrasaṃhitā*. Paper. Devanāgarī. Complete and good condition. c. 19th century. 83 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 26 × 10.5 cm. with 11 lines to a side. The *paṭala* and verse numbers correspond to those of the *KhV* in the same way as those of witness A described above. 14.1 (=*KhV* 1.1) is at f. 26v[4], 17.1 (=*KhV* 3.68) is at f. 34r[1] and *paṭala* 28 (=*KhV paṭala* 4) is at f. 48v[2]–f. 49r[3].

I am grateful to David WHITE for providing me with xerox copies of f. 1v, ff. 26v–49r (*paṭala*s 14–28) and f. 83v.

The readings of J6 are very close to those of A and J7. J6 appears to be the source of the readings of J7, and J7 the source of those of A.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīgaṇeśaśāradāgurubhyo namaḥ

End (f. 83v[11]):

> iti śrīmatsyendrasaṃhitāyāṃ *paṃcapaṃcāśaḥ paṭalaḥ samāptaḥ*

Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:184–5).

MMSL, Mehrangarh Fort, Jodhpur. MS No. 1784.

- J7 (Jodhpur)

*Matsyendrasaṃhitā*. Paper. Devanāgarī. Complete. c. 19th century. 179 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 27.5 × 12.5 cm. with 10 lines to a side. 14.1 (=*KhV* 1.1) is at f. 55r[8], 17.1 (=*KhV* 3.68) is at f. 71r[1] and *paṭala* 28 (=*KhV paṭala* 4) is at f. 102r[2]–f. 103r[7].

I am grateful to David WHITE for providing me with xerox copies of f. 1v, ff. 55r–f. 78v (*paṭala*s 14–18), ff. 100r–103r (*paṭala*s 27 and 28) and f. 179v.

The readings of J7 are very close to those of A and J6. They appear to derive from those of J6 and to be the source of those of A.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīnāthāya namaḥ

End (f. 179v[9]):

> iti śrīmatsyendrasaṃhitāyāṃ paṃcapaṃcāśaḥ paṭalaḥ samāptaḥ

Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:184–5).

MMSL, Mehrangarh Fort, Jodhpur. MS No. 1782.

- G (Grantha)

*Khecarīvidyā*. Palm Leaf. Grantha. Incomplete, starting with 1.20a at the beginning of f. 18r.[161] At the right hand edge of f. 18r is written "Fol. 16–17 missing". 9 folios, numbered at bottom left of recto. 22.5 × 4.0 cm. with 12 lines to a side. Condition good, but occasionally worm-eaten, and worn at tops of ff. 18v, 19v, 20v and 21v. The text is not divided into *paṭala*s but is numbered intermittently (usually at every fifth verse) from 30 (at the edition's 1.29) to 48 (i.e. 248, at the edition's 3.45c). The fourth *paṭala* of the edition is not found in this manuscript. Following the text of the *KhV* is a work whose colophon (end of f. 29r) reads *iti gorakṣabodha nāma yogaśāstram*. Dominic GOODALL, who had the manuscript photocopied, reported that the rest of the codex is made up of short works on Advaita.

Colophon (f. 26r[6]):

> śrīmadādināthaviracite mahākāḷayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ prathamaḥ paṭalaḥ —— śivamayam —— nityakalyāṇisahāyya —— gurave namaḥ

Described by RAGHAVAN (1969b:188).

Institut français de Pondichéry. MS RE 12663.

- $R_2$ (Royal Asiatic Society of Bengal)[162]

*Khecarīvidyā*. Paper. Devanāgarī. 11 folios. Complete in three *paṭala*s.[163] Torn and badly pasted together, resulting in several lacunae. c. 18th century. Many trivial errors. Its readings show conflation with almost all the other manuscript traditions. The cover page reads *"khecarīvidyā 11 mālavīyaraghunātharāmaśarmmaṇaḥ"*.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīgaṇeśāya namaḥ

End (f. 1v[1]1):

> iti śrīmatādināthaviṃsacite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvā[....]ḥ samāpto ya graṃthaḥ // //cha // cha // cha // yeṣāṃ na vidyā na tapo na dānaṃ [....] mṛtyuloke bhuvi bhārabhutā mānuṣyarūpeṇa mṛgā caranti // 1 //[164] śrīrāmasahādraḥ gaṇapa[.....]

Described by SHASTRI (1939:303).

Library of the Asiatic Society of Bengal, Kolkata. MS No. 8409.

- *U* (Upaniṣad)

  *Yogakuṇḍalyupaniṣad*. Edited by Mahādev Śāstrī, in *The Yoga Upaniṣads* (Adyar Library 1920). *Adhyāya* 2 (pp. 321–328) consists of 49 of the first 64 *śloka*s of the first *paṭala* of the *Khecarīvidyā*. According to the preface (pp. v–vi), seven sources were used for the edition of the twenty "Yoga Upaniṣads":

  1. Adyar Library TR 34. Contains "Minor Upaniṣad-s with Appayācārya's commentary". Devanāgarī.
  2. Adyar Library 75883–5. Contains 108 Upaniṣads. Grantha.
  3. Adyar Library 75217. Contains 108 Upaniṣads. Grantha.
  4. "A Grantha MS. of 108 Upaniṣad-s lent by Mr. V. Kachchapesvara Iyer, B.A., B.L., of Vellore."
  5. Adyar Library PM 211. 108 Upaniṣads with Upaniṣadbrahmayogin's commentary. Devanāgarī.
  6. Adyar Library 75709–10. 108 Upaniṣads with Upaniṣadbrahmayogin's commentary. Grantha.
  7. "The printed edition of 108 Upaniṣad-s published by Tukaram Javaji, Bombay, 1913, based on a South Indian MS."

  Upaniṣadbrahmayogin's commentary is given at four places in the edited text:

  1. after 17b (=*KhV* 1.32b):

     jñānasahitahaṭhayogasarvasvaṃ pratipādya saprapañcaṃ lambikāyogam ācaṣṭe – atheti / yathā yathāvat // 1-12 // mahyaṃ mattaḥ // 13-15 // hrīm ityādikhecarībījapūrayā
     "antarlakṣyavilīnacittapavano yogī sadā vartate
     dṛṣṭyā niścalatārayā bahir adhaḥ paśyann apaśyann api /
     mudreyaṃ khalu khecarī bhavati sā lakṣyaikatānā śivā
     śūnyāśūnyavivarjitaṃ sphurati sā tattvaṃ padaṃ vaiṣṇavi //"
     iti śrutisiddhakhecarīmudrayā khecarīyogaṃ yuñjan yaḥ kālaṃ nayati // 16 // sa yogī dehānte khecarādhipatiḥ sūryo bhūtvā khecareṣu khecaraṇīyalokeṣu sadā vaset //

  2. after 20d (=*KhV* 1.35d):

     melanamantrarājam uddharati—khecareti / khavācakatayā caratīti khecaraḥ hakāraḥ āvasatham iti dhāraṇāśaktir īkāraḥ reti vahniḥ ambumaṇḍalam iti binduḥ / etat sarvaṃ militvā bhūṣitaṃ hrīm iti // 17 // khecarībījam ākhyātam / tenaiva lambikāyogaḥ prasidhyati / śiṣṭabījaṣaṭkam apy ambumaṇḍalabhūṣitam iti jñeyam / somāṃśaḥ sakāraḥ candrabījaṃ tatpratilomena tannavakaṃ varṇam uddharet bham iti // 18 // tasmāt bhakārād anulomena tryaṃśakaṃ candrabījam ākhyātaṃ sam iti / tasmāt sakārāt vilomena aparam aṣṭamaṃ varṇam uddharet mam (ṣam $U^{vl}$) iti // 19 // tathā makārāt vilomena aparaṃ pañcamavarṇaṃ pam (tham $U^{vl}$) iti viddhi / punar

indoś ca bījaṃ sam ity uddharet / bahubhiḥ kakāraṣakārabindubhiḥ yukto 'yaṃ kūṭaḥ kṣam iti / āhatya bījāni sapta—hrīṃ, bhaṃ, saṃ, maṃ, paṃ, saṃ, kṣaṃ, iti // 20–21 //

3. after 27d (=*KhV* 1.42d):

   nityaṃ dvādaśavāraṃ yo japati sa māyātīto bhavatīty arthaḥ // 22–27 //

4. after the last verse, 49d (=*KhV* 1.65b):

   abhyāsakramam āha—tālv iti // 28–29 // kāryāntaraṃ hitveti / harītakī pathyāśabdārthaḥ // 30–31 // vāgīśvarīdhāmaśiraḥ jihvāgram // 32–34 // tiryak cchākāvadhiḥ śikhāmūlam ity arthaḥ // 35–36 // durlabhāṃ durlabhatām // 37 // ṣaṭsvarabhinnayā hrāṃ hrīṃ ityādinety arthaḥ // 38–40 // brahmārgalam antarjihvāsuṣiram // 41–47 // evaṃ gurumukhāt lambikāvidyām abhyasya dvādaśavarṣānuṣṭhānāt lambikāyogasiddhiḥ bhavati // 48 // śarīre sakalaṃ viśvaṃ paśyatīty anena virāṭ sūtrabījaturyarūpaṃ krameṇa pratipadyate / yatra sahasrāre rājadantordhvakuṇḍalī jihvā prasarati so 'yaṃ mārgaḥ brahmāṇḍanibho bhavati, supathyatvāt / itiśabdaḥ lambikāyogasamāptyarthaḥ, dvitīyādhyāyasamāptyarthaś ca bhavati // 49 //

Section headings are found at four places in the text:

1. at the beginning:

   khecarīvidyā

2. before 17c (*KhV* 1.32c):

   khecarīmantrarājoddhāraḥ

3. before 21a (*KhV* 1.36a):

   mantrajapāt khecarīsiddhiḥ

4. before 28a (*KhV* 1.43a):

   khecaryabhyāsakramaḥ

- T (Madras, Tamil Nadu)

*Khecarīvidyā*. Paper transcription in Devanāgarī from a Kannada manuscript in bad condition. It was transcribed on 4th May 1947 from folios 80r–84r of an uncatalogued manuscript R2831(e) into a bound book, and covers seven pages of the book with 20 lines per page. It consists of the first 64 *śloka*s of *paṭala* 1 of the edited *KhV* and contains several careless errors.

Beginning:

> khecarīvidyā

End (p.7):

> iti khecarīvidyā saṃpūrṇam //
> iti śrīmaś śaṃkarācāryapadāraviṃdābhyāṃ namaḥ
> hariḥ oṃ
> kṛṣṇārpaṇam astu
> Copied By S.R.Raghuthanachar *[sic]*
> Darsanakovida 4/5/47
> Restored in 1947-48 from a library ms. R2831

Uncatalogued.

Government Oriental Manuscripts Library, Madras. MS R7878.

- S (Scindia Oriental Research Institute, Ujjain)

  *Bṛhatkhecarīprakāśa*. Paper. Devanāgarī. Complete. 117 folios, numbered at top left of verso up to only 112 because there are two folios numbered 13, three numbered 42 and three numbered 86. I refer to these folios as 13(1), 13(2), 42(1), 42(2),[165] 42(3),[166] 86(1), 86(2) and 86(3) and thus adhere to the numbering found in the manuscript. 31.5 × 13.0 cm. with 9 or 10 lines to a side. Good condition. c. 1750–1800 CE.[167] The manuscript consists of the text of the *Khecarīvidyā*, the verses of which are written in the middle of each folio, with a *ṭīkā* by Ballāla. Sometimes the text of the *ṭīkā*, having filled up the page, runs from the bottom right of the page up the right hand margin, occasionally running around the top of the folio upside down relative to the main body of text. At many places in the manuscript comments, corrections, and additions have been made in the margins by later hands. There are very few errors in the text of the commentary. From variant readings given in the commentary it is clear that Ballāla had access to manuscripts in the traditions of groups $\alpha$ and $\beta$.[168]

  Beginning (f. 1v[1], after a *maṅgala* invoking Hanumān written in the top margin of f. 1v by a later hand):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ // oṃ namaḥ śivāya // namaḥ sarasvatyai // gaṇādhyakṣaṃ namaskṛtya śivam aṃbāṃ sarasvatīṃ // prakāśaṃ khecarīnāmnyā bruve ballāḷanāmakaḥ //1// jayati sadā śivatīrthaḥ kāśyāṃ yasmād avāptavān eṣaḥ // vidyāṃ khecarasaṃjñāṃ sābhyāsāṃ suhitapustakāṃ sāṃgāṃ //2// ataḥ sāraṃ samālocya graṃthe⌈bhya⌉s tatvato mayā ⌈śaktye⌉ // vyākhyāsye khecarīvidyāpaṭalam iti śabdataḥ //3// ādināthaṃ ca matsyeṃdraṃ gorakṣaṃ cānyayoginaḥ // namaskurmo haṭhasyāsya rājayogasya cāptaye // 4// guror ājñāṃ samālaṃbya durbodhām api khecarīṃ // apūrvaṭīkāṃ savyākhyāṃ kurve yogijanapriyāṃ //5//

Then follows the commentary on the first verse of the *Khecarīvidyā*.

End of commentary on the first *paṭala* (f. 28v[9]):

> iti śrīmajjāmadagnyagotra⌈bābūbhaṭṭātmaja śrī⌉rudrabhaṭṭ[...] sarvavidyānidhānayogataṃtrapravīṇaśrīballāḷaviracite khecarīpaṭalaprakāśe upodghātādidvādaśavārṣikābhyāsanirūpaṇaṃ nāma prathama udyotaḥ ⌈saṃpūrṇaḥ⌉ // cha

End of *KhV* (f. 112r[8]):

> iti śrīmadādināthanirūpite mahākālopavartini umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ saṃpūrṇaḥ // ccha //

End of *ṭīkā* (f. 112r[5]):

> bābūbhaṭṭatanūjarudratanujaḥ sāṃbe śive bhaktimān evaṃ sadgurupādayor atha janitror anyasādhuṣv api ballāḷo 'racayat prakāśam atulaṃ śāstraikasiddhāṃtajaṃ khecaryās tam imaṃ vibhāvanaparā gṛh*ṇ*aṃtv aho bhāvakāḥ //1// muktāphalāṃtararasagrahaṇā hi haṃsā āraktacaṃcucaraṇā madhurāsadacchāḥ // śuktyāratās taditare *'*rasamāṃsabhāvā ekākṣavṛṣṇatanavo vicaraṃti loke //2// sādhvī mātā pārvatī ∗yadbharyā rukmiṇī tathā // vāsudevaḥ somanātho putraugadhe pi nāma ca // ⌈3⌉ tenātra sad asat proktaṃ kṣaṃtavyaṃ tan mahātmabhiḥ // bālakasya pralāpo hi kṣamyate gurubhiḥ kila //4// prakāśanāt kalādīnāṃ pāṃḍityasya parasya ca // jñānaikarūpī sarvātmā śivaḥ prīṇātu kevalaḥ //5// ⌈saṃkarṣaṇo mahābuddhir brāhmaṇo hi janārdanaḥ tadannāśrayato nūnaṃ vyekaṭāṃṇṇā sahāyataḥ //⌈6⌉ agāṃka*maja* ⌈1897⌉caṃdrākhye vatsare vyaṃgatas tathā // śake saptemduke ⌈176*2*⌉ pūrṇaḥ paurṇamāsyāṃ śucer bhuvi //7//⌉ iti śrīmajjāmadagnyagotrabābūbhaṭṭātmajaśrīru drabhaṭṭasūnusarvavidyānidhānayogataṃtrapra -vīṇaśrīgoviṃdāparanāmaśrīballāḷaviracite śrīkhecarī⌈vidyāpaṭala⌉∗śe yogopayuktauṣadhīvyākhyāne ⌈caturthaṃ paṭalaṃ⌉ saṃpūrṇatām agamad iti //1//**(f. 112v)** iti bṛhatkhecarīprakāśaḥ saṃpūrṇaḥ //

At f. 1v[2] there is a benediction to "Sadāśivatīrtha" from whom the commentator obtained the text of the *Khecarīvidyā*. In the margin, the note *saṃnyāsīty arthaḥ* has been added by a later hand confirming that the name refers to a Daśanāmī ascetic (*saṃnyāsī*). The Tīrtha suborder of the Daśanāmīs consists of Daṇḍī *saṃnyāsī*s of Brahmin birth. We thus have some indication of the milieu in which the commentary was composed. Ballāla, however, appears to have no particular axe to grind, be it that of *advaitavedānta* or brahmanic orthodoxy and describes extreme ascetic practices that go far beyond those found in other haṭhayogic texts and commentaries.[169]

Ballāla mentions and quotes from several works in his commentary (a list of all the works cited and the location(s) in the manuscript of their citations is

found in the appendices, pp. 157–162). I have quoted from the commentary extensively in the notes to the translation. Unless indicated otherwise, the quotations are exactly as found in the manuscript.

Described by RAGHAVAN (1969b:188).

Scindia Oriental Research Institute Library, Ujjain. MS 14575.

- N (Nasik)

*Khecarīvidyā*. Paper. Devanāgarī. Complete and in good condition. c. 20th century. 42 folios, numbered at bottom right of verso. Approximately 18 × 9 cm. 5 lines to a side.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīgaṇeśāya namaḥ // śrīgurubhyo namaḥ //

After the edition's final verse N has (f. 42r[5]):

> / cha // yāvaṃ naiva praviśati caranmāruto madhyamārgaṃ yāvad viṃdur na bhavati dṛḍhaḥ prāṇavātapraba(**f. 43v**)ddhaḥ // yāvat vyomnā sahajasadṛśaṃ jāyate naiva cittaṃ yāvaj jñānaṃ vadati manujo daṃbhamithyāpralāpaḥ //1// śrībhavānīśaṃkarārpaṇam astu // cha

N and $W_1$ are very similar. At 2.110c both contain an extra section consisting of *Gorakṣaśataka*$_N$ 184–90, 192 and 197–8. N concludes the second *paṭala* after this section; $W_1$ has the final 14 *śloka*s of the *KhV*'s second *paṭala*. The passage in N runs as follows (f. 28r[2]–f. 29v[5]):

> dhāraṇā paṃcanāḍīṣu dhyāna dvisaptanāḍikaṃ
> dinadvādaśakenaiva samādhi prāṇasaṃyamāt
> anasaṃdhāna yo yogai soḍaṃlasatināṃgināṃ
> tathātmanasayor aikyaṃ samādhiḥ so bhidhīyate
> tathā saṃkṣīyate prāṇo mānasaṃ ca pralīyate
> tathā (**f. 28v**) samarasatvaṃ ca samādhiḥ so bhidhīyate
> yat samatvaṃ dvayor atra jīvātmāparamātmanoḥ
> naṣṭasamastasaṃkalpa samādhiḥ so bhidhīyate
> iṃdriyāṇi manovṛtti sarvajīvāśrayaṃ bhavet
> atha yat tad gate jīve na mano neṃdriyāṇi ca
> na gaṃdho na raso rūpaṃ na sparśaḥ śabdatanmayaṃ
> nātmānaṃ na paraṃ vetti yogī yuktiṃ samādhi(**f. 29r**)na
> khādyate na sa kālena bādhyate na sa karmaṇā
> bādhyate na sa kenāpi yogī yuktisamādhitaḥ
> na ca jānāti śītoṣṇaṃ na duḥkhaṃ na sukhaṃ tathā
> na mānaṃ nāvamānaṃ ca yogī yuktasamādhitaḥ
> avadhya sarvaśāstrāṇām abādhyaḥ sarvadehināṃ
> agrāhyo maṃtrataṃtrāṇāṃ yogī yuktasamādhitaḥ
> nirādyaṃ ca nirālaṃbaṃ niḥprapaṃcaṃ nirāśra(**f. 29v**)yaṃ

nirāya ca nirākāraṃ tatvaṃ tatvavido viduḥ
dugdhe kṣīraṃ ghṛte sarpir agnau vahnir ivārpayet
tanmayatvaṃ vraje yogī sa līnaḥ parame pade
sakāra sarvavarṇeṣu yuktaceṣṭas tu sarvataḥ
yuktāni drāvabodhas tu yas tatvaṃ sa ca viṃdati
bhavabhaya bhavavahnir muktisopānapaṃktiḥ
prakaṭitaparamārthe yāni guhyaṃ

The P.D. Chandratre mentioned as the owner of a manuscript of the *Khecarīvidyā* in the NCC (Raghavan 1969b:188) gave all his manuscripts to the Sarvajanik Library, Nasik. The *Khecarīvidyā* MS is No. 1973; acc. No. 5/3 in the library hand-list.

- $W_1$ (Wai Prajñāpāṭhaśālā)

*Yogaśāstrakhecarīmudrāpaṭala*. Devanāgarī. Paper. Complete and in good condition. Dated Śaka 1777 (1855 CE). 25 folios numbered at bottom right of verso. 21.5 × 15.0 cm. 10 lines to a side. On the front cover is written:

// atha yogaśāstrakhecarīmudrāpaṭalaprāraṃbhaḥ //

On the back (f. 25v) is written:

// iti yogaśāstrakhecarīmudrāpaṭalasamāptaḥ //

Beginning (f. 1v[1]):

śrīgaṇeśāya namaḥ // śrīsarasvatyai namaḥ // śrīgurubhyo namaḥ

End (f. 24v[9]):

iti śrī ādināthanirūpite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde (**f. 25r**) khecarīmudrābījaṃ nāma caturthapaṭalaṃ saṃpūrṇaṃ // // śrīkṛṣṇārpanam astu // // śake 1777 rākṣasanāmasaṃvatsare bhādrapadakṛṣṇaṣaṣṭhyāṃ tithau iṃduvāsare taddine pustakaṃ samāptaḥ // // śubhaṃ bhavatu // // cha // //

As mentioned above, both N and $W_1$ contain an extra section of 12 *śloka*s, consisting of *Gorakṣaśataka*$_N$ 184–90, 192 and 197–8, at 2.111c. N concludes the second *paṭala* after this section; $W_1$ has the usual last 14 verses. In $W_1$ this section is as follows (f. 15r[3]–f. 16r[2]):

satatadhyānataḥ paraṃ //
dhāraṇā paṃcanāḍīṣu dhyānaṃ dviḥsaptanāḍikaṃ //
dinadvādaśakenaiva sadhiḥ prāṇasaṃtramāt //
anusaṃdhāna yo yogai sohaṃ lasatināṃginām //
tathātmamanasayor aikyaṃ samādhiḥ so bhidhīyate //
yathā saṃkṣīyate prāṇo mānasaṃ ca pralīyate //
tathā samarasatvaṃ ca samādhiḥ so bhidhīyate //

yat samatvaṃ dvayor atra jīvātmāparamātmanoḥ //
naṣṭaḥ samastasaṃkalpaḥ samādhiḥ so bhidhīyate //
iṃdriyāṇi manovṛtti sarvajīvāśrayaṃ bhavet //
atha yat tad ga(f. 15v)te jīve na mano neṃdriyāṇi ca //
na gaṃdho na raso rūpaṃ na sparśaḥ śabdatanmayaṃ //
nātmānaṃ na paraṃ vetti yogī yuktaḥ samādhinā //
khādyate na sa kālena bādhyate na sa karmaṇā //
bādhyate na sa kenāpi yogī yuktaḥ samādhinā //
na ca jānāti śītoṣṇaṃ na duḥkhaṃ na sukhaṃ tathā //
na mānaṃ nāpamānaṃ ca yogī yukta samādhitaḥ //
abadhyaḥ sarvaśāstrāṇām abādhyaḥ sarvadehināṃ //
agrāhyo maṃtrataṃtrāṇāṃ yogī yukta samādhitaḥ //
nirādyaṃ ca nirālaṃbaṃ niṣprapaṃca nirāśrayaṃ //
nirāmayaṃ nirākāraṃ tatvaṃ tatvavido viduḥ //

dugdhe kṣīraṃ ghṛte sarpir agnār agnir ivārpayet //
tanmayatvaṃ vrajet yogī sa līnaḥ parame pade //
sakāra sarvavarṇeṣu yuktaceṣṭas tu sarvataḥ //
yukta(f. 16r)nidrāvabādhas tu yas tatvaṃ sa ca viṃdati //
bhavabhaya va*bhe vahnir muktisopānapaṃktiḥ //
prakaṭitaparamārthe yāni guhyaṃ

W1 also has an additional passage at the end of the text which is not found in N (f. 23v[4]–f. 24v[9]):

śrīsūryaśastra 1 caṃdraśastra 2 rudraśastra 3 bhavānīśastra 4 gaṇapatiśastra 5 iṃdraśastra 6 brahmaśastra 7 cohyāsīsiddhaśastra 8 navanāthaśastra 9 kuṃbhaśastra 10 śvetarajaśastra 11 nakhaśastra 12 romaśastra 13 cāpaśastra 14 kaiṃcaśastra 15 siddhaśastra 16 etāni śastrāṇi khecarīchedanārthaṃ // tena vṛddhigāmī bhavati jihvā etat // [*The next section, up to* khecarīpaṭele, *is also found in the colophon of* K1] // īśvara uvāca // khecarīsamarpaṇaṃ / / sa tu khecarīmaṃtragraṃthokta // someśān navamaṃ varṇam ityādi // gamanasaphalaṃ // ṣaḍākṣarakhecarībījaṃ // hrīṃkārā khecarīpaṭele paśo anekayogeśvarāsādhitale upadeśakramaṃ // [*There follows a ṣaṭkoṇa star with* oṃ *at the top*, sa *to the right*, kha *at the bottom and* phroṃ *to the left. In the points, starting at the top and going clockwise, are* gaṃ, saṃ, na, ma, pha *and* laṃ. *In the centre is* hrīṃ.] asya śrīkhecarīmaṃtrasya // kapila ṛṣiḥ // siddhir anāyāse khecarīmudrāprasādasidhyarthe jape viniyogaḥ // atha nyāsaḥ // gaṃ hṛdayāya namaḥ // saṃ śirase svāhā // naṃ śikhāyai vaṣaṭ // ma kavacāya huṃ // pha netratrayāya vauṣaṭ // laṃ astrāya phaṭ // hrāṃ hrīṃ hrūṃ hraiṃ hrauṃ hraḥ iti ṣaḍaṃgaḥ // ādhārapadmabhavena khecararājahaṃsam atar mahāgaganavāsavibhāpralekhaṃ // ānnaṃdabījakam anaṃgaripoḥ puraṃdhrīm

> ābrahmalokajananīm abhivādaye tvāṃ // mūlālavālakuharād uditā bhavānīṃ // oṃ hrīṃ gasanasaphalaṃ aṃsakhaphroṃ // iti maṃtraḥ //

Throughout the manuscript several incorrect "corrections" have been made in the margin.

Described by RAGHAVAN (1969b:188).

Prajñāpāṭhaśālā, Wai, Maharashtra. List No. 6-4/398.

- M (**M**ysore)

*Khecarīpaṭala*. Paper. Devanāgarī. 13 folios, numbered on bottom right of verso. Approximately 22 × 8 cm., with 11 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. Untidy hand.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīgaṇeśāya namaḥ // īśvara uvāca //

End (f. 13r[8]):

> iti siddhauṣadhāni //

The first three *paṭala*s end:

> iti śrī ādināthaviracite mahākālayogaśāstre khecaryāṃ [amukaḥ] paṭalaḥ

Described by RAGHAVAN (1969b:188).

Oriental Research Institute, Mysore. MS No. 34979 C170.

- $K_1$ (**K**athmandu)

Catalogued as *Mahākālayogaśāstra*, but the first two folios have *khe paṭ* at top left of verso while subsequent folios have *khe vi*. Devanāgarī. Paper. Complete and in good condition. 13 folios numbered at top left of verso. 28 × 12.5 cm. with 9 lines to a side. c. 19th century. Similar to $K_3$ and equally full of careless errors, but both $K_1$ and $K_3$ often have good readings which they share only with $\mu$. Final -m and homorganic nasals are not written as *anusvāra*.

Beginning (f. 1v[1]):

> oṃ namaḥ śrī gaṇeśāya namaḥ oṃ namaḥ śivāya

End (f. 13r[9]):

> iti śrīmahā(**f. 13v**)ādināthena nirūpite mahākālayogaśāstre khecaryāṃ vidyāyāṃm auṣadhayogo nāma caturtha paṭalaḥ 4 //
> īśvara uvāca // śrīkhecarīsamarpaṇasatu khecarīmantragranthoktasomemātuvasaṃvarṇamity ādi // gamanasaphalaṃ ṣaḍākṣarakhecarībījam // hrīṃkārā khecarīpaṭalepa

NAK 5-6568. NGMPP Reel A 207/9.

- $K_3$ (Kathmandu)

  *Mahākālayogaśāstra Khecarīvidyā.* Devanāgarī. Paper. 17 folios, numbered at bottom right of verso. 23.1 × 10.5 cm. with 9 lines to a side. Complete and in good condition. c. 20th century. Similar to $K_1$ and equally full of careless errors. However, as stated above, both $K_1$ and $K_3$ often have good readings which they share only with $\mu$.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ // // oṃ namaḥ śivāya //

  End (f. 17v[3]):

  > iti śrīmahā ādināthena nirūpite mahākālayogaśāstre khecaryāṃ vidyāyām auṣadhyogo nāma caturthaḥ paṭalaḥ // 4 // samāptā // śubhm *[sic]* // o //

  Kesar Library, Kathmandu. MS No. 316. NGMPP Reel C 32/12. (Retake of C86/6).

- $J_2$ (Jodhpur)

  *Khecarīpaṭalaḥ.* Devanāgarī. Paper. 19 folios, numbered at bottom right of verso. Approximately 23 × 10 cm. with 8 lines to a side. Complete and in good condition. Untidy hand. Dated Samvat 1783 (1726 CE) and copied in Varanasi. From f. 15v[7] to the end of *paṭala* 4, the verse order is different from that of all other witnesses apart from $J_4$. 3.27c–55b are found at the end of the manuscript (f. 17v[8] onwards) with just the last 2 *pāda*s of *paṭala* 4 after them. 3.27c–30b can also be found as a marginal insertion on f. 15v, indicating that an attempt at sorting out the order has been made.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ

  End (f. 19v[4]):

  > iti śrīmahādināthanirupite mahākālayogaḥ caturthaḥ paṭalaḥ samāptāḥ saṃvat 1783 likhitaṃ kāśyāṃ madhye maṇikarṇikāsanīpe // subham astu // śrīrāma // śrī // śrīrāma // śrīrāma // śrīrāma // śrīvisvesvara //

  Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:168–9).

  MMSL, Jodhpur. MS No. 1375.

- $J_4$ (Jodhpur)

  *Khecarīvidyā.* Devanāgarī. Paper. 15 folios, numbered at top left of verso. Approximately 23 × 10.5 cm. with 9 lines to a side. Complete and in good

condition. Dated Samvat 1740 (1683 CE) and copied in Varanasi. As in J2, from 3.27b (f. 12v[1]) the verse order is different from that of other witnesses. 3.27c–3.55c is found at the end of the manuscript (f. 14r[5] to f. 15v[5]). 3.27c–29d is also given in its usual position at f. 12v[1–3]. 3.55c to the end of *paṭala* 4 is found after this, at f. 12v[3]– f. 14r[5].

On f. 1r is written twice, in different hands, a *nyāsa* of a six-syllable mantra. The first is in the same hand as the rest of the manuscript and is easy to read:

> anyanyāsa haṃ hṛdayāya namaḥ saṃ sirase svāhā ṣaṃ sikhāya vauṣaṭ phaṃ kavacāya hūṃ raṃ netratrayāya basaṭ iṃ strāya phaṭ // hsphrīṃ //

The second is upside-down relative to the first, in a different hand and very unclear, with some parts so faded as to be illegible:

> haṃ *dayāya namaḥ saṃ śirase svāhā // khaṃ *i*āya vauṣaṭ // phaṃ kavacāya hūṃ // raṃ netratrayāya ***īṃ ⌈astrāya phaṭ⌉// 7 // *[Above in a different hand]* hskhphrīṃ

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīgaṇeśāya namaḥ // atha khecarīpaṭala likhyate //

End (f. 15v[5]):

> iti śrīmadādināthanirūpite mahākālayogaśāstre° *[sic]* caturthaḥ paṭalaḥ // 4 // saṃvat // 1740 // agahanakṛṣṇa ekama ravivāsara likhitaṃ gaṃgānāthena kāsyāṃ madhye svarga⌈dvā⌉rīsiddhipīṭhe maṇikarṇikātārakesvarasamīpe pustakaṃ saṃpūrṇaṃ samāptaṃ lekhakapāṭhakānāṃ subhaṃ bhuyāt // // // śrīādināthāya namaḥ // devyai namaḥ //

Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:168–9).

MMSL, Jodhpur. MS No. 1377.

- V (Vaḍodarā)

*Khecarīvidyā*. Devanāgarī. Paper. 20 folios, numbered on bottom right of verso. Approximately 24 × 12 cm. with 9 or 10 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. From the beginning of *paṭala* 3 (f. 14v[8]) to the end of the manuscript another hand has deliberately altered the text to produce nonsense. For example, at 3.2c (f. 14v[10]) भित्वा रसनया योगी has been altered to भित्वा रेसंमयो योगी. Corrected forms of these alterations have been used in the critical edition; the uncorrected forms are given in the full collation at http://www.khecari.com. Uncorrected readings are marked $V^{ae}$, corrected readings $V^{pe}$ (V *ante/post emendationem*).

Beginning (f. 1v[1]):

// śrī gaṇeśāya namaḥ // śrī gurubhyo namaḥ //

End (f. 20v[4]):

> iti śrīmadādināthanirūpite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ // 4 //

After the colophon is written in a different hand from the rest of the manuscript (f. 20v[7]):

> oṃ hrīṃ ⌈gaṃ⌉ saṃ naṃ maṃ phaṃ laṃ // phreṃ ṣaṭdīrghabhājā // oṃ hrīṃ gaṃ saṃ naṃ maṃ phaṃ laṃ aṃ saṃ khaṃ

Described by Raghavan (1969b:188).

Oriental Institute, Baroda. MS No. 4109.

- $K_4$ (Kathmandu)

  *Khecarīvidyā*. Paper. Devanāgarī. 11 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 27.1 × 12.4 cm. with 10 lines to a side. Complete and in good condition. c. 18th century. $K_4$ is very similar to $J_2$ but shows contamination with the manuscript traditions of $J_6$ (1.18c) and $\mu GS\alpha$ (2.28b). There are some idiosyncracies in writing style: *tu* looks like *nu*, *dhā* is written as *dhya*, *ca* and *ja* in conjunct consonants are written vertically; *-o* is often wrongly written for *-ī* and there are many incorrect *anusvāra*s.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ

  End (f. 11v[3]):

  > iti śrīmahādināthanirūpite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaḥ samāptaḥ

  NAK 4-1817. NGMPP Reel A 1289/9.

- $K_2$ (Kathmandu)

  *Khecarīvidyā*. Paper. Devanāgarī. 15 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 28.6 × 12 cm. with 11 lines to a side. Complete and in fair condition. c. 19th century. Full of simple errors and very close to the readings of P but occasionally unique (e.g. 3.31b, 3.59b).

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīmataṃ rāmānujāya namaḥ oṃ

  End (f. 14v[9]):

  > iti śrīmahākālayogaśāstre umāmaheśvarasamvāde ādināthaviracite caturthapaṭalaḥ 4 ❀

After the *Khecarīvidyā* the codex has two short works: from f. $14v^{9}$–f. $15v^{10}$ is a work describing a mantra and its effects whose colophon reads:

> itty ātharvaṇavede upaniṣadaḥ prātemṛttyulāṃgūlaṃ (**f. 15v**) samāptam ⊛

The second work (f. $15v^{1-10}$) has the following colophon:

> iti śrī atharvaṇavedokta allopaniṣat samāptā ⊛ ⊛ ⊛ ⊛ ⊛ ⊛

Found in Janakpur. From the private collection of Rāmakṛpālaśaraṇa. NGMPP Reel M 23/10.

- P (Pune)

  *Khecarīvidyā*. Paper. Devanāgarī. 15 folios, numbered at top left and bottom right of verso. Approximately 22 × 11 cm. with 9 lines to a side. Complete and in good condition. Dated Samvat 1805 (1748 CE) and copied in Varanasi.

  Beginning (f. $1v^{1}$):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ

  End (f. $15v^{3}$):

  > iti śrīmadināthanirupite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaṃḥ paṭalaḥ saṃpūrṇaṃ saṃvat 1805 śamai nāma agahanamāse śuklu pakṣe ca paṃcamīyāṃ ravīvāśare // liḥ kāśyā madhye kedāraghāṭanyāre hanumānaghāṭa /

  Described by RAGHAVAN (1969b:188).

  Bhandarkar Oriental Research Institute, Pune. MS 129 of A1882–3.[170]

- J3 (Jodhpur)

  *Khecarīvidyā*. Devanāgarī. Paper. 23 folios, numbered at bottom right of verso. The sixth and seventh folios are both numbered 6; all subsequent folios are thus numbered one less than they should be. Approximately 25 × 11 cm. with 7 lines to a side. Complete and in good condition. c. 18th century.

  Beginning (f. $1v^{1}$):

  > śrīgaṇeśāya namaḥ // atha khecarīpaṭa likhyate // śrīśiva uvāca //

  End (f. $23v^{3}$):

  > iti śrīmadādināthe prokte mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvade khecarīvidyāyāṃ caturthapaṭalaḥ // samāptaṃ // hasta akṣa viśvanāthena likhitaṃ // cha // cha // cha // cha // cha // cha // cha //

Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:168–9).

MMSL, Jodhpur. MS No. 1376.

- F (Institut Français de Pondichéry)

  *Khecarīvidyā*. Telugu. Paper. 37 pages, numbered in arabic numerals at the top of each page. 17.5 × 22 cm. with 19 lines to a side. c. 1850 CE. *Paṭala* 1 is written in a neat hand. *Paṭala* 2 onwards (from p. 9 l. 8) is written in a less tidy hand which becomes progressively untidier. This second hand has also made some corrections to *paṭala* 1. Aspirated and unaspirated consonants are often confused. In sandhi final *-ḥ* assumes the form of a following sibilant. Initial *e-* is written *ye-*.

  Beginning (p.1 l.2):

  > śrīmātre namaḥ śrīsaccidānandasadguruparabrahmane namaḥ śrī mahāgaṇādhipataye namaḥ
  >
  > > śuklāmbaradharaṃ viṣṇuṃ śaśivarṇaṃ caturbhujaṃ
  > > prasannavadanaṃ dhyāyet sarvavighnopaśāntaye

  End (p.37 l.4):

  > iti śrīmadādināthanirūpite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ hariḥ oṃ tat sat sarvaṃ śrī kṛṣṇārpaṇam astu

  Described by RAGHAVAN (1969b:188).

  Institut français de Pondichéry. MS RE 19027.

- $K_5$ (Kathmandu)

  *Khecarīvidyā*. Devanāgarī. Good condition. 14 folios numbered 1 to 15 with folio 11 missing. Numbered at top left and bottom right of verso. 27 × 11.7 cm. with 9 lines to a side. Dated 1813 CE. Readings generally match $\beta$ but are occasionally unique (e.g. *śaṃkarapūjanāt* at 1.22d) and in *paṭala* 4 show conflation with witnesses of $\alpha$, especially M (see e.g. 4.3c).

  Beginning (f. $1v^1$):

  > śrīkṛṣṇāya namaḥ

  End (f. $15r^2$):

  > iti śrīmadādināthanirūpite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ //4// // // śubham astu // //graṃthasaṃkhyā//285//oṃ maṅgalam maṅgalanātho maṅgalam maṅgalā sutaḥ//maṅgalam maṅgalā nityaṅ karotu mama maṃdire //1//oṃ maṅgalam bhagavān viṣṇur maṅgalaṅ garuḍadhvajaḥ//maṅgalaṃ puṇḍarikākṣo maṅgalāyatano hariḥ//2// //yādṛśaṃ pustakaṃ dṛṣṭvā tādṛśaṃ likhitaṃ mayā//yadi śuddham

aśuddhaṃ vā śodhanīyā mahajjanaiḥ//3// //idaṃ pustakaṃ śrī-******** *(these syllables have been deliberately obscured)* sya//śrīḥ// //śrīvikramādityasaṃvat 1870//śrīśalivāhanīyaśāke 1735//śrīnaipālāvde 933//vaiśākhamāsi sitetaradale vyālatithau vudhavāsare likhitam idam pustakam pāśu⌈pata⌉kṣatre śubham bhūyāt // // //

MS No. 6-1636 from the Rāṣṭrīyābhilekhālaya. NGMPP Reel A 999/7.

- $K_6$ (Kathmandu)

  *Khecarīvidyā*. Paper. Devanāgarī and Nevārī. 20 folios numbered 2–21 with 1 and 22 missing due to damage. Numbered at bottom right of verso. c. 19th century. Starts in reasonably tidy Devanāgarī but at f. 5r[2] becomes Nevārī with occasional reversions to Devanāgarī, giving the impression that the scribe was copying from a Devanāgarī witness but slipped into his native hand. Readings generally tally with those of $\beta$ but some contamination is evident, e.g. with $\alpha_1$ at 3.65b. Nasals are usually assimilated with following consonants and not written as *anusvāras*; *sch* is written for *sth*. Neither of these idiosyncracies is reported in the collations.

  NGMPP Reel No. E1145/12.

- C (Chandra Shum Shere)

  *Khecarīvidhāna*. Paper. Devanāgarī. 7 folios. Good condition. Incomplete, ending at 2.14d. c. 19th century.

  Beginning (f. 1v[1]):

  śrīgaṇeśāya namaḥ

  Uncatalogued.

  Bodleian Library, Oxford. MS e.155(5) in the Chandra Shum Shere collection.

- $J_1$ (Jodhpur)

  *Khecarīvidyā*. Devanāgarī. Paper. 16 folios, numbered at bottom right of verso. 27 × 13 cm. with 9 lines to a side. Complete and in good condition. c. 18th century.

  Beginning (f. 1r[1]):

  śrīnāthāya namaḥ

  End (f. 16r[8]):

  iti śrīmadādināthaniropite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaṃ samāptam iti // // śrīkalyāṇam astu

Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:168–9).

MMSL, Jodhpur. MS No. 1374.

- $J_5$ (Jodhpur)

  *Khecarīvidyā*. Devanāgarī. Paper. 9 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 29.5 × 15.5 cm. with 14 lines to a side. Complete and in good condition. c. 18th century. For *sth* the scribe writes *sch*—this is not reported in the collations.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > śrīyogeśvarāya namaḥ

  End (f. 9v[12]):

  > iti śrīmadādināthaniropitem mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaṃ // cha // cha // cha //

  Described by VYAS & KSHIRSAGAR (1986:170–1).

  MMSL, Jodhpur. MS No. 1378.

- $W_2$ (Wai Prajñāpāṭhaśālā)

  *Khecarīmudrāpaṭala*. Paper. Devanāgarī. 18 folios, numbered at bottom right and top left of each folio. 21.5 × 11.5 cm. with 10 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. The covering folio has *haṭṭadīpikā* written in its centre and the rest of the codex (ff. 18v–39r) consists of the *Haṭhapradīpikā* of Svātmārāma.

  Beginning (f. 1v[1]):

  > // śrīgaṇeśāya namaḥ //

  End (f. 18r[9]):

  > iti śrīmadādināthaniropite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthapaṭalaṃ // 4 // // gratha // 279 // cha

  Described by RAGHAVAN (1969b:188).

  Prajñāpāṭhaśālā, Wai, Maharashtra. List No. 6-4/399.

- $R_1$ (Royal Asiatic Society of Bengal)

  *Khecarīvidyā*. Devanāgarī. Paper. 48 folios, numbered at bottom right of verso. 28 × 12.7 cm. 4 or 5 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. M. Ram of Marseille kindly provided me with photostat copies of xeroxes from a microfilm of the manuscript. F.17v (2.14d °*śācora*°–2.16c *trikālajñaḥ*) is missing from the copy. Due to a copyist missing a folio and then noticing his mistake, f. 35 is found after f. 39 and 3.16b–17d and

3.19 are found twice, on f. 36r and at f. 37r[1]–f. 37v[1] (where 3.18 is also found). The manuscript contains many minor mistakes.[171]

Beginning (f. 1v[1]):

> oṃ śrīgaṇeśāya namaḥ

End (f. 48r[3]):

> iti śrīmadādināthaniropite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaṃ samāptam iti // śrīgu-runārāṇa '*syaṇa*

Described by SHASTRI (1939:302) and RAGHAVAN (1969b:188).

Library of the Asiatic Society of Bengal, Calcutta. MS 5854.

- B (**B**ombay)

*Khecarīvidyā*. Devanāgarī. Paper. 17 folios, numbered at bottom right of verso. Approximately 21 × 11 cm. with 10 lines to a side. Complete and in good condition. c. 19th century. The codex continues with the *Haṭha-pradīpikā* of Svātmārāma. The text often shows signs of scribal emendation and in many places where the other members of $\gamma$ have corrupt readings a meaningful reading can be found in B which is not found in any other witness.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīmaṃgalamūrtaye namaḥ // śrīmadavadhūtadigaṃvarāya namaḥ //

End (f. 17r[4]):

> iti śrīmadādināthaviracite mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃ-vāde khecarīvidyāyāṃ caturthaṃ paṭalaṃ samāptaṃ // 4 //

Described by RAGHAVAN (1969b:188).

Bombay University Library. MS 2016.

There is another manuscript of the *Khecarīvidyā* in the Bombay University Library, No. 2015. It is a xerox copy of a poor reconstruction of a badly damaged paper manuscript and is full of lacunae. The crumbling original is also in the library but is little more than a collection of fragments. Where the reconstruction is legible, it is virtually identical to 2016 and its readings have not been collated. However it seems that neither is a direct copy of the other since the introductory *maṅgala*s are different. 2015 has:

> śrīgaṇeśāya namaḥ // śrīsarasvatyai namaḥ // śrīgurubhyo namaḥ //

# Testimonia

- *D* (Dīpikā)

Nārāyaṇa's *Dīpikā* on one hundred and eight *upaniṣad*s cites the *KhV* in three places. Readings from the text have been included in the apparatus of the critical edition and the full collation, for which two editions of the text have been consulted:

1. $D_1$ : *Śrīnārāyaṇaśaṅkarānandaviracitadīpikāsametānām upaniṣadāṃ samuccayaḥ*. Ānandāśrama Sanskrit Series 29. Poona. 1895.

2. $D_2$ : *Ātharvvaṇopaniṣadaḥ Nārāyaṇakṛtadīpikāsahitāḥ*, ed. Rāmamaya Tarkaratna. Calcutta: Asiatic Society of Bengal (New Series No. 249). 1872.

Bouy (1994:30), following Gode (1938:128–32), dates Nārāyaṇa to between 1500 CE and 1700 CE. The *KhV* passage cited *ad Brahmavidyopaniṣad* 8 is without the corrupt interpolation of 2.75ab found after 2.72b in S$\alpha\beta\gamma$. The later limit of Nārāyaṇa's dates can thus be put back to before 1683 CE, the date that $J_4$ was copied.

The passages from the *KhV* which are cited are as follows:

1.45–49, 55c–56d, 64 *ad Kṣurikopaniṣad* 11 *("khecaryām")*. This citation is not found in $D_2$.

2.72a–73b *ad Brahmavidyopaniṣad* 8 (ascribed with the preceding quotation to Yājñavalkya in $D_1$; *"khecaryyām"* in $D_2$.)

3.32c–47d *ad Kṣurikopaniṣad* 12 *("khecarīpaṭale")*.

3.41c–42d *ad Yogaśikhopaniṣad* 2.3 *("khecaryām")*.

- O (Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur.)

*Khecarīvidyā*. Devanāgarī. Paper. 11 folios. Good condition. c. 19th century. Approximately 22 cm. × 10 cm. 7 lines to a side. This manuscript consists of a short treatise on physical yoga, composed mainly of citations (from the *Khecarīvidyā*, the *Śivasaṃhitā*, the *Haṭhapradīpikā*, the *Haṭhasaṃketacandrikā* and the *Yogasaṃgraha*), with sections on the *khecarīmantra*, *turīyāvasthā*, *kuṭīpraveśa*, *auṣadhikalpa* and *śivāmbupāna*. The following three passages from the edited *KhV* are cited:

1. 1.30c–33b, 35c–44d at f. $1v^7$–f. $3v^6$. Introduced with *"yathā coktaṃ khecarīpaṭale"* and closed with *"iti khecarīpaṭalāt khecarīvidyā"*. Between 1.41b and 1.41c is an explanatory section:

prastāraḥ // *h*sphreṃ khecaryai namaḥ // asya śrī khecarīmaṃtrasya bhagavān ādinātho ṛṣiḥ gāyatrī chandaḥ śrīkhecarīsiddhipradā khecarī devatā *oṃ h* sphreṃ vīja namaḥ // śaktiḥ mama yogasiddhyarthaṃ jape viniyogaḥ // oṃ hrāṃ aṃguṣṭhābhyāṃ hṛdayāya namaḥ // oṃ hrīṃ tarjanībhyāṃ śirase svāhā // oṃ hraḥ karatalakarapraṣṭābhyāṃ astrāya phaṭ //

> atha dhyānaṃ
> **(f. 3r)** mūlādibrahmaraṃdhrāṃtavisataṃtunipasīṃ //
> udyatsūryaprabhājālavidyutkoṭisamaṃprabhāṃ //14//
> caṃdrakoṭiprabhād āva trailokyaikaprabhāmayā //
> aśeṣajagadutpatisthitisaṃhārakāriṇīṃ //15//
> dhyāyed yathā mano devi niścalaṃ jāyate tataḥ //
> sahajānaṃdasaṃdohamaṃdiraṃ bhavati kṣaṇāt //16//
> mano niścalatāṃ prāptaṃ śivaśaktiprabhāvataḥ //
> samādhi jāyate tatra saṃjñādvayavijṛṃbhitaḥ //17//
> śaṃbhavena ca vedhena sukhī bhūyān nirantaraṃ //

atra suṣumṇādhyānamahimnā manasthairya svayam eva yātini // śaktiḥ suṣumṇāsarvasṛṣṭimayī mūlaprakṛtiḥ //**(f. 3v)** śivas tadantargatacitrāṃtaḥ *rūpa*paṃcadevātmakaṃ vale // iti dhyātvā japet

2. 3.1cd at f. 4r[1], introduced with *"tad uktaṃ khecarīdhavale"*. There follows a description of Kuṇḍalinī (up to f. 5r[1]) of which only the first two lines are found in the *Khecarīvidyā*.
3. 4.4 at f. 8v[7]–f. 9r[4]. This verse is not introduced as a quotation. It follows a verse about *"muṃḍīkalpa"* and is followed by *"iti vārohīkaṃdakalpaḥ"*.

MS No. 34946 in the collection of the Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur. Reported as ' "Khecarīvidyā" (O)' in the testimonia apparatus.[172]

- $H_1$ (Haṭhapradīpikā)

The *Haṭhapradīpikā* includes four verses which it has borrowed from the *Khecarīvidyā*.[173] I have used the edition of DIGAMBARJĪ & JHĀ to note variants from the critical edition of the *Khecarīvidyā*. The passages are *HP* 3.33–35 ( = *KhV* 1.44–46) and *HP* 4.42 ( = *KhV* 3.19).

- $H_2$ (Haṭhapradīpikā)

*Haṭhapradīpikā*. Devanāgarī. Paper. 171 folios, numbered at top left and bottom right of verso. 20 cm. × 11 cm. 8 or 9 lines to a side. Complete and in good condition. Copied at the command of King Jayasiṃhadeva of Jodhpur in 1707 CE.

Beginning (f. 1v[1]):

> śrīmānmahāgaṇapataye namaḥ

End (f. 171v²):

> iti śrīsahajanāthasiṣyeṇa śrīsvātmārāmayogīṃdreṇa viracitāyāṃ haṭhapradīpikāyāṃ siddhāṃtamuktāvalyāṃ ṣaṣṭhopadeśaḥ // iti //// śrīr astu ////////śrīmanmahārājādhirājajīśrījayasiṃhadevajīkasyājñayā likhitam idaṃ tulārāmeṇa // saṃvat 1765 varṣe caitre māse kṛṣṇe pakṣe 10 //// śrīrāmo jayati //// śrīgaṇapataye namaḥ ////// sarve te sukhinaḥ saṃtu sarveḥ saṃtu nirāmayāḥ // sarve bhadrāṇi

This is the longest version of the *Haṭhapradīpikā* so far discovered (1553 verses in 6 *upadeśa*s). The manuscript is described in detail in GHAROTE 1991. In all the chapter colophons the text is called *Siddhāntamuktāvalī* as well as *Haṭhapradīpikā*.

The manuscript has a long passage (vv. 5.93–5.347) on *khecarīmudrā* at f. 95v⁴ to f. 119v¹. Amongst these verses are the following from the *Khecarīvidyā* — *paṭala* 1: 1–4, 6ab, 8–16, 19c–30b, 31c–34d, 35c–44b, 45–52b, 53ab, 54c–55b, 56c-58b, 61ab, 63c-64b, 66c-67b, 68cd, 70ab, 74cd; *paṭala* 2: 78c–81b, 93c–94b, 95cd, 96cd, 105; *paṭala* 3: 15, 18, 21ab, 26, 29cd, 30cd, 31c–32b.[174] Noteworthy features of this passage are the detailed description of the lengthening of the tongue and the division of the practice of *khecarī* into six *aṅga*s: *chedana, cālana, dohana, pāṇigharṣaṇa, praveśa* and *mantrasādhana*. The *Khecarīvidyā* verses have been collated for the critical edition and many of the remaining verses have been adduced in the introduction and notes to the translation. The readings of this witness are very similar to those of the manuscripts of the subgroup $\alpha_3$.

Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur. MS No. 6756.

- $H_3$ (Haṭhapradīpikā)

  There are two manuscripts of a ten chapter *Haṭhapradīpikā* in the MMSL. Its vv. 5.39–41 and 5.43–49 are the *Khecarīvidyā*'s vv. 1.33cd, 1.45–46, 1.48–52b, 1.53ab, 1.54a–55b, 1.56cd and 1.57ab (but not in exactly the same order); its 7.41c–42b is *KhV* 3.19. I have used the edition of GHAROTE & DEVNATH to collate the verses from the *Khecarīvidyā*.

- *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha*

  The *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha* (pp.10–11) quotes three verses from a *Khecarīsaṃhitā* of which only the first is found in the *Khecarīvidyā*, at 3.15. Its readings have not been collated. The text of the quotation runs as follows:

> utsṛjya sarvaśāstrāṇi japahomādi karma ca /
> dharmādharmavinirmukto yogī yogaṃ samabhyaset //
> varṇāśramābhimānena vartate śrutikiṃkaraḥ /
> abhimānavihīnas tu vartate śrutimūrddhani //

na vedo veda ity āhur vedāvedo nigadyate /
parātmā vidyate yena sa vedo veda ucyate //

## Manuscripts consulted but not collated

1. *Mahākālayogaśāstra* MS No. 1794(c) in the collection of the MMSL. Paper. Devanāgarī. Incomplete. c. 19th century. 28 × 19 cm. 5 folios, numbered 2–6 at bottom right of verso. Folio 2r starts with *Khecarīvidyā* 1.43d *(digbhāga [sic] bhavet)*. This verse is numbered 23 in the manuscript. The verses of *paṭala* 1 are all numbered, the last being 57. None of the subsequent verses is numbered. The colophon to *paṭala* 1 is found at f. $3v^{4-6}$ and reads:

   iti śrīmahāādināthena mahākālayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde prathamaḥ paṭalaḥ samāptaḥ //1

   The text of the *Khecarīvidyā* breaks off abruptly at f. $5r^{8}$, in the middle of *Khecarīvidyā* 2.38d with *āpādatalaryaṃta vyā śrīrāmāya namaḥ // śrīgurave namaḥ //* From here to the end of the codex (f. $6v^{12}$) is a short work on mantras, introduced with *atha japanāmasaṃkhyāṃ*.

   The text as found in this witness is very similar to that in the manuscripts of the subgroup $\alpha_3$.

2. *Khecarīvidyā*. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur MS No. 39873. Paper. Devanāgarī. Incomplete. The first folio is missing; the text starts with 1.39b at f. $2r^{1}$. 10 folios, numbered at top left and bottom right of verso. Many folios are damaged. c. 18th century. 27.5 × 14 cm. In some of the *paṭala* colophons the text is said to be the *mūla* of the *Bṛhatkhecarīprakāśa* (a manuscript of which has been collated as witness S in the critical edition of the *Khecarīvidyā*), but the manuscript does not give Ballāla's commentary. In the top left of each verso is written the abbreviation *khe°rī°kā°* (every other syllable of *khecarīprakāśa*). The *paṭala* colophons are as follows:

   1. iti śrīmadādināthanirūpite mahākālataṃtrāṃtargatayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ prathamaḥ paṭalaḥ //1//
   2. iti śrīmadādināthanirūpite mahākālataṃtrāṃtargatayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ dvitīyaḥ paṭalaḥ pūrṇaḥ //2//
   3. iti śrī°vṛhatkhecarīprakāśe tṛtīyaḥ paṭalaḥ //3//
   4. iti śrīmadādināthanirūpite mahākālāntarvartiny umāmaheśvarasaṃvāde khecarīvidyāyāṃ caturthaḥ paṭalaḥ saṃpūrṇaḥ //4//iti vṛhatkhecarīmūlasamāptam //śrīḥ//śrīḥ//śrīḥ//śrīḥ//śrīḥ// śrīvedamātāyai namo namaḥ // śubhaṃ bhūyāj janatāyāḥ//

   The text of the *Khecarīvidyā* as given in this manuscript is very similar to that given in witness S.

3. *Khecarīvidyā*. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur MS No. 18376. Paper. Devanāgarī. Complete. 14 folios, numbered at the bottom right of each verso. 26.5 × 13 cm. Good condition.

   Beginning (f. 1r[1]):

   > //śrīgaṇeśāya namaḥ//śrīnāthāya namaḥ//

   End (f. 14v[8]):

   > iti śrīmadādināthaniropite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturthaḥ paṭalaḥ samāptam//14//

   This manuscript would be in the subgroup $\gamma$ were it to be collated.

4. *Khecarīvidyā*. Asiatic Society of Bengal MS No. 8827. Paper. Devanāgarī. Incomplete. The first folio is missing; the text starts with 1.9b at f. 2r[1]. 13 folios, numbered at the top left and bottom right of verso. Good condition but written in an untidy hand. 24 × 12.5 cm. 1799 CE.

   End (f. 14r[6]):

   > iti śrīmahādināthanirūpite mahākālayogaśāstre khecarīvidyāyāṃ umāmaheśvarasaṃvāde caturtha paṭalaḥ //4//śubham astu samvat 1856 śāke 1721 mārgasīrṣa śukladutiyāyāṃ guruvāsare līṣata durgāprasāda tīvāri śubhaḥ //

   There follows a description of the *khecarīmantra* almost identical to the passage in the colophon of $W_1$ which starts *śrīkhecarīmantrasya* and finishes *abhivādaye tvāṃ*. In this manuscript it ends with a colophon: *iti khecarīmudrābījayaṃtra nāma pañcamaḥ paṭala*. This is followed by instructions for the *mālakāgulīkalpa*.

   Described by SHASTRI (1939:304).

   This manuscript would be in the subgroup $\beta$ were it to be collated.

5. *Matsyendrasaṃhitā*. MMSL, Jodhpur MS No. 1783. Paper. Devanāgarī. Complete. Good condition. 172 folios. 11 lines per page. 30 letters per line. 13.3 × 28.5 cm. (VYAS & KSHIRSAGAR 1986:184–5).[175]

   The readings of this manuscript are very similar to those of $J_6$ but include several careless errors. In a personal communication in August 2005 Csaba KISS pointed out to me that comparison of the readings found in this manuscript with those of $J_6$ at *Matsyendrasaṃhitā* 13.9 indicates that it is in fact a direct copy of $J_6$.

## Manuscripts not consulted

I have not located the following catalogued manuscripts. I have not tried to find any of them other than the first in the list.

1. *Khecarīpaṭala*. MS No.1279 in the collection of the library of the Maharaja of Bikaner. Paper. Devanāgarī. 19 folios. 12 lines per page. "On secret worship of Piśāchīs or female imps to bring them under subjugation. An extract from a Tantra." (Mitra 1880:589). I was unable to locate this manuscript on a visit to Bikaner in February 2001. It is not mentioned in the Anup Sanskrit Library Catalogue at the Lalgarh Palace nor in the library catalogue at the Bikaner Oriental Research Institute. Dr. Usha Goswami suggested that it may have been moved to Jodhpur since no works on Tantra or Yoga are held in Bikaner.

2. *Khecarīvidyā* by Śiva. 20 folios. 10 lines per page. No date. "In possession of Yajñeśvara Śāstrī, Surat" (Bühler 1873: A 2–3.)[176]

3. *Khecarīvidyā*. No. 1131 in Hiralal 1926 (p. 108). "Author—Ādinātha. Subject—Yoga. Is a part of Mahākāla Yoga Śāstra by Ādinātha. Owner—-Puttelāl Gauriśaṅkar of Valgaon (Amraoti district)."

4. *Khecarīvidyā* of Ādinātha. Reported by Westergaard (1846:9). Codex XII(2). Palm leaf. Telugu. 66 folios. The first 40 folios are of the *Pāṭha*[sic]-*pradīpikā*. The *KhV* is on f. 40r – f. 59v. It is part of the *Kālayogaśāstra*. It opens with *oṃ namaḥ kapileśāya mahādevāya śambhave viśvatattvapa*[sic]*dātre [ca] viśvasiddhipradāyine*. The manuscript is summarised thus: "Śiva expounds to the goddess Uma the magical science of flying through the air".[177]

5. *Khecarīvidyā.* Tantra MS 19 listed by Kielhorn (1874:38) and said to be in the possession of Chāndā Gaḍīpanta Paṭalavāra. Attributed to "Madādi" (presumably Śrīmadādinātha). 19 folios, 9 lines to a side. 342 *śloka*s. c. 1825 CE.[178]

6. *Khecarīvidyā.* MS No. 174 in a list in the Municipal Museum, Allahabad (Raghavan 1969b:188).

7. *Khecarītantra.* No. 1663 A in the collection of Dacca University, Dacca, Bangladesh (Raghavan *loc. cit.*).

8. *Mahākālayogaśāstram.* Oriental Research Institute, Mysore. MS No. 35007 C4063/4. Kannada (Raghavan *loc. cit.).*

9. *Khecarīvidyā.* Incomplete MS listed on p. 30 of the Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Punjab University Library, Lahore Vol. 2 (Raghavan *loc. cit.).*

10. *Khecarīvidyā.* No. 25 in a list of manuscripts belonging to Pt. Radhakrishnan of Lahore (Raghavan *loc. cit.).*

11. *Khecarīvidyā.* No. 41 in the above list.

## Ethnographic sources

In the introductory chapters and the notes to the translation I have occasionally used ethnographic data. I have primarily drawn on the experiences of *haṭhayogin*s that I met during my fieldwork, but have also used reports of others who have met *haṭhayogin*s that practise *khecarīmudrā*, and published accounts.

I met the following *haṭhayogin*s during my fieldwork:[179]

Śrī Bālyogī Rām Bālak Dās Jī  Though not a practitioner of *khecarīmudrā*, Rām Bālak Dās has been a *haṭhayogin* since early childhood. His insights into haṭhayogic practice have helped me considerably with my research and he introduced me to several of my other informants. He is a Rāmānandī Tyāgī *sādhu* and is for the most part itinerant but has established ashrams near Bharuch and Nasik.

Śrī Paraśurām Dās Jī Yogīrāj  Another Rāmānandī Tyāgī, Paraśurām Dās has been practising *khecarīmudrā* for many years. I first met him at the Daśaharā festival in Kullu, Himachal Pradesh in October 1996, where he demonstrated the technique and discussed it with me. He is also mainly itinerant, but has established an ashram near Kota.

Śrī Govind Dās Jī Mahātyāgī  Again a Rāmānandī, but of the Mahātyāgī sub-order, Govind Dās showed me *khecarīmudrā* at an ashram near Surat, Gujarat, in November 1996. He had not practised it for some years and had difficulty in doing so when I asked him to demonstrate it.

Dr. K.M.Tripāṭhī  I met Dr. Tripāṭhī in December 1996 when he was working at the Yoga Centre at Benares Hindu University. He showed me a *khecarīmudrā* different from that described in haṭhayogic texts and demonstrated to me by other yogins. It involved placing the tip of the tongue behind the upper front teeth and holding it there while opening the mouth as wide as possible. This action was to be repeated at least a thousand times a day. By doing thus, pressure is exerted on the *merudaṇḍa* and Kuṇḍalinī is awakened.

Dr. Ashok Ṭhākur  Dr. Ṭhākur is an āyurvedic doctor from Mumbai. I met him in January 1997. He first experienced *khecarīmudrā* when his tongue spontaneously adopted the position while he was practising *prāṇāyāma*. He demonstrated the technique to me and introduced me to his son who rarely practises yoga but is a keen swimmer and has found that his tongue also spontaneously adopts the position when he holds his breath for long periods.

Śrī Nainā Dās Jī Yogīrāj  Nainā Dās is a Rāmānandī Nāgā *sādhu* who lives in Delhi. I met him in February 1997. A well-respected ascetic, he had mastered various haṭhayogic techniques, including both *khecarī-* and *vajrolī- mudrā*s but did not practise them any more.

Svāmī Praṇavānand Sarasvatī  I met Svāmī Praṇavānand at his ashram in Rishikesh in February 1997. A well-educated Śaiva Dasnāmī Saṃnyāsī, he has been practising *khecarīmudrā* for many years and has written a book called *Jñān Bherī* which includes a chapter on yoga.

Śrī Bālyogī Lāl Jī Bhāī  A neighbour of Svāmī Praṇavānand, I met Lāl Jī Bhāī at his ashram in Rishikesh in February 1997. Initiated a Rāmānandī Tyāgī, he had also studied under Nāthapanthī *sādhu*s. Well-read in Sanskrit and Hindī, he has been practising *khecarīmudrā* for many years and is a fount of information on the subject.

Śrī Raghuvar Dās Jī Yogīrāj  A *gurubhāī* of Rām Bālak Dās, Raghuvar Dās lives in Jaipur. I had met him several times before he surprised me by demonstrating *khecarīmudrā* to me at the 1998 Hardwar Kumbh Melā.

I heard accounts of the following practitioners of *khecarīmudrā*:

Śrī Prahlād Dās Jī Yogirāj  The guru of Rām Bālak Dās and Raghuvar Dās, Prahlād Dās was an itinerant Rāmānandī Tyāgī who had mastered the practices of *haṭhayoga*. A disciple of the famous Devrāhā Bābā, he died in 1991.

Śrī Rām Dās Jī Yogīrāj  Another disciple of Prahlād Dās, Rām Dās lives in Jaipur.

Sampat Nāth  A Nāthapanthī ascetic living near Ajmer, Rajasthan, Sampat Nāth is said to be an expert practitioner of *khecarīmudrā* whose tongue can reach his forehead.

Svāmī Rāmānand  An ascetic of the Caitanya tradition, the late Svāmī Rāmānand lived at the Kaivalya Dhām Yoga Research Institute in Lonavla, Maharashtra.

I have consulted the following published accounts of the practice of *khecarīmudrā*:

Bernard 1982: 65–69

Brunton 1995: 117

Gervis 1970: 201–202

Praṇavānand Sarasvatī 1984: 203–204

Satyānanda Sarasvatī 1993: 278–298, 474–490

Svoboda 1986: 278–279.

# Conventions in the apparatus

There are four registers in the apparatus of the critical edition, of which only the third is found on every page. The first register reports testimonia and parallel passages from other texts. The second is found only on the first page of each *paṭala*. It reports all the witnesses for that *paṭala* and gives the key to the manuscript groups. The third register reports variants from the edited text. The fourth register reports significant omissions and additions in the witnesses and any other comments.[180]

With thirty-one witnesses of the text, a critical edition with a full collation would have an unwieldy and uninviting apparatus. I have therefore presented the text as a critical edition with only significant variants reported in the apparatus. In this case, the criteria for significance are, of course, subjective, so I have put a full collation at http://www.khecari.com for those who want to be sure of having all the available evidence.

In the critical edition, I have reported all variants whenever there is considerable disagreement between the witnesses or if I am at all unsure of which reading to choose for the edited text. If only one or two witnesses differ from the edited text, I have considered the importance of both variant and witness. Thus, if a variant appears insignificant but is from a witness that is often the only one to preserve a good reading (i.e. A, $J_6$, $J_7$, G or $R_2$), then I am much more likely to report it[181] than if it is from a witness that is rarely or never the only one to preserve a good reading[182] or if it is from a witness that is part of a manuscript group and the variant can easily be explained as a corruption of the form found in the other members of that group.[183] However, if one of these less individual witnesses has a variant that is interesting in its own right, then even if I think it unlikely that it might be useful in establishing an older stage of the text, I do report it. Thus I report all the variants found in *U*, the *Yogakuṇḍalyupaniṣad*.

I have composed the following half-verse and hypothetical apparatus to illustrate most of the conventions and abbreviations used in the third register of the apparatus of the critical edition:

शिवोक्ता खेचरीविद्या †कथं† संपादिता मया ॥४७॥

**47c** शिवोक्ता ] *conj.* DEVADATTA; देव्युक्ता *codd.* ◇ खेचरी° ] *em.*; ⌈शाम्भ⌉वी° A, शाम्भवी $J_6J_7$, खेचर° *cett.* *(unm.)* ◇ °विद्या ] °*द्यां A, °f*व*द्या G, यथा $\gamma$ *(unm.)* **47d** †कथं† ] $\mu$G$R_2$*UT*$\beta_1$; परा S$\alpha$, साधु $K_2$P, न सु° $J_3$F$K_5K_6$C, तथा $\gamma_1$, परि° $B^{ac}$, यथा $B^{pc}$ ◇ संपादिता मया ] *transp.* $\mu$ *(unm.)*, संपादिता त्व[.] G, संपादिता ⊔या N

The verse number and *pāda* letter precede the apparatus entries for each *pāda*. Entries for different elements within a *pāda* are separated by a diamond (◇). The lemma word or phrase is followed by the lemma sign (]). If the lemma word or phrase is found in the majority of witnesses then the apparatus is negative; if not, or if the distribution of witnesses whose readings match the lemma word is not clearly split within manuscript groups, then the apparatus is positive. When the apparatus is positive, all witnesses whose readings match the lemma word are given after the lemma sign, followed by a semi-colon, after which the readings of the other witnesses are reported, separated by commas. When the apparatus is negative, all the variant readings are separated by commas. The witnesses' readings are always reported in the order in which the witnesses are listed in the description of sources ($\mu$GR$_2$*UT*S$\alpha\beta\gamma$*DH*).

In the above example, in *pāda* 47c, *śivoktā* has been conjectured by Devadatta. All the witnesses ("*codd.*") have the reading *devyuktā*.

In the next entry, that of *khecarī*°, the sign "°" is used to indicate that *khecarī* is part of a longer word or compound. The abbreviation *em.* indicates that I have emended the readings of the witnesses. Where I have emended the text to *khecarī*, witness A has ⌈*śāmbha*⌉*vī*. The "⌈" and "⌉" signs show that *śāmbha* is found in the witness as a *kākapada* or addition in the margin. Witnesses J$_6$ and J$_7$ have *śāmbhavī*. The rest of the witnesses ("*cett.*') have *khecara* which is unmetrical (" *(unm.)*").

At the next entry, for *vidyā*, the apparatus is negative. Thus all witnesses except AG$\gamma$ have *vidyā*. Witness A has an illegible syllable ("$*$") followed by *dyāṃ*. Witness G has $^*v^*$*idyā*, indicating that the letter "v" is written unclearly (the "i" part of the syllable is clear).[184] The manuscript group $\gamma$ has *yathā* which is unmetrical.

In *pāda* 47d, the reading *kathaṃ* is marked with crux marks ("†") because it is spurious and I have been unable to conjecture anything better. It is found in witnesses $\mu$GR$_2$ *UT*$\beta_1$; S$\alpha$ have *parā*; K$_2$ and P have *sādhu*; J$_3$FK$_5$K$_6$ and C have *na su*°, with the "°" sign indicating that I think that *su* should be construed with the following word; $\gamma_1$ has *tathā*; B originally (B$^{ac}$, i.e. B before correction, "*ante correctionem*") had *pari* (with the "°" sign again indicating that *pari* is to be read with the following word); B has been corrected (B$^{pc}$, "*post correctionem*") to read *yathā*.

All the witnesses except $\mu$GN have the reading *saṃpāditā mayā*. $\mu$ has *mayā saṃpāditā* which is unmetrical. G has *saṃpāditā tva* followed by a syllable missing due to damage to the manuscript ("[.]"—the number of full stops indicates the number of syllables omitted). In N the scribe has deliberately left a gap before the syllable *yā* ("⊔yā").

A word or phrase not reported in the apparatus of the critical edition has no significant variants.

There is some misrepresentation of the witnesses' readings in the apparatus of the critical edition. I have reported neither the punctuation nor the verse numbering of any of the witnesses. Neither has been helpful in establishing the text (in *paṭala* 4 the punctuation of some witnesses only added to the confusion caused by the different metres). Where the apparatus is positive and I have reported that readings match the lemmata, they often do not match them exactly. This is because

the lemmata are reproduced as they are found in the edited text and the Sanskrit of the edited text has been standardised: *-m* at the end of a half-verse is written as such but is found as *-ṃ* in almost all the witnesses; homorganic nasals have been written in full in the edited text while again almost all the witnesses use only *anusvāra*.

In order to keep the apparatus to a manageable size, I have occasionally sacrificed veracity for economy of space. When grouping readings together, I have ignored gemination and degemination of consonants in ligature with semivowels,[185] variant spellings,[186] and confusion of *v* with *b* and *s* with *ś*. I do not report variants that are the result of different effects of *sandhi* caused by variants that I do report.[187] When the reading of one or two members of a manuscript group differs from the rest of the group in a way that I consider insignificant, I ignore the variant and report that the group agrees on that reading.[188] Occasionally I report a variant in a corrected form.[189] I have only corrected readings in this way when I am confident that I am not obscuring any important detail. If I am unsure of the reading adopted in the edited text then I include all available information.

# खेचरीविद्या

## प्रथमः पटलः

ईश्वर उवाच
अथ देवि प्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिताम् ।
यया विज्ञातया च स्याल्लोके ऽस्मिन्नजरामरः ॥१॥
मृत्युव्याधिजराग्रस्तं दृष्ट्वा विश्वमिदं प्रिये ।
बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समाश्रयेत् ॥२॥
जरामृत्युगदघ्नीं यः खेचरीं वेत्ति भूतले ।
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥३॥
[मेलकम्]
तं देवि सर्वभावेन गुरुं नत्वा समाश्रयेत् ।
दुर्लभा खेचरीविद्या तदभ्यासश्च दुर्लभः ॥४॥
अभ्यासो मेलकं चैव युगपन्नैव सिध्यति ।

---

*Witnesses for the first* paṭala:
$AJ_6J_7R_2SNW_1MK_1K_3J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5CJ_1J_5W_2R_1B$; G *from* 20b; *U* (1–13b, 20cd, 26ab, 29–30b, 31–61d, 62c–65b); T (1–10c, 13b–65b); $K_6$ *from* 8a; O (30c–33b, 35c–44d); *D* (45–49, 55c–56d, 64); $H_1H_3$ (46–48); $H_2$ (1–4, 6ab, 8–16, 19c–30b, 31c–34d, 35c–44b, 45–52b, 53ab, 54c–55b, 56c-58b, 61ab, 63c-64b, 66c-67b, 68cd, 70ab, 74cd).
$\mu=AJ_6J_7$ ◇ $\alpha=NW_1MK_1K_3$ $\alpha_1=NW_1M$ $\alpha_2=NW_1$ $\alpha_3=K_1K_3$ ◇
$\beta=J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ $\beta_1=J_2J_4VK_4$ ◇ $\gamma=J_1J_5W_2R_1B$ $\gamma_1=J_1J_5W_2R_1$ $\gamma_2=J_1J_5$

---

**1a** अथ देवि ] शृणु देवि $R_2$, अथाह सं° *U*, अथ देवीं $\alpha_3$, अथातः सं° $H_2$ **1b** खेचरि° ] खेचर° $\mu MK_2$, खेचरी° VF *(unm.)* ◇ °संज्ञिताम् ] °संहितां $\mu$, °संज्ञिकां $R_2$, °संज्ञिकाम् *U*, °संज्ञकं $J_3$ **1c** यया ] $\mu\alpha_3\beta_1H_2$; यथा $R_2UTPJ_3C$, यस्या $S\alpha_1FK_5\gamma_1$, यस्याः B ◇ विज्ञातया च स्याल् ] $\beta_1K_5C$; विज्ञायते भ्यासात् $\mu$, विज्ञाय पुंस स्या $R_2$, विज्ञातवानस्य *UT*, विज्ञानवानस्य $U^{vl}$, विज्ञानमात्रेण $S\alpha K_2J_3FH_2$, विज्ञातयां च स्या P, संज्ञानमात्रेण $\gamma$ **1d** लोके ऽस्मिन्न° ] त्रैलोक्ये स्मिन्न° $\alpha_3$ *(unm.)*, त्रैलोक्ये स्मिन् $H_2$ **2a** °ग्रस्तं ] °ग्रस्तो *U*, °ग्रस्ता T **2b** विश्वमिदं प्रिये ] लोकमिमं प्रिये $R_2$, विद्यामिमां मुने *U* **2d** खेचरीं तु समाश्रयेत् ] $\mu R_2NM\alpha_3H_2$; खेचरीं तु समग्रभ्यसेत् *UT*, खेचरीं च समाश्रयेत् $SW_1$, खेचरीं च समाचरेत् $\beta\gamma_2$, खेचरीचरमाचरेत् $W_2$, खेचरी च समाचरेत् $R_1$, खेचरीवरमाप्नुयात् B **3a** °घ्नीं ] $R_2S\alpha_1K_1\beta_1CBH_2$; °घ्नी $\mu K_3K_2PJ_3\gamma_1$, °घ्नो *UT* ◇ यः ] $R_2UTS\alpha_1K_5$; या $\mu K_3H_2$, यां $K_1$, यो $\beta_1K_2PJ_3FC\gamma$ **3c** ग्रन्थतश्चार्थतश् ] $\mu R_2UT\alpha_3H_2$; ग्रंथादाचार्यतश् $S\alpha_1\beta\gamma$ ◇ चैव ] चापि $\mu$ **3d** तदभ्यास° ] तत्वयास° A **4a** तं देवि ] $\mu TS\alpha_1J_2J_4K_4$; तां देवीं $R_2K_2$, तं मुने *U*, तां सर्व° $\alpha_3$, तं देवी $VPCH_2$, तां देवी $J_3F$, तन् देवं $K_5$, तां देवि $\gamma$ ◇ सर्वभावेन ] °भावेन गुरुं $\alpha_3$ **4b** गुरुं ] तां च $K_1$, तां व $K_3$ ◇ नत्वा ] $R_2SMVK_2K_5\gamma$; मत्वा $\mu UT\alpha_2K_3J_2J_4K_4PJ_3FCH_2$, *om.* $K_1$ **4c** °विद्या ] °मुद्रा $\alpha_3H_2$ **4d** तदभ्यासश्च ] $S\alpha_1\beta_1FK_5H_2$; तदभ्यासं च $\mu$, तदभ्यासंश्च $R_2$, तदभ्यासो पि *UT*, तदभ्यासाश्च $K_1$, तद*द्री*वा च $K_3$, तदभ्यासस्त $K_2$, तदभ्यासस्य $PC\gamma_1$, तदभ्यास सुतद $J_3$ *(unm.)*, तदभासो पि $R_1$, तदभ्यासस्तु B,तद्भ्यासाश्च $H_2$ *(unm.)* ◇ दुर्लभः ] दुर्लभं $\mu W_2$, दुर्लभा $\alpha_3J_4H_2$, दुर्ल्लभाः $K_2$ **5a** अभ्यासो ] MFB; अभ्यास $\mu K_3$, अभ्यासं *cett.* ◇ मेलकं ] S; मेलनं *cett.*

अभ्यासमात्रनिरतो न विन्देतेह मेलकम् ॥५॥
अभ्यासाल्लभते देवि जन्मजन्मान्तरे क्व चित् ।
मेलकं जन्मनां तत्तु शतान्ते ऽपि न लभ्यते ॥६॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा सद्भावसाधितम् ।
मेलकं लभते देवि योगी जन्मान्तरे क्व चित् ॥७॥
यदा तु मेलकं कामी लभते परमेश्वरि ।
तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्तं शास्त्रसंततौ ॥८॥
ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलकं लभते यदा ।
तदा शिवत्वमाप्नोति विमुक्तः संसृतेर्भयात् ॥९॥

[अयं ग्रन्थः]

शास्त्रं विना समाबोद्धुं गुरवो ऽपि न शक्नुयुः ।
तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं प्रिये ॥१०॥
यावन्न लभ्यते ग्रन्थस्तावद्गां पर्यटेदिमाम् ।

---

**5c** °मात्रनिरतो ] $J_6J_7\alpha_3$; °मात्रविरतो A, °मत्रनिरता $R_2J_2K_4$, °निरता देवि S, °माननिरता $K_2$, °मंत्रनिरता $J_4$, °मात्रनिरता *cett.* **5d** न ] विं° F ◇ विन्देतेह ] $\mu$; विंदन्तीह $R_2SMJ_2J_4K_4$-$PJ_3B$, विंदंते ह *UT*, विंदंति च N, च विंदति $W_1$, विन्दतीह $\alpha_3C$ *(unm.)*, विंदति स $K_2$, °दंति न च F, वदंति हि $J_1$, विदंति ह $J_5$ ◇ मेलकम् ] $\mu\alpha_3J_3$; मेलनं *cett.* **6a** अभ्यासाल् ] $\mu\alpha_3H_2$; अभ्यासो B, अभ्यासं *cett.* ◇ लभते ] लभ्यते $J_6J_7J_4B$, तत्तु ते $R_2$ ◇ देवि ] ब्रह्मन् *U*, देवीं $\alpha_3$ **6b** जन्म° ] योगी T **6c** मेलकं ] *em.*; मेलने A, मेलनं $J_6J_7R_2UT$, अभ्यास° $S\alpha_2\beta\gamma$ ◇ जन्मनां तत्तु ] *U*; भुजगानां च $AJ_7$, भुजगा नाम $J_6$, तत्तु जन्मान्ते $R_2$, तत्वजन्मीर्णां T, °मात्रनिरता $S\alpha_2\beta\gamma$ **6d** शतान्ते ऽपि न लभ्यते ] *UT*; जन्मांते तु न लभ्यते $\mu$, लभ्यते मानव प्रिये $R_2$, न च विंदंति मेलनं $S\alpha_2J_4VK_4J_3$, न च विंदंति मेलकं $J_2PFK_5C\gamma$, न विंदति हि मेलनं $K_2$ **7a** अभ्यासं ] *om.* $R_2$, अभ्यास° T ◇ बहुजन्मान्ते ] तत्तु जन्मांते $R_2$ **7b** सद्° ] A; तद्° $J_6J_7R_2UT$ ◇ °साधितम् ] $\mu U$; °साधिते $R_2$, °साधितः T **7c** मेलकं ] मेलके $\mu$, मेलनं $R_2UTMJ_4$ ◇ देवि ] कश्चिद् *U* **7d** योगी ] जन्म° S, योगे $\alpha_3$, योगि° V **8a** यदा तु ] तदा तन्° $\mu$, तदा तु $R_1H_2$ ◇ मेलकं ] मलकं $J_6J_7$, मेलनं $R_2U$ ◇ कामी ] कर्म $\mu$, योगी $UTR_1$, चैव N, देवि M **8b** परमेश्वरि ] $\mu R_2SNMJ_4VK_4K_5K_6C\gamma H_2$; गुरुवक्त्रतः *U*, परमेश्वरी $TW_1J_2PJ_3F$, परमेश्वरीम् $\alpha_3K_2$ **8c** तदा तत् ] तदांतः $H_2$ **8d** उक्तं ] उक्ता *U*, उक्तं $U^{vl}$ ◇ °संततौ ] °संमतौ $J_4$, °संमतां $J_3$, °संततैः $J_6$, °सत्तमैः $\gamma$ **9a** ग्रन्थतश् ] अभ्यासा° M, ग्रंथादा° $K_2$ ◇ चार्थतश् ] छास्त्रतश् M, चार्यतश् $J_4K_2J_3\gamma$ **9b** मेलकं लभते ] *transp.* $\mu$, मे*ल*नं लभ्यते $R_2$, मेलनं लभते *UM*, मेलकं लभ्यते $J_3\gamma$ ◇ यदा ] तदा $AJ_7$ **9d** विमुक्तः ] $\mu$; निर्मुक्तः *cett.* ◇ संसृतेर् ] $S\alpha_1\beta_1FK_5$-$CB$; संसृति° $\mu\alpha_3H_2$ *(unm.)*, संसृतिर् $R_2$, सर्वसं° *U*, संस्मृति T *(unm.)*, स मृतेर् $K_2PJ_3\gamma_2R_1$, स सृतेर् $K_6$, संमृतेर् $W_2$ ◇ भयात् ] $S\alpha_1\beta\gamma$; °वृतान् A, °व्र*जा*त् $J_6$, °वृतात् $J_7$, व्रजेत् $R_2$, °सृतेः *U*, प्रजात् $T\alpha_3H_2$ **10a** समाबोद्धुं ] $R_2S\alpha_2J_4K_4PJ_3FK_5K_6CH_2$; समावोढुं A, समावोढं $J_6J_7$, पि संबोद्धुं *U*, पि संभोक्तुं T, बोधयितुं M, सममावोद्धुं $K_1$ *(unm.)*, मसावोद्धुं $K_3$, समावोद्धं $J_2K_2$, समाबोद्धु V, समोबोधं $\gamma_2$, समोबोद्धुं $W_2B$, स[मा]वोद्धं वै $R_1$ *(unm.)* **10c** सु° ] स $AJ_7K_6\gamma_1$, तु $\alpha_2$, धि M, च $K_2$ **10d** लभ्यं ] $AJ_6U\alpha_3H_2$; लभ्यां $J_7$, तेभ्यः *cett.* ◇ प्रिये ] मुने *U* **11a** लभ्यते ] $J_6J_7R_2U\alpha_3J_2J_4K_4J_3H_2$; लभते $A\alpha_1VK_2PFK_5K_6C\gamma$, लभ्[य]ते S ◇ ग्रन्थस् ] $\mu S\alpha_2VPFK_6C\gamma H_2$; ग्रंथ $R_2$, ग्रंथं $M\alpha_3K_5$, ग्रंथ $J_2J_4K_4$, ग्रंथः $K_2$, शास्त्रं *U*, शास्त्र $J_3$ **11b** तावद्गां पर्यटेद् ] तावन्न पर्यटेद् N, तावत्पर्यटते $\gamma$ ◇ इमाम् ] यतिः *U*, इशां $\alpha_3$, दिशा $\gamma_2W_2$, दिशां $R_1$, दिशः B

---

**5cd** *om.* $VK_5W_2$ **6ab** *om.* $J_3W_2$ **6cd** *om.* $M\alpha_3J_3J_1$ **7ab** *om.* $S\alpha\beta\gamma$ **7cd** *om.* $K_2J_1$ **8a** *start of readings from* $K_6$ ◇ तदा शिवत्वमाप्नोति विमुक्तः संसृतिवृता*त्* *add.* A **10d – 13a** *om.* T

यदा स लभ्यते देवि तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥११॥
न शास्त्रेण विना सिद्धिरटतो ऽपि जगत्त्रये ।
तस्मान्मेलकदातारं शास्त्रदातारमीश्वरि ॥१२॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा सदा यजेत् ।
तन्त्राश्च बहवो देवि मया प्रोक्ताः सुरार्चिते ॥१३॥
न तेषु खेचरीसिद्धिराख्याता मृत्युनाशिनी ।
महाकालं च मार्तण्डं विवेकाद्यं च शाबरम् ॥१४॥
विशुद्धेश्वरसंज्ञं च तथा वै जालशंवरम् ।
एतेषु तन्त्रवर्येषु तदभ्यासः प्रकाशितः ॥१५॥
क्व चित्स्पष्टं तथास्पष्टं क्व चित्तन्मेलकादिकम् ।
अस्मिन्तन्त्रवरे दिव्ये मेलकादि प्रकाशितम् ॥१६॥
यद्यज्ज्ञेयं भवेत्किं चिद् दुर्ज्ञेयं खेचरीमते ।
तत्तत्सर्वमिहास्माभिस्तव प्रीत्या प्रकाशितम् ॥१७॥

---

**11c** यदा ] यावत् $K_5$ ◇ स लभ्यते ] $\mu$; संलभ्यते $R_2 U S \alpha_3 \beta_1 P J_3 K_5 \gamma_1 H_2$, संलभते $\alpha_2 K_2 F K_6$-$C$, स लभते M, च लभते B ◇ देवि ] शास्त्रं $U M \alpha_3$ **11d** सिद्धिः ] मुक्तिः M **12b** अटतो ऽपि ] दृष्टा चैव *U* ◇ °त्रये ] $\mu U M F^{ac}$; °त्रयं *cett.* **12c** मेलक° ] मेलन° *U* **12d** ईश्वरि ] अच्युतम् *U* **13a** °प्रदातारं ] °प्रदं देवि M **13b** शिवं ] गुरुं S ◇ सदा यजेत् ] $\mu R_2 S \alpha_1 P K_5$-$C\gamma$; समाश्रयेत् *U*, तदाश्रये T, सदा जपेत् $\alpha_3 J_2 J_4 K_4 K_2 K_6 H_2$, सदा जयेत् V, सदा व्रजेत् F **13c** तन्त्राश् ] $\mu R_2$; मंत्राश् *cett.* **13d** सुरार्चिते ] सुरेश्वरी T, सुरेश्वरि S **14a** °सिद्धिर् ] विद्यार् $R_2$ **14b** आख्याता मृत्युनाशिनी ] आख्याता पापनाशिनी $R_2$, विख्यातामृतवासिनी $\gamma$ **14c** मार्तण्डं ] $\mu R_2 S \alpha_1 K_1 \beta_1 K_2 P K_5 K_6 C J_1 B H_2$; मार्तंडं T, मार्त्तांडं $K_3$, मार्तंडो $J_3$, मार्तांड F, मार्त्तडं $J_5 W_2 R_1$ *(unm.)* **14d** °आद्यं ] $\mu\beta\gamma$; °आहा $R_2$, °आर्थं T, °आढ्यं S, °आख्यं $\alpha H_2$ ◇ शाबरम् ] *conj.*; शाभरं A, शांवरं $J_6 J_7$, शोभनं $\alpha_3$, शोभितं $H_2$, शांभवं *cett.* **15a** विशुद्धेश्वर° ] विशुद्धैश्वर्य° $R_2$, ⌈तंत्रं⌉विशुद्ध° M ◇ °संज्ञं ] °तंत्रं T **15b** तथा वै जाल° ] तद्भवं जाल° $R_2$, शास्त्रं वै जाल° M, तथ्य वेताल° T ◇ °शंवरम् ] $\mu R_2 \alpha_1 J_2 K_4 P K_5 C$; °शंबरं T, °शाबरं S, °संज्ञितं M, °मंवरे $\alpha_3$, °संवरं $V K_2$, °मेव च $J_3$, °संभरं F, °शंव*रां* $K_6$, °शंभवं $\gamma_1$, °संभवं B, °संवरे $H_2$ **15c** तन्त्र° ] $\mu R_2 \alpha_1 \beta_1 K_5$; मंत्र° $T S \alpha_3 K_2 P J_3 F K_6 C \gamma H_2$ ◇ °वर्येषु ] °चर्येषु $\alpha_3 K_2$ **15d** तदभ्यासः ] तदभ्यास $\mu \gamma_2 W_2$, तदाभ्यास $T K_2 R_1$, सदाभ्यास $H_2$ ◇ प्रकाशितः ] $S \alpha V K_2 J_3 K_5 K_6 C W_2$-$B H_2$; प्रकाशितं $\mu J_2 J_4 K_4$, प्रभावतः $R_2$, प्रकाशतः T, प्रकीर्तितः SF, प्रकाशिताः $\gamma_2$, प्रकाशित $R_1$ **16a** स्पष्टं तथास्पष्टं ] स्पृष्टं तथास्पृ $J_6 J_7$ *(unm.)*, स्पष्टस्तथास्पष्टः M, स्पृष्टं तथास्पष्टं $K_1$, स्पृष्टं तथाप्यष्टं $K_3$ **16b** तन्° ] $T S \alpha K_5 H_2$; तं $\mu \beta_1 K_2 P J_3 F K_6 C \gamma$ ◇ °दिकम् ] °दिक् $J_6 J_7$ *(unm.)*, °धिकं $\alpha_3$ **16c** अस्मिन् ] अस्मिंस् N ◇ तन्त्र° ] तंत्रे $A J_7$, तंत्रै $J_6$, मंत्र° $\alpha_3 H_2$ **17a** यद्यज्ज्ञेयं ] $S T K_2 F^{ac} K_5 C$; यद्यज्ञेयं $\mu \beta_1 B F^{pc}$, यदा ज्ञेय $R_2$, यदि ज्ञेयं $\alpha$, यद्यहेयं P, यदज्ञेयं $J_3$, यद्यद्वेयं $K_6$, यद्यभयं $J_1$, यद्यद्ज्ञयं $J_5$, यद्यद*यं $W_2$ ◇ किं चिद् ] लोके S **17b** दुर्ज्ञेयं खेचरीमते ] $\mu T K_2 J_3 F$; दुर्ज्ञेय खेचरीमते $R_2$, दुर्ज्ञेयं खेचरीमृते $S \alpha_1 J_2 V K_4 P K_5 C$, दुर्ज्ञेया खेचरीमता $\alpha_3$, दुर्गेयं खेचरीं मते $J_4$, तज्ञेयं खेचरीम् ऋते $K_6$, गुरुज्ञेयं खेचरीमते $\gamma_1$ *(unm.)*, गुरुगम्यं च खेचरी B **17c** तत्तत्सर्वमिहास्माभिस् ] ततः सम्यगिहास्माभिस् $\mu$, तत्तत्सर्वं मया देवि $M J_3$, तत्तत्सर्वं महात्माभिस् $K_2 P$, मते तत्सर्वमास्माभिस् B **17d** प्रीत्या ] देवि $\mu$

---

**12b** अभ्यासमात्रनिरता न च विंदंति (विंदति $R_1$) मेलकं मेलकं लभते देवि योगी जन्मांतरे क्व चित् (*cf.* 5cd, 7cd) *add.* $J_1 R_1$ **13c – 20b** *om.* *U* **16** *om.* $R_2$

तस्माच्छास्त्रं प्रलभ्येत मयोक्तमिदमद्भुतम् ।
गोपनीयं महेशानि न सर्वत्र प्रकाशितम् ॥१८॥
मन्मुखाम्बुरुहाज्जातं यस्तु शास्त्रामृतं वदेत् ।
स एव हि गुरुः सत्यमर्थतो वेत्ति यः पुनः ॥१९॥
स चाधिकतमः ख्यातो गुरुर्नास्ति ततोऽधिकः ।
लब्ध्वा शास्त्रमिदं गुह्यमन्येषां न प्रकाशयेत् ॥२०॥
सुविचार्य प्रवक्तव्यमेतन्मार्गोपजीविनाम् ।
य इदं परमं शास्त्रं यत्र तत्र प्रकाशयेत् ॥२१॥
स शीघ्रं भक्ष्यते देवि योगिनीभिः शिवाज्ञया ।
ग्रन्थिं नोद्ग्रन्थयेदस्य विना कौलिकतर्पणात् ॥२२॥
पूजितं शुभवस्त्रस्थं दिव्यधूपसुधूपितम् ।
श्रावयेद्द्विजनस्थाने योगिने योगशालिने ॥२३॥

---

**18a** प्रलभ्येत ] $\mu\alpha_3 FR_1$; प्रलीभ्यते T, प्रयुक्तैतन् $R_2$, प्रलभ्यैतन् *cett.* **18b** मयोक्तम् ] यथोक्तम् $\alpha_3$ **18c** गोपनीयं ] सुगृह्यत्वान् $R_2$, गुह्याद् गुह्यं T, सुगुह्यत्वान् $VK_5$ ◇ महेशानि ] सुगुप्तत्वा A, सुगुह्यत्वान्महेशानि $J_6K_4$ *(unm.)*, सुगुप्तत्वान्महेशानि $J_7$ *(unm.)* **18d** न सर्वत्र ] $\mu$; सम्यक्सर्वं $R_2\beta_1K_5$, सम्यक्सत्यं T, यतः सर्वं *cett.* **19b** वदेत् ] $\mu\alpha_3$; पिवेत् $R_2$, ददेत् $S\alpha_2K_5\gamma$, च तत् T, ददत् $MJ_2K_4K_2PK_6C$, ददात् $J_4$, दतत् V, महत् $J_3$, धधत् F **19d** ग्रर्थतो वेत्ति यः ] वेदयेद्यः पुनः $\alpha_2$, यो वेत्ति च पुनः M **20a** स ] $\mu$SF; न *cett.* ◇ चाधिकतमः ] S; चाधिक समा° A, चाधिकः समा° $J_6J_7$, वाधिकस्तमा $R_2K_3$, चाधिकस् स*मा° T, चाधिकतमा $W_1J_2PK_6C\gamma$, वाधिक*त*मा $K_1$, वाधिकतमया $J_4$ *(unm.)*, वाधिकतमा $VK_4J_3$, चाधिकमया $K_2$, हित्यधिकमा F, चाधिकतया $K_5$, बाधिकस्तमा $H_2$ ◇ ख्यातो ] खातो $J_2VK_4$ **20b** गुरुर्नास्ति ततोऽधिकः ] न गुरुस्तेन चाधिकः $\mu$ **20c** गुह्यम् ] मह्यम् *UT*, गुह्यम् $U^{vl}$ **20d** न ] म $AJ_7$, त $R_2$, तत् $J_2K_4$, नत् $J_4$ **21a** सुविचार्य ] $\mu R_2MS\alpha_3\beta H_2$; विचार्यैव T, सुविचार्या $\alpha_2$, सविचार्य $\gamma_2W_2$, सर्व*व*[र्य] $R_1$, सम्यग्विचा° B ◇ प्रवक्तव्यम् ] $\mu TSW_1\alpha_3\beta_1FK_5$; श्ववक्तव्यम् $R_2$, प्रवक्तव्य NM, प्रकर्त्तव्यम् $K_2PCK_6\gamma_1H_2$, प्रकर्त्तव्यः $J_3$, °र्य कर्तव्यम् B **21b** एतन्मार्गोपजीविनां ] $SPFK_6C$; एकमार्गोपजीविना $\mu$, एष मार्गो य जीवतु $R_2$, एतदात्मोपजीविनं T, एष मार्गो पजीविनाम् $NM\beta_1K_5$, एष मार्गोऽपि जीवनं $W_1$, एकं मार्गोपजीविनं $K_1$, एकं मार्गोपजीवितं $K_3$, एतत्मार्गोप्रजीवनां $K_2$, तेन मार्गोपजीविना $J_3$, एतन्मार्गो पि जीवनं $J_1R_1$, एतन्मार्गे पि जीवनं $J_5W_2$, एतन्मार्गे च जीवनं B, एकमार्गोपजीवितं $H_2$ **21c** य इदं परमं शास्त्रं ] षत्पदं परमं शास्त्रं $\mu$, प्रकाशितं यदि पुनर् G, जपदं परमं शास्त्रं $K_2$ **21d** यत्र तत्र प्रकाशयेत् ] यथा तथा प्रकाशयेत् $\mu$ *(unm.)*, म्मूढेनात्माभियातिना G, साधकैश्च प्रका*श्*येत् $R_2$, यत्र कुत्र प्रकाशयेत् $TS\alpha_1^{ac}$ **22a** भक्ष्यते ] वद्यते G **22c** ग्रन्थिं ] *em.*; ग्रंथि $\mu$, श्रजं T, ग्रंथं *cett.* ◇ नोद्ग्रन्थयेदस्य ] $\mu$; समर्पयेत्तस्य G, तु नार्पयेद्देवी $R_2$, सदाच्चयेकृस्य T, तु नार्पयेद्देवि $SJ_2VK_4K_2PK_5K_6C$, समृग्रर्पयेदस्य $\alpha_1$, समार्पयेद्यस्य $\alpha_3$, तु नार्चयेद्देवि $J_4F$, तु नाये देवि $J_3$ *(unm.)*, तु चार्चयेद्देवि $\gamma$, समर्पयेद्यस्य $H_2$ **22d** विना कौलिकतर्पणात् ] विना च गुरुतर्पणात् G, विना कौषकदर्पणम् T, विना कौलिकतर्पणं $\alpha H_2$, नास्तिके कौलतर्प्पणात् $K_2$, विना शंकरपूजनात् $K_5$ **23a** पूजितं ] पूजिते T ◇ शुभवस्त्रस्थं ] शुभ्रवस्त्रेण G, तु भवेत्स्वस्थं T, शुभवस्त्रेण $S\alpha_1$, शुभवस्तुस्थं $\gamma_1$ **23b** °धूपसु° ] °धूपैस्तु $R_2J_2K_4$, °धूपैश्च TS **23c** विजनस्थाने ] विजने स्थाने $\mu$, द्विजसंस्थाने $S\alpha_2$ **23d** योगिने ] योगिनी M ◇ °शालिने ] $\mu GR_2TM\alpha_3J_3K_5\gamma H_2$; °शीलिने $SNJ_2K_4PFC$, °शीलने $W_1J_4VK_2K_6$

---

**18cd** *om.* $NM\alpha_3$ **20ab** *om.* NM **20b** कः : *start of readings from* G **21ab** *om.* G **21a – 25b** *om.* *U*

यस्मिन्नपूजितं शास्त्रमिदं तिष्ठति वै गृहे ।
तत्राग्निरुग्ग्रहारातिपीडा भवति निश्चितम् ॥२४॥
यत्रेदं पूजितं ग्रन्थं गृहे तिष्ठति पार्वति ।
तत्र सर्वार्थदायिन्यो वसन्ति कुलदेवताः ॥२५॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता ।
यस्तु योगी मया प्रोक्ता इमाः सिद्धीः समीहते ॥२६॥
स योगी सर्वभावेन गोपयेत्पुस्तकं त्विदम् ।
अहं तस्य गुरुर्देवि यत्रास्ते पुस्तकं स्वयम् ॥२७॥
गुणागुणं महेशानि पुस्तकस्य च रक्षणात् ।
प्रकटं च मया प्रोक्तमिदानीं खेचरीं शृणु ॥२८॥
यत्रास्ते च गुरुर्देवि दिव्ययोगप्रसाधकः ।
तत्र गत्वा च तेनोक्तां विद्यां संगृह्य खेचरीम् ॥२९॥
तेनोक्तं सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्द्रितः ।
विद्यां च खेचरीं देवि प्रवक्ष्ये योगसिद्धिदाम् ॥३०॥

---

**30c – 33b** *cit.* “खेचरीविद्या” (O) f.1v

---

**24a** अपूजितं ] पूजितं नु G, वै पूजितं $\gamma$ **24b** तिष्ठति ] तिष्ठंति $\mu TJ_4J_3J_5W_2$ ◇ वै गृहे ] विग्रहे A, वै ग्रहे $TJ_3$, चैव हि $\alpha_2$, सुन्दरि M, य*हे B **24c** °रुग्ग्रहाराति° ] $SK_5$; °रुद्गहारात्रि° $AJ_6$, °रुद्गहारात्रि° $J_7$, °रुग्रहाराति° $R_2\alpha_2J_2K_4FB$, °चोरजा पीडा T, °रसतीरणां $M^{ac}$ *(unm.)*, °वार्रारातीरणां $M^{pc}$, °रुग्नहारात्रि° $\alpha_3$, °रुग्राहाराति $J_4$, °रुग्महाराति° V, °रुग्रग्राहार्त्ति° $K_2$, °रुग्नहारार्ति° P, °रुग्ग्रहारार्ति° $J_3$, °स्तग्रहारार्त्ति° $K_6$, °रुग्रहारार्ति° C, °रुग्गाहाराति° $\gamma_2W_2$, °*ग्गाहारात्ति° $R_1$, °रूपहाराभि° $H_2$ **24d** °पीडा भवति निश्चितम् ] भवत्येव हि निश्चयम् T **25a** यत्वेदं ] यत्वेमं $\mu$, यत्वायं TB, यत्वेयं $\gamma_1$ ◇ पूजितं ] पूजिते $\gamma$ ◇ ग्रन्थं ] शास्त्रं $R_2W_1MC^{pc}$, ग्रंथे $\gamma$ **25b** गृहे ] ग्रहे $AVK_2$ **25d** वसन्ति कुल° ] वसंत्यखिल° $R_2$ **26b** विजानता ] प्रयत्नतः G, विजानतः $\alpha_3$, विजानताः $K_4K_6$ **26c** यस्तु ] $G\alpha_1$; योऽस्मिन् $\mu$, यस्मि* $R_2$, यश्च T, यस्मिन् $S\beta\gamma$, तस्मिन् $\alpha_3H_2$ ◇ योगी ] योगि A, योगे $S\gamma$, योगो $J_2$, योग* P, योगा $J_3$ ◇ मया प्रोक्ता ] $\alpha_2$; मयोक्तानि $\mu GTS\alpha_3\beta_1PJ_3FK_5C\gamma H_2$, [....] $R_2$, इमां प्रोक्तां M, मया प्रोक्तान् $K_2$, [म]यो भक्ता $K_6$ **26d** इमाः सिद्धीः ] $W_1$; संसिद्धीनि $\mu$, संसिद्धानि G, सिद्धिवाव्या° $R_2$, संसिद्धिर्न $T\alpha_3H_2$, सिद्धवाक्या° $S\beta\gamma$, इमाः सिद्धि N, मया सिद्धिं M ◇ समीहते ] $\mu GT\alpha H_2$; °नि संवते $R_2$, °नि संवदेत् $S\beta\gamma$ **27c** तस्य गुरुर् ] तस्तु गुरुं $\mu$ **27d** स्वयम् ] त्विदं $GMK_5B$ **28a** °गुणं ] °शुणं $AJ_7$, °गुणा G, °गुणां $R_2$, °गुणौ T, °गुण $K_2K_6\gamma$ **28b** रक्षणात् ] रक्षणे $\mu R_2T\alpha H_2$ **28c** प्रकटं च मया प्रोक्तम् ] प्रकटां च मया प्रोक्ताम् G, प्रकटत्वमिति प्रोक्तं S, प्रकटं च मया प्रोक्तां $W_1F$, तत्प्रकटं मया प्रोक्तम् $H_2$ **29a** च ] $\mu GR_2UTMF$; स $S^{pc}\beta_1K_2PJ_3FK_5C\gamma$, सद् $S^{ac}J_3$, त्व N, त्वद् $W_1$, चा $\alpha_3$, सन् $K_6$ ◇ गुरुर् ] गुरु $ATM^{ac}$, गुरुं $J_6J_7$, गुरोर् $K_2$ ◇ देवि ] ब्रह्मन् *U* **29b** °प्रसाधकः ] °प्रभावतः G, °प्रदायकः *U*, °स्य साधकः S **29c** तेनोक्तां ] तेनोक्त° *U*, तेनोक्तं $R_2U^{vl}S\alpha J_4J_3FJ_1R_1H_2$ **29d** विद्यां संगृह्य खेचरीम् ] दिव्यां संगृह्य खेचरीं G, संप्रधार्य प्रयत्नतः $\alpha_1$, संप्रदायत्वयत्नतः $\alpha_3H_2$ **30a** तेनोक्तं ] $GR_2S\beta J_1R_1$; तेनोक्ते $\mu$, तेनोक्तः *U*, तेनोक्त $U^{vl}T$, सम्यग° $\alpha$, तेनोक्तां $J_5W_2B$, सम्यक् भ्या° $H_2$ ◇ सम्यगभ्यासं ] °भ्यासं यत्नेन $MK_3$, °भ्यासयत्नेन $\alpha_2K_1$, °सं प्रयत्नेन $H_2$ **30b** आदावतन्द्रितः ] आहावत्लंद्रितः A, आहावलंद्रितः $J_7$, वेत्ता अतंद्रितः $\alpha_3$, आदौ च तं ततः $\gamma$, *धि*त्वा अतन्द्रितः $H_2$ **30c** विद्यां च ] तां विद्यां G ◇ देवि ] देवीं $GW_1$ **30d** योग° ] गण° $\alpha_2\alpha_3$, सर्व° M

---

**24b** वै – **25b** तिष्ठति *om.* G (*eye-skip* तिष्ठति – तिष्ठति) **26c – 28d** *om.* *U* **30cd** *om.* *U*

न तया रहितो योगी खेचरीसिद्धिभाग् भवेत् ।
खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूर्वया ॥३१॥
खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् ।
[मन्त्रोद्धारः]
खेचरावसथं वह्निमम्बामण्डलभूषितम् ॥३२॥
व्याख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिध्यति ।
मस्तकाख्या महाचण्डा शिखिवह्निकवज्रभृत् ॥३३॥
पूर्वबीजयुता विद्या व्याख्याता ह्यतिदुर्लभा ।
षडङ्गविद्यां वक्ष्यामि तया षट्स्वरभिन्नया ॥३४॥
कुर्याद्देवि यथान्यायं सर्वसिद्ध्याप्तिहेतवे ।

---

**31a** न तया रहितो ] $\mu R_2\alpha_3\beta O$; *आदौ हि कशितो* G, अनया विद्यया *U*, अनया सहितो T, नैतया रहितो $S\alpha_2$, नैतया खेचरी M, न खेचर्या हितो $\gamma_2 W_2 B$, न खेचर्या विना $R_1$ **31b** खेचरी° ] रहितो M ◇ °भाग् ] °वान् $R_2$ **31c** खेचर्या ] खेचर्यो A, खेचर्यां $G\alpha_3$ ◇ खेचरीं ] $\mu R_2$-$US\alpha_2\alpha_3 J_3 K_5 COH_2$; खेचरी $GTM\beta_1 K_2 PF\gamma$, *om.* $K_6$ ◇ युञ्जन् ] $\mu R_2 UTSJ_2 VK_4 PFK_5$; युजन् GC, युंज्यात् $\alpha_2$, पूज्या M, योज्या $K_1$, योज्यात् $K_3$, पुंजन् $J_4O$, जंपन् $K_2$, च्युबन् $J_3$, *om.* $K_6$, युंजान् $\gamma_2 R_1$, पुंजान् $W_2B$, युज्यात् $H_2$ **31d** °पूर्वया ] °पूर्वकं G, °पूरया $U\alpha_3$, °पूर्वयाः $J_2J_4K_4$ **32b** खेचरेषु ] खेचरीषु $K_2$ **32c** खेचरा° ] खेचरी° $GJ_3\gamma$, खेचरे $R_2$ ◇ °वसथं ] $AJ_7$-$UTS\alpha_1\beta_1 PJ_3 FK_5 CO$; °वसंथं $J_6$ *(unm.)*, °वसतं G, वसथो $R_2$, °वसथ $\alpha_3$, °हस्त्रवं $K_2$, °वस*थं* $K_6$, °वसतां $J_1R_1$, °वसथां $J_5W_2B$, वसथों $H_2$ ◇ वह्निम् ] वह्निर् $\mu$, वह्नीम् $R_2$, वह्नि $MK_6$, वह्निं $\alpha_3$, वह्निर्मे $J_2K_4$, वव्रज्विम् V *(unm.)* **32d** अम्बा° ] $R_2SJ_4VK_4K_2PK_5C\gamma O$; अह्नी° $\mu$, अंभो° G, अम्बु° *U*, अभ्र° T, अंडवा° N *(unm.)*, आया° $W_1$, वडवा° M *(unm.)*, सर्वा $\alpha_3$, अवा° $J_2$, अथा° $J_3$, आबा° F, वाम $K_6$, अम्वा° $H_2$ ◇ °भूषितम् ] °भूषितां $FW_2B$ **33a** व्याख्यातं ] आख्यातं *UT*, व्याख्याता $K_2$, व्याख्यानं $\gamma$ **33b** योगः ] योगी $\alpha_3 H_2$ **33c** मस्तकाख्या ] *em.*; मस्तकाख्यो $\mu_a$, शनैः शनैश् G, शनैः शनैर् *cett.* ◇ महाचण्डा ] $\mu_a$; शिरोव्योम° G, मस्तकाश्च $\alpha_3$, मस्तकार्घ V, मस्तकस्थ° $H_3$, मस्तकाच्च *cett.* **33d** शिखि° ] $J_7$; शिवि° $A^a$, शिंखि° $J_6^a$, सह° $\alpha_3$, महा° *cett.* ◇ °वह्नि° ] $\mu_a$; °वस्त्रं $\mu_b$, °वज्र° $GR_2 UTS\alpha J_3 H_2 H_3$, °वस्त्र° $\beta_1 PK_5$-$K_6C\gamma$, वस्त्रा° F ◇ °कवज्र° ] $\mu_a$; °कपाट° $A^b J_7^b R_2 S\alpha\beta_1 PJ_3 FK_5 K_6 C\gamma H_2 H_3$, °कयाट° $J_6^b$, °कवाट° *GUT* ◇ °भृत् ] $\mu_a$; °धृक् $\mu_b\beta\gamma$, °वित् G, °हृत् $R_2$, °भित् $UTS\alpha H_2 H_3$ **34a** पूर्व° ] पूर्वं *U*, पूर्वं° $K_1$ ◇ °बीजयुता° ] बीजयुतां $GW_1H_2$, °वीजोजिता° $\alpha_3$ ◇ विद्या ] विद्यां $GW_1H_2$ **34b** व्याख्याता ] $\mu_a R_2 TSM\beta_1 F$; °प्याख्याता $A^b$, ख्याता $J_6^b J_7^b$ *(unm.)*, व्याख्याताम् $GH_2$, ह्याख्याता *U*, विख्याता $N\alpha_3\gamma$, विख्यातां $W_1$, व्याख्याताद् $K_2PK_5C$, विख्याताद् $J_3$- ◇ ह्यतिदुर्लभा ] $\mu_a S$; यातिदुर्लभा $\mu_b\beta_1 K_2 PJ_3 K_5 C\gamma$; अतिदुर्लभा* G, ह्यतिदुर्लभ $R_2$, याति दुर्लभां *UT*, चान्यदुर्लभां $\alpha_2$, चान्यदुर्लभा M, तिसुदुर्लभा $K_1$, निसुदुर्लभा $K_3$, °प्यतिदुर्लभा F, यातादू*र्ल्ल*भा $K_6$, अतिदुर्लभाम् $H_2$ **34c** षडङ्गविद्यां वक्ष्यामि ] $\mu_a$; तस्याः षडंगं कुर्वंत $J_2J_4$-$K_4J_3F$, तस्याः षडंगं कुर्वंति $K_2K_6$, तस्य स्वंडं प्रकुर्वीत $K_1$, तस्य षंडं प्रकुर्वीत $K_3$, अस्याः षडङ्गं कुर्वीत $H_2$, तस्याः षडङ्गं कुर्वीत *cett.* **34d** तया ] तथा $\mu_a\mu_b$ ◇ षट्स्वर° ] $\mu_a GUT\alpha$; षट्द्वार° $\mu_b$, षड्स $R_2$ *(unm.)*, षड्दीर्घ° $S\beta\gamma$, षट्चक्र° $H_2$ **35a** देवि ] देवी $GK_3$, एवं *UT*, देवीं $K_1$, दिवि $J_3$ ◇ यथान्यायं ] यथा न्यासं $A^a J_7 GK_5 K_6$, करन्यासं *UT*, यथात्यास्रं $J_2$, यथाशास्त्रं $J_4$, यथात्यांस्रं $K_4$ **35b** °सिद्ध्याप्ति° ] $\mu_b S\beta$; °विद्याप्ति° $\mu_a$, सिध्यंति G, °सिद्ध्यादि° *UT*, °सिद्धिप्र° $\alpha_1$, °विद्याप्र° $\alpha_3$, °सिद्धार्थ° $\gamma$ ◇ °हेतवे ] °हेतवः G

---

**32c – 33b** *and* **35c – 36b** *transp.* $R_1$ **33c – 35b** *is found after* 53d *in all the witnesses that report it* ($\mu UTS\alpha\beta\gamma$)*; μ has the passage twice, at both* 33c–35b ($\mu_a$=$A^a J_6^a J_7$) *and after* 53d ($\mu_b$=$A^b J_6^b J_7^b$) **35ab** *om.* $R_2$

सोमेशान् नवमं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥३५॥
तस्मात् त्रिंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम् ।
तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेनापरं प्रिये ॥३६॥
तथा तत्पञ्चमं देवि तदादिरपि पञ्चमः ।
इन्द्रोऽपि बिन्दुसंभिन्नः कूटोऽयं परिकीर्तितः ॥३७॥
गुरूपदेशलभ्यं च सर्वलोकप्रसिद्धिदम् ।
यतस्य देहजा माया विरूपा करणाश्रया ॥३८॥
स्वप्नेऽपि न भवेत्तस्य नित्यं द्वादशजाप्यतः ।
य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदतिसुयन्त्रितः ॥३९॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते ।
नश्यन्ति सर्वविघ्नानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥४०॥
वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः ।

---

**35c – 44d** *cit.* “खेचरीविद्या” (O) f.2r

---

**35c** सोमेशान् ] सोमेशा GO, सोमांश *U*T, सोमेशन् $\gamma_1$, सोमेशं B, शोमेशान् $H_2$ ◇ नवमं ] नवमे G, नवकं *U*, नवमा F, नंवमं O ◇ वर्णं ] वर्ण $AK_3$, वर्णो $G^{ac}$ **36a** तस्मात् ] तस्यास् $\mu$, तस्माद् TM, तस्या $J_4$, ततस् $K_2$, तस्मीस् P ◇ त्रिंशकम् ] $\mu GSJ_2VK_4PFK_5K_6C\gamma O$; त्रिंशकाम् $R_2$, त्र्यंशकम् *U*, त्र्यम्बकम् $U^{vl}$, अंशम् T *(unm.)*, त्रिंशाद्य° $\alpha_2\alpha_3H_2$, वि[शंति] M, त्रि*शिं*ाक*म् $J_4$, मान्निशम् $K_2$, त्रिशकम् $J_3$ ◇ आख्यातम् ] °रं शास्त्रम् $\alpha_2$, [मं] शास्त्रम् M, °रशास्त्रम् $\alpha_3$, °रं शस्त्रं $H_2$, आख्यातं O **36b** अक्षरं ] मकारं O ◇ °रूपकम् ] °भूषितं G, °सूर्यकं M **36c** अप्यष्टमं ] G*U*T; अप्यष्टकं $\mu$, अप्यष्*मं $R_2$, अथाष्टमं $S\alpha_1\beta\gamma$, अधाम व° $\alpha_3$, अधाष्टमं $H_2$ ◇ वर्णं ] वर्णो $\mu$, °र्णं च $\alpha_3$ **36d** विलोमेनापरं ] $GR_2USα_2β_1PFK_5CγO$; विलोमेन्य वरं A, विलोमेनावरं $J_6J_7$, विलोमेनापुरं $TK_6$, विलोमेन परं $MK_2$, विलोमं परमं $\alpha_3$, विलोमेनाप्रियं $J_3$, विलो*मेनापरं* $H_2$ ◇ प्रिये ] मुने *U* **37a** तथा ] तदा $U^{vl}$, तस्मात् $\alpha H_2$ ◇ तत्पञ्चमं ] $S\beta_1PJ_3FK_5K_6C\gamma_1O$; तत्वंचमे A, तत्वंचमं $J_6J_7$, तत्वंचमां G, तत्पचमं $R_2$, तत्परमं *U*, तत्पुरमन् T, पंचममित्य् $\alpha_1H_2$, परममित्य् $\alpha_3$, तां पंचमं $K_2$, °न्यत्पंचमं B ◇ देवि ] विद्धि *U*, उक्तं $\alpha H_2$ **37b** तदादिर् ] वेदादिर् $H_2$ ◇ पञ्चमः ] पंचमं $\mu TK_2J_3R_1$, पंचमा *U* **37c** इन्द्रोऽपि ] इंदोश्च *U*T, चंद्रो यं M, इदापि $K_2$, इन्द्रापि $\gamma_1$ ◇ बिन्दुसंभिन्नः ] $S\alpha_1K_2FK_5$; बिंदुसंभिन्नं $\mu\alpha_3\beta_1$-$J_3PK_6C\gamma H_2$, बिंदुसंभिंनां G, विंदुसभिंन $R_2$, बहुभिन्नं च *U*, बहुभिश्चल T, भिन्नसंभिन्नं O **37d** कूटो ] मोन्नो G ◇ °कीर्तितः ] °कीर्तितं $AJ_7T$ **38a** गुरूपदेश° ] $\mu GR_2UTK_3H_2$; गुरूपदेशाल् *cett.* **38b** सर्वलोक° ] $GR_2S\beta\gamma$; सर्वयोग° $\mu U$, स वै योग° T, सर्वलोके $\alpha H_2$ ◇ °सिद्धिदम् ] °सिद्धि*द*: G, °सिद्धिदः F **38c** यतस्य ] $K_2\gamma O$; यत्तस्य $\mu GR_2UJ_2J_4K_4C$, युक्तस्य T, न स्पृशेद् $S\alpha_1$, या तस्य $\alpha_3VK_5H_2$, यत्नस्य PF, प्रत*त्त्य* $J_3$, यात्नस्या $K_6$ ◇ देहजा ] *U*T; देवजा $\mu$-$GR_2\alpha_2J_2VK_4K_5K_6$, देवता $SMK_2PJ_3FC\gamma O$, देवया $\alpha_3J_4H_2$ ◇ माया ] मायां $MK_2$ **38d** विरूपा ] $\mu CO$; विरूप° $GR_2S\alpha_1\beta_1K_2PJ_3FK_5K_6\gamma H_2$, निरुद्ध° *U*, निरूढ° T, तद्रूप° $\alpha_3$ ◇ करणाश्रया ] कारणाश्रया $\mu$, करणाश्रयां M, करणाश्रयः $\alpha_3H_2$ **39a** स्वप्ने ] स्वप्नो $\mu GNM\alpha_3$-$K_2K_6H_2$ ◇ न ] ना $K_2PK_6J_1W_2R_1B$ ◇ भवेत्तस्य ] लभेत्तस्य *U*, भवेतस्य $J_4\gamma O$ **39b** °जाप्यतः ] °जप्यतः *U*T, °भावतः $J_3$, °जापतः $K_5$, °जाप्यतेः $K_6$ **39d** अतिसु° ] $\mu$; आसंनि° G, अपि सु° $R_2UTS\alpha_1\beta\gamma H_2O$, अपि स्व° $\alpha_3$ ◇ °यन्त्रितः ] °यंत्रितं $J_6J_7$, °यत्नतः $\alpha_1$, °यांत्रितः $K_6$ **40a** तस्य श्री ] $R_2UTS\beta\gamma O$; तस्मात् श्री $\mu$, तस्यास्ति $\alpha_2\alpha_3$, तस्यापि M, तस्यास्त्रि $H_2$ **40d** प्रसीदन्ति ] प्रसीदति $AJ_7$, प्रसीदंते $\alpha_3$ ◇ च ] थ $AJ_7$, [*] $J_6$, न $K_2$ ◇ देवताः ] देवता $AJ_6R_2K_2J_3$ **41a** °नाशश्च ] $\mu U\alpha_1K_5BO$; °नाशं च $GR_2S\alpha_3\beta_1K_2PJ_3FK_6C\gamma_1H_2$, सर्वं च T, नाश्यंति $J_4$

एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥४१॥
अन्यथा क्लिश्यते देवि न सिद्धिः खेचरीपदे ।
यद्यभ्यासविधौ विद्यां न लभेत सुधामयीम् ॥४२॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां समुज्जपेत् ।
अनया रहितो देवि न क्व चित्सिद्धिभाग् भवेत् ॥४३॥
यदेदं लभ्यते शास्त्रं तदा विद्यां समाश्रयेत् ।
ततस्तत्रोदितां सिद्धिमाशु संलभते प्रिये ॥४४॥
[खेचर्यभ्यासक्रमः]
तालुमूलं समुद्घृष्य सप्तवासरमात्मवित् ।
स्वगुरूक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥४५॥
स्नुहीपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्निग्धनिर्मलम् ।
समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥४६॥

---

**45 – 49** *cit.* नारायणदीपिका *(D)* *ad* क्षुरिकोपनिषद् 11, ĀSS 29, p.151
**46** = हठरत्नावली 2.136
**46 – 48** = हठप्रदीपिका *($H_1$)* 3.33–35

---

**41d** अभ्यासं कारयेत्ततः ] अभ्यासं कारयेत् बुधः G, अभ्यासात्कोऽपि साधयेत् $K_2$ **42a** क्लिश्यते ] क्लिश्यतो $\mu$, क्लेशतो G ◇ देवि ] देवी $GTW_1$, ब्रह्मन् *U*, ब्रह्म $U^{vl}$ **42b** सिद्धिः ] सिद्धिं A, क्व चित् $R_2$ ◇ खेचरीपदे ] सिद्धिवान्भवेत् $R_2$, खेचरीपथे *U*, खेचरीं विना $\alpha$, खेचरी विना $H_2$ **42c** यद्यभ्यास° ] $\mu$; यथाभ्यास° $GS\alpha J_2J_4K_2PJ_3FK_6CH_2O$, यदभ्यास° *U*, यदाभ्यास° T, यश्चाभ्यास° $VK_5$, यथाभ्यस° $K_4$, यथाभास° $\gamma$ ◇ विद्यां ] देवि A, वि $J_7$ *(unm.)*, विद्याम् $\alpha_1$ **42d** न लभेत ] $K_5$; लभेद्यश्च $\mu$, न लभेद्यः $GUTS\beta\gamma$, आलभ्येमां $\alpha_1$, नालभेये $K_1$, नालभेयं $K_3$, नालभ्येयं $H_2$, न लभेव्यः O ◇ °मयीम् ] °मयं A, °मयां $J_6J_7K_4$, °मयी $VJ_3\gamma$ **43a** ततः ] $\mu GUTS\alpha H_2$; नातः $J_2J_4K_4PFC\gamma_2W_2BO$, जातः $VK_5K_6$, नात $J_3R_1$ ◇ सं° ] $\mu GUTH_2$; सा $\gamma_2$, शा $R_1$, स *cett.* ◇ °मेलका° ] °मेळना° G, मेलेका° $R_1$ **43b** लब्ध्वा ] लब्धां $\alpha_3$, लब्धवां $H_2$ ◇ विद्यां ] विद्या $GW_1V$, विद्याम् M ◇ समुज्जपेत् ] $SJ_2VK_4K_5J_5W_2B$; समुज्जयेत् $\mu\alpha_2\alpha_3J_1$, समजिते G, सदा जपेत् *UT*, अमुं जपेत् M, समुच्चयेत् $J_4$, समुजुयेत् P, समुंजयेत् $J_3$, समुद्धरेत् F, समं जपेत् $K_6$, समुजुपेत् C, समाज्जयेत् $R_1$, समुंजपेत् $H_2$, समुजपेत् O **43c** अनया ] $S\alpha VK_5H_2$; नानया $\mu GJ_2J_4K_4PJ_3FC\gamma_2W_2BO$, नान्यथा *UT*, न तया $K_6$, नातया $R_1$ ◇ रहितो ] सहितो $AJ_7$ ◇ देवि ] ब्रह्मन् *U*, देवी TV, विद्या N **43d** न क्व चित् ] कुत्र चित् G, न किं चित् $UTJ_3$ ◇ सिद्धिभाग् भवेत् ] सिद्धिमेष्यति $\alpha_1J_3$ **44a** यदेदं ] $J_6J_7S\beta_1PK_5CO$; यदिदं $AGUTK_6\gamma$, यदीदं $R_2$, यदि तं $U^{vl}$, यदैव $\alpha H_2$, यदेतल् F ◇ लभ्यते ] लभते $\alpha_2\alpha_3FK_6H_2$ **44c** तत्रो° ] $R_2\alpha VPK_5C\gamma$; तंत्रो° $\mu SJ_2F$, त्वत्रो° G, तदो° $UTJ_4$, *व्रचे*° $K_2$, ततो° $K_4J_3$ **44d** आशु ] [आश्वि]° T, अयु° $\alpha_3$ ◇ संलभते ] $J_6$; शंलनते A, तां लभ्यते $R_2\gamma$, तां लभते *cett.* ◇ प्रिये ] मुनिः *U* **45a** तालुमूलं ] स्वतालुमू° $H_2H_3$ ◇ °उद्घृष्य ] $GSJ_2VJ_3K_5K_6C\gamma$; °उत्कृष्य $AJ_7T$, °उ*ष्य $J_6$, °उधृ $R_2$ *(unm.)*, °उत्कृप्य *U*, °उद्घर्ष्य N, °उद्घर्ष्य $W_1$, °उद्*त्य M, °उद्धृत्यै $\alpha_3$, °उद्धृत्य $J_4$, °उद्घष्य $K_4$, °उघृष्य $K_2$, °उद्घष्य P, °उद्धृत्य F, °उत्कृत्य *D*, °लं संघृष्य $H_2H_3$ **45b** आत्मवित् ] आत्मनि $H_2H_3$ **45c** °ऊक्तप्रकारेण ] °ऊक्तेन मार्गेण G **45d** विशोधयेत् ] विशोषयेत् $R_2D$ **46a** स्नुही° ] स्नुहि° $GUMJ_4K_4W_2$, सहि° T, सुहि $J_2$, पप्नी $J_3$, स्नुहा F, स्नुह $\gamma_2R_1$ ◇ °पत्र° ] पत्रं $AJ_6K_6$, यंत्रं $J_7$, पर्व $K_3$ **46b** सुतीक्ष्णं स्निग्ध° ] सुक्ष्मं स्निग्धं च V ◇ °निर्मलम् ] निर्मलः A **46c** °आदाय ] °आधाय $AW_2B$, °आदाया° G ◇ ततस्तेन ] °थ जिह्वाधो G, यतस्तेन *D* **46d** रोममात्रं ] लोममात्रं *U*, संछिद्याद्रो° $H_3$ ◇ समुच्छिनेत् ] समुच्छिदेत् $SK_2D$, °ममात्रकम् $H_3$

---

**42c – 43d** *om.* $R_2$ **42c – 44b** *om.* $K_2$ **44ab** *om.* $J_3$ **45ab** *found after* 45d *in* $\alpha_2$

छित्त्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रघर्षयेत् ।
पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥४७॥
एवं क्रमेण षण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् ।
षण्मासाद्रसनामूलशिराबन्धः प्रणश्यति ॥४८॥
अथ वागीश्वरीधामशिरो वस्त्रेण वेष्टितम् ।
शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥४९॥
पुनः षण्मासमात्रेण नित्यसंकर्षणात्प्रिये ।
भ्रूमध्यावधि साभ्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥५०॥
अधश्च चिबुकं मूलं प्रयाति क्रमकारिता ।
पुनः संवत्सराणां तु त्रितयादेव लीलया ॥५१॥
केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्शङ्खावधि प्रिये ।

---

**47a** छित्त्वा ] कृत्वा $R_2H_2$, हित्वा $UT\alpha_3$, ततः $H_1$, आदौ $H_1^{vl}$ ◇ सैन्धव° ] सजव° T ◇ °आभ्यां ] °आदि° $H_2$ **47b** चूर्णिताभ्यां ] प्रणीताभ्यां T, चूर्णं तेन *D* ◇ प्रघर्षयेत् ] प्रकर्षयेत् $R_2UT$, च घर्षयेत् $\alpha_2$, च चर्षयेत् M, प्रदर्शयेत् $\alpha_3$ **47d** समुच्छिनेत् ] समुच्छिदेत् $SH_2D$ **48b** नित्योद्युक्तः ] $UTSW_1VK_2PJ_3FK_5C$, नित्यो युक्तः $\mu J_2J_4K_4K_6$, इत्युद्युक्तस् G, नित्ययुक्तः $R_2MDH_1H_3$, नित्योद्वक्त्र N, नित्यं संदर्श $\alpha_3$, नित्याप्युक्तः $\gamma_1$, नित्यं युक्तः $BH_1^{vl}$, नित्यमुक्तं $H_2$, नित्ययुक्तं $H_1^{vl}$ ◇ समाचरेत् ] °अनात्प्रिये $\alpha_3$ **48c** °मूल° ] °मूलं $R_2UTK_2\gamma$, °मूले $VH_3$ **48d** शिरा° ] शरा $H_2$, शिला° $H_1^{vl}$, नाडी° $H_3$ ◇ °बन्धः ] °बंधं $UH_2$, °बजं T, °मूलं $K_5$, °बंधात् $\gamma$ **49a** वागीश्वरी° ] वागीश्वरि N, वागीश्वरीं $MJ_2K_4D$, वागेश्वरी° $H_3$, प्रिये च वाग् $H_3^{vl}$ ◇ °धाम° ] देवि $\alpha_1H_3$, °धस्ता° $\alpha_3$, °मध्य° $J_3$, नाम *D* **49b** °शिरो ] सिक्त° G, शिवे $J_1$ ◇ वेष्टितम् ] $\mu$; वेष्टयेत् *cett.* **49c** उत्कर्षयेद् ] उत्घर्षयेद् G, अद्वर्तयेद् $R_2$, उद्धार्षयेद् $\alpha_3$ **49d** °वेला° ] °देश° M **50b** नित्य° ] $\mu R_2C\gamma_2$; नित्यं $GUTS\alpha\beta_1K_5K_6R_1H_2$, योनि° $K_2F$, नि P *(unm.)*, योनी° $J_3$, निस $W_2$, निःशे° B, पुनः $H_3$ ◇ °संकर्षणात् ] $R_2\alpha_1\beta_1K_2PJ_3FK_5CH_2H_3$; °संघर्षणात् $\mu TSK_6$, संघर्षयेत् G, संघर्षनान् *U*, °संदर्शनात् $\alpha_3$, संकर्षयेत् $J_1R_1$, शकर्षत् $J_5$ *(unm.)*, शकर्षणात् $W_2$, °षं कर्षणात् B ◇ प्रिये ] मुने *U* **50c** साभ्येति ] G; चाभेति $AJ_4$, चाभ्येति $J_6J_7\alpha_2\alpha_3K_5$, चाप्येति $R_2UTJ_2VPJ_3FK_6C\gamma$, वर्धेत $SH_2H_3$, लभ्येत M, चापोप्येति $K_4$ *(unm.)*, चाप्नोति $K_2$ **51a** अधश्च ] *UT*; अध स्वा $AJ_7$, अधः स्वा $J_6$, अथ स्व° $GF^{pc}J_1R_1$, अधस्ताच् $R_2S\alpha_1\alpha_3H_2H_3$, अध स्व° $J_2J_4K_4J_5W_2$, अधः स्व° $VPJ_3F^{ac}K_5K_6CB$, अधः शस्व $K_2$ *(unm.)* ◇ चिबुकं ] $\mu R_2W_1\beta H_3$; चुबुके G, चुबुकं *U*NB, अब्रकर् T, चिबुक° $SMH_2$ *(unm.)*, चिवुके $\alpha_3$, चुबकं $\gamma_1$ **51b** प्रयाति ] प्रजाति $K_1$, पूजाति $K_3$, प्रवाति $\gamma$ ◇ क्रम° ] $\mu GR_2UTSNM\alpha_3H_2H_3$; भ्रम° $\beta J_1W_2$, श्रम° $W_1J_5B$, रस° $H_3$ ◇ °कारिता ] $\mu R_2S\alpha\beta H_2$; °कारिका $G\gamma_2W_2BH_3$, °चारिता *U*, °चारितः $U^{vl}$, °चारिताम् $U^{vl}$T, °कारका $R_1$, °नाक्रमात् $H_3$ **51c** संवत्सराणां तु ] संवत्सराद्देवि $H_2H_3$ **51d** त्रितयाद् ] $\mu T$; तृतीये GB, तृतीयाद् $R_2U\alpha\beta$, द्वितीयाद् S, तृतीया $\gamma$, द्वितीया $H_2H_3$ ◇ एव ] देव G, देवि $\gamma$, चैव $H_2H_3$ **52a** केशान्तम् ] केशांते $\alpha_2$, केशामू° B, क्रोशादू° $H_2$, केशादू° $H_3$ ◇ ऊर्ध्वं ] $\mu UTSVFK_5$; ऊर्ध्व $GK_3C$, ऊर्धं $R_2$, ऊर्ध्वम् M, मूर्धम् N, मूर्द्धम् $W_1$, ऊर्द्ध $K_1J_4K_4J_3K_6$, उर्द्ध $J_2P$, उर्द्धं $K_2$, ऊर्ध $\gamma_1$, °र्ध क्र° B, °र्द्धं च° $H_2$, °ध्वं क्र° $H_3$ ◇ क्रमति ] $\mu R_2UTSJ_2J_4K_4J_3F^{ac}K_5K_6C$; क्रमणा G, आक्रम्य $\alpha_1$, क्राम्पंति $\alpha_3$, क्रममिति V *(unm.)*, क्रमते $K_2$, क्रमाति $P\gamma_2W_2$, क्रमत्*ः $F^{pc}$, क्रमा ती° $R_1$, °मा तिर्यक् B, °क्रमिति $H_2$, °माति च $H_3$ **52b** तिर्यक् ] र्यक् $\mu J_1R_1$ *(unm.)*, तिर्यक GP *(unm.)*, तिर्यग् $\alpha_3J_4$, °र्यक् मि $J_5$, °र्यच्चि $W_2$, शिखा B ◇ शङ्खावधि ] $R_2S\alpha_1VPJ_3FK_5CJ_5W_2R_1B$; सखावधि $\mu$, कर्णावधेः G, शाखावधिर् *U*, शंकापति T, वत्सरवा° $\alpha_3$, आख्यवधि $J_2J_4$, यांखावधि $K_4$, संख्यावधि $K_2K_6H_2H_3^{vl}$, श्रोत्रावधि $H_3$ ◇ प्रिये ] मुने *U*, °वधि $K_1$, °विधि $K_3$

---

47 *om.* $K_6$

अधस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥५२॥
ब्रह्मरन्ध्रान्तमावृत्य तिष्ठत्यमरवन्दिते ।
तिर्यक्चूलितलं याति अधः कण्ठबिलावधि ॥५३॥
शनैरेव प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि ।
युगपद्यश्चरेत्तस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥५४॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं वरवर्णिनि ।
यदा च बाह्यमार्गेण जिह्वा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥५५॥
तदा ब्रह्मार्गलं देवि दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिह्वां तत्र निवेशयेत् ॥५६॥
एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविश्यति ।
[मथनम्]
ब्रह्मद्वारे प्रविष्टे तु सम्यङ्मथनमारभेत् ॥५७॥
मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः ।

---

**55c – 56d** *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* क्षुरिकोपनिषद् 11 (ĀSS 29, p.151)

---

**52c** कण्ठ° ] कंठं A, क* G, कर्ण° M, कंव° $J_2$, कूट° $K_2$ **53a** °रन्ध्रान्तमावृत्य ] °रंध्रं समावृत्य *U*, °रज्जुं समाप्रत्य T, °रंध्रांतमावृत्या $R_1$ **53b** तिष्ठत्यमरवन्दिते ] तिष्ठेदेव न संशयः *U*, तिष्ठ परमवन्दिते $J_3$, तिष्ठेत्परमवन्दिते $H_2$, तिष्ठेदमरवन्दिते $H_3$ **53c** तिर्यक्चूलितलं ] तिर्यक्चूलीतले A, तिर्यक्चूलीतलै $J_6J_7$, तिर्यक्तूलीतलं $R_2$, तस्मादाषतलं T **53d** अधः कण्ठ° ] $\mu U F^{pc}$; अधः कर्ण° $R_2$, अधः कणा° T, अथ कर्ण° $S\alpha\beta_1K_2PJ_3K_5K_6C\gamma$, अध कठ° $F^{ac}$ ◇ °बिलावधि ] °बिलावधिः *U*, बिलादधः $S^{pc}$ **54a** शनैरेव ] $S\beta\gamma$; शनैः शनैः $\mu$, अनेनैव G, क्रमेणैव $R_2H_3$, शनैरेवं *U*, शनैरिमं $\alpha_1$, शनैरियं $\alpha_3$ ◇ °कर्तव्यम् ] °कर्तव्यो $GSH_3$, °कुर्वीत $\alpha_1$, °कर्तव्याम् $\gamma_1$ **54b** अभ्यासं ] ह्यभ्यासो G, *यासो न $R_2$, भ्यासश्च S, अभ्यासो B, ऽभ्यासो वै $H_3$ ◇ युगपन्न हि ] युगपत्प्रिये $R_2$, वरवर्णिनि $H_3$ **54c** युगपद् ] युगपन् T ◇ यश्चरेत् ] *em.*; यश्वरेद् A, यश्चरेद् $J_6J_7$, य[..]स् G, यतते $R_2SH_2H_3$, वर्तते *U*, मुच्यते T, यश्च तत् $NW_1^{ac}$, यस्य तत् $W_1^{pc}$, कुर्वतस् M, यस्वते $\alpha_3$, यत $J_2K_4$ *(unm.)*, कृपत $J_4$, यततस् $VK_2PJ_3FK_5K_6C\gamma_1$, यततः B ◇ तस्य ] अस्य $\mu$, यस्य *U*T, पुंसः B **54d** विलयं ] विमलं $H_2$ **55a** छनैः शनैः ] छनैरियं $\alpha_2$, छनैरिदं M, छनै रसं $\alpha_3$ ◇ कार्यम् ] कुर्याद् G, कार्यो $R_2H_2H_3$, कार्या $\alpha_2$, कार्य B **55b** अभ्यासं ] अभ्यासो GB, भ्यासो न $R_2$, अभ्यासाद् $\alpha_2$, भ्यासेन $H_2$, ऽभ्यासो च $H_3$ ◇ वरवर्णिनि ] वरवर्णि* $R_2$, मुनिपुंगव *U*, युगपन्न हि M, युगपत्प्रिये $H_2H_3$ **55c** बाह्य° ] वायु° $\alpha_3$ **55d** ब्रह्म° ] मूल° G ◇ °बिलं ] °किलं $\alpha_3$ **56a** देवि ] ब्रह्मन् *U* **56c** अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य ] अंगुल्यग्रे समुत्घृष्य G, अंगुष्ठाग्रेण संघृष्य $S^{ac}$ **56d** जिह्वां तत्र ] $DH_2H_3$; जिह्वामंत्रं A, जिह्वामत्र $J_6J_7SK_3K_2PFK_5K_6$-$CH_2^{vl}$, जिह्वामं* G, जिह्वामात्रं *U*TB, जिह्वामंत्रे° N, जिह्वामंत्र $W_1J_3$, जिह्वां मत्रे° M, जिह्वामत्रं $K_1$, जिह्वामात्र $\beta_1\gamma_1$ ◇ निवेशयेत् ] °ण वेशयेत् NM, प्रवेशयेत् $W_1K_6D$ **57b** प्रविश्यति ] प्रविशति A *(unm.)*, विशेद्ध्रुवं $R_2H_2H_3$, प्रपश्यति $U^{vl}$, प्रवेशते $\alpha_2$, प्रवेशति M, [प्रविश्यति] $J_2$, प्रवेश्यति $VK_6$, प्रविश्यंति $K_4$, प्र[वेश्य]ति C **57c** °द्वारे ] °द्वारं $AJ_4K_2$ ◇ प्रविष्टे ] प्रशुद्धे $\alpha_2\alpha_3H_2$ **57d** सम्यङ ] सदा G ◇ मथनम् ] मंथनम् $R_2S$ ◇ आरभेत् ] आचरेत् $GUT\alpha J_4$-$J_3\gamma H_2$ **58a** मथनेन ] मंथनेन $R_2S$ ◇ विना ] विशु° $H_2$ ◇ के चित् ] देवि $\beta_1K_2PJ_3FC\gamma$, नैव $K_5$, देवी $K_6$, °द्धासु $H_2$ **58b** विपश्चितः ] विचक्षणाः $\alpha_1$, विचक्षणैः $\alpha_3H_2$

---

**53cd** *om.* G **55** *om.* $K_5$ **55b** प्रकर्तव्यं तमभ्यासं कारयेद्वर*णि*नि *add.* G

खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना ॥५८॥
जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् ।
स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकां ॥५९॥
नियोज्य नासिकारन्ध्रे दृढस्निग्धेन तन्तुना ।
प्राणान्निरुध्य हृदये दृढमासनमास्थितः ॥६०॥
शनैश्च मथनं कुर्याद् भ्रूमध्ये न्यस्य चक्षुषी ।
षण्मासान्मथनावस्था तावतैव प्रजायते ॥६१॥
सम्यक्संरुद्धजीवस्य योगिनस्तन्मयात्मनः ।
यथा सुषुप्तिर्बालानां तथा भावस्तदा भवेत् ॥६२॥
न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ।
सदा रसनया देवि मार्गं तु परिसंक्रमेत् ॥६३॥
एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिः परमेश्वरि ।
शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्माविभेदतः ॥६४॥

---

64 *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* क्षुरिकोपनिषद् 11 (ĀSS 29, p.151)

---

**58c** खेचरी° ] खेचरो $J_2K_4$ ◇ °सिद्धस्य ] सिध्यंते $\alpha_2$, °सिद्धास्ते M, °सिद्धिः स्यात् $\alpha_3$, °सिध्यर्थं B **58d** सिध्यते ] संसिद्धेन् $R_2$, सिध्यंते $T\alpha_2J_4$, कुर्वते M, सिद्धा ते $K_6$ ◇ मथनं ] मंथनं $\mu R_2S$ **59a** मथनं ] मंथनं $\mu R_2S$ **59b** लभेत् ] व्रजेत् G, भवेत् $\alpha$ **59c** स्वर्णजां रौप्यजां ] $\mu GR_2$-$UTW_1\alpha_3$; स्वर्णजा रौप्यजा $SNM\beta\gamma$ **59d** लोहजां वा शलाकिकां ] $\mu GR_2UTW_1\alpha_3$; लोहजा वा शलाकिका $SNM\beta\gamma$ **60a** नियोज्य ] नियोज्या $\mu NMC$, नियोज्यं V ◇ °रन्ध्रे ] °रन्ध्रं $U$ **60b** दृढस्निग्धेन ] दुग्धसिक्तेन $U$ **60c** प्राणान् ] प्राणं $GU^{vl}$ **60d** दृढम् ] सुखम् $UT$ ◇ आसनमास्थितः ] आसनमात्मनः $U$, आसनसंस्थितः $\alpha_2$, आसनसंस्थिते $\alpha_3$ **61a** च ] $S\beta\gamma$; स $AJ_6R_2$, सं° $J_7\alpha H_2$, तु G, सु° $U$, सृ T ◇ मथनं ] मंथनं AS ◇ कुर्याद् ] कार्यं $\alpha H_2$ **61b** न्यस्य ] न्यस्त° $GUS\gamma$ ◇ चक्षुषी ] $J_6J_7T\alpha_1\beta_1PK_5C\gamma$; चक्षूषी A, चक्षुषि $GUK_6$, चक्षुषीं $R_2$, लोचनः S, चक्षुषां $\alpha_3$, वक्षषी $K_2$, चक्षुषा $J_3F$, चक्षुषम् $H_2$ **61c** षण्मासान् ] षण्मासं $U^{vl}$ **61d** तावतैव ] $J_7GR_2S\alpha_2K_4PK_5K_6CR_1$; तावनैव A, तावन्नैव $J_6$, भावेनैव $UT$, तद्दिनैव M, तावन्नैव $\alpha_3$, तावैतैव $J_2J_4V\gamma_2W_2B$, भावनैव $K_2$, तावतैतैव P *(unm.)*, स्यतंवैव $J_3$, तावदैव F **62a** सम्यक्° ] संज्ञा° G ◇ °संरुद्ध° ] $\mu R_2TS\alpha$; °निरुद्ध° G, °संरुध° $J_2K_4$, संरुध्य $J_4K_2PFC\gamma_1$-, संरूध्य V, संद्रध्य $J_3$, °संरूध° $K_5$, संरुद्ध्य $K_6$, संरुह्य B **62b** तन्मयात्मनः ] स्यान्मनोन्मनी S, स्यान्मनो यथा $\alpha_1$, तन्मनो यथा $\alpha_3$ **62c** यथा सुषुप्तिर्बालानां ] $R_2UTS\beta\gamma$; यथा सुषुप्ति वलिनां $\mu$, यथा सुषुप्तिर्बहुळा G, सुषुप्तिर्बालकानां च $\alpha$ **62d** तथा भावस् ] $VK_2PFK_5K_6C\gamma$; यथा भावस् $\mu R_2GUT$, तथा वै सा S, यथा वै सा $\alpha_2$, यथा सैव M, बालकानां $\alpha_3$, तथा भवेस् $J_2$, तथा भावेत् $J_4$, तथा भवस् $K_4$, तदा भावस् $J_3$ ◇ तदा भवेत् ] $GK_2PFK_6C\gamma$; तथा भवेत् $\mu R_2UT\alpha_3\beta_1J_3K_5$, प्रजायते $S\alpha_1$ **63a** न सदा ] स तथा G, रसना $R_2$ ◇ शस्तं ] शक्तिं G, सह्यं S, कार्यं $\alpha_1$, सक्तः $J_4$ **63b** मासे मासे ] मासि मासि A, मासि मासे $J_6J_7$, शस्तमासे $R_2$ **63c** सदा ] यदा $GMJ_2J_4K_4$ ◇ देवि ] योगी $GUT$, मार्गम् M **63d** मार्गं ] मार्ग° $R_2$, मार्गम् $\alpha_2$, उपर्य M, मार्गे $\alpha_3H_2$ ◇ तु परि° ] °तः परि° $R_2$, न परि° $UT$, चोपरि $SW_1$, उपरि NM **64a** °वर्षान्ते ] $\mu GR_2UTD$; °वर्षेण $SVK_2PJ_3FK_5K_6CJ_1R_1$, °वर्षं च $\alpha_2\alpha_3H_2$, °वर्षे च M, °वर्षाणि $J_2J_4K_4B$, °वर्षण $J_5W_2$ **64b** °सिद्धिः ] °सिद्धि $A\alpha_3\gamma_1$, °सिद्धे M, °सिद्धः $J_3F$, °सिद्धिं $BH_2$ ◇ परमेश्वरि ] भवति ध्रुवा $U$, भवति ध्रुवम् $U^{vl}$, परमेश्वरी $T\alpha_3K_2J_3K_6H_2$ **64d** पश्यत्य् ] पश्यंन् G ◇ आत्मावि° ] $J_6J_7UTJ_3$; आत्मादि° $R_2$, आत्मवि° *cett.*

---

**58cd** *om.* $K_2$ **62ab** *om.* $U$ **41a – 43b** *repeated after* 62d G

[अमृतपानम्]
ब्रह्माण्डे यन्महामार्गं राजदन्तोर्ध्वमण्डले ।
भ्रूमध्ये तद्विजानीयात् त्रिकूटं सिद्धसेवितम् ॥६५॥
चणकाङ्कुरसंकाशं तत्र संयोजयेन्मनः ।
लिहन्रसनया तत्र स्रवन्तं परमामृतम् ॥६६॥
शनैरभ्यासमार्गस्थश्चतुर्वर्षं पिबेत्प्रिये ।
वलीपलितनाशश्च संसिद्धिः परमा भवेत् ॥६७॥
सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च जीवेद्वर्षसहस्रकम् ।
खन्याबिलमहीवादरसवादादिसिद्धयः ॥६८॥
योगिनः संप्रवर्तन्ते पञ्चवर्षेण पार्वति ।
सम्यग्रसनया योगी स्रवन्तममृतोदकम् ॥६९॥
संपीत्वोपवसेत्स्वस्थो व्रतस्थो द्वादशाब्दकम् ।
अनेनाभ्यासयोगेन वलीपलितवर्जितः ॥७०॥
वज्रकायो महायोगी वर्षलक्षं स जीवति ।
दशनागसहस्राणां बलेन सहितः प्रिये ॥७१॥

---

**68c – 69b** ≃ हठरत्नावली 2.153

---

**65a** ब्रह्माण्डे ] ब्रह्माण्डो *UT* ◇ यन् ] मन् A, यो $R_2$, ऽयं *UT* ◇ °मार्गं ] °मार्गे $AK_2\gamma$, °मार्गो $GR_2$*U*, °मार्ग $\alpha_2$ **65b** °मण्डले ] °कुण्दली *UT*, °मंडलं $J_4\gamma$ **65c** °मध्ये ] °मध्यं M ◇ तद् ] F; तं *cett.* **65d** त्रिकूटं ] भ्रूकुटं A, भ्रूकूटं $J_6J_7$ ◇ सिद्ध° ] सिद्धि° $\mu K_3K_2\gamma_1$ **66b** °योजयेन् ] °कोचयेन् G, °योज्य यन् $\alpha_3$, °योजयन् $\gamma$ **66c** तत्र ] तंतु $\mu$, तंत्र $R_2$ **66d** स्रवन्तं ] स्रवंत° $\mu$GNM, संवर्त्तं $K_1$, संवर्त्त $K_3$, संश्रवत् $R_2$ **67a** °मार्गस्थश् ] °मार्गस्य $\mu J_4$, °मार्गेण $K_2$F **67b** पिबेत् ] पिबन् $J_2VK_4PK_5C$ **67c** °नाशश् ] °नाशं $S\beta\gamma$ **67d** संसिद्धिः परमा ] $\mu$; संसिद्धिश्च परा $GJ_2J_4J_3K_5K_6$, यं सिद्धिश्च परा $R_2$, सिद्धिश्च परमा $S\alpha_2\gamma$, परमा[मृततो] M, संसिद्धिर्निश्चला $\alpha_3$, संसिद्धश्च परो VPC, संसिद्धिश्च परो $K_4$, स सिद्धश्चापरो $K_2$, संसिद्धस्य परो F **68c** खन्याबिलमहीवाद ] *em.* Sanderson; कन्याविलं महीपाद° A, कन्याविलमहीपाद $J_6J_7$, कन्याबलमहावाद° G, खनीविलमहानाद° $R_2$, खन्याद्विलं महावादे S, खन्याबिल NM, खन्याविलं $W_1$, खनित्याविमहावादे $\alpha_3$, खन्याविलमहावादे $\beta_1K_5K_6C$, स्वर्णादिधातुवादानि $K_2$, खन्याविलं महावादे $PJ_3J_1W_2B$, खन्यानिलमहावादे F, स्वन्याविलं महावाटे $J_5R_1$, खनित्या*क्ति*महारन्ध्रे $H_2$ **68d** °रसवादादि° ] °रसवादाश्च G, °रसनादादि S, °रसनादीनि $\alpha_3H_2$ ◇ °सिद्धयः ] $\mu GR_2\alpha_3$-$H_2$; °सिद्धये *cett.* **69d** स्रवन्तममृतोदकम् ] $\mu$; स्रवन्तं तं परामृतं G, संश्रवच्चामृतोदकं $R_2$ **70a** संपीत्वोपवसेत् ] G; पीत्वा रस विशे $R_2$, पीत्वा पीत्वा विशेत् *cett.* ◇ स्वस्थो ] स्वस्थं $\mu\alpha_3H_2$, षस्यं $R_2$ **70b** व्रतस्थो ] $\mu GR_2SJ_2VK_4K_5K_6C$; व्रतस्यो $\alpha_3H_2$, [वस्थो] $J_4$ *(unm.)*, यतस्थे $K_2$, यतस्थो $P\gamma$, यातस्यो $J_3$, यतस्था $F^{ac}$, यत्नस्** $F^{pc}$ ◇ °आब्दकम् ] °आत्मकम् $\alpha_3K_2H_2$, °आव्दके $J_2J_4K_4K_6$, °आष्टकं $J_3$, °आब्दकः $\gamma$ **71b** स जीवति ] प्रजीवति $\mu\alpha_3$, संजीवति B **71d** बलेन ] बलवान् $J_2J_4K_2PJ_3C\gamma$, वलं वा $K_6$

---

**65b** *end of witnesses UT* **68c** °मही – **71a** °कायो *om.* $\alpha_1$ (*eye-skip from* °मही *to* महा) **69** *om.* $S\alpha\beta\gamma$ **70b** पीत्वा पीत्वा विशेषेण द्वौ प्रस्थौ द्वादशाब्दकं *add.* G **70cd** *om.* $K_2$ **71ab** *found after* 72b *in* $\gamma$

स दूरदर्शनश्चैव दूरश्रवण एव च ।
निग्रहानुग्रहे शक्तः सर्वत्र बलवान् भवेत् ॥७२॥
एता हि सिद्धयो देवि भ्रूमध्ये संभवन्ति हि ।
आकाशे रसनां कृत्वा दन्तपङ्क्तिं निपीडयेत् ॥७३॥
काकचञ्चुपुटं वक्त्रं कृत्वा तदमृतं पिबेत् ।
पानाद्वत्सरतः सत्यं जरामरणवर्जितः ॥७४॥
खेचरत्वमवाप्नोति जीवत्याचन्द्रतारकम् ।
पादुकाखड्गवेतालसिद्धिद्रव्यमनःशिलाः ॥७५॥
अञ्जनं विवरं चैव चेटकं यक्षिणी तथा ।
यत्किं चित्सिद्धिसमयं विद्यते भुवनत्रये ॥७६॥
तत्सर्वमेव सहसा साधयेत्साधकोत्तमः ।

इति श्रीमदादिनाथप्रोक्ते महाकालयोगशास्त्रे
उमामहेश्वरसंवादे खेचरीविद्यायां प्रथमः पटलः

---

**72a** स ] सु° $J_6J_7R_2\alpha_1$, सं° G ◇ °दर्शनश् ] $S\alpha_2\alpha_3K_2P$; °दर्शनं $\mu GR_2\beta_1FK_5K_6C\gamma$, °श्रवगाश् M, °श्रवगा $J_3$ ◇ चैव ] लब्ध्वा $J_3$, वेद F **72b** दूर° ] दूरा° $\alpha_3\gamma_2B$ ◇ °श्रवग ] $S\alpha_2$; °श्रवगम् $\mu GR_2\beta_1K_2PFK_5K_6C\gamma_1$, °दर्शनम् $MJ_3$, °छ्रवगम् $\alpha_3B$ **72c** शक्तः ] शक्तिः $\mu R_2$ **73a** एता हि ] एताद्य $\mu$, एताश्च $\alpha_3$ **73b** भ्रू° ] भू° $J_6J_7$ **73d** °पङ्क्तिं ] °पंक्तिर् A, °पंक्तीर् $J_6J_7$, °पक्ति $R_2K_3$, °पंक्ति $NPJ_3J_5$, पंक्ता $K_2$, पं*क्ति*: F ◇ निपीडयेत् ] न पीडयेत् $AR_2K_3$, निपीज्येत् $J_6$ *(unm.)* **74a** °पुटं ] पदं $\alpha_3$ ◇ वक्त्रं ] कृत्वा $\alpha_1$, चक्रं $\alpha_3$ **74b** कृत्वा ] चक्रं $\alpha_2$, वक्त्रं M, दत्वा $VK_5$ **74c** पानाद्वत्सरतः ] $G\alpha H_2$; भानुवत्सरतः $\mu$, पानाद्वत्सतर $R_2$-, तेनाब्दशतसा° SF, तेनाब्दा[नी]शतं $J_2$, तेन चावृषतं $J_4$, तेना*षु*सं*श*तं V, तेनाब्दशतं $K_4$ *(unm.)*, तेनाष्टशतसा° $K_2J_3$, तेनाब्दशतः $PW_2$ *(unm.)*, तेनाब्दानां शतं $K_5$, तेन नादात्स्मृत $K_6$, तेनाब्दात्स्मृतः C *(unm.)*, तेनावृशतः $\gamma_2$ *(unm.)*, तेनावृतः $R_1$ *(unm.)*, तेनैवाब्दशतं B ◇ सत्यं ] °हस्रं $SJ_3F$, °हस्त्र्यं $K_2$ **75a** खेचर° ] खेचरी° $R_1$ **75b** जीवत्याचन्द्रतारकम् ] जीवेच्चंद्रार्कतारकं G, जीवेदाचंद्रतारकं S, जीवेद्वर्षसहस्रकं $\alpha_1$ **75c** पादुका° ] पादुके S ◇ °खड्ग° ] °खड्गर् A, °खड्ग° $R_2J_3$, °षड° $\alpha_3$, खड्गः V *(unm.)*, °खर्ड्ग° $K_4$, °खेच[री]° $R_1$ *(unm.)* ◇ °वेताल° ] $J_7R_2$-$SMFK_6\gamma$; °वेतोलः $AJ_6$, °वेतालं $\alpha_2K_3$, °वेता*ल*° $K_1$, °वेताला° $J_2J_4K_4PK_5C$, °वैताला° $VJ_3$, °वेतालाः $K_2$ **75d** °सिद्धि° ] °सिद्ध° $\mu R_2VK_5K_6$, °सिद्धिं $\alpha_3$ ◇ °द्रव्यमनःशिलाः ] $AK_6$; °द्रव्यमनःशिला $J_6J_7R_2\beta_1K_2PJ_3FK_5C$, °द्रव्यमभीप्सितं $S\alpha$, °द्रव्यमनेकशः $\gamma$ **76b** चेटकं ] खेटकं $\mu$, चेटको $R_2$, चेटका N ◇ यक्षिणी ] चाक्षिणी $\alpha_1$, यक्षणी $K_1\beta_1K_5\gamma_1$ **76c** यत्किं चित् ] ये के चित् $\alpha_3$, पंक्तिवित् $\beta_1K_6C$ ◇ सिद्धिसमयं ] $\alpha_1K_2FW_2$; सिद्धमयं A *(unm.)*, सिधमयं $J_6J_7$ *(unm.)*, स तु यं ज्ञात्व $G^{ac}$, सफलं ज्ञात्व $G^{pc}$, सिद्धसमयं $S\alpha_3\beta_1J_3PK_5K_6C$, सिद्धिसमये $\gamma_2R_1B$ **76d** विद्यते ] विद्याने A, विद्या ते $J_6J_7$, भिद्यते G **77a** तत् ] त्वत् A **77b** साधयेत् ] सेवयस् $\gamma_1$, सेवयेत् B ◇ साधकोत्तमः ] तारकोत्तमः $\gamma$

---

**75cd** *om.* G **76cd** *om.* $R_2$ **77ab** *om.* V

## द्वितीयः पटलः

[ब्रह्मद्वारार्गलकलाः]

यत्र ब्रह्मार्गलद्वारं दुर्विज्ञेयं महेश्वरि ।
कलाचतुष्कं तत्रस्थं चतुर्वर्गात्मकं परम् ॥१॥
पूर्वभागे कृता नाम गुप्ता दक्षिणगोचरा ।
शिवा पश्चिमदिग्भागे परापरशिवोत्तरे ॥२॥
तद्द्वारं रसनाग्रेण भित्त्वा पूर्वकलामृतम् ।
यदा पिबति वै योगी मासाद्धर्माधिपो भवेत् ॥३॥
यदा गुप्तामृतं दक्षे योगी रसनया लिहेत् ।
मासादेव न संदेहः साक्षादर्थेश्वरो भवेत् ॥४॥
तत्पश्चिमकलाजातममृतं जिह्वया पिबेत् ।
यदा तदा महायोगी मासात्कामेश्वरो भवेत् ॥५॥
उत्तरस्थकलाजातममृतं प्रपिबेद्यदा ।
तदासौ परमेष्ठीनामाधिपत्यमवाप्नुयात् ॥६॥
तदूर्ध्वमण्डले लीनं ब्रह्मरन्ध्रे परामृतम् ।

---

*Witnesses for the second* paṭala:
$AJ_6J_7GR_2SNW_1MK_1K_3J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6J_1J_5W_2R_1B$;
C (*up to* 14d); $H_2$ (78c-81b, 93c–94b, 95cd, 96cd, 105); *D* (72–73b).
$\mu$=$AJ_6J_7$ ◇ $\alpha$=$NW_1MK_1K_3$ $\alpha_1$=$NW_1M$ $\alpha_2$=$NW_1$ $\alpha_3$=$K_1K_3$ ◇
$\beta$=$J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ $\beta_1$=$J_2J_4VK_4$ ◇ $\gamma$=$J_1J_5W_2R_1B$ $\gamma_1$=$J_1J_5W_2R_1$ $\gamma_2$=$J_1J_5$

---

**1a** यत्र ] $\mu$; तच्च G, यत्तद् $R_2S\beta_1PJ_3FK_5CJ_5W_2B$, एतद् $\alpha_1J_1R_1$, यत्तज् $\alpha_3$, यत्तु $K_2$, तत्र $K_6$ ◇ ब्रह्मार्गल° ] $J_6J_7GR_2\beta_1K_2PF\gamma_1$; ब्रह्मार्गलं $ASJ_3K_5K_6CB$, गुह्यार्गल° $\alpha_1$, जिह्वार्गल° $\alpha_3$ ◇ °द्वारं ] देवि S, देवी $J_3$ **1b** दुर्विज्ञेयं ] दुर्जेयं वै F ◇ महेश्वरि ] महेश्वरी $AJ_6J_4VK_2K_6CW_2B$, सुरेश्वरि G, कुलेश्वरी $J_3$ **1c** °चतुष्कं ] °चतुर्क्क A, °चतुर्ष्क $J_6J_7$, °चतुष्ट $R_2$ ◇ तत्र° ] तंत्र° $J_3\gamma$ **1d** °वर्गात्मकं परम् ] °वक्त्रात्मकं परं $AJ_7$, °वर्गफलप्रदं G, वर्षात्परंयरं $R_2$ **2b** °गोचरा ] °गोचरं G, °गोचरः $R_2$, °गोचरे $\alpha_3$ **2c** शिवा ] $\mu GR_2SMVK_5K_6$; शिवः $\alpha_2PJ_3FC$, दिवा $\alpha_3$, शिव $J_2J_4K_4\gamma$, शिवाय $K_2$ *(unm.)* **2d** परा° ] परात् G ◇ °शिवोत्तरे ] °शिवोत्तरा $R_2\beta\gamma$ **3c** यदा ] यदि $\gamma_1$ **3d** मासाद्धर्माधिपो ] G; मासार्द्धे माधिपो A, मासा धर्माधिपो $J_6J_7$, मासार्धमधिपो $R_2S\alpha\beta_1PK_6C\gamma_2W_2$, मासार्द्धमधि यो $K_2J_3R_1$, मासार्धेमधिपो F, मासार्द्धादधिपो $K_5$, मासार्द्धमपि यो B **4a** यदा ] तदा $W_1K_1$, यदि $J_3W_2B$ ◇ दक्षे ] दत्ते $\gamma$ **4b** लिहेत् ] पिबेत् $GS\alpha_1$ **4c** मासादेव ] मासार्धेन $\alpha$ **4d** अर्थेश्वरो भवेत् ] स खेचरो भवेत् G, दीर्घश्चिरो भवेत् $R_2$, अर्थो भवेन्नरः $\alpha_2$, अर्थे भवेन्नरः M **5a** तत्पश्चिम° ] पश्चिमन्तु $\alpha_3$, यत्पश्चिम° $J_5W_2R_1$, यत्पश्चिमं $J_1$ ◇ °कलाजातम् ] °कलाजालं $\mu$, °कलायातम् $\alpha_2$, °कलायांतम् $\alpha_3$ **5b** अमृतं जिह्वया पिबेत् ] शुद्धं पिवति जिह्वया $\mu$, सुधां पिबति जि[.]या G **6a** उत्तरस्थ° ] उत्तस्था A *(unm.)*, उत्तरस्य $\alpha_3J_4$, उत्तरस्था $\gamma$ **6b** यदा ] $\mu$; यदि *cett.* **6c** परमेष्ठीनाम् ] पारमेष्ठीनाम् $\mu$G **7a** °ऊर्ध्व° ] $J_6J_7R_2S\alpha_2J_2VK_4K_5K_6\gamma$; °ऊर्ध्वं $AGMJ_4K_2PJ_3FC$, °ओर्ध्वं $\alpha_3$ ◇ लीनं ] लीने $AJ_7$

---

**4** *added in margin by later hand* $K_6$ **5** *om.* $K_5B$ *and found after* 7 *in* $J_1R_1$ **5b – 6a** *om.* $\alpha_1K_2$ **6ab** *om.* $K_6$

यदा पिबति योगीन्द्रो जीवन्मुक्तः शिवो भवेत् ॥७॥
मासमासावधि यदा द्वादशाब्दं समाचरेत् ।
सर्वरोगविनिर्मुक्तः सर्वज्ञो मुनिपूजितः ॥८॥
जायते शिववद्योगी लोके ऽस्मिन्नजरामरः ।
चतुष्कलामृतं वारि पीत्वा पीत्वा महेश्वरि ॥९॥
ब्रह्मस्थाने तथा जिह्वां संनियोज्यामृतं पिबेत् ।
सुस्वादु शीतलं हृद्यं क्षीरवर्णमफेनिलम् ॥१०॥
मासमात्रप्रयोगेन जायते देववत्स्वयम् ।
द्विमासे सर्वशास्त्रार्थं सम्यग्जानाति पार्वति ॥११॥
स्वतन्त्रः शिववन्मासत्रयाद्भवति वै शिवे ।
चतुर्मासान्महेशानि सर्वज्ञत्वं प्रवर्तते ॥१२॥
पञ्चमासे महासिद्धस्त्रैलोक्यमपि पश्यति ।
षण्मासे परमानन्दगुणसद्भावपूरितः ॥१३॥
जायते नात्र संदेहो जीवन्मुक्तः परापरे ।
सप्तमासे महाभूतपिशाचोरगराक्षसैः ॥१४॥
सह संवर्तते नित्यं स्वेच्छया हृष्टमानसः ।
अष्टमे मासपर्याये देवैः संमेलनं भवेत् ॥१५॥

---

7c यदा पिबति योगीन्द्रो ] M; यदा तदासौ पिबति $\mu GR_2SW_1\beta B$, यदासौ संपिबति N, यदासौ पिवते योगे $\alpha_3$, यदा तदासो पिबति $\gamma_1$ **8a** मासमासावधि ] मासे मासे विधि A, मासमासविधि $J_6J_7$, मासान्मासावधिर् G, मासमासावधौ $R_2$, मासमासावपि $\alpha_2$, मासं मासं पिबेद् M ◇ यदा ] याव G, देवी $R_2$, एवं M, यद्वा $\gamma$ **8d** सर्वज्ञो मुनिपूजितः ] सर्वज्ञगुणपूरितः $\mu$, सर्वज्ञस् सर्वपूजितः G, सर्वज्ञगुणपूजितः $R_2$, सर्वलक्षणसंयुतः $\alpha_1$, सर्वसंपूर्णलक्षणः $\alpha_3$, सर्वतो मुनिपूजितः $J_4\gamma$ **9c** वारि ] द्वापि $\mu$ **9d** महेश्वरि ] महेश्वरी $AK_3J_4J_3K_6\gamma_1$, °मरेश्वरी B **10a** तथा ] तदा GF, निजां M, स्थिता $\alpha_3$ ◇ जिह्वां ] जिह्वा $\alpha_3J_4K_4PJ_3K_5K_6\gamma_2W_2$ **10d** अफेनिलम् ] मनोहरं G **11b** जायते ] ज्ञायते $\beta_1PJ_3C$ ◇ देववत् ] शिववत् $\mu$, देवता S **12a** स्वतन्त्रः ] $\mu S^{vl} \alpha_1$; स्वतंत्र° G, स्वयं च S, स्वतंत्रं $\alpha_3$, स्वतत्वं $J_2VK_4K_5C$, स्वतत्रं $J_4$, स्वतुल्मं $K_2$, स्वतलं $P\gamma$, स्वतुल्यं $J_3$, स्वस्तलं F, स्वत*त्व* $K_6$ ◇ शिववन् ] °वद्बसन् G **12b** °त्रयाद् ] °त्रये $\mu G$, यावद् $R_2$ ◇ भवति वै शिवे ] भवति पार्वति G, ऊर्ध्वं भवेछिवे M, भव∗ वै शिवो $K_6$ **12c** चतुर्मासान् ] $G\alpha VK_2F$; चतुर्मासे $\mu SJ_2J_4K_4J_3K_5K_6C$, चतुमासान् $R_2$, चतुर्मास P, धातुमांस $\gamma_2$, धातुभास $W_2$, धातुभासा B **13a** °मासे ] °मासान् F ◇ °सिद्धस् ] $R_2S\alpha_2VK_4J_3K_5K_6$; °सिद्धिस् $\mu GM\alpha_3$-$J_2J_4K_2\gamma$, °सिद्धश् PC, °सिद्धिं F **13c** परमानन्द° ] परमानंदं $\mu R_2$, शिवसत्भाव° G, परमानंदो $S\alpha$, परमानंदः $K_2$ **13d** °गुणसद्भाव° ] °परमानंद° G, °गुणः सद्भाव° $\alpha_1$ ◇ °पूरितः ] *em.* SANDERSON; °पूजितः *codd.* **14b** परापरे ] परावरेः A, परावरे $J_6J_7R_2S\alpha_2$, परात्परे $GK_2$ **14c** सप्तमासे ] $\mu$; सप्तमे च $GK_5$, सप्तमेन *cett.* ◇ महाभूत° ] $\mu G$; महाकायः $R_2SM\alpha_3\beta$, महाकाया $\alpha_2$, महाकायो $\gamma$ **15a** सह संवर्तते ] सदा संवेष्टितो G **15b** हृष्ट° ] $\mu GR_2SK_1VF$; तुष्ट° $\alpha_1$, दृष्ट° $K_3PJ_3$, दृष° $J_2K_4$, दृष्य° $J_4$, दृढ° $K_5^{pc}\gamma$, दृश° $K_5^{ac}$, दृष्ट° $K_6$ **15c** मास° ] मासि $\alpha_2J_2VK_4PK_6B$, °मासे $J_4$ ◇ °पर्याये ] °पर्याप्ते $R_2K_5$, °पर्यायैर् $K_2J_5W_2$, °प्रजाये $J_4$, °पर्यायै $PJ_3K_6B$ **15d** देवैः संमेलनं ] वैष्णवं मेलनं N, सहसा मेलनं $W_1$, देवसंमीलनं $\alpha_3$

---

13cd *om.* $J_3$ **14d** शाचोरग° – **17a** त्रिकालज्ञः *om.* $R_1$ (f.17v *missing*) ◇ °राक्ष *end of* C

नवमे मास्यदृश्यत्वं सूक्ष्मत्वं चैव जायते ।
दशमे कामरूपत्वं सर्वलोकप्रकाशकम् ॥१६॥
एकादशे त्रिकालज्ञः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।
जायते शिववद्देवि सत्यमेतन्मयोदितम् ॥१७॥

[केदारकलाः]

यत्र चूलितलं प्रोक्तं केदारं प्राहुरीश्वरि ।
तत्र सोमकलाश्चाष्टौ विख्याता वीरवन्दिते ॥१८॥
अमृता प्रथमा देवि द्वितीया मानदाह्वया ।
पूषा तुष्टिश्च पुष्टिश्च रतिश्चैव धृतिस्तथा ॥१९॥
शशिनी चाष्टमी सर्वाः परामृतमहार्णवाः ।
तद्वामाभिमुखीं जिह्वां यदा योगी करोति च ॥२०॥
अष्टधा स्रवते तत्र तदा तुहिनसंततिः ।
तदाप्लावनसंयोगात्कलेवरगदक्षयः ॥२१॥
अष्टभिर्मासपर्यायैः खेचरत्वं प्रजायते ।

[सोममण्डलकलाः]

---

**16a** नवमे मास्य् ] $\mu R_2 MB$; नवमासेषु G, नवमे स्याद् $K_5$, नवमासे ह्य् *cett.* **16c** दशमे ] दशाभिः N, दशभिः $W_1$ **16d** ॰लोक॰ ] ॰लोम॰ A, ॰ज्ञत्व॰ M ◇ ॰प्रकाशकं ] ॰प्रकाशना $AK_6$, प्रकाशता $J_7$, ॰प्रकाशितं $GR_2$, प्रकाशनं $K_6$ **17b** ॰लोकेश्वरः ] ॰लोकेश्वर॰ $AJ_7K_3$ **17c** देवि ] देवी $R_2K_6$, योगी $MFK_5^{ac}\gamma$, विद्धि $\alpha_3$ **17d** सत्यम् ] तत्वम् $\alpha_3$ **18a** चूलितलं ] $S\alpha K_4PK_5$-$K_6W_2B$; तूलीतलां $AJ_7$, तूलीतलं $J_6$, चोळुतं G *(unm.)*, चु*ीतलम् $R_2$, वूलितलं $J_2V$, चूलतलं $J_4$, *हिलिनलं $K_2$, चूलितरं $J_3$, चूलीतलं F, चुलित्तरं $J_1$, चुलित्तलं $J_5$, चुलितरं $R_1$ **18b** ईश्वरि ] ईश्वरी $\alpha_3K_2J_3K_6J_1W_2R_1$ **18c** सोम॰ ] सौम॰ $\mu$ ◇ ॰कलाश् ] $\mu GNMJ_2VK_4$; ॰कला *cett.* ◇ चाष्टौ ] चाष्ट $GF^{pc}$, अ्ष्टौ $R_2$, *शा*ष्ट $F^{ac}$ **18d** विख्याता ] विख्यातास् G, विख्यातौ $R_2$ ◇ वीरवन्दिते ] $\mu\alpha_3$; सुरवंदिते G, वीरवन्दितौ $R_2$, [ऽ]मरवंदिते S, अमरार्चिते $\alpha_2$, भ्रमरार्चिते M, ॰मरवन्दिते $\beta\gamma$ **19a** देवि ] देवी $R_2J_3K_6F^{pc}$ **19b** मानदाह्वया ] मानदातुया M, मानवाह्वया $\alpha_3$ **19c** पूषा तुष्टिश्च पुष्टिश्च ] $GSVK_4K_2PJ_3K_5K_6B$; पूषा तुष्टिश्च $\mu$ *(unm.)*, पूषा पुष्टिश्च तुष्टिश्च $R_2$, सुपुष्टिश्चाथ तुष्टिश्च $\alpha_2$, [पू]षा पुष्टिश्चाथ तुष्टी M, पुष्टिश्चाथ तुष्टिश्च $\alpha_3$ *(unm.)*, पुषा तुष्टिश्च पुष्टिश्च $J_2\gamma_1$, पूषा तुष्टश्च पुष्टिश्च $J_4$, पूषा तुष्टिश्च युष्टिश्च $J_3F^{ac}$, पूषा तुष्टिश्च मष्टिश्च $F^{pc}$ **19d** रतिश् ] शांतिश् $SJ_3$, शक्तिश् $K_2$, स्मतिश् F **20a** शशिनी ] $GS\alpha_1\beta_1FK_5B$; शंखिनी $\mu R_2K_6$, सात्मीनि $\alpha_3$, अशिनी $K_2$, शशिना $PJ_3$, रासिनी $J_1W_2$, रासिनि $J_5$, शसिनी $R_1$ ◇ चाष्टमी ] शंखिनी $R_2$ ◇ सर्वाः ] $\mu GR_2SM\alpha_3F$; सर्व N, सर्वा $W_1\beta\gamma$ **20b** परामृत॰ ] $GR_2S\alpha\beta B$; परमामृ॰ $\mu$, परामृता॰ $\gamma_1$ ◇ ॰महार्णवाः ] $GR_2SF$; ॰तहार्णवाः A, ॰तमहार्णवाः $J_6J_7$ *(unm.)*, ॰रसार्णवा N, ॰रसार्णव $W_1$, ॰रसार्णवाः $M\alpha_3$, ॰महार्णवा $J_2PJ_3K_5K_6$, ॰महाररावा $J_4$ *(unm.)*, ॰महार्णवी $V\gamma$, ॰मर्हर्णवा $K_4$ *(unm.)*, ॰महार्णदा $K_2$ **20c** ॰मुखीं ] $J_6J_7GSVPB$; ॰मुखी $AR_2K_2K_6\gamma_1$, ॰मुखं $\alpha_2\alpha_3J_2J_4K_4$, ॰मुखां $MFK_5$, ॰मुखिं $J_3$ ◇ जिह्वां ] जिह्वा $\alpha_3J_4K_4K_6\gamma_1$ **21a** स्रवते ] च्यवते $\beta$, द्रवते $\gamma$ **21c** ॰प्लावन॰ ] ॰प्लुवन॰ $\mu\alpha_2\alpha_3$, ॰प्[...] G, ॰श्र[व]रा॰ M ◇ ॰संयोगात् ] ॰संयोगः $\alpha_1$, ॰संयोगे $\alpha_3$ **21d** ॰गद॰ ] ॰वद॰ G, ॰मत॰ $K_2$ **22b** प्रजायते ] प्रपेदिरे $\beta\gamma$

---

**16b – 17a** *om.* $K_2$

भ्रूमध्यं नाम यद्धाम तत्प्रोक्तं सोममण्डलम् ॥२२॥
कलाचतुष्कं तत्रोक्तं परामृतनिकेतनम् ।
चन्द्रिकाख्या च कान्तिश्च ज्योत्स्ना श्रीश्चेति नामतः ॥२३॥
तत्र जिह्वां समावेश्य पीत्वा पीत्वा समापिबेत् ।
योगी मासचतुष्केण जायते निरुपद्रवः ॥२४॥
वज्रकायो भवेत्सत्यं तदाप्लावनपानतः ।

[खेचरमण्डलकलाः]

तदूर्ध्वं वज्रकन्दाख्यं शिला खेचरमण्डलम् ॥२५॥
ललाटान्ते विजानीयात्तत्र देवि कलात्रयम् ।
प्रीतिस्तथाङ्गदा पूर्णा तत्र जिह्वां प्रवेशयेत् ॥२६॥
क्षीरधारामृतं शीतं स्रवन्तं जिह्वया पिबेत् ।
मासत्रयेण देवेशि सर्वव्याधिविवर्जितः ॥२७॥
अच्छेद्यः सर्वशस्त्रैश्च अभेद्यः सर्वसाधनैः ।
अचिन्त्यः सर्वविज्ञानैर्विरूपविषयान्वितैः ॥२८॥

---

**22c** भ्रूमध्यं ] $\mu$G; भ्रूमध्ये $R_2S\alpha_1\beta\gamma$, भ्रूमध्यो° $\alpha_3$ ◇ नाम यद्धाम ] G; नाम युद्धाम A, नाम युद्धाम $J_6J_7$, वाम यत्प्रोक्त $R_2$, धाम यत्प्रोक्तं $S\alpha_1\beta\gamma$, °र्ध्वं मया प्रोक्तं $\alpha_3$ **22d** प्रोक्तं ] प्रभो $\alpha_3$ ◇ °मण्डलम् ] °मंडले S **23a** तत्रोक्तं ] तंत्रोक्तं AB **23b** परामृत° ] परमामृत° $\mu\gamma$ *(unm.)* **23c** चन्द्रिका° ] चंडिका° $\mu K_4$, चंदिका $\alpha_3$, चंद्रका° $J_4\gamma$ ◇ °ख्या च कान्तिश्च ] °ख्याथ कांतिश्च G, °ख्याश्च कांतिश्च $R_2K_2$, नवकांतिश्च $\alpha$, °ख्यं चंद्रकांति B **23d** श्रीश्चेति ] श्री प्रीति F, सुश्रेति $\gamma$ **24a** जिह्वां ] जिह्वा $N\alpha_3J_4K_2\gamma_1$ ◇ समावेश्य ] समावेश्या $S\alpha$ **24b** पीत्वा पीत्वा ] °मृतं पीत्वा $S\alpha_1$ ◇ समापिबेत् ] *conj.* Sanderson; समालिहेत् G, समं विशेत् $W_1$, समाविश्येत् $J_4$, संविशेत् $R_1$ *(unm.)*, समाविशेत् *cett.* **24c** योगी ] *conj.*; देव $\mu$, देवी $J_3K_6$, देवि *cett.* ◇ मास° ] भास° $\mu$ **25b** तद्° ] $\mu GMJ_4$; सद्° *cett.* ◇ °आप्लावन° ] °आपवन° $J_6F$, °आस्रवन° $J_7$, °आपावन° $NM\alpha_3J_1R_1$ ◇ °पानतः ] $AGSJ_2VK_4PFK_5K_6J_5W_2B$; °पातत: $J_6$, °यावन $R_2$, °पावनः $\alpha$, °मानतः $J_4$, °पातनः $K_2$, °याततः $J_3$, °प्लावनतः $J_1$ *(unm.)*, °प्लानतः $R_1$ **25c** °ऊर्ध्वं ] $J_6J_7SM\alpha_3$-$K_2J_3FK_6J_1B$; °ऊर्ध्व° $A\alpha_2PJ_5W_2$, °ऊर्ध्व G *(unm.)*, °ऊर्ध्वै $R_2$, °ऊर्ध्वे $J_2VK_4K_5$, °ऊर्द्धं $J_4$, °उर्द्धं $R_1$ ◇ वज्र° ] वज्रे G ◇ °कन्दाख्यं ] $\mu R_2S\alpha_1\beta_1K_2J_3K_5$; नंदाख्यं G, °कंदाख्य° $\alpha_3PF$, °कदाख्यं $K_6$, °कन्दाख्या $\gamma$ **25d** शिला ] शिरा $K_5$ ◇ खेचर° ] रसे च $\alpha_3$, खेचरी $R_1$ ◇ °मण्डलं ] °मध्यगं $\mu$G, °मंडलः F **26a** ललाटान्ते ] $R_2SW_1\beta$; ललाटं तं $\mu$GNM, ललाटान्तं $\alpha_3$, ललाटांतो $\gamma$ **26b** कलात्रयम् ] कलान्वितं G, कलात्रये $J_2J_4K_4$ **26c** तथाङ्गदा ] GF; तथांगजा $\mu$, तथांग[दा] M, तथा गजा *cett.* ◇ पूर्णा ] पुण्या $\alpha_3$ **27a** क्षीर° ] एतत्सुधामयं क्षीर° G *(unm.)* ◇ शीतं ] शितं $J_6J_7$ *(unm.)*, शांतं $J_3$ **27b** स्रवन्तं ] संश्रवज् $R_2$ **27c** °त्रयेण ] $\mu\alpha FJ_1R_1$; °मात्रेण $GR_2S\beta J_5W_2B$ **28a** अच्छेद्यः ] अभेद्यः $\alpha_3$, अवेद्यः $J_3$ ◇ °शस्त्रैश्च ] $J_6J_7$G, °शस्त्रेश्च A, °शस्त्रैस्त $R_2$, °शास्त्रौघैर् $J_3K_6$, °शस्त्रौघ $R_1$, °शस्त्रौघैर् *cett.* **28b** अभेद्यः ] $\mu G\alpha K_4$; ख्य $R_2$ *(unm.)*, अलक्ष्यः $SJ_2PFK_5$, अलक्षः $J_4K_2$, अलभ्यः V, अलक्ष $J_3$, अलख्यः $K_6$, उल्लिख्य $J_1$, उल्लक्ष्यः $J_5W_2B$, नल्लिख्य $R_1$ ◇ °साधनैः ] G; °लोकशै A, °लेखकैः $J_6S\alpha_3VK_4PJ_3FK_5\gamma$, °लेशकैः $J_7$, °लेखनै $R_2$, °भेदकैः $\alpha_1$, °लौकिकैः $J_2$, °लोककैः $J_4K_6$, °लक्ष्यकैः $K_2$ **28d** विरूप° ] $\mu GR_2M\alpha_3$; निरूपो S, विरूपं N, निरूपं $W_1$, निरूप° $\beta_1PJ_3FK_6\gamma$, अरूप° $K_2$, निरूप्यो $K_5$ ◇ °विषयान्वितैः ] °विषमान्वितैः $\mu$, विषयान्वितः $K_6$

---

**22d – 23a** *om.* $J_4$ **24 – 30** *found in margin of* f.29v $J_6$ (*eye-skip* तत्र–तत्र) **25c** शिवश् शिखरी मण्डलं तदूर्ध्वं वज्रकेशाख्यं *add.* G

भैरवाभो भवेत्सत्यं वज्रकन्दप्रभावतः ।
[राजदन्तकलाः]
नासिकाधो ʃधरोष्ठोर्ध्वं राजदन्तं महापदम् ॥२९॥
तत्र पूर्णामृता देवि शीतला च कलाद्वयम् ।
संप्राप्य कुम्भकावस्थां रसनाग्रेण संस्पृशेत् ॥३०॥
तत्र संजायते देवि सुस्वादु शीतलं जलम् ।
स्वमनस्तत्र संयोज्य पिबेन्मासत्रयं व्रती ॥३१॥
अजरामरतामेति सर्वव्याधिविवर्जितः ।
[आधारकलाः कुण्डलिनीशक्तिश्च]
गुदबीजान्तरस्थानमाधारं परिकीर्तितम् ॥३२॥
तत्र पञ्च कलाः प्रोक्ताः प्रगलत्परमामृताः ।
सुधा सुधामयी प्रज्ञा कालघ्नी ज्ञानदायिनी ॥३३॥
कलाः पञ्च सुधाधाराः कीर्तिताः सर्वसिद्धिदाः ।
तत्रस्था परमा शक्तिराद्या कुण्डलिनी शिवे ॥३४॥
तत्राकुञ्चनयोगेन कुम्भकेन सुरार्चिते ।

---

**29a** °आभो ] °आंगो M, °आंभो $\alpha_3$ **29b** °कन्दप्र° ] °कन्दर्प° $\gamma$ **29c** नासिकाधो ] $GR_2SJ_2J_4$-$VK_2FK_5K_6$; नासिकोर्धो $AJ_7$, नासिकोर्द्धो $J_6$, नासिकाधों° $\alpha_1$, नासिकाधा° $\alpha_3$, नासिका*° $K_4$, नासिकाद्यो° $P\gamma$, शशिंकाद्यो° $J_3$ ◇ ʃधरोष्ठोर्ध्वं ] *em.*; °धरोष्ट्राई A *(unm.)*, °धरौष्ठार्द्ध° $J_6$, धरौष्ट्रार्द्र $J_7$, धरोष्ठोर्ध्वे G, धरोष्ठौध $R_2$, °त्तरोष्ठोर्ध्वे S, °तरोष्ठोधो N, °तष्टोरोधो $W_1^{pc}$, °तष्टोराधो $W_1^{ac}$, °तरोष्ठाधो M, °तरोष्टोर्ध्वो $\alpha_3$, °त्तरोष्ठोर्ध्वं $\beta$, °तरोष्टाधः $\gamma$ **29d** °दन्तं ] °दंत° $R_2MJ_4\gamma$ ◇ °पदम् ] $R_2\beta\gamma$; °पथां $AJ_7$, °पथं $J_6G\alpha_1K_5^{ac}$, °पदः $\alpha_3$ **30a** पूर्णामृता ] $GR_2SVK_6$; पूर्णामृतं $AJ_7\alpha_1$, पूर्णामृते $J_6$, पूर्णामहं $\alpha_3$, पुर्णामृतो $J_2J_4K_4K_2PF$, पारिणमृता $J_3$, पूर्णानना $K_5$, पूर्णा ततो $\gamma$ ◇ देवि ] देवी $R_2J_3K_6$ **30b** शीतला ] $GS\beta\gamma$; शीतता $AJ_7$, शीलता $J_6$, शीत*ल*ा $R_2$, शीतलं $\alpha$ ◇ कलाद्वयम् ] कलाह्वयां $\mu$, कलाह्वया G **30c** संप्राप्य ] पूर्णापि $\alpha$ ◇ कुम्भका° ] कुलका° $J_3$ ◇ °वस्थां ] °वस्था $R_2M\alpha_3K_2PFK_6\gamma$ **30d** रसनाग्रेण संस्पृशेत् ] रसनाग्रं प्रवेशयेत् B **31a** देवि ] *om.* $\mu$, सत्वं $\alpha_1$, सत्यं $GR_2\alpha_3$ **31b** सुस्वादु शीतलं जलम् ] $\mu$; जलं सुस्वादु शीतलं G, सुखदं शीतलं जलं $R_2S\alpha\beta\gamma$ **31c** स्वमनस् ] सुमनस् $\alpha_3$, स्वं मनस् B **31d** पिबेन् ] पिबन् $SJ_4PF\gamma_1$ ◇ मासत्रयं व्रती ] $\mu$; मासद्वयं प्रये G, मासत्रयं ज इति $R_2$ *(unm.)*, मासद्वयं व्रती $S\beta\gamma$, मासचतुष्टयं $\alpha$ **32c** °बीजान्तर° ] °बीजांतरं S, °बीजांकुर° $\alpha$ **33a** पञ्च ] सोम° G ◇ कलाः ] कला $J_6J_7G\alpha_2\alpha_3K_2J_3K_5^{ac}K_6\gamma_1$ ◇ प्रोक्ताः ] [पूर्णाः] G, प्रोक्ता $NM$-$\alpha_3K_2J_3$, सक्ताः $J_4$, प्रोक्तः $PJ_5$, प्रोक्त $J_1R_1$ **33b** प्रगलत् ] प्रस्रवत् G, विगलत् M ◇ °मृताः ] $\mu GS\alpha_1\beta_1PFK_5K_6$; °मृ*ता* $R_2$, °मृतः $K_1$, °मृतः̇ $K_3$, °मृतां $K_2J_5W_2$, °मृता $J_3$, °मृतं $J_1R_1B$ **33c** सुधा° ] रस° $R_2$ ◇ प्रज्ञा ] प्राज्ञा $G\beta_1J_3K_5K_6J_5W_2B$, धारा $J_1R_1$ **33d** कालघ्नी ] कलघ्नी $\alpha_2J_4VB$ ◇ ज्ञानदायिनी ] ज्ञानदायका $\mu$, कामदायिनी GF **34a** कलाः पञ्च ] $S\alpha_1$; कला पंच $\mu\alpha_3J_3$, कला*:* पंच G, ककता पंच $R_2$ *(unm.)*, कल्पं पंच $J_2J_4$, कल्प पंच $VK_4PFK_6$, कलाः च $J_3$ *(unm.)*, कस्य पंच $K_5$, कल्पय च $\gamma_1$, कल्पयेच्च B ◇ सुधाधाराः ] सुधाराश्च $\alpha_1$, सधारा च $\alpha_3$ **34b** कीर्तिताः ] कीर्तिता $AJ_7\alpha_3\gamma_1$ ◇ °सिद्धिदाः ] °सिद्धिदा $\alpha_3J_3K_5^{ac}\gamma_1$ **34c** तत्र° ] मंत्र° $J_4$ ◇ शक्तिर् ] शक्ति $\mu M$, शक्तिः $\alpha_2$, शक्तिःर् $J_3B$ **34d** आद्या ] माया $\mu G$, आही $R_2$, ख्याता $\alpha_1$, अच्चा $\alpha_3$, आधा $VK_2$ ◇ शिवे ] परा S, शिवा $\alpha_2$, सिता $\alpha_3$, प्रिये B **35a** तत्रा° ] तत्र $MK_2PJ_3$, तत्रां $\gamma_1$

---

**33c – 34b** *om.* $K_2$

मूलशक्त्या समासाद्य तत्रस्थं शीतलामृतम् ॥३५॥
सुषुम्णया समानीय स्वाधिष्ठानादिपङ्कजात् ।
तत्सुधावृष्टिसंसिक्तं स्मरेद् ब्रह्माण्डकावधि ॥३६॥
तत्रस्थममृतं गृह्य शक्तिः श्रीकुण्डली परा ।
सुषुम्णामार्गमासाद्य ब्रह्मधामान्तमीयुषी ॥३७॥
मूलपञ्चकलाजातसुधातृप्तिपरिप्लुता ।
आपादमस्तपर्यन्तं व्यापयन्तीं तनुं स्मरेत् ॥३८॥
पञ्चमासप्रयोगेन पञ्चभूतलयो भवेत् ।
शिवसाम्यं भवेत्सत्यं त्रिकालाभ्यासयोगतः ॥३९॥

[स्वाधिष्ठानकलाः]

लिङ्गस्थानं हि यद्देवि स्वाधिष्ठानं तदुच्यते ।
तत्र दिव्यामृतमयं कलात्रयमुदीरितम् ॥४०॥
सुसूक्ष्मा परमाह्लादा विद्या चेति प्रकीर्तिताः ।
पूर्ववत्कुम्भकावस्थां प्राप्य शक्तिं प्रबोध्य च ॥४१॥

---

**35c** °शक्त्या ] °शक्तिं G **35d** तत्रस्थं ] तत्रगं $\mu$G **36a** सुषुम्णया ] $AJ_6^{pc}J_7VK_5$; सुषुम्नया $J_6^{ac}GJ_2K_4J_3PFB$, सुषुम्णयां $R_2$, सुषुम्नायां $SW_1\alpha_3$, सुषुम्नयां N, सुषुम्णायां M, सुषुम्नाया $J_4$-$J_1$, सुषुम्णाया $K_6R_1$, सुषुमृणाया $J_5W_2$ ◇ समानीय ] $GS\beta\gamma$; समुन्नय्य A, समुन्नध्य $J_6J_7$, समीनीय $R_2$, समासीना $\alpha_2$, समासीनः M, समासीन $\alpha_3$ **36b** °ष्ठानादि° ] °ष्ठानाद्य° $\alpha_2$ ◇ °पङ्कजात् ] °पंकजान् $VJ_3$, °पंचकात् $K_2B$ **36c** तत्सुधावृष्टि° ] G; वसुधावृष्टि° $\mu$, तं सुधारस° $K_5$, तत्सुधारस° *cett.* ◇ °संसिक्तं ] °ससिक्ता $R_2$, °संसिक्तां $S\alpha_2$ **36d** स्मरेद् ] स्मरद् $R_2\gamma_1$, स्रवद् B ◇ °कावधि ] °वत्*सु*धीः G, °कार्यधीः $\alpha_3$ **37a** तत्रस्थममृतं ] $\mu GR_2$; तत्र स्थाने मृतं $S\alpha$, तत्र संस्थामृतं $\beta\gamma$ ◇ गृह्य ] $\mu$; गुह्यं $GR_2S\alpha_2\alpha_3\beta$, [मयी] M, गुह्य $\gamma$ **37b** श्रीकुण्डली ] $\mu K_3\beta_1K_5K_6$; कुंडलिनी $GR_2S\alpha_1$, कुंडली $K_1J_3$ *(unm.)*, कुडलनीं $K_2$, थी कुंडली P, सा कुंडली F, यत्कुंडलिका $J_1R_1$ *(unm.)*, यत्कुंडलि $J_5W_2$, य कुंडलिनी B *(unm.)* ◇ परा ] पराः A, परां $K_2P$, पुरा B **37c** सुषुम्णा° ] सुषुम्ना° $J_6^{ac}\alpha_3J_2J_4K_4PJ_3FB$ **37d** °धामान्तम् ] $J_6GR_2S\alpha_2K_5B$; °धामं तम् $AJ_7\alpha_3$, °धामातम् $J_2J_4K_4$, °धामांत $VJ_3F\gamma_1$, °धायांन $K_2$, °धामात P, °धामांत्तर् $K_6$ ◇ ईयुषी ] $\mu SW_1J_2J_4K_4K_5K_6B$; श्रायुषी $GN\alpha_3$, उन्मुखीं $R_2$, पीयुषी $VP\gamma_1$, पीयुषा $K_2$, यायुषा $J_3$, पीयुषि F **38a** °पञ्च° ] °पर्व° $\alpha_3$ ◇ °कला° ] °कसा° A ◇ °जात° ] $GR_2SJ_2VK_4K_2$-$PFK_5$; °जाता $\mu\alpha_2K_6\gamma$, °जाताः M, °याता $\alpha_3$, °जातं $J_4J_3$ **38b** °तृप्ति° ] °वप्ति° $J_2$, °तप्ति° $\gamma_2R_1$ ◇ °प्लुता ] *प्लु*तां $R_2$, °प्लुताः $MK_5$ **38c** °मस्त° ] $\mu$; °तल° *cett.* **38d** व्यापयन्तीं ] $\mu R_2SMK_1J_2K_4PK_5$; [वि]ख्यायंती N, व्यापयंती $W_1K_3J_4VK_2FB$, व्यापयंतिं $J_3$, व्यापती[त] $K_6$, व्यापयंति $\gamma_1$ ◇ तनुं ] $J_6J_7R_2SMK_1$; तनु $A\alpha_2K_3$, तु तां $\beta_1PJ_3FK_5K_6\gamma$, तु सं° $K_2$ **39b** °लयो भवेत् ] °जयं लभेत् $\mu$ **39c** °साम्यं ] $GR_2$; °तुल्यो $K_2B$, °सम $\gamma_1$, °साम्यो *cett.* **39d** त्रिकाला° ] त्रिविधा° G **40a** लिङ्गस्थानं हि यद् ] G; नाभिस्थानं हि यद् $\mu$, नाभिस्थानादधो *cett.* **40c** °मयं ] °मयी $\gamma$ **41a** सुसूक्ष्मा ] सुषुम्णा $S\alpha\gamma$ ◇ परमाह्लादा ] $GSJ_4K_6$; परमा हृद्या $\alpha_1$, परमाह्लाद *cett.* **41b** विद्या चेति ] कला विद्या G, दिव्या चेति $R_2$, नाम्ना देवि M ◇ प्रकीर्तिताः ] $J_6GR_2MK_5$; प्रकीर्तिता *cett.* **41d** प्राप्य ] प्राण° $\alpha_1$ ◇ प्रबोध्य ] प्रयोध्य $AJ_7$

---

**35d – 36a** *om.* $K_2$ **37cd** *om.* M **38cd** *om.* G **39a – 40d** *om.* $\alpha_3$

नीत्वा ब्रह्माण्डपर्यन्तं प्लावयेच्च स्वकां तनुम् ।
योगी त्रिमासपर्याये पूर्वोक्तं लभते फलं ॥४२॥
[वेणुदण्डकलाः]
गुदमेढ्रान्तरं यद्वै वेणुदण्डं तदुच्यते ।
कलाचतुष्कं तत्रोक्तं परामृतरसात्मकम् ॥४३॥
सुशीता च महातृप्तिः पलितघ्नी वलिक्षया ।
तत्र शक्तिं समुद्बोध्य पूर्ववत्प्लावयेत्तनुम् ॥४४॥
चतुर्मासप्रयोगेन पूर्वोदितफलं लभेत् ।
पिङ्गला रविवाह्या स्यादिडा स्याच्चन्द्रवाहिनी ॥४५॥
विषवाहो रविः प्रोक्तः सुधावाहो निशाकरः ।
अभ्यासः सूर्यवाहाख्ये चन्द्रवाहे च शस्यते ॥४६॥
†धारणा चन्द्रवाहे च† योगी कुम्भकमाचरेत् ।
शशिवाहेन पवनं पूरयेदात्मनस्तनुम् ॥४७॥
रविवाहेन चोत्सर्गः शस्यते देहवृद्धये ।
एतत्ते व्याहृतं देवि कलास्थानं चतुर्गुणम् ॥४८॥

---

**42a** नीत्वा ब्रह्माण्डपर्यन्तं ] पीत्वा ब्रह्मांडपर्यंतं $\mu$, कलां प्राप्य पीत्वा ब्रह्मादिपर्यंतं G *(unm.)* **42b** प्लावयेच्च स्वकां ] प्लावयेद्यः स्वकां $\mu$, प्लावयित्वा स्वकां G, प्लावयेच्च स्वकीं $R_2J_4K_4$, प्लावयेदात्मनस् M **42c** ◦पर्याये ] ◦पर्यायैः $S\alpha_1K_2J_3$, ◦पर्याय $\gamma_1$, ◦पर्यायात् B **43a** गुद◦ ] गुह्य◦ $\alpha_3$ ◇ ◦आन्तरं यद् ] ◦आंततंतुर् G, ◦आंतरे यद् $R_2$F **43b** वेणु◦ ] वीणा◦ G **44a** सुशीता च ] सुगतं च G, सुशांता च $J_3$, सुशीतला B ◇ महातृप्तिः ] परा तृप्तिः $R_2\alpha$, महातृप्ति $J_2VK_4PJ_3\gamma$ **44b** पलितघ्नी ] वलिघ्नी च G, तदंघ्रीव N ◇ वलिक्षया ] परिक्षया G, वलीजय $R_2$ **44d** प्लावयेत् ] भावयेत् $SPJ_3F\gamma$ **45c** रवि◦ ] विष◦ G ◇ ◦वाह्या ] $AJ_6SJ_2J_4K_4PK_6\gamma$; ◦वाज्या◦ $J_7$, ◦वाहा $GR_2W_1MK_5$, ◦वाह $N\alpha_3F$, ◦वाह्य $VK_2J_3$ ◇ स्याद् ] ◦ख्या $\mu$G, ◦स्थाद् $\alpha_2$ **45d** इडा स्याच् ] इडाख्या $\mu$, चेडाख्या G ◇ चन्द्र◦ ] छशि◦ M **46a** विषवाहो ] $\mu R_2\alpha_1\gamma$; विषवाहा G, विषवाही S, विषवाहस् $\alpha_3$, विषमहो $\beta_1PJ_3$, विषमंहो $K_2$, विषवाह F, विषमहा $K_5$, विषमाहो $K_6$ ◇ रविः प्रोक्तः ] B; रवेर्बाहुः A, रवेर्वाहुः $J_6J_7K_6$, रवेर्वाहा G, रविर्वार्वाहो $R_2$ *(unm.)*, रवेर्वाहः $SMJ_2K_4PF$, रवेर्वाह $\alpha_2$, तु खे वाहः $K_1$, तु रवे वाहः $K_3$ *(unm.)*, रवे वहिः $J_4$, रारवेर्वाहः V *(unm.)*, रचे वहिः $K_2$, रवे वह्निः $J_3$, रविवाहः $K_5$ *(unm.)*, रवेर्काहः $\gamma_1$ **46b** सुधावाहो ] सुधावाहा $GK_2$, त्तुधावाहो $\alpha_3$, सुधावा*हे* F ◇ निशाकरः ] निशाकरे $\mu GR_2\alpha_2\alpha_3$, निशाकरं V **46c** अभ्यासः ] अभ्यासं $\mu$, अभ्यास $W_1K_2FJ_1R_1$ ◇ सूर्य◦ ] पूर्व◦ $R_2$ ◇ ◦वाहाख्ये ] $\mu$-$\alpha_3$; ◦वाहस्य G, ◦वादौ स्या $R_2$, ◦वाहाच्च $SK_4K_2J_3FK_6$, ◦वाहाख्य N, ◦वाहाख्यश् $W_1$, वाहाख्यः M, ◦वाहच्च $J_2$V, ◦वावा च $J_4$, ◦वाह च P, ◦वाहाद्ये $K_5$, ◦वाहे च $\gamma$ **46d** चन्द्र ] शिशि M ◇ ◦वाहे ] ◦वाह◦ G, ◦वाहश् NM, वाहः $W_1$, ◦वाहो $V^{ac}J_3$ ◇ च शस्यते ] $J_6J_7R_2NM\alpha_3$; च शम्यते A, ◦स्य शस्यते G, प्रशस्यते $W_1\beta_1PJ_3FK_5\gamma$, प्रकाश्यते $K_2$, प्रशास्यते $K_6$ **47a** †धारणा† ] $S\alpha_2VK_4\gamma$; धारणं $\mu J_2$, धारणां $GJ_3K_5$, धारणाच् $R_2K_2PF$, धीरः स्याच् M, न रत्ता $\alpha_3$, धारःणा $J_4$, धारनाच् $K_6$ ◇ †◦वाहे च† ] ◦वाहेन $\mu$ **47c** ◦वाहेन ] ◦वाहे च $\beta\gamma$ ◇ पवनं ] पवनैः $K_5$ **47d** पूरयेदात्मनस् ] पूरयित्वात्मनस् G ◇ तनुम् ] पदं $K_2$ **48a** रविवाहेन ] विषवाहेन G, रविवाहे च $\gamma_1$, रविवाहे त◦ B ◇ चोत्सर्गः ] त्वोत्सर्गः $\alpha_2$, वोत्सर्गः $VK_4$, ◦थोत्सर्गः B **48b** ◦वृद्धये ] ◦सिद्धये G **48c** एतत् ] एवं AB ◇ व्याहृतं ] कथितं S, व्याकृतं $\alpha_3$ **48d** चतुर्गुणम् ] च तद्गुणः $AJ_7$, च [त]द्गुणं $J_6$

---

**42d** लभते तनु संगम् *add.* G ◇ **42d** लभते – **43c** तत्रोक्तं *om.* V

[परामृतमहापदम्]
अतः परं प्रवक्ष्यामि परामृतमहापदम् ।
वज्रकन्दं ललाटे तु प्रज्वलच्चन्द्रसंनिभम् ॥४९॥
लंगर्भं चतुरस्रं च तत्र देवः परः शिवः ।
देवताः समुपासन्ते योगिनः शक्तिसंयुतम् ॥५०॥
चूलितले महादेवि लक्षसूर्यसमप्रभम् ।
त्रिकोणमण्डलं मध्ये देवं लिङ्गात्मकं शिवम् ॥५१॥
रंगर्भमध्यमं देवि स्वशक्त्यालिङ्गितं परम् ।
देवतागणसंजुष्टं भावयेत्परमेश्वरि ॥५२॥
दक्षशङ्खे महाभागे षड्बिन्दुवलयान्वितम् ।
यंगर्भं धूम्रवर्णं च तत्र देवं महेश्वरम् ॥५३॥
लिङ्गाकारं स्मरेद्देवि शक्तियुक्तं गणावृतम् ।
वामशङ्खे ऽर्धचन्द्राभं सपद्मं मण्डलं शिवे ॥५४॥
वंगर्भं च दृढं मध्ये तत्र लिङ्गं सुधामयम् ।
गोक्षीरधवलाकारं शरच्चन्द्रायुतप्रभम् ॥५५॥

---

**49b** °महापदम् ] $\mu$; महापथं GSM$\alpha_3\beta_1$PF$K_5K_6\gamma$, महापथां $R_2$, महामृतं $\alpha_2$, महामथं $K_2$, महीपथं $J_3$ **49c** °कन्दं ] °कंदे $\mu$, °कंद $\alpha_2$, °कुंद $J_1R_1$ ◇ ललाटे तु ] ललाटोक्तं S, ललाठं च $R_2$, ललाटे च $\alpha J_3$ **49d** प्रज्वलच्° ] प्रस्फुरच्° $R_2$ **50a** लंगर्भं ] $\mu$G; लंभग° $R_2$, लंगर्भे S$\beta\gamma$, लं[बीजं] N, लंबितं $W_1$, लंबीजं M, लीगलं $K_1$, लांगलं $K_3$ ◇ चतुरस्रं ] °र्भचतुस्रं $R_2$, चतुरस्रे V$K_5$ **50b** तत्र देवः परः शिवः ] तत्र देवं पर आवरं G *(unm.)*, तावदेव परः शिवः $\alpha_3$ **50c** देवताः ] $R_2S^{pc}\alpha_3J_2VK_4K_5$; देवतास् $\mu$, देवता G$J_4$P$J_3\gamma_1$, तद्देवाः $S^{ac}$, ते देवाः N, तं देवाः $W_1$, त देवाः M, देवतां $K_2$F$K_6$B ◇ समुपासन्ते ] तमुपासंते $J_6$, तुमुपासंते A$J_7$, समुपासते $J_2$, समुपासत्ते V$K_4$, शक्तिसंयुक्ता M **50d** योगिनः ] S$\alpha_1$B; योगिन्यः $\mu$G$R_2$, योगिन्याः $\alpha_3$, योगीभ्यः $\beta_1K_2$P$K_5K_6$, योगीन्यः $J_3$, योगिभ्यश् F, योगिभ्यां $\gamma_1$ ◇ शक्तिसंयुतम् ] $\mu R_2\beta\gamma_1$; शक्तिसंयुताः S$\alpha_2\alpha_3$, समुपासते M, शक्तिसंयुतां B **51a** चूलितले ] चुलितले A, चूलीतले $J_6J_7$-$R_2K_1K_2$F$K_5\gamma$, चूळीतले G, चूलिताले $\alpha_2$ ◇ °देवि ] °भागे G **51b** °प्रभम् ] °प्रभां $\gamma$ **51c** °मराडलं ] °मराडल° $W_2$, °मरादले B **51d** देवं ] देव $\alpha_2J_2J_4$PF$K_6$, देवि $K_2\gamma$ ◇ शिवम् ] $\mu R_2$S$\alpha$V; शिवे G$J_2J_4K_4K_2$P$J_3$F$K_5K_6\gamma$ **52a** °गर्भ° ] °गर्भं GS$\alpha$VF ◇ °मध्यमं ] °मध्यगं $\mu$G, °परमं $\alpha_3$, °मध्यम° $\gamma_1$ **52b** °लिङ्गितं ] °लिंगितां $\gamma$ ◇ परम् ] परे G **52c** °संजुष्टं ] °संवीतं G, °संयुक्तं $\alpha J_4$, °संतुष्टं $K_2$, °जुष्तं च $\gamma$ **52d** भावयेत् ] प्लावयेत् $J_2$, सावयेत् $J_4$, लावयेत् $K_4$ ◇ परमेश्वरि ] परमेश्वरी $K_3J_4K_2K_6$, परमेश्वरं $J_3$B **53a** दत्त° ] लत्त° $R_2$ ◇ °शङ्खे ] °संख्ये $R_2K_6$, °शाखे $\alpha_3$ **53b** °आन्वितम् ] °आंकितं M, °आन्विते $\alpha_3\gamma_2R_1$ **53c** °गर्भं ] °गर्भ° $R_2$N$J_2J_4$VP$\gamma_1$, °गर्भे B **53d** देवं महेश्वरम् ] देवो महेश्वरः S$\alpha K_6$ **54b** शक्तियुक्तं ] शिवयुक्त $\alpha_3$, शक्तियुक्ति $K_2$ ◇ गणावृतम् ] गुणीवृत $R_2$, गुणावृतं $K_2$, गुणान्वितं $J_3$ **54c** °शङ्खे ] °शंखो $\mu J_2J_4\gamma_1$, °शाखे $\alpha_3$, °संखो $K_2$, °[स]खे P, °सेखे $J_3$ **54d** सपद्मं ] स्वपद्मं $\mu$, सपद्म° $K_2\gamma_1$, पापघ्नं $J_3$ **55a** वं° ] व° $\mu$, य° $K_3$, तं° $J_3$ ◇ च दृढं ] टढं पच्च्य° A *(unm.)*, दृढं पत्त° $J_6J_7$ *(unm.)*, च कूरितं G *(unm.)*, च टृटं M, चन्द्राद्य° $K_6$ **55b** लिङ्गं ] लिंग° $\gamma_1$

स्वशक्तिसहितं सर्वदेवतागणसेवितम् ।
एवं देवि चतुर्दिक्षु स्थानान्युक्तानि वै मया ॥५६॥
तेषां मध्ये महावृत्तं हंगर्भं तत्र पार्वति ।
परमेशः परः शम्भुः स्वशक्तिसहितः स्थितः ॥५७॥
लिङ्गाकारो गणयुतः सूर्यकोटिसमप्रभः ।
पृथिव्यधिपतिर्भाले पश्चिमे सूर्यनायकः ॥५८॥
दक्षशङ्खे ऽनिलपतिर्वामे जलपतिः शिवे ।
मध्ये व्योमाधिपः शम्भुस्थानाः पञ्च मयोदिताः ॥५९॥
व्योमाधिपस्य देवस्य शिरोर्ध्वे चतुरङ्गुलम् ।
ज्योतिर्मण्डलमध्यस्थं कोटिचन्द्रसमप्रभम् ॥६०॥
दिव्यामृतमयं भाण्डं मूलबन्धकपाटकम् ।
ऊर्ध्वचन्द्रं महाशैलमभेद्यममृतास्पदम् ॥६१॥
शीतलामृतमध्ये तु विलीनं लिङ्गमीश्वरि ।
त्रसरेणुप्रतीकाशं कोटिचन्द्रसमप्रभम् ॥६२॥

---

**56a** स्वशक्ति॰ ] संशक्ति॰ N, सशक्ति॰ $W_1$, सुशक्ति॰ $\gamma$ ◇ सर्व॰ ] $\mu G\alpha_1K_1K_2K_6B$; [..] $R_2$, सर्वं $SK_3J_2VK_4FK_5\gamma_1$, सर्वे $J_4$, संर्व P, तत्र $J_3$ **57a** ॰वृत्तं ] $\mu GS\alpha_2\alpha_3VK_5$; ॰वृत्यं $R_2$, ॰वृत्ते M, ॰वृत्त्वं $J_2PJ_3FK_6\gamma$, ॰वृतं $J_4K_4$, ॰वृत्वां $K_2$ **57b** ॰गर्भं ] ॰गर्भे $M\gamma_1$ ◇ तत्र ] तव M, तत्त्व $\alpha_3$ **57c** परमेशः ] $\mu FK_5$; परेश्वर॰ G, परमेश्व॰ $R_2$, परमेश्वरः $SNJ_2VK_4K_2PK_6\gamma$ *(unm.)*, परेश्वरः $W_1M\alpha_3J_4$, परमे $J_3$ *(unm.)* ◇ परः ] ॰रश्च $R_2$ **57d** स्वशक्ति॰ ] स्वशक्त्या $\mu G$, स्वसिन॰ $K_1$, खसित॰ $K_3$, स्वशक्तिः $J_3K_6$ ◇ ॰सहितः स्थितः ] $J_6SNMJ_2J_4K_4PJ_3F$; ॰सहितस्थितः $AJ_7GR_2W_1VK_2K_6$, ॰शक्तिसंस्थितः $\alpha_3$, ॰सहितः शिवः $K_5$, ॰परतः स्थितः $\gamma_1$, ॰परिसेवितः B **58a** ॰आकारो ] ॰आकारा $R_2$, ॰आकारे $NK_3J_2K_6$, ॰आकारैर् $W_1$, ॰आकार M, ॰आकारै $K_1$ ◇ गण॰ ] $J_6J_7GK_6B$; गुण॰ $AR_2S\beta_1K_2PFK_5\gamma_1$, गुणैर् $\alpha$, गुणी॰ $J_3$ ◇ ॰युतः ] ॰युक्तः $\alpha$ **58b** सूर्यकोटि॰ ] कोटिसूर्य॰ G **58c** पृथिव्य॰ ] पृथिव्या॰ $AR_2M\alpha_3\beta W_2B$ ◇ ॰पतिर् ] $J_6J_7GR_2\alpha_1K_2$; ॰पति $A\beta_1$, ॰पतिः $SPJ_3FK_5K_6\gamma$, ॰पतेर् $\alpha_3$ ◇ भाले ] $\mu\alpha_2\alpha_3$; जाले G, वामे $R_2K_4$, लाभे M, पूर्वे $SVK_5K_6\gamma$, पुर्वे $J_2$, पूर्व $J_4K_2F$, पुर्वैर् P, पूर्वैः $J_3$ **59a** दत्त॰ ] तथा G, दत्ति॰ $\gamma_1$ ◇ ॰शङ्खे ] ॰शाखे $\alpha_3$ ◇ निल॰ ] नील॰ $\mu$ **59b** शिवे ] शिवः $\mu GM$ **59c** मध्ये ] *om.* G ◇ व्योमाधिपः ] $\mu$; व्योमाधिप॰ G, व्योमपति॰ $R_2W_1M\alpha_3\beta_1K_2PFR_1$, व्योमपतिः $SNK_5\gamma_2W_2B$, सोमपति॰ $J_3$, यामपतिः $K_6$ ◇ शम्भु॰ ] $\mu$; स्थानान्य् $GR_2\beta\gamma$, स्थाने $S\alpha$ **59d** ॰स्थानाः ] $\mu$; एताः G, एषां $R_2J_2J_4K_4PJ_3FK_5K_6\gamma$, एते $S\alpha$, एषा $VK_2$ ◇ मयोदिताः ] $J_6GSW_1MK_1$; मयोदिता $AJ_7NK_3R_1$, मयोदितं $R_2\beta_1PK_5K_6B$, मयोदित $K_2$, मयोदितः $J_3F$, मयोदितां $\gamma_2W_2$ **60b** शिरोर्ध्वे ] $J_6J_7R_2SFK_5$; शिरोर्द्धे $A\alpha_1\beta_1K_2PJ_3FK_6$, शिरोर्ध्वश् G, शिरोर्धे $\alpha_3$, सिद्धं च $\gamma$ ◇ ॰अंगुलम् ] $SJ_2PJ_1R_1B$; ॰अंगुले $\mu GR_2\alpha J_4VK_4K_2K_5K_6$, ॰अंगुलां $J_5W_2$ **61a** ॰मयं ] $\mu GR_2S\alpha K_5$; ॰मये $\beta_1K_2PK_6\gamma$, ॰मयो F ◇ भाण्डं ] $\mu GR_2S\alpha K_5$; भांडे $J_2J_4K_2PK_6\gamma$, भांड V **61b** कपाटकम् ] कवाटकं $AGK_4$, कवाठकं $J_6J_7$ **61c** ऊर्ध्वचन्द्रं ] $K_5B$; ऊर्ध्वेरुर्ध्व॰ A, ऊर्ध्वेरूद्धर्व॰ $J_6$, ऊर्ध्वेरूर्ध्व॰ $J_7$, ऊर्ध्वरंध्र॰ G, ऊर्ध्वे चंद्र $R_2$, ऊर्ध्वचंद्र $S\alpha J_2J_4K_4K_2PJ_3F\gamma_2W_2$, ऊर्ध्वशैलं V, ऊर्द्धच∗न्द्र $K_6$, उर्द्धं चंद्रं $R_1$ ◇ महाशैलम् ] तथा चंद्र॰ V **61d** अभेद्यम् ] $\mu GR_2\alpha K_5$; अभेदम् $SJ_2J_4K_4K_2PF$, भवेदम् V, अभेदाम् $J_3$, अहाभेद् $K_6$, अमेदम् $\gamma$ ◇ अमृतास्पदम् ] अमृतं परं $\alpha_3$, अमृतात्मकं $J_4$ **62a** शीतलामृत॰ ] शीतरमृत G **62b** ईश्वरि ] ऐश्वरं $R_2$, ईश्वरं $\beta\gamma$ **62d** ॰चन्द्र॰ ] ॰सूर्य॰ S

---

**58c – 62d** *found after 2.66d in* $R_2$ *(probably as a correction of an eye-skip to 2.63a)* **60c – 61a** *om.* $J_3$
**62a** ॰मध्ये तु – **64a** परामृत॰ *om.* G *(eye-skip)*

हेयोपादेयरहितमज्ञानतिमिरापहम् ।
अतीत्य पञ्च स्थानानि परतत्त्वोपलब्धये ॥६३॥
परामृतघटाधारकपाटं कुम्भकान्वितम् ।
मनसा सह वागीशामूर्ध्ववक्त्रां प्रसारयेत् ॥६४॥
निरुद्धप्राणसंचारो योगी रसनयार्गलम् ।
लीलयोद्घाटयेत्सत्यं संप्राप्य मनसा सह ॥६५॥
शीतलेक्षुरसस्वादु तत्र क्षीरामृतं हिमम् ।
योगपानं पिबेद्योगी दुर्लभं विबुधैरपि ॥६६॥
तत्सुधातृप्तिसंतृप्तः परावस्थामुपेत्य च ।
उन्मन्या तत्र संयोगं लब्ध्वा ब्रह्माण्डकान्तरे ॥६७॥
नादबिन्दुमयं मांसं योगी योगेन भक्षयेत् ।
एतद्रहस्यं देवेशि दुर्लभं परिकीर्तितम् ॥६८॥
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तं यत्फलं शास्त्रसंततौ ।
तत्फलं लभते सत्यं षण्मासान्नात्र संशयः ॥६९॥
संप्राप्य सिद्धिसंतानं यो योगमिममीश्वरि ।
न वेत्ति तस्य वक्तव्यं न किं चित्सिद्धिमिच्छता ॥७०॥

---

**63c** अतीत्य ] अभीष्ट $\alpha$ ◇ पञ्च ] °तत्व° M ◇ स्थानानि ] शून्यानि $\alpha$ **63d** परतत्त्वोपलब्धये ] परं तत्वे पि लभ्यते $\alpha_2\alpha_3$, परतत्वे च लभ्यते M, परतत्त्वोपलभ्यते $J_3$, परं तत्वे *पि* लब्धये $K_5$ **64a** °घटाधार° ] $J_6J_7$; °चटाधार° A, °घडाधार° G, °षडाधार° $R_2SK_3J_4VK_4PJ_3FK_5K_6\gamma$, °षडाधारं $\alpha_1K_1J_2$, °षडाधारा° $K_2$ **64b** °कपाटं ] °कवाटं $\mu$G; कपालं $\alpha_1$, कपाल $\alpha_3$ **64c** वागीशाम् ] $S\alpha_1J_3$; वागीशीम् $\mu G\alpha_3FK_5$, वागीशी∗ $R_2$, वागीशिम् $J_2J_4K_4PK_6\gamma_1$, वागीशम् V, वागीश $K_2$, वागीशी B **64d** ऊर्ध्व° ] ऊर्ध्वं $G\alpha_3R_1B$ ◇ °वक्त्रां ] वक्त्रे G **65a** निरुद्ध° ] संरुद्धा° A, संरुद्ध° $J_6J_7G$, निरुद्धा° $J_2P$ ◇ °संचारो ] °संस्थानो $R_2$ **66a** शीतलेक्षु° ] शीतलक्षण° A, शीतेक्षुर° $\alpha$ ◇ °रसस्वादु ] °रसस्वादं S, °ससुस्वादं $\alpha$, रसः स्वादु $\gamma_1$ **66b** तत्र क्षीरामृतं ] $\mu$; हृद्यं क्षीरोपमं G, ∗∗∗∗मृतं $R_2$, तत्क्षीरममृतं $S\alpha_2\alpha_3\beta_1K_2PFK_5\gamma$, तत्क्षरममृतं M, तत्क्षारममृतं $J_3$, *तत्*क्षिरममृतं $K_6$ ◇ हिमम् ] हितं $\mu K_2$, परं $\alpha$ **66c** योगपानं ] परामृतं G ◇ पिबेद्योगी ] $GS\alpha$; पिबेन्मध्यं $\mu$, पिबेत्क्षीरं $R_2\beta_1K_2PFK_6\gamma$, पिबेत्क्षारं $J_3$, भवेत्क्षीरं $K_5$ **66d** विबुधैर् ] विविधैर् $\mu K_2$, त्रिदशैर् S **67a** °तृप्ति° ] °पान° G, °रस° M ◇ °तृप्तः ] $GSK_5$; °तप्तः $\mu$, °तृप्त्यै $\alpha_2$, °तृप्त्य M, °तृप्तो *cett.* **67c** उन्मन्या तत्र ] उन्मन्यंते त्र° $\alpha_2$, तन्मयं नेत्र° $\alpha_3$, उन्मना तत्र $K_5$ **67d** लब्ध्वा ] बध्वा $\gamma$ ◇ °कान्तरे ] °काननं G **68a** मांसं ] मासं $AJ_6W_1J_4J_3B$, मास $W_2R_1$ **68d** परिकीर्तितम् ] त्रिदशैरपि M **69a** सर्वज्ञेन ] सर्वज्ञानं G, सर्वं तेन $\gamma$ **69b** यत्फलं ] $\mu$; सकलं $R_2$, सफलं *cett.* ◇ °संततौ ] °संमतौ $J_4$, °संसृतौ P, °संमतं B **69c** फलं ] $\mu$; सर्वं *cett.* ◇ लभते ] लभ्यते $\alpha_2\alpha_3\gamma$ ◇ सत्यं ] नित्यं $GR_2$, सिद्ध N, सिद्धं $W_1$ **69d** °मासान् ] °मासां G, °मासे $\alpha_2$ **70a** सिद्धि° ] सिद्धिं $AJ_2VK_2$ ◇ °संतानं ] $\mu GR_2J_2VK_4FK_5K_6\gamma$; °सोपानं $S\alpha_1$, °संपानं $\alpha_3$, °संज्ञानं $J_4$, °संतानां $K_2$, °सतांनां P, °संतानो $J_3$ **70b** यो योगमिममीश्वरि ] योगगम्यमपीश्वरि A, योगयोगममीश्वरि $J_6J_7$, यो योगमिममीश्वरम् $K_5$, *य*ोगगम्यं महेश्वरि B **70d** किं ] क्व $\mu$, च $\alpha$ ◇ चित्सिद्धिम् ] सिद्धिं प्र° $\alpha_1$, सिद्धिं नि° $\alpha_3$ ◇ इच्छता ] $\mu SK_2PJ_3FK_6$; इच्छतां $G\gamma$, इच्छतः $R_2S^{vl}J_2J_4K_4K_5$, °यछति $\alpha_1$, °यच्छसि $K_1$, °यक्कसि $K_3$, इच्छति V

---

67 *found after* 68 $J_3$

न जानन्ति गुरुं देवं शास्त्रोक्तान्समयांस्तथा ।
दम्भकौटिल्यनिरतास्तेषां शास्त्रं न दापयेत् ॥७१॥

[अमृतेनाङ्गमर्दनम्]

जिह्वामूले स्थितो देवि सर्वतेजोमयो ऽनलः ।
तदग्रे भास्करश्चन्द्रो भालमध्ये प्रतिष्ठितः ॥७२॥
एवं यो वेत्ति तत्त्वेन तस्य सिद्धिः प्रजायते ।
मथित्वा मण्डलं वह्नेः समुद्बोध्य प्रयत्नतः ॥७३॥
तदुष्णसारद्रवितं भालजं चन्द्रमण्डलम् ।
भास्कराधिष्ठिताग्रेण रसनेन समाश्रयेत् ॥७४॥
तच्चन्द्रगलितं देवि शीतलं परमामृतम् ।
नासिकारन्ध्रनिर्यातं पात्रेण परिसंग्रहेत् ॥७५॥
तेनाङ्गमर्दनात्सत्यं नाडीशुद्धिः प्रजायते ।
गुदलिङ्गोद्गतं पात्रे निर्गतं चामरीरसम् ॥७६॥
कक्षामृतं च संलोड्य संस्कृतं चाधरारसैः ।

---

**72a – 73b** *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* ब्रह्मविद्योपनिषद् 8, ĀSS 29, p.341

---

**71a** गुरुं ] गुरून् F **71b** °श्रोक्तान् ] °श्रोक्त° $G\gamma_2$, °श्रोक्तं $K_1W_2$, °श्रोक्तः $K_3$ ◇ समयांस्तथा ] समयं तथा G, समयान् पुनः $K_5$ **71c** दम्भकौटिल्यनिरतास् ] ये दंभ्यकुटिलास्तेभ्यश् G **71d** तेषां शास्त्रं ] शस्त्रमेतं G **72a** °मूले ] °मूल° G ◇ स्थितो ] स्थिति A, स्थिते $J_6$, स्थिता $G\alpha_3$ ◇ देवि ] देवी $R_2\alpha_3J_4J_3K_6$, देवः $D_I$ **72b** ऽनलः ] निलः $J_4B$, जलः $J_3$ ◇ **72c** चन्द्रो ] $\mu$; चंद्रस् $GSNM\alpha_3J_4VK_4FK_5BD$, चंद्र $R_2W_1K_2J_3J_1R_1$, चंद्रः $J_2PJ_5$, चेंद्र $K_6$, चद्रः $W_2$- **72d** भालमध्ये ] $\mu$; तालुमूले GM, तालुमध्य° $K_5$, तालुमध्ये *cett.* ◇ प्रतिष्ठितः ] व्यवस्थितः G **73a** तत्त्वेन ] देवेशि $\mu$, तत्वज्ञस् G, तत्वे च $R_2$ **73b** प्रजायते ] प्रयुज्यते $\gamma$ **73c** वह्नेः ] वन्हिं G **74a** तदुष्णसारद्रवितं ] $GR_2B$; उष्णसारद्रवितं A *(unm.)*, दुष्णसारद्रवितं $J_6J_7$ *(unm.)*, तदुष्णत्वद्रवीभूतं $S\alpha_1$, तदुष्णां चंद्रवीभूतं $\alpha_3$, तद्विष्णुसारद्रवितं $K_5$ ($\beta_1K_2PJ_3F\gamma_1$ *have corruptions of* तदुष्णसारद्रवितं) **74b** भालजं ] $\mu$; तज्जलं $\alpha_3$, वह्निजं $K_5$, तालुजं *cett.* ◇ °मण्डलम् ] °मंडले $\alpha_3$ **75a** तच् ] $\mu R_2K_6B$; त्वं $\gamma_1$, तं *cett.* ◇ चन्द्र° ] चंद्रा° A **75b** शीतलं ] शीतं[*] G, शितला $\gamma_1$ ◇ परमामृतं ] तत्पयोमृतं $AJ_7$, यत्पयोमृतं $J_6$, *यंप*योगी तं G **75d** पात्रेण ] पात्रे च $\alpha_3$ **76a** तेनाङ्ग° ] तदंग° G, तेभ्यांग° $\gamma$ ◇ °मर्दनात्सत्यं ] °मर्द्दनां नित्यं G, °मर्दनं कृत्वा $R_2$ **76b** नाडी° ] नाडि° $AGJ_3$, नदा° $R_1$ ◇ °शुद्धिः ] °सिद्धिः $\mu$ **76c** गुद° ] गुह्य° $J_3$, गुड° $K_6$, गूढ° $\gamma$ ◇ °लिङ्गोद्गतं ] $GR_2SJ_2VPJ_3FK_5\gamma$; °लिङ्गोहृतं $\mu K_6$, °लिंगद्रुतं $\alpha_2$, °लिंगं द्रुतं M, °लिंगाद्द्रुतं $\alpha_3$, °लिंगाहृतं $J_4$, °लिंगोहृतं $K_4$, °लिंगागतं $K_2$ ◇ पात्रे ] देवि $\mu$ **76d** निर्गतं ] निर्गमं $\mu$, निर्मथ्यम् $\alpha_1$, निर्मथ्या $\alpha_3$, निर्गत° $K_2FK_6$ ◇ चामरी° ] $\mu$G; यपुरी $R_2$, योमरी° $SJ_4J_3$, अमरी° $\alpha_1$, सशरी° $\alpha_3$, व्योमरी° $J_2VK_4PFK_5\gamma$, °त्त्योमरी° $K_2$, °स्यामरी° $K_6$ ◇ °रसम् ] °रयं $R_2$, °रकं $\alpha_3$ **77a** कक्षामृतं ] कलामृतं $\mu$, काक्षामलं $R_2$, कद्म्यामृतं $\alpha_3$, कक्षामतं $J_2V$, कंक्षामृतं P, संख्यामृतं $J_3$, कथामृतं $\gamma$ ◇ °लोड्य ] °योज्य M, °लेप $K_2$, °लोद्य P, °लेह्य $J_3$, °लेप्य $\gamma$ **77b** संस्कृतं ] $R_2S\alpha_1J_2VK_2FK_5K_6B$; संस्कृत्यं $\mu$, संस्कृत्य G, स सत्यं $\alpha_3$, सस्कृतं $J_4K_4$, संस्कृजं P, संस्कार्यं $J_3$, संस्कृतां $\gamma_1$ ◇ चाधरा° ] स्वामरी° G, वाधरा° B ◇ °रसैः ] °रसं G, °रसः $\alpha_3$, °रसौ $J_2J_4K_4$

---

**72b** *all witnesses except* $\mu$*GD insert corrupt versions of* 75ab **72b – 73a** *om.* V **75** *om.* $J_3$

तेनाङ्गमर्दनं कृत्वा योगी लोके निरामयः ॥७७॥
बलवान् जायते सत्यं वलीपलितवर्जितः ।
जिह्वामूलं समुद्घृष्य तत्र जातं महाद्रवम् ॥७८॥
स्वदेहं मर्दयेत्पूर्वं रसना वत्सरार्धतः ।
चतुरङ्गुलवृद्धा च जायते नात्र संशयः ॥७९॥

[खेचरीमुद्रा]
उत्कृष्य रसनामूर्ध्वं दक्षिणाङ्गुलिभिः शिवे ।
वामहस्ताङ्गुलीभिश्च घण्टिकां स्फोटयेच्छिवे ॥८०॥
मथित्वा पावकस्थानमूर्ध्ववक्त्रं शनैः शनैः ।
त्रिकूटोर्ध्वे च चन्द्रांशे शिवस्थानं समाश्रयेत् ॥८१॥
एषा ते खेचरीमुद्रा कथिता मृत्युनाशिनी।
[भटनटदोषाः]
एवमभ्यासशीलस्य तद्विघ्नार्थं भवन्ति हि ॥८२॥
भटभेदाश्च चत्वारो नटभेदास्तथैव च ।
अङ्गशोषः क्षुधालस्यं कण्डूर्देहविवर्णता ॥८३॥
भटस्य प्रत्यया एते तेषां शृणु च भेषजम् ।

---

**77d** योगी लोके ] योगी स्यात्तु G, *transp.* $S\beta\gamma$ **78c** समुद्घृष्य ] $GW_2$; समूद्घृष्य A, समुद्धृष्य $J_6J_7$, च संघृष्य $S\alpha_1H_2$, च संमर्द्य $\alpha_3$, संमुद्*घृ*ख्य $J_2$, समुद्धृत्य $J_4VK_5$, समुद्गृत्य $K_4$, समुत्कृष्य $K_2PB$, समुद्धष्य $J_3$, समुघृ*ष्य*$K_6$, समुद्*ुष्य $\gamma_2$, समुष्टाष्य $R_1$ **78d** जातं ] जात° $GK_2$ ◇ महाद्रवम् ] मदद्रवं $\mu$ **79a** स्वदेहं ] स्वदेहे $AJ_2J_4K_4K_2$ ◇ पूर्वं ] पूर्वाद् $\mu$, पूर्व° $\alpha_2$ **79b** रसना ] रसेन $M\alpha_3H_2$ **79c** °वृद्धा ] $\mu J_3$; °वृद्ध्या *cett.* **80a** उत्कृष्य ] आकृष्य G ◇ ऊर्ध्वं ] ऊर्ध्वे $J_6J_7$, ऊर्ध्व° $R_2\alpha_2\beta_1K_2PJ_3FK_6$ **80d** घण्टिकां ] $GR_2SNJ_2K_5$; रसनां M, घटिका $H_2$, घंटिका *cett.* **81a** पावकस्थानं ] वामकं स्थानं $\mu$, पावकास्थाने G, पावकं स्थानं F **81b** °वक्त्रं ] $\mu SJ_2J_3FR_1$; °वक्त्रः $G\alpha_1K_5$, °वक्त्र $R_2K_1J_4K_4$, °चक्र $K_3K_6$, °चक्रः V, °चक्रं $K_2P\gamma_2W_2B$, °चक्त्र $H_2$ **81c** °र्ध्वे च ] GNM; °र्ध्वं च $\mu$, °र्द्धे च $R_2W_1$, °र्ध्वे र्ध° SF, °र्ध्वोर्च $K_1$, °र्ध्वोर्ध च $K_3$ *(unm.)*, °र्द्धैद्व $J_2$, °र्द्धैद्वं $J_4$, °र्द्धे द्य V, °र्द्धे द्यं $K_4$, °र्द्धं $K_2$ *(unm.)*, °र्द्धे P *(unm.)*, °र्द्धे र्द्ध° $J_3K_6$, °र्ध्वे थ $K_5$, °द्धाट° $J_1J_5R_1$, °द्धाट्य $W_2B$ ◇ चन्द्रांशे ] $SM\beta_1FK_5K_6$; वज्रांत्यो $\mu$, वज्रांते G, वज्रांशे $R_2$, चांद्रांशे $\alpha_2$, चक्रांशे $\alpha_3$, चंद्रांसो $K_2$, चंद्राशे P, चंद्रातं $J_3$, °यच्चंद्रो $J_1$, चंद्रोंशे $J_5$, चंद्रोशे $W_2$, °यच्चंद्रा $R_1$, चंद्रांशं B **81d** समाश्रयेत् ] समाचरेत् G **82a** एषा ] एषां $AJ_4V\gamma_1$ **82d** °विघ्नार्थं ] विज्ञानं G, °विद्यार्थं $\alpha_3$, °विद्याश्च $J_2J_4$, °विज्ञार्थं $J_3$, °विघ्नाश्च $K_6$ ◇ भवन्ति हि ] भवति हि A, भवत्यथ G, भवेंति हि $J_2$, भवेति हि $J_4$, भवन्न हि $K_2$ **83a** भट° ] $\mu B$; हट° $GR_2\alpha_2J_2K_5$, हठ° $SMK_1J_4K_4K_2FK_6$, ह° $K_3$ *(unm.)*, हर° V, हव° P, देह° $J_3$, म° $J_1R_1$ *(unm.)*, भ° $J_5W_2$ *(unm.)* **83b** नट° ] नर° V, नट° P *(unm.)* **83c** °शोषः ] $\mu S\alpha_1K_5$; °दोषः G, °शोष° $R_2\alpha_3J_2^{pc}$, °सोक° $J_4\gamma_1$, °शोष्क° V, °शोक° $J_2^{ac}K_4K_2PJ_3K_6$, °शोकः F, °सेक° B ◇ °आलस्यं ] °आलस्य° $GK_2PFK_6\gamma$ **83d** कण्डूर् ] $GSNMVK_4F$; कंड $AR_2\alpha_3$, कंडू $J_6J_7J_4K_6$, कडूर् $W_1$, कंडुर् $J_2K_2PK_5$, कुंडर् $J_3$, कदु $J_1W_2B$, कडु $J_5$, कदु $R_1$ **84a** भटस्य ] $J_6J_7VPK_5^{ac}\gamma$; भटःस्य A, हटस्य $GR_2NK_4FK_5^{pc}$, हठस्य $SW_1MJ_4$, नटस्य $\alpha_3K_2J_3K_6$, भ्दतस्य $J_2$ ◇ प्रत्यया ] प्रत्ययाश् $\mu G$ ◇ एते ] चेते A, चैते $J_6J_7$, चैव G, °प्येते $\alpha_3$ **84b** शृणु च ] $\mu G\alpha$; स शृणु $R_2$, *transp.* $S\beta\gamma$

---

**78c – 79b** *om.* $R_2$ **80ab** *om.* $J_4K_2F$ **82b** सर्वसिद्धिप्रदा देवि जीवन्मुक्तिप्रदायिनी ॥ इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां पंचदशः पटलः *add.* $\mu$

मनो निर्विषयं कृत्वा त्रिमासममरीरसम् ॥८४॥
देहमुद्वर्तयेत्तेन देहवृद्धिः प्रजायते ।
त्रिस्त्रिरुद्वर्तनं कुर्याद्दिवा रात्रौ तथैव च ॥८५॥
रसनामूर्ध्वमायोज्य वज्रकन्दपदोन्मुखीम् ।
तत्सुधां लिहतः सत्यं क्षुधालस्यं च नश्यति ॥८६॥
तत्सुधाममरीं देवि गृहीत्वा चाङ्गमर्दनात् ।
स्वशरीरविवर्णत्वं कण्डूश्चापि प्रणश्यति ॥८७॥
नटभेदाश्च चत्वारो बहुधा संस्थिताः प्रिये ।
नेत्ररोगो ऽङ्गवेपश्च दाहो भ्रान्तिस्तथैव च ॥८८॥
भेदमेकं मया प्रोक्तं द्वितीयमधुना शृणु ।
दन्तरुक्चाल्पसत्त्वं च देहलाघवनाशनम् ॥८९॥
तृतीयभेदं च तथा शृणु देवि महाज्वरः ।
शिरोरुक्श्लेष्मदोषश्च चतुर्थः संप्रधार्यताम् ॥९०॥
वमनं श्वासदोषश्च नेत्रान्धत्वं तथैव च ।

---

**84c** कृत्वा ] पुडका A *(unm.)*, पुड्का $J_6$, पुदका $J_7$ **84d** °मासम् ] °मासाद् G, °वारम् B ◇ अमरीरसम् ] $\mu$G; अमृतारसैः B, अमरीरसैः *cett.* **85a** तेन ] $\alpha_3$B; तस्य *cett.* **85c** त्रिस्त्रिरुद्वर्तनं ] त्रिरुद्वर्त्तनकं $\mu$, त्रिस्त्रि कुर्यादह्नि $R_2$, निरुद्वर्त्तनकं $\alpha_3$ ◇ कुर्याद् ] रात्रौ $R_2$ **85d** दिवा ] $\mu$M; सप्त° G, अह्नि *cett.* ◇ रात्रौ ] °रात्रं G, कुर्या $R_2$ **86b** °पदोन्° ] °परोन्° $AJ_6$, °वदुन्° G ◇ °मुखीं ] °मुखी $\alpha_3J_2K_4K_2K_6\gamma$ **86c** °सुधां ] °सुधा $R_2\alpha_3K_2\gamma$ ◇ लिहतः ] लिहितः $K_5$, लिहितं $\gamma$ **87a** अमरीं देवि ] G; अमरी देवी A, अमरी देवि $J_6J_7$, अमरीं चापि $R_2$M, अमृतं चापि $SFK_5\gamma$, अमरी चाथ $\alpha_3$, अमृतश्चापि $J_2VK_4K_2PK_6$, अमृतं $J_4$ *(unm.)*, अमृतं त्रापि $J_3$ **87b** गृहीत्वा ] कषित्वा G **87c** स्वशरीरविवर्णत्वं ] $\mu GR_2M\alpha_3$; सर्वं शरीरवैवर्ण्यं *cett.* **87d** कण्डूश्चापि प्र° ] $SM\alpha_3J_4K_4F$; कंडूत्वं च प्र° $\mu$, कंडुश्चापि प्र° $R_2$, कंडूकत्वं च G, कंदुश्चापि प्र° $J_2PJ_3K_5\gamma_1$, कडूस्यापि प्र° V, कुण्डश्चां प्र° $K_2$ *(unm.)*, कन्तुश्चापि प्र° $K_6$, कंडूश्चापि वि° B **88a** नटभेदाश् ] नभटेदाश् A, नवभेदाश् $J_4$ **88b** बहुधा ] हि मुदा G ◇ संस्थिताः ] $J_6GSMF$; संस्थिता $AJ_7R_2W_1J_2J_4K_4K_2PJ_3\gamma_1$, संस्थितां $NK_6$, शंसिना $K_1$, शंसिता $K_3$, संस्थिते $VK_5$, संस्थिताश् B ◇ प्रिये ] च ये B **88c** नेत्ररोगो ] नेत्ररोगा° $GR_2N\alpha_3$, नेत्ररोगश् $K_2$, नेत्रे रोगं $J_3$, नेत्रस्य रो° B ◇ ऽङ्गवेपश् ] G; ङ्गशेषश् A, ङ्गशोषश् $J_6J_7R_2S\alpha J_2VK_5$, ङ्गशोकश् $J_4K_4K_6$, च शोकश् $K_2$, शोकश् $PJ_5W_2$ *(unm.)*, च शोकं $J_3$, पि शोकश् $FJ_1R_1$, °गो शोकश् B **88d** दाहो भ्रान्तिस्तथैव च ] भ्रांतिदाहोपशोषकाः G **89a** भेदमेकं ] $\mu\alpha$; इदमेकं G, एको दवो $R_2$, एको भेदो S, एको दोषो $\beta\gamma$ ◇ मया ] तथा $\alpha$ ◇ प्रोक्तं ] $\mu G\alpha$; प्रोक्तो $R_2S\beta\gamma$ **89c** °रुक् ] $\mu GR_2$-$M\alpha_3VPJ_3K_6$; °रुग् $SFK_5$, °कं N, °क° $W_1$, °क् $J_2$ *(unm.)*, °*तुक*$J_4$ *(unm.)*, तुक्रु $K_4$ *(unm.)*, °हः $K_2$, °रुक्* $J_1$, °रुक्र $J_5W_2R_1$ *(unm.)*, °रुक B *(unm.)* ◇ चाल्पसत्त्वं ] $J_6J_7$G; वाल्पसत्वं A, चालसत्वं $R_2$, अलसत्वं S, कायसत्वं N, °षायसत्वं $W_1$, कायशोषश् M, वलसत्वं $K_1\beta_1PJ_3FK_6\gamma$, कलशत्वं $K_3$, खलसत्त्वं $K_2$, गलसत्त्वं $K_5$ **89d** देहलाघव° ] देहरोमवि° G **90a** तृतीयभेदं च तथा ] तथा त्रितीयं भेदं च G, तृतीयभेदमधुना B **90b** देवि महाज्वरः ] $\mu S\alpha_3J_2J_4VK_2PJ_3K_5$; देवि महाज्वरं G, *छे*को महेश्वर $R_2$, देवि महेश्वरि $\alpha_2$, वच्यामि सुंदरि M, देवि महा*घ*ारः $K_4$, देवि भयज्वरः F, देवी महाज्वरः $K_6$, देवि महज्ज्वरः $\gamma$ **90c** °दोषश् ] °शोषश् M, °दोषाश् F **90d** चतुर्थः ] $S\alpha_2$; चतुर्थं $\mu G\alpha_3J_2J_4K_4K_5$, चतुर्थश् M ◇ संप्रधार्यताम् ] चावधार्यतां M **91a** वमनं श्वासदोषश् ] वमनश्वासदोषं A, वमनं श्वासदोषं $J_6J_7$, पंचम*श्*वासदोषश् G **91b** तथैव च ] प्रजायते S

---

**86cd** *om.* $J_4$ (*eye-skip from* तत् *to* तत्) **87** *om.* $\alpha_2$ **89bc** *om.* $J_4$ **90d – 91a** *om.* $R_2VK_2PJ_3F\gamma$

दुर्जया च तथा निद्रा तेषां शृणु च भेषजम् ॥९१॥
मूलाधारात्सुषुम्नायामूर्ध्वं कुण्डलिनीं नयेत् ।
निश्चलामूर्ध्वगां जिह्वां कृत्वा कुंभकमाश्रयेत् ॥९२॥
शक्तिक्षोभान्महेशानि महानादः प्रवर्तते ।
यदा शृणोति तं नादं तदा मुक्तः स उच्यते ॥९३॥
चिन्तयेदमृतासिक्तं स्वदेहं परमेश्वरि ।
अनेन देवि मासेन पूर्वदोषैः प्रमुच्यते ॥९४॥
अनेनैव विधानेन द्विमासं तु यदाचरेत् ।
तदा शृणोति कर्णाभ्यां महागजरवध्वनिम् ॥९५॥
पूर्ववच्चिन्तयेद्देहं द्वितीयैर्मुच्यते गदैः ।
त्रिमासाद् ब्रह्मनादं च शृणुत्वा पूर्ववत्स्मरेत् ॥९६॥
तृतीयभेददोषैश्च मुच्यते नात्र संशयः ।
मेघनादमघोराख्यं चतुर्थे मासपर्यये ॥९७॥
श्रुत्वा पूर्ववदभ्यस्य भ्रान्तिदोषैः प्रमुच्यते ।

---

**91d** तेषां शृणु च ] $J_6J_7R_2W_1M\alpha_3K_6$; तिषां शृणु च A, तदा शृणुत G, तेषां च शृणु $S\beta_1$-$K_2PJ_3FK_5\gamma$, शृणु देवि च N **92a** मूलाधा° ] G; संमूला A, समूला $J_6J_7\gamma_1$, स्वमला $R_2$, स्वमूलो $SW_1M\alpha_3$, समूलो $NVK_4K_2J_3FK_5$, समूलात् $J_2J_4$, समूलाच् $PK_6$, समूलां B ◇ °रात्सु° ] G; छास° A, छ्वास° $J_6J_7\alpha_2K_1VPFK_5K_6$, °श्वास° $R_2$, च्छ्वास° S, °द्वान° M, क्वास° $K_3$, स्वास° $J_2$, स्वाश° $J_4$, ष्वास° $K_4$, °त्थास° $K_2$, साव° $J_3$, चशि° $\gamma$ ◇ °षुम्नायाम् ] G; °संयुक्तां $S^{ac}$, °रांभिन्नाम् B, °सम्भिन्नाम् *cett.* **92b** ऊर्ध्वं ] $\mu R_2MK_2K_6B$; ऊर्ध्वां F, ऊर्ध्व° *cett.* ◇ कुण्डलिनीं ] कुंडलिनी $W_1M\alpha_3K_2PJ_3K_6\gamma_1$ **92d** आश्रयेत् ] आचरेत् F **93b** महानादः ] जलनादः $\mu$, महानांदः $\gamma_2R_1$ **93d** स उच्यते ] स मुच्यते $J_2K_4PJ_3$, प्रमुच्यते $VK_5$ **94a** चिन्तयेद् ] सेचयेद् G ◇ अमृतासिक्तं ] अमृतांज्राभि G, अमृताशक्तिं $\alpha_3H_2$, अमृताशक्तं $J_3$ **94b** स्वदेहं परमेश्वरि ] सांगोपांगकलेवरे $H_2$ **94c** अनेन देवि ] क्रमेण देवि $R_2$, तेन देवेशि F **94d** पूर्व° ] सर्व° $\mu V$ ◇ प्रमुच्यते ] विमुच्यते G **95b** द्विमासं तु ] द्विमासांत A, द्विमासांतं $J_6J_7G$, द्विमासं च $K_2J_1R_1$ ◇ यदाचरेत् ] सदा चरेत् $R_2$, समाश्रयेत् M, यदा*ध*रेत् $J_2$, यदा धरेत् $J_4K_4$, समाचरेत् $K_2K_6$ **95d** °गज° ] °राज° $\alpha_2$ ◇ °रव° ] GMF; °वर° $\mu R_2S\alpha_2\alpha_3K_2J_3H_2$, °वरं $J_2VK_4PK_5\gamma$, र $J_4$ *(unm.)*, °रवं $K_6$ **96a** चिन्तयेद् ] कुंभयेद् M ◇ देहं ] देवि $G\alpha_1J_4$, देह $R_2\gamma$, देहे $J_2$ **96b** द्वितीयैर् ] $\mu M$; द्वितीयो $\alpha_3$, द्वितीयै $K_4$, द्वितीय $K_2K_5$, द्वितीयं F, द्वितीये *cett.* ◇ गदैः ] भ्रमैः G **96c** त्रिमासाद्ब्रह्मनादं च ] त्रिमासात्सिंहनादं च $\mu$, त्रिमासाज्जिह्वया नादं G, त्रिमास ब्रह्मवन्नादं $H_2$ **96d** श्रणुत्वा ] $\mu$; शृणुयात् *cett.* **97a** तृतीय° ] तृतीये $GR_2\gamma$, तृतीयैर् M **97d** चतुर्थे ] चतुर्थं $\gamma$ ◇ मासपर्यये ] $K_4K_2FK_5K_6$; मासि पर्ययेत् $\mu$, मासि पर्याये $GJ_3$, मास पर्ययेत् $R_2$, मासि श्रूयते $S\alpha_2\alpha_3$, श्रूयते प्रिये M, मासे ** $J_2$, मास श्रूयते $J_4$, मासपर्ययत् V, मासपर्य्यये P, मासपर्यते $\gamma_1$, मासपर्यतः B **98a** श्रुत्वा ] स्मृत्वा $\alpha_2J_2J_4$, शृण $\gamma_1$, शृणु B ◇ अभ्यस्य ] $\mu G\alpha_2$; अभ्यासे $R_2\alpha_3$, अभ्यस्येद् M, अभ्यासाद् *cett.* **98b** भ्रान्ति° ] भ्रांत्या $R_2$ ◇ °दोषैः ] $GS\alpha FB$; °दोषैश् $\mu$, °शोषैः $\beta_1K_2PJ_3K_5K_6W_2$ ◇ प्रमुच्यते ] च मुद्यते A, च मुच्यते $J_6J_7R_2$

---

**94ab** *om.* $K_2$ **98bcd** *om.* $\gamma_2R_1$

एवं स्थिरमतिर्ध्यानमभ्यासं च त्रिकालतः ॥९८॥
साधयेत् त्र्यब्दतः सत्यं जायते ह्यजरामरः ।
भटदोषचतुष्कस्य नटदोषस्य चैव हि ॥९९॥
निवारणं मया प्रोक्तं भूयः शृणु सुराधिपे ।
यो ऽस्मिन् शान्ते परे तत्त्वे योगे योगी सुखात्मके ॥१००॥
प्रविष्टः सर्वतत्त्वज्ञस्तस्य पादौ नमाम्यहम् ।

[अभ्यासक्रमः]

प्रथमं चालनं देवि द्वितीयं भेदनं भवेत् ॥१०१॥
तृतीयं मथनं शस्तं चतुर्थं च प्रवेशनम् ।
तालुमूलं समुद्घृष्य जिह्वामुत्कर्षयेत्प्रिये ॥१०२॥
चालनं तद्विजानीयाद् ब्रह्मार्गलविभेदनम् ।
भेदनं तद्वदन्ति स्म मथनं तन्तुना प्रिये ॥१०३॥
लोहकीलप्रवेशेन यदा मथनमाचरेत् ।

---

**98c** एवं ] ब्रह्म॰ G ◇ स्थिरमतिर्ध्यानम् ] $\mu R_2 SNM\alpha_3$; स्थिरमतिध्यानम् $GW_1$, सर्वस्थिरमतिध्यानम् $J_2$ *(unm.)*, सर्वस्थिरमतिर् $J_4K_4J_3B$, सर्वं स्थिरमतिर् $VPFK_5$, स्थिरसर्वमतिर् $K_2$, सर्वस्थिरसरमतिर् $K_6$ *(unm.)*, सर्वास्थिरमतिर् $W_2$ **98d** अभ्यासं च ] अभ्यसेच्च $\mu$, अभ्यासेन $K_2$ ◇ त्रिकालतः ] द्विकालकं $\mu$, त्रिकालकं G, त्रिकालिकाः $\alpha_2$, त्रिकालिकः $\alpha_3$, त्रिकालसः $J_2J_4K_4$ **99a** साधयेत् ] $\mu MK_1VK_2$; कृत्वाथ G, साधयेद् $R_2SJ_2J_4K_4PJ_3FK_5K_6$, [धारयत्] N, धारयेत् $W_1$, साधयत् $K_3$, साधू यद् $\gamma_2$, साधयद् $W_2$, साध्यु यद् $R_1$, संसाध॰ B ◇ त्र्यब्दतः ] G; प्रवृतः $AJ_7$, अवृतः $J_6R_2$, अब्दतः $SJ_2J_4K_4PFK_5K_6$, पृष्ठतः $\alpha_1$, पष्ठतः $\alpha_3$, अष्टतः $VJ_3$, दृष्टतः $K_2$, भुतः $\gamma_2W_2$ *(unm.)*, भुत $R_1$ *(unm.)*, ॰येद् भुतः B **99c** भट॰ ] $\mu VK_4K_5^{ac}$; हट॰ $GNJ_2PFK_5^{pc}\gamma$, नट॰ $R_2\alpha_3$, हठ॰ $SW_1MJ_4K_6$, हव॰ $K_2J_3$ ◇ ॰दोष॰ ] ॰भेद॰ $\alpha_1$, ॰भेदैश् $\alpha_3$ **99d** नट॰ ] भट॰ $J_2J_4K_4PJ_3\gamma$ ◇ ॰दोषस्य ] ॰भेदस्य M, ॰भेदश्च $\alpha_3$ ◇ चैव हि ] जायते $\alpha_3$ **100b** सुराधिपे ] सुराधिप A, नराधिपे GB, सुरार्चिते $\alpha_1J_2J_4F$ **100c** यो ऽस्मिन् ] $\mu F$; यस्मिन् $GS\beta_1K_2PJ_3K_5K_6\gamma$, यस्मि $R_2$, यस्मिन्न् $\alpha_2$, याश्म॰ $\alpha_3$ ◇ शान्ते ] अंते $\alpha_1$, ॰न शां॰ $\alpha_3$ ◇ परे तत्त्वे ] $\mu R_2S\beta\gamma$; परतत्वे G, पतित्वा तु $\alpha_2$, पतित्वा यो M, ॰ते पतित्वा $\alpha_3$ **100d** योगे ] $\mu$; ज्योतिः $J_2$, योगी *cett.* ◇ योगी सुखात्मके ] $J_6J_7$; योगी सुकात्मके A, योगसुखात्मनि G, योगे सुरात्मके $R_2\alpha_2$, योगे सुरार्चिते M, योगेश्वरात्मके *cett.* **101a** प्रविष्टः ] प्रविष्ट $\mu J_3R_1$, प्रविष्टा $J_2J_4J_1$, प्रतिष्टा $K_4$, प्रविष्टाः $J_5$ **101b** पादौ ] पादं $\mu GJ_2J_4K_4$ **101d** द्वितीयं ] द्वितीये $SPJ_3B$, द्वितीयो $\gamma_1$ ◇ भेदनं ] *conj.*; मंथनं M, मथनं *cett.* **102a** तृतीयं ] तृतीये S, तृतीयो $K_2$ ◇ मथनं शस्तं ] *conj.*; पानमुद्दिष्टं $\mu GR_2S\alpha_1VK_4PJ_3FK_5K_6\gamma$, पीनमुद्दिष्टं $\alpha_3$, पामनमुद्दिष्टं $J_2$ *(unm.)*, यामनमुद्दिष्टं $J_4$ *(unm.)*, पातमुद्दिष्टं $K_2$ **102b** चतुर्थं ] चतुर्थां A, चतुर्थे $SK_2$ ◇ च ] $\mu G$; तत्॰ *cett.* ◇ प्रवेशनं ] प्रवेशकं $\mu$, प्रमेलनं G **102c** ॰उद्घृष्य ] $GSMJ_2J_4F^{ac}B$; ॰उद्हृष्य A, ॰उद्घृष्य $J_6J_7K_3F^{pc}K_6$, ॰उघृष्य $R_2$, ॰उद्धर्ष्य N, ॰उद्धर्ष्य $W_1$, ॰उद्धष्य $K_1$, ॰उत्कृष्य V, ॰उद्*ष्य $K_4$, ॰उदिष्टं $K_2$, ॰उष्टष्य P, ॰उर्द्धाष्य $J_3$, ॰उद्घृश्य $K_5$, ॰उष्टस्य $\gamma_1$ **102d** उत्कर्षयेत् ] उद्धर्षयेत् GNM, उद्धर्षयेत् $W_1$, उत्तक्षिपेत् $J_1R_1$ **103a** तद् ] $\mu GS\alpha_3$; तु $R_2$, तं $\alpha_1\beta\gamma$ **103b** ब्रह्मार्गलवि॰ ] $\mu G$; तृमार्गार्गल॰ $R_2$, त्रिमार्गार्गल॰ $S\alpha\beta_1K_2PJ_3FK_6$, त्रिभागार्गल॰ $K_5$, समार्गलम॰ $J_1$, समार्गल॰ $J_5W_2R_1$ *(unm.)*, परमार्ग॰ B *(unm.)* **103c** भेदनं तद् ] S; तं $\mu$ *(unm.)*, भेदनं त[*] G, भेदनं तं $R_2\alpha_1\beta_1PK_5K_6B$, भेदं न तं $\alpha_3$, भेदनं ते $K_2J_3$, भेदनांते F, भेदनं त $\gamma_1$ ◇ वदन्ति स्म ] वदति स्मां G **103d** मथनं ] ⊔⊔⊔⊔ $\mu$ ◇ तन्तुना ] तंतुमत् G **104a** लोहकील॰ ] लोहकेन G, लोहकोलं $R_2$ ◇ ॰प्रवेशेन ] ॰प्रयोगेण F **104b** यदा ] $R_2S\beta_1PJ_3\gamma$; यथा $\mu G\alpha K_2K_5K_6$, यधा F ◇ मथनम् ] मंथनम् M ◇ आचरेत् ] आरभेत् $\mu K_2$

मथनं तद्विजानीयाद्योगवृद्धिकरं प्रिये ॥१०४॥
उद्घाट्यार्गलमाकाशे जिह्वामूर्ध्वं प्रसारयेत् ।
प्रवेशं प्राहुरीशानि योगसिद्धिप्रवर्तकम् ॥१०५॥
ब्रह्मार्गलप्रभेदेन जिह्वासंक्रमणेन च ।
प्रत्ययः परमेशानि क्षणात्सत्यं प्रजायते ॥१०६॥
आदावानन्दभावत्वं निद्राहानिरतः परम् ।
संगमं भोजनं चैव स्वल्पमात्रं प्रजायते ॥१०७॥
पुष्टिः संजायते तेजोवृद्धिश्च भवति प्रिये ।
न जरा न च मृत्युश्च न व्याधिपलितानि च ॥१०८॥
ऊर्ध्वरेता महेशानि अणिमादिगुणान्वितः ।
यदि निश्चलभावेन योगमेवं प्रसाधयेत् ॥१०९॥
तदा प्रोक्तानिमान्सम्यक् फलान्लभति पार्वति ।
जिह्वाग्रे श्रीश्च वागीशा संस्थिता वीरवन्दिते ॥११०॥

---

**104c** मथनं ] मंथनं MV ◇ तद् ] $\mu$SB; तं *cett.* **104d** योग° ] योगी $\mu\alpha_3$ ◇ °वृद्धि° ] °सिद्धि° $\alpha$ ◇ प्रिये ] $\mu$MB; परेन् $R_2$, भवेत् $S^{pc}\alpha_2\alpha_3\beta_1PFK_5K_6\gamma_2W_2$, परं $S^{ac}K_2J_3R_1$ **105a** उद्घाट्यार्गलं ] उदर्घोर्गतम् A, उद्घार्गतम् $J_6J_7$ *(unm.)*, उभयोर्गलम् $\gamma_2R_1$ **105b** जिह्वामूर्ध्वं ] जिह्वामूलं $\alpha_3J_1R_1$ ◇ प्रसारयेत् ] प्रकारयेत् $R_2$ **105c** प्रवेशं ] आवेशं F ◇ प्राहुरीशानि ] प्राहुरीशानी $AVJ_5W_2$, परमेशानि G **105d** °सिद्धि° ] °वृद्धि° G ◇ °प्रवर्तकम् ] प्र**कं G, करं परं N, प्रवेशने $W_1$, प्रदायकं $K_2$ **106a** ब्रह्मार्गलप्रभेदेन ] $\mu$; प्रवेशे तालुमूलेन N, ब्रह्मार्गलप्रवेशेन *cett.* **106d** क्षणात्सत्यं ] क्षणार्धात्सं° $\mu$G **107a** आनन्दभावत्वं ] आनंदभावात्वं A, अनंदानुभवो G, आनंदभावश्च M, आनंदभावाति° $J_5$B, आनंदभावानि $W_2$ **107b** निद्रा° ] निंद्रा° A ◇ °हानिरतः ] °हनिस्ततः G, °हानिस्ततः SF, °हारे ततः $K_1$, °हारं ततः $K_3$, °हारिताः $J_4$ *(unm.)*, °हानि इति $J_3$, °हानिः मतः $J_5$ ◇ परं ] पदं $\mu$ **107c** संगमं ] $\mu GW_1M$; सगमे $R_2$, संगमे $S\beta_1PJ_3K_6J_5W_2B$, संगम $\alpha_3$, संगमो $K_2$F ◇ भोजनं ] भोजने $K_5K_6$ ◇ चैव ] G; देवि *cett.* **107d** स्वल्प° ] स्वल्पम् $\mu$, जल्प° $W_1$M, स्वप्न° $K_2$B ◇ °मात्रं ] अल्पं $\mu$ **108a** पुष्टिः ] $\mu\alpha_3$; सृष्टिस् G, तुष्टिः *cett.* **108b** °वृद्धिश्च भवति ] $\mu$; देहसिद्धिर्भवेत् $J_1R_1$, देहवृद्धिर्भवेत् *cett.* **108c** न जरा न च ] नं जरा नं च A, न जरा तस्य M **108d** व्याधि° ] $AM\beta\gamma$; व्याधिः $J_6J_7GS\alpha_2\alpha_3$, *धिः $R_2$ ◇ °पलितानि च ] $\alpha$; °पलितं न च $\mu R_2$, पलितं तथा G, °पलितान्यपि $S\beta\gamma$ **109a** °रेता ] $GR_2S\alpha_1VK_2K_5K_6R_1B$; °येता A, °रेतो $J_6J_7\alpha_3J_2J_4K_4J_3F\gamma_2W_2$, °रतो P **109b** °गुणान्वितः ] $\mu$G; °फलोदयः $R_2$, °चतुष्टयां $J_3$, °समन्वितः *cett.* **109d** योगमेवं ] $GS\alpha_2FK_5$; योगी भावं $\mu$, योगमेव M, योगमेतत् $\alpha_3$, योग एव $\beta_1PJ_3K_6\gamma$, योग एवं $K_2$ ◇ प्रसाधयेत् ] प्रसारयेत् $\mu K_6$, प्र**येत् $R_2$, प्रसादयेत् $J_2VK_4K_2P$ **110a** तदा ] यथा NM, तथा $W_1$, यदा $\alpha_3$ ◇ प्रोक्तानिमान् ] प्रोक्तमिमं G, फलानि प्रो° $R_2$ ◇ सम्यक् ] सर्वं G, °क्तानि $R_2$, सम्यग् M, सस्य $\alpha_3$, सत्यं $J_1$ **110b** फलान्लभति ] $\mu$; फलं भवति G, लभते पार्व° $R_2$, कामान्लभति $SVK_2PK_5K_6\gamma$, लभते वर° $\alpha_1$, लभते काम° $\alpha_3$, कामाल्लभंति $J_2J_4$, कामा लभ्रति $K_4$, कार्मान्लभति $J_3$, कर्मान्लभति $F^{ac}$, कमाल्लभति $F^{pc}$ ◇ पार्वति ] °ति ध्रुवं $R_2$, °वर्णिनि $\alpha_1$ **110c** जिह्वाग्रे श्रीश्च ] जिह्वाग्रे श्री $AJ_7R_1$ *(unm.)*, जिह्वाश्रीरस्य $R_2$, जिह्वाग्रस्थं च $K_2$ ◇ वागीशा ] $\mu S\alpha_1\beta_1PJ_3FK_5$; वागीशे G, वागीशी $R_2\alpha_3K_6$, वागीशां $K_2$, वागेशि $\gamma_1$, वागेशी B **110d** संस्थिता ] संस्थिते G, संस्थितां $K_2$ ◇ वीरवन्दिते ] मरवन्दिते G, वीप्सतः परं N

---

**104cd** *om.* G **107** *om.* $NJ_1R_1$

जिह्वामूलाधारभागे बन्धमृत्युः प्रतिष्ठितः ।
बन्धमृत्युपदं सर्वमुन्मूलय गणाम्बिके ॥१११॥
तदग्रेण विशेत्सोमधाम श्रीशम्भुसंज्ञितम् ।
अनेन देवि योगेन मनसाधिष्ठितेन च ॥११२॥
उन्मन्यावेशमायाति योगी तल्लयमाप्नुयात् ।
लयस्य प्रत्ययः सद्यः संभवत्यवि चारतः ॥११३॥
जिह्वाग्रे मन आधाय दृशा तद्धाम लक्षयेत् ।
मूलात्सुषुम्णामार्गेण पवनं चोर्ध्वमानयेत् ॥११४॥
ब्रह्मधामगतो योगी मनः शून्ये निवेशयेत् ।
ध्यायेदेवं परं तत्त्वं हेयोपादेयवर्जितम् ॥११५॥
आकाशगङ्गा स्रवति ब्रह्मस्थानात्सुशीतला ।
प्रपिबन्मासमात्रेण वज्रकायो भवेद्ध्रुवम् ॥११६॥
दिव्यदेहो भवेत्सत्यं दिव्यवाग्दिव्यदर्शनः ।

---

**111a** मूलाधार° ] $M\alpha_3J_5W_2$; मूलाधरे $\mu$, मूले ध*र*ने G *(unm.)*, मूलाध** $R_2$, मूलधरा° $SW_1$-$\beta_1K_2PJ_3K_5K_6$, मूलाधरा° FB, मूलाधारा° $J_1$, मूलाध्वार° $R_1$ **111b** °मृत्युः ] $\mu$GSMF; °मृत्यु° $R_2W_1\alpha_3\beta_1K_2PK_5K_6\gamma$, °मृत्युं $J_3$ ◇ प्रतिष्ठितः ] प्रतिष्टितं $R_2$, प्रतिष्ठिता $\alpha_3J_3$ **111c** °पदं ] $AJ_7K_5\gamma$; °प्रदं $J_6R_2S\alpha\beta_1K_2PJ_3FK_6$, °भयं G ◇ सर्वम् ] सर्वेम् G, सर्वं $R_2W_1M\alpha_3$, सर्वे $\gamma$ **111d** उन्मूलय ] $\mu GSVK_2FK_5K_6\gamma$; उन्मूलति $R_2$, तन्मूलय $W_1$, मूलं मूल $M\alpha_3$, उन्पुलय $J_2$, उन्मूल $J_4$ *(unm.)*, उन्मुलय $K_4$, उन्मूय P *(unm.)*, ऊन्मूल्य $J_3$ *(unm.)* ◇ गणाम्बिके ] $\mu$G; गुणांतिके $MVK_2FK_5$, गुणांकिते *cett.* **112a** °अग्रेण ] °अग्रे य $R_2$ ◇ विशेत्सोम° ] $S^{ac}\alpha_3$; विषा मोहं $\mu$, विनाप्येकं G, वि*ना* माघं $R_2$, विशेत्सो हं $S^{pc}$, विनाशो हं $W_1$, विना मोघं M, विना मोहं $\beta$, विना मेवं $J_1R_1$, विना मेहं $J_5W_2B$ **112b** °शम्भु° ] °शुभ° G ◇ °संज्ञितम् ] °संज्ञकं $\mu\alpha_3F$ **112d** मनसाधिष्ठितेन च ] *em.*; मनसा साधिते चले $\mu$, *त्साधिष्ठिते जने G, ***साधितेन ते $R_2$, मनसाधिष्ठितेन ते $SW_1\beta_1K_2PFK_6\gamma$, मनसा साधितेन च $\alpha_3$, षण्मासैः साधितेन च M, दिनसप्तकमाचरेत् $J_3$, मनस्यधिष्ठितेन ते $K_5$ **113a** उन्मन्यावेशम् ] आन्मन्यावेशम् G, उन्मन्यवश्यम् M, उन्मनीवशम् $\alpha_3$ **113c** लयस्य ] $\mu$G; लयनात् $R_2S\alpha\beta$, लंघनात् $\gamma$ ◇ प्रत्ययः ] प्रत्यया $\beta_1$ **113d** संभवत्य° ] $\mu SK_6$; संभवेत्व°M, संपिवेच्च $\alpha_3$, संभवंत्य° *cett.* **114a** मन आधाय ] $\mu$; मनसा ध्यायन् $G\alpha_3V$, *नसा ध्यायन् $R_2$, मनसा ध्यायेद् $SK_2J_3K_6\gamma$, मनसा ध्याये $W_1J_4P$, मनसा ध्यात्वा M, मनसा ध्याय $J_2K_4$, रसना ध्यायेद् F **114b** दृशा ] $\mu SW_1J_2K_4PK_6$; तदा G, दृश्या $R_2$, दश MF, दशा $\alpha_3J_4VK_2$, दशां $J_3$, रसान् $\gamma$ ◇ तद्धाम ] $J_6J_7GSW_1\beta_1K_2PFK_6$; तद्वाम $AJ_3$, तद्वम $R_2$, धा[धा]म M, धातम $\alpha_3$, वद्धाम $\gamma$ **114c** मूलात् ] मूला A ◇ सुषुम्णा° ] सुषुम्ना° $K_3PFB$ **114d** पवनं ] उन्मन्या G ◇ आनयेत् ] उन्नयेत् M, चालयेत् $K_3$ **115a** °धाम° ] $\mu G\gamma$; °स्थान° $J_3$, °ध्यान° *cett.* **115c** ध्यायेदेवं परं ] $SW_1\beta_1K_2PJ_3F$; ध्यायेत्परतरं $\mu$, ध्यायन्परशिवं G, ध्यायेदेवं परे $R_2$, ध्यायेद्देवि परं $M\alpha_3$, ध्यायेद्देवं परं तत्वं $K_6$, व्यापदेवं परं $J_1R_1$, व्यापिदेवं परं $J_5W_2$, *व्यामि*देवं परं B **115d** °पादेय° ] °पादान° $\beta_1K_2PK_6\gamma$ ◇ °वर्जितम् ] °वर्जितः $R_2J_3\gamma$ **116b** सुशीतला ] सुशीतलं $\mu\alpha_3F$, सुलीलया M, सुशीतलः $\gamma_2$ **116c** प्रपिबन् ] $\mu$; प्रपिबेन् G, तापवेन् $R_2$, यः पिबेन् *cett.* ◇ °मात्रेण ] °त्रयेण $\alpha_3$ **117a** °देहो ] °कायो $\mu$ **117b** दिव्यवाग्दिव्यदर्शनः ] दिवादियत्वदर्शनं G, दिव्यकार्यादिदर्शनं M, दिव्यकायावदर्शनं $\alpha_3$, दिव्यवाक् दिव्यदर्शनं $\gamma_1$

---

**111a** N *omits* 111–123, *replacing it with* गोरक्षसंहिता$_N$ 184–190, 192 and 197–198. $W_1$ *has the insertion but keeps* 111–123: *see description of sources for details.* **2.113d** विचारतः – 3 .8d °रूपिणी *om.* $K_5$ (f.11 *missing*) **115ab** *om.* $R_2W_1$

दिव्यबुद्धिर्भवेद्देवि दिव्यश्रवण एव च ॥११७॥
जिह्वाग्रे कोटिचन्द्राभां वागीशां परिभावयेत् ।
परामृतकलातृप्तां कवित्वं लभते क्षणात् ॥११८॥
जिह्वाग्रे संस्थितां लक्ष्मीं परामृतविमोदिताम् ।
ध्यायन्योगी महेशानि योगसाम्राज्यमाप्नुयात् ॥११९॥

[पञ्च सहजाः]
सहजाः पञ्च विख्याताः पिण्डे ऽस्मिन् †परमात्मके† ।
यदा संजायते देहो मातृदेहे पितृक्षयात् ॥१२०॥
तत्र सार्धं भवन्ति स्म देहे वृद्धिमुपेयुषि ।
आद्या कुण्डलिनीशक्तिः सहजा प्रथमा स्मृता ॥१२१॥
द्वितीया च सुषुम्णाख्या जिह्वा चैव तृतीयका ।
तालुस्थानं चतुर्थं च ब्रह्मस्थानं तु पञ्चमम् ॥१२२॥
उन्नीय सहजामाद्यां द्वितीयां सहजां न्यसेत् ।

---

**117d** दिव्यश्रवण ] *em.* SANDERSON; दिव्यः श्रवण $SW_1$, दिव्यश्रवणम् *cett.* **118b** वागीशां ] वागीशीं $\mu GJ_2J_4FK_6$ ◇ परि° ] $\mu G$; प्रवि° $R_2SW_1K_2PJ_3FK_6\gamma_1$, *om.* M, प्रति° $\alpha_3B$, च वि° $\beta_1$ **118c** °तृप्तां ] $\mu R_2S\alpha$; °तृप्त G, °तृप्ता $\beta_1K_2PK_6\gamma$, °तृप्ताः $J_3$, °तृप्तः F **118d** कवित्वं ] कवितां $\mu$ ◇ क्षणात् ] $\mu GR_2\alpha_3$; ध्रुवं *cett.* **119a** संस्थितां ] संस्थिता $W_1K_3K_2J_3K_6$-$\gamma$ ◇ लक्ष्मीं ] लक्ष्मी $R_2K_2K_6\gamma_1$, लक्ष्मीः B **119b** °विमोदिताम् ] $M\alpha_3$; °विमोदितः $\mu$, °[.]मोदितां G, °विमोदिनीं $R_2$, °विमोहिनीं $SW_1\beta_1PF$, °विमोहिनी $K_2K_6\gamma$, °विमोहिता $J_3$ **119c** ध्यायन् ] $\mu GM\alpha_3$; ध्याये $R_2$, ध्यायेद् $SW_1\beta\gamma$ ◇ महेशानि ] महेशानीं G **120a** सहजाः ] सहजा $K_3VK_2J_3FK_6\gamma$, सहजात् $J_2K_4$ ◇ विख्याताः ] $\mu GR_2SMK_1$; विख्याता $W_1K_3J_2J_4VK_2PJ_3FK_6\gamma$, विख्यातां $K_4$ **120b** †परमात्मके† ] $\mu G$; परमांकितो $R_2$, परिसांकिते S, परमांतिके $\alpha$, परिमांतिते $J_2K_4$, परिमांतते $J_4$, परिमांतितो V, परमांकिते $K_2FJ_1B$, परिमांकिते $PK_6J_5W_2$, परिमाकिता $J_3$ **120c** देहो ] $S\alpha_3\beta_1K_2PJ_3K_6\gamma$; देहे $AR_2F$, देहं $J_6J_7$, देह G, देवि $W_1M$ **120d** °देहे ] $\mu R_2S\alpha$; °देह° G, °देहो $\beta\gamma$ ◇ पितृक्षयात् ] $R_2S\alpha\beta$; पितृक्षणात् $\mu$, °परिक्षये G, पितक्षकात् $\gamma$ **121a** तत्र सार्धं ] $J_6J_7GR_2SPFK_6$; तत्रा सार्धां A, तत्तस्यार्धं $\alpha$, तत्र सार्धा $\beta_1$, तं सार्धं $K_2$ *(unm.)*, तत्र सार्द्ध $J_3\gamma_1$, तत्र सार्धां B ◇ भवन्ति स्म ] भवति स्म P, भवत्यस्माद् F **121b** देहे ] $\mu R_2$; देह° *cett.* ◇ वृद्धिम् ] बुद्धिम् $\gamma$ ◇ उपेयुषि ] $\mu\alpha_3$; उवेयुषे G, उपेयुषी $R_2W_1MV$, उपयुषी $J_2$, उपेयुषः $SJ_3FK_6B$, उपेयषी $J_4$, उपेयुषो $K_4$, उपेयषुः $K_2$, उपेयेषः P, उपेयसः $\gamma_1$ **121d** सहजा प्रथमा ] *transp.* $\mu$, [..]मा सहजा G ◇ स्मृता ] स्थिताः A, स्थिता $J_6J_7$, मता $J_3$ **122a** च ] $\mu G$; तु *cett.* ◇ सुषुम्णा° ] सुषुम्ना° $S\alpha_3J_4P$ ◇ °ख्या ] $\mu GR_2W_1M$, स्याज् $SPJ_3FK_6B$, स्यात् $\alpha_3$, स्या $J_2VK_4K_2\gamma_1$, °स्थाज् $J_4$ **122b** जिह्वा ] सिद्धा $\alpha_3$ ◇ तृतीयका ] तृतीयकं G, तृतीयागा $J_2$, तृतीयगा $J_4K_4$, तृतीयमा V, द्वितृतीयका $J_3$ *(unm.)*, तृतीयकाः $\gamma_1$ **122c** च ] $\mu G$; स्याद् *cett.* **122d** तु ] च $J_6J_7GJ_3$ **123a** उन्नीय ] $GR_2SVK_4PJ_3FK_6$; उन्नध्या A, उन्नध्य $J_6J_7$, उन्निद्रा $W_1M$, तन्निद्रां $\alpha_3$, उन्मन्नी° $J_2$, उन्मनी° $J_4$-$\gamma$, उन्मतो $K_2$ ◇ सहजामाद्यां ] $R_2S\alpha_3VPJ_3F\gamma$; सहजामाद्या A, सहजामाया $J_6J_7$, सहजामद्यां G, सहजावस्था $W_1M$, °य सहजायां $J_2$, °य सहजाद्यां $J_4$, सहजाद्यां $K_4$ *(unm.)*, सहजामायां $K_2$, सहमाद्यान्त $K_6$ **123b** द्वितीयां ] GS, द्वितीया $\gamma$, द्वितीये *cett.* ◇ सहजां ] SB; शहजे A, सहजे $J_6J_7R_2\alpha\beta_1K_2PJ_3F$, सहजा $G\gamma_1$, सहजो $K_6$ ◇ न्यसेत् ] विशेत् $\mu$

तृतीयां सहजामूर्ध्वं चतुर्थे सहजे विशेत् ॥१२३॥
चतुर्थं सहजं भित्त्वा सहजं पञ्चमं विशेत् ।
एतद्भेदं मया प्रोक्तं दुर्विज्ञेयं कुलेश्वरि ॥१२४॥

इति श्रीमदादिनाथप्रोक्ते महाकालयोगशास्त्रे
उमामहेश्वरसंवादे खेचरीविद्यायां द्वितीयः पटलः

---

**123c** तृतीयां ] $S\alpha K_6$; तृतीय॰ $\mu J_4 J_3$, तृतीया $GR_2VK_4PF\gamma$, तृतया $J_2$, तृतीम $K_2$ ◇ सहजाम् ] साहजाम् A, सह*ज* G, सहजान्य् $J_4$ ◇ ऊर्ध्वं ] *em.*; ऊर्ध्वा $\mu$, र्द्धा च G, ऊर्ध $R_2$, उच्चैश् $S\beta\gamma$, ऊर्ध्वां $W_1M$, ऊर्ध्वे $\alpha_3$ **123d** चतुर्थे ] $\alpha J_4 F$; चतुर्थ॰ $\mu K_2 J_3$, चतुर्थं $GJ_2VK_4PK_6\gamma$, चतुर्ये $R_2$, चतुर्थां S ◇ सहजे ] सहजा $\mu\gamma$, सहजं G, सहजां $SK_6$ **124a** चतुर्थं ] चतुर्थ॰ $\mu R_2VJ_3J_5W_2$, चतुर्थीं G, चतुर्थां S, निगुह्यं N, चतुर्थे $\alpha_3$ ◇ सहजं ] सहजा A, सहजां $J_6J_7GS$ ◇ भित्त्वा ] नित्वा $R_1$ **124b** सहजं पञ्चमं ] पंचमे सहजे $SMK_2$, सहजे पंचमे F ◇ विशेत् ] भ्यसेत् A, व्रजेत् G, न्यसेत् $K_2$ **124c** एतद् ] एवं $R_2$ ◇ भेदं मया ] भेदरयं M, एव मया $\gamma$ ◇ प्रोक्तं ] प्रोक्ता $R_2$ **124d** ॰ज्ञेयं ] ॰ज्ञेयाः $R_2$ ◇ कुलेश्वरि ] कुलेश्वरी $R_2\alpha_3K_6J_5W_2R_1$, महेश्वरी $K_2$

---

**124cd** *om.* $J_3$ **124d** तत्सर्वं प्रयत्नेन गोपनीयं समाहितः *add.* V

## तृतीयः पटलः

### शिव उवाच

[कुण्डलिनीशक्तिः]

मूलात्कुण्डलिनीशक्तिं सुषुम्णामार्गमागताम् ।
लूतैकतन्तुप्रतिमां सूर्यकोटिसमप्रभाम् ॥१॥
प्रविश्य घण्टिकामार्गं शिवद्वारार्गलं शिवे ।
भित्त्वा रसनया योगी कुम्भकेन महेश्वरि ॥२॥
प्रविशेत्कोटिसूर्याभं धाम स्वायम्भुवं प्रिये ।
तत्रामृतमहाम्भोधौ शीतकल्लोलशालिनि ॥३॥
पीत्वा विश्राम्य च सुधां परमानन्दपूर्णया ।
बुद्ध्या तत्सुधया तृप्तमात्मदेहं विभावयेत् ॥४॥
अनेन दिव्ययोगेन जायते दिव्यदर्शनम् ।
खेचरत्वं भवेत्सत्यं सर्वरोगक्षयस्तथा ॥५॥
वञ्चनं कालमृत्योश्च त्रैलोक्यभ्रमणं तथा ।

---

*Witnesses for the third* paṭala:
$AJ_6J_7GR_2SNW_1MK_1K_3J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6J_1J_5W_2R_1B$;
*D* (32c–47d); $H_1H_3$ (19); $H_2$ (15, 18–19, 21ab, 26, 29cd, 30cd, 31c–32b)
$\mu$=$AJ_6J_7$ ◇ $\alpha$=$NW_1MK_1K_3$ $\alpha_1$=$NW_1M$ $\alpha_2$=$NW_1$ $\alpha_3$=$K_1K_3$ ◇
$\beta$=$J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ $\beta_1$=$J_2J_4VK_4$ ◇ $\gamma$=$J_1J_5W_2R_1B$ $\gamma_1$=$J_1J_5W_2R_1$ $\gamma_2$=$J_1J_5$

---

**1a** मूलात् ] $\mu GR_2S$; मूलां $\alpha_2$, मूल॰ $\alpha_3\beta_1K_2PFK_6$, मूलं $J_3\gamma$ ◇ कुण्डलिनी॰ ] कुंडलिनीं $\alpha_2V$ ◇ ॰शक्तिं ] ॰शक्तिः $SK_2B$; ॰शक्ति $W_1J_4J_3\gamma_1$ **1b** सुषुम्णा॰ ] सुषुम्ना॰ $J_6^{ac}GS\beta_1VPJ_3$-FB ◇ ॰मार्गम् ] ॰मार्ग॰ G ◇ आगताम् ] ॰संस्थितां G, आगता $SK_2B$, आश्रिता $J_3$, आगतः $\gamma_1$ **1c** लूतैक॰ ] तुलैक॰ $\gamma_1$, तूलैक॰ B ◇ ॰प्रतिमां ] ॰प्रतिमा $J_2J_4K_4\gamma$ **1d** सूर्यकोटि॰ ] कोटिसूर्य॰ $\mu$G ◇ ॰प्रभाम् ] ॰प्रभं A, ॰प्रभा $K_4B$ **2a** प्रविश्य ] प्रावेश्य $K_2$ ◇ घण्टिका॰ ] घटिका॰ $AJ_4$-$K_2J_3\gamma_1$, घण्टका॰ G, पंथिका $R_2$ ◇ ॰मार्गं ] ॰मार्गे $A\gamma$, ॰मार्गा $R_2M$, ॰मार्ग $J_3$ **2b** शिव॰ ] शिरो॰ $R_2$ ◇ शिवे ] प्रिये M, शिवं $\alpha_3J_3$, विशेत् $K_6$ **2d** महेश्वरि ] कुलेश्वरि M **3a** प्रविशेत् ] $J_6J_7SW_1\alpha_3PK_4FK_6$; प्रविंशेत् A, प्रविश्य G, ***त् $R_2$, प्राविशेत् $NMJ_2J_4V$, प्रवेश्य $K_2$, प्रावेशेत् $J_3$, प्राविशत् $\gamma_2W_2B$, प्राविश $R_1$ ◇ ॰भं ] $\mu GR_2MJ_2J_4K_4$; ॰भां $S\alpha_2\alpha_3PJ_3K_6J_5W_2$, ॰भ्यां $VJ_1R_1$, ॰भा $K_2B$, ॰भः F **3b** ॰भुवं ] $\mu G^{pc}R_2S\alpha_1J_4VK_4$; ॰भुवे $G^{ac}J_3K_6$, ॰भुवि $\alpha_3$, ॰भवं $J_2K_2$, ॰भवे $P\gamma$, ॰भु*वे* F ◇ प्रिये ] शुभे G, शिते F **3c** तत्रामृत॰ ] परामृत॰ G, तत्रामृतं MB, तत्रमृत॰ $\alpha_3$, तयामृत॰ $J_3$ **3d** शीत॰ ] शिव॰ $\alpha_3$ ◇ ॰शालिनि ] MFB; ॰मालिनि AG, ॰मालिनी $J_6J_7$, ॰शालिनीं $R_2SN$, ॰शायिनी $W_1$, ॰शालिनी $\alpha_3\beta_1K_2PK_6\gamma_1$, ॰वारिणा $J_3$ **4a** विश्राम्य ] $GS^{pc}\beta\gamma_1$; विश्रम्य $\mu R_2S^{ac}\alpha B$ ◇ च सुधां ] सुधया G, वसुधां $J_3$ **4b** ॰पूर्णया ] पू*र्व*या G **4c** बुद्ध्या ] बुध्ये G ◇ तत्सुधया ] त*च्छु*द्धया S, तच्छुद्धया $J_3F$ ◇ तृप्तम् ] $\mu$G; कृष्टम् $SW_1$, हृष्टम् $R_2NMB$, रच्यम् $\alpha_3$, *इष्ट*म् $J_2$, द्रष्टम् $J_4K_6$, दृष्टाम् $V\gamma_2W_2$, *om.* $K_4$, दष्टम् $K_2$, वृष्टम् P, दष्टःम् $J_3$, दृष्टम् F, षाम् $R_1$ *[sic]* **4d** ॰देहं ] $\mu GR_2S\alpha_2\alpha_3J_3F$; ॰देह $MPK_4$, ॰देहे $J_2J_4K_2K_6\gamma$, ॰चेहं V ◇ विभावयेत् ] M; प्रभावयेत् $\mu$, प्रबोधयेत् G, सुधापयेत् $R_2$, सुभावयेत् $S\alpha_2\alpha_3VJ_3F$, शुभावयेत् $J_2K_2P$, ॰षु भाववयेत् $J_4$ *(unm.)*, ॰षु भावयेत् $K_4K_6$, तु भावयेत् $\gamma$ **5a** दिव्य॰ ] देवि $\mu$ **5b** ॰दर्शनम् ] $\mu GR_2VK_6$; ॰दर्शनः *cett.* **5d** ॰क्षयस्तथा ] ॰क्षयंकरं $\beta\gamma$ **6a** वञ्चनं ] वचनं $AJ_6$, चंचनं $J_7$, मोचनं G ◇ ॰मृत्योश्च ] *em.*; ॰मृत्युश्च $\mu$, ॰मृत्युं च $J_3$, ॰मृत्यूनां *cett.* **6b** त्रैलोक्य॰ ] त्रैलोक्यं G, त्रैलोक्ये S ◇ ॰भ्रमणं तथा ] क्रमते क्षणात् G

---

**1ab** *om.* M **1a – 8d** ॰रूपिणी *om.* $K_5$ (f.11 *missing*)

अणिमादिगुणोपेतः संसिद्धो जायते ध्रुवम् ॥६॥
योगीन्द्रत्वमवाप्नोति गतिरव्याहता भवेत् ।
नवनागसहस्राणां बलेन सहितः स्वयम् ॥७॥
जायते शिववद्देवि सत्यं सत्यं मयोदितम् ।
इडापिङ्गलयोर्मध्ये सुषुम्णा ज्योतिरूपिणी ॥८॥
वर्णरूपगुणैस्त्यक्तं तेजस्तत्र निरामयम् ।
प्रसुप्तभुजगाकारा या सा कुण्डलिनी परा ॥९॥
गङ्गा च यमुना चैव इडापिङ्गलसंज्ञके ।
गङ्गायमुनयोर्मध्ये तां शक्तिं संनिवेशयेत् ॥१०॥
ब्रह्मधामावधि शिवे परमामृतरूपिणीम् ।
तन्मयो जायते सत्यं सदामृततनुः स्वयम् ॥११॥
शिवधाम गता शक्तिः परमेशात्परं पदम् ।
तद्भोगतृप्तिसंतृप्ता परमानन्दपूरिता ॥१२॥
सिञ्चन्ती योगिनो देहमापादतलमस्तकम् ।

---

**6c** ०गुणोपेतः ] $GS\alpha V$; ०गुणोपेतं $\mu J_2J_4K_4PFK_6$; गुणोपेतः $R_2$, गुणोपेतु $K_2$, ०गुणोपेतां $J_3\gamma$ **6d** संसिद्धो ] $J_6J_7R_2SMK_1VPJ_3FK_6$; संसिद्धि $AJ_2K_4\gamma_1$, प्रसिद्धो G, स सिद्धो $\alpha_2$, संसिद्धा $K_3$, संसिद्धिं $J_4B$, संसिद्धिर् $K_2$ ◇ जायते ] लभते $AJ_7B$, भवति M **7a** योगीन्द्रत्वमवाप्नोति ] योगेंद्रतत्वमाप्नोति $\alpha_3$, योगेंद्रत्वमवाप्नोति $\gamma_2$ **7b** अव्याहता ] अव्यहता A, अव्याहाता $J_2P$, अवाहता $J_4$, अव्याहती $J_3$ **7d** बलेन ] वदेत्तं $PF\gamma_2R_1$, वदे तं $J_3W_2$, वदेन $K_6$ ◇ सहितः ] सहित $GR_2$-$J_3FK_6$, सहिता $J_2J_4K_4$ **8a** शिववद्देवि ] शिवपदे पि $\alpha_3$ **8d** ज्योतिरूपिणी ] कांतिमत्यलं G, योनिरूपिणी $K_2$ **9a** ०गुणैस् ] $SW_1\beta$; ०गणैः $\mu$, ०गुणैर् $G\gamma$, ०गुणैः $NM\alpha_3$ ◇ त्यक्तं ] $R_2S\beta_1PJ_3FK_5K_6$; साकं $\mu$; युक्तं G, पूर्णो N, त्यक्त $W_1$, पूर्णं M, पूर्णैस् $\alpha_3$, त्यक्तः $K_2$, युक्तैस् $\gamma$ **9b** तेजस्तत्र ] तेन तत्र $W_1$, वस्तुतस्तु M, तेज्ञस्तत्र $K_5$ ◇ निरामयम् ] $\mu SMVJ_3$; निरायं $R_2$ *(unm.)*, निरालयं *cett.* **9c** प्रसुप्त० ] सुषुम्णा $AJ_7$, सुषुम्ण $J_6^{pc}$, सुषुम्न $J_6^{ac}$, सुषुप्त० G, प्र[..] $R_2$, प्रसुप्ता $\alpha_3V$ ◇ ०गाकारा ] ०गाकाशे $\mu$, ०गाकारां $J_4$, ०गाकारं $K_2$, ०गाकार $J_3$, ०गीकारा $\gamma_1$, ०गीवेयं B **9d** या सा ] यत्तत् $\mu$, यसां $R_2$, माया M, या $K_4$ *(unm.)*, या सां $W_2$ **10b** ०संज्ञके ] $\mu$; ०संज्ञिके $GSK_6$, ०संज्ञिता $\alpha_1J_3$, ०संज्ञिते $R_2\beta_1K_2PFK_5\gamma$, ०संज्ञिका $\alpha_3$ **10d** शक्तिं ] शाक्ति $AR_2$, शाक्तिं MVB **11a** ०धामा० ] ०द्वारा० G **11b** परमामृत० ] परमानंद० GM ◇ ०रूपिणीम् ] $\mu R_2K_5$; ०पूर्णया G, ०रूपणीं $J_3$, ०रूपिणी *cett.* **11c** तन्मयो ] तन्मनो G ◇ सत्यं ] शीघ्रं B **11d** सदा० ] परमा० $\mu$ *(unm.)*, परा० GM, तदा० $K_2$, सद्य० $\gamma_1$, सद्यो B ◇ ०तनुः ] ०तनुं A, ०तनु $J_6J_7R_2J_3J_5W_2$, ०मयं G, ०तमः $K_2$ **12a** शिवधाम ] शिवागम० G, शिवधामा० $R_2\alpha_2$ ◇ गता ] $AGR_2\alpha$; गतां $J_7J_6\beta_1K_2FK_5K_6$, गतीं P, गतं $J_3$, गतिं $\gamma_1$, गतिः B ◇ शक्तिः ] $AGR_2S\alpha B$; शक्तिं $J_6J_7\beta_1PFK_5K_6J_1$, शक्तीं $K_2$, शक्ति $J_3J_5W_2R_1$ **12b** परमेशात्परं पदम् ] परमेशास्पदं पदं $\mu$, पर*मस्पिदं परम् $R_2$, , परमेशत्पदं परं $\alpha_3$ **12c** ०भोग० ] ०भाग० $\mu$, ०भाग्य० $\gamma$ ◇ ०संतृप्ता ] ०संदीप्तं G, ०*तत्वा $R_2$, ०संतृप्ताम् $\alpha_2$ **12d** ०पूरिता ] ०रूपिता $\mu$, ०पूरितं $GR_2$, ०पूरितः $K_2$ **13a** सिञ्चन्ती ] $J_6SMFK_5$; सिचंति $AK_6$, सिंचंति $J_7GR_2J_2VK_4P$, संचिन्त्य $\alpha_3$, सिंचिति $J_4$ *(unm.)*, शिंचिंत $K_2$, सिचिंती $J_3$, संचित्य $\gamma$

---

**12d – 13a** *om.* $\alpha_2$

सुधया शिशिरस्निग्धशीतया परमेश्वरि ॥१३॥
पुनस्तेनैव मार्गेण प्रयाति स्वपदं शिवे ।
एतद्रहस्यमाख्यातं योगं योगीन्द्रवन्दिते ॥१४॥
[कालजयः]
उत्सृज्य सर्वशास्त्राणि जपहोमादि कर्म यत् ।
धर्माधर्मविनिर्मुक्तो योगी योगं समभ्यसेत् ॥१५॥
रसनामूर्ध्वगां कृत्वा त्रिकूटे संनिवेशयेत् ।
ब्रह्माण्डे ब्रह्मरेखाधो राजदन्तोर्ध्वमण्डले ॥१६॥
त्रिकूटं तं विजानीयात्तत्र लिङ्गं समुज्ज्वलम् ।
कालक्रमविनिर्मुक्तं दुर्विज्ञेयं सुरैरपि ॥१७॥
इडायां रात्रिरुद्दिष्टा पिङ्गलायामहः स्मृतम् ।
चन्द्रादित्यौ स्थितौ देवि नित्यं रात्रिदिवात्मकौ ॥१८॥
न दिवा पूजयेल्लिङ्गं न रात्रौ च महेश्वरि ।

---

15 *cit.* गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह p.4   19 = हठप्रदीपिका 4.42

---

**13c** सुधया ] $\mu$; अथ सा $GR_2S\alpha\beta_1PJ_3K_5K_6$, ईष सा $K_2$, अधस्ताच् F, अथासाच् $\gamma_2W_2$, अथाच् $R_1$ *(unm.)*, अभ्यासाच् B ◇ शिशिरस्निग्ध° ] $\mu$; शक्तिरश्मिस्थ G, शशिरश्मिस्था $R_2S\alpha$, चारीरस्था $J_2$ *(unm.)*, रींशक्तिस्थां $J_4$, शक्तिरश्मिस्था $VK_4K_5^{ac}$, च शरीरस्था $K_2FK_6$, च्च शरारस्था P, च शरीरस्थं $J_3$, [स्वशरीर]स्था $K_5^{pc}$, च शरीरस्थो $\gamma$ **13d** °शीतया ] $\mu$; शीतला $GR_2S\alpha\beta$, शीतलां $\gamma$ ◇ परमेश्वरि ] $J_6J_7GSNMK_3P$; परमेश्वरी $AR_2W_1K_1\beta_1K_2J_3K_5K_6$, ता महेश्वरि $J_1B$, ता महेश्वरी $J_5W_2R_1$ **14a** पुनस् ] प्राणस् $\gamma$ **14b** प्रयाति ] प्रयातः $\mu$, पूजाति $\alpha_3$ ◇ स्वपदं ] स्वं पदं G, स्वयं $\alpha_3$ *(unm.)*, स्वपुरं $K_2$ ◇ शिवे ] $\mu MJ_1R_1$; प्रिये *cett.* **14c** रहस्यम् ] रहसम् $\mu$ ◇ आख्यातं ] देवेशि $J_3$ **14d** योगं ] योगे $R_2\alpha$, योगी $VK_6$, मया $K_5$ ◇ योगीन्द्र° ] योगेंद्र° $R_2\alpha_3J_3\gamma_1$ ◇ °वन्दिते ] °वन्दिताम् $\alpha_3$, °वंदितं $J_4K_6$ **15b** कर्म ] °कं च $\mu G$ ◇ यत् ] च $R_2M\alpha_3J_3H_2$, °जात् $J_2J_4V$ **15c** °मुक्तो ] °मुक्तं $K_2$ **16b** त्रिकूटे ] $\mu R_2S\alpha$; भ्रूकुटीं G, त्रिकूटं $\beta\gamma$ **16c** ब्रह्माण्डे ब्रह्म° ] ब्रह्मरंध्रे ब्र° $J_1R_1$ ◇ °रेखाधो ] $\mu R_2S\alpha_1VPJ_3FK_5K_6$; °रेखो*र्ध*ो G, °रेखायां $\alpha_3$, °रेख्याधो $J_2K_4$, °रेखाधा $J_4$, °रोयोर्धा $K_2$, °ह्मरेखा $J_1$, °रेखाद्यो $J_5$, °रेखाद्यौ $W_2$, °ह्मरेख $R_1$, °रेखाद्ये B **16d** राजदन्तोर्ध्वमण्डले ] $\mu GS\alpha$; ***तोर्धमंडलो $R_2$, दंतोर्ध्वमंडले प्रिये $J_2J_4VP$, दंतोर्ध्वं मंडले प्रिये $K_4F$, दतो यन्मंडलं शिवे $K_2$, दंतोर्ध्वमंडलं प्रिये $J_3K_5$, दन्तोर्ध्वे म्मण्डलं प्रिये $K_6$, तदूर्ध्वं मण्डलं प्रिये $\gamma_2R_1B$, तदूर्ध्वमंडलं प्रिये $W_2$ **17a** त्रिकूटं ] भ्रूकुटीं G, त्रिकूटे $R_2$ ◇ तं विजानीयात् ] $\alpha K_2$; तं विजानीही A, तं विजानीहि $J_6J_7$, तत्र जानीयात् $GR_2S^{ac}\beta_1PJ_3FK_5K_6\gamma$, तद्विजानियात् $S^{pc}$ **17b** तत्र लिङ्गं समुज्ज्वलम् ] त्रिलिंगं सममुज्ज्वलं $\alpha_3$ **17c** कालक्रम° ] *em.* Sanderson; कलाकर्म° G, सर्वकर्म° M, कालकर्म° *cett.* ◇ °मुक्तं ] °मुक्तो $S\alpha$, °मुक्तां $J_5W_2$ **17d** °ज्ञेयं ] °ज्ञेयः $\alpha_1$ **18a** इडायां ] $\mu S\alpha VFK_5H_2$; इडया $GK_2\gamma$, इडाया $J_2J_4K_4PJ_3K_6$ ◇ रात्रिर् ] $\mu GS\alpha K_2K_5H_2$; रात्रि $R_2J_4K_4$, रात्रिन् $J_2V$, रात्रिम् $PJ_3FK_6B$, रात्रम् $\gamma_1$ ◇ उद्दिष्टा ] $J_6S\alpha_3J_2VPFK_5K_6B$; उद्दिष्टां $AJ_7\gamma_2R_1$, उत्त्विसा G, *द्दिष्टं $R_2$, उदिता $\alpha_1$, तदृष्टा $J_4$, तुद्दिष्टा $K_4$, उदिष्ट $K_2$, उदिष्टा $J_3$, उद्विष्टां $W_2$ **18b** पिङ्गलायाम् ] पिंगलायाः V, पिंगलया B ◇ अहः ] अह $AR_2\alpha_3K_2J_3K_6$, अहा G, *रुः V ◇ स्मृतम् ] स्मृतः $\mu J_4VK_2J_3$-$J_1R_1$, स्मृत $J_5W_2$ **18d** °दिवा° ] $\mu G\alpha_3BH_2$; दिना° *cett.* **19a** न दिवा ] *transp.* $GW_1H_1H_3$, वासरे $H_2$ **19b** न रात्रौ ] *transp.* $\mu$, रात्रौ चै° $\alpha_3H_1H_2H_3$ ◇ च महेश्वरि ] परमेश्वरि M, °व न पूजयेत् $\alpha_3H_1H_2H_3$

---

**19b** *and* **19d** *transp.* $K_6$

सर्वदा पूजयेल्लिङ्गं दिवारात्रिनिरोधतः ॥१९॥
अहोरात्रिमयं चेदं कालक्रमस्वभावजम् ।
कालक्रमनिरोधेन कालमृत्युजयो भवेत् ॥२०॥
कालक्रमविनिर्मुक्तां चिन्तयेदात्मनस्तनुम् ।
पूजयेद्भावपुष्पेण तर्पयेत्पङ्कजामृतैः ॥२१॥
एवं षण्मासयोगेन जायते ह्यजरामरः ।
सर्वज्ञत्वं लभेत्सत्यं शिवसाम्यो निरामयः ॥२२॥
तालुमूले समावेश्य रसनामूर्ध्ववक्त्रगाम् ।
तत्र जातां सुधां पीत्वा शीत्कारेण शनैः शनैः ॥२३॥
प्रपिबेत्पवनं योगी निरालम्बे पदे शिवे ।
मनः संयोज्य चोन्मन्या सहजं योगमाचरेत् ॥२४॥
अनेन योगी षण्मासाज्जायते ह्यजरामरः ।
चिबुकं योजयेद्देवि षोडशस्वरमण्डले ॥२५॥
भ्रूमध्ये चक्षुषी न्यस्य जिह्वामूर्ध्वं प्रसारयेत् ।
संप्राप्य कुम्भकावस्थामिडापिङ्गलरोधनात् ॥२६॥

---

**19c** सर्वदा ] सततं $\alpha_3\mathrm{H}_2H_3$ **19d** °रात्रि° ] °रात्रौ $\mathrm{AK}_2\mathrm{K}_6\gamma_1\mathrm{H}_2H_3^{vl}$, °रात्रं $\mathrm{G}H_3$ ◇ °निरोधतः ] निरोधवाः $\mu$, न पूजयेत् $\mathrm{H}_2H_3$ **20a** °रात्रिमयं ] $\mu\mathrm{R}_2\alpha_3$; °रात्रमयं $S\alpha_1\beta\gamma$, °रात्रमवि° G ◇ चेदं ] $S\beta\gamma$; देवं $\mathrm{AJ}_7\alpha_2\alpha_3$, वेदं $\mathrm{J}_6$, °च्छेदं G, देव $\mathrm{R}_2$, लिंगं M **20b** काल° ] कालं $\mathrm{J}_4$, कालः B ◇ °क्रम° ] $\mathrm{J}_4$; °कर्मश् $\mathrm{PK}_6$, °कर्मं $\mathrm{J}_5\mathrm{W}_2$, °कर्म° *cett.* ◇ °स्वभावजम् ] °स्वभावकं M, च भावजं $\mathrm{PK}_6\gamma$ **20c** °क्रम° ] $\mathrm{J}_4$; °कर्म° *cett.* **20d** °मृत्युजयो भवेत् ] °मृत्युजयं लभेत् $\mu$, °मृत्युर्यथा भवेत् $\mathrm{K}_1$, °मृत्यु यथा भवेत् $\mathrm{K}_3$, °मृत्युर्जयो भवेत् $\mathrm{K}_2\mathrm{PJ}_3\mathrm{K}_6\gamma_1$ **21a** °क्रम° ] $\mathrm{H}_2$; °धर्म° $\alpha_3$, °कर्म° *cett.* ◇ °मुक्तां ] $\mathrm{GR}_2\mathrm{MB}$; °मुक्तश् $\alpha_2$, °मुक्तो $\alpha_3\mathrm{J}_3\mathrm{H}_2$, °मुक्ता V, °मुक्तं *cett.* **21b** चिन्तयेद् ] चिंतयान्न् A, चिंतयन्न् $\mathrm{J}_6\mathrm{J}_7$ **21d** तर्पयेत् ] $\mu\mathrm{GR}_2\mathrm{SNM}\alpha_3\mathrm{VK}_5\mathrm{J}_1\mathrm{B}$; तर्पयं $\mathrm{W}_1\mathrm{J}_2\mathrm{J}_4\mathrm{K}_4\mathrm{K}_2\mathrm{PJ}_3\mathrm{FK}_6\mathrm{J}_5\mathrm{W}_2\mathrm{R}_1$ ◇ पङ्कजामृतैः ] $\mu$G; तं कलामृतैः $\mathrm{R}_2\mathrm{S}\alpha_2\mathrm{VPJ}_3\mathrm{K}_5\gamma$, तां कलामृतैः M, तं कलामृतं $\alpha_3$, तं कलामृतो $\mathrm{J}_2$, तं कलामृतौ $\mathrm{J}_4\mathrm{K}_2\mathrm{K}_4\mathrm{K}_6$, तु कुलामृतैः $\mathrm{F}^{pc}$, तु कलामृतैः $\mathrm{F}^{ac}$ **22c** लभेत्सत्यं ] $\mu$; भवेत्सत्यं G, भवेन्नित्यं *cett.* **22d** °साम्यो ] °शाम्यं $\alpha_2$, °साम्यं M, °स्यास्य $\alpha_3$, °साम्ये $\gamma_1$ **23a** °मूले ] °मूलं $\mathrm{GW}_1\mathrm{J}_3$ **23b** °वक्त्र° ] °चक्र° $\alpha_3\gamma$ ◇ °गां ] °कां $\mu$, °गा $\alpha_3$ **23c** तत्र जातां सुधां पीत्वा ] $\mathrm{SM}\beta_1\mathrm{PJ}_3\mathrm{FK}_5\mathrm{J}_1\mathrm{R}_1\mathrm{B}$, तत्तत्र जातं तु पिवन् A, तत्तत्र जातं भु पिवन् $\mathrm{J}_6\mathrm{J}_7$, तत्र *मृ*तां सुधां पीत्वा G, तत्र जातासु पीत्वा सी N, तत्र जातां सु पीत्वा सीत् $\mathrm{W}_1$, तत्र याता स्वुधां पीत्वा $\mathrm{K}_1$, तत्र याता स्वधा पीत्वा $\mathrm{K}_3$, तत्र जातं सुधां पीत्वा $\mathrm{K}_2$, तत्र जातां शुधां पीत्वा $\mathrm{K}_6$, तत्र जातं सुधां पित्वा $\mathrm{J}_5\mathrm{W}_2$ **23d** शीत्कारेण ] सीत्कारेण $\mu S\alpha$ **24a** पवनं ] $\mu$G; पंचमं $\mathrm{SJ}_2\mathrm{VK}_2\mathrm{PJ}_3\mathrm{FK}_5\mathrm{K}_6\gamma$, पंचमे $\alpha_1$, पंचसं $\alpha_3$, आचर्मं $\mathrm{J}_4$ **24b** पदे ] पदे परे G *(unm.)* **24c** सम्योज्य ] संयम्य $\mathrm{K}_2\mathrm{B}$ ◇ चोन्मन्या ] चोन्मन्यां M, यो नान्या $\alpha_3$ **24d** सहजं ] सिंहजं $\mathrm{K}_2$, सहसं $\mathrm{J}_3$ **25a** °मासाज् ] °मासे $\alpha_3$ **25c** चिबुकं ] $\mathrm{S}\alpha_2$; चिवुकं $\mathrm{AJ}_7\mathrm{R}_2\alpha_3\beta_1\mathrm{K}_2\mathrm{PK}_5\mathrm{K}_6$, चिव्रुकं $\mathrm{J}_6$, चुबुकं GB, चुवुकं M, चिबूकं $\mathrm{J}_3$, चुंचुकं F, चंचुकं $\mathrm{J}_1\mathrm{R}_1$, चंवुकं $\mathrm{J}_5$, चुंबुकं $\mathrm{W}_2$ ◇ योजयेद् ] च जपेद् $\alpha_3$ **25d** °मण्डले ] $\mu\mathrm{GR}_2\mathrm{SMVK}_2\mathrm{K}_5\mathrm{K}_6$; °मण्डलं *cett.* **26a** °मध्ये ] °मध्य $\mathrm{GW}_1$ ◇ न्यस्य ] न्यस्त G **26d** °रोधनात् ] $\mu$G; °रोधतः $\mathrm{R}_2\mathrm{S}\alpha_2\beta\mathrm{B}$, °योगतः M, °रोधनं $\alpha_3\mathrm{H}_2$, °रोधितः $\gamma_1$

---

**22c – 25b** *om.* $\mathrm{R}_2$ (*eye-skip to* °मरः) **24a – 25b** *om.* $\mathrm{K}_4$ **25ab** *om.* G

मूलशक्तिं समुद्बोध्य भित्त्वा षट्सरसीरुहान् ।
तडित्सहस्रसंकाशां ब्रह्माण्डोदरमध्यमे ॥२७॥
धाम्नि शीतामृताम्भोधौ संनिवेश्य चिरं वसेत् ।
यदा ब्रह्ममये धाम्नि योगी वसति लीलया ॥२८॥
तदा निर्जीववद्देहे भा विस्फुरति तत्पदम् ।
अनेन देवि योगेन दिनसप्तकमाचरेत् ॥२९॥
यदा तदा स भवति जरामरणवर्जितः ।
मासमात्रप्रयोगेन जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥३०॥
यदा ब्रह्मपुरं भित्त्वा योगी व्रजति लीलया ।
तदा शिवत्वमाप्नोति नित्यदेहमयं शिवे ॥३१॥
न पुनः पिबते मातुः स्तनं संसारचक्रके ।
[देहमोचनं कालवञ्चनं च]
यदा तु योगिनो बुद्धिस्त्यक्तुं देहमिमं भवेत् ॥३२॥
तदा स्थिरासनो भूत्वा मूलशक्तिं समुज्ज्वलाम् ।

---

**32c – 47d** *cit.* नारायणदीपिका *(D)* *ad* क्षुरिकोपनिषद् 12, ĀSS 29, pp.154–155

---

**27b** भित्त्वा ] *em.*; भित्वा $\mu$, भीटत्वा $K_5^{ac}$ *(unm.)*, नीत्वा *cett.* ◇ °रुहान् ] $\mu G\alpha_2K_5\gamma$; °रुहात् *cett.* **27c** तडित्सहस्र° ] सहस्रसूर्य° G ◇ °संकाशां ] $\mu$GNV$K_2$, °संकाशा $R_2J_2J_4K_4PFK_5\gamma$, °संकाशो $SW_1$, °संकांशां M, °संकाशं $\alpha_3$, °संकासं $J_3$, °शंकाशाद् $K_6$ **27d** °मध्यमे ] °मध्यगे $\mu SK_2$, °मध्यगां $GR_2$, °मध्यगं $\alpha_3$ **28a** धाम्नि ] ध्यानी $\alpha_3$, धानि $K_4$, धात्रि $\gamma_1$, धात्री B **28b** वसेत् ] $\mu GR_2SJ_2VJ_3K_5B$; विशेत् $\alpha J_2^{vl}FK_6\gamma_1$, वशेत् $J_4K_2P$ **28c** यदा ] ब्रह्म° M ◇ ब्रह्ममये ] ब्रह्ममयो $GK_2$, °मध्ये यदा M ◇ धाम्नि ] धात्रि $NW_2$, धात्री B **28d** योगी ] योगः $\alpha_3$ ◇ वसति ] $\mu$G; सर्वत्र $\alpha_3$, [..] $R_2$, गच्छति *cett.* **29a** निर्जीववद् ] नीजीववद् AG, निजीवये N, निज्जीवये $W_1$ ◇ देहे ] $J_3F\gamma$; एहं A, देहं $J_6J_7$, देहो $GS\alpha_1J_2^{vl}VK_4PK_5K_6$, [..] $R_2$, वेहो $\alpha_3$, देह $J_2$, एहो $J_4K_2$ **29b** भा वि° ] $\mu$; [..] $R_2$, भा P *(unm.)*, भाव $\gamma_1$, भावः B, भाति *cett.* ◇ °स्फुरति ] स्पुरति S, स्फरजि $J_2$, स्मरति $J_4K_2$, स्फरति $K_4J_3$ **29c** देवि ] देव° $\alpha_3$, दैव° $H_2$ **29d** दिन° ] सप्त° $\alpha_3H_2$ ◇ °सप्तकम् ] °सप्तक° $R_2$ ◇ आचरेत् ] आश्रयेत् G, °मेण तु $R_2$ **30a** यदा ] तदा $\mu$ ◇ तदा ] पदं G ◇ स भवति ] $J_6J_7S\alpha_2V$; संभवति $AR_2\alpha_3J_2K_4K_5K_6$, समाप्नोति G, संभवंति $J_4$ **30c** °मात्र° ] °त्रय° $S\alpha H_2$ **31a** °पुरं ] °पदं G, °परं $J_3$ **31b** योगी ] योगं $\alpha_3$ **31d** नित्यदेहमयं ] $\alpha_2$; त्यक्त्वा देहमिमं $\mu$G, ****मिमं $R_2$, नित्यं देहमिमं $K_6$, नित्यदेहनिसं $H_2$, नित्यदेहमिमं *cett.* **32a** न पुनः ] पुनर्न $R_2$ ◇ पिबते ] पिबति $R_2\alpha_2\alpha_3H_2$ ◇ मातुः ] $M\alpha_3V$; *om.* $R_2$, स्तन्यं $K_2$, मातु *cett.* **32b** स्तनं ] स्तन्यं GF, स्तनौ $S\alpha H_2$, मातुः $K_2$ ◇ संसार° ] स चार° $K_6$ ◇ °चक्रके ] $S\alpha H_2$; °चक्रमा $AJ_7$, चंक्रमा $J_6$, °चक्रतः G, चच्क्रगः *(sic)* $R_2$, °चक्रमात् $\beta_1PJ_3K_5K_6\gamma_1$, °सागरे $K_2$, °चंक्रमात् FB **32c** यदा ] तदा $\mu$ ◇ तु योगिनो बुद्धिस् ] $R_2SJ_4VPFK_5^{pc}K_6D$; तु योगिनो वृद्धिस् $AJ_7$, तु योगिनो ब्रुद्धिस् $J_6$, तु योगिनो बुद्धिर् G, वाङ्मनोबुद्धिभिस् $\alpha_2$, च वाङ्मनोवुद्धिस् M, तु वाङ्मनोवुद्धिस् $\alpha_3$, तु योगीनो वुद्धिस् $J_2K_4K_5^{ac}$, तु योमिनो वुद्धि $K_2$, तु योगिनो बुद्धि $J_3$, तु योगिनो $J_1R_1$, तु योगीनो $J_5W_2$, तु योगिन्मे B **32d** त्यक्तुं ] $SMJ_2VK_4PFK_5K_6D$; त्यक्तं $\mu R_2\alpha_2\alpha_3J_4K_2$, मोक्तुं G, त्युक्तु $J_3$ ◇ इमं ] इदं $\alpha_2$ ◇ भवेत् ] प्रिये $\mu$ **33a** स्थिरासनो ] स्थिरमना $S^{ac}$ **33b** मूल° ] $\mu$GM; मूलां $R_2\alpha_2$, मूलाच् $SFK_5K_6D$, मूला $\alpha_3\beta_1K_2PJ_3\gamma_1$, मूर्छा B ◇ °शक्तिं ] $\mu GW_1MJ_4$; श* $R_2$, छक्तिं $S\alpha_3J_2VK_4PJ_3FK_5K_6\gamma_2R_1D$, शक्ति $NK_2B$, छक्ति $W_2$

---

**29a** जायते नात्र संशयः तदानीं शववद्देहो *add.* G **29c – 30b** *om.* M **30** *om.* $K_2PJ_3F\gamma$ **32c** बुद्धिस् – **33a** स्थिरासनो *om.* $\gamma$ (*eye-skip to* भूत्वा)

कोटिसूर्यप्रतीकाशां भावयेच्चिरमात्मवित् ॥३३॥
आपादतलपर्यन्तं प्रसृतं जीवमात्मनः ।
संहृत्य क्रमयोगेन मूलाधारपदं नयेत् ॥३४॥
तत्र कुण्डलिनीशक्तिं संवर्तानलसंनिभाम् ।
जीवानिलं चेन्द्रियाणि ग्रसन्तीं चिन्तयेद्धिया ॥३५॥
संप्राप्य कुम्भकावस्थां तडिद्वलयभासुराम् ।
मूलादुन्नीय देवेशि स्वाधिष्ठानपदं नयेत् ॥३६॥
तत्रस्थं जीवमखिलं ग्रसन्तीं चिन्तयेद् व्रती ।
तडित्कोटिप्रतीकाशां तस्मादुन्नीय सत्वरम् ॥३७॥
मणिपूरपदं प्राप्य तत्र पूर्ववदाचरेत् ।
समुन्नीय पुनस्तस्मादनाहतपदं नयेत् ॥३८॥
तत्र स्थित्वा क्षणं देवि पूर्ववद्ग्रसतीं स्मरेत् ।
उन्नीय च पुनः पद्मे षोडशारे निवेशयेत् ॥३९॥
तत्रापि चिन्तयेद्देवि पूर्ववद्योगमार्गवित् ।

---

**33c** कोटिसूर्य॰ ] सूर्यकोटि॰ $K_5D$ **33d** चिरम् ] छिवम् G ◇ आत्मवित् ] आत्मनि $SK_2PJ_3$-$FK_6\gamma$, आत्मनः $D$ **34b** प्रसृतं ] प्रसतं $R_2$, प्रसृतां $K_2$, प्रमृतं P, प्रन्नुतं F, अमृतं $\gamma$ ◇ आत्मनः ] आत्मनि $S\alpha$, आत्मनां $K_2$, आत्मनं $J_3$ **34c** संहृत्य ] संहत्य $AJ_6J_3$, हंसत्य $J_7$, संहृष्य $J_4$, संवृत्य $\gamma_2$, संदृत्य $W_2$ ◇ क्रम॰ ] कर्म॰ $S^{ac}\beta\gamma$ **35a** कुण्डलिनी॰ ] कुंडलिनीं $GR_2\alpha_1D$ ◇ ॰शक्तिं ] $\mu GR_2MD$; शक्तिम् $\alpha_2$, शक्तिर् $SJ_2J_4K_4PJ_3FK_5K_6\gamma$, शक्ति $\alpha_3$, शक्तिंर् V, शक्तिर्म $K_2$ **35b** संवर्तानल॰ ] $\mu GR_2D$; आवर्तानल॰ $S^{pc}\beta\gamma$, आवृतानल॰ $S^{ac}$, आवर्तानिल॰ $\alpha_2$, सवर्त्तान[ल]॰ M, सर्वत्वानिल॰ $\alpha_3$ ◇ ॰निभाम् ] ॰निभा $SK_5B$, ॰निभं $\alpha_3F$ **35c** जीवानिलं ] $R_2S\alpha_1\beta_1FK_5K_6\gamma_1$; जीवानित्यं $\mu$, जीवानलं $GK_2J_3B$, जित्वानिलं $\alpha_3$, जीव*नि*लं P, जीवं निजं $D$ **35d** ग्रसन्तीं ] $GS\beta_1FK_5D$; ग्रसतीं $AJ_7$, ग्रसंती $J_6R_2\alpha_2K_2PB$, सिंचंतीं M, ग्रसंतं $\alpha_3$, ग्रसंते $J_3$, ग्रसंति $K_6\gamma_1$ **36b** ॰वलय॰ ] ॰ज्वलन॰ $R_2D$, ॰अनल॰ B ◇ ॰भासुरां ] ॰भास्करां $AJ_6^{pc}J_7$, ॰भासुरं $\alpha_3$ **36c** मूलाद् ] $\mu GSK_5K_6$; मूलम् $\alpha$, मूल॰ $\beta_1$, मूला $K_2PJ_3F\gamma D$ ◇ उन्नीय देवेशि ] $\mu G$; उन्नीय देवेशी $R_2$, द्वितीयं देवेशि $S\beta B$, उन्निद्रयेद्देवि $\alpha_1$, उत्तीर्य देवेशि $\alpha_3$, द्वितीय देवेशि $\gamma_1$, ॰धाराद्यतिर्देवि $D$ **37a** ॰स्थं ] सं॰ $\mu$, ॰स्थ॰ G, ॰स्थां $\alpha_2K_2$, ॰स्था $\gamma$ **37b** ग्रसंतीं ] $\mu S\alpha_3VPFK_6$; ग्रसं*तीं* G, ग्रसंती $R_2W_1J_3B$, ग्रसंतं NM, ग्रसतां $J_2J_4$, ग्रसतीं $K_4$, ग्रसंति $K_2\gamma_1$ ◇ व्रती ] $R_2SW_1$-$M\beta_1K_2J_3K_6BD$; च ताम् $\mu$, प्रिये G, व्रतं $NK_3$, व्रताम् $K_1$, व्रतीं P, वति $J_1R_1$, व्रति $J_5W_2$ **37c** प्रतीकाशां ] $J_6J_7GR_2K_2W_2BD$; ॰प्रतिकाशां $AJ_2K_4$, ॰प्रकाशं तत् S, ॰प्रतीकाशं $\alpha VPJ_3FK_5K_6$, ॰प्रतिकाशं $J_4$, ॰प्रकाशांत $J_1R_1$, ॰प्रकाशां $J_5$ *(unm.)* **37d** उन्नीय ] $J_6GSMD$; उनीय A, उत्तीर्य *cett.* ◇ सत्वरम् ] तत्परां G **38a** प्राप्य ] प्राग्ण $\mu$ **38b** पूर्ववद् ] सूर्यं यद् A, सूर्य यद् $J_6J_7$ **38c** समुन्नीय ] समुत्तीर्य $\alpha_2\alpha_3$ ◇ पुनस्तस्माद् ] पदस्थानाद् $\mu$ **38d** नयेत् ] व्रजेत् M **39b** पूर्ववद् ] पूर्व*व** G, पूर्ववर्॰ $\alpha_3$, पूर्ववत् $P\gamma_1$, ग्रसंतीं $K_5$ ◇ ग्रसतीं ] $SNVFK_6B$; धि सतीं A, धसतीं $J_6J_7$, अवतिं G, योगमा॰ $R_2D$, ग्रसती $W_1$, ग्रसतां M, ॰गसतां $\alpha_3$, धमती $J_2$, धमति $J_4$, ध सती $K_4$, ग्रसन $K_2$, ग्रसंती P *(unm.)*, रसतं $J_3$, पूर्ववत् $K_5$, ग्रसति $\gamma_1$ ◇ स्मरेत् ] ॰र्गवित् $R_2D$ **39c** उन्नीय च ] $\mu G$; उत्तीर्य तु $\alpha_2$, तन्नादयत् $\alpha_3$, समुन्नाय $J_3$, समुन्नीय $K_5$, अनाहते $D_1$, उन्नीय तु *cett.* ◇ पुनः ] ततः M, नयेद् $D_1$ ◇ पद्मे ] पादौ $\alpha_3$, योगी $D_1$ **39d** षोडशारे ] षोडशरि A, षोडशांते G, तत्र पूर्व॰ $D_1$ ◇ निवेशयेत् ] निवाशयेत् A, व**येत् G, ॰वदाचरेत् $D_1$ **40a** तत्रापि चिन्तयेद्देवि ] ततो विशुद्धादानीय $D_1$ **40b** पूर्ववद् ] कुण्डलीं $D_1$ ◇ योगमार्गवित् ] योगमात्मवित् $\mu$, पूर्ववच्चरेत् $D_1$

---

**38cd** *om.* $D$ **39c – 40b** *om.* $R_2D_2$ (*eye-skip to* उन्नीय)

तस्मादुन्नीय भ्रूमध्यं नीत्वा जीवं ग्रसेत्पुनः ॥४०॥
ग्रस्तजीवां महाशक्तिं कोटिसूर्यसमप्रभाम् ।
मनसा सह वागीशी भित्त्वा ब्रह्मार्गलं क्षणात् ॥४१॥
परामृतमहाम्भोधौ विश्रामं सम्यगाचरेत् ।
तत्रस्थं परमं देवि शिवं परमकारणम् ॥४२॥
शक्त्या सह समायोज्य तयोरैक्यं विभावयेत् ।
यदि वञ्चितुमुद्युक्तः कालं कालविभागवित् ॥४३॥
यावद् व्रजति तं कालं तावत्तत्र सुखं वसेत् ।
ब्रह्मद्वारार्गलस्याधो देहकालप्रयोजनम् ॥४४॥
तस्मादूर्ध्वपदे देवि न हि कालप्रयोजनम् ।
यदा देव्यात्मनः कालमतिक्रान्तं प्रपश्यति ॥४५॥
तदा ब्रह्मार्गलं भित्त्वा शक्तिं मूलपदं नयेत् ।
शक्तिदेहप्रसूतं तु स्वजीवं चेन्द्रियैः सह ॥४६॥

---

**41c – 42d** *cit.* नारायणदीपिका *(D) ad* योगशिखोपनिषद् 2.3, ĀSS 29, p.485

---

**40c** तस्मादुन्नीय ] तस्मात् भ्रूमध्यं G, तस्मादुत्तीर्य $\alpha_2$, उन्नीय तस्माद् *D* ◇ भ्रूमध्यं ] उन्नीय G, भ्रूमध्ये $J_4K_2K_6B$*D* **40d** नीत्वा जीवं ग्रसेत् ] नीरत्त्वीरं ग्रसे∗ $R_2$, नीरत्त्वीरं ग्रसन् $D_1$, नीरत्त्वरं ग्रसेत् $D_2$ **41a** ग्रस्त° ] $\mu\beta_1K_2PFK_5K_6W_2B$; ग्रस° G, ग्रस्तं $R_2SW_1M\alpha_3D$, यस्तं N, यस्तु $J_3$ ◇ °जीवां ] $\mu$G°; त्वीरं $R_2D$, °ज्जीवं V, °जीवा $J_3B$, जीवं *cett.* ◇ महाशक्तिं ] $\mu GJ_4K_2K_5K_6$; महाशक्त्या $R_2D$, महाशक्तिः $SF\gamma$, महेशानि $\alpha$, महाशक्ति $J_2VK_4PJ_3$ **41b** °प्रभाम् ] $\mu GK_5K_6\gamma_1$; °प्रभं $R_2S\alpha\beta_1K_2PFD_1$, °प्रभुः $J_3$, °प्रभा $BD_2$ **41c** वागीशी ] $\alpha_2VPK_5K_6$; वागीशि $\mu GS^{pc}MJ_2J_4K_4$, वागीशीं $R_2F$, वागीशे $S^{ac}$, वागीशं $\alpha_3$, वागीशा $K_2J_3D_2$, वागीसी $\gamma_1$, वागेशी B, वागीश्या $D_1D_2^{vl}$ **41d** भित्त्वा ] नीत्वा $\alpha_3$ **42b** विश्रामं ] विश्वासं $\mu$, विश्रान्तिं *D* ◇ सम्यग् ] त्वरणं M, तत्र *D* ◇ आचरेत् ] कारयेत् *D* **42c** देवि ] देवं $R_2$ **42d** शिवं ] शिवे $SK_2J_3F$, शिवै $P\gamma_1$ **43a** सह समायोज्य ] सहस्रमायोज्य $PJ_3\gamma$, सह मया योज्य $K_5$ **43c** यदि वञ्चितुम् ] यदि मोचितुम् $\mu$, यदिदं चिंतम G *(unm.)*, यदिदं विसम् $\alpha_3$ ◇ उद्युक्तः ] $J_6J_7R_2S\alpha\beta_1PK_5K_6B$; अयुक्तः A, यद्युक्तं G, उच्छक्तः $K_2$, उत्सुक्तः $J_3$, उद्यक्तः F, उद्योगं $J_1$, उद्योक्तं $J_5W_2$ **43d** कालं ] कालः G ◇ °विभाग° ] °विधान° M, °विभाव° F **44a** यावद् ] कालः $R_2$, कालस् *D* ◇ व्रजति ] भजति $AJ_7$, स यावद् $R_2$, जीवत $K_2$, यतीतं F, तु यावद् *D* ◇ तं कालं ] व्रजति $R_2D$, तत्कालं $G\alpha_3K_2$ **44b** तत्र सुखं ] तस्यां मुखं N, तस्यां सुखं $W_1M$, तत्संमुखं $\alpha_3$ ◇ वसेत् ] वशेत् $AJ_7\alpha_3K_2J_3F^{ac}$, भवेत् G, व∗शे∗त् $K_6$ **44c** °र्गलस्याधो ] $\mu W_1MK_5D$; °र्गळस्याधः G, र्ग∗याधो $R_2$, °र्गलायाधो $S\beta_1PF\gamma$, °र्गलःस्याधो N, °र्गलस्यादौ $\alpha_3$, °र्गलाच्चादो $K_2$, °र्गलायाधौ $J_3$, °र्गलांयाधो $K_6$ **44d** देह° ] देहे $\mu K_5$, देवि G ◇ °काल° ] °लत्त्व° $NM\alpha_3$, °लत्त्वय° $W_1$ **45a** ऊर्ध्वपदे ] ऊर्ध्वपदं $\alpha D_2$, ऊर्ध्वं पदं $D_1$ ◇ देवि ] देयं *D*, देहं $D_1^{vl}$ **45c** यदा ] यदि $\alpha_3$ ◇ देव्य् ] दिव्य्° $G\alpha_1$, ∗दिव्य्∗° $J_4$, देव्° $J_3$, $D_2^{vl}$ **45d** प्रपश्यति ] प्रविश्यति A, स पश्यति M, प्रसाश्यति $J_2K_4$, प्रशाम्यति $J_4$, प्रणश्यति $K_5$ **46b** शक्तिं ] $\mu R_2SMVFK_5D$; शक्ति° *cett.* ◇ °पदं ] °पदे $\mu$M **46c** शक्ति° ] शक्तिं $AJ_6W_1$ ◇ °देह° ] देहा° $\mu$, देहे $W_1$, दह $PJ_3$, मूल F ◇ °प्रसूतं ] $R_2SJ_4VK_4PJ_3FK_6\gamma D$; °त्मसूनं $\mu$, °प्रसू∗नं∗ G, °प्रवाहस् N, प्रसृतं $W_1$, °प्रस्तुतं $M\alpha_3$, °प्रसुतं $J_2$, °प्रभूतं $K_2$, प्रसूतस् $K_5$ ◇ तु ] ∗तं∗ G, तं M, च $\alpha_3$, वै F **46d** स्वजीवं ] $\mu GR_2M\alpha_3D$; स जीवश् $SJ_2J_4K_4PJ_3FK_5$, तं जीवं $NK_6$, सजीवं $W_1B$, सृजीवश् V, स जीवेश् $K_2$, सर्जाव $\gamma_2$, स जीव $W_2$, सुजीव $R_1$ ◇ सह ] सहः $\mu J_2K_4PJ_3$

---

**40cd** *om.* S **40d** ग्रसेत् – **41a** जीवां *om.* $\gamma_2R_1$ **43c – 44b** *om.* $R_1$ **45ab** *om.* $\gamma$

तत्तत्कर्मणि संयोज्य स्वस्थदेहः सुखं वसेत् ।
अनेन देवि योगेन वञ्चयेत्कालमागतम् ॥४७॥

[देहत्यागः]

यदि मानुष्यकं देहं त्यक्तुमिच्छा प्रवर्तते ।
ततः परमसंतुष्टो ब्रह्मस्थानगतं शिवम् ॥४८॥
शक्त्या संयोज्य निर्भिद्य व्योम ब्रह्मशिलां विशेत् ।
व्योमतत्त्वं महाव्योम्नि वायुतत्त्वं महानिले ॥४९॥
तेजस्तत्त्वं महातेजस्यप्तत्त्वं जलमण्डले ।
धरातत्त्वं धराभागे निरालम्बे मनः पदे ॥५०॥
व्योमादिगुणतत्त्वेषु स्वेन्द्रियाणि निवेशयेत् ।
एवं सांसारिकं त्यक्त्वा परतत्त्वावलम्बकः ॥५१॥
अस्पृष्टः पञ्चभूताद्यैर्भित्त्वा सूर्यस्य मण्डलम् ।
परतत्त्वपदे शान्ते शिवे लीनः शिवायते ॥५२॥
न कल्पकोटिसाहस्रैः पुनरावर्तनं भवेत् ।
अनुग्रहाय लोकानां यदि देहं न संत्यजेत् ॥५३॥

---

**47a** तत्तत्कर्मणि ] $\mu VK_5K_6B\mathit{D}$; तत्तत्कर्माणि $GSPJ_3F\gamma_1$, ततत्कर्मणि $R_2K_2$, तत्रोक्तेनापि $\alpha_1$, ततोक्तिमूल° $\alpha_3$, ततत्वर्मणि $J_2K_4$, ततंतुर्मणि $J_4$ ◇ संयोज्य ] मार्गेण $\alpha_1$, °पदं नयेत् $\alpha_3$ *(unm.)*, संयोज्यं $J_4K_4PK_6\gamma_1$ **47b** स्वस्थदेहः ] $GF\mathit{D}$; स्वस्य देहः $\mu R_2$, स्वस्थदेहं $S\beta_1K_2PJ_3$-$K_5K_6$, शक्तिमूलं N, शक्तिमूल° $W_1M$, छक्तिदेह° $\alpha_3$, स्वसंदेहं $J_1R_1$, स्वसदेहं $J_5W_2$, स्वदेहं तु B ◇ सुखं वसेत् ] $GS\beta_1K_5K_6\gamma$; सुखं चरेत् $\mu$, ** वसेत् $R_2$, पदं नयेत् $\alpha_1$, °स्य प्रश्रुतं $\alpha_3$, मुखं वशेत् $K_2$, सुखं वशेत् $PJ_3F$, सुखं व्रजेत् *D* **47c** अनेन देवि योगेन ] स्वजीवं चेंद्रियैः सह $\alpha_3$ **47d** वञ्चयेत्कालमागतम् ] वंचयेत्कालमार्गणं $\mu$, तत्र कालसमागतः $\alpha_3$ **48d** °स्थान° ] °स्थानं $\mu\alpha_3K_2FK_6$ ◇ °गतं शिवम् ] परं शिव $\alpha_3$, °गतं शिवे $J_3F$ **49a** निर्भिद्य ] $GR_2SN\alpha_3VPJ_3$-$K_5K_6$; निर्भिन्न° $\mu$, निभिद्य $W_1$, निर्भि*द्य*M, निर्जिद्य $J_2K_4$, निर्*भिद्य*$J_4$, निर्भिग $K_2$, निर्भेद्य F, नीभेदा $\gamma$ **49b** व्योम ] योग $\alpha_3$ ◇ ब्रह्म° ] °ब्रह्मा $\mu J_1$ ◇ °शिलां ] °सभां $R_2$, °शिवं $\alpha_3$, °शिला $K_2$, °शिलं $\gamma$ ◇ विशेत् ] $\mu R_2\beta_1PK_5K_6$; वसेत् $GF\gamma$, व्रजेत् $S\alpha K_2$, वशेत् $J_3$ **49c** °तत्त्वं ] °तत्व $\alpha_3\gamma_1$, °सत्त्वं $K_2$ **49d** महानिले ] अथानिले $\mu$ **50a** महा° ] तथा A, यथा $J_6$ ◇ °तेजस्य् ] °तेजा° $R_2$, °तेजो $\alpha_3$, °तेजः $K_2F$, °तेजस्व् $\gamma$ **50b** अप्तत्त्वं ] $GVJ_3FK_5$; आप्तत्वं $\mu S$, °पस्तत्व $R_2$, अंभसो $\alpha_1$, यस्यत्वं $\alpha_3$, अस्यत्वं $J_2K_4$, अपत्वं $J_4K_6$, जलं च $K_2$, असत्वं $P\gamma_1$, अतत्वं B **50c** धरातत्त्वं ] महीतत्त्वं $\alpha$, आपतत्त्वं $\gamma_1$, आपस्तत्त्वं B ◇ धराभागे ] महीभागे $\alpha_1$, महाभागे $\alpha_3$ **50d** निरालम्बे ] निरालंबं G ◇ पदे ] $GK_2B$; परे $\mu SW_1M\beta_1PFK_5K_6\gamma_1$, परं $N\alpha_3J_3$ **51a** °गुण° ] °पर° M **51b** स्वे° ] चे° $W_1\alpha_3$ **51c** एवं ] य* G ◇ सांसारिकं ] $\mu J_4VK_5B$; वंसावधिं G, सांसारकं $R_2$, संसारिकं $S\alpha_3J_2K_4K_2PFK_6\gamma_1$, शरीरकं $\alpha_2$, शरीरं तु M ◇ त्यक्त्वा ] पश्चात् N, त्यक्ता $M\alpha_3\beta_1K_2\gamma_2W_2$, त्यक्त्या $R_1$ **51d** पर° ] परा $\mu$, परं $\alpha_3J_4$ ◇ °वलम्बकः ] °वलंपकः A, °विलंवकः $\alpha_3$, °वलंवकाः $J_2J_4K_4$, °वलंबकं $\gamma_1$, °वलंबनं B **52a** अस्पृष्टः ] *conj.* Sanderson; अदृष्टः $\mu SK_2K_5K_6R_1$, अदृष्टं $GW_1J_2J_4$, अदृश्यः $R_2$, अदृष्ट° $NM\alpha_3K_4PF\gamma_2W_2B$, अदृष्टा V, अद्रष्टं $J_3$ ◇ पञ्च° ] सर्व° S **52c** पर° ] परं $\alpha_3$ ◇ °तत्त्व° ] $\alpha_3J_4\gamma$; °तत्वे $\mu MV$, °तत्त्वं G, **$R_2$, °तत्वो° $S\alpha_2J_2K_4K_2PFK_5K_6$, °त्वो $J_3$ *(unm.)* ◇ पदे ] परे $\mu G$ **52d** शिवे लीनः ] शिवा लानः $R_2$ **53a** न कल्पकोटिसाहस्रैः ] कल्पकोटिसाहस्रैश्च G, न कोटिकल्पसाहस्रैः $\alpha$ **53b** आवर्तनं ] आवर्तिनो G, संवर्तनं $\alpha$, आगमनं $K_6$

---

**47cd** *om.* $\alpha_1$ **47c – 48d** *om.* G (*see addition at* 54b) **53a** स्रैः – **53d** यदि *om.* $J_3$

प्रलयान्ते तनुं त्यक्त्वा स्वात्मन्येवावतिष्ठते ।
इत्येषा खेचरीमुद्रा खेचराधिपतित्वदा ॥५४॥
जन्ममृत्युजरारोगवलीपलितनाशिनी ।
[खेचरीस्तुतिः शिवभक्तिश्च]
अनया सदृशी विद्या क्व चिच्छास्त्रान्तरे न हि ॥५५॥
खेचरीमेलनं देवि सुगुह्यं न प्रकाशयेत् ।
तस्याश्चाभ्यासयोगो ऽयं तव स्नेहात्प्रकाशितः ॥५६॥
खेचरी नाम या देवि सर्वयोगीन्द्रवन्दिता ।
नैनां यो वेत्ति लोके ऽस्मिन्स पशुः प्रोच्यते शिवे ॥५७॥
नित्यमभ्यासशीलस्य अटतो ऽपि जगत्त्रयम् ।
गुरुवक्त्रोपसंलब्धां विद्यामभ्यसतो ऽपि च ॥५८॥
खेचरीमेलकाद्येषु नित्यं संसक्तचेतसः ।
न सिध्यति महायोगो मदीयाराधनं विना ॥५९॥

---

**54b** स्वात्मन्य् ] आत्मन्य् $\alpha_3$, स्वात्मन् $\gamma_1$ **54c** एषा ] एवं $G\alpha$ **54d** °पतित्वदा ] $\mu$; °पतिस्त* G, °*पति*** $R_2$, °पतिस्तदा $S\alpha_1\beta\gamma$, °पतिस्तथा $\alpha_3$ **55b** वली° ] वलि $AJ_6J_4VJ_3K_6$ ◇ °पलित° ] °दर्पवि° G **56a** °मेलनं ] °मेलन A ◇ देवि ] देवी $\alpha_2VJ_3K_6$ **56b** सुगुह्यं ] सुगुप्तं $\mu$, सगुह्य $K_2$, सगुह्यं $\gamma$ ◇ न प्रकाशयेत् ] $A\alpha_1$; न प्रकारयेत् $J_6J_7$, संप्रकाशितं G, ते प्रकाशितं $S\beta_1PFK_5K_6J_5W_2B$, तत्प्रकाशितं $\alpha_3$, ते प्रकाशित $K_2$, ते प्रकाशितः $J_3$, ते प्रकाशिनी $J_1R_1$ **56c** तस्याश् ] $G\alpha_1\beta_1PFK_5K_6$; तस्य $\mu$, *स्य* $R_2$, तस्यां S, तस्या $J_3$ ◇ चाभ्यास° ] स्वाभ्यास° $\mu$, अभ्यास° $SJ_3$ ◇ °योगो ऽयं ] °योगे यं A, °योगेन $R_2J_4$, °योगश्च $\alpha_1$ **56d** स्नेहात्प्रकाशितः ] दे* **** $R_2$, स्नेहेन कीर्तितः $\alpha_1$, स्नेहात्प्रकाशितं $J_2V$, प्रीत्या प्रकाशितं $J_3$, स्नेहप्रकाशितः F **57a** खेचरी ] मदिरा $\mu$, खेचर्या $\alpha$, खेचरो $\gamma_2R_1$ ◇ नाम या ] न समा $\alpha$, नाम यो $J_1R_1$ ◇ देवि ] $\mu GS\alpha_1K_1J_2K_4K_2J_3FK_5^{ac}J_1R_1$; देवी $K_3J_4VPK_5^{pc}K_6J_5W_2B$ **57b** °योगीन्द्र° ] °योगेंद्र° $\alpha_3\gamma_1$ ◇ °वन्दिता ] °वंदिते $\alpha$ **57c** नैनां ] एनां $G\alpha_1$, तां न $\alpha_3$, नयनां $\gamma_1$ *(unm.)* ◇ यो ] *न*ो G **57d** पशुः ] प्रभुः $\alpha_1$ **58a** °शीलस्य ] °शीलस्या G **58b** अटतो ] आटतो AB ◇ °त्रयम् ] °त्रये $W_1M\alpha_3$ **58c** गुरुवक्त्रोपसंलब्धां ] $\mu$; गुरु*व*क्त्रे पि लब्धस्य G, गुरुवक्त्रादसंलब्धा N, गुरुमन्त्रे च संलभ्य F, गुरुवक्त्राच्च संलभ्य *cett.* **58d** विद्यामभ्यसतो ] विद्यामभशतो A, विद्यामभ्यस्यतो $GK_5$, विद्ययाभ्यासतो $\alpha_3$ ◇ च ] $\mu G\alpha_1$; वा *cett.* **59a** °मेलकाद्येषु ] $\alpha_2$; °मेलनादिश्च $\mu$, °मेळनाद्येषु G, °मेलकाद्यैश्च $S\beta$, °मेलकामेषु M, °मीलकाद्येषु $\alpha_3$, °मेलकाद्यौ श्री $\gamma_1$, °मेलकाद्यैः श्री B **59b** नित्यं ] नित्य° $R_2FK_6$ ◇ संसक्तचेतसः ] सप्रेमवेतसः $\mu$, संसिक्तसेवतः $J_3$ **59c** सिध्यति ] विद्यते G, सिध्यंति $J_4\gamma_1$ ◇ °योगो ] °योगं $\mu$, [..] $R_2$, °योगी $\alpha_2\alpha_3K_2J_3$ **59d** मदीया° ] मदिरा° $\mu$, मदिदं G, गुरुरा° V, महीया° $R_1$

---

**54b** अनेन देवि योगेन वंचयेत्कालमार्गतः यदि मानुष्यकं देहं त्यक्तुमिच्छा प्रवर्तते ततः परमसंतुष्टो ब्रह्मस्थानगतं शिवं । मूलाधार त्रिकोणे वृषणगुदतले वह्निमायांतबीजं पाकस्तं **युक्तं रसनपरिगतं तन्मयं भाविता *ा । **त्यागं कवित्वं परपुरगमनं णां स्याज जीवेदाच*ंद्र*तारं मरणभयहरं सम्यगीशान धा । *add.* G **55–69** *This passage is significantly different in* G *and* $\mu$: *see pp. 139–142 for editions of the passage as found in those witnesses and p. 7 for an analysis of the differences.* **56ab** *illegible* $R_2$ **56cd** *om.* $\alpha_3K_2\gamma$ **56d** एतद्योगो मयाख्यातः किं भूय श्रोतुमिच्छसि शंभोस् संभावनं लभ्य जयेच्चंद्रार्कतारकं *add.* G (≃ 68a, 68d, 69ab), शिवे सकलसिद्धिदा *add.* $K_4$ **57abc** *illegible* $R_2$ **58b – 59a** *illegible* $R_2$ **59d – 60b** *illegible* $R_2$

मत्प्रसादविहीनानां मन्निन्दापरचेतसाम् ।
पशूनां पाशबद्धानां योगः क्लेशाय जायते ॥६०॥
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तां पूजां संत्यज्य मामकीम् ।
युञ्जतः सततं देवि योगो नाशाय जायते ॥६१॥
भक्त्या संतर्पयेद्देवि सर्वलोकमयं शिवम् ।
मय्येवासक्तचित्तस्य तुष्यन्ति सर्वदेवताः ॥६२॥
तन्मां संपूज्य युञ्जीत मत्प्रसादेन खेचरीम् ।
अन्यथा क्लेश एव स्यान्न सिद्धिर्जन्मकोटिषु ॥६३॥
सर्वे सिध्यन्ति मन्त्राश्च योगाश्च परमेश्वरि ।
मदाराधनशीलस्य मय्येवासक्तचेतसः ॥६४॥
तस्मान्मां पूजयेद्देवि सर्वयोगाभिवृद्धये ।
खेचर्यानन्दितो योगी योगं युञ्जीत तन्मयम् ॥६५॥

---

**60a** मत्° ] तत्° $\mu$ ◇ °प्रसाद° ] °प्रसाध° $\alpha_3$, °प्रसादे $PJ_3$ ◇ °विहीनानां ] °विहीनस्य G **60b** मन्निन्दा° ] तन्निंदा° $\mu$, सदा सं° $K_2$ ◇ °परचेतसाम् ] °परचेतसः G, °रतचेतसां S, °पारचेतसां $J_2J_4V$, °सारचेतसां $K_2$ **60c** पशूनां पाशबद्धानां ] पशोः पाशप्रवंधस्य $\mu$, पशोः पाशविबद्धस्य G **61a** सर्वज्ञेन ] सर्वमेतच् G ◇ शिवेनोक्तां ] $J_6MK_2$; छिवेनोक्तां G, शिवेनोक्त P, शिवेनोक्ते F, शिवेनोक्तं *cett.* **61b** पूजां ] पूजा $K_3\gamma$ ◇ मामकीम् ] $S\alpha J_4K_2J_3FK_6$; मादिरीं $\mu$, मानवः G, मामिकीं $J_2VK_4$, मामिकां $PK_5$, मामिका $\gamma$ **61c** युञ्जतः ] $\mu\alpha_2$; यज्यतस् G, युज्यतः $SJ_4VP$-$J_3K_5^{pc}K_6$, पुंजतः M, पूजितः $\alpha_3$, पुज्यतः $J_2K_4$, यज्यते $K_2$, पूज्यतस् F, युज्यत $K_5^{ac}$, पूज्यतः $\gamma$ **61d** योगो ] योगी $\gamma$ **62a** भक्त्या संतर्पयेद् ] $GR_2S\beta\gamma$; वारुण्या तर्पयेद् $\mu$, भक्त्या संजायते $\alpha$ **62b** °मयं शिवम् ] °मयं शिवे $\mu$F, °मये शिवे M **62c** मय्येवासक्तचित्तस्य ] एकविंदुप्रदानेन $\mu$, शिवध्यानपरे पुंसि G, मद्ध्यानाशक्तचित्तस्य $\alpha_3$ **62d** तुष्यन्ति ] तृप्तंते A, तृप्यंते $J_6J_7$, तुष्यंते G, सर्वास्तु° $K_5$ ◇ सर्वदेवताः ] कोटिदेवताः $\mu$, सर्वदेवता $NK_3K_2J_3K_6\gamma_1$, °ष्यंति देवताः $K_5$ **63a** तन्मां ] $\beta_1PJ_3K_5K_6B$; तस्मात् $\mu GS\alpha_1K_1F$, षण्मा° $K_2$, तन्मा $\gamma_1$ ◇ युञ्जीत ] युंजीतः A, युज्यंतं G, संपूज्य $\alpha$, पुंजीत $J_2J_4$, युजात $J_3$, प्रौजीत $\gamma_2R_1$, प्रोंजीत $W_2$ **63b** मत्प्रसादेन खेचरीम् ] $SK_1J_2VPFK_6$; तत्प्रसादपवित्रितः $\mu$, मत्प्रसादपवित्रितं G, ***देन खेचरीम् $R_2$, मत्प्रसादेन खेचरी $\alpha_1J_4K_2J_3\gamma$ **63c** क्लेश ] क्लेशम् $W_1K_1$, क्रीय° $K_2$, क्तेश P ◇ एव स्यान् ] संयाति N, आयाति $W_1$, संपत्तिर् M, आप्नोति $K_1$, पश्यंति $K_3$, °ते देवि $K_2$ **63d** सिद्धिर् ] सिद्धि $W_1\gamma_1$, सिद्धिः $J_3$ ◇ जन्मकोटिषु ] जन्मकोटिभिः $G\alpha$, खेचरीपदः $J_3$ **64b** योगाश्च ] $\mu GM\alpha_3K_5$; यो[..] $R_2$, योगश्च $S\alpha_2\beta_1K_2PJ_3FK_6$, योगस्य $\gamma$ ◇ परमेश्वरि ] परमेश्वरी $\alpha_3VK_2J_3K_6\gamma_1$ **64c** मद्° ] मह्° $\mu P\gamma_1$, [.] $R_2$, सद्° $K_3$ **64d** मय्येवा° ] मयैवा° $AJ_7$, मय्यैवा° $J_6$, मध्याना° $R_2$, मद्ध्याना° $\alpha_3$ **65a** तस्मान्मां पूजयेद् ] GM; तस्मात्सां पूजयेद् $R_2$, तस्मात्पूजयते $\gamma$, तस्मात्संपूजयेद् *cett.* **65b** °योगा° ] °योग° $\alpha_1K_2J_3$, °रोगा° $J_4$, °योगान् B ◇ °भिवृद्धये ] $\mu S\alpha_3\beta_1FK_5$; °भिवृच्छये G, °भिवृद्धयो $R_2$, °विवृद्धये $\alpha_1K_6$, °स्य सिद्धये $K_2$, °निवृद्धये P, °निसिध्ययो $J_3$, °निवर्द्धनी $J_1R_1$, °निवर्द्ध $J_5$ *(unm.)*, °निबर्द्धयत् $W_2$, °विवर्थयन् B **65c** खेचर्या° ] मदिरा° $\mu$, खेचर्यां GN ◇ योगी ] *om.* $\beta_1$, देवि $K_2\gamma$ **65d** योगं ] योगो $AJ_2J_4K_4K_2PJ_3F\gamma$ ◇ तन्मयम् ] नित्यदा $\mu$, मन्मयं $GR_2$

---

**61** *illegible* $R_2$ **62b** गौडी माध्वी च पैष्टी च तथा कादंबरी वराः । कादम्बरी च द्रुमजा माध्वी मधुसमुद्भवा ॥ पैष्टी पिष्टसमुद्भूता गौडीच्चुरससंभवा । तासामेकतमां गृह्य तर्पयेत्सर्वदेवताः ॥ असक्तः सुमहापूजां यदि कर्तुं च साधकः । कुर्याद् बिन्द्वेकदानं वा गुरुवाक्यावलम्बकः ॥ *add.* $\mu$ (*for variants see page 139*) **62c – 63a** *illegible* $R_2$ **63ab** *om.* $K_3$ **64b** सम्यक्पूजाप्रयोगेण मदिरानंदचेत-सः । असंपूज्य पिवेद्देवि मदिरां यः स पापभाक् ॥ *add.* $\mu$, सम्यक्पूजाप्रयोगेन मध्याह्ने मत्तमानसः मामसंपूज्य योगेन पापं भवति नान्यथा *add.* G **64cd** *om.* G

विजने जन्तुरहिते सर्वोपद्रववर्जिते ।
सर्वसाधनसंयुक्तः सर्वचिन्ताविवर्जितः ॥६६॥
मृद्वासनं समास्थाय स्वगुरूक्तप्रकारतः ।
कुर्यादेकैकमभ्यासं गुरुवाक्यावलम्बकः ॥६७॥
अयं योगो मयाख्यातः सर्वयोगप्रसाधकः ।
तव प्रीत्या महेशानि किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥६८॥
श्रीदेव्युवाच
शम्भो सद्भक्तिसंलभ्य जय चन्द्रार्धशेखर ।
त्वया श्रीखेचरीविद्या गुह्या साधु निरूपिता ॥६९॥

इति श्रीमदादिनाथप्रोक्ते महाकालयोगशास्त्रे
उमामहेश्वरसंवादे खेचरीविद्यायां तृतीयः पटलः

---

**66b** °वर्जिते ] °वर्जितः $\alpha_3$ **66c** °संयुक्तः ] °संपन्नः S **67a** मृद्वासनं ] $J_2VPJ_3FK_5K_6J_5W_2B$; मृद्वानसम् A, मृद्वास[नं] $J_6$, मृद्वासन $J_7J_4K_4$, मद्वर्णं च G, **सनं $R_2$, सिद्धासनं $S\alpha_1K_2$, रुद्रासनं $\alpha_3$, सद्वासनं $J_1R_1$ ◇ समास्थाय ] आस्थाय A *(unm.)*, समासाद्य $\alpha_1$, समास्थाप्य $\gamma_1$ **67c** एकैकमभ्यासं ] एकैकया देवि G, वैकैकमभ्यासं $\alpha_3$ **67d** °वाक्या° ] °मार्गो° $\alpha_3$, °मार्गा° $K_2$ ◇ °वलम्बकः ] °वलंबकं $\alpha_2$V **68a** अयं योगो ] एत योगं A, एतद्योगं $J_6J_7$ ◇ °आख्यातः ] °आख्यातं $\mu K_2$, °आख्यातो $\gamma$ **69a** शम्भो ] शंभोः $\alpha_3$, शन्तो $J_3$, शनो $K_6$ ◇ सद्भक्ति° ] $SK_3$-$J_2VK_4PJ_3FK_5\gamma$; सद्भाव $\mu W_1$, संसि*क्त* $R_2$, स⊔क्ति N, यद्भक्ति M, सद्भक्तिं $K_1K_2$, मद्भक्ति $J_4$, स*क्ति $K_6$ **69b** जय ] जपं M, जयं $\alpha_3\gamma_1$ ◇ °चन्द्रार्ध° ] चंद्रकं $K_1$, चंद्रक $K_3$, °चंद्रार्क° $\gamma$ ◇ °शेखर ] खेचरी $\alpha_3$, °शेखरे $J_2J_4K_4K_2W_2$, °खेचरः V, °शेखरा $K_6$, °शेखरं $\gamma_2R_1$ **69c** श्री° ] च G **69d** गुह्या साधु निरूपिता ] $S\alpha_1\beta$; °साधनं गुह्यमीरितं $\mu$, सारवत् गुह्यतामियात् G, गुह्या सा च निरूपिता $\alpha_3$, गुह्यगुह्यनिरूपिता $J_1$, गुह्यद्गुह्यनिरूपिता $J_5W_2$, गुह्यागुह्यनिरूपिता $R_1$, गुह्याद्गुह्या निरूपिता B

---

**66cd** *om.* $\mu$G **67b** संतर्प शिवमीशानं सर्वदेवोत्सवप्रदं मत्प्रसादेन महता सर्वविज्ञानवान् भवेतसक्त-*स्सु*महापूजां यदि क*र्तुं* च साधकः *add.* G **67cd** *om.* $\mu$ ◇ संतर्प्य शिवमीशानं देवीं देवांश्च सर्वशः । तत्प्रसादेन लभते सम्यग् ज्ञानमखण्डितं ।। *add.* $\mu$ **68a– 69b** *om.* G (*see addition at* 56d) **68ab** *om.* $R_2\alpha_3$ **68bc** *om.* $\mu$ **68d** इति श्रीमत्स्येंद्रसंहितायां षोडशः पटलः ।। *add.* $\mu$ **69d** *illegible* $R_2$

## चतुर्थः पटलः

[सिद्ध्यौषधानि]
अथ ते संप्रवक्ष्यामि सुदिव्यान्यौषधानि च ।
औषधेन विना योगी न क्व चित्सिद्धिमेष्यति ॥१॥
भिक्षूत्तमाङ्गपरिकल्पितनामधेयं
तत्पत्रपुष्पफलदण्डसमूलचूर्णम् ।
तक्रारनालपयसा मधुशर्कराद्यै
र्द्द्यात्पृथक्कवलितं रसमण्डलानि
†पालित्यहानिमतिसत्त्वमुदारवीर्यम्
उत्साहरोगहरणानि च सम्यगेव† ॥२॥
कर्णे वराहो नयने गरुत्मान्

*Witnesses for the fourth* paṭala:
$AJ_6J_7SNW_1MK_1K_3J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5J_1J_5W_2R_1B$; $K_6$ (*up to* 2a); O (*verse* 4)
$\mu=AJ_6J_7$ ◇ $\alpha=NW_1MK_1K_3$ $\alpha_1=NW_1M$ $\alpha_2=NW_1$ $\alpha_3=K_1K_3$ ◇
$\beta=J_2J_4VK_4K_2PJ_3FK_5K_6C$ $\beta_1=J_2J_4VK_4$ ◇ $\gamma=J_1J_5W_2R_1B$ $\gamma_1=J_1J_5W_2R_1$ $\gamma_2=J_1J_5$

**1a** अथ ते ] $\mu$; अथातः *cett.* **1b** सुदिव्यान्य् ] $S\alpha_1K_1J_2B$; सुदिव्यान् $\mu J_4$, सुदिव्यौन्य् $K_3$, ते दिव्यान्य् $VK_2K_5K_6$, दिव्यान्य् $K_4$ *(unm.)*, त दिव्यान्य् P, मे दिव्यान्य् $J_3$, देवि दिव्य् F, दिव्यानि $\gamma_2$, दिनि $W_2$ *(unm.)*, दिव्या $R_1$ *(unm.)* ◇ च ] $\mu\alpha J_1R_1$; तु *cett.* **1c** योगी ] योगं $\alpha_3$ **1d** क्व ] कश् $\alpha_3$, किं $J_4$ ◇ एष्यति ] $J_6S\alpha\beta_1PJ_3FK_5K_6$; इर्ष्याति A, इष्यसि $J_7$, इच्छति $K_2$, इष्यति $\gamma_1$, आप्नुयात् B **2a** भिक्षू° ] भिक्षण° $\mu$, साक्षा° $\alpha_3$, भिक्षु° $J_2K_4$, मिक्षु° $J_4$, भिक्ष° $PR_1$ ◇ °त्तमाङ्ग° ] °तमांग° A, °त्तमंग° $\alpha_3$, °तंमाग° $J_4$, °त्तमां $\gamma$ *(unm.)* ◇ °धेयं ] $S\alpha_1\gamma$; °धेय $\mu K_5$, °धेया $\alpha_3J_2K_4$, °ध्येया $J_4$, °धेय VF, °ध्येयं $K_2$, °ध्येय P, °मध्ये $J_3$ **2b** तत्° ] यत्° $J_3$ ◇ °पत्रपुष्प° ] °पुष्पफुलं $K_2$, °पत्रापूष्प° $J_3$, °पुष्पपत्र° B ◇ °फल° ] °फलं VP, °वस° $K_2$ ◇ °दण्ड° ] °मूल° $\alpha_3$ ◇ °चूर्णम् ] °पूर्णं $\alpha_3$ **2c** तक्रा° ] तत्क्रा° S, तिक्ता° $\alpha_3$, तक्ता° $J_2VB$, त्वक्रा° $K_2$ ◇ मधु° ] घृत° M ◇ °आद्यैर् ] $\mu F$; °आज्यैर् *cett.* **2d** दद्यात् ] $\mu S\alpha_1J_2VPFK_5$; यादः $\alpha_3$, दृद्यात् $J_4$, तद्यात् $K_4$, देया $K_2$, दद्या $J_3$, दद्यत् $\gamma_2W_2$, चाह्य $R_1$, दध्यत् B ◇ पृथक्° ] क्व चित् $\alpha_3$ ◇ °कवलितं ] $\mu SNMJ_2VPFK_5\gamma$; °ववलितं $W_1J_4K_4$, °क्रमगवं $K_1$, °कमगवं $K_3$, °वलित्त्वं $K_2$ *(unm.)*, °ववलिने $J_3$ **2e** पालित्य° ] $J_6J_7W_1M\alpha_3J_2VK_4$; पलित्य° A, पलित° $SJ_3$, पालिस° N, पालित° $J_4P$, पलि° $K_2$ *(unm.)*, वलीपलित° F *(unm.)*, मालिन्य° $K_5$, पलितं $\gamma$ ◇ अतिसत्त्वम् ] $\mu S\alpha J_2J_4VPJ_3FK_5$; अलिसत्वम् $K_4$, असत्त्वम् $K_2$ *(unm.)*, अतियतित्वम् $\gamma_1$ *(unm.)*, अयतित्वम् B **2f** उत्साहरो° ] $\mu\alpha$; उत्साहसे° S, उत्सापयेद् $J_2$, उत्प्रापयेद् $J_4$, उत्थापयेद् $VPJ_3$-$FK_5$, उछापयेद् $K_4$, उत्थायएद् *(sic)* $K_2$, उत्थाय यो $J_1$, उत्थाप यो $J_5W_2$, उ*त्थ*ाय यो , उत्थाप्य यो B ◇ °गहरणानि च ] $J_6$; °गहरिणानि च $AJ_7$, °कगमानानि च S, °गगहनानि च $NW_1K_1$, °गहनननानि च M *(unm.)*, °गगहना*नि* $K_3$, गहनतानव $J_2J_4VK_2PK_5\gamma$, गहनतानाव $K_4$ *(unm.)*, गगनताथने $J_3$, दहनतानव F ◇ सम्यगेव ] $\mu J_2J_4K_4PJ_3F$; सर्वमेव $S\alpha$, संगमेव V, सम्यगेवा $K_2$, संम्यगेव $K_5$, सभ्यगेव $\gamma_2R_1$, सभ्यगे च $W_2B$ **3a** कर्णे ] $\mu S\alpha_1J_2VK_4K_2K_5$; कर्णो $\alpha_3J_4$, कर्णौ $PFJ_1$, कर्णैं $J_3$, करणौ $J_5W_2$, वर्णो $R_1$, कर्णा B ◇ वराहो ] वराहेः N, वराही $J_2J_4$, वराहुर् $K_2$, चराहो $PJ_3F$, वरोधो B ◇ नयने ] नद्यने $\alpha_3$ ◇ गरुत्मान् ] $AJ_6MK_5$; गरुच्यान् $J_7$, गजस्यान् S, गरूत्मान् $\alpha_2J_4V$, नवात्मा $\alpha_3$, गरुत्मा $K_4$, रुगमान् $K_2$, गरुपान् PF, गरूपान् $J_3$, गरुडयान् $\gamma_2R_1$ *(unm.)*, गरुड्यान् $W_2$, गरुड्पान् B

**2a** परिकल्पित ] प *end of $K_6$: f.22 damaged*

नखाश्च दन्ताः किल वज्रतुल्याः ।
युवा महामारुतसाम्यवेगो
जीवेच्च यावद्धरणीन्दुताराः ॥३॥
वाराहीकन्दचूर्णं घृतगुडसहितं भक्षयेत्पुष्टिवृद्धी
तक्रे दुर्नामनाशस्त्वथ पुनरपि गोक्षीरके कुष्ठनाशः ।
तच्चूर्णं शर्कराद्यैर्मधुमपि च पयः पाययेच्च द्विकालम्
द्वौ वर्षौ कृष्णकेशी हतवलिपलितः †कृष्णभेदी शरीरे† ॥४॥
एरण्डतैलसंयुक्तं गुग्गुलुं त्रिफलायुतम् ।
गन्धकं भक्षयेत्प्राज्ञो जरादारिद्र्यनाशनम् ॥५॥
अश्वगन्धा तिला माषाः शर्करा विश्वसर्पिका ।

---

4 *cit.* “खेचरीविद्या” (O) f.8v

---

**3b** नखाश्च ] अखंड° $\mu$ ◇ दन्ताः ] दंतश् $\mu$, दंताश् $\alpha_3$, दंता $\beta_1PJ_3\gamma_2$, देता $W_2$ ◇ किल वज्रतुल्याः ] $S\alpha_1J_2VK_2FK_5$; च भवेच्च वज्रं $\mu$, च पुनर्भवेयुः $\alpha_3$, किल वज्रतुल्यः $J_4K_4$, किल वज्रतुल्या P, खिल वज्रतुल्या $J_3$, किल वज्रतुल्यं $\gamma_1$, किल च न तुल्याः B **3c** युवा ] वायु $R_1$ ◇ °साम्य° ] °तुल्य° $MK_5$, सम्यग् $\beta_1PJ_3F\gamma$ ◇ °वेगो ] $J_6J_7S\alpha K_2K_5$; °वेगा A, एव $\beta_1J_3$-$F\gamma$, अव P **3d** जीवेच्च ] $\mu M$; जीवेत्तु $SJ_2VK_4PFK_5$, जीवेत्स N, जीवेंदु $W_1$, जीवेत $\alpha_3B$, जीवेत् $J_4$ *(unm.)*, जीवे तु $K_2J_3$, जवे च $\gamma_2$, जीवे च $W_2$, जवे*च्च*$R_1$ ◇ यावद् ] पार्वं $K_2$ ◇ धरणीन्° ] $\mu SW_1M\alpha_3$; वरणीं° N, धरणी° $J_2K_4K_2PFK_5$, हरणी° $J_4$, धरस्मी° V, वरणां° $J_3$, धरिणा° $\gamma_1$, वरिणा° B ◇ °दुताराः ] $\mu S\alpha$; °हुताशः $J_2K_4PFK_5B$, °हुतासः $J_4K_2$, °हुतांशः V, °गतासः $J_3$, °हताश $\gamma_2R_1$, °हुताश $W_2$ **4a** वाराही° ] चाराही° $\alpha_2$ ◇ °कन्द° ] °स्कन्द° $K_1$, °स्कद° $K_3$ ◇ °घृत° ] °शघृत° $J_2K_4$ *(unm.)*, °शंघृत° $J_4$ *(unm.)* ◇ भक्षयेत् ] भक्षयेद् $\alpha_3$ ◇ °वृद्धी ] SN; °वृध्यौ $\mu$, °वृद्धिस् $M\beta_1O$, °वृद्धि $W_1$, °वृध्या $K_5$ **4b** तक्रे दुर्नाम° ] $\mu$; तक्रैर्दुर्नाम° SN, तक्रैर्दुनाम° $W_1$, तक्तें दूनाम° M, तर्क्रे दुर्नाम° $J_2J_4V$, तक्रें दुर्नाम° $K_4$, तक्रैन्र्दुर्नाम° $K_5$, तक्रे दुर्माम° O ◇ °नाशस्त्वथ ] $\mu S\alpha_2K_5O$; नाशस्तथ M, नासस्त्यथ $J_2VK_4$, न समय $J_4$ ◇ कुष्ठ° ] $SMK_5^{pc}$; कुष्ट° $\mu\alpha_2J_2J_4K_4K_5^{ac}O$, कृष्ट° V **4c** तच्चूर्णं ] $\mu S\alpha_1VK_5$; तच्चूर्ण $J_2$, तचूंर्णं $J_4$, तद्वर्ण $K_2$, तद्वर्णं $K_4PJ_3F$, तद्वन्मधुशार्करादुग्धवर्णं $\gamma$ *(unm.)*, तद्वर्सं O ◇ °शर्क° ] °संक° $K_2$ ◇ °राद्यैर् ] °राज्यैर् $S^{pc}W_1^{ac}MJ_3$ ◇ मधुमपि च पयः पाययेच् ] $\mu$; मधुयुतमपि यः सेवते S, मधुरपि च यः सेवयेत् N *(unm.)*, मधुरपि च यत्सेवयेत् $W_1$ *(unm.)*, मधुरपि च पयः सेवते M, मधुरपि च पी*य*ते $J_2$ *(unm.)*, मधुरपि च पुन पीयते $J_4$, मधुरपि वयज सत्ते V *(unm.)*, मधुरपि च पयते $K_4$, मधुर पिवेतयोमिनः $K_2$ *(unm.)*, मधुरपि वययते P *(unm.)*, मधुर पिविते $J_3$ *(unm.)*, मधुरपि पिबते F *(unm.)*, मधुरपि वसते $K_5$ *(unm.)*, मधुरपी पिवेते $\gamma_2R_1$ *(unm.)*, मधुरपी पिबसे $W_2$ *(unm.)*, मधुरपी पिवसेत् B *(unm.)*, मुधुरमपि पयः पीयते O ◇ च द्विकालम् ] $\mu$; सर्वकाल $\gamma_1$, सर्वकालं *cett.* **4d** द्वौ ] द्वि° $F\gamma$, व° O ◇ वर्षौ ] वर्षो $\mu K_4$, कर्षौ $S\alpha_2$, °र्षाभ्यो O ◇ °केशी ] °केशो SMO, °केशा $\gamma$ ◇ हत° ] वलि° $\mu$, दुत N, *द्रु*त $W_1$ ◇ °वलि° ] °पलि° $\mu$, °वलीत° $J_4$ *(unm.)*, °वहलि° V *(unm.)*, °वल° $K_2$, °वली° $K_5^{ac}W_2B$ ◇ °पलितः ] $\alpha_1K_5O$; °तहरो $\mu$, °पतितः S, °पलीता $J_2J_4K_4$, °पलिता $VK_2J_3$, °मलीताहतवलिमलिता P *(unm.)*, °पलितं F, °पलित $\gamma$ ◇ †कृष्ण°† ] वर्ष° $\mu$, कार्श्य° $S\alpha_2$, *क्षं*° $J_4$ *(unm.)*, क्षष्ण° $K_4$, कृष्ट° $K_2$ ◇ †शरीरे† ] $\mu MJ_3K_5O$; °शरीरं *cett.* **5a** °तैलसंयुक्तं ] °फलतैलेन $\mu$ **5b** गुग्गुलुं ] FB; त्रिफला $\mu$, गुग्गुलं *cett.* ◇ °त्रिफलायुतम् ] गुग्गुलेन च $\mu$ **5c** प्राज्ञो ] प्राज्ञे $VK_5$ **5d** जरा° ] वली° M, मासे $J_1$ ◇ °दारिद्र्य° ] $S\alpha_2FK_5B$; °दारिद्र° $AJ_7J_2VK_4K_2J_3W_2$, °दारिड्य° $J_6$, °पलित° M, °दरिद्र° $J_4$, °दारिद्रा° P, नदज° $J_1R_1$ *(unm.)*, द $J_5$ *(unm.)* ◇ °नाशनम् ] °रामर $J_1R_1$, *om.* $J_5$ **6a** °गन्धा ] °गंध $\alpha_2$, °गंधास् M ◇ °तिला° ] °तिल° $\alpha_2\alpha_3$ *(unm.)* ◇ °माषाः ] $\mu SM$; °माष° $\alpha_2\alpha_3\gamma$, °माषा° $\beta$ **6b** °विश्वसर्पिका ] S; °विश्वसर्पिषाः $\mu$, °स्वसर्पिध्यानं $\alpha_3$ *(unm.)*, °किश्वसर्पिषा $K_4$, °विश्वसर्पिषा *cett.*

---

**4ab** *om.* $K_2PJ_3F\gamma$ **4a** पुष्टिवृद्धिस् – **5d** *om.* $\alpha_3$

मासमात्रप्रयोगेन न रोगो मरणं भवेत् ॥६॥
पञ्चभिः पञ्चमासेन प्राप्यते ऽमरता प्रिये ।
गन्धकत्रिफलाकुष्ठं मधुरत्रयमेलितम् ॥७॥
भक्षयेत्प्रातरुत्थाय षण्मासाद्वलिपालिहा ।
पारदं गन्धकं देवि तालकं च मनःशिलाम् ॥८॥
कुनष्टिकायष्टिरजो रुद्राख्यं मुण्डिकारजः ।
त्रिमधुप्लुतमास्वाद्य वत्सरात् खेचरो भवेत् ॥९॥

भृङ्गं समूलं परिशोष्य चूर्णं
 कृष्णांस्तिलांश्चामलकं तदर्धम् ।
मधुत्रयैः स्वाद्य सदैव वर्षान्
 न व्याधयो नापि जरा न मृत्युः ॥१०॥

---

**6c** मास° ] षरामास° $\alpha_3$ *(unm.)* ◇ °मात्र° ] °त्रय° $MVJ_3$ **6d** न रोगो मरणं भवेत् ] नरो मरवरं लभेत् $\mu$, नरः परमपदं लभेत् $\alpha_3$ *(unm.)* **7b** प्राप्यते ] $\mu\alpha_3$; प्राप्नोति *cett.* ◇ ऽमरता ] $\mu$; परमां $SNMJ_4VK_4K_5$, परमं $W_1F$, मरतां $\alpha_3$, परमा $J_2K_2P\gamma$, परम $J_3$ **7c** गन्धक° ] $V\gamma$; गंधकं *cett.* ◇ °कुष्ठं ] $J_6SMFW_2$; °क्रुष्टं A, °कुष्टं $J_7\alpha_2K_1\beta_1K_2P\gamma_2R_1B$, °कुष्ठ $K_3$, °युष्टं $J_3$, °कुष्ट $K_5$ **7d** मधुरत्रय° ] मधुश्रय° $\gamma$ *(unm.)* **8b** वलिपालिहा ] $\mu\alpha_1J_2K_4K_5^{pc}$; वलितादिहा S, वलिपालिताद् $\alpha_3$, वलिपालितहा $J_4$ *(unm.)*, वलितापही V, वलिपल्लिहा $K_2$, वलित्पलिथा P, वलिपलितिहा $J_3$ *(unm.)*, वलिपलितहा $FW_2$ *(unm.)*, वलीपालिहा $K_5^{ac}$ *(unm.)*, वलिपलिहं तदा $\gamma_2$ *(unm.)*, वलिदंतदा $R_1$, पलितापहं B **8d** तालकं ] तारकं AN ◇ °शिलाम् ] $S\alpha_2K_1\gamma$; °शिला $AJ_6MK_3\beta_1K_2PFK_5$, °शिलाः $J_7J_3$ **9a** कुनष्टिका° ] $\beta_1K_2PF$; कुपष्टिका A, कुयष्टिका $J_6J_7$, कुष्ठं च ना° S, कुवंगना° $\alpha_2$ *(unm.)*, कुवंगन° M, कनिष्टिका $\alpha_3$, कनिष्टीका $J_3$, कुष्टिका° $K_5$ *(unm.)*, जवासा च $\gamma$ ◇ यष्टिरजो ] $J_6J_7\beta_1PFK_5$; यष्टिरजौ A, °डिकायष्टि° S, °टिकायष्टि° $\alpha_2$, °मटिकायष्ति° M *(unm.)*, यष्टिरयो $K_1$, यष्तिरयो $K_3$, नष्टरुजो $K_2$, नष्तिरजो $J_3$, जेष्टिरजो $\gamma_1$, ज्येष्टिरजो B **9b** रुद्राख्यं ] $\beta_1PJ_3K_5\gamma$; रुद्राक्ष्वं $\mu F$, °रजोरु° $S\alpha_1$, मद्राक्षंम् $K_1$, मडाक्षं $K_3$, रुद्राख्या $K_2$ ◇ मुरिडका° ] $\mu J_2VK_4PFK_5^{pc}J_1B$; °[द्रा]क्षमुं° S, °द्राक्षमुं° $\alpha_2$, °द्राक्षमु° M, मदुका° $\alpha_3$, मुडिका° $J_4J_5W_2R_1$, मुंडका° $K_2$, मुद्रिका° $J_3$, मुंडीका° $K_5^{ac}$ ◇ °रजः ] $\mu$; °डिका $S\alpha_2$, श्रा[डि]का M *(unm.)*, °रजाः $\alpha_3$, रसः $J_2VK_4K_2FK_5^{pc}\gamma$, रस $J_4K_5^{ac}$, रतः P, सरः $J_3$ **9c** त्रिमधु° ] $\mu\alpha_3$; मधुर° S, मधुरा° $\alpha_1$, त्रिमधुरा° $\beta_1K_2PJ_3K_5\gamma_1$ *(unm.)*, त्रिमध्या F, त्रिमध्वा B ◇ °प्लुतम् ] °त्रयम् S ◇ श्रास्वाद्य ] $\mu$; श्रासाद्य *cett.* **9d** वत्सरात् ] $AS\alpha J_2J_4VPFK_5$; वत्सरा $J_6J_7J_3$, वसरा $K_4$, वत्सराद् $K_2$, वद्वत् $\gamma_2R_1$ *(unm.)*, वद्धत् $W_2$ *(unm.)*, ब*द्ध*वत् B ◇ खेचरो ] $\mu K_3$; सबलो $SNVK_4FW_2$, प्रबलो $W_1$, सवलो $MJ_2PK_5\gamma_2R_1$, एव चरो $K_1$ *(unm.)*, सवलोक $J_4$ *(unm.)*, वत्सली $K_2$, वत्सलो $J_3$, सबली B **10a** भृङ्गं समूलं ] मृगं समूलं $\gamma_2R_1$, मृगसंमूलं $W_2$, मृगस्य मूलं B ◇ परिशोष्य ] परिपेष्य $SW_1M$, परिपेष्ट्य N, परिशोध्य $K_1$, शोष्यं $K_5$ *(unm.)* ◇ चूर्णं ] $J_6J_7SNM\alpha_3J_4K_2J_3F$; चूर्ण $AW_1$, क्षिप्ता $J_2$, वंशैवचूर्णं V *(unm.)*, च शैवचूर्णं $K_4$ *(unm.)*, च शैलचूर्णं $PK_5$ *(unm.)*, शैलं $\gamma$ **10b** कृष्णांस् ] $S\alpha_2$; कृष्णास् $\mu MPJ_3F$, कृष्णां $\alpha_3$, चूर्णंस् $J_2$, क्षिस्वा $J_4$, कृष्णा $VK_2K_5$, क्षप्लाष्णास् $K_4$ *(unm.)*, कृष्णाति $\gamma$ *(unm.)* ◇ तिलांश् ] *em.*; तिला $\mu VK_4$, तिलान् $S\alpha_2$, $MK_2F$, तिलं $\alpha_3$, तिलां $J_2J_4PJ_3K_5$, शिलाजित $\gamma_2R_1B$ *(unm.)*, ति*शिलाजित $W_2$ *(unm.)* ◇ चामलकं ] ह्यामलकं $\mu$, श्रामलकं $S\alpha_2$, वामलकं $\gamma_1$ ◇ तदर्धं ] तदर्धे A, तदर्ध $NJ_2J_3R_1$, दधि च $\alpha_3$, तदर्थं B **10c** मधु° ] मधुर° $\beta_1K_2P\gamma$ *(unm.)* ◇ °त्रयैः ] $J_6S\alpha\beta$; °त्रये A, °त्रयै $J_7$, °त्रय° $\gamma$ ◇ स्वाद्य ] $S\alpha\beta_1K_2PJ_3F$; खाद° $\mu$, खाद्य $K_5\gamma_1$, खाद्यं B ◇ सदैव वर्षान् ] °ति यस्त्रिवर्षं $\mu$, नरोत्तमा $\alpha_3$ **10d** न व्याधयो नापि ] निव्याधोपरोगा न $K_1$, निव्याधोयरोगा न $K_3$

---

**6c** हस्तिना सह युध्यते । त्रिफला पुष्करो ब्राह्मी निःसाकोतिललंसनी पुनर्नवा वृद्धतारा †न ययुः† स्नेहमिश्रिता । षरामासाहारयोगेन *add.* $\mu$ **6d – 7a** *om.* $J_4$ **7d** घृतमधुशर्करा *add.* $W_1^{mg}$

निर्गुण्डीपत्रमेकैकं त्रिकालं परिभक्षयेत् ।
द्वादशाब्दे भवेद्देवि जरामरणवर्जितः ॥११॥
निर्गुण्ड्यमलमुण्डीनां समं संसाधयेद्रजः ।
शर्कराघृतमध्वक्तं वत्सराद्वलिपालिहा ॥१२॥
माषकं गन्धकं स्वर्णं तालकं रुद्रलोचनम् ।
मधुत्रययुतं वर्षादजरामरणप्रदम् ॥१३॥
रसं शाल्मलिनिर्यासं गन्धकं मधुरत्रयैः ।
भक्षयेत्प्रातरुत्थाय षण्मासादजरामरः ॥१४॥

इति श्रीमदादिनाथप्रोक्ते महाकालयोगशास्त्रे
उमामहेश्वरसंवादे खेचरीविद्यायां चतुर्थः पटलः

---

**11a** निर्गुंडी° ] निर्गुंठा° $\alpha_3$ ◇ एकैकं ] $\mu W_1\alpha_3$; एकं तु $SMVK_2PJ_3K_5\gamma$, एकं यस् N, एकं $J_2J_4K_4F$ *(unm.)* **11b** परिभक्षयेत् ] परिभावयेत् $\mu$ **11c** °आब्दे ] °आशाद् $\mu$, °आब्दाद् $\alpha_3$, °आब्देन $J_2J_4$ *(unm.)* **12a** निर्गुण्ड्य्° ] $\mu S\alpha_2$; निगुंड्य्° M, निर्गुंठ्य° $K_1$, निगुड्य्° $K_3$, निर्गुंड्° $\beta B$, निगुंड्° $J_1$, निगुड्° $J_5W_2$ ◇ °अमल° ] $\alpha_2$; °अनल° $\mu$, °आमल° $SMK_4$, °आनल° $\alpha_3$, °ईमल° $J_2VK_2PJ_3FK_5$, °ईमूल° $J_4J_1$, °इमूल° $J_5W_2$, °ईमूलं B ◇ °मुण्डीनां ] $J_2J_4K_4K_2$-$J_3FJ_1$; °मुडाना A, °मुंडानां $J_6J_7$, °कीमुंडी $SW_1$, °मुंडी N *(unm.)*, °मुंडानां M, °निर्मुंडी $\alpha_3$, °मुंठानां V, °मुडीनां P, °तुंडानां $K_5$, °मुडिनां $J_5W_2$, °मुडिना B **12b** समं ] साम्यं $\mu\alpha_3$, समा $K_2W_2B$, समां $\gamma_2$ ◇ रजः ] $\mu\alpha$; रसं $SJ_2$, रसः $J_4VK_2PJ_3K_5\gamma$, रस $K_4$ **12c** °मध्वक्तं ] $\mu$; °मध्वेकं $SJ_2J_4K_4J_3$, °मध्येक N, °मध्वेक $W_1$, °मध्येकं $MVK_2PK_5\gamma$, °मध्वर्कं $\alpha_3$, °मध्वैकं F **12d** वलिपालिहा ] $\mu S\alpha_1\beta_1P$; पलितापह $K_1$, पलितापहं $K_3$, वलिपल्लितहा $K_2$ *(unm.)*, वलिपलीतहा $J_3\gamma_1$ *(unm.)*, वलीपलितहा F *(unm.)*, वलिपालीहा $K_5$ *(unm.)*, वलितपलितहा B *(unm.)* **13a** माषकं ] S; माषान्य° A, माषान्न° $J_6J_7$, षण्माषं N, षण्माष $W_1$, षण्मासं $MJ_4$, षण्मास $\alpha_3$, णमाषसं $J_2^{ac}$, मासंद् $J_2^{pc}$ *(unm.)*, माषमुद् V, मासामद् $K_2$, माषमद् $PJ_3FK_5$, माषाद् $\gamma$ *(unm.)* ◇ गन्धकं ] °मुद्गकं $AJ_7$, मुहकं $J_6$ ◇ स्वर्णं ] स्वर्णो $J_6V$ **13b** तालकं ] तारकं N, तिलकं $\alpha_3$ ◇ रुद्र° ] भद्र° $AJ_7$ **13c** मधु° ] मधुर° $\alpha_3K_2\gamma$ *(unm.)* ◇ वर्षाद् ] वर्षाज् $\mu$, चूर्ण $\alpha_3$, वर्षाद्य् N **13d** अजरामरणप्रदम् ] जरामरफलप्रदं $\mu$, अजरामरणप्रदा $J_6$, अजरामरपदप्रदं $\alpha_3$ *(unm.)*, अजरामरणं पदं $\gamma_1$ **14a** रसं ] रस° $MK_3J_2J_4K_4K_2P$ ◇ °निर्यासं ] निर्यास° $\alpha_3$, निर्यातं $K_2J_3$ **14b** °त्रयैः ] $\mu\alpha_3$; °त्रयं *cett.*

---

**11d** कुमारीपत्रमेकैकं त्रिकालं परिभक्षयेत् द्वादशाब्दा भवेद्देवि जरामरणवर्जितः *add.* $\mu$ **12** *om.* $R_1$ **13b** मधुत्रययुतं वर्षादजरामरणप्रदा उपामृद्गंधकं स्वर्णं तालकं भद्रलोचनं *add.* $J_6J_7$ **14b** आज्यं गुडो माक्षिकं च विज्ञेयं मधुरत्रयं *add.* $\gamma$

# The *Khecarīvidyā*
# An annotated translation

# Chapter I

"Now,[190] o goddess, I shall teach the magical science[191] called Khecarī[192] by means of which, when it is understood,[193] one becomes ageless and undying in this world. Seeing this universe stricken by death, disease and decrepitude, my dear, one should steel one's resolve and take refuge in Khecarī. To him should one pay homage and turn to as guru with [one's] whole heart,[194] o goddess, who here on earth knows Khecarī, the destroyer of decrepitude, death and disease, in letter and spirit,[195] and practice.[196]

## *[Melaka]*

The mantra of Khecarī is hard to obtain and so is its practice. The practice[197] and *melaka*[198] are not perfected at the same time. [The yogin] intent on just the practice might not attain *melaka* in this life. Through [carrying out] the practice, o goddess, he obtains [*melaka*] sometime in a subsequent life. *Melaka,* however, is not achieved even after one hundred lives [without carrying out the practice].[199] Carrying out the practice, which has been obtained by means of the correct emotional attiude, after many lives the yogin attains *melaka*, o goddess, sometime in a later life. Now when, o supreme goddess, the desirous [yogin] attains *melaka*, then he attains the *siddhi*[200] which is described in the textual tradition. When [the yogin] attains *melaka*, both in letter and spirit, then, freed from the terror of transmigration, he becomes Śiva.

## [This text]

Without [this] text, even gurus cannot understand [the mantra of Khecarī]. So, my dear, this very, very precious text must be obtained. As long as one does not have this text one shall wander about the earth. When it is obtained, o goddess, then *siddhi* is in [one's] hand. Without [this] text there is no *siddhi* even for one who wanders about the three worlds. So [the yogin], o goddess, should always worship Śiva, recognising [him] as the giver of *melaka*, the giver of the text, and the bestower of its practice.

I have taught many tantras, o goddess, [but], o you who are worshipped by the gods, in them the Khecarī *siddhi*, which destroys death, is not taught. *Mahākāla*[201] and *Vivekamārtaṇḍa*[202] and *Śābara*[203] and *Viśuddheśvara*[204] and *Jālaśamvara*:[205]

in these excellent tantras[206] the practice of [Khecarī] is proclaimed. *Melaka* and the other [results obtained] by means of Khecarī [are proclaimed in these tantras] sometimes clearly, sometimes unclearly. In this divine best of tantras *melaka* and the other [results] are proclaimed. Out of fondness for you I have taught here everything that there is to be known in the Khecarī doctrine[207] that might be hard to know. Therefore [the yogin] should procure this amazing text told by me; it has not been made public and is to be kept secret, o great goddess.

He alone is a guru who speaks the nectar of the teaching born from the lotus of my
20 mouth; moreover, he who knows its implicit meaning is said to be the best [guru]. There is no guru better than him.

Having obtained this secret text one should not proclaim it to others.[208] After due consideration, it is to be taught to those who live on this path. He who makes this supreme text public to all and sundry will be quickly eaten by Yoginīs, o goddess, at the order of Śiva.[209] One should not untie its knot,[210] o goddess, without [performing] a *kaula* libation.[211] [After it has been] worshipped, placed upon an auspicious cloth and well scented with divine incense,[212] one should recite it in a place free of people to a yogin skilled in yoga. Distress [arising] from fire, illness, malign astrological influences and enemies undoubtedly arises in a house where
25 this text is found unworshipped.[213] The family deities that bestow all wealth are present in the house where this book is worshipped, o Pārvatī. Therefore the wise man should protect [this book] with every effort. The yogin who wants these *siddhi*s described by me should guard this book with all [his] being.[214] I myself am the guru of him in whose possession the book is found, o goddess. The advantages and disadvantages [resulting] from the protection of [this] book have been clearly described by me, o great goddess.

## [The Khecarī mantra]

Now hear [the mantra and practice of] Khecarī. And one should go, o goddess, to where there is a guru who has perfected the divine yoga and, after receiving the
30 *vidyā* called Khecarī spoken by him, one should begin by scrupulously and tirelessly carrying out the practice described by him.

I shall proclaim the Khecarī mantra, which grants success in yoga, o goddess. Without it a yogin cannot enjoy Khecarī *siddhi*. Practising the yoga of Khecarī by means of the Khecarī mantra preceded by the Khecarī seed syllable, [the yogin] becomes lord of the Khecaras and dwells amongst them forever.[215]

The abode of the Khecaras[216] [and] fire,[217] adorned with the mother[218] and the circle,[219] is called the Khecarī seed-syllable.[220] By means of it yoga is successful.

The great Caṇḍā, which is known as the peak, bearing the flaming, fiery thunderbolt [and] joined with the previously described seed-syllable, is called the Vidyā [and] is extremely hard to obtain.[221]

35 [Now] I shall teach the six-limbed mantra.[222] [The yogin] should correctly[223] perform [the mantra-repetition] with it interspersed with the six [long] vowels, o goddess, in order to obtain complete success.[224] One should take the ninth letter

back from Someśa. The thirtieth letter from there, which is in the shape of the moon, is declared [to be next]. The eighth syllable back from there is next, my dear. Then the fifth from there, o goddess. Then the first syllable after that is the fifth [syllable of the mantra]. Then Indra joined with an *anusvāra*. This [mantra] is called Kūṭa.[225] It is to be obtained from the teaching of a guru and bestows fame in all worlds. Illusion, born of the body, with many forms [and] residing in the faculties,[226] does not arise even in sleep for the controlled [yogin], as a result of the continuous twelve-fold repetition [of this mantra]. The glorious Khecarī *siddhi* arises automatically for him who, totally self-controlled, recites this [mantra] five hundred thousand times.[227] All obstacles are destroyed, the gods are pleased and, without doubt, wrinkles and grey hair will disappear.

After thus obtaining the great mantra [the yogin] should then carry out the practice; otherwise, o goddess, he suffers and [there is for him] no *siddhi* in the sphere of Khecarī. If [the yogin] does not obtain [this] nectarean mantra during the observance of the practice, then he should recite [it] having obtained it at the beginning of *melaka*.[228] Without this [mantra], o goddess, [the yogin] can never enjoy success. When this text is obtained then [the yogin] should resort to the mantra. Then, my dear, he quickly obtains the *siddhi* described therein.

## [The physical practice]

In the manner described by his guru, [every day] for seven days the knower of *ātman* should rub the base of the palate and clean away all impurity.[229] He should take a very sharp, well-oiled and clean blade resembling a leaf of the Snuhī plant and then cut away a hair's breadth [of the frenum] with it.[230] After cutting, he should rub [the cut] with a powder of rock-salt and *pathyā*.[231] After seven days he should again cut away a hair's breadth.[232]

[The yogin], constantly applying himself, should thus practise gradually for six months. After six months the binding tendon at the base of the tongue[233] is destroyed. Then, knowing the rules of time and limit,[234] the yogin should gradually pull upwards the tip of the tongue [235] having wrapped it in cloth.[236]

Then, in six months, after regular drawing out[237] [of the tongue], my dear, it reaches [upwards] between the eyebrows, obliquely to the ears, and downwards it is gradually made to reach the base of the chin.[238] Then, only after three years, upwards it easily reaches the hairline, sideways the temples, my dear, [and] downwards the Adam's apple.[239] After three years more it covers the end of Suṣumṇā,[240] o goddess; obliquely it reaches the region above the nape of the neck [241] [and] downwards the hollow [at the base] of the throat.[242]

The practice must only be carried out gradually, not all at once.[243] The body of him who tries to do it all at once is destroyed. For this reason the practice is to be carried out very gradually, o beautiful lady.

When the tongue reaches the aperture of Brahmā[244] by the external path, then [the yogin], o goddess, should rub with the tip of his finger the bolt [of the doorway] of

Brahmā ,[245] [which is] hard for even the gods to pierce,[246] [and] insert [his] tongue there. Practising thus for three years the tongue enters the door of Brahmā.[247]

## [Churning]

When the door of Brahmā is entered [the yogin] should duly begin churning.[248] Some wise [yogins] achieve *siddhi* without churning. For [the yogin] who has perfected the Khecarī mantra success is achieved without churning. By doing both mantra-recitation and churning [however, the yogin] quickly obtains the result.

60 By means of a strong and smooth thread,[249] [the yogin] should insert a small probe of either gold, silver or iron into the nasal cavity. Fixing the breath in the heart [and] sitting in a steady pose, he should gently perform churning with his eyes focussed between his eyebrows.[250] By doing just this much the state of churning arises after six months. For the yogin who has completely restrained his *jīva*[251] [and] who has become identical with the object of contemplation, the state [of churning] arises as [easily as does] the deep sleep of children. Churning is not meant [to be done] constantly;[252] [the yogin] should practise it every month. But [the yogin] should always move his tongue around the pathway, o goddess.[253] [By practising] in this way complete success [arises] at the end of twelve years,[254] o great goddess. In [his] body he sees the entire universe as undifferentiated from himself.[255]

## [The drinking of *amṛta* and its rewards]

65 [The yogin] should know the great pathway[256] in the skull[257] in the region above the uvula[258] between the eyebrows [to be] the Three-peaked Mountain,[259] [which is] honoured by the perfected ones [and] resembles a chickpea sprout.[260] He should fix his mind there. Licking with his tongue the supreme *amṛta* flowing there [and progressing] gradually on the path of the practice, [the yogin] should drink *[amṛta]* for four years, my dear. Grey hair and wrinkles are destroyed, supreme success arises and, as the knower of the meaning of all scriptures, [the yogin] lives for a thousand years. Success in sciences such as finding buried treasure, entering subterranean realms,[261] controlling the earth[262] and alchemy arise for the yogin after five years, o Pārvatī.

70 Duly drinking the flowing *amṛta* liquid with [his] tongue, the resolute yogin should curb his diet for twelve years, [living] as an ascetic.[263] By this application of the practice, the great yogin, free of grey hair and wrinkles [and] with a body as incorruptible as diamond lives for one hundred thousand years. With the strength of ten thousand elephants, my dear, he has long-distance sight and hearing. Capable of punishing and rewarding [people], he becomes powerful with respect to everything.

These *siddhi*s, o goddess, only arise between the eyebrows.[264]

Placing the tongue in the ether,[265] [the yogin] should clench [his] teeth;[266] making the mouth [like] the hollow of a crow's beak,[267] he should drink the *amṛta* therein.

By drinking [the *amṛta*] he truly becomes free of old age and death after a year. He becomes a Khecara[268] and lives as long as the moon and the stars. The best adept quickly attains absolutely all the magical powers[269] that are found in the three worlds, such as those of magical sandals,[270] the magical sword,[271] power over zombies,[272] magical elixirs, realgar,[273] invisibility,[274] access to the treasures of the subterranean realms [275] and power over male and female genies.[276] 75

# Chapter II

## [The *kalās* at the gateway of Brahmā]

O great goddess, at the barely perceptible bolted gate of Brahmā there is a great tetrad of *kalās*[277] consisting of the four aims of man.[278] On the eastern side is [the *kalā*] called Kṛtā, in the south Guptā, on the western side Śivā [and] in the north Parāparaśivā.[279]

When the yogin pierces that gateway with the tip of his tongue and drinks the *amṛta* from the eastern *kalā,* after a month he becomes a master of *dharma.* When the yogin licks with his tongue the *amṛta* at [the *kalā* called] Guptā in the south, there is no doubt that after just one month he becomes the lord of wealth in bodily form. When he drinks with [his] tongue the *amṛta* created in the western *kalā* of 5 [the tetrad], then after a month the great yogin becomes the lord of pleasure. When he drinks the *amṛta* created in the northern *kalā*, then he obtains dominion over the highest gods.[280] When the lord amongst yogins drinks the great *amṛta* which is lying in the region above [the four *kalās*] at the opening of Brahmā, he becomes Śiva, liberated while living. When he practises every month for twelve years,[281] the yogin, free from all disease, omniscient, and worshipped by sages, becomes like Śiva, ageless and undying in this world.

After the yogin has repeatedly drunk the *amṛta* from the four *kalās*, o great goddess, he should then insert [his] tongue into the place of Brahmā and drink the *amṛta* 10 [which is] very sweet, cool, pleasant, milk-coloured and free from froth. After just one month's practice, [the yogin] automatically becomes like a god. In two months he knows completely the meaning of all sacred texts, o Pārvatī. After three months, o goddess, he truly becomes free [and] like Śiva. After four months, great goddess, omniscience arises. In five months [he becomes] a great adept and is able to see the three worlds. In six months, filled with the goodness of the quality of ultimate bliss, [the yogin] becomes liberated while living; in this there is no doubt, o Parāparā. In the seventh month, with happy mind, he constantly associates[282] at will with great 15 ghouls, ghosts, snakes and demons. In the course of the eighth month communion with the gods arises.[283] In the ninth month, the powers of becoming invisible and infinitesimal arise. In the tenth [month], the ability to assume any form at will, [which is] manifest to all the worlds, [arises]. In the eleventh [month], o goddess, knowing the past, present and future [and] as an almighty lord of the universe, [the yogin] becomes like Śiva. This that I have spoken is the truth.[284]

## [The *kalā*s at Kedāra]

It is taught that Kedāra is where the *cūlitala* has been declared to be, o goddess.[285] Eight *kalā*s of Soma are described there, o you who are worshipped by the extreme
20 adepts.[286] The first is Amṛtā,[287] o goddess, the second is called Mānadā; [then there are] Pūṣā and Tuṣṭi and Puṣṭi and Rati and Dhṛti, and the eighth is Śaśinī; all are oceans of the great *amṛta*. And when the yogin points [his] tongue towards that place then an eightfold stream of icy liquid flows there. Through contact with the flow of that [liquid], diseases of the body are destroyed. After eight months [of this practice] the yogin becomes a Khecara.[288]

## [The *kalā*s at the Orb of Soma]

Verily, the place between the eyebrows is called the Orb of Soma.[289] A group of four *kalā*s is taught [to be] there, a seat of the great *amṛta*. [They are], by name, [the *kalā*] called Candrikā, and Kānti and Jyotsnā and Śrī. [The yogin] should insert his tongue there and drink [the *amṛta*] over and over again.[290] In four months the
25 yogin becomes free from danger;[291] truly his body becomes as hard as diamond from drinking the flow of *[amṛta]*.

## [The *kalā*s at the Diamond Bulb]

Above that is a rock, the Orb of the Khecaras,[292] known as the Diamond Bulb.[293] [The yogin] should recognise [it to be] at the top of the forehead; there, o goddess, is a triad of *kalā*s: Prīti, Aṅgadā and Pūrṇā. He should insert his tongue there. He should drink with his tongue the cool flowing *amṛta* of that milky stream. In three months, o goddess, [the yogin] becomes free from all disease, impervious to attack by all cutting weapons, unyielding to all methods [of hostile magic][294] [and] inconceivable by means of all the mundane sciences with their ugly objects. By the power of the Diamond Bulb he truly becomes like Bhairava.

## [The *kalā*s at the Royal Tooth]

Below the nostrils and above the lips [295] is the great place [called] the Royal Tooth.[296]
30 There, o goddess, is a pair of *kalā*s, Pūrṇāmṛtā and Śītalā. Holding the breath, [the yogin] should touch [them] with the tip of [his] tongue. A sweet, cool fluid is produced there, o goddess. Focussing his mind there, the ascetic should drink [the fluid] for three months. He becomes ageless and undying, free from all disease.

## [The *kalā*s at the Base and Kuṇḍalinī]

The place between the anus and the testicles is called the Base.[297] Five *kalā*s are spoken of there, from which drips the supreme *amṛta*. Sudhā, Sudhāmayī, Prajñā, Kālaghnī, Jñānadāyinī:[298] [these] five *kalā*s are praised as streams of nectar, bestowing all *siddhi*s. The supreme feminine divinity is situated there, o goddess,

the primordial Kuṇḍalinī. By contracting that region[299] [and] holding the breath, o you who are worshipped by the gods, [the yogin] should unite the cool *amṛta* situated there with the goddess of the Base. Leading [them] by way of the central channel [up] from the Svādhiṣṭhāna and other lotuses, he should think of [himself] as being sprinkled by the rain of that nectar up to his skull.[300] Taking the *amṛta* situated there, the great goddess Śrīkuṇḍalī goes by way of the central channel to the top of the abode of Brahmā, bathed in a surfeit of the nectar produced from the five *kalā*s of the Base. [The yogin] should imagine [her] pervading [his] body from his feet to his head. In five months of using [this technique], absorption into the five elements arises.[301] Through practising [it] in the morning, in the evening and at midnight[302] he truly becomes equal to Śiva. 35

## [The *kalā*s at the Svādhiṣṭhāna]

That which is the place of the penis,[303] o goddess, is called the Svādhiṣṭhāna. There is said [to be] a triad of *kalā*s there, replete with the divine *amṛta*. They are called Susūkṣmā, Paramāhlādā and Vidyā. Holding his breath and awakening the goddess as before, he should lead [her up] as far as [his] skull and inundate his body [with *amṛta*]. In the course of three months the yogin attains the reward that has already been described.[304] 40

## [The *kalā*s at the Bamboo Staff]

That which is between the anus and the penis is called the Bamboo Staff.[305] A tetrad of *kalā*s is taught [to be] there, consisting of the essence of the great *amṛta*. [They are] Suśītā, Mahātṛpti, Palitaghnī and Valikṣayā. [The yogin] should awaken the goddess there and inundate [his] body [with *amṛta*] as before; after four months of [this] practice he shall obtain the reward described earlier. 45

## [The Iḍā and Piṅgalā Channels][306]

Piṅgalā is the channel of the sun; Iḍā is the channel of the moon.[307] The sun is called the bearer of poison, the moon is the bearer of nectar.[308] Practice is enjoined in that which is called the channel of the sun and in the channel of the moon; and concentration [is enjoined] in the channel of the moon.[309] The yogin should practise breath-retention. He should fill his body with air by way of the channel of the moon; expulsion [of air] by way of the channel of the sun is enjoined for improvement of the body.[310]

## [The place of the ultimate *amṛta*]

I have taught you this four-fold place of *kalā*s, o goddess.[311] Now I shall teach the great place of the ultimate *amṛta*.[312] The Diamond Bulb in the forehead sparkles like the shining moon;[313] in its centre is the syllable *laṃ* and it is square. The deity there is the great Śiva. Gods [and] yogins worship [him] together with his consort.[314] At the *cūlitala*,[315] o great goddess, is a triangular *maṇḍala*, as bright as 50

one hundred thousand suns. In the middle [the yogin] should visualise the great god Śiva, consisting of a *liṅga*, o goddess, with the syllable *raṃ* at the centre, embraced by his consort [and] surrounded by a troop of deities, o supreme goddess. In the right temple, o most fortunate goddess, is that which is encircled by six dots, containing the syllable *yaṃ* and smoke-coloured. There [the yogin] should visualise, o goddess, the god Maheśvara in the form of a *liṅga* together with [his] consort and surrounded by his troop of attendants. In the left temple, o goddess, 55 is a [semi-]circle, looking like a half–moon, together with a lotus. It contains the syllable *vaṃ*, and in the middle there is a solid *liṅga* full of nectar, as white as cow's milk, [and] as bright as the autumn moon. It is together with its consort and is served by the entire host of gods and goddesses.

Thus have I described stations in the four directions, o goddess. In the middle of them is a great circle which contains the syllable *haṃ*. There, o Pārvatī, is situated the Supreme Lord, great Śambhu, together with his consort. He is in the form of a *liṅga*, together with [his] host, and is as bright as ten million suns. At the forehead is the lord of earth, at the back of the head is the lord of fire, in the right temple is the lord of air, in the left is the lord of water, o goddess, [and] in the middle is the lord of ether. I have described the five stations of Śambhu.[316]

60 Above the head of the god [who is] the lord of ether is a vessel full of the divine *amṛta*,[317] four fingers broad, with a door closing it at its base, a great rock with the moon above it[318] in the middle of an orb of light, as bright as ten million moons, impenetrable, the seat of *amṛta*. Immersed in the cool *amṛta* is a *liṅga*, o goddess, like a speck of dust, as bright as ten million moons, perfect,[319] [and] destroying the darkness of ignorance. Going beyond the five [*amṛta*-]stations, in order to obtain the ultimate substance,[320] [the yogin], holding the breath, should extend the goddess of speech,[321] with her mouth upwards,[322] together with [his] 65 attention, to the doorway at the base of the pot of the ultimate *amṛta*.[323] Having reached [there] together with [his] mind, truly the yogin, restraining the flow of his breath, should playfully open the bolt with [his] tongue. There the yogin should drink the drink of yoga, [which is] hard for even the gods to obtain: the icy, milky *amṛta*, sweet [like] cool sugar-cane juice. Satiated by a surfeit of that nectar and having entered the supreme state, the yogin should obtain there in the skull union with the supramental state,[324] and eat, by means of yoga, the meat that consists of *nāda* and *bindu*.[325]

This rare secret has been proclaimed, o goddess. Truly, after six months [the yogin] obtains the reward which the omniscient Śiva has taught in the scriptural trans- 70 mission; in this there is no doubt. He who desires [Khecarī] *siddhi* must not say anything to anyone who, [although] he has attained all [other] *siddhi*s, does not know this yoga, o goddess.[326] One should not cause this text to be given to those who delight in deceit and dishonesty, who do not recognise the guru as a god, and who do not know the observances taught in scripture.[327]

## [Massaging the body with *amṛta*][328]

At the root of the tongue is situated, o goddess, the all-glorious fire. At its tip is the sun; the moon is situated in the middle of the forehead. *Siddhi* arises for him who correctly understands this.[329]

Having churned[330] and zealously awakened[331] the orb of fire, [the yogin] should turn [his] tongue, on the tip of which is situated the sun, to the orb of the moon at the forehead, which has liquefied due to the heat of that [fire].[332] [The yogin] 75 should gather in a vessel[333] that cool supreme *amṛta* [when it has] dripped from the moon and emerged from the nostrils,[334] o goddess. By rubbing the body with that *[amṛta],* truly the channels of the body become purified.[335]

[The yogin] should stir up the essence of immortality which is produced at the anus and penis[336] and has emerged into a vessel, with the *amṛta* from the armpits,[337] embellished with fluid from the lower lip.[338] Rubbing the body with that, the yogin truly becomes free from disease in this life, mighty [and] free of wrinkles and grey hair.

Rubbing the root of the tongue, [the yogin] should massage his body with the great fluid that is produced there. Within half a year the tongue becomes four fingerbreadths longer; in this there is no doubt.[339]

## *[Khecarīmudrā]*

Pushing the tongue upwards with the fingers of the right hand, o goddess, [the 80 yogin] should push aside[340] the uvula with the fingers of the left hand.[341] Churning the place of fire, [the yogin] should gently turn the tongue above the uvula[342] to the place of Śiva at the *kalās*[343] above the Three-peaked Mountain.[344] This *khecarīmudrā* that I have taught you destroys death.

## [The problems of *bhaṭa* and *naṭa*][345]

Four types of *bhaṭa* and likewise [four] types of *naṭa*[346] arise to obstruct him who practises thus. Drying up of the body,[347] sloth induced by hunger,[348] itchiness and pallor: these are the signs of *bhaṭa*. Listen to their remedies.

Having made the mind empty [the yogin] should rub [his] body with the essence 85 of immortality[349] for three months; by means of this this the body is nourished.[350] He should rub [the body] three times in the day and three times at night.[351] By pointing the tongue upwards towards the place of the Diamond Bulb[352] and licking the nectar [produced] there, sloth induced by hunger truly disappears. By taking the nectar [produced] there [and] the *amṛta* [from the anus and penis][353] and rubbing the body [with them], both pallor and itching truly disappear.

The four varieties of *naṭa* have many manifestations, my dear. Eye-disease, trembling of the body,[354] fever and dizziness:[355] [thus] have I told [you] one type [of *naṭa*]. Now hear the second: tooth disease, lack of strength and loss of suppleness of the body. Now hear the third type [of *naṭa*], o goddess: high fever,[356] headache 90 and imbalance of the phlegmatic humour. [Now] may the fourth [type of *naṭa*]

be determined: vomiting, breathing trouble, blindness[357] and sleep that cannot be overcome.

Listen to the remedies of those [four types of *naṭa*]. [The yogin] should lead Kuṇḍalinī from the Base into Suṣumṇā.[358] Making the tongue motionless and pointing it upward, he should hold his breath. From the disturbance of Kuṇḍalinī, o great goddess, a great sound arises.[359] When [the yogin] hears that sound then he is said to be liberated [from the problems of *naṭa*]. He should visualise his body as sprinkled with *amṛta*, o supreme goddess. By this [practice], o goddess, he be-
95 comes freed from the first problems [of *naṭa*] in a month. When he practises with this method for two months, then he hears in his ears[360] the sound of the roar of a great elephant.[361] He should visualise [his] body as before; he is freed from the second [type of] problems [of *naṭa*]. After three months, having heard the sound of Brahmā,[362] he should visualise [his body sprinkled with *amṛta*] as before; he is freed from the faults of the third category. In this there is no doubt. In the fourth month, hearing the sound of thunder called Aghora[363] and practising as before, [the yogin] is freed from the problems of dizziness. Firm in his conviction, [the yogin] should thus carry out the meditation and practice three times daily; truly, after three years he becomes ageless and undying.

## [The stages of the practice]

I have told [you] the remedies for the four faults of *bhaṭa* and for the problem[s]
100 of *naṭa*. [Now] hear more, o queen of the gods. I bow at the feet of that yogin who, knowing all the categories of reality,[364] has entered into this peaceful supreme reality,[365] the blissful yoga, o goddess.

The first [stage] is loosening,[366] o goddess; the second is piercing; churning is said to be the third; the fourth is insertion.[367] After rubbing the base of the palate, [the yogin] should pull out the tongue; he should know that to be loosening.[368] The cleaving asunder of the bolt of Brahmā is called piercing.[369] When [the yogin] practises churning by means of a thread and churning by inserting an iron pin he should understand that to be churning,[370] which brings progress in yoga, my dear.
105 Having opened the gateway, [the yogin] should extend his tongue upwards into the ether.[371] [This] is called insertion, o goddess. It brings about success in yoga.[372]

By breaking the bolt of Brahmā[373] and inserting the tongue, truly evidence of success arises instantly, o supreme goddess. At first [there arise] a condition of bliss[374] and a decrease in sleep;[375] social intercourse[376] and food-consumption[377] diminish. Well-being arises and the lustre [of the body] increases, my dear; [there are] no ageing and no death and no diseases and no grey hair. With his seed turned upwards,[378] o great goddess, [the yogin] is endowed with the [eight] powers whose
110 first is minuteness.[379] If, with fixed mind, [the yogin] masters yoga thus, then, o Pārvatī, he duly obtains these rewards that have been described.

On the tip of the tongue are situated Śrī[380] and Vāgīśā,[381] o you who are honoured by the heroic adepts; in the area at the base of the root of the tongue is situated the fetter of death.[382] Completely eradicate the place of the fetter of death, o mistress

of the host![383] With the tip of the tongue [the yogin] should enter the place of Soma called Blessed Śambhu.[384] By this yoga, o goddess, and with a controlled mind, the yogin enters the supramental state [and] achieves absorption in it.[385] Evidence of absorption is sure to arise immediately.

Applying his mind to the tip of the tongue, he should focus on that place with [inner] vision.[386] The yogin should lead [his] breath upwards from the Base by way of the Suṣumṇā. Having reached the abode of Brahmā he should place [his] mind in the void. He should meditate thus on the perfect[387] highest reality.[388] 115

The very cool Ethereal Gaṅgā[389] flows from the place of Brahmā. Drinking [the Ethereal Gaṅgā], [the yogin] assuredly becomes one whose body is as hard as diamond in just one month; truly, he gets a divine body, divine speech [and] divine sight. He gets divine intellect, o goddess, and, indeed, divine hearing.

On the tip of the tongue [the yogin] should visualise the Queen of Speech shining like ten million moons [and] satiated by the *kalā*s of the great *amṛta*; he instantly becomes a master poet.[390] Meditating on Lakṣmī as situated at the tip of the tongue [and] infatuated by the great *amṛta*, the yogin, o great goddess, becomes a king of yoga.[391]

## [The five innate constituents]

There are said to be five innate constituents[392] in this body †which embodies the supreme†.[393] When the body [of the fetus] is produced in the body of the mother through the fall of the father,[394] all [the innate constituents] arise there by the time the body [of the fetus] has reached maturity.[395] The first innate constituent is the primordial goddess Kuṇḍalinī, the second is Suṣumṇā and the third is the tongue. The fourth is the place of the palate, the fifth is the place of Brahmā. [The yogin] should raise the first innate constituent and place it in the second innate constituent. [Then] he should insert[396] the third innate constituent upwards into the fourth innate constituent. After piercing the fourth innate constituent, [the third innate constituent] should enter the fifth innate constituent.[397] This piercing that I have taught you, o Lady of the Kula,[398] is difficult to discover. 120

# Chapter III

## [Kuṇḍalinī and the flooding of the body with *amṛta*]

When she has reached the path of Suṣumṇā from the Base, the yogin should insert[399] into the uvular passage the goddess Kuṇḍalinī,[400] who has the appearance of a single thread of a spider's web [and] the splendour of ten million suns. Having broken the bolt of Śiva's door[401] with the tongue, o great goddess, he should, by holding the breath,[402] insert[403] [Kuṇḍalinī] into the abode of Brahmā, which has the splendour of ten million suns, my dear. There, in the great ocean of *amṛta* which abounds in cool waves, [the yogin] should drink the flow of nectar and rest, his mind full of ultimate bliss. He should visualise his body as satiated by the nectar of that [ocean].

By means of this divine yoga divine sight arises. Truly he becomes a Khecara,[404] and there arise the destruction of all sickness [and] the [powers of] cheating death[405] and of wandering throughout the three worlds.[406] Endowed with the [eight] powers whose first is the ability to become infinitesimal[407] [the yogin] assuredly becomes completely perfected; he becomes a ruler of yogins [and his] movement is unimpeded. [The yogin] automatically gets the strength of nine thousand elephants [and] becomes like Śiva, o goddess. Verily have I taught the truth.

Between Iḍā and Piṅgalā is the luminous[408] Suṣumṇā. There is an undecaying light there, free of the qualities of colour and shape.[409] She who looks like a sleeping serpent is the great Kuṇḍalinī. Gaṅgā and Yamunā are called Iḍā and Piṅgalā.[410] [The yogin] should insert that goddess, in the form of the supreme *amṛta*, between Gaṅgā and Yamunā, as far as the abode of Brahmā, o goddess. Truly he becomes identical with Brahmā and automatically gets an immortal body forever.[411] The goddess, having reached the abode of Śiva, the place beyond the Supreme Lord,[412] satiated by the pleasure of enjoying that place and filled with supreme bliss, sprinkling the body of the yogin from the soles of his feet to his head with the dewy, unctuous, cool nectar, o supreme goddess, proceeds again by the same path to her own home, o goddess.[413] This is the secret yoga taught [by me], o you who are honoured by the master yogins.

## [Victory over death]

Shunning all sacred texts and [ritual] action such as mantra-repetition and fire-

oblation, [and] freed from the notions of right and wrong, the yogin should practise yoga. He should turn the tongue upwards and insert it into the Three-peaked Mountain.[414] He should know that Three-peaked Mountain to be in the skull, below the forehead and in the region above the uvula. There is a blazing *liṅga* there, free from the process of time[415] [and] hard for even the immortals to perceive. Night is said to be in Iḍā, day in Piṅgalā. The moon and the sun, o goddess, are forever established as night and day. [The yogin] should not worship the *liṅga* by day nor by night, o goddess. He should worship the *liṅga* constantly at the place
20 where day and night are suppressed.[416] This [existence],[417] furthermore, consists of day and night; the process of time is its true nature. By the suppression of the process of time, death is defeated.[418] [The yogin] should imagine his body as free from the process of time; he should worship [it] with the flower of thought[419] [and] he should offer it a libation of the *amṛta*s from the lotuses. By applying himself thus for six months he assuredly becomes ageless and undying. Truly, he becomes all-knowing, equal to Śiva [and] free of disease.

Inserting the tongue into the base of the palate with it pointing towards the upper mouth,[420] the yogin should drink the nectar produced there and gently suck in air with a whistling sound,[421] o goddess. Uniting the mind with the supramental state in the supportless space,[422] o goddess, he should practise natural yoga.[423]
25 [Practising] in this way the yogin becomes ageless and undying after six months .

Placing [his] chin on the circle of sixteen vowels[424] and fixing [his] eyes between [his] eyebrows, o goddess, [the yogin] should extend [his] tongue upwards. Holding his breath by stopping Iḍā and Piṅgalā, [the yogin] should awaken Kuṇḍalinī and pierce the six lotuses. Inserting [Kuṇḍalinī], who has the appearance of a thousand lightning-bolts, into the very middle of the skull in the place that is an ocean of cool *amṛta*, he should remain there for a long time.[425]

When the yogin resides comfortably at the abode of Brahmā then [with him] at that place[426] the body appears lifeless.[427] If he should practise this yoga for a week, o
30 goddess, then he becomes ageless and undying. With just one month's practice, he lives as long as the moon and the stars.[428] When the yogin easily breaks and enters the city of Brahmā, then he attains the state of Śiva, which consists of an eternal body,[429] o goddess. Never again does he drink at a mother's breast on the wheel of rebirth.

## [Leaving the body and cheating death]

When the yogin who knows the *ātman* decides to leave this body [temporarily],[430] then, sitting up straight, he should visualise for a long time the goddess of the Base shining like ten million suns. Contracting his *jīva*, which has spread as far as the
35 soles of his feet, he should gradually lead [it] to the place of the Base support. There he should imagine the goddess Kuṇḍalinī like the world-destroying fire devouring the *jīva*, the breath[431] and the sense-organs. Holding his breath,[432] o goddess, the yogin should raise [Kuṇḍalinī who is] radiant like a ball of lightning up from the Base and lead her to the place of Svādhiṣṭhāna.[433]

The ascetic should imagine the goddess devouring the entire *jīva* situated there. He should quickly raise [the goddess] who resembles ten million lightning bolts from there [and] having reached the place of Maṇipūra[434] practise there as before. Then, raising [her] up from there, he should lead [her] to the place of Anāhata.[435] Staying there for a moment, o goddess, he should visualise her devouring [the *jīva*] as before. Raising [her] again he should insert [her] into the sixteen-spoked lotus.[436] There too he who knows the path of yoga should visualise [Kuṇḍalinī de- 40 vouring the *jīva*] as before, o goddess. Raising from there the great goddess who has devoured the *jīva* [and] has a radiance equal to that of ten million suns and leading [her] to between the eyebrows[437] [the yogin] should [by means of Kuṇḍalinī] again consume the *jīva*. The tongue, together with the mind, should break the bolt of Brahmā and duly come to rest[438] straight away in the great ocean of the supreme *amṛta*. Joining Śiva, [who is] situated there [and who is both] the supreme [and] the supreme cause, with the goddess, [the yogin] should visualise their union.[439]

If [the yogin] is keen to deceive death,[440] [then], knowing the apportionment of [the locations of] death,[441] while death[442] is approaching him he should happily remain there.[443] Below the bolt of the gateway of Brahmā is the cause of bodily death; in the region above there, o goddess, there is no opportunity for death. 45

When [the yogin] sees that [the time of] his death has passed, o goddess, then he should break the bolt [of the gateway] of Brahmā and lead the goddess [back] to the Base centre. [Re-]placing his *jīva*, which has been [re-]produced from the body of the goddess [Kuṇḍalinī], together with the sense-organs in their respective [places of] action, he should live happily and healthy. By this yoga, o goddess, [the yogin] can cheat an imminent death.

## [Abandoning the body]

If the supremely content[444] [yogin] desires to abandon [his] mortal body then he should unite Śiva, who is in the place of Brahmā, with the goddess, pierce the void, and enter the rock of Brahmā.[445] He should place the ether element in the great ether, the air element in the great wind, the fire element in the great fire, the 50 water element in the great ocean, the earth element in the earth, the mind in the supportless space [and] his sense-organs in the elements from ether to *prakṛti*.[446] Thus abandoning transmigratory [existence and] dependent only on the ultimate reality, untouched[447] by the five elements, the mind and the sense-organs, [the yogin] breaks the orb of the sun[448] and, absorbed in Śiva,[449] [who is] the serene abode of the ultimate reality, he becomes like Śiva.[450] Not in ten billion aeons will he return again.

If for the good of the universe he does not abandon [his] body, then he abandons it at the end of the dissolution of the universe and abides only in his own self.[451]

This is Khecarī *mudrā*, which bestows dominion over the Khecaras [and] destroys 55 birth, death, old age, sickness, wrinkles and grey hair.

## [Praise of Khecarī and devotion to Śiva][452]

There is no *vidyā*[453] like this anywhere in [any] other text. [The yogin] should not make public the very secret Khecarī *melana*,[454] o goddess, and I have proclaimed this method of the practice of [the *vidyā*] out of affection for you.

O goddess, he who does not know Khecarī, who is worshipped by all great yogins, is in this world called a bound soul, o Pārvatī. The great yoga cannot be perfected without my worship, even by [the yogin] who, while wandering through the three worlds, is constantly devoted to the practice and who practises the *vidyā* obtained from the mouth of [his] guru with his mind always focussed on Khecarī *melaka* and
60 such like. For those bound souls caught in bondage [who] do not have my grace [and] who are intent on scorning me, yoga is a source [only] of suffering. For him who abandons my worship, which [I], the all-knowing Śiva, have taught, [even if] he constantly practises yoga, yoga leads to destruction.

[The yogin] should worship the universal Śiva with devotion.[455] All the gods and goddesses are pleased by him whose mind is focussed on me alone. Therefore [the yogin] should worship me and practise the yoga of Khecarī with my grace. Otherwise there will be only trouble and no *siddhi* [even] in ten million births. For him who is keen on worshipping me [and] whose mind is intent on me alone all mantras and yogas are successful, o supreme goddess.

65 Therefore, to advance in all types of yoga,[456] the yogin should worship me, o goddess, [and], delighting in Khecarī, he should practise her yoga. In [a place] free of people, animals and all disturbance,[457] [the yogin], furnished with all that is necessary for the practice[458] [and] free of all anxiety, should, in the manner described by his guru, sit on a comfortable seat and do each practice one by one, relying on the teachings of his guru.

I have taught this yoga, the best of all yogas, out of fondness for you, o great goddess. What more do you wish to hear?"

The goddess said:[459]

"O Śambhu, whose diadem is the crescent moon[460] [and] who can be attained [only] by true devotion,[461] may you be victorious. You have described well the secret [and] glorious *Khecarīvidyā*."

# Chapter IV

## [Drugs for *siddhi*]

"And now I shall teach you some very sacred drugs. Without drugs a yogin can never attain *siddhi*.[462]

[Having prepared] a powder of the leaves, flowers, fruits and stem, together with the root, of the plant whose name consists of the highest limb of the mendicant[463] with buttermilk and water,[464] fermented rice gruel and milk, together with honey, sugar and the like,[465] one should give[466] [to the yogin] in separate mouthfuls round essential pills [of the mixture]. †[The yogin attains]†[467] all together the loss of grey hair, great well-being, great vigour[468] and the removal of debilitating diseases. [His] ears [become like those of] a boar,[469] [his] eyes [become like those of] a bird of prey, and [his] nails [and] teeth [become] like diamonds; [he becomes] young, as fast as the wind, and lives as long as the earth, the moon and the stars.

[If the yogin] should eat powdered bulb of *vārāhī*[470] with ghee and unrefined cane-sugar, [there arise] health and growth. [If he should eat that powder] in buttermilk and water, piles are got rid of. [If he should eat it] in cow's milk, leprosy is got rid of. One should have [the yogin] drink that powder with sugar and the like and sweet water twice a day for two years. [He will become] black-haired, without grey hair or wrinkles, †[and] he gets rid of blackness on the body†.[471]

To get rid of old age and debility, the wise [yogin] should eat *guggulu*[472] with castor-oil and sulphur with *triphalā*.[473]

By just one month's use of *aśvagandhā*,[474] sesame seeds, mung beans, sugar and *viśvasarpikā*,[475] there is no disease or death. With [these] five, immortality is obtained in five months, my dear.

[The yogin] should rise at dawn and eat sulphur, *triphalā* and *kuṣṭha*,[476] mixed with the three sweeteners;[477] after six months he is rid of wrinkles and grey hair.

O goddess, taking mercury, sulphur, orpiment, realgar, that which is called Rudra, namely the stem and pollen of *kunaṣṭi*,[478] and the pollen of *muṇḍikā*[479] soaked in the three sweeteners, [the yogin] becomes strong after a year.

By regularly eating powdered, dried *bhṛṅga*[480] with its root, black sesame seeds and an *āmalaka* fruit in half measure, together with the three sweeteners, in one year neither diseases nor old age nor death [arise].

[The yogin] should eat one *nirguṇḍī*[481] leaf three times a day; in twelve years, o goddess, he becomes free of old age and death.

[The yogin] should use equal amounts of the pollen of *nirguṇḍī*, *amala*[482] and *muṇḍī*, anointed with sugar, ghee and honey; after a year he gets rid of grey hair and wrinkles.

In six months, sulphur, gold, orpiment, and *rudrākṣa*[483] seeds mixed with the three sweeteners bestow freedom from old age and death.

Rising at dawn, [the yogin] should eat mercury,[484] the sap of the silk-cotton tree,[485] sulphur and the three sweeteners; after six months he becomes free from old age and death."

# Appendices

# Appendix A: *KhV* 3.55–69 in $\mu$ and G

MATSYENDRASAṂHITĀ 16.98–17.1

अनया सदृशी विद्या क्व चिच्छास्त्रान्तरे न हि ।
खेचरीमेलनं देवि सुगुप्तं न प्रकाशयेत् ॥९८॥
तस्य चाभ्यासयोगो ऽयं तव स्नेहात्प्रकाशितः ।
मदिरा नाम या देवि सर्वयोगीन्द्रवन्दिता ॥९९॥
नैनां यो वेत्ति लोके ऽस्मिन् स पशुः प्रोच्यते शिवे ।
नित्यमभ्याशशीलस्य अटतो ऽपि जगत्त्रयम् ॥१००॥
गुरुवक्त्रोपसंलब्धां विद्यामभ्यसतो ऽपि च ।
खेचरीमेलनादिषु नित्यं सप्रेमचेतसः ॥१०१॥
न सिध्यति महायोगं मदिराराधनं विना ।
तत्प्रसादविहीनस्य तन्निन्दापरचेतसः ॥१०२॥
पशोः पाशप्रबद्धस्य योगः क्लेशाय जायते ।
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तां पूजां संत्यज्य मादिरीम् ॥१०३॥
युञ्जतः सततं देवि योगो नाशाय जायते ।
वारुण्या तर्पयेद्देवि सर्वलोकमयं शिवम् ॥१०४॥
गौडी माध्वी च पैष्टी च तथा कादम्बरी वराः ।
कादम्बरी च द्रुमजा माध्वी मधुसमुद्भवा ॥१०५॥
पैष्टी पिष्टसमुदभूता गौडीक्षुरससंभवा ।
तासामेकतमां गृह्य तर्पयेत्सर्वदेवताः ॥१०६॥
असक्तः सुमहापूजां यदि कर्तुं च साधकः ।
कुर्याद्बिन्द्वेकदानं वा गुरुवाक्यावलम्बकः ॥१०७॥

---

**Matsyendrasaṃhitā** Witnesses: A(f. $48v^{11}$ – f. $49v^{3}$), $J_6$ (f. $33v^{1}$ – f. $34r^{1}$), $J_7$ (f. $70r^{1}$ – f. $71r^{2}$) ◇ 98–104 ≃ Ed 55–61; 105a–107b *om.* Ed; 107cd ≃ Ed 67ab; 108–109 ≃ Ed 62–63; 110 *om.* Ed; 111–112 ≃ Ed 64–65; 113ab ≃ Ed 66cd; 113c–114b *om.* Ed; 114c–115d ≃ Ed 67c, 68b–69 ◇ 98a–99b ≃ G 259a–260b; 99c–104d ≃ G 261c–266d; 105–106 *om.* G; 107 ≃ G 273; 108–110 ≃ G 267–269; 111ab *om.* G; 111c–114b ≃ G 270–272; 114c–17.1b ≃ G 260c–261b; 17.1cd ≃ G 274ab.

---

**98c** °मेलनं ] °मेलन A **98d** प्रकाशयेत् ] प्रकारयेत् $J_6J_7$ **99a** चाभ्यासयोगो ] *em.*; स्वाभ्यासयोगे A, स्वाभ्यासयोगो $J_6J_7$ **100d** अटतो ] आटतो $J_6$ **101b** अभ्यसतो ] अभ*श*तो A **101c** °मेलनादिषु ] *em.*; °मेलनादिश्च $\mu$ **101d** °चेतसः ] *em.*; °वेतसः $\mu$ **102c** °विहीनस्य ] *corr.*; °विहीनानां $\mu$ **102d** °चेतसः ] *corr.*; °चेतसां $\mu$ **103a** °प्रबद्धस्य ] *em.*; °प्रवंधस्य $\mu$ **103c** °नोक्तां ] $J_6$; °नोक्तं $AJ_7$ **104d** शिवम् ] *em.*; शिवे $\mu$ **105a** गौडी ] गौरी A **105b** वराः ] A; पराः $J_6J_7$ **105c** द्रुमजा ] द्रुमला A **106b** गौडी° ] गौरी° A ◇ °संभवा ] °संभवां A **106c** गृह्य ] गुह्य A **106d** °देवताः ] °देवता A **107b** कर्तुं ] कर्त्तु A **107c** कुर्याद् ] कुयोद् $J_6$ **107d** °लम्बकः ] $J_6$; °लम्बक $AJ_7$

एकबिन्दुप्रदानेन तृप्यन्ते कोटिदेवताः ।
तस्मात्संपूज्य युञ्जीत तत्प्रसादपवित्रितः ॥१०८॥
अन्यथा क्लेश एव स्यान्न सिद्धिर्जन्मकोटिषु ।
सर्वे सिध्यन्ति मन्त्राश्च योगाश्च परमेश्वरि ॥१०९॥
सम्यक्पूजाप्रयोगेन मदिरानन्दचेतसः ।
असंपूज्य पिबेद्देवि मदिरां यः स पापभाक् ॥११०॥
महाराधनशीलस्य मय्येवासक्तचेतसः ।
तस्मात्संपूजयेद्देवि सर्वयोगाभिवृद्धये ॥१११॥
मदिरानन्दितो योगी योगं युञ्जीत नित्यदा ।
विजने जन्तुरहिते सर्वोपद्रववर्जिते ॥११२॥
मृद्वासनं समास्थाय स्वगुरूक्तप्रकारतः ।
संतर्प्य शिवमीशानं देवीं देवांश्च सर्वशः ॥११३॥
तत्प्रसादेन लभते सम्यग्ज्ञानमखण्डितम् ।
एतद्योगं मयाख्यातं किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥११४॥
श्रीदेव्युवाच
शम्भो सद्भावसंलभ्य जय चन्द्रार्धशेखर ।
त्वया श्रीखेचरीविद्यासाधनं गुह्यमीरितम् ॥१॥

---

**108b** तृप्यन्ते ] तृप्तंते A **108c** युञ्जीत ] युंजीतः A **108d** °पवित्रितः ] °पवित्नेतः A **109a** स्यान् ] *em.*; श्यात् A, स्यात् $J_6J_7$ **109b** °कोटिषु ] °कोदिषु A **111b** मय्येवा° ] *em.*; मयैवा° $AJ_7$, मय्यैवा° $J_6$ ◇ °चेतसः ] अचेतसः A *(unm.)* **112b** योगं ] योगो A **113a** मृद्वासनं समास्थाय ] मृद्वानसमास्थाय A *(unm.)* **113d** देवांश् ] देवीश् A **114c** एतद ] एत A

Manuscript G 259a–274b

अनया सदृशी विद्या क्व चिच्छास्त्रान्तरे न हि ।
खेचरीमेलनं देवि सुगुह्यं संप्रकाशितम् ॥२५९॥

तस्याश्चाभ्यासयोगोऽयं तव स्नेहात्प्रकाशितः ।
एतद्योगो मयाख्यातः किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥२६०॥

शम्भोः संभावनं लभ्य जयेच्चन्द्रार्कतारकं ।
खेचरी नाम या देवी सर्वयोगीन्द्रवन्दिता ॥२६१॥

एनां नो वेत्ति लोकेऽस्मिन् स पशुः प्रोच्यते शिवे ।
नित्यमभ्याशशीलस्य अटतोऽपि जगत्त्रयम् ॥२६२॥

गुरुवक्त्रेऽपि लब्धस्य विद्यामभ्यसतोऽपि च ।
खेचरीमेलनाद्येषु नित्यं संसक्तचेतसः ॥२६३॥

न विद्यते महायोगो मदिदं साधनं विना ।
मत्प्रसादविहीनस्य मन्निन्दापरचेतसः ॥२६४॥

पशोः पाशविबद्धस्य योगः क्लेशाय जायते ।
सर्वमेतच्छिवेनोक्तां पूजां संत्यज्य मानवः ॥२६५॥

युज्यतः सततं देवि योगो नाशाय जायते ।
भक्त्या संतर्पयेद्देवि सर्वलोकमयं शिवे ॥२६६॥

शिवध्यानपरे पुंसि तुष्यन्ते सर्वदेवताः ।
तस्मात्संपूज्य युज्यन्तं मत्प्रसादपवित्रितम् ॥२६७॥

अन्यथा क्लेश एव स्यान्न सिद्धिर्जन्मकोटिभिः ।
सर्वे सिध्यन्ति मन्त्राश्च योगाश्च परमेश्वरि ॥२६८॥

सम्यक्पूजाप्रयोगेन मद्ध्याने मत्तमानसः ।
मामसंपूज्य योगेन पापं भवति नान्यथा ॥२६९॥

तस्मान्मां पूजयेद्देवि सर्वयोगाभिवृद्धये ।

---

**MS G** 259a–260b ≃ Ed 55a–56b; 260c–261b ≃ Ed 67c–68b; 261c–268d ≃ Ed 56c–63d; 269 *om.* Ed; 270a–271b ≃ Ed 64c–65d; 271cd ≃ Ed 66cd; 272a–273b *om.* Ed; 273cd ≃ Ed 67ab; 274ab ≃ Ed 69ab ◇ 259a–260b ≃ μ 98a–99b; 260c–261b ≃ μ 114c–115b; 261c–266d ≃ μ 99c–104d; 267–269 ≃ μ 108–110; 270–272 ≃ μ 111c–114b; 273 ≃ μ 107; 274ab ≃ μ 115cd.

---

**260d** भूयः ] *corr.*; भूय G **261c** देवी ] *em.*; देवि G **262a** नो ] *corr.*; *न्*ो G **262d** जगत्त्रयम् ] *corr.*; जगत्रयं G **263d** °सक्त° ] *corr.*; °स*क्त*° G **266a** युज्यतः ] *em.*; यज्यतः G **268b** जन्म° ] *corr.*; ज्जन्म G **268c** सिध्यन्ति ] *corr.*; सिद्धंति G **269b** मद्ध्याने ] *em.*; मध्यान्हे G **270b** °वृद्धये ] *em.*; °वृच्छये G

खेचर्यां नन्दितो योगी योगं युञ्जीत मन्मयम् ॥२७०॥
विजने जन्तुरहिते सर्वोपद्रववर्जिते ।
मद्वर्णं च समास्थाय स्वगुरूक्तप्रकारतः ॥२७१॥
संतर्प्य शिवमीशानं सर्वदेवोत्सवप्रदम् ।
मत्प्रसादेन महता सर्वविज्ञानवान् भवेत् ॥२७२॥
असक्तः सुमहापूजां यदि कर्तुं च साधकः ।
कुर्यादेकैकया देवि गुरुवाक्यावलम्बकः ॥२७३॥
त्वया च खेचरी विद्या सारवद्गुह्यतामियात्

---

**272a** संतर्प्य ] *em.*; संतर्प G **273a** असक्तः सु° ] *corr.*; असक्त*स् सु*° G **273b** कर्तुं ] *corr.*; क*र्तुं* G **274b** °वद् ] *corr.*; °वत् G

## Appendix B: *MaSaṃ* 17, 18 and 27

सप्तदशः पटलः

श्रीदेव्युवाच
शम्भो सद्भावं संलभ्य जयचन्द्रार्धशेखर ।
त्वया श्रीखेचरीविद्यासाधनं गुह्यमीरितम् ॥१॥
संसिद्धं केन मार्गेण खेचरीमेलनं लभेत् ।
तन्मे ब्रूहि जगन्नाथ परमानन्दनन्दित ॥२॥
श्रीभैरव उवाच
शृणु गुह्यं महादेवि सर्वतन्त्रेषु गोपितम् ।
खेचरीमेलनं लोके महायोगीन्द्रसेवितम् ॥३॥
खेचरीणामियं विद्या सद्यःप्रत्ययकारिका ।
सर्वसिद्धिप्रदा देवि जरामरणनाशिनी ॥४॥
†दार्छाद्† ब्रह्मकपाटस्य पशूनां दूरमार्गगा ।
असिद्धानामपि च या योगिनां परमेश्वरि ॥५॥
ब्रह्मधाम परित्यज्य आयाता नासिकापथम् ।
भित्त्वा ब्रह्मकपाटं तु यदा ध्रुवपदं व्रजेत् ॥६॥
तदा स्यात्परमानन्दं संविद्भावैककारणम् ।
ज्ञानं तथा च विज्ञानं तत्प्रसादात्स्फुरत्यपि ॥७॥
एवं योगे क्रियायां च स्थिता सकलकामदा ।
चिद्रूपा कुञ्चिका नाम दुर्विज्ञेया सुरासुरैः ॥८॥
एवं कुण्डलिनीशक्तिरूर्ध्वाधोऽनेकधा गता ।
तत्स्थे योगः पदस्थे हि अणिमादिप्रसाधकः ॥९॥
तानि स्थानानि वक्ष्यामि यथा येषु च सिद्धिदा ।
मूलाधारं चतुःपत्रो बिन्दुस्त्रिवलयान्वितः ॥१०॥

---

$\mu$=A$J_6J_7$ ◇ A f. 49v$^3$ – f. 51v$^{11}$ ◇ $J_6$ f. 34r$^1$ – f. 35v$^3$ ◇ $J_7$ f. 71r$^1$ – f. 74r$^{10}$

---

**1a** °भावं ] *em.*; °भाव $\mu$ **2a** संसिद्धं ] *corr.*; संसिद्धि A, संसिद्धिः $J_6J_7$ **2d** °नन्दित ] $J_6$; °नंदितः A$J_7$ **3a** श्रीभैरव उवाच ] श्रीभैरवः $J_6$ **4b** सद्यः ] सद्य A **5a** †दार्छाद्† ] A$J_7$; दा*च्छी*द् $J_6$ ◇ °कपाटस्य ] कपटस्य A *(unm.)* **5b** पशूनां ] पशुनां A ◇ °गा ] °गाः A **5c** या ] यो A **6a** परित्यज्य ] *em.*; परित्य*ज्य*A, परित्य $J_6J_7$ *(unm.)* **6c** तु ] $J_6$; त्वु A, त्तु $J_7$ **7b** संविद्° ] सविद्° A **7d** स्फुरत्य ] स्पुरत्य A **9b** ऽनेकधा ] नकदा A **10b** येषु ] °ग्रेषु A

गमागमसमोपेत आधाराख्यः शिखिप्रभः ।
गुह्यान्तं षड्दलं दीप्तं षड्बिन्दुः परिकीर्तितम् ॥११॥
तप्तजाम्बूनदाभासं स्वाधिष्ठानं हि तद्भवेत् ।
नाभिमध्यगतं शुद्धं द्वादशारं शशिप्रभम् ॥१२॥
मणिपूरकसंज्ञानम् अर्धचन्द्रस्य मध्यगम् ।
अनाहतं दशारं तु ब्रह्मरन्ध्रान्तगं सदा ॥१३॥
शुद्धस्फटिकसंकाशं भावयेन्नादरूपकम् ।
षोडशारं महापद्मं त्रिकोणं कण्ठमाश्रितम् ॥१४॥
पूर्णचन्द्रनिभाकारं विशुद्धं मोक्षदायकम् ।
पञ्चकूटमहत्स्थानं विद्युत्कोटिसमप्रभम् ॥१५॥
मध्यदिनार्कसंकाशं भावयेद्बिन्दुरूपकम् ।
स तु नानातनोर्मध्ये शक्तिर्व्योमप्रभेदिनी ॥१६॥
ज्वालन्ती पञ्चधा रन्ध्रे सेयमाज्ञा प्रकीर्तिता ।
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च ईश्वरश्च सदाशिवः ॥१७॥
पृथिव्यादीनि रन्ध्राणि पञ्चपञ्चकमेव च ।
तथा च कोष्ठकाः पञ्च स्वाधिष्ठानादयः स्मृताः ॥१८॥
एतेषु स्थानभेदेषु पृथग् ध्यानं शिवोदितम् ।
तत्रैकमपि चाभ्यस्य योगी स्यादजरामरः ॥१९॥
अभ्यासेनैव नश्यन्ति पापा जन्मसहस्रजाः ।
मेलनात्शिवतां याति सुमहान् खेचराधिपः ॥२०॥
स्वतन्त्रः सर्वलोकेषु गतिरव्याहता भवेत् ।
अविज्ञाय च यः कुर्याद् गुरुवाक्यामृतं विना ॥२१॥
भक्ष्यते सोऽचिराद्देवि योगिनीभिर्न संशयः ।
य इदं परमं शास्त्रं ग्रन्थतश्चार्थतस्ततः ॥२२॥
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत स परां सिद्धिमाप्नुयात् ।
य इदं परमं गुह्यं खेचरीमेलकं ददेत् ॥२३॥

---

**11a** गमागम° ] *em.*; गमागमौ $\mu$ ◇ समोपेत ] *em.*; समोपेतौ AJ$_6$, समोयेतौ J$_7$ **11b** °राख्यः ] *em.*; °राख्य $\mu$ ◇ °प्रभः ] *em.*; °प्रभा $\mu$ **11c** गुह्यान्तं ] गुह्यं तं A **12a** तप्तजाम्बूनदाभासं ] *em.*; सप्तजाम्बूनदाभ्यासं A, सप्तजाम्बूनदांभासं J$_6$J$_7$ **13a** °संज्ञानम् ] *corr.*; °विज्ञानम् $\mu$ **13d** °रन्ध्रान्तगं ] °रन्ध्रतिगं A **14b** °रूपकम् ] *em.*; °पूरकं $\mu$ **14d** कराठम् ] कठम् A **16a** मध्य° ] *em.*; मध्यं $\mu$ **17a** ज्वालन्ती ] ज्वालंति A, ज्वलंति J$_7$ **17b** सेयम् ] संयम् A **19b** ध्यानं ] धानं A **20d** खेचरा° ] खेभूचरा° A *(unm.)* ◇ °राधिपः ] °राधिप J$_7$ **22a** भक्ष्यते सोऽचिराद्देवि ] भक्ष्याते सो च्चिरद्दिवि A **23b** स परां सिद्धिम् ] परो सिद्धिमवा° A

स एव हि गुरुर्देवि नान्यो ऽस्ति परमेश्वरि ।
इदं गुह्यतमं शास्त्रं पशूनां यः प्रदापयेत् ॥२४॥
अपरीक्षितवृत्तस्य स शीघ्रं नश्यति प्रिये ।
बहुधा क्लिश्यमानाय भक्तायानन्यचेतसे ॥२५॥
एकान्ते विजने स्थाने प्रवक्तव्यं विपश्चिता ।
व्याख्यानकाले कर्तव्यः पूजाविधिर्†शाढ्यतः† ॥२६॥
कुलामृतैश्च मांसैश्च कस्तूरीचन्दनादिभिः ।
रक्तवस्त्रे समाधाय विद्यापुस्तकमादरात् ॥२७॥
पूजयेत्पूर्वविधिना ततो व्याख्यानमाचरेत् ।
अथवा यद्यशक्तस्तु मानसेन कलामृतैः ॥२८॥
संतर्प्य पूज्य विजने व्याख्यानं गुप्तमाचरेत् ।
␣␣␣␣गतेनैव भावेनाराध्य पुस्तकम् ॥२९॥
शृणुयाद्विजने देशे तद्ज्ञैरयुक्तो ऽथवा प्रिये ।
पूर्वोक्तविधिना देवि स्वगुरूक्तप्रकारतः ॥३०॥
समभ्यस्य यथान्यायं द्वादशाब्दमतन्द्रितः ।
पर्यटेत्पृथिवीमेनां यत्र स्यान्मेलको गुरुः ॥३१॥
तं दृष्ट्वा सर्वभावेन समाराध्य प्रयत्नतः ।
आत्मनिःश्रेयसकरं तेनोक्तं सम्यगाचरेत् ॥३२॥
ज्ञानयुक्तं तु मातङ्गमपि कुर्याद्गुरुं प्रिये ।
ज्ञानविज्ञानहीनं तु षट्कर्मस्थमपि त्यजेत् ॥३३॥
यत्र यत्र विशिष्टार्थं तत्र तत्र समाश्रयेत् ।
यस्य हस्ते स्थितं दिव्यं विद्यापुस्तकमीश्वरि ॥३४॥
तस्य मूर्तिगतं देवि सकलं ज्ञानसागरम् ।
यदा यो ग्रन्थतश्चेदमर्थतश्च वदिष्यति ॥३५॥
अशेषेण जगद्धात्रि स एव परमो गुरुः ।
सर्वज्ञेन शिवेनोक्तमिदं जन्मार्बुदैरपि ॥३६॥

---

**25d** भक्तायानन्य° ] भक्त्यांनन्य° A **26c** कर्तव्यः ] कर्त्तव्य्य A **26d** †अशाढ्यतः† ] AJ$_7$; आशाढ्यतः J$_6$ *(unm.)* **28b** ततो ] तता A **28c** अथवा यद्य° ] अथ वायव्य् A **28d** कलामृतैः ] कजामृतैः J$_6$ **29c** *omission indicated* $\mu$ **29d** भावेना° ] *em.*; भावना° $\mu$ **30b** तद्ज्ञैर ] *em.*; तत्ज्ञे A, तत्ज्ञैर् J$_6$J$_7$ **31b** °दशाब्दम् ] दशाष्टम् A **31c** पृथिवीम् ] J$_6$; प्रथिवीम् AJ$_7$ **32c** °निःश्रेयस° ] *em.*; °निश्रेयस° A, °निःश्रेय*स्व*° J$_6$, निःश्रेयक्य° J$_7$ **34c** हस्ते ] हस्थो A **35b** सकलं ] A; सकुलं J$_6$J$_7$ **35c** यो ] *द्यो* A **36d** °जन्मार्बुदैर् ] °जन्मार्बुदेर् A

दुर्लभं शास्त्रसारं तु दिव्यज्ञानप्रकाशकम् ।
द्वाविमौ पुरुषौ लोके सिद्धः साधक एव च ॥३७॥
अभ्यासेनैव सततं यः सर्वं परिवर्तते ।
अभीप्सुरात्मनः सिद्धिं स योगी साधकः स्मृतः ॥३८॥
सम्यगभ्यस्य विज्ञाय यः समं मेलनं चरेत् ।
सर्वसाधारणत्वेन विकल्पकुटिलोज्झितः ॥३९॥
कर्ता भर्ता च संहर्ता नित्यतृप्तो निरामयः ।
पश्यत्यात्माविभेदेन जगदेतच्चराचरम् ॥४०॥
स योगी सर्वविच्छ्रीमान् सिद्ध इत्युच्यते बुधैः ।
साधको बहुजन्मान्ते प्रयाति परमं पदम् ॥४१॥
देवैः सुदुर्लभां सिद्धिं सिद्धो याति न संशयः ।
तस्मादभ्यस्य यत्नेन खेचरीमेलनं चरेत् ॥४२॥
मेलनादप्यनभ्यासी सर्वं लभति पार्वति ।
तस्मादभ्यासहीनो ऽपि मेलात्स्यादजरामरः ॥४३॥
यदा संमिलति गुरुः शिष्यं मेलनकर्मणि ।
संयोजयिष्यति शिवे तदैवं समुदाचरेत् ॥४४॥
एकान्ते विजने स्थाने पशुदृष्टेरगोचरे ।
पूजायोग्यानि वस्तूनि साधयेत्परमेश्वरि ॥४५॥
सुस्निग्धे च सुसंमृष्टे गोमयेनोपलेपिते ।
चारुवस्त्रवितानाढ्ये सर्वोपद्रववर्जिते ॥४६॥
वीरेण मदकर्पूरलघुसिन्दूररेणुभिः ।
वृत्तषट्कोण†वस्वार†वृत्तभूवलयोज्ज्वलम् ॥४७॥
कारयेन्मण्डलं देवि तत्रापि कलशं न्यसेत् ।
पूरयेद्दिव्यतोयेन रत्नगर्भं सवस्त्रकम् ॥४८॥
माल्यधूपसमायुक्तं दर्पणालंकृतं प्रिये ।
तत्र पञ्च महारत्नान् न्यसेद्विद्यां च पूर्ववत् ॥४९॥

---

**37a** °रं तु ] °रत्तु A **38b** यः सर्वं ] *em.*; य सर्वःमुत्° $\mu$ *(unm.)* **38c** अभीप्सुर ] *em.*; अभीत्सुर् $\mu$ **39a** अभ्यस्य विज्ञाय ] *em.*; अभ्यास विज्ञात्य A, अभ्यस्य विज्ञात्य $J_6$, अभ्यस विज्ञात्य $J_7$ **39d** °कुटिलोज्झितः ] °कुटिलोजितः A **41a** °विच्छ्रीमान् ] °विच्छीमान् A **43b** सर्वं ] *em.*; सर्वे $\mu$ **44a** °मिलति ] °मेलति $\mu$ **45b** °दृष्टेर् ] °दृष्टिर् A **46b** गोमयेनोपलेपिते ] गोमयेनोपःपलेंपिते A *(unm.)* **46c** °नाढ्ये ] °ना*र्द्ये* A **47a** मद° ] म° A *(unm.)* **47c** °†वस्वार†° ] $J_6J_7$; °वस्थार A **47d** °वलयोज्ज्वलम् ] °वल्लयोज्वंरंलम् A *(unm.)* **49b** °लंकृतं ] °लंत्त्तं A

तदग्रे देवि साधारं पात्रं पूर्णं कलामृतैः ।
पूर्ववत्परिसंस्कृत्य पूर्वोक्तविधिनाचरेत् ॥५०॥
पूजावसाने देवेशि तत्प्रसादपवित्रितम् ।
स्नापयेत्कलशेनाङ्गं परामृतधिया गुरुः ॥५१॥
विना स्नानप्रसादाभ्यां कल्यानमयुतैरपि ।
न सिध्यति महेशानि खेचरीमेलकं प्रिये ॥५२॥
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन तत्प्रसादं सहाभिधम् ।
सस्नानं दापयेद्विद्यां नान्यथा सिद्धिभाग् भवेत् ॥५३॥
स्नापयित्वा शिवं देवि योगस्थाने विशेषवित् ।
पञ्चाशद्वर्णमालां च स्थले वा दर्पणे ऽथवा ॥५४॥
पदे वा चन्दने दिव्ये तल्लिखेन्न तु भूतले ।
शिष्यहस्तेन देवेशि तत्र पुष्पं प्रमोचयेत् ॥५५॥
यस्मिन् वर्णे निपतितं पुष्पं तद्वरणपूर्वकम् ।
नाम चानन्दनाथान्तं दापयेद् गुरुरीश्वरि ॥५६॥
शक्तिनाम च संप्रेक्ष्य पराम्बान्तं प्रदापयेत् ।
पूर्वं प्रसादं संदग्धमहापातकसंचयः ॥५७॥
पुनश्च कलशासेकात्परामृततनुर्भवेत् ।
भूयश्च नामग्रहणात्शिवसाम्यः प्रजायते ॥५८॥
एवं कृते शिवे शिष्यो योग्यो मेलनकर्मणि ।
अन्यथा परमेशानि तदेवानर्थकृद्भवेत् ॥५९॥
इति सिद्धतनुः सिद्धो यद्यद्भावमुपासते ।
तत्तत्फलं च प्रत्यक्षं भविष्यति न संशयः ॥६०॥
इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां सप्तदशः पटलः

---

50a साधारं ] $J_6$; साधारे A, साधारें $J_7$ 50b पूररणं ] पूररण° $J_7$ 52b कल्यानं ] A; कल्यानां $J_6J_7$ 53b तत्प्रसादं ] $J_6$; त्प्रसाद⊔ A, तत् प्रसाद $J_7$ 55a पदे वा ] यदेवा A ◇ दिव्ये ] देवि A 56b पुष्पं ] *em.*; पुष्प $\mu$ 56c °नाथान्तं ] °नाथांतां $J_6$ 57a शक्तिनाम च ] *corr.*; शक्तिमाम चं A, शक्तिमाम च $J_6J_7$ 57b पराम्बान्तं ] *em.*; परां वा तं $AJ_7$, यरांवांतं $J_6$ 59a कृते ] ऋृते A 59a शिष्यो ] *em.*; शिष्ये $\mu$ 59d तद् ] नद् A 60a °तनुः ] °तनुं A 60c फलं ] पलं A

## अष्टादशः पटलः

श्रीभैरव उवाच
इति †सर्वज्ञपाशाद्† यस्तीर्णः संसारसागरात् ।
भुञ्जीत स्वेच्छया भोगान् स्वेच्छया योगमभ्यसेत् ॥१॥
उपादेयः प्रियो यस्मात्कौलिके प्रियमेलकः ।
अतः कुर्यादनुष्ठानं शाक्तमाणवमेव वा ॥२॥
अत्यन्तविजने स्थाने सर्वोपद्रववर्जिते ।
नितान्तं मनसो रम्ये हृद्यधूपसुगन्धिनि ॥३॥
विकीर्णपुष्पप्रकरसिन्दूरादिसुरञ्जिते ।
गुरुमण्डलकं कृत्वा भक्तिमान्योगमभ्यसेत् ॥४॥
स्थिरमासनमासीनः सकलीकृतविग्रहः ।
जितश्वासो जितमना जितकर्मा जितेन्द्रियः ॥५॥
नियोज्यं घण्टिकारन्ध्रे ⊔⊔⊔⊔⊔⊔⊔⊔ ।
अधस्ताच्चिन्तयेच्चक्रमाक्रान्ताधारमण्डलम् ॥६॥
तत्र मध्ये समोद्दीप्तां मूलशक्तिं विभावयेत् ।
प्राणान्निरुध्योर्ध्वमुखीं नयेद्भित्त्वा षडम्बुजान् ॥७॥
एकीभूता हि नादाख्या चक्रभेदक्रमेण च ।
तडिद्वलयसंकाशां स्फुरत्किरणरूपिणीम् ॥८॥
चिल्लया च निरालम्बे शून्यतेजोमये परे ।
ब्रह्मद्वारस्य गर्भे तु विसर्गाख्ये विलीयते ॥९॥
ततो रसनयोद्भेद्य प्रविशेद्ब्रह्मणः पदम् ।
तस्मिन् कुलामृतं दिव्यं पीत्वा भूयो विशेत्कुलम् ॥१०॥
तेन प्रासितमात्रेण परां सिद्धिमवाप्नुयात् ।
योगमूले स्वके स्थाने भूयस्तस्मात्समुत्थिता ॥११॥
पृथिव्याधारसंकोचादेकोच्चारक्रमेण तु ।
एतद्वागीस्वरीबीजं रहस्यं संप्रकाशितम् ॥१२॥

---

$\mu$=A$J_6J_7$ ◇ A f. 51v[11] – f. 54v[6] ◇ $J_6$ f. 35v[4] – f. 37v[3] ◇ $J_7$ f. 74r[10] – f. 78v[5]

---

**2a** उपादेयः प्रियो ] उपदियः प्रयो A **2d** शाक्तमाणवम् ] $J_6$; शामाराग⊔⊔वेम् A *(unm.)*, शामारागवम् $J_7$ *(unm.)* **3c** नितान्तं ] नितान्त॰ A **3d** ॰सुगन्धिनि ] ॰सुंधिपिते A **4a** ॰प्रकर॰ ] A; ॰प्रकरे $J_6J_7$ **6b** *omission indicated* $\mu$ **6d** आक्रान्ताधार॰ ] आक्रान्तधार॰ A **7c** ॰मुखीं ] ॰सु⊔खिं A **8a** नादाख्या ] नादाच्या A **11d** समुत्थिता ] समुत्थित A

व्याख्याता खेचरीमुद्रा तस्या बन्धोऽयमेव हि ।
एतस्या बन्धमात्रेण भाग्यहीनोऽपि सिध्यति ॥१३॥
मेलकं खेचरीणां च दिव्यवेषोऽभिजायते ।
अमुना संप्रदायेन यत्र यत्र विलीयते ॥१४॥
तत्र तत्र परानन्दरूपमेव प्रकाशते ।
सर्वशास्त्रार्थवेत्ता च सौभाग्यं परमं तथा ॥१५॥
काव्यं च सर्वभाषाभिः सालंकारपदोज्वलम् ।
करोति लीलया योगी रुद्रशक्तिप्रभावतः ॥१६॥
अनेनैव प्रयोगेन सर्वमात्राः स्फुरन्ति हि ।
आणवाः शाम्भवाः शाक्ता ये †केत्यु†च्चरति प्रिये ॥१७॥
मणिपूरे लयाद्वश्यं शान्तिश्रीपुष्टितुष्टयः ।
आकर्षणं पुरक्षोभो भवन्त्येव हि सिद्धयः ॥१८॥
अनाहते तु संलीनो योगी ग्रन्थिविभेदनात् ।
गिरीणां पातनं देवि कुर्यान्मृत्योश्च वञ्चनम् ॥१९॥
विशुद्धेऽप्यमृताधारे योगस्तु स्यादसंशयः ।
क्षुत्तृषादाहनिर्मुक्तो जरारोगविवर्जितः ॥२०॥
आज्ञास्थानगतो योगी त्रैलोक्यमपि पश्यति ।
त्रिकालज्ञः स्वयं कर्त्ता स एव परमेश्वरः ॥२१॥
अतीतं वेत्ति नाभिस्थो वर्त्तमानं हृदि स्थितः ।
आज्ञास्थानगतो योगी सर्वं जानाति सर्वदा ॥२२॥
अधुना चोन्मनीभावः परतत्त्वोपलब्धये ।
पारम्पर्यक्रमायातो ब्रह्माण्डोदरमध्यगः ॥२३॥
यल्लिङ्गाधारमध्यस्थं मध्ये शक्त्यङ्कुरान्वितम् ।
यवमात्रप्रमाणं तु त्रिकोणाकृतिमुत्तमम् ॥२४॥
निष्कलं यत्परं तेजः परस्य परसंस्थितम् ।
जवमणीन्द्रियं यद्वद्विस्फुरश्चैव दृश्यते ॥२५॥
तथाकृतिर्भवेत्तस्य मीलनोन्मीलनानि च ।
प्रथमं भेदयेच्चक्रं नाभिजं नाडिभिर्युतम् ॥२६॥

---

15a परानन्द° ] A; परानन्दा° $J_6J_7$ **16b** °ज्वलं ] *em.*; °ज्वलां $\mu$ **19d** मृत्योश् ] मृत्युश् A ◇ वञ्चनम् ] *em.*; वंचनां $\mu$ **20a** ऽप्य° ] *em.*; त्य° $\mu$ **22b** स्थितः ] *em.*; स्थितं $\mu$ **23a** चोन्मनी° ] वोन्मनी° A **24c** यव° ] यत्न A **25b** परस्य परसंस्थितम् ] परस्परसंस्थित A *(unm.)* **25c** जव° ] जवा° $J_7$ **25d** विस्फुरश् ] *em.*; विस्फुराश् $AJ_7$, वि*ुराश् $J_6$

तदूर्ध्वे हृदयावस्थं चक्रं वै कुलसंज्ञकम् ।
हृच्चक्रं भेदयेत्पश्चात्कण्ठचक्रं ततः शनैः ॥२७॥
तदूर्ध्वे लम्बिकां भेद्य नासाग्रं तु ततो नयेत् ।
नासाग्रात् श्वाससंभिन्नं भ्रूमध्ये संनिवेशयेत् ॥२८॥
श्वासेन सहितं बीजं तेजोरूपं ललाटके ।
गत्वा लक्षं ललाटस्थं प्रविशेत्सूर्यसंनिभम् ॥२९॥
कुञ्चिकाढ्यं ततः सूक्ष्मा ␣␣␣णु च सूक्ष्मकम् ।
उद्घाटयेत्ततो द्वारं शिवद्वारार्गलं महत् ॥३०॥
बिन्दुद्वारार्गलं भित्त्वा दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ।
ब्रह्माण्डोदरमित्युक्तं योगिनीसिद्धसेवितम् ॥३१॥
तदेतदङ्गुलोत्सेधं कपाले संव्यवस्थितम् ।
प्रवेशात्स्पर्शनं तत्र बालानामिव जायते ॥३२॥
शक्तितत्त्वावबोधो हि विज्ञानं सिद्धसाधनम् ।
परतत्त्वावबोधश्च ज्ञानं मोहप्रसाधनम् ॥३३॥
भुक्तिमुक्त्योर्द्वयोर्हेतुः परमानन्दतां गतः ।
जीवन्मुक्तिमवाप्नोति वत्सरार्धान्न संशयः ॥३४॥
प्राप्तद्वादशकेनैव शिवसाम्यबलः प्रिये।
सर्वार्थकृत्यं सूक्ष्मत्वं सर्वज्ञत्वं विशुद्धता ॥३५॥
नित्यानन्दस्वभावत्वं सर्वव्यापित्वमेव च ।
अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं गरिमा तथा ॥३६॥
ईशित्वं च वशित्वं च यच्च कामावसायिता ।
स्यान्महासिद्धयस्त्वेता अष्टौ विज्ञानयोनयः ॥३७॥
योगिनः संप्रवर्तन्ते वत्सरात्परमेश्वरि ।
अथापरं प्रवक्ष्यामि साधनं परमं प्रिये ॥३८॥
विधिनानुत्थितं पूर्वं मया च वरवर्णिनि ।
अन्येषां देविदेवानां ब्रह्मादीनां च दुर्लभम् ॥३९॥
बिन्दुजीवजलाक्रान्तं वर्तुलं चन्द्रमण्डलम् ।
बिन्दुप्राणानिलाक्रान्तं त्रिकोणं वह्निमण्डलम् ॥४०॥

---

**27d** कराठचक्रं ] *em.*; कराठं वक्त्रं $\mu$ **28c** नासाग्रात् ] *em.*; नासाग्रे $\mu$ **30b** *omission indicated* $\mu$
**32b** कपाले ] $J_6$; कलाये A, कयाले $J_7$ **33a** °बोधो ] °बोधे $J_6^{ac}$ **35c** °कृत्यं ] A; °कृत्वं $J_6J_7$
**36b** °व्यापित्वम् ] *em.*; °व्याप्तित्वे A, °व्याप्तित्वं $J_6J_7$ **38c** अथापरं ] अथातः सं° A

आपूर्य वामया नाड्या मुञ्चेद्दक्षिणया बहिः ।
पुनर्दक्षिणयापूर्य बहुशो वामया त्यजेत् ॥४१॥
एवं विशुद्धनाडीकः कुम्भकानां शतं शतम् ।
कुर्याद्बहिश्च हंसेन सहजेनान्तरस्थितम् ॥४२॥
स पश्यति जगत्कीर्णं तेजसः परमाणुभिः ।
दृष्टेति प्रत्ययं कुर्यात्प्रत्येकमयुतं यदा ॥४३॥
तदा पश्यति नासाग्रे हृदयेन्दूज्ज्वलमहः ।
तयोः संचिन्तयेदैक्यं तत्रात्मानं स पश्यति ॥४४॥
अतिमग्नं मनः कुर्यात्तस्मिन् पुर्यष्टकात्मके ।
ततः स प्रियसाङ्गत्याद्रुद्रतामाप्य दीप्यति ॥४५॥
शक्तिबन्धप्रयोगेण सप्तरात्रं निरोधकः ।
कोदण्डद्वयमध्यस्थं बिन्दुनादेन भेदयेत् ॥४६॥
एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययः संप्रजायते ।
याममात्रादध्रुवं त्यक्त्वा गगने भवति स्थितः ॥४७॥
द्वादशान्ते दिनार्धेन दृष्ट्वा साक्षान्महेश्वरम् ।
संप्राप्य प्रियसाङ्गत्यं शिवसायुज्यमाप्नुयात् ॥४८॥
सुखमासनमासीनः सकलीकृतविग्रहः ।
किंचिदभ्युन्नतोरस्को मयूराञ्चितमस्तकः ॥४९॥
विस्रस्तांसः स्थिरो भूत्वा रसनां घण्टिकाबिले ।
संयोज्य परमेशानि ध्यानं कुर्याज्जितेन्द्रियः ॥५०॥
अत्यन्तनिपुणं कुर्यात्सुषुम्णान्तर्गतं मनः ।
शक्तिक्षोभात्ततस्तस्य परो ऽभिव्यज्यते ध्वनिः ॥५१॥
तदेव सहजं बीजं तत्र संयोजयेन्मनः ।
क्षणात्क्षोणीं परित्यज्य गगने भवति स्थिरः ॥५२॥
मुहूर्ताद्वीक्षते सर्वं तेजोमयमिदं जगत् ।
याममात्रं तदा तेजस्तदेव परिपश्यति ॥५३॥

---

**42a** °कः ] °क° A **42c** बहिश्च ] *em.*; बहिछ $\mu$ **43d** प्रत्येकमयुतं ] *em.*; प्रत्येकंमयुतं $\mu$ **44b** °येन्दूज्ज्वलमहः ] *em.*; °येंदोज्वलंमहः A, °येदोज्वलंमहः $J_6J_7$ **45d** आप्य दीप्यति ] $J_6$; अप्यदीप्यति A, आय्पदीप्यति $J_7$ **47c** °मात्राद ] °मात्रा $\mu$ **47d** गगने भवति स्थितः ] $J_6$; गमने भव␣स्थित A, गमने भवस्थितः $J_7$ **48b** दृष्ट्वा ] *em.*; दृष्टा $\mu$ **49a** सुखमासनमासीनः ] $J_6$; सुखासासनमासिन A, सुखमासनमासीन $J_7$ **51c** °क्षोभात्ततस् ] $J_6$; °क्षोभां ततस् A, °क्षोभा ततस् $J_7$ **52a** सहजं ] सहसं A **52c** क्षोणीं ] $J_6$; क्षोणी $AJ_7$

तदा तस्य निवर्तन्ते निखिलाश्चित्तवृत्तयः ।
†यामलं† यमसंकल्पो यदा स्थाणुवदास्थितः ॥५४॥
यदा ब्रह्माण्डभाण्डस्थं सर्वं प्रत्यक्षमीक्षते ।
अहोरात्रेण सर्वाणि साक्षात्तत्त्वानि पश्यति ॥५५॥
तद्रूपश्चेत् †परिषतस्† तदासौ जायते शिवः ।
नियोज्य घण्टिकारन्ध्रे रसनां निश्चलात्मिकाम् ॥५६॥
भ्रूमध्ये चक्षुषी न्यस्य स्थिरं कृत्वा मनो हृदि ।
क्षीरोदार्णवनिर्मग्नं पद्मद्वयपुटीकृतम् ॥५७॥
पिबन्तं ब्रह्मरन्ध्रेण क्षीरधारामृतं हिमम् ।
रोमकूपैर्विनिर्गत्य कोटिशः क्षीरबिन्दुभिः ॥५८॥
अभेद्यपाण्डुरान्तस्थमिवात्मानं विचिन्तयेत् ।
अजरामरतामेति मासमात्रं न संशयः ॥५९॥
मासावधि महेशानि योगमेकं शिवोदितम् ।
दिने दिने द्वियामान्तं यामान्तं वा समुच्चरेत् ॥६०॥
एकेनैव तु योगेन भुवनान्तमनुव्रजेत् ।
द्वितीयेन तु योगेन सप्तद्वीपावधिं व्रजेत् ॥६१॥
तृतीयेन तु योगेन शिवलोके महीयते ।
अतीत्य सकलाँल्लोकान्पृथग्भोगान्प्रभुज्य च ॥६१॥
शरीराय महायोगी चन्द्रद्वीपे सुखं वसेत् ।
श्रीदेव्युवाच
अक्षयं नाथ कं लोकं वद देव महेश्वर ॥६३॥
[श्रीभैरव उवाच]
सर्वं पूर्वं मयाख्यातं किं न बुध्यसि पार्वति ।
त्रैलोक्यं क्षयते सर्वं सहस्रयुगपर्यये ॥६४॥
कल्पाख्यं ब्रह्मणः स्थानं वैकुण्ठं चैव वैष्णवम् ।
कैलाशं रुद्रसंस्थानं क्षीयते च महाक्षये ॥६५॥
अक्षयं चन्द्रद्वीपं तु यत्र देवी कुलाम्बिका ।
तिष्ठते च मया सार्धं सत्यं सत्यं महातपे ॥६६॥

---

**55b** °मीक्षते ] °मीक्षसे A **56a** †परिषतस† ] AJ7; परिखतस् J6 **59a** अभेद्य ] J6; अमेघ° A, अमेद्य° J7 ◇ °स्थम् ] *em.*; °स्थाम् μ **61d** °वधिं ] °वलिं A **62d** प्रभुज्य ] यः भुज्य A **63d** महेश्वर ] *em.*; महेश्वरं μ **64a** ◇ सर्वं ] *corr.*; शिव μ **64c** क्षयते ] A; क्षायते J6J7 **65a** ब्रह्मणः ] J6; ब्रह्मण AJ7 **66b** कुलाम्बिका ] A; कुजांविका J6J7

योगिन्यस्तत्र या देवि सिद्धाश्च वरवर्णिनि ।
इच्छारूपधराः सर्वे सर्वे चामोघशक्तयः ॥६७॥
स्वतन्त्राश्च स्वरूपाश्च सर्वे कुब्जेश्वरप्रभाः ।
किमत्र बहुनोक्तेन जल्पितेन पुनः पुनः ॥६८॥
क्षयपातविहीनं तु चन्द्रद्वीपं वरानने ।
तत्क्षये यौवनानन्दः क्रीडते स्वेच्छया प्रिये ॥६९॥
कल्पकोटिशतैस्तस्य क्षयो नैव प्रजायते ।
न च सांसारिका व्याप्तिस्तस्य भूयः प्रवर्तते ॥७०॥
पशुमार्गस्थितो नित्यं योनियोन्यन्तरं व्रजेत् ।
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गुरुं तोष्य महेश्वरि ॥७१॥
प्रबोद्धव्यमिदं शास्त्रं संसारं तर्तुमिच्छता ।
येन सिद्धिमवाप्नोति सत्यं सत्यं न संशयः ॥७२॥
इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायामष्टादशः पटलः

---

**69a** क्षयपात° ] *em.*; क्षपयात° $\mu$ **70c** व्याप्तिस् ] *em.*; व्याप्ति° $\mu$ **70d** तस्य ] *em.*; °त्वस्य $AJ_6$, स्वस्य $J_7$ **72b** तर्तुम् ] *em.*; वर्तुम् $AJ_6$, वर्त्तुम् $J_7$

सप्तविंशः पटलः

ईश्वर उवाच
क्षेत्रज्ञानविहीनस्तु बाह्यचक्रमनाः क्षमः ।
सर्वतीर्थाधिकं स्नानं योगी देवि समाचरेत् ॥१॥
लोकेशः केशवो रुद्रः ईशश्चैव सदेश्वरः ।
निगद्यन्ते च विड्मूत्ररजोरेचकसारकाः ॥२॥
दृढलावण्यशौक्ल्यघ्नदेहस्थैर्यगद†क्षमः† ।
क्रमादमी प्रणश्यन्ति क्रियते विधिना यदि ॥३॥
दिव्यानुजः सुरश्रेष्ठः सूतो यज्ञो हरिः स्वयम् ।
अतिदुष्टः स्वयं रुद्रो लेभे ईशः सुरद्रवम् ॥४॥
सदाशिवो वरो ज्ञेयस्तेषां क्रममिमं शृणु ।
विजने जन्तुरहिते सुपात्रे चामरीरसम् ॥५॥
तत्र मेहनजं सारं कृत्वा चैवादिपुष्पकम् ।
पिङ्गलीवालुकं वारि सम्यगोंकारसंभवम् ॥६॥
तथा मथनजं दिव्यं ब्रह्मरन्ध्रविनिर्गतम् ।
एकीकृत्य धरातोयैः संस्कृत्य च यथाविधि ॥७॥
कर्पूरकुंकुमादीनि तस्मिन्विन्यस्य मेलयेत् ।
तेन प्रमर्दयेद्देहमापादतलमस्तकम् ॥८॥
नासजं †नास्त्यकं† कुर्यादजरामरफलाप्तये ।
मासेन देवदेवेशि नित्यमन्तः प्रदर्शयेत् ॥९॥
वलीपलितनाशश्च दृढलावण्यमेव च ।
भविष्यति महेशानि नाडीशुद्धिर्गदक्षयः ॥१०॥
अनेन विधिना देवि निर्विकल्पेन चेतसा ।
यश्चरेत्तस्य संसिद्धिर्जायते ह्यजरामरः ॥११॥

---

$\mu$=A$J_6J_7$ ◇ Af. 68v[7] – f. 69v[10] ◇ $J_6$ f. 47v[8] – f. 48v[1] ◇ $J_7$ f. 100r[7] – f. 102r[1]

---

**1b** बाह्य° ] वाघ्र° A ◇ °मनाः ] *conj.*; °मना $\mu$ **1c** सर्व° ] सर्वं A **1d** योगी देवि समाचरेत् ] *em.*; योग देंवी समं चरेत् A, योगं देवी समं चरेत् $J_6J_7$ **2b** ईशश्चैव ] *em.*; ईशः सैव $\mu$ **2c** निगद्यन्ते ] निमद्यंते A **3a** °शौक्ल्य° ] °शौक्ल° A **4b** सूतो ] सूनो A **4c** अतिदुष्टः ] अनिद्रुष्टः A **4c** रुद्रो ] *em.*; रुद्रे $\mu$ **4d** ईशः सुरद्रवम् ] *em.*; द्रशः सुरद्रवः A, ईशः सुरुद्रवः $J_6J_7$ **5c** जन्तु° ] नंतु° A **6c** पिङ्गलीवालुकं ] पिगजीवालुजं $J_6J_7$ **6c** वारि ] सारि A **7a** मथनजं ] मथनलं A **8b** तस्मिन् ] *em.*; तस्य $\mu$ **8c** °मर्दयेद ] *em.*; °मर्दये $\mu$ **9d** नित्यम् ] $J_6$; नित्यंम् A$J_7$ ◇ प्रदर्शयेत् ] A; प्रदर्शनात् $J_6J_7$

क्षेत्रतीर्थमये देहे यत्तीर्थं शिवनिर्गतम् ।
सर्वपापक्षयकरं वलीपलितनाशनम् ॥१२॥
करोति नात्र संदेहस्त्रिकालाभ्यङ्गयोगतः ।
षण्मासाल्लभते सत्यमजरामरतां प्रिये ॥१३॥
त्रिकालोद्वर्तनाद्वर्षाद्वलीपलितहा भवेत् ।
एककालप्रयोगेन त्रिवर्षादजरामरः ॥१४॥
विकल्पो नात्र कर्तव्यस्तर्हि सिद्धिर्न जायते ।
अविकल्पप्रवृत्तस्य योगिनः सिद्धिरुत्तमा ॥१५॥
सर्वपापक्षयश्चैव सौकुमार्यं प्रजायते ।
दिव्यं शिवमयं तीर्थं तीर्थकोटिफलप्रदम् ॥१६॥
रात्रौ पात्रान्तरे सर्वं कुर्याद्योगी समाहिताम् ।
चन्दनं कुङ्कुमं कुष्ठं हारिद्रं गोमयं तिलम् ॥१७॥
कर्पूरमगुरुं चन्द्रं गुग्गुलं कङ्गुकाघृतम् ।
गन्धकं च समालोड्य प्रातर्देहं प्रमर्दयेत् ॥१८॥
अनेन विधिना मासात्सूर्यकल्पो भवेन्नरः ।
वलीपलितनिर्मुक्तो जायते ह्यजरामरः ॥१९॥
रात्रौ कृत्वा महेशानि पात्रे सर्वामरीसुधाम् ।
तालकं कनकं गन्धं रुद्राक्षं च मनःशिलाम् ॥२०॥
पिष्ट्वा संलोड्य स्वदेहं मर्दयेत्प्रातरुत्थितः ।
मासाद्भवति देवेशि सत्यं पावकसंनिभः ॥२१॥
वलीपलितनिर्मुक्तः सिद्धिः स्यादजरामरा ।
दिवा संक्षिप्य पात्रान्तः सायं मर्दनमाचरेत् ॥२२॥
घृष्ट्वा गुग्गुलुना धूपं वस्त्रावृततनौ ददेत् ।
संदग्धगोमयं भस्म मेलयित्वामरीरसे ॥२३॥
संमिश्रोन्मत्तकरसं तेन देहं प्रमर्दयेत् ।
मर्दनादेव षण्मासाज्जायते ह्यजरामरः ॥२४॥

---

12a चोत्रतीर्थमये ] *em.*; चोत्रं तीर्थमया $AJ_7$, चोत्रं तीर्थं मया $J_6$ 14a त्रि° ] द्वि° $J_6$ 17c कुष्ठं ] *em.*; कुष्टं $\mu$ 17d हारिद्रं ] दारिद्रं A 18a कर्पूरमगुरुं चन्द्रं ] $J_6$; कर्पूरुगुरुं चंद्रं च A *(unm.)*, कर्पूरगरुं चंद्रं $J_7$ *(unm.)* 18c गन्धकं ] ⌈रो⌉धकं A 20c तालकं कनकं ] $J_6$; तलकं कंनकं A, तलकं कनकं $J_7$ 21a स्व° ] *em.*; सं° $\mu$ 21d °निभः ] °निभं A 22b °मरा ] $J_6$; °मराः $AJ_7$ 23a घृष्ट्वा गुग्गुलुना ] $J_7$; घृष्टा गुग्गुलना A, घृष्ट्या गुग्गुलुना $J_6$ 23b °तनौ ददेत् ] °ननौ दवेत् A 23c °दग्ध° ] *em.*; °दग्धा° A, °दग्ध्वा $J_6J_7$

सर्वतो विषनाशश्च भविष्यति न संशयः ।
यो नित्यं मर्दयेदेनं द्वादशान्तमखण्डितम् ॥२५॥
सर्वपापविनिर्मुक्तः सर्वव्याधिविवर्जितः ।
अजरश्चामरो भूत्वा जीवेदाचन्द्रतारकम् ॥२६॥
अविकल्पमतिर्देवि यः सदा मर्दयेत्तनुम् ।
तस्य न व्याधिजा भीतिर्न जरामृत्युतोऽपि च ॥२७॥
अनेन देवि स्नानेन सर्वतीर्थफलोदयः ।
भवति नात्र संदेहः सत्यं सत्यं मयोदितम् ॥२८॥
पशुपाशप्रबद्धाश्च शिवज्ञानपराङ्मुखाः ।
दिव्यामरीसुधास्नानं न विन्दन्ति बहिर्मुखाः ॥२९॥
अप्रकाश्यतमं चेदं रहस्यं ते प्रकाशितम् ।
शिवेनोदाहृतं देवि नापरीक्ष्य प्रदापयेत् ॥३०॥

इति श्रीमत्स्येन्द्रसंहितायां सप्तविंशः पटलः

---

**27c** °भीतिर ] °भितिर् A **28c** भवति ] *em.*; लभति AJ$_6$, लभते J$_7$ **29b** °मुखाः ] J$_6$; °मुख्य A, °मुखा J$_7$ **29d** °मुखाः ] मुखा A **30b** ते प्रकाशितम् ] तं प्रकाशिते A

---

**26** *om.* A

# Appendix C: works cited in the *Bṛhatkhecarīprakāśa*

In the following list the names of cited works are followed by the location (if I have found it) of the citation(s) in the published edition (if one is available) of the work and then the location of the beginning of the citation in the manuscript. In general, I have sought to identify only those citations that are from haṭhayogic works. I have not listed unattributed citations that I have been unable to identify. The sign "≃" indicates that the citation is found in a slightly different form in the edition that I have consulted. Where I am uncertain of the identity of the text being referred to, its name or its author's name is given in single inverted commas.

*'Aṃjane':* f: 42(3)v$^{mg}$

*Atharvaśira[upaniṣad]:* f. 86(1)v$^{5}$

*Amarakośa:* f. 29r$^{10}$, f: 70v$^{mg}$, f. 110v$^{2}$

*Amṛtabindūpaniṣad:* f. 90r$^{9}$

*Aṣṭādhyāyī:* 1.4.82 at f. 59v$^{9}$ (*"iti sūtrāt"*)

*Uttaragītā:* f. 59r$^{mg}$

*Kapilatantra:*[486] f. 14r$^{9}$

*Kālāgnirudropaniṣad:* f. 86(1)v$^{8}$

*'Kālidāsa':* f. 42(1)r$^{8}$, f. 110r$^{9}$

*Kulaprakāśatantra:* f. 42(1)v$^{5}$, f. 88v$^{mg}$

*Kulārṇavādau:* f. 45v$^{10}$

*Kaurmagītā:* f. 89v$^{3}$

*Kaurme Śivagītā:* f. 66v$^{4}$, f. 85r$^{5}$, f. 85r$^{10}$, f. 89v$^{mg}$, f. 101r$^{8}$

*Gāruḍa[purāṇa]:* f. 63v$^{7}$, f. 67r$^{9}$, f. 67v$^{5}$, f. 68v$^{5}$

*Gītāsāra: "ekonaviṃśādhyāye"* f. 16v$^{6}$

*'Gorakṣa':* f. 25r$^{mg}$,[487] f. 42(3)v$^{4}$, f. 45r$^{mg}$[488]

*Gorakṣaśataka*$_{N}$*:* 67 at f. 11v$^{8}$; 64 at f. 12r$^{1}$, 133–134 at f. 26r$^{5}$ (attributed to *Haṭhapradīpikā*), 43 at f. 99r$^{7}$, 25–28 at f. 99v$^{7}$, 142 at f. 100r$^{mg}$, 24cd at f. 100r$^{3}$, 72c–76d at f. 103v$^{mg}$, 11 at f. 108v$^{1}$ (=*HP* 1.35), 12 at f. 108v$^{5}$ (=*HP* 1.44)

*Carakasaṃhitā:* f. 78v$^{8}$

*Jābala[upaniṣad]:* f. 86(2)r$^{9}$

*Jaiminyaśvamedhagālava:* f. 74r$^{4}$, f. 74r$^{10}$, f. 74v$^{7}$, f. 75r$^{mg}$, f. 75v$^{1}$

*Tattvakaumudī:* f. 57r$^{mg}$

*Tattvapradīpikā:* f. 69v$^{mg}$, f. 107v$^{mg}$

*Tantrarāja:* f. 27v$^{2}$, f. 42(1)v$^{2}$, f. 42(1)v$^{9}$, f. 42(2)r$^{5}$ (=citation at f. 42(1)v$^{2}$), f. 42(2)r$^{6}$ (=citation at f. 42(1)v$^{9}$), f. 64r$^{2}$, f. 73v$^{3}$, f. 74r$^{1}$, f. 78r$^{1}$, f. 78r$^{9}$, f. 78v$^{5}$, f. 82v$^{2}$, f. 90v$^{8}$, f. 105r$^{mg}$, f. 106v$^{mg}$

⌈*Taittirīya*⌉*śruti:* f. 42(1)r[8]

*Dakṣiṇamūrtisaṃhitā:* f. 105r[6]

*Dattātreyayogaśāstra:* see *Sāṃkṛtidattātreyasaṃvādaprakaraṇa*

*'Devalaḥ':* f. 91v[7]

*Dhātupāṭha:* f. 102v[8]

*Nandipurāṇa:* f. 92r[5]

*Nārāyaṇīyayogasūtravṛtti:* f. 57v[2], f. 90v[2]

*Nārāyaṇīyavṛtti:* f. 93r[2]

*Nārāyaṇīyasūtravṛtti (ad Kṣurikopaniṣad):* f. 90r[11]

*Niruktaśeṣa:* f. 11r[6].

*Padmapurāṇa:* f. 84v[3]

*Pādmagītā:* f. 90r[mg]

*Pādmaśivagītā:* f. 76r[mg]

*Pādme Kapilagītā:* f. 25r[7], f. 68r[1], f. 89r[10]

*Pārthiveśvaracintāmaṇi:* f. 84v[4]

*Pauṣkaraprādurbhāva:* 17th *adhyāya* (of *Gāruḍapurāṇa* ?) with Nīlakaṇṭha's *vyākhyā*, the *Yogacintāmaṇi*: f. 67v[1], f. 83r[mg]

*Prabodhacandrodaya:* f. 110r[9]

*Brahmayāmala:* f. 42(1)v[1], f. 42(2)r[1] (=previous citation)

*Bhāgavata:* f. 55r[3], *"ekādaśe skandhe"* f. 16v[2], f. 95v[8], *"paṃcame"* f. 69v[6], *"śrīdhara-vākyāyām"* f. 78r[7], *"dvitīyaskande"* f. 82v[6]

*Bhagavadgītā:* 8.13ab at f. 17v[1], f. 65v[11], f. 66r[mg], 6.13 at f. 98v[10], 6.44a at f. 101r[12], f. 104r[2], 6.17 at f. 107v[1], 6.11d at f. 107v[10]

*Bhojavṛtti:* f. 90r[7]

*'Mahākapilapañcarātre':* f. 42(1)v[8], f. 42(2)v[4]

*Mahāhārakatantra:* f. 88v[mg]

*Mahābhārata: "puṣkaraprādurbhāve saptadaśādhyāye"* f. 24v[8–10], *"bhārate yājñaval-kyaḥ":* f. 73r[mg], f. 74r[3], f. 75r[2], f. 75v[3], *"bhārate":* f. 75r[8], *"bhārate kaśyapastutau":* f. 85v[7], *"mokṣadharme bhārate":* f. 92v[11], *"śāntau bhīṣmena":* f. 93r[9], *"bhārate pau-ṣkare saptadaśādhyāye nīlakaṃṭhena"* f. 97r[6]

*Mahābhāṣya:* f. 57r[5]

*Mantramahodadhi:* f. 105[mg]

*Mālatīmādhava:* 5.1a at f. 68r[mg]

*'Yājñavalkya':* f. 43r[9], f. 66v[mg], f. 76r[3], f. 77v[2], f. 80v[1], f. 82r[6], f. 86(2)r[3], f. 97r[5], f. 98v[6], f. 108v[6]

*Yājñavalkyagītā:* f. 85v[7], f. 97r[10]

*Yājñavalkyasaṃhitā:* f. 92r$^{1}$, f. 96r$^{3}$, f. 96r$^{11}$

*Rudrahṛdaya:* f. 85v$^{10}$

*Yogacintāmaṇi:* f. 25r$^{2}$

*Yogataraṅginī:* f. 73v$^{6}$

*Yogatārāvalī:* f. 89r$^{4}$

*Yogapradīpikā:*[489] f. 37r$^{7}$

*Yogabīja:* 183ab at f. 8v$^{6}$; 91–98 at f. 19v$^{4}$, 141cd at f. 26v$^{7}$, 131 at f. 37r$^{2}$, 125–127 at f. 37r$^{5}$, ≃73 at f. 45r$^{mg}$, f. 45r$^{11}$, ≃179, 182a–183b, 173c–176b and ≃177cd at f. 64r$^{3}$, 146–147 at f. 88r$^{5}$, 148–149 at f. 88v$^{2}$, 150–152b at f. 88v$^{6}$, 135c–136b at f. 90r$^{4}$, 102 at f. 91r$^{2}$, 104 at f. 91r$^{4}$, 106cd at f. 91r$^{7}$, 108a–110b at f. 91v$^{11}$, 15c–17d at f. 93r$^{8}$, 153 and 157–159 at f. 101r$^{10}$, ≃159a–160b at f. 101v$^{1}$, 113cd at f. 102v$^{4}$, 116–117 at f. 102v$^{5}$ (=*DYŚ* 286–289), 120cd at f. 102v$^{9}$, 121c–122b at f. 103r$^{2}$, 123c–124b at f. 103r$^{4}$, 94a at f. 104r$^{11}$

*Yogaratnakārikā*:[490] f. 89v$^{9}$

*Yogavāsiṣṭha:* f. 64r$^{9}$

*Yogasāra:* f. 12r$^{2}$

*Yogasiddhāntacandrikā:* f. 93r$^{2}$

*Yogasūtra* with Vyāsa's *Bhāṣya:*[491] 3.50 at f. 12r$^{7}$–f. 12v$^{3}$; f. 15r$^{4}$; f. 16r$^{8}$; f. 16v$^{4}$; f. 16v$^{8}$; 3.29 at fol.21r$^{mg}$, 3.25 at f. 41v$^{4}$, 4.1 at f. 64r$^{mg}$, f. 64r$^{10}$, 3.21 at f. 73r$^{11}$, f. 76v$^{mg}$, 3.37 at f. 77v$^{9}$, 3.38 at f. 78r$^{4}$, f. 81r$^{4}$, f. 82v$^{7}$, 2.1–2 at f. 85v$^{4-6}$, 1.2 at f. 87v$^{4}$, 89a–90b at f. 87v$^{4}$, 2.29 at f. 89v$^{5}$, 3.28 at f. 96v$^{11}$, 1.33 at f. 109v$^{2}$

*'Ratnāvalī':* f. 86(1)v$^{7}$

*Rāmāyaṇa:* f. 97v$^{mg}$ *("vālmīkīye")*

*Liṅga[purāṇa]:* f. 109r$^{8}$

*'Vāmadevarṣi':* f. 98v$^{10}$

*Vāyavīyasaṃhitā:* f. 88v$^{mg}$

*Vāyupurāṇa*:[492] f. 15r$^{6}$, f. 88r$^{1}$, f. 88r$^{3}$, f. 88v$^{2}$, f. 88v$^{6}$, f. 89v$^{5}$, f. 90r$^{7}$, f. 95r$^{1}$1, f. 97v$^{8}$, f. 107r$^{7}$

*Vāyusaṃhitā:* f. 86(1)v$^{11}$, f. 92r$^{4}$

*Vāsiṣṭhasaṃhitā:* 1.50 at f. 59r$^{9}$ (without attribution)

*Viśvāmitrakalpa:* f. 92v$^{1}$

*Viśvāmitrasaṃhitā:* f. 90r$^{10}$, f. 90v$^{2}$

*'Vyākaraṇagraṃthe':* f. 25r$^{4}$

*'Vyāsaḥ':* f. 84v$^{7}$

*Śatarudriya:* f. 84v$^{6}$

*'Śākaloktamaṃtra':* f. 24r$^{11}$

*Śāradātilakatantra:*[493] f. 42(1)v$^{7}$, f. 42(2)v$^{1}$ (=previous citation)

*'śāstram':*[494] f. 26v

*'śiva':*[495] f. 95v$^{7}$, f. 95v$^{11}$

*Śivagītā:* f. 107v$^{11}$

*Śivatāṇḍava:* f. 105v$^{6}$

*Śivapaṃjaramārkaṇḍeyastotra:*[496] f. 84v$^{5}$

*Śivapurāṇa:* f. 86(2)r$^{9}$

*Śivarahasya:* f. 86(2)r$^{4}$, f. 86(2)r$^{9}$

*Śivasaṃhitā:*[497] 4.13 at f. 8v$^{8}$, 4.6ab at f. 8v$^{10}$, 3.11–15 at f. 11r$^{1}$; 5.2c–9b at f. 14v$^{9}$; 3.52c–54 at f. 16r$^{10}$; 5.167cd, 5.169ab, 5.170–171 at f. 24v$^{5}$, 5.132 at f. 25r$^{3}$, ≃ 5.158-159d at f. 44v$^{4}$, 1.17 and 1.18cd at f. 45r$^{10}$, 3.30ab and 3.30ef at f. 46v$^{10}$, f. 61r$^{mg}$, f. 66r$^{11}$, 2.4ab, 2.1–3 at f. 67r$^{7}$, 2.6ab and 2.10 at f. 67v$^{3}$, 5.29–30, 5.34 at f. 74v$^{mg}$, 4.13 at f. 87r$^{7}$, 5.15 at f. 88r$^{2}$, 3.27c–f at f. 93r$^{3}$, 3.35b–37b at f. 93r$^{6}$, 5.10–13 at f. 93v$^{2}$, 3.39–41 at f. 93v$^{5}$, ≃ 3.51c–52 at f. 95v$^{3}$, 3.64 at f. 96r$^{2}$ (*"śive-na"*), 3.65ab at f. 96r$^{3}$ (attributed to *"datta"*), 3.68–70 at f. 96v$^{5}$ (*"śivena"*), ≃ 3.72–74 at f. 97r$^{4}$, 5.159a–d at f. 100v$^{4}$, 5.209–210 at f. 100v$^{7}$, 5.214cd and 211cda at f. 100v$^{8}$, 4.101 at f. 103v$^{5}$, 4.105cd at f. 104r$^{9}$, 5.234abc and 235ac at f. 104v$^{4}$, 3.22–23 at f. 107v$^{12}$

*Śivārādhanadīpikā:* f. 86(1)r$^{8}$

*Śulbasūtra:* f. 21v$^{1}$

*'Śaivavratadaśake madīyaḥ saṃgrahaḥ':* f. 86(1)r$^{4}$

*Śaivāgama:* f. 86(3)v$^{9}$

*'Śrīdharā':* f. 82v$^{mg}$

*Śrīsūkta:* f. 46r$^{4}$

*Sāṃkṛtidattātreyasaṃvādaprakaraṇa:*[498] 76–99 at f. 8r$^{5}$; 201–207 at f. 10r$^{5}$; 32–38 at f. 11r$^{10}$; 92 at f. 15v$^{6}$; 173–175 f. 16v$^{1}$; 158–161 at f. 47r$^{1}$, 157 at f. 59r$^{9}$ (without attribution), 43 at f. 80v$^{8}$, 23–24 at f. 88r$^{4}$, 40–51 at f. 88v$^{8}$, 64 at f. 89v$^{7}$, f. 90r$^{1}$, 138–140 at f. 93r$^{5}$, 162–164 at f. 95v$^{3}$, 173 at f. 95v$^{8}$, 182–3 at f. 95v$^{11}$, 243–245 at f. 97r$^{11}$, 250 at f. 101r$^{2}$, 257–8 at f. 101r$^{7}$ (unattributed), 259 at f. 101r$^{9}$, 260–261 at f. 101v$^{3}$, 263–267 at f. 101v$^{7}$, 268–269 at f. 101v$^{11}$, 270 at f. 102r$^{5}$, 286–289 at f. 102v$^{5}$ (=*YB* 116–117 and attributed to *YB*), 285 at f. 102v$^{6}$, 283 at f. 102v$^{9}$, 274 at f. 103r$^{3}$, 295–296 and 293 at f. 103r$^{8}$, 107–113 at f. 107r$^{5}$

*Siṃhasiddhānta:* f. 42(1)v$^{2}$, f. 42(2)r$^{7}$ (=previous citation)

*'siddhāntāt':* f. 100r$^{4}$

*Siddhāntāgama:* f. 86(1)v$^{1}$

*Sudarśanasaṃhitā:* f. 86(3)v$^{mg}$

*Saundaryalaharī (saṭīkā):* f. 98r$^{7}$

*Skandapurāṇa:* f. 26v$^{8}$ *("kedārakhaṇḍa adhyāya 65 tad uktaṃ... saṃgītaprastāvane nāradaṃ prati śivena")*, f. 42(1)r$^{1}$, f. 86(1)v$^{2}$, f. 107v$^{2}$ *("kedārakhaṃḍe")*

*Svarodaya:* f. 42(1)v$^{mg}$, f. 42(2)r$^{3}$ (=previous citation), f. 68r$^{11}$, f. 69r$^{3}$, f. 73v$^{11}$, f. 74v$^{mg}$, f. 75r$^{4}$

*Haṃsopaniṣad:* 16–17 at f. 26v$^{5}$

*Haṭhapradīpikā:* 1.11 at f. 10r$^{4}$, 3.32 at f. 20r$^{7}$, 4.3–5 at f. 23v$^{1}$, 3.46ab, 3.47–48 at f. 26r$^{3}$, 3.50bc, 3.51 at f. 26r$^{7}$, 4.68ab at f. 26v$^{10}$, 4.23–24 at f. 33v$^{8}$, 4.10 at f. 37v$^{4}$, f. 44r$^{7}$, 3.46ab at f. 44v$^{9}$, 4.37 at f. 72r$^{2}$ (attributed to Gorakṣa), 2.44 at f. 90v$^{9}$, 3.6–7d at f. 90v$^{10}$, f. 91r$^{3}$, ≃ 2.51a–52b at f. 91r$^{5}$, 2.57a–58b at f. 91r$^{8}$, ≃ 2.60a–62b at f. 91r$^{9}$, 2.68–69 at f. 91v$^{2}$, 2.72 at f. 91v$^{4}$, 1.59 at f. 93r$^{11}$, 1.62a–d at f. 93v (attributed to Gorakṣa), 1.20 at f. 93v$^{7}$ (unattributed), 1.62e–63d at f. 94v$^{6}$, 3.18c–19d at f. 101v$^{12}$, 3.25–27 at f. 102r$^{5}$, ≃ 3.24 at f. 102r$^{9}$, 3.51cd at f. 102r$^{11}$, 3.110 at f. 102v$^{10}$, 3.70 at f. 103r$^{3}$, ≃ 3.79ef at f. 103r$^{10}$, 3.90abefgh and 3.91ab at f. 103v$^{1}$, 4.10 at f. 104r$^{10}$, 1.12 at f. 107v$^{1}$, 1.13 at f. 107v$^{3}$, 1.36 at f. 108v$^{3}$, 1.48e–h at f. 108v$^{7}$

The following works are mentioned but not cited at the indicated places in the commentary:

*Karaṅkinītantra:* f. 28r$^{1}$

*'kārikā':* f. 99r$^{1}$

*Gurugītā:* f. 11r$^{7}$

*Caraka[saṃhitā]:* f. 18r$^{10}$, f. 97r$^{2}$, f. 110r$^{mg}$

*Tattvakaumudī:* f. 37r$^{mg}$

*Tantrarāja:* f. 35v$^{9}$, f. 38v$^{2}$

*Dattātreyatantra:* f. 27v$^{mg}$, f. 27v$^{3}$, f. 28r$^{1}$

*Nāgārjunataṃtra:* f. 27v$^{1}$, f. 27v$^{3}$, f. 28r$^{1}$

*Pādmaśivagītā:* f. 5v$^{1}$, f. 86(1)v$^{10}$

*Prabodhacandrodaya:* f. 46r$^{1}$

*Bhāvaprakāśa:* f. 18r$^{10}$, f. 97r$^{2}$

*Bhiṣakśāstra:* f. 18r$^{10}$, f. 110r$^{5}$

*Mārttaṃḍagītā:* fol.18r$^{mg}$

*'Mohanadāsa':* f. 20r$^{2}$

*Yājñavalkyasaṃhitā* f. 47r$^{2}$

*'Yājñavalkya':* f. 34r$^{mg}$, f. 94v$^{2}$

*Yogatārāvalī:* f. 32r$^{4}$, f. 38r$^{2}$

*Rudrayāmala:* f. 13v$^{6}$, f. 28v$^{5}$

*Liṅgapurāṇa:* f. 86(3)v$^{4}$

*Vāgbhaṭṭa:* f. 18r$^{10}$

*Vāyupurāṇa:* f. 99r$^{3}$ *("upamanyu")*

*Viśvālayatantra:* f. 106r$^{3}$

*Śivakavaca:* f. 86(3)r$^{8}$

*Śivapurāṇa:* f. 86(2)r$^{5}$, f. 86(3)v$^{4}$

*Śivamatsyeṃdrasaṃhitā:* fol.5r$^{mg}$

*Śivarahasya:* f. 85v$^{3}$, f. 86(3)v$^{4}$

*Śivasaṃhitā:* f. 6v$^{1}$, f. 34r$^{mg}$

*Śivārcanacaṃdrikā:* f. 37v$^{mg}$

*Suśruta[saṃhitā]:* f. 18r$^{10}$

*Saṃgītadarpaṇa:* f. 49r$^{mg}$

*Saṃgītaratnākara:* f. 49r$^{mg}$

*Saundaryalaharīvyākhyā* of Lakṣmīdhara*:* f. 6v$^{1}$, f. 9v$^{2}$

*Svarodaya:* f. 38v$^{2}$

*Skandapurāṇa:* f. 85r$^{2}$ *("Brahmottarakhaṃḍa")*, f. 86(2)r$^{5}$, f. 86(3)v$^{4}$

# Abbreviations

## Primary sources

| | |
|---|---|
| *ATU* | *Advayatārakopaniṣad* |
| *AM* | *Abhaṅgamālā* |
| *AY* | *Amanaskayoga* |
| *AP* | *Amaraughaprabodha* |
| *AŚ* | *Amaraughaśāsana* |
| *KSS* | *Kathāsaritsāgara* |
| *KT* | *Kiraṇatantra* |
| *KMT* | *Kubjikāmatatantra* |
| *KRU* | *Kularatnoddyota* |
| *KAT* | *Kulārṇavatantra* |
| *KJN* | *Kaulajñānanirṇaya* |
| *KU* | *Kṣurikopaniṣad* |
| *GŚ*$_{N}$ | *Gorakṣaśataka*$_{N}$ |
| *GSS* | *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha* |
| *GBP* | *Gorakhbāṇī pad* |
| *GBS* | *Gorakhbāṇī sākhī* |
| *GhS* | *Gheraṇḍasaṃhitā* |
| *JRY* | *Jayadrathayāmala* |
| *TĀ* | *Tantrāloka* |
| *TŚBM* | *Triśikhībrāhmaṇopaniṣad, mantrabhāga* |
| *DYŚ* | *Dattātreyayogaśāstra* |
| *DU* | *Darśanopaniṣad* |
| *DhBU* | *Dhyānabindūpaniṣad* |
| *NBU* | *Nādabindūpaniṣad* |
| *NSA* | *Nityāṣoḍaśikārṇava* |
| *NT* | *Netratantra* |
| *NTU* | *Netratantroddyota* |
| *BKhP* | *Bṛhatkhecarīprakāśa* |
| *BVU* | *Brahmavidyopaniṣad* |
| *MaSaṃ* | *Matsyendrasaṃhitā* |
| *MKS* | *Mahākālasaṃhitā* |

| | |
|---|---|
| *MBh* | *Mahābhārata* |
| *MKSK* | *Mahākālasaṃhitā, Kāmakalākhaṇḍa* |
| *MKSG* | *Mahākālasaṃhitā, Guhyakālīkhaṇḍa* |
| *MVUT* | *Mālinīvijayottaratantra* |
| *YKU* | *Yogakuṇḍalyupaniṣad* |
| *YCU* | *Yogacūḍāmaṇyupaniṣad* |
| *YTU* | *Yogatattvopaniṣad* |
| *YB* | *Yogabīja* |
| *YV* | *Yogaviṣaya* |
| *YŚU* | *Yogaśikhopaniṣad* |
| *YS* | *Yogasūtra* |
| *RAK* | *Rasārṇavakalpa* |
| *VU* | *Varāhopaniṣad* |
| *VS* | *Vasiṣṭhasaṃhitā* |
| *VD* | *Vivekadarpaṇ* |
| *VM* | *Vivekamārtaṇḍa* |
| *ŚP* | *Śārṅgadharapaddhati* |
| *ŚS* | *Śivasaṃhitā* |
| *ṢCN* | *Ṣaṭcakranirūpaṇa* |
| *SYM* | *Siddhayogeśvarīmata* |
| *SSP* | *Siddhasiddhāntapaddhati* |
| *HP* | *Haṭhapradīpikā* |
| *HPJ* | *Haṭhayogapradīpikājyotsnā* |
| *HR* | *Haṭharatnāvalī* |
| *HT* | *Hevajratantra* |

## Other abbreviations

| | |
|---|---|
| ĀSS | Ānandāśrama Sanskrit Series |
| IFP | Institut français de Pondichéry |
| KSTS | Kashmir Series of Texts and Studies |
| MMSL | Maharaja Man Singh Library |
| NAK | National Archives Kathmandu |
| NCC | New Catalogus Catalogorum |
| NGMPP | Nepal-German Manuscript Preservation Project |

# Notes

1 See verse 1.16.
2 See e.g. *Haṭhapradīpikājyotsnā* 1.1.
3 The compound *khecarīmudrā* is in fact used at just two places in the *Khecarīvidyā*: 2.82a and 3.54a. At the first occurrence it refers to the physical practice, while at the second it seems to refer to the result of the sum of the practices described in the text. Elsewhere the physical practice is called simply *abhyāsa*, "the practice".
4 On these different recensions of the *Haṭhapradīpikā* see the descriptions of witnesses $H_2$ and $H_3$ on pp. 55–6.
5 At vv. 955–7, Jayatarāma lists eleven texts which he has consulted in order to compose his work but the *Khecarīvidyā* is not among them. Much of the *Jogpradīpakā*'s description of *khecarīmudrā* is clearly derived from the *Khecarīvidyā* (see for example vv. 665–670 which is very similar to the *Khecarīvidyā*'s fourth *paṭala*) and cannot be found in Jayatarāma's main source, the long recension of the *Haṭhapradīpikā*, so it seems certain that either Jayatarāma did consult the *Khecarīvidyā* or that one of the texts he lists was the *Khecarīvidyā* by another name or contained large parts of it.
6 This association with the Nātha order is almost certainly a retroactive attribution. There is little in the text that connects it with any specific tradition, apart from general evidence of roots in Kaula tantrism. It does not contain a systematic description of its yoga, nor does it call its yoga *ṣaḍaṅga*, "having six ancillaries", or *aṣṭāṅga*, "having eight ancillaries". It contains no statements of its ontological standpoint. Other than the manuscript colophons there is nothing to link it with Ādinātha. The four tantras mentioned in the text (see note 8) help little in locating it within a specific tradition. The *Vivekamārtaṇḍa* was itself probably attributed to Gorakṣanātha some time after its composition (see note 9). The mention of a *Jālasambaratantra* in the *Kularatnoddyotatantra* (see note 205) and the *Khecarīvidyā*'s use of the system of six *cakra*s found in texts of the Paścimāmnāya cult of Kubjikā suggest a possible link with the latter. *Matsyendrasaṃhitā* 44.27 declares *etat te paramāmnāyam auttaraṃ paścimānvayam*: "this [that I have taught] you is the supreme higher tradition, consonant with/following the western [tradition]", and *Matsyendrasaṃhitā* 18.67a–68b describes all Yoginīs and Siddhas as *kubjeśvaraprabhāḥ*, "resembling Kubjeśvara". Members of the cults connected with the *Matsyendrasaṃhitā* and

the *Mahākālasaṃhitā*, the two works with which the *Khecarīvidyā* is most closely linked, add the suffix *-ānandanātha* to their initiatory names (*MaSaṃ* 17.57; JHA 1976:5). This suffix is rarely found in the names of Nātha yogins but is added to the names of Kaula initiates. See *Tantrālokaviveka* 29.42 and, for the cult of Śrīvidyā, *Nityotsava* p.37, ll. 1–3. The names by which the goddess is addressed in the *Khecarīvidyā* are common in Kaula and Vidyāpīṭha Śaiva texts. Thus *vīravandite* (*KhV* 2.18, 2.110) is found at *Mālinīvijayottaratantra* 3.28, 3.58, 7.4, *Tantrasadbhāva* (NAK 5-445) 9.199, *Picumata* (NAK 3-370) 56.87, 56.89, 85.54, *Jayadrathayāmala* 4.2.463, *Kubjikāmatatantra* 6.48 etc.; *kuleśvari* (*KhV* 2.124) occurs many times in the *Kubjikāmatatantra*. I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with these references.

7 MEULENBELD (1999: vol. IIA pp. 749–50) gives a description of the text which is derived from that of WHITE *(loc. cit.)*.

8 Four other works are mentioned at 1.14c–15b. Because of variants among the witnesses and a lack of manuscripts of the works mentioned, establishing their identities is difficult, and establishing their dates even more so. See the notes to the translation for further details.

9 BOUY (1994:18) lists the names by which this text has been called: *Gorakṣapaddhati*, *Gorakṣasaṃhitā*, *Gorakṣaśata*, *Gorakṣaśataka*, *Gorakṣayogaśāstra*, *Haṭhayoga*, *Haṭhayogagorakṣaśataka*, *Jñānaprakāśaśataka*, *Jñānaśataka*, *Muktisopāna*, *Vivekamārtaṇḍa*, and *Yogamārtaṇḍa*. (I have not included the following titles from his list: *Haṭhagrantha*, *Haṭhayogacintāmaṇi*, *Yogacintāmaṇi* and *Yogasāgara*. These are reported by BRIGGS (1938:256) as names by which the *Gorakṣaśataka* is referred to in its commentary in his manuscript P, but are probably no more than honorific ways of referring to the *mūla*.)

A text called *Vivekamārtāṇḍa* and attributed to Viśvarūpadeva has been edited and published in the Trivandrum Sanskrit Series (No. 119). It is a work in six *prabodha*s, the last of which, entitled *Yogasādhana*, closely matches the text of the *Gorakṣaśataka* as edited by Nowotny. This sixth chapter has also been edited, as the *Vivekamārttaṇḍa*, in the *Gorakṣagranthamālā* series (GGM 75) from a copy of a manuscript in Jodhpur (MMSL No. 2027) which consists of the sixth chapter alone. Only in this chapter is the practice of *khecarīmudrā* described, so the reference in the *Khecarīvidyā* cannot be to any of the other five *prabodha*s. In the present state of research, it cannot be definitively stated whether the first five *prabodha*s were composed (or compiled) and prefixed to the already extant sixth, or whether they were all composed together, with the sixth becoming more popular and attaining a life of its own. I concur with BOUY (1994:21) and KUVALAYĀNANDA & SHUKLA (1958:14–15) in preferring the former hypothesis.

Nowotny has edited the *Gorakṣaśataka* from four manuscripts, the oldest of which is dated *samvat* 1791 (1733–34 CE). There is a manuscript in the Oriental Institute Library, Baroda (accession number 4110) whose colophon reads *iti śrīgorakṣadevaviracito vivekamārttaṃḍaḥ samāptaḥ // ❀ // saṃvat* 1534 (1476–77 CE). The text of this manuscript corresponds closely to Nowotny's edition of the *Gorakṣaśataka*, although it omits 24 verses found in the edition, including verse four, in which the work calls itself *Gorakṣaśataka*. Another manuscript of the *Vivekamārtaṇḍa* in

the Oriental Institute Library, Baroda (accession number 2081), which is undated but appears to be old, also transmits a work that closely matches Nowotny's edition of the *Gorakṣaśataka*. In GHAROTE & BEDEKAR's *Descriptive Catalogue of Yoga Manuscripts* (1989:356–357) the "Additional Particulars" section for MS No. 8047 in the Jodhpur Oriental Research Institute, entitled *Vivekamārtaṇḍa* and dated *samvat* 1879, reads "It is Gorakṣaśatakam". In the *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha*, which can be dated to the seventeenth century (BOUY 1994:19), there are four quotations from a text called *Vivekamārtaṇḍa* all of which can be found in Nowotny's edition of the *Gorakṣaśataka*. A commentary on the *Siddhasiddhāntapaddhati* entitled *Nāthanirvāṇa* cites at least 55 verses which can be found in Nowotny's edition of the *Gorakṣaśataka*, attributing them to the *Vivekamārtaṇḍa* (BOUY 1994:23).

In GHAROTE & BEDEKAR's catalogue (1989:44–59), of 62 manuscripts called *Gorakṣaśataka* and 5 called *Gorakṣasaṃhitā,* the oldest dated manuscript (Varanasi Sanskrit College MS No. 3759) was written in *samvat* 1696 (1638–9 CE).

This evidence indicates that the work now generally called the *Gorakṣaśataka* was known as the *Vivekamārtaṇḍa* before the seventeenth century. This seems a more fitting name for a text which in its shortest available complete form consists of 157 verses (KUVALAYĀNANDA & SHUKLA 1958:7) and a verse of which (*GŚ*$_N$ 200) ascribes it to Ādinātha. Recensions of the text consisting of a hundred or so verses do exist, but are either incomplete (e.g. BRIGGS 1938:284–304, which names the six ancillaries of yoga at verse 7 but stops half-way through the description of the second ancillary, *prāṇāyāma*, at verse 101) or are attempts by commentators to produce a coherent *śataka* (KUVALAYĀNANDA & SHUKLA's 1958 edition). There is a different text called *Gorakṣaśataka* which is complete in 101 verses. This unedited work was used to compile the first chapter of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad*; see BOUY 1994:40. It is perhaps through confusion with this work that the *Vivekamārtaṇḍa* came to be known as the *Gorakṣaśataka*. BOUY (1994:20–24) notes in detail other concordances between the *Vivekamārtaṇḍa* and the different recensions of the longer *Gorakṣaśataka*, and suggests that the *Gorakṣaśataka* may "sometimes" *(parfois)* have been known as the *Vivekamārtaṇḍa*, but does not remark on the diachronic nature of the change of name. A new edition of the *Vivekamārtaṇḍa*, drawing on the large number of variously named manuscripts of the text that exist, would make an important contribution to the study of the historical development of *haṭhayoga*.

10 *ŚP* 4374 = *VM* 7, *ŚP* 4418 = *VM* 59. *ŚP* 4372–4419 contains verses from various works on yoga (the edition has *ete yogaśāstrebhyaḥ* after verse 4419) and describes the first of two types of *haṭhayoga*, which is said to have been practised by Gorakṣa, as opposed to the second type, which was practised by the sons of Mṛkaṇḍa (*ŚP* 4372). Over half of the other verses of this passage are from the *Dattātreyayogaśāstra.*

11 BOUY (1994:82) has shown that the *HP* borrows from the following texts: the *Vivekamārtaṇḍa*, the original *Gorakṣaśataka*, the *Vasiṣṭhasaṃhitā* (*Yogakāṇḍa*), the *Dattātreyayogaśāstra*, the *Amaraughaprabodha*, the *Khecarīvidyā*, the *Yogabīja*, the *Amanaskayoga*, the *Candrāvalokana*, the *Uttaragītā*, the *Laghuyogavāsiṣṭha* and possibly also the *Śivasaṃhitā*. To these can be added the *Kaulajñānanirṇaya* (*KJN* 3.2c–3b ≃ *HP* 4.33) and possibly the *Kulacūḍāmaṇitantra* (a half-verse from which

is cited in Kṣemarāja's *Śivasūtravimarśinī ad* II.5 and found at *HP* 3.53ab).
The absence of a source text or textual parallels for *HP* 3.22–36 suggests that this passage on the haṭhayogic *ṣaṭkarmas* may have been composed by the compiler of the text. I have been unable to find references to similar practices in tantric works. These cleansing techniques, which may have been developed from medical practices, are thus probably a unique feature of *haṭhayoga*.

12 Bouy *(loc. cit.)* identifies at least eleven of the works from which the *Haṭhapradīpikā* borrows but this does not help him since none of these works have themselves been satisfactorily dated. He sees the lack of a reference to the *Haṭhapradīpikā* in Mādhava's *Sarvadarśanasaṅgraha* as strong enough evidence to claim that the date of composition of that work (the second half of the fourteenth century) is the *terminus a quo* of the *Haṭhapradīpikā*. (This evidence is not conclusive. The *Sarvadarśanasaṅgraha* often relies on only a limited number of texts of a given discipline. I am grateful to Dominic Goodall and Harunaga Isaacson for pointing this out to me.) The *terminus ad quem* of the *Haṭhapradīpikā* is established by a manuscript of Mummaḍideva Vidvadācārya's *Saṃsārataraṇi* in the collection of the Maṭha of the Śaṅkarācārya of Purī. The manuscript is described by Mitra (1886:301) and the work, which is a commentary on the *Laghuyogavāsiṣṭha*, has been edited by V.S. Panasikara. In it the *Haṭhapradīpikā* is cited seven times and mentioned by name at five of the citations. The Purī manuscript is dated *samvat* 1581 (1524 CE) and is described as "incorrect" and "corrupt" by Mitra which leads Bouy to infer that the *Haṭhapradīpikā* "ne saurait être postérieure au xv[e] siècle". Gharote & Bedekar (1989:438–9) list a manuscript of the *HP* in the collection of the Sanskrit University Library, Varanasi (No. 30109) which is dated 1553. Bouy (1994:84 n.357) understands this to mean *Saṃvat* 1553 which is odd since elsewhere Gharote & Bedekar indicate when a date is *Saṃvat*. Perhaps Bouy has seen the university catalogue, which I have not. He concludes that if the date is correct "on pourrait fixer le *terminus ad quem* de la HP en 1496".

13 We can also perhaps discount the possibility of the *Khecarīvidyā* having been composed in the modern Marāṭhī-speaking region, on account of the absence of any of the esoteric physiological terminology characteristic of the texts composed in that region at about the same time as the composition of the *Khecarīvidyā*, i.e. Jñāndev's *Abhaṅgamālā* and *Lākhoṭā*, and the *Siddhasiddhāntapaddhati*. See note 259 for more details.

14 Detailed descriptions of the individual sources consulted to establish the critical edition of the *Khecarīvidyā* (including its citations in other works) can be found on pp. 35–57.

15 It is of course only through shared errors that one can confidently establish that witnesses share a hyparchetype (Vasudeva 2004:xxxii). The many such errors that support the division of the witnesses of the *KhV* are not listed here. A full collation of all the witnesses of the *KhV* can be found at http://www.khecari.com

16 On the evidence of this contamination see page 14.

17 See page 40 for a detailed discussion of the *Bṛhatkhecarīprakāśa* and its author Ballāla.

18 The abbreviation *MaSaṃ* has been used in order to avoid confusion with the abbre-

viation MS in its usual sense of "manuscript".

19 I am grateful to Csaba Kiss for passing on to me the fruits of his research on the *Matsyendrasaṃhitā* and his forthcoming edition of the text will no doubt shed much more light on this fascinating work. In a preliminary paper, he writes "[The *Matsyendrasaṃhitā*] seems to be a remarkable text, or collection of texts, of a relatively late phase of the Śaiva tradition, particularly of its yogic teachings. It is long, detailed and mostly rather well-preserved. It might provide some clues for, among other things, the understanding of the transition from the early Indian yoga traditions (Pātañjala and Śaiva) to the late and fully developed haṭha-yogic teachings as well as perhaps of the transition from the early Kula traditions to the later Kaula teachings associated with the figure of Matsyendra. It might also throw some light on the connection between the Kaula traditions of the Paścimāmnāya and Dakṣiṇāmnāya, and the Nātha tradition of haṭha-yogins. The [*Matsyendrasaṃhitā*] is an encyclopaedic compilation of yogic techniques: from *āsanas* and *prāṇāyāma* to visualisation and *mudrās*, from mantra techniques to *maṇḍalas*, the text describes a whole world of religio-psychological practices and rites. . . its Kaula layer might not be the central or earliest one. It might contain some material from other, e.g. Saiddhāntika, sources. No doubt, the [*Matsyendrasaṃhitā*] also incorporates later haṭha-yogic material." (Csaba Kiss 2004:5–6). Later in the same paper (p. 12) he examines the *dhyāna* of Parameśāna and Caṇḍikā described in *paṭala* 7 and concludes that the *MaSaṃ*'s Caṇḍikā may be a variant of the goddess Kubjikā, adding "The concealment of Kubjikā's name and this unusual, or to put it in another way, forced and arbitrary juxtaposition of Śiva and Kubjikā could be seen as a tendency to de-Śāktaize the cult of Kubjikā and to conceal all its sectarian marks. It might indicate that the text in fact belongs to a Kaula yoga tradition originating from a masculinised version of Kubjikā's cult."

20 See e.g. *Haṭhapradīpikā* 1.5.

21 On this affiliation see note 6. It seems likely that the teachings of the text have not always been associated with Matsyendranātha. The text shows clear signs of accretion and his name is found only in the frame story told in the first and last *paṭalas*.

22 A *Śivamatsyendrasaṃhitā* is mentioned in the margin of f. 5r of the *Bṛhatkhecarīprakāśa* (witness S).

23 I am grateful to Alexis Sanderson for reproducing for me part of a letter on this subject that he wrote to Professor Wezler in 1994. He concludes "The literature of the bhang-drinking Kaulas appears to be from eastern India. As to its date, I know no evidence that it predates the establishment of Islam in that region". In a later paper (2003:n. 43) Sanderson writes "It is probable that the use of cannabis for spiritual intoxication was adopted following the example of Muslim ascetics in India such as those of the Madāriyya order, founded by Badī' ad-dīn Shāh Madārī, an immigrant who settled in Jaunpur, where he died c. 1440 (Trimingham 1973:97), an order notorious for its use of hashish". See also Meulenbeld 1989.

24 Personal communication from Alexis Sanderson 2005.

25 On Śāstṛ, see Fuller 1992:53, 54, 89, 214 and the following passages from south Indian Śaivasiddhānta works: *Rauravāgama* vol. 3, *paṭala* 49, which describes the

worship of five village deities, including Śāstṛ; *Ajitāgama* vol. 3, *paṭala* 83 and *Īśānaśivagurudevapaddhati*, *Kriyāpāda paṭala* 58, which describe the installation of Śāstṛ.

**26** See SANDERSON 1988:687.

**27** Devī's request is found at 2.5–11b. The following is an edition of witness A f. 7r[3–8]:

> *dehaśuddhiḥ katham deva kathaṃ syād āsanakramaḥ* /
> *prāṇāyāma⟨ḥ⟩ kathaṃ proktaḥ pratyāhāra⟨ḥ⟩ kathaṃ bhavet* //5//
> *kathaṃ sā dhāraṇā yoge dhyānayogaś ca kīdṛśaḥ* /
> *kathaṃ śrīkuṇḍalinīyogaṃ triliṅgārcāpi kīdṛśī* //6//
> *kāni kṣetrāṇi dehe 'smin kāni tīrthāni śaṅkara* /
> *sarvasnānādhikasnānaḥ kaḥ paraḥ parameśvara* //7//
> *kāny auṣadhaprayogāṇi kiṃ ca deva rasāyanam* /
> *kathaṃ syāt pādukāsiddhi⟨r⟩ dehasiddhiḥ kathaṃ bhavet* //8//
> *vetālasiddhiś ca kathaṃ kapālasya ca sādhanam* /
> *katham añjanasiddhi⟨ḥ⟩ syād yakṣiṇīsiddhir eva ca* //9//
> *aṇimādi kathaṃ deva yoginīmelanaṃ katham* /
> *etāny eva tathānyāni bhavatā sūcitāni ca* //10//
> *tāni sarvāṇi me brūhi vistareṇa maheśvara* /

> 7c °snānaḥ ] *em.*; °stāna *cod.* 7d parameśvara ] *em.*; parameśvaraḥ *cod.* 8a kāny ] *em.*; kāy *cod.* ◇ °prayogāṇi ] *em.*; °prayogāni *cod.* 8b ca deva ] *em.*; cid eva *cod.* 10c etāny ] *em.*; etany *cod.* 10d bhavatā ] *em.*; bhavantā *cod.*

*Dehaśuddhi*, *āsanakrama*, *prāṇāyāma*, *pratyāhāra*, *dhāraṇā* and *dhyāna* yoga are described in *paṭala*s 2–7 respectively. *Kuṇḍalinīyoga* and the *liṅgatraya* are described in *paṭala*s 22 and 23. *Paṭala*s 26 and 27 describe *tīrtha*s and *kṣetra*s in the body. *Auṣadhaprayoga*s and *rasāyana* are described in *paṭala*s 28 (=*KhV paṭala* 4) and 29. *Pādukāsiddhi* is described in *paṭala* 30. *Paṭala* 31 covers *vajrasiddhi*—the *dehasiddhiḥ* in 2.8d is probably a corruption of *vajrasiddhiḥ*. *Vetālasiddhi*, *kapālasādhana*, *añjanasiddhi*, *yakṣiṇīsiddhi*, *aṇimādi* and *yoginīmelana* are described in *paṭala*s 32, 33, 35, 34, 36 and 37 respectively. Thus it seems likely that *MaSaṃ paṭala*s 8–21, 24–25 and 39–54 were not part of the text when Pārvatī's questions were posed.

**28** 11.1–3 (A f. 30r[3–5]):

> *atha naivedyam utsṛjya mukhavāsādi dāpayet* /
> *mudrāś ca darśayet paścāt pūjānte sarvasiddhaye* //1//
> *dakṣavyāṃśau bhujau devi parivartya tathāṅgulīḥ* /
> *tarjanībhyāṃ samākrānte †sarvārdhamadhyame†* //2//
> *aṅguṣṭhau tu maheśāni kārayet saralāv api* /
> *eṣā hi khecarīmudrā sarvasiddhipradāyinī* //3//

> 1a utsṛjya ] *em.*; utsṛjyaḥ *cod.* 3a aṅguṣṭhau ] *em.*; aṅguṣṭau *cod.*

29 In note 27 it was observed how *MaSaṃ paṭala*s 28 and 29 correspond to Devī's request to hear about *auṣadhaprayogāṇi*. All the other subjects she lists correspond to single *paṭala*s, so it is likely that either *paṭala* 28 or *paṭala* 29 is a later addition to an earlier recension of the text. *Paṭala* 28 lists various herbal preparations while *paṭala* 29 begins *śrīdevy uvāca / sarvauṣadhamayī (em.; sarvoṣadhamayīṃ* A*) śambho yā parā siddhimūlikā....* This appears to be capping the previous *paṭala* and suggests that *paṭala* 28 (=*KhV paṭala* 4) might be part of an earlier layer of the text and thus the *MaSaṃ* may be the source of *KhV paṭala* 4. The superiority of $\mu$'s readings in *KhV paṭala* 4 adds weight to this theory. However, the fact that the various different metres in *paṭala* 28 are not used elsewhere in the earlier parts of the *MaSaṃ* argues in favour of *paṭala* 29 being part of the earlier layer.

30 Critical editions of *MaSaṃ paṭala*s 17, 18 and 27 are included in the appendices.

31 The readings without *na* may be attempts by redactors to reject Kaula ritual.

32 Critical editions of this passage as it is found in $\mu$ and G are included in the appendices because the number of variants, additions and omissions, and the reordering of the verses make it difficult to compare the different passages by referring only to the apparatus of the critical edition.

33 Most of this passage is obscured in $R_2$ as a result of attempts to paste together the damaged manuscript, but at the few places where it is legible it shares readings with the *KhV* manuscripts.

34 A similar attempt at expunging a reference to Kaula practices involving alcohol can be seen at *Siddhasiddhāntapaddhati* 5.14, where the Lonavla edition has *jñānabhairavamūrtes tu tatpūjā ca yathāvidhi*. All the manuscript witnesses read *surādibhiḥ* for *yathāvidhi*. The editors of the text also collated four printed editions and presumably at least one of them reads *yathāvidhi* (the apparatus is negative so one cannot be sure). MALLIK adopts *surādibhiḥ* in her 1954 edition; her witness Ha reads *yathāvidhiḥ*.

35 Some of $\mu$'s *aiśa* forms are listed on pp. 15–16.

36 However, *KhV* 3.69ab ($\simeq$*MaSaṃ* 17.115ab) suggests that the topic of Khecarī is not finished until then. Perhaps the *madirā* passage was an early interpolation in the text. G seems to have attempted to resolve the problem of context by shifting *MaSaṃ* 17.114cd to before *MaSaṃ* 17.99c but this only results in further confusion over who is talking to whom.

37 The half-verse at $\mu$'s 17.111ab has nothing with which to connect it syntactically but it fits well at *KhV* 3.64ab. I can only guess that the redactor of the *KhV* version inserted this half-verse in order to make sense of a passage rendered nonsensical due to the omission of $\mu$'s 17.110 and that this half-verse found its way into $\mu$ due to conflation of the sources.

38 Evidence supporting this analysis (which is probably a simplification of a contaminated transmission—more details will be found in the forthcoming edition of the *MaSaṃ* by KISS) can be seen at the following places:
$J_6$ to $J_7$ and A: e.g. 1.40d, 2.30b, 3.20a, 3.61a, 3.64d; *MaSaṃ* 18.20c.
$J_6$ to $J_7$ to A: e.g. 1.42c; *MaSaṃ* 18.32b, 18.47d, 18.59a, 27.18a, 27.29b.
$J_6$ and $J_7$ to A: e.g. 2.20b, 3.56b, 3.56c, 3.62c; *MaSaṃ* 27.4d, 27.7a, 27.1b, 27.2c, 27.3a. The identical omissions found in all three witnesses at *KhV* 2.103d and

*MaSaṃ* 17.29c, 18.6b and 18.30b indicate that they share a hyparchetype.

39 The reading *kaulikatarpaṇāt* was evidently too much for the redactors in the tradition of $\beta$'s $K_5$, which has *śaṅkarapūjanāt*.

40 For readings shared by $R_2$ with $\mu$ alone, see e.g. 2.31d, 97d, 98b, 108d, 121b, 3.47b; with $\mu$ and G, 2.29c, 50d, 3.36c; with G alone, 2.69c, 3.27d; with the *Khecarīvidyā* manuscripts alone, e.g. 2.33d, 96c, 111d, 3.9a, 66cd; with *D* alone, 3.39ab, 40d, 41a, 44a.

41 *U* does, however, keep 9a's *granthataḥ*.

42 Bouy (1994:102) has demonstrated how the compiler of the *upaniṣad* borrowed from an unedited work called *Gorakṣaśataka* (entirely different from the well-known *Gorakṣaśataka* edited by Nowotny—see note 9) to compile the first chapter.

43 The colophon at the end of *paṭala* 2 of the *Bṛhatkhecarīprakāśa* (witness S) reads: *iti śrīādināthanirūpite mahākālatamtrāntargatayogaśāstre umāmaheśvarasaṃvāde dvitīyaḥ paṭalaḥ pūrṇaḥ*, suggesting that the *Khecarīvidyā* is part of a *Mahākālatantra*. However, this is hard to reconcile with 1.14c where a *Mahākālatantra* is distinguished from the *Khecarīvidyā*.

44 *Haṭhapradīpikājyotsnā* 1.1: *ādināthakṛto haṭhavidyopadeśo mahākālayogaśāstrādau prasiddhaḥ*. White (1996:169) says that Nārāyaṇa, the commentator on Atharvan *upaniṣad*s, refers to a *Mahākālayogaśāstra* as a treatise on *haṭhayoga*. I have been unable to locate this reference.

45 I am grateful to Dominic Goodall for suggesting this possibility.

46 Goudriaan *(loc. cit.)* also identifies the *Mahākālasaṃhitā* with the *Mahākālayogaśāstra*. His reasons for this are not clear. It may be due to a mistake in the NCC (Raghavan 1969b:188) where a manuscript of the *Mahākālasaṃhitā* in the collection of the Asiatic Society of Bengal is wrongly said to be of the *Khecarīvidyā/Mahākālayogaśāstra* (from the description by Shastri (1905:11) it appears to consist of the first eight *paṭala*s of the *Mahākālasaṃhitā Guhyakālīkhaṇḍa*).

47 It is likely that at least some of the *Mahākālasaṃhitā* postdates the *KhV*. *MKSG* 11.698–1065 teaches two types of yoga, gradual *(krāmika)* and subitist *(haṭha)*. *Haṭhayoga* is said to be very dangerous: many Brahmarṣis have died from it, so it should not be practised (11.702–3). The *krāmika* yoga has eight ancillaries and instructions for it are taken directly from the *Vasiṣṭhasaṃhitā* (dated by Bouy to pre-1250 CE (1994:118)) with a few minor doctrinal alterations, including at *MKSG* 11.939a–954b a visualisation of Guhyakālī substituted for that of Hari found at *VS* 4.33b–64d. Thus *MKSG* 11.707a–964b and 11.1020c–1057 match closely *VS* 1.19–4.73 and 6.8–53. Somewhat surprisingly in the light of vv. 702–3 mentioned above, instructions for *haṭhayoga* are included at *MKSG* 11.966a–1020b. The only practice described is the haṭhayogic *khecarīmudrā* and the instructions seem to be a précis of the *KhV*. Although no verses are taken directly from the *KhV*, the instructions to cut and lengthen the tongue, and the descriptions of the tongue's attainment of successively higher places in the head in three year stages, correspond to those taught in the *KhV*. The many rewards described almost all have direct parallels in the *KhV* and the ascription of the ability to prevent *doṣa*s found at 11.985 is suggestive of *KhV* 2.82a–101b. Such parallels cannot be found in other texts that describe the technique. The main aim of the technique as described in the *MKS* and

*Khecarīvidyā* is *amṛtaplāvana*, flooding the body with *amṛta*, not *bindudhāraṇa*, retention of the *bindu*, the aim of the practice in most other works (on these two aims, see page 28). The one glaring difference between the *MKS* passage and the *KhV* is that the *MKS* nowhere mentions Khecarī, calling the practice *rasanāyoga*, "tongue yoga". Why this should be so is unclear. The *Vasiṣṭhasaṃhitā*, while retaining tantric features such as visualisations of Kuṇḍalinī and *amṛtaplāvana*, does not call any of its yogic techniques *mudrā*s and it may be that the writer of the passage on *rasanāyoga* was remaining faithful to this tradition.

Jhā (1976:5–9) does not ascribe any great age to the *MKS*, suggesting the twelfth century CE as the earliest possible date of its composition. He believes it was composed (or compiled) to establish a tantric *saṃpradāya* that was not anti-vedic. Thus at *MKSG* 4.196 the Veda is praised above all tantric works. The earliest external evidence for the *MKS* are citations in the seventeenth-century *Tārābhaktisudhārṇava*.

48 See e.g. *Yoginītantra paṭala* 7.1–27 which contains descriptions of the *svapnavatī*, *mṛtasañjīvanī*, *madhumatī* and *padmāvatī vidyā*s. Cf. *Tantrarājatantra paṭala* 34.

49 The practice was already called *khecarīmudrā*—the *Vivekamārtāṇḍa* mentioned at *KhV* 1.14d calls it thus ($GŚ_N$ 64). Cf. *Kularatnoddyota* 3.105–108, which is cited in note 96.

50 *Matsyendrasaṃhitā* 17.1cd (≃ *KhV* 3.69cd): *tvayā śrīkhecarīvidyāsādhanaṃ guhyam īritam* //1//.

51 In verse 9 the reading found in $\mu$ and K3 has been adopted, in which it is said that the yogin will become a Khecara from eating a particular herbal preparation.

52 $\mu$ does include the fourth *paṭala* but it is found ten *paṭala*s after those that correspond to the first three of the *Khecarīvidyā*.

53 On the likelihood of *MaSaṃ paṭala* 28 being the source of the *KhV*'s fourth *paṭala* see note 29.

It is on the strength of the *KhV*'s fourth *paṭala*, in which 8c–9b describes a preparation containing mercury, sulphur, orpiment and realgar and verse 14 describes a preparation containing mercury, that White (1996:169) has called the entire *KhV* "a paradigmatic text of the Siddha alchemical tradition". In the first three *paṭala*s there are two verses where it is said that alchemical *siddhi*s arise as a result of perfection of the practice (1.68 and 1.75), but other than that, there is nothing that could be described as specifically alchemical. The bizarre practices described at 2.72–79 suggest an attempt to render external alchemical practice redundant by effecting similar techniques within the realm of the body (see the notes to the translation). The thesis of White's work is that Rasa Siddhas (alchemists) and Nāth Siddhas (*haṭhayogin*s) "if they were not one and the same people, were at least closely linked in their practice" (ibid.:10). It seems that they were not "one and the same people" but that many of the similarities in the terminology of their practices are due to the texts of both schools being couched in the language and theory of earlier tantric works. White himself suggests (ibid.:97–101) that Gorakhnāth brought together several disparate schools when he established the Nātha *saṃpradāya* "as a great medieval changing house of Śaiva and Siddha sectarianism" (ibid.:100). None of the textual descriptions of the trainee *haṭhayogin*'s abode suggests that it might be used

as a laboratory (e.g. *DYŚ* 107–111, *HP* 12–13) while the peripatetic lifestyle of the perfected *haṭha* adept is incompatible with the encumbrances of alchemical experimentation. During my fieldwork, the *haṭhayogin*s with whom I travelled would buy beads of fixed mercury to wear in their *jaṭā* from Brahmin *rasavādin*s who lived at the *tīrtha*s through which the ascetics passed on their annual pilgrimage cycle.

54 The section from 3.55 to the end of *paṭala* 3 would have been as it is found in the *MaSaṃ* manuscripts.
The original chapter describing the *vidyā* of Khecarī was probably the first chapter in the text from which it was taken. *Khecarīvidyā* 1.1–44 contains several verses that emphasise the importance of the text and the worship of the book in which it was written, giving the passage an introductory flavour. These verses could themselves be later additions but they contain references to *melaka*, a goal of the practice of the *vidyā* that is mentioned only in the earliest layer of the text. One problem with this theory is the inclusion of the *Vivekamārtaṇḍa* among the tantras listed at 1.14c–15b. This work does not contain a description of a Khecarī mantra but does describe the tongue practice. Perhaps the list originally included the name of a different work and this was changed to *Vivekamārtaṇḍa* when the instructions for the practice were added to the text.

55 It is likely that at this stage the text was not divided into three *paṭala*s in the same way that it is in the edition. Witness G has no chapter divisions, while the *MaSaṃ* manuscripts divide the *paṭala*s at different places from the *KhV* manuscripts.

56 The verses describing the practice have some internal contradictions and are unlikely all to have been composed together. See, for example: *paṭala* 3, in which vv. 1–14, 15–22, 23–25b, 25c–32b and 32c–55b are different descriptions of similar practices; 2.101c–102b, which mentions *cālana* as one of the four stages of the practice even though it is not mentioned in *paṭala* 1 (see also note 366); 2.107–115 and 3.23–25b, which use phrases common in other, more explicitly haṭhayogic texts (e.g. *ūrdhvaretas*, *unmanī*, *śūnya*, *sahaja yoga*) but conspicuous by their absence elsewhere in the *KhV*; 1.55, where the tongue ready for the practice is said to be able to reach the top of the head, having passed the eyebrows several years earlier, while at 1.73 the *siddhi*s effected by the practice are said to arise between the eyebrows (cf. note 245).

57 Only G shows no clear evidence of contamination.

58 Where there are two or more equally acceptable readings it is usually that found in the greatest number of witnesses which has been adopted.

59 Nowhere in the edition has a reading found only in $R_2$ or T been adopted.

60 In compiling this list of *aiśa* peculiarities I have used that given by GOODALL (1995: xxiv), which he in turn drew from a list compiled by Alexis SANDERSON.

61 This reading is corrected to *abhyāsaḥ* in MFB and I have adopted the corrected form in the edition.

62 This reading is found corrected to *asmiṃs tantravare* in N.

63 This reading is found in $S\beta\gamma$ and is an attempt to alter *vikhyātā vīravandite*, the reading found in $\mu\alpha_3$ which has been adopted in the edition.

64 This anacoluthon is found repaired in G.

65 This survey of texts is of course by no means exhaustive. There is undoubtedly more

material to be unearthed. The most fertile area for research is likely to be the texts of tantric Śaivism.

66 *tassa mayhaṃ Aggivessana etad ahosi / yan nūnāhaṃ dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇheyyaṃ abhinippīḷeyyaṃ abhisantāpeyyan ti / so kho ahaṃ Aggivessana dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhāmi abhinippīḷemi abhisantāpemi / tassa mayhaṃ Aggivessana dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhato abhinippīḷayato abhisantāpayato kacchehi sedā muccanti / seyyathā pi aggivessana balavā puriso dubbalataraṃ purisaṃ sīse vā gahetvā khandhe vā gahetvā abhiniggaṇheyya abhinipīḷeyya abhisantāpeyya evam eva kho me aggivessana dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhato abhinippīḷayato abhisantāpayato kacchehi sedā muccanti / āraddhaṃ kho pana me Aggivessana viriyaṃ hoti asallīnaṃ upaṭṭhitā sati asammuṭṭhā sāraddho ca pana me kāyo hoti appaṭippasaddho ten'eva dukkhappadhānena padhānābhitunnassa sato / evaṃrūpā pi kho me Aggivessana uppannā dukkhā vedanā cittaṃ na pariyādāya tiṭṭhati / tassa mayham Aggivessana etad ahosi / yan nūnāhaṃ appānakaṃ jhānaṃ jhāyeyyan ti...* (p.242 l.23–p.243 l.5).

67 *tassa mayhaṃ Aggivessana etad ahosi / ye kho keci atītaṃ addhānaṃ samaṇā vā brāhmaṇā vā opakkamikā dukkhā tippā kaṭukā vedanā vedayiṃsu etāvaparamaṃ nayito bhiyyo / ye pi hi keci anāgatam addhānaṃ samaṇā vā brāhmaṇā vā opakkamikā dukkhā tippā kaṭukā vedanā vedayissanti etāvaparamaṃ nayito bhiyyo / ye pi hi keci etarahi samaṇā vā brāhmaṇā vā opakkamikā dukkhā tippā kaṭukā vedanā vediyanti etāvaparamaṃ nayito bhiyyo / na kho panāhaṃ imayā kaṭukāya dukkarakārikāya adhigacchāmi uttariṃ manussadhammā alamariyāñāṇadassanavisesaṃ / siyā nu kho añño maggo bodhāyāti /* (p.246 ll.20–30).

68 *tassa ce bhikkave bhikkuno tesaṃ pi vitakkānaṃ vitakkasaṅkhārasanthānaṃ manasikaroto uppajjant'eva pāpakā akusalā vitakkā chandūpasaṃhitā pi dosūpasaṃhitā pi mohūpasaṃhitā pi tena bhikkhave bhikkhunā dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhitabbaṃ abhinippīḷetabbaṃ abhisantāpetabbaṃ / tassa dantehi dantam ādhāya jivhāya tāluṃ āhacca cetasā cittaṃ abhiniggaṇhato abhinippīḷayato abhisantāpayato ye pāpakā akusalā vitakkā chandūpasaṃhitā pi dosūpasaṃhitā pi mohūpasaṃhitā pi te pahīyanti te abbhatthaṃ gacchanti / tesaṃ pahānā ajjhatam eva cittaṃ santiṭṭhati sannisīdati ekodihoti samādhiyati /.*

69 *...khuradhārūpamo bhave /*
*jivhāya tāluṃ āhacca udare saññato siyā /*
*alīnacitto ca siyā na cāpi bahu cintaye /*
*nirāmagandho asito brahmacariyaparāyano /*
*ekāsanassa sikkhetha samaṇopāsanassa ca /*
*ekattaṃ monam akkhātaṃ eko ve 'bhiramissasi /*
*atha bhāsihi dasa disā /.*

70 E.g. *GŚ*$_N$ 65, *ŚS* 3.93. See also *KhV* 2.107 and note 377.

71 The earliest date for the composition of the Pali canon that we can confidently assert is the last quarter of the first century BCE. See e.g. SCHOPEN 1997:23–25.

72 *ūrusthottānacaraṇaḥ savye kare karam itaraṃ nyasya tālusthācalajihvo dantair dantān asaṃspṛśan svaṃ nāsikāgraṃ paśyan diśaś cānavalokayan vibhīḥ praśāntātmā caturviṃśatyā tattvair vyatītaṃ cintayet //1//...*

*...dhyānaniratasya ca saṃvatsareṇa yogāvirbhāvo bhavati //6//.*

73 *athānyatrāpy uktaṃ / atha parāsya dhāraṇā / tālurasanāgra(°āgra°* ] *em.* Isaacson & Goodall; *°āgre* Ed.)*nipīḍanād vāṅmanaḥprāṇanirodhanād brahma tarkeṇa paśyati / yadātmanātmānam aṇor aṇīyāṃsaṃ dyotamānaṃ manaḥkṣayāt paśyati tadātmanātmānaṃ dṛṣṭvā nirātmā bhavati / nirātmakatvād asaṃkhyo 'yoniś cintyo mokṣalakṣaṇam iti / tat paraṃ rahasyam iti / evaṃ hy āha*

> *cittasya hi prasādena hanti karma śubhāśubham /*
> *prasannātmātmani sthitvā sukham avyayam aśnuta iti //20//*
> (*aśnuta* ] *corr.*; *aśnutā* Ed.)

*athānyatrāpy uktam / ūrdhvagā naḍī suṣumṇākhyā prāṇasaṃcāriṇī tālv antar vicchinnā / tayā prāṇa (prāṇa* ] *em.*; *prāṇā* Ed.) *oṃkāramanoyuktayordhvam utkramet / tālv adhy agraṃ parivartya cendriyāṇi saṃyojya mahimā mahimānaṃ nirīkṣeta / tato nirātmakatvam eti / nirātmakatvān na sukhaduḥkhabhāg bhavati kevalatvaṃ labhate (labhata* ] *corr.*; *labhata* Ed.) *iti /.*

74 The absence of a fixed lower limit for the date of the *Khecarīvidyā* makes it impossible to prove that these Śaiva works predate it. However, it is a chronology of ideas that is important here. The *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā* combines elements of the tantric Śaiva physical practices described in this section with the non-physical tantric *khecarīmudrā* described in the following section in a way that is not found in these tantric works. The *khecarīmudrā* of the *Khecarīvidyā* must postdate its individual elements as found in these texts. It seems very likely that the *Khecarīvidyā* itself also postdates these works: the latest of them (see note 101) are the *Kubjikāmatatantra* and the *Kularatnoddyota*, early works of the Paścimāmnāya in which the system of six *cakra*s is found for the first time (see *KMT paṭala*s 11–13 and note 433). This system is found well developed in the *Vivekamārtaṇḍa*, a work mentioned at *KhV* 1.16.

75 *KT* 59.34c–35b:

> *kumbhakaṃ tu tataḥ kṛtvā kaṇṭham āpīḍya sasphuram //34//*
> *jihvātālusamāyogāt tatkṣaṇotkramaṇaṃ bhavet /*

The verse is as found in the Mysore codex (University of Mysore, Oriental Research Institute MS P 285/10). At 34d, the Nepalese MS of c. 924 CE (NAK 5-893; NGMPP Reel No. A 40/3) has *kṛtam āviśya tatpuṭam.*

76 E.g. *Brahmavidyopaniṣad* 73–74. See also note 236.

77 References to these other passages can be found later in this chapter where the corporealisation of subtle visualisation techniques into gross physical practices is explored in detail.

78 The tantric Śaiva *karaṇa*s become known as *mudrā*s in the texts of *haṭhayoga*. *HP* 1.56 describes the stages of *haṭha*[*-yoga*] and has *mudrākhyaṃ karaṇam* as the third stage. Ballāla (*BKhP* f. 37v[7]), explaining *HP* 4.10, glosses *karaṇaṃ* with *mudrā*. Singh (1979:33) quotes (without reference) a definition of *karaṇa*: *karaṇaṃ dehasanniveśaviśeṣātmā mudrādivyāpāraḥ* and translates it with "disposition of the limbs of the body in a particular way, usually known as *mudrā* i.e. control of certain organs and senses that helps in concentration". Similarly, *AY* 1.20 uses *karaṇa* as

a synonym of *mudrā*. The headstand (or shoulderstand) is known as *viparītaṃ karaṇam* or *viparītakaraṇī* in haṭhayogic texts: see e.g. *GŚ*$_N$ 135, *HP* 3.6, 3.76–78.

79 *JRY Bhairavānanavidhi Bhūmikāpaṭala* 153c–162b (f.193v–f.194r):

> *pibed dhārāmṛtaṃ tac ca yad dugdhaṃ gostanair iva* //153//
> *tenāmṛtena tṛptas tu valīpalitavarjitaḥ* /
>
> *viṣṇumastakasaṃprāptā rasanā śūnyasaṃgame* //156//
> *īṣat sparśavivarjā tu tālurandhragatā tathā* /
> *dvijacañcupuṭaprakhyaṃ vaktraṃ kṛtvā tathā dvija* //157//
> *uddhṛtya tad anu sparśaṃ yāvad bhāvaṃ sthirīgatam* /
> (**194r**) *dṛḍhabhāvagato yogī svasthaṃ plavam avāpnuyāt* //158//
> *tatrasthasya ca viśrāmād gandhadvayavicāraṇāt* /
> *parāmṛtaṃ prasravati śūnyendurasanāhatam* //159//
> *tadāsvāditacidrūpam ūrdhvaṃ gacchaty aśaṅkitam* /
> *kauñcikotpāṭanaṃ hy eṣa śivaśaktisamāgamaḥ* //160//
> †*śivavyāptikṛtodyānaṃ plutoccārordhvadṛkkriyaḥ*† /
> *lalanātāluke yojya spandaśaktiyutaṃ dadet* //161//
> *kaṇṭhotthatāluvivaraṃ yāvad dvādaśabhūmikāḥ* /

> 153c dhārā° ] *conj.* Sanderson; vāra° *cod.* 153d dugdhaṃ ] *em.* Sanderson; ugdhaṃ *cod.* 156c °saṃprāptā ] *em.*; °saṃprāpta *cod.* 157a īṣat ] *em.* Sanderson; īṣa *cod.* 157c dvijacañcupuṭa° ] *em.* Sanderson; dvikacuṃcupuṭa *cod.* 160c kauñciko° ] *em.* Sanderson; krauñciko° *cod.* 160d °samāgamaḥ ] *em.* Sanderson; °samāgama *cod.*

80 Sanderson has made the conjectural emendation of *krauñciko°* to *kauñciko°* on semantic grounds, with the support of *KMT* 8.73d *kuñcikodghāṭayed bilam* and parallel metaphors found in the *Śrīpīṭhadvādaśikā* (NAK 5.358 ff.93v–95r: v. 5) and the *Kālīkulakramasadbhāva* (NAK 1-76: 2.87ab). (Sanderson has similarly emended *JRY* 1.45.184b *kruñcikodghāṭamatratam* to *kuñcikodghāṭamātrataḥ* and *Yoginīsaṃcāraprakaraṇa* (part of the *JRY*'s third *ṣaṭka*) 1.31b *kruñcikodghāṭam* to *kuñcikodghāṭam*. The *JRY* passage describes the Alaṃgrāsa stage in the yoga of the *vāmasrotas* while the *Yoginīsaṃcāraprakaraṇa* passage lists names of works with titles echoing the names of the phases of the *JRY*'s *vāmasrotas* yogas.) At *MaSaṃ* 17.8c Kuṇḍalinī is called both *cidrūpā* (cf. *JRY Bhairavānanavidhi Bhūmikāpaṭala* 160a) and *kuñcikā*. Cf. *MaSaṃ* 18.30a.

81 This passage has verbal parallels in the *KhV*. Compare *JRY* 2.157cd with *KhV* 1.74ab: *kākacañcupuṭaṃ vaktraṃ kṛtvā tadamṛtaṃ pibet*, "making the mouth like the open beak of a crow, [the yogin] should drink the *amṛta* therein" (see also note 267) and 2.159a with *KhV* 3.42ab: *parāmṛtamahāmbhodhau viśrāmaṃ samyag ācaret*, "[The tongue] should duly relax in the great ocean of the supreme *amṛta*."

82 *MVUT* 21.1–8:

> *athātaḥ paramaṃ guhyaṃ śivajñānāmṛtottamam* /

*vyādhimṛtyuvināśāya yogināṃ upavarṇyate //1//*
*ṣoḍaśāre khage cakre candrakalpitakarṇike /*
*svarūpeṇa parāṃ tatra sravantīm amṛtaṃ smaret //2//*
*pūrvanyāsena saṃnaddhaḥ kṣaṇam ekaṃ vicakṣaṇaḥ /*
*tatas tu rasanāṃ nītvā lambake viniyojayet //3//*
*sravantam amṛtaṃ divyaṃ candrabimbāt sitaṃ smaret /*
*mukham āpūryate tasya kiṃ cil lavaṇavāriṇā //4//*
*lohagandhena tac cātra na pibet kiṃ tu nikṣipet /*
*evaṃ samabhyaset tāvad yāvat tat svādu jāyate //5//*
*jarāvyādhivinirmukto jāyate tat pibaṃs tataḥ /*
*ṣaḍbhir māsair anāyāsād vatsarān mṛtyujid bhavet //6//*
*tatra svāduni saṃjāte tadāprabhṛti tatragam /*
*yad eva cintayed dravyaṃ tenāsyāpūryate mukham //7//*
*rudhiraṃ madirāṃ vātha vasāṃ vā kṣīram eva vā /*
*ghṛtatailādikaṃ vātha dravad dravyam ananyadhīḥ //8//*

Codices: $K_{ED}$=The KSTS edition, with selective *variae lectiones* from $K_1$, $K_2$, $K_3$ and $K_1$; V=Benares Hindu University c 4106, paper, Śāradā; J=Śrī Raghunātha Temple Library, Jammu, MS No. 1524/ka, paper, Devanāgarī; P=Deccan College, Poona MS No. 488, Collection of 1875–6, paper, Devanāgarī. Somdev VASUDEVA kindly provided me with the variant readings of witnesses V, J and P.

2b °kalpitakarṇike ] $K_{ED}$; °kalpitakalpitam VJ, °kalpitam P *(unm.)* 3c rasanāṃ ] $K_{ED}$VJ; rasatāṃ $K_3$P 3d viniyojayet ] VJP; viniyojayat $K_{ED}$ 4b °bimbāt sitaṃ ] $K_1$VJP; °bimbasitaṃ $K_{ED}$ 5d svādu ] $K_{ED}^{pc}$V; sādu $K_{ED}^{ac}$, sādhu J, sādhv a° P **6**a jarā° ] $K_{ED}$P; jaya° J 7a tatra ] $K_{ED}$VP; tac ca J ◇ svāduni ] $K_{ED}^{pc}$VJ; sāduni $K_{ED}^{ac}$, sādhuni P 8b vasāṃ ] $K_{ED}$VJ; ⌈vaṃ⌉saṃ P **8**d dravad ] $K_{ED}$VJ; dravyād P

83 *MVUT* 14.11-15 describes a similar (but subtler) practice, "the introspection of taste" *(rasarūpā dhāraṇā)*: "Now I will teach the taste-introspection, which is revered by Yogins, whereby the attainment of all flavours arises for the Yogin. One should contemplate, with a focussed internal faculty, the Sensory Medium of taste as resembling a water-bubble on the tip of the tongue. It is located at the end of [the] royal nerve *(rājanāḍī)*, it is cool, six-flavoured and smooth. Then, within a month one savours flavours. Rejecting the salty [flavours] etc., when he reaches sweetness, the Yogin, swallowing that, becomes the vanquisher of death after six months. [He is] freed from aging and disease, black-haired, undiminished is [the splendour of] his complexion. He lives as long as the moon, the stars and the sun, practising now and again." (translation VASUDEVA 2004:333).
*MVUT* 15.16–19 teaches the "introspection of the tongue" *(jihvādhāraṇā)*: "The yogin should contemplate his own tongue as having the colour of the moon. Within ten days he will achieve the sensation of the absence of his own tongue, as it were. After six months the single-minded [practitioner] can taste what is far away. Within

three years he directly savours the supreme nectar, whereby the Yogin is freed from old age and death. Even if he is addicted to forbidden drinks he commits no sin…" (ibid.:264).

*KMT* 9.19–20 teaches a visualisation of the mouth filling with *amṛta* that has arisen at the uvula, in which the *amṛta* seems to be equated with the Aghora mantra.

84 See *JRY* 4.2.157b *tālurandhragatā*; *KJN* 14.50c *ūrdhvakām* (cf. *KhV* 2.80a); *KJN* 6.18b *brahmavilaṃ gataḥ* (cf. *KhV* 1.55d); *KJN* 6.26d *svavaktreṇa saṃyutām* (cf. *KhV* 2.64d); *KMT* 23.159d *lambakaṃ tu vidārayet.*

85 *KJN* 14.50–54b:

> *ata ūrdhvaṃ paraṃ guhyaṃ sarvavyādhivimardakam |*
> *rasanām ūrdhvakāṃ kṛtvā manas tasmin niveśayet ||50||*
> *satatābhyāsayogena maraṇaṃ nāśayet priye |*
> *kṣaṇena mucyate rogair vyādhimṛtyujarādibhiḥ ||51||*
> *naśyate vyādhisaṃghātaṃ siṃhasyaiva yathā mṛgāḥ |*
> *kṣaṇena naśyate vyādhiḥ kaṭukakuṣṭhanāśanam ||52||*
> *susvādena mahādevi valīpalitanāśanam |*
> *kṣīrasvādena medhāvi amaro jāyate naraḥ ||53||*
> *ghṛtasvādopamaṃ devi svātantryaṃ tu tathā bhavet |*

> 50a ūrdhvaṃ paraṃ ] *em.* GRIFFITHS; ūrdhveśvaraṃ Ed. 50c rasanām ūrdhvakāṃ ] *em.*; rasanā ūrddhakaṃ Ed. 51ab °ābhyāsayogena maraṇaṃ ] *conj.*; °ābhyāsayet tat tu muhūrttaṃ Ed. 52d kaṭuka° ] *conj.*; kaṭuke Ed. 54a °opamaṃ ] *em.*; °opamanaṃ Ed. *(unm.)* 54b svātantryaṃ tu tathā ] *em.*; svātantran tu yathā Ed.

Both *MVUT* 21.1–8 (see note 82) and *KJN* 14.50–54b are followed by passages on *mṛtakotthāpana*, reanimating corpses, and *paradehapraveśana*, entering another's body.

86 Govind Dās Yogīrāj said that the liquid tasted fishy at first, then salty, then like butter, then like ghee and finally had a taste that could not be described. BERNARD (1982:68) reported "At first it was thick, heavy, and slimy; eventually, it became thick, clear, and smooth".

87 *KJN* 6.18–19:

> *prasārya dantarāyaṃ tu yāvad brahmabilaṃ gataḥ |*
> *amṛtāgraṃ rasāgreṇa duhyamānaḥ sudhīr api ||18||*
> *māsena jinayen mṛtyuṃ satyaṃ satyaṃ mahātape |*
> *rasanāṃ tālumūle tu kṛtvā vāyuṃ pibec chanaiḥ ||19||*
> *ṣaṇmāsam abhyased devi mahārogaiḥ pramucyate |*

> 18a dantarāyaṃ ] *em.*; danturāyān Ed. 18d duhyamānaḥ ] *conj.* SANDERSON; dahyamāna Ed. 19a jinayen ] *em.* SANDERSON; jitayen Ed. 19c rasanāṃ ] *em.*; rasanā Ed. 20a °māsam ] *em.*; °māsād Ed.

88 The *dantarāya* is the *rājadanta*, on which see note 258; *brahmabila* is a synonym of *brahmarandhra*, on which see note 240.

89 *KJN* 6.23–26:

*yad rājadantamadhyasthaṃ bindurūpaṃ vyavasthitam |*
*amṛtaṃ tad vijānīyād valīpalitanāśanam ||23||*
*śītalasparśasaṃsthāne rasanāṃ yujya buddhimān |*
*valīpalitanirmmuktaḥ sarvavyādhivivarjitaḥ ||24||*
*na tasya bhavate mṛtyur yogayānaparaḥ sadā |*
*rasanāṃ tālumūle tu vyādhināśāya yojayet ||25||*
*tiṣṭhañ jāgran svapaṅ gacchan bhuñjāno maithune rataḥ |*
*rasanāṃ kuñcayen nityaṃ svavaktreṇa tu saṃyutām ||26||*

23a yad ] *conj.*; dvau Ed. ◇ rājadanta° ] *em.*; rājada*° Ed. 23c tad ] *em.*; taṃ Ed. 24a śītala° ] *em.*; śītalaṃ Ed. 24b yujya ] *conj.* Griffiths; kṛtvā tu Ed. *(unm.)* 25c rasanāṃ ] *em.*; rasanā Ed. 26b bhuñjāno ] *em.* Goodall (26ab =*KMT* 8.78cd); bhuñjan Ed. *(unm.)* 26c rasanāṃ ] *em.* Griffiths; rasanaṃ Ed. 26d saṃyutām ] *em.* Griffiths; saṃyutam Ed.

**90** This "mouth" probably refers to the opening above the uvula. See note 322.

**91** *KMT* 23.158–162:

*athānyaṃ api vakṣyāmi prayogaṃ mṛtyunāśanam |*
*saṅkocya mūlacakraṃ tu janmasthaṃ dhārayet kṣaṇāt ||158||*
*saṅghaṭṭaṃ pīḍanaṃ kṛtvā lambakaṃ tu vidārayet |*
*lambakāmṛtasantṛpto jayen mṛtyuṃ na saṃśayaḥ ||159||*
*dāhaṃ śoṣaṃ tu santāpaṃ vaivarṇaṃ vā mahādbhutam |*
*nāśayeta varārohe anenābhyāsayogataḥ ||160||*
*rasanāṃ śūnyamadhyasthāṃ kṛtvā caiva nirāśrayām |*
*na dantair daśanān spṛṣṭvā oṣṭhau naiva parasparam ||161||*
*tyajya sparśanam eteṣāṃ jinen mṛtyuṃ na saṃśayaḥ |*
*eṣa mṛtyuñjayo yogo na bhūto na bhaviṣyati ||162||*

159a saṃghaṭṭaṃ ] *em.*; saṃghaṭṭe Ed. 160a dāhaṃ śoṣaṃ tu santāpaṃ ] *em.*; dāhaśoṣas tu santāpo Ed. 160b mahādbhutam ] *em.* Griffiths; mahadbhutam Ed. 161b nirāśrayām ] *em.*; nirāśrayam Ed.

**92** Cf. *KhV* 2.82c–88d.

**93** This has happened to Dr. Ṭhākur when practising *prāṇāyāma* for long periods and to his son when holding his breath while swimming. Satyānanda Sarasvatī (1993:280) reports "when prana is awakened in the body, the tongue will move into [the *khecarīmudrā*] position spontaneously". I have been introduced to a man who had no knowledge of yogic techniques but whose tongue assumed the *khecarīmudrā* position while he was under the influence of LSD.
Praṇavānand Sarasvatī (1984:203–4) says that before birth a baby's tongue is in the *khecarīmudrā* position and has to be flicked out after parturition. This breaks the baby's *yoganidrā* ("yogic sleep"), it starts to breathe, experiences hunger and thirst, and beholds *saṃsāra*. An aside attributed to "the haṭhayogic tradition" *(haṭhayogasaṃpradāyaḥ)* is found in the *Haṭharatnāvalī* between vv. 2.135 and 2.136. This

corrupt passage appears to say that a fetus practises *lambikāyoga* while in the womb but that at birth the tongue falls down and is bound by the frenum. In a private communication, Dr. Lucy Colfox has told me that babies are in fact born with their tongues in their mouths.

**94** Cf. VASUDEVA's definition of *mudrā* cited on page 26.

**95** The *Kularatnoddyota* can be dated to approximately the twelfth century CE at the latest. See note 101.

**96** The eight *mudrā*s correspond to the eight *mātṛ*s listed at *KMT* 15.6–7. *Kularatnoddyota* 3.105–108 (I am grateful to Somdev VASUDEVA for providing me with his unpublished edition of *KRU* 3.95a–129b, to which I have added the variants from witness V):

> *sarvadvārāṇi saṃrudhya mārutaṃ saṃniyamya ca /*
> *lalanā ghaṇṭikāntasthā antaḥsrotonirodhikā //105//*
> *ākuñcya karapādau tu muṣṭibandhena suvrate /*
> *ūrdhvonnataṃ mukhaṃ kṛtvā khastham ardhaprasāritam //106//*
> *stabdhe ca tārake kṛtvā ākuñcyādhāramaṇḍalam /*
> *vyomamārgagatāṃ dṛṣṭiṃ manaḥ kṛtvā tadāśrayam //107//*
> *catvarasthaṃ varārohe karaṇaivaṃvidhaṃ matam /*
> *mudreyaṃ khecarī proktā sarvamudreśvareśvarī //108//*

> Q=NAK 5427 (NGMPP A 40/21), palm-leaf, Kuṭila, ca. 12th cent. CE; R=NAK 116 (NGMPP A 206/10), paper, Nevārī, dated *saṃvat* 754 (= 1634 CE); S=NAK 55142 (NGMPP A147/10), paper, Devanāgarī; T=NAK 55151 (NGMPP 149/1), paper, Nevārī; U=NAK 42454 (NGMPP A 146/6), paper, Nevārī; V=Chandra Shum Shere c.348, paper, Nevārī.

> 105a saṃrudhya ] QSTU; saṃrudhyāṃ R, saṃrundhya V 105c lalanā ] QSTUV; lalanāṃ R 105d °sroto° ] *em.* VASUDEVA; °śroṇi° R, °srota° SV, °śrota° QTU 106a ākuñcya karapādau ca ] RSV; ākuñcya karapādau tu Q, ākuñcya karapādo tu T, ākutra kalapādo tu U 106b °bandhena ] QST; °bandhana R, °vānūna U, °vāndhana V 106d khasthaṃ ] QRSUV; khasthāṃ T 107a stabdhe ca ] QTV; tathaiva R, sokṣava° S, stāva U 107c °gatāṃ ] QSUV; °gatā R, °gataṃ T 107d manaḥ ] QRSTU; mama V ◇ madāśrayam ] *conj.* GRIFFITHS; mamāśrayam V, samāśrayam *cett.* 108a catvarasthaṃ ] *em.* SANDERSON; tvaccārasthaṃ QRV, catvārasthaṃ STU 108b karaṇaivaṃvidhaṃ ] R; karaṇevaṃvidhaṃ QSTUV

**97** The "crossroads" *(catvara/catuṣpatha/catuṣkikā)* is in the region of the *brahmarandhra*. See *TĀ* 15.94 and Jayaratha *ad loc.*, *Tantrālokaviveka ad* 5.55a and *NTU* p.147, l.18. I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with these references.

**98** *JRY Bhairavānanavidhi Bhūmikāpaṭala* 159a.

**99** *KJN* 6.19d.

**100** *KRU* 3.110a–112b (for details of the witnesses see note 96):

*svādhiṣṭhānasya vāmāṅge datvā cittaṃ sureśvari /*
*paramāmṛtasaṃpūrṇaṃ smarec cakram anāmayam //110//*
*sahasrāraṃ mahāmāye vidyāyoginisaṃyutam /*
*plāvayann amṛtaughena sarvaṃ dehaṃ vicintayet //111//*
*mudreyaṃ śaśinī proktā sarvakāryārthasādhanī /*

111a sahasrāraṃ ] QRSV; sahastāraṃ T, sahasrāya U 111b yogini ] *short final* i *metri causa* 111c plāvayann ] QRSV; plāvayenn TU 111d sarvaṃ dehaṃ ] Q; sarvāṃ dehāṃ R; sarvadehaṃ ST, sarvadeha° U, sarvā dehaṃ V 112a śaśinī ] QRSTV; śakhinī U

101 The *Kularatnoddyota* must postdate the *Kubjikāmatatantra* since much of it is derived from that work. The *Kubjikāmatatantra* itself postdates the root tantras of Trika Śaivism (Sanderson 1986:163–164). The earliest witness of the *Kularatnoddyota* is a Nepalese palm-leaf manuscript from about the twelfth century CE (manuscript Q in the apparatus in note 96).

102 For detailed studies of *mudrā* in tantric Śaivism see Vasudeva 1997 and Padoux 1990b.

103 *KMT* 6.81c–82b gives a *nirvacana* derivation of the name Khecarī: *khagatir hy ūrdhvabhāvena khagamārgeṇa nityaśaḥ / carate sarvajantūnāṃ khecarī tena sā smṛtā //* "Motion in the ether arises through the higher existence [?]. Of all creatures, she who always goes *(carate)* by way of the ether *(khagamārgeṇa)* is known as Khecarī." In the *Siddhayogeśvarīmata* (which is devoted to the Yoginī cult—see *paṭala*s 13, 22 and 29 for detailed descriptions of Yoginīs), Khecarī seems to be used as a synonym of Yoginī at 29.20. Sanderson (1987:15) describes Yoginīs as "both supernatural apparitions and human females considered to be permanently possessed by the mother goddesses [cf. *SYM* 22.5ab]. They were to be invoked and/or placated with offerings of blood, flesh, wine and sexual fluids by power-seeking adepts. . . "

104 See *JRY mudrāṣaṭka* 2.636a, 644d (f.32r), 648d (f.32v); *Parātrīśikā* 1; *Yoginīhṛdaya cakrasaṅketa* 5d etc. The Bhairavāgama is the entire corpus of Tantras of the Mantramārga, excepting those of the Śaiva Siddhānta. For an explanation of the different categories of texts in tantric Śaivism see Sanderson 1988.

105 *KJN* 9.2ab: *sarvasiddhiyoginīnāṃ khecarīṃ sarvamātarīm /*. Cf. *KMT* 15.10, where the eight *mātṛ*s are said to be born from the bodies of the Khecarīs: *khecarītanusaṃbhūtāś cāṣṭau mātryaḥ*. In the Buddhist *Hevajratantra*, Khecarī is located at the top of the circle of Yoginīs (*HT* 1.8.15, 1.9.12).

106 At *KJN* 14.93 *paramāmṛta* is located at the *khecarīcakra*. *KMT* 14.65–67 and 15.82 say that the Dūtīs and Yoginīs flood the world with *amṛta* when disturbed *(kṣubdhāḥ)* but this is not said in the description of the Khecarīs in *paṭala* 16.

107 cf. *KMT* 25.214.

108 *TĀ* 32.4ab: *tatra pradhānabhūtā śrīkhecarī devatātmikā /*.

109 *TĀ* 32.64:

*ekaṃ sṛṣṭimayaṃ bījaṃ yadvīryaṃ sarvamantragam /*
*ekā mudrā khecarī ca mudraughaḥ prāṇito yayā //64//.*

110 At *TĀ* 32.26 the *karaṅkinī* variant of the *khecarīmudrā* is described. As well as adopting other physical gestures, the yogin is to touch his palate with his tongue—*jihvayā tālukaṃ spṛśet*. This brings to mind the meditational techniques described in the passages cited above from the Pali canon, the *Viṣṇusmṛti* and the *Maitrāyaṇīyopaniṣad* and is one of the first instances of such practices being linked with the name *khecarīmudrā*. However this should not be seen as significant in the development of the haṭhayogic *khecarīmudrā*. It adds nothing to what is found in the pre-āgamic passages cited above and appears to be simply an instruction on what should be done with the tongue during *sādhana* on the same lines as, say, instructions to gaze at the tip of the nose. Instructions to press the tongue to the palate in the manner of those pre-āgamic passages are found elsewhere in the texts of tantric Śaivism and *haṭhayoga* (see e.g. *Skandapurāṇa* 179.40, *Mṛgendratantra yogapāda* 18c–19b, *Mataṅgapārameśvarāgama yogapāda* 2.27, *KMT* 7.85a, *Bṛhadyogiyājñavalkyasmṛti* 190, *Yājnavalkyasmṛti* 3.199, *HP* 1.45–46 and *DYŚ* 70) and the occurrence of such an instruction in the *Tantrāloka*'s description of a variant of *khecarīmudrā* is probably coincidental.

111 *JRY* 4.2.597d.

112 *Netratantroddyota* 7.32.

113 Perhaps surprisingly, no specific mention is made of flying in the *KhV*. *Khecaratva*, "being a Khecara", is often said to be a reward of the practice but is never specifically said to entail the ability to fly. *Khecaratva* and flying are distinguished in many other texts: a list of *siddhi*s at *KJN* 14.16–19 has both *bhūmityāga*, "leaving the ground", at 17a, and *khecaratva* at 19b; *SSP* 5.34–41 contains a list of *siddhi*s attained after different durations of practice: in the seventh year the yogin becomes *kṣitityāgī* and in the ninth he becomes a Khecara; *AŚ* p.4 ll.11–12 gives a list of *siddhi*s starting with *bhūmityāga* and culminating in *khecaratvapratiṣṭhā*. In his translation of *Vātulanāthasūtra* 1, Śāstrī adds "Khecara denotes the man who has made a remarkable progress in the spiritual realm and has, as a result thereof, occupied that state in which one always lives and moves in the ether of consciousness" (translation p.1 n.2).

Explicit mentions of flying are common in the Bhairavāgama. Many of the *JRY*'s *mudrā*s result in the *sādhaka* rising into the air: at 4.2.592d in the description of the *daṃṣṭriṇī mudrā* we read *trisaptāhāt kham utpatet*, "after three weeks he rises up into the air"; at 4.2.632a the result of *karaṅkinī mudrā* is *praharārdhāt plaved vyomni*, "after ninety minutes he floats in the void". The Kashmiri exegetes did not take such passages literally: commenting on *TĀ* 32.16c, where Abhinavagupta has quoted a description of the *triśūlinī mudrā* from the *Yogasaṃcāra* by which "[the yogin] leaves the ground" *(tyajati medinīṃ)*, Jayaratha writes *medinīṃ tyajatīti dehādyahantāpahastanena parabodhākāśacārī bhaved ity arthaḥ*, "when the text says that he leaves the ground it means that he will move in the sky of absolute consciousness by throwing off identification with the body, [the mind, the vital energy] and [the void]" (Sanderson's unpublished translation). Perhaps the composer(s) of the *KhV* also took this position. We know that folk tales of flying yogins were current at the time of its composition (Digby 1970:11–15) and other haṭhayogic texts do mention *bhūmityāga* but not in the context of *khecarīmudrā* (see e.g. *DYŚ* 155,

*GhS* 5.56; but cf. *MaSaṃ* 18.52 which mentions *kṣitityāga* as the result of a *dhyāna* in which, among other physical attitudes, the tongue is to be placed above the palate). The absence of any mention of *khecarīmudrā* in Ballāla's explanation of *trailokyabhramaṇa ad KhV* 3.6 is telling: *antarikṣamārgeṇa guṭikāvat*, "going by way of the atmosphere like [when one consumes] a pill". Similarly, the *Jogpradīpakā* makes no mention of flying in its lengthy description of *khecarīmudrā*, nor in its description of the *ākāśadhāraṇā*, but does say that *vāyudhāraṇā* results in *gaganagamana* (MS *bhāṃ*; MS *nāṃ* and the edition read *gaganamagana*). Today *khecarīmudrā* is often said by yogins to bestow the power of flight (see note 153). It is perhaps this association which led WHITE (1996:169) to translate the title of the *KhV* with "The Aviator's Science; or The Arcane Science of Flight".

114 See *ŚS* 4.22 (=*HP* 3.5).

115 Not everywhere in the texts of *haṭhayoga* is the practice called *khecarīmudrā*. In the descriptions at *GŚ*$_N$ 131–152, *ŚS* 3.80–95 and *SSP* 6.84 it is not named. In *AŚ* pp.1–3 it is said to be a *sāraṇā*. *MKSG* 11.966a–1020b calls the technique simply *rasanāyoga*, "tongue yoga". *GŚ*$_N$ 70 and *HP* 3.36 give alternative names for *khecarīmudrā*: *nabho mudrā* and *vyomacakra* respectively. *GhS* 3.7 also calls the practice *nabho mudrā*.

116 Although I distinguish between tantric Śaivism and *haṭhayoga*, and between the texts of both, it should be stressed that there is no clear-cut division between the two. The *Śivasaṃhitā*, an archetypal haṭhayogic manual, calls itself a tantra (4.7, 4.25). The *Khecarīvidyā* does the same (1.16) and itself exemplifies the futility of trying to differentiate too strictly between tantric and haṭhayogic works. The origins of many of the practices that are considered quintessentially haṭhayogic can be traced to tantric works (e.g. the haṭhayogic *khecarīmudrā* and the *mūlabandha*, on which see note 299). Similarly, haṭhayogic works contain references to aspects of tantrism that might be thought to have no place in such texts. Thus the yogin who has perfected *sītkārī prāṇāyāma* is said to be "esteemed by the circle of yoginīs" *(yoginīcakrasammānyaḥ)* at *HP* 2.55. In the absence of any yardstick by which to evaluate a text's contents and classify it as haṭhayogic or not, the best method is perhaps to see whether the text considers itself as teaching *haṭhayoga*. However, for the period prior to the composition of the *HP*, this would limit us to the *Dattātreyayogaśastra*, the *Yogabīja*, the *Śārṅgadharapaddhati*, the *Amaraughaprabodha* and the *Śivasaṃhitā*. After the *HP*, the number of explicitly haṭhayogic works increases considerably but these are for the most part commentaries and derivative texts, such as the so-called Yoga Upaniṣads. Exceptions include the *Haṭharatnāvalī* and the *Gheraṇḍasaṃhitā*. At the risk of opening myself to accusations of *ativyāpti*, I include all of the works identified by BOUY (see my note 11) as being used to compile the *HP*, as well as the *Śārṅgadharapaddhati*, the *Amaraughaśāsana* and post-*HP* works which teach *haṭhayoga*, when I talk of "haṭhayogic texts".

117 On this *tattva* see e.g. *Yonitantra* 2.10 and its introduction, p. 27.

118 On which see HEESTERMAN 1964:22–27 and BODEWITZ 1973:213–318.

119 *HP* 3.53ab: *ekaṃ sṛṣṭimayaṃ bījam ekā mudrā ca khecarī* /. This half-verse is also cited by Kṣemarāja in his *Śivasūtravimarśinī* (II.5) where he attributes it to the *Kulacūḍāmaṇitantra*.

120 Although I refer to corporealisation as a "process", the traffic was not all one-way. Thus the transformation by some tantric exegetes of the sex act, or of yogic practices, into mental techniques is the opposite of corporealisation.

121 *TĀ* 5.22a–23b:

> *somasūryāgnisaṃghaṭṭaṃ tatra dhyāyed ananyadhīḥ* /
> *taddhyānāraṇisaṃkṣobhān mahābhairavahavyabhuk* //22//
> *hṛdayākhye mahākuṇḍe jājvalan sphītatāṃ vrajet* /

122 Textual parallels are described in detail in the notes to the translation.

123 See *SYM paṭala* 11; *MVUT* 16.53–54; *KJN* 5.5–13; *NT paṭala* 7, in which the second of the two techniques taught is called *khecarīmudrā*; *ṢCN* 41–46. Cf. *SYM paṭala* 12 and *MVUT* 14.11-15, 15.16–19 (on which see note 83).
It might be argued that just because the physical *khecarīmudrā* is not mentioned in these texts, that does not mean that it was not practised: many tantric works allude to sexual rites without describing their practical details. Perhaps it was for the guru to instruct the *sādhaka* in the physical practice. However Kṣemarāja's commentary on *NT* 7.16–22 (p. 158 ll. 10–17) describes the technique whereby *śakti* enters the central channel: the *mattagandhasthāna* (i.e. the anus—see *Tantrālokaviveka ad* 6.185c–186b) is to be contracted and relaxed (the passage is cited in full in note 299). Kṣemarāja's mentioning here of a physical practice not alluded to in the *mūla* argues against his having any knowledge of the physical *khecarīmudrā*. The subtle physiology necessary for it is in place: commenting on 7.1–5 (p.147 l.14) he cites a passage describing the sixteen *ādhāra*s including the *sudhādhāra*, "the nectar *ādhāra*", which is *lambhikasya* [sic] *sthitaś cordhve*, "situated above the uvula", and *sudhātmakaḥ*, "consisting of nectar" (cf. *Svacchandatantroddyota* 7.218a–226b and *Tantrālokaviveka* 5.55).
The idea of a subtle *khecarīmudrā* persists in the texts of *haṭhayoga*. Thus *HP* 4.43-53, in a section on *rājayoga*, describes *khecarīmudrā* and the flooding of the body with *amṛta* but makes no mention of tongues. Cf. *VS* 4.41–46, 6.23–41 and *Jñāneśvarī* 6.247–260 (Kiehnle 1997:138–9), which describe similar processes but do not call them *khecarīmudrā*.

124 *HP* 3.46–48 (cf. *KhV* 2.68ab and *GBS* 137):

> *gomāṃsaṃ bhakṣayen nityaṃ pibed amaravāruṇīm* /
> *kulīnaṃ tam ahaṃ manye itare kulaghātakāḥ* //46//
> *gośabdenoditā jihvā tatpraveśo hi tāluni* /
> *gomāṃsabhakṣaṇaṃ tat tu mahāpātakanāśanam* //47//
> *jihvāpraveśasambhūtavahninotpāditaḥ khalu* /
> *candrāt sravati yaḥ sāraḥ sā syād amaravāruṇī* //48//

125 Cf. the *JRY* passage cited in note 79 where the tongue, when "at the aperture of the palate" *(tālurandhragatā)*, is described as "in contact with the void" *(śūnyasaṃgame)*, and "free from the slightest touch" *(īṣatsparśavivarjā)*.

126 *GŚ*$_N$ 69:

> *cittaṃ carati khe yasmāj jihvā carati khe gatā* /
> *teneyaṃ khecarīmudrā sarvasiddhair namaskṛtā* //69//

127 On the Kashmiri exegetes' interpretation see Kṣemarāja ad *NT* 7.32 cited on page 26.

128 By "early texts" here I mean those texts which probably or definitely predate the c.1450 CE *HP*. The works which have been used to compile the *HP* are listed in note 11. Besides the *Khecarīvidyā*, three of those texts include descriptions of the haṭhayogic *khecarīmudrā*: the *Gorakṣaśataka* (64–70, 131–152), the *Dattātreyayogaśāstra* (272–273) and the *Śivasaṃhitā* (3.80–95, 4.51–59). The *Siddhasiddhāntapaddhati* probably predates the pre-1363 CE *Śārṅgadharapaddhati* (the description of nine *cakra*s at *ŚP* 4351–4363 paraphrases that at *SSP* 2.1–9) and describes an unnamed *khecarīmudrā* at 6.84. The *Amaraughaśāsana* describes an unnamed *khecarīmudrā* on pages 1–2. The composition of this last work, whose authorship is ascribed to Gorakṣanātha, can be dated to before 1525 CE, the date of the manuscript from which it has been edited. It is quite different in style from other haṭhayogic works and, uniquely among such texts, calls the haṭhayogic practices described in its first few verses *sāraṇā*s. *Sāraṇā* is one of eighteen processes in the alchemical refinement of mercury described in a quotation in the *Sarvadarśanasaṅgraha*'s ninth chapter (p.205, l.11).

129 These two approaches are later manifestations of the structural poles of Śaivism as identified by SANDERSON (1993:57): "Śaivism in its great internal diversity is the result of the interplay of two fundamental orientations, a liberation-seeking asceticism embodied in the Atimārga and a power-seeking asceticism of Kāpālika character within the Mantramārga." The distinction between liberation-seekers and power-seekers is blurred in haṭhayogic texts but this division into two poles is still helpful in understanding the different approaches to the practice of *haṭhayoga*.

The ideological tensions within the Nātha order are explained by the Nāthas themselves with a legend that is first found in a fourteenth-century Bengali and Sanskrit work, the *Gorakṣavijaya*, and which spread throughout North India. Matsyendranātha, the first human guru of the Nāthas, has become ensnared in the ways of wine, women and song. He is at the palace of the queen of Kadalīdeśa, "Banana country", and passes his time intoxicated, enjoying the company of the sixteen hundred dancing girls who live in the palace. The queen of Kadalīdeśa, fearing that attempts might be made to rescue her new lover, has banned men from the palace. Gorakṣanātha, Matsyendra's disciple, learns of his downfall and sets out to rescue him. He disguises himself as a dancing girl, gains entry to the palace and brings his guru back to his senses by instructing him through song and dance. Gorakṣa then turns all the women into bats and the two of them leave Kadalīdeśa.

This is the basic structure of the legend, which is now found in many different versions. It is interpreted as describing a reformation by Gorakṣa of the Kaula practices taught by Matsyendra. Matsyendra is often described as the originator of kaulism or the *yoginīkaula* tradition: he is the author of the *Kaulajñānanirṇaya* and Jayaratha (*ad TĀ* 1.7) says that 'Macchanda' is famous for being the propagator of the entire *kulaśāstra*. Gorakṣanātha, on the other hand, is portrayed in legend as a more austere and ascetic figure and this is borne out in the Sanskrit texts attributed to him. The original *Gorakṣaśataka* bears little trace of any Kaula inheritance. The interpretation of this legend shows that the contradictions within the Nāthas' texts were

apparent to the Nāthas themselves but is a simplification of a more complicated situation in which, for example, the haṭhayogic texts attributed to Dattātreya show less tantric influence than those of Gorakṣa.

130 *ŚP* 4365a–4371b:

> *pūrvābhyastau manovātau mūlādhāranikuñcanāt |*
> *paścime daṇḍamārge tu śaṅkhinyantaḥ praveśayet ||4365||*
> *granthitrayaṃ bhedayitvā nītvā bhramarakandaram |*
> *tatas tu nādajo bindus tataḥ śūnye layaṃ vrajet ||4366||*
> *abhyāsāt tu sthirasvānta ūrdhvaretāś ca jāyate |*
> *parānandamayo yogī jarāmaraṇavarjitaḥ ||4367||*
>
> *atha vā mūlasaṃsthānām udghātais tu prabodhayet |*
> *suptāṃ kuṇḍalinīṃ śaktiṃ bisatantunibhākṛtim ||4368*
> *suṣumṇāntaḥ praveśyaiva pañca cakrāṇi bhedayet |*
> *tataḥ śive śaśāṅkābhe sphurannirmalatejasi ||4369*
> *sahasradalapadmāntaḥsthite śaktiṃ niyojayet |*
> *atha tatsudhayā sarvāṃ sabāhyābhyantarāṃ tanum ||4370||*
> *plāvayitvā tato yogī na kiṃ cid api cintayet |*

131 In the *SSP* (1.66, 2.6, 6.84), *AŚ* (p.1, p.10) and *BVU* (73–76), we find descriptions of the subtle physiology underlying *khecarīmudrā* not referred to in other Sanskrit manuals of *haṭhayoga* in which *amṛta* is secreted at the *daśamadvāra*, "the tenth door", at the end of the *śaṅkhinīnāḍī*, which is located at the *rājadanta* (on which see note 258). *ŚP* 4591–4612 teaches techniques for *videhamukti*, "bodiless [i.e. final] liberation", and *kālavañcana*, "cheating death", similar to those described at *Khecarīvidyā* 3.43c–53b. In the *ŚP* passage, the yogin shuts the nine doors of the body but leaves the tenth open if he wants to abandon his body; if he wants to enter a trance in which death cannot take him but from which he can return, he should shut the tenth door. The tenth door is "frequently referred to in old and medieval Bengali literature" (Dasgupta 1976:240), such as the *Gorakṣavijaya*, and also in the Hindī poems of Gorakhnāth: see *GBS* 135 and *GBP* 11.3. Cf. *AM* 51.1. For analyses of the workings of the *śaṅkhinī nāḍī* see Dasgupta 1976:239-243 and White 1996:254–255.

132 On *nāda* and *bindu* see notes 138 and 325.

133 On *udghāta*, "eruption [of the breath]", see Vasudeva 2004:402–409.

134 See note 9. I have not consulted manuscripts of this unedited text but have relied on the first *adhyāya* of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad*, which Bouy (1994:102) has shown to contain eighty of the *Gorakṣaśataka*'s one hundred verses.

135 On *śakticālana* see note 366.

136 *DYŚ* 278–280.

137 *GŚ*$_N$ 69a–70b (a more detailed description is given at *GŚ*$_N$ 131–148):

> *khecaryā mudritaṃ yena vivaraṃ lambikordhvataḥ |*
> *na tasya kṣarate binduḥ kāminyāśleṣitasya ca ||69||*
> *yāvad binduḥ sthito dehe tāvan mṛtyubhayaṃ kutaḥ |*

138 *Bindu* is used more often than *amṛta* when describing the fluid that is to be stored in the head. However the two do seem to be interchangeable: at *KJN* 5.23 in a description of flooding the body we find *bindudhārānipātaiś*, "with the descent of the flow of *bindu*", while at *GŚ*$_N$ 141b the yogin is instructed to hold the *somakalāmṛtam* in the *viśuddhicakra* and keep it from the mouth of the sun.

139 While the theory of *bindudhāraṇa* is simple enough, there are problems with it in practice. When the tongue is placed in the hollow above the palate the throat is sealed off and saliva gradually accumulates in the mouth (see *MVUT* 21.4, cited in note 82). Eventually the mouth fills up with this fluid and something has to be done with it. BERNARD (1982:68) would at first return his tongue to its normal position so that he could swallow it. After some time he was able keep his tongue above the palate while swallowing small amounts. SVOBODA (1986:279) was taught to practise *khecarīmudrā* while performing the headstand. He says "Your guru will warn you that whenever you feel something dripping onto your tongue you should not swallow but instead come down out of the posture and let the secretion flow from your mouth into your hand. This is Amrita, which should be taken to your guru, who will put it into a special paan and only then make you eat it." The passage describing *khecarīmudrā* at *GŚ*$_N$ 138–152 comes after instructions for *viparītakaraṇa*, the headstand, and 144c could be understood as instructing the yogin to come out of the posture to drink the *amṛta* that has accumulated.

The headstand, the chin-lock and *khecarīmudrā* are the three techniques useful for *bindudhāraṇa*. No root text of *haṭhayoga* groups them together but Ballāla does so in the *BKhP* (f. 100v[2]): *khecaryā viparītakaraṇyā jālaṃdharabaṃdhena caṃdrasya bandhanena sūrye hutavahe* (*huta*° *] em.* SANDERSON; *hata*° S) *vāmṛtabiṃdvapatanād dehasya jīvanaṃ sidhyatīti tattvaṃ* |

140 References to the drying up of the juices of the body as an aim of haṭhayogic practice also conflict with the idea of *amṛtaplāvana*: at *GŚ*$_N$ 77 *mahāmudrā* is said to result in *rasānāṃ śoṣaṇam*, "drying up of fluids"; in a description of *kumbhaka*, breath-retention, *YB* 135cd reads *recake kṣīnatāṃ yāti* (*em.*; *yāte* Ed.) *pūrakaṃ śoṣayet sadā*, "on exhalation [the yogin] becomes weak; inhalation always dries out [the body]"; KIEHNLE (1997:136) reports that according to the *Jñāneśvarī* (no reference is given), "the liquids of the body are dried up" by the heat of rising Kuṇḍalinī. The Rāmānandī ascetics with whom I lived during my fieldwork are intent on the drying out and mortification of the body, to which end they perform *dhūnītap*, the austerity of sitting surrounded by smouldering cow-dung fires in the midday sun.

141 It is perhaps possible to reconcile *bindudhāraṇa* with *amṛtaplāvana* by understanding *khecarīmudrā* as sealing one aperture but opening another, thereby diverting the *amṛta* away from the fire in the stomach and into the *nāḍī*s of the body. WHITE (1996:253–255) hints at this and at *GŚ*$_N$ 141 *amṛta* is said to go *unmārgeṇa*, "by the wrong path", having cheated the mouth of the sun. However the two aims are never described together in the texts. The long version of the *Haṭhapradīpikā* (H$_2$ 5.301 at f. 114v$^{6-7}$) does describe *bindudhāraṇa* as a reward of two to three years of *amṛtaplāvana* but does not suggest that *khecarīmudrā* results in both simultaneously: *amṛtāpūrṇadehasya yogino dvitrivatsarāt | ūrdhvaṃ pravarttate reto aṇimādiguṇodayaḥ ||*.

142 The earliest layer of the *KhV* mentions *melaka* and *khecaratva* as rewards of the practice, and includes a passage on the worship of *madirā*, alcohol, thus suggesting roots in Kaulism. However the passages on the physical practice that were inserted into this earliest layer show fewer Kaula features. The absence of sexual symbolism or allusions to tantric rites involving the consumption of bodily power-substances (see note 333) is striking. The insertion of the tongue into the hollow above the palate and the drinking of the resultant fluid has obvious parallels with such Kaula practices (see e.g. *TĀ* 4.131, *MaSaṃ* 18.11; cf. *HT* 2.4.38–39). This suggests that the compilers of the *Khecarīvidyā* came from a more ascetic or yogic tradition than the Kaula text which they used as the framework for their compilation.

143 WHITE (1996:99) lists the following groups as coming under the aegis of the Nātha order in the twelfth to thirteenth centuries: Pāśupatas, Kāpālikas, Śāktas, Māheśvara Siddhas, Rasa Siddhas, and Buddhist Siddhācāryas.
While containing some internal contradictions as a result of its inclusivism, the *HP* also seems deliberately to avoid mentioning issues that could cause division among rival groups. Thus, while Kuṇḍalinī and the *nāḍī*s are described, the *cakra*s are mentioned just once (under the name *padmāni*, "lotuses"), at 3.2 (=*ŚS* 4.21), where it is said that they are pierced by Kuṇḍalinī when she is awakened. Descriptions or lists of individual *cakra*s do not appear. Different schools of yogins had different systems of *cakra*s and by avoiding a specific description of such a system the *HP* avoids alienating any schools. At *HP* 1.3 Svātmarāma says that he has composed the text for those who do not know *rājayoga* because of their being confused in the darkness of many doctrines *(bhrāntyā bahumatadhvānte).*

144 A glance through GHAROTE & BEDEKAR's *Descriptive Catalogue of Yoga Manuscripts* (1989) quickly reveals the extent of this growth.

145 On their patronage, see for example the account of the relationship of Mahārājā Mān Siṅh of Jodhpur (fl. 1783–1841 CE) with Ayas Dev Nāth in GOLD 1995. CALLEWAERT & BEECK's word-index of devotional Hindī literature (1991:q.q.v.) gives many more instances of the vernacular appellation of the Nāthas, *jogī*, than of those of ascetics of other orders, e.g. *vairāgī* and *saṃnyāsī*, suggesting their dominance of the ascetic milieu in the medieval period.

146 In the vernacular texts of the Nāthas composed during this period, the dominant yogic paradigm is that of *ulṭā sādhanā*, "the regressive process", which "involves yogic processes which give a regressive or upward motion to the whole biological as well as psychological systems which in their ordinary nature possess a downward tendency" (DASGUPTA 1976:229). *Bindudhāraṇa* is a key part of this process.

147 See *YŚU* 5.39c–42d, of which the first of the two lines not found in the $GŚ_N$ describes the yogin as *samāhitaḥ* while the second has been redacted to avoid $GŚ_N$ 69d's *kāminyāśleṣitasya ca*, "and of [the yogin] embraced by an amorous woman". *DhBU* 79a-86b and *YCU* 52–59 are almost identical to $GŚ_N$ 64–71. Upaniṣadbrahmayogin's commentary to *DU* 6.37–38 (which does not describe *khecarīmudrā*) mentions *amṛtaplāvana* but only of a *liṅga* in the forehead.

148 The *GhS* can be dated to approximately 1700 CE. See the introduction to my edition of the text, pp. xiii–xiv.

149 As *haṭhayoga* entered the Vedāntic mainstream it was slowly stripped of its tantric

heritage. The *GhS* turns *vajrolīmudrā*, the practice of urethral suction, into a simple physical posture (*GhS* 3.39). (The original *vajrolīmudrā*, which was first used to draw up combined sexual fluids, is described at *DYŚ* 299–314.) This process of suppression of tantric elements was given a boost by the Hindu Renaissance of the British period when Hindu apologists felt a need for a monolithic homogeneous Hinduism with which to enter into a dialogue with Christianity. A generous helping of Victorian prudery was thrown into the mix and since then all but the most broad-minded commentators on *haṭhayoga* have dismissed or ignored practices that have left-hand tantric origins. VASU's 1914 edition of the *Śivasaṃhitā* omits entirely the description of the original *vajrolīmudrā* "as it is an obscene practice indulged in by low class Tantrists" (p.51). RIEKER's commentary on the *HP* written in 1972 under the guidance of B.K.S. Iyengar, a well-known *haṭhayoga* teacher from Pune, describes the *vajrolī-*, *sahajolī-* and *amarolī- mudrā*s as "a few obscure and repugnant practices... a yoga that has nothing but its name in common with the yoga of a Patanjali or a Ramakrishna" (1992:127).

150 In *Yoga in Modern India* (2004), ALTER shows how modern yoga practice in India has been shaped by western ideas of fitness, physiology and nature cure. The traditional practice of *haṭhayoga* continues, albeit chiefly among ascetics who do not speak English and are thus relatively uninfluenced by modern scientific paradigms. These traditional yogins are not mentioned in ALTER's work. DE MICHELIS (2004) examines the history of modern yoga, concentrating on its philosophical and theoretical underpinnings as promulgated by the Brahmo Samaj, Swami Vivekananda and B.K.S.Iyengar.

151 The now commonplace identification of *rājayoga* with the yoga of Patañjali's *Yogasūtra*s dates from the late nineteenth century CE (see DE MICHELIS 2004:178–180). The phrase *rājayoga* is not found in any Sanskrit texts other than those of *haṭhayoga*, in which it is usually the goal of practice rather than the method and is equated with *samādhi* (see *HP* 4.3 and *GhS* 7.17). *DYŚ* 160ab says that *rājayoga* arises through *bindudhāraṇa*. *GhS* 7.3–6 teaches that *rājayoga* encompasses six types of *samādhi: dhyāna, nāda, rasānanda, laya* (these four are produced by *śāmbhavī, khecarī, bhrāmarī* and *yoni mudrā*s respectively), *bhakti* and *manomūrcchā* ('trance'). *HR* 2.105 says that the successful practitioner of *vajrolīmudrā* becomes a *rājayogī*. Some texts teach yogas beyond *rājayoga*: *YB* 143 describes *mahāyoga*, of which *mantra, haṭha, laya* and *rāja* are but levels; after *rājayoga*, *ŚS* 5.208 teaches *rājādhirājayoga*, "the king of kings amongst yogas".

Lāl Jī Bhāī added an interesting slant to the modern idea of *haṭhayoga* being a preliminary practice for *rājayoga*. He told me that *rājayoga* is itself merely a preliminary for *khecarīmudrā*, which in turn leads to the awakening of Kuṇḍalinī.

152 On this long-term *samādhi* see note 425. Ascetics who have practised such *samādhi* (often interring themselves for days or weeks) earn the honorific Hindī title *samādhiṣṭh*, "in *samādhi*".

Since *khecarīmudrā* is a part of yogic practice, it is not surprising that it should be seen as a means to *samādhi*, the *summum bonum* of all yogas. However the trend for subordinating all yogic practice to the goal of *samādhi* is sometimes taken to extremes. See for example SHUKLA (1966:6–7), who analyses the six cleaning

practices of *haṭhayoga*, following the interpretation of the *GhS*. *Neti*, the cleansing of the nasal and oral passages, facilitates *khecarīmudrā*, which leads to *rājayoga*. *Karṇadhauti*, ear-cleaning, facilitates the hearing of the internal *nāda*, which again leads to *samādhi*. *Trāṭaka*, staring without blinking, cleans the eyes, facilitating *śāmbhavīmudrā*, the knower of which "becomes one with Brahman". Thus, for SHUKLA, the authors of the haṭhayogic texts "have all along kept the goal of Advaita in view".

153 On the absence of textual evidence linking *khecarīmudrā* with flying see note 113. Praṇavānand SARASVATĪ (1984:204), while acknowledging that *khecarīmudrā* can make the body so light that it rises into the air, explains flying by means of *khecarīmudrā* as the upward movement of breath. For him, the aim of yoga is the cleansing of the *antaḥkaraṇa*. Lāl Jī Bhāī of Rishikesh told me two reasons why he believed flying was possible through *khecarīmudrā*. Firstly, he once sneaked into a Nātha yogin's meditation room, seeking initiation, and found him floating above the ground. Secondly, he had had to remove the fan and lamp from his own meditation room because on more than one occasion he had come out of his meditation to find himself on the other side of the room, having fallen onto the lamp or with his hair caught in the fan. He took this to be evidence that he had flown across the room.

154 As well as emphasising the ineffableness of the fruits of the practice, my informants were adamant that, contrary to instructions found in haṭhayogic texts, guarantees along the lines of "if you do x for y months, z will happen" cannot be made. Each individual's experience is unique.

155 *KJN* 12.3–9 includes descriptions of the *vratin* as *unmattākṛti*, "resembling a madman", *kaśmala*, "dirty", and *nagna*, "naked". *MaSaṃ* 44.2 describes the *sādhaka*: *avadhūto jaṭābhasmanarāsthikṛtabhūṣaṇaḥ* (*em.*; °āḥ A) / *maunī karāśanī bhūtvā paryaṭan pṛthivīm imām* // "Having cast off worldly concerns, wearing matted hair, ashes and human bones, silent, using his hand as a plate [?], wandering the earth".

156 H2 5.331 (f. $117v^{6}$).

157 H2 5.255 (f. $110r^{1-2}$): *apavitra pavitro vā sarvāvasthāṃ gato pi vā / khecarīṃ* (*em.*; *khecarī cod.*) *kurute yas tu sa siddho nātra saṃśayaḥ* //; H2 5.258 (f. $110r^{6-7}$): *sahasāpi bhaven mokṣaḥ* (*em.*; *mokṣa cod.*) *saha cāṇḍālapaṇḍitaiḥ* (*em.*; °*paṃḍitaḥ cod.*).

158 The two numerically strongest ascetic orders in India today are the Vaiṣṇava Rāmānandīs and the Śaiva Dasnāmī Saṃnyāsīs. It is notoriously difficult to obtain accurate estimates of ascetic numbers (see e.g. GROSS 1992:118–125). VAN DER VEER (1989:xiii) says that "the Ramanandis have become probably the largest monastic order of North India". CLARK (2004:172) calculates the number of Dasnāmīs to be about 100,000. At the Hardwar Kumbh Melā in 1998 a Rāmānandī Tyāgī *mahant* claimed that the Rāmānandīs numbered about 2,000,000 and the Saṃnyāsīs 1,500,000. The next largest order is that of the Udāsīs who trace their origin to Śrīcand, the eldest son of Guru Nānak. The Rāmānandī Tyāgīs and the Nāgās of both the Saṃnyāsīs and Udāsīs closely resemble the Nāthas in both appearance and lifestyle. The number of Nāthas at the Hardwar Kumbh Melā was less than five hundred and they did not have their own procession *(julūs)* on the main bathing

days.

159 My ethnographic informants are described on pages 60–61.

160 This is only a guiding principle and does not apply to the subgroups. Thus the order of, for example, the witnesses in $\beta$ (other than those of $\beta_1$ which are grouped together because of their similarity) is the order in which they were collated.

161 In this description of the sources of the text of the *Khecarīvidyā*, *paṭala* and verse numbers refer to those of the edition unless stated otherwise.

162 The Asiatic Society of Bengal lost its majesty many years ago but the siglum A was already taken when $R_1$ and $R_2$ were collated.

163 Because of the bad condition of the manuscript and the way in which its fragments have been pasted together, I cannot be certain from my microfilm printout that the verso of the last folio really ends with chapter 3, but it seems likely. The left side of 11v is obscured, but there is enough room for the final one and a half *pāda*s of the last verse as finished on 11a.

164 This verse is attributed to Bhartṛhari (*Śatakatrayādisubhāṣitasaṃgraha* v. 697).

165 F. 42(2) is an expansion (introduced with "*prasaṃgāt*"), in a later hand, of the commentary found on f. 42(1)v.

166 Only one side of f. 42(3) is written on.

167 Samvat and Śaka dates corresponding to 1840 CE are found in the final colophon, but these probably refer to a date when the manuscript changed hands. The inserted lines are written in a different hand from the rest of the codex.

168 On these manuscript groups, see page 5.

169 See for example his description of the coprophagic *ajarī kriyā* at f. $47v^{2-4}$, quoted in my notes to the translation of 2.76c–77b, or his detailed description of the preparation for and technique of *vajrolī mudrā* at f. $103v^1$–f. $104r^6$, which goes into more detail than any other haṭhayogic text and suggests at least close acquaintance with a practitioner of the technique, if not mastery by the commentator himself.

170 PETERSON (1883:117) lists a manuscript entitled *Mahākālayogaśāstre Khecarīvidyā*. It is ascribed to Ādinātha, is dated Samvat 1805 and consists of 300 verses in 15 folios. I have assumed this to be MS P and have not listed it among the unconsulted manuscripts.

171 The readings of $R_1$ are very similar to those of $J_1$, more so in fact than those of $J_5$ which is paired with $J_1$ to make the subgroup $\gamma_2$. The large number of minor errors in $R_1$ has, however, meant that $J_1$ and $J_5$ match one another more often than do $J_1$ and $R_1$. To keep the apparatus as concise as possible $J_1$ and $J_5$ have been dealt with as a subgroup.

172 Three other manuscripts entitled *Khecarīvidyā* were described in the Institute's catalogue but could not be found by the library staff (No. 187 on p.164 of Part 2c of the catalogue, dated Samvat 1867, 7 folios; No. 5321 in part 21, 20th century, 2 folios, incomplete; No. 18376 on p.236 of part 4, 20th century, 14 folios). By their descriptions it would appear that they contain the work found in MS O rather than that found in the other *KhV* manuscripts.

173 BOUY (1994:82) has shown how the *Haṭhapradīpikā* is for the most part an anthology of passages from other works.

174 There may be more verses from the *Khecarīvidyā* elsewhere in the text: I have not gone through all of the manuscript in detail.

175 Another MS of the *Matsyendrasaṃhitā* in the MMSL (No. 1785), reported as complete by Vyas & Kshirsagar (*ibid.: loc.cit.*) is in fact incomplete. It ends during the 13th *paṭala*, before the *paṭala*s which contain the *Khecarīvidyā*.

176 This is very likely to be MS V.

177 "*...facere Çivam deae Umae exponentem magicam per aerem incedendi scientiam*" (loc.cit.).

178 This could be J2. The date and number of folios correspond but J2 has 8 rather than 9 lines to a side.

179 The majority of my informants are Vaiṣṇava Rāmānandī Tyāgīs. This is because I have spent more time in their company than that of other orders, but also reflects their being the numerically strongest ascetic order in India today (on this point see note 158).
I discuss in detail the practice of yoga by Rāmānandī Tyāgīs in Mallinson 2005.

180 When additions are reported in the bottom register of the apparatus of the critical edition, they are always to be found after the *pāda* under whose verse number and letter they are reported.

181 E.g. 1.17d where $\mu$ has *devi* for the *prītyā* found in all the other witnesses and I report it.

182 E.g. 2.45c where K2 has *°jyād* for the readings *syād, °khyā* and *°sthād* found in the other witnesses and I do not report it.

183 E.g. 2.68b where K3 has *yogaṃ na* for the other witnesses' *yogena* and I do not report it (*-aṃ* and *-e* are easily confused in Devanāgarī).

184 I have used small asterisks to indicate when an *akṣara* is legible (to me) only with external help (usually the readings of the other witnesses).

185 E.g. *kāryya* for *kārya* and *tatva* for *tattva*.

186 E.g. *ūrdhva* written as *ūrdha*, *ūrddha* and *ūrdva* at 3.26b.

187 E.g. *cintayed vratī* at 3.37b where I report *ca tāṃ* and *priye* as variants of *vratī* but do not report the corresponding forms *cintayec* and *cintayet*.

188 E.g. 2.58a where J3 has the unmetrical *guṇītaḥ* but I report that $\beta$ has *guṇayutaḥ*.

189 E.g. 1.22c where I have reported that J2 and K2 agree with VPC in reading *nārpayed* when in fact they read *nāryayed* and *nāryayad* respectively.

190 *BKhP* f. 1v$^{6-8}$: *atha—atha kadā cid ādināthaḥ priyāvinodena lokopakārāya sarvataṃtrāṇi samāmnāya paścād devyā teṣāṃ jarāmaraṇanāśena yogena sthirataratatvajñānaṃ kathaṃ syād iti pṛṣṭas tāṃ pratyāha athetyādi //* " 'Now' *(atha)* means: now, once, when Ādinātha had gathered together all the tantras for the amusement of his beloved and the good of the world, the goddess asked 'How does there arise the very permanent knowledge of reality by means of the yoga of those [tantras] which destroys old age and death?' He replied 'Now...' "

191 Originally, at all the occurrences of the word *vidyā* in the text it would have meant "mantra" and that is how I translate it everywhere except in this verse and at 3.55c and 3.69a, where it can be taken to mean "magical science" and refer to the name of the text. On the reasons for these different meanings of *vidyā*, see page 12 of the introduction.

**192** "called Khecarī" *(khecarisaṃjñitām)* : *khecara°*, as the stem form of the adjective, is the more correct form and is attested by $\mu$MK$_2$ (cf. *NT* 7.32 *khecarākhyāṃ tu mudrām*); *khecari°*, however, preserves some of the ambiguity over whether the word is being used as an adjective or a substantive. In Śaivism Khecarī is a specific type of etheric Yoginī (e.g. *JRY* 4.2.644 f. 32r, 4.2.685 f. 33r; *KJN* 9.2, 20.10; *KMT paṭalas* 14–16 (where Khecarīs are distinguished from Yoginīs—*paṭala* 16 describes the circle of thirty-two Khecarīs in detail); see also page 25 of the introduction and HANNEDER 1998:71 n.39), and a *mudrā* or mantra *(vidyā)* is named after the deity or deities with which it is associated. Thus the *khecarīmudrā* (written as a compound) of Śaivism can be both "the *mudrā* of Khecarī/the Khecarīs" (understood as a *tatpuruṣa* compound) and "the moving in the ether *mudrā*" (as a *karmadhāraya*). In the texts of *haṭhayoga* there are very few traces of the tantric Yoginī cult (one is at *SSP* 3.13 and 6.112 where Khecarī is mentioned in lists of female deities), *khecarī* has an adjectival rather than substantive force and *khecarī mudrā* (often written as two words—see e.g. *HP* 4.43) has only the latter meaning. Thus Ballāla (f. $2r^{2-3}$) understands *khecarīmudrā* to be so called because it causes the tongue to move in the hollow above the uvula: *khe vaksyamāṇalakṣaṇarājadaṃtordhvamaṃḍale jihvāṃ cārayatīti*. The tantric and haṭhayogic *khecarīmudrās* are discussed in detail on pages 24 to 33 of the introduction.

**193** I have adopted the reading *yayā vijñātayā ca syāl* of $\beta_1$ for two reasons: firstly, it is similar to $\mu$'s corrupt *yayā vijñāyate bhyāsāt*; secondly, it is more sophisticated and semantically apposite than the formulaic *°mātreṇa* constructions found in the rest of $\alpha\beta\gamma$.

**194** "with one's whole heart" *(sarvabhāvena)* : Ballāla (f. $4r^2$) explains *sarvabhāvena* with *kāyena vācā manasā svasamarpaṇena vā*, "with body, word, mind, or by offering oneself".

**195** "in letter and spirit" *(granthataś cārthataḥ)* : on this expression cf. *KhV* 1.9a, *MVUT* 19.54d, *KMT* 6.34c, 10.88d, 25.197d, *Bṛhatsaṃhitā* 2.13ab.

**196** Ballāla analyses the compound *tadabhyāsaprayogataḥ* as a *dvandva* and explains it thus (f. $3v^7$): **pra*yogas tu maṃtravidyāyāḥ / evaṃ ca jihvordhvakramamaṃtrapuraścaraṇayor nityābhyāsād ity arthaḥ /* "The 'use' *(prayoga)* is of the mantra. Thus [the compound] means 'from regular practice of raising the tongue and reciting the mantra' ". The different layers of the text (see pages 12 to 13 of the introduction) use *vidyā* and *abhyāsa* in different ways. *Vidyā* as both "mantra" and "magical science" has been mentioned in note 191. *Abhyāsa*, which first occurs here, referred to the practice of repeating the mantra in the earliest layer of the text, but in later layers means the practice of drinking *amṛta* by lengthening the tongue and inserting it above the palate. Ballāla takes it to have the latter meaning throughout his commentary. I have tried to translate *abhyāsa* so that it can be interpreted either way. The two interpretations have resulted in confusion in the text, and corruption in its transmission. Thus, the translation of 1.5–7 is somewhat forced and I can only make sense of 1.42c–43b by taking *abhyāsa* to refer to the tongue practice alone.

**197** Ballāla (f. $4v^1$) divides *abhyāsa*, "practice", into two types, internal *(āntara)* and external *(bāhya)*. He further divides the internal practice into two: entry into the

aperture above the palate *(tatpraveśa* cf. 2.102b) and *melaka* (see the next note). The external practice is the lengthening of the tongue described at 1.43–51.

**198** All the witnesses except S have *melanaṃ* here. At the other occurrences of *melaka/melana* (1.5d, 6c, 7c, 8a, 9b, 12c, 16b, 41a; 3.56a, 59a) there is more complex disagreement between the witnesses over which form is used. In some witnesses the two do seem to be differentiated. This is particularly so in $J_2PFC\gamma$ at 1.5–7, but this appears to be simply an attempt to make sense of a corrupt transmission in which there are two almost identical half-verses (5cd and 6cd). In *MaSaṃ* 17.1–31 *melana* means "meeting [with Khecarīs]" (see below) while at the one occurrence of *melaka* (17.31d) it is an adjective describing the guru who can effect *melana*. However, at *MaSaṃ* 17.52, 18.2 and 18.14 *melaka* is used as a substantive. Ballāla (f. $4v^5$) says that *melana* and *melaka* are synonyms: *melanaṃ melakaṃ vā paryāyaḥ*. To avoid confusion, I have decided to use only *melaka*, the form preferred in the texts of Śaivism from which the word originates. Only *U* and $R_2$ are similarly partisan, sticking to *melana*. (At 3.56a I have adopted *khecarīmelana* which is attested by all the witnesses.)

*Melaka* in tantric Śaiva texts implies *yoginīmelaka*, "a meeting with Yoginīs", in which the *sādhaka* causes a circle *(cakra)* of Yoginīs to surround him and grant him *siddhi*s. This reward of tantric *sādhana* is often mentioned in the texts and exegesis of the Bhairavāgama, e.g. *MVUT* 19.21; *JRY* 4.2.350 (f. 19v), 367 (f. 19v), 593 (f. 30r), 647 (f. 32v) etc.; *TĀ* 28:371–384; *KMT* 14.2. Cf. *Hevajratantra* I, *paṭala* 8. *KJN paṭala* 8 (particularly vv. 31–45) describes *yoginīmelaka* and its rewards in detail. Cf. *SYM paṭala* 8 which describes a meeting in the cremation-ground with various terrifying Yoginīs but does not use the word *melaka*. The *melāpasiddha*, "the master of effecting *melaka*", is described in Maheśvarānanda's *Parimala* commentary on 38ab of the *Mahārthamañjarī* (see also SILBURN 1968:133–135). *Vātulanāthasūtravṛtti* 5 gives an esoteric interpretation of *siddhayoginīmelāpa* as the union of the perceiver *(grāhaka)* and the perceived *(grāhya)*. *Melaka* is never explicitly stated to be a meeting with Yoginīs in the *KhV*, but 3.56a suggests this by mentioning *khecarīmelana*. All the occurrences of *melaka* are found in the earliest layer of the text (in the context of the *vidyā*) and later tradition does not understand it as referring to a meeting with Yoginīs. Ballāla says that *melana* is a type of internal physical practice (f. $4v^1$), and defines it as the conjunction of the tip of the tongue and *amṛta*, i.e. the drinking of *amṛta* (f. $4v^{4-5}$): *jihvāgrasyādhomukhacandrasravadamṛtasya ca saṃyogas tatpānārtho melanam*.

I have taken *melaka* to be the result of the practice *(abhyāsa)* and have translated accordingly. This interpretation, which I have found necessary in order to make sense of the corrupt transmission (see note 196), may be forced: see *MaSaṃ* 17.43 where even the *sādhaka* who does not practise *(anabhyāsī)* is said to gain everything as a result of *melana*. (The *MaSaṃ* passage is almost certainly derived from the *KhV*; it may thus be the composer's own attempt to resolve the difficulties found in the *KhV*.)

**199** Only $\mu R_2 UT$ have 6c–7b. $S\alpha\beta\gamma$ (excluding $M\alpha_3 J_3 J_1$ which omit 6cd) repeat 5cd at 6cd and omit 7ab. The readings found in $\mu$, which suggest *melana* with snakes, may preserve the original reading in some way but are obscure to me. Because it is

the only reading of which I can make sense, I have have had to adopt that of *U*, although it is likely to be the result of redaction by the compiler of the *upaniṣad*. It may be that originally there was one verse rather than two at 6–7. The common practice of scribes of tantric manuscripts writing a variant line immediately after that which has been adopted could be responsible for the confusing similarity of verses 6 and 7. I am grateful to Dominic GOODALL for making this suggestion.

200 The meaning of *siddhi* falls somewhere between "magical power", "perfection", "accomplishment" and "success".

201 "*Mahākāla*" could mean the *Mahākālasaṃhitā* attributed to Ādinātha. In *paṭala* 6 of its *Kāmakalākhaṇḍa* the *khecarīsiddhividhānam* is given. By means of a magical *guṭikā*, yantras, mantras and propitiation of deities, the yogin attains *khecarīsiddhi*. However, it is very likely that the *MKS* postdates the *KhV* (see page 12 of the introduction). The *Jayadrathayāmala* lists a *Mahākālīsaṃhitā* associated with the *Viṣṇuyāmala* and a *Mahākālyupasaṃhitā* associated with the *Yoginījālaśambara* at ff. 180r and 176r respectively (DYCZKOWSKI 1988:118 and 112). The *Mahāsiddhasāratantra* lists a *Mahākālatantra* among those of the northern Rathakrāntā (AVALON 1914:lxvi). WHITE (1996:472 n.73) mentions a *Mahākālatantrarāja* in the *Kanjur*, a manuscript of which from the NAK has been microfilmed by the NGMPP (reel E-1358/7). JHĀ (1976:9) describes in brief a Buddhist *Mahākālatantra* as found in a manuscript from the Kāśīprasād Jāyasavāl Śodh Saṃsthān.

202 *Vivekamārtaṇḍa* is the original name of the text now more commonly known as the *Gorakṣaśataka* or *Gorakṣasaṃhitā*, a treatise on *haṭhayoga* attributed to Gorakṣanātha. Several editions of the work exist, the best being that of Nowotny (1976), in which *khecarīmudrā* is described at 64–69 and 138–152. This mention of a known work provides us with a *terminus a quo* for the *Khecarīvidyā*. (It is possible that in the text from which the *Khecarīvidyā*'s framework was borrowed (see pages 12 to 13) the name of a work other than the *Vivekamārtaṇḍa* was originally found here and replaced by the redactor of the *Khecarīvidyā*.) See page 4 and note 9 in the introduction for further details.

203 Here $R_2S\alpha_1\beta\gamma$ have *śāmbhavam*, A has *śābharam*, $J_6J_7$ have *śāṃvaram* and $\alpha_3$ has *śobhanam*. Apart from a mention in the *Jayadrathayāmala* (f. 179v—DYCZKOWSKI 1988:115) of a *Śāmbaramatatantra* associated with the *Brahmayāmala*, I have found no mention of tantras by these names and have made the conjecture that *śābaram* is the original reading. The *Śābaratantra* (or *Śābaratantras*; see GOUDRIAAN & GUPTA 1981:120–121) is associated with the Nātha order (DYCZKOWSKI 1988:28 and n. 144). The colophon of a manuscript entitled *Divyaśābaratantra* (No. 8355 in the Asiatic Society of Bengal Library) reads *iti śrīdivyaśābare gorakṣasiddhiharaṇe dattātreyasiddhisopāne nāma ekādaśapaṭalaḥ* (GHAROTE & BEDEKAR 1989:84–85) while MS No. 10542 in the same library, entitled *Śābaratantra*, ascribes the text to Gorakhanātha (ibid. 360). A *Śābaratantra* is quoted extensively in the *Mahākālasaṃhitā* and in the *Gorakṣasiddhāntasaṃgraha* (pp.14–15). *KJN* 9.6 and *HP* 1.5 include Śabara in lists of *siddhas*.

204 The *Nityāṣoḍaśikārṇava*, the root text of the cult of Tripurasundarī which was known (as the *Vāmakeśvarīmata*) to the thirteenth-century Kashmiri commentator Jayaratha, mentions a *Viśuddheśvaratantra* (1.21b). AVALON, citing the *Mahāsiddha-*

*sāratantra* includes a *Viśuddheśvaratantra* among the 64 tantras of the Viṣṇukrāntā in the east and the 64 of the Aśvakrāntā in the south (1914:lxv–lxvi). KAVIRĀJ (1972:597) mentions six relatively late East Indian texts which quote from a *Viśuddheśvaratantra*: Kṛṣṇānanda's *Tantrasāra* (1580 CE), the *Puraścaryārṇava*, the *Mantramahārṇava*, the *Tārābhaktisudhārṇava*, the *Tārārahasyavṛtti* and the *Āgamatattvavilāsa* of Raghunātha Vāgīśa (1687 CE). The *Tārābhaktisudhārṇava* consists mainly of quotations, including many from the *Mahākālasaṃhitā*. The *Viśuddheśvara* is quoted in two places (pp. 127 and 148). The Bombay University Library Catalogue of Manuscripts (s.v. *Mahākālayogaśāstra*) says that the *KhV* is also quoted in the *Tārābhaktisudhārṇava* but I have been unable to locate any such quotation (confusion between the *Mahākālasaṃhitā* and *Mahākālayogaśāstra* is probably responsible for this incorrect attribution).

205 Like the *Viśuddheśvara*, the *Jālaśaṃvara* is mentioned in the *Nityāṣoḍaśikārṇava* (1.14). A tantra called *Jālasaṃvara* is mentioned in a list of tantras given at *Kularatnoddyota* 1.13 (Chandra Sham Shere c. 348 f. 2r[3]). *JRY* f. 176a lists the twelve tantras and twenty Upasaṃhitās of the *Yoginījālaśambara* root tantra. The same work mentions *Śambarā* in a list of Mata tantras at f. 185r (DYCZKOWSKI 1988:121). *SYM* 29.16c mentions a *Savaratantra*. The *Mahāsiddhasāratantra* includes a *Samvaratantra* among the 64 tantras of the Rathakrāntā, the northern region of the subcontinent (AVALON 1914:lxvi). *KJN* 21.4 mentions *sambara* as the name of a Kaula school.

206 Ballāla (f. 6v[1]) lists more works in which *khecarīsiddhi* is described: the sixty-four Tantras, Lakṣmīdhara's commentary on the *Saundaryalaharī* and "the *Śivasaṃhitā* etc." *(śivasaṃhitādau)*.

207 "in the Khecarī doctrine" *(khecarīmate)* : a text called *Khecarīmata* is mentioned at *TĀ* 29.165b (and *Tantrālokaviveka ad loc.*) and in a list of sixteen *Mata*s in the *Manthānabhairavatantra* (NAK 5-4630, f. 209r) v. 28d. It seems unlikely however that a specific text is being referred to in this verse of the *KhV*. An inventory of religious teachings in the *Kularatnoddyota* (Bodleian Library Chandra Shum Shere Collection c.348 f. 2r[1–2]) also mentions *khecarīmata*. (I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with the above references.) A *Khecaratantra* is mentioned at *SYM* 29.16b.

208 See *SSP* 6.99–116 for a similar passage on keeping a text safe.

209 Cf. *JRY* 2.10.50d–51b (NAK 5–4650 f. 27r[1]): *nedaṃ gūḍhaṃ prakāśayet //50// prakāśayanti ye mohād yoginyo bhakṣayanti tān (tān ] conj.* SANDERSON*); te codd.)* / "[The yogin] should not make this secret public. Yoginīs eat those who through ignorance make [it] public." Another passage describing Yoginīs eating negligent *sādhaka*s can be found in the Buddhist *Cakrasaṃvaratantra* (38.2–5: Baroda Oriental Institute Acc. No. 13290, f. 27v). I am grateful to Alexis SANDERSON for pointing out these parallel passages.

210 The *granthi* is the knot in the string that holds together the leaves of the book *(grantha)*.

211 i.e. a libation pertaining to Kaula tantric practice. *KJN* 11.20 says that alcohol should be used for *devatātarpaṇa*: *devatātarpaṇārthāya surā deyā yathocitā*. *KAT* 6.26–35 describes *kaulikatarpaṇa* in detail. Cf. *MaSaṃ* 17.26c–29b. On this verse,

Ballāla writes (f. 8v[7]) *kaulikatarpaṇaṃ nāma vāmamārgācaraṇaṃ*, "the *kaula* libation is a practice of the left[-hand] path". He goes on to say (f. 8v[9]–f. 9r[5]) that because the practices of the left-hand path conflict with Vedic practice *(vāmasya vedaviruddhatvena)*, *kaulikatarpaṇam* must have a different meaning. He quotes from *ŚS* 4.6: *pītvā kulāmṛtaṃ divyaṃ punar eva viśet kulam* and equates *kulāmṛtam* with the *amṛta* drunk by means of *khecarīmudrā* and *kulam* with the *nāga nāḍī*. Thus he explains the external tantric practice of *kaulikatarpaṇam* as an internal haṭhayogic technique of sprinkling the *nāga nāḍī* with *amṛta*. The variant readings in $GTK_2K_5$ are less subtle attempts at getting around the problem.

**212** Ballāla (f. 9r[9]–f. 9v[1]) lists the following as suitable fragrances: *candana* (sandal), *tamāla* (laurel), *mustaka* (*Cyperus rotunda* Linn.—Dash & Kashyap 1980:25), *kuṅkuma* (saffron), *kuṣṭhaka* (*Sassurea lappa* C.B.Clarke—Dash & Kashyap 1980: 61), *rocanā* (? probably *gorocanā*, a bright yellow orpiment—Monier-Williams 1988: s.v.), *nakha* (*Unguis odoratus*—ibid.:s.v.), *tāmbūla* (betel) and *yakṣakardama*, which consists of *karpūra* (camphor), *aguru* (aloe), *kastūrī* (musk) and *kaṅkola* (cubeb).

**213** Cf. *Yonitantra* 6.3: *etat tantram mahādevi yasya gehe virājate / nāgnicaurabhayaṃ tasya ante ca mokṣabhāg bhavet //* "He who has this tantra in his house is in no danger of fire or theft and in the end he becomes liberated".

**214** In 26d I have adopted the reading found only in $W_1$ (and with corruptions in N). The witnesses that usually preserve the oldest readings, $\mu$ and G (as well as $\alpha$), have the verb *samīhate* rather than the *saṃvadet* of $S\beta\gamma$ and I have thus adopted *samīhate*. As the object of the verb, $\mu$ and G have *saṃsiddhīni* and *saṃsiddhāni* respectively; *saṃsiddhīni* is corrupt while *saṃsiddhāni* is semantically inappropriate—we want a word meaning "*siddhi*s" here. Perhaps the original reading was that of $\mu$ and *saṃsiddhīni* was an *aiśa* form meaning *siddhīḥ* but I have decided to adopt the more grammatically correct reading of $W_1$.

**215** Ballāla (f. 11v[9–10]) understands *khecarīṃ yuñjan* to mean "practising *khecarīmudrā*", i.e. inserting the tongue into the cavity above the soft palate and looking between the eyebrows: *khecarīṃ yuṃjann iti / atra khecarīśabdena (°śabdena ] conj.* Isaacson & Goodall; *°śabde* S) *taṃtreṇa kapālāṃtarjihvāpraveśo bhrūmadhyadṛṣṭiś ca nirdiśyate // yuṃjanpadasvārasyāt //* He glosses *khecaryā* with *jihvayā*, "by means of the tongue" (f. 11v[8]), and *khecara* (in *khecarādhipatiḥ*) with *graha*, "planet", and *deva*, "deity" (f. 12r[6]). He then (f. 12r[7]–f. 12v[3]) cites *Yogasūtra* 3.50 and Vyāsa's commentary thereon in which it is said that upon reaching the second stage *(madhumatī bhūmi)* of yoga the gods will invite the yogin to their heavenly paradise. The conscientious yogin should decline this invitation to indulge in sensual pleasures and concentrate on *samādhi*.

**216** The abode of the Khecaras or "ethereal beings" is the ether. The visualisation of the lord of ether at 2.57 describes a great circle containing the syllable *haṃ*, thus this phrase denotes the letter *ha*.

**217** "Fire" is a common name for the letter *ra*. At *KhV* 2.51–52 the lord of fire is said to contain the syllable *raṃ*.

**218** In the *Varṇanāmapaṭala* of the *Jayadrathayāmala* (f. 199r[3]–f. 201r[5]), at verse 6, *ī* is called Mahāmāyā (i.e. Ambā). I have adopted the reading *ambā°* rather than *ahnī°*

or *ambho*°, the readings of $\mu$ and G, in order to force the *mantroddhāra* to produce the seed-syllable *hrīṃ* which is attested by various witnesses (see note 225). I have found no instances of *ī* being called *ahnī* or *ambho* so have adopted *ambā* because of the (albeit not completely conclusive) identification in the *JRY*.

**219** I take *maṇḍala* to refer to the dot representing *anusvāra*.

**220** The Khecarī seed-syllable is thus *ha* + *ra* + *ī* + *ṃ* = *hrīṃ*.
1.32c–37d teaches three different types of Khecarī mantra: 32c–33b teaches the *bīja*, 33c–34b teaches the *vidyā*, and 34c–37d teaches the *kūṭa*.
In witness $K_5$ (f. 2v[6]) a later hand has interpreted the elements of the *khecarībīja*: above *khecarāvasathaṃ* is written *kha*, above *vahnim* an unclear *akṣara* which is probably *ra*, above *aṃvā* is *au*, and above *maṇḍala, candrabindu*. These combine to make the seed-syllable *khrauṃ* (their combination is not given in the manuscript). In the appendix of *MKSK* (p.134) the *khecarībīja* is also said to be *khrauṃ*. Just as in the case of *hrīṃ*, the extraction of *khrauṃ* from this *mantroddhāra* hinges on the identification of *ambā/ahnī/ambhas*. If *au* were anywhere clearly said to have one of these names then the balance would swing in favour of *khrauṃ* as the *khecarībīja*: *khecarāvasatha* could just as well stand for *kha* as *ha*. GHAROTE, in his introduction to the *Jogpradīpakā* (p. 22), says that the *khecarībīja* is "*Hskhfren*" but he does not report his source for this assertion. Whatever the source, it sounds more like an interpretation of the *kūṭa* mantra given in the *mantroddhāra* at 1.34c–37d; cf. the tantric Śaiva *piṇḍa-nātha* mantras given in note 225.

**221** None of the witnesses of $\mu$ gives an interpretation of this *mantroddhāra* and I am unable to suggest one myself.

**222** All the witnesses except $\mu_a$ have *tasyāḥ ṣaḍaṅgaṃ kurvīta* at 34c instead of *ṣaḍaṅga-vidyām vakṣyāmi*. Ballāla (f. 21v[4–6]) glosses *ṣaḍaṅgaṃ* with *ṣaḍaṅganyāsaṃ* which he explains at f. 21v[9–10] thus: *sa ca nyāsaḥ aṃguṣṭhādiṣu hṛdādiṣu ca ṣaḍaṃgeṣu kartavyaḥ || yathā | oṃ hrāṃ gsnmphlāṃ aṃguṣṭhābhyāṃ namaḥ ||6|| oṃ hroṃ gsnmphlā* ṃ* hṛdayāya nama ityādi.* A marginal addition in a later hand cites the tantric maxim that the yogin who does not carry out *nyāsa* will be struck dumb (f. 21v[mg]): *nyāsahīno bhaven mūka iti taṃtrokteḥ.*

**223** "correctly" *(yathānyāyam)* : Ballāla (f. 22r[1]) understands *yathānyāyam* to mean that the yogin should perform the mantra-repetition in exactly the way that he has heard it from his guru: *nyāyo 'tra guruvaktrāt tadgrahaṇaṃ | tad anatikramya yathā-nyāyaṃ |.*

**224** 33c–35b are found after 53d in all the witnesses. $\mu$ has the passage twice, with variants, both after 53d ($\mu_b$) and here ($\mu_a$). Its occurrence after 53d does not fit the context (the lengthening of the tongue) although attempts have been made to adapt it. Hence for *mastakākhyā mahācaṇḍā śikhivahnikavajrabhṛt* several witnesses have *śanaiḥ śanaiḥ mastakāc ca mahāvajrakapāṭabhit*, "[the tongue] gradually breaks the great diamond doorway out of the skull". It seems that the passage was originally where it is first found in $\mu$, was then mistakenly transposed to its position after 53d, and, through conflation of sources, appears in both places in $\mu$. Thus none of the manuscripts entitled *Khecarīvidyā* contains a description of the *khecarīvidyā*.

**225** Seven witnesses give one or more interpretations of this *mantroddhāra* (for details see the descriptions of the individual sources): *U: bhaṃ saṃ maṃ paṃ saṃ kṣaṃ,*

*bhaṃ saṃ saṃ ṭhaṃ saṃ kṣaṃ, haṃ saṃ maṃ yaṃ saṃ kṣaṃ, bhaṃ saṃ ṣaṃ phaṃ saṃ kṣaṃ, bhaṃ saṃ maṃ vaṃ saṃ kṣaṃ*; S: *gaṃ saṃ naṃ maṃ phaṃ laṃ*; $W_1$: *ga ma na sa pha laṃ, ga sa na sa pha laṃ, ga sa na ma pha laṃ, oṃ sa kha phroṃ, aṃ sa kha phroṃ*; $K_1$: *ga ma na sa pha laṃ*; $J_4$: *haṃ saṃ ṣaṃ phaṃ raṃ iṃ—hsphrīṃ [sic], haṃ saṃ khaṃ phaṃ raṃ īṃ—hskhphrīṃ*; V: *gaṃ saṃ naṃ maṃ phaṃ laṃ, aṃ saṃ khaṃ phreṃ*; O: **hs*phreṃ*. *U*S$W_1K_1$V add that *hrīṃ* is the *khecarībīja*.
Upaniṣadbrahmayogin's interpretation of the *mantroddhāra* is straightforward: Someśa is *sa*; nine back from there (inclusively) is *bha*; 36ab describes *sa*; eight back from there is *ma*; five back from there is *pa*; the *bīja* of *indu* is *sa*; *kūṭa* is *kṣa*.
The variations on *gamanasaphalaṃ* seem to be attempts to give meaning to the mantra: *gamana[m]*, "going [into the ether]" is *saphalam*, "successful". Ballāla (f. 13v⁴–f. 13(2)v²) tries to extract *ga sa na ma pha la* from the *mantroddhāra* (presumably because *ga ma na sa pha la* would have required an impossible amount of verbal contortionism). He starts well: as many sources attest, Someśa is a name for *ṭa*. Nine syllables back from *ṭa* is *ga*. Thirty forward from *ga* is *sa*. He is then in trouble, however, and the remainder of his interpretation is forced.
The *Jogpradīpakā* (between vv. 655 and 656) gives *hāṃ hīṃ huṃ haiṃ hauṃ haḥ* as the *khecarīmantra* and *gaṃ, saṃ, naṃ, maṃ, huṃ* and *laṃ* as elements of a *khecarīnyāsa* which closely matches Ballāla's description given in note 227.
The interpretations found in $J_4$ and O, and as alternatives in $W_1$ and V, are more redolent of tantric Śaiva mantras than the others and appear to be variants of the *piṇḍanātha/mātṛsadbhāva* mantra (on which see PADOUX 1990a:422–426). Jayaratha, commenting on *TĀ* 16.160 says that *khecarīhṛdaya* is another name for the *piṇḍanātha*. In the *TĀ* the *piṇḍanātha* is given as *khphreṃ* at 4.189–191, 5.75–85, 30.45–46 and as *hshrphreṃ* at 30.47–49. *Ṣaṭsāhasrasaṃhitā* 1.1 gives it as *hskhphreṃ* (cf. $J_4^{vl}$'s *hskhphrīṃ*). Despite finding several identifications of Someśa, Candra and Indra in the *JRY*, *MVUT*, *KMT*, *MKS* and various *mantrakośa*s, I have been unable to edit the text in such a way that I can extract a variant of the *piṇḍanātha* (or indeed any recognised mantra) from the *mantroddhāra*.
At the end of its description of *khecarīmantrasādhana*, $H_2$ gives the mantra form of the *saptavarṇamayī devī khecarīṇām*: *aiṃ hrīṃ klśrīṃ klīṃ haṃ ūṃ sauṃ*.

**226** "with many forms [and] residing in the faculties" *(virūpā karaṇāśrayā)* : Ballāla, together with all of the other witnesses except $\mu U T\alpha_3$C, has here the compound *virūpakaraṇāśrayā* which he interprets as meaning the process of ageing: *sā yoginaḥ pūrvarūpāt tāruṇyād viruddhaṃ rūpaṃ virūpaṃ vṛddhatvaṃ tasya karaṇaṃ kṛtis tadāśrayā jarety arthaḥ* (f. 14r¹⁻²).

**227** Here Ballāla quotes the following passage concerning the *japa* of the *khecarīmantra* which he ascribes to the *Kapilatantra* and other texts *(kapilatantrādau)*. This passage is also found at the end of N (see p.44).
*japavidhiś coktaḥ kapilataṃtrādau yathā | ācamya deśakālau saṃkīrtya | asya śrīkhecarīmaṃtrasya | kapila ṛṣiḥ khecarī devatā | gasanamaphalaghaṭākṣaraṃ bījaṃ | hrīṃ śaktiḥ si(f. 14v)ddhir anāyāse⌈na⌉ khecarīmudrāprasādasidhyarthe jape viniyogaḥ | atha nyāsaḥ | gaṃ hṛdayāya namaḥ | saṃ śirase svāhā | naṃ śikhāyai vaṣaṭ | maṃ kavacāya huṃ | phaṃ netratrayāya vauṣaṭ | laṃ astrāya phaṭ | hrāṃ hrīṃ hrūṃ hraiṃ hrauṃ hraḥ || atha dhyānam || ādhārapadmavana khecarirājahaṃsam aṃtar mahā-*

*gaganavāsavibhāpralekhaṃ // ānaṃdabījakam anaṃgaripoḥ puraṃdhrīm ābrahmalokajananīm abhivādaye tvām iti // anyac ca / mūlālavālakuharād uditā bhavānīty ābhidya ṣaṭsarasijāni śirodalāṃte // bhūyo pi tatra vasasīva sumaṃḍalemḍunispaṃdataḥ paramam amṛtapuṣṭirūpā // mānasopacārair laṃ haṃ yaṃ raṃ vaṃ saṃ bījapūrvair gaṃdhādibhiḥ saṃpūjya maṃtraṃ japed iti //* (f. 14r[10]–f. 14v[4]).

228 As remarked in note 196 I can only make sense of this verse by taking *abhyāsa* to refer to the tongue practice. If the *vidyā* has not been obtained then *abhyāsa* cannot mean mantra-repetition. I have been unable to conjecture how the verse might have originally read from the many variants in the witnesses. $\mu$'s *yadi* has been adopted over the reading *yathā* of most of the other witnesses because *yathā* is unlikely to be paired with the correlative *tataḥ* found in the second line. The relative clause found in all the witnesses except those of $\alpha$ has been eliminated by adopting $K_5$'s *na labheta* in 42d and, in 43a, the form *saṃmelakādau* found in $\mu GUT$ rather than the reading *sa melakādau* found in most of the other witnesses. A similar form is found at 2.15d: *devaiḥ saṃmelanaṃ bhavet.*

229 Ballāla (f. 18r[7–9]) recommends using the tip of the right thumb *(dakṣiṇahastāṃguṣṭhāgreṇa).* He explains this practice as a necessary part of *malaśodhana*, "the cleansing of impurity", and as useful in loosening the palate (f. 18v[1–2]): *jihvālāghavasya chedanasādhyatvam iva samudgharṣaṇapūrvakamalaśodhanasya bilalāghavakārakatvāt.* Witnesses AJ7T have *samutkṛṣya* for *samudghṛṣya*. While this may simply be a mistake, it could also refer to a practice not taught in the text but described to me by several of my informants and by Bernard (1982:67). In this practice the soft palate is loosened by being drawn forwards and upwards (hence *samutkṛṣya*), so as to facilitate the entry of the tongue into the cavity above. My informants said that the yogin should bend the thumb of the right hand and hook it behind the palate. Bernard was taught to use a bent teaspoon. Cf. *KhV* 2.78c–79b, 2.80.

230 *Euphorbia nerifolia* Linn. (Dash & Kashyap 1980:27). Ballāla (f. 18v[5]) explains *snuhī* with *snuhī kṣīrikaṃṭakivṛkṣaḥ yasya khaṃḍaṃ dākṣiṇātyāḥ ṣaṣṭhīpūjanadine dvāri sthāpayaṃti / deśīyāś ca thūhara iti vadaṃti* "Snuhī is the Milkthorn tree, part of which southerners place on their doors on the day of worship of the goddess Ṣaṣṭhī. Locally it is called *thūhara*". Nowadays most yogins recommend a razor blade. $W_1$ lists sixteen types of blade that can be used (see page 44). One of my informants said that a blade was not essential because by pulling the tongue forward and then moving it from side to side one can slowly scrape away the frenum with the lower teeth. The frenum or *fraenum linguae* is the tendon that binds the tongue to the floor of the mouth. See also 2.111 and note 233.

The practice of cutting the frenum can be dangerous and the majority of my informants said that it is unnecessary, including those who had done it themselves. Woodroffe (1992:209) says that cutting is unnecessary, and results in "a physical injury which interferes with the *[sic]* putting out and withdrawing the tongue without manual help." Of the several texts that describe the haṭhayogic *khecarīmudrā* only the *Khecarīvidyā*, the *Mahākālasaṃhitā* (*MKSG* 11.174–5), the *Haṭhapradīpikā* (3.33-5), the *Haṭharatnāvalī* (2.130–7) and the *Gheraṇḍasaṃhitā* (3.21) deem it necessary that the frenum be cut (see also *KhV* 2.111 where the frenum is

called *bandhamṛtyu*, "the fetter of death", and must be cut for freedom from death). The *Jogpradīpakā* (v. 12) says that there are two types of *khecarīmudrā*: with or without cutting. I have met two people (Dr. Thakur of Bombay and Mark Kidd of Cirencester) and heard of two others (Dr. Thakur's son and Mrs. J.Benson of Oxford) who are able to insert their tongues into the cavity above the palate without any preliminary physical exercise. Of course, to lengthen the tongue so much that externally it can reach the top of the head as described at 1.55d will require cutting. I have not met any yogins who have caused themselves serious problems through cutting the frenum, but two of my informants did have very pronounced lisps and I heard first-hand accounts of two yogins, an ascetic of the Caitanya Sampradāya called Svāmī Rāmānand (d. 1991) who lived at Kaivalya Dhām in Lonāvalā, Mahārāṣṭra, and a Rāmānandī Tyāgī from Jaipur, who both had difficulty in eating and talking as a result of their practice of *khecarīmudrā*. *Jogpradīpakā* v. 882 says that if done incorrectly, the cutting of the frenum can result in the loss of the ability to speak.

Ballāla (f. 18v$^{9}$–f. 19r$^{1}$) relates what gurus teach about the cutting process: *dakṣiṇahastasyāṃgulāṃgulanyūnasaṃyuktapūrvapūrvasthitatarjanīmadhyamānāmikābhir upary aṃguṣṭhena ca sruvavat dhṛtvā tataḥ ekāṃte dattakapāṭaḥ sāvadhānaḥ ekākī dhṛtādhobhājanaḥ tena dakṣiṇahastasthitaśastrasya madhyena saṃmukhaṃ pārśveṇa tiryak vā romamātraṃ keśapramāṇaṃ samu*(f. 19r)*chidet pratisomavāsaram iti guravaḥ | tasmin chinne raktam adhaḥ patati tat pūrvādhodhṛtabhājane saṃgṛhya tyajet | ⌈pṛthivyāṃ raktapatananiṣedhāt⌉* "Gurus say: [the yogin] should hold [the blade] like a sacrificial ladle with the thumb of the right hand above the index, middle and ring fingers, which should be joined together, each one below the next. Then in a solitary place, behind a locked door *(dattakapāṭaḥ?)*, carefully, alone, holding a vessel below [his face], with the middle of the blade held in the right hand, from the front, or the side, or obliquely, he should cut a hair's breadth every Monday. On cutting it blood flows. [The yogin] should gather it in a vessel held in front and below [the mouth] and get rid of it. ⌈Because of the prohibition against letting blood fall on the ground.⌉" The long *Haṭhapradīpikā* (witness $H_2$, v. 5.139 f. 99v$^{5-6}$) and its derivative the *Jogpradīpakā* (v. 615) say that the cutting should be done by one's guru, one's pupil, one's friend, one's guru-brother or oneself. $H_2$ adds (v. 5.143 f. 100r$^{2-3}$) *chedayed yo dayāhīno karaṃ tasya na kampate*, "If someone pitiless does the cutting, his hand will not tremble". GERVIS (1970:201–2) gives a first-hand account of a guru cutting his disciple's frenum.

231 The cut is rubbed with this powder to prevent it from healing: *chinnabhāgayor asaṃyogārthaṃ* (*BKhP* f. 19r$^{2}$). About *saindhava*, "rock-salt", Ballāla (f. 19r$^{2-3}$) writes *saiṃdhavaṃ lavaṇam asiddhaṃ tac cāṃtaḥ raktavarṇaṃ paṃjābadeśodbhavaṃ grāhyaṃ*: "*Saindhava* is unrefined salt. [The yogin] should use that found in the Punjab, which has a red colour inside." Ballāla (f. 19r$^{3}$) glosses *pathyā* with *laghuharītakī* (*Terminalia chebula* Retz. (MEULENBELD 1974:610), an ingredient in *triphalā*: see note 473 in *paṭala* 4) and adds *(ibid.)* that the *pathyā* and *saindhava* are to be used in equal amounts: *samo bhāgo 'tra vivakṣitaḥ*. To rub the powder into the cut, the yogin should use the tips of his index finger and thumb or just the tip of his index finger: *tarjanyaṃguṣṭhāgrābhyāṃ tarjanyagreṇa vā* (f. 19r$^{3-4}$).

The *Jogpradīpakā* includes *sūṭh*, dried ginger, in the list of powdered substances to be rubbed into the cut, adding that a thin thread should be kept under the tongue at all times in order to prevent the cut from healing and that the yogin should eat nothing but small quantities of rice and milk (vv. 618–621).

232 Those of my informants who did cut the frenum told me that it was to be done daily in order to prevent the cut from healing. Bernard (1982:67) cut his each morning. See also 1.54cd and note 243.

233 Ballāla (f. 19r$^{8-9}$): *rasanāmūlaśirābandhaḥ | rasanā jihvā tasyā mūle yaḥ śirārūpo nāḍīlakṣaṇo baṃdhaḥ | baṃdhanaṃ baṃdhaḥ jarāmṛtyusaṃsārarūpaḥ sa praṇaśyati | asya chedane punar api jananaṃ punar api maraṇam ityādi naśyati |* "The binding tendon at the base of the tongue: the bond at the base of the tongue which has the form of a tendon, which is like a vein, is bondage; that bond, which consists of the cycle of birth and death, is destroyed. When it is cut rebirth and redeath etc. are no more".

234 Ballāla (f. 20r$^{9-10}$) analyses *kālavelāvidhāna°* as a *dvandvasamāsa*. An addition in the margin at the top of f. 20v analyses it as a *tatpuruṣa*, as I have done. Ballāla interprets *kāla* as *prātaḥkālaḥ bhojanāt pūrvaḥ*, "in the morning, before eating" and glosses *velā* with *maryādā*, saying that the tongue should not be extended more than half a finger's breadth *('rdhāṃgulam eva)*.

235 "the tip of the tongue" *(vāgīśvarīdhāmaśiraḥ)* : Vāgīśvarī, "the goddess of speech", is Sarasvatī; her "abode" *(dhāman)* is the tongue (*BKhP* f. 19v$^{2}$).

236 None of my informants mentioned the use of a cloth but Bernard (1982:67) writes "I started by 'milking' the tongue. This was accomplished by washing it and then catching hold of it with a linen towel. Any sort of cloth can be used, but I found this to be the most convenient. When the tongue has become sufficiently dry, it can be handled with the bare hands; but the slightest bit of saliva makes it impossible to handle it without the aid of a piece of cloth". Ballāla (f. 19v$^{3-9}$) quotes *Yogabīja* 91–98 for a description of the cloth (on which see note 366).

Ballāla then describes three techniques to be used on the tongue: *cālana*, "moving", *dohana*, "milking", and *tāḍana*, "striking". He says at f. 20r$^{6}$ that although they are not mentioned in the *KhV* they need to be understood because they are a part of *utkarṣaṇa*, "drawing out [of the tongue]", *(utkarṣaṇāṃgatvāt)*. *Cālana* and *dohana* are mentioned at *HP* 3.32 which he quotes at f. 20r$^{7-8}$; cf. *SSP* 6.84. About *cālana*, in which the yogin uses his fingers to pull his tongue from side to side and round in circles in order to lengthen it, Ballāla writes (f. 19v$^{10}$–f. 20r$^{2}$): *tatra cālanaṃ nāma jihvādhobhāge kaṃṭhābhimukhadakṣahastāṃguṣṭhaṃ tathā tadupari tarjanīṃ dhṛtvā rasāṃ dṛḍhaṃ dhṛtvā krameṇa śanair vāraṃ vāraṃ sṛkviṇīdvayaṃ paryāyeṇa pīḍayet | evaṃ muhūrtadvayaparyaṃ⌈taṃ⌉ pratyahaṃ kāryaṃ | evam eva jihvāṃ dhṛtvā bhramaṇam api ⌈maṃḍalākāraṃ⌉ kāryaṃ tena sarvataḥ samā vivardhate iti |* Cf. *HPJ* 3.33: *cālanaṃ hastayor aṅguṣṭhatarjanībhyāṃ rasanāṃ gṛhītvā savyāpasavyataḥ parivartanam |* On *dohana*, another technique for lengthening the tongue in which the yogin rubs his tongue with *saindhava* and *pathyā* and milks it like a cow's teat, he quotes an author called Mohanadāsa (f. 20r$^{2-3}$): *jihvāṃ bahiḥ śvavan niṣkāśya tasyāṃ saiṃdhavapathyācūrṇaṃ saiṃdhavamaricacūrṇaṃ vā kṣiptvā dohayet gostanavat | tatprakāraś ca pūrvavat tarjanyaṃguṣṭhābhyāṃ tadūrdhvādhaḥ*

*sthāpitābhyāṃ karābhyāṃ paryāyeṇa dohanam iti.* Ballāla adds that this is to be done *svastikasiddhordhvīkṛtajānvāsanādau sthitvā*, "sitting in postures such as *svastikāsana, siddhāsana,* or one in which the knees are held up", and mentions that the practitioner will dribble a lot *(bahulālāpātaḥ syāt). Dohana* by means of a cloth is described at $H_2$ 5.152–161 (f. 100v[5]– f. 101v[1]); the *dohana* described at *Jogpradīpakā* vv. 624–634 is a thorough cleansing of the pharynx. Ballāla then describes the third process, *tāḍana*, which he explains thus (f. 20r[4–6]): *tato ghaṃṭikāṃ tāḍayet / ghaṃṭāśabdas tanmadhyalolakaparaḥ ghaṃṭālolaka iva jihvā ghaṃṭikā ivārthe kan / ghaṃṭālolako yathobhayato lagnaḥ san śabdaṃ karoty evaṃ balenordhvādho daṃtapaṃktau lagnā jihvā ity etat tāḍanam /* The tongue is said to be like the clapper *(lolaka)* of a bell and vice versa (cf. Chambers 1983:113, 231, 1360). It should be struck forcefully against the upper and lower rows of teeth. In 1996, at the Yoga Centre of Benares Hindu University, I met Dr. K.M.Tripāṭhī who demonstrated a technique in which the tip of the tongue is pressed against the front teeth and held there while the mouth is repeatedly opened wide and closed again. It is to be done at least a thousand times a day, he said, and the technique tugs on the *merudaṇḍa* causing Kuṇḍalinī to rise. Dr. Tripāṭhī told me that he had to give up this technique when he got married: householder practices that pull on the lower end of the *merudaṇḍa* are incompatible with the yogin's practice of tugging at the top. This is the only practice that I have come across in my fieldwork or other sources that resembles *tāḍana* in any way. Cf. *GBS* 219, 220 and *Jogpradīpakā* 867, 873–880, in which a single channel (identified with Suṣumṇā in the *Jogpradīpakā*) is said to join the tongue and the penis. The *Jogpradīpakā* passage associates the lengthening of the tongue with *laghutā*, "lightness" (="flaccidness"?), of the penis, the overcoming of sexual urges and the awakening of Kuṇḍalinī. On the connection between the tongue and Kuṇḍalinī, see also note 366.

237 "after regular drawing out" *(nityasaṃkarṣaṇāt)* : °*saṃkarṣaṇāt* seems the correct reading here, since it picks up the *utkarṣayed* of the previous line. $\mu$G*U*TSK$_6$ have variants on *saṃgharṣaṇāt*, "rubbing", (S, at f. 20v[3], has *saṃkarṣaṇāt* as an alternative reading). This is explained by Ballāla as *tadadhaḥśirābhāgasyādhastanadaṃtapaṃktau saṃmardanaṃ*, "rubbing part of the tendon below [the tongue] on the lower row of teeth". This method of wearing away the frenum was described to me by one of my informants (see note 230) but its inclusion here in the text seems forced: we have already heard how to cut the frenum; now we want to hear how to lengthen the tongue.

238 *Metri causa*, the edition here has *cibukaṃ mūlaṃ* rather than the semantically preferable but unmetrical *cibukamūlaṃ* found in S and M.

239 "Adam's apple" *(kaṇṭhakūpa°)* : Ballāla (f. 21r[3]) glosses *kaṇṭhakūpa* with *urasa ūrdhvabhāgīyo 'vaṭaḥ*, "the cavity at the upper part of the chest". However, I have translated *kaṇṭhakūpa°* as "Adam's apple" because it must be somewhere between the *cibukaṃ mūlam* of 1.51a and the *kaṇṭhabila* of 1.53d. *VS* 3.70c–71b locates the *kaṇṭhakūpa* six finger-breadths up from the heart and four below the root of the tongue. At 1.53d all the witnesses except $\mu$*U*F state that after six years the tongue reaches the *karṇabila*. This is clearly corrupt, for two reasons: firstly, we have already heard at 1.50d that after only six months it reaches the *karṇabila*;

secondly, 1.53c states that obliquely the tongue reaches the *cūlitala* so now we need a location below the mouth, not to the side. Thus at 1.53d I have adopted the reading *adhaḥ kaṇṭhabilāvadhi* of $\mu$*UF*.

**240** "the end of Suṣumṇā" *(brahmarandhrāntam)* : *brahmarandhra*, "opening of Brahmā", usually refers to either the region at the top of the Suṣumṇā *nāḍī* (*GŚ*$_N$ 16, *HP* 4.16, *ATU* 5, *VS* 3.39, *Śāktavijñāna* 16, *SSP* 1.66, 2.25, 2.26, 6.81, *ŚS* 5.134, *KAT* 5.107, *AM* 72.1; see also Silburn 1988:30–33) or the *nāḍī* itself (*HP* 3.4, *VU* 5.30, *VS* 2.17, 2.26, *ŚS* 2.18, *MaSaṃ* 17.13). I have translated it in the latter sense here and understand *brahmarandhrānta* to mean the region on the top of the skull corresponding to the *daśamadvāra*, "tenth door", mentioned in note 131. *SSP* 2.8, in a list of nine *cakra*s, locates the *nirvāṇacakra* at the *brahmarandhra*, above the *tālu*° and *bhrū*° *cakra*s (I have emended the edition's *bhū* to *bhrū*) and below the *ākāśacakra*. Rai (1982:194) says that according to the *Layayogasaṃhitā* the *brahmarandhra* is at the root of the palate (cf. *ŚS* 5.134–5 where it is said to be the opening of Suṣumṇā and is identified with the *sahasrārā cakra*). *ŚS* 4.22 and 5.159 (quoted by Ballāla at f. 24v[5]) locate it at the lower end of Suṣumṇā. Thus it seems that often *brahmarandhra* does not refer to a specific place but simply describes somewhere from which the yogin can reach Brahmā.

The stem form *brahma* found here and in many other compounds in the *KhV* is ambiguous: it can denote the deity Brahmā or the ultimate reality *brahman*. In tantric texts and early works of *haṭhayoga* it usually refers to the deity (as in the system of the three *granthi*s, *brahma*°, *viṣṇu*° and *rudra*°, at e.g. *HP* 4.70–76; cf. *KhV* 3.3b where *dhāma svāyaṃbhuvaṃ* is used as a synonym of *brahmadhāma*). The inherent ambiguity allows later authors to interpret such compounds in a Vedantic light: e.g. *HPJ* 3.106 where *brahmasthānam* is glossed by Brahmānanda with *brahmāvirbhāvajanakam sthānam*, "the place that reveals *brahman*". I have chosen to translate *brahma*° as Brahmā.

**241** "the region above the nape of the neck" *(cūlitalam)* : as far as I am aware, *cūlitala* occurs only in the *MaSaṃ* (9.24a), the *KhV* and derivative texts. From the evidence of 2.49–59 it appears to mean the region above the nape of the neck, on the same level as the forehead and temples. This meaning fits well with the context here. Ballāla (f. 21r[6–7]) agrees, taking *cūli* as a variant form of *cūḍā*, "the crown of the head", and *tala* as meaning "the area below": *tiryak cūlitalaṃ śikhādhobhāgaṃ yāti cūliḥ śikhā | śikhā cūḍā ity amaraḥ | ḍalayor abhedaḥ*. See also 2.18 and note 285.

**242** See note 239.

**243** "not all at once" *(yugapan na hi)* : Ballāla (f. 22r[3]) glosses *yugapat* with *ekasamayāvachedena*, "cutting [the frenum] all at once". One of my informants, Govind Dās Jī Mahātyāgī, did cut his frenum all at once. He told me that the cut bled a great deal but that otherwise he had no problems. See also 1.46–48 and the notes thereon. Ballāla adds (f. 22r[2–3]): *yady api abhyāsakāle kadā cid asvāsthyaṃ tadā taddine heyo 'bhyāso 'nyadine susthatāyāṃ kartavyo na jhaṭiti*, "if ill health should ever arise during the practice then it should be abandoned for that day and taken up on another day when good health has returned, not straight away".

**244** *brahmabila* is synonymous with *brahmarandhra* in its first sense (see note 240).

**245** "the bolt [of the doorway] of Brahmā" *(brahmārgalam)* : Ballāla (f. 22r[9]) equates the

*brahmārgala* with the *brahmadvāra*: *brahmārgalaṃ brahmamārgapratibaṃdhakaṃ rājadaṃtordhvadvāraṃ*, "the *brahmārgala* is the door above the uvula which blocks the pathway of Brahmā" (on the *rājadanta* see note 258). In the text, however, the two seem to be distinguished. The *brahmārgala*, "the bolt", is to be rubbed away for three years, after which time the tongue enters the *brahmadvāra*, "the door". 2.1a and 3.44 mention the *brahmārgaladvāra*, "the bolted door of Brahmā". In descriptions of the goddess Kuṇḍalinī she is often said to be asleep blocking the *brahmadvāra* at the base of Suṣumṇā and this is its usual location (*HP* 3.5, $GŚ_N$ 47, *YCU* 37, *ṢCN* 3 and 50). In the *KhV* the *brahmadvāra* is at the other end of Suṣumṇā, at the opening at the base of the palate.

1.55c–57b is puzzling. After a total of seven years the yogin is instructed to start rubbing at the *brahmārgala* so that after a further three years the tongue might enter the *brahmadvāra*. This is the first time in the section on the physical practice that the yogin is told to try to turn his tongue back. As I have noted at 1.46a it is possible to insert the tongue into the cavity above the soft palate without any preparation. So what is the internal destination for a tongue that externally can reach the crown of the head? The cavity above the soft palate is surrounded by bone so it would seem that however much rubbing the yogin may do there is nowhere else for the tongue to go. And why should the yogin wait so long before turning back his tongue? Are the verses that describe the extreme extension of the tongue so much *arthavāda*, designed to put off prospective *khecarīsiddhas*? Or did some yogins actually lengthen their tongues this much in displays of ascetic self-mortification? None of my informants had particularly long tongues yet most claimed that they had perfected the practice. I have heard of one yogin, Sampat Nāth of Ajmer, Rajasthan, whose tongue could reach his *bhrūmadhya* (personal communication from Robin Brown, 1996). No other text (except the *MKS* whose description derives from that of the *Khecarīvidyā*) claims that such extreme lengthening of the tongue is necessary to practise *khecarīmudrā*. *HP* 3.32 states *chedanacālanadohaiḥ kalāṃ krameṇa vardhayet tāvat* / *sā yāvad bhrūmadhyaṃ spṛśati tadā khecarīsiddhiḥ* // "By means of cutting, manipulation and milking [the yogin] should gradually lengthen the tongue until it touches the centre of the eyebrows. Then [there is] *khecarīsiddhi*." Cf. *KhV* 1.73ab, where the *siddhi*s brought about by means of the practice are said to arise between the eyebrows. The two other texts that deem the cutting of the frenum necessary for the perfection of *khecarīmudrā*, the *Haṭharatnāvalī* (2.130–142) and the *Gheraṇḍasaṃhitā* (3.21–22), also state that the tongue need only be lengthened enough for it to reach the region between the eyebrows. There is one ancillary benefit of lengthening the tongue: it can be used internally to control which nostril the yogin is breathing through, thus eliminating the need to use the hands during *prāṇāyāma*. This was reported to me by several of the yogins I met during my fieldwork and is described by Bernard (1982:68).

**246** It is hard for the gods to pierce "because they are intent on pleasure" *(bhogāsaktatvāt)* : Ballāla f. 22r[9].

**247** "the door of Brahmā" *(brahmadvāra)* : in the *Khecarīvidyā*, *brahmarandhra*, *brahmabila* and *brahmadvāra* seem to be synonymous (see notes 240 and 244). Kavirāj (1987:51) reports that in the *Vairāṭapurāṇa* the *brahmadvāracakra* is above the fore-

head but below the *brahmarandhra* in the cranium.

248 "churning" *(mathana)* : where the word *mathana* occurs in the text (1.57–63, 2.101–104), witnesses $\mu$SM occasionally, but not consistently, read *maṃthana*. This reflects the two forms that the root can take: $\sqrt{math}$ and $\sqrt{manth}$ (Whitney 1988:117).

249 Ballāla (f. 23r[3–4]) explains that the thread is passed through a small hole in the probe, like that in a needle: *tena* ⌈*sūcyām iva*⌉ *śalākānuchidre protenety arthaḥ* |.

250 It is not clear to me how this practice is to be carried out. Ballāla adds little to what is found in the text, thereby indicating that he too is unfamiliar with the practice. In his commentary on 2.101 (f. 58r[4]) he explains the purpose of practising *mathana* as *sarvamalaśodhanārtham*, "to cleanse away all impurity". This is clearly not the main aim of the practice since 1.64 says that *mathana* brings about *saṃsiddhi* and identification of body and self with the universe. In the *Khecarīvidyā*, it appears that after the probe is inserted into the nasal cavity it is to be moved about by the tongue, which has entered the cavity via the palate. The word *mathana* usually refers either to the rubbing of wood to produce fire, particularly in a sacrificial context, or to the churning of milk to produce butter. It is used in this second sense in the archaic myth of the churning of the ocean of milk by the *deva*s and *asura*s (*MBh* 1.17–19; cf. *SYM* 21.7, 22.36; see also Gonda 1965:61). Both senses of the word seem applicable here. Firstly, at *KhV* 2.72–75 the yogin is instructed to churn the circle of fire *(mathitvā maṇḍalaṃ vahneḥ)* at the base of the tongue *(jihvāmūle)* and thereby melt the orb of the moon into *amṛta* (cf. *HP* 3.48). Monier-Williams [1988:s.v.] reports that *śalākā* can mean "a match or thin piece of wood (used for ignition by friction)". Secondly, when the ocean of milk was churned, *amṛta* was among the fourteen items that were produced. No yogin that I have met practises *mathana* as described here but Dr. Ṭhākur of Mumbai did describe how during his practice of *prāṇāyāma* and *khecarīmudrā* his tongue would involuntarily start to "bang away like a drill going into a hole".

The *Jogpradīpakā* has the most coherent description of the haṭhayogic *mathana* and describes two varieties. In the first (v. 642) the yogin is to rub the *śivaliṅga*, which is also the *agnisthāna*, at the root of the palate with his thumb three times a day. In the second (vv. 643–653), the yogin is to use a metal peg *(kīla dhātamaya)* to churn, purify and produce *amī* (=*amṛta*) at four places: *ambikā*, the frenum, *lambikā*, the tongue, *tālu*, the palate and *ghaṇṭikā*, the uvula. These four places are said to be the teats of Kāmadhenu (v. 651). Cf. the *Vairāṭapurāṇa*, which locates an *amṛtacakra* in the upper part of the forehead from which "nectar is constantly flowing. This place is described as the abode of the Gāyatrī named Kāmadhenu (the 'wish-giving cow') figured like a milch-cow with four teats, viz. Ambikā, Lambikā, Ghaṇṭikā and Tālikā" (Kavirāj 1987:50). The *Amaraughaśāsana*, describing practices akin to the haṭhayogic *khecarīmudrā*, mentions *kalāpamathana*, "tongue churning", (p.2 l.10, l.13). It says that the practice brings about *nāḍīmukhojjṛmbhaṇam*, "opening of the mouth of the *[śaṅkhinī] nāḍī*", but does not go into detail. *MaSaṃ* 27.7 describes massaging the body with a preparation which has among its ingredients *amṛta* that is *mathanaja*, "produced by churning", and *brahmarandhravinirgata,* "issued forth from the aperture of Brahmā" (see note 328). At *SSP* 2.8 the *nirvāṇacakra*, which is

situated at the *brahmarandhra*, is described as *sūcikāgravedhya*, "to be pierced with the tip of a needle"; this, however, sounds more like cranial trepanning than the practice of *mathana* described in the *Khecarīvidyā*. The *SSP*'s reading °*vedhya* is uncertain. A variant °*lekhaṃ* is found in one witness. The passage also appears at *Saubhāgyalakṣmyupaniṣad* 3.8 where we find *sūcikāgṛhetaraṃ* and a paraphrase at *ŚP* 4359 reads *sūcikāgrābham*. Abhinavagupta (*TĀ* 5.22–24) describes an internal *mathana* in which *apāna* and *prāṇa* are churned to force the breath upwards into Suṣumṇā and ignite *udāna*. In one of the earliest textual references to Kuṇḍalinī, the c. eighth-century CE *Tantrasadbhāva* 1.214c–228d (NGMPP reel No. A188/22; the passage is quoted by Kṣemarāja *ad Śivasūtravimarśinī* 2.3 and Jayaratha *ad TĀ* 3.67) describes a technique whereby Kuṇḍalī is awakened through the churning of *bindu*. *KMT* 12.60–67 describes a *mathana* at the *maṇipūra* centre, in which the churning of a *liṅga* in a *yoni* results in *ajñānamalanāśana*, the kindling of *jñānāgni*, a bliss like that generated in sexual intercourse and, finally, *amṛta*, with which the yogin is to visualise his body being flooded. On the *Khecarīvidyā*'s corporealisation of these subtle practices, see page 27.

**251** In the texts of *haṭhayoga*, the *jīva* is the vital principle, entering the fetus at the moment of conception (*SSP* 1.68) and leaving with the body's final exhalation (*YCU* 90). It moves about the body, propelled by the breath ($GŚ_N$ 38–39), unless restrained by means of *prāṇāyāma* ($GŚ_N$ 40–41). Ballāla (f. 23r[10]) glosses *jīva* with *prāṇa* which seems to be an oversimplification: $GŚ_N$ 37 describes the ten *vāyus* as flowing through the *nāḍīs* while "having the form of the *jīva*" *(jīvarūpinaḥ)*. Cf. *ŚP* 4317. See also *KhV* 3.34-46, *VS* 5.4–7, *ŚS* 2.39–53, *ŚP* 4503–4504, *TŚBM* 60-62b, *KJN* 6.1–14 and *YBD* 3.253–293 for descriptions of the workings of the *jīva*.

**252** Ballāla (f. 23v[8]) says that churning is not meant to be done constantly "because it is very difficult" *(kaṭhinataratvāt)*.

**253** BERNARD (1982:68) reports that he kept his tongue in the cavity above the soft palate at all times, removing it only "to speak, eat, or engage in some other activity that made its position inconvenient". Cf. *KJN* 6.25c–26d, *GhS* 3.7. Lāl Jī Bhāī told me that *khecarīmudrā* should be practised for two to three hours a day.
The "pathway" is the pathway mentioned at 1.65a.

**254** Ballāla (f. 24r[3–8]) understands this to mean twelve years from the time of first cutting the frenum, thus equalling the time needed to achieve *siddhi* mentioned at 1.70. He reckons the various stages of the practice up to the perfection of *mathana* to total eight and a half years (in my edition they total ten and a half years), thus leaving three and a half to wait for *saṃsiddhi*. The *Jogpradīpakā* (v. 613) also teaches twelve years as the amount of time needed to master *khecarīmudrā*.

**255** Cf. *AY* 1.95ab: *brahmāṇḍaṃ sakalaṃ paśyet karastham iva mauktikam*, "he sees the entire universe like a pearl in [his] hand"; see also *KJN* 14.62–65.

**256** "the great pathway" *(mahāmārga)* : this refers to the top of Suṣumṇā (cf. *HP* 3.4 where *mahāpatha* is given as a synonym of Suṣumṇā).

**257** "in the skull" *(brahmāṇḍe)* : in the *KhV brahmāṇḍa* means "skull" rather than the more usual "macrocosm"; see 2.36, 2.42, 2.67c–68b, 3.16–17d; cf. *ṢCN* 53d; *AM* 8.1, p.109; *ŚS* 1.51, 1.95, 1.97, 1.99, 2.5, 2.37, 3.9, 5.191 (in which the physical

body is called *brahmāṇḍa*); *GBS* 217; *Kathāsaritsāgara* 2.15; Shea & Troyer (1843: 132) "the seventh region is that of the head, which is called by the Hindus *brahmāṇḍa*". Ballāla (f. 24r[9]), however, takes it to mean "macrocosm". Later Sanskrit and haṭhayogic works have a system of 21 *brahmāṇḍa*s in (and above) the head. See *GBP* 19.0 and the *Vairāṭapurāṇa* (Kavirāj 1987:52). At *TĀ* 4.133cd *brahmāṇḍa* (understood to mean the universe by Jayaratha *ad loc.*) is said to arise from the *sahasrāra cakra* at the top of the head.

**258** "in the region above the uvula" *(rājadantordhvamaṇḍale)* : the Royal Tooth *(rājadanta)* is the uvula. *SSP* 2.6 locates it at the *tālucakra*, equating it with the *ghaṇṭikāliṅga*, the *mūlarandhra* and the "tenth door" *(daśamadvāra)*, which is the opening of the *śaṅkhinī nāḍī* (on which see note 131). Ballāla interprets *rājadanta* in two ways: firstly (f. 24v[1–3]), it is the microcosmic equivalent of the macrocosmic Prayāgarāja; he thus seems to be putting it in the same place as *trikūṭa* (see note 259) when the text clearly states that it is below *trikūṭa*. Perhaps *trikūṭa* can be thought of as a peak above the confluence. Secondly, "some say" *(ke cit)*, in the body the *rājadanta* is the uvula (f. 24v[11]–f. 25r[1]): he describes it as a hanging piece of flesh *(māṃsalolakaḥ)* in the area above the root of the tongue *(jihvāmūlordhvabhāge)* like the clapper of a bell *(ghaṃṭālolakavat)*—cf. note 236. See also 2.29cd, 3.16c–17b and *AŚ* pp.10–11, *GŚ*$_N$ 147, *HP* 1.46, 3.21, *ŚS* 3.84, *KJN* 6.23, *KMT* 9.82, 23.167. *Taittirīyopaniṣad* 1.6.1 calls the uvula *indrayoni*, "the source of Indra".

**259** "the Three-peaked Mountain" *(trikūṭam)* : this passage and 3.16–17 locate *trikūṭa* between the eyebrows; a variant reading at *SSP* 6.81 locates it at the *brahmarandhra*; see also *KhV* 2.81c, *SSP* 3.5, *YV* 20 (≃ *BVU* 73), *AM* 85.2, *GBP* 11.2. *MBh Sabhaparvan* 2.39.11cd implies that *trikūṭa* is in the forehead: *lalāṭasthāṃ trikūṭasthāṃ gaṅgāṃ tripathagām iva*; *MBh Bhīṣmaparvan* supplement 6.3.88 locates it at the base of the palate: *tālumūle ca lampāyāṃ trikūṭaṃ tripathāntaram.* Ballāla (f. 24v[1–4]) continues the theme of micro°/macrocosmic equivalence and takes *mahāmārga* to mean the rivers Gaṅgā, Yamunā and Sarasvatī. Thus *trikūṭa*, where the Iḍā, Piṅgalā and Sarasvatī *nāḍī*s meet, is the bodily equivalent of the confluence of the three rivers, the *triveṇīsaṅgama*, located at Prayāgarāja (the modern-day Allahabad). He explains *trikūṭa* as meaning *trayāṇāṃ mārgāṇāṃ kūṭaṃ*, "the peak of the three ways" (f. 25r[5–7]). At f. 25r[3–4] he cites *ŚS* 5.132, where the conjunction of the three *nāḍī*s is equated with the confluence in Vārāṇasī of the Gaṅgā with the Varaṇa and Asi rivers.

At f. 25r[7–8] he cites a list of esoteric centres which he ascribes to the *Kapilagītā* of the *Pādmapurāṇa*: *trikūṭaṃ śrīhaṭhasthānaṃ golhāṭaṃ auṭapīṭhakaṃ // pūrṇādri* (corrected in the margin from *puṇyādri*) *bhrāmarīguṃphā brahmarandhram anukramād iti.* In the margin of f. 25r is a quote attributed to Gorakṣa in which *trikūṭa* is located at the mouth: *asyārtho gorakṣeṇa darśito yathā // mukhaṃ trikūṭam ākhyātaṃ pṛthvītatvam ācāraliṃgaṃ ṛgveda[ḥ] brahmadaivatam īśvaraṃ pītavarṇaṃ jāgrad-* (*em.* Isaacson & Goodall; jāgṛd S)*avasthā sthūladeha[ṃ] iti / śrīhaṭhasthānaṃ rasanā'pastatvaṃ guruliṃgaṃ yajurvedaḥ svapnāvasthā viṣṇur deva[ḥ] śvetavarṇaṃ tatvam iti / golhāṭaṃ tu nayanasthānaṃ tejastatvaṃ śivaliṃgaṃ sāmavedaṃ suṣuptāvasthā rudradevaṃ raktavarṇaṃ trimātrādehasaṃbhavam iti / pūrṇapīṭhaṃ ca nāsikauṭhapīṭhasaṃjñakaṃ / pādatatvaṃ ṛṣir vāyur jaṃgamaliṃgaṃ (em.* Isaacson

& Goodall; *jaṃgamaṃ liṃga*° S) *daivataṃ / atharvavedaṃ (em.; atharvedaṃ* S) *turīyā ca oṃkāraṃ nīlavarṇakam iti / puṇyādrir (em.; puṇyādir* S) *merur ity arthaḥ / bhrāmarīguṃphā śrotrasthānaṃ ākāśa ṛṣiḥ prāsādaliṃgaṃ sūkṣmavedakaṃ unmanī śivaliṃgaṃ kṛṣṇavarṇam iti / brahmaraṃdhre sahasrāre daśamadvāre sarvatatvaṃ tanmātrāśabdasparśādipaṃcakaṃ // caitanyaṃ sūkṣmadehaṃ ca parabrahmātmakaṃ mahad iti /*. I have been unable to find this passage in any other text. It is the most detailed description of these esoteric centres and their locations that I have come across. This system is usually found only in texts from the Marāṭhī-speaking region: a similar, but less detailed, passage is found at *AM* 42; see also *AM* 55.2, 63.2; *SSP* 2.27, 6.81–82; *YV* 20–21; *VD* 10. Some lists of *śāktapīṭhas* in Sircar (1998:s.v.) include Trikūṭa, Śrīhaṭha and Pūrṇagiri, while the goddess Bhrāmarī is associated with a *pīṭha* called Janasthāna whose microcosmic location is the chin. (As Alexis Sanderson has suggested to me, Janasthāna may well be wrongly written for Jālasthāna (=Jālandhara).) The *brahmarandhra*'s macrocosmic location is Hiṅg Lāj in Baluchistan. Of the bodily centres listed in the *BKhP*'s citations quoted above, only *golhāṭa* and *auṭapīṭha* are not listed by Sircar (1998) as geographical locations. Sanderson has suggested that they are variant spellings of *kollāṭa* (=Kolhāpur ?) and *auḍapīṭha* (=Oḍḍiyāna). A bodily centre called *gollāṭamaṇḍapa* is mentioned at *SSP* 2.27 with variants *kolhāṭa* and *kollāṭa*. The tentative identification of Kollāṭa with Kolhāpur is supported by a description of female Maharashtrian entertainers called Kolhāṭanīs by Sontheimer (1989:236).
A work entitled *Trikūṭārahasya* in the MS collection of the Bodleian Library (Chandra Shum Shere e.83(4)) describes tantric ritual of the Śrīvidyā tradition.

**260** *Jogpradīpakā* 651 compares the uvula *(ghaṇṭikā)* to a chickpea sprout.

**261** See *Kathāsaritsāgara* 34.69–73 and 56.212 for descriptions of *khanyāvādī* and *bilavādī* Pāśupata ascetics.

**262** "the science of controlling the earth" *(mahīvāda)* : Alexis Sanderson suggested this emendation. *Mahīvāda* is not found in lists of magical sciences, but a synonym *kṣetravāda* (whose meaning is never explicitly stated) is mentioned in Śaiva sources among the *mantravādas* (see e.g. *Śivadharmottara,* Wellcome Institute for the History of Medicine, London, South Asian MS Collection, No. 16, f. $3r^7$–f. $3v^3$, and *JRY* 1.45.150–151a (NAK 5-4650, f. $161v^3$)). Most of the witnesses of $S\alpha\beta\gamma$ have °*mahāvāde* (interpreted as a vocative by Ballāla at f. $26r^1$) which seems corrupt. *Rasārṇava* 1.44 gives a hierarchy of *siddhis*: *khanya*° (a variant found in witness M; the edition has *khaga*°), *bila*°, *mantra*° and *rasa*°. The emendation of *mahīvāda* to *mantravāda* would, however, be unmetrical. $K_2$'s *svarṇādidhātuvādāni*, "the sciences of metals such as gold etc.", for the whole *pāda* is noteworthy but most probably a scribal emendation.

**263** Many of my informants told me that the practice of *khecarīmudrā* enables the yogin to go without food and water, a skill necessary for extended periods of *yogābhyāsa*; this is also stated at $GŚ_N$ 65 (=*HP* 3.38), *AŚ* p.2 l.3, *GhS* 3.24, *ŚS* 3.93, 5.60 and by Bernard (1982:68). An addition in the margin of S (f. 21r) quotes *Yogasūtra* 3.29 which suggests early origins for this idea: *kaṇṭhakūpe kṣutpipāsānivṛttiḥ* "[*saṃyama*] upon the hollow of the throat [brings about] the suppression of hunger and thirst". Cf. The passage from the *Suttanipāta* (p. 138, vv. 716–718) cited on pp. 18–19 of

the introduction and note 425 on extended *samādhi*.

Ballāla understands *vratasthaḥ* to mean "living as a *brahmacārin*", i.e. practising celibacy: *guptemdriyasyopasthasaṃyamaḥ* (f. 27r[2]).

**264** This odd-sounding assertion probably means that the *siddhi*s only arise as a result of the mental and physical practices which are focussed on the region between the eyebrows (cf. 1.66b). This emphasis on the importance of the region between the eyebrows contradicts 1.50a–55d, where the tongue is to be lengthened until externally it reaches the top of the skull (see note 245), suggesting that the two passages were not composed together.

At 2.22cd the *somamaṇḍala* is said to be between the eyebrows; this verse may be referring to that place.

**265** "in the ether" *(ākāśe)* : here *ākāśa* means the cavity above the soft palate. See page 28 of the introduction. Cf. *JRY* 4.2.157a, *MVUT* 21.2, *TĀ* 3.137–140, *AM* 67.1, *GBS* 23; see also White 1996:240–242. The *Khecarīvidyā*'s subtle physiology does not include a system of bodily voids such as those found in some texts of Śaivism and *haṭhayoga* (on which see Vasudeva 2004:263–271).

**266** There is disagreement both between the witnesses of the *KhV* and between other haṭhayogic texts over whether or not the teeth should be clenched during the practice. Witnesses A and K3, and *TŚBM* 92 and 146 say that they should not; all the other witnesses, *Mahopaniṣad* 5.75 and *ŚS* 3.87 say that they should. Clenching the teeth is the preference of the more ascetic tradition—it is mentioned in the passages from the Pali canon cited in the introduction (pp.17–19) and is consistent with the ideas of effort and force implicit in the name *haṭhayoga*. Not clenching the teeth is favoured by the tantric tradition: cf. *KMT* 23.161c (see page 23 of my introduction). In instructions for physical postures to be adopted during *sādhana* (but not specifically connected with *khecarīmudrā*) *Mṛgendratantra yogapāda* 19c, *Sarvajñānottaratantra yogapāda* 12a (see Vasudeva 2004:398 n.77) and *JRY* 4.2.683c instruct the *sādhaka* not to touch his teeth with his teeth.

**267** "making the mouth [like] the hollow of a crow's beak" *(kākacañcupuṭaṃ vaktraṃ)* : during the practice fluid gathers in the mouth. By pushing out the lips into the shape of a bird's beak there is more room for fluid to collect. In the haṭhayogic practice of *jālandharabandha* (described at *GŚ*$_N$ 62–63, *HP* 3.70–72, etc.) the throat is constricted by letting the head hang forward. The fluid dripping from the moon is thus diverted into the mouth and prevented from falling into the solar region at the stomach (hence the suitability of the name of the practice, *jālandhara*, which can be interpreted as a *vṛddhi* derivative from *jalaṃdhara*, "holding water"). *Jogpradīpakā* 886–889 describes a *jālandharabandha* in which the tongue is placed in the middle of the *trighaṃṭī*, the three sets of orifices at the nostrils, eyes and ears. *Vivekadarpaṇ* 10 mentions the *kākīmukhī* attitude in connection with *jālandharabandha*. Instructions to make the mouth like a bird's beak when practising *khecarīmudrā* are also to be found at *JRY* 4.2.157, *KhV* 3.25, *GŚ*$_N$ 139, *ŚS* 3.85, *GhS* 3.66.

**268** Ballāla (f. 27r[10]) glosses *khecaratvam* with *devatvam*: he does not equate *khecaratva* with the ability to fly. See note 113 in the introduction.

**269** "all the magical powers" *(siddhi†samayam†)* : the meaning of *samayam* here is not

clear. It is tempting to emend °*samayam* to °*santānam* (cf. *KhV* 2.70a). However, Ballāla (f. 28v[7]) reads *siddhasamayaṃ* (he glosses it with *jhoṭiṃgādivīrādibhūtapretādi* and understands the verse to mean that the *sādhakottama* can quickly get control over all these beings), and I have found three instances of the compound *siddhisamaya* in Buddhist tantras—*Guhyasamājatantra*, prose section after 17.25: *kāyasiddhisamayavajram* (I am grateful to Harunaga Isaacson for providing me with this reference); *Saṃvarodayatantra* 18.30: *siddhisamayasaṃvaraḥ*; *Kṛṣṇayamāritantra* p. 100: *tathāgatasiddhisamayaḥ*.

A marginal note in S (f. 27v) adds that all these *siddhi*s are described in the *Dattātreyatantra* and other texts *(dattātreyataṃtrādau)*.

270 *Pādukāsiddhi* gives the yogin sandals that enable him to go wherever he wishes. Ballāla (f. 27v[1–2]) says that this *siddhi* is explained in the *Nāgārjunatantra* and the *Tantrarāja*, and that the sandals can be used to cross water and travel long distances. *MaSaṃ paṭala* 30 (MS A f. 70v[6]–f. 71r[8]) describes *pādukāsiddhi* : the *sādhaka* is to make sandals out of various precious metals, go to a cremation-ground, drink alcohol and repeat a *saptakūṭamantra* one lakh times. The sandals will thus be empowered by the Yoginīs of the cremation-ground. Cf. *Kulacūḍāmaṇitantra* 6.25c–26b, Robinson 1979:258. *Tantrarājatantra paṭala* 17 describes the mantras and effects of sixteen *siddhi*s, including *pādukā*, *khaḍga*, *vetāla*, *añjana*, *ceṭaka* and *yakṣiṇī*.

271 *MKSK paṭala* 6 (pp.52–54) describes *khaḍgasiddhi* : by means of mantras, an offering of his own blood, and, if possible, a human sacrifice *(narabali)*, the *sādhaka* empowers a sword to guarantee him victory in any battle. Cf. *Kulacūḍāmaṇitantra* 6.26c–33d.

272 "power over zombies" *(vetālasiddhi)* : Ballāla (f. 27v[3]) explains this *siddhi* as *piśācavaśitvam*, "control over ghouls". *MaSaṃ paṭala* 32 (MS A f. 74v[8]–f. 75r[11]) describes *vetālasiddhi* : the *sādhaka* should drink alcohol, repeat a *saptakūṭamantra* one lakh times and make a *tarpaṇa* offering of goat's blood. If performed correctly, a *vetāla* appears and becomes his lifelong servant. Cf. *Kulacūḍāmaṇitantra* 6.19a–25b.

273 Realgar *(manaḥśilā)* is red arsenic, an ingredient in elixirs: see e.g. *KhV* 4.9. *Picumata* 46.57 (NAK MS No. 3-370, f. 224v) includes *manaḥśilā* in a list of *siddhi*s, and a Buddhist Kriyātantra, the *Amoghapāśakalparāja*, describes how *manaḥśilā*, when applied to the eyes, can make the wearer invisible and able to move in the ether: *manaḥśilā añjanaṃ vā parijapya akṣiṇy añjayitvā tato 'ntarhito bhavati. ākāśena parikramati* (pp.2–3). Cf. *Kāmasūtra* 7.2.46, in which it is said that if one coats one's hand with the faeces of a peacock that has eaten *haritāla* and/or *manaḥśilā* and touches something, it becomes invisible. I am grateful to Alexis Sanderson for providing me with these references.

274 *MaSaṃ paṭala* 35 (MS A f. 78r[11]–f. 81r[9]) gives instructions for *añjanasiddhi* : after a mantra-repetition and visualisation, various recipes are given for the preparation of the ointment *(añjana)* whose ingredients include herbs, honey and, in one concoction, mercury. By applying this ointment to the eyes, the *sādhaka* "sees everything" *(sarvaṃ paśyati)*. Cf. *MKSK paṭala* 6 (p.55), *Kulacūḍāmaṇitantra* 6.34–39. Ballāla (f. 27v[4]) says that this *siddhi* has been described in the *Nāgārjuna* and *Dattātreya* Tantras.

275 *Vivarasiddhi* is similar to the *bilasiddhi* mentioned at 1.68c. Ballāla (f. 27v$^{4-6}$) glosses it with *bhuvas tatsādhanaṃ* and explains it as the ability to enter ponds, wells, tanks, caves and ditches, and retrieve treasure therefrom.

276 *Ceṭaka*s and *yakṣiṇī*s are genie-like male and female servants respectively. Ballāla (f. 27v[8]) describes *ceṭakasiddhi* as *parapreṣyakāritvam*, "the power to enslave others". He says that the best slave is the *gaṇeśaceṭaka* and gives his mantra. ($\mu$'s reading for *ceṭakam*, *kheṭakam*, "shield", may be original.) *Yakṣiṇī*s are usually associated with Kubera and can bestow wealth and sexual favours (see e.g. *KSS* 37.64–83, *BKhP* f. 28v[1]–f. 28v[5]). *MaSaṃ paṭala* 34 (MS A f. 76r[1]–f. 78r[10]) describes *yakṣiṇīsiddhi*: by means of a *trikūṭa* and other mantras, and a visualisation of the goddess, the *sādhaka* gets *yakṣiṇīmelaka*. Ballāla (f. 27v[10]–f. 27r[1]) gives a *yakṣiṇīsiddhimantra* and says that according to the *Nāgārjuna* and *Dattātreya* Tantras there are thirty-two *yakṣiṇī*s.

The syntax of this list of *siddhi*s is odd. 1.75cd is a plural *dvandva* compound while 1.76ab lists its *siddhi*s one by one. G omits 1.75cd, suggesting that the line may be a later addition to the text. Some of the witnesses seem to have attempted to split 1.75cd into separate elements, but it is metrically impossible to alter °*khadgavetāla*° to *khadgo vetālaḥ*.

277 The basic meaning of *kalā* is "a part", especially "a sixteenth part of the moon" (e.g. *Bṛhadāraṇyakopaniṣad* 1.5.14; see Gonda 1965:115–130). The moon waxes and wanes in periods of fifteen days; each day it gains or loses one *kalā*. The sixteenth *kalā* is the *amṛtakalā* (*SSP* 1.63; cf. *ṢCN* 46) which never dies, even at the dark of the moon. (Some tantric texts add a seventeenth *kalā*; see e.g. *TĀ* 3.137, Jayaratha *ad TĀ* 5.63–64, *Parātrīśikāvivaraṇa* 35.) Many texts also describe the *kalā*s of the sun and of fire (e.g. *KAT* 6.37–40, *SSP* 1.63–65, *GBS* 89). The moon's association with *soma* and *amṛta* has led to all of its *kalā*s being thought of as containing *amṛta*, and it is in the sense of a store of *amṛta* that the word *kalā* is used in the *Khecarīvidyā*. *Kalā* can also mean "tongue" (e.g. *HP* 3.33) and, in tantric descriptions of the phonematic emanation of reality, "vowel" (*TĀ* 5.63–64; Padoux 1990a:89–91). See also note 311; White 1996:36–44.

278 The four aims of man are *kāma, artha*, *dharma* and *mokṣa*. See 2.3–6. Cf. *KJN* 5.31, 8.41.

279 I have been unable to find parallels of this list of *kalā*s in other texts.

280 Thus *mokṣa* (see 2.1) is equated with *parameṣṭhīnām ādhipatyam*, "dominion over the highest gods" and subordinated to the end described in the next verse: becoming Śiva, liberated while living.

281 The witnesses here are unanimous in reading *dvādaśābdam*, "for twelve years", or corruptions thereof. One would, however, expect a word meaning "for twelve months" rather than "for twelve years" because of the passage at 2.10–17, in which are listed the rewards obtained each month from drinking the *parāmṛta* in the *brahmarandhra* over a period of a year, culminating in the attainment of Śivahood.

282 For *saha saṃvartate* G has *sadā saṃveṣṭito*: rather than merely associating with the beings listed, the yogin is forever surrounded by them.

283 Cf. *GBS* 138: *parcay jogī unman khelā ahanisi iṃchyā karai devatā syuṃ melā*, "the yogin in the *paricaya* state plays in *unmanī* day and night, and meets with deities

at will".

284 *Jogpradīpakā* 638–640, in a section on *praveśana* (see *Khecarīvidyā* 2.105), lists the rewards of placing the tongue at the *brahmavivara*: after one month the *nāḍīs* are purified, after two months the yogin hears the *anāhata nāda* (Hindī *anahad nād)*, after three months the body has a divine radiance, after four months the yogin has long-distance hearing, after five months the mind becomes like that of a child and after six months the yogin assumes the form of Śiva.

285 Kedāra is located between the eyebrows in *HP* 3.23 and *Darśanopaniṣad* 4.48, but *KhV* 2.49–56 clearly indicates that the *cūlitala* is at the back of the head, above the nape of the neck (see also note 241). The description at 2.22 of a further set of *kalās* at the *somamaṇḍala* between the eyebrows confirms that the *KhV*'s Kedāra is not located there. WHITE (1996:245–246) describes parallels between the site of the Himalayan shrine of Kedārnāth and the subtle body of haṭhayogic physiology.

286 On the connection between *amṛta* and Soma, see note 277, DASGUPTA 1976:250–1 and GONDA 1965: ch. 2.
Instead of *vīravandite*, "o you who are worshipped by the extreme adepts", $S\beta\gamma$ have the *aiśa* sandhi form *'maravandite*, "o you who are worshipped by the gods". This is the only occurrence of an *aiśa* form in the *KhV* manuscripts being found in a correct form in $\mu$. I suspect that this is because of an attempt to get rid of *vīra*°, a word that has strong connotations of left-hand tantrism. Cf. 2.110d, where almost all the witnesses read *saṃsthitā vīravandite*; only G has *saṃsthitāmaravandite* (in which the sandhi is correct).

287 The names of the next sixteen *kalās* that are listed (eight at Kedāra, four at the *somamaṇḍala*, three at the *khecaramaṇḍala* and the first of the two at the *rājadanta*) match exactly the sixteen *saumyakalās* listed at *Kulārṇavatantra* 6.37–38 and the lunar *kalās* listed in a quotation from the *Merutantra* in the third *taraṅga* of the *Puraścaryārṇava* (p. 215; in this list Puṣṭi and Tuṣṭi are transposed). In Amṛtānanda-nātha's *Dīpikā* on *Yoginīhṛdaya pūjāsaṃketa* 104–105 he lists sixteen *saumyakalās*: Amṛtā, Mānadā, Pūṣā, Puṣṭi, Prīti, Revatī, Hrīmatī, Śrī, Kānti, Sudhā, Jyotsnā, Haimavatī, Chāyā, Sampūritā, Rāmā and Śyāmā. MONIER-WILLIAMS (1988:s.vv.), at the entries for each of the names of the eight *kalās* here located at the *khecara-maṇḍala,* says that they are (in the same order) the names of the *kalās* of the moon as described in the *Brahmapurāṇa*, but I have been unable to locate any such passage in that work.

288 In this and subsequent descriptions of groups of *kalās*, it seems that the yogin should spend a month tasting the *amṛta* at each *kalā* because the rewards to be gained are obtained after the same number of months as *kalās* at that particular *kalāsthāna*.

289 The Orb of Soma *(somamaṇḍala)* probably refers to the moon: the names of the *kalās* here have particularly lunar connotations; furthermore, in the Kaivalyadhām edition of the $GŚ_N$ the moon is called *somamaṇḍala* in verse 56 (KAIVALYADHĀM 1991:314). *MKSG* 11.997 mentions a *mahācakra* called Soma above the forehead. *MVUT* 16.13 and *VS* 4.41 locate the *somamaṇḍala* at the heart.

290 *samāpibet*: the reading *samāviśet* found in almost all the witnesses seems odd, particularly after *samāveśya* earlier in the line. I have thus adopted SANDERSON's

conjectural emendation *samāpibet*. One could understand *samāviśet* to mean "the yogin should enter [*samādhi*]" but there are no similar constructions elsewhere in the text. Ballāla (f. 32v$^{9}$) understands *samāviśet* to mean that the yogin should remain with his tongue in place: *praviśyaiva sthito bhavet*.

**291** I have conjectured *yogī* for the first word of 24c where G and the *KhV* manuscripts have *devi*. Nowhere else in the text does a vocative start a half-verse. The manuscripts of $\mu$ have *devabhāsacatuṣkoṇa (°keṇa J*$_6$*)*, "a square of divine appearance", for 24c which does not fit the context and is probably a corruption of the reading found in the other witnesses.

**292** Witnesses $\mu$G, which often preserve original readings, have *khecaramadhyagam*, "in the middle of Khecara", for *khecaramaṇḍalam*, but I have been unable to locate any other references to a place called Khecara in the body so have adopted the reading of the *KhV* manuscripts. *Khecaramaṇḍala* perhaps refers to the sun, in contrast to the lunar *somamaṇḍala* that has just been described.

**293** "known as the Diamond Bulb" *(vajrakandākhyam)* : I have found no references to a *vajrakanda* in the body in other works on yoga. *RAK* 156 mentions a plant called *vajrakanda* in a description of a mercurial preparation. Several works describe an egg-shaped *kanda* or *kandayoni* at the navel as the source of the 72,000 *nāḍīs*, e.g. *GŚ*$_N$ 25 (=*YCU* 14c–15b), *VS* 2.11–12 (=*TŚBM* 58–59), *ŚP* 4307. On the analogy of this *kanda*, the *vajrakanda* may be a point of intersection or origin of *nāḍīs*. See also 2.49c–50b, 2.86 and note 448.

**294** The reading found in various forms in the manuscripts of S$\beta\gamma$, *alakṣyaḥ sarvalekhakaiḥ*, is interpreted by Ballāla (f. 33r$^{10}$) to mean "imperceptible by the gods", i.e. "invisible" *(adarśanīyaḥ)*.

**295** *nāsikādho 'dharoṣṭhordhvam*: this is an emendation of the reading found in G and, in a corrupt form, in $\mu$. The witnesses of S$\alpha\beta$ have *nāsikādhottaro°* or corrupt versions of it ($\gamma$ has the nonsensical *nāsikādyotaroṣṭādhaḥ*). This form is the result of a double sandhi ("*ārṣa*" sandhi according to Ballāla at f. 33v$^{1}$) of *nāsikādhaḥ+uttaro°*. I have taken *adharoṣṭha* to mean both the upper and lower lips (cf. Monier-Williams 1988:19).

**296** As we have seen in note 258 the *rājadanta* or "Royal Tooth" is the uvula, so its description as "below the nostrils and above the lips" is surprising and suggests that it means somewhere in the region of the front teeth. Presumably the description means that the *rājadanta* is on the same horizontal plane as the space below the nostrils and above the lips.

**297** "the Base" *(ādhāram)* : this is the *ādhāra* or *mūlādhāra cakra* of tantric and yogic physiology. See e.g. *KJN* 14.15–24b, *KMT* 13.37–52, *ṢCN* 4, *GŚ*$_N$ 18, *YŚU* 1.168.

**298** I have found no parallels for this or any of the subsequent lists of *kalās*.

**299** i.e. by means of the haṭhayogic *mūlabandha*. Ballāla (f. 34v$^{1-2}$) explains it to be the forcing of breath into the head by sitting in *padmāsana* or *siddhāsana*, contracting the Base and repeating *huṃ huṃ*: *ākuṃcanaṃ tu padmasiddhāsanasthatve sati huṃh* u* ṃkāreṇādhārakamalaṃ saṃkocya tatrasthavāyoḥ pṛṣṭhavaṃśe nayanāṃbhojavṛttau tu nābhimūlāt preritasya vāyoḥ śirasy abhihananam /*. Cf. *GŚ*$_N$ 58–59, *YKU* 1.64, *HP* 3.60–68 etc. In his commentary on *NT* 7.30, Kṣemarāja de-

scribes a forerunner of this practice in which the contraction and expansion of the anus cause Kuṇḍalinī to point upwards: *cittaprāṇaikāgryeṇa kandabhūmim avaṣṭabhya tanmūlam iti mattagandhasthānaṃ śanair iti saṃkocavikāsābhyāsena śaktyunmeṣam upalakṣya pīḍayet yathā śaktir ūrdhvamukhaiva bhavati* (see also *NTU* pp.157–158). This repeated contraction and expansion is a feature of the *Gheraṇḍasaṃhitā*'s *aśvinīmudrā* which is also said to awaken Kuṇḍalinī (*GhS* 3.64).

300 "up to his skull" *(brahmāṇḍakāvadhi)* : in the *KhV brahmāṇḍa* means skull. See note 257.

301 Ballāla (f. 35v[7–8]) explains *pañcabhūtalaya* as absorption into the subtle elements: *yady api sthūlānāṃ bhūtānāṃ layo ⟨'⟩saṃbhavas tathāpi tanmātrāṇāṃ lavarayahānāṃ bījabhūtānāṃ tatra tatra japeneṣṭadevatādhyānena ca laye tallayasyārthasiddhatvāt.* In haṭhayogic texts, *laya* is both an aim of yoga (see *KhV* 3.48–52; *AY* 1.21–98, *AŚ* p.5 ll.16–20, *HP* 4.3, 4.29–34 etc.) and a type of yoga itself (e.g. *DYŚ* 29–30 and 37–51, *HP* 4.103, *YB* 143, *ŚP* 4350–4363, *VU* 5.10). $\mu$'s reading, *pañcabhūtajayaṃ labhet*, preserves an older idea of mastery over the elements found in the *Yogasūtra* (3.43) and many tantric works (see VASUDEVA 2004:240–250). In his commentary on 3.65 (f. 97r[6–8]), Ballāla quotes a passage on *bhūtajaya* which he attributes to the *Mahābhārata*: *bhārate pauṣkare saptadaś[ā]dhyāye nīlakaṃṭh*kramеṇa pādādi jānuparyaṃtaṃ / jānvādi pāyvaṃtaṃ / pāyvādi hṛdayāṃtaṃ / tato bhrūmadhyāṃtaṃ / tato mūrdhāṃtaṃ / cakrapaṃcakaṃ (paṃcakaṃ ] em.; paṃca* S) *paṃcaghaṭikāparyaṃtaṃ mano dhārayato bījāni japata uktadevān dhyāyataś ca tattadbhūtajayo 'vaśyaṃ bhavati /*. See also note 316.

302 "in the morning, in the evening and at midnight" *(trikālābhyāsayogataḥ)* : this is the conventional meaning of *trikāla* and it is understood thus by Ballāla (f. 36r[1–2]).

303 "the place of the penis" *(liṅgasthānam)* : the Svādhiṣṭhāna lotus is located in the region of the penis in $GŚ_N$ 22, *ŚS* 5.103, *ṢCN* 14 etc. Likewise Ballāla puts it *liṅgamūle*, "at the root of the penis" at f. 36r[7]. I have thus adopted G's reading over $\mu$'s incorrect *nābhisthānam* and the vague *nābhisthānād adhaḥ* of the other witnesses.

304 As Ballāla notes (f. 37v[8–10]), this and the reward mentioned at 2.45b are presumably the reward described at 2.39.

305 "the Bamboo Staff" *(veṇudaṇḍam)* : I have not come across references to the *veṇudaṇḍa* in any other texts. Ballāla (f. 37r[1]) says that it is the lower part of the spine *(pṛṣṭhavaṃśākhyasya mūlaṃ)* and equates it with the *vajradaṇḍa* described in *YB* 131. G's reading of *vīṇā* may be original: *Tantrarājatantra* 27.35 says that the *vīṇādaṇḍa* is the spine—*suṣumṇā pṛṣṭhavaṃśākhyavīṇādaṇḍasya madhyagā*; *YŚU* 6.8 describes the *vīṇādaṇḍa* as being in the region behind the anus and supporting the body *(dehabhṛt)*.

306 45c–48b appear to be a later addition to the text: 48c follows on directly from 45b.

307 Cf. $GŚ_N$ 32, *VS* 2.27–28 etc.

308 The edition's reading of *raviḥ proktaḥ* in 46a is attested only by B and is possibly a scribal emendation. It is tempting to adopt $\mu$'s *raver bāhuḥ*, taking it to mean "a ray of the sun" but I have found no parallels for this usage of *bāhu*. The reading *raver vāhaḥ* found in a variety of forms in the other witnesses results in the unwanted repetition of *vāhaḥ*.

309 47a is puzzling and I suspect that the text is corrupt. I have found no parallel passages in other haṭhayogic texts. As Ballāla notes (f. 39r[10]), *dhāraṇā* can mean both fixing of the mind on a single object and fixing of the breath. (The two are linked: Vyāsa in his commentary to *YS* 2.52 states that mental *dhāraṇā* is brought about through breath-control; cf. *HP* 4.23.) I have interpreted this *pāda* with the former sense of *dhāraṇā*. It could also be interpreted with the latter sense, giving the meaning that the yogin is to inhale through the lunar channel but this would be somewhat redundant since the same is said in the next half-verse.

310 This lunar *prāṇāyāma* with its emphasis on inhalation through the Iḍā *nāḍī* has no parallel in the manuals of *haṭhayoga*, in which the yogin is usually instructed to use alternate nostrils for inhalation (e.g. *HP* 2.7–10, *ŚS* 3.24–25, *GhS* 5.38–53). There is one technique in which the yogin is to use only one nostril for inhalation: *sūryabhedana* (*HP* 2.48–50, *GhS* 5.58–63); however it is the Piṅgalā *nāḍī* which is to be used for inhalation and the Iḍā for exhalation.

311 The *kalā*s situated in the lower part of the body total twelve (five at the Base, three at the Svādhiṣṭhāna and four at the Bamboo Staff). This figure tallies with the descriptions of twelve *kalā*s of the sun (which is situated in the lower part of the body in yogic physiology: see e.g. *HP* 3.76–81) found in *SSP* 1.64 and *KAT* 6.39. This may be coincidence: here the *kalā*s are not said to have any connection with the sun while in the *SSP* and *KAT* passages the names of the *kalā*s are explicitly solar. Moreover, no such neat correspondence can be made for the twenty-two *kalā*s situated in the head. Indeed it is striking that the *kalā*s in the head do not total sixteen or seventeen (see note 277). (Ballāla (f. 38r[7]) omits the four *kalā*s at the *somamaṇḍala* and the single *kalā* above the *brahmārgaladvāra* to arrive at the scripturally prescribed total of seventeen *candrakalā*s.)

312 I usually translate *sudhā* as "nectar", *amṛta* as "*amṛta*", *parāmṛta* as "great *amṛta*", and *paramāmṛta* as "supreme *amṛta*". I have chosen to translate *parāmṛta* here as "ultimate *amṛta*" because Śiva is now teaching the location of the highest store of *amṛta* in the head.

313 The Diamond Bulb *(vajrakanda)* has been described at 2.25c-29b. See note 293.

314 For *yoginaḥ*, "yogins", $\mu$ has *yoginyaḥ*, "yoginīs". This may indicate a difference in doctrine between $\mu$ and the other witnesses, but could also be because of a scribal error.

315 On the *cūlitala* see note 241.

316 This description of five places in the head corresponds to descriptions of the qualities of the five elements to be meditated upon in the haṭhayogic *dhāraṇā* (e.g. $GŚ_N$ 155–159, *VS* 4.1–15, *DYŚ* 220–242, *ŚS* 3.72–74, *GhS* 3.59–63, *Śivasvarodaya* 209–213; cf. *MVUT* 13.21c–13.53d, *Mṛgendratantra Yogapāda* 39–44; Ballāla (f. 42(1)v) quotes similar passages from the *Kulaprakāśatantra* (see Kavirāj 1972:143), the *Śāradātilaka* and the *Mahākapilapañcarātra* (see ibid.:484)). These elemental qualities (appearance, colour, shape, *bīja* etc.) have been imposed (with some differences) upon different sets of five physical locations in different schemata of esoteric physiology. Thus they appear in the *ṢCN*'s description of the lower five *cakra*s at the perineum, the genital region, the navel, the heart and the throat (cf. *ŚS* 3.73–74); in the $GŚ_N$ they are found at the heart, the throat, the palate, between the eyebrows

and at the *brahmarandhra;* in the *DYŚ* they are in the regions between the anus and navel, at the navel, above the navel, between the navel and the eyebrows and above the eyebrows; here in the *KhV* the first four are at the cardinal directions in the head with the fifth above, in the centre. The order in which the elements are listed here is different from that found elsewhere. In the text from 49c to 58b and in its summary at 58c–59d the order is earth *(pṛthivī)*, fire *(sūrya)*, air *(anila)*, water *(jala)* and ether *(ākāśa)*, in contrast with the usual order of earth, water, fire, air, ether. They are, however, positioned in their usual order as one circumambulates the head (albeit anticlockwise): starting at the forehead with earth, there is water at the left temple, fire at the back of the head, air at the right temple and ether on top.

317 At f. 40v[10] Ballāla likens the four *liṅga*s with the fifth in the middle and a store of cooling *amṛta* above to the four columns of a temple with the *liṅga* in the middle and a *galantikā* or *kalaśa* dripping water onto the *liṅga* from above: *caturdikṣu galaṃtikāstambhās tadupari pragalajjalakalaśaḥ*.

318 "with the moon above it" *(ūrdhvacandram)* : the readings of $\mu$ and G (*ūrdhver ūrdhva°* and *ūrdhvaraṃdhra°* respectively), although corrupt, suggest that *ūrdhvacandram* may not be the original reading. The *Vairāṭapurāṇa* locates a *cakra* called both *ūrdhvarandhra* and *tālucakra* above the *sahasrāracakra* (Kavirāj 1987:51).

319 "perfect" *(heyopādeyarahitam)* : *heyopādeyarahita* literally means "free of those things which are to be rejected *(heya)* or cultivated *(upādeya)*", i.e. free of any hierarchised duality. Ballāla (f. 43r[10]) glosses *heya* with *saṃsāra* and *upādeya* with *mokṣa*. The *Mālinīvijayottaratantra* opens with a statement of what is *upādeya* and what is *heya* (1.14c–17b): "Śiva, Śakti and Sovereigns of Mantra-regents, Mantras, Mantra-regents, and individual souls" are to be cultivated. "Impurity, karma, Māyā, the entire universe deriving from Māyā" are to be rejected (Vasudeva's translation (2004:151)).

320 "to obtain the ultimate substance" *(paratattvopalabdhaye)* : here *paratattva* can be understood both physically and metaphysically. It is *amṛta*, the ultimate substance, beyond the five elements already mentioned, and it is the ultimate reality, the goal of many tantric and haṭhayogic practices (see e.g. *KT* 59.36, *HP* 4.37 and *KhV* 2.100c). That this practice is not entirely physical is indicated by phrases such as *manasā saha* at 64c and 65d, and *unmanyā tatra saṃyogam* at 67c. Most of the first *adhyāya* of the *Amanaskayoga* (vv. 21–98) is devoted to describing *laya*, by means of which the *paratattva* is obtained. (This first *adhyāya* is called *layayoga* when quoted from by later commentators; the second, which describes *amanaskayoga*, is called *rājayoga* (Bouy 1994:22, 69, 78)).

321 On Vāgīśā, "the goddess of speech", see 2.110cd.

322 "with her mouth upwards" *(ūrdhvavaktrām)* : i.e. with the tip of the tongue pointing upwards in order to lick at the *amṛta*. G's reading, *ūrdhvavaktre*, suggests the "upper mouth" at the opening of the *śaṅkhinī nāḍī* from which *amṛta* flows (cf. *AŚ* p.10).

323 The pot of *amṛta* is a recurrent theme in Indian mythology. When the ocean of milk was churned by the gods and demons Dhanvantri appeared carrying a white pot *(kamaṇḍalu)* of *amṛta* (*Mahābhārata* 1.18). Four drops of *amṛta* fell from this

pot at the sites of the triennial Kumbh Melā, "Pot Festival" (on this recent addition to the myth see LOCHTEFELD 2004). At *SYM* 21.7 Bhairava is to be visualised in the middle of the Umāmaheśvara *cakra* churning a pot *(kalaśa)* full of *amṛta*; at *SYM* 22.36 in a description of the fearsome Yoginīcakra, at the hub of the wheel the Yoginīs churn and drink from a white pot *(kalaśa)* full of *amṛta*. The inner shrine of the Nātha monastery at Caughera in Nepal contains a pot of *amṛta (amṛtapātra)* which is said to be the *svarūp* of Gorakhnāth (BOUILLIER 1997:31–32).

**324** *Unmanī*, "the supramental state", is a common goal of tantric and haṭhayogic practices. At *HP* 4.3–4 it is included in a list of synonyms of *samādhi*. It is also frequently mentioned by Hindī poets of the *nirguṇa* tradition (CALLEWAERT & DE BEECK 1991:626).

**325** "that consists of *nāda* and *bindu*" *(nādabindumayam)* : in tantric works, *nāda* and *bindu* (often combined with *kalā*—see note 277) have several different meanings. In particular, they refer to places in the body (e.g. *NT* 7.29, *KT* 58.56, *Vijñānabhairava* 36–37) and describe corresponding stages in the manifestation of the phonetic universe (e.g. *Śāradātilakatantra* 1.7–8, *TĀ* 4.175; see PADOUX 1990a:86–121). In some texts they are also listed among the six *lakṣya*s, "the six manifestations of Śiva as the 'goals', or 'targets', of yogic practice" (VASUDEVA 2004:253–292). In the texts of *haṭhayoga*, *nāda* is usually the internal, "unstruck" *(anāhata)* sound heard during yoga practice (see e.g. *HP* 4.66–106, *Nādabindūpaniṣad* 31–51). Meanwhile *bindu* is understood to be the *amṛta* secreted in the head, which the yogin must prevent from falling and being discharged as semen (*HP* 2.78, 3.42, *SSP* 2.13; but cf. *ŚS* 5.144 where *nāda* and *bindu*, together with *śakti*, are *pīṭha*s in the lotus of the forehead; cf. also *BKhP* f. 100v[3]: *pīṭhatrayaṃ bhāle biṃdunādaśaktirūpaṃ | tatphalaṃ janmāṃtarasmṛtiḥ | viparītajihvayā nādadhyānaṃ pāpanāśanaṃ | śaktau vāsanākṣayaḥ*, and *MaSaṃ* 17.14–16, in which the *viśuddhacakra* and an unnamed *cakra* somewhere above *viśuddha* are said to be *nādarūpaka* and *bindurūpaka* respectively). It is with the usual haṭhayogic meanings that Ballāla (f. 44v[3–4]) understands *nāda* and *bindu* (cf. *HPJ ad* 4.1). As such, the compound *nādabindu* joins two unconnected concepts and his interpretation seems forced. I suspect that in haṭhayogic works the compound is used more as a catchphrase, harking back to its use in tantric texts and thereby adding esoteric gravitas (see e.g. *HP* 4.1, *GBS* 163, 181, 184 etc., *YŚU* 6.70, *GhS* 6.12 and the *Nādabindūpaniṣad*, which, despite its title, concerns only the "unstruck" *nāda* and mentions *bindu* just once, at verse 50). On *nāda, bindu* and *kalā* see also KIEHNLE 1997:141.

At *HP* 3.46 in the description of *khecarīmudrā* the yogin is said to eat beef and drink wine (see page 28 of the introduction). The *jogī* is said to drink *vāruṇī* at *GBS* 137. Cf. *Rasārṇava* 1.26, *Rasendracūḍāmaṇi* 1.7–10. See also ROŞU 1997:413.

**326** Ballāla (f. 45v[4–7]) takes this verse to be describing those entitled to teach and learn Khecarī yoga: the text is to be spoken by [a yogin] who has no desire for *siddhi (na kiṃ cit siddhim icchatā*—he interprets *siddhi* here as *śiṣyād dravya⌈sevā⌉diprāpti*, "obtaining goods, service etc. from a pupil"!) to one who has attained the means of *siddhi (siddhisopānam)* but does not know this yoga.

**327** The *aiśa* anacoluthon in this verse has been emended in G, or one of its antecedents.

328 Practices involving massaging the body with various physical secretions are alluded to fleetingly in many haṭhayogic texts (see the references in the notes to 2.75a–77b). *Paṭala* 27 of the *Matsyendrasaṃhitā* (which is reproduced on page 154 of the appendices) describes several such techniques in detail, summarising them as "the ritual bath which is better than [bathing] at all the sacred bathing places" *(sarvatīrthādhikaṃ snānam* 27.1cd). (At *MaSaṃ* 27.2 faeces, urine, menstrual blood, phlegm (? *recaka*) and semen (? *sāraka*) are said to be the gods Lokeśa, Keśava, Rudra, Īśa and Sadeśvara.) These practices corporealise the techniques of *rasaśāstra*, alchemy. (On corporealisation see page 27.) The words used to describe the massaging of the body, *lepana* and *mardana*, are also used to describe *saṃskāra*s in the process of fixing mercury (see e.g. *RAK* 80, 91, 150 etc. on *lepana* and 54, 89, 98 etc. on *mardana*). As with the substances to be rubbed into mercury in the alchemical *saṃskāra*s, in *MaSaṃ paṭala* 27 minerals and herbs are added to the fluids to be massaged into the body. *MaSaṃ* 27.1 calls the knowledge of these practices *kṣetrajñāna*; at *Rasārṇava* 18.11, 18.15 and 18.19 the preparation of the human body for alchemical practice by the consumption of herbal preparations is called *kṣetrīkaraṇa* (see also WHITE 1996:265–273).

In verses 95 and 281c–282b of the *RAK* it is said that the urine and faeces of a man who eats certain herbal preparations (which do not include mercury) can transmute copper into gold (cf. *ŚS* 3.61 and *DYŚ* 197 quoted in note 336). At 146 it is said that by eating a preparation of calcined mercury, a man becomes *sparśavedhī* and his sweat can fix mercury.

The physical practices are attacked at *SSP* 6.90:

> *śaṃkhakṣālanam antaraṃ rasanayā tālvoṣṭhanāsārasam*
> *vānter ucchadanam kavāṭam amarīpānaṃ tathā kharparīm* /
> *vīryaṃ drāvitam ātmajaṃ punar aho grāsaṃ pralepaṃ ca vā*
> *ye kurvaṃti jaḍās tu te na hi phalaṃ teṣāṃ tu siddhāntajam* //
>
> **90b** ucchadanaṃ ] *em.*; ullaṭanaṃ Ed, uchuṭhanaṃ Ed$^{vl}$ ◇ kharparīm ] *em.*; kharparī Ed **90c** vīryaṃ ] *em.*; vīrya Ed ◇ grāsaṃ pralepaṃ ca vā ] grāsapradaṃ pañcadhā Ed$^{vl}$

"Those who practise emesis and enema [and] use the fluids from the palate, lips and nose with the tongue, who massage themselves with vomit, who practise *kavāṭa* (?), drink their own urine, use Kharparī (coryllium?), who use their semen after causing it to flow, and eat or massage [themselves with these fluids], are stupid and do not get the reward that is produced by the correct doctrine." (Several verses towards the end of *SSP paṭala* 6 appear to be later additions to the text since they contradict earlier verses: see e.g. 6.13 where the *avadhūta* who drinks his own urine is praised.) Cf. *AY* 2.33 (=*AP* 8): *ke cin mūtraṃ pibanti svamalam...*, "some drink urine, their own filth...", and *Rasārṇava* 1.11c–12b: *śukramūtrapurīṣāṇāṃ yadi muktir niṣevanāt / kiṃ na muktā mahādevi śvānaśūkarajātayaḥ* // "If liberation [comes] from using semen, urine and faeces, then why are dogs and pigs not liberated, o great goddess?"

329 Here Śiva teaches the physical locations of fire, the sun and the moon. As in the locations of the five elemental deities discussed in note 316, the system described

here is different from that found in other tantric and haṭhayogic texts. In the texts of *haṭhayoga*, the sun and fire are combined and said to dwell in the region of the navel, consuming the *amṛta* that drips from the moon which is situated at the palate (see e.g. *GŚ*$_N$ 133, *HP* 3.78, *GhS* 3.29).

In this verse, only $\mu$ has *bhālamadhye*, "in the middle of the forehead", (cf. *bhālajam* at 74b), which is almost certainly original in the light of both 2.75, where the *amṛta* that has dripped from the moon emerges from the nostrils, and 2.22, where the *somamaṇḍala*, i.e. the moon, is located between the eyebrows. Similarly, at *SSP* 2.21 the yogin is told to visualise a *candramaṇḍala* at the *bhrūmadhyādhāra* while *ŚS* 5.182 locates the moon at the Sahasrāra lotus at the top of the skull. The readings of the rest of the witnesses, which locate the moon at the palate, have probably originated through confusion with other texts, rather than through deliberate alteration.

330 On *mathana*, "churning", see 1.57c–64d.

331 Ballāla (f. 46v$^{1-3}$) describes how the orb of fire is to be awakened: *dakṣahastasya madhyamāṃguṣṭhābhyāṃ ḍamaruvan nāsikāpuṭe pūrayan recayaṃś (em.; pūraya*ecayaṃś* S) *ca vādayitvā paścād gāḍhaṃ pūrayed recayed ity eṣātra bhastrā* (*em.*; *bhasrā* S) *tayā suṣumṇāvahane sati tadadhiṣṭhitavahner udbodhanaṃ bhavatīti.* This is a variation of the *bhastrā/bhastrikā prāṇāyāma* described at *YB* 108–112, *HP* 2.59–67 and *GhS* 5.70–72 (in the almost identical *YB* and *HP* passages the practice is said to be *kuṇḍalībodhakam* and bring about *śarīrāgnivivardhanam*, i.e. it awakens Kuṇḍalinī and increases the bodily fire).

332 *HP* 3.48 describes how *amṛta* flows from the moon after it has been liquefied by the heat produced when the tongue enters the opening above the palate: *jihvāpraveśasambhūtavahninotpāditaḥ khalu / candrāt sravati yaḥ sāraḥ sā syād amaravāruṇī //.* Cf. *TĀ* 4.131cd, 134ab.

333 "in a vessel" *(pātreṇa)* : *MaSaṃ* 40.8 (A f. 90v$^2$) says that the vessel used to hold the yogin's urine *(amarī)* should be made of gold or silver, or, if they are unavailable, copper or brass *(kāṃsya)*. *KJN* 12.11-16 describes the different materials that can be used to make the *pātra* that holds the *cāruka*, the Kaula *pañcāmṛta* libation, which consists of faeces, urine, semen, blood and marrow (*KJN* 11.11); cf. *TĀ* 11 (29) p. 130, ll. 5–8 where the five jewels are said to be urine, semen, menstrual blood, faeces and phlegm (Sanderson 1995:82)).

334 Cf. *MaSaṃ* 27.9. A corrupt passage at *HP* 3.93–94 describes the *amarolī* technique: *amarīṃ yaḥ piben nityaṃ nasyaṃ kurvan (nasyaṃ kurvan* ] *tasya kuryād Ed*$^{vl}$) *dine dine / vajrolīm abhyaset samyag amarolīti kathyate // abhyāsān niḥsṛtāṃ cāndrīṃ vibhūtyā saha miśrayet / dhārayed uttamāṅgeṣu divyadṛṣṭiḥ prajāyate //* "He who always drinks urine, [also] using it as a nasally administered substance, every day [and who] correctly performs *vajrolī,* [his practice] is called *amarolī*. He should mix with ash the lunar [fluid] that has emerged after practice and put it on his head; he gets divine sight." (Translation by Goodall & Isaacson.) Brahmānanda (*HPJ ad loc.*) attributes this practice to Kāpālikas.

335 In haṭhayogic texts, *nāḍīśuddhi*, "purification of the channels of the body", is usually said to arise by means of *prāṇāyāma*. See e.g. *GŚ*$_N$ 95, *HP* 2.19, *GhS* 5.2, 5.35, *SSP* 6.79.

336 “the essence of immortality produced at the anus and penis” *(gudaliṅgodgatam amarīrasam)* : cf. *MaSaṃ* 27.6. *MaSaṃ paṭala* 40 describes *amarīsnāna* in detail and calls the process *kulācāra* (40.1). Ballāla (f. $47r^{6-7}$) quotes a passage in this context which he attributes to “traditional teaching”: *mūtrapurīṣayor alpatvaṃ ca | yallepāl lohasya svarṇatā gorakṣasyeva tadā vajrolyā sādhitaliṃganālo mūtrasyāgrimadhārāṃ viṣarūpāṃ tathāṃtimāṃ hīnaguṇāṃ saṃtyajya madhyamāṃ balapradāṃ gṛhītvaivam eva madhyamam alpaṃ malaṃ gṛhītvāṃgaṃ mardayed iti | paraṃparopadeśāt |*. For modern accounts of urine massage see SARASVATĪ 1991 (especially pp. 74–76) and ARMSTRONG 1994. At f. $47v^{2-4}$ Ballāla describes the *amarī* and *ajarī kriyā*s in which the yogin is to consume faeces and urine respectively: *ke cit tu gudodgataṃ kakṣāmṛtena saṃloḍya *dharārasaiḥ saṃskṛtya yad bhakṣaṇaṃ sāmarī kriyā | tatphalaṃ nirāmayatvaṃ balavattvaṃ ceti | liṃgodgataṃ kakṣāmṛtena saṃloḍyādharārasaiḥ saṃskṛtya yat pānaṃ sājarī kriyā tatphalaṃ valītyāgādī(°tyāgādi° ] em.; °tyādī° S)ty āhuḥ | amarī hy amarakāriṇī | ajarī ⌈a⌉jarākāriṇī |*. In contrast, PARRY (1994:290) reports that present-day Aghorī ascetics call urine *amarī* and faeces *bajarī*. *GBS* 141 says that he who practises *bajarī* and *amarī* is Gorakhnāth’s guru-brother. The *KhV*’s description of *amarīrasa* from the *guda* and *liṅga* and Ballāla’s *amarī* and *ajarī kriyā*s suggest that the Aghorī’s coprophagy is more than just a combination of opposites in which “pollution becomes indistinguishable from purity” (PARRY 1994:264).

*ŚS* 3.61 teaches how through perfection of *prāṇāyāma*, the yogin’s urine and faeces can create gold or make it invisible: *viṅmūtralepane svarṇam adṛśyakaraṇaṃ tathā*. Cf. *DYŚ* 197: *malamūtrapralepena lohādīnāṃ suvarṇatā |*. See also *Rasārṇava* 18.28–29b.

*HP* 3.90 describes the *sahajolī* variant of *vajrolīmudrā*: *sahajoliś cāmarolir vajrolyā eva bhedataḥ | jale subhasma nikṣipya dagdhagomayasaṃbhavam || vajrolīmaithunād ūrdhvaṃ strīpuṃsoḥ svāṅgalepanam | āsīnayoḥ sukhenaiva muktavyāpārayoḥ kṣaṇāt ||*. “*Sahajolī* and *amarolī* are types of *vajrolī*. [The yogin] should put good ash made from burnt cow-dung in water. Straight after sexual intercourse using *vajrolī*, it should be rubbed on the bodies of the man and woman, [when they are] sitting happily, free of activity”. It seems likely that this passage has been redacted to conceal a practice in which the combined sexual fluids of the yogin and his consort are smeared on the body. *MaSaṃ* 40.48 describes a similar technique to be practised after intercourse although here it is only semen (mixed with gold, camphor, saffron and such like) that is to be smeared on the body: *tad vīryaṃ svarṇakarpūrakuṅkumādiviloḍitam | svadehaṃ mardayet kāntiś candravat saṃprajāyate*. *Jogpradīpakā* 677–683 describes the *varaṇaka mudrā* which it says is also known as *amarolī*. The yogin is to drink three handfuls of urine first thing in the morning before mixing his urine with *nirguṇḍī*, *bhaṃgaro* (=Skt. *bhṛṅgarāja* MCGREGOR 1995:s.v.), *muṇḍī* and *giloī* (=Skt. *guḍūcī* ibid.:s.v.) and smearing the mixture on his body.

The *siddha* Karṇaripa added his “own water” to a potion and it became “as the essence of the alchemists” (ROBINSON 1979:88–9). The *siddha* Caparipa gave a child magical powers: “From his penis came the power to transform things into gold. From his anus came the elixir of immortality” (ibid.:206–7).

337 “the *amṛta* from the armpits” *(kakṣāmṛtam)* : the reading *kalāmṛtam* found in $\mu$

may be original. Śiva has described *amṛtakalā*s at the anus and penis (2.32 and 2.40) but not at the armpits and *MaSaṃ paṭala* 27 does not mention *aṅgamardana* with sweat. However many haṭhayogic texts do teach that the sweat produced through yogic exertion should be rubbed into the body (e.g. *GŚ*$_N$ 53, *ŚS* 3.46, *HP* 2.13, *Dhyānabindūpaniṣad* 70–72, *DYŚ* 148) and it may be because of this idea that the reading *kakṣāmṛtam* supplanted *kalāmṛtam*. *ŚS* 3.46 adds the reason for the practice: *anyathā vigrahe dhātur naṣṭo bhavati yoginaḥ*, "otherwise the basic constituents in the body of the yogin are destroyed". Cf. Ballāla (f. 95r[8]): *evaṃ saniyamaprāṇāyāme jāyamānasya dehe svedasya mardanaṃ hastābhyāṃ kāryaṃ na tu vastreṇāpalāpaḥ / ⌈lāghava⌉ balanāśanāt /.* "The sweat produced when *prāṇāyāma* is practised in this way, [i.e.] according to the rules, should be rubbed into the body with the hands, not wiped away with a cloth. Otherwise suppleness and strength are lost." Like *lepana* and *mardana*, *svedana* is an alchemical *saṃskāra* (see *Rasārṇavakalpa* 98, 368–369 etc.).

338 "with fluid from the lower lip" *(cādharārasaiḥ)* : the feminine form *adharā* for *adhara* is probably *metri causa*. Monier-Williams (1988:19) does report that *adharā* can mean "Pudendum Muliebre" but such a meaning is unlikely here. Ballāla (f. 47r[10]) takes the plural *°rasaiḥ* to indicate that fluid from the lips, tongue and nostrils should be used.

*AY* 2.33 castigates those who rub saliva into their bodies: ... *atha tanau ke cid ujjhanti lālām... naiteṣāṃ dehasiddhir vigatanijamanorājayogād ṛte syāt //* Cf. *SSP* 6.90 (quoted in note 328). See White 1996:311-2 for legends describing the initiatory and magical powers of yogins' saliva.

339 I have found no description of this practice in any other text. Ballāla (f. 47v[8–10]) identifies it as a supplementary practice to that described in 1.45a but he seems mistaken: at 1.45a it is the *tālumūla* which is to be rubbed and then all the impurity *(mala)* is to be cleansed. Here a potent "great fluid" (*mahādrava*; but n.b. *μ*'s reading *madadrava*, "intoxicating fluid") is produced at the *jihvāmūla*.

340 "[the yogin] should push aside" *(sphoṭayet)* : Monier-Williams (1988:1270) gives "to push aside (a bolt)" as one of the meanings of the causative of the root *sphuṭ*. Ballāla (f. 48r[3–7]) takes this verse to refer to the practice of *tāḍana* (see note 236).

341 I have taken verses 80 and 81 to be summarising the practice of *khecarīmudrā* (unlike Ballāla who takes them with 78a–79d at f. 48r[1–9]). Verse 80 describes the process of inserting the tongue into the region above the palate. The tongue is to be pushed upwards (from its underside) while the uvula is to be brought forward thus making it easier for the tip of the tongue to reach the opening behind it (see note 229). The root *kṛṣ* normally has a sense of "pull" or "draw" but if one were to pull the tongue upwards with the fingers of the right hand, the uvula would be inaccessible to the fingers of the left hand. I have thus taken *utkṛṣya rasanām ūrdhvam* to mean that the tongue is to be pushed upwards (as was demonstrated to me by several of my informants).

342 I am here following Ballāla's interpretation of *ūrdhvavaktram* as meaning *lambikordhvakramam*, "going above the uvula" (f. 48r[8]). Alternatively it could mean "the upper mouth": see 3.23b and note 420.

343 "at the *kalā*s" *(candrāṃśe)* : a part of the moon *(candrāṃśa)* is a *kalā* (see note 277).

The *kalā*s referred to here are the three at the Diamond Bulb *(vajrakanda*—see 2.25c–29b and note 293) which is said to be the place of Śiva at 2.49c–50b (cf. *HP* 1.48). For *candrāṃśe*, $\mu$ has *vajrāṃtyo* and G *vajrāṃte*. G's *vajrāṃte* may be the original reading, referring to the top of the *vajrakanda*.

**344** In the *Khecarīvidyā*, *trikūṭa*, "the Three-peaked Mountain", is located between the eyebrows. See note 259.

**345** For similar accounts of curing physical afflictions by means of haṭhayogic practices, see *HP upadeśa* 5, *YB* 102–112 and *DU* 6:25-30b; cf. *MKSG* 11.985. *ŚP* 4508–4513 describes *doṣopasargacikitsā* by means of visualisation.

**346** I have found no parallels for this usage of *bhaṭa* and *naṭa*. The usual meaning of *bhaṭa* is "mercenary" or "warrior" and that of *naṭa* is "actor" or "dancer" (Monier-Williams 1988:s.vv.). The terms may thus refer to the different types of *sādhaka* that are afflicted by the problems listed. In Hindī, *bhaṭ* can mean "misfortune, curse" (McGregor 1995:757) while the Sanskrit root *naṭ* can mean "to hurt or injure" (Monier-Williams 1988:525). A Buddhist *vihāra* was established near Mathura by two brothers called Naṭa and Bhaṭa (*Paṃśupradānāvadāna, Divyāvadāna* No.26, p.349; see also *ibid.* pp.356 and 385, Edgerton s.v. *naṭabhaṭikā*, Böhtlingk and Roth s.v. *naṭa*. I am grateful to Peter Wyzlic for supplying me with these references.) G, S and most of $\alpha$ and $\beta$ have *haṭa* or *haṭha* for *bhaṭa*. I have adopted *bhaṭa* over *haṭa/haṭha* for three reasons: firstly, *bhaṭa* is found in both $\mu$ and $\gamma$; secondly, the use of the word *haṭha* to describe a system of practices was only just beginning at the time of the *Khecarīvidyā*'s composition and is not attested elsewhere in the text; and, thirdly, the pairing of *haṭha* with *naṭa* seems unlikely. Witness K5 lends weight to the idea that *haṭha* is a later emendation: at 84a and 99c it has *bhaṭa*, corrected to *haṭa* in the margin. Perhaps the first description of a systematised *haṭhayoga* named as such is to be found in the *Dattātreyayogaśāstra* (17–19 and 57–62) in which the term refers specifically to the practice of ten *mudrā*s. The *DYŚ* is quoted extensively in the *Śārṅgadharapaddhati* (25 *śloka*s between *ŚP* 4376 and 4460) and was thus composed before 1363 CE.

In his commentary on *naṭa*, Ballāla devotes five folios (f. 48v[8]–f. 53r[7]) to quotations from various texts about *nāṭakādinibaddharasādi*, "the dramatic sentiments etc. involved in the various types of drama". The *Khecarīvidyā*'s *naṭabheda*s are physical manifestations of these sentiments. When they arise, actors are unfit for acting: *teṣu jāteṣu nartanayogyā naṭā na bhavaṃti* (f. 53r[8]). This is relevant to yogic practice because the sense organs are like the *naṭa*s: *vastutas tu svasvavyāpāre nartanaśīlānāṃ naṭānām iveṃdriyāṇāṃ netrādīnāṃ bhedā bhedakā naṭabhedā ity ucyaṃte* (f. 53r[7]). Concerning *haṭha* (S's reading for *bhaṭa*), Ballāla (f. 53r[9]–f. 53v[1]) writes that the four manifestations of *haṭha* given in 83cd are proof of success in *haṭhayoga* (!): *ete haṭhasya yogasya pratyayāḥ haṭhaḥ siddha iti pratītiṃ janayaṃti*.

**347** "drying up of the body" *(aṅgaśoṣaḥ)* : at *Kubjikāmatatantra* 23.160 a practice similar to the haṭhayogic *khecarīmudrā* is said to get rid of *śoṣa*, *dāha* (cf. *KhV* 2.88d) and *vaivarṇa* (cf. *KhV* 2.87cd).

**348** "sloth induced by hunger" *(kṣudhālasyam)* : in order for the varieties of *bhaṭa* to total four, *kṣudhālasya* must be taken as a single entity. I have chosen to take it as a *tatpuruṣa samāsa*; Ballāla (f. 53r[9–10] and f. 53v[8–9]) understands it to be a *dvandva*

*samāsa* with the meaning "hunger and sloth".

349 "the essence of immortality" *(amarīrasam)* : see 2.76cd.

350 i.e. *aṅgaśoṣa*, "dryness of the body", (2.83c) is cured.

351 i.e. it should be done every four hours: *daśamadaśamaghaṭikāyām* (Ballāla f. 53v[6]). A *ghaṭikā* is 24 minutes.

352 See 2.25c–29b, 2.49c–50b and note 293 for descriptions of the Diamond Bulb *(vajrakanda)*.

353 "*amṛta* [from the anus and penis]" *(amarīm)* : see 2.76cd.

354 "trembling of the body" *(aṅgavepaḥ)* : I have adopted G's *aṅgavepaḥ* to avoid repetition of *aṅgaśoṣaḥ* from 2.83c.

355 "dizziness" *(bhrāntis)* : *bhrānti* usually means ignorance (see e.g. *KJN* 5.1). In the context here, however, it must refer to a more mundane physical affliction. Ballāla (f. 54v[2]) glosses it with *mānasī viparītadhīḥ*, "mental perversity".

356 "high fever" *(mahājvaraḥ)* : Ballāla says (f. 54v[7]) that *mahājvara* cannot be cured by doctors *(bhiṣagbhir acikitsyaḥ)* and adds that doctors' medicines are no use in curing any of the problems of *haṭha* and *naṭa*: *haṭhanaṭabhedeṣu bhiṣagauṣadhaṃ na calati*.

357 Ballāla (f. 54v[9]) takes the *tathaiva ca* that follows *netrāndhatvam*, "blindness", to imply *bādhiryam*, "deafness".

358 This is the practice described at 2.32c–39d. Only G has *mūlādhārāt suṣumnāyāṃ* at 2.92a; the other witnesses have variants of *svamūlāt śvāsasaṃbhinnām*, "from her base, together with the breath".

359 This technique involving internal sounds is similar to the haṭhayogic *nādānusandhāna* (see e.g. *SSP* 6.91, *HP* 4.66–106, *NBU* 31–51, *VS* 3.39–40, *GhS* 5.73–76), by means of which *samādhi* is realised (*HP* 4.81). Here, $\mu$ reads *jalanāda* for *mahānāda*. $\mu$'s reading may be original: in a passage which is found at both *HP* 4.83–89 and *NBU* 32–38 it is said that in the beginning of the practice one of the sounds that arises is that of *jaladhi*, "the ocean" (*HP* 4.85a). On the other hand, *HP* 4.84ab reads *śrūyate prathamābhyāse nādo nānāvidho mahān*, "in the first [stage of the] practice a great sound of many kinds is heard". *HR* 2.148 connects *khecarīmudrā* with the internal *nāda*. For a survey of descriptions of the technique of *nāda* and lists of the internal sounds found in tantric works see Vasudeva (2004:273–280).

360 "in his ears" *(karṇābhyām)* : *-ābhyām* is sometimes used for the locative and genitive dual *(-ayoḥ)* in Śaiva tantric works. See e.g. *Svacchandatantra* 2.231 and Kṣemarāja *ad loc.*, *JRY* 3.38.158c and *JRY* 3 *Yoginīsaṃcaraprakaraṇa* 1.63ab, 1.64. I am grateful to Alexis Sanderson for providing me with these references.

361 "the sound of the roar of a great elephant" *(mahāgajaravadhvanim)* : in the lists of the various sounds heard during *nādānusandhāna* given in haṭhayogic texts (see note 359 for references), no animal sounds are mentioned.

362 "the sound of Brahmā" *(brahmanādam)* : Ballāla (f. 56r[1–2]) offers two explanations of *brahmanāda*: firstly he takes *brahma°* to mean *bṛhat* and thus *brahmanāda* is the same as the *mahānāda* of 93b; secondly *brahmanāda* is the *anāhata*, "unstruck", *nāda* that is the focus of *nādānusandhāna* (see note 359). $\mu$ has *siṃhanādam*, "the sound of a lion", which may be original. The small whistle worn on a thread around

the neck by Nāthas is called *siṃhanāda*. BRIGGS (1938:11), however, reports that the Yogīs understand it to be called thus because ideally the whistle is made of *sīṃg*, "(deer-)horn". Cf. *SSP* 5.15a where it is called *śṛṅgī-nāda*, with a variant reading (from MALLIK's edition) of *siṃhanāda*.

**363** The sound of thunder, *meghanāda*, is given as one of the *anāhata* sounds at *GhS* 5.75 and *VS* 3.40. Aghora, "not terrific", is a name of Śiva and of one of his most important mantras (see e.g. *Pāśupatasūtra* 3.21–26, *KMT paṭala* 9 and the *Sisṭ* [sic] *Purāṇ* (BAḌATHVĀL 1960:236–237), a work ascribed to Gorakhnāth, in which Aghor is said to be the best mantra).

**364** "knowing all the categories of reality" *(sarvatattvajñaḥ)* : Ballāla (f. $57v^{2-8}$) mentions four systems of *tattva*s: that described in the *Nārāyaṇayogasūtravṛtti* in which there are two types of *tattva*, *jaḍa* and *ajaḍa*, corresponding to the *prakṛti* and *puruṣa* of Sāṃkhya; a *śākta* system of twenty-five *tattva*s; a system said to be found in the *Śaivāgama*s comprising fifty *tattva*s, including the twenty-five just mentioned; and the (presumably twenty-five) *tattva*s described by Kapila in the *Bhāgavata[purāṇa]*. Ballāla adds that the system of fifty *tattva*s found in the *Śaivāgama*s has been described by him in the *Yogaratnākaragrantha*. GHAROTE & BEDEKAR (1989:208) list two manuscripts of works entitled *Yogaratnākara* but they are ascribed to Viśveśvarānanda and Rāmānandayogin.

**365** "into this peaceful supreme reality" *(śānte pare tattve)* : cf. 2.63d. Ballāla (f. $57r^{10}$–f. $57v^{1}$) says that this *paraṃ tattvam* is the state reached by means of the four *mahāvākya*s of the Upaniṣads.

**366** As Ballāla notes at f. $58r^{8-10}$, it is surprising to find *cālana*, "loosening", named as one of the four stages when in the first *paṭala*'s description of the practice *cālana* is only mentioned in passing (1.49) and not by name. The cutting of the frenum, however, is discussed in some detail (1.46–48) and one might expect *chedana* to be the first stage. In most of the other texts in which the practice is taught (e.g. *GhS* 1.28–31, 3.21, *Haṭhapradīpikā* (long recension) 5.147–151 (H2 f. $100r^{7}$–f. $100v^{5}$)), *cālana* is given much more emphasis than it is in the first *paṭala* of the *Khecarīvidyā*. In the *Siddhasiddhāntapaddhati* (2.19, 6.84) the tongue is to be lengthened by means of *cālana*; *chedana* is not mentioned. This suggests that *KhV* 1.44c–77b and 2.101c–105d were not composed together.

It seems likely that *cālana* here does not refer simply to the stretching of the tongue. Commenting on 1.49, Ballāla (f. $19v^{3-9}$) quotes *YB* 91–98 for a description of the cloth used to take hold of the tongue when practising *cālana*. He notes that the passage comes in the description of a *mudrā* for arousing Kuṇḍalinī, the *śakticālanamudrā*. Nowhere in the *YB* passage is it stated where the cloth is to be applied. The Hindī translation of the text supplies *nābhi*, "the navel" as the location. Similarly, in the description of *śakticālana* found in the *Gheraṇḍasaṃhitā*, a much later text, the cloth is to be wrapped around the *nābhi* (3.43). It is hard to imagine how such a practice could be performed. It is probably because Kuṇḍalinī is located in the lower part of the body that the practice is thought to be carried out there too. (Another description of *śakticālana* at *ŚS* 4.105–111 says that it is to be done by means of the *apānavāyu*; see also *ŚS* 5.11 and *YB* 124a; Satyānanda SARASVATĪ (1993:385–6) says that *nauli*, churning of the stomach, should be used.) The description of the

cloth at *YB* 91–92 is found in the *HP*'s description of *śakticālana* at 3.109 without any instructions as to what to do with it. Brahmānanda (*HPJ ad loc.*) takes the description to be of the internal *kanda* above which Kuṇḍalinī sleeps. Perhaps the earliest reference (pre-1450 CE; see BOUY 1994:40) to the haṭhayogic *śakticālana* is found in a text called the *Gorakṣaśataka* which is an unedited work, found in only four manuscripts, different from the more popular text of the same name (which is available in several editions; on the different *Gorakṣaśataka*s see note 9 in the introduction). BOUY (*loc. cit.*) has noted that the first eighty verses of the first chapter of the *Yogakuṇḍalyupaniṣad* (whose second chapter is taken from the *Khecarīvidyā*'s first *paṭala*) are taken from this unedited *Gorakṣasaṃhitā*. *YKU* 1.7–8 states that there are two methods of *śakticālana*: a technique called *sarasvatīcālana*, and *prāṇāyāma*. 1.9–18 describe *sarasvatīcālana*. Again the place where the cloth is to be applied is never explicitly stated. The wise yogin is to wrap it around *tannāḍīm* (1.11). The *sarasvatī nāḍī* ends at the tip of the tongue (*VS* 2.37, *DU* 4.21, *ŚP* 4311) and, as we have seen (*KhV* 1.49), *vāgīśvarī*, "the goddess of speech", i.e. Sarasvatī, has her abode at the tongue. This leads me to believe that *śakticālana* is performed by wrapping a cloth around the tongue, not the stomach. The *Haṭharatnāvalī* (c. 17th century) confirms this and seems to preserve an understanding of *śakticālana* that had already been lost before the composition of other, older texts such as the *Śivasaṃhitā*. *HR* 2.118–127 describes the practice in detail and states explicitly that the cloth is to be wrapped around the tongue. Ballāla connects the pulling of the tongue with the awakening of Kuṇḍalinī in his commentary to 2.40–42 (f. 36v$^{4-5}$): *vastraveṣṭitajihvācālanena ca śaktiṃ prabodhya...*, "awakening [Kuṇḍalinī-]śakti by moving the tongue wrapped in a cloth..." and also at f. 37v$^{3-4}$ where he says that Kuṇḍalinī is to be awakened *āsanakuṃbhakarasanācālanamudrādinā*, "by *āsana*, breath-retention, moving the tongue, *mudrā* etc.". Touching the palate with the tongue is said to bring about immediate upward movement of the breath (which is the yogic forerunner of the awakening of Kuṇḍalinī) at *Kiraṇatantra* 59.35 (see page 20). Cf. the practice shown to me by Dr. Tripāṭhī described in note 236.

367 The witnesses here appear to be corrupt. They all have *cālana*, "loosening", as the first stage, *mathana*, "churning", second, *pāna*, "drinking", third and *praveśana/praveśaka*, "insertion", fourth (except G, which has *pramelanam* fourth). This presents two problems. Firstly, *praveśana/praveśaka* needs to precede *pāna*—the tongue must be inserted into the cavity above the palate before *amṛta* can be drunk. (Ballāla notes this at two places (f. 58r$^{4-7}$ and f. 58v$^{1-2}$) and gives two conflicting explanations. At first he says that after *mathana* the upper *kalā*s start to produce *amṛta* and thus there is an intermediate *pāna* before that which follows *praveśana*. At the second instance he employs the Mīmāṃsakas' maxim that the order of words is sometimes subordinate to the order of their meaning: *śabdakramād arthakramasya kva cid balavattvāt*.) Secondly, in 102c–105d these stages are elaborated. No mention is made of *pāna* but a stage called *bhedana* is described between *cālana* and *mathana*. I have thus conjecturally emended 101d–102a from *dvitīyaṃ mathanaṃ bhavet // tṛtīyaṃ pānam uddiṣṭam* to *dvitīyaṃ bhedanaṃ bhavet // tṛtīyaṃ mathanaṃ śastam*.

5.125–6 in the long version of the *Haṭhapradīpikā* (witness H2) describes the *khecarī* technique as having six ancillaries *(ṣaḍaṅga)* : *chedana, cālana, dohana, pāṇigharṣaṇa, praveśa* and *mantrasādhana.* The six ancillaries are described in detail over the next 93 verses. The *Jogpradīpakā* names six ancillaries of *khecarīmudrā* at verse 611, but has *mathana* for H2's *pāṇigharṣaṇa.*

368 On "loosening" *(cālana),* see 1.45.

369 On "piercing" *(bhedanam),* see 1.56. Cf. *MKSG* 22.971 and 985. *NT* 7.29 locates the fourth of six *cakra*s at the palate and calls it *bhedana.*

370 On "churning" *(mathanam),* see 1.57c–64d. This passage (103c–104d) is corrupt. G omits 104cd while $\mu$ omits *bhedanam* and *mathanam* in 103cd and has *taṃ vadaṃti sma* ⊔⊔⊔⊔ *taṃtunā priye* at 104ab. I have been unable to conjecture a suitable emendation but the meaning of the passage is clear.

371 "into the ether" *(ākāśe)* : on this use of *ākāśa* to mean the hollow above the palate see note 265.

372 Detailed instructions on *praveśana* are given at *Jogpradīpakā* 635–640.

373 "By breaking the bolt of Brahmā" *(brahmārgalaprabhedena)* : for *prabhedena* all the witnesses except $\mu$ read °*praveśena* (N has *praveśe tālumūlena*). The idea of insertion is also present in *jihvāsaṃkramaṇena* (which I have translated with "inserting the tongue") so °*praveśena* is redundant. I have thus adopted $\mu$'s °*prabhedena* and take the two *pāda*s to be referring to *bhedana* and *praveśana* respectively.

374 "a condition of bliss" *(ānandabhāvatvam)* : Ballāla (f. 59r[4]) quotes (without attribution) the following to explain *ānanda*: *yathā ratau yathā ca miṣṭabhojane yathā suṣuptau iti* , "like [the feeling experienced] in love-making, eating sweets and deep sleep".

375 "a decrease in sleep" *(nidrāhāniḥ)* : *Khecarīmudrā* is said to remove the need for sleep at *HP* 3.38. In the *Haṭharatnāvalī* (f. 5v[5]) the adept is described as *tyaktanidraḥ*, "not sleeping".

376 "social intercourse" *(saṃgamam)* : cf. *Yogasūtra* 2.40: *śaucāt svāṅgajugupsā parair asaṃsargaḥ,* "from purification [arises] disgust for one's own body [and] not mixing with others". Forsaking company *(janasaṅgavivarjana)* is said to lead to perfection of yoga at *HR* 1.78. Both $\mu$ and G read *saṃgamam* here while most of the other witnesses have *saṃgame.* Ballāla (f. 59r[8]) understands *saṃgame* to mean *amṛtasthānajihvāgrasaṃyoge*, "on the conjunction of the tip of the tongue and the place of *amṛta*".

377 "food-consumption" *(bhojanam)* : in the texts of *haṭhayoga* and amongst today's *haṭhayogin*s there are two different attitudes towards food consumption. As a result of success in yoga, the yogin either eats very little (e.g. *HP* 4.75) or he can eat as little or as much as he likes without any effect (e.g. *DYŚ* 157). Before attaining *siddhi*, however, the aspirant must curb his appetite (e.g. *HP* 1.15, *ŚS* 3.20, *GhS* 5.16) but he should not fast (e.g. *GhS* 5.31, *ŚS* 3.36). Cf. *Bhagavadgītā* 6.16–17.

378 "With his seed turned upwards" *(ūrdhvaretāḥ)* : this is the only mention of semen-retention in the text. Other haṭhayogic texts put much more emphasis on *khecarīmudrā*'s usefulness in preventing the loss of semen (see e.g. $GŚ_N$ 69, which is reproduced at *HP* 3.41, and on page 29 of the introduction).

379 "endowed with the [eight] powers whose first is minuteness" *(aṇimādiguṇānvitaḥ)* :

the *locus classicus* for these eight *siddhi*s is Vyāsa *ad Yogasūtra* 3.44: *aṇimā*, "minuteness", *laghimā*, "weightlessness", *mahimā*, "hugeness", *prāpti*, "the ability to reach anywhere at will", *prākāmya*, "the ability to do what one wants", *vaśitva*, "control over elements and animals", *īśitva*, "sovereignty" and *kāmāvasāyitva*, "effecting one's desires". Ballāla (f. 59v$^{3-4}$) gives a list which has *garimā*, "heaviness", in place of Vyāsa's *kāmāvasāyitva*. *MaSaṃ* 18.36c–37b substitutes *garimā* for Vyāsa's *mahimā*. VASUDEVA (2004:364–365) translates Kṣemarāja's interpretation of the eight *siddhi*s (or *guṇa*s) as given in his *Svacchandatantroddyota ad* 10.1073 and adduces parallels from other tantric Śaiva works.

380 Śrī, "splendour", is a name of Lakṣmī, the consort of Viṣṇu. Ballāla calls her Yogīśā (f. 60r[3]).

381 Vāgīśā, "the goddess of speech", is a name of Sarasvatī, the consort of Brahmā. See 1.49 and note 366.

382 "the fetter of death" *(bandhamṛtyuḥ)* : this is the *fraenum linguae* or frenum, the binding tendon at the root of the tongue. It is called *bandhamṛtyu*, "the fetter of death" because it ties down the tongue, preventing it from reaching *amṛta*, "non-death". See 1.46 and note 230. One would expect this compound to be *mṛtyu-bandhaḥ*. Ballāla makes no comment on the odd order of its elements.

383 "o mistress of the host" *(gaṇāmbike)* : the host *(gaṇa)* is Śiva's troop of attendants.

384 This is the area in the middle of the skull described at 2.57.

385 "absorption in it" *(tallayam)* : Ballāla (f. 61r[1]) understands *tallayam* to mean either *tatra sthāne layam*, "absorption at the place of Śambhu", or *tasya manaso layam*, "absorption of the mind". I have taken *tat* to refer to *unmanī*.

386 "with [inner] vision" *(dṛśā)* : it is of course impossible to look at the tip of the tongue when it is in the cavity above the palate so we must assume some sort of internal "sight". Ballāla (f. 61r[4]) glosses *dṛśā* with *aṃtardṛṣṭyā*. After a passage on *laya* at *HP* 4.23–34, we hear of the *śāmbhavīmudrā* (which brings about the same result as *khecarīmudrā*—*HP* 4.37—and is called *khecarīmudrā* in one manuscript of the *HP* and in a quotation of the passage in the *BKhP* at f. 72r[2]) in which the yogin is to dissolve his mind and breath in the internal *lakṣya*: *antarlakṣyavilīnacittapavanaḥ* (4.37a). *SSP* 2.26–27 describes four *antarlakṣya*s. In the *HP* and *SSP*, however, there is no mention of "sight", as such; only forms from $\sqrt{}$*lakṣ* are used. Cf. *ŚS* 5.37; *MaSaṃ* 18.29 mentions a *lakṣa* at the forehead. It may be that G's *tadā* is the original reading. The reading *rasān* found in $\gamma$ is perhaps inspired by the idea that the tongue tastes different flavours during the practice, an idea found in many other texts that describe the practice (see page 22 of the introduction), but not in the *Khecarīvidyā*.

387 "perfect" *(heyopādeyavarjitam)* : on this adjective see note 319.

388 In contrast with the rest of the *Khecarīvidyā*, 2.107–115 fits the first of the two yogic paradigms described at *ŚP* 4365a–4371b in which the yogin is to raise his mind and breath by way of the central channel and cause *bindu* to enter the void. Among other rewards, he becomes *ūrdhvaretāḥ*—his seed turns upwards. *Amṛta*, Kuṇḍalinī and *cakra*s are not mentioned. On the two paradigms and their attempted synthesis in haṭhayogic works, see pages 28 to 30 of the introduction.

389 "The Ethereal Gaṅgā" *(ākāśagaṅgā)* : the homologue of the Gaṅgā in haṭhayogic

physiology is the Iḍā *nāḍī* (see *KhV* 3.10). However, Iḍā only goes as far as the left nostril (*TŚBM* 70, *VS* 2.39) and is never said to reach the cranial vault (*ākāśa*—see note 265). It is thus unlikely to be the referent of *ākāśagaṅgā*. On the macrocosmic level there is an ideal homologue of this *ākāśagaṅgā* in the high Himālaya: the Ākāśa Gaṅgā flows from Tapovan, above Gaumukh, the glacial source of the Gaṅgā.

**390** "he instantly becomes a master poet" *(kavitvaṃ labhate kṣaṇāt)* : Sarasvatī (see note 235) bestows *kavitva*. At $GŚ_N$ 147 (≃ *ŚS* 3.84) the yogin is said to become a *kavi* by pressing the tongue against the *rājadanta*, drinking *[amṛta]*, and meditating on the goddess that consists of *amṛta (amṛtamayīṃ devīm)*. Cf. *SYM paṭala* 12 in which the *sādhaka* attains *kavitva* by visualising the goddess Parā (who is associated with Sarasvatī: Sanderson 1990:43-51) as pouring nectar into his mouth.

**391** Meditation on Lakṣmī bestows kingship. Cf. *MaSaṃ* 34.58 where the the *rājya-lakṣmī* mantra is said to make the Kaula practitioner a king.

**392** "five innate constituents" *(sahajāḥ)* : I have not come across any parallels of this usage of *sahajā* nor a similar set of innate physical constituents in any other text.

**393** "which embodies the supreme" *(paramātmake)* : this description of the body is odd. It is tempting to take *paramātmake* as a vocative addressed to the goddess (wrongly written for *paramātmike*) but such a usage is not attested elsewhere.

**394** "through the fall of the father" (*pitṛkṣayāt)* : witnesses $\mu$ and G have *pitṛkṣaṇāt* and *parikṣaye* respectively here, neither of which seems better than *pitṛkṣayāt* which is found in S$\alpha\beta$. This unusual compound is glossed by Ballāla (f. 62r[7]) with *pitṛśarīrāt* which has then been altered in the margin by a later hand to *pitṛvīryāt*. *Pitṛkṣayāt* has a disparaging sense to it and Alexis Sanderson has suggested that it may be some sort of yogic slang, implying a condemnation of householders who do not retain their semen. In Āyurvedic works, *kṣaya* refers to the decline of a bodily element *(dhātu)*: see Meulenbeld 1974:458–9.

**395** In the ninth month according to Ballāla (f. 62r[8]).

**396** "he should insert" *(viśet)* : *viśet* is being used here with a causative sense; in 124b it may be taken as indicative or causative.

**397** In 123a–124b, the gender of *sahajā/sahaja* is somewhat confused throughout the witnesses. In 121c–122d it takes the gender of its referent and I have kept these genders in 123a–124b. No other witness does the same but it is the only way I can see of being consistent.

**398** "o Lady of the Kula" *(kuleśvari)* : Ballāla (f. 63r[1]) understands *kuleśvari* to mean the "Mistress of Kuṇḍalinī"—*kulā kuṇḍalinī tasyā īśvari niyaṃtre*. In Kaula tantric works, Kuleśvarī is the highest goddess, the consort of Kuleśvara. See also note 6.

**399** "insert" *(praviśya)* : for similar instances of $\sqrt{vi\acute{s}}$ having an indicative form and causative sense see 2.123d and 3.3a. Ballāla (f. 63r[10]) also understands it thus, glossing *praviśya* with *praveśayitvā* and *praviśet* (3.3a) with *praveśayet* (f. 63v[1]). In this passage (3.1–4) the subjects of the verbs are not clear. This is indicated by the confusion among the witnesses over whether Kuṇḍalinī is the object or subject in verse 1. I have chosen to adopt the readings of $\mu$ and G in which she is the object of *praviśya* (the use of *praviśya* with a causative sense adds to the subject/object confusion). I thus take *yogī* to be the subject of all the verbs in this passage. It is tempting to take Kuṇḍalinī as the subject of *pītvā* and *viśrāmya* in 4a (cf. *ṢCN* 53a where Kuṇḍalinī

drinks the *amṛta* herself; at *KhV* 3.41c the tongue *(vāgīśī)* rests in the *amṛta*) but the yogin is clearly the subject of *vibhāvayet* and even in *aiśa* Sanskrit absolutives and main verbs usually share a subject.

400 Ballāla understands 3.1–31 to be an expansion of the description of the five *sahajā*s given at 2.120–124. Thus Kuṇḍalinī is described at verse 1, Suṣumṇā at 8, the tongue at 16, the palate at 23 and the *brahmasthāna* at 28. This somewhat forced schema may be due to the corrupt reading *paṃcamam* found at 3.24a in all the witnesses except μ and G (which have the correct *pavanam*). At f. 71r[3] he takes *paṃcamam* to refer indirectly to the fifth *sahajā*, glossing it with *binduṃ sthānagalitam*.

401 "the bolt of Śiva's door" *(śivadvārārgalam)* : the *śivadvārārgala* is the *brahmārgala*. See 2.11a and 2.12a where *brahmadhāma* and *śivadhāma* are identified with one another, and note 245.

402 "by holding the breath" *(kumbhakena)* : Ballāla (f. 63r[11]) takes *kumbhakena* with *bhittvā*. This seems unlikely since *kumbhaka* is not mentioned as necessary for piercing the *brahmārgala* in *paṭala*s 1 and 2 while breath-retention is often invoked as the means of forcing Kuṇḍalinī upwards (see e.g. 2.35, 2.41cd).

403 On *praviśet* being taken as having a causative meaning see note 399. I understand its object to be Kuṇḍalinī. It could perhaps be the tongue but I have decided against understanding it thus for two reasons: firstly, there is no need to use *kumbhaka* to insert the tongue into the passage above the palate; secondly, if Kuṇḍalinī were not meant here, there would have been little point in mentioning her in verse 1. Ballāla (f. 63v[1–2]) also takes Kuṇḍalinī as the object, explaining that she is to be cooled down after being heated up in the course of her awakening: *pūrvaṃ yā ⌈vā⌉yvagninā taptā ⌈sā⌉ mṛtena śītā bhavatīti tātparyam*.

404 "he becomes a Khecara" *(khecaratvaṃ prajāyate)* : as at 1.75, Ballāla (f. 63v[5]) glosses *khecaratvam* with *devatvam*.

405 "cheating death" *(vañcanaṃ kālamṛtyoḥ)* : see 3.43–47 for a description of *kālavañcana* by means of this technique. I have emended μ's *kālamṛtyuś ca* to *kālamṛtyoś ca* to avoid adopting the unlikely plural *kālamṛtyūnām* found in the other witnesses. Ballāla (f. 63v[9]) explains the plural as referring to the omens of death that he is about to describe (on which see note 430): *bahuvacanaṃ tu vakṣyamāṇāriṣṭanimittam*.

406 "wandering throughout the three worlds" *(trailokyabhramaṇam)* : Ballāla explains *trailokyabhramaṇam* with *aṃtarikṣamārgeṇa guṭikāvat* "by way of the atmosphere like [when] a pill *(guṭikā)* [is consumed]" (f. 63v[9–10]). A marginal note describes the pill: *sā ca siddhapāradāder vihitā* "it is made from fixed mercury etc.". Cf. the *khecarīsiddhi* described in *MKSK paṭala* 6 which is achieved by means of, among other techniques, a *guṭikā*.

407 On these eight powers see note 379.

408 "luminous" *(jyotirūpiṇī)* : this is an *aiśa* sandhi form, avoiding the correct *jyotīrūpiṇī* which would be unmetrical. Ballāla (f. 65r[8]) identifies Suṣumṇā with the Sarasvatī *nāḍī*: *suṣumṇākhyā sarasvatīti*. This is very unusual—they are normally differentiated: see e.g. *DU* 4.7 where Sarasvatī is said to be at the side of Suṣumṇā.

409 "free of the qualities of colour and shape" *(varṇarūpaguṇais tyaktam)* : Ballāla (f. 65r[9]) understands *varṇa, rūpa* and *guṇa* to refer to consonants, colours and the

three *guṇas*: *varṇāḥ kakārādayaḥ rūpaṃ śuklādi / guṇāḥ satvādayaḥ*. Surprisingly, for *tyaktam*, $\mu$ has *sākam* and G has *yuktam*, both meaning "with".

**410** Cf. *HP* 3.106, *ŚS* 5.170. DASGUPTA (1976:97) quotes a passage from Ḍombīpāda (song No. 14) in which "the boat is steered through the middle of the Ganges and the Jumna". See note 259.

**411** "an immortal body forever" *(sadāmṛtatanuḥ)* : the original reading here may well have been that of G and M, *parāmṛtatanuḥ*, altered in most of the *KhV* witnesses to suggest the idea of liberation in an eternal body. Cf. 3.31d.

**412** "the place beyond the Supreme Lord" *(parameśāt paraṃ padam)* : i.e. the *liṅga* in the vessel of *amṛta* described at 2.60a–63b (which is above Parameśa, the Supreme Lord, whose location is taught at 2.57).

**413** Only $\mu$ reads *sudhayā śiśirasnigdhaśītayā*; all the other witnesses have variants on *atha sā śaśiraśmisthā śītalā* "then, she, cool, sitting on a moonbeam". I might have adopted the picturesque latter reading were it not for *siñcantī* at 13a which requires a main verb before the sentence can be ended by a conjunction such as *atha* (the obvious emendation *siñcati* is unmetrical).
Ballāla (f. 65v[8]) interprets *siñcantī* with *dvisaptatisahasranāḍīgaṇam amṛtenāhlādayati*, "she refreshes the 72,000 *nāḍīs* with *amṛta*". Kuṇḍalinī's return to the *mūlādhāra* is described at *ṢCN* 53.

**414** "into the Three-peaked Mountain" *(trikūṭe)* : on *trikūṭa*, "the Three-peaked Mountain", see note 259.

**415** "free from the process of time" *(kālakramavinirmuktam)* : Alexis SANDERSON made the emendation *kālakrama°* which I have adopted here. I have adopted the same form at 3.20b and 20c where only $J_4$ has *°krama°* and have emended 3.21a likewise. It is time that is under discussion here, not action, so *°krama°* is preferable to *°karma°*. Ballāla (f. 67r[3]) takes *kālakarma* to mean time and action, glossing *karma* with *kriyā calanādi*.

**416** i.e. the yogin should hold his breath to stop it flowing in Iḍā and Piṅgalā. He thereby forces it into Suṣumṇā ("the place where day and night are suppressed"). Cf. *MaSaṃ* 44.23cd *nāḍīdvayaṃ divārātriḥ suṣumṇā kālavarjitā*, "the two channels are day and night; Suṣumṇā is timeless". See also Dādu *sākhī* 16.22 (CALLEWAERT & DE BEECK 1991:174). *KhV* 3.19 is found at *HP* 4.42. Brahmānanda, in his *Jyotsnā* commentary on the verse, understands *liṅga* to mean *ātman*. The next verse (*HP* 4.43) equates *khecarīmudrā* with the flow of the breath in the central channel: *savyadakṣiṇanāḍistho madhye carati mārutaḥ / tiṣṭhate khecarī mudrā tasmin sthāne na saṃśayaḥ //*.

**417** This is one of the few instances where I have adopted a reading of $\beta\gamma$ *(cedam)* over that of $\mu\alpha$ (*devam/liṅgam*; $J_6$ has *vedaṃ* while G's *(ahorātram avi)cchedam* is probably a scribal emendation). S does the same—*devam/liṅgam* makes no sense in the light of verse 17—and glosses *idam* with *pratyakṣaṃ viśvaṃ dehaṃ vā*, "the perceptible universe or the body" (f. 70v[2]).

**418** "death is defeated" *(kālamṛtyujayo bhavet)* : Ballāla (f. 70v[7–8]) gives two possible ways of analysing the compound *kālamṛtyujayaḥ* : *kālasya mṛtyoś ca jayaḥ kālādhīno mṛtyur iti vā / tasya jayaḥ,* "defeat of time and death, or defeat of that death which is dependent on time". I have understood it to have the latter meaning.

419 "with the flower of thought" *(bhāvapuṣpena)* : *KJN* 3.24–27 lists eight *puṣpa*s with which the internal *liṅga* is to be worshipped. The *bhāvapuṣpa* is the fourth. The *Bṛhatkālottara* (NAK 1-89/NGMPP B 24/59) contains an *aṣṭapuṣpikāpaṭala* (f. 136v[1]–f. 137v[2]) which describes four varieties of this internal and abbreviated Śaiva worship. Only the first includes the *bhāvapuṣpa* which is last in the list of eight "flowers". See also *Harṣacarita* p.35 ll.5–8 and p.175. (I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with references from these last two sources.) See also *KT* 59.28–32.

420 "pointing towards the upper mouth" *(ūrdhvavaktragām)* : it may be that *μ*'s *ūrdhvavaktrakām* was the original reading, with the sense of "having the mouth pointing upwards" where "mouth" refers to the tip of the tongue, with which *amṛta* is tasted. The reading *ūrdhvavaktragām* suggests a plan of the body found in many haṭhayogic texts (but not in the *KhV*) in which the *amṛta* tasted by the tongue flows through the *śaṅkhinī nāḍī* and emerges at the *daśamadvāra* which is situated at the *rājadanta* (the uvula). See e.g. *AŚ* p.11 l.1, where the aperture is called both *mukharandhra* and *śaṅkhinīmukha*, and *SSP* 2.6. Cf. *KhV* 2.81.

421 "with a whistling sound" *(śītkāreṇa)* : in the *sītkārī prāṇāyāma* described at *HP* 2.54–56 a whistling sound is made as the yogin inhales through his mouth.

422 "in the supportless space" *(nirālambe pade)* : i.e. practising *dhyāna* without an object. At *HP* 4.4, *nirālamba* is mentioned in a list of synonyms of *samādhi*.

423 "natural yoga" *(sahajaṃ yogam)* : like *nirālamba* and *unmanī* (on which, see note 324) *sahaja* is given as a synonym of *samādhi* at *HP* 4.4. In tantric texts *sahaja yoga* is a state that arises naturally, without being forced (personal communication from Alexis SANDERSON). DIMOCK, analysing the *Caryāpāda*s of the Vaiṣṇava Sahajīyas, writes "The state of sahaja is one of utter harmony, in which there is no motion, no passion, and no differentiation" (1991:42 n.3). Ballāla (f. 71r[4]) understands *sahajaṃ yogam* to mean *yoga* using the five *sahajā*s described at 2.120–124.

424 "on the circle of sixteen vowels" *(ṣoḍaśasvaramaṇḍale)* : this is the *viśuddhacakra* at the throat. See e.g. *KMT* 11.44a–99b, *ṢCN* 28, *ŚS* 5.121. Ballāla (f. 100r[5–6]) writes: *atha kaṃṭhe viśeṣeṇa śuddhir yebhyas te viśuddhayo 'kārādivisargāṃtāḥ ṣoḍaśārā(ṣoḍaśārā° ] em.; ṣoḍaśā*a° S)bhidhāḥ svarāḥ caṃdrakalās teṣāṃ tatra sthitākhyā yata iti tadākhyaṃ* /. Placing the chin on the throat is part of the *jālandharabandha* technique described in note 267.

425 During my fieldwork many people told me that *khecarīmudrā* was used by *haṭhayogin*s to enable them to stay in a state of extended *samādhi*. Ballāla, commenting on this verse, writes (f. 72v[7]): *eṣa cirakālasamādhyupāyaḥ*, "this is the means to long-term *samādhi*". He goes on to say that it should be done in a mountain cave, in the ground or in a *maṭha* of certain specifications. There should be a *śiṣyasaṃrakṣaṇagrāmakam*, "a group of pupils to protect him" (or perhaps "a small village [nearby] to look after a pupil"), *yato dehasaṃrakṣaṇam āvaśyakam*, "because the body [of the yogin] must be looked after [by one of his pupils]" (f. 72v[8]).

Writing in 1342 CE, Ibn Battūta reported of the *jokī*s (yogīs): "These people work wonders. For instance one of them remains for months without food and drink; many of them dig a pit under the earth which is closed over them leaving therein no opening except one through which the air might enter. There one remains for

months and I have heard that some jogis hold out in this manner for a year" (Husain 1953:164). Honigberger (1852:127–131) recounts the celebrated story of the "faqueer" Hari Dās who in 1837 was buried for forty days in a locked chest in a garden in Lahore. He was exhumed in front of "a great number of the authorities of [Maharaja Ranjit Singh's] durbar, with General Ventura, and several Englishmen from the vicinity" and revived. Describing those who practise this technique, Honigberger continues (ibid.:129): "those who do succeed must undergo a long and continual practice of preparatory measures. I was informed that such people have their *fraenulum linguae* cut and entirely loosened, and that they get their tongue prominent, drawing and lengthening it by means of rubbing it with butter mixed with some pellitory of Spain, in order that they may be able to lay back the tongue at the time they are about to stop respiration, so as to cover the orifice of the hinder part of the *fosses nasales*, and thus...keep the air shut up in the body and head". Sir Claude Wade witnessed the revival and reported that Haridas's servant "after great exertion opened his mouth by inserting the point of a knife between his teeth, and, while holding his jaws open with his left hand, drew the tongue forward with his right,—in the course of which the tongue flew back several times to its curved position upwards, in which it had originally been, so as to close the gullet" (Braid 1850:13). Boileau (1837:41–44) describes a similar spectacle that took place at Jaisalmer adding that "the individual...is, moreover said to have acquired the power of shutting his mouth, and at the same time stopping the interior opening of the nostrils with his tongue" (ibid.:43). Cf. the seventeenth-century account given by Tavernier (1925:156). Monier-Williams (1878:50–53) reports two such attempts at "Samādh", both duplicitous. In the first, the practitioner's "friends were detected by the villagers in pouring milk down a hollow bamboo which had been arranged to supply the buried man with air and food. The bamboo was removed, and the interred man was found dead when his friends opened the grave shortly afterwards" (ibid.:50). Brunton (1995:112–120) describes in detail a meeting with an Egyptian *fakīr* who used the *khecarīmudrā* technique to enter a state of catalepsy. The technique, says the *fakīr*, was originally developed by Indian yogins. At every Kumbh Melā since the 1992 Ujjain Siṃhasth, a yogin called Pilot Bābā, together with a Japanese disciple, have remained in an open pit for periods of up to a week, emerging with much ceremony in front of large crowds. See also Siegel 1991:168–170.

**426** "at that place" *(tatpadam)* : Ballāla f. 72r$^{1-2}$ understands *tat* to be referring to *brahman*: *oṃ tat sad iti trividho brahmanirdeśaḥ.*

**427** "lifeless" *(nirjīvavat)* : cf. *AY* 1.39, *KJN* 14.82–85, *MVUT* 17.22c–23b, *Svāyaṃbhuvasūtrasaṃgraha* 20.33–35 (as edited by Vasudeva, 2004:435). Ballāla (f. 71v$^{10}$) notes the objection that if the body seems lifeless then surely a bad smell and other signs of putrefaction *(daurgandhyādi)* that are found in a corpse will arise. But this is not the case, he says: it is contraindicated by the use of *bhāti* (his reading for *bhā vi°*).

**428** Ballāla (f. 72v$^{6-9}$) describes the yogin's state here as *samādhi* and mentions in passing some bizarre techniques for both reaching and returning from *samādhi* practised by other schools: *anye bahvabhyāsena jñātābhyaṃtaranāḍīviśeṣamardanenāpi taṃ*

*kurvaṃti kārayaṃti ca* / *eke tu śavāsanasthit* āḥ sv* obhayapādāṃguṣṭhāgrāṃtarmana-sai*[*kā*]*gratāyāṃ ca taṃ kurvaṃti* / ... *tatra samādhyavatāropāyaḥ bāhyavāyusparśaḥ śirasi navanītaghṛtādimardanaṃ* / *tadavatāravelāyāṃ devamūrttyādi tannetrāgre dhā-rayen na śiṣyādis tiṣṭhed...* /. "Others, after lots of practice, use a special massage of an internal channel that they have discovered to enter *[samādhi]* (and cause others to enter it). Some enter it in the corpse pose, once they have focussed their minds on both their big toes... The touch of fresh air [or] massaging the head with butter, ghee etc. are the means of bringing [the yogin] round from *samādhi*. When bringing him round one should hold an image of a deity or such like in front of his eyes. Pupils etc. should not stand [in front of him]." At the 1998 Hardwar Kumbh Melā, Raghuvar Dās Jī Yogīrāj tried to induce *samādhi* in me by squeezing the sides of my neck. I backed away as I started to feel faint. The corpse pose practice is taught at *DYŚ* 46–48.

**429** "which consists of an eternal body" *(nityadehamayam)* : S$\alpha\beta\gamma$ have *nitya°* here where $\mu$ and G have *tyaktvā*. This indicates a doctrinal difference between the earlier and later recensions of the text. In $\mu$ and G *śivatvam* happens after death; the later tradition wants *śivatvam* in an eternal body. The original idea behind 31ab was of Kuṇḍalinī breaking out of the top of the skull (resulting in physical death for the yogin) rather than just entering the abode of Brahmā (as has already been described at 28cd). The use of *vrajati* (in contrast to *vasati* at 28d) confirms that this was the meaning intended in $\mu$ and G.

The readings for 31d found in the later tradition are slightly awkward. That of $\alpha_2$, *nityadehamayam*, is better than the *nityadeham imam* of the other witnesses and I have thus adopted it.

**430** Cf. *DYŚ* 251–258 (=*YTU* 107-111), which describes how the yogin can leave and return to his body at will.

Ballāla here embarks on a long excursus about *ariṣṭāni*, ways of forecasting impending death, including, among several others, palmistry, pulse-reading, dream analysis and shadow-inspection (f. 73r[1]–f. 75v[4]). (*Ariṣṭajñāna* (or *kālajñāna*) is also taught at *MVUT* 16.48–52, *Dīkṣottara samudāyaprakaraṇa* 59 (Vasudeva 2004:361), *Mataṅgapārameśvara yogapāda* 4.98cd–100ab, *TĀ* 4.127–144, *KMT* 23.1–80, *Mārkaṇḍeyapurāṇa adhyāya* 43 (of which vv. 3–26 are cited at *ŚP* 4564–4590), *VS adhyāyas* 7–8, *YBD* 11.135–143, in the ninth *upadeśa* of the ten-chapter *HP* (*H*3) and in vv. 761–772 of the *Jogpradīpakā*. On *ariṣṭa* in medical literature see Meulenbeld 1974:442.) Then, at f. 75v[4–7], Ballāla gives three ways (corresponding to the techniques described in *KhV* 3.32c–43b, 43c–47d and 48a–55b) in which the yogin might deal with impending death: *itthaṃ kālamṛtyum upasthitaṃ vijñāya yadā yogino buddhir imaṃ dehaṃ tyaktuṃ bhavet sā ca trividhā* / *samādhāv aikya-bhāvinī kālavaṃcanī atyaṃtamokṣagāminī ca* / *tatrāpi prathamā dvidhā* / *svadehe jīve-śaikyabhāvinī* / *paradehe svātmabhāvinī* / *aichikā parakāyapraveśarūpā ceti* // *dvitīyāpi dvidhā* / *kevalasamādhyā kālātikramāṃtā* / *sarvadhāraṇayā tadaṃtā ceti* / *tṛtīyā tu svechotkrāṃtyā brahmaikyasaṃpādinī* /. "Having thus realised that death is at hand is 'when the resolve of the yogin is to abandon this body'. And it [i.e. the resolve] is of three kinds: bringing about unity in *samādhi*, cheating death and going to final liberation. Of these, the first can take two forms: bringing about in one's body the

union of the vital principle with the Lord, and manifesting oneself in the body of another (this takes the form of willful entry into another's body). The second can also take two forms: by means of the highest *samādhi* until the time [of death] has passed, and by introspection of all [objects] until that [time] has passed. The third brings about union with Brahmā by means of voluntary yogic suicide."

**431** I have taken *jīvānilam* as a *dvandva*; Ballāla (f. 76v$^{3}$) takes it as a *karmadhāraya* (see also note 251).

**432** Ballāla (f. 76v$^{4-7}$) adds that the yogin is to inhale with the right nostril: *piṃgalāmārgeṇa pūrakapūrvakaṃ kumbhakaṃ saṃprāpya.*

**433** The Svādhiṣṭhāna centre is in the region of the genitals—see e.g. *GŚ*$_{N}$ 22. Here Śiva is describing Kuṇḍalinī's ascent through the six centres that are the basis of a system of subtle physiology found in some haṭhayogic texts (e.g. *GŚ*$_{N}$ 15–16, *ŚS* 5.77–155, *Yuktabhavadeva* 3.234–252—a seventh centre, the Sahasrāra, is added in these texts) and which has become today the most widely accepted model of the body. In the texts of *haṭhayoga* there are many different systems of *cakra*s (see e.g. *SSP* 2.1–9 which lists nine *cakra*s and Kavirāj 1987, who describes a list of 26 *cakra*s given in a manuscript of the *Vairāṭapurāṇa*) and this reflects the even greater variety of such systems found in earlier tantric works. The first systematic description of the six *cakra*s can be found in *paṭala*s 11–13 of the *Kubjikāmatatantra.* (An earlier, but vague, reference to six *cakra*s can be found at *Mālatīmādhava* 5.2; a description of raising the breath through six centres which are not called *cakra*s is given at *Bhāgavatapurāṇa* 2.2.19c–21d). White (1996:134) suggests that the earliest systematic description of the six *cakra*s is found at *KJN* 17.2b–4a. 17.2c–4b reads: *gūḍhaṃ guhyaṃ sanābhiñ ca hṛdi padmam adhomukham //2/ / samīrastobhakaṃ cakraṃ ghaṇṭikāgranthiśītalam / nāsāgraṃ dvādaśāntaṃ ca bhruvor madhye vyavasthitam //3// lalāṭaṃ brahmarandhraṃ ca śikharasthaṃ sutejasam /.* The text is obscure and possibly corrupt but there are clearly at least eight *cakra*s listed and probably as many as eleven. 17.4cd implies that they number eleven: *ekādaśavidhaṃ proktaṃ vijñānaṃ dehamadhyataḥ.* (In a later article (2003:147) White acknowledges that this passage describes eleven *cakra*s.) As White also notes (ibid.:423 n.86), at *KJN* 5.25–28 there is another of the text's many lists of centres in the body, which, although again rather obscure, does describe seven centres, of which five have locations similar to those of the *cakra*s in the *KhV* and other haṭhayogic texts. At *KJN* 10.6–8 there is a list of eight *cakra*s of which six correspond to those described here in the *Khecarīvidyā.*

**434** The Maṇipūra *cakra* is at the navel. See e.g. *GŚ*$_{N}$ 23. (But cf. *GŚ*$_{N}$ 25 where the *kanda,* which in verse 23 is situated at the *nābhimaṇḍala* and is the site of the *maṇipūrakacakra*, is said to be below the navel. This discrepancy (or, perhaps, textual corruption) is noted by Ballāla at f. 99v$^{7}$.)

**435** The Anāhata centre is located at the heart. See e.g. *ŚS* 5.113.

**436** i.e. the Viśuddhi/Viśuddha *cakra* at the throat. See e.g. *KMT* 11.44a–99b, *ṢCN* 28–29. The mixing of metaphors in the description of this "lotus" as "sixteen-spoked" is curious. As a lotus, this centre is usually said to have sixteen petals (*GŚ*$_{N}$ 15c–16b); one would expect it to be called a wheel *(cakra)* when described as

sixteen-spoked. The emendation of *padme* to *cakre* is tempting but nowhere else in the *KhV* is *cakra* used in this sense.

437 The Ājñā centre is located between the eyebrows. See e.g. *ŚS* 5.128.

438 "rest" *(viśrāmam)* : see *JRY* 4.2.159 and *NT* 7.13 for similar descriptions of relaxation in the ocean of *amṛta*.

439 Here Ballāla has an excursus on *parakāyapraveśa*, "entering another's body" (f. 77v[8]–f. 79r[7]). *Jogpradīpakā* 797–804 describes this practice and Alexis SANDERSON has provided me with the following references to Śaiva passages on this topic: *Niśvāsamūla* (NAK 1-277/NGMPP A 41/14) 7.20; *Svacchandatantra* 7.328c–329b; *Picumata* (NAK 3-370) 3.228–232b, 5, 96.19–35; *MVUT* 21.9–19; *TĀ* 28.294–300; *JRY* f. 195v (vv. 197c–204b), 3.5.31–32b, 4.2.397c–400b; *Liṅgapurāṇa* 1.24.128–130; *Vāyupurāṇa* 1.23.209–211. RAMA (1978:437–463) tells of witnessing yogins abandoning their bodies and entering those of others.

440 *Kālavañcana*, "deceiving death", is a common motif of tantric and haṭhayogic texts. Indeed, mastery over death is the *sine qua non* of the perfected *haṭhayogin*: yoga is said to be *kālasya vañcanam* at $GŚ_N$ 5–6; the *mahāsiddhas* listed at *HP* 1.5–9 are said to have broken the rod of death (*khaṇḍayitvā kāladaṇḍam*); vernacular tales of Yama's rough treatment at the hands of the Nāths are common (see ELIADE 1969:313–317). Techniques of *kālavañcana* similar to that of the *KhV* but using visualisations of *amṛta* alone and not involving the tongue can be found at *SYM paṭala* 11, *MVUT* 16.53–54, *Svacchandatantra* 7.217d–226b, *NT* 7.37–53 and *VS* 4.41–46, 6.32–41. The methods taught at *KJN* 6.16–28, *ŚP* 4598–4612, *YBD* 11.144–161, in the last *upadeśa* of the ten-chapter *HP* ($H_2$) and at *Jogpradīpakā* 773–9 do employ the tongue. At *GBS* 219ab the tongue is associated with *kālavañcana: jibhyā indrī ekai nāl jo rākhai so baṃcai kāl*, "the tongue and the penis [are joined by] one channel; who knows this deceives death". On the corporealisation of subtle tantric practices see page 27 of the introduction.

441 "knowing the apportionment of [the locations of] death" *(kālavibhāgavit)* : i.e. knowing the division described at 3.44c–45b. Alternatively, the compound could be understood to mean "knowing the apportionment of the time of death", i.e. having *ariṣṭajñāna*—see note 430. As Ballāla says at f. 79v[1], *kāla* can of course mean both time and death: *kālo dvividhaḥ yamo 'tītādivyavahārahetuś ca |*.

442 "death" *(kālam)* : I am taking *kālam* to be an *aiśa* neuter and the subject of *vrajati*.

443 i.e. with Kuṇḍalinī in union with Śiva in the ocean of *amṛta* above the gateway of Brahmā.

444 "supremely content" *(paramasaṃtuṣṭaḥ)* : Ballāla (f. 81r[8]) glosses *paramasaṃtuṣṭaḥ* with *na tu kiṃcidicchayāsaṃtuṣṭaḥ | punarjanmaprasaṃgāt |* "not unsatisfied because of the slightest desire, because it would [then] undesirably follow that he would be reborn".

445 "the rock of Brahmā" *(brahmaśilām)* : this rock *(śilā)* is perhaps the same as that at the top of the forehead described at 2.25. Ballāla (f. 81r[10–11]) says that it is like a rock blocking the way to *brahman*: *brahmanirodhakām (em.; brahmaṇo rodhekām* $S^{pc}$*, brahmaṇaḥ rodhakāṃ* $S^{ac}$*) śilām iva*, and locates it at the crown of the head where the fontanelle is found in infants and where [dead] renouncers' skulls are to be smashed with a conch shell: *yatra bālaśirasi mṛdulaṃ tatraiva ca saṃnyā-*

*sināṃ śaṃkhena mūrdhā bhettavyo 'ṃtarāla iti*. Witness R2 has the variant reading *brahmasabhāṃ*, "Brahmā's assembly".

**446** i.e. the yogin is to return the microcosmic elements, mind and sense-organs of his body to their macrocosmic origins. Cf. *ŚP* 4531–4541.

**447** "untouched" *(aspṛṣṭaḥ)* : the conjectural emendation suggested by SANDERSON of *adṛṣṭaḥ* and its variants to *aspṛṣṭaḥ* is found in the *BKhP* as a marginal addition by a later hand (f. 82r²).

**448** "the orb of the sun" *(sūryasya maṇḍalam)* : this is the only mention of the *sūrya-maṇḍala* in the text. *Maṇḍalabrāhmaṇopaniṣad* 2.1.5 describes how the *agni°*, *sūrya°*, *sudhācandra°* and *akhaṇḍabrahmatejo° maṇḍala*s are seen in the process of *śāmbhavī mudrā* but these are unlikely to refer to places in the body. Ballāla (f. 82r³) associates the *sūryamaṇḍala* with the Piṅgalā *nāḍī*: *sūryamaṇḍalaṃ piṅgalā sūryanāḍī tanmārgeṇa tanmaṇḍalaṃ pūrakapūrvakakuṃbhakena bhitvā*. His interpretation seems forced: *sūryasya maṇḍalam* almost certainly refers to a region at the top of the head. *ŚP* 4591–4611 describes both *videhamukti* and *kālavañcanā*. To deceive death the yogin seals all ten apertures of the body (4602) and floods it with *amṛta*. To abandon the body he seals only nine doors (4594) and then, using his breath and his mind, he fires the arrow of his soul by way of the tenth door towards the supreme target (4595–6). This tenth door is in the region of the top of the head (see note 240). Cf. *Bhagavadgītā* 8.12–13; *VS* 3.54–56. Descriptions of methods of "yogic suicide" *(utkrānti)* are found in several tantric Śaiva works. See the testimonia to *MVUT* 17.25–34 in VASUDEVA 2004 and the editor's analysis on pp. 437–445; in the *KMT*, the yogin is instructed to perform *utkrānti* when the place of the uvula dries up (23.99a). Alexis SANDERSON has provided me with the following further references to Śaiva passages on *utkrānti*: *Skandapurāṇa* 182.973–977; *Niśvāsakārikā* (NAK 1-277/NGMPP A 41/14 f. 114v ff.) *paṭala* 33; *Sārdhatriśatikālottara* (NAK 5-4632/NGMPP B 118/7) 11.13–19b and Rāmakaṇṭha *ad loc.*; *Bṛhatkālottara Utkrāntyantyeṣṭipaṭala* vv. 1–7 (NAK 1-89/NGMPP B 25/49 f. 187v³ ff.); *Mataṅgapārameśvarāgama Caryāpāda* 9; *Picumata* (NAK 3-370) *paṭala*s 5 and 100; *TĀ* 28.292–302; *Jñānasiddhānta* (Old-Javanese, ed. and tr. Haryati Soebadio, The Hague, 1971). *Yogayājñavalkya adhyāya* 10 teaches how to abandon the body by means of *samādhi*.

**449** "absorbed in Śiva" *(śive līnaḥ)* : in the description of *utkrānti* at *Svāyaṃbhuvasūtra-saṃgraha* 22.2d (VASUDEVA 2004:441 n.214) the yogin is said to be *śivalīnamanāḥ*: his mind is absorbed in Śiva. At *ŚP* 4596 he becomes absorbed in *paramātman*.

**450** Ballāla (f. 82r⁶–f. 82v¹¹) here describes two types of liberation: gradual *(krama-mukti)* and subitist *(kevalamukti)*, citing "Yājñavalkya", the *Tantrarājatantra*, the *Bhāgavatapurāṇa*, and the *Yogasūtra* with Vyāsa's *Bhāṣya*.

**451** Cf. the description of *khecarīmudrā* in the *Haṭharatnāvalī* where it is said that the yogin abandons his body and enters the place of Brahmā at the end of the *kalpa*: *kāyaṃ tyaktvā tu kalpānte brahmasthānaṃ vrajaty asau* (f. 13v¹).

**452** From here to the end of *paṭala* three, witnesses $\mu$ and G vary considerably from each other and from the text as I have presented it. Analysis of their variant readings indicates that $\mu$ preserves the earliest version of the passage and that G represents an intermediate stage between $\mu$ and the other witnesses. $\mu$'s passage is in praise

of *madirā*, "alcohol", and this explicit Kaula ideology has been expunged from the other witnesses who have turned the passage into a eulogy of Khecarī and *śivabhakti*. See pp. 7–9 of the introduction for a detailed comparison of the different versions.

453 We return here to the oldest layer of the text (see pp. 12–13 of the introduction). Thus in this verse *vidyā* would originally have meant the mantra of Khecarī but can now be interpreted as meaning the teachings of the whole text.

454 On *melana/melaka* see note 198.

455 Here Ballāla has an excursus on the various methods of Śaiva worship (f. 85v–f. 86(3)v). Among more orthodox practices he includes at f. 86(1)r[2–3] a ten-fold physical worship from the *Rudrahṛdaya*: *kaṃṭhavikāragadgadākṣarajihvāspaṃdauṣṭhasphuraṇa śarīrakampanaromāṃcasvedāvalaṃbanānirgamarodana pāravaśyatāḥ*. At f. 86(1)r[10]–f. 86(1)v[1] he gives a six-fold *mantranyāsa* from the *Śivārādhanadīpikā* to be performed when bathing in ashes: *om īśānāya namaḥ śirasi oṃ tatpuruṣāya namaḥ mukhe oṃ aghorāya namaḥ hṛdaye oṃ vāmadevāya namaḥ nābhau oṃ sadyojātāya namaḥ pādayoḥ oṃ namaḥ sarvāṃge evam uddhūlayed evaṃ snānaprakramaḥ*. At f. 86(1)v[5] he mentions a *pāśupatavrata* from the *Atharvaśira[upaniṣad]*.

456 "to advance in all types of yoga" *(sarvayogābhivṛddhaye)* : the next nineteen folios of Ballāla's commentary (f. 87v–f. 106v) are devoted to a description of *sarvayoga*, all the various methods of yoga.

457 For descriptions of suitable places for the *haṭhayogin* to carry out his practice see e.g. *DYŚ* 107–114, *HP* 1.12–13. VASUDEVA (2004:247–251) surveys similar descriptions in Śaiva tantric works. *Jogpradīpakā* vv. 671–5 says that while training to practise *khecarīmudrā*, the yogin should stay in a secluded hermitage or forest hut for six months, not speak to anyone, repeat his mantra day and night, eat rice and milk without salt, use the herbal preparations described in its verses 665–670 (which are based on those described in *Khecarīvidyā paṭala* 4), cut his frenum every Sunday, perform *dohana* every fortnight and *mathana* day and night. His tongue will grow by four fingers, he will attain both *bhukti* and *mukti* and have no fear of birth and death.

458 "furnished with all that is necessary for the practice" *(sarvasādhanasaṃyuktaḥ)* : Ballāla (f. 108r[3]) understands *sarvasādhana* to refer to food and medicinal herbs: *svāhārasādhanāni taṃḍuladugdhādīni auṣadhāni śuṃṭhyādīni ca*, "the requisites for his food [such as] rice and milk etc. and medicinal herbs [such as] dried ginger etc.". At f. 108r[9–10] he says how the yogin is to obtain them: *dhanāḍhyarājāśrayeṇa... svīyadravyeṇa vā*, "by recourse to a rich king... or by means of his own wealth".

459 Ballāla (f. 109r[11]) expands *uvāca* with *evaṃ karuṇārdrakaṭākṣeṇa tārakopadeṣṭrā śivena prollāsitā laksyabhinnā pārvatī taṃ pratyuvāca*, "thus gladdened by Śiva, the teacher of salvation, whose sideways glance was wet with [tears of] compassion, Pārvatī, whose purpose had been fulfilled, replied to him".

460 "whose diadem is the crescent moon" *(candrārdhaśekhara)* : by this epithet "Śambhu's altruism is proven—when he holds the moon that consists of *amṛta* at his heart, there is the destruction of [his] poison and fever, but he holds it at his diadem in order to appease the three-fold afflictions of others." (*amṛtātmanaś candrasya*

*svahṛdaye dhāraṇenāpi viṣadāhopaśāṃtisaṃbhave sati śikhare dhāraṇaṃ tu pareṣāṃ trividhatāpaśāṃtaye eveti lokopakāraḥ siddhaḥ* : *BKhP* f. 109v[6–7]).

**461** "who can be attained [only] by true devotion" *(sadbhaktisaṃlabhya)* : the reading *sadbhāva*°, "true essence", found in $\mu W_1$ and G (after 3.56d) may be original: see *KJN* 21.10 where, after giving an exposition of the different Kaula schools, Bhairava declares *"kathitaṃ kaulasadbhāvam"*; cf. ibid. 14.93–94 where *amṛta* is located in the *khecarīcakra* and identified with *kaulasadbhāva*.

**462** This chapter is a later edition to the text. See page 12 for details.
The *Jogpradīpakā* (vv. 665–670) draws on this *paṭala* in its description of various herbal preparations useful in the practice of *khecarīmudrā*.
Four verses in this *paṭala* are not in *anuṣṭubh* metre: verse 2 is in *vasantatilakā*, 3 and 10 are in *upajāti*, and 4 is in *sragdharā*. These different metres have in places confused scribes and account for some of the variants and omissions in the witnesses.

**463** "the highest limb of the mendicant" *(bhikṣūttamāṅgaparikalpitanāmadheyam)* : as explained by Ballāla (f. 110r[9–11]), this compound is a riddle standing for the *muṇḍī* plant (which is mentioned by name in verses 9 and 12). The mendicant *(bhikṣu)* is the *saṃnyāsī* whose highest limb *(uttamāṅga)*, his head, is shaven *(muṇḍa)*. He is thus *muṇḍī*. *Muṇḍī* is *Sphaerantus indicus* Linn. (Dash & Kashyap 1980:54). (When reporting the botanical names of plants mentioned in this chapter I give only those primarily identified with the Sanskrit term; for alternatives the relevant references in Meulenbeld 1974 or Dash & Kashyap 1980 must be consulted.)
Ballāla (f. 110r[9]) introduces his commentary on this verse with *atha muṇḍīkalpam āha*, indicating that he regards this practice as a form of *kāyakalpa*, a technique of physical rejuvenation still practised by *haṭhayogin*s in which the yogin stays in darkness in a cave or specially built room for long periods (usually a month), restricting his diet to a single herbal preparation. Similarly, his commentary on verse 4 begins *atha vārāhīkalpam āha* (f. 111r[1]). Tonics to be consumed in *kāyakalpa* are described in MS O (on which see p.54). The second *upadeśa* of the *Yuktabhavadeva* contains detailed descriptions of thirteen *kalpa*s, including *muṇḍī-kalpa*. See also the *Kākacaṇḍīśvarakalpatantra*. For a modern account of the technique, see Anantha Murthy 1986.

**464** Ballāla (f. 110v[1–2]) says that *takra* here is three parts buttermilk to one part water and cites *Amarakośa* 2.8.1280 for definitions of the different varieties of *takra*: *takraṃ hy udaśvin mathitaṃ pādāṃbv ardhāṃbu nirjalam ity amaraḥ* |.

**465** On the use of *takra*, *āranāla*, *madhu* and *śarkarā* in Āyurveda see Meulenbeld 1974:465–7, 445, 486–7 and 507–8 respectively.

**466** Verses 2 and 4 are written as instructions for a physician attending to the yogin—in this verse the verb is *dadyāt*, "he should give", while in verse 4 there is the causative *pāyayet*, "he should cause to drink". Anantha Murthy (1986:57–61, 235) explains the necessity of an attendant physician to oversee *kāyakalpa*.
According to Ballāla (f. 110v[4–5]), the yogin should be fed the pills for either 49 or, ("some say"—*ke cit*), 40 days, in the morning and evening.

**467** It seems likely that a half-line is missing at the end of this verse, in which the yogin would have been said to obtain the various benefits listed in *pāda*s 2e and 2f.

468 "vigour" *(vīrya)* : this may refer to semen—*MaSaṃ* 40.50 describes a herbal *rasāyana* useful for semen-retention.

469 Ballāla (f. 110v[8−9]) adds: *varāhaḥ sūkaraḥ sa ca viprakṛṣṭaṃ sūkṣmam api śabdam avadhārayati*, "*varāha* is a boar, and a boar can make out distant and subtle sounds".

470 *Vārāhī* is *Tacca aspera* Roxb. (MEULENBELD 1974:599–600). According to Ballāla (f. 111r[1]), *vārāhī* is known as *vilāī* in the vernacular *(bhāṣāyām)*. Under *bilāī-kaṃd*, MCGREGOR (1995:735) writes "cat's root: a large climbing perennial, *Ipomoea digitata*, having tuberous roots which are eaten and used medicinally".

471 "he gets rid of blackness on the body" *(kṛṣṇabhedī śarīre)* : this epithet is odd. Most of the *KhV* manuscripts read *kṛṣṇabhedī śarīram*. *Śarīram* is clearly corrupt—none of the adjectives agree with it, nor can it be taken with a verb. The reading that I have adopted, *śarīre*, is not much better. The only way I can see to translate it is "on the body" which is quite redundant in the context. The three preceding adjectives must be referring to the yogin ($\mu$'s *valipalitaharo* for *hatavalipalitaḥ* could perhaps be referring to the therapy but this is very unlikely in the light of *kṛṣṇakeśī* which must refer to the yogin). For *kṛṣṇabhedī*, S and $\alpha_2$ read *kārśyabhedī*, "destroying thinness", which is probably a scribal emendation of *kṛṣṇabhedī*. The reading *varṣabhedī* found in $\mu$ is perhaps due to a scribal error in which a copyist inadvertently looked back to °*varṣau kṛṣṇa*° earlier in the line, although *varṣa*° could perhaps be understood in its meaning of "seminal effusion" (MONIER-WILLIAMS 1988:926). I have taken *kṛṣṇabhedī* to refer to the therapy's property of combating *kuṣṭha*, which, as Ballāla notes at f. 111r[3], can manifest itself in blackness: *kuṣṭhaṃ śvetaṃ kṛṣṇaṃ cety anekavidhaṃ* |.

472 *Guggulu* is bdellium, the gum of the *Commiphora* tree (*Commiphora mukul* Engl.—MEULENBELD 1974:570).

473 Ballāla (f. 111r[9−11]) describes the preparation of *triphalā* in detail: *laghveraṃḍaphalāny ānīyeṣat saṃbharjya kuṭṭayitvā tatra vipulaṃ jalaṃ nikṣipya pācayitvā vastrāṃtaritaṃ kṛtvā tata uparitanaṃ tailaṃ saṃgṛhṇīyāt tac chuddhaṃ tailaṃ tena saṃyuktaṃ gugguluṃ māhiṣākhyaṃ tathānyaṃ triphalāyutaṃ gaṃdhakaṃ ca triphalā tu*

> *ekā harītakī yojyā dvau yojyau ca vibhītakau* |
> *catvāry āmalakāni syus triphalaiṣā prakīrtitā*

"Get some young castor fruits, parch them a little, grind them, add a large amount of water, cook them, put them in a cloth and take the oil from the top. That is pure oil. The wise [yogin], who knows the qualities [of herbs], should eat the *guggulu* which is called Māhiṣa and the other [*guggulu*], mixed with that oil and *triphalā*, and sulphur. *Triphalā:* one *harītakī* [*Terminalia chebula* Retz.—MEULENBELD 1974: 610] should be used, two *vibhītaka* [*Terminalia bellerica* Roxb.—ibid. 1974:601] and four *āmalaka* [*Phyllanthus emblica* Linn.—ibid. 1974:527]. This is called *triphalā*."

Ballāla (f. 111r[11]) takes *jarādāridrya*° as a *karmadhāraya*: "the debility that is old age".

474 *Winathia somnifera* Dunal. (DASH & KASHYAP 1980:46).

475 S is the only witness to read *viśvasarpikā* here but since I can make no sense of the other variants and Ballāla (f. 111r[12]) confidently asserts that *viśvasarpikā* is a synonym of *mothā* I have adopted his reading. (The Hindī word *mothā* means "a kind of grass, *Cyperus rotundus*, and its tuberous root"—McGregor 1995:836; Dash & Kashyap (1980:25) give *musta* as the Sanskrit name for *Cyperus Rotundus* Linn.)
The *MaSaṃ* manuscripts insert the following corrupt passage between 6c and 6d: *hastinā saha yudhyate // triphalā puṣkaro vrāhmī (vrāhmīḥ* $J_6$*) †niḥsākotilalaṃsanī† / punarnavā vṛddhatārā †na yayuḥ† snehamiśritā // ṣaṇmāsāhārayogena*. Thus the result of eating the preparation is the ability to fight with elephants, while to be free of disease and death the yogin must eat for six months a mixture of *triphalā*, *puṣkara* (*Iris germanica* Linn.—Meulenbeld 1974:570), *brāhmī* (*Bacopa monnieri* Pennell—Dash & Kashyap 1980:53), †*niḥsākotilalaṃsanī*†, *punarnavā* ("hog-weed," *Boerhavia repens* Linn.—Meulenbeld 1974:575) and *vṛddhatārā* (probably *vṛddhadāraka*, *Gmelina asiatica* Linn. or *Rourea santaloides* Wight et Arn.—ibid.:600) mixed with oil. The phrase *na yayuḥ* is likely to be a corruption of the name of an ingredient of the medicine.
476 *Sassurea lappa* C.B. Clarke (Dash & Kashyap 1980:61).
477 A marginal note in $W_1$ *(ghṛtamadhuśarkarā)* and two *pāda*s added after 14b in $\gamma$ *(ājyaṃ guḍo mākṣikaṃ ca vijñeyaṃ madhuratrayam)* say that *madhuratraya* is ghee, honey and sugar, as does Ballāla at f. 110v[3], where he adds that they should be in equal proportions.
478 The identity of *kunaṣṭi* is uncertain. It is perhaps *kunāśaka* (*Alhagi maurorum*—Monier-Williams 1988:286).
479 *Muṇḍikā* is presumably a synonym of *muṇḍī* (see note 463).
480 *Eclipta prostrata* (Monier-Williams 1988:765).
481 *Vitex negundo* (Monier-Williams 1988:554).
482 *Amala* is a synonym of *āmalaka* : see note 473.
483 *Eleocarpus ganitrus* Roxb. (Meulenbeld 1974:596).
484 As White (1996:170) remarks in the context of this verse, Bernier reported in the seventeenth century that "certain *Fakires*... can prepare mercury in so admirable a manner that a grain or two swallowed every morning must restore a diseased body to vigorous health, and so strengthen the stomach that it may feed with avidity, and digest with ease" (1891:321).
485 "the silk-cotton tree" *(śālmali°)* : *Bombax ceiba* Linn. (Meulenbeld 1974:602).
486 See note 227.
487 See note 259.
488 The verse quoted is *abhakṣyaṃ bhakṣayen nityam apeyaṃ pīyate sadā // agamyāgamanaṃ nityaṃ sa yogī nātra saṃśaya iti gorakṣaḥ /*.
489 The passage cited is not found in the Lonavla edition of the *Haṭhapradīpikā.*
490 Ballāla wrote this text himself: *āsanāni tu asmābhir yogara⌈tna⌉kārikāsu svakṛtāsūktāni* (*em.*; *°ūkt*** S).
491 These citations are usually introduced with *sūtre* and *bhāṣye.*
492 The *Vāyupurāṇa* is quoted from regularly in Ballāla's lengthy excursus on *sarvayoga* at f. 87v–f. 116v, sometimes with *"upamanyuḥ"* to indicate the source of the citation

but often without attribution.

493 The verse cited is not in Avalon's edition.

494 This passage is about the different tastes of *amṛta*.

495 I have located some of the citations introduced with *"śivena"* in the *Śivasaṃhitā*. I have been unable to find those listed here.

496 *Śivapaṃjaramārkaṇḍeyastotra* is a correction of *śivapaṃcaratnamārkaṇḍeyastotra*.

497 The *Dattātreyayogaśāstra, Yogabīja* and *Śivasaṃhitā* are paraphrased at many places in the commentary (especially between f. 87v and f. 108v). These have not been reported.

498 This text has been published as the *Dattātreyayogaśāstra*. These citations are usually introduced with *"datta"* or *"dattātreya"*.

# Bibliography

Where more than one edition of a work has been consulted, references given are from the first edition listed. The date of a text's first publication is given in square brackets.

## Manuscripts of works other than the *Khecarīvidyā*


*Kularatnoddyota.* Bodleian Library, Oxford. MS Chandra Shum Shere c.348. Paper. Newari. 106 folios. Incomplete and missing its first folio.

*"Khecarīvidyā".* Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur. MS No. 34946. A work different from the *Khecarīvidyā* but containing verses from it. Reported as '"Khecarīvidyā" (O)' in the testimonia apparatus. See pages 54–5 for more details.

*Jayadrathayāmala.* National Archives, Kathmandu. MS. No. 1-1468. NGMPP Reel No. B 122/4. Paper. Newari. Dated 1622/3 CE. I am grateful to Alexis SANDERSON for providing me with transcripts of passages from this manuscript.

*Bṛhatkhecarīprakāśa.* Scindia Oriental Research Institute Library, Ujjain. MS 14575. This is Ballāla's commentary on the *Khecarīvidyā*. See under "S" in description of sources (p. 40).

*Matsyendrasaṃhitā.* The Wellcome Institute for the History of Medicine, London. MS Sansk. $\beta$1115.*

——————— MS No.1782, MMSL, Jodhpur.

——————— MS No.1783, MMSL, Jodhpur.

——————— MS No.1784, MMSL, Jodhpur.

——————— MS No.1785, MMSL, Jodhpur.

*Yogacintāmaṇi* of Śivānandayati. Oriental Institute of Baroda Library. Acc. No. 13047. Paper. Devanāgarī.

*Vivekamārtaṇḍa* of Gorakṣadeva. Oriental Institute of Baroda Library. Acc. No. 4110. Paper. Devanāgarī. Dated Saṃvat 1534.


*For full details of the *Matsyendrasaṃhitā* manuscripts see the descriptions of witnesses A, $J_6$ and $J_7$ on pages 35 to 37 of the introduction.

*Vivekamārtaṇḍa* of Gorakṣanātha. Oriental Institute of Baroda Library. Acc. No. 2081. Paper. Devanāgarī.

*Haṭhapradīpikā* of Svātmārāma. Rajasthan Oriental Research Institute, Jodhpur. MS No. 6756. Paper. Devanāgarī. This is the long recension of the *Haṭhapradīpikā*. See under $H_2$ in the description of sources (p. 55).

*Haṭharatnāvalī* of Śrīnivāsa. Oriental Institute of Baroda Library. Acc. No. 13,118. Paper. Devanāgarī.

## Printed sources

*Ajitāgama*, ed. N.R. Bhatt, 2 vols. Publications de l'Institut français d'Indologie No. 24. Pondicherry. 1964, 1967.

*Advayatārakopaniṣad*, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Abhaṅgamālā* of Jñāndev, ed. and tr. C. Kiehnle in Kiehnle 1997.

*Amanaskayoga*, of Gorakṣanātha, ed. Rām Lāl Śrīvāstav. Śrī Gorakhnāth Mandir, Gorakhpur. 1980.

*Amarakośa*, of Amarasiṃha, ed. Krishnaji Govind Oka. Poona City: Law Printing Press. 1913

*Amaraughaprabodha*, of Gorakṣanātha, ed. K. Mallik in Mallik 1954.

*Amaraughaśāsana*, of Gorakṣanātha, ed. Pt. Mukund Rām Śāstrī. KSTS 20. Srinagar. 1918.

*Amoghapāśakalparāja*, as transcribed by the Taisho group: "Transcribed Sanskrit Text of the Amoghapāśakalparāja, Part I", *Annual of the Institute for Comprehensive Study of Buddhism, Taisho University, No. 20*. 1998.

*Īśānaśivagurudevapaddhati*, ed. T. Gaṇapati Śāstrī, part 4, Kriyāpāda *paṭala*s 3–64 & Yogapāda. Trivandrum Sanskrit Series 83. Trivandrum. 1925.

*Kathāsaritsāgara* of Somadevabhaṭṭa, ed. Pt. Durgaprasād and K.P. Parab. Bombay: T. Jāvajī. 1903.

*Kākacaṇḍīśvarakalpatantra*, ed. R. Sharma. Kashi Sanskrit Series 73. Benares. 1929.

*Kāmasūtra*, of Vatsyāyana with the *Jayamaṅgalā* commentary of Yaśodhara, ed. G.D. Shastri. Kashi Sanskrit Series 29. Benares. 1929.

*Kiraṇatantra.* Unpublished collation of *paṭala*s 58 and 59 by Dominic Goodall. 1998.

*Kiraṇavṛtti* of Bhaṭṭa Rāmakaṇṭha, chh. 1–6, ed. Dominic Goodall. IFP. 1998.

*Kubjikāmatatantra,* Kulālikāmnāya version, ed. T. Goudriaan and J.A. Schoterman. Leiden: E.J.Brill. 1988.

*Kularatnoddyota*, ed. Somdev Vasudeva. Unpublished edition. 2000.

*Kulārṇavatantra*, ed. Tārānātha Vidyāratna. Tantrik Texts 5 (ed. Arthur Avalon). Madras: Ganesh and Company, 1965. Reprinted Delhi: Motilal Banarsidass. 1975.

——————, ed. R.K. Rai. Tantragranthamālā 5. Vārāṇāsi: Prācyaprakāśan. 1983.

*Kṛṣṇayamāritantra*, ed. S. Rinpoche and V. Dwivedi. Rare Buddhist Text Series 9. Varanasi: Central Institute of Higher Tibetan Studies, Sarnath. 1992.

*Kaulajñānanirṇaya* of Matsyendranātha, ed. Prabodh Candra Bagchi in *Kaulajñāna-nirṇaya and Some Minor Texts of the School of Matsyendranātha.* Calcutta Sanskrit Series, No. 3. Calcutta: Metropolitan. 1934.

*Kṣurikopaniśad* with commentary of Nārāyaṇa, in *Śrīnārāyaṇaśaṅkarānandavira-citadīpikāsametānām upaniṣadāṃ samuccayaḥ.* Ānandāśrama Sanskrit Series 29. Poona. 1895.

——————, in *Ātharvvaṇopaniṣadaḥ Nārāyaṇakṛtadīpikāsahitāḥ*, ed. Rāmamaya Tarkaratna. Calcutta: Asiatic Society of Bengal (New Series No. 249). 1872.

——————, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Guhyasamājatantra*, ed. Y. Matsunaga. Osaka: Toho Shuppa Inc. 1978.

*Gorakṣavijaya* of Bhīmasena Rāy. Ed. Pañcānand Maṇḍal. Calcutta: Viśvabhārati Granthālaya. 1949.

*Gorakṣaśataka*$_N$, attributed to Gorakṣanātha, ed. F. Nowotny: *Das Gorakṣaśataka*, Köln 1976 (Dokumente der Geistesgeschichte).[†]

*Gorakṣaśatakam*, ed. Svāmī Kuvalayānanda and S.A. Shukla, in *Yoga-Mīmāṃsā*, 7, 4. Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti. 1958.

*Gorakṣasiddhāntasaṃgraha*, ed. Janārdhana Śāstrī Pāṇḍeya. Sarasvatībhavanagranthamālā Vol. 110. Vārāṇaseyasaṃskṛtaviśvavidyālaye. 1973.

*Gorakhbāṇī*, ed. P.D. Baḍathvāl. Prayāg: Hindī Sāhity Sammelan. 1960. Reproduced in Callewaert and de Beeck 1991 (q.v.). I have used the verse numbering of the latter.

*Gheraṇḍasaṃhitā*, ed. and tr. J. Mallinson. New York: YogaVidya.com. 2004.

——————, ed. and tr. S.C. Vasu. London: Theosophical Publishing House. 1895.

——————, ed. P. Thomi. Wichtrach: Insitut fur Indologie Reike Texte und Ubersetzungen 2. 1993.

*Jogpradīpakā* of Jayatarāma, ed. M.L. Gharote. Jodhpur: Rajasthan Oriental Research Institute. 1999

*Tantrarājatantra*, ed. Lakshmana Shastri. Delhi: Motilal Banarsidass. 1997 [1926].

[†]This work was originally called *Vivekamārtaṇḍa* but came to be known as *Gorakṣaśataka* (see note 9). To avoid confusion with the original *Gorakṣaśataka*, an unedited work, I have marked references to Nowotny's edition with a subscript N.

*Tantrāloka* of Abhinavagupta with commentary *(°viveka)* of Rājānaka Jayaratha, ed. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 23, 28, 30, 35, 29, 41, 47, 59, 52, 57 and 58. Bombay and Srinagar, 1918–1938.

*Tārābhaktisudhārṇava* of Narasiṃha, ed. Pañcānana Bhaṭṭācārya. Calcutta: Sanskrit Book Depot. 1940.

*Taittirīya Upaniṣad*, ed. V.P. Limaye and R.D. Vadekar in *Eighteen Principal Upaniṣads.* Pune: Vaidika Saṃśodhana Maṇḍala. 1958.

*Triśikhībrāhmaṇopaniṣad*, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Dattātreyayogaśāstra*, ed. Brahmamitra Avasthī. Delhi: Svāmī Keśavānand Yogasaṃsthān. 1982.

*Darśanopaniṣad*, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Divyāvadāna*, ed. E.B. Cowell and R.A. Neil in *The Divyāvadāna: A Collection of Early Buddhist Legends.* Amsterdam: Oriental Press. 1970.

*Nādabindūpaniṣad* in *The Yoga Upaniṣads*, ed. Pt. A.M. Śāstrī. Madras: Adyar Library. 1920.

*Nityāṣoḍaśikārṇava* with Śivānanda's *Ṛjuvimarśinī* and Vidyānanda's *Artharatnāvalī*, ed. Vrajavallabha Dviveda. Varanasi: Vārāṇaseya Saṃskṛta Viśvavidyālaya. 1968.

*Nityotsava* of Umānandanātha, ed. A. Mahadeva Sastri. Gaekwad Oriental Series No. 23. Baroda. 1923.

*Netratantra* with commentary *(Uddyota)* by Kṣemarāja, ed. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 46. Srinagar. 1926.

*Paramatthajotikā* of Buddhaghoṣa. Pali Text Society Translation Series No. 32. London: Luzac. 1960.

*Parātrīśikāvivaraṇa* of Abhinavagupta, tr. Jaideva Singh, Sanskrit text corrected and annotated by Swami Lakshmanjee, ed. B. Baumer. Delhi: Motilal Banarsidass. 1988.

*Pāśupatasūtra* with the commentary *(Pañcārthabhāṣya)* of Kauṇḍinya, ed. Anantha-krishna Sastri. Trivandrum Sanskrit Series No. 143. Trivandrum: The Oriental Manuscript Library of the University of Travancore. 1940.

*Puraścaryārṇava*, ed. Muralidhar Jha. Vrajajivan Prachyabharati Granthamala No. 10. Delhi: Chaukhamba Sanskrit Pratishthan. 1985.

*Bṛhatsaṃhitā* of Varāhamihira with the commentary *(vivṛti)* of Bhaṭṭotpala, ed. Sudhākara Dvivedī. 2 Parts. Vizianagaram Sanskrit Series No. 12, Vol. X. Benares: E.J. Lazarus and Co. 1895 and 1897.

*Bṛhadāraṇyakopaniṣad*, ed. P. Olivelle in *The Early Upaniṣads: Annotated Text and Translation.* New York: Oxford University Press. 1998.

*Bṛhadyogiyājñavalkyasmṛti*, ed. Swami Kuvalayananda and Pandit Raghunathashastri Kokaje. Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M Samiti. 1976.

*Brahmapurāṇa*, ed. Hari Nārāyaṇa Āpṭe. Ānandāśrama Sanskrit Series No. 28. Poona. 1895.

*Brahmavidyopaniṣad*, q.v. *Kṣurikopaniṣad.*

*Bhagavadgītā*, ed. J.A.B. van Buitenen in *The Bhagavadgītā in the Mahābhārata: Text and Translation.* Chicago: University of Chicago Press. 1981.

*Bhāgavatapurāṇa*, ed. E. Burnouf. Paris: Imprimerie Royale. 1860.

*Majjhimanikāya,* vol. 1, ed. V. Trenchner. Pali Text Society. London: Oxford University Press. 1948 [1888].

*Mataṅgapārameśvarāgama (Kriyāpāda, Yogapāda et Caryāpāda)*, avec le commentaire *(vṛtti)* de Bhaṭṭa Rāmakaṇṭha, ed. N.R. Bhatt. Pondicherry: Publications de l'Institut français d'Indologie No. 65. 1982.

*Matsyendrasaṃhitā*, ed. Debabrata Sensharma. Bibliotheca Indica Series No. 318. Calcutta: The Asiatic Society. 1994.

*Mahākālasaṃhitā* of Ādinātha, *Kāmakalākhaṇḍa*, ed. Kiśoranāth Jhā. Allahabad: Gaṅgānāth Jhā Kendrīya Saṃskṛta Vidyāpīṭha. 1986.

*Mahākālasaṃhitā* of Ādinātha, *Guhyakālīkhaṇḍa*, ed. Kiśoranāth Jhā (3 Vols.). Allahabad: Gaṅgānāth Jhā Kendrīya Saṃskṛta Vidyāpīṭha. 1976, 1977, 1979.

*Mahābhārata*, ed. V. Sukthankar, with the cooperation of S.K. Belvalkar, A.B. Gajendragadkar, V. Kane, R.D. Karmarkar, P.L. Vaidya, S. Winternitz, R. Zimmerman and other scholars and illustrated by Shrimant Balasaheb Pant Pratinidhi. (Since 1943 ed. S.K. Belvalkar). 19 Vols. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute, 1927–1959.

*Mahārthamañjarī* with the *Parimala* commentary of Maheśvarānanda, ed. T.G. Śāstrī. Trivandrum Sanskrit Series No. 63. Trivandrum. 1919.

*Mahopaniṣad*, ed. Pt. Mahādeva Śāstrī in *The Sāmānya Vedānta Upaniṣads.* Madras: Adyar Library. 1921.

*Mārkaṇḍeyapurāṇa,* ed. K.M. Banerjea. Calcutta: Bishop's College Press. 1862.

*Mālatīmādhava* of Bhavabhūti with commentary of Jagaddhara, ed. M.R. Kale. Delhi: Motilal Banarsidass. 1967.

*Mālinīvijayottaratantra*, *adhikāra*s 1–4, 7, and 12–17, ed. Somdev Vasudeva in VASUDEVA 2004.

———————, ed. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 37. Srinagar. 1922.

*Mṛgendratantra, vidyā* and *yoga pāda*s, with the commentary of Bhaṭṭa Nārāyaṇakaṇṭha, ed. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 50. Srinagar. 1930.

*Maitrāyaṇīyopaniṣad*, ed. J.A.B. van Buitenen. The Hague: Mouton and Co. 1962.

*Yājnavalkyasmṛti* of Yogīśvara Yājnavalkya, with the commentary *Mitākṣarā* of Vijnāneśvara, ed. Narayan Ram Acharya. Bombay: Nirnayasagara Press. 1949.

*Yuktabhavadeva* of Bhavadeva Miśra, ed. M.L. Gharote and V.K. Jha. Lonavla: Lonavla Yoga Institute. 2002.

*Yogakuṇḍalyupaniṣad*, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Yogacūḍāmaṇyupaniṣad*, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Yogatattvopaniṣad*, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Yogabīja*, ed. Rām Lāl Śrīvāstav. Gorakhpur: Śrī Gorakhnāth Mandir. 1982.

*Yogayājñavalkya*, ed. K.S.Śāstrī. Trivandrum Sanskrit Series No. 134. Trivandrum. 1938.

*Yogaviṣaya*, ed. K. Mallik in Mallik 1954.

*Yogaśikhopaniṣad*, q.v. *Kṣurikopaniṣad*.

*Yogasūtra* of Patañjali with the commentaries (*Bhāṣya*, *Tattvavaiśāradī*, and *Yoga-vārttikā*) of Vyāsa, Vācaspatimiśra, and Vijñānabhikṣu, ed. Nārāyaṇa Miśra. Benares: Bhāratīya Vidyā Prakāśan. 1971.

*Yoginītantra*, ed. Biswanarayan Shastri. Delhi: Bharatiya Vidya Prakashan. 1982.

*Yoginīhṛdaya* with the *Dīpikā* of Amṛtānandanātha and Bhāskararāya's *Setubandha*, ed. Gopināth Kavirāj. Varanasi: Sarasvatībhavana Granthamālā Vol. 7. 1979.

*Yonitantra*, ed. J.A. Schoterman. New Delhi: Manohar. 1980.

*Rasārṇava*, ed. P.C. Ray and H. Kaviratna. Calcutta: Asiatic Society of Bengal. 1910.

*Rasārṇavakalpa*, ed. and tr. M. Roy with B.V. Subbarayappa. Delhi: Indian National Science Academy. 1976.

*Rasendracūḍāmaṇi* of Somadeva, ed. Jādavjī Trikamjī Ācārya. Lahore: Motilal Banarsidass. 1932.

*Rauravāgama*, ed. N.R. Bhatt, 3 vols. Pondicherry: Publications de l'Institut français d'Indologie No. 18. 1961, 1972 and 1988.

*Laghuyogavāsiṣṭha*, ed. V.Sh. Panasikara. Delhi. 1985. (Reprint of 1937 Bombay edition).

*Liṅgapurāṇa*, ed. Vīrasiṃhaśāstrin and Dhīrānandakāvyanidhi. Calcutta: Vaṅgavāsī Steam Press. 1890.

*Varāhopaniṣad*, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Vasiṣṭhasaṃhitā (Yogakāṇḍa)*, ed. Svāmī Digambar Jī, Dr. Pītāmbar Jhā, Śrī Jñānaśaṃkar Sahāy. Lonāvalā: Kaivalyadhām Śrīmanmādhav Yogamandir Samiti. 1984.

*Vātulanāthasūtrāṇi* with the *Vṛtti* of Anantaśaktipāda, ed. and tr. Madhusūdan Kaul Śāstrī. KSTS 39. Bombay. 1923.

*Vāyupurāṇa*, ed. Rājendralāla Mitra (2 volumes). Calcutta: Bibliotheca Indica. 1880 and 1888.

*Vijñānabhairava*, ed. and tr. J. Singh. See Singh 1979.

*Vivekadarpaṇ*, attributed to Amarnāth, ed. V.D. Kulkarṇī in *Nāthparamparetīl gadya graṃtha: Viveka-darpaṇ*. Hyderabad: Marāṭhī Svādhyāya Saṃśodhan Pattrikā, Marāṭhī vibhāg, Usmāniyā Vidyāpīṭh, aṃk 6vā. 1971.‡

*Vivekamārtāṇḍa* of Viśvarūpadeva, ed. K. Sāmbaśiva Śāstrī. Trivandrum Sanskrit Series No. 119. Trivandrum. 1935.

*Viṣṇusmṛti*, ed. Julius Jolly. Varanasi: Chowkhamba Sanskrit Series No. 95. 1962.

*Śatakatrayādisubhāṣitasaṃgraha* of Bhartṛhari, ed. D.D. Kosaṃbī. Bombay: Bhāratīya Vidyā Bhavan. 1948.

*Śāktavijñāna* of Somānanda, ed. L. Silburn. See SILBURN 1988:117–119.

*Śāradātilakatantra*, ed. Arthur Avalon. Delhi: Motilal Banarsidass. 1996.

*Śārṅgadharapaddhati*, ed. Peter Peterson. Bombay: Government Central Book Depot. 1888.

*Śivasaṃhitā*, ed. and tr. J. Mallinson. New York: YogaVidya.com. 2006.

——————, ed. Svāmī Maheśānandjī, Bābūrām Śarmā, Jñānśaṃkar Sahāy, Ravīndranāth Bodhe. Lonavla: Kaivalyadhām, Śrīmanmādhav Yog Mandir Samiti. 1999.

——————, ed. and tr. S.C. Basu. Allahabad: Panini Office. 1914.

*Śivasvarodaya* in *Svar Yog* by Svāmī Satyānand Sarasvatī. Muṅger: Bihār Yog Vidyālay. 1994.

*Ṣaṭcakranirūpaṇa*, ed. and tr. Sir John Woodroffe in WOODROFFE 1992.

*Ṣaṭsāhasrasaṃhitā Chapters 1–5*, ed. J.A. Schoterman. Leiden: Orientalia Rheno-traiectina 27. 1982.

*Saṃvarodayatantra*, ed. S. Tsuda. Tokyo: Hokuseido Press. 1974.

*Sarvadarśanasaṃgraha*, ed. Mahāmahopādhyāya Vasudev Shastri Abhyankar. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute. 1978.

*Siddhayogeśvarīmata*, ed. Judit Törzsök. DPhil. thesis, Merton College, Oxford. 1999.

*Siddhasiddhāntapaddhati* of Gorakṣanātha, ed. M.L. Gharote and G.K. Pai. Lonavla: Lonavla Yoga Institute. 2005.

——————, ed. K. Mallik in MALLIK 1954.

*Suttanipāta*, ed. D. Andersen and H. Smith. Pali Text Society. London: Oxford University Press. 1948.

*Saubhāgyalakṣmyupaniṣad*, ed. A.M. Sastri in *The Śākta Upaniṣad-s*. Madras: Adyar Library. 1916.

*Skandapurāṇasya Ambikākhaṇḍa*, ed. Kṛṣṇaprasāda Bhaṭṭarāī. Mahendraratnagranthamālā 2. Kathmandu: Mahendrasaṃskṛtaviśvavidyālayah. 1988.

‡I have not consulted this edition but have used quotations from it found in KIEHNLE 1997.

*Svacchandatantra* with the commentary *(-uddyota)* of Rājānaka Kṣemarāja, ed. Madhusūdan Kaul, KSTS 31, 8, 44, 48, 51, 53, 56. Bombay. 1921–1935.

*Haṃsopaniṣad*, ed. A.M. Śāstrī in Śāstrī 1920.

*Haṭhapradīpikā* of Svātmārāma, ed. Svāmī Digambarjī and Dr. Pītambar Jhā. Lonavla: Kaivalyadhām S.M.Y.M. Samiti. 1970.

———— of Svātmārāma (10 chapters) with *Yogaprakāśikā* commentary of Bālakṛṣṇa, ed. M.L. Gharote and P. Devnath. Lonavla: Lonavla Yoga Institute. 2001.

*Haṭhayogapradīpikājyotsnā* of Brahmānanda in *The Haṭhayogapradīpikā of Svātmārāma*, ed. K. Kunjuni Raja. Madras: Adyar Library. 1972.

*Haṭharatnāvalī* of Śrīnivāsayogī, ed. M.L. Gharote, P. Devnath and V.K. Jha. Lonavla: Lonavla Yoga Institute. 2002.

*Harṣacarita* of Bāṇa. Vidyabhawan Sanskrit Granthamala 36. 1972.

*Hevajratantra*, ed. D.L. Snellgrove. London Oriental Series Vol. 6, Pt. 2. London: Oxford University Press. 1959.

## Secondary material

Alper, Harvey. 1989. *Understanding Mantras.* Albany: State University of New York Press.

Alter, Joseph S. 2004. *Yoga in Modern India: the Body Between Science and Philosophy.* Princeton: Princeton University Press.

Anantha Murthy, T.S. 1986. *Maharaj.* San Rafael, California: The Dawn Horse Press.

Armstrong, John W. 1994 [1944]. *The Water of Life. A Treatise on Urine Therapy.* Delhi: Rupa & Co.

Avalon, Arthur. 1914. *Principles of Tantra, Part 1.* London: Luzac and Co.

Baḍathvāl, P.D. 1960. *Gorakhbāṇī.* Prayāg: Hindī Sāhity Sammelan.

Bernard, Theos. 1982 [1950]. *Hatha Yoga.* London: Rider.

Bernier, François. 1891. *Travels in the Mogul Empire A.D. 1656–1668.* A revised and improved edition based upon Irving Brock's translation by Archibald Constable. London: Archibald Constable and Co.

Bodewitz, H.W. 1973. *Jaiminīya Brāhmaṇa I, 1–65 Translation and Commentary with a study Agnihotra and Prāṇāgnihotra.* Leiden: E.J.Brill.

Böhtlingk, Otto and Roth, Rudolf. 1855-1875. *Sanskrit-Wörterbuch.* 7 Volumes. St. Petersburg.

Boileau, A.H.E. 1837. *Personal Narrative of a Tour through the Western States of Rajwara, in 1835; comprising Beekaner, Jesulmer, and Jodhpoor, with the Passage of the Great Desert, and a brief visit to the Indus and to Buhawulpoor; accompanied by various Tables and Memoranda Statistical, Philological, and Geographical.* Calcutta: N.Grant.

Bouillier, Véronique. 1997. *Ascètes et rois. Un monastère de Kanphata Yogis au Népal.* Paris: CNRS Éditions.

Bouy, Christian. 1994. *Les Nātha-Yogin et les Upaniśads.* Paris: Diffusion de Boccard.

Braid, James. 1850. *Observations on Trance or, Human Hybernation.* London: John Churchill.

Briggs, George Weston. 1938. *Gorakhnāth and the Kānphaṭa Yogīs.* Delhi: Motilal Banarsidass.

Brunner, Hélène. 1994. "The Place of Yoga in the Śaivāgamas", in *Pandit N.R. Bhatt Felicitation Volume*, ed. P.S. Filliozat, S.P. Narang and C.P. Bhatta. Delhi: Motilal Banarsidass.

Brunton, Paul. 1995 [1936]. *A Search in Secret Egypt.* Maine: Weiser.

———. n.d. *A Search in Secret India.* London: Rider.

Bühler, G. 1873. *A Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Private Libraries of Gujarat, Kathiawad, Kachchh, Sindh and Khandes.* Fascicle 4. Bombay.

Callewaert, Winand M., and de Beeck, Bart Op. 1991. *Devotional Hindī Literature. A Critical Edition of the Pañc-Vāṇī or Five Works of Dādū, Kabīr, Nāmdev, Rāidās, Hardās with the Hindī Songs of Gorakhnāth and Sundardās, and a Complete Word-index.* 2 volumes. New Delhi: Manohar.

Chambers. 1983. *Chambers 20th Century Dictionary.* Ed. E.M. Kirkpatrick. Edinburgh: W & R Chambers Ltd.

Clark, Matthew. 2004. *The Daśanāmī-Saṃnyāsīs: The Integration of Ascetic Lineages into an Order.* PhD thesis, School of Oriental and African Studies, London.

Dasgupta, Shashibhushan. 1976 [1946]. *Obscure Religious Cults.* 3rd edition. Calcutta: Firma KLM Private Ltd.

Dash, Bhagwan and Kashyap, L. 1980. *Materia Medica of Ayurveda.* (Based on the *Āyurvedasaukhyam* of Toḍarānanda). New Delhi: Concept Publishing.

De Michelis, Elizabeth. 2004. *A History of Modern Yoga.* London: Continuum.

Derrett, Duncan. 1973. *Dharmaśāstra and Juridical Literature.* History of Indian Literature 4. Wiesbaden: Harrassowitz.

Digby, Simon. 1970. *Encounters with Jogīs in Indian Ṣūfī hagiography.* Unpublished paper presented at a seminar on Aspects of Religion in South Asia at the School of Oriental and African Studies, University of London.

Dimock, Edward C. Jr. 1991 [1966]. *The Place of the Hidden Moon.* Delhi: Motilal Banarsidass.

DVIVEDĪ, Hazārīprasād. 1996 [1950]. *Nāth Sampradāy.* Ilāhābād: Lokbhāratī Prakāśan.

——————. 1978. *Nāth Siddhoṃ kī Bāniyāṃ.* Vārāṇasī: Nāgarīpracāriṇī Sabhā.

DYCZKOWSKI, Mark. 1988. *The Canon of the Śaivāgama and the Kubjikā Tantras of the Western Kaula Tradition.* Albany: State University of New York Press.

EDGERTON, Franklin. 1953. *Buddhist Hybrid Sanskrit Grammar and Dictionary.* New Haven: Yale University Press.

ELIADE, Mircea. 1969. *Yoga: Immortality and Freedom.* Princeton: Princeton University Press.

FULLER, C.J. 1992. *The Camphor Flame.* Princeton: Princeton University Press.

GERVIS, Pearce. 1970. *Naked They Pray.* Delhi: Universal. (Reprint of Cassell's edition, n.d.).

GHAROTE, M.L. 1991. "A critical note on the Haṭhapradīpikā", *Journal of the Oriental Institute, Baroda* 40, 3–4, pp.243–8.

GHAROTE, M.L. and BEDEKAR, V.A. 1989. *Descriptive Catalogue of Yoga Manuscripts.* Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti.

GODE, P.K. 1938. "Date of Nārāyaṇa, the commentator of the Upaniṣads," in *Journal of the University of Bombay,* 7, 2.

GOLD, Daniel. 1995. "The Instability of the King: Magical Insanity and the Yogi's Power in the Politics of Jodhpur, 1803–1843", in *Bhakti Religion in North India: Community Identity and Political Action*, ed. David N. Lorenzen. Albany: State University of New York Press.

GONDA, Jan. 1965. *Change and Continuity in Indian Religion* (particularly chapter 2, *Soma, Amṛta and the Moon*, and chapter 4, *The Number Sixteen*). The Hague: Mouton & Co.

GOODALL, Dominic. 1995. *An Edition and Translation of the First Chapters of Bhaṭṭa Rāmakaṇṭha's Commentary on the 'Vidyāpāda' of the Kiraṇāgama'.* DPhil. thesis. Wolfson College, Oxford University.

GOUDRIAAN, Teun and GUPTA, Sanjukta. 1981. *Hindu Tantric and Śākta Literature.* History of Indian Literature 2, 2. Wiesbaden: Harrassowitz.

GROSS, R.L. 1992. *The Sadhus of India. A Study of Hindu Asceticism*. Jaipur: Rawat Publications.

HANNEDER, Jürgen. 1998. "Śaiva Tantric Material in the *Yogavāsiṣṭha*", *Wiener Zeitschrift für die Kunde Südasiens* Band XLII, pp. 67–76.

HEESTERMAN, J.C. 1964. "Brahmin, ritual and renouncer", *Wiener Zeitschrift für die Kunde Süd-und Ostasiens* 8, pp.1–31.

HIRALAL, Rai Bahadur. 1926. *Catalogue of Sanskrit and Prakrit Manuscripts in the Central Provinces and Berar.* Nagpur.

Honigberger, John Martin. 1852. *Thirty-five years in the East. Adventures, Discoveries, Experiments, and Historical Sketches, relating to the Punjab and Cashmere; in connection with Medicine, Botany, Pharmacy, &c. together with an original Materia Medica; and a Medical Vocabulary, in four European and Five Eastern Languages.* London: H. Baillière.

Horner, I.B. 1954. *The Collection of the Middle Length Sayings.* Vol. 1. London: Pali Text Society Translation Series No. 29.

Husain, Mahdi. 1953. *The Rehla of Ibn Battūta.* Baroda: Oriental Institute.

Iyengar, B.K.S. 1977. *Light on Yoga* (Revised edition). New York: Schocken Books.

Jhā, Kiśoranāth. 1976. Introduction *(prastāvanā)* to the *Mahākālasaṃhitā Guhyakālīkhaṇḍa* vol. 1. Gaṅgānāth Jhā Kendrīya Saṃskṛta Vidyāpīṭha. Allahabad.

Kaivalyadhama. 1991. *Yoga Kośa.* Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti.

Kane, P.V. 1968–1975. *History of Dharmaśastra.* 5 vols. 2nd edition. Poona: Bhandarkar Oriental Research Institute.

Kavirāj, Gopīnāth. 1972. *Tāntrik Sāhity (Vivaraṇātmak Granthasūcī).* Lucknow: Rājārṣi Puruṣottam Dās Ṭaṇḍan Hindī Bhavan.

————. 1987 [1966]. "The system of cakras according to Gorakṣanātha", pp.47–55 in *Notes on Religion and Philosophy,* by G. Kaviraj, ed. Gaurinath Sastri. The Princess of Wales Sarasvati Bhavana Studies. (Reprint Series No. 3). Varanasi: Sampurnanand Sanskrit University.

Kiehnle, C. 1997. *Songs on Yoga. Texts and Teachings of the Mahārāṣṭrian Nāths.* Stuttgart: Franz Steiner Verlag.

Kielhorn, Franz. 1874. *A Catalogue of Sanskrit mss. existing in the Central Provinces.* Nagpur: Government Book Depot.

Kiss, C. *Matsyendrasaṃhitā*, a critical edition of selected *paṭalas*. Forthcoming DPhil. thesis, Balliol College, Oxford.

————. 2004. *Introduction to the Matsyendrasaṃhitā.* Unpublished DPhil. transfer paper, Balliol College, Oxford.

Kuvalayānanda, Swami & Shukla, S.A. 1958. *Gorakṣaśatakam* (Preface pp. iv–vi; Introduction, pp. 1–19) in *Yoga-Mīmāṃsā,* 7, 4. Lonavla: Kaivalyadhama S.M.Y.M. Samiti.

Lochtefeld, James G. 2004. "The Construction of the Kumbha Mela", *South Asian Popular Culture,* 2, 2, pp.103–126.

McGregor, R.S. 1995. *Hindi-English Dictionary.* Oxford: Oxford University Press.

Mallik, K. 1954. *The Siddha Siddhānta Paddhati and Other Works of Nath Yogis.* Poona: Poona Oriental Book House.

Mallinson, J. 2005. "Rāmānandī Tyāgīs and Haṭha Yoga", *Journal of Vaishnava Studies,* 14, 1, pp. 107–121.

Meulenbeld, G. Jan. 1974. *The Mādhavanidhāna and its Chief Commentary. Chapters 1–10.* Leiden: E.J.Brill.

———. 1989. "The search for clues to the chronology of Sanskrit medical texts, as illustrated by the history of *bhaṅgā* (Cannabis sativa Linn.)", *Studien zur Indologie Und Iranistik*, 15, pp. 59–70.

———. 1999(–2000). *A History of Indian Medical Literature.* Two vols. Groningen: Egbert Forsten.

Mitra, Rājendralāla. 1880. *A Catalogue of Sanskrit Manuscripts in the Library of His Highness the Mahārājā of Bikaner.* Calcutta.

———. 1886. *Notices of Sanskrit MSS., vol. VIII.* Calcutta.

Monier-Williams, M. 1878. *Modern India and the Indians.* London: Trübner and Co.

———. 1988 [1899]. *A Sanskrit-English Dictionary.* Delhi: Motilal Banarsidass.

Norman, K. 1992. *The Group of Discourses (Sutta-Nipāta)* vol. 2. Oxford: Pali Text Society Translation Series No. 45.

Padoux, A. (ed.). 1986. *Mantras et Diagrammes Rituelles dans l'Hindouisme.* Paris: Éditions du Centre National de la Recherche Scientifique.

———. 1990a. *Vāc.* Albany: State University of New York Press.

———. 1990b. "The Body in Tantric Ritual: the Case of the *Mudrās*", pp.66–75 in *The Sanskrit Tradition and Tantrism,* ed. T. Goudriaan (*Contributions of the panels of the VIIth World Sanskrit Conference,* Leiden 1987, vol. 1). Leiden: E.J.Brill.

Parry, Jonathan P. 1994. *Death in Banaras.* Cambridge: Cambridge University Press.

Peterson, Peter. 1883. "Prof. Peterson's Report on the Search for Sanskrit MSS. in the Bombay Circle 1882–3", *Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society Extra Number.* (No. 41 Vol. 16). London: Trübner and Co.

Raghavan, V. 1966. *New Catalogus Catalogorum Vol. 2.* University of Madras.

———. 1969a. *New Catalogus Catalogorum Vol. 1.* University of Madras.

———. 1969b. *New Catalogus Catalogorum Vol. 5.* University of Madras.

Rama, Swami. 1978. *Living with the Himalayan Masters.* Honesdale, Pennsylvania: Himalayan Institute Press.

Ray, Ram Kumar. 1982. *Encyclopaedia of Yoga.* Varanasi: Prachya Prakashan.

Rieker, Hans-Ulrich. 1992. *Hatha Yoga Pradipika: Translation and Commentary.* London: Aquarian Press.

Robinson, James B. 1979. *Buddha's Lions: The Lives of the Eighty-four Siddhas.* Berkeley: Dharma Publishing.

Roşu, Arion. 1982. *Yoga et alchimie.* Zeitschrift der Deutschen Morgenländischen Gesellschaft 132, pp. 363–379.

————. 1997. "À propos de rapports entre Rasaśāstra et Tantra: étude sur un fragment du *Rasendracuḍāmaṇi*", pp. 408–423 in *India and Beyond*, ed. Dick van der Meij. London: Kegan Paul International.

Sanderson, Alexis. 1986. "Maṇḍala and Āgamic Identity in the Trika of Kashmir," pp.169–214 in Padoux 1986.

————. 1987. "Trika Śaivism" in Mircea Eliade (ed.), *The Encyclopedia of Religion.* London: Macmillan.

————. 1988. "Śaivism and the Tantric Traditions", pp. 660–704 in *The World's Religions*, ed. S .Sutherland, L. Houlden, P. Clarke and F. Hardy. London: Routledge.

————. 1990. "The Visualisation of the Deities of the Trika", pp. 31–88 in *L'Image Divine: Culte et Méditation dans l'Hindouisme*, ed. A. Padoux. Paris: Éditions du Centre National de la Recherche Scientifique.

————. 1993. "An Outline of Brahmanism (ca. 900 A.D.)." The text of seven lectures delivered at All Souls, Oxford.

————. 1995. "Meaning in Tantric Ritual", pp. 1–98 in *Essais sur le Rituel III: Colloque du Centenaire de la Section des Sciences religieuses de l'École Pratique des Hautes Études,* ed. Anne-Marie Blondeau and Kristofer Schipper. Bibliothèque de l'École des Hautes Études, Sciences Religieuses. Louvain-Paris: Peeters.

————. 2003. "The Śaiva Religion among the Khmers Part I", *Bulletin de l'École française d'Extrême-Orient,* 90–91 (2003–2004), pp. 349–462.

————. n.d. Unpublished translation of the thirty-second *āhnika* of the *Tantrāloka.*

Sarasvatī, Svāmī Praṇavānand. 1984. *Jñān Bherī.* Rishikesh: Vijñān Press.

Sarasvatī, Svāmī Satyānanda. 1991. *Amaroli.* Munger: Bihar School of Yoga.

————. 1993. *Hathayogapradipika.* Munger: Bihar School of Yoga.

Śāstrī, A.M. (ed.). 1920. *The Yoga Upaniṣads.* Madras: Adyar Library.

Schopen, Gregory. 1997. *Bones, Stones and Buddhist Monks.* Honolulu: University of Hawai'i Press.

Shastri, Haraprasada. 1905. *Report on the Search for Sanskrit Manuscripts (1901–1902 to 1905–1906).* Calcutta: Asiatic Society of Bengal.

————. 1939. *A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in the Collections of the Royal Asiatic Society of Bengal.* Vol. 8, Pt. 1 Tantra Manuscripts. (Revised edition by Chintaharan Chakravarti.) Calcutta: Royal Asiatic Society of Bengal.

Shea, David and Troyer, Anthony. 1843. *The Dabistan: or School of Manners.* London: Oriental Translation Fund of Great Britain and Ireland.

SHUKLA, S.A. 1966. "The Five Haṭha Texts" in *Yoga-Mīmāṃsā* 9.2. Lonavla: Kaivalyadhama.

SIEGEL, Lee. 1991. *Net of Magic: Wonders and Deceptions in India.* Chicago: University of Chicago Press.

SILBURN, L. 1968. *Le Mahārthamañjarī de Maheśvarānanda.* Paris: de Boccard.

————. 1988. *Kuṇḍalinī: Energy of the Depths.* Tr. J. Gontier. Albany: State University of New York Press.

SINGH, Jaideva. 1979. *Vijñānabhairava.* Delhi: Motilal Banarsidass.

SIRCAR, D.C. 1998 [1973]. *The Śākta Pīṭhas.* Delhi: Motilal Banarsidass.

SONTHEIMER, Günther-Dietz. 1989. *Pastoral Deities in Western India.* (Tr. Anne Feldhaus.) New York: Oxford University Press.

STERNBACH, Ludwik. 1974. *Subhāṣita, Gnomic and Didactic Literature.* History of Indian Literature 4. Wiesbaden: Harrassowitz.

SVOBODA, Robert. 1986. *Aghora, at the Left Hand of God.* Albuquerque: Brotherhood of Life.

TAVERNIER, Jean-Baptiste. 1925 [1676]. *Travels in India.* Translated from the original French edition of 1676 by V. Ball. Second edition ed. William Crooke. London: Oxford University Press.

TRIMINGHAM, J. Spencer. 1973. *The Sufi Orders in Islam.* London: Oxford University Press.

TUCCI, Giuseppe. 1930. *"Animadversiones Indicae", Journal of the Asiatic Society of Bengal,* New Series XXVI, pp.125–160.

VAN DER VEER, Peter. 1989. *Gods on Earth. The Management of Religious Experience and Identity in a North Indian Pilgrimage Centre.* Delhi: Oxford University Press.

VASUDEVA, Somdev. 1997. "The Mudrās of the Mālinīvijayottaratantra." Paper given at All Souls, Oxford, in Professor Alexis SANDERSON's Tantric Studies Seminar series, May 5th 1997.

————. 2004. *The Yoga of the Mālinīvijayottaratantra..* Pondicherry: Publications de l'Institut français d'Indologie No. 97.

VYAS, K. and KSHIRSAGAR, D.B. 1986. *A Catalogue of Manuscripts in Maharaja Man Singh Pustak Prakash, Jodhpur. Pt. 2.* Jodhpur: Maharaja Man Singh Pustak Prakash.

WEITZMANN, M.P. 1977. "Review of V.A. Dearing, 'Principles and practice of textual analysis' (Berkeley 1974)", *Vetus Testamentum* 27, pp.225–235.

WEST, M.L. 1973. *Textual Criticism and Editorial Technique.* Stuttgart: B.G. Teubner.

WESTERGAARD, N.L. 1846. *Codices Indici Bibliothecae Regiae Havniensis.* Copenhagen.

WHITE, David Gordon. 1996. *The Alchemical Body.* Chicago: University of Chicago Press.

———. 2003. "Yoga in Early Hindu Tantra", pp. 143–161 in *Yoga: The Indian Tradition,* ed. Ian Whicher and David Carpenter. London: Routledge Curzon.

WHITNEY, William Dwight. 1988. *The Roots, Verb-forms and Primary Derivatives of the Sanskrit Language.* Delhi: Motilal Banarsidass.

WOODROFFE, Sir John. 1992. *The Serpent Power.* Madras: Ganesh and Co.

# Pāda index

ख



ग

द

प

# Index

# परिशिष्ट

[चिदानन्द जी कृत "अध्यात्म अनुभव योग प्रकाश" ग्रन्थ में से]

## [८२]योग शब्द का अर्थ

दो तीन वस्तु के मिलने का नाम योग है। वही दिखाते हैं कि, जैन धर्म में मन वचन और काया के व्यापार को योग कहते हैं। ज्ञान, दर्शन और चरित्र को भी योग कहते हैं। करना, कराना और अनुमोदन को भी योग कहते हैं। अथवा अष्टांग योग प्रसिद्ध ही है। जिस-जिस वस्तु की योजना की जाय उसे भी योग कहते हैं, इस प्रकार योग तो कई तरह के होते हैं; परन्तु इस जगह तो शास्त्र के अनुसार अथवा पातंजल योग के अनुसार योग का वर्णन करते हैं।

---

८२. प्रत्येक मनुष्य को नीचे की तीन बातें जानने की उत्कंठा रहती है और वे बातें इस शास्त्र द्वारा जानी जा सकती हैं।

१—बालारिष्ट—अर्थात् यह बालक १ से १० वर्ष तक जीवित रहेगा या नहीं ? इसका प्रथम निर्णय करना चाहिए क्योंकि यदि इस बात का निर्णय न किया हो तो अल्पायु होने से निमित्त शास्त्र से महान योगों का फल बतलाकर मूर्ख निमितज्ञ हंसी का पात्र बनता है।

तथा बालारिष्ट यदि सूक्ष्म रीति से देखना आता हो तो उसके साथ अरिष्ट-भंग के योग हैं या नहीं इसका भी निश्चय करना चाहिए। यदि अरिष्ट भंग हो तो उस बालक को योग्य रीति से शारीरिक स्वास्थ्य को सावधानी पूर्वक निरोगी और सुदृढ़ बनाया जा सकता है।

२—मनुष्य की आयु कितने वर्षों की है उसका निर्णय करना चाहिए। आयु दो प्रकार की होती है—कर्मज और दोषज। कर्मज अर्थात् मनुष्य यदि

### योग के भेद

योग तीन प्रकार का है—इच्छायोग, शास्त्रयोग, सामर्थ्य प्रतिज्ञायोग।

### इच्छायोग

अपने ज्ञानावरणादि कर्मों के तथाविध क्षयोपशम से सुने हुए शास्त्रों और उनके अर्थ से योग का ज्ञान हो जाने पर या ज्ञान प्राप्त न होने पर उसका ज्ञान प्राप्त करने की और उस योग को ग्रहण करने की इच्छा करनी, परन्तु प्रमाद से कार्य में उसको परिणत न करना ही इच्छायोग है।

### शास्त्रयोग

जो पुरुष योग का ज्ञान हो जाने पर यथार्थ स्वरूप में विकथादि का त्यागी, अप्रमादी, धर्म-व्यापार के योग्य, श्रद्धावान, तीव्र ज्ञान से संयुक्त होकर वचनों का वृथा भाषण न करे, और मोह के कम होने से सत्य प्रतीति वाला हो, तथा कालादि विकल्पनीय बाधाओं से अतिचारादि दोषों को भी जाने, परन्तु ठीक-ठीक उन अतिचारों का त्याग न कर सके इसे शास्त्र-योग कहते हैं।

---

अपने जीवन का दुरुपयोग न करे तो उसमें रही हुई प्राणशक्ति उसे कितना पूर्ण आयुष्य देगी इसका निर्णय करना चाहिए। यदि इस बात का निर्णय कर लिया जावे तो उस मनुष्य को दोपज अर्थात अयोग्य दुर्व्यसनों से आयुष्य को जो हानि पहुंचे जैसे कि अकस्मात् रोग, अव्यवस्थित जीवन आदि संयोग जो आयु को घटाते हैं और पूर्णायु भोगने में कमी करते हैं। ऐसे संयोग कि जिनका प्रतिकार हो सकता हो उसके लिए योग्य उपाय करना चाहिए जिससे पूर्ण आयु भोगने के भाग्यशाली बनें।

३—मनुष्य अपनी बुद्धि के अनुसार अपना जीवन किन साधनों से प्राप्त करेगा, उसमें उसे सफलता मिलेगी, कीर्ति संपादन करेगा या प्रकृतिदत्त शक्ति का सदुपयोग किस प्रकार करेगा? इन प्रश्नों का अच्छी तरह निर्णय कर सकता हो तो इसे जान कर वह मनुष्य उत्साहपूर्वक हिम्मत से तथा दृढ़ श्रद्धा से आगे बढ़कर अपने जीवन को उपयोगी और यशस्वी बना सकता है। इसलिए निमित्त शास्त्र यह दैवी शास्त्र मनुष्य का उपयोगी और उसके जीवन को सुन्दर बनाने वाला शास्त्र कहा हुआ है।

## सामर्थ्य प्रतिज्ञा योग

शास्त्र में जो-जो उपाय दिखाए हैं उनका अतिक्रम अर्थात् शक्ति की अधिकता से जो धर्म व्यापार-योग का स्वीकार किया जाय उसे सामर्थ्य प्रतिज्ञायोग कहते हैं। इसमें सिद्धपद प्राप्ति की बहुत सम्भावना है, इसका अतिक्रम न करना चाहिए, किन्तु शास्त्र से सम्पूर्ण अर्थों को जानना चाहिए, इसका दूसरा नाम सामर्थ्य योग भी है। यह सर्वज्ञ पद, सिद्धिपद, एवं सकल-प्रवचन-प्रज्ञा प्राप्ति आदि का हेतु है।

इसके दो भेद हैं—एक तो धर्म-संन्यास, दूसरा योग-संन्यास। मोहनीय के क्षयोपशम होने को धर्म संन्यास कहते हैं। कायादि व्यापार और कायोत्सर्ग आदि को योग-संन्यास कहते हैं। दोनों प्रकार के सामर्थ्ययोग समस्त लाभ के हेतु हैं और ये दोनों योगों का दूसरा अपूर्वकरण में समावेश होता है। इस जगह प्रथम अपूर्वकरण को यथाप्रवृत्तिकरण के साथ लिया है, इसलिए इसमें सामर्थ्ययोग नहीं हो सकता। क्योंकि इस जगह ग्रन्थिभेद नहीं है। इस लिए अनिवृत्तिकरण किये बाद यह धर्म-सामर्थ्ययोग होगा, क्योंकि अनादि काल से आत्मा के जो-जो अपूर्व शुभ और शुभतर परिणाम धर्मस्थानक के विषय में हैं, वही धर्म-संन्यास है। कारण यह है कि अनिवृत्तिकरण करने का फल है सम्यग्दर्शन, जिसके चिह्न हैं शम-संवेगादिरूप आत्मपरिणाम। शास्त्रों में कहा भी है कि—

> "शम-संवेग-निर्वेदानुकम्पाऽऽस्तिक्यलक्षणैः।
> पञ्चभिः पञ्चभिः सम्यक् सम्यक्त्वमुपलक्ष्यते ॥ १ ॥"

अर्थात् शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिक्य इन पांचों लक्षणों से सम्यक्त्व पहचाना जा सकता है।

और जब यथार्थ सम्यग्दर्शन होने पर जीव तथाविध कर्मस्थिति को कम करता है, तब धर्म-संन्यास नाम का प्रथम सामर्थ्ययोग होता है। क्योंकि शास्त्र में कहा है कि—

> "गंठित्ति सुदुब्भेओ, कक्खड-घण-रूढ़-गंठिव्व।
> जीवस्स कम्म-जणिओ, घण-राग-दोस-परिणामो ॥१॥

सम्मत्तम्मि उ लद्धे, पलियपहुत्तेण सावओ हुज्जा ।
चरणोवसमखयाणं, सागरसंखंतया हुन्ति ॥२॥"

इस रीति से स्थिति-भेद करके ऊपर जैसे-जैसे बढ़े वैसे-वैसे ही आत्म-वीर्य में जो उल्लास पैदा होता है, इसे ही धर्म-संन्यास योग कहना चाहिए। यही योग पारमार्थिक है—तात्त्विक है, इसीलिए इसको पहले कहा है। परन्तु कोई समय दीक्षा-ग्रहण करने के समय इसको अतात्त्विक भी कहा है; क्योंकि उस समय दीक्षा सन्मुख होती है, किन्तु उसे अभी ग्रहण नहीं की है। इसलिए यहां ज्ञानरूप प्रतिपत्ति विशेष है, परन्तु धर्म-संन्यास सामर्थ्य का अधिकारी भव-विरत होना चाहिए। शास्त्रों में कहा है कि दीक्षा का अधिकारी आर्य-देश में उत्पन्न हो, विशिष्ठ जाति और कुल की मर्यादा वाला हो, शुभ-कर्म करने की बुद्धि रखता हो और प्रपञ्च-शून्य हो। आत्म-परिणाम भी उसका ऐसा विचार करने वाला हो कि—मनुष्यपन मिलना दुर्लभ है, सम्पत्ति चंचल है, विषय दुःख के हेतु हैं और अन्त में विरस हैं जहां संयोग है वहां वियोग अवश्य है, शरीर मरण सहित है, और संसार का विपाक दारुण है। इस तरह संसार को गुण-शून्य और विरस विचारता हुआ सहज विरक्त हो जाय, जिससे क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्यादि स्वल्प हों, जो यौवन में भी निर्विकार हो, जो राजा या मुसद्दी आदि बहुमान्य हो, किसी से द्रोह न करने वाला हो, श्रद्धावान् हो, ज्ञान-योग का अधिकारी और प्रव्रज्या का आराधन करने वाला हो, ऐसा पुरुष धर्म-संन्यास के योग्य है। ऐसा व्यक्ति साधु बनने के लिये उपयुक्त है।

दूसरा योग संन्यास-सामर्थ्य एकान्त पारमार्थिक—तात्त्विक ही है, क्योंकि क्षपक-श्रेणि के प्रारम्भ से लेकर केवलज्ञान उत्पन्न होने तक तथा शैलेशी अवस्थागत योगनिरोध के समय तक योगी की अवस्था को योग-संन्यास-सामर्थ्य कहा जाता है।

इन तीनों ऊपर के कहे हुए योगों में से प्रथम योग भव्य मिथ्यादृष्टि को होता है और दूसरा योग ग्रन्थिभेदन करने के बाद सम्यग्दृष्टि, देशव्रती प्रमुख को होता है। और तीसरा योग दीक्षा के सन्मुख भव-विरक्त की अयो-

गावस्था तक जानना चाहिए। इसको विस्तार से देखना हो तो "योगदृष्टि-समुच्चय" नाम का ग्रन्थ जो श्री हरिभद्रसूरि जी का निर्माण किया हुआ है। उसमें तथा योगविंशतिका, आदि योग ग्रंथों में देखना चाहिए।

यह हठ की प्रवृत्ति साधु को प्रथम ही होती है, श्री ऋषभदेव स्वामी से लेकर श्री महावीर-स्वामी तक चौवीस तीर्थंकरों ने हर एक बात से मन, वचन, काया को रोका। क्योंकि इस मन, वचन, काया की तथा इन्द्रियों की अनादि काल से स्वतः प्रवृत्ति हो रही है। इनकी प्रवृत्ति न होने देना, और जबरदस्ती से वश में करना यह हठयोग ही तो हुआ, क्योंकि जैसे श्री नेमिनाथ स्वामी के पास से ढण्ढण मुनि ने अभिग्रह लिया कि मेरी लब्धि से आहार मिले तो ग्रहण करूंगा, अन्यथा नहीं। जब ऐसा हठ किया तो अन्त-राय कर्म के ज़ोर से आहार का योग न मिला। तब एक दिन श्री कृष्ण महा-राज श्री नेमिनाथ जी को वन्दना करके पूछने लगे कि हे स्वामिन्! अठारह हजार मुनिराज हैं, उनमें कौन सा मुनि उत्कृष्ट है? तब श्री नेमिनाथ स्वामी कहने लगे कि ढण्ढण मुनिराज सबसे उत्कृष्ट है।

श्री कृष्ण महाराज को ढण्ढण ऋषि को वन्दना करने के लिए उत्कण्ठा हुई, भगवान् नेमिनाथ को वन्दना कर वहां से चल दिया और इधर से ढण्ढण ऋषि भी गोचरी की गवेषणा करते हुए श्री कृष्ण महाराज को रास्ते में मिले। तब श्री कृष्ण ने हाथी से उतरकर ढण्ढण ऋषि को तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया।

उस समय एक स्वभाव से कृपण धनवान् वणिक को श्री कृष्ण को ढण्ढण ऋषि को नमस्कार करते देखकर साधु को भिक्षा देने का (बहराने का) भाव उत्पन्न हुआ और ढण्ढण ऋषि जी को अपनेघर में लेजाकर मोदक भिक्षा में दिए। तब ढण्ढण ऋषि जी ने शुद्ध जानकर ग्रहण किए और नेमिनाथ स्वामी के पास आये, पूछने लगे कि हे भगवन्! यह आहार मेरी लब्धि से मिला है या नहीं? उस समय श्री नेमिनाथ स्वामी कहने लगे कि हे वत्स! यह तेरी लब्धि नहीं, यह लब्धि तो त्रिखण्डाधिपति वासुदेव की है। तब ढण्ढण ऋषि कहने लगे कि हे स्वामिन्! मुझे दूसरे की लब्धि का आहार न कल्पे।

ऐसा कहकर पजावे पर जाकर मोदकों (लड्डुओं) का चूर्ण करते हुए शुद्ध भावना-बल से कर्मों को चूर्ण किया और केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

ऐसे ही श्री वर्धमान स्वामी ने भी अनेक तरह के मौनादि अभिग्रह लिए। सो श्री महावीर स्वामी का वर्णन श्री कल्पसूत्र अथवा इनके चारित्र से जानो यह हठयोग का शब्दार्थ कहा, अब कुछ साधन करने वाले के विषय में कहेंगे।

### "हठयोग का अधिकारी

हठयोग करने वाले को प्रथम-ब्रह्मचारी होना चाहिए। दूसरा—उसे क्षुद्र अर्थात् ओछी प्रकृति का न होना चाहिए। क्योंकि जब क्षुद्र प्रकृति का होगा तो सबके सामने गुरु की बताई रीति कहता फिरेगा और योग्य अयोग्य को न देखेगा, थोड़े ही में उसे अभिमान हो जाएगा, लोगों को चटक मटक दिखाने लगेगा। इसलिए गम्भीर आशय वाला होना चाहिए। क्योंकि गम्भीर आशय वाला होगा तो योग्य अयोग्य को देखेगा और किसी को अपना

---

### ८३. स्त्री-स्वरोदय शास्त्र

कई लोगों के मन में साधारणतया यह शंका उत्पन्न होती है कि इस स्वरोदय का विधान स्त्री-पुरुष दोनों के लिए एक ही प्रकार का है अथवा भिन्न-भिन्न ? यह शंका होने का मूल कारण यह है कि स्त्री पुरुष की वामांगना कहलाती है और वास्तव में उसके वामांग को प्राधान्य भी है।

शरीर रचना की दृष्टि से विचार करें तो स्त्री-पुरुष से भिन्न है। परन्तु स्वरोदय की दृष्टि से स्त्री-पुरुष दोनों के लिए स्वर सम्बन्धी तमाम नियम समान रूप से ही लागू पड़ते हैं। अर्थात् उपर्युक्त सब नियम स्त्री-पुरुष के लिए एक समान ही समझने चाहिए। स्त्री-पुरुष का भेद स्वर की दृष्टि से नहीं परन्तु अमुक शारीरिक रचना के कारण से है। ऐसा समझकर सब काम करना चाहिए।

इस सृष्टि में पुरुष सूर्य का प्रतिनिधि तथा स्त्री चंद्र की प्रतिनिधि है। ऐसा स्वर शास्त्र में स्पष्ट दर्शाया गया है। इसलिए पुरुष में सूर्य प्रधान गुण विद्यमान हैं तथा स्त्री में चंद्र प्रधान गुण विद्यमान हैं। स्वरोदय विज्ञान

हाल न कहेगा, गुरु की बताई हुई रीति को समझकर आत्मार्थी बनेगा। तीसरा—परिषह अर्थात् भूख, प्यास, निन्दा, स्तुति सुनकर सहन करे, कहने वाले को शापादि न दे; आलसी, क्रोधी, कपटी, लोभी, अहंकारी न हो। जितेन्द्रिय हो। क्योंकि जिसकी इन्द्रियां चपल होंगी वह योग में प्रवृत्त न हो सकेगा, योगमार्ग का अभिलाषी गुरु आज्ञाकारी, आत्मार्थी और मोक्षाभिलाषी हो, परिश्रम से थकने वाला न हो। इत्यादि ऊपर कथन किए हुए गुण जिसमें हों उसे योग का अधिकारी समझना चाहिए। और वही योग-साधन करने के लिए पात्र है।

### हठयोग के साधक के लिए आहार विधि

योगी आहार इस प्रकार करे कि जो न न्यून हो और न अत्यन्त अधिक हो। न्यूनाधिक हो जाने से साधन ठीक नहीं बनता। क्योंकि अधिक खाने से तो प्रमाद वश होकर परिश्रम न कर सकेगा। इसलिए शास्त्रानुसार आहार को अंगीकार करे। जितनी उसकी भूख हो—मुझे इतना आहार चाहिए, ऐसा अनुमान करे और अनुमित आहार के चार भाग करे। उन

---

की दृष्टि से हम ऐसा कह सकते हैं कि जब पुरुष की चंद्र नाड़ी चलती हो और पुरुष में सूर्य प्रधान गुणों का प्रभाव चंद्र नाड़ी के प्रभाव से अमुक अंशों में हल्के (Mild) हो जाते हैं परन्तु जब सूर्य नाड़ी चालू होती है तब उसे पूर्ण बल मिलने से वह अधिक उग्र [Aggressive Form] स्वरूप धारण करता है। तथा बराबर इसी प्रकार की स्त्री की नाड़ियों की परिस्थिति है। जब स्त्री की चन्द्र नाड़ी चलती हो तब ज्ञात करेंगे कि उस समय स्त्री में स्त्रीत्व के गुण पूर्ण अवस्था में विद्यमान हैं और जब उसकी सूर्य नाड़ी चालू हो तब ज्ञात करेंगे कि उसके स्त्री सुलभ गुण कुछ-कुछ मंद अवस्था में हैं। स्वर विज्ञानियों ने इन्हीं बातों के आधार पर स्त्री पुरुषों के लिए करने योग्य बहुत कार्यों का निश्चय किया हुआ है। जैसा कि इच्छानुकूल पुत्र अथवा पुत्री उत्पन्न करना। गर्भ धारण न करना आदि। इस संक्षिप्त आलोचना का खयाल पाठकों को अवश्य ध्यान में आया ही होगा। ऐसी मैं आशा रखता हूं।

चार भागों में से दो भाग के अन्दाज गृहस्थ के यहां से आहार अर्थात् पका हुआ (रन्धा हुआ) अन्न लावे, और एक भाग जल लावे, सो उन तीनों हिस्सों से अपनी उदर-पूर्ति करे, एक भाग उदर का खाली रखे। खाली रखने का प्रयोजन एक तो वीतराग देव की आज्ञा है कि—आत्मार्थी साधु हमेशा ऊनोदरी तप करे, पशु की तरह ठूंस-ठूंसकर उदर को न भरे।

दूसरा प्रयोजन यह है कि पेट में एक भाग खाली रखने से श्वास उछ्वास की गति ठीक रहती है। क्योंकि यदि अन्न और जल से सम्पूर्ण पेट भर लेगा तो श्वासोछ्वास वायु का आना जाना कदापि ठीक न रह सकेगा, यह सर्वजन-अनुभूत है कि अन्न के कम खाने वालों का शरीर प्रफुल्लित और आलस्य-रहित रहता है और जो मनुष्य पेट भर लेते हैं उनको थोड़ी देर बाद ही आलस्य आ जाता है। जो लोग केवल अन्न अर्थात् आहार से ही पेट भरते हैं और पीछे से पानी पीते हैं उनका तो श्वासोछ्वास बहुत तकलीफ से निकलता है, दूसरे लोग भी देखकर कहते हैं कि आज तो माल खूब खाया। अजीर्ण होने से स्वास्थ्य पर पानी फिर जाता है। जब गृहस्थों को भी मिताहारी होना चाहिये तब योगी के लिये विशेष क्या कहें। इसलिये ऊपर लिखे अनुसार भोजन करना चाहिये—और जो योगाभ्यास करने वाले साधु हैं वे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार भिक्षा-वृत्ति के वास्ते एक बार गृहस्थ के घर जावें, अपनी उदर-पूर्त्ति के लिये शुद्ध आहार पानी लावें, परन्तु गृहस्थ के घर बारम्बार न जावें। क्योंकि जो मुनि बारम्बार जायेगा तो मांगने खाने में ही उसका काल पूरा हो जायगा; फिर योगाभ्यास किस समय करेगा? दूसरा वीतरागदेव ने भी कहा है कि वैयावृत्य—साधुओं की टहल सेवा—करने वाले के बिना नित्यभोजी साधु एक बार गृहस्थ के घर जाये। बारम्बार जाने वाला भगवदाज्ञा-विराधक है।

### योगी के लिये हेयोपादेय वस्तु

अब योग साधनेवाला किस-किस वस्तु का त्याग करे, और किस-किस वस्तु को ग्रहण करे। जो वस्तु भोग में न आवे जैसे १—कडवी चीज

(नीम के पत्रादि) ग्रहण न करे। २—भांग, गांजा, तमाकू आदि कोई तरह का नशा अंगीकार न करे, क्योंकि जो नशा करनेवाला होगा, वह बकवृत्ति (बगुला वृत्ति) से लोगों को ध्यान दिखावेगा।

३—आम्ल—खटाई, इमली, कच्चा आम, जामुन, जमेरी, निम्बू, नारंगी आदि नाना प्रकार की खटाइयां हैं, इन्हें ग्रहण न करें, लाल मिरच भी बहुत न खाय, बहुत लवण भी न खाय, बहुत गरम भोजन न खाय क्योंकि ये रक्त-विकार द्वारा स्वास्थ्य को हानिकारक हैं। एवं ऐसी वनस्पतियां कन्दमूलादि अनन्तकाय जो इन्द्रियों को विकार पैदा करनेवाली हैं, न खानी चाहिये। इन्द्रियों को कंदमूल हरित—शाकादि पुष्ट करते हैं और पुष्टि विकार का हेतु है। इसे भी योगी को त्याज्य समझना चाहिये।

योगी तिल, सरसों, मधु (शहद), मदिरा, मांस, इन सबका त्याग करे छाछ, कुलथी, तिलपापड़ी, बासी अन्न, सीरा, सेकी हुई लापसी और कांजी आदि को भी अंगीकार न करे। शीघ्रता से गमनागमन (जाना आना), भागना, अग्नि का सेवन करना, और स्नानादि भी न करे। साधना के समय बहुत तपादि भी न करे, और बहुत मनुष्यों से परिचय भी न करे, बहुत बोलना भी न चाहिये।

### योगी के काम में आने वाली वस्तुएं

गेहूं, चावल, ज्वार, बाजरा, सांठी के चावल, मूंग की दाल, तुबर की दाल, उड़द की दाल, दूध, घृत, मीठा सभी ले सकता है, परन्तु मीठा नित्य न खाय, और लड्डू, जलेबी, सीरा, लापसी, घेवर, कलाकन्दादि इस योग साधनेवाले को बिल्कुल खाने के लिये निषिद्ध है। कारणवशात् सोंठ, पीपर, काली मिरच, जावत्री आदि अंगीकार कर सकता है और ऐसा आहार करे कि जो जल्दी पच जाय। बल्कि रोटी लूखी (खुश्क) खाय, जहां तक बने वहां तक भिक्षा में भी रोटी रूखी लावे, क्योंकि चुपड़ी हुई रोटी गरिष्ठ होती है, पचने में दुर्जर होती है और गरिष्ठ वस्तु के खाने से आलस्य भी आता है। ऊपर लिखी चीजों का संयोग भिक्षा में न मिले तो चना सेका

छुरा लेकर अपना निर्वाह कर ले, अथवा आधे से भी थोड़ा आहार करे।

### योगी के लिये स्थान

योगी के लिये स्थान कैसा होना चाहिये वह दिखाते हैं। एकान्त अर्थात् वस्ती से बाहर हो, और उस मकान में स्त्री, नपुंसक, तिर्यञ्च आदि का आना जाना न होना चाहिये। इसी वास्ते जैनधर्म में ब्रह्मचारी को नव वाडों से ब्रह्मचर्य पालन करना कहा है। उन नव वाडों का वर्णन शास्त्रों में है, ग्रन्थ बढ़ जाने के भय से नहीं लिखते। अन्य मत में कई एक प्रकार मठादि के बताये हैं वे भी ग्रन्थ बढ़ने के भय से नहीं लिखते। परन्तु उस एकान्त स्थान में चूना-पत्थर आदि का मकान न हो। वह दूसरी रीति से योग साधनेवाले की पीठिका कही गई है।

### आसन प्रतिष्ठा

योग साधने वाले को प्रथम आसन दृढ़ करना चाहिये। आसनों की संख्या चौरासी लक्ष है जिसमें चौरासी आसन प्रसिद्ध हैं। उनमें भी जो इस योग-साधना में बहुत उपयोगी हैं उन्हीं आसनों के कुछ गुणादि वर्णन करते हैं।

### स्वस्तिक-आसन

यह समस्त आसनों में सुगम है, और मंगल रूप भी है, इसीलिये इसको प्रथम कहा है। सुगमता इसकी इस लिये है कि जंघों के मध्य में दोनों पावों के तलवों को करके और देह सरल करके बैठना, उसे स्वस्तिकासन कहते हैं। इसका नाम स्वस्तिक क्यों दिया यह दिखलाते हैं—स्वस्ति नाम है कल्याण का, जो भव्य जीव आत्मार्थी आत्मसाधन और मोक्ष जाने की चाहना करे उसे कोई तरह का विघ्न न हो, क्योंकि सत्कर्म करने में प्रायः विघ्न आया ही करते हैं। शास्त्रकारों का उल्लेख देखने में आता है कि "श्रेयांसि बहुविघ्नानि भवन्ति महतामपि"। इसलिये इसे मंगल बुद्धि से पहले कहा है और दूसरा इस आसन में बैठने से सुस्ती—आलस दूर होता है, तीसरा हर एक इसे सहज में कर सकता है, इस वास्ते भी इसी स्वस्तिकासन का पहले स्वरूप-निर्देशन किया है।

## २-गोधुक् आसन

ऊकडू (पांव के बल पर) बैठकर एडीयां ऊंची रखे और पांवों के पंजों के बल पर अपना समस्त शरीर का भार डाल कर, जैसे गवाला लोग गाय को दोहने के अवसर पर बैठते हैं, वैसा बैठने को गोधुक् आसन या गोदोहन आसन कहते हैं। इसी आसन से शासनपति भगवान् श्री वर्धमान स्वामी ने सालवृक्ष के नीचे केवलज्ञान-केवलदर्शन प्राप्त किया था।

## ३-गोमुख आसन

वांई अर्थात् डावी तरफ कटि (कमर) के नीचे दक्षिण अर्थात् जीमने पांव की गुल्म अर्थात् एड़ी धरे और जीमनी कटि की तरफ वांये पांव की एड़ी को धरकर बैठ जाय, और दोनों घुटनों को ऊपर नीचे कर ले, जैसे गौ का मुख अर्थात् दोनों होठ ऊपर नीचे होते हैं, इस तरह दोनों घुटने करे। इस आसन को कानफटे साधुओं में जो गोरखनाथ हो गये हैं उन्होंने विशेपकर किया है, इसी लिये इसको गोरक्ष-आसन भी कहते है।

## ४-वीरासन

जैसे वीर अर्थात् शूर-वीर मनुष्य युद्ध में धनुष वाण को खींचते हैं, उस रीति से जो खड़ा होना उसी का नाम वीरासन है। सो यह वीरासन कई तरह से होता है, इसीलिये नाम मात्र लिखा है, क्योंकि आसनों की प्रक्रिया तो गुरु के पास से अपनी दृष्टि से देखे और गुरु करके दिखावे तव ही तथावत् मालुम होती है।

## ५-कूर्मासन

दोनों पगों (पांव) की एड़ी से गुदा को रोक करके सावधान स्थित हो जाने को कूर्मासन कहते है।

## ६-कुक्कुटासन

अब कुक्कुटासन कहते हैं—वाएं पैर के तलवे दाहिनी (जीमनी) जंघा के ऊपर रखे, अर्थात् पद्मासन लगाकर फिर दोनों हाथों को ऊरु अर्थात् जंघा के बीच में हाथ घुसेड़कर जमीन पर टेके, फिर हाथों पर जोर देकर और आसन करता हुआ ऊपर को उठे और जमीन से अधर (आश्रय-रहित) हाथों के ऊपर खड़ा रहे उसी का नाम कुक्कुटासन है।

### ७-धनुषासन

दोनों पांवों के अंगूठों को दोनों हाथों से ग्रहण करके एक को कानपर्यन्त लावे, धनुष की तरह आकर्षण करे। अथवा ऐसा भी कहते हैं कि एक पैर को फैला करके, एक से अंगुठा को ग्रहण करे और एक हाथ कानपर्यन्त करे इसका नाम धनुषासन है।

### ८-पश्चिमोतानासन

दोनों पांव दण्ड की तरह लम्बे करे और धरती को पैरों से पकड़े, अर्थात् पांवों को चिपटे जमा रखे, और दोनों हाथों को फैलाकर पांवों के दोनों अंगूठों को दोनों हाथों से पकड़े, परन्तु पांव ऊपर को न उठने पावे, ज़मीन से ही लगे रहें, फिर माथे को नीचा करके जंघों के ऊपर लगाकर स्थिर हो जाय, अथवा दोनों पांवों को चिपटा ले, और दोनों हाथ पैरों के इधर-उधर से करके तलवों के बीच में हाथों की दसों अंगुलियां मिलावे, परन्तु अंगुली ऐसी मिलावे कि छूट न जाय, फिर माथा जंघा के ऊपर रखकर स्थिर हो जाय। इस आसनके कुछ गुण दिखलाते हैं। यह आसन ऊपर कहे आसनों में से मुख्य आसन है और सुषुम्णा-मार्ग को बतानेवाला है, प्राणों की गति सूक्ष्म अर्थात् धीमा करनेवाला है, पेट की अग्नि को तीव्र करता है और उड्यान-बन्ध में भी मदद देता है, पेट के मध्य भाग को कृश बनाता है, जिससे तोंद नहीं निकलती, पेट पतला बना रहता हैं, और कब्जियत (मलावरोध) को दूर करता है, दस्त को साफ (खुलासा) करता है। जो मनुष्य इस आसन को लगाने का अभ्यास करेगा, उसको शरीर सम्बन्धी अनेक प्रकार के लाभों के अतिरिक्त योगाभ्यास में विशेष सहायता मिलेगी।

### ९-मयूरासन

दोनों हाथ जमीन पर रखकर दोनों कुहणी (कोणी) मिलाकर नाभि और कलेजा के बीच में रखकर कोणियों के ऊपर सब शरीर का भार देकर दोनों पांव पीछे से ऊंचे उठावे, और जमीन पर सिवाय हाथों के कोई शरीर का अंग न रहने दे। जैसे मयूर अपने पंखों को ऊपर करके नाचता है, इसी रीति से पांव ऊंचा करे, इसी का नाम मयूरासन है। इसका

प्रकारान्तर भी कुछ बतलाते हैं कि, माथा जमीन से लगा रहे और बाकी कुल रीति उस प्रकार से जान लेनी चाहिये।

### इसके कुछ गुण

इस मयूर-आसन के करने में क्या लाभ है, अथवा क्या-क्या फायदे हैं वही दिखाते हैं—इस के आसन करने में जलन्धर, तापतिल्ली, फीया आदि अनेक रोग चले जाते हैं, और वात, पित्त, कफ, इनको भी यह मयूरासन नाश करता है अर्थात् विषम दोषों को सम करता है। जो कदाचित् कुत्सित अन्न खाया जाय तो उसे भी भस्म कर देता है, और जब बस्ति करने का काम पड़े अथवा कुछ जल पेट में रह जाय तो इसके करने से जल्दी रेचन हो जाता है।

### १०-सिंहासन

दोनों घोटू जमीन पर टेककर दोनों एड़ियों को गुदा के पास ले जाकर उसके ऊपर बैठ जाय और दोनों हाथों के पंजे अर्थात् अंगुली पेट की तरफ और हथेली घोटू की तरफ करके सतर बैठ जाय, परन्तु हाथ में किसी तरह का शल्य न हो, और गरदन को कुछ झुकी हुई सामने रखे दोनों आंखों की पुतली दोनों भंवरों (भौंओं) के बीच में रखे, और मुख को फाड़े, जीभ को अच्छी तरह से बाहर निकाले, और सिंह की तरह गर्जना अर्थात् शब्द करे। इसका अभ्यास करने से शरीर में फुर्ती बनी रहती है, और तेजी बनी रहती है। कदाचित् गोचरी (भिक्षा) में खटाई आदि आ जाय तो खाने के बाद इस आसन को करे। इससे योग में किसी प्रकार का विघ्न न होगा।

अब ऊपर लिखे हुए आसनों में परिश्रम होता है, इसको दूर करने के वास्ते शिवासन को अवश्यमेव करे। इसलिये शिवासन का स्वरूप लिखते हैं।

### ११-शिवासन

जमीन से पीठ लगाकर शयन करे और हाथ पांव सीधे कर दे, अर्थात् जैसे मुर्दा होता है वैसे सरल होकर सो जाय। इस आसन से शरीर का

परिश्रम दूर हो जाता है, इस लिये परिश्रम दूर करने के लिये यह आसन श्रेयस्कर है।

### १२-सिद्धासन

दांये पांव की एड़ी को योनि के मध्य लगावे। गुदा और लिंग मध्यभाग का नाम योनि है—सीवन-स्थान को योनि कहते हैं। उस स्थान को एड़ी से दबाये रहे और दाहिने पांव को उठाकर लिंग की जड़ में एड़ी को लगा कर नीचे को दबावे,इसी रीति से बैठकर फिर एड़ी को हृदय से चार अंगुल फरक से रखे, और नेत्रों को अचल दृष्टि से भृकुटी के मध्यभाग में लगा दे उसका नाम सिद्धासन है। इस आसन का फल तो अन्य मतावलम्बियों के शास्त्रों में बहुत वर्णित है, और श्री जैनमत में भी गुरुमुख से इसकी महिमा सुनने वाले जिज्ञासु जानते हैं, तथा शास्त्रों में भी वर्णन है। "यथा नाम तथा गुणा:" इस उक्ति से भी जान पड़ता है कि इस आसन में कोई विशेष महत्त्व होना चाहिये।

### १३. पद्मासन

बाईं जंघा के ऊपर दायां पांव स्थापन कर बांया पांव दाहिनी जंघा पर स्थापन करके दांये हाथ को पीठ पीछे घुमाकर बांयी जंघा पर स्थित पांव के अंगुठे को पकड़े, और ऐसे ही बांये हाथ को पीठ पीछे ले जाकर दाहिनी जंघा पर स्थित जो बांया पांव उसके अंगुठे को पकड़े, और हृदय के समीप ठोड़ी चार अंगुल के अन्तर में रखे, नेत्रों से नासिका की डण्डी अर्थात् अग्रभाग (नोक) को देखे।

अब प्रकारान्तर से भी पद्मासन को दिखाते हैं—बांया पांव को आगे दाहिनी जंघा के ऊपर और दाहिने पांव को बांयी जंघा पर रखे, और हाथों को उन दोनों एड़ियों के ऊपर पहले बांये हाथ को रखे, उसके ऊपर दाहिने हाथ को रखे, अर्थात् जैसे जिन-मन्दिर में भगवान् वीतराग जिनेन्द्रदेव की प्रतिमा स्थापित की जाती है, इसका नाम पर्यंकासन भी है।

इन आसनों की विधि श्री हेमचन्द्राचार्य कृत योगशास्त्र में देखो, इस जगह तो संक्षेप से नाम तथा गुण वर्णन करते हैं। जैसे पंकज कीचड़ से

उत्पन्न हुआ और जल से वृद्धि पाकर दोनों को छोड़कर पृथक् हो जाता है । इसी रीति से जो मनुष्य इस पद्मासन को साधनेवाला है वह संसार रूप कीचड़ से उत्पन्न होकर और भोगरूप जल से वृद्धि पाकर इन दोनों को छोड़कर इस योगरूप अभ्यास में पृथक् स्थित हो जाता है । इसीलिये इसका नाम कमल पंकज भी है ।

इस प्रकार संक्षेप में आसनों का वर्णन किया है, जो पुरुष पहले इन आसनों का अभ्यास दृढ़ करेगा, वह ही पुरुष योगाभ्यास के परिश्रम को उठावेगा, गुरु के बिना योगाभ्यास का रास्ता कदापि न पावेगा, पुस्तक बांचने मात्र से भी हाथ न आवेगा, इसीलिए हमारा कहना है जो कोई योग की सिद्धि करना चाहे वह प्रथम स्वरोदय अर्थात् स्वर का अभ्यास योगी गुरु से अवश्य-मेव करे । क्योंकि जब तक पूरा-पूरा उसका स्वर के तत्त्वों का ज्ञान न होगा तब तक योग की सिद्धि कदापि न होगी । स्वर के ज्ञान बिना जो मनुष्य योगाभ्यास अर्थात् प्राणायाम, मुद्रा, कुम्भकादि का परिश्रम करते हैं, उनका परिश्रम व्यर्थ जाता है, क्योंकि योगाभ्यास की प्रथम भूमिका स्वर-अभ्यास है ।

वर्त्तमान काल में बहुत लोग प्राणायामादि अथवा षट्कर्मादि के विषय में परिश्रम उठाते हैं, परन्तु स्वर-अभ्यास के बिना लाचार होकर थक जाते हैं, और समाधि के भेद को नहीं पाते । इसलिए जो योग की इच्छा करने वाला जिज्ञासु है उसको मुनासिब है कि सद्गुरु के पास से विनयपूर्वक शुश्रूषा करके कपट-रहित हो गुरु की चरण-सेवा करे और इस स्वर-साधन की कुंजी सीखे, जिससे सर्व कार्य सिद्ध हों । मकान बनाने वाला यदि पहले नींव को मजबूत करेगा, तो मकान चाहे जितना ऊपर ले जावे उसको कभी भी खतरे का मुंह न देखना पड़ेगा, और न ही किसी प्रकार हानि की सम्भावना होगी ।

### स्वरोदय-स्वरूप

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश यह पांच तत्त्व हैं, और इन पांचों तत्त्वों को ही सभी स्वरोदय वाले कहते हैं । जैनों में भी गुरुकुल-वास बिना

इन्हीं को स्वरोदय वाले पांच तत्त्व कहते हैं, परन्तु यथावत् गुरु मिले और जिज्ञासु को योग्य जाने तो दूसरे भी पांच तत्त्व बतावे। उन पांच तत्त्वों की प्रसिद्धि ही नहीं है, परन्तु मैंने जिस गुरु की चरण-सेवा से योगाभ्यास की रीति पाई है उनकी जबानी इसका स्वरूप समझा है अनुभवी गुरु से ही विद्या का मर्म जाना जा सकता है जो ग्रन्थों में लिखा हुआ नहीं मिलेगा।

थोड़े समय पहले श्री आनन्दघनजी महाराज महान योगी हुए हैं, वे मारवाड़ में बहुत घूमे हैं, और प्रायः कई देशों में प्रसिद्ध भी थे। आयु के नजदीक आने से उन्होंने विचारा कि यदि कोई जिज्ञासु मिले तो इस वस्तु (योग प्रक्रिया) को दूं, ऐसा विचार कर मारवाड़ादि में अच्छी तरह अन्वेषण किया किन्तु कोई योग्य जिज्ञासु व्यक्ति देखने में न आया। अनन्तर गुजरात देश में श्री यशोविजय जी उपाध्याय का नाम सुनकर श्री आनन्दघन जी महाराज गुजरात में गये और उपाध्यायजी से मिले एवं उनसे इस विषय का आदान प्रदान किया। योग्य शिष्य न मिलने से उन्होंने अपनी परम्परा में कोई शिष्यादि न किया। क्योंकि उन्हें कोई योग्य शिष्य नहीं मिला। श्री आनन्दघन जी महाराज अपनी बनाई हुई चौबीसी के अन्दर श्री कुन्थुनाथ भगवान् के स्तवन में जो नवमी गाथा है उसमें मन ठहरने की कह गये हैं। परन्तु बिना अध्यात्मी गुरु के गाथा का रहस्य मालुम नहीं होता। वह गाथा भी दिखाते है—

"मनडुं दुराराध्य तें वश आण्युं, ते आगमथी मति आणुं।
आनन्दघन प्रभु माहरुं आणो, तो साचुं करी जाणुं हो ॥कुं॥९॥

इस गाथा में आ-ग-म-थि इन चार अक्षरों में मन ठहरने का मतलब बतलाया, गुरुकुलवास बिना इसका अर्थ समझ में न आया, मैंने इसका अर्थ कितने ही जिज्ञासुओं को खोल कर बताया, जिन्होंने इस अर्थ को पाया, उन्होंने नवकार गुणने में मन भी ठहराया, इसके आगे भी बताते, परन्तु पूरा जिज्ञासु नजर में न आया, इसीलिये वह पद पोथियों में उलटा सीधा गाकर पाठकगण को सुनाया।

परन्तु पूर्वोक्त गाथा के पुर्वार्ध का अर्थ लोग ऐसा करते हैं कि हे श्री

कुन्थुनाथ स्वामिन् ! मन जो है सो बड़ा दुष्ट है, अर्थात् अति चंचल है, परन्तु इसको आपने वश किया है, सो हे प्रभो ! आगमथी अर्थात् शास्त्र के आधार पर अथवा शास्त्र के श्रद्धान-बल से जानता हूं (विश्वास करता हूं) आगे की तुक में कहते हैं कि हे प्रभो ! मैं तो प्रत्यक्ष तब जानूं, जब मेरा मन स्थिरता पकड़ ले, अर्थात् समाहित हो जावे, ऐसा भाव लोग निकालते हैं।

परन्तु इस अर्थ में तो शंका उत्पन्न होती है कि आनन्दघन जी को श्रद्धा न थी, क्योंकि यदि उन्हें श्रद्धा होती तो ऐसा न कहते कि मैं शास्त्र से श्रद्धान करता हूं, परन्तु प्रत्यक्ष में तो तब ही विश्वास कर सकता हूं जब कि मेरा मन समाहित हो जावे (ठहर जावे)। इस कथन से उन्हें अश्रद्धान उत्पन्न होता है। अथवा उनका मन स्थिर नहीं था। तो वे योगीराज कैसे ?

इस शंका को दूर करने के लिये कुछ प्रयत्न करते हैं कि पूज्यपाद श्री आनन्दघन जी महाराज के समान तो श्रद्धान इस समय होना कठिन है। और उनके समान योगीराज होना भी कठिन है। किन्तु आनन्दघन जी का अभिप्राय न जानने से ऐसा कहना ठीक नहीं जान पड़ता, क्योंकि देखिये श्री आनन्दघन जी अपनी गाथा में क्या कहते हैं।'आगमथि' इन चार अक्षरों में श्री आनन्दघन जी महाराज का अभिप्राय दिखाते हैं कि एक एक अक्षर में गुरुगम से सम्पूर्ण नाम निकलता है। जैसे 'भीम' कहने से भीमसेन को ग्रहण करते हैं; वैसे ही (आ) कहने से "आया" और (ग) कहने से 'गया", (म) कहने से मन और (थि) कहने से स्थिर। उसका तात्पर्य यह है कि आने जाने में मन को मिलाना (रोकना) उस मिलाने से मन स्थिर होता है। इसी रीति से हे प्रभो ! आपने अपने मन को स्थिर किया, ऐसा उस पद का अर्थ है, परन्तु जैसा लोग कहते हैं उसी रीति से मैं नहीं मानता।

कदाचित् आगम पद करके कोई इस गाथा में शास्त्र का अर्थ लेगा तो जो शास्त्रों में आगम का लक्षण किया है वह व्यर्थ हो जायगा। क्योंकि आगम का लक्षण, प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार में तो "आप्तवचनादाविर्भूतमर्थ-

संवेदनमागमः'' अर्थात् आप्त के वचन ये प्रकट हुआ पदार्थ का जो संवेदन अर्थात् ज्ञान उसका नाम आगम है, न कि शास्त्रों का नाम आगम है। इसी रीति से श्री आनन्दघन जी महाराज जैसे श्रद्धावान थे, वैसे ही अध्यात्म-योगीराज भी थे। वैसा तो वर्त्तमान काल में होना कठिन है इसी रीति से गुरुगम को जानो, जैनमत में किसी तरह का सन्देह मत आनो, श्री आनन्दघन जी महाराज अध्यात्मीओं में उच्च कोटि के थे, अध्यात्म विना विद्वता की कोई महत्ता नहीं।

इसी रीति से मैं (चिदानन्द अपर नाम कर्पूरचन्द) ने भी योग्य जिज्ञासु विना किसी को शिष्य न बनाया[८४]।

अब जो वक्तव्य है उसके विषय में कहते हैं। प्रथम कहे हुए पंच तत्त्वों की गति चन्द्र और सूर्य नाड़ी में होती है, इसका ठीक ठीक जानना वही स्वर साधन है॥

### स्वरोत्थान

स्वरोत्थान प्रथम भृकुटि चक्र से होता है और आगमचक्र से होकर वंकनाल के पास होकर पश्चिम-द्वार से निकलकर शीघ्रता से नाभि में खटका देता है फिर नाभि में उठकर हृदय-कमल पर होकर कण्ठदल के ऊपर होकर जो जीमणा (दाहिना) रन्ध्र है उसमें घुसकर बांयी (डाबी) ओर नासिका-द्वार से निकलता है। इसी प्रकार बांयें रन्ध्र में घुसकर दांयी नासिका से निकलता है। इसी रीति से फिर पीछे को भी जाता है। इस जगह किंचित् परीक्षक पुरुषों के वास्ते परीक्षा अवसर भी है—जो भृकुटि चक्र से नाभि में आता है, सो उसके आने की परीक्षा यह है कि नाभि से खट-खट का शब्द आता है। जैसे घड़ी चक्रों के फिरने से खट-खट करती है उसी प्रकार नाभि में भी होता है।

इस खटके के देखने के वास्ते जब तक गुरु-कृपा न हो तब तक उस खटके का देखना कठिन है। जो गुरु खटके के देखने की रीति बतावे; तब वह खटका भी देखे और बीच का भी कुछ लाभ हो। कदाचित् कोई बुद्धिमान

८४—आप भी अपने हृदय में ही योग प्रणाली लिए स्वर्ग में चले गये।

एकाग्र चित्त होकर उस खटके की प्रतीति करे तो उस बुद्धिमान को खटका तो प्रतीत हो जायगा, परन्तु उसका जो रहस्य है सो गुरु के विना कदापि न मिलेगा, क्योंकि श्री मानतुंगाचार्य जी 'पंच परमेष्ठि स्तोत्र' में लिखते हैं कि "गुरुकृपां विना किं पुस्तकभारेण"।

न्यायशास्त्र में भी ऐसा कहते हैं कि "शिवे रुष्टे गुरुत्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन" अर्थात् शिव (इष्ट-देव) के रुष्ट होने पर गुरु रक्षण करने वाला है परन्तु गुरु के रुष्ट होने पर कोई रक्षण करने वाला नहीं है। जैन-धर्म में तो गुरु के विना कुछ भी नहीं होता, इसलिए गुरु की मुख्यता है। अब ऊपर लिखे दोनों स्वरों में जो पांचों तत्त्वों का प्रकाश है, उसका थोड़ा सा वर्णन करते हैं।

### १-पृथिवी तत्त्व का स्वरूप

पृथिवी तत्त्व का रंग पीला और बारह अंगुल या आठ अंगुल बहता है— अर्थात् सन्मुख नकुवे के (नाक के रन्ध्रों के) ठीक सीध में बाहर मालूम पड़ता है। स्वाद मीठा, आकार चौकोना (चौरस), और ५० पचास पल अथवा बीस मिनट जिसका जंघा में स्थान है।

### २-जल तत्त्व का स्वरूप

दूसरा जलतत्त्व है, इसका वर्ण सफेद है। सोलह अंगुल अथवा बारह अंगुल नासिकाग्र भाग में बहता है, किन्तु इसकी गति नीची रहती है। स्वाद (रस) कषायेला और वर्त्तुल—गोल आकार तथा ४० पल अर्थात् सोलह मिनट पांव के स्थल में रहता है।

### ३-अग्नितत्त्व का स्वरूप

अग्नितत्त्व का रंग लाल और चार अंगुल ऊंची इसकी गति जानना चाहिए, स्वाद तीक्ष्ण जैसे मरीच का रस तीक्ष्ण होता है, त्रिकोण आकार, ३० पल अर्थात् १२ मिनट कन्धे में रहता है।

### ४-वायुतत्त्व का स्वरूप

वायुतत्त्व का वर्ण हरा अथवा नीला जानना चाहिए, तथा आठ अंगुल अथवा पांच अंगुल तिरछी गति, स्वाद में खट्टा, आकार में ध्वजा जैसा,

२० पल अर्थात् ८ आठ मिनट नाभि में जिसकी स्थिति है।

### ५-आकाश तत्त्व का स्वरूप

आकाश तत्त्व रंग में काला, अथवा नाना प्रकार का, नासिका के भीतर ही चलने वाला, स्वाद में कटु, शून्याकार वाला, १० पल अथवा ४ मिनट मस्तक में अथवा सम्पूर्ण देह में स्थित है। वह आकाश तत्त्व नाम से पहिचाना जाता है। इस प्रकार तत्त्वों का वर्ण तथा आकार आदि कहा है। अब जो कुछ ऊपर लिख आये हैं कि मुझे जैन रीति से जो तत्त्व गुरु ने कहे हैं कुछ उनका स्वरूप कहते हैं।

### जैन रीति से तत्त्वों का अनुसन्धान

अरिहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु ये पंच तत्त्व जानने चाहिये। और क्रम से निम्नलिखित वर्णादि भी जानने चाहिये—जैसे शुक्ल, लाल, पीला, हरा अथवा नीला, काला अथवा विचित्र। सोलह अंगुल, चार अंगुल, बारह अंगुल, आठ अंगुल, कुछ नहीं। कषायला, अथवा अत्यन्त मीठा, तीखा, मीठा, खट्टा, कड़ुवा।

### १-अरिहंत तत्त्व

अब इन उक्त तत्त्वों तथा इनके वर्णभेदादि पर विचार दिखलाते है। पहले अरिहंत को श्वेत वर्ण क्यों कहा है? वह इसलिये कि उनमें किसी प्रकार का मल—कर्मरूप मैल—नहीं रहा। और बारह अथवा सोलह अंगुल इस वास्ते कि आठ गुण प्रातिहार्यादि और चार मूल अतिशय इस प्रकार बारह गुण हैं इसी लिये बारह अंगुल और चार कर्म के क्षय होने से चार गुण, इसी रीति से सोलह अंगुल समझना चाहिये।

इसका स्वाद कषायला इसलिये कहा है कि सम्यक्त्व-रहित मिथ्या दृष्टि जीवों को उनके वचन रूप जल में रुचि नहीं होती, इसलिए उन्हें उनका वचन कषायला लगता है और जो सम्यक्त्व करके सहित हैं, उनको शब्द-रूपी जल अत्यन्त मीठा मालूम होता है, इसलिये अज्ञान दशा से लोग जल का स्वाद कषायला कहते हैं, परन्तु है असल में मीठा; इसी वास्ते नैयायिकों ने जल को मीठा कहा है। हरीतकी अर्थात् हरड़ अथवा आम की सेकी हुई

गुठली खाकर ऊपर से पानी पीने से मीठा लगता है। अन्य वस्तु के संयोग से जल को कषायला कहते हैं परन्तु है वास्तव में मीठा। इसलिये अरिहंत तत्त्व को मीठा कहा है। जैसे जलतत्त्व के स्वाद की अज्ञान दशा से खबर नहीं पड़ती, वैसे ही अज्ञान के कारण जिन तत्त्वों का हम वर्णन करते हैं उनको छोड़कर पृथिवी आदि तत्त्वों को अंगीकार किया, देखादेखी लोगों ने इन्हीं को तत्त्व लिखा है।

अरिहंत तत्त्व का वर्त्तुल आकार दूसरी रीति से हैं—जैसे बड़ का पेड़ नीचे से संकुचित होकर ऊपर से विस्तीर्ण होता है और जैसे जल धारारूप से निकलकर जमीन पर फैल जाता है, वैसे ही अरिहंत-रूप तत्त्व के मुखार-विन्द में से धारारूप त्रिपदी निकलने से गणधरादि शिष्यरूपी जमीन पर विस्ताररूप द्वादशांगी रचना करते है। इत्यादि अरिहन्त तत्त्व के गुण जानों, बाकी गुरुगम से सब पहचानों, अब इसके आगे सिद्ध तत्त्व का विवेचन करेंगे।

### २-सिद्धतत्त्व

सिद्ध का वर्ण लाल इसलिये है कि जैसे अग्नि सर्व वस्तु को भस्म करती है वैसे ही सिद्ध भी कर्मरूप वस्तु को जलाकर भस्म कर देता है। इस अनु-मान से अग्निरूप अलंकार के सदृश रंग लाल कहा है। परन्तु सिद्ध में रंग कोई नहीं, क्योंकि शास्त्रों में ऐसा कहा है कि सिद्ध परमात्मा में वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श कोई नहीं, ऐसे ही अग्नि में भी कोई तरह का रंग नहीं है, क्योंकि जो अग्नि में लाल रंग होता तो अग्नि के बुझने के बाद राख में भी कुछ लाली रहनी चाहिए। इस लिये अज्ञान दशा से लोगों को उपाधि से लाल रंग प्रतीत होता है।

अब सिद्ध रूप अग्नि का चार अंगुल प्रमाण इस प्रकार है कि सिद्ध में मुख्यतया चार गुण अर्थात् ज्ञान, दर्शन, चरित्र और वीर्य हैं। इन गुणों से ही चार अंगुल लेते हैं। और दूसरा इसमें यह भी प्रमाण है कि परमात्मा और जीव में कोई भेद भी नहीं है, केवल उपाधि (कर्म-संयोग) से भेद है। इसलिए जिसमें जो गुण होता है उसमें वह गुण सत्तारूप से बना रहता ही

है। इसलिये इसमें चार अंगुल प्रमाण कहा है।

इस तत्त्व का स्वाद तीक्ष्ण इसलिये है जिसकी तीक्ष्णता (सूक्ष्मता, दुर्ज्ञेयता) में दूसरी वस्तु प्रवेश न कर सके। ऊर्ध्व गति इस तत्त्व की इसलिये है कि जो चीज हल्की होती है। वह स्वभावतः ऊपर को जाने वाली है, और भारी होने से नीचे को गति करने वाली होती है। इसलिये कर्म रूप मल न होने से इस सिद्ध के जीव की ऊर्ध्वगति कही गई है।

इसका त्रिकोण आकार इसलिये कहते हैं कि तीन भाग अवगाहना के करने से एक भाग कम हो जाना और दो भाग रहना, इसलिये इस तत्त्व को तीन भाग की अपेक्षासे त्रिकोण कहते हैं। इस रीति से सिद्धतत्त्व का निरूपण किया है। अब आचार्य तत्त्व के विषय में कहेंगे।

### ३-आचार्य तत्त्व

आचार्य तत्त्व का पीला रंग है, वह शास्त्रों में प्रसिद्ध है, युक्ति देने का कोई प्रयोजन नहीं जान पड़ता, इसलिए युक्ति नहीं दिखलाते। यह तत्त्व बारह अंगुल चलता है और अंगुल के विषय में युक्ति यह है कि तीर्थंकरो के मुख से त्रिपदी सुनकर द्वादश अंग अर्थात् जिनमत के बारह वेद रचते हैं। और बारह वेदों में भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान तीनों काल की बातों का समावेश है, इसलिए उनकी बारह अंगुल गति कही गई है।

रस—स्वाद मीठा इसलिये है कि कुल समुदाय को विश्वास में लेकर मार्ग में चलाते हैं। समचतुरस्र इसलिये है कि उनका चारों (साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका) पर सदृश भाव है। इसलिये आचार्य तत्त्व को समचतुरस्र (चौकोण) कहा है।

सीधी गति इसलिये कही है कि समुदाय में आचार्य की न्यूनाधिक भाव-परिणति नहीं होती। इस प्रकार आचार्य तत्त्व को पहचानों। अब चतुर्थ उपाध्याय पद का वर्णन करते हैं।

### ४-उपाध्याय-तत्त्व

चतुर्थ उपाध्याय तत्त्व का वर्ण हरा, प्रमाण अंगुल आठ, गति तिरछी, आकार ध्वजा सम, स्वाद खट्टा। इसका आठ अंगुल प्रमाण इसलिये है कि,

अष्ट प्रवचन माता (पांच समिति, तीन गुप्ति) को आप यथावत् पालते हैं, और दूसरों से पलवाते हैं। तिरछी गति इसकी इसलिए है कि द्वादशांगी का स्वाध्याय अनुलोम प्रतिलोम (उलटा सीधा) कई प्रकार से करते हैं, और जिसका अष्ट-प्रहर विचार रूप भ्रमण कई तरह का है। यदि जो कोई वक्रता से पूछे तो उसी रीति से समझाना और धर्म में लाना, इस लिए तिरछी गति कही है। अब साधु पद का वर्णन करते है।

## ५-साधु-तत्त्व

उत्सर्ग मार्ग से साधुपन में से बाहिर न हो, इसलिये बाहिर निकलना नहीं कहा। काला रंग इसलिये कहा है कि उस रंग के ऊपर कोई दूसरा रंग न ही चढ़ता। ऐसे ही साधु के साधन में दूसरा रंग न हो, और बहुत रंग इस वास्ते कहते हैं कि, साधु गुरु की चरण सेवा से विद्याध्ययन करता है और जब विद्या में निपुण हो तब दूसरों को अध्ययन करावे, जब अध्ययन कराने लगा तब उपाध्याय पद की भी प्राप्ति होती है। फिर उपाध्यय पद में निपुण जानकर योग्यता देख गुरु आचार्यपद देते हैं, इस प्रकार बढ़ता हुआ अरिहन्तपद को पाकर सिद्धपद को प्राप्त होता है, इसलिए बहुत रंग इसके विषय में कहे गये हैं। आकाश इसको इसलिये कहते हैं कि जैसे आकाश में सर्व द्रव्य रहने वाले ही हैं, वैसे साधुपद में सर्व द्रव्य रहने वाले हैं। इसी रीति से सर्व-व्यापक जानों। कड़वा स्वाद इसलिये है कि जैसे कड़वी चीज से चित्त बिगड़ता है परन्तु कड़वी चीज़ है गुणदायक, वैसे ही साधु को अनेक परिषहादि का सहन करना भी होता है, इसलिये वह कटुक प्रतीत होता है, परन्तु है सुखकारी। इस रीति से इन पांच तत्त्वों का किंचित् भेद सुनाया इसको गुरुगम से मैंने पाया है, परन्तु शास्त्रों में लेख नहीं आया है, इस रीति को सुनकर कितने ही लोगों के चित्त में कुविकल्प समाया, परन्तु इसमें मुझे कोई सन्देह नहीं है इसलिये पंचमेष्ठि का मैंने ध्यान बताया है।

अब इस जगह शंका उत्पन्न होती है कि शास्त्रों में तो यह बात किसी के देखने में नहीं आई, जो कहीं होती तो कोई आचार्य किसी जगह लिखते इस शंका का समाधान ऐसा है कि मैंने जो इस विषय में लिखा है सो सर्वज्ञ

की सर्वज्ञता से किंचित् भी बाहिर नहीं है। क्योंकि सर्वमतावलम्बी अज्ञान के जोर से अपने तत्त्वों की मुख्यता लेकर वर्त्तमान काल में दुःखगर्भित मोहगर्भित वैराग्य वाले और जाति कुल के जैनियों की व्यवस्था देखकर हंसी करते हैं कि हमारे बिना तत्त्वादि का साधन तुम्हारे मत में नहीं है। इस तरह श्रवण करके चित्त में आया कि इस वीतराग सर्वज्ञ देव से कोई बात छिपी नहीं। परन्तु दिन प्रतिदिन योग्यता की हानि होने से गुरू परम्परा छिपती गई और अज्ञानियों का जोर बढ़ता गया। इसलिये उन अज्ञानियों का मुख बन्द करने के लिए और चिन्तामणि रत्न समान जिनधर्म की उन्नति के वास्ते मैंने कहा है, सद्गुरु का उपदेश भी पाया है। इस रीति के लुप्त हो जाने का किंचित् कारण दिखाता हूं।

श्री महावीर स्वामी से लेकर श्री भद्रबाहु स्वामी तक चौदह पूर्व विद्या और गुरु-परम्परा यथावत् चली आई। इसलिये श्रीभद्रबाहु स्वामी ने नेपाल देश के पहाड़ों में जाकर प्राणायाम सिद्ध किया। श्री कल्पसूत्र की टीका आदि में ऐसा लिखा है कि, जिस समय श्री यशोभद्र सूरि जी देवलोक को प्राप्त हुए, और साधुओं को विद्या पढ़ाने वाला आचार्य भद्रबाहु स्वामी के सिवाय कोई दूसरा न देखा, तब श्रीसंघ ने मिलकर भद्रबाहु स्वामी को विनयपूर्वक आवेदन किया और कहा कि हे भगवन्! श्रीयशोभद्र सूरि जी महाराज तो देवलोक प्राप्त हुए और स्थूलभद्रजी आदि अनेक साधु विद्या पढ़ने योग्य हैं; इसलिए आप पधारो, क्योंकि आप के सिवाय दूसरा कोई विद्या पढ़ाने वाला नहीं हैं। यह खबर श्रीभद्रबाहु स्वामी ने सुनकर कहला भेजा कि मैं महाप्राणायाम की साधना करता हूं, इस कारण मेरा आना नहीं हो सकेगा। साथ में यह भी कहला भेजा कि जो पढ़ने वाले साधु हों उन्हें यहां भेज दो, मैं उन्हें पढ़ाऊंगा, किन्तु प्राणायाम सिद्ध हुए बिना मेरा वहां आना न होगा; इसलिये श्रीसंघ को उचित है कि उन साधुओं को मेरे पास भेज दे। आत्मा के साधन से किसी को नहीं डिगाना चाहिए, जिस रीति से दोनों कार्य सिद्ध हों उसी रीति से बर्त्तना चाहिए।

अनन्तर श्रीसंघ ने महामुनि स्थूलभद्रादि ५०० (पांच सौ) साधुओं का

श्रीभद्रबाहु स्वामीजी के पास भेजा, तब उन्होंने पढ़ाना आरम्भ कर दिया। श्रीस्थूलभद्रजी को दशपूर्व तक पढ़ाया, इधर से श्रीभद्रबाहु स्वामी का महाप्राणायाम भी सिद्ध हो गया, और मुनियों को भी जितना जिसको कण्ठस्थ हो सका उतना ही उसको पढ़ाया, फिर वहां से विहार कर विचरने को चित्त आया। अनन्तर पाटलीपुर नगर में आकर भव्यजीवों को उपदेश देने लगे।

उस समय श्री स्थूलभद्रजी महाराज गुरु की आज्ञा लेकर जंगल के बीच गुफा में पठित विद्या का मनन करने के लिये गये। थोड़े समय में (उनकी गृहस्थपन की बहिन जो साध्वी हो गई थी) एक साध्वी भद्रबाहुस्वामी के पास आकर विधिपूर्वक वन्दना कर कहने लगी कि हमारे भाई स्थूलभद्रजी महाराज आपके पास पढ़ने को आये थे वे कहां है, नजर नहीं आये, उन्हें वन्दना करने की हमारी तीव्र इच्छा है। इसके अनन्तर उत्तर में श्रीभद्रबाहु स्वामी बोले कि वे फलानी जगह पर अभ्यस्त विद्या का मनन-परावर्त्तन करते हैं। यदि तुम्हारी उन्हें वन्दना करने की इच्छा हो तो वहां जाओ। इस उत्तर को सुनकर गुरुजी की आज्ञा से वहां से जब स्थूलभद्रजी को बांदने के लिए चली, तो उस समय स्थूलभद्रजी ने जान लिया कि मेरी साध्वी बहन मुझे वन्दना करने के लिए आ रही है। तो उसे देखकर स्थूलभद्रजी महाराज ने विद्या के बल से घमंड में आकर अपने आपको सिंह के रूप में परिवर्तित कर लिया, और जब साध्वी बहन समीप पहुंची तो वहां थोड़ी दूर से देखा कि सिंह बैठा हुआ है तो सिंह को देखकर पीछे लौटी, और व्याकुल-चित्त होती हुई चिन्ता करने लगी कि मेरे भाई मुनि स्थूलभद्रजी को सिंह ने खा लिया होगा। ऐसा विचार करती हुई श्री गुरु महाराज के पास आकर यह समस्त हाल सुनाया, और गुरुमहाराज यह वृत्त सुनकर उपयोग दे बोले कि तेरे भाई को सिंह ने नहीं खाया, वास्तव में तेरा भाई तुझे अपनी विद्या का चमत्कार दिखाने के लिए सिंह का रूप धारण कर वहीं बैठा है, अब जाओ वहां मिलेगा और जाकर वन्दना करना। यह सुनकर मन में सन्तोष पाकर फिर से वहां जाकर उन्हें वन्दन कर वह पीछे

अपने उपाश्रय को लौटी। यह जानकर श्रीभद्रबाहु स्वामी ने स्थूलभद्रजी को अयोग्य जानकर आगे पढ़ाना बन्द कर दिया। धीरे-धीरे आगे जाकर मनुष्यों की स्मरण शक्ति भी कम होती गई।

अनेक विद्याओं के साथ-साथ धीरे-धीरे योगाभ्यास की रीति भी लुप्त होती गई। परन्तु जो कुछ बची है वह जीर्णवस्त्र-छिद्रसन्धान न्याय से चली आती है; वह भी कदाग्रह से दिन प्रतिदिन दबी जाती है, सर्वथा लुप्त नहीं हुई क्योंकि श्रीहरिभद्रसूरिजी ने योगविंशतिका तथा योगसमुच्चयादि ग्रन्थों में और श्रीहेमचन्द्राचार्यजी ने भी योगशास्त्र में वर्णन किया है और रत्नप्रभसूरि आदि अनेक आचार्य समाधि की महिमा कर गये हैं और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव अनुसार समाधि आदि में परिश्रम भी किया होगा और श्री आनन्दघन जैसे तो सत्पुरुष थोड़े से काल के पहले हुए हैं सो इन्होंने तो हठयोगकी बहुत सी बातें जताई हैं। मुद्रा, धारणा नादादि स्तवनों में गाये हैं, अजपाजाप जपने के वास्ते भी इशारे करके बहुत-सी महिमा बताई हैं और मन ठहराते गए हैं।

ऐसे ही मैंने भी स्वरोदयादि ग्रंथ में इशारा जताया है नवपदजी का ध्यान करना भी बताया है, समाधि का भेद भी लिखा है, इन पांच तत्त्वों पर खुलासा कर दिखाया है। इसलिये मुझे पाठकगण को इतना हाल लिखकर समझाना पड़ा है कि जिससे कोई सन्देह न करे, और मुझे कुछ इसमें आग्रह भी नहीं हैं, जैसा गुरु ने मुझे बताया, उसमें से किंचत् मैंने बुद्धि-अनुसार लिखा है। इस बात को समझकर जैनधर्म की रीति से किंचित् तत्त्वों का भेद चित्त में लाओ, गुरु के पास से विशेष भेद पाओ, आत्मार्थी बनना चाहो तो योगाभ्यास में चित्त लगाओ, आत्मदर्शी बनो, जिससे मोक्षपद पाओ, ऊपर लिखे तत्त्वों का भेद सुन अभ्यास को बढ़ाओ।

## पांचों तत्त्वों की साधन रीति

इन पांच तत्त्वों के साधने वाले को चाहिए कि पहले पांच गोलियां अलग-अलग रंग की बनावें, और एक गोली अनेक वर्ण की बनावे और इन छहों गोलियों को पास रखे। जब बुद्धिपूर्वक तत्त्व देखने का विचार हो, तब पास

में रखी हुई जो अदृष्ट गोलियां हैं, उनमें से एक गोली निकाले, जब उस गोली की और बुद्धि में विचारे हुए रंग की एकता मिल जाए तो जानें कि तत्त्व मिलने लगा है। अथवा किसी दूसरे से कहे कि तुम अपने मन में किसी एक रंग को विचारो। जब वह कहें कि हां मैंने रंग विचार लिया है, तो उस समय अपने स्वर में तत्त्व को देखे, और जब अपनी बुद्धिपूर्वक तत्त्व का रंग प्रतीत हो तब उस पुरुष को कहे कि तुमने फलाना रंग अपने मन में विचारा है। जो उस पुरुष का रंग अपने कहे हुए रंग के अनुसार मिल जाए तो जानों कि अपना तत्त्व मिलने लगा है। अथवा दर्पण (आईना) को अपने मुख के पास लगाकर नाक का श्वास उसके ऊपर छोड़े, उस कांच के ऊपर श्वास से तत्त्व के अनुसार आकार बनता है, उस आकार से भी तत्त्व की पहचान करें।

### मुद्रा द्वारा तत्त्वों की पहचान

अथवा अंगुठों से दो कानों को मूंदे और तर्जनी से आंखों की पलको को दबावे, मध्यमा से नासिका का स्वर बन्द करे, अनामिका और कनिष्ठिका से होंठों को दबावे इस रीति से दूसरे हाथ से दूसरी तरफ से बन्द करे, और मन को भृकुटि की तरफ ले जाए। उस जगह जैसा तत्व होगा वैसा ही तिलुला अर्थात् विन्दु आदि से मालूम होगा, इस प्रकार रंग और आकार को जानने के लिए कहा। अब कुछ रस के विषय में कहेंगे।

### रस द्वारा तत्त्वों की पहचान

जिस समय जो तत्त्व होगा उस समय उस मनुष्य के सूक्ष्म परिणाम में तत्त्व की रसानुसार वांछा हो जाएगी, और गति इसकी ऊंची, नीची, तिरछी, सीधी जैसी हो, गुरु से बोध हो सकता है।

### प्रकृति या बातचीत द्वारा तत्त्वों की पहचान

प्रकृति (स्वभाव) या बातचीत द्वारा तत्त्वों के विषय में यों जानना चाहिए कि जब अग्नितत्त्व होता है उस समय क्रोध स्वभाव होता है, जब जलतत्त्व होता है तो मनुष्य उस समय शीघ्रता से बातचीत करना चाहता है, जब पृथिवी तत्त्व होता है, उस समय धैर्य से बातचीत करने को चित्त

चाहता है। जब वायु तत्त्व होता है तो उस समय प्रसंग छोड़कर दूसरी बात करने लगता है अथवा मानपूर्वक वचन बोलता है। आकाश-तत्त्व में तो तूष्णीं अर्थात् गुम्म हो जाता है। जब अग्नितत्त्व चलता है, उस समय उष्ण वायु निकलती है, और जब जलतत्त्व बहता है तब शीतल वायु निकलती है, और पृथ्वी तत्त्व बहते समय मिश्र अर्थात् दोनों तरह की निकलती है, और वायु तत्त्व चलते समय न शीतल न उष्ण, आकाश-तत्त्व के बहते समय वायु निकलती नहीं, परन्तु सूक्ष्मता से चींटी का रेंगना नाक में मालूम होता है। इस प्रकार स्थूल तत्त्वों के परिज्ञान के विषय में कहा, परन्तु स्थूल तत्त्वों की जब यथावत् पहचान हो जाये, फिर गुरु कृपा करे तो एक-एक तत्त्व में जो पांचों तत्त्व चलते हैं, उन सबकी पहचान होनी सरल हो जाती है।

विशेषकर जो तत्त्वों के अन्तर्गत अर्थात् एक तत्त्व के अन्तर्गत पांचों तत्त्वों को पहचाने तो वह योगी यथावत् कारण-कार्य की गति जान सकता है। जब तक तत्त्व के अन्तर्गत तत्त्वों को न जानेगा तब तक यथार्थ रीति से कार्य को भी न पहचानेगा, केवल स्वरोदय के अभिमान को तानेगा। परन्तु इन सब में भी मुख्य सगुण और निर्गुण का जानना है, सो बिना गुरु चरण-सेवा के सगुण निर्गुण का पाना कठिन है। इसलिए जो जिज्ञासु इस योगाभ्यास की इच्छा करे वह प्रथम स्वर का अभ्यास कर ले। स्वर का भेद बताने में गुरु की परीक्षा भी हो जाएगी, फिर योगाभ्यास का साधन करना सुगम हो जायेगा। योगाभ्यास में क्रियाओं द्वारा रोग निवृत्ति दिखाते हैं।

### क्रियायें

नेती १ धोती २ ब्रह्मदातन ३ गजकर्म ४ नोली ५ वस्ती ६ गणेश-क्रिया ७ बागी ८ शंख-पखाली ९ त्राटक १०। इन दस क्रियाओं में से कई एक क्रिया तो अन्यमत के लोग वैरागी, उदासी, दादूपन्थी आदि करते हैं, और उन लोगों में इन क्रियाओं की प्रसिद्धि भी है। इन क्रियाओं को देखकर लोग कहते हैं कि ये लोग समाधि लगाते हैं और पूरे योगी हैं। परन्तु देखा जाए तो इन क्रियाओं में योग-समाधि का नाम निशान भी नहीं है; जैनमत में इन चीजों की वर्त्तमानकाल में धारणा है कि यह अन्य मत की

क्रिया है और इसमें जलादि का आरम्भ बहुत है इसलिए न करना चाहिए। परन्तु मेरा कहना है कि वर्त्तमान काल में जनों में योगाभ्यास करनेवाले ही नहीं हैं। क्योंकि पहले हम योग्यता या अयोग्यता के विषय में लिख चुके हैं। दूसरा जो मनुष्य जल के अधिक खर्च के विषय में कहते हैं कि जल का बहुत खर्च होता है, उन लोगों ने अन्यमत वालों को देखा है, अपने गुरु आदि महोदयों को नहीं देखा, इसलिए वे ऐसा कहते हैं। परन्तु देखीये नोली १ बस्ती २ गणेश कर्म ३ वागी ४ त्राटक ५ इनमें तो जल का काम नहीं, किन्तु बस्ती में अलवत्ता सेर डेढ़ सेर जल का काम है, लाभ इनमें अधिक है, क्योंकि जो इन क्रियाओं को गुरुगम से सीखेगा तो दवा औषध के लिए हकीम, वैद्यादि की उसे चाहना न रहेगी, और ये क्रियायें कोई नित्य प्रति करने की तो है ही नहीं ; जब कभी रोगादि हो तो इन क्रियाओं को करे, और कितनी एक क्रियायें नित्य करे तो रोगादि के उत्पन्न होने की सम्भावना तक नहीं होती।

### क्रियाएं करने की रीति

अब क्रिया करने की रीति दिखाते हैं कि क्रिया किस तरह करनी चाहिए।

### प्रथम नेती क्रिया

कच्चा सूत मुलायम सवा या डेढ़ हाथ लम्बा हो, और इक्कावन तार अथवा इक्कोत्तर तार इकट्ठे मिलावे, फिर उस लम्बे डेढ़ हाथ में से ऐंठकर आठ अंगुल तो वट ले और शेष खुला रखे। परन्तु दोनों सिरों की ओर से खुले हुए रखे और बीच में से बटे, फिर उसके ऊपर किंचित् मोम लगावे जिससे वह सूत कठिन बना रहे और मुलायम भी बना रहे। जब प्रातःकाल नेती क्रिया करे तब उस सूत को उष्ण जल में भिगोवे और वह फिर अपनी नाक में गेरे, जब वह गले के छिद्र में पहुंचजाए, उस समय मुंह में हाथ डालकर उस डोरा (धागा) को धीरे-धीरे खेंचकर मुख के बाहर निकाले, और वह बटा हुआ तो एक हाथ में और खुला हुआ छोर दूसरे हाथ में पकड़े। इस तरह दोनों हाथों से धीरे-धीरे ऐसे खीचे कि जैसे छाछ (मट्ठा) बिलोते हैं, इस प्रकार

दोनों नासा के छिद्रों में करे, इसी का नाम नेती है। इसके करने से नेत्रों की ज्योति प्रबल होती है और यह गज क्रिया में भी काम देती है।

## २—धोती क्रिया

अब धोती के विषय में कहते हैं कि अच्छी मलमल जिसके सूत में गांठे आदि न हों अथवा और कोई कपड़ा हो, परन्तु बारीक होना चाहिए; वह कपड़ा चार अंगुल तो चौड़ा हो और सोलह हाथ लम्बा हो। उस कपड़े को उष्ण जल से भिगोकर निचोड़ डालें, फिर उसको झड़काकर एक छोर (सिरा) मुंह में देकर उसको जैसे ग्रास (कवा) निगला जाता है, वैसे निगलना शुरू करे यहां तक कि चार अंगुल छोड़कर सब निगल जाए। बाद में उसके कुछ थोड़ा-सा पेट को हिलावे, परन्तु नौली आदि क्रिया न करे, क्योंकि नौली आदि क्रिया करने से आंतों में और नलों में फंस जाने का भय है। हां, हठयोग प्रदीपिका में ऐसा लिखा हुआ है कि नौलीचक्र करे। किन्तु यह क्रिया बहुत समझदारों के ही लिए है न कि साधारण बुद्धि वालों के लिए; क्योंकि बेसमझ आदमी ऐसी क्रिया में कहीं-कहीं प्राण खो बैठते हैं और हमें यह प्रतीत होता हैं कि हठयोग प्रदीपिका वाले ने गुरु-परम्परा-शून्य मनःकल्पित लिख दिया है। इनकी भ्रमपूर्ण विचारणा तो मुद्रा आदि कहते समय दिखलावेंगे। हमने जो पेट हिलाना लिखा है उसका तात्पर्य यह है कि सिद्धासन से धोती को निगले और निगलते समय उत्कटासन (उक्कडू) से बैठकर पेट को सतर करें और नीचे को झुककर अर्ध रेचन करे फिर धीरे-धीरे खीचे, इतने में जो पेट का हिलना है उतना ही पर्याप्त है। कदाचित् खींचने में कपड़ा अटके तो, जितना मलमल या खाया हुआ मुलायम वस्त्र बाहर है उसे फिर निगल जाए और फिर धीरे-धीरे निकाले तो साफ निकल आवेगा। दुबारा निगलना उसी के लिए है कि जिसके पेट में कपड़ा अटके; न कि उसके लिए कि जिसके अन्दर से साफ-साफ निकल आवे। धोती क्रिया के करने से कफ दूर होता है। जिस समय कफादि की वृद्धि हो उस समय धोती क्रिया करनी उचित है न कि नित्य प्रति।

### ३—ब्रह्मदातन क्रिया

अब तीसरी ब्रह्मदातन क्रिया के स्वरूप का निदर्शन कराते हैं—सूत का डोरा अच्छी तरह वटकर कच्चे सूत के ऊपर लपेटे । सो ऐसा कड़ा लपेटना चाहिए कि तरपणी के डोरा जैसा हो जाए या रामस्नेही साधु जो कमर में कन्दोरा लगाते हैं वैसा कड़ा हो और फिर उसके ऊपर मोम लगावे और उस सूत के सदृश कूची को कर ले और वह बंधा हुआ सूत का डोरा सवा हाथ लम्बा होना चाहिए । उसको प्रातःकाल उष्ण पानी में भिगोकर गीला करके मुख में डाले, जब वह कागल्या के पास में आवे अर्थात् आगे का गले की ओर जावे तो उस समय थोड़ा-सा जोर देकर हाथ के सहारे से नीचे को दबावे। फिर वह ब्रह्मदातन स्वयं ही नीचे को चली जाती है; और उसको यहां तक ले जावे कि चार अंगुल बाकी रहे । तब उस बाकी चार अंगुल को हाथ की अंगुलियों से धीरे-धीरे वैसे घुमावे जैसे कान में रुई फेरी जाती है, और बाद में उसे निकाल ले फिर साफ करके रख दें, उसे ब्रह्मदातन कहते हैं। इस ब्रह्मदातन करने का प्रयोजन यह है कि जमा हुआ कफ इससे ढीला पड़ जाता है, और ग्रन्थि आदि इसके फेरने से फूट जाती है। जिस पुरुष को ऐसे कफ की शिकायत हो वह ब्रह्मदातन के बाद धोती करे, क्योंकि ब्रह्मदातन कफ को नहीं निकालता, कफ की गांठ को फोड़ देता है और धोती कफ को निकाल देती है ।

### ४—गजकर्म

अब गजकर्म के स्वरूप को कहते हैं—त्रिफला अथवा कोरा उष्ण पानी नाक से पीना शुरू करे और जितना पेट में समावे उतना पेट भर पीले, फिर पेट को खूब हिलावे, और जिसको नौली करना आती हो तो नौली बेशक करे । इसके बाद जिसको वायु नीचे से उठाना आता हो वह पुरुष अर्धरेचन करके सर्व जल को बाहर निकाल दे, किंचित् भी पेट में न रखे । अथवा नीचे से वायु खींचकर निकालने की रीति न मालूम हो तो उत्कटासन (उक्कडू) से बैठकर दक्षिण हाथ की कूहणी घुटने (जानु-ढींचन) पर जमाकर अंगूठे को मुंह में डालकर काकलल (तालु के पास लटकी हुई

मांस ग्रन्थि विशेष) की पूर्व तरफ के ऊपर तालवे को अगूठे से मर्दन करे, अर्थात् धीरे-धीरे मले। उस जगह एक नाड़ी-नस है, उस पर अंगूठा लगाने से पानी बाहर निकल आता है। यदि गुरु बतावे तो इसमें कोई परिश्रम नहीं है, और विना गुरु के अभ्यास करे तो दो या तीन दिन में उस नाड़ी को पा सकता है, क्योंकि अभ्यास भी बड़ी चीज है। जैसे हाथी सूंड से पानी पीकर मुंह से निकलता है यह भी वैसा होने से इसका नाम गजकर्म कहते हैं। जिसको सर्दी हो वह गरम पानी पीवे, वह भी अधिक गर्म न होना चाहिये, अधिक गर्म होने से खून विगड़ जाता है, और जिसको गर्मी हो अथवा खून विगड़ा हुआ हो तो वह बहुत ठण्डा जल हिम की तरह (वर्फ की नाई) करके पीये तो चालीस दिन में उसको आराम हो जायेगा, किन्तु खाने में भी पथ्य रखना आवश्यक है।

अब ऊपर वतलाई हुई जो चार क्रियाएं लिख चुके हैं उन्हें किसी को करते हुए देखकर मुग्ध न हो जाना चाहिए, क्योंकि वर्त्तमान में कितने ही दुःख-गर्भित मोह गर्भित-वैराग्य वाले भोले जीवों को दिखाकर लोगों का माल ठगते हैं, लोगों में अपने को योगी बताते हैं, इन क्रियाओं में योग का लेश भी नहीं है, इसलिये हम पाठकगण को दिखाते हैं, इन ठगों के चाल से बचाते हैं।

### ५—नौलीचक्र

अब नौलीचक्र का स्वरूप दिखाते हैं—पहले उत्कटासन (उक्कडू) वैठे, अथवा खड़ा होकर दोनों हाथ घुटनों पर रखे, अथवा नीचे से पिंडली को पकड़े, इन तीनों रीतियों में से किसी एक रीति से करे। फिर पेट को पीठ की तरफ खेंचे जब वह पेट कमर में जाने लगे उस समय गुरु की बताई हुई जो रीति है, उससे वायु अर्थात् श्वास से उन दोनों नलों को उठावे, कि जैसे दोनों हाथों को चौड़े करके अलग से मिलाते हैं और अंजलि से पानी खींचते हैं, इस रीति से कुल पेट-भाग तो पीठ में लगा रहे, और जो नलों का भाग है सो उठ आवे, तब बीच में तो वह नल जेवड़ी के सदृश खड़े हुए हों और इधर उधर चारों ओर का जो पेट का भाग है वह पीठ से लगा हुआ रहे।

जब इस प्रकार पुरुष के नल खड़े हो जायें, फिर उसमें प्राण और अपानवायु को इस तरह घुमाना चाहिये, जैसे कि कुम्हार का चाक घूमता है यह नौलीचक्र कहलाता है। इस नौली के करने से जठराग्नि तेज होती हैं और जो मलादिक पेट में कच्चा हो उसे पकाकर दस्त की राह बाहर निकाल देता है, और आम आदि पैदा होने नहीं देता, इस नौली के होने से प्राण अपान दोनों को एक करने में भी सहायता मिलती है, बस्तिकर्म में मुख्यता इस नौली-चक्र की है, इसलिए इसको अवश्य ही करना चाहिए।

### ६—बस्तीकर्म

बस्तीकर्म का स्वरूप यह है कि कूंड़े में त्रिफला का पानी अथवा उष्ण पानी भरे, परन्तु वह ज्यादा गरम न हो, गुनगुना (कवोष्ण) होय। और जस्त अथवा नरसल या बांस पोला पतला चिकना हो, उसकी छः अंगुल की नली बनावे, फिर उस नली को गुदा में चढ़ावे, वह चार अंगुल तो भीतर रखे और दो अंगुल बाहर रखे। फिर उस कूंडे के ऊपर बैठे और जो पहले "नौलीकर्म" कह आये हैं, उस रीति से नलों को उठावे, फिर अपानवायु का ऊर्ध्व-रेचन करे अर्थात् ऊपर को खींचे। उस वायु के खींचने से जल ऊपर को चढ़ आता है; फिर उस नली को निकाल दे, और दो मिनट के बाद नौलीचक्र फिरावे। फिर कुछ देर के बाद प्राण वायु का जोर देकर अपानवायु से अधोरेचन करे, और उस जल को गुदा के रास्ते से निकाल दे। उस जल में जो कुछ पेट में मल आदि है, वह जल के साथ तमाम बाहर निकल जाता है। कदाचित् थोड़ा बहुत जल पेट में रह जाये तो मयूरासन करे, फिर अधोरेचन करने से बिलकुल जल निकल जाता है। इस बस्तीकर्म करने का तात्पर्य यही है, कि प्राण और अपान को एकत्र करने में सहायता मिले। बिना पेट साफ किये प्राण-अपान की खबर ही नहीं पड़ती। इस-लिए शरीर में मल आदि बिगड़ा हो तो अवश्य ही इसको करे।

### ७—गणेशक्रिया

यह गणेश क्रिया इस तरह की जाती है, कि जिस वक्त पाखाना को जाय उस वक्त मल अच्छी तरह से निकल जाय तब मध्यमा (बीच की) अथवा

अनामिका, इन दोनों अंगुलियों में से एक पर वस्त्र का टुकड़ा रखकर उस अंगुली को गुदा में डालकर चारों तरफ फिरावे। इस रीति से दो तीन बार करने से गणेशचक्र साफ हो जाता है, चक्र के ऊपर मल नहीं रहता है। इस क्रिया के करने से गुदा की बीमारी नहीं होती है, और यह चक्र का ध्यान करने में सहायता देता है।

### ८—बागीकर्म

इस बागीकर्म का स्वरूप यह है कि जिस वक्त मनुष्य आहार अर्थात् भोजन कर ले, उसके एक घण्टे या दो घण्टे के बाद ऐसा जाने कि आहार का रस तो मेरे शरीर में परिणत हो गया होगा अर्थात् पच गया होगा और फोक बाकी रह गया होगा, उस वक्त गजक्रिया में जो रीति कही गई है, कि नीचे से वायु खींचकर या मुंह में उसी तरह अंगूठा डाल करके, उसको मुंह की राह निकालकर फेंक दें; ऐसा जो करे, उसका नाम बागीकर्म है। इस बागीकर्म के करने से पाखाना आदि जाने का काम नहीं रहता और स्वस्थ चित्त, अर्थात् पेट में भार न रहने से ध्यान ठीक होता है। परन्तु यह बागीकर्म उसके वास्ते है कि जिन पुरुषों का दिमाग अन्न खाकर ठीक नहीं रह सकता और पेट भरकर भोजन करते हैं, उसी पुरुष को बागीकर्म करना चाहिये, न कि थोड़ा खाने वाले को, क्योंकि जो थोड़ा ही खाने से सन्तुष्ट हैं, उसको तो किसी तरह की हानि नहीं, किन्तु जिनको बिना पूर्ण भोजन किये चित्त की चंचलता ही रहती है उनके वास्ते बागीकर्म अच्छा है।

### ९—शंखपखाली

शंखपखाली नाम उसका है, कि जैसे शंख में ऊपर से तो पानी भरता जाये और नीचे से निकलता जाए, वैसे ही मुख से पानी पीता जाये और गुदा से निकलता चला जाय। इस शंखपखाली को वह मनुष्य कर सकता है कि जिसको नौलीचक्र अच्छी तरह से करना आता हो; क्योंकि जिस समय उसको मुंह से जल पीना पड़ता है, उसी वक्त नौलीचक्र फिराने से अपान वायु को अधोरेचन अर्थात् नीचे को निकाल करके उस जल को गुदा की राह से निकालता चला जाता है, इसलिए इसको शंखपखाली कहते हैं। इस

शंखपखाली के करने वाले लोग केवल ठग और जड़ समाधि लगाने वाले होते हैं। इसके विषय में विशेष आगे बतलाया जायेगा।

## १०—त्राटक-वर्णन

इस त्राटक का स्वरूप यह है, कि दोनों नेत्रों की दृष्टि को किसी सूक्ष्म वस्तु पर स्थापन करे, और पलकों को न हिलाकर टकटकी लगाकर देखे, उस वस्तु से दूसरी जगह पर दृष्टि न जाने दे अथवा आंखों की पुतली को घुमाकर भी न देखे (भ्रू) के बाल को देखे, उनके ऊपर दृष्टि ऐसी ठहरावे, कि आंख और नाक दोनों में से जल गिरने लगे। इसका नाम त्राटक है। इसके करने वाले को निद्रा, आलस्य कम होता है, और नेत्रों की ज्योति विशेष बढ़ती है, इसलिए इसको हमेशा करे। इस रीति से यह दस क्रियाएं बतलाई हैं।

इन दस में से नौली, त्राटक, गणेश क्रिया, और बागी इन चारों में तो जल का खर्च नहीं है और बाकी की छः क्रियाओं में जल का खर्च होता है। सो गुरु से इन दस बातों को सीखे और सीखने के बाद कुछ दिन तक अभ्यास करे। जब अभ्यास ठीक हो जाये तब छोड़ दे, और फिर काम पड़ने पर किया करे। उसमें भी शंखपखाली क्रिया केवल जानने मात्र है, उसका कुछ फल नहीं। बागीकर्म को प्रतिदिन करना उसका काम है, कि उसको पूरा आहार किये बिना न सरे। जो मनुष्य परिमित भोजन करता है, उसको कोई जरूरत नहीं। यदि काम पड़े तो कर ले। और गणेश क्रिया भी प्रतिदिन करना उसी के वास्ते है, कि जिसका मल अच्छी तरह से बंधा हुआ नहीं है और गुदा में लिपट जाता है। परन्तु जिसको दस्त बन्दूक की गोली की तरह लगे, और गुदा को लेपमात्र भी न लगे, उसको गणेश क्रिया करने की कोई आवश्यकता नहीं। नौली और त्राटक सदा ही करे, क्योंकि नौली कुंभक-मुद्रा, प्राणायाम आदि में विशेष सहायता देने वाली है। इसलिये उसे अवश्य ही करे। बागी और त्राटक जब इच्छा हो तब करे, परन्तु शेष क्रियाएं भोजन करने के पहले करे, भोजन करने के बाद करेगा तो नाना प्रकार के रोगों की उत्पत्ति हो जायेगी।

अलबत्त, भोजन करने के दो पहर (प्रहर) अथवा डेढ़ पहर के बाद जो नौलीचक्र करेगा उसको कुछ हानि न होगी। इस रीति से यह दसों क्रियाओं का वर्णन कर चुके हैं। इन दसों क्रियाओं में धर्म का लेश भी नहीं है। हां, यह परम्परा से धर्म का साधन जो शरीर उसमें रोगादिक की उत्पत्ति को दूर करने के लिए बिना ही वैद्य, हकीम अथवा धन-खर्च रोग को निवारण करने का हेतु है। इसलिये गुरु परम्परा से यथावत् याद हो तो रोगादि दूर करने का कारण है, न कि धर्म का।

### बन्ध के प्रकार

अब बन्ध का वर्णन करते हैं, क्योंकि जो पहले ही बन्ध का वर्णन न करें तो कुम्भक-मुद्रा प्राणायाम आदि का वर्णन करना व्यर्थ हो जायेगा, बिना बन्ध के लगाये कुम्भक आदि कोई क्रिया नहीं होती। इसलिये बन्ध का पृथक् कहना आवश्यक है। वह बन्ध चार प्रकार से होता है १. मूलबन्ध २. जालन्धरबन्ध, ३. उड़ियानबन्ध, ४. जिह्वाबन्ध।

### १—मूलबन्ध

इस मूलबन्ध की विधि यह है, कि एड़ी से योनि स्थान को दबाकर गुदा को संकोचित करे। फिर अपान वायु जो कि नीचे को जाने वाली है, उसको ऊपर चढ़ावे, उसका नाम मूलबन्ध है। अथवा एड़ी को गुदा के नीचे रखे, और अपानवायु को ऊर्ध्वगमन अर्थात् सुषुम्ना नाड़ी में प्राप्त करे, इसी को मूलबन्ध कहते हैं।

### मूलबन्ध के गुण

अधोगति (नीचे को जाने वाली) अपान वायु को तो ऊपर करे और दूसरी जो प्राणवायु ऊर्ध्वगामनी (ऊपर जाने वाली) है उसे नीचे करे। इन दोनों वायुओं को मिलाकर एक करे। उस एकता के होने से वायु का सुषुम्ना (नाड़ी) में प्रवेश होता है। जो करने वाले पुरुष हैं उस वक्त उनको नाद की प्रतीति होती है। उस नाद का वर्णन आगे करेंगे। दूसरा प्राण और अपान के एक हो जाने से वायु विशेष कर पंखे के समान चलती है। इसलिए उससे जठराग्नि के कुण्ड के ऊपर जो मल रूपी छार (राख) है,

वह उड़ जाती है, और उसके उड़ जाड़े से जठराग्नि तेज होती है। उस तेजी की गरमी से कुण्डलिनी अर्थात् बालरण्डा चमक कर खड़ी हो जाती है। उसके चमकने से ही योगियों के योग सिद्ध हो जाते हैं। इत्यादि जो अनेक गुण इसमें हैं वे लिखे नहीं जा सकते। जो मनुष्य करते हैं वे योगीश्वर होते हुए आनन्द लूटते हैं, जिज्ञासु को योग्य जानकर उपदेश भी देते हैं, आत्मा को अपने आनन्द रूपी रस में ही भिगोते हैं।

### २—जालन्धर बन्ध

इस जालन्धर बन्ध का स्वरूप यह है, कि कण्ठ को नीचे झुकाकर हृदय से चार अंगुल अलग ठोड़ी को यत्न से दृढ़ स्थापित करे, इसका नाम जालन्धरबन्ध है। परन्तु इसमें पद्मासन लगावे। जालन्धरबन्ध का अर्थ है, कि नाड़ियों का जाल (समूह) बांधे, और नीचे को गमन करे ऐसा जो कपाल का छिद्र है उसको बांधे। जालन्धरबन्ध के करने से कण्ठ के सर्व रोग नष्ट हो जाते हैं। फिर कण्ठ के संकोचित करने से दोनों नाड़ियों (इड़ा और पिंगला) का स्तम्भन करे। इसी का नाम जालन्धरबन्ध है।

### ३—उड़ियान बन्ध

इस उड़ियान बन्ध की विधि कहने के पहले उड़ियान शब्द का अर्थ करते हैं, कि जिस हेतु से अथवा जिस बन्ध करके रोकी हुई वायु सुषुम्ना नाड़ी में उड़ जाये अर्थात् प्रवेश कर जाये। सुषुम्ना के ज़ोर से आकाश मार्ग में प्रवेश कर सकता है, इस वास्ते इसका नाम उड़ियान है। महान् खग अर्थात् आकाश में निकलकर प्राण जिसमें बन्ध करे, और जिसमें श्रम न हो तथा सुषुम्ना पक्षी की तरह गति करे, उसका नाम उड़ियानबन्ध है।

### उड़ियान बन्ध की रीति

उड़ियान बन्ध की रीति यह है कि नाभि के ऊपर का भाग और नीचे का भाग इन दोनों को उदर समेत पीछे को खींचे, और पीठ में लग जाये ऐसा खींचे, इसका नाम उड़ियान बन्ध है। नाभि के ऊपर नीचे के भागों को यत्न पूर्वक पीछे को लगावे, अर्थात् पीठ की तरफ दोनों भागों को ले जाये। इस उड़ियान बन्ध का अभ्यास रोटी खाने के पहले बारम्वार करे तो छः महीने

में इसके गुण आप से आप प्रकट हो जाते हैं, अधिक कहने की कोई आवश्यकता नहीं है।

### ४—जिह्वा बन्ध

जिह्वाबन्ध की विधि यह है, कि जालन्धरबन्ध अर्थात् कण्ठ को झुकाकार ठोड़ी को हृदय में स्थापित करें और दोनों राजदन्तों (मुख के सामने के ऊपर के जो दांत हैं उन) पर जिह्वा को काढ़कर लगावे उसी का नाम जिह्वाबन्ध है। इस जिह्वा बन्ध से एक सुषुम्ना नाड़ी रहित जो सम्पूर्ण नाड़ियां हैं उनके ऊपर वायु की गति रुक जाती है, इसलिए इसको कोई जालन्धर बन्ध भी कहते हैं। जाल नाम नसों का है उनका जो बांधना उसी का नाम जालन्धर है। यह ऊपर लिखी हुई बन्धों की रीति के साथ जो पुरुष प्राणायाम करेगा, उसी को हठयोग की प्राप्ति होगी और हठयोग से ही राजयोग की प्राप्ति होती है। इस वास्ते आत्मार्थियों को इसमें भी परिश्रम करना चाहिये। परन्तु इन बन्धों में गुरु की अपेक्षा जरूर है, क्योंकि गुरु यथावत् रीति करके दिखावे तो जिज्ञासु असल भेद पावे। जिह्वाबन्ध, खेचरीमुद्रा से सम्बन्ध रखता है, वह खेचरीमुद्रा तो आगे दिखलावेंगे। उस खेचरीमुद्रा को भी कितने ही लोग जालन्धरबन्ध कहते हैं।

### कुम्भकों के नाम

कुम्भकों के नाम ये हैं—१. सूर्यभेदन, २. उज्जाई, ३. सीत्कारी, ४. सीतली, ५. भस्त्रिका, ६. भ्रामरी, ७. मूर्छा, और ८. प्लावनी।

### १—सूर्यभेदन का वर्णन

सूर्यभेदन की रीति यह है कि मूलबन्ध करके पूरक के अन्त में शीघ्र ही जालन्धगबन्ध लगावे। कुम्भक के अन्त में और रेचन की आदि में उड़ियानबन्ध लगावे।

इस रीति से सूर्यस्वर से प्राणायाम करे। जो बन्ध के साथ प्राणायाम करेगा उसको वायु-प्रकोप कभी नहीं होगा और इसमें इतना विशेष है, कि पूरक शीघ्रता से भी करे तो कुछ हर्ज नहीं, परन्तु रेचन धीरे-धीरे से करे। यदि शीघ्रता करेगा तो कुम्भक की रुकी हुई वायु शीघ्रता होने से

रोमादिक भेद कर निकलेगी और वह रोमादिक द्वारा निकलने से शरीर में नाना प्रकार के रोग उत्पन्न कर देगी। क्योंकि जैसे बंधा हुआ हाथी मद में चढ़ जाये, और उसको एक संग बंधनों से खोलो तो नाना प्रकार के उपद्रव करता हैं, वैसे ही कुम्भक में बंधी हुई वायु शीघ्रता से रेचन द्वारा बाहर होने से उपद्रव करती है। इसलिये रेचन करते समय आदि से लेकर अन्त तक धीरज से करे। सूर्यभेदन इसका नाम इसीलिये है, कि सूर्य से पूरक और चन्द्र से रेचन किया जाता है। इस कुम्भक के करने वाले पुरुप के मस्तक की शुद्धि होती है, उदर की शुद्धि होती है, तथा वात रोगादिक की उत्पत्ति नहीं होती। अर्थात् चौरासी प्रकार की वायु से जो रोगादि होते हैं उनकी निवृत्ति होती है। चन्द्रस्वर से इसको करे तो चन्द्रभेदन हो जाता है, चन्द्रभेदी से नेत्रों में ठण्डक होती है, और गरमी आदि भी दूर हो जाती है। परन्तु यह कुम्भक किसी शास्त्रकार ने नहीं लिखा है, इसलिये इसका भेद गुरुगम से जानों।

### २—उज्जाई-कुम्भक का वर्णन

इसकी विधि यह है कि मुख बन्द करके पवन को कण्ठ से लेकर हृदय पर्यन्त शब्द सहित इड़ा और पिंगला नाड़ी करके शनैः शनैः खींचकर पूरक करे, फिर केश और नख पर्यन्त कुम्भक करे, पीछे डावी (वाम) नासिका से रेचन करे। इस कुम्भक के करने से कण्ठ के कफादि रोग दूर होते हैं, झठराग्नि का दीपन होता है, नाड़ियों में जो जलादिक की व्यथा हो उसको दूर करता है, और धातु आदि की पुष्टि करता है। परन्तु शब्दादिक के साथ पूरक करना, इस भेद को तो सिवाय गुरु के दूसरा कोई कुछ नहीं कह सकता।

### ३ सीत्कारी कुम्भक

मुख के अर्थात् होठों के बीच में जिह्वा लगाकर शीत करके पवन का मुख से पूरक करे, फिर दोनों नासिका के छिद्रों से शनैः शनैः रेचन करे, परन्तु मुख से वायु को न निकलने दे। अभ्यास करने के पीछे भी मुख से वायु को न निकाले, क्योंकि मुख से वायु निकलने से बल की हानि होती

है। इसमें कुम्भक नहीं कहा तब भी कुम्भक अवश्य ही करे; इसके करने वाले पुरुष के रूप; लावण्य और शरीर की पुष्टि होती है; क्षुधा तृषा आदि भी कम लगते हैं; निद्रा और आलस्य भी नहीं होता है।

### ४ सीतली मुद्रा

इसका विधान इस प्रकार है कि पक्षी की नीचे की चोंच के समान अपनी जिह्वा को होठों के वाहिर निकालकर वायु को खींचकर पूरक करे, और फिर मुख वन्द करके कुम्भक करे। फिर शनैः शनैः नासिका के छिद्रों से वायु का रेचन करे। इस कुम्भक करने वाले को गुल्म और प्लीहा अर्थात् तापतिल्ली और पित्त ज्वारादिक रोग नहीं होते हैं। यह मुद्रा भोजन या जल की इच्छा को बढ़ाने वाली है और सर्प के विष की अथवा अन्य विष अर्थात् जहर को शान्ति करने वाली है।

### ५ भस्त्रिका कुम्भक

भस्त्रिका नाम धौंकनी का है। इसका विधान यह है कि सतर (सीधा) बैठकर दोनों हाथ दोनों जंघाओं के ऊपर रखे और मुख अर्थात् होठों को ऐसा मिलावे कि जिससे हवा होठों में होकर न निकले; फिर नासिका के दोनों छिद्रों से पूरक करे, फिर रेचन करे, इसी प्रकार वारम्बार रेचन और पूरक शीघ्रता के साथ करे, और बीच में दम न लेने पावे। जैसे लुहार लोहे को गरम करता है, और जब लोहा ताव पर आता है उस वक्त अग्नि को इस कदर धोंकता है, कि बीच में दम न ले। वैसे ही जब तक शरीर में परिश्रम होकर थकावट न मालूम हो तब तक पूरक रेचन करे। जब थक जावे तव सूर्यस्वर से पूरक करे फिर कुम्भक करके वन्धपूर्वक चन्द्रनाड़ी से रेचन करे। परन्तु इस जगह कुम्भक करते समय जीमने (दक्षिण) हाथ के अंगूठे से सीधा नासिका का दक्षिण छिद्र वन्द करे, और अनामिका और कनिष्ठिका अंगुली से नासिका का वाम छिद्र वन्द करे। कुम्भक पूर्ण होने के बाद चन्द्रस्वर से रेचन करे, फिर चन्द्रस्वर से ही रेचन और पूरक वारम्वार करे। पिछली रीति के अनुसार पूरक रेचन करते करते थकने लगे तो डावे (वाम) स्वर से पूरक करे और अना-

मिका और कनिष्टिका अंगुली से शीघ्र ही बन्द कर ले। कुम्भक पूर्ण होने के पीछे बन्धकपूर्वक अंगूठा हटाकर जीमणे (दक्षिण) स्वर से रेचन करे। फिर उस जीमणी (दक्षिण) नासिका से बारम्बार पहली तरह से रेचन-पूरक करे। जब थकने लगे तब पूरक करे, अंगूठे से छिद्र को बन्द कर ले, और ऊपर लिखी रीति से फिर रेचन करे। इस रीति से इस कुम्भक का वर्णन किया है।

इसका गुण यह है कि वात, पित्त, कफ इन तीनों प्रकार के रोगों को दूर करे और तीनों को समान रखे, और जठराग्नि को दीप्त करे, कुंडली नाड़ी सोती हुई को शीघ्र ही जगा दे। जो पुरुष इसको बारम्बार करेगा, उसको नाना प्रकार की सिद्धियां, और शीघ्रता से प्राणायाम की सिद्धि होगी। शरीर में जो अपानादि वायु है उनको बाहर फेंकना उसका नाम रेचक हैं, और भीतर को ले जाना उसका नाम पूरक है। और यथाशक्ति जो प्राणों को रोकना उसका नाम कुम्भक है।

इन कुम्भकों के करने से कुण्डली जो आधारशक्ति है वह जागृत होती है।

### ६ भ्रामरी कुम्भक

इस भ्रामरी कुम्भक का विधान यह है कि (भ्रमरी) चोइन्द्री (चतुरिन्द्रिय) होती है। वह तेइन्द्रिय लट को लाकर अपने घर में बन्द कर शब्द सुनाती है। इह शब्द के सुनने से वह लट भ्रमरी हो जाती है, ऐसा श्री आनन्दघनजी महाराज कहते हैं। वे इक्कीसवें श्रीनमिनाथ भगवान् के स्तवन की सातवीं गाथा में लिखते हैं कि—

"जिन स्वरूप थई जिन आराधे, वैसे ही जिनवर होवे रे।
भृंगी इलिका ने चटकावे, ते भृंगी जग जोवे रे ॥७॥"

जैसा उस भ्रमरी का शब्द है, वैसे ही शब्द-सहित पूरक करे, फिर कुंभक करे, फिर रेचक करे, परन्तु भ्रमरी रूप गुंजार शब्द को तीनों जगह साथ में रखे। इस रीति की कुम्भक करने से नाद की खबर जल्दी से हो जाती है। जब नाद की खबर यथावत् हुई, तब चित्त नाद में लगा हुआ शीघ्रता से समाधि को प्राप्त होगा।

### ७ मूर्छा कुम्भक

इस मूर्छा शब्द का अर्थ बेहोश, अर्थात् मुर्द की भांति हो जाना है, और कुछ सुरत अर्थात् चेतना नहीं रहती, जिसको लोक में गश भी कहते हैं। इसकी विधि यह है कि गले में जो नसों का जाल है, उस जाल की नाड़ी, हंसली के ऊपर और गले की मणिया के नीचे अर्थात् दोनों के बीच में है, उसके दबाने से मूर्छा आ जाती है इसका नाम मूर्छा-कुम्भक है। इसमें पूरक रेचक करने का कोई काम नहीं। यह कुम्भक जड़ समाधि में काम आती है। सो इसका असली भेद तो गुरु नस दबाकर बतावे तब मालूम होगा। इस कुम्भक से कुछ सिद्धि नहीं।

### ८ प्लावनी कुम्भक

प्लावनी का अर्थ यह है कि जैसे जल के ऊपर लोग तैरते हैं, वैसे ही वायु शरीर में रोककर ऐसा कुम्भक करे, कि जिससे शरीर हलका होकर आपसे आप ऊपर को उठने लगे और किसी तरह का परिश्रम न पड़े। इस कुम्भक के करने से आकाशादि में चलने की शक्ति होती है। और इसी कुम्भक से केले की पालकी में बैठकर श्री स्वामी शंकराचार्य कुमारपाल राजा के पास गये थे, और कुमारपाल राजा को जैनमत से भ्रष्ट करना विचारा था। फिर श्री हेमाचन्द्राचार्य ने इसी कुम्भक से अधर होकर व्याख्यान उच्चारा, कुमारपाल को सम्भाला, शंकराचार्य को वहां से निवारा।

इस रीति से आठ कुंभकों का वर्णन कर दिया है। चन्द्रभेदादि नवमी कुम्भक भी हो गई सही, किंचित् गुरु कृपा से हमने अनुभव में बात लही। परन्तु 'हठ-प्रदीपिका' में पिछले तीनों कुम्भकों की जो रीति है, वह भी दिखाते हैं, कि जो पूरक वेग से करे तो भ्रमर की तरह नाद होता है, इस लिए पूरक वेग से करे, जिसमें भ्रमर की तरह नाद हो उस रीति से नाद करता हुआ पूरक करे। फिर भ्रमरी का सा नाद हो, जिसमें मन्द-मन्द रीति से रेचन करे, वह रेचन पूरक की विवेषता है। और पूरक पीछे रेचक तो भ्रमरी की तरह स्वभाव सिद्ध है इस वास्ते विशेष नहीं लिखा है।

इस रीति से अभ्यास करे। इसके आनन्द को योगीश्वर भी कह नहीं सकते।

अब मूर्छा कहते हैं कि पूरक अन्त में जालन्धरबंध बांधकर शनैः शनैः रेचन करे। इस कुम्भक का नाम मूर्छा है जो मन को मुर्च्छित करता है। प्लावनी कुम्भक यह है कि शरीर के भीतर भरी जो अधिक वायु, उस करके चारों तरफ से भर लिया है उदर जिसने, वह पुरुष अगाध जल में कमल पत्र के समान गमन करता है। यह रीति तीनों कुम्भकों की स्वयं आत्माराम योगी की बनाई हुई 'हठप्रदीपिका' में लिखी है।

### मुद्राओं का वर्णन

अब इसके आगे मुद्राओं का वर्णन करते हैं, सो पहले जो 'हठप्रदीपिकादि ग्रंथों में उनके नाम लिखे हैं उस रीति से यहां नाम दिखाते हैं—१ महामुद्रा, २ महाबन्ध, ३ महावेध, ४ खेचरी, ५ उड़ियान, ६ मूलबन्ध, ७ जालंधर बंध, ८ विपरीतकरणी, ९ वज्रोली, १० शक्तिचालन।

इस तरह हठप्रदीपिका और गोरक्षपद्धति आदि ग्रंथों में उडियानबंध, मूलबंध, जालंधरबंध, इन तीनों को भी मुद्राओं में ही गिना है, सो इन तीनों बंधों की रीति ऊपर लिख चुके हैं। इन मुद्राओं में कई मुद्रा निष्प्रयोजन भी है। इस वास्ते जो मुद्रा सप्रयोजन हैं उनको दिखाकर फिर अपनी भी युक्ति उसमें कहेंगे। इसलिए पाठकगण ध्यान रखें कि पीछे लिखी मुद्रा उनके ग्रंथानुसार है।

### १ महामुद्रा वर्णन

इस महामुद्रा की विधि यह है कि वाम (बायां) पाद की एड़ी को योनि-स्थान में लगावे (योनि-स्थान का मतलब पहले दिखा चुके हैं सो वहां से देखो) और दक्षिण चरण को लम्बा करके फैलावे, एड़ी जमीन पर लगावे, और अंगूठा, अंगुलियों को डण्डे की भांति ऊंची खड़ी करे, फिर जीमने (दक्षिण) हाथ का अंगूठा और तर्जनी अंगुली से जीमने पग के अंगूठे को पकड़े, और बन्ध-पूरक सुषुम्ना नाड़ी में धारण करे, और मूलबंध भी बांध करके योनिस्थान को पीड़न करे। फिर जिह्वाबन्ध लगावे। जो कुण्डली सर्प के आकार सी डेढ़ी हो रही है; वह जैसे डण्डे के प्रहार से

टेढ़ेपन को छोड़कर सर्पिणी सरल हो जाती है, वैसे ही उस समय शीघ्र ही सरल हो जाती है। जब वह कुण्डली सरल हो गई तब कुण्डली के बोध से सुषुम्ना में प्राण का प्रवेश होता है। उस समय इड़ा और पिंगला को सहायता देने वाला जो प्राण है वह सहायता देने में समर्थ नहीं रहता। इसलिए इड़ा पिंगला यह दोनों नाड़ी मरण प्राप्त होती है अर्थात् घर छोड़कर भाग जाती है। उस समय के आनन्द को तो उसके करने वाले ही जानते हैं, न कि लिखने, या बांचने वाले। जो इस आनंद को प्राप्त करेंगे, वे ही इनका अभ्यास करेंगे, उनको करने वालों का ही मोह, राग, द्वेषादि मिटेगा, आत्मा में उन्हीं का दिल डटेगा, ज्ञान दर्शन, चरित्र तीनों का मेल सटेगा, तब कर्मों के पटल आत्मा से हटेंगे। जिन्होंने इस आनन्द को पाया है उन्होंने ही पदों में गाया हैं। हमको श्री आनन्दघन जी का पद याद आया, इसका यहां उल्लेख करते हैं।

"इड़ा पिंगला घर तज भागी, सुषुम्ना का घर वासी।
ब्रह्मरन्ध्र मध्यासन पूरो, बाबा अनहद नाद बजासी ॥१॥"

ऐसा श्री आनन्दघन जी का फरमाना (कथन) है। इससे प्रतीत होता है कि वे इस मुद्रा के भी अभ्यासी थे। जिन्होंने ऐसा अभ्यास किया है, वे कब किसी के जाल में फंसते हैं? आत्मा को भजते हैं और राग-द्वेष को तजते हैं गच्छादिक के मद में नहीं धसते हैं।

### महामुद्रा के अभ्यास का विधान

इसकी विधि यह है कि चन्द्र अंग अर्थात् वाम-अंग से अभ्यास करे, फिर सूर्य अंग अर्थात् दक्षिण अंग से अभ्यास करे। परन्तु दोनों अंगों से अभ्यास बराबर करे, कमी वेशी न होने दे। फिर इसको विसर्जन कर दे। परन्तु इस बात का ध्यान रखे कि जब वाम अंग से अभ्यास करे तो दक्षिण चरण को फैलावे, और ऊपर लिखी रीति से चरण के अंगूठे को दक्षिण हाथ से पकड़े और जब दक्षिण अंग से अभ्यास करे तब वाम चरण को फैलाकर वाम हाथ से चरण का अंगूठा पकड़े। इस रीति से दोनों अंगों में समान अभ्यास करे।

### महामुद्रा के गुण

जो पुरुष इसका अभ्यास करने वाले हैं, उन पुरुषों को पथ्य-अपथ्य का भय करने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि सम्पूर्ण कटुक, खटाई आदि जो भोजन करेगा सो ही पच जायेगा। ऐसी कोई चीज़ नहीं है कि उसको हज़म न होवे, क्योंकि साधु की गोचरी में गृहस्थ के घर से सब तरह की निरसादि चीज़ आती है। सो इन क्रिया करने वालों को हज़म हो जाती है; किसी रोगादि को उत्पन्न नहीं करती है।

### २ महाबन्ध मुद्रा

अन्य मतों की रीति का भी वर्णन कर देते हैं कि वाम चरण की एड़ी योनिस्थान में लगा कर फिर वाम चरण को जानु के ऊपर दक्षिण चरण को धरे, उसके बाद पूरक करे; फिर हृदय में ठोड़ी लगाकर जालंधर बन्ध लगावे, और मूलबन्ध लगाकर यथाशक्ति कुम्भक करके मंद-मंद रेचन करे। इसका गुण हठप्रदीपिका या गोरक्षपद्धति में देखो।

### ३ महावेध मुद्रा

इसका विधान यह है कि महामुद्रा में स्थित, जिसकी एकाग्र बुद्धि है ऐसा योगी नासिका पुट से पूरक करके कण्ठ की जालन्धर मुद्रा से वायु की ऊपर नीचे गमन रूप जो गति उसको रोककर कुम्भक करे, और पृथ्वी में लग रहे हैं तालुआ जिनके, ऐसे दोनों हाथ समान करके, फिर योनि-स्थान में लगे हुए एड़ी वाले पांव के साथ हाथों के सहारे कुछ ऊपर उठकर फिर मन्द-मन्द भूमि में ताड़न करे,इड़ा पिंगला दोनों को उल्लंघन करके सुषुम्ना के मध्य में वायु प्राप्त हो। चन्द्र, सूर्य, और अग्नि में अधिष्ठित नाड़ी जो इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, उनका सम्बन्ध मोक्ष के लिए होता है। निश्चय करके प्राण वियोग की अवस्था अर्थात् मृतसी अवस्था प्राप्त होती है। उसके पीछे वायु को नासिका-पुटन करके धीरे-धीरे रेचन करे। परन्तु इस जगह इतना विशेष है कि योनि-स्थान में एड़ी लगी रहने से जब वह हाथों के बल से ऊपर उठेगा तो आसन भंग हो जाने से मूलबन्ध यथावत् न रहेगा; इस लिए इस मुद्रा के अभ्यास में पद्मासन लगावे, और मूलबन्ध को कम न

होने दे। इतने पर भी इसकी असली रीति गुरुगम से जानों, हठप्रदीपिका वाले ने पद्मासन नहीं लिखा परन्तु गोरख पद्धति में लिखा हुआ है।

### ४ विपरीतकरणी मुद्रा

विपरीत मुद्रा करने का प्रकार यह है कि पृथ्वी पर मस्तक टेककर हाथों से सिर को थामकर मयूर आसन की तरह पैर ऊंचे करके आकाश की तरफ सतर कर देवे। इस रीति से सिर के बल अधर खड़ा होना, उसका नाम विपरीत करणी मुद्रा है। इसके करने का प्रयोजन यही है, कि चन्द्रमा ऊर्ध्व भाग में है, और सूर्य अधोभाग में है, सो जो चन्द्रमा से अमृत झरता है वह सूर्य में पड़कर भस्म हो जाता है। इसलिये विपरीत-मुद्रा करने से चन्द्रमा अधोभाग में हो जाता है, और सूर्य ऊर्ध्व भाग में हो जाता है। सूर्य को अमृत न मिलने से सूर्य निर्बल होकर इड़ा-पिंगला को जोर नहीं दे सकता। जो इसका अभ्यास करे वह पहले दिन एक क्षण, दूसरे दिन दो क्षण, इसी प्रकार से प्रतिदिन बढ़ाता चला जाय। जब एक पहर की मुद्रा होने लगे तब आगे अभ्यास न बढ़ावे। इसके कारण से क्षुधा बहुत लगती है। जो कम खाने वाला है, यदि वह इस क्रिया को करता है, तो कम खाने से उसके शरीर को यह मुद्रा जला देगी। इसलिए इससे कुछ प्रयोजन सिद्धि नहीं होती। न मालूम इन लोगों ने लिखकर क्यों इसकी इतनी महिमा की है?

### खेचरी मुद्रा का कथन

प्रथम खेचरी हो जाने की विधि लिखते हैं, इसके बाद इसके गुणादि और करने की विधि लिखेंगे। सो इसकी पहली विधि यह है कि पहले जिह्वा को होठों के बाहर निकाले, और दोनों हाथों के अंगूठों और तर्जनियों से पकड़कर शनैः शनैः बाहर को खींचे, तथा गौ के थनों से जैसे दूध निकालते हैं उसी रीति से दोनों हाथों से खींचे, वह बढ़ते-बढ़ते इतनी बढ़ जाय कि नाक पर होकर भृकुटी के मध्य में जा लगे। जब इस तरह का अभ्यास हो जाय तब उसका छेदन—सोधन किया जाता है। वह दिखाते हैं कि जैसे थूहर के पत्ते की धार तीक्ष्ण होती है, इस तरह का चिकना,

निर्मल और तीक्ष्ण धार वाला शस्त्र लेकर उससे जिह्वा के नीचे जो नस है उसको पहले लवमात्र छेदे; फिर उसके ऊपर सेन्धा लूण और हर्रों को पीसकर उस छेदी हुई जगह लगावे। परन्तु इस क्रिया करने वाले को दोनों वक्त लवण खाना मना है, तो भी हर्रे और लवण को लगा ले। फिर सात दिन के पीछे आठवें दिन कुछ अधिक छेदे। इस रीति से छः महीने पर्यन्त युक्ति से करे तो जिह्वा के मूल में जो नाड़ी है वह नाड़ी कपाल के छिद्र में जाने लायक होगी। इस रीति से पहले साधन करे। यह रीति ग्रंथों में लिखी है। परन्तु इसकी असल रीति तो यह है कि जिसमें शस्त्रादि से छेदने का कुछ प्रयोजन नहीं है, किन्तु वह रीति गुरु की कृपा के बिना मिलनी कठिन है और वह रीति शास्त्र द्वारा लिखी भी नहीं जाती, क्योंकि गुरु आदि तो योग्य अयोग्य देखकर युक्ति-क्रम बताते हैं, शास्त्र में लिखें तो योग्य अयोग्य की कुछ खबर न पड़े। और बिना योग्य के अमन्त वस्तु नहीं दी जाती। हमने अपने गुरु की बताई रीति आजमाई है। बिना छेदन के जिह्वा अलग कराई है। एक दो जिज्ञासुओं को बताई भी है। उलटकर जिह्वा छिद्रों में पहुंचाई है।

## खेचरी मुद्रा के गुण और प्रयोजन

जब जिह्वा की नस अलग हो जाय, तब जिह्वा को तिरछी करके गले में ले जाय, और तीनों नाड़ियों के जो मार्ग अर्थात् नासिका के जो छिद्र, जिसमें इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नासिका के बाहर निकलकर मालूम होती हैं, उनके बन्द करने के वास्ते छिद्रों के ऊपर जिह्वा लगाकर छिद्रों को बन्द कर दे, जिससे इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना इन तीनों नासिका के बाहर न निकल सकें। इसका नाम खेचरी मुद्रा है। इसको कितने ही व्योम-चक्र भी कहते हैं, परन्तु यह व्योम-चक्र नहीं है, क्योंकि व्योम-चक्र भृकुटी के ऊपर है। इसके करने से यह गुण है कि यदि तालु के ऊपर के छिद्रों में लगी हुई जिह्वा, एक घड़ी मात्र भी उस जगह स्थिर रहे, तो सर्प से लेकर जितने ज़हरीले जानवर हैं उनका ज़हर दूर करने की शक्ति उस पुरुष को प्राप्त हो जाती है। उसको किसी जानवर का ज़हर (विष) नहीं चढ़ता और

इस मुद्रा के करने वाले पुरुष को आलस्य, निद्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा आदि विशेष नहीं होते हैं। तालु के ऊपर के सन्मुख जिह्वा लगाये हुए जो स्थिर होकर वह गले के छिद्रों में से पड़ता हुआ चन्द्र-अमृत का पान करता है वह सर्व कार्य की सिद्धि हृदय में धरता है, राग द्वेष की परिहरता है मात्र कर्मों से झगड़ता है, परन्तु अपने समान सर्व जीवों को जान किसी से लड़ता नहीं है, मध्यस्थभाव में प्रवृत्त रहता है। परन्तु इसकी पूर्ण रीति बिना गुरु के नहीं प्राप्त होती। वर्तमान काल में छापा होने से हठयोगादि की पुस्तकें बहुत प्रसिद्ध हैं। इससे कई योगी हो जाते हैं। परन्तु इन पुस्तकों से अपनी जान खो बैठते हैं। इसलिए यदि आत्मार्थी बनकर योगाभ्यास करने की इच्छा हो तो सद्गुरु की विनय, प्रतिपत्ति, शुश्रूषादि करो। जिससे तुम्हारे पर गुरु अनुग्रह करके उसे बतावे, और आशीर्वाद देवे, जिससे तुमको यथावत् प्राप्ति हो जाये, इस खेचरी मुद्रा के विषय में 'हठप्रदीपिका' आदि ग्रंथों में जो प्रक्रिया लिखी है, वह प्रक्रिया यहां नहीं लिखी है। क्योंकि, उसमें गोमांस और अमर-वारुणी (मदिरा) का भक्षण करना और पीना लिखा है।

इसका कुछ खुलासा भी देते है कि छोटी हरडां को बारह पहर अथवा सोलह पहर तक कुंवारी गौ अर्थात् आठ दस महीने की बछिया के पेशाब में भिगोवे। जब वे दो दिन में भीजकर फूल जाये, तब उनको छाया में सुखा लें, सूर्य की धूप न लगने दें फिर उनको कोरे बर्तन में डाल कर सेकें। उन्हें इस तरह सेकें कि जल न जायें और कच्ची भीन रहें। उन हरडों में सेंधा लवण अन्दाजे से मिलाकर चूर्ण बनावे। उससे सायं और प्रातः दोनों वक्त जिह्वा की जड़ में मालिश करे और दस-दस मिनट ऊपर लिखी रीति से जिह्वा को शनैः शनैः खेंचा करे, बाहर की तरफ ही ले जाया करे, फिर तीन महीने के बाद उलटकर गले की तरफ ही ले जाया करे, छः महीने इस रीति से करेगा तो जिह्वा कागल्या से आगे निकल जायेगी। नव महीनों में छिद्रों के पास में पहुंच जायेगी। जिसकी इच्छा होवे वह विश्वास सहित इस काम को अंगीकार करे तो हमारे लिखे

अनुसार प्राप्ति हो जायेगी । विशेष गुरुओं के पास जाकर उनसे जिज्ञासा पूर्ण करनी चाहिए, क्योंकि जो आत्मार्थी योगाभ्यास की इच्छा वाले हैं, उनके वास्ते संकेत (इशारा) लिखा है । अन्यमतावलम्बियों का खण्डन भी कर दिखाया है । बिना शस्त्र छेद के खेचरी मुद्रा करना बतला दिया ।

**वज्रोली मुद्रा**

प्रथम 'हठप्रदीपिका' और 'गोरक्षपद्धति' की प्रक्रिया दिखाकर पीछे किञ्चित् अपनी रीति, जो गुरु-कृपा से पाई है, उसको लिखेंगे । प्रथम मूल का श्लोक लिखेंगे पीछे टीका के अनुसार जो भाषा है उसको लिखेंगे । कदाचित् भाषा में न्यूनता होगी, तो टीका के उतने ही अक्षर दिखाकर पीछे भाषा लिखेंगे । सो प्रथम 'हठप्रदीपिका' के श्लोक लिखते हैं ।

"स्वेच्छया वर्तमानोऽपि, योगोक्तैर्नियमैर्विना ।
वज्रोलीं यो विजानाति, स योगी सिद्धिभाजनम् ॥८३ ॥

तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये, दुर्लभं यस्य कस्यचित् ।
क्षीरं चैकं द्वितीयं तु, नारी च वशवर्तिनी ॥ ८४ ॥

मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुञ्चनमभ्यसेत् ।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ८५ ॥

यत्नतः शस्तनालेन, फूत्कारं वज्रकन्दरे ।
शनैः-शनैः प्रकुर्वीत, वायुसंचारकारणात् ॥ ८६ ॥

नारी भगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत् ।
चलितञ्च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ८७ ॥

एवं संरक्षयन् बिन्दुं, मृत्युं जयति योगवित् ।
मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ८८ ॥

सुगन्धो योगिनां देहे, जायते बिन्दुधारणात् ।
यावद्बिन्दुः स्थिरो देहे, तावत्कालभयं कुतः ॥८९ ॥

चिन्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम् ।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ९० ॥

ऋतुमत्या रजोऽप्येवं, बीजं बिन्दुञ्च रक्षयेत् ।
मेढेण कर्षयेदूर्ध्वं, सम्यगभ्यासयोगवित् ।। ९१ ।।"

**भाषा टीका**

"अब वज्रोली के आदि में इसका फल कहते हैं। जो योगाभ्यासी वज्रोली मुद्रा को विशेषकर अपने अनुभव करके जाने, सो योगी योगशास्त्र में कहे हुए ब्रह्मचर्यादि किये बिना अपनी इच्छा करके वर्तमान रहे, अणिमादि अष्ट सिद्धि को भोगने वाला हो ।। ८३ ।। वज्रोली के अभ्यास में दो वस्तु कही है, एक तो दूध पीना दूसरी स्त्री आज्ञाकारी वशवर्तिनी हो ।। ८४ ।। वज्रोली मुद्रा का प्रकार यह है कि स्त्री-संग के पीछे बिन्दु को क्षरण कहां पड़ना, जिसको पुरुष अथवा स्त्री यत्नपूर्वक इन्द्रिय को ऊपर आकुंचन करके वीर्य को ऊपर खींचने का अभ्यास करे, तो वह वज्रोली सिद्ध होती है ।। ८५ ।। अब वज्रोली की पूर्वांग क्रिया कहते हैं। चांदी की बनी हुई नाल को शनैः शनैः जैसे अग्नि सुलगाने को फूंक मारते हैं, वैसे ही फुंकार से इन्द्रिय के छिद्र में वायु का संचार बारम्बार करे।

**वज्रोली की साधन क्रिया**

वज्रोली की साधन प्रक्रिया यह है कि सीसे की बनी हुई चिकनी हो, इन्द्रिय में प्रवेश करने के योग्य हो, ऐसी चौदह (चतुर्दश) अंगुल की शलाका करा करके उसको इन्द्रिय में प्रवेश कराने का अभ्यास करे। पहले दिन एक अंगुल प्रवेश करे। दूसरे दिन दो अंगुल प्रवेश करे। तीसरे दिन तीन अंगुल प्रवेश करे। इस रीति से क्रम से बारह अंगुल प्रवेश हो जाय तो इन्द्रिय मार्ग शुद्ध होवे। अथवा चौदह अंगुल की शलाका बनवावे, जिसमें दो अंगुल टेढ़ी और ऊंचे मुंह वाली होनी चाहिए, वह दो अंगुल बाहर स्थापन करे। इसके पीछे सुनार की अग्नि सुलगाने की नाल के सदृश नाल ग्रहण करके उस नाल का जो अग्रभाग उसको इन्द्रिय में प्रवेश की हुई नाल के दो अंगुल बाहर निकले हुए भाग के मध्य में प्रवेश कर फूत्कार करे। इस प्रकार भली भांति इन्द्रिय मार्ग शुद्ध हो जाय, तब पीछे से इन्द्रिय द्वारा जल को ऊपर चढ़ाने का अभ्तास करे। जब जल का आकर्षण होने लग जाय, तब पहले

श्लोक में लिखी हुई रीति के अनुसार वीर्य के आकर्षण करने का अभ्यास करे। जब वीर्य का आकर्षण करना सिद्ध हो जाय, तब वज्रोली मुद्रा सिद्ध होती है। जिस मनुष्य को खेचरी मुद्रा, और प्राण जय यह दोनों सिद्ध हो उसको वज्रोली मुद्रा सिद्ध होगी; दूसरे को नहीं ॥ ८६ ॥

जब इस प्रकार वज्रोली मुद्रा का अभ्यास सिद्ध हो जाय, उसके आगे साधन बतलाते हैं। नारीभगे इति। रतिकाल में स्त्री की योनि में वीर्य गिर पड़ा यह मालूम होवे लेकिन गिरे नहीं, उससे पहले जो वीर्य उसको वज्रोली के अभ्यास द्वारा ऊपर को आकर्षण करे। यदि गिरने के पहले बिन्दु को आकर्षण न कर सके तो स्त्री की भग में गिरा हुआ जो अपना वीर्य और स्त्री का रज इन दोनों को ऊपर खींचकर स्थापित करे ॥ ८७ ॥

### वज्रोली के गुण वर्णन

"एवमिति। इस रीति से जो वीर्य को स्थिर करता है, वह योगवेत्ता होता है, और मृत्यु को जीत लेता है। परन्तु जो वीर्य का पतन करता है, वह मरण को प्राप्त होता है। इस रीति से वीर्य को धारण करने वाला जीवित होता है। इसलिए बिन्दु को इस रीति से स्थित करे ॥ ८८ ॥

सुगन्धेति। वज्रोली के अभ्यास करने वाले देह में वीर्य को धारण करते हैं, उससे बहुत सुन्दर सुगन्ध पैदा होती है और जब तक बिन्दु स्थित रहता है, तब तक काल का भय नहीं होता है ॥ ८९ ॥

चित्तायत्त मिति। निश्चय जो चित्त चलायमान हो, तो मनुष्य का वीर्य चलायमान होता है। और जो चित्त स्थिर हो तो वीर्य भी स्थिर रहता है। इसलिए चित्त के अधीन वीर्य है, और शुक्र जो स्थिर हो तो जीवन स्थिर हो, जो शुक्र नष्ट हो तो मरण हो, इस लिए शुक्र के अधीन जीवन है, इस वास्ते शुक्र और बिन्दु इन दोनों की अवश्य रक्षा करनी चाहिए ॥ ९० ॥

ऋतुमत्यादि। ऋतुमती स्त्री का रज और अपना बिन्दु इन दोनों को इस रीति से स्थिर करे कि इन्द्रिय करके यत्नपूर्वक रज और बिन्दु को ऊपर आकर्षण करे। वह वज्रोली-अभ्यासवेत्ता योगी जानता है ॥ ९१ ॥"

यह हठ प्रदीपिका का लेख लिखा, अब 'गोरक्ष-पद्धति' का भी लेख लिखते हैं।

### गोरक्ष-पद्धति की रीति से वज्रोली वर्णन

"स्वेच्छया वर्त्तमानोऽपि, योगोक्तैर्नियमैर्विना।
वज्रोलीं यो विजानाति, स योगी सिद्धिभाजनम् ॥ १ ॥
तत्र वस्तुद्वयं वक्ष्ये, दुर्लभं यस्य कस्यचित्।
क्षीरं चैकं द्वितीयन्तु, नारी च वशवर्तिनी ॥ २ ॥
मेहनेन शनैः सम्यगूर्ध्वाकुंचनमभ्यसेत्।
पुरुषोऽप्यथवा नारी, वज्रोलीसिद्धिमाप्नुयात् ॥ ३ ॥
यत्नतः शस्तनालेन, फूत्कारं वज्रकन्दरे।
शनैः शनैः प्रकुर्वीत, वायुसञ्चारकारणात् ॥ ४ ॥
नारीभगे पतद्बिन्दुमभ्यासेनोर्ध्वमाहरेत्।
चलितं च निजं बिन्दुमूर्ध्वमाकृष्य रक्षयेत् ॥ ५ ॥
एवं संरक्षयन् बिन्दुं, मृत्युं जयति योगवित्।
मरणं बिन्दुपातेन, जीवनं बिन्दुधारणात् ॥ ६ ॥
सुगन्धो योगिनो देहे, जायते बिन्दुधारणात्।
यावद् बिन्दुः स्थिरो देहे, तावत्कालभयं कुतः ॥ ७ ॥
चित्तायत्तं नृणां शुक्रं, शुक्रायत्तञ्च जीवितम्।
तस्माच्छुक्रं मनश्चैव, रक्षणीयं प्रयत्नतः ॥ ८ ॥
ऋतुमत्या रजोऽप्येवं, बीजं बिन्दुञ्च रक्षयेत्।
मेढ्रेण कर्षयेदूर्ध्वं सम्यगभ्यासयोगवित्। ९ ॥

इन श्लोकों का अर्थ इसलिये नहीं लिखते कि जैसा अर्थ 'हठप्रदीपिका' में है' वैसा ही इनका भी है। श्लोकों का लिखना तो ठीक समझा, कुछ भेद होता तो अर्थ अवश्य ही लिखते, क्योंकि निष्प्रयोजन ग्रन्थ को बढ़ाना ठीक नहीं समझा। थोड़े ही से प्रयोजन निकले तो बहुत क्यों बढ़ावें ?

अब ऊपर लिखी हुई जो रीति है उससे योग करने वाले को ही योगीन्द्र समझते हैं यह उसका लिखना और ऐसे ही योगीन्द्र समझना असम्भव सा है,

क्योंकि प्रथम ही योगाभ्यास के आरम्भ में अपथ्यभोजनादि अथवा स्नानादि क्रियाएं, और स्त्री का संग बिलकुल मना किया है। धर्मशास्त्रों में वा स्मृतियों में भी अनेक ऋषियों ने ऐसा ही लिखा है कि जिस जगह स्त्री का चित्र व मूर्ति हो, उस मकान में योगी, सन्यासी यति ब्रह्मचारी आदि को नहीं ठहरना चाहिए और जो कि स्त्री-विषय के आलंकारिक काव्य है उनको भी यति, ब्रह्मचारी, योगी, सन्यासी न पढ़े, क्योंकि पढ़ने से विकार उत्पन्न होता है यदि उस मकान में ठहरने और उस चित्र-मूर्ति को देखने से चित्त की चंचलता और विकार उत्पन्न होता है, तो स्त्री के पास में रहने से क्यों कर चित्त स्थिर रह सकता है ? और योनि में लिंग को देकर क्रिया करना और वीर्य का निकालना और उसको भग में न पड़ने देना, अथवा न रुक सके और पड़ जाय तो उसका वायु के जोर से आकर्षण करके फिर स्तम्भ करना, इससे तो पहले ही न करना श्रेष्ठ है, क्योंकि पहले शरीर को कीचड़ मलकर फिर पानी से धोना, इससे तो कीचड़ न मलना ही श्रेष्ठ है। इस लिए यदि आदिनाथ, मच्छन्दरनाथादि योगियों ने इस बात को अंगीकार किया है, तो उनके योगीन्द्र होने में वा अमर होने में विवेक-सहित बुद्धि से विचार करने वाले को सन्देह होता है। सम्भव है कि स्त्री-संग करने से मोक्ष मानना, "कवलक" (कौलक) मतावलम्बियों के विना और कोई मतावलम्बी स्वीकार न करेगा। कौलक मत वाले पांच मकार से मोक्ष मानते हैं। वे पांच मकार ये हैं—मांस, मदिरा, मछली, मैथुन, मुद्रा। वे इनको अंगीकार करते हैं। उनके भी दक्षिणी, वामी, उत्तरादि, काचलियापन्थ, कूंडापन्थ, अधरवीयं, आदि अनेक भेद हैं।

तब तक योग का सच्चा ज्ञान ही होता जब तक आत्मानुभव और अध्यात्म का आत्मार्थी गुरु न मिले। इसलिए मैं नम्रता-पूर्वक पाठक-गणों को कहता हूं, कि जैसा गुरु मुझे मिला, और उन्होंने जो बातें मुझे बताईं, अनुभव कराया, दो मिनट में मानो अमृत का प्याला पिलाया, शासनपति श्री वीर भगवान् के निर्वाण-भूमि पर ध्यान करना फरमाया, मैंने भी उस जगह आकर उन्नीस सौ चौतीस की साल में आसन जमाया, ध्यान

के प्रारम्भ से ग्यारहवे दिन अनुभव का आनन्द पाया, उसी के किञ्चित् स्वाद से इतना लेख लिखाया है।

ऊपर की बात से अब हमको यह विचार करना चाहिए कि जब योनि में लिंग देकर क्रिया करना, और वीर्य न पड़ने देना, अथवा पड़े हुए को ऊपर चढ़ाते जाना ही यदि 'हठप्रदीपिका' आदि के मत से योगीन्द्रपन हो तो सब कामी मनुष्य भी योगवेत्ता हो जायेंगे।

दूसरी बात यह है कि जो चीज पहले साबुन बनी हुई है, उस चीज में से थोड़ी निकाल कर फिर उसमें मिलावे तो मिलाने से जो घाट पहले था वह घाट न रहेगा। जैसे दही किसी बरतन में जमा हुआ है, उसमें से कुछ निकाल कर फिर पीछे से उसमें मिलावे तो पहले जैसा यथावत् स्वरूप था वैसा कदापि न होगा। यही हाल वीर्य का भी है। इस लिए पहले उस वीर्य को कदापि न निकालना चाहिए।

तीसरी बात यह भी है कि योनि में लिंग देने से यदि योगवेत्ता होता हो, तो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा, प्रत्याहार, समाधि, आदि साधन व्यर्थ हो जायंगे।

चौथा कारण यह है कि गोरक्षपद्धति के सातवें और हठप्रदीपिका के ८३ वें श्लोक में लिखा है, कि चित्त के स्थिर होने से वीर्य स्थिर होता है। इससे आत्म-अनुभवी—अध्यात्म इसी बात को अंगीकार करेंगे कि चित्त को स्थिर करने से वीर्य आप ही स्थिर हो जाएगा।

पांचवां कथन है कि योनिमें लिंग डाल कर क्रिया करना और वीर्य को न गिरने देना, यह बात शौकीन जार पुरुष भी कर सकते हैं। अथवा दवाई आदि से भी हो सकता है। परन्तु ऐसी क्रिया (वज्रोली) से कदापि चित्त स्थिर न होगा। उलटी विशेष रूप से चित्त की चंचलता हो जाएगी, और चंचलता होने से व्यभिचारादि विशेष करने लगेगा। क्योंकि देखो अग्नि में ज्यों-ज्यों घृत काष्ठादि पड़ेगा, त्यों-त्यों अग्नि विशेष करके प्रज्वलित होगी। इस रीति से जो योनि में लिंग देकर क्रिया करेगा, उसका चित्त विषयासक्त होगा ही और जिस समय वह वीर्य निकलता है सो रुकना भी कठिन है; क्यों

कि वीर्य निकलते समय जो विषयानन्द होता है, उस विषयानन्द में जगत् फंस रहा है और जरा-मरण करता है, और फिर वह वीर्य भग में पड़ा हुआ पीछे खींचकर ले जावे तो वह वीर्य दही के दृष्टांत के अनुसार कदापि एक-रस न होगा। इसलिए वर्तमान काल में कितने ही लोग इन ग्रन्थों के अनुसार वज्रोली में प्रवृत्त होते हैं और अपने दिल में विचारते हैं कि इस क्रिया के करने से हम योगवेत्ता होकर योगीन्द्र बन जायेंगे। किन्तु वह तो होता नहीं है, उलटे वे लोग भ्रष्ट और पतित हो जाते हैं। इसलिए इन ग्रंथों की रीति आत्मार्थियों के वास्ते उपयुक्त हमारे समझ में नहीं आई, इस कारण से हमने विशेष खोलकर लिखा है, कितने ही वेषधारी इस क्रिया को करके साधुत्व से भ्रष्ट हो गए हैं। भाई, इसकी प्रवृत्ति अन्य मत में ही है जैनमत के साधु भ्रष्ट न हुए, क्योंकि उन्होंने यह क्रिया को अपनाया नहीं है। अन्य मत के साधु काम विकार जन्य प्रवृत्ति कर आपस में लड़ाई करते हैं इसलिए प्रसंग से हमने भी इतनी बात लिख दी है।

### वज्रोली की शुद्ध रीति और प्रयोजन

अब हम वज्रोली का प्रयोजन और रीति गुरु की कृपा से जो पाई है वह बतलाते हैं, आत्मार्थी पाठकगणों को सुनाते हैं, कुछ अनुभव भी दिखाते हैं, वीर्य को बचाते हैं, स्त्री का बिलकुल त्याग कराते हैं, अपने स्वरूप को मिलाते हैं। जो बुद्धि पूर्वक विवेक सहित ग्रहण कर श्रद्धा-सहित परिश्रम करेगा उसे स्वरोदय-साधन में सहायता मिलेगी और इससे कुछ विशेष सिद्धि नहीं है। हां विषयी पुरुषों के वास्ते स्त्रियों को प्रसन्न करना, और आप आनन्द लूटना होता है, परन्तु यह काम योगियों का नहीं। इन्द्रिय में गज डालकर छिद्र बढ़ाना भी निष्प्रयोजन है। क्योंकि लघुनीति साफ मार्ग के बिना कदापि न निकलेगी और फूंकनी लगाकर उसमें वायु को फूंक से भरना भी निष्प्रयोजन है। यद्यपि लघुनीति होना, अथवा विषय करने से भी वीर्य का निकलना, इन दोनों बातों का अनुभव जगत् को हो रहा है। परन्तु ख्याल न रखने से उसका रहस्य समझते नहीं हैं। विवेक के साथ विचार करें तो प्रत्यक्ष अनुभव होता है। यही दिखाते हैं कि जिस समय पुरुष अठारह अथवा बीस वर्ष की आयु में हो, और

स्त्री तेरह या चौदह वर्ष की आयु में हो और जब वह लघुनीति करने को बैठे, उस समय गुदा को ऊपर आकुञ्चन करने से लघुनीति (पेशाब) की धार बन्द हो जाती है। और जब आकुंचन छोड़ते हैं तब धार निकलती है। इस रीति से जो मैथुनादि क्रिया करते हैं, तब वीर्य निकलते समय गुदा ऊपर को स्वयं ही आकुञ्चित हो जाती है, और वीर्य रुक जाता है, जब गुदा नीचे को होती है तब वह वीर्य निकलता है। यह सब प्राणवायु का ख्याल है। परन्तु वीर्य और पेशाब रुकने और निकलने का अनुभव सबको है। बल्कि कितने ही मनुष्य श्वास को रोक कर वीर्य को रोकते हैं, और किसी समय उसे रोकने से वीर्य रुककर घाव (क्षत) कर देता है, जिस घाव के होने से सुजाक की बीमारी कहलाती है। यह अनुभव साधारण पुरुषों को भी हो रहा है।

और जो योगी जन हैं उनको यदि कभी कोई कारण (गर्मी आदि) से वीर्य चलायमान हो जाय, तो उसको प्राण अपान की एकता, और नौली चक्र से कुंभक करके लिंग के ऊपर रोक लेते हैं, क्योंकि जिसको नौली-चक्र यथावत् याद है वह पुरुष लिंग से और गुदा से द्रावण (पिघला हुआ घृत, दुग्ध, जल और तेल) चढ़ा सकता है। सो घृत, दुग्ध, शहद आदि लिंग से चढ़ाना केवल लोगों को तमाशा दिखाना है, क्योंकि वीर्य निकल गया वह खराब हो गया, उसके चढ़ाने से सिवाय हानि के और कुछ लाभ नहीं होगा। इसलिए इस वज्रोली का मुख्य तात्पर्य यही है कि स्वर-साधन करने वाले ऐसा कहते है कि लघुनीति चन्द्र स्वर में करे और बड़ीनीति (पाखाना) सूर्य स्वर में करे। लघुनीति को वज्रोली रोक सकती है, यही इसका प्रयोजन है। क्योंकि जब पुरुष अथवा स्त्री पाखाना आदि को जाते हैं उस समय दोनों ही स्वर होते हैं। इस बात को सर्व साधारण जानते हैं। कदाचित् गज डाल कर उसमें फूंकादि लगाकर लिंग को साफ करे, परन्तु जब तक उसको नौलीचक्र न आता होगा, तब तक उससे वस्ती कर्म और वज्रोली कदापि न होगी।

और जो इन ग्रन्थकारों ने ऐसा लिखा है, कि "जिसको वज्रोली होगी, उसी को खेचरी होगी और खेचर होगी तो वज्रोली होगी" यह बात भी ठीक नहीं है। क्योंकि इन दोनों का आपस में कुछ सम्बन्ध नहीं, बल्कि बिना वज्रोली

के खेचरी मैंने कराई है, और विना खेचरी के वज्रोली करते हमने कितने ही मनुष्यों को देखा है। हां, बिना नौली के वज्रोली कदापि न होगी, क्योंकि नौलीकर्म जिसको सिद्ध होगा, वह पुरुष नल उठाकर बाहर की वायु को खींच सकता है, विना नौली के कुम्भक वायु नहीं खिचती, इसलिए जिसको नौली याद होगी उसको वज्रोली जब करेगा तब ही याद हो जायगी। इस रीति से किञ्चित् वज्रोली की प्रक्रिया दिखाई।

जोली, अम्रोली क्रियायें भी इस वज्रोली का ही भेद है ऐसा 'गोरक्ष-पद्धति आदि में लिखा है और इसका असल भेद ओघड़मत या अघोरियों का आचरण है परन्तु इसके करने से कुछ आत्मा की सिद्धि नहीं। हां, किसी कदर साधन करने से लोगों को चमत्कारादि सिद्धि दिखाने का कारण है। सो इसके लिखने के लिए चित्त तो नहीं चाहता। परन्तु मेरे गुरु ने मुझको बताने में किसी प्रकार का संकोच नहीं रखा। यदि वे कुछ संकोच रखते तो मैं भी संगति पाकर उनके (अघोरियों) के जाल में फंस जाता। सो उन गुरु की चरण-कृपा से और सब हाल जानने से उनके जाल में नहीं आया हूं, उनके घर के हाल को कहकर सर्वज्ञ मत पुख्ता बताता हूं। इस प्रकार लिखे हेतु से किञ्चित् दिखाते हैं कि लघुनीति का पीना और बड़ीनीति का खाना, अर्थात् पाखाना का खाना और पेशाब का पीना उसका नाम जोली है। अघोरी मतवाले ऐसा करते हैं।

### अम्रोली

बड़ीनीति को और लघुनीति को मिलाकर कपड़े से छानना, और उसको गरम करके पीना, तथा उसके बोदर [फोकम] को शरीर पर मालिश करना उसका नाम अम्रोली है।

इसे करने वाले लोग एक मन्त्र का जाप भी करते हैं, उस जाप से उनको सिद्धि प्राप्य होती है। इस काम के करने वाले इस संसार को यह तमाशा दिखाते हैं। क्रिया करने में सिद्धि की आशा रखते हैं, इन लोगों को आत्मा के स्वरूप का किञ्चित् भी बोध नहीं है।

अब इस प्रपञ्च को छोड़कर प्रणायामादि दिखाते हैं, प्रथम मल-शुद्धि का उपाय कराते हैं, क्योंकि प्राणायाम से भी मलशुद्धि होती है।

### प्रणायाम के तीन भेद

एक तो पूरक, दूसरा कुम्भक, तीसरा रेचक। पूरक उसको कहते हैं कि वायु को ऊपर अर्थात् बाहर से अन्दर ले जाना।

कुम्भक उसको कहते हैं कि श्वास को बन्द रखना अर्थात् न तो भीतर ले जाना और न बाहर निकलना।

रेचक नाम उसका है, कि जो वायु रोकी हुई है, उसको बाहर निकालना।

### तीनों प्राणायाम करने की रीति

इनकी रीति यह है कि प्रथम पद्मासन अथवा मूलासन लगावे, फिर चन्द्र अर्थात् डावी [वाम] नासिका से वायु को खींचे—अर्थात् पूरक करे। फिर अंगूठा और अनामिका अंगुली से दोनों नासिका के छिद्रों को बन्द करे, जितनी जिसकी शक्ति हो उतने समय पर्यन्त इस माफिक करना चाहिये। और मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध, उड़ियानबन्ध, इन तीनों को करे।

फिर सींधे [दक्षिण] स्वर से वायु का धीरे-धीरे रेचन करे। परन्तु इस रीति से धीरे-धीरे रेचन करे कि जिसमें किसी तरह का शरीर को ज़ोर न पड़े।

फिर दक्षिण स्वर से धीरे-धीरे पूरक करे—अर्थात् प्राणवायु को खींचे। फिर दोनों नासिका के छिद्रों को बन्द करके यथाशक्ति कुम्भक करे।

बाद चन्द्र [वाम] स्वर से बन्धपूर्वक धीरे-धीरे रेचन करे। फिर जिस नाड़ी से रेचन करे, उसी से ही पूरक करे। फिर यथाशक्ति कुम्भक करके बन्ध-पूर्वक दूसरी नाड़ी से रेचक करे। जब तक पसीना और कम्प हो तब तक पूरक और रेचक करता ही रहे। परन्तु जिस नाड़ी से पूरक करे, उससे रेचक न करे, जिससे रेचक करे, उससे पूरक करले तो कोई हानि नही है। इस रेचक को जल्दी-जल्दी न करे—अर्थात् एक साथ न छोड़े; क्योंकि जोर से रेचक करने से बल की हानि होती है।

इस रीति से जो अभ्यास करता है, उसकी नाड़ी तीन या पांच मास में शुद्ध हो जाती है।

## ८५ प्राणायाम के काल तथा नियम का वर्णन

### ८५ समय और पांचतत्त्व

समय परिवर्तनशील है। अनन्तकाल से अनवरत घूम रहा है। न इसकी गति को ही कभी रोका जा सकता है यह स्वतः ही चल रहा है। यह तो हुई बाह्य समय की बात। इस प्रकार अभ्यंतर स्तर में पंच तत्त्व के रूप में यही समय हम लोगों को दूसरे सूत्र में घूमा रहा है। यही हमारे नित्य नैमित्तिक आदि सभी कार्यों में लाभ-हानि, जय-पराजय, शुभ-अशुभ कराने में निश्चित कारण बना हुआ है। इसका प्रायः किसी को बोध नहीं है।

गुप्त रूपसे घूमते हुए ये पांच तत्त्व एक के बाद दूसरे क्रमानुसार परिवर्तित होते मालुम होते हैं। जैसे ऋतु के परिवर्तन का बोध हो जाता है, उसी तरह तत्त्व के आगमन की भी जानकारी हो जाती है।

प्रमाण के लिये देखिये—हम सब मनुष्य सब दिन एक ही है; परन्तु हमारे अन्तःकरण के भाव इतनी जल्दी-जल्दी क्यों बदलते हैं? कभी शुभ कभी अशुभ; कभी क्रुर कभी सदय; कभी उद्दंड कभी विनम्र; कभी शांत तो कभी अशांत; कभी प्रसन्न तो कभी विषण्ण। यह जो बार-बार, शीघ्र-शीघ्र मनोभाव का परिवर्तन होता है; यह तत्त्व के प्रभाव का ही परिणाम है। अभिप्राय यह है कि जिस समय जिस तत्त्व का शरीर में उदय होता है उसी तत्त्व के प्रभावानुसार भाव, विचार होता है।

उदाहरण के लिये—मैंने आप से अपने किसी कार्य के लिये प्रार्थना की; आपने उत्तर में अस्वीकार कर दिया। फिर मैंने दूसरी बार आप से कहा तो उस समय आपने कहा—"अच्छा कर दूंगा। ऐसी बात व्यवहार में बहुधा देखने में आती है। लोग सलाह देते हैं कि अभी उनकी चित्तवृत्ति ठीक नहीं है; कुछ मत कहो। जब देखो चित्तवृत्ति ठीक है, तब कहना; तुम्हारा कहना सफल होगा। यह बात व्यवहार में स्वतः स्पष्ट है। तात्पर्य यह है कि शुभ तत्त्व में जो कहा जाता है वह काम हो जाता है। अशुभ तत्त्व के समय कही गई बात निष्फल हो जाती है। तत्त्व का यह सिद्धान्त ध्रुव सत्य है।

इसको प्रातःकाल सूर्य उदय होने के समव (बादलों में लाली मालूम लगे तब) से प्रारम्भ करे, और तीन घड़ी तक करे—

और मध्याह्न को भी तीन घड़ी तक करे। इसी प्रकार सायंकाल में तीन घड़ी करे। इन तीनों काल में अस्सी-अस्सी बार कुम्भक, रेचक, पूरक करे। तीनों काल के ये दो सौ चालीस प्राणायाम हुए।

---

विचार करके देखिये—मनुष्य सुख में हो या दुःख में, क्रोध में हो या क्षमा में, हंसी में हो या रुदन मैं, खुशी में हो या गमी मैं—एक ही स्थिति मैं बहुत समय तक कोई भी नही रह सकता। चाहे कोई शस्त्र लेकर घात करने को ही क्यों न आवे, यदि किसी तरह वह समय टाल दिया जावे तो टल जाता है। अतएव मनुष्य की सफलता-असफलना में हेतु तत्त्वों की देन है।

तत्त्व क्या है इस पर योगशास्त्र के वचन हैं—

१—पृथ्वी, २—जल, ३—अग्नि, ४—वायु, ५—आकाश। ये पांच तत्त्व हैं। इन्हें परम तत्त्व कहते हैं। उपर्युक्त पांच तत्त्वों का एक के बाद दूसरे का आना जाना निरबाध निर्विच्छिन्न रूप में चलता रहता है। एक निमेष भी इनकी गति में अवरोध नहीं होता।

इन पांच तत्त्वों में पृथ्वी और जल तत्त्व शुभ हैं। शेष तीन तत्त्व—अग्नि, वायु और आकाश तत्त्व अशुभ फल दाता हैं। इस स्वरोदय विज्ञान मैं इन तत्त्वों का विस्तार से दिग्दर्शन कराया गया है।

अयोग्य काल में किये हुए विवाह आदि तथा दीक्षा प्रतिष्ठा आदि कार्य उत्तर काल में उल्टे अशुभ फल को देने वाले दृष्टिपथ में आते हैं। अयोग्य काल में किया हुआ प्रयाण व्यापार आदि के विपरीत परिणाम देखे जाते हैं। इन्हें दूर करने के लिये दैवी सामग्री के सिवाय दूसरी कोई भी सामग्री समर्थ नहीं है; मात्र इतना ही नहीं परन्तु परवशता के कारण होने वाला जन्म, व्याधि और मरणादि भी अयोग्य काल में हुए हों वे भी शान्ति पुष्टि आदि दैवी शक्ति से दूर होते हैं। ऐसे अनेक हेतुओं को लेकर प्रत्येक शुभ महुर्त की आवश्यकता है। उसका प्रतिपादन करने वाला अष्टांग निमित्त शास्त्र है।

### जघन्य, मध्यम उत्कृष्ट प्राणायाम

जघन्य प्राणायाम में पसीना होता है और मध्यम में कंप होता है तथा उत्कृष्ट प्राणायाग में ब्रह्मरन्ध्र होता है। ब्यालीस विपल से कम कुम्भक रहे तो जघन्य प्राणायाम होता है। चौरासी विपल[८६] से कुछ अधिक कुम्भक रहे तो मध्यम प्राणायाम होता है। और बन्धपूर्वक १२५ विपल कुम्भक रहे तो उसको उत्कृष्ट प्राणायाम काल कहते हैं।

जब प्राणायाम स्थिर हो जाता है, तब प्राण ब्रह्मरन्ध्र को प्राप्त होता है। और ब्रह्मरन्ध्र में गया हुआ प्राण जब पच्चीस पल तक स्थित रहे उसको प्रत्याहार कहते हैं। ऐसे ही धारणा भी है। और जब छः घड़ी तक स्थिर रहे, तब ध्यान होता है। और बारह दिन तक स्थिर रहे, तब ध्यान होता है।

प्राणायाम के अभ्यास से जो पसीना हो, उसे शरीर पर तैल की तरह मालिश करे। उस मालिश के होने से शरीर में दृढ़ता—अर्थात् पराक्रम बढ़ता है, शरीर नरम होता है और जड़ता दूर होती है।

जो मनुष्य इस प्राणायाम को करे, वह पहले ऊपर लिखे हुए जो तीन बन्ध हैं उनका अभ्यास करे; क्योंकि जो बिना बन्ध के अभ्यास करेगा, उसके बल वीर्य की हानि होगी, और श्वास-कासादिक की बीमारी भी। इसलिये बन्ध-पूर्वक प्राणायाम करे।

### बन्ध लगाने की रीति

बन्ध लगाने की रीति इस प्रकार है कि जिस समय में पूरक करे, उस समय से ही मूलबन्ध को लगावे। अथवा पूरक के अन्त और कुम्भक के आदि में अवश्य करके मूलबन्ध को लगावे और अर्द्धकुम्भक में जालन्धर

---

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| ८६–६ श्वासोश्वास | = | १ पल | = | २५ सेकंड |
| ६० पल | = | १ घड़ी | = | २४ मिनिट |
| २॥ घड़ी | = | ६० मिनिट | = | १ घण्टा |
| ६० घड़ी | = | एक दिन रात | = | २४ घण्टे |
| ६० विपल | = | एक पल | = | २४ मिनिट |
| १ महूर्त | = | २ घड़ी | = | ४८ मिनिट |

वन्ध को लगावे। कुम्भक का अन्त और रेचक की आदि में उड्डियान वन्ध लगावे।

जो इन वन्धों में से कोई एक भी वन्ध को न लगावेगा, उसकी अनेक तरह बीमारी की उत्पत्ति होगी। परन्तु हमारा अनुभव ऐसा भी है कि यदि जालन्धर बन्ध न लगावे तो उसमें कोई हानि न होगी, परन्तु मूलबन्ध और उड्डियान वन्ध यत्न पूर्वक अवश्य ही लगावे।

इस प्राणायाम के लिये हमने तीन काल लिखे हैं। परन्तु रात के बारह बजे का चौथा काल भी लिया जाता है। इसलिये चारों काल की संख्या के तीन सौ बीस प्राणायाम होते हैं।

यहां पर हम इतना बता देना आवश्यक समझते हैं कि पूरक कुछ शीघ्रता से भी करेगा तो उसको किसी प्रकार की हानि न होगी। परन्तु रेचक करने में यदि शीघ्रता करेगा तो वायु रोमों द्वारा निकलकर कुष्ठादि रोगों को उत्पन्न करेगी। जैसे वन्धा हुआ हाथी रस्सी आदि टुटने से अथवा शृखला आदि खोलने से भागता है, और अनेक तरह के उपद्रव करता है। वैसे ही कुंभक की रुकी हुई वायु शीघ्रता से रेचक करने से उपद्रव करती है। इसलिये प्राणायाम करने वाले को यत्न-पूर्वक धीरज के साथ सब काम करना चाहिये।

एक वात और भी बताते हैं कि पूरक में दस अक्षरों का जाप है, कुम्भक में सोलह अक्षरों का जाप है और रेचक में भी दस अक्षरों का जाप है। जाप में कोई तो 'प्रणव' (ओंकार) का स्मरण करता है और कोई' 'राम'' का, कोई ''सोऽहं'' का, और कोई ''अर्हम्'' का। इस रीति से अपनी-अपनी उपासना वाले अपने-अपने इष्ट अक्षर का जाप बताते हैं, लोगों को अपने जाल में फंसाते हैं, परन्तु असल भेद नहीं पाते हैं। इसलिये हमारा यह कथन है कि यदि सद्गुरु मिल जाय तो वह कृपा करके आप ही सर्व भेद जिज्ञासु को बतला देगा। कदाचित्त सद्गुरु का संयोग न मिले, और जिज्ञासा हो तो प्रणव (ॐ) का ध्यान करे, सर्व के जाल को परिहरे, क्योंकि इस प्रणव अक्षर में उसके शब्दार्थ जानने वाले सब मतावलम्बी अपने-अपने

इष्ट को मिलाते हैं, और उसकी महिमा सब कोई गाते हैं, परन्तु गाने वाले पन्थवाले इसको उड़ाते हैं, अपने मनःकल्पित शब्द की रटना लगाते हैं, इस ही लिये वह अपना गुरु आदि से जुदा पन्थ चलाते हैं।

इसलिये प्रणव का ध्यान करना ठीक है। इस प्राणायाम के सिद्ध होने से शरीर नीरोग हो जाता है और शरीर नीरोग होने से बुद्धि आदि की प्रकृति स्वच्छ अर्थात् निर्मल रहती है। और प्राणायाम करने वाले की चेष्टा पर अन्य पुरुषों को ओजस्विता प्रतीत होती है। जिसका प्राणायाम अच्छी तरह हो गया है' और चल रहा है, उस मनुष्य को दस्तादि इस प्रकार होगा कि जैसे बन्दूक से गोली निकलती है लेपादि न लगेगा और जिसका प्राणायाम बिगड़े अथवा कमी होय तो उसके पेट में से दस्त में बकरी की सी मेंगनी जाती है, और दुर्गन्धि भी हो जाती है। इसलिये जो प्राणायाम की रीति लिखी है, उस रीति से साधन करे तो यथावत् फल मिलेगा, योगाभ्यास में चित्त चलेगा। इस रीति से प्राणायाम का किंचित भेद दिखाया, जिन्होंने इसका अभ्यास किया उन्होंने ही इसका फल पाया और इसकी साधना से अध्यात्म पद पाया है।

अब हम इस प्रणायाम के अनन्तर जो कहेंगे, वह सब ध्यान और समाधि के मतलब की बात होगी। यहां तक ध्यान और समाधि के पूर्व-कारण बताये गये, क्योंकि आसनों से लेकर प्राणाययाम-पर्यन्त जो बातें लिख आये हैं वे आत्म-धर्म नहीं, किन्तु आत्मधर्म-साधन के पूर्व-कारण हैं।

इन बातों को जो कोई अज्ञानी धर्म जानकर ग्रहण करेगा अथवा ऊपर लिखी बातों को धर्म जानेगा, उस पुरुष को आत्म स्वरूप न मिलेगा, जन्म-मरण में ही वह पिलेगा, कर्म-बन्धन से न टलेगा। अब चक्रों का स्वरूप बतलाते है।

### चक्रों का नाम

१ मूलाधार, २ स्वाधिष्ठान, ३ मणिपूरक, ४ अनहद, ५ विशुद्ध, ६ आज्ञा, ७ सहस्रदल।

## १ मूलाधार चक्र का वर्णन

इसका प्रकार यह है, कि गुदा से दो अंगुल ऊपर मूलाधार चक्र है, इसको गणेश चक्र भी कहते हैं। इसकी चार पंखड़ियां हैं। इस चक्र का रंग लाल है—जैसे सूर्य के उदय वा अस्त के समय बादल लाल होता है, इस तरह का इसका रंग है और उन चारों पंखड़ियों के ऊपर ये चार अक्षर हैं;—वं, शं, षं, सं। ये चारों पंखड़ियों में इस कदर दमकते हैं कि जैसे अंगूठी आदि में नगीना लगने से वह दमकता है।

इस मूलाधार के पास में कन्द है। वह कन्द चार अंगुल विस्तार वाला है। सो मूलाधार से दो अंगुल ऊंचा, और लिंग चक्र से एक अंगुल नीचा और चार अंगुल विस्तार वाला है, तथा अण्डे के समान गोल आकार वाला है, एवं गुदा ऊपर मेड़्रें अर्थात् कन्द के पास बीच में योनि है उसका त्रिकोण आकार है। यह पश्चिम-मुखी है—अर्थात् पीछे को मुख है। बंकनाल अथवा उर्द्धव गमन उसी में होकर है।

### कुण्डलिनी नाड़ी

उसी स्थान में सर्वदा कुण्डिलिनी की स्थिति है। यह कुण्डलिनी, सब नाड़ियों को घेरकर साढ़े तीन आंटे (फेर) देकर कुटिल आकृति से अपने मुख में पूंछ को दबाकर सुषुम्ना विवर में स्थित है और सर्प के सदृश है तथा बालक के केश से भी सूक्ष्म और तप्त किये हुए सुवर्ण के सदृश देदीप्यमान है।

और लाल रंग का काम-बीज उसके सिर पर घूमता है। जिस स्थान में कुण्डली स्थित है, उसी स्थान में काम बीज के साथ सुषुम्ना नाड़ी भी स्थित है और शरीर में भ्रमण करती है। कभी ऊर्ध्वगामिनी, कभी अधोगामिनी और कभी जल में प्रवेश करने वाली है।

इसको जगाने की रीति, और कुछ नाड़ियों का वर्णन करेंगे। इस जगह प्रसंगवश किंचित् चिन्ह बताया है, इस देदीप्यमान काम-बीज सहित मूलाधार चक्र का ध्यान करने वाले पुरुष को बारह महीने के भीतर जो शास्त्र कभी श्रवण नहीं किये हैं उन शास्त्रों के रहस्य-सहित भावार्थ समझने की शक्ति

उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि जो जिस भाषा में अक्षर बांचना जानेगा, उस भाषा का ग्रन्थ कैसा ही क्लिष्ट (कठिन) क्यों न हो उसके बांचने की और समझनेकी शक्ति हो जायगी। कदाचित् अक्षर न पढ़ सके तो दूसरे से श्रवण करके कर्ता के अभिप्राय को ठीक-ठीक समझ सकेगा और कुछ दिन पर्यन्त निरन्तर इसका ध्यान करे तो उसके सामने सरस्वती नृत्य करती है और कवितादि निर्द्वन्द्वता से करता है।

### २ स्वाधिष्ठान चक्र का वर्णन

इस स्वाधिष्ठान चक्र की लिंग के मूल में छः पांखड़ी हैं। उनके ऊपर ये छः अक्षर हैं;—वं, भं, मं, यं, रं, लं। इन्हीं अक्षरों से पांखड़ी शोभायमान है, और इसका रक्त वर्ण है जो कुछ पीला सा झलकता है। शरत्पूर्णिमा के सर्वकला-पूर्ण चन्द्रमा की तरह सफेद वर्ण का चमकीला (बं) बीज सहित जो कोई इस चक्र का ध्यान करे, उसको कविता करने की शक्ति होगी, और सुषुम्ना नाड़ी चलाने की शक्ति को प्राप्त होकर नाद को श्रवण करता हुआ आनन्द को प्राप्त होगा।

### ३ मणिपूरक चक्र का वर्णन

यह पद्म नाभि की जड़ में है, सुवर्ण के सदृश दस पांखड़ी करके संयुक्त और दसों पांखड़ियों के ऊपर "डं, ढं, णं, तं, थं, दं, धं, नं, पं, फं, ये दस अक्षर हैं। इन अक्षरों से संयुक्त, शोभायमान, देखने वाले को आनन्द देने वाला, सूर्य के समान वह्नि बीज है, और उसके आगे स्वस्तिक (साथिया) है, इस अग्नि बीज का सूर्य के समान प्रकाश है। इस मणिपूरक चक्र का बीज-सहित जो कोई पुरुष ध्यान करता है, उसको सुवर्ण आदि सिद्धि करने की शक्ति हो जाती है, और देवताओं के दर्शन होना सुलभ हो जाता है।

### ४ हृदय कमल-अनहद चक्र का वर्णन

यह अनहद नामक कमल बारह पांखड़ी का है, और बारह अक्षर करके संयुक्त है। वे अक्षर ये हैं—कं, खं, गं, घं, ङं, चं, छं, जं, झं, ञं, टं, ठं। इस पद्म का लाल वर्ण है, और इसका वायु बीज है। इसकी पांखड़ी (कली) के बीच में बिजली के समान चमकती हुई त्रिकोणी एक शक्ति है,

उसके बीच में सुवर्ण के समान एक कल्याण रूप लिंग-अर्थात् स्वस्वरूप अनेक अक्षरों करके संयुक्त त्रैलोक्य स्वामी, निर्वाणी, निरंजन, अनाथों का नाथ, साक्षात् विराजमान दर्शन देता है। इसके मस्तक के ऊपर छिदी हुई मणि चमकती है, उसको साक्षात् उस कल्याण-रूप मूर्ति का दर्शन होता है और नाना प्रकार की सिद्धियां और ज्ञानादि उत्पन्न होते हैं।

सो इसकी पूर्ण विधि तो नाड़ियों का वर्णन और शक्ति-संचार का वर्णन करने के वाद मानसिक पूजन में कहेंगे। परन्तु इस जगह तो उस कल्याण रूप-मूर्ति देखने के वास्ते परमत' और स्वमत वाले वहुत कुछ कह गये हैं; जिसमें स्वमत वालों का किंचित हाल सुनाते हैं। श्री आनन्दघनजी महाराज अपनी 'वहत्तरी' में कहते हैं कि;—

"आशा मारी आसन घर घट में, अजपा जाप जपावे ।
आनन्दघन चेतनमय मूरति, नाथ निरंजन पावे ।।१।।"

ज्ञानसारजी में भी वे कहते हैं;—

"हृदय कमल किरण के भीतर, आत्म रूप प्रकाशे ।
वाको छोड़ दूरतर खोजे, अन्धा जगत् खुलाशे ।।१।।

इस वास्ते जो कोई आत्मार्थी होगा, वह ही इन बातों को जानेगा और करेगा।

### ५ विशुद्ध चक्र का वर्णन

इस विशुद्ध चक्र का स्थान कण्ठ में है, और इस पद्म की सोलह पांखड़ी (कली) हैं, तथा इन सोलह पांखड़ियों पर सोलह अक्षर हैं वे ये हैं;—

अं, आं, इं, ईं, उं, ऊं, ऋं, ॠं, लृं, ॡं, एं, ऐं, ओं, औं, अं, अः। इन अक्षरों करके संयुक्त यह चक्र स्वर्ण के समान चमकता है। परन्तु पद्म का रंग धूंए का सा है, और इसका आकाश बीज है। जो कोई पुरुष बीज-सहित विशुद्ध चक्र का ध्यान करेगा, वह पण्डित और योगियों में शिरोमणि और सर्व शास्त्रों के रहस्य को जानने वाला होगा, एवं अनेक तरह की लब्धियां हो जायेंगी, तथा मन की चंचलता भी मिट जायगी।

### ६ आज्ञा चक्र का वर्णन

यह आज्ञा चक्र नामक पद्म भृकुटि स्थान में है, और इस पद्म की दो पांखड़ी (कली) हैं और चन्द्रमा के समान उज्ज्वल शोभायमान है। उन दोनों पांखड़ियों पर, 'हं क्षं' ये दो अक्षर हैं।

इस पद्म का श्वेत वर्ण है, और शरद पूर्णिमा के चन्द्रमा के सदृश देदीप्यमान, परम तेजस्वी' चन्द्रबीज-अर्थात् (ठं) विराजमान है। इस बीज के साथ उक्त पद्म का जो कोई ध्यान करे वह जो इच्छा करे वही उसको प्राप्त होता है और जो कोई इस पद्म का निरन्तर ध्यान करे उसको पहले तो दीप का सा धूम्राकार (धुधला) सा प्रकाश मालूम होता है; फिर सूर्य का सा प्रकाश हो जाता है। पश्चात् परमानन्द-मय होकर मन की चंचलता मिटाकर आत्म-समाधि में प्राप्त होता है।

इन छः चक्रों का वर्णन तो बहुत पुस्तकों में है, परन्तु सातवें सहस्र दल कमल का गुरु गमता से प्राप्त वर्णन दिखाते हैं।

### ७—सहस्र-दल कमल चक्र का वर्णन

यह सहस्र-दल कमल नाम का पद्म कपाल में है और इसकी हजार पांखड़ी (कली) हैं। कितने ही मनुष्य इसको कोरी कल्पना ही कहते हैं। परन्तु गुरुगम से इसका यथावत् हाल मालूम होता है और जो कुल चक्रों को भेदकर इसमें आकर स्थिति करे वह जड़ समाधि का भेद और जो इसका ध्यान करे वह आज्ञाचक्र, और अनहद चक्र इन दोनों को छोड़कर बाकी चक्रों की प्राप्ति कर सकता है। परन्तु यह अनुमान सिद्धि है। मुख्यता करके इस पद्म से जड़ समाधि वालों का प्रयोजन है।

इस रीति से षट् चक्र का ध्यान लिखा और सातवें का प्रयोजन बताया है, अब नाड़ियों का किंचित् वर्णन करते हैं।

### नाड़ियों का वर्णन

नाडियों का विस्तार तो तन्दूलबयालिया सूत्र में वर्णित है और अन्य मतावलम्बी कुल शरीर में ७२००० हज़ार नाड़ी मानते हैं, और वे अहोरात्र के इक्कीस हज़ार छः सौ (२१६००) श्वास-प्रश्वास मानते हैं। परन्तु यह

मानना ठीक नहीं हो सकता। सर्वज्ञ मतावलम्बी 'तन्दूलवयालिया सूत्र' में करोड़ों नाड़ियां शरीर में कही है। परन्तु साढ़े तीन करोड़ रोमावली सर्व मतावलम्बी अंगीकार करते हैं, सो यह सब सूक्ष्म नाड़ियों के भेद हैं।

और वज्रऋषभनाराच आदि जो संघयण गिनाएं हैं सो नाड़ियों के बंध हैं। इसको यदि 'तन्दूलवयालीया' सूत्र के अनुसार लिखें तो एक ग्रंथ पृथक् ही बन जाए। इसलिए जो मुख्य बातें हैं उन्हीं को गिनाते हैं कि छांटते-छांटते अन्त में मुख्य चौबीस ही नाड़ियां हैं। नाभी के पास में जो कन्द है, उसमें से दस नाड़ियां ऊपर को गई हैं। वे जड़ में से दो-दो मिली हुई निकली हैं। सो उसमें भी चार नाड़ी जुड़ी हुई आगे से फटकर और एक बिलकुल अलग हैं। ये पांच नाड़ियां डाबी तरफ से जीमणी तरफ और इसी तरह दूसरी पांच नाड़ियां जीमनी तरफ से डाबी तरफ ऊपर को गई हैं। इस माफिक दस नाड़ियां नीचे गई हैं। और दो-दो नाड़ी दोनों तरफ तिरछी (तिर्यक्) गई हैं। इस रीति से चौबीस नाड़ियों का वर्णन किया।

इसमें भी दस नाड़ी मुख्य हैं। कितने ही मतावलम्बी इनको दस वायु भी बताते हैं। प्राण अपानादि दश प्राण पृथक् हैं और दश नाड़ियां मुख्यता करके दशों द्वार में रहती हैं।

और जिससे ये नाड़ियां बल खींचती हैं, उसी को ऊपर लिखी दस वायु ठहराते हैं। इन दस नाड़ियों के निर्बल होने से इन्द्रियादि भी निर्बल हो जाती हैं, क्योंकि यह अनुभव की बात है कि जन्म के बाद अन्धा, काना, बहरा हो जाना या नासिका का गंध ग्रहण शक्ति क न रहना, इसी प्रकार जिह्वा का स्वाद कम हो जाना, यह सब नाड़ियों का खेल है।

इस प्रकार नाड़ियों के अनेक विचार हैं। परन्तु हमको तो इस जगह समाधि-प्रभृति योग का वर्णन करना है। इसलिए जिन नाड़ियों से मुख्य प्रयोजन है उन्हीं का वर्णन करते हैं।

इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, गांधारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुषा, कुहू, शंखिनी, ये दस मुख्य नाड़ियों के नाम हैं और भी दो चार नाड़ियां योगियों के देखने की हैं वह भी इनके बीच में कहेंगे।

## नाड़ियों की उत्पत्ति

यह इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम वाली नाड़ियां तो आज्ञा-चक्र से उत्पन्न हुई हैं और सहस्र दल कमल के पास में होकर मेरु के बराबर में होती हुई पश्चिम मुख से निकलकर गुह्य स्थान में होकर कन्द को भेद कर नाभि में जो कंद है उसमें मिल गई हैं। फिर आगे को नासा द्वारा अन्य चक्रों को भेदन करती हुई निकलती हैं।

और गुह्यद्वार से ऊपर जो मूलाधार चक्र है उसमें व्याप्त सुषुम्ना नाड़ी के बीच में लिंग देश से निकलकर सिर तक पहुंची हुई वज्र-नाम की एक नाड़ी है वह देदीप्यमान चमकने वाली है। यह नाड़ी योगीश्वरों को ध्यान में प्रतीत होती है, जो मकड़ी के तार से भी सूक्ष्म है और सुषुम्ना नाड़ी उक्त छओं पद्मों की नाल को भेद कर गई है। वैसे ही चित्रनाड़ी भी उसी छिद्र से ऊपर को चली गई है और इसी के बीच में एक ब्रह्मनाड़ी बिजली के समान देदीप्यमान है और वह नाड़ी सुषुम्ना से भी मोहनीय स्वरूप वाली है। जिनको शुद्ध ज्ञान प्राप्त हुआ है और जिनका आचरण शुद्ध है उनके देखने में यह नाड़ी ठीक-ठीक आती है, न कि प्रत्येक मनुष्य इसको देख सकता है।

## कुण्डली चलाने का उपाय

इस कुण्डली के, कुण्डलिनी, नागन, बालरण्डा, शक्ति आदि कई नाम हैं। यह कुण्डलिनी नामक नाड़ी सब नाड़ियों के ऊपर स्थित होकर मणि-पूरक चक्र कर्णिका में आवृत करके ब्रह्मरन्ध्र के द्वार को रोक कर सर्वदा रहती है और सुषुम्ना को नहीं जाने देती है। इसलिए प्राण-वायु और अपान-वायु को धोंकने वाला—अर्थात् उत्तेजित् करने वाला जो पुरुष है वह उस प्राण और अपान वायु की एकता से उत्तेजित हुई जो अग्नि उससे जागृत होकर मन और प्राणवायु सहित सुषुम्ना को सूची तंतु न्याय से ऊपर ले जाता है। जैसे सूई में तंतु (धागा) पोया हुआ हो तो वह सुई कपड़े के अनेक सूतों को भेदकर तंतु-सहित ऊपर को निकल जाती है वैसे ही वह करने वाला पुरुष मन और प्राण वायु के साथ सुषुम्ना नाड़ी को ऊपर ले

जाकर आनन्द को प्राप्त होता है।

अथवा सोते हुए सर्प के समान कुण्डली नाड़ी है। उसको जागृत करने के वास्ते पहले अपानवायु और प्राणवायु से विधिपूर्वक बीच की अग्नि के स्वरूप को तेज करे। अग्नि की तेजी से उसे जगाकर जैसे अति वेग से चलता हुआ सर्प समान गति को छोड़कर कुटिल गति से जाता है, वैसे ही करने वाला ज्योतिमयस्वरूप होकर सुषुम्ना मार्ग से लय हो जाता है।

जैसे ताले में कुंजी लगाने से ताला खुलकर कपाट (किवाड़) खुल जाते हैं वैसे ही कुण्डली करके सुषुम्ना रूप कुंजी (ताली) से आत्म-स्वरूप कपाट खुल जाता है।

## दूसरी रीति से शक्ति-चालनादि का वर्णन

दूसरा प्रकार यह है कि वज्र-आसन लगाकर हाथों से पगों (पैरों) की एड़ी पकड़ कर कंद स्थान को दृढ़ता से पीड़न करे और उस वक्त में वज्रासन से ही धोंकनी-कुम्भक करके वायु को प्रचलित करे, उस वायु के प्रचलित होने से अग्नि प्रज्वलित होती है, उस प्रज्वलित अग्नि की गर्मी से वह बाल-रंडा मुख फाड़ देती है। उस समय भी सुषुम्ना करके योगश्वर अपने स्वरूप का आनन्द पाता है।

अथवा, नाभि स्थान में सूर्य नाड़ी को आकुंचन कर कुंडली को चलावे, या चार घड़ी पर्यन्त निर्भय होकर शक्ति चालन करे तो कुंडली कुछ सुषुम्ना में ऊपर को उठे तब प्राणवायु आप ही सुषुम्ना में प्रवेश कर जाती है।

इस शक्ति के चलाने में नौली-चक्र जौर भस्त्रिका, कुम्भक और महामुद्रा ये तीनों बहुत उपयोगी है। जो पुरुष इनका विशेष रूप से अभ्यास करेगा वही इस बालरंडा को जगाकर सुषुम्ना के संग होकर अपने आत्मस्वरूप आनन्द को प्राप्त करेगा। परन्तु ये सब बातें वायु के साधन से होती हैं। इसलिए वायु के नाम दिखाते हैं :—१ प्राण २ अपान ३ समान ४ उदान ५ व्यान ६ नाग ७ कूर्म ८ कृकल ९ देवदत्त १० धनंजय। ये दस वायु सर्व शरीर में रहती हैं।

### वायुओं का स्थान

प्राणवायु हृदय में रहती है और श्वास-प्रश्वास को बाहर-भीतर निकालती है और जठराग्नि से अन्न पानादि को परिपक्व करती है। अपानवायु मूलाधार से मल-मूत्र को बाहर निकालती है। समान वायु नाभि में रहकर सब नाड़ियों को यथास्थान रखती है। उदान वायु कण्ठ में रहकर शरीर की वृद्धि करती है। व्यानवायु सर्व शरीर में व्याप्त है। वह लेना छोड़ना (आदान-उत्सर्ग धर्म) करती है। नागवायु उद्गार अर्थात् डकार कराती है कूर्मवायु नेत्रों के पलकों को ऊपर-नीचे लाती है। कृकल वायु नासिका से छींक कराती है। देवदत्त वायु जंभाई (जृम्भा) कराती हे। धनंजय सर्वशरीर में रहती है। इनको दश प्राण भी कहते हैं। परन्तु मुख्यता जो कुछ है वह श्वास-प्रश्वास की है। जो कुछ काम जगत में हो रहा है वह सब इसकी कृपा है।

इस आर्यावर्त से कितने ही मनुष्यों ने योगाभ्यास का भेद पाया है। अरबस्थान वाले मुसलमानों ने यहां से योगाभ्यास को पाकर इसका नाम अपने संकेत में (हबसेदम) रख लिया है; और अंग्रेज लोग 'मैस्मेरिज़म' कहते हैं। ये सब खेल मन-वायु के साथ होने से यथावत् सिद्ध होता है। क्योंकि मन-वायु की एकता होगी, तब चित्त को एकाग्र कर जिस काम में लगावेगा, उस कार्य में अवश्य प्रवृत्त होगा। क्योंकि चित्तवृत्ति का निरोध ही योग है ऐसा पतंजलिने योग-दर्शन में लिखा है "योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥२॥" इसका अर्थ यह है कि 'युज्यतेऽसौ योगः' जो युक्त किया जाय उसको योग कहते हैं। 'चित्तवृत्तिनिरोधः, चित्तस्य वृत्तयः चित्तवृत्तयः चित्तवृत्तीनां निरोध इति चित्तवृत्तिनिरोधः' चित्त की वृत्तियों को रोकने को—चित्त की वृत्तियों के निरोध को—योग कहते हैं।

इसलिए इस जगह मन का ठहराना अवश्य ही है। जब तक मन की चंचलता न मिटेगी तब तक योगाभ्यास या और कार्य नहीं हो सकता है।

इसलिए प्रसंगवश मन ठहराने का दृष्टान्त दिखाते हैं, जिसका बुद्धिमान् पुरुष बुद्धि से विचार करें। वह दृष्टान्त इस तरह है—

## मन ठहराने पर एक दृष्टान्त

एक ब्राह्मण अन्न मांग कर खाता था। उसके पास में और कुछ नहीं था। वह ब्राह्मण प्रतिदिन जंगल में दिशा (पाखाना) फिरने जाता था। वहां से उठकर एक आक के वृक्ष के नीचे आकर जो कुछ पानी हाथ धोने से बचता वह आक के पेड़ के ऊपर डाल देता और उस जगह लोटा शुद्धकर आप हाथ साफ कर चला जाता था। इस रीति से पानी डालते-डालते चिर-काल हो गया। उस ब्राह्मण के एक कन्या थी। वह विवाह के योग्य हुई थी, परन्तु उस ब्राह्मण के पास इतना धन नहीं था कि अपनी पुत्री का विवाह कर सकता।

एक दिन उस कन्या को बड़ी हुई देखकर वह चिन्तित होता हुआ दिशा फिरने के लिए गया और उस स्थान पर विचारने लगा कि हाय! मेरी बेटी इतनी बड़ी हो गई और मेरे पास एक पैसा नहीं, इसका विवाह किस प्रकार करूंगा? यह विचार करते-करते अपनी गुदा को धोने लगा तो धोते-धोते जितना पानी लोटे में था वह सब गिरा दिया और वहां से उठकर जिस आक के वृक्ष के समीप सदा लोटा मांजता था, वहीं मांजने लगा। परन्तु जल न बचने से उस आक पर पानी नहीं डाला। तब उस आक के वृक्ष पर रहने वाला एक भूत बोला, अरे विप्र! मुझको सदा जल पिलाता था, आज क्यों न पिलाया? उस समय ब्राह्मण बोला कि अरे भाई तू कौन है? जब उसने जवाब दिया कि मैं इस जगह का रहने वाला भूत हूं। तब ब्राह्मण बोला, मैंने तुझको इतने दिन पानी पिलाया, उसका फल आज तक कुछ न पाया। तब वह भूत कहने लगा, तुझे क्या चाहिए? उस समय वह ब्राह्मण कहने लगा कि मेरी बेटी विवाह के योग्य हो गई है और मेरे पास कोई द्रव्य नहीं है, क्योंकि मैं भिक्षा मांगकर खाता हूं और भिक्षा भी उतनी ही लाता हूं, कि जितनी से मेरा पेट भरे, इसलिए मेरे पास धन एकत्र नहीं हुआ और बिना धन के कन्या का विवाह कैसे कर सकता हूं? इस चिन्ता में तुझको जल न मिला।

इस वचन को सुनकर भूत कहने लगा कि हे विप्र ! तू किसी प्रकार सोच न कर। मैं तेरे वास्ते पांच हज़ार रुपये का उपाय करता हूं, बन्दर रूप धरता हूं, तेरे साथ चलता हूं, परन्तु तू अपने मुख से मेरी कीमत न कहना। जो कोई तुझसे पूछे तो कहना कि यह बन्दर अपनी कीमत कह देगा। इतना कहकर वह भूत बन्दर बन गया, और ब्राह्मण के साथ बातें करता हुआ नगर में पहुंचा तब वह ब्राह्मण जहां सेठ साहूकारों की दुकानें थीं, वहां उसको ले गया।

अब जो कोई साहूकार उस बन्दर की बातें सुनता वही उसको लेने के लिए तैयार होने लगता। जब यह बन्दर अपनी बात को प्रगट करता, तब उसे सुनकर सब चुप हो जाते और बन्दर को मोल न ले सके थे।

इस रीति से वह ब्राह्मण घूमता-घूमता एक बड़े सेठ के पास पहुंचा, जो कि उस नगरी में सबसे बड़ा था और जिसकी देश देशान्तरों में जगह-जगह पर दुकानें थीं। उस जगह वह बन्दर नाना प्रकार की अच्छी-अच्छी बातें करने लगा। वह साहूकार उस बन्दर की बातें सुनकर खुश हुआ और ब्राह्मण से पूछा कि तुम इसको बेचते हो ? तब ब्राह्मण बोला, कि हां, बेचता हूं। तब सेठ ने कहा कि इसकी कीमत क्या है ? तब ब्राह्मण ने जवाब दिया कि, कीमत इस बन्दर ही से पूछ लो। तब सेठ ने बंदर को पूछा कि हे बंदर ! तेरी क्या कीमत है ? तब बंदर बोला कि सेठजी पहले मेरे से एक बात की प्रतिज्ञा कर लो तो पीछे मैं अपनी कीमत कहूंगा। तब सेठ बोला कि तू किस बात की प्रतिज्ञा कराना चाहता है ? तब वह बंदर बोला मैं बेकाम नहीं बैठूंगा, निरन्तर काम करता रहूंगा, यदि तुम मुझको काम न बताओगे तो मैं तुम्हारा भक्षण कर लूंगा। पहले इस बात की प्रतिज्ञा करो तो मैं अपनी कीमत आपको बताऊंगा। इस बात को सुनकर सेठ ने विचार किया कि मेरे यहां सैंकड़ों हज़ारों आदमी काम करते हैं, तो यह अकेला बिचारा बंदर कितना कार्य करेगा, इसको बैठने को कब फुर्सत मिलेगी ? इतना विचार करके हंसा और कहने लगा, कि हे बंदर ! मैंने तेरी बात स्वीकार की, अब अपनी कीमत कह दे। तब वह बंदर कहने

लगा कि पांच हज़ार रुपया इस ब्राह्मण को दे दो, मैं तुम्हारा हो चुका। उसी समय सेठ ने उस ब्राह्मण को पांच हज़ार रुपया देकर विदा किया।

जब सेठ उस बंदर से काम कराने लगा तब बंदर भी आज्ञा के अनुसार चलने लगा, तत्काल उस काम को करके आने लगा और दूसरे काम की इजाज़त मांगने लगा। इस प्रकार सेठजी ने दो तीन दिन काम चलाया।

परन्तु अन्त में परेशान होकर अपने चित्त में विचारने लगा, कि मैंने बन्दर क्या मोल लिया अपना काल मोल लिया। इस प्रकार विचार करता हुआ उस बन्दर को बैठा कर अपने घर चला गया और घर में बैठ कर अपना प्राण बचाने का विचार करने लगा, कि इस बन्दर से प्राण कैसे बचाऊं, किस जगह जाऊं, क्या उपाय लगाऊं इत्यादि सोच में बैठा हुआ विचार कर रहा था।

उसी समय कोई ज्ञानी गुरु परोपकारी भिक्षा के वास्ते भ्रमण करते हुए उसके घर चले आये, और उस सेठ को देखकर कहने लगे कि हे देवानुप्रिय! ऐसी तुझको क्या चिन्ता है जो उग्र सोच में बैठा हुआ है?

तब वह सेठ खड़ा होकर गुरु महाराज को प्रणाम करके प्रार्थना करने लगा, कि हे स्वामिन्! मैंने एक बन्दर मोल लिया था, वह बन्दर इतना चंचल और ऐसी मीठी-मीठी बातें करता था, कि उसको देखते ही मेरा चित्त उस पर मोहित हो गया। तब मैंने उसके मालिक से कीमत पूछी। उस समय बन्दर बेचने वाला कहने लगा, कि मैं इसकी कीमत नहीं कह सकता। यदि तुमको लेना हो तो इसी बन्दर से ही पूछो, यह बन्दर आप अपनी कीमत कहेगा। जब मैंने बन्दर से कीमत पूछी, कि तेरी क्या कीमत है? उस समय वह बन्दर कहने लगा कि हे सेठ! पहले मेरी एक बात की प्रतिज्ञा करो, उसके बाद कीमत पूछना। जब मैंने कहा कि हे बन्दर? किस बात का इकरार कराता है? तब बन्दर कहने लगा कि काम सदा करता रहूंगा, कभी निकम्मा न रहूंना, जो तुम मुझको काम न बताओगे, तो मैं तुम्हारा भक्षण कर लूंगा। पहले इस प्रतिज्ञा को मंजूर करो तो मैं अपनी कीमत कहूं। जब मैंने इस बात को सुना, तब दिल में सोचा कि मेरे यहां हज़ारों

मनुष्य काम करते हैं, इस बेचारे को निकम्मा रहने का कब समय मिलेगा ? ऐसा विचार कर उससे कहा कि मैंने तेरी प्रतिज्ञा स्वीकृत की, अब तू अपनी कीमत कह । तब उसने अपनी कीमत कही, मैंने उसके कहने के अनुसार उसके मालिक को कीमत देकर बन्दर को मोल ले लिया । उसको जो-जो काम बताया, सो वह तत्काल कर लाया, इस रीति से दो चार दिन में काम बताता रहा, जब कि वह हर एक काम को करने लगा, तब मैं उसके काम को देखकर घबराया, कि मैं इससे जिस काम को कहता हूं उसको तत्काल ही कर लाता है । इसको मैं क्या काम बताऊं ? जब मैंने उसके करने के योग्य कोई काम न देखा तब उस बन्दर को दुकान पर छोड़कर घर पर चला आया । जो मैं दुकान पर जाऊं, और उसको काम न बताऊं तो वह मुझे खा जायेगा । इस सोच में बैठा हूं, सो हे भगवन् ! उस बन्दर से मुझ को प्राण बचाना कठिन हो गया है ।

इस बात को सुनकर गुरु महाराज कहने लगे, कि हे देवानुप्रिय ! वह बन्दर नहीं हैं, किन्तु भूत है, उसको काम करने में अथवा आने जाने में देर नहीं लगती । सो हम अब तुझको उपाय बताते हैं, जिससे तू उससे बच जायेगा, जो तू वह उपाय करेगा तो वह बन्दर तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा । और जो तू न करेगा तो तेरा प्राण उस बन्दर से कदापि न बचेगा ।

उपरोक्त वचनों को सुनकर सेठ के मन को धैर्य हुआ और हाथ जोड़कर विनती करने लगा हे भगवन् । कृपा करके शीघ्र ही ऐसा उपाय बताइये, कि जिससे मैं इसके फन्दे से छूटूं ।

तब गुरु महाराज कहने लगे, कि हे देवानुप्रिय ! तू अपनी दुकान के आगे एक बांस गड़वा दे, और उस बन्दर के गले में जंजीर डालकर उस बांस में अटका कर उस बन्दर को हुक्म दे, कि तू इस बांस पर चढ़ और उतर, यही तुम्हें काम बताया है, और तेरे लिए कोई काम होगा तो शृंखला से जंजीर को खोलकर अपना काम करवा लूंगा । इतना कहकर फिर जंजीर से बांध कर चढ़ना उतरना बता देना । इस उपाय से बन्दर तेरे को नहीं खायेगा, तावेदार बनाही रहेगा । यह दृष्टान्त कहा ।

अब इसका अर्थ उतार कर दिखाते हैं, कि यह मन रूपी बन्दर इस जीव के साथ लगा हुआ है। सो यह कभी स्थिर अर्थात् खाली नहीं बैठता। इस मन रूपी बन्दर के वास्ते जो कोई सद्गुरु मिले, और योग्य समझ कर यथा-वत् आलम्बन रूप बांस का गाड़ना बताकर मन रूपी बन्दर को शृंखला से बांधकर इस बांस पर चढ़ना उतरना बतावे, तो यह मन रूपी बन्दर भव्य जीव के वश में आवे दुर्गति से रुक जावेगा, आत्मा का स्वरूप यथावत् पावेगा, इसमें अनेक प्रकार के चमत्कार दर्शावे, या जो जिज्ञासा वाला चाहना करके लावे वह हो क्योंकि ऊपर लिखे दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिकके अनुसार मैंने कितने मनुष्यों को बतलाया था, और अनुभव भी कराया था, परन्तु जिज्ञासा अर्थात् चाहना बिना आगे को कुछ न पूछा। उतने ही में तृप्त होकर कर्त्तव्य छोड़ बैठे।

सो यह बात जाति कुल के जैनियों के सिवाय और भी कितने ही मता-वलम्बियों को ऊपर लिखे अनुसार बताया, अबलम्बन बताकर उनके मन को ठहराया, परन्तु मैंने उनमें आत्मार्थ न पाया, क्योंकि उन्होंने मेरे को चमत्कार दिखाने को कहा इसलिये मेरा भी चित्त घबराया, अपात्र जानकर जो कुछ बताया उससे भी पछताया, आगे को बताने में मेरा दिल न हुलसाया। क्योंकि शास्त्रों में ऐसा लिखा है, कि जो जिज्ञासु आत्मार्थी विशेष चाहने वाला, शील, संतोष, क्षमादि गुणों करके सहित, विनय-सम्पन्न और श्रद्धा अर्थात् वचन के ऊपर विश्वास करने वाला हो और यदि गुरु परीक्षा के लिए अनेक प्रकार से दुर्वचनादि, ताड़ना, अथवा विपरीत आचरण करके उसके चित्त को विक्षिप्त करे, तो भी वह जिज्ञासु गुरु की चरण-सेवा, भक्ति, विनय, आदि से न्यून न हो, उसको ही वस्तु बताना। सर्वमतावलम्बी इस बात को अंगीकार करते हैं। और अपने-अपने जिज्ञासुओं को इस रीति से सुनाते भी हैं। परन्तु उन जिज्ञासुओं को गुरु वाक्य पर विश्वास न होने से लाभ नहीं होता।

देखो जिस योगी में योगाभ्यास द्वारा मन-वायु को एक करके श्वास बढ़ाना अथवा घटाना ये दोनों प्रकार की शक्तियां हैं, उस पुरुष की

सामर्थ्य है कि जिस जगह चाहे उस जगह पर पहुंच जाये। इस विषय का एक दृष्टान्त दिखाते हैं—

जिस समय स्वामी शंकराचार्य ने मंडन मिश्र को जीतकर संन्यास दिया। उस समय उसकी स्त्री सरसवाणी आकाश में जाती थी, उस समय शंकराचार्य ने उसको रोककर कहा कि तू मुझ से जो प्रश्न करेगी उसका मैं उत्तर दूंगा। उस समय सरसवाणी ने शंकराचार्य का तिरस्कार करने के लिए नायिका के भेद पूछे। इस प्रश्न को सुनकर शंकराचार्य को उत्तर न आया, तब सरसवाणी से छः महीने के वास्ते उत्तर देने की प्रतिज्ञा कर अन्यत्र गया। तब एक नगर में राजा का मृतक देखकर उसके शरीर में प्रवेश कर गया। यह परकाय[८७] (दूसरे के शरीर) में प्रवेश करने का अर्थ यही है कि वे उस मन वायु की एकता करके श्वास के मार्ग से अपने तैजस शरीर को उस राजा के मृतक शरीर में ले गए। यह हाल शंकर-दिग्विजय में लिखा है, वहां से देखो। हमको तो इतना परिचय देना था कि इस मनोवायु की एकता से जो कोई श्वास को बढ़ाकर जो काम करेगा सो सिद्ध कर लेगा।

दूसरा, श्री जैनमत के सिद्धान्तों में भी ऐसा कहा है, कि जो तेतीस सागर

---

८७—**परकाय प्रवेश करने की विधि**—हठ योग में। ब्रह्मरंध्र से निकल कर और परकाय में अपान (गुदा) मार्ग से प्रवेश करे। वहां जाकर नाभि कमल का आश्रय लेकर सुषुम्ना नाड़ी में से होकर हृदय कमल में जाना। वहां जाकर अपनी वायु द्वारा उसके प्राण के प्रचार को रोकना। वह वायु वहां तक रोकना कि वह शरीरधारी देह से चेष्टा रहित होकर नीचे गिर जाये। अन्तर्मुहूर्त में उस देह से विमुक्त होने पर अपनी तरफ से इन्द्रियों की क्रिया प्रगट होने पर योग का जानकार अपने शरीर की तरह उस शरीर से सर्व क्रिया में प्रवृत्ति करे। आधा दिन अथवा एक दिन पर शरीर में क्रीड़ा करके बुद्धिमान पीछे उपर्युक्त विधि से अपने शरीर में वापिस प्रवेश करे। यह परकाय प्रवेश (दूसरे की काया में प्रवेश करना) आत्मा के कल्याण में सर्वथा बाधक है इसलिये मुमुक्षु आत्माओं को इसे न तो महत्व देना चाहिये और नहीं साधन करने की आवश्यकता है।

की आयु वाले देवता हैं, उनको यदि द्रव्यानुयोग के सूक्ष्म सिद्धान्तों में कहीं षड्द्रव्य की चर्चा में संदेह उत्पन्न होवे, तो जिनेन्द्र भगवान् इस क्षेत्र में बैठे हुए ही मन-वायु की एकता से इन देवताओं के संशय दूर कर देते हैं। इस तरह मनवायु की एकता से श्वास का खेल सद्गुरुओं ने बताया है जिसका अनुभव इस चिदानन्द ने भी पाया है।

योगशास्त्र में हेमचन्द्रचार्य ने भी ऐसा लिखा है कि जो मनुष्य मन-वायु की एकता कर लेता है वह मनुष्य हजार कोस पर बैठे हुए मनुष्य के शरीर को अपने श्वास-बल से वश कर डालता है।

हमने इस जगह किंचित् परिचय लिखा है सद्गुरुओं ने अपने जिज्ञासुओं को विशेष कर दिखाया है जो उन गुरुओं ने अनुभव कराया है वह लेखनी से लिखने में नहीं आ सकता, गुंगे को गुड़ खाना बताया, उसने खाकर स्वाद लिया, पर जिह्वा से कहने न पाया, जिसने पाया उसने छिपाया।

जैन सिद्धान्त में पांच प्रकार का शरीर कहा है, जिनके नाम ये हैं—कार्मण, तैजस, औदारिक, वैक्रिय और आहारक। इन पांच प्रकार के शरीरों में चौरासी लक्ष योनियों का समावेश है। इन पांच शरीरों से रहित संसारी जीव तो कोई नहीं है, और जो इन पांच शरीरों से रहित है, वह है सिद्ध भगवान् जो निराकार, निरंजन, ज्योतिस्वरूप, परमात्मा, परब्रह्म, सच्चिदानन्दमय, स्वरूप-भोगी, स्वस्वरूप रमण, अव्याबाध, अनवगाही, अमूर्त, अनाहारी अव्यवहारी, अचल, अविनाशी, अलख-स्वरूप हैं। बाकी कुल जीव इन पांच शरीरों से सहित हैं। वैक्रिय शरीर नरक गति और देवगति वाले का होता है। आहारक शरीर १४ पूर्वधारी मुनि किसी कारण से धारण करता है और औदारिक शरीर सर्व मनुष्य और तिर्यञ्च योनि वालों को मिलता है।

वैक्रियवाले देवों की चार निकाय है—१. भवनपति, २—वानव्यंतर-व्यंतर, ३. ज्योतिषी, ४. वैमानिक। इन चारों निकायों में अनेक जातियां देवताओं की हैं। जैसे मनुष्यों में चार वर्ण छत्तीस कौमें प्रसिद्ध हैं, परन्तु जाति भेद नाना हो रहे हैं, जैसे ब्राह्मणों में पांच गौड़ और पांच द्राविड़,

# पंचम प्रकाश

## प्राणायाम का स्वरूप

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, योग के यह आठ अग माने गए है। इनमे से चौथा अग 'प्राणायाम' है। आचार्य पतजलि आदि ने मुक्ति-साधना के लिए प्राणायाम को उपयोगी माना है। परन्तु, मोक्ष के साधन रूप ध्यान मे वह उपयोगी नही है। फिर भी शरीर की नीरोगता और कालज्ञान मे उसकी उपयोगिता है। इस कारण यहाँ उसका वर्णन किया गया है।

प्राणायामस्तत· कैश्चिदाश्रितो ध्यान-सिद्धये।<br>
शक्यो नेतरथा कर्त्तु मन·पवन-निर्जय ॥ १ ॥

मुख और नासिका के अन्दर सचार करने वाला वायु 'प्राण' कहलाता है। उसके सचार का निरोध करना 'प्राणायाम' है। आसनो का अभ्यास करने के पश्चात् किन्ही-किन्ही आचार्यों ने ध्यान की सिद्धि के लिए प्राणायाम को उपयोगी माना है, क्योकि प्राणायाम के बिना मन और पवन जीता नही जा सकता।

## प्राणायाम से मनोजय

मनो यत्र मरुत्तत्र मरुद्यत्र मनस्तत ।<br>
अतस्तुल्य-क्रियावेतौ संवीतौ क्षीर-नीरवत् ॥ २ ॥

जहाँ मन है, वहाँ पवन है और जहाँ पवन है, वहाँ मन है। अतः

समान क्रिया वाले मन और पवन—क्षीर-नीर की भाँति आपस मे मिले हुए हैं।

एकस्य नाशेऽन्यस्य स्यान्नाशो वृत्तौ च वर्तनम् ।
ध्वस्तयोरिन्द्रियमति ध्वसान्मोक्षश्च जायते ॥ ३ ॥

मन और पवन मे से एक का नाश होने पर दूसरे का नाश होता है और एक की प्रवृत्ति होने पर दूसरे की प्रवृत्ति होती है। जब इन दोनो का नाश हो जाता है, तब इन्द्रिय और बुद्धि के व्यापार का भी नाश हो जाता है और इनके व्यापार का नाश हो जाने से मोक्ष लाभ होता है।

**टिप्पण**—जब जीव शरीर का त्याग करके चला जाता है, तब मन और पवन का नाश हो जाता है और इन्द्रिय तथा विचार की प्रवृत्ति भी बन्द हो जाती है। परन्तु, यहाँ उस प्रवृत्ति के बन्द होने से प्रयोजन नही है, क्योकि उससे मोक्ष नही होता। आत्मिक उपयोग की पूर्ण जागृति होने पर मन और पवन की प्रवृत्ति बन्द हो जाए और उसके फलस्वरूप इन्द्रिय तथा बुद्धि की प्रवृत्ति बन्द हो जाए, तब मोक्ष की प्राप्ति होती है।

## प्राणायाम का लक्षण और भेद

प्राणायामो गतिच्छेद श्वासप्रश्वासयोर्मत ।
रेचक पूरकश्चैव कुम्भकश्चेति स त्रिधा ॥ ४ ॥

श्वास और उच्छ्वास की गति का निरोध करना 'प्राणायाम' कहलाता है। वह रेचक, पूरक और कु भक के भेद से तीन प्रकार का है।

## अन्य आचार्यों का मत

प्रत्याहारस्तथा शान्त उत्तरश्चाधरस्तथा ।
एभिर्भेदैश्चतुर्भिस्तु सप्तधा कीर्त्यते परै ॥ ५ ॥

दूसरे आचार्यों की ऐसी मान्यता है कि पूर्वोक्त रेचक, पूरक और कुंभक के साथ प्रत्याहार, शान्त, उत्तर और अधर, यह चार भेद मिलाने से प्राणायाम सात प्रकार का होता है।

## १. रेचक-प्राणायाम

य: कोष्ठादतियत्नेन नासाब्रह्मपुराननैः ।
बहिः प्रक्षेपणं वायोः स रेचक इति स्मृतः ॥ ६ ॥

अत्यन्त प्रयत्न करके नासिका, ब्रह्मरन्ध्र और मुख के द्वारा कोष्ठ अर्थात् उदर मे से वायु को बाहर निकालना 'रेचक-प्राणायाम' कहलाता है।

## २-३ पूरक और कुंभक प्राणायाम

समाकृष्य यदापानात् पूरणं स तु पूरकः ।
नाभिपद्मे स्थिरीकृत्य रोधनं स तु कुम्भकः ॥ ७ ॥

बाहर के पवन को खीचकर उसे अपान—गुदा द्वार पर्यन्त कोष्ठ मे भर लेना 'पूरक-प्राणायाम' है और नाभि-कमल मे स्थिर करके उसे रोक लेना 'कुभक-प्राणायाम' कहलाता है।

## ४-५ प्रत्याहार और शान्त प्राणायाम

स्थानात्स्थानान्तरोत्कर्षः प्रत्याहारः प्रकीर्तितः ।
तालुनासाननद्वारैर्निरोधः शान्त उच्यते । ८ ॥

पवन को खीचकर एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाना 'प्रत्याहार' कहलाता है। तालु, नासिका और मुख के द्वारो से वायु का निरोध कर देना 'शान्त' नामक प्राणायाम है।

टिप्पण—वायु को नाभि मे से खीचकर हृदय मे और हृदय से खीच कर नाभि मे, इस प्रकार एक स्थान से दूसरे स्थान मे ले जाना 'प्रत्याहार-प्राणायाम' है। कुभक मे पवन नाभि-कमल मे रोका जाता है

और शान्त-प्राणायाम मे वायु को नासिका आदि पवन निकलने के द्वारो से रोका जाता है। यही दोनो मे अन्तर प्रतीत होता है।

## ६-७ उत्तर और अधर प्राणायाम

आपीयोर्ध्वं यदुत्कृष्य हृदयादिषु धारणम्।
उत्तर स समाख्यातो विपरीतस्ततोऽधर. ॥ ९ ॥

वाहर के वायु का पान करके और उसे ऊपर खीच कर हृदय आदि मे स्थापित कर रखना 'उत्तर-प्राणायाम' कहलाता है। इससे विपरीत ऊपर से नीचे की ओर ले जाकर उसे धारण करना 'अधर-प्राणायाम' कहलाता है।

## प्राणायाम का फल

रेचनादुदरव्याधे कफस्य च परिक्षय।
पुष्टि पूरक-योगेन व्याधि-घातश्च जायते ॥ १० ॥
विकसत्याशु हृत्पद्म ग्रन्थिरन्तर्विभिद्यते।
बलस्थैर्य-विवृद्धिश्च कुम्भकाद् भवति स्फुटम्॥ ११ ॥
प्रत्याहाराद्वल कान्तिर्दोषशान्तिश्च शान्तत.।
उत्तराधरसेवात स्थिरता कुम्भकस्य तु ॥ १२ ॥

रेचक-प्राणायाम से उदर की व्याधि का और कफ का विनाश होता है। पूरक-प्राणायाम से शरीर पुष्ट होता है और व्याधि नष्ट होती है।

कुभक-प्राणायाम करने से हृदय-कमल तत्काल विकसित हो जाता है, अन्दर की ग्रन्थि का भेदन होता है, बल की वृद्धि होती है और वायु की स्थिरता होती है।

प्रत्याहार करने से शरीर मे वल और तेज बढता है। शान्त नामक प्राणायाम से दोपो—वात, पित्त, कफ या सन्निपात की शान्ति होती है। उत्तर और अधर नामक प्राणायाम कुम्भक को स्थिर बनाते है।

प्राणमपानसमानावुदान व्यानमेव च ।
प्राणायामैर्जयेत् स्थान-वर्ण-क्रियार्थ-बीजवित्॥ १३ ॥

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान, यह पाँच प्रकार का पवन है। कौन पवन शरीर के किस प्रदेश मे रहता है ? किसका कैसा वर्ण---रंग है ? कैसी क्रिया है ? कैसा अर्थ है ? और कैसा बीज है ? इन वातो को जान कर योगी प्राणायाम के द्वारा इन पर विजय प्राप्त करे ।

टिप्पण---उक्त पाँच प्रकार के पवन---वायु का सक्षेप मे निम्न स्वरूप है---

१. प्राण---उच्छ्वास-निश्वास का व्यापार 'प्राण-वायु' है ।
२ अपान---मल, मूत्र और गर्भादि को वाहर लाने वाला वायु ।
३ समान---भोजन-पानी से वने रस को शरीर के भिन्न-भिन्न प्रदेशो मे पहुँचाने वाला वायु ।
४ उदान---रस आदि को ऊपर ले जाने वाला वायु ।
५ व्यान---सम्पूर्ण शरीर मे व्याप्त होकर रहा हुआ वायु ।

१ प्राण-वायु

प्राणो नासाग्रहृन्नाभिपादागुष्ठान्तगो हरित् ।
गमागम-प्रयोगेण तज्जयो धारणेन च ॥ १४ ॥

प्राण-वायु नासिका के अग्रभाग मे, हृदय मे, नाभि मे और पैर के अगूष्ठ पर्यन्त फैलने वाला है । उसका वर्ण हरा है । गमागम के प्रयोग और धारण के द्वारा उसे जीतना चाहिए ।

टिप्पण---प्रस्तुत मे 'गम' का अर्थ 'रेचक-क्रिया', 'आगम' का अर्थ 'पूरकक्रिया' और धारणा का अर्थ 'कुम्भक-क्रिया' है। इन तीनो क्रियाओ से एक प्राणायाम होता है । जिस वायु का जो स्थान है, उस स्थान पर रेचक, पूरक और कुम्भक करने से उस वायु पर विजय प्राप्त की जा सकती है ।

तेरहवें श्लोक मे बतलाए हुए वायु के स्थान आदि पाँच-पाँच भेदो मे से यहाँ प्राण-वायु के स्थान, वर्ण और क्रिया—प्रयोग का प्रतिपादन किया गया है। अर्थ और वीज का वर्णन वाद मे किया जाएगा।

**प्रयोग और धारण**

नासादि-स्थान-योगेन पूरणाद्रेचनान्मुहु ।
गमागमप्रयोग स्याद्धारण कुम्भनात् पुन ॥ १५ ॥

नासिका आदि स्थानो मे वार-वार वायु का पूरण और रेचन करने से गमागम प्रयोग होता है और उसका अवरोध—कुम्भक करने से धारण प्रयोग होता है।

**२ अपान-वायु**

अपान कृष्णरुग्मन्यापृष्ठपृष्ठान्तपार्ष्णिग ।
जेय स्वस्थान-योगेन रेचनात्पूरणान्मुहु ॥ १६ ॥

अपान-वायु का रग काला है। गर्दन के पीछे की नाडी, पीठ, गुदा और एडी मे उसका स्थान है। इन स्थानो मे वार-वार रेचक, पूरक करके इसे जीतना चाहिए।

**३ समान-वायु**

शुक्ल समानो हृन्नाभिसर्वसन्धिष्ववस्थित ।
जेय स्वस्थान - योगेनासकृद्रेचनपूरणात् ॥ १७ ॥

समान-वायु का वर्ण श्वेत है। हृदय, नाभि और सब सधियो मे उसका निवास स्थान है। इन स्थानो मे वार-वार रेचक और पूरक करके उसे जीतना चाहिए।

**४ उदान-वायु**

रक्तो हृत्कण्ठ-तालु-भ्रू-मध्यमूर्धनि च सस्थितः ।
उदानो वश्यता नेयो गत्यागति - नियोगत. ॥ १८ ॥

उदान वायु का वर्ण लाल है। हृदय, कठ, तालु, भ्रकुटि का मध्य-भाग और मस्तक उसका स्थान है। उसे भी गमागम के प्रयोग से वश मे करना—जीतना चाहिए।

**प्रयोग की विधि**

नासाकर्षण-योगेन स्थापयेत्तं हृदादिषु।
वलादुत्कृष्यमाण च रुध्वा रुध्वा वश नयेत्॥ १९॥

नासिका के द्वारा बाहर से वायु को खीच कर उसे हृदय मे स्थापित करना चाहिए। यदि वह वायु जवरदस्ती दूसरे स्थान मे जाता हो, तो उसे बार-बार निरोध करके वश मे करना चाहिए।

**टिप्पण**—वायु को जीतने का यह उपाय प्रत्येक वायु के लिए लागू होता है। वायु के जो-जो निवास स्थान बतलाए हैं, वहाँ-वहाँ पहले पूरक-प्राणायाम करना चाहिए अर्थात् नासिका द्वारा बाहर के वायु को अन्दर खीचकर उसे उस-उस स्थान पर रोकना चाहिए। ऐसा करने से खीचने और छोडने की दोनो क्रियाएँ बन्द हो जाएँगी और वह वायु उस स्थान पर नियत समय तक स्थिर रहेगा। यदि कभी वह वायु जोर मार कर दूसरे स्थान पर चला जाए, तो उसे बार-बार रोक कर और कुछ समय तक कुम्भक-प्राणायाम करके नासिका के एक छिद्र द्वारा उसे धीरे-धीरे बाहर निकाल देना चाहिए। फिर उसी छिद्र द्वारा उसे भीतर खीच कर कुम्भक-प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा करने से वायु वशीभूत हो जाता है।

## ५. व्यान-वायु

सर्वत्वग्वृत्तिको व्यान. शक्रकार्मुकसन्निभ॰।
जेतव्यः कुम्भकाभ्यासात् सकोचप्रसृतिक्रमात्॥ २०॥

व्यान-वायु का इन्द्रधनुष-सा वर्ण है। त्वचा के सर्व भागो मे उसका निवास है। सकोच और प्रसार अर्थात् पूरक और रेचक-

प्राणायाम के क्रम से तथा कुम्भक-प्राणायाम के अभ्यास से उसे जीतना चाहिए।

### पाँचो वायु के वीज

प्राणापानसमानोदान-व्यानेष्वेषु च वायुषु ।
यें पें वें रौं लौं वीजानि ध्यातव्यानि यथाक्रमम् ।। २१ ।।

प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान वायु को वश मे करते समय या इन्हे जीतने के लिए प्राणायाम करते समय क्रमश 'यें' आदि वीजाक्षरो का ध्यान करना चाहिए। इसका तात्पर्य यह है कि प्राण वायु को जीतते समय 'यें' का, अपान को जीतते समय 'पें' का, समान को जीतते समय 'वें' का, उदान विजय के समय 'रौं' का और व्यान-विजय के समय 'लौं' बीजाक्षर का ध्यान करना चाहिए।

### वायु-विजय से लाभ

प्राबल्य जाठरस्याग्नेर्दीर्घश्वासमरुज्जयौ ।
लाघव च शरीरस्य प्राणस्य विजये भवेत् ।। २२ ।।

रोहण क्षतभगादेरुदराग्ने प्रदीपनम् ।
वर्चोऽल्पत्व व्याधिघात समानापानयोर्जये ।। २३ ।।

उत्क्रान्तिर्वारि-पङ्काद्यैश्चावाधोदान-निर्जये ।
जये व्यानस्य शीतोष्णासग कान्तिररोगिता ।। २४ ।।

प्राण-वायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है, अविच्छिन्न रूप से श्वास की प्रवृत्ति होती है और शेष वायु भी वश मे हो जाती हैं, क्योकि प्राण-वायु पर सभी वायु आश्रित हैं। इससे शरीर मे लघुता आ जाती है।

यदि शरीर मे घाव हो जाए तो समान-वायु और अपान-वायु को जीतने से घाव जल्दी भर जाता है, टूटी हुई हड्डी जुड जाती है, जठराग्नि

तेज हो जाती है, मल-मूत्र कम हो जाता है और व्याधियों का नाश हो जाता है।

उदान-वायु पर विजय प्राप्त करने से मनुष्य मे ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है कि वह चाहे तो मृत्यु के समय अर्चिमार्ग दशम द्वार से प्राण त्याग कर सकता है, पानी और कीचड से शरीर को बाधा नही होती और कण्टक आदि का कष्ट भी नही होता। व्यान-वायु के विजय से शरीर पर सर्दी-गर्मी का असर नही होता, शरीर का तेज बढता है और नीरोगता प्राप्त होती है।

यत्र-यत्र भवेत्स्थाने जन्तो रोग. प्रपीडकः।
तच्छान्त्यै धारयेत्तत्र प्राणादि मरुत सदा ॥ २५ ॥

प्राणी को पीडा उत्पन्न करने वाला रोग जिस-जिस स्थान पर उत्पन्न हुआ हो, उसकी शान्ति के लिए उसी-उसी स्थान पर प्राणादि वायु को रोक रखना चाहिए।

**टिप्पण**—शरीर के प्रत्येक भाग मे, पाँच प्रकार की वायु मे से कोई न कोई वायु अवश्य रहती है। जब शरीर के किसी भाग मे रोग की उत्पत्ति हो, तो पहले पूरक-प्राणायाम करके उस भाग मे कुम्भक-प्राणायाम करना चाहिए। ऐसा करने से रोग का नाश हो जाता है।

एव प्राणादि विजये कृताभ्यास. प्रतिक्षणम्।
धारणादिकमभ्यस्येन्मनःस्थैर्यकृते सदा ॥ २६ ॥

इस प्रकार प्राणादि वायु को जीतने का अभ्यास करके, मन की स्थिरता के लिए निरन्तर धारण, ध्यान एव समाधि का अभ्यास करना चाहिए।

## धारण की विधि

उक्तासनसमासीनो रेचयित्वाऽनिलं शनै.।
आपादाङ्गुष्ठपर्यन्तं वाममार्गेण पूरयेत् ॥ २७ ॥

पादागुष्ठे मन पूर्व रुध्वा पादतले ततः ।
पार्ष्णौ गुल्फे च जघाया जानुन्यूरौ गुदे तत ॥ २८ ॥
लिगे नाभौ च तुन्दे च हृत्कण्ठरसनेऽपि च ।
तालुनासाग्रनेत्रे च भ्रुवोर्भाले शिरस्यथ ॥ २९ ॥
एव रश्मि-क्रमेणैव धारयन्मरुता सह ।
स्थानात्स्थानान्तरं नीत्वा यावद् ब्रह्मपुर नयेत् ॥ ३० ॥
तत क्रमेण तेनैव पादागुष्ठान्तमानयेत् ।
नाभिपद्मान्तर नीत्वा ततो वायु विरेचयेत् ॥ ३१ ॥

पूर्वोक्त आसनो मे से किसी एक आसन से स्थित होकर, धीरे-धीरे पवन का रेचन करके—बाहर निकाल कर उसे नासिका के बाएँ छिद्र से अन्दर खीचे और पैर के अगूठे तक ले जाए और मन का भी पैर के अगुष्ठ मे निरोध करे। फिर अनुक्रम से वायु के साथ मन को पैर के तल भाग मे, एडी मे, गुल्फ मे, जाघ मे, जानु मे, ऊरु मे, गुदा मे, लिग मे, नाभि मे, पेट मे, हृदय मे, कठ मे, जीभ मे, तालु मे, नासिका के अग्रभाग मे, नेत्र मे, भ्रकुटि मे, कपाल मे और मस्तक मे, धारण करे और अन्त मे उन्हे ब्रह्म-रन्ध्र पर्यन्त ले जाना चाहिए। तदनन्तर पूर्वोक्त क्रम से पीछे लौटाते हुए अन्त मे मन सहित पवन को पैर के अगूठे मे ले आना चाहिए और उन्हे वहाँ से नाभि-कमल मे ले जाकर वायु का रेचक करना चाहिए।

**धारणा का फल**

पादागुष्ठादौ जघाया जानूरुगुदमेदने ।
धारित क्रमशो वायु शीघ्रगत्यै बलाय च ॥ ३२ ॥
नाभौ ज्वरादिघाताय जठरे काय-शुद्धये ।
ज्ञानाय हृदये कूर्मनाड्या रोग-जराच्छिदे ॥ ३३ ॥
कण्ठे क्षुत्तर्षनाशाय जिह्वाग्रे रससविदे ।
गन्धज्ञानाय नासाग्रे रूपज्ञानाय चक्षुषो ॥ ३४ ॥

भाले तद्रोगनाशाय, क्रोधस्योपशमाय च।
ब्रह्म-रन्ध्रे च सिद्धाना साक्षाद्दर्शन-हेतवे ॥ ३५ ॥

पैर के अगूठे मे, एड़ी मे और गुल्फ—टकने मे, जघा मे, घुटने मे, ऊरु मे, गुदा मे और लिंग मे—अनुक्रम से वायु को धारण कर रखने से शीघ्र गति और बल की प्राप्ति होती है।

नाभि मे वायु को धारण करने से ज्वर दूर हो जाता है, जठर मे धारण करने से मलशुद्धि होने से शरीर शुद्ध होता है, हृदय मे धारण करने से ज्ञान की वृद्धि होती है तथा कूर्म-नाडी मे धारण करने से रोग और वृद्धावस्था का नाश होता है—वृद्धावस्था मे भी शरीर मे जवानो जैसी स्फूर्ति बनी रहती है।

कठ मे वायु को धारण करने से भूख-प्यास नही लगती और यदि क्षुधा-पिपासा लगी हो तो शान्त जाती है। जीभ के अग्रभाग पर वायु का निरोध करने से रस-ज्ञान की वृद्धि होती है। नासिका के अग्रभाग पर रोकने से गध का ज्ञान होता है। चक्षु मे धारण करने से रूप-ज्ञान की वृद्धि होती है।

कपाल-मस्तिष्क मे वायु को धारण करने से कपाल-मस्तिष्क सम्बन्धी रोगों का नाश होता है और क्रोध का उपशम होता है। ब्रह्मरन्ध्र मे वायु को रोकने से साक्षात् सिद्धो के दर्शन होते हैं।

**पवन की चेष्टा**

अभ्यस्य धारणामेव सिद्धीनां कारण परम्।
चेष्टितं पवमानस्य जानीयाद् गतसशयः ॥ ३६ ॥

धारणा सिद्धियो का परम कारण है। उसका इस प्रकार अभ्यास करके फिर निश्शंक होकर पवन की चेष्टा को जानने का प्रयत्न करे।

नाभेनिष्क्रामतश्चारं हृन्मध्ये नयतो गतिम्।
तिष्ठतो द्वादशान्ते तु विन्द्यात्स्थान नभस्वतः ॥ ३७ ॥

### मण्डलों का निर्देश

मण्डलानि च चत्वारि नासिका-विवरे विदु. ।
भौम-वारुण-वायव्याग्नेयाख्यानि यथोत्तरम् ॥ ४२ ॥

नासिका के विवर मे चार मडल होते हैं—१. भौम—पार्थिव मडल, २. वारुण मडल, ३ वायव्य मडल, और ४ आग्नेय मडल ।

### १. भौम-मंडल

पृथिवी-बीज-सम्पूर्ण, वज्र-लाञ्छन-संयुतम् ।
चतुरस्त्रं द्रुतस्वर्णप्रभं स्याद् भौम-मण्डलम् ॥ ४३ ॥

पृथ्वी के बीज से परिपूर्ण, वज्र के चिह्न से युक्त, चौरस और तपाये हुए सोने के वर्ण—रग वाला, 'पार्थिव मडल' है ।

टिप्पण—पार्थिव-बीज 'अ' अक्षर है । कोई-कोई आचार्य 'ल' को पार्थिव-बीज मानते है । आचार्य हेमचन्द्र ने 'क्ष' को पार्थिव-बीज माना है ।

### २. वारुण-मंडल

स्यादर्धचन्द्रसंस्थानं वारुणाक्षरलाञ्छितम् ।
चन्द्राभममृतस्यन्दसान्द्रं वारुण-मण्डलम् ॥ ४४ ॥

वारुण-मण्डल—अष्टमी के चन्द्र के समान आकार वाला, वारुण अक्षर 'व' के चिह्न से युक्त, चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल और अमृत के झरने से व्याप्त है ।

### ३. वायव्य-मंडल

स्निग्धाञ्जनघनच्छायं सुवृत्त विन्दुसंकुलम् ।
दुर्लक्ष्यं पवनाक्रान्तं चञ्चलं वायु-मण्डलम् ॥ ४५ ॥

वायव्य-मण्डल—स्निग्ध अंजन और मेघ के समान श्याम कान्ति वाला, गोलाकार, मध्य मे विन्दु के चिह्न से व्याप्त, मुश्किल से मालूम

होने वाला, चारो ओर पवन से वेष्टित—पवन-वीज 'य' अक्षर से घिरा हुआ और चचल है।

४. आग्नेय-मंडल

ऊर्ध्वज्वालाञ्चित भीम त्रिकोण स्वस्तिकान्वितम्।
स्फुलिंगपिंग तद्वीज ज्ञेयमाग्नेय-मण्डलम् ॥४६॥

ऊपर की ओर फैलती हुई ज्वालाओ से युक्त, भय उत्पन्न करने वाला, त्रिकोण, स्वस्तिक के चिह्न से युक्त, अग्नि के स्फुलिंग के समान वर्ण वाला और अग्नि-वीज रेफ ' ' ' से युक्त आग्नेय-मडल कहा गया है।

अभ्यासेन स्वसवेद्य स्यान्मण्डल-चतुष्टयम्।
क्रमेण सचरन्नत्र वायुर्ज्ञेयश्चतुर्विध. ॥ ४७ ॥

पूर्वोक्त चारो मडल स्वय जाने जा सकते हैं, परन्तु उन्हे जानने के लिए अभ्यास करना चाहिए। यकायक उनका ज्ञान नही हो सकता। इन चार मडलो मे सचार करने वाली वायु को भी चार प्रकार का जानना चाहिए।

## चार प्रकार का वायु

१ पुरन्दर-वायु

नासिका-रन्ध्रमापूर्य पीतवर्ण. शनैर्वहन्।
कवोष्णोऽष्टागुल स्वच्छो भवेद्वायु. पुरन्दर ॥ ४८ ॥

पुरन्दर वायु—पृथ्वी तत्त्व का वर्ण पीला है, स्पर्श कुछ-कुछ उष्ण है और वह स्वच्छ होता है। वह नासिका के छिद्र को पूर कर धीरे-धीरे आठ अगुल बाहर तक वहता है।

२ वरुण-वायु

धवल शीतलोऽधस्तात्त्वरितत्वरित वहन्।
द्वादशागुलमानश्च वायुर्वरुण उच्यते ॥ ४९ ॥

जिसका श्वेत वर्ण है, शीतल स्पर्श है और जो नीचे की ओर बारह अगुल तक शीघ्रता से बहने वाला है, उसे 'वरुण वायु'--जल-तत्त्व कहते है।

### ३ पवन-वायु

उष्ण शीतश्च कृष्णश्च वहन्तिर्यगनारतम् ।
षडंगुल-प्रमाणश्च वायु. पवन-सज्ञितः ॥ ५० ॥

पवन—वायु-तत्त्व कही उष्ण और कही शीत होता है। उसका वर्ण काला है। वह निरन्तर छह अगुल प्रमाण बहता रहता है।

### ४. दहन-वायु

बालादित्य - सम - ज्योतिरत्युष्णश्चतुरंगुल. ।
आवर्त्तवान् वहन्नूर्ध्वं पवनः दहन स्मृत. ॥ ५१ ॥

दहन-वायु—अग्नि-तत्त्व उदीयमान सूर्य के समान लाल वर्ण वाला है, अति उष्ण स्पर्श वाला है और ववडर की तरह चार अगुल ऊँचा बहता है।

इन्द्रं स्तम्भादिकार्येषु वरुण शस्तकर्मसु ।
वायु मलिन-लोलेषु वश्यादौ वह्निमादिशेत् ॥ ५२ ॥

जब पुरन्दर-वायु बहता हो तब स्तभन आदि कार्य करने चाहिए। वरुण-वायु के बहते समय प्रशस्त कार्य, पवन-वायु के बहते समय मलिन और चपल कार्य और दहन-वायु के वहते समय वशीकरण आदि कार्य करने चाहिए।

### शुभाशुभ निर्णय

छत्र - चामर-हस्त्यश्वाराम[1]राज्यादिसम्पदम् ।
मनीषितं फल वायुः समाचष्टे पुरन्दर ॥ ५३ ॥
रामाराज्यादिसम्पूर्णैः पुत्र-स्वजन-बन्धुभि. ।
सारेण वस्तुना चापि योजयेद् वरुण क्षणात् ॥ ५४ ॥

---

१ श्वरामा ।

कृषिसेवादिक सर्वमपि सिद्ध विनश्यति ।
मृत्यु-भी कलहो वैर त्रासश्च पवने भवेत् ॥ ५५ ॥
भय शोक रुज दु ख विघ्नव्यूह-परम्पराम् ।
ससूचयेद्विनाशश्च, दहनो दहनात्मक ॥ ५६ ॥

जिस समय पुरन्दर-वायु बह रहा हो उस समय छत्र, चामर, हाथी, अश्व, स्त्री एव राज्य आदि सम्पत्ति के विषय मे कोई प्रश्न करे या इनके निमित्त कोई कार्य प्रारम्भ करे, तो इच्छित अर्थ की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न करते समय या कार्य आरम्भ करते समय यदि वरुण-वायु बहता हो, तो उससे राज्यादि से परिपूर्ण पुत्र, स्वजन, बन्धु और उत्तम वस्तु की प्राप्ति होती है ।

प्रश्न या कार्यारभ के समय पवन नामक वायु बहता हो, तो खेती और सेवा—नौकरी सम्बन्धी सिद्ध हुआ कार्य भी नष्ट हो जाता है, बिगड जाता है और मृत्यु का भय, क्लेश, वैर तथा त्रास उत्पन्न होता है ।

प्रश्न या कार्यारभ के समय दहन स्वभाव वाला दहन-वायु बहता हो, तो वह भय, शोक, रोग, दु ख और विघ्नो के समूह की परम्परा एव धन-धान्य के विनाश का ससूचक है ।

शशाङ्क-रवि-मार्गेण वायवा मण्डलेष्वमी ।
विशन्त शुभदा सर्वे निष्क्रामन्तोऽन्यथा स्मृता ॥ ५७ ॥

यह पुरन्दर आदि चारो प्रकार के वायु चन्द्रमार्ग या सूर्यमार्ग से—बायी और दाहिनी नाडी मे होकर प्रवेश करते हो, तो शुभ फलदायक होते हैं और निकल रहे हो, तो अशुभ फलदायक होते है ।

## शुभाशुभ होने का कारण

प्रवेश-समये वायुर्जीव मृत्युस्तु निर्गमे ।
उच्यते ज्ञानिभिस्तादृक् फलमप्यनयोस्तत ॥ ५८ ॥

वायु जब मडल मे प्रवेश करता है, तब उसे 'जीव' कहते हैं और जब वह मडल मे से बाहर निकलता है, तब उसे 'मृत्यु' कहते हैं। इसी कारण ज्ञानियो ने प्रवेश करते समय का फल 'शुभ' और निकलते समय के फल को 'अशुभ' कहा है।

**टिप्पण**—इसका तात्पर्य यह है कि जिस समय पूरक के रूप मे वायु का भीतर प्रवेश हो रहा हो, उस समय कोई कार्य प्रारम्भ करे अथवा किसी कार्य के सम्बन्ध मे प्रश्न करे, तो वह कार्य सिद्ध होता है, क्योकि वह वायु 'जीव' है। इसके विपरीत, जब वायु रेचक के रूप मे बाहर निकल रहा हो, तब कोई कार्य प्रारम्भ किया जाए या किसी कार्य की सिद्धि-असिद्धि के विषय मे प्रश्न किया जाए, तो वह कार्य सिद्ध नही होगा, क्योकि वह वायु 'मृत्यु' है।

पथेन्दोरिन्द्र-वरुणौ विशन्तौ सर्वसिद्धिदौ।
रविमार्गेण निर्यान्तौ प्रविशन्तौ च मध्यमौ ॥ ५९ ॥
दक्षिणेन विनिर्यान्तौ विनाशायानिलानलौ।
नि सरन्तौ विशन्तौ च मध्यमावितरेण तु ॥ ६० ॥

चन्द्रमार्ग से अर्थात् बायी नासिका से प्रवेश करता हुआ पुरन्दर और वरुण वायु समस्त सिद्धियाँ प्रदान करता है तथा सूर्य-मार्ग से बाहर निकलते हुए एव प्रवेश करते हुए दोनो वायु मध्यम फलदायक होते है।

**टिप्पण**—बायी ओर का नासिकारन्ध्र 'चन्द्र-नाडी' और 'इडा-नाडी' कहलाता है तथा दाहिनी ओर का 'सूर्य-नाडी' और 'पिगला-नाडी' कहलाता है। जिस समय चन्द्र-नाडी मे पुरन्दर या वरुण-वायु प्रवेश करता है, यदि उस समय कोई कार्य आरम्भ किया जाए या किसी कार्य के विषय मे प्रश्न किया जाए, तो वह कार्य सिद्ध होता है। जब यही दोनो वायु सूर्य-नाडी से प्रवेश कर रहे या निकल रहे हो, तब कार्य प्रारम्भ किया जाए या कार्य सम्बन्धी प्रश्न किया जाए, तो उस व्यक्ति को मध्यम फल की प्राप्ति होती है।

इडा च पिंगला चैव सुषुम्णा चेति नाडिका ।
शशि-सूर्य-शिव-स्थान वाम-दक्षिण-मध्यगा ॥ ६१ ॥
पीयूषमिव वर्षन्ती सर्वगात्रेषु सर्वदा ।
वामाऽमृतमयी नाडी सम्मताऽभीष्टसूचिका ॥ ६२ ॥
वहन्त्यनिष्ट-शसित्री सहर्त्री दक्षिणा पुन ।
सुषुम्णा तु भवेत्सिद्धि-निर्वाण-फलकारणम् ॥ ६३ ॥

बायी तरफ की नाडी इडा कहलाती है और उसमे चन्द्र का स्थान है । दाहिनी ओर की नाडी—पिंगला मे सूर्य का स्थान है और दोनो के मध्य मे स्थित नाडी मे—जो सुषुम्णा कहलाती है, शिवस्थान—मोक्ष-स्थान है ।

शरीर के समस्त भागो मे सदा अमृत-वर्षा करने वाली अमृतमय बायी नाडी समस्त मनोरथो को पूर्ण करने वाली मानी गई है ।

वहती हुई दाहिनी नाडी अनिष्ट को सूचित करने वाली और कार्य का विघात करने वाली होती है ।

सुषुम्णा नाडी अणिमा आदि आठ महासिद्धियो का तथा मोक्ष रूप फल का कारण होती है ।

टिप्पण—सुषुम्णा नाडी मे मोक्ष का स्थान है और अणिमा आदि सिद्धियो का कारण है, इस विधान का आशय यह है कि इस नाडी मे ध्यान करने से लम्बे समय तक ध्यान-सन्तति चालू रहती है और इस कारण थोडे समय मे भी अधिक कर्मो का क्षय किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, सुषुम्णा नाडी मे वायु की गति बहुत मद होती है, अत मन सरलता से स्थिर हो जाता है । मन एव पवन की स्थिरता होने पर सयम की साधना भी सरल हो जाती है। धारणा, ध्यान और समाधि को एक ही स्थल पर करना सयम है और यह सयम सिद्धियो का कारण है । इसी अभिप्राय से सुषुम्णा नाडी को मोक्ष एव सिद्धियो का कारण बतलाया गया है ।

वामैवाभ्युदयादीष्ट-शस्तकार्येषु सम्मता ।
दक्षिणा तु रताहार-युद्धादौ दीप्त-कर्मणि ॥ ६४ ॥

अभ्युदय आदि इष्ट और प्रशस्त कार्यों मे बायी नाडी अच्छी मानी गई है और मैथुन, आहार तथा युद्ध आदि दीप्त कार्यो मे दाहिनी नाडी उत्तम मानी गई है ।

**टिप्पण**—यात्रा, दान, विवाह, नवीन वस्त्राभूषण धारण करते समय, ग्राम-नगर एवं घर मे प्रवेश करते समय, स्वजन-मिलन, शान्ति-कर्म, पौष्टिक कर्म, योगाभ्यास, राज-दर्शन, चिकित्सा, मैत्री, वीज-वपन, इत्यादि कार्यो के प्रारम्भ मे बायी नाडी शुभ होती है और भोजन, विग्रह, विषय-प्रसग, युद्ध, मत्र-साधन, व्यापार आदि कार्यों के प्रारम्भ मे दाहिनी नाडी शुभ मानी गई है।

**पक्ष और नाड़ी**

वामा शस्तोदये पक्षे सिते कृष्णे तु दक्षिणा ।
त्रीणि त्रीणि दिनानीन्दु-सूर्ययोरुदय शुभ ॥ ६५ ॥

शुक्ल पक्ष मे सूर्योदय के समय बायी नाडी का उदय शुभ माना गया है और कृष्ण पक्ष मे सूर्योदय के समय दाहिनी नाडी का उदय शुभ माना गया है । यह बायी और दाहिनी नाडी का उदय तीन-तीन दिन तक शुभ माना जाता है ।

शशाकेनोदयो वायो सूर्येणास्त शुभावहम् ।
उदये रविणा त्वस्य शशिनास्त शिवं मतम् ॥ ६६ ॥

सूर्योदय के समय वायु का उदय चन्द्र स्वर मे हुआ हो, तो उस दिन सूर्य स्वर मे अस्त होना शुभ और कल्याणकारी है । यदि सूर्य स्वर मे उदय और चन्द्र स्वर मे अस्त हो तब भी शुभ होता है ।

**नाड़ी-उदय का स्पष्टीकरण**

सितपक्षे दिनारम्भे यत्नत प्रतिपद्दिने ।
वायोर्वीक्षेत सञ्चार प्रशस्तमितरं तथा ॥ ६७ ॥

उदेति पवन पूर्वं शशिन्येष त्र्यह तत ।
सक्रामति त्र्यह सूर्ये शशिन्येव पुनस्त्र्यहम् ॥ ६८ ॥

वहेद्यावद् बृहत्पर्व क्रमेणानेन मारुत ।
कृष्ण-पक्षे पुन सूर्योदय-पूर्वमय क्रम ॥ ६९ ॥

शुक्ल पक्ष मे प्रतिपदा के दिन, सूर्योदय के प्रारम्भ के समय यत्न-पूर्वक प्रशस्त या अप्रशस्त वायु के सचार को देखना चाहिए । प्रथम तीन दिन तक चन्द्र-नाडी मे पवन का वहना प्रारम्भ होगा अर्थात् प्रतिपदा, द्वितीया और तृतीया के दिन सूर्योदय के समय चन्द्र-नाडी मे पवन वहेगा । तत्पश्चात् तीन दिन तक अर्थात् चतुर्थी, पचमी और षष्ठी के दिन सूर्योदय के समय सूर्य-नाडी मे वहेगा । तदनन्तर फिर तीन दिन तक चन्द्र-नाडी मे और फिर तीन दिन तक सूर्य-नाडी मे, इस क्रम से पूर्णिमा तक पवन वहता रहेगा । कृष्ण पक्ष मे पहले तीन दिन तक सूर्योदय के समय सूर्य-नाडी मे, फिर तीन दिन चन्द्र-नाडी मे, इसी क्रम से तीन-तीन दिन के क्रम से अमावस्या तक वहेगा ।

**टिप्पण**—स्मरण रखना चाहिए कि यह नियम सारे दिन के लिए नही, सिर्फ सूर्योदय के समय के लिए है । उसके पश्चात् एक-एक घटे मे चन्द्र-नाडी और सूर्य-नाडी बदलती रहती है । इस नियम मे उलट-फेर होना अशुभ फल का सूचक है ।

**क्रम-विपर्यय का फल**

त्रीन् पक्षानन्यथात्वेऽस्य मासषट्केन पञ्चता ।
पक्ष-द्वय विपर्यासेऽभीष्टबन्धु-विपद् भवेत् ॥ ७० ॥

भवेत्तु दारुणो व्याधिरेक पक्ष त्रिपर्यये ।
द्वि-त्र्याद्यहर्विपर्यासे कलहादिकमुद्दिशेत् ॥ ७१ ॥

पहले वायु के बहने का जो क्रम कहा गया है, यदि उसमे लगातार तीन पक्ष तक विपर्यास हो, अर्थात् चन्द्र-नाडी के बदले सूर्य-नाडी मे

और सूर्य-नाडी के बदले चन्द्र-नाडी मे पवन वहे, तो छह महीने मे मृत्यु होती है। यदि दो पक्ष तक विपर्यास होता रहे, तो प्रिय बन्धु पर विपत्ति आती है। एक पक्ष तक विपरीत पवन बहे, तो भयकर व्याधि उत्पन्न होती है और यदि दो-तीन दिन तक विपरीत पवन बहे, तो कलह आदि अनिष्ट फल की प्राप्ति होती है।

एक द्वि-त्रीण्यहोरात्राण्यर्क एव मरुद्वहन् ।
वर्षैस्त्रिभिर्द्वाभ्यामेकेनान्तायेन्दौ रुजे पुन ॥ ७२ ॥

यदि किसी व्यक्ति के एक अहो-रात्रि अर्थात् दिन रात सूर्यनाडी मे ही पवन चलता रहे, तो उसकी तीन वर्ष मे मृत्यु हो जाती है। इसी प्रकार दो अहो-रात्रि सूर्यनाडी मे पवन चले तो दो वर्ष मे और तीन अहो-रात्रि चलता रहे तो एक वर्ष मे मृत्यु हो जाती है।

मासमेक रवावेव वहन् वायुर्विनिर्दिशेत् ।
अहो-रात्रावधि मृत्यु शशाके तु धन-क्षयम् ॥ ७३ ॥

यदि किसी व्यक्ति के एक मास पर्यन्त लगातार सूर्य-नाड़ी मे ही पवन चलता रहे, तो उसकी एक अहो-रात्रि मे ही मृत्यु हो जाती है। यदि एक मास तक चन्द्र-नाडी मे ही पवन चलता रहे, तो उमके धन का क्षय होता है।

वायुस्त्रिमार्गग शसेन्मध्याह्नात्परतो मृतिम् ।
दशाह तु द्विमार्गस्थ सक्रान्तौ मरण दिशेत् ॥ ७४ ॥

इडा, पिंगला और सुषुम्णा, इन तीनो नाडियो मे साथ-साथ पवन चले तो मध्याह्न—दो प्रहर के पश्चात् मरण को सूचित करता है। इडा और पिंगला, दोनो नाडियो मे साथ-साथ वायु वहे, तो दस दिन मे, और अकेली सुषुम्णा मे लम्बे समय तक वायु वहे तो शीघ्र मरण होगा, ऐसा कहना चाहिए।

दशाह तु वहन्निन्दावेवोद्वेगरुजे मरुत् ।
इतश्चेतश्च यामार्धं वहन् लाभार्चनादिकृत् ॥ ७५ ॥

लगातार दस दिन तक चन्द्र-नाडी मे ही पवन चलता रहे तो उद्वेग और रोग उत्पन्न होता है। यदि आधे-आधे प्रहर मे वायु बदलता रहे अर्थात् आधा प्रहर सूर्य-नाडी मे और आधा प्रहर चन्द्र-नाडी मे, इस क्रम से चले तो लाभ और पूजा-प्रतिष्ठा आदि शुभ फल की प्राप्ति होती है।

विषुवत्समयप्राप्तौ स्पन्देते यस्य चक्षुषी ।
अहोरात्रेण जानीयात् तस्य नाशमसशयम् ॥ ७६ ॥

जब दिन और रात समान—बारह-बारह घंटे के होते हैं, तब वह विषुवत् काल कहलाता है। विषुवत् काल मे जिसकी आँखे फडकती हैं, उसकी निश्चय ही मृत्यु होती है।

पञ्चातिक्रम्य सक्रान्तीर्मुखे वायुर्वहन् दिशेत् ।
मित्रार्थहानी निस्तेजोऽनर्थान् सर्वान्मृतिं विना ॥ ७७ ॥

एक नाडी मे से दूसरी नाडी मे पवन का जाना 'सक्रान्ति' कहलाता है। यदि दिन की पांच सक्रान्तियाँ बीत जाने पर वायु मुख से बहे तो उससे मित्र हानि, धन हानि और मृत्यु को छोडकर सभी अनर्थ होते हैं।

सक्रान्ती समतिक्रम्य त्रयोदश समीरण ।
प्रवहन् वामनासाया रोगोद्वेगादि सूचयेत् ॥ ७८ ॥

यदि तेरह सक्रान्तियाँ व्यतीत हो जाने पर वायु वाम नासिका से बहे, तो वह रोग और उद्वेग की उत्पत्ति को सूचित करता है।

मार्गशीर्षस्य सक्रान्ति-कालादारभ्य मारुत ।
वहन् पञ्चाहमाचष्टे वत्सरेऽष्टादशे मृतिम् ॥ ७९ ॥

मार्गशीर्ष मास के प्रथम दिन से अर्थात् शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर लगातार पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो वह उस दिन से अठारहवें वर्ष मे मृत्यु का होना सूचित करता है।

शरत्संक्रान्तिकालाच्च पञ्चाह मारुतो वहन् ।
तत पञ्च-दशाब्दानामन्ते मरणमादिशेत् ॥ ८० ॥

यदि शरद् ऋतु की सक्रान्ति से अर्थात् आसौज शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो उसकी पन्द्रहवे वर्ष मे मृत्यु होनी चाहिए ।

श्रावणादेः समारभ्य पञ्चाहमनिलो वहन् ।
अन्ते द्वादश-वर्षाणा मरणं परिसूचयेत् ॥ ८१ ॥

वहन् ज्येष्ठादिदिवसाद्दशाहानि समीरण, ।
दिशेन्नवम-वर्षस्य पर्यन्ते मरणं ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

आरम्य चैत्राद्यदिनात् पञ्चाह पवनो वहन् ।
पर्यन्ते वर्षषट्कस्य मृत्यु नियतमादिशेत् ॥ ८३ ॥

आरम्य माघमासादे· पञ्चाहानि मरुद्वहन् ।
सवत्सरत्रयस्यान्ते संसूचयति पञ्चताम् ॥ ८४ ॥

इसी प्रकार श्रावण मास[1] के प्रारभ से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो वह बारहवे वर्ष मे मृत्यु का सूचक है ।

ज्येष्ठ महीने के प्रथम दिन से दस दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो नौ वर्ष के अन्त मे निश्चय ही उसका मरण होगा ।

चैत्र मास के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो निश्चय से छह वर्ष के अन्त मे मृत्यु होगी ।

माघ महीने के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन का चलना तीन वर्ष के अन्त मे मरण होने का सूचक है ।

सर्वत्र द्वि-त्रि-चतुरो वायुश्चेद्दिवसान् वहेत् ।
अब्दभागैस्तु ते शोध्या यथावदनुपूर्वश· ॥ ८५ ॥

---

१ यहाँ मास का आरभ शुक्ल पक्ष से समझना चाहिए ।

शरत्सक्रान्तिकालाच्च पञ्चाहं मारुतो वहन् ।
तत पञ्च-दशाब्दानामन्ते मरणमादिशेत् ॥ ८० ॥

यदि शरद् ऋतु की सक्रान्ति से अर्थात् आसौज शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से लेकर पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो उसकी पन्द्रहवे वर्ष मे मृत्यु होनी चाहिए ।

श्रावणादेः ससारभ्य पञ्चाहमनिलो वहन् ।
अन्ते द्वादश-वर्षाणा मरण परिसूचयेत् ॥ ८१ ॥

वहन् ज्येष्ठादिदिवसाद्दशाहानि समीरणः ।
दिशेन्नवम-वर्षस्य पर्यन्ते मरणं ध्रुवम् ॥ ८२ ॥

आरभ्य चैत्राद्यदिनात् पञ्चाह पवनो वहन् ।
पर्यन्ते वर्षषट्कस्य मृत्यु नियतमादिशेत् ॥ ८३ ॥

आरभ्य माघमासादे· पञ्चाहानि मरुद्वहन् ।
सवत्सरत्रयस्यान्ते संसूचयति पञ्चताम् ॥ ८४ ॥

इसी प्रकार श्रावण मास[1] के प्रारभ से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो वह बारहवे वर्ष मे मृत्यु का सूचक है ।

ज्येष्ठ महीने के प्रथम दिन से दस दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो नौ वर्ष के अन्त मे निश्चय ही उसका मरण होगा ।

चैत्र मास के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन चलता रहे, तो निश्चय से छह वर्ष के अन्त में मृत्यु होगी ।

माघ महीने के प्रथम दिन से पाँच दिन तक एक ही नाडी मे पवन का चलना तीन वर्ष के अन्त मे मरण होने का सूचक है ।

सर्वत्र द्वि-त्रि-चतुरो वायुश्चेद्दिवसान् वहेत् ।
अब्दभागेस्तु ते शोध्या यथावदनुपूर्वश· ॥ ८५ ॥

---

१ यहाँ मास का आरभ शुक्ल पक्ष से समझना चाहिए ।

जिस महीने मे पांच दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलने से जितने वर्षों मे मरण बतलाया है, उस महीने मे दो, तीन या चार दिन तक ही यदि एक नाडी मे वायु चलता रहे, तो उस वर्ष के उतने ही विभाग करके कम दिनो के अनुसार वर्ष के उतने ही विभाग कम कर देने चाहिए। जैसे—मार्गशीर्ष मास के प्रारम्भ मे पांच दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलने से अठारह वर्षों मे मरण बताया गया है। यदि इस मास मे पांच के बदले चार दिन तक ही एक नाडी मे वायु चलता रहे, तो अठारह वर्ष का एक पाँचवा भाग अर्थात् तीन वर्ष, सात मास और छह दिन कम करने पर चौदह वर्ष, चार मास और चौबीस दिन मे मृत्यु होगी। इसका अभिप्राय यह निकला कि मार्गशीर्ष मास के आरम्भ मे यदि चार दिन तक एक ही नाडी मे वायु चलता रहे, तो चौदह वर्ष, चार मास और चौबीस दिन मे मृत्यु होगी।

अन्यत्र भी इसी तरह ही समझना चाहिए और ऋतु आदि के मास मे भी यही नियम समझना चाहिए।

## काल-निर्णय

अथेदानी प्रवक्ष्यामि, किञ्चित्कालस्य निर्णयम्।
सूर्य-मार्ग समाश्रित्य, स च पौष्णेऽत्रगम्यते ॥ ८६ ॥

अब मैं काल-ज्ञान का निर्णय कहूँगा। काल-ज्ञान सूर्यमार्ग को आश्रित करके पौष्ण-काल मे जाना जाता है।

## पौष्ण-काल

जन्मऋक्षगते चन्द्रे, समसप्तगते रवौ।
पौष्णनामा भवेत्कालो, मृत्युनिर्णयकारणम् ॥ ८७ ॥

चन्द्रमा जन्म नक्षत्र मे हो और सूर्य अपनी राशि से सातवी राशि मे हो तथा चन्द्रमा ने जितनी जन्म-राशि भोगी हो, उतनी ही सूर्य ने

सातवी राशि भोगी हो, तब 'पौष्ण' नामक काल होता है। इस पौष्ण-काल मे मृत्यु का निर्णय किया जा सकता है।

> दिनार्ध दिनमेक च, यदा सूर्ये मरुद्वहन्।
> चतुर्दशे द्वादशेऽब्दे मृत्यवे भवति क्रमात् ॥ ८८ ॥

पौष्ण काल मे यदि आधे दिन तक सूर्य-नाडी मे पवन चलता रहे, तो चौदहवें वर्ष मे मृत्यु होती है। यदि पूरे दिन सूर्य-नाडी मे पवन चलता रहे, तो बारहवे वर्ष मे मृत्यु होती है।

> तथैव च वहन् वायुरहो-रात्र द्वयहं त्र्यहम्।
> दशमाष्टमषष्ठाब्देष्वन्ताय भवति क्रमात् ॥ ८९ ॥

पौष्ण काल मे एक अहो-रात्र, दो दिन या तीन दिन तक सूर्य-नाडी मे पवन चलता रहे तो क्रम से दसवे वर्ष, आठवे वर्ष और छठे वष मृत्यु होती है।

> वहन् दिनानि चत्वारि तुर्येऽब्दे मृत्यवे मरुत्।
> साशीत्यह· सहस्रे तु पञ्चाहानि वहन् पुनः ॥ ९० ॥

पूर्वोक्त प्रकार से चार दिन तक वायु चलता रहे, तो चौथे वर्ष मे और पाँच दिन तक चलता रहे तो तीन वर्ष—एक हजार और अस्सी दिन मे मृत्यु होती है।

> एक-द्वि-त्रि-चतु पञ्च चतुर्विंशत्यह· क्षयात्।
> षडादीन् दिवसान् पञ्च शोधयेदिह तद्यथा ॥ ९१ ॥
> षट्कं दिनानामध्यर्क वहमाने समीरणे।
> जीवत्यह्ना सहस्रं षट् पञ्चाशद्दिवसाधिकम् ॥ ९२ ॥
> सहस्रं साष्टक जीवेद्वायौ सप्ताह-वाहिनि।
> सषट्त्रिंशन्नवशती जीवेदष्टाह-वाहिनि ॥ ९३ ॥
> एकत्रैव नवाहानि तथा वहति मारुते।
> अह्लामष्टशती जीवेच्चत्वारिंशद्दिनाधिकाम् ॥ ९४ ॥

तथैव वायौ प्रवहत्येकत्र दश वासरान् ।
विंशत्यभ्यधिकामह्ना जीवेत्सप्तशती ध्रुवम् ॥ ९५ ॥

ऊपर कहा जा चुका है कि जिस व्यक्ति की सूर्य-नाडी मे लगातार पाँच दिन वायु चलता रहे, तो वह १०८० दिन जीवित रहता है । यहाँ छह, सात, आठ, नौ या दस दिन तक उसी एक नाडी मे वायु चलने का फल दिखलाया गया है । वह इस प्रकार है—

यदि एक ही सूर्य नाडी मे छह, सात, आठ, नौ या दस दिन पर्यन्त वायु बहता रहे, तो क्रमश १, २, ३, ४, ५ चौबीसी दिन १०८० दिनो मे से कम करके जीवित रहने के दिनो की सख्या जान लेना चाहिए । इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

यदि छह दिन तक सूर्यनाडी मे वायु चले तो १०८०—२४=१०५६ दिन तक जीवित रहता है ।

यदि सात दिन तक एक सूर्यनाडी मे ही वायु चलता रहे तो १०५६ दिनो मे से दो चौवीसी अर्थात् २४ × २=४८ दिन कम करने से १०५६—४८ = १००८ दिन जीवित रहता है ।

यदि आठ दिन तक उसी प्रकार वायु चलता रहे तो १००८ दिनो मे से तीन चौवीसी अर्थात् २४ × ३=७२ दिन कम करने से १००८-७२ =९३६ दिन जीवित रहता है ।

यदि एक ही नाडी मे नौ दिन पर्यन्त वायु चलता रहे तो ९३६ मे से चार चौवीसी अर्थात् २४ × ४=९६ दिन कम करने से ९३६-९६= ८४० दिन जीवित रहता है ।

यदि पूर्वोक्त पौष्ण-काल मे लगातार दस दिन तक सूर्य-नाडी मे वायु चलता रहे, तो पूर्वोक्त ८४० दिनो मे से पाँच चौवीसी अर्थात् २४ × ५=१२० दिन कम करने से ८४० — १२०=७२० दिन तक ही जीवित रहता है ।

एक-द्वि-त्रि-चतु पञ्च-चतुर्विंशत्यह· क्षयात् ।
एकादशादिपञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ।। ९६ ।।

ग्यारह से लेकर पन्द्रह दिन तक एक ही सूर्यनाड़ी मे पवन चलता रहे, तो पूर्वकथित सात सौ वीस दिन मे से पूर्वोक्त प्रकार से अनुक्रम से दो, तीन, चार, पाँच चौबीसो दिन कम कर लेने चाहिए। ग्रन्थकार स्वय इसका विवरण दे रहे हैं।

एकादश-दिनान्यर्क-नाड्या वहति मारुते ।
पणवत्यधिकाह्नानां षट् शतान्येव जीवति ।। ९७ ।।

यदि पौष्ण-काल मे सूर्यनाडी मे ग्यारह दिनो तक वायु चलता रहे, तो मनुष्य ६९६ दिन जीवित रहता है।

तथैव द्वादशाहानि वायौ वहति जीवति ।
दिनानां षट्शतीमष्टचत्वारिंशत् समन्विताम् ।। ९८ ।।

यदि पूर्वोक्त रूप से बारह दिन पर्यन्त वायु एक ही नाडी मे चलता रहे, तो मनुष्य ६४८ दिवस जीवित रहता है।

त्रयोदश-दिनान्यर्क-नाडिचारिणि मारुते ।
जीवेत्पञ्चशतीमह्ना षट्सप्तति-दिनाधिकाम् ।। ९९ ।।

यदि तेरह दिन तक सूर्य-नाड़ी में पवन चलता रहे, तो व्यक्ति ५७६ दिन तक ही जीवित रहता है।

चतुर्दश-दिनान्येवं प्रवाहिनि समीरणे ।
अशीत्यभ्यधिकां जीवेदह्नां शत चतुष्टयम् ।। १०० ।।

यदि चौदह दिवस तक सूर्यनाड़ी मे पवन चलता रहे, तो मनुष्य ४८० दिन तक ही जीवित रहता है।

तथा पञ्चदशाहानि यावत् वहति मारुते ।
जीवेत्षष्ठिदिनोपेतं दिवसाना शतत्रयम् ।। १०१ ।।

यदि पन्द्रह दिन तक लगातार सूर्य-नाडी मे पवन चलता रहे, तो मनुष्य ३६० दिन तक ही जीवित रहता है।

एक-द्वि-त्रि-चतु पञ्च-द्वादशाह-क्रम-क्षयात् ।
षोडशाद्यानि पञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ॥ १०२ ॥

सोलह, सत्तरह, अठारह, उन्नीस और बीस दिन पर्यन्त एक सूर्य-नाडी मे वायु चलता रहे, तो पूर्वोक्त ३६० दिनो मे से क्रमश एक बारह—१२, दो बारह—२४, तीन बारह—३६, चार बारह—४८ और पाँच बारह—६० दिन कम कर करके जीवित रहता है, ऐसा कहना चाहिए। इसका आगे स्पष्टीकरण किया गया है।

प्रवहत्येकनाक्षायां षोडशाहानि मारुते ।
जीवेत्सहाष्टचत्वारिंशत दिनशतत्रयीम् ॥ १०३ ॥
वहमाने तथा सप्तदशाहानि समीरणे ।
अह्ना शतत्रये मृत्युश्चतुर्विंशति-सयुते ॥ १०४ ॥
पवने विचरत्यष्टादशाहानि तथैव च ।
नाशोऽष्टाशीति-सयुक्ते गते दिन शतद्वये ॥ १०५ ॥
विचरत्यनिले तद्वद्दिनान्येकोनविंशतिम् ।
चत्वारिंशद्युते याते मृत्युर्दिन-शतद्वये ॥ १०६ ॥
विंशति - दिवसानेकनासाचारिणि मारुते ।
साशीतौ वासरशते गते मृत्युर्न सशय ॥ १०७ ॥

यदि किसी व्यक्ति के सोलह दिन तक एक ही नासिका मे वायु चलता रहे, तो वह तीन सौ अडतालीस—३४८ दिन तक जीवित रहता है।

यदि लगातार सत्तरह दिन तक एक ही नासिका मे वायु चलता रहे, तो तीन सौ चौवीस दिन मे मृत्यु होती है।

इसी प्रकार अठारह दिन तक वायु चले तो दो सौ अठासी दिन मे, उन्नीस दिन लगातार पवन चलता रहे, तो दो सौ चालीस दिन मे और

यदि बीस दिन तक एक ही सूर्य नासिका मे पवन चलता रहे, तो एक सौ अस्सी दिन मे निश्चित रूप से मृत्यु होती है।

एक-द्वि-त्रि-चतु पञ्च-दिनषट्क-क्रम-क्षयात्।
एकविंशादि पञ्चाहान्यत्र शोध्यानि तद्यथा ॥ १०८ ॥

यदि इक्कीस, बाईस, तेईस, चौबीस, पच्चीस दिन तक एक सूर्य-नाडी मे ही पवन बहता रहे, तो पूर्वोक्त १८० दिनो मे से क्रमश एक, दो, तीन, चार, पाँच षट्क कम करते रहना चाहिए। इसका स्पष्टी-करण आगे किया गया है।

एकविंशत्यहं त्वर्क-नाडीवाहिनि मारुते।
चतु सप्तति-संयुक्ते मृत्युर्दिनशते भवेत् ॥ १०९ ॥

यदि पौष्ण-काल में इक्कीस दिवस पर्यन्त सूर्य-नाडी मे पवन बहता रहे, तो पूर्वोक्त १८० दिन मे से एक षट्क कम करने पर, अर्थात् १८०—६=१७४ दिन मे उसकी मृत्यु होती है।

द्वाविंशति-दिनान्येवं स द्वि-षष्टावहः शते।
षड्दिनोनैः पञ्चमासैस्त्रयोविंशत्यहानुगे ॥ ११० ॥

पूर्वोक्त प्रकार से बाईस दिन तक पवन चलता रहे, तो १७४ दिनो मे से दो षट्क अर्थात् बारह दिन कम करने से १७४-१२=१६२ दिन तक जीवित रहेगा। यदि तेईस दिन तक उसी प्रकार पवन चलता रहे, तो १६२ दिनो मे से तीन षट्क अर्थात् अठारह दिन कम करने से छह दिन कम पाँच महीने मे अर्थात् १६२-१८=१४४ दिनो मे मृत्यु होती है।

तथैव वायौ वहति चतुर्विंशतिवासरीम्।
विंशत्यभ्यधिके मृत्युर्भवेद्दिनशते गते ॥ १११ ॥

पूर्वोक्त प्रकार से चौबीस दिन तक वायु चलता रहे, तो एक सौ बीस दिन बीतने पर मृत्यु हो जाती है।

पञ्चविंशत्यह चैव वायौ मासत्रये मृति ।
मासद्वये पुनर्मृत्यु षड्विंशतिदिनानुगे ॥ ११२ ॥

इसी प्रकार पच्चीस दिन तक वायु चलता रहे, तो तीन महीने मे और छब्बीस दिन तक चलता रहे, तो दो महीने मे मृत्यु होती है ।

सप्तविंशत्यहवहे नाशो मासेन जायते ।
मासार्धेन पुनर्मृत्युरष्टाविंशत्यहानुगे ॥ ११३ ॥

इसी तरह सत्ताईस दिन तक वायु चलता रहे, तो एक महीने मे और अट्ठाईस दिन तक चलता रहे, तो पन्द्रह दिन मे ही मृत्यु होती है ।

एकोनत्रिंशदहगे मृति स्याद्दशमेऽहनि ।
त्रिंशद्दिनीचरे तु स्यात्पञ्चत्व पञ्चमे दिने ॥ ११४ ॥

इसी तरह उनतीस दिन तक एक ही सूर्य-नाडी मे वायु चलता रहे, तो दसवें दिन और तीस दिन तक चलता रहे, तो पाँचवें दिन मृत्यु होती है ।

एकत्रिंशदहचरे वायौ मृत्युर्दिनत्रये ।
द्वितीयदिवसे नाशो द्वात्रिंशदहवाहिनि ॥ ११५ ॥

इसी प्रकार इकत्तीस दिन तक वायु चलता रहे, तो तीन दिन मे और बत्तीस दिन तक चलता रहे, तो दूसरे दिन ही मृत्यु होती है ।

त्रयस्त्रिंश - दहचरे त्वेकाहेनापि पञ्चता ।
एवं यदीन्दुनाड्यां स्यात्तदा व्याध्यादिक दिशेत् ॥ ११६ ॥

इस तरह तेतीस दिन तक लगातार सूर्य नाडी मे ही पवन वहता रहे, तो एक ही दिन मे मृत्यु हो जाती है ।

जिस प्रकार लगातार सूर्य नाडी के चलने का फल मरण बतलाया है, उसी प्रकार यदि चन्द्रनाडी मे पवन चलता रहे, तो उसका फल मृत्यु नही, किन्तु उतने ही काल मे व्याधि, मित्रनाश, महान् भय की प्राप्ति, देश-त्याग, धन-नाश, पुत्र-नाश, दुर्भिक्ष आदि समझना चाहिए ।

### उपसंहार

अध्यात्म वायुमाश्रित्य प्रत्येक सूर्य-सोमयोः ।
एवमभ्यास-योगेन जानीयात् कालनिर्णयम् ॥ ११७ ॥

इस प्रकार शरीर के भीतर रहे हुए वायु सम्बन्धी सूर्य एव चन्द्र-नाडी का अभ्यास करके काल का निर्णय जानना चाहिए ।

### मृत्यु के बाह्य लक्षण

अध्यात्मिकविपर्यास संभवेद् व्याधितोऽपि हि ।
तन्निश्चयाय बध्नामि बाह्यं कालस्य लक्षणम् ॥ ११८ ॥

शरीर के अन्तर्गत वायु के आधार पर उक्त काल-निर्णय बताया गया है, परन्तु वायु का विपर्यास—उलट-फेर व्याधि के कारण भी हो सकता है । व्याधिकृत विपर्यास की स्थिति मे वायु के द्वारा काल का निर्णय सही नही होगा । अत काल का स्पष्ट और सही निर्णय करने के लिए काल के बाह्य लक्षणो का वर्णन किया जाता है ।

नेत्र-श्रोत्र-शिरोभेदात् स च त्रिविधलक्षणः ।
निरीक्ष्य सूर्यमाश्रित्य यथेष्टमपरः पुन. ॥ ११९ ॥

सूर्य की अपेक्षा से काल का बाह्य लक्षण—नेत्र, श्रोत्र और शिर के भेद से तीन प्रकार का माना गया है । इसके अतिरिक्त अन्य बाह्य लक्षण स्वेच्छा से ही देखे जाते है । उनके लिए सूर्य का अवलबन लेने की भी आवश्यकता नही है ।

### नेत्र से कालज्ञान

वामे तत्रेक्षणे पद्मं षोडशच्छदमैन्दवम् ।
जानीयाद् भानवीयं तु दक्षिणे द्वादशच्छदम् ॥ १२० ॥

बाएँ नेत्र मे सोलह पाखुडी वाला चन्द्र सम्बन्धी कमल है और दाहिने नेत्र मे बारह पाखुडी वाला सूर्य सम्बन्धी कमल है, सर्वप्रथम इन दोनो कमलो का परिज्ञान कर लेना चाहिए ।

खद्योतद्युतिवर्णानि चत्वारिच्छदनानि तु ।
प्रत्येक तत्र दृश्यानि स्वागुलीविनिपीडनात् ॥ १२१ ॥

गुरु के उपदेश के अनुसार अपनी उगली से आँख के विशिष्ट भाग को दवाने से प्रत्येक कमल की चार पाखुडियाँ जुगनू की तरह चमकती हुई दिखाई देती हैं, इन्हे देखना चाहिए ।

सोमाधो भ्रूलतापाङ्गघ्राणान्तिकदलेषु तु ।
दले नष्टे क्रमान्मृत्यु षट्त्रियुग्मैकमासत' ॥ १२२ ॥

चन्द्र सम्वन्धी कमल मे, चार पाखुडियो मे से यदि नीचे की पखुडी दिखाई न दे तो छह महीने मे मृत्यु होती है, भ्रकुटी के समीप की पखुडी परिलक्षित न हो तो तीन मास मे, आँख के कोने की पखुडी दिखाई न दे तो दो मास मे, और नाक के पास की पखुडी दिखाई न पडे तो एक मास मे मृत्यु होती है ।

अयमेव क्रम पद्मे भानवीये यदा भवेत् ।
दश-पञ्च-त्रि-द्विदिनै क्रमान्मृत्युस्तदा भवेत् ॥ १२३ ॥

सूर्य सम्वन्धी कमल मे इसी क्रम से पाखुडियाँ दिखाई न देने पर क्रमश दस, पाँच, तीन और दो दिन में मृत्यु होती है । अर्थात् दाहिनी आँख को गुरु-उपदेशानुसार दवाने से सूर्य सम्वन्धी कमल की भी चार पाखुडियाँ दिखाई देती है । उनमे से नीचे की दिखाई न दे तो दस दिन मे, ऊपर की दिखाई न दे तो पाँच दिन मे, आँख के कोने की तरफ की दिखाई न दे तो तीन दिन मे और नाक की तरफ की दिखाई न दे तो दो दिन मे मृत्यु होती है ।

एतान्यपीड्यमानानि द्वयोरपि हि पद्मयो ।
दलानि यदि वीक्ष्येत् मृत्युर्दिनशतात्तदा ॥ १२४ ॥

द आख को अगुली से दबाये बिना दोनो कमलो की पाखुडियाँ दिखाई न दे तो सौ दिन मे मृत्यु होती है ।

**कर्ण से कालज्ञान**

ध्यात्वा हृद्यष्टपत्राब्जं श्रोत्रे हस्ताग्र-पीडिते ।
न श्रूयेताग्नि-निर्घोषो यदि स्व पञ्च-वासरान् ॥१२५॥
दश वा पञ्चदश वा विंशतिं पञ्चविंशतिम् ।
तदा पञ्च-चतुस्त्रिद्व्येक-वर्षैर्मरणं क्रमात् ॥१२६॥

हृदय मे आठ पखुडी के कमल का ध्यान करके दोनो हाथो की तर्जनी अगुलियाँ को दोनो कानो मे डालने पर यदि पाँच, दस, पन्द्रह, बीस या पच्चीस दिन तक अपना अग्नि-निर्घोष—तीव्रता से जलती हुई अग्नि का धक-धकाहट का शब्द सुनाई न दे, तो क्रमश पाँच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, दो वर्ष और एक वर्ष मे मृत्यु होती है ।

एक-द्वि-त्रि-चतुः पञ्च-चतुर्विंशत्यह क्षयात् ।
षडादि-षोडश-दिनान्यान्तराण्यपि शोधयेत् ॥ १२७ ॥

ऊपर बतलाया गया है कि पाँच दिन तक अग्नि-निर्घोष सुनाई न दे तो पाँच वर्ष मे मृत्यु होती है, किन्तु यदि छठे दिन भी सुनाई न दे या सातवे आदि दिन भी सुनाई न दे तो क्या फल होता है ? इस प्रश्न का उत्तर इस श्लोक मे निम्न प्रकार से दिया गया है .—

यदि छह दिन से लेकर सोलह दिन तक अगुली से दबाने पर भी कान मे शब्द सुनाई न दे, तो पाँच वर्ष के दिनो मे से क्रमश एक, दो, तीन, चार, पाँच आदि सोलह चौबीसियाँ कम करते हुए मृत्यु के दिनो की संख्या का निश्चय करना चाहिए । यथा—छह दिन शब्द सुनाई न देने पर २४ दिन कम पाँच वर्ष अर्थात् १७७६ दिन मे मृत्यु होती है । सात दिन सुनाई न देने पर १७७६ दिनो मे से दो चौबीसी अर्थात् ४८ दिन कम करने से १७७६ – ४८ = १७२८ दिन मे मृत्यु होती है । इसी प्रकार पूर्व-पूर्व सख्या मे से उपर्युक्त चौबीसियाँ कम करके मरणकाल का निश्चय करना चाहिए ।

### मस्तक से काल-ज्ञान

ब्रह्मद्वारे प्रसर्पन्ती पञ्चाह धूममालिकाम् ।
न चेत्पश्येत्तदा ज्ञेयो मृत्यु सवत्सरैस्त्रिभि ॥ १२८ ॥

ब्रह्म द्वार—दसवें द्वार मे फैलती हुई धूम की श्रेणी यदि पांच दिन तक दृष्टिगोचर न हो तो समझना चाहिए कि तीन वर्ष मे मृत्यु होगी।

धूम की श्रेणी का ब्रह्मद्वार मे प्रविष्ट होने का ज्ञान प्राप्त करने के लिए निष्णात गुरु की सहायता लेनी चाहिए।

### प्रकारान्तर से काल-ज्ञान

प्रतिपद्दिवसे कालचक्र-ज्ञानाय शौचवान् ।
आत्मनो दक्षिण पाणि शुक्ल पक्षं प्रकल्पयेत् ॥ १२९ ॥

अधोमध्योर्ध्वपर्वाणि कनिष्ठांगुलिकानि तु ।
क्रमेण प्रतिपत् षष्ठयेकादशी. कल्पयेत्तिथी ॥ १३० ॥

अवशेषागुली - पर्वाण्यवशेष - तिथीस्तथा ।
पञ्चमी-दशमी-राका पर्वाण्यगुष्ठगानि तु ॥ १३१ ॥

शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा के दिन पवित्र होकर कालचक्र को जानने के लिए अपने दाहिने हाथ को शुक्ल पक्ष के रूप मे कल्पित करना चाहिए।

अपनी कनिष्ठा अगुलि के निम्न, मध्यम और ऊपर के पर्व मे अनुक्रम से प्रतिपदा, षष्ठी और एकादशी तिथि की कल्पना करनी चाहिए।

अगूठे के निचले, मध्य के और ऊपर के पर्व मे पचमी, दशमी और पूर्णिमा की कल्पना करनी चाहिए तथा शेष अगुलियो के पर्वों मे शेष तिथियो की कल्पना करनी चाहिए। अर्थात् अनामिका अगुलि के तीन पर्वों मे दूज, तीज और चौथ की, मध्यमा के तीन पर्वों मे सप्तमी,

अष्टमी और नवमी की तथा तर्जनी के तीन पर्वों मे द्वादशी, त्रयोदशी और चतुर्दशी की कल्पना करनी चाहिए।

वामपाणि कृष्णपक्षं तिथीस्तद्वच्च कल्पयेत् ।
ततश्च निर्जने देशे बद्ध-पद्मासन सुधीः ॥ १३२ ॥
प्रसन्न· सितसंव्यानः कोशीकृत्य करद्वयम् ।
ततस्तदन्त शून्यं तु कृष्णां वर्ण विचिन्तयेत् ॥ १३३ ॥

कृष्ण पक्ष की प्रतिपदा के दिन बाएँ हाथ मे कृष्ण पक्ष की कल्पना करे तथा पाँचो उंगलियो मे शुक्ल पक्ष के हाथ की तरह तिथियो की कल्पना करे। तत्पश्चात् एकान्त निर्जन प्रदेश मे जाकर, पद्मासन लगाकर, मन की प्रसन्नता के साथ उज्ज्वल ध्यान करके, दोनो हाथो को कमल के कोश के आकार मे जोड ले और हाथ मे काले वर्ण के एक बिन्दु का चिन्तन करे।

उद्घाटित - कराम्भोजस्ततो यत्रांगुलीतिथौ ।
वीक्ष्याते कालबिन्दु [1] स काल इत्यत्र कीर्त्यते ॥ १३४ ॥

तत्पश्चात् हाथ खोलने पर जिस अंगुली के अन्दर कल्पित अंधेरी या उजेली तिथि मे काला बिन्दु दिखाई दे, उसी अंधेरी या उजेली तिथि के दिन मृत्यु होगी, ऐसा समझ लेना चाहिए।

## काल-निर्णय के अन्य उपाय

क्षुत-विण्मेद-मूत्राणि भवन्ति युगपद्यदि ।
मासे तत्र तिथौ तत्र वर्षान्ते मरणं तदा ॥ १३५ ॥

जिस मनुष्य को छीक, विष्ठा, वीर्यस्राव और पेशाव, ये चारो एक साथ हो, उसकी एक वर्ष के अन्त मे उसी मास और उसी तिथि को मृत्यु होगी।

---

१ वीक्षते कालबिन्दु ।

रोहिणी शशभृल्लक्ष्म महापथयरुन्धतीम् ।
ध्रुव च न यदा पश्येद्वर्षेण स्यात्तदा मृति[1] ॥ १३६ ॥

यदि दृष्टि निर्मल—साफ होने पर भी १ रोहिणी नक्षत्र, २ चन्द्रमा का चिह्न, ३ छाया-पथ—छायापुरुष, ४ अरुन्धती तारा—सप्तर्षि के समीप दिखाई देने वाला एक छोटा-सा तारा और ५ ध्रुव अर्थात् भ्रकुटि, यह पाँच या इनमे से एक भी दिखाई न दे, तो उसकी एक वर्ष मे मृत्यु होती है।

स्वप्ने स्व भक्ष्यमाण श्वगृध्रकाकनिशाचरै ।
उह्यमान खरोष्ट्राद्यैर्यदा पश्येत्तदा मृति ॥ १३७ ॥

यदि कोई व्यक्ति स्वप्न मे कुत्ता, गीध, काक या अन्य निशाचर प्राणियो द्वारा अपने शरीर को भक्षण करते देखे, अथवा गधा, ऊँट, शूकर, कुत्ते आदि पर सवारी करे या इनके द्वारा अपने को घसीटकर ले जाता हुआ देखे तो उसकी एक वर्ष मे मृत्यु होती है।

---

१ इस विषय मे ग्रन्थकार ने स्वोपज्ञ टीका मे अन्य आचार्यो का मत प्रदर्शित करते हुए दो श्लोक उद्धृत किये हैं, वे इस प्रकार हैं—

अरुन्धती ध्रुव चैव, विष्णोस्त्रीणि पदानि च ।
क्षीणायुषो न पश्यन्ति, चतुर्थ मातृमण्डलम् ॥१॥
अरुन्धती भवेज्जिह्वा, ध्रुव नासाग्रमुच्यते ।
तारा विष्णुपद प्रोक्त भ्रुव स्यान्मातृमण्डलम् ॥२॥

जिनकी आयु क्षीण हो चुकी होती है, वे अरुन्धती, ध्रुव, विष्णुपद और मातृमण्डल को नही देख सकते हैं।

यहाँ अरुन्धती का अर्थ जिह्वा, ध्रुव का अर्थ नासिका का अग्रभाग, विष्णुपद का अर्थ दूसरे के नेत्र की पुतली देखने पर दिखाई देने वाली अपनी पुतली और मातृमण्डल का अर्थ भ्रकुटी समझना चाहिए।

रश्मि-निर्मुक्तमादित्यं रश्मियुक्तं हविर्भुजम् ।
यदा पश्येद्विपद्येत तदैकादश-मासत ॥ १३८ ॥

यदि कोई व्यक्ति सहस्ररश्मि—सूर्यमण्डल को किरण-विहीन देखे और अग्नि को किरण-युक्त देखे, तो वह मनुष्य ग्यारह मास मे मृत्यु को प्राप्त होता है ।

वृक्षाग्रे कुत्रचित्पश्येत् गन्धर्व-नगरं यदि ।
पश्येत्प्रेतान् पिशाचान् वा दशमे मासि तन्मृति ॥ १३९ ॥

यदि किसी व्यक्ति को किसी जगह गधर्वनगर—वास्तविक नगर का प्रतिबिम्ब वृक्ष के ऊपर दिखाई दे अथवा प्रेत या पिशाच प्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगोचर हो, तो उसकी दसवे महीने मे मृत्यु होती है ।

छर्दि-मूत्र-पुरीष वा सुवर्ण-रजतानि वा ।
स्वप्ने पश्येद्यदि तदा मासान्नवैव जीविति ॥ १४० ॥

यदि कोई व्यक्ति स्वप्न मे उलटी, मूत्र, विष्ठा, सोना और चाँदी देखता है, तो वह नौ महीने तक जीवित रहता है ।[1]

स्थूलोऽकस्मात् कृशोऽकस्मादकस्मादतिकोपन ।
अकस्मादतिभीरुर्वा मासानष्टैव जीवति ॥ १४१ ॥

जो मनुष्य अकस्मात् अर्थात् विना कारण ही मोटा हो जाए या अकस्मात् ही कृश—दुवला हो जाए या अकस्मात् ही क्रोधी हो जाए या अकस्मात् ही भीरु—कायर हो जाए, तो वह आठ महीने तक ही जीवित रहता है ।

समग्रमपि विन्यस्तं पाशौ वा कर्दमेऽपि वा ।
स्याच्चेत्खण्डं पदं सप्तमास्यन्ते म्रियते तदा ॥ १४२ ॥

१ श्री केशर विजयजी महाराज के विचार से यह फल रोगी मनुष्य की अपेक्षा से होना चाहिए ।

यदि कभी धूल पर या कीचड मे पूरा पैर जमाने पर भी वह अधूरा पडा हुआ दिखाई दे, तो उसकी सात महीने के अन्त मे मृत्यु होती है ।

तारा श्यामा यदा पश्येच्छुष्येदधरतालु च ।
न स्वागुलि-त्रय मायाद्राजदन्तद्वयान्तरे ॥१४३॥
गृध्र काक कपोतो वा क्रव्यादोऽन्योऽपि वा खग ।
निलीयेत यदा मूर्ध्नि षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥१४४॥

यदि किसी व्यक्ति को अपनी आँख की पुतली एकदम काली दिखाई दे, बिना किसी बीमारी के ओष्ठ और तालु सूखने लगें, मुँह चौडा करने पर ऊपर और नीचे के मध्यवर्ती दातो के बीच मे अपनी तीन अगुलियाँ समाविष्ट न हो तथा गिद्ध, काक, कबूतर या कोई भी मासभक्षी पक्षी मस्तक पर बैठ जाए, तो उसकी छह माह के अन्त मे मृत्यु होती है ।

प्रत्यह पश्यतानभ्रेऽह्न्यापूर्य जलैर्मुखम् ।
विहिते फूत्कृते शक्रधन्वा तु तत्र दृश्यते ॥ १४५ ॥
यदा न दृश्यते तत्तु मासै षड्भिर्मृतिस्तदा ।
पर-नेत्रे स्वदेह चेन्न पश्येन्मरण तदा ॥ १४६ ॥

यदि दिन के समय मुख मे पानी भरकर बादलो से रहित आकाश मे फूत्कार के साथ ऊपर उछालने पर और कुछ दिन तक ऐसा करने पर उस पानी मे इन्द्रधनुष-सा वर्ण दिखाई देता है । किन्तु, जब वह इन्द्रधनुष दिखाई न दे तो उस व्यक्ति की छह मास मे मृत्यु होती है । इसके अतिरिक्त यदि दूसरे की आँखो की पुतली मे अपना शरीर दिखाई न दे, तब भी छह महीने मे मृत्यु होती है, ऐसा समझ लेना चाहिए ।

कूर्परौ न्यस्य जान्वोर्मूर्ध्न्येकीकृत्य करौ सदा ।
रम्भाकोशनिभा छाया लक्षयेदन्तरोद्भवाम् ॥ १४७ ॥
विकासि च दल तत्र यदैक परिलक्ष्यते ।
तस्यामेव तिथौ मृत्यु षण्मास्यन्ते भवेत्तदा ॥ १४८ ॥

दोनो जानुओ पर दोनो हाथो की कोहनियाँ को स्थापित करके अपने हाथ के दोनो पजे मस्तक पर स्थापित किए जाएँ और ऐसा करने पर यदि बादल न होने पर भी दोनो हाथो के बीच मे डोडे के सदृश छाया उत्पन्न होती है तो उसे निरन्तर देखते रहना चाहिए। यदि उस छाया मे एक पत्र विकसित होता हुआ दिखाई दे, तो समझ लेना चाहिए कि उसकी छह महीने के अन्त मे उसी दिन मृत्यु होगी।

इन्द्रनीलसमच्छाया वक्रीभूता सहस्रश ।
मुक्ताफलालङ्करणा पन्नगा सूक्ष्ममूर्त्तय ॥ १४९ ॥
दिवा सम्मुखमायान्तो दृश्यन्ते व्योम्नि सन्निधौ ।
न दृश्यन्ते यदा ते तु षण्मास्यन्ते मृतिस्तदा ॥ १५० ॥

जब आकाश मेघमालाओ—बादलो से रहित होता है, उस समय मनुष्य धूप मे स्थित हो तो उसे इन्द्रनील-मणि के सदृश कान्ति वाले, टेढे-मेढ़े, हजारो मुक्ताओ के अलकार वाले तथा सूक्ष्म आकृति के सर्प सन्मुख आते हुए दिखाई देते हैं। किन्तु, जब वह सर्प दिखाई न दे तो उसे समझना चाहिए कि उसकी छह महीने मे मृत्यु होगी।

स्वप्ने मुण्डितमभ्यक्तं रक्त-गन्ध-स्रगम्बरम् ।
पश्येद् याम्यां खरे यान्तं स्व योऽब्दार्ध स जीवति ॥१५१॥

जो मनुष्य स्वप्न मे यह देखता है कि "मेरा मस्तक मु डा हुआ है, तैल की मालिश की हुई है, लाल रग का पदार्थ शरीर पर लेपन किया हुआ है, गले मे लाल रग की माला पहनी हुई है, और लाल रग के वस्त्र पहन कर, गधे पर चढकर दक्षिण दिशा की ओर जा रहा हूँ" तो उसकी छह महीने मे मृत्यु होती है।

घण्टानादो रतान्ते चेदकस्मादनुभूयते ।
पञ्चता पञ्चमास्यन्ते तदा भवति निश्चितम् ॥ १५२ ॥

यदि विषय-सेवन करने के पश्चात् अकस्मात् ही शरीर मे घटे के

नाद-स्वर सुनाई दे, तो उसकी पाँच मास के अन्त मे मृत्यु होती है, इसमें सन्देह नही है ।

शिरो वेगात् समारुह्य कृकलासो व्रजन् यदि ।
दध्याद्वर्ण-त्रय पञ्च-मास्यन्ते मरण तदा ॥ १५३ ॥

यदि कभी कोई गिरगिट वेग के साथ मस्तक पर चढ जाए और जाते-जाते तीन बार रग बदले, तो उस व्यक्ति की पाच मास के अन्त मे मृत्यु होती है ।

वक्री भवति नासा चेद्वर्तुली भवतो दृशौ ।
स्वस्थानाद् भ्रश्यत कर्णौ चतुर्मास्या तदा मृति ॥ १५४॥

यदि किसी व्यक्ति की नाक टेढी हो जाए, आँखें गोल हो जाए और अन्य अग अपने-अपने स्थान से ढीले पड जाएँ तो उसकी चार मास मे मृत्यु होती है ।

कृष्णं कृष्ण-परीवार लोह-दण्डधर नरम् ।
यदा स्वप्ने निरीक्ष्येत मृत्युर्मासैस्त्रिभिस्तदा ॥ १५५ ॥

यदि किसी व्यक्ति को स्वप्न मे काले वर्ण का, काले परिवार का और लोहे के दण्ड को धारण करने वाला मनुष्य दिखाई दे, तो उसकी तीन महीने मे मृत्यु होती है ।

इन्दुमुष्ण रविं शीत छिद्र भूमौ रवावपि ।
जिह्वा श्यामा मुख कोकनदाभ च यदेक्षते ॥ १५६ ॥
तालुकम्पो मन शोको वर्णोऽङ्गे नैकधा यदा ।
नाभेश्चाकस्मिकी हिक्का मृत्युर्मासद्वयात्तदा ॥ १५७ ॥

यदि किसी व्यक्ति को चन्द्रमा उष्ण, सूर्य ठडा, जमीन और सूर्य-मण्डल मे छिद्र, अपनी जीभ काली, मुख लाल कमल के समान दिखाई दे और तालु मे कम्पन हो, निष्कारण मन मे शोक हो, शरीर मे अनेक

प्रकार का वर्ण उत्पन्न होता रहे और नाभि से अकस्मात् हिक्का—हीक उठे, तो उसकी दो मास मे मृत्यु होती है, ऐसा समझना चाहिए।

जिह्वा नास्वादमादत्ते मुहु स्खलति भाषणे।
श्रोत्रे न शृणुत शब्द गन्धं वेत्ति न नासिका ॥ १५८ ॥

स्पन्देते नयने नित्य दृष्ट-वस्तुन्यपि भ्रमः।
नक्तमिन्द्रधनु पश्येत् तथोल्कापतन दिवा ॥ १५९ ॥

न च्छायात्मन पश्येद्दर्पणे सलिलेऽपि वा।
अनब्दा विद्युतं पश्येच्छिरोऽकस्मादपि ज्वलेत् ॥ १६० ॥

हंस-काक-मयूराणा पश्येच्च क्वापि सहतिम्।
शीतोष्णखर-मृद्वादेरपि स्पर्श न वेत्ति च ॥ १६१ ॥

अमीषा लक्ष्मणा मध्याद्यदेकमपि दृश्यते।
जन्तोर्भवति मासेन तदा मृत्युर्न सशय ॥ १६२ ॥

यदि कोई व्यक्ति अपनी जिह्वा के स्वाद को जानने मे असमर्थ हो जाए और बोलते समय लडखडा जाए, कानो से शब्द सुनाई न दे और नासिका गध को ग्रहण करना बन्द कर दे, और उसके नेत्र निरन्तर फडकते रहे, देखी हुई वस्तु मे भी भ्रम उत्पन्न होने लगे, रात्रि मे इन्द्रधनुष दृष्टिगोचर होता हो, दिन मे उल्कापात दिखाई दे। इसके अतिरिक्त यदि उसे दर्पण मे अथवा पानी मे अपनी आकृति दिखाई न दे, बादल न होने पर भी बिजली दिखाई दे और अकस्मात् ही मस्तक मे जलन उत्पन्न हो जाए। और उस व्यक्ति को हस, काक और मयूरो का किसी जगह झुड दिखाई दे[1] और शीत, उष्ण, कठोर तथा कोमल स्पर्श का ज्ञान लुप्त हो जाए।

---

१. श्री केसर विजय महाराज ने ऐसा अर्थ किया है कि हस, काक और मयूर को मैथुन करते हुए देखे।

न स्वनासां स्वजिह्वां न न ग्रहानामल दिश ।
नापि सप्तऋषीन् यर्हि[1] पश्यति म्रियते तदा ॥ १६७ ॥

जो मनुष्य अपनी नाक को, अपनी जीभ को, ग्रहो को, निर्मल दिशाओ को या आकाश मे स्थित सप्त-ऋषि तारामो को नहीं देख सकता, उसका दो दिन मे मरण हो जाता है ।

प्रभाते यदि वा सायं ज्योत्स्नावत्यामथो निशि ।
प्रवितत्य निजौ बाहू निजच्छाया विलोक्य च ॥ १६८ ॥

शनैरुत्क्षिप्य नेत्रे स्वच्छाया पश्येत्ततोऽम्बरे ।
न शिरो दृश्यते तस्या यदा स्यान्मरण तदा ॥ १६९ ॥

नेक्ष्यते वामबाहुश्चेत् पुत्र-दार-क्षयस्तदा ।
यदि दक्षिणबाहुर्नेक्ष्यते भ्रातृ-क्षयस्तदा ॥ १७० ॥

अदृष्टे हृदये मृत्युरुदरे च धन-क्षय. ।
गुह्ये पितृ-विनाशस्तु व्याधिरूरुयुगे भवेत् ॥ १७१ ॥

अदर्शने पादयोश्च विदेशगमनं भवेत् ।
अदृश्यमाने सर्वाङ्गे सद्यो मरणमादिशेत् ॥ १७२ ॥

कोई व्यक्ति प्रात काल, सायकाल या शुक्ल पक्ष की रात्रि मे प्रकाश मे खडा होकर, दोनो हाथ नीचे लटका कर कुछ देर तक अपनी छाया देखता रहे । तत्पश्चात् नेत्रो को धीरे-धीरे छाया से हटाकर ऊपर आकाश में देखने पर उसे पुरुष की आकृति दिखाई देगी । यदि उस आकृति मे उसे अपना मस्तक दिखाई न दे, तो समझना चाहिए कि मेरी मृत्यु होने वाली है । यदि उसे बायाँ हाथ दिखाई न दे, तो पुत्र या स्त्री की मृत्यु होती है और यदि दाहिना हाथ दिखाई न दे, तो भाई की मृत्यु होती है । यदि उसे अपना हृदय दिखाई न दे, तो उसकी अपनी

---

१. व्योम्नि ।

मृत्यु होती है और उदर—पेट दिखाई न दे, तो उसके धन का नाश होना है। यदि उसे अपना गुह्य स्थान दिखाई न दे, तो उसके पिता आदि किसी पूज्य जन की मृत्यु होती है और यदि दोनो जाघें दिखाई नही दे, तो उसके शरीर मे व्याधि उत्पन्न होती है। यदि उसे अपने पैर न दीखें तो उसे विदेश यात्रा करनी पडती है और यदि उसे अपना समग्र शरीर ही दिखाई न दे, तो उसकी शीघ्र ही मृत्यु होती है।

**कालज्ञान के अन्य उपाय**

विद्यया दर्पणागुष्ठ - कुड्यासिष्ववतारिता[1]।
विधिना देवता पृष्टा ब्रूते कालस्य निर्णयम् ॥ १७३ ॥

सूर्येन्दु ग्रहणे विद्यो[2] नरवीरे-ठठेत्यसौ[3]।
साध्या दशसहस्याष्टोत्तरया[4] जपकर्मत. ॥ १७४ ॥

अष्टोत्तरसहस्रस्य जापात् कार्यक्षणे पुन ।
देवता लीयतेऽस्यादी, तत कन्याऽऽह निर्णयम्। १७५ ॥

सत्साधक-गुणाकृष्टा स्वयमेवाथ देवता।
त्रिकाल-विषय ब्रूते निर्णय गतसशयम् ॥ १७६ ॥

दर्पण, अगूठे, दीवार या तलवार आदि पर विद्या के द्वारा विधिपूर्वक अवतरित की हुई देवता आदि की आकृति प्रश्न करने पर काल-मृत्यु का निर्णय बता देती है।

सूर्यग्रहण या चन्द्रग्रहण के समय 'ॐ नरवीरे ठ ठ स्वाहा' का दस हजार आठ बार जाप करके विद्या की साधना करनी चाहिए।

जब उस विद्या से कार्य लेना हो तो एक हजार आठ बार जाप करने से वह दर्पण, तलवार आदि पर अवतरित हो जाती है।

---

१ कुड्यादिष्ववतारिता। २ विद्या। ३. नरवीरठवेत्यस
४ दश सहस्राष्टोत्तरया।

तत्पश्चात् वह दर्पण आदि, जिसमे विद्या का अवतरण किया गया है, एक कुमारी कन्या को दिखलाना चाहिए। जब कन्या को उसमे देवता का रूप दिखलाई दे, तब उससे आयु के विषय मे प्रश्न करना चाहिए। उस प्रश्न का जो उत्तर मिलेगा, उस निर्णय को कन्या अभिव्यक्त कर देगी।

श्रेष्ठ साधक की योग या तप-साधना से आकृष्ट देवता की आकृति स्वय ही—असदिग्ध रूप से, उसे अनागत, आगत और वर्तमान काल सम्बन्धी आयु का निर्णय बता देती है।

## शकुन द्वारा काल-ज्ञान

अथवा शकुनाद्विद्यात्सज्जो वा यदि वाऽऽनुर।
स्वतो वा परतो वाऽपि गृहे वा यदि वा वहि ॥ १७७ ॥

कोई पुरुष नीरोग हो या रोगी हो, अपने आप से और दूसरे से, घर के भीतर हो या घर के बाहर, शकुन के द्वारा काल—मृत्यु के समय का निर्णय कर सकता है।

अहि-वृश्चिक-कृम्या-खु-गृहगोधा-पिपीलिका।
यूका-मत्कुणलूताश्च वल्मीकोऽथोपदेहिका ॥१७८॥
कीटिका घृतवर्णाश्च भ्रमर्यश्च यदाधिका।
उद्वेग-कलह-व्याधि-मरणानि तदा दिशेत् ॥१७९॥

यदि सर्प, बिच्छू, कीडे, चूहे, छिपकली, चिंटियाँ, जूँ, खटमल, मकड़ी, बाबी, उदेही—घृतवर्ण की चीटिये और भ्रमर आदि बहुत अधिक परिमाण मे दृष्टिगोचर हो तो उद्वेग, क्लेश, व्याधि अथवा मरण होता है।

उपानद्वाहनच्छत्र-शस्त्रच्छायाङ्ग-कुन्तलान्।
चञ्च्वा चुम्बेद्यदा काकस्तदाऽऽसन्नैव पचता ॥१८०॥
अश्रुपूर्णदृशो गावो गाढ पादैर्वसुन्धराम्।
खनन्ति चेत्तदानी स्याद्रोगो मृत्युश्च तत्प्रभो ॥१८१॥

यदि काक जूते को, हाथी-अश्व आदि किसी वाहन को अथवा छत्र, शस्त्र, छाया—परछाई, शरीर या केश को चुम्बन—स्पर्श करले तो समझना चाहिए कि मृत्यु सन्निकट है।

यदि आँखो से आँसू बहाती हुई गाय अपने पैरो के द्वारा जोर से पृथ्वी को खोदे, तो उसके स्वामी को रोग और मृत्यु का शिकार होना पडता है।

अनातुरकृते ह्येतत् शकुन परिकीर्तितम्।
अधुनाऽऽतुरमुद्दिश्य शकुन परिकीर्त्यते॥ १८२॥

ऊपर कहे गये शकुन नीरोग पुरुष के काल-निर्णय के लिए है। अब बीमार व्यक्ति को लक्ष्य करके शकुन का विचार करते हैं।

## रोगी के काल का निर्णय

दक्षिणस्या वलित्वा चेत् श्वा गुद लेढ्युरोऽथवा।
लागूल वा तदा मृत्युरेक द्वि-त्रिदिनै क्रमात्॥ १८३॥
शेते निमित्तकाले चेत् श्वा सकोच्याखिल वपु।
धूत्वा कर्णौ वलित्वाङ्ग धुनोत्यथ ततो मृति॥ १८४॥
यदि व्यात्तमुखोलाला मुञ्चन् सकोचितेक्षण।
अग सकोच्य शेते श्वा तदा मृत्युर्न सशय॥ १८५॥

जब रोगी मनुष्य अपनी आयु के विषय मे शकुन देख रहा हो, उस समय यदि कोई कुत्ता या कुत्ती दक्षिण दिशा मे जाकर अपनी गुदा को चाटे तो उसकी एक दिन मे, हृदय को चाटे तो दो दिन मे और पूछ को चाटे तो तीन दिन मे मृत्यु होती है।

जब कभी रोगी निमित्त देख रहा हो, उस समय यदि कुत्ता अपने सम्पूर्ण शरीर को सिकोड कर सोता हो अथवा कानो को फडफडा रहा हो या शरीर को मोडकर हिला रहा हो तो रोगी की मृत्यु होती है।

यदि कुत्ता मुँह फाडकर लार टपकाता हुआ, आँख मींच कर और शरीर को सिकोड कर सोता हुआ दिखाई दे, तो रोगी की निश्चय ही मृत्यु होती है।

**काक का शकुन**

यद्यातुर-गृहस्योर्ध्वं काकपक्षिगणो मिलन् ।
त्रिसन्ध्यं दृश्यते नून तदा मृत्युरुपस्थित· ॥ १८६ ॥
महानसे तथा शय्यागारे काकाः क्षिपन्ति चेत् ।
चर्मास्थि-रज्जु केशान् वा तदासन्नैव पंचता ॥ १८७ ॥

यदि रोगी मनुष्य के घर के ऊपर प्रभात, मध्याह्न और सध्या के समय अर्थात् तीनो सध्याओ के काल मे कौओ का समूह मिल कर कोलाहल करे, तो समझ लेना चाहिए कि रोगी की मृत्यु निकट है।

रोगी की भोजनशाला या शयनगृह के ऊपर कौए चमडा, हड्डी, रस्सी या केश लाकर डाल दे, तो समझना चाहिए कि रोगी की मृत्यु समीप ही है।

**उपश्रुति से काल-निर्णय**

अथवोपश्रुतेर्विन्द्याद्विद्वान् कालस्य निर्णयम् ।
प्रशस्ते दिवसे स्वप्नकाले शस्ता दिशं श्रित· ॥ १८८ ॥
पूत्वा पंचनमस्कृत्याचार्यमन्त्रेण वा श्रुती ।
गेहाच्छन्न - श्रुतिर्गच्छेच्छिल्पि-चत्वर-भूमिषु ॥ १८९ ॥
चन्द्रनेनार्चयित्वा क्ष्मां क्षिप्त्वा गंधाक्षतादि च ।
सावधानस्ततस्तत्रोपश्रुते· शृणुयाद् ध्वनिम् ॥ १९० ॥
अर्थान्तरापदेश्यश्च सरूपश्चेति स द्विधा ।
विमर्श-गम्यस्तत्राद्य· स्फुटोक्तार्थोऽपर· पुनः ॥ १९१ ॥
यथैष भवनस्तम्भ पञ्चषड्भिरय[1] दिनै· ।
पक्षैर्मासैरथो वर्षैर्भक्ष्यते यदि वा न वा ॥ १९२ ॥

---

१. तथेयद्भिरय ।

मनोहरतरश्चासीत् किन्त्वय लघु भक्ष्यते ।
अर्थान्तरापदेश्य स्यादेवमादिरुप श्रुति ॥ १६३ ॥
एषा स्त्री पुरुपो वाऽसौ स्थानादस्मान्न यास्यति ।
दास्यामो न वय गन्तु गन्तुकामो न चाप्ययम् ॥ १६४ ॥
विद्यते गन्तु-कामोऽयमह च प्रेषणोत्सुक. ।
तेन यास्यत्यसौ शीघ्र स्यात्सरूपेत्युपश्रुति ॥ १६५ ॥
कर्णोद्‌घाटन - सजातोपश्रुत्यन्तरमात्मन ।
कुशला कालमासन्नमनासन्नं च जानते ॥ १६६ ॥

विद्वान् पुरुप को उपश्रुति से काल का निर्णय करना चाहिए। उसके निर्णय की विधि इस प्रकार है—

जब भद्रा आदि अपयोग न हो—ऐसे प्रशस्त दिन मे सोने के समय अर्थात् एक प्रहर रात्रि व्यतीत हो जाने पर वह प्रवुद्ध-पुरुप पूर्व, उत्तर या पश्चिम दिशा मे जाए। वह जाते समय पांच नमस्कार मन्त्र का जाप करके अपने दोनो कानो को पवित्र कर ले। फिर कानो को इस प्रकार वन्द कर ले कि उसे किसी व्यक्ति का शब्द सुनाई न पडे और शिल्पियो—कारीगरो के घर की ओर अथवा वाजार की ओर पूर्वोक्त दिशाओ मे गमन करे। वह वहाँ जाकर भूमि को चन्दन से चर्चित करके गध-अक्षत डाल कर, सावधान होकर, कान खोल कर लोगो के शब्दो को सुने। वे शब्द दो प्रकार के होगे—१ अर्थान्तरापदेश्य और २ स्वरूप-उपश्रुति। अर्थान्तरापदेश्य शब्द या उपश्रुति वह है जो प्रत्यक्ष रूप से अभीष्ट अर्थ को प्रकट न करे, वल्कि सोच-विचार करने पर अभीष्ट अर्थ को प्रकट करे। और स्वरूप उपश्रुति वह कहलाती है, जो जिस रूप मे सुनाई दे उसी रूप मे अभीष्ट अर्थ को प्रकट करे।

१ अर्थान्तरापदेश्य उपश्रुति—इस प्रकार समझना चाहिए—'इस घर का स्तभ पांच-छह दिनो मे, पाँच-छह पखवाडों मे, पाँच-छह महीनो मे या पाँच-छह वर्षों मे टूट जायगा, अथवा यह नही टूटेगा।'

'यह स्तम्भ बहुत बढिया था, परन्तु जल्दी ही नष्ट हो जायगा।' इत्यादि प्रकार की उपश्रुति 'अर्थान्तरापदेश्य' कहलाती है। इस उपश्रुति से अपनी आयु का अनुमान लगा लेना चाहिए। जितने दिनो मे स्तम्भ टूटने की ध्वनि सुनाई दे, उतने ही दिनो मे आयु की समाप्ति समझनी चाहिए।

२ स्वरूप-उपश्रुति–इस प्रकार होती है—'यह स्त्री इस स्थान से नही जाएगी। यह पुरुष यहाँ से जाने वाला नही है। हम उसे जाने नही देंगे और वह जाना भी नही चाहता है' या 'अमुक यहाँ से जाना चाहता है, मैं उसे भेज देने के लिए उत्सुक हूँ, अत अब वह शीघ्र ही चला जाएगा।' इस उपश्रुति से भी आयु का निर्णय होता है। इसका अभिप्राय यह है कि यदि जाने की बात सुनाई देती है, तो समझना चाहिए कि आयु का अन्त निकट है और यदि न जाने या न जाने देने की ध्वनि सुनाई देती है, तो समझना चाहिए कि आयु का अन्त सन्निकट नही है।

इस प्रकार कान खोल कर स्वय सुनी हुई उपश्रुति के अनुसार कुशल पुरुष निर्णय कर सकता है कि उसकी आयु का अन्त सन्निकट है या दूर है।

## शनैश्चर के आकार से काल-निर्णय

शनिः स्याद्यत्र नक्षत्रे तद्दातव्यं मुखे तत ।
चत्वारि दक्षिणे पाणौ त्रीणि त्रीणि च पादयोः ॥ १६७ ॥
चत्वारि वामहस्ते तु क्रमशः पंच वक्षसि ।
त्रीणि शीर्षे दृशोर्द्वे द्वे गुह्य एकं शनौ नरे ॥ १६८ ॥
निमित्त-समये तत्र पतितं स्थापना क्रमात् ।
जन्मर्क्ष नामऋक्ष वा गुह्यदेशे भवेद्यदि ॥ १६६ ॥
दृष्टं श्लिष्टं ग्रहैर्दुष्टैः सौम्यैरप्रेक्षितायुतम् ।
सज्जस्यापि तदा मृत्युः का कथा रोगिण. पुन. ॥२००॥

शनि-देव की पुरुष के समान आकृति वना लेना चाहिए। फिर निमित्त देखते समय जिस नक्षत्र मे शनि हो, उसके मुख मे वह नक्षत्र स्थापित करना चाहिए। तत्पश्चात् क्रम से आने वाले चार नक्षत्र दाहिने हाथ मे, तीन-तीन दोनो पैरो मे, चार बाएँ हाथ मे, पांच वक्षस्थल मे, तीन मस्तक मे, दो-दो दोनो नेत्रो मे और एक गुह्य भाग मे स्थापित करना चाहिए।

निमित्त देखते समय, स्थापना के अनुक्रम से जन्म-नक्षत्र अथवा नाम-नक्षत्र यदि गुह्य भाग मे आया हो और उस पर दुष्ट ग्रहो की दृष्टि पडती हो या दुष्ट ग्रहो के साथ मिलाप होता हो और सौम्य गहो की दृष्टि न पडती हो या उनसे मिलाप न होता हो, तो निरोगी होने पर भी उस मनुष्य की मृत्यु होती है। रोगी की तो बात ही क्या ?

**लग्न के अनुसार कालज्ञान**

पृच्छायामथ लग्नास्ते चतुर्थदशमस्थिता ।
ग्रहा क्रूरा शशी पष्ठाष्टमश्चेत् स्यात्तदा मृति. ॥२०१॥

आयु सम्बन्धी प्रश्न पूछने समय जो लग्न चल रहा हो वह उसी समय अस्त हो जाए और क्रूर ग्रह चौथे, सातवे या दसवें रहे हुए हों और चन्द्रमा छठा या आठवां हो, तो उस पुरुष की मृत्यु होती है।

पृच्छाया समये लग्नाधिपतिर्भवति ग्रह. ।
यदि वाऽस्तमितो मृत्यु. सज्जस्यापि तदा भवेत् ॥२०२॥

आयु सम्बन्धी प्रश्न पूछते ममय यदि लग्नाधिपति मेषादि राशि मे गुरु, मगल, और शुक्रादि हो अथवा चालू लग्न का अधिपति ग्रह अस्त हो गया हो तो नीरोग मनुष्य की भी मृत्यु होती है।

लग्नस्थश्चेच्छशी सौरिर्द्वादशो नवम कुज ।
अष्टमोऽर्कस्तदा मृत्यु स्माच्चेन्न बलवान् गुरु ॥ २०३॥

यदि प्रश्न करते समय लग्न मे चन्द्रमा स्थिति हो, बारहवें शनैश्चर

हो, नौवे मगल हो, आठवे सूर्य हो और गुरु यदि बलवान् न हो, तो उसकी मृत्यु होती है।

रवि. षष्ठस्तृतीयो वा शशी च दशमस्थित. ।
यदा भवति मृत्यु स्यात्तृतीये दिवसे तदा ॥ २०४ ॥

यदि आयु सम्बन्धी प्रश्न करते समय सूर्य तीसरे या छठे हो और चन्द्रमा दसवे हो तो उसकी तीसरे दिन मृत्यु समझनी चाहिए।

पापग्रहाश्चेदुदयात्तुर्ये वा द्वादशेऽथवा ।
दिशन्ति तद्विदो मृत्यु तृतीये दिवसे तदा ॥ २०५ ॥

यदि प्रश्न करते समय पापग्रह लग्न से चौथे या बारहवे हो तो कालज्ञान के ज्ञाता पुरुष तीसरे दिन मृत्यु होना बतलाते है।

उदये पचमे वापि यदि पापग्रहो भवेत् ।
अष्टभिर्दशभिर्वा स्याद्दिवसैः पचता तत ॥ २०६ ॥

यदि प्रश्न करते समय चलते लग्न मे अथवा पाँचवें स्थान मे पापग्रह हो तो आठ या दस दिन मे मृत्यु होती है।

धनुर्मिथुनयो सप्तमयोर्यद्यशुभ - ग्रहा ।
तदा व्याधिर्मृतिर्वा स्याज्ज्योतिपामिति निर्णय ॥२०७॥

यदि प्रश्न करते समय सातवे धनुष-राशि और मिथुन-राशि मे अशुभ ग्रह आये हो तो व्याधि या मृत्यु होती है, यह ज्योतिष-शास्त्र के वेत्ताओ का निर्णय है।

## यंत्र के द्वारा कालज्ञान

अन्तस्थाधिकृत-प्राणिनाम - प्रणव - गर्भितम् ।
कोणस्थ - रेफमाग्नेयपुरं ज्वालाशता - कुलम् ॥ २०८ ॥
सानुस्वारैरकाराद्यै. षट्स्वरैः पार्श्वतो वृतम् ।
स्वस्तिकांकबहि कोण स्वाक्षरान्त. प्रतिष्ठितम् ॥ २०९ ॥

चतु पार्श्वस्थ-गुरुय यन्त्र वायुपुरा-वृतम् ।
कल्पयित्वा परिन्यस्येत् पादहृच्छीर्षसन्धिषु ॥ २१० ॥

सूर्योदयक्षणे सूर्यं पृष्ठे कृत्वा तत सुधी ।
स्व-परायुर्विनिश्चेतु निजच्छाया विलोकयेत् ॥ २११ ॥

पूर्णां छाया यदीक्षेत तदा वर्ष न पचता ।
कर्णाभावे तु पचत्व वर्षैर्द्वादशभिर्भवेत् ॥ २१२ ॥

हस्तागुली-स्कन्ध-केश-पार्श्व-नासाक्षये क्रमात् ।
दशाष्ट - सप्त - पच - त्र्येक - वर्षैर्मरण दिशेत् ॥ २१३ ॥

षण्मास्या म्रियते नाशे शिरसश्चिबुकस्य वा ।
ग्रीवानाशे तु मासेनैकादशाहेन दृक्क्षये ॥ २१४ ॥

सच्छिद्रे हृदये मृत्युर्दिवसै सप्तभिर्भवेत् ।
यदि च्छायाद्वय पश्येद्यमपार्श्व तदा व्रजेत् ॥ २१५ ॥

यत्र पर सर्वप्रथम ॐ लिखना चाहिए और उसके साथ जिसकी आयु का निर्णय करना है, उसका नाम भी लिखना चाहिए। एक षट्कोण यन्त्र मे ॐकार होना चाहिए। यत्र के चारो कोणो मे मानो अग्नि की सैकडो ज्वालाओ से व्याप्त अग्निवीज अक्षर 'र' लिखना चाहिए। अनुस्वार सहित अकार आदि 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ'—छह स्वरो से कोणो के वाह्य भागो को घेर लेना चाहिए अर्थात् छहो कोणो मे छह स्वर लिखने चाहिए। फिर छहो कोणो के वाहरी भाग मे छह स्वस्तिक वना लेने चाहिए। स्वस्तिको और स्वरो के बीच मे छह 'स्वा' अक्षर लिखने चाहिए। फिर चारो ओर विसर्ग सहित यकार 'य' लिखना चाहिए और उस यकार के चारो तरफ वायु के पूर से आवृत—सलग्न चार रेखाएँ खीचनी चाहिए।

इस प्रकार का यन्त्र वनाकर उसके पैर, हृदय, मस्तक और सन्धियो मे स्थापित करना चाहिए। तत्पश्चात् सूर्योदय के समय सूर्य की ओर

पीठ करके और पश्चिम मे मुख करके बैठना चाहिए और अपनी या दूसरे की आयु का निर्णय करने के लिए अपनी छाया को देखना चाहिए।

यदि छाया पूर्ण दिखाई दे तो समझना चाहिए कि एक वर्ष तक मृत्यु नही होगी और नीरोगता के साथ सुखपूर्वक वर्ष व्यतीत होगा। यदि अपना कान दिखाई न दे तो बारह वर्ष मे मृत्यु होगी। हाथ न दीखे तो दस वर्ष मे मरण होगा। अगुलियाँ न दीखे तो आठ वर्ष मे, कधा न दीखे तो सात वर्ष मे, केश न दीखें तो पाँच वर्ष मे, पार्श्व भाग न दीखें तो तीन वर्ष मे, नाक न दीखे तो एक वर्ष मे, मस्तक या ठोडी न दीखे तो छह महीने मे, ग्रीवा न दीखे तो एक महीने मे, नेत्र न दीखे तो ग्यारह दिन मे और हृदय मे छिद्र दिखाई दे, तो सात दिन मे मृत्यु होगी। और यदि दो छायाएँ दिखाई दें, तो समझना चाहिए कि मृत्यु पास ही आ पहुँची है।

**विद्या-प्रयोग से काल-निर्णय**

इति यन्त्र प्रयोगेण जानीयात्कालनिर्णयम्।
यदि वा विद्यया विद्याद्वक्ष्यमाणप्रकारया ॥ २१६ ॥

पूर्वोक्त रीति से यन्त्र का प्रयोग करके आयु का निर्णय करना चाहिए अथवा आगे कही जाने वाली विद्या से काल का निर्णय कर लेना चाहिए।

प्रथम न्यस्य चूडाया स्वाशब्दमो च मस्तके।
क्षि नेत्र-हृदये पञ्च नाभ्यब्जे हाक्षर तत ॥ २१७ ॥

सर्वप्रथम चोटी मे 'स्वा' शब्द, मस्तक पर 'ॐ' शब्द, नेत्र मे 'क्ष' शब्द, हृदय मे 'प' शब्द और नाभि-कमल मे 'हा' शब्द स्थापित करना चाहिए।

अनया विद्ययाऽष्टाग्र - शतवारं विलोचने।
स्वच्छाया चाभिमन्त्र्यार्क पृष्ठे कृत्वाऽरुणोदये॥ २१८ ॥

परच्छाया परकृते स्वच्छाया स्वकृते पुनः ।
सम्यक् तत्कृतपूज सन्नुपयुक्तो विलोकयेत् ॥ २१९ ॥

'ॐ' जुस ॐ मृत्युञ्जयाय ॐ वज्रपाणिने शूलपाणिने हर-हर दह-दह स्वरूप दर्शय-दर्शय हुं फट्-फट् ।' इस विद्या से अपने नेत्रो को और अपनी छाया को १०८ वार मन्त्रित करके, सूर्योदय के समय, सूर्य की तरफ पीठ करके, सम्यक् प्रकार से विद्या की पूजा करके, चित्त स्थिर करके, दूसरे के लिए दूसरे की छाया और अपने लिए अपनी छाया देखनी चाहिए।

सम्पूर्ण यदि पश्येत्तामावर्ष न मृतिस्तदा ।
क्रमजघा-जान्वभावे त्रि-द्व्येकाव्दैर्मृति पुन ॥ २२० ॥
ऊरोरभावे दशभिर्मासैर्नश्येत्कटे पुन ।
अष्टाभिर्नवभिर्वापि तुन्दाभावे तु पचपे ॥ २२१ ॥

यदि छाया सम्पूर्ण दिखाई दे तो एक वर्ष पर्यन्त मृत्यु नही होगी। और पैर, जघा और घुटना दिखाई न देने पर अनुक्रम मे तीन, दो और एक वर्ष मे मृत्यु होती है। ऊरु—पिडली दिखाई न देने पर दस महीने मे, कमर दिखाई न देने पर आठ-नौ महीने मे और पेट दिखाई न देने पर पाँच मास मे मृत्यु होती है।

ग्रीवाऽभावे चतुस्त्रि-द्व्येकमासैर्म्रियते पुन ।
कक्षाभावे तु पक्षेण दशाहेन भुजक्षये ॥ २२२ ॥
दिनै स्कधक्षयेऽष्टाभिश्चतुर्याम्या तु हृत्क्षये ।
शीर्षाभावे तु यामाभ्या सर्वाभावे तु तत्क्षणात् ॥ २२३ ॥

यदि गर्दन न दिखाई दे तो चार, तीन, दो या एक मास मे मृत्यु होती है। यदि वगल दिखाई न दे, तो पन्द्रह दिन मे और भुजा दिखाई न दे, तो दस दिन मे मृत्यु होती है।

यदि स्कध दृष्टिगोचर न हो तो आठ दिन मे, हृदय दिखाई न दे तो चार प्रहर मे, मस्तक दिखाई न दे तो दो प्रहर मे और पूरा का पूरा शरीर दिखाई न दे तो तत्काल ही मृत्यु होती है ।

## उपसंहार

एवमाध्यात्मिकं काल विनिश्चेतु प्रसगत ।
बाह्यस्यापि हि कालस्य निर्णय. परिभाषितः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार प्राणायाम—पवन के अभ्यास से शारीरिक कालज्ञान का निर्णय करते हुए प्रसगवश बाह्य निमित्तो से भी काल का निर्णय बताया गया है । इसका तात्पर्य यह है कि सूर्य-नाडी आदि की गति से भी मृत्यु के समय का ज्ञान किया जा सकता है और बाह्य निमित्तो एव शकुन आदि को देखकर भी मृत्यु के समय को जाना जा सकता है ।

## जय-पराजय निर्णय

को जेष्यति द्वयोर्युद्धे इति पृच्छत्यवस्थित ।
जयः पूर्वस्य पूर्णे स्याद्रिक्ते स्यादितरस्य तु ॥ २२५ ॥

दो विरोधी व्यक्तियो के युद्ध मे किसकी विजय होगी ? इस प्रकार का प्रश्न करने पर, प्रश्न के समम यदि पूर्ण नाडी हो अर्थात् स्वाभाविक रूप से पूरक हो रहा हो—श्वास भीतर की ओर खिच रहा हो तो जिसका नाम पहले लिया गया है, उसकी विजय होती है और यदि नाडी रिक्त हो अर्थात् वायु बाहर निकल रहा हो तो दूसरे की विजय होती है ।

## रिक्त-पूर्ण का लक्षण

यत्त्यजेत् सचरन् वायुस्तद्रिक्तमभिधीयते ।
सक्रमेद्यत्र तु स्थाने तत्पूर्णं कथित बुधैः ॥ २२६ ॥

चलते हुए वायु का बाहर निकालना 'रिक्त' कहलाता है और नासिका के स्थान मे पवन भीतर प्रवेश करता हो तो उसे विद्वान् 'पूर्ण

कहते हैं। वायु का बाहर निकलना 'रिक्त' और नासिका के द्वारा भीतर प्रविष्ट होना 'पूर्ण' कहलाता है।

## स्वरोदय से शुभाशुभ-निर्णय

प्रश्नाऽऽदौ नाम चेद् ज्ञातुर्गृह्णात्यन्वातुरस्य तु।
स्यादिष्टस्य तदा सिद्धिर्विपर्यासे विपर्यय ॥२२७॥

यदि प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करते समय पहले जानने वाले का अर्थात् जिससे प्रश्न किया जा रहा है, उसका नाम ले तो इष्ट सिद्धि होती है। इसके विपरीत, पहले रोगी का और फिर जानने वाले का नाम ले तो परिणाम भी विपरीत ही होता है।

**टिप्पण**—इस प्रकार का प्रश्न अनजान मे पूछा जाए तभी उसका सही फल मालूम हो सकता है। यदि कोई प्रश्नकर्त्ता उपर्युक्त नियम को जानकर यदि जानकार का नाम पहले लेकर प्रश्न पूछे तो यह नही कहा जा सकता कि रोगी जीवित रहेगा ही। उसकी परीक्षा दूसरे उपायो से की जानी चाहिए।

वाम-बाहुस्थिते दूते समनामाक्षरो जयेत्।
दक्षिण-बाहुगे त्वाजौ विषमाक्षर-नामक ॥ २२८ ॥

युद्ध मे किस पक्ष की जय होगी ? इस प्रकार प्रश्न करने वाला दूत यदि बायी ओर खडा हो और युद्ध करने वाले का नाम—दो, चार, छह आदि सम अक्षर का हो, तो उसकी विजय होगी और यदि प्रश्नकर्त्ता दाहिनी ओर खडा हो, तो विषम अक्षरो के नाम वाले की विजय होगी।

भूतादिभिर्गृहीताना दष्टाना वा भुजङ्गमै.।
विधि पूर्वोक्त एवासौ विज्ञेय खलु मान्त्रिकै ॥ २२९ ॥

जो भूत आदि से आविष्ट हो अथवा जो सर्प आदि से डँस लिये गये हो, ऐसे मनुष्यो के सम्बन्ध मे भी मत्रवेत्ताओ को उनके ठीक होने या न होने का निर्णय करने के लिए पूर्वोक्त विधि ही समझनी चाहिए।

पूर्णा संजायते वामा नाडी हि[1] वरुणेन चेत् ।
कार्याण्यारभ्यमाणानि तदा सिध्यन्त्यसशयम् ॥ २३० ॥

पहले कहे हुए चार मडलो मे से दूसरे वारुण मडल से यदि वाम नाडी पूर्ण वह रही हो तो उस समय प्रारम्भ किए गए कार्य अवश्य ही सफल होते हैं ।

जय-जीवित-लाभादि-कार्याणि निखिलान्यपि ।
निष्फलान्येव जायन्ते पवने दक्षिणास्थिते ॥ २३१ ॥

यदि वारुण मडल के उदय के समय पवन दाहिनी नासिका मे चल रहा हो तो जय, जीवन एव लाभ आदि सम्बन्धी सर्व कार्य निष्फल ही होते हैं ।

ज्ञानी बुद्ध्वाऽनिल सम्यक् पुष्पं हस्तात्प्रपातयेत् ।
मृत-जीवित-विज्ञाने तत कुर्वीत निश्चयम् ॥२३२॥

जीवन और मरण सम्बन्धी विज्ञान को प्राप्त करने के लिए ज्ञानी पुरुष वायु को भली-भाँति जानकर और अपने हाथ से पुष्प नीचे गिराकर उसके द्वारा भी निश्चय कर सकते है ।

त्वरितो वरुणे लाभश्चिरेण तु पुरन्दरे ।
जायते पवने स्वल्प-सिद्धोऽप्यग्नौ विनश्यति ॥ २३३ ॥

यदि प्रश्न करते समय उत्तरदाता को वरुण-मडल का उदय हो तो उसका तत्काल लाभ होता है, ऐसा समझना चाहिए । पुरन्दर मडल का उदय होने पर देर से लाभ होता है, पवन मडल का उदय हो तो साधारण लाभ होता है और अग्नि मडल का उदय हो तो सिद्ध कार्य का भी नाश हो जाता है, ऐसा समझना चाहिए ।

आयाति वरुणे यातः, तत्रैवास्ते सुखं क्षितौ ।
प्रयाति पवनेऽन्यत्र, मृत इत्यनले वदेत् ॥ २३४ ॥

यदि किसी गाँव या देश गए हुए मनुष्य के सम्बन्ध मे वरुण मडल

1. विशता ।

के उदय के समय प्रश्न किया जाए तो वह जल्दी ही लौट कर आने वाला है, पृथ्वी मडल मे प्रश्न किया जाए तो वह जहाँ गया है वहाँ सुखपूर्वक है, पवन मडल मे प्रश्न किया जाए तो वह वहाँ से अन्यत्र चला गया है, अग्निमडल मे प्रश्न किया जाए तो उसकी मृत्यु हो गई है, ऐसा फल समझना चाहिए ।

दहने युद्ध-पृच्छाया युद्धभगश्च दारुण. ।
मृत्यु सैन्य-विनाशो वा पवने जायते पुन ॥ २३५ ॥

यदि अग्नि मडल मे युद्ध सम्बन्धी प्रश्न किया जाए तो महायुद्ध होगा और उसमे शत्रु की ओर से पराजय प्राप्त होगी, पवन मडल मे प्रश्न किया जाए तो जिसके विषय मे प्रश्न किया गया हो, उसकी मृत्यु होगी और सेना का विनाश होगा ।

महेन्द्रे विजयो युद्धे वारुणे वाञ्छिताधिक ।
रिपु-भगेन सन्धिर्वा स्वसिद्धि-परिसूचक ॥ २३६ ॥

यदि पृथ्वी मडल मे प्रश्न करे तो युद्ध मे विजय प्राप्त होगी, वरुण-मडल मे प्रश्न करे तो अभीष्ट से भी अधिक फल की प्राप्ति होगी अथवा शत्रु का मान भग होकर अपनी सिद्धि को सूचित करने वाली सधि होगी ।

भौमे वर्षति पर्जन्यो वरुणे तु मनोमतम् ।
पवने दुर्दिनाम्भोदा वह्नौ वृष्टि कियत्यपि ॥ २३७ ॥

यदि पृथ्वी मडल मे वर्षा सम्बन्धी प्रश्न किया जाए तो वर्षा होगी, वरुण मडल मे किया जाए तो मनचाही वर्षा होगी, पवन मडल मे किया जाए तो बादल होगे, पर वर्षा नही होगी और यदि अग्नि मडल में किया जाए तो मामूली वर्षा होगी, ऐसा फल समझना चाहिए ।

वरुणे शस्य-निष्पत्तिरतिश्लाघ्या पुरन्दरे ।
मध्यस्था पवने च स्यान्न स्वल्पाऽपि हुताशने ॥२३८॥

यदि धान्य उत्पन्न होने के सम्बन्ध मे वरुण-मंडल मे प्रश्न किया जाए तो धान्य की उत्पत्ति होगी, पुरन्दर—पृथ्वी-मडल मे प्रश्न किया जाए तो बहुत बढिया धान्योत्पत्ति होगी, पवन-मंडल मे प्रश्न किया जाए तो मध्यम रूप से उत्पत्ति होगी—कही होगी और कही नही होगी, और यदि अग्नि-मडल मे प्रश्न किया जाए, तो धान्य की बिल्कुल उत्पत्ति नहीं होगी।

महेन्द्र-वरुणौ शस्तौ गर्भप्रश्ने सुतप्रदौ।
समीर-दहनौ स्त्रीदौ शून्यं गर्भस्य नाशकम् ॥ २३६ ॥

गर्भ सम्बन्धी प्रश्न करते समय पार्थिव और वारुण-मडल प्रशस्त माने गए हैं। इनमे प्रश्न करने पर पुत्र की प्राप्ति होती है। वायु और अग्नि-मडल मे प्रश्न करने पर पुत्री का जन्म होता है और सुषुम्णा नाडी चलते समय प्रश्न करे तो गर्भ का नाश होता है, ऐसा समझना चाहिए।

गृहे राजकुलादौ च प्रवेशे निर्गमेऽथवा।
पूर्णांगपादं पुरतः कुर्वत स्यादभीप्सितम् ॥ २४० ॥

यदि गृह मे या राजकुल आदि मे प्रवेश करते समय या उनमे से बाहर निकलते समय पूर्णांग वाले पैर को; अर्थात् नाक के जिस तरफ के छिद्र से वायु निकलती हो, उस तरफ के पैर को पहले आगे रखकर चलने से इष्ट कार्य की सिद्धि होती है।

## कार्य-सिद्धि का उपाय

गुरु-बन्धु-नृपामात्या अन्येऽपीप्सितदायिनः।
पूर्णांगे खलु कर्त्तव्याः कार्यसिद्धिमभीप्सता ॥ २४१ ॥

जो मनुष्य अपने कार्य की सिद्धि चाहता है, उसे गुरु, बंधु, राजा, अमात्य—मत्री या अन्य लोगो को, जिनसे कोई अभीष्ट वस्तु प्राप्त करनी है, अपने पूर्णांग की तरफ रखना चाहिए, अर्थात् नासिका के जिस छिद्र मे से पवन बहता हो, उस ओर उन्हे रखकर स्वय बैठना चाहिए।

ऐसा करने से उसका इष्ट कार्य सिद्ध होता है, उसकी अभिलाषा परिपूर्ण होती है।

**वशीकरण**

आसने शयने वापि पूर्णांगे विनिवेशिताः।
वशीभवन्ति कामिन्यो न कार्मणमत परम् ॥ २४२ ॥

अपने आसन या शयन के समय अपने पूर्णांग की ओर स्त्रियों को बैठाने से वे सब उसके वश में हो जाती हैं। दुनिया मे इससे उत्तम अन्य कोई कामण—जादू-टोना नही है।

अरि-चौराधमर्णाद्या अन्येऽप्युत्पातविग्रहा।
कर्त्तव्या खलु रिक्तांगे जयलाभसुखार्थिभि.॥ २४३ ॥

जो व्यक्ति विजय, लाभ और सुख के अभिलाषी हैं, उन्हें चाहिए कि वे शत्रु को, चोर को, कर्जदार को तथा अन्य उत्पात्त, विग्रह आदि करके दु ख पहुंचाने वालो को अपने रिक्तांग की ओर रखे, अर्थात् जिस ओर की नासिका मे से वायु न बह रही हो उस ओर बैठाएँ। ऐसा करने से वे दु:ख नही दे सकेंगे। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पात्त करने वाले दुष्ट व्यक्तियो को सदा रिक्त-अंग की ओर रखना चाहिए।

प्रतिपक्ष-प्रहारेभ्य पूर्णांगं योऽभिरक्षति।
न तस्य रिपुभि शक्तिर्बलिष्ठैरपि हन्यते ॥ २४४ ॥

जो पुरुष शत्रु के प्रहारो से अपने पूर्णांग की रक्षा करता है, अत्यन्त बलवान् शत्रु भी उसकी शक्ति का विनाश नही कर सकता।

**पुत्र-पुत्री का जन्म**

वहन्ती नासिका वामा दक्षिणा वाऽभिसंस्थित।
पृच्छेद्यदि तदा पुत्रो रिक्ताया तु सुता भवेत् ॥ २४५ ॥

सुषुम्णा-वाहभागे द्वौ शिशू रिक्ते नपुंसकम् ।
सङ्क्रान्तौ गर्भहानिः स्यात् समे क्षेममसंशयम् ।। २४६ ।।

यदि कोई व्यक्ति सामने खड़ा होकर गर्भ के सम्बन्ध मे प्रश्न करे और उत्तरदाता की बायी या दाहिनी नासिका चल रही हो तो पुत्र का जन्म होता है, ऐसा कहना चाहिए । और यदि वह रिक्त नासिका की ओर बगल मे खड़ा होकर प्रश्न करे तो पुत्री का जन्म होता है, ऐसा कहना चाहिए ।

यदि प्रश्न करते समय सुषुम्णा नाडी चलती हो और प्रश्नकर्त्ता सन्मुख खडा हो तो दो बालकों का जन्म होता है, ऐसा कहना चाहिए । यदि सुषुम्णा नाडी को छोड़कर आकाश-मडल मे पवन चले जाने पर प्रश्न किया जाए, तो नपुंसक का जन्म होता है, और आकाश-मडल से दूसरी नाडी मे संक्रमण करते समय प्रश्न किया जाए, तो गर्भ का नाश होता है, ऐसा कहना चाहिए । यदि सम्पूर्ण तत्त्व का उदय होने पर प्रश्न किया जाए, तो निस्सन्देह क्षेमकुशल और मनोवाछित फल की सिद्धि होती है ।

**मतान्तर**

चन्द्रे स्त्री पुरुष. सूर्ये मध्यभागे नपुंसकम् ।
प्रश्नकाले तु विज्ञेयमिति कैश्चिन्निगद्यते ।। २४७ ।।

यदि प्रश्न करते समय चन्द्र स्वर चल रहा हो और प्रश्नकर्त्ता सन्मुख खडा होकर प्रश्न कर रहा हो तो पुत्री का जन्म होता है, सूर्य स्वर चल रहा हो तो पुत्र का जन्म होता है और सुषुम्णा नाड़ी चल रही हो तो नपुंसक का जन्म होता है । कई आचार्यों की ऐसी मान्यता है ।

**पवन को पहचानने की विधि**

यदा न ज्ञायते सम्यक् पवनः सञ्चरन्नपि ।
पीतश्वेतारुणश्यामैर्निश्चेतव्याः स बिन्दुभिः ।। २४८ ।।

यदि एक मडल से दूसरे मडल मे जाता हुआ पुरन्दरादि वायु जब भली-भाँति ज्ञात न हो—तब पीले, श्वेत, लाल, और काले बिन्दुओ से उसका निश्चय करना चाहिए।

## बिन्दु देखने की विधि

अगुष्ठाभ्या श्रुती मध्यागुलीभ्या नासिकापुटे।
अन्त्योपान्त्यागुलीभिश्च पिधाय वदनाम्बुजम् ॥ २४९ ॥

कोणावक्ष्णोर्निपीड्याद्यागुलीभ्या श्वासरोधतः।
यथावर्ण निरीक्षेत बिन्दुमव्यग्र-मानस ॥ २५० ॥

दोनो अगूठो से कान के दोनो छिद्र, मध्य अगुलियो से नासिका के दोनो छिद्र, अनामिका और कनिष्ठा अगुलियो से मुख और तर्जनी अगुलियो से आँख के कोने दबाकर, श्वासोच्छ्वास को रोक कर, शान्त चित्त से भ्रकुटि मे जिस वर्ण के बिन्दु दिखाई दे, उन्हे देखना चाहिए।

## बिन्दु-ज्ञान से पवन-निर्णय

पीतेन बिन्दुना भौम सितेन वरुण पुन।
कृष्णेन पवन विन्द्यादरुणेन हुताशनम् ॥ २५१ ॥

पीला बिन्दु दिखाई दे तो पुरन्दर वायु, श्वेत दिखाई दे तो वरुण वायु, कृष्ण बिन्दु परिलक्षित हो तो पवन नामक वायु और लाल बिन्दु दृष्टिगोचर हो तो अग्नि वायु समझनी चाहिए।

## नाड़ी की गति को रोकना

निरुरुत्सेद् वहन्ती यां वामां वा दक्षिणामथ।
तदग पीडयेत्सद्यो यथा नाडीतरा वहेत् ॥ २५२ ॥

चलती हुई बायी या दाहिनी नाडी को रोकने की इच्छा हो तो उस ओर के पार्श्व भाग को दबाना चाहिए। ऐसा करने से दूसरी नाडी चालू हो जाएगी और चालू नाडी बन्द हो जाएगी। इस तरह की क्रिया करने से नाडी की गति मे परिवर्तन आ जाएगा।

### चन्द्र-क्षेत्र सूर्य-क्षेत्र

अग्रे वाम-विभागे हि शशिक्षेत्रं प्रचक्षते ।
पृष्ठे दक्षिण-भागे तु रविक्षेत्र मनीषिण· ॥ २५३ ॥

विद्वान् पुरुषो का कथन है कि शरीर के वाम भाग मे आगे की ओर चन्द्र का क्षेत्र है और दाहिने भाग मे पीछे की ओर सूर्य का क्षेत्र है ।

### वायुज्ञान का महत्त्व

लाभालाभौ सुखं दुःख जीवितं मरणं तथा ।
विदन्ति विरला· सम्यग् वायुसंचारवेदिनः ॥ २५४ ॥

वायु के सचार को जानने वाले पुरुष सम्यक् रूप से लाभ-अलाभ, सुख-दुःख, जीवन-मरण को जानते है, परन्तु ऐसे वायु-सचार वेत्ता विरले पुरुष ही होते हैं ।

### नाड़ी-शुद्धि

अखिलं वायुजन्मेदं सामर्थ्यं तस्य जायते ।
कर्तु नाडि-विशुद्धिं य· सम्यग् जानात्यमूढधीः ॥ २५५ ॥

जो प्रवुद्ध पुरुष भली-भाँति नाडी की विशुद्धि करना जानता है, उसे वायु से उत्पन्न होने वाले सर्व सामर्थ्य प्राप्त हो जाते हैं । वह व्यक्ति सर्वशक्ति-संपन्न हो जाता है ।

### नाड़ी-शुद्धि की विधि

नाभ्यब्ज-कर्णिकारूढ कलाबिन्दु-पवित्रितम् ।
रेफाक्रान्तं स्फुरद्भासं हकारं परिचिन्तयेत् ॥ २५६ ॥
तं ततश्च तडिद्वेगं स्फुलिंगार्चिशताञ्चितम् ।
रेचयेत्सूर्यमार्गेण प्रापयेच्च नभस्तलम् ॥ २५७ ॥
अमृतं प्लावयन्त तमवतार्य शनैस्तत· ।
चन्द्राभं चन्द्रमार्गेण नाभिपद्मे निवेशयेत् ॥ २५८ ॥

निष्क्रमं च प्रवेशं च यथामार्गमनारतम् ।
कुर्वन्नेव महाभ्यासो नाडीशुद्धिमवाप्नुयात् ॥ २५६ ॥

नाभिकमल की कर्णिका मे आरूढ, कला और बिन्दु से युक्त तथा रेफ से आक्रान्त हकार का अर्थात् 'हं' का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् विद्युत जैसे वेगवान और सैकडो चिनगारियो एव ज्वालाओ से युक्त 'हं' को सूर्यनाडी के मार्ग से रेचक करके अर्थात् बाहर निकाल कर आकाश मे ऊपर तक पहुंचाना चाहिए या ऐसी कल्पना करनी चाहिए। उसे आकाश मे पहुंचा कर अमृत से प्लावित करके, धीरे-धीरे नीचे उतार कर, चन्द्रमा के समान उज्ज्वल और शान्त बने हुए 'हं' को चन्द्रनाडी के मार्ग से भीतर प्रविष्ट करके नाभि-कमल में स्थापित करना चाहिए।

इस प्रकार कथित मार्ग से निरन्तर प्रवेश और निर्गमन कराते-कराते अत्यधिक अभ्यासी पुरुष नाडी-शुद्धि को प्राप्त कर लेता है।

### नाड़ी-शुद्धि का फल

नाडीशुद्धाविति प्राज्ञ सम्पन्नाभ्यासकौशल. ।
स्वेच्छया घटयेद्वायु पुटयोस्तत्क्षणादपि ॥ २६० ॥

विचक्षण पुरुष नाडी-शुद्धि करने के अभ्यास मे कुशलता प्राप्त करके, वह अपनी इच्छा के अनुसार वायु को एक नाडी से दूसरी नाडी मे परिवर्तित कर सकता है।

### वायु-वहन का काल

द्वे एव घटिके सार्धे एकस्यामवतिष्ठते ।
तामुत्सृज्यापरा नाडीमधितिष्ठति मारुत ॥ २६१ ॥

वायु एक नाडी मे अढाई घडी—एक घटा बहती है, फिर उस नाडी को छोडकर दूसरी नाडी मे बहने लगती है। इस प्रकार उलट-फेर होता रहता है।

षट्शत्याभ्यधिकान्याहु· सहस्राण्येकविंशतिम् ।
अहोरात्रे नरि स्वस्थे प्राणवायोर्गमागमम् ॥ २६२ ॥

एक अहो-रात्रि—रात और दिन मे स्वस्थ व्यक्ति की प्राण-वायु—श्वासोच्छ्वास का इक्कीस हजार छह सौ बार आवागमन होता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि स्वस्थ व्यक्ति २४ घटे मे २१,६०० श्वासोच्छ्वास लेता है।

## तत्त्व-निर्णय का अनधिकारी

मुग्धधीर्यः समीरस्य सक्रान्तिमपि वेत्ति न· ।
तत्त्वनिर्णयवार्ता स कथं कर्तुं प्रवर्त्तते ॥ २६३ ॥

जो मूढ-बुद्धि पुरुष वायु के सक्रमण को, अर्थात् एक नाड़ी मे से दूसरी नाडी मे जाने की विधि को भी नही जानता है, वह पूर्वोक्त पुरन्दर आदि तत्वों की बात कैसे कर सकता है? अर्थात् तत्त्व-निर्णय के लिए वायु-सक्रमण को जानना अत्यावश्यक है। वायु-सक्रमण की विधि के ज्ञान से रहित व्यक्ति तत्त्व का निर्णय नही कर सकता।

## परकाय-प्रवेश की विधि

पूरितं पूरकेणाधोमुख हृत्पद्ममुन्मिषेत् ।
ऊर्ध्वश्रोतो भवेत्तच्च कुम्भकेन प्रबोधितम् ॥ २६४ ॥

आक्षिप्य रेचकेनाथ कर्षेद्वायुं हृदम्बुजात् ।
ऊर्ध्वश्रोत·पथग्रन्थि भित्वा ब्रह्मपुरं नयेत् ॥ २६५ ॥
ब्रह्मरन्ध्रान्निष्क्रमय्य योगी कृतकुतूहलः ।
समाधितोऽर्कतूलेषु वेधं कुर्याच्छनै· शनैः ॥ २६६ ॥

मुहुस्तत्र कृताभ्यासो मालती-मुकुलादिषु ।
स्थिरलक्ष्यतया[1] वेधं सदा कुर्यादतन्द्रित· ॥ २६७ ॥

---

१. लक्षतया ।

दृढाभ्यासस्तत कुर्याद् वेध वरुण-वायुना।
कर्पूरा-गुरु-कुष्ठादि-गन्ध-द्रव्येषु सर्वत. ॥ २६८ ॥
एतेषु लब्धलक्षोऽथ[1] वायुसयोजने पटु।
पक्षि-कायेषु सूक्ष्मेषु विदध्याद्वेधमुद्यत ॥ २६९ ॥
पतङ्ग-भृङ्ग-कायेषु जाताभ्यासो मृगेष्वपि।
अनन्यमानसो धीर सञ्चरेद्विजितेन्द्रिय ॥ २७० ॥
नराश्व-करिकायेषु प्रविशन्निस्सरन्निति।
कुर्वीत सक्रम पुस्तोपलरूपेष्वपि क्रमात् ॥ २७१ ॥

पूरक क्रिया के द्वारा जब वायु अन्दर ग्रहण की जाती है, तब हृदय-कमल अधोमुख और सकुचित हो जाता है। वही हृदम-कमल कुम्भक करने से विकसित और ऊर्ध्वमुख हो जाता है। अत पहले कुम्भक करना चाहिए और फिर हृदय-कमल की वायु को रेचक क्रिया द्वारा हिलाकर हृदय-कमल मे से वायु को ऊपर खीचना चाहिए। यह रेचक क्रिया वायु को बाहर निकालने के लिए नही, किन्तु अन्दर ही कुम्भक के बन्धन से वायु को मुक्त करने के लिए की जाती है। उक्त क्रिया करने के पश्चात् उस वायु को ऊपर की ओर प्रेरित करके, बीच की दुर्भेद्य ग्रन्थि को भेद कर ब्रह्मरन्ध्र मे ले जाना चाहिए। यहाँ योगी को समाधि प्राप्त हो सकती है।

यदि योगी को-कौतुक—चमत्कार करने या देखने की इच्छा हो तो उस पवन को ब्रह्मरन्ध्र से बाहर निकाल कर, समाधि के साथ आक की रुई मे धीरे-धीरे वेध करना चाहिए अर्थात् पवन को उस रुई पर छोडना चाहिए।

आक की रुई पर बार-बार अभ्यास करने से, अर्थात् पवन को बार-बार ब्रह्मरन्ध्र पर और बार-बार रुई पर लाने से जब अभ्यास परिपक्व हो जाए, तब योगी को स्थिरता के साथ मालती आदि के पुष्पो को लक्ष्य बनाकर सावधानी से पवन को उन पर छोड देना चाहिए।

---

१. लक्ष्योऽथ।

जब यह अभ्यास दृढ हो जाए और वरुण वायु चल रहा हो, तो कपूर, अगर और कुष्ट आदि सुगंधित द्रव्यो मे पवन को वेध करना—छोडना शुरू कर दे।

इन सब मे वेध करने मे जब सफलता प्राप्त हो जाए और साधक जब वायु के सयोजन मे कुशल हो जाए, तब छोटे-छोटे पक्षियो के मृत शरीर मे वेध करने का प्रयत्न करे। पतग और भ्रमर आदि के मृत शरीर मे वेध करने का अभ्यास करने के पश्चात् मृग आदि के विषय मे भी अभ्यास प्रारम्भ करना चाहिए। तत्पश्चात् एकाग्रचित्त, धीर एव जितेन्द्रिय होकर योगी को मनुष्य, घोडा, हाथी आदि के मृत शरीरो मे पवन को वेध करना चाहिए। उनमे प्रवेश और निर्गम करते-करते अनुक्रम से पाषाण की पुतली, देवप्रतिमा आदि मे प्रवेश करना चाहिए।

एवं परासुदेहेषु प्रविशेद्वाम-नासया ।
जीवद्देहप्रवेशस्तु नोच्यते पाप-शङ्कया ॥ २७२ ॥

इस प्रकार मृत जीवो के शरीर मे वायी नासिका से प्रवेश करना चाहिए। पाप की शंका से जीवित देह मे प्रवेश करने का कथन नही किया गया है।[1]

---

१. योग-माधना की प्रक्रिया से साधक किसी जीवित व्यक्ति के शरीर मे भी प्रवेश कर सकता है। परन्तु, दूसरे के प्राणो का नाश किए विना उसके शरीर मे प्रवेश नही किया जा सकता है, अत परकीय जीवित शरीर मे प्रवेश करने का उपदेश वस्तुत हिंसा का उपदेश है। तथापि ग्रंथ को अपूर्ण न रखने के अभिप्राय से आचार्य ने प्रस्तुत ग्रन्थ की टीका में उसका दिग्दर्शन मात्र कराया है।

ब्रह्मरन्ध्रेण निर्गत्य प्रविश्यापानवर्त्मना ।
श्रित्वा नाभ्यम्बुजं यायात् हृदम्भोजं सुषुम्णया ॥ १ ॥

**पर-काय प्रवेश का फल**

क्रमेणैव परपुर-प्रवेशाभ्यास-शक्तितः ।
विमुक्त इव निर्लेप. स्वेच्छया सचरेत्सुधी. ॥२७३॥

इस क्रम से दूसरे के शरीर मे प्रविष्ट होने की शक्ति उत्पन्न होने के कारण बुद्धिमान योगी मुक्त पुरुष की तरह निर्लेप होकर अपनी इच्छानुसार विचरण कर सकता है ।

---

तत्र तत्प्राणसचार निरुध्यान्निजवायुना ।
यावद्देहात्ततो देही गतचेष्टो विनिष्पतेत् ॥ २ ॥

तेन देहे विनिर्मुक्ते प्रादुर्भूतेन्द्रियक्रिय. ।
वर्तेत सर्वकार्येषु स्वदेह इव योगवित् ॥ ३ ॥

दिनार्धं वा दिन चेति क्रीडेत् परपुरे सुधी. ।
अनेन विधिना भूयः प्रविशेदात्मन पुरम् ॥ ४॥

ब्रह्मरन्ध्र से निकल कर अपान—गुदा के मार्ग से परकीय शरीर मे प्रवेश करना चाहिए । प्रवेश करने के पश्चात् नाभि-कमल का आश्रय लेकर, सुषुम्णा नाडी के द्वारा हृदय-कमल मे जाना चाहिए । वहाँ जाकर अपनी वायु के द्वारा उसके प्राण सचार को रोक देना चाहिए और तब तक रोके रखना चाहिए, जब तक वह निश्चेष्ट होकर गिर न पडे । थोडी देर मे वह आत्मा देह से मुक्त हो जाएगा । तब अपनी ओर से इन्द्रियो की क्रिया प्रकट होने पर योगी उस शरीर से, अपने शरीर की तरह काम लेने लगेगा । आधा दिन या एक दिन तक परकीय शरीर मे क्रीडा करके प्रबुद्ध पुरुष इसी विधि से पुन अपने शरीर मे प्रविष्ट हो जाते हैं ।

# षष्ठ प्रकाश

## परकाय-प्रवेश : अपारमार्थिक

इह चायं पर पुरप्रवेशश्चित्रमात्रकृत् ।
सिध्येन्न वा प्रयासेन कालेन महताऽपिहि ॥१॥

पञ्चम-प्रकाश मे दूसरे के शरीर मे प्रवेश करने की विधि का जो दिग्दर्शन कराया गया है, वह केवल कुतूहलजनक ही है, उसमे परमार्थ का अंशमात्र भी नही है। इसके अतिरिक्त बहुत लम्बे समय तक महान् प्रयास करना पडता है और इतना कठिन अभ्यास करने पर भी कभी उसकी सिद्धि हो जाती है और कभी नही भी होती। इसका तात्पर्य यह है कि यह प्रक्रिया केवल चमत्कारिक है। इससे साध्य की सिद्धि नही होती।

जित्वाऽपि पवन नानाकरणैः क्लेश-कारणैः ।
नाड़ीप्रचारमायत्तं विधायापि वपुर्गतम् ॥२॥
अश्रद्धेय परपुरे साधयित्वाऽपि सक्रमम् ।
विज्ञानैकप्रसक्तस्य मोक्षमार्गो न सिध्यति ॥३॥

कष्टप्रद विभिन्न आसनो की साधना से पवन को जीतकर भी, शरीर के अन्तर्गत नाडी के सचार को अपने अधीन करके भी और जिस पर दूसरे श्रद्धा भी नही कर सकते, उस परकाय-प्रवेश मे सिद्धि प्राप्त करके भी, जो पुरुष इस विज्ञान मे आसक्त रहता है, वह अपवर्ग-मुक्ति को प्राप्त नही कर सकता है।

**प्राणायाम की अनावश्यकता**

तन्नाप्नोति मन स्वास्थ्य प्राणायामै कर्दथितम् ।
प्राणस्यायमने पीडा तस्या स्याच्चित्त-विप्लव ॥४॥
पूरणे कुम्भने चैव रेचने च परिश्रम ।
चित्त-सक्लेश-करणान्मुक्तेः प्रत्यूह-कारणम् ॥५॥

प्राणायाम के द्वारा पीडित मन स्वस्थ नही हो सकता है । क्योकि, प्राण का निग्रह करने से शरीर मे पीडा उत्पन्न होती है और शरीर मे पीडा होने से मन मे चपलता उत्पन्न होती है ।

पूरक, कु भक और रेचक करने मे परिश्रम करना पडता है । परिश्रम करने से मन मे सक्लेश उत्पन्न होता है और मन की सक्लेशमय स्थिति मोक्ष मे बाधक है ।

**टिप्पण**—प्राणायाम की प्रक्रिया से मन कुछ देर के लिए कार्य करना बन्द कर देता है, परन्तु इससे स्थिर नही हो पाता । अत प्राणायाम का बन्धन शिथिल होते ही वह तेजी से दौडता है और साधना से बहुत दूर निकल जाता है । अत मन को स्थिर करने के लिए उसका प्राणायाम के द्वारा निरोध न करके उसे किसी पदार्थ एव द्रव्य के चिन्तन मे लगाकर स्थिर करना चाहिए ।

**प्रत्याहार**

इन्द्रियै सममाकृष्य विषयेभ्य प्रशान्तधी ।
धर्मध्यानकृते तस्मान्मन कुर्वीत निश्चलम् ॥६॥

प्रशान्त बुद्धि वाला साधक इन्द्रियो के साथ मन को भी शब्द, रूप, गध, रस और स्पर्श—इन पाँचो विषयो से हटाकर, उसे धर्मध्यान के चिन्तन मे लगाने का प्रयत्न करे ।

**टिप्पण**—अभिप्राय यह है कि जब तक इन्द्रियाँ और मन विषयो से विरत नही हो जाते, तब तक मन मे शान्ति का प्रादुर्भाव नही होता ।

अत मन को प्रशान्त बनाने के लिए उसे विषयो की ओर से हटाना आवश्यक है। प्रशान्त मन ही निश्चल हो सकता है और धर्मध्यान के लिए मन का निश्चल होना अनिवार्य है। अत मन को बाह्य एव अभ्यन्तर इन्द्रियो से पृथक् कर लेना ही 'प्रत्याहार' कहलाता है।

## धारणा

नाभी-हृदय-नासाग्र-भाल-भ्रू-तालु-दृष्टयः।
मुख कर्णौ शिरश्चेति ध्यानस्थानान्यकीर्त्तयन् ॥७॥

नाभि, हृदय, नासिका का अग्रभाग, कपाल, भ्रकुटि, तालु, नेत्र, मुख, कान और मस्तक, यह ध्यान करने के लिए धारणा के स्थान हैं। अर्थात् इन स्थानो मे से किसी भी एक स्थान पर चित्त को स्थिर करना चाहिए। चित्त को स्थिर करना ही 'धारणा' है।

**टिप्पण**—ध्यान के लिए वचन और काय के साथ मन को एकाग्र करना आवश्यक है। अत ध्यान—आत्म-चिन्तन करते समय यह आवश्यक है कि मन को एक पदार्थ के चिन्तन मे स्थिर किया जाए। वस्तुत ध्यान मन को एक स्थान पर एकाग्र करने—स्थिर रखने की साधना है।

## धारणा का फल

एषामेकत्र कुत्रापि स्थाने स्थापयतो मनः।
उत्पद्यन्ते स्वसवित्तेर्बहवः प्रत्ययाः किल ॥ ८ ॥

पूर्वोक्त स्थानो मे से किसी भी एक स्थान पर लम्बे समय तक मन को स्थापित करने से निश्चय ही स्वसवेदन के अनेक प्रत्यय उत्पन्न होते हैं।

**टिप्पण**—इन्द्रियो को और मन को विषयो से खीच लेने के पश्चात् धारणा होती है। विषयो से विमुख बने हुए मन को नासिकाग्र आदि स्थानो पर स्थापित कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया से कुछ ऐसा

# सप्तम प्रकाश

## ध्यान

ध्यानं विधित्सता ज्ञेयं ध्याता ध्येयं तथा फलम् ।
सिध्यन्ति न हि सामग्री विना कार्याणि कर्हिचित् ॥ १ ।

ध्यान करने की इच्छा रखने वाले साधक को तीन बाते जान लेनी चाहिए—१. ध्याता—ध्यान करने वाले मे कैसी योग्यता होनी चाहिए ? २. ध्येय—जिसका ध्यान करना है, वह वस्तु कैसी होनी चाहिए ? ३. ध्यान के कारणो की समग्रता, अर्थात् सामग्री कैसी हो ? क्योंकि सामग्री के विना कोई भी कार्य सिद्ध नही होता है ।

**ध्याता की योग्यता**

अमुञ्चन प्राणनाशेऽपि संयमैकधुरीणताम् ।
परमप्यात्मवत् पश्यत् स्वस्वरूपापरिच्युतः ॥ २ ॥
उपतापमसंप्राप्त शीत - वातातपादिभिः ।
पिपासुरमरीकारि योगामृत-रसायनम् ॥ ३ ॥
रागादिभिरनाक्रान्तं क्रोधादिभिरदूषितम् ।
आत्मारामं मनः कुर्वन्निर्लेपः सर्वकर्मसु ॥ ४ ॥
विरत. कामभोगेभ्यः स्वशरीरेऽपि निस्पृहः ।
सवेग ह्रदनिर्मग्न सर्वत्र समतां श्रयन् ॥ ५ ॥
नरेन्द्रे वा दरिद्रे वा तुल्य-कल्याण-कामना ।
अमात्र करुणा-पात्रं भव-सौख्य-परांमुख. ॥ ६ ॥

सुमेरुरिव निष्कम्प शशीवानन्द-दायक ।
समीर इव नि सग सुधीर्ध्याता प्रशस्यते ॥ ७ ॥

जो प्राणो के नाश होने का अवसर आ जाने पर भी सयम-निष्ठा का परित्याग नही करता है; अन्य प्राणियो को आत्मवत् देखता है, अपने ध्येय—लक्ष्य से च्युत नही होता है, जो सर्दी, गर्मी और वायु से खिन्न नही होता, जो अजर-अमर बनाने वाले योग रूपी अमृत-रसायन को पान करने का इच्छुक है, रागादि दोषो से आक्रान्त नही है, क्रोध आदि कषायो से दूषित नही है मन को आत्माराम मे रमण कराने वाला है, समस्त कर्मों मे अलिप्त रहने वाला है, काम-भोगो से पूर्णतया विरक्त है, अपने शरीर पर भी ममत्व-भाव नही रखता है, सवेग के सरोवर मे पूरी तरह मग्न रहने वाला है, शत्रु-मित्र, स्वर्ण-पाषाण, निन्दा-स्तुति, मान-अपमान आदि मे समभाव रखने वाला है, समान रूप से प्राणीमात्र के कल्याण की कामना करने वाला है, प्राणीमात्र पर करुणा-भाव रखने वाला है, सासारिक सुखो से विमुख है, परीषह और उपसर्ग आने पर भी सुमेरु की तरह अचल-अटल रहता है, चन्द्रमा की भांति आनन्ददायक और वायु के समान नि सग—अप्रतिबन्ध विहारी है, वही प्रशस्त बुद्धि वाला प्रवुद्ध-साधक प्रशमनीय और श्रेष्ठ ध्याता हो सकता है ।

### ध्येय का स्वरूप

पिण्डस्थ च पदस्थ च रूपस्थ रूपवर्जितम् ।
चतुर्धा ध्येयमाम्नातं ध्यानस्यालम्बन बुधै ॥ ८ ॥

ज्ञानी पुरुषो ने ध्यान के आलम्बन रूप—ध्येय को चार प्रकार का माना है—१ पिण्डस्थ, २ पदस्थ, ३ रूपस्थ और ४ रूपातीत ।

### पिण्डस्थ-ध्येय की धारणाएँ

पार्थिवी स्यादथाग्नेयी मारुती वारुणी तथा ।
तत्त्वभू पञ्चमी चेति पिण्डस्थे पञ्च धारणा ॥ ९ ॥

पिण्डस्थ-ध्येय मे १ पार्थिवी, २ आग्नेयी, ३. मारुती, ४. वारुणी, और ५ तत्वभू—यह पांच धारणाएँ होती हैं।

## १. पार्थिवी-धारणा

तिर्यग्लोकसमं ध्यायेत् क्षीराब्धि तत्र चाम्बुजम्।
सहस्रपत्रं स्वर्णाभ जम्बूद्वीप-सम स्मरेत् ॥ १० ॥
तत्केसरततेरन्तः स्फुरत्पिङ्गप्रभाञ्चिताम्।
स्वर्णाचल-प्रमाणा च कर्णिका परिचिन्तयेत् ॥ ११ ॥
श्वेत - सिंहासनासीनं कर्म - निर्मूलनोद्यतम्।
आत्मान चिन्तयेत्तत्र पार्थिवी धारणेत्यसौ ॥ १२ ॥

हम जिस पृथ्वी पर रहते हैं उसका नाम तिर्यक्-लोक अथवा मध्य-लोक है। मध्य-लोक एक रज्जु प्रमाण विस्तृत है। इस मध्य-लोक के वरावर लम्वे-चौडे क्षीर-सागर का चिन्तन करना चाहिए। क्षीर-सागर मे जम्वू-द्वीप के वरावर एक लाख योजन विस्तार वाले और एक हजार पखुडियो वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल के मध्य मे केसराएँ है और उसके अन्दर देदीप्यमान पीली प्रभा से युक्त और मेरु पर्वत के वरावर एक लाख योजन ऊँची कर्णिका है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। उस कर्णिका के ऊपर एक उज्ज्वल सिंहासन है। उस सिंहासन के ऊपर आसीन होकर कर्मों का समूल उन्मूलन करने मे उद्यत अपने आपका चिन्तन करना चाहिए। चिन्तन की इस प्रक्रिया को 'पार्थिवी-धारणा' कहते हैं।

## २. आग्नेयी-धारणा

विचिन्तयेत्तथा नाभौ कमलं षोडशच्छदम्।
कर्णिकायां महामन्त्रं प्रतिपत्र स्वरावलिम् ॥ १३ ॥
रेफ-विन्दु-कलाक्रान्तं महामन्त्रे यदक्षरम्।
तस्य रेफाद्विनिर्यान्ती शनैर्धूमशिखा स्मरेत् ॥ १४ ॥

स्फुलिंग-सन्तति ध्यायेज्ज्वालामालामनन्तरम् ।
ततो ज्वाला-कलापेन दहेत्पद्मं हृदि स्थितम् ॥ १५ ॥

नाभि के भीतर सोलह पखुडी वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उस कमल की प्रत्येक कर्णिका पर महामन्त्र 'अर्हं' स्थापित करना चाहिए और उसके प्रत्येक पत्ते पर अनुक्रम से 'अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ऌ, ॡ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः'—यह सोलह स्वर स्थापित करने चाहिए।

तदष्ट - कर्म - निर्माणमष्ट - पत्रमधो - मुखम् ।
दहत्येव महामन्त्र - ध्यानोत्थ प्रबलानल ॥ १६ ॥
ततो देहाद् बहिर्ध्यायेत्त्र्यस्र वह्निपुर ज्वलत् ।
लाञ्छित स्वस्तिकेनान्ते वह्निबीजसमन्वितम् ॥ १७ ॥
देह पद्म च मन्त्रार्चिरन्तर्वह्निपुर बहि ।
कृत्वाऽऽशु भस्मसाच्छाम्येत् स्यादाग्नेयीति धारणा ॥१८॥

ऐसा करने के पश्चात् हृदय मे आठ पखुडियो वाले कमल का चिन्तन करना चाहिए। उसकी प्रत्येक पखुडी पर अनुक्रम से १ ज्ञानावरण, २ दर्शनावरण, ३ वेदनीय, ४ मोहनीय, ५ आयु, ६ नाम, ७. गोत्र, और ८ अन्तराय, यह आठ कर्म स्थापित करने चाहिए। यह कमल अधोमुख होना चाहिए।

इसके पश्चात् रेफ, बिन्दु और कला से युक्त, महामन्त्र के 'हं' अक्षर के रेफ मे से धीमी-धीमी निकलने वाली धूम की शिखा का चिन्तन करना चाहिए। फिर उसमे से अग्नि की चिनगारियो के निकलने का चिन्तन करना चाहिए और फिर निकलती हुई अनेक ज्वालाओ का चिन्तन करना चाहिए। इन ज्वालाओ से हृदय मे स्थित पूर्वोक्त आठ दल वाले कमल को दग्ध करना चाहिए और सोचना चाहिए कि महामन्त्र 'अर्हं' के ध्यान से उत्पन्न प्रबल अग्नि अवश्य ही कर्म से युक्त कमल को भस्म कर देती है।

तत्पश्चात् शरीर के बाहर तीन कोण वाले स्वस्तिक से युक्त और अग्निबीज 'रेफ' से युक्त जलते हुए वह्निपुर का चिन्तन करना चाहिए। तदनन्तर शरीर के अन्दर महामन्त्र के ध्यान से उत्पन्न हुई शरीर की ज्वाला से तथा बाहर की वह्निपुर की ज्वाला से देह और आठ कर्मों से बने कमल को तत्काल भस्म करके अग्नि को शान्त कर देना चाहिए। इस तरह के चिन्तन को 'आग्नेयी-धारणा' कहते हैं।

## ३. वायवी-धारणा

ततस्त्रिभुवनाभोग पूरयन्त समीरणम्।
चालयन्तं गिरीनब्धीत् क्षोभयन्तं विचिन्तयेत् ॥ १९ ॥
तच्च भस्मरजस्तेन शीघ्रमुद्धूय वायुनां।
दृढाभ्यासः प्रक्षान्तिं तमानयेदिति मारुती ॥ २० ॥

आग्नेयी धारणा के पश्चात् समग्र तीन लोक को पूर देने वाले. पर्वतो को चलायमान करने वाले और समुद्र को क्षुब्ध करने वाले प्रचण्ड पवन का चिन्तन करना चाहिए।

पवन का चिन्तन करने के पश्चात् आग्नेयी धारणा मे देह और आठ कर्मों को जलाने से जो राख बनी थी, उसे उडा देने का चिन्तन करना चाहिए, अर्थात् ऐसा विचार करना चाहिए कि प्रचण्ड पवन चल रहा है और देह तथा कर्मों की राख उड़कर बिखर रही है। इस प्रकार का दृढ अभ्यास करके उस पवन को शान्त कर देना चाहिए। चिन्तन एव ध्यान की इस साधना को 'वायवी-धारणा' कहते हैं।

## ४. वारुणी-धारणा

स्मरेद्वर्षत्सुधासारैर्घनमालाकुलं नभः।
ततोऽर्धेन्दुसमाक्रान्तं मण्डल वारुणांकितम् ॥ २१ ॥
नभस्तल सुधाम्भोभिः प्लावयेत्तत्पुरं तत।
तद्रजः कायसम्भूतं क्षालयेदिति वारुणी ॥ २२ ॥

वारुणी धारणा मे अमृत-सी वर्षा बरसाने वाले और मेघ की मालाओ से व्याप्त आकाश का चिन्तन करना चाहिए। तत्पश्चात् अर्ध चन्द्राकार कला-विन्दु से युक्त वरुण-बीज 'वँ' का चिन्तन करना चाहिए। फिर वरुण-बीज 'वँ' से उत्पन्न हुए अमृत के समान जल से आकाशतल भर गया है और पहले शरीर और कर्मों की जो भस्म उडा दी थी, वह इस जल से धुल कर साफ हो रही है, ऐसा चिन्तन करना चाहिए। इसके बाद इस धारणा को समाप्त कर देना चाहिए। यह 'वारुणी-धारणा' हुई।

## ५ तत्त्वभू-धारणा

सप्तधातु-विनाभूत पूर्णेन्दु-विशदद्युतिम्।
सर्वज्ञ-कल्पमात्मान शुद्धबुद्धि• स्मरेत्तत ॥ २३ ॥

तत सिंहासनारूढ सर्वातिशयभासुरम्।
विध्वस्ताशेषकर्माण कल्याणमहिमान्वितम्॥ २४ ॥

स्वाङ्गगर्भे निराकार[1] सस्मरेदिति तत्त्वभू।
साभ्यास इति पिण्डस्थे योगी शिवसुख भजेत्॥ २५ ॥

चार धारणाएँ करने के बाद शुद्ध बुद्धि वाले योगी को सात धातुओ—रस, रक्त आदि से रहित, पूर्ण चन्द्र के समान निर्मल एव उज्ज्वल कान्ति वाले और सर्वज्ञ के सदृश शुद्ध-विशुद्ध आत्म-स्वरूप का चिन्तन करना चाहिए।

तदनन्तर सिंहासन पर आरूढ, सर्व अतिशयो से सुशोभित, समस्त कर्मों का विध्वस कर देने वाले, उत्तम महिमा से सम्पन्न, अपने शरीर मे स्थित निराकार आत्मा का स्मरण-चिन्तन करना चाहिए।

यह तत्त्वभू नामक धारणा है। इस पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करने वाला योगी मोक्ष के अनन्त सुख को प्राप्त करता है।

---

१ नराकार।

शंकराचार्य कृत

# योगतारावली

[ हिन्दी अनुवाद और विशद व्याख्या के साथ ]

**रामशंकर भट्टाचार्य**

प्रकाशक

**भारतीय विद्या प्रकाशन**

*वाराणसी* *दिल्ली*

शंकराचार्यकृत

# योगतारावली

[ हिन्दी अनुवाद और विशद व्याख्या के साथ ]

अनुवादक तथा व्याख्याकार

**रामशंकर भट्टाचार्य**

( एम. ए ; पीएच-डी॰; व्याकरणाचार्य )

Co editor : Encyclopedia of Indian Philosophies
( Vols. on Samkhya & Yoga );
Editor : Purana, All-India Kasiraj Trust.
Varanasi

प्रकाशक

**भारतीय विद्या प्रकाशन**

वाराणसी दिल्ली

# YOGATĀRĀVALĪ

with Hindi Translations & Notes and a Preface

**Ram Shankar Bhattacharya**

M.A.; Ph.D.; Vyakaranacharya

Co-editor : Encyclopedia of Indian Philosophies
( Vols. on Samkhya & Yoga );
Editor : Purana, All-India Kasiraj Trust,
VARANASI

BHARATIYA VIDYA PRAKASAN
VARANASI DELHI
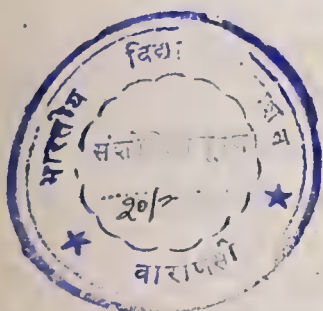
I.S.B.N., 81-217-0035-3

First Edition, 1987

Price : Rs. [illegible].00

*Publisher* :

BHARATIYA VIDYA PRAKASHAN
Post Box 1108. Kachauri Gali, Varanasi
1. U. B. Jawahar Nagar, Bungalow Road. Delhi-110007

*Printer* :

VARANASI MUDRAN SANSTHAN
D. 51/92 Suraj Kund
Varanasi-( India )

# प्राक्कथन

ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्ति
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ।।

राजयोग का प्रतिपादक श्लोकबद्ध योगतारावली[1]-नामक ग्रन्थ योगाभ्यासियों में अत्यन्त प्रसिद्ध रहा है। इस ग्रन्थ को शंकराचार्य द्वारा विरचित माना जाता है। यही कारण है कि विभिन्न प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित शाङ्करग्रन्थावलियों में यह ग्रन्थ अवश्य संयोजित रहता है। पृथक् रूप से इस ग्रन्थ का प्रकाशन कदाचित् ही देखा जाता है।

यह खेद का विषय है कि प्रस्तुत ग्रन्थ में वर्णित विषय यद्यपि अत्यन्त उच्चकोटि का है तथा इसकी भाषा भी कहीं-कहीं व्याख्या की अपेक्षा रखती है, तथापि इसकी कोई प्राचीन संस्कृत टीका प्रचलित नहीं है, जबकि शंकराचार्यकृत दार्शनिक-विचार-बहुल दक्षिणामूर्ति-स्तोत्र की टीका

---

१. 'तारावली' शब्द का तात्पर्य विज्ञेय है। ताराओं की संख्या २७ हैं। यदि ग्रन्थ के मुख्य श्लोक २७ हों तो 'तारा' शब्द का प्रयोग ग्रन्थ-नाम में किया जा सकता है ( १–२ गौण श्लोक भी ऐसे नामवाले ग्रन्थों में कभी-कभी रहते हैं )। तारा की तरह नक्षत्र शब्द भी प्रयुक्त होता है। 'शिवपञ्चाक्षर-नक्षत्रमाला' ( शंकराचार्यकृत ) में २७ श्लोक हैं ( २७ मुक्ताओं से जो माला बनती है, वह नक्षत्रमाला कहलाती है, यह ज्ञातव्य है )।

उनके शिष्य सुरेश्वराचार्य ने, वेदान्तकेशरी की टीका आनन्दगिरि ने तथा निर्वाणदशक की टोका मधुसूदन सरस्वती ने लिखो है। टीका न रहने के कारण इस ग्रन्थ के कुछ वाक्यों का तात्पर्य समझने में कठिनता होती है। ग्रन्थगत श्लोकों का मुद्रित पाठ भी सर्वत्र शुद्ध प्रतीत नहीं होता। विभिन्न संस्करणों में श्लोकों के अनेक पाठान्तर दृष्ट होते हैं। अतः प्राचीन हस्त-लेखों के आधार पर इस ग्रन्थ का एक शुद्धपाठयुत संस्करण प्रस्तुत करना आवश्यक प्रतीत होता है। शुद्ध पाठों के विना अर्थनिर्धारण करना सुकर नहीं है।

इस ग्रन्थ के जो एक-दो व्याख्या-ग्रन्थ ( हिन्दी-बंगला में ) प्रचलित हैं, वे बहुत ही साधारण कोटि के हैं। इनमें न पाठों पर उचित विचार किया गया है और न शब्दों के विवक्षित तात्पर्य के निर्धारण के लिए उचित प्रयास किया गया है। प्रस्तुत व्याख्या में योगतारावली में प्रयुक्त शब्दों के विवक्षित अर्थों का निर्धारण योगग्रन्थों के आधार पर करने की चेष्टा की गई है तथा कौन पाठ संगत है, इस पर भी विचार किया गया है। हम समझते हैं कि हठयोगप्रदीपिका की ज्योत्स्नाटीका की तरह एक टीका इस ग्रन्थ के लिए भी आवश्यक है। कोई अभ्यासशील विद्वान् योगी यदि इस कार्य को करें तो हम सब उपकृत होंगे।

शङ्कराचार्य इस ग्रन्थ के लेखक हैं—इस प्रसिद्धि में हमें पर्याप्त संशय है। इस ग्रन्थ का उद्धरण प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थों में नहीं मिलता; अट्ठारवीं शती के शाक्त भास्कर आचार्य (द्र० १७ श्लोक की व्याख्या) तथा १६-१७ वीं शती के योगी शिवानन्द ( द्र० ६ श्लोक की व्याख्या ) के द्वारा इस ग्रन्थ के वाक्य उद्धृत हुये हैं। किंच शंकर-संप्रदाय के किसी आचार्य के द्वारा अथवा हठयोगादि योगप्रस्थानों के किसी आचार्य के द्वारा इस ग्रन्थ की टीका न लिखा जाना इसकी शंकरकर्तृकता में दृढ़ संशय उत्पन्न करता है। यह भी देखा जाता है कि इस ग्रन्थ का वाक्य 'नन्दिकेश्वरकृत तारावली' के नाम से उद्धृत किया गया है ( द्र० ६ श्लोक

की व्याख्या)। इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि इस ग्रन्थ को शंकर-विरचित मानना संशयास्पद है।

यदि नन्दिकेश्वर नामक किसी आचार्य के द्वारा यह ग्रन्थ विरचित हो तब भी इस प्रश्न का समाधान ढूंढना होगा कि क्यों यह ग्रन्थ शंकराचार्य की कृति के रूप में प्रसिद्ध हुआ ? नन्दिकेश्वर का परिचय भी निर्धारणीय है। पुराणों में जिस शिलाद ऋषि के पुत्र नन्दिकेश्वर का चरित है[२] (जिनका मानव शरीर जीवित अवस्था में ही दैव शरीर में परिणत हो गया था; द्र० व्यासभाष्य २।१२-१३) वे इस ग्रन्थ के रचयिता हैं, ऐसा मानने का कोई आधार नहीं है।

ग्रन्थकार ने श्रीशैल (श्रीपर्वत) में निवास करने की उत्कट इच्छा व्यक्त की है (श्लोक २८)। लेखक का दक्षिणभारत का निवासी होना इससे ज्ञापित होता है।

प्रस्तुत संस्करण का मुख्य वैशिष्ट्य यह है कि हमने श्लोकों के अर्थनिर्धारण में कहीं भी निराधार कल्पना का आश्रय नहीं लिया तथा व्याख्या में अनावश्यक विस्तार भी नहीं किया। श्लोक-प्रयुक्त शब्दों का अर्थ अन्यान्य योगग्रन्थों के आधार पर ही किया गया है—यह सहृदय पाठक देख सकते हैं। व्याख्या में जो सामग्री संकलित की गई है उसके आधार पर पाठक स्वयं भी श्लोकों के अर्थों का निर्धारण करने में समर्थ होंगे—ऐसा हम समझते हैं; साथ ही हम यह भी चाहते हैं कि पाठक स्वयं हमारी व्याख्या की युक्तायुक्तत्व की परीक्षा करें। हमें यह कहने में कोई भी संकोच नहीं है कि ग्रन्थोक्त कुछ विषय सर्वथा स्पष्ट नहीं हैं। इस

---

२. द्र० शिवपु० ३।६ अ०; स्कन्दपु० केदारखण्ड ५।१११–१९३; स्कन्दपु० काशीखण्ड ११।१०६; वराहपु० १४४।१६७; वराहपु० २१३।६९–७१; कूर्मपु० १।४३।१२८; २।४१।१७–४२। विशद विवरण के लिए मेरा 'Nandin–a yogin' शीर्षक निबन्ध (Journal of the Yoga Institute, Bombay, Vol. XXVII. 8 में प्रकाशित) पठनीय है।

अस्पष्टता का एक हेतु है—श्लोकों के अशुद्ध पाठ—यह कहना अनुचित नहीं होगा। यह भी निवेदनीय है कि हम चूंकि स्थूलरूप से योग का मनन-मात्र करते हैं, अतः अयोग्यता के कारण भी हमारी व्याख्या में कहीं-कहीं भ्रान्ति हो सकती है।

पाठकों की सुविधा के लिए एक 'शब्दसूची' भी ग्रन्थान्त में दी गई है। पाठक देखेंगे कि ग्रन्थगत कई शब्द विरल-प्रयुक्त हैं। हठसंकेतचन्द्रिका, हठतत्त्वकौमुदी ( सुन्दरदेवकृत ) आदि विस्तृत ग्रन्थों के प्रकाशन होने पर इन शब्दों के अर्थों को समझने में सुविधा होगी। इति

गुरुपूर्णिमा

रामशंकर भट्टाचार्य

११-७-१९८७

डी० ३८/८ हौजकटोरा, वाराणसी

# PREFACE

The Yogatārāvalī deals with some practices of both Haṭha-yoga and Rājayoga. Though the work is in 29 verses, yet almost all important practices are mentioned in it. In a few places necessary details have also been given in brief.

A synopsis of these verses is given below :

( Verse 1 ) Obeisance to Haṭhayoga.

(2) The *nādānusandhāna* concentration is said to be the highest of all *layas* ( obsorption ).

(3) Divine experience to be realized by the practitioner whose nerves have been purified.

(4) The dissolution of the mind into the feet of Viṣṇu by means of the *nādānusandhāna* ( listening to the inner sound ).

(5) Efficacy of the three *bandhas* namely Jālandhara, Uddiyāna and Mūla.

(6) The rise of Kuṇḍalī ( Coiled Energy ) and its entering the Suṣumnā nerve.

(7) Drinking of nector issuing from the moon heated by the fire coming out from the Suṣumnā nerve.

(8) Practice of Kevala-kumbhaka ( the stoppage of breath called Kevala ) which checks the flow of external knowledge.

(9-10) The developed stage of Kevala kumbhaka; absence of inhalation and exhalation in this *kumbhaka*.

(11-12) The state in which the vital air gets dissolved in Viṣṇu's feet.

(13) The rise of the state that transcends all functions of sense organs.

(14-16) Characteristics of the perfected stage of Rājayoga.

(17) Description of the stage called Manonmanī (fixedness of mind).

(18) Characteristics of yogins attaining to the state of Manonmanī.

(19) Chief means of acquiring the Unmanī state (steadiness of mind).

(20) Characteristics of the mind that can attain to peace.

(21-22) External as well as internal signs or characteristics of persons established in the Amanaska mudrā.

(23) Intense longing of a practitioner to acpuire the Amanaska state.

(24) The rise of *Yoganidrā* (yogic sleep) and its results.

(25-26) Qualifications of a person capable of attaining to yogic sleep and the divine pleasure to be d rived from it.

(27) Persons who are bereft of all knowledge of objects.

(28) Longing of a practitioner of higher stage to acquire *siddhi* and to reside in the cave of the Śrīparvata.

(29) The state in which a practitioner listens to divine sounds,

The authorship of the work is usually ascribed to the great Advaita teacher Śaṅkarācārya. There are however strong grounds to hold that this ascription is not beyond doubt. The work had not been commented on by any of the direct or indirect disciples of Śaṅkarācāry, nor has it been commented on by any teacher of minor yoga schools. Moreover the work does not seem to have beenl quoted by any teacher who lived before the fifteenth century. All these tend to show that the work belongs to a much later date. It is quite reasonable to hold that the work was composed by one of these later Śaṅkarācāryas who were proficient in Haṭha and Rāja yogas.

There is a difficulty in accepting this view also, for the work was ascribed to Nandikeśvara by Śivānanda ( in his Yogacintāmaṇi, p. 15 ), one of the authorities on yoga. It is difficult to explain this change in authorship. Even if we accept the authorship of Nandikeśvara, it is difficult to identify him. Historically it is impossible to take this Nandikeśvara as the same as the Puranic Nandin or Nandikeśvara ( the son of the sage Śilāda ), who assumed a *daiva śarīra* ( divine body ) through the grace of Śiva. A Nandikeśvara is said to have composed a commentary ( in verse ) on the fourteen Pratyāhāra sūtras of Paninian grammar. The identification of these two Nandikeśvaras is still to be proved.

It is a pity that the present work has no ancient Sanskrit commentary. There are, however, a few translations and commentaries in Hindi and Bengali. These commentaries neither try to determine the intended importe of the important expressions of the text, nor take into consideration the variant readings found in the different printed editions of the text. Though we have tried to

explain the expressions of the text with the help of the available works on Haṭhayoga and Rājayoga, yet we do not hesitate to declare that the significance of some of the expressions remains still to be determined.

The work, we believe, will delight all lovers of yoga and inspire them to run on the path of yoga with undivided attention.

R. S. Bhattacharya

# योगतारावली

वन्दे गुरूणां चरणारविन्दे
सन्दर्शितस्वात्मसुखावबोधे ।
जनस्य ये जाङ्गलिकायमाने[1]
संसारहालाहलमोहशान्त्यै ॥१॥

[ १. निःश्रेयसे माङ्गलिकायमाने ( पाठा० ) ]

**अनुवाद**—संसाररूपी विष ( के पान ) से उत्पन्न मोह की शान्ति के लिए गुरुदेव के जो दो चरणकमल ( लोगों में ) विषवैद्य की तरह आचरण करते हैं अर्थात् गुरु के चरण संसारमोह का नाश करते हैं), आत्मसुखबोध के दर्शक उन दो चरणों की वन्दना करता हूँ ।

**व्याख्या**—गुरु शब्द में जो बहुवचन है वह या तो स्वीय गुरु के प्रति गौरव-प्रदर्शन के लिए है अथवा वह परम्परागत सभी गुरुओं के लिए है। योगाभ्यास के लिए गुरु-उपदेश की अत्यन्त आवश्यकता होती है। यही कारण है कि योग के ग्रन्थों में 'गुरु-उपदिष्ट मार्ग' आदि शब्द प्रायः प्रयुक्त होते हैं। गुरु-महिमा के लिए ह० यो० प्र० १।१४ की ज्योत्स्ना टीका द्रष्टव्य है।

सन्द···बोधे—'चरणारविन्दे' का विशेषण। सन्दर्शित हुआ है स्वात्म-सुख-अवबोध जिनके द्वारा वे ( दो चरण )।

जाङ्गलिक = विषवैद्य; अमरकोश १।८।१४ में जाङ्गुलिक शब्द है, पर जाङ्गलिक शब्द का भी अन्य कोशों में उल्लेख मिलता है। काशीखण्ड आदि में जाङ्गुलिक शब्द प्रयुक्त हुआ है।

तृतीय चरण का पाठान्तर है—निःश्रेयसे माङ्गलिकायमाने'। यह पाठ सगत

हो सकता है। ये दो पद 'चरणारविन्दे' के विशेषण हैं। निःश्रेयस = निश्चित श्रेयोरूप। माङ्गलिकायमान = माङ्गलिक की तरह आचरण करने वाले।

हालाहल = विष। पुराणों में कहा गया है कि हिमालय पर्वतस्य हलाहला-नदी के तीर में यह विष उत्पन्न होता है।

सदाशिवोक्तानि सपादलक्ष-
लयावधानानि च सन्ति[1]लोके।
नादानुसन्धानसमाधिमेकं
मन्यामहे मान्यतमं[2] लयानाम्[3] ॥२॥

[ १. वसन्ति लोके ( पाठा० ) २. अन्यतमम् ( पाठा० ); यह भ्रष्ट पाठ है। ३ इस श्लोक का अनुरूप श्लोक ह० यो० प्र० में है—श्री आदिनाथेन सपादकोटि-लयप्रकाराः कथिता जयन्ति। नादानुसन्धानकमेकमेव मन्यामहे मुख्यतमं लयानाम् ( ४।६६ ); 'नादानुसन्धानसमाधि' शब्द ४।१८ में प्रयुक्त हुआ है। ]

अनुवाद—सदाशिव के द्वारा प्रोक्त एक लाख पच्चीस हजार लययोग इस लोक में हैं। इन सब लयों में एकमात्र नादानुसन्धान-समाधि (नादानु-सन्धान-पूर्वक या नादानुसन्धान से युक्त समाधि) को (हम) सर्वोच्च लय के रूप में समझते हैं (नादानुसन्धान के विषय में श्लोक ४ द्र०)।

**व्याख्या**—शिव को सभी योगों के मूल वक्ता के रूप में मानने की भी एक प्रसिद्ध परम्परा है। लययोग के श्लोकोक्त भेदों की उपपत्ति गुरु-परम्परा से जाननी चाहिये—बहिरङ्ग आलोचना से यह ज्ञातव्य नहीं है। ज्योत्स्नाटीका में कहा गया है—श्री आदिनाथोक्तसपादकोटिसमाधिप्रकारेषु ( ४।२ )। इस योग के अनन्तकोटि भेद हैं—यह भी कहीं कहीं कहा गया है। साधन-क्रिया के कौशल-भेद से ये भेद होते हैं—यह ज्ञातव्य है।

लययोग योग का अवान्तर भेद है। प्राचीन परम्परा में योग के चार भेद माने गये हैं—मन्त्र, लय, हठ तथा राजा ( द्र० शिवपु० ७।२।३७।९, लिङ्गपु० २।५५।७ आदि )। योगतत्त्वोपनिषद् २२-२३, दत्तात्रेय-संहिता ( प्राणतोषिणी तन्त्र, पृ० ४३९-४४० में उद्धृत ) आदि में इस योग का विशिष्ट विवरण द्रष्टव्य है[1]। योगकर्णिका, पृ० १४३-१४४ भी द्रष्टव्य है।

नादानुसन्धान का अर्थ है—अनाहतध्वनि का अनुचिन्तन। इस 'अनुसन्धान' शब्द का प्रयोग अमनस्कयोग २।१४ में भी मिलता है। नादानुसन्धान को श्रेष्ठ लय मानना हठयोग का एक प्रतिष्ठित मत है—न नादसदृशो लयः ( ह० यो० प्र० १।४३ )। 'लय' का तात्पर्य 'लयहेतु' से है—नाद चित्तलय का सर्वश्रेष्ठ हेतु है। ह० यो० प्र० ४।६६-१०२ में नादानुसंधान का सविशेष विवरण द्रष्टव्य है।

लयावधान—लय के प्रति अवधान। इस लय के विषय में ह० यो० प्र० ४।३१-३४ द्रष्टव्य है। लय का सर्वोच्च रूप मनोलय है, पर पहले प्राणलय करणीय है। मनोलय के कारण विषय-विस्मृति ( विषय ज्ञान का संस्कार न रहने के कारण ) होती है (४।३४)। यह लय उसको होता है, जिसके श्वास-प्रश्वास रुद्ध हो गये हैं ( योग-शास्त्रोक्त उपायविशेष के द्वारा—अन्य किसी अशास्त्रीय उपाय से नहीं ), शब्दादि का ग्रहण रुद्ध हो गया है और शारीरिक क्रियायें स्तम्भित हो गई हैं—'निर्जीवः काष्ठवत् तिष्ठेल् लयस्थश्चाभिधीयते'। योगचिन्तामणि पृ० २५५-२५६ में लयस्थ योगी के लक्षण द्रष्टव्य हैं। लयस्थ योगी के विशद वर्णन के लिए तथा लयाभ्यास के फल आदि के लिए गोरक्षकृत अमनस्क-योग ( १।३७ से अध्यायान्त पर्यन्त ) द्रष्टव्य है।

---

१. द्र० क्षेत्रज्ञः परमात्मा च तयोरैक्यं यदा भवेत्। तदैक्ये साधिते देवि चित्तं याति विलीनताम् ॥ पवनः स्थैर्यमायाति लययोगोदये सति। ( योगबीज )। लययोगेऽपि, नवस्वेव चक्रेषु मरुन्मनसोर्लयो लययोग इत्युच्यते ( योग-चिन्तामणि, पृ० १३ )।

सरेच-पूरैरनिलस्य कुम्भैः[1]
सर्वासु नाडीसु विशोधितासु।
अनाहतादम्बुरुहादुदेति
स्वात्मावगम्यः स्वयमेव बोधः[2] ॥३॥

[ १. कुम्भे ( पाठा० )--यह अपपाठ है। २. अनाहताख्यो बहुभिः प्रकारैरन्तः प्रवर्तेत सदा निनादः ( पाठा० )—अनाहत नामक नाद अनेक प्रकारों से अन्तःकरण में सदा उदित रहता है। ]

**अनुवाद**—वायु के पूरक, रेचक और कुम्भक के द्वारा जब नाडियाँ विशोधित मलहीन हो जाती हैं, तब अनाहत नामक पद्म (चक्र) से वह बोध स्वयं ही उदित होता है और अपने द्वारा ही ज्ञेय है (अर्थात् दूसरे किसी के द्वारा ज्ञात नहो हो सकता)।

**व्याख्या**--यहाँ रेचक, पूरक और कुम्भक के द्वारा जिस नाडीशुद्धि की बात कही गई है उसका स्वरूप है—योगविरोधी मल का दूरीकरण जिसके कुछ बाह्य फल शरीर में भी दृष्ट होते हैं। नाडीशुद्धि होने पर सप्राण शरीर आत्मज्ञान के अभ्यास के लिए समर्थ होता है तथा सूक्ष्म मानस अनुभूतियों का उदय होने पर उसके वेग का धारण कर सकता है।[1] हठयोग के ग्रन्थों में प्राणायाम का विशेष विवरण द्रष्टव्य है। सामान्यतः कहा जा सकता है कि बाह्य वायु का प्रयत्नविशेष से ग्रहण करना पूरक है। पूरित वायु का बन्ध-पूर्वक निरोध करना कुम्भक ( कुम्भ शब्द भी प्रयुक्त होता है ) है। कुम्भक के

---

१. द्र० यथेष्टं धारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम्। नादाभिव्यक्तिरारोग्यं भवेत् नाडीविशोधनात् ॥ ( काशीखण्ड ); यदा नाडीविशुद्धिः स्यात् तदा चिह्नानि योगिनः। जायन्ते यानि देहे वै तानि मे गदतः शृणु। शरीर-लघुता दीप्तिर्जठराग्निविवर्धनम्। कृशत्वं च शरीरस्य तदा जायेत निश्चितम् ॥ ( दत्तात्रेय )।

बाद प्रयत्न-विशेष से वायु का रेचन (=बहिर्निःसारण) रेचक है। पूरणादि नाना प्रकार से किये जाते हैं।

योग में नाडियों की संख्या ७२००० मानी गई है ( ह० यो० प्र० १-३९; ३।१२३ ) तथा ज्ञानसंकलिनी-तन्त्र ७७। इस मत का मूल श्रुति में है ( प्रश्न० ३।६ )। ये नाडियाँ हृदय से सर्वतोगामी होकर पूरे शरीर में व्याप्त रहती हैं।

आहत (=अभिघात से उत्पन्न ) न होने के कारण यह ध्वनि 'अनाहतनाद' कहलाता है। यह प्रधानतः अनाहत चक्र में उदित होता है। पहले पहल यह दक्षिणकर्ण में सुना जाता है ( ऐसा ही प्रतीत होता है ); बाद में पूरे शरीर में ऊर्ध्वगतिमान् धारा की तरह ज्ञात होता है। इस अनाहत के द्वारा ही कुण्डलिनी को ब्रह्मरन्ध्र में लाया जाता है। नाद यहाँ बिन्दुरूप से परिणत होता है—ऐसा योगियों का कहना है। ( द्र० घेरण्डसंहिता उप० ५ )।

नादानुसन्धान नमोऽस्तु तुभ्यं
त्वां मन्महे तत्त्वपदं लयानाम्[१]।
भवत्प्रसादात् पवनेन साकं
विलीयते विष्णुपदे मनो मे ॥४॥

[ १. त्वां साधनं तत्त्वपदस्य जाने ( पाठा० )—अर्थात् तुम तत्त्वपद का साधन हो—ऐसा मैं जानता हूँ ]

**अनुवाद**—हे नादानुसन्धान, तुम्हे नमस्कार है। लयों में तुम ही तत्त्वपद हो—ऐसा हम समझते हैं। तुम्हारी प्रसन्नता (=स्वच्छता, निर्मलता) होने पर वायु (=प्राणवायु) के साथ मेरा मन विष्णुपद में विलीन होता है।

**व्याख्या**—नादानुसन्धान के लिए ह० यो० प्र० ४।६६-६८ तथा घेरण्डसंहिता उप० ५ द्रष्टव्य है। इसका निकट सम्बन्ध राजयोग से है। चित्तलय में

नाद की हेतुता योगशास्त्र में स्पष्टतया कथित हुई है। (द्र० ह० यो० प्र० ४।८१, ४।९८)।

तत्त्वपदं लयानाम्—तत्त्वरूप जो पद वह तत्त्वपद। तत्त्व=वस्तु का अनारोपित रूप[1]। पद=योगियों द्वारा गम्य (पद्यते गम्यते योगिभिः)।

'प्राणवायु के साथ मन का विष्णुपद में लीन होना' हठयोग का प्रसिद्ध मत है—यन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् (घेरण्ड० ५।८२); ह० यो० प्र० ४।२९ में प्राण और मन के लय के विषय से सम्बन्धित कार्यकारणपरम्परा कही गई है।

[1]जालन्धरौड्ड्यानकमूलबान्धन्
जल्पन्ति कण्ठोदरपायुमूले[2]।
बन्धत्रयेऽस्मिन् परिचीयमाने
बन्धः कुतो दारुणकालपाशैः ॥५॥

[१. जालन्धरोड्डयन (पाठा०) इस पाठ में छन्दोभङ्ग होता है। २. पायुमूलान् (पाठा०)—इस पाठ में 'पायुमूलान्' शब्द 'जालन्धरोड्डयानकमूलबन्धान्' शब्द का विशेषण होगा और अर्थ होगा—कण्ठ, उदर और पायु जिनके मूल हैं, वे। क्या जालन्धरबन्ध को कण्ठमूलक कहना उचित है? इसी प्रकार क्या ओड्डयानकबन्ध और मूलबन्ध को यथाक्रम उदरमूलक और पायुमूलक कहना उचित है?]

---

१. यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत् तस्य तत्त्वम्; यद् अन्यापेक्षं न तत् तत्त्वमन्याभावेऽभावात् (तै० उप० २।८ का भाष्य)। सभी घटों का तत्त्व है—मृत्। द्र० प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी ३।१।२ (तस्य भावस्तत्त्वमिति······ अबूरूपत्वं च)। तुल० महाभाष्य के 'किं पुनस्तत्त्वं (५।१।११९) वाक्य पर कैयट की व्याख्या—एकाकारबुद्धिनिमित्तम् (प्रदीप)

**अनुवाद**—(योगीगण) कहते हैं कि कण्ठ, उदर और पायुमूल में (यथाक्रम जालन्धरबन्ध, ओड्डयानबन्ध एवं मूलबन्ध का अभ्यास करना चाहिये। ये तीन बन्ध यदि भलीभाँति ज्ञात (अर्थात् अनुष्ठित हो तो दुःखदायी कालपाश के द्वारा बन्धन कैसे हो सकता है ? (अर्थात् बन्धन नहीं हो सकता) ?

**व्याख्या**—श्लोकगत ओड्डयानक ( जालन्धर + ओड्डयानक ) शब्द जिस बन्ध को कहता है उसके नाम में एकरूपता नहीं मिलती। ह० यो० प्र० २।४५ में उड्डियानक शब्द है ( 'क' स्वार्थ में तद्धित प्रत्यय है )। प्रस्तुत ग्रन्थ के श्लोक ६ में उड्डीन या ओड्डयान शब्द है। कहीं कहीं उड्डीयन और उड्डीयान' शब्द प्रयुक्त हुये हैं। यह निश्चित है कि यह शब्द 'उद + डी (ङ्)' से निष्पन्न है; इसका 'उड्डियान' रूप ही संगत प्रतीत होता है। उड्डियान का नामान्तर 'आकर्षणबन्ध' है।

उड्डीयान--तस्मादुड्डीयनाख्योऽयम्-ह० यो० प्र० ३।५५—ज्योत्स्ना-- 'उत्पूर्वात् डीङ् विहायसा गतौ इत्यस्मात् करणे ल्युट्'। पर इस नियम से उद + डी + अन ( ल्युट् ) = उड्डयन' होगा, उड्डीयन' ( ३।५५ में प्रयुक्त ) नहीं होगा। अतः उड्डीयन शब्द के लिए पृथक् प्रयत्न करना होगा।

ह० यो० प्र० ३।५६—उड्डीनं कुरुते यस्मात्…उड्डीयानं तदेव स्यात्। उड्डीन शब्द कर्णपर्व ४१।२६ में प्रयुक्त है तथा व्याकरणग्रन्थ में भी है ( द्र० काश० धातु० १।५५९ )।

उड्डियान—इसके बहुत प्रयोग हैं। (ह० यो० प्र० ३।७४; २।४५ (उड्डियानक); २।४७ टीका ( उड्डियान )।

योगशास्त्र में नाना प्रकार के बन्ध कहे गये हैं, जिनमें जालन्धर ( नामान्तर कण्ठमुद्रा, ) उड्डियान तथा मूल प्रसिद्धतम हैं। इनके विवरण के लिए ह० यो० प्र०, घेरण्डसंहिता आदि द्रष्टव्य हैं।

कालपाश--कालरूपी पाश; पाश वह जिससे किसको बाँधा जा सके। द्र० ह० यो० प्र० ३।२४ ( कालपाशमहाबन्ध…. )।

ओड्ड्यान-जालन्धर-मूलबन्धै
रुन्निद्रितायामुरगाङ्गनायाम् ।
प्रत्यङ्मुखत्वात् प्रविशन् सुषुम्नां
गमागमौ मुञ्चति गन्धवाहः ॥६॥

[ १. उड्डीन० ( पाठा० ) । २. योगचिन्तामणि में यह श्लोक ( उड्डीन-जाल.... प्रत्यग् विमुञ्चन्.... ) नन्दिकेश्वरकृत-तारावली ग्रन्थ के नाम से उद्धृत किया गया है ( पृ० १५ ) ]

**अनुवाद**—ओडड्यान (=उड्डियान), जालन्धर तथा मूल नामक बन्धों के द्वारा भुजगी ( =सर्पाकृति कुलकुण्डली ) के जागरित होने पर गन्धवाहक अर्थात् वायु प्रत्यङ्मुख (=अधोमुख) होकर सुषुम्ना में प्रविष्ट होता है और गमन-आगमन-क्रिया को छोड़ देता है ( अर्थात् निश्चल हो जाता है ) ।

**व्याख्या**—वायु की प्रत्यङ्मुखगति को कभी-कभी पराङ्मुख गति भी कहा जाता है ( ज्योत्नाटीका ३।३७ ) । मूलाधार को सुषुम्नामुख माना जाता है—सुषुम्नामुखं मूलाधार एवोक्तम ( योगचिन्ता०, पृ० १११ ) ।

चूंकि कुण्डली, कुण्डलिनी या कुलकुण्डलिनी सर्पाकृतिवाली मानी गई है अतः 'उरग-अङ्गना' ( सर्पस्त्री, सर्पकन्या ) शब्द प्रयुक्त हुआ है ।

प्राणवायु का अधोमुख गमन ह० यो० प्र० १।४८ में कथित हुआ है । ( पूरितं न्यस्चन् प्राणम; द्र० टीका ) । इस ग्रन्थ में श्लोकोक्त मत का समर्थन मिलता है । ( ३।७४—प्राण का पश्चिमपथ = सुषुम्ना मार्ग में ले जाना ) । 'वायु का सुषुम्ना में प्रवेश' योगियों का अन्यतम महत्त्वपूर्ण अभ्यास है ( ह० यो० प्र० ४।१९ ) ।

प्राणवायु उपायविशेष से निश्चल होकर रह सकता है । शारीरकभाष्य में इस विषय में एक मार्मिक वाक्य मिलता है—यथा च लोके प्राणापानादिषु

प्राणभेदेषु प्राणायामेन निरुद्धेषु कारणमात्रेण रूपेण वर्तमानेषु जीवनमात्रं कार्यं निर्वर्त्यते नाकुञ्चन-प्रसारणादिकं कार्यान्तरम् ( २।१।२० )।

उत्थापिताधारहुताशनोल्कैर्
आकुञ्चनैः शश्वदपानवायोः[1]।
सन्तापिताच्[2] चन्द्रमसः स्रवन्तीं
पीयूषधारां पिबतीह धन्यः॥७॥

[ १. अपानवायौ ( पाठा० )—यह भ्रष्ट पाठ है। सन्तापिते; संप्रापिते ( पाठा० ) ]

**अनुवाद**—अपान वायु का निरन्तर ( बारबार ) आकुञ्चन होने के कारण आधार ( मूलाधार चक्र ) से जो अग्नि की शिखा निर्गत होती है, उससे चन्द्र सन्तापित होता है। इस सन्तापित चन्द्र से क्षरित सुधा का पान जो साधक करता है, वह इस लोक में धन्य है।

**व्याख्या**—मूलाधार-स्थित अग्नि—ह० यो० प्र० ३।६६ से इस अग्नि की सत्ता ज्ञात होती है। यह अग्नि जाठरअग्नि का ही विकसित रूप है (द्र० ज्योत्स्ना-टीका )। जठराग्नि के इस विकास में समान वायु का पर्याप्त सहयोग रहता है। यही कारण है कि योगी का शरीर जलता हुआ-सा प्रतीत होता है; द्र० समानजयाज् ज्वलनम् ( योगसू० ३।४० ); प्रज्वलन्निव लक्ष्यते योगी ( भास्वती )।

मूलाधारस्थित अग्नि की उल्का ( =शिखा ) का स्पष्ट उल्लेख योगियाज्ञ० १२।१ में मिलता है (शिखां समालोक्य पावकस्य)। अपानवायु का जो आकुञ्चन है, वह वस्तुतः मूलाधार का आकुञ्चन है; द्र० अधस्तात कुञ्चनेनाशु... ( ह० यो० प्र० २।४६ )। अपानवायु का आकुञ्चन ह० यो० प्र० ३।६२-६३ में उक्त हुआ है।

'सन्तापित चन्द्र' क्या है—यह श्लोक में नहीं कहा गया। चन्द्र या सोम ( शरीरस्थ ) का उल्लेख हठयोग-ग्रन्थों में स्पष्ट रूप से मिलता है। मुख्य चन्द्र सहस्रारपद्म में स्थित है। इसके अतिरिक्त अन्यत्र भी चन्द्रस्थिति का उल्लेख मिलता है—तालुमूलस्थ चन्द्र ( ह० यो० प्र० ३।७७; योगबीज ५७-५८ ); नासाग्रस्थ चन्द्र ( घेरण्ड० ५।४३ ), भ्रूमध्यस्थ चन्द्र ( ज्योत्स्नाटीका ४।६४ ); हृदयकमलस्थ चन्द्र ( योगियाज्ञ० ९।३५-३६ )। इन चन्द्रों से भी अमृत का क्षरण होता है ( ये सब गौण चन्द्र हैं )। सुधा अमृत या पीयूष के लिए कहीं कहीं 'सार' शब्द भी प्रयुक्त हुआ है ( ह० यो० प्र० ३।४६ )। यह सुधा अग्नि में गिर कर नष्ट हो जाती है। अभ्यास-विशेष से सुधा का पतन बन्द किया जा सकता है। यह सुधापान वस्तुतः पीना रूप क्रिया ( जो लोक में प्रसिद्ध है ) नहीं है--यह ध्यानविशेष-साध्य है। यही कारण है कि कहीं कहीं 'ध्यायन् चन्द्रमसम्' कहा गया है।

इस अमृत का पान करने से कुछ अद्भुत शक्तियाँ प्राप्त होती हैं; इसी दृष्टि में 'धन्य' शब्द का प्रयोग किया गया है। उदाहरणार्थ लम्बिकोर्ध्वस्थितचन्द्ररस का पान करने वालों के प्रति तक्षकनाग का विष भी व्यर्थ हो जाता है ( ह० यो० प्र० ३।४५ )।

बन्धत्रयाभ्यासविपाकजातां
त्रिवर्जितां रेचक-पूरकाभ्याम्।
विशोषयन्तीं¹ विषयप्रवाहं
विद्यां भजे केवलकुम्भरूपाम्॥८॥

[ १. विशोधयन्तीं ( पाठा० ) =विषयप्रवाह की शुद्धिकारिणी ]

**अनुवाद**--उपर्युक्त तीन बन्धों के अभ्यास से उत्पन्न होने वाली केवल कुम्भक रूप विद्या का भजन ( =ऐकान्तिक अभ्यास ) मैं करता हूं। यह केवल कुम्भक रूप विद्या रेचक-पूरक से वर्जित है तथा विषय-प्रवाह की शोषणकारिणी है।

**व्याख्या**—'केवल' एक विशेष प्रकार के कुम्भक का नाम है। इस कुम्भक के विषय में यहाँ जो कहा गया है, वह सहेतुक है। वह हेतु है—मनोन्मनी अवस्था के साथ इस कुम्भक का निकटतम सम्बन्ध (द्र० घेरण्ड० ५।८१)। 'केवल' कुम्भक की महत्ता 'केवले कुम्भके सिद्धे किं न सिध्यति भूतले' ( घेरण्ड० ५।९६ ) वाक्य जानी जाती है।

हठयोग में 'बन्धत्रय' से मूल उड्डीयान-जालन्धर नामक तीन बन्ध गृहीत होते हैं ( द्र० ह० यो० प्र० १।४२ टीका।

यहाँ 'केवल' कुम्भक के विषय में विशिष्ट सूचना दी गई है। पहली बात यह है कि दीर्घकाल पर्यन्त बन्धत्रय का अभ्यास करने के बाद ही इस कुम्भक का अभ्यास करना चाहिये। दूसरी बात यह है कि प्रयत्नपूर्वक रेचक करने के बाद अथवा पूरक करने के बाद यह अनुष्ठय नहीं—रेचक-पूरक पर ध्यान न देकर इस कुम्भक का अभ्यास किया जाता है—'रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम्' यह हठयोगीय वाक्य इस कुम्भक का परिचायक है। यह कुम्भक विषय-प्रवाह का शोषक है अर्थात् विषय-सम्पर्क से इन्द्रिय में जो चाञ्चल्य होता है, वह चाञ्चल्य इस कुम्भक की अवस्था में नहीं होता।

'केवल' कुम्भक के लिए द्र० ह० यो० प्र० २।७२-७४; १।४३।

अनाहते चेतसि सावधानैर्
अभ्यासशूरैरनुभूयमाना।
संस्तम्भितश्वासमनःप्रचारा
सा जृम्भते केवलकुम्भकश्रीः ॥९॥

[१. सूरैः (पाठा०)—यह अपपाठ है]

**अनुवाद**—जब चित्त अनाहत चक्र में स्थिर हो जाता है तब श्वास और मन की क्रियायें स्तम्भित हो जाती हैं। इस अवस्था में 'केवल कुम्भक' का उत्कर्ष प्रकटित होता है। इस उत्कर्ष का अनुभव सावधान अभ्यासदक्ष साधक कर सकते हैं।

**व्याख्या**--'सावधान' और 'अभ्यासशूर'--ये दो साभिप्राय विशेषण हैं। 'अव+धा' का अर्थ होता है--अन्तर्गमन; अतः अवधान का अर्थ होगा--एक-आलम्बन परायणता।

'स्तम्भित अवस्था' नाश की अवस्था नहीं है--यह अच्छी तरह से ज्ञातव्य है।

'प्रचार' का अर्थ है--भ्रमण, गमनागमन, प्रवृत्ति। यहाँ 'क्रिया' अर्थ करना उचित है।

केवल कुम्भक में श्वासरोध के साथ-साथ मन का भी रोध होता है--यह ग्रन्थकार का कहना है। प्रकृत बात यह है कि श्वासरोध मनोरोध का अवश्य सहायक होता है--यदि वह रोध वैराग्यादिपूर्वक हो; अन्यथा केवल श्वासरोध पूर्वक मनोरोध योग की दृष्टि में विशेष लाभप्रद नहीं होता।

सहस्रशः सन्तु हठेषु कुम्भाः
संभाव्यते केवलकुम्भ एव।
कुम्भोत्तमे यत्र तु रेचपूरौ
प्राणस्य न प्राकृतवैकृताख्यौ ॥१०॥

**अनुवाद**—हठयोग के ग्रन्थों में यद्यपि सहस्र प्रकार के कुम्भकों का उल्लेख है, तथापि 'केवल' कुम्भक की श्रेष्ठता मानी गई है। कारण यह है कि इस श्रेष्ठ कुम्भक में प्राण ( बाह्य वायु ) के रेचक ( अपर नाम 'प्राकृत' तथा पूरक ( अपर नाम 'वैकृत' ) का अस्तित्व नहीं रहता।

**व्याख्या**--'हठ' शब्द हठयोग को भी कहता है ( हठात् हठयोगात्, ज्योत्स्ना ३।५१। हठयोग शब्द से हठयोग-ग्रन्थ या हठयोगसंप्रदाय रूप अर्थ लेना असंगत नहीं है। 'हठेषु' में जो बहुवचन है उसकी संगति इस दृष्टि से हो जाती है। 'संभाव्यते' में जो 'सम्+भू' धातु है उससे गौरव या समादर का अतिशय होना ज्ञापित होता है।

चूँकि हठ का लक्षण है—प्राणापानयोरैक्यलक्षणः प्राणायामो हठयोगः ( ह० यो० प्र० १।१ की टीका ), इसलिये हठशास्त्र में कुम्भक की नियत सत्ता स्वाभाविक रूप से स्वीकार्य होता है।

प्राणायाम के भेद से कुम्भक के भेद होते हैं ( हठयोग में प्राणायाम के सूर्यभेद आदि आठ भेद इसी दृष्टि से होते हैं ); अतः आठ प्रकार के कुम्भक हुये (द्र० घेरण्ड० ५।१६ 'अष्ट कुम्भकाः') । प्रसंगतः यह ज्ञातव्य है कि देवल ने सात प्रकार का कुम्भक माना है ( द्र० योगचिन्ता० पृ० १८ ) ।

त्रिकूटनाम्नि स्तिमितेऽन्तरङ्गे
खे स्तम्भिते केवलकुम्भकेन[१] ।
प्राणानिलो भानु-शशाङ्क नाड्यो
विहाय सद्यो वलयं प्रयाति ॥११॥

[ १. त्रिकूटनाम्नि तिमिरेऽन्तरे खे स्तम्भं गते केवलकुम्भ एव (पाठा०) । इसका अर्थ है—आन्तर शून्य में स्थित त्रिकूट नामक तिमिर में वायु के स्तम्भित ( कुम्भक के द्वारा ) होने पर 'केवल' कुम्भक वर्तमान रहता है। यह अर्थ कुछ अस्पष्ट है । ]

**अनुवाद**--त्रिकृट नामक अन्तःस्थित शून्य देश जब केवल कुम्भक के द्वारा स्तम्भित हो जाता है, तब प्राणवायु सूर्यनाडी ( पिङ्गला ) और चन्द्रनाडी (इडा) को छोड़कर तत्काल ही लीन हो जाता है।

**व्याख्या**--त्रिकुट नामक आन्तर शून्य देश चक्रविशेष है, लयोपयोगी नौ चक्रों के विवरण में इसका उल्लेख मिलता है—ब्रह्मचक्र ( मूलाधार में ), स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृच्चक्र, कण्ठ-चक्र, तालुचक्र ( घण्टिकामूल ), भ्रूचक्र, निर्वाणचक्र ( ब्रह्मरन्ध्र में ), त्रिकूटचक्र ( यह ब्रह्मचक्र के ऊपर है; पूर्णगिरि के पृष्ठ में ) ( द्र० योगचिन्ता० पृ० १२०-१२१; सौभाग्यलक्ष्मी-

उप० ३।१-९ )। नाथयोग में इन नौ चक्रों की विशेष चर्चा है ( सिद्ध-सिद्धान्त-पद्धति, द्वितीय उपदेश; शान्तिपर्व ३१६।११ टीका )।[१] ब्रह्मबिन्दु-उपनिषद् में भी त्रिकूट का उल्लेख है ( ७० )। यह तीन नाडियों का संयोगस्थल भ्रूमध्य है। उपर्युक्त त्रिकूट इससे भिन्न है।

प्राणलय = प्राणका स्थैर्य अर्थात् गति का अभाव। प्राण जब तक ब्रह्मरन्ध्र में नहीं पहुँचता है तब तक यह लय संभव नहीं होता ( द्र० ज्योत्स्नाटीका ३।७५ )।

प्रत्याहृतः केवलकुम्भकेन
प्रबुद्ध कुण्डल्युपभुक्तशेषः।
प्राणः प्रतीचीनपथेन मन्दं
विलीयते विष्णुपदान्तराले[२] ॥१२॥

[ १. प्रभुक्तकुण्डल्यु.... ( पाठा० ); कुण्डली के प्रभुक्त विशेषण का कोई सार्थक्य प्रतीत नहीं होता। २. विष्णुपदे मनो मे ( पाठा० )—इस पाठ को मानने पर 'विलीयते' क्रिया के दो कर्ता ( प्राण तथा मन ) मानने होंगे, जो अनुचित है। ]

**अनुवाद**—प्रबुद्ध ( = जागरित ) कुलकुण्डलिनी के द्वारा उपभोग के बाद प्राण का जो अंश अवशिष्ट रहता है, वह कुम्भक के द्वारा प्रत्याहृत

---

१. यहाँ 'तदुक्तं शिवयोगे' कहकर नौ चक्रों के प्रतिपादक कुछ श्लोक उद्धृत किये गये हैं। शान्तिपर्व के श्लोक में 'द्वादशैव तु चोदनाः' कहा गया है। इन १२ चोदनाओं की व्याख्या नीलकण्ठ इस प्रकार करते हैं—( नवचक्र विवरण के बाद ) "एता नव चोदना वायुनिग्रहगर्भिताः। ततः शून्यात् परं समष्टिकार्ये मनो धारयेत् ततः कारणे ततो निष्कले इति तिस्र इति द्वादश चोदनाः"।

(=संयत) होकर प्रतीचीन मार्ग (=अधोमार्ग) से धीरे-धीरे विष्णु के दो पदों के अन्तराल में (=विष्णुपद में) लीन हो जाता है।

**व्याख्या**—हठयोग के ग्रन्थों में 'प्राण का विष्णुपद में लय होना' कहा गया है—समीरणे विष्णुपदे निविष्टे (योगियाज्ञ० १२।२९)। इसी प्रकार मन का (सप्राण मन का) विष्णुपद में लय भी कहा गया है—मनस्तत्र लयं याति तद्विष्णोः परमं पदम् (ह० यो० प्र० ४।१००)। परवैराग्य के द्वारा मन का वृत्तिशून्य होकर संस्कारशेष अवस्था में रहना ही मन का यह लय है। अनाहतध्वनि, ज्योतिर्धारणा मनोलय एवं विष्णु के परमपद के विषय में घेरण्डसंहिता का यह कथन साधकों के लिए परम उपादेय है—ध्वनेरन्तर्गतं ज्योतिर् ज्योतिरन्तर्गतं मनः। तन्मनो विलयं याति तद् विष्णोः परमं पदम् ॥ (५।८०)।

निरङ्कुशानां श्वसनोद्गमानां
निरोधनैः केवलकुम्भकाख्यैः।
उदेति सर्वेन्द्रियवृत्तिशून्यो
मरुल्लयः कोऽपि महामतीनाम् ॥१३॥

[स्वपनोद (पाठा०)—यह भ्रष्ट पाठ है।]

**अनुवाद**—केवल कुम्भक के द्वारा श्वासवायु की अबाध ऊर्ध्वगति के जो बहुविध निरोध होते हैं, उनसे महामतियों (=प्रज्ञावान् योगियों) में जो अनिर्वचनीय वायुलय उद्भूत होता है, वह सभी इन्द्रियवृत्तियों से शून्य है।

**व्याख्या**—'निरोधन' शब्द में जो बहुवचन है उससे ज्ञात होता है कि निरोध के अवान्तर भेद हैं (ये भेद कुम्भक द्वारा कृत होते हैं)। बाह्य दृष्टि से (अर्थात् शारीरिक लक्षणों से) ये भेद जाने नहीं जा सकते।

श्वसन = वायु = श्वासक्रिया-संबद्ध वायु। साधारण लोगों में इस वायु पर कोई वशीकार देखा नहीं जाता; यही वायु की निरङ्कुशता है।

इन्द्रियवृत्ति-शून्य मरुत (= प्राणवायु) का लय अर्थात् पञ्च प्राणों की सर्वविध क्रियाओं का न होना। इस अवस्था में शरीर जीवित ही रहता है, यद्यपि बाह्यदृष्टि से (अर्थात् चिकित्साशास्त्र की दृष्टि से) मृत प्रतीत होता है। निरोध चूंकि सात्त्विकता, निरायास तथा सुखपूर्वक होता है, अतः रोधकाल में शरीर धातुयें विकृत नहीं हो जातीं; वे स्तम्भित अवस्था (suspended animation) की स्थिति में रहती हैं।

न दृष्टिलक्ष्याणि न चित्तबन्धो
न देशकालौ न च वातुरोधः।
न धारणाध्यानपरिश्रमो वा
समेधमाने सति राजयोगे॥ १४॥

अनुवाद--राजयोग जब सम्यक् रूप से विकसित हो जाता है तब न लक्ष्यों पर दृष्टियों को स्थिर रखना पड़ता है (अर्थात् स्थिर रखने की चेष्टा नहीं करनी पड़ती), न चित्तबन्ध की आवश्यकता रहती है, न वायुरोध की आवश्यकता रहती है और न धारणा एवं ध्यान के लिए श्रम करना पड़ता है।

व्याख्या--'दृष्टियों' का विवरण हठशास्त्र में मिलता है।

न देशकालौ—देश और काल से इसका तात्पर्य नहीं है। योगसूत्र (२।५०) में जो देशकालपरिदृष्टि कही गई है, वही इसका लक्ष्य है।

राजयोग—योगसूत्र (१।१८) का जो असंप्रज्ञात योग है (जिसमें वृत्तियां पूर्णतः नहीं रहतीं; केवल संस्कार रहता है) वही राजयोग है—यह कई आचार्यों का कहना है—असम्प्रज्ञातो निरालम्बो निर्बीजो राजयोगो निरोधश्चेते असंप्रज्ञातस्य प्रसिद्धाः पर्यायाः (ज्योत्स्नाटीका ४।७)। 'निर्विकल्प' शब्द भी

इस प्रसंग में प्रयुक्त होता है—वृत्त्यन्तर-निरोधपूर्वक—आत्मगोचरधारावाहिक-निर्विकल्पकवृत्ती राजयोगः ( ज्योत्स्ना ३।१२६ ); अयं निर्वीज इति, निर्विकल्प इति, निरालम्ब इति, राजयोग इति चोच्यते ( योगचिन्ता०, पृ० ६ )। चूँकि इस अवस्था में आत्मगोचर धारावाहिक निर्विकल्पक वृत्ति रहती है, अतः 'चित्तस्य एकाग्रतैव राजयोगः' कहा गया है (ज्योत्स्नाटीका ४।७७)। यह तुर्यावस्था-नामक है (ज्योत्स्ना ४।८०)।

राजयोग की सिद्धि के लिए हठ–लय–मन्त्र रूप तीन योग हैं—यह योगियों का कहना है ( ह० यो० प्र० ४।१०३ )।

अशेष[1]दृश्योज्झितदृङ्मयानाम्
अवस्थितानामिह राजयोगे।
न जागरो नापि सुषुप्तिभावो
न जीवितं नो मरणं विचित्रम्[2] ॥१५॥

[ १. अशेषदृश्योर्जितदृग्जयानां ( पाठा० )—'अशेषदृश्योर्जितदृगजय = अशेषदृश्य के द्वारा ऊर्जित जो दृक् (= आत्मा, द्रष्टा), उसकी जयें'—इस अर्थ की कोई भी संगति नहीं है। ऊर्जित = शक्तिशाली, प्रबल, प्रशस्यतर, विशिष्ट। 'अशेषदृश्योर्जित दृग्जय है जिनकी वे—यह अर्थ भी संगत प्रतीत नहीं होता।

२. मरणं न चित्तम् (पाठा०)—न मरण और न चित्त ही रहता है। ]

अनुवाद—जो राजयोग में अवस्थित होते हैं वे अशेष दृश्य के परिहार होने के कारण ब्रह्ममय हो जाते हैं। इनमें न जाग्रत अवस्था और न सुषुप्ति अवस्था होती है; न जीवन होता है और न मरण। यह एक विचित्र स्थिति है।

अहं-ममत्वादि विहाय सर्वं
श्रीराजयोगे स्थिरमानसानाम्।

न द्रष्टृता[1] नास्ति च दृश्यभावः
सा जृम्भते केवलसंविदेव ॥१६॥

[ १. दृश्यता ( पाठा० )--यह पाठ असंगत है क्योंकि दृश्यता और दृश्य-भाव ( जो शब्द यहाँ प्रयुक्त हुआ है ) एक ही पदार्थ है । ]

अनुवाद--जो अहंकार और ममत्व की बुद्धि का त्याग करके महान् राजयोग में स्थिरचित्त हो चुके हैं, ऐसे लोगों में दर्शक-भाव तथा दृश्य-भाव नहीं रहते; ( उस अवस्था में ) केवल संविद् ( ज्ञानमात्र ) प्रकाशित होती है ।

व्याख्या--श्रीयुक्तराजयोग=श्रीराजयोग । 'श्री' का प्रयोग करके राजयोग की गौरवित-महिमान्वित स्थिति दिखाई गई है । 'श्री' का ऐसा प्रयोग शाम्भवी मुद्रा के साथ भी देखा जाता है ( श्री शाम्भव्या , ह० यो० प्र० ४।३८ ) ।

ममत्व--'ममता' शब्द पर भास्कर कहते हैं--ममशब्दो विभक्तिप्रतिरूपकमव्ययं ममेदमित्याकारकबुद्धिपरम् । सा च भेदघटितसंबन्धं स्वतः सतो विषयी करोति ( ललितासहस्रनामभाष्य, पृ० ६४ ) ।

नेत्रे ययो[1]न्मेषनिमेषशून्ये
वायुर्यया[2] वर्जितरेच-पूरः ।
मनश्च संकल्पविकल्पशून्यं
मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम् ॥१७॥

[ १. यथोन्मेष (पाठा०)--यह पाठ असंगत है क्योंकि 'तथा' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है ।

२. यथा (पाठा०) पूर्ववत् असंगत । श्लोक में उपमा देने का कोई आग्रह नहीं है--यह द्रष्टव्य है ।

३. शाक्त भास्कर ने इस श्लोक को 'योगशास्त्रे मुद्राविशेषस्य संज्ञा' कहकर उद्धृत किया है ( निमेषमुक्ते-पाठ है; पृ० ६८ )। ]

**अनुवाद**--जिस मनोन्मनी अवस्था ( मन का उन्मनीभाव ) के द्वारा (अर्थात् जिसका अधिगम होने के कारण ) दोनो नेत्र उन्मेष-निमेष-हीन हो जाते हैं, रेचक और पूरक रूप वायु ( वायुक्रिया ) स्तब्ध हो जाता है तथा मन भी संकल्प एवं विकल्प से रहित हो जाता है वह ( उन्मनो भाव ) मुझमें आविर्भूत हो।

**व्याख्या**--'यया' का संबन्ध 'मनोन्मन्या' से है ( चतुर्थ चरण में मनोन्मनी शब्द है। ) मनोन्मनी की स्थिति का आविभाव होने पर योगी के नेत्र, प्राणवायु और मन किस स्थिति में रहते हैं --यह यहाँ दिखाया गया है।

उन्मेष = पक्ष्मसंयोग का विश्लेष--आँख का खोलना। निमेष = अक्षि-पक्ष्म का संयोग ( आँख का मूँदना ) ( ज्योत्स्नाटीका ४।३६ )।

'रेचक-पूरकहीन वायु' का तात्पर्य उस अवस्था से है जिसमें श्वासक्रिया पूर्णतः अवरुद्ध हो जाती है, पर प्राणी जीवित रहता है क्योंकि निरोधबल का क्षय होने पर प्राणी व्युत्थित होता है। विकल्प को प्रायः संशय कहा जाता है ( प्रश्नोप० ६।६ भा० )।

मनोन्मनी--प्राणवायु का सुषुम्नामध्य में संचार होने पर मन का सम्यक् स्थैर्य ( = अभीष्ट ध्येयाकारवृत्तिमात्र का प्रवाह ) होता है। मन का यह स्थिरीभवन ही 'मनोन्मनी' कहलाता है ( ह० यो० प्र० २।४२; ४।२० )। मन का उन्मन होना = मन के द्वारा विषयमनन न होना। मनोन्मनी के लिए कभी कभी उन्मनी शब्द भी प्रयुक्त होता है। इसको 'तुर्यावस्था' भी कहा जाता है ( ज्योत्स्नाटीका ४।६४ )। समल शरीर में यह अवस्था होती नहीं है। उन्मनी के लिए ह० यो० प्र० ४।८०, १०४, १०६; ब्रह्मबिन्दु ४; उत्तरगीता २।४९ द्र०।

चित्तेन्द्रियाणां चिरनिग्रहेण
श्वासप्रचारे शमिते यमीन्द्राः

निवात[2]दीपा इव निश्चलाङ्गा[3]
मनोन्मनी-मग्नधियो भवन्ति[4]॥१७॥

[ १. समस्ते (पाठा०) अर्थात् समस्ते श्वासप्रचारे। इस पाठ में 'भवन्ति' क्रिया का कोई विशेष्य–कर्ता–नहीं रह जाता तथा 'निश्चलाङ्गाः' विशेषण के साथ 'योगिनः' का अध्याहार करना पड़ता है।

२. निर्वात (पाठा०)।

३. निवातदीपैरिव निश्चलाङ्गैः (पाठा०)—निवात दीपों की तरह निश्चलअङ्गों के द्वारा। यह अर्थ हो सकता है, पर बहुत संगत नहीं जंचता।

४. मनोन्मनी सा मयि सन्निधत्ताम् (पाठा०)। इस पाठ में अर्थ संगत नहीं होता। यह वाक्य १७ वें श्लोक का चतुथ चरण है। लिपिकर के अनवधान से यह अंश यहाँ पुनः लिखित हो गया है—ऐसा प्रतीत होता है। ]

**अनुवाद**–चित्र और इन्द्रिय के दीर्घकालीन निग्रह के कारण श्वास-क्रिया निरुद्ध हो जाती है। ऐसी स्थिति में श्रेष्ठ योगी निवातस्थ दीपो की तरह निश्चलाङ्ग हो जाते हैं तथा उनकी बुद्धि मनोन्मनी-नामक अवस्था में मग्न हो जाती है।

**व्याख्या**—'चिरनिग्रह' अर्थात् दीर्घकालव्यापी निरोध। निरोध में क्रम-विकास देखा जाता है ( तुल० योगो हि प्रभवाप्ययो, कठ० २।३।११, । निरोध संस्कार की वृद्धि ( जो निरोधजनक क्रिया बार-बार करने से होता है ) से निरोध-अवस्था की वृद्धि होती है। चित्त का निरोध होने पर श्वास-प्रश्वास स्वतः अवरुद्ध हो जाते हैं—यह जानना चाहिये।

यहाँ 'श्वास-प्रचार' से वायु का नासिका द्वारा ग्रहण–त्याग ( अर्थात् श्वास-निश्वास ) विवक्षित है। श्वास=नासा में बाह्य वायु का प्रवेश; निश्वास=अन्तःस्थित वायु का बहिः निःसारण ( ज्योत्स्ना ४।३१; निश्वास

के लिए प्रश्वास शब्द बहुत्र प्रयुक्त हुआ है )। तुल० अजस्रनिश्वासो रेचनम् ( देवल का वाक्य, मोक्षकाण्ड पृ० १७ में उद्धृत )।

यद्यपि सभी संस्करणों में निर्वात शब्द दृष्ट होता है, पर प्रकृत शब्द निवात है; द्र० गीता ६।१९ 'यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता'। किसी स्थान में आँधी आने से पहले वायु की अल्पता के कारण वायु का जो स्थिर भाव लक्षित होता है, अथवा अन्य कारणों से भी जो ऐसा स्थिर भाव होता है, वह निवात है। निवात वायु का सर्वथा अभाव नहीं है क्योंकि वायु न रहने पर दीप जल ही नहीं सकता—यह ज्ञातव्य है।

उन्मन्यवस्थाधिगमाय[1] विद्व-
न्नुपायमेकं तव निर्दिशामि ।
पश्यन्नुदासीनदृशा प्रपञ्चं
संकल्पमुन्मूलय सावधानः ॥१९॥

[ १. उन्मन्यवस्थामधिगम्य (पाठा०)—यह भ्रष्ट पाठ है। 'अधिगम्य' के साथ 'निर्दिशामि' का अन्वय नहीं हो सकता। दोनों क्रियाओं के कर्ता भिन्न हैं, अतः ल्यबन्त 'अधिगम्य' का प्रयोग असंगत ही है। ]

**अनुवाद**--हे विद्वान ( =अध्यात्मविद्या के ज्ञाता ), उन्मनी-नामक अवस्था की प्राप्ति के लिए आपको एक उपाय का निर्देश करता हूं; आप उदासीन दृष्टि से इस प्रपञ्च को देखते हुये सावधान होकर इस प्रपञ्च का उन्मूलन करें।

**व्याख्या**--उन्मनी-अवस्था का अधिगम प्राणवायु के सुषुम्ना-वाहिनी होने पर होता है ( ज्योत्स्नाटीका ४।२० ); इस अवस्था में योगी स्वरूप-स्थित होता है ( ज्योत्स्नाटीका ४।२१ ) उन्मनी-अवस्था को मन का लय भी कहा जाता है। मन का लय = मन का आत्माकार होना ( ज्योत्स्नाटीका ४।५९ )।

प्रपञ्च शब्द का अर्थ है---विस्तृत दृश्य। इस शब्द से 'प्रतिक्षण-परिणामी अनित्य, सीमाहीन विचित्र विषय' समझा जाता है।

उदासीन दृष्टि का अभिप्राय है— आसक्तिहीन अर्थात् राग द्वेष-हीन दृष्टि। 'उद्'-उपसर्ग से ऊर्ध्वभाव द्योतित होता है; यह ऊर्ध्वस्थता तभी सम्भव है जब विषयज्ञाता जीव अपनी सत्ता को विषयसत्ता से पृथक् समझे। इस प्रकार समझना तभी सम्भव होता है जब राग-द्वेष से प्रभावित न होकर प्रपञ्च को देखने की शक्ति हो, प्रपञ्च का ज्ञानपूर्वक व्यवहार करने की सामर्थ्य हो। भ्रूमध्य दृष्टि का अभ्यास इस उदासीन भाव का सहायक है।

संकल्प का मूल स्वरूप है---चित्त में कल्पित या स्मृत किसी क्रिया में अस्मिता का प्रयोग। यह सभी कामों (=कामनाओं) का मूल है कामों का उच्छेद संकल्पवर्जन से ही सम्भव है—'संकल्पप्रभवान् कामान् त्यक्त्वा सर्वानशेषतः' (गीता ६।२४); 'सांकल्पात् कामः संभवति' (मोक्षकाण्ड पृ. ८१ में उद्धृत हारीत-वाक्य), 'काम जानामि ते मूलं संकल्पात् किल जायसे'; 'कामं संकल्पवर्जनात्' (शान्तिपर्व ३०१।५६) आदि वाक्य इस प्रसंग में स्मरणीय हैं। रागादि संकल्पनिमित्तक हैं—यह न्यायसूत्र (३।१।२६) में कहा गया है। सूत्र-व्याख्याकारों के अनुसार 'संकल्प' आकाङ्क्षाविशेष, मिथ्याज्ञानविशेष, अशोभन को शोभन समझना रूप कल्पना (जो भ्रम ही है) है।

सावधान = अवधान के साथ। आत्म-विस्मृति न होना, दूसरे शब्दों में 'अपने द्रष्टृ-भाव को लक्ष्य करते रहना' अवधान है।

> प्रसह्य संकल्पपरम्पराणां
> संछेदने[1] सन्ततसावधानम्[2]।
> आलम्बनाशादपचीयमानं[3]
> शनैः शनैः शान्तिमुपैति चेतः ॥२०॥

१. संभेदने (पाठ०)---यह पाठ भी संगत है।

२. सावधानः (पाठ०)। 'सावधानः' पाठ करने पर इस श्लोक के

उत्तरार्ध के साथ इसका अन्वय नहीं हो सकता और पूर्वार्ध का वाक्य असंपूर्ण रह जाता है। 'सावधानः' का अन्वय १९ वें श्लोक के उत्तरार्ध के साथ हो सकता है; पर क्या ऐसा करना उचित होगा ?

३. अपनीयमानम् (पाठा०)। 'अपनीयमानं चेतः' कहने का कोई सार्थक्य नहीं है, अतः यह पाठ असंगत है। आलम्बनादावपचीयमाने (पाठा०)—आलम्बनादि के ह्रास या क्षय होने पर। आलम्बन का ग्रहण और त्याग होते हैं; यह त्याग वस्तुतः ह्रास नहीं है, अतः यह पाठ भी संगत नहीं प्रतीत होता।]

**अनुवाद**--जो चित्त संकल्पों की धारा का बलपूर्वक छेदन करने में निरन्तर सावधान ( स्मृतियुक्त ) है तथा आलम्बन के नाश के कारण अपचययुक्त क्षयशील ( अर्थात् विक्षेपहीन, विषय-लोलताशून्य ) है, वह धीरे-धीरे शान्ति को प्राप्त होता है।

**व्याख्या**--शान्त चित्त के विषय में निम्नोक्त श्रौत उपमा द्रष्टव्य है—यथा निरिन्धनो वह्निः स्वयोनावुपशाम्यति। तथा वृत्तिक्षयाच् चित्तं स्वयोनावुपशाम्यति॥ (मैत्रायणी आर० ६।३४)। संकल्प-छेदन = संकल्प न करना।

निश्वासलोपैर्निभृतैः[1] शरीरैर्
नेत्राम्बुजैरर्धनिमीलितैश्च[2] ।
आविर्भवन्तीममनस्कमुद्राम्[3]
आलोकयामो मुनिपुङ्गवानाम् ॥२१॥

[ १. विधुतैः (पाठा०)। ऐसा प्रतीत होता है कि जब 'निभृतैः' पाठ का सार्थक्य अज्ञात-सा हो गया तब यह पाठ कल्पित किया गया।

२. नेत्राञ्जनैरर्धनिमीलितैश्च (पाठा०)। यह पाठ भ्रष्ट है क्योंकि नेत्र का अञ्जन अर्धनिमीलित नहीं हो सकता।

३. आविर्भवन्तीह मनस्कमुद्राम् (पाठा०)। इसका पदच्छेद 'आविर्भवन्ति इह' करने पर कोई संगति नहीं होती। 'आविर्भवन्ती इह' करने पर

'आविर्भवन्ती' विशेषण का कोई विशेष्य नहीं मिलता। 'मनस्क' नामक कोई मुद्रा भी नहीं है। अतः यह पाठ शुद्ध नहीं है। ]

**अनुवाद**--निश्वास का लोप, शरीर की विस्पन्दता तथा नेत्रपद्मों का अर्धनिमीलन होने पर श्रेष्ठ मुनियों में जो अमनस्क मुद्रा का आविर्भाव होता है, हम उसका दर्शन करते हैं।

**व्याख्या**--अमनस्क भाव में स्थित व्यक्ति के स्वरूप के विषय में अमनस्क-योग २।८१-९१ विशेषतः द्रष्टव्य है।

'निश्वास का लोप' से पूर्ण श्वासक्रिया का लोप समझना चाहिये। वायु-ग्रहण रूप निश्वास (ज्योत्स्नाटीका ४।११२) नहीं होगा तो वायु का बहिः निःसारणरूप उच्छ्वास (या प्रश्वास) भी नहीं होगा। (निःश्वास शब्द भी क्वचित् प्रयुक्त होता है निश्वास के लिए; निःश्वासो निःसारणम्, योगचिन्ता० पृ० १७६)। 'निश्वासलोपैः' आदि शब्दों में जो तृतीया है वह 'इत्थम्भूतलक्षणे' (अष्टा० २।३।२१) सूत्र से है। निश्वासलोप आदि ज्ञापक हेतु हैं।

शरीर का विशेषण 'निभृत' दिया गया है। निश्चल, निष्कम्प, स्थिर अर्थों में निभृत शब्द का प्रयोग प्राचीन ग्रन्थों में मिलता है (कुमारसंभव ३।४२; शाकुन्तल १।८)। प्राणस्थैर्य से शारीरिक स्थैर्य भी होता है; मन की स्थिरता प्राण की स्थिरता का हेतु है।

आत्मस्थ होने पर नेत्र की अर्धनिमीलित स्थिति होती है (ह० यो० प्र० ४।४१)। प्रयत्नशून्यता(=निरायास)-पूर्वक स्थैर्य होने पर ऐसा ही होता है—यह ज्ञातव्य है।

> अमी यमीन्द्राः[1] सहजामनस्का[2]
> देहे ममत्वे[3] शिथिलायमाने।
> मनोऽतिगं मारुतवृत्तिशून्यं
> गच्छन्ति भावं गगनावशेषम्[4] ॥२२॥

। १. अमी हि चेन्द्राः ( पाठा० ) इन्द्राः शब्द का कोई स्वारस्य नहीं है; यह भ्रष्ट पाठ है।

२ सहजामनस्कात् ( पाठा० )—सहज-अमनस्क के कारण। पर तब भाव-प्रधान निर्देश मानकर अमनस्क से अमनस्कत्व रूप अर्थ लेना होगा।

३. ममत्वम् (पाठा०)—यह लिपिकर-प्रमादजनित पाठ है। अहंममत्वे (पाठा०)—इस पाठ में जो एकवचन है वह सुसंगत नहीं है।

४. मनोगतिं मारुतवृत्तिशून्यां गच्छन्त्यगम्यां गमनावशेषाम् (पाठा०)—जो वायुवृत्तिहीन गमनावशेष अगम्य मनोगति है, उसको प्राप्त करते हैं। मनोगति का 'मन का चरम लक्ष्य' अर्थ करके तथा 'अगम्या' का 'दुष्प्रापा' अर्थ करके इस पाठ को भी संगत माना जा सकता है। पर 'गमनावशेषा' का तात्पर्य क्या होगा ?।

**अनुवाद**—सहज ( =स्वाभाविक ) अमनस्क अवस्था प्राप्त होने के कारण देह में ममत्व जिनका शिथिल हो गया है, ऐसे श्रेष्ठ योगी मन का अगोचर तथा वायुवृत्ति ( =प्राण ) से शून्य आकाशमात्ररूप ( असीम ) भाव को प्राप्त करते हैं।

**व्याख्या**—अमनस्क का विशेषण सहज ( सह+ज ) है। यह विशेषण बहुत ही प्रसिद्ध है। इसका तात्पर्य निरायासता से है—प्रयत्न के विना उदित होना—स्वयमेव उत्पद्यते—'उत्पद्यते निरायासात् स्वयमेवोन्मनी ( ह० यो० प्र० १।४१ )।

भाव के तीन विशेषण हैं (१) मनोतिग, (२) मारुतवृत्तिशून्य तथा (३) गगनावशेष। मनोऽतिग=मन की वृत्ति का अतिक्रमण करने वाला अर्थात् मन का अगोचर।

मारुतवृत्ति-शून्य=प्राणवायु की वृत्तियों ( =क्रियायों ) से विरहित। प्राण की क्रियायें प्रसिद्ध हैं। प्राण पाँच रूपों में अपने को विभक्त करके शरीर

का विधारण ( = निर्माण वर्धन, पोषण ) करता है। ये पांच रूप हैं--प्राण, उदान, व्यान, समान तथा अपान। हठयोग के ग्रन्थों मे इन पांचों की क्रियाओं का विशद विवरण मिलता है।

गगनावशेष—गगन=आकाश। आकाश जिस प्रकार अमूर्त तथा बाधाहीन है, यह भाव उसी प्रकार का है--यह अभिप्राय है[1]; तुल० शून्य, अतिशून्य, महाशून्य ( ह० यो० प्र० ४।७१-७४ )।

निवर्तयन्तीं निखिलेन्द्रियाणि[1]
प्रवर्तयन्तीं परमात्मयोगम्।
संविन्मयीं तां सहजामवस्थां
कदा गमिष्यामि गतान्यभावः[2] ।२३।

[१. निभृतेन्द्रियाणाम (पाठा०)--भ्रष्ट पाठ है, क्योंकि षष्ठीविभक्ति का का कोई स्वारस्य नहीं है।

२. गतान्यभागः (पाठा०)=गत हुआ है अन्य भाग जिसका, वह ( बहुव्रीहि)। यह मैं ( अहम ) का विशेषण है। इस विशेषण की सगति नहीं है। ]

**अनुवाद**—सभी इन्द्रियों को निवृत्त करने वाली, परमात्मयोग की प्रवर्तिका तथा संविन्मयी उस सहज अवस्था को कब मैं अन्य भावों को छोड़ कर प्राप्त करूंगा।

---

१. 'आकाश-सदृश' होने पर भी वस्तुतः आकाश की तरह बहुयोजनव्यापी नहीं है। उपमा जिसकी विवक्षा के लिए दी जाती है, उसका ही ग्रहण करना चाहिए द्र०—'आकाशवत् सर्वगतश्च नित्य इत्यपि प्रसिद्धमहत्त्वेन आकाशेन उपमानं क्रियते निरतिशयमहत्त्वाय, नाकाशसमत्वाय। यथेषुरिव सविता धावति इति क्षिप्रगतित्वाय उच्यते, नेषुतुल्यगतित्वाय तद्वत्' ( शारीरकभाष्य २।१।७ )।

**व्याख्या**--परमात्मयोग--परमात्मा के साथ संयोग। 'आत्मयोग' शब्द भी योगग्रन्थों में प्रयुक्त होता है। तुल० अध्यात्मयोग (कठ-उप० १।२।१२)। योग=चित्त का किसी अभीष्ट पर समाधान ( =समाहित होना )।

प्रत्यग्विमर्शातिशयेन पुंसां
प्राचीनसंगेषु[1] पलायितेषु।
प्रादुर्भवेत्काचिदजाड्यनिद्रा[2]
प्रपञ्चचिन्तां परिवर्जयन्ती[3] ॥२४॥

[ १ प्राचीनगन्धेषु ( पाठा० )। 'संबन्ध' 'सम्पर्क' 'संयोग' अर्थ में गन्ध शब्द का उल्लेख कोशों में मिलता है; पर संग अर्थ में इसका प्रयोग शायद ही कहीं मिलना हो।

२ प्रादुर्भवत् क्वापि न जाड्यनिद्रा पाठा०)-- भ्रष्ट पाठ। 'क्वापि' की कोई संगति नहीं है।

३. प्रपञ्च एको विलयं प्रयाति ( पाठा० )--यदि यह मूल पाठ हो तो इसे एक स्वतन्त्र वाक्य मानना होगा। प्रपञ्च का 'एक' विशेषण क्यों दिया गया-- यह विचारणीय है। प्रपञ्च का विलय होना शास्त्रसंमत है। ]

**अनुवाद**--प्रत्यगात्मसंबन्धी विमर्श के अतिशय के कारण जीवों की प्राक्तन विषयासक्ति हट जाती है ( नष्ट हो जाती है )। ऐसा होने पर एक प्रकार की अजाड्यनिद्रा का आविर्भाव होता है जो प्रपञ्च विषयक चिन्तन का परित्याग-कारिणी है।

**अनुवाद**--प्रत्यक् ( प्रति + अञ्चधातु + क्विप् प्रत्यय ) शब्द की प्रायेण दो व्याख्यायें की जाती हैं--(१) प्रत्येक वस्तु में अनुस्यूत; (२) विपरीत भाव का ज्ञाता। आत्मा में प्रत्यक्शब्द उपर्युक्त दोनों अर्थों में प्रयुक्त होता है ( यथायोग्य स्थलों में ); कहीं कहीं स्पष्टता के लिए प्रत्यगात्मा या प्रत्यक्-चेतन शब्द भी प्रयुक्त होता है।

अजाड्यनिद्रा—निद्रा (=सुषुप्ति ) तमोगुण-प्रधान है—प्रस्वापनं तु तमसा (भागवत ११।२५।२० )। श्लोकोक्त निद्रा जाड्यहीन है, अर्थात् तत्त्वतः यह निद्रा नहीं है। निद्रा का बाह्य सादृश्य मात्र इसमें है, अतः निद्रा शब्द का प्रयोग किया गया है। निद्रा की स्थिरता, आयासहीनता एवं विश्रान्ति –इस 'निद्रा' में भी हैं; साथ ही इसमें आत्मबोध अनावृत रहता है, अतः यह अजाड्यनिद्रा है। इसका नामान्तर 'योगनिद्रा' है। यह निद्रा जाग्रत्-स्वप्न से विलक्षण है--यह स्पष्टतया जानना चाहिये। 'प्रादुर्भवेत्' में प्रादुस् अव्यय है जो प्राकाश्यवाचक है ( गणरत्न० १।१५ )--प्रादुर्भवेत्=प्रकाशितो भवेत्।

योगनिद्रा में मनोगति आत्माभिमुख ही रहती है; अतः 'प्रपञ्चचिन्तां-परिवर्जयन्ती' कहा गया है। निद्रा के विभिन्न भेदों के लिए मेरा 'निद्रा या सुषुप्ति' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

विच्छिन्नसंकल्पविकल्पमूले
निःशेषनिर्मूलितकर्मजाले।
निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा[1]
सा जृम्भते[2] योगिनि योगनिद्रा ॥२५॥

[ १. निरन्तराभ्यासिनि नित्यभद्रे (पाठा०)। इस पाठ में इन दोनों पदों को 'योगिनि' का विशेषण मानना होगा। यह विशेषण असंगत नहीं है, पर हमारी दृष्टि में योगनिद्रा के विशेषण के रूप में 'निरन्तराभ्यासनितान्तभद्रा' का उल्लेख करना अधिक समीचीन है।

२. विराजते (पाठा०) ]

**अनुवाद**—जिन योगी में संकल्प और विकल्प का मूल नष्ट हो गया है तथा जिसके सभी कर्म पूर्णतया समूल नष्ट हो गये हैं उनमें निरन्तर-अभ्यास-हेतुक नित्यमङ्गलकारिणी योगनिद्रा प्रकाशित होती है।

**व्याख्या** —'निर्मूलितकर्मजाल' कहने का तात्पर्य है—प्रारब्धकर्म का भी निर्मूल होना। देहारम्भक कर्म का भी नाश योग से होता है, यह ज्योत्स्नाटीका (३।८२) में [ विष्णुधर्मपुराण ( यह अमुद्रित है ) का वाक्य उद्धृत कर ] प्रतिपादित हुआ है। कर्मनाश-सम्बन्धी विशेष विचार के लिए विज्ञानभिक्षुकृत सांख्यसार का प्रथम परिच्छेद द्रष्टव्य है।

विश्रान्तिमासाद्य तुरीयतत्त्वे[1]
विश्वाद्यवस्था-त्रितयोपरिस्थे[2] ।
संविन्मयीं कामपि सर्वकालं
निद्रां सखे[3] निर्विश निर्विकल्पाम् ॥२६॥

[ १. तुरीयतल्पे (पाठा०) ( तल्प = शय्या )। प्रतीत होता है कि 'विश्रान्ति' शब्द को देखकर किसी ने तल्प शब्द का प्रयोग कर दिया है। 'तत्त्व' पाठ ही उचित है, क्योंकि वही 'विश्वाद्यवस्थात्रित्रयोपरिस्थ' है।

२. सर्वकालाम् (पाठा०)। इस पाठ को मानने पर यह 'निद्राम्' का विशेषण होगा ( 'संविन्मयीम्' की तरह ), जिसकी कोई आवश्यकता नहीं है। क्रियाविशेषण के रूप में 'सर्वकालम्'-पाठ अधिक संगत है।

३. भज (पाठा०)। इस पाठ में दो क्रियापद ( भज तथा निर्विश ) होते हैं, जिनकी कोई सार्थकता नहीं है। इस पाठ में छन्दोदोष भी होता है। ]

**अनुवाद**—हे सखा, विश्व आदि तीन अवस्थाओं के अतीत तुरीय तत्त्व मे विश्राम लाभ करके ( अर्थात् उसमें संस्थित होकर ) निर्विकल्प, संविन्मयी एवं अनिर्वचनीय अवस्था रूप निद्रा (अर्थात् योगनिद्रा) के सुख का सदैव अनुभव करो।

**व्याख्या**—आत्मा को तुरीय मानने की परम्परा बहुत प्राचीन है (तुरीय= चतुर्थ )। माण्डूक्य उपनिषद् ( ३–७ ) में स्थूल-सूक्ष्म क्रम से आत्मभाव को चार भागों में बांटा गया है—विश्व ( जाग्रत्-अवस्था-सम्बन्धी );

तैजस ( स्वप्न-अवस्था-सम्बन्धी ), प्राज्ञ (सुषुप्ति-अवस्था-सम्बंधी ) तथा तुरीय ( स्वरूपस्थ-आत्म-सम्बन्धी ) ।

तुरीयतत्त्व का निर्देश ह० यो० प्र० ४।४८ में है तुरीय-स्थिति शिवरूप ईश्वर की है अथवा सुखरूप आत्मा की है। आत्माकार या शिवाकार वृत्ति ही इस अवस्था में रहती है, अतः इसमें चित्त के वैषयिक चाञ्चल्य का सर्वथा अभाव हो जाता है—यह मृत्यु या काल की अतीत स्थिति है।

योगनिद्रा की स्थिति विकल्पहीन है अर्थात् आत्मविषयक कोई भी भ्रान्त धारणा इस अवस्था में नहीं रहती।

प्रकाशमाने परमात्मभानौ
नश्यत्यविद्यातिमिरे समस्ते ।
अहो बुधा निर्मलदृष्टयोऽपि
किञ्चिन्न पश्यन्ति जगत् समग्रम् ।।२७।।

**अनुवाद**—अहो ! परमात्मा-रूप सूर्य का उदय तथा अविद्या रूप पूर्ण अन्धकार का नाश होने पर विद्वान् ( =आत्मज्ञ ) निर्मलदृष्टियुक्त होने पर भी समस्त जगत् में कुछ भी नहीं देख पाते हैं।

**व्याख्या**—हठयोग के प्रतिपादक ग्रन्थों में परमात्मा शब्द प्रयुक्त होता है— द्र० ह० यो० प्र० ४।१०१; योगियाज्ञवल्क्य ९।१०।

परमात्मा सबका प्रकाशक ( निर्विकार रूप से ) है, इसलिये भानु का दृष्टान्त दिया गया। तुल० तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (श्वेताश्व० ६।१४ )। अन्धकार के कारण वस्तुओं का ज्ञान नहीं हो पाता; अविद्या के कारण वस्तु का तत्त्वज्ञान नहीं होता, इसलिये अविद्या के साथ तिमिर (=अन्धकार ) का प्रयोग पूर्वाचार्य करते हैं। इस श्लोक से यह ध्वनित होता है कि दर्शन-क्रिया के लिए सूर्यालोक, अन्धकारनाश तथा दृष्टिशक्ति—ये तीन आवश्यक हैं।

किञ्चिन्न पश्यन्ति--जगत् सत्ता का कोई ज्ञान उनमें नहीं रहता--यह इस वाक्य से जाना जाता है।

सिद्धिं तथाविधमनोविलयां[1] समाधौ
श्रीशैलशृङ्गकुहरेषु कदोपलप्स्ये[2]।
गात्रं यदा[3] मम लताः[4] परिवेष्टयन्ति
कर्णे यदा[5] विरचयन्ति[6] खगाश्च नीडम् ॥२८॥

[ १. समर्थाम् (पाठा०)--इस विशेषण का कोई स्वारस्य नहीं है।

२. कदोपलभ्ये पाठा०)। यह भ्रष्ट पाठ है।

३ कदा पाठा०)। इस पाठ में भी अर्थसंगति होती है। २, ३, ४ चरणों में 'कदा' पाठ मानकर 'कब ऐसी ऐसी स्थिति होगी' यह अर्थ किया जा सकता है।

४. गात्रे यथामरलताः पाठा०)--यह अशुद्ध पाठ है।

५. द्र० टि० ३।

६. विरचन्ति ( पाठा० )। इस पाठ में छन्दोदोष होता है तथा यह व्याकरणदुष्ट शब्द है।

**अनुवाद**--( साधक स्वयं को कह रहे हैं ) श्री शैलपर्वत की गुहा में रह कर कब मैं समाधि में मनोलयकारिणी सिद्धि को प्राप्त करूँगा ? जब लतायें मेरे शरीर का वेष्टन करेंगी तथा पक्षियाँ मेरे कान में नीडों का निर्माण करेंगी ( तब उपर्युक्त सिद्धि मुझे प्राप्त होगी )।

**व्याख्या**--लता द्वारा गात्रवेष्टन तथा कर्ण में नीडनिर्माण--एकासन में दीर्घकाल पर्यन्त निश्चल रूप से अवस्थान करने पर ऐसी स्थिति उत्पन्न हो सकती है। इतिहासपुराण में ऐसी स्थिति का वर्णन मिलता है।[1]

---

१. जटाटवीकोटरान्ताः कृतनीडाण्डजाश्च ये। १९। लताप्रतानैः परितो वेष्टितावयवाश्च ये। शस्यानि च प्ररूढानि यदङ्गेषु चिरस्थितिः॥ २० (काशीखण्ड अ० २२); द्र० शान्तिपर्व २६१।१२-३७ में वर्णित जाजलि का तपश्चरण।

श्रीशैलपर्वत---करनाल जिले के अन्तर्गत कृष्णा नदी के दक्षिण तीर में; कृष्णा-स्टेशन से ५० मील। यहाँ द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में अन्यतम लिङ्ग विद्यमान है। यह योगिजन-निवास के रूप में प्रसिद्ध है।

**ब्रह्मरन्ध्रगते वायौ गिरेः प्रस्रवणं भवेत्।**
**श्रृणोति श्रवणातीतं नादं मुक्तिर्न संशयः[1] ॥२९॥**

[ १. कई संस्करणों में यह श्लोक नहीं मिलता। इसके प्रक्षिप्त होने की सम्भावना है। प्रस्तुत ग्रन्थ उपजाति-छन्द में रचित है। २८ वें श्लोक में अन्य छन्द (वसन्तलिक) का व्यवहार है, जिससे ज्ञात होता है कि यह इस ग्रन्थ का अन्तिम श्लोक है। २८ वें श्लोक का भाव भी ऐसा है कि इसके बाद अभ्यास के विषय में कुछ कहने के लिए रह नहीं जाता। ]

अनुवाद—वायुके ब्रह्मरन्ध्र मे स्थिर होने पर गिरि का प्रस्रवण होता है ( गिरि से धारा निकलती है ), इस अवस्था में श्रवणातीत ( =अश्राव्य ) नाद सुना जाता है, अतः मुक्ति होती है—इसम कोई संशय नहीं है।

व्याख्या—ब्रह्मरन्ध्र—आधुनिक शारीर शास्त्र में यह anterior fontanelle कहलाता है; भेरुसंहिता में इसे शिरस्तालु कहा गया है। शरीर में कई छिद्र (रन्ध्र) हैं; जिनमें ब्रह्मरन्ध्र दशम है--यह आयुर्वेदीय मत प्रसिद्ध है (दशमं रन्ध्रं मस्तके चोक्तम्। तद् ब्रह्मरन्ध्रमित्याहुरेके; एतानि नव स्रोतांसि नराणां बहिर्मुखानि भवन्ति, दशमं मस्तके प्रच्छन्नम्—शाङ्गधर पर आढमल्ल की टीका )। वायु की ब्रह्मरन्ध्र की ओर गति के विषय में ब्रह्मानन्द का वाक्य मननीय है—कुण्डलिनीबोधे सुषुम्नामार्गेण प्राणो ब्रह्मरन्ध्रं गच्छति; तत्र गते चित्तस्थैर्यं भवन्ति, चित्तस्थैर्ये संयमाद् आत्मसाक्षात्कारो भवति (ज्योत्स्ना १।४८)। प्राणायामाभ्यास की तृतीय अवस्था ( जिसको 'उत्तम' कहा जाता है ) में प्राण ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचता है ( ज्योत्स्नाटीका २।१२ )।

गिरिप्रस्रवण--यह 'गिरि' क्या है, यह स्पष्ट नहीं है। संभवतः यह भ्रष्ट

पाठ है। योगियाज्ञवल्क्य में 'गिरिप्रस्रवणं यथा' कहकर गिरिप्रस्रवण की उपमा दी गई है—गिरिप्रस्रवण को एक घटना के रूप में नहीं कहा गया (आमूर्ध्नो वर्तते नादो वीणादण्डवदुत्थितः। शङ्खध्वनिनिभस्त्वादौ मध्ये मेघध्वनिर्यथा ॥५७॥ व्योमरन्ध्रगते नादे गिरिप्रस्रवणं यथा, ६।५७–५८ क० )। तुल० मेरुशृङ्गे स्थितश्चन्द्रो द्विरष्टकलयान्वितः। अहर्निशं ह्यसौ आत्मसुधां वर्षत्यधोमुखः। (योगचिन्ता० पृ० १०७ में उद्धृत अमृतसिद्धि-नामक योगग्रन्थ का वाक्य )। क्या गिरि = पूर्णगिरि है ? ( द्र० योगचि० पृ० १२२ )।

जो ध्वनि आघातजन्य नहीं होती वह इस शास्त्र में नाद कहलाती है ( नाद = अनाहतध्वनि; ज्योत्स्नाटीका ३।६४।[1]

नमो योगाय योगेश्वराय च

---

१. निम्नोक्त श्लोक कुछ संस्करणों में अन्तिम श्लोक के रूप में पठित हुआ है—

विचरतु मतिरेषा निर्विकल्पे समाधौ
कुचकलसयुगे वा कृष्णसारेक्षणानाम्।
चरतु जडमते वा सज्जनानां मते वा
मतिकृतगुणदोषा मां विभुं न स्पृशन्ति।

[ अवश्य ही यह श्लोक अर्वाचीन काल में संयोजित हुआ है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय से श्लोकोक्त दृष्टि की संगति नहीं है ]

# परिशिष्ट

## योगतारावली तथा उसकी व्याख्या में प्रयुक्त प्रमुखशब्दों की सूची

( शब्द के बाद दी गई संख्या ग्रन्थगत श्लोक की संख्या है )

## हमारे अन्य महत्वपूर्ण प्रकाशन

# सम्पूर्ण योग विद्या

**योगासन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध, षट्कर्म, ध्यान एवं कुण्डलिनी योग**

**वैज्ञानिक आधार सहित**

रक्षा मंत्रालय
राजभाषा पुस्तक पुरस्कार से सम्मानित
भारत सरकार

चतुर्थ संस्करण

राजीव जैन "त्रिलोक"

सम्पूर्ण योग विद्या में योग के सभी प्रकारों का बहुत सारगर्भित वर्णन किया गया है। इस पुस्तक की विशेषता है कि पाठकों के लिए योगाभ्यासों का बड़ा सटीक विवरण सचित्र प्रस्तुत किया गया है। मैं आशा करता हूँ कि ज्ञान के जिज्ञासुओं, विद्यार्थियों एवं शोधार्थियों के लिए यह पथ प्रदर्शक का कार्य करेगी।

-प्रो. गणेश शंकट गिरी
प्रमुख, यौगिक विज्ञान विभाग
डॉ. हरिसिंह गौर विश्वविद्यायल, सागर

इस ज्ञानवर्धक पुस्तक की विशेषता यह है कि इसे पढ़कर कोई भी पाठक अपने अन्तरंग एवं बहिरंग का विकास कर अपने व्यक्तित्व को वर्तमान समयानुकूल बहुआयामी बना सकता है। साथ ही वह अपने शारीरिक, मानसिक, शैक्षिक, आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जीवन में मनचाहे परिवर्तन भी ला सकता है।

-डे. शैलेन्द्र पाराशर
प्रोफ़ेसर एवं निदेशक,
अम्बेडकर पीठ,विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

श्री राजीव जैन "त्रिलोक" द्वारा लिखी गई सम्पूर्ण योग विद्या पुस्तक जगत की फुलवारी में एक गुलदस्ता है। जिस प्रकार गुलदस्ता बनाने के लिए माली वाटिका के सुन्दर पुष्पों का चयन करता है, उसी प्रकार श्री त्रिलोक जी ने योग जगत की विभिन्न क्रियाओं को एक पुस्तक में लिपिबद्ध कर दिया है। जो विद्यार्थियों, योग साधकों एवं योग के प्रति जिज्ञासा रखने वालों के लिए बहुत उपयोगी है।

-श्री.एम.पी. यादव
प्रशिक्षक, राज्य योग प्रभारी - म.प्र.
शासकीय योग प्रशिक्षण केंद्र, भोपाल

पुलिस की व्यस्ततम एवं अनियमित जीवनचर्या में मानसिक एवं शारीरिक व्याधियाँ अनजाने ही पैदा हो जाती हैं। इससे कार्य, नौकरी पेशा, व्यवहार, जीवनशैली में हिंसा, आत्महत्या जैसी घटनाओं से समाज, विभाग तथा परिवार प्रभावित होता है। सम्पूर्ण योग विद्या में इस समस्या का वैज्ञानिक उपचार बताया गया है। जिसे बिना किसी प्रशिक्षक के सीखकर लाभान्वित हुआ जा सकता है। स्वस्थ पुलिसमैन भी इस पुस्तक के ज्ञान से अच्छी निर्णय क्षमता तथा अथक् परिश्रम करने का सामर्थ्य प्राप्त कर सकते हैं। प्रत्येक स्तर के पुलिस कर्मचारी एवं अधिकारियों के लिए एक अमूल्य, साथ रखने योग्य ग्रंथ है।

-डॉ. सुभाष अत्रे, आई.पी.एस.
प्रमुक सचिव, गृह,छत्तीसगढ़

अमेरिका में योग सीखने एवं सिखाने के लिए संस्थाओं की बाढ़ आई हुई है। किन्तु स्वयं योगाभ्यास के लिए कोई प्रीमियर नहीं है। अमेरिका में पश्चिमी सभ्यता के परिवेश में

मानसिक एवं शारीरिक स्वस्थता के लिए सम्पूर्ण योग विद्या अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ है। योगासनों को करने की व्यवहारिक रीति तथा उनके मेडिकल महत्व को अत्यन्त रोचक एवं बोधगम्य तरीके से प्रस्तुत किया गया है। ऐसी प्रस्तुति अन्य किसी पश्चिमी लेखक की पुस्तक में देखने को नहीं मिलती। सुदूर देशों में अकेले रहने वाले हमारे सभी लोग इससे लाभान्वित होंगे।

-सौरभ शर्मा
ग्लोबल डिलीवरी मैनेजर, क्राइसलर

-स्पर्श शर्मा
ट्रॉय, डेट्रॉइट, मिशिगन (अमेरिका)

श्री राजीव जैन ने अथक परिश्रम एवं गहन शोध कर "गागर में सागर" कहावत को चरितार्थ किया है। एवं प्रयोगात्मक ज्ञान एवं अनुभव का अद्‌भुत मिश्रण है। आधुनिक युग के तनाव, पर्यावरण दूषित तथा गतिमय जीवन में योग का ज्ञान एवं उपयोग अपरिहार्य हो गया है। सभी प्रकार की जीवनशैली में स्वस्थ व प्रसन्न रहने के लिए एक अनुपम ग्रंथ है।

-उदय उपरीत
डायरेक्टर एटीसलात, दुबई (यू.ए.ई.)

श्री राजीव जैन "त्रिलोक" द्वारा किया गया यह प्रयास अत्यन्त अभिनव है। उन्होंने इस पुस्तक में योग के सम्यक स्वरूप की व्याख्या भारतीय दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में की है। योग के क्षेत्र में निश्चित ही यह विशिष्ट उपलब्धि है। इस हेतु उन्हें बधाई। हमारी आशा एवं अपेक्षा है कि पाठक इससे लाभान्वित होंगे।

-डॉ. महेश जैन
निदेशक

यह पुस्तक योग सीखने के इच्छुक व्यक्तियों के लिए एक सम्पूर्ण मार्गदर्शिका है। साथ ही योग का अभ्यास करने वालों के लिए यह एक बहुत महत्वपूर्ण संदर्भ ग्रंथ भी है।

-डॉ. मोहन सिंह
ओंटारियो, कनाडा

संशोधित चतुर्थ संस्करण

# सम्पूर्ण योग विद्या

योगासन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध,
षट्कर्म, ध्यान एवं कुण्डलिनी योग
वैज्ञानिक आधार सहित

राजीव जैन "त्रिलोक"

MANJUL
मंजुल पब्लिशिंग हाउस

MANJUL
मंजुल पब्लिशिंग हाउस
कॉरपोरेट एवं संपादकीय कार्यालय
द्वितीय तल, उषा प्रीत कॉम्प्लेक्स, 42 मालवीय नगर, भोपाल-462 003
विक्रय एवं विपणन कार्यालय
7/32, भू तल, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110 002
वेबसाइट : www.manjulindia.com
वितरण केन्द्र
अहमदाबाद, बेंगलुरु, भोपाल, कोलकाता, चेन्नई,
हैदराबाद, मुम्बई, नई दिल्ली, पुणे

सम्पूर्ण योग विद्या :
योगासन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध, षट्कर्म, ध्यान एवं कुण्डलिनी योग
वैज्ञानिक आधार सहित



प्रथम संस्करण : 2008
संशोधित चतुर्थ संस्करण : मई 2015
तृतीय आवृत्ति : अगस्त 2016

**ISBN 978-81-8322-173-3**

# विषय सूची

अनुक्रमणिका

# श्रद्धांजलि

गुरुदेव आचार्य श्री 108 विमलसागर जी महाराज एवं आचार्य श्री ज्ञानसागर जी महाराज को नमोस्तु करते हुए, अपने पूज्य पिताश्री स्व. विजय कुमार जैन (केवलारी, म.प्र.) एवं माताश्री स्व. श्रीमती कमला बाई जैन तथा पिता तुल्य स्व. श्री कृष्णचंद्र रखेजा सा. एवं माताश्री स्व. श्रीमती मंजुल देवी रखेजा जी को शत्-शत् नमन करता हूँ, जिनके दिए संस्कार ही आत्मोध्दारक बन गए।

जब मेरी उम्र लगभग 2 साल थी, तभी मेरी माँ का स्वर्गवास हो गया था। इसके बाद जिस माँ ने मेरी अँगुलि पकड़कर मुझे मार्गदर्शन दिया, वे थीं स्व. श्रीमति उमा देवी जैन। अब वे भी निर्वाण प्राप्ति के लिए अगले जन्म की यात्रा पर निकल चुकी हैं, उनको मेरा बारम्बार प्रणाम।

## समर्पण

वे जो स्वस्थ होना चाहते हैं या जो स्वस्थ हैं एवं उस ईश्वरीय शक्ति को जिसने समस्त प्राणियों को स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए मुझे निमित बनाया। साथ ही उन सबको जो इस मार्ग द्वारा समस्त प्राणियों को मोक्षमार्गों, सुखी, निरोग एवं समृद्ध देखना चाहते हैं।

# आभार

मैं सर्वप्रथम आभार व्यक्त करता हूँ मंजुल पब्लिशिंग हाउस के डायरेक्टर श्रीमान विकास रखेजा साहब एवं श्रीमती अनु रखेजा का, जिन्होंने मुझे लिखने की प्रेरणा ही नहीं वरन् अपना वात्सल्य भी प्रदान किया।

इस पुस्तक की टाइपसेटिंग, आंतरिक सज्जा एवं डिज़ाइनिंग का कार्य श्री दीपक शर्मा एवं प्रवीण शर्मा की लगनशीलता व रचनात्मकता से संपन्न हुआ। पुस्तक को सुंदर स्वरूप प्रदान करने के लिए मैं इन दोनों का हृदय से आभारी हूँ।

मैं आभारी हूँ अपने सभी शुभचिंतकों का, पाठकों का एवं मेरी पत्नी आशा जैन, पुत्री अनुश्री जैन व पुत्र आदीश जैन का, जो हमेशा मेरे साथ मेरी छाया बनकर रहे।

"दो शब्द"
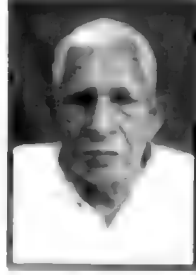
भारतीय संस्कृति में अनेक आत्मानुभवी शान हुए हैं। उन्होंने अपने ज्ञान से इस वसुंधरा को हमेशा सींचा और सम्यक् ज्ञान का प्रकाश दिखाकर कल्याण की ओर अग्रसर किया। उसी ज्ञान के प्रकाश की एक किरण हमारे शरीर को भी स्वास्थ्य प्रदान करती आ रही है। इसी ज्ञान व परम्परा को मेरे सुयोग्य शिष्य राजीव जैन "त्रिलोक" ने विनम्रता से ग्रहण कर सम्पूर्ण योग विद्या के रूप में जनसामान्य के लिए लिपिबद्ध किया ताकि प्राणीमात्र शारीरिक, मानसिक एवं भौतिक सुख प्राप्त करता हुआ आत्म कल्याण कर सके। यह पुस्तक आज की सभी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर लिखी गई है। आज योगासन पर सैकड़ों पुस्तकें बाज़ार में उपलब्ध हैं, लेकिन उनमें हमेशा कुछ न कुछ कमी खलती रही है। इन्हीं कमियों को दूर करने के उद्देश्य से राजीव जैन "त्रिलोक" का यह प्रयास सराहनीय है। एक ही पुस्तक में कई प्रकार के विषय समाहित होने के कारण यह अपने सम्पूर्ण योग विद्या नाम को सार्थकता प्रदान करती है। इस प्रकार यह पुस्तक कई दृष्टिकोण से अधिक पठनीय बन गई है। मेरी ओर से लेखक को आशीर्वाद एवं ढेर सारी शुभकामानाएँ।

गोविन्द प्रसाद गुप्ता<br>
संस्थापक<br>
भारतीय योग अनुसंधान परिषद

# शुभ आशीष
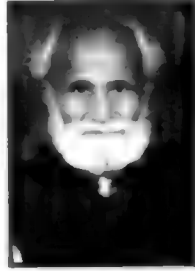
मुझे बड़ी प्रसन्नता हो रही है कि जिस प्रकार मैंने अपने गुरुओं, आचार्यों - 108 श्री विमल सागरजी महाराज, आर्यिकारत्न माता ज्ञानमतिजी, श्री कृष्ण दासजी परमहंस महाराज 'नेपालीबाबा', स्वामी सत्यानंद सरस्वती जी महाराज, स्वामी सच्चिदानंद सरस्वती जी, जिन्होंने हरदा (म.प्र.) में मुझे (मेरा नामकरण कर) 'स्वामी प्रणवानंद सरस्वती' के नाम से सम्बोधित किया था, स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी जी, संचालक अंतराष्ट्रीय विश्वायतन योगाश्रम, कटरा (जम्मू-कश्मीर)- के ज्ञान एवं कला को लगन व निष्ठा के साथ आत्मसात् कर उसे जन-जन तक पहुँचाने का प्रयास किया और लगातार कर रहा हूँ।

ठीक उसी प्रकार मेरे सुयोग्य शिष्य प्रिय राजीव जैन 'त्रिलोक" ने समस्त संसार को मानव जाति के जीवन में सुख-शांति, स्वास्थ्य एवं आत्मोन्नति में सहायक एक ऐसी पुस्तक की रचना कर समाज को अर्पित की है, जिसमें प्रायः उन सभी विषयों का समायोजन किया गया है, जो मानव जीवन की सार्थकता के लिए आवश्यक हैं एवं मानव मात्र के लिए हितकारी हैं।

मैं लगभग 50 वर्षों से गुरुजनों के इस ज्ञान (योग) को लोगों के स्वास्थ्य के साथ उनकी आध्यात्मिक भावनात्मक उन्नति के लिए निर्लोभ होकर बाँट रहा हूँ, ताकि वे मानव जीवन को सफल बनाकर आध्यात्म की ऊँचाई तक पहुँच सकें।

यहाँ पर मैं एक बात विशेष रूप से कहना चाहूँगा कि मेरे योग गुरु स्वामी सत्यानंद

सरस्वती जी एवं स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी जी हमेशा मुझसे एक बात कहा करते थे कि जिस तरह हमने अपनी योग कलाएँ तुम्हें सिखाई हैं, वैसे ही तुम भी उन्हें ज्यों का त्यों अपने शिष्यों और जन-जन तक पहुँचाना। उनकी इसी बात को ध्यान में रखकर (जो कि उनका आदेश था) मैंने लगभग 20 वर्षों से साधना कर रहे अपने शिष्य राजीव जैन "त्रिलोक" से कहा है कि चाहे योग की कक्षाएँ लो या किसी भी प्रकार की योग की पुस्तकें लिखी, उनमें वैसा ही लिखने का प्रयास करना, जैसा उन्होंने बताया है। ताकि उनकी बताई हुई योग कला का ह्रास न हो और उनका नाम अजर-अमर रहे, साथ ही तुम भी अध्यात्म की ऊँचाईयाँ प्राप्त करो। इसी मंगल कामना एवं आर्शवाद के साथ तुम गुरु परम्परा द्वारा चली आ रही व मेरे द्वारा दी हुई इस योग कला को जन-जन तक पहुँचाने का कार्य करना।

इति शुभम्।

योगाचार्य डॉ. फूलचंद "योगीराज"
'आयोग मित्र' (म.प्र. मानव अधिकार आयोग)
उपाध्यक्ष - मध्य प्रदेश योग परिषद

# आमुख

आदि काल में ज्ञान की परम्परा का विकास करने वाले अलख निरंजन भगवान शिव 1008 श्री आदिनाथ को हम नमन करते हैं एवं उनके ॐकार रूपी दिव्यघोष को, जो कि वीर प्रभु के शासनकाल तक माँ सरस्वती का रूप लेकर माता जिनवाणी कहलाईं, उन शारदा देवी (वाणी) को भी मेरा शत्-शत् नमन।

यही सम्यक् ज्ञान बड़े-बड़े संत, महात्मा, ऋषि-मुनियों एवं आचार्यों ने अपने शिष्यों को ज्यों का त्यों प्रदान किया। जिस कारण भारतीय संस्कृति लहलहाती रही और इसने पूरे विश्व में अपनी अलग पहचान बनाई।

'यह ज्ञान का पुंज उन्हीं का आशीर्वाद है।'

सर्वप्रथम मुझे आध्यात्मिक ज्ञान की धारा मेरे पूज्य पिताजी से ही प्राप्त हुई। कई बार उनकी मुलाक़ातें दिव्यात्माओं से भी हुआ करती थीं। ईश्वर की कृपा कहें कि मेरे अंदर भी आध्यात्मिक विकास दिन-प्रतिदिन होता गया। आध्यात्मिक जिज्ञासा बढ़ती गई। मैंने कई विषयों का अध्ययन किया। चूँकि आध्यात्मिक विषय बहुत गहन एवं विस्तृत है, अतः अलग-अलग विषयों के लिए मैंने कई गुरुओं का सान्निध्य प्राप्त किया और साधक बनकर निरंतर अभ्यास करता रहा। यदि आज भी कहीं आध्यात्मिक या योग क्रिया से संबंधित किसी शिविर का आयोजन होता है, तो मैं एक अबोध बालक की तरह बिना पूर्व परिचय दिए विनम्रता से उस ज्ञान एवं क्रिया को ग्रहण करने का प्रयास करता हूँ। यह एक ऐसा विषय है जिसे हम जितना सीखेंगे हमारे ज्ञान का उतना ही अधिक विकास होगा।

मैं उन संत, आचार्यों, योगियों के नाम लेना चाहूँगा, जिनसे मुझे प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ज्ञान प्राप्त हुआ।

सर्वप्रथम मैं गौतम गणधराचार्य को नमन करूंगा एवं श्री कुंदकुंदाचार्य, श्री शुभचंद्राचार्य, प.पू. आचार्य विद्यासागरजी, प.पू.क्षु. ध्यान सागरजी महाराज, महर्षि पतंजलि महाराज, ऋषि घेरण्ड, मुनि वशिष्टजी, स्वामी शिवानंद, स्वामी सत्यानंद सरस्वती, श्री बी.के.एस. आयंगार, श्री बफांनी बाबा, स्वामी विशुद्धानंद परमहंस 'ज्ञानगंज', म.म.पं. गोपीनाथ कविराज, स्वामी कार्तिकेयजी, स्वामी धीरेंद्र ब्रह्मचारी, परमहंस निरंजनानंद सरस्वती, डॉ. के.एम. गांगुली जी, बाबा रामदेव, श्रीमती शशि सूद, श्रीमान एस.डी.सूद को मैं प्रणाम करता हूँ। यह ज्ञान की पुस्तिका आप सबका आशीर्वाद ही है, क्योंकि आप सबकी ज्ञानात्मा एवं आपकी सम्यक् दृष्टि भी तो सबको स्वस्थ देखने के लिए आकुल रही है।

आदरणीय पं. राजमल जी को भी प्रणाम करूँगा, जिन्होंने मुझे अध्यात्म की प्रेरणा दी।

मैं त्रिलोक प्राच्य विद्या रिसर्च सेंटर की टीम एवं स्वर्गीय अजय कुमार वर्मा, डॉ. एच. मालवी, श्री एम.पी. यादव, डॉ. श्री अशोक जनवदे, डॉ. सुभाष अत्रे (पूर्व डी.जी.पी.), श्री मनोज कुलकर्णी, श्री हेमंत चौहान (अतिरिक्त पुलिस अधीक्षक), डॉ. महेश भार्गाव, श्रीचन्द्रगोपाल जेठवानी, श्री देवेन्द्र शर्मा (कार्टूनिस्ट), डॉ. शोभित, स्व. दीदी सविता सैनी, नेहा त्रिपाठी (PG, आहार एवं पोषण), डॉ. प्रमोद शंकर सोनी, श्री संजीव दुबे तथा डॉ. अक्षय जैन का भी हृदय से आभारी हूँ।

हमने योग ही नहीं भारतीय संस्कृति की प्राच्य विद्या को अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए एवं उसमें अधिक से अधिक शोध हो, जिसका लाभ पूरे विश्व को प्राप्त हो, इस दृष्टि को साकार करने के लिए त्रिलोक प्राच्य विद्या रिसर्च सेंटर की स्थापना की, जो कि वर्षों से अपना कार्य सुचारु रूप से करता आ रहा है। इस अनुसंधान केंद्र में अधिक से अधिक जानकारी समाहित हो, यह विचार कर हमने कई योगी, हठयोगी, ज्योतिषी, वास्तुविद, आयुर्वेदाचार्य, तंत्र-मंत्र, त्राटक-विशेषज्ञ, कुण्डलिनी जागरण विद्या, रहस्यपूर्ण अलौकिक वस्तु/स्थान, सिद्ध भूमियाँ, पारद विज्ञान, स्वर्णतंत्रम्, दुर्लभ जड़ी-बूटियाँ, सूर्य विज्ञान (जिसमें एक वस्तु को दूसरी वस्तु में रूपांतरित किया जाता है), हस्तलिखित ज्योतिष शास्त्र, परामनोविज्ञान आदि कई प्राच्य विद्याएँ एवं ढेर सारे अनुभव एकत्रित किए और ये सभी अनुभव/प्रयोग हम अपने जिज्ञासु साधकों को क्रमशः बताते जाएँगे।

हमारा प्रयास है कि यह पूरा जगत् और आप भौतिक, आध्यात्मिक, शारीरिक एवं मानसिक रूप से सुखी एवं समृद्ध हों। इस पुस्तिका को तैयार करने में हमने बहुत मेहनत की है। यह इस पुस्तक का चतुर्थ पुनः मुद्रित संशोधित संस्करण है। यह सब आपकी ही पुण्यात्मक किरणों से संभव हुआ है। हमने पूरा प्रयास किया है कि आपको आसनों के अधिक प्रचलित नामों से अवगत कराएँ। तब भी विशेष रूप से देखा गया है कि देश, काल की परिस्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न आचार्यों ने एक ही आसन के अलग-अलग नाम दिए और कई बार यह भी देखने में आया है कि एक ही नाम के आसनों को अलग-अलग रूपों में कराया जाता है। कई बार एक ही आसन की थोड़ी सी क्रिया भिन्न कराकर उसका नाम भी परिवर्तित कर दिया गया है, परंतु हमारा साधकों से निवेदन है कि वे इस प्रकार की

भिन्नताओं की ओर ध्यान न दें एवं स्वयं व दूसरों को उन योगासनों के लाभों से अवगत कराएँ तथा आत्म कल्याण व जन कल्याण की भावना रखें। विद्यार्थी वर्ग से भी निवेदन है कि योगासन के नाम व उनके चित्र, विधि आदि की जानकारी योग शिक्षक से विवेकपूर्वक प्राप्त कर लें। यद्यपि इस पुस्तक की रचना में हमने कई बातें ध्यान में रखी हैं, किंतु हमारा निवेदन है कि योग विद्या संबंधी कोई भी क्रिया करने से पहले किसी योग प्रशिक्षक/गुरु से परामर्श अवश्य लें। यदि आप अपनी कोई बात हमारे समक्ष रखना चाहते हैं या कहीं कोई त्रुटि हुई हो, तो नि:संकोच हमें अवगत कराने की कृपा करें, हम आपके आभारी रहेंगे।

इति शुभम्,

योगाचार्य - राजीव जैन "त्रिलोक"
डायरेक्टर : हिमालय योग निकेतन समिति
त्रिलोक प्राच्य विद्या रिसर्च सेन्टर
मो. 09826530366
rajeevjaintrilok@gmail.com

# प्राक्कथन

मानव के सभी दु:खों का कारण अज्ञानता है संत आचरण ही सच्चा सुख है। स्वाध्याय से अज्ञानता का नाश होता है। मेरे प्रिय लेखक श्री राजीव जैन "त्रिलोक" ने इस संपूर्ण योग विद्या नामक ग्रंथ की रचना कर भूतल पर स्वर्ग सी रचना कर दी है। इन्होंने मानसिक, शारीरिक एवं आध्यात्मिक क्लेशों के शम्न के उपायों की विवीचना कर गागर में सागर भरने का कार्य बड़ी चतुराई से किया है। वर्तमान समय में यह योग ग्रंथ हर घर में गृह चिकित्सक का कार्य करेगा। इस समय योग चिकित्सा बड़ी लोकप्रिय हो रही है। इस ग्रंथ की माँग नित्य प्रति बढ़ेगी। मैंने पिछले 32 वर्षों में अनेक योग ग्रंथों का अध्ययन किया, परन्तु संपूर्ण योग विद्या रूपी मोतीयुक्त माला को पहली बार देखा है। योग परमात्मा से मिलने का अलौकिक प्रयास है। जिसमें कोई चैतन्य चित्र नहीं है। यह परमानन्द है। योग का कोई चरम बिन्दु नहीं है। उसे मापने की कोई इकाई नहीं है। ग्रंथ में लेखक की शुभ व सकारात्मक चिंतन की अनुभूति झलकती है। जिसकी आत्म चेतना जागृत है, उसके सत्कर्म साधने के लिए सदा समर्थ प्रकृति के नियम तत्पर रहते हैं।

यह योग ग्रंथ पूर्ण सार्वभौमिक व वैज्ञानिक है। इसमें न सम्प्रदाय की बू है, न धार्मिक संकीर्णता है। इस ग्रंथ की रचना देश, काल, धर्म, जाति, लिंग आदि की भिन्नता को ध्यान में रखकर की गई है। यह मानव जाति के लिए अमूल्य धरोहर है। इस ग्रंथ का अध्ययन करने वालों को इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि जिस प्रकार तैरना सीखने के लिए पुस्तकीय ज्ञान काम में नहीं आता, बल्कि पानी में उतरना ही पड़ता है। उसी प्रकार इस ग्रंथ के

सम्पूर्ण ज्ञान को प्राप्त करने के लिए अभ्यास भी आवश्यक होगा। प्रयोग से आत्मज्ञान प्राप्त होता है और आत्मज्ञान से ही मुक्ति प्राप्त होती है। इस ग्रंथ में दिखाया गया मार्ग अपने आप में पूर्ण है। इस ग्रंथ का उद्देश्य योगरूपी ज्ञान की खोई हुई विरासत को पुनः जागृत करते हुए प्रदान करना है। इस ग्रंथ का सृजन लेखक ने बहुत सहजता से किया है, ताकि इसे सरल भाव से आत्मसात् किया जा सके। मेरा मत है कि इस ग्रंथ के अध्ययन से साधक की जिज्ञासा की पूर्ति अवश्य होगी क्योंकि योग के सभी प्राचीन ग्रंथों के सार का समावेश कर इसकी रचना नैसगिक विधि से की गई है। वर्तमान में मानव समाज असाध्य रोगों से निरंतर पीड़ित हो रहा है। इस पीड़ा से निवृत्ति के मार्ग का उल्लेख भी लेखक ने विशेष ढँग से किया है। इस ग्रंथ में शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक तापों के शमन का यथास्थान वर्णन किया गया है। यह मानव चेतना का मार्ग प्रशस्त करने वाला एकमात्र ग्रंथ है। इसका सारभूत एवं उत्कृष्ट रूप जिज्ञासुजनों के हितार्थ ही लिपिबद्ध है। यह पुस्तक अज्ञान, अन्धकार को मिटाने के लिए ज्ञान ज्योति है। लेखक ने इसके पूर्व संस्करण में कुछ संशोधन कर इसे और अधिक सरल, सरस, सहज और त्रुटि रहित करने का प्रयास किया है। हमारा विश्वास है कि यह नूतन सद्प्रयास योग जिज्ञासुओं के सामने वास्तविक तथ्यों को उजागर कर उन्हें सन्तुष्टि प्रदान करेगा। आज व्यक्ति के दुःखों का एक ही कारण है, वह सोचता है कि रोग और व्याधियाँ ही हमारा भाग्य और प्रारब्ध है। जबकि स्वास्थ्य और आनन्द ही सत्यतः जन्मसिद्ध अधिकार व विरासत है। रोग और व्याधि की इस सामूहिक विक्षिप्तता से उबरने के लिए तथा स्वास्थ्य, आनन्द और रचनात्मक सम्पूर्णता का अनुभव करने के लिए यह आवश्यक है कि हम अपनी दैनिक जीवनचर्या में योग का प्रवेश क्रमानुगति से कराएँ। इस ग्रंथ में इसका विशेष समावेश किया गया है, जो कि बीमारियों का मूल है। इस मूल के कारण को नष्ट करने के लिए यौगिक चिकित्सा प्रणाली को सहजता से समझाया गया है। योगांगो पर चलकर अतिशीघ्र लाभ के इच्छुक साधक रोग की तीव्रता व समयावधि को भी ध्यान में रखें, साथ ही यह भी ध्यान रखें कि स्वयं का इलाज मात्र पुस्तक पढ़कर न करें, बल्कि किसी कुशल मार्गदर्शी योग चिकित्सक से कराएँ। यह पुस्तक उन आम लोगों को प्रेरित करने के उद्देश्य से लिखी गई है, जो दैहिक, दैविक और भौतिक तापों से ग्रसित हैं, चहुँओर से रुग्ण अवस्था से घिरे हुए हैं और योगाभ्यास द्वारा अपनी इस रोग प्रभावित अवस्था से ऊपर उठने की इच्छा रखते हैं।

इस ग्रंथ में ऐसी ऊर्जा है, जो मन में प्रवेश करके जब एक सशक्त विचार बनकर अभ्यास में उतरती है, तो यह कष्टों से उबरने का समर्थ साधन सिद्ध होती है। यह ग्रंथ चिकित्सकों के लिए एक संदेशिका व मार्गदर्शिका की तरह है, जो चिकित्सा के नए आयामों की खोज करना चाहते हैं। मेरी कामना है कि इस ग्रंथ का संचालन आत्म-निर्भर, विजयी, त्रिलोक, अखण्ड ब्रह्मांड की सत्ता से होगा।


डॉ. एल. जे. पचौरी
शासकीय चिकित्सा अधिकारी
प्राकृतिक एवं योग चिकित्सा विज्ञान
भोपाल (म.प्र.)

प्रस्तावना

सम्पूर्ण योग विद्या पुस्तक के लेखक श्री राजीव जैन "त्रिलोक" ने अपने अनुभवों को पुस्तक में समाहित करते हुए एक जनोपयोगी ग्रंथ का सृजन किया है। यह न केवल जन साधारण अपितु योग के विद्यार्थियों के लिए भी उपयोगी है। हालाँकि योग की अनेक पुस्तकें आज उपलब्ध हैं, परन्तु सम्पूर्ण योग विद्या वास्तव में अपने नाम को चरितार्थ करती है।

योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा पद्धति मनुष्य के रोग निवारण के साथ-साथ उसके सर्वांगीण विकास में सहायक है। ये पद्धतियाँ न केवल हानिरहित हैं अपितु सरल, प्रभावी और शीघ्र परिणाम देने वाली हैं।

योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा पद्धतियों की आज सर्वत्र माँग है क्योंकि ये चिकित्सा के रूप में सामने आई हैं। वस्तुतः आज आवश्यकता ऐसे साहित्य की है जो अनुसंधान के परिप्रेक्ष्य में प्रमाणिकता के साथ लिखा गया हो। सम्पूर्ण योग विद्या पुस्तक की इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका है।

पुस्तक का प्रस्तुतीकरण अच्छा है तथा चित्रों से उसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है।

डॉ. राजीव रस्तोगी<br>
सहायक निदेशक (प्रा.चि.)<br>
केद्रीय योग एवं प्राकृतिक चिकित्सा अनुसंधान परिषद<br>
नई दिल्ली

## ( मंगल-पाठ )

ओंकारं बिंदुसंयुक्तं नित्यं ध्यायन्ति योगिनः।
कामदं मोक्षदं चैव ओंकाराय नमो नमः ।

## ( प्रार्थना )

योगेन चित्तस्य पदेन वाचां,
मलं शरीरस्य च वैद्यकेन।
योऽपाकरोतं प्रवरं मुनीनां,
पतञ्जलि प्राञ्जलिरानतोऽस्मि ।

हरिहर, ब्रह्मा, बुद्ध, जिनेश्वर, परमपिता अल्लाह ताला,
वाहे गुरु यह अरज करूँ मैं, बना रहूँ मैं दिल वाला।

निरपराध को कभी न मारूँ, बनूँ नहीं मन का काला,
चाहे कोई क्यों न मुझे दे, पारसमणियों की माला।

निर्बल दुखियारे जीवों पर, सक्रिय करुणा सदा करूँ,
अवसर पर मैं बनूँ सहायक, धीरज साहस सदा धरूँ।

कष्टों में मुस्काना सीखूँ, दुष्कर्मों से सदा डरूँ,
वर्तमान में जीना सीखूँ, लेकर प्रभु का नाम मरूँ।

जो बर्ताव मुझे अप्रिय हो, वह न किसी के साथ करूँ,
छोटों को दे प्रेम बड़ों से, मैं आदर से बात करूँ।

योगाभ्यास करूँ मैं प्रतिदिन, अच्छी सेहत प्राप्त करूँ,
'ध्यान'योग के अवलंबन से, सब रोगों का नाश करूँ।

योग साधना की समस्त क्रियाएँ क्रमशः धैर्यपूर्वक,
आत्मविश्वास व पूर्ण आस्था के साथ उत्तरोत्तर
करनी चाहिए, तब वे हमें शारीरिक एवं मानसिक
लाभ के साथ आध्यात्मिकता के चर्मोत्कर्ष के आनंद
की भी अनुभूति प्रदान कराती हैं।
-RJT

पुरिसायारो अप्पा, जोई वरणाणदंसण समग्गो।
जो झायदि सोजोई, पावहारो भवदि णिहंदी।

अर्थः पुरुष के शरीर में स्थित जो आत्मा, योगी बनकर श्रेष्ठ ज्ञान और दर्शन से पूर्ण आत्मा का ध्यान करता है, वह रोगी पापों का हरने वाला तथा राग-द्वेष से रहित होता है।

मोक्ष पाहुण
आचार्य श्री कुन्द कुन्द स्वामी

हमारा स्वास्थ्य हमारे इस विश्व को भी
स्वास्थ्य प्रदान करने में सहयोगी बनता है।
-RJT

# योग परिचय

## एक वैचारिक दृष्टिकोण

इतिहास की दृष्टि से यह व्यक्त करना अत्यंत कठिन होगा कि विश्व में योग विद्या का आविर्भाव कब, कैसे और कहाँ से हुआ। यदि हम प्राचीन ग्रंथों पर नज़र डालें तो योग विद्या का उल्लेख वेदों और जैन धर्म के ग्रंथों में मिलता है। अत: कह सकते हैं कि योग विद्या की परंपरा प्राचीन काल से ही चली आ रही है। योग विद्या का प्रचलन उस समय से है जब योग से संबंधित ज्ञान लिपिबद्ध न होकर एक आचार्य से दूसरे आचार्य एवं अन्य शिष्यों तक यह विद्या गुरु-मुख से पहुँचाई जाती रही है परंतु इस तर्क-वितर्क में उलझना कि योग का आविर्भाव कब हुआ और किसने किया, यह उतना महत्वपूर्ण नहीं है बल्कि योग साधना के रहस्यों को कब और किसने उद्घघाटित किया यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। योग कई हज़ार वर्षों से संसार में अपना वर्चस्व बनाए हुए है। इसने विश्व के सभी धर्मों को अनुप्राणित किया और मानव जाति को सही दिशा की ओर अग्रसर किया।

योग वास्तव में एक 'सार्वभौम् विश्व मानव धर्म' है। योग की दृष्टि में धर्म एक विज्ञान है किंतु योग को किसी धर्म विशेष से न जोड़ते हुए उसका अध्ययन करें तो पाएँगे कि हम अपने किसी धार्मिक अंग का ही पठन-पाठन कर रहे हैं और अपनी आस्था एवं धार्मिक भावनाओं को मानव जाति के कल्याण व उत्थान के लिए दृढ़ कर रहे हैं। इस प्रकार हम योग के रहस्य को स्पष्ट रूप से समझने का प्रयास कर सकते हैं।

जिन ऋषियों ने आत्मा का दर्शन कर लिया था यह उनके द्वारा प्रतिपादित विधियों का निर्देशन है और आध्यात्मिक आचार प्रणाली का क्रमिक दर्शन कराता है एवं साधक को अपने लक्ष्य तक पहुँचाने में समर्थ होता है। इस प्रकार व्यावहारिक रूप में योग दीक्षात्मक दर्शन एवं सार्वभौम् धर्म का प्रतीक है।

आज जनमानस का मानना है कि महर्षि पतंजलि ने योग का निरूपण किया जबकि योग के प्रथम गुरु भगवान शिव ही हैं। कुछ लोगों का मानना है कि हिरण्य-गर्भ रचित योगसूत्र जो अब लुप्त हो गए हैं, उन्हीं के आधार पर पतंजलि योग दर्शन की रचना हुई। महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का प्रतिपादन किया जो कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान तथा समाधि के रूप में गृहीत है। भारतीय वाङ्मय में योग पर वृहत् चिंतन प्रस्तुत किया गया है। गीता में भगवान श्री कृष्ण कहते हैं -

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः ।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन। (6/46)

हे अर्जुन! तू योगी बन जा। क्योंकि तपस्वियों, ज्ञानियों और सकाम कर्म में निरत् जन - इन सभी में योगी श्रेष्ठ है।

श्रीमद्भागवत् महापुराण में अपने सखा उद्धव को उपदेश देते हुए श्री कृष्ण कहते हैं -

जितेन्द्रियस्य युकृस्य जितश्रवासस्य योगिनः।
मयि धारयतश्चेत उपतिष्ठन्ति सिद्धयः (11/15/1)

प्रिय उद्धव! जब योगी इन्द्रिय, प्राण और मन को वश में करके अपना चित मुझमें लगाकर मेरी धारणा करने लगता है तब उसके सामने बहुत सी सिद्धियाँ उपस्थित हो जाती हैं। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि योग के द्वारा सभी सिद्धियाँ की अष्टसिद्धियाँ) स्वतः प्राप्त हो जाती हैं। परंतु योग की चरम उपलब्धि मात्र आत्म दर्शन आत्म सुख और आत्मबल की प्राप्ति है।

योग की विभिन्न पद्धतियों एवं उपासना की अनेकानेक विधियों का प्रमुख लक्ष्य चित्त को राग, द्वेष आदि मल से रहित उसमें सत्वगुण का उद्रेक करके वृत्तियों को निर्मलता प्रदान करना है। योग स्वरूप-बोध से स्वरूपोपलब्धि तक की यात्रा है। अंत:श्चेतना की जागृति का योग अन्यतम साधन है।

चरित्र निर्माण में योग का जी महत्व है वह भी स्पष्ट है। मानव में निहित सात्विक तत्व जब योग साधना द्वारा जागृत हो उठते हैं तब वह मानवीय गुणों से मण्डित हो जाता है। क्षमा, दया, करुणा, ज्ञान-दर्शन और वैराग्य की अभिवृद्धि ही चरित्र निर्माण की भित्तियाँ हैं।

## योग को प्रकार

प्राचीन ग्रंथों में योग के अनेक प्रकारों का उल्लेख हुआ है रुचि-भेद से उन योगों के अनुगामी भी कई प्रकार के हैं। योग प्रदीप में राज योग, अष्टांग योग, हठ योग, लय योग, ध्यान योग,

भक्ति योग, क्रिया योग, मंत्र योग, कर्म योग और ज्ञान योग का उल्लेख करते हुए योग को कई प्रकार का माना गया है। श्री कृष्ण भगवान् ने तीन योगों का उपदेश दिया है - ज्ञान योग, कर्म योग, भक्ति योग।

योग का अर्थ और परिभाषा

योग शब्द का सामान्य अर्थ है जुड़ना, मिलना, युक्त होना या एकत्र करना। संस्कृत में योग की व्युत्पत्ति युज धातु से मानी गई है, योग शब्द 'युज" धातु के बाद करण और भाव वाच्य में धज प्रत्यय लगाने से बना है। संस्कृत में युज धातु का प्रयोग रुधादिगण में संयोग के लिए प्रयुक्त हुआ है, 'युजिर योगे![1]"। दिवादिगण में समाधि के लिए 'युज समाधौ[2]"। चुरादिगण में संयमन के लिए प्रयुक्त हुआ है 'युज संयमने[3]"। इन अर्थों में वर्णित 'युज" धातु में धज प्रत्यय जोड़ने से योग शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

योग शब्द का व्यावहारिक अर्थ बहुत व्यापक है। इसका क्षेत्र भी बहुत विस्तृत है। इस प्रकार योग के विभिन्न अर्थ मिलते हैं।

योग सांख्य का ही क्रियात्मक रूप है। योग विश्व के सभी धर्म, संप्रदाय, मत-मतांतरों के पक्षपात और तर्क-वितर्क से रहित सार्वभौम् धर्म है, जो तत्व (आत्मा) का ज्ञान स्वयं के अनुभव द्वारा प्राप्त करना सिखलाता है और साधक को उसके अंतिम लक्ष्य (मोक्ष) तक पहुँचाता है।

आज योग से सम्बंधित अनेक प्रकार की भ्रांतियाँ फैली हुई हैं। यदि हम साफ़ शब्दों में समझे तो स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाना तथा बहिरात्मा से अंतरात्मा की ओर जाना ही योग है। चित्त की वृत्तियों द्वारा हम स्थूलता की ओर जाते हैं अर्थात् हम स्थिर चित्त न होकर बहिर्मुख होते जाते हैं। हम जितने अस्थिर चित्त होते जाएँगे, रज और तम की मात्रा भी उतनी ही बढ़ती जाएगी। परंतु जब हम चित्त को अंतरोन्मुख करते जाएँगे तब हमारे अंदर उतने ही सत् अर्थात् सम्यक् ज्ञान और सम्यक् दर्शन का प्रादुर्भाव होता जाएगा और आत्म-दर्शन प्राप्त कर निविकल्प अवस्था को प्राप्त हो सकेगे।

पतंजलि ने अपने योग-दर्शन के समाधि पाद के द्वितीय सूत्र में योग की परिभाषा को इस प्रकार दर्शाया है - योगश्चित्तवृत्तिनिरोध:।।2।। अर्थात् चित्त की वृत्तियों का निरोध ही योग है।
श्री पतंजलि आगे लिखते हैं :

तदा द्रष्टुः स्वरुपेऽवस्थानम् ।।**3**।।

अर्थात् तब (वृत्तियों का निरोध होने पर) द्रष्टा के स्वरूप में अवस्थिति होती है।

वृत्तिसारुप्यमितरत्र ।।4।।

दूसरी (स्वरूप अब स्थिति से अतिरिक्त) अवस्था में द्रष्टा वृत्ति के समान रूप वाला प्रतीत होता है।

ऊपर दूसरे सूत्र में केवल चित्तवृत्ति निरोध शब्द है। सर्व चित्तवृत्ति निरोध नहीं है।

इस प्रकार सूत्रकार ने संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दोनों प्रकार की समाधियों को योग बताया है। असंप्रज्ञात-समाधि जिसमें सब वृत्तियों का निरोध हो जाता है वह निरुद्ध अवस्था तो योग है ही परंतु संप्रज्ञात-समाधि भी जिसमें सात्विक एकाग्रवृत्ति बनी रहती है, वह एकाग्र अवस्था भी योग के लक्षण के अंतर्गत है अर्थात् जब चित्त से रज और तम का मलरूपी आवरण हट जाए तब सत् के प्रकाश में जो एकाग्रता रहे उसको भी योग ही समझना चाहिए।

## योग की विभिन्न परिभाषाएँ एवं विभिन्न ग्रंथों में तुलना

★ वेदान्त के अनुसार : जीवात्मा और परमात्मा का संपूर्ण रूप से मिलना योग है।

★ देहात्म बुद्धि त्यागकर अर्थात शरीर से ममत्व भाव हटाकर आत्म भाव उत्पन्न करना योग है।

★ सांख्य मतानुसार : 'पुंप्रकृत्योर्वियोगेऽपि योग इत्यभिधीयते' पुरुष, प्रकृति का पृथकत्व स्थापित कर दोनों का वियोग करके पुरुष का स्वरूप में स्थित होना योग है।

★ योग कर्मसु कौशलम् : कर्म का कौशलरूप भी योग है।गीता।

★ प्राण और अपान के संयोग, चन्द्र और सूर्य के मिलन को, शिव और शक्ति के एक्य को भी योग कहते हैं।

★ योग भाष्य के अनुसार:
'योगः समाधिः स च सर्व भौमशिचत्तस्य धर्मः ॥'''

★ महात्मा याज्ञवल्य के शब्दानुसार:
"संयोग योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्नो।"

★ योव्ण शास्त्र मतानुसाट :
'सर्व चिता परित्यक्तो निश्चिन्तो योग उच्यते।"

★ प्रत्यभिज्ञान्न दर्शनानुसाट :
'शिव तथा आत्मा के अभेद ज्ञान का नाम ही योग है।"

★ योग वशिष्ठ के अनुसाट :
'संसार सागर से पार होने की युक्ति को ही योग कहते हैं।"

★ श्री भारती कृष्णतीर्थ के मतानुसार:

'नारायण के साथ नर के एकात्म हो जाने के साधन की योग कहते हैं।"

★ श्री अरविंद के कथनानुसार :
'योग का अर्थ केवल ईश्वर की प्राप्ति ही नहीं अपितु उस क्रिया का नाम है जिसके द्वारा भगवतचौतन्य की अभिव्यक्ति हो तथा वह स्वयं ही भगवत कर्म का अंग बन सके।"

★ संपूर्णानंद (चिद विलास) ने लिखा है कि :
'आत्मसाक्षात्कार का एकमात्र उपाय योग है।"

★ भगवान श्रीकृष्ण ने कहा है कि :
नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
नचाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैवचार्जुन।
युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा। । गीता 6–16/17

जो बहुत भोजन करता है, उसका योग सिद्ध नहीं होता। जो निराहार रहता है, उसका भी योग सिद्ध नहीं होता। जो बहुत सोता है, उसका भी योग सिद्ध नहीं होता और ना ही उसका योग सिद्ध होता है जो बहुत जागता है।

जो मनुष्य आहार-विहार में, दूसरे कमों में, सोने-जागने में परिमित रहता है उसका योग दुःखभंजन हो जाता है।

★ इस पुस्तक के लेखक के विचार अनुसार (राजीव जैन 'त्रिलोक') : "इस स्थूल शरीर में स्थित अवचेतन मन के द्वारा सम्यक् रूप से प्रारूप में उतरकर आत्म दर्शन करना ही योग है।"

★ श्रीमद्योगागीता के अनुसाट:
'प्राणापानसमायोगो योगश्चित्तात्मनोस्तथा
यत्र जीवेशयोयोंगस्तं योगं विद्धि भूपते।"

बह्मानंद कहते हैं कि हे भूपते! जिसके अभ्यास से प्राण और अपान की एकता होती है, चित्त और आत्मा का तादात्म्य होता है और जीव व ईश्वर की एकात्मकता होती है, उसको तू योग जान अर्थात यही योग का लक्षण है।

★ श्री यशोविजयकृता 'द्वात्रिशिका' में लिखा है:
मोक्षेण योजनादेव योगो ह्यत्र निरुच्यते।

अर्थात जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का योग होता हैं उन साधनों को योग कहते हैं।

यशोविजय द्वात्रिशिका में आगे लिखा है :

समितिगुप्ति धारणं धर्मव्यापारत्वमेव योग त्वम्।

अर्थात मन, वचन, काय (समिति के तीन प्रकार) शरीरादि को संयत करने वाला धर्मव्यापार ही योग है।

★ किमी योळी ने कहा हे :
योग वदान्यै बल बुद्धि श्रेष्ठ
पौरुष भवेत सदचित सौख्य।
क्षेमंच श्रेय योगं सुधीनः।

अर्थात् संपूर्ण जीवन में योग ही एक ऐसा मार्ग है, जिसके द्वारा पुरुष को बल, बुद्धि, श्रेष्ठता, पौरुष एवं सच्चरित्रता - ये पाँच सर्वोतम गुण प्राप्त होते हैं।

योग के द्वारा ही व्यक्ति सामान्य स्तर से ऊपर उठकर आत्मा और परमात्मा तक पहुँचने की क्षमता प्राप्त कर लेता है और इसके माध्यम से ही व्यक्ति को कल्याण, शुभत्व और सुधि प्राप्त होती है।

## वर्तमान परिप्रेक्ष्य में योग की आवश्यकता

पहले की अपेक्षा आज योग की अधिक आवश्यकता है। पहले पर्यावरण, वातावरण, खान-पान, रहन-सहन सभी कुछ आज की अपेक्षा बहुत ही प्राकृतिक था, परंतु आज दूषित वातावरण, प्रदूषित पर्यावरण, फ़ास्ट फूड एवं डिब्बाबंद भोज्य पदार्थ, विटामिन और प्रोटीन रहित खानपान, बदलता परिवेश और विकृत मानसिकता इन सभी ने हमारे संपूर्ण स्वास्थ्य को प्रभावित किया है। आज वैज्ञानिकों ने जहाँ कई सुविधाएँ प्रदान की हैं। वहीं उनके विपरीत प्रभाव ने हमारे स्वास्थ्य को नकारात्मकता प्रदान की है। इन सभी बातों के कारण आज योग शिक्षा की बहुत अधिक आवश्यकता है। क्योंकि योग द्वारा हम मात्र वर्तमान पीढ़ी को ही नहीं, आने वाली पीढ़ियों को भी सही सोच एवं सच्चा मार्गदर्शन दे सकते हैं।

## योग क्या करता है

यह बता पाना मुश्किल है कि योग क्या-क्या करता है। यह तो इसका प्रयोग करने पर ही मालूम हो सकता है। फिर भी हमने कुछ शब्दों में इस बात को बताने की कोशिश की है।

योग साधना के मार्ग में प्रवृत्त होने पर उदरप्रदेश के रोग जैसे अपच, अरुचि, अजीर्ण, क़ब्ज़, गैस, खट्टी डकार आदि में लाभ मिलता है। योग में बताए आहार से रक्तचाप, मधुमेह, हृदय रोग जैसी घातक बीमारियों से बचा जा सकता है। शांति एवं संतोष की भावना स्वभाविक रूप से जीवन में समाहित हो जाती है। छल-कपट, झूठ, चोरी एवं

चरित्रहीनता से साधक दूर ही रहता है। जिस कारण व्यक्तिगत एवं सामाजिक, दोनों स्तरों पर नैतिकता का विकास होता है।

योग हमें शारीरिक संपन्नता के साथ मानसिक शक्ति भी प्रदान करता है। जिससे मानसिक तनाव से मुक्ति मिलती है। योग निद्रा, एवं ध्यान के द्वारा हम अपनी स्मृति क्षमता को भी बढ़ा सकते हैं। योग हमारी कार्यकुशलता एवं कार्यक्षमता में अभूतपूर्व वृद्धि करता है।

योग से हमारे शरीर के परिसंचरण-तंत्र, पाचन-तंत्र, श्वसन-तंत्र एवं उत्सर्जन-तंत्र क्रियाशील हो जाते हैं। वैज्ञानिक परीक्षणों से यह सिद्ध हो गया है कि आयु बढ़ने के साथ-साथ होने वाली शारीरिक शिथिलता एवं वैचारिक अस्थिरता का निदान योगाभ्यास के द्वारा किया जा सकता है। योग द्वारा हम अपनी नकारात्मकता को दूर कर सकते हैं एवं अपनी रोगनाशक शक्ति का विकास कर सकते हैं।

इस प्रकार यह निर्विवाद सत्य है कि योग एक वैज्ञानिक पद्धति है, न कि केवल शारीरिक व्यायाम। इसके आसन व षट्कर्म जहाँ शरीर को निरोग एवं मानसिक एकाग्रता, शारीरिक ओज-तेज को भी बढ़ाते हैं।

लगभग सभी भारतीय दर्शनों ने इसे स्वीकारा है। जब तक मनुष्य का चित्त या अंत:करण निर्मल नहीं होता, कषाएँ मंद नहीं होतीं, तब तक उसे सम्यक दर्शन और सम्यक् ज्ञान का बोध नहीं हो सकता। आत्म उत्थान के लिए योग सर्वोत्तम साधन है। इससे शरीर और मन की शुद्धि होती है।

योग-विज्ञान जीवनयापन का सच्चा पथ प्रदर्शक है। ज्ञान का जीवन से सीधा संबंध होने के कारण प्रत्येक क्षेत्र में प्रयोगात्मक, क्रियात्मक विज्ञान की आवश्यकता रही है। योग पूर्णतः प्रायोगिक मनोविज्ञान है। इस प्रकार योग मानव का चहुँमुखी विकास करता है। योग विज्ञान होने के साथ-साथ एक उत्तम जीवन जीने की कला भी सिखाता है।

## योग क्या है?

यदि हम अंग्रेज़ी वर्णमाला YOGA के चार वर्णों के आधार पर विचार करें तो हमें यह स्पष्ट नज़र आएगा कि इन चार वर्णों को अलग-अलग करने पर क्या अर्थ निकलता है।

| | | |
|---|---|---|
| **Y** | ield | **योग व्यक्ति को कौन से परिणाम प्रदान करता है ?** |
| **O** | btains | **योग से व्यक्ति को कौन सी नई उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं ?** |
| **G** | ive up | **योग द्वारा व्यक्ति क्या-क्या छोड़ सकता है ?** |
| **A** | ttains | **योग से व्यक्ति अंततः क्या प्राप्त करता है ?** |

**Yield** (योग व्यक्ति को कौन से परिणाम प्रदान करता है?)

- साँस के नियंत्रण को शारीरिक रूप से पुष्ट रखता है।
- ध्यान मानसिक स्थिरता प्रदान करता है। संवेगात्मक संतुलन बनाने में सहायक होता है - सुख-दु:ख में मान-अपमान की चिंता नहीं रह जाती।
- मनोवैज्ञानिक रूप से अच्छा महसूस करना, जीवन प्रसन्नचित्त होना, समाज के साथ अच्छे से जुड़ना, कल्याणकारी कार्यों के साथ संतुष्टि का आभास होना।
- सभी शाश्वत–मूल्य, सत्य, धर्म, शाति, प्रेम तथा अहिंसा हमारे जीवन को सदैव सुखमय बनाते हैं तथा इन्हीं के पालन से आध्यात्मिकता को महसूस किया जाता है।

**Obtains** (योग से व्यक्ति को कौन सी नई उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं)

- इसके द्वारा उद्देश्यपूर्ण जीवन का निर्माण होता है तथा जीवन की दिशा का निर्धारण होता है।
- इसके द्वारा व्यक्ति में जागृति, चेतनता, सजगता बनी रहती है। जिससे उसे अपने द्वारा किए गए कर्मों, विचारों आदि की जानकारी होती है, वह एक होशपूर्ण, सैद्धांतिक और अच्छे इंसान की तरह जीता है।
- इससे व्यक्ति गहन ध्यान के माध्यम से एकाग्रचित होता है तथा वह सर्व शक्तिमान के समक्ष स्वयं को समर्पित करके अहम् का परित्याग करता है।
- इससे व्यक्ति में व्यवस्थित एवं योजनाबद्ध तरीके से काम करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है।
- व्यक्ति में सकारात्मकता, रचनात्मकता तथा विरक्ति का भाव पैदा होता है।

**Give up** (योग द्वारा व्यक्ति क्या-क्या छोड़ सकता है?)

- व्यक्ति में बुरी आदतें, गलत प्रवृत्तियाँ, मादक पदार्थों का सेवन, विखण्डित व्यक्तित्व के कारण उत्पन्न समस्याएँ - जो भी उसे नुक़सान पहुँचाते हैं, वह उन सभी को छोड़ देता है।
- उसकी नकारात्मक एवं विध्वंसात्मक सोच धीरे-धीरे समाप्त होने लगती है और उसे अपने बारे में सम्यक् ज्ञान होने लगता है।
- सांसारिक पदार्थों में आसक्ति, धन लोलुपता, मान-सम्मान की इच्छा, आवश्यकताओं की पूर्ति की चिंता आदि में धीरे-धीरे कमी आती है।
- अवांछित तथा अताकिक कायाँ तथा विचारों से, जिनसे स्वयं का अहित तो होता ही है तथा समाज का परिवेश भी बिगड़ता है, को वह छोड़ देता है। अत: योग करने से मन की निर्मलता बढ़ती है।

**Attains (योग से व्यक्ति अंततः क्या प्राप्त करता है?)**

- सर्वांगीण स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है, शरीर पुष्ट रहता है, मन शांत रहता है, सभी ओर से खुशियाँ मिलती हैं और आध्यात्म की प्राप्ति होती है।
- जीवन में कौशल का विकास होता है, जीवन गुणवत्तामय बनता है, अच्छे परिवेश मोहक होता है, जीवन लय एवं रसपूर्ण होता है, संपूर्णता की कामना होती है, जीवन प्रेम से परिपूर्ण होता है।
- चित्त प्रसन्न रहता है, हर प्राणी में जीवन दिखाई देता है, जीवन जीने का आनंद आता है, भावनाओं का आदान-प्रदान होता है।
- सभी नकारात्मकताओं से चिंता मिटती है, आराम का अनुभव होता है, शांति का एहसास होता है, मन एवं हृदय शून्य में चले जाते हैं, उठा-पटक एवं द्वन्दों का अंत होता है, शारीरिक विकारों का विनाश होता है और व्यक्ति को शांति प्राप्त होती है।
- इन सबके साथ ही व्यक्ति अपने को सफल महसूस करता है और उसे जीतने का एहसास होता है। उसे अपनी आत्मा के सही मूल्य का ज्ञान होता है।

## योग द्वारा जीवन जीने की कला

संभवतः लोगों ने योग का अर्थ केवल व्यायाम, योगासन, प्राणायाम या शारीरिक क्रिया को समझ रखा है। लेकिन अगर हम योग को गहराई से समझ सकते और उसका वास्तविक अर्थ निकाल सकते तो हम इसे जीवन की सबसे बड़ी उपलब्धि बना लेते। योग से हम मात्र शारीरिक, मानसिक व भौतिक उच्चता ही प्राप्त नहीं करते हैं वरन् अपने जीवन की राह को सुखी और समृद्ध कर पूरे परिवार को संपूर्ण लक्ष्य दे सकते हैं एवं अध्यात्मिकता के चरम

शिखर को भी छू सकते हैं।

मैं जब भी कोई योग शिविर लगाता हूँ, तो सभी शिविरार्थियों को योग के साथ-साथ उनके जीवन के उत्थान के लिए भी प्रेरित करता हूँ। अपने वक्तव्य में मैं योग के साथ जीने की कला भी सिखाता हूँ, ताकि साधक इसे आत्मसात् कर सकें।

- यह एक नियम है कि हम जैसा सोचते हैं, शरीर में वैसा ही घटित होता है। उदाहरण के तौर पर हम देखते हैं कि जैसे ही हमें क्रोध आता है, हमारे हाव-भाव वैसे ही होने लगते हैं। भौंहें तन जाती हैं, रक्त संचार बढ़ जाता है। माँसपेशियाँ खिच जाती हैं। शरीर में एकत्रित ऊर्जा अनावश्यक रूप से नष्ट होती है, जिससे मानसिक तनाव बढ़ जाता है। हमारे आस-पास का परिवेश, वातावरण भी खराब हो जाता है। हमारी छवि बिगड़ जाती है और नकारात्मकता का प्रवेश हो जाता है। शरीर में एक प्रकार के विष का निर्माण होता है जो नुक़सानदायक होता है। हमेशा क्रोध करते रहने से शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता कम हो जाती है, जिससे शरीर जल्द ही कमज़ोर हो जाता है और आसानी से रोगग्रस्त होने लगता है। जीवन में हमारे साथ कई बातें घटित होती हैं। हम शारीरिक एवं मानसिक रोग से ग्रसित व आर्थिक रूप से भी कमज़ोर हो जाते हैं। तो हमारे मित्र भी वैसे ही बनते हैं। कई बार गलत आदतें भी पड़ जाती हैं, जैसे नशे की लत। इससे दमकते चेहरे भी मुरझा जाते हैं। हम आहार लेते हैं, लेकिन शरीर पर उसका सकारात्मक असर नहीं दिखता। दिनों-दिन हालत बदतर होती जाती है। परिवार टूट जाते हैं, बच्चे संस्कारवान नहीं बन पाते। समाज तिरस्कार भरी दृष्टि से देखने लगता है। इससे हम उपेक्षाओं के शिकार हो जाते हैं। संसार से ऊब जाते हैं और जीवन अर्थहीन लगने लगता है। सुबह से शाम तक चिंता सताती है तथा रात्रि में नींद भी नहीं आती। जीवन दवाइयों के सहारे चलता है। चारों ओर निराशा नज़र आती है। तो क्या हम इसलिए पैदा हुए हैं? तो क्या हम बाक़ी ज़िदगी में कुछ नहीं कर पाएँगे ?

कौन कहता है कि अब तुम कुछ नहीं कर पाओगे? कौन कहता है कि तुम कुछ नहीं हो ?

नहीं, तुम बहुत कुछ हो।

तुम आज भी वैसे हो। तुम अनंत शक्तियों के पुज हो। तुम्हारी आत्मा में कोई अवगुण नहीं है। जो भी अवगुण आए थे, वे सब बाहर से ही आए थे और बाहर ही छूट जाएँगे। तुम्हारे अंदर अनंत ज्ञान है। तुम सच्चे इंसान हो, तुम्हारे अंदर बहुत सारी क्षमताएँ हैं, उन्हें विकसित करो। तुम्हारे अंदर सुख का भंडार है। उठो, अभी! पूरे जोश के साथ उठो, अच्छा करने लगी, मत देखी ज़माने की। ज़माना तुम्हारा साथ तब देगा, जब तुम उनको विश्वास में ले लोगे।

अकेले ही संघर्ष करो। तुम्हारे साथ अदृश्य शक्तियाँ हैं। तुम्हारे पूर्वजों की किरणें हैं। 'नियम ले ली' अभी से तुम्हारे अंदर नई चेतना का प्रादुर्भाव होगा।

क़सम खा लो कि आज से मैं नए जीवन की शुरुआत करूंगा, क्रोध नहीं करूंगा, माँसाहार का सेवन नहीं करूंगा, नशा नहीं करूंगा, अपशब्द नहीं बोलेंगा। कहो कि मैं अहंकार का

त्याग करता हूँ, माया से मुक्ति चाहता हूँ और लोभ को छोड़ता हूँ।

अब मैं अपनी शुद्धता के साथ ही विचरण करूंगा।

मैं सबसे प्रेम करूंगा, सबको स्नेह दूँगा। किसी से कोई अपेक्षा नहीं करूंगा, सबको वात्सल्य दूँगा। ऐसा करने पर आप देखेंगे कि आपके चारों ओर शांति ही शांति है, शुद्ध वातावरण है। आपका मान-सम्मान बढ़ गया है। आप मुस्कुराते हैं तो आपको देखकर पूरा विश्व मुस्कराता है।

कुछ दिनों बाद आप देखेंगे कि आपका शरीर पहले से अच्छा हो गया है, मानसिक रूप से आप अधिक स्वस्थ हो गए हैं। आप स्वयं की, और दूसरों की नज़रों में भी ऊपर उठ गए हैं। आप हर प्रकार से अच्छे हो गए हैं।

यह छोटा सा उदाहरण देने का हमारा उद्देश्य सिर्फ़ इतना है कि हम जैसा सोचते हैं, हमारे इस शरीर में वैसे ही रासायनिक तत्वों का निर्माण होने लगता है। हमारी सोच अच्छी होगी तो ऐसे रसायनों का निर्माण होगा जो अमृततुल्य होंगे जो कि हमें इस समय से लेकर मृत्यु पर्यन्त हर प्रकार की पोषकता प्रदान करेंगे। तो क्यों न हम आज से ही सब कुछ बदल लें और यम, नियम को अपने जीवन में अपना लें।

- उपनिषद् में लिखा है कि 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्मांडे' इस छोटे से वाक्य में अनगिनत बातें छिपी हैं। हमारा यह शरीर तो ब्रह्मांड की अभिव्यक्ति है। जो तत्व एवं शक्तियाँ इस ब्रह्मांड का निर्माण करती हैं, वही हमारे शरीर, मस्तिष्क और सूक्ष्म शरीर का भी निर्माण करती है। आप और हम देखते हैं कि प्रकृति का वातावरण असंतुलित हो रहा है। जिस कारण से हमारा ब्रह्मांड भी बीमार हो गया है एवं जहाँ-तहाँ प्राकृतिक विपदाएँ ही दिखाई दे रही हैं। इसी प्रकार यदि हमारा खान-पान, रहन-सहन भी असंतुलित होगा तो यह शरीर तथा मस्तिष्क भी रोगयुक्त हो जाएगा। हम पराधीन हो जाएँगे। इसलिए संतुलित जीवन जिएँ, बेफ़िक्र हो जाएँ। इस प्रकार हमें अपने जीवन जीने का अंदाज बदल कर और योग को आत्मसात् कर हम इस जीवन को सफल एवं सुंदरतम् बना सकते हैं।

## योगासनों से लाभ के वैज्ञानिक कारण

यौगिक सूक्ष्म व्यायाम, यौगिक स्थूल व्यायाम, पवन मुक्तासब्ज समूह, वायु निरोधक एवं शक्ति बंध की क्रियाओं से लाभ - सुबह के समय शरीर में कड़ापन होता है। उच्च अभ्यास के लिए शरीर एकदम से तैयार नहीं रहता। अत: हल्के व्यायाम करने से अंगों-उपांगों में लोच, लचीलापन आ जाता है। हल्के व्यायाम से हमारे सन्धि संस्थान व पूरे शरीर के जोड़ खुल जाते हैं। रक्त संचार पर्याप्त मात्रा में होने लगता है और आगे के योगासनों में समस्या नहीं होती।

पूरे शरीर में तीव्रता आ जाती है। शरीर हल्का हो जाता है। शरीर में स्फूर्ति आ जाती है। सन्धि जोड़ खुल जाने के कारण उनमें फेंसी हुई वायु रक्त संचार की तीव्रता के कारण वहाँ

से निकल जाती है। पूरे शरीर को एक प्रकार की नई ताज़गी, चेतनता प्राप्त होती है। मस्तिष्क में रक्त का प्रवाह तीव्र होने से उसे क्रियाशील बनाता है। इस प्रकार हमारे पैर के अँगूठे से लेकर टखना, पिंडली, घुटना, जंघा, नितंब, उपस्थ, कमर, उदर, पीठ, मेरुदण्ड, फेफड़े, हाथ की अंगुलियाँ, कुहनी, स्कध, ग्रीवा, आँख, सिर, पाचनतंत्र के अंग आदि सभी भाग क्रियाशील हो जाते हैं और उनके विकार दूर होकर हमें निरोगी काया प्रदान करते हैं।

पदमासन एवं ध्यान से संबंधित आसनों से लाभ : पद्मासन एवं इनसे संबंधित आसनों को करने से हमारे कुण्डलिनी चक्र की ऊर्जा उर्ध्वमुखी होती है अतः मूलाधार से लेकर सहस्त्रधार चक्र की ऊर्जा को हम आत्मसात् कर उनसे होने वाले सभी लाभ प्राप्त कर सकते हैं। जीवन में नई चेतना का प्रादुर्भाव होता है। इस अवस्था में बैठकर ध्यान करने से हम आत्म साक्षात्कार प्राप्त कर सकते हैं। पद्मासन में बैठने से हमारा मेरुदण्ड स्थिरता को प्राप्त करता है; अतः बुढ़ापे में झुकने की समस्या नहीं होती। पद्मासन में बैठने से ध्यान और धारणाओं के द्वारा हम अपनी स्मरण शक्ति को तेज़ कर सकते हैं।

वज्रासन से संबंधित आसनों से लाभ : जब हम वज्रासन में बैठते हैं, तो यह हमारे श्रोणी प्रदेश, प्रजनन अंग और पाचनतंत्रों के अंगों में रक्त संचार को सुचारु कर उन्हें सुदृढ़ बनाता है। प्रजनन अंग के कई अन्य रोगों को लाभ प्रदान करता है। जैसे हर्निया, शिथिलता, शुक्राणु का न बनना, बवासीर, अण्डकोश ग्रन्थि की वृद्धि, हाइड्रोसिल आदि एवं महिलाओं के मासिक स्त्राव की गड़बड़ी को दूर करता है।

खड़े होकर किए जाने वाले आसनों से लाभ : इस प्रकार के आसनों से पिंडली एवं जंघाओं की माँसपेशियों में मज़बूती आती है जिस कारण उनमें होने वाले रोग जैसे गठिया, कपवात, पिंडलियों का दर्द, घुटने की समस्या आदि रोगों से छुटकारा मिल जाता है। खड़े होकर करने वाले आसनों से पीठ की पेशियों में भी खिचाव आता है, जिससे वे व्यवस्थित होती हैं।

पीछे की ओर झुककर किए जाने वाले आसनों से लाभ : पीछे की ओर झुककर किये जाने वाले आसनों से हमारे फेफड़े, फुफ्फुस फैलते हैं, जिस कारण वे ऑक्सीजन की अधिक मात्रा संग्रहित कर हमारे शरीर को नवयौवनता प्रदान करते हैं। पीछे झुकने से उदर प्रदेश की पेशियाँ तनती हैं। जिस कारण पाचन की अच्छी मालिश भी हो जाती है।

पीछे झुकने से हमारे मेरुदण्ड की तंत्रिकाएँ पुष्ट होती हैं। पूरा शरीर इनसे जुड़ा हुआ होता है। अत: उनके संतुलन को ठीक कर उनसे होने वाली बीमारियाँ जैसे, स्लिप डिस्क, साइटिका, स्पॉण्डिलाइटिस एवं मेरुदण्ड के कई रोग आदि को ठीक करता है।

आगे झुककर किए जाने वाले आसनों से लाभ : इस प्रकार के आसन से उदर प्रदेश में संकुचन होता है, जिस कारण उसमें अधिक दबाव पड़ता है। पीठ की कशेरूकाएँ फैलती हैं और माँसपेशियाँ उदीप्त होती हैं। मेरुदण्ड की ओर रक्त संचार पर्याप्त मात्रा में होता है।

जिससे वह अपने काम को सुव्यवस्थित रूप से करता है। उदर प्रदेश में संकुचन और दबाव पड़ने के कारण उदर प्रदेश के अंगों की अच्छी मालिश हो जाती है। जिस कारण पाचन तंत्र के रोग नष्ट होते हैं व गुदा, यकृत, अग्नाशय आदि अंग मज़बूत होकर निरोग रहते हैं।

मेरुदण्ड मोड़कर किए जाने वाले आसनों से लाभ : हमारे शरीर का स्तम्भ मेरुदण्ड यदि स्वस्थ है तो हमारा शरीर वृक्ष के तने की तरह सुगठित दिखेगा। इसको मोड़कर किए जाने से हमारे भीतरी अंगों की अच्छी मालिश हो जाती है। माँसपेशियों का अच्छा व्यायाम हो जाता है। मेरुदण्ड अधिक लोचदार व लचीलापन लिए रहता हैं। मेरुदण्ड को मोड़कर किए जाने वाले आसनों से पाचनतंत्रों के अंगों का भी अच्छा व्यायाम हो जाता है, अतः ये अंग उद्दीप्त होकर सुचारु ढंग से कार्य करते हैं।

सिर के बल किए जाने वाले आसनों से लाभ : सिर के बल किए जाने वाले आसन से मस्तिष्क में रक्त संचार बढ़ जाता है, जिससे सिर को संपूर्ण पोषण मिलता है। पीयूष ग्रंथि की कार्यप्रणाली बेहतर होती है। अत: हमारे सोचने-समझने की शक्ति का विकास होता है। हमारे पूरे शरीर में रक्त संचार तीव्र हो जाता है। जिस कारण हृदयप्रदेश सुव्यवस्थित होकर हमारे रक्त की शुद्धता को बढ़ाता है। उदर प्रदेश के भीतरी अंग, पीठ आदि की कार्यपद्धति बेहतर ढंग से कार्य करने लगती है। हमारे मानसिक रोग हों, झड़ते बाल हों, चेहरे की सुंदरता हो या हम कह सकते हैं कि सिर, कधे के बल किए जाने वाले आसन कायाकल्प का काम करते हैं।

## योगासनों का शरीर के अंगों पर पड़ने वाला प्रभाव

(एक वैज्ञानिक दृष्टिकोण)

यह बात बिलकुल सत्य है कि हमारे ऋषि-मुनियों का ज्ञान अथाह था। लेकिन होता यह है कि हम उनके ज्ञान की पराकाष्ठा की तुलना अपने ज्ञान से करते हैं और उनके ज्ञान की तक-वितर्क करके गलत साबित कर देते हैं या फिर पश्चिमी देशों के वैज्ञानिकों की बातें मान लेते हैं। वो कहते हैं कि प्राचीन संतों ने गलत कहा तो हम गलत मान लेते हैं और यदि वे कहते हैं कि तुम्हारे ऋषियों ने सही कहा तो हम सही मान लेते हैं। हम अपने दिमाग को सकारात्मक ढंग से लगाना ही नहीं चाहते। अब हम योग को ही देख लें, लाखों वर्षों से हमारे यहाँ यह परंपरा चली आ रही थी। हमने कई दशक पूर्व से अपने अज्ञान, आलस्य के कारण योगासनों में ध्यान देना बंद कर दिया था या कोई करता था तो हम हँसते थे और सामने करने वाला भी कई बार इसी कारण से करना छोड़ देता था। अब चूँकि पश्चिमी देश के लोगों ने अपनाना चालू कर दिया तो हमारी भी आँखें खुल गई।

यह बात सिर्फ़ योगासन की ही नहीं थी बल्कि कई बातें हम अभी भी नहीं मानते जैसे महान आत्माओं ने कहा है कि रात्रि भोजन और मद्य, माँस का सेवन नहीं करना चाहिए। ऐसी कई बातें हैं जिन्हें हम अनदेखा कर रहे हैं। अब हम रात्रि भोजन का वैज्ञानिक कारण

देखें तो डॉक्टरों का भी कहना है कि सोने से 4 घंटे पहले भोजन कर लेना चाहिए। यदि हम भोजन करके तुरंत सो जाते हैं तो भोजन पचेगा नहीं। रात भर उदर में पड़ा रहेगा, भोजन सड़ेगा। हमारी उदर-क्रिया पूर्ण रूप से विटामिन, प्रोटीन का शोषण और अपना कार्य नहीं कर पाती। पेट को कभी विश्राम ही नहीं मिल पाता। भोजन पच नहीं रहा हो तो वायु विकार उत्पन्न होते हैं, जिससे कई-तरह की बीमारियाँ होने की संभावना रहती है।

अत: आचार्यों ने सोने के चार घंटे पहले भोजन करने की कहा है। यदि हम यहाँ वैज्ञानिक कारण जानें तो पाएँगे कि हम उन चार घंटों में काफ़ी परिश्रम कर चुके होते हैं जिससे भोजन को पचने में समस्या नहीं हो पाती।

शाकाहार पर आचार्यों ने बताया कि शाकाहार पूर्णतः सुपाच्य होने के साथ-साथ हमें शारीरिक, मानसिक व आध्यात्मिक ऊर्जा भी प्रदान करता है और हम कई प्रकार के पाप, दोषों से बच जाते हैं। हमारे अंदर तामसिकता नहीं पनप पाती, क्योंकि कहा है कि 'जैसा खाओ अन्न वैसा बने मन।" अच्छे आहार से अच्छे विचार आते हैं। घर के वातावरण में सुख, शांति व समृद्धि रहती है।

अत्यधिक वासना करने से हम कई प्रकार की बीमारियों से घिर जाते हैं। शरीर का ओज, तेज नष्ट हो जाता है। चेहरे की कांति खत्म हो जाती है। चेहरा झुर्रियों से भर जाता है। शरीर कमज़ोर हो जाता है। मानसिक कमज़ोरियाँ हो जाती हैं। आँखों में फ़क़ दिखने लगता है। हाथ-पैर कमज़ोर हो जाते हैं। याद्दाश्त् कमज़ोर हो जाती है। आधुनिक शोधों से ज्ञात हुआ है कि अत्यधिक वासना से मस्तिष्क सिकुड़ने लगता है।

ऐसी सैकड़ों चीज़े हमारे पूज्यनीय ऋषि-मुनियों, संतों, आचार्यों ने बताई यदि हम उनकी बात आत्मसात् करें तो हमारे जीवन में बहुत बड़ा परिवर्तन हो सकता है।

हम यहाँ पर योगासनों का शरीर में क्या प्रभाव पड़ता है उसकी वैज्ञानिक विवेचना करेंगे।

## पाचन-संस्थान

इस धरा का एक नियम है कि जिस वस्तु का हम उपयोग नहीं करते, उसकी कार्यक्षमता क्रमशः कम होती जाती है। आज कई आधुनिक उपकरण आने से मनुष्य की शारीरिक कार्यक्षमता कम हो गई है जिस कारण उस अंग के कार्य करने की दक्षता भी कम हो गई है।

आज पाचन-तंत्र पर भी इन्हीं किन्हीं कारणों का प्रभाव ज़बर्दस्त पड़ रहा है जिस कारण से क़ब्ज़, अजीर्ण, अम्लता, वायु-विकार, गुर्दे खराब होना, आंतों का सही ढंग से काम न करना, अल्सर, दस्त, बवासीर आदि कई रोगों की उत्पति हो रही है।

हमें ऐसे आसन करना है कि उदर-प्रदेश पर दबाव पड़े। जैसे आगे झुकने वाले आसन, पश्चिमोत्तानासन, योगमुद्रासन, नौकासन आदि। ऐसे आसन जिससे उदर-प्रदेश पर खिंचाव या तनाव आए जैसे धनुरासन, भुजंगासन, मत्स्यासन, चक्रासन आदि। वे आसन जिससे कि उदर-प्रदेश के दोनों बाज़ुओं पर दबाव व तनाव आए। वे हैं कटिचक्रासन, अर्ध मत्स्येन्द्रासन, तिर्यक् ताड़ासन, तिर्यक् भुजंगासन, उत्तान मण्डूकासन आदि। इस प्रकार उपरोक्त आसनों से पाचन-तंत्र के संपूर्ण अंगों की अच्छी मालिश हो जाती है। रक्त-संचार

बढ़ जाता है। जिससे रक्त की रुकावटें दूर होती हैं। पाचन-तंत्र सुचारु रूप से काम करने लगता है। हमारे अनियमित जीवन, अस्त-व्यस्त ज़िंदगी में आए हुए विक्षेप दूर होते हैं। इन आसनों से संपूर्ण उदर-प्रदेश के अंगों की कार्यक्षमता बढ़ जाती है। उदर-प्रदेश के सामने की माँसपेशियों (फ्रंट एब्डॉमिनल मसल्स) को पूर्ण रूप से योग्य व्यायाम मिल जाता है अतः पाचन-तंत्र हमारे किए हुए भोजन से पर्याप्त मात्रा में विटामिन, प्रोटीन आदि पोषक तत्वों का शोषण कर हमें स्वास्थ्य प्रदान करता है और कई बीमारियों से बचाता है।

इसी प्रकार प्राणायाम से (अंत कुंभक, बहिकुंभक करने से) फेफड़े व उदर अंग व्यवस्थित ढंग से काम करने लग जाते हैं।

मुद्राओं के साथ तीनों बंध एवं नौलि व शुद्धि क्रियाओं को करने से पाचन-तंत्र के समस्त अंग सुचारु ढंग से काम करते हैं। ध्यान के आसन में भी बैठने से उदर-प्रदेश के कई छोटे-मोटे विक्षेप दूर हो जाते हैं क्योंकि ध्यानासन में बैठने से उदर-प्रदेश की सामने की माँसपेशियों में हल्का तनाव उत्पन्न होता है जिससे समस्त उदर-प्रदेश को लाभ मिलता है। अत: हम कह सकते हैं कि योग-क्रियाओं का पाचन-तंत्र को सुचारु रूप से कार्य करने में सहयोग मिलता है।

## श्वसन संस्थान

आज हम देखते हैं कि पूरा वायुमंडल प्रदूषित है। वातावरण अशुद्ध हो गया है एवं यदि आप किसी व्यस्त व्यक्ति से कहें कि योगासन वगैरह किया करो, तो वह कहता है कि साँस लेने की तो फुर्सत नहीं है, योग वगैरह कब करेंगे। तो हम कहेंगे कि भैया साँस तो ढंग से ली, वरना जिओगे कैसे ? यह तो एक व्यंग्यात्मक बात हो गई, परंतु इस व्यंग्य से यह बात सिद्ध हो जाती है कि आम आदमी की ज़िंदगी कैसी हो गई है।

साँस लेने की कला आना आवश्यक है अन्यथा हृदय, फेफड़े ही कमज़ोर नहीं होंगे बल्कि श्वसन संस्थान की सम्पूर्ण कार्य प्रणाली अपना कार्य सुचारु रूप से नहीं कर पाएगी। यही नहीं हमारे शरीर में लगभग छह सौ खरब छोटी-बड़ी कोशिकाएँ भी हैं, जिन्हें स्वस्थ रहने के लिए शुद्ध वायु (ऑक्सीजन) की ज़रूरत पड़ती ही है। अत: योगासन एवं प्राणायाम की विशेष क्रियाओं को कर हम फेफड़े, प्रकोष्ठ कोशिकाएँ ही नहीं सम्पूर्ण शरीर को स्वस्थता प्रदान कर सकते हैं।

श्वसन–संस्थान के लिए चक्रासन, मयूरासन, सर्वागासन, हलासन, शलभासन, पश्चिमोत्तानासन, मण्डूकासन अति लाभकारी आसन हैं। ये सभी आसन उदर एवं वक्ष: गुहा पर दबाव व तनाव डालकर श्वसन-संबंधी माँसपेशियों को अधिक कार्यशील एवं सक्रियता प्रदान करती है।

हमारे योगाचार्यों ने श्वसन-तंत्र को मज़बूत बनाने के लिए प्राणायाम का भी उपयोग बताया है। तरह-तरह के प्राणायामों का उद्देश्य लगभग एक ही है। अंत कुंभक बाह्यकुंभक, दीर्घ, पूर्ण एवं समगति आदि की क्रियाएँ श्वसन-तंत्र के अंतर्गत अंगों की मालिश के साथ उनके द्वारा शुद्ध होने वाला रक्त अधिक शुद्ध होता हुआ रक्त-संचार को ठीक करता है, जिससे जीवनीय शक्ति बढ़ जाती है। फेफड़े मज़बूत, अधिक सक्रिय एवं लोचयुक्त हो जाते

हैं। सभी नाड़ी-केंद्रों में संतुलन बनाकर उच्च रक्तचाप एवं निम्न रक्तचाप के रोगियों का लाभ प्रदान करती है।

उड्डियान बंध, बाह्य एवं अंत:कुंभक, कपाल-भाति, नाड़ीशोधन प्राणायाम, नौलि, नेति, धौति आदि सभी क्रियाएँ सम्पूर्ण श्वसन प्रणाली-तंत्र को निरोग रखती हैं। जिससे श्वसन संबंधी होने वाले रोग, दमा, सर्दी, नज़ला एवं उच्च रक्तचाप, निम्न रक्त चाप, रक्त की अशुद्धि आदि नहीं हो पाते।

## रक्त संचार-प्रणाली एवं हृदय-प्रदेश

हृदय की रक्त परिवहन तंत्र का केंद्र कहा जाता है। योग-क्रिया में जो आसन किया जाता है, उससे संबंधित अंग में विशेष रक्त-संचार व दबाव एवं तनाव उत्पन्न होने से वह अंग में सुधार होने लगता है तथा उसके अंदर बाहरी कीटाणुओं से लड़ने की क्षमता पैदा हो जाती है और वह बिलकुल सही ढंग से अपना कार्य करता है, जैसे शरीर के अधोभाग हेतु वज्रासन, गौमुखासन, मण्डूकासन, भद्रासन, शशांकासन, आदि। कमर के अंग के लिए पद्मासन, योगमुद्रा, बद्ध पद्मासन, मत्स्यासन आदि। उदर–प्रदेश के लिए शलभासन, मूलबंध, नौलि, कुंजल आदि एवं शीर्षासन व उसके समूह, विपरीतकरणी, पश्चिमोत्तानासन, त्रिकोणासन, शशांकासन, उत्तानमण्डूकासन, तोलांगुलासन, द्विपाद कधरासन आदि आसन शरीर के सभी माँसपेशियाँ, अवयव संस्थान आदि अंगों को रक्त-संचार सुचारु रूप से प्रदान कर उन्हें निरोग बनाए रखते हैं।

शीर्षासन, सवांगासन आदि आसन जिनमें पैरों की स्थिति ऊपर की तरफ़ रहती हैं, वे रक्त-संचार की मंद गति दूर कर शिराओं से हृदय-प्रदेश स्थित सभी शिराओं, धमनियों की रक्तचाप-प्रणालियों को सुव्यवस्थित कर उन्हें सुयोग्यता प्रदान करते हैं। कई बार हम देखते हैं कि यदि अधिक शारीरिक और मानसिक कार्य करें तो हृदय-गति और रक्तचाप में अनावश्यक रूप से तनाव उत्पन्न होता है, जिससे हृदय-प्रदेश को हानि होने की संभावना बनी रहती है। इसके लिए शवासन, शिथिलीकरण की क्रिया, ध्यान के आसन, प्राणायाम आदि अभ्यास हृदय को लाभ प्रदान करते हैं। अत: दिल का दौरा या हृदय संबंधित कोई विकार उत्पन्न नहीं हो पाते और हमारा शरीर स्वस्थ रहता है।

## नाड़ी संस्थान

72,000 नाड़ियों की इस देह को स्वस्थ रखने के लिए काफ़ी सोच-विचार की आवश्यकता है और सिर्फ़ सोच-विचार ही पर्याप्त नहीं है, उन्हें क्रियात्मक रूप से लागू भी करना होगा। जैसे टेलीविज़न का एक छोटा-सा पुर्ज़ा भी ख़राब हो जाए तो तस्वीरें साफ़ नहीं आतीं। उसे ठीक करने के बाद ही तस्वीर साफ़ आती है। हमारी इस काया का भी यही हाल है। जब तक हम इस देह में रहते हैं, तब तक इसकी बहुत देख-रेख करना पड़ती है, क्योंकि यह शरीर असंख्य पुद्गल परमाणुओं से मिलकर बना है।

नाड़ी-संस्थान को प्रभावित करने वाले लगभग सभी योग-व्यायाम उपयोगी सिद्ध हुए

हैं, तथापि सूर्य नमस्कार, उत्तानपादासन, पश्चिमोत्तानासन, लोलासन, कुक्कुटासन, धनुरासन आदि आसन अधिक लाभकारी हैं। धारणा और ध्यान के अभ्यास एवं शवासन व शिथिलीकरण की क्रिया द्वारा भी पर्याप्त लाभ मिल सकता है।

उपरोक्त आसनों को करने से तनाव, अनिद्रा, चिंता, अशांति, चिड़चिड़ापन, आवेग, क्रोध एवं मानसिक विकारों का नाश होकर व्यक्ति शांत, आध्यात्मिक, हँसमुख चेहरा एवं गंभीर प्रकृति को प्राप्त होता है।

## लसिका–संस्थान

चूँकि लसिका-संस्थान के कार्यों पर वे ही आसन प्रभावकारी हैं जो रक्तसंचार प्रणाली को प्रभावित करते हैं, अत: रक्तसंचार-प्रणाली से संबंधित आसन देखें।

## अंत:स्त्रावी ग्रथियों को प्रभावित करने वाले आसन

1. **पीनियल ग्रंथि** : सूर्य नमस्कार, योग मुद्रा, पाद हस्तासन, भ्रामरी, कपाल-भाति, त्राटक, नेति तथा शीर्षासन से प्रभावित होती है।
2. **पिट्युटरी ग्रंथि** : यह भी शीर्षासन से अधिक प्रभावित होती है।
3. **थायरॉइड ग्रंथि** : यह ग्रंथि सर्वांगासन, हलासन एवं विपरीतकरणी से प्रभावित होती है।
4. **यकृत** : मत्स्येन्द्रासन (दाँईं ओर)।
5. **प्लीहा** : उड्डियान बंध, नौली क्रिया।
6. **क्लोम** : मत्स्येन्द्रासन (बाँईं ओर)।
7. **एड्रीनल** : मयूरासन, सिंहासन, नेति, उज्जायी प्राणायाम।
8. **वृक्क** : भुजंगासन, सूर्य नमस्कार, मार्जरि आसन, शशांकासन।
9. **अण्डकोष** : सिद्धासन, पद्मासन, वज्रासन और मूलबंध, वज्रोली मुद्रा तथा योनिमुद्रा से प्रभावित होते हैं।

## शरीर के विभिन्न अवयवों पर प्रभाव डालने वाले आसन

संपूर्ण उदर प्रदेश के अवयव जैसे जठर, यकृत, प्लीहा, आन्त्र, शलभासन, मत्स्येन्द्रासन, शीषसिन, उत्तानपादासन, पवनमुक्तासन, शक्ति बंध को आसन।
हृदय: शीषसिन, सर्वांगासन, शवासन, योग-निद्रा, नाडी शोधन प्राणायाम, सूर्य नमस्कार।
फुफ्फुस: चक्रासन, मयूरासन, सर्वांगासन, हलासन, शलभासन, पश्चिमोत्तानासन, उड़ियान बंध, नाड़ी शोधन प्राणायाम, कपाल-भाति।
मस्तिष्क : शीर्षासन के समूह, सर्वांगासन, मत्स्यासन, पद्मासन, सिद्धासन, योगमुद्रासन।
आँख : शीर्षासन, सूर्य नमस्कार, सूत्र नेति, जल नेति, सामान्य त्राटक।
नाक, दाँत, कान : सूर्य नमस्कार, सर्वांगासन, मत्स्यासन, सिंहासन, नाड़ीशोधन, भ्रामरी प्राणायाम।

## आयुर्वेद में वात,पित्त व कफ़

हमारे भारतवर्ष की सबसे प्राचीन चिकित्सा पद्धति में से एक आयुर्वेद भी है। आयुर्वेद के अनुसार त्रिदोष ही हमारे शरीर के रोगों की जड़ है। जब यह दोष सम अवस्था में हो तो शरीर स्वस्थ रहता है और यदि एक भी दोष विषमता को प्राप्त होता है तो उससे सम्बंधित रोग उत्पन्न हो जाते हैं। अनुवांशिक तथा जन्मजात रूप से व्यक्ति के शरीर में किसी एक अथवा दो दोषों की प्रमुखता हो सकती है जिसके कारण उसके शरीर की प्रकृति निर्धारित होती है। अत: किस प्रकृति में कौन सा आसन करना चाहिए, वह निम्नलिखित है :

## वात प्रकृति

पवनमुक्तासन समूह की क्रिया, शक्तिबंध के आसन, वज्रासन, वीरासन, मत्स्येन्द्रासन (अर्ध एवं पूर्ण) धनुरासन। चक्रासन, सर्वांगासन, शंख–प्रक्षालन क्रिया, नौली, उड़ियान बंध, सूर्य नमस्कार, माजारी आसन।

## पित्त प्रकृति

नौकासन, भुजंगासन, शलभासन, उड़ियान बंध।

## कफ़ प्रकृति

शीर्षासन, सर्वांगासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्तानपादासन, कपाल-भाति, उड़ियान बंध। आयुर्वेद में तीनों प्रकार की प्रकृति का वर्णन आता है। उपरोक्त तीन प्रकृति एक-दोषज हैं।

इसके बाद तीन द्वि-दोषज हैं जो कि वात-पित्त प्रकृति, वात-कफ़ प्रकृति और पित्त-कफ़ प्रकृति कहलाती हैं। इनके लिए दोनों प्रकार की प्रकृति के आसन करना चाहिए। चौथी प्रकृति सन्निपातिक कहलाती है। इसके लिए तीनों दोषों के आसन गुरु-निर्देशानुसार करना चाहिए। इस प्रकार हम अपने शरीर को योगाभ्यास के माध्यम से हमेशा निरोग रख सकते हैं।

## वात, पित्त व कफ़ को शांत करने वाले आसन

वात दोष शांत करने के लिए

**1. ताड़ासन 2. उत्कटासन 3. त्रिकोणासन 4. हस्तपादासन**
**5. सूर्य नमस्कार 6. जानुशीर्षासन 7. पश्चिमोत्तानासन 8. मेरु वक्रासन**
**9. उग्रासन 10. योगमुद्रा 11. नौकासन (पीठ व पेट के बल)**
**12. विपरीतकरणी 13. हलासन 14. शलभासन 15. शवासन।**

## पित्त दोष शांत करने के लिए

1. मार्जारी आसन
2. नौकासन, विपरीत नौकासन
3. पर्वतासन
4. सर्वांगासन
5. विपरीतकरणी
6. अश्वसंचालन आसन
7. जानुशीर्षासन
8. उग्रासन
9. पश्चिमोत्तानासन
10. हस्त उत्तानासन
11. सेतुबंधासन
12. भुजंगासन
13. सुप्त वज्रासन
14. आकर्ण धनुरासन
15. शवासन।

## कफ़ दोष शांत करने के लिए

1. हस्त उत्तानासन
2. पर्वतासन
3. ताड़ासन
4. वृक्षासन
5. त्रिकोणासन
6. वीरासन
7. भुजंगासन
8. शलभासन
9. उग्रासन
10. अश्वसंचालन आसन
11. सेतुबंधासन
12. नौकासन
13. धनुरासन
14. चक्रासन
15. आकर्ण धनुरासन
16. शवासन।

योग के तुलनात्मक विभिन्न ग्रंथ

यदि हम तुलनात्मक दृष्टि से देखें तो योग के कई ग्रंथ उपलब्ध हैं जैसे - अमृताशीति गा. 38.52, योग तत्वोपनिषद 29, योगकुण्डल्योपनिषद 1/4, योग चूड़ामण्युपनिषद 3/4, हठयोग प्रदीप 1/43, कूर्मपुराण उत्तरार्द्ध 11/43, ज्ञानार्णवः 3/58, मरण्यकण्टिका पृष्ठ 74, समाधितंत्र गा. 103, लिंग पुराण पूर्वाद्ध 8, देवी भागवत 7/35/9, मार्कण्डेय पुराण अ 39, वायु पुराण 11/13, शिवपुराण वा.स.उ.खं. 3/37, विष्णु पुराण 6/7/39, स्कध पुराण वै.ख.अ. 30/12, नारद पुराण 33/111/116, श्रीमद्भागवत 3/28 और अग्नि पुराण अ.373 में आसन के भेद विधि एवं महत्व का प्रतिपादन किया गया है।

चित्त की व्याख्या

मुनि व्यास ने चित्त की पाँच अवस्थाओं का वर्णन किया है। जो कि निम्नलिखित हैं

क्षिप्तं मूढविक्षिप्तमेकाग्र निरुद्धमति चित्तभूमयः।

(व्यासभाषा यो.द. 1/1)

## 1. मूढ़ अवस्था 2. क्षिप्त अवस्था 3. विक्षिप्त अवस्था 4. एकाग्रावस्था 5. निरुद्धावस्था

**1.**मूढ़ अवस्था

चूँकि यह अवस्था तम प्रधान होती है, यह काम, क्रोध, लोभ, मोह के कारण होती है और तब मनुष्य की अवस्था अज्ञानमय होने के कारण समाधिस्थ नहीं हो पाती। इसमें मनुष्य के रज और सत् तत्व गौण रूप से होते हैं। इस अवस्था में तंद्रा, निद्रा, आलस्य, भय और भ्रम की गुणवृत्ति मनुष्य में ज़्यादा पाई जाती है। अतः यह अवस्था क्षुद्र मनुष्य के अंतर्गत आती है।

**2.**क्षिप्त अवस्था

इस अवस्था का मनुष्य रज प्रधान होता है अत: उसमें राग-द्वेष, मोह, कषाय, सांसारिक कर्मों की प्रवृत्ति, मन की चंचलता आदि गुणवृत्ति अधिक पाई जाती है। इसमें तम और सत् गौण रूप से रहते हैं, अतः यह अवस्था सांसारिक मनुष्यों की है।

**3.**विक्षिप्त अवस्था

इस अवस्था का मनुष्य सत्गुण प्रधान होता है अतः धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य अधिक पाया जाता है। इसमें रज और तम गुण गौण रूप से रहते हैं परंतु रजोगुण मन को विक्षिप्त करता है। यह अवस्था ऊँचे मनुष्य, सम्यक् ज्ञानी, धार्मिक विचारकों की रहती है परंतु उपरोक्त तीनों अवस्थाएँ चित्त की अपनी स्वाभाविक नहीं हैं और न योग की अवस्थाएँ हैं क्योंकि बाह्य विषय का प्रभाव चित्त में रहता है।

**4.**एकाग्रवस्था

इस अवस्था का मनुष्य सत्वगुण प्रधान होता है। इसमें रज और तम गुण आंशिक मात्रा में रहते हैं। इसमें मनुष्य की दशा संप्रज्ञात समाधि की होती है। इसमें वस्तु का यथार्थ ज्ञान होता है। जब एक ही विषय में चित्त की वृत्ति केंद्रित रहती है तब एकाग्रावस्था कहलाती है और वृत्ति का स्वरूप स्वाभाविक होता है।

**5.**निरु०द्वावस्था

जब विवेक–ख्याति द्वारा चित्त और पुरुष का भेद साक्षात् प्रकट हो जाता है तब उस ख्याति से भी वैराग्य (पर-वैराग्य) उदय होता है क्योंकि विवेक-ख्याति भी चित्त की ही वृत्ति है। इस वृत्ति के भी निरुद्ध होने पर सर्ववृत्तियों के निरोध होने से चित्त की निरोधावस्था होती है। इस निरोध अवस्था में अन्य सब संस्कारों का तिरोभाव होने से पर-वैराग्य के संस्कार मात्र ही शेष रह जाते हैं। निरोधावस्था में किसी प्रकार की भी वृत्ति न रहने के कारण पदार्थ भी जानने में नहीं आता तथा अविद्यादि पाँचों क्लेश सहित कमांशयरूप जन्मादि के बीज नहीं रहते इसलिए इसको असंप्रज्ञात तथा निबोंज समाधि भी कहते हैं।

इस शंका के निवारणार्थ सर्ववृत्तियों के निरोध होने पर पुरुष का भी निरोध हो जाता है। सर्ववृत्तियों के निरुद्ध होने पर पुरुष स्वरूप में स्थित होता है।

## चित्त वृत्ति के प्रकार

महर्षि पतंजलि के अनुसार - चित्त की वृत्तियाँ और अक्लिष्ट भेंदो वाली 5 प्रकार की होती हैं। क्लिष्ट अर्थात् अविद्यादि क्लेशों को पुष्ट करने वाली और योग साधना में विघ्नरूप होती है तथा दूसरी अक्लिष्ट अर्थात् क्लेशों को क्षय करने वाली और योग साधना में सहयोग करने वाली होती है।

साधक चित्त की वृत्तियों को यथारूप समझकर पहले क्लिष्ट वृत्तियों को हटावें फिर उन अक्लिष्ट वृत्तियों का भी निरोध करके योग सिद्ध करें। वे पाँच प्रकार निम्नलिखित हैं :

**1.**प्रमाण वृत्ति के लक्षण

प्रमाण विपर्यय विकल्प निद्रा स्मृत्यः। (प.यो.द. 1/6)

## 1. प्रमाण 2. विपर्यय 3. विकल्प 4. निद्रा 5. स्मृति

उपरोक्त पाँच प्रकार की वृत्तियों में से प्रमाण वृत्ति के भेद निम्न प्रकार से हैं।

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि। (प.यो.द. 1/7)

प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम, ये तीन प्रमाण हैं।

प्रत्यक्ष प्रमाण

बुद्धि, मन और इन्द्रियों के जानने में आने वाले जितने भी पदार्थ हैं उनका अंत:करण और इन्द्रियों के साथ बिना किसी व्यवधान के संबंध होने से जो भ्रांति तथा संशय रहित ज्ञान

होता है उसके प्रत्यक्ष अनुभव से होने वाली वृत्ति प्रमाण वृत्ति है।

ब. अनुमान प्रमाण

किसी प्रत्यक्ष दर्शन के सहारे युक्तियों द्वारा जिस अप्रत्यक्ष पदार्थ के स्वरूप का ज्ञान होता है उस अनुमान से ज्ञात होने वाली वृत्ति प्रमाण वृत्ति है, जैसे धुंआ देखकर अग्नि की उपस्थिति का ज्ञान होना।

स, अगम प्रमाणा

वेद, शास्त्र और आप्त (यथार्थवक्ता) पुरुषों के वचन को आगम कहते हैं। जो पदार्थ मनुष्य के अंत:करण और इन्द्रियों के प्रत्यक्ष नहीं है एवं जहाँ अनुमान की भी पहुँच नहीं है उसके स्वरूप का ज्ञान वेद, शास्त्र और महापुरुषों के वचन से होता है वह आगम से होने वाली प्रमाण वृत्ति है।

**2.** विपर्यय वृक्ति के लक्षण

विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूप प्रतिष्ठम्। (प.यो.द. 1/8)

व्याख्या : किसी भी वस्तु के असली स्वरूप को न समझकर उसे दूसरी ही वस्तु समझ लेना यह विपरीत ज्ञान ही विपर्यय वृत्ति है जैसे सीप में चाँदी की प्रतीति होना।

**3.** विकल्प वृत्ति के लक्षण

शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प**:**। (प यो.द. 1/9)

अर्थ **:** जो ज्ञान शब्द जनित ज्ञान के साथ-साथ होने वाला है जिसका विषय वास्तव में नहीं है, वह विकल्प है।

व्याख्या : केवल शब्द के आधार पर पदार्थ की कल्पना करने वाली जो चित की वृत्ति है वह विकल्प वृत्ति है। आगम-प्रमाण जनित वृत्ति से होने वाले विशुद्ध संकल्पों के सिवा सुनी-सुनाई बातों के आधार पर मनुष्य जो नाना प्रकार के व्यर्थ संकल्प करता रहता है, उन सबको विकल्प वृति के अंतर्गत समझना चाहिए।

**4.** निद्रा वृक्ति के लक्षण

अभाव प्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा। (प.यो.द. 1/1o)

अर्थ : अभाव के ज्ञान का अवलंबन करने वाली वृत्ति निद्रा है।

व्याख्या : जिस समय मनुष्य को किसी भी विषय का ज्ञान नहीं रहता, केवल मात्र ज्ञान के अभाव की प्रतीति रहती है। वह ज्ञान के अभाव का ज्ञान जिस वृत्ति के आश्रित रहता है वह निद्रावृत्ति है। निद्रा भी चित्त की वृत्ति विशेष है तभी तो मनुष्य गाढ़ निद्रा से उठकर कहता है कि मुझे आज ऐसी गाढ़ निद्रा आई जिसमें किसी बात की कोई ख़बर नहीं रही, इस स्मृति से ही यह सिद्ध होता है कि निद्रा भी एक वृत्ति है।

**5.** स्मृति वृत्ति के लक्षण

अनुभूतविषयासम्प्रमोषः स्मृतिः । (प.यो.द. 1/11)

अर्थ : अनुभव किए हुए विषय का छिपना विस्मृति तथा प्रकट हो जाना स्मृति है।

व्याख्या : उपयुक्त प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा इन चार प्रकार की वृत्तियों द्वारा अनुभव में आए हुए विषयों के जो संस्कार चित्त में पड़े हैं उनका पुनः किसी निमित्त को पाकर स्फुरित हो जाना ही स्मृति है। उपरोक्त सूत्रों में वृत्तियों का निरूपण किया, अब उनके निरोध का उपाय बताते हैं।

## चित्त वृत्तियों के निरोध का उपाय

अभ्यासवैराग्याभ्यां तनिरोधः। (प.यी.द. 1/12)

अर्थ : अभ्यास और वैराग्य से उन वृत्तियों का निरोध होता है।

व्याख्या : चित्त की वृत्तियों का सर्वथा निरोध करने के लिए अभ्यास और वैराग्य ये दो उपाय हैं। चित्त वृत्तियों का प्रवाह परंपरागत संस्कारों के बल से सांसारिक भोगों की ओर चल रहा है, उस प्रवाह को रोकने का उपाय वैराग्य है और उसे कल्याण मार्ग में ले जाने का उपाय अभ्यास है।

## अभ्यास का लक्षण

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः । (प.यो.द. 1/13)

अर्थ : उन दोनों में से स्थिरता के लिए जो प्रयत्न करना है वह अभ्यास है।

व्याख्या : जो स्वभाव से ही चंचल है ऐसे मन को किसी एक ध्येय में स्थिर करने के लिए बारम्बार चेष्टा करते रहने का नाम अभ्यास है। यम, नियम आदि योग के आठ अंगों का बार-बार अनुष्ठानरूप प्रयत्न अभ्यास का स्वरूप है और चित्तवृत्तियों का निरोध होना अभ्यास का प्रयोजन है।

अभ्यास में दृढ़ होने के उपाय

स तु दीर्घकालनैरन्तर्य सत्काराऽऽसेवितो दृढभूमिः। (प.यो.द. 1/14)

अर्थ : परंतु वह बहुत काल तक निरंतर और आदरपूर्वक व्यवधान रहित सेवन करने पर दृढ़ आस्था वाला होता है।

व्याख्या : अपने साधन के अभ्यास को दृढ़ बनाने के लिए साधक को चाहिए कि साधना को कभी-कभी न करें। यह दृढ़ विश्वास रखें कि किया हुआ अभ्यास कभी भी व्यर्थ नहीं हो सकता। अभ्यास के बल से मनुष्य नि:संदेह अपने लक्ष्य की प्राप्ति कर लेता है। यह समझकर अभ्यास के लिए काल (समय) की अवधि न रखें। जीवन पर्यन्त अभ्यास करें। साथ ही यह भी ध्यान रखें कि अभ्यास में व्यवधान न पड़ने पाए अर्थात् रुकावट न आए (जैसे कुछ दिन किया फिर छोड़ दिया, फिर कुछ माह किया आगे कुछ दिन के लिए छोड़ दिया) निरंतर अभ्यास चलता रहे। अभ्यास में तुच्छ बुद्धि न रखें तथा उसकी अवहेलना कदापि न करें। बल्कि अभ्यास को ही जीवन का आधार बनाकर अत्यंत आदर और प्रेमपूर्वक उसे सांगोपांग करता रहें इस प्रकार किया हुआ अभ्यास दृढ़ होता है।

वैराग्य लक्षण (अपर-वैराग्य और पर-वैराग्य)

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्ः।
(प.यो.द. 1/15)

अर्थ : देखे और सुने हुए विषयों में सर्वथा तृष्णारहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था है वह वैराग्य है।

व्याख्या : अंत:करण और इन्द्रियों के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाले इस लोक के समस्त भोगों का समाहार यहाँ 'दृष्ट' शब्द में किया गया है और जो प्रत्यक्ष उपलब्ध नहीं है, जिनकी बड़ाई वेद, शास्त्र और भोगों का अनुभव करने वाले पुरुषों से सुनी गई हैं - ऐसे भोग्य विषयों का समाहार आनुश्रविक शब्द में किया गया है। उपरोक्त दोनों प्रकार के भोगों से जब चित्त भलीभांति तृष्णा रहित हो जाता है तब उसकी प्राप्त करने की इच्छा का सर्वथा नाश हो जाता है।

ऐसे कामना रहित चित्त की जो वशीकार नामक अवस्था विशेष है वह अपर-वैराग्य है। अब पर-वैराग्य के लक्षण बताते हैं।

तत्परं पुरुषख्यातेगुण वैतृष्णयम्। (प.यो.द. 1/16)

अर्थ : पुरुष के ज्ञान से जो प्रकृति के गुणों में तृष्णा का सर्वथा अभाव हो जाता है वही पर-

वैराग्य है।

व्याख्या : पहले बताए हुए चित्त की वशीकार, संज्ञारूप वैराग्य से जब साधक की विषय-कषाय का अभाव हो जाता है और उसके चित्त का प्रवाह समान रूप से अपने ध्येय के अनुभव में एकाग्र हो जाता है, उसके बाद समाधि परिपक्व होने पर प्रकृति और पुरुष विषयक विवेक ज्ञान प्रकट होता है। उसके होने से जब साधक के तीनों गुणों में और उसके कार्य में किसी प्रकार की किंचित् मात्र भी तृष्णा नहीं रहती, जब वह सर्वथा आप्तकाम निष्काम हो जाता है ऐसी सर्वथा राग-रहित अवस्था की पर-वैराग्य कहते हैं।

ईश्वर प्रणिधान - महर्षि पतंजलि के अनुसार

ईश्वरप्रणिधानाद्वा। (प यो.द. 123)

अर्थ : ईश्वर-प्रणिधान से शीघ्रतम् समाधि लाभ होता है।

व्याख्या : ईश्वर की भक्ति अर्थात् शरणागति का नाम ईश्वर-प्रणिधान है। इससे भी निबोंज-समाधि शीघ्र सिद्ध हो सकती है क्योंकि वे सर्व-समर्थ हैं। वे अपने शरणागत भक्त पर प्रसन्न होकर उसकी इच्छानुसार सबकुछ प्रदान कर सकते हैं।

ईश्वर के लक्षण

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः।

(प.यो.द. 1/24)

अर्थ : क्लेश, कर्म, विपाक और आशय - इन चारों से जो संबंधित नहीं हैं, जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह ईश्वर है।

व्याख्या :

1. क्लेश पाँच हैं - अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश।
2. कर्म चार प्रकार के हैं - पुण्य, पाप, पुण्य-पाप मिश्रित एवं पुण्य-पाप से रहित।
3. विपाक - कर्म के फल का नाम विपाक है।
4. आशय - कर्म-संस्कारों के समुदाय का नाम आशय है।

समस्त जीवों का इन चारों से अनादिकाल से संबंध है। यद्यपि मुक्त जीवों का पीछे संबंध नहीं रहता, तो भी पहले संबंध था ही। किंतु ईश्वर का तो कभी इनसे न संबंध था, न है और न होने वाला है। इस कारण उन मुक्त पुरुषों से भी ईश्वर विशेष है। यह बात प्रकट करने के लिए ही सूत्रकार ने 'पुरुष विशेष:' पद का प्रयोग किया है।

तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम्। (प.यो.द. 1/25)

अर्थ : उस (ईश्वर) में सर्वज्ञता का बीज (कारण) अर्थात् ज्ञान निरतिशयहै।

व्याख्या : जिससे बढ़कर कोई दूसरी वस्तु हो वह सातिशय है और जिससे बड़ा कोई नहीं वह निरतिशय है। ईश्वर अवधि ज्ञानी है। उसका ज्ञान सबसे बढ़कर है। उससे बढ़कर किसी का ज्ञान नहीं है, (वह केवल्य ज्ञानी हैं) इसलिए उसे निरतिशय कहा गया है।

सएष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्। (पयो.द. 1/26) \

अर्थ : वह ईश्वर सबके पूर्वजों का भी गुरु है, क्योंकि उसका काल से अवच्छेद नहीं है।

तस्य वाचकः प्रणवः। (प.यो.द. 1/27)

अर्थ : उस ईश्वर का वाचक (नाम) प्रणव (ॐ कार) है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्। (प.यो.द. 1/28)

अर्थ : उस ॐ कार का जप और उसके अर्थस्वरूप परमेश्वर का चिंतन करना चाहिए।

व्याख्या : साधक को ईश्वर के नाम का जप और उसके स्वरूप का स्मरण-चिंतन करना चाहिए। इसी को पूर्वोक्त ईश्वर प्रणिधान अर्थात् ईश्वर की भक्ति या शरणागति कहते हैं।

ततः प्रत्यकचेतनाधिगमोऽप्यन्तराया भावशच। (प.यो.द. 1/29)

अर्थ : उक्त साधन से विघ्नों का अभाव और अंतरात्मा के स्वरूप का ज्ञान भी हो जाता है।

व्याख्या : ईश्वर के भजन-स्मरण से विध्नों का अपने आप नाश हो जाता है और अंतरात्मा के स्वरूप का ज्ञान होकर कैवल्य अवस्था भी प्राप्त हो जाती है।

क्लेश उत्पन्न करने वाले कारण

पतंजलि ने क्लेश पहुँचाने वाले पाँच कारण बताए हैं।

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः। (प.यो.द. 2/3)

**1. अविद्या 2. अस्मिता 3. राग 4. द्वेष 5. अभिनिवेश**

ये अविद्या आदि पाँचों ही जीवमात्र को संसार चक्र में घुमाने वाले महा-दुःखदायक हैं।

इस कारण इनका नाम क्लेश रखा है।

**1.** अविद्या क्लेश

अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् । (प.यो.द. 2/4)

अर्थ : जो प्रसुप्त, तनु विच्छिन्न और उदार - इस प्रकार चार अवस्थाओं में रहने वाले हैं एवं जिनका वर्णन (तीसरे सूत्र में) अविद्या के बाद किया गया है उनका कारण अविद्या है।

अविद्या का स्वरूप **:**

अनित्याशुचिदुःखानात्मसुनित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या।
(प.यो.द. 2/5)

अर्थ **:** अनित्य अपवित्र दु:ख और अनात्मा में (जड़ में) क्रम से नित्य शुचि, सुख आत्मख्याति (आत्मभाव) अर्थात् चेतनता का ज्ञान अविद्या है।

**2.** अस्मिता क्लेश

दृग्दर्शनशक्तयोरेकात्मतेवास्मिता। (प.यो.द. 2/6)

अर्थ : द्रक् शक्ति और दर्शन शक्ति - इन दोनों का एक रूप सा हो जाना अस्मिता है।

अस्मिता का स्वरूप **:**

द्रष्टा चेतन है और बुद्धि जड़ है। इनकी एकता हो ही नहीं सकती तथापि अविद्या के कारण दोनों की एकता सी हो रही है।

**3.** राग कलेश

सुखानुशयी रागः। (प.यो.द. 2/7)

अर्थ : सुख भोगने के पीछे जो चित्त में उसके भोग की इच्छा रहती है उसका नाम राग है।

व्याख्या : प्रकृतिस्थ जीव को जब कभी जिस किसी अनुकूल पदार्थ में सुख की अनुभूति हुई है या होती है, उसमें और उसके निमित्तों में उसकी आसक्ति हो जाती है, उसी को राग कहते हैं।

**4.** द्वेष कलेश

दुःखानुशयी द्वेषः। (प.यो.द. 2/8)

अर्थ : दु:ख के अनुभव के पीछे जो घृणा की भावना चित्त में रहती है उसको द्वेष क्लेश कहते हैं।

व्याख्या : मनुष्य को जब कभी जिस किसी प्रतिकूल पदार्थ में दु:ख की प्रतीति हुई है या होती है उसमें और उसके निमित्तों में द्वेष हो जाता है तब वह द्वेष क्लेश कहलाता है।

**5.** अभिनिवेश क्लेश

स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारुढोऽभिनिवेशः। (प.यो.द. 29)

अर्थ : जो परंपरागत स्वभाव से चला आ रहा है एवं जो मूढ़ों की भाँति विवेकशील पुरुषों में भी विद्यमान देखा जाता है, वह अभिनिवेश क्लेश है।

व्याख्या : मरणभय जीवों के अन्त:करण में इतना गहरा बैठा हुआ है कि मूख के जैसा ही विवेकशील पर भी इसका प्रभाव पड़ता है इसलिए इसका नाम अभिनिवेश क्लेश रखा गया है।

क्लेशों को दूर करने का उपाय

ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः । (प.यो.द. 2/1o)

ध्यानहेयास्तदवृत्तयः । (प.यो.द. 2/11)

अर्थ : सूक्ष्म अवस्था को प्राप्त क्लेश चित्त को अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा नष्ट करने योग्य है एवं उन क्लेशों की वृत्तियाँ ध्यान के द्वारा नाश करने योग्य हैं।

व्याख्या : क्रिया योग और ध्यान योग द्वारा सूक्ष्म किए हुए क्लेशों का नाश निर्बीज समाधि के द्वारा चित्त को उसके कारण विलीन करके करना चाहिए क्योंकि क्रिया योग या ध्यान योग द्वारा क्षीण कर दिए जाने पर भी जो लेशमात्र क्लेष शेष रह जाते हैं उनका नाश दृष्टा और दृश्य के संयोग का अभाव होने पर ही होता है। उसके पहले क्लेशों का सर्वथा नाश नहीं होता, यह भाव है।

क्रिया योग

तपः स्वाध्यायेशवरप्रणिधानानि क्रियायोगः । (प.यो.द. 2/1)

अर्थ : तप, स्वाध्याय और ईश्वर-शरणागति ये तीनों क्रिया योग हैं।

तप : अपने वर्ण, आश्रम, परिस्थिति और योग्यतानुसार स्वधर्म का पालन करना और उसके पालन में जो अधिक से अधिक शारीरिक या मानसिक कष्ट प्राप्त हो उसे सहर्ष सहन करने का नाम तप है। व्रत, उपवास आदि भी इसी में आते हैं। निष्काम भाव से इस तप का पालन करने से मनुष्य का अन्त:करण अनायास ही सिद्ध हो जाता है।

स्वाध्याय : जिनसे अपने कर्तव्य-अकर्तव्य का बोध हो सके ऐसे वेद, शास्त्र, महापुरुषों के लेख पठन-पाठन और भगवान के ॐ कार आदि किसी नाम का या किसी भी इष्ट देव के मंत्र का जाप करना स्वाध्याय है। इसके अलावा स्व यानी आत्मा के गुणों का ध्यान करना भी स्वाध्याय है।

ईश्वर प्रणिधान : ईश्वर के शरणागत हो जाने का नाम ईश्वर-प्रणिधान है। करना, उसकी आज्ञा का पालन करना ये सभी ईश्वर-प्रणिधान के अंग हैं।

क्रिया योग का फल

समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च । (प.यो.द. 2/2)

अर्थ : यह क्रिया योग समाधि की सिद्धि करने वाला और अविद्यादि क्लेशों को क्षीण करने वाला है।

व्याख्या : उपर्युक्त क्रियायोग अविद्यादि दोषों को क्षीण करने वाला और समाधि की सिद्धि करने वाला है अर्थात् इसके साधन से साधक के अविद्यादि क्लेश का क्षय होकर उसको कैवल्य अवस्था तक समाधि की प्राप्ति हो सकती है।

योग मार्ग के विघ्न, अंतराय, चित्त विभ्रम एवं बाधाएँ

योग साधक के मार्ग या अभ्यास में जो बाधाएँ या अंतराय चित्त में विभ्रम पैदा करती हैं वे निम्नलिखित हैं :

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्ध

भूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः।

(प.यो.द. 1/3 o)

अर्थ : व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रांतिदर्शन अलब्धभूमिकत्व और अनवस्थितत्व - ये नौ चित्त के विक्षेप अंतराय हैं। ये ही नौ योग मार्ग के विघ्न माने गए हैं।

**1.** व्याधि : शरीर में किसी प्रकार का रोग उत्पन्न हो जाना व्याधि है। शारीरिक स्वास्थ्य में किसी प्रकार के दोष होने के कारण साधक की साधना में अंतराय आते हैं। चूँकि अच्छा

स्वास्थ्य मानसिक विकास और ज्ञान प्राप्ति के लिए महत्वपूर्ण है, जब शरीर अस्वस्थ है या नाड़ी-मण्डल दूषित है तो मन अस्थिर हो जाता है, जिसके कारण ध्यान लगाना कठिन हो जाता है।

**2.** स्त्यान : चित्त (मन) की अकर्मण्यता, उदासीनता होने के कारण साधक साधनों में प्रवृत्ति न कर पाएँ उसे स्त्यान कहते हैं।

**3.** संशय : साधक यदि स्वयं में, गुरु में या योग साधना में शंका करे, तो वह संशय नाम का अंतराय कहलाता है।

**4.**प्रमाद **:** योग साधनों के अनुष्ठान की (कार्य पद्धति) अवहेलना करते रहना प्रमाद है।

**5.**आलस्य **:** तमोगुण और कफ़ आदि की अधिकता के प्रकोप के कारण चित और शरीर में भारीपन हो जाना और उसके कारण साधन में प्रवृत्त न होना आलस्य कहलाता है।

**6.**अविरति **:** इन्द्रिय सुख के विषयों की निरंतर इच्छा बनी रहना अविरति है। इस कारण वैराग्य का अभाव रहता है।

**7.**भ्रांतिदर्शन **:** सम्यक् दर्शन का प्राप्त न होना और (चूँकि भ्रांति दर्शन के कई मायने हो सकते हैं, अतः योग से संबंध होने के कारण) योग साधना क ज्ञान को मिथ्या मानना।

**8.**अलब्धभूमिकत्व **:** वह साधक जो ध्यान की चरम भूमि पर पहुँचने में असमर्थ होता है या समाधि की स्थिति को प्राप्त न कर सके।

**9.**अनवस्थितत्व **:** आत्मदर्शन से पहले समाधि से छूट जाना या अपने लक्ष्य में पहुँचने के पहले विचलित हो जाना। इसके अतिरिक्त और भी दूसरे विघ्न (अंतराय) हैं।

दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासप्रश्वासा विक्षेपसहभुवः।

(प.यो.द. 1/31)

अर्थ : दु:ख, दौर्मनस्य, अंगमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास ये पाँच भी अंतराय के कारण बनते हैं।

**1.** दु:ख **:** आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक इस प्रकार दु:ख के तीन प्रमुख भेद हैं।

(अ) काम, क्रोध आदि जन्य मानस परिताप और व्याधि आदि जन्य शारीरिक परिताप आध्यात्मिक दु:ख कहलाते हैं।

(ब) सिंह, सर्प, आदि से दु:ख आधिभौतिक है।

(स) विद्युत्पात, अति वर्षा, अग्नि, अति वायु आदि दैविक शक्तियों से जन्य दु:ख

आधिदैविक है।

**2.** दौर्मनस्य **:** इच्छा की पूर्ति न होने पर मन में क्षोभ होता है।

**3.** अंगमेजयत्व : शरीर के अंगों में कपन होना।

**4.** शवास : बिना इच्छा के बाहर की वायु का नासिका द्वारा भीतर प्रवेश कर जाना अर्थात बाहरी कुंभक में विघ्न हो जाना श्वास है।

**5.** प्रश्वास : बिना इच्छा के भीतर की वायु का नासिका द्वारा बाहर निकल जाना अर्थात भीतरी कुंभक में विघ्न हो जाना प्रश्वास है।

ये पाँचों विघ्न चित्त की विक्षिप्तता से आते हैं। एकाग्र चित्त वालों के नहीं होते। ये विक्षेपों के साथ होने वाले उपविक्षेप कहलाते हैं।

विघ्नों को दूर करने का उपाय

तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः । (प.यो.द. 1/32)

साधक को इन विघ्नों को दूर करने के लिए एक तत्व का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् किसी अभिमत एक तत्व द्वारा चित्त की स्थिति के लिए यत्न करना चाहिए।

मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां
भावनातश्चित्तप्रसादनम्। (प.यो.द. 1/33)

अर्थ : मित्रता, करुणा (दया), हर्ष (अति आनंद) और उदासीनता (उपेक्षा, तिरस्कार) इन धर्मों की सुखी, दु:खी पुण्यात्मा और पापात्मा के विषय में क्रमानुसार भावना के अनुष्ठान से चित्त की निर्मलता और प्रसन्नता होती है।

व्याख्या : सुखी मनुष्यों में मित्रता की भावना करने से एवं दु:खी मनुष्यों में दया की भावना करने से, पुण्यात्मा पुरुषों में प्रसन्नता की भावना करने से और पापियों की उपेक्षा की भावना करने से चित्त के राग, द्वेष, घृणा, ईर्ष्या और क्रोध आदि मलों का नाश होकर चित्त शुद्ध, निर्मल हो जाता है। अत: साधक को इनका अभ्यास करना चाहिए।

चित्त शुद्धि का दूसरा उपाय बताते हैं :

प्रच्छर्दनविधारणाभ्यांवा प्राणस्य। (प.यी.द. 1/34)

अर्थ : प्राणवायु को बार-बार बाहर निकालने और रोकने के अभ्यास से भी चित निर्मल

होता है। शरीर की नाड़ियों का भी मल नष्ट होता है।

मन (चित्त) को स्थिर करने वाला साधन

विषयवती वा प्रवृत्तिरूत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी।
(प.यो.द. 1/35)

अर्थ : दिव्य विषय वाली प्रवृत्ति उत्पन्न होकर वह भी मन की स्थिति बाँधने वाली हो जाती है।

व्याख्या : अभ्यास करते-करते साधक की दिव्य विषयीं का साक्षात् ही जाता है, उन दिव्य विषयों का अनुभव करने वाली वृत्ति का नाम विषयवती प्रवृत्ति है। ऐसी प्रवृत्ति उत्पन्न होने से साधक का योगमार्ग में विश्वास और उत्साह बढ़ जाता है। इस कारण वह आत्मचिंतन के अभ्यास में भी मन को स्थिर करने में कारण बन जाती है।

विशोका वा ज्योतिष्मती। (प.यो.द. 1/36)

अर्थ : इसके सिवा शोक रहित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति भी मन को स्थिर करने वाली होती है।

व्याख्या : अभ्यास करते-करते साधक की यदि शोक रहित, प्रकाशमय प्रवृत्ति का अनुभव हो जाए तो वह भी मन को स्थिर करने वाली होती है।

वीतरागविषयं वा चित्तम्। (प.यो.द. 1/37)

अर्थ : वीतराग को विषय करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है।

व्याख्या : जिस पुरुष के राग-द्वेष सर्वथा नष्ट हो गए हैं, ऐसे विरक्त पुरुष को ध्येय बनाकर अभ्यास करने वाला अर्थात् उसके विरक्त भाव का मनन करने वाला चित्त भी स्थिर हो जाता है।

स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बन वा। (प.यो.द. 1/38)

अर्थ : स्वप्न और निद्रा के ज्ञान का अवलंबन करने वाला चित्त भी स्थिर हो सकता है।

व्याख्या : स्वप्न में कोई अलौकिक अनुभव हुआ हो जैसे अपने इष्ट देव का दर्शन आदि उसकी स्मरण करके वैसा ही चिंतन करने से मन स्थिर हो जाता है तथा गाढ़ निद्रा में केवल चित्त की वृत्तियों के अभाव का ही ज्ञान रहता है। किसी भी पदार्थ की प्रतीति नहीं होती, उसी को लक्ष्य बनाकर अभ्यास करने से भी अनायास ही चित्त स्थिर हो जाता है।

यथाभिमत ध्यानाद्वा।। (प.यो.द. 1/39)

अर्थ : जो भी अभिमत अनुकूल हो उसके ध्यान से भी मन स्थिर होता है।

व्याख्या : उपरोक्त साधनों में से कोई साधन किसी साधक के अनुकूल नहीं पड़ता हो तो उसे अपनी रुचि के अनुसार अपने इष्ट का ध्यान करना चाहिए। अपनी रुचि के अनुसार अपने इष्ट का ध्यान करने से मन स्थिर हो जाता है।

---

1'युजिर योगे' सिद्धांत कौमुदी धातुक्रम संख्या 1444
2'युज समाधौ' सिद्धांत कौमुदी धातुक्रम संख्या 1177
3'युज संयमने' सिद्धांत कौमुदी धातुक्रम संख्या 1807

# अष्टांग योग

अष्टाग योग की उपयोगिता

योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षयेज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः। (पयो.द.2/28)

अर्थ : योग के अंग का अनुष्ठान (प्रयोग, क्रियात्मक रूप) करने से अशुद्धि का नाश होने पर ज्ञान का प्रकाश, विवेक ख्याति पर्यत हो जाता है।

व्याख्या : आगे बताए जाने वाले योग के आठ अंगों का अनुष्ठान करने से अर्थात् उनको आचरण में लाने से चित्त के मल का अभाव होकर वह सर्वथा निर्मल हो जाता है। उस समय योगी के ज्ञान का प्रकाश, विवेक ख्याति (सात प्रकार की सबसे ऊँची अवस्था वाली प्रज्ञा बुद्धि) तक हो जाता है। अर्थात् उसे आत्मा का स्वरूप बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

अष्टांग योग के कार्य एवं महत्व

यदि हम गहराई से देखें तो योग के आठ अंग कोई साधारण कार्य नहीं करते यह तो ऋषि-मुनियों की बहुत बड़ी सोच है, उनकी बड़ी अनुकपा है जो उन्होंने इसको अलग-अलग बाँटकर फिर एक माला के रूप में पिरोकर हमें अवगत करा दिया क्योंकि सभी आठ अंगों के अलग-अलग कार्य हैं जो कि हमारे हाथ पैर के नाखून से लेकर हमें मोक्ष तक का रास्ता बताते हैं। यह हमारे और इस विश्व के लिए बहुत बड़ी उपलब्धि हैं यह महान आत्माओं का दिया हुआ हमारे लिए बहुत बड़ा उपहार (गिफ्ट) है। क्यों न हम इसे आत्मसात् कर उनके प्रति कृतज्ञता व्यक्त करें।

अष्टांग योग के आठ अंग (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) हैं।

1. "यम" हमें क्रमशः सामाजिक एवं धार्मिक रूप से जीना सिखाता है जिस कारण हमारी सामाजिक नैतिक मूल्य की वृद्धि होती है।

2. "नियम" हमारे पूरे जीवन की कार्य पद्धति को बदल देता है यह हमारे चरित्र को उज्ज्वल करता है। और हमें अनुशासन में रहना सिखाता है।

3. "आसन" हमें जीवन के अंतिम क्षणों तक निरोग रखता है हमारे शरीर का विकास उत्तरोत्तर करता है।

4. "प्राणायाम" हमारे प्राण को एक नया आयाम देता है। प्राणायाम हमें श्वास लेने की कला सिखाता है और हमारे प्राण का उत्थान व विकास करता है।

**5.** "प्रत्याहार" हमें हमारी इंद्रियों से विजय दिलाता है। यह स्वयं से स्वयं को जीतने की कला सिखाता है यह हमारा मानसिक विकास करता है।

**6.** "धारणा" अंग हमारे मन को एकाग्र करता है हमारा बौद्धिक विकास करता है।

**7.** "ध्यान" हमें कई उपलब्धियाँ प्रदान कराता है। हमें जीवन के लगभग सभी कार्यक्षेत्र के लिए ध्यान के सोपान की आवश्यकता पड़ती है। ध्यान द्वारा हम आत्मज्ञान तक प्राप्त कर सकते हैं। ,

**8.** "समाधि" द्वारा हम अपने अवचेतन मस्तिष्क का विकास कर परम आनंद प्राप्त कर सकते हैं जो कि जीवन का अंतिम लक्ष्य होता है।

इस प्रकार हम अष्टांग योग द्वारा अपने जीवन के समस्त क्षेत्रों का विकास कर पूरे जीवन को क्रमबद्ध तरीके से जीने की कला सीख सकते हैं।

अष्टांग योग के अंग

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि । (प.यो.द.2/29)

अर्थ **:** यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के आठ अंग हैं। इन आठ अंगों की दो भूमिकाएँ हैं।

**1.** बहिष्टंग **2.** अंतरंग

कहते हैं, क्योंकि इनकी विशेषता बाहर की क्रियाओं से ही सम्बंधित है। शेष तीन अर्थात् धारणा, ध्यान और समाधि अंतरंग हैं। इसका संबंध केवल अंत:करण से होने के कारण इनको अंतरंग कहते हैं।

अब इन आठ अंगों का विवेचन किया जाता है :

य

अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । (प.यो.द. 2/30)

अर्थ **:** अहिंसा, सत्य, अस्तेय (चोरी का अभाव), ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (संग्रह का अभाव) ये पाँचों यम हैं। 1. अहिंसा : अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः । (प.यो.द.2/35)

जब योगी का अहिंसा भाव पूर्णतः दृढ़ स्थिर हो जाता है तब उसके निकटवर्ती हिंसक जीव भी अपना वैरभाव छोड़ देते हैं। किसी जीव कोमन, वचन और शरीर द्वारा कभी किसी प्रकार किचिंत् मात्र भी कष्ट न पहुँचाने का नाम अहिंसा है। जैन धर्म में इन पाँच यमों को पाँच महाव्रत का नाम दिया गया है। उनकी धर्म की आधार-शिला माना गया है। धर्म शास्त्रों में लिखा है कि सब जीवों के साथ संयम से व्यवहार रखना अहिंसा है। संसार में जितने भी जीव (प्राणी) हैं उनको जाने-अनजाने में न स्वयं मारना चाहिए और न दूसरों से मरवाना चाहिए। जो मनुष्य प्राणियों की स्वयं हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और हिंसा करने वालों का अनुमोदन (बड़ाई) करता है, वह संसार में अपने लिए बैर को बढ़ाता है। और, कहा भी है कि अहिंसा परमोधर्म: एवं जियो और जीने दो।

अतः मन, वचन, काय से किचित् मात्र भी किसी भी प्राणी को दु:ख न देना ही अहिंसा है व दूसरों के दोषों को भी विस्मृत कर देना इसी के अंतर्गत आते हैं। .

**2.** सत्य **:** सत्य प्रतिष्ठाया क्रिया फलाश्रयत्वम। (प.यो.द.2/36)

सदा अप्रमादी (आलस्य रहित) और सावधान रहकर असत्य को त्यागकर हितकारी सत्य वचन ही बोलने चाहिए। सत्य की दृढ़ स्थिति हो जाने पर क्रिया फल के आश्रय का भाव आ जाता है। योगी को वरदान, आशीवाद या शाप देने का सामथ्र्य प्राप्त हो जाता है।

**3.** अस्तेय **:** अस्तेय प्रतिष्ठाया सर्वरत्नोपस्थानम्। (प.यो.द.2/37)

चोरी के अभाव की दृढ़ स्थिति हो जाने पर उस योगी के सामने सब प्रकार के रत्न प्रकट हो जाते हैं। पदार्थ सचेतन हो या अचेतन, थोड़ा हो या बहुत वह वस्तु जिसके अधिकार में हो उसकी आज्ञा लिए बिना पूर्ण संयमी साधक न तो स्वयं ग्रहण करते हैं और न दूसरों को ग्रहण करने के लिए प्रेरित करते हैं और न ही उसका अनुमोदन करते हैं। दूसरों की बिना दी हुई वस्तु भी चोरी से ग्रहण नहीं करनी चाहिए।

**4.** ब्रह्मचर्य**:** ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठायां वीर्यलाभः । (प.यो.द.2/38)

ब्रह्मचर्य धर्म का मूल है। इसलिए निग्रंथ मुनि ब्रह्मचर्य के पालन में दृढ़ बने रहते हैं। जब साधक ब्रह्मचर्य का पूर्ण पालन करता है तब उसके शरीर, मन और आत्मा में असीम शक्ति

का प्रादुर्भाव होता है।

**5.** अपरिग्रह**:** अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासंबोधः । (प.यो.द.2/39)

अपरिग्रह अर्थात् परिग्रह का प्रयास न करना। आवश्यकता से अधिक वस्तु का संग्रह न करना ही अपरिग्रह है। निग्रंथ मुनि किसी प्रकार का परिग्रह नहीं रखते, अपरिग्रही व्यक्ति को योग साधना और धार्मिक क्रिया-कलाप से उत्तम फल की प्राप्ति होती है।

नियम

प्रत्येक साधक के जीवन में नियम अवश्य होने चाहिए। व्यक्ति चाहे सांसारिक सुख की इच्छा करता ही या आध्यात्मिक सुख प्राप्त करना चाहता हो, उसके जीवन में उत्कृष्ट नियम अवश्य होने चाहिए। पतंजलि के अनुसार पाँच नियम निम्नलिखित हैं :-

**1. शौच** **2. संतोष** **3. तप**
**4. स्वाध्याय** **5. ईश्वर-प्रणिधान**

**1.** शौच **:** शौचात्स्वाङ्गगजुगुप्सा परैरसंसर्ग**:**। (प यो.द.2/40)

शौच के पालने वाले को अपने अंगों से वैराग्य और दूसरों से संसर्ग करने की इच्छा का अभाव होता है। अर्थात् अपने शरीर में और दूसरों के शरीर में आसक्ति का भाव नहीं रहता। मैत्री आदि की भावना के द्वारा अथवा जप-तप आदि अन्य किसी साधना द्वारा आतरिक शौच के लिए अभ्यास करने से राग-द्वेष, ईर्ष्यां आदि मलों का अभाव होकर मनुष्य का अन्त:करण निर्मल और स्वच्छ हो जाता है। मन की व्याकुलता का नाश होकर उसमें सदैव प्रसन्नता बनी रहती है। विक्षेप-दोष का नाश होकर एकाग्रता आ जाती है और सब इन्द्रियाँ मन के वश में हो जाती हैं। अत: उसमें आत्मदर्शन की योग्यता आ जाती है।

**2.** संतोष **:** संतोषादनुतमसुखलाभ**:**। (प यो.द.2/42)

संतोष से बढ़कर कोई दूसरा सुख नहीं! किसी ने कहा है कि संतोषामृत पिया करो - अर्थात् संतोष रूपी अमृत का पान करो (धारण करो)। साधक को जब संतोष होता है तो तृष्णा का नाश होता है, चाहत का अभाव होता है। किसी कवि ने कहा है कि

गोधन**,** गाजधान**,** बाजधन और रत्न धन खान ।
जब आवै सतोष धन**,** सब धन धूरि समान।

**3.** तप **:** कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः । (प.यो.द.2/43)

तप के प्रभाव से अशुद्धि का नाश होता है। शरीर और इन्द्रियों की सिद्धि होती है। तप कई प्रकार के होते हैं परंतु वह तप जो अपने स्वानुभूति के दर्शन कराए जिससे अंतरंग और बहिरंग दोनों शुद्ध होकर उत्थान को प्राप्त हो जाएँ, तप कहलाता है।

**4.** स्वाध्याय **:** स्वाध्यायादिष्टदेवतासमग्रयोग: । (प.यी.द.2/44)

स्वाध्याय से इष्टदेवता का दर्शन होता है। जैन धर्म में स्वाध्यायः परम तपः माना गया है। अर्थात् स्व यानी आत्मा (मैं) का अध्ययन चिंतन-मनन करना ही स्वाध्याय है। शास्त्रों का अध्ययन अध्यापन करना स्वाध्याय है।

**5.** ईश्वर-प्रणिधान **:** समाधिसिद्धिरीश्वर प्रणिधानात्। (प.यो.द.2/45)

समाधि की सिद्धि ईश्वर-प्रणिधान से होती है। साधक जब अपनी इच्छा, कर्म और प्रत्येक वह वस्तु जिससे उसके अहंकार की पुष्टि होती है, ईश्वर को समर्पित कर दे, वह ईश्वर-प्रणिधान है। जब व्यक्ति ईश्वर के प्रति निर्विकार भाव से अपने को समर्पित करता है तो वह समाधि की चरम दशा में पहुँच जाता है। जब वह भेदविज्ञान की दृष्टि अर्थात् जड़ और चेतन को पृथक-पृथक देखता है तो सम्यक् दर्शन और सम्यक् दृष्टि प्राप्त हो जाती है और वह ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है। यही ईश्वरप्रणिधान है।

आसन

योग का तीसरा अंग आसन है। महर्षि पतंजलि के अनुसार :

स्थिरसुखमासनम्। (प.यो.द.2/46)

सुखपूवक स्थिर बैठन का नाम आसन है।

व्याख्या **:** जिस क्रिया से स्थिरतापूर्वक (हलन-चलन रहित) निराकुलता लिए सुखपूर्वक दीर्घकाल तक बैठा जा सके वह आसन कहलाता है। स्थिर और सुखपूर्वक शारीरिक स्थिति से मानसिक संतुलन आता है। मन की चंचलता रुकती है। योगी आसनों के अभ्यास से शरीर और मन पर विजय प्राप्त कर अपना जीवन धन्य कर लेता है। साधक जानता है कि स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का विकास होता है। आसनों के निरंतर अभ्यास से शारीरिक असमर्थता और मानसिक बाधाओं से व्यक्ति स्वयं को मुक्त कर हल्का महसूस करता है। साधक परमात्मा की प्राप्ति के लिए आकाश में नहीं देखता, पर्वतों की ख़ाक नहीं छानता। वह तो अभ्यास के द्वारा क्रमशः अपने अंदर महसूस करता है।

प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्। (पयो.द.2/47)

प्रयत्न की शिथिलता से और अनंत (परमात्मा) में मन लगाने से आसन सिछद्र होता है।

स्वाभाविक शरीर की चेष्टा का नाम प्रयत्न है। उस स्वाभाविक चेष्टा से अंगमेजयत्व के रोकने के निमित्त उपरत् होना प्रयत्न की शिथिलता है। इस प्रयत्न की शिथिलता से आसन सिच्छद्र होता है। फिर साधक शरीर और मन की उपेक्षा नहीं करता और न ही उसको नष्ट करने की कोशिश करता है। वह उसे ज्ञान प्राप्ति का उपकरण मानता है।

ततो द्वद्वंद्वानभिघातः । (प.यो.द.2/48)

अर्थ : अब कहते हैं कि आसन-सिद्धि हो जाने से या अधिकार प्राप्त कर लेने से सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास, जय-पराजय, लाभ-हानि, मान-अपमान, शरीर-मन, मन-शरीर इस प्रकार के द्वद्ध समाप्त हो जाते हैं तब साधक योगमार्ग की चौथी सीढ़ी प्राणायाम तक पहुँचता है।

प्राणायाम

(अधिक जानकारी के लिए आगे प्राणायाम पर विस्तृत विवेचना की गई है)

तस्मिन् सति शश्वासप्रश्वासयोर्गतिविच्छेदः प्राणायामः।

**(प.यो.द. 2/49)**

अर्थ : उस आसन की सिद्धि होने के बाद श्वास-प्रश्वास की गति विच्छेद होना (विच्छेद हो जाना) प्राणायाम है।

शवास : प्राणवायु का नासिका द्वारा अंदर प्रवेश कराना श्वास कहलाता है।

प्रश्वास : कोष्ठ–स्थित वायु का नासिका छिद्रो द्वारा बाहर निकलना प्रश्वास कहलाता है।

श्वास-प्रश्वास की गतियों का प्रवाह रेचक, पूरक और कुंभक द्वारा बाह्यभ्यंतर दोनों स्थानों में रोकना प्राणायाम कहलाता है। यहाँ आसन की सिद्धि के बाद प्राणायाम करना चाहिए, ऐसा बताया है। इससे यह प्रतीत होता है कि आसन की स्थिरता का अभ्यास किए बिना जो प्राणायाम करते हैं, वे गलत करते हैं। प्राणायाम का अभ्यास करते समय आसन की स्थिरता का होना आवश्यक है।

बाह्यभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभिःपरिदृष्टोदीर्घसूक्ष्मः॥ (प.यो.द. 2/50)

अर्थ : प्राणायाम बाह्यवृति, आभ्यांतरवृति और स्तम्भवृत्ति ऐसे तीन प्रकार का होता है। देश, काल (समय) और संख्या द्वारा देखा हुआ लंबा और हल्का होता जाता है।

बाह्य वृक्ति प्राणायाम

कोष्ठ स्थित वायु को बाहर निकालकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव करना रेचक या बाह्यवृत्ति प्राणायाम कहलाता है।

आभ्यांतर वृत्ति प्राणायाम

प्राणवायु को नासिका-रंधों से अंदर खींचकर उसकी स्वाभाविक गति का अभाव पूरक प्राणायाम या आभ्यांतर वृत्ति प्राणायाम कहलाता है।

स्तम्भ वृत्ति प्राणायाम

श्वास-प्रश्वास दोनों गतियों के अभाव से प्राणवायु को एकदम जहाँ है वहीं रोक देना स्तंभवृत्ति प्राणायाम या कुंभक प्राणायाम कहलाता है।

देश, काल, संख्या के हिसाब से प्राणायाम की व्याख्या इस प्रकार से है :

**1.** देश परिदृष्ट

देश से देखा या नापा हुआ जैसे रेचक में नासिका तक प्राण का निकलना। पूरक में मूलाधार तक श्वास का ले जाना। कुंभक में नाभिचक्र आदि में एकदम रोक देना।

**2.** काल परिदृष्ट

समय से देखा हुआ, विशेष समय में श्वास की कुछ मात्राओं का निकलना, अंदर ले जाना और रोकना जैसे दो सेकड में रेचक, एक सेकड में पूरक और चार सेकड में कुंभक।

**3.** संख्या परिदृष्ट

संख्या से परिपूर्ण जैसे इतनी संख्या में पहला। (मन में संख्या निर्धारण कर लें) इतनी संख्या में दूसरा और इतनी संख्या में तीसरा प्राणायाम। इस प्रकार अभ्यास किया हुआ प्राणायाम दीर्घ और सूक्ष्म अर्थात् लंबा और हल्का होता है।

भावार्थ **:** जैसे-जैसे साधक अपना अभ्यास बढ़ाता है, वैसे-वैसे रेचक, पूरक और कुंभक ये तीनों प्रकार का प्राणायाम देश, काल और संख्या के परिमाण से दीर्घ (लंबा) और सूक्ष्म (हल्का, पतला) होता चला जाता है। अब चौथे प्राणायाम का वर्णन करते हैं।

बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थः। (पयो.द.2/51)

अर्थ **:** बाहर और भीतर के विषयों का त्याग या आलोचना करने वाला चौथा प्राणायाम है।

इस अवस्था का साधक बाहर और भीतर के विषय-कषाय के चिंतन-मनन का त्याग कर देने से अर्थात् इस समय प्राण (वायु) बाहर निकल रहे हैं या भीतर जा रहे या चल रहे हैं या ठहरे हुए हैं, इस प्रकार के भाव का त्याग करके मन को इष्ट-चिंतन में लगा देने से देश, काल और संख्या के ज्ञान के बिना ही अपने आप जो प्राणों की गति जिस किसी देश में रुक जाती है वह चौथा प्राणायाम कहलाता है। उपरोक्त तीनों प्रकार के प्राणायाम से यह सर्वथा भिन्न है। इसमें मन की चंचलता शांत होने के कारण अपने आप प्राणों (वायु) की गति रुकती है।

प्राणायाम का फळ

ततः क्षीयते प्रकाशावरणम्। (प.यो.द.2/52)

अर्थ : उस प्राणायाम के अभ्यास से ज्ञान रूपी प्रकाश को ढ़कने वाला अज्ञान का आवरण क्षीण हो जाता है।

पंचशिखाचार्यानुसार

तपो न परं प्राणायामात् ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्य ।

अर्थ : प्राणायाम से बढ़कर कोई तप नहीं। उससे कर्मफल धुल जाते हैं और ज्ञान का प्रकाश होता है।

भगवान मनु के अनुसार

जैसे अग्नि से पके हुए स्वर्ण आदि धातुओं के मल नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार प्राणायाम करने से इन्द्रियों के मल नष्ट हो जाते हैं।

प्राणायाम का और दूसरा फल बताते हैं :

धारणासु च योग्यता मनसः । (प.यो.द.2/53)

अर्थ : धारणाओं में मन की योग्यता होती है।

व्याख्या : प्राणायाम से मन स्थिर होता है और उसमें धारणा की योग्यता आ जाती है।

प्रत्याहाट

अब प्रत्याहार के लक्षण व्यक्त करते हैं :

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरुपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहारः।

(प.यो.द.2/54)

अर्थ : अपने विषयों के साथ सम्बंध न होने पर चित्त के स्वरूप का अनुकरण इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है।

व्याख्या : सूत्रकार कहते हैं कि प्राणायाम के अभ्यास से पाँचों इन्द्रियों के बाह्य विषय और मन धीरे-धीरे निर्मलता को प्राप्त होते जाते हैं। साधक का ध्यान अंतरोन्मुख हो जाता है। विषय-कषाय सब विलीन हो जाते हैं। इसी का नाम प्रत्याहार है। यही योगी की पाँचवीं अवस्था है। वह अंतर-आत्मा के ज्ञानदीप से बाहर के इन्द्रिय-जनित विषय-कषाय को जलाकर सम्यक्-दृष्टि हो जाता है।

आगे प्रत्याहार का फल बताते हैं।

ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्। (पयो.द.2/55)

अर्थ : उस प्रत्याहार से इन्द्रियों का उत्तम वशीकार होता है।

याज्ञवल्क्य ने प्रत्याहार का लक्षण बताते हुए लिखा है कि स्वभावतः अपने-अपने विषयों में विचरण करती हुई इन्द्रियों का बलपूर्वक एकाएकी आकर्षण प्रत्याहार कहलाता है।

विषयों से चित्त के निवृत होने में जैसा चित्त का स्वरूप होता है वैसा ही इन्द्रियों की एकाग्रता होना प्रत्याहार है।

गोरक्ष पद्धति में सूत्रकार कहते हैं कि पाँच इन्द्रियाँ-घ्राण, चक्षु, जिह्वा, कर्ण और स्पर्शन के विषय गंध, दृष्टि, स्वाद, सुनना और स्पर्श - उन्हें यथाक्रम साधनों द्वारा धीरे-धीरे त्याग करना अर्थात् इन्द्रियों को उनके विषय-कषाय से विमुख करना प्रत्याहार कहलाता है। आसन और प्राणायाम को सिद्ध कर लेने के बाद मानसिक विषय-विकार को हटाकर अपने स्वरूप में स्थित होना प्रत्याहार कहलाता है। आगे कहते हैं कि जैसे कछुआ अपने सिर, पैर आदि अंगों को सिकोड़कर अपने भीतर छिपा लेता है वैसे ही योगियों को चाहिए कि वे अपनी इन्द्रियों को विषयों से हटाकर उनकी वृत्तियों को आत्मा में अनुरक्त करें। विषय-सुखों में आसक्त होकर यह जीव अपना बड़ा भारी अहित कर रहा है। अत: इन सबका त्याग कर व्यक्ति को अपना आत्मकल्याण करना चाहिए, यही प्रत्याहार की सार्थकता है।

पिछले अध्याय में यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार इन पाँचबहिरंग साधनों का फल सहित वर्णन किया गया है। शेष तीन अंतरंग साधना धारणा, ध्यान और समाधि का वर्णन यहाँ से किया जाता है। जब शरीर आसनों द्वारा व्यवस्थित कर साधा गया, जब मन (चित) प्राणायाम की अग्नि से शुद्ध किया गया और जब इन्द्रियाँ प्रत्याहार के

द्वारा वशीभूत की गई हैं, तब साधक अष्टांग योग की छठी अवस्था धारणा को प्राप्त करता है।

धारणा

देशबन्धश्चित्तस्य धारणा। (प यो.द.3/1)

अर्थ : चित्त का वृतिमात्र से देश विशेष में बाँधना धारणा कहलाता है।

व्याख्या : यहाँ देश विशेष से तात्पर्य किसी अंग के आस-पास के स्थान जैसे कटि देश, उदर देश, ललाट देश से है। ये शरीर के भीतर के देश (स्थान, जगह) हैं और बाहर के स्थान सूर्य, चंद्र या किसी देवता की प्रतिमा इनमें से किसी एक स्थान विशेष में मन की वृत्ति को लगाना धारणा है। (धारणा अध्याय भी देखें)

ध्यान

तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। (प.यो.द.3/2)

अर्थ : उसमें वृत्ति का एक सा बना रहना ध्यान है।

व्याख्या : धारणा में चित्त जिस वृतिमात्र से ध्येय में लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीच में न आए तब उसको ध्यान कहते हैं। अनेक आचार्यों ने अनेक प्रकार से व्याख्याएँ की हैं : (ध्यान अध्याय भी देखें)

वाचस्पति मिश्र ने कहा है कि :

मन का एकाग्र और एकतान हो जाना ध्यान है।

न्यायसूत्र-वृत्ति के श्री विश्वनाथ के अनुसार -

प्रणिधानम चित्त एकाग्रमिदम ।

अर्थात् प्रणिधान में चित्त एकाग्र हो जाता है।

ध्यान मन के ठहराव (चंचलता का अभाव) की अवस्था है जिसमें चित्त-वृत्ति का निरोध होता है। जहाँ पर राग-द्वेष का अभाव हो जाता है, रजोगुण और तमोगुण शून्य प्राय: हो जाते हैं और चित्त की क्षिप्त, विक्षिप्त और मूढ़ अवस्थाएँ विलीन हो जाती हैं। चित्त की चौथी अवस्था एकाग्रावस्था है जहाँ सत्गुण प्रबलहोने पर मानसिक शक्तियाँ एकमात्र एक

विषय या एक देश पर केंद्रित होती हैं। चित्त की पंचम अवस्था निरुछ्द्रावस्था है। जहाँ मन, बुद्धि, अहंकार, राग और द्वेष का भेद नहीं रहता और समस्त आतरिक शक्तियाँ परमात्मा की शरण में या सेवा में समर्पित की जाती हैं। यहाँ मैं और मेरा का बोध हटकर ध्यानस्थ की अवस्था होती है।

समाधि

तदेवार्थमात्रनिभासं स्वरुपशून्यमिव समाधिः॥(प.यो.द.3/3)

अर्थ : जब ध्यान में केवल ध्येय मात्र का आभास होता है और स्वरूप शून्य सा हो जाता है तब समाधिस्थ अवस्था कहलाती है। ध्येयाकारनिभसि ध्यान ही जब ध्येय स्वभाव के आवेश से अपने ज्ञानात्मक स्वभाव से शून्य के समान होता है, वह समाधि की अवस्था कहलाती है।

ध्यान की अंतिम अवस्था का नाम समाधि है जो कि स्थिरचित की सर्वाँतम अवस्था है। आत्मविस्मृति की तरह ध्यान ही समाधि है। ध्यान करते-करते जब साधक आत्मविस्मृत ही जाता है, जब केवल ध्येय-विषयक सत्ता की ही उपलब्धि होती रहती है तथा अपनी सत्ता विस्मृत हो जाती है। ध्येय से अपना पृथकत्व ज्ञानगोचर नहीं होता है तब ध्येय विषय पर उस प्रकार का चित-स्थैर्य ही समाधि है। आत्म-साक्षात्कार की स्थिति समाधि बिना नहीं होती। समाधि साधना की खोज का अंत है।

त्रयमेकत्र संयमः । (प.यो.द.3/4)

अर्थ : ये धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ही एकत्र संयम कहे जाते हैं। तीनों की शास्त्रीय भाषा संयम है। अत: इस ग्रंथ में जहाँ कहीं भी संयम बोला गया हो, वहाँ धारणा, ध्यान, समाधि से मतलब है, ऐसा समझना चाहिए।

तज्जयात्प्रज्ञालोकः ॥ (प.यो.द.3/5)

अर्थ : संयम जय से समाधि में प्रज्ञा (बुद्धि) का आलोक (प्रकाश) होता है। अर्थात् जितने सूक्ष्मतर विषय में संयम किया जाता है, उतनी ही बुद्धि निर्मल होती जाती है। अर्थात् साधक की बुद्धि में अलौकिक ज्ञान शक्ति आ जाती है। प्रज्ञालोक का अर्थ है, सम्प्रज्ञात रूप प्रज्ञा का आलोक, भुवन-ज्ञानादि नहीं। ग्रहीत-ग्रहण-ग्राह्य विषयक जो तात्विक प्रज्ञा या समापति है, वह कैवल्य का सोपान है। उसी को मुख्यतः प्रज्ञालोक नाम से कहा गया है।

तस्य भूमिषु विनियोगः। (प.यो.द.3/6)

अर्थ : भूमियों में उस संयम का विनियोग करना चाहिए।

व्याख्या : सूत्रकार का कहना है कि जिन्होंने निम्न भूमियों को नहीं जीता वे परवर्ती भूमियों को लाँघकर परान्त भूमियों में संयम लाभ नहीं कर सकते। अर्थात् पहले स्थूल विषय पर संयम करें फिर क्रम से सूक्ष्म विषय पर संयम करें और इस प्रकार क्रमशः आगे बढ़ते जाएँ।

त्रयमन्तरङ्ग पूर्वेभ्यः। (प.यो.द.3/7)

अर्थ : धारणा, ध्यान और समाधि - ये तीन संप्रज्ञात योग के पहले कहे हुए यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार साधनों की अपेक्षा अंतरंग हैं।

व्याख्या : संप्रज्ञात योग के ही धारणा, ध्यान तथा समाधि अंतरंग हैं, क्योंकि समाधि द्वारा तत्वसमूहों का स्फुट् ज्ञान होने पर एकाग्र स्वभाव चित्त द्वारा वह ज्ञान जब विधुत रहता है तब वह संप्रज्ञात कहलाता है।

तदपि बहिरङ्गं निबीजस्य । (प.यो.द.3/8)

अर्थ : तब भी अर्थात् धारणा, ध्यान, समाधि अंतरंग साधनत्रय निर्बीज समाधि (असंप्रज्ञात समाधि) के बहिरंग साधन हैं। उसका अंतरंग केवल परवैराग्य है। कारण, यहाँ संप्रज्ञात का भी अभाव या निरोध हो जाता है। वृत्ति-निरोध को लेकर देखने में संप्रज्ञात और असंप्रज्ञात दोनों ही योग या समाधि हैं पर सबीज समाधि को लेकर विचारने से असंप्रज्ञात का अर्थ होगा बहिरंग समाधि।

योग-आसनोंकेनाम-एकरहस्यमयतार्किक दृष्टिकोण

हठयोग के अंतर्गत विभिन्न प्रकार के योगासनों का वर्णन आता है। हमारे आचार्यों ने विभिन्न प्रकार के आसनों के नाम भिन्न-भिन्न प्रकार से रखे। उन्होंने इन्हें बड़े अर्थपूर्ण नाम दिए। कुछ आसनों के नाम पक्षियों से संबंधित हैं जैसे बकासन (बगुला), मयूरासन (मोर), कुक्कुटासन (मुर्गा), हसासन (हस)। कुछ के नाम कीड़ों से जोड़े गए हैं : वृश्चिकासन (बिच्छू), शलभासन (टिड्डा)। कुछ के नाम जानवरों पर आधारित हैं : श्वानासन (कुत्ता), उष्ट्रासन (ऊँट), सिंहासन (सिंह), गोमुखासन (गाय), वातायन (घोड़ा), आदि। कुछ के नाम पेड़-फूल आदि पर रखे जैसे वृक्षासन (पेड़), ताड़ासन (ताड़), पद्मासन (कमल) आदि। कुछ जलचर और उभयचर प्राणियों के नाम पर भी हैं जैसे मत्स्यासन (मछली), कूर्मासन (कछुआ), भेकासन मेढ़क), मकरासन (मगर)। ज़मीन में रेंगने वाले प्राणी सर्प को सर्पासन व भुजंगासन नाम दिया। हनुमानासन, बीरासन, महावीरासन, बुद्धासन जैसे आसनों के नाम भगवान की छवि से लिए और महान ऋषियों जैसे कपिल (कपिलासन), वशिष्ठ (वशिष्ठासन), विश्वामित्र, भागीरथ आदि नाम उनकी याद के लिए हमारे संस्कार में डाले।

आखिर क्या कारण रहा कि हमारे महाज्ञानी ऋषि-मुनियों ने ये नाम उनसे जोड़े। यहाँ यह तक बड़े सरल ढंग से किया जा सकता है कि जब हम उस आसन की अंतिम स्थिति में पहुँचते हैं तो वह आसन उसके स्वरूप में वैसा ही दिखता है जैसा आसन का नाम है। जैसे मयूरासन, जब हम यह आसन लगाते हैं तो यह आसन मयूर के समान ही दिखाई पड़ता है और साधक को उसके प्रति लगाव भी उत्पन्न करना रहा है। इसके पीछे और भी तक दिए जा सकते हैं। मेरा (लेखक) विचार है कि जब हम भिन्न-भिन्न प्राणियों के समान उनकी आकृति ग्रहण करते हैं तो साधक के मन में उनके प्रति सम्मान व प्रेम उत्पन्न होना चाहिए एवं प्राणियों से घृणा नहीं होनी चाहिए। कारण वह जानता है कि सारी सृष्टि में छोटे जीव से लेकर बड़े-बड़े महात्माओं तक वही विश्वात्मा श्वास लेता है, जो असंख्य रूपों को ग्रहण करता है। वह निराकार रूप ही उसका सबसे महान रूप है। वैसे यहाँ तक यह भी है कि ईश्वर ने प्रत्येक प्राणी को एक न एक गुण विशेष रूप से प्रदान किया है, यहाँ तक कि पेड़-पौधे तक में कोई न कोई गुण विशेष रहता है। चूँकि मनुष्य अपने अंदर अधिक से अधिक गुण समाहित करना चाहता है, अतः उसका उद्देश्य आसन से वह प्राप्त करना है एवं उस आसन से जो उसके लाभ हैं वह भी प्राप्त करना चाहता है। एक कारण और ताकिक है कि हमें वे आचार्य प्रकृति से निकटस्थ करना चाहते हैं ताकि प्रकृति के गुणों को भी आत्मसात् कर सकें।

स्वर्ग जैसे सुख के लिए शरीर को स्वस्थ र
खना आवश्यक है।
-RJT

वात रोग को शांत करने के लिए सकारात्मक सोचें
पित्त रोग को शांत करने के लिए शुभ ध्यान करें
कफ़ रोग को शांत करने के लिए उर्जावान बनें।

# योग-सावधानियाँ/नियम

योगाभ्यास शुरू करने से पहले साधकों को काफ़ी नियमों व सावधानियों का ध्यान रखना पड़ता है, अतः प्रत्येक साधक को निम्नलिखित बातों पर ध्यान अवश्य देना चाहिए। जैसे कि हम जब किसी मकान का निर्माण करते हैं, तो उसकी नींव पर विशेष ध्यान देकर उसको मज़बूत बनाते हैं ताकि उस पर खड़ी होने वाली इमारत बहुत दिनों तक स्थाई बनी रहे वैसे ही यदि हम योग क्रिया से संबंधित नियम व सावधानियों को अपने जीवन में उतारते हैं तो हमारे जीवन में होने वाली कई प्रकार की कठिनाईयों का हल अपने आप ही हो जाता है।

अभयास कम

- किसी योग्य प्रशिक्षक की देख-रेख में ही योगासन एवं योग की क्रियाओं का अभ्यास करना चाहिए।
- किसी भी योगासन को करें, परंतु मूल अवस्था में लौटते समय क्रिया का क्रम विपरीत ही होना चाहिए जैसा अंतिम अवस्था में पहुँचने के पहले था।
- योगाभ्यास क्रमश: और क्रियात्मक रूप से करें तो ज़्यादा लाभान्वित होंगे।
- योगासन एवं समस्त क्रिया करते समय संपूर्ण ध्यान अभ्यास पर ही कद्रित रखें।
- योग क्रिया न ही किसी की देखा-देखी करें और न ही किसी को दिखाने का प्रयास करें।
- योगाभ्यास स्व-अर्थ की क्रिया है, जैसा करेंगे वैसा लाभ मिलेगा।

- योगाभ्यास की जो समय-सीमा और गति तय है। उसी अनुपात में करें, अन्यथा हानि की भी संभावना है।
- यम नियम के पालन पर विशेष ध्यान दें।
- कौन-सा योगासन आपको करना है और कौन सा नहीं इसका निर्णय पुस्तक का संपूर्ण अध्ययन करने के बाद ही लें।
- किसी भी आसन को एकदम से नहीं करना चाहिए। पहले हल्के व्यायाम, सूक्ष्म आसन, स्थूल आसन या पवनमुक्तासन से संबंधित आसनों को करें ताकि शरीर का कड़ापन समाप्त हो और शरीर नरम बने एवं मांसपेशियों में लचीलापन आए फिर (प्रारंभिक, मध्यम, उच्च अभ्यास) प्राणायाम एवं ध्यान का क्रम उपयुक्त रहता है।
- किसी भी आसन को ज़बर्दस्ती न करें। क्रमश: अभ्यास से आसन स्वत: सरल हो जाता है।
- योग की किसी भी क्रिया के अंत में शवासन करने का ध्यान अवश्य रखें। शवासन करने से अभ्यास क्रिया में आया हुआ किसी भी प्रकार का तनाव दूर होकर प्रसन्नता का एहसास होता है।
- जैसे कोई आसन सामने की तरफ़ झुकने वाला है तो क्षणिक विश्राम के बाद पीछे की तरफ़ झुकने वाला आसन (अपनी अवस्था एवं रोग को देखते हुए विवेक का उपयोग अवश्य करें, ऐसा करने से किसी भी प्रकार की विकृति नहीं आती है।) करें।

श्वास—प्रश्वास

- किसी भी योग क्रिया को करते समय श्वास-प्रश्वास के प्रति सजगता बनाए रखें।
- श्वास नासिका द्वार से ही भरें, मुख से नहीं।
- प्रत्येक आसन का अपना एक श्वास-प्रश्वास का क्रम होता है। उसका अवश्य ध्यान रखें।

आहार

- आसनों के अभ्यास से पहले मूत्राशय एवं आँतें रिक्त होना चाहिए।
- यदि किसी को क़ब्ज़ की शिकायत हो तो वह पहले पुस्तक में दी हुई शंख-प्रक्षालन की क्रिया किसी गुरु की देख-रेख में करें या उनसे परामर्श लें, तत्पश्चात् अन्य योगाभ्यास करें।

- शरीर को फुर्तीला, चुस्त, सुंदर और चिरयुवा बनाने के लिए जितना महत्व हम योगासन को देते हैं, उतना ही महत्व हमें आहार को भी देना चाहिए।
- बहुत ज़्यादा खट्टा, तीखा, तामसी, बासा एवं देर से पचने वाला आहार नहीं लेना चाहिए। आज इस बात को वैज्ञानिक भी मानने लगे हैं किहमारा भोजन सात्विक, शाकाहारी, शुद्ध, ताज़ा एवं बिना जटिलता लिए हो।
- आसन करने से कुछ समय पहले एक ग्लास ठंडा एवं ताज़ा पानी पी सकते हैं यह सन्धि स्थलों का मल निकालने में अत्यंत सहायक होता है।
- साधक को शराब, गाँजा, भौग, तम्बाकू, बीडी, सिगरेट, आदि मादक पदार्थ का सेवन नहीं करना चाहिए।
- यदि किसी रोग से पीड़ित हों तो आसन एवं आहार की जानकारी किसी विशेषज्ञ से लें।
- भोजन करने के आधे घंटे पहले एवं भोजन करने के कम से कम चार घंटे बाद ही योगाभ्यास क्रिया करें।
- यदि ज़्यादा क़ब्ज़ नहीं है तो योगाभ्यास से यह रोग (सामान्य पाचन विकार) दूर हो जाता है। वैसे भी शंख-प्रक्षालन वर्ष में कम से कम एक या दो बार अवश्य करना चाहिए।
- तामसिक भोजन जैसे अंडा, मछली, मांस आदि का त्याग कर देना चाहिए क्योंकि 'जैसा खाओ अन्न, वैसा बने मन"।

स्नान

- आसन से पूर्व व आसन के कुछ समय बाद स्वच्छ एवं शीतल जल से स्नान करें (ऋतु एवं अवस्था अनुसार)।

वस्त्र

- आसन करते समय चुस्त कपड़े न पहनें। ढीले, आरामदायक, सूती एवं सुविधाजनक वस्त्रों का ही प्रयोग करें।
- आसन के लिए कबल या दरी का प्रयोग करें।
- कबल आदि का प्रयोग करने से अभ्यास के समय निर्मित विद्युत प्रवाह नष्ट नहीं होता।
- पुरुष साधकों को कच्छा या लैंगोट अवश्य पहनना चाहिए।

समय

- योगासनों का अभ्यास प्रात: सूर्योदय के समय अच्छा माना जाता है।
- प्रात:काल सूर्य से निकलने वाली ऊर्जा हमें नई ताक़त देती है क्योंकि वह ऊजां जीवन को संचार प्रदान करने वाली होती है।
- प्रात:काल योग करने का कारण संभवतः व्यक्ति का तनाव मुक्त रहना भी है।
- प्रत्येक आसन की समय सीमा अपने शरीर की परिस्थिति को भी देखकर करें।
- प्रात:काल व्यक्ति के पास समयाभाव भी नहीं रहता।
- प्रात:काल योग करने से व्यक्ति दिनभर तरोताज़ा और स्फूर्ति महसूस करता है। अत: वह दिनभर प्रसन्नचित्त हो प्रत्येक कार्य करता है। यदि किसी कारणवश धूप से आने के बाद योगाभ्यास करना हो तो कुछ देर विश्राम करें।
- निश्चित समय और निश्चित स्थान पर अभ्यास अधिक प्रभावशाली हो जाता है।

स्थान

- अभ्यास के लिए स्थान साफ़-सुथरा, हवादार, शांत, मन को प्रसन्न करने वाला, अच्छा एवं प्रदूषण मुक्त वातारण होना चाहिए।
- योगाभ्यास का स्थान समतल होना चाहिए।
- यदि बन्द कमरे में योगाभ्यास कर रहे हों तो खिड़की एवं दरवाज़े खोल लें।

दिशा

- लेटकर किए जाने वाले आसनों में पैरों की दिशा उत्तर या पूर्व हो तो अति उत्तम रहती है।
- खड़े होकर किए जाने वाले आसनों में मुख पूर्व की तरफ़ हो तो विशेष लाभ प्राप्त होता है।
- प्रार्थना आदि करते समय उत्तर-पूर्व दिशा का चयन करें, तो अतिशीघ्र स्वास्थ्य लाभ होता है।
- दिशा का महत्व इसलिए भी है कि इससे हमारी चेतना ऊध्र्वमुखी होती है एवं आध्यात्मिक ऊर्जा के साथ-साथ कई लाभ स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।

दृष्टि

- प्रारंभ में नेत्र बंद न करें। अभ्यास हो जाने के बाद ही नेत्रों को बंद रखें, परंतु मन को निष्क्रिय और चंचल न होने दें।

- नेत्र बंद (योग शिक्षक के आदेशानुसार) रहते हुए भी आसन क्रियाओं के प्रति मस्तिष्क की सजग रखें।

अवस्था/आयु

- योगासन केलिएआयु-सीमाकाकोईनिर्धारण नहीं है तथापि व्यक्तिको अपनी उम्र, अवस्था, अभ्यास आदि समझकर विवेक का उपयोग करना चाहिए।

रोगी के लिए

- योगासन से संबंधित क्रियाएँ तो होती ही हैं रोगों को दूर कर स्वास्थ्य प्रदान करने के लिए परंतु रोगी उस आसन को न करें जिससे उनकी पीड़ा अथवा रोग की तीव्रता बढ़ती हो। जैसे - उच्च रक्तचाप के रोगी शीषांसन या सवांगासन आदि न करें।
- 'किस रोग में कौन सा आसन करें अथवा कौन सा आसन न करें ?' वह अध्याय अवश्य देखें। साथ ही, रोग की अवस्था में किसी योग्य शिक्षक के परामर्श के पश्चात् ही आसन करें।

**8**यन

- उसका सकारात्मक चिंतन करें कि वह रोग ठीक हो रहा है।
- अभ्यास काल में मन को चिंता, क्रोध घबराहट, घृणा, ईष्यां, भय, अहंकार, प्रतिशोध की भावना आदि उद्वेगों से पूर्णतः मुक्त रखें।

योग अभ्यास के दौरान विशेष बातें

- योग की क्रियाएँ पूर्णतः विवेक का उपयोग करते हुए ही करें।
- पूर्ण विश्वास, धैर्य और सकारात्मक विचार रखें।
- मन में ईष्यां, क्रोध, जलन, द्वेष एवं खिन्नता न रखें।
- नशीले पदार्थों का सेवन एवं गंदी मानसिकता न रखें।
- यदि किसी आसन के अभ्यास के दौरान परेशानी का अनुभव हो तो योग्य गुरु एवं विवेक का उपयोग करें।
- आदतों का त्याग करें।

योग करने वाले साधकों को सभी सावधानियों एवं नियमों का पालन अवश्य करना चाहिए, अन्यथा शरीर में कई प्रकार के विकार उत्पन्न हो सकते हैं। जैसे हड़ी का खिसकना,

जोड़ों में दर्द का बढ़ जाना, हृदय गति का कम या ज्यादा होना, नाभि का सरकना, कब्ज़ होना या दस्त लगना, माँसपेशियों में दर्द होना, श्वास गति का अनियंत्रित होना, थकान महसूस करना आदि। साथ ही कई प्रकार की शारीरिक, मानसिक एवं आर्थिक हानि होने की संभावना भी रहती है।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में योग साधना अपनानी चाहिए, परंतु उचित है कि साधक सर्वप्रथम योगाभ्यास से संबंधित सभी बातों को भलीभाँति समझ लें और क्रियान्वित करें। ऐसा करने से अधिक लाभ प्राप्त होता है।

-RJT

यह जानते हुए कि हमारा पेट हमारा है
उसके बाद भी व्यक्ति पेट में कुछ भी डाल लेता है।
अर्थात् क्या खाना चाहिए और क्या नहीं,
इसकी चिंता नहीं करता। सोचने वाली बात है! –

RJT

# A

## (हल्के व्यायाम/सरल क्रियायें)
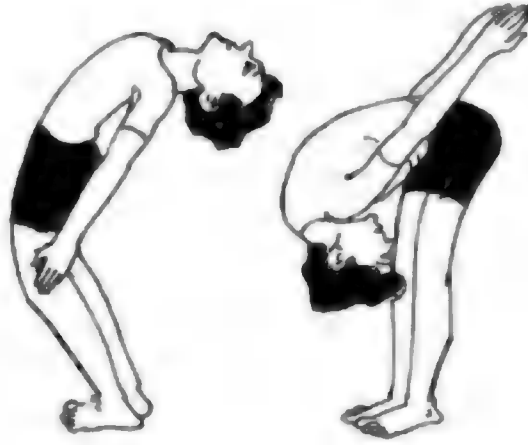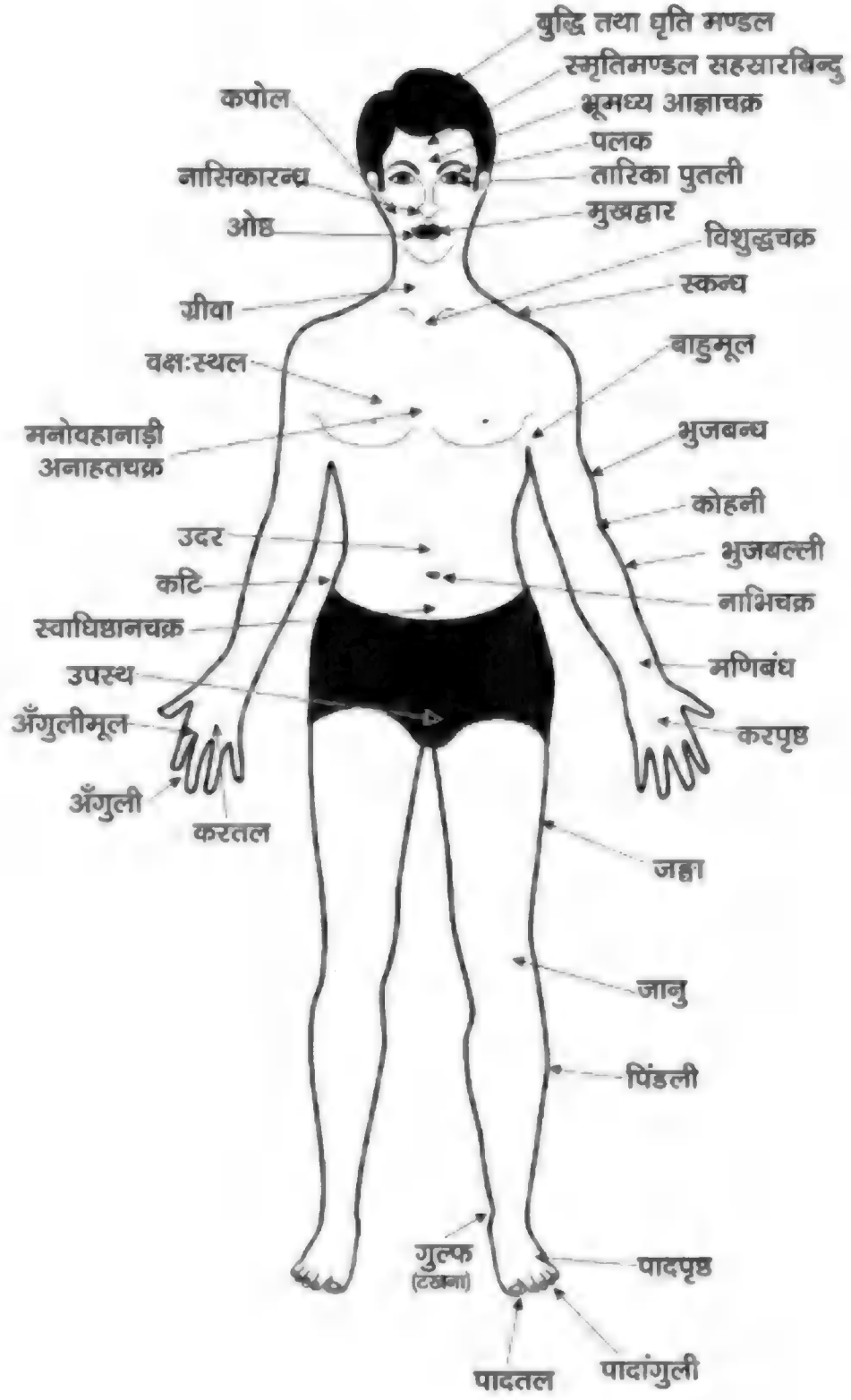
# यौगिक सूक्ष्म व्यायाम

## (सरल/हल्क व्यायाम)

एक बात हमें अच्छे से समान है कि कई भी कम एकम से नहीं होता। इसके लिए अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है। चाहे वह योगासन हो या कोई भी कसरत। सुबह शरीर कड़ा (जकड़ा) रहता है, इस कारण आसनों का अभ्यास आसानी से नहीं हो पाता। इसके लिए हमें शरीर ढीला (लचीला) करने एवं योगासन की तैयारी के लिए कुछ सूक्ष्म व्यायाम कर लेने चाहिए जिससे आसनों के अभ्यास में सरलता एवं किसी प्रकार के दुष्प्रभाव न हों। वैसे योगाचार्यों के मतानुसार सूक्ष्म व्यायाम सूक्ष्मप्राण का नियमित विकास करता है एवं नामानुसार शरीर को संतुलित भी करता है।

चूँकि लगभग ये सभी आसन गतिमय वायुनिरोधक (पवनमुक्तासन) एवं शक्तिबंध समूह के अंतर्गत आते हैं अतः हमने इनकी अलग से परिभाषा न देकर सूक्ष्म व्यायाम में ही सम्मिलित किया है। साधकगण इनका प्रयोग कर क्रमश: लाभ उठाएँ (लेखक ने कई जगह योग केंद्रों में जाकर देखा है कि कहीं इन्हें पवनमुक्तासन समूह तो कहीं सूक्ष्म व्यायाम के नाम से कराया जाता है)।

योगाचार्य गुरुदेव फ्लचंद योगीराज ने उनके गुरु स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी से ये यौगिक सूक्ष्म व्यायाम सीखे एवं उन्होंने मुझे इसकी शिक्षा प्रदान की। गुरुदेव का कहना है कि स्वामी धीरेन्द्र ब्र. हमेशा कहते थे कि ये सूक्ष्म व्यायाम जन-जन तक पहुँचे और वे लाभान्वित हो। मैं गुरुदेवका, स्वामी कार्तिकेय जी व स्वामी धीरेन्द्र ब्रह्मचारी का आभार व्यक्त करता हूँ।

**1.** यौगिक प्रार्थना

विधि : दोनों पैर को मिलाकर (समावस्था') हाथ जोड़कर अँगूठे को कठकूप पर स्थापित करें। भुजवल्लियों से वक्ष:स्थल को दबाएँ। श्वास सामान्य रखें मन एकाग्र होने पर हाथों को ढीला छोड़ें, कम से कम आधा मिनट भगवान का ध्यान करें। श्वास और मन एकाग्र करें।

लाभ :
- मन की एकाग्रता बढ़ती है।
- मानसिक शांति और आत्म साक्षात्कार के लिए लाभकारी है।
- मनोवहा नाड़ियों पर दबाव होने से मन का संयम होता है।
- मानसिक रोग ठीक होते हैं।

**2.** उच्चारण स्थल व विशुद्धि चक्र-शुद्धि
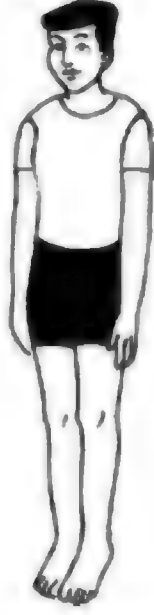
विधि :समावस्था' में खड़े हों। बायें हाथ की कनिष्ठिका अनामिका मध्यमा और तर्जनी चारों को गले पर स्थापित करें, करतल भाग अन्दर की ओर रखें दाहिने हाथ की तर्जनी की बायें पर उल्टा स्थापित करें, दोनों हाथों को कन्धों के सीध में रखें गर्दन को इसी अवस्था में रखते हुए हाथों को बाजू से पूर्व अवस्था में लावें। 25 बार सीने के बल श्वास प्रश्वास करें, क्रिया को समाप्त करें ध्यान विशुद्ध चक्र या कठ पर केन्द्रित करें।

लाभ :
- कण्ठ की समस्त नाड़ियाँ जहाँ वात, पित्त, कफ की मात्राएँ एकत्रित हो जाती है इस क्रिया को करने से वे पेट में चली जाती है और शब्दों का उच्चारण स्पष्ट होने लगता है।
- हकलाना और तुतलाना जैसे विकार ठीक होते है। कटु स्वर मधुर बनता है।
- संगीतज्ञों के लिए विशेष लाभकारी है।
- मस्तिष्क के विकार ठीक होते हैं।
- विचार शक्ति की वृद्धि होती है।

**3.** बुद्धि तथा धृति शक्ति विकासक क्रिया

विधि : समावस्था में खड़े हों। गर्दन को धीरे-धीरे ऊपर ले जाएं। भ्रूमध्य (दोनों भौहों के बीच) में देखें, क्रिया को इस कल्पना के साथ कीजिये जैसे दुर्बुद्धि हटकर उनका विकास हो एवं वह तीव्र प्रखर हो, 25 बार श्वास प्रश्वास सीने के बल करें। ध्यान की शिखा मण्डल या चोटी पर केन्द्रित करें।

लाभम :
- शिखा मंडल के रोग दूर करने में सहायक है।
- बुद्धि विकसित होती है।
- शारीरिक व मानसिक क्षमता बढ़ती है।
- इच्छा शक्ति अथवा संकल्प शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।
- मन्द बुद्रि तीव्र होती है व विश्लेषण शक्ति बढ़ती है।

**4.** स्मरण शक्ति विकासक क्रिया

**विधि :** समावस्था में खड़े रहें। पैर के अंगूठे की सीध में नीचे की ओर अनुमानत: 41/2 फिट दूरी पर देखें। क्रिया को इस कल्पना के साथ करें कि विस्मरण को दूर कर स्मरण शक्ति तीव्र और प्रखर कर रहे हैं तथा इसका विकास कर रहे हैं। 25 बार सीने के बल श्वास प्रश्वास करें। ध्यान को तालू स्थान पर रखें।

**लाभ :**
- मस्तिष्क की थकान और विस्मृति दूर होती है।
- तालू स्थान से शिखा मंडल तक के अंगों का हिस्सा कफ विकार से मुक्त होता है।
- विक्षिप्त अवस्था ठीक करने में सहायक है।
- मानसिक शक्ति तीव्र बनती है।

**5.** मेधा शक्ति विकासक क्रिया

विधि : समावस्था में खड़े रहें। ठुड्डी कण्ठ में लगायें, नेत्र बंद रखें। 25 बार श्वास प्रश्वास सीने के बल करें। ध्यान को गर्दन के पीछे गठीले स्थान पर (मेधा चक्र) केन्द्रित करें। क्रिया को समाप्त कर पूर्व स्थिति में आएं।

लाभ :
- कण्ठ की ग्रंथियों की शुद्धि होती हैं।
- सहस्त्रार चक्र से निकलने वाला अमृत शरीर तथा मन को विकसित करने में सहायक है।
- शरीर से आलस्य, निद्रा जैसे रोग ठीक होते हैं और ऊर्जा शक्ति तीव्र बनाती है।
- शरीर के कफ विकार ठीक होते हैं, विस्मरण व बुद्धिमंदता भी ठीक हो जाते हैं।
- साधक का शरीर फुर्तीला व आकर्षक बनता है।

**6.** नेत्र शक्ति विकासक क्रिया

विधि : समावस्था में खड़े रहें। नाक के अग्र भाग को देखते हुए गर्दन को धीरे-धीरे पीछे की

ओर ले जायें। टीका, बिन्दी, तिलक लगाने वाले स्थान को लगातार अपलक देखना है, आँसू आने पर वैसे ही सूखने दें, श्वास को सामान्य रखें धीरे-धीरे मूल स्थिति में वापस आएं। ध्यान नेत्रों पर रखें।

लाभ : ❍ नेत्रों की ज्योति बढ़ती है, आँखों में औँसू आना, कम दिखाई देना आदि विकार नष्ट होते हैं।

- ❍ आकर्षण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है, साधक दूसरे व्यक्ति को प्रभावित करने की क्षमता प्राप्त करता है।
- ❍ त्राटक क्रिया के लिए सहायक है। मन एकाग्र होकर चित्त शुद्धि होती है।
- ❍ इसके निरन्तर अभ्यास का समय बढ़ाने से चश्मा छूट सकता है।

**7.** कपोल शक्ति विकासक क्रिया
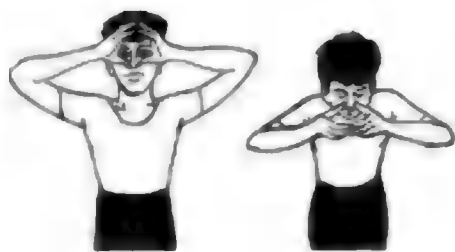
विधि : समावस्था में खड़े रहें। हाथों की अंगुलियों को परस्पर मिलायें अंगूठे से नाक बन्द करें, गर्दन को ऊपर ले जायें। मुँह को कांक चोंच की तरह बनायें जिस तरह सीटी बजाते हैं। अब आठ अंक मन में गिनते हुए मुँह से श्वास अंदर खीचें तुरन्त मुख को बंद करें। गालों को फुलायें। नेत्र बन्द रखें ठुड्डी, कण्ठकूप से लगाएँ। 32 अंक तक मन में गिनते हुए श्वास को रोकें तत्पश्चात गर्दन सीधी कर अँगूठा हटाकर सोलह अंक तक मन में गिनते हुए नाक से श्वास बाहर छोड़ें। श्वास रोकते समय कनिष्ठिका सीने पर रखें। दोनों हाथ की कधों के सीध में रखें क्रिया को तीन बार दोहराएँ।

लाभ : ❍ साधक दीर्घायु बनता है। ❍ प्यास शांत होती है। ❍ मुख के रोग दूर होते हैं। ❍ दाँत पुष्ट बनते हैं और मुख की दुर्गंध दूर होती है। ❍ मुख प्रफुल्लित होकर गालों की झुर्रियाँ, चेहरे के फोड़े, फुन्सियाँ ठीक होते हैं। सौन्दर्य प्रसाधनों की आवश्यकता नहीं होती है। ❍ सिर दर्द, नेत्र दोष, पेट की गर्मो, बालों का पकना, झड़ना आदि विकार ठीक होते हैं।

**8.** कर्ण शक्ति विकासक क्रिया
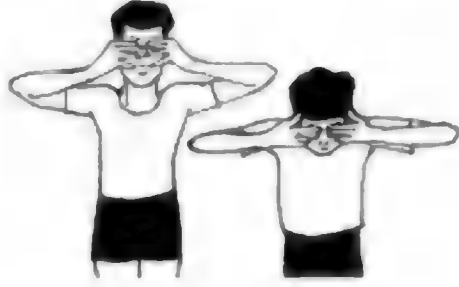
विधि : समावस्था में खड़े रहें। हाथों के अँगूठे से कान बन्द करें। तर्जनी से नेत्र और मध्यमा से नाक को बन्द करें। क्रिया न. 7 के समान गर्दन को ऊपर ले जाएं आठ अंक तक मुँह में श्वास भरें गालों को फुलायें, ठुड्डी कठकूप में लगायें 32 अंक तक मन में गिनते हुए श्वास को रोके। दोनों हाथ की कधी के सीध में ज़मीन के समानान्तर रखें। गर्दन को सीधा कर मध्यमा अँगुलि हटाते हुए नाक से 16 अंक में श्वास को बाहर छोड़ें। क्रिया तीन बार करें।

लाभ : ❍ कान का मैल, कान बहना, कम सुनाई देना आदि विकार नष्ट होते हैं। ❍ कर्णरन्ध की शक्ति जाग्रत होती है और वे पुष्ट बनते हैं। ❍ कान, नाक, आंख और मुंह बन्द करने से सुषुम्ना नाड़ी का मार्ग शुद्ध होता है जिसके कारण विविध प्रकार के नाद (ध्वनि) सुनाई देते हैं। ❍ प्राणायाम के लिए विशेष लाभकारी क्रिया है।

**9.** ग्रीवा शक्ति विकासक क्रिया-**1**
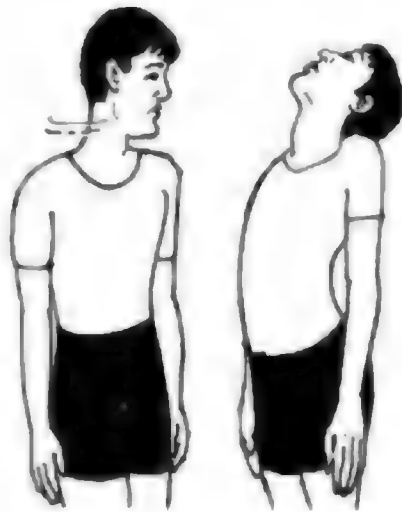
विधि : भाग-क : समावस्था में खड़े रहें। श्वास खींचते हुए गर्दन को बाएँ कधे की सीध में ले जाएँ, बिना रूके गर्दन को दाई ओर लाएँ, श्वास छोड़ें अब गर्दन दाएँ कधे की सीध में रखें। क्रिया को इसी तरह दस बार दोहराएँ।

भाग-ख : श्वास लेकर गर्दन की नीचे से ऊपर की ओर ले जाएं। ऊपर की ओर देखें, श्वास

छोड़कर गर्दन को नीचे की ओर वापस लाएं।

लाभ : ग्रीवा के समस्त दोष दूर होते हैं। गर्दन का मोटापा कम होता है टान्सिल्स, कण्ठमाला आदि रोग ठीक होते हैं। स्वर मधुर व सुरीला बनता है। हकलाहट और तुतलापन जैसे विकार ठीक होते हैं। गर्दन पुष्ट और मजबूत बनती है।

**10.** ग्रीवा शक्ति विकासक क्रिया**-2**
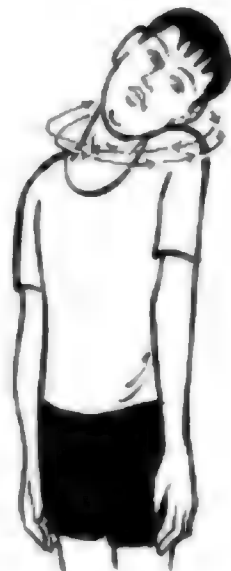
विधि **:** समावस्था में खड़े रहें। ठुड्डी कण्ठकूप में लगायें। आँखें बन्द न करें। श्वास खींचकर रोकें, सिर को बाएँ कन्धे की ओर से चक्राकर घुमाते हुए सामने लाएँ, श्वास छोड़ें, पुनः श्वास भरें। चक्राकर में दाईओर से बाई ओर सिर वापस लायें। पूर्ण चक्र होने पर श्वास छोड़ें। प्रयास करें कि दोनों समय गर्दन को इतना झुकाएँ कि कान, कधे से स्पर्श करने लगे। कधी को उठाएँ। क्रिया को तीन बार करें।

लाभ : ग्रीवा के समस्त दोष दूर होते हैं। गर्दन का मोटापा कम होता है टान्सिल्स, कण्ठमाला आदि रोग ठीक होते हैं। स्वर मधुर व सुरीला बनता है। हकलाहट और तुतलापन जैसे विकार ठीक होते हैं। गर्दन पुष्ट और मजबूत बनती है।

**11.** ग्रीवा शक्ति विकासक क्रिया**-3**

**विधि :** समावस्था में खड़े रहें। श्वास छोड़कर पेट पिचकायें, फिर श्वास खींचकर पेट फुलाते हुए गले की नसे तानें। क्रिया को 10 बार करें।

**लाभ :** ग्रीवा के समस्त दोष दूर होते हैं। गर्दन का मोटापा कम होता है। टान्सिल्स, कण्ठमाला आदि रोग ठीक होते हैं। स्वर मधुर व सुरीला बनता है। हकलाहट और तुतलापन जैसे विकार ठीक होते हैं। गर्दन पुष्ट और मजबूत बनती है।

**12.** स्कध तथा बाहुमूल शक्ति विकासक क्रिया

**विधि :** समावस्था में खड़े रहें। अँगूठा छिपाकर मुट्ठी बन्द करें व मुट्ठी का पृष्ठ भाग सामने की ओर रखें क्रिया न. सात और आठ की तरह गर्दन को ऊपर ले जायें, काकचोंच बनायें आठ अंक मन में गिनने तक मुँह से श्वास को अन्दर खीचें। मुँह को बन्द करके गालों को फुलाएँ, ठुड्डी कण्ठ में लगाएँ, आँखों को बन्द रखें। 32 अंक मन में गिनते हुए कन्धों को ताकत के साथ नीचे ऊपर घुमाएँ हाथों को कड़ा रखें। कोहनी से हाथ को न मोड़ें। गर्दन को सीधा कर 16 अंक मन में गिनते हुए नाक से श्वास को बाहर छोड़ें। कन्धों को हिलाना बन्द

करें। क्रिया तीन बार दोहराएँ।

लाभ : कन्धों की हड्डियाँ और माँसपेशियाँ शक्तिशाली बनती है। कन्धे सुडौल व सुन्दर बनते हैं। कन्धों का दर्द मिटता है। गर्दन के विकार ठीक होते हैं।

**13.** भुजबंध शक्ति विकासक क्रिया
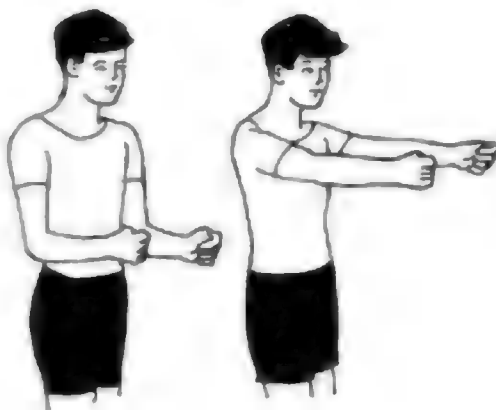
विधि : समावस्था में ख़डे रहें। अँगूठा छिपाकर मुट्ठी बन्द करें। कोहिनी से हाथ को मोड़कर कोहनी तक का हिस्सा जमीन के समानांतर रखें। श्वास खींचकर हाथ की कन्धों के सामने लाएं मुटठी का पृष्ठ भाग सामने रखें श्वास छोड़कर हाथों को पूर्व स्थिति में लाएँ। क्रिया को 5 से 10 बार दोहराएँ।

लाभ : भुजाओं व कन्धों का दर्द मिटता है। भुजबंध पुष्ट बनते हैं। भुजाएँ स्थूल बनती हैं। आरक्षक व सैनिकों के लिए लाभकारी है।

**14.** कोहनी श्क्ति विकासक क्रिया
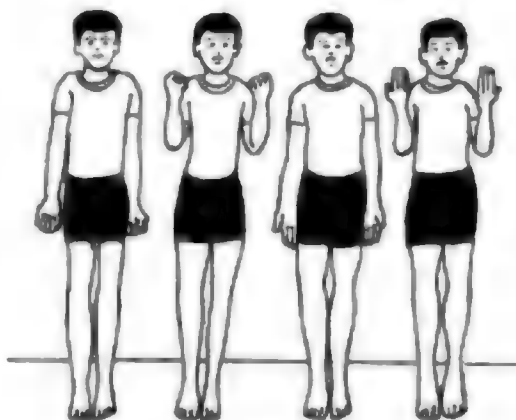
भाग-ख : हाथ की मुट्ठियाँ खोलें। अँगुलियाँ सटाएँ। करतल भाग आगे व करपृष्ठ भाग पीछे

रखें। कोहिनियाँ कमर से सटाएँ। भाग-क के समान इस विधि को दस बार दोहराएँ।

लाभ : ❍ कोहनी का दर्द मिटता है।

❍ हड्डियों के जोड़ पुष्ट बनते हैं।

❍ कोहनियाँ सुन्दर व आकर्षक बनती हैं।

**15.** भुजबल्लि शक्ति विकासक क्रिया
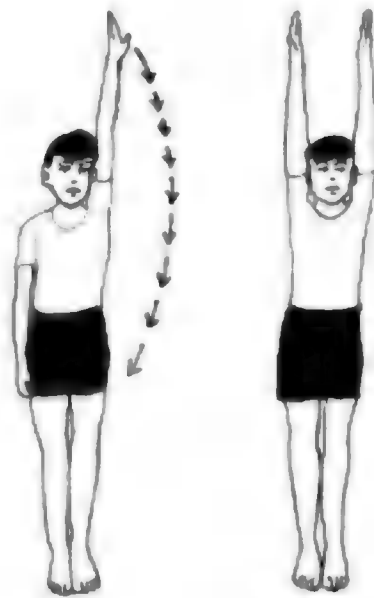
विधि : समावस्था में खड़े रहें।

भाग-क : श्वास लेते हुए बाएँ हाथ को बाजू से कन्धे के ऊपर ले जाएँ, भुजबंध को कान से स्पर्श कराएँ। हथेली बाहर की ओर । रखें, श्वास छोड़ते हुए पूर्व स्थिति में लाएँ, क्रिया 10 बार करें।

भाग-ख : श्वास खींचकर दाएँ हाथ को बाजू से कन्धे के ऊपर ले जायें, भुजबंध कान से स्पर्श करें, हथेली का तल भाग बाहर की ओर रखें। श्वास छोड़कर पुन: पूर्व स्थिति में आ जाएं। क्रिया 10 बार करें।

भाग-ग : श्वास लेते हुए दोनों हाथ को ऊपर की ओर ले जाएं। भुजबंध कान से स्पर्श करें। श्वास छोड़ते हुए पुनः पूर्व की स्थिति में आएँ। क्रिया 10 बार करें।

लाभ : ❍ भुजाएँ पुष्ट व बलशाली बनती हैं।

- कोहनी से कलाई का हिस्सा संतुलित होकर उसके दर्द मिटते हैं।
- भुजबल्लियाँ शक्तिशाली बनकर कार्य करने की क्षमता बढ़ाती हैं।

महान योगी कोई अलग योग क्रियाएँ नहीं करते, बल्कि
वे हर क्रिया को सकारात्मक नज़रिए से करते हैं।

-RT

**16.**पूर्ण भुजा शक्ति विकासक क्रिया
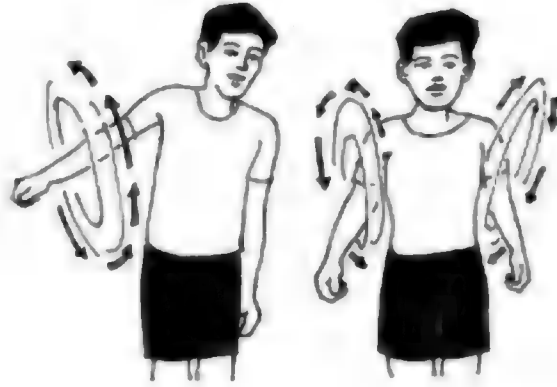
विधि: समावस्था में खड़े रहें।

भाग-क: अँगूठा छिपाकर बाई मुट्ठी बन्द करें, हाथ को कन्धे के सामने ज़मीन के समानांतर फैलायें, हाथ को कड़ा करें श्वास खींचकर रोकें, हाथ को चक्राकार में दस बार ऊपर से नीचे घुमाएँ, कोहनी से हाथ को मोड़कर कमर से सटाएँ, श्वास छोड़ते हुए हाथ को सामने फेंकें।

भाग-ख: भाग क के समान बाएँ हाथ को नीचे से ऊपर दस बार घुमाएँ, कोहनी से हाथ को मोड़कर कमर से सटाएँ, श्वास छोड़ते हुए हाथ की समाने फेंके।

भाग-ग: अँगूठा छिपाकर दाएँ हाथ की मुट्ठी बन्द करें, कन्धे के सामने हाथ को ज़मीन से समानांतर फैलाएँ, श्वास खींचकर रोकें, दाएँ हाथ को चक्राकार दस बार ऊपर से नीचे घुमाएँ, कोहनी से हाथ मोड़कर कमर से सटाएँ, श्वास छोड़ते हुए हाथ सामने फेंकें। अब क्रिया समाप्त करें।

भाग-घ: भाग ग के समान विधि को दोनों हाथ नीचे से ऊपर घुमाते हुए दस बार करें।

भाग-च: अंगूठा छिपाकर मुट्ठी बन्द करें, दोनों हाथ को कन्धों के सामने ज़मीन से समानान्तर फैलाएँ, विधि को दस बार भाग क व ग के समान ऊपर से नीचे घुमाकर पूरा करें।

लाभ:
- शरीर के वायु विकार ठीक होते हैं।
- हाथों की नस नाड़ियाँ व जोड़ों का दर्द मिटता है।
- हाथों की सौंदर्य वृद्धि होती है। भुजायें शक्तिशाली व पुष्ट बनती हैं।
- कंधे मज़बूत होते हैं।

**17.** मणिबंध शक्ति विकासक क्रिया
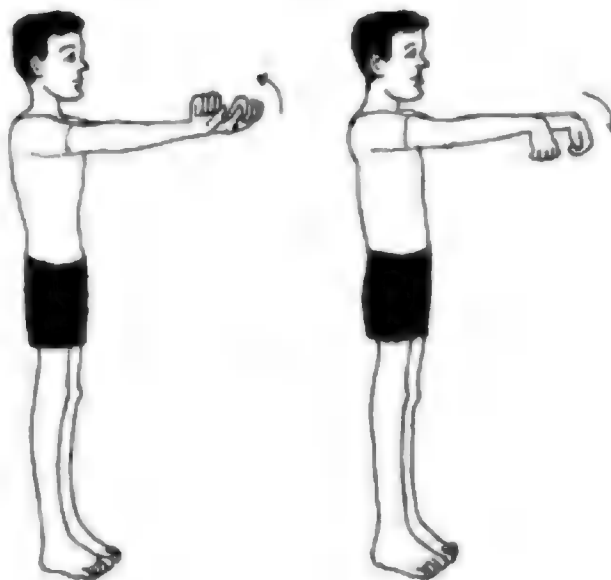
विधि: समावस्था में खड़े रहें।

भाग-क: अँगूठा छिपाकर मुट्ठियाँ बन्द करें, दोनों हाथ को कन्धे के सामने ज़मीन से समानान्तर फैलाएँ, हाथों में कन्धों के बराबर अन्तर रखें, करतल भाग नीचे की ओर रखें, श्वास को खींचते हुए कलाई को ताकत के साथ धीरे-धीरे नीचे से ऊपर ले जाएँ, श्वास छोड़कर कलाई को ऊपर से नीचे की ओर लाएँ, विधि को पांच बार दोहराएँ।

भाग-ख: कोहनी से हाथ को मोड़कर सीने के सामने ज़मीन के समानांतर फैलाएँ। अँगूठा छिपाकर मुठियाँ बन्द करें, शेष क्रिया भाग-क के समान ही रहेगी।

लाभ: इन समस्त क्रियाओं के करने से कलाई, करपृष्ठ, करतल एवं अँगुलियाँ पुष्ठ बनती हैं और उनके विकास ठीक होते हैं। हथेलियाँ शक्तिशाली बनती हैं इन क्रियाओं के करने से मनोनहा नाड़ियाँ प्रभावित होती हैं जिनसे शरीर और मन एकाग्र

होकर अध्यात्मिक उन्नति होती है, हाथों का कंपन ठीक होता है, जोड़ों का दर्द मिटता है, टंकण यन्त्र पर कार्य करने वाले साधक लाभान्वित होते हैं।

**18.** कर पृष्ठ शक्ति विकासक क्रिया
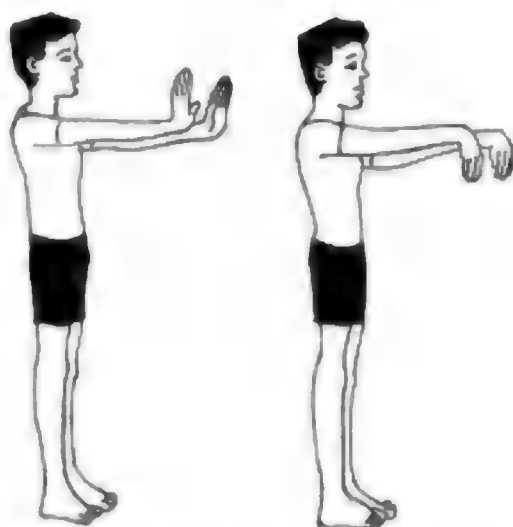
भाग-क : समावस्था में खड़े रहें। हाथ की मुट्ठियाँ खोलकर अँगुलियाँ सटाते हुए दोनों हाथ को कन्धे के सामने ज़मीन के समानान्तर फैलाएँ, श्वास लेते हुए हथेली को ताकत के साथ धीरे-धीरे नीचे से ऊपर ले जाएँ। श्वास को छोड़कर हथेली को धीरे-धीरे ऊपर से नीचे लाएं, क्रिया पाँच बार दोहराएँ।

भाग-ख : कोहनी से हाथ को मोड़कर सीने के सामने ज़मीन के समानांतर फैलाएँ, करतल भाग नीचे रखें शेष विधि को भाग क के समान पाँच बार दोहराएँ।

अष्टांगयोग से शारीरिक व मानसिक रोग ही दूर नहीं
होते, बल्कि पारिवारिक व सामाजिक संबंधों में सुधार
के साथ शांति व आनंद की प्राप्ति भी होती है।

-RJT

**19.** करतल शक्ति विकासक क्रिया
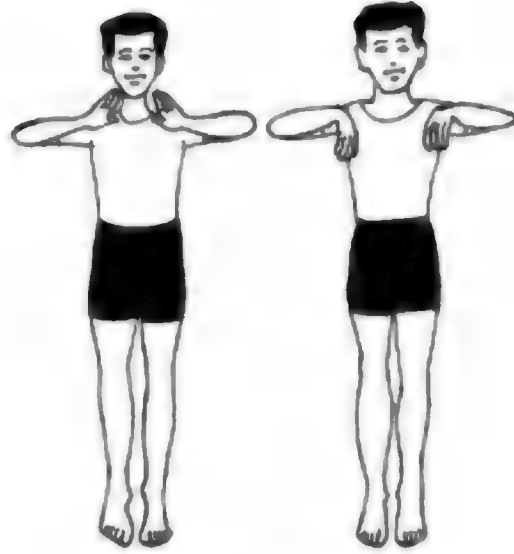
भाग-क :समावस्था में खड़े रहें। दोनों हाथ की अंगुलियाँ फैलाकर कन्धों के सामने हाथों की ज़मीन से समानांतर रखें करतल भाग नीचे की ओर हो, श्वास को लेते हुए हथेली को ताकत के साथ धीरे-धीरे नीचे से ऊपर ताने। श्वास को छोड़कर हथेली को ताकत के साथ ऊपर से नीचे लाएँ, विधि को पाँच बार दोहराएँ।

भाग-ख: दोनों हाथों को कोहनी से मोड़कर अँगुलियाँ फैलाते हुए सीने के सामने ज़मीन से समानान्तर रखें, करतल भाग ज़मीन की ओर रखें, शेष विधि भाग-क के समान पाँच बार दोहराएँ।

योग से उददेश्य पूर्ण जीवन का निर्माण होता है
एवं जीवन को नई दिशा मिलती है।

-RJT

**20.** अँगुली मूल शक्ति विकासक क्रिया

**विधि :** समावस्था में खड़े रहें। दोनों हाथों की कलाई तक के हिस्से को कड़ा रखते हुए कन्धों को ज़मीन के सामने समानान्तर फैलाएँ। हथेली को ढीला छोड़ें। करतल भाग ज़मीन की ओर रखें। श्वास सामान्य रखते हुए अंगुलियों को शक्ति के साथ 10-15 बार आगे-पीछे हिलाएँ।

**21.** अँगुली शक्ति विकासक क्रिया

**विधि : भाग-क :** दोनों हाथ के पंजों को फैलाते हुए कन्धों के सामने ज़मीन को समानान्तर तानें। श्वास को सामान्य रखकर 10-15 बार अंगुलियों के अग्र भाग की शक्ति के साथ ऊपर से नीचे मोड़ें।

भाग-ख : कोहनी से हाथ को मोड़कर सीने के सामने ज़मीन से समानान्तर तानें। भाग–क को समान पंजो को फैलाएँ। 10-15 बार विधि को पूरा करें।

**लाभ :** क्रिया न. **17** से **21** तक क्रिया के लाभ - इन समस्त क्रियाओं को करने से कलाई, करपृष्ठ, करतल एवं अंगुलियाँ पुष्ट बनती हैं और उनका ठीक से विकास होता है। हथेलियाँ शक्तिशाली बनती हैं। इन क्रियाओं को करने से मनोनहा नाड़ियाँ प्रभावित होती हैं, जिनसे शरीर और मन एकाग्र होकर अध्यात्मिक उन्नति होती है। हाथों का कंपन ठीक होता है, जोड़ों का दर्द मिटता है, टंकण यन्त्र (कम्प्यूटर) पर कार्य करने वाले साधक लाभान्वित

होते हैं।

**22.** वक्षःस्थल शक्ति विकासक क्रिया-**1**

विधि **:** समावस्था में खड़े रहें। करतल भाग अन्दर की ओर रखते हुए हाथों को जंघा के सामने पर स्थापित करें। श्वास लेकर दोनों हाथों को ऊपर ले जाएँ। हाथों के मध्य सिर को रखें और ऊपर की ओर देखें। वक्ष:स्थल को पूर्ण रुप से पीछे झुकाकर उसी अवस्था में कुछ देर रुकें। फिर श्वास छोड़ते हुए धीरे-धीरे पहली अवस्था में आ जाएँ, यह क्रिया तीन बार करें।

**23.** वक्षःस्थल शक्ति विकासक क्रिया-**2**
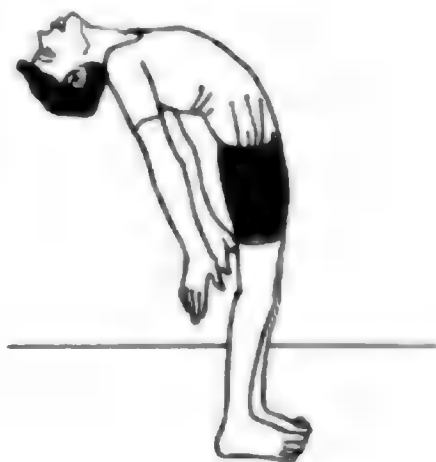
विधि **:** समावस्था में खड़े रहें। हाथों को जंघा के बाजू में रखें। श्वास को अन्दर लेते हुए दोनों हाथ को बाजू से पीछे की ओर पीठ की तरफ़ तानें। ऊपर की ओर देखें। सीना फुलाएँ।

श्वास छोड़कर पूर्व अवस्था में आएँ। इस विधि को तीन बार करें।

**दोनों के लाभ :** फेफड़े पुष्ट होकर उनके रोग नष्ट होते हैं। हृदय रोग दूर होता है। टी.बी., दमा, कफ़, खाँसी आदि रोग नष्ट होते हैं। रीढ़ की हड्डी का टेढ़ापन दूर होता है। सीना चौड़ा व पुष्ट बनता है।

**24.** उदर शक्ति विकासक (अजगरी) क्रिया–1

**विधि :** समावस्था में खड़े रहें। श्वास को बाहर निकालकर पेट को पिचकाते हुए पीठ की ओर ले जाएँ। श्वास को यथाशक्ति रोकें। श्वास को अन्दर खींचते हुए पेट फुलाएँ। श्वास को यथाशक्ति (आंतरिक कुम्भक) रोकें। यह क्रिया तीन बार करें।

**25.** उदर शक्ति विकासक क्रिया-2

**विधि :** समावस्था में खड़े रहें। सूक्ष्म व्यायाम की क्रिया क्रमांक-2 के समान बाई हथेली को अँगूठा छोड़कर शेष अँगुलियों को गले पर स्थापित करें। दाहिने हाथ की तर्जनी बाएँ हाथ पर उल्टी टिकाएँ। गर्दन को इसी अवस्था में रखते हुए दोनों हाथों को बाजू से नीचे लाएँ (अर्थात् गर्दन को थोड़ा सा लगभग आधा अंगुल ऊपर उठाएँ)। श्वास बाहर निकालकर पेट पिचकाएँ। श्वास को अन्दर लेकर पेट को फुलाएँ। ध्यान को पेट पर केन्द्रित करें और बिना रुके हुए जल्दी-जल्दी यह क्रिया पच्चीस बार करें।

**26.** उदर शक्ति विकासक क्रिया-**3**

**विधि :** समावस्था में खड़े रहें। सूक्ष्म व्यायाम की क्रिया क्रमांक-3 के समान गर्दन को धीरे-धीरे ऊपर ले जाएँ। भ्रूमध्य में देखें और श्वास छोड़ते हुए पेट पिचकाएँ। पच्चीस बार जल्दी-जल्दी करें।

**27.** उदर शक्ति विकासक क्रिया-**4**

विधि : समावस्था में खड़े रहें। क्रिया क्रमांक-4 के समान पैर के अँगूठे से अनुमानतः साढे चार फ़िट की दूरी पर सामने देखें। श्वास छोड़कर पेट पिचकाएँ। श्वास खींचकर पेट को फुलाएँ। बिना रुके हुए इस क्रिया को पच्चीस बार करें।

योग से जीवन जीने की कला का विकास होता है।

-RJT

**28.** उदर शक्ति विकासक क्रिया-**5** कुम्भक

विधि : समावस्था में खड़े रहें। क्रिया क्रमांक-7 से 12 के समान गर्दन को धीरे-धीरे ऊपर ले जाएँ। काकचौच बनाकर आठ अंक मन में गिनें। मुँह से श्वास अन्दर लेते हुए मुँह को बन्द कर तुरन्त गालों को फुलाएँ और ठुड्डी कण्ठ कूप से लगाएँ। 32 अंक तक श्वास को अन्दर रोकें तत्पश्चात् गर्दन सीधी करते हुए 16 अंक पर नाक से श्वास बाहर निकालें। यह क्रिया एक बार करें।

**29.** उदर शक्ति विकासक क्रिया-**6**

विधि : समावस्था में खड़े रहें। अंगूठा पेट की ओर रखते हुए दोनों हाथों को कमर पर स्थापित करें, 60° के कोण पर झुकें। सामने देखें और श्वास छोड़कर पेट पिचकाएँ। श्वास खींचकर पेट फुलाएँ, यह क्रिया 25 बार करें।

वह सुख जो कभी समाप्त न हो उसके लिए केवल
निर्विकल्प ध्यान ही कार्यकारिणी है।

**30.** उदर शक्ति विकासक क्रिया–**7**

विधि : समावस्था में खड़े रहें। अँगूठा पेट की ओर रखकर दोनों हाथों को कमर पर स्थापित करें। 90° के कोण पर आगे झुकें। सामने देखें श्वास छोड़कर पेट को पिचकाएँ। श्वास को खींचकर पेट को फुलाएँ। यह क्रिया 25 बार करें।

**31.** उदर शक्ति विकासक क्रिया–**8**

विधि : समावस्था में खड़े रहें। अंगूठा पेट की ओर रखते हुए दोनों हाथों को कमर पर स्थापित करें। 60° कोण पर आगे झुकें और सामने देखें। श्वास छोड़कर बाह्य कुम्भक कर

आंतरिक शक्ति से अपने पेट को जल्दी-जल्दी हिलाएँ। इस क्रिया को यथाशक्ति करें।

**32.** उदर शक्ति विकासक क्रिया–**9**
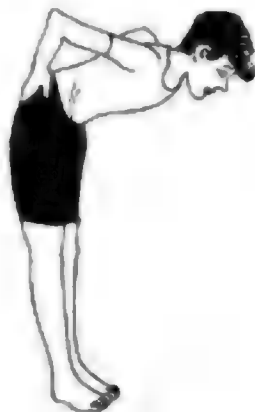
विधि : समावस्था में खड़े रहें। अँगूठा पेट की ओर रखकर दोनों हाथों की कमर पर स्थापित करें। 90° के कोण पर आगे झुकते हुए सामने देखें। श्वास को बाहर निकालें, बाह्य कुम्भक कर खाली पेट को आंतरिक शक्ति से आगे-पीछे हिलाएँ। इस क्रिया को एक बार यथाशक्ति करें।

**33.** उदर शक्ति विकासक क्रिया–**10** (नौली)
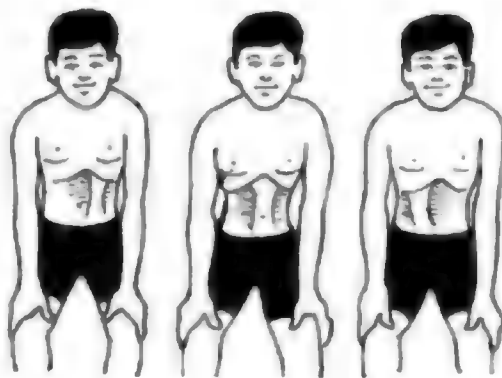
विधि : दोनों पैरों के बीच एक हाथ का अन्तर रखकर खड़े हो जाएँ। दोनों हाथों को सामने झुककर घुटने पर स्थापित करें।

**1.** मध्य नौली - नाक से श्वास को बाहर निकालकर पेट को खाली करें। आंतरिक शक्ति से खाली पेट को आगे-पीछे हिलाएँ। पेट को आन्तरिक बल से अन्दर पिचकाते हुए मध्य नौली निकालें। बाएँ हाथ से बाएँ घुटने पर दबाव डालकर बाई नौली निकालें। इसी प्रकार दाएँ हाथ से दाएँ घुटने पर दबाव डालते हुए दाई नौली निकालें। श्वास लेने की इच्छा होने पर पेट हिलाना बंद करें। इस विधि की तीन बार करें।

**2.** वाम नौली - पुनः श्वास को बाहर निकालें एवं पेट को खाली करें। आंतरिक शक्ति से खाली पेट को दाहिने घुटने को किंचित दबाते हुए बाएँ से दाएँ यथाशक्ति घुमाएँ। श्वास लेने की इच्छा होने पर क्रिया को बन्द करें। इसे वाम नौली कहते हैं।

**3.** दक्षिण नौली- श्वास बाहर निकालकर पेट को खाली करें। बाएँ घुटने को किंचित दबाते हुए आंतरिक शक्ति से खाली पेट को दाएँ से बाएँ घुमाएँ, श्वास लेने की इच्छा पर क्रिया समाप्त करें। इस विधि को दक्षिण नौली कहते हैं।

क्रिया न. **24** से **33** तक की क्रियाओं के लाभ

1. पेट के समस्त विकार दूर होते हैं।
2. पेट के समस्त अंग शक्तिशाली बनते हैं।
3. पेट में जमी चर्बी कम होती है।
4. अध्यात्मिक शक्ति का विकास होता है।
5. साधक दीर्घ आयु वाला बनता है।
6. कुण्डली जागरण में सहायक है।
7. पाचन संस्थान अपना कार्य तीव्र गति से करने लगता है।
8. नाभि केन्द्र को ठीक रखने में सहायक है। .
9. रक्त का संचार भली-भाँति होने लगता है।
10. शरीर की समस्त नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं।

**34.** कटि शक्ति विकासक क्रिया-**2**
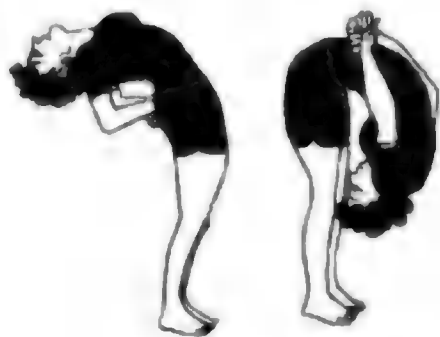
विधि **:** भाग-क : समावस्था में खड़े रहें। दोनों हाथों को पीछे ले जाएँ, दाहिने हाथ से बाई कलाई को पकड़ें। अंगूठा छिपाकर बाई मुट्ठी बंद करें, श्वास अंदर लेते हुए गर्दन, कमर को यथाशक्ति पीछे ले जाएँ। ऊपर देखते हुए पीछे झुकें। श्वास को छोड़कर सिर, गर्दन, कमर को सीधा करें एवं सामने की तरफ़ झुकते हुए सिर को घुटने तक लाने का प्रयास करें। इस क्रिया को तीन बार करें।

भाग-ख **:** बाएँ हाथ से दाएँ हाथ की कलाई पकड़ें और अँगूठा छिपाकर दाहिनी मुट्ठी

बन्द करें। शेष क्रिया भाग-क के समान तीन बार करें।

**35.** कटि शक्ति विकासक क्रिया-**2**
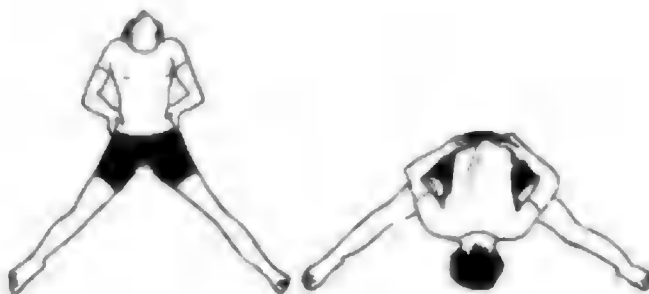
विधि **:** समावस्था में खड़े रहें। दोनों पैरों को यथाशक्ति फैलाएँ। अँगूठा पेट की तरफ़ रखते हुए हाथों को कमर पर स्थापित करें। श्वास अन्दर लेते हुए गर्दन व कमर को अधिक से अधिक पीछे झुकाएँ। ऊपर देखते हुए श्वास को छोड़कर सिर को अधिक से अधिक नीचे लाएँ। यह क्रिया तीन बार करें। तीसरी बार क्रिया करते समय दोनों हाथों की ज़मीन पर रखें और सिर की ज़मीन पर टिकाने का प्रयास करें। सिर टिकाकर हाथों को कमर पर रखें और यथाशक्ति रुकें। तत्पश्चात् हाथ के सहारे उछलकर पूर्व स्थिति में आएँ।

**36.** कटि शक्ति विकासक क्रिया-**3**

विधि **:** दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखते हुए खड़े हों। करतल भाग अन्दर रखते हुए जंघा से सटाएँ। श्वास छोड़ते हुए गर्दन, कमर को अधिक से अधिक पीछे की ओर झुकाएँ। ऊपर देखें, श्वास को छोड़कर सिर को शरीर का भार सँभालते हुए घुटने तक लाने का प्रयास करें। नेत्र खुले रखें, हाथों को पीठ की ओर तानें। इस क्रिया को जल्दी-जल्दी 10 बार करें।

**37.** कटि शक्ति विकासक क्रिया-**4**
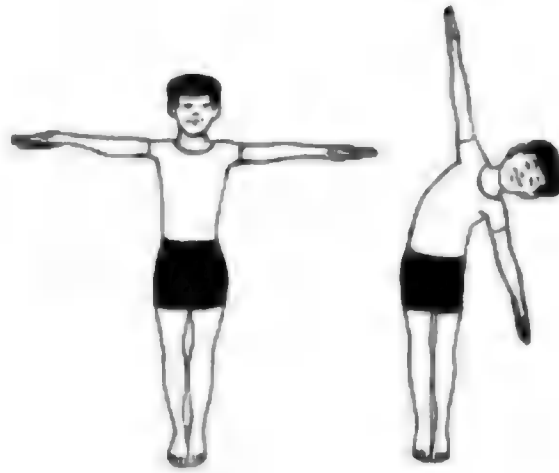
**विधि : भाग–क :** समावस्था में खड़े रहें। दोनों हाथ को कधों के बाजू से ज़मीन के समानान्तर फैलाएँ। हथेली ज़मीन की ओर रखें। अँगुलियाँ सटाएँ, श्वास को अन्दर भरते हुए बाईं ओर 30° के कोण पर झुकाएँ। दाएँ हाथ को 150° ऊपर तानें। इस प्रकार दोनों हाथों को एक रेखा में रखें, साथ-साथ गर्दन, कमर को भी झुकाएँ। श्वास को बाहर निकालते हुए पूर्व स्थिति में आ जाएँ। पुनः श्वास खींचते हुए गर्दन व कमर के साथ दाएँ हाथ को 30° के कोण पर नीचे की ओर झुकाएँ। बाएँ हाथ को 150° पर ऊपर तानें। दोनों हाथ एक सीधी रेखा में रखें, श्वास छोड़कर पूर्व स्थिति में आ जाएँ। यह क्रिया 10 बार करें।

**भाग-ख :** दोनों पैरों में एक हाथ का अन्तर रखकर सीधे खड़े हो जाएँ। भाग क के समान क्रिया 10 बार पूरी करें।

**38.** कटि शक्ति विकासक क्रिया**-5**

विधि : दोनों पैर में 1 फ़ीट का अंतर रखकर खड़े हो जाएँ। श्वास लेते हुए सिर्फ़ कमर के ऊपरी भाग को हाथों के साथ अर्ध चंद्राकार घुमाएँ (दाहिनी तरफ़)। श्वास छोड़ते हुए मूलावस्था में आएँ। अब यही क्रिया बाई तरफ़ करें। यह क्रिया 5-6 बार की जा सकती है।

लाभ : क्रिया क्रमांक-34 से 38 तक की क्रियाओं के अभ्यास से कमर सुन्दर, सुडौल और पतली होती है तथा पुष्ट बनती है। कमर के दर्द मिटते हैं। कमर लचीली बनकर नृत्य कलाकारों के लिए उपयोगी होती है। शरीर कान्तियुक्त और फुर्तीला बनता है। उम्र के प्रथम 20 वर्ष तक साधक की लम्बाई बढ़ती है।

**39.** मूलाधार चक्र शुद्धि क्रिया

विधि : भाग-क : समावस्था में खड़े रहें। श्वास को बाहर निकालें, पेट खाली करके मलद्वार को आंतरिक शक्ति से नाभि की ओर खींचें। शरीर में कंपन होने पर क्रिया समाप्त करें। यह क्रिया एक बार करें।

भाग-ख : स्थिति दोनों पैरों में चार अंगुल का अन्तर रखकर खड़े हों। भाग-क के समान क्रिया को एक बार में पूरा करें।

लाभ : प्राण अपान वायु एकत्र होने से कुण्डली जागरण में सहायक है। शरीर हल्का बनता है। मस्तिष्क में ताज़गी की अनुभूति होती है। शरीर शक्ति सम्पन्न बनता है। क़ब्ज़ियत दूर होती है। बवासीर की बीमारी मिटती है। शरीर फुर्तीला और दीर्घायु बनता है।

**40.** उपस्थ तथा स्वाधिष्ठान चक्र शुद्धि
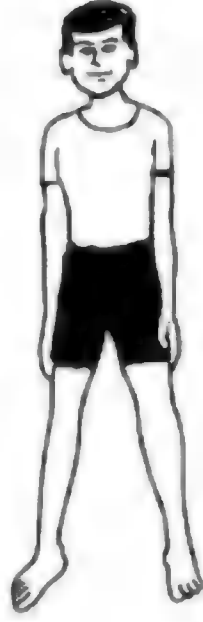
विधि : दोनों पैरों में एक हाथ का अन्तर रखकर सीधे खड़े हो जाएँ। श्वास को अन्दर खींचकर मूत्रेन्द्रिय और मलद्वार को एक साथ यथाशक्ति नाभि की ओर खीचें। पैरों के कंपन होने पर क्रिया समाप्त करें। यह क्रिया एक बार करें।

लाभ : मूत्राशय तथा गुदा के रोग ठीक होते हैं। मधुमेह, भगन्दर, बवासीर जैसे रोग ठीक होते हैं। महिलाओं के लिए विशेष लाभकारी है, गर्भाशय संबंधी रोग ठीक होते हैं। ब्रह्मचर्य के पालन में सहायक है। स्वप्नदोष दूर होते हैं।

**41.** कुण्डलिनी शक्ति विकासक क्रिया

विधि **:** समावस्था में खड़े रहें। श्वास खींचते हुए बाएँ पैर की एड़ी को उठाकर नितम्ब पर ठोंकें। श्वास छोड़कर पैर को पूर्व स्थिति में लाएँ। पुनः श्वास खींचकर दाएँ पैर की एड़ी से नितम्ब पर ठोंकें। श्वास छोड़कर दाएँ पैर को पूर्व स्थिति में लाएँ। यह क्रिया 10 बार करें।

लाभ **:** कुण्डली जागरण में सहायक है। शरीर पुष्ट व फुर्तीला बनता है। ज्ञान का सम्वर्धन होता है। ब्रह्मचर्य और मोक्ष प्राप्ति में सहायक है।

**42.** जंघा शक्ति विकासक क्रिया-**1**

विधि : भाग-क : समावस्था में खड़े रहें। श्वास को अन्दर खींचते हुए कूदकर दोनों पैरों को बाजू में फेकें। दोनों हाथों को कन्धे के बाजू से सिर के ऊपर ले जाएँ। श्वास छोड़कर दोनों पैरों को हाथों के साथ कूदकर पूर्व स्थिति में लाएँ। यह क्रिया 10 बार करें।

भाग-ख : श्वास को छोड़कर कूदते हुए दोनों पैरों को जंघा के बाजू में फेकें। दोनों हाथों को कन्धों के बाजू से सिर के ऊपर ले जाएँ। हथेली बाहर की ओर रखें। श्वास को छोड़कर कूदते हुए हाथ और पैर को पूर्व स्थिति में ले आएँ। इस क्रिया को 10 बार करें।

**43.** जांघा शक्ति विकासक क्रिया-**2**
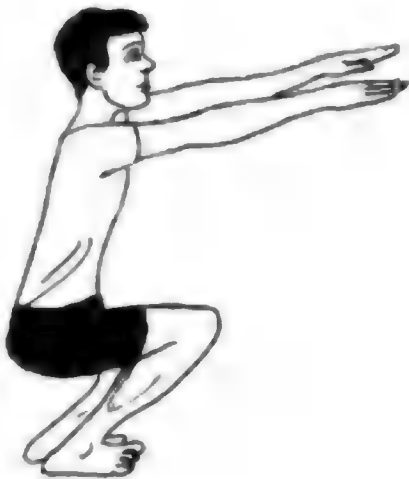
विधि : भाग-क : समावस्था में खड़े रहें। दोनों हाथों को ज़मीन से समानान्तर कन्धों के सामने फैलाएँ। हथेलियाँ ज़मीन की ओर रखें। श्वास खींचकर (खींचते हुए) दोनों घुटने मिलाकर कुर्सी के समान बैठें। श्वास को छोड़कर पूर्व स्थिति में खड़े हो जाएँ। यह क्रिया तीन बार करें।

भाग-ख : दोनों हाथों की कधों के बाजू में ज़मीन के समानान्तर फैलाएँ। श्वास को खींचकर पंजों पर खड़े होते हुए घुटने फैलाकर कुर्सीनुमा नीचे बैठें। श्वास छोड़कर पूर्व स्थिति में आ जाएँ। यह क्रिया तीन बार करें।

लाभ : जंघाएँ शक्तिशाली, सुन्दर, सुडौल बनती हैं। घुटनों का दर्द मिटता है।

**44.** जानु शक्ति विकासक क्रिया
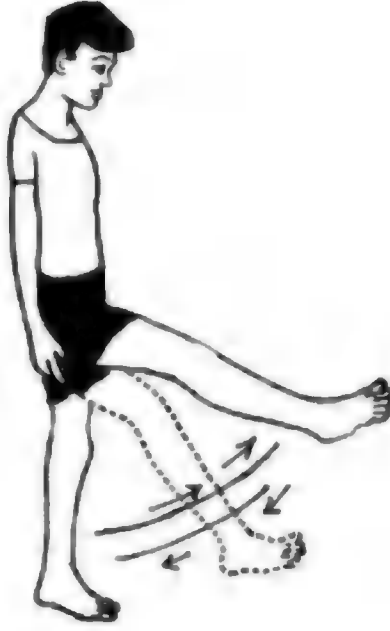
विधि : समावस्था में खड़े रहें। श्वास खींचते हुए बाएँ पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर नितम्ब से स्पर्श करें। श्वास छोड़कर पैर को जैसे फुटबॉल में किक मारते हैं, वैसे सामने फेकें। इसी विधि की दाहिने पैर से भी करें। यह क्रिया 10 बार करें।

लाभ : जोड़ों का दर्द मिटता है। गठिया की बीमारी ठीक होती है। कुण्डलिनी जागरण में सहायक हैं। खिलाड़ियों के लिए उपयुक्त है। घुटने सुन्दर सुडौल होते हैं।

**45.** पिंडली शक्ति विकासक क्रिया
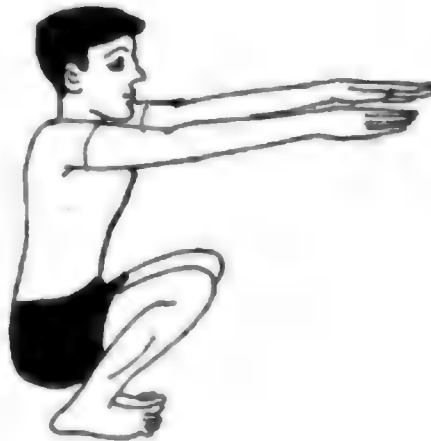
विधि : समावस्था में खड़े रहें। अंगूठा मुट्ठी के अन्दर करें, दोनों हाथों को ज़मीन से समानांतर कधों के सामने फैलाएँ, करतल भाग एक-दूसरे के सामने रखें। श्वास लेकर घुटने मिलाते हुए बैठक लगाएँ। एड़ियों को ज़मीन पर टिकाकर रखें। श्वास छोड़कर खड़े होने के

पूर्व दोनों हाथों की कधों के सामने से चक्राकार में घुमाते हुए सीने के पास लाएँ। हाथों को तत्पश्चात् नीचे करें और पूर्व स्थिति में आ जाएँ। इस क्रिया को पाँच बार करें।

लाभ **:** पैरों का दर्द मिटता है। घुटने व जंघाएँ पुष्ट बनते हैं। ब्रह्मचर्य व्रत में सहायक है। पैर की अँगुलियों का दर्द मिटता है।

**46.** पादमूल शक्ति विकासक क्रिया

विधि **:** भाग-क : समावस्था में खड़े रहें। एड़ियाँ उठाकर पंजों पर खड़े हों। अपने स्थान पर 10-15 बार धीरे-धीरे उछलें। पंजों की ज़मीन पर टिकाकर रखें।

भाग-ख **:** श्वास को सामान्य रखते हुए अपने स्थान पर पंजो के बल पर ऊपर-नीचे 10-15 बार कूदें।

**47.** गुल्फ**,** पादतल**,** पादपृष्ठ शक्ति विकासक क्रिया
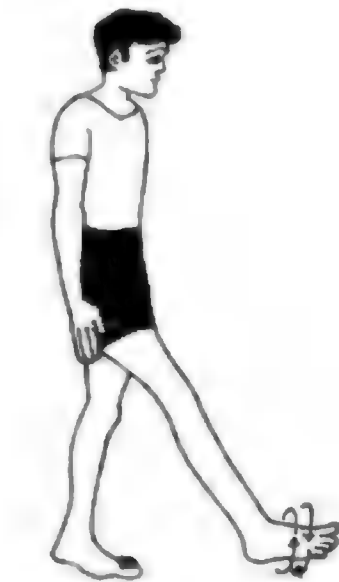
विधि : भाग-क : समावस्था में खड़े रहें। बाएँ पैर को ज़मीन से सामने की ओर लगभग 9" ऊपर उठाकर तानें। पंजे से 'शून्य' को बनाएँ और मिटाएँ श्वास को सामान्य रखते हुए इस क्रिया को तीन बार करें।

भाग-ख : बाएँ पैर को पीछे की ओर तानें। ज़मीन से लगभग 9" ऊपर उठाकर तानें। पंजे से 'शून्य' को बनाएँ और मिटाएँ। श्वास को सामान्य रखते हुए क्रिया को तीन बार करें।

भाग-ग : भाग-क के समान दाएँ पंजे से तीन बार क्रिया को पूरा करें। भाग-घ : दाएँ पैर की ज़मीन से लगभग 9" पीछे उठाकर तानें, भाग-ख के समान क्रिया तीन बार करें।

लाभ : पैर की अँगुलियों, पंजे, पैर का पृष्ठ भाग और तलवों का दर्द मिटता है। पैर सुन्दर सुडौल बनते हैं। मोच को दूर करने के लिए उपयुक्त है। अधिक चलने या दौड़ने से आई थकावट दूर होती है।

**48.** पादांगुलि शक्ति विकासक क्रिया

**विधि :** समावस्था में खड़े रहें। दोनों हाथों की सहायता से पैर के पंजों की अँगुलियों को उल्टा कर आपस में जोड़ें, श्वास को सामान्य रखें, अंगुलियों के बल कूदकर सीधे खड़े हो जाएँ, क्रिया एक बार में पूरी करें।

**लाभ :** पैरों की अंगुलियों को विशेष बल प्राप्त होता है, पंजे व अंगुलियों का दर्द मिटता है। चलने दौड़ने से होने वाली थकान दूर होती है। अँगुलियाँ व पैर के पंजे लचीले होते हैं तथा उनका दर्द भी मिट जाता है।

योग से जीवन में नई उपलब्धता प्राप्त होती है।

**-RJT**

---

* समावस्था का अर्थ है दोनों पैर को मिलाकर खड़े होकर सामने की ओर देखें। एड़ी पंजे मिलाकर हाथों को जंघाओं से सटाएँ। करतल भाग अंदर की तरफ़ रखें। पैरों से स्कंध तक का विभाग सरलता से सीधा रखें। इस अवस्था को समावस्था कहते हैं।

# यौगिक स्थूल व्यायाम
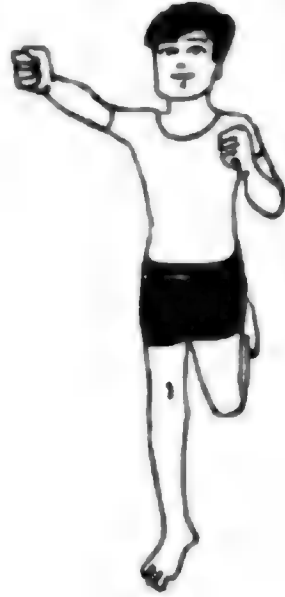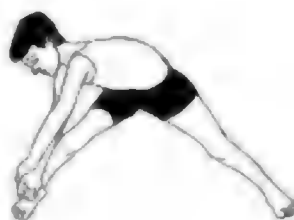
# यौगिक स्थूल व्यायाम

अब हम यहाँ यौगिक स्थूल व्यायाम की चर्चा कर प्रयोग लिखेंगे। योग एक बहुत वृहद विषय है और यह अनादिकाल से चला आ रहा है। उदाहरण के तौर पर हम यहाँ पर थोड़ी सी चर्चा करें कि जैसे आयुर्वेद में किसी भी एक औषधि की अपनी एक तासीर होती है, अपना एक गुण होता है और वही औषधि मौसम के अनुसार, गर्म या ठंडा या पीसकर लें तो वह अपना एक अलग प्रभाव दिखाती है। यदि उसमें दो-तीन प्रकार की औषधियाँ और मिला दी जाएँ, तो उसका असर और भी अधिक हो जाता है। इसी प्रकार योग से संबंधित कोई भी एक क्रिया यदि हम व्यवस्थित तरीके से करें, तो हमें उसका लाभ दोगुना मिलता है। यदि उसके साथ कुछ और क्रिया कर ली जाएँ (गुरु निर्देशानुसार करें), तो हम अपने शरीर को निरोगी तो बना ही लेंगे, साथ में अपने शरीर का कायाकल्प भी कर सकते हैं। अपने शरीर को एक घंटा दीजिए, ताउम्र रोगों से छुटकारा पा जाइए। कोई भी योग हो, यदि हम क्रमानुसार एवं किसी योग गुरु के सानिध्य में करें, तो हमें आशा से अधिक लाभ होगा। योग शरीर को सशक्त, सुंदर, निरोगी एवं सुडौल बनाने का साधन है। यदि इसमें तनिक भी संदेह होता, तो इसका विलोप हो गया होता। योग बोलने की वस्तु नहीं, प्रयोग करने का नाम है। पूरी दुनिया में आज करोड़ों लोग योग से लाभ उठाकर अपना जीवन सफल कर रहे हैं।

स्थूल व्यायामों का समावेश यदि योग के साथ किया जाता है तो साधना का परिणाम अल्प समय में ही परिलक्षित होने लगता है। इंजन दौड़ या ऊर्ध्व गति की क्रियाएँ यदि हम दो तीन मिनट प्रति-दिन करते हैं तो मोटापा एवं हृदय रोग की बीमारियाँ नहीं हो सकती। सूक्ष्म व्यायाम से जहाँ सूक्ष्म अंगों का व्यायाम होता है, वही स्थूल व्यायामों की पाँचों क्रियाएँ एक साथ पूरे शरीर को लाभान्वित करती हैं।

**1.** रेखा गति
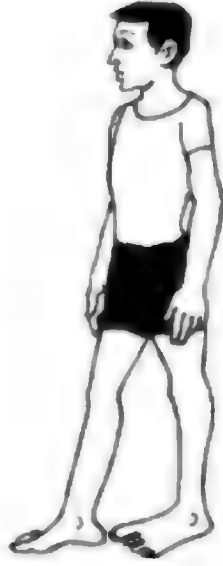
**विधि : भाग-1 :** समावस्था में खड़े रहें। श्वास को खींचकर बाएँ पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर बाजू से अर्ध चक्राकार ले जाते हुए दाहिने पैर के अँगूठे के आगे रखें, श्वास को छोड़े। श्वास को खींचकर दाहिने पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर बाजू से अर्ध चक्राकार घुमाते हुए बाएँ पैर के अँगूठे के आगे रखें। श्वास छोड़ें। इस प्रकार सामने देखते हुए दस क़दम आगे चलें। भाग-2 : श्वास को खींचकर दाहिने पैर की एड़ी को ऊपर उठाकर दाई ओर अर्ध चक्राकार में पीछे की ओर दाएँ अँगूठे को बाई एड़ी के पीछे रखें। श्वास छोड़ें एवं पुनः श्वास खींचकर बाएँ पैर (एड़ी) को ऊपर उठाकर बाई ओर अर्ध चक्राकार घुमाते हुए बाएँ अँगूठे को दाएँ पैर की एड़ी के पीछे रखें। इस प्रकार 10 क़दम पीछे चलें। चलते समय सामने देखें।

**लाभ :** ❍ इसके अभ्यास से मन एकाग्र होता है। ❍ स्मरण शक्ति का विकास सुचारु रूप से होता है। ❍ हमारे जीवन को स्थिरता प्रदान करता है।

**2.** हृदय गति **(**इंजन दौड़**)**
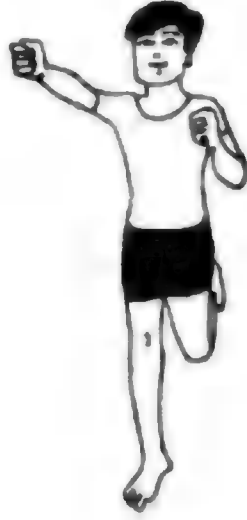
विधि : समावस्था में खड़े रहें। अँगूठा छिपाकर मुट्ठियाँ बन्द करें। कोहनियाँ कमर से सटाएँ। बाएँ हाथ को कोहिनी से मोड़ कर ज़मीन के समानान्तर कमर से सटाएँ और दाएँ हाथ को कोहनी से सीधा रखकर ज़मीन के समानान्तर समाने की ओर फैलाएँ। मुट्ठी का भाग एक-दूसरे के सामने रखें। श्वास को लेकर बाएँ पैर को घुटने तक 90° के कोण पर उठाएँ। दाएँ हाथ को सामने करें। श्वास को छोड़ें। तुरन्त श्वास लेकर दायाँ पैर घुटने से मोड़कर 90° के कोण तक उठाएँ। बाएँ हाथ को सामने करें। श्वास को छोड़कर दाहिना पैर और बाएँ हाथ पूर्व स्थिति में लाएँ। क्रिया को इस प्रकार 8-10 बार करने के पश्चात् श्वास-प्रश्वास के साथ जल्दी-जल्दी अपने स्थान पर दौड़ें। थकान आने पर क्रिया समाप्त करें।

लाभ : हाथ व पैरों का दर्द मिटता है व शरीर का मोटापा भी कम होता है। सीना जंघाएँ और पिंडलियाँ पुष्ट होती हैं तथा उनका दर्द मिटता है। दौड़ लगाने वाले साधकों के लिए विशेष लाभकारी है। शरीर फुर्तीला और शक्तिशाली बनता है।

**3.** उत्कूर्दन (जम्पिंग)

विधि : समावस्था में खड़े रहें। अँगूठा छुपाकर दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बंद करें। दोनों हाथों को कन्धों के सामने जमीन से समानान्तर फैलाएँ। हथेली एक-दूसरे के सामने रखें। श्वास को लेकर दोनों हाथों को सामने से चक्राकार में घुमाते हुए कोहनी से मोड़कर कमर से सटाएँ। हाथों को जमीन से समानान्तर रखें। श्वास को छोड़ें फिर श्वास को अन्दर लेते हुए उछलकर दोनों एड़ियों से नितम्ब को ठोकें। श्वास छोड़ते हुए हाथों को कन्धे के सामने फैलाएँ और पैर को ज़मीन पर टिकाएँ। इस क्रिया को पाँच बार करें।

लाभ : उम्र के प्रथम 20 वर्ष तक साधक की लम्बाई बढ़ती है। कुण्डली जागरण में सहायक हैं, हाथ और पैर पुष्ट बनते हैं तथा उनका दर्द मिटता है। नितम्ब व जंघाएँ सुडौल बनती हैं। सीना चौड़ा और पुष्ट बनता है। फेफड़ों के रोग नष्ट होते हैं।

**4.** ऊर्ध्वगति

विधि : समावस्था में खड़े रहें। दोनों हाथ को कोहनी से ऊपर की ओर मोड़कर कन्धों के समानान्तर बाजू से स्थापित करके दृष्टि ऊपर रखें। श्वास लेते हुए बाएँ पैर को 90° के कोण पर ऊपर उठाएँ। बाएँ हाथ को कन्धे के बाजू में फैलाकर कोहनी को मोड़ते हुए सिर की ओर ऊपर उठाएँ। दाएँ हाथ को सिर के ऊपर ताने। हथेलियाँ सामने रखें, श्वास छोड़कर बाएँ पैर को ज़मीन पर टिकाएँ, बाएँ हाथ को सिर के ऊपर फैलाएँ और श्वास लेकर दाएँ पैर को ज़मीन से 90° के कोण पर ऊपर उठाएँ। दाएँ हाथ को कन्धे के बाजू में लाकर कोहिनी से मोड़ते हुए सिर की ओर ले जाएँ, श्वास को छोड़कर दाएँ पैर को ज़मीन पर टिकाते हुए दाएँ हाथ को सिर के ऊपर फैलाएँ। बाएँ हाथ को बाएँ कन्धे के बाजू में फैलाकर कोहनी से मोड़ते हुए सिर की ओर ले जाएँ। इस प्रकार क्रिया को धीरे-धीरे 8 से 10 बार करने के पश्चात् अपने स्थान पर दौड़ते हुए यथाशक्ति करें। थकान आने पर क्रिया को समाप्त कर दें।

लाभ : हाथ और पैर पुष्ट होते हैं। फेफड़े के रोग नष्ट होते हैं। शरीर की स्थूलता दूर होती है। हाथ और पैर ठण्डे होने की शिकायत दूर होती है। जाँघों का मोटापा दूर होता है। खिलाड़ी साधकों के लिए विशेष लाभकारी हैं।

**5.**सर्वांग पुष्टि
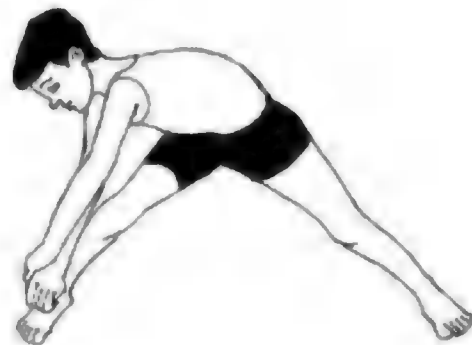
विधि : दोनों पैर को फैलाकर सीधे खड़े हो जाएँ। अँगूठा छुपाकर हाथों की मुट्ठियाँ बन्द करें। दोनों हाथों को नीचे झुकाकर बाएँ टखने के पास बायाँ हाथ नीचे और दायाँ हाथ कलाई के ऊपर स्थापित करें। श्वास को लेकर धीरे-धीरे दोनों हाथों से ऊपर की ओर बाएँ कन्धे के बाजू से सिर तक ले जाएँ और दाएँ टखने की ओर श्वास को छोड़ें। दाहिना हाथ नीचे और बायाँ हाथ ऊपर रखें। पुनः श्वास लेकर दोनों हाथों के नीचे से ऊपर दाएँ कन्धे तक लाते हुए सिर के ऊपर तक ले जाएँ। बाई ओर मुड़ते हुए दोनों हाथों को बाएँ कन्धे से नीचे की ओर बाएँ टखने तक लाएँ। श्वास को छोड़ें, हाथ को बदल-बदलकर बायाँ नीचे और दाहिना ऊपर रखें। इस क्रिया की तीन बार करें।

लाभ : समस्त अंग पुष्ट बनते हैं। शरीर लचीला बनता है। साधक का ठिगनापन दूर होता है। फेफड़ों के रोग दूर होते हैं। कमर व पीठ का दर्द मिटता है। पाचन क्रिया ठीक होती है।

# सरल योग क्रियाएँ

# पवनमुक्तासन समूह की क्रियाएँ

वायुनिरोधक, उदर प्रदेश एवं शक्तिबंध हेतु सरल क्रियाएँ

लगभग सभी योग केंद्रों में ये सरल व्यायाम कराए जाते हैं जो कि पवनमुक्तासन* की अभ्यास श्रेणी के अंतर्गत आते हैं। प्रतिदिन प्रारंभ में कराए जाने का कारण यह है कि इनका प्रयोग मांसपेशियों तथा शरीर के लगभग सभी जोड़ों में लचीलापन लाने के लिए व शरीर का कड़ापन दूर करने के लिए किया जाता है। पिछले अध्यायों में सूक्ष्म व्यायाम एवं स्थूल व्यायाम की श्रृंखला दी गई है वे सभी व्यायाम भी शरीर की स्थायित्व प्रदान करते हैं।

निम्नलिखित सभी क्रियाएँ करने से हमारे शरीर के जोड़ खुल जाते हैं तथा शरीर का आलस्य समाप्त हो जाता है। साधक स्फूर्ति एवं ताजगी महसूस करता है जिससे आगे होने वाली योग क्रियाओं व अभ्यासों में सरलता होती है।

सभी आसन सरल होते हुए भी बहुत अधिक प्रभावकारी हैं जो कि शरीर को नई चेतना और ऊर्जा प्रदान करते हैं।

## वायु निरोधक क्रियाएँ

पादांगुली, पादतल, पादपृष्ट एवं गुल्फ शक्तिवर्धक/विकासक क्रिया

विशेषः सूक्ष्म व्यायाम में हमने यही क्रिया खड़े होकर की थी। इसे बैठकर भी कर सकते हैं। जो कि लगभग सभी योग केंद्रों में कराई जाती है।
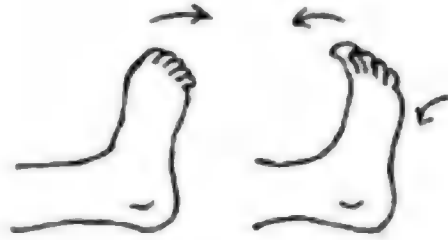
अभ्यास क्रम **1 :** बैठ जाएँ। सामने की तरफ़ पैरों को लंबा करें। थोड़ा सा पीछे झुकते हुए हाथों को अगल-बगल में नितंबों के पीछे ज़मीन पर रख दें। मेरुदंड, ग्रीवा व सिर को झुकने न दें एवं कुहनियाँ भी न मोड़ें और मन को तनाव मुक्त रखें। पूरा ध्यान पैरों की अँगुलियों पर रखते हुए दसों अँगुलियों को आगे झुकाएँ, फिर पीछे झुकाएँ।

**श्वासक्रम/समय :** अँगुलियाँ आगे झुकाते समय श्वास छोड़ें। अपनी तरफ़ करते समय श्वास लें। 10 से 15 बार आगे-पीछे करें।

**अभ्यास क्रम 2 :** अब पैरों के पंजों को टखनों के जोड़ों से आगे की तरफ़ इतना झुकाएँ कि वे ज़मीन को स्पर्श करने लगे। जितना अधिक से अधिक झुका सकते हैं, झुकाएँ। पूरे पंजे को वापस अपनी तरफ़ जितना मोड़ सकते हैं, मोड़ने का प्रयास करें।

**श्वासक्रम/समय :** अँगुलियाँ एवं पैरों के पंजे अपनी तरफ़ करते समय श्वास लें एवं वापस आगे झुकाते समय श्वास छोड़ें। 10 से 15 बार यही क्रम दोहराएँ।
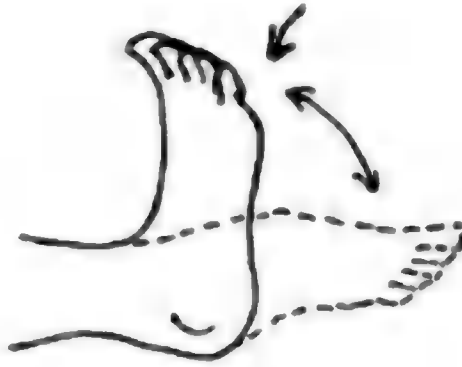
**अभ्यास क्रम 3 :** अब दोनों पैरों के बीच थोड़ा अंतर कर उन्हें दूर कर दें। पहले दाहिने पैर से अभ्यास करें। दाहिने पैर के पंजे की टखने से वृत्ताकार घुमाना है। अतः दाएँ से बाएँ तरफ़ 10 से 15 बार घुमाएँ। फिर बाएँ से दाँये 10 से 15 बार करें। यही अभ्यास बाएँ पैर से करें। अब दोनों पंजों को मिलाकर उपरोक्त अभ्यास करें। यही क्रिया निम्नलिखित प्रकार से भी कर सकते हैं।

इसी क्रम में अब दोनों पैरों में कुछ फ़ासला रखें और एक पैर को बाएँ से दाएँ तो दूसरे पैर को दाएँ से बाएँ वृत्ताकार घुमाएँ। अब यही क्रम दूसरी दिशा में भी करें। इस प्रकार से घुमाने पर आपस में दोनों पैरों के अंगूठे वृत्त पूरा होने पर एक-दूसरे को स्पर्श करते हैं।

**श्वासक्रम/समय :** पंजों की ऊपर लाते समय श्वास लें और नीचे की तरफ़ जाते समय श्वास छोड़ें। उपरोक्त सभी क्रियाएँ 10 से 15 बार समान रूप से करनी चाहिए।
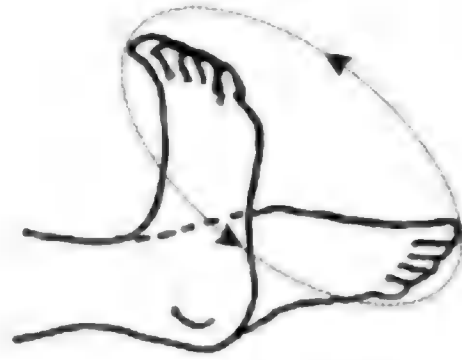
अभ्यास क्रम **4 :** पंजों को वृत्ताकार बनाने के लिए इस प्रकार से भी अभ्यास कर सकते हैं। एक पैर लंबवत् कर दूसरे पैर के पंजे को पहले पैर की जंघा पर ऐसा रखें कि गुल्फ बाहर की तरफ़ आ जाएँ। अब एक हाथ से टखने को पकड़कर दूसरे हाथ से अँगुलियाँ पकड़ लें। पहले दाएँ से बाएँ फिर बाएँ से दाएँ 10 से 15 बार वृत्ताकार घुमाएँ। यही अभ्यास दूसरे पैर से करें।

श्वासक्रम/समय **:** अभ्यास क्रम तीन के अनुसार।
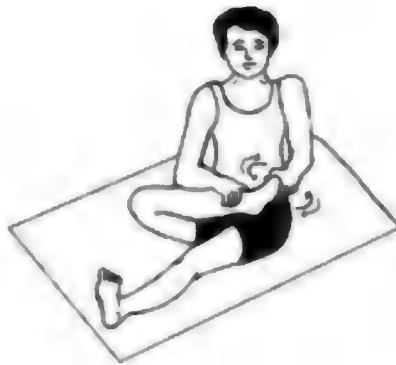
सुप्त जानुसंचालन क्रिया - अभ्यास क्रम **5**
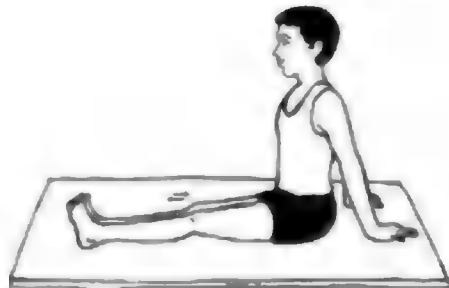
(घुटनों को आगे-पीछे करने की क्रिया)

सामने की तरफ़ पैरों को लंबवत् करके बैठे। चूँकि इसमें घुटनों को संचालित कर आगे-पीछे

करना है। अतः माँसपेशियों को संकुचित करते हुए घुटनों को अपनी ३२: तरफ़ खींचें। कुछ क्षण रुकें एवं ढीला £ छोड़ दें। यही क्रम पुनः दोहराएँ।

श्वासक्रम/समय : घुटनों को अपनी तरफ़ खींचते हुए श्वास लें एवं ढीला करते समय श्वास छोड़ें। 10 से 15 बार यही क्रम दोहराएँ।

लाभ :
- पिंडली, पंजे, टखना, घुटने एवं अँगुलियों के जोड़ मज़बूत एवं लचीले होते हैं।
- भविष्य में होने वाले गठिया जैसे रोगों की संभावना उस अंग में नहीं रहती। पिंडली के दर्द में राहत एवं ऐंठन को ठीक करता है।

उत्तान जानुसंचालन क्रिया - अभ्यास क्रम **6**
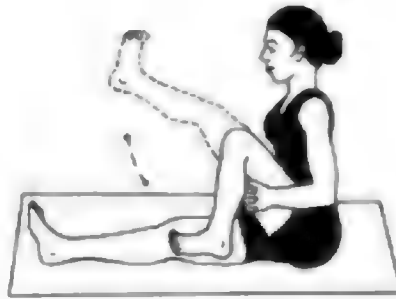
(अ) अपने आसन में सामने की तरफ़ समानांतर रूप से पैर फैलाकर बैठे। दोनों हाथों से दाहिनी जंघा को पकड़ें, दाहिने घुटने को मोड़ते हुए, जंघा को उदर व वक्षःस्थल से सटाएँ। अब इस पैर को धीरे-धीरे ऊपर की तरफ़ तानें। कुछ क्षण रुकें, वापस ज़मीन पर रख दें। इस प्रक्रिया में पैर जितना ऊपर कर सकते हैं करें। यहाँ तक कि नासिका का घुटने से स्पर्श हो जाए एवं दूसरा पैर पूर्णतः ज़मीन से स्पर्श करता रहे तथा मेरुदण्ड और कमर सीधी रखें। इस प्रकार उपरोक्त क्रिया 10 बार करें एवं यही क्रिया पैर बदलकर करें।

(ब) अब इसी क्रिया को विपरीत तरीके से करें। पहले दाहिना पैर सीधा ऊपर उठाएँ। कुछ क्षण रुकें। घुटने से मोड़कर जाँघ को अपने सीने से स्पर्श कराएँ। वापस पैर की ज़मीन पर रख दें। यह क्रिया 10 बार करें और दूसरे पैर से इसी क्रिया को दुहराएँ।

उत्तान द्विजानु संचालन क्रिया - अभ्यास क्रम **7**

यह अभ्यास क्रम 6 की तरह ही है, परंतु इसमें दोनों पैरों से एक साथ करना होता है।

(अ) सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठें। पैरों को समानांतर चिपकाकर रखें। दोनों हाथों को नितंबों के अगल-बगल में पीछे रखें, अब दोनों पैरों को घुटने से मोड़ते हुए सीने से स्पर्श कराना है। इसके पश्चात दोनों पैरों को एक साथ ऊपर की तरफ़ लंबवत कर दें और वापस ज़मीन पर रख दें। यही क्रिया 10 बार करें।

(ब) इस क्रिया में दोनों पैरों को पहले ज़मीन से ऊपर उठाएँ। तत्पश्चात घुटनों से मोड़ते हुए छाती से स्पर्श कराएँ और वापस ज़मीन पर रख दें। 10 बार यही क्रिया को दुहराएँ।

श्वासक्रम : पैर को मोड़ते समय श्वास बाहर निकालें एवं पैर ऊपर की तरफ़ सीधे करते समय श्वास लें।

सावधानियाँ: तीव्र कमर दर्द, हृदय रोग, उच्च रक्तचाप वाले विवेक पूर्वक करें।

लाभ : ❍ घुटनों के समस्त विकार दूर होते हैं। कमर दर्द व नितंबों का दर्द स्थायी रूप से मिट जाता है।

- पैरों का कंपवात वाला रोग नहीं हो पाता।
- क़ब्ज़, मंदाग्नि दूर होकर भूख बढ़ती है।
- पेट की चर्बी कम होती है।

जानुचक्रमय बनाने की क्रिया - अभ्यास क्रम **8**
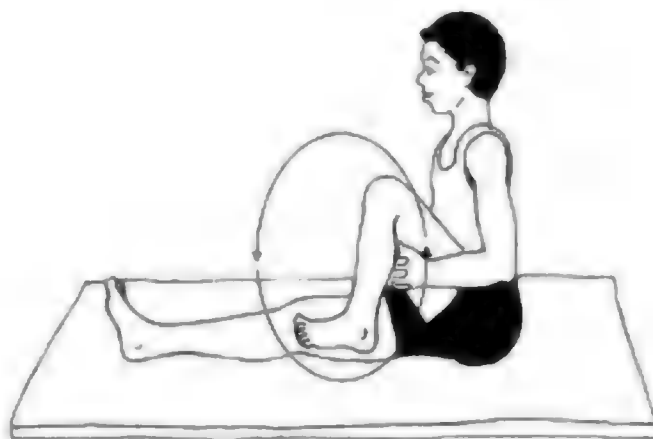
विधि : सामने की तरफ़ दोनों पैरों को फैलाकर बैठें। चूँकि हाथों से जंघा को पकड़कर घुटने से आगे के हिस्से को घुमाना है अतः दाहिनी जाँघ को दोनों हाथों से पकड़कर उदर प्रदेश के पास लाये या दाहिने जाँघ के नीचे से भुजाओं को निकालकर एक दूसरे पंजे से कुहनियाँ पकड़ ले एवं उदर प्रदेश से जंघा को सटाते हुए पंजे को ऊपर की तरफ़ उठाएँ और घुटने एवं घुटने से निचले हिस्से को 10 बार दाएँ से बाएँ वृत्ताकार घुमाएँ तथा 10 बार बाएँ से दाएँ वृत्ताकार घुमाएँ। अब यही क्रिया बाएँ पैर से करें।

श्वासक्रम : पैरों को ऊपर ले जाते समय श्वास लें एवं नीचे लाते समय श्वास छोड़ें।

ध्यान : घुटने की निरोगता हेतु।

लाभ :
- गठिया जैसी बीमारियों से निजात दिलाता है।
- घुटने के जोड़ को मज़बूती प्रदान करता है और दर्द से राहत दिलाता है।
- जमे हुए रक्त को विनियमित करता है।

श्रोणी विकासक एवं शक्तिवर्धक क्रिया - अभ्यास क्रम **9**

विधि : दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठ जाएँ। बाएँ पैर की जंघा पर दाएँ पैर के पंजे को रखें। बाएँ हाथ से दाएँ पैर के पंजे को पकड़ें और दाएँ हाथ से मुड़े हुए घुटनों को पकड़ें। घुटने द्वारा एक बड़ा सा चक्र बनाने की कोशिश करें। अब यही क्रिया विपरीत दिशा में भी करें तथा पैर बदलकर यही क्रम दोहराएँ।

श्वासक्रम/समय : श्वास सामान्य रखें एवं 10-10 चक्र दोनों तरफ़ से करें।

लाभ :
- संपूर्ण श्रोणी प्रदेश, कमर, नितंब, प्रजनन अंग आदि को लाभ मिलता है।
- आसन करने में इन अंगों से होने वाली परेशानियाँ नहीं होती हैं।

गतिमय अर्ध तितली आसन - अभ्यास क्रम **10**

विधि : सामने की तरफ़ सीधे पैर फैलाकर बैठ जाएँ। कमर, रीढ़ और गर्दन सीधी तनी रहें। बाएँ पैर को मोड़कर दाएँ पैर की जाँघ पर रखें, दाएँ हाथ से बाएँ पैर के अँगूठे को पकड़कर रखें ताकि आगे-पीछे न हो एवं बाएँ हाथ से बाएँ पैर के घुटने को पकड़ें। अब बाएँ हाथ से घुटने को ज़मीन की तरफ़ दबाएँ और फिर घुटने की वक्षःस्थल की ओर उठाएँ। इस क्रिया

को शनैः शनैः इस प्रकार करें कि घुटना ज़मीन को छूने लगे। यही क्रिया पैर बदलकर करें।

**श्वासक्रम :** घुटने को ऊपर उठाते समय श्वास लें एवं नीचे करते समय श्वास छोड़ें।

गतिमय पूर्ण तितली आसन - अभ्यास क्रम **11**

पहला प्रकार **:** सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ। कमर, रीढ़, गर्दन एवं सिर सीधा रखें। अब दोनों पैरों को मोड़ते हुए दोनों तलवों को आपस में मिलाएँ और जननेंद्रिय के पास सटाकर रखें। दोनों हाथों से दोनों पैरों के पंजों को पकड़ें और दोनों जाँघों को ऊपर-नीचे पहले धीरे-धीरे फिर कुछ तेज़ी से ज़मीन से स्पर्श कराने की कोशिश करें।

दूसरा प्रकार **:** सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ। कमर, रीढ़, गर्दन व सिर सीधा एवं तना हुआ रखें। दोनों पैरों को मोड़ते हुए दोनों तलवों को आपस में मिलाएँ और जननेंद्रिय के पास सटाकर रखें। दोनों हाथ घुटनों पर रखें (बायाँ हाथ बाएँ घुटने पर एवं दाहिना हाथ दाएँ घुटने पर) एवं धीरे-धीरे दोनों हाथों से दोनों घुटनों को ज़मीन की तरफ़ दबाएँ फिर इन्हें वापस ऊपर आने दें। यही क्रम 20 से 25 बार करें। घुटनों का स्पर्श ज़मीन से

कराने की कोशिश करें।

श्वासक्रम :सामान्य

लाभ : ❍ तितली आसन से घुटने और नितंबों के जोड़ मज़बूत होते हैं और यह नितंब में बढ़ी हुई अनावश्यक चर्बी कम कर उन्हें संतुलित करता है।

❍ वायु प्रकोप शांत करता है।

❍ अधोभाग में नई चेतना प्रदान करता है।

❍ पाचनतंत्र को स्थायित्व प्रदान करता है।

❍ जंघाओं को सुडोल बनाता है।

सावधानियाँ : साइटिका एवं कमरदर्द वाले रोगी परिस्थिति अनुसार करें एवं तीव्र दर्द हो तो न करें।

मुष्टिका, मणिबंध, कोहनी, स्कंध शक्तिवर्धक/विकासक किया
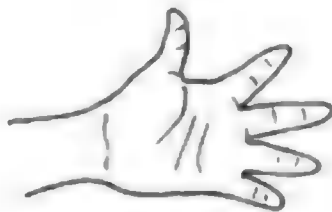
अभ्यास क्रम 12 : सुखासन के किसी भी आसन में बैठ जाएँ। दोनों हाथों को सामने की तरफ़ फैला लें। ऊँचाई कंधे के समकक्ष रखें। हथेलियाँ पूरी खुली हुई ज़मीन की तरफ़ रखें। अँगुलियों को फैलाकर तनाव उत्पन्न करें।
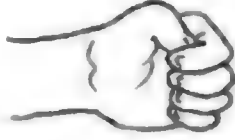
**श्वासक्रम/समय :** अँगुलियों के फैलते समय श्वास छोड़े एवं बंद करते समय श्वास लें। 10 से 15 बार यही क्रिया दोहराएँ।

अभ्यास क्रम **13 :** अब इसी क्रम में हाथों को आगे फैलाते हुए सामने की ओर तानें। हथेलियाँ खुली परंतु अँगुलियाँ आपस में सटी हुई हो। मणिबंध के जोड़ से पूरे पंजे को ऊपर की तरफ़ करते हुए अपनी तरफ़ तनाव दें। अब हथेलियों को नीचे की तरफ़ करते हुए पुनः अपनी तरफ़ तनाव दें। अभ्यास के दौरान हाथ बिलकुल सीधे हों।

**श्वासक्रम/समय :** ऊपर की तरफ़ करते हुए श्वास लें एवं नीचे की तरफ़ करते हुए श्वास छोड़े। 10 से 15 बार इस क्रिया को करें।
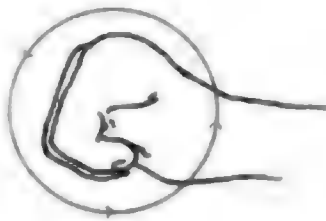
अभ्यास क्रम **14 (अ) :** अब उपरोक्त विधि में स्थित होकर अँगूठे को अंदर करते हुए मुट्ठी बाँधे और दाएँ से बाएँ वृत्ताकार 10 से 15 बार घुमाएँ। अब बाएँ से दाएँ यही क्रिया करें। हाथों को बदलकर यही क्रिया दोहराएं। भुजाएँ सीधी एवं हथेली ज़मीन की तरफ़ रखें।

अभ्यास क्रम **14 (ब) :** अब यही क्रिया दोनों हाथों को सामने की तरफ़ फैलाकर करें। दोनों मुट्ठियाँ एक ही दिशा में घुमाएँ। अर्थात् बाएँ से दाएँ 10 से 15 बार फिर दाएँ से बाएँ 10 से 15 बार।

**अभ्यास क्रम 14 (स) :** अब दोनों मुट्ठियों को विपरीत दिशा में एक साथ घुमाएँ जैसे बाईं मुट्ठी को दाएँ से बाएँ तो दाई मुट्ठी को बाएँ से दाएँ तरफ़ घुमाएँ। यही क्रम उल्टी दिशा में करते हुए दोनों मुट्ठियाँ घुमाएँ।

लाभ **:** कलाइयों के जोड़ मज़बूत होते हैं एवं अँगुलियों में होने वाले रोग नहीं होते। हाथों का रक्त संचार समुचित रूप से होता है।

**अभ्यास क्रम 15 (अ) :** सुखासन से किसी भी आसन में बैठें। दोनों हाथों को (कंधे के समानांतर) सामने फैलाएँ। हथेलियाँ आसमान की तरफ़ या एक-दूसरे के आमने-सामने रखें। अब अंगुलियों से कंधों को स्पर्श करें। कोहनियों से हाथों को मोड़ें और कंधों को पूर्णतः स्पर्श करने की कोशिश करें। तत्पश्चात् भुजाओं को पुनः सीधा करें। इस प्रकार 10 से 15 आवृत्तियाँ करें।
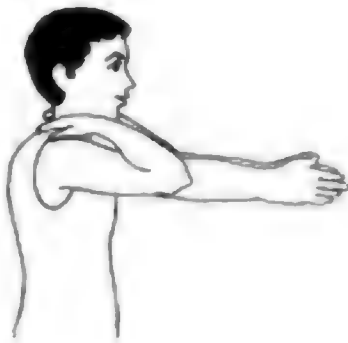
**अभ्यास क्रम 15 (ब) :** उपरोक्त स्थिति में ही बैठें। हाथों को पक्षियों के पंख की तरह अगल-बगल में फैलाएँ। हथेलियाँ आसमान की तरफ़ रखें। कंधे के समानांतर ही स्थिति निर्मित करें। अब हाथों को कोहनियों से मोड़ें और कंधों का स्पर्श करें। वापस हाथों को अगल-बगल में फैलाएँ। इस प्रकार 10 से 15 आवृत्तियाँ करें।

**अभ्यास क्रमः 15 (स) :** उपरोक्त स्थिति में ही बैठें। यह विधि गतिमय है। सामने की तरफ़ हाथों को कंधे के समानांतर फैला लें। हथेलियों का मुख आमने-सामने की तरफ़ रहेगा। अब दोनों को गतिमय करते हुए अगल-बगल में ले जाएँ और पुनः वापस सामने की तरफ़ ले आएँ। पुनः गति करते हुए हाथों को अगल-बगल में लाएँ और पुनः सामने की तरफ़ हुए हाथों को शिथिल करें एवं गोद में रखें। इस प्रकार 10 से 15 आवृत्तियाँ करें। (हाथों को अगल-बगल में ले जाते हुए हथेलियाँ ज़मीन की तरफ़ एवं लाते समय हथेलियाँ सामने की तरफ़ रहेंगी।)
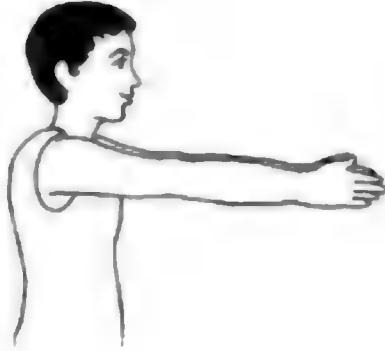
**अभ्यास क्रम 15 (द) :** सुखासन की स्थिति में बैठे एवं हाथों को अगल-बगल में फैला लें। हथेलियाँ ज़मीन की तरफ़ और भुजाएँ कंधों के समानांतर ही रखें। अब दोनों हाथों को गति करते हुए ऊपर की तरफ़ ले जाएँ। भुजाएँ कानों को स्पर्श करती हुई एवं हथेलियों का मुख आमने-सामने की तरफ होना चाहिए। वापस हाथों को कंधे के समानांतर लाएँ और गोद में रख लें। फिर दोबारा हाथों को कंधे के समानांतर लाएँ तथा हाथों को सिर के ऊपर की तरफ़ तानें और वापस नीचे कंधे के समकक्ष फैलाएँ। उन्हें गोद में रख लें। आप इस विधि को गिनती करते हुए भी कर सकते हैं। एक गिनती करते हुए कंधों को अगल-बगल में फैलाएँ। दो गिनती करते हुए ऊपर की तरफ़ ले जाएँ। तीन गिनती करते हुए वापस कंधों के समकक्ष अगल-बगल में रखें और चार गिनती करते हुए हाथों को गोद में रख लें। इस प्रकार 5 से 10 बार करें।

**श्वासक्रम/समय :** हाथों को फैलाते/उठाते समय श्वास लें एवं मोड़ते/नीचे लाते समय श्वास

छोड़ें। उपरोक्त सभी क्रियाएँ आवश्यकतानुसार कर सकते हैं।
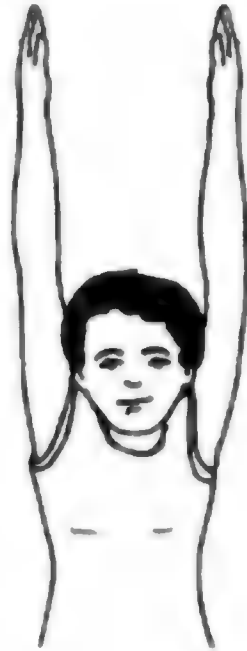
लाभ : ❍ फेफड़ों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। वक्षःस्थल चौड़ा और मज़बूत होता है।

- ❍ हाथों के समस्त जोड़ सुचारु ढंग से कार्य करने लगते हैं।
- ❍ कंधे मज़बूत होते हैं।

कंधों को घुमाने की क्रिया (स्कंध संचालन क्रिया)

अभ्यास क्रम **16,** विधि **:** सुखासन के किसी भी आसन पर बैठ जाएँ। दोनों हाथों को कंधों के समानांतर फैलाएँ और कुहनियों से मोड़ते हुए दाई हथेली को दाएँ कंधे पर एवं बाई हथेली को बाएँ कंधे से स्पर्श करते हुए रखें। अब दोनों कुहनियों को सामने लाते हुए छाती

के सामने आपस में स्पर्श कराने का प्रयास करें। तत्पश्चात कुहनियों को ऊपर उठाते हुए कानों से स्पर्श कराने का प्रयास करें एवं कुहनियों को जितना पीछे ले जा सकते हैं, ले जाएँ ताकि छाती अधिक फैल सके। दोनों भुजाओं का बगल से स्पर्श कराते हुए कुहनियाँ वापस मूल अवस्था मे ले जाएँ। इस प्रकार कुहनियों को घुमाते हुए 10 से 20 चक्र पूरे करें। अब यही क्रिया विपरीत दिशा की ओर करें।

श्वासक्रम : कुहनियाँ ऊपर उठाते समय श्वास लें एवं नीचे की ओर आते समय श्वास छोड़ें।

लाभ :
- छाती उन्नत एवं पुष्ट होती है। महिलाएँ इस क्रिया को करके वक्षःस्थल सुडौल बना सकती हैं।
- फेफड़ों के फैलने एवं संकुचन करने से उनकी कार्य प्रणाली में सुधार आता है। आकसीजन लेने की क्षमता बढ़ती है।
- कंधी के जोड़ सशक्त होते हैं।

वक्षःस्थल को घुमाने की क्रिया

विधि : सुखासन के किसी भी आसन में बैठ जाएँ। हाथों को कुहनियों से मोड़कर अँगुलियों को कंधों पर रख लें। अब धीरे-धीरे कंधों को दाएँ से बाएँ वक्षःस्थल के साथ आधा घुमाना है और फिर धीरे-धीरे वापस बाएँ से दाएँ आना है। इस प्रकार इस अभ्यास को आप चाहे तो धीरे-धीरे भी कर सकते हैं या जल्दी-जल्दी भी कर सकते हैं। इसमें मुख्य बात यह है कि सिर की स्थिति एवं दृष्टि बिल्कुल स्थिर रहेगी। सिर्फ़ कंधे और वक्षःस्थल ही गतिमय होंगे।

श्वासक्रम : दाएँ एवं बाएँ मुड़ते समय श्वास छोड़ें एवं मूल अवस्था में आते समय श्वास लें।

सावधानियाँ :
- यदि गर्दन में कोई रोग है तो विवेक का पूर्ण उपयोग करें।
- हृदय रोग या उच्च रक्तचाप हो तो क्रमश: अभ्यास करें।

लाभ :
- फेफड़े अधिक क्रियाशील हो जाते हैं जिस कारण उनमें अधिक ऑक्सीजन लेने

की क्षमता पैदा होती है।

- गर्दन में लोच, लचक पैदा होती है।
- उदर प्रदेश क्रियाशील होता है।

गतिमय ग्रीवा शक्तिवर्धक/विकासक क्रिया
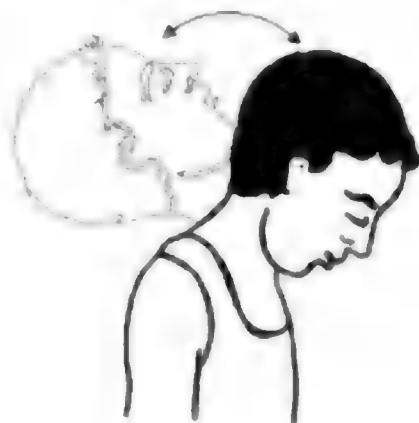
**अभ्यासक्रम 17 (अ) :** सुखासन के किसी भी आसन में बैठ जाएँ। अँगुलियों से ज्ञान मुद्रा बनाकर उन्हें गोद में या घुटनों पर रखें। आँखें बंद करें। अब सिर को धीरे-धीरे आगे की ओर इतना झुकाएँ कि ठुड्डी कंठकूप (वक्षःस्थल) की स्पर्श करने लगे फिर सिर को ऊपर उठाएँ और पीछे की तरफ़ धीरे-धीरे ले जाएँ। वापस मूल अवस्था में आएँ एवं इसी क्रम को 5 से 10 बार या आवश्यकता अनुसार करें।

**श्वासक्रम :** सामने की तरफ़ झुकाते समय श्वास छोड़ें एवं पीछे की तरफ़ झुकाते हुए श्वास लें।

**अभ्यास क्रम 17 (ब) :** उसी अवस्था में बैठे हुए अब सिर को बाई तरफ़ इतना झुकाने का प्रयास करें कि बायाँ कान बाएँ कंधे को स्पर्श करने लगे। सिर को धीरे-धीरे वापस सीधा करें और यही अभ्यास दाई तरफ़ भी करें। इस प्रकार 5 से 10 आवृत्तियाँ करें।

**श्वासक्रम :** सिर को झुकाते समय श्वास छोड़ें। सिर को ऊपर उठाते समय श्वास लें।

**अभ्यास क्रम 17 (स) :** उसी स्थिति में बैठे रहें। अब सिर को बिना झुकाए बाईं तरफ़ इतना घुमाएँ कि ठुड्डी कंधे के सीध में हो जाए और धीरे-धीरे वापस पहली स्थिति में आएँ। अब सिर को दाईं तरफ़ घुमाएँ ताकि ठुड्डी और कंधे एक सीध में हो जाएँ। यह एक आवृत्ति हुई। इसी प्रकार 5 से 10 आवृत्ति करें।

**श्वासक्रम :** बाएँ/दाएँ तरफ़ मोड़ते समय श्वास छोड़ें एवं सिर को सामने लाते समय श्वास लें।
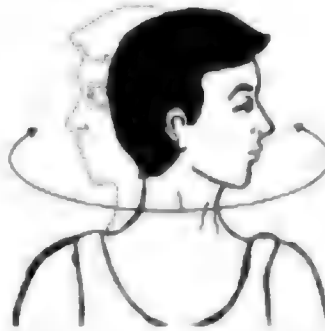
**अभ्यास क्रम 17 (द) :** उसी स्थिति में बैठे रहें। अब सिर को वृत्ताकार घुमाना है अतः सिर को सामने की तरफ़ झुकाएँ और धीरे-धीरे दाहिने तरफ़ से बाईं तरफ़ घुमाते हुए एक वृत बनाएँ। इसी अभ्यास को कम से कम 5 से 10 बार करें। अब इसी क्रिया को विपरीत दिशा से कर 5 से 10 आवृत्ति पूरी करें।

**श्वासक्रम :** सिर को ऊपर की तरफ ले जाते समय श्वास लें एवं नीचे की तरफ़ लाते समय श्वास छोड़ें।

**सावधानियाँ:** ❍ चक्कर आने पर रुक जाएँ एवं आँखें खोलकर आराम करें। ❍ गर्दन में किसी भी प्रकार के दर्द में या किसी भी प्रकार की कोई समस्या अथवा परेशानी महसूस हो तो योग गुरु से परामर्श लें।

अभ्यास क्रम **17 (ई) :** उपरोक्त विधि के अनुसार ही बैठे। अब गर्दन को सामने की तरफ़ धीरे-धीरे झुकाएँ। कुछ क्षण रुकें, वापस सिर को ऊपर की तरफ़ उठाएँ। धीरे-धीरे पीछे ले जाएँ। कुछ क्षण रुकें। धीरे-धीरे वापस सिर को सीधा करें। कुछ क्षण रुकें एवं सिर को धीरे-धीरे दाई तरफ़ घुमाएँ। कुछ क्षण रुकें और वापस धीरे-धीरे सिर को सीधा करें। फिर सिर को बाई तरफ़ घुमाएँ और वापस सिर सामने की तरफ़ ले आएँ। यह एक आवृत्ति हुई। इस प्रकार 5 आवृत्ति करें।
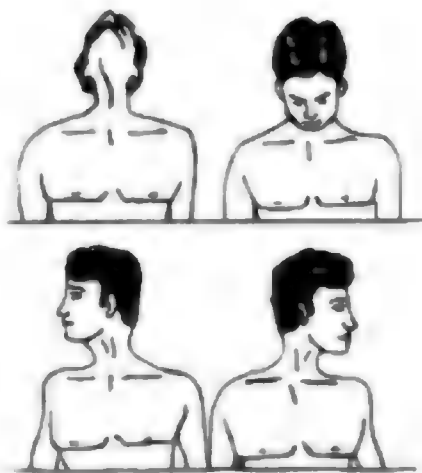
नोट **:** एक तरफ़ सिर झुकाते समय जितना समय लगता है, उतना ही समय सब तरफ़ लगना चाहिए।

श्वासक्रम **:** सिर को ऊपर ले जाते समय श्वास लें और झुकाते समय श्वास छोड़ें एवं सिर को घुमाते समय श्वास छोड़ें एवं सिर सामने सीधा करते समय श्वास लें।

लाभ **:** विद्यार्थी, ऑफ़िस में काम करने वाले और गर्दन झुकाकर काम करने वालों के लिए बहुत अधिक लाभदायक है। गर्दन संबंधी समस्त विकारों में लाभ मिलता है।

उदरप्रदेश अंग की क्रियाएँ

उत्तानपादासन
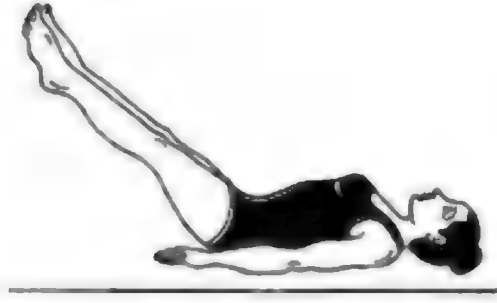
विशेष : यह आसन ध्रुव के पिता उत्तानपाद को समर्पित है।

अभ्यास क्रम **1** (अ)**:** पीठ के बल ज़मीन पर लेट जाएँ। दोनों हाथों को कमर के अगल-बगल में रखें। हथेलियाँ ज़मीन पर स्थिर करें। श्वास लें और हाथों पर हल्का दबाव देते हुए दोनों पैरों को एक साथ ज़मीन से लगभग $60^0$ के कोण पर उठाएँ। दोनों पैर एक साथ मिले हुए हों व पंजे सामने की तरफ़ तने हुए हों। एक से 2 मिनिट इसी अवस्था में रुकें, मूल अवस्था में वापस आएँ। श्वास प्रक्रिया सामान्य रखें।

श्वासक्रम/समय : पैरों को ऊपर उठाते समय श्वास रोकें एवं नीचे आते समय श्वास छोड़ें। ऐसा 3 से 5 बार करें।

सावधानियाँ : कमर या रीढ़ आदि में किसी प्रकार का तेज दर्द हो तो न करें।

लाभ :
- अपने स्थान से हटी हुई नाभि को ठीक करता है।
- पेट की चर्बी कम करता है।
- क़ब्ज़ के लिए रामबाण है। पीठ, कमर एवं पेट की माँसपेशियों को सुदृढ़ता प्रदान करता है।
- वायु विकार का शमन करता है।

गतिमय उत्तानपादासन

अभ्यास क्रम **1** (ब)**:**

विधि : पीठ के बल ज़मीन पर लेट जाएँ। हथेलियाँ अगल-बगल में रखें। श्वास लेते हुए बाएँ पैर को इतना उठाएँ कि समकोण की आकृति निर्मित हो, कुछ देर रुकें एवं श्वास छोड़ते हुए वापस मूल अवस्था में आ जाएँ। इस प्रकार बाएँ पैर से 5-6 बार करें। यही क्रिया दाएँ पैर से करें। अब यही क्रिया दोनों पैरों से एक साथ करें।

लाभ : ❍ उदर प्रदेश, पाचन तंत्र, मेरुदण्ड, पीठ के निचले हिस्से की पेशियों को मज़बूत बनाता है। लोच व लचक पैदा करता है।

- चर्बी दूर कर जंघाएँ एवं नितम्ब सुडोल बनाता है।
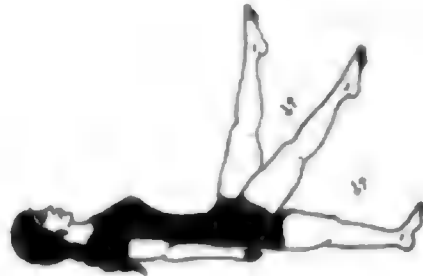
पैरों द्वारा वृत्त बनाना/पादवृत्तासन

अभ्यास क्रम **2 :**
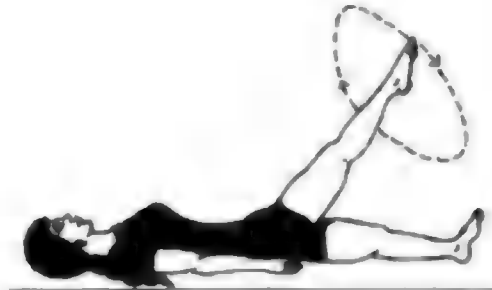
विधि **:** शवासन में लेट जाएँ। पहले दायाँ पैर सीधा उठाएँ और उसे दाएँ तरफ़ से बाएँ लाते हुए वृत्त बनाएँ। ऐसा 10 से 15 बार करें। अब उसी पैर से बाएँ से दाएँ तरफ़ घुमाएँ। अब बाएँ पैर से उपरोक्त क्रिया करें। अब दोनों पैरों से यही क्रिया दोहराएँ।

श्वासक्रम**:** क्रिया करते समय श्वास-प्रश्वास की गति सामान्य रखें।

लाभ **:** ❍ कमर दर्द में राहत।

- नितंब मज़बूत और सुडौल बनते हैं।
- पैर की समस्त माँसपेशियों को लाभ मिलता है।
- मोटापा कम करने के लिए सबसे अच्छा आसन है। पेट और जंघाओं की अतिरिक्त चर्बी को कम करता है।

**नोट :** चाहे तो प्रारंभ में दोनों पैरों से करते समय नीचे हाथ लगा लें। थकान होने पर विश्राम करें। जितना बड़ा वृत बना सकते है उतना बड़ा वृत बनाएँ।

पाद संचालन क्रिया/साइकिल चलाना/द्विचक्रिकासन
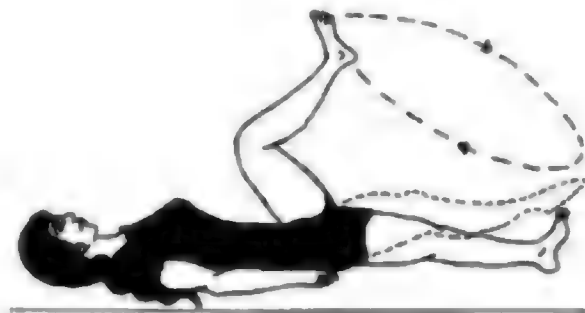
अभ्यास क्रम **3, (अ)** विधि **:** शवासन में लेटें और कल्पना करें कि आप साइकिल चला रहे हैं।

1. पहले एक पैर उठाएँ और साइकिल चलाने जैसा आगे-पीछे, ऊपर-नीचे करें। 10-15 बार सीधा पैडल एवं उतना ही उल्टा पैडल मारें।
2. अब दूसरे पैर से पहले पैर की पुनरावृत्ति करें।
3. अब दोनों पैरों को साइकिल पर बैठकर चलाने की क्रिया करें।
4. अब दोनों पैरों को एक साथ जोड़ें और साइकिल चलाने की क्रिया को दोहराएँ।
5. हर बार 10-15 सीधे पैडल और फिर उल्टे पैडल घुमाएँ।

श्वासक्रम **:** पैरों को लंबवत् करते समय श्वास लें एवं घुटने मोड़ते समय श्वास छोड़ें।

लाभ **:**
- उदर-प्रदेश की लाभ होता है।
- टखने, पिंडली, घुटने, जाँघ, नितंब व कमर इन सभी अंगों को लाभ मिलता है।
- जोड़ों को खोलकर मांसपेशियों को सुचारु करता है।
- अपानवायु का निष्कासन करता है।
- मोटापे को कम करने में सहायक है।
- जंघाओं और नितम्बों को सुडोल बनाता है।

**नोट :**

- थकान होने पर आराम करें।

- अनुकूलतानुसार करें।
- पैरों को जितना पीछे ला सकते हैं उतना पीछे की तरफ़ लाएँ।
- हाथों को भी पैरों की ही तरह आगे-पीछे व ऊपर-नीचे चला सकते हैं।

सुप्त पाद संचालन क्रिया
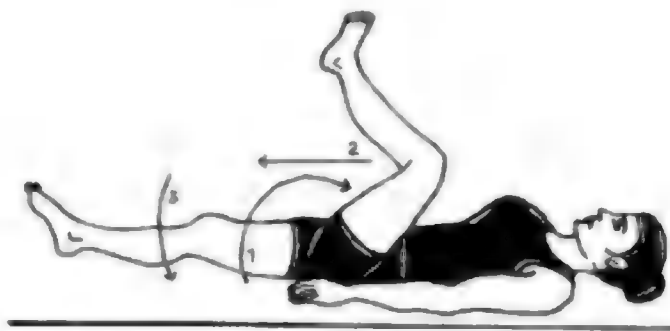
अभ्यास क्रम **3, (ब)** विधि **:** ज़मीन पर पीठ के बल लेट जाएँ। हाथों को अगल-बगल में रखें। बाएँ पैर को घुटने से इतना मोड़ें कि जंघा का हिस्सा पेट से स्पर्श करने लगे। अब पैर को सामने की तरफ़ सीधा करें (ज़मीन से दो फीट ऊपर) और ज़मीन पर रख दें। यह क्रिया 5 से 10 बार पहले बाएँ पैर से फिर दाएँ पैर से करें। अब यही क्रिया विपरीत दिशा में करें। पहले बायाँ पैर ज़मीन से 2 फ़िट ऊपर उठाएँ फिर पैर को घुटने से मोड़कर पेट से लगाएँ और ज़मीन पर सीधा रख दें। यही क्रिया दाएँ पैर से करें।

यही क्रिया दोनों पैरों से करें। पहले दोनों पैरों को घुटने से मोड़कर पेट से लगाएँ। सामने की ओर पैर सीधा करें (ज़मीन से दो फिट ऊपर) और ज़मीन पर रख दें। 5 से 10 बार यही क्रिया करें अब इसके विपरीत करें। दोनों पैर ऊपर उठाएँ। घुटने से मोड़कर पेट से स्पर्श कराएँ और वापस ज़मीन पर रख दें।

श्वासक्रम **:** पैरों को लम्बवत् करते समय श्वास लें एवं घुटने मोड़ते समय श्वास छोड़े।

समय **:** ये सभी क्रियाएँ 5-10 बार करें।

लाभ **:**
- उदर प्रदेश में स्थित चर्बी को कम करता है।
- पाचन तंत्र मज़बूत कर क़ब्ज़ दूर करता है।
- नाभि अपने स्थान से हट गई हो, तो उसे ठीक करता है।
- घुटने, जंघा, पिंडली में रक्त संचार बढ़ाकर उन्हें मज़बूत करता है।
- पैरों के काँपने से निजात दिलाता है।

- जंघा और नितम्ब को सही अकार प्रदान करता है।

**प्रकारांतर :** यही क्रिया बैठकर करने से उत्तान जानु संचालन क्रिया कहलाती है।

सुप्त पवनमुक्तासन - अभ्यास क्रम **4** (अ)

**(पहला प्रकार) :** शवासन की स्थिति में लेट जाएँ। अब दाएँ पैर को मोड़कर जाँघ को सीने की तरफ़ लाएँ। तदोपरांत दोनों हाथों के पंजों की आपस में फँसाकर घुटनों पर रखें। श्वास बाहर निकालें और हाथों से दबाव डालते हुए जाँघ को सीने से चिपकाने की कोशिश करते हुए सिर को ऊपर उठाकर नाक से घुटने का स्पर्श करें। कुछ देर इसी स्थिति में रहें। शवासन की स्थिति में आ जाएँ। श्वास एवं आसन के प्रति सजग रहें। इस प्रकार 3-5 बार करें और यही क्रिया पैर बदलकर करें।

सुप्त पवन्मुक्तासन - अभ्यास क्रम **4** (ब)
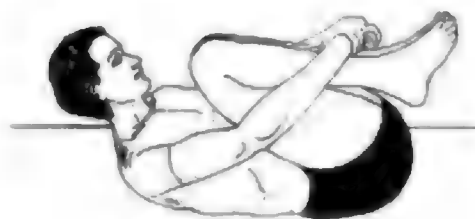
**(दूसरा प्रकार) :** शवासन की स्थिति में लेट जाएँ। अब दोनों पैरों को मोड़कर जाँघों को सीने से लगाने का प्रयास करें। इसके बाद दोनों हाथों से आलिंगन की भाँति घुटनों की लपेट लें। श्वास बाहर निकालें। अब हाथों से दबाव बनाते हुए जाँघों को सीने से चिपकाएँ और सिर को उठाते हुए नाक से घुटनों का स्पर्श करें। कुछ देर रुकें, वापस मूल अवस्था में आएँ। 8 से 10 बार यही क्रिया दोहराएँ। इसे पूर्ण पवनमुक्तासन भी कहते हैं।

पूर्ण पवनमुक्तासन में लुढ़कना - अभ्यास क्रम **5** (अ)
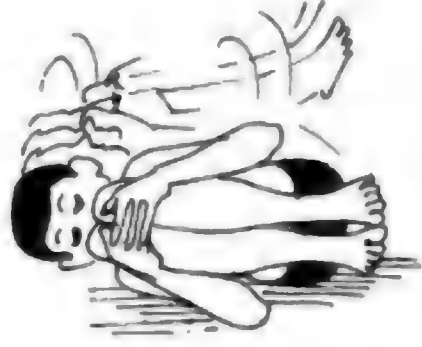
**(तीसरा प्रकार) :** पूर्ण पवनमुक्तासन की स्थिति में पहले बाई तरफ़ लुढ़कना है। जिसमें बायाँ कान, कधा, घुटना एवं समस्त बाएँ अंगों को ज़मीन से स्पर्श कराने की चेष्टा करना है। अब वापस आकर दाएँ अंग की तरफ़ लुढ़कना है। वापस मूल अवस्था में आएँ। यह एक आवृत्ति हुई। इस प्रकार 10 से 15 आवृत्ति करें।

गतिमय पवन मुक्तासन – अभ्यास क्रम **5 (ब)**
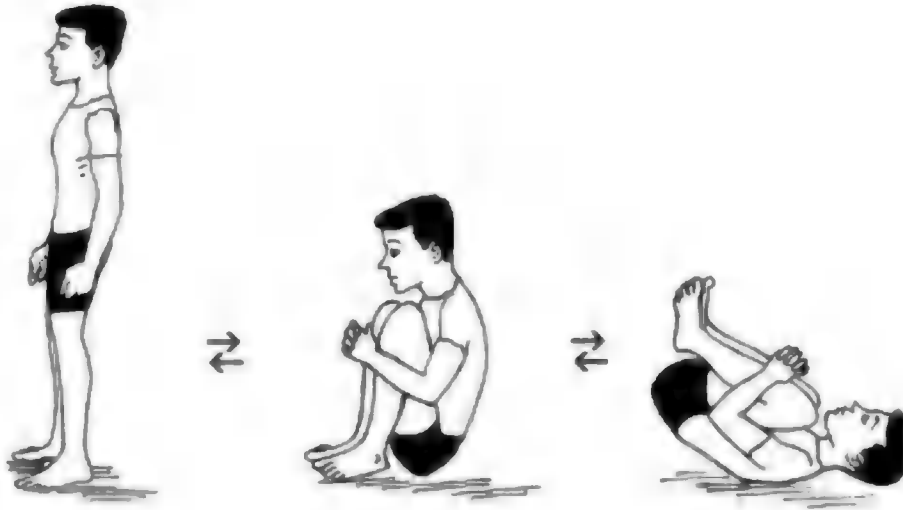
**(चौथा प्रकार) :** गतिमय के लिए पूर्ण पवनमुक्तासन की स्थिति में रहते हुए क्रमशः उकडू बैठे और बाद में हाथ छोड़ते हुए खड़े हो जाएँ (चाहें तो हाथों को ऊपर की तरफ़ तानें)। पुनः लौटते हुए उकडू की स्थिति के बाद पवनमुक्तासन की स्थिति में आएँ। यह एक आवृत्ति हुई। इस क्रिया को 5 से 10 बार करें।

सावधानी **:** व्यायाम क्रिया करते हुए सजग रहें, चूँकि इस पूरे अभ्यास में मेरुदण्ड पर विशेष दबाव पड़ता है। अतः पीठ के नीचे कंबल (मोटी तह करके) रख लें।

श्वासक्रम **:** गतिमय की स्थिति में श्वास सामान्य रखें।

लाभ : ❍ पवन-मुक्तासन क़ब्ज़ के रोगियों को विशेष रूप से लाभ देता है। मल-निष्कासन में कठिनाई, उदर-विकार के कारण होने वाले सिर-दर्द, अपान-वायु के ऊर्ध्वमुखी होने के कारण मस्तिष्क में गर्मी बढ़ने, संभ्रम आदि व्याधियों में यह आसन अत्यंत लाभकारी है।

- जैसा कि नाम है उसी अनुसार लाभ प्रदान करता है। शरीर से अपान-वायु को बाहर निकालता है। अतः शरीर हल्का महसूस होता है।
- मेरुदण्ड को सशक्त बनाता है।
- हृदय संबंधी विकार ठीक करता है। श्वास रोगी को लाभ मिलता है।
- चेहरे के तेज एवं ओज को बढ़ाता है।
- बालों को असमय झड़ने से रोकता है।
- शरीर को छरहरा करने में सहायक है।

मर्कटासन/सुप्त उदराकर्षणासन

अभ्यास क्रम **6 :**
**(प्रथम प्रकार) :** पीठ के बल आसन पर लेट जाएँ। हाथों को कंधों के समानांतर फैलाएँ और हथेली आकाश की तरफ़ खुली अवस्था में रखें या फिर अंगुलियों को आपस में फसाकर हथेलियों सिर के पीछे रखें, दोनों पैरों को मोड़कर नितंब के पास ले आएँ एवं दोनों पैरों के बीच लगभग डेढ़ फ़िट का अंतर रखें। अब दाईं तरफ़ धुटनों को झुकाते हुए ज़मीन से स्पर्श करा दें। इस स्थिति में दायाँ पैर ज़मीन से स्पर्श करेगा एवं बायाँ घुटना भी दाएँ पैर के पंजे के पास ज़मीन पर स्पर्श करेगा। गर्दन को बाई तरफ़ मोड़कर रखें। यही क्रिया बाई तरफ़ पैर मोड़कर करें।

(द्वितीय प्रकार) : पीठ के बल आसन पर लेट जाएँ। हाथों की स्थिति पूर्ववत् ही रहेगी। दोनों पैरों को मोड़कर नितंब के पास रखें। दोनों घुटने आपस में सटाकर रखें। अब घुटनों को दाई ओर झुकाते हुए ज़मीन से स्पर्श करा दें। बायाँ घुटना दाएँ घुटने के ठीक ऊपर होगा और दाएँ पैर के पंजे के ऊपर बाएँ पैर का पंजा होगा। गर्दन बाई तरफ़ घुमाकर रखें। अब यही क्रिया पूर्ण करने के लिए बाई तरफ़ पैरों को झुकाएँ व गर्दन दाई तरफ़ करें।

(तृतीय प्रकार) : पीठ के बल आसन पर लेट जाएँ। हाथों की कंधों के समानांतर फैलाएँ। अब दाएँ पैर को नितंब से उठाकर मोड़ते हुए समकोण को स्थिति निर्मित करें (चित्र देखें) और बाएँ हाथ से दाएँ पैर के अँगूठे को पकड़ें। गर्दन दाई तरफ़ मोड़कर रखें। अब यही आसन विपरीत दिशा में करें।

विशेष: पैर यदि बाएँ तरफ़ है तो सिर दाएँ तरफ़ करें एवं पैर दाएँ तरफ़ करते है तो सिर बाएँ तरफ़ करें इस प्रकार करते रहने से इन्टरनल मसाज होती है।

लाभ :
- प्रथम एवं द्वितीय प्रकार की विधि करने से स्लिप डिस्क, कमर दर्द, सायटिका, सर्वाइकल स्पोंडिलाइटिस वाले रोगियों को अतिशीघ्र लाभ पहुँचता है।
- पेट नरम करता है अर्थात् क़ब्ज़ व गैस दूर करता है।
- मेरुदण्ड की विशेष लाभ मिलता है।
- नितंब प्रदेश को भी लाभ प्राप्त होता है।
- पेट पर जमी चर्बी को दूर करता है। थोड़ा तेज़ गति से करने पर कमर पतली कर शरीर को छरहरा बनाता है।

- स्फूर्ति प्रदान करता है।

नोट : कुछ योग शिक्षक इसे कटि मर्दनासन भी कहते हैं।

योगाभ्यास मात्र व्यायाम ही नहीं बल्कि शारीरिक और
मानसिक स्वास्थ्य प्रदान करने एवं शरीर तथा मन के
एक रुप होकर कुछ नया घटित होने की संभावनाओं का
क्रियात्मक अभ्यास है।

-RJT

नौकासन
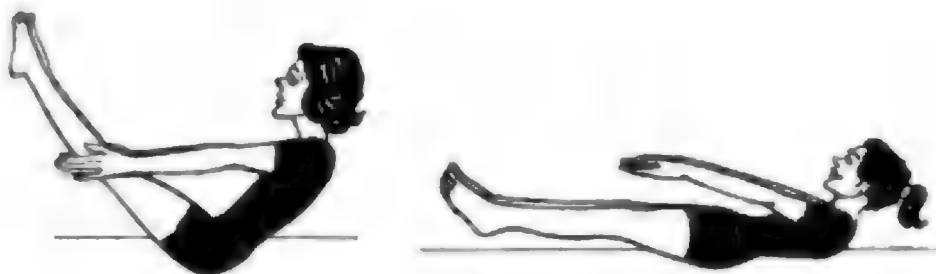
अभ्यास क्रम **8,** प्रथम प्रकार : पीठ के बल लेट जाएँ। हाथों को भी समानांतर रखें। श्वास लें। दोनों पैर दोनों हाथ, धड़ व सिर को एक साथ ज़मीन से धीरे-धीरे ऊपर उठाएँ। ध्यान रहे सिर और पैर लगभग एक ही ऊँचाई पर रहें। जितनी देर इस अवस्था में रह सकते हैं उतनी देर रुकें। यह आसन पूर्ण नौकासन कहलाता है। यही क्रम 5-6 बार करें।

द्वितीय प्रकार : दूसरे प्रकार से आप हाथों को लंबवत् रखे या अंगुलियों को आपस में मिलाकर सिर के पिछले हिस्से में रखें और लगभग 1 फिट पैर और कंधे उठाएँ। इस प्रकार यह आसन अर्ध नौकासन कहलाएगा।

ध्यान : स्वाधिष्ठान, मणिपूरक एवं अनाहत चक्र पर।

श्वासक्रम : यदि कब्ज़ हो तो पहले श्वास लें और ऊपर उठते समय व अंतिम स्थिति में एवं वापस आते समय अंर्तकुंभक करें। इसके बाद श्वास छोड़ें।

लाभ :
- इस आसन से पीठ बहुत ज़्यादा मज़बूत होती है।
- पेट की आँतों पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।
- अर्ध नौकासन प्लीहा, यकृत और पित्ताशय की उचित देखभाल करता है।
- मेरुदण्ड दृढ़ और मज़बूत होता है।
- पेट की कृमियों का नाश करता है।
- पैरों को बल मिलता है, बुढ़ापे में पैरों का कांपना बंद होता है।
- अपने स्थान से हटी हुई नाभि को ठीक करता है।
- इस आसन को नियमित करने से महिलाएँ अपने स्त्री रोगों को लाभ पहुँचा सकती हैं जैसे डिम्बाशय, गर्भाशय, बच्चे के जन्म के बाद योनि, जरायु, और लटकते पेट को ठीक कर सकती हैं।

नोट : प्रथम प्रकार को कुछ योग गुरु मुक्त हस्त मेरुदण्डासन भी कहते हैं।

---

* मैंने पवनमुक्तासन की क्रियाओं की बारीकियाँ सबसे पहले डॉ. के.एम. गांगुली साहब से सीखी। इसके बाद डॉ. फूलचन्द योगाचार्य जी से एवं इसके बाद एक शिविर में परमहंस निरंजनानंद सरस्वती से यह योग क्रियाएँ सीखीं। आप सभी का मैं आभार व्यक्त करता हूँ।

# शक्ति बंध की क्रियाएँ

रस्सी खींचने की क्रिया
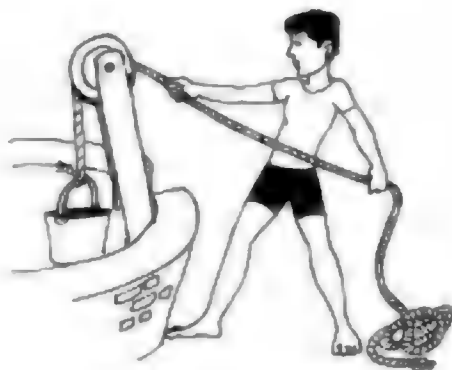
**अभ्यास क्रम 1 (अ) :** रस्सी खींचने की क्रिया को तीन प्रकार से कर सकते हैं। कल्पना करें कि हम कुएँ से पानी खींच रहे हैं। (हमारी क्रिया ठीक वैसी ही होनी चाहिए जैसी कि आपने देखी होगी - एक पैर आगे, एक पैर पीछे और पहले एक हाथ से फिर दूसरे हाथ से कुएँ से बाल्टी खींची जाती है। पहले इसी तरीके से करें फिर यही क्रिया पैर बदलकर करें। हाथ को जितना आगे व पीछे ले जा सकते हैं, ले जाएँ। यह क्रिया 10 से 20 बार करें।
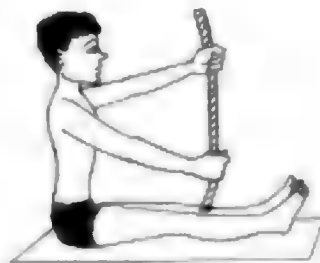
**अभ्यास क्रम 1 (ब) :** यही क्रिया बैठकर करें। सामने पैर तानकर बैठ जाएँ एवं उपरोक्त क्रिया करें।

अभ्यास क्रम **1** (स) (दही मथना)
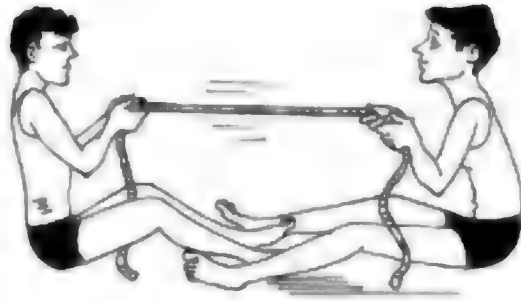
सामने पैर फैलाकर बैठ जाएँ और ऐसी कल्पना करें कि बाएँ हाथ में एक रस्सी का छोर है और दूसरे हाथ में दूसरी रस्सी का छोर। अब आप अलग-अलग हाथों से समानांतर रूप से एक साथ खींच रहे हैं और आपके सामने भी कोई साधक आपकी तरफ़ मुँह करके बैठा हुआ है। आपके द्वारा खींची हुई रस्सी को वह वापस खींच लेता है। आप फिर वही रस्सी दोबारा खींचते हैं सामने वाला साधक दोबारा वह रस्सी अपनी तरफ़ खींच लेता है। इस प्रकार की खींचा-तानी 15-20 बार करें। हाथों को जितना पीछे ले जा सकते हैं, ले जाएँ। यह क्रिया ठीक दही मथने के समान ही है।

श्वासक्रम : हाथ आगे लाते समय श्वास लें एवं हाथ पीछे करते समय श्वास छोड़ें।

लाभ :
- हाथों के पंजे, कोहनी, भुजाएँ और कंधों की माँसपेशियों को ज़बर्दस्त व्यायाम मिल जाता है। जिनसे वह शक्तिशाली और लोचमय बन जाती हैं। स्त्रियों के उरोजों का विकास करता है।
- मेरुदण्ड लचीला बन जाता है।
- पाचन तंत्र के रोगों का नाश होता है। पेट में जमीं चर्बी नम होती है।
- फेफड़ो को बल मिलता है।
- पाचन तंत्र के सभी अंगों को लाभ मिलता है।

गतिमय मेरु वक्रासन

**अभ्यास क्रम 2, विधि :** अपने आसन में सामने पैर फैलाकर बैठ जाएँ। अब दाएँ हाथ को बाएँ पैर के अँगूठे के पास लाएँ। हो सके तो स्पर्श कराएँ। अपने शरीर के कमर से ऊपरी भाग को बाई तरफ़ मोड़ते हुए बाएँ हाथ को पीछे की तरफ़ फैला दें एवं ऊपरी धड़ को मोड़ते हुए बाएँ हाथ को देखने का प्रयास करें। इस प्रकार दोनों हाथ एक सीध में हो जाएँगे। ठीक इसी प्रकार दूसरी तरफ़ से भी करें। यह 1 चक्र हुआ। इस प्रकार 10 से 20 बार करें। अभ्यस्त हो जाने पर गति बढ़ा सकते हैं। मुड़ते समय श्वास लें और वापस आते समय श्वास छोड़ें।

**लाभ :**
- मेरुदण्ड और पीठ के आंतरिक अंगों की मालिश होती है।
- उदर प्रदेश को निरोगता प्रदान करता है।
- फेफड़ों के सामान्य विकार दूर होते है।
- पेट के मोटापे को दूर करने में सहायक है।
- कमर पतली कर शरीर को छरहरा बनाता है।

आटा चक्की चलाने की क्रिया

अभ्यास क्रम **3, (अ)**
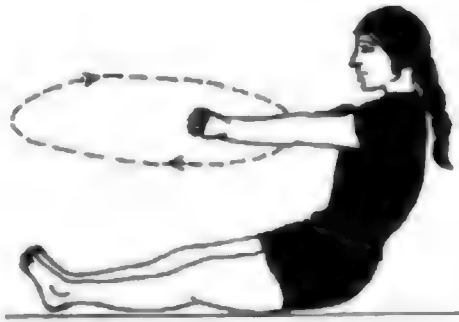
**विधि :** सामने की तरफ़ सीधे पैर करके बैठ जाएँ। हाथों को सीधे सामने की ओर तानते हुए पंजों को एक-दूसरे में फंसा लें। मन ही मन सोचें कि अब हम चक्की चला रहे हैं। इस प्रकार कमर और कमर के ऊपरी भाग को चारों तरफ़ चलाते हुए घेरा बनाएँ। जितना आगे-पीछे झुक सकते हैं उतना आगे-पीछे झुकें। अब यही क्रिया उल्टी तरफ़ से करें; पहले दाएँ से बाएँ फिर बाएँ से दाएँ 10 से 15 बार करें।

**श्वासक्रम :** पीछे की तरफ़ जाते समय श्वास लें एवं आगे की तरफ़ झुकते समय श्वास छोड़ें।

अभ्यास क्रम **3, (**ब**)**

**विधि :** सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ। अब दोनों पैरों को फैलाकर दूर-दूर कर लें और यह सोचें कि आपके ठीक सामने पैरों के बीच आटा चक्की रखी है। बस बाकी क्रिया पूर्वानुसार है।

अभ्यासक्रम**3, (**स**)**

**विधि :** तीसरी प्रक्रिया भी उपरोक्तानुसार ही है। इसमें आपको सिर्फ़ सुखासन में बैठना है और कल्पना करना है कि आपके सामने चक्की रखी है। और आप चक्की चला रहे हैं। पहले दाएँ से बाएँ, फिर बाएँ से दाएँ 10-15 बार यही क्रम दोहराएँ।

लाभ **:** ❍ सभी वर्ग के लिए यह लाभकारी है। इससे उदर-प्रदेश क अंदरूनी तंत्र की

मालिश हो जाती है।

- शौच की कठिनाई में लाभ होता है।
- कमर दर्द से राहत मिलती है।
- मासिक धर्म की अनियमितताओं को दूर करता है।
- मोटापे को दूर करता है एवं कमर को पतली करता है।
- पेडू (पेट का निचला हिस्सा), नितम्ब एवं जंघाओं की आकृति सुडोल होती है।

नोट : पुराने समय में हर घर पर हाथ से अनाज पीसने के लिए पत्थर की बनी हुई आटा चक्की हुआ करती थी। महिला या पुरुष वर्ग प्रतिदिन गेहूँ वगैरह पीसकर अनचाहे ही यह व्यायाम कर लाभान्वित हो जाते थे। किंतु अब यह सब-कुछ संभव न हो पाने के कारण हम सिर्फ़ यह क्रिया व्यायाम स्वरूप कर उसके लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

नौका-संचालन (नाव चलाने की क्रिया)
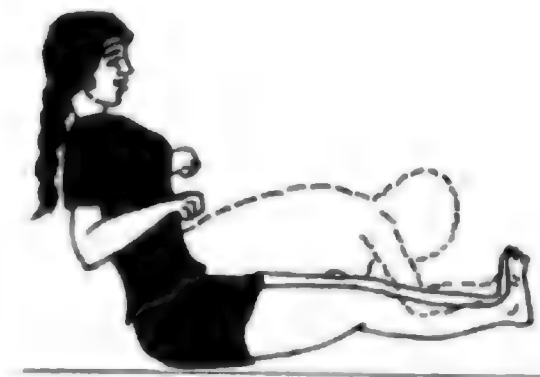
अभ्यास क्रम **4,** विधिः सुखासन में बैठ जाएँ। पैर सामने की तरफ़ फैला लें। अब हमें कल्पना करना है कि हम नाव चला रहे हैं। यही सोचते हुए नाव चलाने की क्रिया करनी है। जितना आगे-पीछे होते हुए अभ्यास कर सकें उतना करना चाहिए। अब ठीक इसके विपरीत अभ्यास करें जैसे कि नाविक नाव को आगे गतिमय करने के लिए चप्पू चलाता है और नाव को पीछे लौटाने के लिए दूसरी तरह से चप्पू चलाता है। यही क्रिया 10-15 बार करें।

श्वासक्रम **:** पीछे जाते समय श्वास लें एवं आगे झुकते समय श्वास छोड़ें।

लाभ **:** 
- इसके अभ्यास से कमर, मेरुदण्ड, पैर, पीठ, कंधे तथा हाथों को अच्छा व्यायाम मिल जाता है जिससे उससे संबंधित लाभ स्वत: मिल जाते हैं।

- शरीर में जमी हुई चर्बी को दूर कर बदन को छरहरा बनाता है। ।
- उदर प्रदेश को लाभ मिलता है।
- यह क्रिया शरीर में ऊर्जा प्रदान करती है।

मुष्टिका प्रघात क्रिया
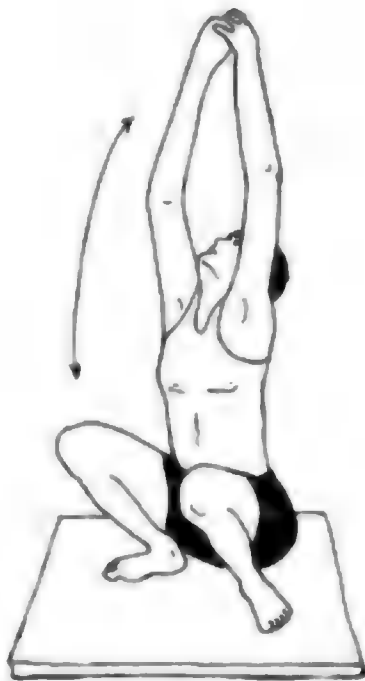
अभ्यास क्रम **5,** विधि **:** पैरों के पंजों के बल उकड़ू बैठ जाएँ। दोनों घुटनों के बीच की दूरी लगभग 2 फुट के आस-पास रखें। अब दोनों हाथों को सामने लंबवत करते हुए अंगुलियों को आपस में फँसाकर बाँध कर मुष्ठिका जैसा बना लें। तत्पश्चात हाथों को ऊपर की तरफ़ ले जाएँ एवं नीचे लाएँ। ऐसा लगे कि आप अपनी मुष्ठिका से ज़मीन पर रखी वस्तु पर प्रघात कर रहे हैं। इस दौरान संभव हो तो हाथों को ऊपर उठाकर अधिकतम पीछे ले जाएँ और ऊपर हाथों की ओर देखने का भी प्रयास करें।

श्वासक्रम **:** हाथों को ऊपर उठाते समय श्वास लें एवं नीचे लाते समय श्वास छोड़ें। इसकी 5 से 10 आवृत्ति पूरी करें।

लाभ **:**
- महिलाओं के गर्भाशय की माँसपेशियों की विशेष लाभ।
- फेफड़े को स्थायित्व मिलता है एवं कंधों के जोड़ भी लाभान्वित होते हैं।
- वक्षःस्थल को विकसित करने में महिलाओं को अत्यधिक लाभ।

- प्रजनन तंत्र के अंगों को लाभ मिलता है।

नोट : 
- कुछ योग शिक्षक इस क्रिया को काष्ठ तक्षणासन कहते हैं।
- अति उच्च रक्तचाप वाले तेज गति से न करें।

सुप्त नमस्कारम
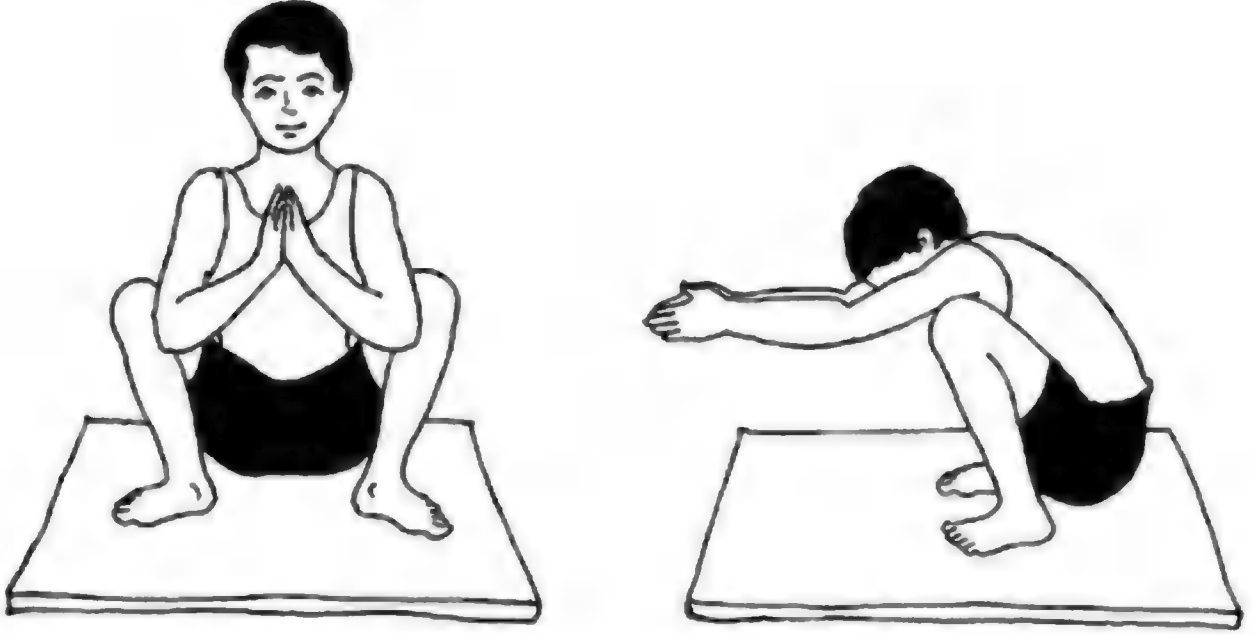
अभ्यास क्रम **6,** विधि **:** पंजों के बल उकडू बैठ जाएँ। पंजों के बीच अधिकतम दूरी रखें। दोनों हाथों से प्रार्थना की मुद्रा बनाकर लंबवत् करें तत्पश्चात् दोनों हाथों को घुटनों के बीच में रखें व भुजाओं पर घुटनों से अंदर की तरफ़ दबाव डालें। श्वास लें। अब ऊपर की तरफ़ देखें एवं हाथों को प्रार्थना की मुद्रा में छाती के पास लाएँ और भुजाओं से पैरों पर बाहर की तरफ़ दबाव डालें। श्वास छोड़ते हुए वापस मूल अवस्था में आ जाएँ। इस प्रकार 5 से 10 बार यही क्रिया दोहराएँ।

लाभ **:** पैरों की समस्त माँसपेशियों को लाभ मिलता है। कंधे व पीठ की सामान्य वेदना में लाभ मिलता है। यह संपूर्ण श्रोणी प्रदेश को भी लाभ पहुँचाता है।

योग क्रियाओं द्वारा हम वापस<br>अपनी संस्कृति की ओर लौट रहे हैं।

-RJT

वायु निष्कासन क्रिया

अभ्यास क्रम **7,** विधि **:** दोनों पैरों के बीच अंतर रखते हुए पंजों के बल उकड़ू बैठ जाएँ। हथेलियों को पंजों के नीचे रखें। अंगुलियाँ अंदर की तरफ़ हो। चाहे तो पैरों के पंजों को अपने हाथों से पकड़ लें। घुटनों से कुहनियों पर दबाव डालें व श्वास लेते हुए सामने की तरफ़ देखें। श्वास छोड़े, घुटनों को सीधा करते हुए खड़े हो जाएँ नितम्ब उठा हुआ सिर झुकी स्थिति में घुटनों को देखें। पैरों के पंजे पकड़े रहें। अभ्यास के दौरान आँखें खुली हुई हों। मेरुदण्ड को अधिक से अधिक झुकाएँ, श्वास रोकते हुए अनुकूलतानुसार रुकें, श्वास लेते हुए मूल अवस्था में लौट आएँ। यह एक चक्र हुआ। 5 से 10 चक्र करें।

सावधानी **:** उच्च रक्तचाप, चक्कर आना, या मेरुदण्ड की जटिलता ही तो पूर्णतः सजगता के साथ कम अभ्यास करें।

लाभ **:**
- नाम के अनुसार वायु को अधोगामी बनाता है।
- वायु विकार दूर कर मन को आनंद देता है।

- समस्त स्कन्धि-स्थल, टखने, घुटने, कंधे, कुहनी आदि के जोड़ों में फँसी वायु को दूर कर दर्द से राहत मिलती है।
- पिंडलियों, जाँघों, मेरुदण्ड, पीठ आदि में खिंचाव पैदा कर रक्त संचार को सुचारु करता है।

प्रकारांतर : पाद हस्तासन की तरह हाथों के पंजों को सामने की तरफ़ से पकड़ सकते हैं।

कौआ चालन क्रिया
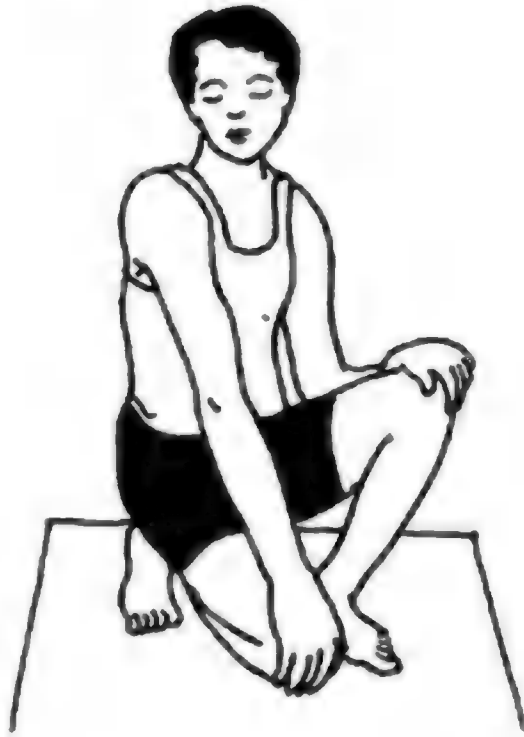
अभ्यास क्रम **8,** विधि **:** ज़मीन पर पंजों के बल उकडू बैठ जाएँ। दोनों घुटनों पर अपनी हथेलियों को रख दें और पंजों के अगले हिस्से पर ज़ोर देकर चलना शुरू कर दें। जब आप अपना बायाँ पैर आगे बढ़ाएँ तो दायाँ घुटना ज़मीन पर स्पर्श करे और जब दायाँ पैर आगे बढ़ाएँ तो बायाँ घुटना ज़मीन पर स्पर्श करे। कम से कम 15-20 क़दम चलें फिर वापस अपनी जगह पर आ जाएँ। श्वास सामान्य ही रहने दें।

लाभ **:** पैरों में रक्त संचार को बढ़ाकर उन्हें निरोग रखता है। पैरों की माँसपेशियों को मज़बूत करता है।

- कब्ज़/उदर विकार में भी प्रभावकारी है।
- क़ब्ज़ की अधिकता वाले एक गिलास पानी पीकर भी यह आसनात्मक क्रिया

कर सकते हैं।

उदराकर्षणासन

शाब्दिक अर्थ : उदर का मतलब पेट एवं आकर्षण यानी खिंचाव या खींचना।

अभ्यास क्रम **9,** विधि : इस आसन का उपयोग शंख प्रक्षालन की क्रिया में किया जाता है। पंजों पर शरीर का वज़न रखते हुए उकडू बैठ जाएँ। दोनों हाथ घुटनों पर रखें। इसी स्थिति में कमर से ऊपरी भाग को दाहिनें तरफ़ मोड़ें व अपने पीछे की तरफ़ देखने का प्रयास करते हुए बाएँ घुटने को ज़मीन से स्पर्श कराएँ। दाहिनी जाँघ से पेट पर दबाव स्थापित करें। क्षणिक रुकते हुए मूल अवस्था में वापस आएँ। अब यही क्रिया बाई तरफ़ के लिए करें। यह एक आवृत्ति हुई। इस प्रकार 8 से 10 आवृत्ति करें।

श्वासक्रम/समय : मूल अवस्था में गहरी श्वास लें एवं मुड़े। लगभग 5 सेकंड तक अन्तःकुंभक करें और मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ें।

लाभ :
- संपूर्ण उदर-प्रदेश को प्रभावित कर विकारों का नाश करता है।
- पाचनतंत्र की अंदरूनी मालिश होती है अतः पाचनतंत्र अपना कार्य सुचारु रूप से करता है।
- पेट की अतिरिक्त चर्बी को भी कम करने में सहायक है।

# ऊर्जा प्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ

अद्वासन
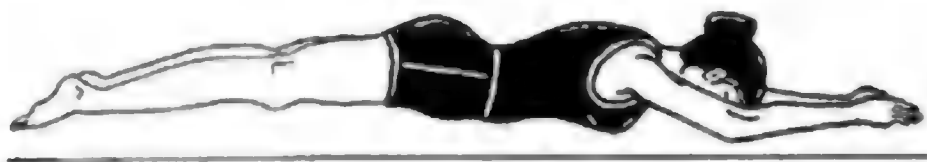
विधि : पेट के बल ज़मीन पर लेट जाएँ, दोनों हाथों की भुजाओं से कान का स्पर्श कराते हुए सामने की तरफ़ रखें। हथेलियाँ एवं पाद पृष्ठ ज़मीन से स्पर्श करते हुए रखें तथा नाक एवं ललाट को भी ज़मीन से स्पर्श कराएँ। इसी स्थिति में शरीर की शिथिल करें। सामान्य श्वास-प्रश्वास करें।

गतिमय अद्वासन
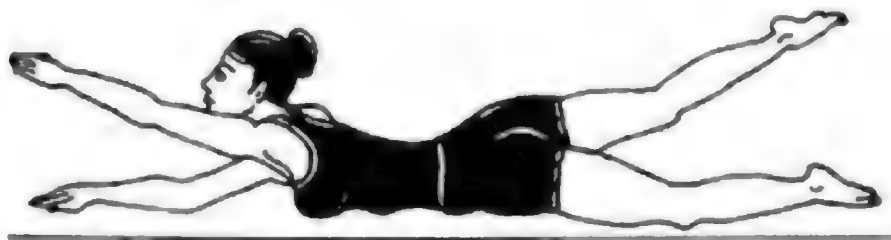
प्रकारांतर:

1. पेट के बल ज़मीन पर लेट जाएँ। दोनों हाथों को कान की तरफ़ से स्पर्श कराते हुए सामने की तरफ़ रखें। अब दाएँ हाथ एवं बाएँ पैर को एक साथ ऊपर की तरफ़ जितना उठा सकते हैं उठाएँ एवं सिर भी ऊपर उठाएँ। कुछ क्षण रुककर मूल अवस्था में वापस आएँ। इसी प्रकार बाएँ हाथ को एवं दाएँ पैर को एक साथ ऊपर की तरफ़ उठाएँ एवं सिर भी ऊपर उठायें। अब मूल अवस्था में वापस आएँ। यह एक चक्र हुआ। लगभग 10 चक्र पूरे करें।

2. दूसरे प्रकारांतर में दोनों हाथ, दोनों पैर एवं सिर (कुछ भाग छाती का) को एक साथ ऊपर उठाने की कोशिश करें। फ़िर मूल अवस्था में वापस आएँ। यह क्रिया लगभग 5 से 10 बार करें। ऊपर उठते समय श्वास लें एवं वापस आते समय श्वास छोड़ें।

लाभ : ❍ मेरुदण्ड से संबंधित रोगों के लिए अति लाभकारी।

- कमर दर्द, बदन दर्द एवं तनाव से मुक्ति।
- शिथिलिकरण के लिए उपयुक्त।
- ताज़गी प्रदान करता हैं।

गतिमय गोमुखासन
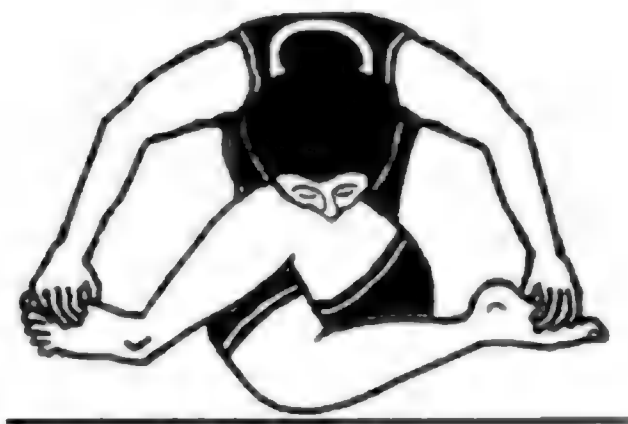
विधि :सामने की तरफ दोनों पैरों को फैलाकर बैठ जाएँ । बाएँ पैर को घुटने से मोड़कर पंजे को दाएँ नितंब के बगल में रख लें और इसी प्रकार दाएँ पैर के पंजे को बाएँ नितंब के समीप रखें । इस अवस्था में बाएँ घुटने के ऊपर दाएं पैर का घुटना आ जाएगा । अब दाएँ हाथ से बाएँ पैर के अंगूठे को पकड़े और बाएँ हाथ से दाएँ पैर के अंगूठे को पकड़ें और बाएँ हाथ से दाएँ पैर के अंगूठे को पकड़ें । यह इसकी प्रारंभिक अवस्था है । धीरे-धीरे श्वास को छोड़ते हुए सामने की तरफ झुके एवं माथे से घुटने के आगे को स्पर्श करने की कोशिश करें, कुछ क्षण रुके । ऊपर उठते हुए श्वास लें । यह एक आवृत्ति हुई । इस प्रकार 5 से 10 बार करें ।

प्रकारांतर:सामने की तरफ झुकते समय आप बाएँ और दाएँ पंजे की तरफ झुककर भी इस क्रिया को कर सकते हैं।

लाभ : ❍ कमरदर्द एवं मेरुदण्ड के सामान्य विकार को दूर करने में समर्थ ।

- पीठ की माँसपेशियों में खिंचाव होने के कारण उनमें पर्याप्त मात्रा में रक्त-संचार होने लगता है अतः उनमें होने वाले विकार नहीं हो पाते ।

- नितंबों के लचीलेपन को बढ़ाता है।
- चेहरे की झुर्रियों को कम कर ताज़गी प्रदान करता है।
- वायु विकार दूर करने में सहयोगी है।

सावधानि :

- सर्वाइकल प्राब्लम वाले इस आसन को न करें।
- मेरुदण्ड से संबंधित रोगी इस आसन को गतिमय न करें।

मकरासन
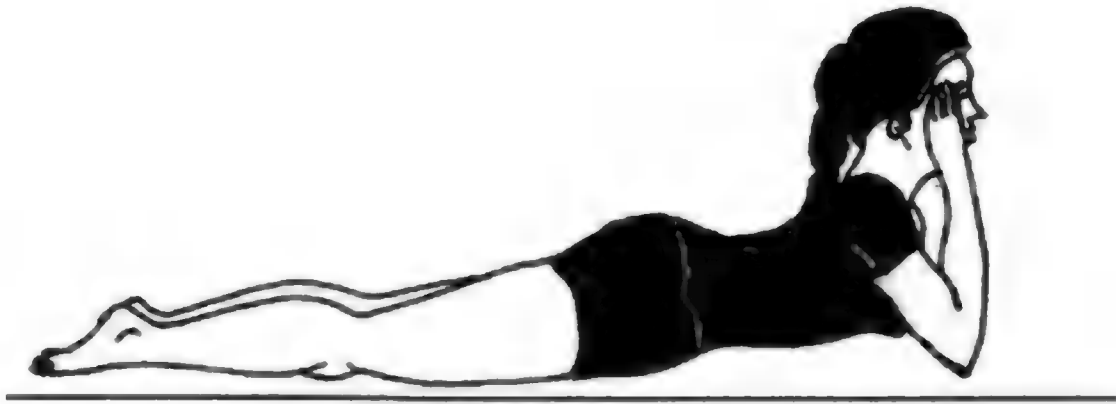
शाब्दिक अर्थ : जलचर प्राणी मगरमच्छ की तरह निर्मित की हुई आकृति को मकरासन कहते हैं।

विधि : सर्वप्रथम पेट के बल लेट जाएँ। चूँकि मगरमच्छ का सिर हमेशा उठा हुआ दिखाई देता है। अतः वैसी ही आकृति बनाने के लिए अपने दोनों हाथों की कोहनियों को ज़मीन पर टिकाएँ। अब गर्दन व सिर को उठाते हुए हथेलियों से गालों एवं ठुड्डी को सहारा दें। पूर्ण आराम की दशा में आँखों को बंद करते हुए ऊर्जा के ऊर्ध्वमुखी होने की कल्पना करें। सहज रूप से श्वास-प्रश्वास लें।

समय : अनुकूलतानुसार रुकें।

गतिमय मकरासन

विशेष : मकरासन से अन्य लाभ प्राप्त करने के लिए हम इसे थोड़ा गतिमय बनाते हुए अभ्यास कर सकते हैं।

प्रकारांतर :

1. पहले मकरासन की स्थिति में पहुँचे। अब धीरे-धीरे सिर को बाई तरफ़ घुमाते हुए, अपने बाएँ पैर की एड़ी व पंजे को देखें, थोड़ा रुकें फिर वापस मूल स्थिति में आएँ। इसी प्रकार दाई तरफ़ भी देखें। मूल अवस्था में वापस आएँ। यह 1 चक्र हुआ। इस प्रकार 10 चक्र पूरे करें। श्वास प्रक्रिया सामान्य रखें।
2. सबसे पहले मकरासन की स्थिति में पहुँचें। अब उसी स्थिति में रहते हुए धीरे-धीरे कुहनियों को आगे की तरफ़ सरकाना है। जैसे-जैसे कुहनियाँ आगे सरकेंगी वैसे-वैसे गर्दन के निचले हिस्से में हल्का तनाव उत्पन्न होगा। यथाशक्ति रुकें। और धीरे-धीरे वापस मूल अवस्था में आएँ। अब धीरे-धीरे कुहनियों को छाती के क़रीब लाएँ और वापस मूल अवस्था में आएँ। यह 1 चक्र हुआ। इसी प्रकार 5 से 10 चक्र पूरे करें।
3. मकरासन की स्थिति में रहें। अब पहले एक पैर को घुटने से मोड़कर जाँघ पर रखें। इस स्थिति में एड़ी नितंब प्रदेश को स्पर्श करेगी। दूसरा पैर वैसा ही रहेगा। इसी क्रम में अब दूसरा पैर जाँघ से स्पर्श करेगा, तो पहला पैर वापस ज़मीन पर आएगा। क्रमबद्ध तरीके से यही क्रिया दोहराएँ। इसी क्रिया को तेजी के साथ किया जा सकता है।
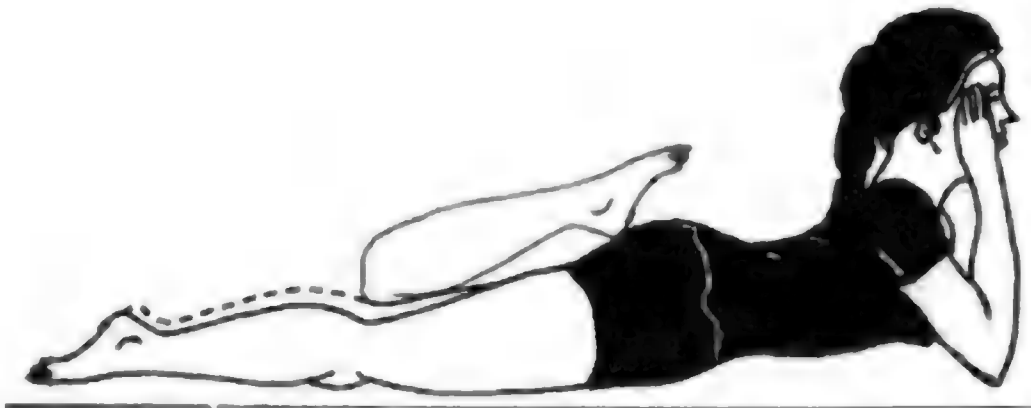
4. यही क्रिया दोनों पैरों से एक साथ भी करें। कम से कम 10 बार दोहराएं।

लाभ :
- सर्वाइकल प्रॉब्लम, स्लिप्पडिस्क, स्पॉण्डिलाइटिस में अत्यधिक लाभ।
- गर्दन की सामान्य बीमारियों में लाभ।
- स्फूर्ति, ताज़गी एवं ऊर्जा प्राप्त होती है।
- कमर दर्द, मेरुदण्ड वाले रोगियों को लाभ।
- अस्थमा/फुफ्फुस रोग से पीड़ित व्यक्ति भी लाभान्वित होता है।
- सर्वांगासन, हलासन एवं विपरीतकरणी मुद्रा के बाद यह आसन अवश्य करें।

व्यक्ति पहले धन कमाने के लिए
स्वास्थ्य की चिंता नहीं करता,
बाद में स्वास्थ्य ठीक करने के लिए
धन की चिता नहीं करता। आश्चर्य है!
**-RJT**

सर्पासन
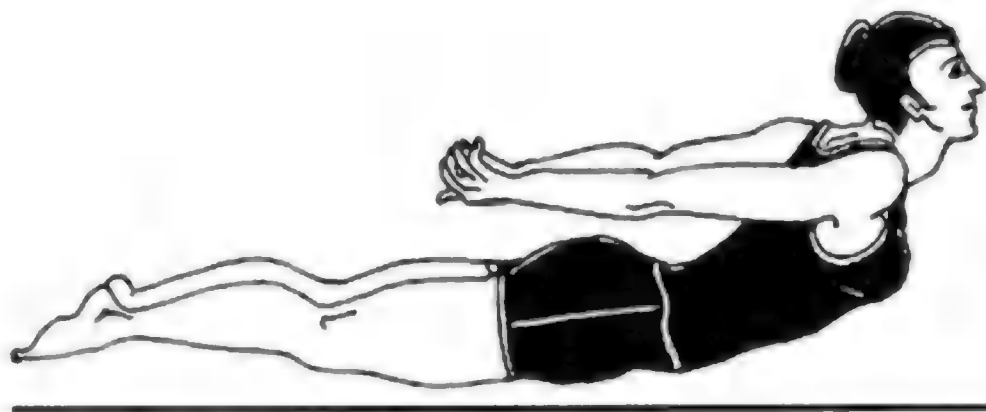
विधि : अपने स्थान पर कंबल के ऊपर पेट के बल लेट जाएँ। ठुड्डी ज़मीन पर टिकाएँ और सामने देखें। दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर आपस में पंजों को फंसा लें। धीरे-धीरे श्वास खींचें। अब श्वास रोकते हुए सिर एवं वक्षःस्थल को ज़मीन से ऊपर उठाएँ। हाथों को पीछे की ओर तानते हुए यथासंभव ऊपर उठाएँ और महसूस करें कि कोई पीछे से हाथों को खींच रहा है।

श्वासक्रम/समय : अनुकूलतानुसार रुकें एवं श्वास छोड़ते हुए वापस मूल अवस्था में आएँ। इस क्रिया के कम से कम 5 चक्र करें।

लाभ :
- वक्षःस्थल चौड़ा, मजबूत होता है। फेफड़े सुचारु रूप से फैलते हैं।
- दमा (अस्थमा) के रोगियों को लाभ।
- उदर प्रदेश के अंगों की मालिश होती है। अत: सभी अंग निरोग होते हैं। क़ब्ज़ दूर होता है।

सावधानियाँ : उच्च रक्तचाप एवं हृदय रोगी अधिक परिश्रम के साथ न करें।

अर्ध शलभासन
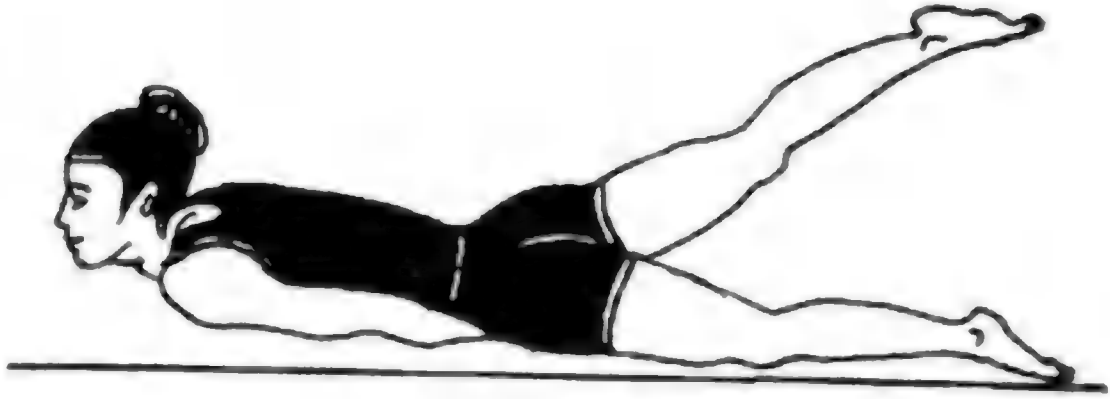
विधि : पेट के बल कंबल पर लेट जाएँ। दोनों हाथों की हथेलियों को जाँघों के नीचे रख लें। पैरों को लंबवत तानते हुए ठुड्डी को भी आगे की ओर थोड़ा-सा तानें। अब बाएँ पैर को ऊपर की तरफ़ (चित्रानुसार) जितना संभव हो ले जाएँ व दाएँ पैर को तनावमुक्त रखें। अनुकूलतानुसार रुकें एवं पैर को वापस लाएँ। इसी प्रकार दाएँ पैर से अभ्यास करें। यह अभ्यास कम से कम 5 से 10 चक्र तक करें।

श्वासक्रम/समय : श्वास लेने के साथ ही पैर ऊपर उठाएँ। कुंभक करें, पैर को नीचे लाते समय श्वास छोड़ें।

लाभ :
- क़ब्ज़ दूर करता है।
- उदर प्रदेश के अंगों को लाभ मिलता है।
- सायटिका एवं स्लिप्पडिस्क वालों को लाभ प्राप्त होता है।
- कमर दर्द एवं पीठ दर्द में लाभकारी।

गतिमय अर्ध शलभासन

इसमें अभ्यस्त होने के बाद पैरों को ऊपर-नीचे करने की गति में तेज़ी लाएँ। दायाँ पैर ऊपर तो बायाँ पैर नीचे करें। इस प्रकार क्रमश: ऊपर-नीचे करते हुए पैरों की गति प्रदान करें।

शलभासन
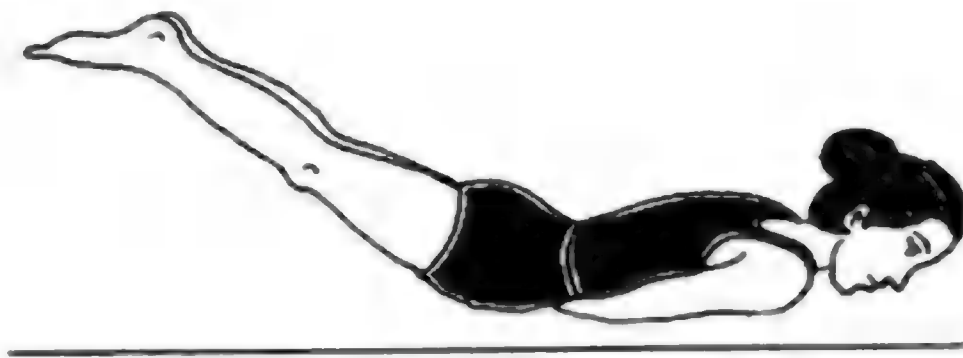
विधि : पेट के बल कंबल पर लेट जाएँ। दोनों हाथों की हथेलियों को अर्धमुट्ठी बनाकर जाँघों के नीचे रख लें। ठुड्डी को थोड़ा आगे की ओर तानते हुए ज़मीन पर ही स्थिर रखें। शरीर को शिथिल करें, परंतु पूर्णतः सजगता रखें। अब दोनों पैरों को एक साथ लंबवत रखे एवं श्वास लेकर ऊपर की तरफ़ पैरों को उठाएँ। जितनी देर रुक सकते हैं रुकें एवं श्वास छोड़ते हुए पैरों को नीचे लाएँ। शरीर को शिथिल करें। इस प्रकार कम से कम 5 बार यह क्रिया करें। कुछ योग शिक्षक सिर को ऊपर की तरफ़ उठाना एवं हाथों को जंघा के पास रखवाकर यह करवाते हैं।

ध्यान : विशुद्धि चक्र पर।

सावधानियाँ : हृदय रोगी, हाई ब्लडप्रेशर, हर्निया के रोगी धैर्य पूर्वक करें।

गतिमय शलभासन : जिन साधकों को उपरोक्त बीमारियाँ न हों वे इस शलभासन को गत्यात्मक रूप से कर सकते हैं, चूँकि दोनों पैरों को एक साथ संतुलन देकर उठाना होता है इसलिए पूरी सजगता के साथ अभ्यास करें।

लाभ :
- मेरुदण्ड के गुरियों में आए हुए रिक्त स्थान को ठीक करता है।
- नित्य अभ्यास से टी.बी. (क्षयरोग) नहीं होता।
- क्लोन ग्रंथि सक्रिय होने के कारण मधुमेह के रोगियों को लाभ।
- उदर प्रदेश को निरोग रखता है। साइटिका व स्लिप डिस्क वाले रोगी इस क्रिया को अवश्य करें।
- यकृत एवं आमाशय को क्रियाशील बनाता है।
- स्लिप डिस्क का रोगी जल्द ही निरोगी हो जाता है।
- मूत्राशय संबंधी बीमारी दूर होती है।

नोट : कुछ योग शिक्षक इस आसन को अर्ध शलभासन भी कहते हैं।

विपरीत नौकासन
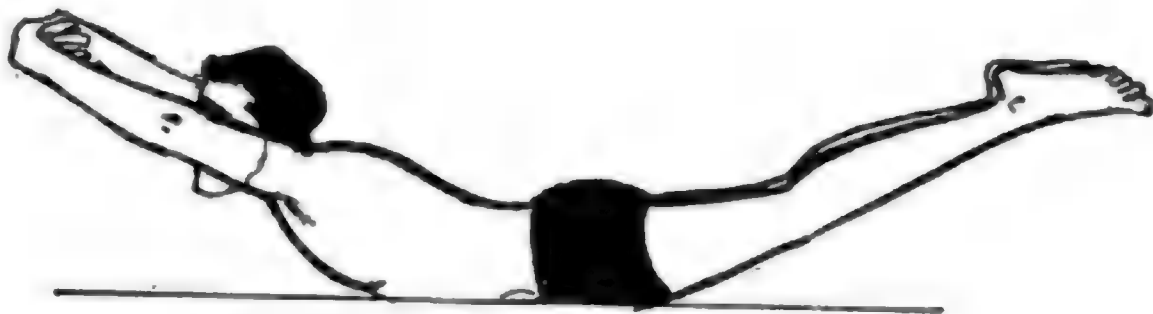
शाब्दिक अर्थ : विपरीत का अर्थ 'उल्टा' है।

विधि : पेट के बल ज़मीन पर लेट जाएँ। बाहों से दोनों कानों को दबाते हुए हाथों को आगे की तरफ़ नमस्कार की मुद्रा में ले जाएँ या आपस में फँसा लें। हल्का तनाव देते हुए धड़, सिर और पैरों को ऊपर उठाएँ। हाथ, सिर व पैरों को उठाते समय श्वास लें वापस आते समय श्वास छोड़े।

ध्यान : विशुद्धि चक्र पर।

लाभ :
- संपूर्ण शरीर को आराम देता है।
- शरीर में ऊष्णता को बढ़ाता है।
- मेरुदण्ड व कमर के लिए लाभकारी है।
- पैरों की माँसपेशियों में खिंचाव उत्पन्न कर रक्तसंचार विनियमित करता है।

टिप्पणी : यह शलभासन का ही एक प्रकार है।

यदि आप निरोगी हैं तो सदा निरोगी बने रहने के
लिए योगाभ्यास करें और यदि आप रोग ग्रस्त हैं
तो निरोग होने के लिए योगाभ्यास अवश्य ही
करें और स्वस्थ व सुंदर हो जाएँ।

**-RJT**

मुर्गा आसनात्मक क्रिया

विशेष : पहले स्कूलों में जब कोई विद्यार्थी शरारत करता था तो शिक्षकगण उसे मुर्गा बना देते थे। वैसे तो यह एक सज़ा होती थी लेकिन यह क्रिया शरीर को कई प्रकार से लाभ पहुँचाती है।

विधि : दोनों पैरों को थोड़ा सा फैलाकर खड़े हो जाएँ। नीचे की तरफ़ झुकते हुए को घुटने के अंदर की तरफ़ से डालकर कानों को पकड़ें। इस अवस्था में आने के बाद धीरे-धीरे नितंबों को ऊपर की तरफ़ उठाएँ और सिर को सामने की तरफ़ करने की कोशिश करें। 5 से 10 सेकंड रुकें और वापस मूल अवस्था में आएँ।

श्वासक्रम/समय : सामने की तरफ़ झुकते समय श्वास छोड़ें व मूल अवस्था में लौटते समय श्वास लें। 5 से 10 बार यही क्रिया करें।

लाभ :
- वायु निष्कासन के लिए बहुत अच्छा आसन है।
- चेहरे में रक्त संचार बढ़ने के कारण चेहरे के ओज-तेज में वृद्धि होती है। झुर्रियाँ समाप्त होती हैं।
- स्मरण शक्ति बढ़ती है। विद्यार्थियों को अवश्य करना चाहिए।
- आँखों के लिए लाभदायक है। क्रमश: अभ्यास करने से माइग्रेन में लाभ पहुँचता है।

- नितंब, जंघा, पीठ एवं मेरुदण्ड की माँसपेशियों में खिंचाव होता है इसलिए रक्त संचार बढ़ाकर उनके विकार दूर करने में सहायक है।

सावधानियाँ : हृदय रोगी, उच्च रक्तचाप, पुराने कमर दर्द के रोगी एवं गर्भवती महिलाएँ न करें।

त्रिलोकासन
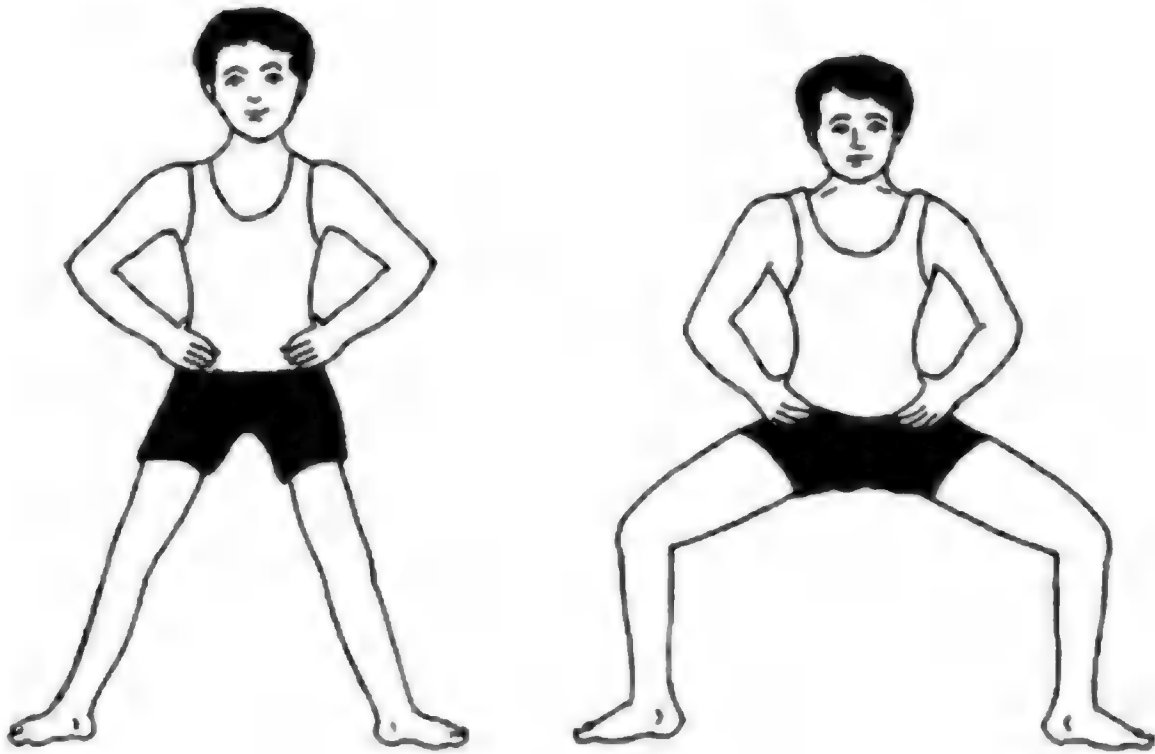
शब्दार्थ : त्रिलोक का अर्थ तीन लोक।

विधि : दोनों पैरों के बीच लगभग तीन फ़िट की दूरी रखकर खड़े हो जाएँ। दोनों हाथों को कमर पर इस प्रकार रखें कि अँगूठा कमर के पीछे पीठ की तरफ़ हो। चारों अँगुलियाँ सामने पेट की तरफ़ होनी चाहिए। मेरुदण्ड, ग्रीवा एवं सिर सीधा रखें। दृष्टि सामने की ओर रखें और अंतर्कुंभक करते हुए धीरे-धीरे ज़मीन की तरफ़ बैठने का प्रयास करें। क्षणिक रुकें, वापस मूल अवस्था में आएँ। धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा अधिक से अधिक ज़मीन के निकट नितंबों को ले जाने का प्रयास करें।

श्वासक्रम : नीचे बैठते समय श्वास छोड़े एवं ऊपर उठते समय श्वास लें।

समय : 4 से 5 बार क्रिया करें।

विशेष : दोनों पैरों के पंजे बाहर की तरफ़ निकले हों। इस अवस्था में कमर पर रखे हुए हाथों की कुहनी पंजों की सीध में हो जाती है।

लाभ :
- पिंडली और जंघाएँ मज़बूत होती हैं।
- पैरों का कंपवात मिटता है।
- नियमित रूप से यह क्रिया करने पर जंघाओं की अनावश्यक चर्बी कम हो जाती है। जंघाएँ सुडौल बनती हैं।
- उदर प्रदेश लाभान्वित होता है।

गतिमय त्रिलोकासन

विधि : इस आसन को और अधिक गतिमय बनाने के लिए मूल अवस्था (त्रिलोकासन) में खड़े हो जाएँ। पहले बाएँ पैर पर धीरे-धीरे वज़न देते हुए घुटने से मोड़ें (चित्रानुसार)। पूरा भार बाएँ पैर की पिंडली पर देते हुए झुकें एवं बाएँ पैर के पंजे पर ज़ोर देते हुए बैठने की कोशिश करें। दूसरा पैर लंबवत ही रखें। इस प्रकार एक पैर मुड़ा हुआ एवं दूसरा पैर तना हुआ रहेगा। अब धीरे-धीरे बाएँ पैर पर ज़ोर देते हुए सीधे खड़े हो जाएँ। यही अभ्यास दाएँ

पैर से करें।

श्वासक्रम/समय : नीचे बैठते समय श्वास छोड़ें। ऊपर उठते समय श्वास लें। 5-5 बार दोनों पैरों से करें।

विशेष : ❍ यह पिछले अभ्यास से थोड़ा कठिन है। अतः धीरे-धीरे ही करें।

❍ पैरों को अधिक से अधिक फैलाकर करने से सरलता महसूस होती है।

लाभ : वे सभी लाभ मिलते हैं, जो त्रिलोकासन से प्राप्त होते हैं एवं पैरों की माँसपेशियाँ अधिक शक्तिशाली हो जाती हैं।

गतिमय तिर्यक पृष्ठासन/गतिमय तिर्यक त्रिलोकासन

विधि : त्रिलोकासन की अवस्था में खड़े हो जाएँ या दोनों पैरों के बीच लगभग 3 फिट का अन्तर रखकर खड़े हो जाएँ हाथों को कमर पर रखें (अंगुलियाँ पेट की तरफ़ और अंगूठा पीठ की तरफ़ एवं पैरों की अंगुलियाँ बाहर की तरफ़ हो) अब कमर से ऊपर के भाग को बाएँ पैर की तरफ़ घुमाएँ और झुकाकर (चित्र देखें) समकोण की स्थिति निर्मित करें। कुछ देर रुकें और शरीर के ऊपरी भाग को घुमाते हुए मध्य में लाकर मूल अवस्था में आ जाएं।

यही क्रिया दाहिने तरफ़ से भी करें। विपरीत तरीके से क्रिया करें जैसे पहले सामने की तरफ़ झुकें, घूमते हुए बाई तरफ़ जाएँ, फिर तिर्यक अवस्था में खड़े हो, तत्पश्चात् ऊपरी भाग को सीधा कर सामने देखें। अभ्यस्त होने के बाद आसन करने में तेजी लाएँ।

श्वासक्रम/समय : दोनों तरफ़ 4 से 5 बार अभ्यास करें। शरीर को झुकाते समय श्वास छोड़ें मूल अवस्था में वापस आते समय श्वास लें।

लाभ :
- पीठ, कमर के विकार दूर करता है।
- शरीर को छरहरा बनाता है।
- पाचन तंत्र को क्रियाशील करता है।
- वायु का शमन करता है।

सावधानियाँ : कड़क मेरुदण्ड, तीव्र कमर दर्द से पीड़ित व्यक्ति न करें।

कटि वृत्तासन
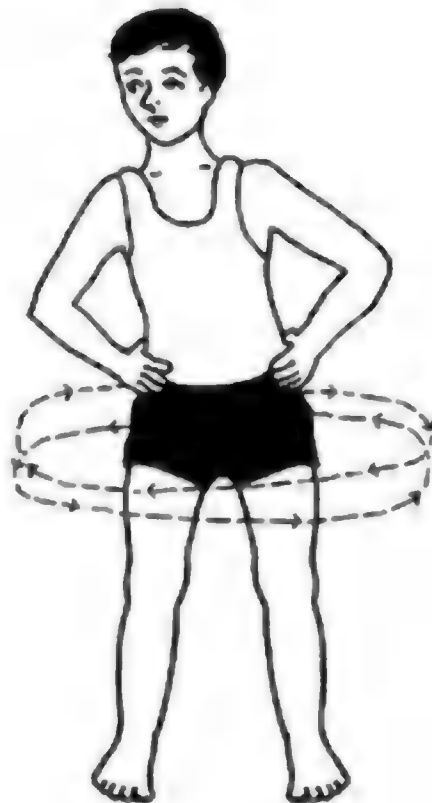
विधि : सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों पैरों के बीच ज़्यादा अंतर न रखें (लगभग 8 से 12 इंच)।

दोनों हाथ कमर पर रखें। अब कमर को गोल-गोल घुमाएँ। इसके लिए कमर को आगे झुकाएँ व दाई तरफ़ से घुमाते हुए पीछे से बाई तरफ़ ले आएँ, फिर सामने करें। इस प्रकार चारों तरफ़ कमर को घुमाते हुए वृत्त बनाएँ। कम से कम 40 से 50 बार दाएँ से बाएँ घुमाएँ और फिर वापस 40 से 50 बार विपरीत दिशा में घुमाएँ।

श्वासक्रम : आगे की तरफ़ कमर करते समय श्वास लें एवं पीछे की तरफ़ घुमाते समय श्वास छोड़ें।

नोट : कमर को जितना आगे-पीछे कर सकते हैं, करें।

लाभ :
- क़ब्ज़ का नाश करता है। पाचन क्रिया तीव्र करता है। गैस को बाहर करता है।
- ज़्यादा से ज़्यादा करने पर पेट की अतिरिक्त चर्बी दूर होती है।
- कमर पतली एवं मज़बूत होती है।
- मोटापा दूर करने में अधिक सहायक है।
- महिलाओं के लिए अति लाभदायक है।

विशेष : कमर में हाथ रखने की स्थिति में अंगूठे को पेट की तरफ़ भी रख सकते हैं।

कंगारू कूद

विधि : इस आसन में कंगारू की तरह उछल-कूद करनी होती है। अत: सीधे खड़े होकर चित्रानुसार स्थिति निर्मित करें। अपने स्थान से कंगारु की तरह पंजों के बल कूदते हुए कम से कम दस क़दम आगे जाएँ। वापस कूदते हुए अपने स्थान पर आ जाएँ। यह एक आवृत्ति हुई। इस प्रकार कम से कम 2 से 3 आवृत्ति करें।

श्वासक्रम : श्वास लेते हुए कूदें और अंतिम स्थिति में आकर श्वास छोड़ें।

लाभ :
- आलस समाप्त होता है। शरीर में स्फूर्ति एवं ताज़गी आती है।
- रक्तसंचार की क्रिया बेहतर होती है।
- यह क्रिया आनंद देती है।
- उदर प्रदेश क्रियान्वित होता है।

नोट : प्रयास करें कि अधिक उछलकर कूदते हुए आगे जाएँ

सावधानी : गर्भवती महिलाएँ या अधोभाग में जिनका आपरेशन हुआ हो वे न करें।

मेंढक कूद
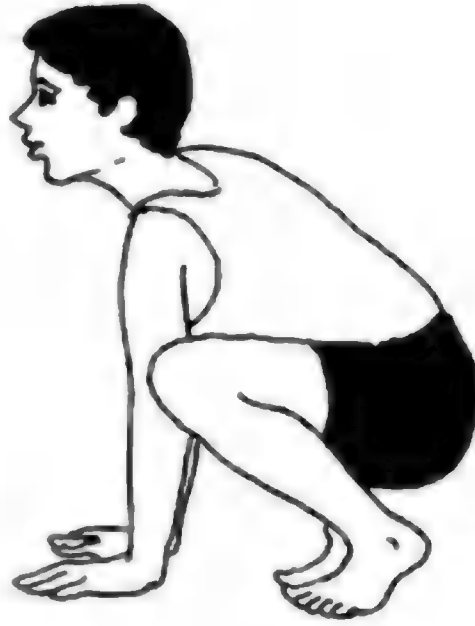
विशेष : आज के दौर में व्यक्ति मशीनों के अधीन होता जा रहा है। इस वजह से शरीर में स्फूर्ति की कमी हो जाती है। परंतु ऊर्जादायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ प्रसन्नता के साथ-साथ स्फूर्ति एवं ताज़गी भी बढ़ाती हैं।

विधि : जैसे मेंढक बैठता है, वैसे ही पंजों के बल उकडू बैठे (चित्र देखें)। घुटनों को फैलाएँ, हाथों की अंगुलियों को भी फैलाकर रखें। कुहनियाँ घुटनों से सटाकर रखें। अब पैरों और हाथों के पंजों पर दबाव डालें और मेंढक की तरह उछलकर आगे की ओर कूदें। दोबारा फिर आगे की ओर कूदें। इस प्रकार यह क्रिया 10 बार करें और वापस कूदते हुए अपने स्थान पर आएँ।

श्वासक्रम/समय : कूदते समय श्वास लेकर अंतर्कुंभक करें। ज़मीन पर आने पर श्वास छोड़ें। इस प्रकार 20 से 40 बार मेंढक की तरह कूदें।

लाभ :
- पूरे शरीर में रक्त संचार तेज़ होता है। सभी नस-नाड़ियाँ खुल जाती हैं।
- यह क्रिया प्रसन्नता देती है।
- हाथ-पैरों की माँसपेशियाँ मज़बूत होती हैं।
- फेफड़ों की कार्यक्षमता बढ़ती है।
- पाचन तंत्र मज़बूत होता है।

सावधानियाँ : गर्भवती महिलाएँ या अधोभाग के ऑपरेशन वाले व्यक्ति न करें।

बाल हॅंसी/बालमचलन क्रिया
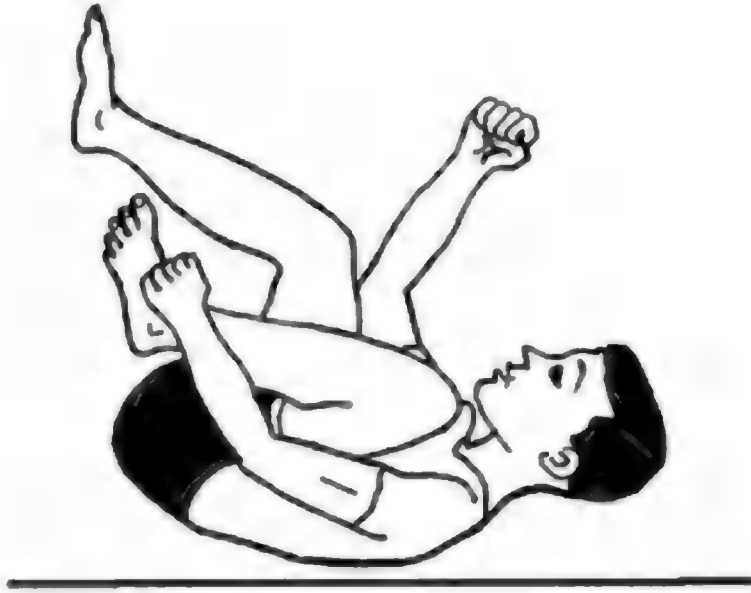
विधि : पीठ के बल लेट जाएँ। पूरे शरीर को तनाव मुक्त करें। हाथों की मुट्ठियाँ बंद करें। अब वैसा ही करें जैसे छः महीने का बच्चा अपने हाथ-पैरों को चलाता हुआ रोता है या हँसता है। इसके लिए दायाँ घुटना ऊपर मोड़ें और बायाँ हाथ सिर के पीछे से उठाएँ और छाती के बगल से आगे लाएँ। उसी समय क्रम से दूसरे पैर और हाथ के साथ भी वैसा ही करें। जल्दी-जल्दी हाथ-पैर चलाएँ। जैसे छोटा बच्चा हँसता है वैसे ही आप भी अपने आप को छोटा बच्चा समझकर हँसें ।

लाभ : ❍ हाथ-पैरों को आराम मिलता है। मेरुदण्ड, पीठ की माँसपेशियों और फेफड़ों में रक्त संचार सुचारु होता है।

- यह क्रिया आनंद प्रदान करती है।
- मानसिक तनाव को दूर करती है।
- अहंकार का भाव नहीं रहता एवं हल्कापन महसूस होता है।

विशेष : इस क्रिया को कराने का मतलब अपने अन्दर वात्सल्य और निष्कपट भाव पैदा करना है।

# दृष्टिवर्धक यौगिक अभ्यासावली

हालाँकि आँखों के दोष दूर करने के लिए कई प्रकार के योगासन इसी पुस्तक में दिए गए हैं। फिर भी इन सभी क्रियाओं को क्रमशः प्रतिदिन करने से कुछ ही महीनों में दृष्टि दोष लगभग समाप्त किया जा सकता है। दृष्टि दोष दूर करने के लिए अपने दिनभर के क्रियाकलाप और खान-पान पर ध्यान देना भी बहुत ज़रूरी है। निम्नलिखित अभ्यास करें और जीवन भर आँखों में होने वाली बीमारियों से बचें।

आँखों पर हथेलियाँ रखना - अभ्यास क्रम **1**

विधि **:** स्वैच्छिक रूप से किसी भी सुखासन के आसन में बैठें। हथेलियों को आपस में इतना रगड़ें कि गर्माहिट महसूस होने लगे। अब आँखें बंद करें और हथेलियों को आँखों पर रखें। आँखों में गर्माहट महसूस करें। हथेली के ठंडे होने पर यह क्रिया पुनः करें। इस प्रकार हथेलियों से निकलने वाली शक्ति को महसूस करें। यह विधि 3 बार करें।

दाएँ-बाएँ दृष्टि करना - अभ्यास क्रम **2**
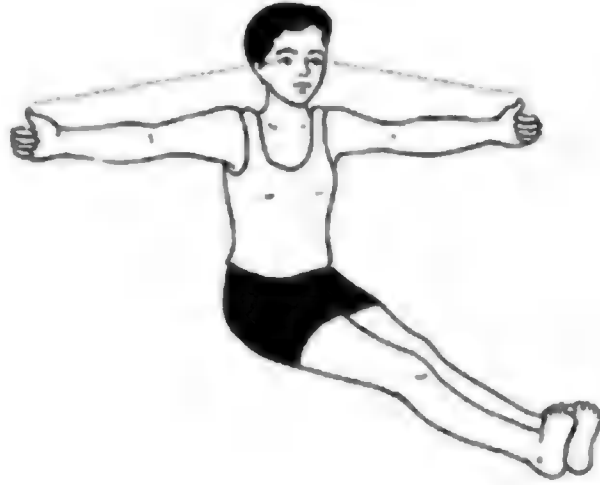
विधि : उपरोक्त विधि के अनुसार ही बैठें। या सामने पैर फैलाकर बैठें। हाथों की दोनों तरफ़ कंधों के समानांतर फैलाएँ। मुट्ठी बंद कर लें, परंतु अँगूठे को ऊपर की तरफ़ करें। सिर की स्थिर रखें। अब आँखों से पहले बाएँ अँगूठे को देखें फिर दृष्टि को बीच में नासाग्र पर लाएँ। इसके बाद दृष्टि को दाएँ अँगूठे पर ले जाएँ एवं वापस फिर नासाग्र पर लाएँ। यह क्रिया इसी क्रम में 10 से 15 बार या आवश्यकतानुसार करें और आँखों को कुछ देर के लिए आराम प्रदान करें।

श्वासक्रम : दाएँ-बाएँ देखते समय श्वास लें और सामने देखते समय श्वास छोड़ें।

सामने और दाएँ/बाएँ देखना - अभ्यास क्रम **3**

विधि : पिछली विधि के अनुसार ही बैठें। अब कंधों के समानांतर बाएँ हाथ की आँख के

ठीक सामने एवं दाएँ हाथ को दाई तरफ़ ले जाएँ। कंधे की ऊँचाई के बराबर अँगूठे को बाहर निकालकर मुट्ठी बंद कर स्थिर करें। अब बिना सिर हिलाए सामने वाले अँगूठे को देखें फिर दाएँ अंगूठे को देखें। इस प्रकार 10 से 15 बार देखें और हाथों की स्थिति को बदलकर बाएँ हाथ को बाई तरफ़ व दाएँ हाथ को सामने की तरफ़ करते हुए करें। आँखों को कुछ देर के लिए आराम प्रदान करें।

श्वासक्रम **:** दाएँ और बाएँ देखते समय श्वास लें और सामने देखते समय श्वास छोड़ें।

दृष्टि को दाएँ से बाएँ करना - अभ्यास क्रम **4**
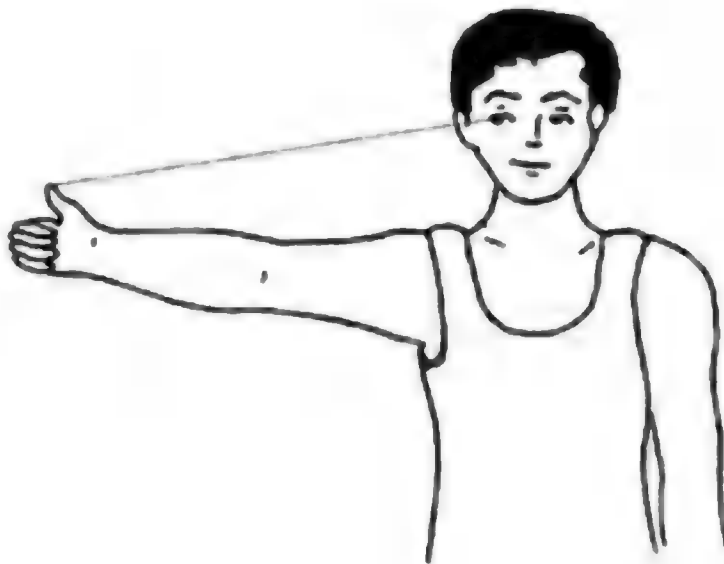
विधि **:** उपरोक्त विधि के अनुसार ही बैठे रहें। दाएँ हाथ को ठीक आँख के सामने करें।मुट्ठी बंद और अंगूठा बाहर निकला हुआ अब हाथ को दाईं तरफ़ ले जाएँ। (दृष्टि अंगूठे पर ही रखें)। फिर हाथ को सामने से घुमाते हुए बाई तरफ़ ले जाएँ एवं वापस हाथ को आँखों के सामने स्थिर करें। इसी प्रकार यह अभ्यास 10 से 15 बार करें। इसके बाद आँखों को लगभग आधा मिनट तक आराम दें।

श्वासक्रम **:** दाएँ जाते समय श्वास लें। वापस आते समय श्वास छोड़ें। बाएँ जाते समय भी यही प्रक्रिया दोहराएँ।

दृष्टि को वृताकार घुमाना - अभ्यास क्रम **5**

**विधि :** पिछली विधि के अनुसार ही बैठे रहें। बाएँ हाथ को जंघाओं पर रखें और दाएँ हाथ को सामने की तरफ़ ताने हुए रखें (मुट्ठी बंद)। अँगूठा ऊपर की तरफ़ निकला हुआ व सिर स्थिर रखें। अब दृष्टि को अँगूठे पर केंद्रित करें और तने हुए हाथ से तनी हुई अवस्था में ही सामने की तरफ़ दाएँ से बाएँ एक बड़ा सा वृत्त बनाएँ (दाई तरफ़ से घुमाते हुए पहले दाई तरफ फिर उफ्रपर की तरफ रखें एवं बाद में बाई तरफ़ से लाते हुए सामने की तरफ़ ले आएँ)।

यही क्रिया 5 बार दाएँ से बाएँ और 5 बार बाएँ से दाएँ की ओर करें। वृत्त बनाते समय सिर स्थिर, मेरुदण्ड सीधा एवं सिर्फ दृष्टि चलायमान रहेगी। अब आँखों को आराम दें।

**श्वासक्रम :** हाथों को ऊपर ले जाते समय श्वास लें और नीचे का वृत्त बनाते समय श्वास छोड़ें।

दृष्टि को ऊपर-नीचे करना - अभ्यास क्रम **6**
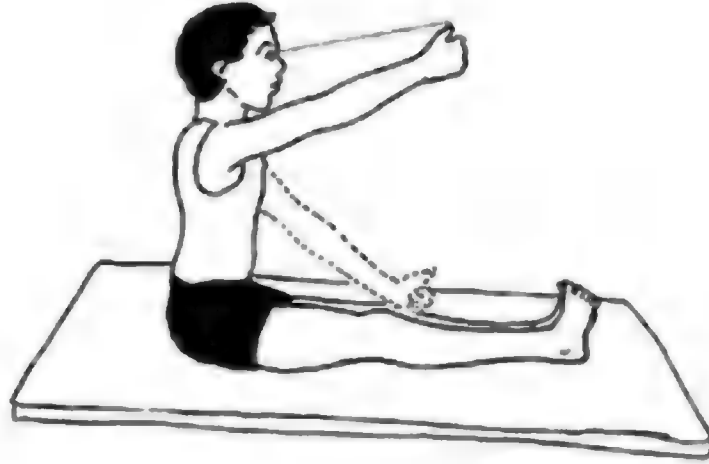
विधि : उपरोक्त विधि अनुसार ही बैठे रहें। दोनों हाथों की ऊपर निकालकर सामने रख लें। मेरुदण्ड सीधा तना हुआ व सिर स्थिर रखें। अब दाएँ हाथ के अँगूठे पर दृष्टि स्थिर करें और दाएँ हाथ को धीरे-धीरे ऊपर की तरफ़ ले जाएँ और वापस (दृष्टि को पूर्णतः अंगूठे पर ही केंद्रित रखते हुए ऊपर-नीचे करें) अँगूठा एवं दृष्टि नीचे की तरफ़ करें। अब यही क्रिया बाएँ हाथ से भी करें। इस प्रकार दोनों हाथों से 5-5 बार करें।

श्वासक्रम : दृष्टि ऊपर ले जाते समय श्वास लें व नीचे करते समय श्वास छोड़ें।

दृष्टि को दूर पास करना - अभ्यास क्रम 7
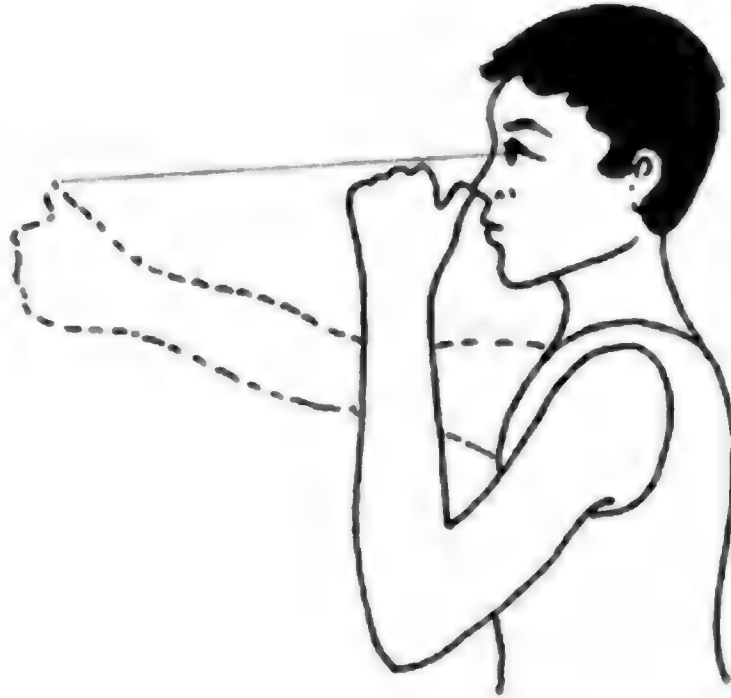
विधि : पिछली विधि के अनुसार ही बैठे रहें। दाएँ हाथ को कंधे के समकक्ष उठाकर सामने की तरफ सीधा तान दें। मुट्ठियाँ बंद, अंगूठा बाहर ऊपर उठा हुआ रखें। दृष्टि अँगूठे पर स्थिर करें और धीरे-धीरे अँगूठे को पास लाते हुए नाक से स्पर्श कराएँ और वापस दूर ले जाते हुए हाथ को लंबवत तान दें (दृष्टि अँगूठे के ऊपरी भाग पर स्थिर रखें। फिर अँगूठे को पास लाते हुए नाक से स्पर्श कराएँ। इस प्रकार 5 आवृत्ति करें।

श्वासक्रम : अँगूठा पास लाते समय श्वास छोड़ें और दूर ले जाते समय लें।

दूर-पास देखना - अभ्यास क्रम **8**

विधि : इस अभ्यास को खुले मैदान या घर की छत पर कर सकते हैं। नासिका के अग्रभाग पर 5 सेकंड तक दृष्टि स्थिर करें और उसके बाद दूर आकाश पर या दूर किसी वस्तु पर 5 सेकंड के लिए दृष्टि स्थिर करें। यही क्रम 5 से 10 बार करें।

श्वासक्रम : पास देखते समय श्वास छोड़ें। और दूर देखते हुए श्वास लें।

विशेष :
- सभी क्रियाओं के बाद हथेलियों को रगड़कर आँखों पर लगाएँ।
- अंत में कुछ देर शवासन में आकर विश्राम लें।
- आँखों में ठंडे पानी के छींटे दें। आँखों को रगड़े नहीं।

आँखें बंद करना और खोलना - अभ्यास क्रम **9**

विधि : पूरा ध्यान आँखों की तरफ़ रखें। आँखों को तेज़ी के साथ बंद करें (मिचमिचाएँ या मीचें)। आँखों के चारों तरफ़ से ज़ोर लगाएँ और 1 से 2 सेकंड के बाद खोलें। यही क्रिया 5 से 10 बार करें। यह क्रिया करते समय दाँतों को आपस में जोड़कर रखें।

विशेष: कुर्सी या किसी आरामदायक जगह पर बैठकर भी कर सकते हैं। किसी भी प्रकार कठिनाई महसूस हो तो तुरंत बंद कर दें।

आँखों के व्यायाम से लाभ

- आँखों की समस्त पेशियों को लाभ मिलता है।
- आँखों के तिरछेपन को दूर करता है। तिरछापन आने से रोकता है।
- जिनकी नज़रें कमज़ोर हैं। जो चश्मा लगाते हैं, पढ़ते समय आँखों से आँसू आने लगते हों, इन सभी के लिए आँखों के ये सारे व्यायाम लाभदायक हैं।
- आँखें स्वस्थ एवं सुंदर बनती हैं।

- बुढ़ापे तक आँखों में कोई रोग नहीं हो पाता है।

दूसरों के रास्ते में फूल बिछाना चालू कर दो।
तुम्हारे रास्ते के काँटे भी फूल बन जाएंगें।

**-RJT**

# तनाव मुक्ति एवं शिथिलता के लिए आसन

शवासन/मृतासन/पूर्ण विश्रामासन

**शाब्दिक अर्थ :** शव का अर्थ मृत शरीर है। यह आसन करते समय शरीर निश्चल हो जाता है, जैसे मृत हो गया हो। इसलिए इस आसन का नाम मृतासन भी है।

**विधि :** पीठ के बल लेट जाएँ। हाथों को दोनों तरफ़ कमर के समकक्ष रखें। हथेलियाँ आकाश की तरफ़ अधखुली रखें। एड़ियाँ आपस में मिली हुई हों पर पंजों के बीच एक निश्चित दूरी बनाए रखें। आँखें बंद रखें जीभ स्थिर रखें। अब धीरे-धीरे श्वास लें और छोड़ें। एकाग्रता बढ़ाने के लिए श्वास पर ध्यान दें। कुछ देर बाद नाड़ियाँ निष्क्रिय हो जाती हैं। साधक की निश्चलता बढ़ने लगती है एवं वह हल्कापन व प्रसन्नता अनुभव करने लगता है। पूरे शरीर में शक्ति के प्रवाह का अनुभव किया जा सकता है। इसे लगभग 5 से 10 मिनट तक करें।

**ध्यान :** श्वास पर ध्यान देते हुए मूलाधार से ऊपर उठती हुई ऊर्जा का अनुभव करें।

**लाभ :**
- अनिद्रा के रोगी इसका अभ्यास कर पूर्ण लाभ प्राप्त कर सकते हैं।
- तनावग्रस्त व्यक्ति को यह आसन अद्भुत शांति प्रदान करता है।
- दिमागी शक्ति बढ़ाने के लिए इसका उपयोग करें।
- उच्च रक्तचाप वाले इसे नियमित रूप से करें।

**विशेष :** अधिक लाभ के लिए योग निद्रा का अभ्यास करें।
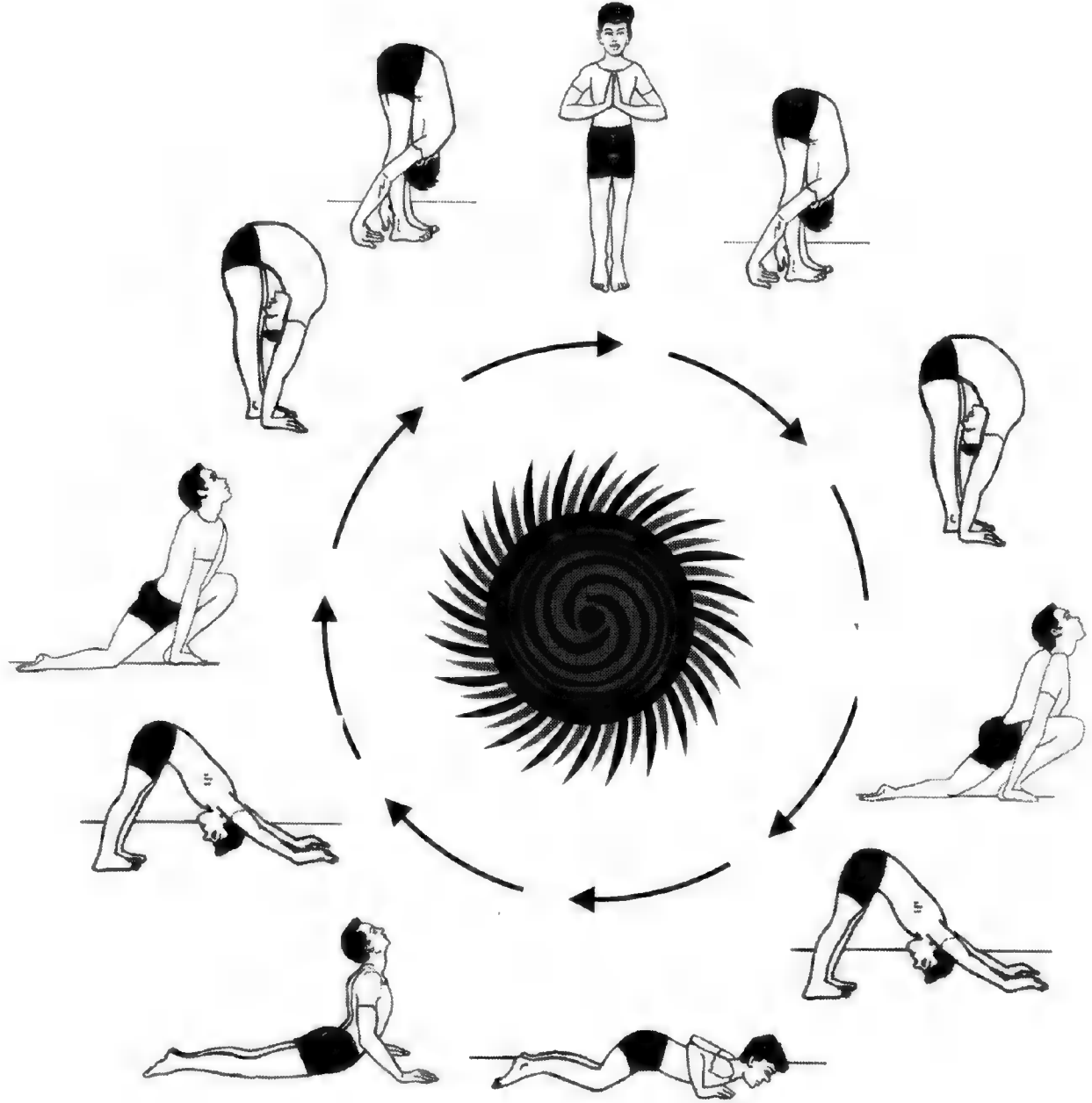
# सूर्य नमस्कार फलश्रुति मंत्र

आदित्यस्य नमस्कारान्, ये कुर्वन्ति दिने दिने।
आयुः प्रज्ञा बलवीर्यं तेजस् तेषाञ् च जायते I |

अर्थः जो प्रतिदिन सूर्यनमस्कार करते हैं, वे आयु, प्रज्ञा (अच्छी बुद्धि), बल, वीर्य और तेज प्राप्त करते हैं।

आदिदेव नमस्तुभ्यं प्रसीद मम भास्कर।
दिवाकर नमस्तुभ्यं प्रभाकर नमोऽस्तु ते।।

अर्थात् - हे आदिदेव भास्कर! आपको प्रणाम है, आप मुझ पर प्रसन्न हों, हे दिवाकर! आपको नमस्कार है, हे प्रभाकर! आपको प्रणाम है।

# सूर्य नमस्कार

# सूर्य नमस्कार

## एक अनुचिंतन

सूर्य का महत्त्व समझाने के लिए हमारे धर्म ग्रंथों में अनादि काल से वर्णन होता आया है। आज भी सूर्य एक रहस्य है और क्रमशः खोज जारी है। परंतु एक बात पक्की है कि यह हमें प्राचीन समय से अपनी ओर आकर्षित करता आया है। हम पिछले युगों में जाएँ या आज के युग की बात करें, सूर्य हमें हमेशा जीवनदायिनी ऊर्जा देता आया है। सूर्य के बारे में जानने के लिए आज का वैज्ञानिक दिन-रात एक कर रहे हैं, जबकि हमारे ऋषि-मुनि इसकी दिव्यता और उसका उपयोग करना भी जानते थे। सूर्य मात्र हमारे शरीर को ही नहीं, हमारे सूक्ष्म शरीर को भी अपनी चैतन्य शक्ति से जीवंतता प्रदान करता है। वैज्ञानिक इसे आग का गोला कहें अथवा कोई ग्रह परंतु प्राचीन काल में ही इसके अनेक रहस्यों को हमारे मनीषियों ने समझ लिया था और उसका उपयोग करने की कला को जन-कल्याण तक पहुँचाया था। परंतु अब सूर्य का ज्ञान लुप्तप्राय है। यहाँ पर हम थोड़ी सी चर्चा सूर्य के रहस्य को समझाने के लिए करना चाहते हैं, ताकि हम जब सूर्य नमस्कार करें तो हमारे मन में श्रद्धा, लगन और आस्था प्रकट हो और हम उससे लाभान्वित हो सकें।

पाठकगण शायद जानते हों कि बनारस में एक बहुत बड़े संत हुए हैं जिनका नाम था स्वामी विशुद्धानंद परमहंस और उनके शिष्य थे काशी हिंदु विश्वविद्यालय के प्राचार्य गोपीनाथ कविराज। चूँकि कथानक काफ़ी विस्तृत है, अत: हम सिर्फ इतना बताना चाहेंगे कि उन्होंने हिमालय के किसी गुप्त आश्रम (ज्ञानगंज आश्रम) में जाकर 12 वर्ष की कठिन साधना की। इसके बाद सन् 1920 के आस-पास वापस बनारस आकर सूर्य विज्ञान का चमत्कार इस पूरे विश्व को बताकर आश्चर्यचकित कर दिया था। लोगों ने दाँतों तले अँगुलियाँ दबा लीं थीं। सैकड़ों शिष्यों के सामने वे सूर्य विज्ञान द्वारा एक वस्तु को दूसरी वस्तु में रूपांतरित कर दिया करते थे, जैसे कपास को वे फूल, पत्थर, ग्रेनाइट, हीरा, लकड़ी आदि कुछ भी बनाकर दिखा देते थे। यहाँ तक कि उन्होंने एक बार मृत चिड़िया को जीवित कर दिया था। यह आश्रम आज भी हिमालय में स्थित है। यह वृतांत लेखक पॉल ब्रंटन की पुस्तक से लिया गया है। यह दृष्टांत बताने के पीछे हमारा उद्देश्य सूर्य के प्रति आपकी जिज्ञासा और आस्था बढ़ाने का है ताकि हम उस दिनकर से अधिक से अधिक लाभ प्राप्त

कर सकें।
सूर्य नमस्कार की एक आवृति में 12 स्थितियाँ हैं। प्रत्येक आसन का अपना एक मंत्र है। प्रत्येक क्रिया का अपना एक लाभ है। हम तो इतना कहेंगे कि नया जीवन चाहिए, तो सूर्य नमस्कार कीजिए।
प्रतिदिन नियम से किया जाने वाला सूर्य नमस्कार अन्य व्यायामों की अपेक्षा ज़्यादा लाभकारी है। सूर्य देव का वर्णन हम जितना करें, कम है। अत: हम सूर्य देव को नमस्कार करने की पद्धति का वर्णन करेंगे।

## सूर्यनमस्कार का प्राचीन इतिहास

सूर्य नमस्कार करने का मुख्य कारण संभवतया उसके द्वारा जीवनदायिनी ऊर्जा मिलना और उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना रहा है। सूर्य में स्थापित अकृत्रिम प्रतिमा को या यूँ कहें कि सूर्यदेव को अर्ध्य समर्पित करने का प्रचलन आदिकाल से रहा है, जब इस भरत-भूमि के प्रथम चक्रवर्ती राजा भरत सूर्य में स्थित जिनालयों को नमस्कार किया करते थे। किन्हीं कारणों से इसका प्रचार-प्रसार अधिक नहीं हो पाया परंतु दक्षिण भारत के आचार्यों ने इसे आत्मसात् किया और इस विद्या को जीवंत रखा। जब वे शेष भारत के तीर्थों पर भ्रमण हेतु आते तो वहाँ भी नित्यकर्म में सूर्य नमस्कार करते थे। तीर्थ स्थानों की जनता उन्हें देखकर सूर्य नमस्कार की विधि का अनुसरण करती थी। इस प्रकार पुनः संपूर्ण भारत वर्ष में सूर्य नमस्कार का प्रचार-प्रसार हुआ।

## सूर्य नमस्कार का आधुनिक इतिहास

सूर्य नमस्कार की कई मुद्राएँ हैं किंतु पारड़ी जिला - सूरत (गुजरात) के वेदमूर्ति श्री श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने सर्व सुलभ बारह अंकों के सूर्य नमस्कार की विधि प्रचलित की, जिसका उपयोग संपूर्ण भारत में किया जाता है। शिवाजी महाराज को उनके गुरु समर्थ रामदास ने सूर्य नमस्कार की विधि सिखाई जिसका उन्होंने अभ्यास किया और परिणामस्वरूप उनका शरीर एवं चरित्र इतिहास में अद्वितीय है। शिवाजी महाराज ने अपने सैनिकों को सूर्य नमस्कार की विधि सिखाई और इस प्रकार सूर्य नमस्कार की विधि का प्रचार-प्रसार बढ़ा। 'सूर्य नमस्कार' के द्वादश आदर्श बीज मंत्र एवं क्रिया मंत्र होने के कारण बारह अंकों के सूर्य नमस्कार की वैज्ञानिकता बढ़ जाती है।

## सूर्य नमस्कार

**1.** प्रार्थना मुद्रा/नमस्कारासन/प्रणामासन
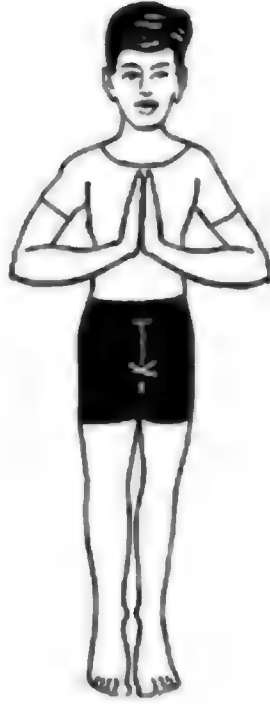
विधि : प्रार्थना की मुद्रा में पंजों को मिलाकर पूर्व दिशा की तरफ़ सीधे खड़े हो जाएँ। पूरे शरीर को शिथिल कर दें एवं आगे के अभ्यास के लिए तैयार रहें।

श्वासक्रम : समान्य।

ध्यान : अनाहत चक्र पर।

मंत्र : ॐ मित्राय नमः अर्थात हे विश्व के मित्र सूर्य, आपको नमस्कार। बीज मंत्र- ॐ हां।

लाभ : रक्त संचार सामान्य करता है। एकाग्रता एवं शांति प्रदान करता है।

नोट : इसे नमस्कार मुद्रा भी कहते हैं।

**2.** हस्तउत्तानासन

विधि : दोनों हाथों को ऊपर उठाएँ। कंधों की चौड़ाई के बराबर दोनों भुजाओं की दूरी रखें। सिर और ऊपरी धड़ को यथासंभव पीछे झुकाएँ। परंतु भुजाबंध कान की सीध में रखें।

श्वासक्रम : भुजाओं को ऊपर उठाते समय श्वास लें।

मंत्र : ॐ रवये नमः अर्थात हे संसार में चहल-पहल लाने वाले सूर्यदेव, आपको नमस्कार। बीज मंत्र- ॐ ह्रीं।

ध्यान : विशुद्धि चक्र पर।

लाभ : उदर की अतिरिक्त चर्बी को हटाता है। पाचन-तंत्र बेहतर बनाता है। फुफ्फुस पुष्ट होते हैं। भुजाओं और कंधों की माँसपेशियों का व्यायाम होता है।

**3.** पाद हस्तासन/हस्त पादासन

विधि : सामने की तरफ़ झुकते हुए दोनों हाथों के पंजों को पैरों के बगल में स्पर्श करते हुए रखें। मस्तक को घुटने से स्पर्श कराएँ। पैरों को सीधा रखें।

श्वासक्रम : सामने की तरफ़ झुकते हुए श्वास छोड़ें एवं अधिक से अधिक श्वास बाहर निकालने के लिए अंतिम स्थित में पेट को संकुचित करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर।

मंत्र : ॐ सूर्याय नमः अर्थात हे संसार को जीवन देने वाले सूर्यदेव, आपको नमस्कार। बीज मंत्र- ॐ हूं।

लाभ : उदर की चर्बी कम करता है। पेट एवं अमाशय के दोषों को रोकता तथा नष्ट करता है। क़ब्ज़ नाशक है। मेरुदण्ड को लचीला बनाता है एवं उसके स्नायुओं के दबाव को सामान्य करता है। रक्त संचार तेज़ करता है।

**4.** अश्व संचालनासन/एक पाद प्रसारणासन
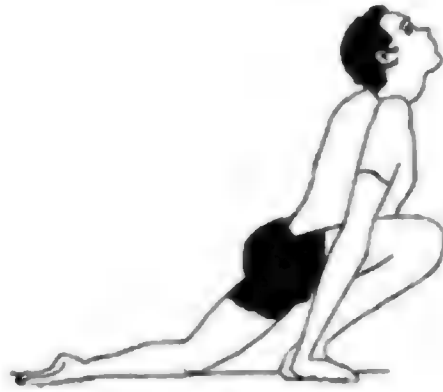
विधि : अब बाएँ पैर को जितना पीछे ले जा सकते हैं ले जाएँ और बाएँ घुटने एवं पाद पृष्ठ भाग को ज़मीन से स्पर्श कराएँ। दाएँ पंजे को अपनी ही जगह पर दृढ़ रखते हुए घुटने को मोड़ें। भुजाएँ अपने स्थान पर सीधी रहें। हाथ के पंजे एवं दाएँ पैर का पंजा एक सरल रेखा में ही रखें।

इस क्रिया में दोनों हाथ, बाएँ पैर का पादपृष्ठ, घुटना एवं दाएँ पैर के ऊपर शरीर का वज़न स्थित रहेगा। अब सिर पीछे की तरफ़ उठाएँ। दृष्टि सामने ऊपर की तरफ़ और शरीर को धनुषाकार बनाएँ।

श्वासक्रम : बाएँ पैर को पीछे ले जाते समय श्वास लें।

ध्यान : आज्ञा चक्र पर।

मंत्र : ॐ भानवे नमः अर्थात हे प्रकाशपुंज, आपको नमस्कार हो। बीज मंत्र- ॐ हैं।

लाभ : मेरुदण्ड में लोच पैदा होती है। उदर प्रदेश के हल्के तनाव के कारण पाचन-तंत्र में रक्त संचार बढ़ाता है, इससे पाचन-तंत्र सुचारु रूप से कार्य करता है।

**5.** पर्वतासन/भूधरासन
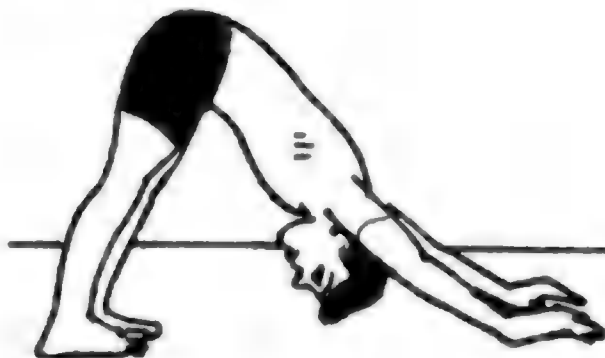
विधि : शरीर का वज़न दोनों हाथों पर स्थिर करते हुए दाएँ पैर को सीधा करके पंजे को बाएँ पंजे के पास रखें। अब नितंबों को अधिकतम ऊपर की तरफ़ उठाएँ एवं सिर को दोनों भुजाओं के बीच लाएँ। एड़ियाँ ज़मीन से ऊपर न उठे और घुटनों की तरफ़ देखते हुए पैर और भुजाएँ एक सीध में रखें।

श्वासक्रम : दाएँ पैर को पीछे लाते समय एवं नितंबों को उठाते समय श्वास छोड़ें।

ध्यान : विशुद्धि चक्र पर।

मंत्र : ॐ खगाय नमः अर्थात हे आकाश में गति करने वाले देव, आपको नमस्कार। बीज मंत्र- ॐ ह्वौं।

लाभ : सिर सामने की तरफ़ झुका होने के कारण रक्त संचार बढ़ जाता है। इससे चेहरे पर ताज़गी होने के साथ ही आँखों की रोशनी व बालों का झड़ना रुकता है। भुजाओं और पैरों का व्यायाम होता है। मेरुदण्ड के स्नायुओं को लाभ होता है। इससे लचीलापन बढ़ता है और मेरुदण्ड सशक्त होता है।

**6.** अष्टांग नमस्कारासन/प्रणिपातासन
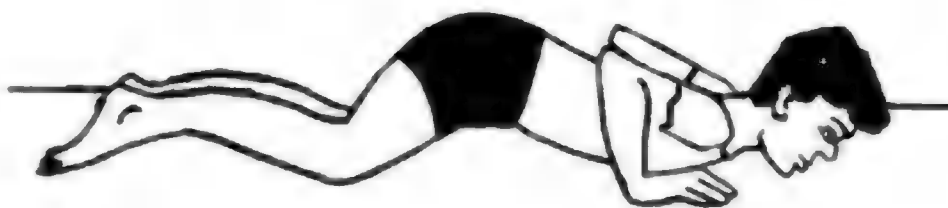
विधि : घुटने मोड़ते हुए शरीर को ज़मीन की तरफ़ इस प्रकार से झुकाएँ कि दोनों पाद पृष्ठ, दोनों घुटने, छाती, दोनों हाथों के पंजे एवं ठुड्डी ज़मीन का स्पर्श करें। नितंब व उदर प्रदेश ज़मीन से थोड़े ऊपर उठे रहें।

श्वासक्रम : श्वास को रोककर रखें। ध्यान : मणिपूरक चक्र पर।

मंत्र : ॐ पूष्णे नमः अर्थात हे संसार के पोषक, आपको नमस्कार। बीज मंत्र : ॐ हः।

लाभ : छाती और फेफड़ों को शक्ति देता है। पैरों और हाथों की माँसपेशियों को मज़बूती देता है।

**7.** भुजंगासन
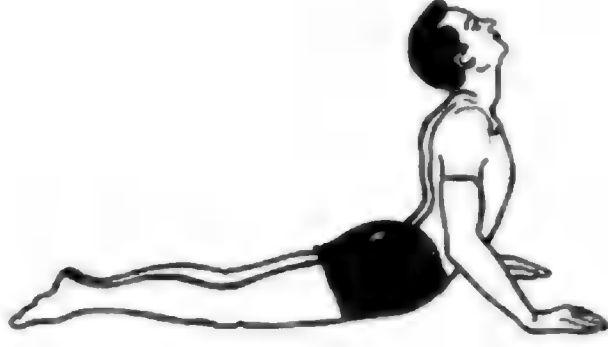
विधि : हाथों को सीधा करें। शरीर के अगले हिस्से- सिर, छाती और कमर भाग को ऊपर उठाते हुए सिर तथा गर्दन को पीछे की तरफ़ झुकाएँ।

श्वासक्रम : उदर प्रदेश एवं छाती को धनुषाकार बनाकर ऊपर उठाते समय श्वास लें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर। मंत्र : ॐ हिरण्यगर्भाय नमः अर्थात हे ज्योतिर्मय, आपको नमस्कार। बीज मंत्र- ॐ हां।

लाभ : पाचनतंत्र में तनाव उत्पन्न कर रक्त संचार बढ़ाता है। अतः पाचन क्रिया को क्रियाशील करता है। क़ब्ज़ हटाता है। फेफड़ों को सुचारु करता है। मेरुदण्ड को लचीला बनाता है। दमा, ब्रोंकाइटिस, सरवाइकल स्पोंडेलाइटिस, स्लिप डिस्क रोगियों के लिए लाभकारी।

**8.** पर्वतासन/भूधरासन
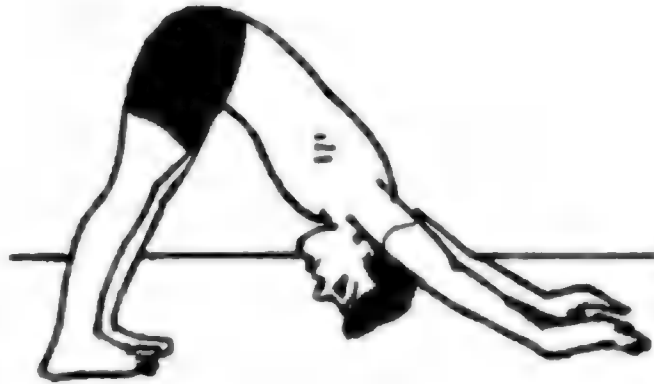
विधि : यह स्थिति 5 की ही पुनरावृत्ति है। शरीर के नितंब वाले भाग को ऊपर उठाते हुए पैरों के पंजों की ज़मीन पर स्थापित करें। शरीर की अंतिम स्थिति में कमर तथा नितंब अधिक से अधिक ऊपर हों। पैरों के पंजे आपस में मिले हुए हों।दृष्टि नाभि की तरफ़ रखें।

श्वासक्रम : नितंब व धड़ को ऊपर उठाते समय श्वास छोड़ें।

ध्यान : विशुद्धि चक्र पर।

मंत्र : ॐ मरीचये नमः अर्थात हे किरणों के स्वामी, आपको नमस्कार। बीज मंत्र- ॐ ह्रों।

लाभ : हाथ एवं पैरों के स्नायुओं एवं माँसपेशियों को नई ऊर्जा प्रदान करता है। मेरुदण्ड को लचीला बनाता है। इससे स्थिति 5 के सभी लाभ प्राप्त होते हैं।

नोट : कुछ योग शिक्षक इसको अधोमुख श्वानासन भी कहते है।

**9.** अश्व-संचालनासन/एक पाद प्रसारणासन
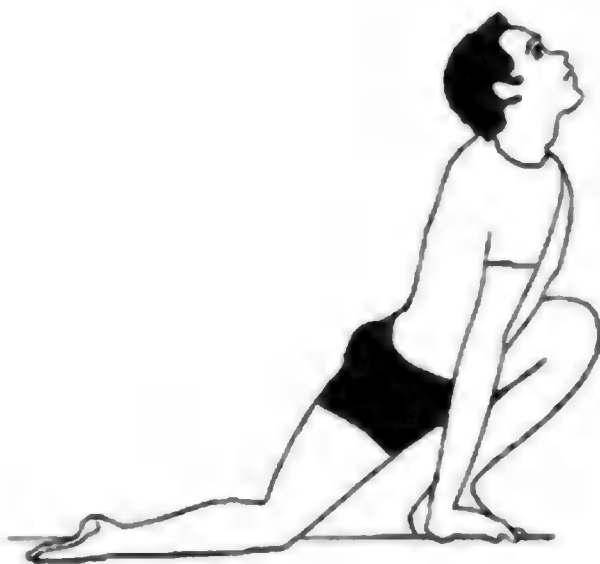
विशेष : यह स्थिति क्रमांक 4 की आंशिक पुनरावृत्ति है। स्थिति 4 में बायाँ पैर पीछे जाता है, जबकि इस स्थिति में दायाँ पैर पीछे रहता है।

विधि : बायाँ पैर सामने दोनों हथेलियों के बीच में रखें। इसी के साथ बाएँ पैर को मोड़ें और पंजे को वहीं स्थिर रहने दें। दाएँ पैर को यथासंभव पीछे की ओर खींचें। ध्यान रखें कि पाद पृष्ठ भाग और घुटना ज़मीन से स्पर्श करता रहे। भुजाएँ सीधी रखें। इस स्थिति में शरीर का भार दोनों हाथ, बाएँ पैर का पंजा, पाद पृष्ठ और दाहिने घुटने पर होगा।

श्वासक्रम : बाएँ पैर को आगे ले जाते समय श्वास लें।

ध्यान : आज्ञा चक्र पर। मंत्र : ॐ आदित्याय नमः अर्थात हे संसार के रक्षक, आपको नमस्कार। बीज मंत्र : ॐ ह्रूं।

लाभ : स्थिति क्रमांक 4 के सभी लाभ मिलते हैं।

**10.** पाद हस्तासन/हस्त पादासन
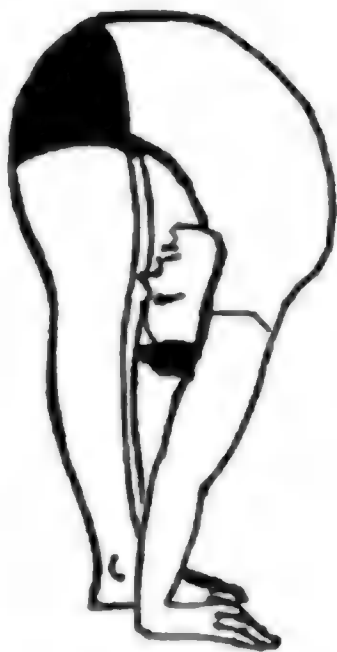
विशेष : यह स्थिति क्रमांक 3 की पुनरावृत्ति है।

विधि : दोनों हाथों पर भार डालते हुए दाएँ पैर के पंजे को बाएँ पैर के पंजे के समकक्ष स्थापित करें। पैरों को सीधा करें। मस्तक को घुटने से स्पर्श कराएँ। इस प्रकार अंतिम स्थिति में पैरों के पंजे और हाथों के पंजे एक सीध में रहेंगे।

श्वासक्रम : सामने की ओर झुकते समय श्वास छोड़ें। अधिक से अधिक श्वास बाहर निकालने के लिए उदर प्रदेश को संकुचित करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर। मंत्र : ॐ सवित्रे नमः अर्थात हे विश्व को उत्पन्न करने वाले, आपको नमस्कार। बीज मंत्र : ॐ हैं।

लाभ : स्थिति क्रमांक 3 के सभी लाभ प्राप्त होते हैं।

**11.** हस्त उत्तानासन

विशेष : यह स्थिति 2 की पुनरावृत्ति है।

विधि : झुके हुए शरीर को ऊपर उठाएँ एवं दोनों हाथों को सिर के ऊपर ले जाएँ। कंधों की चौड़ाई के बराबर दोनों भुजाओं की दूरी रखें। सिर एवं ऊपरी धड़ को यथासंभव पीछे झुकाएँ।

श्वासक्रम : हाथों को उठाते समय श्वास लें।

ध्यान : विशुद्धि चक्र पर।

मंत्र : ॐ अकाय नमः अर्थात हे पवित्रता को देने वाले, आपको नमस्कार। बीज मंत्र- ॐ ह्रीं।

लाभ : स्थिति क्रमांक 2 के लाभ प्राप्त होते हैं।

**12.** प्रार्थना मुद्रा/प्रणामासन/नमस्कारासन
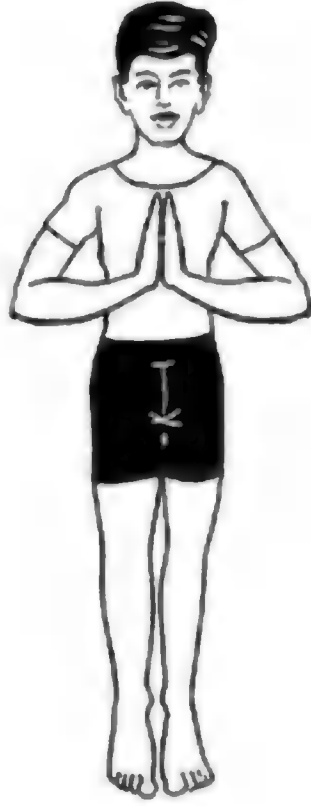
विशेष : यह स्थिति क्रमांक 1 की पुनरावृत्ति है।

विधि : ऊपर उठे हुए हाथों को प्रार्थना की मुद्रा में पंजों को मिलाकर सीधे खड़े हो जाएँ। पूरे शरीर को शिथिल कर दें।

श्वासक्रम : श्वास छोड़कर सामान्य श्वास-प्रश्वास करें।

ध्यान : अनाहत चक्र पर।

मंत्र : ॐ भास्कराय नमः अर्थात हे प्रकाश करने वाले, आपको नमस्कार। बीज मंत्र : ॐ हः
।

यह सूर्य नमस्कार की आधी आवृत्ति है। पूरी आवृत्ति करने के लिए हमने आसन क्रमांक 4 और 9 में जिस पैर को पीछे किया था अब पूरी आवृत्ति करने के लिए दूसरे पैर से करेंगे। जैसे हमने पहले दायाँ पैर पीछे किया था, वैसे ही अब हम बायाँ पैर पीछे करेंगे। इस प्रकार कुल 24 आसनों के समूह को 1 आवृत्ति कहते हैं।

यदि आप आधी आवृत्ति (12 आसन) करने के बाद थकान महसूस करें, तो कुछ श्वास-प्रश्वास करते हुए विश्राम करें। प्रत्येक आसन करते समय सजग रहें। प्रसन्नतापूर्वक मंत्र जाप करते रहें। यदि आप किसी आसन को विधिवत न कर पा रहे हों, तो पहले उसका अभ्यास कर लें।

विशेष : साधक को अपने शरीर का ध्यान रखते हुए 2 या 3 आवृत्ति करनी चाहिए। सूर्य नमस्कार करने का सबसे अच्छा समय ब्रह्ममुहूर्त का है। इसे शौचादि से निवृत्त होने के बाद स्नान करके प्रसन्न मन से करें। स्वच्छ एवं ढीले वस्त्र पहनें। वातावरण शांत होना चाहिए। इसके लिए सुबह का समय ही बेहतर रहता है, क्योंकि इस समय जलवायु शुद्ध होती है और सूर्य की अल्ट्रावॉयलेट किरणें भी हानि नहीं पहुँचातीं। इसलिए प्रातः काल का समय ही उपयुक्त है। किसी कारणवश प्रातः काल सूर्य नमस्कार न कर पाएँ तो ख़ाली पेट या संध्या के समय किया जा सकता है।

सावधानियाँ : 8 वर्ष से ज्यादा आयु वाले सभी व्यक्ति यह आसन कर सकते हैं। मेरुदण्ड की समस्या, उच्च रक्तचाप, हृदय दोष व हर्निया आदि रोगग्रस्त साधक किसी गुरु के निर्देश में यह आसन करें।

संपूर्ण लाभ

- यह प्राण शक्ति प्रदाता है।
- इसमें शारीरिक और मानसिक दोनों स्तरों पर ऊर्जा संतुलित होती है।
- सूर्य नमस्कार के अभ्यास से सारे शरीर का व्यायाम हो जाता है।
- मेरुदण्ड के बारी-बारी से आगे तथा पीछे मुड़ने के कारण शारीरिक लाभ के साथ-साथ कुण्डलिनी जागरण में भी इसका अधिक महत्त्व है। चूँकि सुषुम्ना का मार्ग मेरुदण्ड ही है, अत: ऊर्जा उर्ध्वमुखी भी होती है।
- सूर्य नमस्कार मानसिक शांति देता है। स्मरण शक्ति बढ़ाता है। बल, वीर्य व तेज की वृद्धि करता है।
- क़ब्ज़ का दुश्मन है। बुढ़ापे को पास नहीं आने देता।
- स्त्रियाँ अपने शरीर को आकर्षक, सुंदर व सुडौल बना सकती हैं।
- सूर्य नमस्कार समस्त बीमारियों का नाश करता है।
- सूर्य के समान तेजवान बनाता है।
- विद्यार्थी सूर्य नमस्कार को कर इनसे होने वाले लाभों को अवश्य प्राप्त करें।

## सूर्य नमस्कार की एक अन्य विधि

सूर्य नमस्कार की हमारे देश में कई विधियाँ प्रचलित हैं। इसकी एक अन्य विधि का शासकीय योग प्रशिक्षण केंद्र के योग प्रशिक्षक श्री मंगलेश यादव ने पद्यानुवाद किया है, जिसे हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं :

समवस्था पूर्वाभिमुख मीलितनयन विशेष,

सूर्यदेव को नमत है अकिंचन'मंगलेश'।

मित्र,रवि, सूर, भानु, खग, पूष्ण हिरण्यगर्भाय,
मारिच, आदित्य, सवित्र, अर्क बन्दौ भास्कराय।

एक में हाथ और सिर पीछे, दो में सिर घुटनन लग जाय,

तीन में हो बायाँ पग पीछे, चार में क्रमश: ऊपर जाय।

पाँच में पवर्त आसन करके छ: में देओ दण्ड लगाय,
सात में बायाँ पग हो आगे, आठ में क्रमश: ऊपर जाय।

नौ में पुन: बने पर्वत सा, दस में देओ दण्ड लगाय,

ग्यारह में उछलें फिर दोसा, बारह में एक-सा हो जाय।

सूर्य नमस्कार के लाभ

सूरज नमन से मिटत आधि और व्याधि,

शेर सी फुर्ती, शरीर में आय।

वीर शिवाजी की तरह बनोगे चरित्रवान,
कुण्ठा व कलुषता, तुरत भग जाय।

पीठलोचदार, मुखमण्डल ही कांतिवान,

'मंगल' की भावना भुजाओं से आय।

सूरज की किरणें मिटाती हैं अनेकों रोग,
तन की सुघरता स्वत: बढ़ जाय।

इसी प्रकार सूर्य नमस्कार की और भी कई विधियाँ विभिन्न आचार्यों ने बताई हैं परंतु हमने मुख्य रूप से प्रचलित विधियों का ही वर्णन किया है।

चंद्र नमस्कार

12 आसन

(प्रथम प्रकार)

चंद्र नमस्कार

14 आसन

(द्वितीय प्रकार)
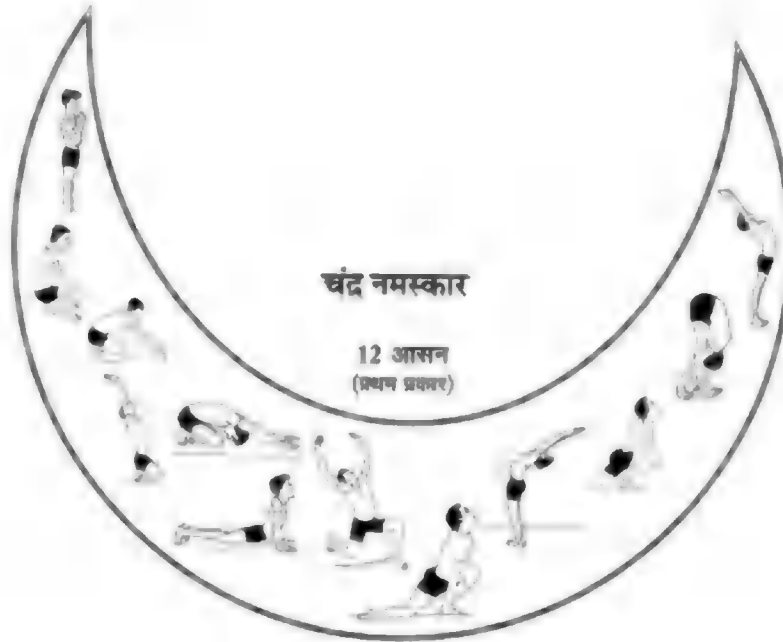
चंद्र नमस्कार

सूर्य नमस्कार की तरह चंद्र नमस्कार भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसमें भी 12 क्रियाएँ होती हैं, (कहीं-कहीं 14 क्रियाओं का भी वर्णन आता है) जिनके 12 मंत्र हैं। इन मंत्रों का जाप प्रत्येक आसन के साथ किया जा सकता है। वैसे तो प्रत्येक आसन का अपना महत्व होता है परंतु इन आसनों को श्रृंखलाबद्ध तरीके से किया जाए तो उनकी पूर्णता के बाद उन आसनों के लाभ में वृद्धि हो जाती है, अत: साधक को चंद्र नमस्कार से होने वाले लाभ अवश्य उठाना चाहिए।

पहली अवस्था

विधि : चंद्र की तरफ़ मुख करके ताड़ासन की स्थिति में खड़े हो जाएँ। दोनों हाथों को ऊपर उठाते हुए कमर से ऊपर के हिस्से को जितना पीछे झुका सकते हैं, झुकाएँ। दोनों हाथ खुले

हुए आकाश की तरफ़ रखें एवं मन ही मन ॐ चंद्राय नम: का जाप करें।

दूसरी अवस्था
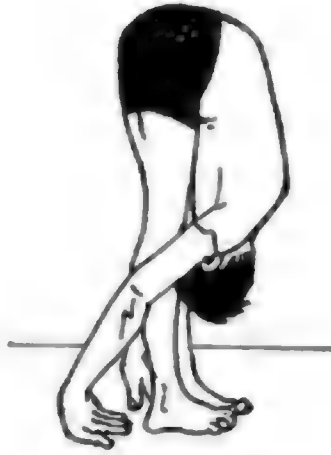
विधि : अब हाथों और कमर के ऊपरी भाग को सामने की तरफ़ झुकाते हुए हाथों की पैरों के समानांतर रखें। सिर को घुटनों से स्पर्श कराएँ, किंतु घुटनों को न मोड़ें। अब ॐ सोमाय नम: का जाप करें।

तीसरी अवस्था
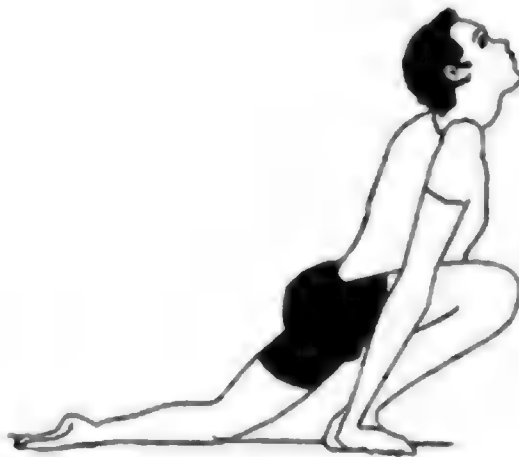
विधि : इसके उपरांत बाएँ पैर को पीछे ले जाकर सीधे लंबवत् रखें। फिर घुटने से मोड़ते हुए दाएँ पैर पर शरीर का पूरा भार डाल दें एवं दोनों हाथ दाएँ पैर के अगल-बगल में रखें और मन ही मन ॐ इन्द्रवे नम: का जाप करें।

चौथी अवस्था
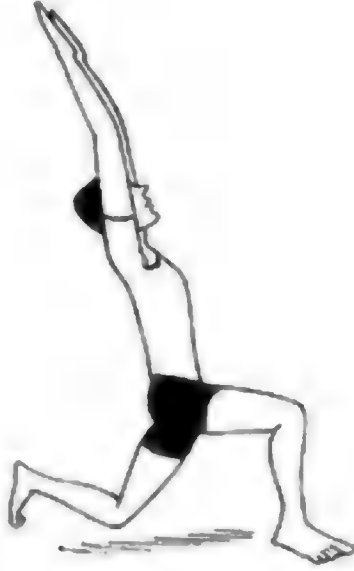
विधि : अब जहाँ पर पैरों के पंजे हैं, उन्हें उसी स्थान पर स्थिर रखते हुए इस प्रकार खड़े हों कि बाएँ पैर का घुटना ज़मीन को स्पर्श करे और दायाँ घुटना समकोण बना ले। अब हाथों को ऊपर उठाते हुए कमर से ऊपर के भाग को पीछे की ओर झुकाएँ और मन ही मन ॐ निशाकराय नम: का जाप करें और कुछ देर तक रुकें।

पाँचवीं अवस्था
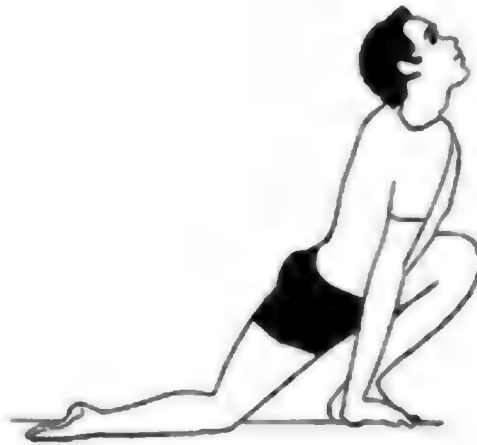
विधि : अब तृतीय स्थिति की तरह दाएँ पैर की जगह बाएँ पैर पर पूरा वज़न देते हुए दाएँ पैर को पीछे ले जाएँ। बाएँ पैर की एड़ी एवं दोनों हाथ बाएँ पैर के पंजे के अगल-बगल में स्थिर करें और ॐ कलाभृताय नमः का जाप करें।

छठी अवस्था

विधि :अब चौथी अवस्था की तरह बाएँ पैर पर वज़न देते हुए इस प्रकार खड़े हों कि दाएँ पैर का घुटना ज़मीन को स्पर्श करता रहे और हाथों को ऊपर की तरफ़ तान दें। अब ॐ सुधाधराय नम: का जाप करें और कुछ देर इसी अवस्था में रहें।

सातवीं अवस्था
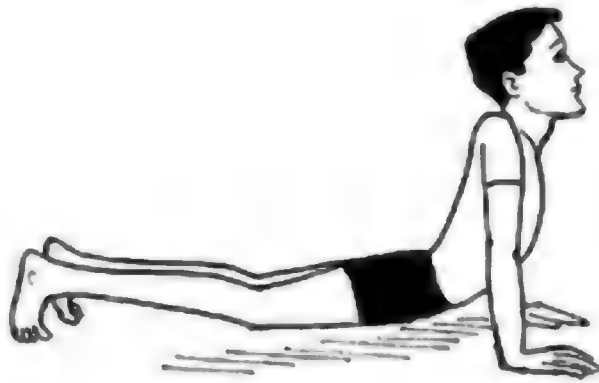
विधि : इसके बाद दोनों हाथों को नीचे ज़मीन पर स्थिर करें और बाएँ पैर को दाएँ पैर के पास ले जाएँ। इसी स्थिति में रहते हुए एक दण्ड लगा लें और ॐ निशापतये नम: का जाप करें।

आठवीं अवस्था
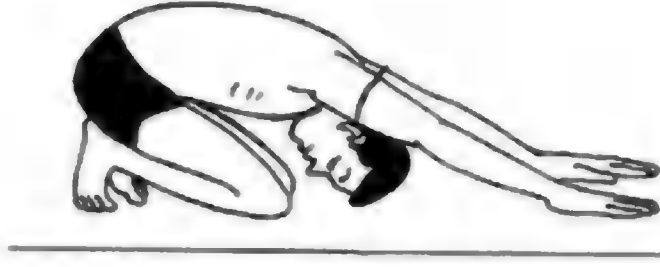
विधि :एक दण्ड लगाने के बाद उसी अवस्था में दोनों घुटने जमीन पर टिका लें और सिर नीचे झुकाकर माथे से भूमि को स्पर्श करें। दोनों हाथों की स्थिति यथावत् रखें एवं मन ही मन ऊँ शिव शेखराय नमः का जाप करें।

नौवीं अवस्था

विधि :वैसी ही स्थिति में अब हाथों को सिर सहित ऊपर की तरफ उठाएँ। कमर के ऊपरी भाग को सीधा लंबवत् रखते हुए पीछे की तरफ झुकाएँ। हाथों को आकाश की तरफ ही रखें एवं घुटने व पंजों के बल एड़ियों पर बैठें तथा ऊँ अमृतदीधितये नमः का जाप करें।

दसवीं अवस्था
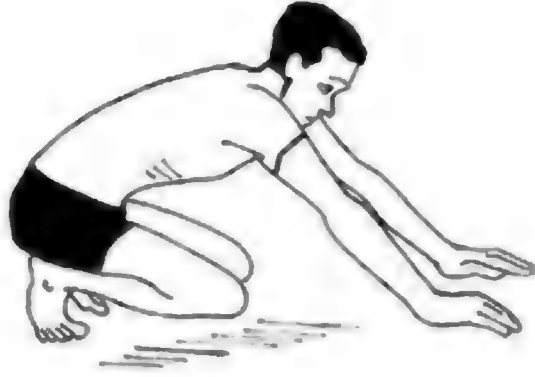
विधि :अब दोनों हाथों को सामने की तरफ भूमि पर डेढ़ फिट के अंतर पर रखें । उसी स्थिति में एक दण्ड और लगा लें एवं उसी विधि में पंजों और हाथों के बल बैठते हुए घुटनों को भूमि से ऊपर उठा लें । इसके बाद मन ही मन ॐ तमोध्नाय नमः का जाप करें ।

ग्यारहवीं अवस्था

विधि : इसके बाद हाथों को बिना आगे- पीछे किए दोनों पैरों को उछालकर दोनों हाथों के बीच कर लें एवं पंजों पर भार देकर बैठे। हथेली की जगह अंगुलियाँ ही भूमि पर स्पर्श करेंगी। नितंबों का भार एड़ी पर रहेगा। अब मन ही मन ॐ राजराजाय नम: का मंत्र जाप करें।

बारहवीं अवस्था

विधि : अब अंत में उसी स्थिति में सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों हाथ सामने की तरफ़ जोड़ लें और ॐ शशांक देवाय नम: का जाप करें।

इस प्रकार यह एक आवृत्ति हुई, इसी प्रकार 5-6 आवृत्ति करें। थकान अनुभव होने पर शवासन की स्थिति में आराम करें।

समय : जिस प्रकार सूर्य नमस्कार विशेष रूप से प्रातः काल कराया जाता है उसी प्रकार चंद्र नमस्कार संध्या काल में करना चाहिए।

लाभ :

O वैसे तो प्रत्येक आसन का अपना अलग महत्व होता है और उसका अपना एक अलग लाभ भी होता है परंतु इसकी पूरी आवृत्ति करने से एक साथ कई लाभ प्राप्त होते हैं।

O शरीर सुंदर, बलिष्ठ, सुडौल होता है। उदर प्रदेश को लाभ मिलता है। क़ब्ज़, अम्लता, अजीर्ण आदि दूर होते हैं। शरीर कांतिवान एवं तेजमय बन जाता है। मानसिक शांति एवं शीतलता प्राप्त होती है। आलस्य, प्रमाद आदि नहीं होते। संपूर्ण शरीर को निरोगी बनाता है।

नोट: कुछ योग केंद्रों में चंद्र नमस्कार की विधि विभिन्न प्रकार से कराई जाती है।

दिशा : चूँकि चंद्रमा की ऊर्जा एवं उससे होने वाले लाभ को आत्मसात् करना है। अत: जिस दिशा में चंद्र का उदय हो उसी दिशा का चयन करना चाहिए।

प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में योग साधना
अपनानी चाहिए, परंतु उचित है कि साधक
सर्वप्रथम योगाभ्यास से संबंधित सभी बातों को
भलीभाँति समझ लें और क्रियान्वित करें।
ऐसा करने से अधिक लाभ प्राप्त होता है।
-RJT

योगविद्याएँ मात्र व्यायाम ही नहीं हैं, बल्की
पूर्णअष्टांग योग शारीरिक तथा मानसिक
स्वास्थ्य प्रदान कर सम्यक दृष्टित्व का
निर्माण करता है और आत्मा को उत्थान की
ओर अग्रसर करता है।
-RJT

# योगासन

अष्टांग योग
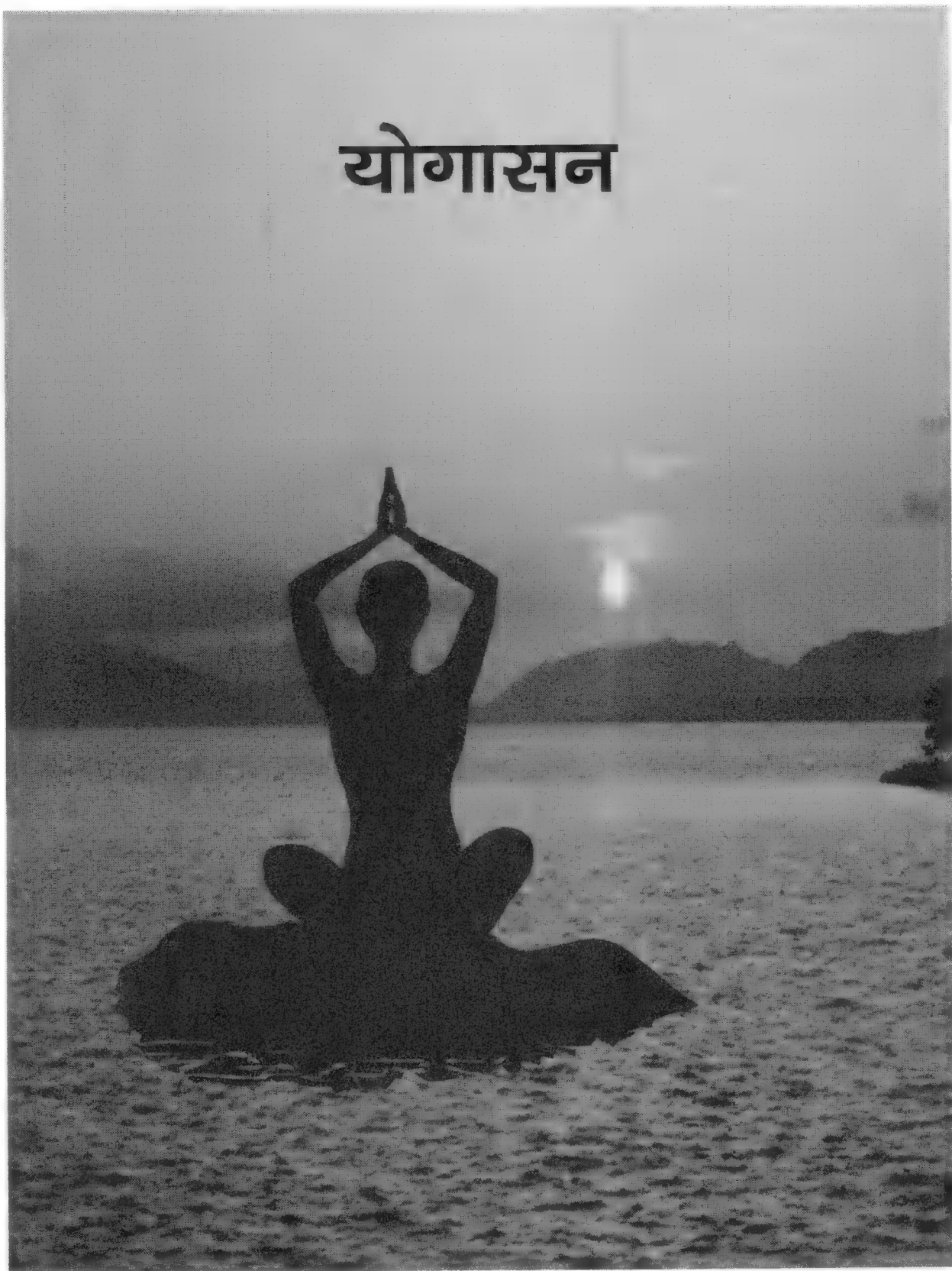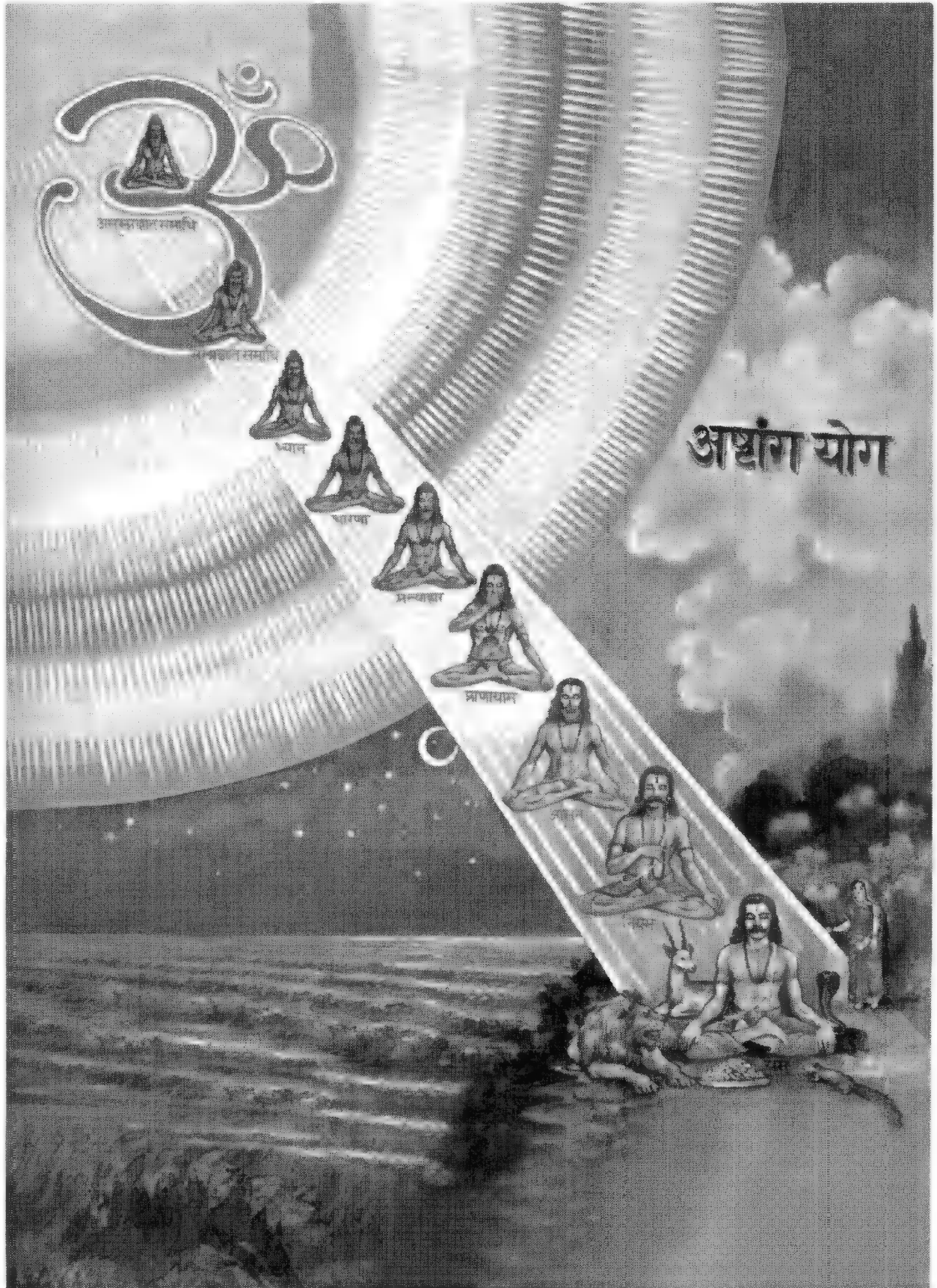
# पद्मासन एवं ध्यान से संबंधित आसन

## सुखासन

शाब्दिक अर्थ : सुख का अर्थ प्रसन्नता है। यह आसन पालथी मारकर बैठने की वजह से सुखासन कहलाता है। यद्यपि, जिस आसन में बैठने से सुख की अनुभूति हो, वह भी सुखासन कहलाता है परंतु प्राचीन समय से पालथी लगाकर बैठने वाले आसन को ही सुखासन माना जाता रहा है।

विधि : आराम से ज़मीन पर घुटने मोड़ते हुए पालथी मारकर बैठ जाएँ। (चित्र देखें) हाथों को गोद में या घुटनों पर रखें। मेरुदण्ड, ग्रीवा व सिर सीधे रखें।

ध्यान : समस्त चक्रों से निकलने वाली ऊर्जा की अनुभूति।

श्वासक्रम : प्राणायाम के साथ/अनुकूलतानुसार।

समय : यथासंभव ।

दिशा : पूर्व या उत्तर (आध्यात्मिक लाभ हेतु)।

लाभ :
- ध्यान के लिए यह एक उत्कृष्ट आसन है।
- भोजन करते समय इस आसन का उपयोग हितकारी है।
- जो ध्यान के लिए पद्मासन लगाने में असमर्थ हैं वे इस आसन का उपयोग कर सकते हैं।
- पूजा-पाठ में यह आसन अधिकतर किया जाता है।
- यह आसन शारीरिक स्फूर्ति, मन की शांति और शरीर को निरोगी रखने में लाभकारी है।

गुप्तासन

शाब्दिक अर्थ : गुप्त अर्थात् छिपा हुआ।

विधि : सुखासन में बैठ जाएँ। अपने बाएँ पैर की एड़ी को सीवनी नाड़ी पर लगाकर दबाएँ और दाहिने पैर की अँगुलियों को बाएँ पैर की जाँघों एवं पिंडली के बीच फंसाएँ। हाथों को ज्ञान-मुद्रा की स्थिति में लाकर घुटनों के ऊपर रखें।

ध्यान : मूलाधार से सहस्त्रार चक्र तक समस्त चक्रों का क्रमशः ध्यान करें।

श्वासक्रम : स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास करें।

समय : निराकुल होकर जितना समय बैठ सकते हैं बैठें।

दिशा: पूर्व या उत्तर (आध्यात्मिक लाभ हेतु)।

भलाभ: ❍ बल, वीर्य, ओज तेज ऊर्ध्वमुखी होकर तेजस्वी बनाता है।

- नेत्र-ज्योति तीव्र होती है।
- स्वप्नदोष, काम-विकार का शमन होता है व ब्रह्मचर्य की शक्ति प्राप्त होती है।
- सकारात्मक ध्यान करने से संपूर्ण शरीर के विकार क्रमश: नष्ट होते हैं।
- 72,000 नाड़ियों के मलों का शोधक है।
- मानसिक तनाव दूर करता है।

मुक्तासन(प्रथम प्रकार)

विधि : बाएँ पैर की एड़ी को गुदामूल से स्पर्श कराकर उस पर दाहिने पैर की एड़ी को रखें। मेरुदण्ड, ग्रीवा तथा सिर एक सीध में रखते हुए बैठे। सभी सिद्धियों को देने वाला यह आसान मुक्तासन कहलाता है।

ध्यान : मूलाधार से उठती हुई ऊर्जा का ध्यान करें।

विशेष : श्वासक्रम समय, दिशा एवं लाभ गुप्तासन के ही समान ही है।

नोट : द्वितीय प्रकार के मुक्तासन आगे पृष्ठों पर दिया गया है।

स्वास्तिकासन

शाब्दिक अर्थ **:** स्वास्तिक का शुभ चिह्न (सातिया/卐)2= सभी जानते हैं। यह चिह्न आध्यात्मिक व सांसारिक सुखों को देने वाला है।

विधि : सुखासन में बैठकर दोनों पादतल को दोनों जाँघों के बीच स्थापित कर त्रिकोणाकार आसन लगाएँ। मेरुदण्ड, ग्रीवा व सिर सीधा रखें। दृष्टि भ्रूमध्य पर स्थिर करें।

हठयोग प्रदीपिका के अनुसार**:**
जानूर्वोरन्तरे सम्यक् कृत्वा पादतले उभे।
ऋजुकायः समासीनः स्वस्तिकं तत् प्रचक्षते।

ध्यान **:** आत्म उत्थान के लिए क्रमशः समस्त चक्रों का।

श्वासक्रम : सामान्य रखें। समय : परिस्थिति अनुसार।

दिशा**:** पूर्व या उत्तर (आध्यात्मिक लाभ हेतु)।

मंत्रोच्चारण **:** ॐ का उच्चारण ध्वनि-रूप में करें।

लाभ : वे सभी लाभ जो गुप्तासन व सुखासन से प्राप्त होते हैं।

योगासन
उत्तानौ चरणौ कृत्वा संस्थाप्य जानुनोपरि।
आसनोपरि संस्थाप्य उत्तानं करयुग्मकम्।।
पूरकैर्वायुमाकृष्य नासाग्रमवलोकयेत्।
योगासनं भवेदेतद् योगिनां योगसाधनम्।। **(धे सं.44,45)**

अर्थ : सुखासन में बैठ जाएँ अब दोनों पैरों को उठाकर दोनों जाँघों के ऊपर स्थापित करके बाएँ पैर को दाहिनी जाँघ पर व दाहिने पैर को बाँयी जांघ पर रखें एवं दोनों हाथों को उत्तान भाव से आसन के ऊपर रखें। तब पूरक प्राणायाम द्वारा वायु को भीतर खींचकर नासिका के उग्रभाग पर द्रष्टि रखते हुए साधक कुंभक द्वारा वायु को रोकें। योगियों को इसे प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए। यही योगासन कहलाता है।

विशेष: श्वासक्रम, समय, लाभ एवं सावधानियाँ पद्मासन के समान ही हैं।

अर्ध पद्मासन

शाब्दिक अर्थ : अर्ध मतलब आधा। पद्मासन की मुद्रा को पूर्ण रूप से न लगाना।

विधि : अपने आसन में प्रसन्न मन से सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ। बाएँ पैर को

मोड़कर दाहिने पैर की जाँघ के नीचे रखें एवं दाहिने पैर को मोड़कर बाई जाँघ के ऊपर रखें। दोनों हाथों को घुटनों पर रखें। मेरुदण्ड, गर्दन व सिर सीधा रखें। इस प्रकार कुछ समय बाद पैर बदलकर करें।

श्वासक्रम : श्वास सामान्य रखें।

ध्यान : मूलाधार से सहस्रार तक क्रमशः ध्यान करें।

दिशा : पूर्व या उत्तर (आध्यात्मिक कारणों से)।

समय : अनुकूलतानुसार।

लाभ :
- मेरुदण्ड सीधा रहने से समस्त शरीर को लाभ मिलता है। पूर्ण पद्मासन लगाने से पहले इसका अभ्यास करना चाहिए।
- चेतना की ऊर्ध्वमुखी बनाता है।
- किसी भी इष्ट मंत्र का जाप श्वास-प्रश्वास पर ध्यान देते हुए करने से मन को स्थिरता प्रदान करता है।

पद्मासन

शाब्दिक अर्थ : पद्य (पद्म) का मतलब कमल।

आकृति : कमल के फूल के समान।

दिशा : उत्तर या पूर्व (आध्यात्मिक कारणों से)।

विशेष : पहले हम इस आसन को समझ लें। यह सभी सिद्धियों को प्रदान करने वाला कहा गया है। इस आसन का अभ्यास अवश्य करना चाहिए। यह शरीर की सभी नाड़ियों (72,000) को शुद्ध करता है। यह आसन आध्यात्मिक साधकों को प्रिय होता है। यह सैकड़ों मंत्रों की सिद्धियों को देने वाला कहा गया है। कुण्डलिनी जागृत करने में यह आसन अद्वितीय है। इस आसन में शुद्ध आत्मा या निर्विकल्प ध्यान लगाने से समस्त पापों का नाश होता है।

विधि : सर्वप्रथम सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ या सुखासन में बैठ जाएँ फिर बाएँ पैर के पंजे को उठाकर दाहिनी जाँघ पर रखें व दाहिने पैर के पंजे को उठाकर बाएँ पैर की जाँघ पर स्थापित करें। मेरुदण्ड सीधा रखें। घुटने ज़मीन को स्पर्श करते रहें। बाएँ हाथ को दोनों पैरों के तलवों के ऊपर एवं दाहिने हाथ के पंजे को बाएँ हाथ के पंजों के ऊपर रखें ताकि नाभि से स्पर्श होता रहे यथासंभव जितनी देर रुक सकते हैं, रुकें। श्वास-प्रश्वास लेते रहें। (कहीं-कहीं हाथों को घुटनों के ऊपर भी रखने का विधान है।)

हठयोग प्रदीपिका एवं घेरण्ड संहितानुसार पद्मासन को भिन्न तरीके से परिभाषित किया गया है।

वामोरूपरि दक्षिण हिचरण संस्थाप्य वामं तथा,
दक्षोरूपरि पश्चिमेन विधिना धृत्वा कराभ्यां दृढम।
अङ्गुष्ठौ हृदये निधाय चिबुकं नासाग्रमालोकयेत्,
एतद्व्याधिविकारनाशनकरं पदमासनं प्रोच्यते। (धे सं. 29)

अर्थ : बाईं जंघा पर दाहिने पैर का पंजा और दाहिनी जंघा पर बाएँ पैर का पंजा रखकर विपरीत विधि से हाथों को पृष्ठभाग पर ले जाएँ और बाएँ हाथ से बाएँ पैर का अँगूठा और दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को दृढ़तापूर्वक पकड़कर ठोड़ी (चिबुक) को हृदय के ऊपर कंठकूप पर रखकर दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करें। सभी रोगों का नाशक यह आसन पद्मासन कहलाता है।

टिप्पणी: ❍ यहाँ पर महर्षि घेरण्ड ने एवं हठयोग प्रदीपिका में बच्द्रपद्मासन को ही विशिष्ठ रूप से पद्मासन ही कहा है। बन्द्रपद्मासन देखें।

❍ घेरण्ड संहिता में अध्याय दो के 44.45 नं. श्लोक में जिस योगासन की व्याख्या की है वह भी पद्मासन जैसा ही है।

व्याख्या : सबसे पहले दोनों पैरों को सामने की तरफ़ फैलाएँ फिर बाएँ पैर को दाहिनी जंघा पर एवं दाहिने पैर को बाई जंघा पर स्थिर करें। पैरों के तलवे आकाश की तरफ़ करें।

एड़ियाँ उदर प्रदेश के अग्रभाग से स्पर्श करें और दोनों घुटने ज़मीन को स्पर्श करते रहें। पीठ एवं सिर सीधे तने हुए हों अब अपने हाथों को पृष्ठ भाग से विपरीत विधि से बाएँ हाथ से बाएँ पैर के अँगूठे को एवं दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अँगूठे को पकड़ें एवं ठोड़ी (चिबुक) को हृदय के ऊपर स्थित कंठकूप से लगाएँ अर्थात जालंधर बंध लगाते हुए नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करें।

यह सभी रोगों का नाश करने वाला पद्मासन कहलाता है।

मत्स्येंद्रनाथ के अनुसार : दोनों पैरों को सामने की तरफ़ फैलाकर बाएँ पैर को दाहिने पैर की जंघा पर एवं दाहिने पैर को बाएँ पैर की जंघा पर स्थापित करें। जंघाओं के मध्य दोनों हाथों को सीधे रखकर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करें एवं दाढ़ की जड़ पर जिह्वा को स्तंभित करें और ठोड़ी (चिबुक) को कंठकूप पर स्थापित करें फिर वायु को धीरे-धीरे ऊपर उठाएँ अर्थात मूलबंध लगाएँ। यह आसन क्रिया सभी रोगों का नाश करने वाली है। योगीजनों ने इसे पद्मासन कहा है।

योगकुण्डल्युपनिषद् के अनुसार :

ऊवारूपरि चेदद्यत्ते उभे पादतले यथा।
पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपाप प्रणाशनम्।

अर्थ : दोनों जाँघों पर एक-दूसरे के पैर के तलुओं को सीधे रखने से पद्मासन होता है जो सब पापों को नाश करने वाला है। हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि :-

कृत्वासंपुटितौ करौ दृढ़तरं बद्धवा तु पद्यमासनं,
गाढं वक्षसि सन्निधाय चिबुकं ध्यायंश्च तच्चेतसि ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोत्सारयन्पूरितं,
न्यंचन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः।

व्याख्या : हठयोग के ग्रंथकार का कहना है कि दोनों हाथों को संपुटित करके गोदी में स्थित करके दृढ़रीति से पद्मासन लगाएँ और ठोड़ी को मज़बूती से वक्ष:स्थल के समीप स्थिर करें अर्थात् जालंधर बंध को करके ब्रह्म का चिंतन करें अब गुदा को बार-बार सिकोड़ें और अपान को ऊपर उठाएँ अर्थात मूलबंध करके सुषुम्ना के मार्ग से अपान को ऊपर चढ़ाते हुए पूरक प्राणायाम से प्राणवायु को नीचे करें, अर्थात प्राण और अपान को एक करके साधक कुण्डलिनी जाग्रत कर असीमित ज्ञान का धारी हो जाता है।

ध्यान : समस्त चक्रों का ध्यान करें और यह भावना रखें कि आपके समस्त चक्र जागृत हो रहे हैं, आत्मा शुद्ध होती जा रही है; अथवा गुरु के द्वारा दिए मंत्र का जाप करें।

## सावधानियाँ :

- क्षमता से अधिक देर तक ज़बर्दस्ती न बैठें।
- घुटनों में दर्द हो तो पहले पवनमुक्तासन संबंधी क्रियाओं को करें।
- साइटिका और घुटनों के तीव्र दर्द से पीड़ित व्यक्ति यथासंभव क्रमशः करें।
- जब भी आसन लगाएँ मेरुदण्ड, गर्दन व सिर सीधे रखकर ही अभ्यास करें।
- >पैरों की स्थिति बदलकर अवश्य करें ताकि शरीर के अंगो का विकास समान रूप से हो।

लाभ : इस आसन से प्राण वायु अपान से मिलती है।

- यह आसन शरीर के सभी स्नायुतंत्र खोलता है।
- प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित होने लगते हैं जिससे जीवनदायिनी शक्ति प्राप्त होती है।
- काम-विकार को नाश कर कामशक्ति यथावत् करता है।
- चेतना ऊर्ध्वमुखी बनाता है।
- चेहरे की कांति प्रदीप्त होती है।
- शरीर के सभी रोगों को क्रमशः क्षीण करता हुआ साधक को निरोगी बनाताहै।
- शांति प्रदान कर मन की चंचलता को दूर करता है।
- इस आसन को नियमित करते रहने से पापकर्मों का क्रमश: नाश होता जाता है।
- कुण्डलिनी जागरण में विशेष सहायक।
- 10-15 मिनिट तक बैठकर ध्यान करने से अपने स्थान से हटी हुई नाभि ठीक हो जाती है।
- नियमित अभ्यास से साधक की 72,000 नाड़ियाँ प्रासुक (शुद्ध) होती हैं।
- इस आसन को करने पर पैरों में रक्त संचार कम हो जाता है जिस कारण उदर एवं कटि प्रदेश में रक्त की मात्रा बढ़ जाती है। इस प्रकार इन दोनों अंगों से संबंधित सभी रोगों में लाभ मिलने लगता है।

नोट : कुछ योग शिक्षक इस आसन को कमलासन, श्री आसन, आदिआसन, ब्रह्मा आसन और मुक्तपद्मासन भी कहते हैं।

प्रकारांतर : पद्मासन की अवस्था में ही पेट के बल लेट जाए और हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर नमस्कार की मुद्रा बना लें, तो यह अवस्था गुप्त पद्मासन कहलाती है। कुछ योग शिक्षक गुप्त पद्मासन को पतंग आसन भी कहते हैं।

योग मार्ग की सभी साधन पद्धतियाँ एक ही उद्देश्य,

एक ही लक्ष्य की ओर अग्रसर करती हैं:

शारीरिक स्वास्थ्य, मानसिक शांति एवं

चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाना।

-RJT

बद्ध पद्मासन

शाब्दिक अर्थ : बद्ध अर्थात् बँधा या पकड़ा हुआ।

विधि : पद्मासन में बैठ जाएँ। श्वास छोड़ें अब दोनों हाथों को पीठ के पीछे से ले जाते हुए दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अँगूठा और बाएँ हाथ से बाएँ पैर का अँगूठा पकड़ें। पकड़ने में

समस्या आ रही हो, तो आगे की तरफ़ झुककर पकड़ें। ठुड्डी को कंठकूप पर एवं दृष्टि नासाग्र पर केन्द्रित करें फिर वापस अपनी स्थिति में आ जाएँ। श्वास-प्रश्वास सामान्य रखें। अब यही क्रिया पैर बदलकर करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र और अनाहत चक्र पर।

श्वासक्रम/समय : इस आसन का अभ्यास 2 से 5 मिनट तक करें। श्वास-प्रश्वास सामान्य रखें या प्राणायाम करें।

लाभ:
- छाती को उन्नत बनाकर मज़बूती प्रदान करता है।
- हाथ, कंधों, घुटनों व पैरों की माँसपेशियाँ मज़बूत करता है।
- पेट संबंधी विकार नष्ट होते हैं। जठराग्नि तीव्र होती है। क़ब्ज़ मिटाता है और भूख बढ़ती है।
- हृदय, फेफड़े व किडनी को सक्षम एवं क्रियाशील बनाता है।
- स्त्रियों के वक्ष:स्थलों को उभार प्रदान करता है।

नोट : ज़रूरी नहीं है कि आप पहली बार में ही अँगूठे पकड़ लें अतः आप उसी स्थिति में सिर्फ़ पैर स्पर्श की कोशिश कीजिए। कुछ दिनों बाद अँगूठे पकड़ में आने लगेंगे।

सावधानियाँ : साइटिका या मेरुदण्ड में तीव्र वेदना वाले साधक विवेक पूर्वक करें।

विशेष :
- योग मुद्रासन भी कर सकते हैं।
- इस आसन को जालंधर बंध व मूलबंध लगाने से विशेष लाभ मिलता है। (बंध अध्याय देखें)

सिद्धासन/विजयासन

आकृति : पद्मासन से मिलती-जुलती, सिद्धि प्राप्ति में सहायक, इसलिए सिद्धासन कहलाता है।

ध्यान : समस्त चक्रों पर।

विधि : सुखासन में बैठ जाएँ। बाएँ पैर के तलवे की दाहिनी जाँघ से सटाकर ऐसे लगाएँ ताकि एड़ी आपके गुदा और अंडकोश के बीच के भाग को छूने लगे। अब दाहिने पैर की एड़ी को जननेंद्रिय और वस्ति की हड्डी के बीच दबाव डालते हुए रखें। दाहिने पैर की अँगुलियों को बाई पिंडली और जाँघ के बीच फँसाएँ। ध्यान रहे घुटने ज़मीन को छूते रहें। शरीर एकदम सीधा रखें। हाथों को घुटनों पर ज्ञान मुद्रा की स्थिति में रखें। ठोड़ी को हृदय प्रदेश के ऊपर कंठकूप में स्थिर करें। दृष्टि भौहों के मध्य रखें एवं तनाव रहित होकर बैठें। पैरों की स्थिति बदलकर यही अभ्यास करें।

दिशा: पूर्व या उत्तर (आध्यात्मिक लाभ हेतु)।

समय : यथासंभव।

श्वासक्रम : प्राणायाम के साथ/अनुकूलतानुसार।

मंत्र : गुरु द्वारा प्रदत्त या अपने इष्ट देव या ॐ नमः सिध्देभ्यः का जाप करें।

टिप्पणी : सिद्धासन और पद्मासन के लाभ लगभग एक जैसे ही हैं। चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए यह आसन उपयुक्त है अतः सभी साधकों, ब्रह्मचारियों को यह आसन अवश्य करना चाहिए। प्राणायाम और ध्यान के लिए यह आसन ज़रूर करना चाहिए।

लाभ : इस आसन से दृढ़ इच्छा शक्ति का विकास होता है। मेरुदण्ड स्थिर व दृढ़ होता है। गुदा संबंधी रोग तथा काम-विकार का नाश होता है। इस आसन को 48 मिनट तक प्रतिदिन करने से सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। बुढ़ापे में भी कमर नहीं झुकती। इस आसन में बैठकर त्राटक करने से सम्मोहन शक्ति बढ़ती है। उदर प्रदेश को भरपूर लाभ मिलता है।

सावधानियाँ : साइटिका, तीव्र कमर दर्द या घुटनों की तीव्रवेदना में क्रमशः धैर्यपूर्वक अभ्यास करें।

पर्वतासन/वियोगासन
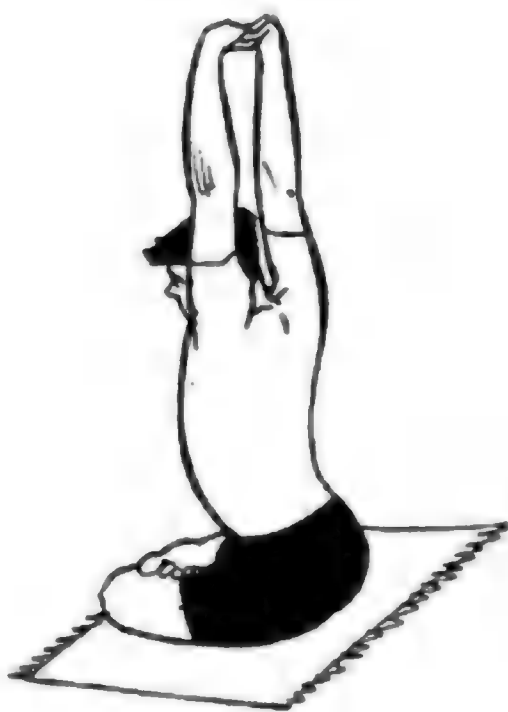
शाब्दिक अर्थ : 'पर्वत' को हम बोलचाल की भाषा में 'पहाड़' भी कहते हैं। पर्वतासन को वियोगासन भी कहते हैं।

विधि : पद्मासन में बैठें। हाथों को नमस्कार की स्थिति में ऊपर उठाते हुए सिर के ऊपर ले जाएँ या पंजों को एक-दूसरे में फँसाकर ऊपर उठाएँ। हाथ पूर्ण रूप से तने हुए होने चाहिए। आसन की स्थिति में यथासंभव हाथों को ऊपर रोकें।

ध्यान : आज्ञाचक्र पर।

श्वासक्रम : हाथ ऊपर उठाते समय श्वास लें और नीचे लाते समय श्वास छोड़ें।

समय : यह क्रिया 5-6 बार कीजिए / 1 से 2 मिनट तक करें।

लाभ : हाथों का काँपना बंद होकर हाथों की माँसपेशियाँ मज़बूत होती हैं।

- फेफड़े मज़बूत होते हैं। मेरुदण्ड पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।
- हर्निया पर भी सामान्य प्रभाव पड़ता है।
- स्त्रियों के उरोजों को सही आकार देता है।

टिप्पणी

- यह घुटनों के बल खड़े होकर भी किया जाता है (देखें गोरक्षासन)।
- सूर्य नमस्कार में स्थिति नं. 5 को भी पर्वतासन कहते हैं।

योग मुद्रासन

विधि : पद्मासन में शांतचित्त होकर आँखें बंद करके बैठे। प्रारंभिक अवस्था में दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाएँ एवं दोनों हाथों की कलाई को पकड़ें। श्वास छोड़ते हुए सिर को सामने ज़मीन पर धीरे-धीरे झुकाएँ। माथा ज़मीन से स्पर्श कराएँ। 10 से 15 सेकंड तक उसी स्थिति में रहते हुए श्वास-प्रश्वास करते रहें। अब वापस मूल अवस्था में आये एवं यही क्रिया दुहरायें।

ध्यान : समस्त चक्रों को जागृत करने के लिए उपयुक्त। मूलाधार एवं आज्ञाचक्र पर विशेष।

श्वासक्रम : झुकते समय श्वास छोड़ें। पूर्ण आसन की स्थिति में धीरे-धीरे गहरी श्वास लें। वापिस मूल अवस्था में आते समय श्वास लें।

दिशा : आध्यात्मिक कारणों से पूर्व या उत्तर दिशा ज़्यादा सटीक है।

लाभ : ❍ पाचन-संस्थान की क्रिया को तीव्र करता है।

- कोष्ठबद्धता दूर करता है। फेफड़ों का संकुचन भी ठीक होता है।
- आध्यात्मिकता में लाभ पहुँचाता है।
- मेरुदण्ड को पूर्ण लाभ मिलता है।
- कुण्डलिनी जागरण में सहायक।

सावधानियाँ : उच्च रक्तचाप, गर्भवती महिलाएँ, साइटिका, हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति न करें।

टिप्पणी : पूर्ण आसन के लिए यथासंभव पैर के अँगूठों को पकड़कर धीरे-धीरे प्रयास करें। यदि कठिनाई महसूस हो तो हाथों को पीठ पर रखकर आपस में बाँध लें।

नोट : अधिक जानने के लिए पद्मासन एवं बद्ध पद्मासन भी देखें।

# वज्रासन एवं उससे संबंधित आसन

## वज्रासन

शाब्दिक अर्थ : वज्र का अर्थ है 'कठोर'। इस आसन से दृढ़ता आती है।

विधि : दोनों पैरों के घुटने मोड़कर इस प्रकार बैठें कि पैरों के तलवों के बीच नितंब एवं एड़ियों के बीच गुदाद्वार और गुप्तांग आ जाएँ। दोनों पादांगुष्ठ एक-दूसरे को परस्पर स्पर्श करते रहें। हाथों को घुटनों पर रखकर ज्ञानमुद्रा लगाकर बैठें या सामान्य स्थिति में रखें। याद रखें मेरुदण्ड, पीठ एवं गर्दन को एकदम सीधा रखना है, जिससे ज़्यादा लाभ प्राप्त हो।

विशेष : यह आसन सरल होते हुए भी कल्पवृक्ष के समान है।

श्वासक्रम : प्राणायाम भी कर सकते हैं। भोजन करते समय दाहिने स्वर से श्वास लें।

ध्यान : समस्त चक्रों पर। विशेषकर मणिपूरक चक्र पर।

मंत्र : अपने गुरु द्वारा दिए मंत्र या अपने इष्ट का ध्यान करें या 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' का मानस-जाप करें।

लाभ : ❍ वज्रासन का जो नित्य अभ्यास करेगा वह बुढ़ापे की अवस्था में भी वज्र के समान रहेगा। ❍ आत्मोत्थान् हेतु हितकारी है। ❍ सुषुम्ना का द्वार खोलता है। ❍ हर्निया और बवासीर में लाभदायक है। ❍ भोजन के तुरंत बाद इस आसन को 10-15 मिनट तक अवश्य करें। ❍ यह आसन वायु संबंधी रोग के लिए अति लाभप्रद है। उत्तर या पूर्व दिशा की तरफ़ बैठकर ध्यान करने से यह आसन सुख देता है। ❍ स्त्रियों की मासिक अनियमितता को दूर कर उन्हें निरोग बनाता है। ❍ वायु-विकार से उत्पन्न सिरदर्द के लिए यह रामबाण है। क़ब्ज़, मंदाग्नि को ठीक करता है।

नोट : कुछ योग शिक्षक पैर के दोनों अँगूठों को एक के ऊपर एक रखकर यह आसन करवाते हैं।

सावधानी : घुटनों के दर्द से पीड़ित व्यक्ति इस आसन का अभ्यास न करें।

**आनन्द मदिरासन (प्रकारान्तर : 1)**

वज्रासन की ही स्थिति में हथेलियों को एड़ियों पर इस प्रकार रखें कि अँगूठे पैरों के तल. वों पर रहें और अँगुलियाँ एक दूसरे के सामने ही उस स्थिति को आनन्द मदिरासन कहते हैं। नोट : ध्यान, लाभ व सावधनियाँ वज्रासन के ही समान हैं।

नोट : ध्यान, लाभ व सावधनियाँ वज्रासन के ही समान हैं।

पादादिरासन (प्रकारान्तर : 2)

वज्रासन की ही स्थिति में बैठें। दोनों हाथ की वक्ष:स्थल के सामने से कैंचीनुमा बनाते हुए दाई हथेली को बाएँ बगल (काँख) में और बाई हथेली को दाएँ बगल (काँख) में इस प्रकार रख लें कि अँगुलियाँ अंदर की तरफ़ व अँगूठा बाहर ऊपर की तरफ़ उठा हुआ रहेगा। अब अँगूठा और तर्जनी अँगुलि से बीच वाले भाग को कसकर दबाएँ। नेत्रों को बंद कर श्वास-प्रश्वास की तरफ़ ध्यान लगायें।

लाभ :

- यह अभ्यास श्वास-प्रश्वास करने में आए हुए अवरोध को दूर करता है।
- वज्रासन के सभी लाभ प्राप्त होते है।

विशेष : प्राणायाम के अभ्यास में सरलता के लिए इसका अभ्यास किया जा सकता है। यदि दाहिनी तरफ़ की नासिका बंद है तो उस तरफ़ वाले हाथ से विपरीत वाला बगल दबाएँ थोड़ी ही देर में श्वास का प्रवाह विनियमित हो जाता है एवं दोनों तरफ़ के स्वर बंद है तो दोनों तरफ़ की बगल को दबाकर रखें।

शश्कासन/श्शांकासन

शाब्दिक अर्थ : शश का अर्थ खरगोश और चाँद के बीच में दिखने वाला धब्बा भी है। इस आसन की आकृति बैठे हुए खरगोश जैसी प्रतीत होने के कारण इसे शशकासन नाम से जाना जाता है एवं शश + अंक = शशांक अर्थात चंद्रमा भी होता है।

विधि : वज्रासन में बैठ जाएँ। श्वास लेते हुए दोनों हाथों को कान के बगल से सटाते हुए सिर के ऊपर उठाएँ। अब श्वास छोड़ते हुए सिर व दोनों हाथों को एक साथ सामने की तरफ़ ज़मीन से स्पर्श कराएँ। बाह्य कुंभक करें। अनुकूलतानुसार कुछ देर रुकें फिर श्वास लेते हुए हाथ व सिर को एक साथ ऊपर उठाएँ। श्वास छोड़ते हुए मूल अवस्था में आ जाएँ। श्वास के प्रति सजग रहें।

समय : यह क्रिया 10 से 12 बार करें।

श्वासक्रम : विधि में समाहित है।

लाभ :
- यह आसन उदर संबंधी रोगों से छुटकारा दिलाता है।
- मेरुदण्ड के विकार दूर करता हैं।
- महिलाओं के वस्ति-प्रदेश को लाभ पहुँचाता है।
- रक्त-संचार प्रणाली को सुचारु करता है।
- मानसिक विकार दूर होते हैं।
- वायु विकार का शमन करता है।
- प्रजनन अंग के विकारों को ठीक करता है।

सावधानी : अति उच्च रक्तचाप वाले इस आसन को न करें।

योग जीवन को उच्चतम संयोग प्रदान

करने की सकारात्मक पद्धति है।

-RJT

## सुप्त वज्रासन
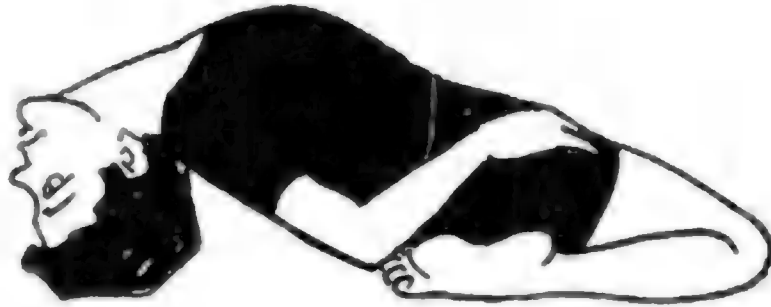
विधि : सबसे पहले वज्रासन लगाएँ। फिर धीरे-धीरे कोहनियों के सहारे पीछे की तरफ़ झुकते जाएँ एवं भूमि पर चित्त लेट जाएँ। अब पीठ के भाग को थोड़ा ऊपर उठाएँ व गर्दन को झुकाते हुए सिर पर वज़न दें। हाथों को या तो सीने पर रख लें या जाँघों पर। यथाशक्ति यह आसन करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र (नाभि से कुछ नीचे) से विशुद्धि चक्र (गला) पर।

समय : 2 से 3 मिनट तक

श्वासक्रम : पीछे की तरफ़ झुकते समय श्वास लें। पूर्ण स्थिति में धीरे-धीरे गहरा श्वसन करें। मूल स्थिति में लौटते समय श्वास लें।

लाभ :
- क़ब्ज़ दूर करता है तथा चेहरे पर निखार लाता है।
- इस आसन से पिंडली, जंघाएँ, सीना एवं रीढ़ की हड्डी मज़बूत होती है।
- यह आसन उदर प्रदेश, मेरुदण्ड, वक्ष:स्थल को संपूर्ण रूप से लाभ पहुँचाता है।
- गले संबंधी बीमारी वाले भी इस आसन को धीरे-धीरे करें

सावधानियाँ :

- वापस मूल अवस्था (वज्रासन की अवस्था) में आने के बाद ही पैरों को आगे फैलाएँ अन्यथा घुटने के जोड़ खिसक सकते हैं।

- साइटिका/तीव्र कमर दर्द, घुटने के दर्द, स्लिप डिस्क वाले व्यक्ति धैर्य पूर्वक करें।

नोट : इस आसन को करने से वज्रासन, मत्स्यासन, पर्यकासन, उत्तान– मण्डूकासन के लगभग सभी लाभ प्राप्त होते हैं।

पर्यंकासन(प्रथम प्रकार)
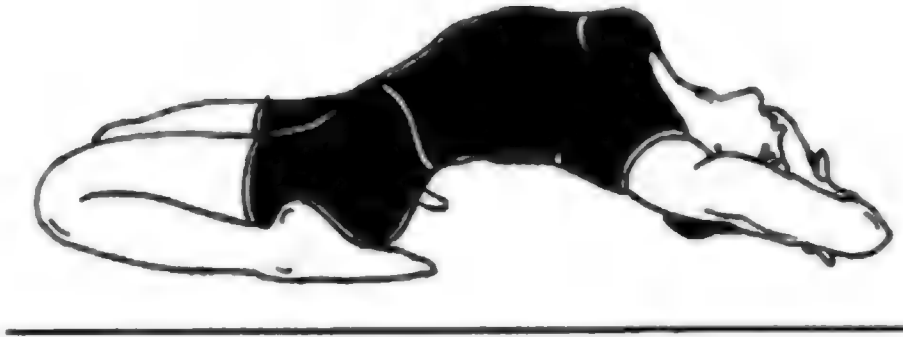
शाब्दिक अर्थ : पर्यक का अर्थ बिस्तर है।

विधि : वज्रासन में बैठें। पीठ की तरफ़ झुकें। इस आसन में केवल सिर के ऊर्ध्वभाग को ज़मीन पर स्पर्श कराएँ। पीठ और गर्दन को ऊपर उठाएँ जैसे पुल का निर्माण किया हो। हाथों को सिर के पास ले जाकर आपस में बाँध लें। अर्थात दाहिने हाथ से बाएँ हाथ की कोहनी और बाएँ हाथ से दाहिने हाथ की कोहनी पकड़ें (चित्र देखें)। स्वाभाविक रूप से श्वास लें। लगभग 40 से 50 सेकंड रुकें। हाथों को छोड़ दें और वापस वज्रासन में आने के बाद पैरों को एक-एक करके सीधा कर लें। अब शवासन में विश्राम करें।

समय : अभ्यस्त होने के बाद 50 सेकेंण्ड से लेकर 3 मिनट तक / 2 से 3 बार।

श्वासक्रम : पूर्ण आसन पर धीरे-धीरे गहरा श्वास-प्रश्वास करें। मूल अवस्था में लौटते समय श्वास लें।

लाभ :
- वज्रासन, सुप्त वज्रासन और मत्स्यासन के सभी लाभ मिलते हैं।
- पृष्ठीय संस्थान पूर्णतः फैलते हैं, जिससे फुफ्फुस अच्छी तरह फैल जाते हैं। श्वास रोगी को लाभ मिलता है।
- गर्दन के स्नायु तन जाते हैं और गल-ग्रंथि उत्तेजित हो जाती है इस कारण यह ठीक काम करती है।
- थायराइड के रोग को क्रमशः समाप्त करता है।

सावधानियाँ : वे सभी सावधानियाँ रखें जो सुप्त वज्रासन के लिए हैं।

नोट: कुछ योग शिक्षक इस आसन को सुप्त वज्रासन के समान मानते हैं

पर्यंकासन के द्वितीय प्रकार का वर्णन आगे पृष्ठ पर दिया गया है।

विशेष : मरण्य कण्डिका नामक शास्त्र में पद्मासन को पर्यंकासन कहा गया है। यह शास्त्र सन 0940 (लगभग 1070 वर्ष पुराना) में लिखा गया था जो कि वर्तमान में भी उपलब्ध है।

उष्ट्रासन
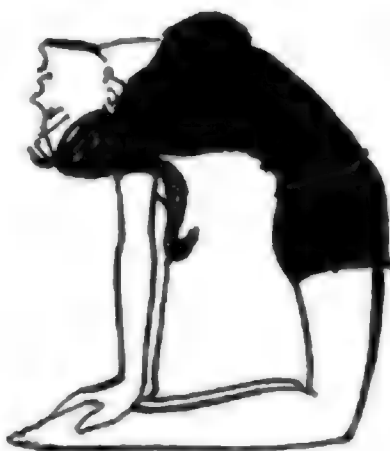
आकृति : उष्ट्र का अर्थ ऊँट है।

विधि : वज्रासन में बैठ जाएँ और घुटनों के बल खड़े हो जाएँ अब पीछे की तरफ़ झुकते हुए दाहिने हाथ से दाहिनी एड़ी एवं बाएँ हाथ से बाई एड़ी को पकड़ें। सिर को पीछे झुकाएँ। उदर प्रदेश, नाभि एवं उपस्थ क्षेत्र को आगे की ओर उभारें। सिर एवं मेरुदण्ड को अधिक से अधिक पीछे झुकाएँ और इसी स्थिति में 10-15 सेकंड रहें।

श्वासक्रम : एड़ियों को पकड़ते समय श्वास लें। पूर्ण स्थिति में सामान्य श्वास-प्रश्वास करें।

समय : 10-15 सेकंड। 4 से 5 बार करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान एवं विशुद्धि चक्र पर।

विशेष : मूलाधार का ध्यान करते हुए गुदा द्वार को भीतर की तरफ़ खींचें।

लाभ : मोटापा कम करते हुए बदन को छरहरा बनाता है। दमा के रोगी यह आसन

अवश्य करें। इससे श्वसन-तंत्र मज़बूत होता है। ❍ मधुमेह का नाश करता है। ❍ क़ब्ज़ दूर करने की यह रामबाण औषधि है। ❍ पेट-संबंधी सभी रोग दूर करता है। ❍ पीठ दर्द व कमर दर्द दूर करता है। ❍ जननेंद्रिय के समस्त रोग दूर करता है। ❍ स्त्रियों के कई रोगों के लिए यह आसन अति उत्तम है। ❍ नेत्र ज्योति बढ़ाता है। ❍ स्वर ठीक करता है। ❍ थायराइड के रोगियों के लिए लाभकारी।

नोट : पूर्ण उष्ट्रासन के लिए हाथों को ज़मीन से स्पर्श कराएँ एवं अर्ध उष्ट्रासन के लिए हाथों को एड़ियों में न रखकर कमर पर रखें। प्रथम अन्तराष्ट्रीय योग दिवस में अर्ध उष्ट्रासन को ही अर्ध उत्तरासन कहा गया है।

कूर्मासन (प्रथम प्रकार)
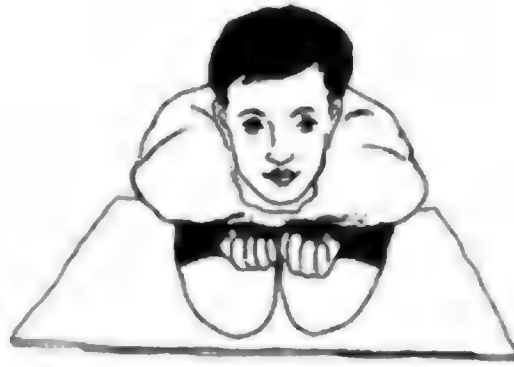
विधि : घेरण्ड संहितानुसार - सीवनी नाड़ी (अण्डकोश) के नीचे दोनों एड़ियों (गुल्फ) को विपरीत क्रम से रखें और शरीर, सिर एवं ग्रीवा (गर्दन) को सीधा करके बैठें। यह कूर्मासन कहलाता है। इस अवस्था में बैठने के बाद दोनों कुहनियों की आपस में मिलाकर नाभि स्थान के पास रखें। हाथों की अर्धमुँदी मुट्ठियाँ बनाकर श्वास छोड़ते हुए आगे की ओर झुकें व सामने देखने का प्रयास करें।

श्वासक्रम : अंतिम स्थिति में श्वास सामान्य।

समय : 1 से 2 मिनट तक। 2 से 3 करें।

लाभ : ❍ इस आसन का उद्देश्य कछुए के समान अपने सभी अंगों को अंदर समेट लेना अर्थात साधक अपनी पाँचों इंद्रियों को सांसारिकता की ओर न ले जाकर संयम, तप और त्याग के द्वारा उन पर विजय प्राप्त करें। ❍ उदर प्रदेश एवं पाचन तंत्र लाभान्वित कर उन्हें सशक्त बनाता है।

सावधानियाँ : हार्निया से पीड़ित व्यक्ति न करें। जटिल उदर रोगी भी न करें।

नोट : कूर्मासन के द्वितीय प्रकार का वर्णन आगे किया गया है।

## भद्रासन

शाब्दिक अर्थ : भद्र का अर्थ शिष्ट है।

विधि : वज्रासन में बैठ जाएँ। धीरे-धीरे घुटनों को फैलाएँ (घुटनों को अधिक से अधिक फैलाने की कोशिश करें)। पैर की अँगुलियों को एक-दूसरे से मिलाकर नितंबों की ज़मीन से स्पर्श करा दें। हाथों को घुटनों पर ज्ञानमुद्रा की स्थिति में रखें। घेरण्ड संहितानुसार- दोनों एड़ियाँ सीवनी नाड़ी (अण्डकोश) के नीचे उलटकर रखें फिर दोनों हाथों की पीठ के पीछे की तरफ़ ले जाकर दोनों पैर के अंगूठों को पकड़े और जालंधर बंध करके नासिका के अग्र भाग को देखें। यह आसन सभी रोगों का नाश करने वाला है।

श्वासक्रम/समय : स्वाभाविक श्वास चलने दें। अनुकूलतानुसार समय लगाएँ।

ध्यान : मूलाधार चक्र से आज्ञाचक्र तक।

लाभ : ❍ जाँघे, घुटने, पैर एवं एड़ियाँ मज़बूत और सशक्त होते हैं। ❍ काम-विकार नष्ट होते हैं अत: आध्यात्मिक उन्नति में यह आसन सहायक है। ❍ अर्श, प्रमेह, अंडकोश-वृद्धि, भगंदर आदि रोगों का शमन होता है। ❍ वज्रासन के भी लाभ स्वतः मिल जाते हैं। ❍ मूलाधार चक्र के उत्थान में सहायक।

सावधानी : तीव्र कमर दर्द वाले इस आसन को शनै: शनै: करें।

नोट : 21 जून 2015 'अन्तर्राष्ट्रीय योग दिवस' को भद्रासन वैसे कराया गया था जैसे कि हम तितली आसन

की क्रिया करते है, फ़र्क सिर्फ इतना है कि उसमें तितली की तरह पैरों को ऊपर नीचे नही करते।

मण्डूकासन/भेकासन

शाब्दिक अर्थ : मंडूक का अर्थ मेंढक है। यह आसन करते समय मेंढक जैसी आकृति निर्मित होती है। इसलिए इसे मंडूकासन कहते हैं।

विधि : 1. वज्रासन में बैठें। धीरे-धीरे घुटनों को एक-दूसरे से अलग करें और पैर की अँगुलियाँ एक-दूसरे को स्पर्श करें। अब अपने हाथों व हथेलियों को ज़मीन से स्पर्श कराते हुए घुटनों के सामने या बगल में रखें। मेरुदण्ड और सिर को झुकाते हुए सीधा रखें। श्वास-प्रश्वास स्वाभाविक गति से चलने दें। 8-10 सेकंड इसी स्थिति में रुकें।
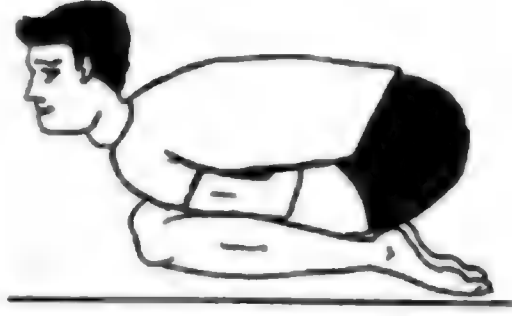
विधि : 2. इस स्थिति में दोनों हाथों को अगल-बगल में न रखते हुए दोनों हाथों की मुट्ठी बनाकर नाभि के पास रखकर उन्हें दबाते हुए आगे की तरफ़ झुकें व सामने की तरफ देखें।

श्वासक्रम : आगे झुकते समय श्वास छोड़ें। मूल स्थिति में लौटते समय श्वास लें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर।

लाभ : ❍ पाचन तंत्र प्रणाली को ठीक करता है अत: पेट के अंदर से उठने वाली दुर्गंध आदि रोगों को नष्ट करता है।

- ❍ बुढ़ापे में कमर झुकने से रोकता है।
- ❍ स्त्रियों के लिए यह अति लाभकारी है। प्रजनन-तंत्र पर प्रभाव डालता है।
- ❍ जाँघ, नितंब और पेट की अनावश्यक चर्बी कम करता है।

नोट : ❍ उपरोक्त दोनों विधियाँ प्रचलित होने के कारण यहाँ दी गई हैं।

- ❍ पहली विधि को कहीं-कहीं मंडूकी आसन के नाम से भी जाना जाता है।

सावधानी : गर्भवती महिलाएँ न करें।

उत्तान मण्डूकासन

शाब्दिक अर्थ : उत्तान का अर्थ तीव्र, तनाव एवं मण्डूक का अर्थ मेंढक है।

विधि : 1. मंडूकासन जैसी स्थिति तो है पर हाथों की स्थिति बदलकर ऊपर चली जाती है। इसमें सिर के ऊपर हाथ बाँधने जैसी स्थिति बन जाती है। बाएँ हाथ से दाहिनी कोहनी और दाहिने हाथ से बाई कोहनी को पकड़ना है। श्वास लें और सीने को तानकर सामने दृष्टि रखें। यह आसन सुविधानुसार करें।

लाभ :
- यह आसन कुंभक करते हुए करने से फुफ्फुसों की शक्ति बढ़ती है।
- रक्त-विकार नष्ट होते हैं। प्राण अधीन रहते हैं।
- शरीर सुडौल, वक्ष:स्थल चौड़े और जंघाएँ सशक्त बनती हैं।

**2.** वज्रासन में बैठें। धीरे-धीरे पीछे की ओर झुकते हुए सिर ज़मीन से स्पर्श कराएँ और सिर को कोहनियों पर टिका दें। विशेष जानकारी के लिए इसी का प्रकारांतर सुप्त वज्रासन और पर्यकासन देखें। इस आसन के लाभ भी इन्हीं के समान हैं।

ध्यान : स्वाधिष्ठान, मणिपूरक व अनाहत चक्र पर एकाग्रता रखें।
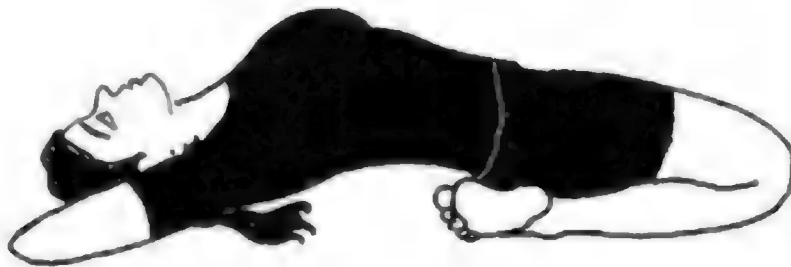
श्वासक्रम : पूर्ण स्थिति में सामान्य एवं मूल स्थिति में लौटते समय श्वास लें।

समय : लगभग 2 से 3 मिनट/2 से 3 बार।

लाभ : इस आसन की आकृति पर्यंकासन व सुप्त वज्रासन के जैसी होने के कारण इनके लाभ भी एक जैसे ही है। अत: पर्यंकासन व सुप्त वज्रासन के लाभ देखें।

नोट : उपरोक्त दोनों विधियाँ प्रचलित होने के कारण यहाँ दी गई हैं।

मार्जारी आसन/मार्जार आसन
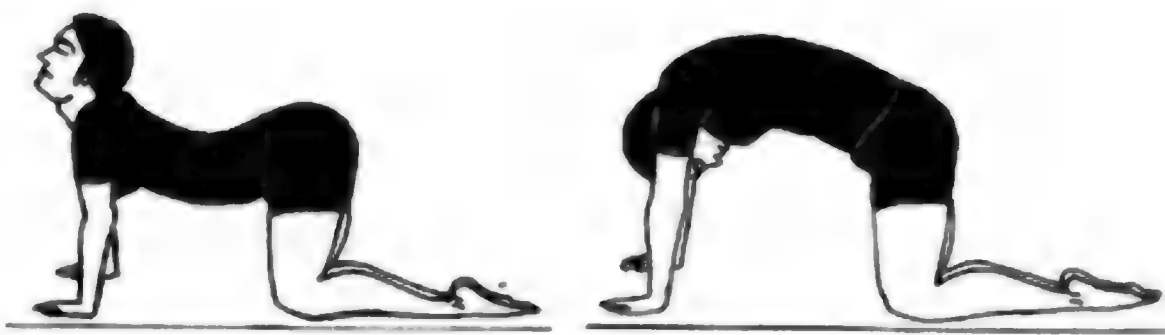
शाब्दिक अर्थ : मार्जारी अर्थात् बिल्ली।

विधि : सर्वप्रथम वज्रासन में बैठ जाएँ, अब घुटनों के बल खड़े होते हुए दोनों हाथों के पंजों को ज़मीन पर इस प्रकार रखें कि अँगुलियाँ सामने की तरफ़ हों और हाथ की कोहनियाँ सीधी हो। पैरों की स्थिति चित्रानुसार हो। यह इस आसन को क्रियान्वित करने की तैयारी है।

तत्पश्चात् श्वास लेते हुए मेरुदण्ड (पीठ) को नीचे झुकाएँ (जैसे किसी ने ऊपर से पीठ को हाथों से दबा दिया हो) और गर्दन को ऊपर की तरफ़ करें। अब ठीक इसके विपरीत श्वास छोड़ते हुए मेरुदण्ड ऊपर ले जाएँ एवं गर्दन नीची करते हुए ठुड्डी को छाती से स्पर्श कराएँ। विशेष लाभ के लिए श्वास छोड़ते हुए पेट को सिकोड़ें अर्थात् अंदर की तरफ़ खींचें। इस प्रकार यह एक आवृत्ति हुई।

श्वासक्रम/समय : श्वास-प्रश्वास की क्रिया करते समय विशेष ध्यान दें। इस क्रिया को 8 से 10 बार दोहराएँ।

लाभ :
- क़ब्ज़ को दूर करता है एवं पेट की अतिरिक्त चर्बी का कम करता है।
- कमर, मेरुदण्ड एवं गर्दन को सुगठित कर उन्हें लचीला एवं निरोग रखता है।

- महिलाओं के लिए यह अतिप्रभावकारी है।
- फेफड़ों को भी पर्याप्त लाभ मिलता है।

सावधानियाँ : मेरुदण्ड और कमर के तीव्र दर्द से पीड़ित व्यक्ति इस क्रिया को धीरे-धीरे क्रियान्वित करें।

व्याघ्रासन (प्रथम प्रकार)
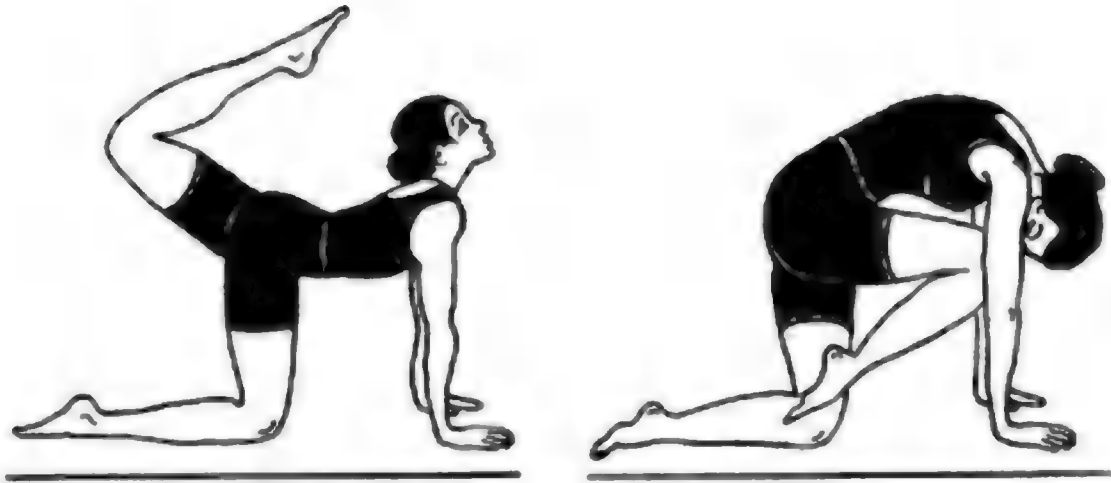
विधि : मार्जारी आसन लगाएँ। सिर को उठाकर सामने की तरफ़ देखें। अपने दाहिने पैर को पीछे की तरफ़ लम्बवत् करें। घुटने से मोड़ते हुए पैर को सिर की तरफ़ लाएँ।

अब इसी उठे हुए पैर के घुटने को नीचे लाते हुए सीने से लगाएँ एवं सिर को झुकाते हुए नाक को घुटने से स्पर्श कराएँ। इस अभ्यास में मेरुदण्ड ऊपर की तरफ़ उठ जाएगा। दूसरे पैर से उपरोक्त क्रिया दोहराएँ।

श्वासक्रम/समय

यही क्रिया कम से कम 3 से 5 बार करें। पैर पीछे लम्बवत् करते समय श्वास लें। घुटना ऊपर मोड़ते समय कुंभक करें एवं घुटना नीचे लाते समय श्वास छोड़ें।

विशेष : घुटने को सीने से लगाते समय पंजे को ज़मीन से स्पर्श न होने दें।

लाभ :
- महिलाओं के लिए अति लाभकारी एवं उनके प्रजनन अंगों को पुष्ट करता है। गर्भावस्था के (कुछ महिनों) बाद महिलाएँ इस क्रिया को कर लाभ प्राप्त कर सकती हैं।
- साइटिका वाले रोगी इस आसन को क्रमश: अभ्यास कर निरोगता प्राप्त कर

सकते हैं।

- मेरुदण्ड को लचीला एवं पाचनतंत्र सुचारु करता है।
- पेट, जंघा, एवं नितंबों को सुडौलता प्रदान करता है।

नोट : द्वितीय प्रकार का वर्णन आगे के पृष्ठ पर किया गया है।

वीरासन (तीन प्रकार)

शाब्दिक अर्थ : वीर का अर्थ क्षत्रिय, योद्धा व पराक्रमी है।

विशेष : इसकी कई विधियाँ प्रचलित है।

प्रथम प्रकार : वज्रासन में बैठें, परंतु नितंबों को ज़मीन पर स्थिर करें। ऐड़ी व तलवों को नितंबों के बगल में रखें। इस प्रकार एक तलवे की दूसरे तलवे से दूरी लगभग डेढ़ फ़ीट रहेगी अब हाथों l को ज्ञानमुद्रा की अवस्था में घुटनों के ऊपर रखें। पीठ सीधी रखें। गहरी साँस लेते हुए यथाशक्ति रुकें। दोनों हाथों को परस्पर मिलाकर सिर के ऊपर सीधा तानें। गहरी श्वास-प्रश्वास करें। कुछ देर रुकें अब हाथों को शिथिल करें एवं उनको तलवों पर रखकर आगे झुकें। नासिका के अग्रभाग को घुटनों के बीच रखें। स्वाभाविक रूप से श्वास-प्रश्वास करें। अब श्वास छोड़ते हुए उठे और पैरों को आराम दें।

लाभ :
- चूँकि यह वज्रासन का ही एक प्रकार है अत: खाना खाने के बाद भी कर सकते हैं। इससे पाचन-शक्ति यथायोग्य होकर भारीपन मिटता है। (भोजन के बाद करें तो आगे न झुकें)
- घुटनों में आमवात का दर्द और गाऊट दूर करता है।

- एड़ियों के दर्द से मुक्ति मिलती है।
- वायु विकारों का नाश होता है।
- शरीर हल्का एवं चित्त प्रसन्न रहता है।

द्वितीय प्रकार : दूसरी अवस्था में वज्रासन में बैठें। अब एक पैर मोड़कर (घुटना ऊपर की तरफ़ और पादमूल ज़मीन को स्पर्श करे) दूसरे पैर के घुटने के समीप रखें। हथेलियों को परस्पर मिलाते हुए सिर के ऊपर सीधा तानें या चित्रानुसार रखें। स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास चलने दें। अब इसी आसन को पैर /▪ है बदलकर करें। कम से कम 8-10 सेकंड इसी अवस्था 9 में रुकें। इस क्रिया को 4 से 6 बार करें।

ध्यान : प्रथम प्रकार के आसन की स्थिति में स्वाधिष्ठान चक्र पर।

- द्वितीय अवस्था में मूलाधार चक्र पर।

लाभ: मूलाधार में ध्यान करते हुए श्वास नियंत्रित करें। यह श्वास को लंबे समय तक के लिए कुंभक की स्थिति में लाता है।

- समस्त चक्रों का लाभ मिलता है।
- एकाग्रता बढ़ती है।
- तंत्रिका तंत्र की संवेदनशील बनाता है।
- यह यकृत, अमाश्य, वृक्क एवं प्रजनन अंगों को सुचारु करता है।

तृतीय प्रकार : एक पैर से वज्रासन करें और दूसरे पैर को अर्धपद्मासन की तरह करते हुए वज्रासन वाले पैर की जंघा पर रखें। प्रथम अभ्यासी हाथों का सहारा लेकर घुटने के बल

उठकर स्थिर हो और संतुलन बनाते हुए दोनों हाथों को सिर के ऊपर हाथ जोड़ने के तरीके को अपनाएँ। कुछ देर रुकें मूल अवस्था में आयें व पैर बदलकर करें। दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर या सामने रखें।

श्वास : उठते समय श्वास रोके। आसन लग जाने पर सामान्य श्वास-प्रश्वास करें। वापस आते समय श्वास छोड़ें।

लाभ : ❍ उदर प्रदेश की लाभ। ❍ आलस्य समाप्त होता है। ❍ दृष्टि स्थिर होती है। आँखों की रोशनी बढ़ती है। ❍ शारीरिक एवं मानसिक स्थिरता आती है।

नोट : कुछ योग शिक्षक पहली विधि अनुसार कराते हैं एवं द्वितीय विधि घेरण्ड संहितानुसार है। कुछ योगाचार्यों ने प्रथम विधि का नाम ब्रह्मचर्य आसन रखा है। इस आसनों के अलावा वीरासन के और भी प्रकार है।

युग बदले, काल बदला, धर्म में आस्थाएँ बदलीं,

भाषाएँ बदलीं, संस्कृतियाँ बदलीं, खान-पान बदला

परंतु योगासन से प्राप्त होने वाले लाभ नहीं बदले।

-RJT

# खड़े होकर एवं झुककर किए जाने वाले आसन

## ताड़ासन

विधि : पैरों को एक साथ मिलाकर सावधान (समावस्था) की स्थिति में खड़े हों परंतु अँगूठे और एड़ियाँ समानांतर ही रखें। अब पंजों पर ज़ोर देते हुए धीरे-धीरे ऊपर उठे एवं दोनों हाथों को मिलाकर ऊपर की तरफ़ तान दें। इस अवस्था में घुटने एवं जाँघों की माँसपेशियों को ऊपर खींचें। पेट को यथासंभव अंदर करें। सीने को आगे करें। रीढ़ और गर्दन को सीधा रखें। शरीर का भार सिर्फ़ पंजों पर रखें। कुछ देर इसी अवस्था में रुकें। वापस आते समय श्वास छोड़ते हुए मूल स्थिति में पहुँचें।

श्वासक्रम : उठते समय श्वास लें और वापस आते समय श्वास छोड़ें।

समय : 5-6 बार करें। 1 से 2 मिनट तक करें।

लाभ: ❍ लंबाई बढ़ाने का सबसे अच्छा अभ्यास है।

- ❍ शरीर की स्थिरता देता है।
- ❍ माँसपेशियाँ मज़बूत करता है।
- ❍ स्लिप डिस्क वाले यह आसन अवश्य करें।
- ❍ स्त्रियों के लिए लाभकारी है। खासतौर से गर्भावस्था के शुरुआती महीनों में स्त्रियों के लिए विशेष लाभकारी (स्वस्थ संतान होती है)। ❍
- ❍ शंख प्रक्षालन की क्रिया के लिए आवश्यक।

सावधानियाँ

दोनों पैरों के पंजों पर एक साथ वज़न देते हुए क्रिया करें एवं संतुलन पर ध्यान दें। इसके पश्चात् शीर्षासन से संबंधित कोई आसन करें।

नोट

पूर्ण आसन की स्थिति में ऊपर देखें एवं मानसिक रुप से यह विचार करें कि ऊपर कोई वस्तु रखी है और हम उसे पकड़ने वाले हैं। ऐसा करने से कई लाभ स्वत: प्राप्त हो जाते हैं।

तिर्यक् ताड़ासन/ऊर्ध्व हस्तोत्तानासन

शाब्दिक अर्थ : तिर्यक् का मतलब ढालुआ, तिरछापन या आड़ापन। ताड़ एक वृक्ष है जो काफ़ी लंबाई लिए हुए होता है।

विधि : ताड़ासन में खड़े हो जाएँ। अब आपको एड़ी को उठाते हुए पंजों के बल खड़े होना है एवं कमर से ऊपर के भाग को दाएँ एवं बाएँ क्रमशः 10-10 बार झुकाना है। यदि पंजों के बल खड़े होने में परेशानी का अनुभव हो तो बगैर एड़ी उठाए ही अभ्यास करें।

श्वासक्रम : उठते समय श्वास लें। दाएँ मुड़ते समय श्वास छोड़ें। मूल स्थिति में आते समय श्वास लें। बाएँ मुड़ते समय श्वास छोड़ें। मूल स्थिति में आते समय श्वास लें।

लाभ :
- ताड़ासन के सभी लाभ स्वत: प्राप्त हो जाते हैं।
- शंख-प्रक्षालन क्रिया के लिए यह अभ्यास अति उत्तम है।
- उदर-विकार का नाश होता है। शौच की कठिनता समाप्त होती है।
- पेट की स्थूलता कम होती है। कमर पतली व लचीली बनती है।

नोट : कुछ योग शिक्षक इस आसन को पैरों की स्थिति बदलकर करवाते हैं।

योगाभ्यास की आवश्यकता कल थी

आज है और कल भी रहेगी।

-RJT

गतिमय समकोणासन
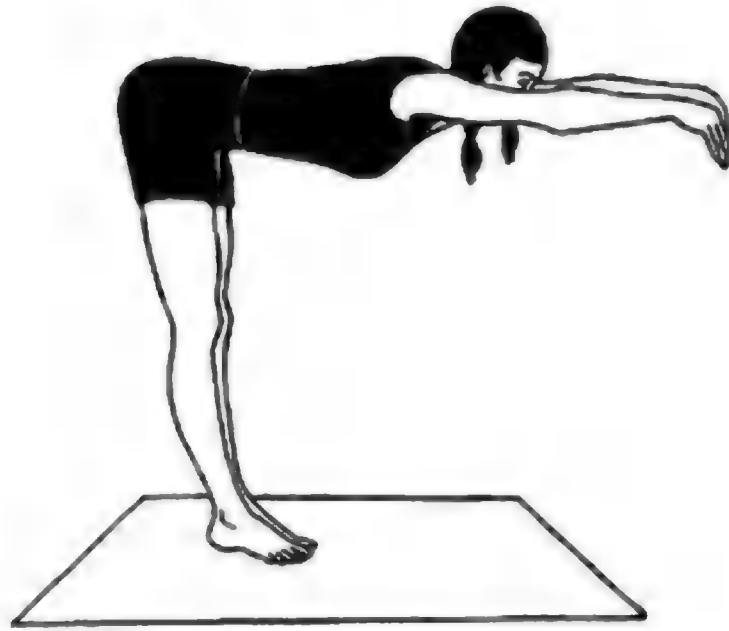
विधि : समावस्था में खड़े हो जाएँ। दोनों हाथों को कानों से स्पर्श कराते हुए ऊपर की तरफ़ नमस्कार की मुद्रा में तान दें। पीठ को थोड़ा-सा धनुषाकार बनाते हुए नितम्बों को थोड़ा-सा पीछे ले जाएँ अब समकोण की स्थिति बनाने के लिए सिर, छाती एवं हाथों को सामने की तरफ़ कमर से इतना झुकाएँ कि पैरों से लेकर कमर तक व कमर से सिर तक समकोण की आकृति निर्मित हो जाएँ एवं सामने की तरफ़ देखने की कोशिश करें। लगभग 5 से 10 सेकण्ड रुकें और वापस मूल अवस्था में आ जाएँ अभ्यास हो जाने पर इस आसन को करने में गति लाएँ।

श्वासक्रम/समय : सामने की तरफ़ झुकते समय श्वास छोड़ें मूल अवस्था में लोटते समय श्वास लें।

लाभ :
- मेरुदण्ड के विकार को दूर करता है
- गर्दन के पिछले हिस्से पर प्रभावी होने से गर्दन के समान्य विकारों को दूर कर अनेक रोगों में लाभ पहुँचाता है।

सावधानीयाँ : कड़क मेरुदण्ड वाले, सर्वाइकल प्राब्लम एवं साइटिका वाले न करें।

गतिमय दोलासन
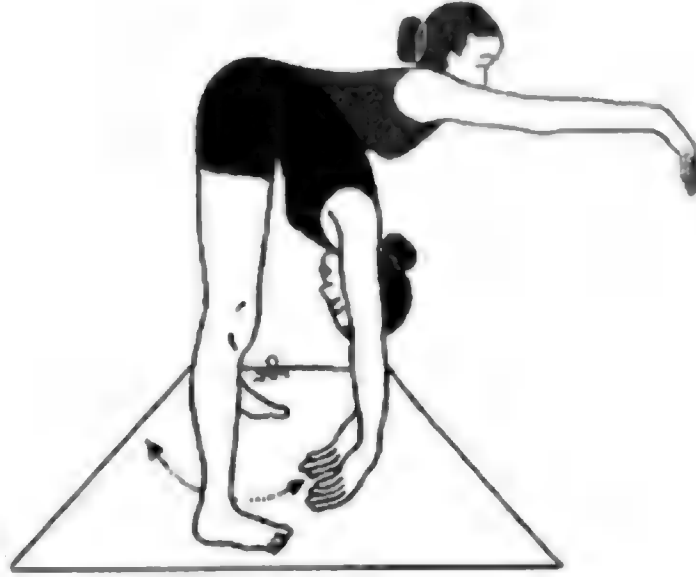
विधि : त्रिलोकासन की अवस्था में खड़े हो जाएँ अर्थात् दोनों पैरों के बीच में लगभग 1½ से 2 फिट का अंतर बनाकर खड़े हो जाएँ। दोनों हाथों को कानों से स्पर्श कराते हुए ऊपर की तरफ़ तान दें तथा हाथों की अंगुलियाँ आपस में मिला लें या खुली रखें, अब समकोण की आकृति बनाते हुए शरीर के ऊपरी भाग को नीचे की तरफ़ झुकाएँ एवं ढीला छोड़ दें और झूले की तरह झुलाएँ। पुनः समकोण की स्थिति निर्मित करते हुए मूल अवस्था में वापस आ जाएँ।

श्वासक्रम/समय : कम से कम 4 से 5 बार अपने शरीर को अंतिम अवस्था में पैरों के बीच झुलाएँ एवं शरीर को नीचे लाते समय मुँह से फेफड़ों की पूरी वायु को निकाल दें। मूल अवस्था में लौटते समय श्वास लें।

लाभ :
- फेफड़े पुष्ट होते हैं। उनके क्रमशः समस्त विकार निकल जाते हैं, उनमें ऑक्सीजन ग्रहण करने की क्षमता बढ़ती है।
- घुटनों के पृष्ठ भाग की नसों में और पीठ पर खिंचाव उत्पन्न होता है जिससे रक्त संचार उचित रूप से होता है।
- चेहरे और सिर में रक्त की मात्रा पूर्ण रूप से पहुँचने के कारण कई प्रकार के विकार स्वत: समाप्त हो जाते हैं।
- चेहरे का ओज तेज बढ़ता है। लालिमा बढ़ती है। आँखों की रोशनी भी बढ़ती है।

सावधानीयाँ : हाईब्लड प्रेशर, चक्कर आना, कमर एवं पीठ दर्द वाले इस आसन को न करें।

संकटासन/सकटासन
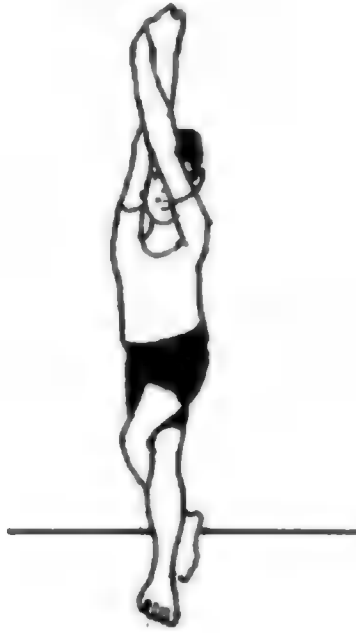
शाब्दिक अर्थ : संकट यानी विपति/कष्ट एवं सकट यानी शाखोट नामक पेड़।

विधि : ताड़ासन में खड़े हो जाएँ। अब बाएँ पैर को दाहिने पैर पर लपेटें और हाथों को भी ऊपर की तरफ़ ले जाकर बाएँ हाथ को दाहिने हाथ पर लपेटें (कहीं-कहीं योग शिक्षक हाथों को घुटनों पर रखने को कहते हैं)। स्वाभाविक श्वास लें। यही क्रम बदलकर करें। शरीर सीधा रखें।

श्वासक्रम/समय : स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास करें। यथाशक्ति समय दें। ध्यान : आज्ञा चक्र पर।

लाभ :
- पैरों को दृढ़ता प्रदान करता है। निरंतर अभ्यास से पैरों का काँपना दूर होता है।
- हाथों का बल बढ़ता है।
- कमर दर्द, पीठ दर्द और हर्निया में लाभ पहुँचाता है।

नोट : गरुड़ासन भी लगभग इससे मिलता-जुलता आसन है।

सावधानीयाँ : गठिया जैसी बीमारियों वाले रोगी सावधानी पूर्वक अभ्यास करें।

गरुड़ासन
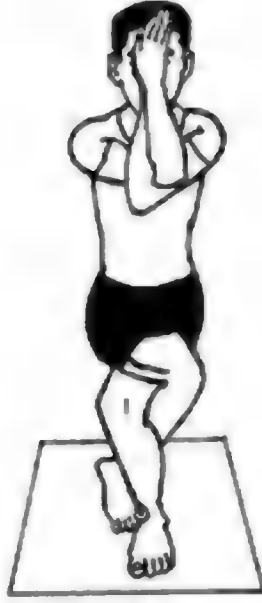
शाब्दिक अर्थ : गरुड़ - पक्षियों का राजा, भगवान विष्णु का वाहन है।

विधि : ताड़ासन में खड़े हो जाएँ। दाहिना पैर उठाएँ और बाएँ पैर पर इस प्रकार लपेटें कि दाहिनी जाँघ का पिछला हिस्सा बाई जाँघ पर और दाहिना पैर बाई पिंडली को स्पर्श करे। अब हाथों को भी कोहनियों से मोड़कर आपस में लपेट लें व दोनों हथेलियों को आपस में प्रार्थना की मुद्रा में जोड़ लें। वापस मूल स्थिति (ताड़ासन) में आ जाएँ। अब इतने ही समय के लिए पैरों और हाथों को बदलकर करें। यही क्रिया 2 से 5 बार करें।

समय : लगभग 15-20 सेकंड इसी अवस्था में रुकें।

श्वासक्रम : पूर्ण आसन में धीरे-धीरे गहरी श्वास लें।

ध्यान : आज्ञाचक्र पर।

नोट : आसन का पूर्ण अभ्यास हो जाने पर धीरे-धीरे सामने की तरफ़ झुककर हाथों से ज़मीन की स्पर्श करने की कोशिश करें।

लाभ :
- इस आसन से टखनों का सही विकास होता है।
- एकाग्रता बढ़ती है। शरीर के संतुलन का अभ्यास बढ़ता है।
- पिंडलियों की माँसपेशियों की ऐंठन को रोकने के लिए बड़ा ही लाभदायक आसन है।
- हाथ व पैर लचीले एवं सशक्त बनाता है।

- जननांग के विकार दूर करता है।

सावधानियाँ : गठिया जैसी बीमारियों वाले रोगी सावधानीपूर्वक अभ्यास करें। साइटिका वाले इस आसन को करें, परन्तु आगे की ओर न झुकें।

वृक्षासन/एक पाद नमस्कारासन/ऊर्ध्वहस्तस्थित-एक पाद विराम आसन

आकृति : वृक्ष के समान आकृति होने के कारण इसे वृक्षासन कहा गया है।

विधि : सर्वप्रथम समावस्था में खड़े हों। फिर शरीर को संतुलित रखते हुए दाहिने पैर को घुटने से मोड़ें और पैर के पंजे को बाएँ पैर की जाँघ के मूल में लगाएँ। ध्यान रहे दाहिने पैर के पंजे की अंगुलियाँ ज़मीन की तरफ़ रहें। इस प्रकार एक पैर पर संतुलन बनाएँ। अब दोनों हथेलियों को मिलाएँ और सीधे आकाश की तरफ़ उठाएँ। दोनों हाथों की कोहनियाँ सीधी रखें।

ध्यान : आज्ञा चक्र पर।

समय : इस अवस्था में 5 से 10 सेकंड तक रुकें। वापस ताड़ासन की स्थिति में आएँ। अब आपको यही प्रक्रिया दाहिने पैर पर खड़े होकर दोहरानी है। इस प्रकार यह क्रिया लगभग

क्रमश: चार से पाँच बार करें।

श्वासक्रम : दोनों हाथ उठाते हुए श्वास लें। पूर्ण स्थिति में स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास करें। हाथों को नीचे करते समय श्वास छोड़े।

दिशा : पूर्व या उत्तर।

लाभ :
- इस आसन में आज्ञाचक्र पर ध्यान लगाने से स्मरण-शक्ति तीव्र होती है। नेत्र-ज्योति बढ़ती है।
- हाथ-पैरों का काँपना बंद होता है एवं भुजाएँ व पिंडली सख्त होती हैं। शरीर को संतुलन प्रदान करता है।

नोट : वृक्षासन को कुछ योगाचार्य सिर नीचे और पैर ऊपर करते हुए हाथों के बल स्थिर होकर कराते हैं।

विशेष : इसी आसन में जब सामने हाथ जोड़कर नमस्कार करते हैं तो इसको नमस्कार आसन भी कहते हैं। जबकि सूर्य नमस्कार की प्रथम स्थिति को भी नमस्कारासन कहते हैं।

ध्रुव आसन/ भागीरथ आसन

शब्दार्थ : भक्त ध्रुव एवं भागीरथ ऋषि ने इसी आसन से साधना की थी। संभवतः तब से इस आसन का नाम ध्रुव आसन या भागीरथ आसन पड़ा। इसे दो प्रकार से किया जा सकता

है।

प्रथम प्रकार : समावस्था में खड़े हो जाएँ। इसके बाद दाहिने पैर को घुटने से मोड़कर बाएँ पैर के जंघा मूल पर पंजे को स्थापित करें। अब दोनों हाथों को वक्ष:स्थल के सामने नमस्कार की मुद्रा बना लें। बाएँ पैर को द्रढ़तापूर्वक ज़मीन पर स्थिर रखकर संतुलन बनाएँ। यही क्रम पैर बदलकर करें। श्वासक्रम सामान्य रखें।

द्वितीय प्रकार : समावस्था में खड़े हो जाएँ। उपरोक्त विधि अनुसार दाहिने पैर को घुटने से मोड़कर पंजे को बाएँ पैर की जंघा मूल पर स्थापित कर दें। फिर बाएँ हाथ की अंजलि बनाकर नाभि के समीप रखें। अब कुंभक करते हुए दाहिने हाथ को सीधे ऊपर की ओर उठाएँ एवं अनुकूलतानुसार रुकें। वापस मूल अवस्था में आएँ और पैर बदलकर यही क्रिया करें।

श्वासक्रम **:** पूर्ण-स्थिति में सामान्य श्वास-प्रश्वास करें।

समय : अनुकूलतानुसार।

लाभ : ❍ पैरों में दृढ़ता आती है। पैरों का काँपना बंद होता है।

- आलस समाप्त होता है। जीवन में संतुलन लाता है।
- मूलाधार चक्र उत्थित होता है। नई चेतना का प्रादुर्भाव होता है।
- साधना सिद्धि में सहायक है।

पाद हस्तासन/हस्त पादासन

शाब्दिक अर्थ : पाद का अर्थ पैर और हस्त का अर्थ हाथ होता है। अपने ही हाथों के पंजों पर ऊपर पैर रखकर खड़े होना।

विधि : ताड़ासन की स्थिति में खड़े हों। पैरों के पंजों के बीच की दूरी आधा फ़ीट से एक फ़ीट तक रखें। श्वास छोड़ते हुए धीरे-धीरे आगे की तरफ़ झुकें एवं दोनों हाथों की हथेलियों को पैरों के तलवों के नीचे लगाएँ। इस दौरान घुटने नहीं मुड़ने चाहिए। अपने सिर को झुकाते हुए घुटनों के बीच रखिए।

श्वासक्रम/समय : 5 से 10 सेकंड तक रुकें। स्वाभाविक रूप से श्वास-प्रश्वास करें। श्वास लेते हुए सिर उठाएँ और वापस पूर्व स्थिति में आ जाएँ।

ध्यान : मूलाधार एवं स्वाधिष्ठान चक्र पर।

लाभ :
- यह आसन पेट में गैस भरी रहने, वायु सिर पर चढ़ने या पेट फूलने जैसी बीमारियों में बहुत लाभदायक है।
- पश्चिमोत्तानासन के भी लाभ इससे प्राप्त होते हैं।

- अनावश्यक चर्बी कम होती है।
- बालों का झड़ना बंद होता है, आँखों की रोशनी बढ़ती है और चेहरे में निखार आता है।

सावधानियाँ: उच्च रक्तचाप, कमर दर्द, हृद्य रोग एवं जिन्हें चक्कर आते हों, वे सावधानीपूर्वक अभ्यास करें।

नोट : पार्दागुष्ठासन (प्रथम प्रकार) और उत्तानासन (प्रथम प्रकार) उपरोक्त आसन से काफी समानता रखते हैं।

उत्तानासन (प्रथम प्रकार)

शाब्दिक अर्थ : उत् एक संस्कृत उपसर्ग है, जो शब्दों में लगकर अर्थ देता है। तान का अर्थ फैलना, फैलाया हुआ, तानना या बढ़ाना। इस आसन में मेरुदण्ड को बलपूर्वक ताना जाता है।

विधि : प्रसन्न मुद्रा में अपने आसन में सीधे खड़े हो जाएँ। श्वास छोड़ें एवं आगे की ओर झुकते हुए हथेलियों को एड़ियों के पास ज़मीन पर रखें। घुटनों को मुड़ने न दें, अंतिम स्थिति में सिर घुटनों से न लगाकर ऊपर की तरफ़ तानें। मेरुदण्ड भी तना हुआ रहेगा। इस क्रिया में श्वास गहरी लें। अब पुनः श्वास छोड़ें और सिर घुटनों से सटा दें (चित्र देखें)। स्वाभाविक श्वास लेते हुए लगभग 1 मिनट या यथाशक्ति रुकें। अब पहले सिर उठाएँ, श्वास लें। हाथ उठाते हुए वापस मूल अवस्था में आ जाएँ।

श्वासक्रम/समय : उपरोक्त विधि में सम्मिलित है।

लाभ : ❍ स्त्रियों के मासिक ऋतुस्राव के समय होने वाली पेट की पीड़ा को कम करता है।

- जल्दी उत्तेजित होने वाले व्यक्ति, चिड़चिड़े स्वभाव एवं तुरंत आवेश या क्रोध करने वाले व्यक्तियों के लिए यह आसन बहुत उपयोगी है, क्योंकि यह मस्तिष्क की कोशिकाओं को शांत करता है एवं मानसिक उदासीनता को नष्ट करता है।
- उदर-पीड़ा को शांत करता है।
- यकृत, प्लीहा एवं गुर्दों (किडनी) को लाभ प्रदान करता है।
- हृदय को पुष्ट करता है।
- मेरुदण्ड को लचीला बनाता है एवं मेरुदण्ड संबंधी बहुत से लाभ प्रदान करता है।

विशेष : पादांगुष्ठासन और पाद हस्तासन ये दो आसन इस उपरोक्त आसन से काफ़ी समानता रखते हैं। कई योगाचार्यों के अनुसार ये आसन विभिन्न भी होते हैं एवं एक और प्रकार के उतानासन का उल्लेख यहाँ पर किया गया है। अत:साधक अपने विवेकानुसार उपयोग करें।

सावधानियाँ : उच्च रक्तचाप एवं कड़क मेरुदण्ड वाले इस आसन को सावधानी पूर्वक करें। साइटिका, सर्वाइकल, स्पॉन्डिलाइटिस, स्लिप्पडिस्क रोगी इस अभ्यास को न करें।

उतानासन (द्वितीय प्रकार)

विधि : दोनों पैरों के बीच लगभग दो से ढाई फ़िट की दूरी बनाकर सीधे खड़े हो जाएँ। पैरों

के पंजों को बाहर की तरफ़ मोड़कर खड़े हों। अब दोनों हाथों को पेट के सामने की तरफ़ लंबवत् रूप में एक दूसरे से फंसाकर लटका लें। या छाती के सामने हाथ जोड़ लें।

श्वास छोड़ते हुए धीरे-धीरे नीचे की तरफ़ बैठें। घुटने बाहर की तरफ़ पंजे के ऊपर एक सीध में स्थित होने चाहिए। श्वास लेते हुए वापस उसी स्थिति में खड़े हो जाएँ। इस अभ्यास में क्रमशः जितना अधिक संभव हो उतना नीचे बैठने की कोशिश करें। अभ्यास के दौरान मेरुदण्ड सीधा एवं दृष्टि सामने रखें। 5 से 10 बार यह क्रिया करें।

विशेष:
- बैठते समय घुटने बाहर की ही तरफ़ मुड़े रहें।
- यदि पहली बार में ही बैठते न बने तो पहले 1 फ़िट तक नितंबों को नीचे करें फिर डेढ़ फ़िट करें। अभ्यास हो जाने पर पूरा बैठने की कोशिश करें।

लाभ :
- प्रजनन प्रदेश के विकारों का शमन करता है।
- पैरों की माँसपेशियों को मज़बूती प्रदान करता है।
- जाँघ, घुटने व पिंडली को मज़बूती प्रदान करता है।
- प्राण के प्रवाह को नियमित करता है। मूत्राशय एवं गर्भाशय को लाभ मिलता है।
- पीठ के सामान्य विकार दूर करता है।
- टखने, घुटने एवं कमर की संधियों को उचित लाभ प्रदान करता है।

सावधानियाँ
- पहली बार में ही पूर्णतः बैठने की कोशिश न करें।
- सिर एवं मेरुदण्ड सीधा रखें। आगे की तरफ़ न झुकें।
- गर्भावस्था की स्थिति में पूर्णरूप से न बैठे एवं तीन महीने की गभावस्था के बाद न करें।

काल भैरवासन (प्रथम प्रकार)

शाब्दिक अर्थ : काल का मतलब विनाश या समय। भैरव का अर्थ भयानक या उग्र। यह भगवान शिव के आठ रूपों में से एक है।

विशेष : इसकी कई विधियाँ हैं। जैसा कि नाम से इंगित है, यह आसन कालभैरव जी का है। भारत में कालभैरव जी की तरह-तरह की मुद्राओं वाली प्रतिमाएँ मिलती हैं।

विधि : यहाँ उनकी मुद्रा चित्रानुसार है। पहले सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों पैरों में लगभग 1 फ़ीट का अंतर रखें। एक पैर दूसरे पैर के पीछे होना चाहिए। हाथों को या तो ऊपर कर लें या फिर आगे-पीछे। आँखें अपलक निहारती हुई और जीभ थोड़ी बाहर निकली हुई हो।

समय : 3 से 5 मिनट अभ्यास करें।

ध्यान : श्वास की तरफ़ ध्यान दें एवं ध्यान करें कि समस्त क्रोध बाहर जा रहा है और आध्यात्मिक आनंद अंदर आ रहा है।

लाभ :
- शरीर में दृढ़ता आती है।
- आँखों की ज्योति बढ़ती है।
- साधक के अंदर निर्भयता आती है, साहस बढ़ता है।
- वक्ष:स्थल चौड़ा व मज़बूत होता है।

नोट : कालभैरवासन का द्वितीय प्रकार अगले पृष्ठों पर देखें।

उत्थित हस्त पादांगुष्ठासन

विधि : समावस्था में खड़े हो जाएँ अर्थात् दोनों पंजी को एक साथ मिलाकर खड़े हो जाएँ। दृष्टि सामने रखें। अब दाहिने घुटने को मोड़कर दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ें। इस प्रकार अंगूठे को पकड़े कि दाहिना हाथ पैर के अंदर की तरफ़ हो तत्पश्चात् दाएँ पैर को धीरे-धीरे सीधा करें, और पैर को लम्बवत् तानते हुए ऊपर की तरफ़ ले जाएँ। बाएँ हाथ को कमर पर रखें यदि सन्तुलन नहीं बन पा रहा हो तो हाथ की सामने या बगल की तरफ़ ऊपर उठाएँ।

नोट: इस आसन में पैर को धीरे-धीरे अभ्यास में लाते हुए पैर को इतना ऊपर उठाएं कि आपकी जांघ ठुड्डी से स्पर्श करने लगें। इस प्रयास के लिए दोनों हाथों से पैर को ऊपर की तरफ़ उठाएँ।

श्वासक्रम/समय : अनुकूलतानुसार रुकें या 5 से 10 सेकण्ड तक ही रुकें और दोनों पैर से पाँच-पाँच चक्र पूरे करें। पैर उठाते समय श्वास लें और आसन बनाते समय अंत:कुंभक करें तथा पैर को नीचे लाते समय श्वास छोड़ें।

लाभ : ❍ पैरों की मांसपेशियाँ एवं नितम्ब के जोड़ मज़बूत होते हैं।

- नितम्ब और जंघाओं में सुडोलता आती हैं।
- शरीर और मन दोनों का नियंत्रण होता है।

सावधानीयाँ : साइटिका और कमर रोग से अधिक पीड़ित व्यक्ति न करें।

वहीं योग कार्यकारी है

जो निवणा पथ पर ले जाये

-RJT

शुतुरमुर्ग आसन

शाब्दिक अर्थ : शुतुरमुर्ग एक पक्षी है, जो दौड़ने में तेज़ होता है व कई दिनों तक पानी पिए बिना जीवित रहने की क्षमता रखता है।

विधि : प्रसन्न मुद्रा में सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों पैरों के बीच थोड़ा सा अंतर रखें। अब सामने की तरफ़ झुकें व दोनों हाथ ज़मीन से लगा दें एवं अँगुलियों के बल पूरा शरीर उठाएँ। अँगुलियाँ खुली रखें तथा पैरों की एड़ियों को भी ज़मीन से ऊँचा उठा लें। पैरों की अँगुलियों एवं हाथों के बल खड़े हो जाएँ। अंतिम स्थिति में शरीर का संपूर्ण वज़न पैरों की अँगुलियों एवं हाथों की अँगुलियों पर रहेगा। हाथ की कोहनी और पैरों के घुटने नहीं मुड़ने चाहिए। सामने की तरफ़ देखें। इस अवस्था में थोड़ा इधर-उधर चल सकते हैं। अंतिम

अवस्था में श्वास-प्रश्वास सामान्य रखें।

श्वासक्रम : सामने की तरफ़ झुकते समय श्वास छोड़ें। वापस उठते समय श्वास लें।

लाभ :
- पैर की अँगुलियों से लेकर जाँघ तक पूरा पैर मज़बूत व सुगठित होता है।
- जिनको गैस की समस्या है, वे इस आसन को कर वायु-विकार से मुक्त हो सकते हैं।
- हाथ की अंगुली, कोहनी एवं भुजाएँ सुंदर, मज़बूत व दृढ़ होती हैं।
- नेत्र-रोगों में फ़ायदा होता है।
- मोटापे का क्षय होता है।

नोट : कुछ योग शिक्षक इस आसन को गज आसन भी कहते हैं।

सावधानियाँ : साइटिका एवं उच्च रक्तचाप वाले रोगी विवेकपूर्वक करें।

शीर्ष पादांगुष्ठ स्पर्शासन
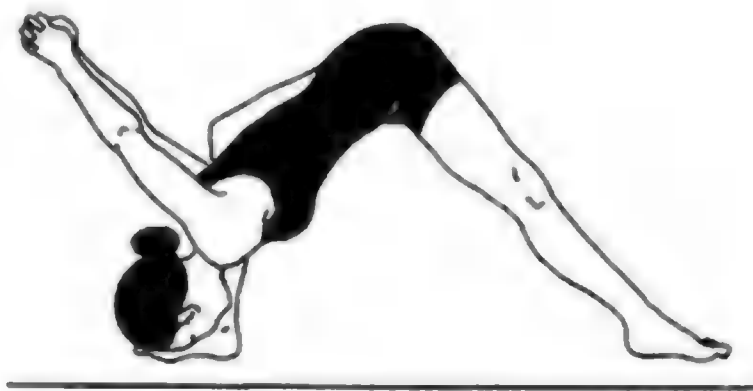
शाब्दिक अर्थ : शीर्ष का अर्थ सिर। पाद-अंगुष्ठ का अर्थ पैर का अँगूठा।

विधि : पहले ताड़ासन में खड़े हों। अब सिर्फ़ बाएँ पैर को दाहिने पैर से 2-3 फ़ीट आगे करें। हाथों को पीछे बाँधे और सिर को बाईं ओर झुकाते हुए अँगूठे से स्पर्श कराने का प्रयत्न करें। इस अवस्था में दाहिना पैर सीधा रहेगा और बायाँ घुटना कुछ मुड़ेगा। पैरों को बदलकर यही क्रम जारी रखें।

श्वासक्रम : झुकते समय श्वास छोड़ें। मूल अवस्था में लौटते समय श्वास लें।

समय : यह आवृत्ति 3 से 5 बार दोहराएँ।

लाभ :
- पैर की माँसपेशियाँ एवं मेरुदण्ड सशक्त होते हैं एवं इनके सामान्य रोगों में लाभ मिलता है।
- वायु-विकार एवं क़ब्ज़ के लिए हितकारी।
- मानसिक विकार का शमन होता है। सावधानियाँ

सावधानियाँ

- इस आसन के बाद और पहले पीछे मुड़ने वाले आसन करने से इसकी कठिनता समाप्त होती है और अन्य विकार नहीं हो पाते।
- आसनावस्था में श्वास रोके रहें। श्वास-प्रश्वास न करें।
- स्लिप डिस्क वाले और साइटिका की समस्या वाले रोगी इसे न करें।

वीरभद्रासन/ एक पादासन
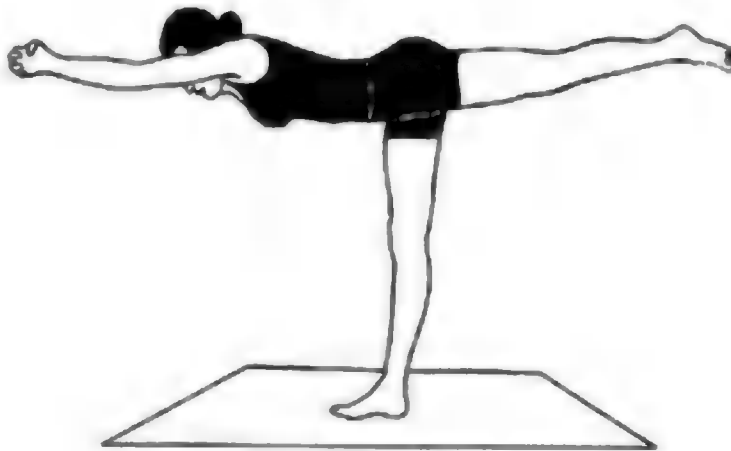
विधि : खड़े हो जाएँ। दोनों हाथों को कान से स्पर्श कराते हुए सिर के ऊपर ले जाएँ एवं अंगुलियों को आपस में फंसा लें। अब चूंकि एक पैर पर सन्तुलन स्थापित करना है, अतः एक पैर (दाहिना) पर पूरा ध्यान केन्द्रित कर कमर से ऊपर के भाग को सामने की तरफ़ झुकाते हुए बाएँ पैर को पीछे ले जाएँ इस प्रकार सिर, छाती, पीठ और बायाँ पैर एक सीध में हो जाएँगे। अंतिम अवस्था में दाहिने पैर पर ही पूरा सन्तुलन रहेगा। अनुकूलतानुसार रुकें और वापस मूल अवस्था में आ जाएँ। यही प्रक्रिया दूसरे पैर से भी करें।

श्वासक्रम/समय : झुकते समय श्वास छोड़ें अंतिम अवस्था में श्वास सामान्य रखें। मूल

अवस्था में लौटते समय श्वास लें। अनुकूलतानुसार रुकें और प्रत्येक पैर से 2 से 3 बार करें।

लाभ : ❍ पैरों की मांसपेशियों को मज़बूती प्रदान करता है।

❍ समस्त शरीर में और जीवन में सन्तुलन को परिभाषित करता है।

❍ रक्त संचार यथावत करता है। मन की चंचलता को रोकता है।

सावधानी : उच्च रक्तचाप वाले इसे न करें।

पादांगुष्ठासन(प्रथम प्रकार)
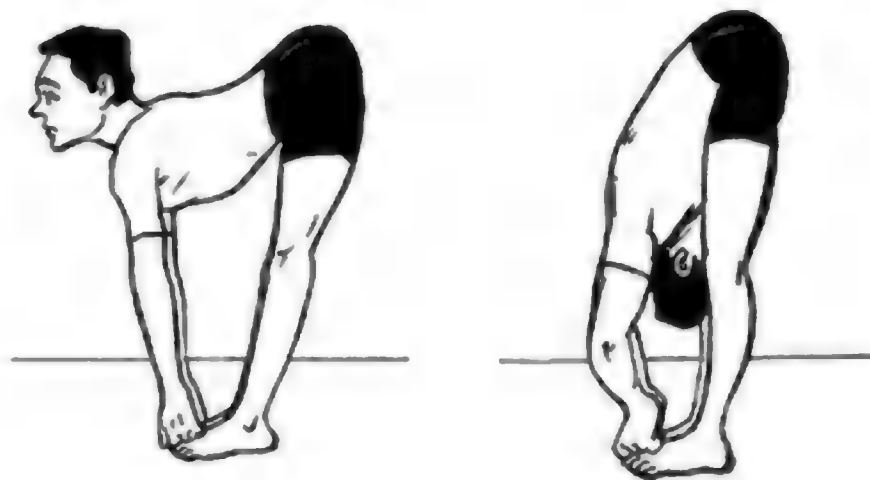
शाब्दिक अर्थ : पाद का अर्थ पैर। अंगुष्ठ का अर्थ अंगूठा।

विधि : ताड़ासन में खड़े हो जाएँ। पैरों के मध्य लगभग एक फ़ीट का अंतर रखें। श्वास छोड़े एवं आगे की तरफ़ झुकते हुए पैर के अँगूठे को अंदर की तरफ़ से ऐसे पकड़ें कि दोनों हथेलियाँ आमने-सामने हो जाएँ। सिर को सामने की तरफ़ रखें। अब पैर की अँगुलियों में तनाव देते हुए घुटनों के बीच सिर को रखें। सामान्य श्वास-प्रश्वास करें और लगभग 5 से 10 सेकंड इसी स्थिति में रहें। अब श्वास छोड़ें। सिर ऊपर की ओर करें। पैर की अँगुलियों को छोड़कर ताड़ासन की स्थिति में आ जाएँ।

टिप्पणी : पाद हस्तासन, पादांगुष्ठासन (प्रथम प्रकार) एवं उत्तान आसन (प्रथम प्रकार) ये सभी लगभग एक जैसे ही हैं।

ध्यान : विशुद्धि चक्र पर।

लाभ : ❍ जिनके पैर काँपते हों, वे इस आसन को अवश्य करें। जो साधक इस आसन को

नियमित करता है उसके पैरों में सुन्न होना और कंपन आदि नहीं होता। वायु निष्कासन करता है।

- नितम्ब, कमर, मेरुदण्ड, पेट और सीना ये सभी आकर्षक बन जाते हैं। जो आपके व्यक्तित्व पर चार चाँद लगाते हैं।
- पाचन-क्रिया ठीक करता है। मोटापा कम करता है।

सावधानियाँ : उच्च रक्तचाप, चक्कर आने और साइटिका की समस्या वाले इस आसन को न करें।

नोट : पादांगुष्ठासन के द्वितीय प्रकार का वर्णन आगे किया गया है।

# मध्यम समूह के आसन

बकासन (प्रथम प्रकार)
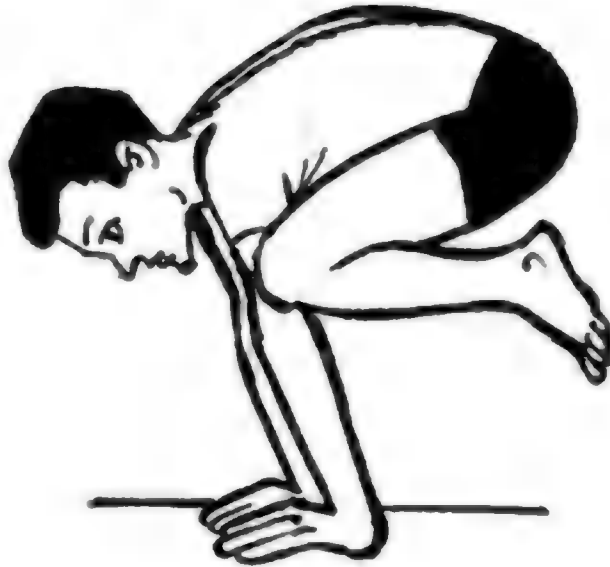
शाब्दिक अर्थ : बक अर्थात् बगुला।

विधि : उकड़ू बैठ जाइए। दोनों हाथों के पंजे ज़मीन पर रखिए। अब संतुलन बनाकर पूरा वज़न हाथों पर देते हुए उठिए। दोनों घुटनों को काँख के बगल से स्पर्श कराएँ या रखें। धीरे-धीरे एड़ियों को नितम्ब के नीचे की तरफ़ रखिए। सिर को थोड़ा नीचे की तरफ़ ले जाएँ। सिर और एड़ियाँ लगभग एक समान रेखा पर हों।

श्वासक्रम/समय : श्वास-प्रश्वास समान रखिए। 5 से 10 सेकेण्ड तक करें।

ध्यान : आज्ञाचक्र पर।

लाभ : ❍ एकाग्रता बढ़ती है।

- पाचन तंत्र ठीक करता है। उदर प्रदेश की कुपित वायु का निष्कासन करता है।
- नाभि पर ज़ोर पड़ने के कारण यह सभी 72,000 नाड़ियों पर असर करता हैं।
- हाथ की माँसपेशियाँ मज़बूत होती हैं।
- झुर्रियों को क्रमशः समाप्त कर चेहरे में निखार लाता है।

सावधानियाँ : अति उच्चरक्तचाप वाले और मस्तिष्क रोगी यह आसन न करें।

नोट : कुछ योग शिक्षक इसे बक ध्ध्यानासन भी कहते हैं।

टिप्पणी : बकासन करने के दो-तीन तरीके और भी हैं, परंतु उन सभी के लाभ उपरोक्त आसन करने से प्राप्त हो जाते हैं।

कागासन

शब्दार्थ : काग एक पक्षी का नाम है जिसे हम प्रचलित भाषा में 'कौआ' कहते हैं।

विधि : सर्वप्रथम सावधान की स्थिति में खड़े हो जाएँ। अब दोनों पैरों के बल इस प्रकार बैठे कि पैरों के बीच बिल्कुल अंतर न रहे। दोनों हाथों को घुटनों पर रख लें एवं कोहनियों को जंघाओं, छाती व पेट के बीच में स्थित कर दें। कमर, मेरुदण्ड और गर्दन सीधी रखें।

श्वासक्रम : श्वास प्रक्रिया सामान्य रखें।

समय : 2-3 मिनट तक इस स्थिति में बैठे।

लाभ :
- उदर के अवयवों को लाभ।
- वायु विकार का शमन होता है।
- जंघाएँ सुंदर, सुडौल बनती हैं।
- षट्कर्म में की जाने वाली यौगिक क्रियाओं के अभ्यास में स्थिरता आती है।

मत्स्यासन
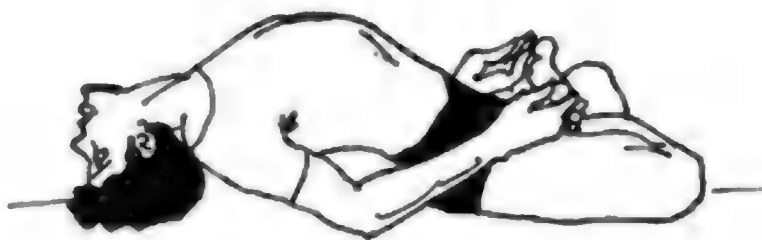
शाब्दिक अर्थ : मत्स्य का अर्थ मछली है। इस आसन की एक विशेषता यह है कि इसे लगाकर पानी के ऊपर घंटों लेटा जा सकता है। इसलिए इसे मत्स्यासन भी कहते हैं।

विधि : ज़मीन पर शवासन की स्थिति में लेट जाएँ। अब बाएँ पैर को दाहिनी जाँघ पर और दाहिने पैर को बाई जाँघ पर रखें। यह आपका विश्राम पद्मासन कहलाया। अब धीरे-धीरे पीठ के भाग को उठाएँ, जिससे शरीर का वज़न सिर एवं नितंब पर पड़े। अब दोनों हाथों से दोनों पंजों के अंगूठे पकड़ें। इस स्थिति में आप काफ़ी देर रह सकते हैं। परंतु शुरू में 8-10 सेकंड ही करें। यह आसन सरल होते हुए भी काफ़ी लाभप्रद है।

ध्यान : अनाहत चक्र व श्वास पर।

श्वासक्रम/समय : पूर्ण आसन पर गहरी श्वास लें। 3 से 5 मिनट करें।

लाभ : यह आसन बवासीर (खूनी और दाह-युक्त) को ठीक करता है। हृदय को बल मिलता है। फेफड़े मज़बूत होते हैं। श्वास-संबंधी रोगों के लिए यह हितकर औषधि जैसा है। क़ब्ज़ दूर कर भूख बढ़ाता है। आलस्य दूर करता है। मेरुदण्ड, कमर, पीठ एवं जाँघों की माँसपेशियों को मज़बूत करता है। ग्रीवा में तनाव पड़ने के कारण गलग्रंथि को लाभ पहुँचता है। सर्वाइकल, स्पोंडलाइटिस में बहुत आराम मिलता है। थायरॉइड ग्रंथि को ठीक करता है।

विशेष : शीर्षासन और सर्वांगासन के बाद यह आसन करने से विकार समाप्त होते हैं एवं पूर्व में किए गए आसनों के लाभ में वृद्धि होती है।

नोट : ❍ इस प्रकार से भी कर सकते हैं कि पहले बैठकर पद्मासन लगाएँ और धीरे-धीरे शवासन की स्थिति में पहुँच जाएँ।

❍ कुछ योग शिक्षक सामने पैरों को लम्बवत् कराकर करवाते हैं।

सावधानीयाँ : मेरुदण्ड व पीठ दर्द के रोगी, हृदय रोगी, गर्भवती महिलाएँ व हार्निया के रोगी इस आसन को शारीरिक अवस्था का ध्ध्यान रखकर क्रम पूर्वक करें।

सिंहासन (प्रथम प्रकार)

आकृति : सिंह के समान।

विधि : सुखासन में बैठ जाएँ। नितंब को ऊपर उठाएँ। अब बाएँ पैर की एड़ी को दाएँ नितंब के नीचे और दाएँ पैर की एड़ी को बाएँ नितंब के नीचे जमाकर बैठ जाएँ एवं हथेलियों को घुटनों पर फैला लें। अब पेट को पिचकाते हुए वक्ष:स्थल को सामने तानें या उभारें। मुँह खोलते हुए जीभ को यथासंभव बाहर की ओर निकालें और गले से गुर्राने की आवाज़ निकालें। नेत्रों से दोनों भौंहों के बीच देखने का प्रयत्न करें। अब नाक और मुँह से एक साथ श्वास छोड़ने का प्रयत्न करें। चेहरे पर तनाव लाएँ। इस प्रकार करने से चेहरा वीभत्स लगता है। 8-10 सेकंड इसी स्थिति में रुकें। पैरों को बदलकर 3-4 बार करें (पहले दाहिना पैर बाएँ के ऊपर था, तो अब बदलकर बाएँ पैर के नीचे करें), परंतु समय दोनों का बराबर रहे।

ध्ध्यान : आज्ञा चक्र पर और विशुद्धि चक्र पर।

लाभ :
- कंठ मधुर होता है।
- हकलाना बंद होता है।
- नेत्र-ज्योति तीव्र होती है।
- यह आसन वज्रासन वाले सभी लाभ प्रदान करता है।
- छाती को मज़बूत बनाता है और पेट को नरम रखता है।

सिंहासन (द्वितीय प्रकार)

विधि : घेरण्ड संहितानुसार - दोनों पैरों की एड़ियों को व्युत्क्रमपूर्वक सीवनी नाड़ी (मूलाधार चक्र के नीचे) के नीचे लगाकर जालंधर बंध लगाते हुए नासिका के अग्रभाग या दोनों भौंहों के बीच दृष्टि स्थिर करें। यह सिंहासन नामक आसन सभी प्रकार की व्याधि को नष्ट करता है।

हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि सिंहासन से तीनों बंधों की सिद्धि हो सकती है।

त्रिशिखब्रह्मणोपनिषद् में लिखा है कि-

सीवनी गुल्फदेशेभ्यो निपीडय व्युत्क्रमेण तु।
प्रासार्य जानुनोहस्तावासनंसिंहरूपकम।

अर्थ : दोनों एड़ियों से सीवनी नाड़ी को विपरीत विधि द्वारा दबाकर दोनों घुटनों और हाथों को फैलाकर स्थित हों तो यह सिंहरूपी आसन/सिंहासन होता है।

समय : प्रतिदिन 15 से 20 सेकण्ड तक करें फिर धीरे-धीरे समय बढ़ाते जाएँ।

लाभ :
- तुतलाना बंद होता है कठ मधुर होता है।
- निर्भयता आती है।
- मूलाधार चक्र एवं आज्ञा चक्र भी जाग्रत होता है।
- नेत्र ज्योति बढ़ती है।

विशेष : इस आसन को थोड़ी-थोड़ी हाथों और पैरों की स्थिति को बदलकर भी करवाया जाता है।

गोमुखासन

आकृति : गाय के मुँह जैसा (एक सिरे पर पतला और दूसरे सिरे पर चौड़ा)।

शाब्दिक अर्थ : उपरोक्त विधि में एक के ऊपर एक घुटने रखने से इसकी आकृति गाय के मुख के समान और पैरों के पंजे अगल-बगल से बाहर की तरफ़ निकले होने के कारण गाय के कान के समान दिखाई पड़ते हैं अत: गौमुख आसन कहलाता है।

प्रथम प्रकार (इस विधि में एड़ियाँ आपस में नहीं मिलती हैं) : पैरों को सामने की तरफ़

फैलाकर बैठ जाएँ। दाहिने पैर को घुटने से मोड़ते हुए पंजे को बाएँ नितंब के पास और बाएँ पैर को मोड़कर दाहिने घुटने पर बाएँ घुटने को रखें। इस स्थिति में बाएँ पैर का पंजा दाहिने नितंब के पास आ जाएगा। अब बाएँ हाथ को ऊपर सिर के पीछे से ले जाएँ और दाहिने हाथ की कमर के बगल से पीठ के ऊपर की तरफ़ ले जाएँ। दोनों हाथों के पंजों की अँगुलियाँ आपस में फंसा लें। यही अंतिम अवस्था है। पैरों और हाथों के क्रम को बदलकर इसी अभ्यास को फिर से करें।

श्वासक्रम/समय : अंतिम स्थिति में श्वास सामान्य/आधा मिनट से एक मिनट तक करें।
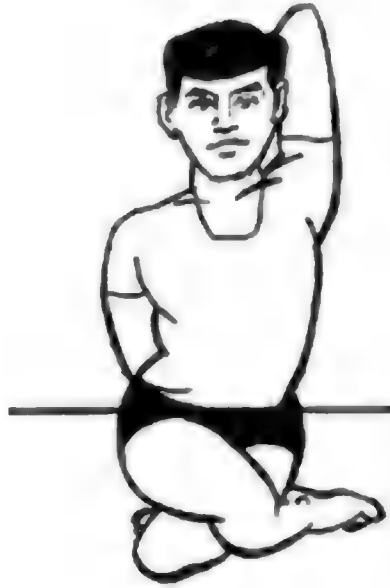
द्वितीय प्रकार : सुखासन में बैठकर बाएँ पैर के पंजे को दाहिने नितंब के नीचे इस प्रकार रखें कि एड़ी गुदा द्वार के नीचे आ जाए। दाहिने पैर को मोड़कर बाएँ पैर के ऊपर इस प्रकार रखें कि पंजे ज़मीन को छूने लगें। क्रमश:अभ्यास से दोनों एड़ियाँ आपस में मिलने लगती हैं।

अब बाएँ हाथ को बगल से पीठ के पीछे ले जाएँ और दाहिने हाथ को दाहिने कान की तरफ़ से पीछे ले जाएँ। दोनों हाथ के पंजों को कैंची की तरह फंसा लें। इस समय स्थिर रहकर श्वास-प्रश्वास करें। मूल स्थिति में वापस आएँ एवं हाथ और पैर की स्थिति बदल लें। इस प्रकार यह आसन पूर्ण होता है।

ध्यान : मूलाधार चक्र पर।

नोट : 1. पहली विधि अनुसार पहले जो पैर ऊपर स्थित रहता है उसी तरफ़ का हाथ भी ऊपर की तरफ़ से पीछे जाता है।

2. दूसरी विधि अनुसार जो पैर नीचे स्थित है उस तरफ़ हाथ ऊपर से पीछे जाता है।

लाभ : ❍ यह आसन भी सिद्धासन और पद्मासन की तरह लाभ देने वाला है।

- छाती मज़बूत और चौड़ी होती है।
- इस आसन को करने से मूलबंध अपने-आप लग जाता है।
- यह आसन मधुमेह, गठियावात, क़ब्ज़, पीठ दर्द व शीघ्रपतन जैसी कई बीमारियों को दूर करता है।
- पैरों की ऐंठन दूर करता है।
- कंधों को मज़बूत करता है।
- स्त्रियों के वक्ष:स्थल सुगठित होते हैं।

विशेष : इसी आसन में जब दोनों हाथों को घुटनों पर रखते हैं तो यह सुप्त ब्गोमुखासन कहलाता है। कहीं-कहीं इस अवस्था को ध्ध्यान वीरासन भी कहते हैं।

योग साधना आत्म–स्वरूपको
अनुभव करने का सरल विज्ञान है।

-RJT

उत्कटासन

विधि : यह आसन दो प्रकार से किया जा सकता है :

1. घेरण्ड संहितानुसार : ताड़ासन में खड़े हो जाएँ और धीरे-धीरे पंजों के बल बैठ जाएँ। एड़ियाँ नितंब से सटाते हुए गुदा द्वार पर रख लें। स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास करते रहें। हाथों को घुटनों पर रख दें।
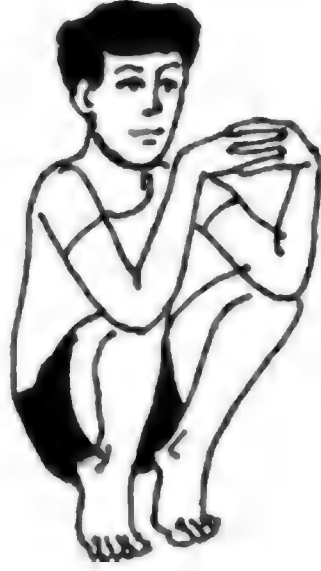
2. ताड़ासन की स्थिति में खड़े हो जाएँ। अब दोनों हाथों को सिर के ऊपर ले जाकर हथेलियों को नमस्कार की मुद्रा बना लें। अब कुसों पर बैठने की तरह नितंब को नीचे लाएँ। प्रयास करें की सीना आगे की तरफ़ न जाएँ (ऐसा लगने लगे कि हम कुर्सी पर बैठे हों)। यथासंभव रुकें। अब वापस मूल स्थिति में आ जाएँ।

ध्यान : मूलाधार और आज्ञा चक्र पर (अनुकूलतानुसार)।

श्वासक्रम : स्वभाविक शवास-प्रश्वास करें।

समय : यथाशक्ति।

लाभ :
- प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित कराने के लिए यह आसन अवश्य करें। अतः कुण्डली जगाने के अभ्यासी इसे ज़रूर करें।
- एकाग्रता बढ़ाने के लिए उपयुक्त।
- टखने और पैर मज़बूत होते हैं।
- दिमाग की ताज़गी मिलती है।
- मोटापा कम करने में सहायक।
- मेरुदण्ड को बल मिलता है।

गतिमय उत्कटासन

विधि : समावस्था में खड़े हो जाएँ। सीने के सामने हाथ को नमस्कार की स्थिति में रखें और श्वास लेते हुए हाथों को सिर के ऊपर तान दें। दोनों भुजाओं को कान से स्पर्श कराएँ। अब श्वास छोड़ते हुए बैठने की कोशिश करें। पहले कुर्सी में बैठने तक की अवस्था रखें, इसके बाद अभ्यास को बढ़ाकर नितम्बों की ज़मीन से स्पर्श करने की कोशिश करें। इस प्रकार अभ्यास हो जाने पर इसमें गति लाएँ (हाथों को सामने की तरफ़ भी कर सकते हैं)।

श्वासक्रम : उठते समय श्वास लें और नितम्बों को नीचे करते समय श्वास छोड़ें।

समय : प्रारम्भ में धीरे-धीरे करें एवं पिंडली, जाँघ, घुटनों में लोच व लचक आ जाने के बाद तेज़ी लाते हुए 10 से 15 बार करें।

लाभ :
- पैरों में होने वाला दर्द, खिंचाव, सुन्न पड़ना, पिंडली, जाँघे एवं एड़ी सहित पूरे पैर के विकार दूर करता है।
- घुटने के सामन्य दर्द को दूर करता है।
- पीठ का दर्द, स्लिप डिस्क, साइटिका, कमर दर्द की समस्या से निजाद दिलाता है।
- पाचन तंत्र को प्रभावी करता है।
- फेफड़ों को शक्ति प्रदान करता है।

सावधानियाँ

- एकदम से पहली बार में ही ज़मीन पर बैठने की कोशिश न करें।
- घुटने के आपरेशन या बहुत अधिक कमर दर्द से पीड़ित व्यक्ति न करें या पहले उनसे संबंधित आसन कर लें।

कुक्कुटासन

आकृति : कुक्कुट आसन अर्थात् मुर्गे की तरह दिखने वाला आसन।

विधि : पद्मासन में बैठे। हाथों को पिण्डलियों और जाँघों के बीच में से धीरे-धीरे निकालें। हथेलियों को ज़मीन पर इस प्रकार रखें कि अंगुलियाँ सामने की तरफ़ रहें। अब पूरे शरीर को धीरे-धीरे हाथ के पंजों पर वज़न देते हुए ऊपर उठाएँ। जितना संभव हो सके रुकें। फिर वापस मूल स्थिति में आ जाएँ। अभ्यास हो जाने पर पैरों को बदलकर करें।

ध्ध्यान : हृदय-चक्र का ध्ध्यान करें एवं आध्यात्मिक लाभ हेतु मूलाधार चक्र पर।

श्वासक्रम :

- अंतिम अवस्था में साधारण रूप से श्वास-प्रश्वास करें।
- ऊपर उठते समय श्वास लें और वापस आते समय श्वास छोड़ें।

समय : यह क्रिया 3-4 बार करें।

लाभ:
- हाथ के पंजे, कोहनी और कंधे मज़बूत होते हैं।
- पेट की माँसपेशियाँ मज़बूत होती हैं।
- लोलासन से होने वाले समस्त लाभ प्राप्त होते हैं।
- शरीर में मज़बूती आती है।
- स्पोट्स में वॉलीबॉल, बास्केटबॉल, जूडो-कराटे वालों को यह आसन अवश्य करना चाहिए।

विशेष : पिण्डली, जाँघों और हाथों में चिकना द्रव्य लगाकर आसन करने में सरलता होती है।

वृषभासन
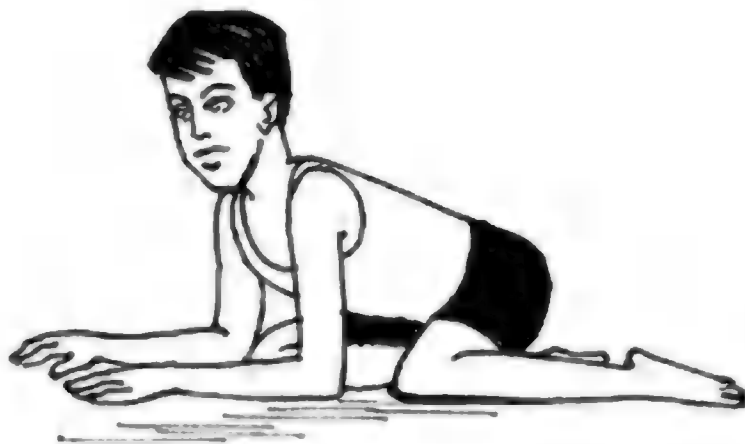
शाब्दिक अर्थ : वृषभ का मतलब बैल है। यह भगवान शिव का वाहन एवं प्रथम तीर्थंकर भगवान आदिनाथ की मूर्ति के नीचे शिलापट्ट पर अंकित किया जाने वाला पहचान चिन्ह है।

विधि : जैसे बैल ज़मीन पर विश्राम की स्थिति में बैठता है वैसे ही इस आसन की स्थिति होती है। अपने आसन पर घुटनों के बल बैठ जाएँ या वज्रासन में बैठ जाएँ। अब चित्रानुसार बैठे। यदि बाई जाँघ के बल बैठते हैं तो बाएँ पैर की एड़ी सीवनी-स्थान पर स्पर्श करें एवं दाहिने पैर को बाएँ पैर के ऊपर चित्रानुसार रखें। अब दोनों हाथों को सामने इस प्रकार रखें जैसे बैल अपने सामने के पैरों को रखता है।

श्वासक्रम/समय : श्वास क्रिया सामान्य रखें और अब यही क्रिया पैरों को बदलकर करें। 5 मिनट तक प्रतिदिन अभ्यास कर सकते हैं।

ध्यान : आध्यात्मिक लाभ हेतु भगवान शिव भगवान आदिनाथ का ध्यान करें।

लाभ :
- वृष के समान शक्तिशाली एवं कंधे मज़बूत होते हैं।
- जाँघ, पैर, हाथ, बाहु, स्कध, घुटने सभी पुष्ट एवं सुगठित होते हैं।
- पेट की दूषित वायु का विसर्जन होता है अतः व्यक्ति हल्कापन महसूस करता है।
- कई प्रकार के शारीरिक लाभ स्वत: प्राप्त हो जाते हैं।

त्रिकोणासन
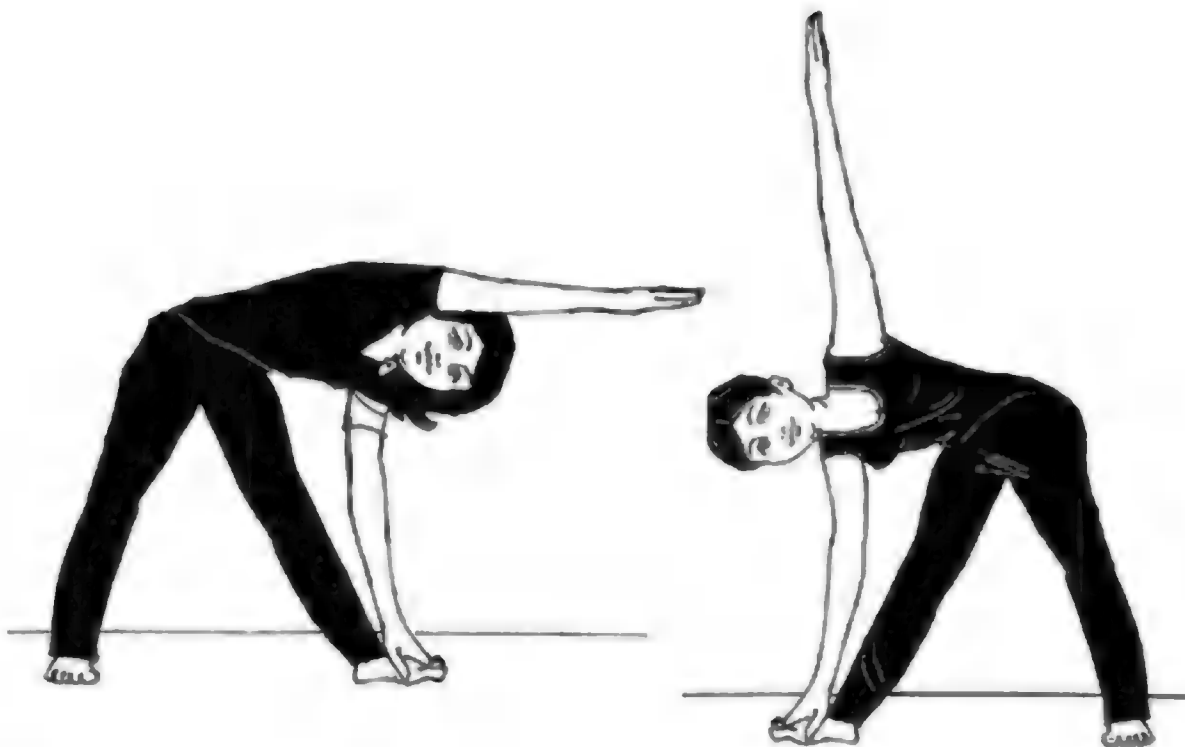
शाब्दिक अर्थ: त्रिका अर्थ तीन। कोण का अर्थ कोना (त्रिकोण अर्थात् तिकोना)।

विधि : प्रसन्न मन से सावधान खड़े हो जाएँ अब पैरों के बीच 2-3 फ़ीट का अंतर बना लें। दोनों हाथों की कंधों की सीध में ज़मीन के समानांतर पक्षियों के पंखों की तरह फैला लें। धीरे-धीरे कमर के ऊपरी हिस्से की सामने दाहिनी तरफ़ झुकाएँ। दाहिने हाथ की हथेली से दाहिने पैर के पंजे को पकड़े या पैर की अँगुलियों को स्पर्श करें। दोनों घुटने तने हुए होने चाहिए। अंतिम अवस्था में बाएँ हाथ की स्थिति को दो प्रकार से कर सकते हैं। पहली स्थिति में बायाँ हाथ दाहिने हाथ की सीध में रहेगा एवं दूसरी स्थिति में बाएँ हाथ की भुजा बाएँ कान के ऊपर रखते हुए त्रिकोण की स्थिति निर्मित करेगी। अब इसी क्रिया को बाई तरफ़ झुकते हुए करें।

श्वासक्रम : झुकते समय श्वास छोड़ें एवं सीधे खड़े होते समय श्वास लें।

लाभ :
- क़ब्ज़ को दूर करता है।
- पैरों की माँसपेशियों को ठीक करता है।
- मेरुदण्ड को लचीला बनाता है।
- पीठ का दर्द एवं गर्दन के रोग ठीक करता है।
- उदर-संबंधी विकार ठीक करता है।

**विशेष :** इस आसन की क्रिया में थोड़ा-थोड़ा परिवर्तन कर इसके 3-4 प्रकारांतर किए जा सकते हैं।

त्रिकोणासन – प्रकारान्तर

**विधि :** दोनों पैरों के बीच लगभग 3 फ़ीट का अंतर रखकर सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों हाथों को पक्षियों के पंखों की तरह कंधों के समानांतर फैला लें।

अब बाएँ पैर के पंजे को दाहिने हाथ से स्पर्श करने के लिए शरीर को आगे झुकाते हुए दाएँ अंग को मोड़ें। श्वास छोड़ते हुए दाहिने हाथ से बाएँ पैर के पंजे को स्पर्श करें।

बाएँ हाथ को आसमान की तरफ़ ऊपर करें ताकि दोनों हाथ की भुजाएँ एक सीध में हों। लगभग 5 सेकेंड रुकें। अब वापस बीच की स्थिति में आ जाएँ और यही क्रिया बाएँ हाथ से करें। धीरे-धीरे अभ्यास करते हुए रुकने की स्थिति में समय लगाएँ।

**विशेष :** हाथों को ऊपर की तरफ़ करते हुए आसमान की तरफ़ घुमाकर दृष्टि स्थिर करें।

**ध्यान :** पीठ, पेट एवं पिंडली के तनाव को महसूस करें। मणिपूरक चक्र का भी ध्यान करें।

**गतिमय त्रिकोणासन :** अब इसी क्रिया को तेज़ करते हुए गतिमय बनाएँ।

लाभ : ❍ इस गतिमय क्रिया को प्रतिदिन नियमित रूप से करने पर उदर प्रदेश को आश्चर्यजनक रूप से लाभ मिलता है। पाचन-तंत्र मज़बूत होता है।

- ❍ मोटापे को कम करता है।
- ❍ पैर की पिंडली तनाव रहित होकर सशक्त बनती है।
- ❍ वायु विकार का शमन करता है।
- ❍ कमर शक्ति विकास के लिए यह अति प्रभावकारी क्रिया है।
- ❍ कमर पतली कर पेड़ू (पेट का निचला हिस्सा) में जमीं चर्बी को कम करता है।

नोट : कुछ योग शिक्षक इसको पार्श्व त्रिकोणासन, कोणासन और परिवृतत्रिकोणासन भी कहते हैं।

अष्टांग नमस्कारासन
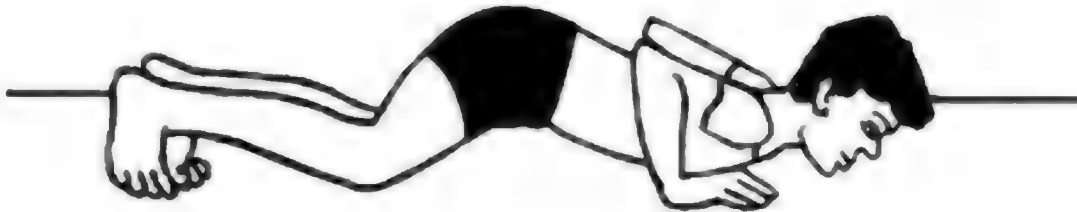
शाब्दिक अर्थ : अष्टांग का अर्थ आठ अंगों सहित। नमस्कार का अर्थ प्रणाम करना। शरीर के आठों अंगों (दोनों पैर, दोनों हाथ, दोनों घुटने, छाती एवं ठुड्ड़ी) को झुकाकर नमन करना या प्रणाम करना। इस कारण इस आसन को अष्टांग नमस्कारासन कहते हैं।

विधि : पेट के बल उत्तर या पूर्व की दिशा की तरफ़ सिर करके लेट जाएँ। दोनों पैर की अंगुलियाँ, दोनों घुटने, दोनों हाथों की हथेलियाँ, छाती व ठुड्डी यह सभी अंग पृथ्वी को स्पर्श करें। यह आसन भगवान को साष्टांग नमस्कार करने जैसा ही है।

श्वासक्रम/समय : स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास करें। अनुकूलतानुसार रुकें।

ध्यान : ❍ अपने ईष्ट भगवान या गुरु का ध्यान करें।

- ❍ मूलाधार चक्र से उठती हुई शक्ति का ध्यान करें, जो कि सहस्रार की तरफ़ प्रभाहित हो रही है।
- ❍ शरीर के रोगों का नाश हो रहा है, ऐसा ध्यान करें।

लाभ : ❍ यह आसन मेरुदण्ड के रोग में अति लाभकारी है।

- यह आसन शरीर को पूर्ण आराम देता है एवं नई चेतना का संचार करता है।
- मानसिक शांति प्रदान करता है।

नोट : 
- दिशाओं का महत्व आध्यात्मिक कारणों से।
- कुछ योग शिक्षक इसको प्रणिपातासन कहते हैं।

हनुमानासन

विधि : चाहे तो दोनों घुटनों के बल बैठे या एक घुटने को ज़मीन पर टेकें और दूसरे पैर को उसके बगल मे रखें। अब दोनों हाथों की हथेलियों को शरीर के अगल-बगल की ज़मीन पर रखें। धीरे-धीरे दोनों पैरों को आगे-पीछे फैलाएँ। हाथों का सहारा लें (जल्दबाज़ी न करें, चूँकि जाँघों, पिंडलियों एवं गुदाद्वार के पास अधिक तनाव होता है, अतः क्रिया को पूर्ण करने में नए साधक को कुछ दिन भी लग सकते हैं) दोनों पैरों को विपरीत दिशा में इतना फैलाएँ कि नितंब, जाँघे व पिंडली ज़मीन को स्पर्श करने लगें, अब हाथों का सहारा हटाकर छाती के सामने हाथों को लाएँ और नमस्कार मुद्रा बनाएँ या दूसरी प्रकार से हाथों को सिर के ऊपर ले जाकर नमस्कार मुद्रा बना सकते हैं।

ध्ध्यान : हनुमानजी का ध्ध्यान लगाएँ और उनके चरित्र का चिंतन करें एवं उनके गुणों को आत्मसात् करें।

समय : 10 से 20 सेकंड तक करें। 2 से 3 बार करें।

श्वासक्रम : अंतिम स्थिति में स्वाभाविक शवास-प्रश्वास लें।

लाभ : 
- काम-विकार को शांत करता है। जननेंद्रिय के रोग दूर करता है।
- पिंडलियों, जाँघों और श्रोणी-स्थान में रक्त संचार की क्रिया को बढ़ाकर

स्नायुतंत्र को लाभ पहुँचाता है।

- गठिया रोग को दूर करता है।

नोट : एक हाथ में गदा एवं एक हाथ में पर्वत - इस प्रकार की मूर्ति के प्रचलन में होने के कारण कोई-कोई योग गुरु हनुमानासन को उस प्रकार से भी करवाते हैं। एवं हनुमानासन को और भी कई प्रकार से किया जा सकता है।

सावधानी : आसन करने के बाद एकदम से खड़े न हों, सामने पैर फैलाकर बैठ जाएँ।

अर्ध चंद्रासन(प्रथम प्रकार)
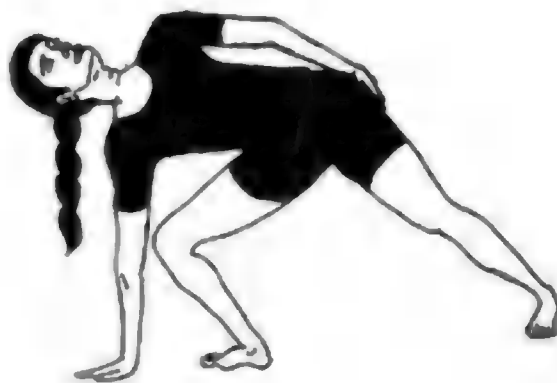
विधि : प्रसन्नतापूर्वक सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों पैरों को लगभग 2 से 3 फ़ीट की दूरी पर फैलाएँ और हाथों की कथे की सीध में ज़मीन के समानांतर रखें। चूँकि आपको चित्रानुसार आसन करना है, अतः दाहिनी तरफ़ झुकते हुए दाहिने घुटने को मोड़ें। अब धीरे-धीरे पूरा संतुलन दाहिनी तरफ़ करते हुए बाएँ पैर को उठाएँ। बाएँ पैर को इतना उठाएँ कि दाहिने हाथ की हथेली ज़मीन को छूने लगे, परंतु शरीर का भार दाहिने पैर और नितंब पर पड़े। बाएँ हाथ को बाई तरफ़ कमर के समानांतर रखें। 10 से 20 सेकंड इस स्थिति में रुकें। क्रमशः अपनी मूल स्थिति में आ जाएँ और यही क्रिया पैर बदलकर दूसरे पैर से करें।

श्वासक्रम : श्वास-प्रश्वास अंतिम अवस्था में स्वाभाविक रखें।

लाभ :
- मेरुदण्ड के निचले एवं पृष्ठ भाग को मज़बूत करता है।
- जिनके पैर काँपते हों, वे इस आसन को अवश्य करें। लाभ मिलेगा।
- घुटने के दर्द व ऐंठन को ठीक कर लाभ पहुँचाता है।
- वायु-निष्कासन कर शरीर हल्का करता है।

विशेष : अलग-अलग परंपराओं में अर्धचंद्रासन को अलग-अलग ढंग से कराए जाने के कारण हमने उनको यहाँ पर दर्शाया है।

अर्धचंद्रासन(द्वितीय प्रकार)

विधि : वज्रासन की स्थिति में रहें व घुटनों के बल खड़े हो जाएँ अब पीठ व सिर को पीछे की और झुकाएँ (चित्र देखें) एवं हाथों को छाती के सामने आपस में बाँध लें।

श्वासक्रम/समय : पीछे झुकते समय अंतःकुंभक करें। मूल अवस्था में लौटते समय श्वास छोड़ें।

लाभ : कब्ज मिटता है। पाचनतंत्र मज़बूत होता है, पीठ, कमर व मेरुदण्ड के रोग ठीक होते हैं।

नोट : कुछ योग शिक्षक इसको अर्ध उष्ट्रासन भी कहते है।

अर्थ चंद्रासन (तृतीय प्रकार)

विधि : घुटनों के बल खड़े हो जाएँ। बाएँ पैर को लगभग एक फ़िट आगे करते हुए पंजे को ज़मीन पर रखें, अब दाहिने पैर को पीछे की ओर खींचते हुए गर्दन व पीठ को पीछे की तरफ़ धीरे-धीरे यथासंभव झुकाएँ। हाथों को नीचे की तरफ़ अगल-बगल में ही रखें या आसन की पूर्णाकृति बनाने के लिए हाथों को ऊपर की तरफ़ उठाकर पीछे की ओर झुकाते हुए अर्ध चंद्राकार का निर्माण करें। वापस मूल अवस्था में आएँ और दूसरे पैर को आगे रखकर आसन की क्रिया को दोहराएँ।

ध्ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर।

श्वासक्रम/समय : पीछे की तरफ़ मुड़ते हुए श्वास लें एवं मूल अवस्था में लौटते समय श्वास छोड़ें। यह एक आवृत्ति हुई। इस प्रकार पाँच आवृत्ति करें।

लाभ : ❍ शरीर के रक्त संचार को सुचारु करता है। ❍ मेरुदण्ड को सशक्त एवं लोचदार बनाता है। ❍ पैरों की माँसपेशियों को स्थायित्व देता है। ❍ स्त्री रोगों के लिए अति लाभकारी। ❍ ग्रीवा एवं फेफड़ों को पर्याप्त लाभ पहुँचाता है।

अर्धचंद्रासन (चतुर्थ प्रकार)

विधि : वज्रासन की स्थिति में बैठे, दोनों हाथों को ऊपर करते हुए घुटनों के बल खड़े हो जाएँ। धीरे-धीरे मेरुदण्ड को इतना झुकाएं कि हथेलियाँ तलवों पर आ जाएँ (चित्र देखें) इसी स्थिति में तलवों को पकड़ लें यथा शक्ति रूकें और वापस मूल अवस्था में आ जाएँ।

शवास : अंत:कुंभक करते हुए आसन की स्थिति निर्मित करें एवं मूल अवस्था में लौटते समय श्वास छोड़ें।

लाभ : ❍ मेरुदण्ड में लोच व लचीलापन आता है। ❍ वात रोगी को जोड़ों के दर्द से राहत मिलती है। ❍ कमर, पीठ, मेरुदण्ड, पेट, गर्दन एवं सिर को धीरे-धीरे रोगों से छुटकारा मिलता है। ❍ स्त्रियाँ इस आसन से कई लाभ प्राप्त कर सकती हैं ❍ चक्रासन से मिलने वाले लाभ भी इस आसन के अभ्यास से स्वत: प्राप्त हो जाते हैं।

सावधानी : कड़क मेरुदण्ड वाले और जटिल उदर रोग से पीड़ित व्यक्ति न करें।

नोट : इस आसन को पूर्ण उष्ट्रासन भी कहते है।

लोलासन

शाब्दिक अर्थ : लोल का अर्थ कंपायमान, हिलता हुआ या चंचल है।

विधि : सामने पैर फैलाकर बैठ जाएँ। दोनों हाथों की हथेलियों को कमर के अगल-बगल रखें। आसन से उठते हुए दाहिने घुटने को पीछे की तरफ़ मोड़ें एवं तलवे को बाएँ नितंब के नीचे रखें। उस पर बैठ जाएँ। अब बाएँ घुटने को मोड़ते हुए पुनः आसन से उठते हुए दाहिने नितंब के नीचे बाएँ तलवे को रखें और उस पर बैठ जाएँ। श्वास लें एवं हाथों के बल पूरे शरीर को साधते हुए ज़मीन से ऊपर उठाएँ। हाथों पर संतुलन बनाते हुए धीरे-धीरे पूरे शरीर को आगे-पीछे हिलाएँ। झूलते समय श्वास रोककर रखें एवं मूल अवस्था में आकर श्वास छोड़ दें। जब तक संभव हो संतुलन बनाकर रखें।

लाभ :
- संपूर्ण हाथों को पुष्ट बनाता है।
- उदर के अवयवों को लाभ मिलता है।
- पीठ और पैरों की माँसपेशियों को पुष्ट और लचीला बनाता है।

नोट : यह आसन तुलासन या झूलासन के जैसा ही है। अंतर इतना है कि तुलासन में पैर के ऊपर पैर रखकर पद्मासन-अवस्था जैसा होता है परंतु लोलासन में पैरों को नितम्ब के नीचे रखना है।

योगाभ्यास व्यक्ति को शांत भी बनाता है
और क्रियाशील भी।

-RJT

तुलासन/झुलासन/उत्थित पद्मासन(प्रथम प्रकार)

शाब्दिक अर्थ : तुला का अर्थ तराजू के दो पलड़े और झूले की तरह झूल सकते हैं, इसलिए इसका नाम झूलासन भी है।

विधि : पद्मासन में बैठें। दोनों हाथों की हथेलियों को दोनों जाँघों के अगल-बगल की ज़मीन पर रखें। श्वास लेते हुए दोनों हाथों पर वज़न देकर शरीर को ऊपर उठा लें। कुछ देर रुकें। चाहे तो झूले की भाँति धीरे-धीरे आगे-पीछे झूलें। वापस मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ें। अब यही क्रिया पैरों की स्थिति बदलकर करें।

समय : 1 मिनट से 3 मिनट तक।

ध्ध्यान : मूलाधार चक्र पर।

लाभ :
- छाती को पुष्ट बनाता है।
- भुजा, कलाई व कंधों को मज़बूत बनाता है।
- उदर की दीवारों को भी पुष्ट बनाता है।
- जीवन में भी संतुलन प्रदान करता है।

सावधानी : मणिबंध पर अधिक ज़ोर पड़ता है। अतः कमज़ोर मणिबंध वाले क्रमश: अभ्यास के साथ ही करें।

नोट : कुछ योग शिक्षक इस आसन को लोलासन भी कहते हैं एवं उत्थित पद्मासन का

द्वितीय प्रकार आगे दिया गया है।

मेरु आकर्षणासन/सुप्त एक हस्तपाद उर्ध्वासन
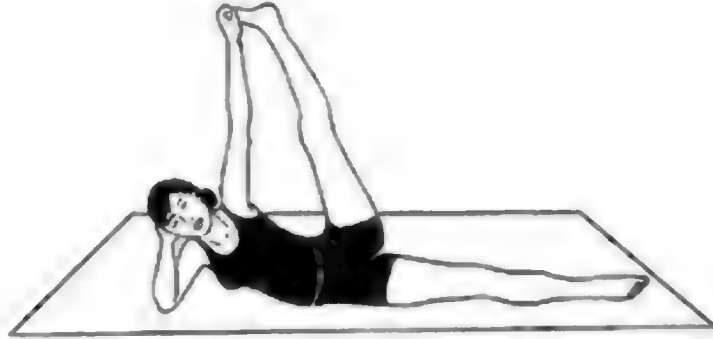
विधि : अपने आसन पर पीठ के बल लेट जाएँ तत्पश्चात् दाहिने करवट लें और दाहिने हाथ को सहारा देते हुए सिर को ऊपर उठाकर हथेली पर रखें एवं बाएँ पैर पर बाएँ हाथ को रखें। अब धीरे-धीरे बाएँ पैरे को ऊपर की तरफ़ उठाएँ और बाएँ हाथ से पैर के अंगुठे को पकड़ने की कोशिश करें संभव ना हो तो पिंडली या टखने को पकड़ते हुए पैरों को तानकर रखें। वापस मूल अवस्था में आएँ। अब यही क्रम दूसरी तरफ़ से भी करें।
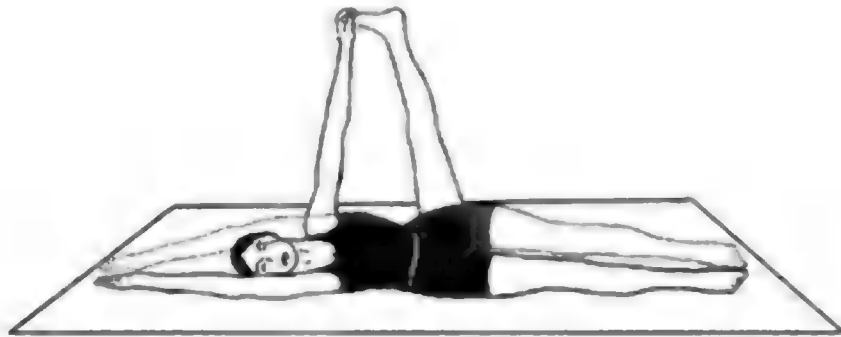
प्रकारान्तर : इसी आसन मे हाथों को सिर के नीचे न लगाकर कान से स्पर्श कराते हुए दोनों हाथों को ऊपर की तरफ़ प्रणाम की अवस्था में रखें और जब बाएँ पैर को उठाएँ तो बाएँ हाथ की उठाते हुए पैर के अंगूठे को पकड़ने की कोशिश करें। इस अवस्था को एक हस्त पाद अंगुष्ठ स्पर्शासन भी कहते हैं।

श्वासक्रम/समय : हाथ और पैर को उठाते समय श्वास लें अंतिम अवस्था में श्वास-प्रश्वास सामान्य रखें। हाथ और पैर को वापस लाते समय श्वास छोड़ें। यथा संभव जितनी देर रुके सकते हैं रुके। दोनों तरफ़ से 5-5 बार दोहराएँ।

लाभ : ❍ यह आसन पूरे पैर की नसों में खिंचाव पैदा करता है। अत: रक्त संचार सुचारु

होता है।

- कमर पैरों के बीच के सन्धि स्थल में लोच पैदा करता है।
- नितम्ब और जंघाओं में ज़मी अतिरिक्त चबों को कम करता है और उनमें सुडोलता प्रदान करता है।

सावधानी : स्लिप डिस्क, सर्वाइकल प्राब्लम, साइटिका वाले न करें।

नोट : कुछ योग शिक्षक उपरोक्त आसन को अनन्तासन भी कहते हैं।

वशिष्ठासन
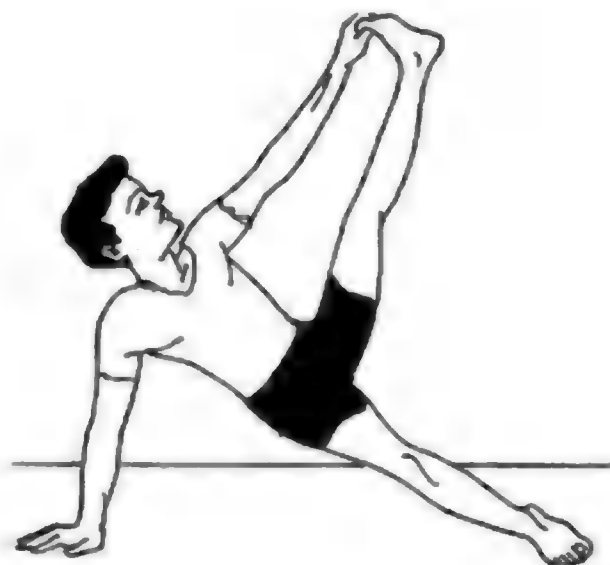
शाब्दिक अर्थ : वशिष्ठ एक प्रसिद्ध ऋषि का नाम है, जो कि सूर्यवंशी राजाओं के पुरोहित और ऋग्वेद के सातवें मंडल के रचनाकार थे।

विधि : ज़मीन पर बाई करवट से लेट जाएँ। बाएँ हाथ को ज़मीन से स्पर्श करता हुआ कंधे के पास रखें। अब पूरे शरीर का भार बाई हथेली एवं बाएँ पैर के पंजे पर देते हुए चित्रानुसार शरीर को उठाएँ। शरीर पूरा तना हुआ रहना चाहिए। जब आप इस स्थिति को अच्छे से कर लें तब दाहिने पैर को उठाकर आकाश की तरफ़ करें एवं दाहिने हाथ से पैर का अँगूठा पकड़ें। घुटना मुड़ना नहीं चाहिए। नए साधक दीवार का सहारा ले सकते हैं। यही क्रिया पैरों की स्थिति बदलकर करें।

श्वासक्रम : अंतिम अवस्था में श्वास-प्रश्वास स्वाभाविक रहने दें।

समय : यथाशक्ति।

लाभ : ❍ भुजाएँ मज़बूत एवं दृढ़ होती हैं।

❍ यह आसन कमर एवं गुदा स्थित संस्थान को ठीक करता है।

❍ हाथ एवं पैरों के कपन को समाप्त करता है।

❍ पूरे शरीर में लोच एवं सुदृढ़ता प्रदान करता है।

सावधानी : उच्च अभ्यास एवं संतुलन की क्रिया होने के कारण दीवार का सहारा लें।

गर्भासन/गर्भपिंडासन/उत्तान कूर्मासन

शाब्दिक अर्थ : गर्भ-पिंड का अर्थ गर्भाशय में भ्रूण (विकसित शिशु)।

विधि : पद्मासन में बैठे। अब दोनों हाथों को पिंडलियों और जाँघों के बीच से इतना निकालें कि कुहनियाँ मुड़ सकें। अब नितंबों पर बैठने की कोशिश करते हुए घुटनों को ऊपर उठाएँ व कोहनियों को मोड़कर कानों को पकड़े या गर्दन के पीछे आपस में गूंथ लें। शरीर का सारा वज़न गुदास्थि पर पड़ना चाहिए। कानों को पकड़ते समय श्वास निकालें और पूर्ण आसन के समय स्वाभाविक श्वास लें तथा लगभग 10-15 सेकंड रुकें। अब पैर बदलकर यही आसन करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर।

लाभ : ❍ यह आसन उदर प्रदेश को अच्छी तरह संकुचित करता है जिससे रक्त संचार समुचित ढंग से होता है। इस कारण उदर-प्रदेश सुगठित होता है।

- यह कमज़ोर मस्तिष्क या मानसिक बीमारियों के लिए लाभदायक है।
- पाचन-शक्ति बढ़ती है।
- जठराग्नि को उद्दीप्त करता है।
- यह एड्रिनल ग्रंथि को नियमित करता है।
- शरीर में वात, पित्त एवं कफ़ का संतुलन बनाए रखता है।
- पूर्ण शरीर को सुंदर, सुडौल, आकर्षक बनाता है।
- कूल्हे और घुटनों के संधिवात को नष्ट करता है, अत: गठिया जैसे रोग दूर भागते हैं।

नोट : नये अभ्यासी आसन निर्मित करने के लिए दीवार आदि का सहारा लें।

मुक्तासन (द्वितीय प्रकार)

शाब्दिक अर्थ : मुक्त का अर्थ स्वतंत्र, निश्चिंत।

प्रथम प्रकार : सबसे पहले वज्रासन में बैठे। तत्पश्चात् दोनों पंजों के बल बैठने की कोशिश करते हुए एड़ियों को आपस में मिलाकर गुदामार्ग और शिश्न के बीच स्थित मूलाधार चक्र के पास सीवनी स्थान में लगा दीजिए एवं घुटनों को फैलाते हुए पूरा वज़न एड़ी और पंजों पर ही टिकाकर आसन में स्थित हो जाइए। हाथों को ज्ञान-मुद्रा आदि में लगाकर घुटनों के ऊपर रखें। यथासंभव स्थिति तक बैठे।

लाभ : ❍ कुण्डलिनी जागरण में यह आसन लाभकारी है।

❍ पंजों और पैरों को मज़बूती प्रदान करता है। पैरों का असमय काँपना बंद होता है।

❍ स्त्री और पुरुष दोनों की जननेंद्रियों के विकारों को दूर कर उन्हें व्यवस्थित करता है।

योग का प्रारम्भ यम नियम के साथ करने
पर साधकगण अधिक लाभान्वित होते हैं।

-RJT

खगासन

शब्दार्थ : खग अर्थात् आकाश में गमन करने वाला एवं खगासन भगवान विष्णु का एक नाम। ऊचाई पर उड़ते पक्षी सद्रश इस आसन की आकृति प्रतीत होने के कारण इसे खगासन कहा गया है।

विधि : पहले पद्मासन लगा लें एवं इसी अवस्था में पेट के बल अपने आसन पर लेट जाएँ। दोनों हाथों के पंजों को कमर पर इस प्रकार रखें कि अंगूठे पेट की तरफ़ एवं अंगुलियाँ पीठ की तरफ़ हो। अब सिर को ऊपर उठाते हुए सामने की तरफ देखें।

श्वासक्रम/समय : सिर उठाते समय अंत:कुभक करें। यथाशक्ति रुकें और मूल अवस्था में वापस आते समय श्वास छोड़े।

लाभ : ❍ वात, पित, कफ तीनों में सन्तुलन स्थापित होता है।

- ❍ मूत्राशय संबंधी विकार ठीक होते है।
- ❍ पाचन तंत्र क्रियाशील होता हैं।
- ❍ कमर तथा पीठ दर्द का निवारण होता है।
- ❍ स्थूलता कम होती है।
- ❍ दोनों हाथ पीठ की तरफ़ कर हाथ को नमस्कार की मुद्रा में करें तो यह गुप्त पद्मासन भी कहलाता है।

सेतुआसन/रपटासन/विपरीत द्ण्डासन/पूर्वोत्तानासन*
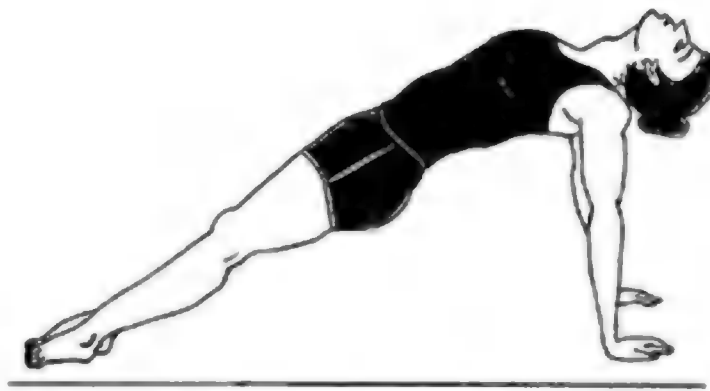
हथेलियों को जमीन पर स्थित करें। धड़ को भी थोड़ा-सा पीछे की तरफ़ झुका दें।

अब हाथों पर वज़न दें और नितंब सहित पूरे शरीर को उठाते हुए तानें। पैरों के तलवों को ज़मीन से स्पर्श कराने की कोशिश करें। सिर को पीछे की तरफ़ झुका दें। (यह स्थिति ठीक वैसी ही बन जाती है जब सीढ़ियों पर स्कूटर चढ़ाने के लिए लकड़ी का पटिया रखा जाता है।) अनुकूलतानुसार रुकें, वापस मूल अवस्था में आएँ। यह 1 चक्र पूरा हुआ इस प्रकार 10 से 12 चक्र पूरा करें। बैठी अवस्था में श्वास लें। ऊपर उठते समय श्वास रोकें और वापस मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ें।

ध्यान : मणिपूरक चक्र पर।

लाभ : ❍ मणिबंध, भुजाएँ मज़बूत होती हैं। पूरे शरीर को मज़बूती प्रदान करता है।

- ❍ कटि प्रदेश एवं मेरुदण्ड को लाभ पहुँचता है।
- ❍ उदर प्रदेश में स्थित अनावश्यक चर्बी को कम करता है।

सावधानियाँ : उच्चरक्तचाप एवं हृदयरोगी क्रमशः अभ्यास में लाएँ।

विशेष : ऊपर उठते समय हाथ एवं पैर तने हुए होना चाहिए। कुछ योग शिक्षक इसको कोणासन भी कहते है।

खंजानासन

शाब्दिक अर्थ : खंजन एक पक्षी का नाम है। इसका मिलना अति शुभ एवं दुर्लभ माना जाता है।

विधि : सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों पैरों को लगभग 2 फ़ीट फैलाएँ। सामने की तरफ़ घुटनों को मोड़ते हुए बैठने का प्रयास करें, परंतु पूर्ण रूप से न बैठे। अब दोनों जाँघों के पीछे से दोनों हाथों को निकालते हुए हथेलियों को दोनों पैरों के पंजों पर स्पर्श करा दें या पकड़ लें। नितंबों को पीछे से उठाते हुए छाती को तानें। चेहरा सामने ऊपर की तरफ़ रखें।

श्वासक्रम : आसन बनाते समय श्वास छोड़ें। आसन पूर्ण होने पर श्वास-प्रश्वास समान्य चलने दें। मूल अवस्था में आते समय श्वास लें।

समय : अनुकूलतानुसार।

लाभ :
- क़ब्ज़ दूर करता है।
- पाचन-तंत्र ठीक करता है।
- मेरुदण्ड लचीला बनाता है।
- जाँघों, घुटनों और गर्दन के जोड़ मज़बूत करता है।

सावधानियाँ : उच्च रक्तचाप हृदयरोगी या मेरुदण्ड से संबंधित जटिल रोग हो तो शरीर

को प्रति सजग रहे।

साधना साधनों की मोहताज नहीं होती।

विपरीत शीर्ष द्विहस्त बध्दासन/कल्याणासन

शाब्दिक अर्थ : विपरीत का अर्थ 'उल्टा' या 'विलोम' है। शीर्ष का अर्थ सिर। द्विहस्त का अर्थ दोनों हाथ। बद्ध का अर्थ पकड़ा हुआ या बँधा हुआ।

विधि :

1. प्रसन्न मुद्रा में सीधे खड़े हो जाएँ। इसके पश्चात् दोनों पैरों को विस्तृत कर लें। अब सामने की तरफ़ झुकते हुए दोनों हाथ एवं सिर को धीरे-धीरे दोनों पैरों के बीच से निकालें और कटि-भाग की ऊँचा उठा लें। दोनों हाथों से पैर के टखनों को पकड़ लें। श्वास-प्रश्वास स्वाभाविक गति से चलने दें। कुछ देर रुकें और पुनः करें।
2. पैरों के टखने पकड़ने की बजाय दोनों हाथ कमर के पीछे ले जाकर आपस में गूंथ लें।

श्वासक्रम : सामने झुकते समय श्वास छोड़ें। मूल अवस्था में लौटते समय श्वास लें।

लाभ :
- शरीर स्वस्थ, सुंदर और स्फूर्तिदायक बना रहता है।
- मेरुदण्ड को लाभ मिलता है।

- उदर-विकार से पीड़ित रहने वालों के लिए लाभकारी है।
- मंदाग्नि दूर होकर जठराग्नि प्रदीप्त होती है।
- रक्त-विकार नहीं होता।
- सिर-संबंधी रोग जैसे बालों का झड़ना, पकना व सिर-दर्द आदि समाप्त होते हैं।
- नेत्र-रोग और वायु विकार को शमन करता है।

सावधानियाँ : साइटिका, हृदयरोगी एवं उच्च रक्तचाप के रोगी इसे न करें।

विशेष : ऊपर उठते समय हाथ एवं पैर तने हुए होना चाहिए । कुछ योग शिक्षक इसको कोणासन भी कहते है ।

---

*पूर्वोत्तानासन को योगाचार्यो ने अलग-अलग ढंग से प्रतिपादित किया है, जैसे

- सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों हाथ को ऊपर की ओर ले जाते हुए कमर को पीछे की तरफ़ झुकाएँ।
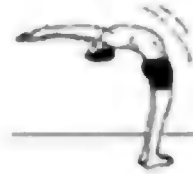
- हलासन में जाएँ और दोनों हाथों से दोनों पैरों के अँगूठों को पकड़ लें।

- पैरों को सामने की तरफ़ लंबवत् करें। नितंबों पर वज़न रखते हुए पैरों को ऊपर उठा लें और हाथों से अंगूठे को पकड़ लें।

# पीछे की ओर झुककर किए जाने वाले आसन

भुजंगासन
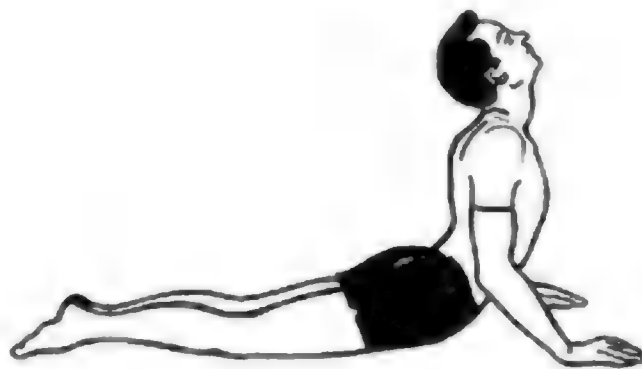
शाब्दिक अर्थ : भुजंग का अर्थ नाग या सर्प होता है। इस आसन की आकृति फन उठाए हुए सर्प की भाँति होती है।

विधि: पेट के बल ज़मीन पर लेट जाएँ। पैरों को तानकर रखें एवं तलवे ऊपर आसमान की तरफ़ हों। अब चूँकि हाथों के सहारे सिर व धड़ को ऊपर उठाना है अतः हाथों को कंधों के समीप रखें और हथेलियों को ज़मीन पर टिकाकर सिर और धड़ को धनुषाकार रूप में धीरे-धीरे ऊपर उठाएं। पूर्ण आसन होने पर हथेलियों पर ज़ोर दें ताकि शरीर अच्छे से तना रहे। दृष्टि सामने रखें। इस प्रकार यह आसन 5-6 बार दोहराएँ।

श्वासक्रम/समय : ऊपर उठते हुए श्वास लें। लगभग 10-15 सेकंड पूर्ण आसन की स्थिति में रहते हुए स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास करें। मूल स्थिति में वापस आते समय श्वास छोड़ते हुए आएँ।

लाभ : ❍ चूँकि यह आसन पेट और रीढ़ में खिंचाव उत्पन्न करता है अतः यह शरीर को लोच प्रदान करता है एवं क़ब्ज़ दूर करता है।

❍ स्लिप डिस्क वाले रोगी अवश्य करें।

- मेरुदण्ड एवं मेरुदण्ड से संबंधित सभी अंगों को लाभ पहुँचाता है।
- स्त्री रोगों में लाभकारी।
- पेट की चर्बी को कम करता है। शरीर छरहरा एवं सुडोल बनाता है।

सावधानियाँ : गर्भवती स्त्रियाँ न करें एवं हार्निया, पेप्टिक अल्सर एवं हृदय रोगी सजगता पूर्वक करें।

विशेष : कुछ साधक सपसिन एवं कुछ साधक उर्ध्वमुख श्वानासन भी कहते हैं।

नोट : कुछ साधक भुजंगासन करते समय पैर के पंजों को मोड़ते T हैं और कुछ साधक पैर के पंजों को पीछे की तरफ़ तानकर रखते हैं। दोनों प्रकार के आसन उचित हैं। परंतु पैरों के पंजों को तानने से मांसपेशियाँ अधिक खिचती हैं। जिससे साधक को अधिक लाभ प्राप्त होता है। अत: पीछे की तरफ़ पंजों को तानकर ही करना चाहिए।

उत्तान पृष्ठासन
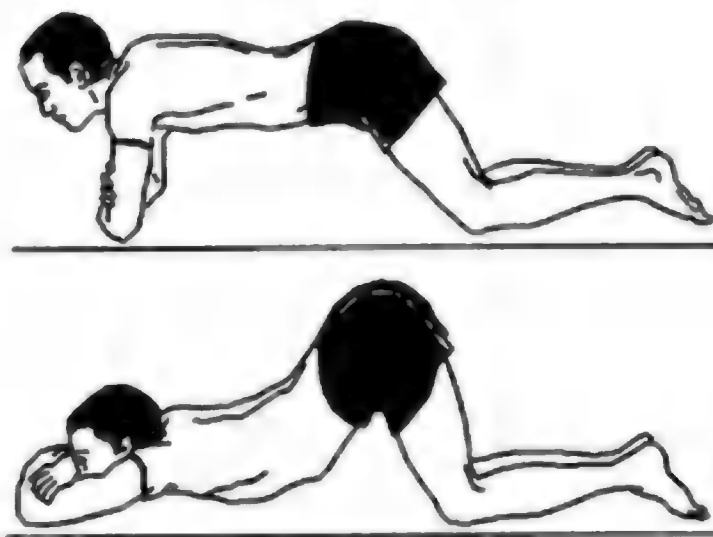
विधि : पेट के बल अपने आसन पर लेट जाएँ और वक्षःस्थल के नीचे हाथों की आपस में बाँध लें। ऐसा लगे मानी एक-दूसरे हाथ से भुजाओं को पकड़ रखा है। पहली स्थिति में

सिर, वक्षःस्थल और अब धड़ को पीछे ले जाते हुए ठुड्डी और वक्षःस्थल को ज़मीन पर बंधे हुए हाथ के पीछे स्पर्श करा दें। ऐसा करने से नितंब पीछे ऊपर की तरफ़ उठ जाएँगे। वापस पहली स्थिति में आ जाएँ।

श्वासक्रम/समय : नितंबों को उठाते समय श्वास अंदर लें और पहली स्थिति में वापस आते समय श्वास बाहर करें। 2 से 2 1/2 मिनट यथाशक्ति करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान और मणिपूरक चक्र पर।

लाभ :
- पीठ एवं मेरुदण्ड को लचीला बनाता है।
- उदर प्रदेश की जमी चर्बी को कम करता है।
- महिलाओं के लिए लाभकारी।
- वायु विकार दूर करता है।

सावधानी : मेरुदण्ड कड़क हो या रीढ़ की हड्डी में कोई जटिल रोग हो तो झटके के साथ न करें।

धनुरासन
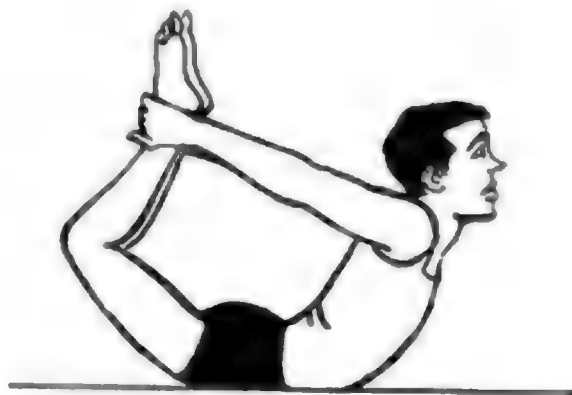
आकृति : धनुष के समान।

विधि : पेट के बल ज़मीन पर लेट जाएँ। घुटनों से पैरों को मोड़ते हुए दोनों हाथों से एड़ियों के पास पकड़े एवं सिर और सीने को भी ऊपर उठाएँ। हाथों को सीधे रखते हुए पैरों की मांसपेशियों में तनाव पैदा करते हुए खींचें। इस प्रकार आगे-पीछे झूलते हुए हल्का व्यायाम भी कर सकते हैं।

श्वासक्रम : पैरों को पकड़ते समय श्वास अंदर लें। कुंभक करें। मूल स्थिति में आते समय

श्वास छोड़ें।

समय : 15 सेकंड से आधा मिनिट तक। 4 से 5 बार करें।

ध्यान : मूलाधार या विशुद्धि चक्र पर।

लाभ :
- पुराने क़ब्ज़ को दूर कर मन प्रसन्न करता है।
- पाचन-तंत्र मज़बूत कर जठराग्नि ठीक करता है।
- मोटापे का दुश्मन है।
- मेरुदण्ड लचीला बनाकर शरीर में स्फूर्ति पैदा करता है।
- गुरु की देख-रेख में इससे संबंधित समानांतर आसन करने से क्षय रोग में लाभ।
- स्त्रियों के प्रजनन तंत्र को कार्यशील बनाता है व और भी कई बीमारियों को दूर करता है।

सावधानियाँ :
- आँतें, किडनी, अल्सर व हानिया आदि रोग वाले इस आसन को न करें एवं रक्तचाप व हृदय विकार वाले भी न करें।
- यह आसन खाली पेट करें। क्योंकि पूरा ज़ोर पेट पर ही पड़ता है।

नोट : कुछ योग गुरु धनुरासन को इस प्रकार से भी करवाते हैं। जबकि यह हलासन कहलाता है।
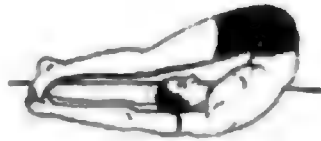
चक्रासन
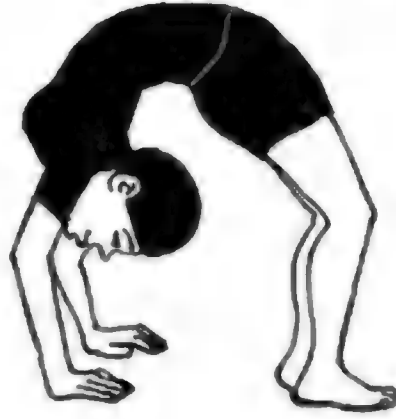
विधि : पीठ के बल ज़मीन पर लेट जाएँ। अब दोनों पैरों को मोड़कर एड़ियों को नितंब से सटा लें एवं दोनों हाथों को कान के पास इस प्रकार रखें कि अंगुलियाँ पैरों की तरफ़ रहें। अब धीरे-धीरे सिर की तरफ़ वज़न देते हुए एवं श्वास लेते हुए मध्य वाले भाग से पूरे शरीर को ऊपर उठाएँ। अंतः कुंभक करें। इसी अवस्था में कुछ देर रुकें। मूल अवस्था में वापस आते समय श्वास बाहर छोड़ें एवं पहले सिर ज़मीन से टिकाएँ फिर शरीर को नीचे लाएँ।

नोट : अपनी क्षमतानुसार अभ्यास करें। अभ्यास होने पर धीरे-धीरे हाथों को एड़ी के पास ले जाएँ।

ध्यान : नाभि, हृदय व कपाल पर।

लाभ : ❍ यह उदर, पीठ, पेट व प्रजनन अंगों के लिए काफ़ी लाभदायक है। ❍ स्त्रियों के आंतरिक रोगों के लिए लाभकारी है। ❍ शरीर को लचीला बनाता है। ❍ वायुरोग का शमन करता है। ❍ मोटापा कम करता है। ❍ जाँघें, मेरुदण्ड व भुजाएँ मज़बूत करता है। ❍ चेहरे के ओज तेज को बढ़ाता है।

सावधानियाँ: ❍ गर्भावस्था एवं कमज़ोरी महसूस होने पर न करें।

❍ चक्रासन का अभ्यास श्वास अंदर रोककर ही करना चाहिए।

❍ अल्सर, हर्निया पीठ व मेरुदण्ड के रोग से पीड़ित व्यक्ति न करें।

विशेष : उपरोक्त चक्रासन को कुछ योगाचार्य अर्ध चक्रासन भी कहते हैं एवं कहीं-कहीं अर्धचक्रासन की भिन्न प्रकार से भी कराया जाता है। जैसे सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों हाथ ऊपर करें एवं जितना पीछे झुक सकते हैं झुकें। इस अवस्था को अर्धचक्रासन कहते हैं जबकि यह अनु चक्रासन है। कुछ योग शिक्षक चक्रासन को उर्ध्व धनुरासन भी कहते हैं। कुछ योग शिक्षक अर्ध चक्रासन इस प्रकार से भी करवाते हैं सीधे खड़े हो जाएँ हल्का-सा पीछे झुके, छाती उभारें सिर पीछे झुकाये एवं हाथों को पीछे ले जाकर आपस में केंचीनुमा

पंजों को फँसाकर तान दें।

पूर्ण चक्रासन/चक्र बंधासन

विधि : पूर्ण चक्रासन की विधि चक्रासन जैसी ही है। पहले चक्रासन बनाएँ फिर पूर्ण चक्रासन के लिए सावधानीपूर्वक धीरे-धीरे हाथों को बढ़ाकर टखनों को पकड़ लें और कोहनियों को भूमि पर टिकाए रखते हुए संतुलन निर्मित करें।

श्वासक्रम/समय : चक्रासन की विधि देखें। यथाशक्ति या 10 से 12 सेकेण्ड।

लाभ :
- चक्रासन के समस्त लाभ स्वत: प्राप्त हो जाते हैं।
- मेरुदण्ड व कमर में और अधिक लचीलापन आता है।

विशेष : पूर्ण चक्रासन दो प्रकार से किया जा सकता है।

1. इसमें साधक पीठ के बल लेटकर मध्यभाग ऊपर उठाकर धीरे-धीरे पूर्ण चक्रासन बनाता है। ज़्यादातर साधक इस विधि को अपनाते हैं।

2. इसमें साधक सावधान की स्थिति में खड़े होकर दोनों हाथों को ऊपर करें। धीरे-धीरे पीछे की तरफ़ कमर को मोड़कर संतुलन बनाते हुए हाथों को ज़मीन से स्पर्श कराते हुए क्रमश: पूर्ण चक्रासन की स्थिति निर्मित करें।

**सावधानियाँ :** ❍ उच्च रक्त चाप, हृदयरोगी एवं कलाई के कमज़ोर होने पर न करें।

❍ पूर्ण चक्रासन के बाद हलासन, सर्वांगासन करना चाहिए।

सेतुबंधासन/शीर्ष पादासन
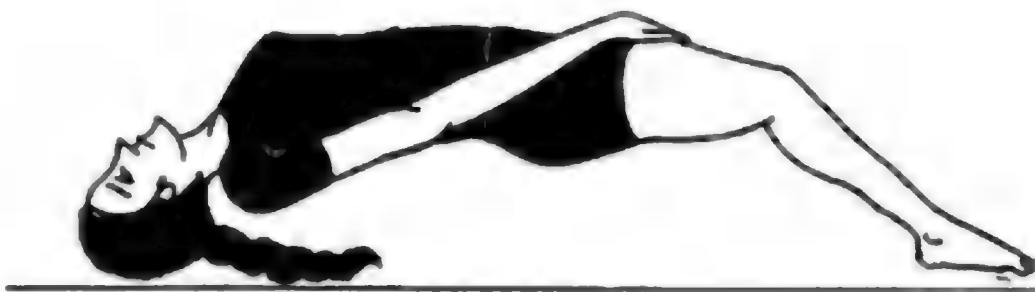
**शाब्दिक अर्थ :** सेतु का अर्थ पुल है एवं सेतुबंधासन का अर्थ ऐसा आसन है जिसकी आकृति उठे हुए पुल जैसी हो।

**विधि :** अपने आसन में शवासन अर्थात् पीठ के बल लेट जाएँ, चूँकि शरीर के बीच के भाग को सिर और पैरों के पंजों के बल उठाना है अत: सर्वप्रथम श्वास लें एवं शरीर के प्रति सजग रहें अब धीरे-धीरे शरीर के मध्य भाग को उठाएँ। नए साधक अपने हाथों का सहारा लें। अपने हाथों को या तो सिर के पीछे ले जाएँ और हाथों को बल देते हुए शरीर को उठाएँ या फिर कमर और पीठ के भाग को हाथों से उठाएँ। पूर्ण अभ्यास हो जाने पर हाथों को नमस्कार की मुद्रा में लाएँ या हाथों को पेट के ऊपर रखकर बाँध लें या हाथों की जांघों के ऊपर रख लें। ध्यान रहे पाँव का तलवा पूरा ज़मीन से चिपका रहे। पूर्ण आसन की अवस्था में श्वास रोकें। वापस आते समय श्वास छोड़ें।

**लाभ :** ❍ गर्दन के विकार दूर होते हैं और ग्रीवा पुष्ट होती है।

❍ शीर्ष ग्रंथियाँ, पीयूष ग्रंथि और ग्रीवा ग्रंथियों में रक्त पर्याप्त मात्रा में पहुँचने से वे ठीक ढंग से कार्य करती हैं।

❍ मेरुदण्ड लचीला एवं विकार रहित होता है।

❍ पाचन संस्थान को लाभ मिलता है।

❍ जंघाएँ एवं पैरों में सुद्रढ़ता आती है।

सावधानियाँ : ❍ उच्च रक्तचाप वाले रोगी न करें

❍ सिर के नीचे मोटा कबल रखें।

नोट : कुछ योग शिक्षक सेतुबंधासन अलग तरह से करते है। देखें कंधरासन।

ग्रीवासन
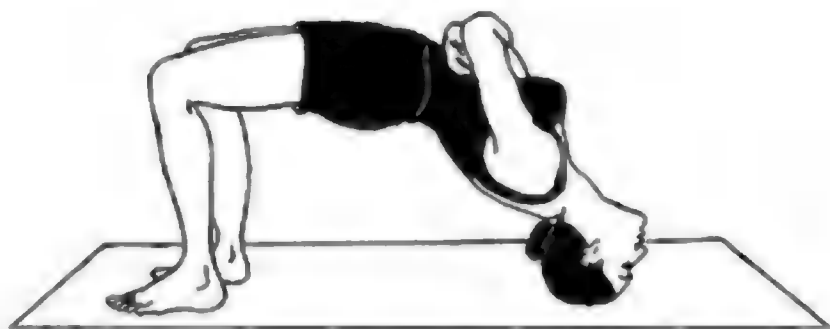
विधि : कम्बल की मोटी तह करके बिछा लें और पीठ के बल लेट जाएँ। दोनों पैरों को थोड़ा फैला लें एवं घुटनों को मोड़ते हुए एड़ियों को नितम्बों से स्पर्श कराएँ अब चित्रानुसार स्थिति निर्मित करने के लिए हथेलियों को कानों की तरफ़ ज़मीन पर रखें। हाथों और पैरों के पंजों पर जोर डालकर कमर के हिस्से को ऊपर उठाएँ एवं सिर के ऊपरी भाग को ज़मीन पर स्थित करें एवं हाथों को सीने पर बाँध लें।

अंतिम अवस्था में पैरों के पंजे और सिर के द्वारा संतुलन स्थापित करें।

श्वासक्रम/समय : कमर के ऊपरी भाग को उठाते समय अंतःकुंभक करें। अंतिम अवस्था में श्वास-प्रश्वास धीमी गति से करें एवं मूल अवस्था में आते समय धीरे-धीरे श्वास छोड़ें। अंतिम अवस्था में अधिकतम 5 से 10 सेकण्ड रुकें। एक से दो बार करें।

लाभ : ❍ मेरुदण्ड और गर्दन में लोच-लचक पैदा कर उन्हें मज़बूती प्रदान करता है एवं उनके विकारों को दूर करने में सहयोगी है।

❍ पाचनतंत्र को प्रभावशाली बनाता है।

❍ स्त्री रोगों में भी लाभ प्रदान करता है।

प्रकारान्तर : ग्रीवासन की ही स्थिति में पैरों को आगे की तरफ़ तानते हुए पंजों को ज़मीन

पर स्थापित करें और हाथों को सीने के ऊपर बांध लें या जघाओं पर रखें। इस आसन को कुछ योग गुरु शीर्षपाद भूमि स्पशासन कहते है।

सावधानियाँ : स्पॉण्डिलाइटिस, स्लिप्पडिस्क, सर्वाइकल प्राब्लम या हाइब्लड प्रेशर, चक्कर आना, हृदय विकार हो वे इस आसन को न करें। इस आसन के बाद पश्चिमोत्तानासन या आगे झुकने वाले कोई भी आसन अवश्य करें।

नोट : कुछ योग शिक्षक इसको पूर्ण सेतु आसन भी कहते हैं।

---

विशेष : पेट के बल किए जाने वाले आसनों में भुजंगासन, उत्तानपृष्ठासन, खगासन, तिर्यक भुजंगासन, धनुरासन, अष्टांग नमस्कारासन भी इसी श्रेणी में आते हैं। जो कि इसी पुस्तक में समाहित हैं।

# सिर, कंधा तथा गर्दन के बल किये जाने वाले आसन

## सर्वांगासन

शाब्दिक अर्थ : सर्व का अर्थ पूरा, पूर्ण या सभी है और अंग का अर्थ शरीर का भाग है चूँकि इस आसन में सभी अंग से योग क्रियाएँ हो जाती हैं और पूरा शरीर लाभान्वित होता है इसलिए इस आसन का नाम सर्वांगासन है। वैसे इस आसन को शीर्षासन के पश्चात् सबसे महत्वपूर्ण माना गया है। इस आसन को आसनों का राजा भी कहा जाता है।

विधि : पीठ के बल लेट जाएँ। दोनों हाथ ज़मीन पर कमर के अगल-बगल में रखें। घुटनों

को कड़ा रखते हुए धीरे-धीरे दोनों पैरों को ऊपर की ओर इतना उठाएँ कि कमर और पैर लगभग समकोण बना लें अब अपनी हथेलियों को कमर पर लगाएँ और धीरे-धीरे कमर को हाथों के सहारे इतना उठाएँ कि आपकी ठुड्डी आपके सीने को छूने लगे। चूँकि आपने अभी हाथों का अवलंबन लिया है अत: यह सालंब सर्वांगासन कहलाएगा। अभ्यास हो जाने के बाद हाथों का अवलंबन हटा लें। वह सर्वांगासन कहलाएगा। इस आसन को प्रतिदिन करने से आशातीत लाभ होता है।

श्वासक्रम/समय : आसन करते समय और वापस आंते समय अंतःकुंभक करें एवं पूर्ण आसन पर स्वाभाविक श्वास चलने दें। आधे से 5 मिनट तक कर सकते हैं। अभ्यास हो जाने पर समय बढ़ाएँ।

ध्यान : सहस्त्रार चक्र छोड़कर सम्पूर्ण कुंडलिनी का ध्यान करें। विशेष रूप से विशुद्धि चक्र पर।

लाभ:
- यदि हम इसे काया-कल्पासन कहें, तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मूल रुप से इस आसन का प्रभाव थायरॉइड ग्रंथि, मेरुदण्ड, हृदय एवं पैरों से सम्बंधित सभी रोगों पर पड़ता है।
- आसन करने पर रक्त की मात्रा बढ़ जाने से ग्रंथि की कार्यक्षमता बढ़ जाती है, जिससे स्वास्थ्य पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।
- जिनकी बुद्धि हमेशा भ्रमित रहती है, काम करने में मन नहीं लगता; उनको यह आसन लगभग 6 महीने तक कम से कम 3 से 5 मिनट तक अवश्य करना चाहिए।
- मिर्गी रोग और कमज़ोर मस्तिष्क वालों के लिए यह आसन अत्यंत लाभकारी है।
- स्त्रियाँ क्रमशः इस अभ्यास को कर कई रोगों से छुटकारा पा सकती है।
- वायु गोला टल जाने पर इस आसन को एक ही समय में चार से छह बार अवश्य करना चाहिए।
- यह आसन पुर्नयोवन देता है।
- बालों का झड़ना रोकता है, चेहरे को साफ़, चमकदार व तेजोमय बनाता है।
- कामशक्ति को व्यवस्थित कर काम-विकार का शमन करता है।
- नेत्र-ज्योति, निम्न रक्तचाप, पाचन-संस्थान, रक्त-विकार व प्रमेह आदि रोगों के लिए यह नितांत उपयोगी है।
- शीर्षासन से मिलने वाले लाभ भी इस आसन से मिल जाते हैं।

- इस आसन को नियमित करने से संपूर्ण शरीर स्वस्थ्य रहता है।

सावधानियाँ

- उच्च रक्तचाप, हृदय सम्बंधी बीमारी वाले साधक किसी योग्य गुरु के निर्देशन में करें।
- सर्वाइकल स्पॉण्डिलाइटिस, स्लिप डिस्क एवं यकृत के विकार वाले इस आसन को न करें।

नोट : वे व्यक्ति जो सर्वांगासन नहीं लगा सकते वे विपरीत करणी आसन अपनी क्षमतानुसार लगा सकते हैं।

विशेष : पद्म सर्वांगासन लगाने के लिए सर्वांगासन की अंतिम स्थिति में पहुँचकर पद्मासन लगाएँ या पहले पद्मासन लगाएँ फिर सर्वांगासन की स्थिति में पहुँच जाए तो वह पद्म सर्वांगासन कहलाएगा। एक पाद सर्वांगासन के लिए एक पैर को कमर से मोड़कर सामने सिर की तरफ़ जमीन से स्पर्श कराएं।

विपरीतकरणी–मुद्रासन/विलोमासन

नोट : यह आसन ठीक सर्वांगासन की तरह ही है। बस अंतर यह है कि इसमें छाती और ठुड्डी को आपस में नहीं मिलाया जाता। दोनों के बीच काफ़ी अंतर रहता है।

विधि : इसकी विधि भी सर्वांगासन की ही तरह मिलती जुलती है। शवासन की स्थिति में लेट जाएँ। दोनों हाथों से दोनों नितम्बों की सहारा देते हुए दोनों पैरों को समानांतर ऊपर उठाएँ। 60° पर पैर स्थापित करते है। चित्रानुसार उस स्थिति तक पहुँचें।

ध्यान : मूलाधार चक्र से विशुद्धि चक्र तक। कुण्डली जागरण के लिए यह आसन सार्थक है।

श्वासक्रम : आसन करते समय कुंभक करें। पूर्ण आसन पर स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास करें। मूल स्थिति तक पहुँचने पर श्वास रोकें। सामान्य होने पर श्वास छोड़ें।

समय : क्रमश: बढ़ाते हुए 5 से 10 मिनट तक करें।

लाभ :
- कंठ सम्बंधी सभी रोगों का क्षय होता है।
- कंठ सुरीला व मधुर बनता है। छाती मज़बूत होती है।
- पीठ एवं पेट के समस्त विकार दूर होते हैं।
- हाथी पाँव, पैरों में झुनझुनी और पैरों के सुन्न पड़ने आदि रोगों में लाभप्रद है।
- सभी प्रकार के सिरदर्द दूर करता है।
- नेत्र-ज्योति तीव्र करता है।
- बालों का असमय पकना व झड़ना दूर करता है।
- हार्निया में भी लाभ मिलता है।
- हाइपो/हाइपर थायराइड में तीव्र लाभ मिलता है।
- पूरे शरीर को स्वस्थ्य एवं सुन्दर बनाता है।

सावधानियाँ : हाई ब्लड प्रेशर, स्लिप्पडिस्क, स्पॉण्डिलाइटिस एवं हृदयरोगी

क्रमश: अभ्यास में लाएँ। नोट : मुद्रा वाले अध्यायों में भी इसका वर्णन आया है।

हलासन
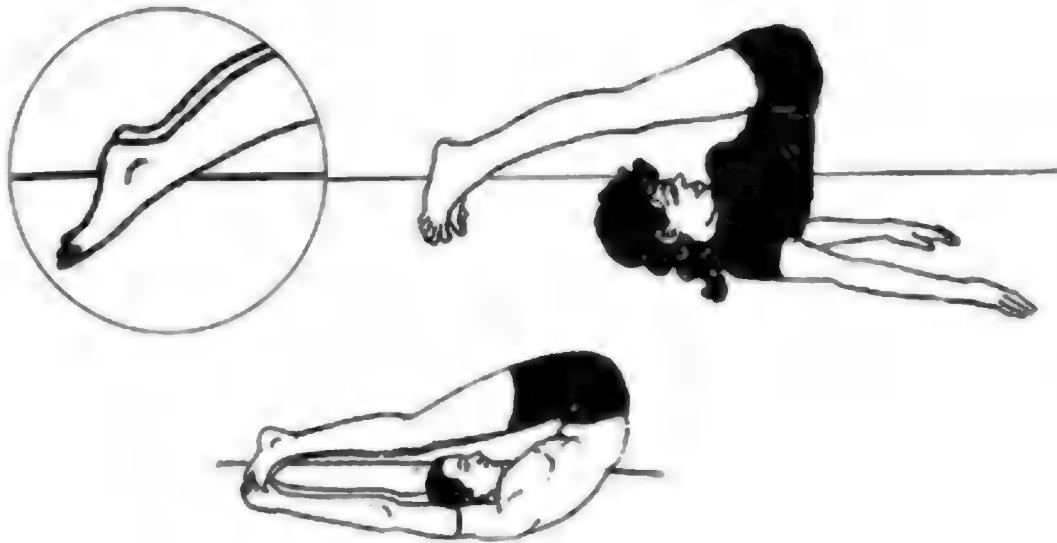
शाब्दिक अर्थ : हल का अर्थ है लांगल (खेतों में उपयोग किए जाने वाले एक औज़ार का नाम)। यह आसन सर्वांगासन का ही एक रूप है।

विधि : शवासन की स्थिति में लेट जाएँ। पैरों को समानांतर उठाये व सर्वांगासन की स्थिति से होते हुए पैरों को पीछे की ओर (सिर की तरफ़) ले जाएँ। पैर के पंजों को ज़मीन से स्पर्श कराएँ। ध्यान रहे इस स्थिति में पैरों को लंबवत् ही मोड़कर ज़मीन पर स्पर्श कराना है, इस स्थिति में जालंधर बंध अपने आप लग जाता है। हाथों की स्थिति दो प्रकार से कर सकते हैं। पहली स्थिति में हाथ ज़मीन पर या नितम्ब के नीचे रहने दें। दूसरी स्थिति में अपने हाथों से पैरों के पंजों को स्पर्श करें। लगभग 10 से 15 सेकंड की स्थिति के बाद धीरे-धीरे वापस शवासन की स्थिति में आ जाएँ।

श्वासक्रम/समय : पूर्ण स्थिति में जाते समय श्वास अन्दर रोकें एवं पूर्ण स्थिति बन जाने के बाद धीरे-धीरे श्वास-प्रश्वास करें व मूल स्थिति में वापिस आंते समय अंतःकुंभक करें। तत्पश्चात् श्वास छोड़ें अभ्यास हो जाने पर 5-7 मिनट तक हलासन की स्थिति में ही रहें।

ध्यान : विशुद्धि चक्र पर।

लाभ: ❍ यह आसन भी यौवन प्रदान करता है। रीढ़ की हड़ी एवं कमर को बुढ़ापे तक झुकने नहीं देता है।

- हृदय एवं पीठ को बल प्रदान करता है।
- रक्त का पूर्ण संचार कर रक्त को शुद्धि देता हुआ जठराग्नि को उद्दीप्त करता है एवं भूख को बढ़ाता है।

- यौन शक्ति को यथावत् रखता हुआ यौन-विकार का नाश करता है।
- चेहरे का निखार बढ़ाता है।
- यह आसन सूक्ष्म तंत्रिका-तंत्र को सशक्त बनाता है।
- इस आसन से आलस्य दूर हो जाता है।
- कार्य करने की क्षमता बढ़ती है।
- पृष्ठ भाग की पीड़ा को शांत करता है।
- मन प्रसन्न करता है।
- ग्रीवा सम्बंधी रोगों को दूर करता है।
- गर्भाशय को मज़बूती प्रदान करता है।
- क़ब्ज़ नाशक है।
- अग्नाशय के उद्दीप्त होने के कारण इन्सुलिन की मात्रा में वृद्धि होने लगती है अतः मधुमेह के रोगियों को लाभ होता है।
- थायराइड में लाभ प्राप्त होता है।
- किडनी को सुचारु करता है। मोटापा को दूर करता है एवं छोटी आंत व बड़ी आंत की क्रियाशील बनाता है।

सावधानियाँ

- कड़क शरीर वाले या रीढ़ की हड्डी में चोट वाले इस आसन को उचित देख-रेख में करें।
- साइटिका, स्लिप डिस्क, हार्निया, अति उच्च रक्तचाप वाले रोगी इस आसन को न करें।

विशेष : हलासन के बाद, चक्रासन, मत्स्यासन और सुप्त वज्रासन या पीछे झुककर किए जाने वाले आसन अवश्य करें।

नोट: हलासन की स्थिति में जब हाथों को पैरों की तरफ़ ले जाकर हथेलियों से पैरों के पंजों को पकड़ा जाता है। तब कुछ योगाचार्य उस स्थिति को पूर्वोत्तानासन भी कहते हैं एवं कहीं-कहीं इसका वर्णन धनुरासन के रूप में भी आता है। हमने पूर्वोत्तानासन का वर्णन सेतु आसन के साथ किया है और धनुरासन का वर्णन पिछले पृष्ठों पर है।

- कुछ योग शिक्षक हलासन में पैरों के पंजे की स्थिति बदलवाकर करवाते हैं। गोले के अन्दर चित्र को देखें।

योग साधना से मनुष्य की अंतर्निहित शक्तियाँ जागृत होती हैं।

-RJT

विस्तृत पाद सर्वांगासन/सुप्त कोणासन
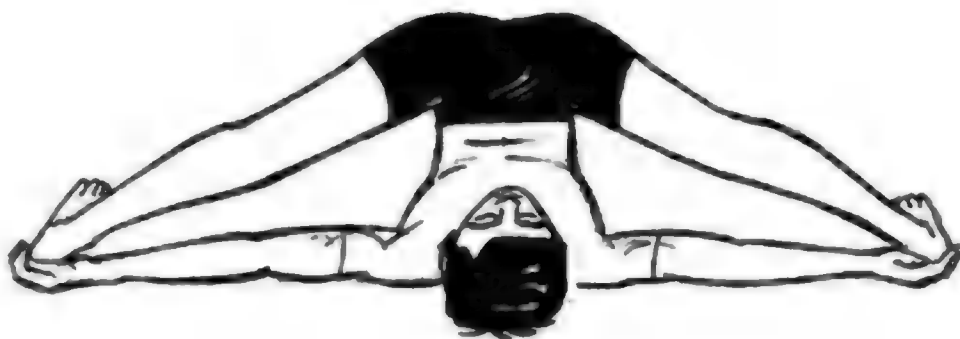
विशेष : सर्वांगासन का यह एक प्रकार है या हलासन का ही एक रूपांतर।

विधि : अपने आसन में पीठ के बल लेट जाएँ। दोनों हाथों को सिर की तरफ़ पीछे ले जाएँ। पैरों को ज़मीन से एक साथ ऊपर उठाते हुए धीरे-धीरे सिर के पीछे ले जाएँ। घुटनों को मुड़ने न दें एवं दोनों पैरों को फैलाकर दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को एवं बाएँ हाथ से बाएँ पैर के अंगूठे को पकड़े या एड़ियों का स्पर्श करें। एड़ियाँ ऊपर की तरफ़ तनी हुई हों।

श्वासक्रम/समय : अंतिम स्थिति में स्वाभाविक रूप से श्वास-प्रश्वास करें। लगभग आधा मिनट तक इसी स्थिति में बने रहें। अंतिम स्थिति में निर्मित करते समय अंतःकुंभक करें। आधे से एक मिनट तक अनुकूलतानुसार करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान या मणिपूरक चक्र में लगाएँ।

लाभ :
- पैरों को दृढ़ और मज़बूत बनाता है।
- मेरुदण्ड मज़बूत एवं लचीला बनता है।
- उदर के अवयवों को ठीक करता है।

- रक्त संचार को भी ठीक करता है एवं हलासन के सभी लाभ स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।

सावधानियाँ : स्लिप डिस्क, स्पॉण्डिलाइटिस, हृदय रोगी, उच्च रक्तचाप एवं मेरुदण्ड संबंधी कोई पुराना रोग हो तो न करें।

कर्ण पीड़ासन

शाब्दिक अर्थ : कर्ण अर्थात् कान। पीड का अर्थ दबाव डालना होता है।

विधि : पीठ के बल चित्त लेट जाएँ। दोनों हाथ कमर के अगल-बगल में रखें। धीरे-धीरे दोनों पैर एक साथ ऊपर उठाएँ और हलासन की स्थिति में आ जाएँ। अब दोनों घुटने शिथिल करते हुए या मोड़ते हुए बाएँ कान के पास बायाँ घुटना और दाहिने कान के पास दाहिना घुटना रखें एवं हल्का दबाव डालें। इस स्थिति में पैर के पंजे ज़मीन पर टिके रहेंगे। कर्ण पीड़ासन को दो प्रकार से कर सकते हैं। (प्रथम) दोनों हाथ कमर पर सर्वांगासन की तरह रहेंगे। (द्वितीय) दोनों हाथ ज़मीन पर स्पर्श करते रहेंगे।

विशेष : अंतिम अवस्था में हाथों से जंघाओं को जकड़ते हुए एक दूसरी हथेलियों से भुजबंध पकड़ते हैं।

श्वासक्रम : मूल आसन की मुख्य स्थिति में श्वास क्रिया लंबी और गहरी होगी। आसन स्थिति निर्मित करते समय अंतःकुंभक करें।

समय : यह आसन 5-6 बार करें/प्रत्येक बार 10 से 20 सेकंड। ध्यान : आज्ञा चक्र पर लगाएँ।

लाभ :
- यह आसन पूरे शरीर को सुंदर, सुडौल व पुष्ट बनाता है।
- मेरुदण्ड को लचीला बनाता है। मेरुदण्ड सम्बंधी विकार नष्ट होते हैं।

- हृदय-प्रदेश और पैरों को आराम मिलता है।
- इस अभ्यास से समस्त स्नायु संस्थान सशक्त और सुचारु रूप से क्रियाशील होते हैं। कटि प्रदेश में रक्त संचार सुचारु करता है।

सावधानियाँ : मेरुदण्ड पर अधिक ज़ोर पड़ता है अतः सावधानी रखें।

- उच्चरक्तचाप एवं हृदय रोगी विवेक पूर्वक अभ्यास करें।

एक पाद शीर्षासन
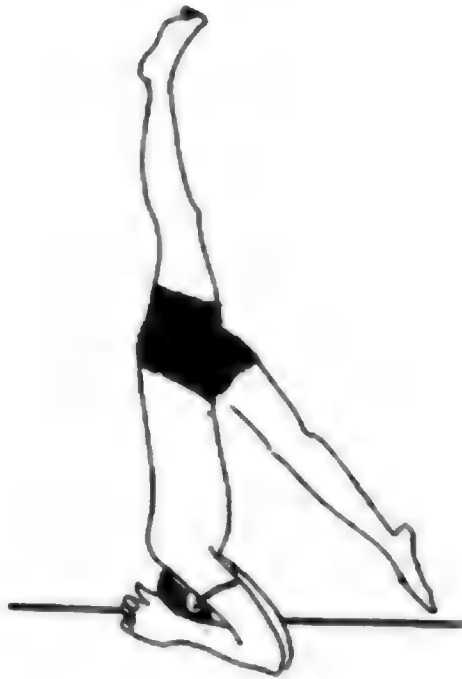
शाब्दिक अर्थ इस आसन में एक पैर ज़मीन पर और एक पैर ऊपर उठाकर शीर्षासन किया जाता है। अत: इसे एकपाद शीर्षासन कहते हैं।

विधि : यह विधि शीर्षासन से सरल है। इसमें फ़क़ सिर्फ़ इतना है कि शीर्षासन में दोनों पैर ऊर्ध्व की तरफ़ किए जाते हैं और संतुलन की तरफ़ ध्यान देना पड़ता है। परंतु इसमें एक पैर ज़मीन पर ही टिका रहता है। अतः इस आसन को एकपाद आलंबित शीर्षासन भी कहते हैं।

नोट : शेष विवरण विधि एवं लाभ लगभग शीर्षासन जैसे ही हैं।

विशेष : एक पाद शीर्षासन को अन्य प्रकार से भी कराया जाता है जिनका वर्णन आगे

दिया गया है।

योग विद्या भारतवर्ष की एक प्राचीनतम वैज्ञानिक साधना पद्धति है।-RJT

सालम्ब शीर्षासन
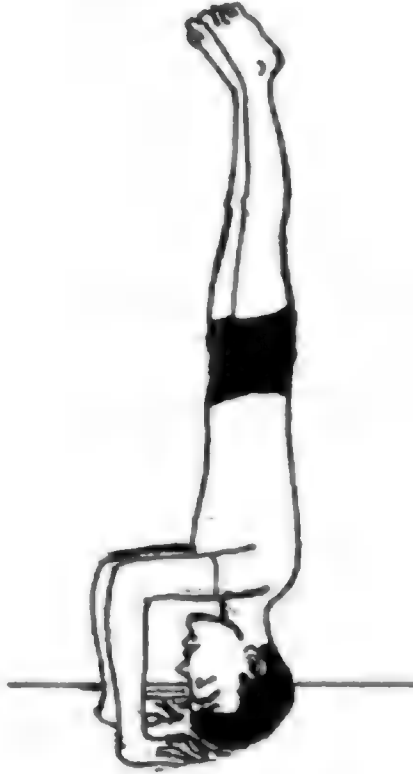
शाब्दिक अर्थ : सालंब का अर्थ आधार सहित एवं शीर्ष का अर्थ सिर का अग्रभाग है। यानी किसी आधार का अवलंबन लेकर शीर्षासन करना।

विधि : यह विधि भी शीर्षासन जैसी ही है परंतु इसमें हाथों की स्थिति थोड़ी बदल जाती है। इसमें हथेलियों को ज़मीन से स्पर्श कराते हुए अवलंबन लिया जाता है। शेष आसन विधि, ध्यान व सावधानियाँ शीर्षासन जैसी ही हैं।

लाभ : शीर्षासन के सभी लाभ मिलते हैं।

विशेष : इसी अवस्था में हाथों के बल पूरे शरीर को ऊपर उठा दें तो उसे अधोमुख वृक्षासन भी कहते हैं। परन्तु कुछ साधक इसको वृक्षासन भी कहते हैं।

शीर्षासन
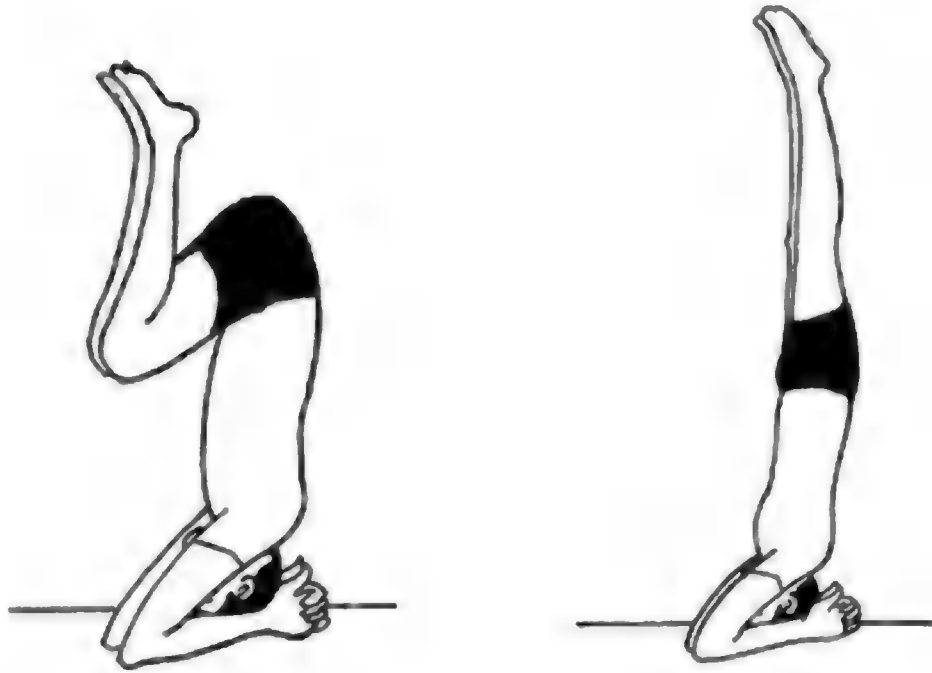
शाब्दिक अर्थ : शीर्ष का अर्थ यहाँ पर सिर के अग्रभाग से है। इसमें साधक सिर के अग्रभाग से आसन करता है अत: इसे शीर्षासन कहा गया है।

विधि : वज्रासन में बैठ जाएँ। सिर को सामने की तरफ़ झुकाते हुए कबल पर सिर के अग्र भाग का ऊपरी तल टिकाएँ। दोनों हाथों की अंगुलियों को एक-दूसरे में फंसाकर सिर के समीप घेरा बनाते हुए रखें, अब क्रमशः सिर की तरफ़ वज़न देते हुए कमर को उठाएँ। (ऐसी अवस्था में शरीर का आधा वज़न सिर की तरफ़ व आधा वज़न पैरों की तरफ़ हो जाएगा) इसी क्रम में अब पूरा संतुलन बनाते हुए शरीर का पूरा भार सिर के अग्रभाग पर रखने की कोशिश करते हुए दोनों घुटनों को ऊपर उठाएँ। धीरे-धीरे एक पैर को सीधे आकाश की तरफ़ तान दें व दूसरा पैर भी संतुलन बनाते हुए ऊपर की तरफ़ करें। यह अवस्था शीर्षासन कहलाती है। यदि अकेले नहीं कर सकें तो किसी सहायक या कोने की दीवार का सहारा लें। अनुकूलतानुसार कुछ देर रुकें। मूल स्थिति में ज़मीन पर रखें। पूर्ण आसन की स्थिति में श्वास-प्रश्वास की स्थिति स्वाभाविक रहेगी। आसन करते समय श्वास लेकर कुंभक करें एवं वापस आते समय भी कुंभक करें। (इस आसन को शरीर का भार माथे के तरफ़ रखते हुए करते हैं। सिर के बिल्कुल बीच के भाग में नहीं रखते अतः ध्यान पूर्वक करें)

ध्यान : स्वाभाविक श्वास में ध्यान लगाएँ।

नये साधकों के लिए : चूँकि इसमें सिर पर पूरे शरीर का वज़न पड़ता है अत: सिर के नीचे कबल की मोटी तह कर लें।

लाभ : शीर्षासन को भी आसनों का राजा कहा गया है। यह आसन शरीर का कायाकल्प करता है।

- प्रतिदिन अभ्यास के कारण मस्तिष्क की शिराओं में स्वस्थ एवं शुद्ध रक्त प्रवाहित होने लगता है जिसके कारण मानसिक दुर्बलता एवं मस्तिष्क सम्बंधी रोग धीरे-धीरे क्षीण होने लगते हैं।
- यह आसन ओज, तेज और चेहरे की चमक बढ़ाता है।
- इस आसन के अभ्यास से चूँकि रक्त शुद्ध होता है, अतः बालों का असमय पकना, बालों का झड़ना एवं त्वचा सम्बंधी रोगों का शमन होता है।
- यौवन देता हुआ चेहरे की झुर्रियों को समाप्त कर देता है।
- नेत्र सम्बंधी दोष दूर होते हैं। नेत्रों को सुन्दर बनाता है।
- इस आसन से व्यक्ति का जीवन उत्साह और स्फूर्ति से भर जाता है।
- समस्त प्रकार के वायु विकार को नाश करता है।
- उन्माद व मिर्गी के लिए भी यह आसन उचित है व चंचल मन को संतुलन प्रदान करता है।
- लकवा (पक्षाघात) से पीड़ित व्यक्ति उचित देख-रेख में एवं क्रम पूर्वक नियमित करें।
- दमा व क्षय रोगों को नियमित अभ्यास से दूर किया जा सकता है।
- कोष्ठबद्धता दूर करता है।
- काम-विकार का शमन कर यह कामशक्ति यथावत् करता है।
- उदर-प्रदेश एवं प्रजनन संस्थान की उचित देखभाल करता है।
- समस्त मानसिक विकारों में यथासंभव लाभ मिलता है।

सावधानियाँ: नए अभ्यासियों को चाहिए कि शीर्षासन अकेले नहीं करें।

- यदि दीवार का सहारा लें तो दीवार से 2 या 3 इंच की दूरी पर करें अन्यथा इसका उल्टा असर पेट या पीठ पर पड़ेगा।
- जल्दबाज़ी न करें वरना गर्दन या पीठ में दर्द हो जाएगा।
- इस आसन में शरीर पूरा सीधा रखें, ताकि वह स्थिरता और दृढ़ता पा सके।

- दोनों पैर आकाश की तरफ़ लंबवत समानांतर होने चाहिए।
- नए अभ्यासी शुरू में 1 से 2 मिनट ही करें।
- अभ्यास हो जाने पर दोनों पैर हल्के झटके के साथ सीधे ऊपर की तरफ़ तान दें।
- शीर्षासन के पहले सर्वांगासन का अभ्यास ज़रुर करें।
- शीर्षासन के बाद ताड़ासन व शवासन अवश्य करें।
- उच्च रक्तचाप व निम्न रक्तचाप वाले इन आसनों से शुरु में परहेज़ करें।
- हृदय रोग, चक्कर आना, सिर घूमना आदि बीमारी वाले भी आसन का उपयोग न करें।

कपाल्यासन/कपालि आसन

जब इसी आसन को शीर्षासन में न करके पूरा वज़न कपाल प्रदेश (माथा) पर रखकर करते हैं तो वह कपालि आसन कहलाता है। शेष लाभ शीर्षासन के समान ही है।

जो योगाभ्यास करता है आलस्य उससे दूर रहता है<br>और जो आलसी है उससे योग दूर रहता है।

-RJT

पद्मासन युक्त शीर्षासन/शीर्षपद्मासन/ऊर्ध्वपद्मासन

शाब्दिक अर्थ : पद्म का अर्थ कमल है। इस आसन का मतलब शीर्षासन की अवस्था में पद्मासन लगाना है।

विधि : यह आसन दो प्रकार से कर सकते हैं। प्रथम तो यह कि साधक शीर्षासन की अवस्था में रहकर पद्मासन लगाएँ और दूसरी विधि यह है कि पद्मासन लगाकर बैठ जाएँ। अब सिर को सामने की तरफ़ झुकाते हुए घुटनों के बल खड़े हो जाएँ। हाथों से ज़मीन का सहारा लें। सिर के कपाल भाग को तह किए हुए कंबल पर रखें एवं पद्मासन सहित नितम्बों को ज़ोर देकर ऊपर उठाएँ। यह अवस्था पद्मासन युक्त शीर्षासन कहलाएगी। इसे ऊर्ध्वपद्मासन भी कहते हैं। शेष विधि शीर्षासन जैसी है।

लाभ : शोषसिन में देखें।

नोट : शीर्षासन में परिपक्व हो जाने के बाद ही ये आसन करें। शेष वर्णन शीर्षासन जैसा ही है।

शीर्षासन में पिंडासनयुक्त ऊर्ध्वपद्मासन

शाब्दिक अर्थ : पिंड का अर्थ भ्रूण है। (गर्भस्थ शिशु की अवस्था)

विधि : शीर्षासन की अवस्था में आएँ। इसी अवस्था में ऊर्ध्वपद्मासन लगाएँ। अब पद्मासन अवस्था को सामने की तरफ़ इतना झुकाएँ कि दोनों घुटने काँख या भुजाओं को स्पर्श करने लगें। अंतिम स्थिति में आने के लिए पद्मासन अवस्था में नितम्बों को ढीला करें। दो बार श्वास खीचें और क्रमश: एक-एक करके दो बार श्वास छोड़ते हुए घुटनों को भुजाओं के पास लाएँ। 20-30 सेकंड या क्षमतानुसार रुकें। श्वास लेते हुए मूल अवस्था में आएँ। यही क्रम पैरों की स्थिति बदलकर करें।

लाभ :
- शीर्षासन के लाभ मिलते हैं।
- उदर-स्थान के अवयवों को रक्तसंचार बराबर मिलता है।
- ऊर्ध्वपद्मासन के भी सभी लाभ मिलते हैं।

नोट : यह आसन पूरी तरह से शीर्षासन सीखा हुआ साधक ही करें। शेष वर्णन शीषसिन जैसा ही है।

मुक्त हस्त शीर्षासन/निरालम्ब शीर्षासन
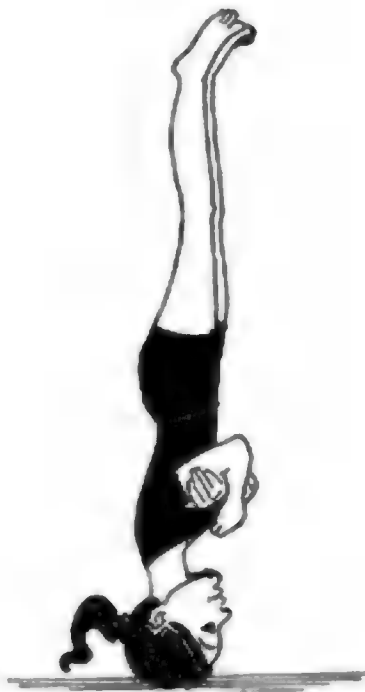
शाब्दिक अर्थ : मुक्त का अर्थ स्वतंत्र है। हस्त का अर्थ हाथ है। शीर्ष का अर्थ सिर है। इस आसन को निरालब शीर्षासन भी कहते हैं।

विधि : बहुत अधिक अभ्यास के बाद ही यह आसन करना संभव है। शीर्षासन में खड़े होने के बाद धीरे-धीरे हाथों का आलंबन भी त्यागना पड़ता है। जब यह अभ्यास हो जाता है और आसन में पूर्ण दक्षता प्राप्त हो जाती है, तो वह मुक्त हस्त शीर्षासन या निरालब शीर्षासन कहलाता है।

नोट : 1. शेष विवरण शीर्षासन जैसा ही है।

2. यह एक अति उच्च अभ्यास का आसन है अतः बहुत सावधानीपूर्वक एवं योगाचार्य के सानिध्य में करें।

योग की समस्त क्रियाओं को क्रमशः
समझकर पूर्ण लाभ प्राप्त करना चाहिए।

-RJT

शीर्ष चक्रासन

शाब्दिक अर्थ : शीर्ष अर्थात् सिर और चक्र अर्थात् गोलाकार।

विधि : इस आसन में चूँकि पूरा ज़ोर सिर पर ही होता है अतः सिर के नीचे कबल आदि वस्त्र का प्रयोग करें। सीधे खड़े हो जाएँ। सामने की तरफ़ झुकते हुए सिर को कबल या तह किए हुए वस्त्र पर रखें। इस प्रकार शरीर की द्विकोण स्थिति बन जाएगी। प्रथम अवस्था में हाथों का सहारा लें। सिर एवं हाथों को अपनी अवस्था में ही रहने दें और पैरों को चलाते हुए बाई ओर से घूमकर एक चक्कर लगाएँ (ध्यान रहे सिर मूलस्थान से न हटे)। तत्पश्चात दाहिनी ओर से भी चक्कर लगाएँ। इस प्रकार क्रमशः अनुकूलतानुसार चक्कर लगा लें। हाथों के सहारे से अभ्यास हो जाने के बाद दोनों हाथों की कमर के पीछे रखकर करें।

श्वासक्रम/समय : आगे झुकते समय श्वास छोड़ें। पूर्ण स्थिति में गति करते समय श्वास क्रम सामान्य रखें एवं मूल अवस्था में लौटते समय श्वास लें। 2 से 3 मिनट करें।

लाभ :
- स्मरण-शक्ति का विकास होता है।
- साधक मस्तिष्क को ताज़ा महसूस करता है।
- मस्तक, ग्रीवा, वक्षःस्थल, जाँचें, घुटने व टखने बलवान होते हैं।
- नेत्र-ज्योति बढ़ती है।
- रक्त-संचार को नियमित करता है।
- चेहरे की कांति बढ़ाता है।
- वायु-नाशक है।

मूर्धासन/प्रसारित पाद-उत्तानासन

विधि : दोनों पैरों के बीच लगभग 3 फीट का अन्तर रखकर खड़े हो जाएँ। सामने की तरफ़ झुकें और हथेलियों को ज़मीन पर रखें। इस अवस्था में शरीर का वजन सामान रूप से हो। अब सिर के सामने वाले भाग को ज़मीन पर दोनों हाथ के बीच रखें, तत्पश्चात् हाथों को ऊपर उठाएँ और पीठ के पीछे ले जाकर एक हाथ से दूसरे हाथ की कलाई को पकड़ लें। एड़ियों को उठाएँ और शरीर का पूरा वजन सिर एवं पंजो पर स्थित करें। अनुकूलतानुसार रुकें। वापस हाथों को ज़मीन पर रखें और मूल अवस्था में खड़े हो जाएँ।

श्वासक्रम/समय : सामने की तरफ़ झुकते समय श्वास छोडें अंतिम अवस्था में स्वभाविक श्वास लें, वापस मूल अवस्था में आंते समय श्वास लें। अनुकूलतानुसार रुकें परन्तु धीरे-धीरे समय बढ़ाते जाएं इस प्रकार शारीरिक स्थिति के अनुरूप एक या दो चक्र करें।

लाभ :
- लो ब्लड प्रेशर वाले साधकों के लिए हितकारी।
- मस्तिष्क संबंधी विकार को शनैः-शनैः दूर करता है।
- सिर में रक्त की मात्रा पर्याप्त रूप मे पहुँचाता है।
- चेहरे की झुर्रियों को समाप्त करता है, ओज तेज को बढ़ाता है।
- दूषित वायु को निष्काषित करता है।

सावधानियाँ:
- हाई ब्लड प्रेशर एवं सिर में कोई गंभीर चोट हो तो न करें।
- चक्कर आना, कमज़ोर मस्तिष्क वाले इससे परहेज रखें।

विशेष : कुछ योग शिक्षक इसको पाद प्रसारित उतानासन भी कहते हैं।

# आगे की ओर झुककर किए जाने वाले आसन

पश्चमोत्तानासन
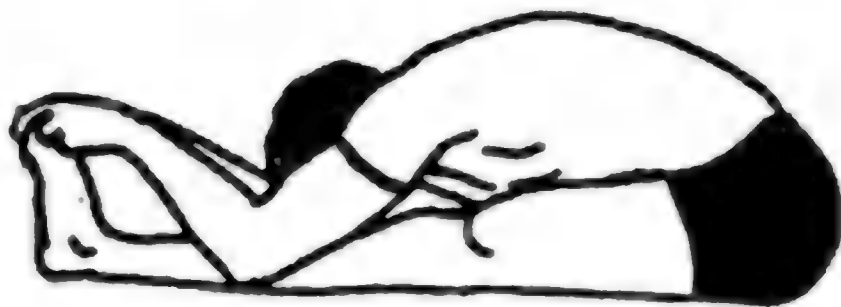
विधि : ज़मीन पर बैठकर पैर सामने की तरफ़ लंबवत् करें। श्वास छोड़ें, अब सामने की तरफ़ झुकते हुए दोनों हाथों की अँगुलियों से दोनों पैर के अंगूठों को छूने की कोशिश करें। पैरों को तानकर रखें। घुटनों को उठने न दें। अब धीरे-धीरे सिर को घुटनों से स्पर्श कराएँ। अभ्यास हो जाने पर पीठ उठी हुई नहीं रहती बल्कि समतल हो जाती है। अभ्यास क्रमशः करें, जल्दबाज़ी न करें। पूर्व स्थिति में आते समय श्वास लें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर।

श्वासक्रम/समय : सामने झुकते समय श्वास छोड़ें और वापिस आते समय श्वास लें। इसे 2 से 3 मिनट या कम से कम पाँच बार अनुकूलतानुसार करें।

लाभ :
- चूँकि इस आसन से प्राण सुषुम्ना से प्रवाहित होने लगते हैं अतः कुण्डलिनी जगाने में सहायक है।
- अतिरिक्त वसा को कम कर शरीर को छरहरा बनाता है।
- क़ब्ज़ दूर करने के लिए यह अति-उपयोगी है।

- पैर की मांसपेशियाँ मज़बूत होती हैं।
- मधुमेह में आशातीत लाभ देता है।
- गुर्दे व जिगर आदि को क्रियाशील बनाता है।
- मन तनाव रहित करता है।
- योगी साधक को यह आसन अवश्य करना चाहिए। यह आध्यात्मिक उन्नति देता है ब्रह्मचर्य में सहायक है।
- सभी आयु वर्ग के लिए यह आसन अति उत्तम है।
- स्त्रियों के प्रजनन अंग के रोगों का शमन करता है।
- यह आसन शरीर का कद लम्बा करता है। इसके अभ्यास से गठिया, जांघों का एवं पिंडलियों का दर्द दूर होता है। कमर में लचीलापन आता है। पीठ व कमर के स्नायु पुष्ट होते हैं। मज्जा तंतु के दोष दूर होते हैं।

सावधानियाँ : गर्भवती स्त्रियाँ, तीव्र कमर दर्द और साइटिका वाले रोगी यह आसन ज़बर्दस्ती न करें।

टिप्पणी : कुछ योग शिक्षक इस आसन को 'ब्रह्मचर्यासन' और 'उग्रासन' भी कहते हैं। उग्र मतलब घोर, तेजस्वी, कठोर, भयंकर और ब्रह्मचर्य का शाब्दिक अर्थ ब्रह्म ध्यानी आत्मा, चर्य मतलब रमना, आत्मा में ध्यान करने वाले को ब्रह्मचारी कहते हैं, क्योंकि उसका ध्यान कहीं अन्यत्र नहीं जाता, खासतौर से काम-वासना की तरफ़। अन्य परम्परा में ब्रह्मचर्यासन और उग्रासन अलग प्रकार से कराया जाता है।

विशेष : महर्षि घेरण्ड ने इस आसन को उग्रासन भी कहा है।

गतिमय पश्चिमोत्तानासन

विधि : इसी आसन को गतिमय करने के लिए पीठ के बल लेट जाएँ। दोनों हाथ कान के बगल से होते हुए सिर के ऊपर की तरफ़ ले जाएँ हथेली आसमान की तरफ़ रखें। अब धड़ को ऊपर उठाते हुए बैठे एवं आगे झुककर पश्चिमोत्तानासन करें। थोड़ा रुकें वापस बैठने की स्थिति में आएँ व मूल स्थिति में लौट जाएँ। यह एक चक्र हुआ। इस प्रकार 5 से 10 चक्र पूरा करें।

श्वासक्रम/समय : बैठते समय श्वास लें, पश्चिमोत्तानासन करते समय श्वास छोड़ें, वापस बैठने की स्थिति में श्वास लें एवं मूल स्थिति में आते समय श्वास छोड़ें। 5 से 10 बार करें।

नोट : लाभ एवं सावधानियाँ पश्चिमोत्तानासन के समान ही है। इसी क्रम में पश्चिमोत्तानासन के कई प्रकार हैं।

पाद-प्रसार पश्चिमोत्तानासन/पृष्ठ मुष्ठिबध्दपश्चिमोत्तानासन
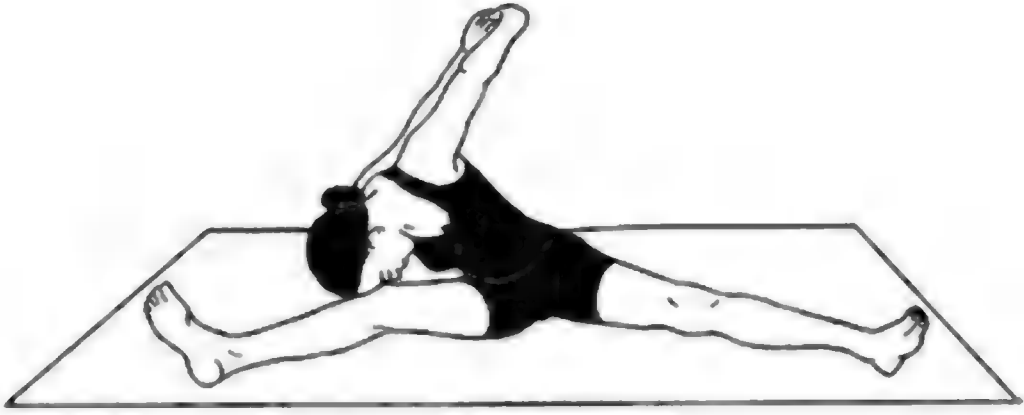
**विधि :** अपने आसन पर सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ दोनों पैरों की जितना अधिक फैला सकते हैं, फैला लें। दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाकर अंगुलियों को आपस में फसा लें या मुट्ठी बांध लें। अब कमर से ऊपरी भाग को दाहिने तरफ़ मोड़े और सिर को दाहिने पैर के घुटने से स्पर्श कराने की कोशिश करें। हाथों को पीठ के पीछे ऊपर की तरफ़ तान कर रखें अनुकूलतानुसार जितनी देर रह सकते हैं उतनी देर रुकें और श्वास लेते हुए सिर को ऊपर उठाएँ। वापस मूल अवस्था में आएँ। यही अभ्यास बाएँ पैर की तरफ़ से भी करें।

श्वासक्रम/समय : झुकते समय श्वास छोड़ें। अंतिम अवस्था में सहजरूप से श्वास-प्रश्वास करें। सिर को उठाते समय श्वास लें। अनुकूलतानुसार रुकें अथवा 5 से 10 सेकण्ड तक रुकें।

**लाभ :**
- पश्चिमोत्तानासन के लगभग सभी लाभ स्वतः प्राप्त हो जाते हैं।
- दोनों पैरों के बीच के स्कध स्थल में लोच-लचक पैदा करता है एवं खिचाव होने के कारण रक्त संचार बराबर मात्रा में होता है।
- कमर एवं मेरुदण्ड व पीठ के विकार दूर होते हैं।

सावधानी : कड़क शरीर वाले पहले इससे संबंधित दूसरे आसन करें या इस आसन को क्रमशः धैर्यपूर्वक करें।
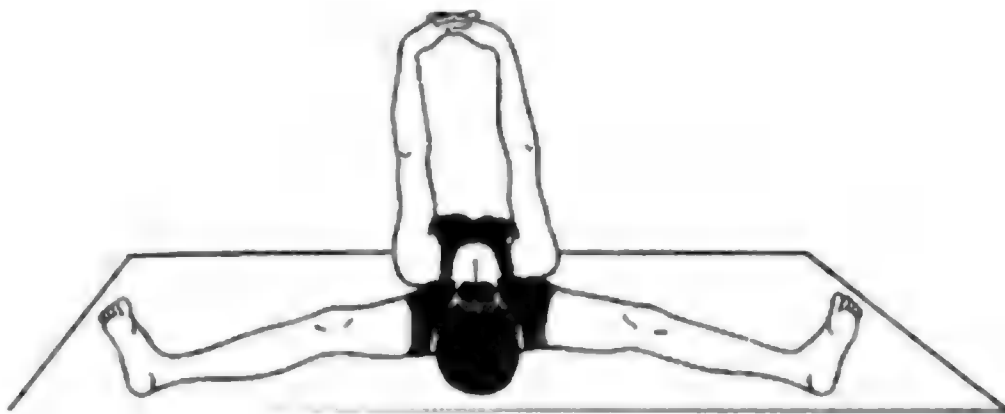
प्रक्ररान्मतर : उपरोक्त अवस्था में ही हमें सिर को दोनों पैरों के बीच में ज़मीन से स्पर्श कराने का भी प्रयास करना चाहिए।

सुप्त जानु शीर्ष स्पर्शासन/शैथल्यासन

विधि : दोनों पैरों को सामने की तरफ़ फैलाकर बैठ जाएँ। बाएँ पैर को घुटने से मोड़कर एड़ी और पादतल को दाहिने जांघ से चिपका दें तथा दाहिने पैर को घुटने से मोड़ते हुए दाहिने नितम्ब के पास दाहिनी एड़ी को रखें। अब दोनों हाथों को ऊपर उठाएँ और सिर को सामने की तरफ़ झुकाते हुए माथे को घुटने से स्पर्श कराएँ वापस सिर को उठाएँ और पुनः सिर को सामने झुकाएँ परन्तु इस बार घुटने के बाएँ तरफ़ ज़मीन से स्पर्श कराएँ। पुनः सिर को ऊपर उठाएँ और फिर से सिर को सामने झुकाएँ। इस बार सिर को घुटने के दाहिने तरफ़ की ज़मीन पर स्पर्श कराएँ इस प्रकार पहले घुटने पर फिर घुटने के बाएँ तरफ़, फिर घुटने के दाएँ तरफ़ ज़मीन से स्पर्श कराते हैं। तथा यही क्रम पैरों को बदल कर दाहिने तरफ़ भी करें।

श्वासक्रम/समय : सिर को झुकाते समय श्वास छोड़े अंतिम अवस्था में सामान्य श्वास-

प्रश्वास करें एवं सिर को उठाते समय श्वास लें। प्रत्येक बार सिर का स्पर्शकाल 8 से 10 सेकण्ड रखें।

लाभ :
- पाचन तंत्रों के अंदुरुनी भाग की मालिश करता है।
- मेरुदण्ड एवं पीठ के अंगों में खिंचाव उत्पन्न कर रक्त संचार सुचारु करता है।
- कमर के जोड़ में लोच पैदा करता है।
- वायु को अधोगामी करता है।

सावधानी : कड़क मेरुदण्ड वाले शनैः शनैः करें।

उत्थित जानुशिरसासन

विधि : दोनों पैरों के बीच लगभग 2 से 3 फीट का अंतर रखकर खड़े हो जाएँ अब कमर से ऊपरी भाग को सामने की तरफ़ झुकाते हुए सिर को दोनों घुटनों के बीच लाएँ और हाथों की पैरों के पीछे ले जाकर या तो आपस में बांध लें या पिंडलियों को पकड़ें। अंतिम अवस्था में छाती की जांघाओं से स्पर्श कराएँ एवं पैरों को सीधा रखें।

शत्रासक्रम/समय : सामने झुकते समय श्वास छोड़ें। अंतिम अवस्था में श्वासक्रम सामान्य रखें। मूल अवस्था में आते समय श्वास लें। 10 से 15 सेकण्ड रुकें या अनुकूलतानुसार रुके व 4 से 5 बार आसन को दोहराएँ।

लाभ :
- दूषित वायु का निष्कासन करता है।
- इस आसन का अभ्यास नित्यप्रति करने से सिर के समस्त विकार दूर होते हैं, नेत्र संबंधी विकार भी दूर करता है।
- चेहरे में ओज तेज को बढ़ाता है।
- कमर, मेरुदण्ड, पीठ में रक्तसंचार सुचारु करता है।
- बालों का झड़ना रोकता है।
- पाचन तंत्र के अंगो को व्यवस्थित करता है।

सावधानियाँ :
- कड़क मेरुदण्ड वाले एवं तीव्र कमर दर्द से पीड़ित व्यक्ति न करें।
- इस आसन के बाद धनुरासन, भुजंगासन आदि करें।

नोट: इस आसन को उतानासन स्थित हस्तबद्ध जानुशिरासन भी कहते हैं।

उग्रासन
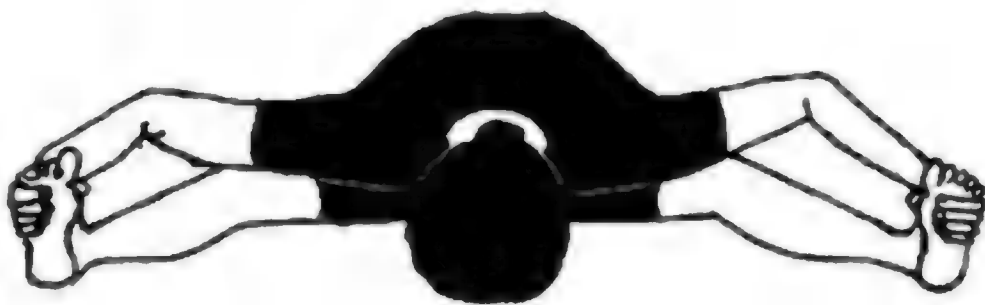
विधि : अपने आसन पर सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाइए। दोनों पैरों के बीच ढाई से तीन फिट की दूरी रखिए। अब श्वास छोड़ते हुए दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को और बाएँ हाथ से बाएँ पैर के अंगूठे को पकड़ें और सिर को ज़मीन से स्पर्श कराएँ। यथासंभव जितनी देर रुक सकते हैं रुकें एवं श्वास लेते हुए वापस मूल अवस्था में आ जाएँ। पूरी कोशिश करें कि घुटने न मुड़ने पाएँ।

ध्यान : आज्ञा चक्र पर।

श्वासक्रम/समय : श्वासक्रम विधि में समाहित है एवं तीन से पांच मिनट तक करें या क्षमतानुसार तीन से पांच बार करें।

लाभ :
- उदर-प्रदेश को लाभ पहुँचता है।
- वायु विकार दूर होता है।
- पश्चिमीतानासन के समान सभी लाभ प्राप्त होते हैं।

नोट : उग्रासन को योगी आयंगार ने पश्चिमोत्तानासन और ब्रह्मचर्यासन कहा है। साधक इनसे होने वाले लाभों से मतलब रखकर अपने विवेक का उपयोग करें।

सावधानियाँ : जटिल मेरुदण्ड, तीव्र कमरदर्द, साइटिका, गर्भवती महिलाएँ न करें।

दुनिया का कोई भी व्यक्ति योग का अध्ययन
कर सकता है तथा इसकी अनुभूतियाँ प्राप्त कर
लाभान्वित हो सकता है। मात्र आवश्यकता है
इसे अपने जीवन में क्रियान्वित करने की।

-RJT

जानु-शीर्ष आसन/ जानु शिरासन
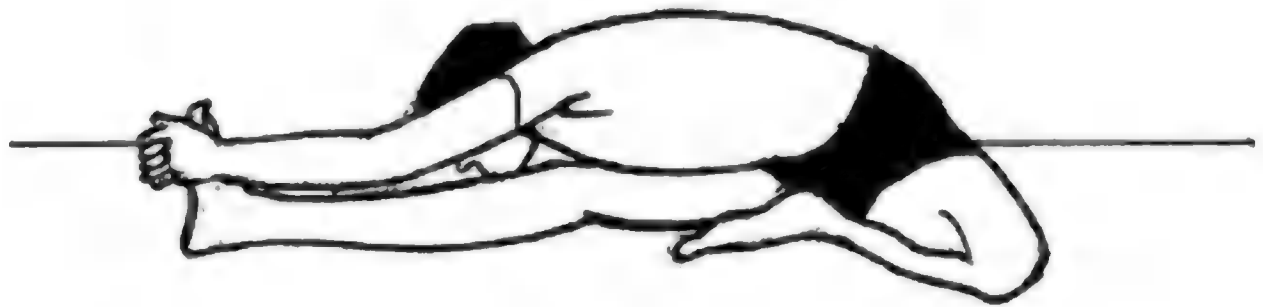
शाब्दिक अर्थ : जानु अर्थात् घुटना और शीर्ष मतलब सिर। एक पैर लंबवत् कर सिर को घुटने से स्पर्श कराना ही जानुशीर्षासन है।

विधि : ज़मीन पर दोनों पैर लंबवत् करके बैठे। पहले बाएँ पैर को घुटने से मोड़कर एड़ी को गुप्तांग के पास लगाएँ। अब दोनों हाथों को परस्पर मिलाकर दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ने की कोशिश करें। धीरे-धीरे हथेलियों को तलवों की तरफ़ ले जाएँ और इसी क्रम को जारी रखते हुए सिर को घुटनों से स्पर्श कराएँ। सिर झुकाते समय श्वास छोड़ें। आसन की पूर्ण स्थिति में पहुँचने पर गहरी साँस लेते हुए आधे से 1 मिनट रुकें। मूल अवस्था में आते समय श्वास लें। यही क्रिया पैर बदलकर करें। पहले वाले पैर से करने में जितना समय लिया था उतना ही समय दूसरा पैर बदलकर करें।

ध्यान : ऊर्जा को ऊर्ध्वमुखी बनाने के लिए आज्ञा चक्र पर एवं रोग के लिए स्वाधिष्ठान एवं मणिपूरक चक्र।

लाभ :
- किडनी को ठीक करता हुआ उसे सुचारु रूप से क्रियाशील बनाता है।
- ऊर्जा को ऊर्ध्वमुखी बनाता है जिससे चेहरे की कांति बढ़ती है।
- अंडकोश की वृद्धि से दु:खी साधक यह आसन कुछ अधिक समय तक करें।
- यकृत और प्लीहा सम्बंधी रोगों का शमन करता है।

नोट : कहीं-कहीं इसे अर्ध-पश्चिमोत्तानासन भी कहते हैं एवं बाएं पैर को दाहिनी जांघ के ऊपर रखें और पैर के अंगूठे को पकड़े। इस अवस्था को उत्थित जानु शीर्षासन कहते हैं। अब यही क्रिया पैर बदलकर करें। उपरोक्त सभी लाभों में वृद्धि होती है।

सावधानियाँ : साइटिका, गर्भवती महिलाएँ व जटिल मेरुदण्ड वाले रोगी न करें।

महामुद्रासन
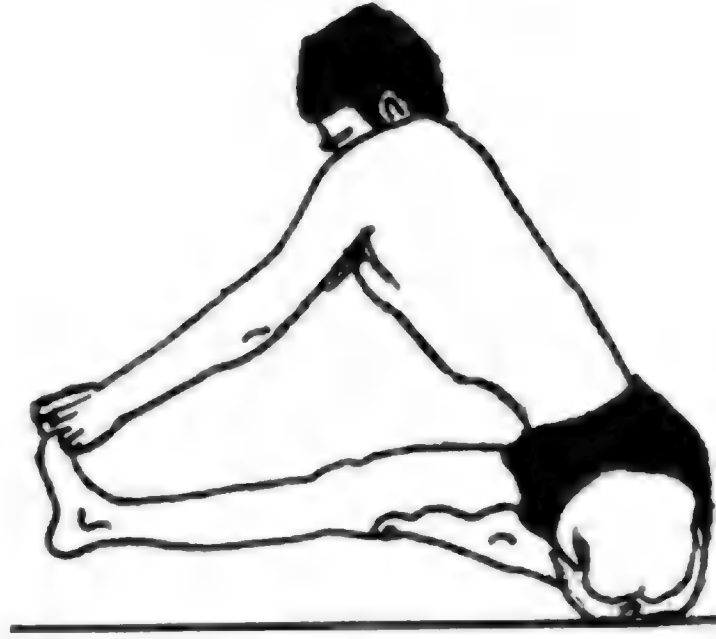
शाब्दिक अर्थ : महा अर्थात् महान, बड़ा, ज़्यादा श्रेष्ठ एवं मुद्रा का मतलब भगिमा।

विधि : सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ। बाएँ घुटने से मोड़ते हुए बाएँ पैर के तलवे को दाहिने पैर की जाँघ से लगाते हुए एड़ी को गुप्तांग के समीप मूलाधार के पास यथोचित रूप से स्थिर करें। अब आप देखेंगे कि आपका लंबवत् दाहिना पैर व आगे मुड़ा हुआ बायाँ पैर एक प्रकार से समकोण का निर्माण कर रहे हैं। हाथों की सामने की तरफ़ करते हुए लंबवत् पैर के अंगूठे को पकड़ें। मेरुदण्ड तना हुआ सीधा रखें, अब अपनी ठुड्डी को सीने के ऊपर स्थित हंसली के गड्ढे में टिका दें। क्रमश : अंगों को शिथिल करते हुए यही क्रिया दाहिने पैर को मोड़कर करें।

श्वासक्रम/समय : श्वास लें परंतु पूरे उदर-प्रदेश को कसते हुए एवं पिचकाते हुए। पेट और पीठ के अंत:स्थल को मिलाने की कोशिश करें। अब उदर-प्रदेश की स्थिति को सामान्य करें। श्वास छोड़ें, दोबारा श्वास लें और पुनरावृत्ति करें। ज़बरदस्ती न करें, 1 से 3 मिनट तक रुकें।

लाभ : ❍ यह सम्पूर्ण उदर-प्रदेश को लाभान्वित करता है। किडनी को ठीक कर यथावत् सशक्त बनाता है।❍ यह आसन अंडकोश के विकारों को दूर करता है।❍ गभांशय खिसकने से ग्रसित स्त्रियाँ इससे लाभान्वित होती हैं। यह गर्भाशय को मूलस्थान में पहुँचाता है।❍ यह क़ब्ज़ से उत्पन्न विकारों को काफ़ूर करता है।❍ इस महामुद्रा के बारे में हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि यह मृत्यु और महारोगों का नाश करती है/ऐसी कौन सी वस्तु है जिसे इस मुद्रा का अभ्यासी पचा नहीं सकता ? महान विष को भी यह पचा सकता है।❍ इसके अभ्यासी को कुष्ठ, कोष्ठबद्धता, बवासीर, प्लीहा एवं कई जटिल रोग नहीं होते।

सावधानियाँ : हृदयरोग से ग्रस्त, उच्चरक्तचाप एवं गर्म प्रकृति वाले रोगी इस आसन को न करें।

नोट : आसन के प्रति सजग रहें। क्रमशः अभ्यस्त हो जाने के बाद ही पूर्ण रूप से करें।

बध्द कोणासन

शाब्दिक अर्थ : बद्ध का अर्थ बंधा हुआ, अच्छी तरह से जमाया या बैठा हुआ। किसी के साथ जुड़ा, लगा हुआ, पकड़ा हुआ।

विधि : सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ। अब धीरे-धीरे दोनों घुटनों को मोड़ते हुए पैर के पंजों को आपस में मिलाते हुए एड़ियों को गुप्तांग के पास मूलाधार से लगाएँ। जाँघों और घुटनों को ज़मीन से स्पर्श कराएँ। मेरुदण्ड सीधा तना हुआ, दृष्टि सामने और दोनों पंजों को पकड़े हुए स्थिर रहें। अब श्वास छोड़ें और आगे ज़मीन को नाक से स्पर्श कराने के लिए झुकें। ठुड्डी भी स्पर्श करें। स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास करें। 10 से 20 सेकेण्ड तक रुकें, श्वास लें और वापस झुकने से पहले की स्थिति में पहुँचें।

श्वासक्रम/समय : विधि में समाहित है।

लाभ :
- पुरुष-रोग और स्त्रियों के लिए यह बहुत ही लाभकारी है।
- किडनी, शिश्न-ग्रंथियाँ और मूत्राशय को निरोगता प्रदान करता है।
- हार्निया, अंडकोश और कूल्हे के दर्द के लिए यह आसन वरदान है।
- स्त्रियों के अनियमित ऋतुस्राव को ठीक कर गर्भाशय को सशक्त करता है।
- गर्भवती स्त्रियाँ नियमित इस आसन पर बैठे (झुके नहीं) तो प्रसूति के समय

वेदना कम होती है और शिराओं में सूजन भी नहीं होती।

- इस आसन द्वारा पीठ, उदर प्रदेश और वस्ति प्रदेश में रक्त संचार की वृद्धि कर देता है अतः उन्हें पर्याप्त लाभ मिलता है।

सावधानियाँ : पहली बार में ही संभव नहीं हैं कि आप इस अभ्यास को क्रिध्यान्वित कर लें अत: क्रमश: चेष्टा करें।

- उच्च रक्तचाप, हृदय रोगी एवं मेरुदण्ड के जटिल समस्या वाले इस अभ्यास को न करें।

विस्तृत पाद भू-नमनासन/भूमासन/उपविष्ट कोणासन

शाब्दिक अर्थ : भू अर्थात् पृथ्वी या भूमि। नमन का अर्थ प्रणाम या झुकना। भूनमन अर्थात् भूमि को आदर से नमन करना।

विधि : अपने आसन में सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ। अब धीरे-धीरे पैरों को पक्षियों के पंखों की तरह फैला लें (चित्र देखें) एवं दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़े व बाएँ हाथ से बाएँ पैर के अंगूठे को पकड़ें। एड़ी से जाँघ तक का हिस्सा ज़मीन पर स्पर्श करता रहे। श्वास छोड़ते हुए वक्ष:स्थल को सामने नीचे की तरफ़ झुका कर पेट, छाती एवं ठुड़ी को ज़मीन से स्पर्श कराएँ। 5 से 10 सेकड रुकें एवं श्वास भरते हुए मूल अवस्था में आ जाएँ।

लाभ : आध्यात्मिक ऊर्जा बढ़ती है।

- ध्यान अवस्था में मन लगता है।
- स्त्रियाँ यह आसन करके अपने वक्ष:स्थल उन्नत बनाकर सौंदर्य को आकर्षक बना सकती हैं।
- पूरे शरीर का व्यायाम हो जाता है। अतः मांसपेशियाँ, सभी नस-नाड़ियाँ और हड्डियों को अच्छा स्वास्थ्य प्राप्त होता है।
- मोटापे को कुछ हद तक कम करता है।

- मूत्र-संस्थान के विकार ठीक होते हैं।

नोट : अभ्यास के बाद मस्तक ज़मीन पर लगाकर भी इस आसन को कर सकते हैं। कुछ योग शिक्षक इस आसन को पक्षी आसन भी कहते हैं।

सावधानियाँ : आसन व श्वास के प्रति सजग रहें। कठिन होने के कारण जल्दबाज़ी न करें। क्रमश: आराम से करें।

उत्थित पादहस्तासन

विधि : अपने आसन में सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाइए। अब दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अंगूठा और बाएँ हाथ बाएँ पैर का अंगूठा पकड़े और श्वास भरकर दोनों पैरों को एक साथ ऊपर की तरफ़ उठाएँ एवं सिर को घुटनों से लगाएँ। यथासंभव रुकें । पश्चात् मूल अवस्था में वापस आएँ और रेचक करें। यथाशक्ति क्रिया को दोहराएँ।

एक पाद पद्मोत्तानासन

विधि : यदि दोनों पैर एक साथ उठाते न बने तो पहले एक पाद पद्मोत्तानासन करें। अर्थात् एक पैर पद्मासन की अवस्था में रखकर मूलाधार या सीवनी के पास एड़ी लगाएँ और दूसरे पैर को दोनों हाथों से पकड़कर सिर घुटने से लगाएँ। यही क्रम बदलकर करें।

नोट : कुछ योग गुरु इस आसन को अर्ध पद्म पादोत्तानासन भी कहते हैं।

निरालम्ब पश्चिमोत्तानासन/ऊर्ध्वमुख पश्चिमोत्तानासन

विधि : यह आसन भी उत्थित पाद हस्तासन का एक प्रकारांतर है। इसमें केवल इतना अंतर है कि घुटनों को मोड़कर बैठे और पैरों के तलवों को पकड़ें। श्वास भरकर दोनों पैरों को एक साथ ऊपर उठाएं। बाक़ी क्रिया उपरोक्तानुसार ही रहेगी। शरीर का पूरा भार नितम्बों पर ही रहता है।

उत्थित हस्त-मेरुदण्डासन/उभय पादांगुष्ठासन
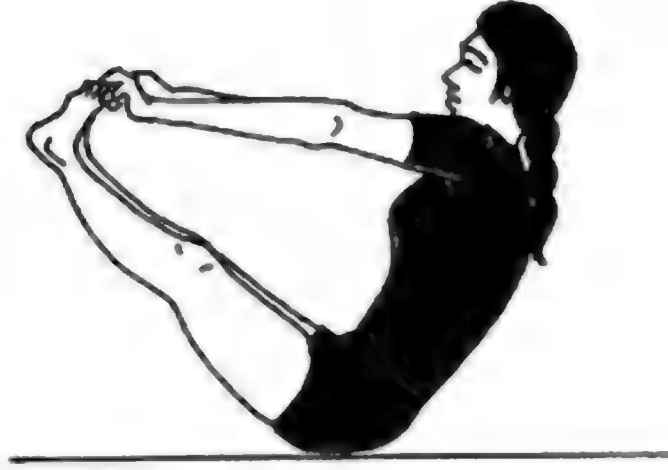
विधि : यह आसन उत्थित पादहस्तासन के ही समान है। अंतर सिर्फ इतना है कि इसमें सिर घुटनों से नहीं लगाते हैं। केवल पैरों को ऊपर की ओर तानकर रखते हैं।

विशेष : कुछ योग शिक्षक इस आसन को पूर्वोत्तानासन भी कहते हैं।

मेरुदण्डासन

विधि: इस आसन में घुटनों को सिर से न लगाकर पैरों को दाएँ बाएँ जितना फैला सकते हैं उतना फैलाते हैं व पंजों को पकड़ कर अन्तर्कुंभक करते हुए जितनी देर रुक सकते हैं रुककर मूल अवस्था में आते समय रेचक करते हैं।

लाभ :
- उपरोक्त सभी आसन उदर-प्रदेश की क्रियाशील बनाते हैं।
- पेट की चर्बी को कम करता है। प्रजनन अंगों को लाभ मिलता है।
- पैर सुडौल एवं मज़बूत होते हैं।
- संतुलन शक्ति बढ़ती है।

- मेरुदण्ड लचीला, सशक्त और रोग-मुक्त होता है।

**सावधानियाँ :** स्लिप डिस्क, साइटिका या मेरुदण्ड से सम्बंधित रोगी इन व्यायामों को न करें।

**नोट :** उपरोक्त आसन उत्थित पादहस्तासन के ही समान होने के कारण हमने उन्हें यहाँ दर्शाया है।

# मेरुदण्ड मोड़कर किए जाने वाले आसन

## तिर्यक् भुजंगासन
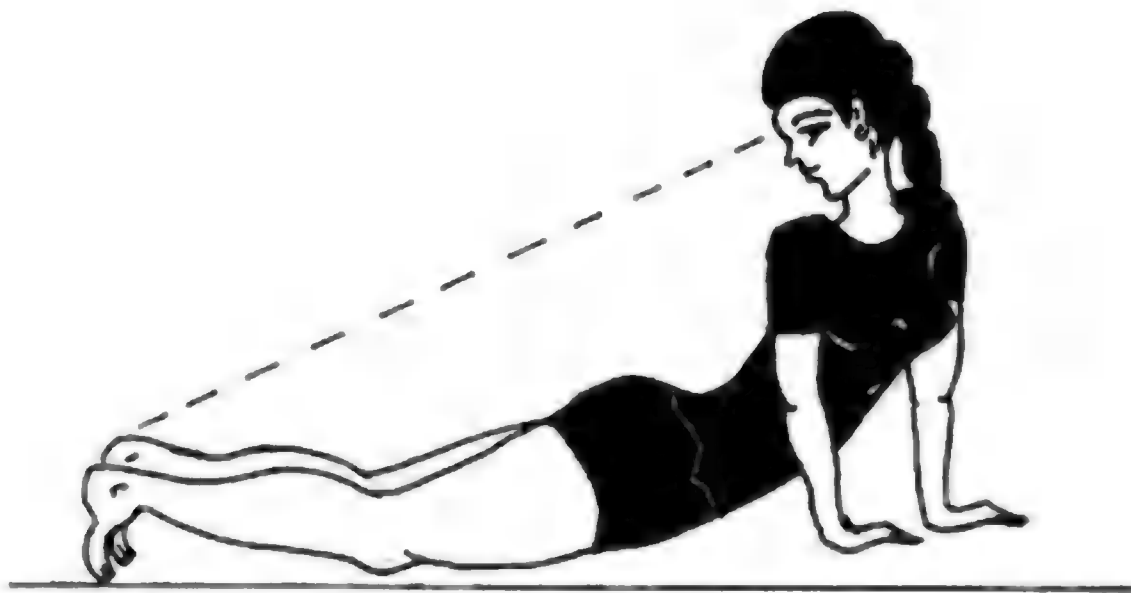
विधि : यह शंख-प्रक्षालन के लिए प्रयुक्त होने वाली एक क्रिया है। भुजंगासन की ही स्थिति में सिर एवं धड़ को पहले दाहिनी दिशा में घुमाते हुए बाएँ पैर की एड़ी को देखना है और यही क्रम विपरीत दिशा से करना है। यह एक आवृत्ति हुई। इस प्रकार दोनों तरफ़ से 5-5 बार करें। श्वास प्रश्वास के प्रति सजग रहें।

श्वासक्रम:
- ऊपर उठते समय श्वास लें।
- दोनों तरफ़ मुड़ते समय श्वास रोकें।
- मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ें।

समय : शंख-प्रक्षालन के समय इसकी 10-10 आवृत्ति करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर।

लाभ :
- भुजंगासन के समस्त लाभ मिलते हैं।
- शंख-प्रक्षालन के लिए करने पर उदर को विशेष लाभ मिलता है।
- पाचन तंत्र में आंतरिक प्रदेश की अच्छी मालिश करता है।
- मेरुदण्ड के जटिल रोगों में क्रमश: शनै: शनै: करने से रोगों का क्षय होता है।
- पेट में जमी चर्बी को दूर करता है।

नोट : पैरों के पंजों में लगभग आधे से एक फीट का अंतर रखने से धड़ एवं सिर को कुछ ज़्यादा घुमाना पड़ता है। अत: इससे साधक अधिक लाभान्वित होता है।

## अर्ध मत्स्येन्द्रासन

आकृति का अर्थ : संभवतः यह आसन योगी मत्स्येन्द्रनाथ ने अपने साधकों को पहले सिखाया हो, अत: यह उन्हीं के नाम पर रखा गया है।

विधि : दोनों पैरों को फैलाकर बैठ जाएँ। बाएँ पैर की एड़ी को मूलाधार के पास सीवनी स्थान पर रखें या दाहिने नितम्ब के पास रखें। अब दाहिना पैर मोड़ें और दाहिने टखने को बाएँ घुटने के ऊपर रखें। दाहिने घुटने पर बाई बगल टिकाएँ। अब दाहिने पैर के घुटने को बाएँ हाथ की बगल से अपनी तरफ़ धक्का देते हुए दाहिनी तरफ़ घूमें व दृष्टि भूमध्य पर रखें।

जितना मुड़ सकते हैं, मुड़ें। परंतु बाएँ हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ना न भूलें। अब यही क्रम पैर बदलकर बाई तरफ़ करें।

श्वासक्रम/समय : यथाशक्ति 5-10 सेकड इसी स्थिति पर रुकें। मुड़ते समय रेचक करें, फिर बाह्य कुंभक करें। पूर्व स्थिति में आते समय पूरक करें।

लाभ :
- क़ब्ज़ के लिए यह रामबाण है।
- मेरुदण्ड पूर्ण सशक्त बनता है।
- उदर भाग की मालिश कर पाचन तंत्र ठीक करता है।
- 72,000 नाड़ियों के दोष ठीक कर सैकड़ों रोग दूर करता है।
- कुण्डलिनी जगाने में सहायक है।
- मोटापे का हरण करता है।
- मधुमेह और हार्निया में लाभप्रद।

सावधानियाँ : साइटिका, पेट का अल्सर, मेरुदण्ड संबंधी चोट वाले, गर्भवती महिलाएँ, स्लिप डिस्क आदि रोग वाले इस आसन को न करें।

## पूर्ण म्त्स्येन्द्रासन

विशेष : यह आसन हठ योगी मत्स्येन्द्र नाथ को समर्पित है।

विधि : इस आसन में बाएँ पैर को अर्ध पद्मासन की स्थिति में रखते हैं अर्थात् अर्ध मत्स्येन्द्रासन में बायाँ पैर नितम्ब के नीचे रखते हैं और पूर्ण मत्स्येन्द्रासन में बायाँ पैर दाहिने पैर के ऊपर रखते हैं। शेष अभ्यास पहले जैसे ही है एवं लाभ भी लगभग बराबर हैं।

श्वासक्रम : मुड़ते समय रेचक करें फिर बाहय कुंभक करें एवं मूल अवस्था में आते समय पूरक करें।

समय : अधिकतम 2 मिनट के लिए मुड़े या कठिनाई महसूस हो तो वापस मूल अवस्था में आ जाएँ।

लाभ :

- अर्ध मत्स्येन्द्रासन के समान समस्त लाभ प्राप्त होते हैं।
- इस आसन को लगाने से उदर प्रदेश के अवयव एक ओर से सिकुड़कर और दूसरी ओर खिंचाव होने के कारण उन्हें पर्याप्त लाभ मिलता है।
- नितम्बों के जोड़ों का दर्द अतिशीघ्र दूर होता है।
- मेरुदण्ड के पार्श्वगत घुमाव के कारण, पीठ व कमर दर्द एवं नितंबों के जोड़ों का दर्द अतिशीघ्र दूर होता है।
- जननेद्रिय के रोग दूर करता है एवं पेट की जमीं चर्बी को दूर करता है।

सावधानियाँ : साइटिका, पेट का अल्सर, मेरुदण्ड संबंधी चोट वाले, गर्भवती महिलाएँ, स्लिप डिस्क आदि रोग वाले इस आसन को न करें।

## मेरु वक्रासन
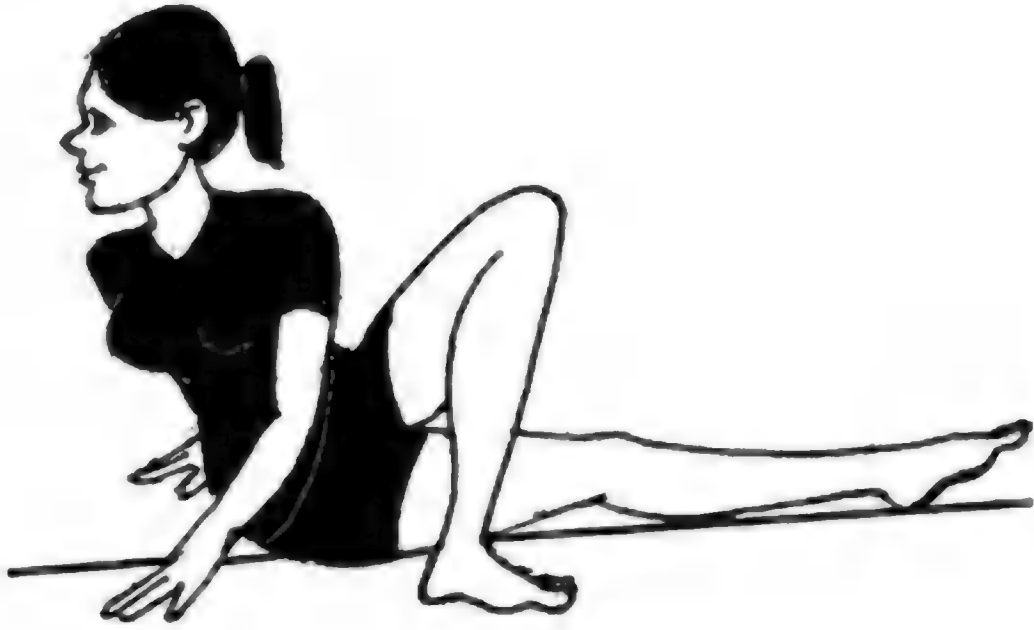
विधि : पैरों को सामने की तरफ़ फैलाकर बैठ जाएँ। दाहिने पैर को मोड़कर बाई जाँघ की दूसरी तरफ़ रखें और कमर से ऊपर के हिस्से को बाई तरफ़ मोड़ें। पहले श्वास लें। शरीर मोड़ते समय कुंभक करें। मूल अवस्था में आने पर श्वास छोड़ें। इसी स्थिति में पैरों को बदलकर ऊर्ध्व शरीर को दूसरी तरफ़ मोड़ें।

श्वासक्रम/समय : श्वासक्रम विधि में समाहित है एवं दोनों तरफ़ पांच-पांच बार करें।

ध्यान : मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्र पर।

लाभ :
- यह क़ब्ज़ को हरता है। पाचन तंत्र के अंगों की मालिश स्वत: हो जाती है।
- मेरुदण्ड लचीला व सशक्त बनाता है।
- आलस्य दूर करता है।
- नियमित करने से कमर पतली और चबीं को कम करता है।
- नियमित करने पर सुषुम्ना को खोलता है।

सावधानी : मेरुदण्ड एवं पीठ से संबंधित जटिल रोग वाले व्यक्ति धैर्यपूर्वक करें।

## तिर्यक मेरु भू–नमनासन
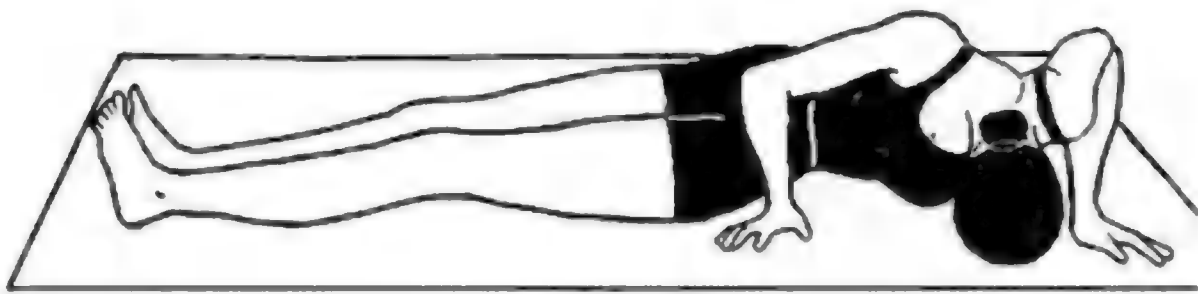
विधि : सामने की तरफ़ पैरों को लम्बवत् करके बैठ जाएँ। चित्र देखें चूंकि बाएँ तरफ़ उध्र्वभाग को मोड़कर सिर को ज़मीन से लगाना है अत: दाहिने हाथ को बाएँ नितम्ब के पास रखें और बाएँ हाथ के पंजे को दाहिने हाथ के पंजे से थोड़ा दूर रखें। स्वभाविक रूप से ऊपरी हिस्सा मुड़ेगा (लगभग 90 डिग्री मोड़े) फिर सिर को सामने की तरफ़ झुकाते हुए ज़मीन से स्पर्श कराने की कोशिश करें। कुछ देर रुके और मूल अवस्था में लोट आएँ, यही क्रम दाहिने तरफ़ से भी करे।

नोट :
- बाएँ तरफ़ मोड़ते समय सिर को बाएँ हाथ की तरफ़ लाएँ।
- सिर को झुकाते समय मेरुदण्ड तना हुआ रखें एवं नितम्ब और पैर को उठने न दें।
- दोनों तरफ़ बराबर समय से करें।

श्वासक्रम/समय :
- उर्ध्व भाग मोड़ते समय श्वास लें। झुकते समय श्वास छोड़ें एवं सिर को ऊपर उठाते समय श्वास लें।
- 5 से 10 सेकण्ड रुकें एवं दोनों तरफ़ से 5 चक्र पूरे करें।

लाभ :
- मेरुदण्ड में लोच (लचीलापन) लाता है।
- पीठ एवं कमर में खिंचाव पैदा कर रक्त संचार सुचारु करता है।
- पाचन तंत्र के अंगों की मालिश कर उन्हें क्रियात्मक करता है।
- कमर के आसपास जमी चर्बी को कम करता है।

## तिर्यक् कटि चक्रासन (तीन प्रकार)
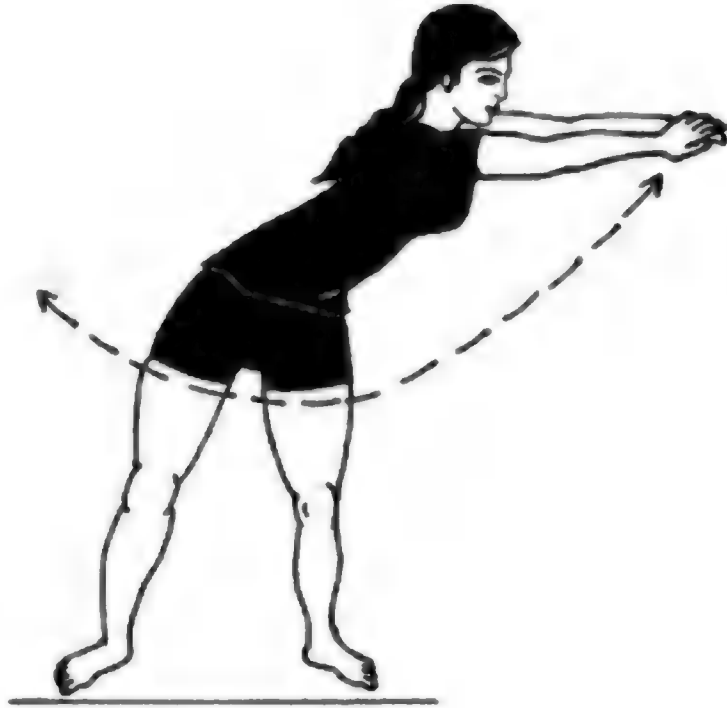
विशेष : यह शरीर की शुद्धि करता हुआ निर्मलता बढ़ाता है। विशेषरूप से यह क्रिया शंख-प्रक्षालन के लिए भी की जाती है।

प्रथम प्रकार :

विधि : सावधान की स्थिति में खड़े हो जाइए और दोनों पैरों को इतना फैला लें कि उनके बीच एक से डेढ़ फुट का अंतर हो जाए। दोनों हाथों के पंजों को आपस में फसाकर सामने की तरफ़ ज़मीन के समानान्तर उठा लें। अब कमर को झुकाएँ परंतु पीठ तनी हुई हो। दृष्टि सामने की ओर रखें और धीरे-धीरे दाहिने तरफ़ घूमें और कमर के ऊर्ध्वभाग को गतिमय बनाते हुए बाई ओर घूम जाएँ। अब वापस उसी गति से सामने की ओर मूल अवस्था में आ जाएँ।

नोट :
- दाहिने एवं बाई तरफ़ जितना अधिक मुड़ सकते हैं उतनी कोशिश करें।
- अभ्यास के समय पूरक करते हुए अंतकुंभक करें।
- मूल अवस्था में रेचक करें।
- श्वास का क्रम इस प्रकार भी कर सकते हैं : जैसे दाहिनी ओर जाते समय श्वास लें और मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ दें। अब बाई तरफ़ जाते समय श्वास लें और मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ दें। इस प्रकार करने से शंख-प्रक्षालन की क्रिया में अधिक लाभ की संभावना रहती है। कम से कम 4 से 8

बार यह क्रिया करें।

## द्वितीय प्रकार

विधि : इस विधि में हाथों की स्थिति बदलकर बायाँ हाथ दाहिने कंधे पर और दाहिना हाथ पीठ के पीछे रखकर दाहिनी ओर घूमकर जितना पीछे की तरफ़ देख सकते हैं देखने का प्रयास करें वापस मूल अवस्था में आ जाएँ और अब दाहिने हाथ को बाएँ कधे पर रखकर और बाएँ हाथ को पीठ के पीछे रखकर बाई तरफ़ जितना देख सकते हैं, देखें। इस प्रकार 4 से 8 बार यह क्रिया दोहराएँ।

## तृतीय प्रकार

विधि : इसमें हाथों की स्थिति बदलकर कमर पर रखना होता है बाक़ी क्रिया उपरोक्तानुसार ही है।

लाभ : कमर, मेरुदण्ड, पीठ, फुफ्फुस, गर्दन आदि के विकारों को दूर कर उन्हें स्वस्थता प्रदान करता है।

- क़ब्ज़ का दुश्मन है। पाचनशक्ति तीव्र करता है।
- मोटी कमर को छरहरी एवं पतली करता है।
- गैस बन रही हो या डकार नहीं निकल रही हो तो यह क्रिया पानी पीकर भी कर सकते हैं।
- मेरुदण्ड में लचीलापन लाता है।
- शारीरिक/मानसिक तनाव दूर होता है।

# पीठ के बल किए जाने वाले आसन

## सुप्त पवन मुक्तासन
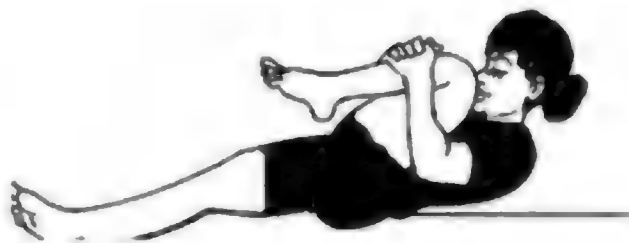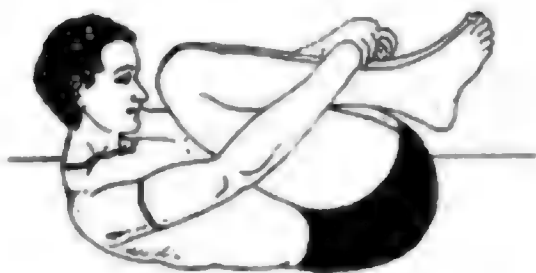
शाब्दिक अर्थ : पवन का अर्थ है हवा, वायु। मुक्त का अर्थ स्वतंत्र। वह आसन जिसे करने से पवन (वायु) शरीर से मुक्त होती है, उसे पवन मुक्तासन कहते हैं।

विधि : पीठ के बल लेट जाएँ। पैरों को सामने की तरफ़ ज़मीन के समानांतर सीधे रखें। श्वास छोड़ें और बाह्य कुंभक करते हुए हाथों का सहारा लेकर दाहिना घुटना मोड़कर सिर की तरफ़ ले आएँ। अब घुटने को नाक से स्पर्श कराने के लिए सिर को ऊपर उठाएँ। जाँघ से पेट को दबाने की कोशिश करें। कुछ देर रुकें। अब श्वास लेते हुए वापस मूल स्थिति में आएँ। यही क्रिया बाएँ पैर से करें। यही क्रिया एक साथ दोनों घुटनों को मोड़कर करें। दाहिने पैर के द्वारा किया गया आसन दक्षिण पवन मुक्तासन और बाएँ पैर के द्वारा किया गया आसन वाम पवन मुक्तासन कहलाता है तथा दोनों पैरों के द्वारा किया गया आसन पूर्ण सुप्त पवन मुक्तासन कहलाता है।

शवासक्रम/समय : घुटने को नाक से स्पर्श कराते समय श्वास छोड़ें। मूल अवस्था में लौटते समय श्वास लें। 5 से 10 बार इस क्रिया को दोहराएँ।

नोट : एक पैर के घुटने को जब नाक से स्पर्श करें, तो दूसरा पैर जमीन के समानांतर स्पर्श करता हुआ रखें।

लाभ : ❍ नाम के अनुरूप अपान वायु को शरीर से निष्कासित करता है। ❍ पुराने से

पुराना गठिया और कमर दर्द इसके अभ्यास से क्रमशः क्षीण होता जाता है। ❍ क़ब्ज़, खाने में अरुचि, आलस्य, आत्रवृद्धि, रक्तविकार आदि रोगों की यह संजीवनी बूटी है। ❍ सिर घूमना, मानसिक कमज़ोरी, सिर दर्द आदि रोगों में लाभकारी है। ❍ मेद (चर्बी, मोटापा) कम करता है तथा मेरुदण्ड व ग्रीवा को मज़बूत करता है।

सावधानियाँ : अति उच्च रक्तचाप, स्लिपडिस्क एवं साइटिका वाले न करें।

विशेष : जब इसी आसन को बैठ कर किया जाता है तो उसे कुछ योग शिक्षक इसे सिर्फ़ पवन मुक्तासन भी कहते हैं।

सुप्तपादांगुष्ठ नासा स्पर्शासन
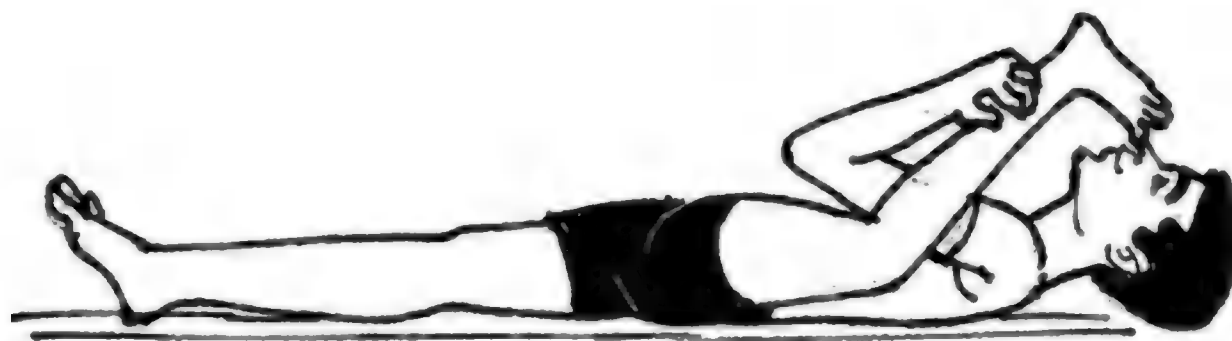
शाब्दिक अर्थ : सुप्त का अर्थ सोया हुआ, लेटा हुआ या लेटना। पाद का अर्थ पैर। अंगुष्ठ का अर्थ अँगूठा। नासा का अर्थ नाक या नासिका। स्पर्श का अर्थ छूना।

विधि : पीठ के बल चित्त लेट जाएँ। अपने दोनों हाथों से दाहिने पैर को उठाते हुए मोड़े और चेहरे की तरफ़ लाएँ। पैर के अँगूठे को नासिका से स्पर्श कराने का प्रयत्न करें। बायाँ पैर ज़मीन से स्पर्श करता रहे। धीरे-धीरे मूल अवस्था में वापस आएँ। अब यही क्रम बाएँ पैर को उठाकर करें। अभ्यास हो जाने पर दोनों पैरों को एक साथ मोड़ते हुए नासिका से स्पर्श कराएँ।

शवासक्रम : अंर्तकुंभक करते हुए अँगूठे का स्पर्श नासिका से कराएँ मूल स्थिति में लौटते समय श्वास छोड़ें।

समय : दाएँ पैर द्वारा तीन से पाँच बार फिर बाएँ पैर द्वारा तीन से पाँच बार एवं दोनो पैर से तीन से पाँच बार तक करें।

लाभ : ❍ कमर की पीड़ा कम होती है।

❍ कमर में लोच पैदा होती है। जमी हुई चर्बी कम होती है।

- नितम्ब और जाँचें सुदृढ़ एवं पुष्ट होते हैं।
- पाचन शक्ति बढ़ती है।
- मेरुदण्ड को लाभ मिलता है।

नोट : एक पैर नासिका से लगाते समय दूसरा पैर ज़मीन को स्पर्श करता रहें अभ्यस्त हो जाने पर सिर को ज़मीन से न हटाएँ।

सावधानी : यह आसन जटिल होने के कारण जल्दबाजी न करते हुए क्रमशः विवेक पूर्वक करें।

## कंधरासन
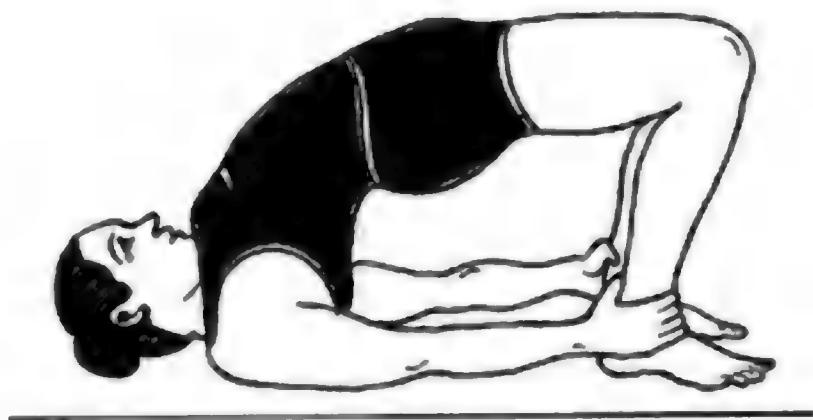
विधि : पीठ के बल कम्बल पर लेट जाइए। अब घुटने मोड़ते हुए एड़ियों को नितम्बों के पास रखिए। बाएँ हाथ से बाएँ पैर का टखना एवं दाएँ हाथ से दाएँ पैर का टखना पकड़िए और नितम्बों को पूरे प्रयास के साथ ऊपर उठाइए। साथ ही नीचे से पीठ को, ऊपर की और धकेलते हुए धनुषाकार बनाएँ। इस प्रकार का आकार बनाने के लिए वक्ष:स्थल, उदर प्रदेश को ऊपर की ओर तानें। कुछ देर रुके वापस मूल अवस्था में आएँ। टखनों को छोड़ते हुए पैरों को आगे की ओर फैला लें।

शवासक्रम : नितम्बों को ऊपर की ओर करते समय श्वास अंदर रोकें। मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ें।

समय : इस प्रकार इसकी 5 से 10 बार यह क्रिया करें।

ध्यान : विशुद्धिचक्र एवं अनाहत चक्र पर।

लाभ : ❍ स्त्रियों के रोगों के लिए यह आसन विशेष लाभदायक हैं। जैसे अनियमित मासिक धर्म, गर्भपात आदि जैसे रोग दूर कर उनके प्रजनन अंगों को भी पुष्ट करता है।

- सामान्यतः यह उदर प्रदेश के आंतरिक अंगों की शिथिलता को दूर करता है।
- ऑफिस में काम करने वाले इसके नियमित अभ्यास से पीठ एवं मेरुदण्ड के दर्द से निजात पा सकते हैं।
- मेरुदण्ड संबंधी कई रोगों को ठीक करता है।
- दमा नाशक है एवं श्वसन तंत्र सुचारु करता है।
- थायरॉइड संबंधी रोगों में लाभकारी।

सावधानी : उदर प्रदेश में कोई जटिल रोग हो, मेरुदण्ड सख्त हो, हार्निया, अल्सर और ग्रीवा संबंधी विकार हो तो क्रमशः धीरे-धीरे करें।

विशेष नोट : कुछ योग शिक्षक इसको सेतु बंधासन कहते हैं।

## द्वि-पार्श्व आसन/पार्श्व धनुरासन
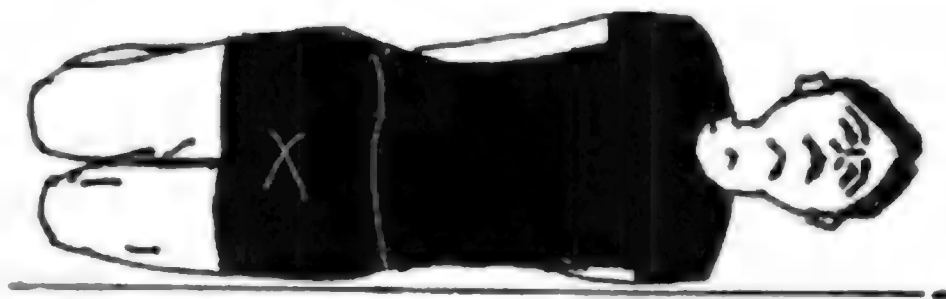
विधि : कंबल के ऊपर पीठ के बल लेटकर करवट ले लें एवं श्वास छोड़ते हुए दोनों पैरों को पीछे की तरफ़ मोड़े और दोनों हाथों से दोनों पैरों के पंजों को पकड़ लें। तदुपरांत श्वास लेकर अंतकुंभक करते हुए यथासंभव करवट बदलते रहें एवं अनुकूलतानुसार इसे करके श्वास बाहर निकाल दें। वापस सामान्य स्थिति में आ जाएँ।

शवासक्रम/समय : आसन करते समय अंतःकुंभक करें। यही क्रिया 4 बार करें।

लाभ : ❍ क़ब्ज़ दूर करता है और पाचन-तंत्र मज़बूत करता है।

- मोटे व्यक्तियों को अवश्य करना चाहिए। इस क्रिया को करने से उदर-प्रदेश में जमी हुई चर्बी कम होती है।

- छाती मज़बूत एवं चौड़ी होती है।
- साइटिका वाले अवश्य करें।

सावधानियाँ : जटिलता या हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति विवेक का प्रयोग करें।

नोट : विशेष रूप से यह गतिमय क्रिया शंख-प्रक्षालन के लिए की जाती है।

---

विशेष : हमने इसी पुस्तक में पीठ के बल किए जाने वाले आसन और भी जगह दिए हैं। कृपया निम्नलिखित आसन भी देखें।
चक्रासन, पूर्ण चक्रासन, चक्र बंधासन, सेतु बंधासन, शीर्ष पादासन, ग्रीवासन, रपटासन, सेतु आसन, विपरीत दण्डासन, पूर्वोत्तानासन।

## उच्च अभ्यास एवं संतुलन के आसन

### पाद प्रसारणकच्छप आसन/क्कूर्मासन (द्वितीय प्रकार)
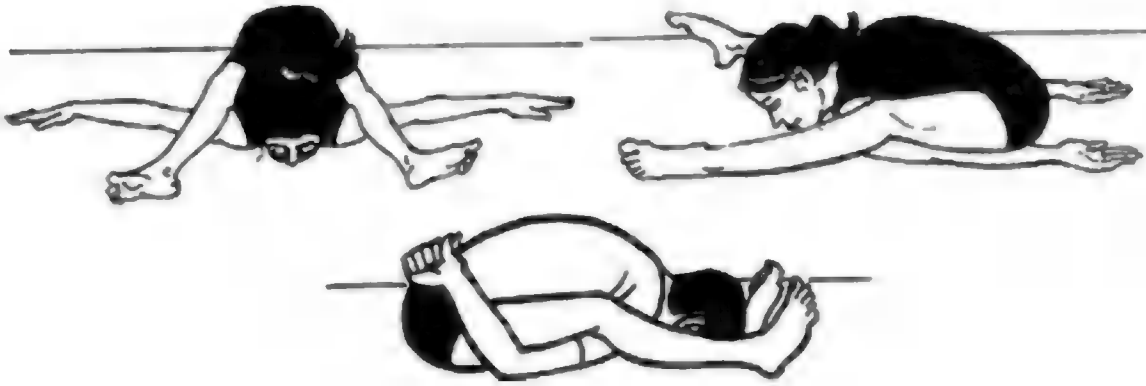
शाब्दिक अर्थ : कूर्म का अर्थ कछुआ है। पैरो को फैलाकर कछुये की तरह आकृति बनाने के कारण इस आसन का नाम दिया है।

विधि : ज़मीन पर पैर लंबवत् करके बैठ जाएँ। दोनों घुटनों के बीच लगभग 1 या 1/2 फ़ीट का अंतर रखें। सिर सामने की तरफ़ झुकाएँ और इसी क्रम में हाथों को दाहिने घुटने के नीचे से दाहिने हाथ को, बाएँ घुटने के नीचे से बाएँ हाथ को बाहर निकालें और दोनों हाथों को धीरे-धीरे पीठ की तरफ़ ले जाएँ। दोनों हाथों की हथेलियों को एक दूसरे से मिलाएँ या दोनों हाथों को धरती के समानान्तर फैला लें। आसन पूर्ण करने के लिए घुटनों को ऊपर उठाते हुए पैर के तलवों को ज़मीन के समानांतर रखें। श्वास क्रिया सामान्य रखें। पहले झुकते समय रेचक करें। इसी क्रम में दोनों पैरों के टखनों को एक दूसरे में फंसा लें और हाथों को पीठ पर बाँध लें तो सुप्त कूर्मासन कहलाएगा।

श्वासक्रम : सामने झुकते समय श्वास बाहर निकालें। अंतिम स्थिति में श्वास-प्रश्वास सामान्य रखें एवं मूल स्थिति में आते समय श्वास लें।

समय : यथासंभव। आध्यात्मिक लाभ हेतु अधिक देर तक करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान और मणिपूरक चक्र पर।

लाभ :
- यह आसन शारीरिक स्थिरता प्रदान करता है।
- मस्तिष्क को तनाव मुक्त करता है। मन प्रफुल्लित करता है।
- पीठ दर्द, कमर दर्द व ग्रीवा दर्द को दूर करने के लिए उपयोगी।

- उदर के अवयवों को सक्रिय करता है।
- क़ब्ज़ दूर करता है।
- यह आसन विषय-कषायों को जीतना सिखाता है।
- गुदों को शक्ति प्रदान करता है।

सावधानियाँ : स्लिप डिस्क व साइटिका से पीड़ित रोगी इस आसन को न करें।

## कंदपीड़ासन/कंदासन

शाब्दिक अर्थ: कंद का अर्थ मूलग्रांथि, जड़ या गाँठ।

हठयोग प्रदीपिका के तृतीय अध्याय में लिखा है कि कुंडलिनी कद पर शयन करती है। यह योगियों, महात्माओं को मोक्ष और भोगियों को बंधन दिलाती है।

विधि : अपने आसन में प्रसन्नतापूर्वक बैठे। पैरों को सामने सीधा फैला लें। घुटने मोड़ते हुए जाँघों को चौड़ा करें और एड़ियों को आमने-सामने आपस में मिला लें (यह लगभग बध्द कोणासन के समान हो जाता है)। दाहिने पैर के पंजे को दाहिनी हथेली से और बाएँ पैर के पंजे को बाई हथेली से पकड़ें। अब हाथों से पैर के पंजों को ऊपर धड़ की तरफ़ खींचें। टखनों को उल्टा करें। पंजे पकड़कर घुटने व जाँघों को खींचें एवं नाभि व सीने से एड़ियों और पैरों के बाह्य भाग को चिपका लें। प्रथम अभ्यासी पैरों को पकड़े रखें एवं अभ्यास हो जाने पर हाथों को घुटनों पर रखें।

श्वासक्रम/समय: अंतिम स्थिति में श्वास सामान्य रखें एवं अनुकूलतानुसार करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र या मणिपूरक चक्र पर।

लाभ : काम-वासना को नियंत्रित करता है। बिंदु (ऊर्जा) ऊर्ध्वमुखी करता है। नाभि के नीचे की प्रत्येक माँसपेशी को व्यायाम मिलता है। नितम्ब, घुटने, टखने की संधियों को लचीला बनाता है। जिससे कड़ापन दूर होता है। मन की चंचलता का शमन करता है।

सावधानियाँ:
- चूँकि यह उच्च अभ्यास का आसन है, इसलिए विशेष सावधानी रखें।
- जिनके घुटने के जोड़ों में लोच और मजबूती हो, वे ही इस आसन को करें।

## नाभि पीड़ासन

विधि : अपने आसन में सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठ जाएँ। घुटनों को मोड़ें व दोनों तलवे आपस में मिला लें। दोनों हाथों से दोनों पंजों को पकड़ें और उनको अंदर की तरफ़ खींचते हुए नाभि के पास लाकर सटा दें। चूँकि इसमें घुटने ऊपर उठ जाएँगें अतः पूरा भार नितम्ब पर आएगा। इसलिए संतुलन लाने की कोशिश करते हुए यथाशक्ति इस आसन को करें।

श्वासक्रम/समय : पैरों को उठाते समय अंतःकुंभक करें एवं मूल स्थिति में वापस आते समय रेचक करें। 4 से 5 बार यथाशक्ति करें।

लाभ : ○ पाचन-तंत्र, उदर और आँतों की शक्ति में वृद्धि होती है।

- हाथ व पैरों को बल मिलता है।
- प्राण की गति बराबर होती है और यदाकदा सुषुम्ना में भी उसकी गति होने लगती है।
- वीर्य वाहिनी नसें पुष्ट होती हैं।
- आत्म उत्थान के साथ जीवन में संतुलन का क्रमशः विकास होता है।

सावधानियाँ : साइटिका, स्लिपडिस्क, घुटनों के जोड़ों के रोगी इसे न करें।

## धनुराकर्षणासन/आकर्ण धनुरासन (प्रथम प्रकार)

विधि : दोनों पैर सामने की ओर फैलाकर बैठिए। अब बाएँ पैर के ऊपर दाहिने पैर को अर्ध पद्मासन की अवस्था में रखिए। दाहिने हाथ से बाएँ पैर के अँगूठे को पकड़िए। घुटना ज़मीन से उठने न पाए। अब बाएँ हाथ से दाहिने पैर का अँगूठा पकड़कर कान के समीप लाइए। पीठ, गर्दन, सिर सीधा तना हुआ रहे।

श्वासक्रम/समय : अर्ध पद्मासन की अवस्था में पूरक, अंतिम अवस्था में कुंभक और मूल अवस्था में आते समय रेचक करें। यही आसन पैर बदल कर करें। अनुकूलतानुसार या 5 बार करें।

लाभ : ○ जाँघ, पिंडली, घुटना, पंजे आदि सभी अंगों को स्थिरता मिलती है।

- पैरों का कंपन बंद होता है।
- उदर-प्रदेश के अधोभाग को शक्ति मिलती है।
- मलोत्सर्ग में मदद मिलती है।
- हाइड्रोसील बीमारी के रोगी इससे लाभ प्राप्त कर सकते हैं।
- मेरुदण्ड को लाभ पहुँचाता है।
- आत्मविश्वास में वृद्धि करता है।

सावधानियाँ : साइटिका, स्लिप्पडिस्क के रोगी इसे न करें।

## आकर्ण धनुरासन(द्वितीय प्रकार)

शाब्दिक अर्थ : कर्ण का अर्थ कान। उपसर्ग आ का अर्थ तक। धनु का अर्थ धनुष।

विधि : ज़मीन पर पैर फैलाकर बैठ जाएँ। दाहिने पैर के अँगूठे को दाहिने हाथ से पकड़कर ऊपर कान की तरफ़ लाएँ एवं बाएँ हाथ से बाएँ पैर के अँगूठे को पकड़ें। 5 से 10 सेकड तक इसी स्थिति में रहें। आसन करते समय यदि दाहिने पैर का अँगूठा दाहिने कान के पास है, तो बायाँ पैर सीधा तानकर रखें (घुटने को ऊपर न उठने दें)। अब पैरों को बदलकर यह आसन करें।

श्वासक्रम/समय : अँगूठा कान के पास लाते समय अंतःकुंभक करें, मूल स्थिति में लौटते समय रेचक करें। पाँच-पाँच बार दोनों पैरों से करें।

लाभ : ❍ पैरों की माँसपेशियाँ लचीली होती हैं।

- ❍ नितम्ब सुडौल बनते हैं।
- ❍ उदर विकार दूर होते हैं।
- ❍ मलोत्सर्ग में मदद मिलती है।
- ❍ शरीर का उचित विकास होता है।

सावधानियाँ :O मेरुदण्ड सीधा रखें। तीव्र कमर दर्द वाले विवेक का उपयोग करें।

- ❍ जिस पैर को नहीं मोड़ा है वह सीधा लंबवत् रखें।
- ❍ साइटिका, स्लिप्पडिस्क के रोगी न करें।

टिप्पणी : कुछ योगाचार्य इस आसन को भिन्न प्रकार से भी करवाते हैं।

## आकर्ण धनुरासन (तृतीय प्रकार)/धनुष बाण चालन क्रिया
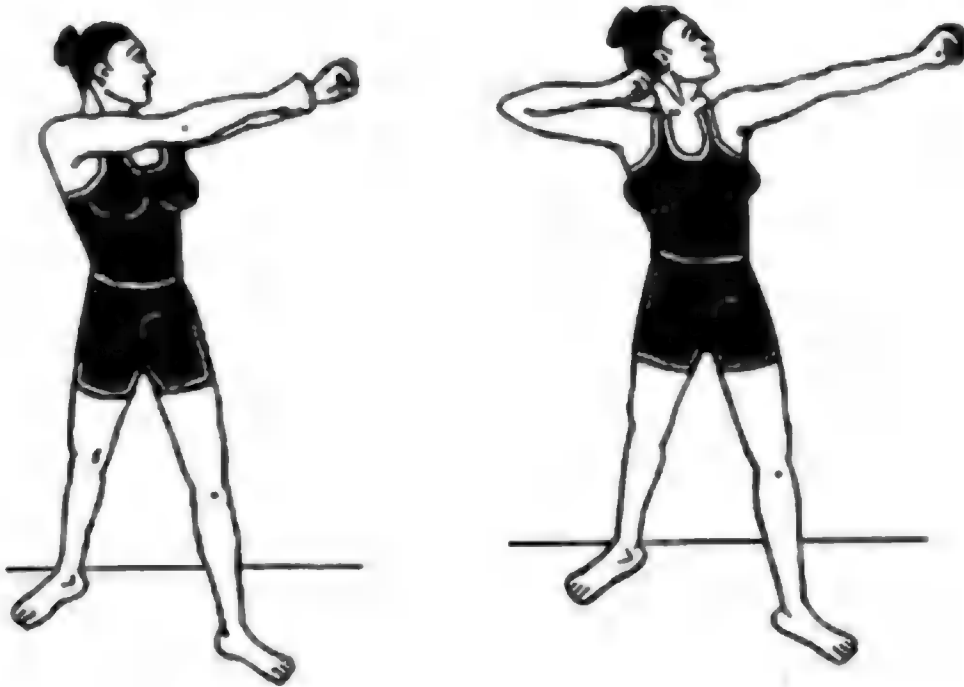
विधि : दोनों पैरों के बीच लगभग दोनों कधों की चौड़ाई के बराबर अंतर रखकर खड़े हो जाएँ। बाँये पंजे को थोड़ा सा एक क़दम आगे रखें। बाँये हाथ को शरीर के बगल से लम्बवत् करें और मुट्ठी बाँधे परंतु थोड़ा ज़मीन के समानान्तर से ऊँचा रखें। दाँये हाथ की मुट्ठी बाँधे और बाँये हाथ की मुट्ठी से थोड़ा पीछे रखें। अब बाँये हाथ की मुट्ठी को ऐसा देखें मानो

आपने धनुषबाण हाथ में लिया हुआ हो। श्वास लें और धनुष की जैसे प्रत्यंचा खींचते हैं, वैसे ही दाहिने हाथ की मुट्ठी को धीरे-धीरे पीछे खींचते हुए कान के पास लाएँ। दोनों भुजाएँ तनी हुई हों। सिर को थोड़ा सा पीछे लाएँ। श्वास छोड़ें, फिर कल्पना करें कि तीर छोड़ दिया है। तनाव कम करें और वापस दाहिनी मुट्ठी को बाँयी मुट्ठी के पास ले आये। इस प्रकार 5 बार करें और पैरों तथा हाथों की मुद्राएँ बदलकर 5 बार करें।

विशेष : इस क्रिया को हल्केपन से न लें, क्योंकि यह क्रिया दो चीजें सिखाती है। पहली है एकाग्रता और दूसरी है लक्ष्य। जब हम प्रत्यंचा खींचते हैं, तब हम एकाग्र होकर उस लक्ष्य को देखते हैं, जिसका हमने निशाना साधा है।

इसी प्रकार हम अपने जीवन में विकास का लक्ष्य बनाकर एकाग्रता से उस काम को करेंगे तो सफल अवश्य होंगे। हमें जीवन में ये दो चीजें हमेशा याद रखनी चाहिए।

लाभ :
- जीवन जीने का विकास मंत्र मिलता है।
- एकाग्रता शक्ति बढ़ती है। लक्ष्य हासिल करने के रास्ते खुलते हैं।
- कंधे हाथ गर्दन के विकार समाप्त होते हैं।

नोट : इस विधि में साधक धनुष की प्रत्यंचा को खींचने का उपक्रम करता है।

## पृष्ठासन
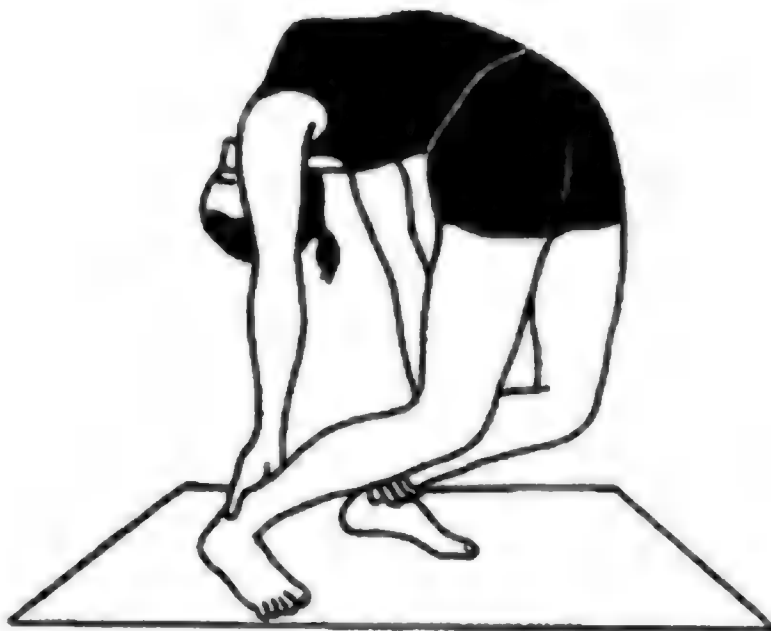
विधि : सीधे खड़े हो जाएँ। दोनों पैरों के बीच लगभग 1 फीट का अंतर रखें अब घुटनों को

थोड़ा-सा आगे झुकाते हुए हाथों को पीछे ले जाकर पिंडली के निचले हिस्से (टखनों) को पकड़े। ऐसा करने से कमर और सीना मुड़ता हुआ धनुषाकार हो जाएगा। सिर को भी पीछे झुकाएँ (सिर को ज़मीन की तरफ़ अधिकतम झुकाने का प्रयास करें।) यह इस आसन की पूर्णता है।

श्वासक्रम/समय : पीछे की तरफ़ झुकते समय श्वास छोड़ें। पूर्ण स्थिति में श्वसन क्रिया धीमे-धीमे करें। वापस आते समय अंतःकुंभक करें। शुरू-शुरू में यथाशक्ति रुकें बाद में क्रमशः समय बढ़ाएँ।

लाभ :
- ग्रीवा शक्ति विकास के लिए यह आसन अच्छा हैं।
- उदर प्रदेश के अंगो को अधिक कार्यशील बनाता है।
- कमर, पीठ, मेरुदण्ड के विकार दूर करता है। पैरों को सशक्त बनाता है।

सावधानियाँ:
- अल्सर, उच्च रक्तचाप, पीठ या पेट के जटिल रोग में इस आसन को न करें।
- इस आसन के बाद सामने झुकने वाले आसन अवश्य करें।

विशेष : नये अभ्यासी चाहे तो हाथ को पहले कमर के पीछे रखकर धीरे-धीरे हथेलियाँ सरकाते हुए जंघा, पिंडली फिर टखनों तक जाएँ।

## कपोतासन (प्रथम प्रकार)

शाब्दिक अर्थ : कपोत का अर्थ कबूतर है। पूर्ण आसन के समय छाती चौड़ी होकर कबूतर

की तरह फूलती है, इसलिए इसका नाम कपोतासन है।

विधि : वज्रासन में बैठ जाएँ एवं पीछे की ओर लेट जाएँ। अब हाथों को कोहनी से मोड़ते हुए हथेलियों को कान के पास ज़मीन पर रख दें और धीरे-धीरे कमर, छाती एवं सिर के हिस्से को ऊपर उठाएँ। एड़ी से लेकर घुटने ज़मीन के समानांतर ही रखने हैं। चूँकि इस आसन को पूर्ण करने के लिए सिर को पैर के तलवों के ऊपर रखना होता है, अतः इसमें बहुत अभ्यास की ज़रूरत पड़ती है। इसलिए धीरे-धीरे शरीर को ऊपर उठाते हुए सिर को तलवों के पास लाने की कोशिश करें और कुछ सेकेण्ड उसी स्थिति में रुकें एवं क्रमशः समय को बढ़ाएँ। पूर्ण आसन में स्वाभाविक श्वास लें। आसन बनाते समय श्वास-प्रश्वास के प्रति सजगता रखें। श्वास छोड़ते हुए वापस सिर को धीरे-धीरे उठाते हुए गर्दन, पीठ और सिर को ज़मीन पर रखें। फिर धीरे-धीरे पैरों को सीधा करते हुए आराम करें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र या आज्ञा चक्र पर।

लाभ :O छाती चौड़ी होती है। फेफड़े पुष्ट होते हैं। हृदय की उत्तम देख-रेख होती है।

- मेरुदण्ड सम्बंधी कोई रोग नहीं होता।
- प्रजनन तंत्र और वस्ति-प्रदेश को उचित लाभ।
- जंघाएँ सुडौल होती हैं।

सावधानियाँ : चूँकि इस आसन को करने से जंघा, उदर प्रदेश, हृदय प्रदेश सभी तनावग्रस्त होते हैं, अतः उच्च रक्तचाप, हृदय रोगी इस आसन को न करें।

नोट : कहीं-कहीं शिक्षकगण इसे भिन्न प्रकार से भी कराते हैं।

## कपोतासन (द्वितीय प्रकार)
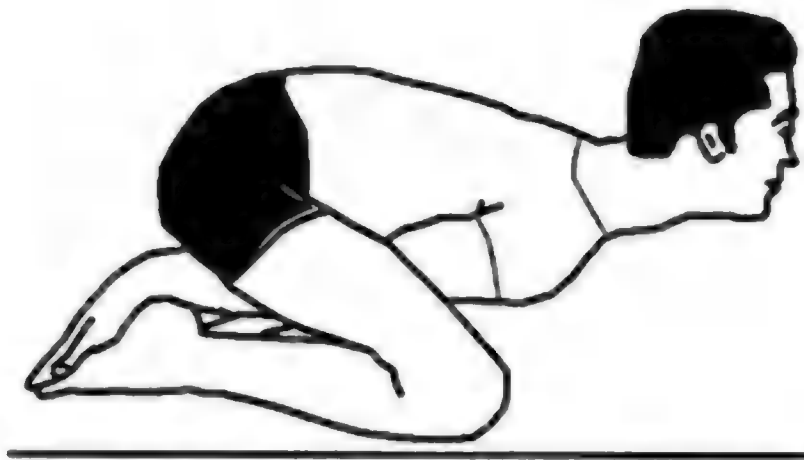
विधि : पहले घुटने टेक कर बैठ जाएँ एवं दोनों घुटनों के बीच लगभग डेढ़ फिट का अंतर दें और दोनों पैरों के पंजों को आपस में मिला दें। अब दोनों हाथों की जाँघों के बीच में से पीछे ले जाकर पादतल में स्थापित करते हुए आगे झुक कर बैठ जाएँ। (दोनों हाथों की हथेलियों से दोनों पैरों के पंजों को ढक दें) तत्पश्चात् कुंभक करते हुए सिर को थोड़ा सा ऊपर की तरफ़ उठा लें। अब रेचक करते हुए (श्वास छोड़ते हुए) सिर नीचे कर लें। इस प्रकार 6 से 8 बार करें।

ध्यान : अनाहत चक्र पर।

लाभ :
- वक्ष:स्थल चौड़ा, फेफड़े मज़बूत होते हैं
- गले के विकार समाप्त होते हैं।
- अपानवायु की गति सरल होती है।
- हाथ एवं पैरों में सुदृढ़ता आती है।

योग विद्या हमारे ऋषि-मुनि, यति, संत-महात्माओं
द्वारा प्रदत्त दिव्य उपहार है। आइए हम इसे
संभालें और वितरित करें।
-RJT

## परिधासन
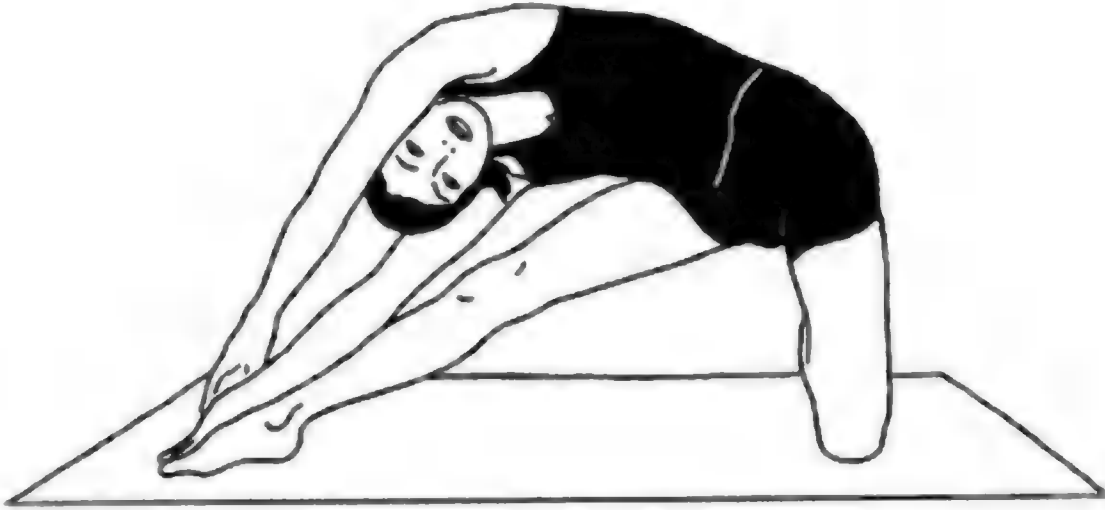
विधि : घुटनों के बल खड़े हो जाएँ दोनों घुटनों को पास-पास रखें। अब दाहिना पैर बगल में फैलाएँ एवं पादतल को ज़मीन पर जमाएँ। दाहिने पैर का पंजा बाएँ पैर के घुटने की सीध में ही रखें। दोनों बाहों को अगल बगल में कंधे की सीध में फैलाएँ दाहिने हाथ और कमर के ऊपरी हिस्से को दाहिनी तरफ़ झुकाते हुए हथेली को आसमान की तरफ़ कर दाएँ पैर के पंजें के ऊपर रखें। कुहनी का निचला हिस्सा पैर के टखने को स्पर्श करते हुए रखें। सिर को इतना झुकाएँ कि दाहिना कान दाहिनी भुजा को स्पर्श करें।

अब बाएँ हाथ को ऊपर उठाकर बाएँ कान का स्पर्श कराते हुए अंगुलियों को दाहिने हाथ की हथेली से स्पर्श कराएँ। दाहिना पैर, दोनों हाथ और सिर, बाएँ पैर के घुटने की सीध में रहेगें। यह आसन की अंतिम अवस्था है। लगभग 20 से 30 सेकण्ड इसी स्थिति में रहें और अपनी मूल स्थिति में वापस आ जाएँ। यही क्रिया बाएँ पैर से भी करें।

श्वासक्रम/समय : सिर को झुकाते समय श्वास छोड़ें। अंतिम स्थिति में सामान्य श्वसन करें। मूल अवस्था में आते समय श्वास लें। दोनों दिशाओं में 20 से 30 सेकण्ड तक रुकें। अभ्यास होने के बाद समय को 1 से डेढ़ मिनिट तक करें।

लाभ :
- कमर, एवं उसके आस-पास जमी चर्बी को कम करता है और शरीर को छरहरा बनाता है।
- उदर प्रदेश में खिंचाव और सिकुड़ने के कारण अंदरूनी अंगो की मालिश करता है।
- पाचन तंत्र को क्रियाशील बनाता है।

सावधानी : संतुलन का विशेष ध्यान दें।

## मूलबंधासन

शाब्दिक अर्थ : मूल का अर्थ जड़ या उद्गम स्थान और बंध का अर्थ बंधन या कड़ी।

विधि : प्रसन्नतापूर्वक अपने आसन पर सामने की तरफ़ पैर फैलाकर बैठे। दोनों घुटनों को मोड़ते हुए पैर के तलवों को आपस में मिलाएँ। यह स्थिति बद्ध कोणासन की स्थित हो जाएगी। अब लिंग स्थान और गुदा-द्वार (सीवनी नाड़ी) के मध्य एड़ियों को रखकर बैठ जाएँ जिससे एड़ियों का दबाव मूलाधार पर पड़े। इसका अच्छे से अभ्यास हो जाने पर एड़ियों के स्थान पर पंजे के अँगूठे को रखने का अभ्यास कर सकते हैं।

श्वासक्रम/समय : श्वसन क्रिया गहरी हो। इसे आधे से एक मिनट तक करें।

ध्यान : मूलाधार चक्र से ऊर्जा ऊर्ध्वमुखी हो रही है, ऐसा ध्यान करें।

लाभ:
- आध्यात्मिकता की तरफ़ साधक का मन लगता है। ऊर्जा ऊर्ध्वमुखी होती है।
- जनन संस्थान और शिश्न ग्रंथियों को लाभ मिलता है।
- काम-वासना का शमन होता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों के लिए यह उत्तम आसन है।
- मानसिक शांति प्रदान कर नकारात्मक विचारों का नाश करता है।

सावधानी :
- अधिकतम प्रभाव घुटनों पर पड़ता है। जिनके घुटनों के जोड़ों में दर्द या किसी प्रकार की तीव्र वेदना हो, वे न करें।

- तीव्र कमर दर्द वाले भी न करें।

नोट : कुछ योग शिक्षक इस आसन को गोरक्षासन भी कहते हैं।

## वृश्चिकासन
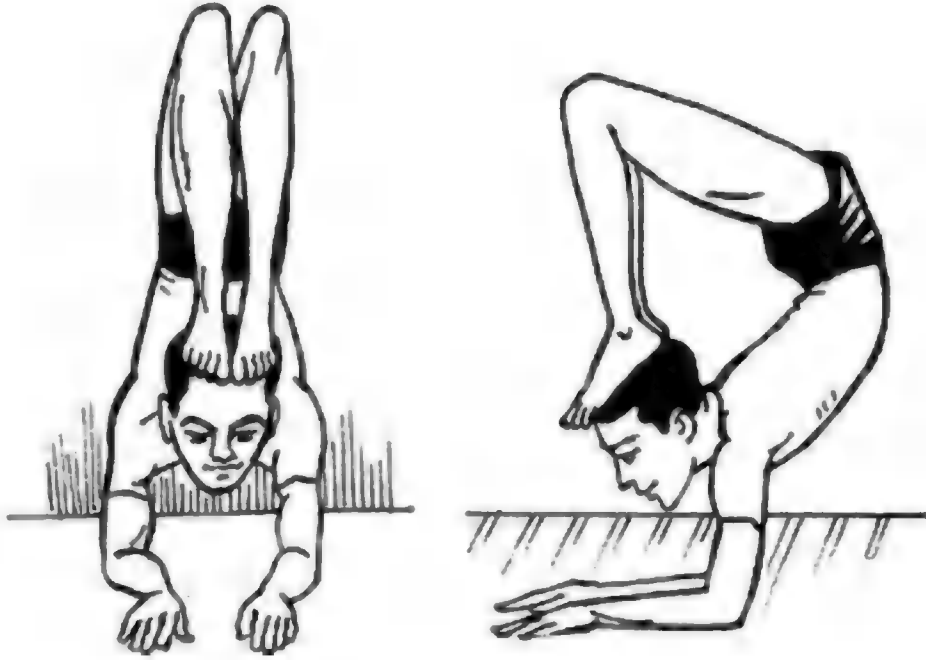
शाब्दिक अर्थ : वृश्चिक का अर्थ बिच्छू है। जब यह डंक मारता है तो अपनी पूँछ को सिर की तरफ़ मोड़ता है। आसन की आकृति आक्रामक बिच्छू के समान होने के कारण इसका नाम वृश्चिकासन पड़ा है।

विधि : अपने आसन में घुटने टेककर आगे की ओर झुकें और ज़मीन पर दोनों हाथों की कोहनी से लेकर हथेलियाँ तक समानांतर रखें। हाथों की कधों के समकक्ष ही रखें। गर्दन और सिर ऊपर उठाएँ। श्वास छोड़ें। पैरों और कमर के भाग को ऊपर उछालते हुए शीर्षासन जैसी स्थिति में पहुँचें और संतुलन बनाते हुए कमर के भाग को और पैरों को घुटनों से मोड़ते हुए पंजों को सिर की तरफ़ लाएँ। यथाशक्ति गर्दन और सिर ऊपर ऊँचा उठाएँ चूँकि यह उच्च अभ्यास का आसन है अतः सावधानीपूर्वक करें। मेरुदण्ड को इतना मोड़ने की कोशिश करें कि पैरों की एड़ियाँ सिर के ऊर्ध्व भाग को स्पर्श करने लग जाएँ। कोहनी से कंधे तक भुजाएँ लंबवत् रूप में होनी चाहिए। भुजाओं और ज़मीन में रखे हाथ की स्थिति समकोण होनी चाहिए। इस आसन की अंतिम स्थिति में गर्दन, कंधे, सीना, मेरुदण्ड, पृष्ठभाग और उदर स्थान सभी तने हुए रहते हैं। अत: श्वास क्रिया तेज़ हो जाती है। स्वाभाविक श्वास लेने की कोशिश करें। यथाशक्ति रुकें और मूल अवस्था में वापस आ

जाएँ।

श्वासक्रम : शीर्षासन जैसी स्थिति में आते समय श्वास की अंदर रोककर कुंभक करें फिर सामान्य श्वसन करें। मूल स्थिति में लौटते समय श्वास छोड़ें।

ध्यान : आज्ञा चक्र पर।

लाभ : यह आसन चेहरे को कांति, लावण्य और सौम्यता प्रदान करता है।

- कंधे, भुजाएँ, शक्तिशाली बनते हैं।
- उदर-विकार दूर होते हैं एवं पाचनतंत्र सक्रिय हो जाता है।
- पृष्ठभाग के संस्थान सशक्त और स्वस्थ होते हैं।
- मेरुदण्ड और ग्रीवा के रोगों में लाभ मिलता है।
- योगाचार्यों का कहना है कि यह आसन मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी डालता है। इसमें साधक अपने पैरों से अपने सिर को स्पर्श कर या मारकर उसमें से घृणा, द्वेष, अहंकार, ईर्ष्यां आदि कलुषित भावनाओं को उन्मूलित करता है। इससे साधक दयावान विनयशील और संयमी बनता है। अत: यह कहना कि यह साधक को आध्यात्मिक ऊर्जा प्रदान करता है, अतिशयोक्ति नहीं होगी।

सावधानियाँ: पीठ के तनाव को कम करने के लिए पश्चिमोत्तानासन या सामने की तरफ़ झुकने वाले आसन करें।

- उच्चरक्तचाप, हृदयरोगी, मेरुदण्ड से संबंधित विकार हो तो यह आसन न करें।
- जब तक अभ्यस्त ना हो जाएँ तब तक किसी व्यक्ति का सहारा लें।
- अति उच्च अभ्यास की क्रिया होने के कारण धैर्य का परिचय दें।
- नोट : कुछ योग शिक्षक इस आसन को पूर्ण वृश्चिकासन कहते हैं।

जिन-जिन साधनों से आत्मा की शुद्धि और मोक्ष का
उपाय होता है, उन सब साधनों को योग कह सकते हैं।
- श्री यशोविजयकृता द्वत्रिंशिका **10/1**

## उत्थित वृश्चिक आसन

विशेष : यह आसन अपेक्षाकृत कठिन आसन है। जिनका मेरुदण्ड व पीठ लचीली हो, कलाई मजबूत हो एवं जो संतुलन के अभ्यासी हैं तथा जो वृश्चिक आसन लगा लेते हैं, वे ही इस आसन को करें।

विधि : ताड़ासन में खड़े हो आगे झुकें और हथेलियों को ज़मीन पर कंधों के बीच के अंतर के बराबर ही रखें एवं भुजाओं को पूरी तरह से फैला लें। अब हाथों पर पूरा वज़न देते हुए पैरों को उठाएँ, घुटनों को मोड़ें। श्वास छोड़ें। धड़ और पैरों को लम्बवत् रूप में ऊपर की ओर उछालें। यथा शक्ति सिर और गर्दन को उठाएँ। संतुलित हो जाएँ। मेरुदण्ड और सीना तानते हुए घुटने मोड़ें और पैर के पंजों को सिर के पिछले हिस्से से स्पर्श कराएँ, पैरों की अंगुलियाँ सामने की तरफ़ रखें।

श्वासक्रम/समय : हाथों के पंजों व कलाईयों पर संतुलन बनाते हुए 10 से 15 सेकण्ड तक रुकें व अंतिम स्थिति में स्वभाविक श्वास प्रश्वास करें।

नोट : जो साधक वृश्चिक आसन लगाते हैं, वे उसी अवस्था में हाथों को सीधा करते हुए पंजों के बल खड़े हो जाएँ।
इस आसन के लिए द्रढ़ संकल्प और प्रतिदिन के अभ्यास की आवश्यकता होती है।

इस आसन में पूरा शरीर तन जाता है। जैसे गर्दन, कंधे, वक्ष:स्थल और फेफड़े, मेरुदण्ड एवं उदर प्रदेश इस कारण श्वास क्रिया अधिक तेज एवं कष्ट कर प्रतीत होती है।

लाभ:
- फुफ्फुस पूरी तरह फैलते हैं, अतः सुचारु रूप से काम करते हैं।
- मेरुदण्ड लचीला एवं सशक्त होता है।
- चेहरे का तेज, ओज बढ़ाता है, चेहरे में झुर्रियों को समाप्त कर नई कान्ति से प्रदीप्त करता है।
- बालों का असमय पकना, गिरना, रुखेपन से मुक्ति मिलती है।
- उदर विकार समाप्त होते हैं।
- आँखों की रोशनी बढ़ती है।
- मानसिक शांति प्राप्त होती है एवं द्रढ़ता आती है।
- पूरा शरीर एक नव चेतना से भर जाता है।

सावधानियाँ :
- सख्त मेरुदण्ड वाले इस आसन को न करें।
- उच्च रक्त चाप, हृदयरोग, चक्कर आने जैसी समस्याओं से पीड़ित व्यक्ति इसे न करें।
- किसी योग शिक्षक की देख-रेख में करें।
- आगे झुकने वाले आसन इस आसन के बाद करें।
- अत्यधिक लोच वाले ही इस आसन को करें।
- धैर्य का अवलंबन लें।

योग एक वैज्ञानिक कला है, जिसका उद्देश्य
शरीर को निरोग रखते हुए आत्मा की शक्तियों
एवं ऊर्जा को उर्ध्वमुखी बनाना है।
-RJT

## नटराज आसन (दो प्रकार)
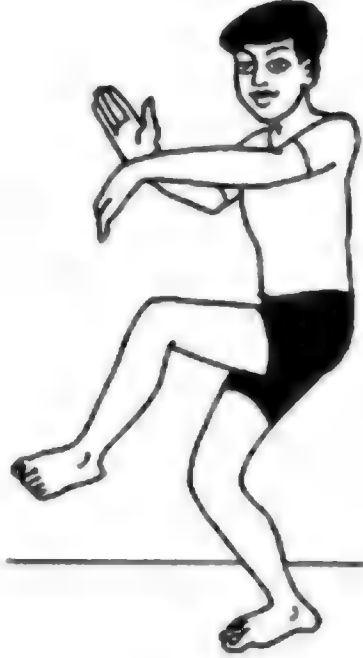
शाब्दिक अर्थ : नट का अर्थ नर्तक। नटराज भगवान शिव का एक नाम है और उनका यह (आसन) चित्र बहुत प्रसिद्ध भी है। नटराज की मूर्ति दक्षिण भारत (तमिलनाडु) की प्रसिद्ध पूजित मूर्तियों में से एक है।

विधि : 1. सीधे खड़े हो जाएँ। दाहिने घुटने को थोड़ा मोड़ते हुए बाएँ पैर को चित्रानुसार ऊपर उठाएँ। अब बाएँ हाथ को बाएँ पैर के ऊपर कुछ दूरी पर चित्रानुसार रखें। दाहिने हाथ को कोहनी से मोड़कर बाएँ हाथ के ऊपर रखें। हथेलियों को आशीर्वाद की मुद्रा में रखते हुए ज्ञान मुद्रा लगाएँ। दृष्टि सामने स्थिर रखें।

विधि : 2. ताड़ासन में खड़े हो जाएँ। दाहिने पैर को पीछे की और मोड़ें। सरलता के लिए दाहिने हाथ से दाहिने पैर के अंगूठे को पकड़ लें और धीरे-धीरे संतुलन बनाते हुए पैर को जितना संभव हो सके ऊपर की तरफ़ ले जाएँ। बाएँ पैर पर संतुलन बनाकर खड़े हों और बाएँ हाथ को सामने की तरफ़ लंबवत् फैला दें। हथेली ज़मीन की तरफ़ और अंगुलियाँ परस्पर जुड़ी हुई हों। श्वास-प्रश्वास स्वाभाविक रहने दें।

ध्यान : आज्ञा चक्र पर। यही क्रिया बाएँ तरफ़ से भी करें।

लाभ :
- पैरों से लेकर मेरुदण्ड तक सम्पूर्ण स्नायुतंत्र की मालिश एवं संतुलन का अभ्यास व मेरुदण्ड का सशक्तिकरण होता है।
- छाती चौड़ी एवं शरीर सुगठित होता है।
- द्वितीय प्रकार के आसन से उपरोक्त लाभ के अलावा उदर प्रदेश के विकार दूर होते हैं।

नोट : उपरोक्त दोनों विधियाँ प्रचलित होने के कारण यहाँ दी गई हैं।

सावधानियाँ : द्वितीय प्रकार की विधि में संतुलन, आत्मविश्वास एवं लोच सहित मेरुदण्ड वाले ही करें।

## वातायनासन
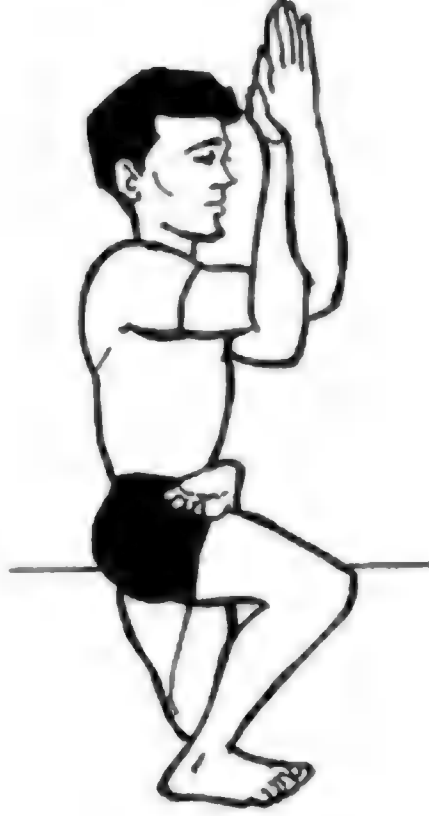
शाब्दिकअर्थ : वातायन का अर्थ घोड़ा है। अश्व की मुखाकृति जैसा होने के कारण यह नाम पड़ा है।

विधि : ताड़ासन की स्थिति में खड़े हो जाएँ। बाएँ पैर को मोड़कर दाहिनी जाँघ के ऊपर रखें। यह अर्ध पद्मासन जैसा हुआ। अब दोनों हाथों को सीने के ऊपर नमस्कार जैसी स्थिति में रखें (कुछ योग शिक्षक दोनों हाथों को आपस में लपेटने जैसी स्थिति बनवाते हैं)। जिस जाँघ के ऊपर पैर रखा हुआ है उस पैर को धीरे-धीरे घुटनों से मोड़ते हुए ज़मीन की तरफ़ लाएँ। संभव हो सके तो बाएँ घुटने को ज़मीन से स्पर्श करा दें। यथासंभव रुकें। यही क्रम पैर बदलकर उतने ही समय करें जितना समय पहले लगाया था।

नोट : प्रारंभ में हाथों का सहारा लें।

श्वासक्रम/समय : एक पैर पर खड़े रहने पर पूरक। आसन को पूर्ण करने पर कुंभक एवं वापस मूल अवस्था में आते समय रेचक करें। यथाशक्ति प्रयास करें।

ध्यान : संतुलन बनाते हुए अनाहत चक्र पर।

लाभ : ❍ योगियों को यह आसन अधिक प्रिय होता है क्योंकि यह ओज, तेज को ऊर्ध्वमुखी करता है। जिससे ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है एवं काम-विकार नष्ट होता है।

- नितम्ब और जाँघों की छोटी-मोटी बीमारियों का नाश होता है। गठिया रोग से निजात दिलाता है।
- अंडकोश और प्रजनन संस्थान पर अच्छा प्रभाव पड़ता है।

## तोलांगुलासन
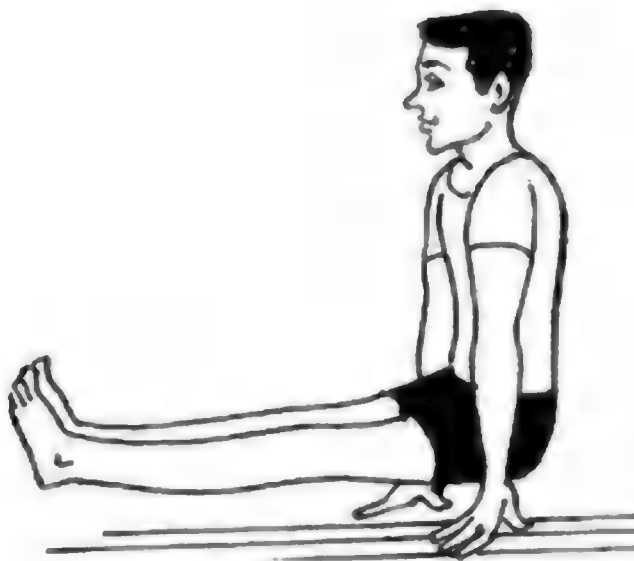
शाब्दिक अर्थ : तोल का अर्थ तराजू, अंगुल का अर्थ हथेलियों के साथ अँगुलियाँ। पूरे शरीर को दोनों हाथों की अँगुलियों के बल पर ऊपर उठाकर संतुलित करने के कारण इस आसन को तोलांगुलासन कहते हैं।

विशेष : अलग-अलग योग केन्द्रों में योग शिक्षक तोलांगुलासन को दो प्रकार से कराते हैं। अत: हम दोनों का उल्लेख यहाँ कर रहे हैं :

**विधि :1**. ज़मीन पर पैरों को लंबवत् करके बैठे। अब दोनों हाथों को ज़मीन पर रखकर दसों अँगुलियों के सहारे शरीर को ऊपर उठाएँ। अंतिम अवस्था में श्वास लें। वापस आते समय श्वास छोड़ें।

लाभ :
- हाथ, अँगुलियाँ और भुजाएँ मज़बूत होकर दृढ़ होती हैं।
- उदर विकार दूर होते हैं।
- हृदय को बल मिलता है। सीना चौड़ा होता है। कंधे मज़बूत होते हैं।
- काम-विकार का नाश करता है।

विधि : **2.** पद्मासन की अवस्था में बैठे। दोनों हाथों को नितम्ब पर रखें एवं पीछे कोहनियाँ ज़मीन पर टिकाएँ। अब धीरे-धीरे कोहनियों की ज़मीन पर गड़ाते हुए हथेलियों के बल पूरे शरीर को उठाएँ। इस प्रकार शरीर का पूरा भार नितम्बों पर पड़ेगा और हथेलियाँ पूरा भार सहन करेंगी। श्वास की प्रक्रिया उपरोक्तानुसार ही रहेगी।

लाभ :
- कंधे, पीठ, मेरुदण्ड को मज़बूती प्रदान करता है।
- सीना चौड़ा, फेफड़े मज़बूत होते हैं।

नोट : कुछ योगाचार्य प्रथम विधि को ब्रह्मचर्यासन के नाम से जानते हैं। कुछ योगाचार्य इसको अंगुष्ठासन भी कहते हैं। जबकि कुछ योगाचार्य तुलासन को ही तोलांगुलासन कहते हैं।

## द्वि-हस्त मुजासन

विधि : दोनों पैरों के बीच लगभग डेढ़ फीट का अंतर रखकर खड़े हो जाएँ और घुटनों को मोड़कर बैठ जाएँ। दोनों पैरों के बीच अंगुलियाँ आगे की तरफ़ रखते हुए हथेलियों को ज़मीन पर रखें। दृष्टि सामने रखें और दोनों भुजाओं पर शरीर का भार एवं सन्तुलन बनाते हुए शरीर को ऊपर उठाएँ। पैरों को सामने की तरफ़ रखें।

श्वासक्रम/समय : आसन बनाते समय अंतःकुंभक (श्वास अंदर रोककर रखें) करें। अंतिम अवस्था में सामान्य श्वसन करें। मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़े। 10 से 20 सेकण्ड रुकें। 2 या 3 बार करें।

लाभ :
- भुजाओं की मांसपेशियों को मज़बूती देता हैं कंधे के जोड़ सुदृढ़ होते हैं।
- अग्नाश्य को उद्दीप्त करता है।
- पाचन तंत्र के अंगो की क्रियाशील करता है।

सावधानी : सन्तुलन में ध्यान दें कमज़ोर कलाई वाले न करें।

नोट : पैरों के पंजी को आपस में फंसा ले तो उसे भुज पीड़ासन कहते है।

तनाव उत्पन्न होने का एक कारण नकारात्मक
विचार भी हैं अत: सकारात्मक चिन्तवन करें
-RJT

## हंसासन
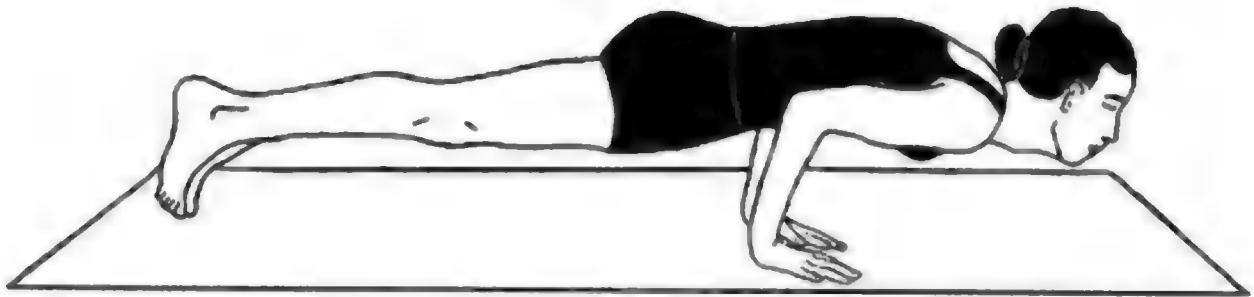
विधि : घुटनों के बल ज़मीन पर बैठे। अंगुलियाँ सामने की तरफ़ करते हुए हथेलियाँ ज़मीन पर रखें। आगे झुकें और कुहनियों पर पेट को तथा भुजाओं पर सीना स्थापित करें। एक-एक करके दोनों पैरों को पीछे करें और कुहनियों व भुजाओं पर शरीर का भार देते हुए तथा पैरों को ज़मीन से उठाते हुए सन्तुलन बनाएँ। यथाशक्ति जितनी देर रुक सकते हैं रुकें तत्पश्चात् पैरो को ज़मीन पर रखकर वापस मूल अवस्था में आ जाएँ।

नोट : कुछ योगी यह आसन पंजों को ज़मीन पर ही स्पर्शित करते हुए कराते हैं। अर्थात् हंसासन में पैरों के अंगूठे को ज़मीन से ऊपर नहीं उठाने देते एवं हाथों की अंगुलियों को पैरों की तरफ़ करवाकर ही करते हैं।

श्वासक्रम/समय : आसन निर्मित करते समय श्वास बाहर ही रोककर रखें। रुकने का अभ्यास हो तो धीरे-धीरे श्वसन क्रिया करें। वापस आते समय बाहर ही श्वास रोककर रखें। यथाशक्ति रुकें एवं 3 बार दोहराएँ।

लाभ :
- पाचन तंत्र के सभी अंगो को प्रभावित करता है। कब्ज़, दूषित वायु ठीक करता हैं।
- आमाशय, अग्नाश्य, छोटी आत, बड़ी आत, किडनी, लीवर आदि अंगो को प्रभावित कर उनसे होने वाले रोगों से बचाता है।
- रक्त संचार तेज करता है। चेहरे में ओज-तेज बढ़ता है।
- जीवन में भी सन्तुलन पैदा करता है।

सावधानियाँ:
- कमज़ोर कलाई वाले धीरे-धीरे अभ्यास में लाएं।
- अति उच्चरक्तचाप, अल्सर, हर्निया वाले रोगी न करें।

- गर्भवती महिलाएँ इस आसन को बिल्कुल न करें।

विशेष : मयूरासन और हसासन में हाथ के पंजों की स्थिति का ही फ़र्क है।

## मयूरासन
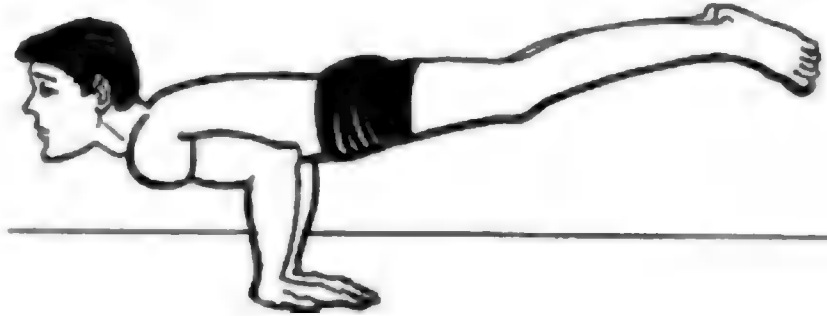
आकृति : मोर के समान।

विधि : घुटनों और पैरों के पंजों के बल ज़मीन पर बैठे। अब दोनों हाथ के पंजों को आगे रखें (अँगुलियाँ पैर की तरफ़। दोनों हाथ की कनिष्ठा अँगुलियाँ एक-दूसरे को स्पर्श करते हुए रखें। कोहनियाँ मोड़ें व नाभि से लगाने की कोशिश करें। धीरे-धीरे पूरे शरीर का वज़न हाथों पर रखते हुए पैरों को समानांतर ज़मीन से ऊपर उठाते हुए लंबवत् करें (अपने अभ्यास अनुसार चाहे तो पहले एक पैर लंबवत् करें फिर क्रमशः दूसरा पैर लंबवत् करें)। आसन पूर्ण होने पर शरीर ज़मीन से ऊपर पूर्ण समानांतर की स्थिति में आ जाता है। अभ्यास हो जाने पर धीरे-धीरे पैरों को और ऊपर की तरफ़ ले जाने की कोशिश करें।

श्वासक्रम/समय : ऊपर उठते समय पूरक, पूर्ण आसन पर यथासंभव कुंभक, शरीर को नीचे करते समय रेचक करें। यह आसन 5 से 15 सेकेण्ड तक करें।

लाभ :
- यह आसन मेद वृद्धि (मोटापा) रोकता है।
- हाथ की माँसपेशियों को बल प्रदान करता है।
- पूरे शरीर को स्थिरता प्रदान करता है।
- उदर भाग को ठीक रखता है, जिस कारण क़ब्ज़ दूर होती है। पाचन शक्ति बढ़ती है। कहते हैं यह आसन सामान्य रूप से विष को भी अमृत बना देता है।
- रक्त-परिभ्रमण के बढ़ जाने के कारण चेहरे को लाल सुख, कांतिमय बनाता है।

विशेष : इसी आसन को जब पद्मासन युक्त करते हैं तो वह पद्म मयूरासन या मयूरी आसन

कहलाता है। दोनों के लाभ लगभग एक जैसे ही हैं।

नोट : महिलाएँ इसे ज़बरदस्ती न करें।
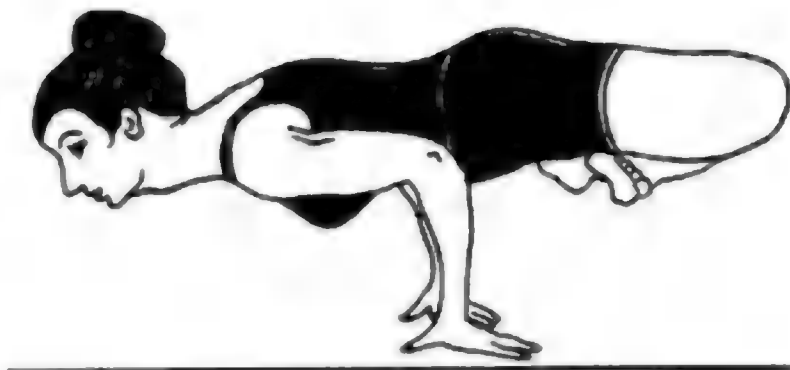
## बकासन (द्वितीय प्रकार)/उर्ध्व प्रसारित एकपादासन

विधि : दोनों पैरों को एक साथ रखकर खड़े हो। दोनों हाथों को कान से स्पर्श कराते हुए ऊपर की तरफ़ ले जाएँ। अब कमर के हिस्से को सामने की तरफ़ झुकाएँ और दोनों हाथों से दाहिने पैर का अंगूठा पकड़े एवं इसी समय बाएँ पैर को धीरे-धीरे पीछे ले जाते हुए ऊपर की तरफ़ तान दें, इस अवस्था में बायाँ पैर और सिर एक सीध में रहता है। वापस मूल अवस्था में आ जाएँ। यही क्रम दूसरे पैर से भी करें।

श्वासक्रम/समय : नीचे झुकते समय श्वास छोड़ें। अंतिम अवस्था में श्वास सामान्य रखें। मूल अवस्था में आते समय श्वास लें। 5 से 10 सेकण्ड रुकें और दोनों पैर से 3 चक्र पूरे करें।

लाभ :
- वे सभी लाभ जो एकपादासन/वीर भद्रासन से प्राप्त होते हैं।
- मस्तिष्क एवं सिर के विकार दूर करने में सहायक है।

सावधानियाँ : हाईब्लड प्रेशर, चक्कर आना एवं चक्षुपटल से पीड़ित व्यक्ति न करें।

## पद्म पर्वतासन/पद्मासनयुक्त "जानुस्थिरासन'/ उत्थित पदमासन (द्वितीय प्रकार)/गोरक्षासन (प्रथम प्रकार)
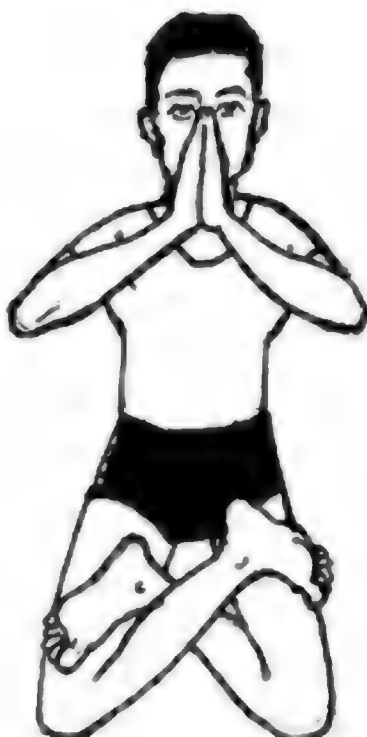
विधि : पद्मासन में बैठ जाइए। अब हाथों के सहारे आगे की तरफ़ झुकते हुए नितम्बों को उठाइए। संतुलन बनाते हुए दोनों घुटनों के सहारे खड़े होने का प्रयत्न कीजिए और दोनों हाथों को नमस्कार की मुद्रा में ले आइए। कमर और मेरुदण्ड सीधा रखें। यह आसन धीरे-धीरे अभ्यास में लाएँ एवं पैरों को बदलते हुए उतने ही समय के लिए करें जितना समय पहली स्थिति में लिया था।

श्वासक्रम/समय : पूर्ण स्थिति में पहुँचने पर श्वास-प्रश्वास सामान्य कीजिए। यथाशक्ति करें।

लाभ :
- एकाग्रता बढ़ती है व मस्तिष्क सम्बंधी दोष दूर होते हैं।

- यह आसन साधक को संतुलित जीना सिखाता है।
- नाड़ी दोष ठीक करता है। पद्मासन के सभी लाभ मिलते हैं।
- जो करता हो गोरक्षासन, कमरदर्द की तरफ़ न जाता मन।
- ऊर्जा (चेतना) ऊर्ध्वमुखी करता है।

नोट : प्रथम नाम आयंगारजी की परंपरानुसार है और द्वितीय नाम (अगले पेज पर) घेरण्डसंहितानुसार है। प्रथम प्रकार को कहीं-कहीं पर पर्वतासन के नाम से भी जाना जाता है।

सावधानी : इस आसन में अत्यधिक संतुलन की आवश्यकता पड़ती है अत: किसी दीवार का सहारा लें।

## गोरक्षासन (द्वितीय प्रकार)

जानूर्वोरन्तरे पादौ उत्तानो व्यक्त संस्थितौ ।
गुल्फौ चाच्छाद्य हस्ताभ्यामुतानाभ्यांप्रयत्नत:।
कण्ठसंकोचनं कृत्वा नासाग्रमव लोकयेत्।
गोरक्षासनमित्याहुयोगिना सिद्धिकारणम्। **(धे.सं.2/25-26)**

घेरण्ड संहितानुसार

विधि : दोनों जंघाओं और दोनों घुटनों के बीच में दोनों एड़ियों को ऊपर की ओर उठाकर गुप्त रखें। दोनों हाथों से दोनों एड़ियों को पकड़कर कठ का संकोचन करें और दृष्टि को नासिका के अग्रभाग पर जमाएँ। यह आसन योगियों के लिए सिद्धि प्रदाता है।

लाभ :
- कण्ठ का संकोचन करने से कण्ठ रोगों में लाभ पहुँचता है।
- दृष्टि नासिका के अग्रभाग पर स्थिर करने से त्राटक का अभ्यास अपने आप हो जाता है एवं नेत्र विकार दूर हो कर आँखों में आकर्षण पैदा होता है।
- प्रतिदिन अभ्यास करने से काम विकार का नाश होता है।
- ऊर्जा को ऊर्ध्वमुखी करता है।
- प्रतिदिन के अभ्यास से ध्यान की अवस्था में काफ़ी देर तक बैठा जा सकता है।

## उर्ध्व कुक्कुटासन/पदमबकासन

विशेष : यह आसन दो प्रकार से कर सकते हैं।

विधि : 1. पद्मासन की स्थिति में बैठ जाएँ। दोनों हाथों की हथेलियों को सामने ज़मीन पर स्थिर करें और घुटनों के बल खड़े हो जाएँ। हाथों पर ज़ोर देते हुए पद्मासन की ही स्थिति में ऊपर की तरफ़ उठे। पूर्णतः संतुलन को बनाए रखें। यथाशक्ति रुके। अभ्यास को क्रमश:

बढ़ाते जाएँ।

विधि :2. पद्मासन युक्त शीर्षासन की स्थिति में आएँ। धीरे-धीरे उसी अवस्था में श्वास छोड़ते हुए, कमर के हिस्से को मोड़ लें और उक्त आसन में घुटनों को हाथों के पृष्ठ भाग पर रखें। इसी स्थिति को सामान्य श्वास लेते हुए संतुलन बनाएँ। अब श्वास छोड़ें हथेलियों में दृढ़ता लाएँ और धड़ को ऊपर की तरफ़ खींचें एवं सिर को ऊपर की तरफ़ उठाएँ। भुजाएँ सीधी और तनी हुई रखें। नितम्ब ज़मीन से अधिक से अधिक उठाएँ। कुछ सेकेण्ड तक हाथों में संतुलन बनाएँ रखें। प्राकृतिक रूप से श्वास-प्रश्वास करें। मूल स्थिति में लौटने के लिए श्वास छोड़ें। कुहनियाँ मोड़ें, घुटनों को भुजाओं के पाश्र्व पर टिकाएँ। सिर ज़मीन की ओर नीचा करें और पद्मासन युक्त शीर्षासन में आएँ। अब पाद बंधन को मुक्त करते हुए सालम्ब शीर्षासन में आएँ। या पद्मासन की अवस्था में बैठ कर पैरों को बंधन से मुक्त करें। शवासन की स्थिति में थोड़ी देर विश्राम करें। पद्मासन के पैरों की स्थिति बदलकर यह क्रिया दोहराएँ।

श्वासक्रम/समय : श्वासक्रम विधि में समाहित है एवं यथाशक्ति करें।

लाभ :
- हाथों में सुद्रढ़ता आती है। कलाई मज़बूत होती है।
- उदर प्रदेश एवं मेरुदण्ड को सम्पूर्ण रूप से लाभ प्राप्त होता है
- जीवन दायिनी शक्ति बढ़ती है।
- पूरे शरीर में रक्त संचार की मात्रा बढ़ जाती है। अत: समस्त नस- नाड़ियाँ सुचारु रूप से कार्य करती हैं।

सावधानियाँ : उच्च रक्तचाप, हृदयरोगी एवं उच्च अभ्यास में सामर्थ्य न रखने वाले इस आसन को न करें।

## पादांगुष्ठासन(द्वितीय प्रकार)

शाब्दिक अर्थ : पाद का अर्थ पैर। अंगुष्ठ का अर्थ अँगूठा।

विधि : एड़ियाँ ऊपर उठाते हुए पंजों के बल उकड़ू बैठ जाइए। नए अभ्यासी हाथों का सहारा लेकर दाहिने पैर को उठाकर बाएँ पैर की जंघा पर रखें, बाएँ पैर की एड़ी (सीवनी नाड़ी) गुदा और लिंग के मध्य भाग पर रखें। ताकि संतुलन की अवस्था में एड़ी का दबाव ठीक हो। अब दोनों हाथों को सामने की तरफ़ जोड़कर प्रार्थना मुद्रा में रखिए। यही आसन अब पैर की स्थिति बदलकर करें।

श्वासक्रम/समय : सामान्य श्वास प्रश्वास एवं यथा संभव जितनी देर रुक सकते हैं, रुकें।

ध्यान : संतुलन रखते हुए मूलाधार चक्र का ध्यान करें।

लाभ:
- पैरों का असमय काँपना बंद होता है।
- समस्त पैरों की माँसपेशियों को मज़बूती देता है।
- ब्रह्मचर्य का पालन करने वालों के लिए यह उपयुक्त आसन है।
- धातु दौर्बल्य दूर करता है।
- प्रजनन संस्थान के विकारों को दूर करता है।

सावधानियाँ : एड़ी को सीवनी नाड़ी पर ही लगाकर आसन करें, ताकि मूलाधार चक्र व्यवस्थित हो सके।

टिप्पणी : पादांगुष्ठासन को भिन्न मतानुसार दो प्रकार से किया है।

नोट : प्रथम प्रकार का वर्णन पहले किया जा चुका है।

## जानुशिर एकपाद स्कंधासन/एक पाद शिरासन/स्कंदासन
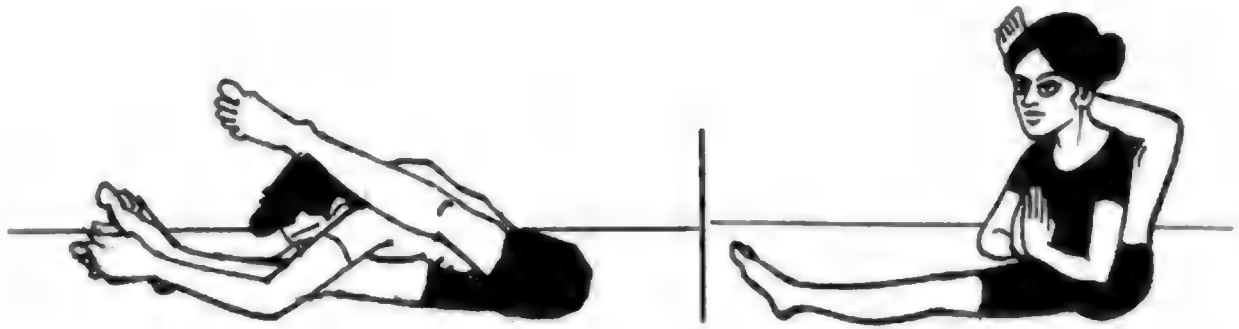
शाब्दिक अर्थ : पाद का अर्थ पैर है और स्कंध का अर्थ कंधे हैं।

विधि : ज़मीन पर समानांतर पैर फैलाकर बैठ जाएँ। अब आपको एक पैर कंधे पर रखना है। इसके लिए नए अभ्यासी पहले दोनों पैर थोड़े-थोड़े मोड़ लें, अब दाहिने पैर के टखने को पकड़ें और धीरे-धीरे सिर के ऊपर से दाहिने पैर (पिंडली) को कंधे पर रखने की कोशिश करें। कठिनाई हो रही हो तो सिर व धड़ को थोड़ा आगे की तरफ़ झुका लें। याद रहे दूसरा पैर सीधा ज़मीन से सटा रहे। एक पैर कंधे पर रखते समय श्वास छोड़ें और धीरे-धीरे सिर व मेरुदण्ड को सीधा करें। इस स्थिति को एकपाद स्कधासन कहते हैं। अब इसी अवस्था में पश्चिमोत्तानासन करें। (इस अवस्था को पाद ग्रीवा पश्चिमोत्तानासन भी कहते है।) श्वास छोड़ते हुए माथे को घुटने से लगाना है किन्तु घुटने को ज़मीन से नहीं उठाना है। श्वास लेते हुए वापस आएँ और पैरों को भी सामान्य अवस्था में ले आएँ। इसी प्रकार अब पैर बदलकर आसन करें।

श्वासक्रम/समय : झुकते समय श्वास छोड़ें। लौटते समय श्वास लें। लगभग 10-15 सेकेण्ड इसी अवस्था में रहें। गहरी साँस लेते रहें।

ध्यान : विशुद्धि चक्र या आज्ञाचक्र पर।

लाभ : ❍ मेरुदण्ड को अधिक मात्रा में रक्त मिलता है, जिससे संतुलन बनाए रखने वाले चक्रों को ऊर्जा शक्ति मिलती है। ❍ कमर एवं नितम्बों में लोच पैदा होती है। ❍ प्रजनन-

तंत्र सम्बंधी विकार नष्ट होते हैं। ❍ शरीर अधिक सुदृढ़ होता है। ❍ ये आसन रक्त शुद्धीकरण में बहुत सहयोग प्रदान करते हैं।

सावधानियाँ : साइटिका, स्लिप डिस्क और हार्निया के रोगी इसे न करें।

नोट : इस आसन के पहले या तुरंत बाद में पीछे झुकने वाले आसन करने से आसन में आया हुआ विकार दूर होता है।

## शीर्ष जानुस्पर्शासन

शाब्दिक अर्थ : शीर्ष अर्थात् सिर एवं जानु का अर्थ घुटना है।

विधि : यह संतुलन एवं उच्च अभ्यास का आसन है। देखने में सरल किंतु क्रियात्मक रूप से कठिन है। सावधान की स्थिति में खड़े हो जाएँ। बाएँ पैर के घुटने को मोड़ते हुए एड़ी को नितम्ब से लगाएँ। दोनों हाथों से पंजे को पकड़ें। अब सिर आगे की तरफ़ झुकाते हुए दाहिने पैर के घुटने से स्पर्श कराएँ। कोशिश करें कि घुटना मुड़े नहीं। इसी क्रिया को पैर बदलकर करें।

श्वासक्रम/समय : श्वास क्रिया के प्रति सजग रहें। झुकते समय श्वास छोड़ें। वापस आते समय श्वास लें। 4 से 5 बार करें।

लाभ : शरीर का वात कम होता है। कंपन रोग नहीं होता।

- संतुलन शक्ति बढ़ती है।
- मेरुदण्ड को लाभ मिलता है।
- जाँचें मज़बूत होती हैं।
- जोड़ों के दर्द में लाभ मिलता है।

सावधानियाँ : स्लिप डिस्क, साइटिका वाले रोगी न करें।

- उच्च रक्तचाप, चक्कर आने एवं हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति इसे क्रमशः धैर्य पूर्वक करें।

## अर्धबध्द पद्मोत्तानासन
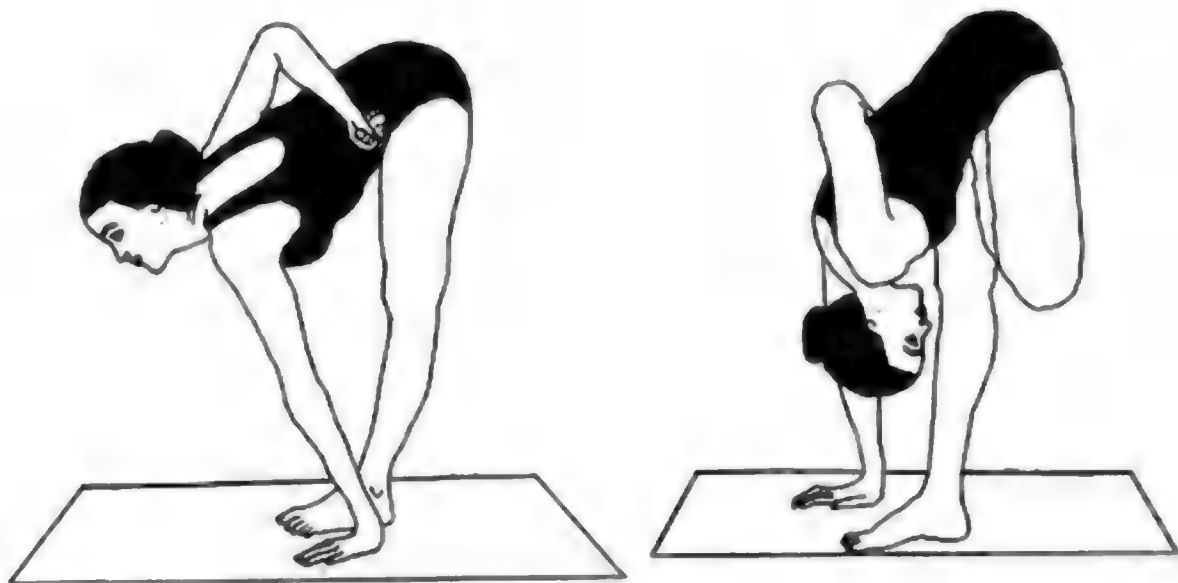
विधि : समावस्था में खड़े हो जाएँ अर्थात् दोनों पैर के पंजो को एक साथ स्थित करें। दृष्टि सामने रखें। बाएँ पैर पर सन्तुलन बनाते हुए दाहिने पैर को उठाकर घुटने से मोड़ें और दाहिने पंजे को बायीं जंघा पर ऊपर की तरफ़ अर्ध पद्मासन की स्थिति में हाथों का सहारा लेकर रखें। अब यहाँ पर हाथों की स्थिति दी प्रकार से कर सकते है या तो हाथों को ऊपर की तरफ़ करें और अंगुलियों को आपस में फसा लें या फिर दाहिने हाथ को पीठ के पीछे से घुमाकर दाहिने पंजे या अंगूठे को पकड़े तत्पश्चात् धीरे-धीरे सामने की तरफ़ झुकें और

हाथों को ज़मीन पर तथा नासिका को घुटने से स्पर्श कराएँ। अनुकूलतानुसार रुकें और मूल अवस्था में वापस आ जाएँ। हाथों की स्थिति सामान्य करें। दोनों पैरों को जमाकर शिथिल करें। खड़े रहने के स्थिति में विश्राम के बाद बाएँ पैर से आसन की पुनरावृत्ति करें।

श्वासक्रम/समय : सामने झुकते समय श्वास छोड़ें। अंतिम अवस्था में सामान्य श्वास-प्रश्वास करें। मूल अवस्था में लौटते समय श्वास लें। 10 से 15 सेकण्ड रुकें या अनुकूलतानुसार रुके क्रमशः 2 चक्र पूरे करें।

लाभ :
- उदर के अंगो को उद्दीप्त कर पाचन तंत्र को मज़बूत करता है।
- क़ब्ज़ दूर कर शरीर और मन में हल्कापन लाता है।
- पैरो का कंपन दूर कर उन्हें मज़बूत बनाता है।
- वायु नाशक है। शरीर के ऊर्ध्व अंग को भी बल मिलता है।

सावधानियाँ :
- धैर्यपूर्वक संतुलन बनाएँ।
- गर्भवती स्त्रियाँ, मेरुदण्ड के जटिल रोग से पीड़ित, साइटिका, स्लिप डिस्क एवं विचलित मन वाले न करें।

## अष्टवक्रासन
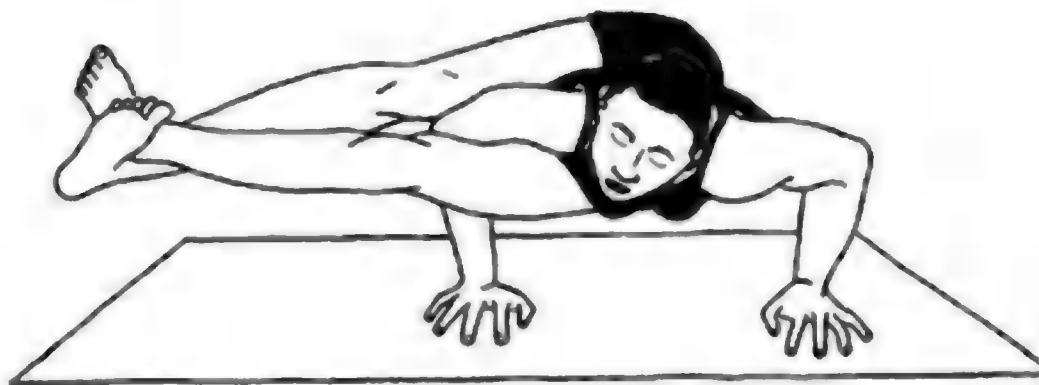
यह आसन मुनि अष्टावक्र को समर्पित है जो कि सीता के पिता और राजा जनक के गुरु थे।

विधि : लगभग डेढ़ फीट की दूरी पर दोनों पैर फैला कर खड़े हो जाएँ। घुटनों को मोड़े। ज़मीन पर पैरों के बीच दाहिनी हथेली और बाएँ पैर के थोड़ा आगे बायीं हथेली रखें। दाहिनी भुजा पर दाहिना पैर इस प्रकार रखें कि दाहिनी कुहनी के ऊपर दाहिनी जांघ का पृष्ठ भाग आए। अब बाएँ पैर को भुजाओं के बीच आगे दाएँ पंजे के पास रखें। श्वास छोड़ें

एवं दोनों पैरों को ज़मीन से ऊपर उठाएँ। दाएँ पैर के टखने पर बायाँ पैर रखकर फसाएँ (चित्र देखें) और पैरों को दाहिने तरफ़ तिरछे रूप में फैलाएँ इस प्रकार दोनों जांघो के बीच दाहिनी भुजा आ जाएगी अब दाहिनी कुहनी को थोड़ा झुका लें। बायीं भुजा सीधी होनी चाहिए। दोनों हाथों पर सन्तुलन स्थापित करें एवं कोहनियाँ मोड़े, ज़मीन के समानान्तर सिर एवं धड़ को लाएँ। यह इस आसन की अंतिम अवस्था है यथा संभव रुकें व श्वास लें। भुजाओं को सीधा करें। सिर एवं धड़ ऊपर उठाएँ, पैरों को अलग करें और ज़मीन पर रखें। अपनी मूल अवस्था में आ जाएं और दूसरी तरफ़ से भी इसी क्रिया को दुहराएँ।

श्वासक्रम/समय : पैरों को ऊपर उठाते समय अंतःकुंभक करें। अंतिम अवस्था में श्वसन क्रिया सामान्य रखें। पैरों को नीचे करते समय श्वास छोड़ें।

लाभ :
- मणिबंध, भुजा व कंधे को मज़बूत और सुद्रढ़ता देता है।
- उदर प्रदेश की क्रियाशील बनाता है।
- मन को नियन्त्रित करता हुआ जीवन में उत्थान लाता है।
- पूरे शरीर में रक्त संचार को विनियमित करता है।
- चेहरे के ओज-तेज को बढ़ाता है।

सावधानियाँ:
- कमज़ोर कलाई व कंधों के विकार से ग्रसित व्यक्ति न करें।
- सन्तुलन पर ध्यान केन्द्रित करें आसन के बाद शिथिलता वाले आसन करें।

## उत्थित टिट्टिभासन
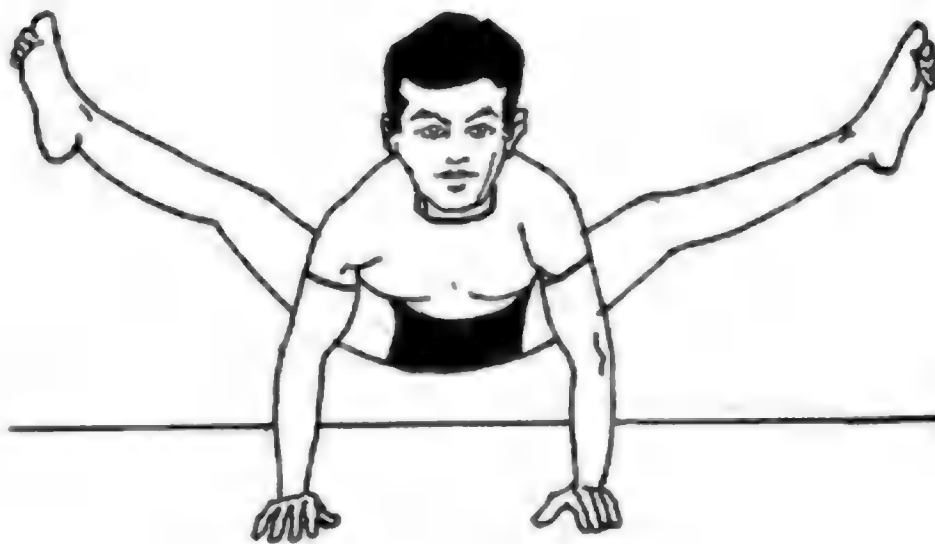
शाब्दिक अर्थ : झींगुर का संस्कृत नाम 'टिट्टिभ' है।

विधि : अपने आसन में बैठें। सामने की तरफ़ पैर तानें। अब दोनों पैरों को फैला लें। दोनों हाथों को चित्रानुसार ज़मीन पर रखें एवं हाथों के सहारे सारे शरीर को ऊपर उठा लें। पैर लंबवत् ही रखें और घुटने न मोड़ें। इसे सही ढंग से करने के लिए बहुत अभ्यास की आवश्यकता होती है। अतः जल्दी न करें।

श्वासक्रम/समय : श्वास के प्रति सजग रहें। ऊपर उठते समय श्वास लें एवं मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ें। 4-5 बार यह क्रिया करें।

**&**यान : ऊर्ध्व चेतना का ध्यान करें।

लाभ :
- 'चेतना' सूक्ष्म रूप से ऊर्ध्वमुखी होती है।
- आत्मविश्वास को बल मिलता है।
- मानसिक शांति मिलती है।
- हाथों की विशेष लाभ मिलता है।
- बुढ़ापे में कंपन वाला रोग नहीं होता।
- पूरे शरीर में दृढ़ता आती है।

सावधानियाँ : अति उच्चरक्तचाप, हृदय रोगी एवं कमज़ोर कलाई वाले न करें।

नोट : पैरों की स्थिति सामने की तरफ़ भी करके यह आसन किया जा सकता है, परन्तु लाभों में विशेष अंतर नहीं पड़ता। उस स्थिति को द्विहस्त भुजासन भी कहते हैं।

## लिंङ्गाकारासन

विशेष : लिंग का अर्थ चिन्ह, अनुमान या प्रकृति और शिव की विशेष मूर्ति के लिए किया जाता है। उसमें अन्तर्निहित भाव को समझने के लिए तो विवेक की आँखें चाहिए। शिव की अभिव्यक्ति के लिए कोई यथार्थ प्रकृति कृति हो ही नहीं सकती। कहा भी है कि 'न तस्य प्रतिमा अस्ति।' यानी उस दिव्य सत्ता की न कोई प्रतिमा हो सकती है न प्रतिमान। इसलिए उसे गोलमटोल अथवा लम्बाकार पिण्ड के रूप में दिखाया जाता है। शिवलिंग जैसी आकृति होने के कारण इसे लिंङ्गाकारासन नाम से अभिनीत किया गया है।

विधि : यह एक उच्च अभ्यास वाला आसन है। वृश्चिक आसन का अच्छा अभ्यास होने के बाद धीरे-धीरे नितम्बों को पीठ से सटाते हैं एवं जंघाओं को सिर से सटाते हैं। इस प्रकार सिर से कमर तक का भाग नितम्ब, जघा एवं पैर के समानान्तर हो जाता है और इस स्थिति में नितम्ब, जंघा एवं पैर भी ज़मीन के सामानान्तर हो जाते हैं। पैरों के पंजे सिर से आगे हो जाते हैं।

लाभ :
- शरीर के क्रमश: रोग निवारण में पूर्णतः समर्थ।
- किसी भी प्रकार के कपवात का अचूक इलाज़।
- शरीर में लोच, लचक एवं नई ताज़गी का प्रादुर्भाव होता है।
- आत्मिक उत्थान में सहायक।
- इस आसन को करने के बाद लगभग सभी आसन आसानी से किए जा सकते हैं।
- उदर प्रदेश, फेफड़े, मेरुदण्ड, जांघा, पीठ, कमर आदि सभी में रक्त संचार को सुचारु बनाता है।

सावधानियाँ: ❍ बहुत अधिक प्रयास के बाद ही संभव है, अतः योग शिक्षक की देख-रेख के बिना न करें।

- ❍ चूँकि साधक का शरीर कमर के हिस्से से इतना मुड़ जाता है कि साधक की पीठ पर जंघा का स्पर्श होने लगता है, अत: महीनों के अभ्यास से ही संभव है।
- ❍ उच्च रक्तचाप, चक्कर आना, हृदय रोग एवं सख्त शरीर वाले आसन न करें। इस आसन को करने के बाद पश्चिमोत्तानासन, पाद हस्तासन करें।

## उत्थित शीर्षासन/व्याघ्रासन (द्वितीय प्रकार)

विधि : दोनों घुटनों के बल जमीन पर बैठ जाएँ। सामने दोनों हाथों की कोहनियाँ और हाथ के पंजे को जमीन पर रखें तथा शरीर का पूरा वजन हाथों पर देते हुए पूरे शरीर को शीर्षासन की तरह करें परन्तु पूरा भार हाथों पर ही रखें। सिर को उठाकर सामने देखने की कोशिश करें एवं पीठ को मोड़ते हुए पैरों को उर्ध्व में स्थिर करें (चित्र देखें)।

श्वासक्रम/समय : पैरों को उठाते समय अंत:कुम्भक करें अंतिम स्थिति मे श्वासक्रम धीमा

करें और 10 से 20 सेकेण्ड तक क्षमतानुसार करें।

लाभ : ❍ रक्त संचार तीव्र करता है। झड़ते बालों को रोकता है। झुर्रियों का शमन कर चेहरे का तेज बढ़ाता है।

- ❍ आँखों की रोशनी बढ़ती है।
- ❍ वक्ष:स्थल मजबूत होता है। फेफड़े पुष्ट होते हैं।
- ❍ हाथ, कंधे, मेरुदण्ड एवं कमर में लोच-लचक तथा मजबूती आती है।

सावधानियाँ:O इस आसन से उच्च रक्त चाप, हृदय रोग एवं मानसिक "कमज़ोरी वाले परहेज करें।

- ❍ उच्च अभ्यास का आसन होने के कारण योग शिक्षक का सहयोग प्राप्त करें।

नोट : ❍ व्याघ्रासन के प्रथम प्रकार का वर्णन पहले आ चुका है।

- ❍ कुछ योग शिक्षक इस आसन को पिच्छ मयूरासन भी कहते हैं।

## संख्यासन

विशेष : इसको दो प्रकार से कर सकते हैं

विधि : प्रथम : कागासन में बैठ जाएँ। अब दाहिने पैर को उठाकर दोनों हाथों की सहायता से दाहिने कंधे के पीछे क्रमश: ले जाएँ व बाएँ पैर के पंजे पर पूरा संतुलन स्थापित करें। हाथों को नमस्कार की मुद्रा में बनाएँ। यथाशक्ति बैठने की कोशिश करें।

विधि : द्वितीय : दोनों पैर सामने की तरफ़ फैलाकर बैठ जाएँ और हाथों की सहायता से दाहिने पैर की उठाकर दाहिने कंधे के पीछे ले जाएँ और धीरे-धीरे फैले हुए दूसरे पैर को खींचकर हाथों की सहायता से घुटने को मोड़कर पंजे को ज़मीन पर जमाकर बैठ जाएँ। (जब दाहिने पैर को कंधे पर रखते हैं तब बाएँ पैर को भी थोड़ा सा घुटने से मोड़ लेने पर आसन लगाने में सरलता होती है) हाथों से नमस्कार की मुद्रा बना लें। उपरोक्त दोनों विधियों में पैर बदल कर भी क्रिया को दोहराएँ।

श्वासक्रम/समय : अंतिम स्थिति में सामान्य श्वास प्रश्वास करें। 5 से 10 सेकेण्ड करें।

लाभ : ❍ पूरे शरीर में रक्त संचार की वृद्धि करता है

- जीवन में भी संतुलन प्रदान करता है।
- उदर प्रदेश, मेरुदण्ड, एवं श्रोणी प्रदेश को लाभ।

सावधानियाँ : उच्च अभ्यास के आसन होने के कारण इसे धीरे-धीरे करना चाहिए। यदि नितम्बों व कमर में अधिक लोच लचक एवं मजबूत हो तभी करें।

## धराजासन(फ्लेगपोस्चर)/एकपादशीर्षस्पशासन/कायोत्सर्ग

## स्थित एक पाद शीर्षासन/उर्ध्व एक पादतल शीर्षस्पर्शासन
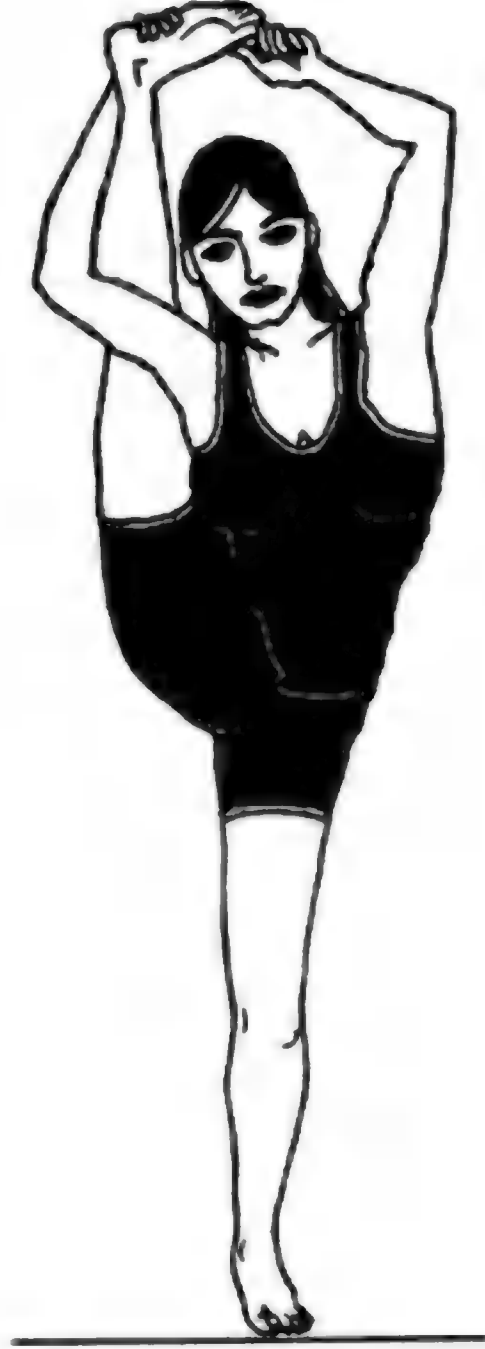
विधि : समावस्था में खड़े हो जाएँ, चूँकि यह अति उच्च अभ्यास की क्रिया है। अतः सावधानी पूर्वक दाहिने पैर को धीरे-धीरे ऊपर उठाते हुए पहले $90^0$ का कोण फिर $18o^0$ को कोण का निर्माण करें, इस अवस्था में पैर बिल्कुल गर्दन एवं सिर के समकक्ष होता हुआ पादतल आकाश की तरफ़ हो जाएगा। अंतिम अवस्था में हाथों का सहारा लेने से सरलता होती है। यही आसन पैर बदलकर भी करें। कुछ साधक एक हाथ सामने की तरफ़ तानते हैं।

श्वासक्रम/समय : पैर को ऊपर उठाते समय अंतःकुंभक करें। अंतिम स्थिति में सामान्य

श्वासप्रश्वास करें। मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ें। यथाशक्ति रुकें।

लाभ : पैरों की माँसपेशियाँ सशक्त और मजबूत होती है। नितम्ब के जोड़ एवं कमर को व्यवस्थित करता है। पीठ की माँसपेशियाँ व मेरुदण्ड सुद्रढ़ होते हैं। पूरे शरीर को सौष्ठव प्रदान होता है।

सावधानी : नितम्बों के जोड़ और कमर पर जोर पड़ने के कारण धैर्य और विवेक का उपयोग करें एवं अभ्यास को धीरे-धीरे बढ़ाएँ।

नोट : कुछ योगाचार्य उपरोक्त आसन को एक पाद शीर्षासन भी कहते हैं। जबकि एक पादर्शीर्षासन अन्य प्रकार से भी होता हैं।

## दुर्वासन/उत्थित एक पाद शिरासन/

## उत्थित एक पाद स्कंधासन

विशेष : यह आसन उन साधकों को करना चाहिए जो उच्च अभ्यास के आसनों में अभ्यस्त हैं।

विधि : दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठ जाइए। अब एक पैर को सिर के पिछले भाग पर कंधे का सहारा लेकर रखिए। और दूसरे पैर को मोड़ते हुए हाथों का सहारा लेते हुए उकड़ू बैठे और धीरे-धीरे संतुलन बनाते हुए खड़े हो जाएँ। (प्रथम अभ्यासी यदि सीधा खड़ा नहीं हो जाता है। तो थोड़ा झुककर संतुलन बनाते हुए सीधे खड़े होने का प्रयास करें) अंतिम स्थिति में हाथों से नमस्कार की स्थिति निर्मित करें। जब तक आकुलता रहित खड़े रह सकते हों, खड़े रहें। धीरे-धीरे सजगता के साथ बैठे। और इसके बाद पैर बदलकर यही आसन बनाएँ।

श्वासक्रम/समय : खड़े होने की स्थिति में श्वास लें। पूर्ण आसन पर सामान्य श्वसन करें एवं बैठते समय श्वास छोड़ें। अनुकूलतानुसार करें।

ध्यान : अनाहत चक्र पर

लाभ : ❍ इस आसन को करने से जीवन में संतुलन/विनम्रता आती हैं।

- ❍ स्वाभिमानी बनाता है। मृदुभाषी होता है।
- ❍ पैरों का असमय कांपना बंद होता है।
- ❍ सामान्य कमर दर्द से राहत एवं मेरुदण्ड लचीला बनता है।
- ❍ उदर प्रदेश के अवयवों को सुचारु करता है।

सावधानियाँ: ❍ प्रथम अभ्यासी दीवार आदि का सहारा लें।

- ❍ साइटिका, मेरुदण्ड, कमर से अत्यधिक पीड़ित एवं हृदयरोगी इसे न करें।

नोट : इसी आसन में जब हाथों को फैला दिया जाए तो उसको यान आसन कहते हैं।

## कश्यापासन
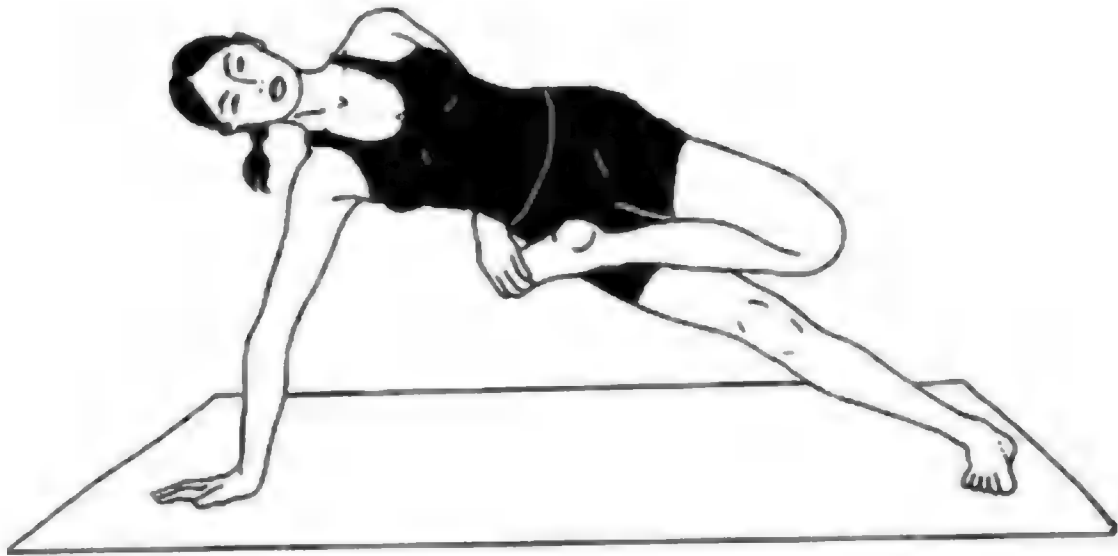
विशेष : यह आसन ब्रह्मा के पुत्र मरीचि ऋषि के पुत्र कश्यप मुनि को समर्पित है।

विधि : ताड़ासन में खड़े हो जाएँ। आगे झुकें और दोनों हथेलियों को ज़मीन पर रखें एवं 4 से 5 फिट अपने पैर पीछे ले जाएँ पूरे शरीर को दायीं तरफ़ तिरछा घुमाएँ दायाँ हाथ और दाहिने पैर पर पूरे शरीर का सन्तुलन बनाते हुए रखें अब बायाँ पैर का पंजा दाहिने जांघ के ऊपर की तरफ़ इस तरह रखें कि यह अर्ध पद्मासन की तरह दिखे। बाएँ हाथ को पीठ के

पीछे ले जाकर बाएँ पैर के अंगूठे को पकड़े। यह अंतिम अवस्था है। वापस मूल अवस्था में आएँ तथा यही क्रिया दूसरी तरफ़ से भी करें।

श्वासक्रम/समय : आसन बनाते समय अंत:कुभक करें। श्वास छोड़कर बाएँ हाथ से बाएँ पैर का अंगूठा पकड़े अंतिम स्थिति में गहरी श्वास लें। वापस आते समय श्वास छोड़ें। यथाशक्ति रुकें, दोनों तरफ़ एक-एक बार करें।

लाभ :
- मेरुदण्ड की अकड़न दूर करता हैं।
- पाचन तंत्र के सभी अंगो को क्रियाशील बनाता है।
- हाथों और पैरों में पुष्ठता प्रदान करता है।
- एकाग्रता विकसित होती है।

सावधानी : सन्तुलन का विशेष ध्यान रखें।

## पूर्ण शलभासन

विधि : पेट के बल ज़मीन पर लेट जाएँ। चूँकि मेरुदण्ड को मोड़कर पैरों को आसमान की तरफ़ उठाना है, अत: इस विधि में हाथों की स्थिति, छाती का अगला हिस्सा एवं ठुड्डी ज़मीन से स्पर्श करती रहेगी। अब पैरों को जमीन से इतना ऊपर उठाएँ कि आपका मेरुदंड बीच में से मुड़ जाए और पेट व छाती भी कुछ हद तक उठ जाये। पैरों के तलवे आसमान की तरफ़ हों तथा ऐड़ी का अगला हिस्सा सिर की तरफ़ झुका हुआ हो। इस प्रकार पूर्ण शलभासन को करने में काफ़ी समय लग जाता है। पहली ही बार में पूर्ण प्रयास न करें। जो पूर्ण स्वस्थ हों व जिनका मेरुदंड लचीला हो, वे ही इस आसन को करें।

श्वासक्रम/समय : पैरों को ऊपर एवं नीचे करते समय अंतकुंभक करें। पूर्ण अवस्था में श्वास सामान्य ही रखें। 5 से 10 सेकेण्ड तक करें।

लाभ : शलभासन के सभी लाभ प्राप्त होते हैं। कुछ हद तक शीर्षासन, सवांगासन के भी लाभ प्राप्त होते हैं।

सावधानियाँ: ○ कड़क मेरुदंड वाले न करें। गुर्दे की समस्या, कमज़ोर आँत अल्सर, हार्निया व उच्च रक्तचाप से पीड़ित रोगी न करें।

- हृदय रोगी बिल्कुल न करें।
- जो साधक वृश्चिक जैसे कठिन आसन लगा लेते हैं वे ही इस आसन की करें।

नोट : ○ कुछ योगाचार्य पूर्ण शलभासन के लिए पादतलों को सिर के ऊपर भी रखवाते हैं।

- चूँकि यह उच्च अभ्यास का आसन है। अत: पूर्ण सावधानी रखें।

## पर्यंकासन (द्वितीय प्रकार)
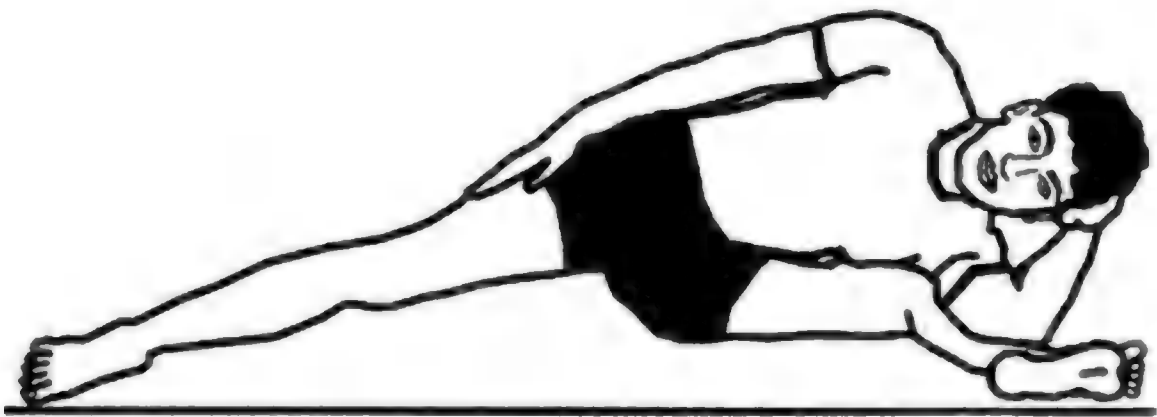
विधि : सामने की तरफ़ पैरों को फैलाकर बैठ जाएँ। अब बाएँ पैर को बाई तरफ़ ले जाकर घुटना थोड़ा मोड़ लें। फिर बाई तरफ़ लेटकर बायाँ हाथ बाएँ पैर पर रख लें और तकिया सा बनाकर हथेली से सिर की सहारा दें। फिर दाहिना पैर सीधा सामने की तरफ फैला लें और दाहिने हाथ को दाहिने पैर की जंघा पर रखें। अब यही क्रिया पैर बदलकर करें।

श्वासक्रम/समय : पैरों को उठाते समय श्वास लें और अंतिम अवस्था में श्वास-प्रश्वास गहरा परन्तु धीमा करें। मूल स्थिति में लौटते समय श्वास छोड़ें। आधे से 1 मिनट करें।

लाभ : जांघ, कमर, वक्षःस्थल, मेरुदण्ड, पीठ, ग्रीवा, पाचन तंत्र पर आसन का विशेष प्रभाव पड़ता हैं। अतः सभी अंग अधिक क्रियाशील हो जाते हैं।

सावधानियाँ:
- यह आसन वे साधक ही करें जो द्विपाद शिरासन कर लेते हैं।
- शारीरिक रूप से लोच-लचक वाले साधक क्रमश: अभ्यास पूर्वक करें।

नोट : पर्यकासन के प्रथम प्रकार का वर्णन पिछले पृष्ठों पर किया गया है।

विशेष : जिस प्रकार भगवान शिव की बैठी हुई ध्यानस्थ मुद्रा है उसको भी कुछ साधक पर्यकासन कहते हैं।

## द्विपाद शिरासन/द्विपाद स्कंदासन

विशेष : यह आसन उन साधकों को करना चाहिए जो कि एक पाद शिरासन में अभ्यास है।

विधि : दोनों पैर फैलाकर बैठ जाएँ। एक पैर को दोनों हाथों के सहारे एक पाद शिरासन करें। इसी प्रकार से दूसरे पैर को भी कंधे पर रखें एवं दोनों पैरों को व्यवस्थित कर आपस में कैंचीनुमा ढंग से फंसा लें, पर ज़बरदस्ती न करें। क्रमश: अभ्यास से संभव हो जाता है। अब नितम्बों में संतुलन बनाते हुए नमस्कार की मुद्रा बनाएँ।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर

श्वासक्रम/समय : रेचक करते हुए क्रमशः पैरों को कधों पर रखें। आसन की पूर्ण स्थिति में स्वभाविक श्वसन एवं रेचक ही करते हुए पैरों को निकालें। यथाशक्ति अभ्यास करें।

लाभ :
- पुरुष रोगों के लिए अत्यन्त लाभकारी।
- महिलाएँ मासिक धर्म की समस्याओं से छुटकारा पा सकती हैं।
- पाचन तंत्र को व्यवस्थित कर क़ब्ज़, अपच आदि बीमारियों को दूर करता है।
- कमर और मेरुदण्ड में लोच-लचक पैदा कर उन्हें सशक्त बनाता है।
- मोटापे से निजात दिलाता है।

सावधानियाँ :O प्रथम अभ्यासी 10/15 सेकेण्ड से ज्यादा न करें।

- मेरुदण्ड, पीठ और कमर की किसी भी समस्या से पीड़ित व्यक्ति न करें।
- गर्भवती स्त्रियौं और उच्च रक्तचाप, साइटिका, हृदयरोग, सर्वाइकल, स्पॉण्डिलाइटिस से पीड़ित रोगी न करें।

## उत्थित द्विपाद ग्रीवासन/उत्थित द्विपाद शिरासन/उत्थित द्विपाद स्कंदासन

विधि : दोनों हाथों को जाँघों के पास ज़मीन पर स्थिर करें या सामने की तरफ़ पैरों को फैलाकर बैठे। पहले एक पैर को दोनों हाथों का सहारा लेते हुए कंधे पर स्थिर करें। तत्पश्चात् दूसरे पैर से भी आसन निर्मित करें और दोनों पैरों को कैंचीनुमा ढंग से फैसा लें। दोनों हाथों को जाँघों के बीच में से निकालकर सामने ज़मीन पर हथेलियों को रखें एवं संतुलन बनाते हुए भुजाओं के बल पूरे शरीर को धीरे-धीरे ऊपर उठाएँ। थकान या अस्थिरता होने पर धीरे-धीरे वापस आएँ एवं क्रमशः पैरों को बंधन से मुक्त करें।

श्वासक्रम : ऊपर उठते समय पूरक करें। अंतिम स्थिति में सामान्य श्वास-प्रश्वास एवं मूल स्थिति में लौटते समय रेचक करें।

समय : 10-30 सेकेण्ड या सुविधापूर्वक जितनी देर रह सकें।

लाभ : वे सभी लाभ प्राप्त होते हैं जो द्विपाद शिरासन, उत्थित एक पाद शीर्षासन और द्विपाद कधरासन से होते हैं।

नोट : जो साधक उत्थित एक पाद शिरासन/द्विपाद कन्धरासन या द्विपाद शिरासन कर लेते हैं, वे ही उपरोक्त आसन करें।

सावधानियाँ : वे सभी सावधानियाँ, जो द्विपाद शिरासन/उत्थित एक पाद शीर्षासन के लिए हैं।

## काल-भैरवासन (द्वितीय प्रकार)

शब्दार्थ : भगवान शिव का ही एक रूप।

विधि : दोनों पैर सामने फैलाकर बैठ जाएँ। बाएँ टखने को दोनों हाथों से पकड़ें और छाती के पास लाएँ। श्वास छोड़ें। छाती और गर्दन को थोड़ा सा आगे झुकाते हुए बाएँ टखने को गर्दन के पीछे रखें। अब दोनों हाथों को नितम्बों के पास रखें और बाएँ तरफ़ मुड़ें। दाहिने हाथ को सहारे के लिए बॉई तरफ़ रखें। दाहिने पैर को तिरछा करें। श्वास छोड़ें और दोनों हाथों से वज़न देते हुए शरीर को ऊपर उठाएँ। सामान्य श्वास-प्रश्वास करें। फिर श्वास छोड़ें। दाहिने हाथ का सहारा हटाएँ। अब इसी हाथ को सीधे आकाश की तरफ़ तान दें। इस प्रकार शरीर का पूरा भार (संतुलन) दाहिने पैर और बाएँ हाथ पर रहेगा।

श्वासक्रम/समय : लगभग 5 से 10 सेकेण्ड इसी अवस्था में रहें व धीमी और गहरी श्वास लें एवं मूल अवस्था में आते समय अंत:कुंभक करें।

लाभ : ❍ पूरे शरीर में एक प्रकार की ऊर्जा निर्मित होती है। जिससे हमारे सातों चक्रों का उत्थान होता है।

- ❍ रक्त संचार तीव्र गति से होने लगता है। जिस कारण हृदय प्रदेश अशुद्ध रक्त को प्रासुक करने में अधिक सहयोगी हो जाता है।
- ❍ हमारे शरीर के स्नायु संस्थान, नाड़ी संस्थान को ठीक करता है।
- ❍ छाती बलिष्ट और श्वास क्रिया अधिक परिपूर्ण ढंग से होती है।

सावधानियाँ : ❍ अति उच्च रक्तचाप से पीड़ित व्यक्ति न करें।

- ❍ किसी भी प्रकार की शारीरिक जटिलता हो, तो न करें।

विशेष : काल भैरवासन का प्रथम प्रकार पिछले पृष्ठों में दिया गया है।

## विश्वामित्रासन
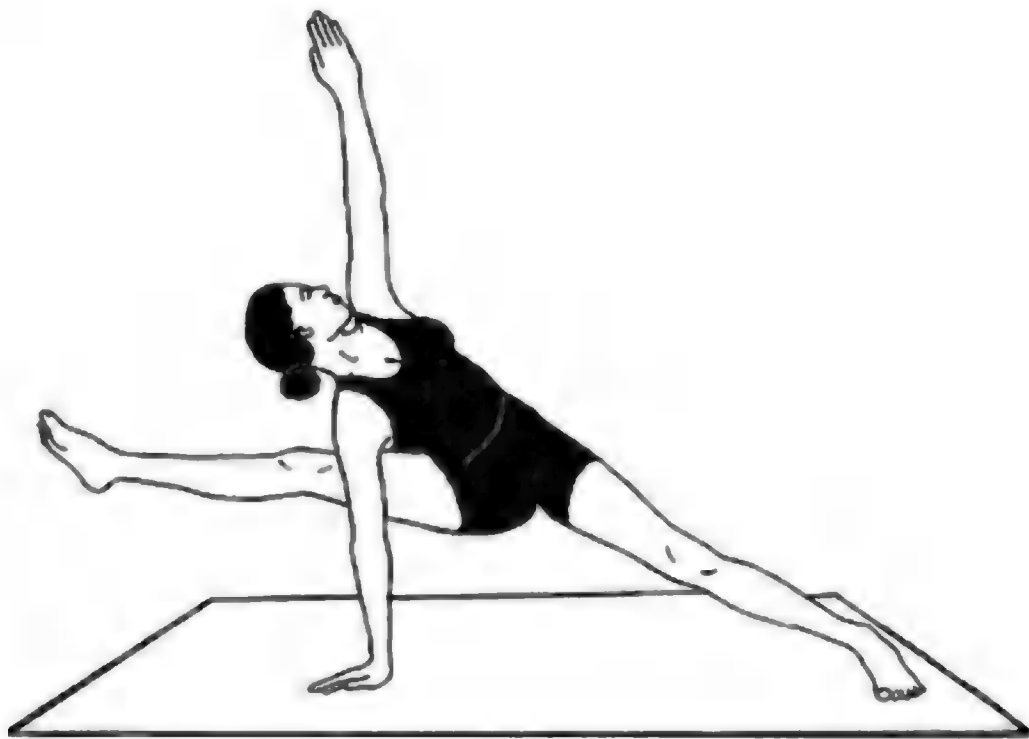
विश्वामित्र एक प्रसिद्ध ऋषि का नाम है। यह आसन उन्हीं को समर्पित है।

विधि : ताड़ासन में खड़े हो जाएँ। आगे की ओर झुकें एवं हथेलियाँ ज़मीन पर रखें। दोनों पैरों को 4 से 5 फिट पीछे ले जाएँ। श्वास छोड़ें। दायाँ पैर दाएँ हाथ के पास लाएँ। दाहिने जांघ के सामने का हिस्सा दाहिनी भुजा के ऊपर पिछले भाग पर रखें और शीघ्र ही शरीर को दायीं तरफ़ घुमाएँ। बायाँ हाथ बायीं जांघ पर रखें और सन्तुलन बनायें रखें। बाएँ पैर को तिरछा करें अब बाएँ पैर के तलवे और एड़ी को ज़मीन पर दबाएँ तथा दाहिने हाथ पर वज़न देते हुए दाहिने पैर को ऊपर सामने की और सीधा करें एवं बायाँ हाथ सीधे ऊपर की ओर कर उसकी तरफ़ देखें। यह इस आसन की अंतिम अवस्था है। वापस मूल अवस्था में आएँ। यही क्रिया दूसरे पैर से भी करें।

श्वासक्रम/समय : पैर उठाते समय अंत:कुभक करें। अंतिम स्थिति में सामान्य श्वसन करें। मूल अवस्था में आते समय श्वास छोड़ें। अंतिम स्थिति में 10 से 15 सेकण्ड रुकें एवं एक-एक बार दोनों तरफ़ से यही क्रिया करें।

लाभ :
- एकाग्रता और सन्तुलन में सामंजस्य बैठाता है।
- हाथों और पैरों को सशक्त और मज़बूत बनाता है।
- पूरे शरीर में सुद्रढ़ता प्रदान करता है।
- उदर के अंगो को पुष्ट बनाता है।

सावधानी : सन्तुलन में ध्यान दें।

## द्विपाद कंधरासन
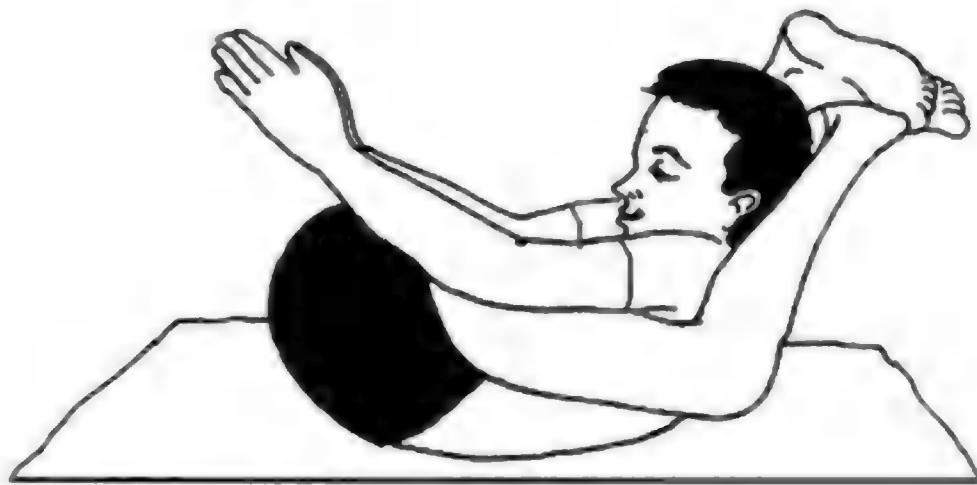
नोट : कुछ योग गुरु इस आसन को सुप्त द्विपाद कधरासन भी कहते हैं।

विधि : आसन करने के लिए पहले कम्बल की मोटी तह कर लें। क्योंकि शरीर का पूरा भार पीठ व मेरुदण्ड पर ही रहता है। पीठ के बल कम्बल पर लेट जाएँ। शरीर को शिथिल करें। अब एक पैर को दोनों हाथों का सहारा लेकर धीरे-धीरे सिर के पीछे रखें और यही क्रम दूसरे पैर के लिए करें। दोनों पैरों की जाँघों को भुजाओं के नीचे अवस्थित करना होता है। अत: सजगता के साथ करें। अंतिम स्थिति में दोनों पैरों के पंजों को कैंचीनुमा ढंग से फैसा लें और हाथों से नमस्कार की मुद्रा बना लें।

ध्यान : स्वाधिष्ठान चक्र पर।

श्वासक्रम/समय : रेचक करते हुए पैरों को सिर के पीछे ले जाइए। अंतिम स्थिति में सामान्य श्वास-प्रश्वास एवं रेचक करते हुए मूल स्थिति में आएँ। यथाशक्ति अभ्यास करें।

लाभ :
- ऊर्जा उर्ध्वमुखी होती हैं। ब्रह्मचर्य में सहायक है।
- उदर प्रदेश, पाचन तंत्र, प्रजनन तंत्र सभी को व्यवस्थित करता है।
- मनोबल एवं आत्मविश्वास बढ़ता है।
- मेरुदण्ड, कमर एवं पीठ की माँसपेशियों में लोच पैदा करके और सशक्त बनाता है।

सावधानियाँ : तीव्र कमर दर्द, साइटिका, हृद्‌रोग, आति उच्च रक्त्चाप, हार्निया से पीड़ित व्यक्ति, कड़क मेरुदण्ड और कम आत्मविश्वास वाले व्यक्ति एवं गर्भवती स्त्रियाँ इसे बिल्कुल न करें।

## प्रणवासन/योगनिद्रासन/सुप्त गर्भासन
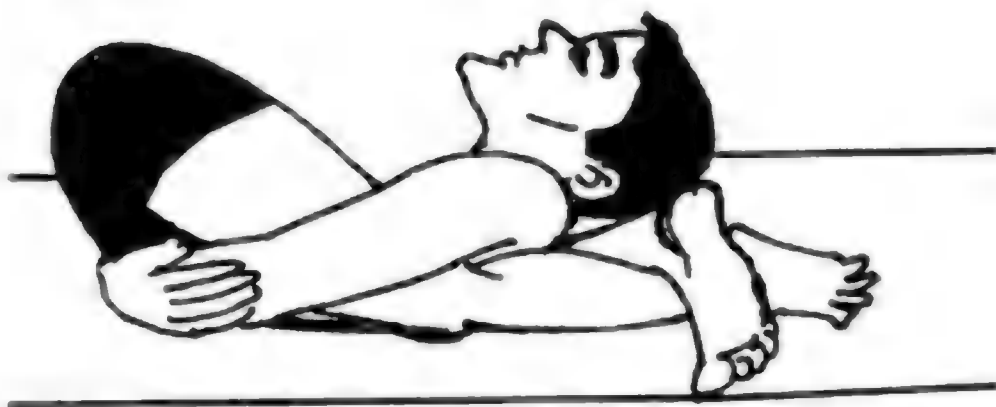
शाब्दिक अर्थ : योग निद्रासन - निद्रा का अर्थ नींद एवं योग निद्रा का मतलब कुछ हद तक

समाधि की अवस्था। इसमें साधक न तो सोता है और न ही जागरण की अवस्था में होता है। दोनों के बीच की अवस्था का नाम योगनिद्रा है। प्रणवासनः प्रणव का अर्थ ब्रह्मबीज ऑकार मंत्र ॐ है।

विधि : कबल को मोटी तह करके बिछा लें और उस पर पीठ के बल लेट जाएँ। पहले श्वास छोड़ें। अब दाहिने पैर को घुटनों से मोड़ते हुए दोनों हाथों से पकड़कर गर्दन के पृष्ठभाग पर सिर के नीचे रखें। सामान्य श्वास प्रश्वास करें। तत्पश्चात् श्वास छोड़ें। बाएँ पैर को भी इसी प्रकार रखते हुए दाहिने पैर के नीचे टखनों पर बाएँ पैर के टखने को फंसा लें। कुछ श्वास प्रश्वास करें। अब कंधे उठाएँ और दोनों हाथों को जाँघों के पृष्ठ भाग (पीठ के नीचे) पर ले जाकर अँगुलियों को आपस में फंसा लें। अंतिम स्थिति में श्वास छोड़ें। छाती को ऊपर उठाएँ एवं ग्रीवा को पीछे की और तानें। स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास लेते हुए 10 से 20 सेकेण्ड इस आसन में रहें। वापस मूल अवस्था में आने के लिए श्वास छोड़ें। हाथों को खोलें एवं पैरों की पकड़ ढीली करते हुए निकालें एवं पैरों को सीधा करते हुए विश्राम करें। पुनः इस आसन को लगाएँ। परंतु पहले जो पैर रखा था, अब उसको बाद में रखें।

लाभ : प्रतिदिन के अभ्यास से गुर्दे, यकृत, प्लीहा, आँत, पिताशय आदि स्वस्थ रहते हैं। शिश्न ग्रंथियाँ तथा मूत्राशय स्वस्थ होते हैं। निरंतर अभ्यास से उदर के अवयव रोगमुक्त होने से साधक आनंद का अनुभव करता है। जनन ग्रंथियों की शक्ति और बल मिलता है। नकारात्मक विचार नहीं आते एवं अच्छे कार्यों में मन लगता है।

सावधानियाँ :
- उच्च रक्तचाप, साइटिका एवं हृदयरोग वाले रोगी इस आसन को न करें।
- उच्च अभ्यास का आसन होने के कारण क्रमश: अभ्यास करें।

# नाडियाँ : प्रकार एवं कार्य

त्रिताप
अध्यात्मिक
आधिभौतिक आदिदैविक
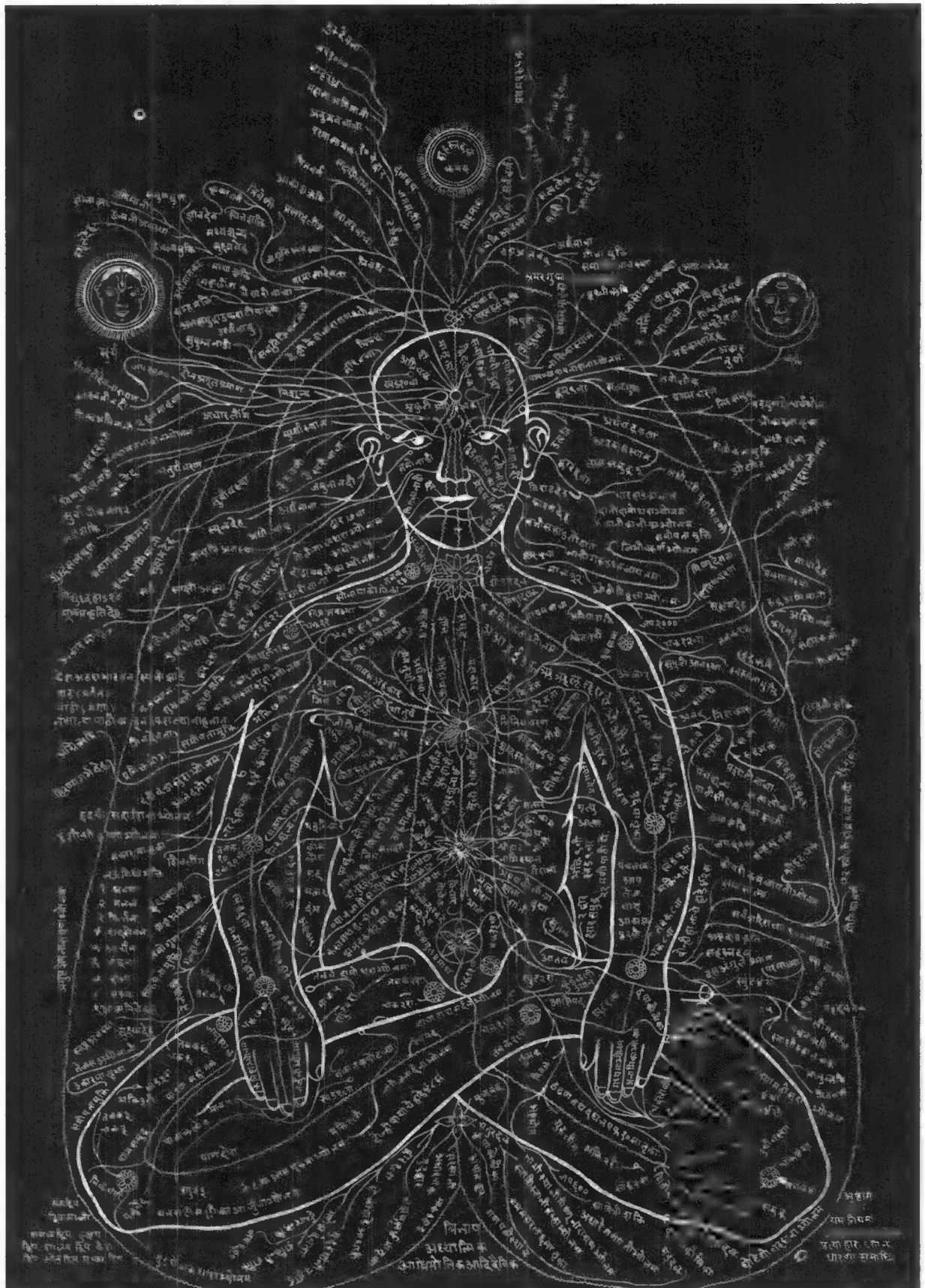
# नाड़ियाँ: प्रकार एवं कार्य

नाड़ी शब्द 'नाड' शब्द से निकलता है जिसका अर्थ है 'तृण या वनस्पित का पोला, खोखला डंठल'। नाड का शब्दार्थ 'ध्वनि' या 'तरंग' भी है। नाड़ी का अर्थ शब्दकोश में लिखा है कि शरीर के अंदर माँस और तंतुओं से मिलकर बनी हुई बहुत सी नालियों में से कोई एक या हर एक जो हृदय से शुद्ध रक्त लेकर सब अंगों में पहुँचाती है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार तंत्रिका (नर्व्स) रेशे (फाइबर्स) का एक समूह है जो शरीर के एक भाग से प्रणोदों (एम्पल्सेस) को लेकर दूसरे भाग में पहुँचाता है। प्रत्येक रेशा (फाइबर) एक तंत्रिका-कोशिका (नर्व सेल) का तंत्रिकाक्ष (एक्सॉन) होता है। योग के अनुसार नाड़ी, धमनियाँ या नलिकाएँ वे हैं जो वायु, जल, रक्त और अन्य पोषक पदार्थों के साथ पूरे शरीर में आवागमन का काम करती हैं। प्राणायाम क्रियाओं में इन्हीं नाड़ियों का उपयोग किया जाता है।

सार्धलक्षत्रयं नाङ्ग्रः सन्ति देहान्तरे नृणाम्।
प्रधानभूता नाडग्रस्तु तासु मुख्याश्चतुर्दश।।
सुषुम्णेडा पिङ्गला च गान्धारी हस्तिजिह्विका।
कुहू : सरस्वती पूषा शंखिनी च पयस्विनी।
वारूणालम्बुषा चैव विश्वोदरी यशस्विनी।
एतासु तिस्त्रों मुख्याःस्युःपिङ्गालेडासुषुम्णका।

**(शिव संहिता 2/13-15)**

हमारे शरीर में साढ़े तीन लाख नाड़ियाँ हैं (परंतु 72,000 का उल्लेख सबसे ज़्यादा मिलता है।) पर उनमें मुख्य रूप से चौदह हैं, जिनके नाम इस प्रकार हैं –

**1.** सुषुम्ना **2.** इड़ा **3.** पिंगला **4.** गान्धारी **5.** हस्तिजिव्हा **6.** कुहू **7.** सय्य्वती **8.** पूषा **9.** शंखिजी **10.** पयस्विजी **11.** वारुणी **12.** अलंबुषा **13.** विश्वोदरा **14.** यशस्विनी

इनमें भी विशेष रूप से 3 नाड़ियाँ प्रमुख हैं।

**1.** इड़ा **2.** पिंगला **3.** सुषुम्ना

नाड़ियाँ बहुत छोटी-छोटी होती हैं और नाड़ी-चक्र समस्त तीनों शरीर-स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर में परस्पर मिली हुई गुच्छिकाएँ होती हैं। वैसे वैज्ञानिक और चिकित्सक सूक्ष्म और कारण शरीर के अस्तित्व को नकारते आ रहे हैं। परंतु हमारे महान-ज्ञानी ऋषि-मुनियों ने इनको जाना, आत्मसात् किया और इनका विस्तृत विवेचन भी

किया। वराहोपनिषद में लिखा है कि नाड़ियाँ शरीर में पैरों के तलवों से लेकर सिर के ऊर्ध्वभाग तक व्याप्त हैं। इनमें ही प्राण रहता है जो जीवन का श्वास है। उसी में आत्मा का निवास होता है जो शक्ति का आवास है और चेतन तथा पुद्गल जगत का निर्माता है।

अन्य शास्त्रों के अनुसार हमारे शरीर में 72,000 नाड़ियाँ होती हैं, जिनका उद्गम स्थल गुदा और जननेन्द्रिय के ठीक 12 अंगुल ऊपर तथा नाभि के ठीक नीचे है, जिसे कंद कहते हैं। अधिकतर योगियों ने इसका उद्गम स्थान नाभि के नीचे ही माना है परंतु कुछ नाड़ियों के अंतिम स्थान में मतभेद भी है। कठोपनिषद् और प्रश्नोपनिषद् के अनुसार नाड़ियों का उद्गम स्थान हृदय स्थली है जो सैकड़ों नाड़ियों का वितरण स्थान है।

पृष्ठ भाग
सरस्वती
पयस्विनी
शंखिनी
पूषा
गान्धारी
दाहिना भाग
पिंगला
सुषुम्ना
इड़ा
बायाँभाग
यशस्विनी
हस्तिजिह्वा
वारुणी
विश्वोदरा
कुहू
अग्रभाग
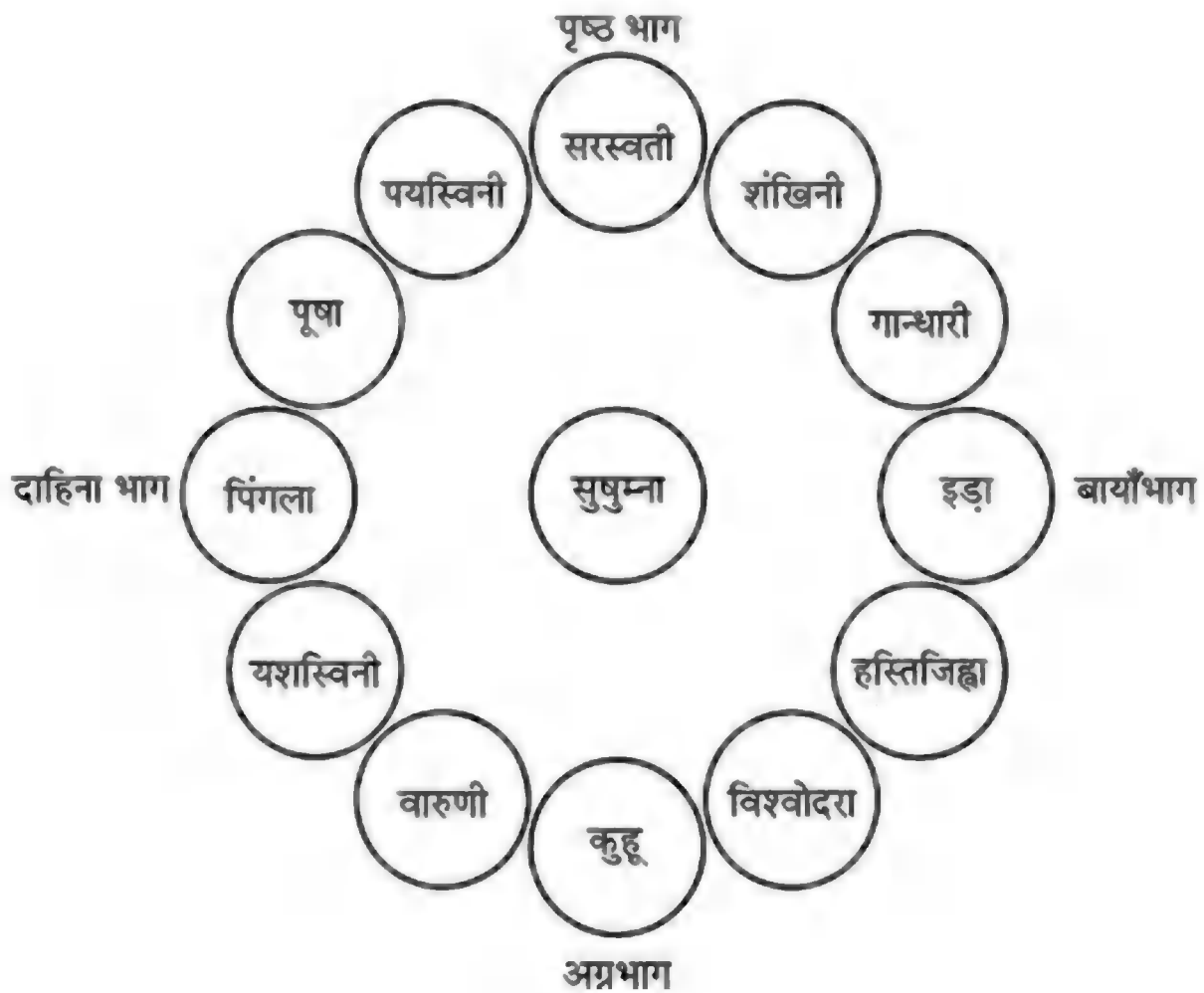
## 14 प्रमुख नाड़ियों का विवरण इस प्रकार है

दिए हुए चित्र से नाड़ियों की स्थिति स्पष्ट है। सुषुम्ना कन्द के बीच में मेरुदण्ड के साथ मस्तक तक जाती है। उसके दाएँ भाग में पिंगला व बाएँ भाग में इड़ा स्थित है। इड़ा में चंद्र व पिंगला में सूर्य तत्व विचरण करते हैं। सरस्वती व कुहू नाड़ियाँ सुषुम्ना के क्रमशः पीछे व

आगे रहती हैं। गान्धारी व हस्तिजिव्हा इड़ा के पीछे व आगे स्थित रहती हैं। पूषा व यशस्विनी पिंगला के पीछे व आगे हैं। कुहू व हस्तिजिव्हा के बीच में विश्वोदरा तथा यशस्विनी स्थित हैं। यशस्विनी व कुहू के बीच में वारुणी स्थित है। पूषा व सरस्वती के बीच पयस्विनी तथा गान्धारी व सरस्वती के बीच शांखिनी स्थित है। अलंबुषा कंदमध्य के नीचे अस्थित है।

योग व आयुर्वेद के अनुसार सूक्ष्म शरीर का अंग होने के चलते नाड़ियाँ, प्राण प्रवाह तथा उसके नियंत्रण में व रोगों के उपचार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती हैं।

अलंबुषा नाड़ी : मूलाधार चक्र, गुदा, अपान वायु तथा उत्सर्जन तंत्र से सम्बंध रखती है।

कुहू नाड़ी : स्वाधिष्ठान चक्र, जननांग व मूत्र नलिका तथा अपान वायु से सम्बंध रखती है।

विश्वोदरा नाड़ी : मणिपूरक चक्र, पाचन तंत्र, समान वायु से सम्बंध रखती है।

वारुणी नाड़ी : अनाहत चक्र, श्वसन तंत्र तथा उदान वायु से सम्बंध रखती है।

सरस्वती नाड़ी : विशुद्धि चक्र, श्वसन तंत्र तथा उदान वायु से सम्बंध रखती है।

सुषुम्नानाड़ी : इस नाड़ी का सम्बंध सहस्रार चक्र, मस्तिष्क व प्राणवायु से होता है।

इड़ा नाड़ी : शरीर व नासिका के बाएँ भाग व मन से सम्बंध रखती है जबकि पिंगला नाड़ी शरीर व नासिका के दाएँ भाग व प्राण से सम्बंध रखती है। दोनों ही नाड़ियाँ तृतीय नेत्र से सम्बंधित हैं। नाड़ी शोधन, सूर्यभेदन, चंद्रभेदन, अनुलोम-विलोम इत्यादि प्राणायामों व शरीर की ठंडी व गर्म प्रकृति को नियंत्रित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है।

शंखिनी बाएँ कान से पयस्विनी दाएँ कान से तथा गान्धारी बाई आँख से व पूषा दाई आँख से सम्बंध रखती है। यशस्विनी दाएँ हाथ व पैर तथा उनके अँगूठों से गुज़रती है। हस्तिजिव्हा दाएँ हाथ, पैर तथा अँगूठों से गुज़रती है।

नाड़ियों में प्राण प्रवाह के असंतुलन से रोग उपजते हैं। उनसे सम्बंधित अंगों व द्वारों की मालिश व सिकाई से रोगों का उपचार किया जाता है।

पद्मासने स्थितो योगी नाडिद्वारेण पूरितम्।
मारुतं धारयेदमस्तु स मुक्तो नाऽत्र संशय।।

अर्थ : पद्मासन में बैठकर जो योगी प्राणायाम करता है
उसकी मुक्ति में कोई शंका नहीं होनी चाहिए।

किसी भी प्रकार के प्राणायाम में श्वास लेते समय यह विचार
करें कि इस पूरे ब्रह्माण्ड में जो पवित्र ऊर्जा, दिव्यता, शांति
और परमात्म प्रकाश है, वह मेरे अंदर प्रवेश कर रहा है। मैं
आलौकिकता से परिपूर्ण हो रहा हूँ, मेरे अंदर निर्मलता आ रही
है। मेरी आत्मा शुद्ध हो रही है एवं श्वास छोड़ते समय यह भाव
रखें कि आपके कर्मों का क्षय हो रहा है - क्रोध, मान, माया,
लोभ का नाश हो रहा है। इस प्रकार चिन्तन करने से हम कई
गुना लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

**-RJT**

योगासन संबंधी क्रियाएँ आत्मविश्वास के साथ
करें एवं पूर्ण विश्वास रखें कि हम आत्मिक एवं
शारीरिक लाभ अवश्य प्राप्त करेंगे।

**-RJT**

# प्राणायाम

## एक महत्त्वपूर्ण परिभाषित, वैचारिक दृष्टिकोण

अष्टांग योग में प्राणायाम का एक विशेष स्थान और महत्त्व है। अलग-अलग योगाचार्यों ने इसे विभिन्न तरीक़ों से परिभाषित करते हुए लगभग एक जैसे ही प्रकार के अर्थ व्यक्त किए हैं। अष्टांगयोग का चतुर्थपाद 'प्राणास्य आयाम: इति प्राणायाम:" अर्थात प्राण का विस्तार ही प्राणायाम है। इसका अभ्यास प्रतिदिन करने से प्राणशक्ति में अत्यधिक वृद्धि होती है आगे महर्षि पतंजलि ने साधनपाद के 49वें श्लोक में इस प्रकार वर्णन किया है कि :-

तस्मिन्सति शश्वास प्रशवास योर्गति विच्छेदः प्राणायामः ।।

आसन की सिद्धि होने पर श्वास प्रश्वास का जो गति विच्छेद किया जाता है (स्वाभाविक गति का नियमन करना-रोककर सम कर देना) अर्थात् जो उदयाभाव है, वही प्राणायाम है।

प्राणायाम दो शब्दों से मिलकर बना है - प्राण + आयाम। प्राण का अर्थ है 'जीवन शक्ति'। प्राणायाम पूरे अष्टांग योग का ही प्राण है, ऐसा भाषित हो जाता है। प्राण एक ऐसी ऊर्जा है जो किसी न किसी स्तर पर सारे ब्रह्मांड में व्याप्त है। प्राण ऊर्जा सभी जीवों में सूक्ष्म और सशक्त रूप से पाई जाती है। प्राण में निहित है ऊर्जा, ओज, तेज, वीर्य (शक्ति) और जीवनदायिनी शक्ति। वही आयाम का अर्थ है विस्तार, फैलाव, विनियमन, अवरोध या नियंत्रण। अत: प्राणायाम का अर्थ हुआ प्राण अर्थात श्वसन (जीवन शक्ति) का विस्तार, दीर्घकरण और फिर उसका नियंत्रण।

प्राणायाम का विषय विराट है। इसमें असीमित संभावनाएँ छिपी हुई हैं। इसमें शरीर और मस्तिष्क दोनों ही के मध्य भीतरी सम्बंध की खोज की जाती है। प्राणायाम जितना सरल और आसान प्रतीत होता है, उतना है नहीं। जब कोई व्यक्ति प्राणायाम की चेष्टा करता है तो लगने लगता है कि यह कोई हँसी-खेल नहीं है, बल्कि एक जटिल परन्तु सार्थक कला है।

प्राणायाम कोई काल्पनिक क्रिया नहीं है अपितु तत्काल प्रभावशाली है। प्राणायाम की कई क्रियाएँ सूक्ष्म से सूक्ष्मतर होती चली जाती हैं।

आज के दौर का व्यक्ति कुछ ज़्यादा ही तनावपूर्ण हो गया है। संतुलित एवं शांतिमय जीवन जीना जैसे बहुत कठिन हो गया है। स्नायुविक और रक्त-संचालन प्रणालियों को प्रभावित करने वाली चिंताएँ और रोग अपेक्षाकृत बढ़ गए हैं। कुछ व्यक्ति मानसिक समस्याओं से पीड़ित हैं तो कुछ व्यावहारिक कारणों से। खुद को शांत व स्थिर बनाए रखने के लिए वह तरह-तरह के मादक द्रव्यों का सेवन करता है किंतु उनसे शांति नहीं मिलती बल्कि वह जीवन को नर्क बना लेता है। संभवतया धूम्रपान और मादक द्रव्यों से वह कुछ समय के लिए दुःख भूल जाएँ परंतु यह समस्या का हल नहीं है। वे शारीरिक और मानसिक विकार तो पुनः लौटकर आ जाते हैं। हमने प्रयोगात्मक रूप से देखा है कि जीवन में प्राणायाम जैसा सशक्त माध्यम अपनाने से हम कई समस्याओं को हल कर सकते हैं।

प्राणायाम तर्क, वाद-विवाद से परे है। इसे सीखने के लिए उल्लास, धैर्य, आत्म-समर्पण, गुरु-निर्देश और सावधानी पूर्वक की गई चेष्टा की जरूरत होती है और यही इसे सार्थकता प्रदान करती है।

आयुर्वेद में भी वायु का विशेष और महत्त्वपूर्ण स्थान प्रतिपादित करते हुए महर्षि चरक ने चरक संहिता सूत्रस्थान 12/7 में स्पष्ट किया है कि वायु-शरीर और शरीर अवयवों को धारण करने वाला प्राण, उदान, समान, अपान और व्यान इन पाँच प्रकारों वाला, ऊँची और नीची सभी प्रकार की शारीरिक चेष्टाओं का प्रवर्तक, मन का नियंत्रक और प्रणेता, सभी इन्द्रियों को अपने-अपने विषय को ग्रहण करने में प्रवृत्त कराने वाला, शरीर की समस्त धातुओं का व्यूह करने वाला, शरीर का संधान करने वाला है। वाणी का प्रवर्तक, स्पर्श और शब्द की प्रकृति, श्रवण और स्पर्शन इन्द्रिय का मूल, हर्ष और उत्साह की योनि, जठराग्नि को प्रदीप्त करने वाला, विकृत दोषों का शोषण करने वाला स्वेद, मूत्र, पुरीष आदि मलों को बाहर निकालने वाला, स्थूल और सूक्ष्म स्त्रोतों का भेदन करने वाला है। इस प्रकार अकुपित वायु, आयु या जीवन के अनुवृति निर्वाह में सहायक है। यह भी कहा है कि प्राण को मातरिश्वा कहते हैं। वायु ही प्राण है। भूत, भविष्य और वर्तमान सब-कुछ प्राण में ही अधिष्ठित है। हठयोग के द्वितीय अध्याय में लिखा है कि -

चले वाते चलं चित्तं निश्चले निश्चलं भवेत्।

योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुनिरोधयेत्। **(हयो.प्र.2/2)**

अर्थ : वायु के चलायमान होने से मन (चित) भी चलायमान होता है और वायु के स्थिर (निश्चल, चंचलता रहित) हो जाने से चित्त (मन) भी स्थिर हो जाता है। प्राणवायु और मन, इन दोनों के स्थिर होने से योगी स्थाणुरूप को प्राप्त होता है तथा साधक स्थिर और दीर्घकाल (लंबे समय) तक जीता है। अतः योगी प्राणवायु का निरोध करें। आगे कहते हैं कि

:

यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवनमुच्यते ।

मरणं तस्यनिष्क्रॉतिस्ततो वायुं निरोधयेत्।। **(ह.यो.प्र.2/3)**

अर्थ : जब तक शरीर में वायु स्थित है तब तक संसार प्राणी को जीवित मानता है और उस प्राण (वायु) के शरीर से निकल जाने को मरण (मृत्यु) कहते हैं। अत: लंबे और स्वास्थ्यपूर्ण जीवन के लिए वायु का निरोध कर प्राणायाम करना चाहिए। व्याख्याकार ने आगे कहा है कि -

शुद्धिमेति यदा सर्व नाड़ी चक्रम मलाकुलम।

तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणेक्षमः ।। **(ह.यो.प्र.25)**

अर्थ : मलों से व्याकुल सम्पूर्ण नाड़ियाँ जब शुद्ध व निर्मल होती हैं, उसी समय में योगी (साधक) वायु के संग्रहण में समर्थवान हो पाता है; अतः प्राणायाम सदैव करें।

जैसा हमने बताया कि प्राण का अर्थ जीवन शक्ति है और आयाम का अर्थ विस्तार या फैलाव है। इस प्रकार प्राणायाम का अर्थ श्वास का दीर्घीकरण और फिर उसका नियंत्रण है। वायुसाधना (श्वास लेने की कला) को ही शिव संहिता में प्राणायाम कहा गया है। महर्षि पतंजलि ने स्थिरता पूर्वक एक आसन पर बैठकर श्वास लेने और निकालने की प्रक्रिया पर नियंत्रण को प्राणायाम कहा है।

हठयोग प्रदीपिका के दूसरे अध्याय के दसवें श्लोकानुसार : योगी इड़ा नाड़ी से अर्थात् वाम नाड़ी से वायु का पूरक करें (श्वास लेना), फिर उसे नियन्त्रित कर अर्थात कुंभक कर उस वायु को फिर दूसरी पिंगला नाड़ी से रेचन करें (श्वास छोड़ना)। और इसके बाद पिंगला नाड़ी से वायु का पान करें अर्थात् दक्षिण नाड़ी से वायु पूरक करें तो उस प्राणवायु का कुंभक करके वाम नाड़ी से प्राणवायु का रेचन करें। इस पूर्वोक्त सूर्य-चंद्र की विधि से अर्थात् चंद्रमा से पूरक और कुंभक करके सूर्य से रेचन करें और सूर्य से पूरक और कुंभक करके चंद्रमा से रेचन करें। इस प्रकार इस विधि से सदा अभ्यास करते हुए योगीजनों की नाड़ियों के गण तीन महीने के अनंतर शुद्ध और निर्मल होते हैं।

श्री आयंगार का कहना है कि प्राणायाम एक कला है और इसमें तकनीकें सम्मिलित की गई हैं, जो श्वसन-अवयवों को इच्छा, लय और सघनता से संचालित और प्रसारित करती हैं। इसमें पूरक क्रिया (श्वास लेना) रेचक क्रिया (श्वास छोड़ना) और कुंभक क्रिया (श्वास रोकना) का दीर्घ नियंत्रित और सूक्ष्म प्रवाह शामिल है। पूरक श्वसन प्रणाली को उत्तेजित करता है, रेचक दूषित वायु और विषाक्त पदार्थ को बाहर फेंकता है और कुंभक ऊर्जा को

सारे शरीर में वितरित करता है। इन संचालनों में फुफ्फुस और पसलियों के पिंजर का ऊर्ध्वाकार विस्तार, क्षेतिज आरोह और विशालता (परिवेशीय विस्तार) शामिल होते हैं। इस प्रकार अनुशासित श्वसन से मन केंद्रित होता है और साधक लाभान्वित होता है।

प्राण के प्रकार (वायु ज्ञान)

चरक संहिता सूत्रस्थान 12/7 में महर्षि चरक ने प्राण को पाँच भागों में विभक्त किया है, उसका संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया गया है। (वशिष्ठ संहिता में प्राण 70 प्रकार के बताये गये हैं)

**1. प्राण 2. अपान 3. समान 4. उदान 5. व्यान**

**1.** प्राण : श्वास क्रिया पर नियंत्रण रखता है अर्थात् यह वह शक्ति है, जिसके द्वारा प्राणी श्वास को अंदर की ओर खींचता है और वक्षीय क्षेत्र की गतिशीलता प्रदान करता है। प्राणायाम में प्राणवायु अंत:श्वास से क्रियाशील होती है।
**2.** अपान : उदर-क्षेत्र के नीचे (नाभि-स्थान से नीचे) के स्थान में क्रियाशील रहता है। मूत्र, वीर्य और मल निष्कासन को नियंत्रित करता है। अपान बाह्यश्वास से क्रियाशील रहता है।
**3.** समान : उदर स्थान की गतिशील करता है। पाचन क्रिया में सहायता करता है। उदर के अवयवों को ठीक ढंग से काम करने हेतु सुरक्षा प्रदान करता है।
**4.** उदान : ग्रीवा द्वारा कार्य करता हुआ स्वतंत्र (वाणी) और भोजन के अंतग्रहण को व्यवस्थित करता है। उदान रीढ़ की हड्डी के निचले सिरे से ऊर्जा को उठाकर मस्तिष्क तक ले जाता है।
**5.** व्यान : समस्त शरीर में व्याप्त रहने के कारण शरीर की गतिविधियों को नियमित, सुचारु और नियंत्रित करता है। भोजन और श्वास से मिली ऊर्जा को धमनियों, शिराओं और नाड़ियों द्वारा पूरे शरीर में पहुँचाने का कार्य करता है। व्यान वायु प्राण और अपान की क्रिया के लिए आवश्यक हैं। उपरोक्त पाँचों प्राण एक से दूसरे तक ऊर्जा पहुँचाने का माध्यम है।
प्राण को पाँच उपप्राण या पाँच भागों में भी विभक्त किया है।
उन्हें क्रमश :

| | | |
|---|---|---|
| **1.** नाग | : | जो कि उदर का भार कम करता है। |
| **2.** कूर्म | : | आँखों की बाहरी पदार्थों से रक्षा हेतु पलकों की क्रियाएँ करता है। देखने का कार्य कूर्म द्वारा नियंत्रित होता है। |
| **3.** कृकल | : | नाक एवं गले से बाह्य पदार्थ को रोकने (छींकने और खाँसने) में सहायता करता है। |
| **4.** देवदत्त | : | जम्हाई आना (नींद लाना)। |
| **5.** धनंजय | : | कफ़ पैदा करता है और शरीर का पोषण करता है। |

जैसा कि ऊपर बताया गया है कि प्राण और उपप्राण के कितने प्रकार हैं, वैसे ही वेदांत

के अनुसार शरीर भी तीन प्रकार या रूप का होता है। जो कि आत्मा को माण्डलिक रूप से घेरे रहता है। इन तीनों रूपों के पाँच अंतर्भेदी और अंतः आश्रित कोष होते हैं।

**1. स्थूल शरीर 2. सूक्ष्म शरीर 3. कारण शरीर**

### **1.** स्थूल शरीर
शारीरिक अन्नमय कोष कहलाता है तथा आकार मोटा होता है।
### **2.** सूक्ष्म शरीर
इसका निर्माण मनोमय, प्राणमय और विज्ञानमय कोष करते हैं।
### **3.** कारण शरीर
आनंदमय कोष कहलाता है और इसके कारण साधक को चेतना का अनुभव होता है।
### प्राणायाम की अवस्थाएँ
आचार्यों ने प्राणायाम की अवस्थाओं का वर्णन चार चरणों में किया हैं।

1.आरंभ 2.घट 3. परिचय 4.निष्पत्ति

आरंभिक अवस्था में साधक की जिज्ञासा और रुचि प्राणायाम में जाग्रत होती है। पहले पहल वह जल्दी करता है और थकान अनुभव करता है। जल्दी परिणाम की वजह से उसका शरीर काँपने लगता है और पसीना आ जाता है। जब व्यवस्थित रूप से धैर्य के साथ अभ्यास करता है तो पसीना आना एवं काँपना बंद हो जाता है और वह दूसरे चरण में पहुँच जाता है जो घटावस्था कहलाती है। शरीर की तुलना घड़े से की गई है जैसे बिना पका हुआ मिट्टी का घड़ा जल्द ही नष्ट हो जाता है। वैसे ही यह पंचतत्व से बना भौतिक शरीर भी जल्द ही नष्ट हो जाता है परन्तु यदि इसे प्राणायाम की अग्नि में खूब तपाया जाए एवं क्रमशः अभ्यास किया जाए तो इसमें स्थिरता आ जाती है और इसके बाद वह परिचयात्मक चरण में प्रवेश करता है। इस स्थिति में उसे प्राणायाम के अभ्यासों तथा अपने बारे में विशेष ज्ञान प्राप्त होता है, जिससे वह अपने गुणों और अवगुणों को पहचान कर कर्मों के कारणों को महसूस करता है। इसके बाद साधक निष्पत्ति चरण में पहुँचता है। साधक की परम गति की यह अंतिम अवस्था है। उसकी कोशिशों सफल होती हैं। वह कर्मों की निर्जरा करता है। वह सम्पूर्ण गुणों से युक्त हो जाता है और उसे आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है।

### प्राणायाम का उद्देश्य
प्राणायाम के कई उद्देश्य है, उनमें से एक है सम्पूर्ण स्वास्थ्य देते हुए लम्बी उम्र प्रदान करना। प्राणायाम द्वारा हम श्वास की गति को नियंत्रित कर सुखी हो सकते हैं। प्रकृति में भी देखते हैं कि जो पशु-पक्षी तेज गति से जल्दी-जल्दी श्वास-प्रश्वास करते हैं, उनकी उम्र कम होती हैं। निम्नलिखित तालिका से हम समझ सकते हैं।

**1.** कछुआ : 1 मिनिट में श्वास प्रश्वास 4 से 5 बार/उम्र लगभग 200 से 400 वर्ष
**2.** सर्प : 1 मिनिट में श्वास प्रश्वास 8 से 10 बार/उम्र लगभग 120 से 150 वर्ष
**3.** मनुष्य : 1 मिनिट में श्वास प्रश्वास 15 से 16 बार उम्र लगभग 100 वर्ष
**4.** घोड़ा : 1 मिनिट में श्वास प्रश्वास 24 से 26 बार/उम्र लगभग 40 वर्ष
**5.** बिल्ली : 1 मिनिट में श्वास प्रश्वास 30 बार/उम्र लगभग 20 वर्ष
**6.** कुत्ता : 1 मिनिट में श्वास प्रश्वास 30 से 32 बार/उम्र लगभग 14 से 15 वर्ष

इस प्रकार सिद्ध होता है कि श्वास की गति को नियंत्रित कर हम अपने बहुमूल्य जीवन को बढ़ा सकते हैं।

स्वर योग के ग्रन्थ में प्राण के प्रमाण का वर्णन इस प्रकार से दिया है। यदि रेचक (श्वास का निकलना) कितने अंगुल बाहर निकलती हैं तो उसका क्या फल होगा जैसे सामान्य श्वास का निकलना 12 अंगुल होता है। सामान्य पूरक 10 अंगुल का होता है। गमन के समय 24 अंगुल, दौड़ते समय 42 अंगुल, मैथुन काल में 65 अंगुल का होता है। भोजन और वमन के समय 18 अंगुल होता है। आगे भगवान- शिव माँ पार्वती से कहते हैं कि योगी प्राण की गति को एक अंगुल घटा लें तो निष्कामता, दो अंगुल घटा लें तो आनंद और तीन अंगुल घटा लें तो कवित्व शक्ति प्राप्त होती है। चार अंगुल कम करें तो वाक सिद्धि, नौ अंगुल घटाने से नौ निधि और ग्यारह अंगुल कम कर लें तो छाया का भी अभाव हो जाता है। आगे कहते हैं कि 12 अंगुल प्राण घटा ले तो हसगति और गंगा अमृत के रसपान की शक्ति आ जाती है, इस प्रकार की अभिव्यक्ति से प्राणायाम का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।

## प्राणायाम में श्वसन प्रक्रिया के प्रकार

प्राणायाम में श्वसन प्रक्रिया को समझने के लिए हमें उदर श्वसन, उरः श्वसन, अक्षक श्वसन एवं यौगिक श्वसन को समझ लेना चाहिए।

### **1.** उदर श्वसन

शवासन की स्थिति में लेट जाएँ या ध्यान के किसी भी आसन में बैठ जाएँ और स्वाभाविक श्वास प्रश्वास करें। अब दाएँ हाथ को पेट पर नाभि की जगह पर रखें और बाएँ हाथ को हृदय पटल के मध्य पर रखें। लम्बा श्वास लें। श्वास लेने के साथ ही उदर प्रदेश ऊपर उठने लगता है परन्तु बाएँ हाथ वाला हृदय पटल नीचे की तरफ़ जाता है। धीरे-धीरे गहरी श्वास लें। इस दौरान उदर प्रदेश को जितना फैला सकते हैं, फैलाएँ परन्तु हृदय प्रदेश को न फैलाएँ। अब श्वास छोड़ें। उदर प्रदेश नीचे की ओर चला जाता है दायाँ हाथ मेरुदण्ड की तरफ़ नीचे जाता है, इस प्रकार रेचक पूरक करें परन्तु वक्षः स्थल एवं कंधों को स्थिर रखें।

### **2.** उरः शवसान या वक्षः शश्वसन

इस प्रकार के श्वसन में पूर्णतः पसली पिंजर (वक्ष : पिंजर) को फैलाकर श्वसन क्रिया की जाती है। -

ध्यान के किसी भी आसन में बैठ जाएँ या शवासन की स्थिति में लेट जाएँ। पूरा ध्यान, वक्ष पिंजर पर केन्द्रित कर श्वास लें। हमें अपने उदर प्रदेश को न फुलाते हुए श्वास को वक्ष पिंजर के अंदर लेना है। वक्ष प्रदेश को अधिक से अधिक फैलाएँ और इस प्रकार अनुभव भी करें। वक्ष पिंजर में आने वाली श्वास के प्रति सजग रहें। अब रेचक करें और अनुभव करें कि वक्ष पिंजर सिकुड़ रहा है। कुछ देर विश्राम के बाद इसे पुनः करें। इस प्रकार कुछ देर तक उरः श्वसन करें।

### 3. अक्षक श्वसन

इस प्रकार के श्वसन में वक्ष पिंजर को श्वास लेते हुए पूरी तरह फैलाएँ फिर थोड़ी और श्वास लें। ऐसा करने से गर्दन की माँसपेशियों प्रमुख रूप से फुफ्फुस का ऊपरी भाग क्रियाशील होता हैं। अब रेचक करें और गर्दन की माँसपेशियों में आया हुआ तनाव एवं वक्ष पिंजर को खाली करें। प्रारम्भिक स्थिति में वापस आएँ। इसी प्रकार इस क्रिया को फिर दोहराएँ।

### 4. पूर्ण या यौगिक श्वसन

इस प्रकार के श्वसन में क्रमशः उदर, वक्षः और अक्षक श्वसन तीनों विधियों का योग होता है।

ध्यान के किसी भी आसन में बैठ जाएँ या शवासन की स्थिति में लेट जाएँ। अब धीरे-धीरे गहरा श्वास लें और उदर प्रदेश को फैलने दें। उदर के बाद अब वायु फेफड़ों में प्रवेश कराएँ। धीरे-धीरे और श्वसन करें, जिससे गर्दन की माँसपेशियों के सभी भाग में तनाव आ जाए। उदर, फेफड़े और गर्दन की माँसपेशियों के प्रति सजग रहें। अब धीरे-धीरे क्रमश: गर्दन की माँसपेशियाँ वक्ष:स्थल एवं उदर प्रदेश को शिथिल करते हुए रेचक क्रिया करें। उदर प्रदेश के स्नायुओं और फेफड़ों पर हल्का दबाब देकर अधिक से अधिक वायु निकाल दें। ये सभी क्रियाएँ एक तारतम्य में लयबद्ध तरीके से होनी चाहिए न कि खंडित रूप से।

इस प्रकार चारों श्वसन को समझकर हम इसे अपने जीवन में उतारकर प्राणायाम के महत्त्व को अधिक आत्मसात् कर सकते हैं

### प्राणायाम का अभ्यास काल और अवधि

हठयोग प्रदीपिका के दूसरे अध्याय के ग्यारहवें श्लोक में इसका वर्णन है। सूत्रकार कहते हैं कि प्रात:काल सूर्योदय से लेकर तीन घड़ी दिन चढ़े तक (एक घड़ी मतलब 48 मिनिट, इसको तीन से गुणा करने पर लगभग सवा दो घंटे हुए) यानी यदि सूर्योदय पौने छह बजे होता है तो सुबह 8 बजे तक प्राणायाम करना श्रेष्ठ है। दोपहर में पाँच भाग किए तो दिन के मध्य भाग में और सायंकाल अर्थात् सूर्यास्त से पूर्व और सूर्यास्त के अनंतर तीन-तीन घड़ी संध्या के समय में तथा अर्धरात्रि में अर्थात् रात्रि के मध्य भाग में दो मुहूर्तों में - क्रमशः इन पूर्वोक्त चार कालों में चार बार अस्सी प्राणायाम करें। यदि रात्रि में न कर सकें तो तीन समय ही अस्सी-अस्सी (80) बार प्राणायाम करें। यदि चार बार करते हैं तो 320 बार और

तीन बार करें तो 240 बार प्राणायाम करें।

उपरोक्त बातों से लगता है कि ये उत्कृष्ट योगी के लिए कही गई हैं, क्योंकि प्राणायाम के एक चक्र में पूरक क्रिया, अंत:कुंभक क्रिया, रेचक क्रिया और बाह्य कुंभक क्रिया होती है। इस प्रकार 320 चक्र पूरे करने हैं। दूसरा यह कि पहले के वातावरण और कार्य एवं आज के परिवेश, दोनों एक जैसे नहीं रहे फिर भी प्राणायाम करना आवश्यक है। प्राणायाम को संभव हो सके तो सूर्यादय के पहले ही करना बेहतर है। यह समय ताज़गी देने वाला, स्फूर्तिदायक व थकान रहित होता है। यदि प्रात:काल न कर सकें तो सूर्यास्त के ठीक आस-पास करना अच्छा रहता है। जो साधक ध्यान या मंत्रजाप करते हैं वे इस दौरान प्राणायाम क्रिया करें तो उन्हें दोगुना लाभ प्राप्त होता है।

## प्राणायाम संबंधी संकेत, सावधानियाँ व नियम

हम यहाँ पर प्राणायाम सम्बंधित लगभग सभी महत्त्वपूर्ण तथ्यों को लिख रहे हैं - जैसे यह किस समय करना चाहिए, कैसे करना चाहिए वगैरह। ऐसी तमाम बातें हम इसमें सम्मिलित कर रहे हैं, जिससे पाठक, भरपूर लाभ उठा सकें।

- बाह्य विघ्न जैसे मच्छर, मक्खियों या अन्य छोटे जीव जंतुओं से बचे रहने की पूरी व्यवस्था करनी चाहिए।
- पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर करने से प्राणायाम उचित ढंग से हो जाता है। (वृद्ध या रोगी अन्य वस्तुओं का उपयोग कर सकते हैं जैसे स्टूल या कुर्सी वगैरह)
- स्थान शुद्ध एवं एकान्त हो, हवा की स्वच्छता एवं आवागमन भलीभाँति होना चाहिए।
- प्राणायाम करने वाले व्यक्ति को तामसिक वस्तुएँ, मांसाहार व मादक पदार्थ इत्यादि का सेवन नहीं करना चाहिए। प्राणायाम का सम्पूर्ण लाभ प्राप्त करने के लिए इनका त्याग करें व अपनी सुंदरता, तेज और बल में चार चाँद लगाएँ।
- योगासन के बाद और ध्यानाभ्यास से पहले प्रसन्नचित मन से प्राणायाम करें या अनुकूलतानुसार करें।
- कोशिश करें कि प्राणायाम का समय, स्थान व दिशा निश्चित हो।
- प्राणायाम का समय सूर्योदय और सूर्यास्त से संबंध रखता है परंतु किसी कारणवश यदि किसी और समय करें तो यह भोजन से कम से कम चार घंटे बाद होना चाहिए। प्राणायाम के आधे घंटे बाद भोजन कर सकते हैं।
- नेत्रों की नासिकाग्र पर केन्द्रित कर या बंद करके प्राणायाम का अभ्यास करें।
- मन को पूर्ण रूप से श्वास क्रिया पर लगा लेना चाहिए। इससे आपकी एकाग्रता-शक्ति, स्मरणशक्ति और मानसिक शक्ति का विकास तेज गति से होगा।

- कम आयु वाले बच्चे कुंभक क्रिया का अभ्यास न करें।
- शीघ्रता से प्राणायाम न करें और न ही फुफ्फुस रुधे होने के समय करें।
- प्राणायाम के बाद शवासन में विश्राम करें।
- स्नान के बाद प्राणायाम करें तो ज़्यादा लाभ होगा। परंतु प्राणायाम के ठीक बाद स्नान न करें। स्नान के लिए लगभग आधे घंटे रुकें।
- यदि बहुत ज़्यादा मानसिक वेदना हो, मन और शरीर खिन्न हो, हताशा, उदासी या कोई उलझन हो तो कोई हल्का-फुल्का आसन करें या शवासन कर मन को शांति दें, तभी प्रारंभ करें।
- उचित ढंग से प्राणायाम न करना मन को बेचैन कर देता है, चिड़चिड़ापन, बेचैनी और तनाव उत्पन्न करता है। चेहरे पर भी इसका असर दिखने लगता है, अतः ऐसे अशुद्ध अभ्यास से सदैव बचें।
- नियमित आसन से फुफ्फुसों के तंतुओं में लोच आ जाता है और प्राणायाम उचित ढंग से होता है।
- प्राणायाम से पूर्व मूत्राशय और अंतराशय (आँतों) को खाली कर लेना चाहिए।
- तेज़ ध्वनि के बीच और घबराहट के समय प्राणायाम न करें।
- प्राणायाम के समय या बाद में किसी प्रकार की शारीरिक व मानसिक परेशानी हो तो तुरंत योग शिक्षक से परामर्श लें।
- सामान्य मनुष्य के लिए आवश्यक है कि उसकी नाड़ियों में प्रवाहित होने वाले रक्त में ऑक्सीजन पर्याप्त मात्रा में हो। यह पूर्ति प्राणायाम द्वारा हो जाती है।
- योग शास्त्रों के अनुसार पूरक, कुंभक और रेचक का अंतराल 1:4:2 होना चाहिए। अर्थात् जितना समय पूरक में लगे उससे चौगुना कुंभक में और पूरक से दोगुना समय रेचक में लगना चाहिए।
- प्राणायाम की संख्या का निर्धारण करें। सभी निर्देशों का पालन करते हुए संख्या बढ़ाएँ।
- कुछ प्राणायाम गर्मी बढ़ाते हैं और कुछ शीत। अत: जो परिस्थिति के अनुकूल हो, वही अभ्यास करें।
- प्रथम रूप से प्राणायाम के अभ्यास के लिए दो बातें ज़रूरी हैं। एक मन की स्थिरता और दूसरी मेरुदण्ड की स्थिरता। मेरुदण्ड को ऐसी स्थिति में रखकर बैठने का अभ्यास करें कि वह न तो ज़्यादा पीछे की तरफ़ झुका हो और न ही ज़्यादा आगे की तरफ़। पीछे की तरफ़ झुकने से फुफ्फुस का प्रसार होगा। आगे

की ओर झुकने के कारण वे फैल नहीं पाते। इसलिए अभ्यासी को चाहिए कि वह मेरुदण्ड में स्थिरता लाएँ।

- सिद्धासन, पद्मासन, सुखासन एवं स्वस्तिकासन प्राणायाम के लिए अधिक उपयोगी रहते हैं।
- मन की एकाग्रता और श्वास में लय अति आवश्यक है।
- हठयोग प्रदीपिका में सूत्रकार का कहना है कि जैसे प्रशिक्षक शेर, हाथी या चीते को धीरे-धीरे पालतू बनाता है उसी प्रकार साधक को क्रमशः अपने श्वास-प्रश्वास पर नियंत्रण करना चाहिए अन्यथा परिणाम विपरीत होते हैं।
- गंभीर रोगी और गर्भवती महिलाओं को योग शिक्षक से परामर्श करना चाहिए एवं उपवासी व्यक्ति या खाली पेट अथवा भोजन करने के तुरंत बाद कभी प्राणायाम नहीं करना चाहिए।
- जिस स्थान पर प्राणायाम करें वहाँ संभव हो तो वायु मंडल को भी शुद्ध कर लें। धूप, गुग्गल या शुद्ध घी के दीपक लगाने से मन में भी पवित्रता की वृद्धि होती है। (चित्त की शुद्धता बढ़ती है।)
- आसन सही ढंग से न किया जाए तो श्वसन क्रिया मंद हो जाती है तथा सहनशीलता कम हो जाती है।
- शाण्डिल्योपनिषद् में लिखा है कि :-

युक्तं युक्तं तजेद्वायुं युक्तं युक्तं च पूरयेत्।

युक्तं युक्तं च बहनीयादेवं सिद्धि भवाप्नुयात्।।

नए अभ्यासी को प्राणायाम करते समय प्राणवायु को धीरे-धीरे पूरक और रेचक करना चाहिए। श्वास को रेचक और पूरक करते समय में जल्दबाज़ी न करें। धीरे-धीरे अभ्यास करें, इस प्रकार प्राणायाम का अभ्यास करने से कोई हानि नहीं होती और न कोई रोग होता है। कोई रोग हो भी तो धीरे-धीरे आरोग्य लाभ ही होता हैं और योग सिद्धि मिल जाती है।

## प्राणायाम से होने वाले लाभ

- प्राणायाम दीर्घ आयु प्रदान करता है।
- यह ब्रह्मचर्य कारक है। अर्थात् यह बिंदु को ऊर्ध्वमुखी बनाता है, जिससे ओज, तेज तथा बल बढ़ता है।
- ब्रह्मचर्य और प्राणायाम को एक-दूसरे का पूरक भी कह सकते हैं। क्योंकि जो

मनोयोग से प्राणायाम करता है, उसके विषय-कषाय दूर होते हैं। काम-वासना का शमन होता है एवं जो ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह साधक प्राणायाम अति शीघ्र साध लेता है।

- त्रितोष नाशक है (वात, पित्त, कफ का नाश करता है।)
- प्राणायाम से समस्त शरीर में जीवन और शक्ति का संचार होता है।
- प्राणायाम बुढ़ापे को दूर रखता है। बुढ़ापे में श्वास क्रिया के मंद हो जाने के कारण हृदय को पूरी मात्रा में ऑक्सीजन नहीं मिल पाती, जिससे फुफ्फुसों की वायु कोशिकाएँ संकुचित हो जाती हैं। प्राणायाम द्वारा साधक रक्तसंचार की गति को सामान्य करता हुआ श्वासोच्छ्‍वास की पूर्ति कर लेता है।
- दूषित नाड़ियों का शुद्धिकरण कर यह शरीर को फुर्तीला बना देता है।
- प्राणायाम शारीरिक और मानसिक बल ही नहीं बढ़ाता बल्कि वह आत्मा का भी उत्थान करता है। अत: प्राणायाम को जीवन का अंग बना लेना चाहिए।
- शुद्ध ढंग से किया गया अभ्यास सांसारिक विषय-वासनाओं से विमुख करता है और साधक में पाँचों इन्द्रियों को वश में करने की क्षमता आ जाती है।
- यदि हम आसन में परिपक्व हो जाएँ और उसके बाद प्राणायाम का लाभ लें तो हमें अप्रत्याशित लाभ प्राप्त होगा।
- प्राणायाम क्रिया करने से जठराग्नि तेज होती है, जिससे क़ब्ज़ एवं अन्य ऐसी समस्याएँ नहीं होतीं।
- प्राणायाम का सम्बंध हमारी स्नायु-प्रणाली से बहुत अधिक है। यदि ये ध्वस्त हो जाएँ तो मन एकाग्र नहीं हो पाता। स्नायु में तनाव रहता है तो मन में भी तनाव रहेगा और जब तक मन शांति की स्थिति में न हो, ग्रहणशील न हो, तब तक प्राणायाम का अभ्यास हो ही नहीं सकता।
- प्राणायाम से रोग प्रतिरोधक शक्ति का विकास होता है।
- प्राणायाम द्वारा अतीन्द्रिय ज्ञान का प्रकाश होकर अज्ञान का नाश होताहै।
- प्राणायाम करके हम एक प्रकार से इस विश्व को भी स्वास्थ्य देने में सहयोगी बन जाते हैं।
- इससे उदर प्रदेश के समस्त रोग दूर होते हैं, जैसे पाचन तंत्र संपूर्ण रूप से स्वस्थ होता है, जिस कारण क़ब्ज़ का नाश होता है। आँतों में मल नहीं चिपकता अतः वायु विकार का भी नाश होता है। इसलिए वायु संबंधी रोग जैसे सिरदर्द, माइग्रेन, बालों का असमय सफ़ेद होना, वात दर्द (घुटनों का दर्द, कमर दर्द आदि) का शमन होता है।

- पाचन तंत्र के सुचारु रूप से परिचालन होने के कारण भोजन अच्छी तरह से पचता है। अत: भोजन में पाए जाने वाले विटामिन, प्रोटीन एवं खनिज लवण पूर्णतः हमारे शरीर को पोषकता प्रदान करते हैं, जिससे हमारा शरीर बुढ़ापे तक स्वस्थ रहता है। और स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का निर्माण होता है, इसलिए बुढ़ापे में किसी प्रकार का मानसिक उद्वेग या कोई मानसिक अस्वस्थता नहीं रहती। जिस कारण बुढ़ापे में होने वाली बीमारियाँ, अतिक्रमण नहीं कर पाती।

- चूँकि प्राणायाम करने से पाचनतंत्र फुफ्फस एवं हृदय प्रदेश सुचारु रूप से काम करते हैं। अतः शरीर को भरपूर मात्रा में ऑक्सीजन मिलती है एवं रक्त की शुद्धता बढ़ती है। रक्त संचार ठीक ढंग से होता है। रक्त संचार अच्छा हो तो पूरे शरीर को नवजीवन, नवचेतना, स्फूर्ति प्राप्त होती हैं। शरीर का कायाकल्प होता है। ओज़-तेज़ बढ़ता है। चेहरे में झुर्रिया नहीं पड़ती, चेहरे में चमक रहती है। आँखें सुन्दर दिखती हैं। हम हमेशा जब तरोताज़ा दिखते हैं, तो सामने वाला भी खुश रहता है। हमारे आसपास का वातावरण भी खुशनुमा बन जाता है, जिस कारण हम घर, परिवार, पड़ोसी, दोस्त, शहर, प्रदेश, देश एवं विश्व को इस पंचतत्व से बने ऊर्जावान शरीर द्वारा अनुप्राणित करते हैं।

# नाडी-शोधन प्राणायाम

## एक अनुचिंतन

(नाड़ी का विवेचन हम कर चुके हैं। विस्तृत जानकारी के लिए 'नाड़ी प्रकार एवं कार्य' अध्याय देखें।)

यहाँ नाड़ी-शोधन का तात्पर्य नाड़ियों के शुद्धिकरण (प्रासुकता) से है। शरीर की तंत्रिका प्रणाली में किसी भी प्रकार का अवरोध उत्पन्न होने से तरह-तरह के शारीरिक व्यवधान उत्पन्न होते हैं। योग से सम्बंधित हमारे कई ग्रंथों में नाड़ियों के शुद्धिकरण हेतु प्राणायाम का वर्णन किया गया है जैसे शिव संहिता, हठयोग- प्रदीपिका, घेरण्ड संहिता आदि।

वैसे तो प्राणायाम की पूरी क्रिया की सफलता का श्रेय आपकी एकाग्रता और सजगता को जाता है, परंतु नाड़ी-शोधन प्राणायाम का विशेष ख्याल रखा जाए तो बाक़ी के प्राणायामों से ज़्यादा से ज़्यादा लाभ उठाया जा सकता है। प्राणायाम का लाभ तो हमें शुरू से ही मिलने लगता है, तब भी इसमें दृढ़ निश्चय की आवश्यकता होती है। इसकी ऊजाओं को अति संवेदनशीलता, एकाग्रता और सूक्ष्मता के साथ श्वास-प्रश्वास को स्थिरता प्रदान करने या अनुशासित करने लिए प्रवाहित करना होता है। ताकि श्वास, प्राण और मस्तिष्क को आध्यात्मिक बनाया जा सके। आत्मा के शुद्धिकरण की यह छोटी परंतु महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। आत्मा से परमात्मा तक पहुँचने का एक रास्ता यहाँ से भी मिलता है।

सभी प्राणायामों में नाड़ी-शोधन प्राणायाम सबसे अधिक संवेदनशील, जटिल और सूक्ष्म है। जब नाड़ी को सूक्ष्मतम स्तर पर प्रासुक किया जाता है तो यह आत्मानुभूति की तरफ़ ले जाती है।

नाड़ी-शोधन प्राणायाम के लिए पहले आप अपनी अँगुलियों की दक्षता बढ़ाएँ और दूसरा नासिका झिल्लियों में संवेदनशीलता का विकास करें तभी यह प्राणायाम करना सार्थक होगा।

### नाडी-शोधन प्राणायाम/अनुलोम-विलोम प्राणायाम

#### अभ्यास एक

विधि : सुखासन के किसी भी एक आसन में बैठे। (पद्मासन, सिद्धासन) जिसमें कम से कम कुछ देर आराम से बैठ सकें। मेरुदण्ड, गर्दन व सिर एक सीध में रखें। प्राणायाम के लिए तैयार रहें। बायाँ हाथ घुटने पर रखिए, दाएँ हाथ की अँगुलियों को दोनों भौंहों (मस्तक के बीचों-बीच) के बीच रखें। दोनों कंधे समानांतर होने चाहिए। अब दाएँ हाथ की तजनी और मध्यमा को मस्तक के बीच में रखें (कुछ योग शिक्षक सिर्फ़ तजनी अँगुली को ही रखवाते हैं) एवं नासिका के दाहिनी तरफ़ अँगूठे को व बाई तरफ़ के नासिकारंध्र के बाहरी भाग पर अनामिका अँगुली को रखें। दाएँ नासिका छिद्र को अँगूठे से दबाव डालकर बंद कीजिए। बाएँ नासिका छिद्र से श्वास (पूरक) लीजिए और उसी नासिका छिद्र से रेचक करें (श्वास छोड़िए)। पूरा ध्यान श्वास की तरफ़ रखें। पूरक एवं रेचक मिलाकर एक चक्र हुआ। इस प्रकार 10 से 15 चक्र करें।

अब अनामिका अँगुली से बायाँ नासिका छिद्र बंद करें और दाहिनी तरफ़ से उपरोक्त क्रियानुसार 10 से 15 चक्र करें।

सावधानियाँ : श्वास क्रिया ध्वनि रहित होनी चाहिए। दोनों नासिका छिद्रों से बराबर लय बनाते हुए श्वास लें। सीना कम-ज़्यादा न फैलाएँ।

समय : 5 से 10 मिनिट तक दोहराएँ।

नोट : थकान महसूस हो तो शवासन कर लें। इस प्राणायाम से अँगुलियाँ और नासिका-नलिका का अभ्यास हो जाता है ताकि वे अधिक से अधिक लाभ प्राप्ति में सहायक हों।

## अभ्यास द्वितीय

नाड़ी-शोधन हेतु अनुलोम-विलोम प्राणायाम करते हैं।

विधि : पूरी सजगता के साथ सुखासन, सिद्धासन या पद्मासन में बैठ जाइए।

दाएँ अँगूठे से दाएँ नासिका छिद्र को बंद कीजिए तथा बाएँ नासिका द्वार से (पूरक) श्वास लीजिये। अब बाएँ नासिका द्वार को अनामिका अँगुली से बंद कीजिए और दाएँ नासिका द्वार से रेचक कीजिए (श्वास छोड़िए)। इसी द्वार से पूरक कीजिए। अब अँगूठे से नासिका-द्वार बंद कीजिए और बाएँ नासिका द्वार से रेचक कीजिए। यह पूरी क्रिया एक चक्र है।

इस अभ्यास में साधक को क्रमश: श्वास-प्रश्वास की गति को मध्यम और फिर तीव्र करना चाहिए। तीव्र गति से पूरक करें फिर रेचक करें एवं निर्देशानुसार श्वास गति मंद, मध्यम और फिर तीव्र करें। इस कारण इसमें ध्वनि भी उत्पन्न होती है। साधक श्वास-प्रश्वास की गति को एक ॐ या दो ॐ या तीन ॐ का मानसिक जप करता हुआ और धीरे-धीरे बढ़ाकर सात ॐ तक कर सकता है। 3 मिनिट से शुरू कर 10 मिनिट तक कर सकते हैं। इसमें रेचक और पूरक के समय में समानता रहनी चाहिए।

सावधानियाँ : तनाव होने पर कुछ क्षण रुकें। विश्राम करें एवं थकान दूर होने पर पुनः प्राणायाम करें।

विशेष : मूलाधार की शक्ति ऊर्ध्वमुखी होती है।

## अभ्यास तृतीय

**विधि :** प्राणायाम के किसी भी आसन में बैठ जाइए। पूर्वोक्त विधि के अनुसार दाएँ नासिका द्वार को बंद कर बाएँ नासिका द्वार से पूरक करें। दोनों नासिका द्वार को बंद कर अंतर्कुंभक करें। दाएँ द्वार से रेचक करें। अब दाएँ नासिका द्वार से पूरक करें, अंतर्कुंभक करें और बाएँ द्वार से रेचक करें - यह एक चक्र हुआ। श्वास रोकने के समय आप मन ही मन में ॐ बोलें या 5 तक गिनती करें। इस तरह लगभग 25 चक्र पूरे करें। बाद में पूरक, अंतर्कुंभक और रेचक का अनुपात 5:10:10 कर लें। अर्थात् पाँच गिनती तक पूरक करें, दस गिनती तक कुंभक करें और दस गिनती तक ही रेचक करें। अभ्यास हो जाने पर गिनती में वृद्धि कर लें। निराकुलता की अवस्था में श्वास-प्रश्वास एवं कुंभक करें। इसके बाद किसी योग्य गुरु से पूछकर या स्वतः निर्णय लेकर अनुपात में वृद्धि करें जैसे 1:6:2, आगे 1:6:4, अभ्यास हो जाने के बाद 1:8:6 के अनुपात में अभ्यास क्रम बनाए रखें। यहाँ 1:8:6 का मतलब यदि 5 गिनती में पूरक करते हैं तो 40 गिनती तक कुंभक करें और 30 गिनती में रेचक करें। कुल लगभग 10 से 15 मिनिट या लगभग 20 से 25 चक्र करें।

## अभ्यास चतुर्थ

**विशेष :** चूँकि इस अभ्यास में अंतःकुंभक के साथ बहिर्कुंभक भी करना होता है अतः पूर्ण सावधानी रखें। हवादार कमरा, शांतिमय वातावरण, तनाव रहित व प्रसन्नचित होकर करें एवं अनुपात इस प्रकार रहेगा- 1:4:2:2 अर्थात् 5 गिनती तक पूरक, 20 गिनती तक अंतर्कुंभक 10 गिनती तक रेचक और 10 गिनती तक ही बहिर्कुंभक करें। यदि पूरक का समय बढ़ाएँ तो बाक़ी को भी उसी अनुपात में बढ़ा लें। योग्य शिक्षक से पूछकर या अभ्यास में दृढ़ता आने पर कुंभक के समय मूल बंध या जालधर बंध लगाने का अभ्यास कर सकते हैं। अंत में शवासन ज़रूर करें।

**विधि :** बाएँ से पूरक करें। अंतर्कुंभक करें। दाएँ से रेचक करें। बहिर्कुंभक करें। फिर उल्टे

क्रम से दाएँ से पूरक करें। अंतर्कुंभक करें। बाएँ से रेचक करें। बहिर्कुंभक करें। यह 1 चक्र हुआ। यथासंभव 15 चक्र करें।

**लाभ :**

- नाड़ी-शोधन के अभ्यास अन्य प्राणायामों के आधार-स्थल हैं अतः साधक जितना अच्छा नाड़ी-शोधन करेगा, बाक़ी के प्राणायामों का भी उतना ही लाभ मिलेगा।
- मस्तिष्क को चुस्त, क्रियात्मक और संवेदनशील बनाता है।
- शारीरिक और मानसिक संतुलन स्थापित होता है, जिस कारण शारीरिक और मानसिक रोग नहीं होते।
- धारणा, ध्यान और समाधि का स्तर बढ़ता है।
- समस्त नाड़ियों में प्रवर्तमान मल का शुद्धिकरण होकर वर्तमान और भविष्य के परिणाम अच्छे होते हैं।
- मन शांत, प्रसन्नचित्त रहता है।
- कई गुण स्वतः बढ़ते हैं और मिथ्यात्व का धीरे-धीरे नाश होता है।
- अस्थमा, टॉन्सिल, कफ़ सम्बंधी रोग, हड्डी, चर्म एवं ब्लड प्रेशर के नियंत्रण में अति लाभदायक, माईग्रेन एवं साइनस में विशेष

लाभप्रद। प्राणायाम से रोग प्रतिरोधक शक्ति का

विकास होता है।

**-RJT**

## वृत्ति प्राणायाम

वृत्ति प्राणायाम दो प्रकार के होते हैं :
सम वृत्ति प्राणायाम और विषम वृत्ति प्राणायाम ।

## समवृत्ति प्राणायाम

समवृत्ति प्राणायाम में पूरक, रेचक और अंतःकुंभक और बहिर्कुंभक क्रियाओं में श्वास का समय समान होता है। समवृत्ति प्राणायाम में यदि श्वास लेने का समय 5 सेकण्ड है तो अंतर्कुंभक भी 5 सेकण्ड का होगा एवं श्वास को बाहर निकालने का समय भी 5 सेकण्ड का होगा और बहिर्कुंभक का समय भी 5 सेकण्ड का ही होगा।

इस प्राणायाम में रेचक और पूरक क्रिया का समय और लय एक समान होना चाहिए। क्रमश: अभ्यास करने पर श्वास लेने का समय और रेचक एवं दोनों कुभक का समय में संतुलन आ जाता है। परंतु सबसे पहले अभ्यास अंतर्कुंभक के साथ करें। जैसे तीनों प्रक्रियाओं में समय का अनुपात 1: 1/4 :1 रखना चाहिए। हम इसको ऐसे समझे कि जैसे 16 गिनती तक हमने पूरक किया तो अंतर्कुंभक सिर्फ़ 4 तक करें फिर रेचक को 16 गिनती में पूरा करें। क्रमशः इस अनुपात को बढ़ाकर 16:8:16 कर लें, जब इसमें अभ्यस्त हो जाएँ तो अंतर्कुंभक बढ़ाकर 16:16:16 कर लें।

अब क्रमशः बहिर्कुंभक का भी अभ्यास करें। शुरू में पूरक: अंतर्कुंभक रेचक बहिर्कुंभक को 16:16:16:4 ही रखें। धीरे-धीरे इस अनुपात को 16:16:16:8 करें। इसके बाद इस अनुपात को और बढ़ाएँ एवं 16:16:16:12 करें। जब इसमें द्रढ़ता हो जाए तब 16:16:16:16 कर लेना चाहिए। इस प्रकार समवृत्ति प्राणायाम की समयावधि को क्रमश: बढ़ाना चाहिए।

## विषम वृत्ति प्राणायाम

चूँकि यह विषम (अनियमित) होता है अतः इस प्राणायाम को करने वाला साधक स्वस्थ फेफड़े और मज़बूत नाड़ियों वाला हो। इसको विषम वृत्ति वाला प्राणायाम इसलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें पूरक, अंतर्कुंभक,रेचक और बहिर्कुंभक की समय अवधि अलग-अलग होती है। अनुपात में अंतर के कारण यह साधकों को कठिनाई करता है।

सबसे पहले पूरक क्रिया, अंतर्कुंभक क्रिया और रेचक क्रिया 8:16:8 के अनुपात में प्रारंभ करें। इसके बाद धीर-धीरे अनुपातः बढ़ाकर 8:24:8 करें और फिर बढ़ाकर 8:32:8 करें। अब इस अनुपात को समायोजित करें और अनुकूल बनाकर 8:32:10 करें फिर 8:32:12 फिर 8:32:14 और पुनः 8:32:16: करें। जब इसमें पूर्ण अधिकार प्राप्त हो जाएँ। तब धीरे-धीरे बहिर्कुंभक 8:32:16:2फिर 8:32:16:4 फिर 8:32:16:6 और फिर 8:32:16:8 के अनुपात से करें। यह चारों अनुपात विषम वृत्ति प्राणायाम के एक चक्र का निर्माण करते हैं।

साधकों को पहले रेचक बहिर्कुंभक और पूरक में लय को नियमित करने में कठिनाई महसूस होगी। शुरू में साधक की साँसें फूलने लग सकती हैं, परंतु यह अभ्यास लम्बे समय तक प्रतिदिन करने से सरल लगने लगेगा।

विषम वृत्ति प्राणायाम में एक आदर्श अनुपात इस प्रकार होता है। जैसे पूर्ण पूरक क्रिया में 8 सेकण्ड तक श्वास रुक जाती है और अंतर्कुंभक में 32 सेकण्ड लग जाते हैं। रेचक क्रिया में 16 सेकण्ड लगते हैं और बहिर्कुंभक में 8 सेकण्ड लगते हैं। इस प्रकार यह अनुपात 8:32:16:8 हो जाता है या 1:4:2:1 हो जाता है। जब इस क्रम में अभ्यस्त हो जाएँ तो इस क्रिया को उल्टे तरीके से करना चाहिए। 16 सेकण्ड तक पूरक क्रिया और 32 सेकण्ड तक कुंभक क्रिया करें एवं 8 सेकण्ड तक रेचक क्रिया करें। इस प्रकार यह अनुपात 16:32:8

(2:4:1) हो जाता है। इस क्रिया में बहिर्कुंभक को जोड़कर इसको 16:32:8:4 फिर 16:32:8:6 फिर 16:32:8:8 करें।

समय सीमा को अलग-अलग कर सकते हैं। उदाहरण के तौर पर पूरक क्रिया 32 सेकण्ड कुंभक क्रिया 16 सेकण्ड और रेचक क्रिया 8 सेकण्ड की हो तो बहिर्कुंभक की सीमा कम करके 4 सेकण्ड कर सकते हैं। ताकि इनके बीच का अनुपात 32:16:8:4 हो जाए।

विषम वृत्ति प्राणायाम का समय भिन्न-भिन्न अनुपातों में अलग-अलग हो सकता है। जैसे 8 : 16 : 32 : 4,16:32:4:8 या 32:4:16:8 या 4:8:32:16। विषम वृत्ति प्राणायाम में अनेक क्रम परिवर्तन और संयोजन हो सकते हैं।

**सावधानियाँ :** हालाँकि एक नियम यह है कि जब तक पूर्ण अभ्यास न हो, तब तक इसे योग शिक्षक की देखरेख में ही करना चाहिए। खासतौर पर विषम वृत्ति प्राणायाम तो ख़तरों से भरा हुआ है, अतः बिना मार्गदर्शन के न करें।

विषम वृत्ति प्राणायाम से मस्तिष्क में तनाव हो सकता है। रक्त धमनियों में रक्त संचार की तीव्रता होने से उच्च रक्तचाप या बैचेनी हो सकती है।

जो साधक ब्रह्मचर्य को धारण कर प्राणायाम की क्रियाएँ करता है
उसकी कुण्डलिनी जागरण की क्रिया स्वतः होने लगती है।
**-RJT**

---

पूरक = श्वास अन्दर लेना, रेचक = श्वास बाहर करना।
अंतःकुंभक = श्वास अन्दर रोकना, बाह्य कुंभक = श्वास बाहर रोकना।

# प्राणायाम के प्रकार

महर्षि घेरण्ड ने प्राणायाम के निम्नलिखित भेद बताए है।

सहित: सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा।
भस्त्रिका भ्रामरी मूर्च्छ केवली चाष्टकुम्भकाः।। घे.सं.5/46।

| | | | |
|---|---|---|---|
| 1. **सहित-कुम्भक** | 2. **सूर्य भेदी** | 3. **उज्जायी** | 4. **शीतली** |
| 5. **भस्त्रिका** | 6. **भ्रामरी** | 7. **मूर्च्छा** | 8. **केवली** |

इस प्रकार ये आठ कुम्भक प्राणायाम है।
सहित कुम्भक दो प्रकार का होता है:
अ. सगर्भ ब. निगर्भ

सगर्भ कुम्भक में बीज मंत्र का प्रयोग होता है और निगर्भ कुम्भक में बीज मंत्र से अभ्यास नहीं किया जाता।

**अ. सगर्भ :** महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि सुखासन की अवस्था में उत्तर या पूर्व की तरफ़ मुख करके बैठे एवं लाल वर्ण के रजोगुण युक्त ब्रह्मा का ध्यान करें। अब बाएँ स्वर से अं बीज का सोलह बार जप करके पूरक करें। पूरक के बाद और कुम्भक के पहले उड़ियान बंध लगाएँ। अब सतीगुणी उकार बीज रूप कृष्ण वर्ण हरि का ध्यान करें और जप करते हुए चौसठ मात्रा तक कुम्भक करें और तमोगुण युक्त मकार रूपी शुक्लवर्ण के शिवजी के ध्यान के साथ 'म' बीज मंत्र जपते हुए रेचक करें। अब उपरोक्त प्रकार से ही दाई नासिका से पूरक, कुम्भक और बाई नासिका से रेचक करें। बिना तर्जनी और मध्यमा लगाए अनुलोम विलोम अभ्यास करें।

**ब. निगर्भ :** इस प्राणायाम (कुम्भक) में बीज मंत्र का प्रयोग नहीं किया जाता। पूरक, कुम्भक और रेचक वाले प्राणायाम की एक से लेकर सौ तक मात्राएँ होती हैं। इसी प्रकार उत्तम प्राणायाम की बीस मात्राएँ मध्यम की सोलह और अधम की बारह होती हैं। इस तरह प्राणायाम के तीन अंग होते हैं। अधम प्राणायाम में स्वेद (पसीना) निकलता है, मध्यम से मेरु कम्प होता है और उत्तम द्वारा पृथ्वी से ऊपर आकाश में विचरण करता है। इस प्रकार स्वेद निकलना, मेरु कम्प होना और पृथ्वी से ऊपर उठना, ये तीनों ही लक्षण सिद्धि को प्रकट करने वाले हैं। प्राणायाम के अभ्यास से आकाश गमन, रोगनाशन और कुण्डलिनी जागरण होता है। प्राणायाम के अभ्यास से पुरुष का मन आनंदित होता है और

वह सुखी होता है।

## सूर्य-भेदन प्राणायाम
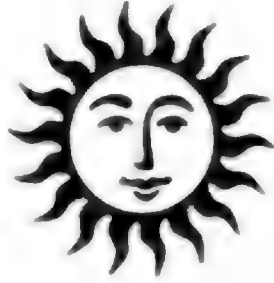
**महत्त्व :** सूर्य-भेदन प्राणायाम की विशेषता यह है कि इसकी सभी पूरक (श्वास लेना) क्रियाएँ दाएँ नासिका द्वार से की जाती है और रेचक (श्वास छोड़ना) क्रियाएँ बाएँ द्वार से की जाती है।

पूरक क्रिया में प्राण-ऊर्जा पिंगलानाड़ी (सूर्यनाड़ी, जमुना नाड़ी) एवं रेचक क्रिया में प्राण-ऊर्जा, इड़ा नाड़ी (चंद्र नाड़ी, गंगा नाड़ी) से प्रवाहित होती है।

**विधि :** सुखासन में बैठ जाइए। बाएँ नासिका द्वार को बंद कर दाएँ नासिका द्वार से गहन (दीर्घ) श्वास लीजिए। द्वार बंद कीजिए, कुंभक कीजिए, जालंधर और मूलबंध लगाइए। बंध शिथिल करते हुए बाएँ द्वार से धीरे-धीरे रेचक क्रिया कीजिए। यह एक चक्र हुआ। इस प्रकार क्रमशः 10 चक्र तक बढ़ाइए।

**विशेष :** कुंभक का समय धीरे-धीरे बढ़ाते जाना चाहिए। हठयोग में लिखा है कि कुंभक तब तक करें, जब तक शरीर से पसीना न निकल आए जबकि शुरू-शुरू में ऐसा संभव नहीं होता, इसलिए विवेक पूर्वक ढंग से ही क्रिया करें।

**लाभ :**
- पाचन-तंत्र मज़बूत करता है। क्योंकि दायाँ स्वर इस कार्य में सहायक होता है।
- शरीर में ऊष्णता बढ़ती है। वात और कफ़ का शमन होता है।
- त्वचा-विकार ठीक होते हैं।
- झुर्रियाँ मिटती हैं। चेहरे का तेज बढ़ता है।
- साइनस साफ़ और स्वच्छ होते हैं
- निम्न रक्तचाप में नियमित अभ्यास से लाभ मिलता है।

सावधानियाँ : ❍ उच्च रक्तचाप वाले रोगी न करें।

❍ गर्मी के मौसम में यथासंभव न करें।

प्राणायाम से जीवन में संतुलन आता है
एवं आत्मशक्ति का विकास होता है।
**-RJT**

## उज्जायी प्राणायाम

नासाभ्यां वायुमाकृष्य मुखमध्ये च धारयेत।
हृदग्लाभ्यां समाकृष्य वायु वक्त्रे च धारयेत।।
मुख प्रक्षाल्य सम्वन्द्य कुर्याज्जालन्धरं ततः।
आशक्ति कुम्भकं कृत्वा धारयेदविरोधतः।
उज्जायी कुम्भकं कृत्वा सर्वकार्याणिसाधयेत्।
न भवेत्कफ़रोगश्च क्रूरवायुरजीर्णकम्।
आमवातः क्षयः कासो ज्वरः प्लीहा न विद्यते ।
जरामृत्युविनाशाय चोज्जायीं साधयेन्नरः।। **(घे.सं. 5/70-73)**

इस प्राणायाम में फुफ्फुस पूरी तरह से फैलता है। छाती का भाग ऊपर उठ जाता है।

**विधि :** प्राणायाम के आसन सिद्धासन या पद्मासन में बैठिए। योगाचार्यों के अनुसार मुख का संयमन करके दोनों नासिका द्वारों से धीरे-धीरे वायु खींचें। वह शब्द करती हुई ग्रीवा (कण्ठ) से लेकर हृदय-पर्यंत तक भर जाए। बिना आकुलता के कुछ क्षण कुंभक करें। तत्पश्चात् बाएँ नासिका द्वार से रेचक करें। जिस समय श्वास भीतर खीचें उस समय छाती फुलाइए।

विशेष : श्वास लेते समय कण्ठ द्वार को संकुचित करें ताकि गले से हल्की ध्वनि उत्पन्न हो तत्पश्चात् मुख का प्रक्षालन करें एवं जालंधर बंध लगाकर निराकुलता पूर्वक यथाशक्ति वायु को धारण करें।

**समय :** अनुकूलतानुसार/यथाशक्ति पूर्वक करें।

लाभ:
- जठराग्नि बढ़ाता है। इससे सभी कार्य सिद्ध होते हैं।
- कफ़ नाशक है।
- हृदय-विकार दूर करता है।
- एकाग्रता बढ़ाकर स्मरणशक्ति तेज़ करता है।
- अनिद्रा, मानसिक चिंता एवं उन्मादी रोगियों को लाभ।
- आमवात् क्षयरोग, कास, ज्वर, प्लीहा, दुष्ट वायु आदि रोगो का भी नाश होता है।
- घेरण्डसंहितानुसार इस कुंभक को सिद्ध कर लें तो, जरा-मरण भी नष्ट होते हैं।

## शीतली प्राणायाम

विधि : इस प्राणायाम से शरीर का तापमान कम किया जा सकता है। इस कारण इसका नाम शीतली प्राणायाम है।

सिद्धासन या पद्मासन में बैठ जाइए। दोनों हाथ घुटनों पर रखें। मेरुदण्ड, सिर तथा ग्रीवा एक सीध में रखें। जिव्हा को मुँह से बाहर निकालते हुए इस प्रकार मीड़िए कि वह नलिका (नालीनुमा) के समान प्रतीत हो। इसी स्थिति में पूरक करें। धीरे-धीरे श्वास लेते हुए फेफड़ों

को भरें। अंतःकुंभक कीजिए, जिव्हा को वापस अंदर करिए व मुख बंद रखें। सिर को नीचे झुकायें और जालंधर बंध करें। मूलबंध के बिना या मूलबंध के साथ पाँच से सात सेकण्ड तक कुंभक करें। बंध हटाएँ और रेचक करें। यह एक चक्र पूरा हुआ पाँच से दस मिनिट तक दोहराएँ। (रेचक क्रिया नासिका से ही करें)

लाभ:
- यह प्राणायाम मन को प्रसन्न करता है तथा पित्त-दोष हरता है।
- यकृत और प्लीहा को सक्रिय बनाता है।
- प्यास बुझाता है।
- उच्च रक्त चाप को कम करता है।
- रक्त शुद्धि करता है।

सावधानियाँ: निम्न रक्तचाप, पुरानी क़ब्ज़ एवं अधिक कफ के रोगी इसे न करें।

भस्त्रिका प्राणायाम

भस्त्रिका लोहकाराणां यथाक्रमेण सम्भ्रमेत्।
तथा वायुच नासाभ्यामुभाभ्यांचालयेच्छनैः।।
एवं विंशतिवारं च कृत्वा कुर्याच्च कुम्भकम्।
तदन्ते चालयेद्वायुं पूर्वोक्तं च यथाविधि।।
त्रिवारं साधयेदेनं भस्त्रिकाकुम्भकतं सुधीः।
न च रोगो न च क्लेश आरोग्य च दिने दिने।। **(धे सं. 5/76-78)**

नोट : भस्त्रिका का अर्थ धौंकनी होता है। इस प्राणायाम में श्वास-प्रश्वास की गति तीव्र बलशाली और सशक्त होती है। श्वास-प्रश्वास में एक प्रकार की ध्वनि निकलती है जिसकी हम लोहार की धौंकनी के स्वर से तुलना कर सकते हैं।

**अर्थ :** जैसे लोहार धौंकनी द्वारा वायु भरता है उसी प्रकार नासिका द्वारा वायु को उदर में भर शनैः शनैः पेट में चलाएँ। इस तरह बीस बार करके कुंभक द्वारा वायु धारण करें फिर लोहार की धोंकनी से जैसे वायु निकलती है वैसी ही नासिका द्वार से वायु निकालें यह भस्त्रिका कुंभक कहलाता है। इस प्रकार तीन बार नियम से करें। इससे किसी प्रकार के रोग नहीं होते और क्रमशः आरोग्य की वृद्धि होती है।

**प्रथम विधि :** पद्मासन में बैठिए। दाहिने नासिका द्वार को बंद कर बाएँ नासिका द्वार से तेज़ गति से पूरक करिए तथा वैसे ही रेचक करिए। यही क्रम लगभग बीस बार करिए। अब

यही क्रिया दाहिने नासिका द्वार से करें। इस अभ्यास में रेचक-पूरक एक लय में हो। उदर-प्रदेश का फैलना और पिचकाना सुचारु और सम हो। यह एक चक्र कहलाया। इस प्रकार तीन चक्र पूरे करें। तत्पश्चात् जालंधर बंध एवं मूलबंध का प्रयोग करें। द्वितीय विधि : प्राणायाम के लिए सुखासन में बैठिए। इस विधि में दोनों नासिका द्वार से गहरी व पूरी शक्ति के साथ श्वास लेना एवं बाहर भी पूरी शक्ति के साथ श्वास छोड़ना है। यह क्रिया बीस बार करें। तत्पश्चात् अंतःकुंभक करके जालंधर और मूलबंध (सुविधानुसार) का अभ्यास कीजिए। यह एक चक्र हुआ। इस प्रकार इस विधि को तीन बार करें।

विशेष:
- स्वास्थ्य के अनुसार श्वास गति मंद, मध्यम व तीव्र गति से करें।
- श्वास अंदर लेते समय अच्छा चिंतन करें एवं छोड़ते समय शरीर और मन के विकार निकल रहे हैं ऐसा विचार करें।
- कुण्डलिनी जागरण के साधक भस्त्रिका प्राणायाम को वज्रासन में बैठ कर करते हैं।
- रक्त चाप एवं हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति तीव्र गति से न करें।
- एक चक्र पूरा हो जाए तब विश्राम करें।
- पूरी सजगता के साथ करें। जिनके फुफ्फुस कमज़ोर हों वे न करें।
- किसी भी समय थकान, आकुलता, परेशानी महसूस हो तो उस समय प्राणायाम का अभ्यास रोक दें।

समय : रोगों के अनुसार 5 से 10 मिनट तक करें।

लाभ:
- शरीर के विजातीय, विषैले तत्व का निष्कासन होता है। जिसके परिणाम स्वरूप रक्त की शुद्धता एवं शारीरिक निरोगता बढ़ती है।
- फेफड़े मज़बूत होते हैं अत: दमा एवं क्षय रोग का शमन होता है।
- कठ रोगों में लाभ होता है एवं कफ़ को निकालता है।
- वात, पित्त व कफ़ का नाशक है और कुण्डलिनी को जगाने वाला आसन है।
- उदर-प्रदेश के अवयव यकृत, प्लीहा एवं पाचन-तंत्र की ग्रंथियों की क्रियाशक्ति बढ़ जाती है।
- साइनस, टॉन्सिल में भी लाभदायक।

## ओंकार जाप/उदगीथ प्राणायाम

**विधि :** ध्यान के किसी एक आसन में बैठकर नेत्र बंद करें। गहरी श्वास भरकर ॐ का एक लय के साथ ध्वनिपूर्वक उच्चारण करें। 5 से 11 बार करें।

**लाभ :** इससे मानसिक विकार दूर होते हैं। मन शांत व स्थिर होता है। स्वर ठीक होता है आनंद की अनुभूति होती है। अनिद्रा, दुःस्वप्न से छुटकारा मिलता है। कई लाभ स्वतः प्राप्त हो जाते है। शारीरिक, मानसिक, भौतिक एवं अध्यात्मिक लाभ मिलते हैं।

**विशेष :** ऊँ का प्रतिदिन अभ्यास करने से नकारात्मकता प्रवेश नहीं कर पाती। चेहरे का तेज एवं आँखों की चमक बढ़ती है। गले संबंधी सभी प्रकार के रोग दूर होते हैं ध्यान पूर्वक प्रतिदिन ऊँ का उच्चारण करने से अनंत जन्मों की कर्म धूली नष्ट होती है और वह इस जन्म को सफल करता हुआ निर्वाणपथ की ओर अग्रसर होता है।

## भ्रामरी प्राणायाम

**अर्थ:** भ्रमर का अर्थ 'भौंरा' होता है। यह भ्रामरी प्राणायाम इसलिए कहलाता है कि रेचक करते समय जो ध्वनि उत्पन्न होती है वह भौंरे के समान गुंजायमान होती है।

**विधि :** पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन में बैठ जाएँ। दोनों नासिका छिद्रों से श्वास लीजिए। दोनों हाथों की तर्जनी अँगुली से कानों के छिद्रों को बंद कीजिए। चाहे तो कुछ देर कुंभक लगा लें। अब भौंरे के समान गुंजन करते हुए धीरे-धीरे रेचक कीजिए। इसके 5 चक्र से 10 चक्र तक करें।

**घेरण्ड संहितानुसार :** जब अर्ध-रात्रि व्यतीत हो जाए और जीव-जन्तुओं का शब्द सुनाई न दे, तब एकान्त स्थान में जाकर साधक अपने दोनों हाथों से दोनों कानों को बंद करके पूरक और कुम्भक करें। फिर अंदर की विभिन्न ध्वनियों को दाहिनें कान से सुनें। पहले झींगुर की ध्वनि, फिर बाँसुरी की धुन, फिर बादलों के गर्जने की आवाज, फिर झाँझ के बजने की आवाज़, फिर भौरों की गुजन, नित्य अभ्यास से विभिन्न प्रकार के नाद सुनाई पड़ने लगते हैं और अनाहत में शब्द ध्वनि होने लगती है। यही अद्‌भुत ध्वनि है। इसमें जो ज्योति दिखाई देती है, वही ब्रह्म है। जब इसमें मन विलय हो जाता है, तब विष्णु भगवान के परम पद की प्राप्ति होती है। इस प्रकार भ्रामरी कुम्भक सिद्ध होने पर समाधि की सिद्धी होती है। घेरण्ड जी आगे कहते हैं कि जप से आठ गुना उत्तम ध्यान है ध्यान से आठ गुना तप है तप से आठ गुना संगीत (अनहद् नाद) है एवं इस संगीत (अनहद् नाद) से बढ़कर कुछ नहीं है।

**टिप्पणी :** इस प्राणायाम को तेज गति से करने पर भ्रमर स्वर की तरह एवं मंद गति से करने पर भ्रामरी स्वर की तरह गुंजायमान होता है। इस प्रकार करने से आनंद की अनुभूति होती है।

**ध्यान :** आज्ञाचक्र पर।

**विशेष:**
- गुंजन करते समय आप प्रणव मंत्र ॐ की ध्वनि निकाल सकते हैं।
- मुंह बंद रखें किंतु दाँतों को आपस में न मिलाएँ।
- षण्मुखी मुद्रा के साथ भी कर सकते हैं।
- गुजन करते समय कई बार दूसरे शब्द भी निकलने लगते है अतः ध्यान रखें।

**लाभ:**
- स्वर मधुर होता है और आवाज़ में निर्मलता आती है।
- अनिद्रा रोग दूर होता है।
- आध्यात्मिक लाभ मिलते हैं।
- मानसिक रोग - चिड़चिड़ापन, क्रोध, आवेग व तनाव इत्यादि दूर होते हैं।
- उच्च रक्तचाप में लाभ।
- हृदय रोगों को भी लाभ मिलता है।

**नोट :** कुछ साधक कानों को अँगूठों से बंद करके, तर्जनी को माथे पर, मध्यमा को आँखों

पर, अनामिका को नाक के पास एवं कनिष्ठा को मुँह के पास रखकर यह क्रिया करते हैं।

प्राणायामक अभ्यास से अच्छा

स्वास्थ्य और जीवंतता प्राप्त होती है।

-RJT

## मूर्च्छा प्राणायाम
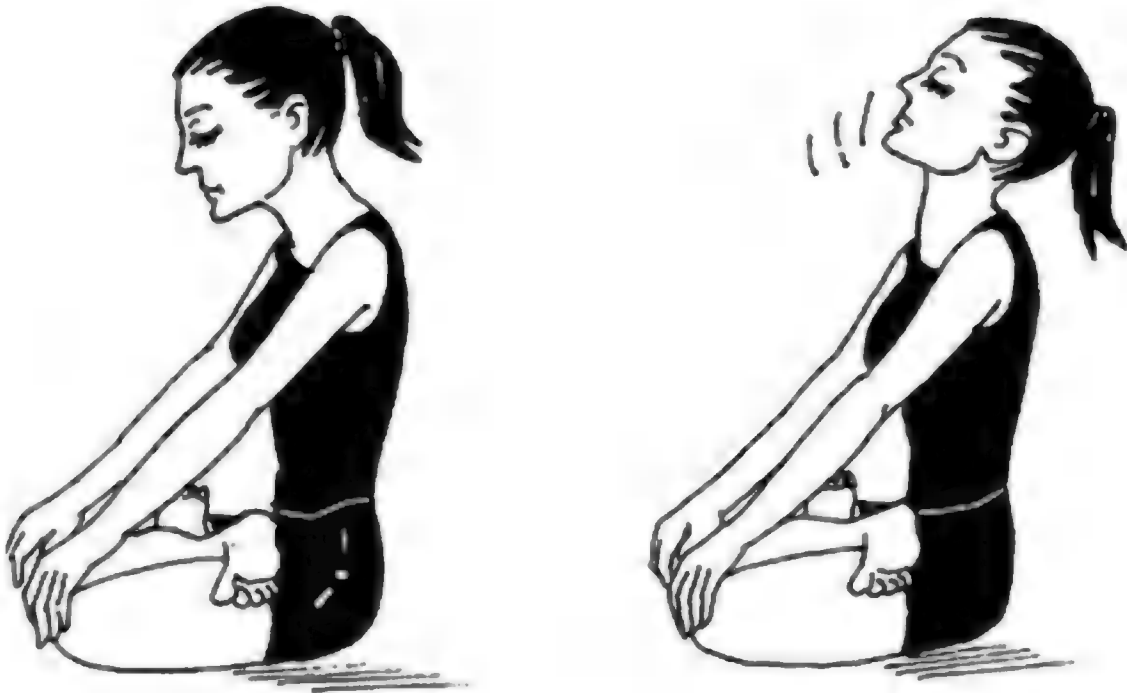
**विधि :** पद्मासन या सिद्धासन में बैठकर यह आसन करें ताकि निश्चलता बनी रहे। दोनों हाथ घुटनों पर रखें। आँखें बंद कर सिर को पीछे ले जाते हुए (लगभग 45 अंश का कोण) दोनों नासिका छिद्रों से पूरक करें, अंतर्कुंभक लगाएँ। मानसिक चिंता त्याग दें और सिर नीचे करते हुए रेचक करें। नेत्र बंद भी हों तो उनसे भ्रूमध्य (दोनों भौंहों के बीच) देखने की कोशिश करिये। शरीर व मन के प्रति सजग रहिए। इसी अभ्यास की पुनरावृत्ति कीजिए। कम से कम 5 बार करें या अनुकूलतानुसार करें।

**घेरण्ड संहितानुसार :** पहले सुखपूर्वक पूर्व में कहे हुए कुम्भक करके विषय ध्यान

वासनाओं से मन को हटाकर दोनों भौहों के बीच में स्थित आज्ञा चक्र में ध्यान लगाएँ और इस पद्म में स्थित परमात्मा में लीन कर दें इसे मूर्च्छा कुंभक कहते है। इस कुम्भक से आनंद की प्राप्ति होती है।

लाभ:
- मानसिक चिंताग्रस्त व्यक्ति को अथवा मस्तिष्क को निष्क्रिय हो जाने की अवस्था में सुख लाभ महसूस होता है।
- सिर दर्द सम्बंधित रोगों में लाभ।
- कुण्डलिनी व ध्यान में सहयोगी।
- मस्तिष्क का विकास कर सभी मानसिक समस्याओं का निवारण करता है।

सावधानियाँ : उच्च रक्तचाप, हृदयरोगी, मिर्गी, चक्कर आना एवं मस्तिष्क विकार से संबंधित रोगी क्रमिकरूप से धैर्य पूर्वक करें।

## केवली प्राणायाम

घेरण्ड संहितानुसार : महर्षि घेरण्ड के अनुसार प्रत्येक जीवात्मा जब श्वास बाहर छोड़ता है तब 'हं' वर्ण एवं जब श्वास अंदर ग्रहण करता है तब 'सः' (सी) वर्ण का जाप करता है। इस प्रकार चौबीस घंटे में 21,600 बार प्रत्येक जीव श्वास लेता है। 'हं' वर्ण शिवानन्द और 'सः' वर्ण शक्ति रूप हैं जिसको 'अजपा नाम गायत्री' कहते हैं और इसी हंसः को एवं विलोम से सोह को सब जीव निरंतर जपते रहते हैं।

लिंग और गुदा के बीच (मूलाधार), हृदय कमल और नासिका छिद्रों में वायु का आवागमन होता है। महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि स्थूल शरीर छियानवे (96) अंगुल परिमाण का है और देह से स्वाभाविक बाहर जाने वाली वायु की गति द्वादश (12) अंगुल होती है और गायन में सोलह अंगुल, भोजन में बीस अंगुल, मार्ग चलने में चौबीस अंगुल, नींद में तीस अंगुल, रतिक्रिया में छत्तीस अंगुल एवं अन्य परिश्रम में इससे भी अधिक होती है। (अलग-अलग आचार्यों ने अंगुल प्रमाण अपने-अपने मतानुसार बताया है।)

स्वाभाविक प्राण की गति से इनकी गति न्यून होती जाए तो परमायु (आयु वृद्धि) हो और बारह अंगुल से अधिक हो तो आयु घट जाती है, ऐसा योगीजन कहते हैं। जब तक प्राणवायु की स्थिति है तब तक मृत्यु नहीं होती। कुंभक के अभ्यास में यह प्राणवायु मुख्य है। शरीर के स्थिर रहने तक केवली कुंभक (प्राणायाम) करके अजपाजप को जपता रहे। केवली प्राणायाम करने से आयु में वृद्धि होती है अर्थात् इक्कीस हज़ार छः सौ बार जप पूर्ण होने से गति घट जाती है और मन प्रसन्नता से भर जाता है।

नासिका द्वारों से वायु को खींचकर केवल कुंभक करें। पहले दिन चौंसठ बार तक श्वास-प्रश्वास को धारण करें। केवली कुंभक का अभ्यास प्रतिदिन आठ प्रहर में आठ बार करना चाहिए (अर्थात् 8x8=64)। प्रात:काल, मध्याह्न व सायंकाल तीनों समय, समान संख्या में

अभ्यास करें। इस प्रकार केवली कुंभक की सिद्धि होने तक अजपाजप गायत्री के साथ प्रमाण से पाँच-पाँच बार वृद्धि करता जाए।

हठयोगानुसार : स्वस्तिक आसन में बैठ जाएँ। श्वासोच्छवास किए बिना ही (रेचक पूरक किए बिना ही) प्राण को (वायु को) जहाँ का तहाँ ही स्तब्ध कर देना 'केवली-कुंभक प्राणायाम' होता है।

रेचकं पूरकं त्यक्त्वा सुखं यद् वायुधारणम्।
प्राणायामोऽयमित्युक्तःस वै केवल-कुम्भकः।।

कुछ आचार्यों ने स्तम्भवृत्ति प्राणायाम और केवली-कुंभक को एक ही माना है।

कुम्भके केवले सिद्ध रेचक-पूरकवर्जिते।
न तस्य दुर्लभं किंचित त्रिषु लोकेषु विद्यते ।

रेचक पूरक को रोककर केवल कुंभक के सिद्ध हो जाने पर कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता सब-कुछ सुलभ हो जाता है। योगी जन कहते हैं कि 'सहित कुंभक' जिसमें रेचक-पूरक (श्वास-प्रश्वास) के साथ कुंभक किया जाता है, के सिद्ध हो जाने पर "केवली-कुंभक" में शीघ्र सफलता मिलती है।

लाभ:

- हठयोग प्रदीपिका में लिखा है कि तीनों लोक में ऐसी कोई वस्तु नही है जो केवली कुंभक के सिद्ध हो जाने के बाद साधक को प्राप्त न हो।
- अपनी इच्छा के अनुसार प्राणवायु के धारण से राजयोग पद तक प्राप्त हो जाता है।
- दिव्य-दृष्टि प्राप्त हो जाती है।
- ध्यान में दृढ़ता प्रदान करता है।

प्राणायाम का अभ्यास सम्पूर्ण शरीर में प्राण के प्रवाह

को विनियमित करता है।

**-RJT**

## चंद्र-भेदन प्राणायाम

**विधि :** इसकी सभी क्रियाएँ सूर्य-भेदन प्राणायाम के ठीक विपरीत होती हैं। सुखासन में बैठ जाइए व बाएँ नासिका द्वार से पूरक कीजिए। पूरक क्रिया धीरे-धीरे, सावधानी पूर्वक और गहराई से होनी चाहिए। दोनों नासिका द्वार बंद करें। कुंभक के साथ जालंधर और मूलबंध लगाएँ। स्वाभाविक विराम दें। बंध शिथिल करें व दाहिने नासिका द्वार से रेचक करें। यह एक चक्र पूरा हुआ। इस प्रकार क्रमशः 10 चक्र तक करें और कुंभक की स्थिति क्रमशः बढ़ाते जाएँ।

**नोट:** इस प्राणायाम में सभी पूरक क्रियाएँ बाएँ नासिका द्वार से की जाती हैं एवं रेचक क्रियाएँ दाहिने नासिका द्वार की जाती हैं।

**विशेष :** एक ही दिन में दोनों प्राणायाम (सूर्य भेदन और चंद्र भेदन प्राणायाम) न करें।

**लाभ:**
- शरीर में शीतलता आती है और मन प्रसन्न होता है।
- पित्त को कम करता है।
- गर्मियों में लाभकारी है।
- मानसिक शांति पहुँचाता है, क्रोध को कम करता है।
- तनाव को कम करता है।
- स्मरण शक्ति बढ़ाने में सहायक है।
- उच्च रक्तचाप वालों को नियमित अभ्यास से लाभ प्राप्त होता है।

**सावधानियाँ:**
- निम्न रक्तचाप वाले न करें।
- ठंड के दिनों में यथासंभव न करें।

प्राणायाम के अभ्यास से स्नायुकोष,
ग्रंथियों, समस्त नाड़ियों और माँस्पेशियों को

जीवन शक्ति मिलती है और वे सशक्त होकर
शरीर और मन को आरोग्यता प्रदान करती हैं।

-RJT

## सीतकारी प्राणायाम
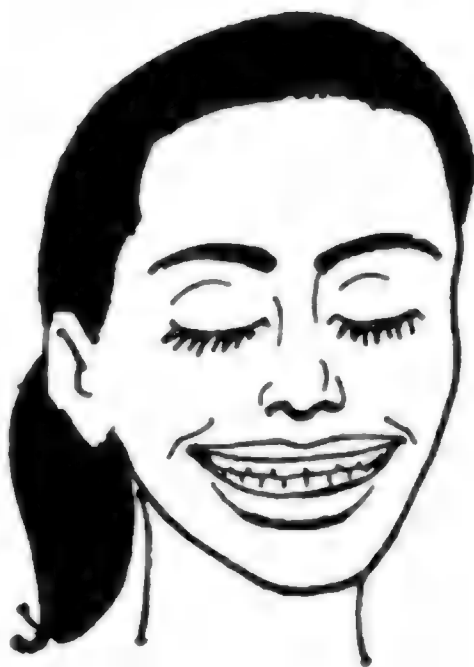
**विधि :** यह शीतली प्राणायाम की भाँति है किंतु जिव्हा की स्थिति में अंतर है। जिव्हा के आगे के भाग को इस तरह पीछे की तरफ़ मोड़िए कि उसके आगे के भाग का स्पर्श ऊपरी तालु से हो। दाँतों की पंक्ति को एक-दूसरे से मिलाइए और होठों को फैलाइए। अब सी.सी. की आवाज़ करते हुए श्वास लें और फेफड़ों में भरें। जालंधर बंध लगाएँ व मुँह बंद करें तथा नाक से धीरे-धीरे रेचक करें। यह एक चक्र हुआ। इस तरह 8-10 बार करें।

**विशेष :** बिना बंध के भी कर सकते हैं।

**लाभ:**
- ग्रीष्म ऋतु में करने से शरीर ठंडा रहता है।
- शीतली के सभी लाभ मिलते हैं।
- गले, मुख, नाक रोग में लाभ मिलता है।

- पित्त-प्रकृति वाले अवश्य करें। लाभ प्राप्त होता है।
- उच्च रक्तचाप को सामान्य करता है।

**नोट :** यह प्राणायाम भी शीतली प्राणायाम का एक प्रकार है। यह भी शरीर को ठंडा रखता है।

**सावधानियाँ:**
- निम्न रक्तचापवाले न करें।
- वात-प्रकृति के व्यक्ति न करें।

## कपाल-भाति प्राणायाम

**अर्थ :** कपाल-भाति का अर्थ कपाल यानी खोपड़ी और भाति का अर्थ चमक या प्रकाश है। जिस प्राणायाम से माथे या मस्तिष्क का तेज प्रकट हो वह प्राणायाम कपाल-भाति प्राणायाम कहलाता है।

**विधि :** यह प्राणायाम भस्त्रिका प्राणायाम की तरह ही है। इस प्राणायाम में श्वास लेने की गति धीमी होती है और श्वास छोड़ने की गति सशक्त होती है। सामान्य पूरक करें व पूरा ध्यान रेचक क्रिया में लगाएँ। अर्थात् शक्तिपूर्वक श्वास बाहर निकालें। सहज रूप से श्वास लें और रेचक गतिपूर्वक करें (कुछ विद्वान इसके साथ बंध के अभ्यास की बात करते हैं। योग्य शिक्षक के निर्देश में करें)। दोनों नेत्रों को बंद कर आज्ञाचक्र में ध्यान लगाएँ और ताज़गी व शक्ति का अनुभव करें।

**सावधानियाँ:**
- मोतियाबिंद (नेत्र-रोग) से पीड़ित हों या कान में पीप वगैरह या अन्य बीमारी हो तो न करें।
- उच्च रक्तचाप हृदयरोगी, चक्कर आना, गैस्ट्रिक अल्सर से पीड़ित व्यक्ति विवेक का उपयोग करते हुए धीरे-धीरे करें।

**लाभ:**
- इस प्राणायाम से ताज़गी, शांति और प्रसन्नता आती है।
- मधुमेह और क़ब्ज़ का शमन होता है।
- मस्तिष्क रोगों में फ़ायदा मिलता है।
- मोटापा कम करता है।
- शरीर का वज़न संतुलित करता है।
- कई असाध्य बीमारियों को ठीक करता है।

- कैंसर जैसे रोगों में भी लाभदायक।
- श्वास की गति बलपूर्वक होने के कारण डायफ्राम में संकुचन एवं फैलाव के कारण समस्त उदर प्रदेश को लाभ पहुचाता है जैसे गुदां, आमाशय अग्नाशय, यकृत, प्लीहा, गर्भाशय आदि सभी अंग सुव्यवस्थित होते हैं।

नोट :
- कुछ विद्वान इस क्रिया को प्राणायाम मानते हैं, जबकि अन्य विद्वान इसको षट्कर्मों की क्रिया कहते हैं। विशेष जानने के लिए लेखक की अन्य पुस्तक सम्पूर्ण योग विद्या भी अवश्य देखें।

- एक सामान्य स्वस्थ व्यक्ति के लिए रेचक संख्या 120 प्रति मिनिट संतोषप्रद मानते हैं या 3 मिनट से लेकर रोग अनुसार 15 मिनिट तक कर सकते हैं।

विशेष:
- अधिक लाभ के लिए कपाल भाति प्राणायाम गुरु निर्देश में अधिक बार कर सकते हैं। चक्कर आने या किसी प्रकार की परेशानी महसूस होने पर रोक दें और शवासन करें।
- श्वास बाहर निकालते समय यह विचार करें कि हमारे शरीर के विकार, समस्त प्रकार के रोग, भय, अज्ञान, क्रोध, मान, माया, लोभ एवं दु:ख दूर हो रहे हैं और मैं शारीरिक, मानसिक एवं अध्यात्मिक रूप से सुखी हो रहा हूँ।

## प्लाविनी प्राणायाम

अन्तः प्रवर्तितोदारमारुतापूरितोदरः।
पयस्यगाधेऽपि सुखात्प्लवते पदमपत्रवत्।। (ह.यो.प्र. 2/70)

**अर्थ :** प्लावन का अर्थ तैरना या उतराना होता है। इस प्राणायाम का सिद्ध साधक जल में आसानी से तैरता है।

**विधि :** सुखासन में बैठकर दोनों नासिका छिद्रों से पूरक करिए। वायु को पेट में इतना भरिए कि वह फुग्गे के समान फूल जाए या तन जाए। यथासंभव कुंभक करें और धीरे-धीरे वायु को नासिका छिद्रों से बाहर कर दें - यह एक चक्र हुआ। यथाशक्ति इस क्रम को दोहराते रहें।

**लाभ:**

- इसके अभ्यास से साधक पानी के ऊपर आराम से तैर (लेट) सकता है जैसे कोई लकड़ी का टुकड़ा तैरता है।
- पाचन-तंत्र के अवयव ठीक कर क़ब्ज़ को दूर करता है।
- मसान और अपान प्राण को कुपित नहीं होने देता।

रागद्वेष प्रवर्तित आत्मा के प्रयत्न अर्थात योग
रूप स्पंदन के कारण (मन वचन काय) एक
वायु संचालित होती है और वायु से शरीर
रूपी यंत्र अपने कार्यों में प्रवृत्ति करते हैं।
-आचार्य पूज्यपाद स्वामी (समाधि तंत्र गाथा क्र. 103) .

प्राणायाम करने से शरीर के सूक्ष्म कोषों के अवरोध दूर
होते हैं और उनका शोधन होते हुए नाड़ियों में प्राणों का
सचार एक समान होता है।
-RJT

# मुद्रा : एक दृष्टिकोण

हमारे ऋषि-मुनियों ने इस मानव-जाति को बहुत कुछ दिया। हमारे ग्रहण करने की क्षमता में ही कुछ कमियाँ थीं अन्यथा आज हमारे देश के पदचिन्हों पर पूरा विश्व चल रहा होता। अनेक रहस्यों से उन्होंने पदा हटाया। एक से एक विद्याएँ हमें प्रदान कीं और उसी श्रृंखला में यह एक विज्ञान है जिसे हम मुद्रा विज्ञान कहते हैं। यह आसन, प्राणायाम से अधिक गहरी पहुँच वाला, सूक्ष्म माना जाता है। इनका प्रभाव इतनी गहराई तक पहुँचता है कि हमारी समस्त जीवनदायिनी ऊर्जा की क्षमता अधिक प्रखर और अंतरोन्मुख बनाई जा सके एवं उनमें जो दुर्बलता, रुग्णता व शिथिलता का समावेश हो गया है उसका निवारण हो सके। इन मुद्राओं का उपयोग कर हम अपने जीवन में अधिक प्रभावशाली व्यक्तित्व और आध्यात्मिकता की चरम सीमा का आनंद उठा सकते हैं।

घेरण्ड संहिता में पच्चीस मुद्राओं का वर्णन आता है जो कि सभी अनगिनत लाभों की जन्मदाता हैं परंतु मुख्य रूप से हम उन मुद्राओं का वर्णन करेंगे जिनका प्रचलन ज़्यादा है। अन्य मुद्राओं के लाभ भी हमें इन्हीं मुख्य मुद्राओं से प्राप्त होते हैं। ये सभी मुद्राएँ सरल हैं एवं क्रमिक रूप से हमें सार्थकता प्रदान करती हैं।

## 1. महामुद्रा
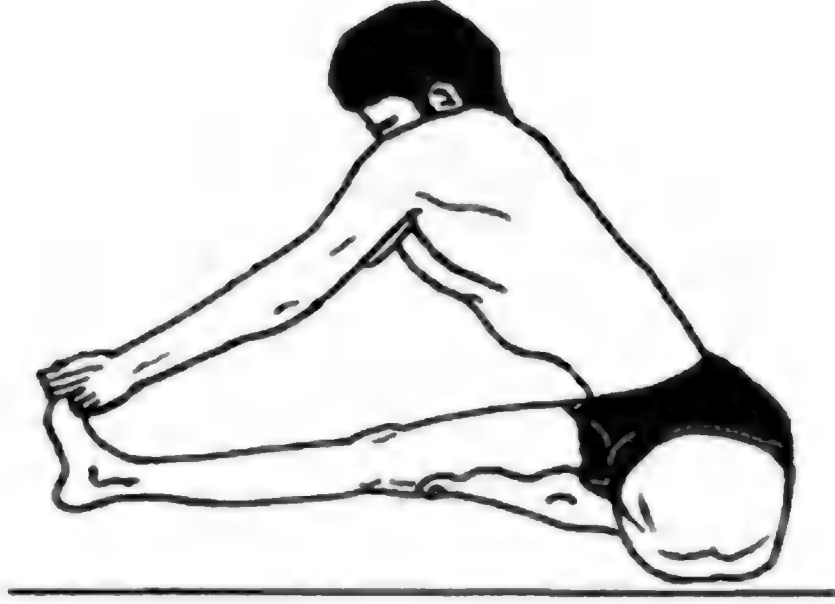
**विधि :** अपने आसन में प्रसन्नचित्त होकर दोनों पैर सामने फैलाकर बैठ जाएँ। अब दाहिने पैर को मोड़ते हुए एड़ी को गुदा द्वार के नीचे रखें। तत्पश्चात् सामने झुकते हुए बाएँ पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से पकड़ें तथा गहरी श्वास लें। मूल बंध एवं जालंधर बंध लगाएँ। कुंभक करते हुए अंतर्चेतना को ऊर्ध्वमुखी बनाने का प्रयास करें। कुण्डली-चक्रों का ध्यान करें तथा बंध हटाएँ। धीरे-धीरे रेचक क्रिया करें। यही क्रम दाहिने पैर से करें एवं यथासंभव कुंभक करें। लगभग 3 से 5 चक्र करें।

**लाभ:**
- उदर-रोग जैसे मंदाग्नि, अजीर्ण, अपच, क़ब्ज़ इत्यादि को दूर करता है।
- बवासीर (अर्श) और प्रमेह का नाश करता है।
- ध्यान के लिए उत्कृष्ट एवं कुण्डली जागरण में सहयोगी।
- बढ़ी हुई तिल्ली एवं क्षयरोग दूर करता है।
- पुराना ज्वर नाशक है।

**नोट :** विशेष जानने के लिए महामुद्रासन भी देखें।

**2.** महावेध मुद्रा

विधि : दाहिने पैर की एड़ी को गुदा-द्वार और लिंग के बीच स्थित सीवन में स्थिर करें। बाएँ पैर को आगे फैलाकर बैठ जाएँ। सामने पैर के अँगूठे को दोनों हाथों से झुकते हुए पकड़े। श्वास लें (पूरक करें)। दृष्टि भ्रूमध्य में रखें। त्रिबंध लगाएँ (जालन्धर बंध, मूलबंध, उड्डियान बंध)। अंतःचेतना को देखें।

मूलाधार से उर्ध्व के चक्रों का ध्यान करें। यथाशक्ति रुकें। तत्पश्चात् उड्डियान, मूलबंध और अंत में जालंधर को शिथिल करें तथा नेत्रों को सामान्य करें। धीरे-धीरे रेचक करें।
विशेष : कहीं-कहीं महावेध मुद्रा के समान ही बैठना है और कहीं-कहीं बंध लगाने के बाद कूल्हों को धीरे-धीरे उठाते हुए भूमि पर पटकना है। आसन में दृढ़ता के बाद यह अभ्यास कर सकते हैं।
घेरण्ड संहितानुसार : पुरुष के बिना जैसे स्त्री का लावण्य और रूप यौवन बेकार हैं वैसे ही महावेध के बिना मूलबंध और महाबंध निष्फल है। पहले महाबंध मुद्रा का अभ्यास कर उड्डियान-बंध कर कुंभक से वायु को रोकें, इसे महावेध कहते हैं। जो योगी प्रतिदिन महावेध के साथ महाबंध और मूलबंध का आचरण करते हैं। वे योगी योगियों में श्रेष्ठ हो जाते हैं। बुढ़ापा और मृत्यु उन पर आक्रमण नहीं कर पाते अर्थात् उनका काया कल्प हो जाता है।

लाभ:
- कई सिद्धियाँ स्वतः प्राप्त हो जाती हैं।
- शरीर पर झुर्रियाँ नहीं पड़तीं। व्यक्ति सदा युवा दिखता है।
- कंपवात नहीं होता। बाल सफेद नहीं होते।
- प्राण सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगते हैं एवं समाधि भी लगती है।

**नोट :** महाबंध जानने के लिए बन्ध अध्याय देखें।

## 3. खेचरी मुद्रा

**विधि :** साधक अपनी जिव्हा को उल्टी ले जाकर तालू-कुहर में स्पर्श कराएँ (मुंह बंद रखते हुए)। यह मुद्रा खेचरी मुद्रा कहलाती है। साधक अपनी जीभ को तालू-कुहर से स्पर्श नहीं करा पाता है अतः जिव्हा को बढ़ाने के तीन साधन बतलाए हैं। छेदन, चालन और दोहन।
**छेदन :** जीभ के नीचे के भाग में एक सूताकार तंतु से जीभ जबड़े से जुड़ी हुई रहती है इस कारण जीभ को पलटकर तालू से लगाना मुश्किल हो जाता है। इसके लिए प्रतिदिन उस तंतु को सैंधा नमक की डली से रगड़े या यदि शल्य क्रिया द्वारा विच्छेद संभव हो तो वह प्रयोग किया जा सकता है। कुछ दिनों के पश्चात् अभ्यास से जिव्हा का अग्रभाग तालू के ऊपरी छिद्र में आसानी से चला जाता है।

**चालन और दोहन :** अँगूठे और तर्जनी अँगुली से या महीन (बारीक) वस्त्र से जीभ को पकड़कर चारों तरफ़ उलट फेरकर हिलाने और खींचने को चालन कहते हैं।
मक्खन या घी आदि से लगाकर दोनों हाथों की अँगुलियों से जीभ को खींचें (जैसे गाय का स्तन दोहन करते हैं)। धीरे-धीरे आकर्षण करने का नाम दोहन है।
इन सब क्रियाओं में जो सुखद लगे वह गुरु-निर्देशन में करना चाहिए। तत्पश्चात् जीभ इतनी लंबी हो जाती है कि नासिका के ऊपर भ्रूमध्य तक पहुँच जाती है।

**सावधानी :** उपरोक्त अभ्यास में जल्दबाज़ी नहीं करनी चाहिए। अन्यथा परिणाम खतरनाक हो सकते हैं। बिना योग्य शिक्षक के न करें।

**विशेष :** ब्रह्मचर्य का पालन अवश्य करें। सफलता की संभावना बढ़ जाती है।

**लाभ :** अभ्यास हो जाने के बाद साधक ब्रह्मरंध्र से टपकने वाले मधुर रस अर्थात् अमृत का पान करता है। जीभ के प्रविष्ट होने पर इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना के मार्ग खुल जाते हैं। जिससे समाधि की स्थिति उत्पन्न होती है। अमृतपान करने से साधक अपनी मृत्यु को भी वश में कर लेता है (दीर्घायु होता है)। निद्रा, आलस्य तथा भूख-प्यास इत्यादि अधिक नहीं सताती।

**नोट :** हमने कुछ साधक देखे हैं जो कि स्वाभाविक रूप से नित्य प्रति अभ्यास करने पर अपनी जिव्हा को इतनी लंबी कर लेते हैं कि वह तालु-कुहर से स्पर्श हो जाए।

**4.**विपरीतकरणी मुद्रा

**विधि:** घेरण्ड संहिता के अनुसार नाभि के मूल में सूर्य नाड़ी है और मुख के तालुओं की जड़ में चंद्र नाड़ी है। जब नीचे से सूर्य नाड़ी अपने तेज से शरीर में स्थित अमृत का पान कर लेती है तब मनुष्य की मृत्यु होती है। इसलिए सूर्य को ऊपर उठाना चाहिए और चन्द्र को

नीचे की ओर ले आना चाहिए। इसका नाम विपरीतकरणी मुद्रा है। इसके अभ्यास के लिए साधक सर्वांगासन की तरह ही दिखने वाली विपरीतकरणी क्रिया करें। थोड़े ही प्रयत्न से मूलबंध और उड्डियान बंध स्वयं लग जाएँगे। घेरण्ड संहिता में आचार्य कहते हैं कि तब पूरक प्राणायाम कर कुंभक करें एवं यथाशक्ति रुकें तो इसको विपरीतकरणी मुद्रा कहते हैं।
**सावधानी:** उच्च रक्तचाप एवं हृदय रोग से पीड़ित व्यक्ति न करें।

**लाभ:**
- जो साधक प्रतिदिन अभ्यास करता है वह मृत्यु और बुढ़ापे को जीत लेता है।
- इसके प्रतिदिन अभ्यास से जठराग्नि प्रदीप्त होती है। अतः आहार की मात्रा संतुलित रखनी चाहिए।
- चक्रों का ध्यान करने से ओज, तेज, बल, वीर्य आदि की वृद्धि होती है।
- युवावस्था बनी रहती है एवं स्थिरता प्रदान करता है।

## 5. वज्रोली मुद्रा

**विधि :** रबर की एक विशेष नली जिसे केथेटर कहते हैं, वह 4-5 नम्बर की डेढ़ फीट के करीब लें। यह नली मूत्र नलिका में प्रवेश कराई जाती है। उस रबर की नली के अग्रभाग में चार-पाँच इंच तक शुद्ध घी या बादाम का तेल लगाकर धीरे-धीरे मूत्र नलिका के छिद्र में डालें। पीड़ा होने पर निकाल लें और क्रमश: अभ्यास करें एवं अभ्यास हो जाने पर इससे थोड़ी मोटी नलिका 7-8 नम्बर वाली डालने का अभ्यास करें। अभ्यास हो जाने पर नौलि क्रिया से आँतों को उठाकर मूलाधार को सिकोड़कर मूत्र-प्रणाली का संकुचन करते हुए पहले वायु का आकर्षण करें। तत्पश्चात् जल, दूध, (शुद्ध किया हुआ संस्कारित पारा) का आकर्षण करें। बाद में ये द्रव्य मूत्र त्यागते समय बाहर आ जाते हैं। इसका अभ्यास रबर नली के बाद चाँदी की नलिका से करें।
**विशेष :** किसी योग्य गुरु के निर्देशन में ही करें।

**लाभ:**
- ऊर्जा ऊर्ध्वमुखी होती है। अतः शरीर कांतिवान बनता है।
- ब्रह्मचर्य की रक्षा होती है।
- मानसिक शांति, आनंद व आध्यात्मिक लाभ मिलता है।
- मृत्यु पर्यन्त साधक युवा बना रहता है।
- साधक के शरीर से सुगंध आने लगती है।
- यह मुद्रा साधक को अमृत प्रदान करती हुई विश्व का महान योगी बनाती है।

मुद्राएँ धीरे-धीरे साधक की आत्मा को उत्थान एवं
विशुद्धता की ओर ले जाती हैं।
**-RJT**

## 6. योनि मुद्रा/षण्मुखी मुद्रा

**विधि :** सुखासन में बैठ जाइए। दोनों हाथ अपने चेहरे पर इस प्रकार रखिए कि अँगूठे द्वारा कान के छिद्र, तजनियों द्वारा दोनों आँखें, मध्यमा द्वारा नासिका रंध्र और अनामिका व कनिष्ठा द्वारा होठ के ऊपर आसानी से रखते बन जाए। काकी मुद्रा द्वारा प्राण को खींचकर अपान वायु से मिला दें। शरीर के चक्रों का ध्यान करते हुए या हैं सः मंत्र द्वारा कुण्डलिनी शक्ति को जगाते हुए साधक अपनी उर्जा को सहस्रार में ले जाएँ। साधक अभ्यास के समय केवल यह धारणा करें कि वह भगवान शिव के साथ शक्तिमय होता हुआ आनंदमय विहार कर रहा है और वह स्वयं पूर्ण ब्रह्म हो गया है। इसे योनिमुद्रा कहा गया है।

**लाभ:**
- यह दुर्लभ मुद्रा है। इस मुद्रा के अभ्यास से साधक कई पापों से मुक्ति पाता है। (घेरण्ड संहिता)
- शरीर में तेज, बल व वीर्य की वृद्धि होती है।
- शरीर निरोगी होता है।
- यह मुद्रा नया यौवन प्रदान करती है।
- पूर्ण एकाग्रता से अभ्यास करने पर साधक को सूक्ष्म ध्वनियों का अनुभव मिलता है।

देवों के समान दिखना चाहते हो तो प्राणायाम एवं
मुद्राओं का अभ्यास करो।
**-RJT**

## 7. शक्तिचालिनी मुद्रा

विधि : घेरण्ड संहिता के अनुसार मूलाधार में जो कुण्डलिनी साढ़े तीन लपेटे कुण्डली मारकर सो रही है, जब तक यह सुप्त अवस्था में है तब तक जीव अज्ञानी ही रहता है। अतः सम्यक् ज्ञान प्राप्ति तक इसको जगाने का अभ्यास करना चाहिए। जैसे बिना ताला खोले द्वार नहीं खोला जा सकता वैसे ही कुण्डलिनी शक्ति जागरण के बिना ब्रह्मरंध्र का द्वार नहीं खुल सकता। एकांत स्थान में जाकर एक हाथ लंबा और चार अँगुल चौड़ा कोमल वस्त्र नाभि से लपेटकर कमर में बाँधे। शरीर में भस्म, राख आदि लगाकर सिद्धासन में बैठ जाएँ। अब प्राण को खींचकर अपान वायु से मिलाएँ। अब अश्विनी मुद्रा द्वारा गुदा स्थान को संकुचित करते रहें। इस प्रकार कुंभक करने से सर्प रूपिणी कुण्डलिनी जागकर ऊपर की ओर उठती है। शक्ति चालिनी मुद्रा के अभ्यास के बाद योनिमुद्रा का अभ्यास करें।

**लाभ:**
- प्रतिदिन अभ्यास से विग्रह-सिद्धि सहित सर्व सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
- सभी प्रकार के शारीरिक और मानसिक रोग समाप्त होते हैं।
- आत्मिक आनंद की प्राप्ति होती है।

यदि आप निरोगी हैं तो सदा निरोग बने रहने के लिए योगाभ्यास करें और यदि आप रोग ग्रस्त हैं तो निरोग होने के लिए योगाभ्यास अवश्य करें ताकि आप स्वस्थ व सुंदर हो जाएँ।
**-RJT**

## 8. ताड़ागी मुद्रा
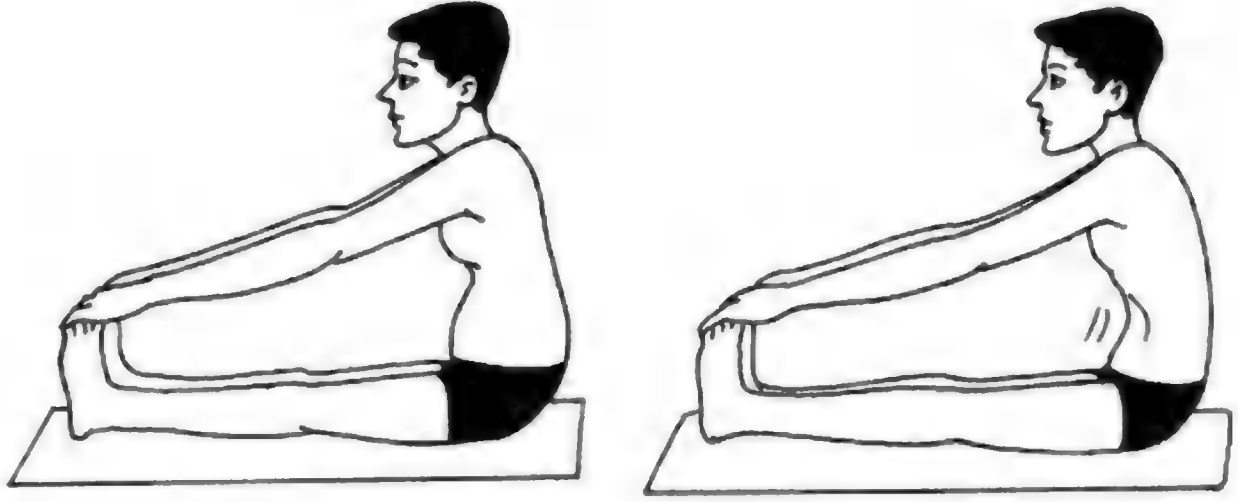
उदरंपश्चिमोत्तानं कृत्वा च ताड़ागाकृतिः।
ताड़ागी सा परामुद्रा जरा मृत्युं विनाशनी।

(घे. सं. 3/73)

अर्थ : पश्चिमोत्तानासन लगाकर बैठें और उदर को इस प्रकार फुलाएँ मानो पेट के भीतर पानी भरा हो; यही ताड़ागी मुद्रा है। इससे वृद्धावस्था और मृत्यु पर विजय प्राप्त करते हैं। पश्चिमोत्तानासन में बैठे। दोनों हाथों से पैर के पंजों को पकड़ें, परंतु झुकें नहीं। अब श्वास अंदर लें और पेट को जितना फुला सकते हैं फुलाएँ। यथाशक्ति कुंभक करें। अंत में धीरे-धीरे रेचक करें। रेचक करते समय पेट को तालाब जैसा गहरा बना लें। कही-कहीं योगीजन कुंभक के समय वायु को तालाब में लहर की तरह चलायमान करते हैं।

लाभ:
- उदर सम्बंधी सभी रोग नष्ट होते हैं।
- पेट लचीला होता है तथा पाचन-तंत्र सुचारु होता है।
- वृद्धावस्था पर विजय पाई जा सकती है।

**9.** माण्डुकी मुद्रा

मुखं संमुद्रितं कृत्वा जिह्ववामूल प्रचालयेत।
शनैग्रसेदमृतं तां माण्डुकीं मुद्रिकां विदुः।
वलितपलितं नैव जायते नित्य यौवनम।
न केशे जायते पाको यः कुर्यानित्यमाण्डुकीम्

(घे.सं 3/74-75)

**विधि :** मुख को बंद कर जीभ को तालू में घुमाना चाहिए और सहस्त्रार से टपकते हुए अमृत का जिव्हा से पान करना चाहिए। यह माण्डुकी मुद्रा है।

भद्रासन में बैठ जाएँ (पृष्ठ 215 देखें)। हाथों को घुटनों पर रखें। यथाशक्ति नितम्बों को ज़मीन पर टिकाएँ। मेरुदण्ड, गर्दन व सिर सीधा रखें। मुख बंद करें। अब अंदर ही अंदर जिव्हा को ऊपर तालू में दाएँ-बाएँ, ऊपर-नीचे घुमाएँ। इस प्रकार की क्रिया करने से ग्रंथि स्त्राव होता है। ऋषि कहते हैं कि यही अमृत है। इसके पान से बुढ़ापा पास नहीं आता। शरीर कांतिवान रहता है, अतः साधक को नित्य अभ्यास करना चाहिए।

**विशेष :** इस मुद्रा को करते समय सहस्त्रार पर ध्यान एकाग्र कर आत्मिक आनंद का लाभ उठाना चाहिए।

लाभ:
- बालों का झड़ना एवं असमय पकना बंद होता है।
- स्थायी यौवन की प्राप्ति होती है।
- शरीर कांतिवान बनता है व समस्त रोगों का नाश होता है।
- यह मुद्रा शरीर में वात-पित्त-कफ़ का संतुलन स्थापित करती है।

## 10. शाम्भवी मुद्रा

**विधि :** भ्रूमध्य में दृष्टि को स्थिर करके ध्यान पूर्वक परम आत्मा का चिंतन करें। यही

शाम्भवी मुद्रा है।

सुखासन में बैठ जाएँ। मेरुदण्ड, ग्रीवा एवं सिर एक सीध में रखें। हाथों को एक-दूसरे के ऊपर रख लें या घुटनों पर रखकर ज्ञान मुद्रा बना लें। अब पूर्ण एकाग्रचित होकर दृष्टि दोनों भौंहों के बीच करें और अपनी शुद्धात्मा का ध्यान करें।

**विशेष :** आँखों में दर्द महसूस हो तो विराम करें। आँखों में पानी के छींटे डालें या फिर पहले आँखों के अन्य अभ्यास कर लें।

**समय :** श्वास सामान्य रखते हुए अनुकूलतानुसार करें।

**लाभ:**
- आज्ञा चक्र विकसित होता है।
- अचेतन मस्तिष्क जागृत होता है।
- आँखों में आकर्षण पैदा होता है।
- ध्यान शक्ति का विकास होता है।
- स्मरण शक्ति तीक्ष्ण होती है।

## **11.** अश्विनी मुद्रा

आकुंचयेद् गुदाद्वारं प्रकाशयेत् पुनः पुनः।
सा भवेदश्विनीमुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।।
आश्विनी परमा मुद्रा गुहारोग विनाशनीं।
बलपुष्टिकरी चैव अकालमरणं हरेत्।।

(घे.सं 3/82-83)

**विधिः** सुखासन में तनाव रहित बैठिए। नेत्रों को बंद करें व पूरक करें। कुंभक करते हुए गुदा द्वार का बार-बार आकुंचन (संकोचन) करें। यथाशक्ति क्रिया करें। तत्पश्चात् रेचक करें। सुविधानुसार क्रिया करें।

**विशेष:** श्वास क्रिया सामान्य रखते हुए भी कर सकते हैं।

**लाभ:**
- अकाल मृत्यु का भय खत्म होता है।
- गुदा प्रदेश के रोग स्वतः समाप्त हो जाते हैं।
- कुण्डलिनी जागरण में सहायता मिलती है।
- शारीरिक और मानसिक लाभ मिलते हैं।

## **12.** पाशिनी मुद्रा

कण्ठपृष्ठे क्षिपेत्पादौ पाशवद् दृढबन्धनम्।
सा एव पाशिनी मुद्रा शक्ति प्रबोधकारिणी।
पाशिनी महती मुद्रा वयःपुष्टि विधायिनी।
साधनीया प्रयत्नेन साधकैः सिद्धिकांक्षिभिः ।।

(घे.सं 3/84-85)

**विधिः** दोनों पैरों को उठाकर गले के पीछे से लाते हुए उन्हें आपस में पाश के समान दृढ़ता से बाँध लें। कुण्डलिनी को जगाने वाली यह पाशिनी मुद्रा है।
**विशेषः** योग्य शिक्षक की देख-रेख में करें।
**ध्यानः** विशुद्धि चक्र या मूलाधार चक्र।

**लाभः**
- बलवर्द्धक है। शरीर पुष्ट होता है।
- सिद्धि प्रदाता है। अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं।
- मानसिक शांति एवं प्रसन्नता रहती है।

## **13.** काकी मुद्रा

काकचन्चुवदास्येन पिबेद्वायं शनैः शनैः।

काकी मुद्रा भवेदेषा सर्वरोग विनाशनी।
काकी मुद्रा परा मुद्रा सर्वतन्त्रेषुगोपिता।
अस्याः प्रसादमात्रेण काकवन्नीरुजो भवेत्।।

(घे.सं 3/86-87)

**अर्थ:** कौवे की चोंच के समान मुख बनाकर धीरे-धीरे वायु पान करें। इससे सब प्रकार के रोग दूर होते हैं। यह काकी मुद्रा कहलाती है। इस अभ्यास से साधक कौवे के समान रोग रहित हो जाता है।

महर्षि घेरण्ड का कहना है कि यह मुद्रा गुप्त रखनी चाहिए।

**विशेष:** इसमें श्वास मुँह द्वारा ही लेना है। नासिका से नहीं लेना है परंतु श्वास छोड़ने का कार्य मुख बंद कर नासिका द्वारा से ही करना है।

**लाभ:**
- सर्वरोग नाशक है।
- शीतलता मिलती है।
- उच्च रक्तचाप में लाभकारी।
- पाचन-तंत्र ठीक कर क़ब्ज़ से छुटकारा दिलाती है।
- मानसिक शांति मिलती है।
- सामान्य रूप से यह कई बीमारियों का क्षय करती है।

**सावधानी:** निम्न रक्तचाप वाले न करें।

## 14. मातंगिनी मुद्रा

कण्ठमग्नेजले स्थित्वा नासाभ्यां जलमाहरेत्।
मुखान्निर्गमयेत्पश्चात् पुनर्वक्त्रेण चाहरेत्।
नासाभ्यां रेचयेत, पश्चात कुर्यादेवं पुनः पुनः।
मातङ्गिनी परा मुद्रा जरामृत्यु विनाशनी।
विरले निर्जने देशे। स्थित्वा चैकाग्रमानसः ।
कुर्यान्मातङ्गिनी मुद्रां मातङ्ग इव जायते।
यत्र यत्र स्थितो योगी सुखमत्यन्तमश्नुते।
तस्मात सर्व प्रयत्नेन साधयेत् मुद्रिकांपराम्

(घे.सं 3/88-91)

**अर्थ:** गले तक जल में खड़े होकर नासिका द्वारा जल खींचकर मुख से जल को बाहर निकालना चाहिए और फिर मुख से जल भरकर नासिका के द्वारा निकालें। पुनः नासिका से

जल खींचे और मुँह द्वारा बाहर निकालें। यह क्रिया बार-बार करें। यह मातंगिनी नाम की मुद्रा है।

**लाभ:**
- इसके सिद्ध होने से जरा-मरण का भय नहीं होता।
- इसकी सिद्ध करें तो हाथी के समान शक्तिमान बन सकते हैं।
- इस मुद्रा को करने से सब प्रकार के सुख मिलते हैं।

## 15. भुजंगिनी मुद्रा

वक्त्रं किञ्चित्सुप्रसार्य चानिलं गलया पिवेत।
सा भवेद्भुजङ्गी मुद्रा जरामृत्युविनाशिनी।
यावच्च उदरे रोगमजीर्णादि विशेषत: ।
तत्सर्वनाश्येदाशु यत्र मुद्रा भुङ्गीनी।

(घे.सं 3/92-93)

**अर्थ:** मुख को फैलाकर, खोलकर गले से वायु का पान करें एवं गले में पवन का धक्का ज़ोर से लगे। इसको भुजंगिनी मुद्रा कहते हैं। सिद्धासन, पद्मासन, या वज्रासन में बैठकर उपरोक्त विधि को करना चाहिए।

**लाभ:**
- बुढ़ापा और मृत्यु का नाश करती है।
- उदर-रोग सम्बंधी सभी विकारों का नाश होता है।
- अजीर्ण रोग दूर होता है। पाचन-संस्थान मज़बूत होता है।
- कंठ-रोग दूर होता है।

## 16. योग मुद्रा
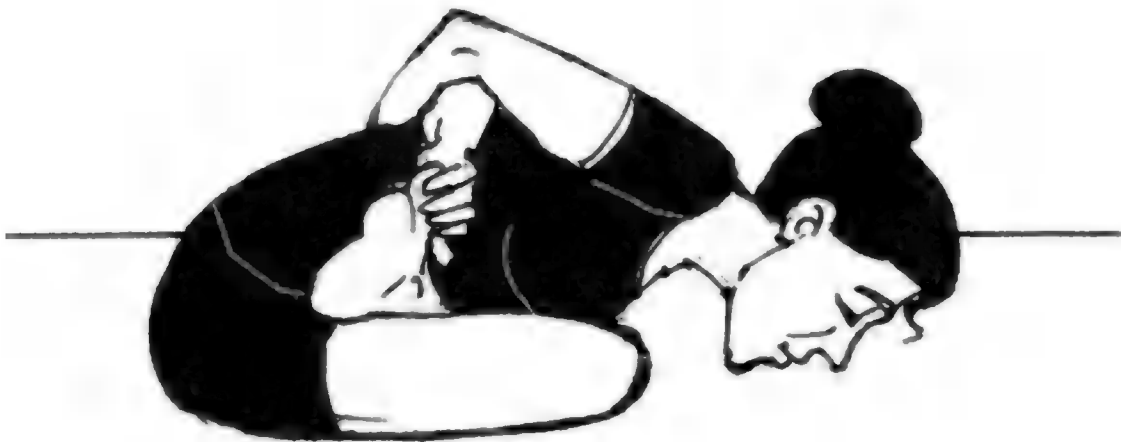
विधि : पद्मासन में शांतचित होकर आँख बंद करके बैठें। प्रारंभिक अवस्था में दोनों हाथों को पीठ के पीछे ले जाएँ एवं दोनों हाथों की हथेली से (इस प्रकार दाहिने हाथ में दाहिने पैर का पंजा तथा बाएं हाथ से बाएं पैर का पंजा पकड़ने में आएगा।) पैरों के अंगूठी को दोनों हाथों के पंजी से पकड़े (इस प्रकार दाहिने हाथ से दाहिने पैर का अगूंठा एवं बायें हाथ से बाँये पैर का अंगूठा पकड़ने में आयेगा) अब श्वास छोड़ते हुए सिर को सामने ज़मीन पर धीरे-धीरे झुकाएँ। माथा ज़मीन से स्पर्श कराएँ। 10 से 15 सेकण्ड तक उसी स्थिति में रहते हुए श्वास-प्रश्वास करते रहें। श्वास लेते हुए मूल स्थिति में लौटें।
दिशाः आध्यात्मिक कारणों से पूर्व या उत्तर दिशा करें।
ध्यान: समस्त चक्रों को जागृत करने के लिए उपयुक्त। मूलाधार एवं आज्ञाचक्र पर विशेष।

लाभ:
- पाचन-संस्थान की तीव्र करता है।
- कोष्ठबद्धता दूर करता है।
- आध्यात्मिकता में लाभ पहुँचाता है।
- मेरुदण्ड को पूर्ण लाभ मिलता है।
- चेहरे में निखार लाता है नेत्रज्योति तीव्र होती है।

टिप्पणी: पूर्ण आसन के लिए यथासंभव धीरे-धीरे प्रयास करें। यदि कठिनाई महसूस हो तो हाथों को पीठ पर रखकर आपस में बाँध लें।
नोट: अधिक जानकारी के लिए योग मुद्रासन भी देखें।

**17. ब्रह्म मुद्रा**
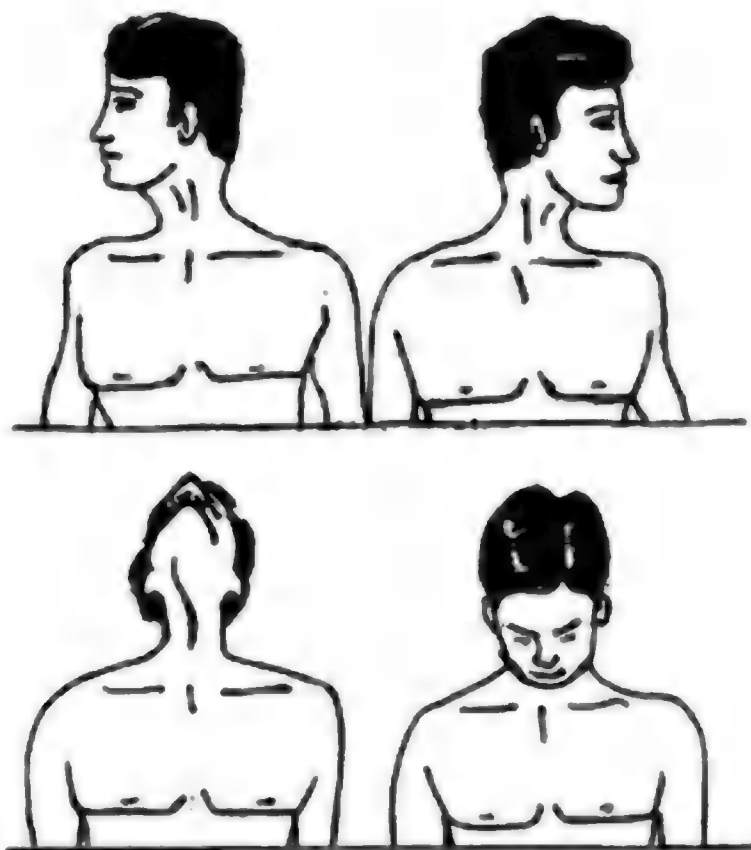
**आकृति:** ब्रह्मा के चार मुख के समान।

**विधि:** किसी भी ध्यानात्मक आसन (पद्मासन, सुखासन) में बैठे। मेरुदण्ड व धड़ को सीधा कर आँखों को बंद कर लें। हाथ को ज्ञान या चिन मुद्रा में घुटने पर रखें। शांत मनोभाव से इस मुद्रा का अभ्यास करने के लिए सिर सामने स्थिर करें। फिर सिर को धीरे-धीरे दाहिनी ओर घुमाएँ इतना धीरे-धीरे कि वह ढाई मिनट में कंधे की सीध में आ जाए।

समय की गणना करने के लिए गिनती या साँसों की संख्या का सहारा लें। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस बाईं ओर घुमाना प्रारंभ करें तथा पाँच मिनट में बाएँ कंधे की सीध में पहुँचा दें। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस दाहिनी ओर घुमाना प्रारंभ करें तथा ढाई मिनट में प्रारंभिक स्थिति में पहुँचे। लगभग चौथाई मिनट(15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को ऊपर की ओर ले जाना प्रारंभ करें। ढाई मिनट तक ऊपर उठाते हुए सिर को अधिकतम पीछे ले जाएँ। लगभग चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस सामने लाते हुए नीचे की ओर पाँच मिनट में लाएँ। चौथाई मिनट (15 सेकण्ड) स्थिर रहने के बाद सिर को वापस प्रारंभिक स्थिति में ढाई मिनट में ले आएँ। चारों दिशाओं में सिर की गति में 21 मिनट व्यतीत होने चाहिए। यह ब्रह्म मुद्रा का एक चक्र माना जाता है। श्वास की गति सामान्य से कम रहेगी।

लाभ:
- बारी-बारी से गले की नसों को तानने व ढीला करने से उनमें शक्ति व लचीलापन आता है।
- क्रेनियल नर्व्स जो गर्दन से गुज़रती हैं, की अच्छी मालिश हो जाने से मस्तिष्क से विभिन्न अंगों जैसे आँख, कान, नाक, जिव्हा इत्यादि स्वस्थ होते हैं।
- टॉन्सिल्स की अनचाही बढ़त, जलन व सूजन समाप्त होती है।
- मन को शांत, स्थिर व अंतःकेंद्रित करने में सहायक है। जिससे ध्यान के उच्च प्रयोग किए जा सकते हैं।
- विशुद्धि, आज्ञा व सहस्त्रार चक्र पर प्रभाव डालता है।

## मुद्रा : उपसंहार एवं समस्त लाभ

- मुद्राओं का अभ्यास सभी इच्छाओं की पूर्ति करता है। बुढ़ापे और मृत्यु को दूर रखता है।
- परम गोपनीय और देव-दुर्लभ है। दुष्ट, नास्तिक तथा अयोग्य व्यक्ति को नहीं बताना चाहिए।
- सच्चे भक्त, उच्च चिंतनशील एवं शांतचित्त वाले को यह ज्ञान देना चाहिए।
- सर्व व्याधि का नाशक है। नित्य अभ्यास से शील की रक्षा होती है
- जठराग्नि तीव्र होती है।
- बुढ़ापे और मृत्यु पर विजय कर लेता है। उसे अग्नि, जल और वायु का भय नहीं रहता।
- कास, श्वास, प्लीहा, कुष्ठ, श्लेष्मा आदि बीस प्रकार के रोग दूर होते हैं।
- रक्त शोधक है।
- वात, पित्त व कफ़ का शमन होता है।

नए स्वर्ग की रचना करनी हो तो<br>
योग-विद्याओं को अपनाओ।<br>
**-RJT**

अष्टांग योग हमारे रोग और अज्ञान का नाश कर
वर्तमान और भविष्य दोनों का चहुँमुखी विकास
कर दिव्यता प्रदान करता है।

**-RJT**

योग प्रदर्श्न का नहीं
स्वतः लाभ का विज्ञान है।

**-RJT**

# हस्तमुद्रा विज्ञान

हमारा शरीर अनंत रहस्यों का भण्डार है। अभी हमें जो विद्याएँ ज्ञात हैं वे उन कैवल्य ज्ञानी परमात्माओं द्वारा प्रदत्त ज्ञान का एक प्रतिशत भी नहीं हैं। यदि हमें उन्हीं एक प्रतिशत का कुछ भाग ज्ञात हो जाए तो हम ज्ञानमद से चूर हो जाते हैं और कई बार हमें ज्ञान का अपच हो जाता है। इन्हीं अपचों को दूर करने के लिए हमें पौराणिक काल से महर्षियों ने कई सिद्धांत प्रतिपादित किए, कई प्रकार की वैज्ञानिक कलाएँ सिखाई। वे प्राचीन वैज्ञानिक कलाएँ आज कई रूप में विद्यमान हैं। उन्हीं में से एक है हस्तमुद्रा विज्ञान। हम इन मुद्राओं के द्वारा शरीर से बाहर जाने वाली शक्तियों को अपने अंदर वापस आत्मसात् कर उन्हें एकत्रित कर उसका बहुआयामी लाभ उठा सकते हैं। वैसे भी हमारा शरीर प्रकृति के पाँच तत्वों से मिलकर बना है। कदाचित् कोई तत्व कम या ज़्यादा होता है तो हमारा शरीर कई प्रकार के रोगों से ग्रसित हो जाता है। उन्हीं तत्वों को नियंत्रित करने के लिए हस्त-मुद्राओं का उपयोग करना सिखाया जाता रहा है। इनके अलावा हमारे शरीर में प्रतीत होने वाली कई अनजान घटनाओं को भी इन्हीं हस्तमुद्राओं का अवलंबन लेकर हम शारीरिक, मानसिक तथा सूक्ष्म शक्तियों का लाभ उठाकर आत्मउत्थान कर सकते हैं।

हमारे हाथ की पाँचों अँगुलियाँ हमें पाँच तत्वों की तरफ़ इंगित करती हैं। अँगूठा - अग्नि तत्व को, तर्जनी अँगुली- वायु तत्व को, मध्यमा (बीच की अँगुली)- आकाश तत्व को, अनामिका – पृथ्वी तत्व को और कनिष्ठा अँगुली - जल तत्व को इंगित करती है। इन्हीं पाँचों अँगुलियों से हमारे शरीर में आई किसी प्रकृतिस्थ विकृति को मुद्राओं के द्वारा इन तत्वों को सम कर हम स्वास्थ्य को प्राप्त कर सकते हैं।
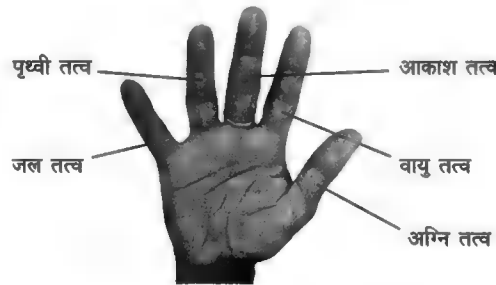


किसी भी अँगुली के अग्र भाग को यदि अँगूठे से मिलाते हैं तो उस अँगुली से सम्बंधित तत्व में आधी विकृति सम हो जाती है। यदि अँगूठे को किसी भी अँगुली के मूल भाग से

मिला दें तो उस अँगुली से सम्बंधित तत्व बढ़ने लगते हैं। यदि किसी अँगुली के अग्रभाग को अंगुष्ठ के प्रथम पोर की गद्दी से दबाते हैं तो उससे सम्बंधित तत्व घटने लगते हैं।

इस प्रकार हम कई बीमारियों को, चाहे वह शारीरिक हो या मानसिक, इन मुद्राओं का प्रयोग करके अहिंसात्मक लाभ उठा सकते हैं। अत: हम उन कई मुद्राओं में से प्रमुख मुद्राओं का वर्णन करते हैं।

## 1. ज्ञान मुद्रा

यह मुद्रा बहुत ज़्यादा प्रचलित है। दिखने में साधारण और प्रभाव में अत्यधिक लाभ देने वाली है।

पद्मासन, अर्ध पद्मासन, सिद्धासन या सुखासन जैसे किसी भी आसन में बैठ जाएँ एवं हाथों को घुटनों पर रखकर तजनी अँगुली के अग्रभाग को अँगुष्ठ के अग्रभाग से स्पर्श कराएँ। बाक़ी अँगुली खुली हुई लंबवत् ही रहेंगी। यदि हथेली का मुख आकाश की तरफ़ करते हैं तो यह चिन मुद्रा कहलाती है और यदि ज़मीन की तरफ़ करते हैं तो वह ज्ञान मुद्रा कहलाती है। (आजकल कुछ लोग चलते-फिरते, उठते-बैठते टी.वी. वगैरह देखते हुए भी ज्ञान मुद्रा को बनाकर रखते हैं।)

साधक को जब भी समय मिले यह मुद्रा अवश्य लगानी चाहिए। इस मुद्रा के लगातार अभ्यास करने से कई मानसिक बीमारियाँ भी ठीक होती देखी गई हैं। कई शारीरिक बीमारियाँ जैसे नींद न आना, उन्माद, मिर्गी, पागलपन, चिड़चिड़ापन, आवेश, क्रोध, स्मरण शक्ति क्षीण होना आदि में भी लाभदायक है।

कुछ साधक ज्ञान मुद्रा लगाकर ध्यान की अवस्था में बैठकर तीसरे नेत्र (आज्ञा चक्र) का विकास करते हैं। इस प्रकार हम मुद्रा को निरंतर अभ्यास में लाकर कई प्रकार के लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

## 2. वायु मुद्रा

शरीर में यदि वायु की अधिकता हो जाए तो कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। जैसे - हाथ-पैरों का कांपना, लकवा, गठिया, सिर दर्द, हृदय-विकार आदि कई प्रकार के वायु दोष इस वायु मुद्रा द्वारा दूर किए जा सकते हैं।

चित्रानुसार तजनी अँगुली को मोड़कर अँगूठे की जड़ पर रखें एवं अँगूठे को तर्जनी अँगुली के ऊपर हल्का दबाव रखते हुए रखें। शेष तीनों अँगुलियाँ लंबवत् रखें। यह मुद्रा वायु दोष को दूर कर शरीर में वायु को नियंत्रित करती है।

## 3. शुन्य मुद्रा (आकाशीय मुद्र)

इस शून्य मुद्रा द्वारा हमारे शरीर में उत्पन्न दोष जैसे - कर्ण रोग, कम सुनाई देना, कान का दर्द आदि दोष ठीक किये जा सकते हैं।

चित्रानुसार मध्यमा अँगुली को अँगूठे की जड़ पर रखकर उस पर अँगूठे का हल्का दबाव बनाते हुए रखें। शेष तीनों अँगुलियाँ खुली हुई रखें। इस दोष से सम्बंधित व्यक्ति जल्दी स्वस्थ होने के लिए अपने दोनों हाथों की मुद्रा का उपयोग कर लाभान्वित हो सकता है।

## 4. सूर्य मुद्रा

अनामिका अँगुली पृथ्वी तत्व का प्रतीकात्मक स्वरूप है। अनामिका अँगुली हस्तरेखा शास्त्र के अनुसार सूर्य सम्बंधी प्रभाव को दर्शाती है। यह अँगुली सूर्य के समान शरीर के विद्युत प्रवाह को भी प्रवाहित करती है।

चित्रानुसार अनामिका अँगुली के अग्रभाग को यदि अँगुष्ठ के जड़ भाग से स्पर्श कराया जाए और अँगुष्ठ का उसके ऊपर हल्का सा दबाव डाला जाए तो यह सूर्य मुद्रा बनती है।

इस मुद्रा के प्रयोग से शरीर का मोटापा एवं भारीपन कम किया जा सकता है। इस अँगुली के द्वारा किसी के भी आज्ञाचक्र को स्पर्श कर उसे प्रभावित किया जा सकता है।

## 5. वरुण मुद्रा
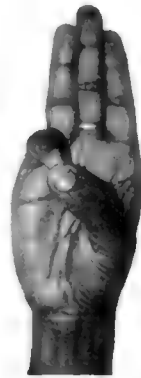
यह मुद्रा जल तत्व का प्रतीक है। शरीर में जल तत्व की कमी होने के कारण शरीर में रक्त-विकार, रूखापन आदि कई बीमारियाँ जन्म ले लेती हैं। अत: विकार दूर करने के लिए वरुण मुद्रा का प्रयोग किया जाना चाहिए।

इस मुद्रा के लिए कनिष्ठा अँगुली के अग्रभाग को (चित्रानुसार) अँगुष्ठ के अग्रभाग से मिलाने पर इस मुद्रा का निर्माण होता है।

## सुरभि मुद्रा

यह यौगिक मुद्रा रहस्यमयी मानी गई है। लगभग सभी साधकों को यह मुद्रा अवश्य करनी चाहिए। यह शरीर में वात, पित्त, कफ़ के असंतुलन से उत्पन्न होने वाले दोष को अद्भुत तरीके से दूर करती है। इस मुद्रा के निरंतर अभ्यास करने से व्यक्ति तीव्र गति से आध्यात्मिक व शारीरिक लाभ उठा सकता है।

आचार्यों का कहना है कि इस मुद्रा का वर्णन अकथनीय है। यह अपने अंदर अनंत रहस्यों को समेटे हुए है।

चित्रानुसार एक हाथ की अनामिका को दूसरे हाथ की कनिष्ठा और दूसरे हाथ की कनिष्ठा को पहले हाथ की अनामिका से स्पर्श कराएँ। ऐसे ही मध्यमा अँगुली दूसरे हाथ की तजनी अँगुली से और पहले हाथ की तर्जनी अँगुली दूसरे हाथ की मध्यमा अँगुली से स्पर्श करेगी। दोनों अँगूठे खुले रहेंगे।

## 7. पृथ्वी मुद्रा

इस मुद्रा के द्वारा व्यक्ति अपने शरीर के सभी खनिज तत्वों को संतुलित कर सकता है। शरीर के वज़न को यथावत् रखता हुआ शरीर को कांतिवान बना सकता है।

चित्रानुसार अनामिका अँगुली के अग्रभाग को अँगुष्ठ के अग्रभाग से स्पर्श कराएँ तो यह पृथ्वी मुद्रा बनती है।

## 8. अपान मुद्रा (मृत संजीवनी मुद्र)
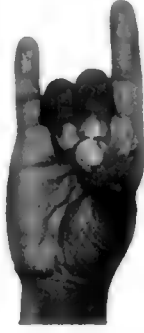
कहावत है कि पेट नरम और रक्त गरम होना चाहिए। यदि आपको क़ब्ज़ है, मल-मूत्र पेट में सड़ रहा है तो आपको कई प्रकार की बीमारियाँ हो सकती हैं। यदि अपान मुद्रा का प्रयोग करें तो शरीर में वायु का प्रकोप नहीं रहेगा, शरीर सुंदर और निर्मल भी बनाया जा सकता है।

इस मुद्रा के प्रतिदिन अभ्यास करने से अपान वायु नियंत्रित होकर सम हो जाती है और इस वायु के निमित से होने वाले सभी कार्य ठीक से होने लगते हैं। दूषित वायु एवं मलावरोध इस मुद्रा के द्वारा सुचारु रूप से होने लगते हैं।

चित्रानुसार इस मुद्रा को बनाएँ और इस मुद्रा का प्रयोग कम से कम 15 मिनट से 45 मिनट तक करें। अधिक लाभ के लिए अपान वायु मुद्रा के साथ प्राण मुद्रा का भी प्रयोग करें।

## 9. प्राण मुद्रा
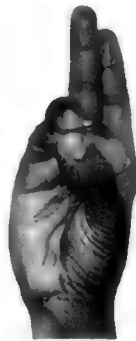
यह मुद्रा वास्तव में प्राणदायिनी है क्योंकि इस मुद्रा के अभ्यास से सारे शरीर में एक प्रकार की ऊर्जा का संचार होने लगता है। कमज़ोर से कमज़ोर व्यक्ति भी इस मुद्रा के द्वारा शरीर में होने वाले विटामिन्स/प्रोटीन की कमियों को दूर कर स्वास्थ्य लाभ ले सकता है। नेत्र-विकार दूर कर सकता है जिस कारण चश्मे के नंबर कम हो जाते हैं या बिल्कुल हट जाते हैं। प्राणोपासना में प्राण मुद्रा शरीर के सभी संस्थानों को सुचारू रूप से कार्य करने में

सहायता करती है। चित्रानुसार कनिष्ठा और अनामिका अँगुली के अग्रभाग से अँगुष्ठ के अग्रभाग को मिलाकर साधकगण इसका लाभ उठा सकते हैं।

## **10.** लिंग मुद्रा

इस मुद्रा का प्रयोग शरीर की गर्मी बढ़ाने के लिए किया जाता है। सर्दियों में इसका प्रयोग कर कई प्रकार से शरीर सुरक्षित किया जा सकता है। इस मुद्रा का प्रयोग करके पुराने से पुराना नज़ला (जुकाम) नष्ट किया जा सकता है।

चित्रानुसार हाथों की समान अँगुलियों को फंसाकर अँगुष्ठ को ऊपर आकाश की तरफ़ तान दें। इस मुद्रा को लगाने से कुछ ही देर में 'सर्दी में भी गर्मी का एहसास' होता है।

अंत में हम इतना कहेंगे कि सभी मुद्राओं में एक बात की समानता है, वह है धैर्य, लगातार अभ्यास और विश्वास। इनके बिना कुछ भी करना बेकार है। अत: उपरोक्त बातों का ध्यान रखकर ही सम्पूर्ण लाभ उठाया जा सकता है।

हस्तमुद्राएँ साधक के भीतर की नकारात्मकता को दूर कर सकारात्मकता का प्रवेश कराती हैं।

-RJT

# बंध : प्रकार एवं लाभ

**एक विवेचना :** बंध का शाब्दिक अर्थ बंधन अर्थात् एक को दूसरे से मिलाना, बाँधना, कसना, नियंत्रण इत्यादि।

इस शब्द का प्रयोग इसलिए किया गया है कि इसमें शरीर के कुछ विशेष अवयवों या आंतरिक अंगों को प्राणवायु द्वारा कसकर बाँध लिया जाता है। ये बंध शक्ति को अंतरोन्मुख करते हैं तथा प्राणायाम में सहायक होते हैं। साधक के शरीर में जब प्राणायाम द्वारा ऊर्जा प्रवाहित होती है तब साधक इन बंधों का उपयोग कर शक्ति को बहिर्मुख होने से बचा लेता है। प्राणायाम द्वारा उत्पन्न शक्ति को ये बंध आतरिक अंगों में वितरण करने में सहायता करते हैं। इनका अभ्यास कुण्डली जगाने में भी किया जाता है। बंध का कार्य आंतरिक अंगों की गंदगी को दूर करके अधिक स्वच्छ एवं प्रासुक बनाना है। बंध को लगाने से शरीर के अवयव पुष्ट होते हैं। एक प्रकार की मालिश हो जाती है। बंध शरीर की नाड़ी-विशेष को प्रोत्साहित एवं उन्हें सुचारु कर रक्तादि के मल को शुद्ध करते हैं। इनको करने से वे सभी ग्रंथियाँ खुल जाती हैं जो हमारे शरीर में स्थित चक्रों में प्राण के प्रवाह को रोकती हैं। इस दौरान सुषुम्ना नाड़ी द्वारा ऊर्जा के प्रवाह को दिशा मिलती है, उच्च अभ्यासी समाधि की दशा में यह अनुभव प्राप्त करते हैं। बंध एवं मुद्रा के प्रयोग से प्राणायाम में विशेष लाभ मिलता है। चूँकि कुंभक (अंतकुंभक या बहिकुंभक) एवं बंध प्राणायाम के लिए आवश्यक हैं। अत: कुंभक लगाने की क्षमता बढ़ाना चाहिए।

यहाँ हम मुख्य रूप से पाँच प्रकार के बंध का उल्लेख करेंगे।

## मूल बंध

पार्ष्णिना वामपादस्य योनिमाकुञ्चयेत्ततः।
नाभिग्रन्थि मेरुदण्डे सुधीः संपीड्य यत्नतः।
मेढ्रं दक्षिणगुल्फेन दृढबन्ध समाचरेत्।
जराविनाशिनी मुद्रा मूलबन्धो निगद्यते।
संसारसागरं तर्तुमभिलषति यः पुमान॥
सुगुप्तो विरलो भूत्वा मुद्रामेता समभ्यसेत्।
अभ्यासाद्वन्धनस्यास्य मरुत्सिद्धिर्भवेदध्रुवम्।
साधयेद्यतस्तर्हि मौनी तु विजितालसः।।

(घे.सं.3/6-9)

**अर्थ :** मूल का अर्थ जड़, आरंभ, आधार, बुनियाद या धरातल होता है। योग विषय में मूलबंध का सम्बंध मूलाधार चक्र से है, जो कि गुदा और जननेन्द्रिय के बीच स्थित होता है।

**विधि :** पद्मासन या सिद्धासन में बैठ जाइए। हथेलियों को घुटनों पर रखिए तथा ध्यान की अवस्था में बैठ जाइए। मेरुदण्ड सीधा, नेत्र बंद, शरीर की अवस्था शिथिल और एकाग्रता मूलाधार चक्र पर।

श्वास अंदर लीजिए, अंतकुंभक लगाइए। इसी के साथ जालंधर बंध लगाइए। अब गुदा भाग और जननेन्द्रिय भाग को ऊपर की ओर आकुचन क्रिया करते हुए उन्हें ऊपर की तरफ़ खींचिए (आपने गाय आदि जानवर को मल त्यागने के पश्चात् देखा होगा कि वह किस प्रकार गुदा को अंदर की तरफ़ खींचते हैं) वैसे ही हमको भी अपने मूलाधार चक्र प्रदेश को खींचना है। यही मूलबंध की अंतिम अवस्था है। क्षमतानुसार रुकिए। अधोभाग ढीला कीजिए व सिर ऊपर उठाइए एवं श्वास छोड़िए। यह अभ्यास बहिकुंभक की अवस्थिति में भी कर सकते हैं। 5 से 10 बार अनुकूलतानुसार कीजिए।

**नोट** आसन लगाते समय ध्यान रहे कि एड़ी का दबाव गुदा भाग में पड़े।

**विशेष :** गलत अभ्यास के कारण शारीरिक दौर्बल्य और पौरुष का अभाव होने की आशंका रहेगी। अश्विनी मुद्रा के अभ्यास से साधक को मूलबंध पर अधिकार जल्दी होता है।

**लाभ :**

- कुण्डली जागरण की क्रिया में सहायक।
- ऊर्जा शक्ति को ऊध्र्वमुखी बनाता है। फलस्वरूप चेहरे के कांति, तेज, बल तथा वीर्य की वृद्धि होकर वृद्ध भी युवा के समान दिखाई देता है एवं उसी के समान कार्य करने की क्षमता प्राप्त कर लेता है।
- जननेन्द्रिय के विकार दूर होते हैं।
- मूलबंध के निरंतर अभ्यास से प्राण, अपान एवं नाद और बिंदु एक होकर योग

सिद्धि एवं परमात्मा की प्राप्ति होती है।

- जालंधर बंध के सभी लाभ भी प्राप्त होते हैं।
- ब्रह्मचर्य साधने में सहायक।
- गुदा संबंधी विकार दूर होते हैं जैसे अर्श, गुदा का बाहर निकलना आदि ।

जीवन से कभी निराश, हताश, उदास नहीं होना चाहिए सुख और अनंत शक्ति को धारण करती हुई आत्मा रूपी ऊर्जा विद्यमान है। अत: उसको पहचानें और जीवन को रूपांतरित करें। -

-RJT

## उडिडयान बंध

उदरे पश्चिमं तानं नाभिरूर्ध्व तुकारयेत्।
उड़ीयानं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः।
उड़ीयानं त्वसौ बन्धो मृत्युमातंगकेसरी।
समग्राद बन्धनाद्धयेतदुड़ीयानं विशिष्यते।
उड़ीयाने समभ्यस्ते मुक्तिः स्वाभाविकी भवेत्।

(धे सं3/12-13)

**अर्थ :** उड़ियान का अर्थ ऊँचा उड़ना होता है। इस क्रिया में ऊर्जा अधोभाग से उठकर ऊर्ध्वभाग तक प्रवाहित होती है या जब शक्ति ऊर्ध्वमुखी होकर सुषुम्ना में प्रवेश करे, उसे उड़ियान बंध कहते हैं।

**विधि :** सावधान की स्थिति में खड़े हो जाइए। अब दोनों पैरों के बीच लगभग 1 या डेढ़ फिट का अंतर रखिए। घुटनों को थोड़ा सा मोड़ते हुए आगे की ओर झुकें और हाथों को घुटने के पास जाँघों पर रखें। दीर्घ रेचक कीजिए एवं बहिकुम्भक लगाइए। जालंधर बंध में यथासंभव ठुड्डी नीचे करें। अब पूरे उदर स्थान (पेट) को मेरुदण्ड की ओर पीछे (भीतर) खींचे। यही उड़ियान बंध की अंतिम अवस्था है। अनुकूलतानुसार अभ्यास करें। अब क्रमश: उदर को अपनी सामान्य स्थिति में लाएँ और जालंधर बंध को शिथिल करें। पूरक करें एवं सामान्य होने पर यही क्रिया दोहराएँ। इसकी शक्तिचालन प्राणायाम भी कहते हैं।

**लाभ :** दतात्रेय योग के अनुसार इस बंध के अभ्यास से वृद्ध भी युवा हो जाता है। उड़ियान बंध सर्वोत्तम बंध है। हृदय क्षेत्र की मांसपेशियों की अच्छी मालिश होती है। उदर-प्रदेश के अंग कोमल होते हैं जिससे जठराग्नि तीव्र हो जाती है। इस बंध की उपमा शेर के समान की गई है जो कि मृत्युरूपी हाथी पर विजय पा लेता है। चेहरे की झुर्रियों को समाप्त कर तेज बढ़ाता है।

**विशेष :** 5 से 10 बार आवृत्ति करें। ख़ाली पेट करें।

**नोट :** इसका अभ्यास बैठकर (पद्मासन, सिब्द्रासन में) भी किया जाता है।

## जलधर बंध

कण्ठसंकोचनं कृत्वा चिबुक हृदये न्यसेत्।
जालन्धरेक्कृते बन्धे षोडशाधारबन्धनम्
जालन्धरमहामुद्रामृत्योश्च क्षयकारिणी।
सिव्दो जालन्धरो बन्धो योगिना सिद्धिदायकः।
षण्मासमभ्यसेद्यो हि स सिद्धो नात्र संशयः।।

(घे.सं.3/10-11)

**शाब्दिक अर्थ :** जाल का शाब्दिक अर्थ जाला, जाली।

**विधि :** पद्मासन, सिद्धासन, स्वास्तिकासन या भद्रासन में बैठे। पीठ, गर्दन तथा छाती को सीधा रखें। दोनों हाथों को घुटनों पर रखिए। लंबी श्वास लें (पूरक करें) और अंतकुंभक करें। सिर को सामने की तरफ़ झुकाइए। ठुड़ी को छाती के ऊध्र्वभाग (हसलियों के बीच) में दबाइए। परंतु छाती (सीना) को ऊँचा उठाएँ ताकि ठुड़ी का स्पर्श आसानी से हो सके। ग्रीवा भाग को न तो दबाएँ और न ही नीचे की तरफ़ धकेलें। गले की माँसपेशियाँ शिथिल रखें। ठुड़ी रखने का स्थान कठकूप एवं सिर एक सीध में रखें। अब जितनी देर सामान्य कुंभक कर सकें उतनी देर रुकिए। शरीर शिथिल कीजिए तथा सिर ऊपर की तरफ़ उठाइए व धीरे-धीरे श्वास छोड़िए। यह जालन्धर बंध कहलाता है। इस प्रकार यह आवृत्ति 5 से 10 बार करें।

**विशेष :** शास्त्रों में आया है कि सिर के ऊध्र्व भाग में स्थित सहस्त्रदल कमल से टपकने वाले अमृत स्त्राव को सभी प्राणियों की नाभि में स्थित अग्नि अंदर ही जलाती रहती है। अतः जालंधर बंध का अभ्यास कर साधक उस अमृत का पान कर चिरंजीवी बनें।

**प्रभाव :** यह इड़ा और पिंगला नाड़ियों को भी दबाता है और सुषुम्ना (सरस्वती नाड़ी) द्वारा प्राण प्रवाहित करता है।

**लाभ :** मस्तिष्क को आराम मिलता है, अहंकार का नाश तथा बुद्रि को निर्मल करता है। विशुद्धि चक्र को जगाता है। कण्ठ-दोष दूर कर वाणी को शुद्ध करता है। मानसिक अवसाद, चिंता, तनाव क्रोध, चिड़चिड़ापन को दूर करता है। मानसिक एकाग्रता बढ़ाता है एवं स्मरण शक्ति तेज़ करता है। सम्पूर्ण शरीर को निरोग रखता है।

**नोट ::** यह बंध खड़े होकर भी किया जा सकता है।

## महाबंध

वामपादस्व गुल्फेन पायुअ निरो धयेत्
दक्षपादेन तद्गुल्फ संपीक्यू यलत: सुधी: ।।
शनकैश्चालयेत्याष्णि योनिमाकुञ्जयेच्छनैः
जालन्धरे धरेजाण महाबन्धो निगद्यते ।।
महाबन्ध: परो बन्धो जरामरण नाशन: ।
प्रसादादस्य बन्धस्थ साधयेत्सर्ववाञ्छितम् ।

(घे.सं. 3/14-16)

**विधि :** ध्यान के किसी भी आसन में बैठे, परंतु मुख्यतः सिब्द्रयोगी आसन में ही बैठे। इसमें तीनों बंध एक साथ लगाने होते हैं। अब श्वास लें। पहले जालंधर बंध लगाएँ फिर उड़ियान बंध और मूल बंध लगाएँ। समस्त चक्रों पर क्रमशः मूलाधार से सहस्त्रार तक ध्यान लगाएँ। अनुकूलतानुसार उसी स्थिति में रहिए। अब क्रमश: मूलबंध, उड़ियान बंध

फिर जालंधर बंध खोलिए। धीरे-धीरे श्वास लें तथा मूल अवस्था में आने के बाद यही क्रम दोहराएँ। उपरोक्त तीनों बंधों का अभ्यास अच्छी तरह हो जाने के बाद ही यह बंध लगाएँ।

**लाभ :** 
- उपरोक्त तीन बंधों के सभी लाभ इस महाबंध से मिलते हैं।
- कुण्डली जागरण के लिए अद्‌भुत।
- बिंदु (वीय) बल की रक्षा हेतु।
- चित्त शिव-स्थिति में पहुँच जाता है। फलस्वरूप अनेक सिद्धियाँ स्वत: प्राप्त हो जाती हैं।
- गंगा, जमुना, सरस्वती के संगम की ही तरह तीनों नाड़ियों का संगम होता है।

## जिव्हा बंध
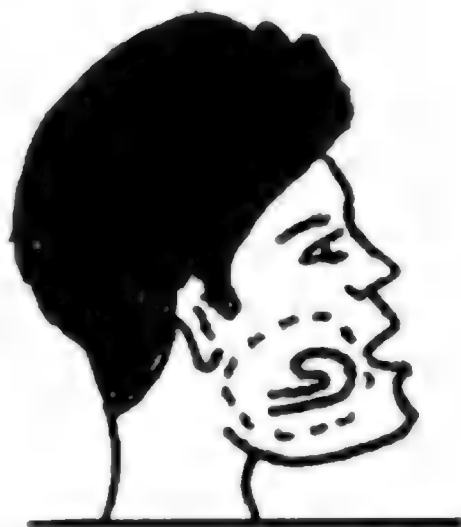
**विधि :** किसी भी ध्यानात्मक आसन (पद्मासन, सुखासन) में बैठे व मेरुदण्ड व धड़ को सीधा कर आँखों को बंद कर लें। शांत मनोभाव से इस बंध का अभ्यास करने के लिए मुख खोलकर जिव्हा को उलटकर तालू से लगाते हैं। इसके उच्च अभ्यास के अंतर्गत जिव्हा को कपाल गुहा में और उसके बाद गले में ले जाने का अभ्यास किया जाता है।

**लाभ :** 
- योग व तंत्र शास्त्रों में वर्णित खेचरी मुद्रा को साधने में प्रारंभिक अभ्यास के रूप में उपयोगी।

- ललना चक्र के जागरण में सहायक।
- स्वाद व काम इन्द्रिय पर विजय पाने में सहायक।
- प्रत्याहार में सहायक।

अन्तर्निहित शक्तियोको जागृत करना हो तो बंध का अभ्यास करें।

-RJT

सटाध्याय: परम तप:
भगवान महावीर स्वामी

समस्त योग विद्या की क्रियाएँ सिर्फ आत्मा से परमात्मा को ही मिलाने का कार्य नहीं करतीं बल्कि कर्मों के बंधन से छुड़ाने का कार्य भी करती हैं।

-RJT

शारीरिक, मानसिक, सांसारिक, अध्यात्मिक एवं पारलौकिक यात्रा को सुखद एवं आनंदमय बनाने के लिए अष्टांग योग के साथ आयुर्वेद एवं धार्मिकता को जीवन का आवश्यक अंग बनायें।

**-RJT**

# हठ योग - (षट्कम)

एक मात्र भारत ही ऐसा है जहाँ ऋषि-मुनियों ने आत्म तत्त्व की प्राप्ति के लिए अनेक प्रकार की विधियाँ बताई हैं। व्यक्ति अपने-अपने कमानुसार जन्म लेता है व मृत्यु को प्राप्त होता है। यही कारण है कि उसी कर्म के अधीन मनुष्य के भाव एवं विचारों में भिन्नता होती है। योगाचार्यों को यह दर्शन पूर्व से ही ज्ञात था। उनका मानना था कि यदि हम व्यक्ति को शिवात्मा का एक ही मार्ग बताएँगे तो शायद सभी को एक साथ समझ में नहीं आएगा। क्योंकि एक तो विचार नहीं मिलेंगें और दूसरा मनुष्य की शारीरिक अवस्थाएँ भी अलग-अलग होती हैं। दुनिया का कोई काम करना हो तो उसके लिए सबसे ज़्यादा ज़रूरी है 'अच्छा स्वास्थ्य।' इस सम्बंध में एक कहावत भी प्रचलित है, 'पहला सुख निरोगी काया।" यह पंक्ति बहुत सोच-समझकर लिखी गई है। यही कारण है कि उन परम उपकारी आत्माओं ने हमें योग दर्शन दिया जिससे हम शारीरिक रूप से स्वस्थ बनें और वही क्रियात्मक अभ्यास हमारे जीवन को सुंदर बनाने में सहयोग करें। अंततः हम उस निजात्म तत्व का दर्शन करें जिससे हमारा जन्म-मरण चक्र समाप्त हो जाए और हम कैवल्य को प्राप्त कर सकें।

इसी क्रम को उन्होंने यथावत् रखते हुए हमें योग की कई कलाएँ सिखाई। उसी कला में से एक कला का नाम है - मलशोधन षट्कर्म।

महर्षि घेरण्ड लिखते हैं कि –

षट्कर्मणा शोधनंच आसनेन भवेददूढम।<br>
मुद्रया स्थिरता चैव प्रत्याहारेण धीरता।

प्राणायामाल्लाघवं च ध्यानात्प्रत्यक्षमात्मनः।
समाधिना निर्लिप्तं च मुक्तिरेव न संशयः।।

(घे.सं. 1/10-11)

**अर्थ :** षट्कर्मों से शरीर की शुद्धि होती है। आसनों से शरीर में दृढ़ता आती है। मुद्राओं से स्थिरता आती है और प्रत्याहार से धीरता बढ़ती है। प्राणायाम से शरीर में स्फूर्ति और हल्कापन आता है। ध्यान द्वारा आत्मा प्रत्यक्ष होती है तथा निर्विकल्प समाधि के द्वारा बिना संशय के मुक्ति होती है।

हठयोग में षट्कर्म के बारे में लिखा है कि :-

मेदः शलेष्माधिकः पूर्व षट्कर्माणि समाचरेत्।
अन्यस्तु नाचरेत्तानि दोषाणां समभावतः।।
धोतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा।
कपालभातिश्चैतानि षट् कर्माणि प्रचक्षते।।
कर्मषटकमिदं गोप्यं घटशोधनकारकम।

विचित्रगुण संधायि पूज्यते योगिपुंगवैः।

(ह.यो.प्र.2/21-23)

**अर्थ :** आचार्य कहते हैं जिस पुरुष में मेद और श्लेष्मा आदि की अधिकता हो उसे पहले षट्कर्म करना चाहिए। अर्थात् जिनको कफ़ की अधिकता हो, जुकाम हो, (नाक-मुँह से कफ़ निकलता हो) स्थूलता आदि से पीड़ित हों, उन्हें शरीर शुद्धि हेतु मलशोधन षट्कर्म करने चाहिए। लेकिन जिनमें स्थूलता, श्लेष्मा आदि न हो उन्हें षट्कर्म की आवश्यकता नहीं होती है। मलशोधन षट्कर्मों के नाम निम्नलिखित हैं।

**1.** धोति
**2.** वस्ति
**3.** नेति
**4.** त्रोटक
**5.** नौलि
**6.** कपाल–भाति

विद्वान आचार्यों ने ये षट्कर्म योग मार्ग में बताए हैं। ये षट्कर्म गोपनीय तथा शरीर को शुद्ध करने वाले और विचित्र गुण को उपजाने वाले हैं। योगीजन इनकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं कि यदि ये गुप्त न रखे जाएँ तो अन्य लोग भी इसको करेंगे जिससे योगीजनों की पूज्यता न रह सकेगी। योगियों को उत्कृष्ट बनाना ही षट्कर्म का उद्देश्य है।

एवं घेरण्डसंहिता में लिखा है कि :-

धोतिर्वस्तिस्तथा नेतिः लोलिकी त्राटको तथा।
कपालभातिश्चेतानि षट्कर्माणि समाचरेत।

(घे.सं. 1/2)

**अर्थ :** धौति, वस्ति, नेति, लौलिकी (नौली), त्राटक और कपाल–भाति इन षट् कर्मों को शरीर शुद्धि हेतु करें।

# घोनि

घेरण्ड संहिता में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है। धौति चार प्रकार की हैं

1. अंतधौति
2. दन्तधौति
3. हृद्धौति
4. मूलशोधन

## 1. अंतधोति

अंतधति का अर्थ शरीर के अंदर की शुद्धता (सफ़ाई) या आंतरिक प्रक्षालन। इसके लिए हम जल, वायु और वस्त्र का उपयोग करते हैं। अन्तधाँति भी चार प्रकार की हैं।

1. वातसार
2. वारिसार ।
3. अग्निसार
4. बहिष्कृत

## 1. वातसार धौति

दोनों होठों को कौए की चोंच के समान करके धीरे-धीरे वायु को पीएँ। पूर्ण रूप से वायु का पान कर लेने के पश्चात् पेट में उसका चालन-परिचालन करें और फिर धीरे-धीरे उस वायु को निकाल दें। यह वातसार धौति क्रिया है।

**लाभ :** इससे जठराग्नि प्रदीप्त होती है। उदर सम्बंधी रोग नष्ट होते हैं। शरीर की निर्मलता बढ़ती है।

## 2. वारिसार धौति (शंख–प्रक्षालन)

यह क्रिया कायाकल्प के नाम से भी जानी जाती है अत: यह महत्वपूर्ण क्रिया है। वारिसार धौति का पूणार्थ हुआ, 'जलतत्व से धोना।' इस क्रिया से साधक नव-यौवन प्राप्त कर लेता है। शरीर पूर्ण स्वस्थ होकर कांतिमान बन जाता है।
**विधि ::** मुख द्वारा धीरे-धीरे इतना जल पिएँ कि कण्ठ तक भर जाए। फिर उदर-प्रदेश का संचालन करके अधोभाग (गुदा) से निकाल दें। यह वारिसार धौति अत्यंत गुप्त और शरीर को निर्मल करने वाला है। यह क्रिया नित्यप्रति और सावधानी पूर्वक करने से साधक देव तुल्य शरीर प्राप्त करता है।
**व्याख्या :** इस विधि को करने के कई प्रकार प्रचलित हैं। चूँकि इस विधि से शरीर के अंदर उदर-प्रदेश पूर्णत: शुद्ध हो जाता है अतः इसे करने से पहले कुछ तैयारी कर लेनी चाहिए। जो साधक इसका पूर्ण लाभ प्राप्त करना चाहते हैं वे दो-तीन दिन पूर्व इसकी तैयारी कर लें।

हमारा मत है कि यह क्रिया अधिकतर साधकगण ही करते हैं, अत: उनका खान-पान वैसे भी सादा रहता है। तब भी हम दो-तीन दिन पहले से अपना खान-पान हल्का रखें तो और भी अच्छा है। मिर्च, मसाले, खटाई, तेल, भारी भोजन और पेट भर भोजन करना सर्वथा त्याग कर देना चाहिए। इससे शरीर शुद्धि करने में परेशानी नहीं होती। शंख-प्रक्षालन से पहले व बाद में ये चीज़ों लेनी चाहिए- मूंग की दाल, चावल की खिचड़ी, घी आदि भोजन सुपाच्य भी है और आरामदायक व हल्का भी है। जिस साधक ने अपने उदर-प्रदेश को महत्व दिया है वह हमेशा स्वस्थ रहता है। शंख-प्रक्षालन की क्रिया की विशेष महत्व इसलिए भी दिया जाता है क्योंकि वह हमारे आमाशय की शुद्धि करता है। आमाशय में भोजन के कण, न पचने वाले भोज्य पदार्थ और मल इत्यादि चिपक जाता है तथा सड़ने लगता है जिससे हमारे उदर-प्रदेश स्थित माँसपेशियाँ कमज़ोर हो जाती हैं और हमारे भोजन से वह पूर्ण रूप से उपयोगी तत्वों को ग्रहण नहीं कर पातीं। रक्त दूषित होने लगता है। वायु दोष उत्पन्न हो जाता है। नाड़ियाँ अशुद्ध हो जाती हैं जिसके कारण हम पूरी उम्र स्वस्थ नहीं रह पाते।

हमारी आँतें शंख की तरह घुमावदार होती हैं। जिस प्रकार शंख बजाने से पूर्व शंख में एक तरफ़ से पानी डाला जाता है एवं दूसरी तरफ़ से निकाल दिया जाता है, तो शंख क्रियाशील हो उठता है। उसी प्रकार मुख द्वार से जल पीकर मल-द्वार द्वारा विशेष विधि से निकाल दिया जाता है, जिससे शरीर योग साधना के लिए तैयार हो जाता है। यही क्रिया शंख प्रक्षालन के नाम से जानी जाती है।

# शख-प्रक्षालन

**विधि : प्रथम प्रकार** - आज कल कई योग केंद्रों में अपने-अपने तरीके से (साधक की परिस्थिति अनुसार) अभ्यास कराए जाते हैं। हम यहाँ अधिक प्रचलित क्रिया का वर्णन

करेंगे। एक बाल्टी में साफ़ छना हुआ पानी लें (कपड़े से छान लें ताकि कोई अशुचिता न रह जाए) उसे गरम करें और पानी को कुनकुना (पीने योग्य) कर लें। तत्पश्चात् उसमें साफ़ पिसा हुआ इतना नमक मिलाएँ कि पानी का स्वाद नमकीन हो जाए तब कागासन अर्थात कधे के बराबर की दूरी पैरों में स्थापित करके बैठे। प्रथम दो गिलास पानी जल्दी-जल्दी पी लें ताकि जल नीचे आँत तक चला जाए। अब गुरु निर्देशानुसार क्रमशः 1. तिर्यक भुजंगासन । 2. तिर्यक ताड़ासन 3. कटि चक्रासन एवं उदराकर्षणासन इन चार आसनों की आठ-आठ आवृत्तियाँ करें। फिर दो गिलास पानी पीजिए एवं उपरोक्त आसनों की पुनरावृत्ति कीजिए। फिर दो गिलास पानी पीजिए एवं आसनों को दोहराइए। शौच को जाएँ, यदि शौच नहीं आता है तो पुनः दो गिलास पानी पीजिए अब आपको शौच अवश्य आएगा। पहले ठोस रूप में आएगा फिर पतला मल निकलेगा। शौच जाने के बाद पुनः जल का सेवन करें एवं आसन की पुनरावृत्ति करें। अब आपको शौच एकदम पतला पानी जैसा पीलापन लिए हुए निकलेगा। फिर से जल का सेवन करें। आपको शौच बिलकुल पानी जैसा ही साफ़ निकलेगा। ज़रूरी नहीं है कि आपका पेट बिलकुल साफ़ हो जाए। हो सकता है आपको इसके लिए आसनों की कई बार पुनरावृत्ति करना पड़े। जब आपका शौच पूर्णतः पानी जैसा ही निकलने लगे तो समझिए कि आँतों में चिपका मल पूर्णतः निकल गया है और आपकी शंख-प्रक्षालन की क्रिया पूरी हो गई है। अब चार गिलास पानी पीकर कुंजर क्रिया करें। सारा जल वमन कर बाहर निकाल दें। इसके बाद जल नेति करें। फिर लगभग 1 घंटे बाद तैयार की हुई मूंग की खिचड़ी शुद्ध देशी घी के साथ खाएँ।

द्वितीय प्रकार - पहले शंख प्रक्षालन की तरह ही साफ़ छने हुए पानी को गरम कर उसे कुनकुना कर लें। अब इतना नमक मिलाएँ कि स्वाद नमकीन हो जाए। उसके बाद दो नींबू निचोड़ दें और अच्छी तरह से मिला लें।

अब दो गिलास कुनकुना जल पिएँ और निम्नलिखित पाँच आसान क्रमपूर्वक चार-चार बार करें। (1) भुजंगासन (2) द्वि-पाश्वासन (3) पवनमुक्तासन (4) विपरीतकरणी आसन (5) हस्तपादासन। जब तक शौच जाने की इच्छा न हो तब तक जल पीते रहें और उपरोक्त आसनों को दोहराते रहें। चार-छः गिलास पानी एवं आसनों को दो या तीन बार दोहराने से मल त्यागने की इच्छा अवश्य होगी। तब साधक को तुरंत शौच के लिए जाना चाहिए। हो सकता है मल कड़क जाए। उसके बाद फिर से दो गिलास जल का सेवन करें और आसनों का अभ्यास करें। शौच न आ रहा हो तो फिर से दो गिलास जल पिएँ और आसनों का अभ्यास करें। इस बार मल पतला निकलेगा।

यह क्रिया आपको तब तक करनी है जब तक मलद्वार से साफ़ पानी न निकलने लगे। जब साफ़ पानी निकलने लगे तो समझना चाहिए कि पाचनप्रणाली पूर्णत: मल रहित हो गई है। क्योंकि साफ़ पानी तभी निकलता है, जब आँतों में चिपकी अशुद्धि और मल पूर्णत: न निकल जाएँ। इसके पश्चात कुजर-क्रिया अवश्य करनी चाहिए। लगभग चार गिलास पानी पीएँ एवं कुंजर-क्रिया के द्वारा पेट में भरा हुआ पानी निकाल दें। और नेति क्रिया भी करें तो

अच्छा है।

**तृतीय प्रकार** - शंख प्रक्षालन में कहीं-कहीं पाँच प्रकार के आसन करवाए जाते हैं। उसमें जो आसन जोड़ा जाता है उसका नाम है ताड़ासन। उनके क्रम भी बदल जाते है। (1) ताड़ासन (2) तिर्यक ताड़ासन (3) कटि चक्रासन (4) तिर्यक भुजगासन (5) उदराकर्षणासन। बाकी विधि उपरोक्तानुसार ही है।

**नोट :** तीनों प्रकारों में आसनों के अभ्यास में ही अंतर है। बाक़ी अन्य क्रियाएँ पहले शंख प्रक्षालन की ही तरह हैं एवं लाभ भी एक जैसे हैं।

# लघु शंख प्रक्षालन

**विधि :** उपरोक्त शंखप्रक्षालन की ही तरह कुनकुना पानी नमक सहित तैयार कीजिए। चूँकि प्रात:काल का समय ही उचित रहता है अत: उसी समय कीजिए। दो गिलास (आधा लीटर) पानी पीजिए। पहली विधि में दिए आसनों की आठ-आठ आवृत्ति कीजिए। शौच जाने की इच्छा न हो तो दो गिलास पानी फिर पीजिए और आसनों को दोहराइए। यदि अभी भी शौच न आ रहा हो तो दो गिलास पानी पीजिए और आसनों की पुनरावृत्ति कीजिए। शौच अवश्य आएगा। अत: तुरंत मल का त्याग करें।

**विशेष :** चूँकि इस विधि में पूर्ण शंखप्रक्षालन की तरह जल का सेवन और आसनों को तब तक नहीं किया जाता जब तक आँतों की पूर्णतः शुद्धि हो जाए। अत: इस लघु प्रक्षालन में ज़्यादा सावधानी की ज़रूरत नहीं पड़ती।

**सावधानी :** शौच जाने के बाद कम से कम 1 घंटा कुछ नहीं खाना चाहिए और उच्च रक्तचाप व निम्न रक्तचाप एवं किसी कारण से उदर-प्रदेश के रोगों से पीड़ित हो तो व्यक्ति योग्य शिक्षक की देख-रेख में करें।

**नोट :** जिन व्यक्तियों को क़ब्ज़ बनी रहती है वे चाहें तो सप्ताह में दो बार यह क्रिया (लघु-शंखप्रक्षालन) कर लाभान्वित हो सकते हैं।

## शख प्रक्षालन की क्रिया में आसन कैसे काम करते हैं - एक वैज्ञानिक पद्धति

शंख प्रक्षालन की क्रिया धैर्य एवं सजगता के साथ की जाती है। मुख से जल ग्रहण कर मलद्वार से निष्कासित करने की यह एक वैज्ञानिक विधि है। जब हम कागासन में बैठकर

नमक मिला कुनकुना पानी पीते हैं, तो यह नमक मिले कुनकुना पानी से गला तथा आहार नली एवं अमाशय की सिंकाई व सफाई हो जाती है। जब प्रथम आसन तिर्यक भुजंगासन करते हैं तो यह अमाशय की धुलाई करता है। श्वास भरकर दाएँ-बाएँ मुड़ने से डायफ्रॉम का दबाव अमाशय पर पड़ता है तथा पाइलोरिक वाल्व को सम्पीड़ित करता है। जिससे अमाशय का जल छोटी आँत की तरफ़ तीव्रता से बढ़ता है तिर्यक ताड़ासन में पैरों को मिलाकर हाथों की अँगुलियों को आपस में गुम्फित कर उन्हें पकड़ते हुए श्वास भरकर दाएँ-बाएँ मुड़ते हैं। इससे पसलियों का दबाव छोटी आँत पर बगल से तथा डायफ्रॉम का दबाव ऊपरी तरफ़ से पड़ता है छोटी आँत का जल बड़ी आत में धकेल दिया जाता है। कटि चक्रासन में पैरों को लगभग एक फ़िट की दूरी पर स्थापित कर हाथों को सामने की ओर तथा ज़मीन के समानान्तर रखते हुए श्वास भरकर दाएँ-बाएँ कमर से जब मुड़ते हैं तब बड़ी आँत के ऊपर दबाब बढ़ता है और जल तथा मल मलाशय वाले भाग में चला जाता है। चूँकि मलाशय आहार नली का निचला हिस्सा होता है। अत: मलाशय वाले भाग पर दबाव उदराकर्षणासन से स्थापित किया जाता है। कागासन में बैठकर श्वास को भरकर हथेलियों को घुटनों पर रखते हुए बाएँ पैर के घुटने को दाहिने पैर के पंजे के पास लाते हैं एवं दाहिने पैर से पेट पर दबाव स्थापित करते हैं। यही क्रिया विपरीत पैर से भी करते हैं। उदराकर्षणासन मलाशय के ऊपर दबाव डालता है। जिससे मल एवं बाद में पानी बाहर निकलने लगता है। बार-बार उपरोक्त आसन करने से पहले कड़ा मल बाद में पतला मल एवं तत्पश्चात सिर्फ़ पानी ही निकलता है। यह क्रिया तब तक करते रहनी है जब तक साफ़ पानी न निकलने लगे। कभी-कभी शौच जाने की इच्छा होती है पर शौचालय में बैठने पर मल विसजन नहीं होता तब शौचालय में ही उदराकर्षणासन का अभ्यास कर लेना चाहिए।

कुञ्जल - शंख प्रक्षालन क्रिया के 15 मिनट पश्चात् बिना नमक के गर्म पानी पीकर कुञ्जल कर लेना चाहिए तथा जल नेति भी करना चाहिए एवं उचित होगा कि क्रिया के बाद स्नान न करें। बंद कमरे में विश्राम करें।

आहार - लगभग 1 घण्टा होने पर हरी मुंग की दाल तथा चावल से निर्मित पतली खिचड़ी जिसमें नमक, हल्दी आदि न डाला हो, का आहार लिया जाए। खिचड़ी में लगभग 50 ग्राम शुद्ध घी डाल लेना चाहिए क्योंकि जो बार-बार नमक पानी पीने से खुश्की उत्पन्न होती है, वह घी के कारण समाप्त हो जाती है तथा चिकनाहट आ जाती है।

आयुर्वेदिक योग - काली मिर्च, गुलवनफ्सा डोंडाचूर्ण, तुलसी पत्र, बड़ी लिया जाए और पानी के स्थान पर यदि उक्त काढ़े का प्रयोग किया जाए तो उत्तम है।

## शंख-प्रक्षालन (एक वैज्ञानिक कारण)

यदि हम अपने शरीर पर दृष्टि डालें और यह सोचें कि पूरे शरीर को कौन सा अंग विशेष

रूप से प्रभावित करता है ? ऐसा कौन सा अंग है जो कि हमारे इस पूरे शरीर को पोषकता प्रदान करता है? ऐसा कौन सा अंग है जिसके लिए व्यक्ति सुबह से शाम तक कमाता है तो उत्तर एक ही आएगा और वह है पेट (उदर)। आदमी इसी पेट के लिए सब कुछ करने को तैयार हो जाता है और इसी पेट की वजह से पूरा शरीर संचालित होता है।

अब चूँकि हमें मालूम है कि इसी पेट की वजह से हमारा शरीर, अस्वस्थ होता है तो क्यों हम इस पेट में ख़राब वस्तु डालें अर्थात् हम क्यों ऐसी खाद्य सामग्री का सेवन करें जो कि हमें आज नहीं तो कल नुक़सान पहुँचाएगी और जिसके कारण हमारे पूरे उदर-प्रदेश का प्रबंधन ख़राब होता है। जिसकी वजह से सैकड़ों प्रकार की बीमारियाँ उत्पन्न होती हैं। क़ब्ज़ होता है, इस कारण आँतों में मल चिपक कर सड़ता रहता है जिस कारण विषाक्त वायु पैदा होती है। रोगों को उत्पन्न करने वाले बीजाणु, कीटाणु बनने लगते हैं और यदि हम देखें तो बाहर से बीमारियों का हमला कम ही होता है। आदमी अपने अंदर ही सैकड़ों बीमारियों को जन्म देता है।

शंख प्रक्षालन की क्रिया से अंदर आँतों में मल नहीं चिपक पाता। मल नहीं चिपकता तो रोगाणु नहीं पनप पाते, दुर्गंधित वायु उत्पन्न नहीं हो पाती। आँतों के साफ़ होने से भूख ठीक ढंग से लगती है। पाचन-तंत्र हमारे आहार में से पूर्णत: विटामिन, प्रोटीन को खींच लेते हैं जिससे हमारे पूरे शरीर को उचित पोषण मिलता है। हमारा शरीर सुगठित होता है। हमारे शरीर की रोग-प्रतिरोधक क्षमता बढ़ जाती है अत: बाहर के कीटाणु भी निष्क्रिय हो जाते हैं। हम पूर्णतः स्वस्थ हो जाते हैं। जिससे हमारा मस्तिष्क भी अच्छा कार्य करता है, स्मरण शक्ति तेज़ हो जाती है। आँखें निर्मल होती हैं। चेहरे पर तेज बढ़ जाता है। शरीर की वृद्धि उचित ढंग से होती है। रक्त विकार नहीं हो पाता। सुस्ती आदि आतरिक विकार उत्पन्न नहीं होते। वात, पित, कफ़ नहीं बन पाते अत: उनसे होने वाले रोग भी नहीं होते।

इस प्रकार हम देखें तो शंख प्रक्षालन की क्रिया पूर्णत: वैज्ञानिक है जिसके लाभ हमें साक्षात् दृष्टिगोचर होते हैं। अतः हमें अपने जीवन में शंख प्रक्षालन की क्रिया कम से कम एक-दो बार करके उसकी अनुभूति अवश्य करनी चाहिए। गुरुदेव योगाचार्य फूलचन्द योगीराज हमेशा षट्कर्मों पर विशेष महत्व देते हैं उनके द्वारा रचित कविता यहाँ प्रस्तुत है :

## कुन्जल/गजकरणी के लिए

बधु निशदिन शोधिय देह मलिन मलद्वार,
जिनसे बहता रहे अतिघृणित अपावन सार।
घृणित अपावन सार देह में व्याधि बढ़ावे,
मल सचय मान नित्य षट्कम करावे।
कहत 'योगीराज' स्वास्थ्य का मम यही है,
देह शुछद्र हो जाए वात कफ पित्त सही है।

## शंख-प्रक्षालन के लिए

देह ताप अनुसार ही पानी गर्म कराय,
खाली पट पिलाइय सधा नमक मिलाय।
सधा नमक मिलाय पच आसन करवाए,
आसन की उपरात पुन: शौचालय जावे।
कहत योगीराज अत गजकरणी करिए,
नति क्रिया कराय पेट का पानी हरिए/

लाभ: वायु घट गर्मी घटे चम रोग मिट जाए,

जठराग्नि की तज़ कर कफ़ को देय नशाय।
कफ को देय नशाय अजीरण शीघ्र पछार,
खासी रोग विनशाय नाड़ियाँ सभी सुधारे।
कहतो 'योगीराज" शक्ति कुजर सी लहियो,
कुजर क्रिया कराय सदैव निरोगी रहिए।
तन शुद्धि आलस हटै बवासीर मिट जाए,
चम रोग इत्यादि भी कभी न टिकन पाए।
कभी न fटिकनं पश्य भगन्दर व्यIfध नशIव,
तन पुरुषत्व बढ़ाय आज अरु आभा आव।
उचित रीति अपनाय शाख प्रक्षालन कीजै।

## शंख-प्रक्षालन के सम्पूर्ण लाभ

शंख-प्रक्षालन क्रिया से कई लाभ प्राप्त होते हैं, जो इस प्रकार है।

शंख प्रक्षालन ही मात्र एक ऐसी क्रिया है, जो मुँह से लेकर मलद्वार तक की सफ़ाई करती है।

पेट की कृमि एवं आँतों में पनपने वाले अमीवा को यह बाहर निकाल देता है और नूतन पाचक रसों को श्रावित कर पाचन सँस्थान का कायाकल्प कर देता है।

यदि उपरोक्त विधि व सावधानियों का पालन किया जाए तो मोटापे से पीड़ित व्यक्ति का वजन सप्ताह भर में 3 से 4 किलो तक कम हो जाता है और दुबले-पतले क्षीण काय व्यक्ति में नवीन ऊर्जा का संचार होता है।

उदर-विकार सम्बंधी समस्त बीमारियों का नाश होता है। चाहे वह क़ब्ज़ हो, वायु दोष हो, पित्त दोष हो या कफ़ दोष हो, इस प्रकार यह त्रिदोष नाशक है।

शरीर का कायाकल्प करके यौवन प्रदान करता है। चर्म रोग मिटाता है।

आज विकराल रूप ले चुका मधुमेह इस क्रिया से शनै: शनै नाश को प्राप्त होता है। आलसपन समाप्त होता है।

इस क्रिया के बाद व्यक्ति स्वयं को हल्का व पूर्ण स्वस्थ महसूस करता है साथ ही मानसिक रूप से भी पूर्ण स्वस्थ रहता है।

सिर दर्द (किसी भी प्रकार का) पूर्णत: ठीक हो जाता है।

अँखें सुंदर, बड़ी, आकर्षक एवं निरोग हो जाएँगी

चेहरा सुंदर, तेजवान व चमकदार हो जाता है।

रक्त दोष दूर होता है। मुँह से निकलने वाली दुर्गन्ध का नाश होता है।

शंख-प्रक्षालन की क्रिया के बाद आसन, प्राणायाम, मुद्रा, बंध, ध्यान एवं कुण्डलिनी जागरण में विशेष लाभ मिलता है।

यह क्रिया शरीर के लिए अद्‌भुत एवं अमृत के समान है। पुरुषत्व शक्ति में वृद्धि होती है।

बावासीर एवं भगदर रोग में लाभ।

## शख-प्रक्षालन की सावधानियाँ

दूध एवं दूध से बनी सामग्री मिर्च मसाले खटाई तथा गरिष्ठ आहार का शंख प्रक्षालन के बाद एक हफ्ते तक प्रयोग वर्जित है।

शंख-प्रक्षालन के बाद कुंजल क्रिया एवं जल नेति ज़रूर करें ताकि आपके मुख से लेकर उदर-प्रदेश एवं नाक तक की सफ़ाई हो जाए।

शंख-प्रक्षालन के तुरंत बाद स्नान न करें/कम से कम उस दिन ठंडे जल से स्नान न करें। इस क्रिया के बाद आराम करें पर सोएं नहीं।

अति मेहनत का काम न करें।

एक हफ्ते तक हल्के व्यायाम करें। योगासन की जटिल क्रिया न करें।

निम्नरक्तचाप उच्च रक्तचाप एवं मानसिक रोग से पीड़ित व्यक्ति न करें।

तीव्र उदर-विकार से ग्रसित व्यक्ति न करें।

गर्भवती स्त्रियाँ न करें।

## 3. अग्निसार अन्तधौति

नाभिग्रन्थि मेरुपृष्ठेशतवारं च कारयेत।
अग्निसारमिद्य धौतियोगिना योगसिद्धिदा।
उदरामयजं त्वकत्वा जठराग्नि विवर्द्धयेत्।
एषा धौतिः परा गोप्या देवानामपि दुर्लभा ।
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहं भवेद्रध्रुवम्।।

**(धे.सं. 1/19-20)**

**विधि :** अग्निसार धौति के लिए प्राणवायु को कुंभक करके नाभि को मेरुपृष्ठ भाग पर लगाएँ। इससे पेट के समस्त रोग नष्ट होते हैं। यह अग्निसार धौति कर्म अत्यंत गोपनीय और देवताओं के लिए भी दुर्लभ है। यह क्रिया करने से मनुष्य का शरीर देवों के समान हो जाता है।

**भावार्थ :** किसी उपयुक्त आसन पर बैठ जाएँ। जिससे यह क्रिया करना आसान हो। जैसे वज्रासन, पद्मासन, सिद्धासन आदि। मेरुदण्ड सीधा रखें। लंबी व गहरी श्वास लें एवं मुँह से पूरे पेट की वायु को निकाल दें। अब बहिकुंभक करें ताकि नाभि मेरुदण्ड के अंदरूनी हिस्से को स्पर्श करें। इसी अवस्था में पेट को तीव्र गति से अंदर बाहर करना है। लगभग 10 से 15 बार अपनी क्षमतानुसार करें। तब धीरे-धीरे श्वास लें। यही क्रिया पुनः करें। इस क्रिया से उदर-प्रदेश का प्रसारण और संकुचन होता है। पेट के सभी अंगों का व्यायाम हो जाता है जिससे वह सुचारु रूप से काम करने लगते हैं व उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है।

**विशेष :** ख़ाली पेट करें। उपरोक्त क्रिया 3-4 बार करें। गुरु के निर्देश में ही करें।

**सावधानी :** यह बात विशेष रूप से ध्यान देने वाली है कि हृदय रोगी/उच्च रक्तचाप/ उदर के जटिल रोग/ अस्थमा आदि रोगों में न करें।

**लाभ :** उदर-प्रदेश के सभी अंगों की मालिश हो जाती है। अत: सभी अंग सुचारु रूप से काम करते हैं और उनकी कार्यक्षमता बढ़ जाती है। जठराग्नि और पाचन-तंत्र शक्तिशाली होता है। उदर-विकार का नाश होता है अतः पूर्ण शरीर में स्वस्थता बनी रहती है। शरीर में ओज, तेज की वृद्धि हो जाती है। जिस कारण साधक देव सदृश प्रतीत होता है।

## 4. बहिष्कृत अंतधौति

काकीमुद्रां शोधयित्वा पूरयेदुदर मरुत।
धारयेदर्धयामं तु चालयेदधोवत्र्मना।
एषा धौतिः परा गोप्या न प्रकाशया कदाचना।

(घे.सं. 1/21)

**विधि :** दोनों होठों को कौवे की चोंच के समान करें। वायुपान करते हुए उदर को पूरा भर लें तथा उस वायु को डेढ़ घंटे तक उदर में रोकें। तत्पश्चात् परिचालन करके गुदामार्ग से बाहर निकाल दें यह परम गोपनीय बहिष्कृत् धौति है।

विशेष : यह क्रिया किसी योग्य गुरु के निर्देश में करें। यह एक कठिन प्रक्रिया है।

**लाभ :**
- सभी नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं।
- शरीर युवा बना रहता है।
- शरीर में नई शक्ति का संचार होता है।
- वात-रोगों का शमन होता है।

## प्रक्षालन कर्म

नाभिमग्रजले स्थित्वा शक्तिनाड़ीं विसर्जयेत्।
कराभ्यांक्षालयेनाड़ीं यावन्मलविसर्जनम्।
तावत्प्रक्षाल्य नाड़ींच उदरे वेशयेत्पुनः।
इदं प्रक्षालनं गोप्यं देवानामपि दुर्लभम्॥
केवलं धौतिमात्रेण देवदेहो भवेद् ध्रुवम ।।
यामार्धं धारणाशावित यावन्न धारयेन्नरः ।
बहिष्कृत महद्धौतिस्तावच्चैव न जायते ।

(घे.सं. 1/22-24)

**अर्थ :** नाभिपर्यत जल में खड़े होकर शक्ति नाड़ी को बाहर निकालकर जब तक मल दूर न हो तब तक धोएँ या प्रक्षालित करें। जब साफ़ हो जाए तब उसको वापस अंदर कर दें। यह प्रक्षालन क्रिया बहुत ही कठिन है देवताओं को भी दुर्लभ है और इस प्रक्षालन धौतिकर्म मात्र से देवताओं के समान शरीर हो जाता है।

**विशेष :** यह धौति अत्यंत कठिन है। यह धौति उस गुरु के निर्देशन में करें जो स्वयं यह करने में समर्थ हो। पुस्तकों के आधार पर या किसी के कहने से नहीं करना चाहिए। यहाँ एक बात महत्वपूर्ण है कि 'यह देवताओं को भी दुर्लभ है" कहने का आशय है कि अच्छे-अच्छे ज्ञानी, विद्वान लोगों को भी यह ज्ञात नहीं है। दूसरा "देवताओं जैसा शरीर हो जाता है" अर्थात् शरीर का ओज, तेज, कांति व बल इतना अधिक हो जाता है कि वह शरीर देवताओं के समान प्रतीत होता है।

हम इतना कहेंगे कि उपरोक्त सभी धौति क्रमशः धैर्यपूर्वक अनुकूलतानुसार, योग्य

शिक्षक व स्वत: के क्रमश: अभ्यस्त होने पर ही करें।

## 2. दंत धौति

दन्तमूलं जिह्वामूलं रन्ध्रं च कर्णयुग्मयोः।
कपालरन्ध्रपञ्चैतेदन्तधौतिर्विधीयते।

(घे.सं. 1/25)

**अर्थ :** दंत धौति के पाँच प्रकार हैं –

1. दाँतों की जड़ों को धोना (दंत मूल)।
2. जीभ मूल को धोना। 3. दायाँ कान। 4. बायाँ कान
5. कपाल छिद्र का प्रक्षालन।

### 1. दंत मूल धौति

किसी अच्छे मंजन से दाँत माँजना चाहिए। योगियों को यह साधन दाँतों के कई रोगों से सुरक्षा के लिए प्रतिदिन अवश्य करना चाहिए।

### 2. जिव्हा शोधन धौति

जिव्हा शोधन द्वारा जीभ की लंबी करके जरा, मरण और कई रोग का नाश हेतु यह क्रिया करनी चाहिए।

तजनी मध्यमा और अनामिका इन तीनों अँगुलियों को मिलाकर मुँह में डालकर जीभ के मूल को साफ़, स्वच्छ करना चाहिए। शनै: शनै: करने से कफ़ दोष का नाश होता है। उपरांत जीभ में मक्खन लगा लें और दोहन करें (दूध दुहने जैसी क्रिया) ऐसा करने से जीभ की लंबाई बढ़ जाती है। जिव्हा शोधन धौति से कफ़ का नाश होता है। इससे सम्बंधित नाड़ियाँ शुद्ध होती हैं। जीभ हमेशा साफ़ और मुलायम बनी रहती है।

### 3. कर्ण धोति

यह दंत धौति का तीसरा प्रकार है। तजनी और अनामिका अँगुलियों से प्रतिदिन कर्ण-छिद्रों की सफ़ाई करें। प्रतिदिन करने से नाद की अनुभूति होती है। इससे कान की सफ़ाई हो जाती है। अंदर से निकलने वाला मल एवं बाहर से अंदर जाने वाला कचरा दोनों साफ़ हो जाते हैं। अत: कान के अंदर कीटाणु नहीं पनप पाते एवं कर्ण-रोग होने की संभावना कम हो जाती है।

## 4. कपालरंध्र धौति

सिर के बीच में जिसे हम कपाल रंध्र कहते हैं उसकी दाहिने हाथ से हल्के-हल्के पानी द्वारा थपकी देना चाहिए। ऐसा करने से कफ़ दोष का निवारण होता है। इससे सम्बंधित नाड़ियाँ निर्मल और शुद्ध होती हैं। साधक को दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है। इसका अभ्यास प्रात:काल, भोजन उपरांत और संध्या के समय करना चाहिए।

# 3. हृद धौति

हृद्धौति त्रिविधांकुर्याद्दण्डवमनवाससा।

(घे.सं. 1/35)

अर्थ : हृदय धौति के तीन प्रकार है– दण्ड धौति, वमन धौति और बसन धौति (वस्त्र धौति) जो कि हृदय का शोधन करने वाली है।

## क. दण्ड धौति

विधि : केले के पौधे के बीच स्थित दण्ड अथवा हल्दी का दण्ड या चिकने बेंत का दण्ड गले द्वारा उस दण्ड को धीरे-धीरे प्रवेश कराएँ और पुनः उसे धीरे-धीरे निकालें। अर्थात् उस दण्ड को गले द्वारा अंदर-बाहर धीरे-धीरे करें यह दण्ड धौति कफ़, पित्त, तथा क्लेश (अकुलाहट) आदि विकारी मलों का शमन करती है। इससे हृदय के समस्त रोगों का नाश होता है।

विशेष:
- अधिकतर केले के पौधे से निकाले गए दण्ड का ही प्रयोग किया जाता है।
- किसी योग शिक्षक की देख-रेख में करें।

# ख. वमन धौति

भोजनान्ते पिबेद्वारि-चाकण्ठं पूरितं सुधीः
उध्वाँ द्रष्टि क्षण कृत्वा तज्जल वमयेत्पुन:।
नित्यमभ्यास योगेन कफपित्त निवारयेत्।

(घे.सं. 1/38-39)

**अर्थ :** साधक को भोजन के अन्त में गले तक पानी पीकर तत्पश्चात कुछ देर बाद ऊपर की ओर देखते हुए उसे वमन के द्वारा निकाल देना चाहिए। इस प्रयोग से कफ़ और पित्त का निवारण होता है।

इस वमन धौति के दो प्रकार हैं। पहले प्रकार के अभ्यास को खाली पेट किया जाता है।

जिसे कुञ्जल या गजकरणी कहते हैं। दूसरी विधि में साधक भोजन के पश्चात करता है, जिसे व्याघ्र क्रिया या बाघी क्रिया कहते हैं।

## 1. कुञ्जल क्रिया/गजकरणी क्रिया

**विधि :** लगभग दो लीटर जल कुनकुना लें। उसमें लगभग दो चाय के चम्मच के बराबर नमक डाल दें किसी ऐसी जगह का चयन कर लें, जहाँ पर आप आसानी से वमन क्रिया को कर सके। अब कम से कम छः गिलास पानी तुरंत जल्दी-जल्दी पी लें। आपको लगता है कि इससे भी अधिक पानी पी सकते हैं तो पीएँ (धीरे-धीरे या घूंट-घूंट करते हूए पानी न पीएँ) अब आपको वमन करने की इच्छा होगी सामने झुकें, और सिर एवं धड़ को लगभग ज़मीन के समानान्तर या कमर से ऊपर के धड़ को समकोण सा बना लें। मुँह खोले और अपने दाहिने हाथ की मध्यमा और तर्जनी अँगुली को अंदर डाले एवं जीभ के पिछले भाग का हल्के-हल्के अँगुलियों से रगड़े ऐसा करने से वमन होना शुरू हो जाएगा। अमाश्य का पूरा जल तेजी से बाहर निकल जाएगा। इस प्रकार अमाशय को बिल्कुल खाली करने के लिए दो-तीन बार अँगुलियों का सहारा लें। इस क्रिया द्वारा अमाशय साफ होने से निकलने वाला जल भी साफ निकलेगा।

## 2. व्याघ्र क्रिया या बाधी क्रिया

**विधि :** यह क्रिया उदर में बिना पचा हुआ भोजन या अपच हो जाने पर वमन धौति की इस क्रिया द्वारा निकाल दिया जाता है।

सामान्यतया भोजन के आधे घंटे बाद तैयार किया हुआ जल को लगभग 5-6 गिलास या जितना अधिक पेट में पानी आ सके, पीएँ। उपरोक्त पद्धति की तरह अमाशय में भरे हुए पानी और अपचे भोजन को वमन क्रिया द्वारा निकाल दें। यदि ऐसा लगता है कि अभी वमन क्रिया और की जा सकती है तो दोबारा पानी पीकर अमाशय के खराब जल को बाहर निकाल दें। इसके बाद जल नेति क्रिया कर लें।

## सावधानियाँ

O वमन क्रिया में बहुत अधिक जोर न लगाये एवं मन को इस क्रिया के लिए तैयार कर लें। ❍ पूर्णतः अमाशय खाली हो जाता है। अतः कम से कम 30 मिनिट तक कुछ न खाएँ। ❍ निम्नरक्त चाप, उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, मिर्गी, में योग गुरू से बात करें। लाभ : ❍ इन क्रियाओं से अल्सर और अति अम्लता वाले रोग नहीं होते। ❍ पित्त शान्त होता है। सिरदर्द, माइग्रेन (आधासीसी दर्द) में बहुत ज्यादा फ़ायदा होता है। ❍ सड़े हुए भोजन को

बाहर निकाल कर मुँह से आने वाली दुर्गन्ध समाप्त होती है। ❍ भारीपन, क़ब्ज़, मितली आदि से छुटकारा मिलता है। ❍ उदर प्रदेश के अवयवों को उद्दीप्त करती है जिससे पाचन सम्बन्धी विकार दूर होता है। ❍ गैस की समस्या से छुटकारा मिलता है। ❍ सर्दी-खाँसी में लाभ मिलता है। ❍ आँखों की रोशनी बढ़ती है।

## ग. वसन धौति (वस्त्र धौति)

इस क्रिया में चार अँगुल चौड़ा और पाँच हाथ लंबा महीन कपड़ा लेकर धीरे-धीरे निगल जाएँ। फिर धीरे-धीरे इस कपड़े को बाहर निकालें। यह वस्त्रधौति कहलाती है।.
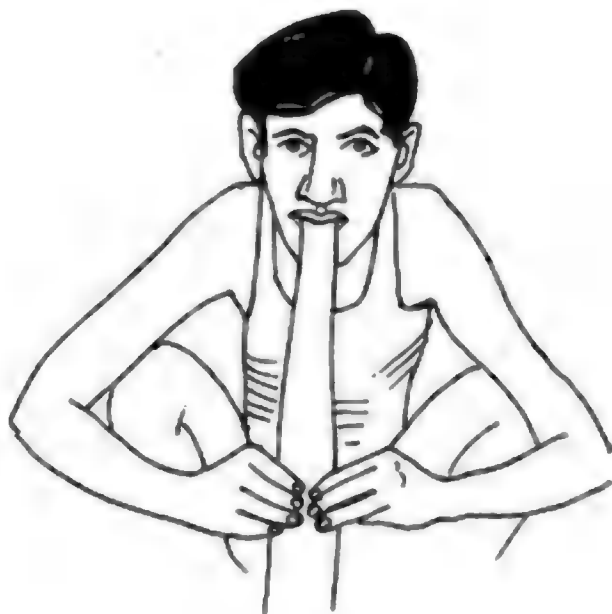
**विधि :** लगभग 2 इंच चौड़ा कपड़ा और लगभग 8 फिट लंबा सूती (कॉटन) का महीन कपड़ा मुँह के द्वारा धीरे-धीरे निगलें। कपड़े का पहले वाला हिस्सा जब जठर तक अंदर पहुँच जाए तब धीरे-धीरे कपड़े को वापस निकाल लें। यह अभ्यास मौन रहते हुए प्रात: समय में खाली पेट करें। इसके अभ्यास से रोग और पित्त एवं कफ़ का नाश होता है। इस प्रयोग से शारीरिक बल, सुख व निरोगता दिनोदिन बढ़ती है।

## 4. मूल शोधन (गणेश क्रिया)

जब तक पेट साफ़ नहीं होता तब तक अपान वायु की क्रूरता बनी रहती है। गुदा से वायु कष्ट से निकलती है। अतः मूल शोधन अवश्य करना चाहिए।

इस क्रिया के लिए हल्दी की कोमल जड़ से या फिर अपने हाथ की मध्यमा अँगुली से गुदा द्वार साफ़ करना चाहिए। मध्यमा अँगुली को गीला करके धीरे-धीरे गुदा के अंदर प्रवेश कराएँ और अंदर अँगुली को धीरे-धीरे चलाएँ। अंदरूनी हिस्से की दीवार को अँगुल से साफ़ करें। ऐसा करने से अपान वायु द्वारा कष्ट नहीं होता है।

मूलशोधन क्रिया से गुदा में जमे कड़े मल का निष्कासन होता है और वायु द्वारा होने वाले रोगों में कमी आती है। अजीर्ण दूर होता है। जठराग्नि तेज़ होती है। शरीर की कांति बढ़ती है और देवों की जैसी पुष्टता प्राप्त होती है।

# वस्ति

जल वस्तिः शुष्कवस्तिर्वस्ति च द्विविधौ स्मृतौ ।

जल वस्तिं जले कुर्याच्छुष्कवस्तिं सदा क्षितौ।

(घे.सं.1/45)

वस्ति कर्म दो प्रकार का है - जल वस्ति और शुष्क वस्ति। जल वस्ति का अभ्यास जल में और शुष्क वस्ति का अभ्यास भूमि (सूखे) पर किया जाता है।

## जल वस्ति

नाभिमग्रजले पायुन्यस्तालोत्कटासनः।
आकुञ्ञनं प्रसारं च जल-वस्तिं समाचरेत्।
प्रमेहं च उदावर्तं क्रूरवायुं निवारयेत्।
भवेत् स्वच्छंद देहश्च कामदेवसमो भवेत्। **(घे.सं.1/46-47)**

**विधि :** नाभि पर्यन्त जल में बैठकर उत्कट आसन लगाएँ और गुदा-प्रदेश को सिकोड़ें और फैलाएँ (आकुंचन और प्रसारण), इसी को जल वस्ति कहा गया है।

इस अभ्यास के लिए किसी बड़े पात्र में या नदी, तालाब में नाभि तक जल में स्थित होना चाहिए और उत्कट आसन लगाएँ एवं गुदा द्वार का आकुंचन और प्रसारण करें, जैसे अश्व आदि जानवर मल त्याग के समय करते हैं। अधिक से अधिक गुदा द्वार को सिकोड़ें और फैलाएँ। ऐसा करने से पहले जल थोड़ी-थोड़ी मात्रा में अंदर जाता है फिर अभ्यास हो जाने पर जल की मात्रा बढ़ जाती है और आतों में चिपका मल जल को बाहर करते समय निकल जाता है। इससे आंतरिक अंगों की सफ़ाई हो जाती है। चूँकि गंदगी निकलती है अतः यह क्रिया बहते पानी में करें।

**लाभ :**

- प्रमेह का नाश होता है।
- उदर रोगों का शमन होता है।
- कुपित वायु को दूर करने में सहायक है।
- देह निर्मल होकर देवों के सदृश कांतिवान बनती है।

- नाड़ियाँ भी शुद्ध होती हैं।

## स्थल वस्ति

वस्ति पश्चिमोत्ततानतो चालयित्वा शनैरधः ।
अश्विनी मुद्रया पायुमाकुचयेतप्रसारयेत्।।
एवमभ्यासयोगेन कोष्ठदोषो न विद्यते।
विवर्द्धयेज्जठराग्निमाम्वातं विनाशयेत। (घे.सं. 1/48-49)

**विधि :** अश्विनी मुद्रा के द्वारा गुदा का संकुचन एवं प्रसारण करना चाहिए और पश्चिमोत्तानासन में बैंठकर नीचे के भाग में वस्ति का परिचालन करें। यह स्थल वस्ति कहलाती है। इसके अभ्यास से वात, पित्त व कफ़ का नाश होता है। जठराग्नि बढ़ जाती है। आमवात और कोष्ठ के दोष आदि रोगों का नाश होता है।

नेति क्रिया

वितस्तिमानं सूक्ष्म सूत्रं नासानाले प्रवेशयेत् ।
मुखानिर्गमयेत्पश्चात् प्रोच्यते नेतिकर्मकम् ।।
साधनान्नेति कार्यस्य खेचरी सिद्धिमाप्नुयात्।
कफ़दोषा विनश्यन्ति दिव्य दृष्टिः प्रजायते ।। (घे.सं. 50-51)

**विधि :** आधा हाथ लंबा डोरा नासिका छिद्र में डालकर उसका चालन करके मुख के द्वारा उसे बाहर निकालें, यह सूत्र नेति कर्म है।

**विशेष :** नेति पाँच प्रकार की होती है जल नेति, सूत्र नेति, दुग्ध नेति, घृत नेति एवं तेल नेति।

## जल नेति

**विधि :** इस अभ्यास के लिए एक ऐसा लोटा लेते हैं जिसमें से एक लंबी टोंटी निकली रहती है। उस लोटे में कुनकुने पानी को थोड़ा सा नमक के साथमिलाकर भर लें। सिर को दाहिनी तरफ़ थोड़ा सा झुकाते हुए लोटे की टोंटी को बाएँ नासिका द्वार के भीतर डालिए और जल को अंदर जाने दीजिए (मुँह को खोलकर रखें ताकि श्वास-प्रश्वास किया जा सके)। जल धीरे-धीरे बाएँ नासिका छिद्र के भीतर जाकर दाहिने नासिका छिद्र से बाहर निकल जाएगा। यदि जल नहीं निकल पा रहा हो तो सिर और लोटे का झुकाव ठीक करें। जल निकलने की क्रिया स्वाभाविक होती है। लगभग पूरे लोटे का जल बाईं तरफ़ से डालें। तत्पश्चात् तीव्र गति से श्वास बाहर करें जैसे भस्त्रिका प्राणायाम में करते हैं। इस प्रकार करने से नासिका छिद्र साफ़ हो जाएगा। अब यही क्रिया दाहिने नासिका छिद्र से करें। इस क्रिया के बाद नासिका-रंध्रों को स्वच्छ कर लीजिए।

## सूत्र नेति

**साधन :** इस अभ्यास के लिए लगभग एक फ़ीट लंबा सूत का महीन धागा लेते हैं।

आजकल साधक रबर की नली जिसे केथेटर कहते हैं, (यह मेडिकल स्टोर्स में आसानी से उपलब्ध है) इसका भी उपयोग कर सकते हैं।

**विधि :** महीन धागे के सिरे पर मोम लगाकर कड़ा कर लें और इसे धीरे-धीरे नासिका छिद्र में डालें। धागे का सिरा मुँह में आ जाता है। इसको हाथ से पकड़ लें और दोनों सिरों को आगे पीछे खींचें। यह क्रिया दोनों नासिका छिद्रों से बारी-बारी से कीजिए। 25 से 30 बार यह क्रिया दोहराएँ। पूर्ण सजगता के साथ करें।

**लाभ :** ❍ दोनों नेति क्रियाओं से कई लाभ प्राप्त होते हैं। ❍ घेरण्ड संहिता के आचार्य का कहना है कि इससे आकाश-गमन की शक्ति आती है। ❍ कफ़ सम्बंधी सभी दोष दूर होते हैं। ❍ नेत्र-रोगों का नाश होता है तथा दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।

**नोट :** जलनेति एवं सूत्र नेति के अलावा दुग्धनेति, धृतनेति, तेलनेति, दहीनेति और स्वमूत्रनेति भी योगिजन करवाते हैं।

## लौलिकी (नौलि)
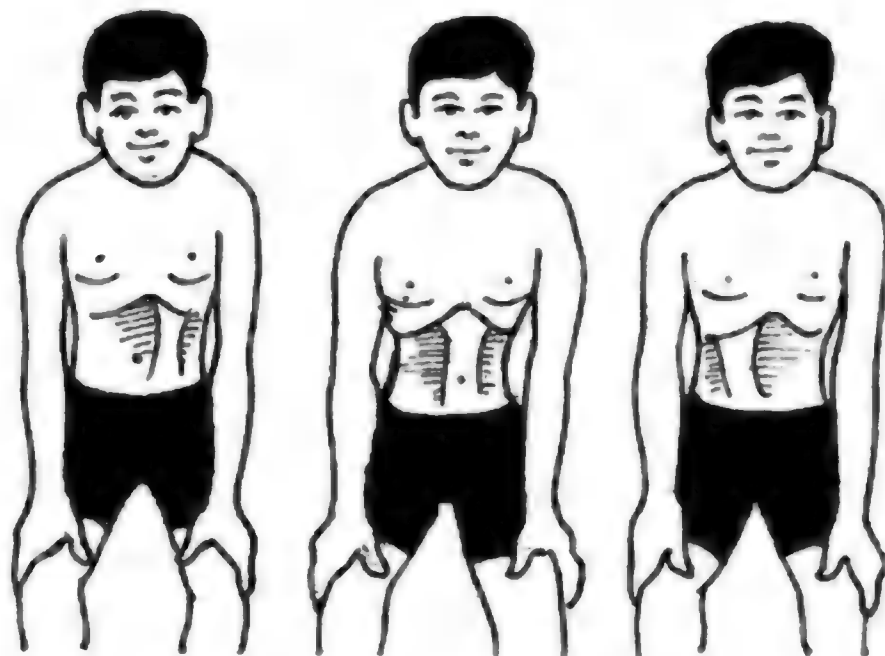
अमन्दवेगेन तुन्दं भ्रामयेदुभपाश्र्वयोः।
सर्व रोगानिहन्तीह देहानल विवर्द्धनम ।। (घे.सं. 1/52)

**अर्थ :** अति प्रबल वेग से उदर को दोनों तरफ़ घुमाएँ। इसी का नाम लौलिकी है। इससे सभी प्रकार के रोग नष्ट होते हैं। जठराग्नि तेज़ होती है और पाचन तंत्र को मज़बूत करती है।

**नोट :** उदर शक्ति विकासक क्रिया नं. 10 भी देखें।

**व्याख्या :** प्रातःकाल करें, जब पेट साफ़ और हल्का हो गया हो। पैरों के बीच एक या डेढ़ फिट का अंतर रखकर खड़े हो जाइए। थोड़ा सा झुकते हुए घुटनों पर हाथ रखिए। घुटनों पर दबाव दीजिए। क्रिया प्रारंभ करने से पहले श्वास बाहर निकालें। कोशिश करें कि श्वास पूरी तरह से बाहर हो जाए और पेट पीठ के अंदरूनी हिस्से से चिपक जाए। अब पेट को बाहर की तरफ़ करें। ऐसा बार-बार करें ताकि नौलि क्रिया करने में आसानी हो। अब घुटनों पर दबाव डालते हुए गुदा के पास उदर स्नायुओं को संकुचित करके उदर के मध्य भाग तक ले आएँ और बाहर निकालने का प्रयत्न करें। यह मध्यम नौलि है।

अब बाई ओर हल्का झुकते हुए बाएँ हाथ पर दबाब बढ़ाइए। इससे उदर के स्नायु बाँई तरफ़ आ जाएँगे। यह वाम नौलि है। यही क्रिया दक्षिण नौलि के लिए कीजिए। इसमें उदर स्थित सभी पेशियाँ दाहिनी तरफ़ आ जाती हैं। यह दक्षिण नौलि कहलाती है।

अब समान गति और मनोबल का प्रयोग करते हुए क्रमानुसार मध्यम नौलि, वाम नौलि और दक्षिण नौलि कीजिए। धैर्य पूर्वक अभ्यास से नौलि क्रिया में आप अभ्यस्त हो जाएँगें।

**विशेष/सावधानी :** नौलि के परिचालन के समय छाती, कंठ और ललाट पर नाड़ियों का द्वद हो रहा है ऐसा लगता है। दस्त लगने चालू हो सकते हैं। इस क्रिया के पहले पश्चिमोत्तानासन और मयूरासन का अभ्यास कर लेना चाहिए। उड़ियान बंध और अग्निसार क्रिया में दक्ष होना आवश्यक है। पूर्ण सावधानी पूर्वक और योग्य गुरु के निर्देशन में करें अन्यथा उदर रोग, आमवात, कटिवात, शुक्र- दोष या कोई अन्य रोग हो सकता है। पहले बाएँ से अभ्यास करें। तत्पश्चात् दाहिनी तरफ़ से भी यही अभ्यास करें। इस क्रिया में दक्षता नियमित अभ्यास से ही संभव है। आमाशय में शोथ, पित्त प्रकोप जनित अतिसार, प्रवाहिका (पेचिश), संग्रहणी, उच्च रक्तचाप वाले व्यक्ति तथा हृदय रोगी इसे न करें।

**लाभ :**
- नौलि क्रिया को सभी क्रियाओं में मूर्धन्य कहा है।(ह.यी.प्र.)
- पाचन-तंत्र सम्बंधी विकारों (मंदाग्नि, गैस व क़ब्ज़) में लाभप्रदहै।
- मेद कम करता है।
- मानसिक शांति, कुण्डलिनी जागरण, ध्यान, एकाग्रता आदि कई लाभ प्राप्त होते हैं।
- सभी प्रकार के वात रोगों का शमन होता है।

- आचार्यों ने इस क्रिया को संजीवनी बूटी कहा है।

# त्राटक

त्राटक के सम्बंध में यहाँ सूत्रकार कहते हैं कि बगैर पलक झपकाए किसी लघु लक्ष्य पर टकटकी लगाकर देखते रहना त्राटक है। इसके अभ्यास से शाम्भवी मुद्रा की सिद्धि होती है। नेत्र-विकार का क्षय होकर दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।

त्राटक क्रिया को भले ही हठ योग का एक अंग माना गया हो परंतु त्राटक करने वाले कुछ साधक हठयोग के बारे में नहीं जानते किंतु फिर भी इसका अभ्यास कर जीवन को आनंदमय बनाते हैं। सचमुच में त्राटक क्रिया का अपना अलग ही महत्व है। त्राटक को दूसरे शब्दों में सम्मोहन (हिप्नोटिज़्म) भी कहते हैं। प्रतिदिन अभ्यास करने वाले साधक की आँखों में आकर्षण न हो, ऐसा हो नहीं सकता। सच बात तो यह भी है कि त्राटक को अब प्रदर्शन की वस्तु बना लिया गया है। जहाँ-तहाँ इसके सेमिनार आयोजित होते हैं और सिर्फ़ त्राटक को लक्ष्य बनाकर वक्ता एक घंटे का भाषण देकर चले जाते हैं। उनकी पूरी प्रयोगात्मक पद्धति न तो वे बता पाते हैं और न ही आम व्यक्ति ठीक से समझ पाता है।

त्राटक से सिर्फ आँखों में ही आकर्षण नहीं बढ़ता बल्कि इतना ज़्यादा आत्मबल आ जाता है कि हम दूसरे के मन की बात को भी समझ लेते हैं। इस प्रयोग से ध्यान का मार्ग प्रशस्त होता है और आध्यात्मिक ऊर्जा भी प्राप्त होती है। जीवन को सुंदर बनाना हो तो त्राटक का अभ्यास क्रमानुसार, विधिपूर्वक व धैर्य के साथ सीखें। त्राटक के अभ्यास द्वारा आप सामने

वाले व्यक्ति को सम्मोहित तो कर ही सकते हैं तथा बड़ी से बड़ी सभा को भी आप अपनी ओर आकर्षित कर सकते हैं।

मनमोहक, तेजोमय व अद्‌भुत बन जाती हैं। आज इसके कुछ उदाहरण हमारे सामने हैं जैसे भगवान रजनीश (ओशो), स्वामी विवेकानंद, स्वामी विशुद्धानंद परमहंस (ज्ञानगंज, हिमालय) आदि ऐसे सैकड़ों उदाहरण हैं, जो अपनी आकर्षण शक्ति का उपयोग करके लोगों को अपना बना लेते थे। स्वयं लेखक सूर्यत्राटकी हैं। त्राटक का उद्देश्य आँखें बड़ी करना नहीं होना चाहिए। कुछ प्राप्ति की भावना भी होनी चाहिए। आप त्राटक की सहायता से दुश्मन को भी दोस्त बना सकते हैं। हिंसक पशु को भी वश में कर सकते हैं।

त्राटक की कई विधियाँ प्रचलित हैं। हम यहाँ मुख्य विधियों का ही वर्णन करेंगे ताकि साधकगण लाभान्वित हो सकें।

**विधि :** आप एक ऐसे स्थान का चयन कीजिए जो साफ़, सुंदर व शांतिमय हो तथा वातावरण भी अच्छा हो। वहाँ जब तक आप अभ्यास करें तब तक किसी प्रकार का विघ्न न हो पाए।

त्राटक करने की वस्तु से लगभग 4 फीट दूर सुखासन में बैठिए। सबसे पहले मोमबत्ती जलाइए और इसको उचित दूरी पर रखिए (मोमबत्ती एवं आँखें समकक्ष होना चाहिए) यदि कमरे में हवा का आवागमन अधिक होगा तो मोमबत्ती की लौ हिलेगी जिससे आँखों में विकार हो सकता है। इसलिए बेहतर होगा कि उसके तीन तरफ़ काँच या प्लास्टिक का आवरण लगा दें और सामने से खुला रखें। अब प्रसन्नचित्त होकर मोमबत्ती की ऊपरी लौ को बगैर पलक झपकाए देखें। शुरू-शुरू में आँखों में जलन मचेगी अतः धैर्य पूर्वक अभ्यास करें। यथाशक्ति निर्विकार व निर्निमेष होकर देखने का प्रयास करें। एकदम से काफ़ी देर तक न देखते रहें अन्यथा दूसरे दिन अभ्यास में कठिनाई महसूस होगी। लगभग 5 से 6 महीने के अभ्यास से सफलता मिलने लगती है। मोमबत्ती की जगह दीपक या अगरबत्ती से अभ्यास कर सकते हैं परंतु अंधेरे कमरे में करें।

बिना आकुलता के जब तक देख सकते हैं देखने का प्रयास करें। तदोपरांत आँखें बंद कर उसी लौ को देखने का प्रयास करें। वह लौ आपको कुछ देर तक आँख बंद करने पर भी दिखेगी। यह आपका अंत:त्राटक कहलाएगा एवं एकाग्रता और दृष्टि दोनों स्थिर हो जाएँगी।

त्राटक करने की और भी कई विधियाँ प्रचलित हैं जैसे बिंदु, चक्र, सूर्य, चंद्र, तारे, दर्पण, नासिका का अग्र भाग, अपने इष्टदेव की प्रतिमा, चमकता हुआ बिंदु आदि। आजकल बना बनाया त्राटक चार्ट मिल जाता है। इससे भी आप अभ्यास कर सकते हैं। प्रणव मंत्र ॐ पर भी कुछ साधक त्राटक करते हैं।

**विशेष :** इस अभ्यास को तनावरहित होकर करें। प्रसन्नता रखें। यथासंभव ब्रह्मचर्य और शाकाहारिता का ध्यान रखें। अर्थात् जो साधक काम-विकार की तरफ़ ध्यान नहीं देता और शुद्ध शाकाहारी भोजन करता है उस साधक के अंदर विलक्षण शक्ति का प्रादुर्भाव होता है। वह धीरे-धीरे भूत तथा भविष्य को भी जानने में समर्थ हो जाता है। उसके अंदर कई शक्तियाँ आ जाती हैं। वह जीवन के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाता है।

**नोट :** आँखों में जलन महसूस होने पर उन्हें मलें (रगड़े) नहीं। उन पर ठंडे पानी के छोटें डालें या गुलाब जल का प्रयोग करें। जिनकी आँखें कमज़ोर हों वे त्राटक का अभ्यास विवेकपूर्वक करें।

यह साधना उतनी सरल नहीं है जितनी कि दिखाई देती है। इसके लिए धैर्य, आत्मविश्वास और पूर्ण विवेक की आवश्यकता होती है। आंतरिक त्राटक के लिए आँखें बंद कर भूमध्य में देखने का प्रयास करें।

**लाभ :**

- दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है।
- सामान्य नेत्र-विकार समाप्त होते हैं।
- जीवन की कई महत्वाकाँक्षाएँ पूरी होती हैं।
- आध्यात्मिक और सांसारिक दोनों प्रकार के सुख मिलते हैं।
- शारीरिक और मानसिक लाभ मिलते हैं।
- प्रसिद्धि प्राप्त होती है।
- कुण्डलिनी जागरण के लिए यह एक सशक्त माध्यम है।
- बल, ओज और तेज की वृद्धि होती है।
- एकाग्रता शक्ति का विकास होता है। स्मरण शक्ति बढ़ती है।
- आध्यात्मिक शक्ति का विकास होकर इहलोक और परलोक दोनों सुधरते हैं।

योग की क्रियाओं को करते समय एकाग्रता एवं उनसे
होने वाले लाभों को ध्यान में रखकर करने से स्वस्थ होने
की संभावना तेजी से बढ़ती है।

-RJT

# कपाल-आति

(अधिक जानने के लिए प्राणायाम में कपालभाति अध्याय भी देखें)

वात क्रमेण व्युत्क्रमेण शीत्क्रमेण विशेषतः।
भालभाति त्रिधा कुर्यात्कफदोष निवारयेत्।

(घे.सं. 1/55)

**अर्थ :** कपाल-भाति के तीन भेद हैं वातक्रम कपाल-भाति, व्युत्क्रम कपाल-भाति और शीतक्रम कपाल-भाति। इनके अभ्यास से कफ़ सम्बंधी विकारों का नाश होता है।

भस्त्रावल्लौहकारस्य रेचपूरौ ससम्भ्रमी।
कपालभातिर्विख्याता कफदोषविशौषणी।

(ह.यो.प्र. 2/35)

**अर्थ :** लोहार की धौंकनी के समान अत्यंत शीघ्रता से (शांति पूर्वक) क्रमशः रेचक-पूरक प्राणायाम को करना योगशास्त्र में कफ़ दोष को हरने वाला कहा गया है एवं यह क्रिया कपाल-भाति के नाम से प्रसिद्ध है।

वातक्रम कपाल-भाति

इडया पूरयेद्वायुरेचयेत् पिंगलां पुनः।
पिंगलया पूरयित्वा पुनश्चद्रेणरेचयेत्।
पूरक रेचक कृत्वावेगेनन तु धारयेत्।
एवमभ्यासयोगेन कफ दोषनिवारयेत्। (घे.सं. 1/56-57)

**अर्थ :** (इड़ा नाड़ी) बाएँ नासिका द्वार से श्वास लें और (पिंगला नाड़ी) दाहिने नासिका छिद्र से श्वास छोड़ दें। अब दाहिने नासिका छिद्र से श्वास लें और बाएँ नासिका छिद्र से श्वास छोड़ दें। रेचक-पूरक करते समय त्वरित (तेज़) गति नहीं होना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कफ़ दोष आदि का क्षय होता है।

## व्युत्क्रम कपाल–भाति

नासाभ्यां जलमाकृष्य पुनर्वक्त्रेणरेचयेत्।
पायं पायं व्युत्क्रमेण श्लेष्मा दोषनिवारयेत्।

(घे.सं. 1/58)

**अर्थ :** दोनों नासिका छिद्रों से जल को खीचें और मुँह द्वारा निकाल दें। अब मुँह द्वारा जल पीकर नासिका द्वार से निकाल दें। यह क्रिया व्युत्क्रम कपाल-भाति कहलाती है। यह सब प्रकार के कफ़ को दूर करती है।

## शीतक्रम कपाल-भाति

शीतकृत्य पीत्वा वक्त्रेण नासानालैर्विरचयेत।
एवम्भ्यास योगेन कामदेव समो भवेत्।
न जायते वार्द्धकं च ज्वरो नैव प्रजायते ॥
भवेत स्वच्छद देहश्च कफ दोषनिवारयेत्। (घे.सं. 1/59-60)

**अर्थ :** साधक मुख से सीत्कार करता हुआ जल ग्रहण करें और नासिका द्वारा निकाल दें। यह शीतक्रम कपाल-भाति कहलाता है। इस योग क्रिया से साधक कामदेव की तरह सुंदर, कांतिवान और तेजस्वी बन जाता है। साधक को बुढ़ापा नहीं आता। शरीर निर्मल होता है। कफ दोष का निवारण होता है।

**सावधानी :** हृदय की निर्बलता, वमनरोग, ऊध्वरक्तपित्त, अम्लपित्त, स्वरभंग, निद्रा नाश, तेज़ बुखार आदि रोगों के समय न करें।

**लाभ :**

- समस्त षट्कर्म साधक को नया जीवन देते हैं।
- झुर्रियों का नाश होता है, चेहरे व अन्य शरीर स्थान पर झुर्रियाँ नहीं पड़तीं तथा शरीर कांतिवान बनता है।
- कपाल-भाति से शरीर की कई अशुद्धियाँ दूर होती हैं।
- षट्कर्म कुण्डली जागरण के लिए अति आवश्यक है।
- आध्यात्मिकता प्राप्त होती है।
- पूरा शरीर सुदृढ़, बलवान, तेजोमय, आभावान, आकर्षक और सुंदर बनता है।

अष्टांग योग की क्रियाएँ सकारात्मक परिणाम प्रदान करती हैं।

-RJT

# यौगिक षट्कर्म चार्ट

धौति वस्ति नेति नौलि त्राटक कपाल भाति

वस्ति: जल वस्ति, पवन वस्ति, स्थल वस्ति

नेति: जल नेति, सूत्र नेति, दुग्ध नेति, धृत नेति, तेल नेति

नौलि: वाम नौलि, दक्षिण नौलि, मध्य नौलि

त्राटक: अन्तः त्राटक, बाह्य त्राटक

कपाल भाति: वातक्रम, व्युतक्रम, शीतक्रम

धौति:

(अंतः धौति)
वातसार
वारिसार(शंख-प्रक्षालन)
अग्निसार
बहिष्कृत

(दंत धौति)
दंतमूल
जिह्वामूल
कर्ण रन्ध्र
कपाल रन्ध्र

(हृद धौति)
वमन धौति → कुंजल क्रिया/गजकरणी, व्याघ्रक्रिया/बाघीक्रिया
वस्त्र धौति
दण्ड धौति

मूल शोधन
(गणेश क्रिया)
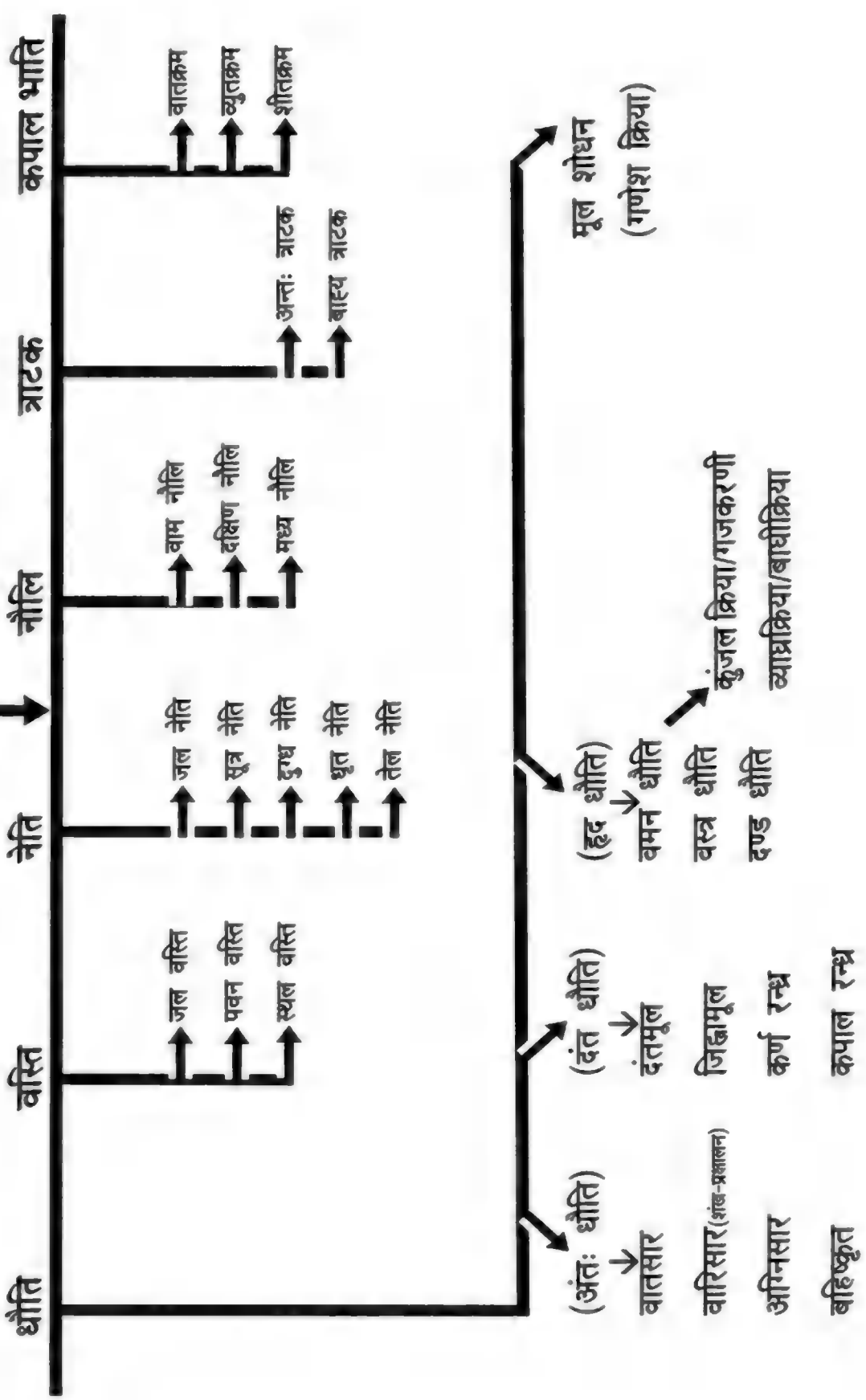
# योग निद्रा

(नए जीवन की शुरुआत, डिप्रेशन को करें दूर)

जीस तरह से आज का परिवेश, वातावरण, पर्यावरण, रहन-सहन, व्यवस्त भरा जीवन हो गया है, इन्हीं सब वजहों से मानव जीवन त्रस्त हो चला है। जब आदमी तनाव से पीड़ित हो तो दुनिया के जितने गलत काम है, वह करता है, जैसे नशा करना, लड़ाई-झगड़े करना, बात-बात में गुस्सा करना। पारिवारिक ज़िदगी व अड़ोस-पड़ोस आदि में हर जगह पर इसका असर दिखता है। इन चीजों से बचने के लिए यदि हम अपने जीवन में योग निद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करें, तो वर्तमान जीवन सुखी व शांतिमय हो जाएगा और भविष्य का निमणि भी अच्छा होगा।

**योगनिद्रा क्या है?** योग निद्रा एक ऐसी क्रिया है, एक ऐसी यौगिक नींद है, जो तुरंत आदमी की चेतना को, सोयी हुईखोई हुई शक्ति को नई ताजगी भरी/ प्रसन्नता के साथ आत्मशक्ति को विकसित कर सकारात्मकता प्रदान करती है। यह वह विधि है जिसमें स्वयं आत्म सम्मोहन कर चेतना की गहराई में प्रवेश करता है। अपने अवचेतन मन को सक्रिय करता है और कुछ ही पल में एक स्फूर्ति, ताज़गी, नई चेतनता के साथ उसका विकास होता है।

हमें अपने जीवन में प्रतिदिन योगनिद्रा का अभ्यास करना चाहिए। इसे अपने जीवन का अंग बना लें, क्योंकि योगनिद्रा के 5 या 10 मिनट आपके पूरे 24 घंटे को सुनियोजित ढंग से आनंदमयी और ऊर्जावान बना सकता है।

योग निद्रा विश्राम करने की एक विकसित पद्धति है। कई बार हम अपनी थकान पूरी रात सोने के बाद नहीं उतार सकते। वह थकान मात्र योग निद्रा द्वारा मिटाई जा सकती है।

इसमें व्यक्ति/साधक जागते हुए सोता है। शरीर विश्राम की अवस्था में रहता है और चेतना पूर्ण रूप से जागरूक रहती है। योग निद्रा का अर्थ है पूर्णतः सजगता के साथ सोना। क्योंकि ऐसी अवस्था में भी सजगता और चेतनता बनी रहती है। मन की अनेक अवस्थाएँ होती है। यह मन की जाग्रत एवं सुषुप्ति के बीच की अवस्था है। जहाँ अवचेतन मन कार्य करता रहता है और धीरे-धीरे शरीर में शिथिलता आती है एवं चेतना तथा अवचेतन मन सजग हो जाते हैं। व्यक्ति सभी प्रकार के तनाव चाहे वे शारीरिक हो, भावनात्मक हो या फिर मानसिक हो, उन सबसे तनाव रहित हो जाता है। इसे हम डिप्रेशन दूर करने की सबसे अच्छी पद्धिति भी कह सकते हैं।

योग निद्रा के कई तरीके हैं, विभिन्न योग केन्द्रों में कई प्रकार से कराया जाता है। हम यहाँ सबसे अधिक प्रचलित तरीक़ों को अभिव्यक्त करेंगे।

**क्रियाविधिः** कृपया आप सभी योग निद्रा के लिए तैयार हो जाइए। अपने आसन पर पीठ के बल आराम से लेट जाइए, अपने शरीर को ढीला रखें। पैरों के बीच थोड़ा सा अंतर रखें। दोनों हाथों को कमर से कुछ दूर रखें। हथेलियाँ आसमान की तरफ़ खुली रखें। शरीर में किसी भी प्रकार का तनाव न रखें, यदि हो तो उसे शिथिल कर दें। बिल्कुल ढीला शरीर। सिर से पैर तक ढीला रखें। नेत्रों को बंद करिए। जब तक नेत्रों को खोलने के लिए न कहा जाये तब तक नेत्र बंद रखिए। शरीर का कोई-सा भी अंग न हिलाएँ, ठीला शरीर, पूर्ण रूप से ढीला शिथिल शरीर।

अब गहरी श्वास लीजिए। धीरे-धीरे गहरी लम्बी श्वास लीजिए। लम्बी श्वास छोड़िए अब फिर से लम्बी श्वास लीजिए और लम्बी श्वास छोड़िए।

अब आप मन ही मन संकल्प लीजिए कि मैं योग निद्रा के अभ्यास के लिए पूर्ण रूप से तैयार हूँ, कि मै सोऊँगा नहीं, मैं सोऊँगा नहीं, मैं सोऊँगा नहीं। अब आप मेरे द्वारा दिये गये निर्देशों को ध्यान पूर्वक सुनिए। अपने मन को किसी भी प्रकार के विचारों या कल्पनाओं में मत लगाइए। पूर्णतः विचारों से मुक्त हो जाइए। आप सुनने तथा चेतना के स्तर पर कार्यरत रहेंगे। किंतु शारीरिक रूप से पूर्णतः अचेत पड़े रहेंगे। आप अपने मन को सिर से पैर तक घुमाइए।

सम्पूर्ण शरीर में चेतना या मन की जागरुकता को निर्देशानुसार घुमाएँगे। अपने अंगों के प्रति सचेत रहिए और पूर्ण रूप से एकाग्रता बनाए रखें।

अब अपनी चेतना को शरीर के विभिन्न चक्र एवं अंगों पर घुमाइए। मानसिक रूप से मेरे साथ-साथ आप भी मन ही मन उन बातों को दोहराएँ जिन्हें मैं कहता हूँ और आपको उस अंग के बारे में सजग रहना है।

अपने बाएँ हाथ की ओर ध्यान दीजिए। अपनी मानसिक चेतना (सजगता)को ले जाइये

बाएँ हाथ का अँगूठा, पहली अँगुली, दूसरी अँगुली, तीसरी अँगुली, चौथी अँगुली, बाई हथेली, कलाई, कुहनी, कधा, बगल, बाई ओर की कमर बाएँ पैर का पंजा, अँगूठा, पहली अँगुली, दूसरी अँगुली, तीसरी अँगुली चौथी अँगुली, दायाँ हाथ का अँगृष्ठा, पहली अँगुली, दूसरी अँगुली, तीसरी अँगुली, चौथी अँगुली, दाएँ हाथ की हथेली, कलाई, कुहनी, भुजा, दाएँ हाथ का कधा, दाएँ हाथ के बगल वाला भाग, दाई ओर की कमर, दाई जाँघ, दायाँ घुटना, दाई पिंडली, टखना, दाई ऐड़ी, पैंजा, दाएँ पैर का अँगूठा, पहली अँगुली, दूसरी अँगुली, तीसरी अँगुली, चौथी अँगुली, सिर का ऊपरी हिस्सा, माथा, दाई भौंह, बाई भौंह, भ्रूमध्य, दाहिनी आँख की पलक, दाहिनी आँख की पुतली, पूरी दाहिनी आँख, बाई आँख की पलक, बाई आँख की पुतली, पूरी बाई आँख, दाहिना कान, दाहिना गाल, बायाँ कान, बायाँ गाल, नाक के दाहिने तरफ़ का भाग, नाक के दाँई तरफ़ वाली छाती, बाँई तरफ़ वाली छाती, पूरी छाती, नाभि, पेट और पेट का निचला भाग।

पूरा दाहिना हाथ, पूरा बायाँ हाथ, पूरा दायाँ पैर, पूरा बायाँ पैर, दायाँ नितम्ब, बायाँ नितम्ब, मेरुदण्ड, पूरी पीठ, पेट, छाती, शरीर का सामने वाला भाग, शरीर का पीछे वाला हिस्सा, पूरा शरीर, सम्पूर्ण शरीर। सम्पूर्ण शरीर को एक साथ देखें।

अब महसूस करें कि पूरा शरीर अर्धचेतन अवस्था में ज़मीन पर लेटा हुआ है।

अपनी श्वास-प्रश्वास की ओर ध्यान दीजिए। अनुभव कीजिए कि आप श्वास ले रहे हैं और श्वास छोड़ रहे हैं। सामान्य रूप से श्वास-प्रश्वास कीजिए।

अब कल्पना कीजिए कि आप समुद्र के किनारे घूम रहे हैं। समुद्र की लहरें आपके पैर का स्पर्श कर रही हैं। शीतलता महसूस हो रही है। मंद-मंद सुगन्धित हवा बह रही है। आपको मानसिक और शारीरिक रूप से स्वस्थ कर रही हैं। सामने से सूर्योदय हो रहा है। धीरे-धीरे सूर्य की किरणें आपके ऊपर आ रही हैं। आपको एक नई चेतना मिल रही है। वहीं पर खड़े होकर आप चेतना का अनुभव कर रहे हैं। सूर्य का रंग लाल है और उसकी किरण सामने एक बगीचे पर भी पड़ रही है।

आप उस बगीचे की तरफ़ जा रहे हैं। बगीचे में पहुँच कर आपने देखा कि बहुत ही सुन्दर फूल रंगबिरंगे खिले हुए हैं। उनकी खुशबू आपको आ रही है। आपको नई ताज़गी का अनुभव हो रहा है। आप उसी बगीचे में बैठ जातेहैं। चारो तरफ़ शांति ही शांति है। अब आप अपने पूरी चेतना के साथ वापिस अपने शरीर की तरफ़ लौट रहे हैं। अपने शिथिल पड़े हुए शरीर का अनुभव कीजिए। अपनी श्वास-प्रश्वास के प्रति सजग हो जाइए। श्वास आ रही है, श्वास जा रही है। आती-जाती श्वास को देखिए। अब आप पूर्ण रूप से शरीर को बाई तरफ़ से करवट दिलवाइए फिर दाई करवट लीजिए। पुन: बाई और करवट लीजिए और उठकर बैठ जाइए। ऊँ का तीन बार लम्बी ध्वनि के साथ उच्चारण कीजिए, नेत्र बंद ही रहने दीजिए।

ऊँ असतोमा सदगमय।
तमसो मा जयोतिर्गमय ॥
मृत्योर्माऽमृतंगमय।
ऊ शान्ति शान्ति शान्ति।

हथेलियों को आपस में रगड़िए हथेलियों को नेत्रों में लगाइए। चेहरे में हाथ को फेरते हुए धीरे-धीरे आँख खोलिए एवं अब नई चेतना व उर्जा को महसूस कीजिए और नए उत्साह के साथ जीवन को आगे बढ़ाइये। इस प्रकार हम नये जीवन की शुरुआत कर सकते हैं।

प्रकारान्तर : इस प्रकार हम और भी कई धारणाएँ बनाकर योग निद्रा कर सकते हैं।

जैसे सात - चक्रों का ध्यान, गिनती गिनते हुए पहले सीधी गिनती फिर उल्टी गिनती। स्वर्ग की कल्पना कर सकते हैं। समीशरण का ध्यान कर सकते हैं। नदियाँ, तालाब, रूपस्थ ध्यान, पदस्थ ध्यान, सिर्फ आत्मा का निर्विकल्प ध्यान, हिमालय में बर्फाँले क्षेत्र का ध्यान, सिद्ध क्षेत्र का ध्यान, तीर्थ क्षेत्र आदि कई प्रकार की धारणाओं को मन में लाकर हम योग निद्रा कर सकते हैं।

लाभ :
- आप शारीरिक/मानसिक रूप से तनाव रहित हो जाते हैं।
- योग निद्रा द्वारा आप-अपने शरीर के रोग समाप्त कर सकते हैं। उन रोग के बारे में ऐसा विचार करें कि वे ठीक हो रहे हैं। बार-बार ऐसा चिन्तन करने से शरीर में रोग प्रतिरोधक क्षमता बढ़ती है जिस कारण वे रोग दूर हो जाते हैं।
- मानसिक क्षमता बढ़ा सकते हैं। स्मरण शक्ति बढ़ा सकते हैं। बच्चों का मानसिक विकास हो सकता है।
- आपके शरीर में नई चेतना आ जाती है।
- आप अपने सातों चक्र की ऊजा को रूपान्तरित कर सकते हैं।
- अपनी ऊर्जा को ऊध्र्वमुखी कर सकते हैं।
- सभी क्षेत्रों में चाहे वे सांसारिक हों, ग्रहस्थ हों, आध्यात्मिक हों, प्रगति कर सकते हैं।
- क्रोध, मान, माया, लोभ को खत्म कर सकते हैं।
- सकारात्मक ध्यान करके आप अच्छे इंसान बन सकते हैं। जैसे मैं ईमानदार हूँ। मैं पूर्णतया निरोगी हूँ, मैं दयावान हूँ, मेरे अंदर करूणा है। इस प्रकार ध्यान करके आप सब कुछ बदल सकते हैं।

सावधानियाँ : ❍ योग निद्रा के समय व्यक्ति को सोना नहीं चाहिए।

❍ दिए जा रहे निर्देशों को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिये।

❍ योग निद्रा का अभ्यास करते समय यदि कोई व्यक्ति नींद की अवस्था चला जाता है तो उसके माथे को स्पर्श करें। उसके पैर का अँगूठा स्पर्श कर जाग्रत अवस्था में लाइए।

योगसाधना की समस्त क्रियाएँ क्रमशः धैर्यपूर्वक,
आत्मविश्वास व पूर्ण आस्था के साथ उत्तरोत्तर करना
चाहिए, तब वे हमें शारीरिक एवं मानसिक लाभ के साथ
आध्यात्मिकता के चमत्कर्ष के आनंद की भी अनुभूति
प्रदान कराती हैं।

**-RJT**

# धाटणा - पंच धाटणा

यहाँ अँस्त्रें सुंदर, बड़ी, आकर्षक एवं निरोग हो जाएँगी कषाय के परिणाम मंद होते हैं। जैन धर्म के ग्रंथों में ध्यान और धारणाओं का विस्तृत विवेचन मिलता है जिनका चिंतन करने से कमाँ का क्षय होता है और आत्मिक लाभ प्राप्त होता है।

महर्षि घेरण्ड यहाँ कहते हैं कि ये धारणाएँ सिद्ध होने से सभी कार्य स्वतः सम्पादित हो जाते हैं। पाँच धारणा ये हैं :

1. पाथिवी धारणा
2. आम्भसी धारणा
3. आग्नेयी धारणा
4. वायवीय धारणा
5. आकाशी धारणा

## 1. पार्थिवी धारणा

यत्तत्व्हरितालदेशरचित भौमलकारान्वितम।
वेदास्त्र कमलासनेनसहितं कृत्वा हृदिस्थापितम्
प्राणत्रय विलीय पंचघटिकाश्चित्तान्विता धारयेत्।
ऐषा स्तम्भकरी सदाक्षितिजयं कुर्यादधोधारणा।
पार्थिवीधारणामुद्रां यः करोति तु नित्यशः।
मृत्युंजयः स्वयं सोऽपि स सिद्धो विचरेदभुवि ।।

(घे.सं. 3/17-18)

**अर्थ :** पृथ्वी तत्व का वर्ण हरताल के समान है। इसका लं बीज चौकोर आकार और देवता ब्रह्म है। साधक योगसाधना द्वारा इसे प्रकट कर हृदय में धारण करें। पाँच घड़ी (2 घंटे) प्राण को आकर्षित कर कुंभक करें। यह पार्थिवी धारणा या अधो-धारणा मुद्रा कहलाती है।

इसकी पूर्ण सिद्धि होने पर साधक पृथ्वी विजय कर लेता है। निरंतर इस धारणा को करने वाला साधक मृत्युजय और सिद्ध होकर धरती पर गमनागमन करता है।

## 2. आम्भसी धारणा

शंखेन्दुप्रतिमंच कुन्द धवल तत्वंकिलाल शुभम।
तत्पीयूषवकारबीजसहित युक्त सदा विष्णुना।
प्राणां तत्र विलीय पंच घटिकाश्चित्तान्वितां धारयेत्।
एषा दुःसहताप पापहरिणी स्यादाम्भसी धारणा।
आम्भसी परमा मुद्रा यो जानातिस योगवित्।
जलेच घोरे गंभीरे मरण तस्यनो भवेत्।
इयं तु परमा मुद्रा गोपनीया प्रयत्नत:।
प्रकाशात्सिद्धिहानिः स्यात्सत्यं वच्मि च तत्त्वतः।

(घे.सं. 3/19-21)

**अर्थ :** जल तत्व का रंग शंख और चंद्रमा की तरह उज्जवल एवं कुंद के फूल की तरह शुभ्र होता है तथा इसकी संज्ञा अमृत है। बीज वकार वं और विष्णु इसके देवता हैं। योग के प्रभाव से हृदय के बीच उक्त जल तत्व समुदाय का ध्यान करें और उसी समय प्राणवायु को खींचकर पाँच घड़ी चित्त को स्थिर रखते हुए कुंभक करें। यह आम्भसी धारणा है। यह मुद्रा बड़े-बड़े दु:खों, ताप और पापों का नाश करता है। जो साधक यह धारणा करता है वह योगियों का शिरोमणि कहलाता है। वह भयंकर और गंभीर जल में भी श्वास साधना के कारण नहीं डूबता है।

**3.** आग्नेयी धारणा

यन्नाभिस्थितमिन्द्रगोपसद्रशां बीजं त्रिकोणान्वितं –
तत्वं वह्निमयं प्रदीप्त मरुणं रुदेण यत्सिद्धिदम्।
प्राणां तत्र विलीय पंचघटिकांश्चित्तान्वितं धारयत्।
एषाकालगभीर भीतिहरिणी वैश्वानरी धारणा। (घे.सं. 3/22)

**अर्थ :** अग्नि तत्व का स्थान नाभि स्थल है। इसका रंग इन्द्रगोप (बीर बहुटी) की तरह लाल है। बीज मंत्र रं है। इसका आकार त्रिकोण और देवता रुद्र है। यह तत्व तेज का समूह है, दीप्तमान है, प्रकाशवान है और अनेक सिद्धियों का देने वाला है। इसे योग बल से उदय करके ध्यानस्थ होकर पाँच घड़ी तक (2 घंटा) कुंभक द्वारा प्राणवायु को धारण करें। इसका नाम आग्नेय धारणा मुद्रा है। इसके नित्य अभ्यास से संसार का (जन्म-मरण का) भय दूर होकर साधक विजयी होता है। यदि अचानक व्यक्ति अग्नि में गिर जाए तो भी अग्नि जला नहीं सकती और वह सुरक्षित बच जाता है।

**4.** वायवीय धारणा (वायुधारणा)

दिभन्नांजन पुंज सन्निभमिदं f
तत्त्वं सत्तवमयं यकारसहितं यत्रेशवरो देवता।
प्राणांस्तत्र विलीय पंच घटिकां चिन्तान्वितां धारयेत्।
एषा खे गमनं करोति यामिनांस्याद्वायवी धारणा। इ
यं तु परमा मुद्रा जरामृत्यु विनाशनी।
वायुनाभ्रियते नापि खेच गतिप्रदायिनी।
शठाय भक्ति हीनाय न देयं यस्य कस्यचित्।
दत्तेच सिद्धिहानिः स्यात्सत्यवच्मिचचण्डते।

(घे.सं. 3/24-26)

**अर्थ :** वायु तत्व का रंग घिसे हुए अंजन (सुमा) या धुंए के रंग के समान हल्का-मटमैला है। बीजमंत्र यं यकार है और ईश्वर इसके देवता है। यह तत्व सत्वगुण मय है। योग बल के प्रभाव से वायु तत्व को उदय करके एकाग्रचित हो प्राणवायु को खींचकर कुंभक प्राणायाम के द्वारा पाँच घड़ी तक धारण करें। इसका नाम वायवीय मुद्रा है (वायु धारणा)। इसके अभ्यास से वायु द्वारा कभी मृत्यु नहीं होती और साधक को आकाश गमन करने का सामथ्र्य प्राप्त हो जाता है। बुढ़ापा और मृत्यु का नाश करती है। यह विधि मूख, नास्तिक या वह व्यक्ति जिसके भीतर भक्तिभाव नहीं होते, जो शठ हैं ऐसे व्यक्ति को कभी न बताएँ। ऐसा करने से सिद्धि प्राप्त नहीं होती है।

**5.** आकाशी धारणा

यत्सिन्ध्द्वी वरशुद्धवारिसदृशं व्योमाख्यमुदभासते।
तत्वं देवसदाशिवेन सहित बीज हकारान्वितम्।
प्राणांस्तत्र विलीय पंच घटिकाश्चित्तान्वितं धारयेत्।
ऐषा मोक्षकपाटभेदनकरी कुर्यानाभो धारणा।
आकाशीयधारणा मुद्रा यो वेत्तिस योगवित्।
न मृत्युश्चायते तस्य प्रलये नावसीदति। (घे.सं. 3/27-28)

**अर्थ :** आकाश तत्व का रंग समुद्र के विशुद्ध जल (नील वर्ण) की तरह प्रकाशित हैं। इसके देवता सदाशिव हैं और बीजमंत्र हकार है। इसी आकाश तत्व को सदाशिव सहित योग बल द्वारा उदित कर ध्यानस्थ होकर धारण करेंधारण करें। इसी को आकाश मुद्रा कहते हैं। यह मुद्रा करने से मोक्ष होता है जो साधक आकाशी धारणा जानता है, अभ्यास करता है, वह योगी है। उसकी मृत्यु किसी से नहीं होती। प्रलय होने पर भी वह ज्यों का त्यों बना रहता है।

**विशेष :** हमने सभी धारणाओं को यथाक्रम दिया व उनके भावार्थ किए। हमारा निवेदन है कि साधक इन धारणाओं को ठीक-ठीक समझे। शांतचित्त होकर इनका अभ्यास किसी योग्य शिक्षक से जानकर उनका यथावत् पालन करें। इस मुद्रा को धारण करने से पहले

उसमें वे सभी गुण होने चाहिए जो कि इसी पुस्तक में हमने जगह-जगह कहा है। गुरुओं से वह प्राप्त करें। इन धारणाओं की सिद्धि के लिए बहुत ही ज़्यादा धैर्य और पुरुषार्थ की आवश्यकता पड़ती है। अतः हमारी मुमुक्षु जिज्ञासुओं से प्रार्थना है कि वह अपने सम्यक् ज्ञान का उपयोग कर लाभान्वित हों।

स्वर्गों जैसा सुख चाहिए तो निर्विकार ध्यान करो।

**-RJT**

ब्रह्मचर्य पूर्वक की गई अष्टांगयोग की क्रियायें कभी
निरर्थक नही जाती।

**-RJT**

# ध्यान योग

ध्यान एक महत्वपूर्ण साधना है। इसके अन्यास के बिना मुक्ति होना संभव नहीं है। पहले के अध्यायों में जितनी भी क्रियाएँ हैं वे सभी लगभग शरीरस्थ ज़्यादा हैं किंतु ध्यान आत्मा की वह क्रिया है जो साधक को ज्ञान की सर्वोत्कृष्ट उपलब्धि 'कैवल्य ज्ञान' प्राप्त कराती है। ध्यान की कई क्रियाएँ हैं। लगभग सभी धर्मों में ध्यान योग को महत्व दिया गया है। जैन धर्म मानता है कि निर्विकल्प ध्यान के बिना कर्मों का क्षय नहीं होता है। हिंदू धर्मानुसार व्यक्ति को प्रतिदिन भगवत् आराधना, पूजा—अर्चना व ध्यान अवश्य करना चाहिए। ध्यान का जितना महत्व धर्मों में बताया गया है उसका उतना ही महत्व हमारे सांसारिक जीवन के लिए भी है।

अलग-अलग शास्त्रों में ध्यान की कई विधियाँ बताई गई हैं। गौरक्ष पद्धति में सूत्रकार कहते हैं कि 'चित्त में योग शास्त्र के अनुसार विधि से निर्मलांतर करके आत्म-तत्व का स्मरण करना ध्यान कहलाता है।" यह ध्यान सगुण-निर्गुण भेद से दो प्रकार का है। श्याम वर्ण विष्णु का ध्यान करना सगुण ध्यान है। एकांत में पवित्र स्थान पर बैठकर सिद्धासन, पद्मासन या किसी सुखासन में बैठकर कुण्डलिनी चक्रों में चित्त लगाकर या नासिका के अग्रभाग में दृष्टि लगाकर चक्र सहित ध्येय वस्तु का ध्यान करना निर्गुण ध्यान है। यह ध्यान मुद्रा है तथा इसे करने वाला योगी समस्त पापों से मुक्त हो जाता है। ध्यान के नव स्थानों का वर्णन करते हुए सूत्रकार नव ध्यान योग्य स्थान के प्रकार बताते हैं। वे इस प्रकार हैं :

1. मूलाधार
2. स्वाधिष्ठान
3. नाभि (मणिपूरक)
4. अनाहत
5. विशुद्धि
6. घंटिका मूल
7. लबिका का स्थान
8. आज्ञा चक्र

9. सहस्त्रार चक्र

इसके ऊपर का शून्य स्थान। योगियों द्वारा उक्त नव स्थान ध्यानोपयोगी कहे गए हैं। इन्हें उपाधि अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज (अग्नि), वायु तथा आकाश इन पाँच तत्वों से सम्मिलित ध्यान करने से अणिमादि अष्ट सिद्धियों का उदय होता है।

विवेक चूड़ामणि में लिखा है कि जैसे सुवर्ण को अग्नि में शोधन करने से वह क्षार, मल आदि त्याग कर शुद्ध हो जाता है, इसी तरह ध्यान द्वारा सत्व, रज और तमोगुण के संयोग से मलिन हुआ मन निर्मल होकर आत्म-तत्व को प्राप्त हो जाता है। विवेक चूड़ामणि में आगे लिखा है कि जैसे अन्य क्रियाओं की आसक्ति को त्याग कर अर्थात् दूसरे उपायों को न करके केवल भ्रमरपन का निरंतर ध्यान करते-करते कीट-पतंगे आदि भ्रमर के रूप में परिणित हो जाते हैं अर्थात् भ्रमर (भौंरा) बन जाते हैं ऐसे ही साधक भी आत्म-तत्व का ध्यान करते-करते ईश्वर-रूप पा जाते हैं। अत: साधक ध्यान के प्रभाव से परम-आत्मा को उपलब्ध हो जाता है।

योग सूत्रानुसार

चित्त (मन) को किसी एक स्थान में ठहराना धारणा है और उस ज्ञानवृत्ति की एकतानता ही ध्यान है। अर्थात् जहाँ मन को लगाया जाए उसी में वृत्ति का एकतार (शहद की धारा के समान) चलना ध्यान है। ध्यान के चरम उत्कर्ष का नाम ही समाधि है। ध्यान जब अर्थ मात्र निर्भास होता है या ध्यान जब इतना प्रगाढ़ होता है कि केवल ध्येय विषय मात्र की ही ख्याति होती रहती है तब उसे समाधि कहते हैं और जब धारणा, ध्यान तथा समाधि तीनों एक ही जगह स्थित हों तो वह संयम कहलाता है।

घेरण्ड संहितानुसार

स्थूलं ज्योतिस्थासूक्ष्मं ध्यानस्य त्रिविधं विदुः।
स्थूल मूर्तिमयं प्रोत ज्योतिस्तेजोमयं तथा।
सूक्ष्म, विन्दुमयं ब्रह्म कुण्डली परदेवता। (घे.सं. 6/1)

महर्षि घेरण्ड के अनुसार ध्यान तीन प्रकार का है। स्थूल ध्यान, ज्योतिध्यान और सूक्ष्म ध्यान। स्थूल ध्यान में मूर्तिमय इष्ट देव (सगुण स्वरूप) का ध्यान किया जाता है। ज्योतिर्मय ध्यान वह ध्यान होता है जिसमें तेजोमय ज्योति रूप आत्मा (निर्गुण ब्रह्म) का चिंतन हो एवं सूक्ष्म ध्यान वह है जिसमें बिंदुमय (ब्रह्म कुण्डलिनी) का ध्यान किया जाता है।

स्थूल ध्यान

आचार्य कहते हैं कि साधक अपने हृदय में ऐसा ध्यान करें कि मानो वह अमृत का समुद्र

है और उस समुद्र के बीच एक रत्नमय (हीरे जवाहरादि) द्वीप है जो कि रत्नमय बालुका (रेत) से शोभायमान हो रहा है। जिसकी चारों दिशाओं में नीम के वृक्ष फूलों सहित शोभित हो रहे हैं। वह द्वीप फूलों की शोभा से परिपूर्णित है और वह फूलों के किले की खाई के समान प्रतीत हो रहे हैं। मालती, मल्लिका, चमेली, केशर, चंपा और बकायन, स्थल कमल आदि पुष्पों की सुगंध से मानो चारों दिशाएँ महक रही हैं।

उसके बीचो-बीच एक कल्पवृक्ष है। योगी ऐसा ध्यान करें कि वह कल्पवृक्ष बहुत ही मनमोहक है। मन को हरने वाला, अति सुंदर है। जिसकी चार शाखाएँ चारों वेदों से शोभायमान हो रही हैं और वह वृक्ष नित्य नए-नए फल-फूलों से लदा हुआ रहता है जिसमें भ्रमर और कोयल के मधुर शब्द सुनाई पड़ रहे हैं। साधु-साधक कमाँ का उपदेश कर रहे हैं। उनके शब्द गुंजायमान हो रहे हैं। अब उस कल्पवृक्ष के नीचे माणिक्य रत्न का मंडप सजा हुआ है। जिसके नीचे एक रत्नमय आसन है। उसमें अपने इष्ट देव विराजमान हैं। गुरु द्वारा बताई विधि से उनका चिंतन व ध्यान कीजिए। कैसा है वह इष्ट ? तो बताते हैं कि आभूषण गहनों से सुशोभित है। ऐसे इष्ट के ध्यान को विद्वान लोग स्थूल ध्यान कहते हैं।

**स्थूल ध्यान के प्रकार** - ब्रह्मरंध्र में सहस्त्रार नामक एक सहस्त्रदल का कमल है या एक हज़ार पंखुड़ियों वाला एक कमल है जिसका योगी ध्यान करते हैं। उस महाकमल के बीच में जो कणिका है उसके बीच एक और कमल है जिसमें बारह पंखुड़ियाँ हैं जिसका रंग सफ़ेद है और तेजोमय है। उन बारह दलों में बीज मंत्र दिख रहे हैं। पहले दल में ह दूसरे में स तीसरे में क्ष, म, ल, व, र, यू, ह, स ख, फ्रें इस प्रकार क्रमश: सभी दलों में बीज मंत्र हैं। उस बारह दल के कमल की बीच के भाग में जो कणिका है उसमें अ, क, थ इन अक्षरों की तीन रेखाएँ हैं। अर्थात् त्रिकोण बना है और ह, ल, क्ष ये अक्षर संयुक्त हैं। जिसके बीच में प्रणव मंत्र ॐ विराजमान है।

अब योगी ऐसा ध्यान करें कि मानो वहाँ नाद-बिंदुमय एक मनोहर सिंहासन रखा हुआ है। वहाँ एक हँसों का जोड़ा बैठा हुआ है जो कि गुरु पादुका का प्रतीक है। वहाँ पर ऐसा गुरु का ध्यान करें जिनके दो हाथ हैं, तीन नेत्र हैं, सफ़ेद धवल वस्त्र पहने हुए हैं और श्वेत पुष्प की माला पहने हुए हैं तथा उनके शरीर में शुक्ल वर्ण का लेपन है और उसमें से शुभ्रगंध निकल रही है। उनके बाएँ अंग की तरफ़ लाल रंग के वस्त्र पहने हुए उनकी शक्ति शोभायमान है। इस विधिपूर्वक गुरु का ध्यान करने से स्थूल ध्यान की प्राप्ति होती है।

जयोतिर्मय ध्यान

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि पहले स्थूल ध्यान के बारे में सुना। अब तेजोध्यान के बारे में सुनो जिसके ध्यान से या सिद्धि से शुद्धात्मा प्रकट हो जाती है।

मूलाधार और लिंगमूल के बीच की जगह में कुण्डलिनी शक्ति सर्प की तरह विद्यमान है। यहाँ दीपक की लौ के रूप में परमेश्वर विराजमान हैं। वह जो ज्योतिर्मय तेज सहित

परमेश्वर है, उसकी ज्योतिर्मय ध्यान कहते हैं।

दोनों भौंहों के बीच और मन के ऊर्ध्व भाग में ऑकारमय जो तेज बल युक्त जो शिखा है वही तेजोध्यान है। अर्थात् ज्योतिर्मय है।

सूक्ष्म ध्यान

महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि अभी तुमने तेजोध्यान को सुना। अब सूक्ष्म ध्यान को सुनो। जिस साधक की कुण्डलिनी जागृत होती है वह बड़ा ही भाग्यवान है। तब वह आत्मा से मिलकर नेत्र-द्वार से निकलकर राजमार्ग में विचरण करने लगता है परंतु अपनी सूक्ष्म चंचलता के कारण किसी को दृष्टिगोचर नहीं होता है। तब योगी शाम्भवी मुद्रा के योग से कुण्डली शक्ति का ध्यानाभ्यास करें। यही प्रक्रिया सूक्ष्म ध्यान कहलाती है। यह सूक्ष्म ध्यान बहुत ही गोपनीय है और देवताओं को भी दुर्लभ है।

स्थूल ध्यान से सौ गुना अधिक ज्योतिर्मय ध्यान फलदायी है और ज्योतिर्मय ध्यान से लाख गुना फलदायी सूक्ष्म ध्यान है और यह सूक्ष्म ध्यान दूर से भी दूर है। अर्थात् बड़ी कठिनता से प्राप्त होता है।महर्षि घेरण्ड कहते हैं कि यह दुर्लभ ध्यान मैंने तुमको बताया। जिसकी सिद्धि होने से आत्म-तत्व प्रकट होता है वही ध्यान सबसे उत्तम ध्यान है।

ध्यान का महत्त्व और मन पर प्रभाव - ध्यान का महत्त्व मुख्य रूप से अपने परमेश्वर की प्राप्ति है। ध्यान से कर्मों का नाश ही नहीं होता बल्कि हम उस परम तत्व को प्राप्त कर लेते हैं जिसकी सिद्धि अति दुर्लभ है और असीम आनंद की अनुभूति होती है। जहाँ केवल ज्ञान ही ज्ञान है। योगी वहाँ पहुँचकर अनंतकाल के लिए समाधिस्थ होकर उस परम पिता परमेश्वर के दर्शन करता है जिसकी व्याख्या कोई नहीं कर सकता। ध्यान से मन की चंचलता का नाश होता है और चित्त स्थिर होकर अचेतन मन से एकाकार करता है। ध्यान के प्रभाव से साधक को असीम शांति मिलती है। कई दुर्लभ कार्य आसान हो जाते हैं। मन के अंदर उठने वाले वेग, विकार- जैसे, काम, क्रोध, लोभ, मोह, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह इनका क्षय होता है और व्यक्ति का विकास चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है। ध्यान से आत्मा का उत्थान होता है।

# कुण्डलिनी विज्ञान
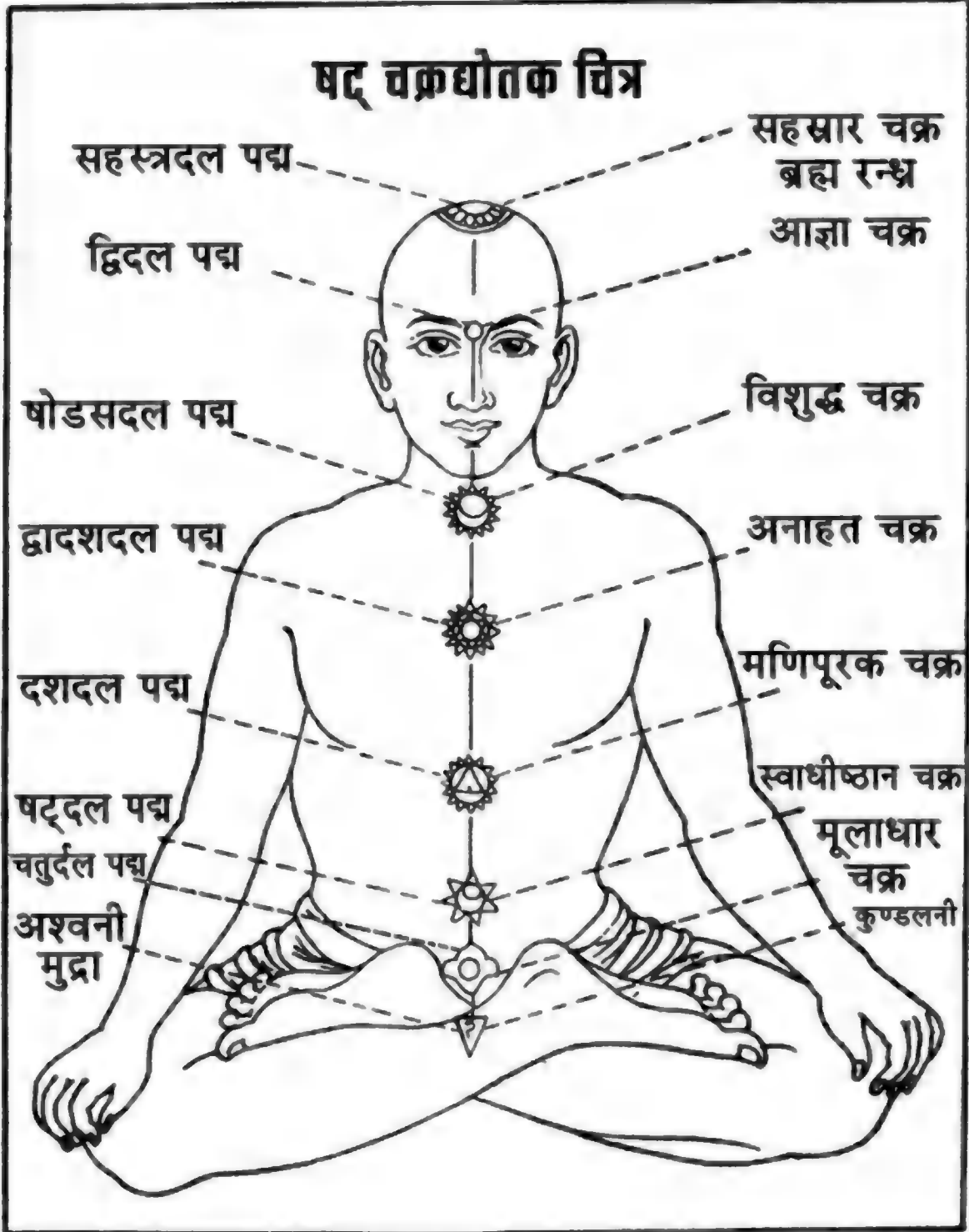
## षद् चक्रधोतक चित्र

सहस्त्रदल पद्म
सहस्रार चक्र
ब्रह्म रन्ध्र
द्विदल पद्म
आज्ञा चक्र
षोडसदल पद्म
विशुद्ध चक्र
द्वादशदल पद्म
अनाहत चक्र
दशदल पद्म
मणिपूरक चक्र
षट्दल पद्म
स्वाधीष्ठान चक्र
चतुर्दल पद्म
मूलाधार चक्र
अश्वनी मुद्रा
कुण्डलनी

पैर से लेकर सिर तक अपने शरीर में करोड़ों सूर्य के तेज के समान सफेद पीला या लाल रंग का चिंतन द्वारा उसके ध्यान करने से सब रोग नष्ट होते हैं और आयु बढ़ती है - बिंदु योग

शारीरिक, मानसिक, भौतिक और आध्यात्मिक सुख प्राप्त करना हो व इहलोक तथा परलोक ठीक करना हो तो अष्टाग योग का गहराई से अध्ययन करें।

-RJT

पैर से लेकर सिर तक अपने शरीर में करोड़ों
सूर्य के तेज के समान सफेद पीला या लाल रंग
का चिंतन द्वारा उसके ध्यान करने से सब रोग
नष्ट होते हैं और आयु बढ़ती है
बिंदु योग

शारीरिक, मानसिक, भौतिक और आध्यात्मिक
सुख प्राप्त करना हो व
इहलोक तथा परलोक ठीक करना हो तो अष्टाग
योग का गहराई से अध्ययन करें।

-RT

# कुण्डलिनी विज्ञान - एक विवेचना

हमारे प्राचीन ऋषि-मुनियों वे आत्म-विज्ञान की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे अतः उनका ध्यान प्राणीमात्र की तरफ़ उनके जीवन के उत्थान के लिए गया। उन्होंने उस चैतन्यत्व को प्राप्त करने के अनेक मार्ग बताए। साधकों ने उन मार्गों को अपनाया और वे उस लक्ष्य तक पहुँचे भी। यह नियम है कि जब कोई साधक साधना द्वारा अपनी आत्मा का उत्थान कर लेता है तो वह अपने से निम्न वर्ग के साधकों को यथावत् वह उपाय बता देता है ताकि वह भी लक्ष्य की प्राप्त कर सकें और हुआ भी यही। परम्परागत तरीके से प्राप्त आज एक से बढ़कर एक प्राच्य विज्ञान हमारे पास हैं। भले ही कुछ गुप्त है और कुछ प्रगट। इन्हीं में से एक है योग विज्ञान। योग विज्ञान की कई शाखाएँ हैं। प्रत्येक शाखा का अपना अलग महत्व है। प्रत्येक शाखा का विज्ञान विशुद्ध रूप से प्रयोग करने पर अंतिम बिंदु तक पहुँचाता है। हमने अपनी इस पुस्तक में कुछ बिंदुओं पर प्रकाश डाला है। इस योग विज्ञान की एक उच्चतम शाखा भी है जिसका नाम है 'कुण्डलिनी विज्ञान'।

कुण्डलिनी विज्ञान पर भी कई विद्वानों ने विभिन्न शास्त्रों की रचना की एवं उनको इतना सरल कर दिया कि वह प्रत्येक वर्ग के लोगों को आसानी से समझ में आ जाए और जिसका प्रयोगात्मक रूप से अध्ययन योग्य गुरु के निर्देश में कर वे उसका मीठा फल चख सकें।

कुण्डलिनी जागरण के अनेक उपाय समय-समय पर विकसित हुए। चाहे वे लकड़ी की छेनी से कपाल में छेद करके शक्ति जगाने की बात हो या जड़ी-बूटियों के प्रयोग द्वारा। सबसे अधिक योग-विज्ञान द्वारा इसका विकास हुआ। योग-विज्ञान में जो साधक क्रमशः आगे बढ़ता है वह निश्चय ही अपने ध्येय को प्राप्त कर लेता है। यहाँ मुख्य रूप से हम 7 चक्रों का ही वर्णन करेंगेजो कि सूक्ष्म रूप से अवस्थित हैं। सर्वप्रथम हम किस शास्त्र में कुण्डलिनी के बारे में क्या लिखा है, यह जानने का प्रयास करेंगे।

## शिव संहित्तानुसार

मूलाधार चक्र में स्थित सुप्त पड़ी हुई कुण्डलिनी शक्ति को प्राणवायु द्वारा चलाने और जगाने वाली शक्तिचालन क्रिया सर्व शक्तिदायिनी है। जो योगी सिद्धि प्राप्ति की इच्छा से शक्तिचालन का नित्य अभ्यास करता है उसके शरीर में सो रही सर्पिणी कुण्डलिनी जागृत

होकर स्वयं ही ऊर्ध्वमुख हो जाती है। निरंतर अभ्यास से सिद्धि प्राप्त होती है तथा अणिमादि विभूतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

शिव संहिता में आगे लिखा है कि प्राणवायु के आघात से चक्रों के मध्य रहने वाले देवता जागते हैं और महामाया कुण्डलिनी कैलाशपति शिव से जा मिलती है।

वामनाड़ी का प्रवाह करने वाला चंद्रमा शक्तिरूप में और दक्षिण नाड़ी का प्रवाहक सूर्य शिव रूप में स्थित रहता है। शक्तिचालिनी मुद्रा का प्रतिदिन अभ्यास करने वाले साधक की आयु में वृद्धि होती है और रोगों का नाश होता है।

शांडिल्य उपनिषद् में लिखा है कि नाभि के नीचे कुण्डलिनी देवी का निवास स्थान है। यह आठ प्रकृति वाली है तथा इसके आठ कुण्डल हैं। यह प्राणवायु को यथावत् करती है। अन्न और जल को व्यवस्थित करती है। मुख तथा ब्रह्मरंध्र की अग्नि को प्रकाशित करती है।

योग कुण्डलिन्योपनिषद् के अनुसार

मूलबंध के अभ्यास में अधोगामी अपान को बालात्। ऊर्ध्वगामी बनाया जाए। इससे वह प्रदीप्त होकर अग्नि के साथ-साथ ही ऊपर चढ़ता है।

इसी उपनिषद् में आगे लिखा है कि बुद्धिमान साधक कुण्डलीभूत शक्ति को संचालित करें। मूलाधार से स्फूर्ति-तरंग उठकर भ्रूमध्य में पहुँचे और दिव्य नाद की अनुभूति कराने लगे तभी कुण्डलिनी शक्ति जागृत-संचालित समझना चाहिए।

घेरण्ड संहितानुसार

मूलबंध के अभ्यास द्वारा मरुत सिद्ध होती है। अर्थात् शरीरस्थ वायु पर नियंत्रण होता है। अतः आलस्यरहित होकर मौन रहते हुए इसका अभ्यास करना चाहिए।

ऐतरेय आरण्यक

यह प्राण सब इन्द्रियों का रक्षक है। यह कभी नष्ट नहीं होने वाला। यह भिन्न-भिन्न मार्गों अर्थात् नाड़ियों के द्वारा आता और जाता है। मुख तथा नासिका के द्वारा क्षण-क्षण इसी शरीर में आता है तथा फिर बाहर चला जाता है। यह प्राण शरीर में अध्यात्म स्वरूप में वायु के रूप में स्थित है परंतु वस्तुतः वह आधिदेव रूप में सूर्य ही हैं।

तत्रसार - कुण्डलिनी शक्ति आत्म-क्षेत्र में हँसारूढ़ होकर विचरती है।

ध्यानबिंदु उपनिषदानुसार

जिस मार्ग से ब्रह्म स्थान तक सुगमता से पहुँचा जा सकता है उस मार्ग का द्वार परमेश्वरी कुण्डलिनी अपने मुँह से ढंके सोई हुई है। अग्नि, मन तथा प्रेरित प्राणवायु के सम्मिलत योग से वह जागृत होती है और जैसे सुई के साथ धागा जाता है उसी प्रकार प्राणवायु के साथ

वह कुण्डलिनी सुषुम्ना-पथ से ऊपर जाती है। जैसे चाबी से बंद द्वार खोल दिया जाता है वैसे ही योगी कुण्डलिनी शक्ति से मोक्ष द्वार को भेदते हैं।

ऐसे और भी अनेक शास्त्र हैं। जिनमें कुण्डलिनी की विस्तृत विवेचना दी हुई है एवं अनेक विद्वानों ने भी इस संदर्भ में काफ़ी कुछ कहा है।

म.म.प. गोपीनाथ कविराज जी कहते हैं कि इसी कुण्डलिनी शक्ति का नामांतर बिंदु है। इसे चिदाकाश कहा जाता है। यही परमेश्वर की महामायारूपी शक्ति है। परमेश्वर अथवा परम शिव चितस्वरूप इनमें दो शक्तियाँ हैं। एक चिद्रूपी और दूसरी अचिद्रूपी।

इसी प्रकार कई धर्म दर्शनों में भी इसको किसी न किसी रूप में ग्रहण किया गया है।

यहाँ पर हम अब 7 चक्रों का संक्षिप्त वर्णन करते हैं। उनके नाम हैं :-

1. मूलाधार चक्र 2. स्वाधिष्ठान चक्र
3. मणिपूरक चक्र 4. अनाहत चक्र
5. विशुद्धि चक्र 6. आज्ञा चक्र
7. सहस्त्रार चक्र

**1.**मूलाधार चक्र

देवता : ब्रह्मा (बालक)

शक्ति : डाकिनी
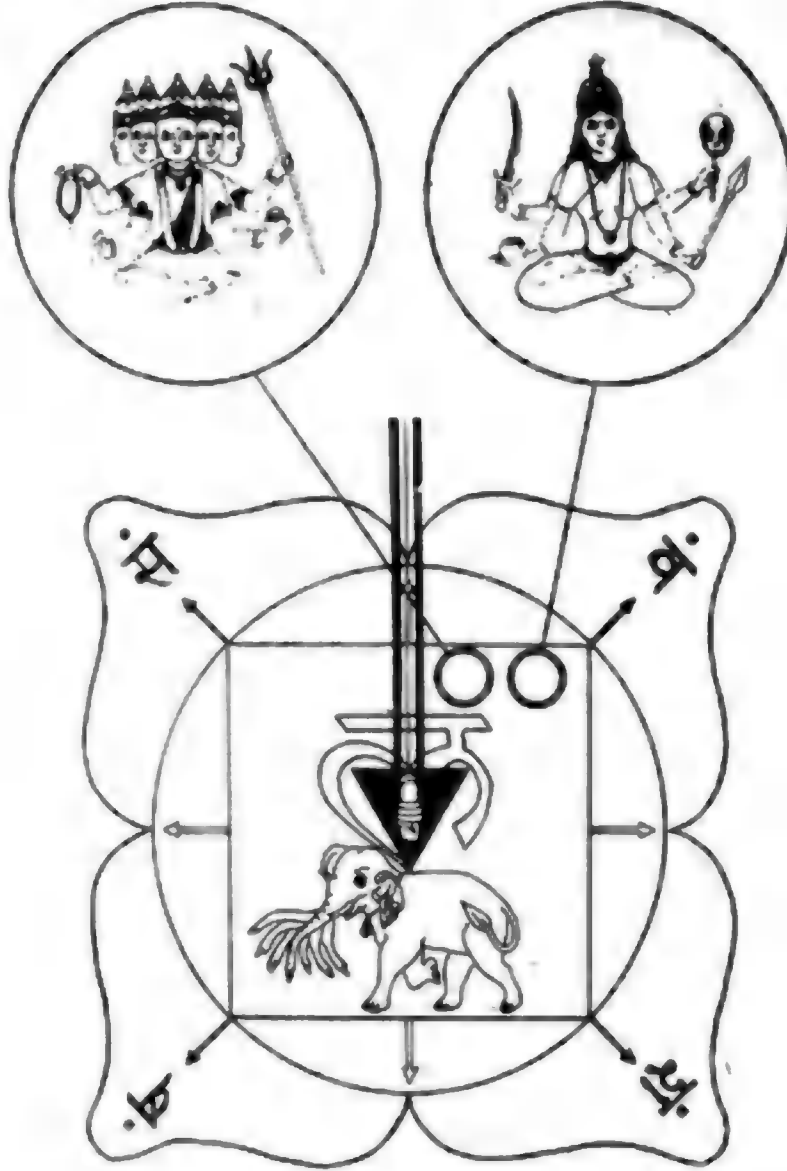
इसका मूल स्थान गुदा- द्वार से दो अंगुल ऊपर और लिंग-स्थान से दो अंगुल नीचे - चार अंगुल विस्तार का मूलाधार चक्र पेरिनियम में अवस्थित है । कई शास्त्रों में इस स्थान को कंद कहा है जहाँ कुण्डलिनी सर्पिणी की तरह साढ़े तीन आंटे (लपेटे) मारकर बैठी है । षट्चक्र निरूपण में लिखा है कि मूलाधार स्थित त्रिकोण के भीतर स्वर्ण के समान भूलिंग है जिस पर कमल-तंतु के समान बाह्य द्वार को अपने मुख से ढंके हुए विद्युत एवं पूर्ण चंद्रमा की आभायुक्त अतिसूक्ष्म कुण्डलिनी शक्ति सो रही है ।

सुवर्ण वर्ण में चार पंखुड़ियों वाला कमल दल है।

इसका रंग गहरा लाल है। इसके मुख्य देवता चतुर्भुज ब्रह्मा हैं और देवी डाकिनी हैं। इसकी प्रत्येक पंखुडियों में वं, श, ष, सं, मंत्राक्षर लिखे हैं। इस कमल दल के बीच में

वगाकार पृथ्वी तत्व है जिसका वर्ण स्वर्ण के समान पीला है। जो चमकदार अष्ट शूल युक्त है। उस वगाकार का बीज मंत्र ल है जो कि ऐरावत हाथी पर सवार है। कमल दल की कणिका के बीच में मुलायम, अत्यंत सुंदर और विद्युत के समान चमकता हुआ लाल रंग का त्रिभुज है जिसे कामरूप भी कहते हैं। इस त्रिभुज का सिरा नीचे की ओर है। इस त्रिभुज के अंदर रहने वाली देवी को त्रिपुर सुंदरी एवं इस त्रिभुज की शक्ति पीठ भी कहा गया है। इस त्रिकोण के अंदर स्वयंभू लिंग है। जिसका रंग धुंए के समान श्याम वर्ण है और सर्पिणी रूपी कुंडलिनी उस लिंग के चारों तरफ़ लिपटी हुई है।

हठ योगानुसार जैसे पुरुष कुंजी (चाबी) से दरवाज़ा खोलता है उसी प्रकार योगी हठ योग के अभ्यास से सुषुम्ना के मार्ग से होता हुआ मोक्ष मार्गको प्राप्त कर लेता है। सुषुम्ना के ऊध्र्व शिखा के मध्य में परमात्मा स्थित है। उस सुषुम्ना-मार्ग के द्वार को मुख से आच्छादित करके कुण्डलिनी सोती है। वही । कुण्डलिनी मूर्खों के लिए बंधन है और योगीजनों के लिए मोक्ष का द्वार है।

इड़ा-पिंगला नाड़ी के मध्य में जो सुषुम्ना नाड़ी है वह बालरण्डा कहलाती है। उसको हठयोग पूर्वक ग्रहण करें और परमपद को प्राप्त करें। सूत्रकार कहते हैं कि प्राण-निरोध के अभ्यास से प्राणवायु द्वारा ताड़ित होने पर कुण्डलिनी जागृत हो जाती है। इसको सिद्ध करने के लिए प्रतिदिन सुबह और संध्या के समय डेढ़ घंटे अभ्यास करना चाहिए। वज्रासन करके एड़ियों से ऊपर पैरों (गुल्फों) को पकड़ें और हाथों से पकड़े हुए पादों से कद के स्थान में कद को पीड़ित करें या दबाएँ।

वज्रासन में स्थित योगी कुंडली को चलाकर या शक्ति चालन मुद्रा करके भस्त्रा नाम के कुंभक प्राणायाम को करें। इस रीति से कुंडलिनी शीघ्र जागृत होती है। शक्ति चालन के अनंतर भस्त्रा में वज्रासन का ही नियम है।

नाभि-देश के आकुचन से वहाँ स्थित अग्नि या सूर्य का आकुंचन हो जाता है। फिर सूर्य के आकुचन से कुण्डली शक्ति का चालन करें। जो योगी इस प्रकार की क्रिया करता है उसे मृत्यु या काल का भय नहीं रहता।

जो साधक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए मिताहार करता है उस साधक को एक मण्डल में ही सिद्धि प्राप्त हो जाती है। जो योगी कुंडली का चालन करता हुआ भस्त्रा कुंभक ही विशेष रूप से करता है उसे यम का भय नहीं रहता। देह त्यागने की भी सिद्धि हो जाती है।

यह सुषुम्ना-रूप मध्यम नाड़ी साधकों के आसन प्राणायाम मुद्रा आदि के दृढ़ अभ्यास से सरल हो जाती है। अर्थात् सिद्ध हो जाती है।

इस प्रकार साधक कुण्डलिनी जागृत करने के लिए उपरोक्त संदर्भ को ध्यान में रखकर धैर्य पूर्वक गुरु-निर्देशन में नित्य प्रति अभ्यास करें। सफलता एवं सिद्धि प्राप्त करते हुए वह साधक आत्मज्ञाता बनकर परमार्थ करता हुआ पूज्यनीय बन जाता है।

यदि सामान्य रूप से मूलाधार चक्र का ध्यान करें तो भी कई लाभ प्राप्त होते हैं। जैसे- शरीर में कांति, तेज व ओज की वृद्धि होती है। मेरुदण्ड सशक्त होता है। रक्त-विकार, काम-विकार, त्वचा-विकार, नेत्र-विकार, मूत्र-प्रदेश के विकार इत्यादि नहीं होते। चक्रों के सही विकास नहीं होने से भी कई रोग होते हैं। अत: साधकों को चक्रों का ध्यान अवश्य करना चाहिए।

**2.स्वाधिष्ठान चक्र**
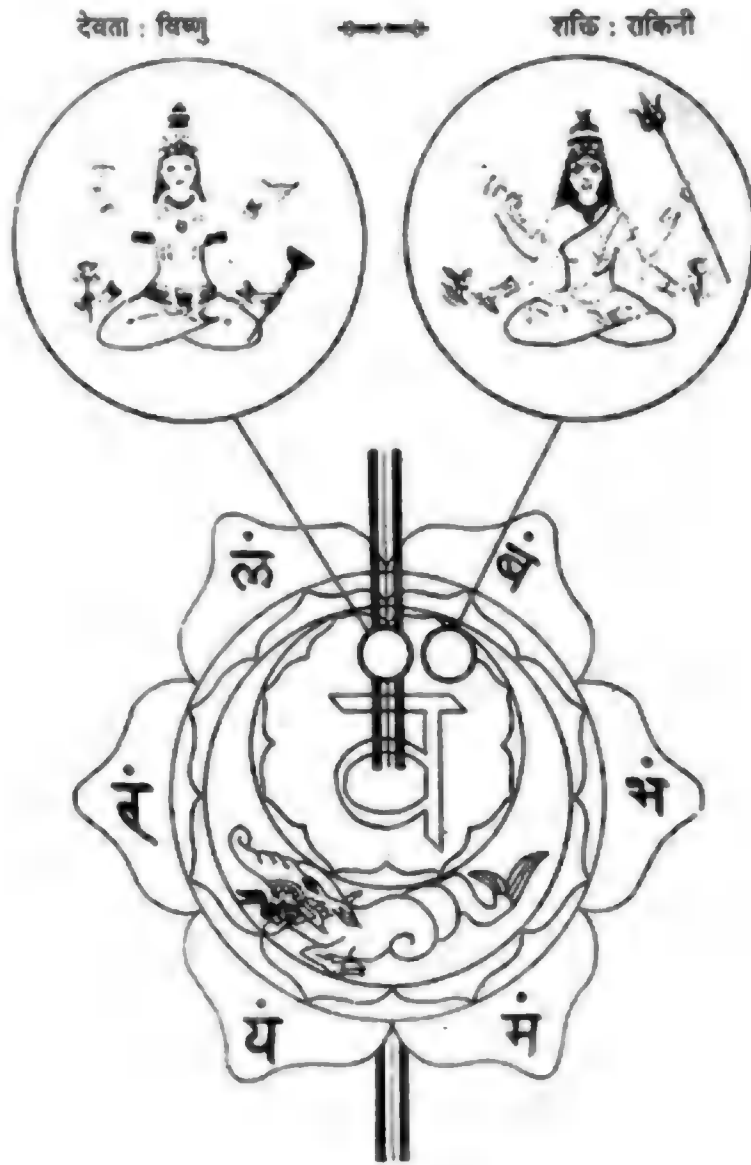
यह द्वितीय चक्र मूलाधार से लगभग दो अंगुल ऊपर एवं नाभि के कुछ नीचे स्थित है। इसमें पद्म छ: दल युक्त सिंदूरी रंग का है। दलों पर मंत्र - वं, भ, मं, यं, रं और ल लिखे हुए हैं। उसके बीच में अर्ध चंद्र है। यह क्षेत्र श्वेत (उज्जवल) है। इसके अंदर वरुण बीज वं है जो कि मगर के वाहन पर विराजमान है। इसका तत्व हल्का नीला जल है। उस बीज मंत्र के बिंदु पर गरुड़ पक्षी पर भगवान विष्णु बैठे हुए हैं एवं उनके हाथों में क्रमशः शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। उनके पीले वस्त्र हैं। देवी शाकिनी हैं, जो श्याम वर्ण हैं। जिनके एक नासिका छिद्र से रक्तधारा बहती रहती है। इस चक्र का सम्बंध प्रजनन करने वाले अंग, भावना, दोनों पैर एवं कुटुंब बढ़ाने की इच्छा से है। यदि चक्र विकार-ग्रस्त है, तो उपरोक्त अंगों पर प्रभाव पड़ता है।

गोरख पद्धति में लिखा है कि इस स्वाधिष्ठान चक्र की सगुण या निर्गुण ज्योति-स्वरूप आत्मा को नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि करके ध्यान करने से साधक आनंद की अवस्था को प्राप्त करता है।

इस चक्र के ध्यान से और भी कई अन्य लाभ मिलते हैं। जैसे शरीर निरोगी हो जाता है। संसार का भय नहीं रहता। मन शांत होता है। ईर्ष्यां और राग-द्वेष का क्षय होता है। शरीर कांतिवान बनता है। प्रखर वाणी होती है। प्रजनन सम्बंधी अंग विकसित और सुचारु होते हैं।

अत: स्वाधिष्ठान चक्र का ध्यान अवश्य करना चाहिए। सौंदर्यलहरी में लिखा है कि कुण्डलिनी की आराधना करने वाला व्यक्ति अपने सफल सार्थक जीवन की आभा सब ओर फैलाता है। व्यक्तित्व हिमालय जैसा धवल-निर्मल बनता है। उदारता और सम्पन्नता बढ़ती है। अपनी प्रखर प्रतिभा के कारण वह दुष्टता के सपों को गरुड़ की तरह परास्त करने में सफल होता है।

**3.**मणिपूरक चक्र

देवता : विष्णु ⟷ शक्ति : लाकिनी
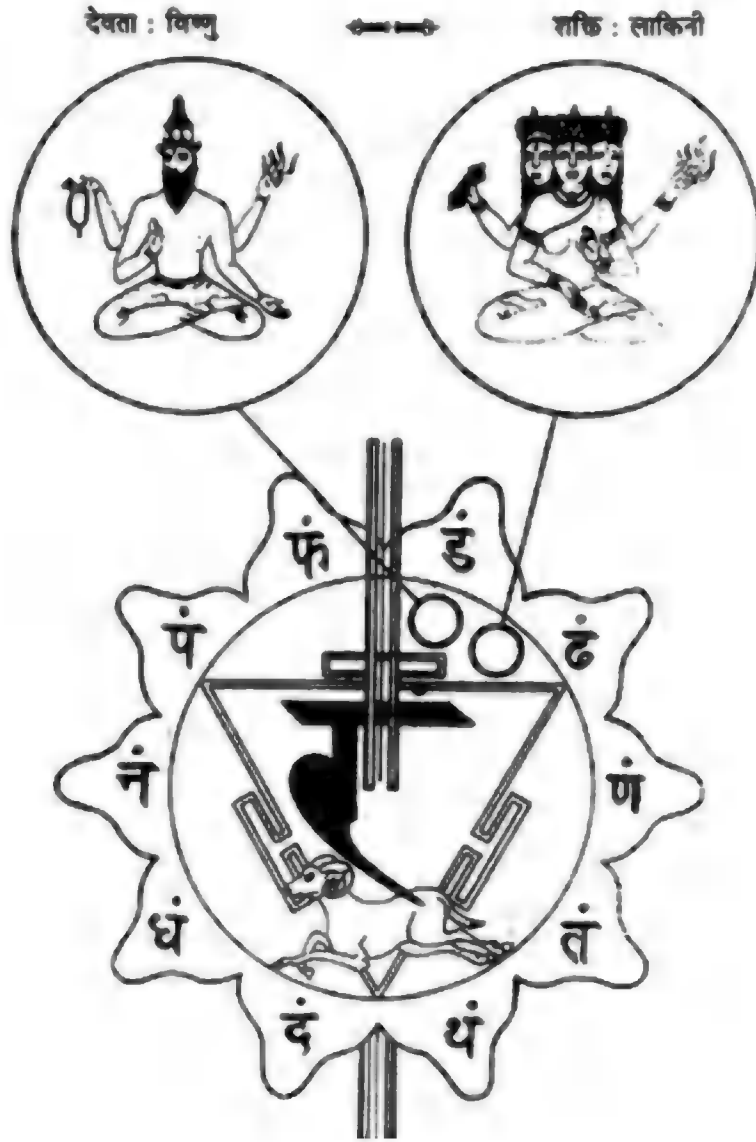
शरीर के केंद्र स्थल-नाभि मूल में स्थित यह अग्नि तत्व चक्र दश कमल दल युक्त होता है। स्वर्ण रंग की दसों पंखुड़ियों पर क्रमशः ड, ढ, णां, तं, यं, द, ध, न, प, फ लिखा हुआ है। इस पद्म के अंदर लाल रंग से रॉजित उल्टा त्रिभुज है। जिस पर बीज मंत्र रं लिखा है। इसका बीज वाहन भेड़ (मेढ़ा) है। इसके प्रमुख देवता रुद्र हैं और शक्ति देवी लाकिनी है।

यह चक्र मणि की भांति चमकदार है। अग्नि का केंद्र है। यह आत्मिक और भौतिक शरीर का प्राण केंद्र है तथा चैतन्यता और शक्ति से प्रदीप्त है तथा रुद्र ग्रंथि का निवास स्थान है। यह सूर्य का (ताप) केंद्र है। जिस कारण व्यक्ति की जीवन रक्षा होती है।

14 से 21 साल की आयु मणिपूरक चक्र से प्रभावित रहती है। इससे प्रभावित व्यक्ति प्रसिद्धि, यश तथा नाम की प्राप्ति के लिए तत्पर रहता है।

चूँकि यह सूर्य का केंद्र है अतः यह हमारे उदर-प्रदेश से सम्बंधित अंगों का सुचारु रूप से संचालन करता है। चक्र के विकार ग्रस्त हो जाने से पाचन-तंत्र से सम्बंधित रोग होते हैं।

रक्त-विकार, हृदय-विकार तथा मानसिक-विकार उत्पन्न होता है। शरीर आलस्य, सुस्ती और निराशा से भर जाता है। अत: मणिपूरक चक्र का ध्यान कर उपरोक्त रोगों से बचा जा सकता है एवं इस चक्र का ध्यान करने से कई अन्य लाभ भी प्राप्त किए जा सकते हैं। जैसे मधुमेह नहीं होता, पाचन-तंत्र, डायफ्रॉम, बड़ी आँत, छोटी आँत एवं सम्पूर्ण उदर-प्रदेश को लाभ मिलता है। आध्यात्मिक लाभ के रूप में व्यक्ति अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, क्षमा आदि धारण कर उत्तरोत्तर प्रगति करता है।

**4.**अनाहत चक्र
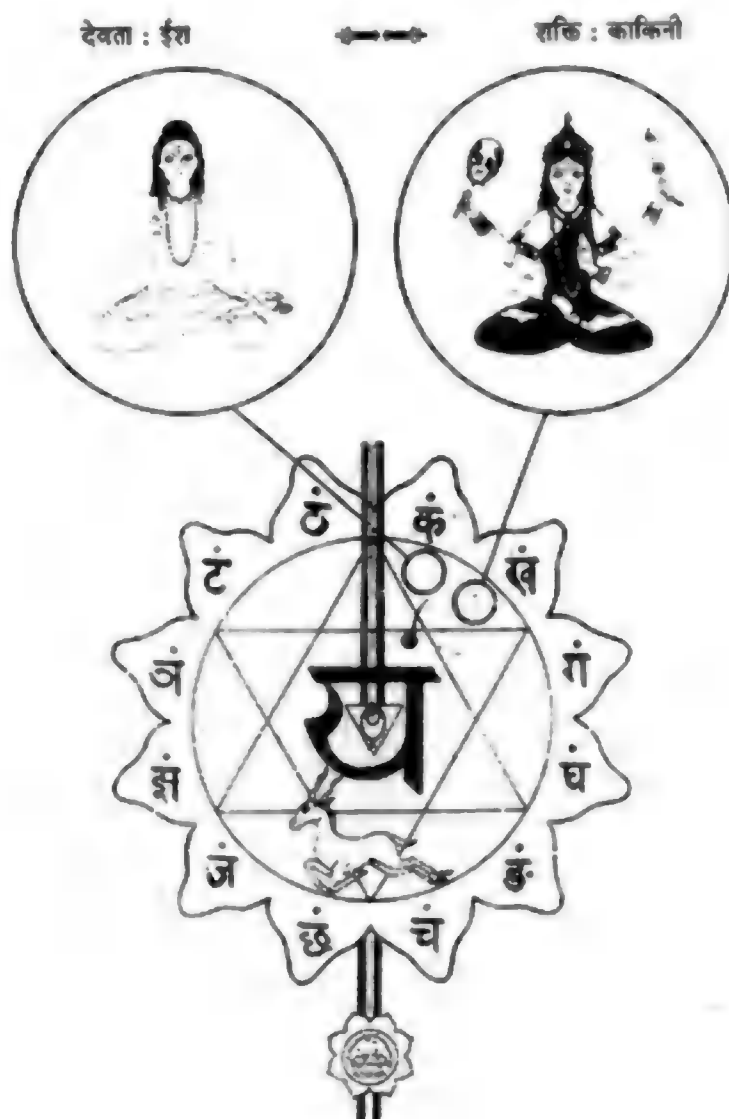
यह चक्र हृदय चक्र भी कहलाता है और इसका स्थान हृदय-प्रदेश में ही है। यह बारह दल से युक्त नील वर्ण (बंधुक पुष्प) का चमकदार पद्म है। जिसके प्रत्येक दल में क, ख, ग, घं, ड, च, छ, जां, झां, ञ, टं और ठठं अक्षर लिखे हुए हैं। इसके मध्य में षट्कोणाकृति (दी त्रिभुज

एक-दूसरे के विपरीत अवस्था में) है जिसका धूम्र वर्ण का वायुमंडल है। इसका बीजमंत्र य है। जो कि वायु बीज को इंगित करता है। यह काले मृग (हिरण) पर स्थित है। वायु बीज के बिंदु के मध्य त्रिनेत्री इंशा हँस के समान हैं। जिनके दो हाथ वरदान और अभय मुद्रा प्रदान करते हुए हैं एवं इसकी देवी काकिनी है जो कि स्वर्ण वर्ण की चतुर्भुजी है। त्रिकोण के मध्य बाण लिंग है। जिसके सिर पर अर्धचंद्र और बिंदु है। इसके नीचे दीपक की लौ जैसा हँस के समान जीवात्मा है।

इस चक्र का सम्बंध वक्ष:स्थल, हृदय, रक्तवाहिनियाँ एवं श्वसन-संस्थान से है। चक्र के विकार ग्रस्त होने से हृदय रोग, श्वास की बीमारी (दमा), मानसिक व्याधियाँ आदि हो सकती हैं। इस चक्र के जागृत होने पर उपरोक्त व्याधियों में लाभ प्राप्त होता है। आध्यात्मिक लाभ के रूप में दया, करुणा, क्षमा, विवेक व आत्मिक आनंद आदि की शक्ति प्राप्त होती है।

**5.** विशुद्धि चक्र

देवता : सदाशिव ⟷ शक्ति : गौरी

अं आं इं ईं उं ऊं ऋं ॠं लृं ॡं एं ऐं ओं औं अं अः

हं
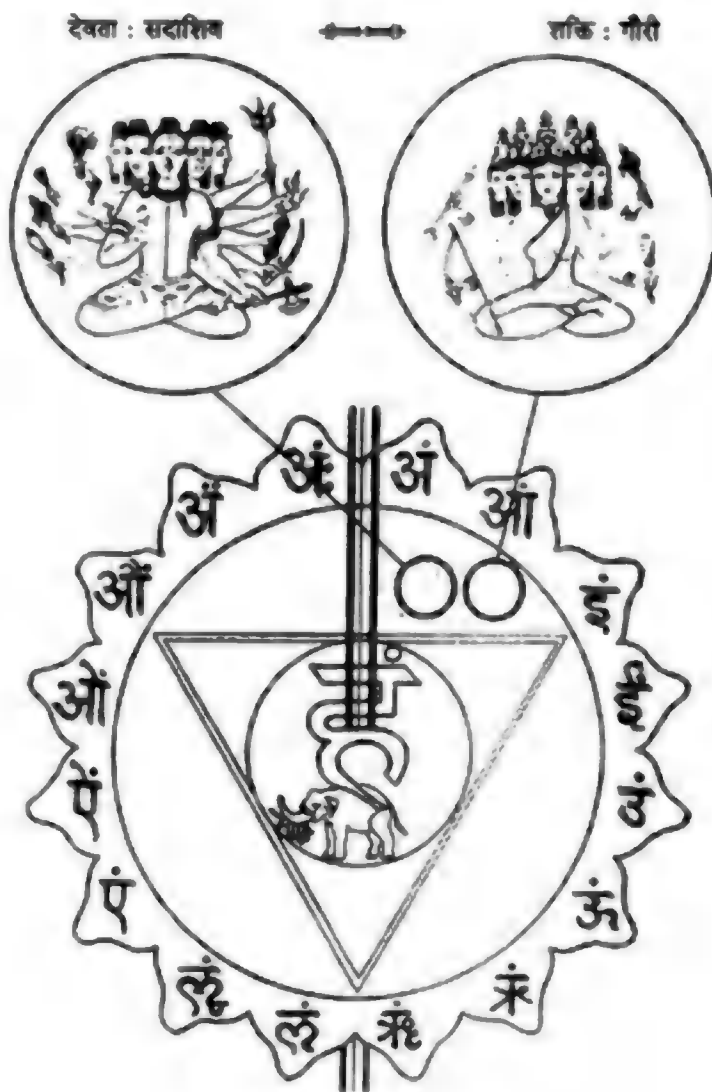
इस चक्र का स्थान कण्ठ प्रदेश है। यह सोलह दल से युक्त पद्म है। जिसका रंग बैगनी मिश्रित धूम्र वर्ण युक्त है और जिसकी पंखुड़ियों पर षोडशमात्रा के सोलह स्वर हैं। अं, एं, एँ, ओं, औ, अं, अः जो कि लाल रंग में चमकते हैं।

इस कमल के अंदर श्वेत वृत्त है। उस वृत्त के मध्य त्रिकोण है। जिसके अंदर चंद्र मंडल है। उस चंद्र मंडल के बीच श्वेत वर्ण का श्वेत आभूषण से युक्त एक हाथी है। जिस पर नभ बीज ह है। उस

बीज मंत्र के अंक में भगवान शिव अर्धनारीशवर रूप में विराजमान हैं जिनके पाँच मुख और दस भुजाएँ हैं। इसके चक्र की देवी साकिनी हैं जिनकी स्थिति हड्डियों पर है जो कि श्वेत वर्ण, चार भुजा, पाँच मुख, त्रिनेत्री और पीला वस्त्र पहने हुए है।

गोरख संहिता के अनुसार इस कठ-स्थान में दीप-ज्योति समान कांतिमान विशुद्धि चक्र में नासिका के अग्रभाग में दृष्टि स्थिर करके सगुण, निर्गुण या ज्योति-स्वरूप आत्मा के ध्यान करने से योगी अमर होता है।

विशुद्धि चक्र के ध्यान करने से साधक भूख-प्यास के बिना कई दिनों तक रह सकता है। आत्म-चिंतक, विचारक एवं दार्शनिक हो जाता है। वाणी प्रखर हो जाती है। कठ-प्रदेश में टपकने वाले अमृत रस का पान किया जा सकता कर सकता है।

परंतु इस चक्र के विकार ग्रस्त होने से कठ विकार हो सकता है। स्मरण-शक्ति का क्षय एवं कई प्रकार के मानसिक विकार हो सकते हैं।

**6.**आज्ञा चक्र

देवता एवं शक्ति — हाकिनी

हं क्षं
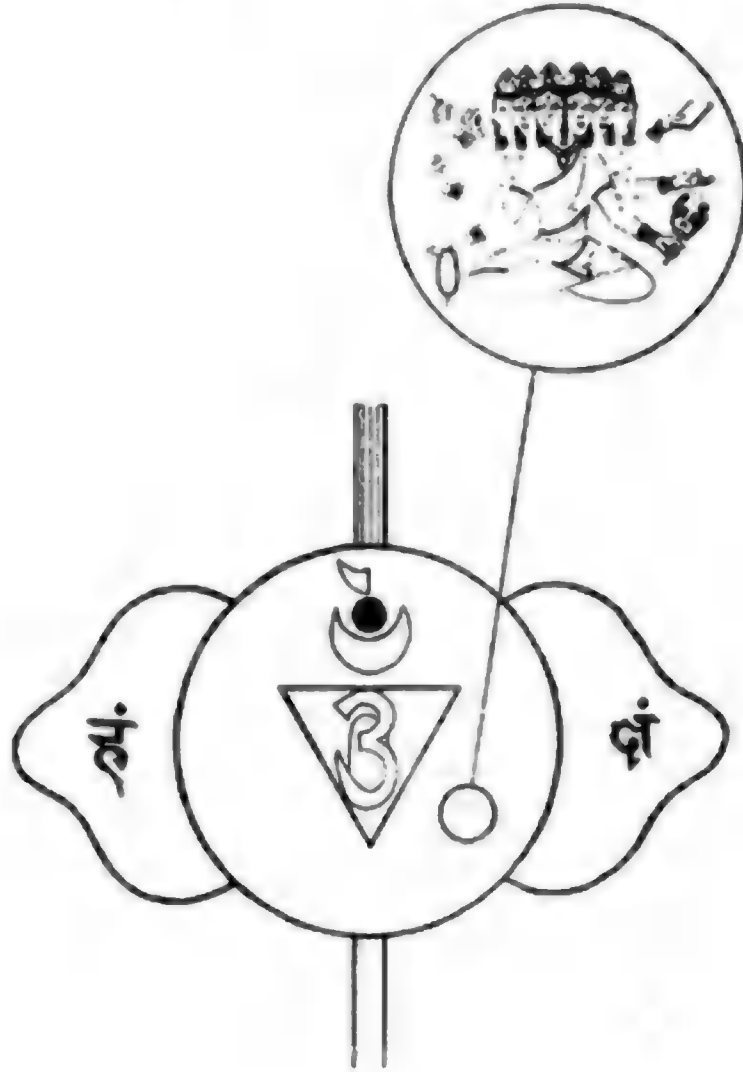
यह चक्र दोनों भौहों के बीच स्थित होता है जो कि द्विदल पद्म कहलाता है। इसको तीसरा नेत्र की भी संज्ञा दी गई है। इन पद्म दलों का रंग श्वेत प्रकाशमय है। इन दो दलों में ह और क्ष वर्ण चमकते हैं। ध्यान की गहराइयों में साधक आज्ञाचक्र द्वारा पारलौकिक अनुभव प्राप्त करता है। इस बीज-कोष के अंदर लिंग-रूप में श्वेतवर्ण शिव योनि के अंदर ज्योति के अनुरूप प्रकाशमान हो रहे हैं। वहीं बीजमंत्र ॐ प्रकाशित हो रहा है। उस प्रकाश से ब्रह्म नाड़ी दृष्टिगोचर होने लगती है। त्रिभुज जो कि कुल शक्ति रूप में अवस्थित है। इस चक्र के प्रमुख देवता रूपी भगवान शिव हैं एवं देवी हाकिनी है जिसका वर्ण सफ़ेद है। छह मुख रक्त वर्ण के हैं। प्रत्येक मुख में तीन-तीन नेत्र हैं। इनकी छः भुजाएँ हैं जो कि श्वेत वर्ण के पद्म पर विराजित हैं।

साधकों में इस चक्र का बहुत महत्व है क्योंकि ध्यान की अनेक अवस्थाओं में इस चक्र की उपयोगिता अधिक है। इस चक्र के जागरण से साधक दिव्य ज्ञानी, दिव्य दार्शनिक दूसरों के मनोभावों को समझने की शक्ति, भविष्य ज्ञान, भूतकाल एवं विचारों के संप्रेषण करने की

दक्षता प्राप्त हो जाती है। यही आज्ञा चक्र रूपी बिंदु आत्मा के उत्थान का द्वार माना जाता है।

इस चक्र को संगम भी कहा जाता है। क्योंकि मूलाधार से गंगा (इड़ा) जमुना (पिंगला) और सरस्वती (सुषुम्ना) अलग-अलग प्रवाहित होकर इसी स्थान में मिलती हैं और यहीं पर तीनों मुख्य नाड़ियों का विलय भी होता है। इस चक्र के क्षतिग्रस्त होने से मानसिक बीमारियों का भय हमेशा बना रहता है। अत: सावधानीपूर्वक गुरु निर्देश में सैद्धांतिक रूप से इस चक्र का ध्यान कर साधक को अपना जीवन धन्य करना चाहिए।

**7.सहस्त्रार चक्र**
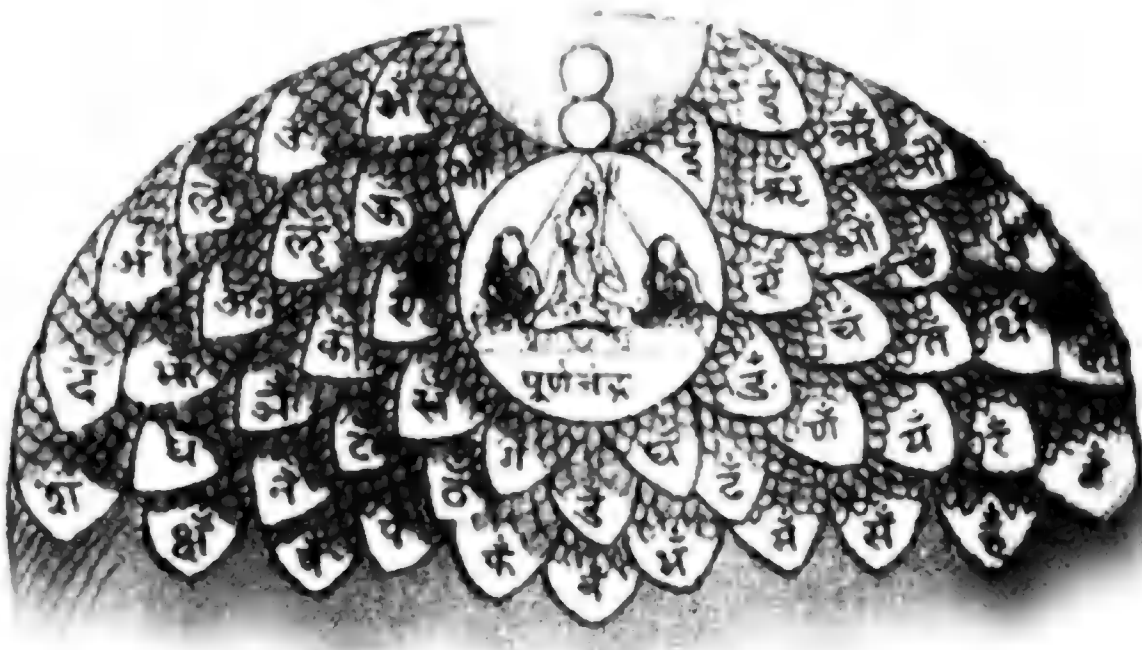
सिर के ऊपरी भाग में अवस्थित उच्चतम चेतना का केंद्र है। सहस्त्र दल वाले पूर्ण चंद्र के समान श्वेत वर्ण वाला अधोमुखी पद्म है जिसमें संस्कृत के सभी वर्ण सूर्य जैसी किरणों की कांति वाले दैदीप्यमान रूप से सुशोभित हैं। इस सहस्त्र दल में बीस घेरे हैं जिसके प्रत्येक घेरे में पचास दल हैं। इसमें विसर्ग ब्रह्मरंध्र के ऊध्व भाग में है। यह सम्पूर्ण शक्तियों का केंद्र-स्थल है। इस पद्म के बीज-कोष में प्रकाशमान शिवलिंग है जो कि आध्यात्मिक ऊर्जा का प्रतीक है। वह अपनी महाशक्ति के साथ विराजमान है। इसका तत्व तत्वातीत है। तत्व बीज विसर्ग है और तत्व बीज-गति बिंदु है। इसका यंत्र शुभ वर्ण का पूर्ण चंद्र है।

इस परमात्मा रूपी सहस्त्रार की सिद्धि से असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था प्राप्त हो जाती है। यहाँ पहुँचने पर साधक की चित्त वृत्ति लय को प्राप्त हो जाती है। यहाँ की स्थिति निर्विकल्पता या निर्विकार रूप है। अत: साधक सहज समाधि की अवस्था को भी प्राप्त होता है। साधक को यहाँ उस दिव्य ज्ञान की अनुभूति होती है जिसमें अनंत ज्ञान, अनंत दर्शन, अनंत सुख और अनंत शक्ति का चरण प्रारंभ होता है।

सहस्त्रार चक्र के विकार ग्रस्त होने से व्यक्ति को शारीरिक और मानसिक अवस्था का ज्ञान नहीं रहता है। अत: क्रमशः धैर्यपूर्वक चक्रों की अवस्थिति को समझते हुए पूर्ण सावधानी पूर्वक योग्य गुरु के सन्मुख रहते हुए साधकगण अपने मार्ग पर अग्रसर हों।

मनोरोधे भवेद्रुद्धं विश्वमेव शरीरिभिः।
प्रायोऽसंवृतचित्तानां शेषरोधोऽप्यपार्थकः ।।

-ज्ञानार्णव 22/6

जिसने मन का रोध किया उसने सब ही रोका, अर्थात्
जिसने अपने मन को वश किया, उसने सबको वश में किया
और जिसने अपने मन को वशीभूत नहीं किया उसका अन्य
इन्द्रियादिक का रोकना भी व्यर्थ ही है।

आपके द्वारा किसी को दी गई शुभकामना
एक दिन आपका भाग्य बनकर लौटेगी।

-RT

# नामि विज्ञान परीक्षण

हमारी गरी का द्र थान ,नाभि यह मानव को स्वास्थ्य प्रदान करने में मुख्य योगदान प्रदान करता है।

आयुर्वेदाचार्यों के मतानुसार नाभि-चक्र यदि अपने केंद्र स्थान से हट जाए (सरक जाए या पलट जाए) तो कई प्रकार के रोगों को पैदा कर सकता है। नाभि-चक्र के अपने स्थान से खिसक जाने पर उदर-प्रदेश में अवस्थित मणिपूरक चक्र के सभी अंग कई प्रकार की व्याधियों से पीड़ित हो जाते हैं। अत: सम्पूर्ण शरीर को पूर्ण तंदुरुस्त रखने के लिए नाभि का अपने स्थान पर होना अति आवश्यक है।

नाभि हटने के प्रमुख कारण

कई लोग हमेशा नाभि-चक्र का टलना या हटने को लेकर परेशान रहते हैं या कई लोगों को मालूम ही नहीं रहता कि उनका नाभि-चक्र अव्यवस्थित है और वे पूरी उम्र उनसे होने वाले रोगों को लेकर चिंतित रहते हैं। नाभि के हटने के कई कारण हो सकते हैं, जैसे अचानक किसी वज़नदार वस्तु को उठाना, पैरों की चलते समय स्थिति बिगड़ जाना, उछलना-कूदना, भागना, सोते समय से अचानक सीधे उठ जाना, एक हाथ से अधिक वज़न उठाना, मल-मूत्र के वेगों को रोकना, उदर-प्रदेश को बगैर जानकारी के बलपूर्वक मलने से, उदर की किसी पुरानी बीमारी के कारण, भूख-प्यास को रोकना, सोने और उठने के क्रम में अनिश्चितता, मानसिक विकार जैसे भय, अधिक चिंता, क्रोध की अधिकता। अशुद्ध भोजन या वायु उत्पन्न करने वाला भोजन करने से, आहार की अधिकता, छींक या जम्हाई को रोकना, अपान-वायु को निकलने से रोकना, ठीक ढंग से योग की क्रियाओं को न करना आदि अनेक कारणों से नाभि अपने स्थान से हट जाती है।

नाभि हटने से उत्पन्न होने वाले रोग

यदि नाभि-स्पंदन अपने स्थान से हट जाए तो कई प्रकार लक्षण और रोग दृष्टिगोचर होने लगते हैं। क़ब्ज़ हो जाता है, मल रुक जाता है या बहुत कम मल त्याग होता है या बार-बार मल कम मात्रा में निकलता है, आँतों में मल चिपक जाता है जिस कारण वायु-विकार की

संभावना अधिक बनी रहती है। नेत्र-विकार, बालों का झड़ना या असमय सफ़ेद होना, दुबलापन, वीर्य-विकार, मुँह से बदबू आना, रक्तविकार तथा हृदय विकार आदि।

## नाभि ठीक करने वाले योगासन

नाभि चक्र ठीक करने के लिए निम्नलिखित आसन अधिक उपयोगी व लाभकारी माने जाते हैं जैसे - सुप्तवज्रासन, पश्चिमोत्तानासन, उष्ट्रासन, चक्रासन, धनुरासन, नौकासन, हलासन, उत्तानपादासन आदि।
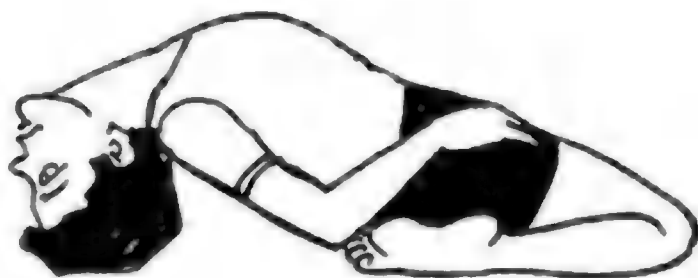
सुप्तवज्रासन

पश्चिमोत्तानासन

नाभि ठीक करने वाले योगासन

उष्ट्रासन
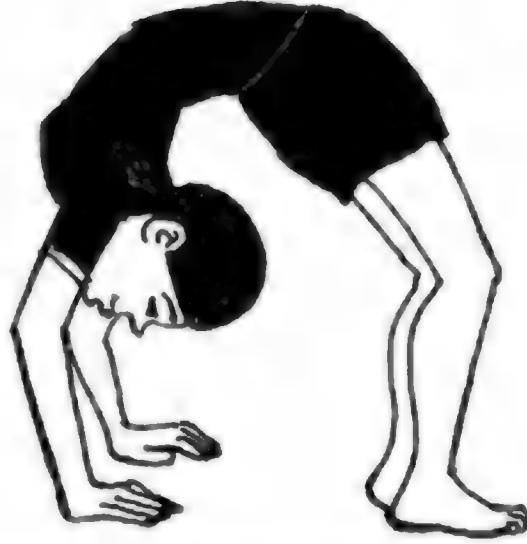
चक्रासन
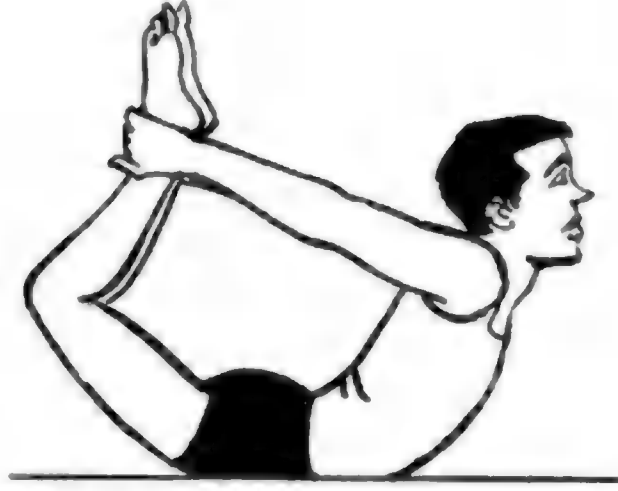
धनुरासन
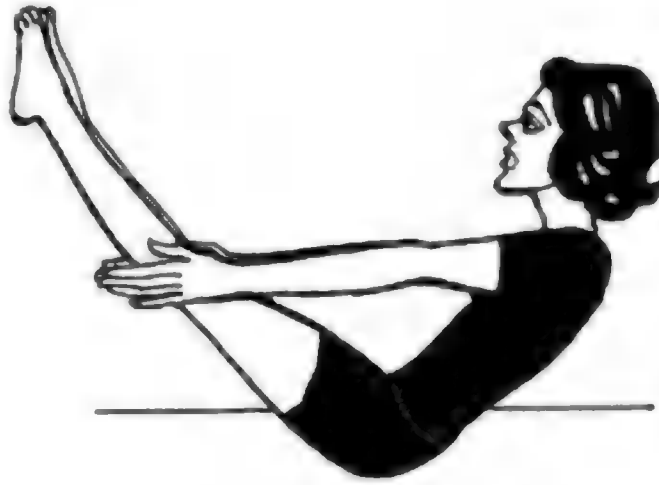
नौकासन

हलासन

आयुर्वेदानुसार : आयुर्वेद में नाभि-चक्र ठीक करने के लिए कई प्रकार की जड़ी-बूटियाँ भी उपयोग में लाई जाती हैं। - किसी आयुर्वेद के डॉक्टर से परामर्श लें।

1. प्रात:काल खाली पेट लगभग दस ग्राम सौंफ़ और इतना ही गुड़ मिलाकर प्रतिदिन (स्वस्थ होने तक) अच्छे से चबाकर खाएँ। नाभि अपने स्थान पर आ जाती है।
2. निर्गुण्डी का पता पेट पर बाँधने से लाभ मिलता है।
3. आक के पके हुए पत्तों में अरण्डी का तेल लगाकर आग में सेंक कर गर्म-गर्म पेट की सिकाई करें और पेट पर बाँध लें। इससे नाभि चक्र ठीक होकर पेट के अंदर की सभी प्रकार की सूजन को मिटाता हैं।
4. अतिसार रोग के लिए बरगद का दूध नाभि में भरने से बच्चों के दस्त के लिए लाभकारी है।
5. टमाटर के बीच में से दो टुकड़े करें और उसके बीज वाला भाग निकाल देवें और उसमें भुना हुआ सुहागा 9 रत्ती भर देवें और आँच पर गर्म करके चूसने से नाभि चक्र अपने स्थान पर आ जाता है।
6. बहेड़े के फल की मज्जा का क्वाथ बना लें और 1-1 घंटे से पिलाएँ तो नाभि चक्र और अतिसार ठीक होते हैं।

हमारे वेद-पुराणों और प्राचीन ग्रंथों में नाभि के महत्व को दर्शाया गया है। आज इस संदर्भ में पूर्ण जानकारी न होने के कारण अनजाने में हम अपना इलाज उचित ढंग से नहीं करा पाते और कई प्रकार के रोगों से घिर जाते हैं। अत: इस तरफ़ हम अपना ध्यान एकाग्र करें तो हमको बेहतर लाभ प्राप्त होगा। यह विषय बहुत बड़ा है। किसी आयुर्वेद के डॉक्टर से परामर्श लें। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ विराम देते हैं।

# योग्य आहार - एक दृष्टि

एक बहुत पुरानी कहावत है कि 'जैसा खाओ अन्न, वैसा बने मन"', 'जैसा पियो पानी वैसी ही वाणी"। हम जो भोजन करते हैं वह अपनी इस देह के लिए ही तो करते हैं। तो क्या हमने इसके लिए कोई पैमाना तय किया है ? या किस प्रकार का भोजन हमारे लिए हितकर होगा ?, कितना भोजन करना चाहिए?, कौन सा भोजन ठीक रहता है ? किस समय पर करना चाहिए?, भोजन की गुणवत्ता कैसी होनी चाहिए आदि।

यदि हम शास्त्र सम्मत बात करें या फिर आज के डॉक्टरों की बात करें तो दोनों में एक बात की समानता नज़र आएगी। वह यह कि शुद्ध आहार और शाकाहार ही सर्वोत्कृष्ट आहार है। शाकाहार मनुष्य को पर्याप्त विटामिन, प्रोटीन और कई अन्य खनिज लवण की पूर्ति कराता है। आहार हमारे जीवन में बहुत प्रभाव डालता है। इससे हमारी मानसिकता पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ता है और यही कारण है कि विद्वानों ने सात्विक आहार पर अत्यधिक ज़ोर डाला है।

हठयोग में लिखा है कि

सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविवर्जितः।
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ।। (ह.यो.प्र. 1/58)

अर्थात् साधकों को मिताहार करना चाहिए। वह पूर्ण रूप से स्निग्ध (चिकना) और मधुर आहार हो। उदर (पेट) को दो भाग अन्न से भरना चाहिए एक भाग जल से पूर्ण करना चाहिए एवं चौथे भाग को प्राणवायु के लिए शेष रखना चाहिए।

अपथ्य अहार

सूत्रकार कहते हैं कि साधकों को ये आहार नहीं करना चाहिए। जैसे कटु (कड़वा), खट्टा (इमली आदि), तीक्ष्ण (मिर्च, चटपटे मसाले आदि), तीक्ष्ण लवण में नमकीन, उष्ण में गुड़ आदि, हरित पत्तों का शाक, सौवीर (कॉजी) तैल, तिल, मदिरा, मत्स्य इनको अवश्य (वजित) न लेने योग्य कहते हैं और मांसाहार, दही, मादक द्रव्य आदि सभी उत्तेजक पदार्थ

को नहीं लेना चाहिए।

हठयोग में आगे लिखा है कि इस प्रकार का भोजन भी नहीं करना चाहिए, जैसे अग्नि में दोबारा गर्म किया हुआ अन्न (दाल, चावल आदि) और रूखाअर्थात् घी आदि से रहित। जिसमें अधिक मात्रा में लवण हो ऐसा भोजन वर्जित है। अधिक बोलना भी त्याग योग्य है। स्कन्द पुराण में लिखा है कि कटु अम्ल, लवण आदि को त्याग कर हमेशा दूध का सेवन करना चाहिए। इसमें आगे उल्लेख है कि माँस और खल कुत्सित अन्न (या वनाल, कोदू आदि) उत्कट, मिर्च आदि सभी वर्जित हैं अर्थात् इनका सेवन नहीं करना चाहिए। दुर्गंधयुक्त एवं बासी (पुराना, एक दिन पहले का) भोजन भी नहीं करना चाहिए।

योग साधकों को अपनी साधना के समय अति स्त्री सेवन, दुष्ट का संग, अधिक फलाहार, अधिक उपवास, अधिक भार लाना–ले-जाना, अनेक बार सूर्य नमस्कार आदि का त्याग कर देना चाहिए। यहाँ इस सूत्र में कहने का आशय यह है कि अति नहीं करनी चाहिए। जैसे ब्रह्मचर्य का पालन नहीं करेंगे या अधिक उपवास करेंगे तो शरीर कमज़ोर हो जाएगा और आप यथायोग्य साधना नहीं कर पाएँगे। साधक को अपने विवेक से काम लेना चाहिए।

पथ्य आहार (लेने योग्य आहार)

आचार्य महाराज कहते हैं कि साधकों को अपने शरीर को स्वस्थ रखने के लिए एवं चित्त की प्रसन्नता के लिए हितकर और परिपूर्ण शाकाहार करना चाहिए। गेहूँ, शालि, अन्न, दूध, घी, मिश्री, मक्खन, सोंठ, परवल, आदि पाँच प्रकार के शाक, मूंग और शुद्ध जल (छना हुआ जल, फिल्टर वॉटर) ये सभी हितकारी हैं। इनको अवश्य लेना चाहिए। यहाँ स्पष्ट करते हैं कि देह की पुष्टि हेतु शर्करा और घी से युक्त दूध (गाय का हो तो उत्तम), धातु पोषक (लड्डू पुआ आदि) एवं अपने मन को हितकर लगे ऐसा शाकाहारी सुयोग्य मिताहारी शास्त्र सम्मत भोजन ही करना चाहिए।

साधक इन सभी उपरोक्त बातों को ध्यान में रखते हुए अपने भोजन की नियमावली बनाएँ। प्रतिदिन शुद्ध व ताज़ा भोजन करें। साधक को संध्या (रात्रि होने से पहले) के समय भोजन कर लेना चाहिए। जिससे वह सुचारु रूप से पाचक बन सके। यदि आहार करने के कुछ देर बाद ही रात्रि विश्राम करना है तो रात भर भोजन उदर में पड़ा रहेगा जिससे आलस्य बढ़ेगा, क़ब्ज़ होने की आशंका रहेगी एवं उदर की मांसपेशियाँ आहार के गुण विटामिन, प्रोटीन इत्यादि पूर्ण रूप से ग्रहण नहीं कर पाएँगी। फलस्वरूप कई बीमारियों की उत्पत्ति होने की आशंका बनी रहती है। अतः अपने शरीर को सुंदर, सुगठित बलशाली, निरोगी तथा तेजस्वी बनाना हो तो व्यक्ति को आहार का पूर्ण ध्यान रखकर जीवनयापन करना चाहिए।

योग्य आहार की उपयोगिता

वे पदार्थ जो शरीर में ग्रहण किए जाने के पश्चात् ऊर्जा उत्पन्न करते हुए तंतुओं का निर्माण करते हों तथा टूटे-फूटे तंतुओं की मरम्मत करते हों, शरीर की विभिन्न क्रियाओं के लिए सहायक होते हैं। यही भोजन कहलाता है।

व्यक्ति भूख लगने पर जितना भोजन ग्रहण करता है, वह उस व्यक्ति की खुराक कहलाती है। प्रत्येक व्यक्ति की खुराक अलग-अलग होती है। आयु, मौसम, कद काठी, सामाजिक परिवेश के अनुसार व्यक्ति की खुराक निर्धारित होती हैं।

संतुलित भोजन

चाहिए। शरीर के संतुलन को बनाए रखने के लिए 75: क्षार प्रधान और 25; अम्ल प्रधान भोजन की आवश्यकता होती है। एक ही प्रकार का आहार अधिक मात्रा में न लिया जाए, बल्कि कई गुणों व रसों से युक्त आहार लेना चाहिए।

भोजन के प्रकार

त्रिगुण सिद्धांत के आधार पर भोजन तीन प्रकार के होते हैं –

1. सात्विक भोजन 2. राजसी भोजन 3. तामसिक भोजन

**1.** सात्विक भोजन - ऐसे भोज्य पदार्थ जो जीव को प्राण, स्वास्थ्य, प्रसन्नता दें तथा जीवन रस युक्त प्राकृतिक और प्रकृति से सरल रूप से प्राप्त किए गए हों, आयुवर्छद्रक तथा बुद्धिवर्द्धक होते हैं। ये भोजन मन को शांत कर कुशाग्र बुद्धि और संतुलित आचरण पैदा करते हैं। ऐसे भोजन अन्नमय, प्राणमय, मनोमय तथा विज्ञानमय कोषों को समान रूप से पोषित करते हैं तथा समस्त कोषों में संतुलन बनाए रखतेहैं।

दाल, चावल, गाय का दूध, घी, मीठे फल आदि तथा वे पदार्थ जो पेड़-पौधों तथा दूध घी से बने हों उन्हें सात्विक भोजन कहा जाता है। आयु, आहार सात्विक भोजन कहलाते हैं।

2. राजसी भोजन - ऐसे भोज्य पदार्थ जो तीखे, अम्लीय, क्षारीय, अत्यधिक गर्म, जलन पैदा करने वाले तरह-तरह के मसाले, तेल, घी आदि में भूनकर स्वाद के लिए ज़ायकेदार बनाए जाते हैं। गरम मसाले, चाय, कॉफ़ी, तम्बाकू,काली मिर्च इत्यादि ये राजसी भोजन की श्रेणी में आते हैं। ऐसे भोजन शरीर की प्रक्रिया की अत्यधिक तीव्र करते हैं जिनसे शरीर में अत्यधिक प्राण का संचार होने लगता है जो ठीक नहीं है। अत: ये पंचकोषों में असंतुलन का कारण बन जाते हैं। गीता के अनुसार कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त भोजन, दु:ख और शोक उत्पन्न करने वाले हो जाते हैं। 'रिच डाइट' जैसे हलुआ, पूड़ी ज़्यादा तला हुआ भोजन भी राजसी भोजन कहलाता है। अत: ये सभी राजसी भोजन के अंतर्गत आते हैं।

**3.** तामसिक भोजन - ऐसे भोज्य पदार्थ जो बासी हों, मृत हों या उन्हें आशिक रूप से सड़ाया गया हो। मांस, मछली, अंडे, बासी भोजन तथा ज़्यादा मात्रा में भोजन लेने पर एवं शराब का सेवन भी तामसिक प्रवृति को जन्म देता है। बासी, प्रदूषित, डिब्बों में बंद भोजन तामसिक भोजन की श्रेणी में आते हैं। गीता के अनुसार जो भोजन बहुत समय पहले पकाया हुआ हो, रस रहित हो, दुर्गन्ध युक्त और अपवित्र हो, तामसिक भोजन कहलाता है एवं लहसुन प्याज भी तामसिक आहार के अंतगत आते हैं।

विभिन्न प्रकार के भोजनों का मन पर प्रभाव

कहते हैं व्यक्ति जैसा भोजन करेगा वैसे ही उसके विचार और कार्य होंगे। कहा भी गया है जैसा अन्न वैसा मन। भोजन के प्रकार तथा गुणों का प्रभाव व्यक्ति के शरीर तथा मन दोनों पर पड़ता है।

**1.** सात्विक भोजन का प्रभाव - सात्विक भोजन करने से सत्वगुण सम्बंधी विचार एवं क्रियाएँ होती हैं। ऐसे भोजन से सत्वगुण जैसे - सत्य, ज्ञान, बुद्धि की कुशाग्रता, शांति, मन की स्थिरता व गंभीरता, हृदय की शुद्धता, मन की सरलता, आनंद, सुख आदि सकारात्मक परिणाम होते हैं। संयम तथा सहनशीलता का विकास होता है। शरीर विकार रहित होकर स्वस्थ बना रहता है। चित्त में निर्मलता रहतीहै।

2. राजसी भोजन का प्रभाव - राजसी भोजन से मन की चंचलता, व्यवहार में ईर्ष्यां, द्वेष एवं झगड़े की प्रवृति, वाणी में कठोरता एवं कर्कशता, तनाव एवं दुःख आदि परिणाम प्राप्त होते हैं। इस प्रकार का भोजन क्रोध, उत्तेजना तथा वासनाओं को जन्म देता है। मन सदा चंचल रहता है। शरीर में भारीपन की अनुभूति होती है। चित्त एकाग्र नहीं रह पाता एवं तंत्रिका-तंत्र उत्तेजित रहता है।

3. तामसिक भोजन का प्रभाव - तामसिक भोजन के सेवन से आलस्य, अज्ञान, मोह, मद, क्रोध, भारीपन आदि दुष्प्रभाव होते हैं। इससे विचार औरव्यवहार में कठोरता, क्रूरता एवं हिंसा आदि आती है। व्यक्ति स्वार्थी, झगड़ालू, असहिष्णु प्रकृति का हो जाता है। उसका व्यवहार रूखा और राक्षसी प्रवृत्ति का हो जाता है जो परेशानी व दुःख का कारण बनता है।

अनुपयुक्त भोजन (आहार) क प्रभाव तथा दुष्प्रभाव

भोजन या अनुपयुक्त आहार या अप्राकृतिक भोजन से शरीर के अंदर अनेक प्रकार के विकार इकट्ठे हो जाते हैं। अनेक रोग शरीर को घेर लेते हैं। शरीर की शक्ति क्षीण हो जाती है। आज के युग की अधिकांश बीमारियाँ गलत आहार का ही परिणाम हैं। मधुमेह, उच्च रक्तचाप, मोटापा, आँत एवं लीवर के अनेक रोग इसी कारण से होते हैं।

मौसाहार के दुष्प्रभाव

- अधिकांश पशु गंदा पानी व विषैला भोजन करते हैं जिससे विभिन्न प्रकार के रासायनिक तत्व उनके शरीर में पहुँच जाते हैं तथा माँस को ज़हरीला या रोगयुक्त बना देते हैं। पशुओं को मारते समय भय के कारण पशुओं के शरीर में डर, क्रोध, कुण्ठा सम्बंधी हार्मोन (एड्रेनलिन नामक हार्मोन) उत्पन्न होते हैं जो उनके शरीर के माध्यम से माँसाहार खाने वाले व्यक्ति के शरीर में पहुँचकर दुर्गुणों का संचार करते हैं।
- माँसाहारी जीवों के दाँतों की संरचना माँस की चीर-फाड़ हेतु पैनी तथा नुकीली होती है। उनके नाखून भी बड़े एवं कठोर होते हैं। जबकि शाकाहारी जीवों के दाँत भोजन को पीसने एवं चबाने हेतु अनुकूल होते हैं।
- माँसाहार मनुष्य की प्रकृति के विपरीत है।
- मानव शरीर की रचना शाकाहारी मशीन की तरह हुई है। मनुष्य शरीर की आँत शरीर के अनुपात से 6 गुना अधिक लंबी होती है, जबकि
- माँसाहारी जीवों की आँत उनकी शारीरिक लंबाई के अनुपात में होती है। माँसाहारी जीवों की आँतों में अधिक अम्ल निकलता है जो कि माँसाहार पदार्थों को आसानी से पचा सकता है, परंतु मनुष्य की आँतों में अम्ल कम निकलता है अत: वह माँसाहारी भोजन को ढंग से पचा नहीं पाता।
- माँसाहारी जीवों के जबड़े (भोजन चबाने पर) ऊपर-नीचे गति करते हैं, जबकि शाकाहारी जीवों के जबड़े काफ़ी स्वतंत्र गति करते हैं। इन सभी चीज़ों को दृष्टिगत कर यह कहा जा सकता है कि मनुष्य के लिए शाकाहार ही उपयुक्त व सर्वश्रेष्ठ भोजन है।
- माँस-भक्षण से मानसिक तनाव व शारीरिक असंतुलन होता है, जबकि शाकाहारी भोजन मानसिक शांति व शारीरिक संतुलन में पूर्णतः सहायक सिद्ध होता है।
- मौस खाने से एसकेटस, टीनोसोलियम तथा दूसरे परजीवी मौस के साथ मनुष्य के शरीर में पहुँच जाते हैं जो कई रोगों का कारण बनते हैं। कुछ जानवरों का माँस खाने से मिर्गी एवं मैड काऊ बीमारी की आशंका रहती है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन (WH.O.) के अनुसार लगभग 160 बीमारियौं मौसाहार के सेवन से होती हैं। माँसहारियों को अपच, क़ब्ज़, अम्लता, हर्निया, पिताशय की परेशानी, बवासीर की बीमारी, शाकाहारी व्यक्तियों के मुक़ाबले दुगुनी होती है।

एक वैज्ञानिक अध्ययन के अनुसार स्तन-कैंसर, बड़ी आँत का कैंसर, प्रोस्टेट का कैंसर, शाकाहारियों में माँसाहारियों की तुलना में 50 प्रतिशत कम होता है क्योंकि शाकाहारी भोजन में ऐसे तत्व होते हैं जो कैंसर से शरीर को बचाते हैं तथा रोग प्रतिरोधात्मक क्षमता

बढ़ाते हैं।

गंजापन, अल्सर, शुगर की बीमारी (मधुमेह), मिर्गी, उच्च रक्तचाप इत्यादि रोग भी शाकाहार भोजन करने वालों में कम होते हैं।

आहार पर एक टिप्पणी

एक सर्वे के अनुसार हमें प्रतिदिन 5 रंगों के शाकाहार लेने चाहिए। फ़ाइबर युक्त आहार लेना चाहिए जो कि पाचन क्रिया में सहायक है और मेटाबॉलिज़्म व गंभीर लंबी बीमारियों से बचाने में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। फ़ाइबर सिर्फ़ शाकाहारी भोजन में ही पाया जाता है।

पानी नियमित रूप से 8-10 गिलास पीना चाहिए जो कि मोटापे के साथ कई प्रकार की बीमारियों से बचाने में सहायता करता है। अष्टांग योग का नियमित पालन करें और पेट में सुयोग्य शाकाहारी भोजन ही डालें, क्योंकि आपका शरीर आपका है, अतः सावधानी बरतें।

वह सुख जो कभी समाप्त न हो उसके लिए केवल
निर्विकल्प ध्यान ही कार्यकारिणी है।

-RJT

# किस बीमारी में क्या खाएँ? क्या न खाएँ?

| बीमारी | क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या करें? | क्या न खाएँ, क्या न पीएँ, क्या न करें? |
|---|---|---|
| मधुमेह | **अनाजः** गेहूँ, जौ व चने की मिस्सी रोटी, चोकरयुक्त आटे की रोटी, अंकुरित अन्न एवं सुपाच्य भोजन करें।<br>**सब्ज़ी :** सलाद, खट्टे फल, नींबू, मेथी, करेला, पालक, तुरई, शलजम, लौकी, टिण्डा, परवल, सेम, चौलाई, मूली, सहिजना की फली, मूली का साग व टमाटर का उपयोग अधिक करें।<br>**फलः** जामुन, आँवला, संतरा, ककड़ी, मौसम्बी।<br>**ड्रायफ्रूट्सः** कच्चा नारियल, मूँगफली के दाने, अखरोट, काजू आदि।<br>मसाले–अदरक, सोंठ, हल्दी, लहसुन, धनिया, दालचीनी, अजमोद आदि।<br>अन्य : सोयाबीन, दही, छाछ, मेथी दाने का सेवन करें एवं हमेशा पेट साफ़ रखें। क़ब्ज़ न होने दें। | चावल, माँसाहार, दूध का पाउडर, सिंघाड़े, घी, तेल, मक्खन, चीनी, गुड़, शहद, ग्लूकोज़, मिठाइयाँ, जैम, जैली, टॉफ़ी, चॉकलेट, आइसक्रीम, आम, केला, शीतल पेय, चाय, कॉफ़ी, रबड़ी, तिल, आलू चिप्स, घुइयाँ, चुकंदर, उड़द की दाल, पूरी, पराठे, समोसे, कचौरी, शराब, बर्फ़, ठंडा पानी, मैदे से बने आहार, मिर्च–मसाले, गरिष्ठ भोजन, आदि से बचें। भय, चिंता, अशांति को दूर रखें। |
| उच्च–रक्तचाप | **अनाज :** काबुली चना व अन्य चना, अंकुरित अनाज, गेहूँ–चने की मिस्सी रोटी (ख़ूब चबा–चबाकर खाएँ)।<br>**सब्ज़ी :** परवल, अरबी, टिण्डा, तुरई, पुदीना, लौकी, गिल्की, पालक, कद्दू, चौलाई, उबली हरी सब्ज़ियाँ, अँगूर, सेब, संतरा, नाशपाती खाएँ। अपानवायु मुद्रा, शवासन या योगनिद्रा अवश्य करें। | मिर्च–मसाले, तली हुई चीज़ें, नमकीन, बासी खाना, माँसाहार, चाय, कॉफ़ी, शराब, तम्बाकू, मलाईयुक्त दूध, मक्खन, अचार, चटनी, चटपटा भोजन पूर्णतः त्याग दें। अधिक मात्रा में नमक न खाएँ एवं गरिष्ठ व उत्तेजक पदार्थों से बचें। |

| बीमारी | क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या करें? | क्या न खाएँ, क्या न पीएँ, क्या न करें? |
|---|---|---|
| निम्न-रक्तचाप | हल्का, सुपाच्य, पौष्टिक भोजन, सोयाबीन के व्यंजन।<br>**वसाः** दूध, किशमिश, बादाम, मुनक्का, काजू, पिस्ता, छुहारा, घी, तिल।<br>**फल :** अंगूर, गाजर, सेब, मीठे फल और उनका जूस।<br>**सब्जियाँ :** सभी प्रकार की सब्ज़ियाँ, सलाद, दही का रायता।<br>प्रतिदिन 32 किशमिश रात में पानी में भिगोएँ एवं सुबह चबाकर खाएँ।<br>उत्तेजक पेय – चाय, कॉफ़ी। | भारी, गरिष्ठ, अपौष्टिक, तले भोज्य पदार्थ, शीतल पेय, शराब, तम्बाकू न लें<br>निम्न-रक्तचाप के समय बायाँ स्वर चल रहा हो तो तुरंत दाएँ स्वर से श्वास लेना प्रारंभ करें एवं बाईं करवट लेटकर आराम करें। |
| हृदयरोग | **अनाजः** चोकरयुक्त आटे की रोटी, गेहूँ का दलिया, सोयाबीन तथा सोयाबीन की वड़ी, छिलकायुक्त मूँग की दाल, अंकुरित अनाज, छिलकायुक्त देशी चना।<br>**सब्ज़ियाँः** लौकी का रायता, पालक, गाजर, बथुआ, मूली, टमाटर करेला, अदरक, धनिया, चौलाई, अरबी, लौकी, गिल्की, टिण्डा, परवल पुदीना, आदि।<br>**फलः** अनानास, अनार, अँगूर, जामुन, आँवला, सेब, लीची, अमरूद, नींबू, मौसम्बी, संतरा, पपीता, केला, नारियल का पानी।<br>**वसाः** सनफ़्लावर का तेल, सोयाबीन का तेल, सरसों का फ़िल्टर तेल, ताज़ा मीठा दही, गाय का दूध, गुड़, बादाम, पिस्ता, छाछ, कैल्शियम, सोडियम, विटामिन बी-1 युक्त आहार लें। | भारी, गरिष्ठ, मिर्च-मसालेदार भोजन, अचार, पापड़, चटनी, घी, मक्खन, वनस्पति घी, नारियल तेल, मलाई, मावा, रबड़ी, खीर, आइसक्रीम, केक, चॉकलेट, बिस्किट, पनीर, मटन, माँसाहार, शराब, कड़क चाय, कॉफ़ी, तम्बाकू, शीतल पेय। |

| बीमारी | क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या करें? | क्या न खाएँ, क्या न पीएँ, क्या न करें? |
|---|---|---|
| क़ब्ज़ | **अनाजः** अंकुरित अनाज, गेहूँ के ज्वारों का रस, गेंहूँ, चना तथा जौ आदि की मिस्सी रोटी, दलिया, चोकर युक्त आटे की रोटी ख़ूब चबा-चबाकर खाएँ।<br>**दालः** छिलके वाली मूँग दाल, अरहर, मिक्स दाल।<br>**हरी सब्ज़ियाँ :** करेला, लौकी, सलाद, मेथी, पालक, ककड़ी।<br>**फलः** अनन्नास का रस, केला, सेब, पपीता, अनार, गाजर, अमरूद, आम, तरबूज़, खरबूज़, नींबू एवं नारियल का पानी। लौंग या गुड़ चूसें। फलों का रस अधिक मात्रा में लें। त्रिफला चूर्ण या मेथी दाने को रात को सोते समय लें। | सिर्फ़ गेहूँ के आटे की रोटी, बासी, ठंडे, गरिष्ठ, तले-भुने व्यंजन, मिठाई, मिर्च-मसाले, मसूर दाल, चने की दाल, उड़द की दाल, अरबी, भिंडी, बैगन, प्याज़, मूली, माँसाहार एवं बार-बार पेट भर खाना अधिक चाय, कॉफ़ी पीना। |
| पीलिया | हल्का, सुपाच्य व ताज़ा भोजन<br>**अनाज :** चावल, दलिया, खिचड़ी, बाजरा, जौ, गेहूँ की चोकरयुक्त रोटी, साबूदाने की खीर या सूजी की खीर।<br>**दाल :** मूँग, मसूर, अरहर की पतली दाल।<br>**सब्ज़ियाँः** मूली, लौकी, करेला, खीरा, पुदीना, फूलगोभी, पालक, धनिया, मेथी, परवल, गाजर टमाटर।<br>**फलः** पपीता, तरबूज़, खरबूज़, आँवला, चीकू, खजूर, अँगूर, अनार, मौसम्बी, सेब, संतरा, पिंड खजूर।<br>पेय पदार्थ - मलाई निकला दूध, गन्ने का रस, फलों का रस, उबला पानी। नींबू के साथ अधिक से अधिक पानी का उपयोग करें एवं नारियल पानी का भी सेवन करें। | भारी एवं गरिष्ठ व बासा भोजन, मिर्च-मसाले, नमकीन, खटाई, अचार, मैदे के व्यंजन, तेल, घी, माँसाहार, बेसन, दूध, मिठाइयाँ, हींग, अरबी, उड़द की दाल, चीनी, गुड़, चाय, कॉफ़ी, तम्बाकू, शराब एवं डिब्बाबंद भोजन। |

| बीमारी | क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या करें? | क्या न खाएँ, क्या न पीएँ, क्या न करें? |
|---|---|---|
| डायरिया | ओ.आर.एस. का घोल, दही, चावल, खिचड़ी, चावल का माड़, मूँग की दाल, अरारोट, मखाने, साबूदाने की खीर, छाछ, लौकी का रायता, दही की लस्सी, केला, नींबू, मौसम्बी, संतरा, अनार का रस, गन्ने का रस, पपीता, सेब। | बासी, तली, भारी, गरिष्ठ, मिर्च-मसालेदार चीज़ें, गेहूँ से बने खाद्य पदार्थ, दूध, शराब, चाय, कॉफ़ी, आलू, बैंगन, घुइयाँ, गोभी, अचार। |
| मलेरिया | सात्विक व सुपाच्य भोजन करें। बुखार उतरने पर साबूदाने की खीर, चावल का माड़, अँगूर, पुराने चावल का भात, सूजी की खीर, हल्का दूध, कच्चा केला, परवल, केले के फूल की सब्ज़ी का सेवन करें। गर्म पानी में नींबू एवं चीनी डालकर पिएँ। मलेरिया के मौसम में तुलसी की चार पत्तियाँ एवं चार काली मिर्च पीसकर गोली बनाकर प्रतिदिन लेने से मलेरिया की संभावना नहीं रहती। | भारी, गरिष्ठ, मिर्च-मसालेदार भोजन, माँसाहार, शराब एवं वे सभी चीज़ें जिनकी तासीर ठंडी हो। |
| टायफ़ॉइड (आंतरिक ज्वर) | बुखार की प्रारंभिक अवस्था में बार्ली, साबूदाना, अरारोट, पानी (फटे दूध का पानी), बिस्किट। 1 लीटर पानी में 8-10 लौंग डालकर उबाल लें फिर छानकर ठंडा कर इस पानी को पिएँ। चाय व कॉफ़ी कम मात्रा में पिएँ। आधा या एक ग्राम दालचीनी पीसकर चाशनी के साथ दिन में दो बार लेने से टायफ़ॉइड से बचा जा सकता है। | गरिष्ठ व मिर्च-मसालेदार भोजन, पेट में गैस पैदा करने वाला भोजन, खुले हुए दूषित खाद्य पदार्थ व दूषित जल का सेवन न करें। |

एक कहावत :
पेट हल्का तो सिर हल्का,पेट भारी तो सिर भारी,
पेट बिग़डा तो सब कुछ बिगड़ा, पेट साफ तो बीमारी माफ

| बीमारी | क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या करें? | क्या न खाएँ, क्या न पीएँ, क्या न करें? |
|---|---|---|
| शीघ्रपतन | सुपाच्य भोजन ही करें, सफ़ेद मूसली का पाउडर रात को सोते समय दूध के साथ लें। सूखे मेवे लें। केला, सेब, जामुन एवं प्राकृतिक मीठे पदार्थ खाएँ। | क़ब्ज़ न होने दें। उत्तेजना की तासीर वाले पदार्थ न खाएँ, बुरे विचारों से बचें। देर रात तक न जागें। तेल, मिर्च-मसाले व माँसाहार त्यागें। शाम को खट्टे पदार्थ न लें |
| गुर्दे की पथरी व गुर्दे के रोग | गेहूँ के आटे से चोकर निकालकर बनी चपाती खाएँ। जौ से बनी चपाती, सत्तू, सहिजन (ड्रम स्टिक) की फली, ताज़े फलों का रस, करेला, ताज़ी हरी मटर, कुल्थी, शलजम, चुकंदर, पुराना कद्दू, अदरक, आम, सेब, खरबूज़, तरबूज़, पपीता, अँगूर, खीरा, नारियल का पानी, नाशपाती, गाजर। इलायची व गन्ना चूसना भी लाभदायक है। गर्म पानी थोड़ी-थोड़ी मात्रा में कई बार पीएँ। | सुपारी, गुटखा (सभी प्रकार के), देर से पचने वाले गरिष्ठ भोजन जैसे - नमकीन, चटनी, पापड़, अचार, चाय-कॉफ़ी, शराब, बीयर, सोडा, शीतल पेय, माँसाहार, पालक, बैंगन, टमाटर, मूली, जिमीकंद, प्याज़, भिंडी, चुकंदर, चावल, किशमिश, मुनक्का, ड्राईफ्रूट, दूध व दूध से बने पदार्थ, दही, पनीर, मक्खन, चॉकलेट, अधिक सोडियम वाले खाद्य पदार्थ, डबलरोटी, केक, पेस्ट्री आदि। |
| माइग्रेन | हल्का व सुपाच्य पौष्टिक आहार लें। दही, चावल और मिश्री मिलाकर सुबह-शाम भोजन में सेवन करें। गाय का ताज़ा घी सुबह-शाम दो से चार बूँद नाक में डालने से फ़ायदा होता है। सरसों का तेल (सात-आठ बूँद) दर्द वाले भाग की तरफ़ नाक में डालने से भी लाभ पहुँचता है। सूर्योदय के पूर्व गर्म दूध के साथ शुद्ध घी से निर्मित जलेबियाँ या रबड़ी खाएँ, नींबू का रस, चीनी मिलाकर बनाई हुई शिकंजी भोजन के बाद पीएँ। भोजन के पूर्व सुबह-शाम एक कप अंगूर का रस लें। हींग, सौंठ, सरसों का तेल, तुलसी, आदि का सेवन करें तथा ब्रह्मचर्य का यथावत पालन करें। | माँसाहार का सेवन न करें। देर से पचने वाले आहार का त्याग करें, पेशाब, छींक आदि न रोकें। देर तक न सोएँ और न जागें। अधिक खटाई, मिर्च आदि त्याग दें। बार-बार चाय-कॉफ़ी न पीएँ। तुअर की दाल, गरम मसाले एवं गरम तासीर वाली वस्तुओं का सेवन न करें। |

| बीमारी | क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या करें? | क्या न खाएँ, क्या न पीएँ, क्या न करें? |
|---|---|---|
| अस्थमा (दमा) | **अनाजः** सादा सुपाच्य भोजन, चोकरयुक्त आटे की रोटी, दलिया, मूँग की दाल।<br>**सब्ज़ियाँः** उबली हुई सब्ज़ी, पालक, परवल, मेथी, शलजम, करेला, धनिया, पुदीना, टिंडे, चौलाई, सहिजन की फली, अदरक।<br>**फल :** पपीता, चीकू, अनार, शहतूत, गाजर, केला, तरबूज़, खरबूज़, गुड़, अंगूर किशमिश, खजूर।<br>**अन्यः** हल्दी, सेंधा नमक, छोटी इलायची, चना, लौंग, कॉफ़ी एवं सुहागा का फूल व मुलहठी को बारीक़ पीसकर गर्म पानी से लें। | मिठाई, नमकीन, मैदा, तेल, चावल, दही, अंडा, दूध, छाछ, घी, अमचूर, इमली, बासी भोजन, शराब, शीतल पेय, बर्फ़, आइसक्रीम, उड़द की दाल, बादाम, नारियल, खमीर, ठंडा पानी, भारी व गरिष्ठ भोजन, मूली, केला, तम्बाकू, एवं धूल, धुएँ आदि से बचें। कफ़ कारक कोई भी वस्तु न लें। |
| एनीमिया (रक्त की कमी) | गेहूँ, चना, मोंठ, मूँग की अंकुरित दाल में नीबू मिलाकर नाश्ते में लें। गुड़ के साथ मूँगफली के दाने सुबह-शाम लें। दूध और खजूर का सेवन करें एवं सोयाबीन की बड़ी खायें।<br>पालक, सरसों, बथुआ, चौलाई, मटर, मेथी, शलजम, चुकंदर, हरा धनिया, पुदीना, टमाटर, पपीता, अंगूर, अनार, केला, अमरूद, सेब, चीकू, नींबू, अनाज, दालें, मुनक्का, किशमिश, सूखे बेर, गाजर, पिंड खजूर, मूली के पत्ते, संतरा, आँवला आदि। | भारी, गरिष्ठ, तला व मिर्च-मसालेदार भोजन, शराब, तम्बाकू, गुटखा, चाय, कॉफ़ी, शीतल पेय, नमक, माँसाहार। |

# मासिक धर्म की अनियमितता के लिए - क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या करें?

मासिक धर्म की अनियमितता में मुख्य दो समस्याएँ सामने आती हैं :

1. मासिक धर्म में रुकावट। 2. मासिक धर्म का अधिक आना।

मासिक धर्म की अनियमितता में निम्नलिखित आहार लिए जा सकते हैं:

नारियल : नारियल खाने से मासिक धर्म खुलकर आता है।

मटर : मासिक धर्म की रुकावट को दूर करता है।

तुलसी : तुलसी की जड़ को छाया में सुखाकर और पीसकर, चौथाई चम्मच पान में रखकर खाने से अनावश्यक ऋतु-स्त्राव बंद हो जाता है। संतुलित भोजन लें, नींबू, मौसम्बी, गर्म चाय, कॉफ़ी, गाजर, राई, सौंफ का सेवन करें।

मासिक धर्म कम करने के लिए :

अनार के सूखे छिलकों को पीसकर छान लें। इसे 1 चम्मच भरकर काफ़ी ठंडे पानी से लेने से रक्त-स्त्राव बंद हो जाता है। हींग का सेवन भी लाभकारी होता है।

क्या न खाएँ, क्या न पीएँ, क्या न करें? – तेल, गरिष्ठ व अधिक मिर्च-मसालेदार भोजन, अचार, मीठे पदार्थ, पॉलिश वाले चावल, मॉँसाहार आदि। अधिक वासना से दूर रहें।

मोटापा (निवारण के लिए) - प्रात:काल ख़ाली पेट प्रतिदिन आधा नींबू के रस के साथ दो गिलास पानी पीएँ। रात को ताँबे के बर्तन में पानी भरकर रखें एवं प्रात:काल वही पानी पीएँ। भोजन में गेंहूँ का दलिया, लौकी की सब्ज़ी, गिलकी, बरबटी, पालक, कुलथी एवं सलाद का प्रयोग अधिक से अधिक करें। टमाटर का सूप, लौकी का जूस एवं छाछ का प्रयोग प्रतिदिन करें। भोजन हमेशा सादा, संतुलित एवं सुपाच्य ही करें। सुबह प्रतिदिन पैदल घूमें।

नित्य रूप से हल्के व्यायाम, योगाभ्यास एवं प्राणायाम करें। मोटापा बढ़ाने वाले अंगों जैसे थायरॉइड की पूर्णतः देखभाल करें। आलस का त्याग करें। क्षमतानुसार अधिक से अधिक कार्य अवश्य करें।

क्या न खाएँ, क्या न करें, क्या न पीयें - घी, तेल से बने खाद्य पदार्थ, गरिष्ठ भोजन, मिठाई, चावल, आलू, केला, मौसाहार, शराब, चाय, शीतल पेय, दिन का विश्राम, रात्रि भोजन के तुरंत बाद सोना, सुबह देर से उठना, आलसी बने रहना, आदि कारणों का पूर्णतः त्याग करें।

नोट : उपरोक्त किस बीमारी में क्या खाएँ, क्या न खाएँ का वर्णन सामान्य रूप से किया गया है अपने शरीर के अनुरूप एवं विवेक का पूर्णतः उपयोग करें। अधिक जानकारी या सहयोग के लिए लेखक से भी सम्पक कर सकते हैं।

वात, पित्त, कफ़ के कारण सैकड़ों बीमारियों का जन्म होता है। अतः कुछ बातें यहाँ बताई जा रही हैं, ध्यान रखने योग्य हैं।

| बीमारी | क्या खाएँ, क्या पीएँ, क्या करें? | क्या न खाएँ, क्या न पीएँ, क्या न करें? |
|---|---|---|
| वात | गाय का दूध, गाय का घी, मिश्री, अदरक, परवल, लौकी, बथुआ, चौलाई, अंगूर, पपीता, गेंहूँ की रोटी, उड़द, सरसों, पुराना चावल, गर्म पदार्थ, मीठे, खट्टे, नमकयुक्त पदार्थ, मेथीदाना, इलायची, हरड़ का सेवन करें। | कड़वे पदार्थ, तीखे पदार्थ, बासा भोजन, डिब्बाबंद फ़ास्टफ़ूड, कोल्डड्रिंक्स, चने की दाल, तले पदार्थ, चने की भाजी, मसूर की दाल, मटर, फूलगोभी, चाय, कॉफ़ी, शराब, माँसाहार, नशीले पदार्थ। |
| पित्त | मीठे, ठंडे पदार्थ, ठंडा पानी, सत्तू, मूँग, मसूर, गाय का दूध, गाय का घी, मीठी लस्सी, परवल, टिण्डा, ककड़ी, हरा धनिया, पोदीना, नींबू, नींबू की शिकंजी, तरबूज़, सेब, अनार, आँवला, बहेड़ा, गुलकंद, पेठा। | उड़द की दाल से बने पदार्थ, खट्टा, मीठा, गर्म तासीर वाले पदार्थ, माँसाहार, शराब कॉफ़ी, गर्म वातावरण एवं अधिक मेहनत न करें। |
| कफ़ | पुराने गेंहूँ का आटा, मूँग, चना, मसूर, जौ की रोटी, बकरी का दूध, गाजर, सेव, तरबूज़, सूखे मेवे, सौंठ, आँवला, काली मिर्च, हल्दी, लौंग, तुलसी, गुनगुना पानी। | खट्टा, मीठा, नमकीन गरिष्ठ भोजन, बासा भोजन, नया गेंहूँ, नया चावल, घी, मक्खन, भैंस का दूध, गन्ना, आलू, बैंगन केला, अमरूद, माँसाहार, शराब का सेवन न करें। |

इन सब बातों को अलावा एक बात और ध्यान रखें :
"बहुत महत्त्वपूर्ण वाक्य होटल→ हो सके तो टल।"

## किस महीने में क्या खाएँ?

| प्राचीन कहावत - | क्र. | माह | खाएँ या करें |
|---|---|---|---|
| चैत चना, बैशाखे बेल, | 1. | चैत्र (मार्च-अप्रैल) | चना |
| जेठे शयन, आषाढ़े खेल, | 2. | बैसाख (अप्रैल-मई) | बेल |
| सावन हर्रे, भादों तिल। | 3. | ज्येष्ठ (मई-जून) | शयन |
| कुवार मास गुड़ सेवै नित, | 4. | आषाढ़ (जून-जुलाई) | खेल |
| कार्तिक मूली अगहन तेल, | 5. | श्रावण (जुलाई-अगस्त) | हरड़ |
| पूस करे दूध से मेल। | 6. | भाद्रपद (अगस्त-सितम्बर) | तिल |
| माघ मास घी-खिच्चड़ खाय, | 7. | आश्विन (सितम्बर-अक्टूबर) | गुड़ |
| फागुन उठ नित प्रात नहाय। | 8. | कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) | मूली |
| | 9. | मार्गशीर्ष/अगहन (नव.-दिस.) | तेल |
| | 10. | पौष (दिसम्बर-जनवरी) | दूध |
| | 11. | माघ (जनवरी-फरवरी) | घी-खिचड़ी |
| | 12. | फाल्गुन (फरवरी-मार्च) | प्रातःस्नान |

## किस महीने में क्या न खाएँ?

| प्राचीन कहावत - | क्र. | माह | न खाएँ या न करें |
|---|---|---|---|
| चैते गुड़ बैशाखे तेल, | 1. | चैत्र (मार्च-अप्रैल) | गुड़ |
| जेठ के पंथ, अषाढ़े बेल। | 2. | बैसाख (अप्रैल-मई) | तेल |
| सावन साग, न भादों मही, | 3. | ज्येष्ठ (मई-जून) | घूमना-फिरना |
| क्वार करेला, कातिक दही। | 4. | आषाढ़ (जून-जुलाई) | बेल |
| अगहन जीरा, पूसै धना, | 5. | श्रावण (जुलाई-अगस्त) | हरी सब्ज़ी, सत्तू |
| माघै मिसरी, फागुन चना। | 6. | भाद्रपद (अगस्त-सितम्बर) | छाछ (मही) |
| जो कोई इतने परिहरै, | 7. | आश्विन (सितम्बर-अक्टूबर) | करेला |
| ता घर बैद पैर नहिं धरै। | 8. | कार्तिक (अक्टूबर-नवम्बर) | दही |
| | 9. | मार्गशीर्ष/अगहन (नव.-दिस.) | जीरा |
| | 10. | पौष (दिसम्बर-जनवरी) | धनिया |
| | 11. | माघ (जनवरी-फरवरी) | मिश्री |
| | 12. | फाल्गुन (फरवरी-मार्च) | चना |

उपरोक्त वर्णन पुरानी कहावतों के अनुसार किया गया है, अतः इनका उपयोग द्रव्य, क्षेत्र, काल एवं शारीरिक परिस्थिति के अनुरूप करें।

# मानव शरीर रचना एवं क्रिया विज्ञान

मानव शरीर एक अद्भुत रचना, ईश्वर की अनमोल देन एवं अच्छे कर्मों का उपहार है।

इस अध्याय में मानव शरीर और उससे जुड़ी क्रियाओं का अध्ययन किया जाएगा जो कि आपको योग से सम्बंधित आसनों में सहायक होंगी।

योगासनों का विशेष प्रभाव मांसपेशियों, ग्रंथियों, मेरुदण्ड आदि में प्रथम रूप से देखा गया है। अत: इस विलक्षण आकृति को समझने के लिए इस अध्याय में संक्षिप्त लेख लिखा गया है।

शरीर रचना विज्ञान

(Anatomy)

मानव शरीर अनेक छोटी-छोटी कोशिकाओं (cells) से मिलकर बना है। ये कोशिकाएँ आपस में जुड़कर ऊतक (tissue) बनाते हैं और ऊतक पेशियों (muscles) का निर्माण करते हैं। इस तरह अलग-अलग पेशियाँ (muscles) मिलकर सभी अन्य ग्रंथियाँ और अवयव (organs) बनाते हैं। इस तरह हम शरीर को छह हिस्सों में बाँटकर उसका अलग से अध्ययन कर सकते हैं।जैसे : सिर (head), गला (neck), हाथ (upper limbs), पैर (lower limb), पेट (abdomen), तथा छाती (thorax) |

**सिर(Head)**

सिर के कंकाल को Skull कहते हैं। ये बहुत सारी हड्डियों से जुड़कर बना होता है। Skull में दो हड्डियों का जोड़ होता है, एक Cranium दूसरी Mandible (जबड़ा। Cranium के अंदर बने खोखले हिस्से को brain box कहते हैं, जिसमें मस्तिष्क (brain) होता है।

**ग्ला(Neck)**

गर्दन हमारे सिर को धड़ से जोड़ती है। इसके अंदर बहुत सारे अंग होते हैं। जैसे, चुल्लिका ग्रंथि (Thyroid gland), उप-चुल्लिका ग्रंथि (Parathyroid gland), Thymus gland, धमनियाँ (Arteries), शिराएँ (Veins), नसें(Nerves), Trachea, ○ esophagus आदि

बाहु(Upper limbs)

हमारे हाथ की बनावट इस तरह से है।

1. कंधे - Shoulders

2. ऊपरी बाहु - Arm

3. अग्रबाहु — Forearm

4. हथेली - Palm

कंधे को तीन भागों में विभाजित किया जाता है –

1. सीना (Pectoral region) 2. काँख Axillary region 3. स्केपुला (Scapula)

पैर (Lower limbs)

आम तौर पर सभी जानवरों द्वारा हाथों और पैरों का इस्तेमाल चलने के लिए किया जाता है। इसके विपरीत मनुष्य चलने-फिरने के लिए सिर्फ़ अपने पैरों का ही इस्तेमाल करता है।

पैर की बनावट में मुख्य रूप से निम्नलिखित आकृतियाँ होती हैं।

(1) Pelvic girdle - Hip bone + Sacrum + Coccyx

(2) Femur

(3) Tibia & Fibula

(4) Foot-tarsal & metatarsals

पेट (Abdomen)
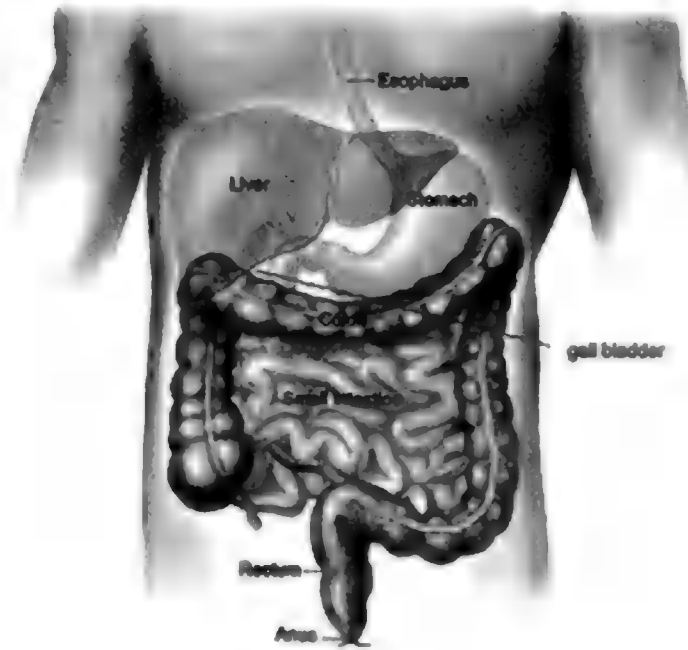
पेट शरीर का एक बहुत बड़ा व महत्वपूर्ण हिस्सा है, जो बहुत सारे अंगों से मिलकर बना है।

जैसे : यकृत (liver), अग्राशय या क्लोम-ग्रंथि (pancreas), आमाशय (stomach), आँतें (intestine-small and large), तिल्ली (spleen), महिलाओं में गर्भाशय और रजपिंड (uterus & O varies) होते हैं और पुरुष में वीर्य पिंड (testis) होते हैं।

वक्षीय पिंजरा (Thorax)
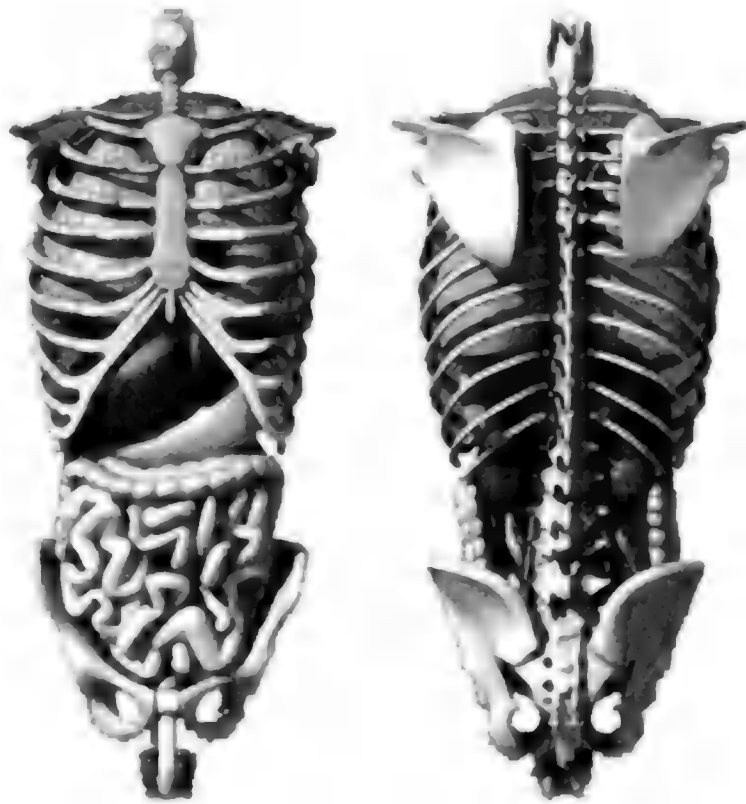
यह भाग गले के नीचे से शुरू होता है और Xiphoid process ❍ f the sternum तक रहता है। Thorax में हड्डियों का एक ढाँचा होता है जो कि पसलियों (ribs) द्वारा बना होता है। जो सामने की तरफ़ sternum से जुड़ा होता है और पीछे की तरफ़ vertebral column à जुड़ा होता है। इसके भीतर हृदय (heart) और फुफ्फुस (lungs) होते हैं जो कि श्वसन क्रिया और रकतसंचार नियंत्रित करते हैं।

खोपड़ी के वायु विवर (Air sinuses in the Skull)

खोपड़ी की हड्डियों में कुछ cavities पाई जाती है, जिनमें वायु भरी होती है। इन्हें वायु विवर (Air sinuses) कहा जाता है।

ये ज़्यादातर frontal, sphenoid, ethmoidal, maxillary स्थान पर पाए जाते हैं। ये सभी नाक पर खुलते हैं। इनसे स्वर में गूँज उत्पन्न होती है, तथा यह चेहरे तथा कपाल का भार कम करते हैं।

वायुविवर शोथ या साइनुसाइटिस (Sinusitis)

नासिका का संक्रमण वायु विवरों में पहुँचता है जिससे यह भी संक्रमित हो जाती है और इनमें सुजन (inflammation) हो जाता है। इससे इनमें शोथ inflammation उत्पन्न हो

जाता है जिसे वायु विवर शोथ या साइनुसाइटिस कहा जाता है। इस रोग में सिर में विशेष रूप से उस स्थान पर दर्द होता है जहाँ पर कोई वायु विवर रोग हुआ होता है तथा जुकाम बना रहता है। रोग के पुराना पड़ जाने पर एक नासा रंध्र से स्राव होने लगता है। जिससे कभी-कभी बदबू भी आती है। जिसे Chronic Sinusitis कहते हैं।

संधि संस्थान (Articular System)

दो यो दी से अधिक अस्थियों के आपस में मिलने के स्थान को जोड़ (joint) कहते हैं। संधियों के अध्ययन की संधि विज्ञान (arthrology) कहा जाता है। संधियाँ अस्थियों (bones), उपास्थियों (cartilages), स्नायुओं (ligaments), तंतुमय ऊतक (fibrous tissue) एवं श्लेषक कला (synovial membranes) की बनी होती हैं। संधियों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया है :

(1) तंतुमय संधियाँ (Fibrousjoints)

(2) उपास्थि संधियाँ (Cartilaginousjoints)

(3) श्लेषक संधियाँ (Synovialjoints)

वात रोग (Gout) - इस रोग में रक्त में यूरिक एसिड की मात्रा बहुत बढ़ी हुई होती है तथा संधियों में सोडियम यूरेट के रवे जमा हो जाते हैं जिससे संधि शोथ हो जाता है।

सामान्यतः पैर की अँगुलियों और अँगूठे से यह रोग प्रारम्भ होता है। पैरों में सूजन, बुख़ार, हाथ-पैरों में दर्द होता है तथा पसीना आता है।

शरीर क्रिया विज्ञान

हमारा शरीर विभिन्न प्रकार के तंत्रों द्वारा संचालित होता है। अलग-अलग क्रिया करने के लिए अलग-अलग तंत्र काम करते हैं। जैसे रक्त का संचारण पूरे शरीर में करने के लिए रक्त-परिसंचरण तंत्र काम करता है। ऐसे ही बाक़ी सभी तंत्र अपने-अपने स्थान पर कार्यरत रहते हैं।

हमारे शरीर द्वारा जितनी भी क्रियाएँ की जाती हैं उन्हें संचालित करने का कार्य यह तंत्र ही करते हैं।

तंत्रों के नाम –

(1) परिसंचरण तंत्र (Circulatory system)

(2) लसीका तंत्र (Lymphatic system)

(3) जालिका अंत:कला तंत्र (R.E.system)

(4) पोषण तंत्र (Digestive system)

(5) शवसन तंत्र (Respiratory system)

(6) अंतस्त्रावी तंत्र (Endocrine system)

(7) मूत्र तंत्र (Urinary system)

(8) प्रजनन तंत्र (Reproductive system)

(9) मेरु तंत्रिका तंत्र (Nervous system)

परिसंचरण तंत्र (Circulatory System)
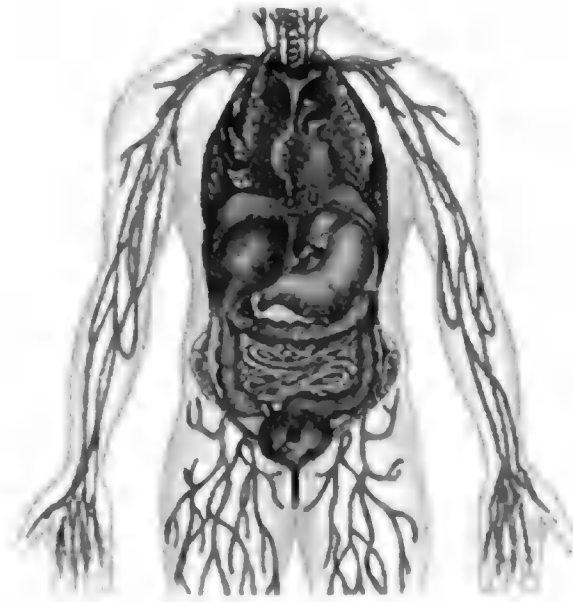
इस तंत्र में मुख्य अंग हृदय है जो कि मूलाधार है परिसंचरण तंत्र का। हृदय से रक्तवाहिकाएँ जुड़ी होती हैं जो कि पूरे शरीर में फैली होती हैं और रक्त का संचार करती हैं।

हमारे शरीर में दो प्रकार की रक्तवाहिकाएँ होती हैं :

(1) धमनियाँ (arteries) (2) शिराएँ (veins)

हृदय की स्थिति

हृदय छाती या वक्ष में फेफड़ों के मध्य स्टनम के पीछे मीडियास्टीनम में स्थित होता है। इसका बड़ा भाग बाई ओर होता है।

हृदयचक्र (Cardiaccycle)

हृदय एक पम्प के समान है। सम्पूर्ण शरीर में रक्त परिसंचरण से सम्बंधित क्रियाएँ हृदय के द्वारा की जाती हैं। उन्हें सम्मिलित रूप से हृदय चक्र कहा जाता है। हृदय की क्रिया साइनस अलिन्द नोड से शुरू होती है और पूरे हृदय में से होते हुए निलयों तक पहुँचती है तथा निलय संकुचित होते हैं। अलिन्द (Arterium) और निलय (Ventricle) की क्रिया को दो भागों में विभक्त किया जाता है - प्रकुचन (Systole) तथा अनुशिथिलन (Diastole)। प्रकुचन में हृदय के कोष्ठ सिकुड़ते हैं तथा अनुशिथिलन में रक्त हृदय से बाहर आता है। साथ ही हृदय रक्त से भरकर फूल जाता है।

हृदय ध्वनियाँ (Heart sounds)

निलयों (ventricles) के प्रकुचित होने पर अलिन्द निलय कपाट (arterial ventricular valve) निष्क्रिय रूप से बंधो जाते हैं। इसके कपाट बंद होते समयजो ध्वनि निकलती है वह प्रथम हृदय ध्वनि (first heart sound) कहलाती है। इसे हम Lubb के समान सुनते हैं। निलयों (ventricles) का संकुचन समाप्त होने पर H&Territ (aorta) तथा फुफ्फुस कपाट (aortic valve or semicircular valve) जब बंद होते हैं तब द्वितीय हृदय ध्वनि (secondheartsound) होती है। इसे हम Dub के समान सुनते हैं। हृदय की यह सम्पूर्ण कार्य प्रणाली धड़कन (Heart Beat) कहलाती है जिससे यह ज्ञात होता है कि हृदय सुचारु रूप से कार्य कर रहा है।

नाड़ी क्या है**?** (Pulse)

जब धमनियों में दाब की लहर आती है साथ ही हृदय से रक्त बाहर आता है उस समय एक लहर सी महसूस होती है। वह Pulse है। हम Pulse को Radial Artery में ज़्यादातर देखते हैं। वैसे हो हम Pulse को Brachial Artery, Popliteal Artery, Femoral Artery, Dorsalis Pedis Artery में भी देख सकते हैं। नाड़ी की आदर्श गति वयस्कों में सामान्यतः एक मिनिट में 72 बार होना चाहिए तथा नवजात शिशु में 140/min हमारे पूरे शरीर में रक्त की मात्रा लगभग 5 लीटर होती है।

रक्तचाप (Blood Pressure)

रक्त-वाहिकाओं (arteries and veins) में परिसंचरित होते समय वाहिकाओं की Walls

पर रक्त जितना lateral पार्श्व दबाव डालता है उसे रक्तचाप या Blood Pressure कहते हैं। रक्तचाप को मापने के लिए स्फिगनोमेनो मीटर का उपयोग किया जाता है। रक्तचाप के बढ़ने को हम Hypertension đõ "TH से जानते हैं और रक्तचाप के कम होने की Hypotension à Sixth Joint National Committee Hypertension उच्च रक्तचाप को समझने या वर्गीकरण करने के लिए निम्नलिखित Criteria अपनाया है।

**JNC VI Criteria for classification of Blood Pressure**

| Category | Systolic mm HG | Disatolic mm HG |
|---|---|---|
| Optimal | < 120 | < 80 |
| Normal | < 130 | < 85 |
| High Normal | 130 - 139 | 85 - 89 |
| Stage -1 Hypertension | 140 - 159 | 90 - 99 |
| Stage -2 Hypertension | 160 - 179 | 100 - 109 |
| Stage -3 Hypertension | >180 | >100 |

पाचन तंत्र (Digestive System)

पाचन तंत्र एक ऐसा तंत्र है जो कि बहुत से अंगों से मिलकर बना होता है। इसमें निम्नलिखित अंग पोषण तंत्र बनाने में सहायक होते हैं :
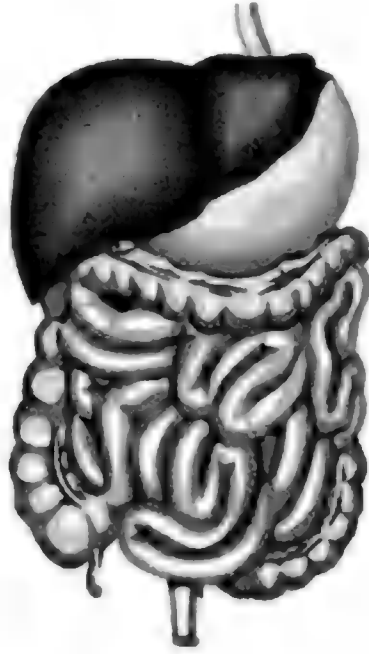
(1) मुख (Mouth)

(2) ग्रसनी (Pharynx)

(3) ग्रासनली (Oesophagus)

(4) आमाशय (Stomach)

(5) छोटी (Small Intestine)

(6) बड़ी आँत (Large Intestine)

(7) मलाशय (Rectum)

(8) मलद्वार (Anus)

(9) यकृत (Liver)

ये सभी अंग मिलकर ऐलीमेन्ट्री कनाल (Alimentary Canal) बनाते हैं। मुख्य रूप से पाचन क्रिया मुख से शुरू होकर मलद्वार पर खत्म होती है। लेकिन इस पाचन क्रिया में सहायक कुछ और भी अंग हैं। यह सभी अंग पाचन तंत्र के प्रमुख अंगों में से हैं जैसे - ग्रंथियाँ, लार ग्रंथियाँ (Salivary glands), अग्राशय (Pancreas), पित्ताशाय

(Gallbladder) आदि।

पाचन क्रिया

जब कभी भोजन का कौर (निवाला) मुँह में रखा जाता है उसी दौरान मुख की ग्रंथियाँ अपना रस छोड़ने लगती हैं और उस भोजन के निवाले के साथ मिल जाती हैं। भोजन को चबाने के बाद भोजन ग्रासनली में जाता है। फिर वहाँ से भोजन आमाशय में आता है। यहाँ पर भोजन में रासायनिक व यांत्रिक क्रिया होती है और इसमें कई प्रकार के रस मिलते हैं। इस तरह से एक पचा हुआ भोजन बन जाता है।

अब यह भोजन छोटी आँत में जाता है। जहाँ पर अवशोषण (absorption) की क्रिया होती है। छोटी आँतों की सिकुड़ने तथा फैलने की क्रिया द्वारा यह भोजन सरकते हुए बड़ी आँत तक पहुँचता है। यहाँ पर शेष व्यर्थ बचा हुआ भोजन मल के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा बड़ी आँत में नीचे की ओर पहुँच जाता है। अंत में यह मलद्वार से बाहर निकाल दिया जाता है।

शरीर में आवश्यक तत्व

(1) कार्बोहाइड्रेट (Carbohydrate)

(2) प्रोटीन (Protein)

(3) वसा (Fat)

(4) विटामिन (Vitamins)

(5) खनिज लवन (Mineral salts)

(6) जल या पानी (Water)

कार्बोहाइड्रेट **(Carbohydrate)**

हमारे आहार का सबसे बड़ा अंश कार्बोज़ का है एवं शरीर में उत्पन्न होने वाली अधिकांश शक्ति का स्रोत है। स्टार्च (starch) और शर्करा (sugar) ये कार्बोज़ के दो प्रधान वर्ग हैं।

प्रोटीन **(Protein)**

प्रोटीन आहार का अत्यंत आवश्यक अंश है। ये प्रधानत: नाइट्रोजन तत्वयुक्त होता है तथा इससे शरीर की कोशिकाओं के प्रोटोप्लाज़्म ऊतक तथा कोष्ठांगों की रचना होती है। यह

सामान्यतः सोयाबीन, दाल, दूध, पनीर, मूंगफली, चने, मूंग की दाल आदि में पाया जाता है।

वसा **(Fat)**

वसा में भी कार्बोज़ के समान कार्बन हाइड्रोजन तथा ऑक्सीजन तत्व होते हैं। परंतु इनका अनुपात भिन्न होता है। मक्खन, घी, वनस्पति स्त्रोत वाली वसा का प्रायः आहार में उपयोग होता है।

खनिज लवण **(Mineralsalts)**

खनिज लवण हमारे शरीर में होने वाली सभी जैविक क्रियाओं के लिए आवश्यक होता है। हम भोजन द्वारा इन खनिज-लवणों को ग्रहण करते हैं। ये सब खनिज लवण शरीर में भी विद्यमान रहते हैं। मुख्य खनिज तत्व इस प्रकार हैं - कैल्शियम, फ़ॉस्फ़ोरस, लोहा, सोडियम, पोटेशियम, मैग्नीशियम, आयोडोन।

कैल्शियम **(Calcium)**

यह मुख्यत: हड्डियों तथा दाँतों में पाया जाता है तथा इनके निर्माण के लिए आवश्यक होता है। कैल्शियम द्वारा हड्डियाँ मज़बूत और कठोर होती हैं।सामान्यत: इसकी आवश्यकता वयस्क में प्रतिदिन 1 ग्राम प्रतिदिन होती है। गर्भवती स्त्रियों में 1 1/2 ग्राम प्रतिदिन होती है। कैल्शियम दूध, दही, पनीर, चूना, बादाम और मूली, गोभी के पत्तों में, मैथी, सहजन की पत्ती, गाजर में तथा दालों में पाया जाता है।

फ़ॉस्फ़ोरस **(Phosphorus)**

यह शरीर में मुख्यतः प्रत्येक कोशिका में पाया जाता है। यह हड्डियों और दाँतों के निर्माण में सहायक होता है। यह तंत्रिका तंत्र को स्वस्थ रखता है। गर्भवती स्त्रियों एवं बच्चों को इसकी अधिक आवश्यकता होती है। फ़ॉस्फ़ोरस मुख्य रूप से पत्तागोभी, सेब, मूली, सोयाबीन, गाजर, भुट्टा आदि में पाया जाता है।

लोहा **(Iron)**

यह रक्त के लाल कोशिकाओं में Hb (Haemoglobin) के निर्माण में अधिक उपयोगी होता है। सामान्यतः एक व्यक्ति को प्रतिदिन 20-30 mg लोहे की आवश्यकता होती है। यह सेब, पालक, मटर, मैथी, गुड़, गाजर, खीरा, प्याज़, टमाटर, अँगूर आदि में पाया जाता है।

सोडियम **(Sodium)**

सामान्यतः इसे हम दैनिक भोजन में नमक के रूप में इसे ग्रहण करते हैं। यह लवण में क्लोरीन के साथ मिलकर सोडियम क्लोराइड बनाता है। सामान्यत: इसकी आवश्यकता प्रतिदिन 2 से 5 ग्राम होती है।

पोटेशियम **(Potassium)**

पोटेशियम की मात्रा सबसे ज़्यादा (Intercellular fluid) अंत:कोशिका तरल में होती है। पोटेशियम कोशिकाओं में होने वाली रासायनिक क्रियाओं में आवश्यक होता है। यह तंत्रिका आवेगों के संचारण के लिए आवश्यक होता है।

सामान्यतः इसकी आवश्यकता एक व्यक्ति में प्रतिदिन लगभग 4 ग्राम होती है। यह विशेषकर प्रोटीनयुक्त खाद्य पदार्थों में पाया जाता है।

मैग्नीशियम **(Magnesium)**

यह शरीर में हड्डियों तथा दाँतों में पाया जाता है। मानव शरीर में 50% मैग्नीशियम हड्डियों में होता है। एक सामान्य मनुष्य को प्रतिदिन 200 से 300mg, मैग्नीशियम (Magnesium) की आवश्यकता होती है।

यह फलों तथा सब्ज़ियों में अधिक मात्रा में पाया जाता है।

आयोडीन **(Iodine)**

हमारे शरीर में गले पर थायरॉइड नाम एक ग्रंथि होती है। जिसको सुचारु रूप से चलाने में आयोडीन काम आता है। यह थायरॉइड को हारमोन जैसे थायरॉक्सिन तथा ट्राई आयडोथाइरोमिन के निर्माण में सहायक होता है। आयोडीन प्याज़ में अधिक मात्रा में पाया जाता है (हालाँकि आयुर्वेद में प्याज़ को तामसिक माना गया है)। समुद्री पदार्थ व नमक में पाया जाता है। इसकी कमी से घेंघा (Goitre) रोग होता है।

विटामिन **(Vitamin)**

विटामिन आवश्यक रासायनिक यौगिक होते हैं जो सूक्ष्म मात्रा में प्राय: सभी खाद्य पदार्थ में पाए जाते हैं। विटामिन दो प्रकार के होते हैं। वसा घुलनशील एवं जल घुलनशील।

विटामिन – वसा घुलनशील विटामिन (fat soluble) &A, D, E, K
जल घुलनशील विटामिन (water soluble) &B तथा C

विटामिन A

विटामिन A वनस्पतियों में तथा - Carotene के रूप में मिलत है। यह प्रो-विटामिन रेटिनोल में प्रतिवर्तित होता है। यह क्रिया प्राय: ऑतों में होती है। विटामिन-A हमारी दृष्टि क्षमता को बढ़ाता है। यह विटामिन रेटिनल पिगमेंटस् को बनाने में मदद करता है जो कि कम रोशनी में देखने में काम करते हैं। यह विटामिन शरीर की संक्रामक रोगों से रक्षा करता है। यह विटामिन प्रजनन शक्ति को बनाए रखने में सहायक होता है तथा अस्थि कोशिकाओं के निर्माण को नियंत्रित करता है। यह प्राय: हरी सब्ज़ियों, गाजर, पपीता, बटर (मक्खन) तथा दूध में पाया जाता है। इसकी कमी से रतौंधी (night blindness), शुष्काक्षिपाक (xerophthalmia), नामक बीमारियाँ होती हैं।

विटामिन *D :* प्राय: इसके दो प्रकार होते हैं।
विटामिन *D - D2 Calcifer* O *f Cholecalciferol D3*

विटामिन D हमारे शरीर में कैल्शियम के Absorption में सहायक होता है। यह विटामिन हड्डियों के निर्माण में सहायक है। यह Kidney में Phosphorus के निर्माण में मदद करता है। हमें सबसे ज़्यादा विटामिन D सूर्य ऊर्जा से मिलता है। इसकी कमी से रिकेट्स (Ricketts) बच्चों में तथा O steomalacia बड़ों में हो जाता है।

विटामिन E

यह विटामिन त्वचा में घुलनशील होता है। इसको टोकोफेरोल के नाम से भी जानते हैं। यह मुख्यतः वनस्पति तेल, रुई के बीज, सूरजमुखी के बीज, बटर (मक्खन) में पाया जाता है। इसकी आवश्यकता 0.8mg प्रतिदिन होती है। यह विटामिन अपने प्रति-ऑक्सीकारक (Antioxident) गुणों के कारण शरीर में अनावश्यक ऑक्सीकरण को रोकता है। यह विटामिन बंध्यता (Sterility) को रोकता है। गर्भ के विकास में अधिक सहायक होता है।

विटामिन K

इसे हम रक्तस्त्रावरोधी कारक विटामिन के नाम से जानते हैं। यह मुख्यतः हरी सब्ज़ियों तथा फलों में पाया जाता है। यह गाय के दूध में अधिक मात्रा में पाया जाता है।

जल घुलनशील विटामिन - B तथा C

विटामिन B - यह विटामिन कॉम्प्लेक्स में पाया जाता है। जैसे –

Vitamin - B1 Complex

Vitamin — B2 Riboflavin

Vitamin – B6 Pyridoxine

Vitamin -B3 Pantothenic acid

Vitamin - B12 Cyanocobalamin

विटामिन C - (Ascorbic acid)

इस विटामिन को हम एसकारबिक एसिड के नाम से जानते हैं। यह विटामिन जल में घुलनशील होता है तथा ऊष्मा से नष्ट हो जाता है। यह विटामिन प्राय: ताज़े फलों में विशेष रूप से पाया जाता है जिनमें Citrus acid (सिट्रस एसिड) होता है। जैसे- संतरा, नीबू, नारंगी, आँवला, टमाटर, पपीता, अँगूर, चुकंदर आदि। यह विटामिन इंसुलिन के उत्पादन में सहायक होता है। इसकी कमी हो जाने से स्कर्वी Scurvy रोग हो जाता है।

अंत :स्त्रावी तंत्र (Endocrine System)
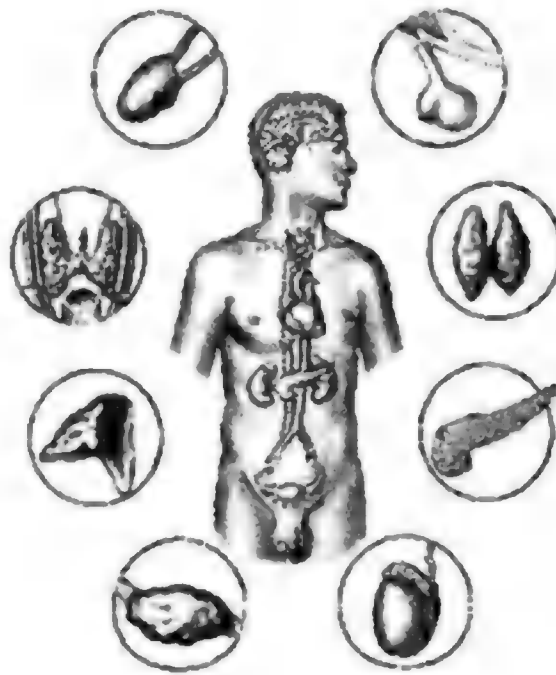
हमारे शरीर की ग्रंथियाँ दो प्रकार में विभाजित हैं। एक वह जो अपने स्त्राव सीधे रक्त में प्रवाहित करती हैं और इन ग्रंथियों में स्त्राव नलियाँ नहीं होतीं। उन्हें हम अंतःस्त्रावी ग्रंथियाँ (Endocrine glands) कहते हैं। दूसरी वह जिसमें स्त्रावनलियाँ होती हैं। उन्हें हम बहि:स्त्रावी ग्रंथियाँ (Exocrine glands) कहते हैं।

हाँर्मोन

शरीर में कुछ ऐसी ग्रंथियाँ होती हैं। जिनका स्त्राव उत्पन्न होकर रक्त में मिल जाता है और फिर रक्त के साथ शरीर में परिसंचारित होता है। इन स्त्रावों के कार्यकारी तत्वों को हम हाँर्मोन के नाम से जानते हैं।

अंत:स्त्रावी ग्रंथियाँ
(1) पीयूष ग्रंथि (Pituitary gland)
(2) थायरॉइड ग्रंथि (Thyroid gland)
(3) पैराथायरॉइड ग्रंथि (Parathyroidgland)
(4) थाइमस ग्रंथि (Thymus gland)
(5) एड्रीनल ग्रंथि (Adrenalgland)
(6) अग्नाशय में लैगरहैंस की द्वीपिकाएँ (Istets o f Langerhans in the Pancreas)
(7) पीनियल ग्रंथि(Pinealgland)
(8) लिग ग्रंथि (Sexual gland)

पीयूष ग्रंथि (Pitutary gland)

यह ग्रंथि मस्तिष्क के आधार पर होती है। इस ग्रंथि में अग्रज खण्ड (anterior lobe)पश्चज खण्ड (posterior lobe) और दोनों के बीच में मध्यवर्ती भाग (pars intermedia) होते हैं। यह लालिमा लिए हुए भूरे रंग की होती है। अग्रज खण्ड (anterior lobe) से निम्न प्रकार के हाँर्मोन निकलते हैं :

(1) वृद्धि हाँर्मोन (GH) - यह हाँर्मोन शरीर की वृद्धि के लिए आवश्यक होता है।

(2) एड्रोनोकॉर्टिकोट्रापिक हाँर्मोन Adrenocorticotropic Hormone (ACTH)- यह हार्मोन एड्रोनल ग्रंथि के कर्टिक्स की वृद्धि विकास के लिए आवश्यक होता है।

(3) थायरॉइड प्रेरक अंतरिक हाँर्मोन (Thyroid stimulating Hormone (TSH)- यह हार्मोन थायरॉइड ग्रंथि की वृद्धि और उसकी क्रियाशीलता को बढ़ाने के लिए काम करता है।

(4) गोनाडीट्रॉफिक हाँर्मोन (Gonadotropic Hormone) – tü और पुरुष दोनों में अग्रज पियुष ग्रंथि से निम्न दो जनन ग्रंथियाँ पोषण या लिंग हाँर्मोन उत्पन्न होते हैं - 1. पुटक उद्दीपक हॉर्मोन, 2. पीतपिण्डकर हाँर्मोन।

(5) पुटक उद्दीपक हॉर्मोन (Follicle FSH) - यह स्त्रियों में डिम्बग्रन्थि पुटकों (Overian Follicles) की वृद्धि के लिए काम करता है।

(6) पीतपिण्डकर हाँर्मोन (Luteinizing Hormone) - यह स्त्रियों में डिम्बग्रंथि पुटक या ग्राफियत पुटक को पूर्णरूप से परिपक्व करता है।

(7) स्तनप्रेरक हॉर्मोन (Prolactin Hormone) - यह हॉर्मोन एस्ट्रोजन तथा प्रोजेस्टेरोन हॉर्मोन के साथ स्तनों का विकास करता है। तथा गर्भावस्था के दौरान दुग्ध निर्माण करने के लिए प्रेरित करता है।

पश्चज खण्ड से निकलने वाले हॉर्मोन

(1) एन्टीडायूरेटिक हॉर्मोन (Antidiuretic Hormone) — यही हॉर्मोन जल के लिए वृक्कीय नलिकाओं की Permeability को बढ़ाकर उनमें जल में पुनः अवशोषण को बढ़ाता है।

(2) ऑक्सीटोसिन हॉर्मोन (Oxytocin Hormone) - इस हॉर्मोन का काम मुख्यतः स्त्री के स्तनों की Myoepithelial Cells को संकुचित करना होता है। जिसका कार्य दूध को बाहर निकालना होता है।

(I) थायरॉइड हॉर्मोन (Thyroid Hormone)

यह हॉर्मोन थायरॉइड ग्रंथि से निकलता है। थायरॉइड से थायरोंक्सिन (Thyroxine T4) एवं ट्राइआयडोथारोनीन (Triodothyronine 1,3) हॉर्मोन निकलते हैं। ये हॉर्मोन ऊतकों की वृद्धि एवं विकास को नियंत्रित करते हैं। इनकी कमी या अधिकता होने से कई प्रकार की बीमारियाँ हो जाती हैं। जैसे- थायरॉइड अल्पक्रियता (Hypothyroidism) और थायरॉइड अतिक्रियता (HyperThyroidism)

(II) थाइमस ग्रंथि(Thymus gland)

यह ग्रंथि वक्षीय गुहा में विराजमान रहती है। इसमें दो खण्ड होते हैं। यह मुख्य रूप से बचपन से सक्रिय होती है। थाइमस ग्रंथि का कार्य एंटीबॉडी एवं रोग प्रतिरोधक क्षमता को बनाए रखने में काम करती है।

(III) एड्रीनल ग्रंथि (Adrenal gland)

ये ग्रंथि वृक्क के ऊपर स्थित होती है। इससे विभन्न प्रकार के हामोंन निकलते हैं। जैसे- ग्लूको कार्टिकॉयड, मिनरलोकार्टिकॉयड, लिंग स्टैरॉयड आदि।

अग्नाशय में लैगरहैंस की द्वीपिकाएँ

यह ग्रंथि वाहिनी युक्त होती है। इसके ऊतकों से पाचक रस उत्पन्न होता है जो पाचन क्रिया में काम आता है। अग्नाशय के कोशिकाओं के इन गुच्छों को लैंगरहैंस की द्वीपिकाएँ कहते हैं जो अंत:स्त्रावी ग्रंथियाँ होती हैं। इन कोशिकाओं को दो भागों में विभाजित किया गया है इन कोशिकाओं (cells) द्वारा ग्लूकैगान हामॉन उत्पन्न होता है तथा द्विकोशिकाओं (cells) से इंसुलिन उत्पन्न होता है।

पीनियल ग्रंथि (Pineal gland)

यह मस्तिष्क के नीचे तृतीय निलय (Third Ventricle) के पीछे कार्पस कैलोसम के निकट एक छोटा सा लगभग 10 से.मी. लंबा लाल या भूरे रंग का पिण्ड होता है।

लिंग ग्रंथि (Sexual gland)

पुरुष और महिलाओं के शरीर में अंगों और नलिकाओं की वह व्यवस्था है जो शुक्राणुओं और अण्डाणुओं की उत्पत्ति करती है।

# एक्युप्रेशर

विश्व में भारत देश ही एकमात्र ऐसा देश है जूही असंख्य प्रकार की विद्याओं का जन्म हुआ। किन्हीं कारणवश अनेक विद्याएँ लुप्तप्राय हैं, परंतु जो भी ज्ञान उपलब्ध है यदि उन्हीं का उपयोग क्रमबद्ध सही तरीके से किया जाए तो हम मृत्युपर्यत निरोगी जीवन जी सकते हैं। उन्हीं में से एक है 'एक्यूप्रेशर' पद्धति। जिसका अर्थ है ‘दबाव'। भारत देश में एक्यूप्रेशर को प्राचीनकाल से किसी न किसी प्रकार से चिकित्सीय रूप में अपनाया जाता रहा है। एक्यूप्रेशर पद्धति द्वारा शरीर के निश्चित विशिष्ट स्थान पर उचित रूप से आवश्यकतानुसार दबाव डालकर उससे सम्बंधित रोग का निराकरण किया जाता है।

चूँकि हमारा शरीर पाँच तत्वों से मिलकर बना है और यह शरीर एक विशेष प्रकार की ऊर्जा द्वारा संचालित होता है जिसे हम आत्मा, चेतना या जैव-विद्युत (जैव-शक्ति) के रूप में जानते हैं। यही ऊर्जा हमारे सम्पूर्ण शरीर में विद्यमान रहती है। हमारे हाथ व पैर के तलुवों में 7,200 स्नायु सिरे स्थित हैं। इन तलुवों में उठा दाब बिंदु प्रमुख है। हमारे शरीर में प्रवाहित होने वाले जैव विद्युत के स्विच बोर्ड इन्हीं हाथ और पैरों के तलुवों में स्थित है। एक्यूप्रेशर की मानें तो उसके अनुसार असंयमित जीवन जीने से हमारे शरीर में कई विजातीय तत्व जमा हो जाते हैं। जिस जगह पर यह विजातीय तत्व जमा होते हैं उससे सम्बंधित रोग उत्पन्न हो जाता है। हाथ व पैर के तलुवों में स्थित उससे सम्बंधित बिंदुओं में भी अपद्रव्य, अवरोध या क्रिस्टल जमा हो जाते हैं और रोग तेज़ी से बढ़ने लगते हैं। इनको दूर करने के लिए हथेली एवं तलुवों के उन रिफ़्लैक्स बिंदुओं पर आवश्यकतानुसार दबाव डालकर उन अपद्रव्यों को दूर किया जाता है। जिस कारण रोग शनै: शनै: समाप्त हो जाते हैं।

डॉ. एफ़ एम. घेस्टन (एक्यूप्रेशर चिकित्सक) के अनुसार हमारे शरीर में जैव-विद्युत विद्यमान है। जब वह हाथ व पैर के तलुवों से लीक होने लगती है तोपरिणाम स्वरूप उस बिंदु से सम्बंधित अंग में कोई न कोई रोग होने लगता है। अत: जब हम इन बिंदुओं पर दबाव डालते हैं तो उस ऊर्जा का निकलना बंद हो जाता है। जिस कारण विद्युत शक्ति का प्रवाह उस अंग में सामान्य हो जाता है और रोग ठीक होने लगते हैं। यह पद्धति सीधी, सरल, कम समय, कम ख़र्च और विशुद्ध रूप से अहिंसक भी है। यह पूर्ण रूप से शरीर और

मन को शांति प्रदान कर ऊर्जा को विकसित करने वाली है। स्थानाभाव के कारण हम यहाँ पर परिचय मात्र दे रहे हैं। अत: इस पद्धति का उपयोग करने वाले व्यक्ति इस चिकित्सा से सम्बंधित विशेषज्ञ से संपर्क स्थापित कर पूर्ण रूप से लाभ प्राप्त करें। हमने चित्र के साथ बिंदुओं तथा अंगों के नाम दिए हैं जिस पर उचित दबाव डालकर ठीक किया जा सके।

अपने आत्मबल से वात, वित्त, कफ को संतुलित करें
वात रोग को शांत करने के लिए चिंता छोड़े
स्वाध्याय करें

पित्त रोग को शांत करने के लिए भय का त्याग करें
ईश्वर की शरण लें।

कफरोग को शांत करने के लिए हिंसा का त्याग करें,
स्वभाव में स्थिरता लाये।

**-RJT**
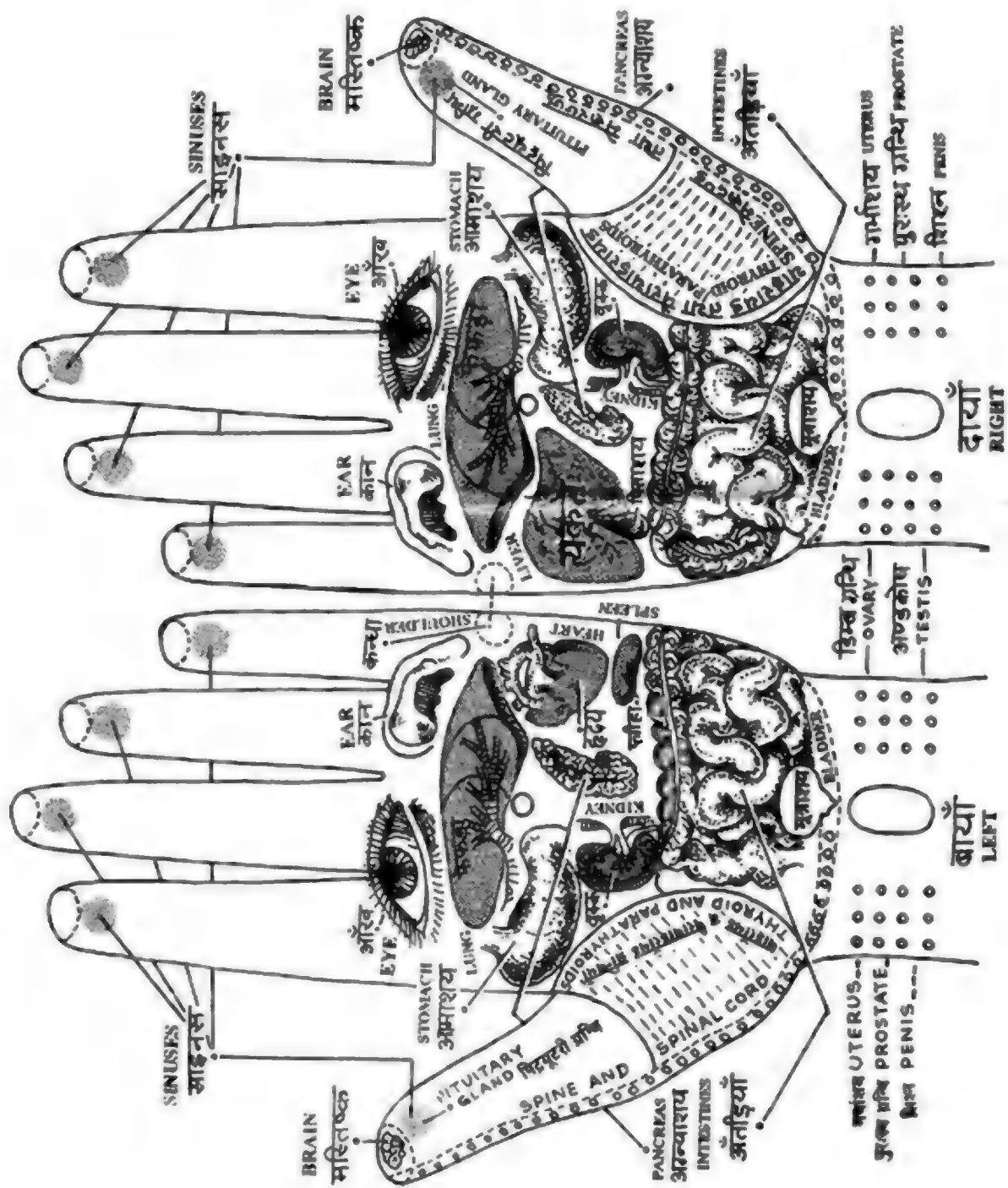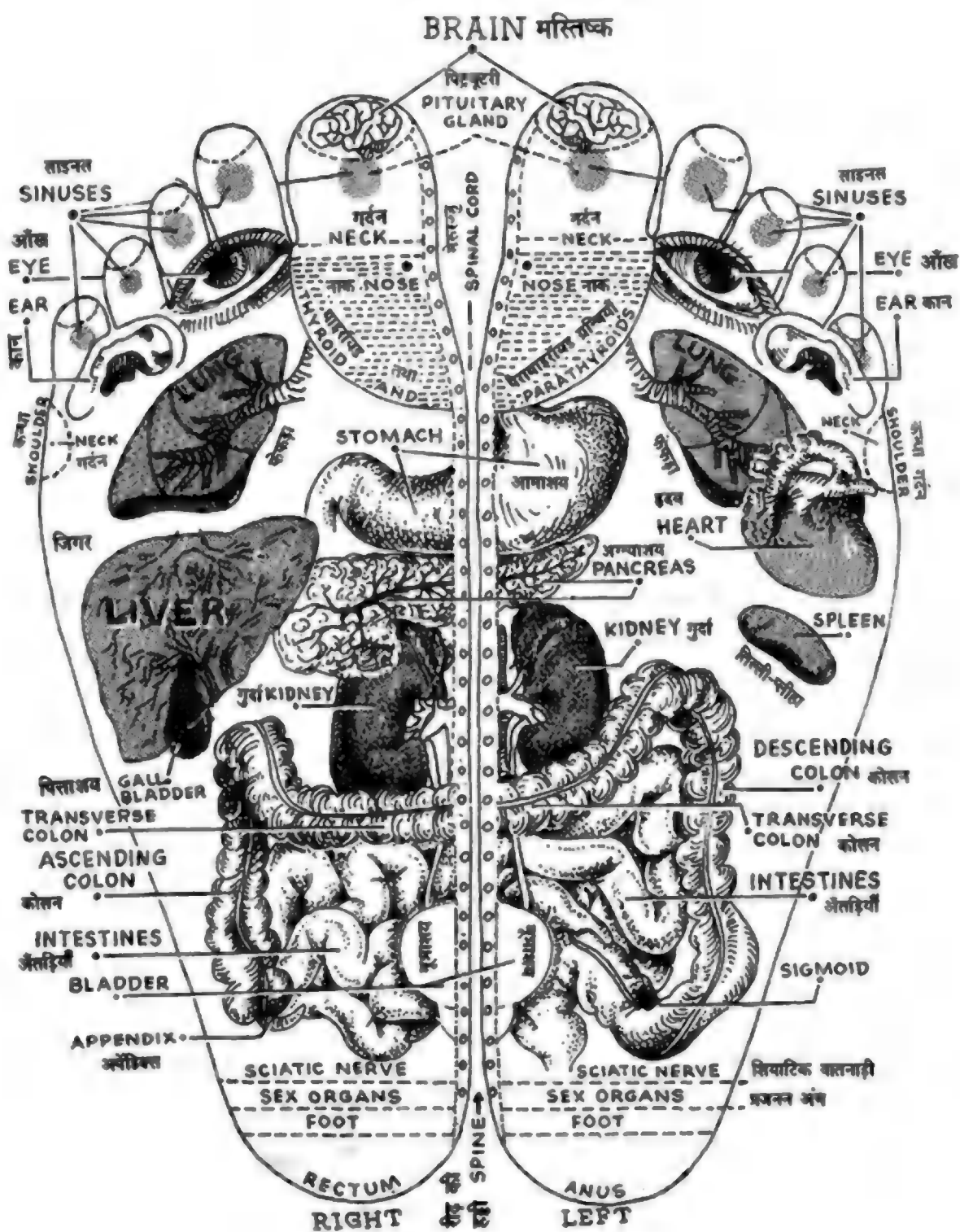
# योग और आयुर्वेद (एक अध्ययन)

प्रारंभिक योग भारतीय समाज में व्यक्तिगत साधना एवं आध्यात्मिकता का परिचायक हुआ करता था। परंतु आज के भौतिकतावादी युग में योग बहुचर्चित एवं बहुप्रासंगिकता को प्राप्त कर अंतरराष्ट्रीयता की ओर अग्रसर हुआ है। योग का स्थान व्यक्तिगत साधना एवं आध्यात्मिकता से आगे जाकर व्यापक समाज परक उपयोगिता एवं वैज्ञानिकता की ओर अग्रसर हो गया है।

आधुनिक योग, योग का एक पक्ष मात्र है जबकि योग का मूल आध्यात्मिकता है एवं यह तत्व ज्ञान एवं तत्वानुभूति का विज्ञान है।

आयुर्वेद तथा योग एक काल में उत्पन्न एवं एक ही समान लक्ष्यों को ध्यान में रखकर बनाई गई विद्याएँ हैं। आयुर्वेद की परिभाषा से ही विदित होता है कि आयुर्वेद सदैव सुखमय एवं हितकर जीवन जीने के उपरांत मोक्ष प्राप्ति का साधन रहा है। आयुर्वेद का शाब्दिक अर्थ है - आयु = जीवन, वेद = ज्ञान या विज्ञान है, जो कि जीवन जीने की कला सिखाता है।

आयुर्वेद को आरोग्य के लिए एक बहुउद्देशीय विज्ञान के रूप में विकसित किया गया है। जिसकी सहायता से जीवन के चारों लक्ष्य - धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष की प्राप्ति होती है। इनके प्रथम तीन तो सुखमय एवं हितमय आयु के द्वारा प्राप्त किए जा सकते हैं, किंतु चतुर्थ पुरुषार्थ हेतु आयुर्वेद में औषधियों के साथ-साथ योग अभ्यास का भी वर्णन किया जाता है।

आयुर्वेद शरीर, इन्द्रिय, सत्व एवं आत्म-रूप जीवन का विधान करता है वहीं योग सत्व एवं चेतना का विज्ञान है जो तत्व ज्ञान एवं तत्वानुभूति के साथ-साथ आंतरिक दुःख निवृत्ति तथा मोक्ष प्रदायक विद्या है। योग एवं आयुर्वेद दोनों ही स्वास्थ्य के क्षेत्र में क्रमशः मानस एवं चैतन्य स्वास्थ्य तथा शारीरिक एवं मानसिक स्वास्थ्य से सम्बंधित है। इस वैशिष्ट्य के होने के बाद भी योग आयुर्वेद का ही एक अंग है। संभव है कि आयुर्वेदान्त मानस एवं चैतन्य चिकित्सा का हीविस्तृत स्वरूप योग के रूप में सामने आया होगा।

साथ ही साथ अनेक विद्वानों का मत है कि शरीर, मन एवं वाणी की शुद्धता के लिए

किसी एक आचार्य ने ही शरीर हेतु आयुर्वेद, मन हेतु योग एवं वाणी हेतु व्याकरण शास्त्र की रचना की है, ये आचार्य और कोई नहीं अपितु वही योग के प्रवर्तक आचार्य पतंजलि हैं। चरक संहिता के प्रथम श्लोक की व्याख्या करते वक्त टीकाकार उक्ति देते हैं -

पतञ्जलमहाभाष्यचरक प्रति संस्कृतेः ।
मनोवाक्कायदोषाण हसेऽहियतये नमः।

आयुर्वेद के आदि ग्रंथ चरक संहिता में योग विद्या के समस्त सिद्धांत सारांश रूप में पहले ही उपलब्ध हैं। चरक संहिता के नैष्ठिकी चिकित्सा के अंतर्गत तत्व ज्ञान एवं तत्वानुभूति मूल में योग विद्या एवं सत्व बुद्धि का वर्णन प्राप्त होता है। इसी सारांश रूप योग विद्या का वर्णन पतञ्जल कृत योग सूत्र में विस्तार पूर्वक प्राप्त होता है।

श्री अत्रिदेव विद्यालंकार के अनुसार यायावर प्रजाति के कृष्ण यजुर्वेद की चरक शाखा के लोग आयुर्वेद एवं योग में प्रवीण होते थे। ये सदैव भ्रमणशील प्रकृति के हुआ करते थे, इसलिए इन्हें चरक कहा जाता है।

आयुर्वेद एवं योग के मूल सिद्धांत एवं शरीर शोधक सिद्धांत आपस में अनन्य समानता रखते हैं। आयुर्वेद की प्रमुख शरीर शोधक क्रिया पञ्चकर्म है जिसके अंतर्गत आचार्य चरक ने वमन, विरेचन, अनुवासन, अस्थापन एवं शिरोविरेचन को सम्मिलित किया है एवं योग सूत्र में महर्षि पतंजलि ने षट्कर्मों का वर्णन शरीर शोधन के रूप में किया है, जो क्रमश: धौति वस्ति नेति नौली त्राटक कपालभाती। इनमें एवं आयुर्वेदोक्त पञ्चकर्मों में अत्यधिक समानता है। यह षट्कर्म आयुर्वेद में भी पूर्ण किंतु सूक्ष्म रूप में विद्यमान है। इनका आयुर्वेद में विकास हुआ और बाद में इन्हें हठयोग में सम्मिलित कर लिया गया।

योग का मूल उद्देश्य मनुष्य को मोक्ष प्राप्ति कराना रहा है जो जीवन के विज्ञान अर्थात् आयुर्वेद का एक अंश या पक्ष मात्र है। आयुर्वेद सम्पूर्ण जीवन का मार्गदर्शक शास्त्र है एवं मोक्ष प्राप्ति आयुर्वेद का अंतिम लक्ष्य है जो आध्यात्मिक विकास से सम्बंधित है। आध्यात्मिक विकास के अतिरिक्त आयुर्वेद शारीरिक एवं मानसिक विकास का भी उपदेश प्रदान करता है।

आयुर्वेद क्रमशः मानसिक, शारीरिक, आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक कष्टों के निवारण का विज्ञान है जिसे आयुर्वेद सम्पूर्ण आरोग्य मानता है यही आरोग्य मनुष्य को पुरुषार्थ चतुष्ट्य (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) कीप्राप्ति का साधन कराता है। जबकि, योग आध्यात्मिक कष्टों का निवारण कर मोक्ष का साधन मात्र है।

जैसा कि पूर्व में कहा गया है कि मन, वाणी एवं शरीर शुद्धि हेतु एक ही आचार्य ने तीन विभिन्न ग्रंथों की रचना की है। चित्तशुद्धि हेतु पतञ्जल योगसूत्र, वाणी शोधन हेतु पतंजलकृत महाभाष्य एवं शरीर शोधन हेतु चरक संहिता (पतंजलि कृत)। इसी आधार पर

आयुर्वेद के आठ अंगों एवं योग सूत्र में वर्णित आठ अंगों में अत्यंत समानता परिलक्षित होती है।

योगसूत्र में वर्णित प्रथम अंग यम है, जिसके अंतर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह वर्णित है। इनका आयुर्वेद में क्रमशः स्वास्थ्य वृत्त, आचार, रसायन, पापकर्म, त्रि-उपस्तम्भ एवं हितआयु आदि में विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। योगसूत्र के द्वितीय अंग नियम के अंतर्गत शौच, संतोष, तप तथा स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान वर्णन है। इन्हें भी आयुर्वेद में अतिव्यवस्थित एवं सुगम्य तरीके से वर्णित किया गया है जो स्वास्थ्य-वृत्त एवं दिनचर्या आदि के प्रमुख अंग के रूप में स्थापित है। इसी प्रकार आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि इन छह अंगों का भी आयुर्वेद में विस्तार-पूर्ण, स्वच्छ, एवं प्रखर वर्णन प्राप्त होता है। इनमें भी धारणा, ध्यान, समाधि को आचार्यों ने मानसिक रोगों की प्रमुख चिकित्सा के रूप में वर्णित किया है। आयुर्वेद में वर्णित प्रज्ञा एवं योग पुरुष के लक्षण योग सूत्र में वर्णित ऋतम्भरा, प्रज्ञा एवं भगवत्गीता के योगस्थ पुरुष के समान ही हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि योग आयुर्वेद का एक अंग मात्र है। आयुर्वेद के सिद्धांतों पर गौर करने से पता चलता है कि आयुर्वेद इहलौकिक एवं परालौकिक सुखों की कामना को ध्यान में रखकर सृजित किया गया है। आयुर्वेद धर्म-अर्थकाम-मोक्ष पुरुषार्थ चतुष्ट्य एवं धन-एष्णा, प्राण-एष्णा एवं परलोक-एष्णा आदि त्रि-एष्णाओं की सफलता की प्राप्ति हेतु पथ-प्रदर्शक है। यह औषधि, आहार एवं विहार द्वारा इहलौकिक सुख की प्राप्ति का साधन है, तो आध्यात्म तत्वज्ञान एवं तत्वानुभूति द्वारा परालौकिक सुख प्राप्ति का साधन योग आयुर्वेद का एक पक्ष होने के साथ दोनों आपस में एक-दूसरे के पूरक भी हैं। जहाँ आयुर्वेदोक्त विभिन्न शुद्धि कारक उपायों के द्वारा शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक शुद्धि के उपरांत मोक्ष प्राप्ति हो जाती है वहीं योग की विभिन्न क्रियाओं द्वारा शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक शोधनोपरांत मोक्ष प्राप्ति होती है। यद्यपि योग केवल मोक्ष प्राप्ति का साधन है, किंतु जब तक व्यक्ति स्वस्थ एवं सहज नहीं होगा तब तक मोक्ष प्राप्ति की ओर अग्रसर नहीं हो सकता। इसलिए आयुर्वेद को सुखमय जीवन उपरांत मोक्ष प्रदान करने के निमित्त वाला शास्त्र होने से प्रधानता दी जाती है एवं योग को सहायक या अंग कहा जाता है।

# सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए कुछ टिप्स

- प्रातःकाल सूर्योदय से पहले बिस्तर का त्याग कर दें।
- तांबे के बर्तन में रात को पानी रखें व सुबह कम से कम दो गिलास या अधिक पीएँ।
- एक चम्मच त्रिफला का प्रयोग करें।
- नाश्ते में शुद्ध आहार लें (डिब्बा, पैकेट या शीशियों में बंद आहार का यथासंभव त्याग करें)।
- नशीले पदार्थों का सेवन त्याग दें।
- आहार में शाकाहारी भोजन, सलाद, फल, जूस इत्यादि लें।
- दोपहर के पहले आहार लेने की कोशिश करें तथा रात्रि विश्राम के 4 घंटे पहले भोजन करें तथा रात्रि को जल्दी सोएँ।
- सात्विक और शुद्ध भोज्य पदार्थ आपके ओज और तेज का तो निर्माण करता ही है साथ ही प्रसन्नता और प्रेम की भावनाओं को भी उत्पन्न करता है।
- खाँसी, छींक, जम्हाई, उल्टी, पेशाब एवं शोच को कदापि न रोकें। इन्हें रोकने से कई तरह की बीमारियाँ जन्म लेती हैं।
- जानवरों की तरह दिनभर जुगाली करना छोड़ दें। बबलगम, च्युइंगम, गुटखा, तम्बाकू, पान-बीड़ी, सिगरेट जब इनको चबाते हैं या पीते है तो ये भी आपके बहुमूल्य जीवन को चबाते हैं और पीते हैं। तो क्या आप चाहते हैं कि कोई आपके जीवन को मुफ्त में चबाए और पी जाए? अत: इनका सेवन कदापि न करें।
- रात को सोने से पूर्व हाथ, पैर एवं चेहरे को साफ़ पानी से ज़रूर धोना चाहिए। ऐसा करने से नींद अच्छी आती है और स्वास्थ्य लाभ भी होता है।
- पेट की बीमारियाँ एवं क़ब्ज़, अजीर्ण, वात, पित्त, कफ़ ये सब उपवास से

नियत्रित होते हैं।

- जीवन जीने के लिए खाना खाएँ, खाने के लिए न जिएँ।
- आहार शुद्ध होने से अंतःकरण की शुद्धि होती है। अंतःकरण की शुद्धि से निश्चल स्मृति मिलती है, स्मृति की प्राप्ति होने पर सम्पूर्ण ग्रंथियाँ खुल जाती हैं।
- वात, पित्त, कफ़; ये तीनों ही शरीर को रोगी और निरोगी बनाते हैं। इनको ध्यान में रखकर अपना खान-पान, व्यवहार, व्यायाम, दिनचर्या तथा बाकी की अन्य बातें निर्धारित करें। जिससे आप वात, पित्त, कफ़ के प्रकोप से बच सकें।
- अपने आत्मबल से वात, पित्त, कफ़ को संतुलित करें। वात रोग शांत करने के लिए चिंता का त्याग करें। पित्त रोग को शांत करने के लिए अपनी क्षमताएँ बढ़ाएँ और कफ़ रोग को शांत करने के लिए अपने स्वभाव में स्थिरता लाएँ।
- रात को दो बादाम पानी में डाल दें एवं सुबह दूध के साथ छिलका उतारकर व घिसकर खाएँ। यह आपकी स्मरणशक्ति में वृद्धि करता है तथा दिमाग तेज़ करता है।
- सूक्ष्म व्यायाम व हल्के आसन के साथ सूर्य नमस्कार करें।
- अच्छे स्वास्थ्य के लिए नियमानुसार योगाभ्यास करें।
- ध्यान व प्रभुदर्शन करें। योगासन सम्बंधी क्रियाएँ मात्र हमें अच्छा स्वास्थ्य ही प्रदान नहीं करतीं बल्कि वे हमें मानसिक स्वस्थता भी प्रदान करती हैं।
- ब्रह्मचर्य अपनाएँ, जीवन मज़बूत बनाएँ।
- मात्र योग ही आज एक ऐसा विकल्प है जिससे मेरुदण्ड में लचीलापन पैदा किया जा सकता है। यह शरीर, मन तथा मस्तिष्क को अच्छा स्वास्थ्य व सुख-शांति प्रदान करता है। कहा भी गया है कि 'स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क का निवास होता है।'
- जिसने योगाभ्यास की अग्नि से अपने शरीर की तपा लिया हो उसे फिर न कोई रोग सताता है न ही बुढ़ापा। मृत्यु भी उसके पास जाने से डरती है - उपनिषद्।
- सकारात्मक सोच रखें।
- बड़ी सोच का बड़ा जादू होता ही है, क्रियान्वित करें।
- अच्छे साहित्य पढ़ें - ऊजावान बनें।
- विनम्रता रखें, शक्तिशाली हो जाएँ।
- दिनभर व्यस्त रहते हुए भी अपनी देह के प्रति सजग रहें।

- परिवार के अन्य लोगों से अपेक्षा न करते हुए उन्हें स्नेह दें।
- दस बातों का चिंतन करें और उनका पालन करने की कोशिश करें। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, अकिंचन और ब्रह्मचर्य।
- चार चीज़ों छोड़ दें - क्रोध, मान, माया, लोभ।
- पाँच बातें ध्यान रखें, हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह - जो अपनाने योग्य नहीं हैं।
- आप दूसरों की नज़रों में कितना उठे हो, इस पर गौर मत करो। खुद की नज़रों में कितना उठे हो, इस पर गौर करो।
- दूसरों की राह में फूल बिछाना चालू कर दो। आपके रास्ते के काँटे भी फूल बन जाएँगें।
- आपको भाषाएँ कितनी आती हैं यह महत्वपूर्ण नहीं है। आप कितने संस्कारवान हैं, यह महत्वपूर्ण है।
- सिर में शुद्ध तेल की मालिश ज़रूर करें। बाज़ार के ख़ुशबू वाले तेल से बचें। नारियल का तेल, सरसों का तेल या बादाम का तेल लगाएँ, ये मस्तिष्क को ताजगी देते हैं।
- प्रतिदिन अच्छा साहित्य पढ़ने की आदत डालें। ज्ञान कभी निरर्थक नहीं जाता।
- जब शरीर में सात्विक रस रूपी मेघ बरसते हैं तब आयुष्य रूपी नदी दिन-दिन बढ़ती जाती है। - संत ज्ञानेश्वर
- ध्यान रखें मन के हारे हार है और मन के जीते जीत।
- जिसके अंदर आत्मबल है उसकी मदद देवता भी करते हैं।
- ध्यान रहे जैसे टेलीविज़न के अंदर का कोई भी पुज़ा ज़रा सा भी ख़राब हो जाता है तो तस्वीर सही नहीं आती, धुंधली आती है। रेखाएँ आती हैं या ख़राब दिखाई देता है। वैसे ही आपके शरीर का कोई अंग यदि प्रकोपित है तो आपकी ज़िदगी भी ख़राब टेलीविज़न की भाँति हो जाती है। स्वास्थ्य की तरफ़ ध्यान दें आपकी तस्वीर सदा अच्छी दिखेगी।
- ध्यान रहे जैसे टेलीविज़न के अंदर का कोई भी पुज़ा ज़रा सा भी ख़राब हो जाता है तो तस्वीर सही नहीं आती, धुंधली आती है। रेखाएँ आती हैं या ख़राब दिखाई देता है। वैसे ही आपके शरीर का कोई अंग यदि प्रकोपित है तो आपकी ज़िदगी भी ख़राब टेलीविज़न की भाँति हो जाती है। स्वास्थ्य की तरफ़ ध्यान दें आपकी तस्वीर सदा अच्छी दिखेगी।

- हमारा शरीर कई पुद्गल परमाणुओं का पुंज है। अनंत अणु तथा परमाणुओं से मिलकर बना है। वे सभी इसी ब्रह्माण्ड के असंख्य रहस्य छिपाए हुए हैं। अपने आपको जानने की चेष्टा करें। न जाने कौन सा रहस्य, कौन सी शक्ति प्रदान कर जाए।
- जैसे हम मकान बनाते समय यदि नकली माल लगा देंगे तो वह जल्दी गिर जाएगा और टूटकर बिखर जाएगा। उसी प्रकार आप जो भोजन करते हैं, उसी से आपका निर्माण होता है। अब आपके ऊपर निर्भर करता है कि आप अपने देह-रूपी मकान को कैसे बनाते हैं।

# तनाव प्रबंधन में योग की भूमिका

तनाव जीवन की प्रगति के लिए अन्य आवश्कताओं की तरह महत्वपूर्ण होता है परंतु इसका नियंत्रण के बाहर चले जाना घातक हो सकता है। योग जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण व दर्शन से तथा चिकित्सा के माध्यम से तनाव को नियंत्रित रखता है जो कि हानिरहित तथा लाभकारी होता है, जिसे 'स्ट्रेस' कहते हैं। जीवन में गति व प्रगति इसी से आती है। परंतु इसी स्ट्रेस की मात्रा जब अत्यधिक हो जाए तो 'डिस्ट्रेस' अर्थात् हताशा कहते हैं।

जीवन में आधुनिकता व आधुनिक उपकरणों के प्रवेश ने जहाँ व्यक्ति को मानव - मूल्यों से दूर किया है वहीं अतिशय तनाव एक महामारी की तरह फैल चुका है जिसके कारण नाना प्रकार की मनोकायिक बीमारियाँ जन्म ले रही हैं। योग में जहाँ एक ओर यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि का पालन व काम, क्रोध, लोभ मोह, मत्सर, ईर्ष्य, द्वेष से दूर रहना सिखाया जाता है, वहीं दूसरी ओर जीवन के उच्चतर उद्देश्यों की ओर ध्यान दिलाया जाता है। उच्चतर जीवन है, उसे जिया भी जा सकता है यह न जानने के कारण हममें से कई लोग सारा जीवन ही तनाव-भटकाव में बिता देते हैं।

तनाव के सकारात्मक उपयोग से जहाँ प्रतिस्पर्धा में अच्छे परिणाम आते हैं, अंतिम समय तक कार्य को श्रेष्ठतम रूप देने की योग्यता व ऊर्जा बनी रहती है वहीं संघर्ष में विजय कराने और हमें लापरवाह होने से बचाने में सकारात्मक तनाव की महती भूमिका है। तनाव को महत्तम रूप में उपयोगी बनाए रखने के लिए योग सहारा बनता है।

तनाव के नकारात्मक परिणाम विभिन्न प्रकार के रोगों की जन्म देते हैं जैसे- उच्च रक्तचाप, मधुमेह, क़ब्ज़, अस्वस्थ पाचन तंत्र, अल्सर, आँखों व अंगों की शक्ति कम होना, साँस फूलना, एड्रेनल ग्रंथि से अधिक स्राव का होना, अनिद्रा, चिड़चिड़ापन, उद्वेग, चिंता, भयभीत बने रहना, काम करने का मन न होना, हृदय रोग व हृदयाघात (हार्ट अटैक), मानसिक अवसाद, गठिया इत्यादि।

यम के अंतर्गत अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह व ब्रह्मचर्य का आचरण समाज में स्वस्थ व सुरक्षित परिवेश तैयार करता है। व्यक्तिगत रूप से इसका पालन सभी करें जिससे सुंदर स्वस्थ व सुरक्षित वातावरण में अनेक तनाव के कारण स्वयंमेव ओझल हो जाएँगे।

नियम के अंतर्गत शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान हमें संयमित व संतुष्ट जीवन जीना सिखाते हैं। असंतुष्टि व अतृप्ति का भाव, गलत तार्किकता तथा नकारात्मक चिंतन - तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान से ही जाता है अन्यथा जीवन बिन उद्देश्य भटकने

जैसा हो जाता है।

आसन के अंतर्गत मन शरीर के साथ जुड़कर शक्तिशाली, सहनशील, शांत व तनाव रहित बनना सिखाता है, क्षमताएँ बढ़ाता है जिसे योग की भाषा में सिद्धियाँ कहते हैं। आसनों के चिकित्सकीय लाभ सर्वाधिक मनोकायिक रोगों पर देखे गए हैं।

प्राणायाम के द्वारा मन अ-मन बनता है, भावनात्मक संतुलन बढ़ता है, मन आत्मा से जुड़ता है। आत्मिक गुणों का विकास होता है। मानव के परिपूर्ण रूप से खिलने की संभावना बढ़ती है। अंत:स्रावी प्रभावों को निष्प्रभावी कर सकने की संभावना बनती है। तब तनाव एक प्रेरक का कार्य करता है।

प्रत्याहार से इन्द्रियों को अंतर्मुखी कर उनके विषयों को अंतर में प्राप्त करने की विद्या सिखाई जाती है जिससे मन की बाहर की दौड़ कम होती है। उसका भटकाव व तनाव कम होता है।

धारणा, ध्यान, समाधि से मस्तिष्क से एल्फ़ा तरंगें निकलती हैं जो मन में शांति व सृजनशीलता लाती हैं। नींद, हास्य, खेल व एकांतवास के स्वास्थ्यकारी परिणाम देखे गए हैं परंतु ध्यान की तुलना में वे अति सीमित हैं।

योग सात्विक व संतुलित भोजन ग्रहण करने को भी प्रेरित करता है जिसके मनोविकारों पर प्रभाव को अब आधुनिक विज्ञान ने स्वीकारा है। स्वाद व उत्तेजना को तलाशने वाला मन अब भोजन से पौष्टिकता व स्वास्थ्य तलाशता है।

सर्वोत्कृष्ट प्रार्थना वही है जिसमें समस्त

जीवों के प्रति करुणा भाव हों।

**-RJT**

याद रखें - यदि आप कोई भी कार्य प्रकृति के विरोध में कर रहे

हैं तो आप ब्रह्माण्ड में उत्पन्न होने वाले नाद (दिव्य ध्वनि) की अवमानना कर रहे हैं। इनके परिणाम हमेशा विस्फोटक एवं घातक ही होते हैं। इसलिए प्रकृति के साथ प्राकृतिक रूप से एकाकार हो।

-RJT

# योग और मानसिक स्वास्थ्य

व्यक्तित्व - परिभाषा एवं घटक

भारतीय एवं विश्व दर्शन का अवलोकन करने से एक तथ्य आलोकित होता है कि जहाँ एक ओर बाहरी वातावरण व्यक्ति की जिज्ञासा का सतत् केंद्र रहा, वहीं दूसरी ओर उसने मानव जीवन के गुणों को समझने का भी पर्याप्त प्रयास किया। व्यक्तित्व के सम्बंध में लोगों की अनेक धारणाएँ हैं। इसके वैज्ञानिक अध्ययन, मापन तथा व्याख्या के अनेक प्रयास पूर्व एवं पाश्चात्य देशों में किए गए हैं। इसकी परिभाषा जो सर्वमान्य हो, उसका चयन आज भी बाक़ी है। आरंभिक दौर के कुछ मनोवैज्ञानिक, मानसिक, जैविक, रासायनिक एवं शारीरिक पक्षों पर बल देते थे तो दूसरे बाह्य व्यवहार का निरीक्षण करते थे।
निम्नलिखित विद्वानों ने समय-समय पर व्यक्तित्व को परिभाषित किया है जिसमें आलपोर्ट की परिभाषा की संतोषजनक माना गया है :

**(1) मॉर्टन प्रिंस, 1924** **(2) वॉटसन, 1924** **(3) गथरी, 1948**
**(4) मरे, 1948** **(5) गिलफ़ोर्ड, 1956** **(6) वॉरेन, 1930**
**(7) बोरिंग, 1950** **(8) परविन, 1971** **(9) आल्पोर्ट, 1961**

प्रो. गॉर्डन डब्ल्यू. आल्पोर्ट ने सन् 1937 में प्रकाशित अपनी पुस्तक 'पर्सनैलिटी: ए सायकोलॉजिकल इंटरप्रिटेशन' में व्यक्ति को इस प्रकार परिभाषित किया : "व्यक्तित्व व्यक्ति की उन मनोशारीरिक पद्धतियों का वह आंतरिक गत्यात्मक संगठन है जो कि पर्यावरण में उसके अनन्य समायोजन को निर्धारित करता है।"

आल्पोर्ट की यह परिभाषा सभी सैद्धांतिक विचारों को समाहित करती है। अधिकतर मनोवैज्ञानिक प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इसे संतोषजनक मानते हैं। परिभाषा का तीन बिंदुओं के आधार पर विश्लेषण किया जाता है, जो निम्नलिखित है :

1. मनोदैहिक व्यवस्था
2. गत्यात्मक संगठन

3. अनन्य आंतरिक समायोजन
इस तरह स्पष्ट होता है कि 'व्यक्तित्व' की अवधारणा अत्यंत व्यापक है। इसमें व्यक्ति की सम्पूर्ण विशेषताएँ निहित हैं ओर उनमें समन्वयन पाया जाता है।

व्यक्तित्व क घटक
व्यक्तित्व के कई घटक होते हैं। जिनसे व्यक्ति का व्यवहार नियंत्रित एवं निर्देशित होता है। मुख्य शीलगुण निम्नलिखित हैं -

1. सामान्य क्रियाशीलता
2. स्नायु–विकृति
3. सांवेगिक अस्थिरता
4. प्रभुत्व/अधीनता
5. विषाद
6. सामाजिकता
7. अहं शक्ति

व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारक

व्यक्तित्व व्यक्ति के आंतरिक और बाह्य विशेषताओं का गत्यात्मक संगठन है। व्यक्तित्व के विकास में जैविक, सांस्कृतिक, सामाजिक परिवेश तथा मनोवैज्ञानिक कारक विशेष प्रभाव डालते हैं। जब बालक का जन्म होता है तो उसे माता-पिता से अनेक गुण आनुवंशिक रूप से प्राप्त होते हैं। इसके अतिरिक्त परिवार, विद्यालय, सामाजिक स्वरूप तथा समूह इत्यादि बालक के व्यक्तित्व निर्माण में महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं।
व्यक्तित्व की प्रभावित करने वाले कारकों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है।

**1. जैविक 2. सांस्कृतिक 3. सामाजिक 4. मनोवैज्ञानिक**

**1.** जैविक कारक

इन्हें आंतरिक निर्धारक भी कहा जाता है क्योंकि इन पर व्यक्ति का नियंत्रण नहीं होता। इनमें मुख्य कारक अनुवांशिकता अथवा जीव जनित प्रक्रियाएँ हैं जिसके अंतर्गत अंत:स्त्रावी ग्रंथियाँ, शारीरिक संरचना, शरीर-रसायन तथा स्नायुमण्डल मुख्य हैं। व्यक्तित्व को प्रभावित करने वाले कारकों में अनुवांशिकता एवं पर्यावरण दोनों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।
आनुवांशिकता : प्रजनन शास्त्र की सहायता से व्यक्तित्व के जैविकीय निर्धारकों में आनुवांशिकता का स्थान ज्ञात करने का प्रयास किया गया है। मण्डल के सिध्दांत के आधार पर प्रजनन के तीन नियम हैं :

1. पृथक्करण का नियम
2. प्रभावशाली और गौण लक्ष्यों का नियम
3. स्वतंत्र इकाई लक्षणों का नियम

यह विदित हुआ है कि आनुवांशिकता का प्रभाव जीन्स के माध्यम से एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक पहुँचता है। जन्म के पश्चात् बालक के व्यक्तित्व निर्धारण में चार जैविकीय कारक विशेष रूप से भूमिका निर्वाह करते हैं।

**(1) अंतःस्रावी ग्रंथियाँ (2) शारीरिक संरचना**
**(3) शरीर रसायन (4) स्नायु मण्डल।**

**2.** व्यक्तित्व के सांस्कृतिक निर्धारक

प्रत्येक समाज की संस्कृति अलग-अलग होती है। व्यक्ति के खान-पान, आचार-विचार तथा व्यक्तित्व पर संस्कृति का गहन प्रभाव पड़ता है। संस्कृति के अंतर्गत रीति-रिवाज, आदतें,, परम्पराएँ, रहन-सहन, वेश-भूषा तथा खान-पान आदि प्रमुख हैं।

व्यक्तित्व पर संस्कृति के प्रभावों के विषय में प्रयोगात्मक तथा मानवशास्त्रीय प्रमाण विभिन्न अध्ययनों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं।

संस्कृति दो प्रकार की होती है - 1. भौतिक संस्कृति
2. अभौतिक संस्कृति

**3.** व्यक्तित्व क सामाजिक निर्धारक

बालक के जन्म के बाद उसे जो परिवेश प्राप्त होता है उसका स्पष्ट प्रभाव बालक के व्यक्तित्व पर दिखाई देता है। हरलॉक, 1974 के अनुसार सामाजिक परिस्थितियाँ आयु के अनुसार सीखने का निर्धारण करती हैं। ऐसा करने से व्यक्ति में 'स्व' का विकास होता है और सामाजिक उत्तरदायित्व की भावना बढ़ती है। व्यक्तित्व के सामाजिक निर्धारक उपलब्ध मूल सामग्री के पूर्ण परिवर्तन के लिए उत्तरदायी होते हैं। इनमें पारिवारिक तथा स्कूल सम्बंधी कारक अधिक प्रमुख हैं।

**4.** व्यक्तित्व के मनोवैज्ञानिक निर्धारक

**(1) बुद्धि (2) प्रेरणा (3) रुचि**
**(4) अभिवृत्ति (5) चिंता (6) कुण्ठा**
**(7) मूल्य (8) संवेग (9) जीवनशैली**

परिवार संबंधी कारक

माता-पिता तथा बालक का सम्बंध। हालों 1966, मिशेल 1958, ग्रीन स्टीन 1966 के अध्ययन -

- अति सतर्क माता-पिता
- कठोर माता-पिता
- तिरस्कार करने वाले माता-पिता
- पक्षपाती माता-पिता
- माता-पिता के आपसी सम्बंध
- परिवार का आकार
- जन्म क्रम तथा व्यक्तित्व – प्रथम, मध्यम क्रम वाले बच्चे, अतिमबालक

सामाजिक आर्थिक संस्थिति

परिवार का नगरीय अथवा ग्रामीण वातावरण व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्त्वपूर्ण है। परिवार की सामाजिक स्थिति की भांति उसकी आर्थिक स्थिति का प्रभाव भी व्यक्तित्व पर पड़ता है। अत्यंत धनी तथा अत्यंत निर्धन दोनों प्रकार के परिवेश बच्चे के समुचित विकास में बाधक सिद्ध होते हैं।

समूह का प्रभाव

व्यक्ति जिस समूह का सदस्य होता है उसकी संरचना भी उसके व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। समूह प्राथमिक अथवा गौण हो सकता है। इसकी सदस्यता अनिवार्य अथवा ऐच्छिक हो सकती है। इसी तरह नेता तथा सदस्यों का व्यक्तित्व अलग-अलग दिखाई देता है।

विद्यालय का प्रभाव

1. पाठ्यक्रम
2. शिक्षक
3. विद्यालय का सामान्य अनुशासन
4. विद्यालय के साथी
5. विद्यालय जाने की आयु

योग साधना का व्यक्तित्व निर्धारण में स्थान

योग के नियमित अभ्यास से व्यक्ति की बुद्धि-लब्धि बढ़ती है। उसमें व्याप्त कुण्ठा, चिंता,

अकेलापन तथा हीनभावनाएँ कम होती हैं। उसकी रुचियाँ परिमार्जित होती हैं। उसके मूल्य सामाजिक रूप से मान्य होते हैं। उसकी जीवन शैली आधुनिक होते हुए भी यौगिक होती है। कुल मिलाकर व्यक्तित्व का सकारात्मक विकास होता है।

## व्यक्तित्व विकास पर योग का प्रभाव

व्यक्तित्व को बाहरी व भीतरी प्रभावों के आधार पर ही ठीक तरह से समझा जा सकता है। हर क्षण हमारी जींस, हमारे अनुभव, हमारा परिवेश व हमारी स्वतंत्र इच्छाशक्ति हमारे व्यक्तित्व का निर्धारण करती रहती हैं। प्रत्येक व्यक्ति कुछ बातों में अपनी अलग विशेषता रखता है जैसे-भावनाएँ, आचरण, सामर्थ्य, आदर्शों की कल्पनाएँ इत्यादि। व्यक्ति जो भी कुछ सोचता है उस प्रत्येक क्रिया व विचार में उसके व्यक्तित्व का आविष्कार होता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व सम्बंधी परिप्रेक्ष्य इन पाँच मुख्य सिद्धांतों के अंतर्गत आते हैं :

1. मनोविश्लेषणकारी परिप्रेक्ष्य जो व्यक्तित्व को व्यवहार के गत्यात्मक रूप में दर्शाता है।
2. शील गुण परिप्रेक्ष्य जो व्यक्तित्व को व्यवहार के द्वारा परिभाषित करता है।
3. मानवतावादी परिप्रेक्ष्य जो मानव के विकास की संभावना पर ध्यान देता है।
4. सामाजिक संज्ञानात्मक परिप्रेक्ष्य जिस तरह से समाज व परिवेश के द्वारा हमारा व्यक्तित्व प्रभावित होता है उस पर ज़ोर डालता है।
5. विकासवादी परिप्रेक्ष्य जिसके अंतर्गत जीव का व्यवहार उसके विकास के अनुसार होता है।

आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार व्यक्तित्व के निम्न घटक हैं जिनको योग द्वारा संतुलित व विकसित किए जाने से व्यक्तित्व विकास होता है।

1. बुद्धि - आसन व प्राणायाम के अभ्यास के साथ-साथ त्राटक व ध्यान द्वारा बुद्धि-लब्धि बढ़ती है।
2. प्रेरणा - साधक सदा ही सकारात्मक भाव व ऊर्जा से ओत-प्रोत होता है। जिसके कारण कई अवरोधों पर विजय पाते हुए वह हमेशा ही अभिप्रेरित व जोश से भरा हुआ अनुभव करता है।
3. रुचि - रुचियों के आधार पर ही साधक अंतर्मुखी व बहिर्मुखी होता है। योग व ध्यान के द्वारा मन सांसारिक व आध्यात्मिक दोनों उपलब्धियाँ प्राप्त करता है। जब वह बहिर्मुखी होता है तो सांसारिक व अंतर्मुखी होता है तब आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त करता है। जगत में श्रेष्ठतम जीवन निर्वाह के लिए दोनों ही दिशाएँ आवश्यक हैं।
4. अभिवृत्ति - योग सेवा, प्रेम, त्याग इत्यादि आत्मिक गुणों के विकास को सिखाता है। इसलिए व्यक्ति जीवन में सदा सकारात्मक अभिवृत्ति रखता है।
5. चिंता व **6.** कुण्ठा – अकेलापन तथा हीनभावना को योग साधना कम करती है। इसके अभ्यास द्वारा अकेलापन व असहायपन के स्थान पर हमारी एकता व तादात्म्य समस्त अस्तित्व के साथ ही जाने से हम अपने आप में पूर्ण अनुभव करते हैं।

7. मूल्य - छह प्रकार के मूल्य बताए गए हैं। 1. ज्ञान प्रधान मूल्यजिससे व्यक्ति सत्य व ज्ञान की खोज में लगता है। जैसे दार्शनिक व वैज्ञानिक। 2. सौंदर्य प्रधान मूल्य - जिससे व्यक्ति जीवन के सौंदर्य में रुचि लेता है। कला व सौंदर्य उसका लक्ष्य होते हैं। जैसे चित्रकार, कवि, गायक, नर्तक इत्यादि। 3. अर्थ प्रधान मूल्य – जीवन को आर्थिक व उपयोगितावादी दृष्टिकोण से देखते हैं। जैसे उद्योगपति, व्यापारी 4. राजनीति प्रधान मूल्य- ये व्यक्ति राजनीति में अधिक रुचि रखने वाले होते हैं जैसे राजनीतिज्ञ, नेता।5. धर्म प्रधान मूल्य - धार्मिक कृत्यों में रुचि रखने वाले धर्म गुरु व साधु-संत इत्यादि इस श्रेणी में आते हैं। 6. समाज प्रधान मूल्य - समाज की विभिन्न गतिविधियों व उसके सुधार में लगे रहने वाले जैसे समाज सुधारक, समाज सेवी कार्यकर्ता इस श्रेणी में आते हैं।
   स्वयं योग में यम व नियम के अंतर्गत मूल्य भी बताए गए हैं जिनके पालन से व्यक्ति व समाज दोनों का विकास होता है। जैसे अहिंसा, सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य, शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान। यम-नियम की साधना उस परिवेश का निर्माण करती है जिसमें उपरोक्त शील गुणों का पालन आसान हो जाए।
8. संवेग - योग के द्वारा संवेगों पर नियंत्रण प्राप्त होता है अन्यथा व्यक्ति संवेगों के प्रभाव में आकर अनुपयुक्त व अवांछित कार्य कर लेता है और बाद में पछताता है।
9. जीवन शैली - उसकी जीवन शैली आधुनिक होते हुए भी यौगिक होती है। वह इन्द्रिय सुख की तुलना में आत्मिक सुखों को महत्त्व देता है। भौतिकता की दौड़ के बजाय उच्चतर लक्ष्यों की पूर्ति जैसे आत्मानुभूति में लगा रहता है।

भारतीय परिप्रेक्ष्य के अनुसार मानवीय व्यक्तित्व का मूल तत्व आत्मा है। इस आत्मा का अनुभव करना भारतीय मनोविज्ञान के अनुसार मानव जीवन का लक्ष्य है। आत्म अनुभव हो जाने से व्यक्ति के आचार व व्यवहार में परिवर्तन आता है। मानवीय व्यक्तित्व तीन गुणों व पंच कोषों का बना है। उनके संतुलन व विकास से व्यक्तित्व विकास होता है। आहार-विहार व चिंतन-मनन के नियमन से सात्विक, राजसिक व तामसिक इन तीनों गुणों में संतुलन होता है। पाँच कोषों के अंतर्गत निम्नलिखित कोष आते हैं
1. अन्नमय कोष
2. प्राणमय कोष
3. मनोमय कोष
4. विज्ञानमय कोष
5. आनंदमय कोष

योग शिक्षा व साधना के द्वारा इनके विकास से व्यक्तित्व विकास होता है।

षट्कर्म-शुद्धि क्रियाएँ

नेति, धौति, वस्ति, नौलि, त्राटक व कपाल-भाति व आसनों के द्वारा अन्नमय कोष अर्थात् स्थूल शरीर की शुद्धि व विकास होता है। प्राणायाम द्वारा प्राणमय कोष का विकास होता है। जीवन शक्ति व रोग प्रतिरोधक क्षमता का विकास प्राण की मात्रा शरीर में अधिक होने

से होती है। प्रत्याहार व धारणा द्वारा मनोमय कोष का, ध्यान द्वारा विज्ञानमय कोष का तथा समाधि द्वारा आनंदमय कोष का विकास होता है।

# प्रार्थना

प्रार्थना का शाब्दिक अर्थ - ईश्वर के प्रति आत्म निवेदन या सच्ची विनय।

पूर्ण श्रद्धा भक्ति और विश्वास के साथ ईश्वर चरणों में स्वयं को समर्पित करना ही प्रार्थना है। सच्ची प्रार्थना वही है जिसमें हम अपनी विराट् सत्ता के प्रवाह में अपने क्षुद्र अहम् का शमन करते हैं। हम अपने आंतरिक प्रकाश को विश्व में बिखेरते हुए प्रकाश में मिला देते हैं तथा अनंत अमर सत्ता की अनुभूति में अपनी तुच्छ व्यक्तिगत सत्ता का लोप कर देते हैं। ऐसा होने पर जहाँ एक ओर हमारा क्षुद्र अहम् नष्ट हो जाता है, वहिं दूसरी और वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है।

प्रार्थना वाचिक भी हो सकती है और मानसिक भी। प्रार्थना परिस्थितिजन्य भी हो सकती है। प्रार्थना के निम्न और श्रेष्ठ अनेक स्वरूप और स्तर हैं। प्रार्थना का निम्नतम स्तर वह है जब व्यक्ति अपने शत्रु के विनाश या उसकी मृत्यु के लिए अथवा किसी के अनिष्ट के लिए ईश्वर से प्रार्थना करता है। श्रेष्ठतम स्तर की प्रार्थना में स्वार्थपूर्ण चेष्टाएँ नहीं होतीं। वह पूर्णत: निष्काम होती हैं। उसमें किसी प्रकार का भोग शामिल नहीं होता।

सांसारिक विषयों में मन का भटकना प्रार्थना की प्रभावोत्पादकता को नष्ट कर देता है क्योंकि प्रार्थना में मन का पूर्ण रूप से स्थिर होना एवं अपने उपास्य में पूर्णतः केंद्रित होना अति आवश्यक है।

सच्ची प्रार्थना संक्षिप्त होनी चाहिए, क्योंकि सुदीर्घ प्रार्थना में भटकने की आशंका बनी रहती है। श्रेष्ठतम प्रार्थना सर्वोच्च स्तर तक ले जाती है, जहाँ प्रार्थना की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि उपासक अनंत में पूर्णतः विलीन हो चुका रहता है।

प्रार्थना के प्रकार

सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से प्रार्थना के तीन प्रकार हैं

- 1. सामाजिक दृष्टिकोण से प्रार्थना के प्रकार :

(अ) व्यक्तिगत प्रार्थना

(ब) सामूहिक प्रार्थना

(स) सार्वभौमिक प्रार्थना

**2.** आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रार्थना के प्रकार
(अ) सकाम प्रार्थना
(ब) निष्काम प्रार्थना
(स) अनिष्टकारी प्रार्थना

सामाजिक दृष्टिकोण से प्रार्थना के प्रकारों की व्याख्या -

**1.** व्यक्तिगत प्रार्थना

व्यक्तिगत प्रार्थना वह प्रार्थना है, जिसमें व्यक्ति स्वयं ही समर्पित होकर प्रार्थना करता है। इस प्रकार की प्रार्थना में ईश्वर के दिव्य गुणों के कीर्तन तथा देव कृपा प्राप्ति की भावना व्यक्त की जाती है। उदाहरण-
त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव ।
त्वमेव विद्या द्रविड़म् त्वमेव, त्वमेव सर्वम् मम देव-देव।

**2.** सामूहिक प्रार्थना

ऐसी प्रार्थना जो किसी समूह में या गुरु-शिष्य के मध्य, समूह के कल्याणार्थ की जाती है वह सामूहिक प्रार्थना कहलाती है। इस प्रकार की प्रार्थना का अच्छा उदाहरण वेदों व उपनिषदों में मिलता है।
उदा.- अथर्व वेद में गुरु एवं शिष्यों द्वारा एक साथ निम्नानुसार की गई प्रार्थना इस प्रकार की प्रार्थना का सुंदर उदाहरण है।
'सहनाभवतु, सहनी भुनत्तु, सहवीर्यम् करवावहै।
तेजस्विनावधीतमस्तु मा विद्विषावहै,' ॐ शांति शांति शांतिः।

**3.** सार्वभौमिक प्रार्थना

यह प्रार्थना समस्त विश्व के कल्याणार्थ की जाने वाली प्रार्थना है। इसमें प्रार्थनाकर्ता के भीतर स्वयं के लिए कोई आकांक्षा, अपेक्षा नहीं होती और न ही किसी व्यक्ति विशेष के लिए कोई कामना होती है। व्यक्ति नि:स्वार्थ भाव से सम्पूर्ण विश्व के कल्याण हेतु प्रार्थना करता है।
उदाः-
सर्वेभवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु, मा कश्चित् दुःखभागभवेत्।

आध्यात्मिक दृष्टिकोण से प्रार्थना के तीन प्रकार हैं

**1.** सकाम प्रार्थना

अपने स्वयं के तथा अपने बंधुओं मित्रों के सुख, स्वास्थ्य, धन-लाभ अथवा जय-विजय प्राप्ति हेतु की गई प्रार्थना 'सकाम' प्रार्थना है। किसी व्यक्ति के सुधारार्थ सकाम प्रार्थना इस प्रकार की जा सकती है।

सुधरे वह सुशील बन, पालन कर आचार।
कर्म धर्म में रत रहे, सब कुव्यसन निवार।

**2.** निष्काम प्रार्थना

स्वयं के चैतन्य भाव की जागृति, चित्त शुद्धि, मन की विमलता तथा पाप से निवृत्ति हेतु तथा नि:स्वार्थ भाव से परहित, परसुख, स्वास्थ्य, पदोन्नति आदि हेतु की गई प्रार्थना निष्काम प्रार्थना है। उपर्युक्त उल्लेखित अभीष्ट उद्देश्य यद्यपि एक प्रकार की कामना ही है। परंतु सांसारिक स्वार्थ न होने तथा परमार्थ होने में कर्ता का इस लोक सम्बंधी, सांसारिक सुख, यश आदि का कोई प्रयोजन न हो वह कर्म उसका निष्काम कर्म है। अतः ऐसे परमार्थ एवं आत्मकल्याण हेतु की गई प्रार्थना व्यक्ति के आध्यात्मिक उत्थान में बहुत सहायक है तथा देश के सुधार हेतु भी की जा सकती है।

उदा.- आत्म कल्याण हेतु निम्नानुसार प्रार्थना की जा सकती है।
जगे चेतना विमलतम, हो सत्य सुप्रकाश।
शांति सर्व आनंद हो, पाप ताप का नाश।
बुद्धि वृद्धि, विवेक, बल, आत्म बल बढ़ जाए।
सदिच्छा मानस बल बढ़े,धृति धर्म को पाए।

इसी प्रकार देश सुधार हेतु निष्काम प्रार्थना का एक स्वरूप इस प्रकार हो सकता है।

सदाचार सत्कर्म का, करें पालन सब लोग। मेल एकता साध के, हरे देश के रोग।

**3.** अनिष्टकारी प्रार्थना

ऐसी प्रार्थना जिसमें अपने शत्रु के विनाश अथवा किसी के अनिष्ट के लिए ईश्वर से निवेदन किया जाता है, वह अनिष्टकारी प्रार्थना कहलाती है। ऐसी प्रार्थना काम, क्रोध, लोभ, मद, मोह आदि भावनाओं से प्रेरित स्वार्थपूर्ण चेष्टाओं से प्रभावित होती है। ऐसी प्रार्थना निम्नस्तरीय प्रार्थना होती है, उसमें किसी का कल्याण नहीं होता बल्कि प्रार्थना कर्त्ता स्वयं अपने आध्यात्म पतन का कारण बनता है।

किसी को कष्ट, क्लेश देने हेतु प्रार्थना करना, किसी के शरीर को हानि या धन की हानि पहुँचाने हेतु प्रार्थना करना, अन्याय के लिए प्रार्थना करना, किसी निम्नस्तर की शक्ति को सच्चा बनाने के लिए प्रार्थना करना, किसी अपराधी को मुक्त कराने हेतु प्रार्थना करना आदि को निम्नस्तर का मानकर संतों द्वारा वर्जित किया गया है।

दैनिक जीवन में प्रार्थना की उपयोगिता व महत्त्व

मानव जीवन में प्रार्थना का बड़ा महत्त्व है। प्रार्थना की विभिन्न परिस्थितियाँ। जहाँ एक ओर संबल प्रदान करती हैं, वहीं दूसरी ओर भय मुक्त भी करती हैं। प्रार्थना जहाँ हमें जीवन जीने हेतु आधार प्रदान करती है वहीं हमारे पूरे व्यक्तित्व को भी प्रभावित करती है।

**1.** सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति का साधन

मानवीय सम्पूर्ण स्वास्थ्य के तीन पक्ष हैं। प्रथम पक्ष शारीरिक पक्ष है जो स्थूल है। द्वितीय पक्ष मानसिक है जो सूक्ष्म है तथा तृतीय पक्ष आध्यात्मिक है जो आत्मा से सम्बंधित है। इन तीनों पक्षों में एक गहरा पारंपरिक सम्बंध और तालमेल है। प्रार्थना के अभाव में आध्यात्मिक पक्ष की निरंतर अवहेलना होती जाती है। इसके परिणाम स्वरूप आत्मीय पक्ष दु:खों से भर जाता है और तत्पश्चात् मन अशांत, अस्थिर और क्लेश युक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति लंबे समय तक जारी रहने से अनेक प्रकार के मनोरोग जैसे दुश्चिंता, अकारण भय, मानसिक अवसाद उत्पन्न होते हैं। इसके पश्चात् इन मनोरोगों के कारण उच्च रक्तचाप, मधुमेह, हृदय रोग, पेट की बीमारियाँ जैसे वायुविकार, हिस्टीरिया आदि मनोकायिक रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

प्रार्थना से आध्यात्मिक पक्ष को बल एवं शक्ति प्राप्त होती है, जिसमें तनाव, द्वन्द्वों तथा विपरीत परिस्थितियों में हम अनुकूलन करना सीख जाते हैं। सतत् प्रार्थना के प्रभाव से रोगों से लड़ने की शक्ति बढ़ने लग जाती है तथा दूसरी ओर रोगों का प्रकोप भी कम होने लगता है, इसके परिणाम स्वरूप बीमारियों को दूर करने में बहुत मदद मिलती है। स्पष्ट है कि सतत् प्रार्थना से स्वरूप के तीनों पक्ष सबल बनते हैं और सम्पूर्ण स्वास्थ्य की प्राप्ति होती है।

**2.** आत्म-शोधन का साधन

प्रार्थना का हमारे जीवन में एक महत्वपूर्ण उद्देश्य है 'आत्मोन्नति"। पहले साधक अपने द्वारा किए गए पापों का पश्चाताप करता है और पापाचार को पुनः न करने का संकल्प लेता है। प्रार्थना साधक के जीवन में एक कर्तव्य परायण नियमित प्रहरी की तरह होती है जो चोरों एवं समाज विरोधी तत्वों को घर के पास आने से रोकती है। बार-बार प्रार्थना करने से साधक को बार-बार आत्म निरीक्षण का अवसर मिलता है जिससे वह दो प्रार्थनाओं की मध्यावधि में मन, वचन एवं कर्म से होने वाले स्खलनों को जान जाता है। इस प्रकार ध्यान में बैठ जाने पर प्रार्थना का स्थान पश्चाताप ले लेता है और साधक पुनः अपराध न करने का निश्चय करता है। जिस प्रकार स्नान व शोधक औषधियाँ हमारे शरीर को बाह्य एवं आंतरिक शुद्धि प्रदान करती हैं उसी प्रकार प्रार्थना भी आत्म-शोधन का साधन है।

**3.** अध्यात्मिक सामथ्र्य की प्राप्ति का साधन

प्रार्थना न केवल शोधन का कार्य करती है अपितु हमें आध्यात्मिक सामर्थ्य भी प्रदान करती

है। सतत् प्रार्थना से मन की चंचलता समाप्त होने लगती है और मन स्थिरता को प्राप्त होता है। चित्त की वृत्तियों पर साधक का नियंत्रण हो जाता है। निरंतर नियमित प्रार्थना से मानसिक एकाग्रता का स्तर भी धीरे-धीरे बढ़ने लगता है और फिर क्षुद्र अहम् का विनाश हो जाता है। इस प्रकार साधक को प्रार्थना ऐसे ऊँचे स्तर तक ले जाती है जहाँ साधक को ईश्वर को सर्वव्यापकता की अनुभूति होती है और साधक का अनंत से संपर्क संस्थापन होता है।

**4.** केकैवल्य प्राप्ति का साधन

सतत् प्रार्थना के प्रभाव से चित्त की वृत्तियों पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता है। चित्त और मन में संयम के साथ-साथ प्रार्थना से ऐसा रक्षा कवच प्राप्त होता है जो ध्यानादि के उच्च अभ्यास के समय सांसारिक प्रलोभनों से साधक के समीप पहुँचने पर साधक के मन में आध्यात्मिक सफलता का गर्व जागृत कर सकता है। ऐसी स्थिति में प्रार्थना से मन में उत्पन्न हुए इस अहम् और गर्व आदि को विनष्ट किया जा सकता है।

हमारे सामाजिक परिदृश्य में ऐसे कई महापुरुषों के उदाहरण हैं जिन्होंने प्रार्थना के द्वारा कठिन से कठिन समय में, अत्यधिक दु:खों में रहते हुए भी जीवन में सामंजस्य कर दिखाया। ईसा मसीह द्वारा अपने अंतिम समय में अत्याचारियों के कल्याणार्थ प्रार्थना करके शारीरिक घोर कष्टों से मुक्ति पाई और ईश्वर के सर्वव्यापी होने की सिद्ध किया। महात्मा गाँधी ने प्रार्थना के बल पर ही अहिंसा और सत्य को आधार बनाकर देश को आज़ादी दिलाने में अहम् भूमिका निभाई। कैवल्य प्राप्ति के लिए निग्रन्थ संत होना और आत्मा का चिंतन, मनन या निर्विकल्प ध्यान आवश्यक है।

आज के वैज्ञानिक युग में प्रार्थना की उपयोगिता पर गंभीरता से विचार करें तो हम पाएँगे कि आज प्रार्थना अनेकानेक बीमारियों को दूर करने में औषधि के रूप में प्रयोग की जा रही है। आज ॐ पर हुए अनुसंधानों से यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रार्थना (ॐ के उच्चारण के रूप में) से उच्च अथवा निम्न रक्तचाप जैसी बीमारियों को दूर कर व्यक्ति को स्वस्थ अवस्था में लाया जा सकता है।

आधुनिक जीवन में तनाव, द्वंद्व एवं नैराश्य

आधुनिक जीवन में मानसिक व्याधियों की बढ़ती संख्या के मुख्य कारण तनाव द्वंद्व व नैराश्य है। समाज में अपनी स्थिति सुदृढ़ बनाने, परिवार व समाज के आदेशों एवं मूल्य से तादात्म्य बनाने तथा स्वयं अपनी इच्छापूर्ति में विफल होने इत्यादि अवसरों पर तनाव उत्पन्न हो जाता है।

तनाव का अर्थ

मनोविज्ञान में तनाव शब्द का उपयोग कारण तथा प्रभाव के संदर्भ में किया जाता है।

मानसिक तनाव के कारण के रूप में प्रतिबल

तनाव का सम्बंध प्रतिबलक से है अर्थात् वह घटना या कारण जो मानसिक परेशानी उत्पन्न करता है। यह प्रतिबलक शारीरिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक होते हैं। जैसे-थकान, पीड़ा, बीमारी इत्यादि शारीरिक प्रतिबलक हैं। सामाजिक प्रतिबलक के अंतर्गत मानसिक गड़बड़ी के सामाजिक कारकों को लिया जाता है यथा गरीबी, बेरोज़गारी, छुआछूत आदि। मनोवैज्ञानिक प्रतिबलक का अर्थ वे घटनाएँ हैं जो व्यक्ति में मानसिक वैषम्यावस्था उत्पन्न कर देती हैं। जैसे-नौकरी छूट जाना, किसी प्रियजन की मृत्यु, वैवाहिक झगड़े इत्यादि।

मानसिक तनाव के प्रभाव के रूप में प्रतिबल

दूसरे अर्थ में तनाव का सम्बंध मानसिक स्थिति या मनोविज्ञान से है। इस अर्थ में तनाव वास्तव में किसी घटना का प्रभाव या परिणाम होता है, कारण नहीं।

विभिन्न वैज्ञानिकों ने तनाव की परिभाषा अलग-अलग तरीके से की है। मुख्य रूप से रेथस तथा नेविड 1991, रेबर 1995 तथा डेवीसन तथा नील 1996 की परिभाषा को अधिक मान्यता प्राप्त है।

तनाव के प्रकार

| | |
|---|---|
| **तीव्रता के आधार पर -** | **1. मन्द** |
| | **2. तीव्र** |
| **सत्ताकाल के आधार पर -** | **1. क्षणिक तनाव** |
| | **2. चिरकालिक** |
| **चेतना के आधार पर -** | **1. चेतन तनाव** |
| | **2. अचेतन तनाव** |
| **उन्मुखता के आधार पर -** | **1. कार्य उन्मुखी** |
| | **2. अहम् उन्मुखी** |

आधुनिक जीवन में तनाव के कारण

आज के प्रतिस्पर्धात्मक सामाजिक परिवेश में विभिन्न कारणों से व्यक्ति तनाव अनुभव करता है। भागदौड़ से अस्त-व्यस्त जीवन दिन-प्रतिदिन की माँगों से सामंजस्य बैठाने के

प्रयास में ऊब और थकान अनुभव करने लगता है। ऐसा लगता है जीवन आनंदपूर्ण और सहज नहीं रह गया है। परिवार, पड़ोस और कार्यक्षेत्र से सम्बंधित कठिनाइयों का निवारण उचित समय पर नहीं हो पाता। फलस्वरूप और अधिक तनाव उत्पन्न हो जाता है। जिसके मुख्य कारण निम्नलिखित हैं।

**1.** दैनिक कठिनाइयाँ
1. घरेलू कठिनाइयाँ
2. स्वास्थ्य से सम्बंधित कठिनाइयाँ
3. समय दबाव की कठिनाइयाँ
4. आंतरिक कठिनाइयाँ
5. पर्यावरणीय कठिनाइयाँ
6. आर्थिक उत्तरदायित्व सम्बंधी कठिनाइयाँ
7. व्यावसायिक कठिनाइयाँ
8. भविष्य सुरक्षा संबंधी कठिनाइयाँ

**2.** जीवन परिवर्तन

जीवन में अचानक, अवांछित परिवर्तन भी तनाव का मुख्य कारण है।

**3.** पीड़ा और कष्ट

शारीरिक क्षति अथवा रोग।

**4.** कुण्ठा और द्वंद्व

अपनी अथवा परिवार की आवश्यकता पूरी न कर पाने पर कुण्ठा का अनुभव होता है जो कि बाद में तनाव में बदल जाता है। द्वन्द्व भी तनाव उत्पन्न करता है।

**5.** प्राकृतिक तथा प्रौद्योगिकी जनित महासंकट

यह भी आधुनिक जीवन में तनाव के बड़े कारणों में से एक है। तूफ़ान, बाढ़, विस्फोट, महामारी आदि प्राकृतिक संकट के उदाहरण हैं। जिनका प्रभाव प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। इनसे लोग प्रभावित होते हैं और तनाव का शिकार हो जाते हैं।

प्रौद्योगिक जनित संकट भी गंभीर तनाव उत्पन्न करते हैं जैसे भोपाल गैस त्रासदी, जयपुर में पेट्रोल डिपो में आग लगना, अणु विस्फोट इत्यादि घटनाओं से आस-पास कई कि.मी. तक लोग तनावग्रस्त हो जाते हैं।

## द्वंद्व या संघर्ष

द्वंद्व के प्रकार

**1.** आगमन - आगमन संघर्ष - जब व्यक्ति के सामने दो समान शक्ति वाले धनात्मक लक्ष्य होते हैं तब यह तय नहीं कर पाता कि वह किसे पहले प्राप्त करें और किसे बाद में। जैसे पहले भोजन करें या सोने जाएँ। ऐसी दुविधा का निवारण आसान होता है। व्यक्ति पहले भोजन कर ले फिर सोने चला जाए।

**2.** परिहार - परिहार संघर्ष - इस प्रकार का संघर्ष दो प्रकार का होता है। जैसे एक ओर शेर हो और दूसरी ओर गहरी खाई! तो व्यक्ति किसे चुने ? अधिकतर व्यक्ति कोई तीसरा विकल्प चुनने का प्रयास करते हैं।

**3.** आगमन - परिहार संघर्ष - इस प्रकार के मानसिक संघर्ष में व्यक्ति एक ही समय में धनात्मक और ऋणात्मक लक्ष्यों के बीच पड़ जाता है तथा यह तय करना उसके लिए कठिन हो जाता है कि किसका चुनाव करे। उदाहरण आपको ऐसे व्यक्ति ने रात्रिभोज पर आमंत्रित किया है जिसे आप शत्रु समझते हैं। ऐसे में निमंत्रण ठुकराने से असभ्य कहलाने का भय है, निमंत्रण स्वीकार करने से अहम् को ठेस लगती है।

संघषों के स्त्रोत
1. विचिछन्न परिवार
2. माता-पिता की दोषपूर्ण मनोवृत्ति .
3. दोषपूर्ण शिक्षा प्रणाली
4. गलत व्यवसाय नियोजन
5. सामाजिक प्रतिबंध
6. विरोधी सांस्कृतिक मूल्य .
7. इड तथा सुपर ईगो का विरोधी स्वरूप

‘नैराश्य' अथवा ‘कुण्ठा' शब्द वास्तव में लैटिन शब्द से बना है, जिसका अर्थ है 'व्यर्थ' होता है।

नैराश्य के कारण

| बाह्य कारक | | आंतरिक कारक | |
|---|---|---|---|
| 1 | भौतिक कारक | 1 | शारीरिक दोष |
| 2 | सामाजिक कारक | 2 | मानसिक दोष |
| 3 | आर्थिक कारक | 3 | विरोधी इच्छाएँ या लक्ष्य |
| | | 4 | अत्याधिक अभिलाषा स्तर |
| | | 5 | अहम् की कमजोरी |
| | | 6 | ग़लत मानसिक वृत्ति |
| | | 7 | निष्कपटता एवं दृढ़ता की कमी |

नैराश्य पर प्रतिक्रिया

कुण्ठा के परिमाण, कारक व प्रकार आदि के अनुसार व्यक्ति कुण्ठा पर प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। ये दो प्रकार की होती हैं :

साधारणा प्रतिक्रिया

**1. प्रयास में वृद्धि** **2. परिस्थिति से समझौता** **3. परिहास**

**4. विनम्रता** **5. लक्ष्य-परिवर्तन**

उग्र प्रतिक्रिया

1. आतरिक आक्रात्मकता - आत्महत्या तक कर सकता है।
2. बाह्य आक्रात्मकता - नौकर, पत्नी या बच्चे को डाँटने या पीटने लगना।

नैराश्य और द्वंद दूर करने के उपाय

मानसिक संघर्ष दो प्रकार के होते हैं, जिन्हें चेतन संघर्ष तथा अवचेतन संघर्ष कहते हैं। चेतन संघर्ष का अर्थ वह संघर्ष है जो मन के चेतन स्तर पर होता है। ऐसे संघर्षों की जानकारी व्यक्ति की रहती है। इस संघर्ष के कारण तथा इसके स्वरूप व परिणाम की जानकारी भी व्यक्ति की रहती है। इसके विपरीत अवचेतन संघर्ष का अर्थ वह संघर्ष है जो अवचेतन स्तर पर होता है तथा व्यक्ति को इसकी जानकारी नहीं होती। चेतन संघर्षों का सामना तथा समाधान उनका समाधान भी कठिन होता है।

चेतन संघषों का समाधान

1. तर्क-वितर्क की अवस्था
2. निर्णय की अवस्था
3. संकल्प की अवस्था
4. प्रकट व्यवहार

अवचेतन संघषों का समाधान

मनोरचना वह मानसिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति अवचेतन रूप से मानसिक द्वन्द्वों का समाधान करता है। इन्हें प्रतिरक्षा रचनाएँ भी कहते हैं। इस मानसिक प्रक्रिया के द्वारा व्यक्ति इड (Id) तथा सुपर ईगो (superego) के विरोधी स्वरूप के कारण उत्पन्न द्वन्द्वों का समाधान मनोरचनाओं के माध्यम से करके ईगो अपने आपको चिन्ता तथा तनाव से बचाने का प्रयास करता है इसलिए इन्हें ईगो प्रतिरक्षा कहा जाता है।

मनोरचनाओं के प्रकार

1. दमन
2. रूपांतरण
3. उदात्तीकरण
4. युक्तियुक्त-करण
5. प्रतिगमन
6. प्रतिक्रिया-निर्माण

गौण मनोरचनाएँ

1. विस्थापन
2. प्रक्षेपण
3. आत्मीकरण
4. अंतः क्षेपण
5. क्षतिपूर्ति
6. प्रत्याहार एवं निषेधवृत्ति

# ध्यान का मन पर प्रभाव

ध्यान करने का मुख्य उद्देश्य मन में स्थिरता लाना है जो प्रायः मन में नहीं होती और आसानी से विचलित होती रहती है। अस्थिर मन किसी भी समस्या के निदान व समाधान के योग्य नहीं होता। इसके विपरीत, यह समस्या को और अधिक उलझा देता है। अस्त-व्यस्त मन परिस्थितियों का कुछ ही लाभ ले पाता है। अधिकतर असफल ही रहता है।

मानसिक शांति हर किसी को चाहिए जो इच्छाओं के रहते संभव नहीं। हमारी अनंत इच्छाएँ ही मानसिक अशांति का कारण हैं। मानव के समाज में रहते उसका मन सदैव चंचल बना रहता है। यदि मानव समाज में रहते हुए शांति चाहे तो ध्यान का सहारा लेना पड़ेगा अन्यथा वह परिस्थितियों व समस्याओं से पलायन करेगा।

भारतीय ऋषियों के अनुसार आत्मा ही ज्ञान का आदि स्रोत है। यह ज्ञान हृदय से तभी प्रवाहित होता है जब मन पूर्णत: शांत व अंतर्मुखी होता है। मन की अस्थिरता से ज्ञान के बहुत से दरवाज़े बंद हो जाते हैं जबकि शांत व अंतर्मुखी मन ज्ञान के नए आयामों को खोल देता है। अर्थात् ज्ञान के लिए मन की वह अवस्था चाहिए जो स्थिर, एकाग्र, शांत व अंतर्मुखी हो। अन्यथा मन व्यर्थ कल्पनाओं में खोया रहता है। मन को किसी भी कल्पना से खाली करने का उपाय है ध्यान। इससे मन सहनशील, शांत, सूक्ष्म व हल्का होता है। ध्यान के दैनिक प्रयोग से शांति लगातार प्रवाहित ही मन में शालीनता, निरहंकारिता, साहस व धैर्य जगाती है। ध्यानजनित विश्राम मन को तनावों से मुक्त करता है। निराश मन में आशा का संचार होता है। सारांश में कहें तो ध्यान द्वारा मन को एक नया ताज़गी से भरा पुनर्जीवन प्राप्त होता है।

ध्यान के द्वारा मन सांसारिक व आध्यात्मिक दोनों उपलब्धियाँ प्राप्त करता है। जब वह बहिर्मुखी होता है तब सांसारिक होता है, जब अंतर्मुखी होता है तो आध्यात्मिक उपलब्धियाँ प्राप्त करता है। जगत् में श्रेष्ठतम जीवन निर्वाह के लिए दोनों ही दिशाएँ आवश्यक हैं। मन को एक ही विषय पर प्रतिदिन एकाग्र करने पर इसकी क्षमता बढ़ती जाती है। ध्यान के इसी विज्ञान का उपयोग मन की क्षमताओं के विकास में किया जाता है। लेखकों, कलाकारों, संगीतज्ञों, चित्रकारों, गायकों, वैज्ञानिकों में इस तरह से मन की क्षमता विकसित होती देखी गई है। जाने-अनजाने हर व्यक्ति हर समय ध्यान ही कर रहा है, परंतु एक विषय पर नहीं, जिससे उसकी अंतर्निहित क्षमता जाग जाए। हाथों से काम करने वाले

श्रमिक व मन-मस्तिष्क से काम लेने वाले बुद्धिजीवी दोनों ही ध्यान द्वारा शक्ति व शांति प्राप्त करते हैं।

ध्यान से मस्तिष्क से एल्फ़ा तरंगें निकलती हैं जो मन में शांति व सृजनशीलता लाती हैं। ध्यान का प्रयोग न कर सकने वाले नींद व मन की शांति के लिए ड्रग्स का सहारा लेते देखे गए हैं परंतु उसके साइड इफ़ेक्ट्स अधिक हैं। ध्यान से मस्तिष्क के दाहिने व बाएँ दोनों गोलार्ध्दों के कार्यों में संतुलन आता है। मस्तिष्क की चयापचयन-प्रक्रिया सही कार्य करती है। ध्यान करने से इन्द्रियों की बोध क्षमता में व मन व बुद्धि की समझने व निर्णय लेने की क्षमता में आश्चर्यजनक विकास देखा गया है। स्मरण शक्ति, भावनात्मक सहानुभूति व नींद में गुणात्मक सुधार होता है। व्यर्थ चिंता व व्यसन कम होते हैं। हमारी आदतें बदलने व नई आदतें डालने में ध्यान अति सहायक सिद्ध होता है।

आध्यात्म में मन व विचारों के प्रति इतनी विमुखता क्यों पाई जाती है? इसलिए कि मन ही बंधन व मोक्ष का, सुख-दु:ख का कारण है। मन के न रहते ही न बंधन है न मोक्ष, सुख है न दु:ख। ध्यान के द्वारा मन की वह स्थिति पाई जाती है जहाँ मन-अ-मन (शांति) व नमन (ईश्वर को समर्पित) हो जाता है।

## योग से संबंधित भ्रामक धारणाएँ

योग के सम्बंध में कई तरह की भ्रामक धारणाएँ समाज में फैली हुई हैं। सामान्यतः हमारे समाज में योग के संदर्भ में सबसे पहले यह भ्रांति प्रचलित है कि योग का सम्बंध किसी व्यक्ति विशेष या किसी महान आत्मा अथवा योगी, सन्यासी से है। यह विद्या अत्यंत कठिन व कुछ व्यक्ति विशेष के लिए है सामान्य व्यक्तियों के लिए नहीं या सामान्य व्यक्ति इसका उपयोग अथवा इसकी जानकारी नहीं रख सकते हैं जो कि पूर्णतः ग़लत व भ्रामक धारणा है। जबकि इसके विपरीत योग एक सहज, सुलभ मार्ग है। अपने जीवन को, अपने शरीर को और अपने मन को सुंदर और स्वच्छ बनाने में योग की विशिष्ट भूमिका है।

योग जीवन जीने की एक कला के रूप में विकसित हुआ एक वैज्ञानिक मार्ग है जिसे हम निम्न सारिणी में आसानी से समझ सकते हैं -

**1.** योग सामान्य व्यक्ति के लिए नहीं है**?**

| क्र. | भ्रामक धारणाएँ | सही तथ्य |
|---|---|---|
| 1. | योग केवल साधु-सन्यासियों के लिए है। | योग साधु से लेकर अत्यंत सामान्य व्यक्ति तक सभी अपना सकते हैं। |
| 2. | योग के लिए ब्रह्मचर्य आवश्यक है। | योग का अभ्यास विवाहित व्यक्ति भी कर सकते हैं। |
| 3. | योग के लिए घर छोड़कर एकांतवास आवश्यक है। | व्यक्ति गृहस्थ में रहकर भी इसका अभ्यास कर सकता है। |
| 4. | योग का सम्बंध केवल हिंदू धर्म धर्म से है। | योग एक प्रायोगिक कला है। जिसे किसी भी वर्ण, धर्म या जाति से नहीं जोड़ा जा सकता। अतः हर व्यक्ति अपने आत्म-उत्थान के लिए योग का उपयोग कर सकता है। |

**2.** केवल आसन, प्राणायाम ही योग है

योग के सम्बंध में ग़लत भ्रामक धारणा यह है कि केवल आसन, प्राणायाम ही योग हैं। अधिकांश व्यक्ति आसन, प्राणायाम को ही योग समझकर एवं इसका अभ्यास करके योग की इतिश्री समझ लेते हैं, जबकि वास्तव में योग एक विस्तृत विषय है इसका परम लक्ष्य कैवल्य है जो कि व्यक्ति के विकास का सर्वोच्च शिखर है। महर्षि पतंजलि ने योग का विस्तार यम से लेकर समाधि तक अष्टांग मार्ग के रूप में हमें बताया है जिसमें आसन, प्राणायाम उसके दो अंग मात्र हैं। अत: केवल आसन, प्राणायाम ही योग नहीं हैं योग इससे कहीं आगे के सोपानों का लक्ष्य हमारे सम्मुख रखता है।

**3.** योग एक चमत्कार है

योग के संदर्भ में यह भी एक ग़लत धारणा प्रचलित है कि योग एक चमत्कार है अथवा इसका सम्बंध या इसकी उपलब्धि चमत्कारों से परिपूर्ण है जो कि हमारी भ्रामक सोच को बताती है क्योंकि योग का सम्बंध किसी तरह के चमत्कार से नहीं है। इसके विपरीत योग चमत्कार को साधना मार्ग पर आगे बढ़ने के लिए एक बाधा मानता है। योग के अंतर्गत जिस सिद्धि का वर्णन किया गया है उनका उल्लेख व्यक्ति के लिए एक चेतावनी के रूप में किया जाता हैं न कि चमत्कार के रूप में। अत: हम कह सकते हैं योग चमत्कार नहीं है।

**4.** योग एक चिकित्सा शास्त्र है

प्राचीन समय से लेकर वर्तमान युग तक योग के विभिन्न अर्थ व उपयोग व्यक्तियों द्वारा गढ़े गए। उसमें से एक भ्रामक धारणा यह है कि योग एक चिकित्सा शास्त्र है, जबकि वास्तविक तथ्य यह है कि जिस प्रकार गेहूँ के साथ चारा स्वतः ही प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार योग के अंतिम लक्ष्य कैवल्य की ओर जाने हेतु निःयोगांगों का उपयोग करते हैं। इसके कारण हमें विभिन्न बीमारियों से छुटकारा मिलने के साथ-साथ एक पूर्ण शारीरिक लाभ भी प्राप्त होता है किंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि योग एक चिकित्सा शास्त्र है।

**5.** योग केवल तत्व ज्ञान है

योग के सम्बंध में कई दार्शनिकों द्वारा चर्चाएँ करने एवं उसमें निहित तथ्यों का उपयोग करने के कारण जन सामान्य में यह धारणा भी इन्हीं से फैली है कि योग एक तत्व ज्ञान का विषय है जिसके अंतर्गत ईश्वर, आत्मा, मोक्ष इन सभी की विवेचना करते हैं। इसके विपरीत योग इन सभी की चर्चा मात्र समझने एवं हमारे मार्ग को स्पष्ट करने हेतु करता है ताकि हम जिस गंतव्य की ओर बढ़ रहे हैं उसका पृथक ज्ञान हो। चूँकि योग एक प्रायोगिक विषय भी है अत: हम कह सकते हैं कि योग केवल तत्व ज्ञान नहीं है।

**6.** योग एक व्यायाम पद्धति है

योग के सम्बंध में प्राय: लोगों की धारणा बनी हुई हैं योग एक व्यायाम पद्धति है, जिसका उपयोग शारीरिक स्वास्थ्य हेतु करते हैं, जो कि पूर्णतः ग़लत है क्योंकि योग का लक्ष्य केवल शारीरिक स्वास्थ्य नहीं अपितु मानसिक व आध्यात्मिक लाभ प्राप्त करना भी है। योग इन तीनों आयामों पर काम करता है। शरीर जीवन का आधार है जिसकी सहायता से व्यक्ति कैवल्य को प्राप्त करता है। अत: इसको स्वस्थ रखना नितांत आवश्यक है। इस हेतु योग में शारीरिक क्रियाओं को जोड़ा गया हैं किंतु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि योग व्यायाम पद्धति हैं, योग का लक्ष्य इससे कहीं ऊँचा है।

निष्कर्ष

इस प्रकार हम देखते हैं योग एक सरल व सामान्य कला है जिसे किसी भी धर्म, जाति या वर्ण का व्यक्ति चाहे वह गृहस्थ हो या ब्रह्मचारी इसके नियमित अभ्यास से लाभ प्राप्त कर सकते हैं। अत: उपरोक्त सभी भ्रामक धारणाएँ एवं उनके सम्बंध में सही तथ्यों के प्रकाश में हम योग के सम्बंध में प्रचलित भ्रांतियाँ त्याग कर योग के प्रति एक नवीन व सकारात्मक दृष्टिकोण अपना सकते हैं।

भ्रामक धारणाओं का मन पर प्रभाव

योग के सम्बंध में जनसामान्य के बीच जो भ्रामक धारणाएँ फैली हुई हैं उनके कारण समाज तथा व्यक्ति के मन पर उनका प्रभाव परिलक्षित होता है जो आगे जाकर योग तथा योगी के सम्बंध में कुप्रचार का रूप ले लेता है। ऐसी भ्रामक धारणाओं का हमारे मन पर क्या प्रभाव होता है, इन्हें निम्न बिंदुओं के प्रकाश में समझा जा सकता है :

1. योग को प्रति उदासीनता। .
2.यौगिक क्रियाओं तथा उनके अंगों के प्रति भय की प्रतीति।
3. योग के वास्तविक लक्ष्य के प्रति भ्रमपूर्ण स्थिति का निर्मित होना।
4. योग तथा योगी के प्रति हेय दृष्टि का भाव। .
5.योग ग्रंथों के प्रति अरुचि उत्पन्न होना।

भ्रामक धारणाओं के स्त्रोत

**1.** कल्पना निहित या कही-सुनी बातें

योग के सम्बंध में व्यक्तियों द्वारा केवल कल्पना के आधार पर उसके सम्बंध में एक धारणा बना लेना या कहीं भी किसी के द्वारा सुनी बातों के आधार पर एक ग़लत, भ्रामक विचारधारा का अनुसरण करना या उसके सम्बंध में अनर्गल बातें करना।

**2.** बाह्य-आडम्बर या वेशभूषा

"योगी" के सम्बंध में प्रचलित उसका बाह्य-रूप या वेशभूषा की एक रूपरेखा बनाकर हमेशा उसी दृष्टिकोण से योग या योगी के सम्बंध में सोचना या देखना।
उदाहरण- योगी बढ़ी हुई दाढ़ी व केश दोनों रखते हैं।
योगी केवल सफ़ेद या भगवा वस्त्र का धारण करते हैं।

**3.** परंपराओं की भिन्नता व संकुचित दृष्टिकोण

महर्षि पतंजलि से आधुनिक युग तक विभिन्न विभिन्न परम्परा के द्वारा या महर्षियों द्वारा योग को समझने या समझाने की अलग-अलग प्रक्रियाओं के कारण उत्पन्न भ्रमपूर्ण स्थिति तथा अपनी प्रक्रिया के प्रति अति-विश्वास होना संकुचित दृष्टिकोण को जन्म देता है।

**4.** विषय की अधूरी समझ

समाज व देश में अधिकांश उन व्यक्तियों द्वारा योग के सम्बंध में निरंतर व्याख्या करना या टिप्पणी देना, जिन्हें योग के सम्बंध में प्रायोगिक या शास्त्रीय कोई ज्ञान नहीं है, विषय की अधूरी समझ उत्पन्न करता है।

**5.** वैचारिक भिन्नता

विभिन्न मत व सम्प्रदायों या मार्ग की भिन्नता के कारण उनके द्वारा या उनके विद्यार्थियों द्वारा अपने-अपने ज्ञान को सही मानकर प्रचार करना वैचारिक भिन्नता को जन्म देता है।

**6.** बुद्धि की अपरिपक्वता

अल्प ज्ञान व अविकसित पद्धतियों के अपनाने व उसका निरंतर पालन करने के कारण एक तरह की हठधर्मिता रखना बुद्धि की अपरिपक्वता को जन्म देता है।

**7.** संकुचित परिभाषाएँ

योग एक सम्पूर्ण शास्त्र है, किंतु हठधर्मिता के चलते या अपने ही मन को सही प्रमाणित करना, ऐसी परिभाषाएँ करना जो केवल उसका वही रूप दिखाएँ जिस अर्थ विशेष को आप महत्व देते हैं, संकुचित परिभाषाओं की श्रेणी में आता है।

**8.** योग क साध्य-साधन विश्वास का अभाव

अधिकांश व्यक्तियों को यही पता नहीं होता कि योग क्या है ? या उसकी प्राप्ति क्या है? इस सम्बंध में अधूरे ज्ञान के कारण उनके द्वारा अपने ही मन के अनुसार उसके साध्य-साधन विभिन्न अंगों के बना लेना ही योग के साध्य-साधन विचार के अभाव को जन्म देता है।

**9.** योग के विभिन्न अंगों के भाव को समझने में कठिनाई

अधिकांश व्यक्तियों की योग सीखने से लेकर उसे सीख जाने के उपरांत भी यह पता नहीं होता कि उसके अंग क्या हैं ? यही नहीं उन अंगों का महत्व क्या है ? या उनका परानुक्रम क्यों है? इस कारण उनके द्वारा उल्टे-सीधे तरीक़ों से उसकी व्याख्या करना भ्रामक धारणाओं को जन्म देता है।

निराकरण के उपाय

योग के संबंध में प्रचारित भ्रामक धारणाओं के निराकरण के उपाय निम्न हैं –

1. योग के प्रति सकारात्मक दृष्टिकोण का प्रचार करना।
2. योगशास्त्रों तथा ग्रंथों को पढ़ने हेतु समाज को प्रेरित करना।
3. योग की सही व उचित जानकारी का प्रचार करना।
4. योग की क्रियाओं व आसनों का उनके लाभों सहित प्रदर्शन करना।
5. सरल एवं सुगम्य भाषा में ग्रंथों का अनुवाद करना तथा समाज में उसका प्रचार-प्रसार करना।
6. योग के साध्य पक्ष को आर्थिक आधार पर न भुनाने की शिक्षा देना।

आहार शुद्ध होने से अंतःकरण की शुद्धि होती है। अंतःकरण की शुद्धि से मन निर्मल होता है। मन की निर्मलता से आत्मा की पवित्रता बढ़ती है और आत्मा की पवित्रता से परमात्मा की निकटता प्राप्त होती है।

-RJT

# हास्य - योग चिकित्सा

हमको सिर्फ हँसना और हँसाना है : हा-हा-हा...ही-ही-ही... हो-हो-हो-हो...

आज के जनमानस को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि वह हँसना ही भूल गया है जबकि हँसना शरीर व स्वास्थ्य के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि भोजन। मनुष्य धीरे-धीरे कई प्राकृतिक चीज़े भूलता जा रहा है जिसके परिणामस्वरूप उसके अंदर कई प्रकार की विकृतियाँ आती जा रही हैं। कई व्यक्ति तो सिर्फ इसलिए नहीं हँसते कि कहीं कोई उन्हें 'गंभीरता रहित' (मज़ाकिया) न समझ ले। वहीं कुछ धनवान व्यक्ति या उच्च- पदाधिकारी भी स्वयं से निम्न श्रेणी के कर्मचारियों के साथ चाहते हुए भी नहीं हँसते, क्योंकि उनका विचार है कि 'यदि मैं भी इनके साथ हँसूंगा तो कहीं ये लोग मुझे अपने स्तर का न समझ लें।' यह सारी बातें निरर्थक हैं। हँसने से एक साथ कई प्रकार की बातें घटित होती हैं। पूरा परिवेश बदल जाता है, पूरा वातावरण निर्मल मन की सुगंध से सुगंधित हो जाता है। हर व्यक्ति के चेहरे पर मुस्कान छा जाती है। पूरे शरीर में एक प्रकार का कंपन होता है जिससे पूरा उदर-प्रदेश (पेट) प्रभावित होता है और पाचन-तंत्र की समस्त क्रियाएँ सुचारु रूप से काम करने लगती हैं। श्वास की गति नियंत्रित होती है जिससे निम्न रक्तचाप एवं उच्च रक्तचाप वालों को उचित लाभ मिलता है। फुफ्फुस/फेफड़ों में हवा के प्रकोष्ठ द्वारा अंतर का वातावरण निर्मल होता है। रक्त का संचार तेज़ होने से हृदय-प्रदेश की कार्यप्रणाली सुसंचारित होती है। पूरी 72,000 नाड़ियाँ खुल जाती हैं। इस कारण कई प्रकार के व्यायाम का लाभ स्वतः ही मिल जाता है। यदि आप हँसते हैं तो सामने वाला व्यक्ति भी हँसता है। आप मुस्कराते हैं तो सामने वाला व्यक्ति भी मुस्कराता है। कोई भी व्यक्ति चाहे कितना ही क्रोध में क्यों न हो, आपकी सटीक मुस्कराहट से वह भी प्रसन्नचित्त हो जाता है। कई कठिन से कठिन काम आसान हो जाते हैं। खुलकर जी भर कर हँसें - इससे जीवन में कई प्रकार की परेशानियों एवं तनावों से मुक्ति मिलती है। आपके अंदर एक नई ऊर्जा का संचार होता है। यह एक प्राकृतिक चिकित्सा है जो आपके अंदर की मनहूसियत एवं नकारात्मकता को दूर फेंक देती है। शायद दुनिया की यही एक मात्र ऐसी क्रिया है, जिसका बिना पैसों के ही आदान-प्रदान हो सकता है। इस क्रिया को जितना बांटेंगे उतनी ही यह बढ़ती है। यह सामाजिक परिवेश को भी मज़बूती प्रदान करती है क्योंकि जब आप समूह में हँसते हैं तो आपको महसूस होता है कि आप अकेले नहीं हैं वरन् आपके साथ शिष्टाचारी लोग भी हैं।

यदि आपके चेहरे पर हमेशा मुस्कराहट रहती है तो आपके कहीं भी पहुँचने पर वहाँ मौजूद लोगों के चेहरे पर मुस्कराहट आ जाती है और वहाँ का माहौल भी खुशनुमा हो जाता है।

हँसने से क्रोध समाप्त होता है। आपका अहंकार स्वयं चला जाता है। लोभ और मोह दोनों का लोप हो जाता है। आपके अंदर करुणा आती है। आप क्षमा, मार्दव, आजव, शौच, संयम, तप, त्याग, अकिंचन और आत्म-अनुशीलन के रास्ते पर चलने की उत्कंठित हो जाते हैं। इस प्रकार से आप कहीं धार्मिकता को भी स्पर्श कर लेते हैं।

आइए, हम सब मिलकर हँसने और हँसाने को अपने जीवन का अंग बनाएँ और अपने शरीर, मन, आत्मा का ही नहीं बल्कि पड़ोस, समाज, देश व समस्त विश्व को आनंद, प्रसन्नता व निर्मलता से परिपूर्ण कर दें।

आइए अब हँसें! हा हा हा... हो हो हो... ही ही ही...।

शांति पाठ

ॐ असतो मा सद्गमय,
तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्यर्धोमाऽमृतंगमय ।
लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।
ॐ त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिम् पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनात्मृत्योर्मुक्षीयमाऽमृतात।
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

# किस योग में कौन-सा आसन करें?

दमा, श्वास संबंधी रोग - (अस्थमा)
शीर्षासन समूह, सर्वांगासन, भुजंगासन, शलभासन, धनुरासन, वीरासन, उष्ट्रासन, पर्यंकासन, पश्चिमोत्तानासन, सुप्त वीरासन, नाड़ी-शोधन प्राणायाम, सूर्यभेदन प्राणायाम, उड्डियान बंध, योग निद्रा।

उच्च रक्तचाप- (हार्ड ब्लड प्रेशर)
पद्मासन, पश्चिमोत्तानासन, सिद्धासन, पवनमुक्तासन, नाड़ी-शोधन प्राणायाम (कुंभक न करें), सीतकारी, सीतली, चन्द्रभेदन प्राणायाम, उज्जायी, योग निद्रा। शांत भाव से बैठकर ईश्वर का ध्यान करें, एवं हमेशा बग़ैर तेल-मसाले के शाकाहारी भोजन ग्रहण करें।

निम्न रक्तचाप - (लो ब्लड प्रेशर)
सालंब शीर्षासन, सर्वांगासन, हलासन, कर्ण पीडासन, वीरासन, सूर्य नमस्कार, शशांकासन, नाड़ी-शोधन प्राणायाम, भस्त्रिका, कपाल-भाति, सूर्य भेदन प्राणायाम तथा शवासन।

मधुमेह - (डायबिटीज़) शीर्षासन एवं उसके समूह - सूर्य नमस्कार, सर्वांगासन, महामुद्रा, मंडूकासन मत्यस्येन्द्रासन, शवासन, नाड़ी-शोधन प्राणायाम (बिना अंतर्कुंभक के)।

सिर दर्द
पद्मासन, शीर्षासन, हलासन, सर्वांगासन, पवनमुक्तासन, पश्चमोत्तानासन, वज्रासन मार्जारी आसन, नाड़ी—शोधन प्राणायाम/अनुलोमविलोम प्राणायाम, योग निद्रा।

मिर्गी/अपस्मार
हलासन, महामुद्रा, पश्चिमोत्तानासन, शशाकासन, भुजंगासन और बिना कुंभक के नाड़ी-शोधन प्राणायाम, अंतर्कुंभक के साथ उज्जायी प्राणायाम, शीतली प्राणायाम, शाकाहारी भोजन, ध्यान, योग निद्रा।

आधाशीशी - (माइग्रेन)
शीर्षासन, सर्वांगासन, पश्चिमोत्तानासन, पद्मासन में ध्यान लगाएँ या सिद्धासन में ध्यान लगाएँ, वीरासन, शवासन, बिना कुंभक के नाड़ी-शोधन प्राणायाम, उद्गीथ प्राणायाम, योग निद्रा।

सीना/छाती रोग

सूर्य नमस्कार, शीर्षासन, सर्वांगासन, भुजंगासन, धनुरासन, पद्मासन, आकर्ण धनुरासन, पश्चिमोत्तानासन, अर्ध मत्येन्द्रासन, बकासन, बध्द्कोणासन, चकासन, कपोतासन, नटराजासन, पीछे झुककर किए जाने वाले आसन, उज्जायी तथा नाड़ी-शोधन प्राणायाम, योग निद्रा।

कमर दर्द
वे सभी आसन जिनकी क्रिया खड़े होकर पीछे की तरफ़ की जाती है एवं सुप्त वज्रासन, धनुरासन, भुजंगासन, अर्ध मत्स्येन्द्रासन, पर्वतासन, सर्वांगासन, शीर्षासन, चक्रासन, नाड़ी-शोधन प्राणायाम कपाल-भाति।

मस्तिष्क एवं स्मरण शक्ति के विकास के लिए
शीर्षासन एवं उसका समूह, सर्वांगासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्तानासन, योग– मुद्रासन, पादहस्तासन, पद्मासन में ध्यान या सिद्धासन में ध्यान, सामान्य त्राटक, शवासन, नाड़ी-शोधन प्राणायाम, सूर्य भेदन एवं भस्त्रिका प्राणायाम, योगनिद्रा।

पेट दर्द/उदरशूल
शीर्षासन, सर्वांगासन, हलासन, उत्तानासन, बीरासन, सुप्त वीरासन, वज्रासन एवं नौकासन, (नाभि सरकी हो तो नाभि ठीक करने वाले आसन करें)

गुर्दा रोग (किडनी)
सूर्य नमस्कार, सर्वांगासन, शीर्षासन एवं उसका समूह, हलासन, पश्चिमोत्तानासन,उष्ट्रासन, शलभासन, धनुरासन, अर्ध नौकासन, मत्यस्येन्द्रासन, भुजंगासन, हनुमानासन, कपोतासन।

नपुंसकता दूर करने व काम-शक्ति यथावत् रखने के लिए
शीर्षासन एवं उसके समूह,सर्वांगासन, उतानासन, पश्चिमोत्तानासन, महामुद्रासन अर्ध

मत्स्येन्द्रासन, हनुमानासन, कपाल–भाति, अनुलोम-विलोम, नाड़ी-शोधन प्राणायाम साथ में अंतर्कुंभक लगाएँ। उड्डियान बंध, वज्रोली मुद्रा एवं विपरीतकरणी मुद्रा।

आलस्य
शीर्षासन, सर्वांगासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्तानासन, बिना कुंभक के नाड़ी-शोधन प्राणायाम ।

दस्त
शीर्षासन और उसके समूह, सर्वांगासन, जानुशीर्षासन, बिना कुंभक के नाड़ी-शोधन प्राणायाम। नाभि की स्थिति देखें।

आँत का अल्सर
शीर्षासन एवं उससे सम्बंधित समूह, सर्वांगासन, पश्चिमोत्तानासन, योग निद्रा, अर्ध मत्स्येन्द्रासन, उज्जायी एवं नाड़ी-शोधन प्राणायाम, अंतर्कुंभक के साथ उड्डियान बंध।

उदरस्थ उल्सर
वज्रासन, मयूरासन, नौकासन, पादहस्तासन, उत्तानासन, पादांगुष्ठासन, शलभासन ।

हार्निया
शीर्षासन एवं उसका समूह, सर्वांगासन, आकर्ण धनुरासन।

अण्डकोष वृद्धि
शीर्षासन एवं उनका समूह, सर्वांगासन, हनुमानासन, समकोणासन,पश्चिमोत्तानासन, बध्द कोणासन योग मुद्रासन, ब्रहाचर्यासन,वातयनासन,वज्रासन एवं गरुड़ासन।

हृदय में दर्द/विकार
शवासन, उज्जायी प्राणायाम बिना कुंभक के, योग निद्रा, सुखासन में ध्यान या शवासन में ध्यान, एवं नाड़ी-शोधन प्राणायाम।

पेट संबंधी रोग, जैसे - कोष्ठबद्धता/कब्ज़/गैस बनना/अजीर्ण/ मल निष्कासन में परेशानी/ अम्लता एवं वात रोग/दुर्गंधित श्वास
शीर्षासन व उसका समूह, सर्वांगासन, नौकासन, पश्चिमोत्तानासन, मत्स्येन्द्रासन, रहकर करने वाले सभी आसन, वज्रासन, पवनमुक्तासन व इससे संबंधित आसन, त्रिकोणासन, महामुद्रा, शलभासन, मत्स्यासन, अर्ध चंद्रासन, शशांकासन, पादांगुष्ठासन एवं शंखप्रक्षालन वाले आसन। नाभि की स्थिति देखें।

संधिवात/जोड़ों का दर्द/वनज/मेरुदण्डीय/स्कधास्थि/गठिया
शीर्षासन तथा उसका समूह, सर्वांगासन, पद्मासन, सिद्धासन, वीरासन, पर्यंकासन,

गौमुखासन, उत्तानासन एवं पश्चिमोत्तानासन, पवनमुक्तासन समूह की क्रियाएँ।

दाँत/मसूढ़े/पायरिया/गंजापन/चेहरे की ताज़गी/झुर्रिया/ सामान्य नेत्र विकार
शीर्षासन एवं उसका समूह, सर्वांगासन, हलासन, विपरीतकरणी मुद्रा, पश्चिमोत्तानासन, शलभासन, वज्रासन (सिर के बल किए जाने वाले सभी आसन), भुजंगासन, सूर्य नमस्कार, सिंहासन एवं दृष्टि वर्धक यौगिक अभ्यासावली।

मोटापा दूर करने के लिए
ऊर्जाप्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ, सूर्य नमस्कार, शीर्षासन तथा उसका समूह, सर्वांगासन, हलासन, पवनमुक्तासन समूह की क्रियाएँ विपरीतकरणी मुद्रा एवं वे सभी आसन जो पेट सम्बंधित रोग व अजीर्णता के लिए हैं। आहार का विशेष ध्यान रखें।

पक्षेफड़े, फुफ्फुस
शीर्षासन तथा उसका समूह, सर्वांगासन, पद्मासन, सूर्य नमस्कार, लोलासन,वीरासन,खड़े होकर किए जाने वाले आसन, चक्रासन, धनुरासन, अंतर्कुंभक के साथ सभी प्राणायाम।

स्लिप डिस्क/साइटिका/कमर/मेरुदण्ड/सर्वाइकल दर्द/ स्पाँन्डिलाइटिस
खड़े रहने की क्रिया के और पीछे झुकने वाले आसन जैसे - भुजंगासन, शलभासन, धनुरासन, उत्तानपादासन, वज्रासन, सुप्त वज्रासन, गौमुखासन, ताड़ासन, उत्कटासन, मकरासन।

शरीर की लंबाई बढ़ाने के लिए

ताड़ासन, सूर्य नमस्कार, धनुरासन, हलासन, सर्वांगासन एवं पश्चिमोत्तानासन।

लकवा (पक्षाघात) पोलियो
शलभासन,धनुरासन, मकरासन, भुजंगासन, पद्मासन, सिद्धासन, कंधरासन, हलासन, सर्वांगासन, शवासन, उज्जायी तथा नाड़ी—शोधन प्राणायाम।
सबसे अच्छा यह है कि रोगी की स्थिति देखकर किसी डॉक्टर से सलाह लेकर योग क्रिया करवाई जाए। पोलियो अधिकतर जन्म से होता है और लकवा बाल्यावस्था या उसके बाद। रोग कितना पुराना है उस हिसाब से आयुर्वेदिक औषधियों के साथ योग क्रिया ज़्यादा लाभकारी रहेंगी।

रक्त अल्पता या रक्त क्षय
शीर्षासन एवं उसका समूह, सर्वांगासन, पश्चिमोत्तानासन, सूर्य नमस्कार, उज्जायी प्राणायाम, नाड़ीशोधन प्राणायाम, कपालभाति प्राणायाम ।

बवासीर (अर्श, गुदा-विकार, भगंदर )

यदि क़ब्ज़ भी है तो उसका उपाय करें। तत्पश्चात् शीर्षासन एवं उसका समूह, सर्वांगासन,हलासन, विपरीतकरणी मुद्रा, मत्सयासन, सिंहासन, शलभासन, धनुरासन, बिना कुंभक के उज्जायी, तथा नाड़ी-शोधन प्राणायाम।

खाँसी
शीर्षासन एवं उसका समूह, सर्वांगासन, उत्तानासन, जुकाम के साथ है तो सूर्यनमस्कार भी करें। पश्चिमोत्तानासन, अर्ध मत्स्येन्द्रासन एवं दमा रोग के भी आसन देखें।

अनिद्रा, चिंता, उन्माद, निराशा, मानसिक दुर्बलता
सूर्य नमस्कार एवं उसका समूह, सर्वांगासन, कूर्मासन, पश्चिमोत्तानासन, शशांकासन, योगमुद्रा, उत्तानासन बिना कुंभक के भस्त्रिका, नाड़ी—शोधन तथा सूर्य भेदन प्राणायाम साथ में भ्रामरी, मूर्च्छ, शीतली एवं सीतकारी प्राणायाम एवं योगनिद्रा अवश्य करें। योग द्वारा जीवन जीने की कला अवश्य पढ़ें। तथा उजांप्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ।

अनियमित ऋतुस्त्राव, मासिक धर्म, अण्डाशय व उससे संबंधित रोग
सर्वांगासन, भुजंगासन, वीरासन, वज्रासन, शशाकासन, माजारी आसन, योग– निद्रा, नाड़ी-शोधन प्राणायाम, मूलबंध, उड्डियान बंध,विपरीतकरणी, वजोली मुद्रा, योनिमुद्रा एवं योग मुद्रासन।

महिलाओं के लिए
अधिक मासिक स्राव के लिए बच्छद्र कोणासन, जानुशीर्षासन, पश्चिमोत्तानासन, उत्तानासन एवं पवनमुक्तासन समूह की क्रियाएँ करना चाहिए एवं महिलाएं रोग विशेष के लिए संबंधित अध्याय भी देखें।

पौरुष ग्रन्थि, मूत्र-दोष (पेशाब-विकृति)
शीर्षासन तथा उसका समूह, सर्वांगासन, हलासन, शलभासन, धनुरासन, उतानासन, नौकासन, सुप्तवज्रासन, बद्ध कोणासन, उड्डियान, नाड़ी-शोधन।

स्वप्नदोष
शीर्षासन से सम्बंधित आसन समूह, सर्वांगासन, पश्चिमोत्तानासन, बद्ध कोणासन, मूलबंध, वज्रोली मुद्रा, योनि मुद्रा, नाड़ी-शोधन प्राणायाम (अच्छी सोच रखें) एवं रात्रि को शीतल जल से हाथ पैर धोकर सोयें एवं प्रभु ध्यान करें।

जनानॉग संबंधी दोष
सूर्य नमस्कार, वज्रासन, शशांकासन, उष्ट्रासन, ताड़ासन, उक्तानासन, त्रिकोणासन, योग मुद्रासन, चक्रासन, तोलांगुलासन, धनुरासन, मकरासन, वीरासन, धनुराकर्षणासन, ब्रह्मचर्यासन, मयूरासन एवं कपालभाति प्राणायाम।

गर्भावस्था
हल्के व्यायाम (यौगिक सूक्ष्म व्यायाम) पवनमुक्तासन संबंधी आसन एवं बिना कुंभक के प्राणायाम, उचित प्रशिक्षक की देख-रेख में करें।

बाँझपन
सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, पद्मासन या सिद्धासन, चक्रासन, गरुड़ासन, वातायनासन, सभी मुद्राएँ (वज्रोली मुद्रा, योनि मुद्रा) नाड़ी-शोधन प्राणायाम, कपालभाति प्राणायाम।

निर्बल एवं कमज़ोर व्यक्तियों के लिए
प्रतिदिन प्रार्थना (भाव के साथ) एवं प्रार्थना को प्रयोगात्मक रूप से अपने जीवन में उतारें। प्राणायाम, अनुलोम विलोम कम से कम 10 से 15 मिनिट सुबह सूर्य उदय के आसपास, ध्यान योग, हल्के व्यायाम (रोग के अनुकूल) पद्मासन एवं मध्यम समूह के आसन। सम्पूर्ण स्वास्थ्य के टिप्स देंखे, किस महीने क्या खाये क्या न खाये अवश्य प्रयोग करें एवं गेंहू के ज्वारों का प्रयोग करें।

सौन्दर्य वृद्धि कारक आसन
ताड़ासन, वज्रासन पद्मासन, सूर्यनमस्कार, मत्सयासन, मार्जारी आसन, उत्तान कूर्मासन, भुजंगासन, चक्रासन, सर्वांगासन, हलासन, नौकासन, पवनमुक्तासन, मर्कटआसन, अनुलोम-विलोम प्राणायाम, कपालभाति प्राणायाम, भस्त्रिका प्राणायाम, योगनिद्रा एवं ध्यान।

दुबलापन दूर करने के लिए
दुबलेपन का एक कारण वंशानुगत भी हो सकता है। दूसरा थायरॉइड, पिट्यूटरी ग्रंथि, एड्रीनल ग्लैंड्स के कार्यों में गड़बड़ी उत्पन्न होना, हॉर्मोन्स का असंतुलन, गलत खानपान एवं सबसे बड़ा कारण चिंता भी है।

आवश्यकता से अधिक भोजन शरीर के लिए फलदायक नहीं होता, बल्कि शरीर में दोष भी उत्पन्न करता है। भोजन को आदर दें एवं प्रसन्नतापूर्वक भोजन करें। सुयोग्य आहार लें। चिंता का त्याग कर सकारात्मक सोचें। प्रतिदिन ध्यान करें तथा दुबले व कमज़ोर व्यक्तियों के अच्छे स्वास्थ्य की प्रार्थना करें। इस प्रकार की प्रार्थना आपके शरीर को सुगठित करेगी। प्रतिदिन योग व प्राणायाम अवश्य करें।

सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए
पुस्तक में दिए गए नियम एवं पवनमुक्तासन समूह के आसन शीर्षासन से आसन, व्याघ्रासन (प्रथम प्रकार), पद्मासन, योग मुद्रा, मूलबंध, नाड़ी-शोधन प्राणायाम, वज्रोली और योनि मुद्रा, महामुद्रासन एवं कपालभाति व भस्त्रिका प्राणायाम।

नोट : समस्त योगाभ्यास की संख्या बहुत अधिक होने के कारण कई बार यह निर्णय ले

पाना मुश्किल दिखता है कि कौन सा आसन करना चाहिए और कौन सा आसन नहीं करना चाहिए। यहाँ पर हमने सभी रोग/वर्ग के हिसाब से आसनों की सूची दी है। किसी योग्य शिक्षक की देख-रेख में, शरीर लोच के अनुसार, समय, रोगी और रोग की अनुकूलतानुसार, मौसम एवं अपने विवेक का प्रयोग करते हुए योगाभ्यास ध्यानपूर्वक करना चाहिए। कृपया सभी बातों का ध्यान रखें और रोगों की छुट्टी कर दें एवं आसन, प्राणायाम के साथ उनके लाभ व सावधानियों का अध्ययन अवश्य करें।

प्राणायाम करने से शरीर के सूक्ष्म कोषों के
अवरोध दूर होते हैं और उनका शोधन होते हुए
नाड़ियों में प्राणों का संचार एक समान होता है।
-RJT

आपका शरीर आपका है। इसे स्वस्थ रखेंगे तो यह
स्वर्ग जैसी सुख-सम्पदा इसी धरती पर दे देगा।
-RJT

योग साधना प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन में
अपनानी चाहिए, परंतु उचित होगा कि साधक
सर्वप्रथम योगाभ्यास से संबंधित सभी बातों को
भलीभाँति समझ लें और फिर क्रियान्वित करें।
ऐसा करने से अधिक लाभ प्राप्त होता है।
-RJT

# किस रोग में कौन-सा आसन न करें?

उच्च रक्तचाप/चक्कर आना/मानसिक रोग/जटिल हृदय रोगी/ गले से संबंधित पुराना रोग
शीर्षासन, हलासन, विपरीतकरणी, धनुरासन, सर्वांगासन (अधिक देर तक न करें) एवं प्रत्येक योगासन में दिए गए सावधानियों का ध्यान दें।

कानों में मवाद/स्थानांतरित चक्षुपटल से पीड़ित
उलट-पुलट वाले आसन।

अपेन्डिसाइटिस/हार्निया

पश्चिमोत्तानासन, योग मुद्रासन, पीछे मुड़ने वाले आसन मण्डूकासन जैसे अन्य आसन

स्लिप डिस्क/साइटिका/सर्वाइकल दर्द
सामने की तरफ़ झुक कर किए जाने वाले आसन।

गर्भावस्था के दौरान
उदर-प्रदेश पर किसी भी प्रकार का दबाव न पड़े ऐसे आसन ही करें। आसन करने से पूर्व योग्य शिक्षक से उचित परामर्श ज़रूर लें।

गर्भावस्था के बाद
प्रसूति के पश्चात् कम से कम तीन महीने तक कोई भी आसन न करें। इसके बाद हल्के-फुल्के सूक्ष्म व्यायाम किए जा सकते हैं।

महिलाओं के लिए
मासिक स्राव के समय कोई आसन न करें। सर्वांगासन, शीर्षासन मयूरासन जैसे आसन तो कदापि न करें।

विशेष नोट :

* उच्च रक्तचाप, हृदय रोग, हार्निया वाले रोगी एवं वे सभी जो उचित अभ्यास की

ढंग से क्रियान्वित नहीं कर पाते किसी योग्य योग शिक्षक की देख-रेख में ही करें।

* कहीं-कहीं हमने आसनों के नीचे भी उल्लेख किया है कि वह किस रोग से सम्बंधित है अतः कृपया अभ्यास करने से पूर्व इस बात का विशेष ध्यान रखें।
* वैसे तो योग के सभी आसन लाभ प्रदान करते हैं परंतु विशेष रूप से किसी रोग ग्रस्त व्यक्ति को यह जानकारी होना बेहद ज़रूरी है कि वह कौन सा आसन करे अथवा कौन सा आसन न करे। अतः योगाभ्यास प्रारंभ करने से पूर्व विवेक पूर्वक पुस्तक का अध्ययन करें।

वात रोग को शांत करने के लिए करुणा भाव रखें
पित्त रोग को शांत करने के लिए क्षमा भाव रखें
कफ़ रोग को शांत करने के लिए संयम रखें
**-RJT**

# अभ्यासावली - (एक नज़र)

सभी व्यक्तियों के लिए एक जैसी अभ्यासावली तैयार करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी अलग कद-काठी, अलग उम्र, अपने-अपने शरीर की लोच-लचक, विभिन्न प्रकार के विचार और रोग भी हो सकते हैं। इस पुस्तक को हमने हर प्रकार से सम्पूर्ण बनाने की कोशिश की है। अतः हमारा निवेदन है कि पुस्तक को कई बार पढ़ें और अपनी अनुकूलता के अनुसार एक पेज पर आसन प्राणायाम आदि नोट करते जाएँ। अच्छी शुरुआत करने के लिए हमने इसे निम्नलिखित भागों में बाँटते हुए प्रस्तुत किया है।

प्रारम्भिक अभ्यासावली

इसके अन्तर्गत वे व्यक्ति आएँगे, जो शुरुआत करना चाहते हैं। जो कड़क शरीर वाले हैं या जिनको कोई बहुत जटिल बीमारी है तथा किसी कारणवश मध्यम या उच्च अभ्यास नहीं कर सकते। गर्भवती स्त्रियों को भी शुरुआत के 3 से 4 महीने बहुत ही सरल आसन करने चाहिए। इन्हें भी योग-चिकित्सक से परामर्श लेने के बाद ही करें।

पहले महीने के लिए **1** घंटा

यौगिक सूक्ष्म व्यायाम/पवनमुक्तासन समूह व उर्जा प्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ 40 मिनिट। अनुलोम विलोम प्राणायाम- 10 मिनट। शवासन हास्ययोग/योगनिद्रा - 10 मिनिट।

दूसरे महीने के लिए **1** घंटा

यौगिक सूक्ष्म व्यायाम/पवनमुक्तासन समूह व उर्जाप्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ 40 मिनट। अनुलोम विलोम/उज्जायी प्राणायाम 10 मिनट। मकरासन, शवासन, योगनिद्रा/हास्ययोग 10 मिनट।

तीसरे महीने के लिए **1** घंटा

पवनमुक्तासन समूह व उर्जाप्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ 30 मिनट । वज्रासन, मार्जारी आसन, शवासन – 15 मिनट। अनुलोम विलोम प्राणायाम, उज्जायी, योगनिद्रा, हास्ययोग - 15 मिनट

मध्यम समूह

पहले महीने **1** घटा **:** ० पवनमुक्तासन समूह व उर्जाप्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ 15 मिनट। वज्रासन, मार्जारी, व्याघ्रासन (प्रथम प्रकार) शशांक आसन, भुजंगासन, ताड़ासन, अर्धशलभासन 20 मिनट। अनुलोम विलोम, उज्जायी 15मिनट। मकरासन, शवासन, योगनिद्रा, हास्य योग 10 मिनट।

दूसरे महीने **1** घंटा या **80** मिनट : ❍ पवनमुक्तासन समूह (व्यक्ति अपने हिसाब से चयन करें) सूर्य नमस्कार 2 से 3 आवृति। 15 मिनट से 20 मिनट । सुखासन, अर्ध पद्मासन, वज्रासन, शंशाकासन, भुजंगासन, तिर्यक भुजंगासन, शलभासन, ताड़ासन, त्रिकोणासन, चक्रासन, धनुरासन, हस्त पादासन, शवासन, उज्जायी प्राणायामभ्रामरी प्राणायाम, उद्गीथ प्राणायाम, योगनिद्रा, हास्ययोग।

तीसरे महीने **1** घंटा/**80** मिनट **:** ❍ सूर्य नमस्कार 2 से 3 आवृति। पद्मासन, वज्रासन, सुप्त वज्रासन, शंशाकासन, भुजंगासन, त्रियंक भुजंगासन, पश्चिमोत्तानासन, शवासन, उज्जायी, कपाल भाति (धीरे-धीरे) भ्रामरी, उद्गीथ प्राणायाम, योगनिद्रा, हास्ययोग।

मध्यम समूह के आसन के साथ कुछ उच्च अभ्यास के आसन भी शुरू कर देने चाहिए। उपरोक्त अभ्यासावली जनसामान्य के लिए तैयार की गई हैं, जिसका उपयोग गुरु की देखरेख में विवेकपूर्वक करना चाहिए। योग का समय 1 से डेढ़ घंटा रखना चाहिए। उसमें लगभग वे सभी प्रकार के आसन समूह आ जाते है। जो कि विभिन्न प्रकार की बीमारियों को दूर करने में कार्यकारी होते है।

हमें सूक्ष्मव्यायाम, स्थूल व्यायाम, उर्जाप्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाओं, पवनमुक्तासन समूह की क्रियाओं में से कुछ क्रियाओं को जो कि उस समूह को या व्यक्ति को अति आवश्यक लगती हैं, क्रमशः 10 से 15 मिनट अवश्य करें। ताकि शरीर आगे करने वाले आसनों को शक्ति प्रदान एवं जटिलताओं को दूर कर सकें। इसके बाद पद्मासन वाले समूह या ताड़ासन वाले समूह के आसनों से शुरू करें, परन्तु एक बात जो बहुत ज़रूरी और ध्यान रखने योग्य है कि हम जिस प्रकार का भी आसन करें, उसके विपरीत पोजीशन (स्थिति) वाले अभ्यास भी अवश्य करें। इस प्रकार करने से उस आसन के द्वारा कदाचित् जटिलता आ भी गई हो तो वह विपरीत आसन से दूर हो जाती है। जैसे शीर्षासन करें तो में यदि बायाँ पैर पहले रखते हैं, तो आसन समाप्ति के बाद दाहिने पैर को भी पहले रख कर करें। इस प्रकार योग की समस्त क्रिया कलापों को समझते हुए हमें जीवन में योग को अपनाकर उसका सम्पूर्ण लाभ उठाना चाहिए।

मध्यम व उच्च **:** मध्यम समूह एवं इसके बाद धीरे-धीरे उच्च अभ्यास के आसनों की सारिणी अपनी अनुकूलताओं को समझकर तैयार करें।

## प्रतिदिन के हिसाब से किए वाले आसन

सोमवार : वायु निरोधक क्रियाएँ, गतिमय अद्धासन, गतिमय गोमुखासन, मकरासन, गतिमय मकरासन, सर्पासन, अर्ध शलभासन, शलभासन, प्राणायाम, योगनिद्रा

(सूक्ष्म व्यायाम अपनी अनुकूलता के अनुसार से 5 मिनिट तक करें)

मंगलवार : उदर प्रदेश की क्रियाएँ, त्रिर्यक भुजंगासन, विपरीत नौकासन, प्राणायाम, उज्जायी प्राणायाम, योग निद्रा (सूक्ष्म व्यायाम अपनी अनुकूलतानुसार)

बुधवार : शक्तिबंध की क्रियाएँ, गोमुखासन, गतिमय गोमुखासन, शलभासन उद्गीथ प्राणायाम, कपाल भाति प्राणायाम, योग निद्रा (सूक्ष्म व्यायाम अपनी अनुकूलतानुसार)।

गुरुवार : वायुनिरोधक क्रियाएँ, सूक्ष्म व्यायाम की क्रियाएँ अपनी अनुकूलतानुसार पद्मासन, सिध्दासन, वज्रासन, आनंद मदिरासन, पादादिरासन, मार्जार आसन, ताड़ासन, त्रिकोणासन, सूर्यनमस्कार, उज्जायी प्राणायाम, कपालभाति प्राणायाम, बाल मचलन क्रिया,योग निद्रा।

शुक्रवार : उदर प्रदेश की क्रियाएँ, पद्मासन, मुक्तासन, शशांक आसन, उष्ट्रासन, व्याम्रासन (प्रथम प्रकार) ताड़ासन, त्रिकोणासन, गतिमय त्रिकोणासन, पादहस्तासन, सर्वांगासन, हलासन, पश्चिमोत्तानासन, उदगीथ प्राणायाम, उज्जायी प्राणायाम कपाल भाति प्राणायाम योगनिद्रा।

शनिवार : शक्ति बंध की क्रियाएँ, ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन, कटिवृत्तासन, पद्मासन, बध्द पद्मासन, पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन, हलासन, धनुरासन, चक्रासन, मार्जार आसन, व्याघ्रासन (प्रथम प्रकार) गोमुखासन, गतिमय गोमुखासन, शशांकासन, मण्डूकासन, वज्रासन, सूर्यनमस्कार, हास्य योग, उज्जायी प्राणायाम, भस्त्रिका प्राणायाम, कपाल भाति प्राणायाम, योग निद्रा।

रविवार : पवनमुक्तासन समूह की क्रियाएँ (अनुकूलतानुसार) उर्जादायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ, पद्मासन, बद्ध पद्मासन, वज्रासन, शशांकासन, मण्डूकासन, मार्जार आसन, व्याघ्रासन (प्रथम प्रकार), पश्चिमोत्तानासन, गतिमय पश्चिमोत्तानासन, सर्वांगासन, हलासन चक्रासन,धनुरासन, भुजंगासन, तिर्यक भुजंगासन, ताड़ासन तिर्यक ताड़ासन, भस्त्रिका, अनुलोम विलोम प्राणायाम, योग निद्रा, हास्य योग।

ये जो सारिणी है वह हमने जन सामान्य के लिए बनाई हैं। आप अपने शारीरिक अवस्था के अनुरूप सब आसनों को क्रमपूर्वक कर अभ्यास में लाएँ व ऊर्जा प्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ, पवन मुक्तासन समूह की क्रियाएँ यौगिक सूक्ष्म व्यायाम तथा स्थूल व्यायाम को अपनी अवस्थानुसार चयन कर प्रयोग में लाएँ

बच्चों के लिए योग

चाहे बच्चों के शारीरिक विकास की बात हो या मानसिक क्षमता को विकसित करने की बात, योग भी उनके जीवन के लिए उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना खेलकूद या अन्य गतिविधियाँ।

बच्चों के क्रमिक विकास के लिए योग को अनिवार्य कर देना चाहिए। बच्चे अपने शरीर में

नियमित अभ्यास से लोचलचक पैदा कर उच्च अभ्यास को भी आसानी से कर सकते हैं। प्रतिदिन योगाभ्यास करने से शरीर के सभी अंग सुचारू रूप से कार्य करने लगते हैं।

लगभग 8 वर्ष से लेकर 16 वर्ष की उम्र तक बच्चों का जीवन गीली मिट्टी की तरह होता है। जैसा बनाओ वैसे बन जाता है अतः बच्चों को अष्टांग योग में यम और नियम की भी शिक्षा देकर उनकी संस्कारवान बनाकर उनके भविष्य में उज्ज्वलता लाई जा सकती हैं।

स्मरण शक्ति बढ़ाने, लंबाई बढ़ाने, दृष्टि दोष दूर करने जैसे शारीरिक एवं मानसिक आवश्यकताओं को पूरा करने का सबसे अच्छा माध्यम सम्पूर्ण योग शिक्षा ही है। इसलिए बच्चों को योग अपने जीवन में अवश्य अपनाना चाहिए।

हम यहाँ पर एक संक्षिप्त अभ्यासावली दे रहे हैं। सबसे पहले बच्चों को यौगिक सूक्ष्म व्यायाम, यौगिक स्थूल व्यायाम, पवनमुक्तासन समूह की क्रियाओं को एवं ऊर्जा प्रदायक विशेष आसन व क्रियाओं को लगभग 2 से 6 महीने तक सीखना चाहिए। ऐसा करने से शरीर में स्फूर्ति, एक नई ताजगी व सुदृढ़ता आएगी एवं योग में रुचि बढ़ेगी।

क्रमशः हल्के फुल्के योग, अनुलोम-विलोम प्राणायाम, उज्जायी, भ्रामरी, उद्गीथ प्राणायाम एवं योग निद्रा के अभ्यास से वे अपने अंदर एक नया आत्म-विश्वास पैदा कर सकते हैं, जो बच्चों के भविष्य के लिए एक उपलब्धि से कम नहीं होगा। बच्चे अपनी अनुकूलतानुसार अपने लिए योग अभ्यास हेतु सारिणी तैयार करवा लें एवं नियमित अभ्यास करके इस कला को आत्मसात् करें।

### महिलाओं के लिए योग

महिलाएँ अपने स्वास्थ्य के लिए सबसे ज़्यादा चिंतित रहती हैं। अधिकतर महिलाएँ मानती हैं कि उन्हें कोई न कोई बीमारी लगी रहती है। बहुत ही कम महिलाएँ अपने आप को पूर्णतः स्वस्थ मानती हैं। आज महिलाओं का जीवन पहले की अपेक्षा काफ़ी बदल गया हैं। क्योंकि पहले की स्त्रियाँ सुबह से शाम तक घरों के काम में लगी रहती थीं। इस कारण अनजाने में ही योग की क्रियाएँ हो जाया करती थीं। जैसे सूर्योदय से पहले उठना, झाड़ू लगाना, साफ सफाई करना, बिलोना, मक्खन निकाल कर घी बनाना। उन्हें ऐसे कई कामों में व्यस्त रहना होता था एवं इसी कारण दिनभर की थकान की वजह से रात्रि को नींद भी अच्छा आया करती थी, परन्तु आज का वातावरण, परिवेश व परिस्थियाँ बदल गई हैं। आज की महिलाएँ नौकरी एवं व्यवसाय को सँभालने लगी हैं। अतः घरों में उनके काम करने की ज़िम्मेदारी नौकर-चाकरों और विद्युत मशीनों ने ले ली है। साथ ही और भी कई कारण आज प्रकट हो गये हैं। इसीलिए आजकल महिलाओं को कई बीमारीयाँ बहुत जल्दी घेर लेती हैं जैसे मोटापा, कमरदर्द, प्रदर, हिस्टीरिया, सिरदर्द, वायु दोष, ल्यूकेरिया, अनिद्रा, मधुमेह, हृदय रोग, कब्ज, गठिया एवं मानसिक तनाव आदि।

योगाभ्यास ही एक ऐसा माध्यम है, जो उनको सम्पूर्ण स्वास्थ्य के साथ सुन्दरता प्रदान कर सकता है। अतः नियमित रूप से प्रतिदिन 1 घंटा योगासन व प्राणायाम के लिए निकालना अतिआवश्यक हो गया है। इस पुस्तक को पढ़कर अपने रोगानुसार आसन-प्राणायाम का चयन कर लें। इससे महिलाएँ अपने सम्पूर्ण स्वास्थ्य के लिए निम्नलिखित आसनों का अभ्यास कर लाभ प्राप्त कर सकती हैं।

सरल अभ्यास से शुरू करें, जैसे यौगिक सूक्ष्म व्यायाम, यौगिक स्थूल व्यायाम पवनमुक्तासन समूह के अभ्यास, ऊर्जा प्रदायक आसन व क्रियाएँ, अर्ध पद्मासन, पद्मासन, वज्रासन, शशांकासन, भुजंगासन, तिर्यक भुजंगासन, चक्रासन, शलभासन, मकरासन, गोमुखासन, उष्ट्रासन, ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन, पादहस्तासन, त्रिकोणासन, हस्तोत्तानासन, पश्चिमोत्तानासन, मंडूकासन, मार्जारी आसन, सर्वांगासन, विपरीतकरणी, शवासन योगनिद्रा आदि। नाड़ी शोधन प्राणायाम आदि योगाभ्यास करके महिलाएँ स्वस्थ सुंदर हो सकती हैं।

इस प्रकार महिलाएँ स्वयं स्वस्थ रहकर अपने परिवार वालों को भी स्वास्थ्य प्रदान करने में मदद कर सकती हैं।

कार्यालयों में काम करने वाले व्यक्तियों के लिए योग

कार्यालियों में काम करने वाले व्यक्ति स्वयं थोड़ा सा परिवर्तन ला कर स्वस्थ रह सकते हैं। जैसे कार्यालय में पहुँचते ही मानसिक रूप से तरोताजा महसूस करें और मुस्कराते हुए कुर्सी पर बैठे, मेरुदण्ड सीधा रखे एवं आँखें बंद कर ॐ का या अपने इष्ट का उच्चारण करें। पाँच बार लम्बी गहरी श्वास लें व छोड़ें। इसके बाद आत्मविश्वास के साथ कार्य करने हेतु तैयार हो जाएँ।

चूँकि टेबल-कुर्सी में काम करते रहने से मेरुदण्ड, गर्दन, आँखों और मस्तिष्क पर अधिक जोर पड़ता है। अतः कुर्सी पर बैठने के तरीके में परिवर्तन लाएँ। मेरुदण्ड सीधा रखें। गर्दन झुकाकर काम करने से गर्दन में विकार उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए कुर्सी पर बैठे-बैठे ही ग्रीवा शक्ति विकासक क्रिया को 2 से 5 मिनट करें। आँखों के लिए दृष्टि वर्धक क्रियाओं को अवश्य करें एवं मानसिक विकास के लिए योगनिद्रा, ध्यानयोग व प्राणायामों को नियमित रूप से प्रातःकाल में करें।

सुबह 1 घंटे का समय निकालें। सबसे पहले सरल अभ्यास से शुरू करें। पवनमुक्तासन समूह के अभ्यास, उर्जाप्रदायक आसन एवं क्रियाएँ, अर्धपद्मासन, पद्मासन, बद्ध पद्मासन, वज्रासन, शशांकासन, मंडूकासन, भुजंगासन, तिर्यक ताड़ासन, तिर्यक ताड़ासन आदि अभ्यास एवं प्राणायाम में अनुलोम विलोम, उज्जायी, भस्त्रिका, कपालभाति, उदगीथ व भ्रामरी प्राणायामों को करें तत्पश्चात् योगनिद्रा अवश्य करें।

हमने उपरोक्त आसन एवं प्राणायामों को सरलता के हिसाब से दिया है। आप पूरी पुस्तक को पढ़कर अपने रोगानुसार आसनों व प्राणायामों एवं अन्य अभ्यासों की सारिणी बना लें एवं प्रसन्नचित्त मन से प्रतिदिन अभ्यास करना शुरू कर दें।

# राष्ट्रीय योग प्रतियोगिता

## नियमावली

1. राष्ट्रीय योग प्रतियोगिता बालक एवं बालिकाओं के लिए पृथक-पृथक तीन आयु समूहों में आयोजित होगी।
   1. मिनी ग्रुप (14 वर्ष तक)
   2. जूनियर ग्रुप (17 वर्ष तक)
   3. सीनियर ग्रुप (19 वर्ष)
2. एक दल में 7 प्रतिभागी होंगे। 'ए' ग्रुप की प्रतियोगिता में 4+1 'बी' ग्रुप की प्रतियोगिता (आर्टिस्टिक) में एक प्रतिभागी एवं 'सी' ग्रुप की प्रतियोगिता (रिदमिक) में एक प्रतिभागी सम्मिलित होंगे। इस प्रकार 7 बालक + 7 बालिकात्र 14 प्रतिभागी होंगे।
3. योग आसन प्रतियोगिता हेतु 18 आसन ए, बी एवं सी समूह में विभाजित हैं।

| ए ग्रुप | बी ग्रुप | सी ग्रुप |
|---|---|---|
| पश्चिमोत्तानासन | पूर्ण चक्रासन | व्याघ्रासन |
| धनुरासन | गर्भासन | उत्मंगासन (पद्म बकासन) |
| सर्वांगासन | कुक्कुटासन | सांख्यासन |
| मत्स्यासन | बकासन | उत्थित पादहस्तासन |
| मत्स्येन्द्रासन | भूमासन | टिट्टिभासन |
| उत्तानपादासन | शलभासन | शीर्षासन |

4. समय : 'ए' ग्रुप के आसन हेतु 14 वर्ष के लिए 1 मिनट एवं 17 से 19 हेतु 2 मिनट निर्धारित हैं। 'बी' ग्रुप के आसन हेतु 20 सेकंड मिनी ग्रुप के लिए तथा 30 सेकंड जूनियर एवं सीनियर हेतु निर्धारित हैं। 'सी' ग्रुप हेतु मिनी ग्रुप वालों के लिए 15 सेकंड एवं जूनियर एवं सीनियर हेतु 20 सेकंड निर्धारित हैं। ए, बी एवं सी ग्रुप से 1 + 1 + 1 = 3 आसन करने होते हैं। 18 आसनों के अतिरिक्त 2 आसन प्रतिभागियों को पृथक से करने होते हैं। उस हेतु सभी के लिए समय सीमा 10 सेकंड निर्धारित है।

किसी भी स्थिति में समय सीमा नहीं बढ़ाई जा सकती है, यदि निणायक दल सहमत है तो समय सीमा कम की जा सकती है।

5. आसनों का चयन : 'ए' एवं 'बी' समूह से आसनों हेतु ड्रा द्वारा आसनों का चयन बालकों एवं बालिकाओं हेतु प्रत्येक आयु समूह हेतु किया जाता है। 'सी' समूह का आसन प्रतिभागी अपने मन से करता है। एक बार आसन का चयन करने के उपरांत आसनों को बदला नहीं जा सकता है।

6. 'ए' एवं 'बी' समूह के आसनों को सम्पादित करते समय कोई अवसर नहीं दिया जाता है, जबकि सी समूह के आसनों हेतु तीन अवसर दिए जाते हैं।

7. आसनों की मार्किंग करते समय निम्न बिन्दुओं पर ध्यान दिया जाता है। आसन लगाने का ढंग तथा वापस आने के तरीके हेतु 1-1 अंक निर्धारित है। निर्धारित समय सीमा तक रुकने हेतु 2 अंक निर्धारित हैं। परफ़ेक्ट पोश्चर हेतु 4 अंक तथा बिना तनाव एवं कपन के आसन लगाने पर 2 अंक प्रदान किए जाते हैं। इस प्रकार कुल 10 अंक प्रत्येक आसन हेतु निर्धारित हैं।

8. स्वैच्छिक आसनों को ए, बी एवं सी तीन भागों में विभक्त किया गया है। जिसके लिए क्रमशः 10, 8 एवं 6 अंक निर्धारित हैं।

9. निर्णायक दल : बालक एवं बालिकाओं हेतु दो पृथक निर्णायक दल नियुक्त होते हैं। प्रत्येक दल में 8 व्यक्ति होते हैं, जिसमें से 1 मुख्य निर्णायक, 5 निष्णायक, 1 स्कोरर, 1 टाइम कीपर होता है।

10. प्रत्येक निर्णायक स्कोरिंग शीट पर अपने अंक अंकित करता है एवं आसन समाप्त होने के उपरांत उसे डिस्प्ले पट्टिका पर डिस्प्ले करना होता है। स्कोर शीट पर अंकित करना होता है।

11. निर्णायक अवलोकन हेतु स्वतंत्र होते हैं यदि आवश्यक समझें तो किसी आसन को वे पुनः लगाने हेतु निर्देशित कर सकते हैं।

12. परिधान (ड्रेस) : ट्रेक सूट पहनकर आसन लगाना प्रतिबंधित है। शॉर्ट्स, स्लैक्स, स्वीमिंग कॉस्ट्यूम पहनना अनिवार्य है। प्रतिभागियों हेतु टाइट अंडरवियर (विथ इलास्टिक) पहनना अनिवार्य है।

13. समान अंक आने पर अंकों का निर्धारण :

(अ) सभी निर्णायकों द्वारा प्रदत्त अंकों के योग के आधार पर।

(ब) यदि फिर भी अंक बराबर होते हैं तो ऐच्छिक 2 आसनों में प्राप्त अधिक अंक के आधार पर।

(स) यदि फिर भी अंक बराबर होते हैं तो सी ग्रुप में प्राप्त अंक के आधार पर।

(द) यदि फिर भी अंक बराबर होते हैं तो दोनों को संयुक्त विजेता घोषित किया जाएगा। एवं टॉस ऑफ़ कॉइन से विजेता का निर्धारण किया जाएगा।

14. अंकों का समावेश : 18 आसनों में से 'ए', 'बी' एवं 'सी' समूह से एक-एक आसन

करना होता है जिसके लिए 30 अंक दो ऐच्छिक आसन 10+10=20 अंक तथा सूर्य नमस्कार के दस अंक कुल 60 अंकों के आधार पर प्रतियोगिता सम्पन्न कराई जाती है।

15. सूर्य नमस्कार हेतु अंको का निर्धारण निम्नानुसार होगा :

बॉडी पोश्चर हेतु 3 अंक
आगे झुकने की स्थिति पर 3 अंक
पीछे झुकने की स्थिति के आधार पर 3 अंक
एवं ड्रेस के लिए 1 अंक निर्धारित है।

16. जन्मतिथी पात्रता एवं प्रोटेस्ट, एसजीएफआई रूल्स के तहत निर्धारित मापदण्डों के आधार पर होगा।

रिदमिक एवं आर्टिस्टिक प्रतियोगिता हेतु नियमावली निम्नानुसार है:

1. आटिस्टिक : 1. स्तंभ शीर्षासन

2. पूर्ण वृश्चिकासन
3. द्विपादकन्दासन
4. कन्दपीड़ासन
5. नटराजासन्म
6. फ़्लैग पोश्चर
7. लिंगकारासन

में से किन्हीं पाँच आसनों का प्रदर्शन करना होता है। प्रत्येक आसन की समय सीमा सभी के लिए 15 सेकंड निर्धारित है। पाँच आसनों हेतु 50 अंक तथा प्रणव ध्वनि हेतु 10 अंक निर्धारित हैं। कुल 60 अंक।

2. रिदमिक योग प्रतियोगिता : इस प्रतियोगिता में उम्र 8 से कम नहीं एवं 10 से अधिक नहीं। आसनों का प्रदर्शन ढाई मिनट में सम्पन्न करना होता है। प्रतियोगिता में विभिन्न आसनों का प्रदर्शन करना होता है जिनकी बेलेंसिंग बेडिंग एवं धारण क्षमता के आधार पर अंक प्रदान किए जाते हैं। संगीत जैसे रिकॉर्डर प्लेयर एवं सीडी आदि की व्यवस्था प्रतिभागी को स्वयं करनी होती है।

# संदर्भित ग्रन्थ

पतंजलयोग प्रदीप, घेरण्डसंहिता, वशिष्ठ्संहिता, हठ्योग प्रदीपिका मरण्यकण्टिका, स्कन्दपुराण, मनस्मृति, श्रीमद् योग गीता, श्रीमद् भागवत गीता,योग तत्वोपनिषद, योग कुण्डल्योपनिषद, योग चूड़ामणि, शाण्डिल्योपनिषद, कूर्म पुराण उतराध्र्द, ज्ञानार्णव, समाधितंत्र,लिंगपुराण पूर्वाध्द, स्वरविज्ञान, वायु पुराण, मार्कण्डेय पुराण, नारद पुराण, अग्नि पुराण, योगांक—गीताप्रेस, योगसार, योग और आयुर्वेद, योग दर्शन, शिव संहिता, तंत्रसार, ध्यान बिन्दु उपनिषद् अमृताशीति–श्रीमद् आचार्य योगीन्दुदेव, योग वसिष्ठ, माण्डुक्य उपनिषद, कल्याण- गीताप्रेस, तंत्र क्रिया और योगविद्या- स्वामी सत्यानंद सरस्वती, आसन प्राणायाम मुद्रा बंध- स्वामी सत्यानंद सरस्वती, शक्ति का जागरण और कुण्डलिनी-म.म.प. गोपीनाथ कविराज, सावित्री कुण्डलिनी तंत्रश्रीराम शर्मा आचार्य, अमेरिकन योगा- केरीस्नेडर, आयुर्वेदिक चिकित्सा-झा, हठयोग विद्या- स्वामी विज्ञानानंद सरस्वती, मानव शरीर रचना और शरीर क्रियाविज्ञान- विजय कुमार, यौगिक सूक्ष्म व्यायाम- धीरेन्द्र ब्रह्मचारी, लाइट आन योगा- बी.के.एस. आयंगार, फूड एण्ड न्यूट्रेशन- स्वामीनाथन, न्यूट्रेट वेल्यु ऑफ़ इन्डियन फ़ूड- राजगोपालन, एनाटामी एण्ड फीजियोलॉजी- टोरा टोरा, प्राकृतिक चिकित्सा सिद्धांत एवं व्यवहार - डॉ. पी.डी. मिश्रा, योगासन- स्वामी कुवल्यानंद, फ़र्स्ट स्टेप टु हायर योगा- श्री योगेश्वरानंद परमहंस, आरोग्य अंक- गीता प्रेस, ध्यान विचार- आचार्य श्री विजय कलापूर्ण सूरी जी, स्टेटिक्स इन साइक्लोजी एण्ड एज्यूकेशन- गैरेट, भारतीयदर्शन- राधाकृष्ण, फ़ाउंडेशन ऑफ़ बिहेवियर्स एण्ड रिसर्च- किरलिंगर, सामान्य मनोविज्ञान- डॉ. अरुण कुमार, पतंजल योग प्रदीप - ओमानंद तीर्थ, ऑफिस योगा - फ़्रेड बर्गर, थ्योरी ऑफ़ पसनालिटीस्वामी विद्यानंद विदेह, हठयोग प्रदीपिका- स्वात्माराम योगी, साधनांक- गीता प्रेस, स्वस्थयवृत- रामहर्ष सिंह, शिव स्वरोदय– अनु. हरेकृष्णा शास्त्री, योगसार प्राभूत- आचार्य अमित गति, योगपथ- प्रभुवाद स्वामी योगशास्त्र- आचार्य हेमचन्द्र, मोक्ष पाहुण- आचार्य श्री कुन्द कुन्द स्वामी, फिलासफी ऑफ़ उपनिषद, वसिष्ठ संहिता (योग काण्ड)– स्वामी दिगम्बर जी, योग दर्शन– हरिकृष्ण दास, योग के सिद्धांत एवं अभ्यास- डॉ. कालीदास एवं डॉ. गणेश शंकर, कल्याण कारक- उग्रादित्याचार्य, पतंजलयोग एवं जैन योग का तुलनात्मक अध्ययनअरूणा आनंद, योग दर्शन- संपूर्णानंद, विवेक चूड़ामणि एवं सौन्दर्य लहरी। शाण्डिल्य उपनिषद्, जिनेन्द्र सिद्धांत कोष।

# उपसंहार

न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्ता, न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता।
नरो बुद्धिमान धीरसत्वोऽपि रोगी, यतस्तद्विनाशादभवेन्नैव मर्त्यः।।

कल्याणकारक
**(श्री उग्रदित्याचार्य महाराज)**

अर्थ : मनुष्य बुद्धिमान, द्रढ़मनस्क होने पर भी यदि रोगी हो तो वह न धर्म कर सकता हैं, न धन कमा सकता हैं, न ही काम भोग सकता है और न ही मोक्ष साध सकता है। अर्थात् वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों प्रकार के पुरुषार्थ नहीं कर सकता। जो ये चारों पुरुषार्थ नहीं कर सकता, वह मनुष्य जन्म लेने पर भी मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हैं। क्योंकि मनुष्य जन्म की सफलता पुरुषार्थ करने में है।

सैकड़ों वर्ष पहले लिखी गई बातें हमेशा एवं प्रत्येक मनुष्य पर चरितार्थ होंगी, क्योंकि मनुष्य जन्म की सार्थकता तो उसके निरोग होने पर निर्भर है। श्री उग्रादित्याचार्य महाराज उपरोक्त श्लोक द्वारा कहते हैं कि यदि आप रोगी हैं तो पहले अपने रोग को ठीक करें और फिर चारों प्रकार के पुरुषार्थ में विवेक का उपयोग करें।

उपरोक्त बातों को प्रारुप में लाने के लिए ही इस पुस्तक की रचना हुई है। लगभग 28 वर्षों से मैं अष्टांग योग को अपने जीवन में प्रारूपित कर रहा हूँ। परन्तु एक कमी हमेशा खलती थी कि कोई ऐसी पुस्तक प्राप्त हो जाए, जिसमें अष्टांग योग के साथ उससे संबंधित सभी विषय भी हों, जिससे वह संपूर्णता को प्राप्त हो। यही चिन्तन धीरे-धीरे ईश्वर कृपा से शब्दाकित होता गया।

मैंने 28 वर्षों से योग विषय के संबंध में जो बारीकियाँ सीखीं एवं सिखाईं, वे सब मैं आपको इस पुस्तक के माध्यम से देने की कोशिश कर रहा हूँ। एक बात और महत्त्वपूर्ण है कि हमने इस पुस्तक में वैज्ञानिक कारण दिए, बीमारियों के हिसाब से एक सारिणी दी, आज के परिवेश को ध्यान में रखकर जीवन जीने की कला को दर्शाया। साथ ही योग क्या है, क्या करता हैं, क्या प्रदान करता है आदि ज़रूरी दृष्टिकोणों को भी इस पुस्तक में लिपिबद्ध किया। हमारा मानना है कि पाठकों को यह पुस्तक कई बार पढ़नी चाहिए और इसमें दी हुई तकनीकों एवं सिद्धांतों को विवेकपूर्वक अमल में लाना चाहिए।

हमारा उद्देश्य आप और आपके शरीर को निरोगी रखने, सुंदरता प्राप्त कराने के साथ

शारीरिक, मानसिक, भौतिक और आध्यात्मिक सुख, शांति, समृद्धि और परम आनंद प्रदान कराना है।

आप जीवन में सम्पूर्ण सम्यक्त्व स्वास्थ्य लाभ लें, यही त्रिलोक की आशा है।

इतिशुभम्।

योगाचार्य राजीव जैन "त्रिलोक"

महत्त्वपूर्ण यह नहीं कि हम कितने समय एवं कितने प्रकार के योग करते हैं महत्त्वपूर्ण तो यह है कि हमारी सोच, क्रिया एवं पद्धतियाँ कितनी विकसित एवं सटीक है।

-RJT

योगासन सम्बंधी क्रियाएँ आत्मविश्वास के साथ करें एवं पूर्ण विश्वास रखें कि हम आत्मिक एवं शारीरिक लाभ अवश्य प्राप्त करेंगे।

-RJT

# सम्पूर्ण योग विद्या

**इस पुस्तक** में पतंजलयोगप्रदीप, हठयोगप्रदीप, घेरण्ड संहिता, वशिष्ट संहिता आदि प्राचीन और प्रमाणित ग्रंथों का सार है। साथ ही अष्टांग योग, योगासन, प्राणायाम, मुद्रा, हस्तमुद्रा, बंध, ऊर्जा प्रदायक विशेष आसन एवं क्रियाएँ, ध्यान, षट्कर्म, कुण्डलिनी योग, नाभि-चिकित्सा, सूर्य नमस्कार, चंद्र नमस्कार व हास्य योग चिकित्सा जैसी विधाओं के बारे में संपूर्ण जानकारी है।

इसमें योग द्वारा जीने की कला, योग और आयुर्वेद का संबंध, योग और मानसिक स्वास्थ्य, किसी रोग विशेष में कौन सा आसन और आहार उपयुक्त है और कौन सा वर्जित है, योग्य आहार की उपयोगिता, संपूर्ण स्वास्थ्य हासिल करने के तरीक़े, तनाव प्रबंधन में योग की भूमिका, एक्यूप्रेशर आदि का वर्णन एवं योग की वैज्ञानिक कारणों सहित विवेचना है।

यह पुस्तक योग विद्या और उस पर आधारित चिकित्सा की एक संपूर्ण संहिता है, जो आपको शारीरिक, मानसिक और भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख भी प्रदान करेगी।

---


राजीव जैन
"त्रिलोक"
संचालक -
त्रिलोक प्राच्य विद्या रिसर्च सेंटर


## लेखक के बारे में

राजीव जैन लगभग 28 वर्षों से योग एवं अध्यात्म से जुड़े हुए हैं। वे विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में अध्यात्म पर निरंतर लेखन भी करते हैं।

वे योग, ध्यान, प्राणायाम, मुद्रा, बंध, कुण्डलिनी योग, ज्योतिष, तंत्र-मंत्र, हस्तरेखा, हस्तलिखित ज्योतिष ताड़पत्र, सूर्य विज्ञान, आयुर्वेद, पारदतंत्र आदि प्राच्य विद्याओं में शोधरत हैं।

लेखक की अन्य कृतियाँ:

- *सम्पूर्ण योग–विज्ञान*
- *सभी के लिए योगासन एवं प्राणायाम*
- *पावर योगा*


MANJUL
www.manjulindia.com